प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०२४ से २०४९ तक	५७,०००
सं० २०५२ आठवाँ संस्करण	५,०००
	योग ६२,०००

मूल्य—एक सौ रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
फोन : ३३४७२१

ॐ श्रीपरमात्मने नमः



महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

हरिवंश-टीकासहित

श्रीगोपीगणपतिकी वन्दना

विघ्नविनाशनदक्षं लक्ष्यं भक्तेः सुमङ्गलाधारम् ।
वृन्दाविपिनविहारं श्रीगोपीगणपतिं वन्दे ॥

जो विघ्नोंका विनाश करनेमें दक्ष, भक्तिके चरम लक्ष्य और परम मङ्गलके आधार हैं तथा श्रीवृन्दावन जिनकी विहारस्थली है, उन श्रीगोपीगणपति (गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण) की मैं वन्दना करता हूँ ।

भगवान्से प्रार्थना

नमो भगवते तस्मै वासुदेवाय चक्रिणे ।
नमस्ते गदिने तुभ्यं वासुदेवाय धीमते ॥
ॐ नमो नारायणाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।
मम भूयान्मनःशुद्धिः कीर्तनात्तव केशव ॥

जो षड्विध ऐश्वर्यसे सम्पन्न, सर्वव्यापी देवता तथा चक्र धारण करनेवाले हैं, उन भगवान् श्रीहरिको नमस्कार है । जिनके हाथमें कौमोदकी गदा सुशोभित है, उन परम बुद्धिमान् आप वासुदेवको नमस्कार है । जो प्रभावशाली, सर्वत्र व्यापक तथा सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, उन नारायणदेवको नमस्कार है । केशव ! आपका कीर्तन करनेसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय ।

श्रीहरिः

प्रथम संस्करणकी भूमिका

हरिवंश वेदार्थप्रकाशक महाभारत ग्रन्थका ही अन्तिम पर्व है। आदिपर्वके अनुक्रमणिकाध्यायमें महाभारतको सौ पर्वोंवाला ग्रन्थ बतलाया गया है। उसके अन्तिम तीन पर्व इस हरिवंश ग्रन्थमें ही सम्मिलित हैं। यह बात अनुक्रमणिकाध्यायमें स्पष्टरूपसे निर्दिष्ट है—

हरिवंशस्ततः पर्व पुराणं खिलसंज्ञितम्। विष्णुपर्व शिशोश्चर्या विष्णोः कंसवधस्तथा॥
भविष्यं पर्व चाप्युक्तं खिलेष्वेवाद्भुतं महत्। एतत्पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना॥
(महाभा० आदिपर्व, अध्याय २। ८२-८३)

जैसे वेदविहित सोमयाग उपनिषदोंके बिना साङ्ग सम्पन्न नहीं होता, वैसे ही श्रीमहाभारतका पारायण भी हरिवंश-पारायणके बिना पूर्ण नहीं होता।* किंतु हरिवंशका पारायण गीता आदिकी तरह स्वतन्त्र भी किया जाता है। इस तरह यह 'पुराणं खिलसंज्ञितम्' आदिपर्व (२। ८२) के आधारपर 'हरिवंश-पुराण' तथा 'हरिवंशपर्व' इन दोनों ही नामोंसे विद्वानोंके बीच विख्यात है।

पुत्र-प्राप्तिकी कामनासे हरिवंश-श्रवणकी परम्परा भारतमें चिरकालसे प्रचलित है। विशेषकर यदि जन्मकुण्डलीमें संतानभाव सूर्यके द्वारा दृष्ट, आविष्ट या बाधित हो तो हरिवंश-श्रवण ही उसका प्रतिकार बतलाया गया है—

---

* इसके अतिरिक्त निम्नलिखित प्रमाणोंसे भी हरिवंश महाभारतका अङ्ग सिद्ध होता है—

१- हरिवंशपर्वके ३०वें अध्यायमें—'यथा ते कथितं पूर्वं मया राजर्षिसत्तम' इसके द्वारा वैशम्पायनने आदिपर्वस्थ पूर्वोक्त ययातिकी कथाका स्मरण दिलाया है और उसके लिये 'कथितं पूर्वं' पहले कहे जानेकी बात कही है। इससे दोनोंकी एकग्रन्थता स्पष्ट है।

२—इसीके ३२वें अध्यायमें 'त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला' कहा गया है। आकाशवाणीने शकुन्तलाके जिस कथनकी बात कही है, वह महाभारतके आदिपर्वमें ही है।

३—भविष्यपर्वके ७३वें अध्यायमें जो भगवान् श्रीकृष्णके कैलास-गमनका कारण पूछा गया है, वह आनुशासनिक पर्वके संक्षिप्त कैलास-गमन वृत्तको लक्ष्य करके ही पूछा गया है। इसी प्रकार और भी कई उदाहरण हैं।

वंशान्तो हरिरुष्णगौ त्रिपुराहाब्जे भूसुते रुद्रियं सौम्ये सम्पुटकांस्यपात्रविधिवज्जीवे च पित्र्यातिथिः।
शुक्रे गोप्रतिपालनं च कथितं मन्दे च मृत्युंजयः कन्यादानभुजङ्गकेतुकपिलाः संतानसौख्यप्रदाः ॥
(बृहत्पाराशरहोराशास्त्र, पूर्वखण्ड १६ । १४७)

श्रवणं हरिवंशस्य कर्तव्यं च यथाविधि। जुहुयाच्च दशांशेन दूर्वामाज्यपरिप्लुताम् ॥
(मन्त्रमहार्णव, बृहत्सूर्यार्णव)

यों भी इसके श्रवणकी बहुत महिमा है। जो फल अठारहों पुराणोंके सुननेसे मिलता है, वह अकेले हरिवंशके सुननेसे हो जाता है—

अष्टादशपुराणानां श्रवणाद् यत्फलं लभेत्। तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः ॥
(भविष्यपर्व १३५ । ४)

भगवद्भक्ति तथा कथानककी दृष्टिसे भी इसका बड़ा महत्त्व है। भगवान् श्रीकृष्णसे सम्बद्ध तथा अन्यान्य अगणित कथाएँ इसमें ऐसी हैं, जो अन्यत्र नहीं आयीं।

पारायण-क्रमसे इसके नवाह्नका ही विधान है। उसकी पूरी विधि इस ग्रन्थके अन्तमें दे दी गयी है।* केवल नवाह्न-पारायणके विश्रामस्थल नहीं दिये गये हैं। वह 'कृत्यसार-समुच्चय' ग्रन्थके २२५वें पृष्ठपर इस प्रकार बतलाया गया है—

प्रथमे यदुवंशस्य कीर्तनावधि कीर्तयेत्। द्वितीयेऽह्नि पठेद् विद्वान् धेनुकस्य वधावधि ॥
जरासंधवधं यावत् तृतीयेऽह्नि विचक्षणः। पारिजातस्य हरणं चतुर्थेऽह्नि प्रकीर्तयेत् ॥
सैन्यभङ्गः शम्बरस्य पञ्चमेऽह्नि प्रयत्नतः। जनमेजयस्य वंशस्य भविष्यस्य च वर्णनम् ॥
षष्ठेऽह्नि तावद्वक्तव्यं पारायणशुभेच्छुना। सप्तमे दैत्यसैन्यानां विस्तारो यावदेव हि ॥
घण्टाकर्णसमाधिस्तु अष्टमेऽह्नि प्रयत्नतः। नवमेऽह्नि समाप्तिः स्यात् पारायण उदाहृतः ॥

इसके अनुसार प्रतिदिन क्रमशः हरिवंशपर्वके ३५, विष्णुपर्वके १३, ४३, ७३, १०६ एवं भविष्यपर्वके २, ५०, ८० तथा १३५ वें अध्यायपर विश्राम करना चाहिये।

एक दूसरा क्रम इस प्रकार भी बतलाया गया है—

प्रथमे कृष्णजननं द्वितीये धेनुकार्दनम्। तृतीये कुण्डिनपुरे रुक्मिणीहरणं तथा ॥
चतुर्थे षट्पुरवधमार्यास्तोत्रं च पञ्चमे। मधोश्चरित्रं षष्ठे वै सप्तमे पावकस्तुतिः ॥
अष्टमे पौण्ड्रकवधो नवमेऽह्नि समापयेत्। वाचयेदनया रीत्या हरिवंशं यथाक्रमम् ॥

अर्थ स्पष्ट है। इस क्रममें थोड़ा सा अन्तर है। तदनुसार प्रतिदिन हरिवंशपर्वके ३५, विष्णुपर्वके १३, ४३, ८२, १२० तथा भविष्यपर्वके १३, ६२, १०१ तथा १३५वें अध्यायपर विश्राम करना चाहिये।

सुतरां भगवान्‌की कृपासे महाभारतके साथ हरिवंशका प्रकाशन-कार्य पूरा हुआ। धार्मिक सदाचार-परायण जनताके सुविधार्थ यह उसकी सचित्र, सटीक तथा सजिल्द प्रति अलगसे प्रकाशित की जा रही है। इसके अन्तमें सन्तान-गोपाल-मन्त्रकी अनुष्ठान-विधि, इसके कई प्रकार, संतान-गोपाल-स्तोत्र, यन्त्र तथा विष्णु-शतनाम-स्तोत्र—ये सब सटीक दे दिये गये हैं। आशा है प्रेमी पाठक-पाठिकाएँ इन सबोंसे लाभ उठायेंगे। शिवमिति दिक्।

विनीत जानकीनाथ शर्मा



* 'अनुष्ठान-प्रकाश' के २८६ वें पृष्ठपर भी हरिवंश-श्रवणकी संक्षिप्त विधि दी गयी है।

श्रीहरिः

सटीक महाभारत-खिलभाग हरिवंशकी सम्पूर्ण विषय-सूची

(हरिवंशपर्व)

(विष्णुपर्व)

(भविष्यपर्व)

श्रीहरिवंश-माहात्म्य

(संतानगोपाल-मन्त्रविधि)





श्रीनन्दनन्दन



भगवान् शिव (पृष्ठ-संख्या १)

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

तस्य खिलभागो हरिवंशः

तत्र हरिवंशपर्व

प्रथमोऽध्यायः

मङ्गलाचरण, शौनक-उग्रश्रवा-संवाद, वृष्णिवंशियोंका विस्तृत चरित्र सुननेके लिये जनमेजयकी प्रार्थना और आदिसृष्टिका वर्णन

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

बदरिकाश्रमनिवासी प्रसिद्ध ऋषि श्रीनारायण (अथवा अन्तर्यामी नारायण), नर (नारायणसखा अर्जुन अथवा आदि जीव हिरण्यगर्भ) तथा नरोत्तम (इन हिरण्यगर्भ एवं अन्तर्यामीसे भी श्रेष्ठ शुद्ध सच्चिदानन्दघन पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण) को और (इन नर-नारायण तथा नरोत्तमके तत्त्वको प्रकट करनेवाली) देवी सरस्वतीको एवं (देवी सरस्वतीने संसारपर अनुग्रह करनेके लिये जिनके शरीरमे प्रवेश किया है, उन) व्यासजीको प्रणाम करके अविद्यारूपी अज्ञानान्धकारको जीतनेवाले इतिहास-पुराणादि ग्रन्थोंका पाठ आरम्भ करे ॥ १ ॥

द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं
पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च ।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥ २ ॥

(सौति कहते हैं—) जो व्यासजीके मुखसे निकले हुए इस अप्रमेय (अतुलनीय), पुण्यदायक, पवित्र, पापहारी और कल्याणमय महाभारतको दूसरोंके मुखसे सुनता है, उसे पुष्कर तीर्थके जलमें स्नान करनेकी क्या आवश्यकता है ? (महाभारत-कथा उससे भी अधिक पावन है) ॥ २ ॥

जयति पराशरसूनुः
सत्यवतीहृदयनन्दनो व्यासः ।
यस्यास्यकमलगलितं
वाङ्मयममृतं जगत् पिबति ॥ ३ ॥

माता सत्यवतीके हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाले उन पराशर-पुत्र व्यासकी जय हो, जिनके मुखारविन्दसे निकले हुए वाङ्मयरूपी अमृतका सारा संसार पान करता है ॥ ३ ॥

यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे बहुविश्रुताय ।
पुण्यां च भारतकथां शृणुयाच्च तद्वत्
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ॥ ४ ॥

जो गौओंके सींगमें सोना मढ़ाकर वेदवेत्ता एवं बहुज्ञ ब्राह्मणको प्रतिदिन सौ गौएँ दान देता है और जो पुण्यदायिनी महाभारत-कथाका श्रवणमात्र करता है—इन दोनोंमेसे प्रत्येकको बराबर ही फल मिलता है ॥ ४ ॥

शताश्वमेधस्य यदत्र पुण्यं
चतुःसहस्रस्य शतक्रतोश्च ।
भवेदनन्तं हरिवंशदानात्
प्रकीर्तितं व्यासमहर्षिणा च ॥ ५ ॥

जो चार हजार अक्षय अन्नसत्रोंसे युक्त तथा इन्द्रपदकी प्राप्ति करानेवाले हैं, उन सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करनेसें इस लोकमे जो पुण्य प्राप्त होता है, वही अनन्त पुण्य इस हरिवंश ग्रन्थका दान करनेसे उपलब्ध होता है। यह बात महर्षि व्यासजीने कही है ॥ ५ ॥

यद् वाजपेयेन तु राजसूयाद्
दृष्टं फलं हस्तिरथेन चान्यत् ।
तल्लभ्यते व्यासवचः प्रमाणं
गीतं च वाल्मीकिमहर्षिणा च ॥ ६ ॥

वाजपेय और राजसूय यज्ञोंके अनुष्ठानसे तथा हाथी जुते हुए रथके दानसे जिस फलकी प्राप्ति देखी या बतायी गयी है, वही फल हरिवंश-ग्रन्थका दान करनेसे मिल जाता है। इसमें व्यासजीका वचन प्रमाण है तथा महर्षि वाल्मीकिने भी इसी माहात्म्यका गान किया है ॥ ६ ॥

यो हरिवंशं लेखयति
यथाविधिना महातपाः सपदि ।
स जयति हरिपदकमलं
मधुपो हि यथा रसेन लुब्धः ॥ ७ ॥

जो महातपस्वी पुरुष शास्त्रीय विधिके अनुसार हरिवंशको लिखता या लिखवाता है, वह रसपर लुभाये हुए भँवरेके समान भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंपर पहुँच जाता है ॥७॥

पितामहाद्यं प्रवदन्ति षष्ठं
महर्षिमक्षय्यविभूतियुक्तम् ।
नारायणस्यांशजमेकपुत्रं
द्वैपायनं वेद महानिधानम् ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीके आदि कारण श्रीनारायणको जिनसे ऊपरकी छठी* पीढ़ीका पुरुष बताते हैं, जो अक्षय विभूतियोंसे युक्त तथा नारायणके अंशसे प्रकट हैं, एकमात्र शुकदेव ही जिनके पुत्र हैं (अथवा जो अपने पिता पराशरके एक ही पुत्र हैं); वैदिक ज्ञानकी महानिधिस्वरूप उन महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासकी मैं उपासना करता हूँ ॥८॥

आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ॥ ९ ॥
असच्च सदसच्चैव यद्विश्वं सदसत्परम् ।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम् ॥ १० ॥
मङ्गल्यं मङ्गलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम् ।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम् ॥ ११ ॥
नैमिषारण्ये कुलपतिः शौनकस्तु महामुनिः ।
सौतिं पप्रच्छ धर्मात्मा सर्वशास्त्रविशारदः ॥ १२ ॥

नैमिषारण्यकी बात है, सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेषज्ञ, धर्मात्मा एवं कुलपति† महामुनि शौनकने सबके आदि कारण, अन्तर्यामी पुरुष, पुरुहूत (बहुत-से यजमानोंद्वारा दी गयी आहुतिको ग्रहण करनेवाले), पुरुष्टुत (बहुसंख्यक उपासकोंद्वारा स्तुत्य), ऋत (सत्यस्वरूप), एकाक्षर (प्रणवमय अथवा एक, अविनाशी), ब्रह्म (परमात्मा), व्यक्ताव्यक्तस्वरूप, सनातन, असत् (कार्यरूप), सदसत् (कारण और कार्यरूप), अखिल विश्वमय, सत् और असत्—दोनोंसे पर (विलक्षण), कारण और कार्य दोनोंके स्रष्टा, पुरातन, सर्वोत्कृष्ट, अविकारी, मङ्गलकारी, मङ्गलरूप, सर्वव्यापी, सबके द्वारा वरणीय, पापरहित, परम पवित्र, इन्द्रियोंके प्रेरक तथा समस्त चराचर जगत्के गुरु श्रीहरिको प्रणाम करके लोमहर्षण सूतके पुत्र उग्रश्रवासे इस प्रकार पूछा ॥ ९–१२ ॥

शौनक उवाच

सौते सुमहदाख्यानं भवता परिकीर्तितम् ।
भारतानां च सर्वेषां पार्थिवानां तथैव च ॥ १३ ॥
देवानां दानवानां च गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
दैत्यानामथ सिद्धानां गुह्यकानां तथैव च ॥ १४ ॥

शौनकजीने कहा—सूतनन्दन ! आपने भरतवंशियों, अन्य सब राजाओं, देवताओं, दानवों, गन्धर्वों, नागों, राक्षसों, दैत्यों, सिद्धों तथा गुह्यकोंसे सम्बन्ध रखनेवाला यह बहुत बड़ा उपाख्यान (महाभारत) कह सुनाया ॥ १३-१४ ॥

अत्यद्भुतानि कर्माणि विक्रमा धर्मनिश्चयाः ।
विचित्राश्च कथायोगा जन्म चाग्र्यमनुत्तमम् ॥ १५ ॥
कथितं भवता पुण्यं पुराणं श्लक्ष्णया गिरा ।
मनःकर्णसुखं सौते प्रीणात्यमृतसम्मितम् ॥ १६ ॥

आपने (ऋषि-महर्षियोंके) अद्भुत कर्म, (शूरवीरोंके) बल-विक्रम, धर्मतत्त्वके निर्णय, विचित्र-विचित्र कथा-प्रसङ्ग तथा (द्रोण आदिके) श्रेष्ठ एवं परम उत्तम जन्म-वृत्तान्त आदि प्राचीन एवं पुण्यप्रद विषयोंका अपनी मधुर वाणीद्वारा वर्णन किया है । उग्रश्रवाजी ! मन और कानोंको सुख देनेवाला यह प्रसङ्ग मुझे अमृतके समान तृप्ति प्रदान करता है ॥ १५-१६ ॥

तत्र जन्म कुरूणां वै त्वयोक्तं लौमहर्षणे ।
न तु वृष्ण्यन्धकानां च तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १७ ॥

लोमहर्षणकुमार ! आपने महाभारत सुनाते समय कुरुवंशियोंके ही जन्मका विशेषरूपसे वर्णन किया है, वृष्णि तथा अन्धकवंशके वीरोंके जन्मका नहीं; अतः अब आप इन सबके जन्म-कर्मका भी वर्णन कीजिये ॥ १७ ॥

सौतिरुवाच

जनमेजयेन यत् पृष्टः शिष्यो व्यासस्य धर्मवित् ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि वृष्णीनां वंशमादितः ॥ १८ ॥

सूत-पुत्र उग्रश्रवाने कहा—शौनकजी ! जनमेजयने व्यासजीके धर्मवेत्ता शिष्य वैशम्पायनजीसे जो कुछ पूछा था, उसीके अनुसार मैं आरम्भसे ही वृष्णियोंके वंशका आपसे वर्णन करता हूँ ॥ १८ ॥

---

* व्यास, पराशर, शक्ति, वसिष्ठ, ब्रह्मा तथा भगवान् नारायण—इस प्रकार गणना करनेपर श्रीनारायणदेव व्यासजीसे छठी पीढ़ी ऊपरके पूर्वज ज्ञात होते हैं।

† जो ग्यारह हजार तपस्वियोंको अन्न आदि देकर पालन करता है, वह वेद-वेदान्तका पारगामी ऋषि 'कुलपति' कहलाता है।

श्रुत्वेतिहासं कार्त्स्न्येन भारतानां स भारतः ।
जनमेजयो महाप्राज्ञो वैशम्पायनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

भरतवंशी राजाओंके इतिहासको पूर्णरूपसे सुनकर भरतनन्दन महाबुद्धिमान् जनमेजयने वैशम्पायनजीसे कहा ॥

जनमेजय उवाच

महाभारतमाख्यानं बह्वर्थं श्रुतिविस्तरम् ।
कथितं भवता पूर्वं विस्तरेण मया श्रुतम् ॥ २० ॥

जनमेजयने कहा—मुने ! आपने पहले वेदके अर्थको स्पष्ट करके विस्तृतरूपमें वर्णन करनेवाली, (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि) अनेक अर्थोंसे भरी हुई जो महाभारतकी कथा विस्तारपूर्वक कही, उसको मैंने सुन लिया ॥ २० ॥

तत्र शूराः समाख्याता बहवः पुरुषर्षभाः ।
नामभिः कर्मभिश्चैव वृष्ण्यन्धकमहारथाः ॥ २१ ॥

उस महाभारत-कथामें आपने बहुत-से पुरुषश्रेष्ठ शूरोंका वर्णन किया तथा बहुत-से वृष्णि और अन्धकवंशी महारथियोंके नाम और कर्म भी बताये ॥ २१ ॥

तेषां कर्मावदातानि त्वयोक्तानि द्विजोत्तम ।
तत्र तत्र समासेन विस्तरेणैव मे प्रभो ॥ २२ ॥

द्विजोत्तम ! उनके उत्तम कर्मोंका भी आपने उन-उन स्थलोंमें संक्षिप्तरूपसे वर्णन किया है । प्रभो ! अब आप उनको विस्तारपूर्वक सुनाइये ॥ २२ ॥

न च मे तृप्तिरस्तीह कथ्यमाने पुरातने ।
एकश्चैव मतो राशिर्वृष्णयः पाण्डवास्तथा ॥ २३ ॥

आपने पहले जो संक्षिप्तरूपसे वर्णन किया, उससे मेरी तृप्ति नहीं हुई है । ये वृष्णि और पाण्डव एक ही राशि (कुटुम्ब) के माने जाते हैं ॥ २३ ॥

भवांश्च वंशकुशलस्तेषां प्रत्यक्षदर्शिवान् ।
कथयस्व कुलं तेषां विस्तरेण तपोधन ॥ २४ ॥

तपोधन ! आप वंशोंकी कथा कहनेमे चतुर हैं और उनकी सब बातोंको आपने प्रत्यक्ष देखा है । अतएव उनके कुलका आप विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये ॥ २४ ॥

यस्य यस्यान्वये ये ये तांस्तानिच्छामि वेदितुम् ।
स त्वं सर्वमशेषेण कथयस्व महामुने ।
तेषां पूर्वविसृष्टिं च विचिन्त्येमां प्रजापतेः ॥ २५ ॥

महामुने ! जिस-जिसके कुलमें जो-जो उत्पन्न हुए हों, उन सबको मैं जानना चाहता हूँ; अतएव प्रजापतिसे आरम्भ करके पूर्वकालमें उनकी जिस प्रकार सृष्टि हुई है, उस सबका विचार करके आप मुझे पूर्णरूपसे सब कथा सुनाइये ॥ २५ ॥

सौतिरुवाच

सत्कृत्य परिपृष्टस्तु स महात्मा महातपाः ।
विस्तरेणानुपूर्व्या च कथयामास तां कथाम् ॥ २६ ॥

उग्रश्रवाने कहा—जब सत्कारपूर्वक उनसे यह बात पूछी गयी, तब वे महातपस्वी महात्मा वैशम्पायन क्रमशः और विस्तारके साथ उस वंशावलिकी कथा कहने लगे ॥

वैशम्पायन उवाच

श‍ृणु राजन् कथां दिव्यां पुण्यां पापप्रमोचनीम् ।
कथ्यमानां मया चित्रां बह्वर्थां श्रुतिसम्मिताम् ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! सुनो, यह (वृष्णिवंशियोंके जन्मकी) कथा अलौकिक, पुण्यमयी और पापोंसे मुक्त करनेवाली है, इसमें (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि) अनेक पुरुषार्थोंका उपदेश है, इस वेदके समान माननीय तथा आश्चर्यमयी कथाका मैं आपसे वर्णन करता हूँ ॥ २७ ॥

यश्चेमां धारयेद् वापि श‍ृणुयाद् वाऽप्यभीक्ष्णशः ।
स्ववंशधारणं कृत्वा स्वर्गलोके महीयते ॥ २८ ॥

जो इस कथाको अपने हृदयमें धारण करता है या इसको पुस्तकके रूपमें अपने घरमें स्थापित करता है अथवा बार-बार इसको सुनता है, वह (इस लोकमें) अपने वंशको स्थापित कर अन्तमे स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ २८ ॥

अव्यक्तं कारणं यत् तन्नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं पुरुषं तस्मान्निर्ममे विश्वमीश्वरम् ॥ २९ ॥

जो नित्य, सदसत्स्वरूप तथा कारणभूत अव्यक्त प्रकृति है, उसीको 'प्रधान' कहते हैं । सर्वशक्तिमान् पुरुषने उसीसे इस विश्वका निर्माण किया है ॥ २९ ॥

तं वै विद्धि महाराज ब्रह्माणममितौजसम् ।
स्रष्टारं सर्वभूतानां नारायणपरायणम् ॥ ३० ॥

महाराज ! तुम अमित तेजस्वी ब्रह्माजीको ही पुरुष समझो । वे समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले तथा भगवान् नारायणके आश्रित हैं ॥ ३० ॥

अहङ्कारस्तु महतस्तस्माद् भूतानि जज्ञिरे ।
भूतभेदाश्च भूतेभ्य इति सर्गः सनातनः ॥ ३१ ॥

(प्रकृतिसे महत्तत्त्व,) महत्तत्त्वसे अहंकार तथा अहंकारसे सब सूक्ष्म भूत उत्पन्न हुए । भूतोंके जो स्थूल भेद हैं, वे भी उन सूक्ष्म भूतोंसे ही प्रकट हुए हैं । यह (अनादिकालसे प्रवाहरूपसे चला आनेवाला) सनातन सर्ग है ॥ ३१ ॥

विस्तरावयवं चैव यथाप्रज्ञं यथाश्रुति ।
कीर्त्यमानं श‍ृणु मया पूर्वेषां कीर्तिवर्धनम् ॥ ३२ ॥

अब जैसी मेरी बुद्धि है और जैसा मैंने गुरुजनोंसे सुन

रखा है; उसके अनुसार मैं भूतसर्गका विस्तारपूर्वक वर्णन आरम्भ करता हूँ; सुनो। यह प्रसंग पूर्वजोंकी कीर्तिका विस्तार करनेवाला है ॥ ३२ ॥

धन्यं यशस्यं शत्रुघ्नं स्वर्ग्यमायुःप्रवर्धनम्।
कीर्तनं स्थिरकीर्तीनां सर्वेषां पुण्यकर्मणाम् ॥ ३३ ॥

स्थिर कीर्तिवाले उन समस्त पुण्यकर्मा पूर्वजोंके यशका कीर्तन धन और यशकी वृद्धि करनेवाला, शत्रुओंका नाशक, स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला तथा आयु बढ़ानेवाला है ॥ ३३ ॥

तस्मात् कल्पाय ते कल्पः समग्रं शुचये शुचिः।
आ वृष्णिवंशाद् वक्ष्यामि भूतसर्गमनुत्तमम् ॥ ३४ ॥

तुम इस विषयको हृदयंगम करनेमें समर्थ और शुद्ध हो और मैं इसका वर्णन करनेमें समर्थ हूँ। अतः पवित्र होकर आरम्भसे वृष्णिवंशपर्यन्त परम उत्तम भूतसर्गका वर्णन करूँगा ॥ ३४ ॥

ततः स्वयम्भूर्भगवान् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर स्वयम्भू भगवान् नारायणने नाना प्रकारकी प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छासे सबसे पहले जलकी ही सृष्टि की। फिर उस जलमें अपनी शक्तिका आधान किया ॥ ३५ ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ ३६ ॥

जलका दूसरा नाम है नार, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भगवान् नरसे हुई है। वह जल पूर्वकालमें भगवान्‌का अयन हुआ, इसलिये वे 'नारायण' कहलाते हैं ॥ ३६ ॥

हिरण्यवर्णमभवत् तदण्डमुदकेशयम्।
तत्र जज्ञे स्वयं ब्रह्मा स्वयम्भूरिति नः श्रुतम् ॥ ३७ ॥

भगवान्‌ने जलमें जो अपनी शक्तिका आधान किया था, उससे एक बहुत विशाल सुवर्णमय अण्ड प्रकट हुआ, वह दीर्घकालतक जलमें ही स्थित था। उसीमें स्वयम्भू ब्रह्माजी उत्पन्न हुए—ऐसा हमने सुना है ॥ ३७ ॥

हिरण्यगर्भो भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
तदण्डमकरोद् द्वैधं दिवं भुवमथापि च ॥ ३८ ॥

भगवान् हिरण्यगर्भने उस अण्डमें एक वर्षतक निवास करके उसके दो टुकड़े कर दिये। फिर एक टुकड़ेसे द्युलोक बनाया और दूसरेसे भूलोक ॥ ३८ ॥

तयोः शकलयोर्मध्ये आकाशमसृजत् प्रभुः।
अप्सु पारिप्लवां पृथ्वीं दिशश्च दशधा दधे ॥ ३९ ॥

उन दोनों टुकड़ोंके बीचमें भगवान् ब्रह्माने आकाश (अवकाश) की सृष्टि की। जलके ऊपर तैरती हुई पृथ्वीको स्थापित किया। फिर दसों दिशाएँ निश्चित कीं ॥ ३९ ॥

तत्र कालं मनो वाचं कामं क्रोधमथो रतिम्।
ससर्ज सृष्टिं तद्रूपां स्रष्टुमिच्छन् प्रजापतीन् ॥ ४० ॥

उस ब्रह्माण्डके भीतर ही उन्होंने काल, मन, वाणी, काम, क्रोध तथा रति आदि भावोंकी सृष्टि की। फिर इन भावोंके अनुरूप सृष्टि करनेकी इच्छावाले ब्रह्माजीने निम्नाङ्कित (सात) प्रजापतियोंको उत्पन्न किया ॥ ४० ॥

मरीचिमत्र्यङ्गिरसं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
वसिष्ठं च महातेजाः सोऽसृजत् सप्त मानसान् ॥ ४१ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ। महातेजस्वी ब्रह्माने इन सातोंकी अपने मन (संकल्प) से सृष्टि की (अतः ये उनके मानस पुत्र हैं) ॥ ४१ ॥

सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः।
नारायणात्मकानां वै सप्तानां ब्रह्मजन्मनाम् ॥ ४२ ॥
ततोऽसृजत् पुनर्ब्रह्मा रुद्रं रोषात्मसम्भवम्।
सनत्कुमारं च विभुं पूर्वेषामपि पूर्वजम् ॥ ४३ ॥

पुराणोंमें ये सात ब्रह्मा निश्चित किये गये हैं। भगवान् नारायणमें मन लगाये रहनेवाले इन सात ब्राह्मणोंकी सृष्टिके अनन्तर ब्रह्माजीने अपने रोषसे रुद्रको प्रकट किया। फिर पूर्वजोंके भी पूर्वज भगवान् सनत्कुमारजीको उत्पन्न किया ॥ ४२-४३ ॥

सप्तैते जनयन्ति स्म प्रजा रुद्रश्च भारत।
स्कन्दः सनत्कुमारश्च तेजः संक्षिप्य तिष्ठतः ॥ ४४ ॥

भरतनन्दन! ये मरीचि आदि सात ऋषि तथा रुद्रदेव प्रजाकी सृष्टि करने लगे। स्कन्द और सनत्कुमार—ये दोनों अपने तेजका संवरण करके रहते हैं ॥ ४४ ॥

तेषां सप्त महावंशा दिव्या देवगणान्विताः।
क्रियावन्तः प्रजावन्तो महर्षिभिरलंकृताः ॥ ४५ ॥

उक्त सात महर्षियोंके सात बड़े-बड़े दिव्य वंश हैं। देवता भी इन्हीं वंशोंके अन्तर्गत हैं। उन सातों वंशोंके लोग कर्मनिष्ठ एवं संतानवान् हैं। उन वंशोंको बड़े-बड़े ऋषियोंने सुशोभित किया है ॥ ४५ ॥

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च।
वयांसि च ससर्जादौ पर्जन्यं च ससर्ज ह ॥ ४६ ॥

इसके बाद ब्रह्माजीने पहले विद्युत्, वज्र, मेघ, रोहित (सीधा) इन्द्र-धनुष, पक्षिसमुदाय तथा पर्जन्यकी सृष्टि की ॥ ४६ ॥

ऋचो यजूंषि सामानि निर्ममे यज्ञसिद्धये।
मुखाद् देवानजनयत् पितॄंश्चैवोऽपि वक्षसः ॥ ४७ ॥

फिर ब्रह्माजीने यज्ञकी सिद्धिके लिये (नित्यसिद्ध) ऋक्, यजुः और सामका आविष्कार किया। फिर

ऐश्वर्यशील ब्रह्माने अपने मुखसे देवताओंको और वक्षःस्थलसे पितरोंको प्रकट किया ॥ ४७ ॥

प्रजनाच्च मनुष्यान् वै जघनान्निर्ममेऽसुरान् ।
साध्यानजनयद् देवानित्येवमनुशुश्रुम ॥ ४८ ॥

फिर उन्होंने उपस्थेन्द्रियसे मनुष्योंको और जंघाओंसे असुरोंको उत्पन्न किया । तदनन्तर उन्होंने साध्य नामक प्राचीन देवताओंको प्रकट किया, ऐसा हमने सुना है ॥ ४८ ॥

उच्चावचानि भूतानि गात्रेभ्यस्तस्य जज्ञिरे ।
आपवस्य प्रजासर्गं सृजतो हि प्रजापतेः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार प्रजाकी सृष्टि रचते हुए उन आपव (अर्थात् जलमें प्रकट हुए) प्रजापति ब्रह्माके अङ्गोंमेंसे उच्च तथा साधारण श्रेणीके बहुत-से प्राणी प्रकट हुए ॥ ४९ ॥

सृज्यमानाः प्रजा नैव विवर्धन्ते यदा तदा ।
द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ॥ ५० ॥
अर्धेन नारी तस्यां स ससृजे विविधाः प्रजाः ।
दिवं च पृथिवीं चैव महिम्ना व्याप्य तिष्ठतः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार वे आपव-प्रजापति (मानसिक) प्रजाओंको रच रहे थे; परंतु वे प्रजाएँ जब (अधिक) न बढ़ीं, तब वे अपने शरीरके दो भाग कर, एक भागसे पुरुष और दूसरे भागसे नारी हो गये और (उस नारीने गाय, घोड़ी आदि जिस-जिस रूपको धारण किया, पुरुषने उसी जातिके बैल, घोड़े आदिका रूप धारण किया,) इस प्रकार उन्होंने उस नारीमें अनेक प्रकारकी मैथुनी-प्रजाओंको रचा । इस प्रकार वे पुरुष और नारी अपनी महिमासे स्वर्ग और पृथ्वीपर व्याप्त हो गये ॥ ५०-५१ ॥

विराजमसृजद् विष्णुः सोऽसृजत् पुरुषं विराट् ।
पुरुषं तं मनुं विद्धि तद् वै मन्वन्तरं स्मृतम् ॥ ५२ ॥

भगवान् विष्णुने विराट् पुरुष (आपव प्रजापति या ब्रह्मा) की सृष्टि की थी और विराट्ने पुरुषकी । उस वैराज पुरुषको तुम मनु समझो (और उनकी स्त्रीको शतरूपा) । मनुके समयको ही मन्वन्तरकाल कहा गया है ॥ ५२ ॥

द्वितीयमापवस्यैतन्मनोरन्तरमुच्यते ।
स वैराजः प्रजासर्गं ससर्ज पुरुषः प्रभुः ।
नारायणविसर्गः स प्रजास्तस्याप्ययोनिजाः ॥ ५३ ॥

आपवपुत्र मनुकी जो यह दूसरी योनिज सृष्टि है, यहींसे मन्वन्तरका आरम्भ बताया जाता है । इस प्रकार शक्तिशाली वैराज पुरुष (मनु) ने प्रजासर्गकी सृष्टि की । आपव प्रजापतिको नारायणसर्ग कहा गया है (क्योंकि वे नारायणसे ही प्रकट हुए हैं) । उनकी अयोनिजा प्रजा प्रथम सर्ग है (और मनुकी योनिजा प्रजा द्वितीय सर्ग) ॥ ५३ ॥

आयुष्मान् कीर्तिमान् धन्यः प्रजावाञ्छ्रुतवांस्तथा ।
आदिसर्गं विदित्वेमं यथेष्टां गतिमाप्नुयात् ॥ ५४ ॥

जो इस आदि सृष्टिको इस प्रकार जान लेता है, वह आयुष्मान्, कीर्तिमान्, धन्यवादका पात्र, संतानवान् और विद्वान् होता है, उसे इच्छानुसार उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि आदिसर्गकथने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें आदिसृष्टिका वर्णनविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

स्वायम्भुव मनुके वंश और दक्ष प्रजापतिकी-उत्पत्तिका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

स सृष्टासु प्रजास्वेवमापवो वै प्रजापतिः ।
लेभे वै पुरुषः पत्नीं शतरूपामयोनिजाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! इस प्रकार (अयोनिज—मानसिक) प्रजाओंकी रचना हो जानेपर वह आपव प्रजापति (ब्रह्मा) ही (अपनी देहके दो भाग करके एक भागसे मनु नामक) पुरुष बन गये और उन्होंने देहके दूसरे भागसे बनी हुई अयोनिजा शतरूपाको पत्नीरूपमें स्वीकार किया ॥

आपवस्य महिम्ना तु दिवमावृत्य तिष्ठतः ।
धर्मेणैव महाराज शतरूपा व्यजायत ॥ २ ॥

महाराज ! अपनी महिमासे द्युलोकको व्याप्त करके स्थित हुए मनुके धर्मसे ही उनकी पत्नी शतरूपाकी उत्पत्ति हुई ॥ २ ॥

सा तु वर्षायुतं तप्त्वा तपः परमदुश्चरम् ।
भर्तारं दीप्ततपसं पुरुषं प्रत्यपद्यत ॥ ३ ॥

वह शतरूपा दस हजार वर्षोंतक परम दुष्कर तप करके (संतानकी कामनासे) तपसे चमकते हुए अपने स्वामी वैराज पुरुषके पास आयीं ॥ ३ ॥

स वै स्वायम्भुवस्तात पुरुषो मनुरुच्यते ।
तस्यैकसप्ततियुगं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ४ ॥

तात ! वे पुरुष ही स्वायम्भुव मनु कहे जाते हैं । उन (के अधिकार) का (सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगरूप) इकहत्तर चतुर्युगोंका समय इस संसारमें मन्वन्तर कहलाता है (यह मन्वन्तर संध्या और संध्यांशके कारण इकहत्तर चतुर्युगोंसे भी कुछ अधिक समयका होता है ।) ॥ ४ ॥

वैराजात् पुरुषाद् वीरं शतरूपा व्यजायत।
प्रियव्रतोत्तानपादौ वीरात् काम्या व्यजायत॥ ५॥

वैराज पुरुष मनुसे उनकी पत्नी शतरूपाने वीर नामक पुत्रको जन्म दिया और वीरसे उनकी पत्नी काम्याने प्रियव्रत तथा उत्तानपादको उत्पन्न किया॥ ५॥

काम्या नाम महाबाहो कर्दमस्य प्रजापतेः।
काम्यापुत्रास्तु चत्वारः सम्राट् कुक्षिर्विराट् प्रभुः।
प्रियव्रतं समासाद्य पतिं सा सुषुवे सुतान्॥ ६॥

महाबाहो! कर्दम प्रजापतिकी एक काम्या नामवाली पुत्री थी, उस काम्याके सम्राट्, कुक्षि, विराट् और प्रभु नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए। उस काम्याने प्रियव्रतको पतिरूपमें पाकर इन पुत्रोंको उत्पन्न किया था॥ ६॥

उत्तानपादं जग्राह पुत्रमत्रिः प्रजापतिः।
उत्तानपादाच्चतुरः सूनृताजनयत् सुतान्॥ ७॥

प्रजापति अत्रिने उत्तानपादको पुत्ररूपमें ग्रहण कर लिया। उत्तानपादसे उनकी पत्नी सूनृताने चार पुत्रोंको उत्पन्न किया॥

धर्मस्य कन्या सुश्रोणी सूनृता नाम विश्रुता।
उत्पन्ना वाजिमेधेन ध्रुवस्य जननी शुभा॥ ८॥

धर्मकी एक सूनृता नामसे प्रसिद्ध सुन्दर कटिवाली पुत्री थी, वह धर्मके यहाँ अश्वमेध यज्ञसे प्रकट हुई थी, यही कल्याणकारिणी सूनृता ध्रुवकी माता थी॥ ८॥

ध्रुवं च कीर्तिमन्तं च शिवं शान्तमयस्पतिम्।
उत्तानपादोऽजनयत् सूनृतायां प्रजापतिः॥ ९॥

प्रजापति उत्तानपादने सूनृता नामवाली पत्नीमें ध्रुव, कीर्तिमान्, शान्तस्वरूप शिव और अयस्पति नामक पुत्रको उत्पन्न किया था॥ ९॥

ध्रुवो वर्षसहस्राणि त्रीणि दिव्यानि भारत।
तपस्तेपे महाराज प्रार्थयन् सुमहद् यशः॥ १०॥

भरतवंशी महाराज! ध्रुवने जिनका नाम महायश* है, उन भगवान् नारायणको पानेकी इच्छासे तीन हजार दिव्य† वर्षोंतक तप किया था॥ १०॥

तस्मै ब्रह्मा ददौ प्रीतः स्थानमप्रतिमं भुवि।
अचलं चैव पुरतः सप्तर्षीणां प्रजापतिः॥ ११॥

प्रजापालक भगवान् ब्रह्मा (विष्णु) ने ध्रुवपर प्रसन्न होकर उनको सप्तर्षियोंके सम्मुख एक अलौकिक, अचल स्थान प्रदान किया॥ ११॥

तस्यातिमात्रामृद्धिं च महिमानं निरीक्ष्य च।
देवासुराणामाचार्यः श्लोकमप्युशना जगौ॥ १२॥

ध्रुवकी बड़ी भारी समृद्धि और महिमाको देखकर देवता* और असुरोंके आचार्य शुक्राचार्यने इस श्लोकका गान किया—॥

अहोऽस्य तपसो वीर्यमहो श्रुतमहो बलम्।
यदेनं पुरतः कृत्वा ध्रुवं सप्तर्षयः स्थिताः॥ १३॥

'इन ध्रुवके तपोबलको देखकर आश्चर्य होता है, इनका शास्त्रज्ञान भी विस्मयविमुग्ध कर देता है और इनकी शक्ति भी अद्भुत है, तभी तो ये सप्तर्षि भी इनको अपने आगे स्थापित करके स्थित हैं'॥ १३॥

तस्माच्छ्लिष्टिं च भव्यं च ध्रुवाच्छम्भुर्व्यजायत।
श्लिष्टेराधत्त सुच्छाया पञ्च पुत्रानकल्मषान्॥ १४॥
रिपुं रिपुञ्जयं पुण्यं वृकलं वृकतेजसम्।
रिपोराधत्त बृहती चाक्षुषं सर्वतेजसम्॥ १५॥

उन ध्रुवसे शम्भु नामवाली स्त्रीने श्लिष्टि और भव्य नामक पुत्रोंको उत्पन्न किया। श्लिष्टिसे सुच्छाया (नामकी पत्नी) ने रिपु, रिपुञ्जय, पुण्य, वृकल और वृकतेजा—पाँच निष्पाप पुत्रोंको उत्पन्न किया। रिपुसे उनकी बृहती नामकी पत्नीने सब देवताओंके तेजसे परिपूर्ण चाक्षुष नामक पुत्रको उत्पन्न किया॥ १४-१५॥

अजीजनत् पुष्करिण्यां वीरण्यां चाक्षुषो मनुम्।
प्रजापतेरात्मजायामरण्यस्य महात्मनः॥ १६॥
मनोरजायन्त दश नड्वलायां महौजसः।
कन्यायामभवञ्श्रेष्ठा वैराजस्य प्रजापतेः॥ १७॥

चाक्षुषने वीरणकी पुत्री पुष्करिणीके गर्भसे मनु नामक पुत्रको उत्पन्न किया। वैराज प्रजापतिके वंशमें उत्पन्न हुए इन परम तेजस्वी मनुसे महात्मा अरण्यकी पुत्री नड्वलामें दस श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हुए॥ १६-१७॥

ऊरुः पुरुः शतद्युम्नस्तपस्वी सत्यवान् कविः।
अग्निष्टुदतिरात्रश्च सुद्युम्नश्चेति ते नव॥ १८॥
अभिमन्युश्च दशमो नड्वलायाः सुताः स्मृताः।
ऊरोरजनयत् पुत्रान् षडाग्नेयी महाप्रभान्।
अङ्गं सुमनसं ख्यातिं क्रतुमङ्गिरसं गयम्॥ १९॥

ऊरु, पुरु, शतद्युम्न, तपस्वी, सत्यवान्, कवि, अग्निष्टुत्, अतिरात्र और सुद्युम्न—ये नौ और दसवाँ अभिमन्यु, ये नड्वलाके पुत्र कहे जाते हैं। ऊरुसे अग्निकी कन्याने अङ्ग, सुमना, ख्याति, क्रतु, अङ्गिरा और गय नामक उत्तम कान्तिवाले छः पुत्रोंको उत्पन्न किया था॥ १८-१९॥

---

* यस्य नाम महद् यशः। (महानारायणोपनिषद् १। १०)

† मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंका एक दिव्य दिन होता है।

* मैत्रायणीय-उपनिषद्में कहा है कि इन्द्रको अभय देनेके लिये और असुरोंका क्षय करनेके लिये बृहस्पति ही दूसरे शरीरसे शुक्रके रूपमें प्रकट हो गये और उन्होंने अविद्याको रचकर असुरोंको मोहमें डाल रखा है।

अङ्गात् सुनीथापत्यं वै वेनमेकमजायत।
अपचारात् तु वेनस्य प्रकोपः सुमहानभूत्॥ २०॥

अङ्गसे (मृत्युकी पुत्री) सुनीथाने वेन नामक एक पुत्रको उत्पन्न किया था। वेन अत्याचारी था (देवता, धर्म आदिसे द्रोह रखता था), अतएव ऋषियोंको उसपर बड़ा क्रोध आया॥२०॥

प्रजार्थमृषयो यस्य ममन्युर्दक्षिणं करम्।
वेनस्य पाणौ मथिते बभूव मुनिभिः पृथुः॥ २१॥

(ऋषियोंके कोपसे नष्ट हुए) वेनके दाहिने हाथको मुनियोंने संतान उत्पन्न करनेके लिये मथा, तब मुनियोंके मथे हुए वेनके दाहिने हाथसे पृथुकी उत्पत्ति हुई॥ २१॥

तं दृष्ट्वा ऋषयः प्राहुरेष वै मुदिताः प्रजाः।
करिष्यति महातेजा यशश्च प्राप्स्यते महत्॥ २२॥

ऋषियोंने उसको देखकर कहा—'यह पृथु प्रजाओंको प्रसन्न करेगा और इस महातेजस्वीको उत्तम यशकी प्राप्ति होगी'॥ २२॥

स धन्वी कवची खड्गी तेजसा निर्दहन्निव।
पृथुर्वैन्यस्तदा चेमां ररक्ष क्षत्रपूर्वजः॥ २३॥

तब वे क्षत्रिय-जातिमें प्रथम उत्पन्न हुए वेनके पुत्र पृथु धनुष, कवच और तलवार धारण कर अपने तेजसे (डाकू, अधर्मी आदि दुष्ट पुरुषोंको) भस्म-सा करते हुए इस पृथ्वीकी रक्षा करने लगे॥ २३॥

राजसूयाभिषिक्तानामाद्यः स वसुधाधिपः।
तस्माच्चैव समुत्पन्नौ निपुणौ सूतमागधौ॥ २४॥

पृथु राजसूय यज्ञमें अभिषिक्त होनेवाले राजाओंमें प्रथम भूपति हैं। (उन्हींके यज्ञमें अग्निसे राजाओंकी स्तुति करनेमें) चतुर सूत तथा (राजाओंकी वंशावली पढ़नेमें) प्रवीण मागध प्रकट हुए थे॥ २४॥

तेनेयं गौर्महाराज दुग्धा सस्यानि भारत।
प्रजानां वृत्तिकामेन देवैः सर्षिगणैः सह॥ २५॥

भरतवंशी महाराज! प्रजाओंको आजीविका देनेकी इच्छा-वाले पृथुने देवता और ऋषियोंकी मण्डलियोंको साथमें ले गौ-रूपिणी पृथ्वीसे अन्न (आदि सकल वस्तुओं) को दुहा था॥

पितृभिर्दानवैश्चैव गन्धर्वैः साप्सरोगणैः।
सर्पैः पुण्यजनैश्चैव वीरुद्भिः पर्वतैस्तथा॥ २६॥
तेषु तेषु च पात्रेषु दुह्यमाना वसुन्धरा।
प्रादाद् यथेप्सितं क्षीरं तेन प्राणानधारयन्॥ २७॥

(पृथुके समय) पितर, दानव, गन्धर्व, अप्सरा, सर्प, यक्ष, वृक्ष और पर्वतोंने अपने-अपने पात्रों*में दुहा था। पृथ्वीने उनकी इच्छानुसार दूध दिया था और उस दूधसे उन सबने अपने प्राणोंको धारण किया था॥ २६-२७॥

पृथुपुत्रौ तु धर्मज्ञौ जज्ञातेऽन्तर्द्धिपालितौ।
शिखण्डिनी हविर्धानमन्तर्धानाद् व्यजायत॥ २८॥

पृथुके अन्तर्धान और पालित—ये दो धर्मज्ञ पुत्र हुए और अन्तर्धानसे शिखण्डिनीने हविर्धान नामक पुत्रको उत्पन्न किया॥ २८॥

हविर्धानात् षडाग्नेयी धिषणाजनयत् सुतान्।
प्राचीनबर्हिषं शुक्लं गयं कृष्णं व्रजाजिनौ॥ २९॥

हविर्धानसे अग्निकी पुत्री धिषणाने प्राचीनबर्हि, शुक्ल, गय, कृष्ण, व्रज और अजिन नामवाले छः पुत्रोंको उत्पन्न किया॥ २९॥

प्राचीनबर्हिर्भगवान् महानासीत् प्रजापतिः।
हविर्धानान्महाराज येन संवर्द्धिताः प्रजाः॥ ३०॥

महाराज! भगवान्* प्राचीनबर्हि, जिन्होंने प्रजाओंका पालन एवं संवर्धन किया था, अपने पिता हविर्धानसे बढ़कर प्रजापालक हुए॥ ३०॥

प्राचीनाग्राः कुशास्तस्य पृथिव्यां जनमेजय।
प्राचीनबर्हिर्भगवान् पृथिवीतलचारिणः॥ ३१॥

जनमेजय! उनके यज्ञ करते समय बिछे हुए प्राचीनाग्र कुश समस्त भूमण्डलपर फैलकर उनके महत्त्वको प्रकट कर रहे थे, अतएव उनका नाम भगवान् प्राचीनबर्हि है॥ ३१॥

समुद्रतनयायां तु कृतदारोऽभवत् प्रभुः।
महतस्तपसः पारे सवर्णायां महीपतिः॥ ३२॥

महीपति प्रभु प्राचीनबर्हिने बड़ा भारी तप करनेके पश्चात् समुद्रकी पुत्री सवर्णाके साथ विवाह किया॥ ३२॥

सवर्णाऽऽधत्त सामुद्री दश प्राचीनबर्हिषः।
सर्वे प्रचेतसो नाम धनुर्वेदस्य पारगाः॥ ३३॥

प्राचीनबर्हिसे समुद्रकी पुत्री सवर्णाने दस पुत्र उत्पन्न किये, उन दसोंका 'प्रचेता' यह एक ही नाम था। वे सब धनुर्वेदके पारगामी थे॥ ३३॥

अपृथग्धर्मचरणास्तेऽतप्यन्त महत्तपः।
दशवर्षसहस्राणि समुद्रसलिलेशयाः॥ ३४॥

वे सब प्रचेतागण एक साथ समान धर्म-कर्मका आचरण करते थे और एक-से शीलवाले थे, उन्होंने समुद्रके जलमें प्रवेश करके दस हजार वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की॥३४॥

---

* उनके कैसे-कैसे पात्र थे, कैसे-कैसे बछड़े थे और उन्होंने कौन-कौन-सा दूध दुहा था, इसका विस्तृत वर्णन आगे ५ वें अध्यायमें आयेगा।

* ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्यका नाम भग है। ये छः वस्तुएँ जिनमें पूर्णरूपसे हों ऐसे योगी महात्मा आदिके साथ भी भगवान् शब्दका प्रयोग किया जा सकता है।

तपश्चरत्सु पृथिवीं प्रचेतस्सु महीरुहाः।
अरक्ष्यमाणामावव्रुर्बभूवाथ प्रजाक्षयः ॥ ३५ ॥

जब प्रचेतागण तप कर रहे थे, तब अरक्षित पड़ी हुई पृथ्वीको वृक्षोंने चारों ओरसे ढक दिया, इससे प्रजाओंका नाश होने लगा ॥ ३५ ॥

नाशकन्मारुतो वातुं वृतं खमभवद् द्रुमैः।
दशवर्षसहस्राणि न शेकुश्चेष्टितुं प्रजाः ॥ ३६ ॥

दस हजार वर्षोंमें वृक्षोंने आकाशतकको घेर लिया, तब वायुका चलना बंद हो गया और प्रजाओंका चेष्टा करना (हाथ-पैर हिलाना) भी बंद होने लगा ॥ ३६ ॥

तदुपश्रुत्य तपसा युक्ताः सर्वे प्रचेतसः।
मुखेभ्यो वायुमग्निं च तेऽसृजञ्जातमन्यवः ॥ ३७ ॥

अपनी तपस्या (ज्ञानदृष्टि) से इन सब बातोंको जानकर सब प्रचेता इसका उपाय करनेके लिये उद्यत हो गये और उन्होंने क्रोधमें भरकर अपने मुखोंसे वायु और अग्निको प्रकट किया ॥ ३७ ॥

उन्मूलानथ तान् कृत्वा वृक्षान् वायुरशोषयत्।
तानग्निरदहद्‌घोरं एवमासीद् द्रुमक्षयः ॥ ३८ ॥

वायुने वृक्षोंको जड़से उखाड़कर उनको सुखा दिया, तब अग्नि प्रचण्ड होकर उन वृक्षोंको जलाने लगी, इस प्रकार वृक्षोंका नाश होने लगा ॥ ३८ ॥

द्रुमक्षयमथो बुद्‌ध्वा किंचिच्छिष्टेषु शाखिषु।
उपगम्याब्रवीदेतान् राजा सोमः प्रजापतीन् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार जलते-जलते जब कुछ ही वृक्ष बाकी बचे, तब वृक्षोंके संहारकी बातको जानकर इन वृक्षोंके राजा सोम प्रजापति प्रचेताओंके पास जाकर बोले—॥ ३९ ॥

कोपं यच्छत राजानः सर्वे प्राचीनबर्हिषः।
वृक्षशून्या कृता पृथ्वी शाम्येतामग्निमारुतौ ॥ ४० ॥

'प्राचीनबर्हिके पुत्र प्रचेताओ ! तुमने तो पृथ्वीको वृक्षोंसे शून्य ही कर डाला। राजाओ ! अब अपने क्रोधको रोको तथा इन अग्नि और पवनको शान्त करो ॥ ४० ॥

रत्नभूता च कन्येयं वृक्षाणां वरवर्णिनी।
भविष्यं जानता तत्त्वं धृता गर्भेण वै मया ॥ ४१ ॥

'यह वृक्षोंकी रत्नस्वरूपा सुन्दरी कन्या है। मैंने भविष्यके तत्त्वको जानकर इसे अपने गर्भमें स्थापित कर लिया था * ॥ ४१ ॥

मारिषा नाम कन्येयं वृक्षाणामिति निर्मिता।
भार्या वोऽस्तु महाभागाः सोमवंशविवर्द्धिनी ॥ ४२ ॥

'यह मारिषा नामवाली कन्या वृक्षोंके वीर्य अर्थात् सारांशसे रची गयी है। महाभाग ! इस सोमवंशकी वृद्धि करनेवाली वृक्षोंकी कन्याको तुम भार्यारूपमें ग्रहण करो ॥ ४२ ॥

युष्माकं तेजसोऽर्द्धेन मम चार्द्धेन तेजसः।
अस्यामुत्पत्स्यते पुत्रो दक्षो नाम प्रजापतिः ॥ ४३ ॥

'तुम्हारे और मेरे दोनोंके तेजके आधे-आधे भागके द्वारा इस कन्याके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न होगा, जिसका नाम होगा—दक्ष प्रजापति ॥ ४३ ॥

य इमां दग्धभूयिष्ठां युष्मत्तेजोमयेन वै।
अग्निनाग्निसमो भूयः प्रजाः संवर्धयिष्यति ॥ ४४ ॥

'तुम्हारे तपरूपी अग्निसे अग्निके समान ही प्रतापी वह दक्ष अधिकांश जली हुई इस पृथ्वीपर फिर प्रजाओंकी वृद्धि करेगा' ॥ ४४ ॥

ततः सोमस्य वचनाज्जगृहुस्ते प्रचेतसः।
संहृत्य कोपं वृक्षेभ्यः पत्नीं धर्मेण मारिषाम् ॥ ४५ ॥

चन्द्रमाके इस प्रकार कहनेपर उन प्रचेताओंने वृक्षोंकी ओरसे अपने क्रोधको समेट लिया और मारिषाको विवाहरूपी धर्मके द्वारा पत्नीरूपमें ग्रहण कर लिया ॥ ४५ ॥

मारिषायां ततस्ते वै मनसा गर्भमादधुः।
दशभ्यस्तु प्रचेतोभ्यो मारिषायां प्रजापतिः।
दक्षो जज्ञे महातेजाः सोमस्यांशेन भारत ॥ ४६ ॥

तदनन्तर उन प्रचेताओंने अपने मनसे मारिषामें गर्भ स्थापित किया। भरतवंशी राजन् ! इस प्रकार चन्द्रमाके अंशसे दस प्रचेताओंके द्वारा मारिषाके गर्भसे महातेजस्वी दक्ष प्रजापति उत्पन्न हुए ॥ ४६ ॥

पुत्रानुत्पादयामास सोमवंशविवर्धनान्।
अचरांश्च चरांश्चैव द्विपदोऽथ चतुष्पदः।
स दृष्ट्वा मनसा दक्षः पश्चादप्यसृजत् स्त्रियः ॥ ४७ ॥

तब उन दक्षप्रजापतिने चन्द्रमाके वंशको बढ़ानेवाले पुत्र उत्पन्न किये और स्थावर, जङ्गम, दो पैरवाले, चार पैरवाले रचनेयोग्य प्राणियोंकी सृष्टिके लिये मनमें विचारकर पीछे स्त्रियोंकी भी रचना की ॥ ४७ ॥

---

* वायुने वृक्षोंको सुखाते समय उनका जलीय सारांश जलके कारण सूर्यमें पहुँचा दिया, इसी प्रकार पृथ्वीका सारभूत अंश जलमय चन्द्रमामें पहुँचा दिया। इस प्रकार कन्यारूप वृक्षोंका वीर्य सोमने अपने गर्भमें धारण कर लिया, यह बात ठीक ही है। 'वृष्टिर्वै वृष्ट्वा चन्द्रमसमनु प्रविशति—वृष्टि बरसकर चन्द्रमामें प्रविष्ट हो जाती है' इस श्रुतिसे भी ओषधियोंके साररूपसे वृष्टिका चन्द्रमामें प्रवेश करना सिद्ध होता है। इस प्रकार चन्द्रमाका यह वचन ठीक ही है कि 'मैंने इस वृक्षोंकी कन्याको अपने गर्भमें धारण कर लिया था।'

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश।
शिष्टाः सोमाय राज्ञेऽथ नक्षत्राख्या ददौ प्रभुः॥४८॥

प्रभु दक्षने उनमेंसे दस कन्याएँ धर्मको, तेरह कन्याएँ कश्यपको और शेष बची हुई नक्षत्रसम्बन्धी नामवाली सत्ताईस कन्याएँ राजा चन्द्रमाको दे दीं ॥ ४८ ॥

तासु देवाः खगा नागा गावो दितिजदानवाः।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव जज्ञिरेऽन्याश्च जातयः ॥ ४९ ॥

उन कन्याओंसे देवता, पक्षी, सर्प, गौएँ, दैत्य-दानव-गन्धर्व, अप्सराएँ तथा अन्य जातियोंके प्राणी उत्पन्न हुए ॥ ४९ ॥

ततः प्रभृति राजेन्द्र प्रजा मैथुनसम्भवाः।
संकल्पाद् दर्शनात् स्पर्शात् पूर्वेषां सृष्टिरुच्यते॥ ५० ॥

राजेन्द्र! तभीसे प्रजाएँ मैथुनद्वारा उत्पन्न होने लगीं। इससे पहले प्राणियोंकी उत्पत्ति संकल्प,* दर्शन और स्पर्शसे होती थी—ऐसा कहा जाता है ॥ ५० ॥

जनमेजय उवाच

देवानां दानवानां च गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
सम्भवः कथितः पूर्वं दक्षस्य च महात्मनः ॥ ५१ ॥

जनमेजयने कहा—मुने! आपने पहले भी देवता, दानव, गन्धर्व, सर्प और राक्षस तथा महात्मा दक्षकी उत्पत्तिका वर्णन किया है ॥ ५१ ॥

अङ्गुष्ठाद् ब्रह्मणो जातो दक्षः प्रोक्तस्त्वयानघ।
वामाङ्गुष्ठात् तथा चैव तस्य पत्नी व्यजायत ॥ ५२ ॥

निष्पाप महर्षे! वहाँ आपने कहा है कि ब्रह्माजीके (दाहिने) अंगूठेसे दक्ष प्रजापति उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीके बायें अंगूठेसे दक्षकी पत्नी उत्पन्न हुई ॥ ५२ ॥

कथं प्राचेतसत्वं स पुनर्लेभे महातपाः।
एतन्मे संशयं विप्र सम्यगाख्यातुमर्हसि।
दौहित्रश्चैव सोमस्य कथं श्वशुरतां गतः ॥ ५३ ॥

वे महातपस्वी दक्ष फिर प्रचेताओंके पुत्र कैसे हुए? चन्द्रमाके नाती दक्ष फिर उनके श्वशुर कैसे बन गये? विप्रवर! मेरे इन संदेहोंको भली प्रकार व्याख्या करके आप दूर कर दीजिये ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

उत्पत्तिश्च निरोधश्च नित्यौ भूतेषु पार्थिव।
ऋषयोऽत्र न मुह्यन्ति विद्वांसश्चैव ये जनाः ॥ ५४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—पृथ्वीनाथ! जन्म और मृत्यु—ये समस्त प्राणियोंके लिये नित्य (स्वाभाविक) हैं। इस विषयमें ऋषियोंको कभी मोह नहीं होता। जो विद्वान् पुरुष हैं, वे भी इस विषयमें मोहित नहीं होते ॥ ५४ ॥

युगे युगे भवन्त्येते सर्वे दक्षादयो नृप।
पुनश्चैव निरुध्यन्ते विद्वांस्तत्र न मुह्यति ॥ ५५ ॥

नरेश्वर! ये दक्ष आदि सब लोग प्रत्येक युगमें उत्पन्न होते और मरते रहते हैं, अतः विद्वान् पुरुष इस विषयमें मोहको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ ५५ ॥

ज्यैष्ठ्यं कानिष्ठ्यमप्येषां पूर्वं नासीज्जनाधिप।
तप एव गरीयोऽभूत् प्रभावश्चैव कारणम् ॥ ५६ ॥

राजन्! पहले इनमें ज्येष्ठता और कनिष्ठताका अर्थात् पहले-पीछे उत्पन्न होनेका कोई विचार नहीं था, तप ही इनकी दृष्टिमें गरिष्ठ था और प्रभाव ही इनमें सम्बन्ध होनेका कारण होता था ॥ ५६ ॥

इमां विसृष्टिं दक्षस्य यो विद्यात् सचराचराम्।
प्रजावानापदुत्तीर्णः स्वर्गलोके महीयते ॥ ५७ ॥

जो मनुष्य चर तथा अचर प्राणियोंसहित इस दक्ष प्रजापतिकी सृष्टिके तत्त्वको जानता है, वह संतानवान् होता है और आपत्तियोंके पार हो स्वर्गमें प्रतिष्ठापूर्वक रहता है ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि प्रजासर्गे दक्षोत्पत्तिकथने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें प्रजासर्गके प्रसंगमें दक्षकी उत्पत्तिका वर्णनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

दक्ष प्रजापतिद्वारा सृष्टि-विस्तार, नारदजीका दक्षके पुत्रोंको विरक्त कर देना, दक्षकी साठ कन्याओं और उनकी संततिका वर्णन

जनमेजय उवाच

देवानां दानवानां च गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
उत्पत्तिं विस्तरेणेमां वैशम्पायन कीर्तय ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—वैशम्पायनजी! आप इस देवता, दानव, गन्धर्व, सर्प और राक्षसोंकी उत्पत्तिको विस्तारपूर्वक कहिये ॥ १ ॥

---

* उन दस प्रचेताओंके एक ही औरस पुत्र कैसे हुआ? इस शङ्काका उत्तर इस श्लोकके संकल्प शब्दसे मिलता है। अर्थात् उन दसोंका संकल्प एक-सा था, अतः उनके एक ही औरस पुत्र हुआ।

वैशम्पायन उवाच

प्रजाः सृजेति व्यादिष्टः पूर्वं दक्षः स्वयम्भुवा।
यथा ससर्ज भूतानि तथा शृणु महीपते ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! पहले स्वयम्भू ब्रह्माजीने दक्षको आज्ञा दी कि 'तुम प्रजाओंकी सृष्टि करो'। उस समय दक्षने (जरायुज आदि) प्राणियोंकी सृष्टि जिस प्रकार की थी, उसे सुनो ॥ २ ॥

मानसान्येव भूतानि पूर्वमेवासृजत् प्रभुः।
ऋषीन् देवान् सगन्धर्वानसुरानथ राक्षसान्।
यक्षभूतपिशाचांश्च वयःपशुसरीसृपान् ॥ ३ ॥

प्रभु दक्षने पहले ऋषि, देवता, गन्धर्व, असुर, राक्षस, यक्ष, भूत, पिशाच, पशु, पक्षी और सर्पोंकी मानसी सृष्टि रची अर्थात् इनको अपने संकल्पमात्रसे ही उत्पन्न कर दिया ॥

यदास्य तास्तु मानस्यो न व्यवर्द्धन्त वै प्रजाः।
अपध्याता भगवता महादेवेन धीमता ॥ ४ ॥
ततः संचिन्त्य तु पुनः प्रजाहेतोः प्रजापतिः।
स मैथुनेन धर्मेण सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ॥ ५ ॥
असिक्नीमावहत् पत्नीं वीरणस्य प्रजापतेः।
सुतां सुतपसा युक्तां महतीं लोकधारिणीम् ॥ ६ ॥

परंतु (पूर्वकल्पके वैरको स्मरणकर) बुद्धिमान् भगवान् महादेवने जब यह विचार किया कि दक्षकी मानसी प्रजाएँ न बढ़ें, और तदनुसार जब उनकी मनसे उत्पन्न की हुई प्रजाएँ अधिक उन्नति न कर सकीं, तब दक्ष प्रजापति विचारमें पड़ गये और फिर उन्होंने प्रजाकी वृद्धि करनेके लिये मैथुनधर्मसे अनेक प्रकारकी प्रजाओंको रचनेका विचार किया। इस विचारके अनुसार वे परम तप करनेके कारण संसारको धारण करनेमें समर्थ वीरण प्रजापतिकी महामहिम पुत्री असिक्नीको पत्नीरूपमें विवाह कर लाये ॥ ४–६ ॥

अथ पुत्रसहस्राणि वीरण्यां पञ्च वीर्यवान्।
असिक्न्यां जनयामास दक्ष एव प्रजापतिः ॥ ७ ॥

इसके बाद वीर्यवान् दक्ष प्रजापतिने वीरणकी पुत्री असिक्नीमें पाँच हजार पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ ७ ॥

तांस्तु दृष्ट्वा महाभागान् संविवर्धयिषून् प्रजाः।
देवर्षिः प्रियसंवादो नारदः प्राब्रवीदिदम्।
नाशाय वचनं तेषां शापायैवात्मनस्तथा ॥ ८ ॥

परंतु उन महाभाग्यवान् दक्षपुत्रोंको प्रजाकी वृद्धि करनेके लिये उत्सुक देख प्रियवादी देवर्षि नारदजीने उनको (ज्ञानका अधिकारी समझकर आत्मज्ञानका) उपदेश दिया। नारदजीके उस वचनसे दक्षपुत्र नष्ट हो गये (अथवा उनकी संसारमें आसक्ति नष्ट हो गयी); परंतु नारदजीका यह ज्ञानोपदेश देना स्वयं शाप पानेमें ही एक कारण बन गया ॥ ८ ॥

यं कश्यपः सुतवरं परमेष्ठी व्यजीजनत्।
दक्षस्य वै दुहितरि दक्षशापभयान्मुनिः ॥ ९ ॥

ब्रह्माजीने जिन श्रेष्ठ पुत्र नारदको उत्पन्न किया था, उनको ही कश्यप मुनिने दक्षके शापके भयसे (दक्षकी पत्नीकी छोटी बहिन अतएव) उनकी (पुत्रीके समान) कन्यामें उत्पन्न किया था ॥ ९ ॥

पूर्वं स हि समुत्पन्नो नारदः परमेष्ठिना।
असिक्न्यामथ वीरण्यां भूयो देवर्षिसत्तमः।
तं भूयो जनयामास पितेव मुनिपुङ्गवम् ॥ १० ॥

नारदजी पहले ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए थे, फिर वे ही देवर्षिसत्तम नारद वीरणकी पुत्री असिक्नी (की छोटी बहिन) में उत्पन्न हुए थे। उन मुनिपुङ्गव नारदजीको कश्यपने ब्रह्माजीके समान ही फिर प्रकट किया था ॥ १० ॥

तेन दक्षस्य पुत्रा वै हर्यश्वा इति विश्रुताः।
निर्मथ्य नाशिताः सर्वे विधिना च न संशयः ॥ ११ ॥

(इस घटनाको स्पष्ट करते हैं—) दक्षके हर्यश्व नामसे प्रसिद्ध (जो पाँच हजार) पुत्र थे, नारदजीने उनको शास्त्रोक्त रीतिसे देहाभिमानसे मुक्त कर इस संसारसे नष्ट कर दिया था (अर्थात् वे सब नारदजीसे चेतावनी पाकर संसारको त्याग परमात्माकी खोज करनेके लिये वनमें चले गये); इसमें कुछ संदेह नहीं है ॥ ११ ॥

तस्योद्यतस्तदा दक्षो नाशायामितविक्रमः।
महर्षीन् पुरतः कृत्वा याचितः परमेष्ठिना ॥ १२ ॥

तब अनुपम पराक्रमी दक्ष प्रजापति नारदजीको नष्ट करनेके लिये उद्यत हो गये। उस समय ब्रह्माजीने मरीचि आदि महर्षियोंके साथ जाकर दक्षसे ऐसा न करनेके लिये प्रार्थना की ॥

ततोऽभिसंधिं चक्रुस्ते दक्षस्तु परमेष्ठिना।
कन्यायां नारदो मह्यं तव पुत्रो भवेदिति ॥ १३ ॥

तब महर्षियोंने दक्ष और ब्रह्माजीमें संधि करा दी। दक्षने कहा कि 'आपका पुत्र नारद मेरी पुत्री (अर्थात् छोटी साली) का पुत्र बनकर उत्पन्न हो' ॥ १३ ॥

ततो दक्षस्तु तां प्रादात् कन्यां वै परमेष्ठिने।
स तस्यां नारदो जज्ञे दक्षशापभयादृषिः ॥ १४ ॥

तब दक्षने प्रजापति कश्यपको (तेरह कन्याएँ अर्पण करते समय) उस कन्याका दान कर दिया था। इस प्रकार दक्षके शापके भयसे नारद ऋषि उस कन्यासे फिर उत्पन्न हुए थे ॥

जनमेजय उवाच

कथं विनाशिताः पुत्रा नारदेन महर्षिणा।
प्रजापतेर्द्विजश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १५ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! महर्षि नारदने प्रजापति दक्षके पुत्रोंको किस प्रकार नष्ट किया था? इसको मैं स्पष्टरूपसे सुनना चाहता हूँ॥ १५॥

वैशम्पायन उवाच

दक्षस्य पुत्रा हर्यश्वा विवर्धयिषवः प्रजाः।
समागता महावीर्या नारदस्तानुवाच ह॥ १६॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! दक्षके हर्यश्व नामक पुत्र महावीर्यवान् थे, जब वे प्रजाओंकी वृद्धिका विचार करनेके लिये उद्यत हुए, तब नारदजीने उनसे कहा—॥ १६॥

बालिशा बत यूयं वै नास्या जानीथ वै भुवः।
प्रमाणं स्रष्टुकामाः स्थ प्रजाः प्राचेतसात्मजाः।
अन्तरूर्ध्वमधश्चैव कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः॥ १७॥

'प्राचेतस (दक्ष)के पुत्रो! खेदके साथ कहना पड़ता है कि तुम बड़े नादान हो। तुम्हें प्रजाकी सृष्टि करनेकी इच्छा हुई है; किंतु तुम इतना भी नहीं जानते कि जहाँ सृष्टि करनी है, उस पृथ्वीकी लंबाई-चौड़ाई कितनी है? यह ऊपर-नीचे और भीतरसे कैसी है? ऐसी दशामें तुमलोग प्रजाओंकी सृष्टि कैसे करोगे?'॥ १७॥

ते तु तद्वचनं श्रुत्वा प्रयाताः सर्वतोदिशम्।
प्रमाणं द्रष्टुकामास्ते गताः प्राचेतसात्मजाः॥ १८॥

नारदजीकी इस बातको सुनकर वे प्राचेतस दक्षके पुत्र (इस पृथ्वीका) प्रमाण अर्थात् माप देखनेके लिये सब दिशाओंकी ओर चल दिये॥१८॥

वायोरनशनं प्राप्य गतास्ते वै पराभवम्।
अद्यापि न निवर्तन्ते समुद्रेभ्य इवापगाः॥ १९॥

प्राणवायुके लिये आहार न पाकर वे सबके सब पराभव (विनाश)को प्राप्त हो गये। जैसे नदियाँ समुद्रमें मिल जानेपर फिर वहाँसे पीछे नहीं लौटती हैं, उसी प्रकार वे जाकर अबतक नहीं लौटे॥ १९॥

हर्यश्वेष्वथ नष्टेषु दक्षः प्राचेतसः पुनः।
वैरण्यामेव पुत्राणां सहस्रमसृजत् प्रभुः॥ २०॥

प्रचेताओंके पुत्र प्रभु दक्षने हर्यश्वोंके नष्ट हो जानेपर वीरणकी पुत्रीमें ही फिर सहस्र पुत्रोंको उत्पन्न किया॥ २०॥

विवर्धयिषवस्ते तु शबलाश्वाः प्रजास्तदा।
पूर्वोक्तं वचनं तात नारदेनैव नोदिताः॥ २१॥

तात! वे दक्षके पुत्र शबलाश्व जब प्रजाकी वृद्धिके लिये इच्छुक हुए, तब नारदजीने पूर्वोक्त वचन कहकर उनको भी पृथ्वीका प्रमाण जाननेके लिये प्रेरित किया॥ २१॥

अन्योन्यमूचुस्ते सर्वे सम्यगाह महामुनिः।
भ्रातॄणां पदवीं ज्ञातुं गन्तव्यं नात्र संशयः॥ २२॥

तब वे सब आपसमें कहने लगे—'महामुनि नारदजी ठीक कहते हैं; अपने भाइयोंके मार्गको जाननेके लिये निःसंदेह हमें भी अवश्य प्रयत्न करना चाहिये॥ २२॥

ज्ञात्वा प्रमाणं पृथ्व्याश्च सुखं स्रक्ष्यामहे प्रजाः।
एकाग्राः स्वस्थमनसा यथावदनुपूर्वशः॥ २३॥

'हम पृथ्वीके प्रमाणको जानकर एकाग्र और स्वस्थचित्तसे सुखपूर्वक प्रजाओंकी क्रमानुसार सृष्टि करेंगे॥ २३॥

तेऽपि तेनैव मार्गेण प्रयाताः सर्वतोदिशम्।
अद्यापि न निवर्तन्ते समुद्रेभ्य इवापगाः॥ २४॥

ऐसा निश्चय करके वे भी उसी मार्गसे चारों दिशाओंकी ओर चल दिये और समुद्रोंसे उनमें मिली हुई नदियोंके समान अभीतक नहीं लौटे॥ २४॥

नष्टेषु शबलाश्वेषु दक्षः क्रुद्धोऽवदद् वचः।
नारदं नाशमेहीति गर्भवासं वसेति च॥ २५॥

शबलाश्वोंके भी नष्ट हो जानेपर दक्ष प्रजापतिने क्रोधमें भरकर, नारदजीसे यह बात कही कि 'तुम्हारी देह नष्ट हो जाय और तुम फिर गर्भमें निवास करो'॥ २५॥

तदाप्रभृति वै भ्राता भ्रातुरन्वेषणं नृप।
प्रयातो नश्यति क्षिप्रं तन्न कार्यं विपश्चिता॥ २६॥

राजन्! उस दिनसे जो भाई भाईको खोजनेके लिये जाता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, अतएव विद्वान्‌को ऐसा न करना चाहिये अर्थात् भाईको ढूँढ़नेके लिये भाईको नहीं जाना चाहिये॥ २६॥

तांश्चापि नष्टान् विज्ञाय पुत्रान् दक्षः प्रजापतिः।
षष्टिं भूयोऽसृजत् कन्या वीरण्यामिति नः श्रुतम्॥

हमने सुना है कि अपने उन पुत्रोंको भी नष्ट हुआ जानकर दक्ष प्रजापतिने वीरणकी पुत्रीमें फिर साठ कन्याओंको उत्पन्न किया (क्योंकि कन्याएँ स्त्री होनेसे नारदजीके आत्मज्ञानके उपदेशकी पात्र नहीं थीं)॥ २७॥

तास्तदा प्रतिजग्राह भार्यार्थे कश्यपः प्रभुः।
सोमो धर्मश्च कौरव्य तथैवान्ये महर्षयः॥ २८॥

कुरुकुलोत्पन्न जनमेजय! उन (मेंसे कुछ कन्याओं)को प्रभु कश्यपजीने अपनी पत्नीके रूपमें स्वीकार कर लिया एवं चन्द्रमा, धर्म तथा दूसरे महर्षियोंने भी उन (मेंसे कितनी ही कन्याओं)को अपनी पत्नीके रूपमें स्वीकार कर लिया॥ २८॥

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश।
सप्तविंशतिं सोमाय चतस्रोऽरिष्टनेमिने॥ २९॥
द्वे चैव भृगुपुत्राय द्वे चैवाङ्गिरसे तथा।
द्वे कृशाश्वाय विदुषे तासां नामानि मे शृणु॥ ३०॥

दक्षने धर्मको दस, कश्यपजीको तेरह, चन्द्रमाको सत्ताईस, अरिष्टनेमिको चार, भृगुपुत्रको दो, अङ्गिराको दो

और विद्वान् कृशाश्व ऋषिको दो कन्याएँ दीं, उनके नामोंको मुझसे सुनो—॥ २९-३० ॥

अरुन्धती वसुर्यामी लम्बा भानुर्मरुत्वती।
संकल्पा च मुहूर्ता च साध्या विश्वा च भारत।
धर्मपत्न्यो दश त्वेतास्तास्वपत्यानि मे शृणु ॥ ३१ ॥

भरतवंशी राजन्! अरुन्धती, वसु, यामी, लम्बा, भानु, मरुत्वती, संकल्पा, मुहूर्ता, साध्या तथा विश्वा—ये दस धर्मकी पत्नियाँ हैं। इनमें जो संतान उत्पन्न हुई, उनके नामोंको मुझसे सुनो—॥ ३१ ॥

विश्वेदेवाश्च विश्वायाः साध्यान् साध्या व्यजायत।
मरुत्वत्यां मरुत्वन्तो वसोस्तु वसवस्तथा ॥ ३२ ॥

विश्वाने विश्वेदेव नामक पुत्रोंको और साध्याने साध्य नामवाले पुत्रोंको उत्पन्न किया, मरुत्वतीसे मरुत्वान् और वसुसे वसु प्रकट हुए ॥ ३२ ॥

भानोस्तु भानवस्तात मुहूर्ताया मुहूर्तजाः ॥ ३३ ॥

और तात! भानुसे भानुदेवता और मुहूर्तासे (क्षण, लव आदि कालाभिमानी देवता) मुहूर्तज उत्पन्न हुए ॥३३॥

लम्बायाश्चैव घोषोऽथ नागवीथी च यामिजा।
पृथिवीविषयं सर्वमरुन्धत्यां व्यजायत ॥ ३४ ॥

घोष नामक (मन्त्राभिमानी) देवता लम्बासे उत्पन्न हुआ तथा यामीसे (स्वर्गाभिमानिनी) नागवीथी उत्पन्न हुई तथा अरुन्धतीमें (धृत, पशु, औषध आदि) सब पृथ्वीके विषय उत्पन्न हुए ॥ ३४ ॥

संकल्पायास्तु सर्वात्मा जज्ञे संकल्प एव हि।
नागवीथ्याश्च यामिन्या वृषलम्बा व्यजायत ॥ ३५ ॥

तथा संकल्पासे सर्वात्मा संकल्प अर्थात् मानसक्रियाभिमानी देवता उत्पन्न हुआ और यामिपुत्री नागवीथीसे वृषलम्बा (कालान्तरमें फलवृष्टि करनेवाले धर्म या ईश्वरका अवलम्बन करनेवाला देवता) उत्पन्न हुआ ॥ ३५ ॥

या राजन् सोमपत्न्यस्तु दक्षः प्राचेतसो ददौ।
सर्वा नक्षत्रनाम्न्यस्ता ज्योतिषे परिकीर्तिताः ॥ ३६ ॥

राजन्! प्राचेतस दक्षने चन्द्रमाको जो कन्याएँ दी थीं, वे सब सोमपत्नियाँ नक्षत्रोंके नामसे ज्यौतिषशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं ॥ ३६ ॥

ये त्वन्ये ख्यातिमन्तो वै देवा ज्योतिःपुरोगमाः।
वसवोऽष्टौ समाख्यातास्तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् ॥३७॥

अब जो ज्योति आदि दूसरे प्रसिद्ध देवता हैं और जो विख्यात आठ वसु देवता हैं, उनका विस्तृत वर्णन मैं आपसे करूँगा ॥ ३७ ॥

आपो ध्रुवश्च सोमश्च धरश्चैवानिलानलौ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवो नामभिः स्मृताः ॥ ३८ ॥

आप, ध्रुव, सोम, धर, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास (—ये आठ) वसु नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ ३८ ॥

आपस्य पुत्रो वैतण्ड्यः श्रमः शान्तो मुनिस्तथा।
ध्रुवस्य पुत्रो भगवान् कालो लोकप्रकालनः ॥ ३९ ॥

आपके वैतण्ड्य, श्रम, शान्त और मुनिनामक पुत्र उत्पन्न हुए और संसारको अपने अंकुशमें रखनेवाले भगवान् काल ध्रुवके पुत्र हैं ॥ ३९ ॥

सोमस्य भगवान् वर्चा वर्चस्वी येन जायते।
धरस्य पुत्रो द्रविणो हुतहव्यवहस्तथा।
मनोहरायाः शिशिरः प्राणोऽथ रमणस्तथा ॥ ४० ॥

और सोम नामक वसुके पुत्र भगवान् वर्चा हैं, जिन (का पूजन करने) से मनुष्य वर्चस्वी हो जाता है। धर वसुके द्रविण और हुतहव्यवह नामक दो पुत्र हुए तथा (धरकी दूसरी पत्नी) मनोहरासे शिशिर, प्राण और रमण नामक पुत्र हुए ॥ ४० ॥

अनिलस्य शिवा भार्या यस्याः पुत्रो मनोजवः।
अविज्ञातगतिश्चैव द्वौ पुत्रावनिलस्य तु ॥ ४१ ॥

अनिलकी पत्नीका नाम शिवा था, उसके पुत्र मनोजव और अविज्ञातगति थे, ये दोनों अनिलके पुत्र थे ॥ ४१ ॥

अग्निपुत्रः कुमारस्तु शरस्तम्बे श्रियान्वितः।
तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठजाः ॥ ४२ ॥

अग्निके पुत्र श्रीमान् कुमार सरकंडोंके झुंडमें प्रकट हुए थे। उनके पीछे शाख, विशाख और नैगमेय हुए (इस प्रकार अग्निके चार पुत्र थे) ॥ ४२ ॥

अपत्यं कृत्तिकानां तु कार्तिकेय इति स्मृतः।
स्कन्दः सनत्कुमारश्च सृष्टः पादेन तेजसः ॥ ४३ ॥

(ये कुमार ही) कृत्तिकाओंकी संतान कार्तिकेय (और) स्कन्द कहलाते हैं और ये ही सनत्कुमार हैं। अग्निने इन्हें अपने तेजके एक अंशसे प्रकट किया है (और शाख आदि तीनको भी अपने तेजके एक-एक चौथाई अंशसे प्रकट किया है। छान्दोग्य-उपनिषद्में लिखा है कि 'तं स्कन्द इत्याचक्षते' यह सनत्कुमार ही स्कन्द हैं। इससे प्रतीत होता है कि सनत्कुमार इनका उपनाम है) ॥ ४३ ॥

प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रमृषिं नाम्ना च देवलम्।
द्वौ पुत्रौ देवलस्यापि क्षमावन्तौ तपस्विनौ ॥ ४४ ॥

प्रत्यूषके पुत्रका नाम देवल और (पुत्रीका नाम) ऋष्टि था। देवलके भी दो पुत्र थे, जो क्षमावान् तथा तपस्वी थे ॥ ४४ ॥

बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मचारिणी।
योगसिद्धा जगत् कृत्स्नमसक्ता विचचार ह॥ ४५॥

बृहस्पतिकी बहिनका नाम ब्रह्मचारिणी था, वह योग-सिद्ध श्रेष्ठ स्त्री आसक्तिको त्यागकर सारे संसारमें विचरण किया करती थी॥ ४५॥

प्रभासस्य च सा भार्या वसूनामष्टमस्य च।
विश्वकर्मा महाभागस्तस्यां जज्ञे प्रजापतिः॥ ४६॥

वह प्रभास नामवाले आठवें वसुकी भार्या बन गयी। उसके गर्भसे विश्वकर्मा नामवाले महाभाग्यवान् प्रजापति उत्पन्न हुए॥ ४६॥

कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वर्धकिः।
भूषणानां च सर्वेषां कर्ता शिल्पवतां वरः॥ ४७॥

उन्होंने हजारों शिल्पों (कलाओं) की रचना की है और वे देवताओंके बढ़ई हैं तथा वे शिल्पियोंमें श्रेष्ठ विश्वकर्मा सब आभूषणोंके बनानेवाले हैं॥ ४७॥

यः सर्वासां विमानानि देवतानां चकार ह।
मनुष्याश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः॥ ४८॥

उन्होंने सब देवताओंके विमानोंको बनाया है और उन महात्माके शिल्पसे मनुष्य भी अपनी आजीविका चलाते हैं॥

सुरभी कश्यपाद् रुद्रानेकादश विनिर्ममे।
महादेवप्रसादेन तपसा भाविता सती॥ ४९॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यस्त्वष्टा रुद्राश्च भारत।
त्वष्टुश्चैवात्मजः श्रीमान् विश्वरूपो महायशाः॥ ५०॥

(अब दक्षने कश्यप मुनिको जो तेरह कन्याएँ दी थीं, उनमेंसे सुरभिकी संतानका वर्णन करते हैं—) तपमें मग्न हुई सुरभिने महादेवजीसे वर पाकर कश्यपजीके द्वारा ग्यारह रुद्रोंको उत्पन्न किया था। भरतवंशी राजन्! अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य, त्वष्टा तथा रुद्र—ये सब सुरभिकी ही संतानें हैं। त्वष्टाके महा-यशस्वी और श्रीमान् पुत्रका नाम विश्वरूप था॥ ४९-५०॥

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः।
वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा॥ ५१॥
मृगव्याधश्च सर्पश्च कपाली च विशाम्पते।
एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः॥ ५२॥

राजन्! हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, सर्प और कपाली—ये तीनों भुवनोंके ईश्वर ग्यारह रुद्र कहे गये हैं॥ ५१-५२॥

शतं त्वेवं समाख्यातं रुद्राणाममितौजसाम्।
पुराणे भरतश्रेष्ठ यैर्व्याप्ताः सचराचराः॥ ५३॥
लोका भरतशार्दूल कश्यपस्य निबोध मे।
अदितिर्दितिर्दनुश्चैव अरिष्टा सुरसा खशा॥ ५४॥
सुरभिर्विनता चैव ताम्रा क्रोधवशा इरा।
कद्रुर्मुनिश्च राजेन्द्र तास्वपत्यानि मे शृणु॥ ५५॥

भरतश्रेष्ठ! पुराणोंमें इन अमित पराक्रमी रुद्रोंके सैकड़ों रूप बताये गये हैं। इनसे चराचर लोक भरे हुए हैं। भरतशार्दूल! अब तुम मुझसे कश्यपकी (स्त्रियोंके नाम) सुनो। (वे हैं—) अदिति, दिति, दनु, अरिष्टा, सुरसा, खशा, सुरभि, विनता, ताम्रा, क्रोधवशा, इरा, कद्रू और मुनि। राजेन्द्र! अब इनसे जो संतानें उत्पन्न हुईं, उनका वर्णन मुझसे सुनो—॥ ५३-५५॥

पूर्वमन्वन्तरे श्रेष्ठा द्वादशासन् सुरोत्तमाः।
तुषिता नाम तेऽन्योन्यमूचुर्वैवस्वतेऽन्तरे॥ ५६॥
उपस्थितेऽतियशसि चाक्षुषस्यान्तरे मनोः।
हितार्थं सर्वसत्त्वानां समागम्य परस्परम्॥ ५७॥

पहले चाक्षुष मन्वन्तरमें तुषित नामवाले बारह श्रेष्ठ देवता थे। वे उस अत्यन्त यशस्वी मन्वन्तरका अन्त आनेपर वैवस्वत मन्वन्तरके आरम्भमें सब प्राणियोंका हित करनेके लिये परस्पर मिलकर कहने लगे—॥ ५६-५७॥

आगच्छत द्रुतं देवा अदितिं सम्प्रविश्य वै।
मन्वन्तरे प्रसूयामस्तन्नः श्रेयो भविष्यति॥ ५८॥

'देवताओ! शीघ्र आओ! हम अदितिमें प्रवेश करके अगले (वैवस्वत) मन्वन्तरमें उत्पन्न होंगे, यह कार्य हमारे लिये श्रेयस्कर होगा'॥ ५८॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु ते सर्वे चाक्षुषस्यान्तरे मनोः।
मारीचात् कश्यपाज्जातास्तेऽदित्या दक्षकन्यया॥ ५९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—वे सभी देवता चाक्षुष मन्वन्तरके अन्तमें इस प्रकार बार्तालाप कर मरीचिपुत्र कश्यप-से दक्षकी कन्या अदितिके गर्भसे उत्पन्न हो गये॥ ५९॥

तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव हि।
अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा च भारत॥ ६०॥
विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च।
अंशो भगश्चातितेजा आदित्या द्वादश स्मृताः॥ ६१॥

भारत! वहाँ विष्णु और इन्द्र फिर उत्पन्न हुए। वे तथा अर्यमा, धाता, त्वष्टा, पूषा, विवस्वान्, सविता, मित्र, वरुण, अंश और परम तेजस्वी भग—ये बारह आदित्य कहलाते हैं॥ ६०-६१॥

चाक्षुषस्यान्तरे पूर्वमासन् ये तुषिताः सुराः।
वैवस्वतेऽन्तरे ते वै आदित्या द्वादश स्मृताः॥ ६२॥

पहले चाक्षुष मन्वन्तरमें जो तुषित नामवाले देवता थे, वे अब वैवस्वत मन्वन्तरमें बारह आदित्य कहलाते हैं॥ ६२॥

सप्तविंशतिर्याः प्रोक्ताः सोमपत्न्योऽथ सुव्रताः।
तासामपत्यान्यभवन् दीप्तान्यमिततेजसाम्॥ ६३॥

और जो सुन्दर व्रत धारण करनेवाली चन्द्रमाकी सत्ताईस पत्नियाँ कही गयी हैं, उन अमित तेजस्विनी पत्नियोंकी ज्योतिर्मयी संतानें उत्पन्न हुईं ॥ ६३ ॥

अरिष्टनेमिपत्नीनामपत्यानीह षोडश ।
बहुपुत्रस्य विदुषश्चतस्रो विद्युतः स्मृताः ॥ ६४ ॥

अनेक पुत्रवाले विद्वान् अरिष्टनेमिकी विद्युत् नामवाली चार पत्नियाँ थीं । उनसे सोलह संतानें उत्पन्न हुईं ॥ ६४ ॥

प्रत्यङ्गिरसजाः श्रेष्ठा ऋचो ब्रह्मर्षिसत्कृताः।
कृशाश्वस्य तु राजर्षेर्देवप्रहरणानि च ॥ ६५ ॥

राजर्षि कृशाश्वके ब्रह्मर्षियोंसे सत्कृत श्रेष्ठ प्रत्यङ्गिरसजा ऋचाएँ और देवताओंके आयुध प्रकट हुए ॥ ६५ ॥

एते युगसहस्रान्ते जायन्ते पुनरेव हि ।
सर्वेदेवगणास्तात त्रयस्त्रिंशत् तु कामजाः ॥ ६६ ॥

तात ! ईश्वरकी कामनासे उत्पन्न होनेवाले तैंतीस देवगण सत्ययुग आदि चारों युगोंके एक हजार बार बीतनेपर (प्रत्येक कल्पमें) पुनः उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ ६६ ॥

तेषामपि च राजेन्द्र निरोधोत्पत्तिरुच्यते ॥ ६७ ॥

राजेन्द्र ! उन देवताओंकी भी उत्पत्ति और नाशका वर्णन उपलब्ध होता है ॥ ६७ ॥

यथा सूर्यस्य गगने उदयास्तमने इह ।
एवं देवनिकायास्ते सम्भवन्ति युगे युगे ॥ ६८ ॥

जैसे आकाशमें सूर्यका उदय और अस्त बारंबार होता रहता है, इसी प्रकार ये देवताओंके समूह प्रत्येक युगमें उत्पन्न (तथा नष्ट) होते हैं ॥ ६८ ॥

दित्याः पुत्रद्वयं जज्ञे कश्यपादिति नः श्रुतम् ।
हिरण्यकशिपुश्चैव हिरण्याक्षश्च वीर्यवान् ॥ ६९ ॥

(इस प्रकार आदित्योंका वर्णन करके अब दैत्योंका वर्णन करते हैं—) हमने सुना है, कश्यप ऋषिसे दितिके दो पुत्र उत्पन्न हुए थे, (उनमेंसे एक) हिरण्यकशिपु और (दूसरा) वीर्यवान् हिरण्याक्ष था ॥ ६९ ॥

सिंहिका चाभवत् कन्या विप्रचित्तेः परिग्रहः।
सैंहिकेया इति ख्यातास्तस्याः पुत्रा महाबलाः।
गणैश्च सह राजेन्द्र दशसाहस्रमुच्यते ॥ ७० ॥

(इन कश्यप और दितिकी) एक सिंहिका नामवाली कन्या भी थी, वह विप्रचित्तिको विवाही गयी थी । उसके महाबली पुत्र सैंहिकेय नामसे प्रसिद्ध हैं । राजेन्द्र ! वे अपने गणोंसहित दस हजार हैं ॥ ७० ॥

तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
असंख्याता महाबाहो हिरण्यकशिपोः शृणु ॥ ७१ ॥

और उनके सैकड़ों पुत्र और हजारों पौत्र हैं, उनकी गिनती नहीं की जा सकती । महाबाहो ! अब हिरण्यकशिपुकी (संतानोंका वर्णन) सुनो ॥ ७१ ॥

हिरण्यकशिपोः पुत्राश्चत्वारः प्रथितौजसः ।
अनुह्रादश्च ह्रादश्च प्रह्रादश्चैव वीर्यवान् ॥ ७२ ॥
संह्रादश्च चतुर्थोऽभूद् ह्रादपुत्रो ह्रदस्तथा ।
संह्रादपुत्रः सुन्दश्च निसुन्दस्तावुभौ स्मृतौ ॥ ७३ ॥

हिरण्यकशिपुके अनुह्राद, ह्राद, वीर्यवान् प्रह्राद और चौथा संह्राद—ये चार प्रसिद्ध पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुए । ह्रादका पुत्र ह्रद हुआ । सुन्द और निसुन्द—ये दोनों संह्रादके पुत्र कहलाते हैं ॥ ७२-७३ ॥

अनुह्रादसुतौ ह्यायुः शिबिकालस्तथैव ह ।
विरोचनश्च प्राह्रादिर्बलिर्जज्ञे विरोचनात् ॥ ७४ ॥

अनुह्रादके आयु और शिबिकाल नामक दो पुत्र थे । प्रह्रादके विरोचन नामक पुत्र हुआ और विरोचनसे बलि नामवाला पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ७४ ॥

बलेः पुत्रशतं त्वासीद् बाणज्येष्ठं नराधिप ।
धृतराष्ट्रश्च सूर्यश्च चन्द्रमाश्चेन्द्रतापनः ॥ ७५ ॥
कुम्भनाभो गर्दभाक्षः कुक्षिरित्येवमादयः ।
बाणस्तेषामतिबलो ज्येष्ठः पशुपतेः प्रियः ॥ ७६ ॥

बलिके सौ पुत्र थे । उनमें बाण (सबसे) बड़ा था । राजन् ! धृतराष्ट्र, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्रतापन, कुम्भनाभ, गर्दभाक्ष और कुक्षि आदि (बलिके सौ पुत्र थे) । इनमें अतिबली बाण बड़ा था और वह शिवका प्रिय भक्त था ।७५-७६।

पुराकल्पे हि बाणेन प्रसाद्योमापतिं प्रभुम् ।
पार्श्वतो विहरिष्यामि इत्येवं याचितो वरः ॥ ७७ ॥

पहले कल्पमें बाणासुरने उमापति शंकरको प्रसन्न करके यह वर माँगा था कि 'मैं आपके पास विहार करूँ' ॥ ७७ ॥

बाणस्य चेन्द्रदमनो लोहित्यामुपपद्यत ।
गणास्तथासुरा राजञ्छतसाहस्रसम्मिताः ॥ ७८ ॥

बाणके लोहिती नामकी पत्नीमें इन्द्रदमन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । राजन् ! लाखों असुर उसके गण थे ॥ ७८ ॥

हिरण्याक्षसुताः पञ्च विद्वांसः सुमहाबलाः ।
झर्झरः शकुनिश्चैव भूतसंतापनस्तथा ।
महानाभश्च विक्रान्तः कालनाभस्तथैव च ॥ ७९ ॥

हिरण्याक्षके झर्झर, शकुनि, भूतसंतापन, महानाभ और पराक्रमी कालनाभ नामक पाँच पुत्र हुए, वे विद्वान् और परम पराक्रमी थे ॥ ७९ ॥

अभवन् दनुपुत्राश्च शतं तीव्रपराक्रमाः ।
तपस्विनो महावीर्याः प्राधान्येन निबोध तान् ॥ ८० ॥

(अब दनुके वंशका वर्णन करते हैं—) दनुके सौ पुत्र हुए । वे सब परम पराक्रमी, तपस्वी और महावीर्यवान् थे । उनमेंसे मुख्य-मुख्य असुरोंका वर्णन सुनिये ॥ ८० ॥

द्विमूर्धा शकुनिश्चैव तथा शङ्कुशिरा विभुः।
शङ्कुकर्णो विराधश्च गवेष्ठी दुन्दुभिस्तथा।
अयोमुखः शम्बरश्च कपिलो वामनस्तथा ॥ ८१ ॥
मरीचिर्मघवांश्चैव इरा शङ्कुशिरा वृकः।
विक्षोभणश्च केतुश्च केतुवीर्यशतह्रदौ ॥ ८२ ॥
इन्द्रजित् सत्यजिच्चैव वज्रनाभस्तथैव च।
महानाभश्च विक्रान्तः कालनाभस्तथैव च ॥ ८३ ॥
एकचक्रो महाबाहुस्तारकश्च महाबलः।
वैश्वानरः पुलोमा च विद्रावणमहासुरौ ॥ ८४ ॥
स्वर्भानुर्वृषपर्वा च तुहुण्डश्च महासुरः।
सूक्ष्मश्चैवातिचन्द्रश्च ऊर्णनाभो महागिरिः ॥ ८५ ॥
असिलोमा च केशी च शठश्च बलको मदः।
तथा गगनमूर्धा च कुम्भनाभो महासुरः ॥ ८६ ॥
प्रमदो मयश्च कुपथो हयग्रीवश्च वीर्यवान्।
वैसृपः सविरूपाक्षः सुपथोऽथ हराहरौ ॥ ८७ ॥
हिरण्यकशिपुश्चैव शतमायश्च शम्बरः।
शरभः शलभश्चैव विप्रचित्तिश्च वीर्यवान् ॥ ८८ ॥
एते सर्वे दनोः पुत्राः कश्यपादभिजज्ञिरे।
विप्रचित्तिप्रधानास्ते दानवाः सुमहाबलाः ॥ ८९ ॥

द्विमूर्धा, शकुनि तथा विभु, शङ्कुशिरा, शङ्कुकर्ण, विराध और गवेष्ठी, दुन्दुभि तथा अयोमुख, शम्बर और कपिल, वामन तथा मरीचि, मघवान् और इरा, शङ्कुशिरा, वृक, विक्षोभण और केतु तथा केतुवीर्य, शतह्रद, इन्द्रजित्, सत्यजित् और वज्रनाभ तथा महानाभ और विक्रान्त, कालनाभ, महाभुज एकचक्र और महाबली तारक, वैश्वानर, पुलोमा, विद्रावण और महासुर, स्वर्भानु, वृषपर्वा और महान् असुर तुहुण्ड, सूक्ष्म और अतिचन्द्र तथा ऊर्णनाभ, महागिरि, असिलोमा और केशी एवं शठ तथा बलक, मद तथा गगनमूर्धा और महान् असुर कुम्भनाभ, प्रमद, मय और कुपथ, हयग्रीव और वीर्यवान् वैसृप, विरूपाक्षसहित सुपथ और हर, अहर, हिरण्यकशिपु तथा सैकड़ों प्रकारकी माया जाननेवाला शम्बर, शरभ, शलभ और वीर्यवान् विप्रचित्ति—ये सब दनुके पुत्र कश्यपजीसे उत्पन्न हुए थे। इनमें विप्रचित्ति प्रधान था। ये सब दानव बड़े बलवान् थे॥८१—८९॥

एतेषां यदपत्यं तु तन्न शक्यं नराधिप।
प्रसंख्यातुं महीपाल पुत्रपौत्राद्यनन्तकम् ॥ ९० ॥

नराधिप ! इनकी जो संतानें हुईं, उनकी गिनती नहीं की जा सकती। महीपाल ! इनके अनन्त पुत्र-पौत्र उत्पन्न हुए ॥ ९० ॥

स्वर्भानोस्तु प्रभा कन्या पुलोम्नश्च सुतात्रयम्।
उपदानवी हयशिराः शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥ ९१ ॥

स्वर्भानुके प्रभा नामक पुत्री उत्पन्न हुई और पुलोमाके उपदानवी, हयशिरा (तथा शची) तीन कन्याएँ उत्पन्न हुईं। वृषपर्वाके शर्मिष्ठा नामकी पुत्री उत्पन्न हुई ॥ ९१ ॥

पुलोमा कालिका चैव वैश्वानरसुते उभे।
बह्वपत्ये महावीर्ये मारीचेस्तु परिग्रहः ॥ ९२ ॥

वैश्वानर दानवकी पुलोमा और कालिका नामकी दो पुत्रियाँ हुईं। ये दोनों मरीचिनन्दन कश्यपको विवाही गयीं, ये बड़ी शक्तिशालिनी थीं। इन कन्याओंके बहुत-सी संतानें उत्पन्न हुईं ॥ ९२ ॥

तयोः पुत्रसहस्राणि षष्टिं दानवनन्दनान्।
चतुर्दशशतानन्यान् हिरण्यपुरवासिनः ॥ ९३ ॥
मारीचिर्जनयामास महता तपसान्वितः।
पौलोमाः कालकेयाश्च दानवास्ते महाबलाः ॥ ९४ ॥
अवध्या देवतानां च हिरण्यपुरवासिनः।
कृताः पितामहेनाजौ निहताः सव्यसाचिना ॥ ९५ ॥

परम तपस्वी मारीचि (कश्यप)ने उन दोनों स्त्रियोंमें दानवोंको आनन्द देनेवाले साठ हजार पुत्रोंको जन्म दिया। फिर चौदह सौ पुत्र और उत्पन्न किये। ये सब हिरण्यपुरमें रहते थे। इन हिरण्यपुरमें रहनेवाले महाबली पौलोम और कालकेय दानवोंको ब्रह्माजीने (वर देकर) देवताओंसे भी अवध्य (न मारे जानेयोग्य) कर दिया था। अर्जुनने इनको रणमें मार डाला था॥९३—९५॥

प्रभाया नहुषः पुत्रः सृंजयश्च शचीसुतः।
पूरुं जज्ञेऽथ शर्मिष्ठा दुष्यन्तमुपदानवी ॥ ९६ ॥

प्रभाके नहुष नामक पुत्र हुआ और शचीके सृंजय। शर्मिष्ठाने पूरुको उत्पन्न किया और उपदानवीने दुष्यन्तको ॥

ततोऽपरे महावीर्या दानवास्त्वतिदारुणाः।
सिंहिकायामथोत्पन्ना विप्रचित्तेः सुतास्तदा॥ ९७ ॥
दैत्यदानवसंयोगाज्जातास्तीव्रपराक्रमाः।
सैंहिकेया इति ख्यातास्त्रयोदश महाबलाः ॥ ९८ ॥

तदनन्तर और भी बहुत-से महावीर्यवान् अतिदारुण दानव सिंहिकामें विप्रचित्तिसे उत्पन्न हुए, फिर दैत्य-दानवोंके संयोगसे विप्रचित्तिके बहुत-से तीव्र पराक्रमी पुत्र हुए। इनमें तेरह महाबली दानव 'सैंहिकेय' नामसे प्रसिद्ध हैं॥९७-९८॥

व्यंशः शल्यश्च बलिनौ नभश्चैव महाबलः।
वातापिर्नमुचिश्चैव इल्वलः खसृमस्तथा ॥ ९९ ॥
आञ्जिको नरकश्चैव कालनाभस्तथैव च।
शुकः पोतरणश्चैव वज्रनाभश्च वीर्यवान् ॥१००॥

(उनके नाम इस प्रकार हैं—) बलवान् व्यंश और शल्य, महाबली नभ, वातापि और नमुचि, इल्वल तथा खसृम, आञ्जिक और नरक तथा कालनाभ, शुक और पोतरण तथा वीर्यवान् वज्रनाभ ॥ ९९-१०० ॥

राहुर्ज्येष्ठस्तु तेषां वै सूर्यचन्द्रविमर्दनः।
मूकश्चैव तुहुण्डश्च ह्रादपुत्रौ बभूवतुः ॥१०१॥

इनमें राहु सबसे बड़ा है, जो सूर्य तथा चन्द्रमाको पीड़ा देता रहता है। ह्रादके मूक और तुहुण्ड नामवाले दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १०१ ॥

मारीचः सुन्दपुत्रश्च ताडकायां व्यजायत।
शिवमाणस्तथा चैव सुरकल्पश्च वीर्यवान् ॥१०२॥

सुन्दके ताडकामें मारीच नामक पुत्र उत्पन्न हुआ तथा (सुन्द और ताडकाके) शिवमाण और वीर्यवान् सुरकल्प नामक पुत्र भी उत्पन्न हुए ॥ १०२ ॥

एते वै दानवाः श्रेष्ठा दनुवंशविवर्द्धनाः।
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥१०३॥

ये सभी दानव श्रेष्ठ और दनुके वंशका विस्तार करनेवाले हैं, इनके सैकड़ों पुत्र और हजारों पौत्र हैं ॥१०३॥

संह्रादस्य तु दैत्यस्य निवातकवचाः कुले।
समुत्पन्नाः सुतपसा महान्तो भावितात्मनः ॥१०४॥

संह्राद दैत्यके कुलमें निवातकवच उत्पन्न हुए, वे सब उदार थे और उन्होंने बड़ा भारी तप करके अपने चित्तको पवित्र कर लिया था ॥ १०४ ॥

तिस्रः कोट्यः सुतास्तेषां मणिमत्यां निवासिनाम्।
तेऽप्यवध्यास्तु देवानामर्जुनेन निपातिताः ॥१०५॥

वे मणिमती नगरीमें निवास करते थे। उनके तीन करोड़ पुत्र थे। वे भी देवताओंसे अवध्य थे, उनको भी अर्जुनने मार डाला था ॥ १०५ ॥

षट् सुताः सुमहासत्त्वास्ताम्रायाः परिकीर्तिताः।
काकी श्येनी च भासी च सुग्रीवी शुचि गृध्रिका॥१०६॥

ताम्राके काकी, श्येनी, भासी, सुग्रीवी, शुचि और गृध्रिका नामकी अत्यन्त बलशालिनी छः पुत्रियाँ कही जाती हैं ॥ १०६ ॥

काकी काकानजनयदुलूकी प्रत्युलूककान्।
श्येनी श्येनांस्तथा भासी भासान् गृध्रांश्च गृध्र्यपि॥
शुचिरौदकान् पक्षिगणान् सुग्रीवी तु परंतप।
अश्वानुष्ट्रान् गर्दभांश्च ताम्रावंशः प्रकीर्तितः ॥१०८॥

परंतप ! काकीने कौओंको, उलूकीने उल्लुओंको, श्येनीने श्येनों (बाजों) को, भासीने भास नामक पक्षियोंको और गृध्रीने गीधोंको उत्पन्न किया। शुचिने जलमें रहनेवाले पक्षियोंको और सुग्रीवीने घोड़े, ऊँट तथा गधोंको जन्म दिया। यह मैंने ताम्राके वंशका वर्णन किया है॥१०७-१०८॥

विनतायास्तु पुत्रौ द्वावरुणो गरुडस्तथा।
सुपर्णः पततां श्रेष्ठो दारुणः स्वेन कर्मणा ॥१०९॥

विनताके अरुण और गरुड नामक दो पुत्र हुए। इनमेंसे पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड अपने कर्मके कारण बड़े दारुण माने गये हैं ॥ १०९ ॥

सुरसायाः सहस्रं तु सर्पाणाममितौजसाम्।
अनेकशिरसां तात खेचराणां महात्मनाम् ॥११०॥

सुरसाके हजारों सर्प उत्पन्न हुए । तात ! वे सब सर्प अमितपराक्रमी, अनेक फनोंवाले, आकाशमें विचरण करनेवाले तथा विशालकाय हैं ॥ ११० ॥

काद्रवेयाश्च बलिनः सहस्रममितौजसः।
सुपर्णवशगा नागा जज्ञिरेऽनेकमस्तकाः ॥१११॥
तेषां प्रधानाः सततं शेषवासुकितक्षकाः।
ऐरावतो महापद्मः कम्बलाश्वतरावुभौ ॥११२॥
एलापत्रस्तथा शंखः कर्कोटकधनंजयौ।
महानीलमहाकर्णौ धृतराष्ट्रबलाहकौ ॥११३॥
कुहरः पुष्पदंष्ट्रश्च दुर्मुखः सुमुखस्तथा।
शङ्खश्च शङ्खपालश्च कपिलो वामनस्तथा ॥११४॥
नहुषः शङ्खरोमा च मणिरित्येवमादयः।
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च गरुडेन निपातिताः ॥११५॥

कद्रूके भी परम पराक्रमी हजारों सर्प उत्पन्न हुए। उन बलवान् सर्पोंके अनेक मस्तक हैं और वे सर्वदा गरुडके अधीन रहते हैं। उनमें शेष, वासुकि, तक्षक, ऐरावत, महापद्म, कम्बल, अश्वतर, एलापत्र, शङ्ख, कर्कोटक, धनंजय, महानील, महाकर्ण, धृतराष्ट्र, बलाहक, कुहर, पुष्पदंष्ट्र, दुर्मुख, सुमुख, शङ्ख, शङ्खपाल, कपिल, वामन, नहुष, शङ्खरोमा तथा मणि आदि प्रधान हैं । इनके पुत्र और पौत्रोंको गरुडने मार डाला था ॥ १११–११५ ॥

चतुर्दश सहस्राणि क्रूराणां पवनाशिनाम्।
गणं क्रोधवशं विद्धि तस्य सर्वे च दंष्ट्रिणः ॥११६॥

वायु पीकर रहनेवाले चौदह हजार क्रूर सर्पोंका क्रोधवश नामवाला एक गण है। उस गणके समस्त सर्प दाढ़ोंवाले हैं ॥ ११६ ॥

स्थलजाः पक्षिणोऽब्जाश्च धरायाः प्रसवाः स्मृताः।
गास्तु वै जनयामास सुरभिर्महिषांस्तथा ॥११७॥

स्थल और जलके पक्षी धराकी संतान कहलाते हैं। सुरभिने गौ, बैल और भैंसोंको उत्पन्न किया ॥ ११७ ॥

इरा वृक्षलतावल्लीस्तृणजातीश्च सर्वशः।
खशा तु यक्षरक्षांसि मुनिरप्सरसस्तथा ॥११८॥

इराने वृक्ष, लता, बेल तथा सब प्रकारकी घासोंको उत्पन्न किया। खशाने यक्षों और राक्षसोंको तथा मुनिने अप्सराओंको जन्म दिया॥ ११८॥

अरिष्टा तु महासत्त्वान् गन्धर्वानमितौजसः।
एते कश्यपदायादाः कीर्तिताः स्थाणुजंगमाः॥११९॥

अरिष्टाने महासत्त्ववाले अमित पराक्रमी गन्धर्वोंको उत्पन्न किया। यह कश्यप ऋषिकी स्थावर और जंगम संतानोंका वर्णन हुआ॥ ११९॥

तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः।
एष मन्वन्तरे तात सर्गः स्वारोचिषे स्मृतः॥१२०॥

इनके सैकड़ों पुत्र और हजारों पौत्र हुए। तात! यह स्वारोचिष मन्वन्तरकी सृष्टिका वर्णन है॥ १२०॥

वैवस्वते तु महति वारुणे वितते क्रतौ।
जुह्वानस्य ब्रह्मणो वै प्रजासर्ग इहोच्यते॥१२१॥

जब वैवस्वत मन्वन्तरमें वरुणदेवतासम्बन्धी बड़ा भारी यज्ञ चल रहा था, तब ब्रह्माजीके आहुति देते समय प्रजाओंको रचनेका जो क्रम चला था, उसका यहाँ वर्णन किया जाता है॥ १२१॥

पूर्वं यत्र तु ब्रह्मर्षीनुत्पन्नान् सप्त मानसान्।
पुत्रत्वे कल्पयामास स्वयमेव पितामहः॥१२२॥

उस समय पितामह ब्रह्माने पहले अपने मनके संकल्पसे उत्पन्न हुए सात ब्रह्मर्षियोंको स्वयं ही अपने औरस पुत्रके रूपमें स्वीकार किया॥ १२२॥

ततो विरोधे देवानां दानवानां च भारत।
दितिर्विनष्टपुत्रा वै तोषयामास कश्यपम्॥१२३॥

भारत! तदनन्तर जब देवता और दैत्योंमें विरोध होनेपर दितिके पुत्र नष्ट हो गये, तब उसने (महर्षि) कश्यपको (फिर) प्रसन्न किया॥ १२३॥

तां कश्यपः प्रसन्नात्मा सम्यगाराधितस्तया।
वरेण च्छन्दयामास सा च वव्रे वरं ततः॥१२४॥
पुत्रमिन्द्रवधार्थाय समर्थममितौजसम्।
स च तस्यै वरं प्रादात् प्रार्थितं सुमहातपाः॥१२५॥

उसके भलीभाँति आराधना करनेपर कश्यपजीका चित्त प्रसन्न हो गया और उन्होंने उससे वर माँगनेके लिये कहा। तब उस दितिने वर माँगा कि 'मुझे इन्द्रका वध करनेके लिये अमित पराक्रमी पुत्र दीजिये।' यह सुनकर उन महातपस्वी कश्यपने उसका माँगा हुआ वर उसको दे दिया॥ १२४-१२५॥

दत्त्वा च वरमव्यग्रो मारीचस्तामभाषत।
भविष्यति सुतस्तेऽयं यद्येवं धारयिष्यसि॥१२६॥
इन्द्रं सुतो निहन्ता ते गर्भं वै शरदां शतम्।
यदि धारयसे शौचं तत्परा व्रतमास्थिता॥१२७॥

वह वर देकर कश्यप मुनि उससे शान्तभावसे बोले—'यदि तुम इस (गर्भ) को मेरी बतायी हुई विधिसे धारण कर सकोगी तो तुम्हारा पुत्र इन्द्रको मारनेवाला होगा। तुम्हें पवित्रतापूर्वक रहनेका व्रत लेकर सौ वर्षतक अपने उदरमें इस गर्भको धारण करना पड़ेगा। यदि तुम ऐसा कर सकोगी तो वह पुत्र इन्द्रको मारनेवाला होगा'॥ १२६-१२७॥

तथेत्यभिहितो भर्ता तया देव्या महातपाः।
धारयामास गर्भं तु शुचिः सा वसुधाधिप॥१२८॥

तब उस देवीने अपने महातपस्वी स्वामीसे कहा कि 'अच्छा, मैं ऐसा ही करूँगी।' राजन्! फिर वह गर्भको धारण कर पवित्रतापूर्वक रहने लगी॥ १२८॥

ततोऽभ्युपागमद् दित्यां गर्भमाधाय कश्यपः।
रोचयन् वै गणश्रेष्ठं देवानाममितौजसाम्॥१२९॥
तेजः सम्भृत्य दुर्धर्षमवध्यममरैरपि।
जगाम पर्वतायैव तपसे शंसितव्रतः॥१३०॥

अमितपराक्रमी देवताओंके श्रेष्ठ गणको प्रकाशित करनेवाले कश्यपजी इस प्रकार दितिमें गर्भको स्थापित कर वहाँसे चल दिये। वे प्रशंसित तपवाले (महर्षि दितिमें) देवताओंसे भी अवध्य अपने दुर्धर्ष तेजको स्थापित करके तप करनेके लिये पर्वतपर चले गये॥ १२९-१३०॥

तस्याश्चैवान्तरप्रेप्सुरभवत् पाकशासनः।
ऊने वर्षशते चास्या ददर्शान्तरमच्युतः॥१३१॥

(इधर) इन्द्र उसके छिद्रको ढूँढ़ने लगे और अच्युत इन्द्रने सौ वर्ष पूर्ण होनेसे पहले ही उसका दोष देख लिया॥ १३१॥

अकृत्वा पादयोः शौचं दितिः शयनमाविशत्।
निद्रां च कारयामास तस्याः कुक्षिं प्रविश्य सः॥१३२॥

(एक बार) दिति बिना पैर धोये ही शयन करनेके लिये चली गयी। इसी समय इन्द्रने उसकी कोखमें घुसकर उसे (अपनी मायासे) निद्राके अधीन कर दिया॥ १३२॥

वज्रपाणिस्ततो गर्भं सप्तधा तं न्यकृन्तत।
स पाट्यमानो वज्रेण गर्भस्तु प्ररुरोद ह॥१३३॥

फिर वज्रपाणि इन्द्रने उस गर्भके सात टुकड़े कर डाले, वज्रसे काटे जानेपर वह गर्भ जोर-जोरसे रोने लगा॥ १३३॥

मा रोदीरिति तं शक्रः पुनः पुनरथाब्रवीत्।
सोऽभवत् सप्तधा गर्भस्तमिन्द्रो रुषितः पुनः॥१३४॥
एकैकं सप्तधा चक्रे वज्रेणैवारिकर्शनः।
मरुतो नाम देवास्ते बभूवुर्भरतर्षभ॥१३५॥

तब उस गर्भसे इन्द्रने बार-बार 'मा रोदीः—मत रो' इस प्रकार कहा और उस गर्भके सात टुकड़े हो गये, तब

शत्रुओंको नष्ट करनेवाले इन्द्र फिर क्रोधमें भरकर वज्रद्वारा उस प्रत्येक टुकड़ेके भी सात-सात टुकड़े कर डाले। भरतर्षभ! वे मरुत् नामक (उन्चास) देवता हुए॥

यथैवोक्तं मघवता तथैव मरुतोऽभवन्।
देवा एकोनपञ्चाशत् सहाया वज्रपाणिनः॥१३६॥

इन्द्रने चूँकि (मा रोदीः) कहा था, इसलिये वे मरुत् नामक देवता हो गये। वे उन्चास हैं और वज्रपाणि इन्द्रकी सहायता करते हैं॥ १३६॥

तेषामेवं प्रवृद्धानां भूतानां जनमेजय।
रोचयन् वै गणश्रेष्ठं देवानाममितौजसाम्॥१३७॥
निकायेषु निकायेषु हरिः प्रादात् प्रजापतीन्।
क्रमशस्तानि राज्यानि पृथुपूर्वाणि भारत॥१३८॥

जनमेजय! जब वे प्राणी इस प्रकार बढ़ गये, तब अमित-पराक्रमी देवताओंकी श्रेष्ठ मण्डलीको प्रकाशित करनेवाले हरिने उनकी टोलियोंमें प्रजापति नियुक्त कर दिये। भारत! फिर उन्होंने पृथुको पहले राज्य अर्पण किया, तबसे ये राज्य क्रमशः चले आ रहे हैं॥ १३७-१३८॥

स हरिः पुरुषो वीरः कृष्णो जिष्णुः प्रजापतिः।
पर्जन्यस्तपनोऽव्यक्तस्तस्य सर्वमिदं जगत्॥१३९॥

वे हरि पुरुष, वीर, कृष्ण, जिष्णु और प्रजापति हैं तथा वे ही मेघ, सूर्य और अव्यक्त हैं एवं यह सब जगत् उन्हींका है॥ १३९॥

भूतसर्गमिमं सम्यग्जानतो भरतर्षभ।
मरुतां च शुभं जन्म शृण्वतः पठतोऽपि वा।
नावृत्तिभयमस्तीह परलोकभयं कुतः॥१४०॥

भरतर्षभ! इस भूतसृष्टिको पूर्णरूपसे जाननेवाले और मरुतोंके शुभ जन्मको सुनने या पढ़नेवालेको जन्म-मरण-का भय नहीं रहता, फिर परलोकका भय तो होगा ही कहाँसे?॥ १४०॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि मरुदुत्पत्तिकथने तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें मरुतोंकी उत्पत्तिका वर्णनविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ॥ ३॥

चतुर्थोऽध्यायः

पृथुका उपाख्यान, राज्यवितरण और दिक्पालोंकी प्रतिष्ठा

वैशम्पायन उवाच

अभिषिच्याधिराज्ये तु पृथुं वैन्यं पितामहः।
ततः क्रमेण राज्यानि व्यादेष्टुमुपचक्रमे॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पितामह (मैं विराजमान हरि) ने राजाओंके ऊपर भी अधिराजारूपसे वेनके पुत्र पृथुका अभिषेक किया, फिर (उन प्रजापतिने) क्रमशः राज्यका वितरण आरम्भ किया॥ १॥

द्विजानां वीरुधां चैव नक्षत्रग्रहयोस्तथा।
यज्ञानां तपसां चैव सोमं राज्येऽभ्यषेचयत्॥ २॥

(प्रजापतिने) द्विज, लता, नक्षत्र, ग्रह, यज्ञ और तपके राज्यपर चन्द्रमाका अभिषेक किया॥ २॥

अपां तु वरुणं राज्ये राज्ञां वैश्रवणं प्रभुम्।
बृहस्पतिं तु विश्वेषां ददावाङ्गिरसं पतिम्॥ ३॥

जलके राज्यपर वरुणका तथा राजाओं (और यक्षों) के राज्यपर विश्रवाके पुत्र कुबेरका अभिषेक कर दिया। विश्वेदेवों-पर अङ्गिरसगोत्री बृहस्पतिको राजा बना दिया॥ ३॥

भृगूणामधिपं चैव काव्यं राज्येऽभ्यषेचयत्।
आदित्यानां तथा विष्णुं वसूनामथ पावकम्॥ ४॥

भृगुवंशियोंके स्वामीरूपसे शुक्राचार्यका राज्याभिषेक कर दिया। आदित्योंके ऊपर विष्णुको और वसुओंके ऊपर अग्नि-को (राजा बना दिया)॥ ४॥

प्रजापतीनां दक्षं तु मरुतामथ वासवम्।
दैत्यानां दानवानां च प्रह्लादममितौजसम्॥ ५॥
वैवस्वतं च पितॄणां यमं राज्येऽभ्यषेचयत्।

दक्षको प्रजापतियोंका, इन्द्रको मरुतोंका तथा अमित पराक्रमी प्रह्लादको दैत्य और दानवोंका राजा बना दिया एवं पितरोंके राज्यपर विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र यमका अभिषेक कर दिया॥ ५½॥

मातॄणां च व्रतानां च मन्त्राणां च तथा गवाम्॥ ६॥
यक्षाणां राक्षसानां च पार्थिवानां तथैव च।
नारायणं तु साध्यानां रुद्राणां वृषभध्वजम्॥ ७॥

षोडशमातृका, व्रत, मन्त्र, गौ, यक्ष, राक्षस, पार्थिव पदार्थ और साध्य देवताओंके राज्यपर नारायणका अभिषेक कर दिया और रुद्रोंके राज्यपर वृषभध्वज (शंकरजी) अभिषिक्त हुए॥ ६-७॥

विप्रचित्तिं तु राजानं दानवानामथादिशत्।
सर्वभूतपिशाचानां गिरिशं शूलपाणिनम्॥ ८॥

विप्रचित्तिको दानवोंका राजा बननेका आदेश दे

दिया और सकल भूत-पिशाचोंका शूलपाणि महादेवजीको राजा बना दिया ॥ ८ ॥

शैलानां हिमवन्तं च नदीनामथ सागरम् ।
गन्धानां मरुतां चैव भूतानामशरीरिणाम् ।
शब्दाकाशवतां चैव वायुं च बलिनां वरम् ॥ ९ ॥

हिमाचलको पर्वतोंका और समुद्रको नदियोंका राजा बना दिया । गन्धद्रव्यों, मरुद्गणों, अमूर्त भूतों तथा शब्द और आकाशवाली वस्तुओंके राज्यपर भी बलवानोंमें श्रेष्ठ वायुका अभिषेक कर दिया ॥ ९ ॥

गन्धर्वाणामधिपतिं चक्रे चित्ररथं प्रभुम् ।
नागानां वासुकिं चक्रे सर्पाणामथ तक्षकम् ॥ १० ॥

प्रभावशाली चित्ररथको गन्धर्वोंका स्वामी बना दिया, वासुकिको नागोंका और तक्षकको सर्पोंका राजा बनाया ॥

वारणानां च राजानमैरावतमथादिशत् ।
उच्चैःश्रवसमश्वानां गरुडं चैव पक्षिणाम् ॥ ११ ॥

हाथियोंका ऐरावतको, घोड़ोंका उच्चैःश्रवाको और पक्षियोंका गरुड़को राजा बना दिया ॥ ११ ॥

मृगाणामथ शार्दूलं गोवृषं च गवां पतिम् ।
वनस्पतीनां राजानं प्लक्षमेवादिशत् प्रभुम् ॥ १२ ॥

वनचारी पशुओंपर सिंहको तथा गौओंपर साँड़को स्वामी बनाया और पाकड़को वृक्षोंका प्रभावशाली राजा बना दिया ॥ १२ ॥

सागराणां नदीनां च मेघानां वर्षणस्य च ।
आदित्यानामधिपतिं पर्जन्यमभिषिक्तवान् ॥ १३ ॥

सागर, नदी, मेघ, वर्षा और सूर्यकी किरणोंके अधिपति-पदपर पर्जन्यका अभिषेक कर दिया ॥ १३ ॥

सर्वेषां दंष्ट्रिणां शेषं राजानमभ्यषेचयत् ।
सरीसृपाणां सर्पाणां राजानं चैव तक्षकम् ॥ १४ ॥

दाढ़वाले समस्त सर्पोंके ऊपर शेषको, (निर्विष डुण्डुभ आदि) सर्पों और सरीसृपों (पेटके बलपर चलनेवाले जीवों) के ऊपर तक्षकको राजा बना दिया ॥ १४ ॥

गन्धर्वाप्सरसां चैव कामदेवं तथा प्रभुम् ।
ऋतूनामथ मासानां दिवसानां तथैव च ॥ १५ ॥
पक्षाणां च क्षपाणां च मुहूर्ततिथिपर्वणाम् ।
कलाकाष्ठाप्रमाणानां गतेरयनयोस्तथा ॥ १६ ॥
गणितस्याथ योगस्य चक्रे संवत्सरं प्रभुम् ।

गन्धर्व और अप्सराओंके ऊपर ऐश्वर्यशाली कामदेवका अभिषेक कर दिया । ऋतु, मास, दिन, पक्ष, रात्रि, मुहूर्त, तिथि, पर्व, कला-काष्ठाके प्रमाण—उत्तरायण और दक्षिणायनकी गति तथा उपराग अर्थात् ग्रहण (के अभिमानी देवताओं) पर प्रभु संवत्सरका अभिषेक कर दिया ॥ १५-१६½ ॥

एवं विभज्य राज्यानि क्रमेण स पितामहः ॥ १७ ॥
दिशापालानथ ततः स्थापयामास भारत ।

भारत ! पितामहने इस प्रकार क्रमपूर्वक राज्योंका विभाग करके फिर दिक्पालोंकी स्थापना की थी ॥ १७½ ॥

पूर्वस्यां दिशि पुत्रं तु वैराजस्य प्रजापतेः ॥ १८ ॥
दिशापालं सुधन्वानं राजानं चाभ्यषेचयत् ।

उन्होंने वैराज प्रजापतिके पुत्र राजा सुधन्वाको पूर्व दिशाके दिक्पालपदपर अभिषेक कर दिया ॥ १८½ ॥

दक्षिणस्यां महात्मानं कर्दमस्य प्रजापतेः ॥ १९ ॥
पुत्रं शङ्खपदं नाम राजानं सोऽभ्यषेचयत् ।

कर्दम प्रजापतिके पुत्र महात्मा राजा शङ्खपदको दक्षिण दिशाके दिक्पाल-पदपर अभिषिक्त किया ॥ १९½ ॥

पश्चिमायां दिशि तथा रजसः पुत्रमच्युतम् ॥ २० ॥
केतुमन्तं महात्मानं राजानं सोऽभ्यषेचयत् ।

इसी प्रकार पश्चिम दिशामें रजस्‌के पुत्र अच्युत महात्मा केतुमान्‌का राजा (दिक्पाल) के पदपर अभिषेक कर दिया ॥ २०½ ॥

तथा हिरण्यरोमाणं पर्जन्यस्य प्रजापतेः ॥ २१ ॥
उदीच्यां दिशि दुर्धर्षं राजानं सोऽभ्यषेचयत् ।

इसी प्रकार उत्तर दिशामें पर्जन्य प्रजापतिके पुत्र दुर्धर्ष हिरण्यरोमाका राजपद (दिक्पाल-पद) पर अभिषेक कर दिया ॥ २१½ ॥

तैरियं पृथिवी सर्वा सप्तद्वीपा सपर्वता ॥ २२ ॥
यथाप्रदेशमद्यापि धर्मेण परिपाल्यते ।

उन पुरुषोंद्वारा सातों द्वीप और पर्वतोंसहित सारी पृथ्वी और उसके वे-वे प्रदेश आज भी धर्मानुसार पालित हो रहे हैं ॥ २२½ ॥

राजसूयाभिषिक्तस्तु पृथुरेभिर्नराधिपैः ।
वेददृष्टेन विधिना राजराज्ये नराधिप ॥ २३ ॥

जनेश्वर ! इन राजाओंने वेदमें वर्णित विधिसे राजसूय यज्ञमें राजाओंके भी राजाके पदपर पृथुका अभिषेक किया था ॥ २३ ॥

ततो मन्वन्तरेऽतीते चाक्षुषेऽमिततेजसि ।
वैवस्वताय मनवे ब्रह्मा राज्यमथादिशत् ।
तस्य विस्तरमाख्यास्ये मनोर्वैवस्वतस्य ह ॥ २४ ॥
तवानुकूल्याद् राजेन्द्र यदि शुश्रूषसेऽनघ ।
महद्ध्येतदधिष्ठानं पुराणं परिकीर्तितम् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्गवासकरं शुभम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर अमिततेजस्वी चाक्षुष मनुके मन्वन्तरके बीतनेपर ब्रह्माजीने वैवस्वत मनुको राज्य दे दिया था । निष्पाप राजेन्द्र ! यदि आप अनुकूल रहकर सुनना चाहेंगे

तो मैं आपसे वैवस्वत मनुके विस्तारका वर्णन करूँगा। मैंने आपको यह बड़ा भारी प्राचीन इतिहास कह सुनाया। इसको सुननेसे प्रतिष्ठा बढ़ती है, धन मिलता है, यश मिलता है, आयुकी वृद्धि होती है और इस शुभ आख्यानको सुननेसे (अन्तमें) स्वर्गकी प्राप्ति होती है ॥ २४-२५ ॥

जनमेजय उवाच

विस्तरेण पृथोर्जन्म वैशम्पायन कीर्तय।
यथा महात्मना तेन दुग्धा चेयं वसुंधरा ॥ २६ ॥

जनमेजयने कहा—वैशम्पायनजी ! आप पृथुके जन्मका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये, उन महात्माने इस पृथ्वीको किस प्रकार दुहा था ? ॥ २६ ॥

यथा च पितृभिर्दुग्धा यथा देवैर्यथर्षिभिः।
यथा दैत्यैश्च नागैश्च यथा यक्षैर्यथा द्रुमैः ॥ २७ ॥
यथा शैलैः पिशाचैश्च गन्धर्वैश्च द्विजोत्तमैः।
राक्षसैश्च महासत्त्वैर्यथा दुग्धा वसुंधरा ॥ २८ ॥
तेषां पात्रविशेषांश्च वैशम्पायन कीर्तय।
वत्सान् क्षीरविशेषांश्च दोग्धारं चानुपूर्वशः ॥ २९ ॥

पितरोंने इस पृथ्वीको जिस प्रकार दुहा था, देवता तथा ऋषियोंने, दैत्यों और नागोंने, यक्षों और वृक्षोंने इस पृथ्वीको जिस प्रकार दुहा था तथा पर्वत, पिशाच, गन्धर्व, द्विजोत्तम और महान् शक्तिशाली राक्षसोंने इस वसुंधरा पृथ्वीको जिस प्रकार दुहा था, वह बताइये। वैशम्पायनजी ! इन सबके पास कैसे-कैसे पात्र थे, कैसे-कैसे बछड़े थे, कैसा-कैसा दूध दुहा गया था और कौन-कौन दुहनेवाले थे ? इन सबका क्रमपूर्वक वर्णन कीजिये ॥ २७—२९ ॥

यस्माच्च कारणात् पाणिर्वेनस्य मथितः पुरा।
क्रुद्धैर्महर्षिभिस्तात कारणं तच्च कीर्तय ॥ ३० ॥

तात ! प्राचीनकालमें महर्षियोंने जिस कारणसे वेनके हाथका मन्थन किया था और महर्षियोंने जिस कारण क्रोध किया था, उस कारणका भी आप वर्णन कीजिये ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि पृथोर्वैन्यस्य विस्तरम्।
एकाग्रः प्रयतश्चैव शृणुष्व जनमेजय ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! मैं तुमसे वेनके पुत्र पृथुका चरित्र अब विस्तारपूर्वक कहता हूँ, इस चरित्रको एकाग्र और सावधान होकर सुनो ॥ ३१ ॥

नाशुचेः क्षुद्रमनसः कुशिष्यायाव्रताय च।
कीर्तनीयमिदं राजन् कृतघ्नायाहिताय वा ॥ ३२ ॥

राजन् ! जिसका मन तुच्छ हो, जो अपवित्र हो, जो कुशिष्य हो और जो व्रत न करता हो तथा जो कृतघ्न हो एवं जो संसारका अहित करनेवाला हो, उससे इस चरित्रका वर्णन नहीं करना चाहिये ॥ ३२ ॥

स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं धर्म्यं वेदेन सम्मितम्।
रहस्यमृषिभिः प्रोक्तं शृणु राजन् यथातथम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! यह (इतिहास) स्वर्ग, यश, आयु तथा धर्मकी प्राप्ति करानेवाला और वेदके समान है। ऋषियोंने इस रहस्य-का वर्णन किया है, इसे तुम यथार्थ रीतिसे सुनो ॥ ३३ ॥

यश्चैनं कथयेन्नित्यं पृथोर्वैन्यस्य विस्तरम्।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य न स शोचेत् कृताकृतैः ॥ ३४ ॥

जो पुरुष ब्राह्मणोंको प्रणाम करके वेनके पुत्र पृथुके इस चरित्रको विस्तारपूर्वक कहता है, उसे कार्याकार्यके (मैंने सदा पाप कर्म किये, धर्म कभी नहीं किया, ऐसे) पश्चात्तापसे शोक नहीं करना पड़ता अर्थात् इस चरित्रको सुननेसे सब प्रकारके पाप नष्ट हो जाते हैं और सब यज्ञोंके फल प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि पृथूपाख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पृथुका उपाख्यानविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

पृथुका उपाख्यान—वेनका अत्याचार करके नष्ट होना और पृथुका जन्म तथा चरित्र

वैशम्पायन उवाच

आसीद् धर्मस्य गोप्ता वै पूर्वमत्रिसमः प्रभुः।
अत्रिवंशसमुत्पन्नस्त्वङ्गो नाम प्रजापतिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! प्राचीन कालकी बात है, धर्मके रक्षक अत्रिके वंशमें एक प्रजापति उत्पन्न हुए, जिनका नाम था अङ्ग। वे अत्रिके ही समान प्रभावशाली थे ॥ १ ॥

तस्य पुत्रोऽभवद् वेनो नात्यर्थं धर्मकोविदः।
जातो मृत्युसुतायां वै सुनीथायां प्रजापतिः ॥ २ ॥

उनका पुत्र वेन हुआ, परंतु उसे धर्मके रहस्यका पता न था। वह राजा वेन मृत्युकी पुत्री सुनीथाके गर्भसे उत्पन्न हुआ था ॥ २ ॥

स मातामहदोषेण वेनः कालात्मजाऽऽत्मजः।
स्वधर्मं पृष्ठतः कृत्वा कामाल्लोभेष्ववर्तत ॥ ३ ॥

कालकी पुत्री सुनीथाका पुत्र वह वेन नानाके दोषसे अपने धर्मकी उपेक्षा करकामके कारण लोभमें फँस गया ॥ ३ ॥

मर्यादां स्थापयामास धर्मापेतां स पार्थिवः।

वेदधर्मानतिक्रम्य सोऽधर्मनिरतोऽभवत् ॥ ४ ॥

वह राजा धर्मविहीन मर्यादाको स्थापित करने लगा और वेदोक्त धर्मोंका उल्लङ्घन कर अधर्ममें फँस गया ॥ ४ ॥

निःस्वाध्यायवषट्कारास्तस्मिन् राजनि शासति।
प्रवृत्तं न पपुः सोमं हुतं यज्ञेषु देवताः ॥ ५ ॥

उस राजाके शासनकालमे देवतालोग (उनकी तृप्तिके लिये किये जानेवाले) स्वाध्याय और वषट्कारसे वञ्चित हो गये थे; इसलिये अपने उद्‌देश्यसे अर्पित तथा यज्ञकुण्डोंमें होमे गये सोमका भी वे पान नहीं करते थे ॥ ५ ॥

न यष्टव्यं न होतव्यमिति तस्य प्रजापतेः।
आसीत् प्रतिज्ञा क्रूरेयं विनाशे प्रत्युपस्थिते ॥ ६ ॥

उसका विनाशकाल समीप आ गया था, अतः उस प्रजापतिने यह क्रूर प्रतिज्ञा घोषित की कि 'मेरे राज्यमें कोई यज्ञ और हवन न करे' ॥ ६ ॥

अहमिज्यश्च यष्टा च यज्ञश्चेति कुरूद्वह।
मयि यज्ञो विधातव्यो मयि होतव्यमित्यपि ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ! (वह कहता था कि) 'मैं ही यज्ञोंद्वारा आराध्य और मैं ही यज्ञ करनेवाला हूँ तथा यज्ञ भी मैं ही हूँ। मेरे लिये ही यज्ञ और हवन करना चाहिये' ॥ ७ ॥

तमतिक्रान्तमर्यादमाददानमसाम्प्रतम् ।
ऊचुर्महर्षयः सर्वे मरीचिप्रमुखास्तदा ॥ ८ ॥

जब वह इस प्रकार मर्यादाको तोड़ने लगा और अनुचितरूपसे (कर आदि लगाकर) सब कुछ लूटने लगा, तब जो मरीचि आदि बड़े-बड़े ऋषि थे, उन्होंने उससे कहा—॥८॥

वयं दीक्षां प्रवेक्ष्यामः संवत्सरगणान् बहून्।
अधर्मं कुरु मा वेन नैष धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥

'हम बहुत वर्षोंमें पूर्ण होनेवाली दीक्षामें प्रवेश करेंगे। वेन! अब तुम अधर्म न करो; क्योंकि यह सनातन धर्म नहीं है ॥ ९ ॥

निधनेऽत्र प्रसूतस्त्वं प्रजापतिरसंशयम्।
प्रजाश्च पालयिष्येऽहमिति ते समयः कृतः ॥ १० ॥

'निःसंदेह तुम इस वंशमें प्रजापतिके रूपमें उत्पन्न हुए हो और तुमने प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं प्रजाका पालन करूँगा'' ॥१०॥

तांस्तदा ब्रुवतः सर्वान् महर्षीनब्रवीत् तदा।
वेनः प्रहस्य दुर्बुद्धिरिममर्थमनर्थवित् ॥ ११ ॥

जब महर्षि इस प्रकार कह रहे थे, उस समय अनर्थको अपनानेवाले दुर्बुद्धि वेनने हँसकर उन लोगोंसे ये बातें कहीं ॥

वेन उवाच

स्रष्टा धर्मस्य कश्चान्यः श्रोतव्यं कस्य वै मया।
श्रुतवीर्यतपःसत्यैर्मया वा कः समो भुवि ॥ १२ ॥

वेनने कहा—धर्मका रचनेवाला मेरे सिवा और कौन है? मैं किसकी बात सुनूँ? इस पृथ्वीपर वेद, वीर्य, तप और सत्यमें मेरे समान दूसरा कौन है? ॥ १२ ॥

प्रभवं सर्वभूतानां धर्माणां च विशेषतः।
सम्मूढा न विदुर्नूनं भवन्तो मामचेतसः ॥ १३ ॥

आपलोग मूर्ख हैं और अचेत हो रहे हैं, अतः सब भूतोंके और विशेषतः धर्मोंके उत्पत्तिस्थान मुझ वेनको नहीं जानते ॥ १३ ॥

इच्छन् दहेयं पृथिवीं प्लावयेयं तथा जलैः।
खं भुवं चैव रुन्धेयं नात्र कार्या विचारणा ॥ १४ ॥

मैं चाहूँ तो पृथ्वीको भस्म कर दूँ अथवा इसको जलमें डुबो दूँ और पृथ्वी तथा आकाशको भी (अपने तेजसे) ढक दूँ; इसमें विचार करनेकी कोई बात नहीं है ॥ १४ ॥

यदा न शक्यते मोहादवलेपाच्च पार्थिवः।
अनुनेतुं तदा वेनस्ततः क्रुद्धा महर्षयः ॥ १५ ॥

गर्व और मोहके वशमें पड़े हुए उस राजा वेनको जब वे ऋषि अधर्म करनेसे न रोक सके, तब वे क्रोधमें भर गये ॥

निगृह्य तं महात्मानो विस्फुरन्तं महाबलम्।
ततोऽस्य सव्यमूरुं ते ममन्थुर्जातमन्यवः ॥ १६ ॥

फिर तो वे महात्मा उस उछल-कूद मचाते हुए महाबली राजाको बलपूर्वक पकड़कर क्रोधमें भर उसकी दाहिनी जाँघको मथने लगे ॥ १६ ॥

तस्मिंस्तु मथ्यमाने वै राज्ञ ऊरौ प्रजज्ञिवान्।
ह्रस्वोऽतिमात्रः पुरुषः कृष्णश्चाति बभूव ह ॥ १७ ॥

राजाकी उस जङ्घाके मथे जानेपर उसमेंसे बहुत ठिगना और बहुत ही काला एक पुरुष निकला ॥ १७ ॥

स भीतः प्राञ्जलिर्भूत्वा स्थितवाञ्जनमेजय।
तमत्रिर्विह्वलं दृष्ट्वा निषीदेत्यब्रवीत् तदा ॥ १८ ॥

जनमेजय! वह डरा हुआ था, अतः हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। तब अत्रिने उसे भयसे विह्वल देखकर उससे कहा 'निषीद—बैठ जा' ॥ १८ ॥

निषादवंशकर्तासौ बभूव वदतां वर।
धीवरानसृजच्चाथ वेनकल्मषसम्भवान् ॥ १९ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ जनमेजय! वह निषादोंके वंशका चलानेवाला हुआ और उसने धीवरोंको जन्म दिया। ये सभी वेनके पापसे उत्पन्न हुए थे ॥ १९ ॥

ये चान्ये विन्ध्यनिलयास्तुषारास्तुम्बरास्तथा।
अधर्मरुचयो ये च विद्धि तान् वेनसम्भवान् ॥ २० ॥

इन धीवरोंके अतिरिक्त और भी जो विन्ध्यमें रहनेवाले तुषार, तुम्बर तथा अधर्मसे प्रेम करनेवाले वनवासी (गोण्ड-कोल आदि) हैं, इन सबको तुम वेन (के पाप) से उत्पन्न हुआ समझो ॥ २० ॥

ततः पुनर्महात्मानः पाणिं वेनस्य दक्षिणम् ।
अरणीमिव संरब्धा ममन्थुस्ते महर्षयः ॥ २१ ॥

तदनन्तर वे क्रोधमें भरे हुए महात्मा महर्षि वेनके दाहिने हाथको अरणीके समान मथने लगे ॥ २१ ॥

पृथुस्तस्मात् समुत्तस्थौ कराज्ज्वलनसंनिभः ।
दीप्यमानः स्ववपुषा साक्षादग्निरिव ज्वलन् ॥ २२ ॥

तब उस हाथसे अग्निके समान पृथु उत्पन्न हुए, वे अपने शरीरसे साक्षात् प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २२ ॥

स धन्वी कवची जातः पृथुरेव महायशाः ।
आद्यमाजगवं नाम धनुर्गृह्य महारवम् ।
शरांश्च दिव्यान् रक्षार्थे कवचं च महाप्रभम् ॥ २३ ॥

महायशस्वी पृथु हाथमें धनुष और बाणको धारण किये हुए और रक्षाके लिये महाकान्तिमान् कवच और दिव्य बाणोंको धारण किये हुए ही उत्पन्न हुए । वे हाथमें महान् शब्द करनेवाले प्राचीन आजगव नामक धनुषको धारण किये हुए थे ॥ २३ ॥

तस्मिञ्जातेऽथ भूतानि सम्प्रहृष्टानि सर्वशः ।
समापेतुर्महाराज वेनश्च त्रिदिवं गतः ॥ २४ ॥

महाराज ! उनके उत्पन्न होनेपर सब प्राणी प्रसन्न होकर उनके पास दौड़ आये और वेन स्वर्गको चला गया ॥ २४ ॥

समुत्पन्नेन कौरव्य सत्पुत्रेण महात्मना ।
त्रातः स पुरुषव्याघ्र पुन्नाम्नो नरकात् तदा ॥ २५ ॥

पुरुषव्याघ्र कौरव ! उस महात्मा सत्पुत्रके उत्पन्न होनेपर उस वेनकी 'पुं' नामक नरकसे रक्षा हो गयी ॥ २५ ॥

तं समुद्राश्च नद्यश्च रत्नान्यादाय सर्वशः ।
तोयानि चाभिषेकार्थं सर्वं एवोपतस्थिरे ॥ २६ ॥

उन पृथुका अभिषेक करनेके लिये सब समुद्र और नदियाँ चारों ओरसे जल और रत्न लेकर वहाँ उपस्थित हुईं ॥

पितामहश्च भगवान् देवैराङ्गिरसैः सह ।
स्थावराणि च भूतानि जङ्गमानि तथैव च ॥ २७ ॥
समागम्य तदा वैन्यमभ्यषिञ्चन्नराधिपम् ।
महता राजराज्येन प्रजापालं महाद्युतिम् ॥ २८ ॥

भगवान् पितामह भी अङ्गिराके पुत्र, पौत्रों तथा सभी देवताओंके साथ वहाँ आये और स्थावर-जङ्गम प्राणियोंने भी वहाँ आकर महाकान्तिमान् वेनके प्रजापालक पुत्र पृथुका बड़े भारी राजाधिराज-पदपर अभिषेक कर दिया ॥ २७-२८ ॥

सोऽभिषिक्तो महातेजा विधिवद्धर्मकोविदैः ।
आदिराज्ये तदा राज्ञां पृथुर्वैन्यः प्रतापवान् ॥ २९ ॥
पित्रापरञ्जितास्तस्य प्रजास्तेनानुरञ्जिताः ।
अनुरागात् ततस्तस्य नाम राजेत्यजायत ॥ ३० ॥

जब धर्मके जाननेवालोंने महातेजस्वी और प्रतापी वेनके पुत्र पृथुका राजाओंके आदिराज्य (साम्राज्य)-पदपर विधिवत् अभिषेक कर दिया, तब उन्होंने पिताद्वारा पीड़ित की हुई प्रजाको अपनी सेवाओंसे खूब प्रसन्न किया । इस प्रकार प्रजासे अनुराग करनेके कारण उनका नाम राजा पड़ गया ॥

आपस्तस्तम्भिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः ।
पर्वताश्च ददुर्मार्गं ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥ ३१ ॥

जब ये समुद्रपर चलते थे, तब जल स्तम्भित हो जाता था (अर्थात् समुद्रका जल स्थलकी तरह कड़ा हो जाता था) और जब ये आकाशमें चलते थे, तब पर्वत इनके लिये मार्ग छोड़ देते थे । इस कारण इनके रथकी ध्वजा वृक्ष आदिसे कभी नहीं टूटती थी ॥ ३१ ॥

अकृष्टपच्या पृथिवी सिध्यन्त्यन्नानि चिन्तया ।
सर्वकामदुघा गावः पुटके पुटके मधु ॥ ३२ ॥

(उनके शासनकालमें) पृथ्वी बिना जोते हुए ही अन्न देती थी । चिन्तनमात्रसे ही अन्न (भोज्य पदार्थ) तैयार हो जाते थे, गौएँ कामधेनुके समान सब कामनाओंको पूर्ण करती थीं और वृक्षोंके पत्ते-पत्तेमें मधुर रस भरा रहता था ॥ ३२ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु यज्ञे पैतामहे शुभे ।
सूतः सूत्यां समुत्पन्नः सौत्येऽहनि महामतिः ॥ ३३ ॥

इन्हींके (राज्यत्व) कालमें पितामहके शुभ यज्ञमें सोमको निकालनेके दिन सोमका अभिषव करते समय अर्थात् रस निकालनेके लिये सोमलताको कूटते समय महाबुद्धिमान् सूतकी उत्पत्ति हुई थी ॥ ३३ ॥

तस्मिन्नेव महायज्ञे जज्ञे प्राज्ञोऽथ मागधः ।
पृथोः स्तवार्थं तौ तत्र समाहूतौ सुरर्षिभिः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर उसी महायज्ञमें बुद्धिमान् मागध प्रकट हुआ । देवता और ऋषियोंने पृथुकी स्तुति करनेके लिये उन दोनोंका वहाँ आवाहन किया था ॥ ३४ ॥

तावूचुर्ऋषयः सर्वे स्तूयतामेष पार्थिवः ।
कर्मैतदनुरूपं वां पात्रं चायं नराधिपः ॥ ३५ ॥

सब ऋषियोंने उन दोनोंसे कहा कि तुम दोनों इन पृथ्वीपतिकी स्तुति करो, यह कर्म तुम्हारे अनुरूप है और ये राजा भी स्तुतिके पात्र हैं ॥ ३५ ॥

तावूचतुस्तदा सर्वांस्तानृषीन् सूतमागधौ ।
आवां देवानृषींश्चैव प्रीणयावः स्वकर्मभिः ॥ ३६ ॥

उस समय सूत और मागधने उन सब ऋषियोंसे कहा,

'हम अपने कर्मोंसे देवता और ऋषियोंको प्रसन्न करेंगे ॥ ३६ ॥

न चास्य विद्मो वै कर्म न तथा लक्षणं यशः ।
स्तोत्रं येनास्य कुर्याव राज्ञस्तेजस्विनो द्विजाः॥ ३७ ॥

'परंतु ब्राह्मणो ! इन तेजस्वी राजाके कर्म, लक्षण और यशको तो हम जानते ही नहीं, जिससे इनकी स्तुति करें' ॥ ३७ ॥

ऋषिभिस्तौ नियुक्तौ च भविष्यैः स्तूयतामिति।
यानि कर्माणि कृतवान् पृथुः पश्चान्महाबलः॥ ३८ ॥

तब ऋषियोंने उन्हे यह कहकर स्तुति-कार्यमें नियुक्त किया कि 'तुम दोनों इनके भविष्यमे होनेवाले गुणोंका उल्लेख करते हुए स्तवन करो ।' उन्होने वैसा ही किया । सूत और मागधने जो-जो कर्म बताये, उन्हींको महाबली पृथुने पीछेसे पूर्ण किया ॥ ३८ ॥

सत्यवाग् दानशीलोऽयं सत्यसंधो नरेश्वरः ।
श्रीमाञ्जैत्रः क्षमाशीलो विक्रान्तो दुष्टशासनः॥ ३९ ॥

(सूत और मागधने राजा पृथुकी स्तुति इस प्रकार आरम्भ की—) 'ये नरेश्वर सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाले, सत्यवादी, दान देनेवाले, लक्ष्मीवान् और विजयी हैं । ये क्षमा करनेवाले, पराक्रमी तथा दुष्टोका शासन करनेवाले हैं ॥ ३९ ॥

धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च दयावान् प्रियभाषणः ।
मान्यो मानयिता यज्वा ब्रह्मण्यः सत्यसंगरः ॥ ४० ॥

'ये धर्मज्ञ, कृतज्ञ, दयावान् और प्रिय भाषण करनेवाले हैं। ये माननीय है और (दूसरोंका) मान करनेवाले हैं । यज्ञ करनेवाले, ब्राह्मण-भक्त तथा सत्यप्रतिज्ञ हैं ॥ ४० ॥

शमः शान्तश्च निरतो व्यवहारस्थितो नृपः ।
ततः प्रभृति लोकेषु स्तवेषु जनमेजय ।
आशीर्वादाः प्रयुज्यन्ते सूतमागधवन्दिभिः ॥ ४१ ॥

'ये राजा शमसम्पन्न, शान्त, कार्यतत्पर तथा अपने व्यवहारमें संलग्न रहनेवाले हैं ।' जनमेजय ! उसी समयसे लोगोंमे स्तुतिके अवसरोंपर सूत, मागध और बन्दियोके द्वारा आशीर्वाद दिलानेकी प्रथा प्रचलित हुई ॥ ४१ ॥

तयोः स्तवैस्तैः सुप्रीतः पृथुः प्रादात् प्रजेश्वरः।
अनूपदेशं सूताय मगधान् मागधाय च ॥ ४२ ॥

प्रजाओके ईश्वर पृथुने उन दोनोके इन स्तोत्रोंसे प्रसन्न होकर सूतको अनूपदेश और मागधको मगध देश दे दिया ॥ ४२ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीताः प्रजाः प्राहुर्महर्षयः ।
वृत्तीनामेष वो दाता भविष्यति जनेश्वरः ॥ ४३ ॥

इस बातको देखकर महर्षि परम प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रजाओसे कहा, 'ये जनेश्वर (राजा) तुम्हें वृत्ति— आजीविका देनेवाले होगे' ॥ ४३ ॥

ततो वैन्यं महाराज प्रजाः समभिदुद्रुवुः ।
त्वं नो वृत्तिं विधत्स्वेति महर्षिवचनात् तदा ॥ ४४ ॥

महाराज ! महर्षियोंके ऐसा कहनेपर प्रजा वेनपुत्र राजा पृथुके पास दौड़-दौड़कर आने और कहने लगी कि 'आप हमारी वृत्तिका प्रबन्ध कीजिये' ॥ ४४ ॥

सोऽभिद्रुतः प्रजाभिस्तु प्रजाहितचिकीर्षया ।
धनुर्गृह्य पृषत्कांश्च पृथिवीमाद्रवद् बली ॥ ४५ ॥

जब प्रजा उनके पास इस प्रकार दौड़कर आयी, तब वे महाबली नरेश प्रजाका हित करनेकी इच्छासे अपने धनुष और बाण लेकर पृथ्वीको लक्ष्य करके दौड़े॥४५॥

ततो वैन्यभयत्रस्ता गौर्भूत्वा प्राद्रवन्मही ।
तां पृथुर्धनुरादाय द्रवन्तीमन्वधावत ॥ ४६ ॥

तब तो पृथ्वी वेन-कुमार पृथुके भयसे त्रस्त हो गौका रूप धारणकर भागने लगी। पृथु भी धनुष लेकर उस भागती हुई पृथ्वीके पीछे दौड़ने लगे ॥ ४६ ॥

सा लोकान् ब्रह्मलोकादीन् गत्वा वैन्यभयात् तदा।
प्रददर्शाग्रतो वैन्यं प्रगृहीतशरासनम् ॥४७॥

पृथ्वी राजा पृथुके भयसे ब्रह्मलोक आदि लोकोंमे गयी; परतु (उसने सर्वत्र ही) वेनपुत्र पृथुको हाथमें धनुष-बाण धारण किये अपने सामने खड़ा हुआ देखा ॥ ४७ ॥

ज्वलद्भिर्निशितैर्बाणैर्दीप्ततेजसमच्युतम् ।
महायोगं महात्मानं दुर्धर्षममरैरपि ॥ ४८ ॥
अलभन्ती तु सा त्राणं वैन्यमेवान्वपद्यत ।
कृताञ्जलिपुटा भूत्वा पूज्या लोकैस्त्रिभिः सदा ॥ ४९ ॥
उवाच वैन्यं नाधर्म्यं स्त्रीवधं कर्तुमर्हसि ।
कथं धारयिता चासि प्रजा राजन् विना मया ॥ ५० ॥

अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले पृथु प्रज्वलित तीखे बाणोंद्वारा और भी तेजसे उद्भासित हो रहे थे । वे महान् योगबलसे सम्पन्न महात्मा नरेश देवताओंके लिये भी दुर्धर्ष थे । जब पृथ्वीको कहीं भी शरण न मिली, तब वह पृथुकी ही शरणमें पहुँची और तीनों लोकोंकी सदासे पूजनीया पृथ्वी दोनों हाथ जोड़कर वेनपुत्र पृथुसे कहने लगी—'आपको स्त्रीवधरूप अधर्मका काम करना उचित नहीं है। राजन् ! (पहले आप यह तो सोचिये कि) मेरे बिना इन प्रजाओंको कहाँ स्थापित करेंगे ? ॥ ४८—५० ॥

मयि लोकाः स्थिता राजन् मयेदं धार्यते जगत्।
मद्विनाशे विनश्येयुः प्रजाः पार्थिव विद्धि तत्॥ ५१ ॥

'राजन् ! ये सब लोक मुझपर ही स्थित हैं, मैं ही इस जगत्-को धारण कर रही हूँ; (अतः) भूपाल ! आप इस बातको जान रक्खें कि मेरा विनाश होनेपर ये सब प्रजा भी नष्ट हो जायँगी ॥ ५१ ॥

न त्वमर्हसि मां हन्तुं श्रेयश्चेत् त्वं चिकीर्षसि।
प्रजानां पृथिवीपाल शृणु चेदं वचो मम ॥ ५२ ॥

'पृथ्वीपाल! यदि आप प्रजाका कल्याण करना चाहते हैं तो आपको मेरा वध करना उचित नहीं है। साथ ही आप मेरी इस बातको भी सुनिये ॥ ५२ ॥

उपायतः समारब्धाः सर्वे सिध्यन्त्युपक्रमाः।
उपायं पश्य येन त्वं धारयेथाः प्रजा नृप ॥ ५३ ॥

'प्रायः सब कार्य ठीक उपायसे आरम्भ किये जानेपर ही सिद्ध होते हैं; अतः राजन्! उस उपायका विचार कीजिये, जिससे कि आप प्रजाका पालन कर सकें ॥ ५३ ॥

हत्वापि मां न शक्तस्त्वं प्रजा धारयितुं नृप।
अनुभूता भविष्यामि यच्छ कोपं महाद्युते ॥ ५४ ॥

'राजन्! आप मेरा वध करके भी प्रजाका पालन एवं धारण न कर सकेंगे। अतः महाद्युते! आप अपने क्रोधको शान्त करें, मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगी ॥ ५४ ॥

अवध्याश्च स्त्रियः प्राहुस्तिर्यग्योनिगतेष्वपि।
सत्त्वेषु पृथिवीपाल न धर्मं त्यक्तुमर्हसि ॥ ५५ ॥

'भूपाल! तिर्यक्-योनिके प्राणियोंमें भी स्त्रियोंको अवध्य कहा है, अतः आप धर्मका परित्याग न करें' ॥ ५५ ॥

एवं बहुविधं वाक्यं श्रुत्वा राजा महामनाः।
कोपं निगृह्य धर्मात्मा वसुधामिदमब्रवीत् ॥ ५६ ॥

ऐसे ही और बहुत-से (अनुनय-विनयके) वाक्योंको सुनकर धर्मात्मा और उदार मनवाले राजा पृथु अपने क्रोधको रोककर वसुधासे इस प्रकार बोले ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि पृथूपाख्याने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पृथुका उपाख्यानविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

पृथुका उपाख्यान—पृथ्वीका पृथुकी पुत्री बनकर अनेक प्रकारके दूध देना तथा अनेक पात्रों एवं दुहनेवालोंका वर्णन

पृथुरुवाच

एकस्यार्थाय यो हन्यादात्मनो वा परस्य वा।
बहून् वै प्राणिनो लोके भवेत् तस्येह पातकम् ॥ १ ॥

पृथुने कहा—वसुधे! जो पुरुष इस संसारमें अपने या पराये किसी भी एक व्यक्तिके लिये बहुत-से जीवोंका वध करता है, उसे ही यहाँ पाप लगता है ॥ १ ॥

सुखमेधन्ति बहवो यस्मिंस्तु निहतेऽशुभे।
तस्मिन् नास्ति हते भद्रे पातकं चोपपातकम् ॥ २ ॥

भद्रे! जिस पापी व्यक्तिके मारे जानेसे बहुत-से प्राणियोंको सुख मिलता हो, उसको मारनेसे न तो पाप लगता है और न उपपातक ही ॥ २ ॥

एकस्मिन् यत्र निधनं प्रापिते दुष्टकारिणि।
बहूनां भवति क्षेमं तत्र पुण्यप्रदो वधः ॥ ३ ॥

जहाँ दुष्टताका व्यवहार करनेवाले एक व्यक्तिका वध करनेसे बहुत-से मनुष्योंका कल्याण होता हो, वहाँ उसका वध करना पुण्यप्रद ही है ॥ ३ ॥

सोऽहं प्रजानिमित्तं त्वां हनिष्यामि वसुंधरे।
यदि मे वचनं नाद्य करिष्यसि जगद्धितम् ॥ ४ ॥

अतः वसुंधरे! यदि आज तू जगत्का हित करनेवाले मेरे वचनको नहीं मानती है तो मैं प्रजाके हितके लिये तेरा अवश्य वध कर डालूँगा ॥ ४ ॥

त्वां निहत्याद्य बाणेन मच्छासनपराङ्मुखीम्।
आत्मानं प्रथयित्वाहं प्रजा धारयिता चिरम् ॥ ५ ॥

तू आज मेरे शासनसे पराङ्मुख हो रही है, अतः आज तुझे बाणसे मारकर अपने देहको ही फैलाकर मैं उसपर प्रजाको धारण करूँगा ॥ ५ ॥

सा त्वं शासनमास्थाय मम धर्मभृतां वरे।
संजीवय प्रजाः सर्वाः समर्था ह्यसि धारणे ॥ ६ ॥

अतएव धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ देवि! तू मेरे शासनको मानकर सारी प्रजाको जीवित रख; क्योंकि तू प्रजाको धारण करने—जीवित रखनेमें समर्थ है ॥ ६ ॥

दुहितृत्वं च मे गच्छ तत एनमहं शरम्।
नियच्छेयं त्वद्वधार्थमुद्यतं घोरदर्शनम् ॥ ७ ॥

साथ ही तू मेरी पुत्री बन जा, तब मैं तेरे वधके लिये उठाये हुए इस भयंकर दीखनेवाले बाणको रोक लूँगा ॥ ७ ॥

पृथिव्युवाच

सर्वमेतदहं वीर विधास्यामि न संशयः।
उपायतः समारब्धाः सर्वे सिद्ध्यन्त्युपक्रमाः ॥ ८ ॥

पृथ्वीने कहा—वीर! मैं निस्संदेह यह सब कुछ करूँगी, परंतु ठीक उपायसे आरम्भ करनेपर ही सब कार्य सिद्ध होते हैं ॥ ८ ॥

उपायं पश्य येन त्वं धारयेथाः प्रजा इमाः।
वत्सं तु मम सम्पश्य क्षरेयं येन वत्सला ॥ ९ ॥

अतः आप उस उपायको देखिये या ढूँढ़ निकालिये, जिससे आप इन प्रजाओंको पुष्ट करके धारण कर सकें। (इसकी युक्ति मैं बताती हूँ) आप मेरे लिये एक बछड़ेकी खोज कीजिये, जिससे मैं (स्नेहसे) पेन्हाकर दूध दूँ ॥ ९ ॥

समां च कुरु सर्वत्र मां त्वं धर्मभृतां वर।
यथा विस्पन्दमानं मे क्षीरं सर्वत्र भावयेत् ॥ १० ॥

धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ ! आप मुझे सर्वत्र सम (चौरस) कीजिये, जिससे कि मेरा झरता हुआ दूध सर्वत्र (व्याप्त) हो जाय ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

तत उत्सारयामास शैलाञ्छतसहस्रशः।
धनुष्कोट्या तदा वैन्यस्तेन शैला विवर्धिताः ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! तब वेनपुत्र पृथुने धनुषके कोनेसे सैकड़ों और सहस्रों पर्वतोंको उठाकर (ईंटोंकी दीवार-के समान) खड़ा कर दिया, इससे पर्वत बड़े हो गये ॥ ११ ॥

इत्थं वैन्यस्तदा राजा महीं चक्रे समां ततः।
मन्वन्तरेष्वतीतेषु विषमासीद् वसुंधरा ॥ १२ ॥

इस प्रकार वेनपुत्र राजा पृथुने पृथ्वीको सम (चौरस)कर दिया। पिछले मन्वन्तरोंमें यह पृथ्वी ऊँची-नीची थी ॥ १२ ॥

स्वभावेनाभवन् ह्यस्याः समानि विषमाणि च।
चाक्षुषस्यान्तरे पूर्वमासीदेवं तदा किल ॥ १३ ॥

पहले चाक्षुष मन्वन्तरमे इस पृथ्वीके प्रदेश स्वभावतः ऊँचे-नीचे थे ॥ १३ ॥

न हि पूर्वविसर्गे वै विषमे पृथिवीतले।
प्रविभागः पुराणां च ग्रामाणां वा तदाभवत् ॥ १४ ॥

पहले सर्गमें पृथ्वीके विषम होनेके कारण नगर और ग्रामोंका विभाग नहीं हुआ था ॥ १४ ॥

न सस्यानि न गोरक्षा न कृषिर्न वणिक्पथः।
नैव सत्यानृतं तत्र न लोभो न च मत्सरः ॥ १५ ॥

उस समय न किसी प्रकारका धान्य होता था, न गोरक्षा होती थी और न खेती होती थी तथा न सत्य एवं मिथ्यासे मिला हुआ (वाणिज्य) होता था, उस समय न लोभ था न मत्सर ॥ १५ ॥

वैवस्वतेऽन्तरे चास्मिन् साम्प्रतं समुपस्थिते।
वैन्यात् प्रभृति राजेन्द्र सर्वस्यैतस्य सम्भवः ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! इस वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तरके आनेपर वेनपुत्र पृथुके समयसे ही इन सभी वस्तुओंकी उत्पत्ति हुई है ॥ १६ ॥

यत्र यत्र समं त्वस्या भूमेरासीदिहानघ।
तत्र तत्र प्रजाः सर्वाः संवासं समरोचयन् ॥ १७ ॥

निष्पाप नरेश ! जहाँ-जहाँ यह भूमि सम हो गयी, वहाँ प्रजाने रहना पसंद किया ॥ १७ ॥

आहारः फलमूलानि प्रजानामभवत् तदा।
कृच्छ्रेण महता युक्त इत्येवमनुशुश्रुम ॥ १८ ॥

हमने ऐसा सुना है कि (वेनपुत्र पृथुद्वारा भूमिका दोहन होनेसे)पहले प्रजाओंका आहार फल और मूल था तथा वह भी उन्हें बड़ी कठिनतासे मिलता था ॥ १८ ॥

संकल्पयित्वा वत्सं तु मनुं स्वायम्भुवं प्रभुम्।
स्वपाणौ पुरुषश्रेष्ठ दुदोह पृथिवीं ततः।
सस्यजातानि सर्वाणि पृथुर्वैन्यः प्रतापवान् ॥ १९ ॥
तेनान्नेन प्रजास्तात वर्तन्तेऽद्यापि नित्यशः।

पुरुषश्रेष्ठ ! वेन-पुत्र प्रतापी पृथुने प्रभु स्वायम्भुव मनुको बछड़ा बनाकर पृथ्वीसे सब प्रकारके धान्योंको अपने हाथमें ही दुहा। तात ! उस दिनसे सब प्रजा उसी अन्नसे आजतक बढ़ रही है ॥ १९½ ॥

ऋषिभिः श्रूयते चापि पुनर्दुग्धा वसुंधरा ॥ २० ॥
वत्सः सोमोऽभवत् तेषां दोग्धा चाङ्गिरसः सुतः।
बृहस्पतिर्महातेजाः पात्रं छन्दांसि भारत।
क्षीरमासीदनुपमं तपो ब्रह्म च शाश्वतम् ॥ २१ ॥

भारत ! सुना है, फिर ऋषियोंने भी भूमिको दुहा था, उस समय सोम उनका बछड़ा हुआ, अङ्गिराके पुत्र महातेजस्वी बृहस्पति दुहनेवाले बने और छन्द (वेद) पात्र बने थे। तपोमय शाश्वत ब्रह्म अनुपम दुग्धके रूपमें प्रकट हुआ था ॥ २०-२१ ॥

पुनर्देवगणैः सर्वैः पुरंदरपुरोगमैः।
काञ्चनं पात्रमादाय दुग्धेयं श्रूयते मही ॥ २२ ॥

(यह भी) सुना जाता है कि फिर इन्द्र आदि सब देवताओंने भी सुवर्णका पात्र लेकर इस पृथ्वीको दुहा था ॥२२॥

वत्सस्तु मघवानासीद् दोग्धा च सविता प्रभुः।
क्षीरमूर्जस्करं चैव वर्तन्ते येन देवताः ॥ २३ ॥

(उस समय) इन्द्र बछड़ा और भगवान् सूर्य दुहनेवाले बने तथा पुष्टिकारक अमृतरूपी क्षीर प्रकट हुआ, जिससे देवता सदा जीवित रहते हैं ॥ २३ ॥

पितृभिः श्रूयते चापि पुनर्दुग्धा वसुंधरा।
राजतं पात्रमादाय स्वधाममितविक्रमैः ॥ २४ ॥

सुना है कि फिर अतुल पराक्रमी पितरोंने भी पृथ्वीको दुहा था, उन्होंने चाँदीका पात्र लेकर स्वधा (रूपी दूध) का दोहन किया था ॥ २४ ॥

यमो वैवस्वतस्तेषामासीद् वत्सः प्रतापवान्।
अन्तकश्चाभवद् दोग्धा कालो लोकप्रकालनः ॥ २५ ॥

प्रतापी विवस्वान्-पुत्र यम उनका बछड़ा बने और लोकोंका अन्त करनेवाला काल—अन्तक उनका दुहनेवाला बना था ॥२५॥

नागैश्च श्रूयते दुग्धा वत्सं कृत्वा तु तक्षकम् ।
अलाबुं पात्रमादाय विषं क्षीरं नरोत्तम ॥ २६ ॥

नरोत्तम! (फिर यह भी) सुना जाता है कि नागोंने तक्षकको वत्स बनाकर अलाबु (तूम्बी) के पात्रको लेकर विषरूपी दूध दुहा था ॥ २६ ॥

तेषामैरावतो दोग्धा धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ।
नागानां भरतश्रेष्ठ सर्पाणां च महीपते ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ भूपाल ! उस समय दुहनेवाला नाग ऐरावत था और सर्पोंने प्रतापी धृतराष्ट्रको दुहनेवाला बनाया था ॥

तेनैव वर्तयन्त्युग्रा महाकाया विषोल्बणाः ।
तदाहारास्तदाचारास्तद्वीर्यास्तदुपाश्रयाः ॥ २८ ॥

जिनमें स्पष्टरूपसे विष झलकता है, ऐसे ये विशाल शरीरवाले सर्प उस विषसे अपनी आजीविका चलाते हैं। ये इस विषको खाते हैं और इस विषका प्रयोग कर दूसरा आहार प्राप्त करते हैं तथा ये इस विषरूपी बलका सहारा लेकर इस संसारमें अपनी प्रतिष्ठा बनाये हुए हैं ॥ २८ ॥

असुरैः श्रूयते चापि पुनर्दुग्धा वसुंधरा ।
आयसं पात्रमादाय मायां शत्रुनिबर्हिणीम् ॥ २९ ॥

सुना जाता है कि असुरोंने भी लोहेका पात्र लेकर शत्रुओंको नष्ट करनेवाली माया (रूपी दूध) को इस पृथ्वीसे दुहा था ॥ २९ ॥

विरोचनस्तु प्राह्रादिर्वत्सस्तेषामभूत् तदा ।
ऋत्विग्द्विमूर्द्धा दैत्यानां मधुर्दोग्धा महाबलः ॥ ३० ॥

उस समय प्रह्लादका पुत्र विरोचन उनका बछड़ा बना था और दैत्योंका ऋत्विक् दो सिरोंवाला महाबली मधु उनका दुहनेवाला था ॥ ३० ॥

तयैते माययाद्यापि सर्वे मायाविनोऽसुराः ।
वर्तयन्त्यमितप्रज्ञास्तदेषाममितं बलम् ॥ ३१ ॥

अमित बुद्धिवाले मायावी असुर आजकल भी उसी मायासे काम लेते हैं, यह माया ही उनका अपार बल है ॥ ३१ ॥

यक्षैश्च श्रूयते तात पुनर्दुग्धा वसुंधरा ।
आमपात्रे महाराज पुरान्तर्द्धानमक्षयम् ॥ ३२ ॥

तात ! यह भी सुना जाता है कि इसके बाद उस प्राचीन कालमें यक्षोंने भी पृथ्वीको दुहा था । महाराज ! उन्होंने कच्चे पात्रमें अन्तर्धान (गुप्त) होनेकी अक्षय विद्याको दुहा था ॥ ३२ ॥

वत्सं वैश्रवणं कृत्वा यक्षैः पुण्यजनैस्तदा ।
दोग्धा रजतनाभस्तु पिता मणिवरस्य यः ॥ ३३ ॥

उस समय यक्ष और राक्षसोंने विश्रवाके पुत्र कुबेरको बछड़ा तथा मणिवरके पिता रजतनाभको दुहनेवाला बनाया था ॥ ३३ ॥

यक्षानुजो महातेजास्त्रिशीर्षः सुमहातपाः ।
तेन ते वर्तयन्तीति परमर्षिरुवाच ह ॥ ३४ ॥

उन यक्षोंके छोटे भाई महातेजस्वी और महातपस्वी रजतनाभके तीन सिर हैं। इस अन्तर्धान-विद्यासे वे यक्ष जीविका चलाते हैं, इस प्रकार परमर्षि (व्यासदेव) ने कहा था ॥३४॥

राक्षसैश्च पिशाचैश्च पुनर्दुग्धा वसुंधरा ।
शावं कपालमादाय प्रजा भोक्तुं नरर्षभ ॥ ३५ ॥

नरश्रेष्ठ ! फिर राक्षसों और पिशाचोंने मुर्देकी खोपड़ी लेकर अपनी संतानको तृप्त करनेके लिये इस वसुन्धराको दुहा था ॥ ३५ ॥

दोग्धा रजतनाभस्तु तेषामासीत् कुरूद्वह ।
वत्सः सुमाली कौरव्य क्षीरं रुधिरमेव च ॥ ३६ ॥

कुरुवंशधर ! उस समय रजतनाभ उनका दुहनेवाला था और सुमाली उनका बछड़ा था । कौरव्य ! उस समय उन्होंने रक्तरूपी दूध दुहा था ॥ ३६ ॥

तेन क्षीरेण यक्षाश्च राक्षसाश्चामरोपमाः ।
वर्तयन्ति पिशाचाश्च भूतसंघास्तथैव च ॥ ३७ ॥

देवताओंकी ही भाँति यक्ष, राक्षस, पिशाच और भूतोंकी भी मण्डलियाँ उस दूधसे अपनी-अपनी आजीविका चलाती हैं ॥ ३७ ॥

पद्मपत्रे पुनर्दुग्धा गन्धर्वैः साप्सरोगणैः ।
वत्सं चित्ररथं कृत्वा शुचीन् गन्धान् नरर्षभ ॥ ३८ ॥

नरर्षभ ! फिर अप्सराओं और गन्धर्वोंने भी चित्ररथको बछड़ा बनाकर पद्मपत्रमें वसुधासे पवित्र गन्धोंको दुहा था ॥

तेषां च सुरुचिस्त्वासीद् दोग्धा भरतसत्तम ।
गन्धर्वराजोऽतिबलो महात्मा सूर्यसंनिभः ॥ ३९ ॥

भरतसत्तम ! उस समय सूर्यके तुल्य तेजस्वी और अत्यन्त बलवान् महात्मा गन्धर्वराज सुरुचि उनका दुहनेवाला था ॥३९॥

शैलैश्च श्रूयते राजन् पुनर्दुग्धा वसुंधरा ।
औषधीर्वै मूर्तिमती रत्नानि विविधानि च ॥ ४० ॥

राजन् ! सुना जाता है कि पर्वतोंने भी पृथ्वीसे मूर्तिमती ओषधियों और नाना प्रकारके रत्नोंको दुहा था ॥ ४० ॥

वत्सस्तु हिमवानासीन्मेरुर्दोग्धा महागिरिः ।
पात्रं तु शैलमेवासीत् तेन शैला विवर्धिताः ॥ ४१ ॥

उस समय हिमाचल बछड़ा बना था, महागिरि मेरु दुहनेवाला था तथा पत्थरके पात्रकी दोहनी बनी थी । उस दूधसे पर्वतोंकी वृद्धि हुई ॥ ४१ ॥

वीरुद्भिः श्रूयते राजन् पुनर्दुग्धा वसुंधरा।
पालाशं पात्रमादाय दग्धच्छिन्नप्ररोहणम्॥ ४२॥

राजन्! सुना जाता है कि इसके बाद पलाशके पत्तेका पात्र (दोना) लेकर वृक्षोंने भी पृथ्वीका दोहन किया। जल जाने या कट जानेपर जो पुनः अंकुरित होनेकी शक्ति है, वही उन्हें दूधके रूपमें प्राप्त हुई थी॥ ४२॥

दुदोह पुष्पितः सालो वत्सः प्लक्षोऽभवत् तदा।
सेयं धात्री विधात्री च पावनी च वसुंधरा॥ ४३॥

उस समय खिले हुए साल वृक्षने इस पृथ्वीको दुहा था और पाकड़का वृक्ष बछड़ा बना था। इस प्रकार यह पृथ्वी धात्री-विधात्री (माताके समान सबका धारण-पोषण करनेवाली) तथा पवित्र है॥ ४३॥

चराचरस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा योनिरेव च।
सर्वकामदुघा दोग्ध्री सर्वसस्यप्ररोहिणी॥ ४४॥

यह पृथ्वी समस्त चराचर प्राणियोका आश्रय-स्थान और उत्पत्ति-स्थान है। यह समस्त कामनाओको पूर्ण करनेवाली कामधेनु है तथा यही सब प्रकारके सस्यों (अन्नके पौदों) को अंकुरित करनेवाली है॥ ४४॥

आसीदियं समुद्रान्ता मेदिनीति परिश्रुता।
मधुकैटभयोः कृत्स्ना मेदसाभिपरिप्लुता।
तेनेयं मेदिनी देवी प्रोच्यते ब्रह्मवादिभिः॥ ४५॥

पहले यह समुद्रतककी सारी पृथ्वी मधु और कैटभके मेद (चर्बी) से भर गयी थी, इसलिये 'मेदिनी' नामसे विख्यात हुई; अतएव यह देवी ब्रह्मवादियोंद्वारा मेदिनी कही जाती है॥ ४५॥

ततोऽभ्युपगमाद् राज्ञः पृथोर्वैन्यस्य भारत।
दुहितृत्वमनुप्राप्ता देवी पृथ्वीति चोच्यते।
पृथुना प्रविभक्ता च शोधिता च वसुंधरा॥ ४६॥
सस्याकरवती स्फीता पुरपत्तनमालिनी।
एवंप्रभावो वैन्यः स राजासीद् राजसत्तमः॥ ४७॥

भरतवंशी राजन्! फिर वेनपुत्र राजा पृथुके पुत्रीरूपमे अङ्गीकार करनेपर यह देवी उनकी पुत्री बन गयी, इससे यह पृथ्वी कहलाती है। इस पृथ्वीको पृथुने अनेक भागोंमें विभक्त एवं शुद्ध किया, इसको अन्न आदिकी खान बना दिया और समृद्धिशालिनी बनाकर इसे ग्रामों और नगरोंकी श्रेणियोसे सुशोभित कर दिया। नृपश्रेष्ठ! महाराज पृथु ऐसे प्रभावशाली थे॥ ४६-४७॥

नमस्यश्चैव पूज्यश्च भूतग्रामैर्न संशयः।
ब्राह्मणैश्च महाभागैर्वेदवेदाङ्गपारगैः॥ ४८॥
पृथुरेव नमस्कार्यो ब्रह्मयोनिः सनातनः।

अतएव सभी प्राणियोंको निःसंदेह उनकी पूजा तथा वन्दना करनी चाहिये। वेद-वेदाङ्गके पारगामी महात्मा ब्राह्मणोंको भी (अत्रिकुलमें उत्पन्न होनेके कारण) ब्रह्मयोनि एवं सनातन पुरुष (विष्णुरूप) पृथुके प्रति निश्चय ही नमस्कार करना चाहिये॥ ४८½॥

पार्थिवैश्च महाभागैः पार्थिवत्वमभीप्सुभिः॥ ४९॥
आदिराजो नमस्कार्यः पृथुर्वैन्यः प्रतापवान्।

पृथ्वीके स्वामित्वको चाहनेवाले महाभाग्यवान् राजाओंको भी आदि राजा वेनपुत्र प्रतापी पृथुको प्रणाम करना चाहिये॥ ४९½॥

योधैरपि च विक्रान्तैः प्राप्तुकामैर्जयं युधि।
पृथुरेव नमस्कार्यो योधानां प्रथमो नृपः॥ ५०॥

जो पराक्रमी राजा युद्धमे विजय चाहते हों उनको भी योद्धाओंमें अग्रणी राजा पृथुको अवश्य प्रणाम करना चाहिये॥

यो हि योद्धा रणं याति कीर्तयित्वा पृथुं नृपम्।
स घोररूपान् संग्रामान् क्षेमी तरति कीर्तिमान्॥ ५१॥

जो योद्धा राजा पृथुका कीर्तन करके युद्धमें जाता है, वह भयङ्कर संग्रामको कुशलपूर्वक तर जाता (उसमें विजय प्राप्त करता) और यशस्वी होता है॥ ५१॥

वैश्यैरपि च वित्ताढ्यैः पण्यवृत्तिमनुष्ठितैः।
पृथुरेव नमस्कार्यो वृत्तिदाता महायशाः॥ ५२॥

वाणिज्य आदिसे आजीविका चलानेवाले धनवान् वैश्यों को भी चाहिये कि वे वृत्ति (आजीविका) प्रदान करनेवाले महायशस्वी पृथुको अवश्य प्रणाम करें॥ ५२॥

तथैव शूद्रैः शुचिभिस्त्रिवर्णपरिचारिभिः।
आदिराजो नमस्कार्यः श्रेयः परमभीप्सुभिः॥ ५३॥

इसी प्रकार परम कल्याण चाहनेवाले एवं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—इन तीनों वर्णोंकी सेवामें परायण रहनेवाले पवित्र शूद्रों को भी आदि राजा पृथुको प्रणाम करना चाहिये॥ ५३॥

एते वत्सविशेषाश्च दोग्धारः क्षीरमेव च।
पात्राणि च मयोक्तानि किं भूयो वर्णयामि ते॥ ५४॥

मैंने तुमसे इन बछड़ोंका, पात्रोंका, दुहनेवालोंका और दुग्धोंका वर्णन कर दिया। अब मैं तुमसे और क्या कहूँ॥५४॥

य इदं शृणुयान्नित्यं पृथोश्चरितमादितः।
पुत्रपौत्रसमायुक्तो मोदते सुचिरं भुवि॥ ५५॥

जो पुरुष (प्रत्येक कल्पमें होनेवाले अतएव) नित्य इस पृथु-चरित्रको आदिसे (अन्ततक) सुनता है, वह पुरुष पुत्र-पौत्रोंके साथ इस पृथ्वीपर चिर-कालतक आनन्द करता है॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि पृथूपाख्याने षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पृथुके उपाख्यानकी समाप्तिविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः

मन्वन्तर, मनु, देवता और ऋषियोंका पृथक्-पृथक् वर्णन

जनमेजय उवाच

मन्वन्तराणि सर्वाणि विस्तरेण तपोधन।
तेषां सृष्टिं विसृष्टिं च वैशम्पायन कीर्तय ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—तपोधन वैशम्पायनजी ! सभी मन्वन्तरों तथा उनकी सृष्टि और विलीन होनेका वृत्तान्त अब आप विस्तारपूर्वक कहिये ॥ १ ॥

यावन्तो मनवश्चैव यावन्तं कालमेव च।
मन्वन्तरं तथा ब्रह्मञ्छ्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ २ ॥

ब्रह्मन् ! जितने मनु होते हैं और जितने समयतक एक मन्वन्तर रहता है, उसको मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

न शक्यो विस्तरस्तात वक्तुं वर्षशतैरपि।
मन्वन्तराणां कौरव्य संक्षेपं त्वेव मे शृणु ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तात ! कौरव्य ! मन्वन्तरोंके विस्तारका तो सौ वर्षोंमें भी वर्णन नहीं किया जा सकता, अतः उसे संक्षेपमें ही मुझसे सुनो ॥ ३ ॥

स्वायम्भुवो मनुस्तात मनुः स्वारोचिषस्तथा।
उत्तमस्तामसश्चैव रैवतश्चाक्षुषस्तथा ॥ ४ ॥
वैवस्वतश्च कौरव्य साम्प्रतो मनुरुच्यते।
सावर्णिश्च मनुस्तात भौत्यो रौच्यस्तथैव च ॥ ५ ॥
तथैव मेरुसावर्णाश्चत्वारो मनवः स्मृताः।
अतीता वर्तमानाश्च तथैवानागताश्च ये ॥ ६ ॥
कीर्तिता मनवस्तात मयैते तु यथाश्रुतम्।
ऋषींस्तेषां प्रवक्ष्यामि पुत्रान् देवगणांस्तथा ॥ ७ ॥

तात ! कौरव्य ! स्वायम्भुव मनु, स्वारोचिष मनु, उत्तम मनु, तामस मनु, रैवत मनु एवं चाक्षुष मनु (बीत गये हैं) और वर्तमान (सातवें) मनुका नाम वैवस्वत मनु है। (अब भविष्यके मन्वन्तरोंका वर्णन करते हैं—) तात ! सावर्णि मनु, भौत्य मनु और रौच्य मनु एवं चार मेरुसावर्ण (ब्रह्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, मेरुसावर्णि, दक्षसावर्णि—ये चारों मेरु पर्वतपर तप करके सिद्ध हो गये हैं, अतएव ये चारों मेरुसावर्णि कहलाते हैं,) कहे गये हैं। तात ! मैंने भूत, भविष्यत् और वर्तमान (चौदह) मनुओंका गुरुओंसे जिस प्रकार सुना था वैसा वर्णन किया, अब मैं उनके ऋषि, पुत्र और देवताओंका वर्णन करता हूँ ॥ ४–७ ॥

मरीचिरत्रिर्भगवानङ्गिराः पुलहः क्रतुः।
पुलस्त्यश्च वसिष्ठश्च सप्तैते ब्रह्मणः सुताः ॥ ८ ॥
उत्तरस्यां दिशि तथा राजन् सप्तर्षयोऽपरे।
देवाश्च शान्तरजसस्तथा प्रकृतयः परे।
यामा नाम तथा देवा आसन् स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥ ९ ॥
आग्नीध्रश्चाग्निबाहुश्च मेधा मेधातिथिर्वसुः।
ज्योतिष्मान् द्युतिमान् हव्यः सवनः पुत्र एव च ॥ १० ॥
मनोः स्वायम्भुवस्यैते दश पुत्रा महौजसः।
एतत् ते प्रथमं राजन् मन्वन्तरमुदाहृतम् ॥ ११ ॥

राजन् ! स्वायम्भुव मन्वन्तरमें वर्तमान मन्वन्तरसे भिन्न मरीचि, भगवान् अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वसिष्ठ—ये ब्रह्माजीके सात पुत्र सप्तर्षि होकर उत्तर दिशामें रहते थे। स्वायम्भुव मन्वन्तरमें शान्तरजा, प्रकृति तथा याम नामक देवता पूजित होते थे। स्वायम्भुव मनुके आग्नीध्र, अग्निबाहु, मेधा, मेधातिथि, वसु, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, हव्य, सवन और पुत्र—ये दस महाबली पुत्र थे। राजन् ! मैंने तुमसे यह पहले मन्वन्तरका वर्णन किया ॥ ८–११ ॥

और्वो वसिष्ठपुत्रश्च स्तम्बः काश्यप एव च।
प्राणो बृहस्पतिश्चैव दत्तो निश्च्यवनस्तथा ॥ १२ ॥
एते महर्षयस्तात वायुप्रोक्ता महाव्रताः।
देवाश्च तुषिता नाम स्मृताः स्वारोचिषेऽन्तरे ॥ १३ ॥

तात ! वायुने स्वारोचिष मन्वन्तरमें वसिष्ठके पुत्र और्व, स्तम्ब, काश्यप, प्राण, बृहस्पति, दत्त और निश्च्यवन—ये सात महाव्रतधारी ऋषि बताये हैं और देवताओंका नाम तुषित कहा है ॥ १२-१३ ॥

हविर्ध्रः सुकृतिर्ज्योतिरापोमूर्तिरयस्मयः।
प्रथितश्च नभस्यश्च नभ ऊर्जस्तथैव च ॥ १४ ॥
स्वारोचिषस्य पुत्रास्ते मनोस्तात महात्मनः।
कीर्तिताः पृथिवीपाल महावीर्यपराक्रमाः ॥ १५ ॥
द्वितीयमेतत् कथितं तव मन्वन्तरं मया।

तात ! महात्मा स्वारोचिष मनुके महावीर्यवान् और पराक्रमी हविर्ध्र, सुकृति, ज्योति, आप, मूर्ति, अयस्मय, प्रथित, नभस्य, ऊर्ज और नभ—ये (दस) पुत्र थे, उनका वर्णन कर दिया। पृथ्वीपाल ! यह मैंने तुमसे दूसरे मन्वन्तरका वर्णन कर दिया ॥ १४-१५½ ॥

इदं तृतीयं वक्ष्यामि तन्निबोध नराधिप ॥ १६ ॥
वसिष्ठपुत्राः सप्तासन् वासिष्ठा इति विश्रुताः।
हिरण्यगर्भस्य सुता ऊर्जा नाम सुतेजसः ॥ १७ ॥
ऋषयोऽत्र मया प्रोक्ताः कीर्त्यमानान् निबोध मे।
औत्तमेयान् महाराज दश पुत्रान् मनोरमान् ॥ १८ ॥
इष ऊर्जस्तनूजश्च मधुर्माधव एव च।

शुचिः शुक्रः सहश्चैव नभस्यो नभ एव च ॥ १९ ॥
भानवस्तत्र देवाश्च मन्वन्तरमुदाहृतम् ।

राजन् ! अब मैं तीसरे मन्वन्तरका वर्णन करता हूँ, सुनो । उत्तम नामक मन्वन्तरमें वासिष्ठ नामसे प्रसिद्ध वसिष्ठजीके सात पुत्र (सप्तर्षि) थे । वे पहले हिरण्यगर्भके पुत्र थे । उनके नाम ऊर्ज थे, तथा वे बड़े तेजस्वी थे । इस प्रकार मैंने ऋषियोंका वर्णन कर दिया । महाराज ! अब मैं उत्तम मनुके दस मनोहर पुत्रोंका वर्णन करता हूँ; सुनो— इष, ऊर्ज, तनूज, मधु, माधव, शुचि, शुक्र, सह, नमस्य और नभ (ये दस उत्तम मनुके पुत्र थे) और उस मन्वन्तरमें भानु नामक देवता थे । (इस प्रकार यह तीसरा) मन्वन्तर बताया गया ॥ १६—१९½ ॥

मन्वन्तरं चतुर्थं ते कथयिष्यामि तच्छृणु ॥ २० ॥
काव्यः पृथुस्तथैवाग्निर्जन्युर्धाता च भारत ।
कपीवानकपीवांश्च तत्र सप्तर्षयोऽपरे ॥ २१ ॥
पुराणे कथितास्तात पुत्राः पौत्राश्च भारत ।
सत्या देवगणाश्चैव तामसस्यान्तरे मनोः ॥ २२ ॥
पुत्रांश्चैव प्रवक्ष्यामि तामसस्य मनोर्नृप ।
द्युतिस्तपस्यः सुतपास्तपोमूलस्तपोधनः ॥ २३ ॥
तपोरतिरकल्माषस्तन्वी धन्वी परंतपः ।
तामसस्य मनोरेते दश पुत्रा महाबलाः ॥ २४ ॥

भारत ! अब मैं चौथे मन्वन्तरका वर्णन करता हूँ, सुनो । तामस नामक मन्वन्तरमें काव्य, पृथु, अग्नि, जन्यु, धाता, कपीवान् और अकपीवान्—ये सात सप्तर्षि थे । तात ! पुराणोंमें इनके बहुत-से पुत्र-पौत्रोंका वर्णन है । तामस मन्वन्तरमें सत्य नामक देवता थे । भारत ! अब मैं तामस मनुके पुत्रोंका वर्णन करता हूँ । राजन् ! तामस मनुके द्युति, तपस्य, सुतपा, तपोमूल, तपोधन, तपोरति, कल्माष, तन्वी, धन्वी और परंतप—ये दस महाबली पुत्र थे ॥ २०—२४ ॥

वायुप्रोक्ता महाराज पञ्चमं तदनन्तरम् ।
वेदबाहुर्यदुध्रश्च मुनिर्वेदशिरास्तथा ॥ २५ ॥
हिरण्यरोमा पर्जन्य ऊर्ध्वबाहुश्च सोमजः ।
सत्यनेत्रस्तथाऽऽत्रेय एते सप्तर्षयोऽपरे ॥ २६ ॥
देवाश्चाभूतरजसस्तथा प्रकृतयोऽपरे ।
पारिप्लवश्च रैभ्यश्च मनोरन्तरमुच्यते ॥ २७ ॥
अथ पुत्रानिमांस्तस्य निबोध गदतो मम ।
धृतिमानव्ययो युक्तस्तत्त्वदर्शी निरुत्सुकः ॥ २८ ॥
अरण्यश्च प्रकाशश्च निर्मोहः सत्यवाक् कविः ।
रैवतस्य मनोः पुत्राः पञ्चमं चैतदन्तरम् ॥ २९ ॥

इन सबका वायुने वर्णन किया है । महाराज ! अब पाँचवें (रैवत मन्वन्तरका वर्णन करता हूँ ।) उस मन्वन्तरमें वेदबाहु, यदुध्र, वेदशिरा मुनि, हिरण्यरोमा, पर्जन्य, सोमपुत्र ऊर्ध्वबाहु और अत्रिपुत्र सत्यनेत्र—ये सात ऋषि थे । उस मन्वन्तरमें अभूतरजा, प्रकृति, पारिप्लव और रैभ्य नामक देवगण थे । यह सब (पञ्चम) मन्वन्तरका वर्णन है । अब मैं रैवत मनुके पुत्रोंका वर्णन करता हूँ, सुनो । धृतिमान्, अव्यय, युक्त, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, अरण्य, प्रकाश, निर्मोह, सत्यवाक् और कवि—ये रैवत मनुके पुत्र हैं । यह पञ्चम मन्वन्तरका वर्णन हुआ ॥ २५—२९ ॥

षष्ठं ते सम्प्रवक्ष्यामि तन्निबोध नराधिप ।
भृगुर्नभो विवस्वांश्च सुधामा विरजास्तथा ॥ ३० ॥
अतिनामा सहिष्णुश्च सप्तैते वै महर्षयः ।
चाक्षुषस्यान्तरे तात मनोर्देवानिमाञ्छृणु ॥ ३१ ॥
आद्याः प्रभूता ऋभवः पृथग्भावा दिवौकसः ।
लेखाश्च नाम राजेन्द्र पञ्च देवगणाः स्मृताः ।
ऋषेरङ्गिरसः पुत्रा महात्मानो महौजसः ॥ ३२ ॥
नाड्वलेया महाराज दश पुत्राश्च विश्रुताः ।
ऊरुप्रभृतयो राजन् षष्ठं मन्वन्तरं स्मृतम् ॥ ३३ ॥

नराधिप ! अब मैं छठे (चाक्षुष मन्वन्तर) का वर्णन करता हूँ, सुनो । तात ! चाक्षुष मन्वन्तरमें भृगु, नभ, विवस्वान्, सुधामा, विरजा, अतिनामा और सहिष्णु—ये सात महर्षि थे । राजेन्द्र ! अब (इस मन्वन्तरके) देवताओंका परिचय सुनो । आद्य, प्रभूत, ऋभु, पृथग्भाव और लेख नामवाले देवताओंके पाँच गण थे, ये स्वर्गमें रहते थे । ये सब अङ्गिरा ऋषिके पुत्र थे और सभी परम तेजस्वी महात्मा थे । इनकी माताका नाम नड्वला था । महाराज ! (चाक्षुष मनुके) ऊरु आदि दस प्रसिद्ध पुत्र थे । राजन् ! यह छठे मन्वन्तरका वर्णन किया गया ॥ ३०—३३ ॥

अत्रिर्वसिष्ठो भगवान् कश्यपश्च महानृषिः ।
गौतमोऽथ भरद्वाजो विश्वामित्रस्तथैव च ॥ ३४ ॥
तथैव पुत्रो भगवानृचीकस्य महात्मनः ।
सप्तमो जमदग्निश्च ऋषयः साम्प्रतं दिवि ॥ ३५ ॥

(अब सप्तम मन्वन्तरका वर्णन करते हैं—) इस वर्तमान समयमें स्वर्गमें स्थित अत्रि, भगवान् वसिष्ठ, महर्षि कश्यप, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र और सातवें महात्मा ऋचीकके पुत्र भगवान् जमदग्नि—ये सप्तर्षि हैं ॥ ३४-३५ ॥

साध्या रुद्राश्च विश्वे च मरुतो वसवस्तथा ।
आदित्याश्चाश्विनौ चैव देवौ वैवस्वतौ स्मृतौ ॥ ३६ ॥
मनोर्वैवस्वतस्यैते वर्तन्ते साम्प्रतेऽन्तरे ।
इक्ष्वाकुप्रमुखाश्चैव दश पुत्रा महात्मनः ॥ ३७ ॥

साध्य, रुद्र, विश्वेदेव, मरुत्, वसु, आदित्य और दोनों अश्विनीकुमार, जो कि सूर्यके पुत्र कहलाते हैं,

ये सब इस वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तरके देवता हैं और इस महात्मा वैवस्वत मनुके इक्ष्वाकु आदि दस पुत्र हैं ॥ ३६-३७ ॥

एतेषां कीर्तितानां तु महर्षीणां महौजसाम् ।
राजन् पुत्राश्च पौत्राश्च दिक्षु सर्वासु भारत ॥ ३८ ॥

भरतवंशी राजन्! जिनकी चर्चा हुई है, इन परम तेजस्वी महर्षियोंके पुत्र और पौत्र सब दिशाओंमें (व्याप्त हैं) ॥ ३८ ॥

मन्वन्तरेषु सर्वेषु प्राग्दिशः सप्तसप्तकाः ।
स्थिता लोकव्यवस्थार्थं लोकसंरक्षणाय च ॥ ३९ ॥

सब मन्वन्तरोंमें पूर्व कथित उनचास पवन लोकोंकी व्यवस्था और रक्षा करनेके लिये स्थित रहते हैं ॥ ३९ ॥

मन्वन्तरे व्यतिक्रान्ते चत्वारः सप्तका गणाः ।
कृत्वा कर्म दिवं यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ॥ ४० ॥

प्रत्येक मन्वन्तरके बीतनेपर उनमेंसे अट्ठाईस पवन अपने कर्मको (पूर्ण) करके स्वर्गमें जाकर अनामय (व्याधिरहित) ब्रह्मलोकको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ४० ॥

ततोऽन्ये तपसा युक्ताः स्थानमापूरयन्त्युत ।
अतीता वर्तमानाश्च क्रमेणैतेन भारत ॥ ४१ ॥
एतान्युक्तानि कौरव्य सप्तातीतानि भारत ।
मन्वन्तराणि षट् चापि निबोधानागतानि मे ॥ ४२ ॥

भारत! तब मन्वन्तरके अन्तमें दूसरे वायु तपोबलसे उनके पदपर आरूढ़ होकर उनके स्थानको पूर्ण कर देते हैं। कौरव्य! बीते हुए और वर्तमान सात मन्वन्तरोंका वर्णन कर दिया। भरतनन्दन! अब भविष्यके छः (सात) मन्वन्तरोंका वर्णन मुझसे सुनो ॥ ४१-४२ ॥

सावर्णा मनवस्तात पञ्च तांश्च निबोध मे ।
एको वैवस्वतस्तेषां चत्वारस्तु प्रजापतेः ॥ ४३ ॥
परमेष्ठिसुतास्तात मेरुसावर्णतां गतः ।
दक्षस्यैते हि दौहित्राः प्रियायास्तनया नृप ।
महान्तस्तपसा युक्ता मेरुपृष्ठे महौजसः ॥ ४४ ॥

तात! सावर्णि मनु पाँच हैं, उनको मुझसे सुनो। उनमेंसे एक तो सूर्यके पुत्र हैं और चार प्रजापति परमेष्ठीके, ये सब दक्षके नाती हैं तथा (दक्षकन्या) प्रियाके पुत्र हैं। राजन्! मेरु पर्वतपर बड़ा भारी तप करके ये महातपस्वी मनु मेरुसावर्ण नामको प्राप्त हुए ॥ ४३-४४ ॥

रुचेः प्रजापतेः पुत्रो रौच्यो नाम मनुः स्मृतः ।
भूत्यां चोत्पादितो देव्यां भौत्यो नाम रुचेः सुतः ॥ ४५ ॥

प्रजापति रुचिके पुत्र रौच्य मनु कहलाते हैं और भूति देवीके गर्भसे उत्पन्न रुचिके पुत्र भौत्य कहलाते हैं ॥ ४५ ॥

अनागताश्च सप्तैते स्मृता दिवि महर्षयः ।
मनोरन्तरमासाद्य सावर्णस्य ह ताञ्छृणु ॥ ४६ ॥

अब भविष्यत्-कालमें होनेवाले सावर्णि मन्वन्तरके जो सात महर्षि स्वर्गमें विराजमान हैं, उन (अष्टम मन्वन्तरके) ऋषियोंको सुनो ॥ ४६ ॥

रामो व्यासस्तथाऽऽत्रेयो दीप्तिमानिति विश्रुतः ।
भारद्वाजस्तथा द्रौणिरश्वत्थामा महाद्युतिः ॥ ४७ ॥
गौतमस्यात्मजश्चैव शरद्वान् गौतमः कृपः ।
कौशिको गालवश्चैव रुरुः काश्यप एव च ॥ ४८ ॥

(परशु-) राम, व्यास, अत्रिपुत्र दीप्तिमान्, भरद्वाजगोत्री द्रोणपुत्र महातेजस्वी अश्वत्थामा, गौतमके वंशज एवं गौतम-गोत्री शरद्वान् (के पुत्र) कृपाचार्य, कौशिकगोत्री गालव और काश्यपगोत्री रुरु ॥ ४७-४८ ॥

एते सप्त महात्मानो भविष्या मुनिसत्तमाः ।
ब्रह्मणः सदृशाश्चैते धन्याः सप्तर्षयः स्मृताः ॥ ४९ ॥

ये ब्रह्माजीके समान धन्यवादके पात्र भविष्यके सात मुनिश्रेष्ठ महात्मा सप्तर्षि कहे गये हैं ॥ ४९ ॥

अभिजात्याथ तपसा मन्त्रव्याकरणैस्तथा ।
ब्रह्मलोकप्रतिष्ठास्तु स्मृताः सप्तर्षयोऽमलाः ॥ ५० ॥

ये जन्म, तप, मन्त्र और व्याकरणके प्रभावसे पवित्र सात ऋषि ब्रह्मलोकमें रहते हैं ॥ ५० ॥

भूतभव्यभवज्ज्ञानं बुद्ध्वा चैव तु ये स्वयम् ।
तपसा वै प्रसिद्धा ये संगताः प्रविचिन्तकाः ॥ ५१ ॥

ये ऋषि स्वयं अपने तपसे भूत, भविष्य और वर्तमान कालके सब वृत्तान्तको जानकर प्रसिद्ध हो गये हैं तथा परस्पर मिलकर परमात्मतत्त्वका विचार करते रहते हैं ॥ ५१ ॥

मन्त्रव्याकरणाद्यैश्च ऐश्वर्यात् सर्वशश्च ये ।
एतान् भार्यान् द्विजो ज्ञात्वा नैष्ठिकानि च नाम च ॥ ५२ ॥

ये मन्त्र, व्याकरण आदिसे तथा ऐश्वर्यके कारण भी (सर्वत्र प्रसिद्ध हैं)। ब्राह्मण इन भरण करनेयोग्य ऋषियोंको तथा इनके नैष्ठिक कर्मों और नामोंको जानकर (कल्याणका भागी होता है) ॥ ५२ ॥

सप्तैते सप्तभिश्चैव गुणैः सप्तर्षयः स्मृताः ।
दीर्घायुषो मन्त्रकृत ईश्वरा दीर्घचक्षुषः ॥ ५३ ॥

ये सातों अपने सात गुणोंके कारण सप्तर्षि कहलाते हैं और दीर्घायु, मन्त्रद्रष्टा, सर्वसमर्थ तथा दीर्घदर्शी हैं ॥ ५३ ॥

बुद्ध्या प्रत्यक्षधर्माणो गोत्रप्रावर्तकास्तथा ।
कृतादिषु युगाख्येषु सर्वेष्वेव पुनः पुनः ॥ ५४ ॥
प्रावर्तयन्ति ते वर्णानाश्रमांश्चैव सर्वशः ।
सप्तर्षयो महाभागाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ५५ ॥

इन्हें अपनी बुद्धिसे धर्मके महत्त्वका प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा ये गोत्रप्रवर्तक (गोत्र चलानेवाले) हैं। सत्यधर्ममें परायण रहनेवाले ये महाभाग सप्तर्षि सत्ययुग

आदि सभी युगोंमें सर्वत्र (ब्राह्मण आदि चारों) वर्णों और (ब्रह्मचर्य आदि चारों) आश्रमोंको वारंवार स्वधर्ममें प्रवृत्त करते रहते हैं ॥ ५४-५५ ॥

तेषां चैवान्वयोत्पन्ना जायन्तीह पुनः पुनः ।
मन्त्रब्राह्मणकर्तारो धर्मे प्रशिथिले तथा ॥ ५६ ॥

धर्मके शिथिल होनेपर इन्हीं ऋषियोंके वंशज विद्वान् पुरुष मन्त्र और ब्राह्मण भागके प्रणेता होकर वारंबार यहाँ धर्मोद्धारके लिये जन्म धारण करते हैं ॥ ५६ ॥

यस्माच्च वरदाः सप्त परेभ्य एव याचिताः ।
तस्मान्न कालो न वयः प्रमाणमृषिभावने ॥ ५७ ॥

ये सातों वर देनेवाले हैं और दूसरे पुरुष इनसे याचना करते हैं, अतएव इन ऋषियोंके सम्बन्धमें विचार करनेपर न तो इनकी उत्पत्तिका समय बताया जा सकता है और न इनकी अवस्थाका परिमाण ही ॥ ५७ ॥

एष सप्तर्षिकोद्देशो व्याख्यातस्ते मया नृप ।
सावर्णस्य मनोः पुत्रान् भविष्याञ्छृणु सत्तम ॥ ५८ ॥

राजन्! मैंने तुमसे यह सप्तर्षियोंकी बात संक्षेपसे कह दी। सत्तम ! अब सावर्णि मनुके भविष्यमें होनेवाले पुत्रोंका वर्णन सुनो ॥ ५८ ॥

वरीयांश्चावरीयांश्च सम्मतो धृतिमान् वसुः ।
चरिष्णुरप्यधृष्णुश्च वाजः सुमतिरेव च ।
सावर्णस्य मनोः पुत्रा भविष्या दश भारत ॥ ५९ ॥

भरतवंशी राजन् ! वरीयान्, अवरीयान्, सम्मत, धृतिमान्, वसु, चरिष्णु, अधृष्णु, वाज, सुमति (तथा एक और)—ये सावर्णि मनुके भविष्यमें होनेवाले दस पुत्र हैं ॥ ५९ ॥

प्रथमे मेरुसावर्णे प्रवक्ष्यामि मुनीञ्छृणु ।
मेधातिथिस्तु पौलस्त्यो वसुः काश्यप एव च॥ ६० ॥
ज्योतिष्मान् भार्गवश्चैव द्युतिमानङ्गिरास्तथा ।
सावनश्चैव वासिष्ठ आत्रेयो हव्यवाहनः ॥ ६१ ॥
पौलहः सप्त इत्येते मुनयो रोहितेऽन्तरे ।
देवातानां गणास्तत्र त्रय एव नराधिप ॥ ६२ ॥

अब मैं प्रथम मेरुसावर्ण अर्थात् नवम मनुके समकालीन ऋषियोंका वर्णन करता हूँ, सुनिये ! पुलस्त्यगोत्री मेधातिथि, कश्यपगोत्री वसु, भृगुवंशी ज्योतिष्मान् अङ्गिरागोत्री द्युतिमान्, वसिष्ठगोत्री सावन, अत्रिपुत्र हव्यवाहन और पुलह-गोत्री सप्त—रोहित* मन्वन्तरके ये सात ऋषि हैं और राजन्! उस मन्वन्तरमें देवताओंके तीन ही गण होंगे ॥ ६०—६२ ॥

दक्षपुत्रस्य पुत्रास्ते रोहितस्य प्रजापतेः ।
मनोः पुत्रो धृष्टकेतुः पञ्चहोत्रो निराकृतिः ॥ ६३ ॥
पृथुः श्रवा भूरिधामा ऋचीकोऽष्टहतो गयः ।
प्रथमस्य तु सावर्णेर्नव पुत्रा महौजसः ॥ ६४ ॥

ये दक्षके पुत्र रोहित प्रजापतिके पुत्र हैं और इन प्रथम सावर्णि मनुके धृष्टकेतु, पञ्चहोत्र, निराकृति, पृथु, श्रवा, भूरिधामा, ऋचीक, अष्टहत और गय—ये नौ महाबली पुत्र होंगे ॥ ६३-६४ ॥

दशमे त्वथ पर्याये द्वितीयस्यान्तरे मनोः ।
हविष्मान् पौलहश्चैव सुकृतिश्चैव भार्गवः ॥ ६५ ॥
आपोमूर्तिस्तथाऽऽत्रेयो वासिष्ठश्चाष्टमः स्मृतः ।
पौलस्त्यः प्रमितिश्चैव नभोगश्चैव काश्यपः।
अङ्गिरा नभसः सत्यः सप्तैते परमर्षयः ॥ ६६ ॥

दसवें और दूसरे सावर्णि मनु (दक्ष सावर्णि) के मन्वन्तरमें पुलहगोत्री हविष्मान्, भृगुवंशी सुकृति, अत्रिवंशी आपोमूर्ति, वसिष्ठपुत्र अष्टम, पुलस्त्यगोत्री प्रमिति, कश्यपगोत्री नभोग और अङ्गिरावंशी नभसके पुत्र सत्य—ये सात परम ऋषि होंगे ॥

देवतानां गणौ द्वौ तौ ऋषिमन्त्राश्च ये स्मृताः।
मनोः सुतोत्तमौजाश्च निकुषञ्जश्च वीर्यवान् ॥ ६७ ॥
शतानीको निरामित्रो वृषसेनो जयद्रथः ।
भूरिद्युम्नः सुवर्चाश्च दश त्वेते मनोः सुताः ॥ ६८ ॥

उस समय (दक्षिण-मार्गके अभिमानी धूम आदि और उत्तरमार्गके अभिमानी अग्नि आदि ये) दो देवताओंके गण होंगे तथा ऋषियुक्त मन्त्रोंद्वारा जिन देवताओंका प्रतिपादन होता है, वे भी उस समयके देवता होंगे तथा मनुसुत, उत्तमौजा, निकुषञ्ज, वीर्यवान्, शतानीक, निरामित्र, वृषसेन, जयद्रथ, भूरिद्युम्न और सुवर्चा—ये मनुके दस पुत्र होंगे ॥ ६७-६८ ॥

एकादशेऽथ पर्याये तृतीयस्यान्तरे मनोः ।
तस्य सप्त ऋषींश्चापि कीर्त्यमानान् निबोध मे॥ ६९ ॥

अब ग्यारहवें मनु—एवं तीसरे सावर्णि मनु (रुद्र-सावर्णि)के मन्वन्तरमें जो सात ऋषि और देवता होंगे, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ६९ ॥

हविष्मान् काश्यपश्चापि हविष्मान् यश्च भार्गवः ।
तरुणश्च तथाऽऽत्रेयो वासिष्ठस्त्वनघस्तथा ॥ ७० ॥
अङ्गिराश्चोदधिष्ण्यश्च पौलस्त्यो निश्चरस्तथा ।
पुलहश्चाग्नितेजाश्च भाव्याः सप्त महर्षयः ॥ ७१ ॥
ब्रह्मणस्तु सुता देवा गणास्तेषां त्रयः स्मृताः ।
संवर्तकः सुशर्मा च देवानीकः पुरूद्वहः ॥ ७२ ॥
क्षेमधन्वा दृढायुश्च आदर्शः पण्डको मनुः ।
सावर्णस्य तु पुत्रा वै तृतीयस्य नव स्मृताः ॥ ७३ ॥

कश्यपगोत्री हविष्मान्, भृगुवंशी हविष्मान्, अत्रिगोत्रोत्पन्न तरुण, वसिष्ठगोत्री अनघ, अङ्गिरागोत्री उदधिष्ण्य,

* मेरुसावर्णिका ही दूसरा नाम रोहित है ।

पुलस्त्यगोत्री निश्चर एवं पुलहगोत्री अमितेजा—ये सात महर्षि होंगे। ये सब-के-सब ब्रह्माजीके (मानस) पुत्र हैं। उस मन्वन्तरमें देवताओंके तीन गण होंगे तथा इन तीसरे सावर्णि मनुके संवर्तक, सुशर्मा, देवानीक, पुरूद्वह, क्षेमधन्वा, दृढायु, आदर्श, पण्डक और मनु—ये नौ पुत्र माने गये हैं ॥

चतुर्थस्य तु सावर्णेर्ऋषीन् सप्त निबोध मे ।
द्युतिर्वसिष्ठपुत्रश्च आत्रेयः सुतपास्तथा ॥ ७४ ॥
अङ्गिरास्तपसो मूर्तिस्तपस्वी काश्यपस्तथा ।
तपोऽशनश्च पौलस्त्यः पौलहश्च तपो रविः ॥ ७५ ॥
भार्गवः सप्तमस्तेषां विज्ञेयस्तु तपोधृतिः ।
पञ्च देवगणाः प्रोक्ता मानसा ब्रह्मणश्च ते ॥ ७६ ॥

अब मैं चतुर्थ सावर्णिके (अर्थात् बारहवें मन्वन्तरके) ऋषियोंका वर्णन करता हूँ, सुनो । वसिष्ठजीके पुत्र द्युति, अत्रिगोत्रमें उत्पन्न सुतपा, अङ्गिरागोत्री तपोमूर्ति, कश्यपगोत्री तपस्वी, पुलस्त्यवंशमें उत्पन्न तपोऽशन, पुलहगोत्री तपोरवि और सातवाँ भृगुवंशी तपोधृति (को) समझना चाहिये । (इस मन्वन्तरमें) देवताओंके पाँच गण होंगे । वे सब ब्रह्माजीके संकल्पसे उत्पन्न होंगे ॥ ७४–७६ ॥

देववायुरदूरश्च देवश्रेष्ठो विदूरथः ।
मित्रवान् मित्रदेवश्च मित्रसेनश्च मित्रकृत् ।
मित्रबाहुः सुवर्चाश्च द्वादशस्य मनोः सुताः ॥ ७७ ॥

इन बारहवें मनुके देववायु, अदूर, देवश्रेष्ठ, विदूरथ, मित्रवान्, मित्रदेव, मित्रसेन, मित्रकृत्, मित्रबाहु और सुवर्चा (—ये दस) पुत्र होंगे ॥ ७७ ॥

त्रयोदशेऽथ पर्याये भाव्ये मन्वन्तरे मनोः ।
अङ्गिराश्चैव धृतिमान् पौलस्त्यो हव्यपस्तु यः॥ ७८ ॥
पौलहस्तत्त्वदर्शी च भार्गवश्च निरुत्सुकः ।
निष्प्रकम्पस्तथाऽऽत्रेयो निर्मोहः काश्यपस्तथा॥ ७९ ॥
सुतपाश्चैव वासिष्ठः सप्तैते तु महर्षयः ।
त्रय एव गणाः प्रोक्ता देवतानां स्वयम्भुवा ॥ ८० ॥

फिर भविष्यके तेरहवें मनुके मन्वन्तरमें अङ्गिरागोत्री धृतिमान्, पुलस्त्यवंशी हव्यप, पुलहवंशोत्पन्न तत्त्वदर्शी, भृगुगोत्री निरुत्सुक, अत्रिगोत्री निष्प्रकम्प, कश्यपगोत्री निर्मोह और वसिष्ठगोत्री सुतपा—ये सात महर्षि होंगे और देवताओंके तीन गण होंगे, ऐसा स्वयं ब्रह्माजीने कहा है ॥

त्रयोदशस्य पुत्रास्ते विज्ञेयास्तु रुचेः सुताः ।
चित्रसेनो विचित्रश्च नयो धर्मभृतो धृतः ॥ ८१ ॥
सुनेत्रः क्षत्रवृद्धिश्च सुतपा निर्भयो दृढः ।
रौच्यस्यैते मनोः पुत्रा अन्तरे तु त्रयोदशे ॥ ८२ ॥

अब तेरहवें मनु रुचिके पुत्रोंको इस प्रकार जानो—चित्रसेन, विचित्र, नय, धर्मभृत, धृत, सुनेत्र, क्षत्रवृद्धि, सुतपा, निर्भय और दृढ—ये तेरहवें मन्वन्तरमें रौच्य नामक मनुके पुत्र होंगे ॥ ८१-८२ ॥

चतुर्दशेऽथ पर्याये भौत्यस्यैवान्तरे मनोः ।
भार्गवो ह्यतिबाहुश्च शुचिराङ्गिरसस्तथा ॥ ८३ ॥
युक्तश्चैव तथाऽऽत्रेयः शुक्रो वासिष्ठ एव च ।
अजितः पौलहश्चैव अन्त्याः सप्तर्षयश्च ते ॥ ८४ ॥

चौदहवें भौत्य नामक मनुके मन्वन्तरमें भृगुगोत्रोत्पन्न अतिबाहु, अङ्गिरागोत्री शुचि, अङ्गिरागोत्री युक्त, अत्रिगोत्रोत्पन्न युक्त, अत्रिगोत्री शुक्र, वसिष्ठगोत्री शुक्र तथा पुलहगोत्री अजित—ये अन्तिम सप्तर्षि होंगे ॥ ८३-८४ ॥

एतेषां कल्य उत्थाय कीर्तनात् सुखमेधते ।
यशश्चाप्नोति सुमहदायुष्मांश्च भवेन्नरः ॥ ८५ ॥
अतीतानागतानां वै महर्षीणां सदा नरः ।
देवतानां गणाः प्रोक्ताः पञ्च वै भरतर्षभ ॥ ८६ ॥

मनुष्य प्रातःकाल उठकर इन भूत-भविष्यत्-कालके महर्षियोंका कीर्तन करनेसे सदा सुख पाता है, साथ ही वह बड़ा भारी यश पाता है और दीर्घायु होता है । भरतर्षभ ! उस समय देवताओंके पाँच गण होंगे ॥८५-८६॥

तरङ्गभीरुर्वप्रश्च तरस्वानुग्र एव च ।
अभिमानी प्रवीणश्च जिष्णुः संक्रन्दनस्तथा ॥ ८७ ॥
तेजस्वी सबलश्चैव भौत्यस्यैते मनोः सुताः ।
भौत्यस्यैवाधिकारे तु पूर्णे कल्पस्तु पूर्यते ॥ ८८ ॥

भौत्य मनुके तरङ्गभीरु, वप्र, तरस्वान्, उग्र, अभिमानी, प्रवीण, जिष्णु, संक्रन्दन, तेजस्वी और सबल—ये (दस) पुत्र होंगे तथा भौत्य मनुका अधिकारकाल पूर्ण होनेपर कल्प (अर्थात् ब्रह्माजीकी आयुका एक दिन) पूरा हो जाता है ॥

इत्येते नामतोऽतीता मनवः कीर्तिता मया ।
तैरियं पृथिवी तात समुद्रान्ता सपत्तना ॥ ८९ ॥
पूर्णे युगसहस्रं तु परिपाल्या नराधिप ।
प्रजाभिश्चैव तपसा संहारस्तेषु भागशः ॥ ९० ॥

यह मैंने नाम लेकर बीते हुए (वर्तमान और होनेवाले) मनुओंका वर्णन किया । नराधिप ! ये (मनु) तपस्याके प्रभावसे हजार चतुर्युगी पूर्ण होनेतक नगरोंसे लेकर समुद्रतककी पृथ्वीका तथा प्रजाका सर्वदा पालन करते हैं । उक्त सभी मन्वन्तरोंमें अलग-अलग प्रजाका संहार होता है ॥ ८९-९० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि मन्वन्तरवर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें मन्वन्तर-वर्णनविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

चारों युगों, मन्वन्तरों और ब्रह्माजीके दिन एवं वर्षका मान

जनमेजय उवाच

मन्वन्तरस्य संख्यानं युगानां च महामते।
ब्रह्मणोऽह्नः प्रमाणं च वक्तुमर्हसि मे द्विज ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—परम बुद्धिमान् द्विजवर! आप मुझसे मन्वन्तरोंके युगोंकी संख्याका वर्णन कीजिये तथा ब्रह्माजीके दिनका प्रमाण भी बताइये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

अहोरात्रं भजेत् सूर्यो मानवं लौकिकं परम्।
तामुपादाय गणनां शृणु संख्यामरिंदम ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी बोले—शत्रुदमन! सूर्य मनुष्योंके दिन और रात्रिका विभाग करते हैं। इस लौकिक गणनासे आरम्भ करके मनुसे भी परे द्विपरार्धनामक ब्राह्म-गणनातकका वर्णन सुनो ॥ २ ॥

निमेषैः पञ्चदशभिः काष्ठा त्रिंशत् तु ताः कलाः।
त्रिंशत्कलो मुहूर्तस्तु त्रिंशता तैर्मनीषिणः ॥ ३ ॥
अहोरात्रमिति प्राहुश्चन्द्रसूर्यगतिं नृप।
विशेषेण तु सर्वेषु अहोरात्रे च नित्यशः ॥ ४ ॥

राजन्! पंद्रह निमेषोंकी एक काष्ठा होती है और तीस काष्ठाओंकी एक कला होती है। तीस कलाओंका एक मुहूर्त होता है और बुद्धिमान् पुरुष तीस मुहूर्तोंको एक दिन-रात कहते हैं, जिसका निर्माण चन्द्रमा तथा सूर्यकी गतिद्वारा होता है। विशेषकर सूर्य-चन्द्रमाके उदय-अस्तसे मेरुके परिवर्ती भू-प्रदेशमें रात-दिन होता है ॥ ३-४ ॥

अहोरात्राः पञ्चदश पक्ष इत्यभिशब्दितः।
द्वौ पक्षौ तु स्मृतो मासो मासौ द्वावृतुरुच्यते ॥ ५ ॥

पंद्रह अहोरात्र (दिन-रात) का नाम पक्ष है और दो पक्षों—पखवाड़ोंका एक महीना माना जाता है तथा दो महीनोंकी एक ऋतु कहलाती है ॥ ५ ॥

अब्दं त्वयनमुक्तं च अयनं त्वृतुभिस्त्रिभिः।
दक्षिणं चोत्तरं चैव संख्यातत्त्वविशारदैः ॥ ६ ॥

तीन ऋतुओंका एक अयन होता है और दो अयनोंका एक वर्ष होता है। संख्याके तत्त्वको जाननेमें चतुर पुरुषोंने उन दोनों अयनोंका नाम दक्षिणायन और उत्तरायण बताया है ॥ ६ ॥

मानेनानेन यो मासः पक्षद्वयसमन्वितः।
पितॄणां तदहोरात्रमिति कालविदो विदुः ॥ ७ ॥

इस मानसे जो दो पक्षोंका (एक) मास होता है, उसे समयको जाननेवाले (चतुर पुरुष) पितरोंका (एक) दिन-रात कहते हैं ॥ ७ ॥

कृष्णपक्षस्त्वहस्तेषां शुक्लपक्षस्तु शर्वरी।
कृष्णपक्षं त्वहः श्राद्धं पितॄणां वर्तते नृप ॥ ८ ॥

कृष्ण-पक्ष उन पितरोंका दिन होता है और शुक्ल पक्ष उनकी रात्रि होती है, इसलिये राजन्! कृष्णपक्षरूप दिनमें पितरोंका श्राद्ध होता है* ॥ ८ ॥

मानुषेण तु मानेन यो वै संवत्सरः स्मृतः।
देवानां तदहोरात्रं दिवा चैवोत्तरायणम्।
दक्षिणायनं स्मृता रात्रिः प्राज्ञैस्तत्त्वार्थकोविदैः ॥ ९ ॥

मनुष्योंके मानसे जो एक वर्ष कहा गया है, वह देवताओंका एक दिन-रात होता है। तत्त्वको जाननेमें चतुर बुद्धिमान् पुरुषोंने उत्तरायणको देवताओंका दिन और दक्षिणायनको देवताओंकी रात्रि बताया है† ॥ ९ ॥

दिव्यमब्दं दशगुणमहोरात्रं मनोः स्मृतम्।
अहोरात्रं दशगुणं मानवः पक्ष उच्यते ॥ १० ॥

देवताओंके दस वर्षोंका मनुका एक दिन-रात कहा है और इस दिन-रातका दसगुना मनुका एक पक्ष कहलाता है ॥ १० ॥

पक्षो दशगुणो मासो मासैर्द्वादशभिर्गुणैः।
ऋतुर्मनूनां संप्रोक्तः प्राज्ञैस्तत्त्वार्थदर्शिभिः।
ऋतुत्रयेण त्वयनं तद्द्वयेनैव वत्सरः ॥ ११ ॥

दस पक्षोंका मनुका एक मास होता है, बारह महीनोंकी एक ऋतु होती है। तत्त्वार्थदर्शी बुद्धिमानोंने

---

* चन्द्रलोकमें रहनेवाले पितर शुक्ल-पक्षमें चन्द्रमासे ढके हुए सूर्यको नहीं देखते। कृष्ण-पक्षमें सूर्य और चन्द्रमा एक-दूसरेके सम्मुख होनेके कारण उन्हें सूर्यका दर्शन होता है, इसलिये शुक्ल-पक्षको पितरोंकी रात्रि और कृष्ण-पक्षको पितरोंका दिन कहा है। इसीलिये सम्पूर्ण कृष्णपक्षको अथवा अत्यन्त आवश्यकता होनेपर दिनका अन्त होनेके कारण अमावास्याको श्राद्ध-काल बताया है।

† तात्पर्य यह है कि मकर-संक्रान्तिसे मिथुन-संक्रान्तिके अन्ततक सूर्यके रथकी किरणोंके और अक्षांशकी किरणोंके प्रतिदिन ध्रुवकी ओर खिंचते रहनेसे उत्तरकी ओर चलनेवाला सूर्य मेरु पर्वतके शिखरपर रहनेवाले देवताओंको दीखता रहता है, अतः उत्तरायण देवताओंका दिन होता है तथा कर्क-संक्रान्तिसे लेकर धनुः-संक्रान्तिके अन्ततक उन दोनों प्रकारकी किरणोंके ध्रुवको प्रतिदिन क्रमशः छोड़ते रहनेसे दक्षिणकी ओर चलता हुआ सूर्य देवताओंको नहीं दीखता। अतएव दक्षिणायन देवताओंकी रात है।

तीन ऋतुओंका एक अयन माना है और दो अयनोंका एक वर्ष कहा है * ॥ ११ ॥

चत्वार्येव सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् ।
तावच्छती भवेत् संध्या संध्यांशश्च तथा नृप ॥ १२॥

राजन् ! देवताओंके चार हजार वर्षोंका एक सत्ययुग होता है, चार सौ वर्षोंकी उसकी संध्या होती है और इतना ही उसका संध्यांश होता है † ॥ १२ ॥

त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेता स्यात् परिमाणतः ।
तस्याश्च त्रिशती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः॥ १३ ॥

तीन हजार वर्षोंके परिमाणका त्रेतायुग होता है और तीन सौ वर्षोंकी उसकी संध्या होती है तथा इतना ही उसका संध्यांश होता है ॥ १३ ॥

तथा वर्षसहस्रे द्वे द्वापरं परिकीर्तितम् ।
तस्यापि द्विशती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥ १४ ॥

इसी प्रकार दो हजार वर्षोंका द्वापरयुग कहा गया है, दो सौ वर्षोंकी उसकी संध्या होती है और इतना ही उसका संध्यांश होता है ॥ १४ ॥

कलिर्वर्षसहस्रं च संख्यातोऽत्र मनीषिभिः ।
तस्यापि शतिका संध्या संध्यांशश्चैव तद्विधः ॥ १५ ॥

इसी गणनाके अनुसार बुद्धिमान् पुरुषोंने कलियुगको एक हजार वर्षोंवाला बताया है । सौ वर्षोंकी उसकी संध्या होती है और इतना ही संध्यांश होता है ॥ १५ ॥

एषा द्वादशसाहस्री युगसंख्या प्रकीर्तिता ।
दिव्येनानेन मानेन युगसंख्यां निबोध मे ॥ १६ ॥

यह बारह हजार वर्षोंकी एक चतुर्युगकी संख्या कही गयी । राजन् ! इस दिव्यमानसे तुम युगोंके वर्षोंकी गिनती समझ लो‡ ॥ १६ ॥

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चैव चतुर्युगी ।
युगं तदेकसप्तत्या गणितं नृपसत्तम ॥ १७ ॥
मन्वन्तरमिति प्रोक्तं संख्यानार्थविशारदैः ।
अयनं चापि तत्प्रोक्तं द्वेऽयने दक्षिणोत्तरे ॥ १८ ॥

सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन चारोंको चतुर्युगी कहते हैं । नृपश्रेष्ठ ! संख्या करनेमें चतुर पुरुषोंने इकहत्तर चौकड़ी युगों (से कुछ अधिक काल) का नाम मन्वन्तर कहा है (क्योंकि हजारका चौदहवाँ भाग इतना ही होता है) । इसके भी दक्षिणायन और उत्तरायण—ये दो अयन कहे गये हैं * ॥ १७-१८ ॥

मनुः प्रलीयते यत्र समाप्ते चायने प्रभोः ।
ततोऽपरो मनुः कालमेतावन्तं भवत्युत ॥ १९ ॥

उत्तरायणके पूर्ण होनेपर मनु ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं । फिर इतने ही समयतक दूसरे मनु रहते हैं ॥ १९ ॥

समतीतेषु राजेन्द्र प्रोक्तः संवत्सरः स वै ।
तदेव चायुतं प्रोक्तं मुनिना तत्त्वदर्शिना ॥ २० ॥

राजेन्द्र ! तत्त्वदर्शी मुनिने दस हजार (अस्सी) मनुओंका ब्रह्माजीका एक वर्ष कहा है † ॥ २० ॥

ब्रह्मणस्तदहः प्रोक्तं कल्पश्चेति स कथ्यते ।
सहस्रयुगपर्यन्ता या निशा प्रोच्यते बुधैः ॥ २१ ॥
निमज्जत्यप्सु यत्रोर्वी सशैलवनकानना ।
तस्मिन् युगसहस्रे तु पूर्णे भरतसत्तम ॥ २२ ॥
ब्राह्मे दिवसपर्यन्ते कल्पो निःशेष उच्यते ।
युगानि सप्ततिस्तानि साग्राणि कथितानि ते ॥ २३ ॥
कृतत्रेतानियद्धानि मनोरन्तरमुच्यते ।
चतुर्दशैते मनवः कीर्तिताः कीर्तिवर्द्धनाः ॥ २४ ॥
वेदेषु सपुराणेषु सर्वेषु प्रभविष्णवः ।
प्रजानां पतयो राजन् धन्यमेषां प्रकीर्तनम् ॥ २५ ॥

भरतसत्तम ! ब्रह्माजीका जो दिन कहा है, उसीका नाम कल्प है और विद्वान् पुरुषोंने हजार युगोंकी ब्रह्माजीकी जो रात्रि कही है, उसमें वन और पर्वतोंसहित पृथ्वी जलमें डूब जाती है और उन हजार चतुर्युगियोंके पूर्ण होनेपर जो ब्रह्माजीका दिन आरम्भ होता है, उसकी समाप्तितकका समय एक कल्प कहलाता है । राजन् ! सत्ययुग, त्रेतायुगादिसहित इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक कालका एक मन्वन्तर कहलाता है ।† यह कीर्ति

* अर्थात् देवताओंके बहत्तर हजार वर्षोंका मनुका एक दिन होता है ।

† युगके पहले भागका नाम संध्या और युगके अन्तिम भागका नाम संध्यांश है ।

‡ सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुगकी एक चतुर्युगी देवताओंके बारह हजार वर्षोंकी होती है अर्थात् दिव्य दस हजार वर्षोंके ये चारों युग होते हैं । इन चारों युगोंकी संध्याएँ एक हजार दिव्य वर्षोंकी होती हैं और इनके संध्यांश भी एक हजार दिव्य वर्षोंके होते हैं ।

* अर्थात् वे पहले धूमादिमार्गसे देवलोकमें पहुँचकर अपने अधिकारको भोगनेके अनन्तर उत्तरायणके मार्गसे ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं ।

† इकहत्तर चतुर्युगके हिसाबसे चौदह मन्वन्तरोंमें ९९४ चतुर्युग होते हैं । तथा ब्रह्माके एक दिनमें एक हजार चतुर्युग होते हैं, अतः छः चतुर्युग और बचे । छः चतुर्युगका चौदहवाँ भाग कुछ कम पाँच हजार एक सौ तीन दिव्य वर्ष होता है । इस प्रकार एक मन्वन्तरमें इकहत्तर चतुर्युगके अतिरिक्त इतने दिव्य वर्ष और अधिक होते हैं ।

बढ़ानेवाले चौदह मनुओंका वर्णन कर दिया। सभी पुराणों और वेदोंमें इन प्रभावशाली प्रजापति मनुओंका वर्णन आता है। राजन्! इनका कीर्तन करनेसे धनकी प्राप्ति होती है॥ २१—२५॥

मन्वन्तरेषु संहाराः संहारान्तेषु सम्भवाः।
न शक्यमन्तरं तेषां वक्तुं वर्षशतैरपि॥ २६॥

मन्वन्तरोंमें कितने ही संहार होते हैं और संहारके बाद कितनी ही सृष्टियाँ होती रहती हैं। इनके अन्तरको सैकड़ों वर्षोंमें भी नहीं बताया जा सकता॥ २६॥

विसर्गस्य प्रजानां वै संहारस्य च भारत।
मन्वन्तरेषु संहाराः श्रूयन्ते भरतर्षभ॥ २७॥

भारत! भरतश्रेष्ठ! प्रायः सभी मन्वन्तरोंमें यदा-कदा प्रजाकी सृष्टि और संहारकी परम्पराका उपसंहार हो जाता है—यह बात सुननेमें आती है॥ २७॥

सशेषास्तत्र तिष्ठन्ति देवाः सप्तर्षिभिः सह।
तपसा ब्रह्मचर्येण श्रुतेन च समाहिताः॥ २८॥

मन्वन्तरोंके बाद जो संहार होता है, उसमें तपस्या, ब्रह्मचर्य और शास्त्र-ज्ञानसे सम्पन्न कुछ देवता और सप्तर्षि शेष रह जाते हैं॥ २८॥

पूर्णे युगसहस्रे तु कल्पो निःशेष उच्यते।
तत्र सर्वाणि भूतानि दग्धान्यादित्यतेजसा॥ २९॥

सहस्र चतुर्युगियोंके पूर्ण होनेपर कल्प पूरा हो जाता है। उस समय सब भूत द्वादश आदित्योंकी किरणोंसे भस्म हो जाते हैं॥ २९॥

ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा सहादित्यगणैर्विभुम्।
योगं योगीश्वरं देवमजं क्षेत्रज्ञमच्युतम्।
प्रविशन्ति सुरश्रेष्ठं हरिं नारायणं प्रभुम्॥ ३०॥

और वे (द्वादश सूर्य) भी (जिसका ईंधन जल गया है, ऐसे अग्निकी भाँति अपनी आत्माका उपसंहार करके) देवताओंसहित ब्रह्माजीको आगे करके योगीश्वर योगस्वरूप, देव, अज, क्षेत्रज्ञ, अच्युत, सुरश्रेष्ठ, सर्वव्यापी, प्रभु श्रीहरि नारायणमे प्रवेश कर जाते हैं॥ ३०॥

यः स्रष्टा सर्वभूतानां कल्पान्तेषु पुनः पुनः।
अव्यक्तः शाश्वतो देवस्तस्य सर्वमिदं जगत्॥ ३१॥

जो प्रत्येक कल्पका अन्त होनेपर (दूसरे कल्पका आरम्भ होनेके समय) वारंवार सब भूतोंको रचते हैं, जो अप्रकट, शाश्वत देव हैं, उन्हींका यह सम्पूर्ण जगत् है॥ ३१॥

तत्र संवर्तते रात्रिः सकलैकार्णवे तदा।
नारायणो दधे निद्रां ब्राह्मं वर्षसहस्रकम्॥ ३२॥

(यह प्रलय सुषुप्तिके समय होता है, अतएव) जब सम्पूर्ण विश्व एकार्णवके जलमें निमग्न हो जाता है, तब रात्रि होती है और ब्रह्माजीके हजार वर्षोंतक नारायण निद्रा लेते हैं॥ ३२॥

तावन्तमिति कालस्य रात्रिरित्यभिशब्दिता।
निद्रायोगमनुप्राप्तो यस्यां शेते पितामहः॥ ३३॥

जितने समयतक ब्रह्माजी योगनिद्राका आश्रय लेकर शयन करते हैं, उतना समय उनकी रात्रि कहलाती है॥ ३३॥

सा च रात्रिरपक्रान्ता सहस्रयुगपर्यया।
तदा प्रबुद्धो भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः॥ ३४॥
पुनः सिसृक्षया युक्तः सर्गाय विदधे मनः।
सैव स्मृतिः पुराणेयं तद्वृत्तं तद्विचेष्टितम्॥ ३५॥

जब वह रात्रि सहस्र चतुर्युगी बीतनेपर समाप्त होती है, तब लोकोंके पितामह भगवान् ब्रह्माजी जागते हैं। फिर रचनेकी इच्छासे युक्त होकर मनमें सृष्टि करनेका विचार करते हैं। उस समय उनकी चेष्टा और स्मृति पहले कल्पकी तरह ही होती है॥ ३४-३५॥

देवस्थानानि तान्येव केवलं च विपर्ययः।
ततो दग्धानि भूतानि सर्वाण्यादित्यरश्मिभिः॥ ३६॥
देवर्षियक्षगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः।
जायन्ते च पुनस्तात युगे भरतसत्तम॥ ३७॥

तात! उस समय (ब्रह्माण्डमें सूर्य आदि) देवताओंके (और पिण्डमें चक्षु आदिके) स्थान भी वे ही होते हैं। परंतु (जीवोंका) विपर्यय (उलट-फेर) होता रहता है। भरतसत्तम! सूर्यकी किरणोंसे भस्म होकर (भगवान् विष्णुमें लीन हुए) सब भूत तथा देवता, ऋषि, गन्धर्व, यक्ष, पिशाच, सर्प और राक्षस भी फिर उस युगमें उत्पन्न हो जाते हैं॥ ३६-३७॥

यथर्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा ब्राह्मीषु रात्रिषु॥ ३८॥

जैसे (ग्रीष्म-शीत आदि) ऋतुओंके चिह्न उन ऋतुओंके आनेपर प्रकट होने लगते हैं, इसी प्रकार ब्रह्माजीकी रात्रियोंके बीतनेपर (पूर्व कल्पके समान) अनेक रूपोंवाले प्राणी (फिर) दीखने लगते हैं॥ ३८॥

निष्क्रमित्वा प्रजाकारः प्रजापतिरसंशयम्।
ये च वै मानवा देवाः सर्वे चैव महर्षयः॥ ३९॥

ते सङ्गताः शुद्धसञ्ज्ञाः शश्वद्धर्मविसर्गतः।
न भवन्ति पुनस्तात युगे भरतसत्तम॥ ४०॥

तात! प्रजाओंको रचनेवाले प्रजापति (उस समय नारायणमेंसे) निकलकर (फिर भूतोंको रचने लगते हैं।) जो-जो मनुष्य, देवता और महर्षिगण शाश्वतधर्म अर्थात् देहादिमें

आत्मबुद्धिरूप स्वाभाविक दोषोंको त्यागकर शुद्ध ब्रह्ममें पहुँचकर उसमें लीन हो जाते हैं, भरतसत्तम ! वे फिर (दूसरे) कल्पमें उत्पन्न नहीं होते ॥ ३९-४० ॥

तत्सर्वं क्रमयोगेन कालसंख्याविभागवित् ।
सहस्रयुगसंख्यानं कृत्वा दिवसमीश्वरः ॥ ४१ ॥
रात्रिं युगसहस्रान्तां कृत्वा च भगवान् विभुः ।
संहरत्यथ भूतानि सृजते च पुनः पुनः ॥ ४२ ॥

कालकी संख्याका विभाग करनेमें चतुर वे सर्वसमर्थ भगवान् परमात्मा क्रमानुसार सहस्र युगोंकी संख्या-वाले दिन और (इसी प्रकार) सहस्र चतुर्युगियोंकी रात्रिको बनाकर प्राणियोंकी बारंबार रचना और संहार करते रहते हैं ॥ ४१-४२ ॥

व्यक्ताव्यक्तो महादेवो हरिर्नारायणः प्रभुः ।
तस्य ते कीर्तयिष्यामि मनोर्वैवस्वतस्य ह ॥ ४३ ॥
विसर्गं भरतश्रेष्ठ साम्प्रतस्य महाद्युते ।
वृष्णिवंशप्रसङ्गेन कथ्यमानं पुरातनम् ॥ ४४ ॥
यत्रोत्पन्नो महात्मा स हरिर्वृष्णिकुले प्रभुः ।
सर्वासुरविनाशाय सर्वलोकहिताय च ॥ ४५ ॥

महादेव श्रीहरिनारायण प्रभु ही स्थूल-सूक्ष्म-रूप (से सर्वत्र विराजमान) हैं। महाद्युते ! वर्तमान वैवस्वत मनु भी उनके ही अंश हैं। वृष्णिवंशके प्रसङ्गसे मैं उनकी पुरातन सृष्टिका वर्णन करूँगा। भरतश्रेष्ठ ! वे परमात्मा और प्रभु श्रीहरि सारे असुरोंका विनाश तथा सम्पूर्ण लोकोंका कल्याण करनेके लिये इसी वृष्णिवंशमें उत्पन्न हुए थे ॥ ४३—४५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि मन्वन्तरगणनायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें मन्वन्तर-गणनाविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

वैवस्वत मनु, यम, यमी (यमुना), अश्विनीकुमारों एवं शनैश्चरकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

विवस्वान् कश्यपाज्जज्ञे दाक्षायण्यामरिंदम ।
तस्य भार्याभवत् संज्ञा त्वाष्ट्री देवी विवस्वतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन ! कश्यपजीसे दक्षकी पुत्रीमें विवस्वान् उत्पन्न हुए और त्वष्टाकी पुत्री संज्ञादेवी उन विवस्वान् (सूर्य) की भार्या हुई ॥ १ ॥

सुरेणुरिति विख्याता त्रिषु लोकेषु भाविनी ।
सा वै भार्या भगवती मार्तण्डस्य महात्मनः ॥ २ ॥

महात्मा मार्तण्डकी वह पवित्र अन्तःकरणवाली भार्या भगवती संज्ञा तीनों लोकोंमें सुरेणुके नामसे (भी) प्रसिद्ध है ॥ २ ॥

भर्तृरूपेण नातुष्यद् रूपयौवनशालिनी ।
संज्ञा नाम सुतपसा दीप्तेनेह समन्विता ॥ ३ ॥

वह रूपयौवनशालिनी संज्ञा अपने पति सूर्यदेवके मण्डलके तीव्र तप, तेज, एवं दीप्तिके कारण प्रसन्न नहीं रहती थी ॥ ३ ॥

आदित्यस्य हि तद्रूपं मण्डलस्य सुतेजसा ।
गात्रेषु परिदग्धं वै नातिकान्तमिवाभवत् ॥ ४ ॥

उस संज्ञाका रूप सूर्यमण्डलके तेजसे अङ्गोंके संतप्त होनेके कारण (झुलस-सा गया। अतएव सूर्य उसको) बहुत अच्छे नहीं लगते थे ॥ ४ ॥

न खल्वयं मृतोऽण्डस्थ इति स्नेहादभाषत ।
अज्ञानात् कश्यपस्तस्मान्मार्तण्ड इति चोच्यते ॥ ५ ॥

(अदितिके) अज्ञानमें पड़नेपर कश्यपजीने स्नेहपूर्वक कहा था कि यह मरा नहीं है, किंतु अण्ड (गर्भ)में स्थित है, इसलिये तबसे सूर्य 'मार्तण्ड' कहे जाते हैं* ॥ ५ ॥

तेजस्त्वभ्यधिकं तात नित्यमेव विवस्वतः ।
येनातितापयामास त्रीँल्लोकान् कश्यपात्मजः ॥ ६ ॥

तात ! (कश्यपके माहात्म्यके कारण जीवित हुए) विवस्वान्में सर्वदा अधिक तेज रहता है। उसी तेजसे कश्यप-जीके पुत्र सूर्य तीनों लोकोंको तपाते रहते हैं ॥ ६ ॥

त्रीण्यपत्यानि कौरव्य संज्ञायां तपतां वरः ।
आदित्यो जनयामास कन्यां द्वौ च प्रजापती ॥ ७ ॥

---

* जब सूर्य अदितिके गर्भमें थे, उस समय बुध उनके पास भिक्षा माँगनेके लिये आये; परंतु अदिति गर्भके बोझके कारण धीमतासे चलकर भिक्षा न दे सकी, तब बुधने अदितिको शाप दे दिया कि तेरा गर्भ मृत हो जाय। यह सुनकर अदिति व्याकुल हो गयी, तब कश्यपजीने अपनी शक्तिसे बुधके शापको दूर कर दिया और कहा कि यह वास्तवमें मृत नहीं हुआ, अण्ड (गर्भ) के भीतर वर्तमान है। अदितिके (मेरा गर्भ मृत हो गया) इस विपरीत ज्ञानके कारण ही सूर्य मार्तण्ड कहलाते हैं।

कुरुवंशी राजन्! तपानेवालोंमें श्रेष्ठ आदित्यने संज्ञाके गर्भसे दो प्रजापति और एक कन्या—इन तीन संतानोंको उत्पन्न किया ॥ ७ ॥

मनुर्वैवस्वतः पूर्वं श्राद्धदेवः प्रजापतिः।
यमश्च यमुना चैव यमजौ सम्बभूवतुः ॥ ८ ॥

उनमें एक प्रजापति तो विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र वैवस्वत मनु थे और दूसरे प्रजापति श्राद्धदेव यम थे। इस तरह यम तथा यमुना नामक दो जुड़वीं संतान उत्पन्न हुई थी ॥

सा विवर्णं तु तद्रूपं दृष्ट्वा संज्ञा विवस्वतः।
असहन्ती च स्वां छायां सवर्णां निर्ममे ततः ॥ ९ ॥

तदनन्तर संज्ञाने सूर्यके कठिनतासे सहने योग्य तेजस्वी रूपको देखकर उनके तेजको न सह सकनेके कारण अपनी छायाको ही अपने समान नाम और रूपवाली बनाकर तैयार कर दिया* ॥ ९ ॥

मायामयी तु सा संज्ञा तस्याश्छाया समुत्थिता।
प्राञ्जलिः प्रणता भूत्वा छाया संज्ञां नरेश्वर ॥ १० ॥
उवाच किं मया कार्यं कथयस्व शुचिस्मिते।
स्थितास्मि तव निर्देशे शाधि मां वरवर्णिनि ॥ ११ ॥

वह मायामयी संज्ञा संज्ञाकी छायासे उत्पन्न हुई थी। नरेश्वर! वह छाया संज्ञाको प्रणामकर हाथ जोड़कर बोली—'शुचिस्मिते! बताओ, मुझे क्या करना चाहिये? श्रेष्ठ अङ्गोंवाली! मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगी, तुम मुझे आज्ञा दो' ॥

संज्ञोवाच

अहं यास्यामि भद्रं ते स्वमेव भवनं पितुः।
त्वयेह भवने मह्यं वस्तव्यं निर्विकारया ॥ १२ ॥
इमौ च बालकौ मह्यं कन्या चेयं सुमध्यमा।
सम्भाव्यास्ते न चाख्येयमिदं भगवते क्वचित् ॥ १३ ॥

संज्ञाने कहा—तुम्हारा कल्याण हो! मैं अब अपने पिताके घर जा रही हूँ; तुम मेरे इस घरमें शान्त होकर रहो। ये मेरे दोनों पुत्र हैं और यह एक सुमध्यमा (सुन्दर कटिवाली) कन्या है। इनका तू ध्यान रखना और इस रहस्यको भगवान् सूर्यसे कभी न बतलाना ॥ १२-१३ ॥

छायोवाच

आ कचग्रहणाद् देवि आ शापान्नैव कर्हिचित्।
आख्यास्यामि मतं तुभ्यं गच्छ देवि यथासुखम् ॥ १४ ॥

छायाने कहा—देवि! मेरे बाल पकड़े जाने तथा शाप देनेकी नौबत आनेके पूर्व मैं यह बात किसी प्रकार भी न कहूँगी। आप सुखपूर्वक (अपने पिताके यहाँ) जायँ ॥

वैशम्पायन उवाच

समादिश्य सवर्णां तां तथेत्युक्ता च सा तया।
त्वष्टुः समीपमगमद् व्रीडितेव तपस्विनी ॥ १५ ॥
पितुः समीपगा सा तु पित्रा निर्भर्त्सिता तदा।
भर्तुः समीपं गच्छेति नियुक्ता च पुनः पुनः ॥ १६ ॥
अगच्छद् वडवा भूत्वाऽऽच्छाद्य रूपमनिन्दिता।
कुरूनथोत्तरान् गत्वा तृणान्येव चचार ह ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अपने समान नाम-रूपवाली छायाको आज्ञा देकर और उससे 'तथास्तु' कहे जानेपर वह तपस्विनी लज्जित-सी होती हुई अपने पिता त्वष्टाके यहाँ चली गयी। पिताके पास पहुँचनेपर उसके पिताने उसे बड़े जोरोंसे डाँटा तथा उससे बार-बार पतिके पास ही जानेके लिये कहा। तब निन्दित कर्मोंसे सदा दूर रहनेवाली वह संज्ञा अपने रूपको बदलकर घोड़ीका रूप धारण करके उत्तरकुरुके देशोंमें जाकर घास चरने लगी ॥ १५—१७ ॥

द्वितीयायां तु संज्ञायां संज्ञेयमिति चिन्तयन्।
आदित्यो जनयामास पुत्रमात्मसमं तदा ॥ १८ ॥

उस दूसरी संज्ञाको भी संज्ञा ही समझते हुए सूर्य देवताने उसके गर्भसे अपने ही समान पुत्र उत्पन्न किया ॥ १८ ॥

पूर्वजस्य मनोस्तात सदृशोऽयमिति प्रभुः।
सवर्णत्वान्मनोर्भूयः सावर्ण इति चोक्तवान् ॥ १९ ॥

तात! ये अपने बड़े भाई मनुके समान वर्ण तथा शक्तिवाले थे, अतएव सावर्ण कहलाये ॥ १९ ॥

मनुरेवाभवन्नाम्ना सावर्ण इति चोच्यते।
द्वितीयो यः सुतस्तस्याः स विज्ञेयः शनैश्चरः ॥ २० ॥

वे ही मनु हुए, जिनका नाम सावर्ण मनु है। उस (छाया) से जो दूसरा पुत्र उत्पन्न हुआ, उनको तुम शनैश्चर समझो ॥ २० ॥

संज्ञा तु पार्थिवी तात स्वस्य पुत्रस्य वै तदा।
चकाराभ्यधिकं स्नेहं न तथा पूर्वजेषु वै ॥ २१ ॥
मनुस्तस्याक्षमत्तत्तु यमस्तस्या न चक्षमे।

वह पार्थिवी* संज्ञा अपने पुत्रसे तो अधिक स्नेह करती थी, परंतु वैसा स्नेह उनसे पहलेकी संतानोंसे नहीं करती थी। मनुने तो इस बातको सह लिया, परंतु यम इसे न सह सके ॥ २१½ ॥

तां स रोषाच्च बाल्याच्च भाविनोऽर्थस्य वै बलात्।

---

* संज्ञाके समान नाम और वर्णवाली होनेसे छायाका नाम सवर्णा भी है। इसीके पुत्र सावर्णि मनु हैं।

* संज्ञाकी छायाके पृथ्वीमें पड़नेके कारण वह पृथ्वीसे उत्पन्न हुई, अतएव 'पार्थिवी' कहलाती थी।

पदा संतर्जयामास संज्ञां वैवस्वतो यमः ॥ २२ ॥

वे वैवस्वत यम बालस्वभाव एवं रोषके कारण तथा होनहार (भावी) के वशीभूत हो संज्ञाको पैर दिखाकर डाँटने लगे ॥ २२ ॥

तं शशाप ततः क्रोधात् सावर्णजननी नृप ।
चरणः पततामेष तवेति भृशदुःखिता ॥ २३ ॥

राजन् ! इसपर सावर्णकी माताने अति दुःखित हो कोपमें भरकर उन्हें शाप दिया कि 'तुम्हारा यह चरण गिर जाय' ॥२३॥

यमस्तु तत् पितुः सर्वं प्राञ्जलिः प्रत्यवेदयत् ।
भृशं शापभयोद्विग्नः संज्ञावाक्यप्रतोदितः ॥ २४ ॥

छाया-संज्ञाके उस वाक्यसे पीड़ित और शापके भयसे अत्यन्त व्याकुल होकर यमने हाथ जोड़कर पितासे वह सब बात कह दी ॥

शापोऽयं विनिवर्तेत प्रोवाच पितरं तदा ।
मात्रा स्नेहेन सर्वेषु वर्तितव्यं सुतेषु वै ॥ २५ ॥

वे पितासे बोले—'मुझे यह शाप न लगे । (देखिये) माताको तो सब पुत्रोंके प्रति समानरूपसे स्नेहपूर्वक व्यवहार करना चाहिये ॥ २५ ॥

सेयमस्मानपाहाय यवीयांसं बुभूषति ।
तस्यां मयोद्यतः पादो न तु देहे निपातितः ॥ २६ ॥
बाल्याद्वा यदि वा मोहात् तद्भवान् क्षन्तुमर्हति ।

'पर यह हम सबको छोड़कर सबसे छोटेसे ही स्नेहका व्यवहार करती है । सो मैंने उसके ऊपर पैर उठाया ही था, शरीरपर मारा नहीं था। मैंने यह काम लड़कपनसे किया हो अथवा मोहवश, परंतु आप मुझे क्षमा कर दें ॥२६½॥

यस्मात् ते पूजनीयाहं लङ्घितास्मि त्वया सुत ॥ २७ ॥
तस्मात् तवैष चरणः पतिष्यति न संशयः ।
अपत्यं दुरपत्यं स्यान्नाम्बा कुजननी भवेत् ॥'२८ ॥

'(संज्ञाने कहा—) बेटा ! मैं तुम्हारी पूजनीया हूँ, तो भी तुमने मेरा तिरस्कार किया है, अतः तुम्हारा यह पैर निस्संदेह गिर जायगा ।' संतान तो कुसंतान हो सकती है, परंतु माता कुमाता नहीं हो सकती ॥ २७-२८ ॥

शप्तोऽहमस्मि लोकेश जनन्या तपतां वर ।
तव प्रसादाच्चरणो न पतेन्मम गोपते ॥ २९ ॥

'लोकेश्वर ! माताने मुझे शाप दे दिया है, परंतु तपनेवालोंमें श्रेष्ठ गोपते ! आपकी कृपासे मेरा पैर न गिरे(ऐसी कृपा कीजिये)' ॥ २९ ॥

विवस्वानुवाच

असंशयं पुत्र महद् भविष्यत्यत्र कारणम् ।
येन त्वामाविशत् क्रोधो धर्मज्ञं सत्यवादिनम् ॥ ३० ॥

सूर्यने कहा—पुत्र ! तुम धर्मज्ञ और सत्यवादी हो, तुमको जो क्रोध चढ़ आया इसमें निस्संदेह कोई बड़ा भारी कारण होगा ॥ ३० ॥

न शक्यमन्यथा कर्तुं मया मातुर्वचस्तव ।
कृमयो मांसमादाय यास्यन्ति धरणीतलम् ॥ ३१ ॥
तव पादान्महाप्राज्ञ ततस्त्वं प्राप्स्यसे सुखम् ।
कृतमेवं वचस्तथ्यं मातुस्तव भविष्यति ॥ ३२ ॥
शापस्य परिहारेण त्वं च त्रातो भविष्यसि ।

मैं तुम्हारी माताके वचनको (सर्वथा तो) लौटा नहीं सकता। (पर) महाप्राज्ञ ! कीड़े तुम्हारे चरणमेंसे मांस लेकर पृथ्वीतलपर चले जायँगे, तब तुम्हें सुख मिलेगा । इस प्रकार तुम्हारी माताका कहा हुआ वचन (भी) सत्य हो जायगा और शापका परिहार होनेसे तुम्हारी भी रक्षा हो जायगी ॥ ३१-३२½ ॥

आदित्योऽथाब्रवीत् संज्ञां किमर्थं तनयेषु वै ॥ ३३ ॥
तुल्येष्वभ्यधिकः स्नेहः क्रियतेऽति पुनः पुनः ।
सा तत्परिहसन्ती तु नाचचक्षे विवस्वते ॥ ३४ ॥

फिर सूर्यने संज्ञासे कहा—'सभी पुत्र बराबर हैं, तो भी तू (किसीसे कम और किसीसे) अधिक स्नेह क्यों करती है ।' सूर्यने यह बात बार-बार कही, परंतु वह हँसती ही रह गयी और उसने सूर्यसे कुछ भी न कहा ॥ ३३-३४ ॥

आत्मानं सुसमाधाय योगात् तथ्यमपश्यत ।
तां शप्तुकामो भगवान् नाशाय कुरुनन्दन ॥ ३५ ॥
मूर्धजेषु च जग्राह समयेऽतिगतेऽपि च ।
सा तत् सर्वं यथावृत्तमाचचक्षे विवस्वते ॥ ३६ ॥

कुरुनन्दन ! भगवान् सूर्यने अपने चित्तको एकाग्र करके योगके द्वारा सत्य बात जान ली और शापद्वारा उसका विनाश करनेके लिये उसके केश पकड़ लिये । तब अपनी शपथके उतर जानेपर छायाने सूर्यनारायणसे सारी बात ज्यों-की-त्यों बतला दी ॥ ३५-३६ ॥

विवस्वानथ तच्छ्रुत्वा क्रुद्धस्त्वष्टारमभ्यगात् ।
त्वष्टा तु तं यथान्यायमर्चयित्वा विभावसुम् ।
निर्दग्धुकामं रोषेण सान्त्वयामास वै तदा ॥ ३७ ॥

सूर्यनारायण इस बातको सुनते ही क्रोधमें भरकर त्वष्टाके पास पहुँचे । त्वष्टाने विधिपूर्वक उनकी पूजा करके जब देखा कि ये तो रोषसे मुझे भस्म ही करना चाहते हैं, तब उन्होंने सूर्यनारायणको इस प्रकार शान्त करना-समझाना आरम्भ किया ॥ ३७ ॥

त्वष्टोवाच

तवातितेजसाविष्टमिदं रूपं न शोभते ।
असहन्ती च तत् संज्ञा वने चरति शाद्वले ॥ ३८ ॥

त्वष्टाने कहा—आदित्य! आपका यह अतितेजस्वी रूप अच्छा नहीं लगता। इसको न सह सकनेके कारण ही संज्ञा हरी घासवाले वनमें (हरी घासोंको) चर रही है ॥ ३८ ॥

द्रष्टा हि तां भवानद्य स्वां भार्यां शुभचारिणीम्।
नित्यं तपस्यभिरतां वडवारूपधारिणीम् ॥ ३९ ॥
पर्णाहारां कृशां दीनां जटिलां ब्रह्मचारिणीम्।
हस्तिहस्तपरिक्लिष्टां व्याकुलां पद्मिनीमिव।
श्लाघ्यां योगबलोपेतां योगमास्थाय गोपते ॥ ४० ॥

किरणोंके स्वामी! आज आप हाथीके सूँडसे खींचे जानेके कारण पद्मिनीके समान व्याकुल हुई, शुद्ध आचरणवाली और योगके बलसे सम्पन्न अतएव योगसे घोड़ीका रूप धारण करके सदा तप करती हुई, पत्तोंका आहार करनेवाली, दुबली, दीन, जटाधारिणी और ब्रह्मचारिणी अपनी उस प्रशंसनीया भार्याको देखेंगे ॥ ३९-४० ॥

अनुकूलं तु देवेश यदि स्यान्मम तन्मतम्।
रूपं निर्वर्तयाम्यद्य तव कान्तमरिंदम ॥ ४१ ॥

देवेश! यदि आपको मेरी बात ठीक लगे तो शत्रुदमन! मैं आज आपके रूपको मनोहर बना दूँ ॥ ४१ ॥

रूपं विवस्वतश्चासीत् तिर्यगूर्ध्वसमं तु वै।
तेनासौ सम्भृतो देवरूपेण तु विभावसुः ॥ ४२ ॥

पहले सूर्यका रूप तिरछा, ऊँचा और सब ओरसे एक-सा था। उस रूपसे सम्पन्न होनेके कारण ही वे विभावसु कहे जाते हैं ॥ ४२ ॥

तस्मात् त्वष्टुः स वै वाक्यं बहु मेने प्रजापतिः।
समनुज्ञातवांश्चैव त्वष्टारं रूपसिद्धये ॥ ४३ ॥

इसलिये उन प्रजापति सूर्यनारायणने त्वष्टाकी बातको बहुत अच्छा समझा और उन्होंने अपना रूप ठीक करनेके लिये त्वष्टाको अनुमति दे दी ॥ ४३ ॥

ततोऽभ्युपगमात् त्वष्टा मार्तण्डस्य विवस्वतः।
भ्रमिमारोप्य तत् तेजः शातयामास भारत ॥ ४४ ॥

भारत! तब त्वष्टाने मार्तण्ड (सूर्य) के समीप जाकर उनको सानपर चढ़ाकर उनके तेजको खरादना आरम्भ कर दिया ॥ ४४ ॥

ततो निर्भासितं रूपं तेजसा संहृतेन वै।
कान्तात् कान्ततरं द्रष्टुमधिकं शुशुभे तदा ॥ ४५ ॥

इस प्रकार तेजके छिल जानेसे उनका रूप खिल उठा और उनका रूप रम्यातिरम्य होकर अधिक सुशोभित होने लगा ॥ ४५ ॥

मुखे निर्वर्तितं रूपं तस्य देवस्य गोपतेः।
ततः प्रभृति देवस्य मुखमासीत् तु लोहितम्।
मुखरागं तु यत्पूर्वं मार्तण्डस्य मुखच्युतम् ॥ ४६ ॥
आदित्या द्वादशैवेह सम्भूता मुखसम्भवाः।
धातार्यमा च मित्रश्च वरुणोऽंशो भगस्तथा ॥ ४७ ॥
इन्द्रो विवस्वान् पूषा च पर्जन्यो दशमस्तथा।
ततस्त्वष्टा ततो विष्णुरजघन्यो जघन्यजः ॥ ४८ ॥

तबसे किरणोंके स्वामी भगवान् सूर्यके मुखका रूप बदल गया। उस समयसे उनका मुख रक्तवर्णका हो गया। उन मार्तण्डके मुखसे जो मुखराग छूटा था, उससे बारह आदित्य उत्पन्न हुए। उनके मुखसे धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, दसवें पर्जन्य, त्वष्टा, बारहवें विष्णु उत्पन्न हुए, जो अन्तमें प्रकट होनेके कारण सबसे छोटे होकर भी गुणोंमें सर्वश्रेष्ठ थे ॥ ४६—४८ ॥

हर्षं लेभे ततो देवो दृष्ट्वाऽऽदित्यान् स्वदेहजान्।
गन्धैः पुष्पैरलंकारैर्भास्वता मुकुटेन च ॥ ४९ ॥

गन्ध, पुष्प, अलंकार और प्रकाशमान मुकुटोंसे सुशोभित अपने शरीरसे उत्पन्न हुए उन आदित्योंको देखकर भगवान् सूर्य बड़े प्रसन्न हुए ॥ ४९ ॥

एवं सम्पूजयामास त्वष्टा वाक्यमुवाच ह।
गच्छ देव निजां भार्यां कुरूंश्चरति सोत्तरान् ॥ ५० ॥
वडवारूपमास्थाय वने चरति शाद्वले।

इस प्रकार सूर्यनारायणका पूजन कर त्वष्टाने उनसे कहा—'देव! अब आप अपनी पत्नीके पास जाइये। वह उत्तर कुरु (देशों) में भ्रमण कर रही है और हरी घाससे भरे हुए वनमें घोड़ीका रूप धारण करके विचर रही है' ॥

स तथा रूपमास्थाय स्वभार्यारूपलीलया ॥ ५१ ॥
ददर्श योगमास्थाय स्वां भार्यां वडवां ततः।
अधृष्यां सर्वभूतानां तेजसा नियमेन च ॥ ५२ ॥
वडवावपुषा राजंश्चरन्तीमकुतोभयाम्।
सोऽश्वरूपेण भगवांस्तां मुखे समभावयत् ॥ ५३ ॥
मैथुनाय विचेष्टन्ती परपुंसोपशङ्कया।
सा तन्निरवमच्छुक्रं नासिकायां विवस्वतः ॥ ५४ ॥

तब सूर्यनारायणने भी अपनी पत्नीके रूपके अनुसार घोड़ेके समान विचरण करनेके लिये घोड़ेका ही रूप धारण कर लिया। उस समय सूर्यने ध्यानसे देखा तो उन्हें तेज और नियमके कारण सब भूतोंसे अधृष्य घोड़ीका रूप धारण करके किसी ओरसे भी भयकी आशंका न कर निर्भय हो विचरती हुई अपनी भार्या (संज्ञा) दीख पड़ी। राजन्! फिर तो घोड़ेके रूपमें भगवान् सूर्य उसके मुखके समीप पहुँचे। पर वह पर-पुरुषकी आशंकासे मैथुनके प्रतिकूल चेष्टा करने लगी और सूर्यके वीर्यको उसने अपनी नाकपरसे गिरा दिया ॥ ५१—५४ ॥

देवौ तस्यामजायेतामश्विनौ भिषजां वरौ।
नासत्यश्चैव दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनाविति ॥ ५५ ॥

उससे वैद्योंमें श्रेष्ठ अश्विनीकुमार नामक देवता उत्पन्न हुए। वे दोनों अश्विनीकुमार नासत्य और दस्र नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ ५५ ॥

मार्तण्डस्यात्मजावेतावष्टमस्य प्रजापतेः।
संज्ञायां जनयामास वडवायां स भारत।
तां तु रूपेण कान्तेन दर्शयामास भास्करः ॥ ५६ ॥

भारत! ये दोनों आठवें प्रजापति मार्तण्डके पुत्र हैं। इन्हें सूर्य भगवान्ने अश्वारूपा संज्ञाके गर्भसे उत्पन्न किया था। तदनन्तर सूर्यने उसे अपने मनोहर रूपमें दर्शन दिया ॥ ५६ ॥

सा च दृष्ट्वैव भर्तारं तुतोष जनमेजय।
यमस्तु कर्मणा तेन भृशं पीडितमानसः ॥ ५७ ॥

जनमेजय! तब वह स्वामीको देखकर बड़ी संतुष्ट हुई। इधर यम अपने उस कर्मसे मन-ही-मन बड़े दुःखित रहते थे ॥ ५७ ॥

धर्मेण रञ्जयामास धर्मराज इव प्रजाः।
स लेभे कर्मणा तेन परमेण महाद्युतिः ॥ ५८ ॥
पितॄणामाधिपत्यं च लोकपालत्वमेव च।
मनुः प्रजापतिस्त्वासीत् सावर्णः स तपोधनः ॥ ५९ ॥

अतएव वे अपने धर्मराजत्वके अनुरूप ही धर्मयुक्त आचरणसे प्रजाओंको प्रसन्न रखने लगे। उस श्रेष्ठ कर्मके कारण उन महाकान्तिमान् धर्मराजको पितरोंका आधिपत्य और लोकपालका पद मिला तथा वे तपस्याके धनी प्रजापति सावर्ण मनु हुए ॥ ५८-५९ ॥

भाव्यः सोऽनागते काले मनुः सावर्णिकेऽन्तरे।
मेरुपृष्ठे तपो घोरमद्यापि चरति प्रभुः ॥ ६० ॥

वे सर्वसमर्थ सावर्ण भविष्यके (आठवें) मन्वन्तरके मनु होंगे। वे आज भी सुमेरुपर्वतके शिखरपर घोर तप कर रहे हैं ॥ ६० ॥

भ्राता शनैश्चरश्चास्य ग्रहत्वमुपलब्धवान्।
नासत्यौ यौ समाख्यातौ स्वर्वैद्यौ तौ बभूवतुः ॥ ६१ ॥

इनके भाई शनैश्चर ग्रह बन गये और जिन नासत्योंका वर्णन किया है, वे स्वर्गके वैद्य बन गये ॥ ६१ ॥

सेवतोऽपि तथा राजन्नश्वानां शान्तिदोऽभवत्।
त्वष्टा तु तेजसा तेन विष्णोश्चक्रमकल्पयत् ॥ ६२ ॥
तदप्रतिहतं युद्धे दानवान्तचिकीर्षया।

वे उपासना करनेवालेके घोड़ोंको शान्ति देते हैं। उसी तेज (की छीलन) से त्वष्टाने विष्णु भगवान्‌का (सुदर्शन) चक्र बनाया। वह दानवोंके अन्त करनेकी इच्छासे बनाया गया चक्र युद्धमें किसी प्रकार भी व्यर्थ नहीं जाता ॥ ६२½ ॥

यवीयसी तयोर्या तु यमी कन्या यशस्विनी ॥ ६३ ॥
अभवत् सा सरिच्छ्रेष्ठा यमुना लोकभाविनी।
मनुरित्युच्यते लोके सावर्ण इति चोच्यते ॥ ६४ ॥

उन दोनोंमें छोटी जो यमी नामकी यशस्विनी कन्या थी, वह नदियोंमें श्रेष्ठ, लोकोंको पवित्र करनेवाली यमुना हुई। मनु संसारमें मनु कहलाते हैं और सावर्ण भी कहलाते हैं ॥ ६३-६४ ॥

द्वितीयो यः सुतस्तस्य मनोर्भ्राता शनैश्चरः।
ग्रहत्वं स च लेभे वै सर्वलोकाभिपूजितम् ॥ ६५ ॥

उनके दूसरे पुत्र और मनुके भ्राता जो शनैश्चर हैं, उन्होंने सब लोकोंसे पूजित ग्रहका पद प्राप्त किया ॥ ६५ ॥

य इदं जन्म देवानां शृणुयाद् वापि धारयेत्।
आपद्भ्यः स विमुच्येत प्राप्नुयाच्च महद् यशः ॥ ६६ ॥

जो मनुष्य देवताओंके जन्म (की इस कथा) को सुनता है अथवा मनमें धारण करता है, वह आपत्तियोंसे छूट जाता और बड़ा भारी यश पाता है ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि वैवस्वतोत्पत्तौ नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें वैवस्वत मनु (आदि) की उत्पत्तिविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

वैवस्वत मनुके वंशजोंका वर्णन और पुरूरवाकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

मनोर्वैवस्वतस्यासन् पुत्रा वै नव तत्समाः।
इक्ष्वाकुश्चैव नाभागो धृष्णुः शर्यातिरेव च ॥ १ ॥
नरिष्यंश्च तथा प्रांशुर्नाभागारिष्टसप्तमाः।
करूषश्च पृषध्रश्च नवैते भरतर्षभ ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतर्षभ ! वैवस्वत मनुके उनके ही समान इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्णु, शर्याति, नरिष्यन्त, प्रांशु, सातवें नाभागारिष्ट, करूष और पृषध्र—ये नौ पुत्र हुए ॥ १-२ ॥

अकरोत् पुत्रकामस्तु मनुरिष्टिं प्रजापतिः ।
मित्रावरुणयोस्तात पूर्वमेव विशाम्पते ॥ ३ ॥
अनुत्पन्नेषु नवसु पुत्रेष्वेतेषु भारत ।
तस्यां तु वर्तमानायामिष्ट्यां भरतसत्तम ॥ ४ ॥
मित्रावरुणयोरंशे मुनिराहुतिमाजुहोत् ।
आहुत्यां हूयमानायां देवगन्धर्वमानुषाः ॥ ५ ॥
तुष्टिं तु परमां जग्मुर्मुनयश्च तपोधनाः ।
अहोऽस्य तपसो वीर्यमहोऽस्य श्रुतमद्भुतम् ॥ ६ ॥

प्रजापालक तात ! इन नौ पुत्रोंके उत्पन्न होनेसे पहिले प्रजापति मनुने पुत्रकी कामनासे मित्रावरुणकी इष्टि (यज्ञ) की थी । भारत ! जब यह इष्टि हो रही थी, उस समय मुनिने मित्रावरुणके लिये आहुति दी । भरतश्रेष्ठ ! आहुतिके सम्पन्न होनेपर देवता, गन्धर्व, मनुष्य और तपोधन मुनि परम प्रसन्न हुए (और कहने लगे—) 'अहो ! इसका तपोबल आश्चर्यजनक है और इसका शास्त्रीय ज्ञान भी अद्भुत है !' ॥३–६॥

तत्र दिव्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिता ।
दिव्यसंहनना चैव इला जज्ञे इति श्रुतिः ॥ ७ ॥

उस यज्ञमें दिव्य वस्त्रोंको धारण किये हुए, दिव्य आभूषणोंसे विभूषित और दिव्य शरीरवाली इला नामक कन्या उत्पन्न हुई थी, ऐसी ख्याति है ॥ ७ ॥

तामिलेत्येव होवाच मनुर्दण्डधरस्तदा ।
अनुगच्छस्व मां भद्रे तमिला प्रत्युवाच ह ।
धर्मयुक्तमिदं वाक्यं पुत्रकामं प्रजापतिम् ॥ ८ ॥

राजा मनुने उस कन्याको 'इला' कहकर पुकारा और कहा—'भद्रे ! तू मेरे पीछे-पीछे आ ।' तब पुत्रकी कामनावाले प्रजापतिको इलाने यह धर्ममय उत्तर दिया॥ ८॥

इलोवाच

मित्रावरुणयोरंशे जातास्मि वदतां वर ।
तयोः सकाशं यास्यामि न मां धर्मो हतोऽवधीत्॥ ९ ॥

इलाने कहा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! मैं धर्मकी हत्या नहीं कर सकती, अन्यथा धर्म मुझे भी मार डालेगा। मैं मित्रावरुणके अंशसे उत्पन्न हुई हूँ, अतः उनके ही पास जाऊँगी ॥९॥

सैवमुक्त्वा मनुं देवं मित्रावरुणयोरिला ।
गत्वान्तिकं वरारोहा प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १० ॥

श्रेष्ठ नितम्बोंवाली इला राजा मनुसे इस प्रकार कहकर मित्रावरुणके पास गयी और दोनों हाथ जोड़कर उनसे इस प्रकार कहने लगी—॥ १० ॥

अंशेऽस्मि युवयोर्जाता देवौ किं करवाणि वाम्।
मनुना चाहमुक्ता वै अनुगच्छस्व मामिति ॥ ११ ॥

'देवताओ ! मैं आप दोनोंके अंशसे उत्पन्न हुई हूँ; अतः आपलोग बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? मनुजीने मुझसे कहा है कि तू मेरे पीछे-पीछे आ' ॥११॥

तां तथावादिनीं साध्वीमिलां धर्मपरायणाम् ।
मित्रश्च वरुणश्चोभावूचतुर्यन्निबोध तत् ॥ १२ ॥

राजन् ! धर्मपरायणा साध्वी इलाके इस प्रकार कहनेपर मित्र और वरुणने उससे जो कुछ कहा था, उसे सुनो ॥ १२ ॥

अनेन तव धर्मेण प्रश्रयेण दमेन च ।
सत्येन चैव सुश्रोणि प्रीतौ स्वो वरवर्णिनि ॥ १३ ॥

'सुन्दर कटिभागवाली सुन्दरी ! तेरे इस धर्म, विनय, इन्द्रियसंयम और सत्यसे हम दोनों तुमपर बहुत प्रसन्न हैं ॥१३॥

आवयोस्त्वं महाभागे ख्यातिं कन्येति यास्यसि ।
मनोर्वंशधरः पुत्रस्त्वमेव च भविष्यसि ॥ १४ ॥

'महाभागे ! तू हमारी पुत्रीरूपसे प्रसिद्ध होगी और मनुका वंशधर पुत्र भी तू ही होगी॥ १४ ॥

सुद्युम्न इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु शोभने ।
जगत्प्रियो धर्मशीलो मनोर्वंशविवर्धनः ॥ १५ ॥

'शोभने ! (उस समय) तू मनुके वंशको बढ़ानेवाले, जगत्में प्रिय, धर्मशील सुद्युम्नके नामसे तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध होगी' ॥ १५ ॥

निवृत्ता सा तु तच्छ्रुत्वा गच्छन्ती पितुरन्तिकम्।
बुधेनान्तरमासाद्य मैथुनायोपमन्त्रिता ॥ १६ ॥

इस बातको सुनकर वह अपने पिता मनुके पास वापस जा रही थी, इसी बीचमें अवसर देखकर बुधने उसे सहवासके लिये आमन्त्रित किया ॥ १६ ॥

सोमपुत्राद् बुधाद् राजंस्तस्यां जज्ञे पुरूरवाः ।
जनयित्वा सुतं सा तमिला सुद्युम्नतां गता ॥ १७ ॥

राजन् ! चन्द्रमाके पुत्र बुधद्वारा उस इलाके गर्भसे पुरूरवा उत्पन्न हुए और उस पुत्रको उत्पन्न करके वह इला सुद्युम्न हो गयी ॥ १७ ॥

सुद्युम्नस्य तु दायादास्त्रयः परमधार्मिकाः ।
उत्कलश्च गयश्चैव विनताश्वश्च भारत ॥ १८ ॥

भारत ! सुद्युम्नके उत्कल, गय और विनताश्व नामक तीन परम धार्मिक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १८ ॥

उत्कलस्योत्कला राजन् विनताश्वस्य पश्चिमा।
दिक् पूर्वा भरतश्रेष्ठ गयस्य तु गया पुरी ॥ १९ ॥

राजन् ! उत्कलकी राजधानी उत्कला (उड़ीसा) हुई ।

विनताश्वको पश्चिम दिशाका राज्य मिला और भरतश्रेष्ठ ! गयकी राजधानी पूर्व दिशामें गया नामकी पुरी हुई ॥ १९ ॥

प्रविष्टे तु मनौ तात दिवाकरमरिंदम ।
दशधा तद्धत्क्षत्रमकरोत् पृथिवीमिमाम् ॥ २० ॥

तात ! शत्रुसूदन ! मनुके सूर्यमें प्रवेश कर जानेपर उनके इक्ष्वाकु आदि दस पुत्रोंने पृथ्वीको दस भागोंमें बाँट लिया ॥ २० ॥

यूपाङ्किता वसुमती यस्येयं सवनाकरा ।
इक्ष्वाकुर्ज्येष्ठदायादो मध्यदेशमवाप्तवान् ॥ २१ ॥

मनुके बड़े पुत्र इक्ष्वाकुको मध्यदेशका राज्य मिला । यज्ञस्तम्भोंसे अलंकृत एवं वन और खानोंसहित यह सारी पृथ्वी इक्ष्वाकुकी ही है ॥ २१ ॥

कन्याभावाच्च सुद्युम्नो नैनं गुणमवाप्तवान् ।
वसिष्ठवचनाच्चासीत् प्रतिष्ठाने महात्मनः ॥ २२ ॥
प्रतिष्ठा धर्मराजस्य सुद्युम्नस्य कुरूद्वह ।

सुद्युम्न कन्याभावके कारण इस सौभाग्यपूर्ण पदको न पा सके । परंतु कुरूद्वह ! वसिष्ठजीके वचनसे महात्मा धर्मराज सुद्युम्नको भी प्रतिष्ठानपुर (झूँसी—प्रयाग) का राज्य मिल गया था ॥ २२½ ॥

तत्पुरूरवसे प्रादाद् राज्यं प्राप्य महायशाः ॥ २३ ॥
सुद्युम्नः कारयामास प्रतिष्ठाने नृपक्रियाम् ।

महायशस्वी सुद्युम्नने राज्य पानेके बाद प्रतिष्ठानमें (कुछ दिनतक) राज्य किया, फिर उन्होंने अपना राज्य पुरूरवाको दे दिया ॥ २३½ ॥

उत्कलस्य त्रयः पुत्रास्त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ।
धृष्टकश्चाम्बरीषश्च दण्डश्चेति सुतास्त्रयः ॥ २४ ॥

उत्कलके तीन पुत्र थे, जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध थे । उनके नाम थे—धृष्टक, अम्बरीष और दण्ड ॥ २४ ॥

यश्चकार महात्मा वै दण्डकारण्यमुत्तमम् ।
वनं तल्लोकविख्यातं तापसानामनुत्तमम् ॥ २५ ॥
तत्र प्रविष्टमात्रस्तु नरः पापात् प्रमुच्यते ।

महात्मा दण्डने दण्डकारण्य नामक वनका निर्माण किया, जो तपस्वियोंके लिये परमोत्तम (आश्रम) तथा लोकमें अत्यन्त विख्यात है । उसमें प्रवेश करते ही मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २५½ ॥

सुद्युम्नश्च दिवं यात ऐलमुत्पाद्य भारत ॥ २६ ॥
मानवेयो महाराज स्त्रीपुंसोर्लक्षणैर्युतः ।
धृतवान् य इलेत्येव सुद्युम्नश्चातिविश्रुतः ॥ २७ ॥

भरतवंशी महाराज ! सुद्युम्न कन्यावस्थामें ऐल (पुरूरवा) को (और पुरुषावस्थामें उत्कल आदि अन्य तीन पुत्रोंको) उत्पन्न करके स्वर्ग चले गये । ये सुद्युम्न स्त्री तथा पुरुष दोनोंके ही लक्षणोंसे संयुक्त हुए थे । इन्होंने इलाके रूपमें रहनेपर गर्भ धारण किया था, फिर ये ही (पुरुषत्व प्राप्त होनेपर) सुद्युम्न नामसे प्रसिद्ध हो गये थे ॥ २६-२७ ॥

नरिष्यतः शकाः पुत्रा नाभागस्य तु भारत ।
अम्बरीषोऽभवत् पुत्रः पार्थिवर्षभसत्तमः ॥ २८ ॥

भारत ! (मनुके पञ्चम पुत्र) नरिष्यन्तके पुत्र शक हुए और (मनुके द्वितीय पुत्र) नाभागके पुत्र राजराजेश्वर अम्बरीष हुए ॥ २८ ॥

धृष्णोस्तु धार्ष्टकं क्षत्रं रणधृष्टं बभूव ह ।
करूषस्य तु कारूषाः क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः ॥ २९ ॥
सहस्रं क्षत्रियगणो विक्रान्तः सम्बभूव ह ।
नाभागारिष्टपुत्राश्च क्षत्रिया वैश्यतां गताः ॥ ३० ॥

(मनुके तृतीय पुत्र) धृष्णुके धार्ष्टक नामक क्षत्रिय हुए । वे रणमें ढीठ थे । (मनुके आठवें पुत्र) करूषसे कारूष नामवाले युद्धदुर्मद क्षत्रिय हुए । यह हजारों क्षत्रियोंका मण्डल परम पराक्रमी था । (मनुके सप्तम पुत्र) नाभागारिष्टके क्षत्रिय पुत्र वैश्य हो गये थे* ॥ २९-३० ॥

प्रांशोरेकोऽभवत् पुत्रः शर्यातिरिति विश्रुतः ।
नरिष्यतस्य दायादो राजा दण्डधरो दमः ।
शर्यातेर्मिथुनं चासीदानर्तो नाम विश्रुतः ॥ ३१ ॥
पुत्रः कन्या सुकन्याख्या या पत्नी च्यवनस्य ह ।
आनर्तस्य तु दायादो रेवो नाम महाद्युतिः ॥ ३२ ॥

(मनुके छठे पुत्र) प्रांशुके एक पुत्र हुआ, वह शर्याति नामसे प्रसिद्ध था । (मनुके पञ्चम पुत्र) नरिष्यन्तका पुत्र दण्डधारी राजा दम हुआ । (मनुके चौथे पुत्र) शर्यातिकी दो संतान उत्पन्न हुईं; उनमें एक तो पुत्र था, जो आनर्त नामसे प्रसिद्ध हुआ और एक कन्या थी, जिसका नाम सुकन्या था । वह च्यवन ऋषिकी पत्नी हुई । आनर्तके रेव नामका महाकान्तिमान् पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३१-३२ ॥

आनर्तविषयश्चासीत् पुरी चास्य कुशस्थली ।
रेवस्य रैवतः पुत्रः ककुद्मी नाम धार्मिकः ॥ ३३ ॥

उसका राज्य आनर्त (जहाँ आज द्वारका है) देशमें था और उसकी पुरी (राजधानी) का नाम कुशस्थली (आजकी द्वारकापुरी) था । रेवके पुत्र रैवत हुए, इन्हींका दूसरा नाम ककुद्मी था । ये धार्मिक थे ॥ ३३ ॥

ज्येष्ठः पुत्रशतस्यासीद् राज्यं प्राप्य कुशस्थलीम् ।
स कन्यासहितः श्रुत्वा गान्धर्वं ब्रह्मणोऽन्तिके ॥ ३४ ॥

* युद्धमें हार जानेके कारण क्षत्रिय होनेपर भी इनका नाना अपनेको वैश्य कहता था; अतः ऐसी वैश्यपुत्रीके पुत्र होनेसे ये वैश्य कहलाये । इस ग्रन्थके ग्यारहवें अध्यायके नवें श्लोककी टिप्पणीमें इसका पूर्ण समाधान है ।

मुहूर्तभूतं देवस्य गतं बहुयुगं प्रभो।
आजगाम युवैवाथ स्वां पुरीं यादवैर्वृताम्॥ ३५॥

(रेवके) सौ पुत्रोंमें ये सबसे ज्येष्ठ थे। कुशस्थलीका राज्य पानेके अनन्तर एक दिन ये अपनी कन्याके साथ (ब्रह्मलोकमें) गये, वहाँ ब्रह्माजीके समीप गन्धर्वोंका गीत सुनने लगे। राजन्! संगीत सुनते-सुनते ये दो घड़ी वहाँ ठहरे रहे। इतने ही समयमें मानवलोकमें अनेक युग बीत गये। तत्पश्चात् ये यादवोंसे घिरी हुई अपनी पुरीमें आये। उस समयतक इनकी युवावस्था ज्यों-की-त्यों बनी हुई थी॥ ३४-३५॥

कृतां द्वारवतीं नाम्ना बहुद्वारां मनोरमाम्।
भोजवृष्ण्यन्धकैर्गुप्तां वासुदेवपुरोगमैः॥ ३६॥

(उस समय उस पुरीमें) बहुत-से दरवाजे बन गये थे और वासुदेव आदि भोज, वृष्णि और अन्धकवंशी उस रमणीय पुरीकी रक्षा कर रहे थे। यादवोंने उसका नाम बदलकर द्वारवती रख दिया था॥ ३६॥

ततः स रैवतो ज्ञात्वा यथातत्त्वमरिंदम।
कन्यां तां बलदेवाय सुव्रतां नाम रेवतीम्॥ ३७॥
दत्त्वा जगाम शिखरं मेरोस्तपसि संस्थितः।
रेमे रामोऽपि धर्मात्मा रेवत्या सहितः सुखी॥ ३८॥

शत्रुमर्दन! इन सब बातोंको यथार्थ रीतिसे जानकर राजा रैवत अपनी रेवती नामकी सुव्रता कन्याको बलदेवजीके हाथमें देकर स्वयं मेरुपर्वतके शिखरपर चले गये और वहाँ तपस्यामें लग गये। (इधर) धर्मात्मा बलरामजी भी रेवतीके साथ सुखपूर्वक विहार करने लगे॥ ३७-३८॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि ऐलोत्पत्तिवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पुरूरवाकी उत्पत्तिका वर्णनविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०॥

एकादशोऽध्यायः

धुन्धुमारकी कथा

जनमेजय उवाच

कथं बहुयुगे काले समतीते द्विजोत्तम।
न जरा रेवतीं प्राप्ता रैवतं च ककुद्मिनम्॥ १॥

जनमेजयने पूछा—द्विजोत्तम! बहुत-से युगोंका समय बीत जानेपर भी रेवती और ककुद्मी रैवतको बुढ़ापा क्यों नहीं व्याप्त हुआ?॥ १॥

मेरुं गतस्य वा तस्य शार्यातेः संततिः कथम्।
स्थिता पृथिव्यामद्यापि श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ २॥

शार्यातिके प्रपौत्र रैवत मेरुपर्वतपर चले गये, तब भी उनकी संतान आजतक पृथिवीपर कैसे वर्तमान है? इस बातको मैं यथार्थ रीतिसे सुनना चाहता हूँ॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

न जरा क्षुत्पिपासे वा न मृत्युर्भरतर्षभ।
ऋतुचक्रं न भवति ब्रह्मलोके सदानघ॥ ३॥

वैशम्पायनजीने उत्तर दिया—निष्पाप भरतश्रेष्ठ! ब्रह्मलोकमें मृत्यु, भूख-प्यास और बुढ़ापा नहीं होते और वहाँ ऋतुचक्र भी अपना प्रभाव नहीं दिखाता (वहाँ तो सदा एक-सी दशा रहती है)।॥ ३॥

ककुद्मिनस्तु तं लोकं रैवतस्य गतस्य ह।
हृता पुण्यजनैस्तात राक्षसैः सा कुशस्थली॥ ४॥

तात! जब रैवत ककुद्मी ब्रह्मलोकको चले गये, तब यक्षों और राक्षसोंने कुशस्थलीको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया॥ ४॥

तस्य भ्रातृशतं चासीद् धार्मिकस्य महात्मनः।
तद् वध्यमानं रक्षोभिर्दिशः प्राद्रवदच्युतम्॥ ५॥

धर्मात्मा एवं महात्मा रैवतके सौ भाई थे। वे राक्षसोंसे हारे नहीं, परंतु राक्षसोंके बार-बार आक्रमण करनेके कारण (अनेक) दिशाओंमें भाग गये॥ ५॥

विद्रुतस्य तु राजेन्द्र तस्य भ्रातृशतस्य वै।
तेषां तु ते भयाक्रान्ताः क्षत्रियास्तत्र तत्र ह॥ ६॥

राजेन्द्र! जब उनके सौ भाई भाग गये, तब उस कुलके अन्य क्षत्रिय भी राक्षसोंके भयसे भागकर जहाँ-तहाँ बस गये॥ ६॥

अन्ववायस्तु सुमहांस्तत्र तत्र विशाम्पते।
येषामेते महाराज शार्याता इति विश्रुताः॥ ७॥
क्षत्रिया भरतश्रेष्ठ दिक्षु सर्वासु धार्मिकाः।
सर्वशः पर्वतगणान् प्रविष्टाः कुरुनन्दन॥ ८॥

प्रजानाथ! उनका बड़ा भारी वंश जहाँ-तहाँ फैल गया। महाराज! उनके वंशके ही ये धार्मिक क्षत्रिय सब दिशाओंमें शार्यात नामसे प्रसिद्ध हैं। भरतश्रेष्ठ कुरुनन्दन! वे सब क्षत्रिय चारों ओरके पर्वतोंकी कन्दराओंमें प्रविष्ट हो गये थे॥ ७-८॥

नाभागारिष्टपुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ।
करूषस्य च कारूषाः क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः॥ ९॥

नाभाग और अरिष्टके पुत्र ये दोनों वैश्य होकर पुनः)* ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो गये। करूषके कारूषनामक युद्धदुर्मद क्षत्रिय उत्पन्न हुए॥ ९॥

प्रांशोरेकोऽभवत् पुत्रः प्रजातिरिति नः श्रुतम्।
पृषध्रो हिंसयित्वा तु गुरोर्गां जनमेजय॥ १०॥
शापाच्छूद्रत्वमापन्नो नवैते परिकीर्तिताः।
वैवस्वतस्य तनया मनोर्वै भरतर्षभ॥ ११॥

हमने सुना है कि (मनुके छठे पुत्र) प्रांशुके प्रजाति नामका एक ही पुत्र उत्पन्न हुआ था। जनमेजय! गुरुकी गौको मारनेपर (गुरुके) शापसे पृषध्र शूद्रत्वको प्राप्त हो गया था। भरतर्षभ! यहाँ तक वैवस्वत मनुके नौ पुत्रोंका मैंने वर्णन किया॥ १०-११॥

क्षुवतश्च मनोस्तात इक्ष्वाकुरभवत् सुतः।
तस्य पुत्रशतं त्वासीदिक्ष्वाकोर्भूरिदक्षिणम्॥ १२॥

तात! मनुके छींकनेसे इक्ष्वाकु नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई थी। उन इक्ष्वाकुके भी सौ पुत्र उत्पन्न हुए। ये सब-के-सब बड़ी-बड़ी दक्षिणा देनेवाले थे॥ १२॥

तेषां विकुक्षिर्ज्येष्ठस्तु विकुक्षित्वादयोधताम्।
प्राप्तः परमधर्मज्ञः सोऽयोध्याधिपतिः प्रभुः॥ १३॥

उनमें सबसे बड़ा पुत्र विकुक्षि था। यह विकुक्षि—विशाल कोख (वक्षःस्थल) वाला होनेसे सर्वथा अयोध्य था; अर्थात् उसके सामने कोई योद्धा ठहर नहीं सकता था। वही परम धार्मिक राजा विकुक्षि अयोध्याका स्वामी हुआ॥ १३॥

शकुनिप्रमुखास्तस्य पुत्राः पञ्चाशदुत्तमाः।
उत्तरापथदेशस्था रक्षितारो महीपते॥ १४॥

राजन्! उसके शकुनि आदि पचास उत्तम पुत्र थे, वे उत्तरापथ देशमें रहकर उस देशकी रक्षा करते थे॥ १४॥

चत्वारिंशदथाष्टौ च दक्षिणस्यां तथा दिशि।
शशादप्रमुखाश्चान्ये रक्षितारो विशाम्पते॥ १५॥

जनेश्वर! उसके शशाद आदि अड़तालीस पुत्र दक्षिण दिशामें रहकर दक्षिण दिशाकी रक्षा करते थे॥ १५॥

इक्ष्वाकुस्तु विकुक्षिं वै अष्टकायामथादिशत्।
मांसमानय श्राद्धार्थं मृगान् हत्वा महाबलः॥ १६॥

महाबली इक्ष्वाकुने अष्टका श्राद्धके लिये (अपने पुत्र) विकुक्षिको आज्ञा दी कि तू मृग नामक कन्दविशेषको काटकर श्राद्धके लिये उसका गूदा ला॥ १६॥

श्राद्धकर्मणि चोद्दिष्टमकृते श्राद्धकर्मणि।
भक्षयित्वा शशं तात शशादो मृगयागतः॥ १७॥

परंतु तात! विकुक्षिने श्राद्धकर्मके लिये नियत किये हुए शश (कन्दविशेष)को श्राद्ध पूर्ण होनेसे पहले ही खाकर उच्छिष्ट कर दिया और शिकार करके वापस लौट आया॥ १७॥

इक्ष्वाकुणा परित्यक्तो वसिष्ठवचनात् प्रभुः।
इक्ष्वाकौ संस्थिते तात शशादः पुरमावसत्॥ १८॥

उस समय इक्ष्वाकुने वसिष्ठजीके कहनेसे शशादको त्याग दिया। तात! फिर इक्ष्वाकुके मरनेपर शशाद नगरमें आया (और राज्यका स्वामी बनकर राज्य करने लगा)॥१८॥

शशादस्य तु दायादः ककुत्स्थो नाम वीर्यवान्।
इन्द्रस्य वृषभूतस्य ककुत्स्थोऽजयतासुरान्॥ १९॥
पूर्वं देवासुरे युद्धे ककुत्स्थस्तेन हि स्मृतः।
अनेनास्तु ककुत्स्थस्य पृथुरानेनसः स्मृतः॥ २०॥

शशादके ककुत्स्थ नामवाला वीर्यवान् पुत्र उत्पन्न हुआ, उसे पहले देवासुर-संग्राममे इन्द्रने स्मरण किया था। उस समय उसने इन्द्रको बैल बनाकर उनके ककुद् (पीठ) पर बैठकर असुरोंको जीता था; इसलिये इसका नाम ककुत्स्थ हुआ। ककुत्स्थके अनेना नामक पुत्र हुआ और अनेनाका पुत्र पृथु हुआ॥ १९—२०॥

विष्टराश्वः पृथोः पुत्रस्तस्मादार्द्रस्त्वजायत।
आर्द्रस्य युवनाश्वस्तु श्रावस्तस्य तु चात्मजः॥ २१॥

पृथुके विष्टराश्व और विष्टराश्वके आर्द्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, आर्द्रके युवनाश्व और युवनाश्वका पुत्र श्राव हुआ॥ २१॥

जज्ञे श्रावस्तको राजा श्रावस्ती येन निर्मिता।
श्रावस्तस्य तु दायादो बृहदश्वो महायशाः॥ २२॥

वह श्रावस्तक नाम धारण करके राजसिंहासनपर बैठा, उसीने श्रावस्तीपुरी बसायी। श्रावस्तका पुत्र महायशस्वी बृहदश्व हुआ॥ २२॥

कुवलाश्वः सुतस्तस्य राजा परमधार्मिकः।
यः स धुन्धुवधाद् राजा धुन्धुमारत्वमागतः॥ २३॥

उसका पुत्र परमधार्मिक राजा कुवलाश्व हुआ, धुन्धुनामक दैत्यको मारनेके कारण वह राजा 'धुन्धुमार' नामसे भी प्रसिद्ध हुआ॥ २३॥

---

* मातृजातयः पुत्राः स्युः—'पुत्र माताकी जातिके होते हैं' इस शास्त्रीय वचनसे वैश्य-स्त्रीमें उत्पन्न होनेके कारण ये पुत्र वैश्य कहलाते थे और इस वैश्य-स्त्रीका पिता भी क्षत्रिय था, परंतु संग्राममें शत्रुओंसे हार जानेके कारण अपनेको वैश्य कहने लगा था। इस कथाका विस्तृत वर्णन मार्कण्डेयपुराणके ११३ वें अध्यायमें है।

जनमेजय उवाच

धुन्धोर्वधमहं ब्रह्मञ्छ्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
यदर्थं कुवलाश्वः सन् धुन्धुमारत्वमागतः॥ २४॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन्! मैं धुन्धुके वधकी उस कथाको यथार्थ रीतिसे सुनना चाहता हूँ, जिससे कुवलाश्वका नाम धुन्धुमार पड़ गया था॥ २४॥

वैशम्पायन उवाच

कुवलाश्वस्य पुत्राणां शतमुत्तमधन्विनाम्।
सर्वे विद्यासु निष्णाता बलवन्तो दुरासदाः॥ २५॥

वैशम्पायनजी बोले—कुवलाश्वके धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ सौ पुत्र थे। वे सभी समस्त विद्याओंमें निपुण, बलवान् तथा दुर्दम्य थे॥ २५॥

बभूवुर्धार्मिकाः सर्वे यज्वानो भूरिदक्षिणाः।
कुवलाश्वं सुतं राज्ये बृहदश्वो न्ययोजयत्॥ २६॥

वे सभी धार्मिक पुत्र यज्ञ करके बहुत-सी दक्षिणा दिया करते थे। बृहदश्वने अपने ज्येष्ठ पुत्र कुवलाश्वको राज-सिंहासनपर बैठाया॥ २६॥

पुत्रसंक्रामितश्रीस्तु वनं राजा समाविशत्।
तमुत्तङ्कोऽथ विप्रर्षिः प्रयान्तं प्रत्यवारयत्॥ २७॥

अपनी राज्यलक्ष्मीको पुत्रके अधीन करके राजा बृहदश्व स्वयं वनको चले। उस समय ब्रह्मर्षि उत्तङ्कने उन्हे वनमें जानेसे रोका॥ २७॥

उत्तङ्क उवाच

भवता रक्षणं कार्यं तत् तावत् कर्तुमर्हसि।
निरुद्विग्नस्तपश्चर्तुं न हि शक्नोषि पार्थिव॥ २८॥

उत्तङ्क ऋषिने कहा—राजन्! हमारी रक्षा करना आपका कर्तव्य है; अतः पहले वही कीजिये। अन्यथा आप निश्चिन्त होकर तप नहीं कर सकते॥ २८॥

त्वया हि पृथिवी राजन् रक्ष्यमाणा महात्मना।
भविष्यति निरुद्विग्ना नारण्यं गन्तुमर्हसि॥ २९॥

राजन्! जब आप-जैसे महात्मा इस पृथ्वीकी रक्षा करेंगे, तभी इस पृथ्वीपर शान्ति होगी; अतः आपका वनमें जाना उचित नहीं है॥ २९॥

पालने हि महान् धर्मः प्रजानामिह दृश्यते।
न तथा दृश्यतेऽरण्ये मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी॥ ३०॥

हम देखते हैं कि यहाँ रहकर प्रजाका पालन करनेसे आपको महान् पुण्य होगा। वनमें रहनेपर ऐसे पुण्यकी प्राप्ति आपको हो, यह हमे नहीं दीखता। इसलिये आप ऐसा विचार न करें॥ ३०॥

ईदृशो न हि राजेन्द्र धर्मः क्वचन दृश्यते।
प्रजानां पालने यो वै पुरा राजर्षिभिः कृतः।
रक्षितव्याः प्रजा राज्ञा तास्त्वं रक्षितुमर्हसि॥ ३१॥

राजेन्द्र! प्राचीन कालमें राजर्षियोंने प्रजाओंका पालन करके जैसा पुण्य-संचय किया है, वैसा पुण्य और कहीं नहीं दिखायी देता। राजाको प्रजाओंकी रक्षा करनी चाहिये; अतः आप प्रजाकी रक्षा करें॥ ३१॥

ममाश्रमसमीपे हि समेषु मरुधन्वसु।
समुद्रो वालुकापूर्ण उज्जानक इति श्रुतः।
देवतानामवध्यश्च महाकायो महाबलः॥ ३२॥
अन्तर्भूमिगतस्तत्र वालुकान्तर्हितो महान्।
राक्षसस्य मधोः पुत्रो धुन्धुनामा महासुरः।
शेते लोकविनाशाय तप आस्थाय दारुणम्॥ ३३॥

मेरे आश्रमके समीप मरुप्रदेशकी समतल भूमिमें बालूसे भरा हुआ उज्जानक नामवाला समुद्र है। वहीं एक विशालकाय महाबली राक्षस रहता है, जो देवताओंके लिये भी अवध्य है। वह महान् असुर मधु नामक राक्षसका पुत्र है। उसका नाम धुन्धु है। वह वहाँ पृथ्वीके भीतर बालूमें छिपकर सोता है और सम्पूर्ण लोकोंका संहार करनेके लिये कठोर तपस्या कर रहा है॥ ३२-३३॥

संवत्सरस्य पर्यन्ते स निःश्वासं प्रमुञ्चति।
यदा तदा भूश्चलति सशैलवनकानना॥ ३४॥

वह एक वर्ष बीतनेपर जब बड़े जोरसे साँस छोड़ता है, उस समय पर्वत और वनोंसहित सारी पृथिवी डोलने लगती है॥ ३४॥

तस्य निःश्वासवातेन रज उद्धूयते महत्।
आदित्यपथमावृत्य सप्ताहं भूमिकम्पनम्॥ ३५॥

उसके श्वासकी वायुसे बड़ी भारी धूलि उड़ती है, जो सूर्यके मार्गको भी ढँक लेती है; साथ ही एक सप्ताहतक भूकम्प होता रहता है॥ ३५॥

सविस्फुलिङ्गं साङ्गारं सधूममतिदारुणम्।
तेन तात न शक्नोमि तस्मिन् स्थातुं स्वकाश्रमे॥ ३६॥

तात! (उस समय पृथिवीमेंसे) चिनगारियाँ, अंगारे और अत्यन्त दारुण धुएँ निकलने लगते हैं। इसलिये तात! मैं अपने आश्रममें (सुखपूर्वक) नहीं रह पाता॥ ३६॥

तं मारय महाकायं लोकानां हितकाम्यया।
लोकाः स्वस्था भवन्त्वद्य तस्मिन् विनिहतेऽसुरे॥ ३७॥

आप लोकोंका हित करनेकी इच्छासे उस विशाल शरीरवाले दैत्यका संहार करें, आज उस असुरके मारे जानेपर सब लोग सुखी हो जायँ॥ ३७॥

त्वं हि तस्य वधायैकः समर्थः पृथिवीपते।
विष्णुना च वरो दत्तो मह्यं पूर्वयुगेऽनघ॥ ३८॥

पृथिवीपते! एक आप ही उसका वध कर सकते हैं, क्योंकि निष्पाप नरेश! भगवान् विष्णुने पहले युगमें मुझे एक वर दिया था॥ ३८॥

यस्त्वं महासुरं रौद्रं हनिष्यसि महाबलम् ।
तस्य त्वं वरदानेन तेज आप्याययिष्यसि ॥ ३९ ॥

भगवान्‌के उस वरदानके अनुसार जब कि (अयोध्याके राजा) आप इस महाबली भयंकर दानवका संहार करेंगे, अपने तेजको (वैष्णव तेजसे) परिपुष्ट कर लोगे ॥ ३९ ॥

न हि धुन्धुर्महातेजास्तेजसाल्पेन शक्यते ।
निर्दग्धुं पृथिवीपाल स हि वर्षशतैरपि ।
वीर्यं हि सुमहत्तस्य देवैरपि दुरासदम् ॥ ४० ॥

पृथिवीपाल ! महातेजस्वी धुन्धुको अल्प तेजवाला पुरुष सौ वर्षमें भी नहीं मार सकता । उसमें इतना अधिक बल है कि देवताओंके लिये भी उसे दबाना कठिन है ॥ ४० ॥

स एवमुक्तो राजर्षिरुत्तङ्केन महात्मना ।
कुवलाश्वं सुतं प्रादात् तस्मै धुन्धुनिवारणे ॥ ४१ ॥

महात्मा उत्तङ्कने जब उन राजर्षिसे इस प्रकार कहा, तब उन्होंने धुन्धु दैत्यको नष्ट करनेके लिये अपने पुत्र कुवलाश्वको उनकी सेवामें दे दिया ॥ ४१ ॥

बृहदश्व उवाच

भगवन् न्यस्तशस्त्रोऽहमयं तु तनयो मम ।
भविष्यति द्विजश्रेष्ठ धुन्धुमारो न संशयः ॥ ४२ ॥

बृहदश्वने कहा—भगवन् ! मैंने तो शस्त्र त्याग दिये हैं, किंतु द्विजश्रेष्ठ ! यह मेरा पुत्र (आपको समर्पित) है, यह अवश्य धुन्धुमार होगा ॥ ४२ ॥

स तं व्यादिश्य तनयं राजर्षिर्धुन्धुमारणे ।
जगाम पर्वतायैव तपसे संशितव्रतः ॥ ४३ ॥

(यह कहकर) प्रशंसनीय व्रतवाले वे राजर्षि अपने पुत्रको धुन्धुका वध करनेकी आज्ञा देकर स्वयं तप करनेके लिये पर्वतपर चले गये ॥ ४३ ॥

कुवलाश्वस्तु पुत्राणां शतेन सह पार्थिवः ।
प्रायादुत्तङ्कसहितो धुन्धोस्तस्य विनिग्रहे ॥ ४४ ॥

तब राजा कुवलाश्व अपने सौ पुत्रों और उत्तङ्कको साथमें लेकर धुन्धुको दण्ड देनेके लिये चल दिये ॥ ४४ ॥

तमाविशत् तदा विष्णुर्भगवांस्तेजसा प्रभुः ।
उत्तङ्कस्य नियोगाद् वै लोकस्य हितकाम्यया ॥ ४५ ॥

उस समय भगवान् विष्णु उत्तङ्क ऋषिकी प्रेरणासे लोकोंका हित करनेके लिये अपने तेजःस्वरूपसे उस राजाके शरीरमें प्रविष्ट हो गये ॥ ४५ ॥

तस्मिन् प्रयाते दुर्धर्षे दिवि शब्दो महानभूत् ।
एष श्रीमानवध्योऽद्य धुन्धुमारो भविष्यति ॥ ४६ ॥

तब उस दुर्धर्ष राजाके प्रस्थान करनेपर आकाशमें गम्भीर वाणी सुनायी दी कि 'ये श्रीमान् राजा अवध्य हैं, आज इनके हाथसे धुन्धु अवश्य मारा जायगा' ॥ ४६ ॥

दिव्यैर्माल्यैश्च तं देवाः समन्तात् समवाकिरन् ।
देवदुन्दुभयश्चापि प्रणेदुर्भरतर्षभ ॥ ४७ ॥

भरतर्षभ ! तदनन्तर देवताओंने अपनी दुन्दुभियाँ बजाकर उनके ऊपर चारों ओरसे दिव्य पुष्पोंकी वर्षा की ॥ ४७ ॥

स गत्वा जयतां श्रेष्ठस्तनयैः सह वीर्यवान् ।
समुद्रं खानयामास वालुकार्णवमव्ययम् ॥ ४८ ॥

विजय पानेवालोंमें श्रेष्ठ वह वीर्यवान् राजा अपने पुत्रोंके साथ वहाँ पहुँचकर अपार रेतेसे भरे हुए समुद्रको खुदवाने लगे ॥ ४८ ॥

नारायणेन कौरव्य तेजसाऽऽप्यायितः स वै ।
बभूव स महातेजा भूयो बलसमन्वितः ॥ ४९ ॥

कौरव्य ! वे महाबली राजा भगवान् नारायणके तेजसे पुष्ट होनेके कारण और भी अधिक तेजस्वी हो गये ॥ ४९ ॥

तस्य पुत्रैः खनद्भिस्तु वालुकान्तर्हितस्तदा ।
धुन्धुरासादितो राजन् दिशमावृत्य पश्चिमाम् ॥ ५० ॥

राजन् ! धरती खोदते हुए कुवलाश्वपुत्रोंने बालूके भीतर छिपे हुए धुन्धुका पता लगा लिया । वह पश्चिम दिशाको घेरकर पड़ा था ॥ ५० ॥

मुखजेनाग्निना क्रोधाल्लोकानुद्वर्तयन्निव ।
वारि सुस्राव वेगेन महोदधिरिवोदये ॥ ५१ ॥
सोमस्य भरतश्रेष्ठ धारोर्मिकलिलं महत् ।
तस्य पुत्रशतं दग्धं त्रिभिरूनं तु रक्षसा ॥ ५२ ॥

धुन्धु अपने मुखकी आगसे सम्पूर्ण लोकोंका संहार-सा करता हुआ जलका स्रोत बहाने लगा । भरतश्रेष्ठ ! जैसे चन्द्रमाके उदयकालमें समुद्रमें ज्वार आता है, उसकी उत्ताल तरङ्गें बढ़ने लगती हैं, उसी प्रकार वहाँ धारा, लहर और कीचड़से युक्त महान् जलस्रोत वेगपूर्वक बढ़ने लगा। उस राक्षसने कुवलाश्वके सौ पुत्रोंमेंसे तीनको छोड़कर शेष सबको अपनी मुखाग्निसे जलाकर भस्म कर दिया ॥ ५१-५२ ॥

ततः स राजा कौरव्य राक्षसं तं महाबलम् ।
आससाद महातेजा धुन्धुं धुन्धुनिबर्हणः ॥ ५३ ॥

कुरुनन्दन ! तब धुन्धुका संहार करनेके लिये आये हुए वे महातेजस्वी राजा उस महाबली राक्षसके सामने पहुँचे ॥ ५३ ॥

तस्य वारिमयं वेगमापीय स नराधिपः ।
योगी योगेन वह्निं च शमयामास वारिणा ॥ ५४ ॥

फिर उन योगी नरेशने योगके प्रभावसे उसके जलमय वेगको पी लिया तथा जलसे अग्निको शान्त कर दिया ॥ ५४ ॥

निहत्य तं महाकायं बलेनोदकराक्षसम् ।
उत्तङ्कं दर्शयामास कृतकर्मा नराधिपः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार उस विशाल शरीरवाले जल-राक्षसको बल-

पूर्वक मारकर राजाने अपना काम पूर्ण करके उस मारे हुए राक्षसको उत्तङ्क ऋषिको दिखाया ॥ ५५ ॥

उत्तङ्कस्तु वरं प्रादात् तस्मै राज्ञे महात्मने ।
ददौ तस्याक्षयं वित्तं शत्रुभिश्चापराजयम् ॥ ५६ ॥

उस समय उत्तङ्कने उन महात्मा राजाको वरदान दिया कि 'आपके पास अक्षय धन रहेगा तथा शत्रुओंसे आप कभी पराजित नहीं होंगे ॥ ५६ ॥

धर्मे रतिं च सततं स्वर्गवासं तथाक्षयम् ।
पुत्राणां चाक्षयाँल्लोकान् स्वर्गे ये रक्षसा हताः ॥ ५७ ॥

'धर्मपर आपकी श्रद्धा सर्वदा बनी रहेगी तथा आप अनन्त कालतक स्वर्गमें रहेंगे । साथ ही राक्षसने आपके जिन पुत्रोंको मार डाला है, उन्हें भी स्वर्गमें अक्षय लोक मिलेंगे' ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि धुन्धुवधे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें धुन्धुवधविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

धुन्धुमारके वंशका वर्णन और गालवकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

तस्य पुत्रास्त्रयः शिष्टा दृढाश्वो ज्येष्ठ उच्यते ।
चन्द्राश्वकपिलाश्वौ तु कुमारौ द्वौ कनीयसौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उन (धुन्धुमार) के तीन पुत्र बच गये थे, जिनमें दृढाश्व सबसे बड़ा था तथा चन्द्राश्व और कपिलाश्व दो छोटे थे ॥ १ ॥

धौन्धुमारिर्दृढाश्वस्तु हर्यश्वस्तस्य चात्मजः ।
हर्यश्वस्य निकुम्भोऽभूत् क्षत्रधर्मरतः सदा ॥ २ ॥

धुन्धुमारके दृढाश्व, दृढाश्वके हर्यश्व और हर्यश्वके निकुम्भ नामक पुत्र हुआ, जो सदा क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहता था ॥ २ ॥

संहताश्वो निकुम्भस्य पुत्रो रणविशारदः ।
अकृशाश्वः कृशाश्वश्च संहताश्वसुतौ नृप ॥ ३ ॥

निकुम्भके संहताश्व नामक पुत्र हुआ, जो युद्धकी कलामें निपुण था । राजन् ! संहताश्वके अकृशाश्व और कृशाश्व नामक दो पुत्र हुए ॥ ३ ॥

तस्य हैमवती कन्या सतां माता दृषद्वती ।
विख्याता त्रिषु लोकेषु पुत्रश्चास्याः प्रसेनजित् ॥ ४ ॥

उस (संहताश्व) की भार्या हिमवान्‌की पुत्री थी, जो तीनों लोकोंमें दृषद्वतीके नामसे प्रसिद्ध है । उससे प्रसेनजित् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था । वह श्रेष्ठ पुत्रोंकी जननी थी ॥ ४ ॥

लेभे प्रसेनजिद् भार्यां गौरीं नाम पतिव्रताम् ।
अभिशप्ता तु सा भर्त्रा नदी वै बाहुदाभवत् ॥ ५ ॥

प्रसेनजित्‌की गौरी नामवाली भार्या थी । वह पतिव्रता थी । वह पतिके शाप देनेपर बाहुदा नदी हो गयी ॥ ५ ॥

तस्याः पुत्रो महानासीद् युवनाश्वो महीपतिः ।
मान्धाता युवनाश्वस्य त्रिलोकविजयी सुतः ॥ ६ ॥

उसके पुत्र महाराज युवनाश्व थे, युवनाश्वके त्रिलोक-विजयी मान्धाता नामक पुत्र हुआ ॥ ६ ॥

तस्य चैत्ररथी भार्या शशबिन्दोः सुताभवत् ।
साध्वी बिन्दुमती नाम रूपेणासदृशी भुवि ॥ ७ ॥

शशबिन्दुकी पुत्री बिन्दुमती, जिसका दूसरा नाम चैत्ररथी था, मान्धाताकी भार्या थी । वह साध्वी पृथ्वीमें अनुपम रूपवती थी ॥ ७ ॥

पतिव्रता च ज्येष्ठा च भ्रातॄणामयुतस्य सा ।
तस्यामुत्पादयामास मान्धाता द्वौ सुतौ नृप ॥ ८ ॥
पुरुकुत्सं च धर्मज्ञं मुचुकुन्दं च धार्मिकम् ।
पुरुकुत्ससुतस्त्वासीत् त्रसदस्युर्महीपतिः ॥ ९ ॥

उसके दस हजार भाई थे और वह पतिव्रता उनमें सबसे बड़ी थी । राजन् ! मान्धाताने उसके गर्भसे धर्मज्ञ पुरुकुत्स और धार्मिक मुचुकुन्द—इन दो पुत्रोंको उत्पन्न किया । पुरुकुत्स-का पुत्र राजा त्रसदस्यु हुआ ॥ ८-९ ॥

नर्मदायामथोत्पन्नः सम्भूतस्तस्य चात्मजः ।
सम्भूतस्य तु दायादः सुधन्वा नाम पार्थिवः ॥ १० ॥

त्रसदस्युके नर्मदा नामवाली स्त्रीके गर्भसे सम्भूत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । सम्भूतका पुत्र सुधन्वा नामक राजा था ॥

सुधन्वनः सुतश्चासीत् त्रिधन्वा रिपुमर्दनः ।
राज्ञस्त्रिधन्वनस्त्वासीद् विद्वांस्त्रय्यारुणः सुतः ॥ ११ ॥

सुधन्वाके त्रिधन्वा नामक पुत्र हुआ, जो शत्रुओंका मर्दन करनेवाला था । राजा त्रिधन्वाके त्रय्यारुण नामक विद्वान् पुत्र हुआ ॥ ११ ॥

तस्य सत्यव्रतो नाम कुमारोऽभून्महाबलः ।
पाणिग्रहणमन्त्राणां विघ्नं चक्रे सुदुर्मतिः ॥ १२ ॥

त्रय्यारुणके सत्यव्रत नामवाला महाबली कुमार हुआ । उसकी

बुद्धि बड़ी खोटी थी। वह (परस्त्रीहरणद्वारा) विवाहके मन्त्रोंमें विघ्न डालने लगा ॥ १२ ॥

येन भार्या हृता पूर्वं कृतोद्वाहा परस्य वै ।
बाल्यात् कामाच्च मोहाच्च संहर्षाच्चापलेन च॥ १३ ॥

उसने बालकपन, काम, मोह, हर्ष और चपलताके कारण किसी दूसरे (नागरिक) की विवाहिता स्त्रीको छीन लिया था ॥१३॥

जहार कन्यां कामात् स कस्यचित् पुरवासिनः।
अधर्मशङ्कुना तेन राजा त्रय्यारुणोऽत्यजत्॥ १४ ॥
अपध्वंसेति बहुशो वदन् क्रोधसमन्वितः ।
पितरं सोऽब्रवीत् त्यक्तः क्व गच्छामीति वै मुहुः॥ १५ ॥

इसी प्रकार उसने कामके वशमें होकर एक पुरवासीकी कन्याको हर लिया था । इस पापरूपी कीलसे विद्ध होनेके कारण राजा त्रय्यारुणने क्रोधमें उसे बार-बार कहा—'ओ नीच ! भाग जा यहाँसे !' पिताके त्याग देनेपर उसने बार-बार उनसे पूछा—'मैं कहाँ जाऊँ ?' ॥ १४-१५ ॥

पिता त्वेनमथोवाच श्वपाकैः सह वर्तय ।
नाहं पुत्रेण पुत्रार्थी त्वयाद्य कुलपांसन ॥ १६ ॥

तब उसके पिताने कहा—'ओ कुलकलंक ! जा तू श्वपाकों* के साथ रह, मैं तुझ-जैसे पुत्रसे पुत्रवान् बनना नहीं चाहता'॥

इत्युक्तः स निराक्रामन्नगराद् वचनात् पितुः ।
न च तं वारयामास वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १७ ॥

पिताके इस प्रकार कहनेपर वह उनके कथनानुसार नगरसे बाहर निकल गया। उस समय भगवान् वसिष्ठ ऋषि-ने भी उसके पिताको इस प्रकार कहनेसे नहीं रोका ॥ १७ ॥

स तु सत्यव्रतस्तात श्वपाकावसथान्तिके ।
पित्रा त्यक्तोऽवसद् धीरः पिता तस्य वनं ययौ ॥ १८ ॥

तात ! धीर सत्यव्रत पिताके त्याग देनेपर चाण्डालोंकी बस्तीमें रहने लगा और उसके पिता त्रय्यारुण (विरक्त होकर) वनको चले गये ॥ १८ ॥

ततस्तस्मिंस्तु विषये नावर्षत् पाकशासनः ।
समा द्वादश राजेन्द्र तेनाधर्मेण वै तदा ॥ १९ ॥

राजेन्द्र ! उस समय उस देशमें (उस कन्याहरणरूप) अधर्मके कारण इन्द्रने बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं की ॥ १९ ॥

दारांस्तु तस्य विषये विश्वामित्रो महातपाः ।
संन्यस्य सागरानूपे चचार विपुलं तपः ॥ २० ॥

उस समय महातपस्वी विश्वामित्र भी सत्यव्रतके उस देशमें अपनी स्त्रीको न्यास (धरोहर) के रूपमें रखकर समुद्रके तटपर भयंकर तप कर रहे थे ॥ २० ॥

तस्य पत्नी गले बद्ध्वा मध्यमं पुत्रमौरसम् ।
शेषस्य भरणार्थाय व्यक्रीणाद् गोशतेन वै ॥ २१ ॥

विश्वामित्रकी स्त्री अपने शेष कुटुम्बके पालनके लिये अपने मध्यम पुत्रके गलेमें रस्सी बाँधकर उसको सौ गौओंके मूल्यपर बेचनेके लिये लेकर घूमने लगी ॥ २१ ॥

तं तु बद्धं गले दृष्ट्वा विक्रीयन्तं नृपात्मजः ।
महर्षिपुत्रं धर्मात्मा मोक्षयामास भारत ॥ २२ ॥

भारत ! धर्मात्मा राजकुमार (सत्यव्रत) ने उस महर्षिपुत्रको गलेमें बँधा तथा बिकता देखकर छुड़ा लिया ॥ २२ ॥

सत्यव्रतो महाबाहुर्भरणं तस्य चाकरोत् ।
विश्वामित्रस्य तुष्ट्यर्थमनुकम्पार्थमेव च ॥ २३ ॥

फिर महाबाहु सत्यव्रतने विश्वामित्रको संतुष्ट करने और उनकी कृपा प्राप्त करनेके लिये उस पुत्रका भरण-पोषण किया २३

सोऽभवद् गालवो नाम गलबन्धान्महातपाः ।
महर्षिः कौशिकस्तात तेन वीरेण मोक्षितः ॥ २४ ॥

वह महातपस्वी गलेमें बन्धन पड़नेके कारण गालव नामसे प्रसिद्ध हुआ । तात ! (इस प्रकार) उस वीरने कुशिकवंशी महर्षि (गालव) को (इस आपत्तिसे) मुक्त किया था ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि गालवोत्पत्तौ द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें गालवकी उत्पत्तिविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

त्रिशङ्कुके चरित्रका वर्णन तथा उनके वंशमें हरिश्चन्द्र आदिका उत्पन्न होना

वैशम्पायन उवाच

सत्यव्रतस्तु भक्त्या च कृपया च प्रतिज्ञया ।
विश्वामित्रकलत्रं तद् बभार विनये स्थितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! विश्वामित्रजीके प्रति श्रद्धा-भक्ति, उनके असहाय कुटुम्बके प्रति दयाभाव तथा अपनी की हुई प्रतिज्ञासे प्रेरित हो सत्यव्रत विनय-

* श्वपाक चाण्डालोंकी एक जातिका नाम है।

पूर्वक विश्वामित्रजीकी स्त्रीका पालन करने लगा ॥ १ ॥

हत्वा मृगान् वराहांश्च महिषांश्च वनेचरान् ।
विश्वामित्राश्रमाभ्याशे मांसं वृक्षे बबन्ध सः ॥ २ ॥

वह ढूँढ़नेसे मिलनेवाले कंदविशेष, वराही कंद तथा महिष कंद आदि जंगली कंद-मूलोंको काटकर उनका गूदा विश्वामित्रके आश्रमके पासके वृक्षोंमें बाँध देता था ॥ २ ॥

उपांशुव्रतमास्थाय दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ।
पितुर्नियोगादवसत् तस्मिन् वनगते नृपे ॥ ३ ॥

पिता (राजा) के वन चले जानेपर बारह वर्षोंके लिये वह चुपचाप (किसीको विदित न हो इस प्रकार) व्रत करने लगा ॥ ३ ॥

अयोध्यां चैव राष्ट्रं च तथैवान्तःपुरं मुनिः ।
याज्योपाध्यायसम्बन्धाद् वसिष्ठः पर्यरक्षत ॥ ४ ॥

इधर पुरोहिताई और यजमानीके सम्बन्धके कारण मुनि वसिष्ठ अयोध्याकी, राज्यकी और रनिवासकी रक्षा करने लगे ॥ ४ ॥

सत्यव्रतस्तु बाल्याच्च भाविनोऽर्थस्य वा बलात् ।
वसिष्ठेऽभ्यधिकं मन्युं धारयामास वै तदा ॥ ५ ॥

इधर सत्यव्रत अपनी मूर्खता या होनहारके कारण वसिष्ठ-जीके ऊपर अधिक कुपित रहने लगा ॥ ५ ॥

पित्रा तु तं तदा राष्ट्रात् त्यज्यमानं स्वमात्मजम् ।
न वारयामास मुनिर्वसिष्ठः कारणेन ह ॥ ६ ॥

परंतु मुनि वसिष्ठने तो उसके पिताको, उनके द्वारा अपने पुत्रके राज्यसे निकाले जाते समय विशेष कारणवश ही नहीं रोका था ॥ ६ ॥

पाणिग्रहणमन्त्राणां निष्ठा स्यात् सप्तमे पदे ।
न च सत्यव्रतस्तस्य तमुपांशुमबुध्यत ॥ ७ ॥

पाणिग्रहण अर्थात् विवाहके मन्त्र सप्तपदीके पूर्ण होनेपर पूर्ण हुए माने जाते हैं । (इसके पहले स्त्रीमें कन्यात्व ही रहता है; अतः वसिष्ठजी सत्यव्रतसे बारह वर्षोंतक कन्याहरणका प्रायश्चित्त कराना चाहते थे) । परंतु वसिष्ठजीके इस गूढ़ आशयको सत्यव्रत समझ न सका ॥ ७ ॥

जानन् धर्मं वसिष्ठस्तु न मां त्रातीति भारत ।
सत्यव्रतस्तदा रोषं वसिष्ठे मनसाकरोत् ॥ ८ ॥

'वसिष्ठजी धर्मको जानते हैं, तब भी मेरी रक्षा नहीं करते हैं !' भारत ! यह विचारकर सत्यव्रत अपने मनमें उनपर कुपित रहने लगा ॥ ८ ॥

गुणबुद्ध्या तु भगवान् वसिष्ठः कृतवांस्तथा।
न च सत्यव्रतस्तस्य तमुपांशुमबुध्यत ॥ ९ ॥

भगवान् वसिष्ठजीने तो गुणबुद्धिसे ऐसा किया था, परंतु सत्यव्रत उनके इस गुप्त अभिप्रायको समझ न सका ॥ ९ ॥

तस्मिन्नपरितोषो यः पितुरासीन्महात्मनः ।
तेन द्वादश वर्षाणि नाववर्षत् पाकशासनः ॥ १० ॥

उसके महात्मा पिताको सत्यव्रतके ऊपर जो असंतोष उत्पन्न हो गया, इस कारण इन्द्रने उसके राज्यमें बारह वर्षों-तक वर्षा नहीं की ॥ १० ॥

तेन त्विदानीं वहता दीक्षां तां दुर्वहां भुवि ।
कुलस्य निष्कृतिस्तात कृता सा वै भवेदिति ॥ ११ ॥
न तं वसिष्ठो भगवान् पित्रा त्यक्तं न्यवारयत्।
अभिषेक्ष्याम्यहं पुत्रमस्येत्येवं मतिर्मुनेः ॥ १२ ॥

तात ! 'यदि (सत्यव्रत) भूतलपर कठिनतासे पूर्ण होनेवाली इस दीक्षाको पूर्ण कर लेगा तो इसके कुलका उद्धार हो जायगा' । यह विचारकर भगवान् वसिष्ठने उसके पिताद्वारा त्यागे गये सत्यव्रतको नहीं रोका था, उनका विचार था कि '(प्रायश्चित्तके अनन्तर) इसके पुत्रको ही मैं राज्यपर अभिषिक्त कर दूँगा' ॥ ११-१२ ॥

स तु द्वादशवर्षाणि दीक्षां तामुद्वहद् बली ।
उपांशुव्रतमास्थाय महत् सत्यव्रतो नृप ॥ १३ ॥

राजन् ! बलवान् सत्यव्रतने भी चुपचाप दीक्षा लेकर बारह वर्षतक इस महाव्रतको धारण किया ॥ १३ ॥

अविद्यमाने मांसे तु वसिष्ठस्य महात्मनः ।
सर्वकामदुघां दोग्ध्रीं ददर्श स नृपात्मजः ॥ १४ ॥

एक समय कंद-मूलके गूदेके न रहनेपर उस राजकुमार-की दृष्टि सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली महात्मा वसिष्ठकी दुधार गौके ऊपर पड़ी ॥ १४ ॥

तां वै क्रोधाच्च मोहाच्च श्रमाच्चैव क्षुधार्दितः ।
दशधर्मान् गतो राजा जघान जनमेजय ॥ १५ ॥

जनमेजय ! राजकुमार सत्यव्रतने उस गौको क्रोध, मोह और कामके कारण तथा भूखसे पीड़ा पानेके कारण दस अनिष्ट धर्मों (अवस्थाओं)* को प्राप्त होनेकी दशामें मार डाला ॥ १५ ॥

---

* वे दस धर्म या अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ।
त्वरमाणश्च भीरुश्च लुब्धः कामी च ते दश ॥

अर्थात् मद, प्रमाद, उन्माद, श्रम, क्रोध, भूख, उतावली, भय, लोभ और काम—इन दस दशाओंमें पड़े हुए मनुष्य पाप कर बैठते हैं ।

तच्च मांसं स्वयं चैव विश्वामित्रस्य चात्मजान्।
भोजयामास तच्छ्रुत्वा वसिष्ठोऽप्यस्य चुक्रुधे।
क्रुद्धस्तु भगवान् वाक्यमिदमाह नृपात्मजम् ॥ १६ ॥

उस मांसको उसने विश्वामित्रके पुत्रोंको खिलाया और अपने आप भी खाया। यह सुनकर वसिष्ठजी भी क्रोधमें भर गये और क्रोधमें भरे हुए वसिष्ठजीने राजाके पुत्रसे यह बात कही ॥ १६ ॥

वसिष्ठ उवाच

पातयेयमहं क्रूर तव शङ्कुमसंशयम्।
यदि ते द्वाविमौ शङ्कू न स्यातां वै कृतौ पुनः॥ १७ ॥

वसिष्ठजीने कहा—क्रूर! यदि तुझमें फिर किये हुए ये दो शङ्कु (पाप) न होते तो मैं तेरे प्रथम शङ्कु (पाप) को अवश्य नष्ट कर देता ॥ १७ ॥

पितुश्चापरितोषेण गुरोर्दोग्ध्रीवधेन च।
अप्रोक्षितोपयोगाच्च त्रिविधस्ते व्यतिक्रमः॥ १८ ॥

पिताको संतुष्ट न रखने, गुरुकी दूध देनेवाली गौकी हत्या कर डालने और अप्रोक्षित मांस खानेसे तुम्हारे द्वारा तीन प्रकारके पाप बन गये ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं त्रीण्यस्य शङ्कूनि तानि दृष्ट्वा महातपाः।
त्रिशङ्कुरिति होवाच त्रिशङ्कुरिति स स्मृतः॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी बोले—इस प्रकार उसके तीन शङ्कुओंको देखकर महातपस्वी वसिष्ठजीने जो उसे त्रिशङ्कु कहा, इसके कारण वह त्रिशङ्कु ही कहलाने लगा ॥ १९ ॥

विश्वामित्रस्तु दाराणामागतो भरणे कृते।
स तु तस्मै वरं प्रादान्मुनिः प्रीतस्त्रिशङ्कवे ॥ २० ॥

जब विश्वामित्रजी लौटे, तब अपनी स्त्री आदिका भरण-पोषण करनेके कारण प्रसन्न होकर त्रिशङ्कुको वर देने लगे ॥

छन्द्यमानो वरेणाथ वरं वव्रे नृपात्मजः।
सशरीरो व्रजे स्वर्गमित्येवं याचितो मुनिः ॥ २१ ॥

जब विश्वामित्रजीने राजकुमारसे इच्छानुसार वर माँगनेके लिये कहा तब उसने मुनिसे वर माँगा कि 'मैं सदेह स्वर्गमें जाऊँ' ॥ २१ ॥

अनावृष्टिभये तस्मिन् गते द्वादशवार्षिके।
राज्येऽभिषिच्य पित्र्ये तु याजयामास तं मुनिः॥ २२ ॥

(विश्वामित्रके प्रसादमात्रसे) बारह वर्षोंकी अनावृष्टि-का भय दूर हो जानेपर विश्वामित्र (मुनि अपने तपसे उसके पापोंको भस्म करके) उसका पिताके राज्यपर अभिषेक कर उसका यज्ञ कराने लगे ॥ २२ ॥

मिषतां देवतानां च वसिष्ठस्य च कौशिकः।
सशरीरं तदा तं तु दिवमारोपयत् प्रभुः ॥ २३ ॥

तदनन्तर तपकी शक्तिसे सम्पन्न कौशिकगोत्री विश्वामित्र-वसिष्ठ और देवताओंके देखते-देखते ही त्रिशङ्कुको सशरीर स्वर्गमें भेज दिया ॥ २३ ॥

तस्य सत्यरथा नाम भार्या कैकयवंशजा।
कुमारं जनयामास हरिश्चन्द्रमकल्मषम् ॥ २४ ॥

त्रिशङ्कुके कैकयवंशमें उत्पन्न हुई एक सत्यरथा नामकी भार्या थी। उसमें उसने हरिश्चन्द्र नामवाले निष्पाप पुत्रको उत्पन्न किया ॥ २४ ॥

स वै राजा हरिश्चन्द्रस्त्रैशङ्कव इति स्मृतः।
आहर्ता राजसूयस्य स सम्राडिति विश्रुतः ॥ २५ ॥

वे राजा हरिश्चन्द्र त्रैशङ्कवनामसे प्रसिद्ध थे, उन्होंने राजसूय यज्ञ किया था, अतएव वे सम्राट् कहलाते थे ॥ २५ ॥

हरिश्चन्द्रस्य पुत्रोऽभूद्रोहितो नाम वीर्यवान्।
येनेदं रोहितपुरं कारितं राज्यसिद्धये ॥ २६ ॥

हरिश्चन्द्रके रोहित नामवाला वीर्यवान् पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसने अपने राज्य-कार्यकी सिद्धिके लिये रोहितपुर बसाया था ॥ २६ ॥

कृत्वा राज्यं स राजर्षिः पालयित्वा त्वथ प्रजाः।
संसारासारतां ज्ञात्वा द्विजेभ्यस्तत्पुरं ददौ ॥ २७ ॥

उस राजर्षिने राज्य तथा प्रजाका पालन करनेके अनन्तर संसारकी असारताको जानकर अपना नगर ब्राह्मणों-कों दे दिया था ॥ २७ ॥

हरितो रोहितस्याथ चञ्चुर्हारीत उच्यते।
विजयश्च सुदेवश्च चञ्चुपुत्रौ बभूवतुः ॥ २८ ॥

रोहितका पुत्र हरित और हरितका पुत्र चञ्चु हुआ—यह प्रसिद्ध है। चञ्चुके विजय और सुदेव नामवाले दो पुत्र हुए ॥ २८ ॥

जेता क्षत्त्रस्य सर्वस्य विजयस्तेन संस्मृतः।
रुरुकस्तनयस्तस्य राजधर्मार्थकोविदः ॥ २९ ॥

उस (विजय) ने सम्पूर्ण क्षत्रियोंको जीत लिया था, इसलिये वह विजय कहलाता था। उसके राजकार्य, धर्म-कार्य और आर्थिक विषयोंमें चतुर रुरुक नामवाला पुत्र हुआ ॥ २९ ॥

रुरुकस्य वृकः पुत्रो वृकाद् बाहुस्तु जज्ञिवान्।
शकैर्यवनकाम्बोजैः पारदैः पह्लवैः सह ॥ ३० ॥
हैहयास्तालजङ्घाश्च निरस्यन्ति स्म तं नृपम्।
नात्यर्थं धार्मिकस्तात स हि धर्मयुगेऽभवत् ॥ ३१ ॥

रुरुकका पुत्र वृक हुआ और वृकके बाहु नामवाला पुत्र उत्पन्न हुआ। वह राजा उस (राज) धर्मके युगमें

अतिधार्मिक नहीं था; इसलिये हैहय और तालजङ्घ वंशके राजाओंने शक, यवन, काम्बोज, पारद और पह्लव (आदि) राजाओंका साथ देकर बाहुकको उसके राज्यसे भ्रष्ट कर दिया ॥ ३०-३१ ॥

सगरस्तु सुतो बाहोर्जज्ञे सह गरेण च।
और्वस्याश्रममागम्य भार्गवेणाभिरक्षितः ॥ ३२ ॥

बाहुकका जो पुत्र उत्पन्न हुआ वह गर अर्थात् विष-के साथ ही उत्पन्न हुआ था। इससे वह सगर कहलाने लगा। (उसकी माताके) और्वके आश्रममें आनेपर भृगुवंशी और्वने उसकी रक्षा की थी ॥ ३२ ॥

आग्नेयमस्त्रं लब्ध्वा च भार्गवात् सगरो नृपः।
जिगाय पृथिवीं हत्वा तालजङ्घान् सहैहयान्॥ ३३ ॥

सगरने भृगुवंशी और्वसे आग्नेय अस्त्रको सीखकर तालजंघ और हैहय राजाओंको मारकर पृथिवीको जीत लिया ॥ ३३ ॥

शकानां पह्लवानां च धर्मं निरसदच्युतः।
क्षत्रियाणां कुरुश्रेष्ठ पारदानां स धर्मवित् ॥ ३४ ॥

कुरुश्रेष्ठ! धर्मको जाननेवाले पूर्णशक्ति-सम्पन्न सगरने शक, पह्लव और पारद क्षत्रियोंको धर्मभ्रष्ट कर दिया था ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि त्रिशङ्कुचरितकथनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें त्रिशङ्कुके चरित्रका वर्णनविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

सगरकी उत्पत्ति और चरित्र तथा सगर-पुत्रोंके उद्योगसे समुद्रका 'सागर' होना

जनमेजय उवाच

कथं स सगरो जातो गरेणैव सहाच्युतः।
किमर्थं च शकादीनां क्षत्रियाणां महौजसाम्॥ १ ॥
धर्मं कुलोचितं क्रुद्धो राजा निरसदच्युतः।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व विस्तरेण तपोधन ॥ २ ॥

जनमेजयने कहा—तपोधन! वे राजा सगर विषके साथ क्यों उत्पन्न हुए थे? विषके साथ रहते हुए भी मरे क्यों नहीं? और मर्यादासे च्युत न होनेवाले उन नरेशने क्रोधमें भरकर महाबली शक आदि क्षत्रियोंके कुलोचित धर्मको क्यों नष्ट कर दिया था? इसका आप मुझसे विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

बाहोर्व्यसनिनस्तात हृतं राज्यमभूत् किल।
हैहयैस्तालजङ्घैश्च शकैः सार्द्धं विशाम्पते ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! राजा बाहु शिकार और जुए आदि व्यसनोंमें ही पड़ा रहता था। तात! (इस अवसरसे लाभ उठाकर) बाहुके राज्यको हैहय, तालजङ्घ तथा शकोंने छीन लिया ॥ ३ ॥

यवनाः पारदाश्चैव काम्बोजाः पह्लवाः खसाः।
एते ह्यपि गणाः पञ्च हैहयार्थे पराक्रमन् ॥ ४ ॥

यवन, पारद, काम्बोज, खस और पह्लव—इन पाँच गणोंने भी हैहय राजाओंके लिये पराक्रम किया था ॥ ४ ॥

हृतराज्यस्तदा राजा स वै बाहुर्वनं ययौ।
पत्न्या चानुगतो दुःखी वने प्राणानवासृजत्॥ ५ ॥

राज्यके छिन जानेपर राजा बाहु वनको चला गया और उसकी पत्नी भी उसके पीछे-पीछे गयी। इसके बाद उस राजाने दुखी होकर वनमें ही अपने प्राणोंको त्याग दिया ॥५॥

पत्नी तु यादवी तस्य सगर्भा पृष्ठतोऽन्वगात्।
सपत्न्या च गरस्तस्यै दत्तः पूर्वमभूत् किल ॥ ६ ॥

उसकी पत्नी यदुवंशकी कन्या थी। वह गर्भवती थी, तब भी बाहुके पीछे-पीछे वनमें गयी थी। उसकी सौतने उसे पहले ही विष दे दिया था ॥ ६ ॥

सा तु भर्तुश्चितां कृत्वा वने तामध्यरोहत।
और्वस्तां भार्गवस्तात कारुण्यात् समवारयत्॥ ७ ॥

तात! जब वह स्वामीकी चिता बनाकर उसपर चढ़ने लगी, उसी समय वनमें विराजमान भृगुवंशी और्व ऋषिने दयाके कारण उसे रोका ॥ ७ ॥

तस्याश्रमे च तं गर्भं गरेणैव सहाच्युतम्।
व्यजायत महाबाहुं सगरं नाम पार्थिवम् ॥ ८ ॥

तब उसने उनके आश्रममें ही विष (गर) सहित गर्भ-को, जो आगे चलकर सगर नामक महाबाहु राजाके रूपमें प्रसिद्ध हुआ, उत्पन्न किया। राजा सगर कभी धर्मसे च्युत नहीं हुए थे ॥ ८ ॥

और्वस्तु जातकर्मादि तस्य कृत्वा महात्मनः।
अध्याप्य वेदशास्त्राणि ततोऽस्त्रं प्रत्यपादयत् ॥ ९ ॥

और्वने महामना सगरके जातकर्म आदि संस्कार कराकर उन्हें वेद और शास्त्र पढ़ाये, फिर अस्त्रविद्या सिखायी ॥९॥

आग्नेयं तु महाघोरममरैरपि दुःसहम्।
स तेनास्त्रबलेनाजौ बलेन च समन्वितः ॥ १० ॥
हैहयान्निजघानाशु क्रुद्धो रुद्रः पशूनिव।
आजहार च लोकेषु कीर्तिं कीर्तिमतां वरः ॥ ११ ॥

उन्होंने सगरको देवताओंके लिये भी असह्य महाघोर आग्नेय अस्त्र दिया था। जब वे अस्त्र-बल और शारीरिक बलसे सम्पन्न हो गये, तब क्रोधमें भरकर रुद्र जैसे शीघ्रतासे पशुओंका संहार करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने हैहयोंका संहार कर डाला। इस प्रकार कीर्तिमानोंमें श्रेष्ठ उन वीर पुरुषने संसारमें (अद्भुत) कीर्ति पायी थी ॥ १०-११ ॥

ततः शकान् सयवनान् काम्बोजान् पारदांस्तथा।
पह्लवांश्चैव निःशेषान् कर्तुं व्यवसितस्तदा ॥१२॥

इसके अनन्तर उन्होंने शक, यवन, काम्बोज, पारद और पह्लवोंको भी निःशेष (सर्वथा नष्ट) करनेका निश्चय किया॥१२॥

ते वध्यमाना वीरेण सगरेण महात्मना।
वसिष्ठं शरणं गत्वा प्रणिपेतुर्मनीषिणम् ॥ १३ ॥

जब वीर और महात्मा सगर उनका सर्वनाश करने लगे, तब वे (शक, यवनादि) बुद्धिमान् वसिष्ठजीकी शरणमें गये और उनके पैरोंमें गिर पड़े ॥ १३ ॥

वसिष्ठस्त्वथ तान् दृष्ट्वा समयेन महाद्युतिः।
सगरं वारयामास तेषां दत्त्वाभयं तदा ॥ १४ ॥

परम यशस्वी वसिष्ठजीने कुछ विशेष शर्तोंपर उनको अभयदान दिया और सगरको (उन्हें मारनेसे) रोका ॥१४॥

सगरः स्वां प्रतिज्ञां च गुरोर्वाक्यं निशम्य च।
धर्मं जघान तेषां वै वेषान्यत्वं चकार ह ॥ १५ ॥

सगरने अपनी प्रतिज्ञा और गुरुके वाक्यकी ओर ध्यान देकर (उनके प्राण नहीं लिये) उनके धर्मको नष्ट कर दिया; और उनका वेष बदल दिया ॥ १५ ॥

अर्द्धं शकानां शिरसो मुण्डं कृत्वा व्यसर्जयत्।
यवनानां शिरः सर्वं काम्बोजानां तथैव च ॥ १६ ॥

उन्होंने शकोंके आधे शिरको मूँड़कर छोड़ दिया, यवनोंके सारे शिरको मूँड़ दिया, और पह्लवोंके भी शिरको मुँड़वा दिया ॥ १६ ॥

पारदा मुक्तकेशाश्च पह्लवाः श्मश्रुधारिणः।
निःस्वाध्यायवषट्काराः कृतास्तेन महात्मना ॥ १७ ॥

उन महात्मा नरेशने पारदोंके शिरको मुक्तकेश (खुले हुए केशोंवाला) कर दिया और पह्लवोंको श्मश्रुधारी (केवल दाढ़ीवाला) बना दिया और सबको स्वाध्याय तथा वषट्कारसे रहित कर दिया ॥ १७ ॥

शका यवनकाम्बोजाः पारदाश्च विशाम्पते।
कोलिसर्पाः समहिषा दार्वाश्चोलाः सकेरलाः ॥ १८ ॥
सर्वे ते क्षत्रियास्तात धर्मस्तेषां निराकृतः।
वसिष्ठवचनाद् राजन् सगरेण महात्मना ॥ १९ ॥

तात ! जनेश्वर ! शक, यवन, काम्बोज, पारद, कोलिसर्प, महिष, दर्द, चोल और केरल—ये सब क्षत्रिय ही थे । वसिष्ठजीके वचनसे महात्मा सगरने (इन सबका संहार न करके केवल) इनके धर्मको ही नष्ट कर दिया था ॥१८-१९॥

खसांस्तुषारांश्चोलांश्च मद्रान् किष्किन्धकांस्तथा।
कौन्तलांश्च तथा वङ्गान् साल्वान् कौङ्कणकांस्तथा॥२०॥
स धर्मविजयी राजा विजित्येमां वसुंधराम्।
अश्वं वै प्रेरयामास वाजिमेधाय दीक्षितः ॥ २१ ॥

उन धर्मविजयी राजाने अश्वमेधकी दीक्षा लेकर खस, तुषार, चोल, मद्र, किष्किन्धक, कौन्तल, वङ्ग, साल्व तथा कोङ्कण देशके राजाओंको जीता। इस प्रकार पृथ्वीका विजय करते हुए उन्होंने अश्वमेध यज्ञके लिये अपना घोड़ा छोड़ा ॥

तस्य चारयतः सोऽश्वः समुद्रे पूर्वदक्षिणे।
वेलासमीपेऽपहृतो भूमिं चैव प्रवेशितः ॥ २२ ॥

जब उनका घोड़ा घुमाया जा रहा था, उस समय पूर्व-दक्षिणमें समुद्रके किनारे किसीने उस घोड़ेको चुरा लिया और उसे भूमिमें छिपा दिया ॥ २२ ॥

स तं देशं तदा पुत्रैः खानयामास पार्थिवः।
आसेदुस्ते ततस्तत्र खन्यमाने महार्णवे ॥ २३ ॥
तमादिपुरुषं देवं हरिं कृष्णं प्रजापतिम्।
विष्णुं कपिलरूपेण स्वपन्तं पुरुषोत्तमम् ॥ २४ ॥

उस समय राजा (सगर) ने अपने पुत्रोंसे उस स्थानको खुदवाया। समुद्रके खोदनेपर उनके पुत्रोंने आदिपुरुष, हरि (अविद्याको हरनेवाले), कृष्ण (सच्चिदानन्दस्वरूप) प्रजापति पुरुषोत्तम, (कपिलरूपी विष्णुको वहाँ सोते हुए समाधिमें स्थित) देखा ॥ २३-२४ ॥

तस्य चक्षुःसमुत्थेन तेजसा प्रतिबुध्यतः।
दग्धास्ते वै महाराज चत्वारस्त्ववशेषिताः ॥ २५ ॥
बर्हकेतुः सुकेतुश्च तथा धर्मरथो नृपः।
शूरः पञ्चजनश्चैव तस्य वंशकरो नृपः ॥ २६ ॥

उनके योगनिद्राको त्यागनेपर उनके नेत्रोंमेंसे निकलते हुए तेजसे वे सब (राजकुमार) भस्म हो गये । महाराज ! केवल बर्हकेतु, सुकेतु, राजा धर्मरथ और वंशको चलानेवाला शूर पञ्चजन—ये चार राजकुमार ही जीवित बच सके थे ॥ २५-२६ ॥

प्रादाच्च तस्मै भगवान् हरिर्नारायणो वरान्।
अक्षयं वंशमिक्ष्वाकोः कीर्तिं चाप्यनिवर्तनीम्॥ २७ ॥
पुत्रं समुद्रं च विभुः स्वर्गवासं तथाक्षयम्।
पुत्राणां चाक्षयाँल्लोकांस्तस्य ये चक्षुषा हताः॥ २८ ॥

उन्हें (कपिलरूपी) विभु हरिनारायण भगवान्ने यह वरदान दिया था कि इक्ष्वाकुका वंश अक्षय रहेगा और राजा सगरकी कीर्ति कभी नष्ट नहीं होगी। समुद्र उनका पुत्र कहा जायगा (अर्थात् भविष्यमें यह सागर नामसे प्रसिद्ध होगा) और उन्हें अक्षय स्वर्गवास मिलेगा। कपिलजीने अपने नेत्रके तेजसे भस्म हुए सगर-पुत्रोंको भी अक्षयलोकोंकी प्राप्ति होनेका वर दिया ॥ २७-२८ ॥

समुद्रश्चार्घ्यमादाय ववन्दे तं महीपतिम्।
सागरत्वं च लेभे स कर्मणा तेन तस्य वै ॥ २९ ॥

(उस समय) समुद्रने अर्घ्य लेकर उन राजा (सगर) को प्रणाम किया और सगरके इस कर्मके कारण समुद्रका सागर नाम पड़ गया ॥ २९ ॥

तं चाश्वमेधिकं सोऽश्वं समुद्रादुपलब्धवान्।
आजहाराश्वमेधानां शतं स सुमहायशाः।
पुत्राणां च सहस्राणि षष्टिस्तस्येति नः श्रुतम् ॥ ३० ॥

उन्होंने अश्वमेधयज्ञके घोड़ेको भी समुद्रसे प्राप्त किया। इस तरह उन महायशस्वी राजाने सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे—ऐसा सुना जाता है। इन महाराजके पुत्रोंकी संख्या साठ हजार थी ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि सगरोत्पत्तिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें सगरकी उत्पत्तिका वर्णनविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

सूर्यवंशका वर्णन

जनमेजय उवाच

सगरस्यात्मजा वीराः कथं जाता महात्मनः।
विक्रान्ताः षष्टिसाहस्रा विधिना केन वा द्विज ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—द्विज! महात्मा सगरके साठ हजार वीर और पराक्रमी पुत्र किस प्रकार उत्पन्न हुए थे? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

द्वे भार्ये सगरस्यास्तां तपसा दग्धकिल्बिषे।
ज्येष्ठा विदर्भदुहिता केशिनी नाम विश्रुता ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने उत्तर दिया—सगरकी दो रानियाँ थीं। तपसे उनके पाप नष्ट हो गये थे। उनमें बड़ी रानी विदर्भ-नरेशकी पुत्री थीं और केशिनी नामसे प्रसिद्ध थीं ॥ २ ॥

कनीयसी तु या तस्य पत्नी परमधर्मिणी।
अरिष्टनेमिदुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥ ३ ॥

उन राजाकी जो छोटी पत्नी थी, वह बड़ी ही धर्मात्मा थी। वह अरिष्टनेमि (कश्यप)की पुत्री थी। उसके समान पृथिवीपर कोई भी दूसरी रूपवती स्त्री नहीं थी। ॥ ३ ॥

और्वस्ताभ्यां वरं प्रादात् तं निबोध जनाधिप।
षष्टिं पुत्रसहस्राणि गृह्णात्वेका तपस्विनी ॥ ४ ॥
एकं वंशधरं त्वेका यथेष्टं वरयत्विति।

जनाधिप! और्वने उन दोनोंको जो वर दिया था, उसे सुनो। (और्वने कहा था) दोनोंमेंसे कोई एक तपस्विनी रानी तो साठ हजार पुत्र माँग ले और एक वंश चलानेवाले एक ही पुत्रको माँगे। अब जिसे जो वर अच्छा लगता हो वह उस वरको माँग ले ॥ ४½ ॥

तत्रैका जगृहे पुत्रांल्लुब्धा शूरान् बहूंस्तथा ॥ ५ ॥
एकं वंशधरं त्वेका तथेत्याह च तां मुनिः।
केशिन्यसूत सगरादसमञ्जसमात्मजम् ॥ ६ ॥

उनमेंसे एक पुत्रलोभिनी स्त्रीने तो बहुतसे शूरवीर पुत्रोंको माँग लिया तथा एकने एक ही वंशधर पुत्रको माँगा। तब मुनिने तथास्तु—ऐसा ही होगा, कहकर वरदान दे दिया। केशिनीके सगरसे असमञ्जस नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ५-६ ॥

राजा पञ्चजनो नाम बभूव सुमहाबलः।
इतरा सुषुवे तुम्बीं बीजपूर्णामिति श्रुतिः ॥ ७ ॥

वह पञ्चजन नामसे प्रसिद्ध महाबलवान् राजा था। दूसरीने बीजोंसे भरी हुई एक तूँबी उत्पन्न की, यह बात प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

तत्र षष्टिसहस्राणि गर्भास्ते तिलसम्मिताः।
सम्बभूवुर्यथाकालं ववृधुश्च यथाक्रमम् ॥ ८ ॥

उस तूँबीमें तिलके समान साठ हजार गर्भ थे, जो समय आनेपर उत्पन्न हुए और क्रमशः बढ़ने लगे ॥ ८ ॥

घृतपूर्णेषु कुम्भेषु तान् गर्भान् निदधे पिता।
धात्रीश्चैकैकशः प्रादात् तावतीरेव पोषणे ॥ ९ ॥

पिताने उन गर्भोंको घृतसे भरे हुए घड़ोंमें डाल दिया और उनका पोषण करनेके लिये एक-एक घड़ेपर एक-एक करके उतनी ही धाइयोंको नियुक्त कर दिया ॥ ९ ॥

ततो दशसु मासेषु समुत्तस्थुर्यथासुखम्।
कुमारास्ते यथाकालं सगरप्रीतिवर्धनाः ॥ १० ॥

दस महीने बीतनेपर सगरकी प्रीतिको बढ़ानेवाले बहुत-से बच्चे सुखपूर्वक समयानुसार उत्पन्न होने लगे ॥ १० ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि तस्यैवमभवन् नृप।
गर्भादलाबुमध्याद् वै जातानि पृथिवीपते ॥ ११ ॥

राजन्! इस प्रकार सगरके साठ हजार पुत्र उत्पन्न हुए थे और पृथिवीपते! वे तूँबीके बीजोंकी तरह तूँबी (लौकी) के मध्यमें रखे हुए गर्भोंसे उत्पन्न हुए थे ॥ ११ ॥

तेषां नारायणं तेजः प्रविष्टानां महात्मनाम्।
एकः पञ्चजनो नाम पुत्रो राजा बभूव ह ॥ १२ ॥

भगवान् नारायण (कपिलदेव) के तेजमें प्रविष्ट हुए राजकुमारोंमेंसे एक पञ्चजन (असमंजस) नामक राजपुत्र ही राजा हो पाया ॥ १२ ॥

सुतः पञ्चजनस्यासीदंशुमान् नाम वीर्यवान्।
दिलीपस्तनयस्तस्य खट्वाङ्ग इति विश्रुतः ॥ १३ ॥

पञ्चजन (असमंजस) का पुत्र वीर्यवान् अंशुमान् हुआ। उसका पुत्र दिलीप हुआ, जो खट्वाङ्ग नामसे भी प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥

येन स्वर्गादिहागत्य मुहूर्तं प्राप्य जीवितम्।
त्रयोऽनुसंधिता लोका बुद्ध्या सत्येन चानघ ॥ १४ ॥

अनघ! उसने मुहूर्त भरका (४८ मिनटका) जीवन पाकर स्वर्गसे इस मृत्युलोकमें आकर सूक्ष्म बुद्धिसे तथा सत्य (ब्रह्मभाव) के द्वारा तीनों लोकोंको तत्त्वतः जान लिया था ॥ १४ ॥

दिलीपस्य तु दायादो महाराजो भगीरथः।
यः स गङ्गां सरिच्छ्रेष्ठामवातारयत प्रभुः ॥ १५ ॥

दिलीपके पुत्र महाराज भगीरथ हुए। उन प्रभुने नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गाजीको (स्वर्गसे भूमिपर) उतारा था ॥१५॥

कीर्तिमान् स महाभागः शक्रतुल्यपराक्रमः।
समुद्रमानयच्चैनां दुहितृत्वेन कल्पयत्।
तस्माद् भागीरथी गङ्गा कथ्यते वंशचिन्तकैः ॥ १६ ॥

इन्द्रके तुल्य पराक्रमी उन यशस्वी महापुरुषने गङ्गाजीको समुद्रतक पहुँचा दिया और उन्होंने गङ्गाजीको अपनी पुत्री बनाया; इसीलिये वंशका कीर्तन करनेवाले विद्वान् गङ्गाजीको भागीरथी (भगीरथकी पुत्री) कहते हैं ॥ १६ ॥

भगीरथसुतो राजा श्रुत इत्यभिविश्रुतः।
नाभागस्तु श्रुतस्यासीत् पुत्रः परमधार्मिकः ॥ १७ ॥

भगीरथका पुत्र श्रुत नामसे प्रसिद्ध है। श्रुतका नाभाग नामक परमधार्मिक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १७ ॥

अम्बरीषस्तु नाभागिः सिन्धुद्वीपपिताभवत्।
अयुताजित् तु दायादः सिन्धुद्वीपस्य वीर्यवान् ॥ १८ ॥

नाभागका पुत्र अम्बरीष हुआ। वह सिन्धुद्वीपका पिता था। सिन्धुद्वीपके अयुताजित् नामक वीर्यवान् पुत्र हुआ ॥ १८ ॥

अयुताजित्सुतस्त्वासीदृतुपर्णो महायशाः।
दिव्याक्षहृदयज्ञो वै राजा नलसखो बली ॥ १९ ॥

अयुताजित्के ऋतुपर्णनामवाला महायशस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। वह दिव्य अक्ष (द्यूत) विद्याका रहस्यवेत्ता, राजा नलका सखा तथा बड़ा बली था ॥ १९ ॥

ऋतुपर्णसुतस्त्वासीदार्तुपर्णिर्महीपतिः।
सुदासस्तस्य तनयो राजा त्विन्द्रसखोऽभवत् ॥ २० ॥

ऋतुपर्णका पुत्र राजा आर्तुपर्णि हुआ। उसका पुत्र राजा सुदास हुआ, जो इन्द्रका मित्र था ॥ २० ॥

सुदासस्य सुतस्त्वासीत् सौदासो नाम पार्थिवः।
ख्यातः कल्माषपादो वै नाम्ना मित्रसहस्तथा ॥ २१ ॥

सुदासके सौदास नामका पुत्र हुआ, जो राजा कल्माषपाद और मित्रसह नामसे भी प्रसिद्ध था ॥ २१ ॥

कल्माषपादस्य सुतः सर्वकर्मेति विश्रुतः।
अनरण्यस्तु पुत्रोऽभूद् विश्रुतः सर्वकर्मणः ॥ २२ ॥

कल्माषपादके सर्वकर्मा नामसे प्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न हुआ और सर्वकर्माका पुत्र अनरण्य नामसे विख्यात हुआ ॥ २२ ॥

अनरण्यसुतो निघ्नो निघ्नपुत्रौ बभूवतुः।
अनमित्रो रघुश्चैव पार्थिवर्षभ सत्तमौ ॥ २३ ॥

नृपश्रेष्ठ! अनरण्यका पुत्र निघ्न हुआ, निघ्नके अनमित्र और रघु नामक दो श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २३ ॥

अनमित्रस्य धर्मात्मा विद्वान् दुलिदुहोऽभवत्।
दिलीपस्तनयस्तस्य रामप्रपितामहः ॥ २४ ॥

अनमित्रके दुलिदुह नामवाला धर्मात्मा और विद्वान् पुत्र उत्पन्न हुआ। दुलिदुहके पुत्र दिलीप हुए, जो श्रीरामचन्द्रजीके वृद्ध प्रपितामह थे ॥ २४ ॥

दीर्घबाहुर्दिलीपस्य रघुर्नाम्नाभवत् सुतः।
अयोध्यायां महाराजो रघुश्चासीन्महाबलः ॥ २५ ॥

दिलीपके रघुनामक महाबाहु पुत्र उत्पन्न हुए। ये रघु अयोध्यामें महाबली सम्राट् हुए ॥ २५ ॥

अजस्तु रघुतो जज्ञे अजाद् दशरथोऽभवत्।
रामो दशरथाज्जज्ञे धर्मात्मा सुमहायशाः ॥ २६ ॥

रघुसे अज उत्पन्न हुए। अजसे दशरथ हुए तथा दशरथसे धर्मात्मा एवं महायशस्वी श्रीरामचन्द्र प्रकट हुए ॥ २६ ॥

रामस्य तनयो जज्ञे कुश इत्यभिविश्रुतः।
अतिथिस्तु कुशाज्जज्ञे निषधस्तस्य चात्मजः ॥ २७ ॥

श्रीरामके कुश नामसे प्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न हुआ। कुशके अतिथि नामक पुत्र हुआ और अतिथिके पुत्रका नाम निषध था ॥ २७ ॥

निषधस्य नलः पुत्रो नभः पुत्रो नलस्य तु।
नभस्य पुण्डरीकस्तु क्षेमधन्वा ततः स्मृतः ॥ २८ ॥

निषधका पुत्र नलः नलका पुत्र नभ, नभका पुत्र पुण्डरीक और पुण्डरीकका पुत्र क्षेमधन्वा हुआ ॥ २८ ॥

क्षेमधन्वसुतस्त्वासीद् देवानीकः प्रतापवान्।
आसीदहीनगुर्नाम देवानीकसुतः प्रभुः ॥ २९ ॥

क्षेमधन्वाका पुत्र प्रतापी देवानीक हुआ, देवानीकके अहीनगु नामक प्रभावशाली पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २९ ॥

अहीनगोस्तु दायादः सुधन्वा नाम पार्थिवः।
सुधन्वनः सुतश्चैव ततो जज्ञेऽनलो नृपः ॥ ३० ॥

अहीनगुका पुत्र राजा सुधन्वा हुआ और सुधन्वाका पुत्र अनल नामक राजा हुआ ॥ ३० ॥

उक्थो नाम स धर्मात्मानलपुत्रो बभूव ह।
वज्रनाभः सुतस्तस्य उक्थस्य च महात्मनः ॥ ३१ ॥

अनलके उक्थ नामक धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न हुआ और उन महात्मा उक्थके पुत्रका नाम वज्रनाभ हुआ ॥ ३१ ॥

शङ्खस्तस्य सुतो विद्वान् व्युषिताश्व इति श्रुतः।
पुष्पस्तस्य सुतो विद्वानर्थसिद्धिस्तु तत्सुतः ॥ ३२ ॥

वज्रनाभके शंख नामक विद्वान् पुत्र उत्पन्न हुआ, जो व्युषिताश्वके नामसे भी प्रसिद्ध है। शंखका पुत्र पुष्प और पुष्पका पुत्र विद्वान् अर्थसिद्धि था ॥ ३२ ॥

सुदर्शनः सुतस्तस्य अग्निवर्णः सुदर्शनात्।
अग्निवर्णस्य शीघ्रस्तु शीघ्रस्य तु मरुः सुतः ॥ ३३ ॥

अर्थसिद्धिका पुत्र सुदर्शन, सुदर्शनसे अग्निवर्ण, अग्निवर्णका पुत्र शीघ्र और शीघ्रके मरु नामका पुत्र हुआ ॥

मरुस्तु योगमास्थाय कलापद्वीपमास्थितः।
तस्यासीद् विश्रुतवतः पुत्रो राजा बृहद्बलः ॥ ३४ ॥

मरु योगका आश्रय लेकर कलापद्वीपमें रहने लगे। परम प्रसिद्ध मरुके पुत्र राजा बृहद्बल हुए ॥ ३४ ॥

नलौ द्वावेव विख्यातौ पुराणे भरतर्षभ।
वीरसेनात्मजश्चैव यश्चेक्ष्वाकुकुलोद्वहः ॥ ३५ ॥

भरतर्षभ! पुराणमें नल नामसे दो ही राजा प्रसिद्ध हैं—एक वीरसेन-पुत्र नल और दूसरा इक्ष्वाकु-कुलोत्पन्न (निषध-पुत्र) नल ॥ ३५ ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवाः प्राधान्येनेह कीर्तिताः।
एते विवस्वतो वंशे राजानो भूरितेजसः ॥ ३६ ॥

विवस्वान् (सूर्य) के वंशमें ये परम तेजस्वी राजा उत्पन्न हुए हैं। यहाँ इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए मुख्य-मुख्य राजाओंका वर्णन किया गया है ॥ ३६ ॥

पठन् सम्यगिमां सृष्टिमादित्यस्य विवस्वतः।
श्राद्धदेवस्य देवस्य प्रजानां पुष्टिदस्य च ॥ ३७ ॥
प्रजावानेति सायुज्यमादित्यस्य विवस्वतः।
विपाप्मा विरजाश्चैव आयुष्मांश्च भवत्युत ॥ ३८ ॥

जो मनुष्य अदितिनन्दन भगवान् सूर्यकी तथा प्रजाओंके पोषक देवता श्राद्धदेवकी इस सृष्टि-परम्पराका भलीभाँति पाठ करता है, वह संतानवान् होता और निष्पाप, रजोगुण-रहित एवं दीर्घायु हो अन्तमें भगवान् सूर्यका सायुज्य प्राप्त कर लेता है ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि आदित्यस्य वंशानुकीर्तनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें सूर्यवंशका वर्णनविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥



षोडशोऽध्यायः

श्राद्धकल्प—जनमेजयद्वारा पिताका श्राद्ध तथा पितृस्वरूपनिर्णयसम्बन्धी प्रश्न, शन्तनुका अपने श्राद्धमें स्वयं हाथ बढ़ाकर भीष्मसे पिण्ड माँगना

जनमेजय उवाच

कथं वै श्राद्धदेवत्वमादित्यस्य विवस्वतः।
श्रोतुमिच्छामि विप्राग्र्य श्राद्धस्य च परं विधिम् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! अदितिनन्दन भगवान् सूर्यके पुत्र यम श्राद्धदेव क्यों कहलाते हैं? और श्राद्धकी उत्तम विधि क्या है? इसे मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

पितॄणामादिसर्गं च क एते पितरः स्मृताः।
एवं च श्रुतमस्माभिः कथ्यमानं द्विजातिभिः ॥ २ ॥

स्वर्गस्थाः पितरो ये च देवानामपि देवताः।
इति वेदविदः प्राहुरेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

पितरोंकी आदि सृष्टि कैसे हुई ? ये पितर कौन हैं ? हमने ब्राह्मणोंके मुखसे यह बात सुनी है कि जो पितर स्वर्गमें स्थित हैं, वे देवताओंके भी देवता हैं। वेदके जाननेवाले भी ऐसा ही कहते हैं। अतः मैं इस बातको भलीभाँति जानना चाहता हूँ ॥ २-३ ॥

ये च तेषां गणाः प्रोक्ता यच्च तेषां बलं परम्।
यथा च कृतमस्माभिः श्राद्धं प्रीणाति वै पितॄन् ॥ ४ ॥
प्रीताश्च पितरो ये स्म श्रेयसा योजयन्ति हि।
एवं वेदितुमिच्छामि पितॄणां सर्गमुत्तमम् ॥ ५ ॥

उनके जो गण कहे गये हैं, उनका जो परम बल है और हमारा किया हुआ श्राद्ध जिस प्रकार उन्हें तृप्त करता है तथा जो पितर प्रसन्न होकर मनुष्योंका कल्याण करते हैं उन सबको एवं उत्तम पितृसर्गको मैं जानना चाहता हूँ ॥ ४-५ ॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि पितॄणां सर्गमुत्तमम्।
यथा च कृतमस्माभिः श्राद्धं प्रीणाति वै पितॄन्।
प्रीताश्च पितरो ये स्म श्रेयसा योजयन्ति हि ॥ ६ ॥
मार्कण्डेयेन कथितं भीष्माय परिपृच्छते।
अपृच्छद् धर्मराजो हि शरतल्पगतं पुरा।
एवमेव पुरा प्रश्नं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ७ ॥
तत् तेऽनुपूर्व्या वक्ष्यामि भीष्मेणोदाहृतं यथा।
गीतं सनत्कुमारेण मार्कण्डेयाय पृच्छते ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी बोले—बहुत अच्छा, मैं तुमसे पितरोंके उत्तम सर्गका वर्णन करूँगा, हमारा किया हुआ श्राद्ध जिस प्रकार पितरोंको तृप्त करता है तथा जो पितर श्राद्धसे संतुष्ट होकर हमें कल्याणके भागी बनाते हैं, उनका परिचय दूँगा। पूर्वकालमें भीष्मके पूछनेपर मार्कण्डेयजीने उनसे इस विषयका वर्णन किया था। फिर महाभारतकालमें शरशय्यापर पड़े हुए भीष्मजीसे धर्मराज युधिष्ठिरने भी पहले ऐसा ही प्रश्न किया था, जैसा इस समय तुम मुझसे पूछ रहे हो। भीष्मजीने युधिष्ठिरको जिस प्रकार उत्तर दिया था, वह सब मैं तुम्हें क्रमशः बताऊँगा। पहले मार्कण्डेयजीके पूछनेपर सनत्कुमारजीने जो उपदेश दिया था, वही युधिष्ठिर और भीष्मके संवादमें कहा गया है ॥ ६-८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पुष्टिकामेन धर्मज्ञ कथं पुष्टिरवाप्यते।
एतद् मे श्रोतुमिच्छामि किं कुर्वाणो न शोचति ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मज्ञ ! पुष्टि चाहनेवाला पुरुष किस प्रकार पुष्टि पा सकता है और कैसा कर्म करनेसे मनुष्यको शोक नहीं करना पड़ता ? इसे मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

श्राद्धैः प्रीणाति हि पितॄन् सर्वकामफलैस्तु यः।
तत्परः प्रयतः श्राद्धी प्रेत्य चेह च मोदते ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले श्राद्धोंद्वारा तत्पर होकर पितरोंको तृप्त करता है, वह पितरोंकी प्रीतिमें लीन रहनेवाला श्राद्धकर्ता इस संसारमें आनन्दभागी होता है और मरनेके बाद परलोकमें सुख भोगता है ॥ १० ॥

पितरो धर्मकामस्य प्रजाकामस्य च प्रजाम्।
पुष्टिकामस्य पुष्टिं च प्रयच्छन्ति युधिष्ठिर ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर ! पितर धर्म चाहनेवालेको धर्म, संतान चाहनेवालेको संतान और पुष्टि चाहनेवालेको पुष्टि भी प्रदान करते हैं ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्तन्ते पितरः स्वर्गे केषांचिन्नरके पुनः।
प्राणिनां नियतं चापि कर्मजं फलमुच्यते ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—किन्हींके पितर स्वर्गमें रहते हैं और किन्हींके नरकमें; क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि प्राणियोंको (अपने) कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला फल अवश्य भोगना पड़ता है ॥ १२ ॥

श्राद्धानि चैव कुर्वन्ति फलकामाः सदा नराः।
अभिसंधाय पितरं पितुश्च पितरं तथा ॥ १३ ॥
पितुः पितामहं चैव त्रिषु पिण्डेषु नित्यशः।
तानि श्राद्धानि दत्तानि कथं गच्छन्ति वै पितॄन् ॥ १४ ॥

फल चाहनेवाले पुरुष सदा पिता, पितामह और प्रपितामहको लक्ष्य करके श्राद्ध करते हैं। सर्वदा इन तीन पिण्डोंमें ही दिये गये श्राद्ध पितरोंको कैसे प्राप्त होते हैं ? ॥ १३-१४ ॥

कथं च शक्तास्ते दातुं नरकस्थाः फलं पुनः।
के वा ते पितरोऽन्ये स्म कान् यजामो वयं पुनः ॥ १५ ॥

और वे पितर (जब स्वयं) नरकमें निवास कर रहे हैं, तब वे फल भी कैसे दे सकते हैं ? अथवा यदि वे पितर उनसे भिन्न हैं तो कौन हैं—उनका क्या परिचय है ? हम किन पितरोंकी पूजा करें ? ॥ १५ ॥

देवा अपि पितॄन् स्वर्गे यजन्तीति च नः श्रुतम्।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महाद्युते ॥ १६ ॥

हमने सुना है कि स्वर्गमें (रहनेवाले) देवता भी पितरोंका पूजन करते हैं। महाद्युते! इन सब बातोंको मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ १६ ॥

स भवान् कथयत्वेतां कथाममितबुद्धिमान्।
यथा दत्तं पितॄणां वै तारणायेह कल्पते ॥ १७ ॥

पितरोंके निमित्त किया हुआ श्राद्ध किस प्रकार प्राणियोंका उद्धार करता है? इस कथाका आप वर्णन कीजिये, क्योंकि आपकी बुद्धि अथाह है ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते कीर्तयिष्यामि यथाश्रुतमरिंदम।
ये च ते पितरोऽन्ये स्म यान् यजामो वयं पुनः।
पित्रा मम पुरा गीतं लोकान्तरगतेन वै ॥ १८ ॥

भीष्मजीने कहा—शत्रुमर्दन! हमलोग जिनकी पूजा करते हैं, इस विषयको जैसा मैंने सुना है, वह सब तुमसे कहूँगा। जो अन्य (पिता-पितामह आदिसे भिन्न) पितर हैं, इस विषयमें मेरे परलोकवासी पिताने भी गाथा गायी है ॥

श्राद्धकाले मम पितुर्मया पिण्डः समुद्यतः।
तं पिता मम हस्तेन भित्त्वा भूमिमयाचत ॥ १९ ॥

श्राद्धके समय जब मैं अपने पिताको पिण्ड देने लगा, तब उनका हाथ भूमिको फाड़कर निकल आया और वे उस हाथमें ही मुझसे पिण्ड माँगने लगे ॥ १९ ॥

हस्ताभरणपूर्णेन केयूराभरणेन च।
रक्ताङ्गुलितलेनाथ यथा दृष्टः पुरा मया ॥ २० ॥

उनका बाजूबंद आदि हाथके आभूषणोंसे विभूषित और लाल-लाल अङ्गुलियोंवाला वह हाथ वैसा ही था जैसा मैंने पहले (जीवित अवस्थामें) देखा था ॥ २० ॥

नैष कल्पे विधिर्दृष्ट इति संचिन्त्य चाप्यहम्।
कुशेष्वेव ततः पिण्डं दत्तवानविचारयन् ॥ २१ ॥

उस समय मैंने विचारा कि कल्पसूत्रोंमें तो मैंने ऐसी विधि कहीं नहीं देखी है, यह विचारकर मैंने बिना कुछ परवा किये ही पिण्डको कुशाओंपर ही रख दिया ॥ २१ ॥

ततः पिता मे सुप्रीतो वाचा मधुरया तदा।
उवाच भरतश्रेष्ठ प्रीयमाणो मयानघ ॥ २२ ॥

निष्पाप भरतश्रेष्ठ! उस समय मेरे द्वारा संतुष्ट किये गये पिता परम प्रसन्न हुए और मधुर वाणीमें मुझसे कहने लगे ॥ २२ ॥

त्वया दायादवानस्मि कृतार्थोऽमुत्र चेह च।
सत्पुत्रेण त्वया पुत्र धर्मज्ञेन विपश्चिता ॥ २३ ॥

'पुत्र! तू धर्मज्ञ और विद्वान् है। तुझ-सरीखा सुपुत्र होनेसे मुझे पुत्रवान् होनेका फल मिल गया तथा मैं इस लोक और परलोक—दोनोंमें कृतार्थ हो गया ॥ २३ ॥

मया तु तव जिज्ञासा प्रयुक्तैषा दृढव्रत।
व्यवस्थानं तु धर्मेषु कर्तुं लोकस्य चानघ ॥ २४ ॥

'दृढतापूर्वक ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेवाले निष्पाप भीष्म! धर्ममें लोगोंकी आस्था दृढ़ करनेके लिये ही मैंने यह तेरी परीक्षा ली है ॥ २४ ॥

यथा चतुर्थं धर्मस्य रक्षिता लभते फलम्।
पापस्य हि तथा मूढः फलं प्राप्नोत्यरक्षिता ॥ २५ ॥

'धर्मकी रक्षा करनेवालेको जैसे धर्मका चौथाई फल मिलता है, इसी प्रकार धर्मकी रक्षा न करनेवाला मूढ़ मनुष्य पापके चौथाई फलको पाता है ॥ २५ ॥

प्रमाणं यद्धि कुरुते धर्माचारेषु पार्थिवः।
प्रजास्तदनुवर्तन्ते प्रमाणाचरितं सदा ॥ २६ ॥

'धर्मविषयक आचारमें राजा जिस बातको प्रामाणिक बता देता है, प्रजा उस प्रमाणभूत राजाके आचरणका अनुकरण करती है ॥ २६ ॥

त्वया च भरतश्रेष्ठ वेदधर्माश्च शाश्वताः।
कृताः प्रमाणं प्रीतिश्च मम निर्वर्तितातुला ॥ २७ ॥

'भरतश्रेष्ठ! तूने सनातन वैदिक धर्मको ही प्रमाण माना है, इसलिये मैं तुमपर बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ ॥ २७ ॥

तस्मात् तवाहं सुप्रीतः प्रीत्या च वरमुत्तमम्।
ददामि तं प्रतीच्छ त्वं त्रिषु लोकेषु दुर्लभम् ॥ २८ ॥

'अब इस प्रसन्नताके कारण मैं तुम्हें श्रेष्ठ वर देना चाहता हूँ। तू तीनों लोकोंमें दुर्लभ वरको ग्रहण कर ॥ २८ ॥

न ते प्रभविता मृत्युर्यावज्जीवितुमिच्छसि।
त्वत्तोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य मृत्युः प्रभविता तव ॥ २९ ॥

'तू जबतक जीवित रहना चाहेगा, तबतक तुझपर मृत्युका प्रभाव न होगा। तेरी आज्ञा पानेपर ही तुझपर मृत्यु प्रभाव डाल सकेगी ॥ २९ ॥

किं वा ते प्रार्थितं भूयो ददामि वरमुत्तमम्।
तद् ब्रूहि भरतश्रेष्ठ यत् ते मनसि वर्तते ॥ ३० ॥

'भरतश्रेष्ठ! और जो बात तेरे मनमें हो उसे बता, मैं तुझे तेरी प्रार्थनाके अनुसार और कौन-सा उत्तम वर दूँ?' ॥ ३० ॥

इत्युक्तवन्तं तमहमभिवाद्य कृताञ्जलिः।
अब्रवं कृतकृत्योऽहं प्रसन्ने त्वयि सत्तम ॥ ३१ ॥

पिताजीके इस प्रकार कहनेपर मैंने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहा—'श्रेष्ठतम पुरुष! मैं आपकी प्रसन्नतासे ही कृतकृत्य हो गया ॥ ३१ ॥

यदि त्वनुग्रहं भूयस्त्वत्तोऽर्हामि महाद्युते।
प्रश्नमिच्छामि वै किंचिद् व्याहृतं भवता स्वयम् ॥ ३२ ॥

'महाद्युते ! यदि मैं इससे भी अधिक आपके अनुग्रह-का पात्र होऊँ, तो मैं आपके मुखसे एक प्रश्नका उत्तर सुनना चाहता हूँ' ॥ ३२ ॥

स मामुवाच धर्मात्मा ब्रूहि भीष्म यदिच्छसि ।
छेत्तास्मि संशयं सर्वं यन्मां पृच्छसि भारत ॥ ३३ ॥

तब उन धर्मात्माने मुझसे कहा—'भीष्म ! बता, तू मुझसे क्या पूछना चाहता है ? भारत ! तू मुझसे जो कुछ पूछेगा, तेरे उस संदेहको मैं दूर करूँगा' ॥ ३३ ॥

अपृच्छं तमहं तातं तत्रान्तर्हितमेव च ।
गतं सुकृतिनां लोकं कौतूहलसमन्वितः ॥ ३४ ॥

तब मैंने वहाँ अदृश्य होकर खड़े और पुण्यात्माओंके लोकोंमें पहुँचे हुए अपने पितासे कौतूहलमें भरकर पूछा ॥३४॥

भीष्म उवाच

श्रूयन्ते पितरो देवा देवानामपि देवताः ।
देवाश्च पितरोऽन्ये वा कान् यजामो वयं पुनः ॥ ३५ ॥

भीष्मजीने पूछा—पिताजी ! पितृगण देवताओंके भी देवता सुने जाते हैं । देवता ही पितर हैं या दोनों भिन्न-भिन्न हैं ? हम किनकी पूजा करें ? *॥ ३५ ॥

कथं च दत्तमस्माभिः श्राद्धं प्रीणात्यथो पितॄन् ।
लोकान्तरगतांस्तात किन्नु श्राद्धस्य वा फलम् ॥ ३६ ॥

तात ! दूसरे लोकोंमें गये हुए पितरोंको हमारा दिया हुआ श्राद्ध कैसे तृप्त करता है ? और श्राद्धका क्या फल है ? ॥३६॥

कान् यजन्ति स्म लोका वै सदेवनरदानवाः ।
सयक्षोरगगन्धर्वाः सकिन्नरमहोरगाः ॥ ३७ ॥

देवता, दानव और मनुष्य तथा यक्ष, नाग, गन्धर्व, किन्नर और महासर्प आदि किसकी पूजा करते हैं ? ॥ ३७ ॥

अत्र मे संशयस्तीव्रः कौतूहलमतीव च ।
तद् ब्रूहि मम धर्मज्ञ सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ।
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य भीष्मस्योवाच वै पिता ॥ ३८ ॥

धर्मज्ञ ! इस विषयमें मुझे बड़ा कौतूहल और संदेह है; अतः आप इसका मुझसे वर्णन कीजिये, क्योंकि मेरे विचारसे आप सर्वज्ञ हैं । भीष्मके इस वचनको सुनकर पिता (शन्तनु) बोले ॥ ३८ ॥

शन्तनुरुवाच

संक्षेपेणैव ते वक्ष्ये यन्मां पृच्छसि भारत ।
पितरश्च यथोद्भूताः फलं दत्तस्य चानघ ॥ ३९ ॥
पितॄणां कारणं श्राद्धे शृणु सर्वं समाहितः ।
आदिदेवसुतास्तात पितरो दिवि देवताः ॥ ४० ॥

शन्तनुजीने कहा—भारत ! जो बात तू मुझसे पूछता है, उसे मैं संक्षेपसे कहता हूँ । निष्पाप ! पितर जिस प्रकार उत्पन्न हुए हैं और उनको (अन्न आदि) देनेसे जो फल मिलता है, श्राद्धमें पितरोंके कारणको अर्थात् जिनके ये कार्य हैं, उनको तू सावधान होकर सुन । तात ! स्वर्गमें स्थित पितृ-देवता आदिदेव ब्रह्माजीके पुत्र हैं ॥ ३९-४० ॥

तान् यजन्ति स्म वै लोकाः सदेवासुरमानुषाः ।
सयक्षोरगगन्धर्वाः सकिन्नरमहोरगाः ॥ ४१ ॥

देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, नाग, गन्धर्व, किन्नर और महासर्प आदि उनकी ही पूजा करते हैं ॥ ४१ ॥

आप्यायिताश्च ते श्राद्धे पुनराप्याययन्ति च ।
जगत् सदेवगन्धर्वमिति ब्रह्मानुशासनम् ॥ ४२ ॥

वे श्राद्धोंमें तृप्त किये जानेपर देवताओं और गन्धर्वों-सहित जगत्‌को तृप्त करते हैं—यह वेद (अथवा ब्रह्माजी) का अनुशासन है ॥ ४२ ॥

तान् यजस्व महाभाग श्राद्धैरग्र्यैरतन्द्रितः ।
ते ते श्रेयो विधास्यन्ति सर्वकामफलप्रदाः ॥ ४३ ॥

महाभाग ! तू आलस्यरहित होकर श्रेष्ठ श्राद्धोंद्वारा उन पितरोंका यजन कर, तब वे सब कामनाओंका फल देनेवाले पितर तेरा कल्याण करेंगे ॥ ४३ ॥

त्वया चाराध्यमानास्ते नामगोत्रादिकीर्तनैः ।
अस्मानाप्याययिष्यन्ति स्वर्गस्थानपि भारत ॥ ४४ ॥

भारत ! यदि तू नाम-गोत्र आदिका उच्चारण करके उनकी आराधना करेगा तो वे पितर हमें और हमारे स्वर्गीय पितरोंको भी तृप्त करेंगे ॥ ४४ ॥

मार्कण्डेयस्तु ते शेषमेतत् सर्वं प्रवक्ष्यति ।
एष वै पितृभक्तश्च विदितात्मा च भारत ॥ ४५ ॥

और बाकी सब बातोंको मार्कण्डेयजी तुझसे कहेंगे । भारत ! वे पितृ-भक्त और आत्मज्ञानसे परिपूर्ण हैं ॥ ४५ ॥

उपस्थितश्च श्राद्धेऽद्य ममैवानुग्रहाय वै ।
एनं पृच्छ महाभागमित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ ४६ ॥

आज ये मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही श्राद्धमें आये हैं, अतः इन महाभाग्यवान् मार्कण्डेयजीसे ही तू इन प्रश्नोंको पूछ । इतना कहकर शन्तनुजी अन्तर्धान हो गये ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि श्राद्धकल्पप्रसङ्गो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें श्राद्धकल्प-विषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥



* अर्थात् 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' इस श्रुतिमें कहा है कि कर्मसे पितृलोक मिलता है और विद्यासे देवलोक । ब्रह्मलोकसे नीचेके लोक पितृलोक कहलाते हैं और देवलोक पदसे ब्रह्मलोक समझा जाता है । क्रमशः पितृयान और देवयान दोनोंमें ले जानेवाले मार्ग हैं । स्वर्गलोकमें रहनेवाले देवताओंके लोकसे ऊपरके तीन लोकोंमें पितर रहते हैं । इससे उनकी भिन्नता सिद्ध होती है । साथ ही 'देवाः पितरः पितरो देवताः' इस प्रकार देवता और पितरोंका अभेद भी सुननेमें आता है । फिर मरे हुए पिता-पितामहादि भी पितर हैं । इस तरह तीन प्रकारके पितर होनेपर हम किनका पूजन करें ?

सप्तदशोऽध्यायः

पितृकल्प—भीष्म-मार्कण्डेय-संवाद और मार्कण्डेयजीके साथ सनत्कुमारजीकी बातचीत

भीष्म उवाच

ततोऽहं तस्य वचनान्मार्कण्डेयं समाहितः।
प्रश्नं तमेवान्वपृच्छं यन्मे पृष्टः पुरा पिता ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब मैंने पिताजीके कथनानुसार एकाग्रचित्त हो मार्कण्डेयजीसे फिर वही प्रश्न पूछा, जिसके विषयमें पहले पिताजीसे जिज्ञासा की थी ॥ १ ॥

स मामुवाच धर्मात्मा मार्कण्डेयो महातपाः।
भीष्म वक्ष्यामि कार्त्स्न्येन शृणुष्व प्रयतोऽनघ ॥ २ ॥

तब महातपस्वी धर्मात्मा मार्कण्डेयजी मुझसे कहने लगे—'निष्पाप भीष्म ! मैं तुझसे सब बात कहता हूँ, तू सावधान होकर सुन ॥ २ ॥

अहं पितृप्रसादाद् वै दीर्घायुष्ट्वमवाप्तवान्।
पितृभक्त्यैव लब्धं च प्राग्लोके परमं यशः ॥ ३ ॥

'प्राचीन कालमें मैंने पितृ-प्रसादसे ही दीर्घायु प्राप्त की थी और पितृ-भक्तिसे ही इस संसारमें बड़ा भारी यश पाया है ॥ ३ ॥

सोऽहं युगस्य पर्यन्ते बहुवर्षसहस्रिके।
अधिरुह्य गिरिं मेरुं तपोऽतप्यं सुदुश्चरम् ॥ ४ ॥

'एक समय मैं मेरुपर्वतके ऊपर जाकर अनेक सहस्र वर्षोंमें पूर्ण होनेवाले युगान्त कालतक घोर तप करता रहा ॥ ४ ॥

ततः कदाचित् पश्यामि दिवं प्रज्वाल्य तेजसा।
विमानं महदायान्तमुत्तरेण गिरेस्तदा ॥ ५ ॥

'इसी बीच मैंने एक समय पर्वतके उत्तरकी ओरसे एक बड़े भारी विमानको आते हुए देखा, वह अपने तेजसे (सम्पूर्ण) आकाशको प्रकाशित कर रहा था ॥ ५ ॥

तस्मिन् विमाने पर्यङ्के ज्वलितादित्यसंनिभम्।
अपश्यं तत्र चैवाहं शयानं दीप्ततेजसम् ॥ ६ ॥
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषमग्नावग्निमिवाहितम्।
सोऽहं तस्मै नमस्कृत्य प्रणम्य शिरसा विभुम् ॥ ७ ॥
संनिविष्टं विमानस्थं पाद्यार्घ्याभ्यामपूजयम्।
अपृच्छं चैव दुर्धर्षं विद्याम त्वां कथं विभो ॥ ८ ॥

'उस विमानके सिंहासनपर मैंने चमकते हुए सूर्यके समान दीप्त तेजवाले तथा अग्निमें स्थापित किये हुए अग्निके समान अङ्गुष्ठमात्र पुरुषको लेटे हुए देखा। मैंने उन विभुको सिर झुकाकर प्रणाम किया और विमानमें विराजमान उन दुर्धर्ष पुरुषकी पाद्य और अर्घ्यसे पूजाकर उनसे पूछा—'विभो ! हम आपको कैसे जानें कि आप कौन हैं ? ॥ ६–८ ॥

तपोवीर्यात् समुत्पन्नं नारायण गुणात्मकम्।
दैवतं ह्यसि देवानामिति मे वर्तते मतिः ॥ ९ ॥

'नारायण ! यद्यपि आपका यह स्वरूप नारायणके गुण शुद्ध सत्त्वसे निर्मित तथा तपके प्रभावसे प्रकट हुआ है, मेरा विचार है कि आप देवताओंके भी देवता हैं' ॥ ९ ॥

स मामुवाच धर्मात्मा स्मयमान इवानघ।
न ते तपः सुचरितं येन मां नावबुध्यसे ॥ १० ॥

'तब वे धर्मात्मा मुसकराकर कहने लगे—'निष्पाप ! तुमने (अभी) भली प्रकार तप नहीं किया है, इस कारण तुम मुझे पहचान न सके' ॥ १० ॥

क्षणेनैव प्रमाणं स बिभ्रदन्यदनुत्तमम्।
रूपेण न मया कश्चिद् दृष्टपूर्वः पुमान् क्वचित् ॥ ११ ॥

'क्षणभरमें ही उन्होंने दूसरे उत्तम स्वरूपको धारण कर लिया। ऐसे रूपवाला दूसरा कोई पुरुष मैंने पहले कभी नहीं देखा था' ॥ ११ ॥

सनत्कुमार उवाच

विद्धि मां ब्रह्मणः पुत्रं मानसं पूर्वजं विभोः।
तपोवीर्यसमुत्पन्नं नारायणगुणात्मकम् ॥ १२ ॥

सनत्कुमारजी बोले—मुने ! तुम मुझे विभु ब्रह्माजीका ज्येष्ठ मानस पुत्र जानो। मैं उनके तपके प्रभावसे उत्पन्न हुआ हूँ और मेरा शरीर नारायणके गुण—शुद्ध सत्त्वसे भरा हुआ है ॥ १२ ॥

सनत्कुमार इति यः श्रुतो देवेषु वै पुरा।
सोऽस्मि भार्गव भद्रं ते कं कामं करवाणि ते ॥ १३ ॥

प्राचीन कालसे ही देवताओंमें जो सनत्कुमार प्रसिद्ध हैं, मैं वही हूँ। भार्गव ! तुम्हारा कल्याण हो, मैं तुम्हारी किस कामनाको पूर्ण करूँ ? ॥ १३ ॥

ये त्वन्ये ब्रह्मणः पुत्रा यवीयांसस्तु ते मम।
भ्रातरः सप्त दुर्धर्षास्तेषां वंशाः प्रतिष्ठिताः ॥ १४ ॥

ब्रह्माजीके जो दूसरे पुत्र हैं, वे मेरे छोटे भाई हैं। वे मेरे सात भाई परम दुर्धर्ष हैं, उनके वंश प्रतिष्ठित हैं ॥ १४ ॥

क्रतुर्वसिष्ठः पुलहः पुलस्त्योऽत्रिस्तथाङ्गिराः।
मरीचिस्तु तथा धीमान् देवगन्धर्वसेविताः।
त्रीँल्लोकान् धारयन्तीमान् देवगन्धर्वपूजिताः ॥ १५ ॥

(उनके नाम इस प्रकार हैं—) क्रतु, वसिष्ठ, पुलह, पुलस्त्य, अत्रि, अङ्गिरा और बुद्धिमान् मरीचि—इन सबकी देवता और गन्धर्व सेवा करते हैं। ये देवता और गन्धर्वोंसे पूजित ऋषि तीनों लोकोंको (अपने तपसे) धारण किये हुए हैं ॥ १५ ॥

वयं तु यतिधर्माणः संयोज्यात्मानमात्मनि।
प्रजाधर्मं च कामं च व्यपहाय महामुने ॥ १६ ॥

महामुने ! हम (सनत्कुमार, सनक आदि) तो अपने आत्माको आत्मामें लीनकर प्रजा (उत्पन्न करने) के धर्म और कामको दूर करके यतिधर्मका पालन करनेवाले हैं॥ १६ ॥

यथोत्पन्नस्तथैवाहं कुमार इति विद्धि माम्।
तस्मात् सनत्कुमारेति नामैतन्मे प्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥

मैं जैसे उत्पन्न हुआ हूँ, वैसा ही कुमार हूँ। अर्थात् बालकके समान राग-द्वेष आदिसे शून्य हूँ; अतः तुम मुझे कुमार जानो। इसीलिये मेरा नाम सनत्कुमार* प्रसिद्ध है॥ १७ ॥

मद्भक्त्या ते तपश्चीर्णं मम दर्शनकाङ्क्षया।
एष दृष्टोऽस्मि भवता कं कामं करवाणि ते ॥ १८ ॥

तुमने मेरा दर्शन करनेकी अभिलाषासे भक्ति (श्रद्धा) पूर्वक तपस्या की है, अतः मैं तुम्हारे सामने प्रकट हुआ हूँ। बताओ ! अब मैं तुम्हारी किस इच्छाको पूर्ण करूँ ? ॥ १८ ॥

इत्युक्तवन्तं तमहं प्रत्यवोचं सनातनम्।
अनुज्ञातो भगवता प्रीयमाणेन भारत ॥ १९ ॥

भारत ! वह सनातन कुमार सनत्कुमार जब इस प्रकार कह चुके और जब प्रसन्न होकर उन्होंने मुझे प्रश्न करनेकी आज्ञा दे दी, तब मैंने उनसे वार्तालाप किया था॥ १९ ॥

ततोऽहमेनमर्थं वै तमपृच्छं सनातनम्।
पृष्टः पितॄणां सर्गं च फलं श्राद्धस्य चानघ ॥ २० ॥
चिच्छेद संशयं भीष्म स तु देवेश्वरो मम।
स मामुवाच धर्मात्मा कथान्ते बहुवार्षिके।
रमे त्वयाहं विप्रर्षे शृणु सर्वं यथातथम् ॥ २१ ॥

निष्पाप भीष्म ! तब मैंने उन सनातन ऋषिसे पितरोंकी उत्पत्ति और श्राद्धके फल-सम्बन्धी विषयको लेकर ही प्रश्न किया। मेरे पूछनेपर उन देवेश्वरने मेरे संदेहको दूर कर दिया। बहुत कालसे आरम्भ की हुई कथाके अन्तमें उन धर्मात्माने मुझसे कहा—'विप्रर्षे ! मैं तुम्हारे प्रश्नसे संतुष्ट हूँ। तुम इन सब प्रश्नोंका उत्तर यथार्थ रीतिसे सुनो॥ २०-२१ ॥

देवानसृजत ब्रह्मा मां यक्ष्यन्तीति भार्गव।
तमुत्सृज्य तथात्मानमयजंस्ते फलार्थिनः ॥ २२ ॥

'भार्गव ! देवतालोग मेरी पूजा करेंगे—इस विचारसे ब्रह्माजीने उनकी रचना की, किंतु वे फलके लोभमें पड़कर ब्रह्माजीको छोड़ अपनी ही पूजामें लग गये—इन्द्रिय-तृप्तिके चक्करमें ही पड़ गये॥ २२ ॥

ते शप्ता ब्रह्मणा मूढा नष्टसंज्ञा दिवौकसः।
न स्म किंचिद् विजानन्ति ततो लोकोऽप्यमुह्यत॥ २३ ॥

'इसपर ब्रह्माजीने उन्हें शाप दे दिया, जिससे उन मोहग्रस्त देवताओंकी चेतना नष्ट हो गयी और उन्हें कुछ भी ज्ञान न रह गया। फिर तो उनका अनुसरण करनेवाला संसार भी मोहमें पड़ गया॥ २३ ॥

ते भूयः प्रणताः शप्ताः प्रायाचन्त पितामहम्।
अनुग्रहाय लोकानां ततस्तानब्रवीदिदम् ॥ २४ ॥

'इस प्रकार शाप हो जानेपर वे फिर ब्रह्माजीके चरणोंमें जाकर गिरे और उनसे क्षमा-याचना की। तब ब्रह्माजीने लोककल्याणकी दृष्टिसे उन देवताओंसे इस प्रकार कहा—॥

प्रायश्चित्तं चरध्वं वै व्यभिचारो हि वः कृतः।
पुत्रांश्च परिपृच्छध्वं ततो ज्ञानमवाप्स्यथ ॥ २५ ॥

'अब तुम प्रायश्चित्त करो; क्योंकि तुमने व्यभिचार (पूज्य-पूजाका व्यतिक्रम) किया है; इसलिये तुम अपने पुत्रोंसे पूछो, तब तुमलोगोंको ज्ञान प्राप्त होगा॥ २५ ॥

प्रायश्चित्तक्रियार्थं ते पुत्रान् पप्रच्छुरार्तवत्।
तेभ्यस्ते प्रयतात्मानः शशंसुस्तनयास्तदा ॥ २६ ॥

तब देवताओंने दुखी होकर अपने पुत्रोंसे प्रायश्चित्त-कर्मके विषयमें पूछा। फिर तो वे जितात्मा पुत्र बहुत सोच-विचारकर उनसे बोले॥ २६ ॥

प्रायश्चित्तानि धर्मज्ञा वाङ्मनःकर्मजानि वै।
शंसन्ति कुशला नित्यं चक्षुर्भ्यामपि नित्यशः ॥ २७ ॥

धर्म-ज्ञानमें निपुण पुरुषोंका कहना है कि वाणी, मन और कर्मसे तथा नेत्रोंसे भी सदा प्रायश्चित्त होता है॥ २७ ॥

प्रायश्चित्तार्थतत्त्वज्ञा लब्धसंज्ञा दिवौकसः।
गम्यन्तां पुत्रकाश्चेति पुत्रैरुक्ताश्च ते तदा ॥ २८ ॥

'अतः देवताओ ! तुम प्रायश्चित्तके तत्त्वको जानकर सचेत हो जाओ !' फिर पुत्रोंने उनसे कहा कि 'पुत्रो ! अब तुम जाओ' ॥ २८ ॥

अभिशप्तास्तु ते देवाः पुत्रवाक्येन निन्दिताः।
पितामहमुपागच्छन् संशयच्छेदनाय वै॥ २९ ॥

'तब वे देवता पुत्रोंद्वारा पुत्र कहे जानेपर अपनी निन्दा समझते हुए तथा पुत्रोंसे भी अभिशप्त होकर अपना संशय दूर करनेके लिये ब्रह्माजीके पास पहुँचे॥ २९ ॥

ततस्तानब्रवीद् देवो यूयं वै ब्रह्मवादिनः।
तस्माद् यदुक्तं युष्माकं तत् तथा न तदन्यथा ॥ ३० ॥

'तब ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा—'तुमलोग ब्रह्मवादी हो। इसलिये उन्होंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह ठीक ही है। इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है॥ ३० ॥

यूयं शरीरकर्तारस्तेषां देवा भविष्यथ।
ते तु ज्ञानप्रदातारः पितरो वो न संशयः ॥ ३१ ॥

---

* सनत् अर्थात् निरन्तर कुमारके समान राग-द्वेष आदिसे शून्य—यह सनत्कुमार शब्दका अर्थ है।

'तुम तो उनके शरीरकी रचना करनेवाले देवता होगे और वे ज्ञान प्रदान करनेवाले तुम्हारे पितर होंगे—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ॥ ३१ ॥

अन्योन्यं पितरो यूयं ते चैवेति न संशयः ।
देवाश्च पितरश्चैव तद् बुध्यध्वं दिवौकसः ॥ ३२ ॥

'देवताओ और पितरो ! तुम दोनों आपसमे एक दूसरेके पितर हो, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है । स्वर्गवासियो ! इस बातको तुम भलीभाँति जान लो' ॥ ३२ ॥

ततस्ते पुनरागम्य पुत्रानूचुर्दिवौकसः ।
ब्रह्मणा च्छिन्नसंदेहाः प्रीतिमन्तः परस्परम् ॥ ३३ ॥

'तब वे देवता, जिनका सारा संशय ब्रह्माजीद्वारा नष्ट हो गया था और जो परस्पर प्रीतियुक्त थे, पुनः पुत्रोंके पास आये और उनसे बोले—॥ ३३ ॥

यूयं वै पितरोऽस्माकं यैर्वयं प्रतिबोधिताः ।
धर्मज्ञाः कश्च वः कामः को वरो वः प्रदीयताम् ॥ ३४ ॥

'तुम हमारे पितर हो, क्योंकि तुमने हमको ज्ञान प्रदान किया है, तुम धर्मज्ञ हो, तुम्हारी क्या इच्छा है ? तुम्हे क्या वर दिया जाय ? ॥ ३४ ॥

यदुक्तं चैव युष्माभिस्तत् तथा न तदन्यथा ।
उक्ताश्च यस्माद् युष्माभिः पुत्रका इति वै वयम् ।
तस्माद् भवन्तः पितरो भविष्यन्ति न संशयः ॥ ३५ ॥

'तुमने जो बात कही है, वह ठीक है, इसमें कुछ अनुचित नहीं है । परंतु तुमने जो हमें 'पुत्रकाः' कहकर सम्बोधित किया है इस कारण तुम पितर होओगे, इसमें कुछ संदेह नहीं है ॥ ३५ ॥

योऽनिष्ट्वा तु पितॄञ्छ्राद्धैः क्रियाः काश्चित् करिष्यति ।
राक्षसा दानवा नागाः फलं प्राप्स्यन्ति तस्य तत् ॥३६॥

जो प्राणी श्राद्धोंद्वारा (पहले) पितरोंका पूजन किये बिना ही जो कुछ क्रियाएँ करेगा, उन क्रियाओंका फल राक्षस, दानव और सर्पोंको प्राप्त होगा ॥ ३६ ॥

श्राद्धैराप्यायिताश्चैव पितरः सोममव्ययम् ।
आप्याय्यमाना युष्माभिर्वर्द्धयिष्यन्ति नित्यदा ॥ ३७ ॥

तुम दिव्य पितर हो, तुम्हारे द्वारा श्राद्धोंसे परिपुष्ट किये गये लौकिक पितर स्वयं तुम हो अपने अधिदेवता सोमकी वृद्धि करेंगे ॥ ३७ ॥

श्राद्धैराप्यायितः सोमो लोकानाप्याययिष्यति ।
समुद्रपर्वतवनं जङ्गमाजङ्गमैर्वृतम् ॥ ३८ ॥

'श्राद्धोंसे आप्यायित होता हुआ चन्द्रमा समुद्र, पर्वत, वन और चर-अचर प्राणियोंसे भरे हुए लोकोंको आप्यायित (तृप्त) करेगा ॥ ३८ ॥

श्राद्धानि पुष्टिकामाश्च ये करिष्यन्ति मानवाः ।
तेभ्यः पुष्टिं प्रजाश्चैव दास्यन्ति पितरः सदा ॥ ३९ ॥

'जो मनुष्य पुष्टि पानेकी इच्छासे श्राद्ध करेंगे, पितर उनको सदा पुष्टि और संतान देंगे ॥ ३९ ॥

श्राद्धे ये च प्रदास्यन्ति त्रीन् पिण्डान् नामगोत्रतः ।
सर्वत्र वर्तमानांस्तान् पितरः सपितामहान् ।
भावयिष्यन्ति सततं श्राद्धदानेन तर्पिताः ॥४०॥

'जो पुरुष सर्वत्र विद्यमान पिता, पितामह और प्रपितामहको उनके नाम और गोत्रका उच्चारण कर तीन पिण्ड देंगे, श्राद्ध-दानसे तृप्त हुए वे पितर उनकी सदा वृद्धि करेंगे ॥४०॥

एवमाज्ञापितं पूर्वं ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
इति तद्वचनं सत्यं भवत्वद्य दिवौकसः ।
पुत्राश्च पितरश्चैव वयं सर्वे परस्परम् ॥ ४१ ॥

'परमेष्ठी ब्रह्माजीने पहले ही ऐसी आज्ञा दी है । स्वर्गवासियो ! उनका वचन अब सत्य हो, हम सब परस्पर पुत्र और पितर हैं' ॥ ४१ ॥

सनत्कुमार उवाच

त एते पितरो देवा देवाश्च पितरस्तथा ।
अन्योन्यं पितरो ह्येते देवाश्च पितरश्च ह ॥ ४२ ॥

सनत्कुमारजीने कहा—मुने ! जो देवता हैं, वे ही पितर हैं और जो पितर हैं, वे ही देवता हैं । इस प्रकार ये देवता और पितर आपसमें एक दूसरेके पिता और पूज्य हैं ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि पितृकल्पे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पितरोंकी उत्पत्तिविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

पितृकल्प—मार्कण्डेय-सनत्कुमार-संवादमें पितरोंके गण, लोक, शक्ति और कन्याओंका वर्णन तथा पितरोंके प्रभावको देखनेके लिये मार्कण्डेयजीको दिव्य दृष्टिकी प्राप्ति

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्तोऽहं भगवता देवदेवेन भास्वता ।
सनत्कुमारेण पुनः पृष्टवान् देवमव्ययम् ॥ १ ॥
संदेहममरश्रेष्ठं भगवन्तमरिंदमम् ।
निबोध तन्मे गाङ्गेय निखिलं सर्वमादितः ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—गङ्गानन्दन भीष्म ! तेजस्वी

देवदेव भगवान् सनत्कुमारके इस प्रकार कहनेपर मैंने काम-क्रोधादि शत्रुओंका दमन करनेवाले उन देवश्रेष्ठ अव्यय भगवान् सनत्कुमारसे अपने जिन सारे संदेहोंको आरम्भसे पूछा था, उन्हें मुझसे सुनो ॥ १-२ ॥

कियन्तो वै पितृगणाः कस्मिंल्लोके प्रतिष्ठिताः ।
वर्तन्ते देवप्रवरा देवानां सोमवर्द्धनाः ॥ ३ ॥

(श्राद्धके द्वारा) चन्द्रमाको पुष्ट करनेवाले तथा देवताओंके भी श्रेष्ठ देवता पितरोंके कितने गण हैं और वे किस लोकमें प्रतिष्ठित रहते हैं ? ॥ ३ ॥

सनत्कुमार उवाच

सप्तैते यजतां श्रेष्ठ स्वर्गे पितृगणाः स्मृताः ।
चत्वारो मूर्तिमन्तश्च त्रयस्तेषाममूर्तयः ॥ ४ ॥

सनत्कुमारजीने कहा—याजकोंमें श्रेष्ठ मार्कण्डेय ! स्वर्गमें रहनेवाले सात पितर माने गये हैं, उनमें चार तो मूर्तिमान् हैं और तीन मूर्तिरहित * ॥ ४ ॥

तेषां लोकं विसर्गं च कीर्तयिष्यामि तच्छृणु ।
प्रभावं च महत्त्वं च विस्तरेण तपोधन ॥ ५ ॥

तपोधन ! मैं उनके लोक, सृष्टि, प्रभाव और महत्त्वका विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ, उसे सुनिये ॥ ५ ॥

धर्ममूर्तिधरास्तेषां त्रयो ये परमा गणाः ।
तेषां नामानि लोकांश्च कथयिष्यामि तच्छृणु ॥ ६ ॥

(साथ ही) धर्ममय शरीर धारण करनेवाले पितरोंके जो तीन परम गण हैं, उनके नाम और लोकोंका भी मैं वर्णन करता हूँ, उसे भी सुनिये ॥ ६ ॥

लोकाः सनातना नाम यत्र तिष्ठन्ति भास्वराः ।
अमूर्तयः पितृगणास्ते वै पुत्राः प्रजापतेः ॥ ७ ॥

उन पितरोंके 'सनातन' नामवाले लोक हैं, जहाँ वे तेजस्वी, भौतिक शरीरसे रहित—दिव्य रूपवाले पितृगण, जो प्रजापतिके पुत्र हैं, निवास करते हैं ॥ ७ ॥

विराजस्य द्विजश्रेष्ठ वैराजा इति विश्रुताः ।
यजन्ति तान् देवगणा विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! विराज प्रजापतिके पुत्र होनेके कारण वे वैराज नामसे प्रसिद्ध हैं । देवगण शास्त्रोक्त विधिसे इन वैराज पितरोंका पूजन करते हैं ॥ ८ ॥

एते वै योगविभ्रष्टा लोकान् प्राप्य सनातनान् ।
पुनर्युगसहस्रान्ते जायन्ते ब्रह्मवादिनः ॥ ९ ॥

ये योगभ्रष्ट होनेके कारण सनातन ब्रह्मलोकमें पहुँचनेपर भी सहस्र युगोंके अन्तमें ब्रह्माजीके साथ मुक्त नहीं होते; अतः दूसरे कल्पमें (प्रजापतिसे ही) ब्रह्मवादी मुनिके रूपमें फिर प्रकट हो जाते हैं ॥ ९ ॥

ते तु प्राप्य स्मृतिं भूयः साङ्ख्यं योगमनुत्तमम् ।
यान्ति योगगतिं सिद्धाः पुनरावृत्तिदुर्लभाम् ॥ १० ॥

वे फिर पूर्व-कल्पकी स्मृति होनेसे परम उत्तम सांख्ययोगका अनुष्ठान करके सिद्ध हो जाते हैं और पुनरावृत्ति (जन्म-मरण) से रहित योग-गतिको प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

एते स्युः पितरस्तात योगिनां योगवर्द्धनाः ।
आप्याययन्ति ये पूर्वं सोमं योगबलेन च ॥ ११ ॥

तात ! जो पहले योगबलसे सोमको पुष्ट करते हैं, वे ही ये पितर योगियोंके योगको बढ़ानेवाले हैं ॥ ११ ॥

तस्माच्छ्राद्धानि देयानि योगिनां तु विशेषतः ।
एष वै प्रथमः सर्गः सोमपानां महात्मनाम् ॥ १२ ॥

इसलिये इन योगियोंके लिये विशेषरूपसे श्राद्ध करना चाहिये । यही सोमकी वृद्धि करनेवाले 'सोमपा' नामक पितरोंका प्रथम सर्ग है ॥ १२ ॥

एतेषां मानसी कन्या मेना नाम महागिरेः ।
पत्नी हिमवतः श्रेष्ठा यस्या मैनाक उच्यते ॥ १३ ॥

इन (वैराज पितरों) की मानसी कन्याका नाम मेना है । वह महागिरि हिमाचलकी श्रेष्ठ पत्नी है । उसका पुत्र मैनाक कहा जाता है ॥ १३ ॥

मैनाकस्य सुतः श्रीमान् क्रौञ्चो नाम महागिरिः ।
पर्वतप्रवरः पुत्रो नानारत्नसमन्वितः ॥ १४ ॥

मैनाकका पुत्र महागिरि श्रीमान् क्रौञ्च (पर्वत) है, जो पर्वतोंमें श्रेष्ठ और नाना प्रकारके रत्नोंसे भरा-पूरा है ॥ १४ ॥

तिस्रः कन्यास्तु मेनायां जनयामास शैलराट् ।
अपर्णामेकपर्णां च तृतीयामेकपाटलाम् ॥ १५ ॥

पर्वतराज हिमालयने मेनाके गर्भसे तीन कन्याएँ उत्पन्न कीं, जिनके नाम थे—अपर्णा, एकपर्णा तथा तीसरी एकपाटला ॥ १५ ॥

तपश्चरन्त्यः सुमहद् दुश्चरं देवदानवैः ।
लोकान् संतापयामासुस्तास्तिस्रः स्थाणुजङ्गमान् ॥ १६ ॥

इन तीनों कन्याओंने ऐसी घोर तपस्याका अनुष्ठान प्रारम्भ किया, जो देवताओं और दानवोंके लिये भी दुष्कर थी, इससे उन तीनोंने स्थावर-जङ्गमसहित समस्त लोकोंको संतप्त कर दिया ॥ १६ ॥

आहारमेकपर्णेन एकपर्णा समाचरत् ।
पाटलापुष्पमेकं च आदधावेकपाटला ॥ १७ ॥

(उन दिनों) एकपर्णा एक ही पत्ता खाकर रह जाती

* अर्थात् सुकाल, आङ्गिरस, सुस्वधा और सोमपा—ये चार मूर्तिमान् हैं । इन्हें दिव्य शरीर प्राप्त हुआ है । वैराज, अग्निष्वात्त और बर्हिषद्—ये तीन अमूर्त हैं । (नीलकण्ठीसे)

थी और एकपाटला पाटला (ताम्रपुष्पी) के एक ही पुष्पको आहाररूपमे ग्रहण करती थी ॥ १७ ॥

एका तत्र निराहारा तां माता प्रत्यषेधयत्।
'उ' 'मा' इति निषेधन्ती मातृस्नेहेन दुःखिता ॥ १८ ॥

उनमेंसे एक (अपर्णा सर्वथा) निराहार रहने लगी। तब मातृस्नेहके कारण दुःखित हो उसकी माताने उससे 'उ मा' (अरी ! ऐसा मत कर) कहकर (निराहार रहनेका) निषेध किया ॥ १८ ॥

सा तथोक्ता तया मात्रा देवी दुश्चरचारिणी।
उमेत्येवाभवत् ख्याता त्रिषु लोकेषु सुन्दरी ॥ १९ ॥

वह दुश्चर तप करनेवाली सुन्दरी देवी इस प्रकार माताद्वारा कहे जानेपर इस 'उमा' नामसे ही तीनों लोकोंमें विख्यात हो गयी ॥ १९ ॥

तथैव नाम्ना तेनेह विश्रुता योगधर्मिणी।
एतत् तु त्रिकुमारीकं जगत् स्थास्यति भार्गव ॥ २० ॥

उसी प्रकार वह योगधर्मका पालन करनेवाली उसी नामसे विख्यात हुई । भार्गव ! इन तीन कुमारियों (की तपःशक्ति) से युक्त होकर ही यह जगत् स्थिर रहेगा॥२०॥

तपःशरीरास्ताः सर्वास्तिस्रो योगबलान्विताः।
सर्वाश्च ब्रह्मवादिन्यः सर्वाश्चैवोर्ध्वरेतसः ॥ २१ ॥

इन तीनोंका शरीर तपोमय है, ये सब योगबलसे सम्पन्न हैं तथा ये सभी ब्रह्मवादिनी और ऊर्ध्वरेता हैं ॥ २१ ॥

उमा तासां वरिष्ठा च ज्येष्ठा च वरवर्णिनी।
महायोगबलोपेता महादेवमुपस्थिता ॥ २२ ॥

उमा उन सबमें ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, सुन्दरी तथा महान् योगबलसे सम्पन्न थीं । उनका विवाह महादेवजीसे हुआ ॥ २२ ॥

असितस्यैकपर्णा तु देवलस्य महात्मनः।
पत्नी दत्ता महाब्रह्मन् योगाचार्याय धीमते ॥ २३ ॥

महाब्रह्मन् ! एकपर्णा बुद्धिमान् महात्मा योगाचार्य असित-देवलको पत्नीरूपमें दी गयी ॥ २३ ॥

जैगीषव्याय तु तथा विद्धि तामेकपाटलाम्।
एते चापि महाभागे योगाचार्यावुपस्थिते ॥ २४ ॥

इसी प्रकार एकपाटला जैगीषव्यको ब्याही गयी थी, ये दोनों महाभाग्यवती कन्याएँ योगाचार्योंकी सेवामें उपस्थित हुई हैं ॥ २४ ॥

लोकाः सोमपदा नाम मरीचेर्यत्र वै सुताः।
पितरो यत्र वर्तन्ते देवास्तान् भावयन्त्युत ॥ २५ ॥

(अब दूसरे गण अग्निष्वात्त पितरोंका वर्णन करते हैं—) पितरोंके लिये दूसरे सोमपद नामवाले लोक हैं, जहाँ मरीचि प्रजापतिके पुत्र 'पितर' होकर रहते हैं । वहाँ देवता इनकी पूजा करते हैं ॥ २५ ॥

अग्निष्वात्ता इति ख्याताः सर्व एवामितौजसः।
एतेषां मानसी कन्या अच्छोदा नाम निम्नगा ॥ २६ ॥

ये सब अमिततेजस्वी पितर अग्निष्वात्त नामसे प्रसिद्ध हैं । अच्छोदा नामकी नदी इनकी मानसी कन्या है ॥ २६ ॥

अच्छोदं नाम विख्यातं सरो यस्याः समुत्थितम्।
तया न दृष्टपूर्वास्ते पितरस्तु कदाचन ॥ २७ ॥

उसीसे अच्छोदनामक प्रसिद्ध सरोवर प्रकट हुआ है । उस (नदीरूपी मानसी कन्या) ने इन पितरोंको पहले कभी नहीं देखा था ॥ २७ ॥

अप्यमूर्तानथ पितॄन् सा ददर्श शुचिस्मिता।
सम्भूता मनसा तेषां पितॄन् स्वान् नाभिजानती॥ २८ ॥

उस पवित्र मुसकानवालीने अमूर्त पितरोंको भी दिव्यदृष्टिसे देखा । पर उन्हें देखकर भी वह यह न जान सकी कि ये मेरे पिता हैं और मैं इनके मनसे उत्पन्न हुई हूँ ॥ २८ ॥

व्रीडिता तेन दुःखेन बभूव वरवर्णिनी।
सा दृष्ट्वा पितरं वव्रे वसुं नामान्तरिक्षगम् ॥ २९ ॥
अमावसुरिति ख्यातमायोः पुत्रं यशस्विनम्।
अद्रिकाप्सरसायुक्तं विमानेऽधिष्ठितं दिवि ॥ ३० ॥

तब वह सुन्दरी अच्छोदा उस दुःखके कारण लज्जित हो गयी। फिर उसने वसुको, जो आयुके यशस्वी पुत्र, अमावसु नामसे विख्यात, अन्तरिक्षचारी और स्वर्गमें अद्रिका अप्सराके साथ विमानमें बैठे थे, देखा और उन्हींको अपना पिता मान लिया ॥ २९-३० ॥

सा तेन व्यभिचारेण मनसः कामरूपिणी।
पितरं प्रार्थयित्वान्यं योगभ्रष्टा पपात ह ॥ ३१ ॥

वह इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली स्त्री दूसरेको पिता बनाकर मानसिक व्यभिचारके कारण योगभ्रष्ट होकर गिरने लगी ॥ ३१ ॥

त्रीण्यपश्यद् विमानानि पतमाना दिवश्च्युता।
त्रसरेणुप्रमाणानि सापश्यत् तेषु तान् पितॄन् ॥ ३२ ॥
सुसूक्ष्मानपरिव्यक्तानग्नीनग्निष्विवाहितान्।
त्रायध्वमित्युवाचार्ता पतन्ती तानवाक्शिराः ॥ ३३ ॥

स्वर्गसे भ्रष्ट होकर नीचेको गिरती हुई अच्छोदाने त्रसरेणुके आकारके तीन विमानोंको देखा । तदनन्तर उसने उनमें (बैठे हुए) उन पितरोंको देखा, जो अत्यन्त सूक्ष्म, स्पष्ट न दीख पड़नेवाले और अग्नियोंमें स्थापित अग्निके समान उद्दीप्त हो रहे थे । नीचे सिर करके गिरती हुई अच्छोदाने उनसे आर्त स्वरमें कहा—'मेरी रक्षा कीजिये' ॥ ३२-३३ ॥

तैरुक्ता सा तु मा भैषीरिति व्योम्नि व्यवस्थिता।
ततः प्रसादयामास तान् पितॄन् दीनया गिरा ॥ ३४ ॥

उन पितरोंने कहा—'डरो मत' उनके ऐसा कहते ही अच्छोदा आकाशमें रुक गयी और फिर दीन वाणीसे उन पितरोंको प्रसन्न करने लगी ॥ ३४ ॥

ऊचुस्ते पितरः कन्यां भ्रष्टैश्वर्यां व्यतिक्रमात्।
भ्रष्टैश्वर्या स्वदोषेण पतसि त्वं शुचिस्मिते ॥ ३५ ॥

व्यतिक्रमके कारण पुत्रीको ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हुई देख वे पितर कहने लगे—'शुचिस्मिते! तू अपने ही दोषसे ऐश्वर्यसे भ्रष्ट होकर गिर रही है ॥ ३५ ॥

यैः क्रियन्ते हि कर्माणि शरीरैर्दिवि दैवतैः।
तैरेव तत्कर्मफलं प्राप्नुवन्तीह देवताः ॥ ३६ ॥

'स्वर्गस्थ देवता जिन शरीरोंके द्वारा जैसा कर्म करते हैं, उन कर्मोंका फल वे उन शरीरोंको ही धारण करके भोगते हैं ॥३६॥

सद्यः फलन्ति कर्माणि देवत्वे प्रेत्य मानुषे।
तस्मात् त्वं तपसः पुत्रि प्रेत्येदं प्राप्स्यसे फलम् ॥ ३७ ॥

'देवयोनिमें दैवयोगवश बने हुए कर्म तत्काल ही फल देते हैं और मनुष्ययोनिमें किये हुए कर्मोंका फल मरनेके बाद मिला करता है, अतः पुत्रि! तू मरनेके बाद तपस्याका फल प्राप्त करेगी ॥ ३७ ॥

इत्युक्ता पितृभिः सा तु पितॄन् प्रासादयत् सकान्।
ध्यात्वा प्रसादं ते चक्रुस्तस्याः सर्वेऽनुकम्पया ॥ ३८ ॥

पितरोंके इस प्रकार कहनेपर उसने अपने पितरोंको प्रसन्न किया। तब उन लोगोंने दयापूर्वक उसके कल्याणके विषयमें विचार किया ॥ ३८ ॥

अवश्यं भाविनं ज्ञात्वा तेऽर्थमूचुस्ततस्तु ताम्।
अस्य राज्ञो वसोः कन्या त्वमपत्यं भविष्यसि ॥ ३९ ॥
उत्पन्नस्य पृथिव्यां तु मानुषेषु महात्मनः।
कन्या च भूत्वा लोकान् स्वान् पुनः प्राप्स्यसि दुर्लभान् ४०

वे अवश्य होनेवाली घटनाको जानकर उससे कहने लगे—'जब यह महात्मा वसु मृत्युलोकमें मनुष्य-योनिमें उत्पन्न होगा, तब तू इस राजाकी कन्या होगी। इस प्रकार इसकी कन्या बनकर तू फिर अपने दुर्लभ लोकोंको प्राप्त करेगी ॥ ३९-४० ॥

पराशरस्य दायादं त्वं पुत्रं जनयिष्यसि।
स वेदमेकं ब्रह्मर्षिश्चतुर्धा विभजिष्यति ॥ ४१ ॥
महाभिषस्य पुत्रौ द्वौ शन्तनोः कीर्तिवर्द्धनौ।
विचित्रवीर्यं धर्मज्ञं तथा चित्राङ्गदं शुभम् ॥ ४२ ॥

'तू पराशर ऋषिका वंशधर पुत्र उत्पन्न करेगी। वह ब्रह्मर्षि एक वेदको चार भागोंमें विभक्त करेगा। फिर तू (जो) महाभिष* शन्तनु नामवाले राजाकी कीर्तिको बढ़ानेवाले दो पुत्रोंको उत्पन्न करेगी, उनमेंसे एक धर्मज्ञ पुत्रका नाम विचित्रवीर्य होगा और दूसरे कल्याणमय पुत्रका नाम चित्राङ्गद ॥ ४१-४२ ॥

एतानुत्पाद्य पुत्रांस्त्वं पुनर्लोकानवाप्स्यसि।
व्यतिक्रमात् पितॄणां च जन्म प्राप्स्यसि कुत्सितम् ॥४३॥

'इन पुत्रोंको उत्पन्न करके तू अपने लोकोंमें फिर आ जायगी। पितरोंका व्यतिक्रम करनेके कारण तुझे कुत्सित जन्म मिलेगा ॥ ४३ ॥

अस्यैव राज्ञः कन्या त्वमद्रिकाया भविष्यसि।
अष्टाविंशे भवित्री त्वं द्वापरे मत्स्ययोनिजा ॥ ४४ ॥

'तू इसी राजाके द्वारा अद्रिकाके गर्भसे कन्यारूपमें उत्पन्न होगी। और अट्ठाईसवें द्वापरमें मछलीकी संतानके रूपमें प्रकट होगी' ॥ ४४ ॥

एवमुक्ता तु दाशेयी जाता सत्यवती तदा।
मत्स्ययोनौ समुत्पन्ना राज्ञस्तस्य वसोः सुता ॥ ४५ ॥

पितरोंके इस प्रकार कहनेपर वह राजा वसुकी पुत्री (बनकर) मत्स्ययोनिमें उत्पन्न हुई। वही दाशेयी (दाशराजकी पुत्री) तथा सत्यवती कहलाती है ॥ ४५ ॥

वैभ्राजा नाम ते लोका दिवि सन्ति सुदर्शनाः।
यत्र बर्हिषदो नाम पितरो दिवि विश्रुताः ॥ ४६ ॥

(अब पितरोंके तीसरे गण बर्हिषदोंका वर्णन करते हैं—) स्वर्गमें वैभ्राज * नामके दर्शनीय लोक हैं। जहाँ बर्हिषद् नामवाले द्युलोक-विख्यात पितृगण निवास करते हैं ॥ ४६ ॥

तान् वै देवगणाः सर्वे यक्षगन्धर्वराक्षसाः।
नागाः सर्पाः सुपर्णाश्च भावयन्त्यमितौजसः ॥ ४७ ॥

समस्त देवगण, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, नाग, सर्प तथा अमिततेजस्वी गरुड आदि उन (बर्हिषद् नामवाले पितरों) की उपासना करते हैं ॥ ४७ ॥

एते पुत्रा महात्मानः पुलस्त्यस्य प्रजापतेः।
महात्मनो महाभागास्तेजोयुक्तास्तपस्विनः ॥ ४८ ॥

ये बर्हिषद् नामक पितर महाभाग्यवान्, तेजस्वी, तपस्वी और महात्मा हैं तथा महान् आत्मबलसे युक्त प्रजापति पुलस्त्यके पुत्र हैं ॥ ४८ ॥

एतेषां मानसी कन्या पीवरी नाम विश्रुता।
योगा च योगिपत्नी च योगिमाता तथैव च ॥ ४९ ॥
भवित्री द्वापरं प्राप्य युगं धर्मभृतां वरा।
पराशरकुलोद्भूतः शुको नाम महातपाः ॥ ५० ॥
भविष्यति युगे तस्मिन् महायोगी द्विजर्षभः।
व्यासादरण्यां सम्भूतो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ ५१ ॥

* शन्तनु ही पूर्वजन्ममें महाभिष थे।

* विभ्राट् सूर्यनारायणका एक नाम है। उन विभ्राट् सूर्यदेवके लोक वैभ्राज कहलाते हैं।

इन (बर्हिषद् पितरों) की मानसी कन्या पीवरी नामसे विख्यात है। पीवरी स्वयं योगिनी, योगीकी पत्नी तथा योगियोंकी माता है। धर्मधारिणी स्त्रियोंमें श्रेष्ठ यह पीवरी द्वापरमें उत्पन्न होनेवाली है। उसी युगमें पराशरके कुलमें व्यासजीके द्वारा अरणीसे आविर्भूत धूमरहित अग्निके समान प्रकाशमान, महातपस्वी, महायोगी, द्विजश्रेष्ठ शुक उत्पन्न होंगे॥ ४९–५१॥

स तस्यां पितृकन्यायां पीवर्यां जनयिष्यति।
कन्यां पुत्रांश्च चतुरो योगाचार्यान् महाबलान्॥ ५२॥
कृष्णं गौरं प्रभुं शम्भुं कृत्वीं कन्यां तथैव च।
ब्रह्मदत्तस्य जननीं महिषीं त्वणुहस्य च॥ ५३॥

वे ही शुकदेव पितरोंकी इस कन्या पीवरीमें कृष्ण, गौर, प्रभु और शम्भु—इन चार महाबली योगाचार्य पुत्रों तथा ब्रह्मदत्तकी जननी और अणुहकी पत्नी कृत्वी नामवाली कन्याको उत्पन्न करेंगे॥ ५२-५३॥

एतानुत्पाद्य धर्मात्मा योगाचार्यान् महाव्रतान्।
श्रुत्वा स्वजनकाद् धर्मान् व्यासादमितबुद्धिमान्॥ ५४॥
महायोगी ततो गन्तापुनरावर्तिनीं गतिम्।
यत्तत्पदमनुद्विग्नमव्ययं ब्रह्म शाश्वतम्॥ ५५॥

वे धर्मात्मा इन महाव्रतधारी योगाचार्योंको उत्पन्न कर अपने पिता व्यासजीसे धर्मोंका रहस्य सुनेंगे। तदनन्तर अपार बुद्धिवाले महायोगी शुक अपुनरावर्तिनी गतिको प्राप्त होंगे। वह परमगति उद्वेगरहित, कभी नष्ट न होनेवाला तथा सनातन ब्रह्मपदरूप है॥ ५४-५५॥

अमूर्तिमन्तः पितरो धर्ममूर्तिधरा मुने।
कथा यत्रेयमुत्पन्ना वृष्ण्यन्धककुलान्वया॥ ५६॥

मुने! अमूर्तिमान् पितर धर्ममय शरीर धारण करनेवाले हैं। इन्हींसे वृष्णि और अन्धक कुलोंसे सम्बन्ध रखनेवाली यह कथा आरम्भ होती है॥ ५६॥

सुकाला नाम पितरो वसिष्ठस्य प्रजापतेः।
निरता दिवि लोकेषु ज्योतिर्भासिषु भासुराः।
सर्वकामसमृद्धेषु द्विजास्तान् भावयन्त्युत॥ ५७॥

सुकाल नामक पितर प्रजापति वसिष्ठके पुत्र हैं। वे दीप्तिमान् पितर स्वर्गमें सभी कामोपभोगोंसे परिपूर्ण तथा ज्योतिर्मय लोकोंमें निवास करते हैं। ब्राह्मणलोग उनकी आराधना करते हैं॥ ५७॥

तेषां वै मानसी कन्या गौर्नाम्ना दिवि विश्रुता।
तवैव वंशे या दत्ता शुकस्य महिषी प्रिया।
एकशृङ्गेति विख्याता साध्यानां कीर्तिवर्द्धिनी॥ ५८॥

(मार्कण्डेयजी कहते हैं—भीष्म!) इन (सुकाल नामक पितरों) की मानसी कन्या स्वर्गमें गौ नामसे विख्यात है। वह तुम्हारे ही वंशमें दी गयी है। वह शुककी प्रिया भार्या है। साध्योंकी कीर्ति बढ़ानेवाली वह गौ (यहाँ) एकशृङ्गा नामसे प्रसिद्ध है॥ ५८॥

मरीचिगर्भास्ताँल्लोकान् समाश्रित्य व्यवस्थिताः।
ये त्वथाङ्गिरसः पुत्राः साध्यैः संवर्द्धिताः पुरा॥ ५९॥

(अब क्षत्रियोंद्वारा पूज्य आङ्गिरस पितरोंका वर्णन करते हैं—) पहले जिनका साध्योंने पोषण किया था, वे अङ्गिरा ऋषिके पुत्र आङ्गिरस पितर सूर्यकी किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले लोकोंका आश्रय लेकर रहते हैं॥ ५९॥

तान् क्षत्रियगणास्तात भावयन्ति फलार्थिनः।
तेषां तु मानसी कन्या यशोदा नाम विश्रुता॥ ६०॥

तात! फल चाहनेवाले क्षत्रिय लोग उन (आङ्गिरस पितरों)का पूजन करते हैं। इन (आङ्गिरस पितरों) की मानसी कन्या यशोदा नामसे प्रसिद्ध है॥ ६०॥

पत्नी सा विश्वमहतः स्नुषा वै वृद्धशर्मणः।
राजर्षेर्जननी चापि दिलीपस्य महात्मनः॥ ६१॥

वह विश्वमहान्‌की पत्नी, वृद्धशर्माकी पुत्रवधू एवं राजर्षि महात्मा दिलीपकी माता है॥ ६१॥

तस्य यज्ञे पुरा गीता गाथाः प्रीतैर्महर्षिभिः।
तदा देवयुगे तात वाजिमेधे महामखे॥ ६२॥

तात! उस समय देवयुगमें उस (दिलीप) के अश्वमेध नामक महायज्ञमें महर्षियोंने प्रसन्न होकर यह गाथा गायी थी—॥

अग्नेर्जन्म तथा श्रुत्वा शाण्डिल्यस्य महात्मनः।
दिलीपं यजमानं ये पश्यन्ति सुसमाहिताः।
सत्यवन्तं महात्मानं तेऽपि स्वर्गजितो नराः॥ ६३॥

'जो मनुष्य चित्तको एकाग्र करके शाण्डिल्यगोत्रमें उत्पन्न महात्मा अग्निके जन्मको सुनकर सत्यवादी महात्मा दिलीपको यज्ञ करते देखते हैं, वे भी स्वर्गको जीत लेंगे'॥ ६३॥

सुस्वधा नाम पितरः कर्दमस्य प्रजापतेः।
समुत्पन्नास्तु पुलहान्महात्मानो द्विजर्षभाः॥ ६४॥

कर्दम प्रजापतिके सुस्वधा नामवाले पितर हैं, जो ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ और महान् आत्मबलसे सम्पन्न हैं तथा महर्षि पुलहसे उत्पन्न हुए हैं॥ ६४॥

लोकेषु दिवि वर्तन्ते कामगेषु विहङ्गमाः।
तांश्च वैश्यगणास्तात भावयन्ति फलार्थिनः॥ ६५॥

तात! ये आकाशमें विचरण करनेवाले (सुस्वधा संज्ञक पितर) स्वर्गमें इच्छानुसार सब कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले लोकोंमें रहते हैं। फल-कामुक वैश्यगण इनकी उपासना करते हैं॥ ६५॥

तेषां वै मानसी कन्या विरजा नाम विश्रुता।
ययातेर्जननी ब्रह्मन् महिषी नहुषस्य च॥ ६६॥

(सनत्कुमारजी कहते हैं—) ब्रह्मन्! इनकी मानसी कन्या विरजा नामसे प्रसिद्ध है। वह ययातिकी माता और नहुषकी पत्नी है ॥ ६६ ॥

त्रय एते गणाः प्रोक्ताश्चतुर्थं तु निबोध मे।
उत्पन्ना ये स्वधायां ते सोमपा वै कवेः सुताः।
हिरण्यगर्भस्य सुताः शूद्रास्तान् भावयन्त्युत ॥ ६७ ॥

यह मैंने मनुष्यपूज्य पितरोंके तीन गणोंका वर्णन कर दिया। अब चौथे गणका वर्णन सुनो। ये पितृगण कविकी पुत्री स्वधाके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्र हैं और सोमपा कहलाते हैं। ये अग्निके आत्मज हैं। शूद्र इनकी उपासना करते हैं ॥६७॥

मानसा नाम ते लोका यत्र तिष्ठन्ति ते दिवि।
तेषां वै मानसी कन्या नर्मदा सरितां वरा ॥ ६८ ॥

ये स्वर्गमें जिन लोकोंमें निवास करते हैं, वे मानस-लोक कहलाते हैं। इनकी मानसी कन्या नर्मदा कहलाती है, जो नदियोंमें श्रेष्ठ है ॥ ६८ ॥

या भावयति भूतानि दक्षिणापथगामिनी।
पुरुकुत्सस्य या पत्नी त्रसदस्योर्जनन्यपि ॥ ६९ ॥

वह दक्षिणापथकी ओर बहकर प्राणियोंको पवित्र करती है। वह पुरुकुत्सकी पत्नी और त्रसदस्युकी माता है ॥६९ ॥

तेषामथाभ्युपगमान्मनुस्तात युगे युगे।
प्रवर्तयति श्राद्धानि नष्टे धर्मे प्रजापतिः ॥ ७० ॥

तात! प्रजापति मनु प्रत्येक युगके आरम्भमें इन पितरोंको पूज्य समझकर लुप्त हुए श्राद्ध-धर्मका उद्धार करनेके लिये श्राद्धोंको फिर प्रचलित किया करते हैं ॥ ७० ॥

पितृणामादिसर्गेण सर्वेषां द्विजसत्तम।
तस्मादेनं स्वधर्मेण श्राद्धदेवं वदन्ति वै ॥ ७१ ॥

'द्विजसत्तम! (यम) इन सब सात प्रकारके पितरोंके आदिमें उत्पन्न होते हैं और ये अपने धर्मके प्रवर्तक हैं। इस कारण इनको श्राद्धदेव कहते हैं ॥ ७१ ॥

सर्वेषां राजतं पात्रमथ वा रजतान्वितम्।
दत्तं स्वधां पुरोधाय श्राद्धं प्रीणाति वै पितॄन् ॥ ७२ ॥

इन सब पितरोंको चाँदीका या चाँदी मिला हुआ पात्र तथा 'स्वधा पितृभ्यः' कहकर दिया हुआ श्राद्ध तृप्ति एवं प्रसन्नता प्रदान करता है ॥ ७२ ॥

सोमस्याप्यायनं कृत्वा अग्नेर्वैवस्वतस्य च।
उदगायनमप्यग्नावग्न्यभावेऽप्सु वा पुनः ॥ ७३ ॥
पितॄन् प्रीणाति यो भक्त्या पितरः प्रीणयन्ति तम्।
यच्छन्ति पितरः पुष्टिं प्रजाश्च विपुलास्तथा ॥ ७४ ॥
स्वर्गमारोग्यमेवाथ यदन्यदपि चेप्सितम्।
देवकार्यादपि मुने पितृकार्यं विशिष्यते ॥ ७५ ॥

जो मनुष्य सोम, अग्नि और वैवस्वत यमका आप्यायन करके फिर अग्निमें उदगायन करता है अथवा अग्निके अभावमें जलमें उदगायन करके पितरोंको भक्तिपूर्वक तृप्त करता है, उसे पितर तृप्त करते हैं। तथा बहुत-सी संतान, पुष्टि, स्वर्ग एवं आरोग्य और समस्त अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान करते हैं। मुने! पितृकार्य देवकार्यसे भी श्रेष्ठ है ॥७३–७५ ॥

देवतानां हि पितरः पूर्वमाप्यायनं स्मृतम्।
शीघ्रप्रसादा ह्यक्रोधा लोकस्याप्यायनं परम् ॥ ७६ ॥

पितर आप्यायन (तृप्त) करनेपर देवताओंसे भी पहले प्रसन्न हो जाते हैं। ये पितर शीघ्र प्रसन्न होनेवाले तथा क्रोधरहित हैं और लोकोंको प्रसन्न रखनेवाले हैं ॥७६॥

स्थिरप्रसादाश्च सदा तान् नमस्यस्व भार्गव।
पितृभक्तोऽसि विप्रर्षे मद्भक्तश्च विशेषतः ॥ ७७ ॥

(सनत्कुमारजी मार्कण्डेय ऋषिसे कहते हैं) भार्गव! पितरोंका प्रसाद सदा स्थिर रहनेवाला होता है, इसलिये तुम उन्हें प्रणाम किया करो। विप्रर्षे! तुम पितरोंके भक्त हो और मेरे तो बहुत बड़े भक्त हो ॥ ७७ ॥

श्रेयस्तेऽद्य विधास्यामि प्रत्यक्षं कुरु तत् स्वयम्।
दिव्यं चक्षुः सविज्ञानं प्रदिशामि च तेऽनघ ॥ ७८ ॥

निष्पाप महर्षे! इसलिये मैं आज तुम्हारा कल्याण करूँगा, उसे तुम स्वयं प्रत्यक्ष देख लो। मैं तुम्हें विज्ञानसहित दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ ॥ ७८ ॥

गतिमेतामप्रमत्तो मार्कण्डेय निशामय।
न हि योगगतिर्दिव्या पितृणां च परा गतिः ॥ ७९ ॥
त्वद्विधेनापि सिद्धेन दृश्यते मांसचक्षुषा।
स एवमुक्त्वा देवेशो मामुपस्थितमग्रतः ॥ ८० ॥
चक्षुर्दत्त्वा सविज्ञानं देवानामपि दुर्लभम्।
जगाम गतिमिष्टां वै द्वितीयोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ ८१ ॥

मार्कण्डेय! अब तुम (श्राद्धके फलरूपमें मिलनेवाली) इस गतिको सावधान होकर देखो। तुम-जैसा सिद्ध पुरुष भी इस मांसमय चक्षुसे योगियोंकी दिव्य गतिको और पितरोंकी परा गतिको नहीं देख सकता। यों कहकर वे देवेश सामने खड़े हुए मुझको देवताओंके लिये भी दुर्लभ विज्ञानसहित दिव्य नेत्र देकर द्वितीय अग्निके समान प्रकाशित होते हुए अपने इष्ट-स्थानको चले गये ॥ ७९–८१ ॥

तन्निबोध कुरुश्रेष्ठ यन्मयासीन्निशामितम्।
प्रसादात् तस्य देवस्य दुर्ज्ञेयं भुवि मानुषैः ॥ ८२ ॥

कुरुश्रेष्ठ भीष्म! उन देवताकी कृपासे मैंने जो घटना देखी थी, उसे तुम सुनो। पृथिवीमें उस घटनाका जानना मनुष्योंके लिये महाकठिन है ॥ ८२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि पितृकल्पे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पितृकल्पविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

पितृकल्प—भरद्वाजके पुत्रोंकी कथा, योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गति, योगसिद्धिके अधिकारी पुरुषोंके लक्षण तथा मार्कण्डेय-सनत्कुमार-संवादकी समाप्ति

मार्कण्डेय उवाच

आसन् पूर्वयुगे तात भरद्वाजात्मजा द्विजाः ।
योगधर्ममनुप्राप्य भ्रष्टा दुश्चरितेन वै ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—(सनत्कुमारजीने अन्तर्धान होनेसे पहले मुझसे इस प्रकार कहा—) तात ! पूर्वयुगमें कुछ ब्राह्मण रहते थे, जो भरद्वाजके पुत्र थे । वे योगधर्मका सेवन करते-करते दुराचारमें फँस जानेके कारण (स्वर्गसे) भ्रष्ट हो गये थे॥ १ ॥

अपभ्रंशमनुप्राप्ता योगधर्मोपचारिणः ।
महतः सरसः पारे मानसस्य विसंस्थिताः ॥ २ ॥

वे योगधर्मका उल्लङ्घन करनेवाले ब्राह्मण अचेतन-से होकर महान् मानसरोवरके तटपर आकर गिरे॥ २ ॥

तमेवार्थमनुध्यायन्तो नष्टमप्स्विव मोहिताः ।
अप्राप्य योगं ते सर्वे संयुक्ताः कालधर्मणा ॥ ३ ॥

वे सभी जलमें डूबते हुए पुरुषके समान मोहमें पड़ गये और उसी योगविषयका विचार करते-करते योगके तत्त्वको बिना पाये ही मर गये॥ ३ ॥

ततस्ते योगविभ्रष्टा देवेषु सुचिरोषिताः ।
जाताः कौशिकदायादाः कुरुक्षेत्रे नरर्षभाः ॥ ४ ॥

अब वे योगभ्रष्ट नरश्रेष्ठ भरद्वाज-पुत्र, जो दीर्घकालतक देवताओंमें रह चुके हैं, कुरुक्षेत्रमें कौशिकके पुत्र बनकर उत्पन्न होंगे ॥ ४ ॥

हिंसया विहरिष्यन्तो धर्मं पितृकृतेन वै ।
ततस्ते पुनराजातिं भ्रष्टाः प्राप्स्यन्ति कुत्सिताम् ॥ ५ ॥

वे (ब्राह्मण होनेपर भी) पितरोंके लिये धर्म (श्राद्ध) के बहाने हिंसा करेंगे फिर वह हिंसारूपी पाप करनेके कारण भ्रष्ट होकर कुत्सित योनिमें उत्पन्न होंगे ॥ ५ ॥

तेषां पितृप्रसादेन पूर्वजातिकृतेन वै ।
स्मृतिरुत्पत्स्यते प्राप्य तां तां जातिं जुगुप्सिताम् ॥ ६ ॥

परंतु पूर्वजन्मके पितरोंकी कृपाके कारण उस-उस निन्दित योनिमें उत्पन्न होनेपर भी उनको पूर्वजन्मकी स्मृति बनी रहेगी ॥ ६ ॥

ते धर्मचारिणो नित्यं भविष्यन्ति समाहिताः ।
ब्राह्मण्यं प्रतिलप्स्यन्ति ततो भूयः स्वकर्मणा ॥ ७ ॥

वे प्रत्येक जन्ममें धर्मात्मा रहकर अपने चित्तको सावधान रखेंगे और (अन्तमें) अपने कर्मवश फिर ब्राह्मणत्वको प्राप्त कर लेंगे ॥ ७ ॥

ततश्च योगं प्राप्स्यन्ति पूर्वजातिकृतं पुनः ।
भूयः सिद्धिमनुप्राप्ताः स्थानं प्राप्स्यन्ति शाश्वतम् ॥ ८ ॥

उस जन्ममें वे पुनः अपने पूर्वजन्मके योगको पायेंगे और फिर सिद्धिको पाकर शाश्वत स्थानको प्राप्त करेंगे ॥ ८ ॥

एवं धर्मे च ते बुद्धिर्भविष्यति पुनः पुनः ।
योगधर्मे च नितरां प्राप्स्यसे बुद्धिमुत्तमाम् ॥ ९ ॥

इसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि भी बारंबार धर्ममें ही लगी रहेगी और तुम्हें योगधर्मके विषयमें सब प्रकारसे उत्तम बुद्धि प्राप्त होगी ॥ ९ ॥

योगो हि दुर्लभो नित्यमल्पप्रज्ञैः कदाचन ।
लब्ध्वापि नाशयन्त्येनं व्यसनैः क्रूरतामिताः ।
अधर्मेष्वेव वर्तन्ते प्रार्दयन्ते गुरूनपि ॥ १० ॥

अल्पबुद्धि मनुष्योंको योगसिद्धि मिलना सदा दुर्लभ है । उन्हें कदाचित् योगसिद्धि मिल भी जाय तो वे (मृगया आदि) व्यसनोंसे क्रूर होकर उसे नष्ट कर डालते हैं । वे अधर्मके कामोंमें ही लगे रहते हैं तथा अपने गुरुजनोंको भी कष्टमें डालते रहते हैं ॥ १० ॥

याचन्ते न त्वयाच्यानि रक्षन्ति शरणागतान् ।
नावजानन्ति कृपणान् माद्यन्ते न धनोष्मणा ॥ ११ ॥
युक्ताहारविहाराश्च युक्तचेष्टाः स्वकर्मसु ।
ध्यानाध्ययनयुक्ताश्च न नष्टानुगवेषिणः ॥ १२ ॥
नोपभोगरता नित्यं न मांसमधुभक्षणाः ।
न च कामपरा नित्यं न विप्रासेविनस्तथा ॥ १३ ॥
नानार्यसंकथासक्ता नालस्योपहतास्तथा ।
नात्यन्तमानसंसक्ता गोष्ठीषु निरतास्तथा ॥ १४ ॥
प्राप्नुवन्ति नरा योगं योगो वै दुर्लभो भुवि ।
प्रशान्ताश्च जितक्रोधा मानाहंकारवर्जिताः ॥ १५ ॥

जो अयाच्यसे याचना नहीं करते, शरणागतोंकी रक्षा करते हैं, कृपण (दीन) पुरुषोंका अपमान नहीं करते तथा जो धनकी गर्मीसे मदमत्त नहीं होते, जिनका आहार-विहार शास्त्रानुकूल होता है, जो अपने कर्मोंमें शास्त्रानुसार चेष्टा करते हैं, ईश्वरके ध्यान तथा स्वाध्यायमें परायण रहते हैं, नष्ट हुई वस्तुको पानेके लिये चोर आदिको नहीं ढूँढ़ते, सर्वदा भोगमें ही लीन नहीं रहते, सर्वदा मधु-मांसका भक्षण नहीं करते और सर्वदा काम-परायण भी नहीं रहते तथा जो सर्वदा ब्राह्मणोंकी सेवा करते हैं, अनार्य पुरुषोंकी बातोंमें आसक्त नहीं होते, जिनको कभी आलस्य नहीं सताता, जो अत्यन्त अभिमानमें आसक्त नहीं रहते,

सदा आत्ममीमांसा करनेमें लगे रहते हैं, ऐसे शान्त चित्तवाले, क्रोधको जीतनेवाले, मान तथा अहंकाररहित मनुष्योंको योगसिद्धि मिलती है; क्योंकि पृथ्वीमें योगकी प्राप्ति अति दुर्लभ है ॥

कल्याणभाजनं ये तु ते भवन्ति यतव्रताः ।
एवंविधास्तु ते तात ब्राह्मणा ह्यभवंस्तदा ॥ १६ ॥

ऐसे व्रतोंका पालन करनेवाले मनुष्य ही कल्याणके पात्र होते हैं। तात ! वे (भरद्वाजपुत्र) ऐसे ही ब्राह्मण बनकर उत्पन्न हुए हैं ॥ १६ ॥

स्मरन्ति ह्यात्मनो दोषं प्रमादकृतमेव तु ।
ध्यानाध्ययनयुक्ताश्च शान्ते वर्त्मनि संस्थिताः ॥ १७ ॥

वे अपने प्रमादवश हुए दोषका स्मरण करते रहते हैं और ध्यान तथा स्वाध्यायमें लगे रहकर शान्त मार्गमें स्थित रहते थे ॥

योगधर्मो हि धर्मज्ञ न धर्मोऽस्ति विशेषवान् ।
वरिष्ठः सर्वधर्माणां तमेवाचर भार्गव ॥ १८ ॥

धर्मज्ञ भार्गव ! योगधर्मसे श्रेष्ठ और कोई धर्म नहीं है। वह सभी धर्मोंसे श्रेष्ठ है, अतः तुम उसीका आचरण करो ॥१८॥

कालस्य परिणामेन लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
तत्परः प्रयतः श्राद्धी योगधर्ममवाप्स्यसि ॥ १९ ॥

यदि तुम श्रद्धापूर्वक प्रयत्नशील एवं योगधर्ममें परायण रहकर हलका भोजन करते हुए जितेन्द्रिय रहोगे तो कालक्रमसे तुम्हें योगसिद्धि प्राप्त हो जायगी ॥ १९ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् देवस्तत्रैवान्तरधीयत ।
अष्टादशैव वर्षाणि त्वेकाहमिव मेऽभवत् ॥ २० ॥

(मार्कण्डेयजी कहते हैं कि) इतनी बातें कहकर भगवान् सनत्कुमार वहीं अन्तर्धान हो गये। ये (सनत्कुमारकी सेवामें बीते हुए) अठारह वर्ष मुझे एक दिनके समान प्रतीत हुए ॥ २० ॥

उपासतस्तं देवेशं वर्षाण्यष्टादशैव मे ।
प्रसादात् तस्य देवस्य न ग्लानिरभवत् तदा ॥ २१ ॥

अठारह वर्षतक उन देवेशकी उपासना करते रहनेपर भी उनकी कृपाके कारण उस समय मुझे कुछ भी ग्लानि नहीं हुई ॥ २१ ॥

न क्षुत्पिपासे कालं वा जानामि स्म तदानघ ।
पश्चाच्छिष्यसकाशात् तु कालः संविदितो मया ॥ २२ ॥

निष्पाप ! मुझे भूख, प्यास और समय आदि कुछ न मालूम हुआ। बादमें शिष्यके द्वारा मुझे समयका पता लगा ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि पितृकल्पे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पितृकल्पविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

पितृकल्प—ब्रह्मदत्त और उग्रायुधके वंश तथा पूजनीया चिड़ियाद्वारा शुक्रनीतिका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

तस्मिन्नन्तर्हिते देवे वचनात् तस्य वै प्रभोः ।
चक्षुर्दिव्यं सविज्ञानं प्रादुरासीत् तदा मम ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—उन सनत्कुमारदेवके अन्तर्धान होनेपर उन्हीं प्रभुके वरदानसे मुझे दिव्य विज्ञानमय नेत्र प्राप्त हो गया ॥ १ ॥

ततोऽहं तानपश्यं वै ब्राह्मणान् कौशिकात्मजान् ।
आपगेय कुरुक्षेत्रे यानुवाच विभुर्मम ॥ २ ॥

गङ्गानन्दन भीष्म ! तब मैंने उन कौशिकपुत्र ब्राह्मणोंको कुरुक्षेत्रमें देखा, जिनका विभु सनत्कुमारजीने मुझसे वर्णन किया था ॥ २ ॥

ब्रह्मदत्तोऽभवद् राजा यस्तेषां सप्तमो द्विजः ।
पितृवर्तीति विख्यातो नाम्ना शीलेन कर्मणा ॥ ३ ॥

उन कुशिकपुत्रोंमें जो सातवाँ पितृवर्ती नामसे विख्यात ब्राह्मण था, वह अपने शील और कर्मसे (सातवें जन्ममें) ब्रह्मदत्त नामक राजा हुआ ॥ ३ ॥

शुकस्य कन्या कृत्वी तं जनयामास पार्थिवम् ।
अणुहात् पार्थिवश्रेष्ठात् काम्पिल्ये नगरोत्तमे ॥ ४ ॥

काम्पिल्यनामक श्रेष्ठ नगरमें पार्थिवश्रेष्ठ अणुहके यहाँ शुककी कन्या कृत्वीके उदरसे राजा ब्रह्मदत्त उत्पन्न हुआ ॥

भीष्म उवाच

यथोवाच महाभागो मार्कण्डेयो महातपाः ।
तस्य वंशमहं राजन् कीर्तयिष्यामि तच्छृणु ॥ ५ ॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! महाभाग्यवान् एवं महातपस्वी मार्कण्डेयजीने जिस प्रकार मुझसे कहा था, (उसी तरह) मैं उस राजाके वंशका वर्णन करूँगा, तुम सुनो—॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अणुहः कस्य वै पुत्रः कस्मिन् काले बभूव ह ।
राजा धर्मभृतां श्रेष्ठो यस्य पुत्रो महायशाः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—(पितामह !) जिनके पुत्र महायशस्वी (ब्रह्मदत्त) थे, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ वे राजा अणुह किनके पुत्र थे और किस समय उत्पन्न हुए थे ? ॥ ६ ॥

ब्रह्मदत्तो नरपतिः किंवीर्यः स बभूव ह।
कथं च सप्तमस्तेषां स बभूव नराधिप॥ ७॥

राजा ब्रह्मदत्तका पराक्रम कैसा था? और वे उन (भरद्वाजपुत्रों) में सातवें कैसे थे? ॥ ७॥

न ह्यल्पवीर्याय शुको भगवाँल्लोकपूजितः।
कन्यां प्रदद्याद् योगात्मा कृत्वीं कीर्तिमतीं प्रभुः॥ ८॥

लोकोंमें पूजनीय योगकी मूर्ति सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् शुकदेवजीने अपनी कीर्तिमती कन्या कृत्वीको किसी साधारण शक्तिवाले पुरुषके हाथमें नहीं दिया होगा॥ ८॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महाद्युते।
ब्रह्मदत्तस्य चरितं तद् भवान् वक्तुमर्हति॥ ९॥

महाद्युते! मैं ब्रह्मदत्तके इस चरित्रको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ, अतः आप उसका वर्णन कीजिये॥ ९॥

यथा च वर्तमानास्ते संसारे च द्विजातयः।
मार्कण्डेयेन कथितास्तद् भवान् प्रब्रवीतु मे॥ १०॥

मार्कण्डेयजीने उन द्विजोंके संसारमें विचरण करनेका वृत्तान्त जिस प्रकार कहा हो, उसे आप उसी भाँति मुझसे कहिये॥ १०॥

भीष्म उवाच

प्रतीपस्य तु राजर्षेस्तुल्यकालो नराधिपः।
पितामहस्य मे राजन् बभूवेति मया श्रुतम्॥ ११॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! मैंने सुना है कि राजा ब्रह्मदत्त मेरे पितामह राजर्षि प्रतीपके समयमें ही हुए थे॥

ब्रह्मदत्तो महाभागो योगी राजर्षिसत्तमः।
रुतज्ञः सर्वभूतानां सर्वभूतहिते रतः॥ १२॥

ब्रह्मदत्त सब प्राणियोंके हितमें लगे रहनेवाले, राजर्षियोंमें श्रेष्ठ, महाभाग्यवान् और योगी थे। वे सभी प्राणियोंकी बोली समझ लेते थे॥ १२॥

सखाऽऽस गालवो यस्य योगाचार्यो महायशाः।
शिक्षामुत्पाद्य तपसा क्रमो येन प्रवर्तितः।
कण्डरीकश्च योगात्मा तस्यैव सचिवो महान्॥ १३॥

जिन्होंने तपोबलसे वेदाङ्गभूत शिक्षाका आविर्भाव करके वैदिक संहिताके मन्त्रोंका क्रमपाठ प्रचलित किया था, वे महायशस्वी योगाचार्य गालव ब्रह्मदत्तके सखा थे। तथा योगात्मा कण्डरीक इन्हीं राजाके प्रधान मन्त्री थे॥ १३॥

जात्यन्तरेषु सर्वेषु सखायः सर्व एव ते।
सप्तजातिषु सप्तैव बभूवुरमितौजसः।
यथोवाच महाभागो मार्कण्डेयो महातपाः॥ १४॥
तस्य वंशमहं राजन् कीर्तयिष्यामि तच्छृणु।
ब्रह्मदत्तस्य पौराणां पौरवस्य महात्मनः॥ १५॥

इन सात भरद्वाजपुत्रोंके सात जातियोंमें सात बार जन्म हुए थे और ये सभी अमिततेजस्वी द्विज उन सम्पूर्ण जन्मान्तरोंमें एक दूसरेके मित्र बने रहते थे। राजन्! महाभाग्यवान् एवं महातपस्वी मार्कण्डेयजीने जिस प्रकार मुझसे कहा था, उसी प्रकार मैं पुरुवंशियों एवं पुरुवंशी महात्मा ब्रह्मदत्तके वंशका वर्णन करता हूँ, उसे सुनो॥ १४-१५॥

बृहत्क्षत्रस्य दायादः सुहोत्रो नाम धार्मिकः।
सुहोत्रस्यापि दायादो हस्ती नाम बभूव ह॥ १६॥

बृहत्क्षत्रके पुत्र धार्मिक सुहोत्र हुए और सुहोत्रके भी पुत्र हस्ती हुए॥ १६॥

तेनेदं निर्मितं पूर्वं हस्तिनापुरमुत्तमम्।
हस्तिनश्चापि दायादास्त्रयः परमधार्मिकाः॥ १७॥
अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढस्तथैव च।
अजमीढस्य धूमिन्यां जज्ञे बृहदिषुर्नृप।
बृहद्धनुर्बृहदिषोः पुत्रस्तस्य महायशाः॥ १८॥

राजन्! उन्होंने ही इस उत्तम हस्तिनापुरको बसाया था। हस्तीके भी अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ नामवाले परम धार्मिक तीन पुत्र हुए। अजमीढके धूमिनी नामकी पत्नीके गर्भसे बृहदिषु उत्पन्न हुए और बृहदिषुके पुत्र महायशस्वी बृहद्धनु हुए॥ १७-१८॥

बृहद्धर्मेति विख्यातो राजा परमधार्मिकः।
सत्यजित् तनयस्तस्य विश्वजित् तस्य चात्मजः॥ १९॥

वे परम धर्मात्मा राजा बृहद्धर्मा नामसे भी प्रसिद्ध थे। उनके पुत्र सत्यजित् हुए और सत्यजित्के पुत्र विश्वजित् हुए॥

पुत्रो विश्वजितश्चापि सेनजित् पृथिवीपतिः।
पुत्राः सेनजितश्चासंश्चत्वारो लोकविश्रुताः॥ २०॥

विश्वजित्के भी पुत्र राजा सेनजित् हुए और सेनजित्के चार पुत्र हुए, जो समस्त विश्वमें विख्यात थे॥ २०॥

रुचिरः श्वेतकेतुश्च महिम्नारस्तथैव च।
वत्सश्चावन्तको राजा यस्यैते परिवत्सकाः॥ २१॥

राजा (सेनजित्) अवन्तीमें रहते थे। उनके रुचिर, श्वेतकेतु, महिम्नार और वत्स नामक (चार) पुत्र थे॥२१॥

रुचिरस्य तु दायादः पृथुसेनो महायशाः।
पृथुसेनस्य पारस्तु पारान्नीपस्तु जज्ञिवान्॥ २२॥

रुचिरके पुत्र महायशस्वी पृथुसेन हुए। पृथुसेनके पार और पारके पुत्र नीप हुए॥ २२॥

नीपस्यैकशतं तात पुत्राणाममितौजसाम्।
महारथानां राजेन्द्र शूराणां बाहुशालिनाम्।
नीपा इति समाख्याता राजानः सर्व एव ते॥ २३॥

तात! नीपके परम पराक्रमी, बाहुशाली एवं महारथी सौ वीर पुत्र उत्पन्न हुए। राजेन्द्र! वे सब नीपवंशी राजा कहलाते थे॥ २३॥

तेषां वंशकरो राजा नीपानां कीर्तिवर्धनः।
काम्पिल्ये समरो नाम स चेष्टसमरोऽभवत् ॥ २४ ॥

काम्पिल्य नगरमें उन नीपोंके वंशप्रवर्तक एवं कीर्तिवर्धक राजा समर हुए। उनको संग्राम बहुत प्रिय था ॥ २४ ॥

समरस्य परः पारः सदश्व इति ते त्रयः।
पुत्राः परमधर्मज्ञाः परपुत्रः पृथुर्बभौ ॥ २५ ॥

समरके पर, पार और सदश्व—ये तीन परम धर्मज्ञ पुत्र हुए। परके पुत्र पृथु हुए ॥ २५ ॥

पृथोस्तु सुकृतो नाम सुकृतेनेह कर्मणा।
जज्ञे सर्वगुणोपेतो विभ्राजस्तस्य चात्मजः ॥ २६ ॥

संसारमें पुण्यकर्म (सुकृत) करनेके कारण पृथुके सर्वगुणसम्पन्न सुकृत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और सुकृतके पुत्र विभ्राज हुए ॥ २६ ॥

विभ्राजस्य तु पुत्रोऽभूदणुहो नाम पार्थिवः।
बभौ शुकस्य जामाता कृत्वीभर्ता महायशाः ॥ २७ ॥

विभ्राजके पुत्र अणुह हुए। वे महायशस्वी राजा शुकके जामाता और कृत्वीके भर्ताके रूपमें वे सुशोभित हुए ॥

पुत्रोऽणुहस्य राजर्षिर्ब्रह्मदत्तोऽभवत् प्रभुः।
योगात्मा तस्य तनयो विष्वक्सेनः परंतपः ॥ २८ ॥
विभ्राजः पुनरायातः स्वकृतेनेह कर्मणा।

अणुहके पुत्र राजर्षि ब्रह्मदत्त हुए। उनके पुत्र योगात्मा विष्वक्सेन हुए, जो बड़े प्रभावशाली और शत्रुओंको संतप्त करनेवाले थे। विभ्राज अपने कर्मके कारण ब्रह्मदत्तके पुत्र (विष्वक्सेन) बनकर फिर उत्पन्न हुए थे ॥ २८½ ॥

ब्रह्मदत्तस्य पुत्रोऽन्यः सर्वसेन इति श्रुतः ॥ २९ ॥
चक्षुषी तस्य निर्भिन्ने पक्षिण्या पूजनीयया।
सुचिरोषितया राजन् ब्रह्मदत्तस्य वेश्मनि ॥ ३० ॥

ब्रह्मदत्तके दूसरे पुत्र सर्वसेन नामसे प्रसिद्ध थे। राजन्! उनके दोनों नेत्रोंको बहुत समयसे ब्रह्मदत्तके महलमें रहनेवाली पूजनीया नामकी पक्षिणी (चिड़िया) ने फोड़ दिया था ॥ २९-३० ॥

अथास्य पुत्रस्त्वपरो ब्रह्मदत्तस्य जज्ञिवान्।
विष्वक्सेन इति ख्यातो महाबलपराक्रमः ॥ ३१ ॥

तदनन्तर ब्रह्मदत्तके दूसरा पुत्र उत्पन्न हुआ। यह महाबली एवं पराक्रमी (विभ्राजावतार) विष्वक्सेनके नामसे प्रसिद्ध था ॥ ३१ ॥

विष्वक्सेनस्य पुत्रोऽभूद् दण्डसेनो महीपतिः।
भल्लाटोऽस्य कुमारोऽभूद् राधेयेन हतः पुरा ॥ ३२ ॥

विष्वक्सेनके पुत्र राजा दण्डसेन हुए। इनका पुत्र भल्लाट हुआ, जिसे राधापुत्र कर्णने मार डाला था ॥ ३२ ॥

दण्डसेनात्मजः शूरो महात्मा कुलवर्धनः।
भाल्लाटपुत्रो दुर्बुद्धिरभवच्च युधिष्ठिर ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर! दण्डसेनका पुत्र भल्लाट शूरवीर, महात्मा और कुलको बढ़ानेवाला था; परंतु भल्लाटका पुत्र बड़ा दुर्बुद्धि निकला ॥ ३३ ॥

स तेषामभवद् राजा नीपानामन्तकृन्नृप।
तेन उग्रायुधस्यार्थे सर्वे नीपा विनाशिताः ॥ ३४ ॥

राजन्! वह उन नीपोंका अन्त करनेवाला राजा हुआ। उसने उग्रायुधके लिये समस्त नीपोंका विनाश करवा दिया था ॥

उग्रायुधो मदोत्सिक्तो मया विनिहतो युधि।
दर्पान्वितो दर्परुचिः सततं चानये रतः ॥ ३५ ॥

निरन्तर अनीतिमें लगे रहनेवाले और दर्पमें रुचि रखनेवाले उस अभिमानी मदोन्मत्त उग्रायुधको मैंने ही युद्धमें मार डाला था ॥

युधिष्ठिर उवाच

उग्रायुधः कस्य सुतः कस्मिन् वंशेऽथ जज्ञिवान्।
किमर्थं चैव भवता निहतस्तद् ब्रवीहि मे ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—(दादाजी!) उग्रायुध किसका पुत्र था, किस वंशमें उत्पन्न हुआ था और आपने उसे क्यों मार डाला? यह मुझे बताइये ॥ ३६ ॥

भीष्म उवाच

अजमीढस्य दायादो विद्वान् राजा यवीनरः।
धृतिमांस्तस्य पुत्रस्तु तस्य सत्यधृतिः सुतः ॥ ३७ ॥

भीष्मजीने कहा—अजमीढके पुत्र विद्वान् राजा यवीनर थे। उनके पुत्र धृतिमान् हुए और धृतिमान्‌के पुत्र सत्यधृति थे ॥ ३७ ॥

जज्ञे सत्यधृतेः पुत्रो दृढनेमिः प्रतापवान्।
दृढनेमिसुतश्चापि सुधर्मा नाम पार्थिवः ॥ ३८ ॥

सत्यधृतिके प्रतापी पुत्र दृढनेमि हुए। दृढनेमिके पुत्र राजा सुधर्मा थे ॥ ३८ ॥

आसीत् सुधर्मणः पुत्रः सार्वभौमः प्रजेश्वरः।
सार्वभौम इति ख्यातः पृथिव्यामेकराड् विभुः ॥ ३९ ॥

सुधर्माके पुत्र प्रजापालक सार्वभौम हुए, जो समस्त पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् थे। इसीलिये सार्वभौम नामसे प्रसिद्ध हुए थे ॥ ३९ ॥

तस्यान्ववाये महति महान् पौरवनन्दनः।
महतश्चापि पुत्रस्तु राजा रुक्मरथः स्मृतः ॥ ४० ॥

उनके महनीय वंशमें पौरवोंको प्रसन्न करनेवाले महान् नामक राजा हुए। महान्‌के पुत्र राजा रुक्मरथ हुए ॥४०॥

पुत्रो रुक्मरथस्यापि सुपार्श्वो नाम पार्थिवः।
सुपार्श्वतनयश्चापि सुमतिर्नाम धार्मिकः ॥ ४१ ॥

रुक्मरथके पुत्र राजा सुपार्श्व हुए। सुपार्श्वके पुत्र सुमति हुए, जो बड़े धार्मिक थे ॥ ४१ ॥

सुमतेरपि धर्मात्मा संनतिर्नाम वीर्यवान्।
तस्य वै संनतेः पुत्रः कृतो नाम महाबलः॥ ४२॥

सुमतिके पुत्र संनति हुए, जो वीर्यवान् और धर्मात्मा थे। उन संनतिके पुत्र महाबली कृत हुए॥ ४२॥

शिष्यो हिरण्यनाभस्य कौशलस्य महात्मनः।
चतुर्विंशतिधा तेन सप्राच्याः सामसंहिताः॥ ४३॥
स्मृतास्ते प्राच्यसामानः कार्तयो नाम सामगाः।

वे कोशलदेशीय महात्मा हिरण्यनाभके शिष्य थे। उन्होंने प्राचीन साम-संहिताके चौबीस विभाग किये थे, जो प्राच्यसाम कहलाते हैं और उन सामोंका गान करनेवाले कीर्ति-सामग कहे जाते हैं॥ ४३½॥

कार्तिरुग्रायुधः सोऽथ वीरः पौरवनन्दनः॥ ४४॥
बभूव येन विक्रम्य पृषतस्य पितामहः।
नीपो नाम महातेजाः पञ्चालाधिपतिर्हतः॥ ४५॥

इन्हीं कृतके पुत्र पौरवनन्दन वीर उग्रायुध थे, जिन्होंने अपने पराक्रमसे पाञ्चालोंके स्वामी पृषतके पितामह महातेजस्वी नीपको मार डाला था॥ ४४-४५॥

उग्रायुधस्य दायादः क्षेम्यो नाम महायशाः।
क्षेम्यात् सुवीरो नृपतिः सुवीरात् तु नृपंजयः॥ ४६॥
नृपंजयाद् बहुरथ इत्येते पौरवाः स्मृताः।

उग्रायुधके पुत्र महायशस्वी क्षेम्य हुए। क्षेम्यके पुत्र राजा सुवीर हुए और सुवीरके पुत्र नृपंजय हुए। नृपंजयके पुत्र बहुरथ हुए वे ही पौरव कहलाते हैं॥ ४६½॥

स चाप्युग्रायुधस्तात दुर्बुद्धिरभवत् तदा॥ ४७॥
प्रवृद्धचक्रो बलवान् नीपान्तकरणो महान्।
स दर्पपूर्णो हत्वाऽऽजौ नीपानन्यांश्च पार्थिवान्॥ ४८॥

तात! वे उग्रायुध बड़े दुष्ट स्वभाववाले और बलवान् थे। उनका महान् चक्र चलता था। उन्होंने नीपोंका घोर संहार करा डाला। वे नीपों तथा दूसरे राजाओंका युद्धमें वध करके घमंडसे भर गये॥ ४७-४८॥

पितर्युपरते मह्यं श्रावयामास किल्बिषम्।
मामामात्यैः परिवृतं शयानं धरणीतले॥ ४९॥

जिस समय मेरे पिता मर गये थे और मैं मन्त्रियोंसे घिरा हुआ पृथ्वीपर शयन करता था, उसी समय उन्होंने मुझसे बड़ी कुत्सित (पापपूर्ण) बात कहलायी॥ ४९॥

उग्रायुधस्य राजेन्द्र दूतोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत्।
अद्य त्वं जननीं भीष्म गन्धकालीं यशस्विनीम्।
स्त्रीरत्नं मम भार्यार्थे प्रयच्छ कुरुपुङ्गव॥ ५०॥

राजेन्द्र! उग्रायुधका दूत मेरे पास आकर कहने लगा—'कुरुपुङ्गव भीष्म! आज तुम स्त्रियोंमें रत्नस्वरूप अपनी माता यशस्विनी गन्धकालीको मेरी भार्या बननेके लिये दे दो॥ ५०॥

एवं राज्यं च ते स्फीतं धनानि च न संशयः।
प्रदास्यामि यथाकाममहं वै रत्नभाग् भुवि॥ ५१॥

'यदि तुम ऐसा करोगे तो निस्संदेह मैं तुम्हें इच्छानुसार विशाल राज्य तथा धन दूँगा और मैं (गन्धकालीको पाकर) इस भूतलपर रत्नका भागी हो जाऊँगा॥ ५१॥

मम प्रज्वलितं चक्रं निशाम्येदं सुदुर्जयम्।
शत्रवो विद्रवन्त्याजौ दर्शनादेव भारत॥ ५२॥

'भारत! मेरे इस परम दुर्जय एवं जाज्वल्यमान चक्रका दर्शन करके शत्रुगण युद्धमें मुझे देखते ही भाग खड़े होते हैं॥ ५२॥

राष्ट्रस्येच्छसि चेत् स्वस्ति प्राणानां वा कुलस्य वा।
शासने मम तिष्ठस्व न हि ते शान्तिरन्यथा॥ ५३॥

'तुम यदि राज्य, कुल एवं अपने प्राणोंका कल्याण चाहते हो तो मेरी आज्ञा मान लो, नहीं तो चैनसे न रह सकोगे'॥ ५३॥

अधः प्रस्तारशयने शयानस्तेन चोदितः।
दूतान्तर्हितमेतद् वै वाक्यमग्निशिखोपमम्॥ ५४॥

जब मैं भूमिपर कुशाओंकी शय्यापर सो रहा था, उस समय उसने दूतके द्वारा यह अग्निकी ज्वालाके समान (जलानेवाली) बात कहलायी थी॥ ५४॥

ततोऽहं तस्य दुर्बुद्धेर्विज्ञाय मतमच्युत।
आज्ञापयं वै संग्रामे सेनाध्यक्षांश्च सर्वशः॥ ५५॥

अच्युत! तब मैंने उस दुर्बुद्धिके अभिप्रायको जानकर अपने सेनापतियोंको सब प्रकारसे संग्राम करनेकी आज्ञा दे दी॥ ५५॥

विचित्रवीर्यं बालं च मदुपाश्रयमेव च।
दृष्ट्वा क्रोधपरीतात्मा युद्धायैव मनो दधे॥ ५६॥

विचित्रवीर्य मेरे आश्रयमें रहता है तथा यह बालक होनेके कारण युद्ध भी नहीं कर सकता, इस बातको देखकर क्रोधमें भरकर मैंने स्वयं ही युद्ध करनेका विचार किया॥ ५६॥

निगृहीतस्तदाहं तैः सचिवैर्मन्त्रकोविदैः।
ऋत्विग्भिर्वेदकल्पैश्च सुहृद्भिश्चार्थदर्शिभिः॥ ५७॥
स्निग्धैश्च शास्त्रविद्भिश्च संयुगस्य निवर्तने।
कारणं भावितश्चास्मि युक्तरूपं तदानघ॥ ५८॥

निष्पाप! उस समय मन्त्रज्ञ मन्त्रियों, वेदज्ञ ऋत्विजों, तत्त्वदर्शी मित्रों और शास्त्रवेत्ता स्नेही पुरुषोंने मुझे युद्ध करनेसे रोक दिया और इसका उचित कारण भी बताया॥

मन्त्रिण ऊचुः

प्रवृत्तचक्रः पापोऽसौ त्वं चाशौचगतः प्रभो।
न चैष प्रथमः कल्पो युद्धं नाम कदाचन॥ ५९॥

मन्त्रियोंने कहा—प्रभो! उस पापीका चक्र चल रहा है और आपको अशौच लगा हुआ है, अतः यह युद्ध प्रथम कल्प कभी नहीं माना जा सकता॥ ५९॥

ते वयं सामपूर्वं वै दानं भेदं तथैव च ।
प्रयोक्ष्यामस्ततः शुद्धो दैवतान्यभिवाद्य च ॥ ६० ॥
कृतस्वस्त्ययनो विप्रैर्वह्नीन् सम्पूज्य च द्विजान् ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः प्रयास्यसि जयाय वै ॥ ६१ ॥

हम पहले उसपर साम, दान और भेद नीतियोंका प्रयोग करेंगे। तबतक आप शुद्ध भी हो जायँगे, फिर आप देवताओंको प्रणाम करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर अग्नि और ब्राह्मणोंकी पूजा करनेके बाद ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर विजयके लिये प्रस्थान कीजियेगा ॥ ६०-६१ ॥

अस्त्राणि न प्रयोज्यानि न प्रवेश्यश्च संगरः ।
अशौचे वर्तमाने तु वृद्धानामिति शासनम् ॥ ६२ ॥

वृद्धोंका कथन है कि जब अशौच चल रहा हो, उस समय अस्त्रोंका प्रयोग और युद्धमे प्रवेश नहीं करना चाहिये ॥ ६२ ॥

सामदानादिभिः पूर्वमपि भेदेन वा ततः ।
तं हनिष्यसि विक्रम्य शम्बरं मघवानिव ॥ ६३ ॥

अतः पहले साम, दान, भेदसे इसको वशमें करनेका यत्न किया जाय (तब भी न माने तो) फिर जैसे इन्द्रने शम्बरासुरको मार डाला था, उसी प्रकार पराक्रम करके आप इसको मार डालियेगा ॥ ६३ ॥

प्राज्ञानां वचनं काले वृद्धानां च विशेषतः ।
श्रोतव्यमिति तच्छ्रुत्वा निवृत्तोऽस्मि नराधिप ॥ ६४ ॥

समय पड़नेपर बुद्धिमानों और वृद्धोंकी बात विशेषरूपसे सुननी चाहिये। राजन्! यह सुनकर मैं युद्धसे रुक गया ॥६४॥

ततस्तैः संक्रमः सर्वैः प्रयुक्तः शास्त्रकोविदैः ।
तस्मिन् काले कुरुश्रेष्ठ कर्म चारब्धमुत्तमम् ॥ ६५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तब उन शास्त्रज्ञानमें चतुर सम्पूर्ण मन्त्रियोंने साम, दान, भेद आदि दूसरे उपायोंद्वारा शान्ति-स्थापनका प्रयोग किया और इसके लिये उत्तम कार्य आरम्भ कर दिया ॥ ६५ ॥

स सामादिभिरेवाद्यावुपायैः प्राज्ञचिन्तितैः ।
अनुनीयमानो दुर्बुद्धिरनुनेतुं न शक्यते ॥ ६६ ॥

परंतु वे बुद्धिमानोंके विचारे हुए साम, दान आदि उपायोका प्रयोग करके भी उस दुर्बुद्धिको न समझा सके ॥ ६६ ॥

प्रवृत्तं तस्य तच्चक्रमधर्मनिरतस्य वै ।
परदाराभिलाषेण सद्यस्तात निवर्तितम् ॥ ६७ ॥

तात ! इतने समयमें अधर्ममें मग्न रहनेवाले उग्रायुधका प्रतापचक्र भी पर-स्त्रीकी कामना करनेसे तत्क्षण ही रुक गया ॥ ६७ ॥

न त्वहं तस्य जाने तन्निवृत्तं चक्रमुत्तमम् ।
हतं स्वकर्मणा तं तु पूर्वं सद्भिश्च निन्दितम् ॥ ६८ ॥

उसका उत्तम चक्र निवृत्त हो गया है और पहले सत्पुरुषोंसे निन्दित होकर वह अपने कर्मोंद्वारा ही मर गया है; इस बातको मैं नहीं जानता था ॥ ६८ ॥

कृतशौचः शरी चापी रथी निष्क्रम्य वै पुरात् ।
कृतस्वस्त्ययनो विप्रैः प्रायोधयमहं रिपुम् ॥ ६९ ॥

जब मैं अशौच-निवृत्तिके पश्चात् शुद्ध हुआ, तब ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर धनुष-बाण ले रथमें बैठ नगरसे बाहर निकला और शत्रुसे युद्ध करने लगा ॥ ६९ ॥

ततः संसर्गमागम्य बलेनास्त्रबलेन च ।
त्र्यहमुन्मत्तवद् युद्धं देवासुरमिवाभवत् ॥ ७० ॥

तदनन्तर उसके निकट पहुँचकर शरीर-बल और अस्त्र-बलके द्वारा देवासुर-संग्रामकी तरह तीन दिनोंतक हम दोनोंका उन्मत्त-सा युद्ध चलता रहा ॥ ७० ॥

स मयास्त्रप्रतापेन निर्दग्धो रणमूर्धनि ।
पपाताभिमुखः शूरस्त्यक्त्वा प्राणानरिंदम ॥ ७१ ॥

शत्रुदमन ! तत्पश्चात् मेरे अस्त्रके प्रतापसे भस्म होकर वह वीर रणके मुहानेपर अपने प्राणोंको त्यागकर गिर पड़ा ॥ ७१ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तात काम्पिल्ये पृषतोऽभ्ययात् ।
हते नीपेश्वरे चैव हते चोग्रायुधे नृपे ॥ ७२ ॥
आहिच्छत्रं स्वकं राज्यं पित्र्यं प्राप महाद्युतिः ।
द्रुपदस्य पिता राजन् ममैवानुमते तदा ॥ ७३ ॥

तात ! इसी बीचमें (उग्रायुधद्वारा) नीपेश्वर तथा (मेरे द्वारा) राजा उग्रायुधके मारे जानेपर पृषतने भी काम्पिल्य नगरपर आक्रमण कर दिया। राजन् ! तब मेरी अनुमतिसे महाकान्तिमान् द्रुपदके पिताने अपने पैतृक राज्य अहिच्छत्रपर (पुनः) अधिकार कर लिया ॥ ७२-७३ ॥

ततोऽर्जुनेन तरसा निर्जित्य द्रुपदं रणे ।
आहिच्छत्रं सकाम्पिल्यं द्रोणायाथापवर्जितम् ॥ ७४ ॥

तदनन्तर अर्जुनने युद्धमें द्रुपदको बलपूर्वक जीतकर काम्पिल्य और अहिच्छत्रको द्रोणाचार्यके (चरणोंमें) समर्पित कर दिया था ॥ ७४ ॥

प्रतिगृह्य ततो द्रोण उभयं जयतां वरः ।
काम्पिल्यं द्रुपदायैव प्रायच्छद् विदितं तव ॥ ७५ ॥

तब विजय पानेवालोंमें श्रेष्ठ द्रोणने दोनों देशोंको लेकर काम्पिल्यनगर तो द्रुपदको ही वापस कर दिया था, जिसे तुम जानते ही हो ॥ ७५ ॥

एष ते द्रुपदस्यादौ ब्रह्मदत्तस्य चैव ह ।
वंशः कार्त्स्न्येन वै प्रोक्तो नीपस्योग्रायुधस्य च ॥ ७६ ॥

इस प्रकार मैंने तुमसे द्रुपद, ब्रह्मदत्त, नीप और उग्रयुधके वंशका पूर्णरूपसे वर्णन कर दिया ॥ ७६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं ब्रह्मदत्तस्य पूजनीया शकुन्तिका ।
अन्धं चकार गाङ्गेय ज्येष्ठं पुत्रं पुरा विभो ॥ ७७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—समर्थ गङ्गानन्दन ! पहले पूजनीया चिड़ियाने ब्रह्मदत्तके ज्येष्ठ पुत्रको अंधा क्यों कर दिया था ? ॥ ७७ ॥

चिरोषिता गृहे चापि किमर्थं चैव यस्य सा ।
चकार विप्रियमिदं तस्य राज्ञो महात्मनः ॥ ७८ ॥

वह जिसके महलमें बहुत समयसे रहती थी, उसी महात्मा राजाका उसने ऐसा अनिष्ट क्यों किया ? ॥ ७८ ॥

पूजनीया चकारासौ किं सख्यं तेन चैव ह ।
एतन्मे संशयं छिन्धि सर्वमुक्त्वा यथातथम् ॥ ७९ ॥

उस पूजनीयाने उनके साथ मित्रता क्यों की थी ? आप इन सब बातोंको यथार्थ रीतिसे बताकर मेरे सारे संदेहोंको दूर कर दें ॥ ७९ ॥

भीष्म उवाच

शृणु सर्वं महाराज यथावृत्तमभूत् पुरा ।
ब्रह्मदत्तस्य भवने तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ८० ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज युधिष्ठिर ! प्राचीन कालमें ब्रह्मदत्तके महलमें जो घटना घटी थी, उसे तुम पूर्णरूपसे सुनो ॥ ८० ॥

काचिच्छकुन्तिका राजन् ब्रह्मदत्तस्य वै सखी ।
शितिपक्षा शोणशिराः शितिपृष्ठा शितोदरी ॥ ८१ ॥

राजन् ! एक चिड़िया थी, जिसका राजा ब्रह्मदत्तसे स्नेह हो जानेके कारण वह उनकी सहचरी बन गयी थी । उसके दोनों पंख, पीठ और उदरका भाग तो काला था; परंतु मस्तकका रंग लाल था ॥ ८१ ॥

सखी सा ब्रह्मदत्तस्य सुदृढं बद्धसौहृदा ।
तस्याः कुलायमभवद् गेहे तस्य नरोत्तम ॥ ८२ ॥

नरोत्तम ! राजा ब्रह्मदत्तकी वह सहचरी उनके सुदृढ़ स्नेहपाशमें बँध गयी थी; अतः उन्हींके महलमें उसका घोंसला था ॥ ८२ ॥

सा सदाहनि निर्गत्य तस्य राज्ञो गृहोत्तमात् ।
चचाराम्भोधितीरेषु पल्वलेषु सरस्सु च ॥ ८३ ॥

वह दिनमें निरन्तर उस राजाके उत्तम महलसे निकलकर समुद्रके किनारे तथा तालाबों और तलैयोंपर विचरती थी ॥ ८३ ॥

नदीपर्वतकुञ्जेषु वनेषूपवनेषु च ।
प्रफुल्लेषु तडागेषु कह्लारेषु सुगन्धिषु ॥ ८४ ॥
कुमुदोत्पलकिञ्जल्कसुरभीकृतवायुषु ।
हंससारसघुष्टेषु कारण्डवरुतेषु च ॥ ८५ ॥
चरित्वा तेषु सा राजन् निशि काम्पिल्यमागमत् ।

राजन् ! वह नदी, पर्वत, कुञ्ज, वन और उपवनोंमें तथा जिनमें सुगन्धित कमल खिले हुए थे, जहाँकी वायु कुमुद, उत्पल और किञ्जल्ककी सुगन्धसे वासित थी एवं जो हंस, सारस और कारण्डवके कलरवोंसे गुंजायमान थे—ऐसे तड़ागोंपर घूम-घामकर वह रात्रिके समय काम्पिल्य-नगरमें लौट आती थी ॥ ८४-८५½ ॥

नृपतेर्भवनं प्राप्य ब्रह्मदत्तस्य धीमतः ॥ ८६ ॥
राज्ञा तेन सदा राजन् कथायोगं चकार सा ।

राजन् ! वह बुद्धिमान् राजा ब्रह्मदत्तके महलमें पहुँचकर उस राजासे प्रतिदिन बातें किया करती थी ॥ ८६½ ॥

आश्चर्याणि च दृष्टानि यानि वृत्तानि कानिचित् ॥ ८७ ॥
चरित्वा विविधान् देशान् कथयामास सा निशि ।

वह बहुत-से देशोंमें घूमकर जो कुछ आश्चर्यजनक घटनाएँ देखती थी, रात्रिके समय उन्हें (राजासे) कहा करती थी ॥ ८७½ ॥

कदाचित् तस्य नृपतेर्ब्रह्मदत्तस्य कौरव ॥ ८८ ॥
पुत्रोऽभूद् राजशार्दूल सर्वसेनेति विश्रुतः ।
पूजनीयाथ सा तस्मिन् प्रासूताण्डमथापि च ॥ ८९ ॥

कुरुवंशी राजशार्दूल ! एक समय राजा ब्रह्मदत्तके पुत्र हुआ, जिसका नाम सर्वसेन रखा गया । उसी समय उस पूजनीयाने भी वहाँ एक अंडा दिया ॥ ८८-८९ ॥

तस्मिन् नीडे पुरा ह्येकं तत्किल प्रास्फुटत् तदा ।
स्फुटितो मांसपिण्डस्तु बाहुपादास्यसंयुतः ॥ ९० ॥
बभ्रुवक्त्रश्चक्षुर्हीनो बभूव पृथिवीपते ।
चक्षुष्मानप्यभूत् पश्चादीषत्पक्षोत्थितश्च ह ॥ ९१ ॥

पृथ्वीपते ! एक दिन उस घोंसलेमें उसका वह एक अण्डा फूटा और उसमेंसे एक मांस-पिण्ड निकला, जो हाथ-पैर और मुखसे युक्त था । उसका मुँह भूरे रंगका था; परंतु नेत्र नहीं प्रकट हुए थे । कुछ समय बाद उसके नेत्र खुल गये और उसमें छोटे-छोटे पंख भी निकल आये ॥ ९०-९१ ॥

अथ सा पूजनीया वै राजपुत्रस्वपुत्रयोः ।
तुल्यस्नेहात् प्रीतिमती दिवसे दिवसेऽभवत् ॥ ९२ ॥

तदनन्तर वह पूजनीया अपने बच्चे और राजकुमारपर समान स्नेह होनेके कारण प्रतिदिन एक-सी प्रीति रखने लगी ॥ ९२ ॥

आजहार सदा सायं चञ्च्वामृतफलद्वयम् ।
अमृतास्वादसदृशं सर्वसेनतनूजयोः ॥ ९३ ॥

वह सदा सायंकालमे अमृतके समान स्वादिष्ठ रससे भरे हुए दो फल सर्वसेन और अपने बच्चेके लिये अपनी चोंचमें लाया करती थी ॥ ९३ ॥

स बालो ब्रह्मदत्तस्य पूजनीयासुतश्च ह ।
ते फले भक्षयित्वा च पृथुकौ प्रीतमानसौ ॥ ९४ ॥
अभूतां नित्यमेवेह खादेतां तौ च ते फले ।

ब्रह्मदत्तका बालक और पूजनीयाका बच्चा—ये दोनों उन फलोंको खाकर बड़े प्रसन्न होते थे। इस प्रकार वे दोनों नित्य ऐसे फलोंको खाया करते थे ॥ ९४½ ॥

तस्यां गतायामथ च पूजन्यां वै सदाहनि ॥ ९५ ॥
शिशुना चटकेनाथ धात्री तं तु शिशुं नृप ।
तेन प्रक्रीडयामास ब्रह्मदत्तात्मजं सदा ॥ ९६ ॥
नीडात् तमाकृष्य तदा पूजनीयाकृतात् ततः ।

राजन्! प्रतिदिन उस पूजनीके चले जानेपर राजकुमारकी धाय उस चिड़ियाके बनाये हुए घोंसलेसे उसके बच्चेको खींचकर उसके द्वारा ब्रह्मदत्तके शिशु पुत्रको खेलाया करती थी ॥ ९५-९६½ ॥

क्रीडता राजपुत्रेण कदाचिच्चटकः स तु ॥ ९७ ॥
निगृहीतः कन्धरायां शिशुना दृढमुष्टिना ।
दुर्भङ्गमुष्टिना राजन्नसून् सद्यस्त्वजीजहत् ॥ ९८ ॥

एक समय उस शिशु राजकुमारने खेलते-खेलते अपनी सुदृढ़ मुट्ठीमें उस बच्चेका गला पकड़ लिया। राजन्! राजकुमारकी मुट्ठी बड़ी कठिनतासे खुल सकती थी। (अतएव दबाव पड़नेके कारण) उस चिड़ियाके बच्चेने तत्काल ही अपने प्राण त्याग दिये ॥ ९७-९८ ॥

तं तु पञ्चत्वमापन्नं व्यात्तास्यं बालघातितम् ।
कथंचिन्मोचितं दृष्ट्वा नृपतिर्दुःखितोऽभवत् ॥ ९९ ॥

राजा ब्रह्मदत्तने उसको किसी प्रकार अपने पुत्रके हाथसे छुड़ाया; परंतु उसे मरा, मुख फैलाकर पड़ा हुआ तथा अपने बालकके द्वारा मारा गया देखकर वे दुखी हो गये ॥ ९९ ॥

धात्रीं तस्य जगर्हे तां तदाश्रुपरमो नृपः ।
तस्थौ शोकान्वितो राजञ्छोचंस्तं चटकं तदा ॥१००॥

राजन्! तब ब्रह्मदत्तने शोकाकुल हो नेत्रोंमें आँसू भरकर उस धायकी निन्दा की। फिर वे खड़े-खड़े उस बच्चेके लिये शोक करने लगे ॥ १०० ॥

पूजनीयापि तत्काले गृहीत्वा तु फलद्वयम् ।
ब्रह्मदत्तस्य भवनमाजगाम वनेचरी ॥१०१॥

उसी समय वनमें विचरण करनेवाली पूजनीया भी दो फलोंको लेकर ब्रह्मदत्तके भवनमें आ पहुँची ॥ १०१ ॥

अथापश्यत् तमागम्य गृहे तस्मिन् नराधिप ।
पञ्चभूतपरित्यक्तं शावं तं स्वतनूद्भवम् ॥१०२॥

राजन्! उस भवनमें आकर उसने अपने शरीरसे उत्पन्न हुए बच्चेको पञ्चभूतोंसे रहित मुर्देके रूपमें देखा ॥ १०२ ॥

मुमोह दृष्ट्वा तं पुत्रं पुनः संज्ञामथालभत् ।
लब्धसंज्ञा च सा राजन् विललाप तपस्विनी ॥१०३॥

राजन्! पुत्रकी ऐसी दशा देखकर वह मूर्च्छित हो गयी। कुछ देर बाद उसे फिर चेतना आयी, तब वह तपस्विनी विलाप करने लगी ॥ १०३ ॥

पूजनीयोवाच

न तु त्वमागतां पुत्र वाशन्तीं परिसर्पसि ।
कुर्वंश्चाटुसहस्राणि अव्यक्तकलया गिरा ॥१०४॥

पूजनीया बोली—पुत्र! मैं आकर कूँ-कूँ शब्द कर रही हूँ, तब भी तू अस्फुट (तोतली) होनेसे मनोहर लगनेवाली वाणीमें हजारों बातें करता हुआ मेरे सामने क्यों नहीं आता? ॥ १०४ ॥

व्यादितास्यः क्षुधार्तश्च पीतेनास्येन पुत्रक ।
शोणेन तालुना पुत्र कथमद्य न सर्पसि ॥१०५॥

पुत्र! क्षुधासे पीड़ित होकर अपने लाल-लाल तालु तथा पीली चोंचवाले मुखको खोलकर तू मेरे पास आज क्यों नहीं आता? ॥ १०५ ॥

पक्षाभ्यां त्वां परिष्वज्य ननु वाशामि चाप्यहम् ।
चीचीकूचीति वाशन्तं त्वामद्य न शृणोमि किम्॥१०६॥

मैं तुझे अपने पंखोंसे लपेटकर रो रही हूँ, तब भी मैं तुझे चीं-चीं, कूँ-कूँ शब्द करता हुआ क्यों नहीं सुनती? ॥

मनोरथो यस्तु मम पश्येयं पुत्रकं कदा ।
व्यात्तास्यं वारि याचन्तं स्फुरत्पक्षं ममाग्रतः ॥१०७॥
स मे मनोरथो भग्नस्त्वयि पञ्चत्वमागते ।
विलप्यैवं बहुविधं राजानमथ साब्रवीत् ॥१०८॥

मेरे मनमें जो यह अभिलाषा थी कि मैं अपने सामने अपने पुत्रको परोंको फटफटाकर चोंच फैलाकर जल माँगता हुआ कब देखूँगी, सो मेरा वह मनोरथ तेरे मरनेसे नष्ट हो गया—यों अनेक तरहसे विलाप करके वह राजासे बोली ॥ १०७-१०८ ॥

ननु मूर्धाभिषिक्तस्त्वं धर्मं वेत्सि सनातनम् ।
अथ कस्मान्मम सुतं धात्र्या घातितवानसि ॥१०९॥
तत्र पुत्रेण चाकृष्य क्षत्रियाधम शंस मे ।

'रे क्षत्रियाधम! तू तो मूर्धाभिषिक्त (सम्राट्) राजा है और सनातनधर्मको जाननेवाला है, तो भी तूने मेरे बच्चेको धायसे और अपने पुत्रसे खिंचवाकर क्यों मरवा डाला? इस बातका तू उत्तर दे ॥ १०९½ ॥

न च नूनं श्रुता तेऽभूदियमाङ्गिरसी श्रुतिः ॥११०॥
शरणागतः क्षुधार्तश्च शत्रुभिश्चाप्युपद्रुतः ।
चिरोषितश्च स्वगृहे पातव्यः सर्वदा भवेत् ॥१११॥

'क्या तूने यह आङ्गिरसी श्रुति नहीं सुनी है कि 'शरणमें आये हुए, भूखसे व्याकुल, शत्रुओंद्वारा पीछा किये

जाते हुए और चिरकालसे अपने घरमें रहनेवालेकी रक्षा सदा करनी चाहिये ॥ ११०-१११ ॥

अपालयन्नरो याति कुम्भीपाकमसंशयम् ।
कथमस्य हविर्देवा गृह्णन्ति पितरः स्वधाम् ॥११२॥

'यदि मनुष्य इनकी रक्षा नहीं करता है तो वह निस्संदेह कुम्भीपाक नरकमें पड़ता है । देवता ऐसे पुरुषकी हविको और पितर स्वधाको भला कैसे ग्रहण कर सकते हैं' ॥

एवमुक्त्वा महाराज दशाधर्मगता सती ।
शोकार्ता तस्य बालस्य चक्षुषी निर्बिभेद सा ॥११३॥
कराभ्यां राजपुत्रस्य ततस्तच्चक्षुरस्फुटत् ।
कृत्वा चान्धं नृपसुतमुत्पपात ततोऽम्बरम् ॥११४॥

महाराज ! राजासे यों कहकर शोकसे आतुर होनेके कारण दशाधर्म* को प्राप्त हुई उस पूजनीयाने अपने दोनों पञ्जोंसे उस राजकुमारके दोनों नेत्रोंको विदीर्ण कर दिया, जिससे उसकी आँखें फूट गयीं । इस प्रकार राजकुमारको अन्धा कर देनेके पश्चात् पूजनीया आकाशमें उड़ गयी ॥ ११३-११४ ॥

अथ राजा सुतं दृष्ट्वा पूजनीयामुवाच ह ।
विशोका भव कल्याणि कृतं ते भीरु शोभनम् ॥११५॥

तब राजाने पुत्रकी ओर देखकर पूजनीयासे कहा—'कल्याणि ! अब तू शोकरहित हो जा । भीरु ! तूने बहुत अच्छा किया ॥ ११५ ॥

गतशोका निवर्तस्व अजर्यं सख्यमस्तु ते ।
पुरेव वस भद्रं ते निवर्तस्व रमस्व च ॥११६॥

'अब तू शोकरहित होकर लौट आ । तेरी मैत्री सुदृढ़ बनी रहे । तेरा कल्याण हो, तू लौट आ और आनन्दपूर्वक पहलेकी भाँति यहीं रह ॥ ११६ ॥

पुत्रपीडोद्भवश्चापि न कोपः परमस्त्वयि ।
ममास्ति सखि भद्रं ते कर्तव्यं च कृतं त्वया ॥११७॥

'सखि ! तेरा कल्याण हो । पुत्रको पीड़ा देनेपर भी मैं तेरे ऊपर कुपित नहीं हुआ हूँ । तूने वही किया, जो करना चाहिये था' ॥ ११७ ॥

पूजनीयोवाच

आत्मौपम्येन जानामि पुत्रस्नेहं तवाप्यहम् ।
न चाहं वस्तुमिच्छामि तव पुत्रमचक्षुषम् ।
कृत्वा वै राजशार्दूल त्वद् गृहे कृतकिल्बिषा ॥११८॥

नृपश्रेष्ठ ! मैं अपने ही समान तुम्हारे पुत्र-प्रेमको भी जानती हूँ; अतः तुम्हारे पुत्रको नेत्रहीन करनेके कारण अपराधिनी होकर तुम्हारे घरमें रहना नहीं चाहती ॥ ११८ ॥

गाथाश्चाप्युशनोगीता इमाः शृणु मयेरिताः ।
कुमित्रं च कुदेशं च कुराजानं कुसौहृदम् ।
कुपुत्रं च कुभार्यां च दूरतः परिवर्जयेत् ॥११९॥

आप मुझसे शुक्राचार्यकी गायी हुई इन गाथाओंको सुनें, 'खोटे मित्र, खोटे देश, खोटे राजा, खोटे सुहृद्-बन्धु, खोटे पुत्र तथा खोटी भार्याको दूरसे ही त्याग देना चाहिये' ॥११९॥

कुमित्रे सौहृदं नास्ति कुभार्यायां कुतो रतिः ।
कुतः पिण्डः कुपुत्रे वै नास्ति सत्यं कुराजनि ॥१२०॥

खोटे मित्रमें प्रेम नहीं होता, कुभार्यासे सुख नहीं मिल सकता, कुपुत्रसे पिण्ड मिलना कठिन है और कुराजासे सत्य (न्याय) की आशा नहीं की जा सकती है ॥ १२० ॥

कुसौहृदे क विश्वासः कुदेशे न तु जीव्यते ।
कुराजनि भयं नित्यं कुपुत्रे सर्वतोऽसुखम् ॥१२१॥

कुमित्रपर भला विश्वास कैसे हो सकता है और कुदेशमें जीना भी सम्भव नहीं है । खोटे राजासे सर्वदा भय बना रहता है और कुपुत्रसे तो सब प्रकारसे दुःख ही मिलता है ॥ १२१ ॥

अपकारिणि विस्रम्भं यः करोति नराधमः ।
अनाथो दुर्बलो यद्वन्न चिरं स तु जीवति ॥१२२॥

जो अधम मनुष्य अपराधीपर विश्वास करता है, वह अनाथ और दुर्बल मनुष्यकी भाँति चिरकालतक जीवित नहीं रह सकता ॥ १२२ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥१२३॥

अविश्वासीका विश्वास न करे और विश्वासीपर भी अधिक विश्वास न करे; क्योंकि ऐसे लोगोंपर विश्वास करनेसे जो भय उत्पन्न होता है, वह जड़को भी काट डालता है ॥ १२३ ॥

राजसेविषु विश्वासं गर्भसंकरितेषु च ।
यः करोति नरो मूढो न चिरं स तु जीवति ॥१२४॥

जो मनुष्य राजसेवकों तथा संकर जातियोंपर विश्वास करता है, वह मूढ चिरकालतक जीवित नहीं रह सकता ॥ १२४ ॥

अप्युन्नतिं प्राप्य नरः प्रावारः कीटको यथा ।
स विनश्यत्यसंदेहमाहैवमुशना नृप ॥१२५॥

राजन् ! जैसे पंख निकलनेपर ऊपरको उड़ा हुआ चींटा मौतके मुखमें चला जाता है, उसी प्रकार ऐसे पुरुषों-पर विश्वास रखनेवाला पुरुष भी मारा जाता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है—ऐसा शुक्राचार्यका कथन है ॥ १२५ ॥

---

* मनुष्यको व्याकुल और विवेकहीन बना देनेवाली जो क्रोध आदिकी दश दशाएँ हैं, उनको दशधर्म कहते हैं । देखिये पृ० ४९ की टिप्पणी ।

अपि मार्दवभावेन गात्रं संलीय बुद्धिमान्।
अरिं नाशयते नित्यं यथा वल्लिर्महाद्रुमम् ॥१२६॥

जैसे लता अपने शरीरको बचाये रखकर कोमलतासे महावृक्षका आलिङ्गन करके उसे सुखा देती है, उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष भी अपने शरीरकी सदा रक्षा करते हुए नम्रता-पूर्वक शत्रुका नाश कर देते हैं ॥ १२६ ॥

मृदुरार्द्रः कृशो भूत्वा शनैः संलीयते रिपुः।
वल्मीक इव वृक्षस्य पश्चान्मूलानि कृन्तति ॥१२७॥

जैसे दीमक कृश होनेपर भी आर्द्र (स्निग्ध) हो वृक्षमें लगकर शनैः-शनैः उसकी जड़को काट डालता है, इसी प्रकार शत्रु दुर्बल होनेपर भी स्निग्ध बनकर (स्नेह दिखाकर) शरीरमें घुस आता (और अवसर पानेपर) जड़से उखाड़ फेंकता है ॥ १२७ ॥

अद्रोहसमयं कृत्वा मुनीनामग्रतो हरिः।
जघान नमुचिं पश्चादपां फेनेन पार्थिव ॥१२८॥

राजन्! इन्द्रने मुनियोंके सामने द्रोह न करनेकी प्रतिज्ञा करके भी पीछे जलके फेनसे नमुचिको मार डाला था ॥ १२८ ॥

सुप्तं मत्तं प्रमत्तं वा घातयन्ति रिपुं नराः।
विषेण वह्निना चापि शस्त्रेणाप्यथ मायया ॥१२९॥

मनुष्य सोये हुए, मतवाले तथा उन्मत्त शत्रुको विष, अग्नि, शस्त्र अथवा छल-कपटसे भी मार डालते हैं ॥१२९॥

न च शेषं प्रकुर्वन्ति पुनर्वैरभयान्नराः।
घातयन्ति समूलं हि श्रुत्वेमामुपमां नृप ॥१३०॥

राजन्! मनुष्य बार-बारके वैर होनेके भयसे शत्रुको शेष नहीं रखते, वे तो इस निम्नाङ्कित उपमाको सुनकर शत्रुको जड़से ही नष्ट कर डालते हैं॥ १३० ॥

शत्रुशेषमृणाच्छेषं शेषमग्नेश्च भूमिप।
पुनर्वर्धेत सम्भूय तस्माच्छेषं न शेषयेत् ॥१३१॥

भूपाल! यदि शत्रुको, ऋणको अथवा अग्निको (थोड़ा-सा भी) बाकी रहने दिया जाय तो ये फिर इकट्ठा होकर बढ़ने लगते हैं, अतः इनके शेषको भी शेष न रहने दे ॥ १३१ ॥

हसते जल्पते वैरी एकपात्रे भुनक्ति च।
एकासनं चारोहति स्मरते तच्च किल्बिषम् ॥१३२॥

शत्रु यद्यपि एक साथ हँसता है, बोलता है, एक ही पात्रमें साथ-साथ भोजन भी करता है और एक ही आसन-पर साथ-साथ बैठता है, तथापि पूर्व वैरका स्मरण तो करता ही रहता है ॥ १३२ ॥

कृत्वा सम्बन्धकं चापि विश्वसेच्छत्रुणा न हि।
पुलोमानं जघानाजौ जामाता सन्शतक्रतुः ॥१३३॥

शत्रुसे सम्बन्ध करके भी उसके ऊपर विश्वास न करे; क्योंकि इन्द्रने जामाता (दामाद) होकर भी पुलोमाको युद्ध-में मार डाला था ॥ १३३ ॥

निधाय मनसा वैरं प्रियं वक्तीह यो नरः।
उपसर्पेन्न तं प्राज्ञः कुरङ्ग इव लुब्धकम् ॥१३४॥

जो मनुष्य मनमें वैरको छिपाये हुए प्रिय बातें करता है, बुद्धिमान् पुरुष (उसपर विश्वास करके) उसके पास न जाय; ठीक उसी तरह, जैसे मृग बहेलियेके निकट नहीं जाता ॥ १३४ ॥

न चासन्ने निवस्तव्यं सवैरे वर्धिते रिपौ।
पातयेत् तं समूलं हि नदीरय इव द्रुमम् ॥१३५॥

यदि वैर रखनेवाला शत्रु बढ़ रहा हो तो उसके पास निवास नहीं करना चाहिये; क्योंकि जैसे बढ़ती हुई नदीका वेग वृक्षको गिरा देता है, इसी प्रकार वह उसको जड़से उखाड़ डालता है ॥ १३५ ॥

अमित्रादुन्नतिं प्राप्य नोन्नतोऽस्मीति विश्वसेत्।
तस्मात् प्राप्योन्नतिं नश्येत् प्रावार इव कीटकः ॥१३६॥

शत्रुसे उन्नति पानेपर 'मैं भी उन्नत हो गया हूँ' ऐसा विश्वास न करे। उससे उन्नति पानेपर भी मनुष्य प्रावार-कीट (पाँखवाले चींटे) की तरह नष्ट हो जाता है ॥ १३६ ॥

इत्येता ह्युशनोगीता गाथा धार्या विपश्चिता।
कुर्वता चात्मरक्षां वै नरेण पृथिवीपते ॥१३७॥

पृथ्वीनाथ! विद्वान् पुरुष आत्मरक्षा करता हुआ शुक्रा-चार्यकी गायी हुई इन गाथाओंको अपने मनमें स्मरण रखे॥

मया सकिल्बिषं तुभ्यं प्रयुक्तमतिदारुणम्।
पुत्रमन्धं प्रकुर्वन्त्या तस्मान्नो विश्वसे त्वयि ॥ १३८॥

मैंने आपके पुत्रको अंधा बनाकर अति दारुण अपराध किया है, अतः अब मैं आपका विश्वास नहीं करूँगी ॥ १३८ ॥

एवमुक्त्वा प्रदुद्राव तदाऽऽकाशं पतङ्गिनी।
इत्येतत् ते मयाख्यातं पुराभूतमिदं नृप ॥१३९॥
ब्रह्मदत्तस्य राजेन्द्र यद् वृत्तं पूजनीयया।

राजन्! इस प्रकार कहकर वह चिड़िया आकाशमें उड़ गयी। राजेन्द्र! प्राचीन कालमें ब्रह्मदत्तका पूजनीयाके साथ जो संवाद हुआ था, वह मैंने तुमसे कह दिया ॥१३९½ ॥

श्राद्धं च पृच्छसे यन्मां युधिष्ठिर महामते ॥१४०॥
अतस्ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
गीतं सनत्कुमारेण मार्कण्डेयाय पृच्छते ॥१४१॥

महामति युधिष्ठिर! अब तुम जिस श्राद्ध-विषयको मुझसे पूछ रहे थे, उसे सुनाता हूँ। मार्कण्डेयजीके पूछनेपर सनत्कुमारजीने जो कुछ कहा था, उसी प्राचीन इतिहास

(के शेष भाग) को मैं तुमसे कहूँगा ॥ १४०-१४१ ॥

श्राद्धस्य फलमुद्दिश्य नियतं सुकृतस्य च।
तन्निबोध महाराज सप्तजातिषु भारत ॥१४२॥
सगालवस्य चरितं कण्डरीकस्य चैव हि।
ब्रह्मदत्ततृतीयानां योगिनां ब्रह्मचारिणाम् ॥१४३॥

महाराज ! भरतनन्दन ! भलीभाँति किये गये श्राद्धके नियत पुण्यफलको लक्ष्यमें रखकर कहे गये, गालव, कण्डरीक और तीसरे ब्रह्मदत्त—इन ब्रह्मचारी योगियोंके सातों जन्मोंके चरित्रको तुम सावधान होकर सुनो॥ १४२-१४३॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि पूजनीयोपाख्याने चटकाख्यानं नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पूजनीयोपाख्यानमें चटक (चिड़िये) की कथा नामक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

पितृकल्प—मार्कण्डेयजीद्वारा श्राद्धकी महिमाका वर्णन, श्राद्धके फलसे कौशिक-पुत्रोंको उत्तम जन्मकी प्राप्ति

मार्कण्डेय उवाच

श्राद्धे प्रतिष्ठितो लोकः श्राद्धे योगः प्रवर्तते।
हन्त ते वर्तयिष्यामि श्राद्धस्य फलमुत्तमम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—यह सारा संसार श्राद्धमें ही प्रतिष्ठित है और श्राद्धसे ही योग सम्पन्न होता है। अतः मैं तुमसे श्राद्धके उत्तम फलका वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

ब्रह्मदत्तेन यत् प्राप्तं सप्तजातिषु भारत।
तत एव हि धर्मस्य बुद्धिर्निर्वर्तते शनैः ॥ २ ॥

भारत ! ब्रह्मदत्तने (भारद्वाज, कौशिक, व्याध, मृग, चक्रवाक, हंस और श्रोत्रिय—इन) सात जन्मोंमें जो (श्राद्ध) धर्मका फल पाया था, उसको सुननेसे शनैः-शनैः धर्म-बुद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ २ ॥

पीडयाप्यथ धर्मस्य कृते श्राद्धे परानघ।
यत् प्राप्तं ब्राह्मणैः पूर्वं तन्निबोध महामते ॥ ३ ॥

निष्पाप महामते ! प्राचीन कालमें कुछ ब्राह्मणोंने (हिंसारूपी अधर्मके द्वारा) धर्मको पीड़ित करनेपर भी श्राद्ध करके जो फल पाया था, उसे तुम सुनो ॥ ३ ॥

ततोऽहं तानधर्मिष्ठान् कुरुक्षेत्रे पितृव्रतान्।
सनत्कुमारनिर्दिष्टानपश्यं सप्त वै द्विजान् ॥ ४ ॥
दिव्येन चक्षुषा तेन यानुवाच पुरा विभुः।

विभु सनत्कुमारजीने जिनका वर्णन किया था, मैंने अपने दिव्य नेत्रसे सनत्कुमारजीके बताये हुए उन सात ब्राह्मणोंको अधर्ममें परायण होनेपर भी कुरुक्षेत्रमें श्राद्ध करते देखा ॥ ४½ ॥

वाग्दुष्टः क्रोधनो हिंस्रः पिशुनः कविरेव च।
खसृमः पितृवर्ती च नामभिः कर्मभिस्तथा ॥ ५ ॥

उनके नाम इस प्रकार थे—वाग्दुष्ट, क्रोधन, हिंस्र, पिशुन, कवि, खसृम (ख अर्थात् आकाशमें सरण करने—विचरनेके स्वभाववाला परलोकार्थी) और पितृवर्ती। जैसे उनके नाम थे, वैसे ही उनके कर्म थे ॥ ५ ॥

कौशिकस्य सुतास्तात शिष्या गार्ग्यस्य भारत।
पितर्युपरते सर्वे व्रतवन्तस्तदाभवन् ॥ ६ ॥

तात ! भारत ! वे कौशिक (विश्वामित्र) के पुत्र थे और जब इनके पिता विश्वामित्र* शाप देकर उदासीन हो गये, तब वे सभी गार्ग्यके शिष्य बनकर (ब्रह्मचर्य) व्रतका पालन करनेके लिये उनके यहाँ रहने लगे ॥ ६ ॥

विनियोगाद् गुरोस्तस्य गां दोग्ध्रीं समकालयन्।
समानवत्सां कपिलां सर्वे न्यायागतां तदा ॥ ७ ॥
तेषां पथि क्षुधार्तानां बाल्यान्मोहाच्च भारत।
क्रूरा बुद्धिः समभवत् तां गां वै हिंसितुं तदा ॥ ८ ॥

भारत ! एक समय वे सब गुरुके आज्ञा देनेपर उनकी दुधार कपिला गौ और उसके कपिल वर्णके बछड़ेको वनमें चरानेके लिये ले गये। वह गौ गुरु गार्ग्यको न्यायतः प्राप्त हुई थी। मार्गमें क्षुधासे पीड़ित होनेके कारण उन्होंने मोह और मूर्खताके कारण गौको मारनेका क्रूर विचार किया ॥ ७-८ ॥

तान् कविः खसृमश्चैव याचेते नेति वै तदा।
न चाशक्यन्त ते ताभ्यां तदा वारयितुं द्विजाः ॥ ९ ॥

* विश्वामित्रने अपने पचास पुत्रोंको शाप देते हुए कहा था—तुम्हारे वंशका अन्त हो जाय, तुम अपनी प्रजाका भक्षण करो अर्थात् अब तुम्हारे पुत्र आदि ब्राह्मण नहीं कहलायेंगे। इस प्रकार तुम अपनी प्रजा (के ब्राह्मणत्व) का भक्षण करोगे। उन पचास पुत्रोंमेंसे ये वाग्दुष्ट आदि भी हैं। सुना जाता है कि अन्ध्र, पुण्ड्र आदि भी इनकी ही संतानें हैं। (नीलकण्ठी)

उस समय कवि और खसृमने उनसे ऐसा न करनेकी प्रार्थना की; परंतु वे ब्राह्मण इनके द्वारा किसी प्रकार भी रोके न जा सके ॥ ९ ॥

पितृवर्ती तु यस्तेषां नित्यं श्राद्धाह्निको द्विजः ।
स सर्वानब्रवीद् भ्रातॄन् कोपाद्धर्मे समाहितः ॥ १० ॥

तब उनमें जो प्रतिदिन श्राद्ध करनेवाला धर्मात्मा पितृवर्ती नामक द्विज था, वह उन सब भाइयोंसे बिगड़कर बोला ॥ १० ॥

यद्यवश्यं प्रहन्तव्या पितॄनुद्दिश्य साध्विमाम् ।
प्रकुर्वीमहि गां सम्यक् सर्व एव समाहिताः ॥ ११ ॥

'यदि इसे अवश्य ही मारना है तो हमें चित्तको सावधान-कर इसे पितरोंके निमित्त ही मारना चाहिये ॥ ११ ॥

एवमेषापि गौर्धर्मं प्राप्स्यते नात्र संशयः ।
पितॄनभ्यर्च्य धर्मेण नाधर्मोऽस्मान् भविष्यति ॥ १२ ॥

'ऐसा करनेसे इस गौको भी निस्संदेह धर्मकी प्राप्ति होगी और धर्मपूर्वक पितरोंका पूजन कर देनेसे हमें भी अधर्म न लगेगा' ॥ १२ ॥

तथेत्युक्त्वा च ते सर्वे प्रोक्षयित्वा च गां ततः ।
पितृभ्यः कल्पयित्वैनामुपायुञ्जन्त भारत ॥ १३ ॥

भारत ! तब उन सबने 'तथास्तु' कहकर गौका प्रोक्षण किया और उसको पितरोंके निमित्त अर्पित करके उसका मनमाना उपयोग किया ॥ १३ ॥

उपयुज्य च गां सर्वे गुरोस्तस्य न्यवेदयन् ।
शार्दूलेन हता धेनुर्वत्सोऽयं गृह्यतामिति ॥ १४ ॥

गौको उपयोगमें लाकर उन सबोंने गुरुजीसे निवेदन किया कि 'गायको तो सिंहने मार डाला, यह उसका बछड़ा है, इसे आप ग्रहण कीजिये' ॥ १४ ॥

आर्जवात् स तु तं वत्सं प्रतिजग्राह वै द्विजः ।
मिथ्योपचर्य ते तं तु गुरुमन्यायतो द्विजाः ।
कालेन समयुज्यन्त सर्व एवायुषः क्षये ॥ १५ ॥

सरलस्वभाव होनेके कारण उन ब्राह्मणने भी उस बछड़ेको ग्रहण कर लिया । इस प्रकार वे ब्राह्मण अन्यायद्वारा अपने गुरुको धोखा देकर आयु समाप्त होनेपर मृत्युको प्राप्त हुए ॥ १५ ॥

ते वै क्रूरतया हिंस्रा अनार्यत्वाद् गुरौ तथा ।
उग्रा हिंसाविहाराश्च सप्ताजायन्त सोदराः ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् अपनी क्रूरता और गुरुसे अनार्यताका व्यवहार करनेके कारण वे सात भाई उग्र स्वभाववाले, हिंसाविहारी व्याध बनकर उत्पन्न हुए ॥ १६ ॥

लुब्धकस्यात्मजास्तात बलवन्तो मनस्विनः ।
पितॄनभ्यर्च्य धर्मेण प्रोक्षयित्वा च गां तदा ॥ १७ ॥
स्मृतिः प्रत्यवमर्शश्च तेषां जात्यन्तरेऽभवत् ।
जाता व्याधा दशार्णेषु सप्त धर्मविचक्षणाः ॥ १८ ॥

तात ! उस समय वे एक बहेलियेके बलवान् एवं मनस्वी पुत्र हुए । उन्होंने धर्मतः पितरोंका पूजनकर गौका प्रोक्षण किया था; इसलिये दूसरा जन्म पानेपर भी उनको अपने पूर्वजन्म और पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंका स्मरण बना रहा । वे सातों दशार्ण देशमें धर्मकुशल व्याध बनकर उत्पन्न हुए थे ॥ १७-१८ ॥

स्वकर्मनिरताः सर्वे लोभानृतविवर्जिताः ।
तावन्मात्रं प्रकुर्वन्ति यावता प्राणधारणम् ॥ १९ ॥

वे सब लोभ और असत्यसे दूर रहते हुए अपने कर्ममें तत्पर रहते थे और उतना ही भोजन करते थे, जिससे प्राण टिके रहें ॥ १९ ॥

शेषं ध्यानपराः कालमनुध्यायन्ति कर्म तत् ।
नामधेयानि चाप्येषामिमान्यासन्नराधिप ॥ २० ॥

राजन् ! उनके पास जो समय बचता था, उसमें ध्यानमग्न हो वे अपने (पूर्वजन्मके) कर्मका चिन्तन करते रहते थे । इस जन्ममें उनके नाम इस प्रकार थे—॥ २० ॥

निर्वैरो निर्वृतिः शान्तो निर्मन्युः कृतिरेव च ।
वैधसो मातृवर्ती च व्याधाः परमधार्मिकाः ॥ २१ ॥

निर्वैर, निर्वृति, शान्त, निर्मन्यु, कृति, वैधस और मातृवर्ती । ये सभी व्याध परम धार्मिक थे ॥ २१ ॥

तैरेवमुषितैस्तात हिंसाधर्मरतैः सदा ।
माता च पूजिता वृद्धा पिता च परितोषितः ॥ २२ ॥

तात ! इस प्रकार वे दशार्णदेशमें रहकर हिंसामें भी धर्मका पालन करते रहते थे । वे अपनी वृद्धा माताका सत्कार करते थे और पिताको भी संतुष्ट रखते थे ॥ २२ ॥

यदा माता पिता चैव संयुक्तौ कालधर्मणा ।
तदा धनूंषि ते त्यक्त्वा वने प्राणानवासृजन् ॥ २३ ॥

जब उनके माता-पिता मर गये, तब उन्होंने अपने-अपने धनुषका परित्याग कर वनमें (अनशन आदिके द्वारा) अपने प्राण त्याग दिये ॥ २३ ॥

शुभेन कर्मणा तेन जाता जातिस्मरा मृगाः ।
त्रासानुत्पाद्य संविग्ना रम्ये कालञ्जरे गिरौ ॥ २४ ॥

(माता-पिताकी सेवारूप) शुभ कर्मके कारण वे पूर्व-जन्मका स्मरण रखनेवाले मृग बनकर उत्पन्न हुए । (पहले हिंसाके द्वारा दूसरोंको) त्रास देनेके कारण वे रमणीय कालञ्जर पर्वतपर सदा उद्विग्न रहते थे ॥ २४ ॥

उन्मुखो नित्यवित्रस्तः स्तब्धकर्णो विलोचनः ।
पण्डितो घस्मरो नादी नामतस्तेऽभवन् मृगाः ॥ २५ ॥

उन मृगोंके नाम उन्मुख, नित्यवित्रस्त, स्तब्धकर्ण, विलोचन, पण्डित, घसर और नादी थे ॥ २५ ॥

तमेवार्थमनुध्यान्तो जातिस्मरणसम्भवम् ।
आसन् वनचराः क्षान्ता निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥ २६ ॥

(उस जन्ममें भी) पूर्व जन्मकी स्मृति होनेसे याद आये हुए उन्हीं कर्मों और उनके फलोंका स्मरण करते हुए वे मृग धैर्यपूर्वक कष्ट सहन करते, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंकी परवा नहीं करते और परिग्रह (हिरनियोंके संग) से दूर रहकर वनमें घूमते रहते थे ॥ २६ ॥

ते सर्वे शुभकर्माणः सधर्माणो वनेचराः ।
योगधर्ममनुप्राप्ता विहरन्ति स्म तत्र ह ॥ २७ ॥

वे सब समानरूपसे धर्मका पालन करते और शुभकर्मोंमें तत्पर रहते थे एवं योगधर्मका आश्रय लेकर (आत्मविचार करते हुए) वनमें इधर-उधर घूमते रहते थे ॥ २७ ॥

जहुः प्राणान्मरुं साध्य लघ्वाहारास्तपस्विनः ।
तेषां मरुं साधयतां पदस्थानानि भारत ।
तथैवाद्यापि दृश्यन्ते गिरौ कालञ्जरे नृप ॥ २८ ॥

भारत ! उन मृगोंने हल्का आहार तथा मरु (निर्जल रहने) की साधना करके तपस्यामें तत्पर हो वहाँ अपने प्राण त्याग दिये । राजन् ! जल न पीनेकी साधना करनेवाले उन मृगोंके पैरोंके चिह्न कालञ्जर पर्वतपर अब भी पूर्ववत् दिखायी देते हैं ॥ २८ ॥

कर्मणा तेन ते तात शुभेनाशुभवर्जिताः ।
शुभाच्छुभतरां योनिं चक्रवाकत्वमागताः ॥ २९ ॥

तात ! इस शुभ कर्मके कारण वे अशुभ योनिसे छूटकर अतिशुभ चक्रवाककी योनिमें उत्पन्न हुए ॥ २९ ॥

शुभे देशे शरद्वीपे सप्तैवासञ्जलौकसः ।
त्यक्त्वा सहचरीधर्मं मुनयो ब्रह्मचारिणः ॥ ३० ॥

वे सातों कल्याणमय शरद्वीप (जलद्वीप) में जलचर पक्षी बनकर उत्पन्न हुए । वहाँ भी वे सहचरीधर्म अर्थात् सहवासका त्यागकर ब्रह्मचारी मुनि बनकर रहने लगे ॥ ३० ॥

निःस्पृहो निर्ममः क्षान्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
निर्वृत्तिर्निभृतश्चैव शकुना नामतः स्मृताः ॥ ३१ ॥

(इस चक्रवाक-जन्ममें) उनके नाम निःस्पृह, निर्मम, क्षान्त, निर्द्वन्द्व, निष्परिग्रह, निर्वृत्ति और निभृत थे ॥ ३१ ॥

ते तत्र पक्षिणः सर्वे शकुना धर्मचारिणः ।
निराहारा जहुः प्राणांस्तपोयुक्ताः सरित्तटे ॥ ३२ ॥

उन सब धर्माचारी पक्षियोंने नदीके किनारेपर निराहार रहकर तप करते-करते अपने प्राणोंको त्याग दिया ॥ ३२ ॥

अथ ते सोदरा जाता हंसा मानसचारिणः ।
जातिस्मराः सुसंयुक्ताः सप्तैव ब्रह्मचारिणः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर वे सातों सहोदर भाई मानसरोवरपर विचरनेवाले हंसके रूपमें उत्पन्न हुए । इस जन्ममें भी उनको अपने (पूर्व) जन्मोंका स्मरण बना रहता था । अतः वे सातों ही सदा साथ रहकर पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्यका पालन करते थे ॥ ३३ ॥

विप्रयोनौ यतो मोहान्मिथ्योपचरितो गुरुः ।
तिर्यग्योनौ ततो जाताः संसारे परिबभ्रमुः ॥ ३४ ॥

उन्होंने ब्राह्मणयोनिमें मोहवश अपने गुरुसे मिथ्या-भाषण किया था, इसलिये वे तिर्यक्‌योनिमें उत्पन्न होकर संसारमें भटक रहे थे ॥ ३४ ॥

यतश्च पितृवाक्यार्थैः कृतः स्वार्थे व्यवस्थितैः ।
ततो ज्ञानं च जातिं च ते हि प्रापुर्गुणोत्तराम् ॥ ३५ ॥

स्वार्थमें तत्पर रहनेपर भी उन्होंने पितरोंके श्राद्धनिमित्त संकल्प बोलकर कार्य किया था, इसलिये उन्हें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट गुणसे युक्त ज्ञान और जन्म मिलता गया ॥ ३५ ॥

सुमनाः शुचिवाक्छुद्धः पञ्चमश्छिद्रदर्शनः ।
सुनेत्रश्च स्वतन्त्रश्च शकुना नामतः स्मृताः ॥ ३६ ॥

(इस जन्ममें) उन हंसोंके नाम थे—सुमना, शुचिवाक्, शुद्ध, पञ्चम, छिद्रदर्शन, सुनेत्र और स्वतन्त्र ॥ ३६ ॥

पञ्चमः पाञ्चिकस्तत्र सप्तजातिष्वजायत ।
षष्ठस्तु कण्डरीकोऽभूद् ब्रह्मदत्तस्तु सप्तमः ॥ ३७ ॥

उन (वाग्दुष्ट आदि कौशिक-पुत्रों) में जो पाँचवाँ (कवि) था, वह भावी सातवें जन्ममें पाञ्चिक (नामक राजमन्त्री) हुआ । छठा (खसृम भावी मनुष्य-जन्ममें) कण्डरीक हुआ और सातवाँ (पितृवर्ती भावी सातवें जन्ममें) ब्रह्मदत्त हुआ ॥ ३७ ॥

तेषां तु तपसा तेन सप्तजातिकृतेन वै ।
योगस्य चापि निर्वृत्त्या प्रतिभानाच्च शोभनात् ॥ ३८ ॥
पूर्वजातिषु यद् ब्रह्म श्रुतं गुरुकुलेषु वै ।
तथैवावस्थिता बुद्धिः संसारेष्वपि वर्तताम् ॥ ३९ ॥

उन्होंने सातों जन्मोंमें जो तप किया, उससे, योग-सिद्धिसे, पूर्वजन्मके कर्मोंकी स्मृति होनेसे तथा पूर्वजन्ममें गुरुकुलमें रहकर जो वेदाध्ययन किया गया था, उसके प्रभावसे संसारमें भ्रमण करनेपर भी उनकी बुद्धि वैसी ही बनी रही, बदली नहीं ॥३८-३९॥

ते ब्रह्मचारिणः सर्वे विहङ्गा ब्रह्मवादिनः ।
योगधर्ममनुध्यान्तो विहरन्ति स्म तत्र ह ॥ ४० ॥

वे सभी आकाशचारी हंस ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मवादी होकर योगधर्मका पालन करते हुए विचरते रहे ॥ ४० ॥

तेषां तत्र विहङ्गानां चरतां सहचारिणाम् ।
नीपानामीश्वरो राजा विभ्राजः पौरवान्वयः ॥ ४१ ॥

विभ्राजमानो वपुषा प्रभावेन समन्वितः।
श्रीमानन्तःपुरवृतो वनं तत्प्रविवेश ह ॥ ४२ ॥

इस प्रकार वे सब पक्षी वहाँ साथ-साथ विचर रहे थे, इतनेहीमें नीपोंका स्वामी पौरववंशी श्रीमान् विभ्राज अपने शरीरकी कान्तिसे प्रकाशित होता और अपना प्रभाव दिखाता हुआ अपने अन्तःपुरको लेकर उस वनमें आया ॥ ४१-४२ ॥

स्वतन्त्रश्च विहङ्गोऽसौ स्पृहयामास तं नृपम्।
दृष्ट्वाऽऽयान्तं श्रियोपेतं भवेयमहमीदृशः ॥ ४३ ॥

यद्यस्ति सुकृतं किञ्चित्तपो वा नियमोऽपि वा।
खिन्नोऽऽस्मि ह्युपवासेन तपसा निष्फलेन च ॥ ४४ ॥

तब स्वतन्त्र नामवाले हंसने वहाँ आये हुए उस लक्ष्मीवान् राजाको देखकर उसके समान बननेकी कामना की। (वह विचारने लगा कि) यदि मेरे पास कुछ भी पुण्य, तप या नियम हो, तो मैं इस राजाके समान हो जाऊँ। अब मैं इस उपवास और निष्फल तपसे खिन्न हो रहा हूँ ॥ ४३-४४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलेषु हरिवंशे हरिवंशपर्वणि पितृकल्पे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पितृकल्पविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

पितृकल्प, शुचिवाक पक्षीका स्वतन्त्र आदि तीन पक्षियोंको शाप देना, सुमना पक्षीका अनुग्रहपूर्वक उन्हें शापसे मुक्त करना

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तं चक्रवाकौ द्वावूचतुः सहचारिणौ।
आवां ते सचिवौ स्यावस्तव प्रियहितैषिणौ ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—उस समय उस स्वतन्त्र पक्षीके साथमें रहनेवाले दो चक्रवाकोंने उससे कहा,—हम आपका प्रिय एवं हित चाहनेवाले आपके मन्त्री बनेंगे ॥ १ ॥

तथेत्युक्त्वा च तस्यासीत् तदा योगात्मिका मतिः।
एवं ते समयं चक्रुः शुचिवाक् तमुवाच ह ॥ २ ॥

तब स्वतन्त्रने कहा, 'बहुत अच्छा'। यों कहकर वह पुनः अपने योगधर्मका विचार करने लगा। जब इस प्रकार उन तीनोंने प्रतिज्ञा कर ली, तब शुचिवाक्ने उस (स्वतन्त्र) से कहा ॥ २ ॥

यस्माद् कामप्रधानस्त्वं योगधर्ममपास्य वै।
एवं वरं प्रार्थयसे तस्माद् वाक्यं निबोध मे ॥ ३ ॥

तू योगधर्मको छोड़कर कामप्रधान धर्मकी कामनासे ऐसा वर माँग रहा है, इसलिये तू मेरा यह शाप सुन ले ॥ ३ ॥

राजा त्वं भविता तात काम्पिल्ये नात्र संशयः।
भविष्यतः सखायौ च द्वाविमौ सचिवौ तव ॥ ४ ॥

तात ! तू काम्पिल्य नगरका राजा बनकर उत्पन्न होगा, इसमें संदेह नहीं। तेरे ये दोनों मित्र भी तेरे मन्त्री बनकर उत्पन्न होंगे ॥ ४ ॥

शप्त्वा चानभिभाष्यांस्तांश्चत्वारश्चक्रुरण्डजाः।
तांस्त्रीनभीप्सतो राज्यं व्यभिचारप्रदर्शितान् ॥ ५ ॥

(इस प्रकार) शेष चार पक्षियोंने राज्यकी इच्छा करके योगधर्मसे भ्रष्ट होनेवाले उन तीन पक्षियोंको शाप देकर उनसे बोलना भी छोड़ दिया ॥ ५ ॥

शप्ताः खगास्त्रयस्ते तु योगभ्रष्टा विचेतसः।
तानयाचन्त चतुरस्त्रयस्ते सहचारिणः ॥ ६ ॥

इस प्रकार योगभ्रष्ट होनेके कारण शापसे ग्रस्त हुए वे तीनों पक्षी डरके मारे अचेत हो गये। उन तीनों साथियोंने चारों पक्षियोंसे (शापका अनुग्रह करनेकी) प्रार्थना की ॥ ६ ॥

तेषां प्रसादं ते चक्रुरथैतान् सुमनाऽब्रवीत्।
सर्वेषामेव वचनात्प्रसादानुगतं वचः ॥ ७ ॥

तब उन्होंने उनके ऊपर कृपा की और सबकी सम्मतिसे सुमनाने अनुग्रहपूर्वक यह बात कही—॥ ७ ॥

अन्तवान् भविता शापो युष्माकं नात्र संशयः।
इतश्च्युताश्च मानुष्यं प्राप्य योगमवाप्स्यथ ॥ ८ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि तुम्हारे इस शापका शीघ्र ही अन्त होगा। यहाँ योगसे भ्रष्ट होकर तुम मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होगे और अन्तमें फिर तुम्हें योगज्ञान प्राप्त होगा ॥ ८ ॥

सर्वसत्त्वरुतज्ञश्च स्वतन्त्रोऽयं भविष्यति।
पितृप्रसादो ह्यस्माभिरस्य प्राप्तः कृतेन वै ॥ ९ ॥
गां प्रोक्षयित्वा धर्मेण पितृभ्य उपकल्प्यताम्।
अस्माकं ज्ञानसंयोगः सर्वेषां योगसाधनः ॥ १० ॥

'यह स्वतन्त्र नामक हंस सब जीवोंकी बोली समझनेवाला होगा। पूर्वजन्ममें इसीके कथनानुसार कार्य करनेसे हमें पितरोंकी कृपा प्राप्त हुई। इसने कहा था कि 'गौका प्रोक्षण करके इसे पितरोंको अर्पित किया जाय।' इसीके पालनसे हम सबको योगसाधक ज्ञानकी प्राप्ति हुई है ॥ ९-१० ॥

इमं च वाक्यसंदर्भं श्लोकमेकमुदाहृतम्।
पुरुषान्तरितं श्रुत्वा ततो योगमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

उस मनुष्य-जन्ममें जब कोई पुरुष तुम्हें यह आगे बताया जानेवाला वाक्य संदर्भरूप ('सप्तव्याधा दशार्णेषु' आदि)* श्लोक सुनावेगा, तब तुम्हें यह मोक्ष देनेवाला ज्ञानमय योगधर्म फिर प्राप्त हो जायगा ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलेषु हरिवंशे हरिवंशपर्वणि पितृकल्पे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पितृकल्पविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

हंसोंका काम्पिल्यनगरमें ब्रह्मदत्त आदिके रूपमें उत्पन्न होना और चार हंसोंका अपने पितासे आज्ञा लेकर मुक्त हो जाना

मार्कण्डेय उवाच

ते योगधर्मनिरताः सप्त मानसचारिणः।
पद्मगर्भोऽरविन्दाक्षः क्षीरगर्भः सुलोचनः ॥ १ ॥
उरुबिन्दुः सुबिन्दुश्च हैमगर्भस्तु सप्तमः।
वाय्वम्बुभक्षाः सततं शरीराण्युपशोषयन् ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—तदनन्तर, योगधर्ममें निरत रहनेवाले उन सात मानसचारी हंसोंने, जो पद्मगर्भ, अरविन्दाक्ष, क्षीरगर्भ, सुलोचन, उरुबिन्दु, सुबिन्दु और हैमगर्भ नाम धारण करते थे, केवल जल और वायुका ही भक्षण करके अपने शरीरको सुखाना आरम्भ कर दिया ॥ १-२ ॥

राजा विभ्राजमानस्तु वपुषा तद् वनं तदा।
चचारान्तःपुरवृतो नन्दनं मघवानिव ॥ ३ ॥

इधर वह राजा अपने शरीरसे प्रकाश फैलाता हुआ अपनी स्त्रियोंको साथ ले उस वनमें इस प्रकार घूमने लगा, जैसे नन्दनवनमें इन्द्र घूमते हों ॥ ३ ॥

स तानपश्यत्खचरान् योगधर्मात्मकान् नृप।
निर्वेदाच्च तमेवार्थमनुध्यायन् पुरं ययौ ॥ ४ ॥

राजन्! उस राजाने उन पक्षियोंको (एकाग्रता आदि बाह्य लक्षणोंसे) योगधर्ममें परायण देखा। इससे वह (पक्षी भी योगसाधन करते हैं। हाय! मैं मनुष्य होकर भी योगसाधन न कर सका। इस प्रकार) कुछ निर्विण्ण होकर, उसी बातको सोचता हुआ अपने नगरको चला गया ॥ ४ ॥

अणुहो नाम तस्याऽऽसीत्पुत्रः परमधार्मिकः।
अणुधर्मरतिर्नित्यमणुं सोऽप्यगमत्पदम् ॥ ५ ॥

उसके अणुह† नामक परम धार्मिक पुत्र था। वह अणुह धर्मके सूक्ष्म तत्त्वके चिन्तनमें अनुरक्त था। इसलिये उसे अणुपद (ब्रह्मके सूक्ष्म स्वरूपका बोध) प्राप्त हुआ था ॥ ५ ॥

प्रादात्कन्यां शुकस्तस्मै कृत्वीं पूजितलक्षणाम्।
सत्यशीलगुणोपेतां योगधर्मरतां सदा ॥ ६ ॥

उसको शुकने श्रेष्ठ लक्षणोंवाली सत्यशील एवं अन्यान्य गुणोंसे सम्पन्न और सदा योगधर्मका पालन करनेवाली अपनी कन्या कृत्वी अर्पित की थी ॥ ६ ॥

सा ह्युद्दिष्टा पुरा भीष्म पितृकन्या मनीषिणी।
सनत्कुमारेण तदा संनिधौ मम शोभना ॥ ७ ॥

भीष्म! जैसा कि सनत्कुमारजीने पहले मुझे बताया था, वह सुन्दरी कन्या कृत्वी पितरोंकी ही बुद्धिमती कन्या (पीवरी) थी ॥ ७ ॥

सत्यधर्मभृतां श्रेष्ठा दुर्विज्ञेया कृतात्मभिः।
योगा च योगपत्नी च योगमाता तथैव च ॥ ८ ॥

वह सत्यधर्मका पालन करनेवाली नारियोंमें श्रेष्ठ थी। पुण्यात्मा पुरुष भी उसके स्वरूपको बड़ी कठिनतासे समझ सकते थे। वह स्वयं तो योगिनी थी ही, योगीकी ही पत्नी और योगीकी ही माता भी थी ॥ ८ ॥

यथा ते कथितं पूर्वं पितृकल्पेषु वै मया।
विभ्राजस्त्वणुहं राज्ये स्थापयित्वा नरेश्वरः ॥ ९ ॥
आमन्त्र्य पौरान् प्रीतात्मा ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च।
प्रायात् सरस्तपश्चर्तुं यत्र ते सहचारिणः ॥ १० ॥

मैंने पहले पितृ-कल्पके समय ये सब बातें तुम्हें बतायी थीं। राजा विभ्राज अणुहको राज्यसिंहासनपर बैठाकर प्रसन्नचित्त हो पुरवासियोंसे विदा ले ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर जहाँ वे सहचारी हंस रहते थे, उस सरोवरपर तप करनेके लिये चले गये ॥ ९-१० ॥

स वै तत्र निराहारो वायुभक्षो महातपाः।
त्यक्त्वा कामांस्तपस्तेपे सरसस्तस्य पार्श्वतः ॥ ११ ॥

वे उस सरोवरके तटपर सब कामनाओंको त्याग निराहार रह वायुको ही पीकर तपस्या करने लगे ॥ ११ ॥

* 'सप्तव्याधा दशार्णेषु' आदि वाक्य चौबीसवें अध्यायका बीसवाँ और इक्कीसवाँ श्लोक है।

† अणुह शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—(अणून्—सूक्ष्मान् अर्थान् हन्ति प्राप्नोतीति अणुहः—सूक्ष्म तत्त्वोंको समझनेकी शक्तिवाला)

तस्य संकल्प आसीच्च तेषामेकतरस्य वै।
पुत्रत्वं प्राप्य योगेन युज्येयमिति भारत ॥ १२ ॥

भारत ! उनका यह संकल्प था कि मैं इन (योगी हंसों-मेंसे) किसी एकका पुत्र बनकर उत्पन्न होऊँ तो मैं भी योग-धर्मका पालन कर सकूँगा ॥ १२ ॥

कृत्वाभिसंधिं तपसा महता स समन्वितः।
महातपाः स विभ्राजो विरराजांशुमानिव ॥ १३ ॥

इस प्रकार विचार करके वे महातपस्वी विभ्राज बड़ा भारी तप करके सूर्यके समान सुशोभित होने लगे ॥ १३ ॥

ततो विभ्राजितं तेन वैभ्राजं नाम तद्वनम्।
सरस्तच्च कुरुश्रेष्ठ वैभ्राजमिति संज्ञितम् ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उन्होंने (अपने तपसे) उस वनको विभ्राजित (प्रकाशित) कर दिया। इसलिये वह सरोवर और वह वन भी वैभ्राज सरोवर और वैभ्राज वनके नामसे प्रसिद्ध हो गये ॥ १४ ॥

तत्र ते शकुना राजंश्चत्वारो योगधर्मिणः।
योगभ्रष्टास्त्रयश्चैव देहन्यासकृतोऽभवन् ॥ १५ ॥

राजन् ! (इसी समय) उस सरोवरपर उन योगधर्मका पालन करनेवाले चार हंसोंने तथा योगभ्रष्ट तीन हंसोंने भी अपने शरीरको त्याग दिया ॥ १५ ॥

काम्पिल्ये नगरे ते तु ब्रह्मदत्तपुरोगमाः।
जाताः सप्त महात्मानः सर्वे विगतकल्मषाः ॥ १६ ॥

वे सातों निष्पाप महात्मा काम्पिल्य नगरमें ब्रह्मदत्त आदि (नामोंसे) उत्पन्न हुए ॥ १६ ॥

ज्ञानध्यानतपःपूजावेदवेदाङ्गपारगाः।
स्मृतिमन्तोऽत्र चत्वारस्त्रयस्तु परिमोहिताः ॥ १७ ॥

ये सब ज्ञान, ध्यान, तप और पूजामें लगे रहते थे और वेद-वेदाङ्गके पारगामी विद्वान् थे। इनमें चारको तो अपने पूर्व-जन्मोंका स्मरण था और तीन शापसे मोहित होनेके कारण अपने पूर्वजन्मकी स्मृतिसे वञ्चित थे ॥ १७ ॥

स्वतन्त्रस्त्वणुहाज्जज्ञे ब्रह्मदत्तो महायशाः।
यथा ह्यासीत्पक्षिभावे संकल्पः पूर्वचिन्तितः।
ज्ञानध्यानतपःपूतो वेदवेदाङ्गपारगः ॥ १८ ॥

स्वतन्त्रने अपने पक्षी-शरीरमें जैसा संकल्प किया था, उसीके अनुसार वह अणुहके महायशस्वी पुत्र ब्रह्मदत्तके रूपमें उत्पन्न हुआ। वह ज्ञान, ध्यान और तप करके पवित्र हो गया था तथा वेद और वेदाङ्गका पारगामी विद्वान् था ॥ १८ ॥

छिद्रदर्शी सुनेत्रश्च तथा बाभ्रव्यवत्सयोः।
जातौ श्रोत्रियदायादौ वेदवेदाङ्गपारगौ ॥ १९ ॥

बाभ्रव्य और वत्स—(ये दोनों वहाँ राजा अणुहके मन्त्री तथा श्रोत्रिय ब्राह्मण थे।) छिद्रदर्शन और सुनेत्र नामक हंस उन्हीं श्रोत्रिय राजमन्त्रियोंके कुलमें वेद-वेदाङ्गके पारगामी श्रोत्रिय पुत्र बनकर उत्पन्न हुए ॥ १९ ॥

सहायौ ब्रह्मदत्तस्य पूर्वजातिसहोषितौ।
पाञ्चालः पाञ्चिकश्चैव कण्डरीकस्तथापरः ॥ २० ॥

ये दोनों पहले जन्ममें ब्रह्मदत्तके साथ रहे थे और उनकी सहायता करनेके लिये उत्पन्न हुए थे। (इनमें जो पूर्ववर्ती छः जन्मोंमें अपने सात भाइयोंमेंसे) पाँचवाँ (होकर उत्पन्न हुआ था, वह कवि सातवें जन्ममें) पाञ्चाल नामक श्रोत्रिय हुआ और छठा (खसृम) कण्डरीक नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ २० ॥

पाञ्चालो बह्वृचस्त्वासीदाचार्यत्वं चकार ह।
द्विवेदः कण्डरीकस्तु छन्दोगोऽध्वर्युरेव च ॥ २१ ॥

इनमें पाञ्चाल बह्वृच अर्थात् ऋग्वेदी था। वह आचार्य (पुरोहित) का काम करने लगा और कण्डरीक छन्दोंका गान करनेवाला सामवेदी तथा अध्वर्यु (यजुर्वेदी) हुआ, इस प्रकार वह दो वेदोंका ज्ञाता था ॥ २१ ॥

सर्वसत्त्वरुतज्ञस्तु राजाऽऽसीदणुहात्मजः।
पाञ्चालकण्डरीकाभ्यां तस्य सख्यमभूत् तदा ॥ २२ ॥

अणुहका पुत्र राजा ब्रह्मदत्त सब प्राणियोंकी बोलीको समझ लेता था। उसकी पाञ्चाल और कण्डरीकसे मित्रता हो गयी ॥ २२ ॥

ते ग्राम्यधर्माभिरताः कामस्य वशवर्तिनः।
पूर्वजातिकृतेनासन् धर्मकामार्थकोविदाः ॥ २३ ॥

ये तीनों ग्राम्यधर्म (संसारी पुरुषोंके धर्म) में मग्न रहते थे और काम (इच्छा) के वशमें होकर चलते थे। इन्होंने पूर्वजन्ममें जो सत्कर्म किया था, उसके फलसे ये धर्म, अर्थ और कामके तत्त्वज्ञ हुए ॥ २३ ॥

अणुहस्तु नृपश्रेष्ठो ब्रह्मदत्तमकल्मषम्।
राज्येऽभिषिच्य योगात्मा परां गतिमवाप्तवान् ॥ २४ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ अणुह निष्पाप ब्रह्मदत्तका राज्यपर अभिषेक करके स्वयं योग-साधन कर परम गतिको प्राप्त हो गये ॥ २४ ॥

ब्रह्मदत्तस्य भार्या तु देवलस्यात्मजाभवत्।
असितस्य हि दुर्धर्षा संनतिर्नाम नामतः ॥ २५ ॥

असित देवलकी पुत्री, जिसका नाम संनति था तथा जिसका तिरस्कार करना किसीके लिये भी बहुत कठिन था, राजा ब्रह्मदत्तकी धर्मपत्नी हुई ॥ २५ ॥

तामेकभावसम्पन्नां लेभे कन्यामनुत्तमाम्।
संनतिं संनतिमतीं देवलाद् योगधर्मिणीम् ॥ २६ ॥

उस एक-भाव (ब्रह्मभाव) से सम्पन्न, नम्रताकी मूर्ति, योग-धर्मका पालन करनेवाली संनति नामकी श्रेष्ठ कन्याको ब्रह्मदत्तने देवल ऋषिसे पत्नीके रूपमें प्राप्त किया था ॥ २६ ॥

पञ्चमः पाञ्चिकस्तत्र सप्तजातिषु भारत।
षष्ठस्तु कण्डरीकोऽभूद् ब्रह्मदत्तस्तु सप्तमः ॥ २७ ॥

भारत! जन्मोंमें पाँचवाँ होकर उत्पन्न होनेवाला पाञ्चिक (कवि) पाञ्चाल हुआ, छठा कण्डरीक हुआ और सातवाँ ब्रह्मदत्त हुआ ॥ २७ ॥

शेषा विहङ्गमा ये वै काम्पिल्ये सहचारिणः।
ते जाताः श्रोत्रियकुले सुदरिद्रे सहोदराः ॥ २८ ॥

जो शेष सहचारी पक्षी थे, वे काम्पिल्य नगरमें अत्यन्त दरिद्र श्रोत्रियकुलमें सगे भाई बनकर उत्पन्न हुए ॥ २८ ॥

धृतिमान् सुमना विद्वांस्तत्त्वदर्शी च नामतः।
वेदाध्ययनसम्पन्नाश्चत्वारश्छिद्रदर्शिनः ॥ २९ ॥

वे चारों धृतिमान्, सुमना, विद्वान् और तत्त्वदर्शीके नामसे प्रसिद्ध थे और वेदोंके अध्ययन करनेमें लगे रहते थे। साथ ही योगसाधनके लिये गृह-त्यागका अवसर ढूँढ़ते थे अथवा अपने सहचारियोंके भोगासक्ति रूप दूषणपर भी दृष्टि रखते थे ॥ २९ ॥

तेषां संवित्तथोत्पन्ना पूर्वजातिकृता तदा।
ये योगनिरताः सिद्धाः प्रस्थिताः सर्व एव हि ॥ ३० ॥

इनकी पूर्व जन्मोंमें जैसी वैराग्यपूर्ण बुद्धि थी, वैसी ही इस जन्ममें प्रकट हुई। अतः वे सब सिद्ध पुरुष योगपरायण हो घरसे चलनेके लिये उद्यत हुए ॥ ३० ॥

आमन्त्र्य पितरं तात पिता तानब्रवीत् तदा।
अधर्म एष युष्माकं यन्मां त्यक्त्वा गमिष्यथ ॥ ३१ ॥

तात! जब उन्होंने अपने पितासे पूछकर जानेका विचार किया, तब पिताने उनसे यह बात कही—'तुमलोग यदि मुझको छोड़कर वनमें जाओगे तो यह तुम्हारे लिये अधर्म ही होगा ॥

दारिद्र्यमनपाकृत्य पुत्रार्थांश्चैव पुष्कलान्।
शुश्रूषामप्रयुज्यैव कथं वै गन्तुमर्हथ ॥ ३२ ॥

तुमलोग मेरी दरिद्रता दूर न करके तथा पुत्रद्वारा सिद्ध होनेवाले प्रचुर प्रयोजनोंकी भी सिद्धि एवं मेरी सेवा भी न करके कैसे चले जाना चाहते हो? क्या यही उचित है?॥३२॥

ते तमूचुर्द्विजाः सर्वे पितरं पुनरेव च।
करिष्यामो विधानं ते येन त्वं वर्तयिष्यसि ॥ ३३ ॥

तब उन सब द्विजोंने अपने पितासे कहा—'हमलोग ऐसा उपाय करेंगे जिससे आप जीवन-निर्वाह कर सकेंगे (तथा हम-जैसे पुत्रोंको पाकर आपको अपने उद्धारके लिये भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है) ॥ ३३ ॥

इमं श्लोकं महार्थं त्वं राजानं सहमन्त्रिणम्।
श्रावयेथाः समागम्य ब्रह्मदत्तमकल्मषम् ॥ ३४ ॥

'आप निष्पाप राजा ब्रह्मदत्तसे मिलकर यह महत्त्वपूर्ण ('सप्तव्याधा दशार्णेषु' इत्यादि) श्लोक उनको और उनके मन्त्रियोंको सुनाइयेगा ॥ ३४ ॥

प्रीतात्मा दास्यति स ते ग्रामान् भोगांश्च पुष्कलान्।
यथेप्सितांश्च सर्वार्थान् गच्छ तात यथेप्सितम् ॥ ३५ ॥

'तात! इससे प्रसन्न होकर वे आपको बहुतसे ग्राम, प्रचुर भोग और आपकी इच्छानुसार सब पदार्थ देंगे। आपकी जब इच्छा हो तब (ब्रह्मदत्तके पास) चले जायँ' ॥

एतावदुक्त्वा ते सर्वे पूजयित्वा च तं गुरुम्।
योगधर्ममनुप्राप्य परां निर्वृतिमाययुः ॥ ३६ ॥

इतनी बातें कहकर उन सबोंने अपने पिताकी पूजा की और योगधर्मका साधन कर वे परमानन्दमय मोक्षको प्राप्त हो गये ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलेषु हरिवंशे हरिवंशपर्वणि पितृकल्पे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पितृकल्पविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

विभ्राजका ब्रह्मदत्तका पुत्र बनकर उत्पन्न होना, रानी संनतिका ब्रह्मदत्तसे रूठना, एक ब्राह्मणके कहे हुए श्लोकोंसे ब्रह्मदत्त, पाञ्चाल्य और कण्डरीकको अपने पूर्वजन्मका ज्ञान होना तथा ब्रह्मदत्त आदिका तप करके मुक्त हो जाना

मार्कण्डेय उवाच

ब्रह्मदत्तस्य तनयः स विभ्राजस्त्वजायत।
योगात्मा तपसा युक्तो विष्वक्सेन इति श्रुतः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—जिसके मनमें योग-साधन-विषयक संकल्प हुआ था, वह तपस्वी राजा विभ्राज ब्रह्मदत्त-का पुत्र होकर उत्पन्न हुआ और (उस जन्ममें) वह विष्वक्सेन नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ १ ॥

कदाचिद् ब्रह्मदत्तस्तु भार्यया सहितो वने।
विजहार प्रहृष्टात्मा यथा शच्या शचीपतिः ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, राजा ब्रह्मदत्त प्रसन्नचित्तसे अपनी

भार्याको साथमें लिये उपवनमें इस प्रकार विहार कर रहे थे, जैसे इन्द्र इन्द्राणीके साथ विहार कर रहे हों ॥ २ ॥

ततः पिपीलिकरुतं स शुश्राव नराधिपः।
कामिनीं कामिनस्तस्य याचतः क्रोशतो भृशम्॥ ३ ॥

उसी समय राजाने एक चींटिका स्वर सुना, जो कामके वशमें होकर अपनी कामिनी चींटीसे बहुत गिड़गिड़ाकर प्रार्थना कर रहा था ॥ ३ ॥

श्रुत्वा तु याच्यमानां तां क्रुद्धां सूक्ष्मां पिपीलिकाम्।
ब्रह्मदत्तो महाहासमकस्मादेव चाहसत्॥ ४ ॥

छोटी-सी चींटी कुपित हो मान किये बैठी है और चींटा उससे याचना कर रहा है, यह देख-सुनकर ब्रह्मदत्त अचानक ही बड़े जोरसे हँस पड़े ॥ ४ ॥

ततः सा संनतिर्दीना व्रीडितेवाभवत् तदा।
निराहारा बहुतिथं बभूव वरवर्णिनी ॥ ५ ॥

उस समय सुन्दरी रानी संनति लज्जित-सी हो गयी और दीन होकर बहुत दिनोंतक उसने खाना-पीनातक छोड़ दिया ॥

प्रसाद्यमाना भर्त्रा सा तमुवाच शुचिस्मिता।
त्वया च हसिता राजन् नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ६ ॥

जब पतिदेव उसे मनाने लगे, तब पवित्र मुसकानवाली संनतिने उनसे कहा—'राजन्! आपने मेरी हँसी उड़ायी है, अतः मैं जीवित रहना नहीं चाहती' ॥ ६ ॥

स तत्कारणमाचख्यौ न च सा श्रद्दधाति तत्।
उवाच चैनं कुपिता नैष भावोऽस्ति मानुषे ॥ ७ ॥

तब राजाने हँसनेका कारण बताया, परंतु संनतिने उस बातपर विश्वास नहीं किया और कोपमें भरकर कहा—'मनुष्यमें ऐसी शक्ति (सब प्राणियोंकी बोलीको समझनेकी शक्ति) नहीं हो सकती ॥ ७ ॥

को वै पिपीलिकरुतं मानुषो वेत्तुमर्हति।
ऋते देवप्रसादाद् वा पूर्वजातिकृतेन वा ॥ ८ ॥
तपोबलेन वा राजन् विद्यया वा नराधिप।

'राजन्! देवताओंकी कृपा, पूर्वजन्ममें किये हुए तप अथवा विद्या (योगशक्ति) के बिना ऐसा कौन मनुष्य है, जो चींटिकी बोलीको समझ सके ॥ ८½ ॥

यद्येष वै प्रभावस्ते सर्वसत्त्वरुतज्ञता ॥ ९ ॥
यथाहमेतज्जानीयां तथा प्रत्याययस्व माम्।

'यदि आपमें सब प्राणियोंकी भाषाको समझनेकी शक्ति है, तो मैं जिस प्रकार इस बातको समझ सकूँ, उस प्रकार मुझे विश्वास दिलाइये ॥ ९½ ॥

प्राणान् चापि परित्यक्ष्ये राजन् सत्येन ते शपे ॥ १० ॥

'राजन्! यदि आप ऐसा न करेंगे तो मैं आपसे सत्यकी शपथ खाकर कहती हूँ, अपने प्राण त्याग दूँगी' ॥ १० ॥

तत् तस्या वचनं श्रुत्वा महिष्याः परुषाक्षरम्।
स राजा परमापन्नो देवश्रेष्ठमगात् ततः ॥ ११ ॥
शरण्यं सर्वभूतेशं भक्त्या नारायणं हरिम्।
समाहितो निराहारः षड्रात्रेण महायशाः ॥ १२ ॥

रानीके इन कठोर शब्दोंको सुनकर राजा बड़ी विपत्तिमें पड़ गये। तब उन्होंने शरणागत-रक्षक, समस्त प्राणियोंके स्वामी, देवश्रेष्ठ भगवान् नारायण हरिकी शरण ली। उन महायशस्वी महात्मा राजाको निराहार रह भक्तिपूर्वक समाहितचित्तसे उपासना करते हुए छः रातें बीत गयीं ॥ ११-१२ ॥

ददर्श दर्शने राजा देवं नारायणं प्रभुम्।
उवाच चैनं भगवान् सर्वभूतानुकम्पकः ॥ १३ ॥

छठी रातमें राजाने प्रभु नारायणदेवका दर्शन किया। समस्त प्राणियोंपर अकारण दया करनेवाले भगवान्‌ने राजासे कहा—॥ १३ ॥

ब्रह्मदत्त प्रभाते त्वं कल्याणं समवाप्स्यसि।
इत्युक्त्वा भगवान् देवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ १४ ॥

'ब्रह्मदत्त! प्रातःकाल होनेपर तुझे कल्याणकी प्राप्ति होगी।' इतनी बात कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये ॥

चतुर्णां तु पिता योऽसौ ब्राह्मणानां महात्मनाम्।
श्लोकं सोऽधीत्य पुत्रेभ्यः कृतकृत्य इवाभवत् ॥ १५ ॥

इधर जो चारों महात्मा ब्राह्मणोंके पिता थे, वे पुत्रोंसे श्लोक सीखकर कृतकृत्य-से हो गये ॥ १५ ॥

स राजानमथान्विच्छन्सहमन्त्रिणमच्युतम्।
न ददर्शान्तरं किंचिच्छ्लोकं श्रावयितुं तदा ॥ १६ ॥

वे धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले राजा ब्रह्मदत्त तथा उसके मन्त्रियोंको खोजने लगे, परंतु उन्हें श्लोक सुनानेका कोई अवसर न मिला ॥ १६ ॥

अथ राजा सरःस्नातो लब्ध्वा नरायणाद् वरम्।
प्रविवेश पुरीं प्रीतो रथमारुह्य काञ्चनम् ॥ १७ ॥

इतनेमें भगवान् नारायणसे वर पाकर राजा सरोवरमें स्नान करके सुवर्णजटित रथमें बैठे और प्रसन्नतापूर्वक अपनी नगरीमें प्रवेश करने लगे ॥ १७ ॥

तस्य रश्मीन् प्रत्यगृह्णात् कण्डरीको द्विजर्षभः।
चामरं व्यजनं चापि बाभ्रव्यः समवाक्षिपत् ॥ १८ ॥

उस समय ब्राह्मणश्रेष्ठ कण्डरीकने अपने हाथमें ब्रह्मदत्तके घोड़ोंकी बागडोर ले रखी थी और बाभ्रव्य-पुत्र पाञ्चाल उनके ऊपर चँवर और व्यजन (पंखा) डुला रहे थे ॥ १८ ॥

इदमन्तरमित्येव ततः स ब्राह्मणस्तदा।
श्रावयामास राजानं श्लोकं तं सचिवौ च तौ ॥ १९ ॥

'यही अवसर है' यह समझकर वे ब्राह्मण राजाको और उनके दोनों मन्त्रियोंको उसी समय श्लोक सुनाने लगे ॥१९॥

सप्त व्याधा दशार्णेषु मृगाः कालञ्जरे गिरौ।
चक्रवाकाः शरद्वीपे हंसाः सरसि मानसे ॥ २० ॥
तेऽभिजाताः कुरुक्षेत्रे ब्राह्मणा वेदपारगाः।
प्रस्थिता दीर्घमध्वानं यूयं किमवसीदथ ॥ २१ ॥

'जो दशार्ण देशमें व्याध, कालञ्जर पर्वतपर मृग, शरद्वीपमें चक्रवाक तथा मानस-सरोवरमें हंस हुए थे, उनमेंसे हम चार तो कुरुक्षेत्रमें वेद-पारगामी कुलीन ब्राह्मण होकर दीर्घ-मार्गपर चले आये हैं, (अर्थात् योगसाधना करके मुक्त हो गये। अब शेष बचे हुए) तुम (तीन व्यक्ति योगमार्गसे भ्रष्ट होकर) क्यों कष्ट पा रहे हो ?' ॥ २०-२१ ॥

तच्छ्रुत्वा मोहमगमद् ब्रह्मदत्तो नराधिपः।
सचिवश्चास्य पाञ्चाल्यः कण्डरीकश्च भारत ॥ २२ ॥

भारत ! राजा ब्रह्मदत्त वह श्लोक सुनकर मूर्च्छित हो गये और उनके मन्त्री पाञ्चाल तथा कण्डरीककी भी वही दशा हुई ॥ २२ ॥

स्रस्तरश्मिप्रतोदौ तौ पतितव्यजनावुभौ।
दृष्ट्वा बभूवुरस्वस्थाः पौराश्च सुहृदस्तथा ॥ २३ ॥

कण्डरीकके हाथमेंसे चाबुक और बागडोर छूट गयीं तथा पाञ्चालके हाथमेंसे भी चँवर और पंखा छूटकर नीचे गिर पड़े। नगरनिवासी और मित्रवर्ग राजा तथा दोनों मन्त्रियोंकी इस दशाको देखकर खिन्न हो गये ॥ २३ ॥

मुहूर्तमेव राजा स सह ताभ्यां रथे स्थितः।
प्रतिलभ्य ततः संज्ञां प्रत्यागच्छदरिंदमः ॥ २४ ॥

दोनों मन्त्रियोंसहित शत्रुदमन राजा ब्रह्मदत्त रथमें दो घड़ी-तक मूर्च्छित पड़े रहे । तत्पश्चात् उन्हें होश आया और वे अपने नगरमें लौट आये ॥ २४ ॥

ततस्ते तत्सरः स्मृत्वा योगं तमुपलभ्य च।
ब्राह्मणं विपुलैरर्थैर्भोगैश्च समयोजयन् ॥ २५ ॥

तदनन्तर उन तीनोंको उस सरोवरका ध्यान आ गया और अपने पूर्व-जन्मके योगका भी स्मरण होने लगा। तब उन्होंने उस ब्राह्मणको बहुत-सा धन और भोग-पदार्थ दिये ॥ २५ ॥

अभिषिच्य स्वराज्ये तु विष्वक्सेनमरिंदमम्।
जगाम ब्रह्मदत्तोऽथ सदारो वनमेव ह ॥ २६ ॥

फिर ब्रह्मदत्तने अपने राज्यपर शत्रुदमन विष्वक्सेनका अभिषेक किया और अपनी स्त्रीको साथमें लेकर वनको चल दिये ॥ २६ ॥

अथैनं संनतिर्धीरा देवलस्य सुता तदा।
उवाच परमप्रीता योगाद् वनगतं नृपम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर योग-साधन करनेके लिये वनमें आये हुए राजा ब्रह्मदत्तसे देवलकी पुत्री धीरस्वभावा संनतिने परम प्रसन्न होकर कहा—॥ २७ ॥

जानन्त्या ते महाराज पिपीलिकरुतक्षताम्।
चोदितः क्रोधमुद्दिश्य सक्तः कामेषु वै मया ॥ २८ ॥

महाराज ! मैं यह बात जानती थी कि आप चींटीकी बोलीको समझ सकते हैं, तब भी मैंने आपको संसारके भोगों-में आसक्त देख यह क्रोधका नाटक रचकर आपको योगकी ओर प्रेरित किया है ॥ २८॥

इतो वयं गमिष्यामो गतिमिष्टामनुत्तमाम्।
तव चान्तर्हितो योगस्ततः संस्मारितो मया ॥ २९ ॥

अब हम परम उत्तम अभीष्ट गतिको प्राप्त करेंगे, इसी उद्देश्यसे मैंने आपको भूले हुए योगका स्मरण दिलाया है ॥ २९ ॥

स राजा परमप्रीतः पत्न्याः श्रुत्वा वचस्तदा।
प्राप्य योगं बलादेव गतिं प्राप सुदुर्लभाम् ॥ ३० ॥

तब अपनी पत्नीकी यह बात सुनकर राजा बड़े प्रसन्न हुए और योग-साधना करके उन्होंने उसके बलसे ही परम दुर्लभ गति पायी ॥ ३० ॥

कण्डरीकोऽपि धर्मात्मा सांख्ययोगमनुत्तमम्।
प्राप्य योगगतिः सिद्धो विशुद्धस्तेन कर्मणा ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा कण्डरीक भी परमश्रेष्ठ सांख्ययोगका ज्ञान पाकर योगका आश्रय ले उसके साधनसे शुद्ध एवं सिद्ध (मुक्त) हो गये ॥ ३१ ॥

क्रमं प्रणीय पाञ्चाल्यः शिक्षां चोत्पाद्य केवलाम्।
योगाचार्यगतिं प्राप यशश्चाग्र्यं महातपाः ॥ ३२ ॥

महातपस्वी पाञ्चालने भी वैदिकोंमें प्रसिद्ध क्रमपाठकी 'विधि एवं विशुद्ध 'शिक्षा' (नामक वेदाङ्ग अथवा योगविषयक शिक्षा) की रचना करके योगाचार्यकी गति (मोक्ष) तथा उत्तम यश प्राप्त किया ॥ ३२ ॥

एवमेतत् पुरावृत्तं मम प्रत्यक्षमच्युत।
तद् धारयस्व गाङ्गेय श्रेयसा योक्ष्यसे ततः ॥ ३३ ॥

(मार्कण्डेयजी कहते हैं—) अच्युत भीष्म ! प्राचीन कालमें घटित हुआ यह श्राद्ध-माहात्म्य-सूचक वृत्तान्त मैंने प्रत्यक्ष देखा है। तुम भी इसे धारण करो तो तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ३३ ॥

ये चान्ये धारयिष्यन्ति तेषां चरितमुत्तमम्।
तिर्यग्योनिषु ते जातु न गमिष्यन्ति कर्हिचित् ॥ ३४ ॥

जो दूसरे सज्जन भी इन वाग् दुष्ट आदिके उत्तम चरित्रको सुनेंगे, वे भी कभी तिर्यग्-योनिमें उत्पन्न न होंगे ॥ ३४ ॥

श्रुत्वा चेदमुपाख्यानं महार्थं महतां गतिम् ।
योगधर्मो हृदि सदा परिवर्तति भारत ॥ ३५ ॥

भारत ! महात्माओंकी सद्गति देनेवाले इस महत्त्वमय उपाख्यानको सुननेसे हृदयमें योग-धर्म पूर्णरूपसे प्रकाशित होने लगता है ॥ ३५ ॥

स तेनैवानुबन्धेन कदाचिल्लभते शमम् ।
ततो योगगतिं याति शुद्धां तां भुवि दुर्लभाम् ॥ ३६ ॥

हृदयमें उस योगधर्मको धारण करनेसे ही मनुष्य कभी शान्ति-लाभ करता है; फिर उसे पृथ्वीमें दुर्लभ योगियोंकी शुद्ध-गति प्राप्त होती है ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमेतत् पुरा गीतं मार्कण्डेयेन धीमता ।
श्राद्धस्य फलमुद्दिश्य सोमस्याप्यायनाय वै ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—प्राचीन कालमें बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीने श्राद्धके फलको लक्ष्यमें रखकर सोम (चन्द्रमा) का आप्यायन (पोषण) करनेके लिये यह ऐसी कथा कही थी ॥ ३७ ॥

सोमो हि भगवान् देवो लोकस्याप्यायनं परम् ।
वृष्णिवंशप्रसङ्गेन तस्य वंशं निबोध मे ॥ ३८ ॥

भगवान् सोम ही लोकोंको परम तृप्ति देनेवाले हैं । अब वृष्णिवंशके प्रसङ्गमें तुम चन्द्रवंशका वर्णन सुनो—॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलेषु हरिवंशे हरिवंशपर्वणि पितृकल्पसमाप्तिर्नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पितृकल्पका उपसंहारनामक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

चन्द्रमाकी उत्पत्ति और राजसूय यज्ञ, देवासुरसंग्राम तथा बुधकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

पिता सोमस्य वै राजन् जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषिः ।
ब्रह्मणो मानसात् पूर्वं प्रजासर्गं विधित्सतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! प्राचीन कालमें ब्रह्माजीने प्रजाकी सृष्टि करनेका विचार किया । उस समय उनके मानसिक संकल्पसे सोम (चन्द्रमा) के पिता भगवान् अत्रि ऋषि उत्पन्न हुए ॥ १ ॥

तत्रात्रिः सर्वभूतानां तस्थौ स्वतनयैर्युतः ।
कर्मणा मनसा वाचा शुभान्येव चचार सः ॥ २ ॥

अत्रि ऋषि भी प्रजाकी सृष्टिमें ही संलग्न हुए । वे तथा उनके पुत्र मन, वाणी और कर्मसे सब प्राणियोंका कल्याण करनेवाले कार्य ही करते थे ॥ २ ॥

अहिंस्रः सर्वभूतेषु धर्मात्मा संशितव्रतः ।
काष्ठकुड्यशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महाद्युतिः ॥ ३ ॥
अनुत्तरं नाम तपो येन तप्तं महत् पुरा ।
त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति हि नः श्रुतम् ॥ ४ ॥

हमने सुना है कि प्राचीन कालमें प्रशंसनीय व्रतका पालन करनेवाले, महातेजस्वी, धर्मात्मा अत्रि ऋषिने तीन हजार दिव्य वर्षोंतक अपनी भुजाएँ ऊपर उठाकर काष्ठ, दीवार और पत्थरके समान निश्चल रहकर किसी प्राणीको तनिक भी कष्ट पहुँचाये बिना ही अनुत्तर[1] नामक महान् तप किया था ॥ ३-४ ॥

तत्रोर्ध्वरेतसस्तस्य स्थितस्यानिमिषस्य ह ।
सोमत्वं तनुरापेदे महासत्त्वस्य भारत ॥ ५ ॥

भारत ! अत्रि ऋषि महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न थे । वे एकटक देखते हुए ऊर्ध्वरेता (ब्रह्मचारी) रहकर सोमकी भावनासे खड़े-खड़े तपस्या करते थे, अतः उनका शरीर सोमरूपमें परिणत हो गया ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमत्वं भावितात्मनः ।
नेत्राभ्यां वारि सुस्राव दशधा द्योतयद् दिशः ॥ ६ ॥

शुद्ध अन्तःकरणवाले मुनिके नेत्रोंसे वह सोमरूप तेज, जलरूपमें बह निकला और दसों दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ आकाशमें चढ़ने लगा ॥ ६ ॥

तं गर्भं विधिना हृष्टा दश देव्यो दधुस्तदा ।
समेत्य धारयामासुर्न च ताः समशक्नुवन् ॥ ७ ॥

तब प्रसन्नतामें भरी हुई दस दिशारूपी देवियोंने सम्मिलित हो उस तेजको अपने गर्भमें विधिपूर्वक धारण किया, परंतु वे उस तेजको धारण करनेमें समर्थ न हो सकीं ॥

स ताभ्यः सहसैवाथ दिग्भ्यो गर्भः प्रभान्वितः ।
पपात भासयँल्लोकाञ्छीतांशुः सर्वभावनः ॥ ८ ॥

तब (औषध आदिके द्वारा) सब लोकोंको पुष्ट करनेवाला शीतल किरणोंसे सुशोभित वह प्रकाशमान गर्भ लोकोंको

[1] १. जिससे उत्कृष्ट दूसरा कोई तप नहीं है, उसे 'अनुत्तर' कहते हैं ।

प्रकाशित करता हुआ दिग्देवियोंके उदरसे सहसा गिर पड़ा ॥ ८ ॥

यदा न धारणे शक्तास्तस्य गर्भस्य ता दिशः।
ततस्ताभिः सहैवाशु निपपात वसुंधराम् ॥ ९ ॥

जब दिशाएँ उस गर्भके तेजको न रोक सकीं, तो वह गर्भ उनके साथ ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९ ॥

पतितं सोममालोक्य ब्रह्मा लोकपितामहः।
रथमारोपयामास लोकानां हितकाम्यया ॥ १० ॥

सोमको गिरा हुआ देख लोकपितामह ब्रह्माजीने संसारका हित करनेकी भावनासे उसे रथपर रख लिया ॥१०॥

स हि वेदमयस्तात धर्मात्मा सत्यसंग्रहः।
युक्तो वाजिसहस्रेण सितेनेति हि नः श्रुतम् ॥ ११ ॥

तात ! हमने सुना है कि वह रथ वेदमय, धर्मस्वरूप तथा सत्यसे नियन्त्रित था। उसमें एक हजार श्वेत घोड़े जुते हुए थे ॥ ११ ॥

तस्मिन् निपतिते देवाः पुत्रेऽत्रेः परमात्मनि।
तुष्टुवुर्ब्रह्मणः पुत्रा मानसाः सप्त ये श्रुताः ॥ १२ ॥

अत्रिपुत्र भगवान् सोमके गिरनेपर ब्रह्माजीके सुप्रसिद्ध सात मानस पुत्र उनकी स्तुति करने लगे ॥ १२ ॥

तथैवाङ्गिरसस्तत्र भृगुरेवात्मजैः सह।
ऋग्भिर्यजुर्भिर्बहुलैरथर्वाङ्गिरसैरपि ॥ १३ ॥

अङ्गिरा-गोत्री भृगु ऋषि और उनके पुत्र ऋग्वेद, यजुर्वेद (सामवेद) और अथर्ववेदकी अनेक श्रुतियोंसे सोमकी स्तुति करने लगे ॥ १३ ॥

तस्य संस्तूयमानस्य तेजः सोमस्य भास्वतः।
आप्यायमानं लोकांस्त्रीन् भासयामास सर्वशः ॥ १४ ॥

('अंशुरंशुष्टे देव सोमाप्यायताम्'[1] इत्यादि मन्त्रोंके द्वारा) स्तुति करनेपर पुष्ट हुआ प्रकाशमान सोमका तेज तीनों लोकोंको सर्वथा प्रकाशित करने लगा ॥ १४ ॥

स तेन रथमुख्येन सागरान्तां वसुंधराम्।
त्रिःसप्तकृत्वोऽतियशाश्चकाराभिप्रदक्षिणम् ॥ १५ ॥

तब उन परम यशस्वी (ब्रह्माजी) ने उस (सोमवान्) श्रेष्ठ रथमें बैठकर समुद्रतककी पृथ्वीकी इक्कीस बार प्रदक्षिणा की ॥ १५ ॥

तस्य यच्च्यावितं तेजः पृथिवीमन्वपद्यत।
ओषध्यस्ताः समुद्भूतास्तेजसा प्रज्वलन्त्युत ॥ १६ ॥

उस समय (रथके वेगसे छलककर) सोमका जो तेज पृथ्वीपर टपकने लगा, उस तेजसे प्रकाशपूर्ण ओषधियाँ उत्पन्न हुईं ॥ १६ ॥

ताभिर्धार्यास्त्रयो लोकाः प्रजाश्चैव चतुर्विधाः।
पोष्टा हि भगवान् सोमो जगतो जगतीपते ॥ १७ ॥

उन ओषधियोंसे भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक—इन तीनों लोकोंका और जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—इन चार प्रकारकी प्रजाओंका पालन होता रहता है। राजन् ! इस प्रकार भगवान् सोम सम्पूर्ण जगत्का पोषण करते हैं ॥ १७ ॥

स लब्धतेजा भगवान् संस्तवैस्तैश्च कर्मभिः।
तपस्तेपे महाभाग पद्मानां दशतीर्दश ॥ १८ ॥

महाभाग ! उन स्तुतिरूप कर्मोंसे तेजस्वी होकर भगवान् सोमने एक हजार पद्म वर्षोंतक तप किया ॥ १८ ॥

हिरण्यवर्णा या देव्यो धारयन्त्यात्मना जगत्।
निधिस्तासामभूद्देवः प्रख्यातः स्वेन कर्मणा ॥ १९ ॥

चाँदीके समान शुक्ल वर्णवाली जो जलकी अधिष्ठात्री देवियाँ अपने स्वरूपभूत जलसे जगत्का पालन करती हैं, चन्द्रदेव उनकी निधि हुए। वे अपने कर्मोंसे विख्यात हैं ॥१९॥

ततस्तस्मै ददौ राज्यं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः।
बीजौषधीनां विप्राणामपां च जनमेजय ॥ २० ॥

जनमेजय ! तदनन्तर ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्माजीने चन्द्रमाको बीज, ओषधि, ब्राह्मण और जलका राजा बना दिया ॥

सोऽभिषिक्तो महाराज राजराज्येन राजराट्।
लोकांस्त्रीन् भासयामास स्वभासा भास्वतां वरः ॥ २१ ॥

महाराज ! जब प्रकाशवानोंमें श्रेष्ठ चन्द्रमाका इन चारोंके राज्यपर सम्राट्के रूपमें अभिषेक हो गया, तब (सम्राट्) चन्द्रमा अपनी कान्तिसे तीनों लोकोंको प्रकाशित करने लगे ॥

सप्तविंशतिमिन्दोस्तु दाक्षायण्यो महाव्रताः।
ददौ प्राचेतसो दक्षो नक्षत्राणीति या विदुः ॥ २२ ॥

उस समय प्रचेताओंके पुत्र दक्षने अपनी महाव्रतधारिणी सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमाको ब्याह दीं, जिन्हें विद्वान् पुरुष सत्ताईस नक्षत्रोंके रूपमें जानते हैं ॥ २२ ॥

स तत् प्राप्य महद्राज्यं सोमः सोमवतां वरः।
समाजह्रे राजसूयं सहस्रशतदक्षिणम् ॥ २३ ॥

इस बड़े भारी राज्यको पाकर पितृदेवताओंमें श्रेष्ठ सोमने राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया, जिसमें उन्होंने एक लाख गौएँ दक्षिणामें दी थीं ॥ २३ ॥

होतास्य भगवानत्रिरध्वर्युर्भगवान् भृगुः।
हिरण्यगर्भश्चोद्गाता ब्रह्मा ब्रह्मत्वमेयिवान् ॥ २४ ॥

सोमके (उस यज्ञमें) भगवान् अत्रि होता बने। भगवान् भृगु अध्वर्यु, हिरण्यगर्भ उद्गाता तथा वसिष्ठजी ब्रह्मा बने ॥ २४ ॥

---

१. अर्थात् हे चन्द्रदेव ! आपकी प्रत्येक किरण परिपुष्ट हो।

सदस्यस्तत्र भगवान् हरिर्नारायणः स्वयम् ।
सनत्कुमारप्रमुखैराद्यैर्ब्रह्मर्षिभिर्वृतः ॥ २५ ॥

उस यज्ञमें सनत्कुमार आदि प्राचीन ब्रह्मर्षियोंने स्वयं भगवान् नारायण हरिको ही सदस्य बनाया था ॥ २५ ॥

दक्षिणामददात् सोमस्त्रींल्लोकानिति नः श्रुतम् ।
तेभ्यो ब्रह्मर्षिमुख्येभ्यः सदस्येभ्यश्च भारत ॥ २६ ॥

भारत ! हमने सुना है कि उन ब्रह्मर्षियोंमें श्रेष्ठ सदस्योंको सोमने तीनों लोक दक्षिणामें दे दिये थे ॥ २६ ॥

तं सिनिश्च कुहूश्चैव द्युतिः पुष्टिः प्रभा वसुः ।
कीर्तिर्धृतिश्च लक्ष्मीश्च नव देव्यः सिषेविरे ॥ २७ ॥

उस समय सिनीवाली, कुहू, द्युति, पुष्टि, प्रभा, वसु, कीर्ति, धृति और लक्ष्मी (शोभा)—ये नौ देवियाँ नित्यप्रति चन्द्रमाकी सेवामें लगी रहती थीं ॥ २७ ॥

प्राप्यावभृथमव्यग्रः सर्वदेवर्षिपूजितः ।
विरराजाधिराजेन्द्रो दशधा भासयन् दिशः ॥ २८ ॥

इस प्रकार सभी ऋषि और देवताओंसे सत्कार पाकर द्विजराज चन्द्रमाने अवभृथ स्नान किया, फिर वे दसों दिशाओंको प्रकाशित करने लगे ॥ २८ ॥

तस्य तत् प्राप्य दुष्प्राप्यमैश्वर्यं मुनिसत्कृतम् ।
विबभ्राम मतिस्तात विनयादनयाऽऽहता ॥ २९ ॥

तात ! मुनियोंद्वारा सम्मानित उस दुर्लभ ऐश्वर्यको पाकर चन्द्रमाकी बुद्धि विनयसे भ्रष्ट हो गयी और उसे अनीतिने धर दबाया ॥ २९ ॥

बृहस्पतेः स वै भार्यां तारां नाम यशस्विनीम् ।
जहार तरसा सर्वानवमत्याङ्गिरःसुतान् ॥ ३० ॥

तब उन्होंने अङ्गिराके सब पुत्रोंका तिरस्कार करके बृहस्पतिकी यशस्विनी भार्या ताराका बलपूर्वक अपहरण कर लिया ॥ ३० ॥

स याच्यमानो देवैश्च तथा देवर्षिभिः सह ।
नैव व्यसर्जयत् तारां तस्मा आङ्गिरसे तदा ।
स संरब्धस्ततस्तस्मिन् देवाचार्यो बृहस्पतिः ॥ ३१ ॥

देवताओं तथा देवर्षियोंके याचना करनेपर भी उन्होंने बृहस्पतिकी स्त्री उनको नहीं लौटायी । तब तो देवताओंके आचार्य बृहस्पतिजी उनके ऊपर अत्यन्त कुपित हो उठे ॥

उशना तस्य जग्राह पार्ष्णिमाङ्गिरसस्तदा ।
स हि शिष्यो महातेजाः पितुः पूर्वो बृहस्पतेः ॥ ३२ ॥

उस समय शुक्राचार्यने चन्द्रमाका पक्ष लिया और रुद्रने बृहस्पतिका; क्योंकि महातेजस्वी रुद्र बृहस्पतिके पिता अङ्गिराके शिष्य थे ॥ ३२ ॥

तेन स्नेहेन भगवान् रुद्रस्तस्य बृहस्पतेः ।
पार्ष्णिग्राहोऽभवद् देवः प्रगृह्याजगवं धनुः ॥ ३३ ॥

उसी गुरुभाईके स्नेहसे भगवान् शिव अपना आजगव नामक धनुष लेकर बृहस्पतिजीके पार्ष्णिग्राह (सहायक) बने थे ॥ ३३ ॥

तेन ब्रह्मशिरो नाम परमास्त्रं महात्मना ।
उद्दिश्य दैत्यानुत्सृष्टं येनैषां नाशितं यशः ॥ ३४ ॥

महात्मा रुद्रने दैत्योंको लक्ष्य करके ब्रह्मशिर नामक श्रेष्ठ अस्त्र छोड़ा, जिसने उन (दैत्यों) के सारे यशपर ही पानी फेर दिया ॥ ३४ ॥

तत्र तद् युद्धमभवत् प्रख्यातं तारकामयम् ।
देवानां दानवानां च लोकक्षयकरं महत् ॥ ३५ ॥

वहाँ ताराके लिये देवताओं और दानवोंमें बड़ा भारी युद्ध हुआ, जो तारकामय महासंग्रामके नामसे प्रसिद्ध है । इसमें संसारका बड़ा भारी संहार हुआ ॥ ३५ ॥

तत्र शिष्टास्तु ये देवास्तुषिताश्चैव भारत ।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुरादिदेवं सनातनम् ॥ ३६ ॥

भारत ! इस युद्धमें मरनेसे बचे हुए देवता और तुषितगण आदिदेव सनातन ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ ३६ ॥

ततो निवार्योशनसं रुद्रं ज्येष्ठं च शङ्करम् ।
ददावङ्गिरसे तारां स्वयमेव पितामहः ॥ ३७ ॥

तब ब्रह्माजीने शुक्राचार्य तथा रुद्रोंमें ज्येष्ठ शङ्करको भी समझा-बुझाकर युद्ध करनेसे रोका; फिर उन्होंने स्वयं ही ताराको लाकर बृहस्पतिजीको दिया ॥ ३७ ॥

तामन्तःप्रसवां दृष्ट्वा तारां प्राह बृहस्पतिः ।
मदीयायां न ते योनौ गर्भो धार्यः कथंचन ॥ ३८ ॥

उस समय ताराको गर्भवती देख बृहस्पतिजीने कहा—'तुझे मेरे क्षेत्रमें किसी तरह पराया गर्भ नहीं धारण करना चाहिये' ॥ ३८ ॥

अयोनावुत्सृजत् तं सा कुमारं दस्युहन्तमम् ।
इषीकास्तम्बमासाद्य ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ३९ ॥

तब ताराने अयोग्य स्थान—सींकोंके झुरमुटमें जाकर प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी उस भारी दस्युहन्ता कुमारको उत्पन्न किया ॥ ३९ ॥

जातमात्रः स भगवान् देवानामक्षिपद् वपुः ।
ततः संशयमापन्ना इमामकथयन् सुराः ॥ ४० ॥

उस ऐश्वर्यवान् कुमारने उत्पन्न होते ही अपने शरीरकी कान्तिसे देवताओंका तेज फीका कर दिया । तब तो देवता संदेहमें पड़कर तारासे कहने लगे— ॥ ४० ॥

सत्यं ब्रूहि सुतः कस्य सोमस्याथ बृहस्पतेः ।
पृच्छ्यमाना यदा देवैर्नाह सा साध्वसाधु वा ॥ ४१ ॥
तदा तां शप्तुमारब्धः कुमारो दस्युहन्तमः ।
तं निवार्य ततो ब्रह्मा तारां पप्रच्छ संशयम् ॥ ४२ ॥

'अरी ! सच बता, यह पुत्र चन्द्रमाका है अथवा बृहस्पतिका ?' परंतु देवताओंके पूछनेपर भी जब उसने भला-बुरा कुछ उत्तर न दिया, तब वह दस्युहन्ता कुमार उसे शाप देनेके लिये तैयार हो गया। उस समय ब्रह्माजीने उसे रोककर तारासे इस संदेहको पूछा—॥४१-४२॥

यदत्र तथ्यं तद् ब्रूहि तारे कस्य सुतस्त्वयम्।
सा प्राञ्जलिरुवाचेदं ब्रह्माणं वरदं प्रभुम्॥ ४३॥

'तारे ! यह किसका पुत्र है—इस बातको तू ठीक-ठीक बता।' तब उसने दोनों हाथ जोड़कर वर देनेवाले प्रभु ब्रह्माजीसे कहा—॥ ४३॥

सोमस्येति महात्मानं कुमारं दस्युहन्तमम्।
ततस्तं मूर्ध्न्युपाघ्राय सोमो धाता प्रजापतिः॥ ४४॥
बुध इत्यकरोन्नाम तस्य पुत्रस्य धीमतः।
प्रतिकूलं च गगने समभ्युत्तिष्ठते बुधः॥ ४५॥

'प्रभो ! यह सोमका ही पुत्र है।' तब उस गर्भको धारण करानेवाले प्रजापति चन्द्रमाने उस महामना दस्युहन्ता कुमारका मस्तक सूँघकर उस बुद्धिमान् पुत्रका नाम 'बुध' रखा। यह बुध जब आकाशमें उदय होता है, तब प्रतिकूल चेष्टा (उत्पात) किया करता है॥ ४४-४५॥

उत्पादयामास ततः पुत्रं वै राजपुत्रिका।
तस्यापत्यं महाराजो बभूवैलः पुरूरवाः॥ ४६॥

तदनन्तर वैराज मनुकी पुत्री इलाने बुधसे एक पुत्र उत्पन्न किया। उनके वे पुत्र महाराज पुरूरवा हुए॥ ४६॥

उर्वश्यां जज्ञिरे यस्य पुत्राः सप्त महात्मनः।
प्रसह्य धर्षितस्तत्र सोमो वै राजयक्ष्मणा॥ ४७॥

महात्मा पुरूरवाके उर्वशीके गर्भसे सात पुत्र उत्पन्न हुए। इधर सोमको हठात् राजयक्ष्माने धर दबाया॥ ४७॥

ततो यक्ष्माभिभूतस्तु सोमः प्रक्षीणमण्डलः।
जगाम शरणार्थाय पितरं सोऽत्रिमेव तु॥ ४८॥

यक्ष्मासे ग्रस्त होनेपर चन्द्रमाका मण्डल क्षीण होने लगा, तब वे अपने पिता अत्रिकी शरणमें पहुँचे॥४८॥

तस्य तत्तापशमनं चकारात्रिर्महातपाः।
स राजयक्ष्मणा मुक्तः श्रिया जज्वाल सर्वतः॥ ४९॥

महातपस्वी अत्रिने उनके तापको दूर कर दिया। वे (चन्द्रमा) राजयक्ष्मा रोगसे मुक्त होकर सब ओरसे प्रकाशित हो उठे॥ ४९॥

एवं सोमस्य वै जन्म कीर्तितं कीर्तिवर्धनम्।
वंशमस्य महाराज कीर्त्यमानं च मे शृणु॥ ५०॥

महाराज ! इस प्रकार मैंने तुमसे चन्द्रमाके जन्मका वर्णन किया, जो कीर्तिको बढ़ानेवाला है। अब मेरे द्वारा चन्द्रमाके वंशका वर्णन सुनो॥ ५०॥

धन्यमारोग्यमायुष्यं पुण्यं संकल्पसाधनम्।
सोमस्य जन्म श्रुत्वैव पापेभ्यो विप्रमुच्यते॥ ५१॥

मनुष्य चन्द्रमाके जन्मको सुनते ही सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। यह चन्द्रमाके जन्मकी कथा धन, आयु, आरोग्य और पुण्य देनेवाली है। इसे सुननेसे मनुष्यके सारे संकल्प—मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं॥ ५१॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि सोमोत्पत्तिकथने पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें चन्द्रमाकी उत्पत्तिका वर्णनविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५॥

षड्विंशोऽध्यायः

महाराज पुरूरवाके चरित्र और वंशका वर्णन, राजा पुरूरवाका त्रेताग्निकी रचना करना और गन्धर्वोंके लोकमें जाना

वैशम्पायन उवाच

बुधस्य तु महाराज विद्वान् पुत्रः पुरूरवाः।
तेजस्वी दानशीलश्च यज्वा विपुलदक्षिणः॥ १॥
ब्रह्मवादी पराक्रान्तः शत्रुभिर्युधि दुर्जयः।
आहर्ता चाग्निहोत्रस्य यज्ञानां च महीपतिः॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! बुधके विद्वान् पुत्र पुरूरवा हुए, जो तेजस्वी, दानशील, यज्ञकर्त्ता, बहुत-सी दक्षिणा देनेवाले, ब्रह्मवादी, युद्धमें पराक्रम दिखानेवाले और शत्रुओंसे दुर्जय थे। वे राजा अग्निहोत्र और यज्ञोंके अनुष्ठान करनेवाले थे॥ १-२॥

सत्यवादी पुण्यमतिः काम्यः संवृतमैथुनः।
अतीव त्रिषु लोकेषु यशसाप्रतिमस्तदा॥ ३॥

राजा पुरूरवा सत्यभाषी और पवित्र विचारवाले थे। उनका रूप बड़ा सुन्दर था और वे गुप्तरूपसे सहवास करनेवाले थे। वे अपने समयमें तीनों लोकोंमें अनुपम यशस्वी थे॥ ३॥

तं ब्रह्मवादिनं क्षान्तं धर्मज्ञं सत्यवादिनम्।
उर्वशी वरयामास हित्वा मानं यशस्विनी॥ ४॥

उन ब्रह्मवादी, क्षमापरायण, धर्मज्ञ तथा सत्यभाषी राजाको यशस्विनी उर्वशी अप्सराने गर्वका परित्याग करके पतिरूपमें वरण कर लिया था ॥ ४ ॥

तया सहावसद् राजा वर्षाणि दश पञ्च च।
पञ्च षट् सप्त चाष्टौ च दश चाष्टौ च भारत ॥ ५ ॥
वने चैत्ररथे रम्ये तथा मन्दाकिनीतटे।
अलकायां विशालायां नन्दने च वनोत्तमे ॥ ६ ॥
उत्तरान् स कुरून् प्राप्य मनोरथफलद्रुमान्।
गन्धमादनपादेषु मेरुपृष्ठे तथोत्तरे ॥ ७ ॥

भारत ! राजा पुरूरवा उस अप्सराके साथ दस वर्षतक रमणीय चैत्ररथ वनमें, पाँच वर्षतक मन्दाकिनीके तटपर बसी हुई अलकापुरीमें, पाँच वर्षतक बदरीनारायणके वनोंमें, छः वर्षतक उत्तम उपवन नन्दनवनमें, सात वर्षतक मनोरथरूप फलको देनेवाले वृक्षोंसे परिपूर्ण उत्तरकुरुदेशोंमें, आठ वर्षतक गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर, दस वर्षतक मेरुपर्वतपर तथा आठ वर्षतक उत्तराचलपर विहार करते रहे ॥ ५—७ ॥

एतेषु वनमुख्येषु सुरैराचरितेषु च।
उर्वश्या सहितो राजा रेमे परमया मुदा ॥ ८ ॥

राजा पुरूरवा उर्वशीको साथमें लेकर देवताओंसे सेवित इन मुख्य-मुख्य वनोंमें बड़े आनन्दके साथ विहार किया करते थे ॥ ८ ॥

देशे पुण्यतमे चैव महर्षिभिरभिष्टुते।
राज्यं च कारयामास प्रयागे पृथिवीपतिः ॥ ९ ॥

पृथ्वीपति पुरूरवा (उर्वशीके साथ) महर्षियोंसे प्रशंसित परम पवित्र देश प्रयागमें राज्य करते थे ॥ ९ ॥

तस्य पुत्रा बभूवुस्ते सप्त देवसुतोपमाः।
दिवि जाता महात्मान आयुर्धीमानमावसुः ॥ १० ॥
विश्वायुश्चैव धर्मात्मा श्रुतायुश्च तथापरः।
दृढायुश्च वनायुश्च शतायुश्चोर्वशीसुताः ॥ ११ ॥

राजाके द्वारा उर्वशीके गर्भसे स्वर्गमें देव-पुत्रोंके तुल्य आयु, बुद्धिमान् अमावसु, धर्मात्मा विश्वायु, श्रुतायु, दृढायु, वनायु और शतायु नामक सात पुत्र उत्पन्न हुए, जो सभी महान् आत्मबलसे सम्पन्न थे ॥ १०-११ ॥

जनमेजय उवाच

गान्धर्वी चोर्वशी देवी राजानं मानुषं कथम्।
देवानुत्सृज्य सम्प्राप्ता तन्नो ब्रूहि बहुश्रुत ॥ १२ ॥

जनमेजयने पूछा—बहुश्रुत वैशम्पायनजी ! उर्वशीदेवी तो अप्सरा थी, फिर देवताओंका परित्याग कर वह मनुष्य राजाके पास क्योंकर आयी ? यह मुझे बताइये ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ब्रह्मशापाभिभूता सा मानुषं समपद्यत।
ऐलं तु सा वरारोहा समयात् समुपस्थिता ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! ब्रह्मशापके कारण उर्वशीको मनुष्यलोकमें आना पड़ा था। वह सुन्दर अङ्गोंवाली उर्वशी कुछ शर्तोंके साथ इला-नन्दन पुरूरवाके पास रही थी ॥ १३ ॥

आत्मनः शापमोक्षार्थे समयं सा चकार ह।
अनग्नदर्शनं चैव सकामायां च मैथुनम् ॥ १४ ॥
द्वौ मेषौ शयनाभ्याशे सदा बद्धौ च तिष्ठतः।
घृतमात्रो तथाऽऽहारः कालमेकं तु पार्थिव ॥ १५ ॥

भूपाल ! उसने अपने शापसे छूटनेके लिये यह शर्त करा ली थी कि 'मैं आपको नंगा न देखूँ, मेरे सकाम होनेपर ही आप सहवास करें, मेरे पलंगके पास सदा दो भेंड़ बँधे रहेंगे और मैं दिनमें एक बार थोड़ा-सा घृतमात्र भोजन करूँगी ॥ १४-१५ ॥

यद्येष समयो राजन् यावत्कालं च ते दृढः।
तावत्कालं तु वत्स्यामि त्वत्तः समय एष नः ॥ १६ ॥

'राजन् ! जबतक इन प्रतिज्ञाओंका आप दृढ़ताके साथ पालन करते रहेंगे, तबतक मैं आपके पास रहूँगी—यह मैं आपसे प्रतिज्ञा करती हूँ' ॥ १६ ॥

तस्यास्तं समयं सर्वं स राजा समपालयत्।
एवं सा वसते तत्र पुरूरवसि भामिनी ॥ १७ ॥

राजा उसकी सब शर्तोंका पालन करने लगे । इस प्रकार वह श्रेष्ठ अप्सरा पुरूरवाके यहाँ रहने लगी ॥ १७ ॥

वर्षाण्येकोनषष्टिस्तु तत्सक्ता शापमोहिता।
उर्वश्यां मानुषस्थायां गन्धर्वाश्चिन्तयान्विताः ॥ १८ ॥

शापके कारण उर्वशीको जब राजामें आसक्त होकर रहते हुए उनसठ वर्ष बीत गये, तब गन्धर्वोंको मनुष्योंके बीच बसनेवाली उर्वशीकी चिन्ता हुई ॥ १८ ॥

गन्धर्वा ऊचुः

चिन्तयध्वं महाभागा यथा सा तु वराङ्गना।
समागच्छेत् पुनर्देवानुर्वशी स्वर्गभूषणम् ॥ १९ ॥

गन्धर्वोंने कहा—महाभागो ! वराङ्गना उर्वशी देवताओंमें फिर किस प्रकार आवे ? इसका उपाय सोचो; क्योंकि वह स्वर्गका भूषण है ॥ १९ ॥

ततो विश्वावसुर्नाम तत्राह वदतां वरः।
मया तु समयस्ताभ्यां क्रियमाणः श्रुतः पुरा ॥ २० ॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ विश्वावसु नामक गन्धर्वने कहा—'उन दोनोंने पहले जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, उन्हें मैंने सुना है ॥

व्युत्क्रान्तसमयं सा वै राजानं त्यक्ष्यते यथा।
तदहं वेद्म्यशेषेण यथा भेत्स्यत्यसौ नृपः ॥ २१ ॥

'राजाके प्रतिज्ञा भङ्ग करनेपर वह उसे छोड़ देगी । उस राजाकी प्रतिज्ञा जिस प्रकार टूटेगी, मैं उसे भी भलीभाँति जानता हूँ ॥ २१ ॥

ससहायो गमिष्यामि युष्माकं कार्यसिद्धये।
एवमुक्त्वा गतस्तत्र प्रतिष्ठानं महायशाः ॥ २२ ॥

'तुम्हारे कामको सिद्ध करनेके लिये अपने सहायकोंको साथ लेकर मैं वहाँ जाऊँगा।' यों कहकर वह महायशस्वी गन्धर्व प्रतिष्ठानपुर (झूँसी-प्रयाग) में गये ॥ २२ ॥

निशायामथ चागम्य मेषमेकं जहार सः।
मातृवद् वर्तते सा तु मेषयोश्चारुहासिनी ॥ २३ ॥

वहाँ आकर उन्होंने रातमें एक भेंड़ चुरा ली। मनोहर हासवाली वह उर्वशी उन भेड़ोंपर माताके समान स्नेह करती थी ॥ २३ ॥

गन्धर्वागमनं श्रुत्वा शापान्तं च यशस्विनी।
राजानमब्रवीत् तत्र पुत्रो मेऽह्रियतेति सा ॥ २४ ॥

यशस्विनी उर्वशीने गन्धर्वोंके आगमनको सुनकर विचारा कि अब मेरे शापके अन्त होनेका समय आ गया, तब उसने राजासे कहा—'राजन्! मेरे एक बच्चेको चोर चुरा ले गये' ॥

एवमुक्तो विनिश्चित्य नग्नो नैवोदतिष्ठत।
नग्नं मां द्रक्ष्यते देवी समयो वितथो भवेत् ॥ २५ ॥

यह कहनेपर भी वह यह विचारकर नंगा नहीं उठा कि यदि यह देवी मुझे नंगा देख लेगी तो मेरी प्रतिज्ञा झूठी हो जायगी ॥ २५ ॥

ततो भूयस्तु गन्धर्वा द्वितीयं मेषमाददुः।
द्वितीये तु हृते मेषे ऐलं देव्यब्रवीदिदम् ॥ २६ ॥

इतनेहीमें गन्धर्व पुनः दूसरे भेंड़को भी उठा ले गये। दूसरे भेंड़के चुराये जानेपर देवी उर्वशीने पुरूरवासे यह कहा—॥२६॥

पुत्रो मेऽपहृतो राजन्ननाथाया इव प्रभो।
एवमुक्तस्तथोत्थाय नग्नो राजा प्रधावितः ॥ २७ ॥
मेषयोः पदमन्विच्छन् गन्धर्वैर्विद्युदप्यथ।
उत्पादिता सुमहती ययौ तद्भवनं महत् ॥ २८ ॥
प्रकाशितं वै सहसा ततो नग्नमवैक्षत।
नग्नं दृष्ट्वा तिरोभूता साप्सरा कामरूपिणी ॥ २९ ॥

'सामर्थ्यशाली राजन्! अनाथ स्त्रीके समान मेरे पुत्रोंको छीन लिया गया।' यो उर्वशीके कहनेपर राजा नंगे ही उठकर भेड़ोंके पैरके चिह्नका अनुसरण करते हुए दौड़े। इसी समय गन्धर्वोंने बड़ी भारी बिजली चमकायी। उस समय वह विशाल भवन एक साथ प्रकाशित हो गया। तब तो उर्वशीने राजाको नंगा देख लिया। वह कामरूपिणी अप्सरा राजाको नंगा देखते ही अन्तर्धान हो गयी ॥ २७–२९ ॥

उत्सृष्टावुरणौ दृष्ट्वा राजा गृह्यागतो गृहे।
अपश्यन्नुर्वशीं तत्र विललाप सुदुःखितः ॥ ३० ॥

उधर राजा भी (गन्धर्वोंके) छोड़े हुए भेड़ोंको देख उन्हें साथ लेकर घरमें घुसे, पर वहाँ उन्हें उर्वशी नहीं दिखायी दी। तब वे परम दुःखित हो विलाप करने लगे ॥ ३० ॥

चचार पृथिवीं सर्वां मार्गमाण इतस्ततः।
अथापश्यत् स तां राजा कुरुक्षेत्रे महाबलः ॥ ३१ ॥
प्लक्षतीर्थे पुष्करिण्यां हैमवत्यां समाप्लुताम्।
क्रीडन्तीमप्सरोभिश्च पञ्चभिः सह शोभनाम् ॥ ३२ ॥

फिर वे उर्वशीको खोजते हुए पृथ्वीपर सर्वत्र घूमने लगे। कुछ समयके अनन्तर उन महाबली नरेशने उस शोभामयी अप्सराको कुरुक्षेत्रके प्लक्षतीर्थकी हैमवती नामवाली पुष्करिणीमें स्नानकर अपनी पाँच सखियोंके साथ क्रीड़ा करते देखा ॥ ३१-३२ ॥

तां क्रीडन्तीं ततो दृष्ट्वा विललाप सुदुःखितः।
सा चापि तत्र तं दृष्ट्वा राजानमविदूरतः ॥ ३३ ॥
उर्वशी ताः सखीः प्राह स एष पुरुषोत्तमः।
यस्मिन्नहमवात्सं वै दर्शयामास तं नृपम् ॥ ३४ ॥

क्रीड़ा करती हुई उर्वशीको देखकर राजा दुःखित होकर विलाप करने लगे। इधर उर्वशीने भी उस राजाको समीप ही देखकर अपनी सखियोंसे राजाको दिखाया और कहा—'ये वे ही पुरुषोत्तम हैं, जिनके पास मैं रही थी' ॥ ३३-३४ ॥

समाविग्नास्तु ताः सर्वाः पुनरेव नराधिपः।
जाये ह तिष्ठ मनसा घोरे वचसि तिष्ठ ह ॥ ३५ ॥
एवमादीनि सूक्तानि परस्परमभाषत।
उर्वशी चाब्रवीदैलं सगर्भाहं त्वया प्रभो ॥ ३६ ॥

उस समय वे सभी अप्सराएँ (उर्वशीके पुनर्गमनकी आशङ्कासे) घबरा गयीं। इधर राजा उससे फिर कहने लगे—'प्रिये! तू थोड़ा ठहर, ओ कठोर हृदयवाली! ठहर जा और अपने वचनोंपर दृढ़ रह!' इस प्रकार वैदिक सूक्तोंको वे दोनों एक दूसरेके प्रति उत्तर-प्रत्युत्तरके रूपमें कहने लगे। उस समय उर्वशीने इला-पुत्र पुरूरवासे कहा—'प्रभो! मैं आपके द्वारा गर्भवती हूँ ॥ ३५-३६ ॥

संवत्सरात् कुमारास्ते भविष्यन्ति न संशयः।
निशामेकां च नृपते निवत्स्यसि मया सह ॥ ३७ ॥

'राजन्! निस्संदेह एक-एक वर्षपर मेरे गर्भसे आपके कुमार उत्पन्न होंगे तथा प्रतिवर्ष एक रात्रि आप मेरे साथ रह सकेंगे' ॥ ३७ ॥

हृष्टो जगाम राजाथ स्वपुरं तु महायशाः।
गते संवत्सरे भूय उर्वशी पुनरागमत् ॥ ३८ ॥

तब वे महायशस्वी राजा प्रसन्न हो गये और अपने

नगरमें आ गये। वर्ष समाप्त होनेपर उर्वशी उनके पास फिर आयी ॥ ३८ ॥

उषितश्च तया सार्द्धमेकरात्रं महायशाः।
उर्वश्यथाब्रवीदैलं गन्धर्वा वरदास्तव ॥ ३९ ॥

महायशस्वी पुरूरवा उसके साथ एक रात्रि रहे। तदनन्तर उर्वशीने पुरूरवासे कहा—'गन्धर्व आपको वर देना चाहते हैं ॥ ३९ ॥

तान् वृणीष्व महाराज ब्रूहि चैनांस्त्वमेव हि।
वृणीष्व समतां राजन् गन्धर्वाणां महात्मनाम् ॥ ४० ॥

'महाराज! अब आप वर माँग लीजिये। आप इनसे इन महात्मा गन्धर्वोंकी समता माँग लीजिये' ॥ ४० ॥

तथेत्युक्त्वा वरं वव्रे गन्धर्वाश्च तथास्त्विति।
पूरयित्वाग्निना स्थालीं गन्धर्वाश्च तमब्रुवन् ॥ ४१ ॥

तब पुरूरवाने 'बहुत अच्छा' कहकर गन्धर्वोंसे वर माँग लिया। तब गन्धर्वोंने 'बहुत अच्छा, 'ऐसा ही होगा,' कहकर एक थालीमें अग्नि भरकर पुरूरवासे कहा—॥ ४१ ॥

अनेनेष्ट्वा च लोकान्नः प्राप्स्यसि त्वं नराधिप।
तानादाय कुमारांस्तु नगरायोपचक्रमे ॥ ४२ ॥

'राजन्! इस अग्निसे यज्ञ करके तुम हमारे लोकोंमें आ जाओगे।' तब वे राजा (अग्नि और) अपने पुत्रोंको लेकर नगरकी ओर चले ॥ ४२ ॥

निक्षिप्याग्निमरण्ये तु सपुत्रस्तु गृहं ययौ।
स त्रेताग्निं तु नापश्यदश्वत्थं तत्र दृष्टवान् ॥ ४३ ॥

(मार्गमें) उन्होंने वनमें अग्निको रख दिया और अपने पुत्रोंको लेकर घरमें प्रवेश किया। फिर वनमें जानेपर वहाँ उन्होंने अग्निको नहीं देखा; किंतु उसकी जगह एक पीपलके वृक्षको खड़ा देखा ॥ ४३ ॥

शमीजातं तु तं दृष्ट्वा अश्वत्थं विस्मितस्तदा।
गन्धर्वेभ्यस्तदाशंसदग्निनाशं ततस्तु सः ॥ ४४ ॥

तब वे राजा (अग्निको अपने गर्भमें छिपानेवाले) शमी (जंड) के वृक्षमेंसे उत्पन्न हुए पीपलको देखकर विस्मयमें पड़ गये और उन्होंने गन्धर्वोंसे अग्निके न दीखनेका वृत्तान्त कहा ॥ ४४ ॥

श्रुत्वा तमर्थमखिलमरणीं तु समादिशन्।
अश्वत्थादरणीं कृत्वा मथित्वाग्निं यथाविधि ॥ ४५ ॥
मथित्वाग्निं त्रिधा कृत्वा अयजत् स नराधिपः।
इष्ट्वा यज्ञैर्बहुविधैर्गतस्तेषां सलोकताम् ॥ ४६ ॥

गन्धर्वोंने सब बातको सुनकर कहा, 'तुम पीपलकी अरणी बना लो' तब उन्होंने पीपलकी अरणी बनाकर शास्त्रीय विधिके अनुसार उन अरणियोंको मथकर अग्निको उत्पन्न किया। फिर उस अग्निके तीन विभाग किये। तदनन्तर उस अग्निसे उन्होंने यजन किया था। वे उस त्रेताग्निसे अनेक प्रकारके यज्ञ कर गन्धर्वोंकी समानता पाकर गन्धर्वोंके लोकमें पहुँच गये ॥ ४५-४६ ॥

गन्धर्वेभ्यो वरं लब्ध्वा त्रेताग्निं समकारयत्।
एकोऽग्निः पूर्वमेवासीदैलस्त्रेतामकारयत् ॥ ४७ ॥

राजा पुरूरवाने गन्धर्वोंसे वर पाकर त्रेताग्निकी रचना की थी। पहले अग्नि एक ही था, पुरूरवाने उसको तीन बनाया था ॥ ४७ ॥

एवंप्रभावो राजासीदैलस्तु नरसत्तम।
देशे पुण्यतमे चैव महर्षिभिरभिष्टुते ॥ ४८ ॥
राज्यं स कारयामास प्रयागे पृथिवीपतिः।
उत्तरे जाह्नवीतीरे प्रतिष्ठाने महायशाः ॥ ४९ ॥

नरश्रेष्ठ! राजा पुरूरवा ऐसे प्रतापी थे। उन महायशस्वी पृथ्वीपतिने गङ्गाके उत्तर तटपर बसे हुए महर्षियोंसे प्रशंसित परम पवित्र प्रतिष्ठान (झूँसी—प्रयाग) में राज्य किया था ॥ ४८-४९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि ऐलोत्पत्तिर्नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पुरूरवाकी उत्पत्तिविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

पुरूरवाके द्वितीय पुत्र अमावसुके वंशका वर्णन, विश्वामित्र और परशुरामकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

ऐलपुत्रा बभूवुस्ते सर्वे देवसुतोपमाः।
दिवि जाता महात्मान आयुर्धीमानमावसुः ॥ १ ॥
विश्वायुश्चैव धर्मात्मा श्रुतायुश्च तथापरः।
दृढायुश्च वनायुश्च शतायुश्चोर्वशीसुताः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पुरूरवाके सभी पुत्र देवकुमारोंके तुल्य थे। वे सब महात्मा उर्वशीके गर्भसे स्वर्गमें उत्पन्न हुए थे। (उनके नाम इस प्रकार हैं—) आयु, बुद्धिमान् अमावसु, धर्मात्मा विश्वायु, श्रुतायु, दृढायु, वनायु और शतायु ॥ १-२ ॥

अमावसोश्च दायादो भीमो राजाथ नग्नजित्।
श्रीमान् भीमस्य दायादो राजासीत् काञ्चनप्रभः।

विद्वांस्तु काञ्चनस्यापि सुहोत्रोऽभून्महाबलः ॥ ३ ॥

अमावसुके राजा भीम और नग्नजित् नामक पुत्र हुए थे। भीमके पुत्र श्रीमान् राजा काञ्चनप्रभ हुए। काञ्चनके महाबली पुत्र सुहोत्र हुए, जो बड़े विद्वान् थे ॥ ३ ॥

सौहोत्रिरभवज्जह्नुः केशिन्या गर्भसम्भवः।
आजह्रे यो महत्सत्रं सर्वमेधमहामखम् ॥ ४ ॥

सुहोत्रके केशिनीके गर्भसे जह्नु नामक पुत्र हुए। उन्होंने सर्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान किया था (जिसमें बहुत बड़ा 'अन्नसत्र' होता है) ॥ ४ ॥

पतिलोभेन यं गङ्गा पतित्वेऽभिससार ह।
नेच्छतः प्लावयामास तस्य गङ्गा च तत्सदः।
स तया प्लावितं दृष्ट्वा यज्ञवाटं समन्ततः ॥ ५ ॥
सौहोत्रिरब्रवीद् गङ्गां क्रुद्धो भरतसत्तम ॥ ६ ॥

गङ्गाजी उनको पति बनानेके लोभसे उनके समीप गयी थीं; परंतु जब उन्होंने इस बातकी इच्छा न की, तब गङ्गाजीने उनकी सभाको जलसे भर दिया था। भरतसत्तम ! सुहोत्र-पुत्र जह्नुने अपने यज्ञवाटको गङ्गाजीके द्वारा डूबता हुआ देख क्रोधमें भरकर गङ्गाजीसे कहा—॥ ५-६ ॥

एष ते विफलं यत्नं पिबन्नम्भः करोम्यहम्।
अस्य गङ्गेऽवलेपस्य सद्यः फलमवाप्नुहि ॥ ७ ॥

'गङ्गे ! मैं तेरे इस जलको पीकर तेरे यत्नको व्यर्थ किये देता हूँ। तू अपने अभिमानका फल शीघ्र ही पा ले' ॥ ७ ॥

राजर्षिणा ततः पीतां गङ्गां दृष्ट्वा महर्षयः।
उपनिन्युर्महाभागां दुहितृत्वेन जाह्नवीम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर उन राजर्षिने गङ्गाजीको पी लिया। यह देखकर महर्षियोंने महाभागा गङ्गाजीको उनकी पुत्री मानकर (उनका नाम) जाह्नवी रख दिया ॥ ८ ॥

युवनाश्वस्य पुत्रीं तु कावेरीं जह्नुरावहत्।
युवनाश्वस्य शापेन गङ्गार्धेन विनिर्ममे।
कावेरीं सरितां श्रेष्ठां जह्नोर्भार्यामनिन्दिताम् ॥ ९ ॥

जह्नुने युवनाश्वकी पुत्री कावेरीसे विवाह किया था, जिसे युवनाश्वके शापसे गङ्गाने अपने ही आधे भागद्वारा प्रकट किया था; इस प्रकार सरिताओंमें श्रेष्ठ साध्वी कावेरी जह्नुकी भार्या हुई ॥ ९ ॥

जह्नुस्तु दयितं पुत्रं सुनहं नाम धार्मिकम्।
कावेर्यां जनयामास अजकस्तस्य चात्मजः ॥ १० ॥

जह्नुने कावेरीके गर्भसे सुनह नामक धार्मिक पुत्रको उत्पन्न किया। सुनहके पुत्र अजक हुए ॥ १० ॥

अजकस्य तु दायादो बलाकाश्वो महीपतिः।
बभूव मृगयाशीलः कुशस्तस्यात्मजोऽभवत् ॥ ११ ॥

अजकके पुत्र राजा बलाकाश्व हुए। उनको मृगयाका व्यसन था। उनके पुत्र कुश हुए ॥ ११ ॥

कुशपुत्रा बभूवुर्हि चत्वारो देववर्चसः।
कुशिकः कुशनाभश्च कुशाम्बो मूर्तिमांस्तथा ॥ १२ ॥

कुशके देवताओंके समान कान्तिमान् कुशिक, कुशनाभ, कुशाम्ब और मूर्तिमान् नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए ॥१२॥

पह्लवैः सह संवृद्धि राजा वनचरैस्तदा।
कुशिकस्तु तपस्तेपे पुत्रमिन्द्रसमप्रभम्।
लभेयमिति तं शक्रस्त्रासादभ्येत्य जज्ञिवान् ॥ १३ ॥

राजा कुशिक वनवासी पह्लवोंके साथ पलकर बड़े हुए थे। उन्होंने इन्द्रके समान प्रभाववाले पुत्रको पानेकी इच्छासे तप करना आरम्भ कर दिया। तब इन्द्र उनके भयसे स्वयं ही उनके यहाँ पुत्र बनकर उत्पन्न हो गये ॥ १३ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे वै तं तु शक्रो ह्यपश्यत।
अत्युग्रतपसं दृष्ट्वा सहस्राक्षः पुरंदरः ॥ १४ ॥
समर्थः पुत्रजनने स्वमेवांशमवासयत्।
पुत्रत्वे कल्पयामास स देवेन्द्रः सुरोत्तमः ॥ १५ ॥

राजा कुशिकको जब (तप करते) एक हजार वर्ष पूरे हो गये, तब इन्द्रका ध्यान कुशिककी ओर गया, हजार नेत्रोंवाले पुरन्दर इन्द्रने राजाको अति उग्र तप करके पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ देख उन (के वीर्य) में अपने अंशको स्थापित कर दिया। इस प्रकार देवेन्द्र सुरोत्तम कुशिकके पुत्र बने थे ॥ १४–१५ ॥

स गाधिरभवद् राजा मघवान् कौशिकः स्वयम्।
पौरुकुत्स्यभवद् भार्या गाधिस्तस्यामजायत ॥ १६ ॥

इस प्रकार इन्द्र स्वयं (कुशिकके पुत्र) कौशिक गाधि बनकर उत्पन्न हुए थे। राजा कुशिककी पत्नी पुरुकुत्सकी पुत्री थी, उसके गर्भसे ही गाधि उत्पन्न हुए थे ॥ १६ ॥

गाधेः कन्या महाभागा नाम्ना सत्यवती शुभा।
तां गाधिर्भृगुपुत्राय ऋचीकाय ददौ प्रभुः ॥ १७ ॥

गाधिकी महाभाग्यवती शुभ कन्याका नाम सत्यवती था, राजा गाधिने सत्यवतीका विवाह भृगुपुत्र ऋचीकके साथ कर दिया था ॥ १७ ॥

तस्याः प्रीतोऽभवद् भर्ता भार्गवो भृगुनन्दनः।
पुत्रार्थं कारयामास चरुं गाधेस्तथैव च ॥ १८ ॥

सत्यवतीके स्वामी भृगुवंशी ऋचीकने अपनी पत्नीके ऊपर प्रसन्न होकर उसके और गाधिके लिये पुत्र देनेवाला चरु बनाया ॥ १८ ॥

उवाचाहूय तां भर्ता ऋचीको भार्गवस्तदा।
उपयोज्यश्चरुरयं त्वया मात्रा त्वयं तव ॥ १९ ॥

तदनन्तर सत्यवतीके स्वामी भृगुवंशी ऋचीकने सत्यवतीको

बुलाकर कहा—'तू इस चरुका उपयोग करना और इस (दूसरे) चरुका उपयोग करनेके लिये अपनी मातासे कहना ॥ १९ ॥

तस्यां जनिष्यते पुत्रो दीप्तिमान् क्षत्रियर्षभः।
अजेयः क्षत्रियैर्लोके क्षत्रियर्षभसूदनः ॥ २० ॥

'तुम्हारी माताके जो पुत्र होगा, वह क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ, दीप्तिमान्, संसारमें क्षत्रियोंसे अजेय और बड़े-बड़े क्षत्रियोंको दबानेवाला होगा ॥ २० ॥

तवापि पुत्रं कल्याणि धृतिमन्तं तपोनिधिम्।
शमात्मकं द्विजश्रेष्ठं चरुरेष विधास्यति ॥ २१ ॥

'कल्याणि! यह चरु तुम्हें भी धैर्यधारी तपोनिधि शान्तस्वरूप द्विजश्रेष्ठ पुत्र देगा' ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा तु तां भार्यामृचीको भृगुनन्दनः।
तपस्यभिरतो नित्यमरण्यं प्रविवेश ह ॥ २२ ॥

सदा तपस्यामें ही तत्पर रहनेवाले भृगुनन्दन ऋचीक अपनी पत्नीसे इस प्रकार कहकर (तप करनेके लिये) वनमें चले गये ॥ २२ ॥

गाधिः सदारस्तु तदा ऋचीकावासमभ्यगात्।
तीर्थयात्राप्रसङ्गेन सुतां द्रष्टुं जनेश्वरः ॥ २३ ॥

उसी समय राजा गाधि अपनी भार्याके साथ तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे अपनी पुत्रीको देखनेके लिये ऋचीक ऋषिके आश्रमपर आये ॥ २३ ॥

चरुद्वयं गृहीत्वा तदृषेः सत्यवती तदा।
चरुमादाय यत्नेन सा तु मात्रे न्यवेदयत् ॥२४॥

तब सत्यवतीने ऋषिके दिये हुए दोनों चरुओंको ग्रहण करके उन्हें यत्नपूर्वक अपनी माताके सामने लाकर रख दिये ॥ २४ ॥

माता व्यत्यस्य दैवेन दुहित्रे स्वं चरुं ददौ।
तस्याश्चरुमथाज्ञानादात्मसंस्थं चकार ह ॥ २५ ॥

तब दैववश माताने चरु बदलकर पुत्रीको अपना चरु दे दिया और उसने अज्ञानवश पुत्रीके चरुको स्वयं खा लिया ॥ २५ ॥

अथ सत्यवती गर्भं क्षत्रियान्तकरं तदा।
धारयामास दीप्तेन वपुषा घोरदर्शनम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर सत्यवतीने क्षत्रियोंका संहार करनेवाले गर्भको धारण कर लिया, जो अपने शरीरकी कान्तिके कारण घोर (क्रूर) दीखने लगा॥ २६ ॥

तामृचीकस्ततो दृष्ट्वा योगेनाभ्यनुसृत्य च।
तामब्रवीद् द्विजश्रेष्ठः स्वां भार्यां वरवर्णिनीम् ॥ २७ ॥

उसको देखकर ऋषिने ध्यानके द्वारा सारी बातोंको जान लिया। फिर द्विजश्रेष्ठ ऋचीक ऋषि अपनी श्रेष्ठ अङ्गोंवाली भार्यासे कहने लगे—॥ २७ ॥

मात्रासि वञ्चिता भद्रे चरुव्यत्यासहेतुना।
जनिष्यति हि पुत्रस्ते क्रूरकर्मातिदारुणः ॥ २८ ॥
भ्राता जनिष्यते चापि ब्रह्मभूतस्तपोधनः।
विश्वं हि ब्रह्म तपसा मया तस्मिन् समर्पितम् ॥ २९ ॥

'भद्रे! माताने तुझे ठग लिया है, चरुमें उलट-फेर होनेसे तेरा पुत्र अत्यन्त दारुण क्रूर कार्य करनेवाला होगा और तेरा भाई तपस्याका धनी एवं ब्रह्मस्वरूप होगा, मैंने तपके द्वारा उस (चरु) में सारा वेद भर दिया था' ॥ २८-२९ ॥

एवमुक्ता महाभागा भर्त्रा सत्यवती तदा।
प्रसादयामास पतिं पुत्रो मे नेदृशो भवेत्।
ब्राह्मणापसदस्तत्र इत्युक्तो मुनिरब्रवीत् ॥ ३० ॥

पतिके इस प्रकार कहनेपर महाभाग्यवती सत्यवती स्वामीको प्रसन्न करके बोली—'मेरा पुत्र ऐसा ब्राह्मणाधम न हो।' तब मुनिने उससे कहा—॥ ३० ॥

नैष संकल्पितः कामो मया भद्रे तथास्त्विति।
उग्रकर्मा भवेत् पुत्रः पितुर्मातुश्च कारणात्।
पुनः सत्यवती वाक्यमेवमुक्ताब्रवीदिदम् ॥ ३१ ॥

'भद्रे! पिता अथवा माताके कारण ही पुत्र क्रूर कर्म करनेवाला हो जाता है, मैंने तो उग्र कर्म करनेवाले पुत्रकी कामना नहीं की थी (परंतु तेरी ही असावधानीसे चरुका उलट-फेर हो गया है अतएव ऐसा ही पुत्र होगा)।' इस प्रकार कहनेपर सत्यवतीने फिर कहा—॥ ३१ ॥

इच्छँल्लोकानपि मुने सृजेथाः किं पुनः सुतम्।
शमात्मकमृजुं त्वं मे पुत्रं दातुमिहार्हसि ॥ ३२ ॥

'मुने! आप चाहें तो तीनों लोकोंका निर्माण कर सकते हैं, फिर पुत्रकी तो बात ही क्या? आप तो मुझे शमपरायण सरल पुत्र ही प्रदान करें' ॥ ३२ ॥

काममेवंविधः पौत्रो मम स्यात्तव च प्रभो।
यद्यन्यथा न शक्यं वै कर्तुमेतद् द्विजोत्तम ॥ ३३ ॥

'प्रभो! द्विजश्रेष्ठ! यदि इस बातको पलटा न जा सके तो भले ही आपका और मेरा पौत्र ऐसा हो जाय' ॥ ३३ ॥

ततः प्रसादमकरोत्स तस्यास्तपसो बलात्।
भद्रे नास्ति विशेषो मे पौत्रे च वरवर्णिनि।
त्वया यथोक्तं वचनं तथा भद्रं भविष्यति ॥ ३४ ॥

तब उन्होंने अपने तपोबलसे उसके ऊपर अनुग्रह किया और कहा—'भद्रे! वरवर्णिनि! मैं (पुत्रमें और) पौत्रमें कुछ भेद नहीं समझता, अतः तूने जो कहा है, वह वैसा ही होगा' ॥ ३४ ॥

ततः सत्यवती पुत्रं जनयामास भार्गवम्।
तपस्यभिरतं दान्तं जमदग्निं शमात्मकम् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर सत्यवतीने भृगुवंशी जमदग्निको जन्म दिया, जो तपस्यापरायण, जितेन्द्रिय तथा शम (मनोनिग्रह) से सम्पन्न थे ॥ ३५ ॥

भृगोश्चरुविपर्यासे रौद्रवैष्णवयोः पुरा ।
यजनाद् वैष्णवेऽथांशे जमदग्निरजायत ॥ ३६ ॥

भृगुवंशी ऋचीक मुनिने पूर्वकालमें जो देवताओंकी आराधना की थी, उसीके प्रभावसे रुद्र और विष्णुके अंशभूत उन दोनों चरुओंमें उलट-फेर हो जानेपर भी वैष्णव चरुके अंशसे शान्तस्वभाव जमदग्नि मुनिका जन्म हुआ ॥३६ ॥

सा हि सत्यवती पुण्या सत्यधर्मपरायणा ।
कौशिकीति समाख्याता प्रवृत्तेयं महानदी ॥ ३७ ॥

सत्यवती सत्य-धर्ममें तत्पर रहनेवाली पुण्यात्मा स्त्री थी। यही कौशिकी नामसे विख्यात महानदी हुई ॥ ३७ ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रेणुर्नाम नराधिपः ।
तस्य कन्या महाभागा कामली नाम रेणुका ॥ ३८ ॥

इक्ष्वाकुवंशमें रेणु नामवाले एक नरेश थे। उनकी कन्या महाभागा रेणुका थी, जिसका दूसरा नाम कामली भी था ॥

रेणुकायां तु कामल्यां तपोविद्यासमन्वितः ।
आर्चीको जनयामास जामदग्न्यं सुदारुणम् ॥ ३९ ॥
सर्वविद्यानुगं श्रेष्ठं धनुर्वेदस्य पारगम् ।
रामं क्षत्रियहन्तारं प्रदीप्तमिव पावकम् ॥ ४० ॥

उस रेणुका या कामलीके गर्भसे तपस्वी एवं विद्वान् ऋचीकपुत्र जमदग्निने अत्यन्त कठोर स्वभाववाले परशुरामजीको प्रकट किया, जो समस्त विद्याओंमें पारङ्गत, धनुर्वेदमें प्रवीण, क्षत्रियकुलका संहार करनेवाले तथा प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी थे ॥ ३९-४० ॥

और्वस्यैवमृचीकस्य सत्यवत्यां महायशाः ।
जमदग्निस्तपोवीर्याज्जज्ञे ब्रह्मविदां वरः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार और्व नामसे प्रसिद्ध ऋचीक मुनिके तपोबलसे उनकी पत्नी सत्यवतीके गर्भसे ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महायशस्वी जमदग्निका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ४१ ॥

मध्यमश्च शुनःशेपः शुनःपुच्छः कनिष्ठकः ।
विश्वामित्रं तु दायादं गाधिः कुशिकनन्दनः ॥ ४२ ॥
जनयामास पुत्रं तु तपोविद्याशमात्मकम् ।
प्राप्य ब्रह्मर्षिसमतां योऽयं सप्तर्षितां गतः ॥ ४३ ॥

ऋचीकके मझले पुत्र शुनःशेप और छोटे पुत्र शुनःपुच्छ थे। इधर कुशिकनन्दन महाराज गाधिने विश्वामित्रको पुत्ररूपमें प्रकट किया, जो तपस्वी, विद्वान् और शान्त थे। वे ब्रह्मर्षिकी समता पाकर सप्तर्षियोंमें प्रतिष्ठित हुए हैं ॥४२-४३॥

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा नाम्ना विश्वरथः स्मृतः ।
जज्ञे भृगुप्रसादेन कौशिकाद् वंशवर्धनः ॥ ४४ ॥

धर्मात्मा विश्वामित्रका दूसरा नाम विश्वरथ था। वे कुशिकवंशी राजा गाधिके यहाँ भृगुवंशी ऋचीक मुनिकी कृपासे उत्पन्न हुए थे और अपने वंशका विस्तार करनेवाले थे॥

विश्वामित्रस्य च सुता देवरातादयः स्मृताः ।
प्रख्यातास्त्रिषु लोकेषु तेषां नामानि मे शृणु ॥ ४५ ॥

विश्वामित्रके देवरात आदि बहुत-से पुत्र कहे गये हैं, जो तीनों लोकोंमें विख्यात थे। उनके नाम मुझसे सुनो ॥

देवश्रवाः कतिश्चैव यस्मात्कात्यायनाः स्मृताः ।
शालावत्यां हिरण्याक्षो रेणोर्जज्ञेऽथ रेणुमान् ॥ ४६ ॥
सांकृतिर्गालवश्चैव मुद्गलश्चेति विश्रुताः ।
मधुच्छन्दो जयश्चैव देवलश्च तथाष्टकः ॥ ४७ ॥
कच्छपो हारितश्चैव विश्वामित्रस्य वै सुताः ।
तेषां ख्यातानि गोत्राणि कौशिकानां महात्मनाम् ॥४८॥

देवश्रवा, कात्यायन गोत्रके प्रवर्तक कति और हिरण्याक्ष—ये तीनों शालावतीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। उनकी दूसरी स्त्रीका नाम रेणु था, जिससे रेणुमान्, साङ्कृति, गालव, मुद्गल, मधुच्छन्द, जय तथा देवल उत्पन्न हुए थे। अष्टक (दृषद्वती या माधवीका पुत्र था), कच्छप और हारित भी विश्वामित्रके ही पुत्र थे। इन कौशिकवंशी महात्माओंके प्रसिद्ध गोत्र इस प्रकार हैं ॥ ४६–४८ ॥

पाणिनो बभ्रवश्चैव ध्यानजप्यास्तथैव च ।
पार्थिवा देवराताश्च शालङ्कायनबाष्कलाः ॥ ४९ ॥
लोहिता यामदूताश्च तथा कारीषवः स्मृताः ।
सौश्रुताः कौशिका राजंस्तथान्ये सैन्धवायनाः ॥ ५० ॥
देवला रेणवश्चैव याज्ञवल्क्याघमर्षणाः ।
औदुम्बरा ह्यभिष्णातास्तारकायनचुञ्चुलाः ॥ ५१ ॥
शालावत्या हिरण्याक्षाः सांकृत्या गालवास्तथा ।
बादरायणिनश्चान्ये विश्वामित्रस्य धीमतः ॥ ५२ ॥

राजन् ! पाणिन, बभ्रु, ध्यानजप्य, पार्थिव, देवरात, शालङ्कायन, बाष्कल, लोहित, यामदूत, कारीषु, सौश्रुत, कौशिक, सैन्धवायन, देवल, रेणु, याज्ञवल्क्य, अघमर्षण, औदुम्बर, अभिष्णात, तारकायन, चुञ्चुल, शालावत्य, हिरण्याक्ष, साङ्कृत्य, गालव तथा बादरायणि—ये तथा और भी बहुत-से बुद्धिमान् विश्वामित्रके पुत्र थे ॥ ४९–५२ ॥

ऋष्यन्तरविवाह्याश्च कौशिका बहवः स्मृताः ।
पौरवस्य महाराज ब्रह्मर्षेः कौशिकस्य च ।
सम्बन्धोऽप्यस्य वंशेऽस्मिन्ब्रह्मक्षत्रस्य विश्रुतः ॥५३॥

कौशिकगोत्री ब्राह्मणोंकी संख्या बहुत है। वे अन्य ऋषियोंके कुलमें विवाह-सम्बन्ध स्थापित करनेके योग्य हैं। महाराज! राजर्षि पौरव तथा ब्रह्मर्षि कौशिकके कुलमें सम्बन्ध हुआ है। इस प्रकार इस वंशमें ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंका परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध विख्यात है ॥ ५३ ॥

विश्वामित्रात्मजानां तु शुनःशेपोऽग्रजः स्मृतः।
भार्गवः कौशिकत्वं हि प्राप्तः स मुनिसत्तमः ॥ ५४ ॥

विश्वामित्रके पुत्रोंमें शुनःशेप सबसे बड़े माने गये हैं। मुनिश्रेष्ठ शुनःशेपका जन्म यद्यपि भृगुकुलमें हुआ था तथापि वे कौशिकगोत्री हो गये ॥ ५४ ॥

विश्वामित्रस्य पुत्रस्तु शुनःशेपोऽभवत् किल।
हरिदश्वस्य यज्ञे तु पशुत्वे विनियोजितः ॥ ५५ ॥
देवैर्दत्तः शुनःशेपो विश्वामित्राय वै पुनः।
देवैर्दत्तः स वै यस्माद् देवरातस्ततोऽभवत् ॥ ५६ ॥

कहते हैं, राजा हरिदश्व (हरिश्चन्द्र) के यज्ञमें शुनःशेप पशु बनाकर लाये गये थे। उसी समय वे विश्वामित्रके पुत्र हुए। देवताओंने विश्वामित्रके हाथमें पुनः शुनःशेपको दे दिया था। देवताओंद्वारा प्रदत्त होनेके कारण वे ('देवैः रातः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) देवरात नामसे विख्यात हुए ॥

देवरातादयः सप्त विश्वामित्रस्य वै सुताः।
दृषद्वतीसुतश्चापि विश्वामित्रात् तथाष्टकः ॥ ५७ ॥

विश्वामित्रके देवरात आदि सात प्रमुख पुत्र थे। उन्हींसे अष्टकका भी जन्म हुआ था, जो दृषद्वतीका पुत्र था ॥

अष्टकस्य सुतो लौहिः प्रोक्तो जह्नुगणो मया।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वंशमायोर्महात्मनः ॥ ५८ ॥

अष्टकका पुत्र लौहि बताया गया है। इस प्रकार मैंने जह्नुकुलका वर्णन किया। इसके बाद महात्मा आयुके वंशका वर्णन करूँगा ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वण्यमावसुवंशकीर्तनं नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें अमावसुके वंशका वर्णनविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

राजा रजि और उनके पुत्रोंका चरित्र, इन्द्रका अपने स्थानसे भ्रष्ट होकर पुनः उसपर प्रतिष्ठित होना

वैशम्पायन उवाच

आयोः पुत्रास्तथा पञ्च सर्वे वीरा महारथाः।
स्वर्भानुतनयायां च प्रभायां जज्ञिरे नृप ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरेश्वर ! स्वर्भानुकुमारी प्रभा आयुकी पत्नी थी। उसके गर्भसे आयुके पाँच पुत्र उत्पन्न हुए, जो सब-के-सब वीर और महारथी थे ॥ १ ॥

नहुषः प्रथमं जज्ञे वृद्धशर्मा ततः परम्।
रम्भो रजिरनेनाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥ २ ॥

उनमें सबसे पहले नहुषका जन्म हुआ। तत्पश्चात् वृद्धशर्मा उत्पन्न हुए। तदनन्तर क्रमशः रम्भ, रजि और अनेना प्रकट हुए। ये तीनों लोकोंमें विख्यात थे ॥ २ ॥

रजिः पुत्रशतानीह जनयामास पञ्च वै।
राजेयमिति विख्यातं क्षत्रमिन्द्रभयावहम् ॥ ३ ॥

रजिने पाँच सौ पुत्रोंको जन्म दिया। वे सभी क्षत्रिय राजेय नामसे विख्यात हुए। उनसे इन्द्र भी डरते थे ॥ ३ ॥

यत्र देवासुरे युद्धे समुत्पन्ने सुदारुणे।
देवाश्चैवासुराश्चैव पितामहमथाब्रुवन् ॥ ४ ॥
आवयोर्भगवन् युद्धे को विजेता भविष्यति।
ब्रूहि नः सर्वभूतेश श्रोतुमिच्छामि ते वचः ॥ ५ ॥

पूर्वकालमें देवताओं तथा असुरोंमें अत्यन्त भयंकर युद्ध आरम्भ होनेपर उन दोनों पक्षोंके लोगोंने पितामह ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन् ! सर्वभूतेश्वर ! बताइये, हम दोनोंके युद्धमें कौन विजयी होगा ? हम इस विषयमें आपकी यथार्थ बात सुनना चाहते हैं' ॥ ४-५ ॥

ब्रह्मोवाच

येषामर्थाय संग्रामे रजिरात्तायुधः प्रभुः।
योत्स्यते ते जयिष्यन्ति त्रींल्लोकान्नात्र संशयः ॥ ६ ॥

ब्रह्माजीने कहा—शक्तिशाली राजा रजि हाथमें हथियार लेकर जिनके लिये संग्रामभूमिमें खड़े हो युद्ध करेंगे, वे तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त कर लेंगे। इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

यतो रजिर्धृतिस्तत्र श्रीश्च तत्र यतो धृतिः।
यतो धृतिश्च श्रीश्चैव धर्मस्तत्र जयस्तथा ॥ ७ ॥

जिस पक्षमें रजि हैं, उधर ही धृति है जहाँ धृति है वहीं लक्ष्मी है तथा जहाँ धृति और लक्ष्मी हैं वहीं धर्म एवं विजय है ॥ ७ ॥

ते देवदानवाः प्रीता देवेनोक्ता रजेर्जये।
अभ्ययुर्जयमिच्छन्तो वृण्वाना भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतकुलभूषण जनमेजय ! रजिकी विजयके विषयमें ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर देवता और दानव प्रसन्न हो अपनी-अपनी विजय चाहते हुए रजिका वरण करनेके लिये उनके पास गये ॥ ८ ॥

स हि स्वर्भानुदौहित्रः प्रभायां समपद्यत।
राजा परमतेजस्वी सोमवंशप्रवर्धनः ॥ ९ ॥

वे राहुके दौहित्र थे। राहुकी पुत्री प्रभाके गर्भसे उनका जन्म हुआ था। सोमवंशकी वृद्धि करनेवाले वे राजा रजि बड़े तेजस्वी थे ॥ ९ ॥

ते हृष्टमनसः सर्वे रजिं देवाश्च दानवाः।
ऊचुरस्मज्जयाय त्वं गृहाण वरकार्मुकम्॥ १०॥

समस्त देवता और दानव दोनों प्रसन्नचित्त हो रजिके पास जाकर बोले—'राजन्! आप हमारी विजयके लिये अपना श्रेष्ठ धनुष धारण कीजिये'॥ १०॥

अथोवाच रजिस्तत्र तयोर्वै देवदैत्ययोः।
स्वार्थज्ञः स्वार्थमुद्दिश्य यशः स्वं च प्रकाशयन्॥ ११॥

तब स्वार्थको समझनेवाले रजिने वहाँ स्वार्थको सामने रखकर अपने यशको प्रकाशमे लाते हुए देवता और दानव दोनों पक्षके लोगोंसे कहा॥ ११॥

रजिरुवाच

यदि दैत्यगणान् सर्वाञ्जित्वा शक्रपुरोगमाः।
इन्द्रो भवामि धर्मेण ततो योत्स्यामि संयुगे॥ १२॥

रजि बोले—इन्द्रादि देवताओ! यदि मैं समस्त दैत्योंको जीतकर धर्मतः इन्द्र हो सकूँ तो तुम्हारी ओरसे रणभूमिमें युद्ध करूँगा॥ १२॥

देवाः प्रथमतो भूयः प्रत्यूचुर्हृष्टमानसाः।
एवं यथेष्टं नृपते कामः सम्पद्यतां तव॥ १३॥

यह सुनकर देवताओंने फिर प्रसन्नचित्त हो पहले ही उत्तर दिया—'नरेश्वर! ऐसा ही होगा। तुम्हारी अभीष्ट कामना पूर्ण हो'॥ १३॥

श्रुत्वा सुरगणानां तु वाक्यं राजा रजिस्तदा।
पप्रच्छासुरमुख्यांस्तु यथा देवानपृच्छत॥ १४॥

देवताओंकी यह बात सुनकर उस समय राजा रजिने मुख्य-मुख्य असुरोंसे भी वैसी ही बात पूछी जैसी देवताओंसे पूछी थी॥ १४॥

दानवा दर्पपूर्णास्तु स्वार्थमेवानुगम्य ह।
प्रत्यूचुस्ते नृपवरं साभिमानमिदं वचः॥ १५॥

तब अहंकारी दानवोंने स्वार्थको ही सामने रखकर अनुसरण करते हुए उन नृपश्रेष्ठको अभिमानपूर्वक यों उत्तर दिया—॥ १५॥

अस्माकमिन्द्रः प्रह्लादो यस्यार्थे विजयामहे।
अस्मिंस्तु समये राजंस्तिष्ठेथा राजसत्तम॥ १६॥

'राजशिरोमणे! हमारे इन्द्र तो प्रह्लाद ही हैं, जिनके लिये हम विजय प्राप्त करना चाहते हैं। राजन्! आपको इसी शर्तपर हमारे पक्षमें खड़ा होना चाहिये'॥ १६॥

स तथेति ब्रुवन्नेव देवैरप्यभिचोदितः।
भविष्यसीन्द्रो जित्वैवं देवैरुक्तस्तु पार्थिवः।
जघान दानवान् सर्वान् ये वध्या वज्रपाणिनः॥ १७॥

वे 'बहुत अच्छा' कहकर असुरोंकी बात मानना ही चाहते थे कि देवताओंने फिर उन्हें अपने पक्षमें आनेके लिये प्रेरणा देते हुए कहा—'राजन्! तुम इस प्रकार विजय पाकर हमारे इन्द्र हो जाओगे।' देवताओंके ऐसा कहनेपर राजा रजिने उन समस्त दानवोंका संहार कर डाला, जो वज्रपाणि इन्द्रके द्वारा मारे जाने योग्य थे॥ १७॥

स विप्रणष्टां देवानां परमश्रीः श्रियं वशी।
निहत्य दानवान् सर्वानाजहार रजिः प्रभुः॥ १८॥

मनको वशमे रखनेवाले परमकान्तिमान् एवं शक्तिशाली राजा रजिने समस्त दानवोंका संहार करके देवताओंकी खोयी हुई सम्पत्तिको फिर वापस ला दिया॥ १८॥

ततो रजिं महावीर्यं देवैः सह शतक्रतुः।
रजेः पुत्रोऽहमित्युक्त्वा पुनरेवाब्रवीद् वचः॥ १९॥

तब देवताओंसहित इन्द्रने अपनेको रजिका पुत्र बताकर उन महापराक्रमी रजिसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ १९॥

इन्द्रोऽसि तात देवानां सर्वेषां नात्र संशयः।
यस्याहमिन्द्रः पुत्रस्ते ख्यातिं यास्यामि कर्मभिः॥२०॥

'तात! आप हम सब देवताओंके इन्द्र हैं, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि मैं इन्द्र आजसे आपके इन वीरोचित कर्मोंद्वारा अनुगृहीत हो आपका पुत्र कहलाऊँगा। आपके पुत्ररूपमें ही मेरी ख्याति होगी'॥ २०॥

स तु शक्रवचः श्रुत्वा वञ्चितस्तेन मायया।
तथेत्येवाब्रवीद् राजा प्रीयमाणः शतक्रतुम्॥ २१॥

इन्द्रकी यह बात सुनकर उनकी मायासे वञ्चित हो महाराज रजिने 'तथास्तु' कह दिया। वे इन्द्रपर बहुत प्रसन्न थे॥ २१॥

तस्मिंस्तु देवसदृशे दिवं प्राप्ते महीपतौ।
दायाद्यमिन्द्रादाजह्रुराचारात् तनया रजेः॥ २२॥

उन देवोपम भूपाल रजिके ब्रह्मलोकवासी हो जानेपर उनके पुत्रोंने लोकव्यवहारके अनुसार इन्द्रसे अपना दायभाग माँगा और बलपूर्वक ले लिया॥ २२॥

पञ्चपुत्रशतान्यस्य तद्वै स्थानं शतक्रतोः।
समाक्रमन्त बहुधा स्वर्गलोकं त्रिविष्टपम्॥ २३॥

रजिके पाँच सौ पुत्र थे। उन्होंने इन्द्रके त्रिविष्टप नामसे प्रसिद्ध स्वर्गलोकपर बारंबार आक्रमण करके उसे ले लिया॥ २३॥

ततो बहुतिथे काले समतीते महाबलः।
हृतराज्योऽब्रवीच्छक्रो हृतभागो बृहस्पतिम्॥ २४॥

तदनन्तर बहुत समय बीत जानेपर राज्य और यज्ञभागसे वञ्चित हो अत्यन्त दुर्बल हुए इन्द्रने एक दिन एकान्तमें बृहस्पतिजीसे कहा॥ २४॥

इन्द्र उवाच

बदरीफलमात्रं वै पुरोडाशं विधत्स्व मे।
ब्रह्मर्षे येन तिष्ठेयं तेजसाऽऽप्यायितः सदा ॥ २५ ॥

इन्द्र बोले—ब्रह्मर्षे ! आप एक बेरके बराबर भी पुरोडाशखण्डकी व्यवस्था मेरे लिये कर दें, जिससे मैं भी सदा तेजसे परिपुष्ट होता रहूँ ॥ २५ ॥

ब्रह्मन् कृशोऽहं विमना हृतराज्यो हृताशनः।
हृतौजा दुर्बलो मूढो रजिपुत्रैः कृतः प्रभो ॥ २६ ॥

ब्रह्मन् ! प्रभो ! रजिके पुत्रोंने मेरा राज्य और भोजन छीनकर मुझे अत्यन्त कृश, खिन्नचित्त, हतोत्साह, दुर्बल एवं मूढ़ बना दिया है ॥ २६ ॥

बृहस्पतिरुवाच

यद्येवं चोदितः शक्र त्वयास्यां पूर्वमेव हि।
नाभविष्यत्त्वत्प्रियार्थमकर्तव्यं ममानघ ॥ २७ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—निष्पाप इन्द्र ! यदि ऐसी बात है तो तुम्हें मुझसे पहले ही यह कहना चाहिये था। तुम्हारा प्रिय करनेके लिये ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो मैं न कर सकूँ ॥ २७ ॥

प्रयतिष्यामि देवेन्द्र त्वत्प्रियार्थं न संशयः।
यथा भागं च राज्यं च नचिरात् प्रतिलप्स्यसे ॥ २८ ॥

देवेन्द्र ! मैं तुम्हारे प्रिय मनोरथकी सिद्धिके लिये निःसंदेह ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे तुम अपना राज्य और यज्ञभाग शीघ्र प्राप्त कर लोगे ॥ २८ ॥

तथा तात करिष्यामि मा भूत् ते विक्लवं मनः।
ततः कर्म चकारास्य तेजसो वर्धनं तदा ॥ २९ ॥

तात ! तुम जैसा चाहते हो वैसा ही करूँगा। तुम्हारा मन व्याकुल न हो। ऐसा कहकर बृहस्पतिजीने उस समय इन्द्रके तेजको बढ़ानेवाले कर्मका अनुष्ठान किया ॥ २९ ॥

तेषां च बुद्धिसम्मोहमकरोद् द्विजसत्तमः।
नास्तिवादार्थशास्त्रं हि धर्मविद्वेषणं परम् ॥ ३० ॥

द्विजश्रेष्ठ बृहस्पतिने रजिके पुत्रोंकी बुद्धिमें मोह उत्पन्न करनेके लिये ऐसे शास्त्रका निर्माण किया, जो नास्तिकवादसे परिपूर्ण तथा धर्मके प्रति अत्यन्त द्वेष उत्पन्न करनेवाला था ॥ ३० ॥

परमं तर्कशास्त्राणामसतां तन्मनोऽनुगम्।
न हि धर्मप्रधानानां रोचते तत्कथान्तरे ॥ ३१ ॥

केवल तर्कके आधारपर अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंमें वह उत्कृष्ट माना गया है। बृहस्पतिका वह नास्तिक दर्शन दुष्ट पुरुषोंके ही मनको अधिक भाता है। धर्मप्रधान पुरुषोंको बातचीतके प्रसंगमें भी उसकी चर्चा नहीं सुहाती है ॥ ३१ ॥

ते तद् बृहस्पतिकृतं शास्त्रं श्रुत्वाल्पचेतसः।
पूर्वोक्तधर्मशास्त्राणामभवन् द्वेषिणः सदा ॥ ३२ ॥

बृहस्पतिके उस शास्त्रको सुनकर वे मन्दबुद्धि रजिपुत्र पहलेके धर्मशास्त्रोंसे सदा द्वेष रखने लगे ॥ ३२ ॥

प्रवक्तुर्न्यायरहितं तन्मतं बहु मेनिरे।
तेनाधर्मेण ते पापाः सर्व एव क्षयं गताः ॥ ३३ ॥

वक्ताका वह न्यायरहित मत उन्हें बहुत उत्तम जान पड़ने लगा। उसी अधर्मसे वे सब पापी नष्ट हो गये ॥ ३३ ॥

त्रैलोक्यराज्यं शक्रस्तु प्राप्य दुष्प्रापमेव च।
बृहस्पतिप्रसादाद्धि परां निर्वृतिमभ्ययात् ॥ ३४ ॥

इस तरह बृहस्पतिकी कृपासे त्रिलोकीका वह दुर्लभ राज्य पाकर इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३४ ॥

ते यदा तु सुसम्मूढा रागोन्मत्ता विधर्मिणः।
ब्रह्मद्विषश्च संवृत्ता हतवीर्यपराक्रमाः ॥ ३५ ॥
ततो लेभे सुरैश्वर्यमिन्द्रः स्थानं तथोत्तमम्।
हत्वा रजिसुतान् सर्वान् कामक्रोधपरायणान् ॥ ३६ ॥

वे रजिके पुत्र जब नास्तिकवादका आश्रय ले विवेकशून्य, रागोन्मत्त, धर्मके विपरीत चलनेवाले, ब्रह्मद्रोही, शक्तिहीन और पराक्रमशून्य हो गये, तब काम-क्रोधमें तत्पर रहनेवाले उन समस्त रजिपुत्रोंको मारकर इन्द्रने देवताओंका ऐश्वर्य और उत्तम स्थान प्राप्त कर लिया ॥ ३५-३६ ॥

य इदं च्यावनं स्थानात् प्रतिष्ठां च शतक्रतोः।
शृणुयाद् धारयेद्वापि न स दौरात्म्यमाप्नुयात् ॥ ३७ ॥

जो इन्द्रके अपने स्थानसे भ्रष्ट होने और पुनः उसपर प्रतिष्ठित होनेके इस प्रसङ्गको सुनता और अपने हृदयमें धारण करता है, उसके मनमें कभी दुर्भावना नहीं आती ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि आयोर्वंशकीर्तनं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें आयुके वंशका वर्णनविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

अनेनाके वंशका वर्णन, धन्वन्तरिका काशिराज धन्वके यहाँ पुत्ररूपमें अवतार, दिवोदासके राज्यकालमें भगवान् शिवकी आज्ञासे गणेश्वर निकुम्भके द्वारा वाराणसीको जनशून्य बनानेका प्रयत्न, वहाँ शिव और पार्वतीका निवास, दिवोदासका वाराणसीपर अधिकार और अलर्ककी प्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

रम्भोऽनपत्यस्तत्रासीद् वंशं वक्ष्याम्यनेनसः।
अनेनसः सुतो राजा प्रतिक्षत्रो महायशाः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! आयुपुत्र रम्भके कोई संतान नहीं हुई। अब मैं अनेनाके वंशका वर्णन करूँगा। अनेनाके पुत्र महायशस्वी राजा प्रतिक्षत्र हुए॥ १॥

प्रतिक्षत्रसुतश्चापि सृञ्जयो नाम विश्रुतः।
सृञ्जयस्य जयः पुत्रो विजयस्तस्य चात्मजः॥ २॥

प्रतिक्षत्रके पुत्र सृञ्जय नामसे विख्यात हुए। सृञ्जयके पुत्र जय और जयके पुत्र विजय हुए॥ २॥

विजयस्य कृतिः पुत्रस्तस्य हर्यश्वतः सुतः।
हर्यश्वतसुतो राजा सहदेवः प्रतापवान्॥ ३॥

विजयके पुत्र कृति, कृतिके हर्यश्व और हर्यश्वके पुत्र प्रतापी राजा सहदेव हुए॥ ३॥

सहदेवस्य धर्मात्मा नदीन इति विश्रुतः।
नदीनस्य जयत्सेनो जयत्सेनस्य संकृतिः॥ ४॥

सहदेवका धर्मात्मा पुत्र नदीन नामसे विख्यात हुआ। नदीनका पुत्र जयत्सेन और जयत्सेनका संकृति था॥ ४॥

संकृतेरपि धर्मात्मा क्षत्रधर्मा महायशाः।
अनेनसः समाख्याताः क्षत्रवृद्धस्य मे शृणु॥ ५॥

संकृतिके पुत्र महायशस्वी धर्मात्मा क्षत्रधर्मा हुए। यहाँतक अनेनाके पुत्रोंका वर्णन हुआ। अब मुझसे क्षत्रवृद्धकी संततिका वर्णन सुनो॥ ५॥

क्षत्रवृद्धात्मजस्तत्र सुनहोत्रो महायशाः।
सुनहोत्रस्य दायादास्त्रयः परमधार्मिकाः॥ ६॥
काशः शलश्च द्वावेतौ तथा गृत्समदः प्रभुः।
पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकाः॥ ७॥

क्षत्रवृद्धके पुत्र महायशस्वी सुनहोत्र हुए। सुनहोत्रके परम धार्मिक तीन पुत्र थे—काश, शल और प्रभावशाली गृत्समद। गृत्समदके पुत्र शुनक हुए, जिससे शौनक-वंशका विस्तार हुआ॥ ६-७॥

ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च।
शलात्मजश्चार्ष्टिषेणस्तनयस्तस्य काशकः॥ ८॥

शौनक-वंशमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्णोंके लोग हुए। शलके पुत्रका नाम आर्ष्टिषेण था। उनके पुत्र काशक हुए॥ ८॥

काशस्य काशयो राजन् पुत्रो दीर्घतपास्तथा।
धन्वस्तु दीर्घतपसो विद्वान् धन्वन्तरिस्ततः॥ ९॥

राजन्! काशके वंशज (पुत्र) काशि कहलाये। इनमें दीर्घतपा सबसे प्रथम पुत्र थे। दीर्घतपाके धन्व और धन्वसे विद्वान् धन्वन्तरिका प्रादुर्भाव हुआ॥ ९॥

तपसोऽन्ते सुमहतो जातो वृद्धस्य धीमतः।
पुनर्धन्वन्तरिर्देवो मानुषेष्विह जज्ञिवान्॥ १०॥

अपनी महान् तपस्या पूरी करके अन्तमें धन्वन्तरि देवने बुद्धिमान् एवं वृद्ध राजा धन्वके यहाँ इस मनुष्यरूपमें पुनः जन्म ग्रहण किया॥ १०॥

जनमेजय उवाच

कथं धन्वन्तरिर्देवो मानुषेष्विह जज्ञिवान्।
एतद् वेदितुमिच्छामि तन्मे ब्रूहि यथातथम्॥ ११॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! धन्वन्तरि देव इस मनुष्यलोकमें किस प्रकार उत्पन्न हुए? यह मैं जानना चाहता हूँ। अतः यह प्रसङ्ग मुझे ठीक-ठीक बताइये॥ ११॥

वैशम्पायन उवाच

धन्वन्तरेः सम्भवोऽयं श्रूयतां भरतर्षभ।
जातः स हि समुद्रात्तु मथ्यमाने पुरामृते॥ १२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! धन्वन्तरिके जन्मका यह प्रसङ्ग सुनो। वे पूर्वकालमें अमृतमन्थनके समय समुद्रसे प्रकट हुए थे॥ १२॥

उत्पन्नः कलशात् पूर्वं सर्वतश्च श्रिया वृतः।
अभ्यसन् सिद्धिकार्यं हि विष्णुं दृष्ट्वा हि तस्थिवान्॥ १३॥

पहले जब वे समुद्रसे प्रकट हुए, उस समय भगवान् विष्णुके नामोंका जप और आरोग्य-साधक कार्यका चिन्तन करते हुए सब ओरसे दिव्य कान्तिसे प्रकाशित हो रहे थे। वे अपने सामने भगवान् विष्णुको देखकर खड़े हो गये॥

अब्जस्त्वमिति होवाच तस्मादब्जस्तु स स्मृतः।
अब्जः प्रोवाच विष्णुं वै तव पुत्रोऽस्मि वै प्रभो॥ १४॥
विधत्स्व भागं स्थानं च मम लोके सुरेश्वर।
एवमुक्तः स दृष्ट्वा वै तथ्यं प्रोवाच तं प्रभुः॥ १५॥

भगवान् विष्णुने उनसे कहा—'तुम अप् अर्थात् जलसे प्रकट हुए हो; इसलिये अब्ज हो।' उनके ऐसा कहनेसे वे अब्ज कहलाने लगे। उस समय अब्जने भगवान् विष्णुसे कहा—'प्रभो! मैं आपका पुत्र हूँ। सुरेश्वर! मेरे लिये यज्ञभागकी व्यवस्था कीजिये और लोकमें मेरे लिये कोई स्थान दीजिये।' उनके ऐसा कहनेपर भगवान् विष्णुने उनकी ओर देखकर यह यथार्थ बात कही—॥ १४-१५ ॥

कृतो यज्ञविभागो हि यज्ञियैर्हि सुरैः पुरा।
देवेषु विनियुक्तं हि विद्धि होत्रं महर्षिभिः ॥ १६॥

'पूर्वकालमें यज्ञसम्बन्धी देवताओंने यज्ञका विभाग कर लिया है। महर्षियोंने हवनीय पदार्थोंका देवताओंके लिये ही विनियोग किया है। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो॥

न शक्यमुपहोमा वै तुभ्यं कर्तुं कदाचन।
अर्वाग्भूतोऽसि देवानां पुत्र त्वं तु नहीश्वरः ॥ १७॥

'बेटा! तुम्हें छोटे-मोटे उपहोम कभी नहीं अर्पित किये जा सकते (क्योंकि वे तुम्हारे योग्य नहीं हैं)। तुम देवताओं-से पीछे उत्पन्न हुए हो। अतः तुम्हारे लिये वेद-विरुद्ध यज्ञ-भागकी कल्पना नहीं की जा सकती और वैदिक यज्ञभाग पानेके तुम अधिकारी नहीं हो॥ १७ ॥

द्वितीयायां तु सम्भूत्यां लोके ख्यातिं गमिष्यसि।
अणिमादिश्च ते सिद्धिर्गर्भस्थस्य भविष्यति ॥ १८॥

'दूसरे जन्ममें तुम संसारमें विख्यात होओगे। वहाँ गर्भा-वस्थामें ही तुम्हें अणिमा आदि सिद्धि प्राप्त हो जायगी॥ १८॥

तेनैव त्वं शरीरेण देवत्वं प्राप्स्यसे प्रभो।
चरुमन्त्रैर्व्रतैर्जाप्यैर्यक्ष्यन्ति त्वां द्विजातयः ॥ १९॥

'प्रभो! तुम उसी शरीरसे देवत्व प्राप्त कर लोगे और ब्राह्मणलोग चरु, मन्त्र, व्रत एवं जपनीय मन्त्रोंद्वारा तुम्हारा यजन करेंगे॥ १९ ॥

अष्टधा त्वं पुनश्चैवमायुर्वेदं विधास्यसि।
अवश्यभावी ह्यर्थोऽयं प्राग्दृष्टस्त्वब्जयोनिना ॥ २०॥

'फिर तुम उस जन्ममें आयुर्वेदको आठ भागोंमें विभक्त करके उसे आठ अङ्गोंसे युक्त * बना दोगे, यह बात अवश्य होनेवाली है। कमलयोनि ब्रह्माजीने इसे पहलेसे ही देख लिया है॥ २० ॥

द्वितीयं द्वापरं प्राप्य भविता त्वं न संशयः।
इमं तस्मै वरं दत्त्वा विष्णुरन्तर्दधे पुनः ॥ २१॥

'दूसरा द्वापर आनेपर तुम संसारमें प्रकट होओगे, इसमें संशय नहीं है।' धन्वन्तरिको यह वर देकर भगवान् विष्णु फिर अन्तर्धान हो गये॥ २१ ॥

द्वितीये द्वापरे प्राप्ते सौनहोत्रिः स काशिराट्।
पुत्रकामस्तपस्तेपे धन्वो दीर्घं तपस्तदा ॥ २२॥

जब दूसरा द्वापर आया, तब सुनहोत्रके पुत्र काशिराज धन्व पुत्रकी कामनासे दीर्घकालीन तपस्या करने लगे॥ २२॥

प्रपद्ये देवतां तां तु या मे पुत्रं प्रदास्यति।
अब्जं देवं सुतार्थाय तदाऽऽराधितवान् नृपः ॥ २३॥

उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि 'मैं उस देवताकी शरण लूँ, जो मुझे पुत्र प्रदान करेगा।' ऐसा विचारकर राजाने पुत्रके लिये अब्जदेव (भगवान् धन्वन्तरि) की आरा-धना की॥ २३ ॥

ततस्तुष्टः स भगवानब्जः प्रोवाच तं नृपम्।
यदिच्छसि वरं ब्रूहि तत् ते दास्यामि सुव्रत ॥ २४॥

उस आराधनासे संतुष्ट होकर भगवान् अब्ज राजा धन्वसे बोले—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले नरेश! तुम जो वर प्राप्त करना चाहते हो, उसे बताओ। वह मैं तुम्हें दूँगा'॥

नृप उवाच

भगवन् यदि तुष्टस्त्वं पुत्रो मे ख्यातिमान् भव।
तथेति समनुज्ञाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ २५॥

राजा बोले—भगवन्! यदि आप मुझसे संतुष्ट हैं तो मेरे पुत्र हो जायँ और इसी रूपमें आपकी ख्याति हो। तब 'तथास्तु' कहकर भगवान् धन्वन्तरि वहीं अन्तर्धान हो गये॥

तस्य गेहे समुत्पन्नो देवो धन्वन्तरिस्तदा।
काशिराजो महाराज सर्वरोगप्रणाशनः ॥ २६॥

महाराज! तदनन्तर धन्वन्तरिदेव धन्वके घरमें अवतीर्ण हुए। काशिराज धन्वन्तरि समस्त रोगोंका नाश करनेमें समर्थ थे॥ २६ ॥

---

*—वैद्यकमें आयुर्वेदके आठ अङ्ग इस प्रकार बताये गये हैं—

कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषान्।
अष्टावङ्गानि तस्याहुश्चिकित्सा येषु संश्रिता॥

१—कायचिकित्सा, २—बालचिकित्सा, ३—ग्रहचिकित्सा, ४—ऊर्ध्वाङ्गचिकित्सा, ५—शल्यचिकित्सा, ६—दंष्ट्राचिकित्सा, ७—जराचिकित्सा और ८—वृषचिकित्सा—ये आठ प्रकारकी चिकि-त्साएँ हैं। पूर्वोक्त काय, बाल आदि जो आठ अङ्ग हैं, उनपर ही चिकित्सा अवलम्बित होती है। शारीरिक रोगोंके निदान और उपचारको कायचिकित्सा कहते हैं। बालकोंके रोगोंका विचार और उन्हें दूर करनेके उपाय आदि बालचिकित्साके अन्तर्गत हैं। भूत, प्रेत, पिशाच आदिके आवेशसे होनेवाली पीडाको समझना और विभिन्न प्रकारके उपचारोंद्वारा उसे दूर करना ग्रहचिकित्सा है। सिर, नेत्र आदि ऊपरके अङ्गोंकी बीमारीको दूर करनेकी चेष्टा एवं विधि ऊर्ध्वाङ्गचिकित्सा कहलाती है। अस्त्र-शस्त्रोंके आघात आदिसे होनेवाले घावको चीर-फाड़कर ठीक करनेकी जो क्रिया है, उसे शल्य-चिकित्सा कहते हैं। सर्पदंशन आदि जङ्गम तथा अफीम आदि स्थावर विषको दूर करनेका उपचार दंष्ट्राचिकित्सा है। रसायन आदिके द्वारा बुढ़ापाको रोकना या उसे दूर करना जराचिकित्सा है। वाजीकरण तन्त्रको ही वृषचिकित्सा कहते हैं।

आयुर्वेदं भरद्वाजात् प्राप्येह भिषजां क्रियाम् ।
तमष्टधा पुनर्व्यस्य शिष्येभ्यः प्रत्यपादयत् ॥ २७ ॥

उन्होंने मुनिवर भरद्वाजसे आयुर्वेद तथा चिकित्साकर्मका ज्ञान प्राप्त करके उसे आठ भागोंमें विभक्त किया और उन सबकी विस्तृत विवेचना की । फिर बहुतसे शिष्योंको उस अष्टाङ्गयुक्त आयुर्वेदकी शिक्षा दी ॥ २७ ॥

धन्वन्तरेस्तु तनयः केतुमानिति विश्रुतः ।
अथ केतुमतः पुत्रो वीरो भीमरथः स्मृतः ॥ २८ ॥

धन्वन्तरिके पुत्र केतुमान् नामसे विख्यात हुए । केतुमान्‌के वीर पुत्रका नाम भीमरथ था ॥ २८ ॥

सुतो भीमरथस्यापि दिवोदासः प्रजेश्वरः ।
दिवोदासस्तु धर्मात्मा वाराणस्यधिपोऽभवत् ॥ २९ ॥

भीमरथके पुत्र धर्मात्मा राजा दिवोदास हुए, जो वाराणसीपुरीके स्वामी थे ॥ २९ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु पुरीं वाराणसीं नृप ।
शून्यां निवासयामास क्षेमको नाम राक्षसः ॥ ३० ॥

नरेश्वर ! राजा दिवोदासके राज्यकालमें ही शापवश वाराणसीपुरी जनशून्य हो गयी थी, जिसे पीछे भगवान् रुद्रके अनुचर क्षेमक नामक राक्षसने बसाया था ॥ ३० ॥

शप्ता हि सा मतिमता निकुम्भेन महात्मना ।
शून्या वर्षसहस्रं वै भवित्री नात्र संशयः ॥ ३१ ॥

भगवान् रुद्रके पार्षद बुद्धिमान् महात्मा निकुम्भने यह शाप दे दिया था कि 'वाराणसीपुरी एक हजार वर्षोंतक जनशून्य बनी रहेगी । इसमें संशय नहीं है' ॥ ३१ ॥

तस्यां तु शप्तमात्रायां दिवोदासः प्रजेश्वरः ।
विषयान्ते पुरीं रम्यां गोमत्यां संन्यवेशयत् ॥ ३२ ॥

उस पुरीके शापग्रस्त हो जानेपर राजा दिवोदासने अपने राज्यकी सीमापर गोमती नदीके किनारे एक रमणीय नगरी बसायी ॥ ३२ ॥

भद्रश्रेण्यस्य पूर्वं तु पुरी वाराणसीत्यभूत् ।
भद्रश्रेण्यस्य पुत्राणां शतमुत्तमधन्विनाम् ॥ ३३ ॥
हत्वा निवेशयामास दिवोदासो नरर्षभः ।
भद्रश्रेण्यस्य तद् राज्यं हृतं तेन बलीयसा ॥ ३४ ॥

पहले वाराणसीपुरी (यदुवंशी महिष्मान्‌के पुत्र) भद्रश्रेण्यके अधिकारमें थी । भद्रश्रेण्यके सौ पुत्र थे, जो श्रेष्ठ धनुर्धर माने जाते थे नरश्रेष्ठ दिवोदासने उन सबको मारकर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया । उन महाबली नरेशने भद्रश्रेण्यके उस राज्यका बलपूर्वक अपहरण कर लिया ॥ ३३-३४ ॥

जनमेजय उवाच

वाराणसीं निकुम्भस्तु किमर्थं शप्तवान् प्रभुः ।
निकुम्भश्च धर्मात्मा सिद्धिक्षेत्रं शशाप यः ॥ ३५ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! वाराणसी तो सिद्धिक्षेत्र (मोक्षधाम) है और प्रभावशाली निकुम्भ बड़े धर्मात्मा हैं । फिर उन्होंने उस पुरीको शाप किस लिये दिया ? ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

दिवोदासस्तु राजर्षिर्नगरीं प्राप्य पार्थिवः ।
वसति स्म महातेजाः स्फीतायां तु नराधिपः ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! महातेजस्वी, नरेश्वर राजर्षि दिवोदास वाराणसी नगरीको पाकर वहाँके राजा हो गये । वे उस समृद्धिशालिनी नगरीमें सदा ही निवास करते थे ॥ ३६ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु कृतदारो महेश्वरः ।
देव्याः स प्रियकामस्तु न्यवसच्छ्वशुरान्तिके ॥ ३७ ॥

इन्हीं दिनों भगवान् शङ्कर विवाह करके देवी पार्वतीका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने श्वशुरके पास ही निवास करते थे ॥ ३७ ॥

देवाज्ञया पार्षदा ये त्वधिरूपास्तपोधनाः ।
पूर्वोक्तैरुपदेशैश्च तोषयन्ति स्म पार्वतीम् ॥ ३८ ॥

उस समय महादेवजीकी आज्ञासे उनके सुयोग्य पार्षद, जो तपस्याके धनी थे, उनके पहले दिये हुए उपदेशके अनुसार पार्वतीदेवीको संतुष्ट करते रहते थे ॥ ३८ ॥

हृष्यते वै महादेवी मेना नैव प्रहृष्यति ।
जुगुप्सत्यसकृत् तां वै देवीं देवं तथैव सा ॥ ३९ ॥

इससे महादेवी पार्वती तो प्रसन्न रहती थीं, परंतु उनकी माता मेनाको संतोष नहीं होता था । वे महादेवी पार्वती तथा भगवान् शङ्करकी बारंबार निन्दा ही करती थीं ॥ ३९ ॥

सपार्षदस्त्वनाचारस्तव भर्ता महेश्वरः ।
दरिद्रः सर्वदैवासौ शीलं तस्य न वर्तते ॥ ४० ॥

उन्होंने एक दिन कहा—'उमे ! तेरे पति महादेव और उनके पार्षद सभी अनाचारी हैं । साथ ही वे भोलेनाथ सदाके दरिद्र हैं । शील तो उनमें नाममात्रको भी नहीं है' ॥ ४० ॥

मात्रा तथोक्ता वरदा स्त्रीस्वभावाच्च चुक्रुधे ।
स्मितं कृत्वा च वरदा भवपार्श्वमथागमत् ॥ ४१ ॥

वरदायिनी उमा माताके ऐसा कहनेपर स्त्रीस्वभाववश कुपित हो उठीं और किंचित् मुसकराकर महादेवजीके पास आयीं ॥ ४१ ॥

विवर्णवदना देवी महादेवमभाषत ।
नेह वत्स्याम्यहं देव नय मां स्वं निकेतनम् ॥ ४२ ॥

उस समय उनका मुख मलिन हो रहा था। निकट आकर देवीने महादेवजीसे कहा—'देव ! अब मैं यहाँ (नैहरमें) नहीं रहूँगी। आप मुझे अपने घर ले चलें' ॥ ४२ ॥

तथा कर्तुं महादेवः सर्वलोकानवैक्षत।
वासार्थं रोचयामास पृथिव्यां कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥
वाराणसीं महातेजाः सिद्धिक्षेत्रं महेश्वरः।

कुरुनन्दन ! पार्वतीजीके कथनानुसार कार्य करनेके लिये महादेवजीने सम्पूर्ण लोकोंपर दृष्टिपात किया। उन महातेजस्वी महेश्वरने पृथ्वीपर अपने रहनेके लिये सिद्धिक्षेत्र वाराणसीपुरीको पसंद किया ॥ ४३½ ॥

दिवोदासेन तां ज्ञात्वा निविष्टां नगरीं भवः ॥ ४४ ॥
पार्श्वे तिष्ठन्तमाहूय निकुम्भमिदमब्रवीत्।

परंतु उस नगरीमें राजा दिवोदास निवास करते हैं, यह जानकर महादेवजीने अपने पास खड़े हुए निकुम्भसे इस प्रकार कहा—॥ ४४½ ॥

गणेश्वर पुरीं गत्वा शून्यां वाराणसीं कुरु ॥ ४५ ॥
मृदुनैवाभ्युपायेन ह्यतिवीर्यः स पार्थिवः।

'गणेश्वर ! तुम जाकर वाराणसीपुरीको मनुष्योंसे सूनी कर दो; परंतु इसके लिये कोमल उपायसे ही काम लेना, क्योंकि वे राजा दिवोदास बड़े बलवान् हैं' ॥ ४५½ ॥

ततो गत्वा निकुम्भस्तु पुरीं वाराणसीं तदा ॥ ४६ ॥
स्वप्ने निदर्शयामास कण्डुकं नाम नापितम्।
श्रेयस्तेऽहं करिष्यामि स्थानं मे रोचयानघ ॥ ४७ ॥
मद्रूपां प्रतिमां कृत्वा नगर्यन्ते तथैव च।
ततः स्वप्ने यथोद्दिष्टं सर्वं कारितवान् नृप ॥ ४८ ॥

तब निकुम्भने वाराणसीपुरीमें जाकर कण्डुक नाईको स्वप्नमें दर्शन दिया और कहा—'अनघ ! तू नगरकी सीमापर मेरी प्रतिमा बनाकर मेरे लिये निवासस्थानकी व्यवस्था कर। ऐसा करनेसे मैं तेरा कल्याण करूँगा।' नरेश्वर ! तब उस नाईने स्वप्नमें जैसा कहा गया था उसके अनुसार सब कुछ किया और कराया ॥ ४६—४८ ॥

पुरीद्वारे तु विज्ञाप्य राजानं च यथाविधि।
पूजां तु महतीं तस्य नित्यमेव प्रयोजयत् ॥ ४९ ॥

राजाको सूचना देकर उसने नगरके द्वारपर विधिपूर्वक निकुम्भ-प्रतिमाकी स्थापना की। फिर वह प्रतिदिन बड़े समारोहके साथ उस प्रतिमाकी पूजा करने लगा ॥ ४९ ॥

गन्धैश्च धूपमाल्यैश्च प्रोक्षणीयैस्तथैव च।
अन्नपानप्रयोगैश्च अत्यद्भुतमिवाभवत् ॥ ५० ॥

गन्ध, पुष्प, माला, धूप, प्रोक्षणीय जल तथा अन्न-पान आदि अर्पण करके वह नाई निकुम्भकी पूजा करता था। यह वहाँ अत्यन्त अद्भुत-सी बात हुई ॥ ५० ॥

एवं सम्पूज्यते तत्र नित्यमेव गणेश्वरः।
ततो वरसहस्रं तु नागराणां प्रयच्छति।
पुत्रान् हिरण्यमायुश्च सर्वान् कामांस्तथैव च ॥ ५१ ॥

इस प्रकार वहाँ नित्य ही निकुम्भनामक गणेशकी पूजा होती और वे नागरिकोंको सहस्रों वर प्रदान करते थे। पुत्र, सुवर्ण, आयु तथा सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुएँ सबको देते थे ॥ ५१ ॥

राज्ञस्तु महिषी श्रेष्ठा सुयशा नाम विश्रुता।
पुत्रार्थमागता देवी साध्वी राज्ञा प्रचोदिता ॥ ५२ ॥

राजा दिवोदासकी श्रेष्ठ महारानी सुयशा नामसे विख्यात थीं। राजाकी आज्ञा लेकर वे साध्वी महारानी पुत्रकी कामनासे वहाँ आयीं ॥ ५२ ॥

पूजां तु विपुलां कृत्वा देवी पुत्रमयाचत।
पुनः पुनरथागत्य बहुशः पुत्रकारणात् ॥ ५३ ॥

वहाँ जाकर बड़े विस्तारके साथ पूजा करके देवी सुयशाने निकुम्भसे पुत्रके लिये याचना की। उन्होंने बारंबार आकर पूजन किया और अनेक बार पुत्रके लिये प्रार्थना की ॥ ५३ ॥

न प्रयच्छति पुत्रं हि निकुम्भः कारणेन हि।
राजा तु यदि नः कुप्येत् कार्यसिद्धिस्ततो भवेत् ॥ ५४ ॥

परंतु निकुम्भ कारणवश उन्हें पुत्र नहीं देते थे। उन्होंने सोचा—'यदि राजा किसी तरह हमपर कुपित हो जाय तो हमारा काम बन जाय' ॥ ५४ ॥

अथ दीर्घेण कालेन क्रोधो राजानमाविशत्।
भूत एष महान् द्वारि नागराणां प्रयच्छति ॥ ५५ ॥
प्रीतो वरान् वै शतशो मम किं न प्रयच्छति।
मामकैः पूज्यते नित्यं नगर्यां मे सदैव हि ॥ ५६ ॥
विज्ञापितो मयात्यर्थं देव्या मे पुत्रकारणात्।
न ददाति च पुत्रं मे कृतघ्नः केन हेतुना ॥ ५७ ॥
ततो नार्हति सत्कारं मत्सकाशाद् विशेषतः।
तस्मात् तु नाशयिष्यामि स्थानमस्य दुरात्मनः ॥ ५८ ॥

तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् राजाके मनमें क्रोध हुआ। वे सोचने लगे—'मेरे नगरके द्वारपर बैठा हुआ यह महान् भूत प्रसन्न होकर नागरिकोंको सैकड़ों प्रकारके वर देता है, परंतु मुझे क्यों नहीं देता ? सदा मेरी ही नगरीमें, मेरे ही लोग इसकी नित्य पूजा करते हैं। मैंने भी देवीको पुत्र प्रदान करनेके लिये बार-बार निवेदन किया; परंतु यह कृतघ्न न जाने किस कारणसे मुझे पुत्र नहीं दे रहा है। अतः अब यह विशेषतः मुझसे सत्कार पानेके योग्य नहीं रहा। इसलिये इस दुरात्माके स्थानका मैं नाश कर दूँगा' ॥ ५५—५८ ॥

एवं स तु विनिश्चित्य दुरात्मा राजकिल्बिषी।
स्थानं गणपतेस्तस्य नाशयामास दुर्मतिः ॥ ५९ ॥

ऐसा निश्चय करके दुरात्मा, दुर्बुद्धि एवं पापी राजाने गणपति निकुम्भके उस स्थानको नष्ट करा दिया ॥ ५९ ॥

भग्नमायतनं दृष्ट्वा राजानमशपत् प्रभुः ।
यस्मादनपराधस्य त्वया स्थानं विनाशितम् ।
पुर्यकस्मादियं शून्या तव नूनं भविष्यति ॥ ६० ॥

अपने वासस्थानको भग्न हुआ देख भगवान् निकुम्भने राजाको शाप देते हुए कहा—'राजन् ! तुमने बिना किसी अपराधके मेरे स्थानको नष्ट कराया है, इसलिये निश्चय ही तुम्हारी यह नगरी अकस्मात् जनशून्य हो जायगी' ॥ ६० ॥

ततस्तेन तु शापेन शून्या वाराणसी तदा ।
शप्त्वा पुरीं निकुम्भस्तु महादेवमथागमत् ॥ ६१ ॥

तदनन्तर उस शापसे उस समय वाराणसीपुरी सूनी हो गयी । उस पुरीको शाप देकर निकुम्भ महादेवजीके पास चले गये ॥ ६१ ॥

अकस्मात् तु पुरी सा तु विद्रुता सर्वतोदिशम् ।
तस्यां पुर्यां ततो देवो निर्ममे पदमात्मनः ॥ ६२ ॥

वाराणसीमें रहनेवाले सब लोग अकस्मात् सम्पूर्ण दिशाओं-में भाग गये । तब महादेवजीने उस पुरीमें अपना निवास-स्थान बनाया ॥ ६२ ॥

रमते तत्र वै देवो रममाणो गिरेः सुताम् ।
न रतिं तत्र वै देवी लभते गृहविस्मयात् ।
वसाम्यत्र न पुर्यां तु देवी देवमथाब्रवीत् ॥ ६३ ॥

फिर वे भगवान् शिव गिरिराजनन्दिनी उमाका मनो-रञ्जन करते हुए वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगे । परंतु देवी पार्वतीका मन वहाँ नहीं लगता था, क्योंकि वहाँ कोई निश्चित गृह न होनेसे वे विस्मयमें पड़ी रहती थीं । (अथवा पिताके घरके लिये उत्कण्ठित होनेके कारण देवीको वहाँ प्रसन्नता नहीं प्राप्त होती थी ।) उन्होंने महादेवजीसे कहा—'भगवन् ! मैं इस पुरीमें नहीं रहूँगी (आप मेरे घरको चलिये) ' ॥ ६३ ॥

देव उवाच

नाहं वेश्मनि वत्स्यामि अविमुक्तं हि मे गृहम् ।
नाहं तत्र गमिष्यामि गच्छ देवि गृहं प्रति ॥ ६४ ॥

महादेवजी बोले—देवि ! मैं और किसी घरमें नहीं रहूँगा । यह अविमुक्त क्षेत्र ही मेरा घर है । अतः मैं वहाँ नहीं चलूँगा । तुम जाना चाहो तो अपने उस घरको जाओ ॥ ६४ ॥

हसन्नुवाच भगवांस्त्र्यम्बकस्त्रिपुरान्तकः ।
तस्मात् तदविमुक्तं हि प्रोक्तं देवेन वै स्वयम् ॥ ६५ ॥
एवं वाराणसी शप्ता अविमुक्तं च कीर्तितम् ॥ ६६ ॥

त्रिपुरोंका विनाश करनेवाले त्रिनेत्रधारी भगवान् शिवने हँसते हुए पूर्वोक्त बात कही थी । महादेवजीने स्वयं ही उस क्षेत्रको अविमुक्त कहा था, इसलिये वह अविमुक्त नामसे प्रसिद्ध हो गया । इस तरह वाराणसीपुरीको शाप प्राप्त हुआ और उसे अविमुक्त क्षेत्र कहा गया ॥ ६५-६६ ॥

यस्मिन् वसति वै देवः सर्वदेवनमस्कृतः ।
युगेषु त्रिषु धर्मात्मा सह देव्या महेश्वरः ॥ ६७ ॥

सर्वदेववन्दित धर्मात्मा देव महेश्वर सत्ययुग आदि तीन युगोंमें देवी पार्वतीके साथ उस अविमुक्त क्षेत्रमें प्रत्यक्ष निवास करते हैं ॥ ६७ ॥

अन्तर्धानं कलौ याति तत्पुरं हि महात्मनः ।
अन्तर्हिते पुरे तस्मिन् पुरी सा वसते पुनः ।
एवं वाराणसी शप्ता निवेशं पुनरागता ॥ ६८ ॥

कलियुग आनेपर महात्मा महादेवजीका वह नगर अदृश्य हो जाता है । उसके अदृश्य हो जानेपर वाराणसीपुरी फिरसे बसती है । इस प्रकार वाराणसी नगरी शापग्रस्त होकर उजड़ी और पुनः बसी थी ॥ ६८ ॥

भद्रश्रेण्यस्य पुत्रो वै दुर्दमो नाम विश्रुतः ।
दिवोदासेन बालेति घृणया स विवर्जितः ॥ ६९ ॥

भद्रश्रेण्यका एक पुत्र दुर्दम नामसे विख्यात था । दिवोदासने उसे बालक समझकर दयावश जीवित छोड़ दिया था ॥ ६९ ॥

हैहयस्य तु दायाद्यं कृतवान् वै महीपतिः ।
आजह्रे पितृदायाद्यं दिवोदासहृतं बलात् ॥ ७० ॥

उस राजाने हैहयका पुत्र होना स्वीकार किया और उन्हींकी सहायतासे उसने दिवोदासद्वारा बलपूर्वक अपहृत हुई अपनी पैतृक सम्पत्तिको फिर वापस लौटाया ॥ ७० ॥

भद्रश्रेण्यस्य पुत्रेण दुर्दमेन महात्मना ।
वैरस्यान्तं महाराज क्षत्रियेण विधित्सता ॥ ७१ ॥

महाराज ! भद्रश्रेण्यका महामनस्वी पुत्र दुर्दम एक वीर क्षत्रिय था । उसने वैरका बदला लेनेके लिये ही वैसा किया था ॥ ७१ ॥

दिवोदासाद् दृषद्वत्यां वीरो जज्ञे प्रतर्दनः ।
तेन पुत्रेण बालेन प्रहृतं तस्य वै पुनः ॥ ७२ ॥

दिवोदास के द्वारा उनकी पत्नी दृषद्वतीके गर्भसे वीर प्रतर्दनका जन्म हुआ । उस राजकुमारने बालक होनेपर भी दुर्दमसे पुनः राज्य छीन लिया ॥ ७२ ॥

प्रतर्दनस्य पुत्रौ द्वौ वत्सभार्गौ बभूवतुः ।
वत्सपुत्रो ह्यलर्कस्तु संनतिस्तस्य चात्मजः ॥ ७३ ॥

प्रतर्दनके दो पुत्र थे—वत्स और भार्ग । वत्सके पुत्र अलर्क और अलर्कके संनति हुए ॥ ७३ ॥

अलर्कः काशिराजस्तु ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ।
अलर्कं प्रति राजर्षिं श्लोको गीतः पुरातनैः ॥ ७४ ॥

काशिराज अलर्क बड़े ब्राह्मणभक्त और सत्यप्रतिज्ञ थे। राजर्षि अलर्कके विषयमें प्राचीन पुरुषोंने निम्नाङ्कित श्लोकका गान किया है ॥ ७४ ॥

षष्टिवर्षसहस्राणि षष्टिं वर्षशतानि च ।
युवा रूपेण सम्पन्न आसीत् काशिकुलोद्वहः ॥ ७५ ॥

'काशिवंशावतंस अलर्क छाछठ हजार छः सौ वर्षोंतक युवावस्था तथा सुन्दर रूप-वैभवसे सम्पन्न रहे' ॥ ७५ ॥

लोपामुद्राप्रसादेन परमायुरवाप सः ।
तस्यासीत् सुमहद्राज्यं रूपयौवनशालिनः ॥ ७६ ॥

उन्होंने लोपामुद्राकी कृपासे उत्तम आयु प्राप्त की थी। रूप और युवावस्थासे सुशोभित होनेवाले अलर्कका राज्य बहुत विशाल था ॥ ७६ ॥

शापस्यान्ते महाबाहुर्हत्वा क्षेमकराक्षसम् ।
रम्यां निवेशयामास पुरीं वाराणसीं पुनः ॥ ७७ ॥

महाबाहु अलर्कने निकुम्भके शापका अन्त होनेपर क्षेमक नामक राक्षसको मारकर पुनः रमणीय वाराणसीपुरी बसायी थी ॥ ७७ ॥

संनतेरपि दायादः सुनीथो नाम धार्मिकः ।
सुनीथस्य तु दायादः क्षेम्यो नाम महायशाः ॥ ७८ ॥

संनतिके पुत्र धर्मात्मा सुनीथ हुए और सुनीथका महायशस्वी पुत्र क्षेम्य नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ७८ ॥

क्षेम्यस्य केतुमान् पुत्रः सुकेतुस्तस्य चात्मजः ।
सुकेतोस्तनयश्चापि धर्मकेतुरिति स्मृतः ॥ ७९ ॥

क्षेम्यके पुत्र केतुमान्, केतुमान्‌के पुत्र सुकेतु और सुकेतुके भी पुत्र धर्मकेतु हुए ॥ ७९ ॥

धर्मकेतोस्तु दायादः सत्यकेतुर्महारथः ।
सत्यकेतुसुतश्चापि विभुर्नाम प्रजेश्वरः ॥ ८० ॥

धर्मकेतुके पुत्र महारथी सत्यकेतु हुए और सत्यकेतुके पुत्र प्रजापालक विभु हुए ॥ ८० ॥

आनर्तस्तु विभोः पुत्रः सुकुमारस्तु तत्सुतः ।
सुकुमारस्य पुत्रस्तु धृष्टकेतुः सुधार्मिकः ।
धृष्टकेतोस्तु दायादो वेणुहोत्रः प्रजेश्वरः ॥ ८१ ॥

विभुके पुत्रका नाम आनर्त था। आनर्तका पुत्र सुकुमार हुआ। सुकुमारके पुत्र परम धर्मात्मा धृष्टकेतु हुए और धृष्टकेतुके पुत्र राजा वेणुहोत्र थे ॥ ८१ ॥

वेणुहोत्रसुतश्चापि भर्गो नाम प्रजेश्वरः ।
वत्सस्य वत्सभूमिस्तु भृगुभूमिस्तु भार्गवात् ॥ ८२ ॥

वेणुहोत्रका पुत्र राजा भर्गके नामसे विख्यात हुआ। प्रतर्दनके जो वत्स और भार्ग नामक दो पुत्र बतलाये गये हैं, उनमेंसे वत्सके वत्सभूमि तथा भार्गके भृगुभूमि नामक पुत्र हुए ॥

एते त्वङ्गिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्तयोः पुत्राः सहस्रशः ।
इत्येते काशयः प्रोक्ता नहुषस्य निबोध मे ॥ ८३ ॥

ये अङ्गिरागोत्री गालवके वंशज हैं, जो भार्गववंशमें उत्पन्न हुए। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंके लोग हैं। वत्सभूमि और भृगुभूमिके सहस्रों पुत्र कहे गये हैं। इस प्रकार ये राजा काशिके कुलमें उत्पन्न हुए क्षत्रिय बताये गये हैं। अब तुम मुझसे नहुषकी संतानोंका वर्णन सुनो ॥ ८३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

नहुष एवं ययातिके वंशका वर्णन तथा ययातिका चरित्र

वैशम्पायन उवाच

उत्पन्नाः पितृकन्यायां विरजायां महौजसः ।
नहुषस्य तु दायादाः षडिन्द्रोपमतेजसः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! नहुषके उनकी पत्नी पितृकन्या विरजाके गर्भसे छः महाबली पुत्र उत्पन्न हुए, जो इन्द्रके समान तेजस्वी थे ॥ १ ॥

यतिर्ययातिः संयातिरायातिः पाञ्चिको भवः ।
सुयातिः षष्ठस्तेषां वै ययातिः पार्थिवोऽभवत् ।
यतिर्ज्येष्ठस्तु तेषां वै ययातिस्तु ततः परम् ॥ २ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—यति, ययाति, संयाति, आयाति, पाँचवाँ भव और छठा सुयाति। इनमेंसे ययाति ही राजा हुए। इन छः भाइयोंमें सबसे बड़े थे यति और उनके बाद ययाति उत्पन्न हुए थे ॥ २ ॥

ककुत्स्थकन्यां गां नाम लेभे परमधार्मिकः ।
यतिस्तु मोक्षमास्थाय ब्रह्मभूतोऽभवन्मुनिः ॥ ३ ॥

परम धर्मात्मा यतिने ककुत्स्थकी कन्या गौको पत्नीरूपमें प्राप्त किया था। वे मोक्षधर्मका आश्रय ले ब्रह्मस्वरूप मुनि हो गये ॥ ३ ॥

तेषां ययातिः पञ्चानां विजित्य वसुधामिमाम्।
देवयानीमुशनसः सुतां भार्यामवाप सः।
शर्मिष्ठामासुरीं चैव तनयां वृषपर्वणः॥ ४॥

शेष पाँच भाइयोंमें ययातिने इस पृथ्वीको जीतकर शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानी तथा असुरराज वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठाको भी पत्नीके रूपमें प्राप्त किया॥ ४॥

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी॥ ५॥

देवयानीने यदु और तुर्वसुको जन्म दिया तथा वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने द्रुह्यु, अनु तथा पूरु—ये तीन पुत्र उत्पन्न किये॥ ५॥

तस्मै शक्रो ददौ प्रीतो रथं परमभास्वरम्।
असङ्गं काञ्चनं दिव्यं दिव्यैः परमवाजिभिः॥ ६॥
युक्तं मनोजवैः शुभ्रैर्येन भार्यामुवाह सः।

ययातिपर प्रसन्न होकर इन्द्रने उन्हें एक अत्यन्त प्रकाशमान रथ प्रदान किया, जिसमें मनके समान वेगशाली, दिव्य, उत्तम एवं श्वेतवर्णके अश्व जुते हुए थे। वह दिव्य रथ सोनेका बना हुआ था। उसकी गति कहीं भी अवरुद्ध नहीं होती थी। उसी रथके द्वारा वे अपनी भार्याको ब्याहकर लाये थे॥ ६½॥

स तेन रथमुख्येन षड्रात्रेणाजयन्महीम्।
ययातिर्युधि दुर्धर्षस्तथा देवान् सदानवान्॥ ७॥

उस श्रेष्ठ रथके द्वारा दुर्धर्ष राजा ययातिने छः रातोंमें ही सम्पूर्ण पृथ्वी तथा देवताओं और दानवोंको भी जीत लिया था॥

स रथः पौरवाणां तु सर्वेषामभवत् तदा।
यावत् तु वसुनाम्नो वै कौरवाज्जनमेजय॥ ८॥

जनमेजय! कुरुवंशी राजा वसुतक सभी पौरव नरेशोंके पास वह रथ परम्परया प्राप्त होकर विद्यमान था॥ ८॥

कुरोः पुत्रस्य राजेन्द्र राज्ञः पारीक्षितस्य ह।
जगाम स रथो नाशं शापाद् गार्ग्यस्य धीमतः॥ ९॥

राजेन्द्र! कुरुवंशी परीक्षित्-कुमार इन्द्रोत जनमेजयको बुद्धिमान् गार्ग्यका शाप प्राप्त होनेके कारण वह रथ उनके यहाँसे अदृश्य हो गया॥ ९॥

गार्ग्यस्य हि सुतं बालं स राजा जनमेजयः।
वाक्क्रूरं हिंसयामास ब्रह्महत्यामवाप सः॥ १०॥

बात यह थी कि गार्ग्यके एक बालक पुत्र था, जो बड़ा ही वाचाल था। उसे इन्द्रोत नामवाले राजा जनमेजयने मार डाला। इससे उन्हें ब्रह्महत्या प्राप्त हुई॥ १०॥

स लोहगन्धी राजर्षिः परिधावन्नितस्ततः।
पौरजानपदैस्त्यक्तो न लेभे शर्म कर्हिचित्॥ ११॥

पुरवासियों तथा जनपदके लोगोंने उन्हें त्याग दिया। उनके शरीरसे लोहेकी-सी गन्ध आती थी (अथवा वे पतितके समान जान पड़ते थे)। राजर्षि इन्द्रोत इधर-उधर भागते-फिरते थे, किंतु कहीं भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी॥

ततः स दुःखसंतप्तो नालभत् संविदं क्वचित्।
इन्द्रोतः शौनकं राजा शरणं प्रत्यपद्यत॥ १२॥

जब कहीं भी स्वस्थ होनेका उपाय नहीं सूझा, तब दुःखसे संतप्त हुए राजा इन्द्रोत शौनक मुनिकी शरणमें गये॥ १२॥

याजयामास चेन्द्रोतं शौनको जनमेजयम्।
अश्वमेधेन राजानं पावनार्थं द्विजोत्तमः॥ १३॥

द्विजश्रेष्ठ शौनकने राजा इन्द्रोत जनमेजयको शुद्ध करनेके लिये उनसे अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करवाया॥ १३॥

स लोहगन्धो व्यनशत् तस्यावभृथमेत्य ह।
स च दिव्यो रथो राजन् वसोश्चेदिपतेस्तदा।
दत्तः शक्रेण तुष्टेन लेभे तस्माद् बृहद्रथः॥ १४॥

उस यज्ञके अन्तमें अवभृथ स्नान कर लेनेपर इन्द्रोतका पाप दूर हो गया और उनके शरीरसे जो लोहेकी-सी गन्ध आती थी, वह मिट गयी। राजन्! तत्पश्चात् इन्द्रने संतुष्ट होकर वह दिव्य रथ चेदिराज उपरिचर वसुको दे दिया। फिर वसुसे वह रथ मगधराज बृहद्रथको मिला॥ १४॥

बृहद्रथात् क्रमेणैव गतो बार्हद्रथं नृपम्।
ततो हत्वा जरासंधं भीमस्तं रथमुत्तमम्॥ १५॥
प्रददौ वासुदेवाय प्रीत्या कौरवनन्दनः।

बृहद्रथसे क्रमशः वह रथ उनके पुत्र राजा जरासंधको प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् कौरवकुलको आनन्दित करनेवाले भीमसेनने जरासंधको मारकर वह उत्तम रथ प्रसन्नतापूर्वक भगवान् श्रीकृष्णको दे दिया॥ १५½॥

सप्तद्वीपां ययातिस्तु जित्वा पृथ्वीं ससागराम्॥ १६॥
व्यभजत् पञ्चधा राजन् पुत्राणां नाहुषस्तदा।

राजन्! नहुषनन्दन राजा ययातिने समुद्र और सातों द्वीपोंसहित सारी पृथ्वीको जीतकर उसके पाँच भाग किये और उन्हें अपने पाँचों पुत्रोंमें बाँट दिया॥ १६½॥

दिशि दक्षिणपूर्वस्यां तुर्वसुं मतिमान् नृपः॥ १७॥
प्रतीच्यामुत्तरस्यां च द्रुह्युं चानुं च नाहुषः।
दिशि पूर्वोत्तरस्यां वै यदुं ज्येष्ठं न्ययोजयत्॥ १८॥

उन बुद्धिमान् नरेशने दक्षिण-पूर्व दिशा तुर्वसुको, पश्चिममें द्रुह्युको और उत्तर दिशामें अनुको अभिषिक्त करके पूर्वोत्तर दिशाके (ईशान कोण) राज्यपर ज्येष्ठ पुत्र यदुको नियुक्त कर दिया॥ १७-१८॥

मध्ये पूरुं च राजानमभ्यषिञ्चत नाहुषः।
तैरियं पृथिवी सर्वा सप्तद्वीपा सपत्तना॥ १९॥

यथाप्रदेशमद्यापि धर्मेण प्रतिपाल्यते ।
प्रजास्तेषां पुरस्तात् तु वक्ष्यामि नृपसत्तम ॥ २० ॥

इसके बाद नहुषनन्दन ययातिने मध्यदेशके राज्य-सिंहासनपर पूरुका अभिषेक किया । नृपश्रेष्ठ ! वे तथा उनके वंशज आज भी सातों द्वीपों और नगरोंसहित इस सारी पृथ्वीका अपने-अपने प्रदेशके अनुसार धर्मपूर्वक पालन करते हैं । अब आगे मैं उनकी संतानोंका वर्णन करूँगा ॥१९-२०॥

धनुर्न्यस्य पृषत्कांश्च पञ्चभिः पुरुषर्षभैः ।
जरावानभवद् राजा भारमावेश्य बन्धुषु ॥ २१ ॥

पाँच पुरुषप्रवर पुत्रोंसे कृतकृत्य हो राजा ययातिने राज्यका भार अपने उन बन्धु-बान्धवोंपर रखकर धनुष और बाणोंका भी त्याग कर दिया । तत्पश्चात् उन्हें जरावस्थाने काबूमें कर लिया ॥ २१ ॥

निःक्षिप्तशस्त्रः पृथिवीं निरीक्ष्य पृथिवीपतिः ।
प्रीतिमानभवद् राजा ययातिरपराजितः ।
एवं विभज्य पृथिवीं ययातिर्यदुमब्रवीत् ॥ २२ ॥

किसीसे परास्त न होनेवाले पृथ्वीपति राजा ययाति अस्त्र-शस्त्रोंका त्याग करके पृथ्वीको सुव्यवस्थित देख बड़े प्रसन्न हुए । इस तरह भूमण्डलका विभाग करके ययातिने यदुसे कहा—॥ २२ ॥

जरां मे प्रतिगृह्णीष्व पुत्र कृत्यान्तरेण वै ।
तरुणस्तव रूपेण चरेयं पृथिवीमिमाम् ।
जरां त्वयि समाधाय तं यदुः प्रत्युवाच ह ॥ २३ ॥

'बेटा ! एक दूसरा कार्य उपस्थित हुआ है, जिसके लिये मुझे तुम्हारी युवावस्था चाहिये । तुम मेरा बुढ़ापा ग्रहण करो और मैं तुममें अपनी वृद्धावस्था स्थापित करके तुम्हारे रूपसे तरुण होकर इस पृथ्वीपर विचरण करूँ ।' तब यदुने उन्हें यों उत्तर दिया—॥ २३ ॥

अनिर्दिष्टा मया भिक्षा ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुता ।
अनपाकृत्य तां राजन् न ग्रहीष्यामि ते जराम् ॥ २४ ॥

'महाराज ! मैंने एक ब्राह्मणको मुँहमाँगी भिक्षा देनेकी प्रतिज्ञा कर ली है, अभीतक उसने यह स्पष्टरूपसे बताया नहीं है कि 'मुझे अमुक वस्तु चाहिये ।' मैं जबतक उसकी भिक्षा-का ऋण उतार न दूँ, तबतक आपका बुढ़ापा नहीं ले सकूँगा ॥

जरायां बहवो दोषाः पानभोजनकारिताः ।
तस्माज्जरां न ते राजन् ग्रहीतुमहमुत्सहे ॥ २५ ॥

'राजन् ! बुढ़ापेमें खान-पानसम्बन्धी बहुत-से दोष हैं, अतः मैं आपका बुढ़ापा नहीं ग्रहण करूँगा ॥ २५ ॥

सन्ति ते बहवः पुत्रा मत्तः प्रियतरा नृप ।
प्रतिग्रहीतुं धर्मज्ञ पुत्रमन्यं वृणीष्व वै ॥ २६ ॥

'नरेश्वर ! आपके तो बहुत-से पुत्र हैं, जो मुझसे भी बढ़कर प्रिय हैं; अतः धर्मज्ञ महाराज ! जरावस्था ग्रहण करने-के लिये किसी दूसरे पुत्रका वरण कीजिये' ॥ २६ ॥

स एवमुक्तो यदुना राजा कोपसमन्वितः ।
उवाच वदतां श्रेष्ठो ययातिर्गर्हयन् सुतम् ॥ २७ ॥

यदुके ऐसा कहनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा ययाति कुपित हो उठे और अपने उस पुत्रकी निन्दा करते हुए बोले—॥२७॥

क आश्रयस्तवान्योऽस्ति को वा धर्मो विधीयते ।
मामनादृत्य दुर्बुद्धे यदहं तव देशिकः ॥ २८ ॥

'दुर्बुद्धे ! मेरा अनादर करके तेरा दूसरा कौन-सा आश्रय है ? अथवा तू किस धर्मका पालन कर रहा है ? मैं तो तेरा गुरु हूँ (फिर मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन कैसे कर रहा है ?)' ॥

एवमुक्त्वा यदुं तात शशापैनं स मन्युमान् ।
अराज्या ते प्रजा मूढ भवित्रीति नराधम ॥ २९ ॥

तात ! अपने पुत्र यदुसे ऐसा कहकर कुपित हुए राजा ययातिने उन्हें शाप दिया—'मूढ ! नराधम ! तेरी संतान सदा राज्यसे वञ्चित रहेगी' ॥ २९ ॥

स तुर्वसुं च द्रुह्युं चाप्यनुं च भरतर्षभ ।
एवमेवाब्रवीद् राजा प्रत्याख्यातश्च तैरपि ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर राजा ययातिने क्रमशः तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुको भी बुलाकर उनसे ऐसी ही बात कही, परंतु उन्होंने भी उनकी बात माननेसे इन्कार कर दिया ॥३०॥

शशाप तानतिक्रुद्धो ययातिरपराजितः ।
यथा ते कथितं पूर्वं मया राजर्षिसत्तमः ॥ ३१ ॥

तब किसीसे भी पराजित न होनेवाले राजर्षिशिरोमणि ययातिने अत्यन्त कुपित हो उनको भी वैसा ही शाप दिया जैसा यदुके प्रसङ्गमें पहले तुम्हें बताया गया है ॥ ३१ ॥

एवं शप्त्वा सुतान् सर्वांश्चतुरः पूरुपूर्वजान् ।
तदेव वचनं राजा पूरुमप्याह भारत ॥ ३२ ॥

भारत ! इस प्रकार पूरुसे पहले उत्पन्न हुए अपने चारों पुत्रोंको शाप देकर राजा ययातिने पूरुके सामने भी वही प्रस्ताव रक्खा ॥ ३२ ॥

तरुणस्तव रूपेण चरेयं पृथिवीमिमाम् ।
जरां त्वयि समाधाय त्वं पूरो यदि मन्यसे ॥ ३३ ॥

'पूरो ! यदि तुम स्वीकार करो तो मैं अपने बुढ़ापेका भार तुमपर रखकर तुम्हारे रूपसे तरुण होकर इस पृथ्वीपर विचरूँ' ॥ ३३ ॥

स जरां प्रतिजग्राह पितुः पूरुः प्रतापवान् ।
ययातिरपि रूपेण पूरोः पर्यचरन्महीम् ॥ ३४ ॥

यह सुनकर प्रतापी पूरुने पिताका बुढ़ापा ले लिया और ययाति भी पूरुके रूपसे तरुण हो इस पृथ्वीपर विचरने लगे ॥

स मार्गमाणः कामानामन्तं भरतसत्तम ।
विश्वाच्या सहितो रेमे वने चैत्ररथे प्रभुः ॥ ३५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! प्रभावशाली ययाति कामनाओंका अन्त ढूँढ़ते हुए चैत्ररथ नामक वनमें गये और वहाँ विश्वाची नामक अप्सराके साथ रमण करने लगे ॥ ३५ ॥

यदावितृष्णः कामानां भोगेषु स नराधिपः ।
तदा पूरोः सकाशाद् वै स्वां जरां प्रत्यपद्यत ॥ ३६ ॥

इतनेपर भी जब उन्हें कामोपभोगसे तृप्ति नहीं हुई, तब उन नरेशने घर आकर पूरुसे अपना बुढ़ापा ले लिया ॥३६॥

तत्र गाथा महाराज शृणु गीता ययातिना ।
याभिः प्रत्याहरेत् कामान् सर्वतोऽङ्गानि कूर्मवत्॥३७॥

महाराज ! वहाँ ययातिने जो गाथाएँ गायीं (उद्गार प्रकट किये), उन्हें सुनो । उनपर ध्यान देनेसे मनुष्य सब भोगोंकी ओरसे अपने मनको उसी प्रकार हटा सकता है जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है ॥ ३७ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ३८ ॥

ययातिने कहा—'भोगोंकी इच्छा उन्हें भोगनेसे कभी शान्त नहीं होती; अपितु घीसे आगकी भाँति और भी बढ़ती ही जाती है ॥ ३८ ॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति ॥ ३९ ॥

'इस पृथ्वीपर जितने भी धान, जौ, सुवर्ण, पशु तथा स्त्रियाँ हैं, वे सब एक पुरुषके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं । ऐसा समझकर विद्वान् पुरुष मोहमें नहीं पड़ता ॥ ३९ ॥

यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ४० ॥

'जब जीव मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीके प्रति पापबुद्धि नहीं करता, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ४० ॥

यदान्येभ्यो न बिभ्येत यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ४१ ॥

'जब वह दूसरे प्राणियोंसे नहीं डरता, जब उससे भी दूसरे प्राणी नहीं डरते तथा जब वह इच्छा-द्वेषसे परे हो जाता है, उस समय ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥४२॥

'खोटी बुद्धिवाले पुरुषोंद्वारा जिसका त्याग होना कठिन है, जो मनुष्यके बूढ़े होनेपर भी स्वयं बूढ़ी नहीं होती तथा जो प्राण-नाशक रोगके समान है, उस तृष्णाका त्याग करनेवालेको ही सुख मिलता है ॥ ४२ ॥

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
जीविताशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति ॥ ४३ ॥

'बूढ़े होनेवाले मनुष्यके बाल पक जाते हैं, उसके दाँत भी टूटने लगते हैं, परंतु धन और जीवनकी आशा उस मनुष्यके जीर्ण होनेपर भी जीर्ण (शिथिल) नहीं होती ॥ ४३ ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ४४ ॥

'संसारमें जो कामजनित सुख है तथा जो दिव्य महान् सुख हैं, वे सब मिलकर तृष्णा-क्षयसे होनेवाले सुखके सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते' ॥ ४४ ॥

एवमुक्त्वा स राजर्षिः सदारः प्राविशद् वनम् ।
कालेन महता चापि चचार विपुलं तपः ॥ ४५ ॥

ऐसा कहकर राजर्षि ययाति स्त्रीसहित वनमें चले गये । वहाँ बहुत समयतक उन्होंने भारी तपस्या की ॥ ४५ ॥

भृगुतुङ्गे तपस्तप्त्वा तपसोऽन्ते महातपाः ।
अनश्नन् देहमुत्सृज्य सदारः स्वर्गमाप्तवान् ॥ ४६ ॥

उन महातपस्वी नरेशने भृगुतुङ्ग नामक शिखरपर तपस्या करके स्त्रीसहित उपवासके द्वारा देहको त्याग दिया और स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ ४६ ॥

तस्य वंशे महाराज पञ्च राजर्षिसत्तमाः ।
यैर्व्याप्ता पृथिवी सर्वा सूर्यस्येव गभस्तिभिः ॥ ४७ ॥

महाराज ! उनके वंशमें यदु आदि पाँच राजर्षिशिरोमणि हुए, जिनके वंशजोंसे यह सारी पृथ्वी उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे सूर्यकी किरणोंसे वह व्याप्त होती है ॥ ४७ ॥

यदोस्तु शृणु राजर्षेर्वंशं राजर्षिसत्कृतम् ।
यत्र नारायणो जज्ञे हरिर्वृष्णिकुलोद्वहः ॥ ४८ ॥

राजर्षि यदुका वंश समस्त राजर्षियोंद्वारा सम्मानित है । तुम उसका वर्णन सुनो । उसी वंशमें वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्णके रूपमें श्रीनारायण हरिका अवतार (प्रादुर्भाव) हुआ था ॥

धन्यः प्रजावानायुष्मान् कीर्तिमांश्च भवेन्नरः ।
ययातेश्चरितं पुण्यं पठञ्छृण्वन् नराधिप ॥ ४९ ॥

नरेश्वर ! जो मनुष्य ययातिके इस पुण्यमय चरित्रको पढ़ता और सुनता है, वह धनसम्पन्न, संतानवान्, दीर्घायु तथा यशस्वी होता है ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि ययातिचरिते त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें ययातिका चरित्रविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

पूरुकी वंशपरम्पराका वर्णन

जनमेजय उवाच

पूरोर्वंशमहं ब्रह्मञ्छ्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
द्रुह्योश्चानोर्यदोश्चैव तुर्वसोश्च पृथक् पृथक्॥ १॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन्! मैं पूरु, द्रुह्यु, अनु, यदु और तुर्वसुके वंशका पृथक्-पृथक् यथार्थ वर्णन सुनना चाहता हूँ॥

वृष्णिवंशप्रसङ्गेन स्वं वंशं पूर्वमेव तु।
विस्तरेणानुपूर्व्या च तद् भवान् वक्तुमर्हति॥ २॥

वृष्णिवंशके प्रसंगसे इन सबका वर्णन मुझे सुनना है; परंतु सबसे पहले मैं अपने ही वंश (पूरु-कुल) का क्रमशः विस्तारपूर्वक वर्णन सुनना चाहता हूँ। अतः आप पहले उसीका वर्णन करें॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु पूरोर्महाराज वंशमुत्तमपौरुषम्।
विस्तरेणानुपूर्व्या च यत्र जातोऽसि पार्थिव॥ ३॥

वैशम्पायनजी बोले—महाराज! उत्तम पराक्रमसे सम्पन्न पूरुवंशका, जिसमें तुम्हारा जन्म हुआ है, मैं क्रमानुसार विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ। पृथ्वीनाथ! तुम इसे सुनो॥

हन्त ते कीर्तयिष्यामि पूरोर्वंशमनुत्तमम्।
द्रुह्योश्चानोर्यदोश्चैव तुर्वसोश्च नराधिप॥ ४॥

नरेश्वर! मैं बड़े हर्षके साथ तुमसे परम उत्तम पूरुवंशका वर्णन करूँगा। फिर द्रुह्यु, अनु, यदु तथा तुर्वसुके वंशका कीर्तन किया जायगा॥ ४॥

पूरोः पुत्रो महावीर्यो राजाऽऽसीज्जनमेजयः।
प्रचिन्वांस्तु सुतस्तस्य यः प्राचीमजयद् दिशम्॥ ५॥

पूरुके महापराक्रमी पुत्र राजा जनमेजय हुए। उनके पुत्रका नाम प्रचिन्वान् था; जिन्होंने पूर्वदिशाको जीता था॥

प्रचिन्वतः प्रवीरोऽभून्मनस्युस्तस्य चात्मजः।
राजा चाभयदो नाम मनस्योरभवत् सुतः॥ ६॥

प्रचिन्वान्के पुत्र प्रवीर और प्रवीरके मनस्यु हुए, मनस्युके पुत्र राजा अभयद थे॥ ६॥

तथैवाभयदस्यासीत् सुधन्वा तु महीपतिः।
सुधन्वनो बहुगवः शम्यातिस्तस्य चात्मजः॥ ७॥

अभयदके पुत्रका नाम सुधन्वा था, जो इस पृथ्वीका अधिपति हुआ। सुधन्वाके बहुगव और बहुगवके पुत्र शम्याति हुए॥ ७॥

शम्यातेस्तु रहस्याती रौद्राश्वस्तस्य चात्मजः।
रौद्राश्वस्य घृताच्यां वै दशाप्सरसि सूनवः॥ ८॥

शम्यातिके रहस्याति और रहस्यातिके पुत्र रौद्राश्व हुए। रौद्राश्वके घृताची अप्सराके गर्भसे दस पुत्र हुए॥ ८॥

ऋचेयुः प्रथमस्तेषां कृकणेयुस्तथैव च।
कक्षेयुः स्थण्डिलेयुश्च सन्नतेयुस्तथैव च॥ ९॥
दशार्णेयुर्जलेयुश्च स्थलेयुश्च महायशाः।
धनेयुश्च वनेयुश्च पुत्रिकाश्च दश स्त्रियः॥ १०॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—ऋचेयु अपने सभी भाइयोंमें ज्येष्ठ थे। उनके बाद कृकणेयु, कक्षेयु, स्थण्डिलेयु, सन्नतेयु, दशार्णेयु, जलेयु, महायशस्वी स्थलेयु, धनेयु और वनेयु थे। इनके सिवा रौद्राश्वके दस कन्याएँ भी थीं, जो पुत्रिका-धर्मके अनुसार ब्याही जानेवाली थीं॥ ९-१०॥

रुद्रा शूद्रा च भद्रा च मलदा मलहा तथा।
खलदा चैव राजेन्द्र नलदा सुरसापि च।
तथा गोचपला तु स्त्रीरत्नकूटा च ता दश॥ ११॥

राजेन्द्र! उन कन्याओंके नाम इसप्रकार हैं—रुद्रा, शूद्रा, भद्रा, मलदा, मलहा, खलदा, नलदा, सुरसा, गोचपला तथा स्त्रीरत्नकूटा—ये कुल मिलाकर दस थीं॥ ११॥

ऋषिर्जातोऽत्रिवंशे तु तासां भर्ता प्रभाकरः।
रुद्रायां जनयामास सुतं सोमं यशस्विनम्॥ १२॥

अत्रिकुलमें उत्पन्न महर्षि प्रभाकर उन सबके पति हुए। उन्होंने रुद्राके गर्भसे यशस्वी सोमको पुत्ररूपमें उत्पन्न किया॥

स्वर्भानुना हते सूर्ये पतमाने दिवो महीम्।
तमोऽभिभूते लोके च प्रभा येन प्रवर्तिता॥ १३॥

राहुसे आहत होकर जब सूर्य आकाशसे पृथ्वीपर गिरने लगे और समस्त संसारमें अन्धकार छा गया, उस समय प्रभाकरने ही अपनी प्रभा फैलायी॥ १३॥

स्वस्ति तेऽस्त्विति चोक्तो वै पतमानो दिवाकरः।
वचनात् तस्य विप्रर्षेर्न पपात दिवो महीम्॥ १४॥

महर्षिने गिरते हुए सूर्यको 'तुम्हारा कल्याण हो' यह कहकर आशीर्वाद दिया। उन ब्रह्मर्षिके इस वचनसे सूर्यदेव पृथ्वीपर नहीं गिरे॥ १४॥

अत्रिश्रेष्ठानि गोत्राणि यश्चकार महातपाः।
यज्ञेष्वत्रेर्धनं चैव सुरैर्यस्य प्रवर्तितम्॥ १५॥

महातपस्वी प्रभाकरने सब गोत्रोंमें अत्रिगोत्रकी ही श्रेष्ठता स्थापित की। अत्रिके यज्ञोंमें उन्हींके प्रभावसे देवताओंने धन प्रस्तुत किया था॥ १५॥

स तासु जनयामास पुत्रिकासु सनामकान्।
दश पुत्रान् महात्मा स तपस्युग्रे रतान् सदा॥ १६॥

महात्मा प्रभाकरने रौद्राश्वकी पुत्रिका-धर्मके अनुसार प्राप्त हुई कन्याओंके गर्भसे एक-से ही नामवाले दस पुत्रोंको जन्म दिया, जो सदा उग्र तपस्यामें तत्पर रहनेवाले थे ॥१६॥

ते तु गोत्रकरा राजन्नृषयो वेदपारगाः ।
स्वस्त्यात्रेया इति ख्याताः किं त्वत्रिधनवर्जिताः ॥ १७॥

राजन्! वे सब-के-सब वेदोंके पारङ्गत विद्वान् तथा गोत्र-प्रवर्तक ऋषि हुए। स्वस्त्यात्रेय नामसे उनकी ख्याति हुई, परंतु वे अत्रिगोत्री पिताके धनसे वञ्चित रहे (क्योंकि पुत्रिका-धर्मके अनुसार वे अपने नानाके पुत्र थे) ॥ १७ ॥

कक्षेयोस्तनयाश्चासंस्त्रय एव महारथाः ।
सभानरश्चाक्षुषश्च परमन्युस्तथैव च ॥ १८ ॥

कक्षेयुके सभानर, चाक्षुष और परमन्यु—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। तीनों ही महारथी थे ॥ १८ ॥

सभानरस्य पुत्रस्तु विद्वान् कालानलो नृपः ।
कालानलस्य धर्मज्ञः सृञ्जयो नाम वै सुतः ॥ १९ ॥

सभानरका पुत्र विद्वान् राजा कालानल हुआ। कालानलका धर्मज्ञ पुत्र सृञ्जय नामसे विख्यात हुआ ॥ १९ ॥

सृञ्जयस्याभवत् पुत्रो वीरो राजा पुरञ्जयः ।
जनमेजयो महाराज पुरञ्जयसुतोऽभवत् ॥ २० ॥

सृञ्जयके पुत्र वीर राजा पुरञ्जय हुए। महाराज! पुरञ्जयका पुत्र जनमेजय हुआ ॥ २० ॥

जनमेजयस्य राजर्षेर्महाशालोऽभवत् सुतः ।
देवेषु स परिज्ञातः प्रतिष्ठितयशा भुवि ॥ २१ ॥

राजर्षि जनमेजयके पुत्र महाशाल हुए, जो देवताओंमें भी विख्यात थे और इस पृथ्वीपर भी उनका यश फैला हुआ था ॥ २१ ॥

महामना नाम सुतो महाशालस्य धार्मिकः ।
जज्ञे वीरः सुरगणैः पूजितः सुमहायशाः ॥ २२ ॥

महाशालके धार्मिक पुत्रका नाम महामना था। वे एक वीर पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुए थे। महायशस्वी महामनाका देवता भी सम्मान करते थे ॥ २२ ॥

महामनास्तु पुत्रौ द्वौ जनयामास भारत ।
उशीनरं च धर्मज्ञं तितिक्षुं च महाबलम् ॥ २३ ॥

भरतनन्दन! महामनाने दो पुत्रोंको जन्म दिया—धर्मज्ञ उशीनर और महाबली तितिक्षु ॥ २३ ॥

उशीनरस्य पत्न्यस्तु पञ्च राजर्षिवंशजाः ।
नृगा कृमी नवा दर्वा पञ्चमी च दृषद्वती ॥ २४ ॥

उशीनरकी पाँच पत्नियाँ थीं, जो राजर्षियोंके कुलमें उत्पन्न हुई थीं। उनके नाम इस प्रकार हैं—नृगा, कृमी, नवा, दर्वा और पाँचवीं दृषद्वती ॥ २४ ॥

उशीनरस्य पुत्रास्तु पञ्च तासु कुलोद्वहाः ।
तपसा वै सुमहता जाता वृद्धस्य भारत ॥ २५ ॥

उनके गर्भसे उशीनरके पाँच पुत्र हुए, जो अपने वंशकी मर्यादाको ऊँचे उठानेवाले थे। भारत! वे अपने वृद्ध पिताके महान् तपसे उत्पन्न हुए थे ॥ २५ ॥

नृगायास्तु नृगः पुत्रः कृम्यां कृमिरजायत ।
नवायास्तु नवः पुत्रो दर्वायाः सुव्रतोऽभवत् ॥ २६ ॥

नृगाके पुत्र नृग थे, कृमीके गर्भसे कृमिका जन्म हुआ था, नवाके पुत्र नव तथा दर्वाके सुव्रत हुए ॥ २६ ॥

दृषद्वत्यास्तु संजज्ञे शिबिरौशीनरो नृपः ।
शिबेस्तु शिबयस्तात यौधेयास्तु नृगस्य ह ॥ २७ ॥

तात! दृषद्वतीके गर्भसे उशीनरकुमार राजा शिबिका जन्म हुआ। शिबिको शिबिदेशका राज्य मिला और नृगको यौधेय प्रदेशका ॥ २७ ॥

नवस्य नवराष्ट्रं तु कृमेस्तु कृमिला पुरी ।
सुव्रतस्य तथाम्बष्ठा शिबिपुत्रान्निबोध मे ॥ २८ ॥

नवको नवराष्ट्र तथा कृमिको कृमिलापुरीका राज्य प्राप्त हुआ। सुव्रतके अधिकारमें अम्बष्ठ देश आया। अब शिबिके पुत्रोंका वर्णन सुनो ॥ २८ ॥

शिबेश्च पुत्राश्चत्वारो वीरास्त्रैलोक्यविश्रुताः ।
वृषदर्भः सुवीरश्च मद्रकः कैकयस्तथा ॥ २९ ॥

शिबिके चार वीर पुत्र हुए—वृषदर्भ, सुवीर, मद्रक तथा कैकय। ये चारों राजकुमार तीनों लोकोंमें विख्यात थे ॥

तेषां जनपदाः स्फीताः केकया मद्रकास्तथा ।
वृषदर्भाः सुवीराश्च तितिक्षोस्तु प्रजाः शृणु ॥ ३० ॥

इनके समृद्धिशाली जनपद भी इन्हींके नामसे प्रसिद्ध होकर वृषदर्भ, सुवीर, मद्रक तथा केकय कहलाये। अब तितिक्षुकी संततिका वर्णन सुनो ॥ ३० ॥

तैतिक्षवोऽभवद् राजा पूर्वस्यां दिशि भारत ।
उषद्रथो महाबाहुस्तस्य फेनः सुतोऽभवत् ॥ ३१ ॥

भारत! तितिक्षुके पुत्र महाबाहु राजा उषद्रथ हुए, जो पूर्व दिशाके अधिपति थे। इनके पुत्रका नाम फेन था ॥३१॥

फेनात् तु सुतपा जज्ञे सुतः सुतपसो बलिः ।
जातो मानुषयोनौ तु स राजा काञ्चनेषुधिः ॥ ३२ ॥

फेनसे सुतपाका जन्म हुआ। सुतपाके पुत्र बलि थे। दानवराज बलि ही मनुष्ययोनिमें जन्म लेकर राजा बलिके नामसे विख्यात हुए। वे सोनेका तरकस रखते थे ॥ ३२ ॥

महायोगी स तु बलिर्बभूव नृपतिः पुरा ।
पुत्रानुत्पादयामास पञ्च वंशकरान् भुवि ॥ ३३ ॥

पूर्वकालमें राजा बलि महान् योगी थे। उन्होंने इस

भूतलपर वंशकी वृद्धि करनेवाले पाँच पुत्र उत्पन्न किये ॥३३॥

अङ्गः प्रथमतो जज्ञे वङ्गः सुह्मस्तथैव च ।
पुण्ड्रः कलिङ्गश्च तथा बालेयं क्षत्रमुच्यते ॥ ३४ ॥

उनमें सबसे पहले अङ्गकी उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् क्रमशः वङ्ग, सुह्म, पुण्ड्र तथा कलिङ्ग उत्पन्न हुए। ये सब लोग बालेय क्षत्रिय कहलाते हैं ॥ ३४ ॥

बालेया ब्राह्मणाश्चैव तस्य वंशकरा भुवि ।
बलेस्तु ब्रह्मणा दत्ता वराः प्रीतेन भारत ॥ ३५ ॥
महायोगित्वमायुश्च कल्पस्य परिमाणतः ।
संग्रामे चाप्यजेयत्वं धर्मे चैव प्रधानता ॥ ३६ ॥
त्रैलोक्यदर्शनं चैव प्राधान्यं प्रसवे तथा ।
बले चाप्रतिमत्वं वै धर्मतत्त्वार्थदर्शनम् ॥ ३७ ॥
चतुरो नियतान् वर्णांस्त्वं च स्थापयिता भुवि ।
इत्युक्तो विभुना राजा बलिः शान्तिं परां ययौ ॥ ३८ ॥

बलिके कुलमें बालेय ब्राह्मण भी हुए, जो इस भूतलपर उनके वंशकी वृद्धि करनेवाले थे । भरतनन्दन ! ब्रह्माजीने बलिपर प्रसन्न होकर उन्हें निम्नाङ्कित वर दिये थे—'तुम महायोगी होओगे, तुम्हारी आयु एक कल्पकी होगी, तुम युद्धमें अजेय होओगे, धर्ममें तुम्हारी प्रधानता होगी, तुम तीनों लोकोंकी देखभाल करोगे (अथवा तुम तीनों लोकोंकी सभी बातें प्रत्यक्षकी भाँति देखोगे) तुम्हारी संतति श्रेष्ठ समझी जायगी, बलमें तुम्हारी समानता करनेवाला कोई न होगा, तुम धर्मतत्त्वके ज्ञाता होओगे तथा भूतलपर चारों वर्णोंको नियन्त्रणमें रखकर उन्हें मर्यादाके भीतर स्थापित करोगे।' भगवान् ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर राजा बलिको बड़ी शान्ति मिली ॥ ३५–३८ ॥

तस्य ते तनयाः सर्वे क्षेत्रजा मुनिपुङ्गवात् ।
सम्भूता दीर्घतपसो सुदेष्णायां महौजसः ॥ ३९ ॥

उनके वे सभी पुत्र क्षेत्रज थे । मुनिवर दीर्घतपाद्वारा रानी सुदेष्णाके गर्भसे प्रकट हुए थे। उनका बल महान् था ॥

बलिस्तानभिषिच्येह पञ्च पुत्रानकल्मषान् ।
कृतार्थः सोऽपि योगात्मा योगमाश्रित्य स प्रभुः ॥४०॥
अधृष्यः सर्वभूतानां कालापेक्षी चरन्नपि ।
कालेन महता राजन् स्वं च स्थानमुपागमत् ॥ ४१ ॥

राजा बलिने उन पाँचों निष्पाप पुत्रोंको विभिन्न राज्योंपर अभिषिक्त करके अपनेको कृतार्थ माना । उनका मन सदा योगमें लगा रहता था । वे योगका आश्रय ले समस्त प्राणियोंके लिये अजेय हो गये थे । कालकी प्रतीक्षा करते हुए सर्वत्र विचरते थे । राजन् ! दीर्घकालके पश्चात् उन्हें अपना स्थान (सुतललोक) उपलब्ध हुआ ॥ ४०-४१ ॥

तेषां जनपदाः पञ्च अङ्गा वङ्गाः ससुह्मकाः ।
कलिङ्गाः पुण्ड्रकाश्चैव प्रजास्त्वङ्गस्य मे शृणु ॥ ४२ ॥

उनके पाँच पुत्रोंके अधिकारमें जो जनपद थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—अङ्ग, वङ्ग, सुह्म, कलिङ्ग और पुण्ड्रक । अब तुम मुझसे अङ्गकी संतानोंका वर्णन सुनो ॥ ४२ ॥

अङ्गपुत्रो महानासीद् राजेन्द्रो दधिवाहनः ।
दधिवाहनपुत्रस्तु राजा दिविरथोऽभवत् ॥ ४३ ॥

अङ्गके पुत्र महान् राजाधिराज दधिवाहन थे और दधिवाहनके पुत्र राजा दिविरथ हुए ॥ ४३ ॥

पुत्रो दिविरथस्यासीच्छक्रतुल्यपराक्रमः ।
विद्वान् धर्मरथो नाम तस्य चित्ररथः सुतः ॥ ४४ ॥

दिविरथके पुत्र इन्द्रतुल्य पराक्रमी और विद्वान् थे । उनका नाम धर्मरथ था । धर्मरथके पुत्र चित्ररथ हुए ॥४४॥

तेन चित्ररथेनाथ तदा विष्णुपदे गिरौ ।
यजता सह शक्रेण सोमः पीतो महात्मना ॥ ४५ ॥

राजा चित्ररथ जब विष्णुपद पर्वतपर यज्ञ करते थे, उस समय उन महामना नरेशने इन्द्रके साथ बैठकर सोमपान किया था ॥ ४५ ॥

अथ चित्ररथस्यापि पुत्रो दशरथोऽभवत् ।
लोमपाद इति ख्यातो यस्य शान्ता सुताभवत् ॥ ४६ ॥

चित्ररथके पुत्र दशरथ हुए, जिनका दूसरा नाम लोमपाद था तथा शान्ता जिनकी पुत्री थी ॥ ४६ ॥

तस्य दाशरथिर्वीरश्चतुरङ्गो महायशाः ।
ऋष्यशृङ्गप्रसादेन जज्ञे कुलविवर्धनः ॥ ४७ ॥

उन लोमपाद या दशरथके पुत्र महायशस्वी वीर चतुरङ्ग हुए, जो ऋष्यशृङ्ग मुनिकी कृपासे उत्पन्न हुए थे । चतुरङ्ग अपने कुलकी वृद्धि करनेवाले थे ॥ ४७ ॥

चतुरङ्गस्य पुत्रस्तु पृथुलाक्ष इति स्मृतः ।
पृथुलाक्षसुतो राजा चम्पो नाम महायशाः ॥ ४८ ॥

चतुरङ्गके पुत्र पृथुलाक्ष कहे गये हैं । पृथुलाक्षके पुत्र महायशस्वी राजा चम्प हुए ॥ ४८ ॥

चम्पस्य तु पुरी चम्पा या मालिन्यभवत् पुरा ।
पूर्णभद्रप्रसादेन हर्यङ्गोऽस्य सुतोऽभवत् ॥ ४९ ॥

चम्पकी राजधानी चम्पा थी, जो पहले मालिनीके नामसे प्रसिद्ध थी । चम्पके पुत्र हर्यङ्ग हुए, जो पूर्णभद्र नामक मुनिकी कृपासे उत्पन्न हुए थे ॥ ४९ ॥

ततो वैभाण्डकिस्तस्य वारणं शक्रवारणम् ।
अवतारयामास महीं मन्त्रैर्वाहनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

विभाण्डकपुत्र ऋष्यशृङ्गने हर्यङ्गकी सवारीके लिये इन्द्रके उत्तम वाहन गजराज ऐरावतको मन्त्रोंद्वारा स्वर्गसे भूतलपर उतारा था ॥ ५० ॥

हर्यङ्गस्य तु दायादो राजा भद्ररथः स्मृतः ।
पुत्रो भद्ररथस्यासीद् बृहत्कर्मा प्रजेश्वरः ॥ ५१ ॥

हर्यङ्गके पुत्र राजा भद्ररथ कहे गये हैं। भद्ररथके पुत्र राजा बृहत्कर्मा थे ॥ ५१ ॥

बृहद्दर्भः सुतस्तस्य तस्माज्जज्ञे बृहन्मनाः ।
बृहन्मनास्तु राजेन्द्र जनयामास वै सुतम् ॥ ५२ ॥
नाम्ना जयद्रथं नाम यस्माद् दृढरथो नृपः ।
आसीद् दृढरथस्यापि विश्वजिज्जनमेजय ॥ ५३ ॥

बृहत्कर्माके पुत्र बृहद्दर्भ थे, उनसे बृहन्मनाका जन्म हुआ। राजेन्द्र! बृहन्मनाने जयद्रथ नामक पुत्रको जन्म दिया, जिससे राजा दृढरथकी उत्पत्ति हुई। जनमेजय! दृढरथके पुत्र विश्वजित् हुए ॥ ५२-५३ ॥

दायादस्तस्य कर्णस्तु विकर्णस्तस्य चात्मजः ।
तस्य पुत्रशतं त्वासीदङ्गानां कुलवर्धनम् ॥ ५४ ॥

विश्वजित्के पुत्र कर्ण तथा कर्णके पुत्र विकर्ण हुए। विकर्णके सौ पुत्र थे, जो अङ्गवंशकी वृद्धि करनेवाले थे ॥

बृहद्दर्भसुतो यस्तु राजा नाम्ना बृहन्मनाः ।
तस्य पत्नीद्वयं चासीच्चैद्यस्यैते सुते शुभे ।
यशोदेवी च सत्या च ताभ्यां वंशस्तु भिद्यते ॥५५॥

बृहद्दर्भका जो बृहन्मना नामसे प्रसिद्ध पुत्र था, उसकी दो पत्नियाँ थीं। ये दोनों ही चेदिराजकी सुन्दरी कन्याएँ थीं। एकका नाम यशोदेवी था और दूसरीका सत्या। उन दोनोंके द्वारा उस वंशमें भेद हो गया अर्थात् दोनोंकी पृथक्-पृथक् वंश-परम्परा चली ॥ ५५ ॥

जयद्रथस्तु राजेन्द्र यशोदेव्यां व्यजायत ।
ब्रह्मक्षत्रोत्तरः सत्यां विजयो नाम विश्रुतः ॥ ५६ ॥

राजेन्द्र! बृहन्मनाका जो जयद्रथ नामक पुत्र था, वह यशोदेवीके गर्भसे उत्पन्न हुआ था तथा उनका दूसरा पुत्र, जो विजय नामसे विख्यात था, सत्याके पेटसे पैदा हुआ था। वह शान्ति आदि गुणोंमे ब्राह्मणोंसे और शौर्य आदि गुणोंमे क्षत्रियोंसे भी उत्कृष्ट था ॥ ५६ ॥

विजयस्य धृतिः पुत्रस्तस्य पुत्रो धृतव्रतः ।
धृतव्रतस्य पुत्रस्तु सत्यकर्मा महायशाः ॥ ५७ ॥

विजयका पुत्र धृति और धृतिका पुत्र धृतव्रत था। धृतव्रतके पुत्र महायशस्वी सत्यकर्मा हुए ॥ ५७ ॥

सत्यकर्मसुतश्चापि सूतस्त्वधिरथस्तु वै ।
यः कर्णं प्रतिजग्राह ततः कर्णस्तु सूतजः ॥ ५८ ॥

सत्यकर्माका पुत्र अधिरथ नामक सूत हुआ, जिसने कर्णको गोद लिया था। इसीलिये कर्णको सूतपुत्र कहा जाता है ॥

एतत् ते कथितं सर्वं कर्णं प्रति महाबलम् ।
कर्णस्य वृषसेनस्तु वृषस्तस्यात्मजः स्मृतः ॥ ५९ ॥

राजन्! यह सब मैंने तुम्हे महाबली कर्णके विषयमें बताया है। कर्णका पुत्र वृषसेन हुआ और वृषसेनका पुत्र वृष कहा गया है ॥ ५९ ॥

एतेऽङ्गवंशजाः सर्वे राजानः कीर्तिता मया ।
सत्यव्रता महात्मानः प्रजावन्तो महारथाः ॥ ६० ॥

ये सब अङ्गवंशी राजा मेरे द्वारा बताये गये हैं, जो सत्यव्रती, महात्मा, पुत्रवान् तथा महारथी थे ॥ ६० ॥

ऋचेयोस्तु महाराज रौद्राश्वतनयस्य ह ।
शृणु वंशमनुप्रोक्तं यत्र जातोऽसि पार्थिव ॥ ६१ ॥

महाराज! पृथ्वीनाथ! अब मैं रौद्राश्वकुमार ऋचेयुके वंशका वर्णन करूँगा, जिसमे तुम्हारा जन्म हुआ है। तुम इसे सुनो ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि कुक्षेयुवंशानुकीर्तनं नाम एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें कुक्षेयुवंशका वर्णनविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥



द्वात्रिंशोऽध्यायः

पूरुके वंशके अन्तर्गत ऋचेयुकी वंश-परम्परा—अजमीढवंश, पाञ्चाल एवं सोमकवंश, कौरव-वंश तथा तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुकी संततिका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

अनाधृष्यस्तु राजर्षिर्ऋचेयुश्चैकराट् स्मृतः ।
ऋचेयोर्ज्वलना नाम भार्या वै तक्षकात्मजा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजर्षि ऋचेयु एकच्छत्र सम्राट् माने गये हैं। वे दूसरोंके लिये अजेय थे। ऋचेयुकी पत्नीका नाम ज्वलना था, जो तक्षक नागकी पुत्री थी ॥ १ ॥

तस्यां स देव्यां राजर्षिर्मतिनारो महीपतिः ।
मतिनारसुताश्चासंस्त्रयः परमधार्मिकाः ॥ २ ॥
तंसुराद्यः प्रतिरथः सुबाहुश्चैव धार्मिकः ।
गौरी कन्या च विख्याता मान्धातृजननी शुभा ॥ ३ ॥

महारानी ज्वलनाके गर्भसे पृथ्वीपति राजर्षि मतिनारका जन्म हुआ। मतिनारके तीन परम धर्मात्मा पुत्र हुए—प्रथम तंसु, दूसरे प्रतिरथ और तीसरे धर्मात्मा सुबाहु। मतिनारके

एक कन्या भी हुई थी, जो गौरी नामसे विख्यात थी। शुभलक्षणा गौरी ही राजा मान्धाताकी जननी हुई ॥ २-३ ॥

सर्वे वेदविदस्तत्र ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः।
सर्वे कृतास्त्रा बलिनः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ४ ॥

मतिनारके सभी पुत्र वेदवेत्ता, ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, अस्त्रविद्याके विद्वान्, बलवान् तथा युद्धकुशल थे ॥ ४ ॥

पुत्रः प्रतिरथस्यासीत् कण्वः समभवन्नृपः।
मेधातिथिः सुतस्तस्य यस्मात्काण्वायना द्विजाः॥ ५ ॥

मतिनारके दूसरे पुत्र प्रतिरथके बेटेका नाम कण्व था। कण्व राजा थे। कण्वके पुत्र मेधातिथि हुए, जिनसे काण्वायन ब्राह्मणोंकी परम्परा प्रचलित हुई ॥ ५ ॥

ईलिनी भूप यस्यासीत् कन्या वै जनमेजय।
ब्रह्मवादिन्यधि स्त्री च तंसुस्तामभ्यगच्छत ॥ ६ ॥

राजा जनमेजय ! जिनकी कन्या ईलिनी नामसे प्रसिद्ध हुई थी, वे ईलिन नामक नरेश ब्रह्मवादी ब्राह्मणसमुदायमें उत्कृष्ट माने जाते थे। उनकी उस ईलिनी नामक कन्याको तंसुने पत्नीरूपमें प्राप्त किया ॥ ६ ॥

तंसोः सुरोधो राजर्षिर्धर्मनेत्रो महायशाः।
ब्रह्मवादी पराक्रान्तस्तस्य भार्योपदानवी ॥ ७ ॥
उपदानवी सुताँल्लेभे चतुरस्त्वैलिकात्मजान्।
दुष्यन्तमथ सुष्मन्तं प्रवीरमनघं तथा ॥ ८ ॥

तंसुके महायशस्वी राजर्षि सुरोध हुए, जो धर्मके प्रवर्तक होनेसे धर्मनेत्र कहलाते थे। वे ब्रह्मवादी और पराक्रमी थे। उनकी पत्नी उपदानवी थी। उपदानवीने चार पुत्र प्राप्त किये, जो दुष्यन्त, सुष्मन्त, प्रवीर और अनघके नामसे विख्यात थे। ये चारों ईलिनीकुमार सुरोध या धर्मनेत्रके पुत्र थे ॥ ७-८ ॥

दुष्यन्तस्य तु दायादो भरतो नाम वीर्यवान्।
स सर्वदमनो नाम नागायुतबलो महान् ॥ ९ ॥

दुष्यन्तके पुत्रका नाम भरत था। वे बड़े पराक्रमी थे। सबका दमन करनेके कारण उनका दूसरा नाम सर्वदमन भी था। महान् वीर भरतमें दस हजार हाथियोंका बल था ॥

चक्रवर्ती सुतो जज्ञे दुष्यन्तस्य महात्मनः।
शकुन्तलायां भरतो यस्य नाम्ना स्थ भारताः ॥ १० ॥

महात्मा दुष्यन्तके वीर्य और शकुन्तलाके गर्भसे चक्रवर्ती भरत पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए थे, जिनके नामपर तुमलोग भारत कहलाते हो ॥ १० ॥

दुष्यन्तं प्रति राजानं वागुवाचाशरीरिणी।
माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ॥ ११ ॥
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम्।
रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात् ॥ १२ ॥
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला।

(कहते हैं—दुष्यन्तने तपोवनमें जाकर शकुन्तलाके साथ गान्धर्व-विवाह किया था और अपनी राजधानीको लौटकर उसके विषयमें कुछ बताया नहीं था। जब शकुन्तला भरतको लेकर दुष्यन्तके यहाँ गयी, तब वे उसे पहचाननेमें भूल करने लगे। उस समय) आकाशवाणीने राजा दुष्यन्तको सम्बोधित करके कहा—'दुष्यन्त ! माता तो केवल चमड़ेकी धौंकनीके समान है, पुत्रपर अधिकार तो पिताका ही है । पुत्र जिसके द्वारा जन्म ग्रहण करता है, उसीका स्वरूप होता है। तुम इस पुत्रका पालन-पोषण करो, शकुन्तलाका अपमान मत करो। नरदेव ! अपने ही वीर्यसे उत्पन्न हुआ पुत्र अपने पिताको यमलोकसे (निकालकर स्वर्गलोकको) ले जाता है। 'इस पुत्रके आधान करनेवाले तुम्हीं हो'—शकुन्तलाने यह बात ठीक ही कही है' ॥ ११-१२½ ॥

भरतस्य विनष्टेषु तनयेषु महीपतेः ॥ १३ ॥
मातॄणां तात कोपेन मया ते कथितं पुरा।

राजा भरतके कई पुत्र होकर मर गये। तात ! माताओंके क्रोधसे ऐसा हुआ था। यह बात मैं तुम्हें पहले (आदिपर्वमें) बता चुका हूँ ॥ १३½ ॥

बृहस्पतेराङ्गिरसः पुत्रो राजन् महामुनिः।
संक्रामितो भरद्वाजो मरुद्भिः क्रतुभिर्विभुः ॥ १४ ॥

राजन् ! भरतके यज्ञमें आये हुए देवताओंने भरतके लिये अङ्गिरानन्दन बृहस्पतिजीके पुत्र महामुनि भरद्वाजको ही पुत्र बनाकर दे दिया ॥ १४ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीमं भरद्वाजस्य धीमतः।
धर्मसंक्रमणं चापि मरुद्भिर्भरताय वै ॥ १५ ॥
अयाजयद् भरद्वाजो मरुद्भिः क्रतुभिर्हि तम्।
पूर्वं तु वितथे तस्य कृते वै पुत्रजन्मनि ॥ १६ ॥
ततोऽथ वितथो नाम भरद्वाजसुतोऽभवत्।

इसी प्रसङ्गमें बुद्धिमान् भरद्वाजके धर्मसंक्रमणकी यह बात कही जाती है। मरुद्गणोंने भरतको पुत्ररूपमें जब भरद्वाजको ही अर्पित कर दिया, तब भरद्वाजने भरतसे देवताओंसहित यज्ञका अनुष्ठान करवाया। इसके पहले भरतके पुत्र-जन्मका सारा प्रयास वितथ (व्यर्थ) हो चुका था। भरद्वाजके प्रयत्नसे जो पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम वितथ हुआ ॥१५-१६½॥

ततोऽथ वितथे जाते भरतस्तु दिवं ययौ ॥ १७ ॥
वितथं चाभिषिच्याथ भरद्वाजो वनं ययौ।

वितथका जन्म हो जानेपर भरत स्वर्गवासी हो गये। तत्पश्चात् वितथका राज्याभिषेक करके भरद्वाजजी भी वनमें चले गये ॥ १७½ ॥

स राजा वितथः पुत्राञ्जनयामास पञ्च वै ॥ १८ ॥
सुहोत्रं च सुहोतारं गयं गर्गं तथैव च ।
कपिलं च महात्मानं सुहोत्रस्य सुतद्वयम् ॥ १९ ॥
काशिकश्च महासत्त्वस्तथा गृत्समतिर्नृपः ।
तथा गृत्समतेः पुत्रा ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ॥ २० ॥
काशिकस्य तु काशेयः पुत्रो दीर्घतपास्तथा ।

राजा वितथने पाँच पुत्र उत्पन्न किये—सुहोत्र, सुहोता, गय, गर्ग तथा महात्मा कपिल। सुहोत्रके भी दो पुत्र हुए—महान् शक्तिशाली काशिक तथा राजा गृत्समति। गृत्समतिके पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंके लोग हुए। काशिकके दो पुत्र थे—काशेय और दीर्घतपा ॥ १८—२०½ ॥

आजमीढोऽपरो वंशः श्रूयतां पुरुषर्षभ ॥ २१ ॥
सुहोत्रस्य बृहत् पुत्रो बृहतस्तनयास्त्रयः ।
अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च वीर्यवान् ॥ २२ ॥

पुरुषप्रवर! अब आजमीढ नामक दूसरे वंशका वर्णन सुनो—पूर्वोक्त राजा सुहोत्रके एक तीसरा पुत्र और था बृहत्। बृहत्के तीन पुत्र हुए—अजमीढ, द्विमीढ और पराक्रमी पुरुमीढ ॥ २१-२२ ॥

अजमीढस्य पत्न्यस्तु तिस्रो वै यशसान्विताः ।
नीलिनी केशिनी चैव धूमिनी च वराङ्गना ॥ २३ ॥

अजमीढकी तीन स्त्रियाँ थीं। तीनों ही बड़ी यशस्विनी थीं। उनके नाम थे—नीलिनी, केशिनी और स्त्रियोंमें श्रेष्ठ धूमिनी ॥ २३ ॥

अजमीढस्य नीलिन्यां सुशान्तिरुदपद्यत ।
पुरुजातिः सुशान्तेस्तु वाह्याश्वः पुरुजातितः ॥ २४ ॥
वाह्याश्वतनयाः पञ्च बभूवुरमरोपमाः ॥ २५ ॥

अजमीढके नीलिनीके गर्भसे सुशान्ति नामक पुत्र हुआ। सुशान्तिसे पुरुजाति और पुरुजातिसे वाह्याश्वका जन्म हुआ। वाह्याश्वके पाँच देवोपम पुत्र हुए ॥ २४-२५ ॥

मुद्गलः सृञ्जयश्चैव राजा बृहदिषुः स्मृतः ।
यवीनरश्च विक्रान्तः कृमिलाश्वश्च पञ्चमः ॥ २६ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—मुद्गल, सृञ्जय, राजा बृहदिषु, पराक्रमी यवीनर तथा पाँचवें कृमिलाश्व ॥ २६ ॥

पञ्चैते रक्षणायालं देशानामिति विश्रुताः ।
पञ्चानां विद्धि पञ्चालान् स्फीतैर्जनपदैर्वृतान् ॥ २७ ॥

ये पाँचों अपने अधिकारमें आये हुए देशोंकी रक्षाके लिये अलं (समर्थ) थे, इसलिये समृद्धिशाली जनपदोंसे युक्त उन देशोंको पञ्चाल समझो ॥ २७ ॥

अलं संरक्षणे तेषां पञ्चाला इति विश्रुताः ।
मुद्गलस्य तु दायादो मौद्गल्यः सुमहायशाः ॥ २८ ॥
सर्वे एते महात्मानः क्षत्रोपेता द्विजातयः ।
एते ह्याङ्गिरसः पक्षं संश्रिताः कण्वमौद्गलाः ॥ २९ ॥

उन देशोंकी रक्षाके लिये अलं होनेसे ये पाँचों वीर पञ्चाल नामसे विख्यात हुए। मुद्गलके पुत्र महायशस्वी मौद्गल्य थे। ये सब-के-सब महात्मा क्षात्रधर्मसे युक्त ब्राह्मण थे। ये अङ्गिराके पक्षका आश्रय लेकर कण्वमौद्गल कहलाये ॥ २८-२९ ॥

मौद्गलस्य सुतो ज्येष्ठो ब्रह्मर्षिः सुमहायशाः ।
इन्द्रसेनो यतो गर्भं वध्र्यश्वं प्रत्यपद्यत ॥ ३० ॥

मौद्गलके ज्येष्ठ पुत्र महायशस्वी ब्रह्मर्षि इन्द्रसेन हुए, जिनसे वध्र्यश्वका जन्म हुआ ॥ ३० ॥

वध्र्यश्वान्मिथुनं जज्ञे मेनकायामिति श्रुतिः ।
दिवोदासश्च राजर्षिरहल्या च यशस्विनी ॥ ३१ ॥

वध्र्यश्वसे मेनकाके गर्भसे एक पुत्र और एक कन्याका जन्म हुआ, ऐसी प्रसिद्धि है। पुत्रका नाम दिवोदास था, जो राजर्षि एवं ब्रह्मर्षि थे। कन्या यशस्विनी अहल्या थी ॥

शरद्वतस्तु दायादमहल्या समसूयत ।
शतानन्दमृषिश्रेष्ठं तस्यापि सुमहायशाः ॥ ३२ ॥
पुत्रः सत्यधृतिर्नाम धनुर्वेदस्य पारगः ।

अहल्या महर्षि शरद्वान् (गौतम) की पत्नी थी। उसने गौतमके पुत्र मुनिश्रेष्ठ शतानन्दको जन्म दिया। शतानन्दके भी एक महायशस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सत्यधृति था। (ये सत्यधृति भी अपने पितामहके समान शरद्वान् कहलाते थे।) सत्यधृति धनुर्वेदके पारङ्गत विद्वान् थे ॥ ३२½ ॥

तस्य सत्यधृते रेतो दृष्ट्वाप्सरसमग्रतः ॥ ३३ ॥
अवस्कन्नं शरस्तम्बे मिथुनं समपद्यत ।
कृपया तच्च जग्राह शन्तनुर्मृगयां गतः ॥ ३४ ॥

एक दिन अपने सामने एक अप्सराको उपस्थित देख सत्यधृति (शरद्वान्) का वीर्य स्खलित होकर सरकंडोंके समूहपर गिर पड़ा। उससे एक बालक और बालिका जुड़वीं संतानें उत्पन्न हुईं। उस समय राजा शन्तनु शिकार खेलनेके लिये वनमें गये हुए थे। उन्होंने कृपापूर्वक उन दोनों बालकोंको ले लिया ॥ ३३-३४ ॥

कृपः स्मृतः स वै तस्माद् गौतमी च कृपी तथा ।
एते शारद्वताः प्रोक्ता एते ते गौतमाः स्मृताः ॥ ३५ ॥

कृपापूर्वक ग्रहण करनेके कारण बालकका नाम कृप और उस गौतम-बालिकाका नाम कृपी हुआ। ये शतानन्द, सत्यधृति और कृप शारद्वत कहे गये हैं तथा ये गौतम भी कहलाते हैं ॥ ३५ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दिवोदासस्य संततिम् ।
दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षिर्मित्रयुर्नृप ॥ ३६ ॥
मैत्रायणस्ततः सोमो मैत्रेयास्तु ततः स्मृताः ।
एते हि संश्रिताः पक्षं क्षत्रोपेतास्तु भार्गवाः ॥ ३७ ॥

नरेश्वर ! अब मैं दिवोदासकी संततिका वर्णन करूँगा । दिवोदासके पुत्र ब्रह्मर्षि मित्रयु हुए । मित्रयुसे मैत्रायणका जन्म हुआ । मैत्रायणसे सोम हुए । सोमके वंशज मैत्रेय कहे गये हैं । ये भार्गव-पक्षका आश्रय लेकर क्षत्रोपेत भार्गव कहलाये ॥ ३६-३७ ॥

आसीत् पञ्चजनः पुत्रः सृञ्जयस्य महात्मनः ।
सुतः पञ्चजनस्यापि सोमदत्तो महीपतिः ॥ ३८ ॥

महात्मा सृञ्जयके पञ्चजन नामक पुत्र हुआ और पञ्चजनके पुत्र पृथ्वीपति सोमदत्त हुए ॥ ३८ ॥

सोमदत्तस्य दायादः सहदेवो महायशाः ।
सहदेवसुतश्चापि सोमको नाम पार्थिवः ॥ ३९ ॥

सोमदत्तके पुत्र महायशस्वी सहदेव थे और सहदेवके पुत्र राजा सोमक हुए ॥ ३९ ॥

अजमीढात् पुनर्जातः क्षीणवंशे तु सोमकः ।
सोमकस्य सुतो जन्तुर्यस्य पुत्रशतं बभौ ॥ ४० ॥

अजमीढवंशी सहदेवसे सोमकका जन्म उस अवस्थामें हुआ जब कि उनकी वंश-परम्परा क्षीण हो चली थी। सोमकके पुत्रका नाम जन्तु था । जिसके स्थानपर सोमकके सौ पुत्र हो गये* ॥ ४० ॥

तेषां यवीयान् पृषतो द्रुपदस्य पिता प्रभुः ।
धृष्टद्युम्नस्तु द्रुपदाद् धृष्टकेतुश्च तत्सुतः ॥ ४१ ॥
अजमीढाः स्मृता ह्येते महात्मानस्तु सोमकाः ।
पुत्राणामजमीढस्य सोमकत्वं महात्मनः ॥ ४२ ॥

उनमें सबसे छोटे थे पृषत, जो राजा द्रुपदके प्रभावशाली पिता थे। द्रुपदसे धृष्टद्युम्न और धृष्टद्युम्नसे धृष्टकेतुका जन्म हुआ। ये महामनस्वी क्षत्रिय अजमीढ और सोमक कहे गये हैं। महामना अजमीढके संतानोंकी ही सोमक संज्ञा हुई ॥४१-४२॥

महिषी त्वजमीढस्य धूमिनी पुत्रगृद्धिनी ।
तृतीया तव पूर्वेषां जननी पृथिवीपते ॥ ४३ ॥

राजा अजमीढकी जो धूमिनी नामवाली तीसरी रानी थीं, उनके मनमें पुत्रकी बड़ी लालसा थी । पृथ्वीनाथ ! वे ही तुम्हारे पूर्वजोंकी जननी हुईं ॥ ४३ ॥

सा तु पुत्रार्थिनी देवी व्रतचर्यासमन्विता ।
ततो वर्षायुतं तप्त्वा तपः परमदुश्चरम् ॥ ४४ ॥
हुत्वाग्निं विधिवत् सा तु पवित्रमितभोजना ।
अग्निहोत्रकुशेष्वेव सुष्वाप जनमेजय ॥ ४५ ॥

जनमेजय ! पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाली धूमिनी देवी व्रतका पालन करने लगीं । वे दस हजार वर्षोंतक अत्यन्त दुष्कर तपस्या करती हुई विधिपूर्वक अग्निमें आहुती देतीं, पवित्रतापूर्वक परिमित भोजन करतीं और अग्निहोत्रके कुशोंपर ही सोतीं ॥ ४४-४५ ॥

धूमिन्या स तया देव्या त्वजमीढः समेयिवान् ।
ऋक्षं संजनयामास धूमवर्णं सुदर्शनम् ॥ ४६ ॥

तदनन्तर राजा अजमीढने देवी धूमिनीके साथ समागम किया । इससे उन्होंने ऋक्ष नामक पुत्रको जन्म दिया । ऋक्ष धूम्रके समान वर्णवाले एवं सुन्दर दर्शनीय पुरुष थे ॥

ऋक्षात् संवरणो जज्ञे कुरुः संवरणात् तथा ।
यः प्रयागादतिक्रम्य कुरुक्षेत्रं चकार ह ॥ ४७ ॥

ऋक्षसे संवरण और संवरणसे कुरु उत्पन्न हुए, जिन्होंने प्रयागसे जाकर कुरुक्षेत्रकी स्थापना की ॥ ४७ ॥

तद्वै तत्स महाभागो वर्षाणि सुबहून्यथ ।
तप्यमाने तदा शक्रो यत्रास्य वरदो बभौ ॥ ४८ ॥

महाभाग कुरुने उस क्षेत्रमें बहुत वर्षोतक तप किया । उनके तप करते समय वरदायक भगवान् इन्द्रने वहाँ जाकर उन्हें वर प्रदान किया ॥ ४८ ॥

पुण्यं च रमणीयं च पुण्यकृद्भिर्निषेवितम् ।
तस्यान्ववायः सुमहांस्तस्य नाम्ना स्थ कौरवाः ॥ ४९ ॥

वह पवित्र एवं रमणीय क्षेत्र पुण्यात्माओंद्वारा सेवित है । कुरुका वंश बहुत बड़ा है । तुमलोग कुरुके ही नामसे कौरव कहलाते हो ॥ ४९ ॥

कुरोश्च पुत्राश्चत्वारः सुधन्वा सुधनुस्तथा ।
परीक्षिच्च महाबाहुः प्रवरश्चारिमेजयः ॥ ५० ॥

कुरुके चार पुत्र हुए—सुधन्वा, सुधनु, महाबाहु परीक्षित और श्रेष्ठ वीर अरिमेजय ॥ ५० ॥

सुधन्वनस्तु दायादः सुहोत्रो मतिमांस्ततः ।
च्यवनस्तस्य पुत्रस्तु राजा धर्मार्थकोविदः ॥ ५१ ॥

सुधन्वाके पुत्र सुहोत्र हुए । सुहोत्रके मतिमान् तथा मतिमान्‌के पुत्र राजा च्यवन हुए, जो धर्म और अर्थके ज्ञाता थे॥

च्यवनात् कृतयज्ञस्तु इष्ट्वा यज्ञैः स धर्मवित् ।
विश्रुतं जनयामास पुत्रमिन्द्रसमं नृपः ॥ ५२ ॥

च्यवनसे कृतयज्ञ हुए । उन धर्मज्ञ नरेशने यज्ञ करके इन्द्रके समान सुविख्यात पराक्रमी पुत्रको जन्म दिया ॥ ५२॥

चैद्योपरिचरं वीरं वसुं नामान्तरिक्षगम् ।
चैद्योपरिचराज्जज्ञे गिरिका सप्त मानवान् ॥ ५३ ॥

उसका नाम था उपरिचर वसु । वे वसु चेदि देशके निवासी थे और आकाशमार्गसे चलते थे । चेदिदेशीय उप-

* सोमकने जन्तुको यज्ञ-पशु बनाकर एक यज्ञ किया, जिससे उनकी सौ स्त्रियोंके गर्भसे एक-एक करके सौ पुत्र उत्पन्न हुए। (देखिये महाभारत, वनपर्व, १२७-१२८ अध्याय)

रिचर बसुसे उनकी पत्नी गिरिकाने सात मनुष्योंको उत्पन्न किया ॥

महारथो मगधराड् विश्रुतो यो बृहद्रथः ।
प्रत्यग्रहः कुशश्चैव यमाहुर्मणिवाहनम् ॥ ५४ ॥
मारुतश्च यदुश्चैव मत्स्यः काली च सप्तमः ।

उनमें प्रथम संतान थे सुविख्यात महारथी राजा बृहद्रथ, जो मगध देशके अधिपति थे । दूसरे पुत्रका नाम प्रत्यग्रह था । तीसरे राजा कुश थे, जिन्हें मणिवाहन भी कहते हैं । चौथे मारुत, पाँचवें यदु और छठे श्रेष्ठतम पुरुष मत्स्य थे । सातवीं संतान कन्या थी, जो काली (या सत्यवती) कहलायी ॥

बृहद्रथस्य दायादः कुशाग्रो नाम विश्रुतः ॥ ५५ ॥
कुशाग्रस्यात्मजो विद्वान् वृषभो नाम वीर्यवान् ।

बृहद्रथका पुत्र कुशाग्र नामसे विख्यात हुआ । कुशाग्रके पुत्र वृषभ थे, जो विद्वान् और बलवान् थे ॥ ५५½ ॥

वृषभस्य तु दायादः पुष्पवान्नाम धार्मिकः ॥ ५६ ॥
दायादस्तस्य विक्रान्तो राजा सत्यहितः स्मृतः॥५७॥

वृषभका पुत्र धर्मात्मा पुष्पवान् था । उसके पुत्र पराक्रमी राजा सत्यहित हुए ॥ ५६-५७ ॥

तस्य पुत्रोऽथ धर्मात्मा नाम्ना ऊर्जस्तु जज्ञिवान् ।
ऊर्जस्य सम्भवः पुत्रो यस्य जज्ञे स वीर्यवान् ॥ ५८ ॥

सत्यहितके धर्मात्मा ऊर्ज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । ऊर्जके पुत्रका नाम सम्भव था (जिसे बृहद्रथ भी कहते हैं) । इसीसे पराक्रमी राजा जरासंधकी उत्पत्ति हुई थी ॥

शकले द्वे स वै जातो जरया संधितः स तु ।
जरया संधितो यस्माज्जरासंधस्ततः स्मृतः॥ ५९ ॥

वह आधे-आधे शरीरके दो टुकड़ोंके रूपमें (दो माताओंके गर्भसे) उत्पन्न हुआ था । इन दोनों टुकड़ोंको जरा नामवाली राक्षसीने जोड़ दिया । जरासे संधित (जोड़ा गया) होनेसे उसका नाम जरासंध हुआ ॥ ५९ ॥

सर्वक्षत्रस्य जेतासौ जरासंधो महाबलः ।
जरासंधस्य पुत्रो वै सहदेवः प्रतापवान् ॥ ६० ॥

महाबली जरासंधने सम्पूर्ण क्षत्रिय-समुदायको जीत लिया था । उसका पुत्र प्रतापी सहदेव था ॥ ६० ॥

सहदेवात्मजः श्रीमानुदायुः स महायशाः ।
उदायुर्जनयामास पुत्रं परमधार्मिकम् ॥ ६१ ॥
श्रुतधर्मेति नामानं मगधान् योऽवसद् विभुः ।

सहदेवके कान्तिमान् पुत्र महायशस्वी उदायु हुए । उदायुने श्रुतधर्मा नामक परम धर्मात्मा पुत्रको जन्म दिया, जो वैभवसम्पन्न होकर मगध देशमें निवास करता था ॥

परीक्षितस्तु दायादो धार्मिको जनमेजयः ॥ ६२ ॥
जनमेजयस्य दायादास्त्रय एव महारथाः ।
श्रुतसेनोग्रसेनौ च भीमसेनश्च नामतः ॥ ६३ ॥
एते सर्वे महाभागा विक्रान्ता बलशालिनः ।
जनमेजयस्य पुत्रौ तु सुरथो मतिमांस्तथा ॥ ६४ ॥

कुरुके दूसरे पुत्र परीक्षित्के आत्मज धर्मात्मा जनमेजय हुए । जनमेजयके श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन—ये तीन महारथी पुत्र थे । ये सभी महाभाग राजकुमार पराक्रमी तथा बलशाली थे । जनमेजयके दो पुत्र हुए सुरथ और मतिमान् ॥

सुरथस्य तु विक्रान्तः पुत्रो जज्ञे विदूरथः ।
विदूरथस्य दायाद ऋक्ष एव महारथः ॥ ६५ ॥
द्वितीयः स बभौ राजा नाम्ना तेनैव संज्ञितः ।

सुरथके एक पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम था विदूरथ । विदूरथके महारथी पुत्रका नाम भी ऋक्ष ही था । ये दूसरे राजा थे, जो उसी (ऋक्ष) नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ६५½ ॥

द्वावृक्षौ तव वंशेऽस्मिन् द्वावेव तु परीक्षितौ ॥ ६६ ॥
भीमसेनास्त्रयो राजन् द्वावेव जनमेजयौ ।

राजन् ! तुम्हारे इस वंशमें दो 'ऋक्ष' और दो ही 'परीक्षित्' नामके राजा हो गये हैं । तीन 'भीमसेन' और दो 'जनमेजय' हुए हैं ॥ ६६½ ॥

ऋक्षस्य तु द्वितीयस्य भीमसेनोऽभवत् सुतः ॥ ६७ ॥
प्रतीपो भीमसेनस्य प्रतीपस्य तु शन्तनुः ।
देवापिर्बाह्लिकश्चैव त्रय एव महारथाः ॥ ६८ ॥

द्वितीय ऋक्षके पुत्र भीमसेन हुए । भीमसेनके प्रतीप और प्रतीपके पुत्र शन्तनु, देवापि तथा बाह्लिक थे । ये तीनों ही महारथी वीर थे ॥ ६७-६८ ॥

शन्तनोः प्रसवस्त्वेष यत्र जातोऽसि पार्थिव ।
बाह्लिकस्य तु राज्यं वै सप्तबाह्यं नरेश्वर ॥ ६९ ॥

पृथ्वीनाथ ! यह शन्तनुका कुल है, जिसमें तुम्हारा जन्म हुआ है । नरेश्वर ! बाह्लिकका राज्य सप्तबाह्य (मन्त्री आदि सात अङ्गोंद्वारा संचालित होने योग्य) था ॥ ६९ ॥

बाह्लिकस्य सुतश्चैव सोमदत्तो महायशाः ।
जज्ञिरे सोमदत्तात्तु भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ॥ ७० ॥

बाह्लिकके पुत्र महायशस्वी सोमदत्त हुए । सोमदत्तसे भूरि, भूरिश्रवा और शल—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ७० ॥

उपाध्यायस्तु देवानां देवापिरभवन्मुनिः ।
च्यवनस्य कृतः पुत्र इष्टश्चासीन्महात्मनः ॥ ७१ ॥

देवापि देवताओंके उपाध्याय और मुनि हुए । महात्मा च्यवनने उन्हें अपना प्रिय पुत्र बना लिया था ॥ ७१ ॥

शन्तनुस्त्वभवद् राजा कौरवाणां धुरन्धरः ।
शन्तनोः सम्प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि पार्थिव ॥ ७२ ॥

राजा शन्तनु कौरवकुलका भार वहन करनेवाले हुए। पृथ्वीनाथ! अब मैं शन्तनुके वंशका वर्णन करता हूँ, जिसमें तुम्हारा जन्म हुआ है ॥ ७२ ॥

गाङ्गं देवव्रतं नाम पुत्रं सोऽजनयत् प्रभुः।
स तु भीष्म इति ख्यातः पाण्डवानां पितामहः॥ ७३ ॥

प्रभावशाली शन्तनुने गङ्गाजीके गर्भसे देवव्रत नामक पुत्रको जन्म दिया। वे ही भीष्म नामसे विख्यात हुए, जो पाण्डवोंके पितामह थे ॥ ७३ ॥

काली विचित्रवीर्यं तु जनयामास भारत।
शन्तनोर्दयितं पुत्रं धर्मात्मानमकल्मषम् ॥ ७४ ॥

भारत! उनकी दूसरी पत्नी काली (सत्यवती) ने शन्तनुके प्रिय पुत्र विचित्रवीर्यको उत्पन्न किया, जो पापशून्य तथा धर्मात्मा थे ॥ ७४ ॥

कृष्णद्वैपायनश्चैव क्षेत्रे वैचित्रवीर्यके।
धृतराष्ट्रं च पाण्डुं च विदुरं चाप्यजीजनत् ॥ ७५ ॥

विचित्रवीर्यके क्षेत्र (अर्थात् उनकी पत्नियोंके गर्भ) से श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरको उत्पन्न किया था ॥ ७५ ॥

धृतराष्ट्रश्च गान्धार्यां पुत्रानुत्पादयच्छतम्।
तेषां दुर्योधनः श्रेष्ठः सर्वेषामेव स प्रभुः ॥ ७६ ॥

धृतराष्ट्रने गान्धारीके गर्भसे सौ पुत्र उत्पन्न किये। उन सबमें दुर्योधन ही श्रेष्ठ और प्रभावशाली था ॥ ७६ ॥

पाण्डोर्धनंजयः पुत्रः सौभद्रस्तस्य चात्मजः।
अभिमन्योः परीक्षित् तु पिता तव जनेश्वर ॥ ७७ ॥

पाण्डुके पुत्र धनंजय (अर्जुन) हुए। धनंजयसे सुभद्राकुमार अभिमन्युका जन्म हुआ। जनेश्वर! अभिमन्युके पुत्र तुम्हारे पिता परीक्षित् थे ॥ ७७ ॥

एष ते पौरवो वंशो यत्र जातोऽसि पार्थिव।
तुर्वसोस्तु प्रवक्ष्यामि द्रुह्योश्चानोर्यदोस्तथा ॥ ७८ ॥

जनमेजय! यह तुमसे पौरववंशका वर्णन किया गया, जिसमें तुम्हारा जन्म हुआ है। अब तुर्वसु, द्रुह्यु, यदु और अनुकी संततिका वर्णन करूँगा ॥ ७८ ॥

सुतस्तु तुर्वसोर्वह्निर्वह्नेर्गोभानुरात्मजः।
गोभानोस्तु सुतो राजा त्रैसानुरपराजितः ॥ ७९ ॥

तुर्वसुके पुत्र वह्नि और वह्निके गोभानु हुए। गोभानुके पुत्र राजा त्रैसानु थे, जो कभी परास्त नहीं होते थे ॥ ७९ ॥

करन्धमस्तु त्रैसानोर्मरुत्तस्तस्य चात्मजः।
अन्यस्त्वावीक्षितो राजा मरुत्तः कथितस्तव ॥ ८० ॥

त्रैसानुके करन्धम और करन्धमके पुत्र मरुत्त हुए। अविक्षित्के पुत्र राजा मरुत्त दूसरे हैं। उनका परिचय तुम्हें दिया जा चुका है* ॥ ८० ॥

अनपत्योऽभवद् राजा यज्वा विपुलदक्षिणः।
दुहिता सम्मता नाम तस्यासीत् पृथिवीपते ॥ ८१ ॥

ये करन्धम-पुत्र राजा मरुत्त पुत्रहीन थे। ये बड़े-बड़े यज्ञ करते और उनमें प्रचुर दक्षिणाएँ देते थे। पृथ्वीनाथ! उनके एक पुत्री थी, जिसका नाम सम्मता था ॥ ८१ ॥

दक्षिणार्थं स वै दत्ता संवर्ताय महात्मने।
दुष्यन्तं पौरवं चापि लेभे पुत्रमकल्मषम् ॥ ८२ ॥

उन्होंने महात्मा संवर्तको अपनी वह कन्या ही दक्षिणारूपमें दे दी थी। (फिर संवर्तने दुष्यन्तके पिताको वह कन्या अर्पित कर दी। उनके संयोगसे) सम्मताने पुरुवंशी दुष्यन्तको पुत्ररूपमें प्राप्त किया। दुष्यन्त निष्पाप राजा थे ॥ ८२ ॥

एवं ययातेः शापेन जरासंक्रमणे तदा।
पौरवं तुर्वसोर्वंशः प्रविवेश नृपोत्तम ॥ ८३ ॥

नृपश्रेष्ठ! इस प्रकार पुत्रोंको अपना बुढ़ापा लेनेके लिये कहते समय ययातिने जो शाप दिया था, उसके अनुसार तुर्वसुका वंश समाप्त होकर पौरववंशमें विलीन हो गया ॥

दुष्यन्तस्य तु दायादः करुत्थामः प्रजेश्वरः।
करुत्थामात् तथाऽऽक्रीडश्चत्वारस्तस्य चात्मजाः॥८४॥
पाण्ड्यश्च केरलश्चैव कोलश्चोलश्च पार्थिवः।
तेषां जनपदाः स्फीताः पाण्ड्याश्चोलाः सकेरलाः ८५

दुष्यन्तके (शकुन्तलासे भिन्न दूसरी रानीके गर्भसे) राजा करुत्थाम हुए। करुत्थामसे आक्रीडका जन्म हुआ। उसके चार पुत्र थे—पाण्ड्य, केरल, कोल तथा राजा चोल। उनके समृद्धिशाली प्रदेश भी उन्हींके नामपर पाण्ड्य, चोल और केरल कहलाये ॥ ८४-८५ ॥

द्रुह्योश्च तनयो राजन् बभ्रुः सेतुश्च पार्थिवः।
अङ्गारसेतुस्तत्पुत्रो मरुतां पतिरुच्यते ॥ ८६ ॥

राजन्! ययातिकुमार द्रुह्युके पुत्र राजा बभ्रु और सेतु हुए। सेतुके पुत्र अङ्गारसेतु हुए। इन्हें मरुत्पति भी कहा जाता है ॥ ८६ ॥

यौवनाश्वेन समरे कृच्छ्रेण निहतो बली।
युद्धं सुमहदस्यासीन्मासान्परि चतुर्दश ॥ ८७ ॥

युवनाश्वके पुत्र मान्धाताके साथ इनका चौदह महीनोंतक बड़ा भारी युद्ध हुआ। उस समराङ्गणमें बलवान् अङ्गारसेतु शत्रुद्वारा बड़ी कठिनाईसे मारे गये ॥ ८७ ॥

अङ्गारस्य तु दायादो गान्धारो नाम भारत।
ख्यायते तस्य नाम्ना वै गान्धारविषयो महान् ॥ ८८ ॥

---

* देखिये महाभारत, द्रोणपर्व (५५ । ३७—४९) तथा आश्वमेधिकपर्व (अध्याय ६ से १० तक)।

गान्धारदेशजाश्चैव तुरगा वाजिनां वराः ।

भरतनन्दन ! अङ्गारके पुत्र गान्धार हुए । उन्हींके नामसे महान् गान्धारदेशकी ख्याति हुई । गान्धारदेशके घोड़े सब घोड़ोंसे श्रेष्ठ माने गये हैं ॥ ८८½ ॥

अनोस्तु पुत्रो धर्मोऽभूद् धृतस्तस्यात्मजोऽभवत् ॥ ८९ ॥
धृतात् तु दुदुहो जज्ञे प्रचेतास्तस्य चात्मजः ।
प्रचेतसः सुचेतास्तु कीर्तितो ह्यानवो मया ॥ ९० ॥

ययातिपुत्र अनुके पुत्र धर्म हुए और धर्मके पुत्र धृत, धृतसे दुदुहका जन्म हुआ । दुदुहके पुत्र प्रचेता और प्रचेताके पुत्र सुचेता हुए । इस प्रकार मैंने (संक्षेपसे) अनु-वंशका वर्णन किया है ॥ ८९-९० ॥

यदोर्वंशं प्रवक्ष्यामि ज्येष्ठस्योत्तमतेजसः ।
विस्तरेणानुपूर्व्याच्च गदतो मे निशामय ॥ ९१ ॥

अब मैं ययातिके ज्येष्ठ पुत्र उत्तम तेजस्वी यदुके वंशका क्रमशः विस्तारपूर्वक वर्णन करूँगा । तुम मेरे मुखसे इसको सुनो ॥ ९१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पूरुवंशका वर्णनविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

यदुवंशका वर्णन, कार्तवीर्यकी उत्पत्ति एवं चरित्र तथा पाँचों ययाति-पुत्रोंके वंश-वर्णनके श्रवणकी महिमा

वैशम्पायन उवाच

बभूवुस्तु यदोः पुत्राः पञ्च देवसुतोपमाः ।
सहस्रदः पयोदश्च क्रोष्टा नीलोऽञ्जिकस्तथा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यदुके पाँच देवोपम पुत्र हुए—सहस्रद, पयोद, क्रोष्टु, नील और अञ्जिक ॥ १ ॥

सहस्रदस्य दायादास्त्रयः परमधार्मिकाः ।
हैहयश्च हयश्चैव राजन् वेणुहयस्तथा ॥ २ ॥

राजन् ! सहस्रदके तीन परम धर्मात्मा पुत्र हुए—हैहय, हय और वेणुहय ॥ २ ॥

हैहयस्याभवत् पुत्रो धर्मनेत्र इति स्मृतः ।
धर्मनेत्रस्य कार्तस्तु साहञ्जस्तस्य चात्मजः ॥ ३ ॥

हैहयका पुत्र धर्मनेत्र हुआ । धर्मनेत्रके कार्त और कार्तके साहञ्ज नामक पुत्र हुए ॥ ३ ॥

साहञ्जनी नाम पुरी येन राज्ञा निवेशिता ।
साहञ्जस्य तु दायादो महिष्मान् नाम पार्थिवः ॥ ४ ॥
माहिष्मती नाम पुरी येन राज्ञा निवेशिता ।

राजा साहञ्जने साहञ्जनी नामक पुरी बसायी । साहञ्जके पुत्र राजा महिष्मान् हुए, जिन्होंने माहिष्मती नामक नगरी बसायी थी ॥ ४½ ॥

आसीन्महिष्मतः पुत्रो भद्रश्रेण्यः प्रतापवान् ॥ ५ ॥
वाराणस्यधिपो राजा कथितः पूर्वमेव तु ।

महिष्मान्के पुत्र प्रतापी भद्रश्रेण्य थे, जो वाराणसीपुरी-के अधिपति कहे गये हैं । राजा भद्रश्रेण्यका परिचय तुम्हें पहले ही दे दिया गया है ॥ ५½ ॥

भद्रश्रेण्यस्य पुत्रस्तु दुर्दमो नाम विश्रुतः ॥ ६ ॥
दुर्दमस्य सुतो धीमान् कनको नाम वीर्यवान् ।

भद्रश्रेण्यके पुत्रका नाम दुर्दम था, जो भूमण्डलके विख्यात राजा थे । दुर्दमके पुत्र कनक हुए, जो बुद्धिमान् और बलवान् थे ॥ ६½ ॥

कनकस्य तु दायादाश्चत्वारो लोकविश्रुताः ॥ ७ ॥
कृतवीर्यः कृतौजाश्च कृतवर्मा तथैव च ।
कृताग्निस्तु चतुर्थोऽभूत् कृतवीर्यात् तथार्जुनः ॥ ८ ॥

कनकके चार पुत्र हुए, जो सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात थे । उनके नाम इस प्रकार हैं—कृतवीर्य, कृतौजा, कृतवर्मा और कृताग्नि । कृताग्नि कनकके चौथे पुत्र थे । कृतवीर्यसे अर्जुन-की उत्पत्ति हुई ॥ ७-८ ॥

यस्तु बाहुसहस्रेण सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत् ।
जिगाय पृथिवीमेको रथेनादित्यवर्चसा ॥ ९ ॥

अर्जुन सहस्र भुजाओंसे युक्त हो सातों द्वीपोंका राजा हुआ । उसने अकेले ही सूर्यके समान तेजस्वी रथद्वारा सम्पूर्ण पृथ्वीको जीत लिया था ॥ ९ ॥

स हि वर्षायुतं तप्त्वा तपः परमदुश्चरम् ।
दत्तमाराधयामास कार्तवीर्योऽत्रिसम्भवम् ॥ १० ॥

कृतवीर्यकुमार अर्जुनने दस हजार वर्षोंतक अत्यन्त दुष्कर तपस्या करके अत्रिपुत्र दत्त (दत्तात्रेय) की आराधना की ॥ १० ॥

तस्मै दत्तो वरान् प्रादाच्चतुरो भूरितेजसः ।
पूर्वं बाहुसहस्रं तु प्रार्थितं सुमहद्वरम् ॥ ११ ॥

दत्तात्रेयजीने उसे परम तेजस्वी चार वर प्रदान किये ।

पहले तो उसने बहुत बड़ा वर यह माँगा था कि 'युद्धमें मेरी सहस्र भुजाएँ हो जायँ' ॥ ११ ॥

अधर्मे वर्तमानस्य सद्भिस्तत्र निवारणम्।
उग्रेण पृथिवीं जित्वा स्वधर्मेणानुरञ्जनम्॥ १२॥

दूसरा वर यह था कि 'यदि कभी मैं अधर्म-कार्यमें प्रवृत्त होऊँ तो वहाँ साधु पुरुष आकर मुझे रोक दें।' तीसरे वरके रूपमें उसने यह प्रार्थना की कि 'मैं युद्धके द्वारा पृथ्वीको जीतकर स्वधर्म-पालनके द्वारा प्रजाको प्रसन्न रक्खूँ' ॥१२॥

संग्रामान् सुबहून् कृत्वा हत्वा चारीन् सहस्रशः।
संग्रामे वर्तमानस्य वधं चाप्यधिकाद् रणे॥ १३॥

चौथा वर इस प्रकार है—'मैं बहुत-से संग्राम करके सहस्रों शत्रुओंको मौतके घाट उतारकर संग्राममें ही रहते समय जो युद्धमें मुझसे अधिक शक्तिशाली हो, उसके द्वारा वधको प्राप्त होऊँ' ॥ १३ ॥

तस्य बाहुसहस्रं तु युध्यतः किल भारत।
योगाद् योगेश्वरस्येव प्रादुर्भवति मायया॥ १४॥

भरतनन्दन! युद्ध करते समय किसी योगेश्वरकी भाँति योगबल और संकेतमात्रसे उसके एक सहस्र भुजाएँ प्रकट हो जाती थीं ॥ १४ ॥

तेनेयं पृथिवी सर्वा सप्तद्वीपा सपत्तना।
ससमुद्रा सनगरा उग्रेण विधिना जिता॥ १५॥

राजा अर्जुनने द्वीप, समुद्र, पत्तन और नगरोंसहित सारी पृथ्वीको उग्रकर्म (युद्ध) के द्वारा जीता था ॥ १५ ॥

तेन सप्तसु द्वीपेषु सप्त यज्ञशतानि वै।
प्राप्तानि विधिना राज्ञा श्रूयन्ते जनमेजय॥ १६॥

जनमेजय! उस राजाने सातों द्वीपोंमें विधिपूर्वक सात सौ यज्ञ किये थे, ऐसा सुना जाता है ॥ १६ ॥

सर्वे यज्ञा महाबाहोस्तस्यासन् भूरिदक्षिणाः।
सर्वे काञ्चनयूपाश्च सर्वे काञ्चनवेदयः॥ १७॥

महाबाहु अर्जुनके वे समस्त यज्ञ प्रचुर दक्षिणा देकर सम्पन्न किये गये थे। सबमें सोनेके यूप गड़े थे और सोनेकी ही वेदियाँ बनायी गयी थीं ॥ १७॥

सर्वैर्देवैर्महाराज विमानस्थैरलंकृताः।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च नित्यमेवोपशोभिताः॥ १८॥

महाराज! विमानोंपर बैठे हुए सम्पूर्ण देवता, गन्धर्व और अप्सराएँ सदा ही उन यज्ञोंको अलंकृत एवं सुशोभित करती थीं ॥ १८ ॥

यस्य यज्ञे जगौ गाथां गन्धर्वो नारदस्तथा।
वरीदासात्मजो विद्वान् महिम्ना तस्य विस्मितः॥ १९॥

कार्तवीर्यके यज्ञमें उसकी महिमासे चकित होकर वरीदासके विद्वान् पुत्र नारद नामक गन्धर्वने इस गाथाका गान किया था ॥ १९ ॥

नारद उवाच

न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः।
यज्ञैर्दानैस्तपोभिर्वा विक्रमेण श्रुतेन च॥ २०॥

नारद बोले—अन्य राजालोग यज्ञ, दान, तपस्या, पराक्रम और शास्त्रज्ञानमें कार्तवीर्य अर्जुनकी स्थितिको नहीं पहुँच सकते ॥ २० ॥

स हि सप्तसु द्वीपेषु खड्गी चर्मी शरासनी।
रथी द्वीपाननुचरन् योगी संदृश्यते नृभिः॥ २१॥

वह योगी था। इसलिये मनुष्योंको सातों द्वीपोंमें ढाल-तलवार, धनुष-बाण और रथ लिये सदा सब ओर विचरता दिखायी देता था ॥ २१ ॥

अनष्टद्रव्यता चैव न शोको न च विभ्रमः।
प्रभावेण महाराज्ञः प्रजा धर्मेण रक्षतः॥ २२॥

धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करनेवाले महाराज कार्तवीर्यके प्रभावसे किसीका धन नष्ट नहीं होता था। न तो किसीको शोक होता और न कोई भ्रममें ही पड़ता था ॥ २२ ॥

पञ्चाशीतिसहस्राणि वर्षाणां वै नराधिपः।
स सर्वरत्नभाक् सम्राट् चक्रवर्ती बभूव ह॥ २३॥

वह पचासी हजार वर्षोंतक सब प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न चक्रवर्ती सम्राट् रहा ॥ २३ ॥

स एव यज्ञपालोऽभूत् क्षेत्रपालः स एव च।
स एव वृष्ट्या पर्जन्यो योगित्वादर्जुनोऽभवत्॥ २४॥

योगी होनेके कारण राजा अर्जुन ही यज्ञों और खेतोंकी रक्षा करता था और वही वर्षाकालमें मेघ बन जाता था ॥ २४॥

स वै बाहुसहस्रेण ज्याघातकठिनत्वचा।
भाति रश्मिसहस्रेण शरदीव दिवाकरः॥ २५॥

जैसे शरद्-ऋतुमें भगवान् भास्कर अपनी सहस्रों किरणोंसे शोभा पाते हैं, उसी प्रकार राजा कार्तवीर्य अर्जुन प्रत्यञ्चाकी रगड़से जिनकी त्वचा कठोर हो गयी थी, उन सहस्रों भुजाओंसे सुशोभित होता था ॥ २५ ॥

स हि नागान् मनुष्येषु माहिष्मत्यां महाद्युतिः।
कर्कोटकसुताञ्जित्वा पुर्यां तस्यां न्यवेशयत्॥ २६॥

महातेजस्वी अर्जुनने कर्कोटकनागके पुत्रोंको जीतकर उन्हें अपनी नगरी माहिष्मती पुरीमें मनुष्योंके बीच बसाया था ॥ २६ ॥

स वै वेगं समुद्रस्य प्रावृट्कालेऽम्बुजेक्षणः।
क्रीडन्निव भुजोद्भिन्नं प्रतिस्रोतश्चकार ह॥ २७॥

कमलनयन कार्तवीर्य वर्षाकालमें जल-क्रीडा करते समय समुद्रकी जलराशिके वेगोंको अपनी भुजाओंके आघातसे रोककर पीछेकी ओर लौटा देता था ॥ २७ ॥

लुण्ठिता क्रीडिता तेन फेनस्रग्दाममालिनी ।
चलदूर्मिसहस्रेण शङ्किताभ्येति नर्मदा ॥ २८ ॥

फेनरूपी पुष्पहारोसे अलंकृत नर्मदाकी जलराशिमें जब वह लोटता और क्रीड़ा करता था, तब वह परपुरुषके उपभोगमें आयी हुई नारीके समान शङ्कित-सी होकर अपनी सहस्रों चञ्चल लहरोंके साथ अपने पति समुद्रके निकट जाती थी ॥ २८ ॥

तस्य बाहुसहस्रेण क्षुभ्यमाणे महोदधौ ।
भयान्निलीना निश्चेष्टाः पातालस्था महासुराः ॥ २९ ॥

महासागरमे घुसकर जब वह अपनी सहस्रों भुजाएँ पटकता, उस समय समुद्र विक्षुब्ध हो उठता था और पातालनिवासी महादैत्य निश्चेष्ट होकर भयसे छिप जाते थे ॥ २९ ॥

चूर्णीकृतमहावीचिं चलन्मीनमहातिमिम् ।
मारुताविद्धफेनौघमावर्तक्षोभदुःसहम् ॥ ३० ॥
प्रावर्तयत् तदा राजा सहस्रेण च बाहुना ।
देवासुरसमाक्षिप्तः क्षीरोदमिव मन्दरः ॥ ३१ ॥

जब राजा अर्जुन अपनी सहस्र भुजाओंसे समुद्रको मथने लगता, उस समय उसकी उठती हुई उत्ताल तरंगें चूर-चूर हो जाती थीं । बड़े-बड़े तिमि और मीन आदि जल-जन्तु छटपटाने लगते थे । भुजाओंके वेगसे उठी हुई वायुसे टकराकर उसकी फेनराशि छिन्न-भिन्न हो जाती थी और समुद्र बड़ी-बड़ी भँवरोंके कारण क्षुब्ध एवं दुःसह दिखायी देता था । देवताओं और असुरोंके द्वारा डाले हुए मन्दराचलने क्षीरसमुद्रकी जो दशा कर दी थी, वैसी ही दशा उसकी भुजाओंसे मथित हुए महासागरकी हो रही थी ॥ ३०-३१ ॥

मन्दरक्षोभचकिता अमृतोद्भवशङ्किताः ।
सहसोत्पतिता भीता भीमं दृष्ट्वा नृपोत्तमम् ॥ ३२ ॥
नता निश्चलमूर्धानो बभूवुस्ते महोरगाः ।
सायाह्ने कदलीखण्डाः कम्पितास्तस्य वायुना ॥ ३३ ॥

उस समय मन्दराचलके द्वारा समुद्रमन्थनकी आशङ्कासे चकित और अमृतकी उत्पत्तिसे भयभीत हुए बड़े-बड़े नाग सहसा उछलकर देखते और भयंकर नृपश्रेष्ठ कार्तवीर्यपर दृष्टि पड़ते ही मस्तक झुकाकर पत्थरके समान निश्चेष्ट हो जाते थे । जैसे संध्याके समय वायुके झोंकेसे कदलीखण्ड (केलोंके बगीचे) काँपने लगते हैं, उसी प्रकार उसके शरीरसे उठी हुई वायुके द्वारा वे नाग भी हिलने लगते थे ॥ ३२-३३ ॥

स वै बद्ध्वा धनुर्ज्याभिरुत्सिक्तं पञ्चभिः शरैः ।
लङ्केशं मोहयित्वा तु सबलं रावणं बलात् ।
निर्जित्यैव समानीय माहिष्मत्यां बबन्ध तम् ॥ ३४ ॥

राजा कार्तवीर्यने अभिमानसे भरे हुए लङ्कापति रावणको अपने पाँच ही बाणोंद्वारा सेनासहित मूर्छित एवं पराजित करके धनुषकी प्रत्यञ्चासे बाँध लिया और माहिष्मतीपुरीमे लाकर बंदी बना लिया ॥ ३४ ॥

श्रुत्वा तु बद्धं पौलस्त्यं रावणं त्वर्जुनेन तु ।
ततो गत्वा पुलस्त्यस्तमर्जुनं ददृशे स्वयम् ।
मुमोच रक्षः पौलस्त्यं पुलस्त्येनानुयाचितः ॥ ३५ ॥

अर्जुनने मेरे वंशज रावणको कैद कर लिया है, यह सुनकर महर्षि पुलस्त्य स्वयं वहाँ गये और अर्जुनसे मिले । पुलस्त्यके प्रार्थना करनेपर उसने उनके पौत्र राक्षस रावणको मुक्त कर दिया ॥ ३५ ॥

यस्य बाहुसहस्रस्य बभूव ज्यातलस्वनः ।
युगान्ते त्वम्बुदस्येव स्फुटतो ह्यशनेरिव ॥ ३६ ॥

अर्जुनकी हजार भुजाओंमे धारण किये गये धनुषोंकी प्रत्यञ्चाका ऐसा घोर शब्द होता था, मानो प्रलयकालके मेघ गरजते हों, अथवा वज्र फट पड़ा हो ॥ ३६ ॥

अहो बत मृधे वीर्यं भार्गवस्य यदच्छिनत् ।
राज्ञो बाहुसहस्रं तु हैमं तालवनं यथा ॥ ३७ ॥

अहो ! भृगुवंशी परशुरामजीका पराक्रम धन्य है, जिमसे उन्होंने युद्धमें सुवर्णमय तालवनके समान राजा कार्तवीर्यकी सहस्रों भुजाओंको काट डाला था ॥ ३७ ॥

तृषितेन कदाचित् स भिक्षितश्चित्रभानुना ।
स भिक्षामददाद् वीरः सप्तद्वीपान् विभावसोः ॥ ३८ ॥
पुराणि ग्रामघोषांश्च विषयांश्चैव सर्वशः ।
जज्वाल तस्य सर्वाणि चित्रभानुर्दिधक्षया ॥ ३९ ॥
स तस्य पुरुषेन्द्रस्य प्रभावेण महात्मनः ।
ददाह कार्तवीर्यस्य शैलांश्चैव वनानि च ॥ ४० ॥

एक दिनकी बात है—भूखे-प्यासे अग्निदेवने राजा कार्तवीर्यसे भिक्षा माँगी । तब उस वीर राजाने सातों द्वीप, नगर, गाँव, गोष्ठ तथा सारा राज्य अग्निदेवको भिक्षामें दे दिये । अग्निदेव सर्वत्र प्रज्वलित हो उठे और पुरुषप्रवर महात्मा कार्तवीर्यके प्रभावसे समस्त पर्वतों एवं वनोंको जलाने लगे ॥ ३८—४० ॥

स शून्यमाश्रमं रम्यं वरुणस्यात्मजस्य वै ।
ददाह वनवद् भीतश्चित्रभानुः सहैहयः ॥ ४१ ॥

कार्यवीर्यकी सहायतासे अग्निने दूसरे साधारण वनोंकी भाँति वरुणपुत्रके रमणीय आश्रमको भी सूना पाकर डरते-डरते जला दिया ॥ ४१ ॥

यं लेभे वरुणः पुत्रं पुरा भास्वन्तमुत्तमम् ।
वसिष्ठं नाम स मुनिः ख्यात आपव इत्युत ॥ ४२ ॥

पूर्वकालमें वरुणने जिन तेजस्वी एवं श्रेष्ठ महर्षिको पुत्ररूपमें प्राप्त किया था, उनका नाम वसिष्ठ है । वे ही मुनि आपव नामसे भी विख्यात हैं ॥ ४२ ॥

यत्रापवस्तु तं क्रोधाच्छप्तवानर्जुनं विभुः ।
यस्मान्न वर्जितमिदं वनं ते मम हैहय ॥ ४३ ॥
तस्मात् ते दुष्करं कर्म कृतमन्यो हनिष्यति ।

महर्षि वसिष्ठका सूना आश्रम जलाया गया था, इसलिये उन ऐश्वर्यशाली आपवने अर्जुनको क्रोधपूर्वक शाप दिया—'हैहय ! तूने मेरे इस वनको भी जलाये बिना न छोड़ा, इसलिये तेरे द्वारा जो विश्वविजय आदि यशोवर्द्धक दुष्कर कर्म किया गया है, उसे दूसरा वीर (तुझे पराजित करके) नष्ट कर डालेगा ॥ ४३½ ॥

रामो नाम महाबाहुर्जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥ ४४ ॥
छित्त्वा बाहुसहस्रं ते प्रमथ्य तरसा बली ।
तपस्वी ब्राह्मणश्च त्वां वधिष्यति स भार्गवः ॥ ४५ ॥

'जमदग्निके प्रतापी पुत्र महाबाहु परशुराम बलवान् और तपस्वी ब्राह्मण हैं । वे भृगुवंशी वीर तुझे बलपूर्वक मथ डालेंगे और तेरी इन सहस्र भुजाओंको काटकर तुझे भी मौतके घाट उतार देंगे' ॥ ४४-४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

अनष्टद्रव्यता यस्य बभूवामित्रकर्शन ।
प्रभावेण नरेन्द्रस्य प्रजा धर्मेण रक्षतः ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुसूदन जनमेजय ! धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजा कार्तवीर्यके प्रभावसे उसके राज्यमें किसीकी धन-सम्पत्ति या दूसरी कोई वस्तु नष्ट नहीं होती थी ॥ ४६ ॥

रामात् ततोऽस्य मृत्युर्वै तस्य शापान्मुनेर्नृप ।
वरश्चैव हि कौरव्य स्वयमेव वृतः पुरा ॥ ४७ ॥

कुरुवंशी नरेश ! वसिष्ठ मुनिके शापसे ही परशुरामके हाथसे उसकी मृत्यु हुई थी । उसने स्वयं ही पहले इसी तरहका वर माँगा था ॥ ४७ ॥

तस्य पुत्रशतस्यासन् पञ्च शेषा महात्मनः ।
कृतास्त्रा बलिनः शूरा धर्मात्मानो यशस्विनः ॥ ४८ ॥

महामना कार्तवीर्यके सौ पुत्र थे, किंतु उनमें पाँच ही शेष बचे । वे सभी अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता, बलवान्, शूर, धर्मात्मा और यशस्वी थे ॥ ४८ ॥

शूरसेनश्च शूरश्च धृष्टोक्तः कृष्ण एव च ।
जयध्वजश्च नाम्नाऽऽसीदावन्त्यो नृपतिर्महान् ॥ ४९ ॥

उनके नाम ये हैं—शूरसेन, शूर, धृष्ट, कृष्ण और जयध्वज । इनमें जयध्वज अवन्तीदेशके महाराज थे ॥ ४९ ॥

कार्तवीर्यस्य तनया वीर्यवन्तो महारथाः ।
जयध्वजस्य पुत्रस्तु तालजङ्घो महाबलः ॥ ५० ॥

कार्तवीर्यके ये सभी पुत्र बलवान् और महारथी थे । जयध्वजके पुत्र महाबली तालजङ्घ हुए ॥ ५० ॥

तस्य पुत्राः शतं ख्यातास्तालजङ्घा इति श्रुताः ।
तेषां कुले महाराज हैहयानां महात्मनाम् ॥ ५१ ॥
वीतिहोत्राः सुजाताश्च भोजाश्चावन्तयः स्मृताः ।
तौण्डिकेरा इति ख्यातास्तालजङ्घास्तथैव च ॥ ५२ ॥
भरताश्च सुता जाता बहुत्वान्नानुकीर्तिताः ।
वृषप्रभृतयो राजन् यादवाः पुण्यकर्मिणः ॥ ५३ ॥

तालजङ्घके सौ पुत्र थे, जो तालजङ्घ नामसे ही विख्यात थे । महाराज ! महामनस्वी हैहयोंके कुलमें वीतिहोत्र, सुजात, भोज, अवन्ति, तौण्डिकेर, तालजङ्घ तथा भरत आदि क्षत्रियोंके समुदाय उत्पन्न हुए । इनकी संख्या बहुत होनेके कारण इनके पृथक्-पृथक् नाम नहीं बताये गये । राजन् ! वृष आदि बहुत-से पुण्यात्मा यादव इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुए थे ॥ ५१—५३ ॥

वृषो वंशधरस्तत्र तस्य पुत्रोऽभवन्मधुः ।
मधोः पुत्रशतं त्वासीद् वृषणस्तस्य वंशभाक् ॥ ५४ ॥

उनमें वृष वंशप्रवर्तक हुए । वृषके पुत्र मधु थे । मधुके सौ पुत्र हुए, जिनमें वृषण वंश चलानेवाले हुए ॥ ५४ ॥

वृषणाद् वृष्णयः सर्वे मधोस्तु माधवाः स्मृताः ।
यादवा यदुना चाग्रे निरुच्यन्ते च हैहयाः ॥ ५५ ॥

वृषणसे जो संतान-परम्परा चली, उसके अन्तर्गत सभी क्षत्रिय वृष्णि कहलाये और मधुके वंशज माधव नामसे प्रसिद्ध हुए । इसी प्रकार यदुके नामपर उस वंशके लोग यादव कहलाते हैं तथा आगे होनेवाले हैहयके वंशज हैहय कहे जाते हैं ॥ ५५ ॥

न तस्य वित्तनाशोऽस्ति नष्टं प्रतिलभेच्च सः ।
कार्तवीर्यस्य यो जन्म कीर्तयेदिह नित्यशः ॥ ५६ ॥

जो यहाँ प्रतिदिन कार्तवीर्य अर्जुनके जन्मका वृत्तान्त कहता या सुनता है, उसके धनका नाश नहीं होता और उसकी खोयी हुई वस्तु भी उसे मिल जाती है ॥ ५६ ॥

एते ययातिपुत्राणां पञ्च वंशा विशाम्पते ।
कीर्तिता लोकवीराणां ये लोकान् धारयन्ति वै ॥ ५७ ॥
भूतानीव महाराज पञ्च स्थावरजङ्गमान् ।

प्रजानाथ ! इस प्रकार ये विश्वविख्यात वीर ययातिपुत्रोंके पाँच वंश यहाँ बतलाये गये हैं । महाराज ! जैसे पाँचों भूत स्थावर, जङ्गम प्राणियोंके शरीरोंको धारण करते हैं, उसी प्रकार ये पाँचों वंश समस्त लोकोंको धारण करते हैं ॥५७½॥

श्रुत्वा पञ्चविसर्गं तु राजा धर्मार्थकोविदः ॥ ५८ ॥
वशी भवति पञ्चानामात्मजानां तथेश्वरः ।

इन पाँचों वंशोंकी सृष्टिका वर्णन सुनकर राजा धर्म और

अर्थके तत्त्वका ज्ञाता होता है, अपनी पाँचो इन्द्रियोंको वशमें रखता है तथा अपने पुत्रोंपर प्रभुत्व स्थापित कर लेता है ॥

लभेत् पञ्च वरांश्चैव दुर्लभानिह लौकिकान् ॥ ५९ ॥
आयुः कीर्तिं तथा पुत्रानैश्वर्यं भूमिमेव च ।
धारणाच्छ्रवणाच्चैव पञ्चवर्गस्य भारत ॥ ६० ॥

भरतनन्दन ! इन पाँचों वंशोंके श्रवण और धारणसे मनुष्य इस जगत्मे आयु, कीर्ति, पुत्र, ऐश्वर्य तथा भूमि— इन पाँच लोकोपयोगी दुर्लभ वरोंको प्राप्त कर लेता है ॥

क्रोष्टोस्तु शृणु राजेन्द्र वंशमुत्तमपौरुषम् ।
यदोर्वंशधरस्याथ यज्वनः पुण्यकर्मणः ॥ ६१ ॥
क्रोष्टोर्हि वंशं श्रुत्वेमं सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
यस्यान्ववायजो विष्णुर्हरिर्वृष्णिकुलोद्वहः ॥ ६२ ॥

राजेन्द्र ! अब तुम उत्तम पुरुषार्थसे युक्त क्रोष्टुवंशका वर्णन सुनो । राजा क्रोष्टु यदुके वंशधर, यज्ञ करनेवाले तथा पुण्यकर्मा थे । उनके इस वंशका वर्णन सुनकर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । राजा क्रोष्टु वे ही हैं, जिनके कुलमें सर्वव्यापी भगवान् श्रीहरिने वृष्णिवंशावतंस श्रीकृष्णके रूपमें अवतार लिया था ॥ ६१-६२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥



चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

वृष्णिवंशका वर्णन—अक्रूर, वसुदेव, कुन्ती, सात्यकि, उद्धव, चारुदेष्ण, एकलव्य आदिका परिचय

वैशम्पायन उवाच

गान्धारी चैव माद्री च क्रोष्टोर्भार्ये बभूवतुः ।
गान्धारी जनयामास अनमित्रं महाबलम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! क्रोष्टाकी गान्धारी और माद्री नामकी दो भार्याएँ थीं । गान्धारीके गर्भसे महाबली अनमित्र उत्पन्न हुए ॥ १ ॥

माद्री युधाजितं पुत्रं ततोऽन्यं देवमीढुषम् ।
तेषां वंशस्त्रिधा भूतो वृष्णीनां कुलवर्धनः ॥ २ ॥

माद्रीके पुत्र युधाजित् और दूसरे पुत्र देवमीढुष हुए, वृष्णियोंके कुलको बढ़ानेवाला उनका वंश तीन शाखाओंमें बँट गया ॥ २ ॥

माद्र्याः पुत्रस्य जज्ञाते सुतौ वृष्ण्यन्धकावुभौ ।
जज्ञाते तनयौ वृष्णेः श्वफल्कश्चित्रकस्तथा ॥ ३ ॥

माद्रीके पुत्र (युधाजित्) के वृष्णि और अन्धक नामके दो पुत्र हुए और वृष्णिके पुत्र श्वफल्क तथा चित्रक हुए ॥ ३ ॥

श्वफल्कस्तु महाराज धर्मात्मा यत्र वर्तते ।
नास्ति व्याधिभयं तत्र नावर्षभयमप्युत ॥ ४ ॥

महाराज ! धर्मात्मा श्वफल्क जहाँ रहते थे, वहाँ व्याधि और अनावृष्टिका भय नहीं होता था ॥ ४ ॥

कदाचित् काशिराजस्य विभोर्भरतसत्तम ।
त्रीणि वर्षाणि विषये नावर्षत् पाकशासनः ॥ ५ ॥

भरतसत्तम ! एक समय शक्तिशाली काशिराजके देशमें इन्द्रने तीन वर्षतक पानी नहीं बरसाया ॥ ५ ॥

स तत्र वासयामास श्वफल्कं परमार्चितम् ।
श्वफल्कपरिवर्ते च ववर्ष हरिवाहनः ॥ ६ ॥

तब उन्होंने परम पूज्य श्वफल्कको बुलाकर अपने यहाँ ठहराया और श्वफल्कके पधारते ही इन्द्रने जल बरसाना आरम्भ कर दिया ॥ ६ ॥

श्वफल्कः काशिराजस्य सुतां भार्यामविन्दत ।
गान्दिनीं नाम सा गां तु ददौ विप्रेषु नित्यशः ॥ ७ ॥

श्वफल्कका काशिराजकी गान्दिनी नामवाली पुत्रीसे विवाह हो गया । वह ब्राह्मणोंको नित्यप्रति गौओंका दान देती रहती थी (इसीलिये उसका नाम गान्दिनी पड़ा था) ॥ ७ ॥

सा मातुरुदरस्था तु बहून् वर्षगणान् किल ।
निवसन्ती न वै जज्ञे गर्भस्थां तां पिताब्रवीत् ॥ ८ ॥

वह अपनी माताके उदरमें बहुत वर्षोंतक रही थी और उत्पन्न नहीं होती थी, तब गर्भमें स्थित कन्यासे उसके पिताने कहा—॥ ८ ॥

जायस्व शीघ्रं भद्रं ते किमर्थमिह तिष्ठसि।
प्रोवाच चैनं गर्भस्था कन्या गां च दिने दिने ॥ ९ ॥
यदि दद्यां ततोऽद्याहं जाययिष्यामि तां पिता।
तथेत्युवाच तं चास्याः पिता काममपूरयत् ॥ १० ॥

'(भद्रे !) तेरा कल्याण हो, तू शीघ्र ही उत्पन्न हो, तू (इतने वर्षोंसे) किस लिये गर्भमें पड़ी हुई है।' तब उस गर्भमें स्थित कन्याने कहा—'यदि आप प्रतिदिन मुझसे गो-दान करानेका संकल्प करें तो मैं आज ही उत्पन्न हो जाऊँ।' तब पिताने उससे 'तथास्तु' कहकर उसकी कामनाको पूर्ण किया ॥ ९-१० ॥

दाता यज्वा च धीरश्च श्रुतवानतिथिप्रियः।
अक्रूरः सुषुवे तस्माच्छ्वफल्काद् भूरिदक्षिणः ॥ ११ ॥

इन श्वफल्क (और गान्दिनी) के यहाँ दान देनेवाले, यज्ञ करनेवाले, धैर्यवान्, शास्त्रोंके ज्ञाता, अतिथियोंसे प्रेम करनेवाले तथा प्रचुर दक्षिणाएँ देनेवाले अक्रूर उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥

उपासङ्गस्तथा मद्गुर्मृदुरश्चारिमेजयः।
अविक्षिपस्तथोपेक्षः शत्रुघ्नोऽथारिमर्दनः ॥ १२ ॥
धर्मधृग् यतिधर्मा च गृध्रो भोजोऽन्धकस्तथा।
आवाहप्रतिवाहौ च सुन्दरी च वराङ्गना ॥ १३ ॥

तथा उपासङ्ग, मद्गु, मृदुर, अरिमेजय, अविक्षिप, उपेक्ष, शत्रुघ्न, अरिमर्दन, धर्मधृक्, यतिधर्मा, गृध्र, भोज, अन्धक, आवाह और प्रतिवाह (नामक अक्रूरजीके भाई) तथा वराङ्गना नामकी सुन्दरी कन्या (भी)उत्पन्न हुई॥१२-१३॥

अक्रूरेणोग्रसेनायां सुगात्र्यां कुरुनन्दन।
प्रसेनश्चोपदेवश्च जज्ञाते देववर्चसौ ॥ १४ ॥

कुरुनन्दन ! इन अक्रूरजीसे सुन्दराङ्गी उग्रसेनाके द्वारा देवताओंके समान कान्तिवाले प्रसेन तथा उपदेव नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १४ ॥

चित्रकस्याभवन् पुत्राः पृथुर्विपृथुरेव च।
अश्वग्रीवोऽश्वबाहुश्च सुपार्श्वकगवेषणौ ॥ १५ ॥
अरिष्टनेमिरश्वश्च सुधर्मा धर्मभृत् तथा।
सुबाहुर्बहुबाहुश्च श्रविष्ठाश्रवणे स्त्रियौ ॥ १६ ॥

(अक्रूरजीके भाई) चित्रकके श्रविष्ठा और श्रवणा नामकी दो धर्मपत्नियाँ थीं, जिनसे पृथु, विपृथु, अश्वग्रीव, अश्व-बाहु, सुपार्श्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा, धर्मभृत्, सुबाहु तथा बहुबाहु नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १५-१६ ॥

अश्मक्यां जनयामास शूरं वै देवमीढुषः।
महिष्यां जज्ञिरे शूराद् भोज्यायां पुरुषा दश ॥ १७ ॥

(क्रोष्टाके तृतीय पुत्र) देवमीढुषके अश्मकी नामकी पत्नीसे शूर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। शूरके भोजराजकुमारी-से दस पुत्र उत्पन्न हुए॥ १७ ॥

वसुदेवो महाबाहुः पूर्वमानकदुन्दुभिः।
जज्ञे यस्य प्रसूतस्य दुन्दुभ्यः प्राणदन् दिवि ॥ १८ ॥

पहले महाबाहु वसुदेवजी उपनाम आनकदुन्दुभि उत्पन्न हुए, इनके उत्पन्न होनेपर स्वर्गमें—आकाशमें दुन्दुभियाँ बजी थीं॥ १८ ॥

आनकानां च संह्रादः सुमहानभवद् दिवि।
पपात पुष्पवर्षं च शूरस्य भवने महत् ॥ १९ ॥

तथा स्वर्गमें—आकाशमें नगारोंका बड़ा भारी शब्द हुआ था। (इसीसे वसुदेवजीका नाम आनकदुन्दुभि पड़ा।) साथ ही इनके उत्पन्न होनेपर शूरके घरमें पुष्पोंकी बड़ी भारी वर्षा हुई थी ॥ १९ ॥

मनुष्यलोके कृत्स्नेऽपि रूपे नास्ति समो भुवि।
यस्यासीत् पुरुषाग्र्यस्य कान्तिश्चन्द्रमसो यथा ॥ २० ॥

पुरुषोंमें अग्रगण्य वसुदेवजीकी कान्ति चन्द्रमाके समान थी, इनके समान रूपवान् सम्पूर्ण मनुष्यलोकमें और कोई नहीं था ॥ २० ॥

देवभागस्ततो जज्ञे तथा देवश्रवाः पुनः।
अनाधृष्टिः कनवको वत्सावानथ गृञ्जिमः ॥ २१ ॥
श्यामः शमीको गण्डूषः पञ्च चास्य वराङ्गनाः।
पृथुकीर्तिः पृथा चैव श्रुतदेवा श्रुतश्रवाः ॥ २२ ॥
राजाधिदेवी च तथा पञ्चैता वीरमातरः।
पृथां दुहितरं वव्रे कुन्तिस्तां कुरुनन्दन ॥ २३ ॥
शूरः पूज्याय वृद्धाय कुन्तिभोजाय तां ददौ।
तस्मात् कुन्तीति विख्याता कुन्तिभोजात्मजा पृथा ।२४।

कुरुनन्दन ! वसुदेवजीके बाद (शूरके यहाँ) देवभाग, देवश्रवा, अनाधृष्टि, कनवक, वत्सावान्, गृञ्जिम, श्याम, शमीक और गण्डूष नामक पुत्र तथा पृथुकीर्ति, पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी नामकी पाँच कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं, जो रमणियोंमें रत्नके समान थीं। ये पाँचों कन्याएँ वीर पुत्रोंकी माता थीं। राजा कुन्तिने पृथाको अपनी पुत्री

बनानेके लिये माँग लिया। (इसपर) शूरसेनने पृथाको पूज्य तथा वृद्ध राजा कुन्तिभोजको दे दिया। इस कारण पृथा कुन्तिभोजकी पुत्री और कुन्ती नामसे विख्यात हुई २१–२४

अन्त्यस्य श्रुतदेवायां जगृहुः सुषुवे सुतः।
श्रुतश्रवायां चैद्यस्य शिशुपालो महाबलः ॥ २५ ॥
हिरण्यकशिपुर्योऽसौ दैत्यराजोऽभवत् पुरा।

अन्त्यके श्रुतदेवासे जगृहु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ तथा चेदिवंशी दमघोषके श्रुतश्रवासे महाबली शिशुपाल उत्पन्न हुआ, यह पहले जन्ममें दैत्यराज हिरण्यकशिपु था ॥ २५½ ॥

पृथुकीर्त्यां तु तनयः संजज्ञे वृद्धशर्मणः ॥ २६ ॥
करूषाधिपतिर्वीरो दन्तवक्त्रो महाबलः।

वृद्धशर्मासे पृथुकीर्तिके करूष देशका स्वामी महाबली वीर दन्तवक्त्र उत्पन्न हुआ ॥ २६½ ॥

पृथां दुहितरं चक्रे कुन्तिस्तां पाण्डुरावहत् ॥ २७ ॥
यस्यां स धर्मविद् राजा धर्माज्जज्ञे युधिष्ठिरः।
भीमसेनस्तथा वाताविन्द्राच्चैव धनंजयः ॥ २८ ॥
लोकेऽप्रतिरथो वीरः शक्रतुल्यपराक्रमः।

कुन्तिभोजने जिन पृथाको अपनी पुत्री बना लिया था, उनका विवाह पाण्डुके साथ हुआ। उन पृथाके धर्मके जाननेवाले राजा युधिष्ठिर धर्मसे उत्पन्न हुए और वायुसे भीमसेन तथा इन्द्रसे संसारके अनुपम वीर, इन्द्रके समान पराक्रमी धनंजय (अर्जुन) उत्पन्न हुए ॥ २७-२८½ ॥

अनमित्राच्छिनिर्जज्ञे कनिष्ठाद् वृष्णिनन्दनात् ॥ २९ ॥
शैनेयः सत्यकस्तस्माद् युयुधानश्च सात्यकिः।
असङ्गो युयुधानस्य भूमिस्तस्याभवत् सुतः ॥ ३० ॥
भूमेर्युगधरः पुत्र इति वंशः समाप्यते।

क्रोष्टाके सबसे छोटे पुत्र, सकल वृष्णिवंशियोंको प्रसन्न करनेवाले अनमित्रसे शिनि उत्पन्न हुए, उनसे शैनेय उपनाम सत्यक हुए और उनसे युयुधान उपनामवाले सात्यकि हुए। युयुधानके पुत्र असङ्ग हुए और असङ्गके पुत्र भूमि हुए। भूमिके पुत्र युगधर हुए। यहाँपर क्रोष्टाका वंश समाप्त होता है ॥ २९-३०½ ॥

उद्धवो देवभागस्य महाभागः सुतोऽभवत् ।
पण्डितानां परं प्राहुर्देवश्रवसमुद्धवम् ॥ ३१ ॥

(वसुदेवजीके भ्राता) देवभागके उद्धव नामक महाभाग्यवान् पुत्र उत्पन्न हुए। ये उद्धव देवताओंके समान कीर्तिवाले एवं परम पण्डितके रूपमें प्रसिद्ध हुए ॥ ३१ ॥

अश्मक्यां प्राप्तवान् पुत्रमनाधृष्टिर्यशस्विनम् ।
निवृत्तशत्रुं शत्रुघ्नं देवश्रवा ह्यजायत ॥ ३२ ॥

(वसुदेवजीके तीसरे भाई)अनाधृष्टिने अश्मकीसे यशस्वी नामक पुत्रको उत्पन्न किया तथा दूसरे भाई देवश्रवाने शत्रुओं-को हटानेवाले शत्रुघ्न नामक पुत्रको उत्पन्न किया॥३२॥

देवश्रवाः प्रजातस्तु नैषादिर्यः प्रतिश्रुतः।
एकलव्यो महाराज निषादैः परिवर्धितः ॥ ३३ ॥

महाराज ! (किसी कारणवश बालकपनमें ही त्याग दिये जानेके कारण) इस देवश्रवाके पुत्रको निषादोंने पालकर बड़ा किया था, इसलिये यह निषादवंशी एकलव्यके नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ३३ ॥

वत्सावते त्वपुत्राय वसुदेवः प्रतापवान्।
अद्भिर्ददौ सुतं वीरं शौरिः कौशिकमौरसम् ॥ ३४ ॥

शूरनन्दन प्रतापी वसुदेवजीने (अपने छोटे भाई) पुत्रहीन वत्सावान्को अपना औरस पुत्र कौशिक जलसे संकल्प करके दे दिया ॥ ३४ ॥

गण्डूषाय त्वपुत्राय विष्वक्सेनो ददौ सुतान् ।
चारुदेष्णं सुचारुं च पञ्चालं कृतलक्षणम् ॥ ३५ ॥

(इसी प्रकार) श्रीकृष्णने (वसुदेवजीके दूसरे छोटे भाई) अपुत्र गण्डूषको चारुदेष्ण, सुचारु, पञ्चाल और कृतलक्षण नामके अपने चार पुत्र दे दिये ॥ ३५ ॥

असंग्रामेण यो वीरो नावर्तत कदाचन।
रौक्मिणेयो महाबाहुः कनीयान् पुरुषर्षभ ॥ ३६ ॥

पुरुषर्षभ ! रुक्मिणीके छोटे पुत्र महाभुज चारुदेष्ण युद्ध किये बिना (रणभूमिसे) कभी नहीं लौटते थे ॥ ३६ ॥

वायसानां सहस्राणि यं यान्तं पृष्ठतोऽन्वयुः।
चारुमांसानि भोक्ष्यामश्चारुदेष्णहतानि तु ॥ ३७ ॥

उनके पीछे हजारों कौए इस इच्छासे जाते थे कि इनके द्वारा मारे गये शत्रुओंका चारु (स्वादिष्ट) मांस हम खायेंगे,(इस प्रकार कौओंको)चारु (स्वादिष्ट) भोजन देने-वाले होनेसे ये चारुदेष्ण कहलाये ॥ ३७ ॥

तन्त्रिजस्तन्त्रिपालश्च सुतौ कनवकस्य तु।
वीरश्चाश्वहनश्चैव वीरौ तावय गृञ्जिमौ ॥ ३८ ॥

(वसुदेवजीके भाई) कनवकके तन्द्रिज और तन्द्रिपाल नामक दो पुत्र हुए तथा गृध्निमके वीर और अश्वहन नामक दो वीर पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ३८ ॥

श्यामपुत्रः शमीकस्तु शमीको राज्यमावहत् ।
जुगुप्समानो भोजत्वाद् राजसूयमवाप सः ।
अजातशत्रुः शत्रूणां जज्ञे तस्य विनाशनः ॥ ३९ ॥

(वसुदेवजीके भाई श्याम अपने छोटे भाई शमीकको अपने पुत्रके समान मानते थे । इस कारण) श्यामके पुत्र शमीक हुए । इन शमीकने राज्य किया था, उन्होंने भोज होनेके कारण (अर्थात् भोजवंशी एक वंशके और एक देशके ही राजा हैं-यह) निन्दा मानकर उन्होंने राजसूय (साम्राज्य) पाया था । शमीकके शत्रुनाशक अजातशत्रु नामक पुत्र हुआ ॥ ३९ ॥

वसुदेवसुतान् वीरान् कीर्तयिष्यामि ताञ्छृणु ॥ ४० ॥

अब मैं वसुदेवजीके वीर पुत्रोंका वर्णन करता हूँ, उसको आप सुनिये ॥ ४० ॥

वृष्णेस्त्रिविधमेतत् तु बहुशाखं महौजसम् ।
धारयन् विपुलं वंशं नानर्थैरिह युज्यते ॥ ४१ ॥

जो मनुष्य वृष्णिके बहुत-सी शाखाओंवाले, महापराक्रमी पुरुषोंसे सुशोभित इस तीन प्रकारके बड़े विशाल वंशके वृत्तान्तको मनमें धारण करता है, वह इस संसारके अनर्थोंसे मुक्त रहता है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि वृष्णिवंशकीर्तनं नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें वृष्णिवंशका कीर्तनविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३४॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अवतार लेना, श्रीकृष्णके अन्य भाई-बहिनों और कुटुम्बियोंका वर्णन तथा कालयवनकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

याः पत्न्यो वसुदेवस्य चतुर्दश वराङ्गनाः ।
पौरवी रोहिणी नाम इन्दिरा च तथा वरा ॥ १ ॥
वैशाखी च तथा भद्रा सुनाम्नी चैव पञ्चमी ।
सहदेवा शान्तिदेवा श्रीदेवा देवरक्षिता ॥ २ ॥
वृकदेव्युपदेवी च देवकी चैव सप्तमी ।
सुतनुर्वडवा चैव द्वे एते परिचारिके ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वसुदेवजीकी जो चौदह सुन्दराङ्गी पत्नियाँ थीं, उनमें रोहिणी और रोहिणीसे छोटी इन्दिरा, वैशाखी, भद्रा तथा पाँचवीं सुनाम्नी—ये पाँच पौरव-वंशकी थीं तथा सहदेवा, शान्तिदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, वृकदेवी, उपदेवी और सातवीं देवकी—ये सात देवककी पुत्रियाँ थीं तथा सुतनु और वडवा—ये दो उनकी परिचर्या करनेवाली स्त्रियाँ थीं ॥ १–३ ॥

पौरवी रोहिणी नाम बाह्लिकस्यात्मजाभवत् ।
ज्येष्ठा पत्नी महाराज दयिताऽऽनकदुन्दुभेः ॥ ४ ॥

महाराज ! पौरव-वंशकी कुमारी रोहिणी (महाराज शन्तनुके बड़े भाई) बाह्लिककी पुत्री थीं, वे वसुदेवजीकी प्रियतमा बड़ी पत्नी थीं ॥ ४ ॥

लेभे ज्येष्ठं सुतं रामं सारणं शठमेव च ।
दुर्दमं दमनं श्वभ्रं पिण्डारकमुशीनरम् ॥ ५ ॥
चित्रां नाम कुमारीं च रोहिणीतनया दश ।
चित्रा सुभद्रेति पुनर्विख्याता कुरुनन्दन ॥ ६ ॥

कुरुनन्दन ! रोहिणीके ज्येष्ठ पुत्र बलराम और (उनसे छोटे) सारण, शठ, दुर्दम, दमन, श्वभ्र, पिण्डारक और उशीनर हुए तथा चित्रा नामकी पुत्री उत्पन्न हुई । (यह चित्रा एक अप्सरा थी, जो रोहिणीके गर्भसे उत्पन्न होते ही मर गयी थी । इसने मरते समय अपनेको धिक्कारा था कि मैं यादवकुलमें जन्म धारण करके भी यदुवंशमें उत्पन्न होनेवाले भगवान्‌की लीलाको न देख सकी । इस वासनाके कारण) यह चित्रा ही दूसरी बार सुभद्रा बनकर उत्पन्न हुई थी । इस प्रकार रोहिणीके दस संतानें उत्पन्न हुईं ॥ ५-६ ॥

वसुदेवाच्च देवक्यां जज्ञे शौरिर्महायशाः ।
रामाच्च निशठो जज्ञे रेवत्यां दयितः सुतः ॥ ७ ॥

वसुदेवसे देवकीमें महायशस्वी श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए और बलरामजीसे रेवतीके द्वारा उनके प्रिय पुत्र निशठ उत्पन्न हुए ॥

सुभद्रायां रथी पार्थादभिमन्युरजायत ।
अक्रूरात् काशिकन्यायां सत्यकेतुरजायत ॥ ८ ॥

अर्जुनसे सुभद्रामें रथी अभिमन्यु उत्पन्न हुए और अक्रूरसे काशिराजकुमारीमें सत्यकेतु उत्पन्न हुए ॥ ८ ॥

वसुदेवस्य भार्यासु महाभागासु सप्तसु ।
ये पुत्रा जज्ञिरे शूरा नामतस्तान् निबोध मे ॥ ९ ॥

वसुदेवजीकी सात महाभाग्यवती पत्नियोंमें जो शूरवीर पुत्र उत्पन्न हुए, उनके नाम मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये ॥ ९ ॥

भोजश्च विजयश्चैव शान्तिदेवासुतावुभौ ।
वृकदेवः सुनामायां गदश्चास्तां सुतावुभौ ॥ १० ॥

भोज और विजय—ये दो शान्तिदेवाके पुत्र थे तथा वृकदेव और गद—ये दो सुनाम्नीके पुत्र थे ॥ १० ॥

उपासङ्गवरं लेभे तनयं देवरक्षिता ।
अगावहं महात्मानं वृकदेवी व्यजायत ॥ ११ ॥

देवरक्षिताके पुत्र उपासङ्गवर हुए और वृकदेवीके पुत्र महात्मा अगावह हुए ॥ ११ ॥

कन्या त्रिगर्तराजस्य भर्ता वै शैशिरायणः ।
जिज्ञासां पौरुषे चक्रे न चस्कन्देऽथ पौरुषम् ॥ १२ ॥

वृकदेवी त्रिगर्तराजकी कन्या थीं । त्रिगर्तराजका भर्ता (पुरोहित) गर्गगोत्री शैशिरायण था । उसके सालेने, जो यादवोंका पुरोहित था, यह जानना चाहा कि इसमें पुंस्त्व है अथवा नहीं, परंतु (व्रतधारी होनेसे) उसका वीर्य स्खलित नहीं हुआ (इसपर उसके सालेने हास्यवश उसको मिथ्या ही नपुंसक घोषित कर दिया) ॥ १२ ॥

कृष्णायससमप्रख्यो वर्षे द्वादशमे तथा ।
मिथ्याभिशप्तो गार्ग्यस्तु मन्युनाभिसमीरितः ॥ १३ ॥

बारह वर्षका नियम पूर्ण होनेपर मिथ्या ही नपुंसकताका दोष लगाये जानेके कारण गर्गगोत्री शैशिरायण क्रोधमें भर गये, इससे उनके शरीरका वर्ण लोहेके समान काला दीखने लगा ॥ १३ ॥

गोपकन्यामुपादाय मैथुनायोपचक्रमे ।
गोपाली त्वप्सरास्तस्य गोपस्त्रीवेषधारिणी ॥ १४ ॥

उन्होंने एक गोपकन्याके साथ सहवास किया । वह स्त्री गोप-स्त्रीका वेश धारण करनेवाली गोपाली नामकी अप्सरा थी ॥

धारयामास गार्ग्यस्य गर्भं दुर्धरमच्युतम् ।
मानुष्यां गार्ग्यभार्यायां नियोगाच्छूलपाणिनः ॥ १५ ॥

स कालयवनो नाम जज्ञे राजा महाबलः ।
वृषपूर्वार्धकायास्तमवहन् वाजिनो रणे ॥ १६ ॥

उसने गार्ग्य शैशिरायणके अच्युत और दुर्धर वीर्यको धारण कर लिया । उस मनुष्यका वेश धारण करनेवाली गार्ग्यकी भार्यासे शिवजीकी आज्ञासे कालयवन नामक प्रसिद्ध महाबली राजा उत्पन्न हुआ था, बैलोंके समान आधे शरीरवाले घोड़े युद्धमें उसके वाहन बनते थे ॥ १५-१६ ॥

अपुत्रस्य स राज्ञस्तु ववृधेऽन्तःपुरे शिशुः ।
यवनस्य महाराज स कालयवनोऽभवत् ॥ १७ ॥

महाराज ! एक यवन राजा संतानहीन था, उसके अन्तःपुरमें वह बालक पलने लगा । इस प्रकार वह कालयवनके नामसे प्रसिद्ध* हुआ ॥ १७ ॥

स युद्धकामी नृपतिः पर्यपृच्छद् द्विजोत्तमान् ।
वृष्ण्यन्धककुलं तस्य नारदोऽकथयद् विभुः ॥ १८ ॥

वह राजा युद्ध करनेकी इच्छासे प्रेरित हो ब्राह्मणोंसे (अपने समान योद्धाओंको) पूछने लगा । सब जगह पहुँचनेवाले नारदजीने उसे वृष्णि और अन्धककुलके वीरोंको उसके समान योद्धा बताया ॥ १८ ॥

अक्षौहिण्या तु सैन्यस्य मथुरामभ्ययात् तदा ।
दूतं सम्प्रेषयामास वृष्ण्यन्धकनिवेशनम् ॥ १९ ॥

तब वह एक अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरापुरीपर चढ़ आया । उसने वृष्णि और अन्धकोंके भवनमें दूतको भेजा ॥

ततो वृष्ण्यन्धकाः कृष्णं पुरस्कृत्य महामतिम् ।
समेता मन्त्रयामासुर्यवनस्य भयात् तदा ॥ २० ॥

तब कालयवनके डरसे वृष्णि और अन्धकोंने महामति श्रीकृष्णके सभापतित्वमें इकट्ठे होकर मन्त्रणा की ॥ २० ॥

कृत्वा च निश्चयं सर्वे पलायनपरायणाः ।
विहाय मथुरां रम्यां मानयन्तः पिनाकिनम् ॥ २१ ॥
कुशस्थलीं द्वारवतीं निवेशयितुमीप्सवः ।

तब वे सब निश्चय करके शिवजीकी मनौती मानते हुए कुशस्थली द्वारकाको बसानेकी इच्छासे रमणीय मथुरापुरीको त्यागकर भाग खड़े हुए ॥ २१½ ॥

---

* इससे सिद्ध होता है कि गोपाली अप्सरा [illegible] भाँति कर छोड़ गयी थी ।

इति कृष्णस्य जन्मेदं यः शुचिर्नियतेन्द्रियः।
पर्वसु श्रावयेद् विद्वाननृणः स सुखी भवेत् ॥ २२ ॥

जो विद्वान् पुरुष इन्द्रियोंको वशमें करके पवित्र होकर श्रीकृष्णके जन्मकी इस कथाको पर्वके समय सुनाता है, उसका ऋण चुक जाता है और उसको परम सुखकी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि श्रीकृष्णजन्मानुकीर्तनं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें श्रीकृष्णजन्मकीर्तनविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

क्रोष्टाके वंशका वर्णन, पुरोहितके गोत्रसे क्षत्रियोंके गोत्रका बदल जाना

वैशम्पायन उवाच

क्रोष्टोरेवाभवत् पुत्रो वृजिनीवान् महायशाः।
वृजिनीवत्सुतश्चापि स्वाहिः स्वाहाकृतां वरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! (यदुके पुत्र) क्रोष्टाके ही एक वृजिनीवान् नामक महायशस्वी पुत्र हुए; वृजिनीवान्के पुत्र स्वाहि हुए, वे स्वाहा अर्थात् होम करनेवालोंमें श्रेष्ठ थे (जिस प्रकार क्रोष्टाके वंशमें श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए, उसी प्रकार क्रोष्टाके वंशमें सत्यभामा आदि भी हुईं; क्षत्रियोंमें एक कुलके होनेपर भी सात पीढ़ियाँ बीत जानेके बाद पुरोहितके गोत्रसे यजमान क्षत्रियका भी गोत्र बदल जाता है और इस प्रकार गोत्रभेदसे उनमें विवाह हो जाते हैं। इस अध्यायमें क्रोष्टाके वंशकी उस शाखाका वर्णन किया जायगा, जिसमें महालक्ष्मीकी अवतार ईश्वरी शक्ति श्रीरुक्मिणीजी उत्पन्न हुई थीं) ॥

स्वाहिपुत्रोऽभवद् राजा रुषद्गुर्वदतां वरः।
महाक्रतुभिरीजे यो विविधैर्भूरिदक्षिणैः ॥ २ ॥
सुतप्रसूतिमन्विच्छन् रुषद्गुः सोऽग्र्यमात्मजम्।
जज्ञे चित्ररथस्तस्य पुत्रः कर्मभिरन्वितः ॥ ३ ॥

स्वाहिके पुत्र रुषद्गु हुए, वे अच्छे बोलनेवाले थे और बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले अनेक प्रकारके महायज्ञ करते रहते थे। उनकी यह इच्छा थी कि मेरे यहाँ पुत्र-पौत्रोंवाला श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हो; इस प्रकार पुत्रेष्टि आदि यज्ञकर्म करते-करते उनके यहाँ चित्ररथ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २-३ ॥

आसींच्चैत्ररथिर्वीरो यज्वा विपुलदक्षिणः।
शशबिन्दुः परं वृत्तं राजर्षीणामनुष्ठितः ॥ ४ ॥

चित्ररथके पुत्र वीर शशबिन्दु हुए, वे बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञ करके राजर्षियोंके श्रेष्ठ आचरणका पालन करते रहते थे ॥ ४ ॥

पृथुश्रवाः पृथुयशा राजाऽऽसीच्छशबिन्दुजः।
शंसन्ति च पुराणज्ञाः पार्थश्रवसमुत्तरम् ॥ ५ ॥

शशबिन्दुके पुत्र महायशस्वी राजा पृथुश्रवा हुए, पुराणोंके जाननेवाले कहते हैं कि पृथुश्रवाके पुत्र उत्तर हुए ॥५॥

अनन्तरं सुयशस्तु सुयज्ञतनयोऽभवत्।
उशतो यज्ञमखिलं स्वधर्ममुशतां वरः ॥ ६ ॥

उत्तरके पुत्र सुयश हुए, सुयशके पुत्र उशत हुए, कामना करनेवालोंमें श्रेष्ठ उशत अपने सम्पूर्ण धर्मों और यज्ञका अनुष्ठान सदा करना चाहते थे ॥ ६ ॥

शिनेयुरभवत् सूनुरुशतः शत्रुतापनः।
मरुत्तस्तस्य तनयो राजर्षिरभवन्नृप ॥ ७ ॥

राजन्! उशतके पुत्र शत्रुओंको संतप्त करनेवाले शिनेयु हुए, उनके पुत्र राजर्षि मरुत्त हुए ॥ ७ ॥

मरुत्तोऽलभत ज्येष्ठं सुतं कम्बलबर्हिषम्।
चचार विपुलं धर्मममर्षात् प्रेत्यभागपि ॥ ८ ॥

मरुत्तके ज्येष्ठ पुत्र कम्बलबर्हिष हुए। जो धर्म मरणके अनन्तर फल देता है, अपने जीवनमें ही वह उस महान् धर्मका आचरण करने लगे ॥ ८ ॥

सुतप्रसूतिमिच्छन् वै सुतं कम्बलबर्हिषः।
बभूव रुक्मकवचः शतप्रसवतः सुतः ॥ ९ ॥

कम्बलबर्हिष बेटों-पोतोंसे समृद्ध पुत्र पाना चाहते थे, उस धर्मानुष्ठानके फलरूप उनके रुक्मकवच नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जो सौ बालकोंमें अकेला बचा था ॥ ९ ॥

निहत्य रुक्मकवचः शतं कवचिनां रणे।
धन्विनां निशितैर्बाणैरवाप श्रियमुत्तमाम् ॥ १० ॥

रुक्मकवचने युद्धमें धनुष और कवचको धारण करनेवाले सौ योद्धाओंको मारकर बड़ी भारी कीर्ति पायी थी ॥

जज्ञेऽथ रुक्मकवचात् पराजित् परवीरहा ।
जज्ञिरे पञ्च पुत्रास्तु महावीर्याः पराजितः ॥ ११ ॥

रुक्मकवचके पुत्र शत्रुवीरनाशक पराजित् हुए, पराजित्के महावीर्यवान् पाँच पुत्र हुए ॥ ११ ॥

रुक्मेषुः पृथुरुक्मश्च ज्यामघः पालितो हरिः ।
पालितं च हरिं चैव विदेहेभ्यः पिता ददौ ॥ १२ ॥

(उनके नाम इस प्रकार हैं—) रुक्मेषु, पृथुरुक्म, ज्यामघ, पालित और हरि । उनके पिता पराजित्ने पालित और हरिको विदेह देशका पालन करनेके लिये वहाँके राजाको दे दिया था ॥ १२ ॥

रुक्मेषुरभवद् राजा पृथुरुक्मस्य संश्रितः ।
ताभ्यां प्रव्राजितो राज्याज्ज्यामघोऽवसदाश्रमे ॥ १३ ॥

रुक्मेषु पृथुरुक्मका आश्रय लेकर राजा बन गया था, उन दोनोंने ज्यामघको राज्यसे निकाल दिया, तब ज्यामघ आश्रममें रहने लगा ॥ १३ ॥

प्रशान्तः स वनस्थस्तु ब्राह्मणैश्चावबोधितः ।
जिगाय रथमास्थाय देशमन्यं ध्वजी रथी ॥ १४ ॥

वह (वृद्ध होनेसे) शान्त होकर वनमें पड़ा रहता था, परंतु ब्राह्मणोंने तप आदिके द्वारा उसको बलवान् बना दिया; तब रथी ज्यामघने एक ध्वजावाले रथमें बैठकर एक दूसरे देशको जीत लिया ॥ १४ ॥

नर्मदाकूलमेकाकी नगरीं मृत्तिकावतीम् ।
ऋक्षवन्तं गिरिं जित्वा शुक्तिमत्यामुवास सः ॥ १५ ॥

उसने अकेले ही नर्मदाके किनारेकी मृत्तिकावती नगरी और ऋक्षवान् पर्वतको जीतकर शुक्तिमतीपुरीमें अपना निवास-स्थान बनाया ॥ १५ ॥

ज्यामघस्याभवद् भार्या शैब्या बलवती सती ।
अपुत्रोऽपि च राजा स नान्यां भार्यामविन्दत ॥ १६ ॥

ज्यामघकी भार्या सती शैब्या बड़ी बलवती थी, इसलिये ज्यामघने पुत्रहीन होनेपर भी दूसरा विवाह नहीं किया ॥ १६ ॥

तस्यासीद् विजयो युद्धे तत्र कन्यामवाप सः ।
भार्यामुवाच संत्रस्तः स्नुषेति स नरेश्वरः ॥ १७ ॥

उसने एक युद्धमें विजय होनेपर एक कन्या प्राप्त की, उस नरेश्वरने डरकर अपनी भार्यासे उस कन्याको स्नुषा (पुत्रवधू) कह दिया ॥ १७ ॥

एतच्छ्रुत्वाब्रवीद् देवी कस्य चेयं स्नुषेति वै ।
अब्रवीत् तदुपश्रुत्य ज्यामघो राजसत्तमः ॥ १८ ॥

यह सुनकर पत्नीने पूछा—'यह किसकी पुत्रवधू है ?' तब राजसत्तम ज्यामघने प्रतिज्ञा करके कहा— ॥ १८ ॥

यस्ते जनिष्यते पुत्रस्तस्य भार्योपदानवी ।
उग्रेण तपसा तस्याः कन्यायाः सा व्यजायत ।
पुत्रं विदर्भं सुभगा शैब्या परिणता सती ॥ १९ ॥

तेरे जो पुत्र उत्पन्न होगा, यह उपदानवी कन्या उसकी भार्या होगी । उस उपदानवी कन्याकी उग्र तपस्याके प्रभावसे सौभाग्यवती शैब्याके बूढ़ी होनेपर भी उसके विदर्भ नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १९ ॥

राजपुत्र्यां तु विद्वांसौ स्नुषायां क्रथकौशिकौ ।
पश्चाद् विदर्भोऽजनयच्छूरौ रणविशारदौ ॥ २० ॥

तदनन्तर विदर्भने उस राजकुमारीसे शूरवीर एवं रणविशारद क्रथ और कौशिक नामके दो विद्वान् पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ २० ॥

लोमपादं तृतीयं तु पुत्रं परमधार्मिकम् ।
लोमपादात्मजो बभ्रुराहृतिस्तस्य चात्मजः ॥ २१ ॥

तथा लोमपाद नामक एक तीसरे परम धार्मिक पुत्रको भी उत्पन्न किया । लोमपादके पुत्र बभ्रु हुए और उनके पुत्र हुए आहृति ॥ २१ ॥

आहृतेः कौशिकश्चैव विद्वान् परमधार्मिकः ।
चेदिः पुत्रः कौशिकस्य तस्माच्चैद्या नृपाः स्मृताः ॥ २२ ॥

आहृतिके पुत्र कौशिक हुए, वे विद्वान् और परम धार्मिक थे । कौशिकके पुत्र चेदि हुए, इस कारण उनके वंशके राजा चैद्य कहलाते हैं ॥ २२ ॥

भीमो विदर्भस्य सुतः कुन्तिस्तस्यात्मजोऽभवत् ।
कुन्तेर्धृष्टसुतो जज्ञे रणधृष्टः प्रतापवान् ।
धृष्टस्य जज्ञिरे शूरास्त्रयः परमधार्मिकाः ॥ २३ ॥
आवन्तश्च दशार्हश्च बली विषहरश्च यः ।
दशार्हस्य सुतो व्योमा व्योम्नो जीमूत उच्यते ॥ २४ ॥

विदर्भका (चौथा) पुत्र भीम हुआ, भीमके पुत्र कुन्ति

हुए, कुन्तिके रणमें ढीठ एवं प्रतापवान् धृष्ट नामक पुत्र हुए। धृष्टके शूरवीर एवं परम धार्मिक आवन्त, दशार्ह और बलवान् विषहर नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। दशार्हके पुत्र व्योम हुए और व्योमके पुत्र जीमूत हुए ॥ २३-२४ ॥

जीमूतपुत्रो बृहतिस्तस्य भीमरथः सुतः।
अथ भीमरथस्यासीत् पुत्रो नवरथस्तथा ॥ २५ ॥

जीमूतके पुत्र बृहति और उनके पुत्र भीमरथ हुए; भीमरथके पुत्र नवरथ हुए ॥ २५ ॥

तस्य चासीद् दशरथः शकुनिस्तस्य चात्मजः।
तस्मात् करम्भः कारम्भिर्देवरातोऽभवन्नृपः॥ २६ ॥

नवरथके पुत्र दशरथ हुए और दशरथके पुत्र शकुनि हुए। शकुनिके पुत्र करम्भ हुए और करम्भके पुत्र राजा देवरात हुए ॥ २६ ॥

देवक्षत्रोऽभवत् तस्य दैवक्षत्रिर्महायशाः।
देवगर्भसमो जज्ञे देवक्षत्रस्य नन्दनः॥ २७॥
मधूनां वंशकृद् राजा मधुर्मधुरवागपि।
मधोर्जज्ञेऽथ वैदर्भ्यां पुत्रो मरुवसास्तथा ॥ २८ ॥

देवरातके पुत्र देवक्षत्र हुए। देवक्षत्रको आनन्द देनेवाले महायशस्वी दैवक्षत्रि हुए, वे देवताओंके बालकोंके समान तेजस्वी थे। उनका नाम मधु था, उनकी वाणी भी मधुर थी, वह मधुवंशके प्रवर्तक राजा थे। मधुके वैदर्भीसे मरुवस नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २७-२८ ॥

आसीन्मरुवसः पुत्रः पुरुद्वान् पुरुषोत्तमः।
मधुर्जज्ञेऽथ वैदर्भ्यां भद्रवत्यां कुरूद्वहः ॥ २९ ॥
ऐक्ष्वाकी चाभवद् भार्या सत्त्वांस्तस्यामजायत।
सत्त्वान् सर्वगुणोपेतः सात्त्वतां कीर्तिवर्धनः ॥ ३० ॥

मरुवसके पुत्र पुरुषोत्तम पुरुद्वान् हुए। उन्हींके विदर्भ-राजकुमारी भद्रवतीसे कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाला मधु नामक पुत्र हुआ और इक्ष्वाकुवंशकी भार्यासे सत्त्वान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सत्त्वान् सर्वगुणसम्पन्न थे और अपने वंशमें सात्त्वतोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले थे ॥ २९-३०॥

इमां विसृष्टिं विज्ञाय ज्यामघस्य महात्मनः।
युज्यते परया कीर्त्या प्रजावांश्च भवेन्नरः ॥ ३१ ॥

मनुष्य महात्मा ज्यामघके इस वंशका परिचय प्राप्त कर परम कीर्ति पाता है और संतानवान् हो जाता है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंश पर्वमें (ज्यामघके वंशका वर्णनविषयक) छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥



सप्तत्रिंशोऽध्यायः

वभ्रुवंशका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

सत्त्वतात्सत्त्वसम्पन्नान् कौशल्या सुषुवे सुतान्।
भजिनं भजमानं च दिव्यं देवावृधं नृपम् ॥ १ ॥
अन्धकं च महाबाहुं वृष्णिं च यदुनन्दनम्।
तेषां विसर्गाश्चत्वारो विस्तरेणेह ताञ्छृणु ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सत्त्वान् उपनामवाले सत्त्वतसे कौशल्याने भजिन, भजमान, दिव्य राजा देवावृध, महाभुज अन्धक और यदुनन्दन वृष्णि नामक सत्त्वसम्पन्न पुत्रोंको उत्पन्न किया ! उनके चार वंश चले, उनको आप विस्तारपूर्वक सुनिये ॥ १-२ ॥

भजमानस्य सृंजय्यौ बाह्यकायोपबाह्यका।
आस्तां भार्ये तयोस्तस्माज्जज्ञिरे बहवः सुताः ॥ ३ ॥

भजमानके सृञ्जयकी पुत्री बाह्यका और उपबाह्यका नामवाली दो स्त्रियाँ थीं। उनसे उसके बहुतसे पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

क्रमिश्च क्रमणश्चैव धृष्टः शूरः पुरंजयः।
एते बाह्यकसृञ्जय्यां भजमानाद् विजज्ञिरे ॥ ४ ॥

भजमानके सृञ्जयकी पुत्री बाह्यकासे क्रमि, क्रमण, धृष्ट, शूर और पुरंजय नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ४ ॥

अयुताजित्सहस्राजिच्छताजिच्चाथ दाशकः।

उपवाह्यकस्तृञ्जय्यां भजमानाद् विजज्ञिरे ॥ ५ ॥

उन्हीं भजमानके सृञ्जयकी दूसरी पुत्री उपवाह्यकासे अयुताजित्, सहस्राजित्, शताजित् और दाशक नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ५ ॥

यज्वा देवावृधो राजा चचार विपुलं तपः ।
पुत्रः सर्वगुणोपेतो मम स्यादिति निश्चितः ॥ ६ ॥

यज्ञ करनेवाले राजा देवावृधने 'मेरे सर्वगुणसम्पन्न पुत्र हो' इस निश्चयके साथ बड़ा भारी तप किया ॥ ६ ॥

संयुज्यात्मानमेवं तु पर्णाशाया जलं स्पृशन् ।
सदोपस्पृशतस्तस्य चकार प्रियमापगा ॥ ७ ॥

वे राजा अपने चित्तमें ऐसा निश्चय करके पर्णाशा नदीके जलमें खड़े होकर तप करते थे। अपने जलमें सदा खड़े रहनेवाले राजाका नदीने प्रिय करना चाहा ॥ ७ ॥

चिन्तयाभिपरीता सा जगामैकाभिनिश्चयम् ।
कल्याणत्वान्नरपतेस्तस्य सा निम्नगोत्तमा ॥ ८ ॥
नाध्यगच्छत तां नारीं यस्यामेवंविधः सुतः ।
जायेत तस्मात् स्वयं हन्त भवाम्यस्य सहव्रता॥ ९ ॥

उसको ऐसी कोई स्त्री नहीं दीखी, जिसके द्वारा ऐसा पुत्र उत्पन्न हो सके। तब चिन्तासे व्याप्त होकर नदियोंमें श्रेष्ठ पर्णाशाने उस राजाका कल्याण करनेके लिये एकान्तमें यह विचार किया कि 'मैं ही इनकी सहचारिणी बन जाऊँ' ८-९

अथ भूत्वा कुमारी सा बिभ्रती परमं वपुः ।
वरयामास नृपतिं तामियेष च स प्रभुः ॥ १० ॥

तदनन्तर उसने कुमारी बनकर श्रेष्ठ रूप धारण करके राजाको वरना चाहा और राजाने भी उसको पत्नी बनाना चाहा ॥ १० ॥

तस्यामाधत्त गर्भं च तेजस्विनमुदारधीः ।
अथ सा दशमे मासि सुषुवे सरितां वरा ॥ ११ ॥
पुत्रं सर्वगुणोपेतं बभ्रुं देवावृधान्नृपात् ।

तदनन्तर उन महाबुद्धिमान् राजाने उसमें तेजस्वी गर्भको स्थापित किया, तब उस नदियोंमें श्रेष्ठ पर्णाशाने राजा देवावृधके वीर्यसे दसवें महीनेमें सर्वगुणसम्पन्न बभ्रु नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥ ११½ ॥

अत्र वंशे पुराणज्ञा गायन्तीति परिश्रुतम् ॥ १२ ॥
गुणान् देवावृधस्याथ कीर्तयन्तो महात्मनः ।
यथैवाग्रे समं दूरात् पश्याम च तथान्तिके ॥ १३ ॥

सुना है कि इस वंशके प्राचीन इतिहासको जाननेवाले लोग महात्मा देवावृधके गुणोंका इस प्रकार कीर्तन करते थे, 'महात्मा देवावृधको हम जैसे दूर देशमे देखते थे, वैसे ही उनको समीपमें देखते थे अर्थात् उनको योगबलसे अनेक रूप धारण कर सर्वत्र एक रूपमें विराजमान देखते थे' ॥ १२–१३ ॥

बभ्रुः श्रेष्ठो मनुष्याणां देवैर्देवावृधः समः ।
षष्टिश्च षट् च पुरुषाः सहस्राणि च सप्त च ॥ १४ ॥
एतेऽमृतत्वं सम्प्राप्ता बभ्रुर्देवावृधावपि ।

बभ्रु मनुष्योंमे श्रेष्ठ हैं और देवावृध देवताके समान हैं, सात हजार छाछठ पुरुषोंसहित बभ्रु और देवावृध अमृतत्वको प्राप्त हो गये अर्थात् संग्रामभूमिमें अपने प्राणोंको त्यागकर ब्रह्मलोकमें पहुँच गये ॥ १४½ ॥

यज्वा दानपतिर्विद्वान् ब्रह्मण्यः सुदृढायुधः ॥ १५ ॥
कीर्तिमांश्च महातेजाः सात्त्वतानां महावरः ।
तस्यान्ववायः सुमहान् भोजा ये मार्तिकावताः ॥ १६ ॥

राजा बभ्रु दानियोंमें श्रेष्ठ, यज्ञ करनेवाले, विद्वान् और ब्राह्मणभक्त थे। उनके आयुध बड़े दृढ़ थे। वे कीर्तिमान्, महातेजस्वी तथा सात्त्वतवंशियोमे परम श्रेष्ठ थे। उन बभ्रुका वंश बहुत बड़ा है, मार्तिकावतभोज उनकी ही संतानोंमें हैं ॥ १५-१६ ॥

अन्धकात् काश्यदुहिता चतुरोऽलभतात्मजान् ।
कुकुरं भजमानं च शमिं कम्बलबर्हिषम् ॥ १७ ॥

अन्धकसे काशिराज (दृढाश्व) की पुत्रीके द्वारा कुकुर, भजमान, शमि और कम्बलबर्हिष नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १७ ॥

कुकुरस्य सुतो धृष्णुर्धृष्णोस्तु तनयस्तथा ।
कपोतरोमा तस्याथ तैत्तिरिस्तनयोऽभवत् ॥ १८ ॥

कुकुरके पुत्र धृष्णु और धृष्णुके पुत्र कपोतरोमा हुए तथा उनके पुत्र तैत्तिरि हुए ॥ १८ ॥

जज्ञे पुनर्वसुस्तस्मादभिजित् तु पुनर्वसोः ।
तस्य वै पुत्रमिथुनं बभूवाभिजितः किल ॥ १९ ॥

तैत्तिरिके पुत्र पुनर्वसु हुए, पुनर्वसुके पुत्र अभिजित् हुए; उन अभिजित्के एक पुत्र और एक पुत्री—ये दो जुड़वाँ संतानें हुईं, ऐसी बात सुनी जाती है ॥ १९ ॥

आहुकश्चाहुकी चैव ख्यातौ ख्यातिमतां वरौ ।
इमां चोदाहरन्त्यत्र गाथां प्रति तमाहुकम् ॥ २० ॥

ख्यातिप्राप्त लोगोंमें श्रेष्ठ वे दोनों आहुक और आहुकीके नामसे प्रसिद्ध हुए। इन आहुकके सम्बन्धमें (मनुष्य) इस गाथाको गाया करते हैं ॥ २० ॥

श्वेतेन परिवारेण किशोरप्रतिमो महान् ।
अशीतिचर्मणा युक्तः स नृपः प्रथमं व्रजेत् ॥ २१ ॥

वह तरुण घोड़ेके समान उत्साही राजा जब अपने विशुद्ध परिवारके साथ चलते थे, तब उनके (काठके बने) राजसिंहासनको अस्सी मनुष्य उठाया करते थे ॥ २१ ॥

नापुत्रवान् नाशतदो नासहस्रशतायुषः ।
नाशुद्धकर्मा नायज्वा यो भोजमभितो व्रजेत् ॥ २२ ॥

उन भोजके साथ उन्हें घेरकर चलनेवाले लोगोंमें ऐसा कोई नहीं था, जो पुत्रहीन हो अथवा सैकड़ोंकी दक्षिणा देनेवाला न हो अथवा सैकड़ों-सहस्रों वर्षोंकी आयुवाला न हो अथवा अशुद्ध कर्म करनेवाला हो तथा यज्ञ करनेवाला न हो ॥ २२ ॥

पूर्वस्यां दिशि नागानां भोजस्येत्यनुमोदनम् ।
सोपासङ्गानुकर्षाणां ध्वजिनां सवरूथिनाम् ॥ २३ ॥
रथानां मेघघोषाणां सहस्राणि दशैव तु ।
रूप्यकाञ्चनकक्षाणां सहस्राणि दशापि च ॥ २४ ॥

पूर्व-दिशामें राजा भोज (आहुक) का अभिनन्दन करनेके लिये चाँदी और सोनेकी साँकलोंसे बाँधे जानेवाले दस हजार हाथी आते थे तथा उपासङ्ग (जुआ), अनुकर्ष (रथके नीचेका काष्ठ) और वरूथ (रथत्राण कवच) वाले एवं मेघोंकी भाँति घोष करनेवाले ध्वजाधारी दस हजार रथ उनका स्वागत करनेके लिये आते थे ॥ २३-२४ ॥

तावन्त्येव सहस्राणि उत्तरस्यां तथा दिशि ।
आ भूमिपालान् भोजाः स्वानुपतिष्ठन्किङ्किणीकिणः॥२५॥

उतने ही हजार रथ और हाथी उत्तर तथा अन्य दिशाओंमें भी राजा आहुकका अभिनन्दन करनेके लिये आते थे। भोजवंशी यादव सब सामन्तोंको वशमें करके आहुककी उपासना करते थे। राजा आहुकने उन सबके रथ सोनेकी घंटियों—घूँघुरुओंवाले बनवा दिये थे ॥ २५ ॥

आहुकीं चाप्यवन्तिभ्यः स्वसारं ददुरन्धकाः ।
आहुकस्य तु काश्यायां द्वौ पुत्रौ सम्बभूवतुः ॥ २६ ॥
देवकश्चोग्रसेनश्च देवपुत्रसमावुभौ ।

अन्धकवंशियोंने आहुककी बहिन आहुकीको अवन्तिके राजवंशमें ब्याह दी। आहुकके काशिराजकी पुत्रीसे देवकुमारोंके समान सुन्दर देवक और उग्रसेन नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २६½ ॥

देवकस्याभवन्पुत्राश्चत्वारस्त्रिदशोपमाः ॥ २७ ॥
देववानुपदेवश्च सुदेवो देवरक्षितः ।

देवकके देवकुमारों-जैसे देववान्, उपदेव, सुदेव और देवरक्षित नामके चार पुत्र थे ॥ २७½ ॥

कुमार्यः सप्त चाप्यासन् वसुदेवाय ता ददौ ॥ २८ ॥
देवकी शान्तिदेवा च सुदेवा देवरक्षिता ।
वृकदेव्युपदेवी च सुनासी चैव सप्तमी ॥ २९ ॥

उन्हींके देवकी, शान्तिदेवा, सुदेवा, देवरक्षिता, वृकदेवी, उपदेवी और सातवीं सुनासी—इस प्रकार सात पुत्रियाँ थीं; देवकने उन सबका विवाह वसुदेवजीके साथ कर दिया था ॥

नवोग्रसेनस्य सुतास्तेषां कंसस्तु पूर्वजः ।
न्यग्रोधश्च सुनामा च कङ्कः शङ्कुः सुभूमिपः ॥ ३० ॥
राष्ट्रपालोऽथ सुतनुरनाधृष्टिश्च पुष्टिमान् ।
तेषां स्वसारः पञ्चाऽऽसन् कंसा कंसवती तथा ॥ ३१ ॥
सुतनू राष्ट्रपाली च कङ्का चैव वराङ्गना ।
उग्रसेनः सहापत्यो व्याख्यातः कुकुरोद्भवः ॥ ३२ ॥

उग्रसेनके नौ पुत्र थे, उनमें कंस सबसे बड़ा था। शेषके नाम इस प्रकार हैं—न्यग्रोध, सुनामा, कङ्क, सुभूमिप शङ्कु, राष्ट्रपाल, सुतनु, अनाधृष्टि और पुष्टिमान्। इनकी कंसा, कंसवती, सुतनू, राष्ट्रपाली और कङ्का नामकी पाँच सुन्दराङ्गी बहिनें थीं। इस प्रकार कुकुरवंशमें उत्पन्न हुए उग्रसेन और उनकी संतानका वर्णन किया गया ॥३०–३२॥

कुकुराणामिमं वंशं धारयन्नमितौजसाम् ।
आत्मनो विपुलं वंशं प्रजावानाप्नुयान्नरः ॥ ३३ ॥

जो मनुष्य इन अमिततेजस्वी कुकुरोंके वंशका वर्णन सुनता है, वह संतान पाता है तथा उसके वंशकी बड़ी वृद्धि होती है ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें (बभ्रुवंश-वर्णन-विषयक) सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

भजमानके वंशका वर्णन और स्यमन्तकमणिकी कथा

वैशम्पायन उवाच

भजमानस्य पुत्रोऽथ रथमुख्यो विदूरथः।
राजाधिदेवः शूरस्तु विदूरथसुतोऽभवत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अन्धकपुत्र भजमानके रथियोंमें मुख्य विदूरथ नामक पुत्र हुआ। विदूरथके पुत्र शूरवीर राजाधिदेव हुए॥ १॥

राजाधिदेवस्य सुता जज्ञिरे वीर्यवत्तराः।
दत्तातिदत्तबलिनौ शोणाश्वः श्वेतवाहनः॥ २॥
शमी च दण्डशर्मा च दण्डशत्रुश्च शत्रुजित्।
श्रवणा च श्रविष्ठा च स्वसारौ सम्बभूवतुः॥ ३॥

राजाधिदेवके बलवान् दत्त और अतिदत्त, शोणाश्व, श्वेतवाहन, शमी, दण्डशर्मा, दण्डशत्रु और शत्रुजित् नामक परम बलवान् पुत्र उत्पन्न हुए और श्रवणा तथा श्रविष्ठा नामकी दो कन्याएँ हुई थीं॥ २-३॥

शमीपुत्रः प्रतिक्षत्रः प्रतिक्षत्रस्य चात्मजः।
स्वयंभोजः स्वयंभोजाद्धृदीकः सम्बभूव ह॥ ४॥

शमीके पुत्र प्रतिक्षत्र हुए, प्रतिक्षत्रके पुत्र स्वयंभोज और स्वयंभोजके पुत्र हृदीक हुए॥ ४॥

तस्य पुत्रा बभूवुर्हि सर्वे भीमपराक्रमाः।
कृतवर्माग्रजस्तेषां शतधन्वाथ मध्यमः॥ ५॥

हृदीकके सभी पुत्र भयंकर पराक्रमी थे, उनमें कृतवर्मा सबसे पहले उत्पन्न हुए और शतधन्वा उनके मझले पुत्र थे॥

देवर्षेर्वचनात् तस्य भिषग् वैतरणश्च यः।
सुदान्तश्च विदान्तश्च कामदा कामदन्तिका॥ ६॥

देवर्षि च्यवनके वचनसे शतधन्वाके भिषक्, वैतरण, सुदान्त एवं विदान्त नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए तथा कामदा और कामदन्तिका नामकी दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं॥

देववांश्चाभवत् पुत्रो विद्वान् कम्बलबर्हिषः।
असमौजास्तथा वीरो नासमौजाश्च तावुभौ॥ ७॥

(अन्धकपुत्र) कम्बलबर्हिषके पुत्र विद्वान् देववान् हुए तथा वीर असमौजा तथा नासमौजा नामक दो पुत्र और हुए॥ ७॥

अजातपुत्राय सुतान् प्रददावसमौजसे।
सुदंष्ट्रं चारुरूपं च कृष्णमित्यन्धकास्त्रयः॥ ८॥

अन्धकके (कुकुर आदिके अतिरिक्त) सुदंष्ट्र, चारुरूप और कृष्ण नामके तीन पुत्र (और) थे। अन्धकने उन तीनों पुत्रोंको पुत्रहीन असमौजाको दे दिया॥ ८॥

एते चान्ये च बहवो अन्धकाः कथितास्तव।
अन्धकानामिमं वंशं धारयेद् यस्तु नित्यशः॥ ९॥
आत्मनो विपुलं वंशं लभते नात्र संशयः।

इनका तथा और भी बहुत-से अन्धकवंशी राजाओंका आपसे वर्णन कर दिया। जो पुरुष नित्यप्रति अन्धकोंके इस वंशका वर्णन सुनता है, उसका वंश अति विस्तृत हो जाता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है॥ ९½॥

गान्धारी चैव माद्री च क्रोष्टुभार्ये बभूवतुः॥ १०॥
गान्धारी जनयामास अनमित्रं महाबलम्।
माद्री युधाजितं पुत्रं ततो वै देवमीढुषम्॥ ११॥

यदुपुत्र क्रोष्टाके गान्धारी और माद्री नामकी दो भार्याएँ थीं। गान्धारीके पुत्र महाबली अनमित्र हुए तथा माद्रीके पुत्र युधाजित् और देवमीढ्वान् हुए॥ १०-११॥

अनमित्रममित्राणां जेतारमपराजितम्।
अनमित्रसुतो निघ्नो निघ्नतो द्वौ बभूवतुः॥ १२॥
प्रसेनश्चाथ सत्राजिच्छत्रुसेनाजितावुभौ।

अपराजित अनमित्र शत्रुओंको जीतनेवाले थे। अनमित्रके पुत्र निघ्न हुए, निघ्नके प्रसेन और सत्राजित् नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए, वे दोनों शत्रुओंकी सेनाओंको जीतनेवाले थे॥ १२½॥

प्रसेनो द्वारवत्यां तु निवसन्त्यां महामणिम्॥ १३॥
दिव्यं स्यमन्तकं नाम समुद्रादुपलब्धवान्।
तस्य सत्राजितः सूर्यः सखा प्राणसमोऽभवत्॥ १४॥

द्वारकापुरीमें बसते समय प्रसेनको स्यमन्तक नामकी दिव्य मणि समुद्रके तटपर परम्परासे प्राप्त हुई थी। प्रसेनके भाई सत्राजित्के सूर्यनारायण प्राणके समान प्रिय मित्र थे॥

स कदाचिन्निशापाये रथेन रथिनां वरः ।
अब्धिकूलमुपस्प्रष्टुमुपस्थातुं ययौ रविम् ॥ १५ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ सत्राजित् एक समय रात्रि बीतनेपर स्नान एवं सूर्योपस्थान करनेके लिये समुद्र-तटपर गये थे ॥ १५ ॥

तस्योपतिष्ठतः सूर्यं विवस्वानग्रतः स्थितः ।
अस्पष्टमूर्तिर्भगवांस्तेजोमण्डलवान् प्रभुः ॥ १६ ॥
अथ राजा विवस्वन्तमुवाच स्थितमग्रतः ।

वे सूर्योपस्थान कर रहे थे कि इतनेमें सूर्यनारायण उनके सामने आकर खड़े हो गये । उस समय सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् सूर्यदेव अपने तेजस्वी मण्डलके मध्यमें विराजमान थे, इस कारण उनका रूप स्पष्ट नहीं दीख रहा था । उस समय राजाने अपने सामने खड़े हुए भगवान् सूर्यसे कहा—॥१६३॥

यथैवं व्योम्नि पश्यामि सदा त्वां ज्योतिषाम्पते ॥ १७ ॥
तेजोमण्डलिनं देवं तथैव पुरतः स्थितम् ।
को विशेषोऽस्ति मे त्वत्तः सख्येनोपागतस्य वै ॥१८॥

'ज्योतिर्मय ग्रह आदिके स्वामिन् ! मैं आपको जैसे नित्यप्रति आकाशमें देखता हूँ, वैसे ही मैं आपको तेजका मण्डल धारणकर अपने सामने खड़ा हुआ देख रहा हूँ तो फिर आप जो मेरे पास मित्रतावश पधारे, इसमें विशेषता क्या हुई ?' ॥ १७-१८ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु भगवान् मणिरत्नं स्यमन्तकम् ।
स्वकण्ठादवमुच्यैव एकान्ते न्यस्तवान् विभुः ॥ १९ ॥

इतना सुनते ही प्रभु सूर्यनारायणने अपने कण्ठसे मणिरत्न स्यमन्तकको उतारकर एकान्तमें अलग रख दिया ॥ १९ ॥

ततो विग्रहवन्तं तं ददर्श नृपतिस्तदा ।
प्रीतिमानथ तं दृष्ट्वा मुहूर्तं कृतवान् कथाम् ॥ २० ॥

तब राजा स्पष्ट अवयवोंवाले सूर्यनारायणके शरीरको देखकर प्रसन्न हुए और उन्होंने सूर्यनारायणके साथ मुहूर्त-भर (दो घड़ी) तक वार्तालाप किया ॥ २० ॥

तमपि प्रस्थितं भूयो विवस्वन्तं स सत्रजित् ।
लोकान्नुद्भासयस्येतान् येन त्वं सततं प्रभो ।
तदेतन्मणिरत्नं मे भगवन् दातुमर्हसि ॥ २१ ॥

बातचीत करनेके अनन्तर जब सूर्यनारायण फिर चलने लगे, तब सत्राजित्ने उनसे कहा—'भगवन् ! आप जिससे सदा इन तीनों लोकोंको प्रकाशित करते रहते हैं, उस स्यमन्तक-मणिको मुझे दे दीजिये' ॥ २१ ॥

ततः स्यमन्तकमणिं दत्तवांस्तस्य भास्करः ।
स तमाबध्य नगरीं प्रविवेश महीपतिः ॥ २२ ॥

तब सूर्यनारायणने वह स्यमन्तक-मणि उन्हें दे दी और राजाने उसे बाँधकर नगरमें प्रवेश किया ॥ २२ ॥

तं जनाः पर्यधावन्त सूर्योऽयं गच्छतीति ह ।
पुरीं विस्मापयित्वा च राजा त्वन्तःपुरं ययौ ॥ २३ ॥

तब तो मनुष्य 'ये सूर्य जा रहे हैं' कहते हुए उनके पीछे दौड़े । इस प्रकार नगरीको विस्मित करते हुए वे राजा अपने रनवासमें चले गये ॥ २३ ॥

तत् प्रसेनजितं दिव्यं मणिरत्नं स्यमन्तकम् ।
ददौ भ्रात्रे नरपतिः प्रेम्णा सत्राजिदुत्तमम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर राजा सत्राजित्ने मणियोंमें रत्नरूप वह दिव्य स्यमन्तक-मणि प्रेमके कारण अपने भाई प्रसेनजित्को दे दी ॥

स मणिः स्यन्दते रुक्मं वृष्ण्यन्धकनिवेशने ।
कालवर्षी च पर्जन्यो न च व्याधिभयं ह्यभूत् ॥ २५ ॥

वह मणि जिस वृष्णि और अन्धककुलवालेके घरमें रहती थी, उसके यहाँ वह सुवर्णकी वर्षा करती रहती थी । उस देशमें मेघ समयपर वर्षा करते थे और वहाँ व्याधिका भय भी नहीं होता था ॥ २५ ॥

लिप्सां चक्रे प्रसेनात्तु मणिरत्ने स्यमन्तके ।
गोविन्दो न च तल्लेभे शक्तोऽपि न जहार सः ॥२६॥

श्रीकृष्णने प्रसेनजित्से मणियोंमें रत्नके समान वह दिव्य मणि स्यमन्तक लेनी चाही, परंतु उसने नहीं दी । श्रीकृष्ण यद्यपि समर्थ थे, तथापि वह मणि उन्होंने बलपूर्वक नहीं छीनी ॥ २६ ॥

कदाचिन्मृगयां यातः प्रसेनस्तेन भूषितः ।
स्यमन्तककृते सिंहाद् वधं प्राप वनेचरात् ॥ २७ ॥

प्रसेन एक समय उस मणिसे विभूषित होकर शिकार खेलने गये और मणिके कारण ही वनमें विचरण करनेवाले सिंहके द्वारा मारे गये ॥ २७ ॥

अथ सिंहं प्रधावन्तमृक्षराजो महाबलः ।
निहत्य मणिरत्नं तदादाय बिलमाविशत् ॥ २८ ॥

तदनन्तर महाबली ऋक्षराज जाम्बवान्ने उस दौड़ते

हुए सिंहको मार डाला और उस मणिरत्नको लेकर वे अपने बिल (गुफा) में घुस गये ॥ २८ ॥

ततो वृष्ण्यन्धकाः कृष्णं प्रसेनवधकारणात्।
प्रार्थनां तां मणेर्बुद्ध्वा सर्व एव शशङ्किरे ॥ २९ ॥

उस समय प्रसेनके मारे जानेसे सभी वृष्णि और अन्धकोंने यह समझा कि श्रीकृष्णने सत्राजित्से मणि माँगी थी, अतएव उन्होंने ही उसको मार डाला होगा॥

स शङ्क्यमानो धर्मात्मा नकारी तस्य कर्मणः।
आहरिष्ये मणिमिति प्रतिज्ञाय वनं ययौ ॥ ३० ॥

यद्यपि उन्होंने यह कार्य नहीं किया था, फिर भी उन धर्मात्मापर ऐसी शंका की जा रही थी; अतएव 'मैं मणिको लाऊँगा' यह प्रतिज्ञा करके वे वनको चले ॥ ३० ॥

यत्र प्रसेनो मृगयामाचरत् तत्र चाप्यथ।
प्रसेनस्य पदं गृह्य पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ ३१ ॥

उन्होंने विश्वासी मनुष्योंसे जहाँ प्रसेनने शिकार खेला था, वहाँ उनके पैरोंके चिह्नोंका पता लगाया ॥ ३१ ॥

ऋक्षवन्तं गिरिवरं विन्ध्यं च गिरिमुत्तमम्।
अन्वेषयन् परिश्रान्तः स ददर्श महामनाः ॥ ३२ ॥

उन चिह्नोंके सहारे खोज लगाते-लगाते जब महामना श्रीकृष्ण थक गये, तब उन्होंने ऋक्षवान् और विन्ध्य-नामक श्रेष्ठ पर्वतोंको देखा ॥ ३२ ॥

साश्वं हतं प्रसेनं वै नाविन्दच्चेप्सितं मणिम्।
अथ सिंहः प्रसेनस्य शरीरस्याविदूरतः ॥ ३३ ॥
ऋक्षेण निहतो दृष्टः पादैर्ऋक्षश्च सूचितः।
पादैरन्वेषयामास गुहामृक्षस्य माधवः ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्णने वहाँ प्रसेनको और उसके घोड़ेको मरा हुआ पाया; परंतु जिसकी उनको इच्छा थी, वह मणि उन्हें वहाँ नहीं मिली। तदनन्तर प्रसेनकी लाशसे थोड़ी दूरपर ही रीछके द्वारा मारा हुआ सिंह उन्हे पड़ा हुआ दीखा, मारनेवालेके पैरोंसे यह पता चलता था कि यह रीछ था। तदनन्तर माधवने रीछके पदचिह्नोंसे रीछकी गुफाको ढूँढ़ना आरम्भ किया ॥ ३३-३४ ॥

महत्यृक्षबिले वाणीं शुश्राव प्रमदेरिताम्।
धात्र्या कुमारमादाय सुतं जाम्बवतो नृप।
क्रीडापयन्त्या मणिना मा रोदीरित्यथेरिताम् ॥ ३५ ॥

राजन्! उस समय श्रीकृष्णने (रीछके बिलके पास पहुँचनेपर) एक स्त्रीकी वाणी सुनी। उन्हें ऐसा लगा कि धाय जाम्बवान्के बालक पुत्रको लेकर मणिसे खिलाती हुई उससे कह रही थी, तू रो मत ॥ ३५ ॥

धात्र्युवाच

सिंहः प्रसेनमवधीत् सिंहो जाम्बवता हतः।
सुकुमारक मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तकः ॥ ३६ ॥

धाय कह रही थी—मेरे मुन्ना! सिंहने प्रसेनको मार डाला और सिंहको जाम्बवान्ने मार डाला; अब तू रो मत, यह स्यमन्तक मणि अब तेरी ही है ॥ ३६ ॥

सुव्यक्तीकृतशब्दस्तु तूर्णीं बिलमथाविशत्।
प्रविश्य चापि भगवांस्तमृक्षबिलमञ्जसा ॥ ३७ ॥
स्थापयित्वा बिलद्वारि यदूँल्लाङ्गलिना सह।
शार्ङ्गधन्वा बिलस्थं तु जाम्बवन्तं ददर्श ह ॥ ३८ ॥

जब धायकी बात उन्होंने स्पष्ट सुन ली, तब भगवान्-ने बलरामको तथा यादवोंको तो गुफाके द्वारपर खड़ा कर दिया और स्वयं मौन होकर सीधे बिलमें जा घुसे। इस प्रकार शार्ङ्गधनुषधारी भगवान्ने गुफामें आगे बढ़कर जाम्बवान्को देखा ॥ ३७-३८ ॥

युयुधे वासुदेवस्तु बिले जाम्बवता सह।
बाहुभ्यामेव गोविन्दो दिवसानेकविंशतिम् ॥ ३९ ॥

वसुदेवनन्दन गोविन्द जाम्बवान्के साथ अपनी भुजा-ओंसे ही इक्कीस दिनतक बिलमें युद्ध करते रहे ॥ ३९॥

प्रविष्टे तु बिलं कृष्णे बलदेवपुरःसराः।
पुरीं द्वारवतीमेत्य हतं कृष्णं न्यवेदयन् ॥ ४० ॥

श्रीकृष्णके बिलमें प्रवेश करनेके बाद बहुत दिनोंतक न लौटनेपर बलदेव आदिने द्वारकामें जाकर कहा कि श्रीकृष्ण मारे गये ॥ ४० ॥

वासुदेवस्तु निर्जित्य जाम्बवन्तं महाबलम्।
भेजे जाम्बवतीं कन्यामृक्षराजस्य सम्मताम्।
मणिं स्यमन्तकं चैव जग्राहात्मविशुद्धये ॥ ४१ ॥

(उधर) श्रीकृष्णने महाबली जाम्बवान्को जीतकर ऋक्षराजकी प्यारी पुत्री जाम्बवतीसे विवाह किया और अपनी निर्दोषता सिद्ध करनेके लिये स्यमन्तकमणिको भी ले लिया ॥ ४१ ॥

अनुनीयर्क्षराजानं निर्ययौ च तदा बिलात्।
द्वारकामगमत् कृष्णः श्रिया परमया युतः ॥ ४२॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण जाम्बवान्से अनुनय-विनय करके बिलसे निकल आये और परम शोभा पाते हुए द्वारकाको चल दिये ॥ ४२ ॥

एवं स मणिमाहृत्य विशोध्यात्मानमच्युतः।
ददौ सत्राजिते तं वै सर्वसात्वतसंसदि ॥ ४३॥

भगवान् अच्युतने इस प्रकार मणिको लाकर सब सात्वतोंकी सभामें अपनी विशुद्धताको प्रमाणित कर वह मणि सत्राजित्को दे दी ॥ ४३ ॥

एवं मिथ्याभिशस्तेन कृष्णेनामित्रघातिना।
आत्मा विशोधितः पापाद् विनिर्जित्य स्यमन्तकम् ॥

शत्रुनाशक श्रीकृष्णने इस प्रकार मिथ्या दोष लगनेके कारण स्यमन्तकमणिको जीतकर लानेके बाद अपने आपको निर्दोष सिद्ध कर दिया ॥ ४४ ॥

सत्राजितो दश त्वासन् भार्यास्तासां शतं सुताः।
ख्यातिमन्तस्त्रयस्तेषां भङ्गकारस्तु पूर्वजः ॥४५॥
वीरो वातपतिश्चैव उपस्वावांश्च ते त्रयः।

सत्राजित्के दस भार्याएँ थीं और उनसे सौ पुत्र हुए थे; उनमें तीन प्रसिद्ध थे, जिनमें सबसे बड़ा भङ्गकार था। (दूसरा) वीर वातपति था और तीसरेका नाम उपस्वावान् था ॥ ४५½ ॥

कुमार्यश्चापि तिस्रो वै दिक्षु ख्याता नराधिप ॥ ४६॥
सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां व्रतिनी च दृढव्रता।
तथा प्रस्वापिनी चैव भार्यां कृष्णाय तां ददौ ॥ ४७॥

राजन् ! इसी प्रकार स्त्रियोंमें रत्नस्वरूपा सत्यभामा, दृढ़-व्रतधारिणी व्रतिनी और प्रस्वापिनी—ये उनकी तीन पुत्रियाँ थीं, जो दिशा-विदिशाओंमें प्रसिद्ध थीं। इनमेंसे उसने सत्यभामाका विवाह श्रीकृष्णके साथ कर दिया ॥ ४६-४७ ॥

समाक्षो भङ्गकारस्य नारेयश्च नरोत्तमौ।
जज्ञाते गुणसम्पन्नौ विश्रुतौ रूपसम्पदा ॥ ४८॥

भङ्गकारके पुत्र समाक्ष और नारेय हुए, ये दोनों अपने रूप और गुणोंके कारण मनुष्योंमें उत्तम माने जाते थे ॥ ४८ ॥

माद्रीपुत्रस्य जज्ञेऽथ पृश्निः पुत्रो युधाजितः।
जज्ञाते तनयौ पृश्नेः श्वफल्कश्चित्रकस्तथा ॥४९॥

(अब क्रोष्टाकी छोटी रानी माद्रीके पुत्र युधाजित्के वंशका वर्णन किया जाता है—)माद्रीकुमार युधाजित्के पुत्र पृश्नि हुए तथा पृश्निके पुत्र श्वफल्क और चित्रक हुए ॥ ४९ ॥

श्वफल्कः काशिराजस्य सुतां भार्यामविन्दत।
गान्दिनीं नाम तस्याश्च सदा गाः प्रददौ पिता॥ ५०॥

श्वफल्कका विवाह काशिराजकी पुत्री गान्दिनीसे हुआ था; इन गान्दिनीके पिता अपनी पुत्रीसे प्रतिदिन गोदान कराया करते थे ॥ ५० ॥

तस्यां जज्ञे महाबाहुः श्रुतवानिति विश्रुतः।
अक्रूरोऽथ महाभागो यज्वा विपुलदक्षिणः ॥ ५१॥

उन गान्दिनीसे महाभाग्यवान् अक्रूरजी उत्पन्न हुए, ये महाबाहु अक्रूर शास्त्रके रूपमें प्रसिद्ध थे, इन्होंने यज्ञ करके बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ दी थीं ॥ ५१ ॥

उपासङ्गस्तथा मद्गुर्मृदुरश्चारिमेजयः।
अविक्षिपस्तथोपेक्षः शत्रुहा चारिमर्दनः ॥ ५२॥
धर्मधृग् यतिधर्मा च गृध्रो भोजोऽन्धकस्तथा।
आवाहप्रतिवाहौ च सुन्दरी च वराङ्गना ॥ ५३॥

गान्दिनीके अक्रूरजीके अतिरिक्त उपासङ्ग, मद्गु, मृदुर, अरिमेजय, अविक्षिप, उपेक्ष, शत्रुघ्न, अरिमर्दन, धर्मधृक्, यतिधर्मा, गृध्र, भोज, अन्धक, आवाह और प्रतिवाह नामक पुत्र तथा वराङ्गना नामकी सुन्दरी कन्या भी उत्पन्न हुई थी ॥ ५२-५३ ॥

विश्रुता साम्बमहिषी कन्या चास्य वसुंधरा।
रूपयौवनसम्पन्ना सर्वसत्त्वमनोहरा ॥ ५४॥

वे साम्बदेशकी रानी प्रसिद्ध हैं, इनकी रूप-यौवनसे सम्पन्न एवं सब प्राणियोंके मनको मोहित करनेवाली कन्याका नाम वसुन्धरा था ॥ ५४ ॥

अक्रूरेणोग्रसेन्यां तु सुतौ द्वौ कुरुनन्दन।
प्रसेनश्चोपदेवश्च जज्ञाते देववर्चसौ ॥ ५५॥

कुरुनन्दन ! अक्रूरसे उग्रसेनीके द्वारा देवताके समान कान्तिवाले प्रसेन और उपदेव नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ ५५ ॥

चित्रकस्याभवन् पुत्राः पृथुर्विपृथुरेव च।
अश्वग्रीवोऽश्वबाहुश्च सुपार्श्वकगवेषणौ ॥ ५६॥

अरिष्टनेमिरश्वश्च सुधर्मा धर्मभृत् तथा।
सुबाहुर्बहुबाहुश्च श्रविष्ठाश्रवणे स्त्रियौ ॥ ५७ ॥

(अक्रूरजीके चाचा) चित्रकके श्रवणा और श्रविष्ठा नामकी दो धर्मपत्नियाँ थीं, उनसे पृथु, विपृथु, अश्वग्रीव, अश्वबाहु, सुपार्श्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा, धर्मभृत्, सुबाहु और बहुबाहु नामक पुत्र हुए ॥ ५६-५७ ॥

इमां मिथ्याभिशस्तिं यः कृष्णस्य समुदाहृताम्।
वेद मिथ्याभिशापास्तं न स्पृशन्ति कदाचन ॥५८॥

जो पुरुष श्रीकृष्णके इस मिथ्या कलंककी कथाको पढ़ता है, उसको झूठे दोष कभी नहीं लगते ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वण्यष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें (स्यमन्तकमणिकी कथाविषयक) अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

स्यमन्तकमणिके कारण प्रसेन, सत्राजित् और शतधन्वाका मारा जाना, बलदेवजीका दुर्योधनको गदा-विद्या सिखाना, अक्रूरजीका श्रीकृष्णको मणि देना और श्रीकृष्णका पुनः अक्रूरको मणि लौटा देना

वैशम्पायन उवाच

यत् तत् सत्राजिते कृष्णो मणिरत्नं स्यमन्तकम्।
अदात् तद्धारयामास बभ्रुर्वै शतधन्वना ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्णने सत्राजित्को जो मणियोंमें रत्नस्वरूप स्यमन्तकमणि लौटाकर दी, बभ्रु (अक्रूर) उसको शतधन्वाके द्वारा चुरवाना चाहने लगे ॥१॥

सदा हि प्रार्थयामास सत्यभामामनिन्दिताम्।
अक्रूरोऽन्तरमन्विच्छन् मणिं चैव स्यमन्तकम् ॥ २ ॥

मणि सुवर्ण देती थी, इस कारण उसको चाहते हुए अक्रूर अनिन्द्य सुन्दरी सत्यभामाको भी सदा चाहते थे ॥ २ ॥

सत्राजितं ततो हत्वा शतधन्वा महाबलः।
रात्रौ तं मणिमादाय ततोऽक्रूराय दत्तवान् ॥ ३ ॥

एक दिन मौका पाकर महाबली शतधन्वाने रात्रिमें सत्राजित्को मारकर वह मणि लाकर अक्रूरजीको दे दी ॥३॥

अक्रूरस्तु ततो रत्नमादाय भरतर्षभ।
समयं कारयांचक्रे नावेद्योऽहं त्वयेत्युत ॥ ४ ॥

भरतर्षभ! उस समय अक्रूरने रत्न लेकर शतधन्वासे प्रतिज्ञा करा ली कि आप किसीको यह न बतायें कि मणि मेरे पास है ॥ ४ ॥

वयमभ्युपयास्यामः कृष्णेन त्वामभिद्रुतम्।
ममाद्य द्वारका सर्वा वशे तिष्ठत्यसंशयम् ॥ ५ ॥

जब श्रीकृष्ण (श्वशुरके वधसे क्रोधमें भरकर) आपके पीछे पड़ेंगे, तब हम भी आपके साथमें खड़े होकर लड़ेंगे। आजकल सारी द्वारका मेरे वशमें है, इसमें आप कुछ संदेह न समझें ॥ ५ ॥

हते पितरि दुःखार्ता सत्यभामा यशस्विनी।
प्रययौ रथमारुह्य नगरं वारणावतम् ॥ ६ ॥

यशस्विनी सत्यभामा पिताके मारे जानेपर बड़ी दुखी हुई और रथपर चढ़कर हस्तिनापुरको चली गयीं ॥ ६ ॥

सत्यभामा तु तद्वृत्तं भोजस्य शतधन्वनः।
भर्तुर्निवेद्य दुःखार्ता पार्श्वस्थाश्रूण्यवर्तयत् ॥ ७ ॥

वहाँ दुखिया सत्यभामाने अपने पतिसे भोजवंशी शतधन्वाकी करतूत कह सुनायी और वे उनके पास खड़ी होकर नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं ॥ ७ ॥

पाण्डवानां तु दग्धानां हरिः कृत्वोदकक्रियाम्।
कुल्यार्थे चापि पाण्डूनां न्ययोजयत् सात्यकिम् ॥ ८ ॥

उस समय श्रीकृष्ण (हस्तिनापुरमें थे और लाक्षागृहमें) भस्म हुए पाण्डवोंकी उदक-क्रिया कर चुके थे, इसके उपरान्त उन्होंने पाण्डवोंका अस्थि-संचयन करनेका कार्य सात्यकिको सौंप दिया ॥ ८ ॥

ततस्त्वरितमागत्य द्वारकां मधुसूदनः।
पूर्वजं हलिनं श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

तदनन्तर श्रीमान् कृष्णचन्द्रने तुरंत ही द्वारकापुरीमें आकर अपने बड़े भाई हलधरसे यह बात कही—॥ ९ ॥

हतः प्रसेनः सिंहेन सत्राजिच्छतधन्वना।
स्यमन्तकः स मद्गामी तस्य प्रभुरहं विभो ॥ १० ॥

'प्रभो ! प्रसेनको सिंहने मार डाला था, शतधन्वाने सत्राजित्को मार डाला। अब इस मणिका उत्तराधिकार मुझे प्राप्त होता है; अब मैं उसका स्वामी हूँ ॥ १० ॥

तदारोह रथं शीघ्रं भोजं हत्वा महाबलम्।
स्यमन्तको महाबाहो ह्यस्माकं स भविष्यति ॥ ११ ॥

'महाबाहो ! इसलिये अब आप शीघ्र ही रथपर चढ़िये; महाबली भोज (वंशी शतधन्वा) को मारनेके बाद वह स्यमन्तकमणि निस्सदेह हमारी होगी' ॥ ११ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं भोजकृष्णयोः।
शतधन्वा ततोऽक्रूरमवैक्षत् सर्वतो दिशम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर भोजवंशी शतधन्वा और श्रीकृष्णमें घमासान युद्ध प्रारम्भ हुआ। उस समय शतधन्वा सब दिशाओंमें अक्रूर-को देखने लगा ॥ १२ ॥

संरब्धौ तावुभौ दृष्ट्वा तत्र भोजजनार्दनौ।
शक्तोऽपि शाठ्याद्धार्दिक्यमक्रूरो नाभ्यपद्यत ॥ १३ ॥

शतधन्वा और श्रीकृष्णको क्रोधमें भरा हुआ देखकर अक्रूर समर्थ होनेपर भी शठताके कारण हृदीकके पुत्र शत-धन्वाकी सहायता करने नहीं गये ॥ १३ ॥

अपयाने ततो बुद्धिं भोजश्चक्रे भयार्दितः।
योजनानां शतं साग्रं हयया प्रत्यपद्यत ॥ १४ ॥

तब तो भयसे घबराया हुआ शतधन्वा भागनेका विचार करने लगा और वह घोड़ीपर चढ़कर चार सौ कोससे अधिक दूर निकल गया ॥ १४ ॥

विख्याता हृदया नाम शतयोजनगामिनी।
भोजस्य वडवा राजन् यया कृष्णमयोधयत् ॥ १५ ॥

राजन् ! शतधन्वाने जिस घोड़ीपर चढ़कर श्रीकृष्णके साथ युद्ध किया था, उस घोड़ीका नाम हृदया था और वह चार सौ कोसका धावा मारनेवालीके रूपमें प्रसिद्ध थी ॥१५॥

क्षीणां जवन च हयामध्वनः शतयोजने।
दृष्ट्वा रथस्य ता वृद्धिं शतधन्वा समत्यजत् ॥ १६ ॥

घोड़ी वेगसे चलनेके कारण चार सौ कोसका मार्ग तय करनेके बाद थकन लगी। इधर शतधन्वाने श्रीकृष्णके रथको बढ़ते देखकर घोड़ीको छोड़ दिया (और वह पैदल भागने लगा) ॥ १६ ॥

ततस्तस्या हयायास्तु श्रमात् खेदाच्च भारत।
खमुत्पेतुरथ प्राणाः कृष्णो राममथाब्रवीत् ॥ १७ ॥

भारत ! तदनन्तर उस घोड़ीने श्रम और खेदके कारण अपने प्राणोंको छोड़ दिया। उस समय श्रीकृष्णने बलदेवजी-से कहा—॥ १७ ॥

तिष्ठस्वेह महाबाहो दृष्टदोषा हया मया।
पद्भ्यां गत्वा हरिष्यामि मणिरत्नं स्यमन्तकम् ॥ १८ ॥

'महाबाहो ! घोड़े थक गये हैं, उनका यह दोष मैंने देख लिया है; अतः आप यहीं ठहरिये, मैं पैदल ही जाकर मणियोंमें रत्नस्वरूप स्यमन्तक-मणिको छीन लाऊँगा' ॥

पद्भ्यामेव ततो गत्वा शतधन्वानमच्युतः।
मिथिलामभितो राजन् जघान परमास्त्रवित् ॥ १९ ॥

राजन् ! तदनन्तर अस्त्रविद्याके पारगामी श्रीकृष्णने पैदल ही जाकर शतधन्वाको मिथिलानगरीके समीप मार डाला ॥

स्यमन्तकं च नापश्यद्धत्वा भोजं महाबलम्।
निवृत्तं चाब्रवीत् कृष्णं रत्नं देहीति लाङ्गली ॥ २० ॥

महाबली भोजवंशी शतधन्वाको मारनेपर भी श्रीकृष्णको स्यमन्तक-मणि न मिली। श्रीकृष्णके वापस आनेपर बलदेवजी-ने उनसे कहा कि 'वह मणि-रत्न दीजिये' ॥ २० ॥

नास्तीति कृष्णश्चोवाच ततो रामो रुषान्वितः।
धिक्शब्दमसकृत् कृत्वा प्रत्युवाच जनार्दनम् ॥ २१ ॥

तब श्रीकृष्णने कहा—'मणि तो वहाँ नहीं मिली' तब तो बलदेवजीने क्रोधमें भरकर बारंबार 'धिक्कार है ! धिक्कार है !!' कहकर श्रीकृष्णसे कहा—॥ २१ ॥

भ्रातृत्वान्मर्षयाम्येष स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम्।
कृत्यं न मे द्वारकया न त्वया न च वृष्णिभिः ॥ २२ ॥

'भाई होनेके कारण आपकी इस करतूतको मैं सह रह

हूँ, आपका कल्याण हो ! मैं चलता हूँ । अब मुझे द्वारकासे, आपसे और वृष्णिवंशियोंसे भी कोई काम नहीं है' ॥ २२ ॥

प्रविवेश ततो रामो मिथिलामरिमर्दनः ।
सर्वकामैरुपहृतैर्मैथिलेनाभिपूजितः ॥ २३ ॥

तदनन्तर शत्रुमर्दन बलदेवजी मिथिलापुरीमें चले गये। वहाँ मिथिलानरेशने बहुत-से श्रेष्ठ पदार्थोंकी भेंट देकर बलदेवजीका स्वागत किया ॥ २३ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु बभ्रुर्मतिमतां वरः ।
नानारूपान् क्रतून् सर्वानाजहार निरर्गलान् ॥ २४ ॥

इसी समय बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ बभ्रु (वंशी अक्रूरजी भी) अनेक प्रकारके बहुत-से यज्ञोंको धड़ल्लेके साथ करने लगे ॥

दीक्षामयं स कवचं रक्षार्थं प्रविवेश ह ।
स्यमन्तककृते प्राज्ञो गान्दीपुत्रो महायशाः ॥ २५ ॥

महायशस्वी बुद्धिमान् गान्दीपुत्रने स्यमन्तकके लिये दीक्षारूपी कवचको अपनी रक्षाके लिये पहिन लिया (अर्थात् यज्ञमें दीक्षा लेनेवालेको युद्ध करनेका अधिकार नहीं होता, इसलिये उन्होंने युद्धसे बचनेका यह मार्ग निकाल लिया) ॥

अथ रत्नानि चाग्र्याणि द्रव्याणि विविधानि च ।
षष्टिं वर्षाणि धर्मात्मा यज्ञेषु विनियोजयत् ॥ २६ ॥

उसके बाद धर्मात्मा अक्रूरने साठ वर्षोंतक यज्ञोंमें अनेक प्रकारके द्रव्य और उत्तम रत्न दक्षिणारूपमें दिये ॥

अक्रूरयज्ञा इति ते ख्यातास्तस्य महात्मनः ।
बह्वन्नदक्षिणाः सर्वे सर्वकामप्रदायिनः ॥ २७ ॥

उन महात्माके किये हुए वे सब यज्ञ अक्रूर-यज्ञोंके नामसे प्रसिद्ध हैं, उनमें बहुत-सा अन्न और बहुत-सी दक्षिणाएँ दी गयीं तथा उन सभी यज्ञोंमें ऋत्विजोंकी सब प्रकारकी कामनाएँ पूर्ण की गयीं ॥ २७ ॥

अथ दुर्योधनो राजा गत्वा तु मिथिलां प्रभुः ।
गदाशिक्षां ततो दिव्यां बलभद्रादवाप्तवान् ॥ २८ ॥

इसी समय शक्तिशाली राजा दुर्योधनने मिथिलापुरीमें जाकर बलदेवजीसे दिव्य गदा-विद्याकी शिक्षा ग्रहण की ॥२८॥

प्रसाद्य तु ततो रामो वृष्ण्यन्धकमहारथैः ।
आनीतो द्वारकामेव कृष्णेन च महात्मना ॥ २९ ॥

तदनन्तर वृष्णि और अन्धकवंशी महारथी तथा महात्मा श्रीकृष्ण बलरामजीको प्रसन्न करके द्वारकामें ही बुला लाये ॥

अक्रूरस्त्वन्धकैः सार्धमपायाद् भरतर्षभ ।
हत्वा सत्राजितं सुप्तं सहबन्धुं महाबलम् ॥ ३० ॥
ज्ञातिभेदभयात् कृष्णस्तमुपेक्षितवानथ ।
अपयाते तथाक्रूरे नावर्षत् पाकशासनः ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! रात्रिमें सोये हुए महाबली सत्राजित् और उनके भाइयोंको शतधन्वाके द्वारा मरवाकर अक्रूर (अपने कुटुम्बी कतिपय) अन्धकवंशियोंको साथ लेकर भाग गये थे, किंतु श्रीकृष्णने जातिमें फूट पड़नेके भयसे उनकी उपेक्षा कर दी, परंतु अक्रूरके चले जानेपर इन्द्रदेवने वर्षा करना बंद कर दिया ॥ ३०-३१ ॥

अनावृष्ट्या यदा राज्यमभवद् बहुधा कृशम् ।
ततः प्रसादयामासुरक्रूरं कुकुरान्धकाः ॥ ३२ ॥

जब अनावृष्टि होनेसे राज्यके मनुष्य प्रायः दुर्बल होने लगे, तब कुकुर और अन्धकवंशियोंने अक्रूरको अनुनय-विनय करके (द्वारका लौटनेके लिये) राजी कर लिया ॥ ३२ ॥

पुनर्द्वारवतीं प्राप्ते तस्मिन् दानपतौ ततः ।
प्रववर्ष सहस्राक्षः कच्छे जलनिधेस्तदा ॥ ३३ ॥

फिर क्या था, उन दानपति अक्रूरके द्वारकापुरीमें वापस आते ही सहस्राक्ष इन्द्रने समुद्रके तटवर्ती प्रदेशपर जोरोंसे वर्षा करनी आरम्भ कर दी ॥ ३३ ॥

कन्यां च वासुदेवाय स्वसारं शीलसम्मताम् ।
अक्रूरः प्रददौ धीमान् प्रीत्यर्थं कुरुनन्दन ॥ ३४ ॥

कुरुनन्दन ! बुद्धिमान् अक्रूरजीने अपनी शीलवती बहिनका, जो कुमारी थी, श्रीकृष्णके साथ उनको प्रसन्न करनेके लिये विवाह कर दिया ॥ ३४ ॥

अथ विज्ञाय योगेन कृष्णो बभ्रुगतं मणिम् ।
सभामध्ये गतं प्राह तमक्रूरं जनार्दनः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर जनार्दन श्रीकृष्णने योगके द्वारा यह जानकर कि मणि अक्रूरके पास है, सभामें बैठे हुए अक्रूरसे (एक दिन) कहा— ॥ ३५ ॥

यत् तद् रत्नं मणिवरं तव हस्तगतं विभो ।
तत् प्रयच्छस्व मानार्ह मयि मानार्यकं कृथाः ॥ ३६ ॥

'माननीय विभो ! जो मणिरत्न स्यमन्तक आपके पास है, आप उसे दे दीजिये, अनार्यताका व्यवहार न कीजिये ॥

षष्टिवर्षे गते काले यद्रोषोऽभून्ममानघ ।
स संरूढोऽसकृत्प्राप्तस्ततः कालात्ययो महान् ॥ ३७ ॥

'निष्पाप अक्रूरजी ! साठ वर्ष पहले (मणिके कारणसे) जो रोष मुझे चढ़ा था, वही रोष बहुत समय बीतनेपर भी मुझे फिर बार-बार आ रहा है (अतः उस मणिको मुझे दे दीजिये), ॥ ३७ ॥

ततः कृष्णस्य वचनात् सर्वसात्वतसंसदि ।
प्रददौ तं मणिं बभ्रुरक्लेशेन महामतिः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णके कहनेपर महाबुद्धिमान् अक्रूरजीने सम्पूर्ण सात्वतोंकी सभामें वह मणि बिना कष्ट पाये ही श्रीकृष्णको अर्पण कर दी ॥ ३८ ॥

ततस्तमार्जवप्राप्तं बभ्रोर्हस्तादरिंदमः ।
ददौ हृष्टमनाः कृष्णस्तं मणिं बभ्रवे पुनः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर अक्रूरजीके हाथसे सरलतापूर्वक मणि पा जानेपर अरिदमन श्रीकृष्णने मनमें प्रसन्न होकर वह मणि फिर अक्रूरजीको दे दी ॥ ३९ ॥

स कृष्णहस्तात् सम्प्राप्तं मणिरत्नं स्यमन्तकम् ।
आबद्ध्य गान्दिनीपुत्रो विरराजांशुमानिव ॥ ४० ॥

तब श्रीकृष्णके हाथसे मिली हुई मणिरत्न स्यमन्तकमणिको गलेमें बाँधकर गान्दिनीपुत्र अक्रूर सूर्यके समान सुशोभित हुए ॥ ४० ॥

यस्त्वेवं शृणुयान्नित्यं शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
सुखानां सकलानां च फलभागीह जायते ॥ ४१ ॥

इस प्रकार जो मनुष्य पवित्र होकर सावधानतापूर्वक इस कथाको नित्यप्रति सुनता है, उसको फलरूपमें सम्पूर्ण सुख प्राप्त होते हैं ॥ ४१ ॥

आ ब्रह्मभुवनाच्चापि यशःख्यातिर्न संशयः ।
भविष्यति नृपश्रेष्ठ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ४२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उसकी कीर्ति ब्रह्मलोकतक पहुँचती है, इसमें कुछ संदेह नहीं है, यह मैं आपसे सत्य कह रहा हूँ ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वण्ये-
कोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें (बलदेवजीके द्वारा दुर्योधनको गदा-विद्याकी शिक्षाविषयक) उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

जनमेजयका भगवान्‌के वराह, नृसिंह, परशुराम, श्रीकृष्ण आदि अवतारोंका रहस्य पूछना

जनमेजय उवाच

प्रादुर्भावान् पुराणेषु विष्णोरमिततेजसः ।
सतां कथयतामेव वाराह इति नः श्रुतम् ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने कथा कहनेवाले सज्जनोंके मुखसे अमिततेजस्वी विष्णुके अवतारोंमें वराह अवतारकी भी बात पुराणोंमें सुनी है (वराह शब्दका आध्यात्मिक अर्थ वर और अह अर्थात् श्रेष्ठ यज्ञ है) ॥ १ ॥

न जाने तस्य चरितं न विधिं नैव विस्तरम् ।
न कर्मगुणसंतानं न हेतुं न मनीषितम् ॥ २ ॥

परंतु मैं उन वराह भगवान्‌के (सर्वकार्य जनकस्वरूप) चरित्रको, (अपूर्वस्वरूपका आविष्कार करनेकी) विधिको, (अनुष्ठानकी आवश्यकता रूप) विस्तारको तथा उनके कर्म (अर्थात् उसके कर्मसे तृप्त होनेवाले देवता आदि) तथा गुण-देश-द्रव्य-काल आदि एवं संतान (प्रयोगविधि) को, हेतु अर्थात् अधिकारको और वे किस अभिप्रायसे त्यागात्मक स्वरूपको ग्रहण करते हैं, उसे मैं कुछ नहीं समझता (अतः आप मुझे ये सब बातें समझाइये) ॥ २ ॥

किमात्मको वराहः स का मूर्तिः का च देवता ।
किमाचारः प्रभावो वा किं वा तेन पुरा कृतम् ॥ ३ ॥

(इस प्रकार वराहावतारके अधियज्ञस्वरूपकी बात पूछनेके अनन्तर अब राजा जनमेजय उनके आधिदैविक रूपके विषयमें पूछते हैं—) उन वराहका वास्तविक स्वरूप क्या है ? उनकी मूर्ति (बाहरी आकृति) कैसी है ? उनका (अधिष्ठातृ) देवता कौन है ? उनके कर्म क्या हैं ? उनका प्रभाव कैसा है और उन्होंने उस अवतारमें क्या किया था ? ॥ ३ ॥

यज्ञार्थं समवेतानां मिषतां च द्विजन्मनाम् ।
महावराहचरितं कृष्णद्वैपायनेरितम् ॥ ४ ॥

मैंने कृष्णद्वैपायनजीका कहा हुआ महावराहका चरित्र यज्ञमें एकत्रित हुए ब्राह्मणोंके वाद-विवादमें सुना है (परंतु उसका तत्त्व मेरी समझमें नहीं आया) ॥ ४ ॥

यथा नारायणो ब्रह्मन् वाराहं रूपमास्थितः ।
दंष्ट्रया गां समुद्रस्थामुज्जहारारिसूदनः ॥ ५ ॥

ब्रह्मन् ! भगवान् नारायणने जिस प्रकार वराहरूप धारण किया और उन अरिसूदन भगवान्ने जिस प्रकार अपनी दाढ़से समुद्रके गर्भमें पड़ी हुई पृथ्वीका उद्धार किया, यह सब मुझे आप बतानेकी कृपा करें ॥ ५ ॥

विस्तरेणैव कर्माणि सर्वाणि रिपुघातिनः ।
श्रोतुमिच्छाम्यशेषेण हरेः कृष्णस्य धीमतः ॥ ६ ॥

मैं शत्रुसंहारक परम ज्ञानी हरिरूप भगवान् श्रीकृष्णके (वराह आदि सब अवतारोंमें किये हुए) सभी चरित्रोंको विस्तारपूर्वक पूर्णरीतिसे सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

कर्मणामानुपूर्व्याच्च प्रादुर्भावाश्च ये विभोः ।
या चास्य प्रकृतिर्ब्रह्मंस्तां मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ७ ॥

ब्रह्मन् ! लीलाओंके क्रमसे इन सर्वव्यापी भगवान्के जितने भी हुए हैं अवतार उन सबकी और (उन अवतारोंके समय उनकी) जो प्रकृति थी उसकी आप कृपा करके व्याख्या कीजिये ॥ ७ ॥

कथं च भगवान् विष्णुः सुरशत्रुनिषूदनः ।
वसुदेवकुले धीमान् वासुदेवत्वमागतः ॥ ८ ॥

फिर देवताओंके शत्रुओंका नाश करनेवाले परम चतुर भगवान् विष्णु वसुदेवके कुलमें उत्पन्न होकर वासुदेव क्यों कहलाये (अर्थात् वे कर्मबन्धनसे रहित होनेपर भी उत्तम स्थानसे नीचे स्थानमें क्यों आये) ? ॥ ८ ॥

अमरैरावृतं पुण्यं पुण्यकृद्भिर्निषेवितम् ।
देवलोकं समुत्सृज्य मर्त्यलोकमिहागतः ॥ ९ ॥

वे देवताओंसे घिरे हुए एवं पुण्यात्माओंद्वारा सेवित पवित्र देवलोकको छोड़कर इस मृत्युलोकमें क्यों आये ? ॥ ९ ॥

देवमानुषयोर्नेता यो भुवः प्रभवो विभुः ।
किमर्थं दिव्यमात्मानं मानुष्ये संन्ययोजयत् ॥ १० ॥

जो देवता और मनुष्योंके नेता हैं और जो विभु पृथ्वीके भी उत्पत्तिस्थान हैं, उन्होंने अपने दिव्य आत्माको मनुष्य-शरीरमें क्यों स्थापित किया ? ॥ १० ॥

यश्चक्रं वर्तयत्येको मानुषाणामनामयम् ।
मानुष्ये स कथं बुद्धिं चक्रे चक्रभृतां वरः ॥ ११ ॥

जो अकेले ही सब मनुष्योंके (कर्मसे जन्म और जन्मसे पुनः कर्मरूप) चक्रको निर्विघ्नतापूर्वक चलाते हैं, उन चक्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णने मनुष्य बननेका विचार क्यों किया ? ॥ ११ ॥

गोपायनं यः कुरुते जगतः सार्वलौकिकम् ।
स कथं गां गतो देवो विष्णुर्गोपत्वमागतः ॥ १२ ॥

जो जगत्के सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करते हैं, वे भगवान् विष्णु पृथ्वीपर आकर गोप कैसे बन गये ? ॥ १२ ॥

महाभूतानि भूतात्मा यो दधार चकार च ।
श्रीगर्भः स कथं गर्भे स्त्रिया भूचरया धृतः ॥ १३ ॥

जो समस्त भूतोंके अन्तरात्मा प्रभु स्वयं महाभूतोंको रचते और धारण करते हैं, उन श्रीगर्भको पृथ्वीपर विचरण करनेवाली स्त्रीने अपने गर्भमें किस प्रकार धारण किया ? ॥ १३ ॥

येन लोकान् क्रमैर्जित्वा त्रिभिस्त्रींस्त्रिदशेप्सया ।
स्थापिता जगतो मार्गास्त्रिवर्गप्रभवास्त्रयः ॥ १४ ॥

जिन्होंने देवताओंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये तीन पैंड़ों-से तीनों लोकोंको जीतकर जगत्में धर्म, अर्थ और कामसे प्राप्त होनेवाले तीन मार्ग—तीन गतियाँ स्थापित कर दीं (धर्म-से स्वर्ग अर्थात् ऊर्ध्वगति, अर्थसे मर्त्यलोक अर्थात् मध्यम-गति और कामसे नरकादि अधोलोक अर्थात् अधोगति मिलती है); ॥ १४ ॥

योऽन्तकाले जगत् पीत्वा कृत्वा तोयमयं वपुः ।
लोकमेकार्णवं चक्रे दृश्यादृश्येन वर्त्मना ॥ १५ ॥

जो भगवान् प्रलयकालमें दृश्य एवं अदृश्य रीतिसे (कारणसहित) सम्पूर्ण जगत्का पान (ग्रास) करके अपने शरीरको जलमय बनाकर सम्पूर्ण जगत्को एक जलमय ही कर देते हैं, ॥ १५ ॥

यः पुराणे पुराणात्मा वाराहं रूपमास्थितः ।
विषाणाग्रेण वसुधामुज्जहारारिसूदनः ॥ १६ ॥

प्राचीन समयमें जिन पुराणात्मा अरिसूदन भगवान्ने वराहके रूपमें अपने दाँतोंके अग्रभागसे पृथ्वीका उद्धार किया, ॥ १६ ॥

यः पुरा पुरुहूतार्थे त्रैलोक्यमिदमव्ययः ।
ददौ जित्वासुरगणान् सुराणां सुरसत्तमः ॥ १७ ॥

पहले जिन अविनाशी सुरश्रेष्ठने इन्द्रके लिये असुरोंकी सेनाको जीतकर देवताओंको तीनों लोक (वापस) दिला दिये, ॥ १७ ॥

येन सैंहं वपुः कृत्वा द्विधा कृत्वा च तत् पुनः ।
पूर्वं दैत्यो महावीर्यो हिरण्यकशिपुर्हतः ॥ १८ ॥

जिन्होंने पूर्वकालमें सिंहका रूप धारणकर और फिर उसको दो प्रकारका अर्थात् नरसिंहरूप बनाकर महान् परा-क्रमी दैत्य हिरण्यकशिपुको मार डाला, ॥ १८ ॥

यः पुरा ह्यनलो भूत्वा और्वः संवर्तको विभुः ।
पातालस्थोऽर्णवगतं पपौ तोयमयं हविः ॥ १९ ॥

जिन विभुने पहले (प्रलयकालमें) पातालमें जाकर और्ववंशी संवर्तक अग्निका स्वरूप धारण कर समुद्रके जल-रूप हवि (घी) का पान कर लिया, ॥ १९ ॥

सहस्रशिरसं ब्रह्मन् सहस्राक्षं सहस्रदम् ।
सहस्रचरणं देवं यमाहुर्वै युगे युगे ॥ २० ॥

ब्रह्मन् ! प्रत्येक युगमें जिन भगवान्को सहस्र अर्थात् अनन्त सिरवाला, अनन्त आँखोंवाला, अनन्त दान करने-वाला और अनन्त चरणोंवाला कहा जाता है, ॥ २० ॥

नाभ्यारण्यां समुत्पन्नं यस्य पैतामहं गृहम् ।
एकार्णवजलस्थस्य नष्टे स्थावरजङ्गमे ॥ २१ ॥

स्थावर-जङ्गमात्मक जगत्के लीन होनेपर जिन एक समुद्रमय जलमें स्थित पुरुषकी नाभिसे प्रकट होनेवाले कमल-नालरूप अरणि (मन्थनदण्ड) से पितामहका भवन (लोक-कमल) उत्पन्न हुआ, ॥ २१ ॥

येन ते निहता दैत्याः संग्रामे तारकामये ।
सर्वदेवमयं कृत्वा सर्वायुधधरं वपुः ॥ २२ ॥

जिन्होंने तारकामय संग्राममें अपने शरीरको सर्वदेवमय और सर्वायुधधारी बनाकर दैत्योंको मार डाला, ॥ २२ ॥

गरुडस्थेन चोत्सिक्तः कालनेमिर्निपातितः ।
निर्जितश्च मयो दैत्यस्तारकश्च महासुरः ॥ २३ ॥

जिन्होंने गरुड़पर बैठकर उद्दण्ड कालनेमिको नष्ट कर दिया तथा मय दैत्य और महान् असुर तारकको मार डाला, ॥ २३ ॥

उत्तरान्ते समुद्रस्य क्षीरोदस्यामृतोदधेः ।
यः शेते शाश्वतं योगमास्थाय तिमिरं महत् ॥ २४ ॥

जो क्षीरसमुद्रके उत्तर तटपर स्थित अमृत-समुद्रमें योग-मायारूप शाश्वत योगका आश्रय लेकर शयन करते हैं, ॥२४॥

सुरारणिर्गर्भमधत्त दिव्यं
तपःप्रकर्षाददितिः पुराणम् ।
शक्रं च यो दैत्यगणावरुद्धं
गर्भावसाने निभृतं चकार ॥ २५ ॥

देवताओंको उत्पन्न करनेवाली अरणिरूपा अदितिने महा-तप करके जिन पुराणपुरुष (वामन) रूपी गर्भको धारण किया और जिन्होंने गर्भसे निकलनेके बाद दैत्योंके चक्रमें फँसे हुए इन्द्रको दैत्योंके चक्रसे मुक्त करके पूर्णकाम बना दिया, ॥ २५ ॥

पदानि यो लोकमयानि कृत्वा
चकार दैत्यान् सलिलेशयांस्तान् ।

कृत्वा च देवांस्त्रिदिवस्य देवां-
श्चक्रे सुरेशं त्रिदशाधिपत्ये ॥ २६ ॥

जिन्होंने अपने डगोंको लोकमय करके अर्थात् एक-एक डगसे एक-एक लोकको नापकर दैत्योंको पातालमें भेज दिया, देवताओंको स्वर्गका विहार करनेवाला बना दिया और देवराज इन्द्रको देवताओंके सम्राट्-पदपर स्थापित कर दिया, ॥ २६ ॥

पात्राणि दक्षिणा दीक्षा चमसोलूखलानि च ।
गार्हपत्येन विधिना अन्वाहार्येण कर्मणा ॥ २७ ॥

जिन्होंने गृह्यसूत्रोंमें कही हुई विधि तथा अन्वाहार्य-कर्म * के साथ (यज्ञोपयोगी) चमस, उलूखल आदि पात्र, दक्षिणा और दीक्षा आदिकी रचना की, ॥ २७ ॥

अग्निमाहवनीयं च वेदीं चैव कुशां स्रुवम् ।
प्रोक्षणीयं ध्रुवां चैव आवभृथ्यं तथैव च ॥ २८ ॥

जिन्होंने आहवनीय अग्नि, वेदी, स्रुवा, कुशाएँ, प्रोक्षणीपात्र, ध्रुवा और अवभृथ स्नानोपयोगी सामग्रीकी कल्पना की, ॥ २८ ॥

सुधात्रीणि च यश्चक्रे हव्यकव्यप्रदान् द्विजान् ।
हव्यादांश्च सुरान् यज्ञे क्रव्यादांस्तु पितॄनपि ॥ २९ ॥

जिन्होंने (ऊर्ध्व, मध्य और अधोगतिरूप) सुधा आदि तीन भोग्य पदार्थ बनाकर ब्राह्मणोंको हव्य-कव्य प्रदान करनेवाला, देवताओंको यज्ञमें हवि भक्षण करनेवाला और पितरोंको (श्राद्धादिमें अर्पण किये जानेवाले पिण्ड आदि) कव्य भक्षण करनेवाला बनाया, ॥ २९ ॥

भागार्थे मन्त्रविधिना यश्चक्रे यज्ञकर्मणि ।
यूपान् समित् स्रुचं सोमं पवित्रान् परिधीनपि ॥ ३० ॥

जिन्होंने (देवताओंका) भाग निकालनेके लिये मन्त्रके प्रयोगकी विधिके साथ-साथ यज्ञकर्ममें यूप, समिधा, स्रुवा, सोम, पवित्र (पैंती) एवं परिधियोंकी कल्पना की, ॥ ३० ॥

यज्ञियानि च द्रव्याणि यज्ञांश्च सचयानलान् ।
सदस्यान् यजमानांश्च मेध्यादींश्च क्रतूत्तमान् ॥ ३१ ॥
विबभाज पुरा सर्वं पारमेष्ठ्येन कर्मणा ।
युगानुरूपान् यः कृत्वा लोकाननुपराक्रमत् ॥ ३२ ॥

जिन्होंने यज्ञोपयोगी द्रव्य, यज्ञ, ईंटोंके बने अग्नि-स्थापनके स्थान तथा आहवनीय आदि तीन प्रकारकी अग्नियाँ, सदस्य (यज्ञकर्मका निरीक्षण करनेवाले ब्राह्मण), यजमान, उत्तम यज्ञ एवं मेध्य आदि पदार्थोंका ब्रह्माजीकी प्रचलित की हुई विधिसे विभाग किया और जिन्होंने लोकोंको युगोंके अनुरूप बनाकर फिर अपना हाथ हटा लिया, ॥ ३१-३२ ॥

क्षणा लवाश्च काष्ठाश्च कलास्त्रैकाल्यमेव च ।
मुहूर्तास्तिथयो मासाः पक्षाः संवत्सरास्तथा ॥ ३३ ॥
ऋतवः कालयोगाश्च प्रमाणं त्रिविधं त्रिषु ।
आयुः क्षेत्राण्युपचयो लक्षणं रूपसौष्ठवम् ॥ ३४ ॥

जिन्होंने क्षण, लव, काष्ठा, कला, (प्रातः, मध्याह्न और सायंकालरूप) तीन काल, मुहूर्त, तिथि, मास, पक्ष, वर्ष, ऋतु, कालके विविध योग, (नित्य, नैमित्तिक और काम्य इन) तीन प्रकारके (प्रमेय) कर्मोंमें (श्रुति, स्मृति, शिष्टाचाररूप) तीन प्रकारका प्रमाण, आयु, क्षेत्र (स्थावर-जङ्गम शरीर), वृद्धि, (दो पैर, चार पैर आदि) लक्षण और आकृतिकी सुन्दरता रची, ॥ ३३-३४ ॥

त्रयो वर्णास्त्रयो लोकास्त्रैविद्यं पावकास्त्रयः ।
त्रैकाल्यं त्रीणि कर्माणि त्रयोऽपायास्त्रयो गुणाः ॥३५॥

जिन्होंने तीन वर्ण (शूद्रको यज्ञ करनेका अधिकार नहीं है, अतः उसका ग्रहण नहीं किया), (भू आदि) तीन लोक, (ऋक्, यजुः, सामरूप) तीन विद्याएँ, (गार्हपत्य, आहवनीय एवं दक्षिण नामकी) तीन अग्नियाँ, (भूत, भविष्यत्, वर्तमानरूप) तीन काल, (सात्त्विक, राजस और तामसरूप) तीन कर्म, (पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणारूप) तीन अपाय और (सत्त्व, रज, तमरूप) तीन गुण रचे, ॥ ३५ ॥

त्रयो लोकाः पुरा सृष्टा येनानन्त्येन कर्मणा ।
सर्वभूतगणस्रष्टा सर्वभूतगुणात्मकः ॥ ३६ ॥

जिन्होंने (जीवोंके) अनन्त कर्मोंके कारण तीन लोकोंकी रचना की, (साथ ही) जो सब प्राणियोंको रचनेवाले हैं और जिनमें सब भूतोंके गुण रहते हैं, ॥ ३६ ॥

नृणामिन्द्रियपूर्वेण योगेन रमते च यः ।
गतागताभ्यां यो नेता सर्वत्र जगदीश्वरः ॥ ३७ ॥

जो जगदीश्वर समस्त ब्रह्माण्डमें जीवात्माको जन्म-मृत्यु देनेके कारण सबके नेता हैं और जो (जीवरूपसे) इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग करके सर्वत्र रमण करते हैं, ॥ ३७ ॥

* पितरोंके निमित्तसे प्रति अमावस्याको किया जानेवाला मासिक श्राद्ध ।

यो गतिर्धर्मयुक्तानामगतिः पापकर्मणाम् ।
चातुर्वर्ण्यस्य प्रभवश्चातुर्होत्रस्य रक्षिता ॥ ३८ ॥

जो धर्म करनेवालोंकी गति (गन्तव्य स्थान) हैं और पापकर्म करनेवालोंकी अगति हैं अर्थात् पापकर्म करनेवाले जिनको नहीं पा सकते, जो चारों वर्णोंके उत्पत्तिस्थान हैं (यह बात 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' आदि श्रुतिको लक्ष्य करके कही गयी है) और जो (जिसमें चार ऋत्विज हवन करते हैं ऐसे) चातुर्होत्र (यज्ञ) के रक्षक हैं, ॥ ३८ ॥

चातुर्विद्यस्य यो वेत्ता चातुराश्रम्यसंश्रयः ।
दिगन्तरो नभोभूतो वायुरापो विभावसुः ॥ ३९ ॥

जो (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीतिरूप) चार विद्याओंके ज्ञाता हैं, जो (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासरूप) चारों आश्रमोंके आश्रय हैं (अर्थात् जिनकी प्राप्तिके लिये चारों आश्रमोंके धर्मोंका पालन किया जाता है) औरदिशाएँ जिनके गर्भमें रहती हैं (अर्थात् जो दिशाओंको भी अवकाश देते हैं) तथा जो वायु, आकाश, जल, अग्नि और पृथ्वीरूप हैं, ॥ ३९ ॥

यश्चन्द्रसूर्ययोर्ज्योतिर्योगीशः क्षणदान्तकः ।
यत् परं श्रूयते ज्योतिर्यत् परं श्रूयते तपः ॥ ४० ॥

जो चन्द्रमा और सूर्यको भी ज्योति देनेवाले हैं, योगीश्वर हैं, (मोहरूपी) रात्रिका अन्त करनेवाले हैं, जो परम ज्योतिःस्वरूप सुने जाते हैं अर्थात् जिनका ज्योतिःस्वरूप नेत्र सर्वत्र सब कुछ देखता है और जो परम तपःस्वरूप सुने जाते हैं अर्थात् जो परम तपस्याके द्वारा प्राप्त होते हैं, ॥ ४० ॥

यं परं प्राहुरपरं यः परः परमात्मवान् ।
नारायणपरा वेदा नारायणपराः क्रियाः ॥ ४१ ॥

जिनको पर (सूत्रात्मा) और अपर (विराट्) भी कहते हैं और जो परात्पर हैं अर्थात् सूत्रात्मासे भी पर माया सम्पन्न महेश्वर सगुण ब्रह्म हैं, आत्मवान् हैं अर्थात् आत्माके समान ही मायारूपी शरीरवाले हैं। वेद नारायणका ही निरूपणकरते हैं। सभी क्रियाओंका पर्यवसान भी नारायणमें ही होता है॥ ४१ ॥

नारायणपरो धर्मो नारायणपरा गतिः ।
नारायणपरं सत्यं नारायणपरं तपः ॥ ४२ ॥

धर्मका लक्ष्य भी नारायण हैं, सम्पूर्ण गतियोंकी परम गति नारायण हैं, नारायण ही सत्यके आधार हैं और नारायण ही तपके द्वारा प्राप्य हैं ॥ ४२ ॥

नारायणपरो मोक्षो नारायणपरायणम् ।
आदित्यादिस्तु यो दिव्यो यश्च दैत्यान्तको विभुः॥ ४३ ॥

नारायण ही मोक्षके आधार हैं। नारायण ही परम आश्रयरूप हैं । जो प्रभु आकाशमें विचरण करनेवाले आदित्य आदि ग्रहोंके स्वरूपमें स्थित हैं और दैत्योंका संहार करनेवाले हैं ॥ ४३ ॥

युगान्तेष्वन्तको यश्च यश्च लोकान्तकान्तकः ।
सेतुर्यो लोकसेतूनां मेध्यो यो मेध्यकर्मणाम् ॥ ४४ ॥

जो प्रलयके समय कालका रूप धारण कर लेते हैं, संसारका अन्त करनेवाले यमके भी यम हैं, मृत्युकी भी मृत्यु हैं, लोकोंकी मर्यादा बाँधनेवाले (मनु आदिके भी) सेतु हैं अर्थात् मनु आदिको भी मर्यादामें रखनेवाले हैं और पवित्र करनेवाले (गङ्गा आदि तीर्थों) को भी पवित्र करनेवाले हैं॥

वेद्यो यो वेदविदुषां प्रभुर्यः प्रभवात्मनाम् ।
सोमभूतस्तु सौम्यानामग्निभूतोऽग्निवर्चसाम् ॥ ४५ ॥

जो वेदके ज्ञाताओंद्वारा जानने योग्य हैं, प्रभुत्व स्वभाववाले (मरीचि आदि) के भी प्रभु हैं और जो सौम्य पुरुषोंमें चन्द्रमाकी भाँति प्रियदर्शन हैं, जो अग्निके समान तेजस्वी पुरुषोंमें अग्निस्वरूप हैं ॥ ४५ ॥

मनुष्याणां मनोभूतस्तपोभूतस्तपस्विनाम् ।
विनयो नयवृत्तीनां तेजस्तेजस्विनामपि ।
सर्गाणां सर्गकारश्च लोकहेतुरनुत्तमः ॥ ४६ ॥

जो मनुष्योंके मनरूप हैं, तपस्वियोंके तपरूप हैं, जो नीतिमान् पुरुषोंमें नम्रतारूपसे विराजमान रहते हैं और तेजस्वियोंमें तेजःस्वरूप हैं और जो सृष्टियोंके रचनेवाले तथा संसारके सर्वश्रेष्ठ कारण हैं ॥ ४६ ॥

विग्रहो विग्रहार्हाणां गतिर्गतिमतामपि ।
आकाशप्रभवो वायुर्वायुप्राणो हुताशनः ॥ ४७ ॥

जो शरीर धारण करके अवतार लेनेवाले देवताओंके विग्रहरूप हैं, गतिमानोंकी गति हैं, आकाशमें उत्पन्न होनेवाले वायु हैं तथा वायुसे जीनेवाले अग्निस्वरूप हैं ॥४७॥

देवा हुताशनप्राणाः प्राणोऽग्नेर्मधुसूदनः ।
रसाद् वै शोणितं जातं शोणितान्मांसमुच्यते॥ ४८ ॥

अग्नि देवताओंके प्राण हैं और मधुसूदन अग्निके भी प्राण हैं। (वे अग्निके प्राण बनकर अग्निके द्वारा क्या करते हैं, इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं, अग्निके द्वारा पृथक् किये हुए अन्नके साररूप) रससे रक्त बनता है (और उससे क्रमशः वीर्य बनकर गर्भ रहता है, इस प्रकार वह अग्निके प्राण बनकर अग्निके द्वारा सारा सृष्टि-कार्य चलाते हैं) और रक्तसे मांस बनता है ॥ ४८ ॥

मांसात्तु मेदसो जन्म मेदसोऽस्थीनि चैव हि ।
अस्थ्नो मज्जा समभवन्मज्जातः शुक्रमेव च ॥ ४९ ॥

मांससे मेद (चर्बी) की उत्पत्ति होती है और मेदसे अस्थियोंकी उत्पत्ति होती है, हड्डियोंसे मज्जा बनती है और मज्जासे वीर्यकी उत्पत्ति होती है ॥ ४९ ॥

शुक्राद् गर्भः समभवद् रसमूलेन कर्मणा ।
तत्रापां प्रथमो भागः स सौम्यो राशिरुच्यते ॥ ५० ॥
गर्भोष्मसम्भवोऽग्निर्यो द्वितीयो राशिरुच्यते ।
शुक्रं सोमात्मकं विद्यादार्तवं विद्धि पावकम् ॥ ५१ ॥

रसमूल कर्मके द्वारा वीर्यसे गर्भ रहता है, उसमें प्रथम भाग जलका अंश (वीर्य होता है, वह श्वेत होनेसे) सौम्य होता है, जलप्रधान सोमका अंश होता है और गर्भकी गरमीसे अर्थात् जठराग्निसे उत्पन्न हुआ (रक्तरूप) जो दूसरा भाग उसमें रहता है, वह (रक्त-राशि) अग्निका अंश कहलाता है। (इस प्रकार) वीर्यको सोमका अंश और रजको अग्निका अंश समझना चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

भागौ रसात्मकौ ह्येवां वीर्ये च शशिपावकौ ।
कफवर्गे भवेच्छुक्रं पित्तवर्गे च शोणितम् ॥ ५२ ॥
कफस्य हृदयं स्थानं नाभ्यां पित्तं प्रतिष्ठितम् ।

(पूर्वोक्त रीतिसे) ये दोनों रसके ही भाग हैं, क्योंकि शशि और पावक अर्थात् शुक्र और शोणित इन रस आदिके ही सार हैं। (अब जगत्के अग्निषोमात्मकस्वरूपको सिद्ध करते हैं) शुक्र (वीर्य) कफवर्गमें है और रक्त पित्तवर्गमें है। (वीर्यके आश्रयसे रहनेवाले और जिसका देवता सोम है, ऐसे) कफका स्थान हृदय है। (रक्तके आश्रयसे रहनेवाले और जिसका देवता अग्नि है, ऐसे) पित्तका स्थान नाभि है ॥ ५२½ ॥

देहस्य मध्ये हृदयं स्थानं तन्मनसः स्मृतम् ।
नाभिकोष्ठान्तरं यत् तु तत्र देवो हुताशनः ॥ ५३ ॥

देहके मध्यमें जो हृदय है, वही मनका स्थान कहलाता है और नाभिकोष्ठके भीतर (वाणीका अधिष्ठातृ-देवता) अग्नि रहता है ॥ ५३ ॥

मनः प्रजापतिर्ज्ञेयः कफः सोमो विभाव्यते ।
पित्तमग्निः स्मृतं ह्येतदग्नीषोमात्मकं जगत् ॥ ५४ ॥

(मनका अधिष्ठातृ-देवता प्रजापति होनेके कारण) मनको प्रजापति समझना चाहिये, कफको सोम समझना चाहिये और पित्तको अग्नि कहा गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् अग्नीषोमात्मक है ॥ ५४ ॥

एवं प्रवर्तिते गर्भे वर्द्धितेऽम्बुदसंनिभे ।
वायुः प्रवेशं संचक्रे सङ्गतः परमात्मना ॥ ५५ ॥

जैसे धुएँ, ज्योति, जल और पवनसे मेघ बढ़ता है, उसी प्रकार गर्भ भी अन्न, अग्नि, जल और प्राणसे बढ़ता है, अतएव अचेतन है, उसके बढ़नेपर (प्राणवायुका सहचर होनेसे जीवरूप) वायु ईश्वरके साथ उसमें प्रवेश करता है (और उसीके साथ उत्क्रमण करता है) ॥ ५५ ॥

ततोऽङ्गानि विसृजति बिभर्ति परिवर्द्धयन् ।
स पञ्चधा शरीरस्थो भिद्यते वर्द्धते पुनः ॥ ५६ ॥

देहमें प्रवेश करनेके अनन्तर वह (प्राणोपाधिक) जीव (सिर आदि) अङ्गोंको रचता है और उनको बढ़ाता हुआ उनको पुष्ट भी करता रहता है। वह (प्राणके पाँच प्रकारका होनेसे स्वयं भी) पाँच भागोंमें बँटकर बढ़ता रहता है ॥५६॥

प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।
प्राणः स प्रथमं स्थानं वर्द्धयन् परिवर्तते ॥ ५७ ॥

वे पाँच भेद इस प्रकार हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। इनमें प्राण प्रथम-स्थान (हृत्-पिण्ड-हृदय) को पुष्ट करता हुआ चलता रहता है ॥ ५७ ॥

अपानः पश्चिमं कायमुदानोर्ध्वं शरीरिणः ।
व्यानो व्यायच्छते येन समानः संनिवर्तयेत् ।
भूतावाप्तिस्ततस्तस्य जायतेन्द्रियगोचरात् ॥ ५८ ॥

अपान प्राणीके (जङ्घासे लेकर चरणतक) अधः-शरीरको और उदान प्राणीके (जङ्घाओंसे ऊपरके) ऊर्ध्व-शरीरको बढ़ाता है और व्यान व्यायाम अर्थात् बल-साध्य कर्म करता है (अतएव वह शरीरकी सब संधियोंमे वर्तमान रहता है) और समान (नाभिमें रहकर) खायी और पीयी हुई वस्तुओंको

समान करता है (यथास्थान पहुँचा देता है)। इस प्रकार प्राणके कर्मोंका विभाग होनेके अनन्तर जीवको इन्द्रियोंके विषय (रूप आदि) के द्वारा उनके आश्रय (अग्नि आदि) भूतोंका साक्षात्कार होता है ॥ ५८ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
तस्येन्द्रियाणि विष्टानि स्वं स्वं योगं प्रचक्रिरे ॥५९॥

(इसका कारण यह है कि) पृथ्वी, जल, तेज, वायु और पाँचवाँ आकाश—ये सब इन्द्रियोंके रूपमें परिणत होकर शरीरके अन्तर्गत अपने-अपने नेत्र-गोलक आदि स्थानोंमें प्रविष्ट हो जाते हैं, इस प्रकार वे अपने-अपने सजातीयको ग्रहण करते हैं (अर्थात् पार्थिव घ्राणेन्द्रिय पृथ्वीके गुण गन्धको ग्रहण करती है, जलीय रसनेन्द्रिय जलके गुण रसको ग्रहण करती है, तैजस चक्षु तेजके गुण रूपको ग्रहण करती है, वायवीय त्वगिन्द्रिय वायुके गुण स्पर्शको ग्रहण करती है और आकाशीय श्रोत्रेन्द्रिय आकाशके गुण शब्दको ग्रहण करती है)॥ ५९ ॥

पार्थिवं देहमाहुस्तं प्राणात्मानं च मारुतम्।
छिद्राण्याकाशयोनीनि जलात् स्रावः प्रवर्तते ॥ ६० ॥

देहको अर्थात् इकट्ठे हुए कठिनांशको पृथ्वीका विकार कहते हैं, प्राणको वायुका, शरीरमें स्थित नौ छिद्रोंको आकाशका विकार कहते हैं और शरीरसे निकलनेवाले (मूत्र, पसीना वीर्य, आदि) सभी स्राव जलके विकार हैं॥ ६० ॥

ज्योतिश्चक्षुश्च तेजात्मा तेषां यन्ता मनः स्मृतः।
ग्रामाश्च विषयाश्चैव यस्य वीर्यात् प्रवर्तिताः ॥ ६१ ॥

चक्षुरिन्द्रिय तेजःस्वरूप है, इन सब पृथ्वी आदिके (सम्मिलित) तेजका अंश मन है, यह सभी इन्द्रियोंका नियामक है—इन सबको वशमें रखता है (मनके संयोगसे ही ये सब कार्यक्षम होती हैं)। इस मनके वीर्य-शक्तिसे ही (रूप आदिके आश्रय) पृथ्वी आदिका समूह और गन्ध आदि विषय प्रत्यक्ष होते हैं अथवा ग्राम-नगर आदि सब मनके लगनेपर ही बनाये जाते हैं ॥ ६१ ॥

इत्येवं पुरुषः सर्वान् सृजँल्लोकान् सनातनान्।
कथं लोके नैधनेऽस्मिन् नरत्वं विष्णुरागतः ॥ ६२ ॥

पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु इस प्रकार इन सनातन लोकोंको रचते रहते हैं। ऐसे विष्णु भगवान् इस मरणशील संसारमें मनुष्य क्यों बने ? ॥ ६२ ॥

एष मे संशयो ब्रह्मन्नेवं मे विस्मयो महान्।
कथं गतिर्गतिमतामापन्नो मानुषीं तनुम् ॥ ६३ ॥

ब्रह्मन्! मुझे यही संदेह और बड़ा भारी विस्मय हो रहा है कि गतिमानोंको भी गति देनेवाले भगवान्ने मनुष्य-शरीर किसलिये धारण किया ? ॥ ६३ ॥

श्रुतो मे स्वस्य वंशस्य पूर्वेषां चैव सम्भवः।
श्रोतुमिच्छामि विष्णोस्तु वृष्णीनां च यथाक्रमम्॥

मैंने अपने वंशकी और अपने पूर्वजोंकी उत्पत्ति सुन ली, अब मैं विष्णुकी और वृष्णिवंशियोंकी उत्पत्तिको क्रमानुसार सुनना चाहता हूँ ॥ ६४ ॥

आश्चर्यं परमं विष्णुर्देवैर्दैत्यैश्च कथ्यते।
विष्णोरुत्पत्तिमाश्चर्यं ममाचक्ष्व महामुने ॥ ६५ ॥

महामुने! देवता और दैत्य विष्णुको परम अचरजभरा बताते हैं, अतः आप विष्णुकी अचरजसे भरी हुई उत्पत्तिका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ ६५ ॥

एतदाश्चर्यमाख्यानं कथयस्व सुखावहम्।
प्रख्यातबलवीर्यस्य विष्णोरमिततेजसः।
कर्म चाश्चर्यभूतस्य विष्णोस्तत्त्वमिहोच्यताम् ॥६६॥

आप बल और वीर्यके लिये प्रसिद्ध अमित तेजस्वी भगवान् विष्णुके इस सुख देनेवाले आश्चर्यजनक आख्यानको सुनाइये और आश्चर्यस्वरूप विष्णुके कर्मोंको तथा तत्त्वको भी मुझे सुनाइये॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि वराहोत्पत्तिवर्णने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें वराहोत्पत्तिवर्णनविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान् विष्णुके वाराह, नृसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण, व्यास तथा कल्कि-अवतारोंकी संक्षिप्त कथा

वैशम्पायन उवाच

प्रश्नभारो महांस्तात त्वयोक्तः शार्ङ्गधन्वनि ।
यथाशक्ति तु वक्ष्यामि श्रूयतां वैष्णवं यशः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—तात ! तुमने शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले भगवान् विष्णुके विषयमें यह प्रश्नका महान् भार मेरे ऊपर रख दिया । तथापि मैं यथाशक्ति तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दूँगा । तुम श्रीहरिकी यशोगाथा—लीलाकथाका श्रवण करो ॥ १ ॥

विष्णोः प्रभावश्रवणे दिष्ट्या ते मतिरुत्थिता ।
हन्त विष्णोः प्रवृत्तिं च शृणु दिव्यां मयेरिताम् ॥२॥

भगवान् विष्णुके प्रभावको सुननेमें जो तुम्हारे मनकी प्रवृत्ति हुई है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है । अतः मैं हर्षपूर्वक श्रीहरिकी दिव्य लीला-कथाका वर्णन करता हूँ । तुम ध्यान देकर उसे सुनो ॥ २ ॥

सहस्राक्षं सहस्रास्यं सहस्रचरणं च यम् ।
सहस्रशिरसं देवं सहस्रकरमव्ययम् ॥ ३ ॥
सहस्रजिह्वं भास्वन्तं सहस्रमुकुटं प्रभुम् ।
सहस्रदं सहस्रादिं सहस्रभुजमव्ययम् ॥ ४ ॥
सवनं हवनं चैव हव्यं होतारमेव च ।
पात्राणि च पवित्राणि वेदिं दीक्षां चरुं स्रुवम् ॥ ५ ॥
स्रुक्सोमं शूर्पमुसलं प्रोक्षणं दक्षिणायनम् ।
अध्वर्युं सामगं विप्रं सदस्यं सदनं सदः ॥ ६ ॥
यूपं समित्कुशं दर्वीं चमसोलूखलानि च ।
प्राग्वंशं यज्ञभूमिं च होतारं चयनं च यत् ॥ ७ ॥
ह्रस्वान्यतिप्रमाणानि चराणि स्थावराणि च ।
प्रायश्चित्तानि चार्थं च स्थण्डिलानि कुशांस्तथा ॥८॥
मन्त्रं यज्ञवहं वह्निं भागं भागवहं च यत् ।
अग्रेभुजं सोमभुजं घृतार्चिषमुदायुधम् ॥ ९ ॥
आहुर्वेदविदो विप्रा यं यज्ञे शाश्वतं विभुम् ।
तस्य विष्णोः सुरेशस्य श्रीवत्साङ्कस्य धीमतः ॥ १० ॥
प्रादुर्भावसहस्राणि अतीतानि न संशयः ।
भूयश्चैव भविष्यन्तीत्येवमाह प्रजापतिः ॥ ११ ॥

वेदवेत्ता ब्राह्मण जिन्हें सहस्रमुख, सहस्रनेत्र, सहस्रचरण, सहस्र-शिर, सहस्र-कर, अविनाशी देव, सहस्रों जिह्वाओंसे युक्त, प्रकाशमान, सहस्रों मुकुटोंसे सुशोभित; प्रभु, सहस्रोंका दान करनेवाले, सहस्रों प्राणियोंके आदिस्रष्टा, सहस्रबाहु, अविकारी, सवन (यज्ञोपयोगी काल), हवनरूप कर्म, हव्य (हवनीय पदार्थ), होता (यजमान), यज्ञपात्र, पवित्रक, वेदी, दीक्षा, चरु, स्रुवा, स्रुक्, सोम, सूप, मूसल, प्रोक्षणी (पात्र), दक्षिणायन, अध्वर्यु (यजुर्वेदी), साम गान करनेवाला ब्राह्मण, सदस्य, पत्नीशाला, सभा, यूप, समिधा, कुशा, दर्वी, चमस, ऊखल, प्राग्वंश (यज्ञमण्डपमें स्थित यजमान-गृह), यज्ञभूमि, होता (ऋत्विज), चयन (ईंटोंकी बनी हुई वेदी), छोटे-बड़े चराचर जीव, प्रायश्चित्त, प्रयोजन या फल, स्थण्डिल (वेदी), कुश, मन्त्र, यज्ञवाहक अग्नि, देवताओंका भाग, भागवाहक, अग्रासनभोजी, सोमभोक्ता, घीकी आहुतिसे उठनेवाली ज्वाला, उदायुध (यज्ञ-समाप्तिके समय की जानेवाली उदयनीय नामक इष्टि) तथा यज्ञमें विद्यमान सनातन प्रभु कहते हैं, उन श्रीवत्सचिह्नविभूषित देवेश्वर बुद्धिमान् भगवान् विष्णुके सहस्रों अवतार हो चुके हैं और भविष्यमें भी समय-समयपर बारंबार होते रहेंगे—इसमें संशय नहीं है । ऐसा प्रजापति ब्रह्माजीका कथन है ॥ ३—११ ॥

यत् पृच्छसि महाराज पुण्यां दिव्यां कथां शुभाम् ।
यदर्थं भगवान् विष्णुः सुरेशो रिपुसूदनः ।
देवलोकं समुत्सृज्य वसुदेवकुलेऽभवत् ॥ १२ ॥
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणु सर्वमशेषतः ।
वासुदेवस्य माहात्म्यं चरितं च महाद्युतेः ॥ १३ ॥

महाराज ! तुम जिस पवित्र, दिव्य एवं मङ्गलमयी कथाको पूछ रहे हो, उसका तथा जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये देवताओंके स्वामी शत्रुनाशक भगवान् विष्णु देवलोकको त्यागकर वसुदेवके कुलमें अवतीर्ण हुए थे, उसका भी मैं तुमसे भलीभाँति वर्णन करूँगा, तुम वह सब प्रसङ्ग पूर्णरूपसे सुनो । साथ ही महातेजस्वी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका माहात्म्य एवं चरित्र भी श्रवण करो ॥ १२-१३ ॥

हितार्थं सुरमर्त्यानां लोकानां प्रभवाय च ।
बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति कार्यतः ॥ १४ ॥

समस्त भूतोंके आत्मा भगवान् श्रीहरि देवता और मनुष्योंका कल्याण तथा लोकोंका अभ्युदय करनेके लिये आवश्यकतावश बारंबार अवतीर्ण होते हैं ॥ १४ ॥

प्रादुर्भावांश्च वक्ष्यामि पुण्यान् दिव्यगुणैर्युतान् ।
छान्दसीभिरुदाराभिः श्रुतिभिः समलंकृतान् ॥१५॥

मैं भगवान्के उदार वैदिक श्रुतियोंद्वारा वर्णित दिव्य गुणवाले पवित्र अवतारोंका वर्णन करूँगा ॥ १५ ॥

शुचिः प्रयतवाग् भूत्वा निबोध जनमेजय ।

इदं पुराणं परमं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम् ॥ १६ ॥
हन्त ते कथयिष्यामि विष्णोर्दिव्यां कथां शृणु ।

जनमेजय ! यह पवित्र एवं श्रेष्ठ पुराण वेदोंके समान सम्मानित है। तुम पवित्र एवं मौन होकर इसे सुनो। मैं बड़े हर्षके साथ तुमसे भगवान् विष्णुकी यह दिव्य कथा कहता हूँ। इसे श्रवण करो ॥ १६½ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
धर्मसंस्थापनार्थाय तदा सम्भवति प्रभुः ॥ १७ ॥

भारत ! जब-जब धर्मका ह्रास होता है, तब-तब प्रभु धर्मको दृढ़ रूपमें स्थापित करनेके लिये अवतार ग्रहण करते हैं ॥ १७ ॥

तस्य ह्येका महाराज मूर्तिर्भवति सत्तमा ।
नित्यं दिविष्ठा या राजंस्तपश्चरति दुश्चरम् ॥ १८ ॥

राजन् ! महाराज ! उनकी एक श्रेष्ठतम सात्त्विकी मूर्ति है, जो दिव्यलोकमें रहकर सदा दुष्कर तप करती है ॥ १८ ॥

द्वितीया चास्य शयने निद्रायोगमुपाययौ ।
प्रजासंहारसर्गार्थं किमध्यात्मविचिन्तकम् ॥ १९ ॥

उनकी दूसरी मूर्ति प्रजाके संहार और सृष्टिके लिये योगनिद्राका आश्रय ले शेषशय्यापर शयन करती है। वह योगनिद्रा अध्यात्मचिन्तकोंकी समाधिसे भी उत्कृष्ट है ॥ १९ ॥

सुप्त्वा युगसहस्रं स प्रादुर्भवति कार्यवान् ।
पूर्णे युगसहस्रे तु देवदेवो जगत्पतिः ॥ २० ॥
पितामहो लोकपालाश्चन्द्रादित्यौ हुताशनः ।
ब्रह्मा च कपिलश्चैव परमेष्ठी तथैव च ॥ २१ ॥
देवाः सप्तर्षयश्चैव त्र्यम्बकश्च महायशाः ।
वायुः समुद्राः शैलाश्च तस्य देहं समाश्रिताः ॥ २२ ॥

एक सहस्र चतुर्युगोंतक शयन करके वे सृष्टि-संचालनके कार्यसे पुनः विभिन्न (देवता आदिके) रूपोंमें प्रकट होते हैं। सहस्र युग पूर्ण हो जानेपर वे देवाधिदेव जगदीश्वर विष्णु ही पितामह ब्रह्मा, इन्द्रादि लोकपाल, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, कपिल, परमेष्ठी (दक्ष), देवता, सप्तर्षि और महायशस्वी त्रिनेत्रधारी शिव आदिके रूपमें प्रादुर्भूत होते हैं। वायु, समुद्र और पर्वत—ये सब-के-सब उन्हींके विराट् रूपका आश्रय लेकर स्थित हैं ॥ २०—२२ ॥

सनत्कुमारश्च महानुभावो
मनुर्महात्मा भगवान् प्रजाकरः ।
पुराणदेवोऽथ पुराणि चक्रे
प्रदीप्तवैश्वानरतुल्यतेजाः ॥ २३ ॥

महान् प्रभावशाली सनत्कुमार और प्रजाकी सृष्टि करनेवाले ऐश्वर्यशाली महात्मा मनु भी उन्हींके स्वरूप हैं। प्रदीप्त अग्निके समान तेजस्वी उन पुराणदेव श्रीहरिने ही समस्त देहधारियोंके शरीरोंकी रचना की है ॥ २३ ॥

येन चार्णवमध्यस्थौ नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टे देवासुरगणे प्रणष्टोरगराक्षसे ॥ २४ ॥
योद्धुकामौ सुदुर्धर्षौ दानवौ मधुकैटभौ ।
हतौ प्रभवता तेन तयोर्दत्त्वामितं वरम् ॥ २५ ॥

महाप्रलयके समय जब कि देवता, असुरगण, नाग तथा राक्षस आदि समस्त चराचर प्राणी नष्ट हो गये थे, एकार्णवके जलमें दो अत्यन्त दुर्धर्ष दानव प्रकट हुए। उनके नाम थे मधु और कैटभ। वे दोनों युद्ध चाहते थे। सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने ही उन दोनोंको मोक्षका अनुपम वर देकर मार डाला था ॥ २४-२५ ॥

पुरा कमलनाभस्य स्वपतः सागराम्भसि ।
पुष्करे यत्र सम्भूता देवाः सर्षिगणाः पुरा ॥ २६ ॥

पूर्वकालमें जब कमलनाभ भगवान् विष्णु समुद्रके जलमें शयन कर रहे थे, उनकी नाभिसे एक कमल प्रकट हुआ, जिसमें पहले ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देवताओंका प्रादुर्भाव हुआ ॥२६॥

एष पौष्करको नाम प्रादुर्भावो महात्मनः ।
पुराणे कथ्यते यत्र वेदः श्रुतिसमाहितः ॥ २७ ॥

पुराणमें यह परमात्मा विष्णुका पौष्कर नामका अवतार या सर्ग कहा जाता है। पुराण वह विद्या है, जिसमें मन्त्र एवं ब्राह्मण-भागकी श्रुतियोंसे सम्पन्न सम्पूर्ण वेद ही प्रतिष्ठित हैं (पुराणोंमें वेदार्थका ही विस्तार किया गया है) ॥ २७ ॥

वाराहस्तु श्रुतिमुखः प्रादुर्भावो महात्मनः ।
यत्र विष्णुः सुरश्रेष्ठो वाराहं रूपमास्थितः ।
महीं सागरपर्यन्तां सशैलवनकाननाम् ॥ २८ ॥

उन परमात्माका जो वाराह नामक अवतार है, वह श्रुतिमें वर्णित है। उस अवतारके समय सुरश्रेष्ठ भगवान् विष्णुने वाराहरूप धारणकर पर्वत और वनसहित समुद्रतककी सारी पृथ्वीका जलसे उद्धार किया था ॥ २८ ॥

वेदपादो यूपदंष्ट्रः क्रतुदन्तश्चितीमुखः ।
अग्निजिह्वो दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो महातपाः ॥ २९ ॥

चारों वेद उनके चार चरण और यूप उनकी दाढ़ें हैं। यज्ञ दाँत और श्येनचित् आदि चिति (इष्टिका-चयन) मुख है। साक्षात् अग्नि ही उनकी जिह्वा, कुशा रोमावलि और ब्रह्म मस्तक है। उनका तप महान् है ॥ २९ ॥

अहोरात्रेक्षणो दिव्यो वेदाङ्गः श्रुतिभूषणः ।
आज्यनासः स्रुवातुण्डः सामघोषस्वनो महान् ॥ ३० ॥

दिन और रात्रि उनके नेत्र हैं, वे दिव्यस्वरूप हैं। वेद उनका अङ्ग और श्रुतियाँ आभूषण हैं। हविष्य (घृत) नासिका, स्रुवा थूथन और सामवेदका गम्भीर घोष ही उनका स्वर है। वे महान् हैं ॥ ३० ॥

धर्मसत्यमयः श्रीमान् क्रमविक्रमसत्कृतः ।
प्रायश्चित्तनखो धीरः पशुजानुर्महाभुजः ॥ ३१ ॥

धर्म और सत्य उनका स्वरूप है। वे श्रीसम्पन्न तथा क्रम (गति) और विक्रम (पराक्रम) के द्वारा सम्मानित हैं। प्रायश्चित्त उनके नख और पशु उनके घुटने हैं। वे धीर तथा विशाल भुजाओंसे युक्त हैं ॥ ३१ ॥

उद्गात्रन्त्रो होमलिङ्गः फलबीजमहौषधिः ।
वाय्वन्तरात्मा मन्त्रस्फिग्विकृतः सोमशोणितः ॥३२॥

उद्गाता अन्त्र (आँत), होम लिङ्ग तथा बड़ी-बड़ी ओषधियाँ उनके अण्डकोश और वीर्य हैं। वायु अन्तरात्मा, मन्त्र नितम्ब और निचोड़कर निकाला हुआ सोमरस ही उनका रक्त है ॥ ३२ ॥

वेदिस्कन्धो हविर्गन्धो हव्यकव्यातिवेगवान् ।
प्राग्वंशकायो द्युतिमान् नानादीक्षाभिराचितः ॥ ३३ ॥

वेदी ही कंधा, हविष्य गन्ध तथा हव्य और कव्य उनका प्रचण्ड वेग है। प्राग्वंश (यजमान-गृह) उनका शरीर है। वे परम कान्तिमान् और नाना प्रकारकी दीक्षाओंसे सम्पन्न हैं ॥ ३३ ॥

दक्षिणाहृदयो योगी महासत्रमयो महान् ।
उपाकर्मोष्ठरुचकः प्रवर्ग्यावर्तभूषणः ॥ ३४ ॥

दक्षिणा ही उनका हृदय है। महान् सत्र (लंबे कालतक चलनेवाले यज्ञ) उन महान् योगीका स्वरूप है। वेदोंका स्वाध्याय उनके ओठोंका आभूषण है और प्रवर्ग्य नामक कर्मकी आवृत्ति ही उनका भूषण है ॥ ३४॥

नानाछन्दोगतिपथो गुह्योपनिषदासनः ।
छायापत्नीसहायो वै मेरुश्रृङ्ग इवोच्छ्रितः ॥ ३५ ॥

अनेक प्रकारके छन्दोंकी गति उनका मार्ग है और वे गोपनीय उपनिषद्रूपी आसनपर विराजमान रहते हैं। जलमें पड़नेवाली छाया (परछाईं) ही पत्नीकी भाँति उस समय उनकी सहायिका थी और वे मेरुपर्वतके शिखरके समान ऊँचे जान पड़ते थे ॥ ३५ ॥

महीं सागरपर्यन्तां सशैलवनकाननाम् ।
एकार्णवजले भ्रष्टामेकार्णवगतः प्रभुः ॥ ३६ ॥
दंष्ट्रया यः समुद्धृत्य लोकानां हितकाम्यया ।
सहस्रशीर्षो देवादिश्चकार पृथिवीं पुनः ॥ ३७ ॥

उन सहस्रों सिरवाले भगवान् वाराहने, जो देवताओंके आदिकारण हैं, एकार्णवके जलमें प्रवेश करके उसमें डूबी हुई पर्वत, वन और काननोंसहित समुद्रतककी सारी पृथ्वीको अपनी दाढ़से ऊपर उठाकर सम्पूर्ण लोकोंके हितकी कामनासे पुनः उसे जलके ऊपर स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दिया ॥

एवं यज्ञवराहेण भूत्वा भूतहितार्थिना ।
उद्धृता पृथिवी सर्वा सागराम्बुधरा पुरा ॥ ३८ ॥

इस प्रकार प्रकट होकर समस्त प्राणियोंका हित चाहनेवाले यज्ञात्मा भगवान् वाराहने समुद्र-जलको धारण करनेवाली समूची पृथ्वीका पूर्वकालमें उद्धार किया था ॥ ३८ ॥

वाराह एष कथितो नारसिंहमतः शृणु ।
यत्र भूत्वा मृगेन्द्रेण हिरण्यकशिपुर्हतः ॥ ३९ ॥

यह वाराह-अवतारकी कथा कही गयी। इसके बाद नरसिंह-अवतार हुआ, उसका वर्णन सुनो। उस अवतारमें भगवान्ने नरसिंहरूप धारण करके हिरण्यकशिपु नामक दैत्यका वध किया था ॥ ३९ ॥

पुरा कृतयुगे राजन् सुरारिर्बलदर्पितः ।
दैत्यानामादिपुरुषश्चचार तप उत्तमम् ॥ ४० ॥
दश वर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च ।
जपोपवासनिरतः स्थानमौनदृढव्रतः ॥ ४१ ॥

राजन्! पहले सत्ययुगमें देवताओंका शत्रु हिरण्यकशिपु समस्त दैत्योंका आदि पुरुष था। उसे अपने बलका बड़ा घमंड था। उसने साढ़े ग्यारह हजार वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की। वह सदा जप और उपवासमें संलग्न रहता था। दृढ़ आसन लगाकर मौनावलम्बनपूर्वक दृढ़ताके साथ उत्तम व्रतका पालन करता था ॥ ४०-४१ ॥

ततः शमदमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चानघ ।
ब्रह्मा प्रीतोऽभवत् तस्य तपसा नियमेन च ॥ ४२ ॥

निष्पाप नरेश! तदनन्तर उसके इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह, ब्रह्मचर्य, तपस्या और शौच-संतोषादि नियमोंके पालनसे ब्रह्माजी उसके ऊपर बहुत प्रसन्न हुए ॥ ४२ ॥

तं वै स्वयम्भूर्भगवान् स्वयमागत्य भूपते ।
विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता ॥ ४३ ॥

भूपाल! स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजी हंससे युक्त सूर्यके समान तेजस्वी विमानद्वारा स्वयं वहाँ पधारे ॥ ४३ ॥

आदित्यैर्वसुभिः साध्यैर्मरुद्भिर्दैवतैः सह ।
रुद्रैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसकिंनरैः ॥ ४४ ॥
दिशाभिर्विदिशाभिश्च नदीभिः सागरैस्तथा ।
नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च खेचरैश्च महाग्रहैः ॥ ४५ ॥
देवर्षिभिस्तपोवृद्धैः सिद्धैः सप्तर्षिभिस्तथा ।
राजर्षिभिः पुण्यतमैर्गन्धर्वैश्चाप्सरोगणैः ॥ ४६ ॥

उनके साथ आदित्य, वसु, साध्य, मरुद्गण, अन्य देवगण, रुद्रगण, विश्वेदेव, यक्ष, राक्षस, किंनर, दिशाएँ, विदिशाएँ, नदियाँ, समुद्र, नक्षत्र, मुहूर्त, आकाशचारी महान् ग्रह, तपस्यामें बढ़े-चढ़े देवर्षि, सिद्ध, सप्तर्षि, परम पुण्यात्मा राजर्षि, गन्धर्व तथा अप्सराएँ भी थीं ॥ ४४–४६ ॥

चराचरगुरुः श्रीमान् वृतः सर्वैः सुरैस्तथा।
ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यं वचनमब्रवीत् ॥ ४७॥

सम्पूर्ण देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ चराचर-गुरु श्रीमान् ब्रह्मा उस दैत्यसे इस प्रकार बोले—॥ ४७ ॥

प्रीतोऽस्मि तव भक्तस्य तपसानेन सुव्रत।
वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि ॥ ४८॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले दैत्यराज! तुम मेरे भक्त हो। तुम्हारी इस तपस्यासे मैं बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारा भला हो। तुम कोई वर माँगो और मनोवाञ्छित भोग प्राप्त करो' ॥ ४८ ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः।
न मानुषाः पिशाचाश्च निहन्युर्मां कथंचन ॥ ४९॥
ऋषयो वा न मां शापैः क्रुद्धा लोकपितामह।
शपेयुस्तपसा युक्ता वरमेतं वृणोम्यहम् ॥ ५०॥

हिरण्यकशिपु बोला—लोकपितामह! मुझे देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग, राक्षस, मनुष्य और पिशाच किसी तरह मार न सकें। तपस्वी ऋषि-महर्षि कुपित होकर मुझे शाप न दें, मैं आपसे यही वर माँगता हूँ ॥ ४९-५०॥

न शस्त्रेण न चास्त्रेण गिरिणा पादपेन वा।
न शुष्केण न चार्द्रेण स्यान्न चान्येन मे वधः ॥ ५१॥

न शस्त्रसे, न अस्त्रसे, न पर्वत अथवा वृक्षसे, न सूखेसे, न गीलेसे और न दूसरे ही किसी आयुधसे मेरा वध हो ॥ ५१ ॥

पाणिप्रहारेणैकेन सभृत्यबलवाहनम्।
यो मां नाशयितुं शक्तः स मे मृत्युर्भविष्यति ॥ ५२॥

जो मेरे सेवक, सेना और वाहनोंसहित मुझे एक ही थप्पड़से मार डालनेमें समर्थ हो, उसीके हाथसे मेरी मृत्यु हो ॥ ५२ ॥

भवेयमहमेवार्कः सोमो वायुर्हुताशनः।
सलिलं चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि दिशो दश ॥ ५३॥

मैं ही सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, जल, आकाश, नक्षत्र और दसों दिशाओंके रूपमें स्थित रहूँ ॥ ५३ ॥

अहं क्रोधश्च कामश्च वरुणो वासवो यमः।
धनदश्च धनाध्यक्षो यक्षः किंपुरुषाधिपः ॥ ५४॥

मैं ही काम और क्रोधका अधिष्ठाता होऊँ। मैं ही वरुण, इन्द्र, यम, धनाध्यक्ष कुबेर, यक्ष एवं किम्पुरुषोंका स्वामी होऊँ ॥ ५४ ॥

एवमुक्तस्तु दैत्येन स्वयम्भूर्भगवांस्तदा।
उवाच दैत्यराजं तं प्रहसन् नृपसत्तम ॥ ५५॥

नृपश्रेष्ठ! उस दैत्यके यों कहनेपर स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा ठठाकर हँस पड़े और उस समय उस दैत्यराजसे इस प्रकार बोले ॥ ५५ ॥

ब्रह्मोवाच

एते दिव्या वरास्तात मया दत्तास्तवाद्भुताः।
सर्वान् कामानिमांस्तात प्राप्स्यसि त्वं न संशयः ॥५६॥

ब्रह्माजीने कहा—तात! ये दिव्य और अद्भुत वर मैंने तुम्हें दे दिये। तुम इन सम्पूर्ण अभीष्टोंको प्राप्त कर लोगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ५६ ॥

एवमुक्त्वा तु भगवाञ्जगामाकाशमेव हि।
वैराजं ब्रह्मसदनं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ ५७॥

यों कहकर भगवान् ब्रह्मा आकाशमें स्थित, ब्रह्मर्षिगणोंसे सेवित वैराजपद नामक ब्रह्मधामको चले गये ॥ ५७ ॥

ततो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा मुनयस्तथा।
वरप्रदानं श्रुत्वा ते पितामहमुपस्थिताः ॥ ५८॥

तदनन्तर देवता, नाग, गन्धर्व और मुनि वह वरदान सुनकर पितामह ब्रह्माजीके पास गये ॥ ५८ ॥

विभुं विज्ञापयामासुर्देवा इन्द्रपुरोगमाः ॥ ५९॥

वहाँ पहुँचकर इन्द्र आदि देवताओंने भगवान् ब्रह्मासे अपने मानसिक भयको इस प्रकार सूचित किया ॥ ५९ ॥

देवा ऊचुः

वरेणानेन भगवन् बाधयिष्यति नोऽसुरः।
ततः प्रसीद भगवन् वधोऽप्यस्य विचिन्त्यताम् ॥ ६०॥
भवान् हि सर्वभूतानां स्वयम्भूरादिकृद् विभुः।
स्रष्टा च हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्ध्रुवः ॥ ६१॥

देवता बोले—भगवन्! इस वरके प्रभावसे तो वह असुर हमलोगोंको सदा ही महान् कष्ट पहुँचाता रहेगा। अतः आप प्रसन्न होइये और उसके वधका भी कोई उपाय सोचिये; क्योंकि आप ही सम्पूर्ण भूतोंके आदिस्रष्टा, स्वयम्भू, सर्वव्यापी, हव्य-कव्यके निर्माता, अव्यक्तप्रकृति और ध्रुवस्वरूप हैं ॥ ६०-६१ ॥

ततो लोकहितं वाक्यं श्रुत्वा देवः प्रजापतिः।
प्रोवाच भगवान् वाक्यं सर्वान् देवगणांस्तदा ॥ ६२॥

उस समय देवताओंका यह लोकहितकारी वचन सुनकर उन प्रजापतिदेव भगवान् ब्रह्माने समस्त देवताओंसे इस प्रकारकी बात कही—॥ ६२ ॥

अवश्यं त्रिदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसः फलम्।
तपसोऽन्तेऽस्य भगवान् वधं विष्णुः करिष्यति॥ ६३॥

'देवताओ! उस असुरको अपनी तपस्याका फल अवश्य

प्राप्त होगा। (फल-भोगके द्वारा) जब तपस्याकी समाप्ति हो जायगी, तब भगवान् विष्णु स्वयं ही उसका वध करेंगे'॥६३॥

एतच्छ्रुत्वा सुराः सर्वे वाक्यं पङ्कजसम्भवात्।
स्वानि स्थानानि दिव्यानि जग्मुस्ते वै मुदान्विताः॥ ६४॥

कमलयोनि ब्रह्माजीके मुखसे यह बात सुनकर समस्त देवता प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने दिव्य स्थानोंको चले गये॥ ६४॥

लब्धमात्रे वरे चापि सर्वाः सोऽबाधत प्रजाः।
हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन दर्पितः॥ ६५॥

वह वर पाते ही दैत्य हिरण्यकशिपु समस्त प्रजाको कष्ट देने लगा; क्योंकि ब्रह्माजीके उस वरदानसे उसका घमंड बहुत बढ़ गया था॥ ६५॥

आश्रमेषु महाभागान् मुनीन् वै शंसितव्रतान्।
सत्यधर्मरतान् दान्तान् पुरा धर्षितवांस्तु सः॥ ६६॥

सबसे पहले आश्रमोंमें रहनेवाले उत्तम व्रतके पालक, सत्य-धर्मपरायण तथा जितेन्द्रिय महाभाग मुनियोंको उसने पीड़ा देना आरम्भ किया॥ ६६॥

देवांस्त्रिभुवनस्थांस्तु पराजित्य महासुरः।
त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति दानवः॥ ६७॥

तीनों लोकोंमें रहनेवाले देवताओंको हराकर त्रिलोकीके राज्यको अपने वशमें करके वह महान् असुर दानव स्वर्गमें रहने लगा॥ ६७॥

यदा वरमदोन्मत्तो न्यवसद् दानवो दिवि।
यज्ञियान् कृतवान् दैत्यान् देवांश्चैवाप्ययज्ञियान्॥६८॥

वरदानके मदसे उन्मत्त हुआ वह दानव जब देवलोकमें निवास करता था, उन दिनों उसने दैत्योंको तो यज्ञका भागी बनाया और देवताओंको उससे वञ्चित कर दिया॥

आदित्याश्च ततो रुद्रा विश्वे च मरुतस्तथा।
शरण्यं शरणं विष्णुमुपाजग्मुर्महाबलम्॥ ६९॥
वेदयज्ञमयं ब्रह्म ब्रह्मदेवं सनातनम्।
भूतं भव्यं भविष्यं च प्रभुं लोकनमस्कृतम्।
नारायणं विभुं देवाः शरणं शरणागताः॥ ७०॥

तब आदित्य, रुद्र, विश्वेदेव और मरुद्गण आदि मिलकर शरणागतवत्सल, वेद एवं यज्ञस्वरूप, ब्रह्माजीके भी आराध्यदेव, सनातन ब्रह्मरूप महाबली भगवान् विष्णुकी शरणमें गये। भूत, वर्तमान और भविष्य जिनका स्वरूप है, जो सब कुछ करनेमें समर्थ तथा समस्त लोकोंद्वारा वन्दित हैं, उन्हीं सर्वव्यापी नारायणकी उन शरणागत देवताओंने शरण ली॥६९-७०॥

देवा ऊचुः

त्रायस्व नोऽद्य देवेश हिरण्यकशिपोर्भयात्।
त्वं हि नः परमो धाता ब्रह्मादीनां सुरोत्तम॥ ७१॥

देवता बोले—देवेश्वर! आप हिरण्यकशिपुके भयसे अब हमारी रक्षा करें। सुरश्रेष्ठ! आप हम ब्रह्मा आदि देवताओंके भी परम पालक हैं॥ ७१॥

त्वं हि नः परमो देवस्त्वं हि नः परमो गुरुः।
उत्फुल्लाम्बुजपत्राक्षः शत्रुपक्षभयंकरः।
क्षयाय दितिवंशस्य शरण्यस्त्वं भवस्व नः॥ ७२॥

आप ही हमारे परम देवता और आप ही हमारे परम गुरु हैं। आपके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान शोभा पाते हैं। आप शत्रुपक्षको भय देनेवाले हैं। प्रभो! आप दैत्योंके विनाशके लिये हमारे शरणदाता हों॥ ७२॥

विष्णुरुवाच

भयं त्यजध्वममरा ह्यभयं वो ददाम्यहम्।
तथैवं त्रिदिवं देवाः प्रतिपत्स्यथ माचिरम्॥ ७३॥

भगवान् विष्णुने कहा—देवताओ! भय छोड़ दो। मैं तुम्हें अभय देता हूँ। तुम शीघ्र ही पहलेकी भाँति स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे॥ ७३॥

एष तं सगणं दैत्यं वरदानेन दर्पितम्।
अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्म्यहम्॥ ७४॥

जो वरदान पाकर घमंडमें भर गया है तथा जो देवेश्वरोंके लिये अवध्य हो गया है, उस दितिपुत्र दानवराज हिरण्यकशिपुको उसके सेवकोंसहित मार डालता हूँ॥ ७४॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् विसृज्य त्रिदशेश्वरान्।
हिरण्यकशिपो राजन्नाजगाम हरिः सभाम्॥ ७५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यों कहकर भगवान् विष्णुने उन देवेश्वरोंको तो विदा कर दिया और स्वयं हिरण्यकशिपुके सभाभवनमें पधारे॥ ७५॥

नरस्य कृत्वार्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं प्रभुः।
नारसिंहेन वपुषा पाणिं निष्पिष्य पाणिना॥ ७६॥

उस समय उन प्रभुने अपना आधा शरीर मनुष्यका-सा बना लिया था और आधा सिंहका-सा। इस प्रकार नृसिंहरूप धारण करके वे एक हाथसे दूसरे हाथको रगड़ते हुए वहाँ आये॥ ७६॥

जीमूतघनसंकाशो जीमूतघननिःस्वनः।
जीमूतघनदीप्तौजा जीमूत इव वेगवान्॥ ७७॥

उनके शरीरका वर्ण सजल मेघके समान श्याम था। उनका शब्द भी जलपूर्ण मेघकी गर्जनाके समान ही गम्भीर था। उनके उद्दीप्त तेज और वेग भी बरसनेवाले बादलके ही तुल्य थे॥ ७७॥

दैत्यं सोऽतिबलं दीप्तं दृप्तशार्दूलविक्रमम्।
दृप्तैर्दैत्यगणैर्गुप्तं हतवानेकपाणिना॥ ७८॥

यद्यपि दैत्य हिरण्यकशिपु अत्यन्त बलवान्, तेजस्वी, दर्पमें भरे हुए सिंहके समान पराक्रमी तथा बलाभिमानी दैत्यों-द्वारा सुरक्षित था, तो भी भगवान् नृसिंहने उसे एक ही थप्पड़से मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥ ७८ ॥

नृसिंह एष कथितो भूयोऽयं वामनोऽपरः ।
यत्र वामनमाश्रित्य रूपं दैत्यविनाशकृत् ॥ ७९ ॥

यह नृसिंहावतारकी कथा कही गयी। अब दूसरे वामन-अवतारका वर्णन सुनो, जिसमें वामनरूप धारण करके भगवान्ने दैत्योंका विनाश किया था ॥ ७९ ॥

बलेर्बलवतो यज्ञे बलिना विष्णुना पुरा ।
विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्याः क्षोभितास्ते महासुराः ॥ ८० ॥

पूर्वकालमें सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णु (वामनरूप धारण-कर) बलवान् बलिके यज्ञमें गये और वहाँ उन्होंने अपने तीन ही पगोंसे (त्रिलोकीको नापकर) किसीसे क्षुब्ध न होनेवाले बड़े-बड़े असुरोंको क्षुब्ध कर डाला ॥ ८० ॥

विप्रचित्तिः शिबिः शङ्कुरयःशङ्कुस्तथैव च ।
अयःशिराः शङ्कुशिरा हयग्रीवश्च वीर्यवान् ॥ ८१ ॥
वेगवान् केतुमानुग्रः सोमव्यग्रो महासुरः ।
पुष्करः पुष्कलश्चैव वेपनश्च महारथः ॥ ८२ ॥
बृहत्कीर्तिर्महाजिह्वः साश्वोऽश्वपतिरेव च ।
प्रह्लादोऽश्वशिराः कुम्भः संह्लादो गगनप्रियः ।
अनुह्लादो हरिहरौ वराहः शंकरो रुजः ॥ ८३ ॥
शरभः शलभश्चैव कुपनः कोपनः क्रथः ।
बृहत्कीर्तिर्महाजिह्वः शङ्कुकर्णो महास्वनः ॥ ८४ ॥
दीर्घजिह्वोऽर्कनयनो मृदुचापो मृदुप्रियः ।
वायुर्यविष्ठो नमुचिः शम्बरो विज्वरो महान् ॥ ८५ ॥
चन्द्रहन्ता क्रोधहन्ता क्रोधवर्धन एव च ।
कालकः कालकेयश्च वृत्रः क्रोधो विरोचनः ॥ ८६ ॥
गरिष्ठश्च वरिष्ठश्च प्रलम्बनरकावुभौ ।
इन्द्रतापनवातापी केतुमान् बलदर्पितः ॥ ८७ ॥
असिलोमा पुलोमा च वाकलः प्रमदो मदः ।
खसृमः कालवदनः करालः कैशिकः शरः ॥ ८८ ॥
एकाक्षश्चन्द्रहा राहुः संह्लादः सृमरः स्वनः ।
शतघ्नीचक्रहस्ताश्च तथा परिघपाणयः ॥ ८९ ॥
महाशिलाप्रहरणाः शूलहस्ताश्च दानवाः ।
अश्मयन्त्रायुधोपेता भिन्दिपालायुधास्तथा ॥ ९० ॥
शूलोलूखलहस्ताश्च परश्वधधरास्तथा ।
पाशमुद्गरहस्ता वै तथा मुसलपाणयः ॥ ९१ ॥
नानाप्रहरणा घोरा नानावेषा महाजवाः ।
कूर्मकुक्कुटवक्त्राश्च शशोलूकमुखास्तथा ॥ ९२ ॥
खरोष्ट्रवदनाश्चैव वराहवदनास्तथा ।
भीमा मकरवक्त्राश्च क्रोष्टुवक्त्राश्च दानवाः ।
आखुदर्दुरवक्त्राश्च घोरा वृकमुखास्तथा ॥ ९३ ॥
मार्जारगजवक्त्राश्च महावक्त्रास्तथापरे ।
नक्रमेषाननाः शूरा गोऽजाविमहिषाननाः ॥ ९४ ॥
गोधाशल्यकवक्त्राश्च क्रौञ्चवक्त्राश्च दानवाः ।
गरुडाननाः खड्गमुखा मयूरवदनास्तथा ॥ ९५ ॥
गजेन्द्रचर्मवसनास्तथा कृष्णाजिनाम्बराः ।
चीरसंवृतदेहाश्च तथा वल्कलवाससः ॥ ९६ ॥
उष्णीषिणो मुकुटिनस्तथा कुण्डलिनोऽसुराः ।
किरीटिनो लम्बशिखाः कम्बुग्रीवाः सुवर्चसः ।
नानावेषधरा दैत्या नानामाल्यानुलेपनाः ॥ ९७ ॥
स्वान्यायुधानि संगृह्य प्रदीप्तान्यतितेजसा ।
क्रममाणं हृषीकेशमुपावर्तन्त सर्वशः ॥ ९८ ॥

जिस समय भगवान् हृषीकेश अपने डग बढ़ा रहे थे, उस समय विप्रचित्ति, शिबि, शङ्कु, रय और शङ्कु, अयःशिरा तथा शङ्कुशिरा, पराक्रमी हयग्रीव, वेगवान्, केतुमान्, उग्र, महान् असुर सोमव्यग्र, पुष्कर और पुष्कल तथा महारथी वेपन, बृहत्कीर्ति, महाजिह्व तथा अश्वसहित अश्वपति, प्रह्लाद, अश्वशिरा, कुम्भ, संह्लाद, गगनप्रिय, अनुह्लाद, हरि और हर, वराह, शंकर, रुज, शरभ तथा शलभ, कुपन, कोपन, क्रथ, बृहत्कीर्ति, महाजिह्व, शङ्कुकर्ण, महास्वन, दीर्घजिह्व, अर्कनयन, मृदुचाप, मृदुप्रिय, वायु, यविष्ठ, नमुचि, शम्बर, महाकाय विज्वर, चन्द्रहन्ता, क्रोधहन्ता एवं क्रोधवर्धन, कालक तथा कालकेय, वृत्र, क्रोध, विरोचन, गरिष्ठ और वरिष्ठ, प्रलम्ब और नरक नामक दो दैत्य, इन्द्रतापन और वातापि, बलाभिमानी केतुमान्, असिलोमा तथा पुलोमा, वाकल, प्रमद, मद, खसृम, कालवदन कराल, कैशिक, शर, एकाक्ष, चन्द्रहा, राहु, संह्लाद, सृमर और स्वन आदि दैत्य चारों ओरसे भगवान्को घेरकर खड़े हो गये। उनमेंसे किसीके हाथमें शतघ्नी (बंदूक) थी और किसी-के हाथमें चक्र। बहुतेरे अपने हाथोंमें परिघ लिये खड़े थे। कुछ दानव बड़ी-बड़ी शिलाओंसे प्रहार करते थे। कितनोंके हाथोंमें शूल थे। कितने ही पत्थरके गोले फेंकनेवाले यन्त्र-रूपी आयुधसे सम्पन्न थे। बहुतेरे भिन्दिपाल नामक अस्त्रका प्रयोग करते थे। कितने ही दैत्योंने अपने हाथोंमें शूल, ऊखल, फरसे, पाश, मुद्गर और मुसल ले रखे थे। इस प्रकार वे भाँति-भाँतिके आयुध धारण किये हुए थे। उनके वेष भी कई तरहके थे। वे सब-के-सब महान् वेगशाली और भयंकर थे। किन्हींके मुख कछुओं और मुर्गोंके समान थे तो किन्हींके खरहे और घूघुओंके सदृश। कितने ही दानवोंके मुख गदहे, ऊँट, सूअर, मगर और सियारोंके समान थे। वे सभी बड़े भयानक जान पड़ते थे। कुछ घोर रूपधारी दैत्योंके मुख चूहों और मेढकोंके समान थे। कितनोंके मुख भेड़ियोंसे मिलते-जुलते थे। किन्हींके मुख बिलाव-जैसे थे तो किन्हींके हाथियोंके समान। कोई-कोई इससे भी बड़े मुखवाले थे।

बहुतोंके मुख नक्र (नाके), मेढ़े, बैल, बकरे, मेड़- भैंसे, गोह, साही, क्रौंच (कुरर), गरुड़, गैंडे और मोरोंसे मिलते-जुलते थे। कुछ दैत्योंने गजराजके चमड़े ओढ़ रखे थे और कितनोंने वस्त्रकी जगह काले मृगचर्मको ही लपेट रखा था। बहुतोंके शरीर चीरसे ढके थे, और कितने ही वल्कल वस्त्र पहने थे; किन्हींके मस्तकपर पगड़ी शोभा पाती थी और किन्हींके मुकुट। कितने ही असुर किरीट और कुण्डलोंसे सुशोभित थे, किन्हींके सिरपर लंबी शिखाएँ शोभा पाती थीं। बहुत-से दैत्योंकी गर्दनें शङ्खके समान थीं। वे अत्यन्त तेजस्वी दैत्य नाना प्रकारके वेष धारण किये भाँति-भाँतिकी मालाओं और चन्दनोंसे अलंकृत थे। वे अत्यन्त तेजसे चमकते हुए अपने-अपने आयुध लिये खड़े थे ॥ ८१—९८॥

प्रमथ्य सर्वान् दैतेयान् पादहस्ततलैः प्रभुः।
रूपं कृत्वा महाभीमं जहाराशु स मेदिनीम् ॥ ९९ ॥

उन सर्वशक्तिमान् भगवान्ने महाभयानक रूप धारण करके समस्त दैत्योंको लातों और थप्पड़ोंसे मथ डाला और शीघ्र ही इस पृथ्वीको उनसे छीन लिया ॥ ९९ ॥

तस्य विक्रमतो भूमिं चन्द्रादित्यौ स्तनान्तरे।
नभः प्रक्रममाणस्य नाभ्यां किल समास्थितौ ॥१००॥

कहते हैं—जब वे भूमिको नाप रहे थे, उस समय चन्द्रमा और सूर्य उन विराट्‌रूपधारी भगवान्‌के स्तनोंके बीचमें आ गये थे और जब वे आकाश (स्वर्गलोक)को नापने लगे, तब चन्द्रमा और सूर्य उनकी नाभिमें आ गये ॥ १००॥

परं प्रक्रममाणस्य जानुदेशे स्थितावुभौ।
विष्णोरतुलवीर्यस्य वदन्त्येवं द्विजातयः ॥१०१॥

वे अतुलपराक्रमी भगवान् विष्णु जब स्वर्गसे भी ऊपरके (मह, जन, तप और सत्य नामक) लोकोंको नाप रहे थे, उस समय सूर्य और चन्द्रमा उनके दोनों घुटनोंमें स्थित दिखायी दिये—इस प्रकार ब्राह्मणलोग कहते हैं ॥ १०१ ॥

हत्वा स पृथिवीं कृत्स्नां जित्वा चासुरपुंगवान्।
ददौ शक्राय त्रिदिवं विष्णुर्बलवतां वरः ॥१०२॥

इस प्रकार बलवानोंमें श्रेष्ठ श्रीविष्णुने सारी पृथ्वीका अपहरण करके बड़े-बड़े असुरोंको हराकर स्वर्गलोकका राज्य इन्द्रको दे दिया ॥ १०२ ॥

एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावो महात्मनः।
वेदविद्भिर्द्विजैरेवं कथ्यते वैष्णवं यशः ॥१०३॥

जनमेजय! इस प्रकार मैंने तुम्हें परमात्मा श्रीहरिके वामन नामक अवतारकी कथा सुनायी। वेदवेत्ता ब्राह्मण इसी तरह भगवान् विष्णुके यश (लीला-चरित्र) का वर्णन करते हैं ॥ १०३ ॥

भूयो भूतात्मनो विष्णोः प्रादुर्भावो महात्मनः।
दत्तात्रेय इति ख्यातः क्षमया परया युतः ॥१०४॥

इसके बाद भूतात्मा परमात्मा विष्णुका फिर जो अवतार हुआ, वह दत्तात्रेयके नामसे विख्यात है। भगवान् दत्तात्रेय बड़े ही क्षमाशील थे ॥ १०४ ॥

तेन नष्टेषु वेदेषु प्रक्रियासु मखेषु च।
चातुर्वर्ण्ये तु संकीर्णे धर्मे शिथिलतां गते ॥१०५॥
अभिवर्धति चाधर्मे सत्ये नष्टेऽनृते स्थिते।
प्रजासु शीर्यमाणासु धर्मे चाकुलतां गते ॥१०६॥

उस समय वेद लुप्त हो गये थे, वैदिकी प्रक्रिया और यज्ञ भी नष्टप्राय हो गये थे, चारों वर्णोंमें संकरता आ गयी थी, धर्म शिथिल हो चला था, अधर्म बड़े जोरोंके साथ बढ़ रहा था। सत्य मिटता जा रहा था और सब ओर असत्यका बोलबाला था। प्रजा क्षीण हो रही थी और धर्म पाखण्डसे मिश्रित हो गया था ॥ १०५-१०६ ॥

सहयज्ञक्रिया वेदाः प्रत्यानीता हि तेन वै।
चातुर्वर्ण्यमसंकीर्णं कृतं तेन महात्मना ॥१०७॥

ऐसे समयमें भगवान् दत्तात्रेयने यज्ञों और क्रियाओंसहित वेदोंका पुनरुद्धार किया और चारों वर्णोंको पृथक्-पृथक् करके उन्हें व्यवस्थित रूप दिया ॥ १०७ ॥

तेन हैहयराजस्य कार्तवीर्यस्य धीमतः।
वरदेन वरो दत्तो दत्तात्रेयेण धीमता ॥१०८॥

वरदायक एवं ज्ञाननिष्ठ भगवान् दत्तात्रेयने हैहयवंशी बुद्धिमान् राजा कार्तवीर्यको यह वर दिया था—॥ १०८ ॥

एतद् बाहुद्वयं यत्ते मृधे मम कृतेऽनघ।
शतानि दश बाहूनां भविष्यन्ति न संशयः ॥१०९॥

'निष्पाप नरेश! ये जो तुम्हारी दो भुजाएँ हैं, मेरे वरदानके प्रभावसे युद्धके समय निस्संदेह एक हजार भुजाओंके रूपमें परिणत हो जायँगी ॥ १०९ ॥

पालयिष्यसि कृत्स्नां च वसुधां वसुधाधिप।
दुर्निरीक्ष्योऽरिवृन्दानां धर्मज्ञश्च भविष्यसि ॥११०॥

'पृथ्वीनाथ! तुम सारी पृथ्वीका पालन करोगे, शत्रुओंके समुदाय तुम्हारी ओर बड़ी कठिनतासे देख सकेंगे तथा तुम धर्मके ज्ञाता होओगे' ॥ ११० ॥

एष ते वैष्णवः श्रीमान् प्रादुर्भावोऽद्भुतः शुभः।
कथितो वै महाराज यथाश्रुतमरिंदम ॥१११॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज! मैंने जैसा सुना था, उसके अनुसार तुमसे भगवान् विष्णुके इस अद्भुत, शुभ एवं तेजस्वी अवतारका वर्णन किया है ॥ १११ ॥

भूयश्च जामदग्न्योऽयं प्रादुर्भावो महात्मनः।

यत्र बाहुसहस्रेण विस्मितं दुर्जयं रणे।
रामोऽर्जुनमनीकस्थं जघान नृपतिं प्रभुः ॥११२॥

फिर परमात्मा श्रीहरिका जमदग्निनन्दन परशुरामके रूपमें अवतार हुआ। उस अवतारमें भगवान् परशुरामने सेनाके बीचमें खड़े हुए उस राजा अर्जुनका वध किया था, जो अपनी सहस्र भुजाओंके कारण घमंडमें भरा रहता था और समराङ्गणमें शत्रुओंके लिये दुर्जय बना हुआ था ॥

रथस्थं पार्थिवं रामः पातयित्वार्जुनं भुवि।
धर्षयित्वा यथाकामं क्रोशमानं च मेघवत् ॥११३॥
कृत्स्नं बाहुसहस्रं च चिच्छेद भृगुनन्दनः।
परश्वधेन दीप्तेन ज्ञातिभिः सहितस्य वै ॥११४॥

राजा अर्जुन रथपर बैठा था, परंतु भृगुनन्दन परशुरामजीने उसे धरतीपर गिरा दिया और इच्छानुसार छातीपर चढ़कर चमकते हुए फरसेसे उसकी सम्पूर्ण सहस्रों भुजाएँ काट डालीं। यद्यपि वह जाति-भाइयों एवं कुटुम्बीजनोंके साथ था, तो भी उसकी यह दशा हो गयी। उस समय कार्तवीर्य मेघके समान गम्भीर स्वरमें जोर-जोरसे चीखता-चिल्लाता रहा ॥ ११३-११४ ॥

कीर्णा क्षत्रियकोटीभिर्मेरुमन्दरभूषणा।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी तेन निःक्षत्रिया कृता ॥११५॥

उन्होंने मेरु और मन्दराचलसे विभूषित समस्त पृथ्वीपर करोड़ों क्षत्रियोंकी लाशें बिछा दीं तथा इक्कीस बार भूतलको क्षत्रियोंसे शून्य कर दिया ॥ ११५ ॥

कृत्वा निःक्षत्रियां चैव भार्गवः सुमहातपाः।
सर्वपापविनाशाय वाजिमेधेन चेष्टवान् ॥११६॥

पृथ्वीको क्षत्रियहीन करके महातपस्वी भृगुनन्दन परशुरामने अपने सम्पूर्ण पापोका नाश (प्रायश्चित्त) करनेके लिये अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ ११६ ॥

तस्मिन् यज्ञे महादाने दक्षिणां भृगुनन्दनः।
मारीचाय ददौ प्रीतः कश्यपाय वसुंधराम् ॥११७॥

जिसमें बड़ा भारी दान दिया जाता है, उस अश्वमेध यज्ञमें भृगुनन्दन परशुरामने प्रसन्न होकर मरीचिकुमार कश्यपको दक्षिणारूपसे यह सारी पृथ्वी दे दी थी ॥ ११७ ॥

वारणांस्तुरगाञ्छीघ्रान् रथं च रथिनां वरः।
हिरण्यमक्षयं धेनूर्गजेन्द्रांश्च महामनाः।
ददौ तस्मिन् महायज्ञे वाजिमेधे महायशाः ॥११८॥

महायशस्वी, महामनस्वी, रथियोंमें श्रेष्ठ परशुरामने उस अश्वमेध नामक महायज्ञमें वरुणके यहाँसे प्राप्त हुए शीघ्रगामी घोड़े, रथ, अक्षय सुवर्णराशि, धेनु और गजराज भी दानमें दिये थे ॥ ११८ ॥

अद्यापि च हितार्थाय लोकानां भृगुनन्दनः।
चरमाणस्तपो दीप्तं जामदग्न्यः पुनः पुनः।
तिष्ठते देववद् धीमान् महेन्द्रे पर्वतोत्तमे ॥११९॥

आज भी समस्त लोकोंके हितके लिये बारंबार तीव्र तपस्या करते हुए भृगुकुलनन्दन जमदग्निकुमार बुद्धिमान् परशुराम उत्तम महेन्द्रपर्वतपर देवताओंके समान निवास करते हैं ॥ ११९ ॥

एष विष्णोः सुरेशस्य शाश्वतस्याव्ययस्य च।
जामदग्न्य इति ख्यातः प्रादुर्भावो महात्मनः ॥१२०॥

जनमेजय ! समस्त देवताओंके स्वामी सनातन एवं अविनाशी पुरुष परमात्मा विष्णुके इस परशुराम नामक अवतारका वर्णन किया गया ॥ १२० ॥

चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्रपुरस्सरः।
राज्ञो दशरथस्याथ पुत्रः पद्मायतेक्षणः ॥१२१॥

चौबीसवें त्रेतायुगमें भगवान् विष्णु राजा दशरथके पुत्र कमलनयन श्रीरामके रूपमें प्रकट हुए और कुछ कालतक विश्वामित्रके अनुयायी रहे ॥ १२१ ॥

कृत्वाऽऽत्मानं महाबाहुश्चतुर्धा प्रभुरीश्वरः।
लोके राम इति ख्यातस्तेजसा भास्करोपमः ॥१२२॥

उस समय सर्वसमर्थ महाबाहु भगवान् अपनेको चार रूपोंमें प्रकट करके स्वयं श्रीराम नामसे विख्यात हुए। वे श्रीराम सूर्यके समान तेजस्वी थे ॥ १२२ ॥

प्रसादनार्थं लोकस्य रक्षसां निधनाय च।
धर्मस्य च विवृद्ध्यर्थं जज्ञे तत्र महायशाः ॥१२३॥

महायशस्वी श्रीराम सब लोगोंको प्रसन्न रखने, राक्षसोंको मारने और धर्मकी वृद्धि करनेके लिये उस समय अवतीर्ण हुए थे ॥ १२३ ॥

तमप्याहुर्मनुष्येन्द्रं सर्वभूतपतेस्तनुम्।
यस्मै दत्तानि चास्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता ॥१२४॥
वधार्थं देवशत्रूणां दुर्धराणि सुरैरपि।

ज्ञानी पुरुष उन नरेन्द्र श्रीरामको समस्त भूतोंके स्वामी भगवान् विष्णुका अवतार-विग्रह बताते हैं, जिन्हें परम बुद्धिमान् विश्वामित्रजीने देवद्रोही असुरोंका वध करनेके लिये ऐसे दिव्यास्त्र प्रदान किये थे, जिन्हें धारण करना देवताओंके लिये भी कठिन था ॥ १२४½ ॥

यज्ञविघ्नकरो येन मुनीनां भावितात्मनाम् ॥१२५॥
मारीचश्च सुबाहुश्च बलेन बलिनां वरौ।
निहतौ च निराशौ च कृतौ तेन महात्मना ॥१२६॥

महात्मा श्रीरामने पवित्र अन्तःकरणवाले मुनियोंके यज्ञमें विघ्न डालनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ मारीच और सुबाहुको अपने

बाणोंका निशाना बनाया और उनकी आशा पूर्ण होने नहीं दी ॥ १२५-१२६ ॥

वर्तमाने मखे येन जनकस्य महात्मनः।
भग्नं माहेश्वरं चापं क्रीडता लीलया पुरा ॥१२७॥

पूर्वकालमें जब महात्मा राजा जनकके यहाँ यज्ञ हो रहा था, उस समय उन्हीं श्रीरामने खेल-सा करते हुए महादेवजीके धनुषको अनायास ही तोड़ डाला था ॥ १२७ ॥

यः समाः सर्वधर्मज्ञश्चतुर्दश वनेऽवसत्।
लक्ष्मणानुचरो रामः सर्वभूतहिते रतः ॥१२८॥

वे सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता तथा समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले थे। उन्होंने लक्ष्मणको साथ ले चौदह वर्षोंतक वनमें निवास किया ॥ १२८ ॥

रूपिणी यस्य पार्श्वस्था सीतेति प्रथिता जनैः।
पूर्वोचिता तस्य लक्ष्मीर्भर्तारमनुगच्छति ॥१२९॥

उस समय उनके साथ मूर्तिमती लक्ष्मी भी थीं, जो लोगोंमें 'सीता' के नामसे प्रसिद्ध थीं। वे उनकी पूर्वोचित पत्नी थीं और पतिके पीछे-पीछे वनमें गयी थीं ॥ १२९ ॥

चतुर्दश तपस्तप्त्वा वने वर्षाणि राघवः।
जनस्थाने वसन् कार्यं त्रिदशानां चकार ह ॥१३०॥

चौदह वर्षोंतक वनमें तपस्या करके जनस्थानमें निवास करते हुए रघुनन्दन श्रीरामने देवताओंका अभीष्ट कार्य सिद्ध किया ॥ १३० ॥

सीतायाः पदमन्विच्छँल्लक्ष्मणानुचरो विभुः।
विराधं च कबन्धं च राक्षसौ भीमविक्रमौ।
जघान पुरुषव्याघ्रौ गन्धर्वौ शापवीक्षितौ ॥१३१॥

उन भगवान् श्रीरामने (रावणके द्वारा अपहृत) सीताका पता लगाते हुए लक्ष्मणके साथ जाकर भयानक-पराक्रमी राक्षस विराध और कबन्धको मार डाला। वे दोनों वास्तवमें पुरुषसिंह गन्धर्व थे, किंतु शाप-ग्रस्त होकर राक्षस हो गये थे ॥ १३१ ॥

हुताशनार्केन्दुतडिद्घनाभैः
प्रतप्तजाम्बूनदचित्रपुङ्खैः।
महेन्द्रवज्राशनितुल्यसारैः
शरैः शरीरेण वियोजितौ बलात् ॥१३२॥

इन राक्षसोंपर श्रीरामचन्द्रजीने ऐसे बाणोंद्वारा प्रहार किया, जो अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, बिजली और मेघके समान प्रकाशित होते थे, जिनके विचित्र पङ्ख तपाये हुए जाम्बूनद नामक सुवर्णके बने हुए थे और जो इन्द्रके वज्र तथा विद्युत्के समान शक्तिशाली थे। उन बाणोंद्वारा उन्होंने बलपूर्वक उन दोनों राक्षसोंको शरीरसे विलग कर दिया ॥ १३२ ॥

सुग्रीवस्य कृते येन वानरेन्द्रो महाबलः।
वाली विनिहतो युद्धे सुग्रीवश्चाभिषेचितः ॥१३३॥

श्रीरामने अपने मित्र सुग्रीव (की भलाई) के लिये युद्धमें महाबली वानरराज वालीको मार डाला और उसके राज्यपर सुग्रीवका अभिषेक कर दिया ॥ १३३ ॥

देवासुरगणानां हि यक्षगन्धर्वभोगिनाम्।
अवध्यं राक्षसेन्द्रं तं रावणं युद्धदुर्मदम् ॥१३४॥
युक्तं राक्षसकोटीभिर्नीलाञ्जनचयोपमम्।
त्रैलोक्यरावणं घोरं रावणं राक्षसेश्वरम् ॥१३५॥
दुर्जयं दुर्धरं दृप्तं शार्दूलसमविक्रमम्।
दुर्निरीक्ष्यं सुरगणैर्वरदानेन दर्पितम् ॥१३६॥
जघान सचिवैः सार्द्धं ससैन्यं रावणं युधि।
महाभ्रघनसंकाशं महाकायं महाबलम् ॥१३७॥

उन दिनों राक्षसराज रावण देवता, असुर, यक्ष, गन्धर्व और नागोंके लिये अवध्य हो रहा था। युद्धमें वह उन्मत्त होकर लड़ता था। करोड़ों राक्षस उसके सहायक थे। उसका शरीर काले अञ्जनके ढेरके समान था। त्रिलोकीको रुलानेवाला वह भयंकर राक्षसराज रावण दुर्जय और दुर्द्धर्ष था। उसका पराक्रम सिंहके समान था। उसका घमंड बहुत बढ़ा हुआ था। वरदानके कारण वह और भी घमंडी हो गया था। देवताओंके लिये उसकी ओर देखना भी कठिन था। उसका शरीर मेघोंकी घटाके समान काला था। भगवान् श्रीरामने उस महाकाय महाबली रावणका युद्धमें मन्त्रियों तथा सेनाओंसहित संहार कर डाला ॥ १३४–१३७ ॥

तमागस्कारिणं घोरं पौलस्त्यं युधि दुर्जयम्।
सभ्रातृपुत्रसचिवं ससैन्यं क्रूरनिश्चयम् ॥१३८॥
रावणं निजघानाशु रामो भूतपतिः पुरा।

पुलस्त्य-पौत्र रावण भयानक अपराधी था, उसका प्रत्येक निश्चय क्रूरतासे पूर्ण होता था; युद्धमें उसपर विजय पाना कठिन था। तो भी सम्पूर्ण भूतोंके पालक भगवान् श्रीरामने पूर्वकालमें उसे भाई, पुत्र, मन्त्री और सेनाओंसहित शीघ्रतापूर्वक मार डाला ॥ १३८½ ॥

मधोश्च तनयो दृप्तो लवणो नाम दानवः ॥१३९॥
हतो मधुवने वीरो वरदृप्तो महासुरः।
समरे युद्धशौण्डेन तथा चान्येऽपि राक्षसाः ॥१४०॥

उन्हीं दिनों मधुवन (मथुरा) में लवण नामक दानव रहता था, जो मधुका पुत्र था। वह महान् असुर वीर तो था ही, मनोवाञ्छित वर पा जानेके कारण और भी घमंडमें भर गया था। वह श्रीरामके ही स्वरूपभूत शत्रुघ्नके हाथसे मारा गया। युद्धकुशल श्रीराम (तथा उनके भाइयों) ने समराङ्गणमें और भी बहुत-से राक्षसोंका संहार किया ॥ १३९-१४० ॥

एतानि कृत्वा कर्माणि रामो धर्मभृतां वरः ।
दशाश्वमेधाञ्जारूथ्यानाजहार निरर्गलान् ॥१४१॥

इन सब (पराक्रमपूर्ण) कर्मोंका सम्पादन करके धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने तीनगुनी दक्षिणासे युक्त दस अश्वमेध यज्ञ किये, जो बिना किसी विघ्न बाधाके पूर्ण हो गये ॥ १४१ ॥

नाश्रूयन्ताशुभा वाचो नाकुलं मारुतो ववौ ।
न वित्तहरणं त्वासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥१४२॥

श्रीरामचन्द्रजी जब राज्यका शासन करते थे, उन दिनों कहीं अशुभ बातें नहीं सुनी जाती थीं, वायु प्रचण्ड वेगसे नहीं चलती थी तथा कोई किसीके धनका अपहरण नहीं करता था ॥ १४२ ॥

पर्यदेवन्न विधवा नानर्थाश्चाभवंस्तदा ।
सर्वमासीज्जगद् दान्तं रामे राज्यं प्रशासति ॥१४३॥

श्रीरामके राज्य-शासनकालमें कभी विधवाओंका करुण क्रन्दन नहीं सुना गया। कहीं भी अनर्थपूर्ण घटनाएँ नहीं घटित हुईं। सारे जगत्के लोग (मन और इन्द्रियोंका संयम रखकर) विनीत एवं अनुशासित रहते थे ॥ १४३ ॥

न प्राणिनां भयं चापि जलानलनिघातजम् ।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते ॥१४४॥

श्रीरामके राज्यकालमें प्राणियोंको जल और अग्निसे मृत्युका भय कभी नहीं होता था और बूढ़ोंको बालकोंकी प्रेतक्रिया नहीं करनी पड़ती थी ॥ १४४ ॥

ब्रह्म पर्यचरत् क्षत्रं विशः क्षत्रमनुव्रताः ।
शूद्राश्चैव हि वर्णांस्त्रीञ्छुश्रूषन्त्यनहंकृताः ।
नार्यो नात्यचरन् भर्तॄन् भार्यां नात्यचरत् पतिः॥१४५॥

क्षत्रिय ब्राह्मणोंकी परिचर्या करते थे, वैश्य क्षत्रियोंके प्रति श्रद्धा रखते थे और शूद्र अहंकार छोड़कर ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंकी सेवा करते थे। श्रीरामके राज्यमें स्त्रियाँ अपने पतिको छोड़कर दूसरे किसी पुरुषमें आसक्त नहीं होती थीं और पुरुष भी अपनी पत्नीके सिवा दूसरी किसी स्त्रीपर आसक्तिपूर्ण दृष्टि नहीं डालते थे ॥ १४५ ॥

सर्वमासीज्जगद् दान्तं निर्दस्युरभवन्मही ।
राम एकोऽभवद् भर्त्ता रामः पालयिताभवत् ॥१४६॥

उस समय सारा जगत् जितेन्द्रिय था। पृथ्वीपर डाकुओंका कहीं नाम भी नहीं था। एकमात्र श्रीराम ही सबके स्वामी और संरक्षक थे ॥ १४६ ॥

आयुर्वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः ।
अरोगाः प्राणिनश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति ॥१४७॥

श्रीरामके शासनकालमें मनुष्योंकी आयु हजारों वर्षकी होती थी। वे सहस्रों पुत्रोंके पिता होते थे और किसी भी प्राणीको रोग नहीं सताता था ॥ १४७ ॥

देवतानामृषीणां च मनुष्याणां च सर्वशः ।
पृथिव्यां समवायोऽभूद् रामे राज्यं प्रशासति ॥१४८॥

भगवान् श्रीराम जब यहाँ राज्यशासन करते थे, उन दिनों इस भूतलपर देवता, ऋषि और मनुष्योंका सब ओर समागम होता रहता था ॥ १४८ ॥

गाथा अप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ।
रामे निबद्धतत्त्वार्था माहात्म्यं तस्य धीमतः ॥१४९॥

श्रीरामके विषयमें 'वे ही परम तत्त्व हैं' ऐसी दृढ़ आस्था रखनेवाले पुराणवेत्ता पुरुष इस प्रसङ्गमें निम्नाङ्कित गाथाएँ गाया करते हैं, जो उन बुद्धिमान् श्रीरघुनाथजीके माहात्म्यको सूचित करती हैं—॥ १४९ ॥

श्यामो युवा लोहिताक्षो दीप्तास्यो मितभाषिता ।
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाभुजः ॥१५०॥
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
अयोध्याधिपतिर्भूत्वा रामो राज्यमकारयत् ॥१५१॥

'श्रीरामचन्द्रजीका वर्ण श्याम था, वे सदा तरुण दिखायी देते थे, उनके नेत्र (कुछ-कुछ) लालिमा लिये हुए थे, मुखसे तेज बरसता रहता था, वे बहुत कम बोलते थे, उनकी लंबी भुजाएँ घुटनोंतक पहुँचती थीं, उनका मुख बड़ा सुन्दर था, कंधे सिंहके-से जान पड़ते थे, महाबाहु श्रीरामने अयोध्याके अधिपति होकर ग्यारह हजार वर्षोंतक राज्य किया था ॥ १५०-१५१ ॥

ऋक्सामयजुषां घोषो ज्याघोषश्च महात्मनः ।
अव्युच्छिन्नोऽभवद्राज्ये दीयतां भुज्यतामिति ॥१५२॥

'उनके राज्यमे सदा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदका घोष सुनायी देता था। धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेसे उसकी टंकार-ध्वनि भी सदा श्रवणगोचर होती रहती थी तथा दान देने और भोजन करानेका उपदेश कभी बंद नहीं होता था ॥ १५२ ॥

सत्त्ववान् गुणसम्पन्नो दीप्यमानः स्वतेजसा ।
अति चन्द्रं च सूर्यं च रामो दाशरथिर्बभौ ॥१५३॥

'दशरथनन्दन श्रीराम सत्त्ववान् और गुणवान् होनेके साथ ही सदा अपने तेजसे देदीप्यमान रहते थे। उनकी सूर्य और चन्द्रमासे भी अधिक शोभा होती थी ॥ १५३ ॥

ईजे क्रतुशतैः पुण्यैः समाप्तवरदक्षिणैः ।
हित्वायोध्यां दिवं यातो राघवः समहाबलः ॥१५४॥

'श्रीरघुनाथजीने पर्याप्त एवं उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त सैकड़ों पवित्र यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। अन्तमें वे अयोध्याके महान् जन-समुदायको साथ ले अपनी उस पुरीको छोड़कर साकेत धामको पधारे' ॥ १५४ ॥

एवमेव महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
रावणं सगणं हत्वा दिवमाचक्रमे प्रभुः ॥१५५॥

इस प्रकार इक्ष्वाकुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले ये महाबाहु भगवान् श्रीराम दलबलसहित रावणका संहार करके अपने परमधामको चले गये ॥ १५५ ॥

वैशम्पायन उवाच

अपरः केशवस्यायं प्रादुर्भावो महात्मनः ।
विख्यातो माथुरे कल्पे सर्वलोकहिताय वै ॥१५६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—(जनमेजय !) इसके बाद परमात्मा भगवान् केशवका 'श्रीकृष्ण' नामक अवतार माथुर कल्प (मथुरामण्डल) में हुआ, जो सर्वत्र विख्यात है। भगवान्का यह अवतार सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये हुआ था॥

यत्र शाल्वं च मैन्दं च द्विविदं कंसमेव च ।
अरिष्टमृषभं केशिं पूतनां दैत्यदारिकाम् ॥१५७॥
नागं कुवलयापीडं चाणूरं मुष्टिकं तथा ।
दैत्यान् मानुषदेहस्थान् सूदयामास वीर्यवान् ॥१५८॥

इस अवतारमें परम पराक्रमी हरिने शाल्व, मैन्द, द्विविद, कंस, अरिष्ट, ऋषभ, केशी, दैत्य-कन्या पूतना, कुवलयापीड हाथी, चाणूर तथा मुष्टिक आदि मनुष्य-शरीरधारी दैत्योंका संहार किया था ॥ १५७-१५८ ॥

छिन्नं बाहुसहस्रं च बाणस्याद्भुतकर्मणः ।
नरकश्च हतः संख्ये यवनश्च महाबलः ॥१५९॥

इसके अतिरिक्त उन्होंने अद्भुत कर्म करनेवाले बाणासुरकी सहस्र भुजाएँ काट डालीं, युद्धमें नरकासुरका नाश किया और महाबली कालयवनको भस्म करा दिया ॥ १५९॥

हृतानि च महीपानां सर्वरत्नानि तेजसा ।
दुराचाराश्च निहताः पार्थिवाश्च महीतले ॥१६०॥

इतना ही नहीं, उन्होंने अपने तेजसे भूमिपालोंके सभी रत्न छीन लिये और भूतलके दुराचारी राजाओंको मौतके घाट उतार दिया ॥ १६० ॥

नवमे द्वापरे विष्णुरष्टाविंशे पुराभवत् ।
वेदव्यासस्तथा जज्ञे जातूकर्ण्यपुरस्सरः ॥१६१॥

(यहाँतक जो सात अवतार बताये गये, उनमें मत्स्य-कच्छप अवतारोंका भी अन्तर्भाव करके उन्हें नौ समझना चाहिये।) अट्ठाईसवें द्वापरमें भगवान् विष्णुका यह (श्रीकृष्ण नामक) नवम अवतार हुआ था। इससे कुछ पहले ही उनका दसवाँ अवतार भी हो गया था, जो जातूकर्ण्यके साथ प्रकट हुआ था। वह वेदव्यासके नामसे प्रसिद्ध है॥

एको वेदश्चतुर्धा तु कृतस्तेन महात्मना ।
जनितो भारतो वंशः सत्यवत्याः सुतेन च ॥१६२॥

उन सत्यवतीपुत्र महात्मा व्यासने एक वेदके चार विभाग किये और उन्होंने ही भरतवंशकी लुप्त हुई परम्पराको पुनः प्रचलित किया ॥ १६२ ॥

एते लोकहितार्थाय प्रादुर्भावा महात्मनः ।
अतीताः कथिता राजन् कथ्यन्ते चाप्यनागताः ॥१६३॥

राजन् ! समस्त जगत्का कल्याण करनेके लिये प्रकट हुए परमात्मा श्रीहरिके जो उक्त (दस) अवतार बीत गये हैं, उनकी चर्चा यहाँ की गयी। अब उनके भविष्यमें होनेवाले अवतार बताये जाते हैं ॥ १६३ ॥

कल्किर्विष्णुयशा नाम शम्भले ग्रामके द्विजः ।
सर्वलोकहितार्थाय भूयश्चोत्पत्स्यते प्रभुः ॥१६४॥

(भावी अवतारोंमें पहले 'बुद्ध'का प्राकट्य होगा।) इसके बाद विष्णुयशा नामसे प्रसिद्ध कल्कि अवतार होनेवाला है। भगवान् विष्णु शम्भल नामक ग्राममें सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये पुनः एक ब्राह्मणके रूपमें प्रकट होंगे ॥ १६४ ॥

दशमे भाव्यसम्पन्नो याज्ञवल्क्यपुरस्सरः ।
क्षपयित्वा च तान् सर्वान् भाविनार्थेन चोदितान् १६५
गङ्गायमुनयोर्मध्ये निष्ठां प्राप्स्यति सानुगः ।

पूर्वोक्त दशम अवतारका समय बीत जानेपर याज्ञवल्क्य ऋषिको साथ लेकर प्रकट होनेवाला यह अवतार भावी प्रयोजन (दुष्टोंके संहार और धर्मकी संस्थापना) को सिद्ध करनेकी शक्तिसे सम्पन्न होगा। भगवान् कल्कि भवितव्यतासे प्रेरित होकर अधर्मके पथपर चलनेवाले उन समस्त पापाचारियोंका संहार करके अपने अनुयायियोंसहित गङ्गा और यमुनाके मध्यवर्ती देशमें अपने अवतारकार्यको समाप्त करेंगे ॥

ततः कुले व्यतीते तु सामात्ये सहसैनिके ॥१६६॥
नृपेष्वथ प्रणष्टेषु तदा त्वप्रग्रहाः प्रजाः ।

तदनन्तर मन्त्री और सैनिकोंसहित राजवंशके विनष्ट हो जानेपर जब कोई शासक नरेश नहीं रह जायगा, तब सारी प्रजा बेलगाम होकर स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हो जायगी ॥१६६½॥

रक्षणे विनिवृत्ते च हत्वा चान्योन्यमाहवे ॥१६७॥
परस्परहृतस्वाश्च निराक्रन्दाः सुदुःखिताः ।

रक्षाकी राजकीय व्यवस्था समाप्त हो जानेपर लोग (आपसमें लड़ेंगे और) उस युद्धमें एक दूसरेको मारकर नष्ट हो जायँगे। आपसमें एक-दूसरेका धन लूटकर असहाय एवं अत्यन्त दुखी हो जायँगे ॥ १६७½ ॥

एवं कष्टमनुप्राप्ताः कलिसंध्यांशके तदा ।
प्रजाः क्षयं प्रयास्यन्ति सार्द्धं कलियुगेन ह ॥१६८॥

उस समय कलियुगका संध्यांश बीत रहा होगा, उन दिनों इस प्रकार कष्टमें पड़ी हुई सारी प्रजा कलियुगके साथ ही नष्ट हो जायगी—ऐसी बात कही जाती है ॥ १६८ ॥

क्षीणे कलियुगे तस्मिंस्ततः कृतयुगं पुनः।
प्रपत्स्यते यथान्यायं स्वभावादेव नान्यथा ॥१६९॥

कलियुगके समाप्त हो जानेपर फिर स्वभावसे ही सत्ययुगकी यथोचितरूपसे प्रवृत्ति होगी, दूसरे किसी प्रकारसे नहीं ॥

एते चान्ये च बहवो दिव्या देवगुणैर्युताः।
प्रादुर्भावाः पुराणेषु गीयन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥१७०॥

राजन्! ये तथा और भी भगवान्‌के बहुत-से दिव्य अवतार हुए हैं, जो देवोचित गुणोंसे सम्पन्न थे। ब्रह्मवादी मुनियोंने पुराणोमे उनका गान किया है ॥ १७० ॥

यत्र देवाश्च मुह्यन्ति प्रादुर्भावानुकीर्तने।
पुराणं वर्तते यत्र वेदश्रुतिसमाहितम् ॥१७१॥

भगवान्‌के इन अवतारोका वर्णन करनेमें देवता भी चकरा जाते हैं—इस विषयमे पुराण ही प्रमाण है, जिसका वैदिक श्रुतियोंद्वारा समर्थन होता है ॥ १७१ ॥

एतदुद्देशमात्रेण प्रादुर्भावानुकीर्तनम्।
कीर्तितं कीर्तनीयस्य सर्वलोकगुरोः प्रभोः ॥१७२॥

सम्पूर्ण जगत्‌के गुरु तथा कीर्तन करनेयोग्य सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के अवतारोंका यह वर्णन संक्षेपसे ही किया गया है ॥ १७२ ॥

प्रीयन्ते पितरस्तस्य प्रादुर्भावानुकीर्तनात्।
विष्णोरतुलवीर्यस्य यः शृणोति कृताञ्जलिः ॥१७३॥

अनुपम-शक्तिशाली भगवान् विष्णुके अवतारोंकी बारंबार चर्चा करनेसे पितरोंको प्रसन्नता होती है। जो हाथ जोड़कर आदरपूर्वक इस अवतार-कथाको सुनता है, उसके पितरोंको भी अक्षय तृप्ति प्राप्त होती है ॥ १७३ ॥

एतास्तु योगेश्वरयोगमायाः
श्रुत्वा नरो मुच्यति सर्वपापैः।
ऋद्धिं समृद्धिं विपुलांश्च भोगान्
प्राप्नोति सर्वं भगवत्प्रसादात् ॥१७४॥

जो मनुष्य योगेश्वर भगवान् श्रीहरिकी योगमाया द्वारा प्रकट हुए अवतारोंकी इन लीला-कथाओंको सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है तथा भगवान्‌की कृपासे शीघ्र ही उसे ऋद्धि, समृद्धि एवं प्रचुर भोग—सबकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १७४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि प्रादुर्भावानुसंग्रहो नामैकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें अवतारोंका संग्रहनामक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान् विष्णुके ईश्वरत्वका वर्णन एवं अद्भुततारकामय संग्रामकी कथा

वैशम्पायन उवाच

विश्वत्वं शृणु मे विष्णोर्हरित्वं च कृते युगे।
वैकुण्ठत्वं च देवेषु कृष्णत्वं मानुषेषु च ॥ १ ॥
ईश्वरत्वं च तस्येदं गहनां कर्मणां गतिम्।
सम्प्रत्यतीतां भाव्यां च शृणु राजन् यथातथम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अब तुम मुझसे सत्ययुगमे विष्णुके विश्वत्वको (उनके अभयदायक आश्वासक रूपको), हरित्वको (पापहारी रूपको), देवताओंमे भगवान्‌के वैकुण्ठत्वको (सर्वसमर्थताको) और पुरुषोंमें उनके श्रीकृष्णत्वको (सच्चिदानन्दताको) तथा उनके ईश्वरत्वको (दण्ड देने और कृपा करनेकी सामर्थ्यको) और उनके भूत, भविष्य एवं वर्तमान कर्मों (लीलाओं)की गहन गति (दुर्बोध स्वरूप) को यथार्थरूपसे सुनो ॥ १-२ ॥

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो यत्रैव भगवान् प्रभुः।
नारायणो ह्यनन्तात्मा प्रभवोऽव्यय एव च ॥ ३ ॥

वे सर्वशक्तिमान् प्रभु अव्यक्त होनेपर भी (अवतार-विग्रह धारण करते समय) अपनी मूर्तिको प्रकट किये रहते हैं, वे नारायण, अनन्तस्वरूप, सबके उत्पत्तिस्थान और अव्यय (अविनाशी) हैं ॥ ३ ॥

एष नारायणो भूत्वा हरिरासीत् कृते युगे।
ब्रह्मा शक्रश्च सोमश्च धर्मः शुक्रो बृहस्पतिः ॥ ४ ॥

कृतयुगमे ये नारायणरूप होकर हरि—मोक्षदायक बने और ये ही ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्रमा, धर्म, शुक्र और बृहस्पति-के रूपोमे प्रकट हुए ॥ ४ ॥

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दनः।
एष विष्णुरिति ख्यात इन्द्रादवरजोऽभवत् ॥ ५ ॥

इसके अनन्तर ये यादवनन्दन (श्रीकृष्णरूपसे अवतार लेनेवाले भगवान्) ही विष्णुके नामसे अदितिके पुत्र बनकर उत्पन्न हुए। उस जन्ममे ये इन्द्रके छोटे भाई बने थे ॥५॥

प्रसादजं ह्यस्य विभोरदित्याः पुत्रजन्म तत्।
वधार्थं सुरशत्रूणां दैत्यदानवरक्षसाम् ॥ ६ ॥

देवताओंके शत्रु दैत्य, दानव और राक्षसोंका संहार करनेके लिये भगवान् विष्णु अदितिके यहाँ पुत्र बनकर उत्पन्न हुए। यह उन विभुका प्रसाद (वरदान) रूप जन्म था ॥ ६ ॥

प्रधानात्मा पुरा ह्येष ब्रह्माणमसृजत् प्रभुः।
सोऽसृजत् पूर्वपुरुषः पुरा कल्पे प्रजापतीन्॥ ७॥

सृष्टिके आदिमें इन प्रधानात्मा—प्रकृतिके संचालक प्रभुने ही ब्रह्माको उत्पन्न किया और इन्हीं पुराणपुरुषने पूर्वकल्पमें (मरीचि आदि) प्रजापतियोंकी सृष्टि की॥ ७॥

ते तन्वानास्तनूस्तत्र ब्रह्मवंशाननुत्तमान्।
तेभ्योऽभवन्महात्मभ्यो बहुधा ब्रह्म शाश्वतम्॥ ८॥

उन प्रजापतियोंने (कश्यप आदिके रूपसे) अपने स्वरूपका विस्तार करके श्रेष्ठ ब्रह्मवंशों (गोत्रों) को उत्पन्न किया और उन महात्माओंसे सनातन वेद अनेक शाखाओंमें विभक्त हो गया॥ ८॥

एतदाश्चर्यभूतस्य विष्णोर्नामानुकीर्तनम्।
कीर्तनीयस्य लोकेषु कीर्त्यमानं निबोध मे॥ ९॥

लोकोंमें कीर्तनीय आश्चर्यमय विष्णुके इस (वेदरूप) नामकीर्तनका उल्लेख मेरे द्वारा किया जा रहा है, तुम इसे सुनो॥

वृत्ते वृत्रवधे तात वर्तमाने कृते युगे।
आसीत् त्रैलोक्यविख्यातः संग्रामस्तारकामयः॥ १०॥

तात! वर्तमान सत्ययुगमें वृत्रासुरका वध हो चुकनेपर त्रिलोकीमें प्रसिद्ध तारकामय संग्राम हुआ॥ १०॥

तत्रासन् दानवा घोराः सर्वे संग्रामदर्पिताः।
घ्नन्ति देवगणान् सर्वान् सयक्षोरगराक्षसान्॥ ११॥

उस समय सब-के-सब दानव संग्राममें दर्प भरे एवं भयकर दिखायी देते थे। उन्होने यक्ष, राक्षस और सर्पों-सहित समस्त देवताओंको मारना आरम्भ कर दिया था॥ ११॥

ते वध्यमाना विमुखाः क्षीणप्रहरणा रणे।
त्रातारं मनसा जग्मुर्देवं नारायणं हरिम्॥ १२॥

मार खाते-खाते जब उनके आयुध क्षीण हो गये, तब वे रणसे विमुख हो गये और सबकी रक्षा करनेवाले नारायणदेव श्रीहरिके ही मनसे शरण हो गये॥ १२॥

एतस्मिन्नन्तरे मेघा निर्वाणाङ्गारवर्षिणः।
सार्कचन्द्रग्रहगणं छादयन्तो नभस्तलम्॥ १३॥

इसी बीचमें मेघ तपे हुए लोहेके समान ज्वालारहित अँगारे बरसाने लगे। वे सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रहोंसहित आकाशको ढकते हुए दिखायी देते थे॥ १३॥

चञ्चद्विद्युद्गणाविद्धा घोरा निर्ह्रादकारिणः।
अन्योन्यवेगाभिहताः प्रववुः सप्त मारुताः॥ १४॥

कौंधती हुई बिजलियोंसे व्याप्त हो वे भयंकर बादल बड़े जोरसे गर्जने और परस्पर वेगसे टकराने लगे; क्योंकि उस समय प्रवह आदि सात प्रकारकी हवाएँ चल रही थीं॥ १४॥

दीप्ततोयाशनीपातैर्वज्रवेगानिलाकुलैः।
ररास घोरैरुत्पातैर्दह्यमानमिवाम्बरम्॥ १५॥

बिजली और तपे हुए जलके गिरने तथा वज्रके समान वेगवाली वायुके चलने आदि भयंकर उत्पातोंसे जलता हुआ-सा आकाश मानो कराहने लगा॥ १५॥

पेतुरुल्कासहस्राणि मुहुराकाशगान्यपि।
न्युब्जानि च विमानानि प्रपतन्त्युत्पतन्ति च॥ १६॥

उस समय हजारों उल्काएँ गिरती और फिर आकाशमें पहुँच जाती थीं तथा विमान नीचेको मुख करके गिरते और फिर उलटे ही उड़ जाते थे॥ १६॥

चतुर्युगान्तपर्याये लोकानां यद् भयं भवेत्।
तादृशान्येव रूपाणि तस्मिन्नुत्पातलक्षणे॥ १७॥

हजार चतुर्युगोंके अन्तमें होनेवाले प्रलयके समय लोकों-को जो भय प्राप्त होता है, इस उत्पातके समय भी वैसे ही चिह्न दीखने लगे॥ १७॥

तमसा निष्प्रभं सर्वं न प्राज्ञायत किंचन।
तिमिरौघपरिक्षिप्ता न रेजुश्च दिशो दश॥ १८॥

सारा संसार अन्धकारसे व्याप्त हो जानेके कारण प्रभाहीन प्रतीत होने लगा; कुछ भी सूझता न था। अन्धकारसमूहसे आच्छादित हुई दसों दिशाएँ ज्ञात ही नहीं होती थीं॥ १८॥

निशेव रूपिणी काली कालमेघावगुण्ठिता।
द्यौर्न भात्यभिभूतार्का घोरेण तमसा वृता॥ १९॥

जैसे काले मेघोंके घिर आनेपर अमावास्याकी रात्रि मूर्ति-मती-सी दीख पड़ती है, वैसे ही अन्धकारसे सूर्यके तिरोहित होनेपर घोर अन्धकारसे भरा हुआ आकाश शोभायमान नहीं लगता था॥ १९॥

तान् घनौघान् सतिमिरान् दोर्भ्यामुत्क्षिप्य स प्रभुः।
वपुः संदर्शयामास दिव्यं कृष्णवपुर्हरिः॥ २०॥

उस समय श्यामवर्ण भगवान् श्रीहरिने अपनी दोनों भुजाओंद्वारा अन्धकारसे व्याप्त उन मेघसमूहोंको ऊपरकी ओर ठेलकर अपने दिव्य स्वरूपका साक्षात्कार कराया॥ २०॥

बलाहकाञ्जननिभं बलाहकतनूरुहम्।
तेजसा वपुषा चैव कृष्णं कृष्णमिवाचलम्॥ २१॥
दीप्तपीताम्बरधरं तप्तकाञ्चनभूषणम्।
धूमान्धकारवपुषा युगान्ताग्निमिवोत्थितम्॥ २२॥
चतुर्द्विगुणपीनांसं बलाकापङ्क्तिभूषणम्।
चामीकरकराकारैरायुधैरुपशोभितम्॥ २३॥
चन्द्रार्ककिरणोद्योतं गिरिकूटं शिलोच्चयम्।
नन्दकानन्दितकरं शराशीविषधारिणम्॥ २४॥
शक्तिचित्रं हलोदग्रं शङ्खचक्रगदाधरम्।
विष्णुशैलं क्षमामूलं श्रीवृक्षं शार्ङ्गधन्विनम्॥ २५॥
हर्यश्वरथसंयुक्ते सुपर्णध्वजशोभिते।
चन्द्रार्कचक्ररुचिरे मन्दराक्षधृतान्तरे॥ २६॥

अनन्तरश्मिसंयुक्ते ददृशे मेरुकूबरे।
तारकाचित्रकुसुमे ग्रहनक्षत्रवन्धुरे ॥ २७ ॥
भयेष्वभयदं व्योम्नि देवा दैत्यपराजिताः।
ददृशुस्ते स्थितं देवं दिव्यलोकमये रथे ॥ २८ ॥

भगवान्के श्रीविग्रहका वर्ण मेघ और अञ्जनके समान था। उनके केश भी मेघके समान (काले) थे। उनका शरीर तो काले पर्वतके समान कृष्णवर्ण था ही, उससे तेज भी कृष्णवर्ण निकल रहा था। वे चमकता हुआ पीताम्बर धारण किये हुए थे और तपे हुए सुवर्णके आभूषण पहने थे। उस समय वे ऐसे लगते थे, जैसे धूमके समान अन्धकारमय शरीरसे आवेष्टित होकर प्रलयकालकी अग्नि प्रकट हुई हो। वे (अष्टभुज होनेके कारण) आठ मांसल बाहुमूलोंसे सुशोभित थे। चमकते हुए आभूषणोंसे युक्त उनका श्रीविग्रह ऐसी शोभा देता था, जैसे बगुलोंकी पंक्तिसे विभूषित मेघ हो। वे सुवर्णकी बनी मूठवाले आयुधोंसे सुशोभित तथा चन्द्रमा और सूर्यकी किरणोंसे दमकते हुए पर्वतके समान अचल थे। कटिप्रदेशमें मैनसिलके समान पीले रंगका नारा बाँधे हुए थे।* उनका एक हाथ नन्दक नामके खड्गसे सुशोभित था, वे दूसरे हाथमें सर्पाकार (लहरदार) बाण धारण किये हुए थे। शक्तिसे उनकी विचित्र शोभा हो रही थी। तीसरे हाथमें हल लिये रहनेके कारण वे बहुत ऊँचे दिखायी दे रहे थे। अन्य तीन हाथोंमें उन्होंने शङ्ख, चक्र और गदा धारण कर रखी थी। एक हाथमें उनके शार्ङ्ग (सींगका बना) धनुष था। भगवान् विष्णु एक पर्वतके समान दीख रहे थे। उनके अङ्गोंमें जो श्री है, वे ही वृक्ष स्थानीय थीं। जैसे पर्वतका मूलभाग क्षमा (पृथ्वी) पर प्रतिष्ठित है, उसी तरह श्रीहरिकी प्राप्तिका मूल क्षमाभाव है। भयके अवसरोंपर अभयदान देनेवाले पर्वतके समान अटल भगवान् विष्णुको दैत्योंसे हारे हुए देवताओंने आकाशके बीच दिव्यलोकमय रथमें बैठे देखा। उस रथमें हरे रंगके घोड़े जुते हुए थे। वह गरुड़की ध्वजासे शोभित था। सूर्य और चन्द्रमारूपी पहियोंसे वह सुन्दर दिखायी देता था। उसके भीतरी भागको मन्दराचलरूपी धुरेने धारण कर रखा था। भगवान् शेष ही उसमें रश्मि (लगाम) बने हुए थे। मेरु पर्वत उसका कूबर (आगेका भाग) था। तारे ही उसमें रंग-बिरंगे फूलोंके रूपमें सजे थे तथा ग्रह-नक्षत्र उसमें डोरीके रूपमें लगे थे ॥ २१–२८ ॥

ते कृताञ्जलयः सर्वे देवाः शक्रपुरोगमाः।
जयशब्दं पुरस्कृत्य शरण्यं शरणं गताः ॥ २९ ॥

उस समय इन्द्र आदि समस्त देवताओंने जय-जय शब्दका उच्चारण किया और हाथ जोड़कर शरण देनेवाले विष्णु-भगवान्‌की शरण ग्रहण की ॥ २९ ॥

स तेषां ता गिरः श्रुत्वा विष्णुर्दयितदेवतः।
मनश्चक्रे विनाशाय दानवानां महामृधे ॥ ३० ॥

विष्णुको देवता प्रिय हैं, अतएव उन्होंने देवताओंकी उस वाणीको सुनकर महायुद्धमें दानवोंके नाश करनेका अपने मनमें विचार किया ॥ ३० ॥

आकाशे तु स्थितो विष्णुः सोत्तमे पुरुषोत्तमः।
उवाच देवताः सर्वाः सप्रतिज्ञमिदं वचः ॥ ३१ ॥

उत्तम आकाशमें विराजमान उन पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुने सब देवताओंसे प्रतिज्ञापूर्वक यह बात कही—॥ ३१ ॥

शान्तिं भजत भद्रं वो मा भैष्ट मरुतां गणाः।
जिता मे दानवाः सर्वे त्रैलोक्यं प्रतिगृह्यताम् ॥ ३२ ॥

'देवताओ! तुम्हारा कल्याण हो! अब तुम शान्त हो जाओ, डरो मत। मेरे द्वारा सारे दानव जीत लिये गये—यों समझना चाहिये। (अब) तुम त्रिलोकीका राज्य अपना ही मानो और उसपर अधिकार करो' ॥ ३२ ॥

ते तस्य सत्यसंधस्य विष्णोर्वाक्येन तोषिताः।
देवाः प्रीतिं परां जग्मुः प्राप्येवामृतमुत्थितम् ॥ ३३ ॥

सत्यप्रतिज्ञ भगवान् विष्णुके वाक्यसे आश्वासित हो देवता अत्यधिक प्रसन्न हुए, मानो उनको क्षीरसागरसे प्रकट हुआ अमृत मिल गया ॥ ३३ ॥

ततस्तमः संह्रियते विनेशुश्च बलाहकाः।
प्रववुश्च शिवा वाताः प्रसन्नाश्च दिशो दश ॥ ३४ ॥

उस समय अन्धकार दूर हो गया, मेघ विलीन हो गये, सुखदायक वायु चलने लगी और दसों दिशाएँ निर्मल हो गयीं ॥ ३४ ॥

सुप्रभाणि च ज्योतींषि चन्द्रं चक्रुः प्रदक्षिणम्।
दीप्तिमन्ति च तेजांसि चक्रुरर्कं प्रदक्षिणम् ॥ ३५ ॥

सुन्दर प्रभावाले नक्षत्र चन्द्रमाकी और प्रकाशमान ग्रह सूर्यकी प्रदक्षिणा करने लगे ॥ ३५ ॥

न विग्रहं ग्रहाश्चक्रुः प्रसन्नाश्चापि सिन्धवः।
नीरजस्का बभुर्मार्गा नाकमार्गादयस्त्रयः ॥ ३६ ॥

ग्रहोंने आपसमें टकराना छोड़ दिया, नदियोंका जल निर्मल हो गया तथा देवयान, पितृयान और मोक्षमार्ग नामक तीनों मार्ग भी रज (धूल या रजोगुण) से रहित हो गये ॥ ३६ ॥

यथार्थमूहुः सरितो नापि चुक्षुभिरेऽर्णवाः।
आसञ्छुभानीन्द्रियाणि नराणामन्तरात्मसु ॥ ३७ ॥

* यहाँ नीलकंठजीने शिलाका अर्थ मैनसिल और उच्चयका अर्थ नीवीबन्ध या नारा किया है।

नदियाँ ठीक ढंगसे बहने लगीं, समुद्रोंका क्षुब्ध होना बंद हो गया, मनुष्योंके मनोंमें इन्द्रियोंको शुभ कार्योंमें लगानेकी इच्छा होने लगी ॥ ३७ ॥

महर्षयो वीतशोका वेदानुच्चैरधीयते ।
यज्ञेषु च हविः स्वादु शिवमश्नाति पावकः ॥ ३८ ॥

महर्षि शोकरहित होकर उच्चस्वरसे वेदध्वनि करने लगे, अग्निदेव भी यज्ञोंमें पवित्र और स्वादु हविका भक्षण करने लगे ॥ ३८ ॥

प्रवृत्तधर्माः संवृत्ता लोका मुदितमानसाः ।
प्रीत्या परमया युक्ता देवदेवस्य भूपते ।
विष्णोः सत्यप्रतिज्ञस्य श्रुत्वारिनिधने गिरम् ॥ ३९ ॥

पृथ्वीनाथ ! सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाले देवपूज्य भगवान् विष्णुके द्वारा की गयी शत्रुनाशकी प्रतिज्ञा सुनकर प्राणी अपने मनमें प्रसन्न होकर परम प्रीतिसे यज्ञ आदि धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त हो गये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि आश्चर्यतारकामये द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें आश्चर्यतारकामय संग्रामविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

देवताओंके साथ युद्धके लिये उद्यत हुई दैत्यसेनाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततो भयं विष्णुमयं श्रुत्वा दैतेयदानवाः ।
उद्योगं विपुलं चक्रुर्युद्धाय युधि दुर्जयाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर मुख्यतः भगवान् विष्णुकी ओरसे भय प्राप्त हुआ है, यह सुनकर रण-दुर्जय दैत्यों और दानवोंने युद्धके लिये बड़ा भारी उद्योग किया ॥ १ ॥

मयस्तु काञ्चनमयं त्रिनल्वान्तरमव्ययम् ।
चतुश्चक्रं विक्रमन्तं सुकल्पितमहायुधम् ॥ २ ॥
किङ्किणीजालनिर्घोषं द्वीपिचर्मपरिष्कृतम् ।
खचितं रत्नजालैश्च हेमजालैश्च भूषितम् ॥ ३ ॥
स्वक्षं रथवरोदग्रं सूपस्थानमगोपमम् ।
ईहामृगगणाकीर्णं पक्षिभिश्च विराजितम् ।
दिव्यास्त्रतूणीरधरं पयोधरनिनादितम् ॥ ४ ॥
गदापरिघसम्पूर्णं मूर्तिमन्तमिवार्णवम् ।
हेमकेयूरवलयं स्वर्णमण्डलकूबरम् ॥ ५ ॥
सपताकध्वजोदग्रं सादित्यमिव मन्दरम् ।
गजेन्द्राम्भोदसदृशं लम्बकेसरवर्चसम् ॥ ६ ॥
युक्तमृक्षसहस्रेण सहस्राम्बुदनादितम् ।
दीप्तमाकाशगं दिव्यं रथं पररथारुजम् ॥ ७ ॥
अध्यतिष्ठद्रणाकाङ्क्षी मेरुं दीप्तमिवांशुमान् ।

मयासुर एक सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हुआ, जिसका विस्तार बारह सौ हाथका था। उसमें चार पहिये लगे थे। वह रथ टूटने या बिगड़नेवाला नहीं था। कैसी ही विषम भूमि क्यों न हो, उसमें वह आगे बढ़ जाता था। उस रथमें बड़े-बड़े आयुध सुन्दर ढंगसे सजाकर रखे गये थे। उसमें छोटी-छोटी घंटियोंसे युक्त झालरें लगी थीं, जिनसे मधुर ध्वनिका विस्तार होता रहता था। रथके ऊपरी भागमें उसकी रक्षाके लिये चीतेकी खाल मढ़ी गयी थी। उस रथमें भाँति-भाँतिके रत्न जड़े गये थे तथा सोनेकी जालियाँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। उसका धुरा बहुत अच्छा था। वह रथ अच्छी श्रेणीके रथोंमें भी सबसे अच्छा था। उसकी बैठक बड़ी सुन्दर थी। वह देखनेमें पर्वत-जैसा जान पड़ता था। उसमें जीव-जन्तुओंके चित्र अङ्कित थे। भाँति भाँतिके पक्षियोंके चित्र भी उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उसके भीतर दिव्यास्त्र और तरकस रखे गये थे। उस रथसे मेघगर्जनाके समान गम्भीर घर्घर-शब्द होता रहता था। गदाओं और परिघोंसे परिपूर्ण वह विशाल रथ मूर्तिमान् समुद्र-सा जान पड़ता था। उस रथमें जहाँ-जहाँ संधिस्थलोंको बाँधे रखनेके लिये पट्टियाँ लगी थीं, वहाँ-वहाँ वे पट्टिकाएँ सुवर्ण निर्मित केयूर और वलयके सदृश शोभा पाती थीं। उसका कूबर सोनेका मण्डल-सा जान पड़ता था। ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित वह ऊँचा रथ सूर्यमण्डलसे विभासित मन्दराचल-सा जान पड़ता था। दूरसे देखनेपर उसका रंग बड़े बड़े गजराजों, मेघोंकी घटाओं तथा भालुओंके समान जान पड़ता था। उसमें एक हजार रीछ जुते हुए थे। उसकी घरघराहट सहस्रों मेघोंकी गर्जनाको तिरस्कृत किये देती थी। वह दीप्तिमान् दिव्य रथ आकाशमें भी चल सकता था और शत्रु-पक्षके रथोंको तोड़-फोड़ डालनेमें समर्थ था। युद्धकी आकांक्षा रखनेवाला मयासुर उस रथपर सवार हुआ मानो अंशुमाली सूर्य दीप्तिमान् मेरु पर्वतपर आरूढ़ हुए हों॥

तारस्तु क्रोशविस्तारमायसं वायसध्वजम् ॥ ८ ॥
शैलोत्करसमाकीर्णं नीलाञ्जनचयोपमम् ।
काललोहाष्टचरणं लोहेषायुगकूबरम् ।
तिमिराङ्गारकिरणं गर्जन्तमिव तोयदम् ॥ ९ ॥
लोहजालेन महता सगवाक्षेण दंशितम् ।

आयसैः परिघैः कीर्णं क्षेपणीयैस्तथाश्मभिः ॥ १० ॥
प्रासैः पाशैश्च विततैरवसक्तैश्च मुद्गरैः ।
शोभितं त्रासनीयैश्च तोमरैः सपरश्वधैः ॥ ११ ॥
उद्यन्तं द्विषतां हेतोर्द्वितीयमिव मन्दरम् ।
युक्तं खरसहस्रेण सोऽध्यारोहद्रथोत्तमम् ॥ १२ ॥

तारनामक दैत्य लोहेके बने हुए उत्तम रथपर आरूढ़ हुआ, जिसका विस्तार एक कोसका था; उसके ऊपर कौएके चिह्नसे सुशोभित ध्वजा फहरा रही थी। उसके भीतर शिलाखण्डोंके समूह भरे हुए थे। वह नीली कज्जलराशिके समान प्रतीत होता था। उसमें काले लोहेके आठ पहिये लगे थे। उसके ईषादण्ड (हरसे या बम), जुआ और कूबर भी लोहेके ही बने हुए थे। उसकी कान्ति काले कोयलेके समान काली थी, वह अपनी घरघराहटसे गरजता हुआ मेघ-सा जान पड़ता था। उसके ऊपर लोहेकी बहुत बड़ी जाली लगी हुई थी, जिसमें झरोखे शोभा पाते थे। वह रथ लोहेके परिघों तथा फेंकने योग्य पत्थरोंके गोलोंसे भरा था। बहुत-से भाले, विस्तृत पाश, बहुसंख्यक लटकते हुए मुद्गर, डरावने तोमर और फरसे उसकी शोभा बढ़ाते थे। वह शत्रुओंके लिये दूसरे मन्दराचल-की भाँति उदित हुआ था, उस श्रेष्ठ रथमें एक हजार गधे जुते हुए थे ॥ ८—१२ ॥

विरोचनस्तु संक्रुद्धो गदापाणिरवस्थितः ।
प्रमुखे तस्य सैन्यस्य दीप्तशृङ्ग इवाचलः ॥ १३ ॥

क्रोधमें भरा हुआ विरोचन नामक दैत्य हाथमें गदा लिये उस सेनाके मुहानेपर खड़ा हो गया। वह देखनेमें ऐसा जान पड़ता था, मानो कान्तिमान् शिखरसे युक्त कोई पर्वत खड़ा हो ॥ १३ ॥

युक्तं हयसहस्रेण हयग्रीवस्तु दानवः ।
स्यन्दनं वाहयामास सपत्नानीकमर्दनः ॥ १४ ॥

दानव हयग्रीव शत्रुओंकी सेनाको कुचल डालनेमें समर्थ था। उसने एक हजार घोड़ोंसे जुते हुए रथको अपना वाहन बनाया ॥ १४ ॥

व्यायतं बहुसाहस्रं धनुर्विस्फारयन् महत् ।
वराहः प्रमुखे तस्थौ सावरोह इवाचलः ॥ १५ ॥

वराह नामक दानव कई हजार हाथ लंबा विशाल धनुष टंकारता हुआ दैत्य-सेनाके अग्रभागमें खड़ा हो गया, उस समय वह बरोहों (जटाओं) से युक्त बरगदके समान प्रतीत होता था ॥ १५ ॥

खरस्तु विक्षरन् दर्पान्नेत्राभ्यां रोषजं जलम् ।
स्फुरद्दन्तौष्ठवदनः संग्रामं सोऽभ्यकाङ्क्षत ॥ १६ ॥

खर नामक दैत्य अपने नेत्रोंसे रोषजनित आँसू बहाता हुआ बड़े दर्पके साथ आया और युद्धकी इच्छासे डट गया, उस समय उसके दाँत, ओठ और मुख क्रोधसे फड़क रहे थे ॥ १६ ॥

त्वष्टा त्वष्टादशहयं यानमास्थाय दानवः ।
व्यूहितो दानवैर्व्यूहैः परिचक्राम वीर्यवान् ॥ १७ ॥

त्वष्टा नामक बलशाली दानव अठारह घोड़ोंसे जुते हुए रथपर सवार होकर आया और व्यूहमें खड़े हुए दानवोंके साथ स्वयं भी व्यूहका एक अङ्ग बनकर सब ओर घूमने लगा ॥

विप्रचित्तिसुतः श्वेतः श्वेतकुण्डलभूषणः ।
श्वेतशैलप्रतीकाशो युद्धायाभिमुखः स्थितः ॥ १८ ॥

विप्रचित्तिका पुत्र श्वेत सफेद कुण्डलोंसे विभूषित हो युद्धके लिये सामने आकर डट गया, वह श्वेत-पर्वतके समान दिखायी देता था ॥ १८ ॥

अरिष्टो बलिपुत्रस्तु वरिष्ठोऽद्रिशिलायुधैः ।
युद्धायातिष्ठदायस्तो धराधर इवापरः ॥ १९ ॥

बलिका ज्येष्ठ पुत्र अरिष्ट पर्वतीय शिलाखण्डोंको आयुधके रूपमें धारण किये शत्रुओंका सामना करनेके लिये खड़ा हुआ, उसने युद्धकी कलामें विशेष परिश्रम किया था। वह दूसरे पर्वतके समान प्रतीत होता था ॥ १९ ॥

किशोरस्त्वतिसंहर्षात् किशोर इव चोदितः ।
अभवद् दैत्यसैन्यस्य मध्ये रविरिवोदितः ॥ २० ॥

किशोर नामक दैत्य चाबुकसे हाँके गये बछेड़ेके समान बड़े हर्ष और उत्साहके साथ आकर दैत्यसेनाके मध्यभागमें खड़ा हो गया। वह नवोदित सूर्यके समान शोभा पा रहा था॥

लम्बस्तु लम्बमेघाभः प्रलम्बाम्बरभूषणः ।
दैत्यव्यूहगतो भाति सनीहार इवांशुमान् ॥ २१ ॥

लम्ब नामक दानव बरसनेके लिये झुके हुए मेघोंकी काली घटाके समान काला दिखायी देता था, उसके वस्त्र और आभूषण बड़े-बड़े थे। दैत्य-सेनाके व्यूहमें खड़ा होकर वह कुहासेसे ढँके हुए सूर्यके समान सुशोभित होता था ॥

स्वर्भानुर्वक्रयोधी तु दशनौष्ठेक्षणायुधः ।
हसंस्तिष्ठति दैत्यानां प्रमुखे स महाग्रहः ॥ २२ ॥

वक्र रीतिसे युद्ध करनेवाला राहु नामक महान् ग्रह हँसता हुआ आकर दैत्य-सेनाके मुहानेपर डट गया। वह अपने दाँतों, नेत्रों और ओठोंसे भी आयुधका काम लेता था ॥ २२ ॥

अन्ये हयगता भान्ति नागस्कन्धगताः परे ।
सिंहव्याघ्रगताश्चान्ये वराहर्क्षगताः परे ॥ २३ ॥

कुछ दानव घोड़ोंपर सवार दिखायी देते थे और कुछ गजराजोंकी पीठपर। दूसरे बहुत-से दैत्य सिंह, व्याघ्र, सूअर और रीछोंपर चढ़े हुए थे ॥ २३ ॥

केचित् खरोष्ट्रयातारः केचित् तोयदवाहनाः।
नानापक्षिगताश्चान्ये केचित् पवनवाहनाः ॥ २४ ॥

कोई गधों और ऊँटोंपर चढ़कर जा रहे थे, तो कोई बादलोंको ही अपना वाहन बनाये हुए थे। दूसरे दैत्य नाना प्रकारके पक्षियोंपर बैठे थे और कितने ही दानव वायुके सहारे ही उड़ रहे थे ॥ २४ ॥

पत्तयश्चापरे दैत्या भीषणा विकृताननाः।
एकपादा द्विपादाश्च नर्दन्तो युद्धकाङ्क्षिणः ॥ २५ ॥

दूसरे विकराल मुखवाले भीषण दैत्य पैदल ही चल रहे थे। किन्हींके एक पैर थे तो किन्हींके दो पैर, वे सभी युद्धकी अभिलाषासे गरज रहे थे ॥ २५ ॥

प्रक्ष्वेडमाना बहवः स्फोटयन्तश्च ते भुजान्।
दृप्तशार्दूलनिर्घोषा नेदुर्दानवपुङ्गवाः ॥ २६ ॥

बहुत-से दानवराज उछलते-कूदते और ताल ठोंकते हुए बलोन्मत्त सिंहोंके समान दहाड़ रहे थे ॥ २६ ॥

ते गदापरिघैरुग्रैर्धनुर्व्यायामशालिनः।
बाहुभिः परिघाकारैस्तर्जयन्ति स्म देवताः ॥ २७ ॥

धनुष खींचनेके परिश्रमसे सुशोभित होनेवाले वे दैत्य अपनी गदाओं, भयंकर परिघों तथा परिघ जैसी मोटी एवं बलिष्ठ भुजाओंद्वारा देवताओंको डाँट बता रहे थे ॥ २७ ॥

प्रासैः पाशैश्च खड्गैश्च तोमराङ्कुशपट्टिशैः।
चिक्रीडुस्ते शतघ्नीभिः शतधारैश्च मुद्गरैः ॥ २८ ॥

वे भालों, पाशों, खड्गों, तोमरों, अंकुशों, पट्टिशों, शतघ्नियों और सौ धारवाले मुद्गरोंसे खेल रहे थे ॥ २८ ॥

गण्डशैलैश्च शैलैश्च परिघैश्चोत्तमायुधैः।
चक्रैश्च दैत्यप्रवराश्चक्रुरानन्दितं बलम् ॥ २९ ॥

वे श्रेष्ठ दैत्यवीर पहाड़ोंसे टूटकर गिरी हुई बड़ी बड़ी चट्टानों, शैल-शिखरों, परिघों, चक्रों तथा अन्य उत्तमोत्तम आयुधोंसे अपनी सेनाको आनन्दित कर रहे थे ॥ २९ ॥

एवं तद् दानवं सैन्यं सर्वं युद्धबलोत्कटम्।
देवताभिमुखं तस्थौ मेघानीकमिवोत्थितम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार युद्धके लिये बलाभिमानसे उन्मत्त हुई वह दानवोंकी सम्पूर्ण सेना मेघोंकी घिरी हुई घटाके समान देवताओंके सम्मुख डटकर खड़ी थी ॥ ३० ॥

तदद्भुतं दैत्यसहस्रगाढं
वाय्वग्नितोयाम्बुदशैलकल्पम्।
बलं रणौघाभ्युदयावकीर्णं
युयुत्सयोन्मत्तमिवावभासे ॥ ३१ ॥

वह अद्भुत दैत्य-सेना सहस्रों दैत्यवीरोंसे ठसाठस भरी थी। वायु, अग्नि, जल, मेघ एवं पर्वतमालाओंके समान दिखायी देती थी। युद्धके प्रवाहको बढ़ानेके लिये सब ओर फैली हुई थी और लड़नेकी इच्छासे उन्मत्त हुई-सी प्रतीत होती थी ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि त्रिचत्वरिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें तैतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

आश्चर्यतारकामय संग्राममें देवसेनाकी युद्धके लिये तैयारी

वैशम्पायन उवाच

श्रुतस्ते दैत्यसैन्यस्य विस्तरस्तात विग्रहे।
सुराणां सर्वसैन्यस्य विस्तरं वैष्णवं शृणु ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तात! उस युद्धके समय दैत्य-सेनाका जो विस्तार था, वह तुमने सुन लिया। अब देवताओंकी सम्पूर्ण सेनाका विस्तार, जो भगवान् विष्णुके आश्रित है, सुनो ॥ १ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च महाबलौ।
सबलाः सानुगाश्चैव संनह्यन्त यथाबलम् ॥ २ ॥

आदित्य, वसु, रुद्र और महाबली अश्विनीकुमार—ये अपने दल-बल और अनुयायियोंको साथ ले यथाशक्ति युद्ध करनेके लिये कवच आदिसे सुसज्जित हो गये ॥ २ ॥

पुरुहूतस्तु पुरतो लोकपालः सहस्रदृक्।
ग्रामणीः सर्वदेवानामारुरोह सुरद्विपम् ॥ ३ ॥

सबसे पहले समस्त देवताओंके नेता सहस्र नेत्रधारी इन्द्र देवताओंके हाथी ऐरावतपर आरूढ़ हुए ॥ ३ ॥

सव्ये चास्य रथः पार्श्वे पक्षिप्रवरवेगवान्।
सुचारुचक्रचरणो हेमवज्रपरिष्कृतः ॥ ४ ॥

उनकी बायीं ओर बहुत ही सुन्दर चक्ररूपी चरणोंसे गरुड़के समान वेगपूर्वक चलनेवाला सुवर्ण और हीरोंसे जड़ा हुआ उनका रथ चल रहा था ॥ ४ ॥

देवगन्धर्वयक्षौघैरनुयातः सहस्रशः।
दीप्तिमद्भिः सदस्यैश्च ब्रह्मर्षिभिरभिष्टुतः ॥ ५ ॥

उनके पीछे देवता, गन्धर्व और यक्षोंकी मण्डलियाँ चल

रही थीं तथा यज्ञमें सहायता करनेवाले सहस्रों दीप्तिमान् ब्रह्मर्षि स्तुति करते हुए चल रहे थे ॥ ५ ॥

वज्रविस्फूर्जितोद्धूतैर्विद्युदिन्द्रायुधान्वितैः ।
गुप्तो वलाहकगणैः कामगैरिव पर्वतैः ॥ ६ ॥

वज्र (गाज) की गड़गड़ाहटसे फटते हुए तथा विजली एवं इन्द्रधनुषसे युक्त मेघसमूह देवराजके साथ चल रहे थे। वे ऐसे लगते थे मानो इच्छानुसार चलनेवाले पर्वत हों। इन्द्रका वह रथ उन मेघोंद्वारा सुरक्षित था ॥ ६ ॥

समारूढः स भगवान् पर्येति मघवा गजम् ।
हविर्धानेषु गायन्ति विप्राः सोममखे स्थिताः ॥ ७ ॥
स्वर्गे शक्रानुयानेषु देवतूर्यनिनादिषु ।
इन्द्रं समुपनृत्यन्ति शतशो ह्यप्सरोगणाः ॥ ८ ॥

सोमयागमें भाग लेनेवाले ब्राह्मण हविष्य रखनेके स्थानोंमें हविष्य रखते समय जिनकी स्तुति करते हैं, स्वर्गमें जिनकी सवारियोंके अवसरपर देवताओंकी तुरहियाँ बजती हैं और जिनके साथ अप्सराओंकी सैकड़ों मण्डलियाँ नाचती हुई चलती हैं, वे ही भगवान् इन्द्र हाथीपर सवार होकर चल रहे थे ॥७-८॥

केतुना वंशजातेन राजमानो यथा रविः ।
युक्तो हरिसहस्रेण मनोमारुतरंहसा ॥ ९ ॥

बाँसकी ध्वजासे सुशोभित तथा मन और वायुके समान वेगवाले हजार घोड़ोंसे खींचा जानेवाला इन्द्रका रथ सूर्यकी तरह दमक रहा था ॥ ९ ॥

स स्यन्दनवरो भाति युक्तो मातलिना तदा ।
कृत्स्नः परिवृतो मेरुर्भास्करस्येव तेजसा ॥ १० ॥

(इन्द्रके सारथि) मातलिसे युक्त वह रथ सूर्यके तेजसे घिरा हुआ सम्पूर्ण मेरुपर्वत-सा दीखता था ॥ १० ॥

यमस्तु दण्डमुद्यम्य कालयुक्तं च मुद्गरम् ।
तस्थौ सुरगणानीके दैत्यान् नादेन भीषयन् ॥ ११ ॥

यमराज मृत्यु-देवताके द्वारा अधिष्ठित दण्ड तथा मुद्गरको धारण कर अपने सिंहनादसे दैत्योंको भयभीत करते हुए देवताओंकी सेनाके मुहानेपर डट गये ॥ ११ ॥

चतुर्भिः सागरैर्गुप्तो लेलिहानैश्च पन्नगैः ।
शङ्खमुक्ताङ्गदधरो बिभ्रत्तोयमयं वपुः ॥ १२ ॥
कालपाशं समाविध्य हयैः शशिकरोपमैः ।
वाय्वीरितजलोद्गारैः कुर्वँल्लीलाः सहस्रशः ॥ १३ ॥
पाण्डुरोद्धूतवसनः प्रवालरुचिराधरः ।
मणिश्यामोत्तमवपुर्हारभारार्पितोदरः ॥ १४ ॥
वरुणः पाशभृन्मध्ये देवानीकस्य तस्थिवान् ।
युद्धवेलामभिलषन् भिन्नवेल इवार्णवः ॥ १५ ॥

युद्धका अवसर चाहते हुए पाशधारी वरुण किनारेको तोड़कर आगे बढ़नेवाले समुद्रकी भाँति देवताओंकी सेनाके बीचमें आकर डट गये। वे चारों समुद्रों और जीभ लपलपाते हुए सर्पोंसे सुरक्षित थे। उन्होंने शङ्ख और मोतियोंके बाजूबन्द धारण कर रखे थे। उनका शरीर जलमय था। वे कालपाशको घुमाते हुए चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेत रंगके घोड़ोंसे और वायुके द्वारा उछाले जानेवाले जलके उद्गारोंसे सहस्रों प्रकारकी क्रीडाएँ कर रहे थे। उनका श्वेत वस्त्र फहरा रहा था। उनके सुन्दर ओठ मूँगे एवं नूतन पल्लवोंके समान लाल-लाल थे। मणिमय आभूषणोंसे विभूषित हुए उनके श्याम अङ्गोंकी बड़ी उत्तम शोभा हो रही थी तथा हारोंका भार उनके उदरपर पड़ रहा था ॥ १२–१५ ॥

यक्षराक्षससैन्येन गुह्यकानां गणैरपि ।
मणिश्यामोत्तमवपुः कुबेरो नरवाहनः ॥ १६ ॥
युक्तश्च शङ्खपद्माभ्यां निधीनामधिपः प्रभुः ।
राजराजेश्वरः श्रीमान् गदापाणिरदृश्यत ॥ १७ ॥

नवों निधियोंके स्वामी, महान् शक्तिशाली, राजराजेश्वर श्रीमान् कुबेर, जिनका उत्तम शरीर नीलमणिके समान श्याम कान्तिसे सुशोभित था और जो मनुष्योंके द्वारा ढोयी जानेवाली पालकीमें सवार होते हैं, मूर्तिमान् शङ्ख और पद्म नामकी निधियोंको साथ लेकर हाथमें गदा धारण किये दिखायी दिये। उनके साथ यक्ष और राक्षसोंकी सेना तथा गुह्यकोंके गण विद्यमान थे ॥ १६-१७ ॥

विमानयोधी धनदो विमाने पुष्पके स्थितः ।
स राजराजः शुशुभे युद्धार्थी नरवाहनः ।
प्रेक्ष्यमाणः शिवसखः साक्षादिव शिवः स्वयम् ॥ १८ ॥

विमानमें बैठकर युद्ध करनेवाले, शिवजीके मित्र, राजाधिराज नरवाहन कुबेर युद्धके लिये पुष्पक विमानमें स्थित हो बड़ी शोभा पा रहे थे। उस समय वे साक्षात् भगवान् शिवके समान दृष्टिगोचर होते थे ॥ १८ ॥

पूर्वं पक्षं सहस्राक्षः पितृराजस्तु दक्षिणम् ।
वरुणः पश्चिमं पक्षमुत्तरं नरवाहनः ॥ १९ ॥
चतुर्षु युक्ताश्चत्वारो लोकपाला बलोत्कटाः ।
स्वासु दिक्ष्वभ्यरक्षन् वै तस्य देवबलस्य ह ॥ २० ॥

उस देवसेनाके पूर्वपक्षकी देखभाल सहस्रलोचन देवराज इन्द्र कर रहे थे। दक्षिण-पक्षकी देखभालका भार पितृराज यमने सम्हाला। पश्चिम-पक्षकी देख-रेख वरुणदेवने की और उत्तर-पक्षका निरीक्षण नरवाहन कुबेरने किया। इस प्रकार चारों दिशाओंमें सावधानीके साथ खड़े हुए चारों उत्कट बलशाली लोकपाल अपनी-अपनी दिशाकी ओरसे उस सेनाकी रक्षा कर रहे थे ॥ १९-२० ॥

सूर्यः सप्ताश्वयुक्तेन रथेनाम्बरगामिना ।
श्रिया जाज्वल्यमानेन दीप्यमानैश्च रश्मिभिः ॥ २१ ॥

उदयास्तमयं चक्रे मेरुपर्यन्तगामिना।
त्रिदिवद्वारचक्रेण तपता लोकमव्ययम्॥ २२॥

सूर्यदेव सात घोड़ोंसे युक्त आकाशगामी रथके द्वारा युद्धभूमिमें आये थे। उनका वह रथ उत्तम शोभा तथा दीप्तिमान् किरणोंसे जगमगा रहा था। वह मेरु पर्वतके चारों ओर चक्कर लगानेवाला, स्वर्गके द्वारपर चक्रकी भाँति घूमनेवाला और जो प्रवाहरूपसे अक्षय बने रहते हैं, उन समस्त लोकोंको प्रकाशित करनेवाला था। उसीके द्वारा सूर्यदेव संसारमें उदय और अस्तकी झाँकी कराते हैं॥ २१-२२॥

सहस्ररश्मियुक्तेन भ्राजमानः स्वतेजसा।
चचार मध्ये देवानां द्वादशात्मा दिनेश्वरः॥ २३॥

सहस्रों किरणोंसे सम्पन्न अपने ही तेजसे प्रकाशित होनेवाले, द्वादश रूपधारी भगवान् दिनेश (सूर्य) पूर्वोक्त रथके द्वारा आकर देव-सेनाके बीचमें विचरने लगे॥ २३॥

सोमः श्वेतहयैर्भाति स्यन्दने शीतरश्मिवान्।
हिमतोयप्रपूर्णाभिर्भाभिराह्लादयञ्जगत्॥ २४॥

शीतल किरणोंवाले चन्द्रमा श्वेत घोड़ोंसे युक्त रथमें बैठे हुए बड़ी शोभा पा रहे थे। वे हिम और जलसे भरी हुई अपनी प्रभाओंद्वारा सम्पूर्ण जगत्को आह्लाद प्रदान करते थे॥ २४॥

तमृक्षयोगानुगतं शिशिरांशुं द्विजेश्वरम्।
जगच्छायाङ्किततनुं नैशस्य तमसः क्षयम्॥ २५॥
ज्योतिषामीश्वरं व्योम्नि रसानां रसनं प्रभुम्।
ओषधीनां परित्राणं निधानममृतस्य च॥ २६॥
जगतः प्रथमं भागं सौम्यं शीतमयं रसम्।
ददृशुर्दानवाः सोमं हिमप्रहरणस्थितम्॥ २७॥

नक्षत्र और योग जिनका अनुसरण करते हैं, जो शीतल किरणोंसे सुशोभित हैं, ब्राह्मणोंके राजा हैं, जिनका शरीर नीले धब्बेके रूपमें पृथ्वीकी छायासे अङ्कित रहता है, जो रात्रिके अन्धकारका नाश करनेवाले हैं, आकाशमें स्थित ज्योतिर्मयी तारिकाओंके अधीश्वर हैं, रसोंके आश्रय एवं प्रभु हैं, ओषधियोंके रक्षक तथा अमृतकी निधि हैं, (अग्नीषोमात्मक) जगत्के प्रथम (मुख्य) भाग हैं और सौम्य तथा शीतल रस हैं, उन्हीं चन्द्रमाको दैत्योंने हिमका आयुध ग्रहण करके खड़ा हुआ देखा॥ २५-२७॥

यः प्राणः सर्वभूतानां पञ्चधा भिद्यते नृषु।
सप्तस्कन्धगतो लोकांस्त्रीन् दधार चराचरान्॥ २८॥
यमाहुरग्नेर्यन्तारं सर्वप्रभवमीश्वरम्।
सप्तस्वरगता यस्य योनिर्गीतिरुदीर्यते॥ २९॥
यं वदन्त्युत्तमं भूतं यं वदन्त्यशरीरिणम्।
यमाहुराकाशगमं शीघ्रगं शब्दयोनिजम्॥ ३०॥
स वायुः सर्वभूतायुरुद्धूतः स्वेन तेजसा।
ववौ प्रव्यथयन् दैत्यान् प्रतिलोमः सतोयदः॥ ३१॥

जो समस्त भूतोंके प्राण हैं, मनुष्य आदि जीवोंके भीतर प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान—इन पाँच रूपोंमें विभक्त होकर निवास करते हैं, आवह, प्रवह आदि सात स्कन्धोंमें स्थित हो त्रिलोकीके चराचर जीवोंको धारण करते हैं, जिन्हें अग्निका सारथि कहा जाता है, जो सबके उत्पत्तिस्थान और ईश्वर हैं, जिनके कारणभूत आकाशकी शब्द-तन्मात्रा निषाद ऋषभ आदि स्वरोंमें उतर आनेपर गीति कहलाती है, जिन्हें पाँच महाभूतोंमें उत्तम तथा शरीररहित बताते हैं, जिनको आकाशचारी और शीघ्रगामी भी कहते हैं तथा शब्दयोनि (आकाश) से जिनकी उत्पत्ति बतायी गयी है, वे समस्त प्राणियोंके जीवनरूप वायुदेव अपने तेजसे दैत्योंको व्यथित करते हुए वहाँ मेघोंके साथ प्रतिकूल एवं प्रचण्ड गतिसे प्रवाहित होने लगे॥ २८-३१॥

मरुतो देवगन्धर्वा विद्याधरगणैः सह।
चिक्रीडुरसिभिः शुभ्रैर्निर्मुक्तैरिव पन्नगैः॥ ३२॥

उनचास मरुत, देवता और गन्धर्व, विद्याधरगणोंके साथ आकर केंचुलसे निकले हुए सर्पोंके समान, म्यानसे बाहर निकाली हुई चमचमाती तलवारोंसे खेलने लगे॥ ३२॥

सृजन्तः सर्पपतयस्तीव्रं रोषमयं विषम्।
शरभूताः सुरेन्द्राणां चेरुर्व्यात्तमुखा दिवि॥ ३३॥

देवेश्वरोंके बाण बने हुए बहुसंख्यक नागराज अपने मुखको फैलाकर तीव्र रोषमय विष उगलते हुए आकाशमें घूमने लगे॥ ३३॥

पर्वतास्तु शिलाशृङ्गैः शतशाखैश्च पादपैः।
उपतस्थुः सुरगणान् प्रहर्तुं दानवं बलम्॥ ३४॥

पर्वतोंके अधिष्ठाता देवता भी बहुत-सी चट्टानों, शिखरों तथा सौ-सौ डालियोंवाले वृक्षोंद्वारा दानवदलपर प्रहार करनेके लिये देवगणोंकी सेवामें उपस्थित थे॥ ३४॥

यः स देवो हृषीकेशः पद्मनाभस्त्रिविक्रमः।
कृष्णवर्त्मा युगान्ताभो विश्वस्य जगतः प्रभुः॥ ३५॥
समुद्रयोनिर्मधुहा हव्यभुक्क्रतुसत्कृतः।
भूरापोव्योमभूतात्मा समः शान्तिकरोऽरिहा॥ ३६॥
जगद्योनिर्जगद्बीजो जगद्गुरुरुदारधीः।
सोऽर्कमग्निमिवोद्यन्तमुद्यम्योत्तमतेजसम्॥ ३७॥
अरिघ्नममरानीके चक्रं चक्रगदाधरः।
सपरीवेषमुद्यन्तं सवितुर्मण्डलं यथा॥ ३८॥

जो हृषीकेशके नामसे प्रसिद्ध हैं, सबके आराध्यदेव हैं, सृष्टिके आरम्भमें जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ था, जो अपने तीन डगोंसे सम्पूर्ण त्रिलोकीको नाप चुके हैं, प्रलयकाल-

में प्रकाशित होनेवाले अग्निदेवके समान जिनका सहज तेज है, जो सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी हैं, नारायणरूपसे समुद्रमे शयन करते हैं, इसलिये समुद्र जिनकी शयनस्थली है, जिन्होने मधु नामक दैत्यका नाश किया है, जो हविष्यके भोक्ता और यज्ञों-में पूजित एवं सम्मानित होनेवाले हैं, पृथ्वी, जल, आकाश तथा अन्यान्य भूत जिन विराट्‌रूपधारी प्रभुके अङ्ग हैं, जो सर्वत्र समभावसे रहते और समता रखते हैं, जो शान्तिका विस्तार करनेवाले और शत्रुनाशक है, जगत्‌की योनि (उत्पत्तिस्थान), जगत्‌के बीज (आदि कारण) तथा जगत्‌के गुरु हैं, जिनकी बुद्धिमें सदा उदारता भरी रहती है, वे चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णु अग्नि तथा उगते हुए सूर्यके समान उत्तम तेजसे सम्पन्न शत्रुनाशक चक्र उठाये हुए देवसेनाके मध्यभागमे विराजमान थे। उन्हे देखकर ऐसा लगता था, मानो वे परिधिसहित उगते हुए सूर्यमण्डलको ही पकड़कर ले आये हों ॥ ३५–३८ ॥

सव्येनालम्ब्य महतीं सर्वासुरविनाशिनीम्।
करेण कालीं वपुषा शत्रुकालप्रदां गदाम् ॥ ३९ ॥
शेषैर्भुजैः प्रदीप्तानि भुजगारिध्वजः प्रभुः।
दधारायुधजालानि शार्ङ्गादीनि महायशाः ॥ ४० ॥

सर्पोंके शत्रु गरुड़ जिनके ध्वज हैं, उन महायशस्वी भगवान् श्रीहरिने अपने बायें हाथमे समस्त असुरोंका विनाश करनेवाली तथा शत्रुओंको कालके गालमे भेजनेवाली काले रंगकी विशाल गदा ले रखी थी और शेष भुजाओंमें वे अत्यन्त दीप्तिमान् शार्ङ्ग आदि आयुध धारण किये हुए थे ॥ ३९-४० ॥

स कश्यपस्यात्मभवं द्विजं भुजगभोजनम्।
पवनाधिकसम्पातं गगनक्षोभणं खगम्।
भुजगेन्द्रेण वदने निविष्टेन विराजितम् ॥ ४१ ॥
अमृतारम्भनिर्मुक्तं मन्दराद्रिमिवोच्छ्रितम्।
देवासुरविमर्देषु शतशो दृष्टविक्रमम् ॥ ४२ ॥
महेन्द्रेणामृतस्यार्थे वज्रेण कृतलक्षणम्।
शिखिनं चूडिनं चैव तप्तकुण्डलभूषणम्।
विचित्रपक्षवसनं धातुमन्तमिवाचलम् ॥ ४३ ॥
स्फीतक्रोडावलम्बेन शीतांशुसमतेजसा।
भोगिभोगावसक्तेन मणिरत्नेन भास्वता ॥ ४४ ॥
पक्षाभ्यां चारुचित्राभ्यामावृत्य दिवि लीलया।
युगान्ते सेन्द्रचापाभ्यां तोयदाभ्यामिवाम्बरम् ॥४५॥
नीललोहितपीताभिः पताकाभिरलंकृतम्।
केतुवेषप्रतिच्छन्नं महाकायनिकेतनम् ॥ ४६ ॥
अरुणावरजं श्रीमानारुह्य समरे हरिः।
सुवर्णं स्वेन वपुषा सुपर्णं खेचरोत्तमम् ॥ ४७ ॥

सबके पाप और दुःखका अपहरण करनेवाले श्रीमान् भगवान् नारायण सर्पोंका भक्षण करनेवाले, कश्यपकुमार एवं अरुणके छोटे भाई पक्षिश्रेष्ठ गरुड़पर सवार होकर वहाँ आये थे। गरुड़जीके पंख बड़े सुन्दर थे तथा वे अपने सुन्दर शरीरसे सुवर्णके समान मनोरम कान्ति फैला रहे थे। आकाश-मे विचरनेवाले पक्षिप्रवर गरुड़ वायुकी अपेक्षा भी अधिक वेगसे उड़ते थे, उनके वेगपूर्वक चलते समय आकाशमे खलबली मच जाती थी। वे अपने मुखमे एक नागराजको दबाये हुए थे, इससे उनकी बड़ी शोभा हो रही थी। अमृत निकालनेके लिये प्रारम्भमे ही क्षीरसागरमे छोड़े गये मन्दराचलके समान वे ऊँचे दिखायी देते थे। देवासुर-संग्रामके अवसरोंपर सैकड़ो बार उनका पराक्रम देखा जा चुका था। जब वे स्वर्गमे अमृत लेने गये थे, उस समय इन्द्रने उस अमृतकी रक्षाके लिये उनपर वज्रसे प्रहार किया था। जिसकी चोटका चिह्न उस समय भी दीख रहा था, उनके सिरपर मोरकी-सी कलँगी और चोटी थी तथा वे तपे हुए सुवर्णके कुण्डलोसे विभूषित थे। रंग-विरंगे पंख ही उन्होंने वस्त्ररूपमे धारण कर रखे थे, जिनके कारण वे विविध धातुओंसे मण्डित पर्वतके समान प्रतीत होते थे। उनका वक्षःस्थल चौड़ा था, उसपर (मुखमें आधे निगले हुए) सर्पके मस्तकमें चिपकी हुई श्रेष्ठमणि लट-कती थी, जो अपने तेजसे शीतल किरणवाले चन्द्रमाकी भाँति उद्भासित हो रही थी। वे अपने मनोहर एवं विचित्र पंखोसे लीलापूर्वक आकाशको घेरकर इस तरह खड़े थे, मानो प्रलयकालमें इन्द्रधनुषसे युक्त हुए दो मेघखण्डोंसे आकाश घिर गया हो। श्रीहरिकी ध्वजामे चिह्नके रूपमें छिपे हुए पक्षिराज गरुड नीली, पीली और लाल रंगकी पताकाओंसे अलंकृत थे। उनका आधारभूत ध्वजदण्ड बहुत विशाल था ॥ ४१–४७ ॥

तमन्वयुर्देवगणा मुनयश्च तपोधनाः।
गीर्भिः परममन्त्राभिस्तुष्टुवुश्च गदाधरम् ॥ ४८ ॥

उस समय समस्त देवता और तपोधन मुनि भगवान् गदाधरके पीछे-पीछे चलने और श्रेष्ठ मन्त्रमयी स्तुतियों-द्वारा उनका स्तवन करने लगे ॥ ४८ ॥

तद्वैश्रवणसंश्लिष्टं वैवस्वतपुरस्सरम्।
वारिराजपरिक्षिप्तं देवराजविराजितम् ॥ ४९ ॥
चन्द्रप्रभाभिर्विमलं युद्धाय समुपस्थितम्।
पवनाविद्धनिर्घोषं सम्प्रदीप्तहुताशनम् ॥ ५० ॥

देवताओंकी वह सेना कुबेरके द्वारा सुसङ्गठित की गयी थी। यमराज उसके आगे-आगे चलनेवाले सेनानायक थे। जलके स्वामी वरुणने समुद्ररूपसे उसको सब ओरसे घेर रखा था तथा देवराज इन्द्र स्वयं उपस्थित होकर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। चन्द्रमाकी प्रभाओंसे वह सारा सैन्यसमूह उज्ज्वल एवं निर्मल दिखायी देता था। वायुके

वेगपूर्वक चलनेसे उसमें बड़ा गम्भीर शब्द होता था और उस सेनामें खड़े हुए अग्निदेव बड़े वेगसे प्रज्वलित हो रहे थे। ऐसी देवसेना वहाँ दैत्योंके साथ युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुई ॥ ४९-५० ॥

विष्णोर्जिष्णोः सहिष्णोश्च भ्राजिष्णोस्तेजसा वृतम्।
बलं बलवदुद्भूतं युद्धाय समवर्तत ॥ ५१ ॥

जो नित्य विजयशील, सब कुछ सहन करनेमें समर्थ और नित्य प्रकाशमान हैं, उन भगवान् विष्णुके तेजसे व्याप्त हुई देवताओंकी वह बलवती सेना उत्साहसम्पन्न हो युद्धके लिये तैयार हो गयी ॥ ५१ ॥

स्वस्त्यस्तु देवेभ्य इति स्तुत्वा तत्राङ्गिराऽब्रवीत्।
स्वस्त्यस्तु दैत्येभ्य इति उशना वाक्यमाददे ॥ ५२ ॥

उस समय अङ्गिराके पुत्र देवगुरु बृहस्पतिने स्तुति करके कहा—'देवताओंका कल्याण हो।' फिर दैत्योंके गुरु शुक्राचार्य भी बोल उठे—'दैत्योंका मङ्गल हो' ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि आश्चर्यतारकामये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें आश्चर्यतारकामय संग्रामविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

देवासुर-संग्राम एवं और्व अग्निकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

ताभ्यां बलाभ्यां संजज्ञे तुमुलो विग्रहस्तदा।
सुराणामसुराणां च परस्परजयैषिणाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक दूसरेपर विजय पानेकी इच्छावाले देवताओं और असुरोंकी उन सेनाओंमें उस समय घोर युद्ध आरम्भ हो गया ॥ १ ॥

दानवा दैवतैः सार्द्धं नानाप्रहरणोद्यताः।
समीयुर्युध्यमाना वै पर्वताः पर्वतैरिव ॥ २ ॥

दानव-सैनिक नाना प्रकारके हथियार उठाये देवताओंके साथ युद्ध करते हुए उनसे भिड गये, मानो एक श्रेणीके पर्वत दूसरी श्रेणीके पर्वतोसे टकरा रहे हैं ॥ २ ॥

तत् सुरासुरसंयुक्तं युद्धमत्यद्भुतं बभौ।
धर्माधर्मसमायुक्तं दर्पेण विनयेन च ॥ ३ ॥

देवताओं और असुरोंका वह तुमुल युद्ध अत्यन्त अद्भुत प्रतीत होता था, मानो धर्म और अधर्म परस्पर जूझ रहे हों, दर्प और विनय एक दूसरेसे लड़ रहे हों ॥ ३ ॥

ततो रथैः प्रजविभिर्वाहनैश्च प्रचोदितैः।
उत्पतद्भिश्च गगनं सासिहस्तैः समन्ततः ॥ ४ ॥
विक्षिप्यमाणैर्मुसलैः सम्प्रेष्यद्भिश्च सायकैः।
चापैर्विस्फार्यमाणैश्च पात्यमानैश्च मुद्गरैः ॥ ५ ॥
तद् युद्धमभवद् घोरं देवदानवसंकुलम्।
जगतस्त्रासजननं युगसंवर्तकोपमम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर रथोंके वेगपूर्वक दौड़ने, घोड़ोंके एँड लगाकर भगाये जाने, चारों ओर तलवार हाथमें लिये योद्धाओंके आकाशमें उछलने, मूसलोंके फेंके जाने, बाणोंके चलाने, धनुषोंके खींचे जाने और मुद्गरोंके गिराये जानेसे देवताओं और दानवोंसे भरा हुआ वह घोर युद्ध प्रलयकालकी अग्निके समान सम्पूर्ण जगत्को त्रास देने लगा ॥ ४—६ ॥

स्वहस्तमुक्तैः परिघैः क्षिप्यमाणैश्च पर्वतैः।
दानवाः समरे जघ्नुर्देवानिन्द्रपुरोगमान् ॥ ७ ॥

उस समराङ्गणमें समस्त दानव अपने हाथोंसे छोड़े गये परिघों और फेंके जाते हुए पर्वतशिखरोंकी चोटसे इन्द्र आदि देवताओंको घायल करने लगे ॥ ७ ॥

ते वध्यमाना बलिभिर्दानवैर्जितकाशिभिः।
विषण्णमनसो देवा जग्मुरार्तिं परां मृधे ॥ ८ ॥

युद्धस्थलमें अपनी विजयसे उल्लसित एवं सुशोभित होनेवाले महाबली दानवोंकी मार खाकर समस्त देवता मन-ही-मन खिन्न हो उठे, उन्हें बड़ी पीड़ा हुई ॥ ८ ॥

तेऽस्त्रजालैः प्रमथिताः परिघैर्भिन्नमस्तकाः।
भिन्नोरस्का दितिसुतैर्वेमू रक्तं व्रणैर्बहु ॥ ९ ॥

दैत्योंने अपने अस्त्रसमूहोंसे देवताओंको मथ डाला, परिघोंकी मारसे उनके मस्तक फोड़ डाले और वक्षःस्थल विदीर्ण कर दिये। उस समय देवता अपने घावोंसे बहुत रक्त बहा रहे थे ॥ ९ ॥

स्पन्दिताः पाशजालैश्च निर्यत्नाश्च शरैः कृताः।
प्रविष्टा दानवीं मायां न शेकुस्ते विचेष्टितुम् ॥ १० ॥

दैत्योंने फन्दोंके जाल बिछाकर देवताओंको निरुपाय कर दिया और बाणोंके प्रहारसे उन्हें इतना घायल कर दिया कि वे अपने अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहाने लगे। दानवोंकी

मायाके वशीभूत होकर वे हिलने-डुलनेकी भी शक्ति खो बैठे ॥ १० ॥

संस्तम्भितमिवाभाति निष्प्राणसदृशाकृति ।
बलं सुराणामसुरैर्निष्प्रयत्नायुधं कृतम् ॥ ११ ॥

असुरोंने देवताओंकी सेनाके सारे प्रयत्न और आयुध निष्फल कर दिये। उस समय वह सेना मन्त्रशक्तिसे स्तम्भित की हुई-सी प्रतीत होती थी, प्राणशून्य मुर्दे-जैसे दिखायी देती थी ॥ ११ ॥

मायापाशान् विकर्षंश्च भिन्दन् वज्रेण तान्शरान् ।
शक्रो दैत्यबलं घोरं विवेश बहुलोचनः ॥ १२ ॥

तब बहुसंख्यक नेत्रोंसे सुशोभित होनेवाले देवराज इन्द्रने अपने वज्रसे दैत्योंके माया-पाशोंको हटाते और उनके चलाये हुए बाणोंको काटते हुए उनकी घोर सेनामें प्रवेश किया ॥ १२ ॥

स दैत्यान् प्रमुखे हत्वा तद् दानवबलं महत् ।
तामसेनास्त्रजालेन तमोभूतमथाकरोत् ॥ १३ ॥

उन्होंने सामने खड़े हुए दैत्योंको मारकर दानवोंकी उस विशाल वाहिनीपर तामसास्त्रका जाल-सा बिछा दिया और उसे अन्धकारसे अभिभूत कर डाला ॥ १३ ॥

तेऽन्योन्यं नावबुध्यन्त देवान् वा दानवानपि ।
घोरेण तमसाऽऽविष्टाः पुरुहूतस्य तेजसा ॥ १४ ॥

इन्द्रके प्रभावसे घोर अन्धकारमें डूबे हुए दैत्य न तो आपसमें ही किसीको जान पाते थे और न देवताओं अथवा दानवोंको ही पहचान पाते थे ॥ १४ ॥

मायापाशैर्विमुक्ताश्च यत्नवन्तः सुरोत्तमाः ।
वपूंषि दैत्यसंघानां तमोभूतान्यपातयन् ॥ १५ ॥

दैत्योंके मायापाशसे मुक्त हुए श्रेष्ठ देवताओंने प्रयत्नशील होकर उन दैत्यसमूहोंके अन्धकारसे आच्छन्न हुए शरीरोंको धरतीपर गिराना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

अपध्वस्ता विसंज्ञाश्च तमसा नीलवर्चसः ।
पेतुस्ते दानवगणाश्छिन्नपक्षा इवाचलाः ॥ १६ ॥

अन्धकारसे नीली कान्ति धारण करनेवाले वे दानव देवताओंकी मार खाकर मूर्छित हो पंख कटे हुए पर्वतोंके समान धराशायी होने लगे ॥ १६ ॥

दैत्यानां तद्घनीभूतमन्धकारमहार्णवम् ।
प्रविष्टं बलमुत्त्रस्तं तमोभूतमिवाबभौ ॥ १७ ॥

अन्धकारके महासागरमें डूबी हुई दैत्योंकी वह घनीभूत सेना अत्यन्त भयभीत हो गयी और स्वयं तमोमयी-सी प्रतीत होने लगी ॥ १७ ॥

तदासृजन्महामायां मयस्तां तामसीं दहन् ।
युगान्ताग्निमिवात्युग्रां सृष्टामौर्वेण वह्निना ॥ १८ ॥

तब मय नामक दानवने इन्द्रके द्वारा फैलायी हुई उस तामसी मायाको नष्ट करते हुए एक महामायाकी सृष्टि की, जो और्व नामक अग्नि (बड़वानल) के द्वारा रची गयी थी और प्रलयकालकी अग्निके समान अत्यन्त भयंकर थी ॥ १८ ॥

सा ददाह तमः सर्वं माया मयविकल्पिता ।
दैत्याश्च दीप्तवपुषः सद्य उत्तस्थुराहवे ॥ १९ ॥

मयके द्वारा फैलायी हुई उस मायाने सारे अन्धकारको जलाकर भस्म कर दिया; फिर तो दैत्योंके शरीर दमक उठे और वे तत्काल युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ १९ ॥

मायामौर्वीं समासाद्य दह्यमाना दिवौकसः ।
भेजिरे चन्द्रविषयं शीतांशुसलिले शयात् ॥ २० ॥

अब तो देवतालोग और्वी मायाके सम्पर्कमें आकर दग्ध होने लगे और ठंडे जलमें शयन करनेके लिये चन्द्रमाके समीप गये ॥ २० ॥

ते दह्यमाना ह्यौर्वेण तेजसा भ्रष्टतेजसः ।
शशंसुर्वज्रिणे देवाः संतप्ताः शरणैषिणः ॥ २१ ॥

वे सब देवता और्वके तेजसे झुलसकर अपना तेज खो बैठे। उन्होंने अत्यन्त संतप्त होकर शरण पानेकी इच्छासे इन्द्रके पास जाकर पुकार की ॥ २१ ॥

संतप्ते मायया सैन्ये दह्यमाने च दानवैः ।
चोदितो देवराजेन वरुणो वाक्यमब्रवीत् ॥ २२ ॥

जब मयासुरकी मायासे सारी सेना संतप्त हो उठी और दानव भी उसे जलाने लगे, तब देवराजके द्वारा उसकी शान्तिके लिये प्रेरित होनेपर वरुणने इस प्रकार कहा ॥२२॥

वरुण उवाच

पुरा ब्रह्मर्षिजः शक्र तपस्तेपेऽतिदारुणम् ।
ऊर्वो मुनिः स तेजस्वी सदृशो ब्रह्मणो गुणैः ॥ २३ ॥

वरुण बोले—देवेन्द्र ! पूर्वकालमें ऊर्व नामसे प्रसिद्ध एक तेजस्वी मुनि थे, जो ब्रह्मर्षि भृगुके पुत्र थे। वे गुणोंमें ब्रह्माजीके समान थे। उन्होंने अत्यन्त दारुण तप करना आरम्भ किया ॥ २३ ॥

तं तपन्तमिवादित्यं तपसा जगदव्ययम् ।
उपतस्थुर्मुनिगणा देवा ब्रह्मर्षिभिः सह ॥ २४ ॥

जैसे सूर्य इस अव्यय (प्रवाहरूपसे सदा रहनेवाले) जगत्को सदा तपाते रहते हैं, उसी प्रकार वे भी अपनी तपस्यासे सबको ताप देने लगे। तब ब्रह्मर्षियोंसहित देवता और मुनिगण उनके पास आये ॥ २४ ॥

हिरण्यकशिपुश्चैव दानवो दानवेश्वरः ।
ऋषिं विज्ञापयामास पुरा परमतेजसम् ॥ २५ ॥

दानव हिरण्यकशिपु भी, जो समस्त दानवोंका स्वामी था, किसी समय उन परम तेजस्वी महर्षिके पास आया और उनसे शान्तिके लिये प्रार्थना करता रहा; यह प्राचीन कालकी बात है ॥ २५ ॥

तमूचुर्ब्रह्मऋषयो वचनं ब्रह्मसम्मितम् ।
ऋषिवंशेषु भगवञ्छिन्नमूलमिदं कुलम् ॥ २६ ॥

ब्रह्मर्षियोंने उनसे यह वेदतुल्य बात कही—'भगवन् ! ऋषियोंके वंशोंमें आपके इस कुलकी जड़ कट-सी गयी है ॥ २६ ॥

एकस्त्वमनपत्यश्च गोत्रं यन्नानुवर्तसे ।
कौमारं व्रतमास्थाय क्लेशमेवानुवर्तसे ॥ २७ ॥

'एकमात्र आप ही अपने कुलमें बचे हैं और आपके कोई संतान नहीं है, तो भी आप गोत्रका अनुसरण नहीं करते हैं—उसकी परम्पराको बनाये रखनेके लिये कोई प्रयत्न नहीं करते हैं। केवल नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत धारण करके तपस्याजनित क्लेशका ही अनुगमन कर रहे हैं ॥ २७ ॥

बहूनि विप्र गोत्राणि मुनीनां भावितात्मनाम् ।
एकदेहानि तिष्ठन्ति विभक्तानि विना प्रजाः ॥ २८ ॥

'विप्रवर ! विशुद्ध अन्तःकरणवाले मुनियोंके बहुत-से ऐसे गोत्र या कुल हैं, जो एक शरीर (एक व्यक्ति) पर ही अवलम्बित रहे हैं और संतान न होनेके कारण जड़से अलग होकर नष्ट हो गये हैं ॥ २८ ॥

कुलेषूच्छिन्नमूलेषु तेषु नो नास्ति कारणम् ।
भवांस्तु तपसा श्रेष्ठः प्रजापतिसमद्युतिः ॥ २९ ॥

'मूलके ही नष्ट हो जानेसे उन कुलोंकी वृद्धिका हमारे देखनेमें कोई कारण नहीं रह गया है, परंतु आप तो (अपनी भावी वंशपरम्पराके मूलरूपमें विद्यमान ही हैं। आपके रहते इस कुलका उच्छेद नहीं होना चाहिये। आप) तपकी दृष्टिसे श्रेष्ठ हैं और तेज एवं कान्तिमें भी प्रजापतियोंके तुल्य हैं ॥

तत् प्रवर्तस्व वंशाय वर्द्धयात्मानमात्मना ।
त्वमाधत्स्वोर्जितं तेजो द्वितीयां वै तनुं कुरु ॥ ३० ॥

'अतः आप अपने वंशको चलानेका उद्योग कीजिये और अपने द्वारा अपने आपको बढ़ाइये। अपने ओजस्वी तेज (वीर्य) का (योग्य पत्नीमें) आधान कीजिये और ऐसा करके पुत्ररूपमे अपने दूसरे शरीरको प्रकट कीजिये' ॥

स एवमुक्तो मुनिभिर्मुनिर्मनसि ताडितः ।
जगर्हे तानृषिगणान् वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

उन महर्षियोंके ऐसा कहनेपर ऊर्व मुनिके हृदयमें गहरा धक्का लगा। वे उन ऋषियोंकी निन्दा करने लगे और इस प्रकार बोले—॥ ३१ ॥

यथायं शाश्वतो धर्मो मुनीनां विहितः पुरा ।
सदाऽऽर्षं सेवतां कर्म वन्यमूलफलाशिनाम् ॥ ३२ ॥

'महात्माओ ! जो वनके फल-मूल खाकर रहते हैं और सदा आर्षशास्त्रोंमें बताये हुए सत्कर्मका सेवन करते हैं, उन हम-जैसे ऋषि-मुनियोंके लिये तो प्राचीन कालसे इस तप एवं ब्रह्मचर्यरूप सनातन धर्मका ही विधान किया गया है ॥३२॥

ब्रह्मयोनौ प्रसूतस्य ब्राह्मणस्यानुवर्तिनः ।
ब्रह्मचर्यं सुचरितं ब्रह्माणमपि चालयेत् ॥ ३३ ॥

'ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होकर ब्राह्मण-धर्मका अनुसरण करनेवाले द्विजके द्वारा इस ब्रह्मचर्य-व्रतका यदि भलीभाँति आचरण किया जाय तो यह ब्रह्माजीको भी विचलित कर सकता है ॥ ३३ ॥

द्विजानां वृत्तयस्तिस्रो ये गृहाश्रमवासिनः ।
अस्माकं तु वनं वृत्तिर्वनाश्रमनिवासिनाम् ॥ ३४ ॥

'जो गृहस्थ-आश्रममें निवास करते हैं, उन ब्राह्मणोंके लिये ही शास्त्रमें यज्ञ कराना, वेद पढ़ाना और दान ग्रहण करना—ये तीन वृत्तियाँ बतायी गयी हैं। हम-जैसे ऊर्ध्वरेता वनवासियोंके लिये तो वनके फल-मूल ही जीविकाके साधन हैं॥

अम्बुभक्षा वायुभक्षा दन्तोलूखलिकास्तथा ।
अश्मकुट्टा दशनपाः पञ्चातपतपाश्च ये ॥ ३५ ॥

'कुछ लोग केवल जल या वायु पीकर ही रहते हैं, कुछ दाँतोंसे ही ओखली और मूसलका काम लेते हैं—अर्थात् दाँत रहनेपर भूसीसहित नीवार आदिको चबा लेते हैं। ये ही 'दशनप' कहलाते हैं। परंतु जिनके दाँत नहीं हैं, वे पत्थरोंसे ही कूट-पीसकर वन्य वस्तुओंको खाते हैं। कुछ पञ्चाग्निके तापका सेवन करते हैं ॥ ३५ ॥

एते तपसि तिष्ठन्तो व्रतैरपि सुदुष्करैः ।
ब्रह्मचर्यं पुरस्कृत्य प्रार्थयन्ते परां गतिम् ॥ ३६ ॥

'ये अत्यन्त दुष्कर व्रतोंका आचरण करते हुए भी तपस्यामें लगे रहते और मुख्यतः ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करके उत्कृष्ट गतिको पाना चाहते हैं ॥ ३६ ॥

ब्रह्मचर्याद् ब्राह्मणस्य ब्राह्मणत्वं विधीयते ।
एवमाहुः परे लोके ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ ३७ ॥

'ब्रह्मचर्यके पालनसे ही ब्राह्मणको ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होती है। इसी तरह ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंका कहना है कि ब्रह्मचर्यका पालन ही परलोकमें ब्रह्मकी प्राप्तिका मुख्य साधन है ॥

ब्रह्मचर्ये स्थितं धैर्यं ब्रह्मचर्ये स्थितं तपः ।
ये स्थिता ब्रह्मचर्येषु ब्राह्मणास्ते दिवि स्थिताः ॥ ३८ ॥

'ब्रह्मचर्यमें धैर्यकी स्थिति है और ब्रह्मचर्यमें ही तप प्रतिष्ठित है। जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्यमें दृढ़तापूर्वक स्थित हैं, वे ब्रह्मलोकमें ही विराजमान हैं ॥ ३८ ॥

नास्ति योगं विना सिद्धिर्नास्ति सिद्धिं विना यशः ।
नास्ति लोके यशोमूलं ब्रह्मचर्यात् परं तपः ॥ ३९ ॥

'योगके विना सिद्धि नहीं मिलती और सिद्धिके विना यश नहीं प्राप्त होता है । यशका मूल कारण है तप; परंतु इस जगत्में ब्रह्मचर्यसे बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है ॥ ३९ ॥

तन्निगृह्येन्द्रियग्रामं भूतग्रामं च पञ्चमम् ।
ब्रह्मचर्येण वर्तेत किमतः परमं तपः ॥ ४० ॥

'अतः इन्द्रिय-समुदायको तथा शब्द आदि सूक्ष्म भूत-रूप उसके विषयसमूहको वशमें करके ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक रहे । इससे बढ़कर और कौन-सा तप हो सकता है ? ॥४०॥

अयोगे केशहरणमसंकल्पे व्रतक्रिया ।
अब्रह्मचर्ये चर्या च त्रयं स्याद् दम्भसंज्ञितम् ॥ ४१ ॥

'अवश्यकर्तव्य ध्यानरूप योगके अभावमें भी सिर मुड़ा लेना, परलोक सुधारनेका संकल्प न रहनेपर भी केवल लोक-रंजनके लिये कृच्छ्र आदि व्रतोंका आचरण करना तथा ब्रह्मकी प्राप्तिको लक्ष्य बनाकर नियमित वेदाध्ययनके विना ही ब्रह्मचर्यके नियमोंका आश्रय लेना—ये तीनों दम्भ कहलाते हैं ॥ ४१ ॥

क्व दाराः क्व च संयोगः क्व च भावविपर्ययः ।
यदेयं ब्रह्मणा सृष्टा मनसा मानसी प्रजा ॥ ४२ ॥

'जब ब्रह्माजीने मनके द्वारा मानसी प्रजा (सनत्कुमार आदि) की सृष्टि की थी, उस समय स्त्री कहाँ थी ? स्त्री-पुरुषका संयोग कहाँ था ? और चित्तकी विकृति (कामातुरता) भी कहाँ थी ? ॥ ४२ ॥

यद्यस्ति तपसो वीर्यं युष्माकममितात्मनाम् ।
सृजध्वं मानसान् पुत्रान् प्राजापत्येन कर्मणा ॥ ४३ ॥

'महर्षियो ! आपलोग अमेय आत्मबलसे सम्पन्न हैं, यदि आपमें तपस्याकी शक्ति हो तो आप प्रजापतिके समान कर्म करके मानसिक पुत्र उत्पन्न करें ॥ ४३ ॥

मनसा निर्मिता योनिराधातव्या तपस्विना ।
न दारयोगं बीजं वा व्रतमुक्तं तपस्विनाम् ॥ ४४ ॥

'तपस्वीको तो अपने मनसे कल्पित योनिमें ही मानसिक संकल्पसे गर्भाधान करना चाहिये। स्त्रीके साथ संयोग अथवा वीर्यका आधान—यह तपस्वी पुरुषोंका नियम नहीं बताया गया है ॥ ४४ ॥

यदिदं लुप्तधर्मार्थं युष्माभिरिह निर्भयैः ।
व्याहृतं सद्भिरत्यर्थमसद्भिरिव मे मतिः ॥ ४५ ॥

'आपलोग सज्जन हैं तो भी निरे असज्जनोंके समान आपने निःशङ्क होकर यहाँ यह धर्म और अर्थसे शून्य बात कह डाली है, ऐसा मेरा विचार है ॥ ४५ ॥

वपुर्दीप्तान्तरात्मानमेष कृत्वा मनोमयम् ।
दारयोगं विना स्रक्ष्ये पुत्रमात्मतनूरुहम् ॥ ४६ ॥

'अच्छा ! देखिये, मैं अभी मनोमय वपु (योनि) का निर्माण करके स्त्रीसहवासके विना ही अपने शरीरसे उत्पन्न होनेवाले ऐसे पुत्रकी सृष्टि कर रहा हूँ, जिसकी अन्तरात्मा अत्यन्त उद्दीप्त होगी ॥ ४६ ॥

एवमात्मानमात्मा मे द्वितीयं जनयिष्यति ।
वन्येनानेन विधिना दिधक्षन्तमिव प्रजाः ॥ ४७ ॥

'इस प्रकार मेरा यह शरीर वनवासीके लिये उचित इस विधानके द्वारा ही मेरे दूसरे स्वरूप (पुत्र) को जन्म देगा, जो समस्त प्रजाको जलाकर भस्म कर देनेकी इच्छा रखता होगा' ॥ ४७ ॥

ऊर्वस्तु तपसाऽऽविष्टो निवेश्योरुं हुताशने ।
ममन्थैकेन दर्भेण पुत्रस्य प्रभवारणिम् ॥ ४८ ॥

ऐसा कहकर तपके आवेशमें भरे हुए ऊर्व मुनिने अपनी जाँघको अग्निमें डाल दिया और पुत्रकी उत्पत्तिके लिये अरणि-रूप उस जाँघको एक कुशसे मथने लगे ॥ ४८ ॥

तस्योरुं सहसा भित्त्वा ज्वालामाली निरिन्धनः ।
जगतो निधनाकाङ्क्षी पुत्रोऽग्निः समपद्यत ॥ ४९ ॥

उस समय सहसा उनके ऊरु (जाँघ) का भेदन करके एक अग्निस्वरूप पुत्र उत्पन्न हुआ, जो विना ईंधनके ही ज्वालामालाओंसे अलंकृत था । वह समस्त संसारके विनाशकी इच्छा रखता था ॥ ४९ ॥

ऊर्वस्योरुं विनिर्भिद्य और्वो नामान्तकोऽनलः ।
दिधक्षन्निव लोकांस्त्रीञ्जज्ञे परमकोपनः ॥ ५० ॥

ऊर्वकी जाँघको चीरकर जो वह लोक-विनाशक परम क्रोधी अनल प्रकट हुआ था, वह और्वके नामसे विख्यात हुआ । उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह तीनों लोकोंको दग्ध कर डालना चाहता हो ॥ ५० ॥

उत्पन्नमात्रश्चोवाच पितरं दीनया गिरा ।
क्षुधा मे बाधते तात जगद् भक्ष्ये त्यजस्व माम् ॥ ५१ ॥

उसने उत्पन्न होते ही प्रदीप्त वाणीमें अपने पितासे कहा—'तात ! मुझे भूख सता रही है; मेरे आहारके लिये यह सम्पूर्ण जगत् मुझे अर्पित कर दीजिये' ॥ ५१ ॥'

त्रिदिवारोहिभिर्ज्वालैर्जृम्भमाणो दिशो दश ।
निर्दहन्निव भूतानि ववृधे सोऽन्तकोऽनलः ॥ ५२ ॥

वह कालरूप अग्नि समस्त प्राणियोंको दग्ध-सा करता हुआ बढ़ने लगा । अपनी स्वर्गतक पहुँचनेवाली ज्वालाओंके द्वारा वह दसों दिशाओंमें फैलता जा रहा था ॥ ५२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मा सर्वलोकपतिः प्रभुः ।
आजगाम मुनिर्यत्र व्यसृजत् पुत्रमुत्तमम् ॥ ५३ ॥

इसी बीचमें सब लोकोंके स्वामी भगवान् ब्रह्मा उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ ऊर्व मुनिने अपने श्रेष्ठ पुत्रको उत्पन्न किया था ॥ ५३ ॥

स ददर्शोरुमूर्वस्य दीप्यमानं सुताग्निना ।
और्वकोपाग्निसंतप्तॉल्लोकांश्च ऋषिभिः सह ॥ ५४ ॥

उन्होंने देखा कि ऊर्वकी जाँघ पुत्ररूप अग्निसे देदीप्यमान हो रही है और और्वकी क्रोधाग्निसे ऋषियोंसहित तीनों लोक संतप्त हो उठे हैं ॥ ५४ ॥

तमुवाच ततो ब्रह्मा मुनिमूर्वं सभाजयन् ।
धार्यतां पुत्रजं तेजो लोकानां हितकाम्यया ।
अस्यापत्यस्य ते विप्र करिष्ये साह्यमुत्तमम् ॥ ५५ ॥

तब ब्रह्मा ऊर्व मुनिका सत्कार करते हुए उनसे कहने लगे—'विप्रवर ! तुम लोकोंका हित करनेकी इच्छासे अपने पुत्रके तेजको रोके रहो। मैं तुम्हारे इस पुत्रकी उत्तम सहायता करूँगा ॥ ५५ ॥

वासं चास्य प्रदास्यामि प्राशनं चामृतोपमम् ।
तथ्यमेतन्मम वचः शृणु त्वं वदतां वर ॥ ५६ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! तुम मेरे इस तथ्य वचनको भी सुनो। मैं इसे अमृतके समान भोजन और रहनेके लिये स्थान भी दूँगा' ॥ ५६ ॥

ऊर्व उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यन्ममाद्य भवाञ्छिशोः ।
मतिमेतां ददातीह परमानुग्रहाय वै ॥ ५७ ॥

ऊर्वने कहा—'आज मैं धन्य हूँ। मेरे ऊपर आपका बड़ा अनुग्रह है, जो आप यहाँ पधारकर मेरे पुत्रपर परम अनुग्रह करनेके लिये ऐसी सलाह दे रहे हैं ॥ ५७ ॥

प्रभावकाले सम्प्राप्ते काङ्क्षितव्ये समागमे ।
भगवंस्तर्पितः पुत्रः कैर्हव्यैः प्राप्स्यते सुखम् ॥ ५८ ॥
कुत्र चास्य निवासो वै भोजनं च किमात्मकम् ।
विधास्यति भवानस्य वीर्यतुल्यं महौजसः ॥ ५९ ॥

भगवन् ! जब इसका यौवनकाल उपस्थित होगा और इसके लिये भोजनकी व्यवस्था वाञ्छनीय होगी, तब यह किस हविसे तृप्त होकर सुख पायेगा ? इसका निवासस्थान कहाँ होगा ? इस महान् शक्तिशाली पुत्रकी शक्तिके अनुरूप आप किस भोजनकी व्यवस्था करेंगे ? ॥ ५८-५९ ॥

ब्रह्मोवाच

बडवामुखेऽस्य वसतिः समुद्रास्ये भविष्यति ।
मम योनिर्जलं विप्र तच्च तोयमयं वपुः ॥ ६० ॥

ब्रह्माजीने कहा—विप्रवर ! जिसकी आकृति घोड़ीके मुखके समान है, समुद्रके उस मुखमें इसका निवास होगा। जल मेरी योनि (उत्पत्तिका स्थान) है और उस (समुद्र एवं उसके मुख) का स्वरूप भी जलमय ही है ॥ ६० ॥

तद्धविस्तव पुत्रस्य विसृजाम्यालयं तु तत् ।
तत्रायमास्तां नियतः पिबन् वारिमयं हविः ॥ ६१ ॥

उसी जलको मैं तुम्हारे पुत्रके लिये हविष्यरूपमें अर्पित करता हूँ और उसके लिये रहनेका स्थान भी वही होगा। यह जलमय हविष्यका पान करता हुआ सदा वहीं रहे ॥ ६१ ॥

ततो युगान्ते भूतानामेष चाहं च सुव्रत ।
सहितौ विचरिष्यावो लोकानिति पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

सुव्रत ! तदनन्तर प्राणियोंका प्रलयकाल आनेपर यह और मैं दोनों साथ-साथ सम्पूर्ण लोकोंमें बारंबार विचरेंगे ॥ ६२ ॥

एषोऽग्निरन्तकाले तु सलिलाशी मया कृतः ।
दहनः सर्वभूतानां सदेवासुररक्षसाम् ॥ ६३ ॥

इस अग्निको मैंने जलाहारी बना दिया। यह प्रलयके समय देवता, राक्षस और असुर आदि समस्त प्राणियोंको भस्म करनेवाला होगा ॥ ६३ ॥

एवमस्त्विति सोऽप्यग्निः संवृतज्वालमण्डलः ।
प्रविवेशार्णवमुखं निक्षिप्य पितरि प्रभाम् ॥ ६४ ॥

तब 'एवमस्तु' कहकर उस और्व नामक अग्निने अपनी ज्वालाओंको समेट लिया और पिताके शरीरमें यशरूपी तेजको स्थापित करके उसी क्षण समुद्रके मुखमें प्रवेश किया ॥

प्रतियातस्ततो ब्रह्मा ते च सर्वे महर्षयः ।
और्वस्याग्नेः प्रभावज्ञाः स्वां स्वां गतिमुपाश्रिताः ॥६५॥

तब ब्रह्माजी लौट गये तथा और्व अग्निके प्रभावको जाननेवाले वे सब महर्षि भी अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ६५ ॥

हिरण्यकशिपुर्दृष्ट्वा तदद्भुतमपूजयत् ।
ऊर्वं प्रणतसर्वाङ्गो वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ६६ ॥

इस अद्भुत घटनाको देखकर हिरण्यकशिपुने ऊर्वको साष्टाङ्ग प्रणाम करके उनका पूजन किया और यह बात कही—॥ ६६ ॥

भगवन्नद्भुतमिदं निर्वृत्तं लोकसाक्षिकम् ।
तपसा ते मुनिश्रेष्ठ परितुष्टः पितामहः ॥ ६७ ॥

'भगवन् ! आपने समस्त लोकोंके सामने यह अद्भुत बात कर दिखायी। मुनिश्रेष्ठ ! आपकी तपस्यासे पितामह ब्रह्मा भी बहुत संतुष्ट हैं ॥ ६७ ॥

अहं तु तव पुत्रस्य तव चैव महाव्रत।
भृत्य इत्यवगन्तव्यः श्लाघ्योऽसि यदि कर्मणा ॥ ६८ ॥

'महाव्रत ! यदि आप मेरे कर्मोंको देखकर मुझे प्रशंसाके योग्य समझते हो तो 'मुझे अपने पुत्रका और अपना किङ्कर समझें ॥ ६८ ॥

तन्मां पश्य समापन्नं तवैवाराधने रतम्।
यदि सीदे मुनिश्रेष्ठ तवैव स्यात् पराजयः ॥ ६९ ॥

'अतः मुनिश्रेष्ठ ! मैं शरणमे आकर आपकी ही आराधनामे तत्पर हूँ। आप मुझपर कृपादृष्टि कीजिये। यदि मैं कष्टमें पड़ा तो यह आपकी ही पराजय होगी' ॥ ६९ ॥

ऊर्व उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य तेऽहं गुरुर्मतः।
नास्ति ते तपसानेन भयमद्येह सुव्रत ॥ ७० ॥

ऊर्व मुनिने कहा--सुव्रत ! तुम मुझे अपना गुरु या पिता मान रहे हो; अतः मैं धन्य हूँ, यह तुम्हारा मुझपर महान् अनुग्रह है। मेरी इस तपस्याके प्रभावसे अब तुम्हें यहाँ कोई भय नहीं होगा ॥ ७० ॥

इमां च मायां गृह्णीष्व मम पुत्रेण निर्मिताम्।
निरिन्धनामग्निमयीं दुःस्पर्शां पावकैरपि ॥ ७१ ॥

साथ ही तुम मेरे पुत्रके द्वारा रची हुई इस मायाको ग्रहण करो। इस ईंधनरहित अग्निमयी मायाका स्पर्श करना साक्षात् अग्निके लिये भी कठिन होगा ॥ ७१ ॥

एषा ते स्वस्य वंशस्य वशगारिविनिग्रहे।
रक्षिष्यत्यात्मपक्षं सा परांश्च प्रहरिष्यति ॥ ७२ ॥

यह (माया) तुम्हारे जीवनकाल तक सदा तुम्हारे वंशजोंके वशमें होकर रहेगी और शत्रुओका दमन करते समय यह अपने पक्षवालोंकी रक्षा तथा शत्रुओका संहार करेगी ॥ ७२ ॥

एवमस्त्विति तां गृह्य प्रणम्य मुनिपुंगवम्।
जगाम त्रिदिवं हृष्टः कृतार्थो दानवेश्वरः ॥ ७३ ॥

तब 'एवमस्तु' कहकर दानवराजने उस मायाको ग्रहण कर लिया और प्रसन्न हो कृतार्थताका अनुभव करता हुआ उन मुनिवरको प्रणाम करके स्वर्गको चला गया ॥ ७३ ॥

वरुण उवाच

सैषा दुर्विषहा माया देवैरपि दुरासदा।
और्वेण निर्मिता पूर्वं पावकेनोर्वसूनुना ॥ ७४ ॥

वरुण कहते हैं--इस प्रकार प्राचीन कालमें ऊर्व ऋषिके पुत्र और्वनामक अग्निने इस मायाको रचा था, जो देवताओके लिये भी दुःसह एवं दुर्जय है ॥ ७४ ॥

तस्मिंस्तु व्युत्थिते दैत्ये निर्वीर्यैषा न संशयः।
शापो ह्यस्याः पुरा दत्तः सृष्टा येनैव तेजसा ॥ ७५ ॥

यह दैत्य अब संसारसे उठ गया है। अतः यह माया निर्बल हो गयी है, इसमें कोई संदेह नहीं है; क्योंकि जिन्होंने अपने तेजसे इसको रचा था, उन्होने ही इसको शाप भी दिया था (कि यह माया हिरण्यकशिपुके जीवनतक ही बलवती रहेगी) ॥ ७५ ॥

यद्येषा प्रतिहन्तव्या कर्तव्यो भगवान् सुखी।
दीयतां मे सखा शक्र तोययोनिर्निशाकरः ॥ ७६ ॥

इन्द्रदेव ! यदि आपको इस मायाका संहार करना है और अपनेको प्रसन्न करना है तो आप मुझे जलके उत्पत्ति-स्थान चन्द्रमाको मेरी सहायताके लिये दीजिये ॥ ७६ ॥

तेनाहं सह संगम्य यादोभिश्च समावृतः।
मायामेतां हनिष्यामि त्वत्प्रसादान्न संशयः ॥ ७७ ॥

मैं चन्द्रमाके सहयोगसे और (अपने अधीनस्थ) जलचर जीवोंसे घिरा रहकर आपकी कृपासे इस मायाका अवश्य ही नाश कर डालूँगा ॥ ७७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि और्वाग्निसम्भवो नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें और्व अग्निके उत्पत्तिविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

इन्द्रद्वारा चन्द्रमाकी स्तुति, चन्द्रदेव और वरुणदेवके द्वारा दैत्यसेनाका संहार, मयदानवद्वारा मायाका प्रयोग, पवन और अग्निदेवका दैत्यसेनाके साथ संग्राम और कालनेमिका रणमें आगमन

वैशम्पायन उवाच

एवमस्त्विति संहृष्टः शक्रस्त्रिदशवर्द्धनः।
संदिदेशाग्रतः सोमं युद्धाय शिशिरायुधम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब देवताओंकी उन्नति करनेवाले इन्द्र अति प्रसन्न होकर बोल उठे—'अच्छा, ऐसा ही होगा।' तदनन्तर वे अपने सामने ही स्थित, हिमसे आयुधका काम लेनेवाले चन्द्रमाको समझाने लगे ॥ १ ॥

शक्र उवाच

गच्छ सोम सहायत्वं कुरु पाशधरस्य वै।
असुराणां विनाशाय जयाय च दिवौकसाम् ॥ २ ॥

इन्द्रने कहा—सोम ! आप जाइये और पाशधारी वरुणकी सहायता कीजिये। ऐसा करनेसे असुरोंका संहार और देवताओंकी विजय होगी ॥ २ ॥

त्वमप्रतिमवीर्यश्च ज्योतिषां चेश्वरेश्वरः ।
त्वन्मयं सर्वलोकानां रसं रसविदो विदुः ॥ ३ ॥

आपका पराक्रम अनुपम है। आप ग्रह-नक्षत्रोंके अधिपतियोंके भी अधिपति हैं। रस (के तत्त्व) को जाननेवाले विद्वानोंका यह अनुभव है कि सब प्राणियोंमें जो रस है, वह आपका ही है ॥ ३ ॥

क्षयवृद्धी तवाव्यक्ते सागरस्येव मण्डले ।
परिवर्तस्यहोरात्रं कालं जगति योजयन् ॥ ४ ॥

समुद्रके समान आपके मण्डलकी क्षय-वृद्धि सदा अव्यक्त रहती है। आप संसारमें कालको प्रवर्तित करते हुए दिन और रात्रिका परिवर्तन करते रहते हैं ॥ ४ ॥

लोकच्छायामयं लक्ष्म तवाङ्के शशसंस्थितम् ।
न विदुः सोमदेवाऽपि ये च नक्षत्रयोगिनः ॥ ५ ॥

सोम ! आपके अङ्क (मण्डलके मध्य) में पृथ्वीलोककी छाया (प्रतिबिम्ब) ही शश नामक चिह्न है। नक्षत्रोंका विचार करनेवाले विद्वान् और चन्द्रोपासक भी आपको (वास्तविक रूपमें) नहीं जान सकते ॥ ५ ॥

त्वमादित्यपथादूर्ध्वं ज्योतिषां चोपरि स्थितः ।
तमश्चोत्सार्य वपुषा भासयस्यखिलं जगत् ॥ ६ ॥

आप आदित्यपथसे भी ऊर्ध्वदेशमें और सम्पूर्ण ज्योतिर्मण्डलोंके भी ऊपर स्थित रहते हैं। आप अपने (तेजोमय) शरीरके द्वारा अन्धकारको दूर कर समस्त संसारको प्रकाशित करते हैं ॥ ६ ॥

श्वेतभानुर्हिमतनुर्ज्योतिषामधिपः शशी ।
अब्दकृत् कालयोगात्मा इज्यो यज्ञरसोऽव्ययः ॥ ७ ॥

आपकी किरणें श्वेतवर्णकी हैं। आपका शरीर हिममय है। आप नक्षत्रोंके स्वामी, शशके चिह्नसे युक्त, संवत्सररूप (काल) के रचयिता, कालयोगस्वरूप, पूजनीय,(वर्षा आदिके रूपमें) यज्ञके रस और अव्यय (प्रवाहरूपसे नित्य) हैं ॥ ७ ॥

ओषधीशः क्रियायोनिरम्भोयोनिरनुष्णभाक् ।
शीतांशुरमृताधारश्चपलः श्वेतवाहनः ॥ ८ ॥

आप (अन्नादि) ओषधियोंके स्वामी, क्रियाओं और जलके उत्पत्तिस्थान तथा स्वभावसे ही शीतलता धारण करनेवाले हैं। आपकी किरणें शीतल हैं। आप अमृतके आधार हैं, चपल हैं। आपका वाहन श्वेतवर्णका है ॥ ८ ॥

त्वं कान्तिः कान्तवपुषां त्वं सोमः सोमवृत्तिनाम् ।
सौम्यस्त्वं सर्वभूतानां तिमिरघ्नस्त्वमृक्षराट् ॥ ९ ॥

आप ही कान्तिमान् शरीरवाले नर-नारियों और देवताओंकी कान्ति हैं और सोमसे जीविका चलानेवाले देवसमूहके लिये आप ही सोम हैं। आप सभी प्राणियोंके लिये सौम्य हैं, अन्धकारका नाश करनेवाले हैं तथा नक्षत्रोंके राजा हैं ॥

तद् गच्छ त्वं सहानेन वरुणेन वरूथिना ।
शमयस्वासुरीं मायां यया दह्याम संगरे ॥ १० ॥

अतः आप सेना लेकर (युद्धके लिये) तैयार खड़े हुए इन वरुणदेवके साथ जाइये और समराङ्गणमें जिससे हम जल रहे हैं, उस आसुरी मायाको शान्त कीजिये ॥ १० ॥

सोम उवाच

यन्मां वदसि युद्धार्थे देवराज जगत्पते ।
एष वर्षामि शिशिरं दैत्यमायापकर्षणम् ॥ ११ ॥

सोमने कहा—देवराज ! जगत्पते ! आप युद्धके लिये मुझसे जो कुछ कह रहे हैं, उसके अनुसार मैं अभी दैत्योंकी मायाको नष्ट करनेके लिये हिमकी वर्षा करता हूँ ॥ ११ ॥

एतान् मच्छीतनिर्दग्धान् पश्य त्वं हिमवेष्टितान् ।
विमायान् विमदांश्चैव दानवांस्त्वं महामृधे ॥ १२ ॥

देखिये, इस महासमरमें ये दानव किस प्रकार मेरे बरसाये हुए ओलोंसे दग्ध होते हैं। हिमसे आवेष्टित होनेपर कैसे इनकी माया नष्ट होती है और किस तरह इनका सारा मद उतर जाता है ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो हिमकरोत्सृष्टाः सबाष्पा हिमवृष्टयः ।
वेष्टयन्ति स्म तान् घोरान् दैत्यान् मेघगणा इव॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर चन्द्रमाकी छोड़ी हुई सुन्दर भापसहित ओलोंकी वर्षाने मेघोंकी भाँति उन भयंकर दैत्योंको जकड़ना आरम्भ कर दिया ॥ १३ ॥

तौ पाशशुक्लांशुधरौ वरुणेन्दू महारणे ।
जघ्नतुर्हिमपातैश्च पाशघातैश्च दानवान् ॥ १४ ॥

उस महायुद्धमें पाशधारी वरुण और श्वेत किरणोंवाले चन्द्रमा पाशसे मारकर और ओले गिराकर दानवोंका संहार करने लगे ॥ १४ ॥

द्वावम्बुनाथौ समरे तौ पाशहिमयोधिनौ ।
मृधे चेरतुरम्भोभिः क्षुब्धाविव महार्णवौ ॥ १५ ॥

पाश और हिमका प्रहार करनेवाले वे दोनों जलके स्वामी वरुण और सोम जलकी वर्षा करते हुए क्षोभमें भरे हुए दो समुद्रोंके समान संग्राममें विचरने लगे ॥ १५ ॥

ताभ्यामाप्लावितं सैन्यं तद् दानवमदृश्यत ।
जगत् संवर्तकाम्भोदैः प्रवृष्टैरिव संवृतम् ॥ १६ ॥

उन दोनोंके द्वारा की गयी जलवर्षासे आप्लावित हुई वह दानवोंकी सेना प्रलयकालमें प्रबल वर्षा करनेवाले संवर्तक मेघोंके द्वारा अनन्त जलराशिमें डुबाये गये जगत्‌के समान दीखने लगी ॥ १६ ॥

तावुद्यतांशुपाशौ द्वौ शशाङ्कवरुणौ रणे ।
शमयामासतुर्मायां देवौ दैतेयनिर्मिताम् ॥ १७ ॥

(इस प्रकार) चन्द्रदेव और वरुणदेव दोनों उस युद्धमें अपनी किरणों और पाशोंका प्रयोग करके दैत्योंकी रची हुई मायाका शमन करने लगे ॥ १७ ॥

शीतांशुजलनिर्दग्धाः पाशैश्च प्रसिता रणे ।
न शेकुश्चलितुं दैत्या विशिरस्का इवाद्रयः ॥ १८ ॥

शीतल किरणोंवाले चन्द्रमाके (हिम)जलसे अकड़े हुए और (वरुणके) पाशोंसे जकड़े हुए दैत्य रणमे शिखरहीन पर्वतोंकी भाँति हिल-डुल भी न सके ॥ १८ ॥

शीतांशुनिहतास्ते तु पेतुर्दैत्या हिमार्दिताः ।
हिमप्रावृतसर्वाङ्गा निरूष्माण इवाग्नयः ॥ १९ ॥

शीतरश्मि चन्द्रमाकी मार खाकर हिमसे पीड़ित हुए दैत्य पृथ्वीपर गिरने लगे । उनके सारे अङ्ग बर्फसे ढक गये थे । उस समय वे उष्णतारहित अग्निके समान जान पड़ते थे ॥ १९ ॥

तेषां तु दिवि दैत्यानां विपरीतप्रभाणि च ।
विमानानि विचित्राणि निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥ २० ॥

फिर तो स्वर्गमें दैत्योंके विचित्र विमान प्रभाहीन होकर गिरने और गिरकर उछलने लगे ॥ २० ॥

तान् पाशहस्तग्रथिताञ्छादितान् हिमरश्मिना ।
मयो ददर्श मायावी दानवान् दिवि दानवः ॥ २१ ॥

मायावी दानव मयने देखा कि स्वर्गमें बहुत-से दानवोंको पाशधारी वरुणने जकड़ लिया है और बहुतोंको शीतल किरणोंवाले चन्द्रमाने बर्फसे ढक दिया है' ॥ २१ ॥

स शिलाजालविततां गण्डशैलाट्टहासिनीम् ।
पादपोत्कटकूटाग्रां कन्दराकीर्णकाननाम् ॥ २२ ॥
सिंहव्याघ्रगजाकीर्णां नदन्तीमिव यूथपैः ।
ईहामृगगणाकीर्णां पवनाघूर्णितद्रुमाम् ॥ २३ ॥
निर्मितां स्वेन पुत्रेण क्रौञ्चेन दिवि कामगाम् ।
प्रथितां पार्वतीं मायां ससृजे दानवोत्तमः ॥ २४ ॥

तब उस दानव-शिरोमणिने स्वर्गमे अपने पुत्र क्रौञ्चके द्वारा निर्मित सुप्रसिद्ध पार्वती मायाको प्रकट किया, जो इच्छानुसार सर्वत्र पहुँच जानेवाली थी । वह शिलाओंका विशाल जाल-सा बिछा देती थी, भारी-भारी चट्टानोंको गिराकर उनके धमाकेकी आवाजके रूपमें मानो अट्टहास करती थी । उन शिलाओंके शिरोभाग वृक्षोंके कारण खुरदरे हो रहे थे । उस पार्वती मायाके कानन-प्रान्त गुफाओंसे व्याप्त थे । वहाँ सिंह, व्याघ्र और बड़े-बड़े गजराज भरे हुए थे । यूथपतियोंके चिग्घाड़ने या दहाड़नेके शब्दसे मानो वह माया सिंहनाद-सा करती प्रतीत होती थी । उस मायामयी पर्वतमालामें सब ओर भेड़िये भरे थे । वहाँके वृक्ष प्रचण्ड वायुके झोंके खाकर झूम रहे थे ॥ २२—२४ ॥

साश्मशब्दैः शिलावर्षैः सम्पतद्भिश्च पादपैः ।
निजघ्ने देवसंघांस्तान् दानवांश्चाप्यजीवयत् ॥२५॥

उस पार्वती मायाने चट्टानोंके टकरानेकी आवाजसे, पत्थरोंकी वर्षासे और गिरते हुए वृक्षसमूहोंसे देवसमुदायको मारना आरम्भ किया । इससे दैत्योंके जीमें-जी आया ॥ २५॥

नैशाकरी वारुणी च माये ऽन्तर्दधतस्ततः ।
अश्मभिश्चायसघनैः कीर्णा देवगणा रणे ॥ २६ ॥

उस दैत्यकी मायाके प्रभावसे वरुण और चन्द्रमा—दोनोंकी मायाएँ अदृश्य हो गयीं । रणभूमिमें देवताओंपर प्रस्तर और लोहेके घन बरसने लगे ॥ २६ ॥

साश्मसंघातविषमा द्रुमपर्वतसंकटा ।
अभवद् घोरसंचारा पृथिवी पर्वतैरिव ॥ २७ ॥

जैसे पर्वतोंके कारण वहाँकी भूमिपर चलना कठिन हो जाता है, उसी प्रकार वहाँ गिरे हुए शिलाखण्डोंके समूहसे विषम और वृक्ष एवं पर्वतोंके बिछ जानेसे संकीर्ण हुई उस रणभूमिमे चलना-फिरना दूभर हो गया था ॥ २७ ॥

नानाहतोऽश्मभिः कश्चिच्छिलाभिश्चाप्यताडितः ।
नानिरुद्धो द्रुमगणैर्देवोऽदृश्यत संयुगे ॥ २८ ॥

उस युद्धमें ऐसा कोई देवता नहीं दिखायी देता था, जिसके शरीरपर पत्थरोंसे चोट न आयी हो, जिसपर शिलाओंकी मार न पड़ी हो तथा जो सब ओर गिरें हुए वृक्षसमूहोंसे अवरुद्ध न हो गया हो ॥ २८ ॥

तदपभ्रष्टधनुषं भग्नप्रहरणाविलम् ।
निष्प्रयत्नं सुरानीकं वर्जयित्वा गदाधरम् ॥ २९ ॥

उस समय भगवान् गदाधरको छोड़कर शेष देवताओंकी वह सारी सेना निरुपाय एवं निश्चेष्ट हो गयी थी । सबके हाथसे धनुष नीचे गिर गये थे और आयुधोंके टूट जानेसे सबके मुखपर मलिनता छा गयी थी ॥ २९ ॥

स हि युद्धगतः श्रीमानीशो न स्म व्यकम्पत ।
सहिष्णुत्वाज्जगत्स्वामी न चुक्रोध गदाधरः ॥ ३० ॥

अवश्य ही युद्धमे विराजमान श्रीमान् भगवान् विष्णु उस समय भी कम्पित नहीं हुए और सहनशील होनेके कारण

उन जगत्पति भगवान् गदाधरको क्रोध भी नहीं आया ॥ ३० ॥

कालज्ञः कालमेघाभः समैक्षत् कालमाहवे ।
देवासुरविमर्दं स द्रष्टुकामो जनार्दनः ॥ ३१ ॥

श्याम मेघकी-सी कान्तिवाले और समयको पहचाननेवाले भगवान् जनार्दन युद्धमें समयकी बाट देखने लगे । वे देवता और असुरोंकी मुठभेड़ देखना चाहते थे ॥ ३१ ॥

ततो भगवताऽऽदिष्टौ रणे पावकमारुतौ ।
शमनार्थं प्रवृद्धाया मायाया मयसृष्टया ॥ ३२ ॥

उधर मयदानवकी रची हुई माया रणभूमिमें उत्तरोत्तर बढ़ रही थी । उसे शान्त करनेके लिये भगवान्‌ने अग्नि और वायुको आज्ञा दी (कि तुम दोनों इस मायाको नष्ट करो) ॥ ३२ ॥

ततः प्रवृद्धावन्योन्यं प्रवृद्धौ ज्वालवाहिनौ ।
चोदितौ विष्णुवाक्येन तां मायां व्यपकर्षताम् ॥ ३३ ॥

तब एक दूसरेके सहयोगसे बढ़े हुए तथा प्रबुद्ध होकर ज्वालाओंका भार वहन करनेवाले वे दोनो देवता भगवान् विष्णुकी आज्ञासे प्रेरित होकर उस मायाको दूर करने लगे ३३

ताभ्यामुद्‌भ्रान्तवेगाभ्यां प्रवृद्धाभ्यां महाहवे ।
दग्धा सा पार्वती माया भस्मीभूता ननाश ह ॥ ३४ ॥

प्रवृद्ध होकर महायुद्धमे ववंडरकी तरह वेगसे घूमते हुए पावक और पवनदेवने उस पार्वती मायाको भस्म कर डाला । अतः वह नष्ट हो गयी ॥ ३४॥

सोऽनिलोऽनलसंयुक्तः सोऽनलश्चानिलाकुलः ।
दैत्यसेनां ददहतुर्युगान्तेष्विव मूर्च्छितौ ॥ ३५ ॥

प्रलयकालकी भाँति वायुका संयोग पाकर प्रवल हुए अग्निदेवने और अग्निका संयोग पाकर वढ़े हुए वायुदेवने दानवसेनाको भस्म करना आरम्भ किया ॥ ३५ ॥

वायुः प्रधावितस्तत्र पश्चादग्निश्च मारुतात् ।
चेरतुर्दानवानीके क्रीडन्तावनलानिलौ ॥ ३६ ॥

रणभूमिमें पहले तो वेगसे आँधी चली और फिर वायुसे प्रज्वलित होकर अग्नि वेगपूर्वक फैलने लगी । (इस प्रकार) अग्निदेव और पवनदेव दोनों दानवोंकी सेनामें क्रीड़ा करते हुए विचरने लगे ॥ ३६ ॥

भस्मावयवभूतेषु प्रपतत्सूत्पतत्सु च ।
दानवेषु विनष्टेषु कृतकर्मणि पावके ॥ ३७ ॥

(फिर क्या था ?) दानवलोग भस्म हो-होकर गिरने लगे और (वायुके वेगसे) उनकी राख उड़ने लगी । इस प्रकार अग्निका काम पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

वातस्कन्धापविद्धेषु विमानेषु समन्ततः ।
मायाबन्धे विनिर्वृत्ते स्तूयमाने गदाधरे ॥ ३८ ॥

(इधर) वायुके प्रचण्ड वेगसे आहत हो विमान सब ओर टूट-टूटकर गिरने लगे । मायाका बन्धन नष्ट हो गया तथा भगवान् विष्णुकी स्तुति होने लगी ॥ ३८ ॥

निष्प्रयत्नेषु दैत्येषु त्रैलोक्ये मुक्तबन्धने ।
सम्प्रहृष्टेषु देवेषु साधु साध्विति सर्वशः ॥ ३९ ॥

दानवोंके प्रयत्न निष्फल हो गये, त्रिलोकीका बन्धन जाता रहा और देवता सब ओर अत्यन्त हर्षमे भरकर 'साधु-साधु' कहने लगे ॥ ३९ ॥

जये दशशताक्षस्य मयस्य च पराजये ।
दिक्षु सर्वासु शुद्धासु प्रवृत्ते धर्मसंस्तरे ॥ ४० ॥

सहस्रनेत्रधारी इन्द्रकी विजय हुई और मय दानवकी पराजय । सम्पूर्ण दिशाएँ शुद्ध हो गयीं और सब ओर धर्मका विस्तार होने लगा ॥ ४० ॥

अपावृत्ते चन्द्रपथे अयनस्थे दिवाकरे ।
प्रकृतिस्थेषु लोकेषु नृषु चारित्रबन्धुषु ॥ ४१ ॥

चन्द्रमाका मार्ग प्रशस्त हो गया । सूर्य अपने मार्गमे स्थित हुए । तीनों लोक अपनी स्वाभाविक स्थितिमें स्थित हो गये और मनुष्य सदाचारको ही अपना बन्धु (सहायक) मानने लगे ॥ ४१ ॥

अभिन्नबन्धने मृत्यौ हूयमाने हुताशने ।
यज्ञभागिषु देवेषु स्वर्गार्थं दर्शयत्सु च ॥ ४२ ॥

मृत्युकी मर्यादा नियत हो गयी । अग्निहोत्रका कार्य ठीक ढंगसे चलने लगा । देवता यज्ञोंमें भाग पाने तथा स्वर्गका मार्ग दिखाने लगे ॥ ४२ ॥

लोकपालेषु सर्वेषु दिक्षु संयानवर्तिषु ।
भावे तपसि शुद्धानामभावे दुष्टकर्मिणाम् ॥ ४३ ॥

समस्त लोकपाल अपनी-अपनी दिशामें निर्भय होकर विचरने लगे । शुद्धात्मा पुरुष तपस्यामें प्रवृत्त हो अभ्युदयके भागी होने लगे तथा दुराचारी मनुष्योंका विनाश होने लगा ॥ ४३ ॥

देवपक्षे प्रमुदिते दैत्यपक्षे विषीदति ।
त्रिपादविग्रहे धर्मे अधर्मे पादविग्रहे ॥ ४४ ॥

देवताओंका दल प्रसन्न रहने लगा । दैत्योंके समुदायपर विषाद छा गया । धर्मके तीन पैर जम गये और अधर्मका एक ही पैर शेष रह गया ॥ ४४ ॥

अपावृतमहाद्वारे वर्तमाने च सत्पथे ।
स्वधर्मस्थेषु वर्णेषु लोकेऽस्मिन्नाश्रमेषु च ॥ ४५ ॥

जिसपर चलनेवाले पुरुषोंके लिये मोक्षका महान् द्वार खुल जाता है, वह सत्पुरुषोंका मार्ग पुनः चालू हो गया । इस जगत्‌में चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके लोग अपने-अपने धर्मका पालन करने लगे ॥ ४५ ॥

प्रजारक्षणयुक्तेषु भ्राजमानेषु राजसु ।
गीयमानासु गाथासु देवसंस्तवनादिषु ॥ ४६ ॥

सभी नरेश प्रजापालनमें तत्पर रहकर विशेष शोभा पाने लगे । देवताओंकी स्तुतिसे युक्त गाथाओंका सब ओर गान होने लगा ॥ ४६ ॥

प्रशान्तकलुषे लोके शान्ते तपसि दारुणे ।
अग्निमारुतयोस्तस्मिन् वृत्ते संग्रामकर्मणि ।
तन्मया विमला लोकास्ताभ्यां जयकृतप्रियाः ॥ ४७ ॥

सब लोगोंका कलुष शान्त हो गया । दारुण या कठोर तपस्या शान्त एवं मृदुल तपके रूपमें परिणत हो गयी । अग्नि और वायुदेवका वह युद्धविषयक महान् पराक्रम जब पूर्ण हो गया, तब निर्मल (प्रसन्न) हुए जगत्‌में उन्हींकी प्रधानता हो गयी; क्योंकि उनकी विजयने लोगोंका प्रिय कार्य किया था ॥ ४७ ॥

पूर्वदेवभयं श्रुत्वा मारुताग्निकृतं महत् ।
कालनेमिरिति ख्यातो दानवः प्रत्यदृश्यत ॥ ४८ ॥

अग्नि और वायुने दैत्योंपर महान् भय उपस्थित कर दिया है—यह सुनकर 'कालनेमि' नामसे विख्यात दानव उनके सामने आया ॥ ४८ ॥

भास्कराकारमुकुटः शिञ्जिताभरणाङ्गदः ।
मन्दराचलसंकाशो महारजतसंवृतः ॥ ४९ ॥

उसके मस्तकपर सूर्यके समान तेजस्वी मुकुट शोभा दे रहा था । उसने पैर आदिमें खन-खन शब्द करनेवाले नूपुर आदि आभूषण तथा भुजाओंमें बाजूबन्द धारण कर रखे थे। बहुमूल्य चाँदीके कवचसे आवृत होनेके कारण वह मन्दराचल-सा प्रतीत हो रहा था ॥ ४९ ॥

शतप्रहरणोदग्रः शतबाहुः शताननः ।
शतशीर्षा स्थितः श्रीमाञ्छतशृङ्ग इवाचलः ॥ ५० ॥

उसने अपनी सौ भुजाओंमें उतने ही आयुध धारण किये थे, इसलिये वह अत्यन्त भयंकर जान पड़ता था । उसके मुख भी सौ ही थे । सौ मस्तकोंसे युक्त वह तेजस्वी दानव जब खड़ा होता था, उस समय सौ शिखरोंसे सुशोभित पर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ५० ॥

कक्षे महति संवृद्धो हिमान्त इव पावकः ॥ ५१ ॥

इतना ही नहीं, वह ग्रीष्म ऋतुमें सूखे वृक्षोंसे भरे हुए विशाल वनके भीतर प्रज्वलित हुए दावानलके समान देदीप्यमान हो रहा था ॥ ५१ ॥

धूम्रकेशो हरिच्छ्मश्रुर्दंष्ट्रालोष्ठपुटाननः ।
त्रैलोक्यान्तरविस्तारो धारयन् विपुलं वपुः ॥ ५२ ॥

उसके केश धूम्रवर्णके थे; किंतु मूँछें हरे रंगकी दिखायी देती थीं । उसकी दाढ़ें ओठोंसे बाहर निकली हुई थीं, जिससे उसके मुखकी अद्भुत शोभा होती थी । उसने ऐसा विशाल शरीर धारण कर रखा था, जो तीनों लोकोंमें फैला हुआ-सा प्रतीत होता था ॥ ५२ ॥

बाहुभिस्तुलयन् व्योम क्षिपन् पद्भ्यां महीधरान् ।
ईरयन् मुखनिःश्वासैर्वृष्टिमन्तो बलाहकान् ॥ ५३ ॥

वह अपनी भुजाओंसे आकाशको तौल रहा था, पैरोंकी ठोकरोंसे कितने ही पर्वतोंको दूर फेंक देता था और मुखके निःश्वासोंसे वर्षा करनेवाले बादलोंको उड़ा देता था ॥ ५३ ॥

तिर्यगायतरक्ताक्षं मन्दरोदग्रवर्चसम् ।
दिधक्षन्तमिवायान्तं सर्वान् देवगणान् मृधे ॥ ५४ ॥

उसके नेत्र विशाल और लाल थे । वह तिरछी दृष्टिसे देखा करता था । मन्दर अर्थात् स्वर्गलोकके सर्वश्रेष्ठ देवता देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी जान पड़ता था । उसे देखकर ऐसा लगता था, मानो वह युद्धमें सम्पूर्ण देवताओंको भस्म कर डालनेकी इच्छासे आ रहा हो ॥ ५४ ॥

तर्जयन्तं सुरगणांश्छादयन्तं दिशो दश ।
संवर्तकाले क्षुधितं दृप्तं मृत्युमिवोत्थितम् ॥ ५५ ॥

वह देवताओंको डाँट बताता और दसों दिशाओंको आच्छादित करता आ रहा था । ऐसा जान पड़ता था मानो प्रलयकालमें दर्पसे भरा हुआ भूखा काल उठ खड़ा हुआ हो ॥ ५५ ॥

सुतलेनोच्छ्रितवता विपुलाङ्गुलिपर्वणा ।
माल्याभरणपूर्णेन किंचिच्चलितवर्मणा ॥ ५६ ॥
उच्छ्रितेनाग्रहस्तेन दक्षिणेन वपुष्मता ।
दानवान् देवनिहतानुत्तिष्ठध्वमिति ब्रुवन् ॥ ५७ ॥

जिसकी हथेली बहुत सुन्दर थी, अँगुलियोंके पर्व पुष्ट थे, जो मालाकार आभूषण (वलय) से सुशोभित था तथा जिसका कवच कुछ खिसक गया था, ऐसे ऊँचे उठाये हुए मोटे-ताजे दाहिने हाथके अग्रभागसे वह देवताओंकी मार खाकर गिरे हुए दानवोंको उठनेका संकेत करके कह रहा था, कि (वीरो !) उठकर खड़े हो जाओ ॥ ५६-५७ ॥

तं कालनेमिं समरे द्विषतां कालसंनिभम् ।
वीक्षन्ति स्म सुराः सर्वे भयविक्लवमानसाः ॥ ५८ ॥

शत्रुओंके लिये कालके समान भयंकर वह कालनेमि नामक दानव जब समरभूमिमें आया, उस समय वहाँ खड़े हुए समस्त देवता भयभीत चित्तसे उसकी ओर देखने लगे ॥ ५८ ॥

तं स्म वीक्षन्ति भूतानि क्रमन्तं कालनेमिनम् ।
त्रिविक्रमं विक्रमन्तं नारायणमिवापरम् ॥ ५९ ॥

ऊँचे-ऊँचे पग उठाकर आक्रमण करते हुए उस काल-

नेमिको समस्त प्राणियोंने त्रिविक्रमरूपसे तीनों लोकोंको नापनेके लिये पैर बढ़ाते हुए दूसरे नारायणके समान देखा ॥ ५९ ॥

सोच्छ्रयन् प्रथमं पादं मारुताघूर्णिताम्बरः ।
प्राक्रामदसुरो युद्धे त्रासयन् सर्वदेवताः ॥ ६० ॥

सम्पूर्ण देवताओंको त्रास देते हुए उस असुरने जब युद्धमें अपना पहला कदम उठाकर रखा, उस समय हवाके झोंकेसे उसके वस्त्र फहराने लगे ॥ ६० ॥

स मयेनासुरेन्द्रेण परिष्वक्तः क्रमन् रणे ।
कालनेमिर्विभौ दैत्यः विष्णुनेव पुरंदरः ॥ ६१ ॥

रणभूमिमें विचरते हुए उस दानवराजको असुरराज मयने आगे बढ़कर हृदयसे लगा लिया। उस समय मयके साथ कालनेमि दैत्यकी वैसे ही शोभा हुई, जैसे भगवान् विष्णुसे देवराज इन्द्र सुशोभित होते हैं ॥ ६१ ॥

अथ विव्यथिरे देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः ।
दृष्ट्वा कालमिवायान्तं कालनेमिं भयावहम् ॥ ६२ ॥

कालके समान भयंकर कालनेमिको आते देख इन्द्र आदि सब देवता भयसे व्यथित हो उठे ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि कालनेमिप्रक्रमणे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभरतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें कालनेमिका आक्रमणविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

कालनेमिका युद्ध और प्रभाव

वैशम्पायन उवाच

दानवांश्चापि पिप्रीषुः कालनेमिर्महासुरः ।
व्यवर्धत महातेजास्तपान्ते जलदो यथा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जैसे गर्मीके अन्तमें वर्षाकाल आनेपर मेघ बढ़ता है, उसी प्रकार महातेजस्वी महान् असुर कालनेमि दानवोंको पुष्ट करनेकी इच्छासे बढ़ने लगा ॥ १ ॥

त्रैलोक्यान्तर्गतं तं तु दृष्ट्वा ते दानवेश्वराः ।
उत्तस्थुरपरिश्रान्ताः प्राप्येवामृतमुत्तमम् ॥ २ ॥

उसे तीनों लोकोंमें फैला हुआ देखकर वे सभी दानवराज इस प्रकार सहसा उठ खड़े हुए मानो उन्हें उत्तम अमृत मिल गया हो। उस समय उनकी सारी थकावट दूर हो गयी थी ॥ २ ॥

ते वीतभयसंत्रासा मयतारपुरोगमाः ।
तारकामयसंग्रामे सततं जयकाङ्क्षिणः ।
रेजुरायोधनगता दानवा युद्धकाङ्क्षिणः ॥ ३ ॥

वे मय और तार आदि सभी दानव कालनेमिके आ जानेसे भय और त्राससे रहित हो गये, अतः उस तारकामय संग्राममें निरन्तर विजयकी अभिलाषा रखते हुए युद्धकी आकाङ्क्षासे रणभूमिमें खड़े हो शोभा पाने लगे ॥ ३ ॥

अस्त्रमभ्यस्यतां तेषां व्यूहं च परिधावताम् ।
प्रेक्षतां चाभवत् प्रीतिर्दानवं कालनेमिनम् ॥ ४ ॥

उस समय अस्त्रोंका अभ्यास करते और व्यूहमें सब ओर दौड़ लगाते हुए उन दैत्योंको कालनेमि दानवके दर्शनसे बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ४ ॥

ये तु तत्र मयस्यासन् मुख्या युद्धपुरस्सराः ।
तेऽपि सर्वे भयं त्यक्त्वा हृष्टा योद्धुमुपस्थिताः ॥ ५ ॥

वहाँ जो भी मयके मुख्य-मुख्य सेनापति उपस्थित थे, वे सभी भय छोड़कर हर्ष और उत्साहके साथ युद्धके लिये डट गये ॥ ५ ॥

मयस्तारो वराहश्च हयग्रीवश्च वीर्यवान् ।
विप्रचित्तिसुतः श्वेतः खरलम्बावुभावपि ॥ ६ ॥
अरिष्टो बलिपुत्रस्तु किशोरोष्ट्रौ तथैव च ।
स्वर्भानुश्चामरप्रख्यो वक्रयोधी महासुरः ॥ ७ ॥
एतेऽस्त्रविदुषः सर्वे सर्वे तपसि सुव्रताः ।
दानवाः कृतिनो जग्मुः कालनेमिनमुत्तमम् ॥ ८ ॥

मय, तार, वराह, पराक्रमी हयग्रीव, विप्रचित्तिकुमार श्वेत तथा खर और लम्ब—ये दो दानव एवं बलिपुत्र अरिष्ट, किशोर, उष्ट्र तथा देवताके समान तेजस्वी एवं कुटिलतापूर्वक युद्ध करनेवाला महान् असुर स्वर्भानु—ये सभी अस्त्रवेत्ता और तपस्यामें नियमपूर्वक स्थित रहनेवाले विद्वान् और कुशल दानव उस उत्तम असुर कालनेमिके पास जा पहुँचे ॥ ६—८ ॥

ते गदाभिश्च गुर्वीभिश्चक्रैश्च सपरश्वधैः ।
अश्मभिश्चाद्रिसदृशैर्गण्डशैलैश्च दंशितैः ॥ ९ ॥
पट्टिशैर्भिन्दिपालैश्च परिघैश्चोत्तमायुधैः ।
घातनीभिश्च गुर्वीभिः शतघ्नीभिस्तथैव च ॥ १० ॥
कालकल्पैश्च मुसलैः क्षेपणीयैश्च मुद्गरैः ।
युगैर्यन्त्रैश्च निर्मुक्तैरर्गलैश्चाग्रताडितैः ॥ ११ ॥
दोर्भिश्चायतपीनांसैः पाशैः प्रासैश्च मूर्च्छितैः ।
सर्पैर्लेलिह्यमानैश्च विसर्पद्भिश्च सायकैः ॥ १२ ॥

वज्रैः प्रहरणीयैश्च दीप्यमानैश्च तोमरैः ।
विकोशैश्चासिभिस्तीक्ष्णैः शूलैश्च शितनिर्मलैः ॥ १३ ॥
ते वै संदीप्तमनसः प्रगृहीतोत्तमायुधाः ।
कालनेमिं पुरस्कृत्य तस्थुः संग्राममूर्धनि ॥ १४ ॥

वे सब हर्षसे उत्फुल्ल हृदयवाले दानव हाथोंमें उत्तम आयुध धारण किये, कालनेमिको आगे रखकर उसके सेनापतित्वमें युद्ध करनेके लिये संग्रामके मुहानेपर डट गये। कितने ही दानव अपने चौड़े और पुष्ट कंधोंसे युक्त हाथोंसे ही आयुधोंका काम लेते थे तथा बहुतेरे दैत्य भारी गदा, चक्र, फरसा, पर्वतोंके समान शिलाओंकी बड़ी-बड़ी चट्टान, वज्र आदिके आघातसे टूटकर गिरे हुए शिलाखण्ड, पट्टिश, भिन्दिपाल, परिघ, अन्यान्य उत्तम आयुध, संहार करनेमें समर्थ और सैकड़ोंके प्राण लेनेवाली बड़ी भारी तोपें, कालके समान भयंकर मूसल, क्षेपणीय (गुलेल आदि), मुद्गर, युग (जुआ), खुले हुए यन्त्र, जिसके सिरेको हथौड़ेसे पीटकर तेज किया गया हो ऐसी अर्गला (डंडेला), फैले हुए पाश, प्रास (भाला), जीभ लपलपाते हुए सर्प, तीव्रगतिसे लक्ष्यकी ओर बढ़नेवाले बाण, प्रहार करने योग्य वज्र, दीप्तिमान् तोमर, नंगी तीखी तलवार और तेज किये हुए चमकीले शूल आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो युद्धके लिये डट गये ॥ ९–१४ ॥

सा दीप्तशस्त्रप्रवरा दैत्यानां शुशुभे चमूः ।
द्यौर्निमीलितनक्षत्रा सघनेवाम्बुदागमे ॥ १५ ॥

जहाँ चमकते हुए श्रेष्ठ अस्त्र-शस्त्र विद्युत्की भाँति प्रकाशित हो रहे थे, वह दानवसेना वर्षाकालमें छिपे हुए नक्षत्रवाले मेघ और बिजलीसे युक्त आकाशके समान शोभा पा रही थी ॥ १५ ॥

देवतानामपि चमू रुरुचे शक्रपालिता ।
दीप्ता शीतोष्णतेजोभ्यां चन्द्रभास्करवर्चसा ॥ १६ ॥

इधर चन्द्रमा और सूर्यकी प्रभासे उद्भासित तथा उनके शीतल और उष्ण तेजके द्वारा देदीप्यमान हुई वह इन्द्रपालित देवसेना भी अनुपम शोभासे सम्पन्न हो रही थी ॥ १६ ॥

वायुवेगवती सौम्या तारागणपताकिनी ।
तोयदाविद्धवसना ग्रहनक्षत्रहासिनी ॥ १७ ॥
यमेन्द्रधनदैर्गुप्ता वरुणेन च धीमता ।
सम्प्रदीप्ताग्निपवना नारायणपरायणा ॥ १८ ॥
सा समुद्रौघसदृशी दिव्या देवमहाचमूः ।
रराजास्त्रवती भीमा यक्षगन्धर्वशालिनी ॥ १९ ॥

वायुके समान वेगवती तथा सौम्य भावसे सम्पन्न देवताओंकी वह दिव्य एवं विशाल सेना तारागणोंको पताकारूपमें धारण करती थी, मेघमय वस्त्रोंसे आच्छन्न थी तथा ग्रह और नक्षत्र मानो उसके शुभ्र हास थे। यम, इन्द्र, कुबेर और बुद्धिमान् वरुणके द्वारा उसकी रक्षा की जा रही थी। उसमें प्रकाशमान अग्नि और वायुदेव भी विद्यमान थे। वह भगवान् नारायणके आश्रित थी। देखनेमें उमड़े हुए समुद्रकी अगाध जलराशिके समान जान पड़ती थी। विविध प्रकारके अस्त्रोंसे सम्पन्न होनेके कारण भयंकर प्रतीत होती थी तथा यक्ष और गन्धर्व उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १७–१९ ॥

तयोश्चम्वोस्तदा तत्र बभूव स समागमः ।
द्यावापृथिव्योः संयोगो यथा स्याद् युगपर्यये ॥ २० ॥

जैसे प्रलयकालमें द्युलोक और पृथ्वी—दोनों एक दूसरेसे टकराते हैं, उसी प्रकार उन दोनों सेनाओंमें उस समय वहाँ गहरी भिड़ंत हुई ॥ २० ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं देवदानवसंकुलम् ।
क्षमापराक्रममयं दर्पस्य विनयस्य च ॥ २१ ॥

देवताओं और दानवोंसे भरा हुआ वह युद्ध बड़ा भयंकर हो चला। एक ओर उदारतापूर्ण क्षमा थी तो दूसरी ओर क्रूरतापूर्ण पराक्रम। यह दर्प और विनयका युद्ध था ॥ २१ ॥

निश्चक्रमुर्बलाभ्यां तु ताभ्यां भीमाः सुरासुराः ।
पूर्वापराभ्यां संरब्धाः सागराभ्यामिवाम्बुदाः ॥ २२ ॥

उन दोनों सेनाओंसे रोषमें भरे हुए भयंकर देवता और असुर निकले (तथा युद्धके लिये आगे बढ़े); ठीक उसी तरह जैसे पूर्व और पश्चिमके समुद्रोंसे क्षुब्ध मेघ प्रकट हुए हों ॥ २२ ॥

ताभ्यां बलाभ्यां संहृष्टाश्चेरुस्ते देवदानवाः ।
वनाभ्यां पर्वतीयाभ्यां पुष्पिताभ्यां यथा गजाः ॥ २३ ॥

उन दोनों सेनाओंसे हर्ष और उत्साहमें भरे हुए देवता और दानव युद्धके लिये निकले, मानो फूलोंसे सुशोभित दो पर्वतीय वनोंसे बहुसंख्यक हाथी निकल आये हों ॥ २३ ॥

समाजघ्नुस्ततो भेरीः शङ्खान् दध्मुश्च नैकशः ।
स शब्दो द्यां भुवं चैव दिशश्च समपूरयत् ॥ २४ ॥

उस समय दोनों दलोंके सैनिक बारंबार नगाड़े पीटने और शङ्ख बजाने लगे। बाजोंका वह तुमुल नाद पृथ्वी, आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें भर गया ॥ २४ ॥

ज्याघाततलनिर्घोषो धनुषां कूजितानि च ।
दुन्दुभीनां निनदतां दैत्यानां निर्दधुः स्वनान् ॥ २५ ॥

प्रत्यञ्चा खींचनेसे जो शब्द होता था, धनुषोंकी जो टंकार-ध्वनि होती थी तथा बजती हुई दुन्दुभियोंका जो गम्भीर नाद होता था, उन सबने मिलकर दैत्योंके गर्जन-तर्जनकी आवाजको छिपा दिया ॥ २५ ॥

तेऽन्योन्यमभिसम्पेतुः पातयन्तः परस्परम्।
बभञ्जुर्बाहुभिर्बाहून् द्वन्द्वमन्ये युयुत्सवः ॥ २६ ॥

वे देवता और दानव एक दूसरेपर टूट पड़े और अपने-अपने प्रतिद्वन्द्वीको धराशायी करने लगे। द्वन्द्वयुद्धकी इच्छा रखनेवाले अन्यान्य योद्धाओंने अपनी भुजाओंद्वारा शत्रुओंकी भुजाएँ तोड़ डालीं ॥ २६ ॥

देवतास्त्वशनीर्घोराः परिघांश्चोत्तमायसान्।
ससर्जुराजौ निस्त्रिंशान् गदा गुर्वीश्च दानवाः ॥ २७ ॥

देवतालोग युद्धमें भयंकर वज्र तथा अच्छे लोहेके बने हुए परिघका प्रयोग करने लगे और दानव उनके ऊपर तलवारें और भारी गदाएँ चलाने लगे ॥ २७ ॥

गदानिपातैर्भग्नाङ्गा बाणैश्च शकलीकृताः।
परिपेतुर्भृशं केचिन्न्युब्जाः केचित् ससर्जिरे ॥ २८ ॥

गदाओंके आघातसे कितने ही योद्धाओंके अङ्ग चूर-चूर हो गये, कितनोंके शरीर बाणोंकी चोट खाकर टुकड़े-टुकड़े हो गये, कितने ही गहरी चोटसे पछाड़ खाकर पृथ्वीपर गिर पड़े और कितने ही पीठ ऊपर किये औंधे मुँह लुढ़क गये ॥ २८ ॥

ततो रथैः सतुरगैर्विमानैश्चाशुगामिभिः।
समीयुस्ते तु संरब्धा रोषादन्योन्यमाहवे ॥ २९ ॥

तदनन्तर उस समराङ्गणमें रोषावेशसे भरे हुए उभय-पक्षके सैनिक घोड़े जुते हुए रथों और शीघ्रगामी विमानों-द्वारा आगे बढ़कर एक दूसरेसे भिड़ गये ॥ २९ ॥

संवर्तमानाः समरे विवर्तन्तस्तथापरे।
रथा रथैर्निरुध्यन्ते पदाताश्च पदातिभिः ॥ ३० ॥

रणभूमिमें कितने ही रथी और पैदल योद्धा शत्रुके सामने आते और कितने ही पीठ दिखाकर भागने लगते थे। उस समय उन रथियोंको रथी और पैदलोंको पैदल योद्धा सामने आकर रोक लेते थे ॥ ३० ॥

तेषां रथानां तुमुलः स शब्दः शब्दवाहिनाम्।
बभूवाथ प्रसक्तानां नभसीव पयोमुचाम् ॥ ३१ ॥

घरघराहटकी आवाजके साथ आगे बढ़नेवाले उन रथियोंके रथोंका तुमुल नाद आकाशमें परस्पर टकरानेवाले बादलोंकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ता था ॥ ३१ ॥

बभञ्जिरे रथान् केचित् केचित् सम्मृदिता रथैः।
सम्बाधमेके सम्प्राप्य न शेकुश्चलितुं रथाः ॥ ३२ ॥

कितने ही रथोंने विपक्षियोंके रथोंको तोड़ डाला और कितने ही शत्रुपक्षके रथोंसे रौंदे जाकर धूलमें मिल गये। दूसरे बहुत-से रथ अन्यान्य रथोंद्वारा मार्ग अवरुद्ध हो जानेके कारण आगे बढ़नेमें असमर्थ हो गये ॥ ३२ ॥

अन्योन्यस्याभिसमरे दोर्भ्यामुत्क्षिप्य दर्पिताः।
संह्रादमानाभरणा जघ्नुस्तत्रासिचर्मिणः ॥ ३३ ॥

कितने ही दर्पमें भरे हुए योद्धा समराङ्गणमें एक दूसरेके शरीरको अपनी दोनों भुजाओंसे दूर हटाकर आगे बढ़ जाते थे। वहाँ ढाल और तलवार लिये हुए सैनिक जब शत्रु-पर प्रहार करते थे, उस समय उनके आभूषण झंकृत हो उठते थे ॥ ३३ ॥

अस्त्रैरन्ये विनिर्भिन्ना रक्तं वेमुर्हता युधि।
क्षरज्जलानां सदृशा जलदानां समागमे ॥ ३४ ॥

दूसरे बहुत-से सिपाही, जो युद्धस्थलमें मारे जाकर अस्त्रों-से विदीर्ण हो गये थे, उसी प्रकार रक्त वमन करते थे, जैसे वर्षाकालमें मेघोंकी घटाएँ घिर आनेपर वर्षा करनेवाले बादल जलकी धारा गिराते हैं ॥ ३४ ॥

तदस्त्रशस्त्रग्रथितं क्षिप्तोत्क्षिप्तगदाविलम्।
देवदानवसंक्षुब्धं सकुलं युद्धमावभौ ॥ ३५ ॥

वह संग्राम अस्त्र-शस्त्रोंसे गुँथ गया था, दोनों ओरसे फेंकी और उछाली जानेवाली गदाओंसे मलिन हो रहा था तथा देवता और दानवोंके क्षोभसे व्याप्त होकर अत्यन्त भयानक प्रतीत होता था ॥ ३५ ॥

तद् दानवमहामेघं देवायुधतडित्प्रभम्।
अन्योन्यबाणवर्षं तद् युद्धं दुर्दिनमावभौ ॥ ३६ ॥

वह युद्ध एक दुर्दिनके समान जान पड़ता था। उसमें दानव ही महान् मेघोंकी घटाके समान घिर आये थे, देवताओं-के चमकीले अस्त्र-शस्त्र विद्युत्की-सी प्रभा बिखेर रहे थे तथा दोनों दलोंकी ओरसे एक दूसरेपर जो बाणोंकी बौछार हो रही थी, वही मानो वर्षा थी ॥ ३६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धः कालनेमिर्महासुरः।
व्यवर्द्धत समुद्रौघैः पूर्यमाण इवाम्बुदः ॥ ३७ ॥

इसी बीचमें कुपित हुआ महान् असुर कालनेमि समुद्रकी जलराशिसे परिपूर्ण होकर बढ़नेवाले मेघके समान अपना विशाल रूप प्रकट करने लगा ॥ ३७ ॥

तस्य विद्युच्चलापीडाः प्रदीप्ताशनिवर्षिणः।
गात्रे नगशिरःप्रख्या विनिष्पेपुर्वलाहकाः ॥ ३८ ॥

मस्तकपर बिजलीके चञ्चल आभूषण धारण किये, प्रज्वलित वज्रकी वर्षा करनेवाले, पर्वतशिखरोंके समान विशालकाय बादल उसके शरीरसे टकराकर चूर-चूर हो जाते थे ॥ ३८ ॥

क्रोधान्निःश्वसतस्तस्य भ्रूभेदस्वेदवर्षिणः।
साग्निनिष्पेषपवना मुखान्निश्चेरुरर्चिषः ॥ ३९ ॥

जब वह क्रोधपूर्वक लंबी साँस खींचता था, उस समय उसकी भौंहोंमें बल पड़नेसे पसीनेकी बूँदें टपकने लगती थीं

और मुखसे वज्र तथा प्रचण्ड वायुसे युक्त आगकी लपटें निकलती रहती थीं ॥ ३९॥

तिर्यगूर्ध्वं च गगने ववृधुस्तस्य बाहवः ।
पञ्चास्याः कृष्णवपुषो लेलिहाना इवोरगाः ॥ ४० ॥

उसकी भुजाएँ आकाशमें तिरछी और ऊपरकी दिशामें बढ़ने लगीं । वे ऐसी जान पड़ती थीं, मानो पाँच मुखवाले काले सर्प अपनी जीभ लपलपा रहे हों ॥ ४० ॥

सोऽस्त्रजालैर्बहुविधैर्धनुर्भिः परिघैरपि ।
दिव्यैराकाशमावव्रे पर्वतैरुच्छ्रितैरिव ॥ ४१ ॥

जैसे ऊँचे पर्वत आकाशको घेर लेते हैं, उसी प्रकार उसके चलाये हुए नाना प्रकारके दिव्य अस्त्र-शस्त्र, धनुष और परिघोंने व्योम-मार्गको ढक दिया ॥ ४१ ॥

सोऽनिलोद्धूतवसनस्तस्थौ संग्राममूर्धनि ।
संध्यातपग्रस्तशिखः सार्चिर्मेरुरिवापरः ॥ ४२ ॥

वह युद्धके मुहानेपर खड़ा था और वायुके वेगसे उसके वस्त्र ऊपरकी ओर फहरा रहे थे । उस समय वह संध्याकालकी धूपसे व्याप्त शिखरवाले प्रकाशयुक्त दूसरे मेरुके समान शोभा पाता था ॥ ४२ ॥

ऊरुवेगप्रतिक्षिप्तैः शैलशृङ्गाग्रपादपैः ।
अपातयद् देवगणान् वज्रेणेव महागिरीन् ॥ ४३ ॥

अपनी जाँघोंके वेगसे फेंके गये शैल-शिखरों और बड़े-बड़े वृक्षोंद्वारा वह देवताओंको उसी तरह धराशायी करने लगा, जैसे इन्द्रने वज्रसे महान् पर्वतोंको पृथ्वीपर गिरा दिया था ॥ ४३ ॥

बाहुभिः शस्त्रनिस्त्रिंशैश्छिन्नभिन्नशिरोरसः ।
न शेकुश्चलितुं देवाः कालनेमिहता युधि ॥ ४४ ॥

उस युद्धमें कालनेमिकी मार खाकर घायल हुए देवता चलने-फिरनेकी भी शक्ति खो बैठे । उसकी भुजाओंके आघातसे तथा शस्त्रों एवं खड्गोंकी चोटसे उनके मस्तक और वक्षःस्थल छिन्न-भिन्न हो गये थे ॥ ४४ ॥

मुष्टिभिर्निहताः केचित् केचिच्च विदलीकृताः ।
यक्षगन्धर्वपतयः पेतुः सह महोरगैः ॥ ४५ ॥

कितने ही यक्ष, गन्धर्वराज और बड़े-बड़े नाग उसके मुक्कोंकी मारसे मर गये और कितने ही विदीर्ण होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४५ ॥

तेन वित्रासिता देवाः समरे कालनेमिना ।
न शेकुर्यत्नवन्तोऽपि प्रतिकर्तुं विचेतसः ॥ ४६ ॥

उस युद्धमें कालनेमिने देवताओंको इतना भयभीत कर दिया कि वे अपनी सुध-बुध खो बैठे और बहुत यत्न करके भी उसका कोई प्रतीकार न कर सके ॥ ४६ ॥

तेन शक्रः सहस्राक्षः स्तम्भितः शरबन्धनैः ।
ऐरावतगतः संख्ये चलितुं न शशाक ह ॥ ४७ ॥

उसने रणभूमिमें ऐरावतपर बैठे हुए सहस्रनेत्रधारी इन्द्रको बाणोंके बन्धनमें बाँधकर स्तब्ध कर दिया । वे वहाँसे चलनेमें भी असमर्थ हो गये ॥ ४७ ॥

निर्जलाम्भोदसदृशो निर्जलार्णवसप्रभः ।
निर्व्यापारः कृतस्तेन विपाशो वरुणो मृधे ॥ ४८ ॥

समराङ्गणमें कालनेमिने वरुणका पाश छीनकर उन्हें उससे वञ्चित कर दिया; अतः उनका युद्धविषयक सारा व्यापार ठप हो गया । वे निर्जल बादल और बिना पानीके समुद्रकी भाँति श्रीहीन हो गये ॥ ४८ ॥

रणे वैश्रवणस्तेन परिघैः कालरूपिभिः ।
व्यलपल्लोकपालेशस्त्याजितो धनदक्रियाम् ॥ ४९ ॥

उस रणक्षेत्रमें उसके कालरूपी परिघोंकी मार खाकर लोकपालेश्वर कुबेर विलाप करने लगे । उसने उनसे धनाध्यक्ष कुबेरके कार्यका बलपूर्वक त्याग करा दिया ॥ ४९ ॥

यमः सर्वहरस्तेन दण्डप्रहरणो रणे ।
याम्यामवस्थां समरे नीतः स्वां दिशमाविशत्॥ ५० ॥

सबके प्राण लेनेवाले दण्डधारी यमको भी उसने रणभूमिमें याम्यदशा (अचेतनावस्था) को पहुँचा दिया, अतः वे भयभीत होकर अपनी दक्षिण दिशामें घुस गये ॥ ५० ॥

स लोकपालानुत्साद्य कृत्वा तेषां च कर्म तत् ।
दिक्षु सर्वासु देहं स्वं चतुर्धा विदधे तदा ॥ ५१ ॥

इस प्रकार समस्त लोकपालोंको दूर भगाकर उसने उन सबके कार्यका सम्पादन अपने हाथमें ले लिया और सम्पूर्ण दिशाओंमें स्थापित करनेके लिये अपने शरीरको चार प्रकारका बना लिया ॥५१ ॥

स नक्षत्रपथं गत्वा दिव्यं स्वर्भानुदर्शितम् ।
जहार लक्ष्मीं सोमस्य तं चास्य विषयं महत् ॥ ५२ ॥

उसने राहुके दिखाये हुए दिव्य नक्षत्रपथमें जाकर राजा सोमकी राजलक्ष्मी तथा उनके विशाल राज्यका भी अपहरण कर लिया ॥ ५२ ॥

चालयामास दीप्तांशुं स्वर्गद्वारात् स भास्करम् ।
सायनं चास्य विषयं जहार दिनकर्म च ॥ ५३ ॥

उसने उद्दीप्त किरणोंवाले सूर्यको स्वर्गद्वारसे हटा दिया तथा अयनसहित उनके सारे राज्य और दिन-सम्बन्धी कर्मको भी उनसे छीनकर अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ५३ ॥

सोऽग्निं देवमुखे दृष्ट्वा चकारात्ममुखे स्वयम् ।
वायुं च तरसा जित्वा चकारात्मवशानुगम् ॥ ५४ ॥

कालनेमिने अग्निको देवताओंके मुखमें स्थित देख

स्वयं बलपूर्वक उन्हें अपने मुखमें स्थापित किया और वायुको भी वेगसे पराजित करके अपनी आज्ञाके अधीन कर लिया ॥ ५४ ॥

ससमुद्राः समानीय सर्वाश्च सरितो बलात्।
चकारात्मवशे वीर्याद् देहभूतांश्च सिन्धवः ॥ ५५ ॥

समुद्रोंसहित सम्पूर्ण सरिताओंको बलपूर्वक ले आकर कालनेमिने अपने पराक्रमसे उन सबको वशमें कर लिया। समस्त सागर उसके शरीररूप हो गये थे ॥ ५५ ॥

अपः स्ववशगाः कृत्वा दिविजा याश्च भूमिजाः।
स्थापयामास जगतीं सुगुप्तां धरणीधरैः ॥ ५६ ॥

उसने आकाश और पृथ्वीके जलको अपने वशमें करके उसके ऊपर पर्वतोंद्वारा सुरक्षित पृथ्वीको स्थापित किया ॥ ५६ ॥

स स्वयम्भूरिवाभाति महाभूतपतिर्महान्।
सर्वलोकमयो दैत्यः सर्वलोकभयावहः ॥ ५७ ॥

समस्त लोकोंको भय देनेवाला वह महान् दैत्य पञ्च-महाभूतोंका अधिपति एवं सर्वलोकमय होकर स्वयम्भू ब्रह्माके समान शोभा पाने लगा ॥ ५७ ॥

स लोकपालैकवपुश्चन्द्रसूर्यग्रहात्मवान्।
पावकानिलसंघातो रराज युधि दानवः ॥ ५८ ॥

उस युद्धस्थलमें दानव कालनेमि एकमात्र स्वयं ही समस्त लोकपालोंके रूपमें प्रतिष्ठित हुआ था। चन्द्रमा, सूर्य और अन्य ग्रह सबके रूपमें उसका शरीर ही काम कर रहा था। अग्नि और वायु भी उसके शरीर बन गये थे, इस प्रकार उसकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ५८ ॥

पारमेष्ठ्ये स्थितः स्थाने लोकानां प्रभवाप्यये।
तुष्टुवुस्तं दैत्यगणा देवा इव पितामहम् ॥ ५९ ॥

समस्त लोकोंकी उत्पत्ति और प्रलयके कारणभूत ब्रह्मलोकमें स्थित होकर वह ब्रह्मा बन बैठा था। उस समय दैत्यगण उसकी उसी तरह स्तुति करते थे, जैसे देवता ब्रह्माकी करते हैं ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि आश्चर्यतारकामये सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें आश्चर्यतारकामय संग्रामविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

कालनेमि और भगवान् विष्णुका संवाद, श्रीविष्णुद्वारा कालनेमिका वध तथा देवताओंको आश्वासन देकर ब्रह्मलोकको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

पञ्च तं नाभ्यवर्तन्त विपरीतेन कर्मणा।
वेदो धर्मः क्षमा सत्यं श्रीश्च नारायणाश्रया ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कालनेमिके द्वारा शास्त्रविपरीत कर्म किये जानेके कारण वेद, धर्म, क्षमा, सत्य और भगवान् नारायणके आश्रयमें रहनेवाली लक्ष्मी—ये पाँचों उसके पास नहीं आये ॥ १ ॥

स तेषामनुपस्थानात् सक्रोधो दानवेश्वरः।
वैष्णवं पदमन्विच्छन् ययौ नारायणान्तिकम् ॥ २ ॥

उनके उपस्थित न होनेसे दानवराज कालनेमिको बड़ा क्रोध हुआ। वह भगवान् विष्णुके पद एवं वैकुण्ठधामको अपने अधीन कर लेनेकी इच्छासे उन श्रीनारायणदेवके निकट गया ॥ २ ॥

स ददर्श सुपर्णस्थं शङ्खचक्रगदाधरम्।
दानवानां विनाशाय भ्रामयन्तं गदां शुभाम् ॥ ३ ॥

उसने देखा—शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् नारायण गरुड़की पीठपर विराजमान हैं और दानवोंका विनाश करनेके लिये अपनी कल्याणमयी कौमोदकी गदाको घुमा रहे हैं ॥ ३ ॥

सजलाम्भोदसदृशं विद्युत्सदृशवाससम्।
स्वारूढं स्वर्णपत्राढ्यं शिखिनं काश्यपं खगम् ॥ ४ ॥

उनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति सजल जलधरके समान श्याम है। उनपर विद्युत्की-सी दीप्तिसे दमकता हुआ रेशमी पीताम्बर शोभा पा रहा है। वे भगवान् विष्णु जिन कश्यप-कुमार आकाशचारी गरुड़पर आरूढ़ हैं, उनके दोनों पंख सुवर्णके समान सुशोभित हैं और मस्तकपर शिखा शोभा दे रही है ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा दैत्यविनाशाय रणे स्वस्थमवस्थितम्।
दानवो विष्णुमक्षोभ्यं बभाषे क्षुब्धमानसः ॥ ५ ॥

जिन्हें कोई भी क्षोभमें नहीं डाल सकता, उन भगवान् विष्णुको दैत्योंके विनाशके लिये रणक्षेत्रमें स्वस्थभावसे खड़ा देख दानव कालनेमिका हृदय क्षोभसे भर गया और वह इस प्रकार कहने लगा— ॥ ५ ॥

अयं स रिपुरस्माकं पूर्वेषां दानवर्षिणाम् ।
अर्णवावासिनश्चैव मधोर्वै कैटभस्य च ॥ ६ ॥

'यही हमारे पूर्ववर्ती दानवर्षियोंका तथा एकार्णववासी मधु एवं कैटभका सुप्रसिद्ध शत्रु है ॥ ६ ॥

अयं स विग्रहोऽस्माकमशाम्यः किल कथ्यते ।
येन नः संयुगेष्वाद्या बहवो दानवा हताः ॥ ७ ॥

'कहते हैं; यही हमलोगोंका वह मूर्तिमान् विग्रह (युद्ध) है, जिसे शान्त करना सर्वथा असम्भव है । इसने अनेक संग्रामोंमें हमारे बहुत-से पूर्वज दानवोंका वध किया है ॥ ७ ॥

अयं स निर्घृणो युद्धेऽस्त्री बालनिरपत्रपः ।
येन दानवनारीणां सीमन्तोद्धरणं कृतम् ॥ ८ ॥

'यह वही निर्दयी है, जो युद्धमें अस्त्र धारण करके बालकोंके समान निर्लज्ज होता है । इसीने दानवनारियोंके सीमन्तका सौभाग्यचिह्न सदाके लिये उतार दिया है ॥ ८ ॥

अयं स विष्णुर्देवानां वैकुण्ठश्च दिवौकसाम् ।
अनन्तो भोगिनामप्सु स्वयम्भूश्च स्वयम्भुवः ॥ ९ ॥

'यही वह देवताओंका पक्षपाती विष्णु और स्वर्गवासियोंका वैकुण्ठ है । यही जलमें रहनेवाले सर्पोंका अनन्त और स्वयम्भू ब्रह्माका भी ब्रह्मा है ॥ ९ ॥

अयं स नाथो देवानामस्माकं विप्रिये स्थितः ।
अस्य क्रोधेन महता हिरण्यकशिपुर्हतः ॥ १० ॥

'यही वह देवताओंका रक्षक है, जो सदा हमारा अप्रिय करनेमें ही लगा रहता है । इसीके महान् क्रोधसे दैत्यराज हिरण्यकशिपु मारे गये थे ॥ १० ॥

अस्यच्छायां समासाद्य देवा मखमुखे स्थिताः ।
आज्यं महर्षिभिर्दत्तमश्नुवन्ति त्रिधा हुतम् ॥ ११ ॥

'इसीकी छायामें रहकर देवता यज्ञके मुखभागमें स्थित हो महर्षियोंद्वारा तीन[1] प्रकारसे हवन करके अर्पित किये गये हविष्यका उपभोग करते हैं ॥ ११ ॥

अयं स निधने हेतुः सर्वेषां देवविद्विषाम् ।
यस्य तेजःप्रविष्टानि कुलान्यस्माकमाहवे ॥ १२ ॥

'यही समस्त देवद्रोही दैत्योंकी मृत्युमें प्रधान कारण है । समराङ्गणमें हमारे कितने ही कुल इसके तेजमें प्रविष्ट होकर भस्म हो गये ॥ १२ ॥

अयं स किल युद्धेषु सुरार्थे त्यक्तजीवितः ।
सवितुस्तेजसा तुल्यं चक्रं क्षिपति शत्रुषु ॥ १३ ॥

'कहते हैं, यह वही सुविख्यात विष्णु है, जो युद्धमें देवताओंके लिये अपना जीवन निछावर किये रहता है । यह शत्रुओंपर सूर्यके समान तेजस्वी चक्र चलाया करता है ॥ १३ ॥

अयं स कालो दैत्यानां कालभूते मयि स्थिते ।
अतिक्रान्तस्य कालस्य फलं प्राप्स्यति दुर्मतिः ॥ १४ ॥

'यही वह दैत्योंका काल है, परंतु आज इसका भी काल होकर मैं खड़ा हूँ । मेरे रहते हुए ही यह दुर्बुद्धि अपने पूर्व कालकी करतूतोंका फल पायेगा ॥ १४ ॥

दिष्ट्येदानीं समक्षं मे विष्णुरेष समागतः ।
अद्य मद्बाणनिष्पिष्टो मामेव प्रणमिष्यति ॥ १५ ॥

'सौभाग्यकी बात है कि इस समय यह विष्णु मेरे सामने आ गया । आज यह मेरे बाणोंसे पिस जायगा और धरतीपर गिरकर मुझे ही प्रणाम करेगा ॥ १५ ॥

यास्याम्यपचितिं दिष्ट्या पूर्वेषामद्य संयुगे ।
इमं नारायणं हत्वा दानवानां भयावहम् ॥ १६ ॥
क्षिप्रमेव वधिष्यामि रणे नारायणाश्रितान् ।

'आज समराङ्गणमें दानवोंको भय देनेवाले इस नारायणका वध करके मैं शीघ्र ही इसके आश्रित रहनेवाले देवताओंका भी संहार कर डालूँगा । ऐसा करके अपने पूर्वजोंके ऋणसे उऋण हो सकूँगा, यह मेरे लिये बड़े सौभाग्यकी बात होगी ॥ १६½ ॥

जात्यन्तरगतोऽप्येष मृधे बाधति दानवान् ॥ १७ ॥
एषोऽनन्तः पुरा भूत्वा पद्मनाभ इति स्मृतः ।
जघानैकार्णवे घोरे तावुभौ मधुकैटभौ ।
विनिवेश्य स्वके ऊरौ निहतौ दानवेश्वरौ ॥ १८ ॥

'(मत्स्य, वराह आदि) दूसरी-दूसरी योनियोंमें जन्म धारण करके भी यह युद्धमें दानवोंको ही सताया करता है । यद्यपि यह अनन्त (आकाशकी भाँति असीम एवं व्यापक) है तो भी पूर्वकालमें मूर्तिमान् होकर प्रकट हुआ । उस समय इसकी पद्मनाभ नामसे प्रसिद्धि हुई । इसने भयंकर एकार्णवमें विचरनेवाले दोनों भाई दानवराज मधु और कैटभको अपनी जाँघपर सुलाकर मार डाला था ॥ १७-१८ ॥

द्विधाभूतं वपुः कृत्वा सिंहार्धं नरसंस्थितम् ।
पितरं मे जघानैको हिरण्यकशिपुं पुरा ॥ १९ ॥

'इसीने पूर्वकालमें आधे नर और आधे सिंहके रूपमें दो प्रकारका शरीर धारण करके अकेले ही मेरे पिता हिरण्यकशिपुका वध किया था ॥ १९ ॥

शुभं गर्भमधत्तेममदितिर्देवतारणिः ।
यज्ञकाले बलेर्यो वै कृत्वा वामनरूपताम् ।
त्रीँल्लोकानाजहारैकः क्रममाणस्त्रिभिः क्रमैः ॥ २० ॥

'जो देवतारूपी अग्निको प्रकट करनेके लिये अरणिके-

---

१. अङ्ग होम, प्रधान होम और प्रायश्चित्त होम—ये होमके तीन प्रकार हैं । कुछ लोग नित्य, नैमित्तिक और काम्य भेदसे उसे तीन प्रकारका बताते हैं । कुछ दूसरे विद्वान् आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि रूप उपाधिके भेदसे उसकी त्रिविधताका प्रतिपादन करते हैं ।

समान है; उन अदिति देवीने शुभ गर्भके रूपमें इसे धारण किया था। वही गर्भ बलिके यज्ञके समय अपनेको वामनरूपमें प्रकट करके आया। उस समय इसने अकेले ही तीन पगोंसे तीनों लोकोंको नापकर उन्हें बलिके अधिकारसे छीन लिया ॥ २० ॥

भूयस्त्विदानीं समरे सम्प्राप्ते तारकामये।
मया सह समागम्य सह देवैर्विनङ्क्ष्यति ॥ २१ ॥

'अब पुनः इस समय इस तारकामय संग्रामका अवसर प्राप्त होनेपर इसने पदार्पण किया है; किंतु अब मेरे साथ भिड़कर यह देवताओंसहित नष्ट हो जायगा' ॥ २१ ॥

स एवमुक्त्वा बहुधा क्षिपन्नारायणं रणे।
वाग्भिरप्रतिरूपाभिर्युद्धमेवाभ्यरोचयत् ॥ २२ ॥

ऐसा कहकर रणभूमिमें भगवान् नारायणपर अयोग्य वचनोंद्वारा नाना प्रकारके आक्षेप करते हुए कालनेमिने उनके साथ युद्ध करना ही पसंद किया ॥ २२ ॥

क्षिप्यमाणोऽसुरेन्द्रेण न चुकोप गदाधरः।
क्षमाबलेन महता सस्मितं वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

असुरराज कालनेमिके इस प्रकार आक्षेप करनेपर भी भगवान् गदाधरने उसपर क्रोध नहीं किया; क्योंकि वे महान् क्षमाबलसे सम्पन्न थे। उन्होंने मुसकराते हुए कहा—॥ २३ ॥

अल्पदर्पबलो दैत्य स्थितः क्रोधादसद्वदन्।
हतस्त्वमात्मनो दोषैः क्षमां योऽतीत्य भाषसे ॥ २४ ॥

'दैत्य! तुझमें दर्प और बल तो बहुत थोड़ा है, किंतु तू क्रोधके कारण ओछी बातें बकता हुआ यहाँ खड़ा है। अरे! तू क्षमा अथवा सहनशीलताका उल्लङ्घन करके बढ़-बढ़कर बातें बना रहा है, इसलिये अपने ही दोषोंसे मारा जा चुका है ॥ २४ ॥

अधमस्त्वं मम मतो धिगेतत् तव वाग्बलम्।
न तत्र पुरुषाः सन्ति यत्र गर्जन्ति योषितः ॥ २५ ॥

'मेरे विचारसे तो तू अधम है! तेरे इस वाग्बलको धिक्कार है। अरे! जहाँ पुरुष न हों, केवल स्त्रियाँ ही हों, वहाँ लोग इस तरहकी गर्जना करते हैं, जहाँ वीर पुरुष हों वहाँ नहीं (क्योंकि वहाँ गर्जना करनेसे वे उन वीर पुरुषोंद्वारा मार डाले जाते हैं) ॥ २५ ॥

अहं त्वां दैत्य पश्यामि पूर्वेषां मार्गगामिनम्।
प्रजापतिकृतं सेतुं को भित्त्वा स्वस्तिमान् भवेत् ॥ २६ ॥

'दैत्य! मैं तो देखता हूँ, तू अपने पूर्वजोंके ही मार्गपर जानेवाला है। भला! प्रजापतिद्वारा नियत की हुई मर्यादाको भङ्ग करके कौन सकुशल रह सकता है ॥ २६ ॥

अद्य त्वां नाशयिष्यामि देवव्यापारकारकम्।
स्वेषु स्वेषु च स्थानेषु स्थापयिष्यामि देवताः ॥ २७ ॥

'तू दानव होकर देवताओंका कार्य स्वयं कर रहा है—तूने उनका अधिकार उनसे छीन लिया है; इसलिये आज मैं तेरा विनाश कर डालूँगा और देवताओंको पुनः अपने-अपने स्थानों (पदों) पर स्थापित कर दूँगा' ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति तद् वाक्यं मृधे श्रीवत्सधारिणि।
जहास दानवः क्रोधाद्धस्तांश्चक्रे च सायुधान् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न धारण करनेवाले भगवान् नारायण जब उस रणभूमिमें ऐसी बातें कह रहे थे, उस समय वह दानव वहाँ क्रोधपूर्वक हँसने लगा। उसने तुरंत ही अपने हाथोंमें हथियार ले लिये ॥ २८ ॥

स बाहुशतमुद्यम्य सर्वास्त्रग्रहणं रणे।
क्रोधाद् द्विगुणरक्ताक्षो विष्णुं वक्षस्यताडयत् ॥ २९ ॥

उसने समरभूमिमें सब प्रकारके अस्त्रोंको ग्रहण करनेवाली अपनी सौ भुजाओंको ऊपर उठाकर भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें प्रहार किया। उस समय उसकी आँखें क्रोधके कारण दुगुनी लाल हो रही थीं ॥ २९ ॥

दानवाश्चापि समरे मयतारपुरोगमाः।
उद्यतायुधनिस्त्रिंशा दृष्ट्वा विष्णुमथाद्रवन् ॥ ३० ॥

मय और तार आदि दानव भी रणभूमिमें भगवान् विष्णुको उपस्थित देख हाथोंमें भाँति-भाँतिके आयुध और तलवार लिये उनकी ओर दौड़े ॥ ३० ॥

स ताड्यमानोऽतिबलैर्दैत्यैः सर्वायुधोद्यतैः।
न चचाल हरिर्युद्धेऽकम्प्यमान इवाचलः ॥ ३१ ॥

सब प्रकारके आयुध लेकर उद्यत हुए अत्यन्त बलशाली दैत्योंके प्रहार करनेपर भी भगवान् श्रीहरि युद्धभूमिमें कभी कम्पित न होनेवाले पर्वतके समान विचलित नहीं हुए (अविचल भावसे खड़े रहे) ॥ ३१ ॥

संसक्तश्च सुपर्णेन कालनेमिर्महासुरः।
सर्वप्राणेन महतीं गदामुद्यम्य बाहुभिः ॥ ३२ ॥
मुमोच ज्वलितां घोरां संरब्धो गरुडोपरि।
कर्मणा तेन दैत्यस्य विष्णुर्विस्मयमागतः ॥ ३३ ॥

इतनेहीमें महान् असुर कालनेमि गरुड़के साथ उलझ गया। उसने अपनी भुजाओंद्वारा भारी शक्ति लगाकर एक विशाल गदा उठायी, जो तेजसे प्रज्वलित हो रही थी। उस भयंकर गदाको उसने रोषमें भरकर गरुड़पर छोड़ दिया। उस दैत्यके इस कर्मसे भगवान् विष्णुको भी बड़ा विस्मय हुआ ॥ ३२-३३ ॥

यदा तस्य सुपर्णस्य पतिता मूर्ध्नि सा गदा ।
तदाऽऽगमत् पदा भूमिं पक्षी व्यथितविग्रहः ॥ ३४ ॥

जिस समय गरुड़के मस्तकपर वह गदा गिरी, उस समय वह पंजोंके बलसे पृथ्वीपर आकर टिक गये। उनका सारा शरीर व्यथित हो गया था ॥ ३४ ॥

सुपर्णं व्यथितं दृष्ट्वा क्षतं च वपुरात्मनः ।
क्रोधात् संरक्तनयनो वैकुण्ठश्चक्रमाददे ॥ ३५ ॥

गरुड़को गदाके आघातसे पीड़ित और अपने शरीरको भी क्षत-विक्षत देखकर भगवान् विष्णुके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। उन्होंने चक्र हाथमें ले लिया ॥ ३५ ॥

व्यवर्धत च वेगेन सुपर्णेन समं प्रभुः ।
भुजाश्चास्य व्यवर्धन्त व्याप्नुवन्तो दिशो दश ॥ ३६ ॥

तदनन्तर भगवान् नारायणका वेग गरुड़के समान ही बढ़ने लगा। उनकी चारों भुजाएँ दसों दिशाओंको व्याप्त करती हुई बढ़ने लगीं ॥ ३६ ॥

स दिशः प्रदिशश्चैव खं च गां चैव पूरयन् ।
ववृधे स पुनर्लोकान् क्रान्तुकाम इवौजसा ॥ ३७ ॥

वे दिशाओं, अवान्तर दिशाओं, आकाश और पृथ्वीको परिपूर्ण करते हुए इस प्रकार बढ़ने लगे, मानो पुनः बलपूर्वक तीनों लोकोंको आक्रान्त करना चाहते हों ॥ ३७ ॥

तं जयाय सुरेन्द्राणां वर्धमानं नभस्तले ।
ऋषयः सह गन्धर्वैस्तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ॥ ३८ ॥

देवेश्वरोंकी विजयके लिये आकाशमें बढ़ते हुए उन भगवान् मधुसूदनकी गन्धर्वोंसहित ऋषि स्तुति करने लगे ॥ ३८ ॥

स द्यां किरीटेन लिखन् साभ्रमम्बरमम्बरैः ।
पद्भ्यामाक्रम्य वसुधां दिशः प्रच्छाद्य बाहुभिः ॥ ३९ ॥

वे अपने मस्तकके किरीटसे स्वर्गलोककी भूमिपर रेखा-सी खींचते, फहराते हुए वस्त्रोंद्वारा बादलोंसहित आकाशको ढकते और चारों बाहोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित करते हुए अपने दोनों पैरोंसे पृथ्वीको दबाकर खड़े हो गये ॥ ३९ ॥

सूर्यस्य रश्मितुल्याभं सहस्रारमरिक्षयम् ।
दीप्ताग्निसदृशं घोरं दर्शनीयं सुदर्शनम् ॥ ४० ॥
सुवर्णनेमिपर्यन्तं वज्रनाभं भयावहम् ।
मेदोमज्जास्थिरुधिरैर्दिग्धं दानवसम्भवैः ॥ ४१ ॥
अद्वितीयं प्रहारेषु क्षुरपर्यन्तमण्डलम् ।
स्रग्दाममालाविततं कामगं कामरूपिणम् ॥ ४२ ॥
स्वयं स्वयम्भुवा सृष्टं भयदं सर्वविद्विषाम् ।
महर्षिरोषैराविष्टं नित्यमाहवदर्पितम् ॥ ४३ ॥
क्षेपणाद् यस्य मुह्यन्ति लोकाः सस्थाणुजङ्गमाः ।
क्रव्यादानि च भूतानि तृप्तिं यान्ति महाहवे ॥ ४४ ॥
तमप्रतिमकर्माणं समानं सूर्यवर्चसा ।
चक्रमुद्यम्य समरे क्रोधदीप्तो गदाधरः ॥ ४५ ॥

जिसकी प्रभा सूर्यकी किरणोंके समान उद्भासित होती है, जिसमें एक सहस्र अरे लगे हुए हैं, जो शत्रुओंका विनाश करनेमें समर्थ है, जिसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी बताया गया है, जो भयंकर होनेपर भी दर्शनीय है, इसीलिये जिसे सुदर्शन कहते हैं, जिसके किनारेपर सुवर्णमयी नेमि (हाल) लगी हुई है, जिसकी नाभि वज्रके समान सुदृढ़ है, जो शत्रुओंको भय देनेवाला है, दानवोंके मेद, मज्जा, अस्थि तथा रुधिरसे जिसकी पुष्टि हुई है, जो प्रहारके साधनोंमें अद्वितीय (अनुपम) है, उसके प्रान्तभागमें मण्डलाकार छुरे लगे हुए हैं, जो फूल-मालाकी लड़ियोंके समान विस्तृत है, इच्छानुसार चलने और मनमाना रूप धारण करनेमें समर्थ है, समस्त शत्रुओंको भय देनेवाले जिस दिव्य अस्त्रकी साक्षात् ब्रह्माजीने सृष्टि की है, अत्याचारी असुरोंके प्रति महर्षियोंके मनमें जो रोष होते हैं, उनसे जो सदा आविष्ट रहता है, युद्धके अवसरोंपर जो दर्पसे भरा होता है, जिसके प्रहारसे चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोक मोहमें पड़ जाते हैं और महासमरमें जिसके प्रभावसे मांसभक्षी प्राणियोंको तृप्ति प्राप्त होती है, उस अनुपम कर्म करनेवाले सूर्यतुल्य तेजस्वी चक्रको हाथमें उठाकर भगवान् गदाधर समराङ्गणमें क्रोधसे उद्दीप्त हो उठे ॥ ४०—४५ ॥

सम्मुष्णन् दानवं तेजः समरे स्वेन तेजसा ।
चिच्छेद बाहुं चक्रेण श्रीधरः कालनेमिनः ॥ ४६ ॥

लक्ष्मीको वक्षःस्थलमें धारण करनेवाले श्रीहरिने समरभूमिमें अपने तेजसे दानवोंके तेजका अपहरण करके उस चक्रसे कालनेमिकी भुजाओंको काट डाला ॥ ४६ ॥

तच्च वक्त्रशतं घोरं साग्निचूर्णाट्टहासिनम् ।
तस्य दैत्यस्य चक्रेण प्रममाथ बलाद्धरिः ॥ ४७ ॥

साथ ही जिनके अट्टहास करनेपर अग्निचूर्ण प्रकट होते थे, उस दैत्यके उन सौ भयंकर मुखोंको भी भगवान् विष्णुने उस चक्रके द्वारा बलपूर्वक मथ डाला ॥ ४७ ॥

स च्छिन्नबाहुर्विशिरा न प्राकम्पत दानवः ।
कबन्धोऽवस्थितः संख्ये विशाख इव पादपः ॥ ४८ ॥

भुजाओं और मस्तकोंके कट जानेपर भी वह दानव कम्पित नहीं हुआ। उसका धड़ युद्धस्थलमें शाखारहित वृक्ष-के समान खड़ा रहा ॥ ४८ ॥

तं वितत्य महापक्षौ वायोः कृत्वा समं जवम् ।
उरसा पातयामास गरुडः कालनेमिनम् ॥ ४९ ॥

तब महापक्षी गरुड़ने अपने पंख फैलाकर वायुके समान

वेग प्रकट करके कालनेमिको अपनी छातीके धक्केसे गिरा दिया ॥ ४९ ॥

स तस्य देहो विमुखो विशाखः खात् परिभ्रमन् ।
निपपात दिवं त्यक्त्वा क्षोभयन् धरणीतलम् ॥ ५० ॥

उसका वह मस्तक और भुजाओंसे रहित शरीर स्वर्गलोकको त्यागकर आकाशसे चक्कर काटता और भूतलको क्षुब्ध करता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ५० ॥

तस्मिन्निपतिते दैत्ये देवाः सर्षिगणास्तदा ।
साधु साध्विति वैकुण्ठं समेताः प्रत्यपूजयन् ॥ ५१ ॥

उस दैत्यके धराशायी होनेपर ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देवता साधु-साधु कहते हुए वहाँ आये और भगवान् विष्णुकी पूजा एवं प्रशंसा करने लगे ॥ ५१ ॥

अपरे ये तु दैत्या वै युद्धे दुष्टपराक्रमाः ।
ते सर्वे बाहुभिर्व्याप्ता न शेकुश्चलितुं रणे ॥ ५२ ॥

उसके सिवा जो दूसरे दुष्ट पराक्रमी दैत्य थे, वे सब भगवान् विष्णुकी भुजाओंसे अवरुद्ध होकर रणभूमिमें हिल-डुल भी न सके ॥ ५२ ॥

कांश्चित्केशेषु जग्राह कांश्चित्कण्ठेऽभ्यपीडयत् ।
पाटयत्कस्यचिद् वक्त्रं मध्ये कांश्चिदथाग्रहीत् ॥५३॥

भगवान्ने किन्हींके केश पकड़कर उन्हें टाँग लिया, किन्हींके गले दबा दिये, किन्हींके मुख फाड़ दिये और कुछ दैत्योंकी कमर पकड़कर तोड़ डाली ॥ ५३ ॥

ते गदाचक्रनिर्दग्धा गतसत्त्वा गतासवः ।
गगनाद् भ्रष्टसर्वाङ्गा निपेतुर्धरणीतले ॥ ५४ ॥

वे दैत्य गदा और चक्रके तेजसे दग्ध हो अपने धैर्य और प्राण खो बैठे । उनके सारे अङ्ग आकाशसे भ्रष्ट होकर भूतलपर गिर पड़े ॥ ५४ ॥

तेषु सर्वेषु दैत्येषु हतेषु पुरुषोत्तमः ।
तस्थौ शक्रप्रियं कृत्वा कृतकर्मा गदाधरः ॥ ५५ ॥

उन सब दैत्योंके मारे जानेपर इन्द्रका प्रिय करके कृतकृत्य हुए गदाधारी भगवान् पुरुषोत्तम वहाँ चुपचाप खड़े हो गये ॥ ५५ ॥

तस्मिन् विमर्दे निर्वृत्ते संग्रामे तारकामये ।
तं देशमाजगामाशु ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ५६ ॥
सर्वैर्ब्रह्मर्षिभिः सार्धं गन्धर्वैः साप्सरोगणैः ।
देवदेवो हरिं देवं पूजयन् वाक्यमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

तारकामय संग्रामकी वह मार-काट समाप्त होनेपर देवाधिदेव लोकपितामह ब्रह्मा समस्त ब्रह्मर्षियों, गन्धर्वों और अप्सराओंके साथ शीघ्र ही उस प्रदेशमें आ पहुँचे और श्रीनारायणदेवकी पूजा करते हुए बोले ॥ ५६-५७ ॥

ब्रह्मोवाच

कृतं देव महत्कर्म सुराणां शल्यमुद्धृतम् ।
वधेनानेन दैत्यानां वयं हि परितोषिताः ॥ ५८ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देव ! आपने यह बहुत बड़ा कार्य किया । देवताओंका काँटा निकाल दिया । दैत्योंके इस वधसे हमें बड़ा संतोष हुआ है ॥ ५८ ॥

योऽयं हतस्त्वया विष्णो कालनेमी महासुरः ।
त्वमेकोऽस्य मृधे हन्ता नान्यः कश्चन विद्यते ॥ ५९ ॥

विष्णो ! आपके द्वारा जो यह कालनेमि नामक महान् असुर मारा गया है, इसे एकमात्र आप ही युद्धमें मार सकते थे; दूसरा कोई ऐसा नहीं है ॥ ५९ ॥

एष देवान् परिभवँल्लोकांश्च सचराचरान् ।
ऋषीणां कदनं कृत्वा मामपि प्रतिगर्जति ॥ ६० ॥

यह देवताओं तथा चराचर प्राणियोंसहित समस्त लोकोंका तिरस्कार करता था और ऋषियोंका संहार करके मेरे सामने भी गर्जना किया करता था ॥ ६० ॥

तदनेन तवोग्रेण परितुष्टोऽस्मि कर्मणा ।
यदयं कालतुल्याभः कालनेमी निपातितः ॥ ६१ ॥

अतः आपने जो कालके समान प्रतीत होनेवाले इस कालनेमि नामक दैत्यको मार गिराया है, आपके इस उग्र पराक्रमसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ ॥ ६१ ॥

तदागच्छस्व भद्रं ते गच्छाम दिवमुत्तमम् ।
ब्रह्मर्षयस्त्वां तत्रस्थाः प्रतीक्षन्ते सदोगताः ॥ ६२ ॥

इसलिये आइये, आपका कल्याण हो । अब हमलोग उत्तम दिव्य लोकको चलें । वहाँ दिव्य सभामें बैठे हुए वहाँके निवासी ब्रह्मर्षि आपकी प्रतीक्षा करते हैं ॥ ६२ ॥

अहं महर्षयश्चैव तत्र त्वां वदतां वर ।
विधिवच्चार्चयिष्यामो गीर्भिर्दिव्याभिरच्युत ॥ ६३ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ अच्युत ! वहाँ मैं तथा महर्षिगण दिव्य वाणीद्वारा आपकी विधिवत् अर्चना करेंगे ॥ ६३ ॥

किं चाहं तव दास्यामि वरं वरभृतां वर ।
सुरेष्वपि सदैत्येषु वराणां वरदो भवान् ॥ ६४ ॥

वर धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ नारायण ! मैं आपको क्या वर दूँगा । दैत्यों और देवताओंमें जितने भी वर (श्रेष्ठ मनोरथ) हैं, उन सबके दाता तो आप ही हैं ॥ ६४ ॥

निर्यातयैतत् त्रैलोक्यं स्फीतं निहतकण्टकम् ।
अस्मिन्नेव मृधे विष्णो शक्राय सुमहात्मने ॥ ६५ ॥

विष्णो ! इस युद्धस्थलमें ही आप महात्मा इन्द्रको त्रिलोकीका यह समृद्धिशाली और अकण्टक राज्य लौटा दीजिये ॥ ६५ ॥

एवमुक्तो भगवता ब्रह्मणा हरिरव्ययः ।
देवाञ्छक्रमुखान् सर्वानुवाच शुभया गिरा ॥ ६६ ॥

भगवान् ब्रह्माके ऐसा कहनेपर अविनाशी श्रीहरिने अपनी कल्याणमयी वाणीद्वारा इन्द्र आदि समस्त देवताओंसे इस प्रकार कहा ॥ ६६ ॥

विष्णुरुवाच

श्रूयतां त्रिदशाः सर्वे यावन्तोऽत्र समागताः ।
श्रवणावहितैर्देहैः पुरस्कृत्य पुरंदरम् ॥ ६७ ॥

भगवान् विष्णु बोले—जितने देवता यहाँ आये हैं, वे सब लोग अपने शरीर और इन्द्रियोंको मेरी बात सुननेके लिये सावधान रखते हुए इन्द्रको आगे करके मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनें ॥ ६७ ॥

अस्मिन्नः समरे सर्वे कालनेमिमुखा हताः ।
दानवा विक्रमोपेताः शक्रादपि महत्तराः ॥ ६८ ॥

इस युद्धमें हमने इन्द्रसे भी बहुत बढ़े-चढ़े पराक्रमशाली कालनेमि आदि समस्त दानवोंको मार डाला है ॥६८॥

तस्मिन् महति संक्रन्दे द्वावेव तु विनिस्सृतौ ।
वैरोचनश्च दैत्येन्द्रः स्वर्भानुश्च महाग्रहः ॥ ६९ ॥

इस महासंग्रामसे दो ही दैत्य बचकर निकले हैं—विरोचनकुमार दैत्यराज बलि और महान् ग्रह राहु ॥ ६९ ॥

तदिष्टां भजतां शक्रो दिशं वरुण एव च ।
याम्यां यमः पालयतामुत्तरां च धनाधिपः ॥ ७० ॥

अतः इन्द्र और वरुण अब अपनी-अपनी अभीष्ट दिशाको पुनः ग्रहण करें । यम दक्षिण दिशाका और धनाध्यक्ष कुबेर उत्तर दिशाका पालन करें ॥ ७० ॥

ऋक्षैः सह यथायोगं काले चरतु चन्द्रमाः ।
अब्दं चर्तुमुखं सूर्यो भजतामयनैः सह ॥ ७१ ॥

चन्द्रमा समयानुसार नक्षत्रोंके साथ यथायोग्य विचरें और सूर्य अयनोंसहित ऋतुप्रधान वर्षका आश्रय लें ॥ ७१॥

आज्यभागाः प्रवर्तन्तां सदस्यैरभिपूजिताः ।
हूयन्तामग्नयो विप्रैर्वेददृष्टेन कर्मणा ॥ ७२ ॥

(यज्ञमें) सदस्योंद्वारा सब ओरसे पूजित आज्यभाग देवताओंको अर्पित किये जायँ और ब्राह्मणलोग वेदोक्त विधिसे अग्नियोंमें आहुति दें ॥ ७२ ॥

देवाश्च बलिहोमेन स्वाध्यायेन महर्षयः ।
श्राद्धेन पितरश्चैव तृप्तिं यान्तु यथा पुरा ॥ ७३ ॥

अब पुनः पहलेकी ही भाँति बलि और होमकर्मके द्वारा देवताओंको, स्वाध्यायके द्वारा महर्षियोंको तथा श्राद्धकर्मके सम्पादनसे पितरोंको संतुष्ट किया जाय और वे पूर्णतः तृप्त हों ॥ ७३ ॥

वायुश्चरतु मार्गस्थस्त्रिधा दीप्यतु पावकः ।
त्रयो वर्णाश्च लोकांस्त्रीन् वर्द्धयन्त्वात्मजैर्गुणैः ॥ ७४ ॥

वायुदेव अपने मार्गपर रहकर विचरण करें, अग्निदेव (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तथा आहवनीय—इन) तीन-तीन रूपोंमें सदा प्रकाशित होते रहें तथा तीनों वर्णोंके लोग अपने (शम, दम, तप एवं शौच आदि) सहज गुणोंसे तीनों लोकोंकी वृद्धि करें ॥ ७४ ॥

क्रतवः सम्प्रवर्तन्तां दीक्षणीयैर्द्विजातिभिः ।
दक्षिणाश्चोपवर्तन्तां यथार्हं सर्वसत्रिणाम् ॥ ७५ ॥

यज्ञदीक्षाके अधिकारी द्विजातियोंद्वारा यज्ञोंका अनुष्ठान होता रहे और समस्त यजमानोंके यज्ञोंमें यथायोग्य दक्षिणाएँ दी जायँ ॥ ७५ ॥

गाश्च सूर्यो रसान् सोमो वायुः प्राणांश्च प्राणिषु ।
तर्पयन्तः प्रवर्तन्तां शिवैः सौम्यैश्च कर्मभिः ॥ ७६ ॥

सूर्यदेव सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी, चन्द्रदेव रसोंकी तथा वायुदेव प्राणियोंके प्राणोंकी तृप्ति एवं पुष्टि करते हुए अपने कल्याणकारी एवं सौम्य कर्मोंद्वारा लोकहितमें प्रवृत्त हों ॥

यथावदानुपूर्व्येण महेन्द्रसलिलोद्भवाः ।
त्रैलोक्यमातरः सर्वाः सागरं यान्तु निम्नगाः ॥ ७७ ॥

देवराज इन्द्रद्वारा पर्वतोंपर बरसाये हुए जलसे प्रकट होनेवाली सम्पूर्ण सरितायें, जो सबको जलरूपी दुग्ध पिलानेके कारण तीनों लोकोंके प्राणियोंके लिये माताके समान हैं, यथोचित गतिसे बहती हुई क्रमशः समुद्रमें मिल जायँ ॥७७॥

दैत्येभ्यस्त्यज्यतां भीश्च शान्तिं व्रजत देवताः ।
स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥ ७८ ॥

देवताओ ! अब तुम दैत्योंसे होनेवाले भयको त्याग दो और मनमें शान्ति धारण करो । तुम सब लोगोंका 'कल्याण हो । अब मैं सनातन ब्रह्मलोकको जाऊँगा ॥ ७८ ॥

स्वगृहे सर्वलोके वा संग्रामे वा विशेषतः ।
विश्रम्भो वो न मन्तव्यो नित्यं क्षुद्रा हि दानवाः ॥ ७९ ॥

अपने घरमें अथवा समस्त जगत्में या विशेषतः संग्राममें तुम्हें दानवोंका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे सदा ही नीचतापूर्ण बर्ताव करनेवाले होते हैं ॥ ७९ ॥

छिद्रेषु प्रहरन्त्येते न चैषां संस्थितिर्ध्रुवा ।
सौम्यानामृजुभावानां भवतां चार्जवे मतिः ॥ ८० ॥

ये मौका पाते ही प्रहार कर बैठते हैं । इनकी मर्यादा सदा स्थिर रहनेवाली नहीं होती । तुमलोग सौम्य और सरल स्वभावके हो, अतः तुम्हारी बुद्धि सरलतापूर्ण बर्तावमें लगती है ॥ ८० ॥

अहं तु दुष्टभावानां युष्मासु सुदुरात्मनाम्।
असम्यग्वर्तमानानां मोहं दास्यामि देवताः ॥ ८१ ॥

देवताओ ! तुम्हारे प्रति दुर्भाव रखकर अनुचित बर्ताव करनेवाले दुरात्मा दैत्योंको मैं अवश्य ही मोहमें डाल दूँगा ॥ ८१ ॥

यदा च सुदुराधर्षं दानवेभ्यो भयं भवेत्।
तदा समुपगम्याशु विधास्ये वस्ततोऽभयम् ॥ ८२ ॥

जब दानवोंकी ओरसे तुमलोगोंको दुर्निवार्य भय प्राप्त होगा, तब शीघ्र ही आकर मैं तुम्हे उनकी ओरसे निर्भय कर दूँगा ॥ ८२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुरगणान् विष्णुः सत्यपराक्रमः।
जगाम ब्रह्मणा सार्धं ब्रह्मलोकं महायशाः ॥ ८३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवताओंसे ऐसा कहकर महायशस्वी तथा सत्यपराक्रमी भगवान् विष्णु ब्रह्माजीके साथ ब्रह्मलोकको चले गये ॥ ८३ ॥

एतदाश्चर्यमभवत् संग्रामे तारकामये।
दानवानां च विष्णोश्च यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ ८४ ॥

राजन् ! तुमने मुझसे जो बात पूछी थी, उसका उत्तर मैंने दे दिया। तारकामय संग्रामके अवसरपर दानवो और भगवान् विष्णुके बीचमें यही आश्चर्यजनक घटना घटित हुई थी ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि कालनेमिवधेऽष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें कालनेमिका वधविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

ब्रह्मलोकमें भगवान् विष्णुका सत्कार

जनमेजय उवाच

ब्रह्मणा देवदेवेन सार्धं सलिलयोनिना।
ब्रह्मलोकगतो ब्रह्मन् वैकुण्ठः किं चकार ह ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! देवाधिदेव कमलयोनि ब्रह्माजीके साथ ब्रह्मलोकमें जाकर भगवान् विष्णुने क्या किया ? ॥ १ ॥

किमर्थं चादिदेवेन नीतः कमलयोनिना।
विष्णुर्दैत्यवधे वृत्ते देवैश्च कृतसत्क्रियः ॥ २ ॥

दैत्योंके संहारका कार्य पूर्ण हो जानेपर देवताओंद्वारा जिनका भलीभाँति सत्कार किया गया था, उन भगवान् विष्णुको आदिदेव ब्रह्माजी ब्रह्मलोकमें किसलिये ले गये ? ॥२॥

ब्रह्मलोके च किं स्थानं कं वा योगमुपास्त सः।
कं वा दधार नियमं स विभुर्भूतभावनः ॥ ३ ॥

ब्रह्मलोकमें उनका कौन-सा स्थान है ? वहाँ उन्होंने किस योगका आश्रय लिया अथवा उन भूतभावन सर्वव्यापी श्रीहरिने किस नियमको धारण किया ? ॥ ३ ॥

कथं तस्याऽऽसतस्तत्र विश्वं जगदिदं महत्।
श्रियमाप्नोति विपुलां सुरासुरनरार्चिताम् ॥ ४ ॥

वहाँ रहते हुए भगवान् विष्णुकी विपुल सम्पत्तिको, जिसकी देवता, असुर और मनुष्य सभी पूजा करते हैं, यह सारा विशाल जगत् कैसे पाता है ? ॥ ४ ॥

कथं स्वपिति घर्मान्ते बुध्यते चाम्बुदप्लवे।
कथं च ब्रह्मलोकस्थो धुरं वहति लौकिकीम् ॥ ५ ॥

ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें (आषाढ़ मासकी शुक्ला एकादशीको) भगवान् कैसे शयन करते हैं ? वर्षाकाल बीतनेपर (कार्तिककी शुक्ला एकादशीको) किस प्रकार जागते हैं ? तथा ब्रह्मलोक (नारायणाश्रम) में रहकर वे सम्पूर्ण जगत्की रक्षाका भार कैसे वहन करते हैं ? ॥ ५ ॥

चरितं तस्य विप्रेन्द्र दिव्यं भगवतो दिवि।
विस्तरेण यथातत्त्वं सर्वमिच्छामि वेदितुम् ॥ ६ ॥

विप्रवर ! दिव्य धाममें स्थित भगवान् विष्णुका जो दिव्य चरित्र है, वह सब यथार्थरूपसे विस्तारपूर्वक मैं सुनना चाहता हूँ* ॥ ६ ॥

---

* यहाँ कुल आठ प्रश्न हैं। पहले श्लोकमें जो प्रथम प्रश्न है, उसका उत्तर इसी अध्यायके श्लोक १२ से लेकर १७ तक देखना चाहिये। दूसरे श्लोकमें दूसरा प्रश्न अङ्कित है। इसका उत्तर इसी अध्यायके २५ से २८ तकके श्लोकोंमें गूढ़ भावसे दिया गया है। तीसरे श्लोकमें तीन प्रश्न हैं—तीसरा, चौथा और पाँचवाँ। उनमेंसे तीसरे प्रश्नका उत्तर अध्याय ५० के १ से ६ तकके श्लोकोंमें उपलब्ध होता है। चौथे और पाँचवें प्रश्नोंका उत्तर उसी अध्यायके ७ से ९ तकके श्लोकोंमें देखें। चौथे श्लोकमें जो छठा प्रश्न अङ्कित है, उसका उत्तर गूढ़ भावसे अध्याय ५० के श्लोक १२ से २२ तकमें है। सातवाँ और आठवाँ प्रश्न पाँचवें, छठे श्लोकोंमें अङ्कित हैं। इनमें सातवेंका उत्तर अध्याय ५० के २२ से ४३ तकके श्लोकोंमें वर्णित है और चरित्र-विषयक आठवें प्रश्नका उत्तर अध्याय ५० के ४४ वें श्लोकसे आरम्भ होकर आगेके सभी अध्यायोंमें है।

वैशम्पायन उवाच

शृणु नारायणस्यादौ विस्तरेण प्रवृत्तयः।
ब्रह्मलोकं यथारूढो ब्रह्मणा सह मोदते ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! भगवान् नारायणके जो कर्म हैं और जिस प्रकार वे ब्रह्मलोकमें स्थित होकर ब्रह्माजीके साथ आनन्दका अनुभव करते हैं, वह सब पहले मुझसे सुनो ॥ ७ ॥

कामं तस्य गतिः सूक्ष्मा देवैरपि दुरासदा।
यत् तु वक्ष्याम्यहं राजंस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ ८ ॥

राजन्! उनकी गति (लीला या चरित्र) उन्हींकी इच्छाके अनुरूप होती है, वह सूक्ष्म है, उसके तत्त्वको ठीक-ठीक समझ पाना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है। इस समय मैं भगवान्‌के जिस चरित्रका वर्णन करने जा रहा हूँ, उसे तुम मेरे कथनानुसार सुनो ॥ ८ ॥

एष लोकमयो देवो लोकाश्चैतन्मयास्त्रयः।
एष देवमयश्चैव देवाश्चैतन्मया दिवि ॥ ९ ॥

ये श्रीनारायणदेव सर्वलोकमय हैं और ये तीनों लोक भी इन्हींके स्वरूप (विष्णुमय) हैं। ये ही सर्वदेवमय हैं और स्वर्गके सम्पूर्ण देवता एतन्मय (इन्हींके स्वरूप अर्थात् विष्णुमय) हैं ॥ ९ ॥

तस्य पारं न पश्यन्ति बहवः पारचिन्तकाः।
एष पारं परं चैव लोकानां वेद माधवः ॥ १० ॥

प्रत्येक वस्तुके पार तत्त्व (अन्त, इयत्ता या चरम सीमा) का चिन्तन करनेवाले बहुत-से विचारक उन भगवान्‌का पार नहीं देख पाते हैं, परंतु ये भगवान् माधव सम्पूर्ण जगत्‌के परम पार (अपने आप) को भलीभाँति जानते हैं ॥ १० ॥

अस्य देवान्धकारस्य मार्गितव्यस्य दैवतैः।
शृणु वै यत् तदा वृत्तं ब्रह्मलोके पुरातनम् ॥ ११ ॥

ये इन्द्रियोंके अविषय हैं और सम्पूर्ण देवता इन्हींका अनुसंधान करते रहते हैं। इन्हीं भगवान् विष्णुका उस समय ब्रह्मलोकमें घटित हुआ जो प्राचीन वृत्तान्त है, उसे सुनो ॥ ११ ॥

स गत्वा ब्रह्मणो लोकं दृष्ट्वा पैतामहं पदम्।
ववन्दे तानृषीन् सर्वान् विष्णुरार्षेण कर्मणा ॥ १२ ॥

उन भगवान् विष्णुने ब्रह्मलोकमें जाकर पितामहके निवासस्थानका दर्शन करके वेदोक्त विधिसे वहाँके समस्त ऋषियोंको प्रणाम किया ॥ १२ ॥

सोऽग्निं प्राक्सवने दृष्ट्वा हूयमानं महर्षिभिः।
अवन्दत महातेजाः कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम् ॥ १३ ॥

उन महातेजस्वी श्रीहरिने पूर्वाह्णकालकी क्रिया पूर्ण करके प्रातःसवनके समय महर्षियोंकी दी हुई आहुति ग्रहण करनेवाले अग्निदेवका दर्शन करके उन्हें प्रणाम किया ॥ १३ ॥

स ददर्श मखेष्वाज्यैरिज्यमानं महर्षिभिः।
भागं यज्ञियमश्नानं स्वदेहमपरं स्थितम् ॥ १४ ॥

उन्होंने वहाँ अपने ही दूसरे विग्रहको विराजमान देखा, जिसका यज्ञोंमें महर्षिगण घीकी आहुतियोंद्वारा यजन (पूजन) कर रहे थे और जो प्राप्त हुए यज्ञभागको स्वयं ही ग्रहण कर रहा था ॥ १४ ॥

अभिवाद्याभिवाद्यानामृषीणां ब्रह्मवर्चसाम्।
परिचक्राम सोऽचिन्त्यो ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥ १५ ॥

उन अचिन्त्यस्वरूप भगवान्‌ने ब्रह्मतेजसे सम्पन्न एवं वन्दनीय ऋषियोंको प्रणाम करके उस सनातन ब्रह्मलोकमें घूमना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

स ददर्शोच्छ्रितान् यूपांश्चषालाग्रविभूषितान्।
मखेषु च ब्रह्मर्षिभिः शतशः कृतलक्षणान् ॥ १६ ॥

उन्होंने वहाँ यज्ञोंमें स्थापित किये गये बहुत-से ऊँचे-ऊँचे यूपों (यज्ञ-स्तम्भों) को देखा, जो सिरेपर काठके बने हुए छल्लोंसे विभूषित थे। ब्रह्मर्षियोंने उनमें सैकड़ों प्रकारके चिह्न अङ्कित किये थे ॥ १६ ॥

आज्यधूमं समाघ्राय शृण्वन् वेदान् द्विजेरितान्।
यज्ञैरिज्यन्तमात्मानं पश्यंस्तत्र चचार ह ॥ १७ ॥

वे घीकी आहुतियोंसे प्रकट हुए धूमकी सुगन्ध लेते, ब्राह्मणोंद्वारा उच्चारित वेदमन्त्रोंको सुनते और यज्ञोंद्वारा होती हुई अपनी ही आराधनाको देखते हुए वहाँ सब ओर विचरने लगे ॥ १७ ॥

ऊचुस्तमृषयो देवाः सदस्याः सदसि स्थिताः।
अर्घ्योद्यतभुजाः सर्वे पवित्रान्तरपाणयः ॥ १८ ॥

जो यज्ञमण्डपमें सदस्यरूपसे विराजमान थे, वे सब देवता और ऋषि हाथोंमें पवित्री धारण करके अर्घ्य देनेके लिये दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर उन भगवान्‌के विषयमें परस्पर इस प्रकार कह रहे थे—॥ १८ ॥

देवेषु वर्तते यद् वै तद्धि सर्वं जनार्दनात्।
यत् प्रवृत्तं च देवेभ्यस्तद् विद्धि मधुसूदनात् ॥ १९ ॥

'देवताओंमें जो भी शक्ति-सामर्थ्य आदि है, वह सब उन्हें भगवान् जनार्दनसे ही प्राप्त हुआ है। देवताओंसे भी जो कुछ प्राप्त होता है, उसे भगवान् मधुसूदनका ही प्रसाद समझो ॥ १९ ॥

अग्नीषोममयं लोकं यं विदुर्विदुषो जनाः।
तं सोममग्निं लोकं च वेद विष्णुं सनातनम् ॥ २० ॥

'संसारके मनुष्य विद्वानोंके मुखसे जिस जगत्‌को अग्नि

और सोमका कार्य जानते हैं, उसके कारणभूत वे सोम और अग्नि तथा यह कार्यभूत जगत् भी सनातन विष्णुरूप ही है, यह बात तुम्हे भी विदित है ॥ २० ॥

क्षीराद् यथा दधि भवेद् दध्नः सर्पिर्भवेद् यथा ।
मथ्यमानेषु भूतेषु तथा लोको जनार्दनात् ॥ २१ ॥

'जैसे दूधसे दही बनता है और दहींसे मन्थन करनेपर घी प्रकट होता है, उसी प्रकार भूतों (देह और इन्द्रिय आदि) के मथे जानेपर अर्थात् चित्तको एकाग्र करके सूक्ष्म तत्त्वका चिन्तन करनेपर यह ज्ञात हो जाता है कि सारा संसार भगवान् जनार्दनसे ही प्रकट हुआ है ॥ २१ ॥

यथेन्द्रियैश्च भूतैश्च परमात्मा विधीयते ।
तथा देवैश्च वेदैश्च लोकैश्च विहितो हरिः ॥ २२ ॥

'जैसे चेतनासे व्याप्त भूतो (शरीरो) और इन्द्रियोंद्वारा उनके नियन्ता परमात्माका स्वतः ज्ञापन या प्रतिपादन हो जाता है, उसी प्रकार अनुग्रह आदि गुणोंसे युक्त देवताओं, वेदों और लोकोंद्वारा (उनके अन्तर्यामी आत्मारूपसे) श्रीहरिका बोध हो जाता है ॥ २२ ॥

यथा भूतेन्द्रियावाप्तिर्विहिता भुवि देहिनाम् ।
तथा प्राणेश्वरावाप्तिर्देवानां दिवि वैष्णवी ॥ २३ ॥

'जैसे भूतलपर देहधारी प्राणियोंको जो देह और इन्द्रियोंकी प्राप्ति हुई है, उनका सम्बन्ध पार्थिव भूतोंसे है, उसी प्रकार स्वर्गलोकमे देवताओंको जो बल और ऐश्वर्य प्राप्त हुए हैं, उनका सम्बन्ध भगवान् विष्णुसे ही है ॥ २३ ॥

सत्रिणां सत्रफलदः पवित्रं परमात्मवान् ।
लोकतन्त्रधरो ह्येष मन्त्रैर्मन्त्र इवोच्यते ॥ २४ ॥

'ये भगवान् विष्णु ही यज्ञ करनेवाले यजमानोंको उनके यज्ञोका फल प्रदान करते हैं। ये परम पवित्र और स्वतन्त्र हैं। सम्पूर्ण लोकोंका संचालनसूत्र इन्हींके हाथमे है। जैसे वाणीके माधुर्यका वर्णन वाणीद्वारा ही सम्भव होता है, उसी प्रकार श्रीविष्णुके स्वरूपका प्रतिपादन स्वयं विष्णु ही कर सकते हैं, दूसरोंके लिये इनकी महिमा अनिर्वचनीय है' ॥

ऋषय ऊचुः

स्वागतं ते सुरश्रेष्ठ पद्मनाभ महाद्युते ।
इदं यज्ञियमातिथ्यं मन्त्रतः प्रतिगृह्यताम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर भगवान्को देखकर ऋषि बोले— सुरश्रेष्ठ ! आपका स्वागत है, महातेजस्वी पद्मनाभ ! आप वेदमन्त्रोंद्वारा यह यज्ञसम्बन्धी आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करें ॥

त्वमस्य यज्ञपूतस्य पात्रं पाद्यस्य पावनः ।
अतिथिस्त्वं हि मन्त्रोक्तः स दृष्टः संततं मतः ॥ २६ ॥

इस यज्ञपूत पाद्यके आप ही उत्तम पात्र हैं, क्योंकि आप ही वेदमन्त्रोंद्वारा पावन अतिथि बताये गये हैं। जिनके विषयमें हम सदा सुनते और जानते आये हैं, उन्हींका आज प्रत्यक्ष दर्शन हुआ (यह हमारे लिये सौभाग्यकी बात है) ॥ २६ ॥

त्वयि योद्धुं गते विष्णौ न प्रावर्तन्त नः क्रियाः ।
अवैष्णवस्य यज्ञस्य न हि कर्म विधीयते ॥ २७ ॥

आप सर्वव्यापी श्रीहरि जब युद्धके लिये चले गये थे, तब हमारे यज्ञकर्म ठीक तरहसे हो नहीं पाते थे। जिसका सम्बन्ध भगवान् विष्णुसे न हो अर्थात् जिसमे वे उपस्थित न हों, उस यज्ञका कार्य ठीकसे सम्पन्न नहीं होता है ॥ २७ ॥

सदक्षिणस्य यज्ञस्य त्वत्प्रसूतिः फलं लभेत् ।
अद्यात्मानमिहास्माभिरिज्यमानं निरीक्षसे ॥ २८ ॥

(आज आपकी उपस्थितिसे हमारा यज्ञ सफल हो गया।) आपका प्रकट होना ही दक्षिणाओंसे सम्पन्न यज्ञका प्रमुख फल है। आज आप यहाँ अपने आपको हमारेद्वारा पूजित देखेंगे ॥ २८ ॥

एवमस्त्विति तान् सर्वान् भगवान् प्रत्यपूजयत् ।
मुमुदे ब्रह्मलोकस्थो ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ २९ ॥

तब 'एवमस्तु' कहकर भगवान् विष्णुने उन सबका सम्मान किया। उनके द्वारा सम्मानित हो लोकपितामह ब्रह्मा भी अपने लोकमे स्थित हो परम आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि लोकवर्णनं नामैकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें ब्रह्मलोकका वर्णननामक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नारायणाश्रममें भगवान् विष्णुका शयन और उत्थान तथा पास आये हुए ब्रह्मा आदि देवताओंसे उनके आगमनका प्रयोजन पूछना

वैशम्पायन उवाच

ऋषिभिः पूजितस्तैस्तु विवेश हरिरीश्वरः ।
पौराणं ब्रह्मसदनं दिव्यं नारायणाश्रमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन ऋषियोंसे

पूजित होकर सर्वेश्वर भगवान् विष्णुने पुराणप्रसिद्ध दिव्य ब्रह्मधाम (वैकुण्ठ) मे, जो उन श्रीनारायणदेवका आश्रम (विश्रामस्थान) है, प्रवेश किया ॥ १ ॥

स तद् विवेश हृष्टात्मा तानामन्त्र्य सदोगतान् ।
प्रणम्य चादिदेवाय ब्रह्मणे पद्मयोनये ॥ २ ॥
स्वेन नाम्ना परिज्ञातं स तं नारायणाश्रमम् ।
प्रविशन्नेव भगवानायुधानि व्यसर्जयत् ॥ ३ ॥

उन्होंने प्रसन्नचित्तसे उस यज्ञसभामे एकत्र हुए उन सब महर्षियोंसे विदा ले आदिदेव पद्मयोनि ब्रह्माजीको प्रणाम करके अपने ही नामसे प्रसिद्ध हुए उस नारायणाश्रममें प्रवेश किया। उसमें प्रवेश करते ही भगवान्ने सम्पूर्ण आयुधोंको त्याग दिया ॥ २-३ ॥

स तत्राम्बुपतिप्रख्यं ददर्शालयमात्मनः ।
स्वधिष्ठितं देवगणैः शाश्वतैश्च महर्षिभिः ॥ ४ ॥

वहाँ उन्हें अपना शयनागार दिखायी दिया, जो समुद्रके समान शोभा पा रहा था। उसमें सनातन देवगण और शाश्वत महर्षि निवास करते थे ॥ ४ ॥

संवर्तकाम्बुदोपेतं नक्षत्रस्थानसंकुलम् ।
तिमिरौघपरिक्षिप्तमप्रधृष्यं सुरासुरैः ॥ ५ ॥

संवर्तक (प्रलयकारी) मेघोंके अभिमानी देवता वहाँ विद्यमान थे। वह स्थान नक्षत्रोंके आश्रयभूत ज्योतिर्मण्डलसे व्याप्त था। जो वहाँ जानेके अधिकारी नहीं हैं, उनके लिये वह दिव्य धाम अन्धकारसे आवृत है अर्थात् उनकी वहाँपर पहुँच नहीं हो पाती है। देवताओं और असुरोंके लिये भी वहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है ॥ ५ ॥

न तत्र विषयो वायोर्नेन्दोर्न च विवस्वतः ।
वपुषः पद्मनाभस्य स देशस्तेजसाऽऽवृतः ॥ ६ ॥

वहाँ न तो वायुकी, न चन्द्रमाकी और न सूर्यकी ही पहुँच हो पाती है। वह दिव्य देश भगवान् पद्मनाभके सच्चिदानन्दमय श्रीविग्रहकी तेजोराशिसे ही आवृत एवं प्रकाशित है॥

स तत्र प्रविशन्नेव जटाभारं समुद्वहन् ।
सहस्रशीर्षो भूत्वा तु शयनायोपचक्रमे ॥ ७ ॥

जो पहले सहस्रों मस्तकोंसे विभूषित विराट्रूपधारी होकर शोभा पाते थे, उन्हीं भगवान्ने उस दिव्य धाममे प्रवेश करते ही जगत्के प्राणियोंकी कर्मवासनामयी जटाका भार सिरपर धारण किये वहाँ सोनेकी तैयारी की ॥ ७ ॥

लोकानामन्तकालज्ञा काली नयनशालिनी ।
उपतस्थे महात्मानं निद्रा तं कालरूपिणी ॥ ८ ॥

तदनन्तर लोकोंके अन्तकालको जाननेवाली कृष्णवर्णा कालरूपिणी निद्रा, जो नेत्रोंका आश्रय लेकर शोभा पाती है, उन परमात्मा श्रीहरिकी सेवामें उपस्थित हुई ॥ ८ ॥

स शिश्ये शयने दिव्ये समुद्राम्भोदशीतले ।
हरिरेकार्णवोक्तेन व्रतेन व्रतिनां वरः ॥ ९ ॥

व्रतधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीहरिने समुद्र और मेघोंके जलसे शीतल दिव्य शय्यापर शयन किया। प्रलयकालमें सारे जगत्के एकार्णवमग्न हो जानेपर जिस नियमसे भगवान्के शयनका वर्णन पुराणोंमें मिलता है, उसीके अनुसार उस समय भी भगवान्ने शयन किया था* ॥ ९ ॥

तं शयानं महात्मानं भवाय जगतः प्रभुम् ।
उपासाञ्चक्रिरे विष्णुं देवाः सर्षिगणास्तथा ॥ १० ॥

जगत्के अभ्युदयके लिये शयन करनेवाले उन सर्वसमर्थ महात्मा विष्णुकी वहाँ रहनेवाले देवता और ऋषि उपासना करने लगे ॥ १० ॥

तस्य सुप्तस्य शुशुभे नाभिमध्यात् समुत्थितम् ।
आद्यं तस्यासनं पद्मं ब्रह्मणः सूर्यवर्चसम् ।
सहस्रपत्रं वर्णाढ्यं सुकुमारं सुपुष्पितम् ॥ ११ ॥

सोये हुए भगवान्की नाभिके मध्यभागसे एक कमल प्रकट होकर शोभा पाने लगा। उसकी कान्ति सूर्यके समान थी। वही ब्रह्माका आदि आसन है। उसमे सहस्र दल हैं, वह बीजरूपी विभिन्न वर्णोंसे अङ्कित, अत्यन्त कोमल एवं अच्छी तरह खिला हुआ है ॥ ११ ॥

ब्रह्मसूत्रोद्यतकरः स्वपन्नेव महामुनिः ।
आवर्तयति लोकानां सर्वेषां कालपर्ययम् ॥ १२ ॥

ब्रह्माजीकी जो पूर्वजन्मोंकी वासना (कर्म-संस्कार) है, वही सूत्ररूपसे मानो भगवान्का उठा हुआ हाथ है, उसके द्वारा वे सृष्टि आदिके लिये संकेत करते रहते हैं। इस प्रकार वे महामुनि श्रीहरि सोते हुए ही समस्त लोकोंके कालजनित उलट-फेर (सृष्टि-संहार) की आवृत्ति किया करते हैं ॥ १२ ॥

विवृतात् तस्य वदनान्निःश्वासपवनेरिताः ।
प्रजानां पङ्क्तयो ह्युच्चैर्निष्पतन्त्युत्पतन्ति च ॥ १३ ॥

उनके खुले हुए मुखसे जो निःश्वास वायु निर्गत होती है, उससे प्रेरित होकर प्रजाओंकी विभिन्न श्रेणियाँ बड़े वेगसे निकलती और उत्पन्न होती रहती हैं ॥ १३ ॥

ते सृष्टाः प्राणिनो मेध्या विभक्ता ब्रह्मणा स्वयम् ।
चतुर्धा स्वां गतिं जग्मुः कृतान्तोक्तेन कर्मणा ॥ १४ ॥

वे उत्पन्न हुए पवित्र प्राणी साक्षात् ब्रह्माजीके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्ररूपसे चार भागोंमें विभक्त

* यहाँ आचार्य नीलकण्ठने शयनका अर्थ समाधि किया है, उनके मतमें यहाँ समुद्रसे निर्विकल्प समाधि और मेघसे सविकल्प समाधि परिलक्षित होती है और शीतलका अर्थ वे तापरहित करते हैं, जो समाधिका विशेषण है। इसी तरह वे एकार्णवोक्त व्रतका अर्थ निर्विकल्प समाधिके लिये बताया गया 'संयम' मानते हैं।

किये जाते हैं। फिर वे चारों वर्णोंके लोग अपने-अपने लिये बताये गये वेदोक्त कर्मका (निष्कामभावसे) अनुष्ठान करके अपनी परम गति (परमात्मा) को प्राप्त कर लेते हैं ॥१४॥

न तं वेद स्वयं ब्रह्मा नापि ब्रह्मर्षयोऽव्ययाः ।
विष्णोर्निद्रामयं योगं प्रविष्टं तमसावृतम् ॥ १५ ॥

योगनिद्राका आश्रय लेकर शयन करनेवाला जो भगवान् विष्णुका योगमायासे समावृत स्वरूप है, उसे स्वयं ब्रह्माजी तथा (ब्रह्मलोकके) अविनाशी ब्रह्मर्षि भी नही जान पाते हैं ॥ १५ ॥

ते तु ब्रह्मर्षयः सर्वे पितामहपुरोगमाः ।
न विदुस्तं क्वचित् सुप्तं क्वचिदासीनमासने ॥ १६ ॥

वे ब्रह्मा आदि सभी ब्रह्मर्षि किसी देश-कालमे सोये और किसी देश-कालमे आसनपर बैठकर जागते हुए भगवान्‌के स्वरूपको यथार्थरूपसे समझ नहीं पाते हैं ॥ १६ ॥

जागर्ति कोऽत्र कः शेते कश्च शक्तश्च नेङ्गते ।
को भोगवान् को द्युतिमान् कृष्णात् कृष्णतरश्च कः॥१७॥

उन्हें यह ज्ञात नहीं होता कि यहाँ कौन जागता है ? कौन सोता है ? कौन सर्वशक्तिमान् होकर भी कोई चेष्टा नहीं करता है ? कौन भोगवान् है ? कौन परम कान्तिमान् है तथा कौन कृष्ण (सूक्ष्म) से भी कृष्णतर (अत्यन्त सूक्ष्म) है ?[1] ॥ १७ ॥

विमृशन्ति स तं देवा दिव्याभिरुपपत्तिभिः ।
न चैनं शेकुरन्वेष्टुं कर्मतो जन्मतोऽपि वा ॥ १८ ॥

देवता दिव्य युक्तियोंद्वारा इनके विषयमे विचार करते रहते हैं; परंतु वे अबतक इनके जन्म और कर्मके रहस्यका पता नहीं लगा सके हैं ॥ १८ ॥

गाथाभिस्तत्प्रदिष्टाभिर्ये तस्य चरितं विदुः ।
पुराणास्तं पुराणेषु ऋषयः सम्प्रचक्षते ॥१९ ॥

उन परमात्माने अपने निःश्वासभूत वेदमन्त्रोंके द्वारा जिनका उपदेश किया है, उन वैदिकी गाथाओंद्वारा जो उनके चरित्रको जानते थे, उन पुरातन ऋषियोंने ही पुराणोंमें उन परमेश्वरके स्वरूपका विशद विवेचन किया है ॥ १९ ॥

श्रूयते चास्य चरितं देवेष्वपि पुरातनम् ।
महापुराणात् प्रभृति परं तस्य न विद्यते ॥ २०॥

देवताओंके यहाँ भी महापुराण आदिसे इनके पुरातन चरित्रका श्रवण किया जाता है । उनका कहीं अन्त नहीं है ॥ २० ॥

यच्चास्य देवदेवस्य चरितं स्वप्रभावजम् ।
तेनेमाः श्रुतयो व्याप्ता वैदिक्यो लौकिकाश्च याः ॥ २१ ॥

उन देवाधिदेव परमात्माका उनके प्रभावसे (पराक्रम आदिके द्वारा) प्रकट हुआ जो लीला-चरित्र है, उसीसे ये वैदिकी और लौकिकी श्रुतियाँ भरी हुई हैं ॥ २१ ॥

भवकाले भवत्येष लोकानां लोकभावनः ।
दानवानामभावाय जागर्ति मधुसूदनः ॥ २२ ॥

लोकोंकी सृष्टिके समय ये लोकभावन मधुसूदन सगुणरूपसे प्रकट होते हैं और दानवोंके विनाशके लिये सदा जागरूक रहते हैं ॥ २२ ॥

यत्रैनं वीक्षितुं देवा न शेकुः सुप्तमव्ययम् ।
ततः स्वपिति धर्मान्ते जागर्ति जलदक्षये ॥ २३ ॥

जहाँ सो जानेपर इन अविनाशी प्रभुको देवता भी नहीं देख सके थे, वहीं ये वर्षाकालमें (आषाढ़ शुक्ला एकादशीसे कार्तिक शुक्ला एकादशीतक) सोते और वर्षा व्यतीत होनेपर जागते हैं ॥ २३ ॥

स हि वेदाश्च यज्ञाश्च यज्ञाङ्गानि च सर्वशः ।
या तु यज्ञगतिः प्रोक्ता स एष पुरुषोत्तमः ॥ २४ ॥

भगवान् विष्णु ही वेद, यज्ञ तथा समस्त यज्ञाङ्ग (यज्ञके उपकरण) हैं। यज्ञोंद्वारा प्राप्त होनेवाली जो परम गति बतायी गयी है, वह भी ये भगवान् पुरुषोत्तम ही हैं ॥ २४ ॥

तस्मिन् सुप्ते न वर्तन्ते मन्त्रपूताः क्रतुक्रियाः ।
शरत्प्रवृत्तयज्ञोऽयं जागर्ति मधुसूदनः ॥ २५ ॥

भगवान्‌के शयनकालमें मन्त्रपूत यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान नहीं होता है। शरद्‌ऋतुमें जब ये मधुसूदन जागते हैं, उस समय वाजपेय आदि यज्ञोंका अनुष्ठान आरम्भ हो जाता है[2] ॥ २५ ॥

तदिदं वार्षिकं चक्रं कारयत्यम्बुदेश्वरः ।
वैष्णवं कर्म कुर्वाणः सुप्ते विष्णौ पुरंदरः ॥ २६ ॥

भगवान् विष्णुके शयन करनेपर मेघोंके स्वामी देवराज इन्द्र स्वयं ही प्रजापालनरूप वैष्णवकर्मका सम्पादन करते हैं और वे ही लोगोसे वर्षा ऋतुमे होनेवाले जलसम्बन्धी कर्म (उपाकर्म एवं श्राद्धतर्पण आदि)का अनुष्ठान करवाते हैं ॥ २६ ॥

या ह्येषा गह्वरा माया निद्रेति जगति स्थिता ।
साकस्माद् द्वेषिणी घोरा कालरात्रिर्महीक्षिताम्॥२७॥

यह जो गहन तमोमयी माया है, वही संसारमें निद्रारूपसे स्थित है। वह आकारण ही सबसे द्वेष रखनेवाली और

---

१. यहाँ कृष्णका अर्थ कृश अर्थात् सूक्ष्म है।

२. श्रुति कहती है—'शरदि वाजपेयेन यजेत ।' अर्थात् 'शरद्‌ऋतुमें वाजपेय यज्ञके द्वारा भगवान्‌की आराधना करे।' (नी० क०)

भयंकर है तथा युद्धक्षेत्रमें उतरे हुए राजाओंके लिये कालरात्रिके समान है ॥ २७ ॥

तस्यास्तनुस्तमोद्वारा निशा दिवसनाशिनी ।
जीवितार्धहरा घोरा सर्वप्राणभृतां भुवि ॥ २८ ॥

उस तामसी मायाका शरीर है रात्रि, जिसका द्वार है अन्धकार। वह दिनका नाश करनेवाली तथा निद्राद्वारा भूतलके समस्त प्राणियोंके आधे जीवनको हर लेनेवाली है । उसका स्वरूप भयंकर है ॥ २८ ॥

नैतया कश्चिदाविष्टो जृम्भमाणो मुहुर्मुहुः ।
शक्तः प्रसहितुं वेगं मज्जन्निव महार्णवे ॥ २९ ॥

इस निशा एवं निद्रारूपिणी मायासे आविष्ट हुआ कोई भी प्राणी बारंबार जँभाई लेने लगता है और महासागरमें डूबते हुए मनुष्यके समान विवश होकर उसके वेगको सहन नहीं कर पाता है ॥ २९ ॥

अन्नजा भुवि मर्त्यानां श्रमजा वा कथंचन ।
सैषा भवति लोकस्य निद्रा सर्वस्य लौकिकी ॥ ३० ॥

पृथ्वीपर रहनेवाले मरणधर्मा मनुष्योंको यह निद्रा भोजन अथवा किसी प्रकारके परिश्रमके कारण प्राप्त होती है। इस प्रकार यह लौकिकी निद्रा जगत्के सभी प्राणियोंको आती है ॥ ३० ॥

स्वप्नान्ते क्षीयते ह्येषा प्रायशो भुवि देहिनाम् ।
मृत्युकाले च भूतानां प्राणान् नाशयते भृशम् ॥ ३१ ॥

पृथ्वीपर देहधारियोंको जो निद्रा आती है, वह प्रायः सो लेनेके बाद स्वयं ही नष्ट हो जाती है, परंतु जब प्राणियोका मृत्युकाल उपस्थित होता है, उस समय यह उनके प्राणोंका प्रबल वेगसे नाश कर डालती है ॥ ३१ ॥

देवेष्वपि दधारैनां नान्यो नारायणादृते ।
सखी सर्वहरस्यैषा माया विष्णुशरीरजा ॥ ३२ ॥

देवताओंमें भी भगवान् नारायणके सिवा दूसरा कोई इसे धारण नहीं कर सका (और न इसपर काबू ही पा सका है)। भगवान् विष्णुके शरीरसे प्रकट हुई यह माया सर्वसंहारकारी कालकी सखी (सहायिका) है ॥ ३२ ॥

सैषा नारायणमुखे दृष्टा कमललोचना ।
लोकानल्पेन कालेन ग्रसते लोकमोहिनी ॥ ३३ ॥

वही यह माया भगवान् नारायणके मुखमण्डलमें उनके नेत्रकमलोंके भीतर स्थित देखी गयी है। यही कमलनयनी नारीके रूपमें भी प्रकट होती है। सम्पूर्ण विश्वको मोहमें डालनेवाली निद्रामयी माया अल्पकालमें ही समस्त लोकोंको ग्रस लेती है ॥ ३३ ॥

एवमेषा हितार्थाय लोकानां कृष्णवर्त्मना ।
ध्रियते सेवनीया हि पत्येव च पतिव्रता ॥ ३४ ॥

जिनका मार्ग सूक्ष्म है, उन परमात्मा श्रीहरिने समस्त लोकोंके हितके लिये (अर्थात् उन्हें विश्रामसुखका अनुभव करानेके लिये) इस निद्राको धारण किया है। जैसे पति पतिव्रता स्त्रीका सेवन करता है, उसी प्रकार विश्राम-सुखकी इच्छावाले प्रत्येक व्यक्तिको समय-समयपर इसका सेवन करना चाहिये ॥ ३४ ॥

स तया निद्रया च्छन्नस्तस्मिन् नारायणाश्रमे ।
स्वपिति स तदा विष्णुर्मोहयञ्जगदव्ययः ॥ ३५ ॥

इस तरह अविनाशी भगवान् विष्णु उस योगनिद्रासे आच्छन्न हो सम्पूर्ण जगत्को मोहमें डालते हुए उस समय नारायणाश्रममें शयन करने लगे ॥ ३५ ॥

तस्य वर्षसहस्राणि शयानस्य महात्मनः ।
जग्मुः कृतयुगं चैव त्रेता चैव युगोत्तमम् ॥ ३६ ॥

वहाँ सोते हुए महात्मा नारायणके हजारों वर्ष बीत गये । सत्ययुग तथा उत्तम त्रेतायुग भी समाप्त हो गये ॥ ३६ ॥

स तु द्वापरपर्यन्ते ज्ञात्वा लोकान् सुदुःखितान् ।
प्राबुध्यत महातेजाः स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ३७ ॥

द्वापरके अन्तमें समस्त लोकोंको अत्यन्त दुःखसे पीडित जान महर्षियोंद्वारा अपनी स्तुति सुनते हुए वे महातेजस्वी भगवान् श्रीहरि जाग उठे ॥ ३७ ॥

ऋषय ऊचुः

जहीहि निद्रां सहजां भुक्तपूर्वामिव स्रजम् ।
इमे ते ब्रह्मणा सार्धं देवा दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ३८ ॥

ऋषि बोले—भगवन् ! जैसे पहलेके उपभोगमे लगी हुई फूलमालाको त्याग दिया जाता है, उसी प्रकार आप अपनी इस सहज निद्राको त्याग दीजिये। ब्रह्माजीके साथ ये समस्त देवता आपके दर्शनकी अभिलाषासे खड़े हैं ॥३८॥

इमे त्वां ब्रह्मविद्वांसो ब्रह्मसंस्तववादिनः ।
वर्धयन्ति हृषीकेश ऋषयः संशितव्रताः ॥ ३९ ॥

हृषीकेश ! ये उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मवेत्ता महर्षि वेदोक्त स्तोत्रोंका पाठ करते हुए आपका अभिनन्दन करते (आपको बधाई देते) हैं ॥ ३९ ॥

एतेषामात्मभूतानां भूतानां भूतभावन ।
शृणु विष्णो शुभा वाचो भूव्योमाग्न्यनिलाम्भसाम् ॥४०॥

भूतभावन विष्णो ! ये जो आपके ही स्वरूपभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशरूप महाभूतोंके अधिष्ठाता देवता हैं, इनके शुभ वचन आप सुनें ॥ ४० ॥

इमे त्वां सप्त मुनयः सहिता मुनिमण्डलैः ।
स्तुवन्ति देव दिव्याभिर्गेयाभिर्गीर्भिरञ्जसा ॥ ४१ ॥

देव ! ये मुनि-मण्डलीसहित सप्तर्षि गाने योग्य दिव्य वाणीद्वारा स्वभावतः आपकी स्तुति करते हैं ॥ ४१ ॥

उत्तिष्ठ शतपत्राक्ष पद्मनाभ महाद्युते ।
कारणं किंचिदुत्पन्नं देवानां कार्यगौरवात् ॥ ४२ ॥

कमलनयन ! उठिये ! महातेजस्वी पद्मनाभ ! देवताओंके गुरुतर कार्यवश आपको जगानेके लिये कुछ कारण उत्पन्न हो गया है ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन उवाच

स संक्षिप्य जलं सर्वं तिमिरौघं विदारयन् ।
उदतिष्ठद्धृषीकेशः श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ४३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब सारे जलको समेटकर तथा अनधिकारियोंके लिये योगमायाने जो तमोमय आवरण लगा दिया था, उसको भी दूर करके भगवान् हृषीकेश अपनी उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित होते हुए उठे ॥ ४३ ॥

स ददर्श सुरान् सर्वान् समेतान् सपितामहान् ।
विवक्षतः प्रक्षुभिताञ्जगदर्थे समागतान् ॥ ४४ ॥

उन्होने देखा, ब्रह्मासहित समस्त देवता उपस्थित हैं। इनके मनमें क्षोभ उत्पन्न हुआ है और उसीके सम्बन्धमें ये कुछ कहना चाहते हैं। उन्हे यह भी ज्ञात हो गया कि ये लोग जगत्के हितके लिये ही यहाँ पधारे हैं ॥४४॥

तानुवाच हरिर्देवो निद्राविश्रान्तलोचनः ।
तत्त्वद्यार्थया वाचा धर्महेत्वर्थयुक्तया ॥ ४५ ॥

निद्राके द्वारा जिनके नेत्रोंको विश्राम मिल चुका था, उन भगवान् श्रीहरिने धर्मसम्मत, युक्तिसंगत तथा तात्त्विक अर्थसे युक्त वाणीद्वारा उस समय उन देवताओंसे इस प्रकार कहा ॥ ४५ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुतो वो विग्रहो देवाः कुतो वो भयमागतम् ।
कस्य वा केन वा कार्यं किं वा मयि न वर्तते ॥ ४६॥

श्रीभगवान् बोले—देवताओ ! तुम्हारा किससे युद्ध छिड़ा हुआ है ? कहाँसे तुमपर भय आया है ? अथवा किस देवताको किस वस्तुकी आवश्यकता पड़ गयी है ? बताओ, कौन ऐसी वस्तु है, जो मेरे पास नहीं है ? (अर्थात् मेरे पास सब कुछ है और मैं तुम्हे सब कुछ दूँगा) ॥ ४६ ॥

किं खल्वकुशलं लोके वर्तते दानवोत्थितम् ।
नृणामायासजननं शीघ्रमिच्छामि वेदितुम् ॥ ४७ ॥

दानवोंकी ओरसे कौन-सा ऐसा कार्य किया गया है, जो लोकके लिये अमङ्गलकारी और मनुष्योंके लिये कष्टजनक सिद्ध हुआ है ? यह मैं शीघ्र जानना चाहता हूँ ॥४७॥

एष ब्रह्मविदां मध्ये विहाय शयनोत्तमम् ।
शिवाय भवतामर्थे स्थितः किं करवाणि वः ॥ ४८ ॥

आप सभी ब्रह्मवेत्ताओंके बीचमें इस उत्तम शय्याको त्यागकर यह मैं आपके कल्याण-साधनके लिये तैयार खड़ा हूँ । बताइये, आपकी क्या सेवा करूँ ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि विष्णोर्योगशयनोत्थाने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें भगवान् विष्णुका योगशय्यासे उत्थानविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

ब्रह्माजीका भगवान् विष्णुसे जगत्की वतमान अवस्थाका वर्णन करते हुए पृथ्वीका भार उतारनेके लिये मन्त्रणा करनेका अनुरोध

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा विष्णुगदितं ब्रह्मा लोकपितामहः ।
उवाच परमं वाक्यं हितं सर्वदिवौकसाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् विष्णुका वह कथन सुनकर लोकपितामह ब्रह्माने समस्त देवताओंके लिये हितकारक उत्तम बात कही—॥ १ ॥

नास्ति किंचिद् भयं विष्णो सुराणामसुरान्तक ।
येषां भवानभयदः कर्णधारो रणे रणे ॥ २ ॥

'असुरोंका संहार करनेवाले विष्णुदेव ! युद्धके अवसरोंपर जिनके आप-जैसे अभयदायक कर्णधार हों, उन देवताओंको कोई भय नहीं ॥ २ ॥

शक्रे जयति देवेशे त्वयि चासुरसूदने ।
धर्मे प्रयतमानानां मानवानां कुतो भयम् ॥ ३ ॥

'जबतक देवराज इन्द्र विजयी हैं और असुरोंका संहार करनेवाले आप रक्षाके लिये उद्यत हैं, तबतक धर्मके लिये प्रयत्नशील रहनेवाले मनुष्योंको भी किससे भय हो सकता है ॥ ३ ॥

सत्ये धर्मे च निरतान् मानवान् विगतज्वरान् ।
नाकाले धर्मिणो मृत्युः शक्नोति प्रसमीक्षितुम्॥ ४ ॥

'जो मनुष्य सत्य और धर्ममें तत्पर रहकर चिन्तारहित हो धर्मके अनुष्ठानमें लगे हुए हैं, उनकी ओर अकालमृत्यु आँख उठाकर देख भी नहीं सकती है ॥ ४ ॥

मानवानां च पतयः पार्थिवाश्च परस्परम् ।
षड्भागमुपभुञ्जाना न भयं कुर्वते मिथः ॥ ५ ॥

'मनुष्योंके अधिपति जो पृथ्वीपालक नरेश हैं, वे भी प्रजाकी आयके छठे भागका करके रूपमें उपभोग करते हुए आपसमें कभी भेद या कलह नहीं करते हैं ॥ ५ ॥

ते प्रजानां शुभकराः करदैरविगर्हिताः ।
सुकरैर्विप्रयुक्तार्थाः कोशमापूरयन्त्युत ॥ ६ ॥

'वे सदा ही प्रजाकी भलाई करते हैं, इसलिये कर देनेवाले लोग उनकी निन्दा नहीं करते । राजाओंको जब अर्थकी कमी पड़ती है, तब वे न्यायोचित करोंके द्वारा ही अपना खजाना भरते हैं ॥ ६ ॥

स्फीताञ्जनपदान् सर्वान् पालयन्तः क्षमापराः ।
अतीक्ष्णदण्डांश्चतुरो वर्णाञ्जुगुपुरञ्जसा ॥ ७ ॥

वे क्षमापरायण हो अपने समस्त समृद्धिशाली जनपदोंका पालन करते हैं । कभी किसीको कठोर दण्ड नहीं देते हैं तथा चारों वर्णोंकी यथोचित रीतिसे रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

नोद्वेजनीया भूतानां सचिवैः साधुपूजिताः ।
चतुरङ्गबलैर्गुप्ताः षड्गुणानुपयुञ्जते ॥ ८ ॥

'(वे स्वयं किसीको उद्विग्न नहीं करते हैं, इसलिये) कोई भी प्राणी उन्हें उद्वेगमें नहीं डालते हैं । मन्त्रियोंद्वारा वे भलीभाँति सम्मानित होते हैं तथा चतुरङ्गिणी सेनाओंसे सुरक्षित होकर (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—इन) छः गुणोंका यथावसर उपयोग करते रहते हैं ॥ ८ ॥

धनुर्वेदपराः सर्वे सर्वे वेदेषु निष्ठिताः ।
यजन्ते च यथाकालं यज्ञैर्विपुलदक्षिणैः ॥ ९ ॥

'सभी नरेश धनुर्वेदके अभ्यासमें तत्पर हैं, सभी वेदोंके परिनिष्ठित विद्वान् हैं और यथासमय प्रचुर दक्षिणायुक्त यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की आराधना करते रहते हैं ॥ ९ ॥

वेदानधीत्य दीक्षाभिर्महर्षीन् ब्रह्मचर्यया ।
श्राद्धैश्च मेध्यैः शतशस्तर्पयन्ति पितामहान् ॥ १० ॥

'वे दीक्षा ग्रहण एवं ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक वेदोंका अध्ययन करके महर्षियोंको तथा पवित्र श्राद्ध-कर्मोंद्वारा सैकड़ों बार पितरोंको तृप्त करते रहते हैं ॥ १० ॥

नैषामविदितं किंचित् त्रिविधं भुवि दृश्यते ।
वैदिकं लौकिकं चैव धर्मशास्त्रोक्तमेव च ॥ ११ ॥

'भूतलपर जो वैदिक, लौकिक तथा धर्मशास्त्रकथित— तीन प्रकारके कर्म दृष्टिगोचर होते हैं, उनमेंसे कोई भी कर्म इन राजाओंको अज्ञात नहीं है ॥ ११ ॥

ते परावरदृष्टार्था महर्षिसमतेजसः ।
भूयः कृतयुगं कर्तुमुत्सहन्ते नराधिपाः ॥ १२ ॥

'उन्हें परावर-तत्त्वका साक्षात्कार हो चुका है । वे सभी नरेश महर्षियोंके समान तेजस्वी हैं और पुनः इस पृथ्वीपर सत्ययुगको लानेका उत्साह रखते हैं ॥ १२ ॥

तेषामेव प्रभावेण शिवं वर्षति वासवः ।
यथार्थं च ववुर्वाता विरजस्का दिशो दश ॥ १३ ॥

'उन्हींके प्रभावसे देवराज इन्द्र जगत्‌में कल्याणकारी जलकी वर्षा करते हैं, वायु यथोचित गतिसे प्रवाहित होती है और दसों दिशाएँ स्वच्छ रहती हैं ॥ १३ ॥

निरुत्पाता च वसुधा सुप्रचाराश्च खे ग्रहाः ।
चन्द्रमाश्च सनक्षत्रः सौम्यं चरति योगतः ॥ १४ ॥

'पृथ्वीपर कोई उत्पात नहीं होता, आकाशमें सभी ग्रह समुचित गतिसे विचरण करते हैं तथा नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा भी उनके साथ संयुक्त होकर सौम्यगतिसे विचरण कर रहे हैं ॥ १४ ॥

अनुलोमकरः सूर्यस्त्वयने द्वे चचार ह ।
हव्यैश्च विविधैस्तृप्तः शुभगन्धो हुताशनः ॥ १५ ॥

'जगत्‌के लिये अनुकूल किरणोंसे युक्त हुए भगवान् सूर्य दोनों अयनोंमें विचरते हैं तथा उत्तम गन्धसे सुवासित अग्निदेव नाना प्रकारके हविष्योंकी आहुति पाकर तृप्त होते हैं ॥ १५ ॥

एवं सम्यक् प्रवृत्तेषु विवृद्धेषु मखादिषु ।
तर्पयत्सु महीं कृत्स्नां नृणां कालभयं कुतः ॥ १६ ॥

'जब इस प्रकार राजालोग भलीभाँति सत्कर्मोंमें प्रवृत्त हैं, यज्ञ आदि कर्म दिनोंदिन बढ़ रहे हैं और वे नरेश समस्त भूमण्डलको निरन्तर तृप्त एवं संतुष्ट कर रहे हैं, तब मनुष्योंको कालका भय कैसे हो सकता है ॥ १६ ॥

तेषां ज्वलितकीर्तीनामन्योन्यवशवर्तिनाम् ।
राज्ञां बलैर्बलवतां पीड्यते वसुधातलम् ॥ १७ ॥

'परंतु जिनकी कीर्ति सब ओर जगमग हो रही है तथा जो एक दूसरेके वशवर्ती होकर मेल-मिलापसे रहते हैं, उन बलवान् राजाओंके पास जो असंख्य सेनाएँ हैं, उनके भारसे पृथ्वीको बड़ी पीड़ा हो रही है ॥ १७ ॥

सेयं भारपरिश्रान्ता पीड्यमाना नराधिपैः ।
पृथिवी समनुप्राप्ता नौरिवासन्नविप्लवा ॥ १८ ॥

'इस प्रकार भारसे थकी हुई यह पृथ्वी उन नरेशोंसे पीड़ित होकर आपकी शरणमें आयी है । इसकी दशा उस

नावकी-सी हो रही है, जिसके डूबनेका समय अत्यन्त निकट हो ॥ १८ ॥

युगान्तसदृशै रूपैः शैलोच्चलितबन्धना ।
जलोत्पीडाकुला स्वेदं धारयन्ती मुहुर्मुहुः ॥ १९ ॥

'उन राजाओंके रूप प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी हैं। उनसे पीड़ित होनेके कारण इस पृथ्वीके पर्वतरूपी बन्धन ढीले पड़ने लगे हैं अर्थात् इस नौकारूपिणी पृथ्वीमें जो कीलें ठुकी हुई थीं, वे अब उखड़ने लगी हैं; अतः यह रसातलकी जलराशिमे डूबनेकी आशङ्कासे व्याकुल हो उठी है और इसके शरीरसे बारंबार पसीना आ रहा है ॥ १९ ॥

क्षत्रियाणां वपुर्भिश्च तेजसा च बलेन च ।
नृणां च राष्ट्रैर्विस्तीर्णैः श्राम्यतीव वसुन्धरा ॥ २० ॥

'क्षत्रियोंके शरीर, तेज और बलसे तथा मनुष्योंके दूरतक फैले हुए राज्योंसे यह पृथ्वी थकती-सी जा रही है ॥ २० ॥

पुरे पुरे नरपतिः कोटिसंख्यैर्बलैर्वृतः ।
राष्ट्रे राष्ट्रे च बहवो ग्रामाः शतसहस्रशः ॥ २१ ॥

'नगर-नगरमें वहाँका नरेश एक-एक करोड़ सैनिकोंसे सम्पन्न है तथा प्रत्येक राज्यमे कई लाख ग्राम हैं ॥ २१ ॥

भूमिपानां सहस्रैश्च तेषां च बलिनां बलैः ।
ग्रामायुताढ्यै राष्ट्रैश्च भूमिर्निर्विवराकृता ॥ २२ ॥

'सहस्रों भूपालों, उन बलवान् भूपालोंकी सेनाओं तथा दस-दस हजार गाँवोंसे युक्त उनके राष्ट्रोंसे यह भूमि इतनी भर गयी है कि कहीं थोड़ी-सी भी जगह खाली नहीं है ॥ २२ ॥

सेयं निरामयं कृत्वा निश्चेष्टा कालमग्रतः ।
प्राप्ता ममालयं विष्णो भवांश्चास्याः परा गतिः ॥ २३ ॥

'विष्णुदेव ! यह पृथ्वी निश्चेष्ट होकर निरामय कालको आगे करके मेरे निवासस्थानमें आयी थी। अब आप इसकी परम गति हैं ॥ २३ ॥

कर्मभूमिर्मनुष्याणां भूमिरेषा व्यथां गता ।
यथा न सीदेत् तत् कार्यं जगत्येषा हि शाश्वती ॥ २४ ॥

'जगत्‌की आधारभूता यह सदा रहनेवाली भूमि, जो मनुष्योंकी कर्मभूमि है, बड़ा कष्ट पा रही है। यह अधिक भारके कारण दबकर बिखर न जाय, ऐसा कोई उपाय करना चाहिये ॥ २४ ॥

अस्या हि पीडने दोषो महान् स्यान्मधुसूदन ।
क्रियालोपश्च लोकानां पीडितं च जगद् भवेत् ॥ २५ ॥

'मधुसूदन ! इसके पीड़ित होनेपर महान् दोष प्राप्त हो सकता है। सब लोगोंकी सारी क्रियाएँ लुप्त हो जायँगी और सारा जगत् पीड़ित होने लगेगा ॥ २५ ॥

श्राम्यते व्यक्तमेवेयं पार्थिवौघप्रपीडिता ।
सहजां या क्षमां त्यक्त्वा चलत्वमचला गता ॥ २६ ॥

'निश्चय ही यह राजाओंके भारी सैन्यसमुदायसे पीड़ित होकर थकती चली जा रही है। यह बात इसीसे स्पष्ट है कि यह अचला भूमि अपनी स्वाभाविक क्षमाको त्यागकर विचलित हो उठी है ॥ २६ ॥

तदस्याः श्रुतवन्तः स्म तच्चापि भवता श्रुतम् ।
भारावतरणार्थं हि मन्त्रयाम सह त्वया ॥ २७ ॥

'हमने इसीसे इसकी सारी बातें सुनी है और आपने भी उन्हें सुन लिया, अतः हम इसका भार दूर करनेके लिये आपके साथ मन्त्रणा (विचार) करना चाहते हैं ॥ २७ ॥

सत्पथे हि स्थिताः सर्वे राजानो राष्ट्रवर्धनाः ।
नराणां च त्रयो वर्णा ब्राह्मणाननुयायिनः ॥ २८ ॥

'भूतलके समस्त राजा सन्मार्गमें स्थित हो अपने राष्ट्रोंकी वृद्धि कर रहे हैं। मनुष्योंके क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण ब्राह्मणोंके अनुगामी हैं ॥ २८ ॥

सर्वं सत्यपरं वाक्यं वर्णा धर्मपरास्तथा ।
सर्वे वेदपरा विप्राः सर्वे विप्रपरा नराः ॥ २९ ॥

'मनुष्योंकी सारी बातें सत्यके ही आश्रित हैं। सभी वर्ण अपने-अपने धर्ममें तत्पर हैं। समस्त ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्यायमे लगे हुए हैं तथा सभी मनुष्य ब्राह्मणोंकी सेवामें संलग्न रहते है ॥ २९ ॥

एवं जगति वर्तन्ते मनुष्या धर्मकारणात् ।
यथा धर्मवधो न स्यात् तथा मन्त्रः प्रवर्त्यताम् ॥ ३० ॥

'इस प्रकार संसारके सभी मानव धर्मपूर्वक बर्ताव करते हैं। अतः ऐसी कोई मन्त्रणा की जाय, जिससे पृथ्वीका भार तो कम हो जाय, परंतु धर्मको हानि न पहुँचे ॥ ३० ॥

सतां गतिरियं नान्या धर्मश्चास्याः सुसाधनम् ।
राज्ञां चैव वधः कार्यो धरण्या भारनिर्णये ॥ ३१ ॥

'यही सत्पुरुषोंकी गति है, दूसरी नहीं और धर्म ही इसका उत्तम साधन है। इस पृथ्वीका भार दूर करनेके लिये राजाओंका वध आवश्यक कार्य है ॥ ३१ ॥

तदागच्छ महाभाग सह वै मन्त्रकारणात् ।
व्रजामो मेरुशिखरं पुरस्कृत्य वसुंधराम् ॥ ३२ ॥

'अतः महाभाग ! आइये, हम सब लोग इस विषयपर एक साथ विचार करनेके लिये पृथ्वीको आगे करके मेरु पर्वतके शिखरपर चलें' ॥ ३२ ॥

एतावदुक्त्वा राजेन्द्र ब्रह्मा लोकपितामहः ।

पृथिव्या सह विश्वात्मा विरराम महाद्युतिः ॥ ३३ ॥

महाराज जनमेजय ! सम्पूर्ण विश्वके आत्मा महातेजस्वी लोकपितामह ब्रह्मा, जो पृथ्वीके साथ आये थे, भगवान्‌से इतनी बात कहकर चुप हो गये ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि भारावतरणे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें (पृथ्वी-) भारावतरणविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् विष्णु तथा सब देवताओंका मेरुपर्वतकी दिव्य सभामें उपस्थित होना और वहाँ पृथ्वीका भगवान्‌से भार उतारनेके लिये प्रार्थना करना

वैशम्पायन उवाच

बाढमित्येव सह तैर्दुर्दिनाम्भोदनिःस्वनः ।
प्रतस्थे दुर्दिनाकारः सदुर्दिन इवाचलः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् विष्णु उन सबके साथ वहाँसे चल दिये । उनकी वाणी वर्षाकालके मेघकी भाँति गम्भीर थी, उनका श्रीविग्रह मेघके समान श्याम था तथा वे मेघयुक्त पर्वतके समान जान पड़ते थे ॥ १ ॥

समुक्तामणिविद्योतं सचन्द्राम्भोदवर्चसम् ।
सजटामण्डलं कृत्स्नं स बिभ्रच्छ्रीधरो हरिः॥ २ ॥

उनका जटामण्डलमण्डित उदरभाग मुक्तामणियोंकी मालासे उद्दीप्त होकर चन्द्रमाकी प्रभासे युक्त मेघके समान कान्ति धारण करता था । उस उदरको धारण करनेवाले भगवान् श्रीहरि अपूर्व शोभासे सम्पन्न दिखायी देते थे ॥२॥

स चास्योरसि विस्तीर्णे रोमाञ्चोद्गतराजिमान् ।
श्रीवत्सो राजते श्रीमांस्तनद्वयमुखाञ्चितः ॥ ३ ॥

उनके विस्तृत वक्षःस्थलमें उठी हुई रोमावलियोंसे युक्त शोभाशाली श्रीवत्स दोनो स्तनोंके मुखतक फैलकर उद्भासित हो रहा था ॥ ३ ॥

पीते वसानो वसने लोकानां गुरुरव्ययः ।
हरिः सोऽभवदालक्ष्यः स संध्याभ्र इवाचलः॥ ४ ॥

दो पीत वस्त्र धारण किये सम्पूर्ण जगत्‌के गुरु अविनाशी भगवान् विष्णु संध्याकालिक मेघोंसे युक्त पर्वतके समान मनोहर दिखायी देते थे ॥ ४ ॥

तं व्रजन्तं सुपर्णेन पद्मयोनिगतानुगम् ।
अनुजग्मुः सुराः सर्वे तद्गतासक्तचक्षुषः ॥ ५ ॥

ब्रह्माजीके पीछे-पीछे गरुड़पर बैठकर यात्रा करते हुए उन भगवान् नारायणका सभी देवता अनुसरण कर रहे थे । उन सबके नेत्र उन्हींकी ओर लगे हुए थे ॥ ५ ॥

नातिदीर्घेण कालेन सम्प्राप्ता रत्नपर्वतम् ।
ददृशुर्देवतास्तत्र तां सभां कामरूपिणीम् ॥ ६ ॥

थोड़े ही समयमें सब देवता रत्नमय मेरु पर्वतपर आ पहुँचे । वहाँ उन्होंने ब्रह्माजीकी उस सभाको देखा, जो इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली थी ॥ ६ ॥

मेरोः शिखरविन्यस्तां संयुक्तां सूर्यवर्चसा ।
काञ्चनस्तम्भरचितां वज्रसंधानतोरणाम् ॥ ७ ॥

मेरु पर्वतके शिखरपर स्थापित हुई वह दिव्य सभा सूर्यके समान तेजसे सम्पन्न थी । उसमें सोनेके खंभे लगे थे तथा उसके फाटकमें रत्न जड़े हुए थे ॥ ७ ॥

मनोनिर्माणचित्राढ्यां विमानशतमालिनीम् ।
रत्नजालान्तरवतीं कामगां रत्नभूषिताम् ॥ ८ ॥

मानसिक संकल्पके अनुसार स्वतः निर्मित हुए विचित्र चित्र उसकी शोभा बढ़ाते थे । सैकड़ों विमानोंकी पंक्तियाँ वहाँ विराजमान थीं । उसमें रत्नोंके बने झरोखे लगे थे । वह इच्छानुसार विचरण करनेवाली सभा नाना प्रकारके दिव्य रत्नोंसे सजी हुई थी ॥ ८ ॥

कल्प्तरत्नसमाकीर्णां सर्वर्तुकुसुमोत्कटाम् ।
देवमायाधरां दिव्यां विहितां विश्वकर्मणा ॥ ९ ॥

उसमें बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे । सभी ऋतुओंके फूलोंसे वह व्याप्त थी । उस दिव्य सभाका निर्माण साक्षात् विश्वकर्माने किया था । वह देवताओंकी माया धारण करनेवाली थी ॥ ९ ॥

तां हृष्टमनसः सर्वे यथास्थानं यथाविधि ।
यथानिदेशं त्रिदशा विविशुस्ते सभां शुभाम् ॥ १० ॥

समस्त देवता ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक उस कल्याण-मयी सभामें प्रविष्ट हुए और यथायोग्य स्थानपर विधिपूर्वक बैठे ॥ १० ॥

ते निषेदुर्यथोक्तेषु विमानेष्वासनेषु च ।
भद्रासनेषु पीठेषु कुथास्वास्तरणेषु च ॥ ११ ॥

वे वहाँ योग्यतानुसार बताये हुए विमानों, आसनों, भद्रासनों, पीठों, कालीनों तथा दूसरे-दूसरे बिछौनोंपर विराजमान हुए ॥ ११ ॥

ततः प्रभञ्जनो वायुर्ब्रह्मणा साधु चोदितः।
मा शब्दमिति सर्वत्र प्रचक्रामाथ तां सभाम् ॥ १२ ॥

तब ब्रह्माजीके भलीभाँति आज्ञा देनेपर अपने वेगसे बड़े-बड़े वृक्षोंको तोड़ देनेवाले वायुदेव उठे और 'कोई एक शब्द भी मुँहसे न निकाले। सब लोग मौन रहें।' ऐसा कहते हुए सारी सभामें सब ओर घूम आये॥ १२ ॥

निःशब्दस्तिमिते तस्मिन् समाजे त्रिदिवौकसाम्।
बभाषे धरणी वाक्यं खेदात् करुणभाषिणी ॥ १३ ॥

जब देवताओंका वह समुदाय भलीभाँति नीरव तथा निस्तब्ध हो गया, तब वहाँ करुणाजनक वचन बोलनेवाली पृथ्वीने दुःखपूर्वक यह बात कही ॥ १३ ॥

धरण्युवाच

त्वया धार्या त्वहं देव त्वया वै धार्यते जगत्।
त्वं धारयसि भूतानि भुवनानि बिभर्षि च ॥ १४ ॥

पृथ्वी बोली—देव! (मैं रसातलमें धसी जा रही हूँ अतः) आप मुझे धारण करें; क्योंकि आपके आधारपर ही यह सम्पूर्ण जगत् टिका हुआ है। आप ही समस्त भूतोंको धारण और सभी भुवनोंका भरण-पोषण करते हैं॥ १४ ॥

यत् त्वया धार्यते किञ्चित् तेजसा च बलेन च।
ततस्तव प्रसादेन मया यत्नाच्च धार्यते ॥ १५ ॥

आप अपने ही तेज और बलसे जो कुछ भी धारण करते हैं, उसीको आपके प्रसादसे मैं भी यत्नपूर्वक धारण करती हूँ ॥ १५ ॥

त्वया धृतं धारयामि नाधृतं धारयाम्यहम्।
न हि तद् विद्यते भूतं यत् त्वया नानुधार्यते ॥ १६ ॥

आपके धारण किये हुएको ही मैं धारण करती हूँ। जिसे आपने धारण न कर रखा हो, ऐसी किसी वस्तुको मैं धारण नहीं करती। ऐसा कोई भूत नहीं है, जिसे आप निरन्तर धारण न करते हों ॥ १६ ॥

त्वमेव कुरुषे देव नारायण युगे युगे।
मम भारावतरणं जगतो हितकाम्यया ॥ १७ ॥

देव! नारायण! आप ही प्रत्येक युगमें जगत्के हितकी कामनासे मेरा भार उतारते हैं ॥ १७ ॥

तवैव तेजसाऽऽक्रान्तां रसातलतलं गताम्।
त्रायस्व मां सुरश्रेष्ठ त्वामेव शरणं गताम् ॥ १८ ॥

सुरश्रेष्ठ! आपहीके तेजसे आक्रान्त होकर मैं रसातलको जा पहुँची हूँ और अपने उद्धारके लिये आपकी ही शरणमें आयी हूँ। आप मेरी रक्षा करें ॥ १८ ॥

दानवैः पीड्यमानाहं राक्षसैश्च दुरात्मभिः।
त्वामेव शरणं नित्यमुपयास्ये सनातनम् ॥ १९ ॥

दानवों तथा दुरात्मा राक्षसोंसे पीडित होकर मैं सदा आप सनातन पुरुषकी ही शरणमें आती हूँ और आती रहूँगी ॥ १९ ॥

तावन्मेऽस्ति भयं भूयो यावन्न त्वां ककुद्मिनम्।
शरणं यामि मनसा शतशो ह्युपलक्षये ॥ २० ॥

मुझे तभीतक अधिक भय रहता है, जबतक कि मैं अपना भार धारण करनेवाले आप परमेश्वरकी मनसे शरण नहीं लेती हूँ। इस बातको मैं सैकड़ों बार देख चुकी हूँ ॥ २० ॥

अहमादौ पुराणस्य संक्षिप्ता पद्मयोनिना।
मां च बद्ध्वा कृतौ पूर्वं मृन्मयौ द्वौ महासुरौ ॥ २१ ॥

पुरातन युगके प्रारम्भकालमें कमलयोनि ब्रह्माजीने मुझे जलके ऊपर स्थापित किया था और मेरी मृत्तिकाको मुट्ठीमें बाँधकर उसके द्वारा पहले दो बड़े-बड़े असुरोंकी मूर्तियाँ बनायीं ॥ २१ ॥

कर्णस्रोतोद्भवौ तौ हि विष्णोरस्य महात्मनः।
महार्णवे प्रस्वपतः काष्ठकुड्यसमौ स्थितौ ॥ २२ ॥

वे दोनों पहले-पहल महासागरमें सोते हुए इन महात्मा भगवान् विष्णुके कानोंकी मैलसे उत्पन्न हुए थे और काठ एवं दीवारके समान अचेतन अवस्थामें स्थित थे (इन्हींकी आकृतियोंको भगवान्ने मिट्टीसे सँवारा था) ॥ २२ ॥

तौ विवेश स्वयं वायुर्ब्रह्मणा साधु चोदितः।
दिवं प्रच्छादयन्तौ तु ववृधाते महासुरौ ॥ २३ ॥

फिर ब्रह्माजीकी उत्तम प्रेरणासे स्वयं वायुदेवने उनके भीतर प्रवेश किया। इसके बाद वे दोनों महान् असुर आकाशको आच्छादित करते हुए बढ़ने लगे ॥ २३ ॥

वायुप्राणौ तु तौ गृह्य ब्रह्मा पर्यमृशच्छनैः।
एकं मृदुतरं मेने कठिनं वेद चापरम् ॥ २४ ॥

वायुरूपी प्राणसे युक्त हुए उन दोनों असुरोंको गोदमें लेकर ब्रह्माजीने उनके अङ्गोंपर धीरे-धीरे हाथ फेरा। उनमेंसे एकका शरीर तो उन्हें अत्यन्त कोमल प्रतीत हुआ और दूसरेका कठोर ॥ २४ ॥

नामनी तु तयोश्चक्रे स विभुः सलिलोद्भवः।
मृदुस्त्वयं मधुर्नाम कठिनः कैटभोऽभवत् ॥ २५ ॥

तब जलजजन्मा भगवान् ब्रह्माने उन दोनोंका नामकरण-संस्कार किया और कहा—यह जो मृदु (कोमल) है, इसका नाम 'मधु' होगा और जो कठोर है, वह 'कैटभ' कहलायेगा ॥ २५ ॥

तौ दैत्यौ कृतनामानौ चेरतुर्बलदर्पितौ।
सर्वमेकार्णवं लोकं योद्धुकामौ सुदुर्जयौ ॥ २६ ॥

नाम निश्चित हो जानेपर वे दोनों अत्यन्त दुर्जय दैत्य बलके घमंडसे मतवाले होकर युद्धकी इच्छासे समस्त एकार्णव जगत्‌में विचरने लगे ॥ २६ ॥

तावागतौ समालोक्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।
एकार्णवाम्बुनिचये तत्रैवान्तरधीयत ॥ २७ ॥

उन दोनोंको युद्धके लिये आया देख लोकपितामह ब्रह्मा वहीं एकार्णवकी जलराशिमें अदृश्य हो गये ॥ २७ ॥

स पद्मे पद्मनाभस्य नाभिमध्यात् समुत्थिते ।
रोचयामास वसतिं गुह्यां ब्रह्मा चतुर्मुखः ॥ २८ ॥

उन चतुर्मुख ब्रह्माने भगवान् पद्मनाभकी नाभिके मध्यभागसे प्रकट हुए कमलपर ही गुप्तरूपसे निवास करना पसंद किया ॥ २८ ॥

तावुभौ जलगर्भस्थौ नारायणपितामहौ ।
बहून् वर्षगणानप्सु शयानौ न चकम्पतुः ॥ २९ ॥

वे दोनों भगवान् नारायण और ब्रह्मा जलके भीतर स्थित हो बहुत वर्षोंतक सोते रहे । कभी हिलेतक नहीं ॥ २९ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य तावुभौ मधुकैटभौ ।
आजग्मतुस्तमुद्देशं यत्र ब्रह्मा व्यवस्थितः ॥ ३० ॥

तदनन्तर दीर्घकाल व्यतीत होनेके पश्चात् वे दोनों भाई मधु और कैटभ उस स्थानपर आये, जहाँ ब्रह्माजी विराजमान थे ॥ ३० ॥

दृष्ट्वा तावसुरौ घोरौ महाकायौ दुरासदौ ।
ब्रह्मणा ताडितो विष्णुः पद्मनालेन वै तदा ।
उत्पपाताथ शयनात् पद्मनाभो महाद्युतिः ॥ ३१ ॥

उन दुर्जय, विशालकाय एवं भयंकर असुरोंको देखकर ब्रह्माजीने कमलकी नालसे भगवान् विष्णुको ठोंका (उन्हें जग जानेके लिये संकेत किया) । तब महातेजस्वी भगवान् पद्मनाभ शय्यासे उछलकर खड़े हो गये ॥ ३१ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं तयोस्तस्य च वै तदा ।
एकार्णवे तदा लोके त्रैलोक्ये जलतां गते ॥ ३२ ॥

उस एकार्णव जगत्‌में, जब कि तीनों लोक जलमें मिल गये थे, उन दोनों असुरों तथा भगवान् विष्णुमें घोर युद्ध हुआ ॥ ३२ ॥

तदाभूत् तुमुलं युद्धं वर्षसंख्या सहस्रशः ।
न च तावसुरौ युद्धे तदा श्रममवापतुः ॥ ३३ ॥

उस समय सहस्रों वर्षोंतक वह तुमुल युद्ध चलता रहा, किंतु वे दोनों असुर युद्धमें थके नहीं ॥ ३३ ॥

अथातो दीर्घकालस्य तौ दैत्यौ युद्धदुर्मदौ ।
ऊचतुः प्रीतमनसौ देवं नारायणं हरिम् ॥ ३४ ॥

दीर्घकालतक युद्ध करके वे दोनों रणदुर्मद दैत्य मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और भगवान् नारायण हरिसे इस प्रकार बोले— ॥ ३४ ॥

प्रीतौ स्वस्तव युद्धेन श्लाघ्यस्त्वं मृत्युरावयोः ।
आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता ॥ ३५ ॥

'देव ! तुम्हारे युद्धसे हम दोनों भाई बहुत प्रसन्न हैं । तुम हमारे लिये स्पृहणीय मृत्यु हो; किंतु हम दोनोंको वहीं मारो, जहाँकी पृथ्वी जलमें डूबी हुई न हो ॥ ३५ ॥

हतौ च तव पुत्रत्वं प्राप्नुयावः सुरोत्तम ।
यो ह्यावां युधि निर्जेता तस्यावां विहितौ सुतौ॥ ३६ ॥

'सुरश्रेष्ठ ! मारे जानेपर हम दोनों आपके पुत्रभावको प्राप्त होंगे; क्योंकि ब्रह्माजीने विधान बना दिया है कि जो हमें युद्धमें जीत ले, हम उसीके पुत्र हों' ॥ ३६ ॥

स तु गृह्य मृधे दोर्भ्यां दैत्यौ तावभ्यपीडयत् ।
जग्मतुर्निधनं चापि तावुभौ मधुकैटभौ ॥ ३७ ॥

उनकी बात सुनकर भगवान् विष्णुने उस युद्धस्थलमें उन दैत्योंको दोनों हाथोंसे पकड़कर दबाया । इससे मधु और कैटभ दोनोंकी मृत्यु हो गयी ॥ ३७ ॥

तौ हतौ चाप्लुतौ तोये वपुर्भ्यामेकतां गतौ ।
मेदो मुमुचतुर्दैत्यौ मथ्यमानौ जलोर्मिभिः ॥ ३८ ॥
मेदसा तज्जलं व्याप्तं ताभ्यामन्तर्दधे ततः ।
नारायणश्च भगवानसृजत् स पुनः प्रजाः ॥ ३९ ॥

मरनेपर उन दोनोंकी लाशें जलमें डूबकर एक हो गयीं । फिर जलकी लहरोंसे मथित होकर उन दोनों दैत्योंने जो मेद छोड़ा, उससे आच्छादित होकर वहाँका जल अदृश्य हो गया । उसीपर भगवान् नारायणने नाना प्रकारके जीवोंकी सृष्टि की ॥ ३८-३९ ॥

दैत्ययोर्मेदसाच्छन्ना मेदिनीति ततः स्मृता ।
प्रभावात् पद्मनाभस्य शाश्वती जगती कृता ॥ ४० ॥

उन दैत्योंके मेदसे सारी पृथ्वी ढक गयी, इसलिये 'मेदिनी' नामसे विख्यात हुई । भगवान् पद्मनाभके प्रभावसे यह जगत्‌के लिये शाश्वत आधार बन गयी ॥ ४० ॥

वराहेण पुरा भूत्वा मार्कण्डेयस्य पश्यतः ।
विषाणेनाहमेकेन तोयमध्यात् समुद्धृता ॥ ४१ ॥

पूर्वकालमें वाराहरूप धारण करके इन्हीं भगवान् नारायणने मार्कण्डेयजीके देखते-देखते मुझे एक दाढ़पर उठाकर पानीके भीतरसे बाहर निकाला था ॥ ४१ ॥

हृताहं क्रमता भूयस्तदा युष्माकमग्रतः ।
बलेः सकाशाद् दैत्यस्य विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ४२ ॥

फिर उस दिन आपलोगोंके सामने ही प्रभावशाली भगवान् विष्णुने अपने पग बढ़ाकर त्रिलोकीको नापते हुए मुझे दैत्यराज बलिके पाससे छीन लिया ॥ ४२ ॥

साम्प्रतं खिद्यमानाहमेनमेव गदाधरम्।
अनाथा जगतो नाथं शरण्यं शरणं गता ॥ ४३ ॥

इस समय भी अत्यन्त कष्टमें पड़कर अनाथ-सी हो रही हूँ और इन्हीं शरणागतवत्सल जगन्नाथ गदाधरकी शरणमें आयी हूँ ॥ ४३ ॥

अग्निः सुवर्णस्य गुरुर्गवां सूर्यो गुरुः स्मृतः।
नक्षत्राणां गुरुः सोमो मम नारायणो गुरुः ॥ ४४ ॥

अग्नि सुवर्णका गुरु है। सूर्य समस्त किरणोंके गुरु माने गये हैं। नक्षत्रोंके गुरु चन्द्रमा है, परंतु मेरे गुरु ये भगवान् नारायण ही हैं ॥ ४४ ॥

यदहं धारयाम्येका जगत् स्थावरजङ्गमम्।
मया धृतं धारयते सर्वमेतद् गदाधरः ॥ ४५ ॥

अकेली मैं जिस चराचर जगत्को धारण करती हूँ, मेरे द्वारा धारण किये गये इस समस्त जगत्को (तथा मुझे भी) भगवान् गदाधर ही धारण करते हैं ॥ ४५ ॥

जामदग्न्येन रामेण भारावतरणेप्सया।
रोषात् त्रिःसप्तकृत्वोऽहं क्षत्रियैर्विप्रयोजिता ॥ ४६ ॥

इन्होंने ही जमदग्निनन्दन परशुरामके रूपमें प्रकट होकर मेरा भार उतारनेकी इच्छासे रोषपूर्वक मुझे इक्कीस बार क्षत्रियोंसे रहित किया था ॥ ४६ ॥

सास्मि वेद्यां समारोप्य तर्पिता नृपशोणितैः।
भार्गवेण पितुः श्राद्धे कश्यपाय निवेदिता ॥ ४७ ॥

मैं वही हूँ, जिसे रणयज्ञकी वेदीमें प्रतिष्ठित करके भृगुनन्दन परशुरामने राजाओंके रक्तसे तृप्त किया था और पिताके श्राद्धमें महर्षि कश्यपको मेरा दान कर दिया था ॥४७॥

मांसमेदोऽस्थिदुर्गन्धा दिग्धा क्षत्रियशोणितैः।
रजस्वलेव युवतिः कश्यपं समुपस्थिता ॥ ४८ ॥

मैं क्षत्रियोंके रक्तसे भीगी हुई थी। मेरे शरीरसे (मरे हुए राजाओंके) मांस, मेद और अस्थियोंकी दुर्गन्ध फैल रही थी। उसी दशामें रजस्वला युवतीकी भाँति मैं महर्षि कश्यपकी सेवामें उपस्थित हुई ॥ ४८ ॥

स मां ब्रह्मर्षिरप्याह किमुर्वि त्वमवाङ्मुखी।
वीरपत्नीव्रतमिदं धारयन्ती विषीदसि ॥ ४९ ॥

उस समय ब्रह्मर्षि कश्यपने मुझसे कहा—'वसुधे! क्या कारण है, तू नीचे मुख किये वीर-पत्नीके इस व्रतको धारण करके विषादमें डूबी हुई है?' ॥ ४९ ॥

साहं विज्ञापितवती कश्यपं लोकभावनम्।
पतयो मे हता ब्रह्मन् भार्गवेण महात्मना ॥ ५० ॥

उस समय मैंने लोकपिता कश्यपजीको यह सूचित किया—'ब्रह्मन्! महात्मा परशुरामने मेरे पतियोंको मार डाला है ॥५०॥

साहं विहीना विक्रान्तैः क्षत्रियैः शस्त्रवृत्तिभिः।
विधवा शून्यनगरा न धारयितुमुत्सहे ॥ ५१ ॥

'शस्त्रग्रहण ही जिनकी जीविकाका साधन था, उन पराक्रमी क्षत्रियोंसे हीन होकर मैं विधवा हो गयी हूँ। मेरे सारे नगर राजाओंसे शून्य हो गये हैं, अतः अब मुझमें जीवित रहनेका उत्साह नहीं रह गया है ॥ ५१ ॥

तन्मह्यं दीयतां भर्ता भगवंस्त्वत्समो नृपः।
रक्षेत् सग्रामनगरां यो मां सागरमालिनीम् ॥ ५२ ॥

'अतः भगवन्! मुझे ऐसा कोई नरेश पति दीजिये, जो आपके समान ही शक्तिशाली हो और समुद्रसे घिरी हुई मेरी ग्राम और नगरोंसहित रक्षा कर सके' ॥ ५२ ॥

स श्रुत्वा भगवान् वाक्यं बाढमित्यब्रवीत् प्रभुः।
ततो मां मानवेन्द्राय मनवे स प्रदत्तवान् ॥ ५३ ॥

प्रभावशाली भगवान् कश्यपने मेरी यह बात सुनकर कहा 'बहुत अच्छा'। फिर उन्होंने मुझे राजा मनुके हाथमें दे दिया ॥ ५३ ॥

सा मनुप्रभवं दिव्यं प्राप्येक्ष्वाकुकुलं नृपम्।
विपुलेनास्मि कालेन पार्थिवात् पार्थिवं गता ॥ ५४ ॥

इस प्रकार मैं वैवस्वत मनुसे प्रकट हुए दिव्य इक्ष्वाकु-कुलमें आ पहुँची। उस कुलके सभी लोग नरेश थे। वहाँ दीर्घकालतक एक राजासे दूसरे राजाके अधिकारमें आती रही ॥ ५४ ॥

एवं दत्तास्मि मनवे मानवेन्द्राय धीमते।
भुक्ता राजसहस्रैश्च महर्षिकुलसम्मितैः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार मैं बुद्धिमान् राजा मनुके हाथमें सौंपी गयी और महर्षिसमुदायके तुल्य तेजस्वी सहस्रों राजाओंके उपभोगमें आयी ॥ ५५ ॥

बहवः क्षत्रियाः शूरा मां जित्वा दिवमाश्रिताः।
ते च कालवशं प्राप्य मय्येव प्रलयं गताः ॥ ५६ ॥

बहुत-से शूरवीर क्षत्रिय मुझे जीतकर स्वर्गलोकको चले गये। वे कालके अधीन होकर मुझमें ही लीन हुए थे ॥५६॥

मत्कृते विग्रहा लोके वृत्ता वर्तन्त एव च।
क्षत्रियाणां बलवतां संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ५७ ॥

जगत्में मेरे ही लिये युद्धस्थलोंमें कभी पीठ न दिखानेवाले बलवान् क्षत्रियोंके परस्पर युद्ध हुए हैं और हो रहे हैं ॥ ५७ ॥

एतद् युष्मत्प्रवृत्तेन दैवेन परिपाल्यते।
जगद्धितार्थं कुरुत राज्ञां हेतुं रणक्षये ॥ ५८ ॥

आपलोगोंके द्वारा परिचालित दैवके द्वारा ही इस जगत्का परिपालन होता है, अतः आप जगत्के हितके लिये

ऐसा कोई उपाय कीजिये, जिससे रणभूमिमें राजाओंका संहार हो॥ ५८ ॥

यद्यस्ति मयि कारुण्यं भारशैथिल्यकारणात्।
एकश्चक्रधरः श्रीमानभयं मे प्रयच्छतु ॥ ५९ ॥

यदि मुझपर भगवान्‌की दया हो तो यह एकमात्र चक्रधारी श्रीमान् भगवान् विष्णु मेरा भार शिथिल करनेके लिये मुझे अभयदान दें ॥ ५९ ॥

यमहं भारसंतप्ता सम्प्राप्ता शरणार्थिनी।
भारो यद्यवरोप्तव्यो विष्णुरेष ब्रवीतु माम् ॥ ६० ॥

मैं भारसे संतप्त होकर शरण खोजती हुई जिनकी शरणमें आयी हूँ, वे ही ये भगवान् विष्णु यदि मेरा भार उतारना उचित समझें तो इसके लिये मुझे आश्वासन दें ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि धरणीवाक्ये द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें पृथ्वीका वाक्यविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी आज्ञासे देवताओंका अंशावतरण

वैशम्पायन उवाच

ते श्रुत्वा पृथिवीवाक्यं सर्व एव दिवौकसः।
तदर्थकृत्यं संचिन्त्य पितामहमथाब्रुवन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पृथ्वीकी यह बात सुनकर वे सभी देवता उसके प्रयोजनको सिद्ध करनेवाले कर्तव्यका चिन्तन करते हुए ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

भगवन् ह्रियतामस्या धरण्या भारसंततिः।
शरीरकर्ता लोकानां त्वं हि लोकस्य चेश्वरः ॥ २ ॥

'भगवन्! आप इस पृथ्वीके बढ़े हुए भारको उतारिये; क्योंकि आप ही सब लोगोंके शरीरकी सृष्टि करनेवाले तथा सम्पूर्ण जगत्‌के ईश्वर हैं ॥ २ ॥

यत् कर्तव्यं महेन्द्रेण यमेन वरुणेन च।
यद् वा कार्यं धनेशेन स्वयं नारायणेन वा ॥ ३ ॥

'इस विषयमें देवराज इन्द्र, वरुण और यमको क्या करना चाहिये? धनाध्यक्ष कुबेर अथवा साक्षात् भगवान् नारायणका भी क्या कर्तव्य है? ॥ ३ ॥

यद् वा चन्द्रमसा कार्यं भास्करेणानिलेन वा।
आदित्यैर्वसुभिर्वापि रुद्रैर्वा लोकभावनैः ॥ ४ ॥

'चन्द्रमा, सूर्य, वायु, बारह आदित्य, आठ वसु तथा लोकोंका कल्याण करनेवाले ग्यारह रुद्रोंको भी इस विषयमे क्या करना चाहिये? ॥ ४ ॥

अश्विभ्यां देववैद्याभ्यां साध्यैर्वा त्रिदशालयैः।
बृहस्पत्युशनोभ्यां वा कालेन कलिनापि वा ॥ ५ ॥

'दोनों देववैद्य अश्विनीकुमार, स्वर्गवासी साध्यगण, बृहस्पति, शुक्राचार्य, काल तथा कलिका भी इस समय क्या कर्तव्य है? ॥ ५ ॥

महेश्वरेण वा ब्रह्मन् विशाखेन गुहेन वा।
यक्षराक्षसगन्धर्वैश्चारणैर्वा महोरगैः ॥ ६ ॥

'ब्रह्मन्! भगवान् महेश्वर, विशाख, स्वामिकार्तिकेय, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, चारण तथा बड़े-बड़े नागोंको भी इस कार्यके सम्बन्धमें क्या करना है? ॥ ६ ॥

पतङ्गैः पर्वतैश्चापि सागरैर्वा महोर्मिभिः।
गङ्गामुखाभिर्दिव्याभिः सरिद्भिर्वा सुरेश्वर ॥ ७ ॥

'सुरेश्वर! पक्षी, पर्वत, बड़ी-बड़ी लहरोंसे युक्त समुद्र तथा गङ्गा आदि दिव्य सरिताएँ भी इस विषयमें क्या कर सकती हैं? ॥ ७ ॥

शीघ्रमाज्ञापय विभो कथमंशः प्रयुज्यताम्।
यदि ते पार्थिवं कार्यं कार्यं पार्थिवविग्रहे ॥ ८ ॥

'प्रभो! शीघ्र आज्ञा दें, हम अपने अंशका प्रयोग किस प्रकार करें? यदि आपको पृथ्वीके हितका कार्य अवश्य करना है तो बताइये, राजाओंमें युद्धकी ज्वाला जगानेके लिये हम सब किस उपायसे काम लें? ॥ ८ ॥

कथमंशावतरणं कुर्मः सर्वे पितामह।
अन्तरिक्षगता ये च पृथिव्यां पार्थिवाश्च ये ॥ ९ ॥
सदस्यानां च विप्राणां पार्थिवानां कुलेषु च।
अयोनिजाश्चैव तनूः सृजामो जगतीतले ॥ १० ॥

'पितामह! हम सब लोग किस प्रकार अंशावतार ग्रहण करें। हममेंसे जो देवता अन्तरिक्षमें रहते हैं तथा जो पृथ्वीपर पार्थिवरूपसे विराजमान हैं, वे सब सदस्य (ऋत्विज) ब्राह्मणों तथा राजाओंके कुलमें अवतीर्ण हों तथा हमलोग भूतलपर अपने अयोनिज शरीरोंकी भी सृष्टि करें' ॥ ९-१० ॥

सुराणामेककार्याणां श्रुत्वैतन्निश्चितं मतम्।
देवैः परिवृतः प्राह वाक्यं लोकपितामहः ॥ ११ ॥

एक कार्यके लिये यत्नशील हुए देवताओंका यह निश्चित मत सुनकर उन देवताओंसे घिरे हुए लोकपितामह ब्रह्माजीने यह बात कही—॥ ११ ॥

रोचते मे सुरश्रेष्ठा युष्माकमपि निश्चयः।
सृजध्वं स्वशरीरांशांस्तेजसाऽऽत्मसमान् भुवि ॥१२॥

'सुरश्रेष्ठगण! तुमलोगोंका जो निश्चय है, वह मुझे भी अच्छा लगता है। तुमलोग भूतलपर अपने ही समान तेजस्वी अपने शरीरके अंशोंको प्रकट करो ॥ १२ ॥

सर्वे एव सुरश्रेष्ठास्तेजोभिरवरोहत।
भावयन्तो भुवं देवीं लब्ध्वा त्रिभुवनश्रियम् ॥ १३ ॥

'श्रेष्ठ देवताओ! तुम सभी लोग अपने-अपने तेजसे अवतार लो और तीनों लोकोंकी लक्ष्मीको पाकर भूदेवीकी रक्षा करते हुए वहाँ रहो ॥ १३ ॥

पार्थिवे भारते वंशे पूर्वमेव विजानता।
पृथिव्यां सम्भ्रममिमं श्रूयतां यन्मया कृतम् ॥१४॥

'मैं पृथ्वीपर आनेवाले इस भयको पहलेसे ही जानता था। अतः भूतलपर स्थित भरतवंशके लिये मैंने जो कुछ (विचार) किया है, उसे सुनो ॥ १४ ॥

समुद्रेऽहं पुरा पूर्वं वेलामासाद्य पश्चिमाम्।
आसं सार्धं तनूजेन कश्यपेन महात्मना ॥ १५ ॥
कथाभिः पूर्ववृत्ताभिर्लोकवेदानुगामिभिः।
इतिवृत्तैश्च बहुभिः पुराणप्रभवैर्गुणैः ॥ १६ ॥

'पहलेकी बात है, मैं पूर्व समुद्रके पश्चिम तटपर अपने पुत्र महात्मा कश्यपके साथ बैठा था। उस समय लोक और वेदका अनुसरण करनेवाली प्राचीन कथाओ तथा बहुत-से उत्तम गुणवाले पौराणिक इतिहासोंकी चर्चाद्वारा मै समय बिता रहा था ॥ १५-१६ ॥

कुर्वतस्तु कथास्तास्ताः समुद्रः सह गङ्गया।
समीपमाजगामाशु युक्तस्तोयदमारुतैः ॥ १७ ॥

'उन-उन कथावार्ताओंको कहते-सुनते हुए मेरे समीप मूर्तिमती गङ्गाके साथ मूर्तिमान् समुद्र शीघ्रतापूर्वक आया। उसके साथ मेघोंकी घटा तथा वायुका भी आगमन हुआ था ॥ १७ ॥

स वीचिविषमां कुर्वन् गतिं वेगतरङ्गिणीम्।
यादोगणविचित्रेण संच्छन्नस्तोयवाससा ॥ १८ ॥

'वह ऊँची-नीची लहरोंके कारण वेग एव तरङ्गोंसे युक्त अपनी गतिको विषम बनाता हुआ आया था। जलजन्तुओंके कारण विचित्र दिखायी देनेवाले जलरूपी वस्त्रसे उसका शरीर ढका हुआ था ॥ १८ ॥

शङ्खमुक्तामलतनुः प्रवालमणिभूषणः।
युक्तश्चन्द्रमसा पूर्णः साभ्रगम्भीरनिःस्वनः ॥ १९ ॥

'उसके शरीरकी कान्ति शङ्ख और मुक्ताओंसे अत्यन्त निर्मल दिखायी देती थी। वह मूँगे और मणियोंके आभूषणों से विभूषित तथा पूर्ण चन्द्रमासे संयुक्त होनेके कारण उद्वेलित हो मेघके समान गम्भीर गर्जना कर रहा था ॥ १९ ॥

स मां परिभवन्नेव स्वां वेलां समतिक्रमन्।
क्लेदयामास चपलैर्लावणैरम्बुविस्रवैः ॥ २० ॥

'उसने मेरा तिरस्कार-सा करते हुए अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन करके अपने चञ्चल एवं नमकीन जलबिन्दुओंसे मुझे भिगो दिया ॥ २० ॥

तं च देशं व्यवसितः समुद्रोऽद्भिर्विमर्दितुम्।
उक्तः संरब्धया वाचा शान्तोऽसीति मया तदा ॥ २१ ॥

'जब समुद्र अपने उमड़े हुए जलसे उस स्थानको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये उद्यत हुआ, तब मैंने क्रोधभरी वाणीमें उससे कहा—'तू शान्त हो जा' ॥ २१ ॥

शान्तोऽसीत्युक्तमात्रस्तु तनुत्वं सागरो गतः।
संहतोर्मितरङ्गौघः स्थितो राजश्रिया ज्वलन् ॥ २२ ॥

''शान्त हो जा' इतना कहते ही समुद्र तनुता (सूक्ष्मता) को प्राप्त हो गया। उसकी ऊर्मि और तरङ्गोंका प्रवाह दब गया और वह राजलक्ष्मीसे प्रकाशित होता हुआ मेरे समीप खड़ा हो गया ॥ २२ ॥

भूयश्चैव मया शप्तः समुद्रः सह गङ्गया।
सकारणां मतिं कृत्वा युष्माकं हितकाम्यया ॥ २३ ॥

'फिर मैंने मन-ही-मन पृथ्वीके भार उतारनेके हेतुका विचार करके तुमलोगोंके हितकी कामनासे गङ्गासहित समुद्र-को पुनः शाप देते हुए कहा ॥ २३ ॥

यस्मात् त्वं राजतुल्येन वपुषा समुपस्थितः।
गच्छार्णव महीपालो राजैव त्वं भविष्यसि ॥ २४ ॥

'समुद्र! तू राजाके समान शरीर धारण करके मेरे निकट आया है, अतः जा, तू इस पृथ्वीका पालन करनेवाला राजा ही होगा ॥ २४ ॥

तत्रापि सहजां लीलां धारयन् स्वेन तेजसा।
भविष्यसि नृणां भर्ता भारतानां कुलोद्वहः ॥ २५ ॥

'वहाँ भी अपनी सहज लीलाको धारण किये अपने तेजसे तू मनुष्योंका भरण-पोषण करनेवाला तथा भरतवंशका भार वहन करनेमें समर्थ होगा ॥ २५ ॥

शान्तोऽसीति मयोक्तस्त्वं यच्चासि तनुतां गतः।
सुतनुर्यशसा लोके शान्तनुस्त्वं भविष्यसि ॥ २६ ॥

'शान्त हो जा' मेरे इतना कहते ही जो तू शान्त होकर तनुता (सूक्ष्मता) को प्राप्त हुआ है, इसलिये तू सुन्दर शरीरसे युक्त एवं यशस्वी होकर संसारमें 'शान्तनु' नामसे विख्यात होगा ॥ २६ ॥

इयमप्यायतापाङ्गी गङ्गा सर्वाङ्गशोभना।
रूपिणी च सरिच्छ्रेष्ठा तत्र त्वामुपयास्यति ॥ २७ ॥

'यह विशाल-लोचना, सर्वाङ्गसुन्दरी, सरिताओंमें श्रेष्ठ मूर्तिमती गङ्गा भी वहाँ तुम्हारी सेवामें उपस्थित होगी ॥२७॥

एवमुक्तस्तु मां क्षुब्धः सोऽभिवीक्ष्यार्णवोऽब्रवीत् ।
मां प्रभो देवदेवानां किमर्थं शप्तवानसि ॥ २८ ॥

'मेरे ऐसा कहनेपर क्षोभमें भरा हुआ समुद्र मेरी ओर देखकर बोला—'देवदेवेश्वर ! आपने मुझे शाप क्यों दिया ? ॥ २८ ॥

अहं तव विधेयात्मा त्वत्कृतस्त्वत्परायणः ।
अशपोऽसदृशैर्वाक्यैरात्मजं मां किमात्मना ॥ २९ ॥

'मेरा यह शरीर तो आपकी आज्ञाका पालक है। आपने ही इसकी रचना की है और यह सदा आपकी सेवामें ही तत्पर रहता है। मैं आपका पुत्र हूँ। आपने स्वयं ही मुझे ऐसे वचनोंद्वारा, जो आपके और मेरे अनुरूप नहीं हैं, शाप कैसे दे दिया ? ॥ २९ ॥

भगवंस्त्वत्प्रसादेन वेगात् पर्वणि वर्धितः ।
यद्यहं चलितो ब्रह्मन् कोऽत्र दोषो ममात्मनः ॥ ३० ॥

'भगवन् ! आपकी ही कृपासे पूर्णिमाके दिन मैं बड़े वेगसे बढ़ जाता हूँ । ब्रह्मन् ! इस सहज नियमसे प्रेरित होकर यदि मैं अपनी मर्यादासे विचलित हो गया तो इसमें मेरा अपना दोष क्या है ? ॥ ३० ॥

क्षिप्ताभिः पवनैरद्भिः स्पृष्टो यद्यसि पर्वणि ।
अत्र मे किं नु भगवन् विद्यते शापकारणम् ॥ ३१ ॥

'भगवन् ! आज पूर्णिमाके दिन प्रबल वायुद्वारा फेंके गये मेरे जलसे यदि आपका स्पर्श हो गया, आप भीग गये तो इसमें मुझे शाप प्राप्त होनेका क्या कारण है ? ॥ ३१ ॥

उद्धतैश्च महावातैः प्रवृद्धैश्च बलाहकैः ।
पर्वणा चेन्दुयुक्तेन त्रिभिः क्षुब्धोऽस्मि कारणैः ॥ ३२ ॥

'उठी हुई प्रचण्ड आँधी, बढ़े हुए महान् मेघ और उगे हुए चन्द्रमासे युक्त पूर्णिमाका पर्व—इन तीन कारणोंसे मैं क्षुब्ध (उद्वेलित) हो उठा था ॥ ३२ ॥

एवं यद्यपराद्धोऽहं कारणैस्त्वत्प्रकल्पितैः ।
क्षन्तुमर्हसि मे ब्रह्मञ्छापोऽयं विनिवर्त्यताम् ॥ ३३ ॥

'ब्रह्मन् ! इस तरह आपके बनाये हुए कारणों (नियमों) से ही क्षुब्ध होकर यदि मैंने अपराध किया है तो आप उसके लिये मुझे क्षमा कर दें और इस शापको लौटा लें ॥

एवं मयि निरालम्बे शापाच्छिथिलतां गते ।
कारुण्यं कुरु देवेश प्रमाणं यद्यवेक्षसे ॥ ३४ ॥

'देवेश्वर ! मुझे दूसरा कोई सहारा देनेवाला नहीं है। मैं शापसे शिथिल हो गया हूँ। यदि आप शरणागतकी रक्षाका प्रतिपादन करनेवाले प्रमाणपर दृष्टि रखते हैं तो मुझपर अवश्य दया करें ॥ ३४ ॥

अस्यास्तु देवगङ्गाया गां गतायास्त्वदाज्ञया ।
मम दोषात् सदोषायाः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ३५ ॥

'यह देवनदी गङ्गा आपकी ही आज्ञासे इस भूतलपर अवतीर्ण हुई है। (इसका कोई दोष नहीं है) इसे मेरे दोषसे ही दोषकी भागिनी होना पड़ा है, अतः आप इसपर कृपा करें ॥ ३५ ॥

तमहं श्लक्ष्णया वाचा महार्णवमथाब्रवम् ।
अकारणज्ञं देवानां त्रस्तं शापानलेन तम् ॥ ३६ ॥

'महासागर देवताओंके भूभार-हरणरूप उद्देश्यको नहीं जानता था; अतः मेरी शापाग्निसे भयभीत हो उठा था। उस समय मैंने मधुर वाणीद्वारा उसे सान्त्वना देते हुए कहा—॥

शान्तिं व्रज न भेतव्यं प्रसन्नोऽस्मि महोदधे ।
शापेऽस्मिन् सरितां नाथ भविष्यं शृणु कारणम् ॥३७॥

'महोदधे ! शान्त हो जाओ। तुम्हें डरना नहीं चाहिये। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। नदीश्वर ! इस शापमें जो भावी कारण (उद्देश्य) है, उसे बताता हूँ, सुनो— ॥ ३७ ॥

त्वं गच्छ भारते वंशे स्वं देहं स्वेन तेजसा ।
आधत्स्व सरितां नाथ त्यक्त्वेमां सागरीं तनुम् ॥ ३८ ॥

'सरिताओंके स्वामी समुद्र ! तुम अपने तेजसे इस सागर-शरीरको छोड़कर अर्थात् योगबलसे अपने-आपको दो रूपोंमें विभक्त करके (एकसे तो यहाँ रह जाओ और दूसरे रूपसे) जाओ और भरतवंशमें अपने शरीरको गर्भमें स्थापित करो ॥

महोदधे महीपालस्तत्र राजश्रिया वृतः ।
पालयंश्चतुरो वर्णान् रंस्यसे सलिलेश्वर ॥ ३९ ॥

'जलके स्वामी महासागर ! उस भरतवंशमें भूपाल बनकर राजलक्ष्मीसे सम्पन्न हो तुम चारों वर्णोंका पालन करते हुए बड़े सुखसे रहोगे ॥ ३९ ॥

इयं च ते सरिच्छ्रेष्ठा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
तत्कालं रमणीयाङ्गी गङ्गा परिचरिष्यति ॥ ४० ॥

'यह जो तुम्हारी प्रिया सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गा है, यह भी उस समय रमणीय अङ्गोंसे सुशोभित परम सुन्दर रूप धारण करके वहाँ तुम्हारी सेवा करेगी ॥ ४० ॥

अनया सह जाह्नव्या मोदमानो ममाऽऽज्ञया ।
इमं सलिलसंक्लेदं विस्मरिष्यसि सागर ॥ ४१ ॥

'सागर ! तुम मेरी आज्ञासे वहाँ इस जाह्नवीके साथ आनन्दपूर्वक रहते हुए मुझे जलसे भिगोनेके कारण मिले हुए इस शापके दुःखको भूल जाओगे ॥ ४१ ॥

त्वरता चैव कर्तव्यं त्वयेदं मम शासनम् ।
प्राजापत्येन विधिना गङ्गया सह सागर ॥ ४२ ॥

'समुद्र ! तुम्हें बहुत शीघ्र मेरी इस आज्ञाका पालन करना चाहिये। वहाँ इस गङ्गाके साथ तुम्हारा प्राजापत्य-विधिसे विवाह होगा ॥ ४२ ॥

वसवः प्रच्युताः स्वर्गात् प्रविष्टाश्च रसातलम्।
तेषामुत्पादनार्थाय त्वं मया विनियोजितः ॥ ४३ ॥

'आठों वसु स्वर्गसे भ्रष्ट होकर रसातलमें जा पहुँचे हैं। उन्हें मनुष्यरूपमें उत्पन्न करनेके लिये मैंने तुम्हें नियुक्त किया है ॥ ४३ ॥

अष्टौ तांस्ताञ्जाह्नवी गर्भानपत्यार्थं दधात्वियम्।
विभावसोस्तुल्यगुणान् सुराणां प्रीतिवर्धनान् ॥ ४४ ॥

'अग्निदेवके समान गुणशाली तथा देवताओंकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले उन आठों वसुओंको संतानरूपसे उत्पन्न करनेके लिये यह गङ्गा तुमसे गर्भ धारण करे ॥४४॥

उत्पाद्य त्वं वसूञ्छीघ्रं कृत्वा कुरुकुलं महत्।
प्रवेक्ष्यसि तनुं त्यक्त्वा पुनः सागर सागरीम् ॥ ४५ ॥

'सागर ! तुम वसुओंको शीघ्र ही जन्म देकर कुरुकुलकी महत्ता बढ़ानेके अनन्तर उस मानवशरीरका त्याग करके पुनः अपने समुद्ररूपमें प्रवेश करोगे ॥ ४५ ॥

एवमेतन्मया पूर्वं हितार्थं वः सुरोत्तमाः।
भविष्यं पश्यता भारं पृथिव्याः पार्थिवात्मकम्॥ ४६ ॥

'सुरश्रेष्ठगण ! इस प्रकार मैंने भविष्यमें होनेवाले पृथ्वीके राजसमूहरूपी भारको देखकर तुम्हारे हितके लिये पहले ही यह कार्य कर दिया है ॥ ४६ ॥

तदेष शान्तनोर्वंशः पृथिव्यां रोपितो मया।
वसवो ये च गङ्गायामुत्पन्नास्त्रिदिवौकसः ॥ ४७ ॥
अद्यापि भुवि गाङ्गेयस्तत्रैव वसुरष्टमः।
सप्तेमे वसवः प्राप्ताः स एकः परिलम्बते ॥ ४८ ॥

'इस तरह भूतलपर शान्तनुके वंशका बीजारोपण मैंने कर दिया है। स्वर्गमें रहनेवाले जो वसु थे, वे गङ्गाके गर्भसे उत्पन्न हो चुके और उनमेंसे ये सात वसु यहाँ आ गये, परंतु एकमात्र आठवाँ वसु गङ्गाका पुत्र होकर अबतक वहाँ पृथ्वीपर ही लटक रहा है ॥ ४७-४८ ॥

द्वितीयायां स सृष्टायां द्वितीया शान्तनोस्तनुः।
विचित्रवीर्यो द्युतिमानासीद् राजा प्रतापवान् ॥ ४९ ॥

'शान्तनुकी दूसरी पत्नी सत्यवतीके साथ पतिका समागम होनेपर भीष्मकी अपेक्षा जो दूसरा पुत्र उत्पन्न हुआ था, उसका नाम विचित्रवीर्य था। वह कुरुकुलका तेजस्वी एवं प्रतापी राजा था ॥ ४९ ॥

वैचित्रवीर्यौ द्वावेव पार्थिवौ भुवि साम्प्रतम्।
धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विख्यातौ पुरुषर्षभौ ॥ ५० ॥

'विचित्रवीर्यके दो ही पुत्र इस समय पृथ्वीपर वर्तमान हैं। वे दोनों ही राजा एवं पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। धृतराष्ट्र और पाण्डु नामसे उनकी ख्याति है ॥ ५० ॥

तत्र पाण्डोः श्रिया जुष्टे द्वे भार्ये सम्बभूवतुः।
शुभे कुन्ती च माद्री च देवयोषोपमे तु ते ॥ ५१ ॥

'उनमेंसे पाण्डुके दो शोभासम्पन्न सुन्दरी पत्नियाँ हैं, जो देवाङ्गनाओंके समान रूपवती हैं। उनके नाम हैं—कुन्ती और माद्री ॥ ५१ ॥

धृतराष्ट्रस्य राज्ञस्तु भार्यैका तुल्यचारिणी।
गान्धारी भुवि विख्याता भर्तुर्नित्यं व्रते स्थिता॥ ५२ ॥

'राजा धृतराष्ट्रकी एक ही पत्नी है, जो इस भूतलपर गान्धारीके नामसे विख्यात है। वह पतिके समान आचारसे रहनेवाली और सदा पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली है ॥ ५२ ॥

तत्र वंशा विभज्यन्तां विपक्षाः पक्ष एव च।
पुत्राणां हि तयो राज्ञोर्भविता विग्रहो महान् ॥ ५३ ॥

'उन दोनों राजाओंके पुत्रोंमें महान् युद्ध होनेवाला है। तुमलोग उन्हींके पक्ष और विपक्षमें पृथक्-पृथक् अपने वंश उत्पन्न करो ॥ ५३ ॥

तेषां विमर्दे दायाद्ये नृपाणां भविता क्षयः।
युगान्तप्रतिमं चैव भविष्यति महद् भयम् ॥ ५४ ॥

'उनके पैतृक राज्यके बटवारेके सम्बन्धमें विवाद होनेपर बड़ा भारी संग्राम छिड़ जायगा और उसमें बहुत-से नरेशोंका विनाश होगा। वह महान् युद्ध प्रलयकालके समान भयंकर एवं संहारकारी होगा ॥ ५४ ॥

सबलेषु नरेन्द्रेषु शान्तयत्स्वितरेतरम्।
विविक्तपुरराष्ट्रौघा क्षितिः शैथिल्यमेष्यति ॥ ५५ ॥

'जब सेनासहित राजालोग उस युद्धमें उपस्थित होंगे, उस समय एक दूसरेसे लड़-भिड़कर उन सबकी शान्ति (मृत्यु) हो जायगी। उस दशामें इस भूतलके सभी नगर और राष्ट्र निर्जन-से हो जायँगे और यह पृथ्वी शिथिलताको प्राप्त हो जायगी ॥ ५५ ॥

द्वापरस्य युगस्यान्ते मया दृष्टं पुरातनम्।
क्षयं यास्यन्ति शस्त्रेण मानवैः सह पार्थिवाः ॥ ५६ ॥

'द्वापरयुगके अन्तमें घटित होनेवाले इस भावी विनाशको मैंने पहलेसे ही देख लिया है। उस समय अपने सैनिक मनुष्योंसहित समस्त भूपाल शस्त्रोंद्वारा विनष्ट हो जायँगे ॥ ५६ ॥

तत्रावशिष्टान् मनुजान् सुप्तान् निशि विचेतसः।
धक्ष्यते शङ्करस्यांशः पावकेनाद्भुततेजसा ॥ ५७ ॥

'उस युद्धसे जो लोग बच जायँगे, उन्हें रातमें अचेत होकर सोते समय भगवान् शङ्करका अंशभूत अश्वत्थामा अग्नितुल्य अस्त्रके तेजसे जलाकर भस्म कर डालेगा ॥ ५७ ॥

अन्तकप्रतिमे तस्मिन् निवृत्ते क्रूरकर्मणि ।
समाप्तमिदमाख्यास्ये तृतीयं द्वापरं युगम् ॥ ५८ ॥

'प्रलयकालके समान वह क्रूरतापूर्ण विनाशकाण्ड जब समाप्त हो जायगा, तब मैं यह कहूँगा कि तीसरा द्वापरयुग समाप्त हो गया ॥ ५८ ॥

महेश्वरांशेऽपसृते ततो माहेश्वरं युगम् ।
शिष्यं प्रवर्तते पश्चाद् युगं दारुणदर्शनम् ॥ ५९ ॥

'परमेश्वर विष्णुके पूर्णतम अंशस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके परमधामको पधारनेपर अत्यन्त भयंकर अन्तिम युग कलिकी प्रवृत्ति होगी, जो देखनेमें बड़ा ही दारुण है ॥ ५९ ॥

अधर्मप्रायपुरुषं स्वल्पधर्मप्रतिग्रहम् ।
उत्सन्नसत्यसंयोगं वर्धितानृतसंचयम् ॥ ६० ॥

'उस समय मनुष्योंमें प्रायः अधर्मकी स्थिति होगी। धर्मको बहुत कम लोग ग्रहण करेंगे। उनमें सत्यका संयोग नहीं रहेगा और सबमें असत्यका संग्रह बढ़ेगा ॥ ६० ॥

महेश्वरं कुमारं च द्वौ च देवौ समाश्रिताः ।
भविष्यन्ति नराः सर्वे लोके न स्थविरायुषः ॥ ६१ ॥

'रुद्र और कुमारकार्तिकेय इन्हीं दो देवताओंका प्रायः सब लोग आश्रय लेंगे। संसारमें वृद्धावस्थातक जीनेवाले (अधिक) न होंगे ॥ ६१ ॥

तदेष निर्णयः श्रेष्ठः पृथिव्यां पार्थिवान्तकः ।
अंशावतरणं सर्वे सुराः कुरुत मा चिरम् ॥ ६२ ॥

'देवताओ ! अतः यही निर्णय सबसे श्रेष्ठ है कि पृथ्वीपर रहनेवाले राजाओंका अन्त कर दिया जाय। इसलिये तुम सब लोग अपने-अपने अंशसे अवतार लो, देर न करो ॥ ६२ ॥

धर्मस्यांशस्तु कुन्त्यां वै माद्र्यां च विनियुज्यताम् ।
विग्रहस्य कलिर्मूलं गान्धार्यां विनियुज्यताम् ॥ ६३ ॥

'धर्मके पक्षमें जो देवता हों, उन्हे कुन्ती और माद्रीके गर्भसे उत्पन्न होनेकी आज्ञा दी जाय। विवाद या युद्धका मूल है कलि, उसे सहायकोंसहित गान्धारीके गर्भसे उत्पन्न होनेके लिये प्रेरित किया जाय ॥ ६३ ॥

एतौ पक्षौ भविष्यन्ति राजानः कालचोदिताः ।
जातरागाः पृथिव्यर्थे सर्वे संग्रामलालसाः ॥ ६४ ॥

'कालसे प्रेरित हुए राजा इन दोनों पक्षोंमेंसे किसी एकका आश्रय लेंगे और पृथ्वीके राज्यकी प्राप्तिके लिये लोभासक्त होकर वे सब-के-सब संग्रामकी लालसा रखेंगे ॥६४॥

गच्छत्वियं वसुमती स्वां योनिं लोकधारिणी ।
सुघोऽयं नैष्ठिको राज्ञामुपायो लोकविश्रुतः ॥ ६५ ॥

'सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाली यह पृथ्वी अब अपने स्थानको चली जाय। इसके भारभूत राजाओंके विनाशके लिये इस लोकप्रसिद्ध उपायका अनुष्ठान आरम्भ कर दिया गया है' ॥ ६५ ॥

श्रुत्वा पितामहवचः सा जगाम यथागतम् ।
पृथिवी सह कालेन वधाय पृथिवीक्षिताम् ॥ ६६ ॥

ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर पृथ्वी भूमिपालोंके वधके लिये कालके साथ जैसे आयी थी, वैसे ही लौट गयी ॥ ६६ ॥

देवानचोदयद् ब्रह्मा निग्रहार्थं सुरद्विषाम् ।
नरं चैव पुराणर्षिं शेषं च धरणीधरम् ॥ ६७ ॥
सनत्कुमारं साध्यांश्च सुरांश्चाग्निपुरोगमान् ।
वरुणं च यमं चैव सूर्याचन्द्रमसौ तदा ॥ ६८ ॥
गन्धर्वाप्सरसश्चैव रुद्रादित्यांस्तथाश्विनौ ।
ततोऽशानवर्तिनं देवाः सर्वं एवावतारयन् ॥ ६९ ॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने देवद्रोही दानवोंका दमन करनेके लिये देवताओंको प्रेरित किया। उन्होंने पुरातन ऋषि नर, पृथ्वीको धारण करनेवाले शेषनाग, सनत्कुमार, साध्यगण, अग्नि आदि देवता, वरुण, यम, सूर्य, चन्द्रमा, गन्धर्व, अप्सरा, रुद्र, आदित्य तथा दोनों अश्विनीकुमार—इन सबको अवतार लेनेके लिये प्रेरणा दी। तत्पश्चात् समस्त देवताओंने पृथ्वीपर अपना-अपना अंश उत्पन्न किया ॥ ६७—६९ ॥

यथा ते कथितं पूर्वमंशावतरणं मया ।
अयोनिजा योनिजाश्च ते देवाः पृथिवीतले ॥ ७० ॥
दैत्यदानवहन्तारः सम्भूताः पुरुषेश्वराः ।

राजन् ! मैंने तुम्हें पहले (आदिपर्व) अंशावतरणके प्रसङ्गमें जैसा बताया है, उसके अनुसार दैत्यों और दानवोंका विनाश करनेवाले वे देवता योनिज और अयोनिजरूपसे पृथ्वीपर राजा होकर उत्पन्न हुए ॥ ७०½ ॥

क्षीरिकावृक्षसंकाशा वज्रसंहननास्तथा ॥ ७१ ॥
नागायुतबलाः केचित् केचिदोघबलान्विताः ।
गदापरिघशक्तीनां सहाः परिघबाहवः ॥ ७२ ॥

उनके शरीर पिण्डखजूरके समान पुष्ट और वज्रके तुल्य सुदृढ़ थे। उनमेंसे कितने ही दस हजार हाथियोंके समान बलवान् थे। कितने ही बलके अटूट प्रवाहसे सम्पन्न थे। वे गदा, परिघ और शक्तियोंके आघात सह लेनेमे समर्थ थे। उनकी भुजाएँ परिघोंके समान मोटी एवं सुदृढ़ थीं ॥ ७१-७२ ॥

गिरिश्टङ्गप्रहर्तारः सर्वे परिघयोधिनः ।
वृष्णिवंशसमुत्पन्नाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ७३ ॥

कुरुवंशे च ते देवाः पञ्चालेषु च पार्थिवाः।
याज्ञिकानां समृद्धानां ब्राह्मणानां च योनिषु ॥ ७४ ॥

वे सब-के-सब पर्वत-शिखरोंद्वारा प्रहार करनेवाले तथा परिघोंसे युद्ध करनेमें कुशल थे। उनमेंसे सैकड़ों-हजारों वीर देवता वृष्णिवंश, कुरुवंश तथा पाञ्चालवंशमें राजा एवं राजकुमारोंके रूपमें उत्पन्न हुए थे। कितने ही देवता समृद्धिशाली याज्ञिक ब्राह्मणोंके कुलोंमें प्रकट हुए थे ॥ ७३-७४ ॥

सर्वास्त्रज्ञा महेष्वासा वेदव्रतपरायणाः।
सर्वर्द्धिगुणसम्पन्ना यज्वानः पुण्यकर्मिणः ॥ ७५ ॥

वे सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता, महाधनुर्धर, वैदिक व्रतके अनुष्ठानमें तत्पर, समस्त समृद्धिकारी गुणोंसे सम्पन्न, यज्ञकर्ता तथा पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले थे ॥ ७५ ॥

आचालयेयुर्ये शैलान् क्रुद्धा भिन्द्युर्महीतलम्।
उत्पतेयुरथाकाशं क्षोभयेयुर्महोदधिम् ॥ ७६ ॥

वे कुपित होनेपर पर्वतोंको भी हिला सकते थे। पृथ्वीको विदीर्ण कर सकते थे, आकाशमें उड़ सकते थे और समुद्रोंको भी विक्षुब्ध कर सकते थे ॥ ७६ ॥

एवमादिश्य तान् सर्वान् भूतभव्यभवत्प्रभुः।
नारायणे समावेश्य लोकाञ्छान्तिमुपागमत् ॥ ७७ ॥

भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी ब्रह्माजी उन देवताओंको उपर्युक्त आदेश दे भगवान् नारायणको समस्त लोकोंकी रक्षाका भार सौंपकर शान्त हो गये ॥ ७७ ॥

भूयः शृणु यथा विष्णुरवतीर्णो महीतले।
प्रजानां वै हितार्थाय प्रभुः प्राणिहितेश्वरः ॥ ७८ ॥

जनमेजय! समस्त प्राणियोंका हित-साधन करनेमें समर्थ भगवान् विष्णु प्रजावर्गके हितके लिये इस भूतलपर जिस प्रकार अवतीर्ण हुए थे, वह प्रसंग फिर सुनो ॥ ७८ ॥

ययातिवंशजस्याथ वसुदेवस्य धीमतः।
कुले पूज्ये यशस्कर्मा जज्ञे नारायणः प्रभुः ॥ ७९ ॥

राजा ययातिके वंशज बुद्धिमान् वसुदेवके आदरणीय कुलमें यशोवर्धक कर्म करनेवाले भगवान् नारायणने जन्म ग्रहण किया था ॥ ७९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि देवानामंशावतरणे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें देवताओंका अंशावतरणविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुके प्रति देवर्षि नारदका वचन—भूलोककी वर्तमान अवस्थाका परिचय देकर भगवान्‌को अवतार ग्रहण करनेके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

कृतकार्ये गते काले जगत्यां च यथानयम्।
अंशावतरणे वृत्ते सुराणां भारते कुले ॥ १ ॥
भागेऽवतीर्णे धर्मस्य शक्रस्य पवनस्य च।
अश्विनोर्देवभिषजोर्भागे वै भास्करस्य च ॥ २ ॥
पूर्वमेवावनिगते भागे देवपुरोधसः।
वसूनामष्टमे भागे प्रागेव धरणीं गते ॥ ३ ॥
मृत्योर्भागे क्षितिगते कलेर्भागे तथैव च।
भागे शुक्रस्य सोमस्य वरुणस्य च गां गते ॥ ४ ॥
शङ्करस्य गते भागे मित्रस्य धनदस्य च।
गन्धर्वोरगयक्षाणां भागांशेषु गतेषु च ॥ ५ ॥
भागेष्वेतेषु गगनादवतीर्णेषु मेदिनीम्।
तिष्ठन्नारायणस्यांशे नारदः समदृश्यत ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब पृथ्वी और काल दोनों कृतकृत्य होकर चले गये और देवताओंका भरतवंशमें यथोचितरूपसे अंशावतरणका कार्य सम्पन्न हो गया, धर्म, इन्द्र, वायु, देववैद्य अश्विनीकुमार तथा सूर्यदेवका पृथक्-पृथक् भाग जब भूतलपर अवतीर्ण हो गया, देवताओंके पुरोहित बृहस्पतिजी जब उनसे भी पहले ही पृथ्वीपर आ गये, वसुओंके अष्टम भाग भीष्म भी पहले ही पृथ्वीपर अवतीर्ण हो गये, मृत्यु (यम) और कलिके भाग भी जब पृथ्वीपर आ गये, शुक्र, सोम और वरुणके अंश भी भूतलपर अवतीर्ण हो गये, भगवान् शङ्कर, मित्र, कुबेर, गन्धर्व, नाग और यक्षोंके भागांश भी जब पृथ्वीपर आ गये, उपर्युक्त सभी भाग जब आकाशसे पृथ्वीपर उतर आये, तब देवपक्षमें स्थित रहनेवाले देवर्षि नारद भगवान् नारायणके निकट आते हुए दिखायी दिये ॥ १—६ ॥

ज्वलिताग्निप्रतीकाशो बालार्कसदृशेक्षणः।
सव्यापवृत्तं विपुलं जटामण्डलमुद्वहन् ॥ ७ ॥

उस समय उनका तेजस्वी शरीर प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था। दोनों नेत्र प्रभातकालके सूर्यकी भाँति लाल थे। वे वामावर्त विशाल जटामण्डल धारण किये हुए थे ॥ ७ ॥

चन्द्रांशुशुक्ले वसने वसानो रुक्मभूषितः।
वीणां गृहीत्वा महतीं कक्षासक्तां सखीमिव ॥ ८ ॥

उन्होंने अपने शरीरको चन्द्रमाकी किरणोंके समान

श्वेत वर्णके दो वस्त्रोंसे आच्छादित कर रखा था । वे सोनेके आभूषणसे विभूषित थे । उन्होंने महती नामक वीणा ले रखी थी, जो उनकी सहचरीकी भाँति बगलमें सटी हुई थी ॥ ८ ॥

कृष्णाजिनोत्तरासङ्गो हेमयज्ञोपवीतवान् ।
दण्डी कमण्डलुधरः साक्षाच्छक्र इवापरः ॥ ९ ॥

उनके कंधेपर उत्तरीय वस्त्रके रूपमें काला मृगचर्म शोभा पा रहा था । वे सुवर्णमय यज्ञोपवीतसे सुशोभित थे। हाथोंमें दण्ड-कमण्डलु धारण किये हुए थे तथा देखनेमें साक्षात् दूसरे इन्द्रके समान जान पड़ते थे ॥ ९ ॥

भेत्ता जगति गुह्यानां विग्रहाणां ग्रहोपमः ।
गाता चतुर्णां वेदानामुद्गाता प्रथमर्त्विजाम् ।
महर्षिर्विग्रहरुचिर्विद्वान् गान्धर्वकोविदः ॥ १० ॥

जगत्में गुप्त बातोंका भंडाफोड़ करनेवाले नारदजी युद्ध या विवादकी सूचना देनेवाले ग्रहोंके समान माने जाते हैं । ये चारों वेदोंके गायक तथा मुख्य ऋत्विजोंमें उद्गाता थे, महर्षि होनेपर भी युद्ध देखनेकी रुचि रखते थे और विद्वान् होनेके साथ ही सङ्गीतविद्याके मर्मज्ञ थे ॥ १० ॥

वैरिकेलिकिलो विप्रो ब्राह्मः कलिरिवापरः ।
देवगन्धर्वलोकानामादिवक्ता महामुनिः ॥ ११ ॥

दूसरोंको लड़ा देना उनके लिये खिलवाड़ था । वे ब्राह्मण तथा ब्रह्माजीके पुत्र होकर भी दूसरे कलिके समान माने जाते थे । महामुनि नारद देवलोक तथा गन्धर्वलोकके प्रमुख वक्ता (उपदेशक) थे ॥ ११ ॥

स नारदोऽथ ब्रह्मर्षिर्ब्रह्मलोकचरोऽव्ययः ।
स्थितो देवसभामध्ये संरब्धो विष्णुमब्रवीत् ॥ १२ ॥

ब्रह्मलोकमें विचरनेवाले वे अविनाशी ब्रह्मर्षि नारद उस समय देव-सभामें खड़े हो रोषावेशमें आकर भगवान् विष्णुसे इस प्रकार बोले—॥ १२ ॥

अंशावतरणं विष्णो यदिदं त्रिदशैः कृतम् ।
क्षयार्थे पृथिवीन्द्राणां सर्वमेतदकारणम् ॥ १३ ॥

'सर्वव्यापी नारायण ! देवताओंने भूतलके राजाओंका विनाश करनेके लिये जो यह अंशावतार ग्रहण किया है, यह सब निष्फल है ॥ १३ ॥

यदेतत् पार्थिवं क्षत्रं स्थितं त्वयि यदीश्वर ।
नृनारायणयुक्तोऽयं कार्यार्थः प्रतिभाति मे ॥ १४ ॥

'परमेश्वर ! यह जो भूतलके राजाओंका युद्ध है, वह तो आपपर ही निर्भर है । मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि देवताओंके इस प्रयोजनकी सिद्धि नर और नारायणके सहयोगसे ही सम्भव है ॥ १४ ॥

न युक्तं जानता देव त्वया तत्त्वार्थदर्शिना ।
देवदेव पृथिव्यर्थे प्रयोक्तुं कार्यमीदृशम् ॥ १५ ॥

'देव ! देवाधिदेव ! आप तत्त्वार्थदर्शी हैं, सब कुछ जानते हैं; अतः पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ऐसे उपायका प्रयोग करना, जिसमें आप दोनोंका सहयोग न हो, आपके लिये उचित नहीं है ॥ १५ ॥

त्वं हि चक्षुष्मतां चक्षुः श्लाघ्यः प्रभवतां प्रभुः ।
श्रेष्ठो योगवतां योगी गतिर्गतिमतामपि ॥ १६ ॥

'क्योंकि आप ही नेत्रवानोंके नेत्र हैं, प्रभावशाली पुरुषोंके स्पृहणीय प्रभु हैं, योगवालोंमें श्रेष्ठ योगी हैं तथा गतिशील प्राणियोंकी गति हैं ॥ १६ ॥

देवभागान् गतान् दृष्ट्वा किं त्वं सर्वाश्रयो विभुः ।
वसुन्धरायाः साह्यार्थमंशं स्वं नानुयुञ्जसे ॥ १७ ॥

'आप सबके आश्रयभूत परमेश्वर हैं, फिर देवताओंके अंशोंको पृथ्वीपर गया हुआ देखकर भी आप वसुधाकी सहायताके लिये अपने अंशको क्यों नहीं नियुक्त करते हैं ॥ १७ ॥

त्वया सनाथा देवांशास्त्वन्मयास्त्वत्परायणाः ।
जगत्यां संचरिष्यन्ति कार्यात् कार्यान्तरं गताः॥ १८ ॥

'देवताओंके अंश आपके ही स्वरूप तथा आपके ही आश्रित हैं । वे आपसे सनाथ होकर ही पृथ्वीपर एक कार्यसे दूसरे कार्यमें संलग्न रहते हुए विचरण कर सकेंगे ॥ १८ ॥

तदहं त्वरया विष्णो प्राप्तः सुरसभामिमाम् ।
तव संचोदनार्थं वै शृणु चाप्यत्र कारणम् ॥ १९ ॥

'विष्णो ! मैं जो आपको प्रेरित करनेके लिये बड़ी उतावलीके साथ इस देव-सभामें आया हूँ, इसका भी एक कारण है; उसे सुनिये ॥ १९ ॥

ये त्वया निहता दैत्याः संग्रामे तारकामये ।
तेषां शृणु गतिं विष्णो ये गताः पृथिवीतलम्॥ २० ॥

'विष्णो ! तारकामय-संग्राममें आपके द्वारा जो दैत्य मारे गये थे, वे सब-के-सब पृथ्वीतलपर जा पहुँचे हैं; उनकी क्या अवस्था है, सुनिये ॥ २० ॥

पुरी पृथिव्यां मुदिता मथुरानामतः श्रुता ।
निविष्टा यमुनातीरे स्फीता जनपदायुता ॥ २१ ॥

'पृथ्वीपर मथुरा नामसे प्रसिद्ध एक पुरी है, जो परमानन्दमयी है । यह समृद्धिशालिनी नगरी यमुनाके तटपर बसी हुई है। उसके सब ओर बहुत-से जनपद हैं ॥ २१ ॥

मधुर्नाम महानासीद् दानवो युधि दुर्जयः ।
त्रासनः सर्वभूतानां बलेन महतान्वितः ॥ २२ ॥

'उस पुरीमें पहले मधु नामसे प्रसिद्ध एक महादानव रहता था, जिसे युद्धमें जीतना बहुत ही कठिन था । समस्त प्राणियोंको त्रास देनेवाला वह दानव महान् बलसे सम्पन्न था ॥ २२ ॥

तस्य तत्र महद्धासीन्महापादपसंकुलम् ।

घोरं मधुवनं नाम यत्रासौ न्यवसत् पुरा ॥ २३ ॥

'वहीं उसका विशाल एवं भयंकर मधुवननामक वन था, जो बड़े-बड़े वृक्षोंसे हरा-भरा रहता था। पूर्वकालमें वह दानव उस मधुवनमें ही निवास करता था ॥ २३ ॥

तस्य पुत्रो महानासील्लवणो नाम दानवः।
त्रासनः सर्वभूतानां महाबलपराक्रमः ॥ २४ ॥

'उसका पुत्र लवण नामसे प्रसिद्ध महान् दानव था। वह भी समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला तथा महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न था ॥ २४ ॥

स तत्र दानवः क्रीडन् वर्षपूगाननेकशः।
स दैवतगणाँल्लोकानुद्वासयति दर्पितः ॥ २५ ॥

'वह दानव बहुत वर्षोंतक वहाँ क्रीड़ा करता रहा। फिर बलके घमंडमें भरकर देवताओंसहित समस्त लोकोंको उजाड़ने या उद्विग्न करने लगा ॥ २५ ॥

अयोध्यायामयोध्यायां रामे दाशरथौ स्थिते।
राज्यं शासति धर्मज्ञे राक्षसानां भयावहे ॥ २६ ॥
स दानवो बलश्लाघी घोरं वनमुपाश्रितः।
प्रेषयामास रामाय दूतं परुषवादिनम् ॥ २७ ॥

'जिसपर आक्रमण करना किसीके लिये भी असम्भव था, उस अयोध्यापुरीमें जब राक्षसोंको भय देनेवाले धर्मज्ञ दशरथनन्दन श्रीराम राज्य-शासन करते थे, उस समय अपने बलकी प्रशंसा करनेवाले उस लवण नामक दानवने घोर मधुवनका सहारा ले श्रीरामचन्द्रजीके पास एक कटुभाषी दूत भेजा ॥ २६-२७ ॥

विषयासन्नभूतोऽस्मि तव राम रिपुश्च ह।
न च सामन्तमिच्छन्ति राजानो बलदर्पितम् ॥ २८ ॥

'(उसके उस दूतने भगवान् श्रीरामसे इस प्रकार कहा—) राम! मैं तुम्हारे राज्यके निकट रहता हूँ और तुम्हारा शत्रु भी हूँ। प्रायः राजा लोग ऐसे सामन्तको जीवित रखना नहीं चाहते, जो बलके घमंडमें भरा रहता हो ॥ २८ ॥

राज्ञा राज्यव्रतस्थेन प्रजानां हितकाम्यया।
जेतव्या रिपवः सर्वे स्फीतं विषयमिच्छता ॥ २९ ॥

'राजोचित व्रतमें स्थित रहकर अपने राज्यको समृद्धिशाली बनानेकी इच्छा रखनेवाले राजाको उचित है कि वह प्रजाके हितकी कामनासे अपने समस्त शत्रुओंको जीतकर काबूमें कर ले ॥ २९ ॥

अभिषेकार्द्रकेशेन राज्ञा रञ्जनकाम्यया।
जेतव्यानीन्द्रियाण्यादौ तज्जये हि ध्रुवो जयः ॥ ३० ॥

'जिसके मस्तकके केश राज्याभिषेकसे आर्द्र हुए हों तथा जो प्रजाको प्रसन्न रखना चाहता हो, उस राजाका कर्तव्य है कि वह सबसे पहले अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करे; क्योंकि उनको जीत लेनेके बाद शत्रुओंपर विजय पाना निश्चित है ॥ ३० ॥

सम्यग् वर्तितुकामस्य विशेषेण महीपतेः।
नयानामुपदेशेन नास्ति लोकसमो गुरुः ॥ ३१ ॥

'जो उत्तम बर्तावकी इच्छा रखता हो, ऐसे पुरुष विशेषतः पृथ्वीपालक नरेशको नीतिका उपदेश करनेके लिये लोकके समान दूसरा कोई गुरु नहीं है ॥ ३१ ॥

व्यसनेषु जघन्यस्य धर्ममध्यस्य धीमतः।
बलज्येष्ठस्य नृपतेर्नास्ति सामन्तजं भयम् ॥ ३२ ॥

'जो द्यूत और मृगया आदि दुर्व्यसनोंमें दूसरोंकी अपेक्षा निकृष्ट है (अर्थात् जो व्यसनोंसे दूर रहता है), धर्ममें जिसकी मध्यम कोटिकी स्थिति है, परंतु जो बलमें दूसरोंकी अपेक्षा बढ़-चढ़कर है, उस बुद्धिमान् नरेशको कभी सामन्तोंसे भय नहीं प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

सहजैर्बाध्यते सर्वः प्रवृद्धैरिन्द्रियादिभिः।
अमित्राणां प्रियकरैर्मोहैरधृतिरीश्वरः ॥ ३३ ॥

'अपने शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए ये इन्द्रियरूपी शत्रु जब बढ़ जाते हैं, तब मोह उत्पन्न करनेवाले हो जाते हैं और शत्रुओंका प्रिय साधन करने लगते हैं; उस दशामें उनके द्वारा सभी धैर्यहीन पुरुषों अथवा राजाओंको सदा ही बाधा प्राप्त होती है ॥ ३३ ॥

यत् त्वया स्त्रीकृते मोहात् सगणो रावणो हतः।
नैतदौपयिकं मन्ये महद् वै कर्म कुत्सितम् ॥ ३४ ॥

'तुमने जो मोहवश एक नारीके लिये दल-बलसहित रावणका वध कर डाला है, इसे मैं न्यायसंगत नहीं मानता। यद्यपि पराक्रमकी दृष्टिसे वह महान् कर्म है तो भी वास्तवमें वह निन्दित ही है ॥ ३४ ॥

वनवासप्रवृत्तेन यत् त्वया व्रतशालिना।
प्रहृतं राक्षसानीके नैव दृष्टः सतां विधिः ॥ ३५ ॥

'तुम वनवासमें प्रवृत्त हुए थे। वनवासी मुनियोंके नियमोंका पालन करनेमें ही तुम्हारी शोभा थी। फिर भी तुमने जो राक्षसोंकी सेनापर प्रहार किया, ऐसा बर्ताव कभी किन्हीं सत्पुरुषोंने किया हो—यह कभी नहीं देखा गया है ॥ ३५ ॥

सतामक्रोधजो धर्मः शुभां नयति सद्गतिम्।
यत् त्वया निहता मोहाद् दूषिताश्चाश्रमौकसः ॥ ३६ ॥

'क्रोधका परित्याग करके साधुपुरुष जिस धर्मका पालन करते हैं, वह उन्हें शुभ सद्गतिकी प्राप्ति कराता है। तुमने जो मोहवश राक्षसोंका वध किया है, इससे सभी आश्रमवासी कलंकित हो गये (तुम्हारे द्वारा व्रत नियमका उल्लङ्घन देखकर दूसरे भी ऐसा ही करने लगेंगे; अतः तुम दुराचारके प्रवर्तक हो गये) ॥ ३६ ॥

स एष रावणो धन्यो यस्त्वया व्रतचारिणा।
स्त्रीनिमित्ते हतो युद्धे ग्राम्यान् धर्मानवेक्षता ॥ ३७ ॥

'यह रावण धन्य था, जो युद्धमें ग्राम्य धर्मपर ही दृष्टि

रखनेवाले तुझ-जैसे व्रतधारीके हाथसे एक स्त्रीके कारण मारा गया ॥ ३७ ॥

यदि ते निहतः संख्ये दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः।
युध्यस्वाद्य मया सार्धं मृधे यद्यसि वीर्यवान् ॥ ३८ ॥

'यदि तुमने खोटी बुद्धिवाले उस अजितेन्द्रिय रावणको युद्धमें मारा है और ऐसा करके तुम पराक्रमी बन रहे हो तो आओ, आज रणक्षेत्रमें मेरे साथ युद्ध करो ॥ ३८ ॥

तस्य दूतस्य तच्छ्रुत्वा भाषितं रूक्षवादिनः।
धैर्यादसम्भ्रान्तवपुः सस्मितं राघवोऽब्रवीत् ॥ ३९ ॥

'उस कटुवादी दूतका वह भाषण सुनकर रघुनन्दन श्रीराम अपने स्वाभाविक धैर्यके कारण विचलित नहीं हुए, अपितु मुसकराते हुए बोले—॥३९॥

असदेतत् त्वया दूत भाषितं तस्य गौरवात्।
यन्मां क्षिपसि दोषेण वेदात्मानं च सुस्थिरम्॥ ४० ॥

'दूत ! तूने उस दानवके प्रति गौरव-बुद्धिके कारण जो कुछ कहा है, वह सब ओछी बात है; क्योंकि तू मुझपर तो दोषारोपण करके आक्षेप करता है और अपनेको न्यायमार्गमें भलीभाँति स्थित समझता है ॥ ४० ॥

यद्यहं सत्पथे मूढो यदि वा रावणो हतः।
यदि वा मे हृता भार्या का तत्र परिदेवना ॥ ४१ ॥

'यदि मैं सन्मार्गपर चलनेका विवेक खो बैठा था, यदि मेरे द्वारा रावण मारा गया था अथवा यदि मेरी स्त्रीका अपहरण हुआ था तो तू क्यों इन सब बातोंका रोना रो रहा है ? ॥ ४१ ॥

न वाङ्मात्रेण दुष्यन्ति साधवः सत्पथे स्थिताः।
जागर्ति च यथा देवः सदा सत्स्वितरेषु च ॥ ४२ ॥

'सन्मार्गपर स्थित रहनेवाले साधुपुरुष किसीके कहनेमात्रसे कलङ्कित नहीं होते हैं। सत् और असत् पुरुषोंके भीतर बैठे हुए भगवान् सदा जागते रहते हैं (कौन बुरा है और कौन भला—यह उनकी दृष्टिसे छिपा हुआ नहीं है) ॥४२॥

कृतं दूतेन यत् कार्यं गच्छ त्वं दूत मा चिरम्।
नात्मश्लाघिषु नीचेषु प्रहरन्तीह मद्विधाः ॥ ४३ ॥

'दूत ! तुझ-जैसे दूतको जो कुछ करना चाहिये, वह कार्य तूने कर लिया। अब यहाँसे चला जा, विलम्ब न कर। मेरे-जैसे पुरुष यहाँ अपनी झूठी प्रशंसा करनेवाले नीच जनोंपर प्रहार नहीं करते ॥ ४३ ॥

अयं ममानुजो भ्राता शत्रुघ्नः शत्रुतापनः।
तस्य दैत्यस्य दुर्बुद्धेर्मृधे प्रतिकरिष्यति ॥ ४४ ॥

'यह मेरा छोटा भाई शत्रुघ्न, जो शत्रुओंको पूर्ण संताप देनेवाला है, युद्धमें उस दुर्बुद्धि दैत्यको उसके कुकृत्योंका भरपूर बदला देगा' ॥ ४४ ॥

एवमुक्तः स दूतस्तु ययौ सौमित्रिणा सह।
अनुज्ञातो नरेन्द्रेण राघवेण महात्मना ॥ ४५ ॥

'महात्मा राजा रघुकुलनन्दन श्रीरामने ऐसा कहकर जब उसे जानेकी आज्ञा दी, तब वह दूत सुमित्राकुमार शत्रुघ्नके साथ चला गया ॥ ४५ ॥

स शीघ्रयानः सम्प्राप्तस्तद् दानवपुरं महत्।
चक्रे निवेशं सौमित्रिर्वनान्ते युद्धलालसः ॥ ४६ ॥

'सुमित्रानन्दन शत्रुघ्न शीघ्रतापूर्वक रथ हाँकते हुए लवणासुरके उस विशाल नगरमें जा पहुँचे। वहाँ युद्धकी लालसा लेकर उन्होंने उसके वनके समीप ही पड़ाव डाल दिया ॥ ४६ ॥

ततो दूतस्य वचनात् स दैत्यः क्रोधमूर्च्छितः।
पृष्ठतस्तद् वनं कृत्वा युद्धायाभिमुखः स्थितः ॥ ४७ ॥

'तदनन्तर दूतकी बातोंसे सब कुछ जानकर वह दैत्य क्रोधसे अचेत-सा हो गया और उस वनको पीछे करके युद्धके लिये शत्रुघ्नके सामने आकर खड़ा हो गया ॥ ४७ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं सौमित्रेर्दानवस्य च।
उभयोरेव बलिनोः शूरयो रणमूर्धनि ॥ ४८ ॥

'सुमित्राकुमार शत्रुघ्न तथा दानव लवणासुर दोनों ही बड़े बलवान् और शूरवीर थे। युद्धके मुहानेपर उन दोनोंमें घोर संग्राम हुआ ॥ ४८ ॥

तौ शरैः साधु निशितैरन्योन्यमभिजघ्नतुः।
न च तौ युद्धवैमुख्यं श्रमं वाप्युपजग्मतुः ॥ ४९ ॥

'वे तीखे बाणोंद्वारा एक दूसरेको भलीभाँति चोट पहुँचाने लगे। दोनों ही न तो युद्धसे विमुख हुए और न उन्हें थकावट ही हुई ॥ ४९ ॥

अथ सौमित्रिणा बाणैः पीडितो दानवो युधि।
ततः स शूलरहितः पर्यहीयत दानवः ॥ ५० ॥

'तदनन्तर उस युद्धस्थलमें सुमित्राकुमारने दानव लवणको बाणोंद्वारा अधिक पीड़ित किया, इससे उसका शूल हाथसे छूटकर गिर पड़ा। अब वह सर्वथा कमजोर पड़ने लगा ॥

स गृहीत्वाङ्कुशं चैव देवैर्दत्तवरं रणे।
कर्षणं सर्वभूतानां लवणो विरराम ह ॥ ५१ ॥

'तब उसने युद्धमें अङ्कुश उठाया, जिसके लिये उसको देवताओंसे वर प्राप्त हो चुका था। वह अङ्कुश समस्त प्राणियोंको आकर्षित करनेवाला था। उसे लेकर लवणासुर जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ ५१ ॥

शिरोधरायां जग्राह सोऽङ्कुशेन चकर्ष ह।
प्रवेशयितुमारब्धो लवणो राघवानुजम् ॥ ५२ ॥

'उसने वह अङ्कुश श्रीरामके छोटे भाई शत्रुघ्नके गलेमें फँसा दिया और खींचकर उसे उनके कण्ठमें घुसाना आरम्भ किया ॥ ५२ ॥

स रुक्मत्सरुमुद्यम्य शत्रुघ्नः खड्गमुत्तमम्।
शिरश्चिच्छेद खड्गेन लवणस्य महामृधे ॥ ५३ ॥

'यह देख उस महासमरमें शत्रुघ्नने सोनेकी मूठवाली अच्छी तलवार उठा ली और उसके द्वारा उस दानवका मस्तक काट गिराया ॥ ५३ ॥

स हत्वा दानवं संख्ये सौमित्रिर्मित्रवत्सलः ।
तद् वनं तस्य दैत्यस्य चिच्छेदास्त्रेण बुद्धिमान् ॥५४॥

'मित्रोंपर स्नेह रखनेवाले बुद्धिमान् शत्रुघ्नने युद्धस्थलमें उस दानवका वध करके उसके उस वनको भी अपने अस्त्रों-द्वारा काट डाला ॥ ५४ ॥

छित्त्वा वनं तत् सौमित्रिर्निवेशं सोऽभ्यरोचयत् ।
भवाय तस्य देशस्य पुर्याः परमधर्मवित् ॥ ५५ ॥

'वनको काटकर परम धर्मज्ञ सुमित्राकुमारने उस देशके अभ्युदयके लिये वहाँ एक नगर बसानेकी इच्छा की ॥ ५५॥

तस्मिन् मधुवनस्थाने मथुरा नाम सा पुरी ।
शत्रुघ्नेन पुरा सृष्टा हत्वा तं दानवं रणे ॥ ५६ ॥

'रणभूमिमें उस दानवका वध करके शत्रुघ्नने पूर्वकालमें उसी मधुवनकी जगह उस पुरीका निर्माण किया, जिसका नाम मथुरा है ॥ ५६ ॥

सा पुरी परमोदारा साट्टप्राकारतोरणा ।
स्फीता राष्ट्रसमाकीर्णा समृद्धबलवाहना ॥५७॥

'वह मथुरापुरी बहुत बड़ी है। उसमें ऊँची अट्टालिकाएँ, चहारदीवारी तथा फाटक यथास्थान बने हुए हैं। वह समृद्धि-शालिनीपुरी समूचे राष्ट्रके लोगोसे भरी रहती है तथा सेना और सवारियोसे सम्पन्न है ॥ ५७ ॥

उद्यानवनसम्पन्ना सुसीमा सुप्रतिष्ठिता ।
प्रांशुप्राकारवसना परिखाकुलमेखला ॥ ५८॥

'नाना प्रकारके उद्यान और वन उसकी शोभा बढ़ाते हैं। उसकी सीमा सुन्दर है। वह अच्छी तरहसे बसायी तथा दृढ़तापूर्वक स्थापित की गयी है। (वह नगरी एक नारीके समान जान पडती है) ऊँची-ऊँची चहारदीवारी उसके लिये साड़ीका काम देती है। चारों ओरसे खुदी हुई खाई मेखला (करधनी) के समान जान पड़ती है ॥ ५८ ॥

चयाट्टालककेयूरा प्रासादवरकुण्डला ।
सुसंवृतद्वारमुखी चत्वरोद्गारहासिनी ॥ ५९ ॥

'नगरद्वार और अट्टालिकाएँ उसके केयूर (भुजबंद)-सी प्रतीत होती हैं। श्रेष्ठ प्रासाद सुन्दर कुण्डलके समान शोभा देते हैं। किंवाड़रूपी अञ्चलोसे अच्छी तरह ढका हुआ प्रधान द्वार मानो उसका मुख है तथा भीतरके आँगनका उद्घाटन उसकी हँसीका प्रकाश है ॥ ५९ ॥

अरोगवीरपुरुषा हस्त्यश्वरथसंकुला ।
अर्धचन्द्रप्रतीकाशा यमुनातीरशोभिता ॥ ६० ॥

'उस पुरीमें नीरोग वीर पुरुषोंका निवास है। हाथी, घोड़े तथा रथ आदि वाहनोंसे वह भरी रहती है। यमुनाजीके तटपर बसी हुई वह शोभाशालिनी पुरी अर्धचन्द्राकार प्रतीत होती है ॥ ६० ॥

पुण्यापणवती दुर्गा रत्नसंचयगर्विता ।
क्षेत्राणि सस्यवन्त्यस्याः काले देवश्च वर्षति ॥ ६१ ॥

'इसके भीतर सुन्दर एवं पवित्र हाट हैं। इसमें प्रवेश करना दूसरोंके लिये कठिन है तथा इसे अपने रत्नराशि-संग्रह-पर गर्व है। इसके पार्श्ववर्ती जनपदके खेत अनाजके हरे-भरे पौदोंसे शोभा पाते हैं और वहाँ पर्जन्यदेव समयपर वर्षा करते हैं ॥ ६१ ॥

नरनारीप्रमुदिता सा पुरी स्म प्रकाशते ।
निविष्टविषयश्चैव शूरसेनस्ततोऽभवत् ॥ ६२ ॥

'नर-नारियोंके आमोद-प्रमोदसे पूर्ण मथुरापुरी सदा अपनी शोभासे प्रकाशित होती रहती है। इस पुरी और प्रदेशमें किसी समय राजा शूरसेन निवास करते थे ॥ ६२ ॥

तस्य पुर्यां महावीर्यो राजा भोजकुलोद्वहः ।
उग्रसेन इति ख्यातो महासेनपराक्रमः ॥ ६३ ॥

'उसी पुरीमें इस समय महाबली राजा उग्रसेन हैं, जो भोजवंशका भार वहन करते हैं। उनका पराक्रम कुमार कार्तिकेयके समान है ॥ ६३ ॥

तस्य पुत्रत्वमापन्नो योऽसौ विष्णो त्वया हतः ।
कालनेमिर्महादैत्यः संग्रामे तारकामये ॥ ६४ ॥

'विष्णो ! आपने तारकामय संग्राममें जिस कालनेमि नामक महादैत्यका वध किया था, वह अब उन्हीं राजा उग्रसेनका पुत्र होकर प्रकट हुआ है ॥ ६४ ॥

कंसो नाम विशालाक्षो भोजवंशविवर्धनः ।
राजा पृथिव्यां विख्यातः सिंहविस्पष्टविक्रमः ॥ ६५ ॥

'उसका नाम है कंस । उसके नेत्र बड़े-बड़े हैं। वह भोजवंशकी वृद्धि करनेवाला है। उसकी चाल-ढाल और पराक्रम सिंहके समान है। राजा कंस भूतलपर सर्वत्र विख्यात है ॥ ६५ ॥

राज्ञां भयंकरो घोरः शङ्कनीयो महीक्षिताम् ।
भयदः सर्वभूतानां सत्पथाद् वाह्यतां गतः ॥ ६६ ॥

'वह राजाओंके लिये अत्यन्त भयंकर है । भूमिपालोंके लिये शङ्कनीय हो गया है। समस्त प्राणियोंको भय देनेवाला कंस सदाचारसे गिर गया है ॥ ६६ ॥

दारुणाभिनिवेशेन दारुणेनान्तरात्मना ।
युक्तस्तेनैव दर्पेण प्रजानां रोमहर्षणः ॥६७॥

'दारुण प्रकृति और क्रूर अन्तरात्मासे युक्त हो वह कंस अपने पूर्वजन्मके दर्पसे ही उन्मत्त हो इस समय प्रजावर्ग-के लिये रोमाञ्चकारी बन गया है ॥ ६७ ॥

न राजधर्माभिरतो नात्मपक्षसुखावहः ।
नात्मराज्ये प्रियकरश्चण्डः कररुचिः सदा ॥ ६८ ॥

'वह न तो राजधर्ममें अनुराग रखता है, न अपने पक्षके लोगोंको ही सुख देता है और न अपने राज्यमें ही किसीका प्रिय करता है । सदा ही अत्यन्त क्रोधमें भरा रहता है और केवल प्रजासे कर वसूल करनेकी ही रुचि रखता है ॥ ६८ ॥

स कंसस्तत्र सम्भूतस्त्वया युद्धे पराजितः ।
क्रव्यादो बाधते लोकानासुरेणान्तरात्मना ॥ ६९ ॥

'आपने जिसे युद्धमें पराजित किया था, वह कालनेमि ही वहाँ 'कंस' बनकर प्रकट हुआ है । उसकी अन्तरात्मा आसुरभावसे युक्त है; जिसके द्वारा वह मांसभक्षी राक्षस समस्त लोकोंको पीड़ा देता है ॥ ६९ ॥

योऽप्यसौ हयविक्रान्तो हयग्रीव इति स्मृतः ।
केशी नाम हयो जातः स तस्यैव जघन्यजः ॥ ७० ॥

'पहले जो घोड़ेके समान चलनेवाला अथवा पराक्रमी हयग्रीव नामसे विख्यात दैत्य था, वही 'केशी' नामक अश्वके रूपमें भूतलपर उत्पन्न हुआ है । इस समय केशी मानो कंस-का छोटा भाई बना हुआ है ॥ ७० ॥

स दुष्टो ह्रेषितपटुः केसरी निरवग्रहः ।
वृन्दावने वसत्येको नृणां मांसानि भक्षयन् ॥ ७१ ॥

'वह दुष्ट केशी हींसने या हिनहिनानेमें बड़ा पटु है । उसकी गर्दनपर बड़े-बड़े बाल हैं । वह सर्वथा उच्छृङ्खल है । वह मनुष्योंके मांसका ही आहार करता हुआ वृन्दावनमें अकेला ही निवास करता है ॥ ७१ ॥

अरिष्टो बलिपुत्रश्च ककुद्मी वृषरूपधृक् ।
गवामरित्वमापन्नः कामरूपी महासुरः ॥ ७२ ॥

'बलिका पुत्र अरिष्ट ऊँचे पुट्ठोंसे युक्त बैलका रूप धारण करके प्रकट हुआ है । वह कामरूपी महान् असुर गौओंका शत्रु बन गया है ॥ ७२ ॥

रिष्टो नाम दितेः पुत्रो वरिष्ठो दानवेषु यः ।
स कुञ्जरत्वमापन्नो दैत्यः कंसस्य वाहनः ॥ ७३ ॥

'दानवोंमें श्रेष्ठ दितिपुत्र रिष्ट नामक दैत्य हाथीके रूपमें उत्पन्न होकर इस समय कंसका वाहन बना हुआ है ॥ ७३ ॥

लम्बो नामेति विख्यातो योऽसौ दैत्येषु दर्पितः ।
प्रलम्बो नाम दैत्योऽसौ वटं भाण्डीरमाश्रितः ॥ ७४ ॥

'दैत्योंमें अभिमानी जो लम्ब नामसे विख्यात दैत्य था, वह इस समय प्रलम्ब नामसे प्रसिद्ध हो भाण्डीर वटका आश्रय लेकर रहता है ॥ ७४ ॥

खर इत्युच्यते दैत्यो धेनुकः सोऽसुरोत्तमः ।
घोरं तालवनं दैत्यश्चरत्युद्वासयन् प्रजाः ॥ ७५ ॥

'जो खर नामक दैत्य कहा जाता था, वही इस समय असुरोंमें श्रेष्ठ धेनुक बना हुआ है । वह दैत्य प्रजाजनोंको उजाड़ता हुआ भयानक तालवनमें विचरता रहता है ॥ ७५ ॥

वाराहश्च किशोरश्च दानवौ यौ महाबलौ ।
मल्लौ रङ्गगतौ तौ तु जातौ चाणूरमुष्टिकौ ॥ ७६ ॥

'पूर्वकालमें वाराह और किशोर नामवाले जो दो महाबली दानव थे,वे ही चाणूर और मुष्टिकके नामसे उत्पन्न हुए हैं। वे दोनों इस समय कंसके अखाड़ेके प्रमुख मल्ल (पहलवान) हैं ॥ ७६ ॥

यौ तौ मयश्च तारश्च दानवौ दानवान्तक ।
प्राग्ज्योतिषे तौ भौमस्य नरकस्य पुरे रतौ ॥ ७७ ॥

'दानव-विनाशक नारायण ! मय और तार नामसे प्रसिद्ध जो दो दानव थे, वे इस समय प्राग्ज्योतिषपुरमें, जो भूमिपुत्र नरकासुरका नगर है, निवास करते हैं ॥ ७७ ॥

एते दैत्या विनिहतास्त्वया विष्णो निराकृताः ।
मानुषं वपुरास्थाय बाधन्ते भुवि मानुषान् ॥ ७८ ॥

'विष्णो ! आपके द्वारा पराजित और निहत हुए ये दैत्य मानव-शरीर धारण करके भूतलपर मनुष्योंको पीड़ा दे रहे हैं ॥ ७८ ॥

त्वत्कथाद्वेषिणः सर्वे त्वद्भक्तान् घ्नन्ति मानुषान् ।
तव प्रसादात् तेषां वै दानवानां क्षयो भवेत् ॥ ७९ ॥

'ये सब-के-सब आपकी कथावार्तासे द्वेष रखते हैं और आपमें भक्ति रखनेवाले मनुष्योंको मार डालते हैं । आपके कृपा-प्रसादसे ही इन दानवोंका संहार हो सकता है ॥ ७९ ॥

त्वत्तस्ते बिभ्यति दिवि त्वत्तो बिभ्यति सागरे ।
पृथिव्यां तव बिभ्यन्ति नान्यतस्तु कदाचन ॥ ८० ॥

'वे आकाश या स्वर्गमें रहें तो भी आपसे डरते हैं । समुद्रमें रहें तो भी आपसे ही भयभीत होते हैं और पृथ्वीपर रहकर भी केवल आपसे ही भय खाते हैं, दूसरे किसीसे कदापि नहीं डरते हैं ॥ ८० ॥

दुर्वृत्तस्य हतस्यापि त्वया नान्येन श्रीधर ।
दिवश्च्युतस्य दैत्यस्य गतिर्भवति मेदिनी ॥ ८१ ॥

'श्रीधर ! जो आपके ही द्वारा मारा जाता है, दूसरेके द्वारा नहीं, उस दैत्यको, वह दुराचारी ही क्यों न रहा हो, आप ही प्राप्त होते हैं । परंतु जो दूसरेके द्वारा मारा गया है, वह दैत्य स्वर्गसे भ्रष्ट होनेपर पृथ्वीपर ही जन्म लेता है ॥

व्युत्थितस्य च मेदिन्यां हतस्य नृशरीरिणः ।
दुर्लभं स्वर्गगमनं त्वयि जाग्रति केशव ॥ ८२ ॥

'केशव ! जबतक यमराजसे आप पापियोंको नरकमें गिरानेके लिये जागरूक हैं, तबतक पृथ्वीपर जो दूसरेके हाथसे मारा जाता है, उसे स्वर्गकी प्राप्ति भी दुर्लभ रहती है;

(फिर आपकी प्राप्ति तो दूरकी बात है । अतः आप दया करके दैत्योंको मारकर उन्हें सद्गति प्रदान करनेके लिये ही भूतलपर अवतार ग्रहण करें) ॥ ८२ ॥

तदागच्छ स्वयं विष्णो गच्छामः पृथिवीतलम् ।
दानवानां विनाशाय विसृजात्मानमात्मना ॥ ८३॥

'अतः विष्णो ! आप स्वयं आइये । चलिये पृथ्वीपर चलें । वहाँ दानवोंके विनाशके लिये आप स्वयं ही अपने-आपको प्रकट करें ॥ ८३ ॥

मूर्तयो हि तवाव्यक्ता दृश्यादृश्याः सुरोत्तमैः ।
तासु सृष्टास्त्वया देवाः सम्भविष्यन्ति भूतले ॥ ८४ ॥

'आपकी बहुत-सी मूर्तियाँ हैं, जो व्यक्त नहीं होती हैं। श्रेष्ठ देवता भी आपकी कुछ मूर्तियोंको देख पाते हैं और कुछको नहीं देख पाते हैं। आपके द्वारा रचे गये देवता उन्हीं मूर्तियोंमे भूतलपर प्रकट होंगे ॥ ८४ ॥

तवावतरणे विष्णो कंसः स विनशिष्यति ।
सेत्स्यते च स कार्यार्थो यस्यार्थे भूमिरागता ॥ ८५ ॥

'विष्णो ! आपके अवतार लेनेपर ही कंसका विनाश होगा और जिसके लिये पृथ्वी यहाँ आयी थी, वह सारा प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा ॥ ८५ ॥

त्वं भारते कार्यगुरुस्त्वं चक्षुस्त्वं परायणम् ।
तदागच्छ हृषीकेश क्षितौ ताञ्जहि दानवान् ॥ ८६ ॥

'हृषीकेश ! आपको भारतवर्षमें महान् कार्य करना है । आप ही सबके नेत्र हैं (नेत्रोंकी भाँति सन्मार्गका दर्शन कराते हैं) और आप ही सबके परम आश्रय हैं; अतः आइये, भूतलपर अवतार लेकर उन दानवोंका वध कीजिये' ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि नारदवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें नारदका वाक्यविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुके द्वारा नारदजीके कथनका उत्तर तथा ब्रह्माजीका भगवान्से उनके अवतार लेने योग्य स्थान और पिता-माता आदिका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

नारदस्य वचः श्रुत्वा सस्मितं मधुसूदनः ।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं वरेण्यः प्रभुरीश्वरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भोग और मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंके द्वारा जो एकमात्र वरण करने योग्य हैं, वे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर मधुसूदन श्रीहरि नारदजीकी पूर्वोक्त बात सुनकर मुस्कराये और अपनी कल्याणमयी वाणीद्वारा उन्हे उत्तर देते हुए बोले—॥ १ ॥

त्रैलोक्यस्य हितार्थाय यन्मां वदसि नारद ।
तस्य सम्यक्प्रवृत्तस्य श्रूयतामुत्तरं वचः ॥ २ ॥

'नारद ! तुम तीनों लोकोंके हितके लिये मुझसे जो कुछ कह रहे हो, तुम्हारी वह बात उत्तम प्रवृत्तिके लिये प्रेरणा देनेवाली है, अब तुम उसका उत्तर सुनो ॥ २ ॥

विदिता देहिनो जाता मयैते भुवि दानवाः ।
यां च यस्तनुमादाय दैत्यः पुष्यति विग्रहम् ॥ ३ ॥

'अब मुझे भलीभाँति विदित है कि ये दानव भूतल-पर मानव-शरीर धारण करके उत्पन्न हो गये हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि कौन-कौन दैत्य किस-किस शरीरको ग्रहण करके वैरभावकी पुष्टि कर रहा है ॥ ३ ॥

जानामि कंसं सम्भूतमुग्रसेनसुतं भुवि ।
केशिनं चापि जानामि दैत्यं तुरगविग्रहम् ॥ ४ ॥

'मुझे यह भी ज्ञात है कि कालनेमि उग्रसेनपुत्र कंसके रूपमें इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुआ है । घोड़ेका शरीर धारण करनेवाले केशी नामक दैत्यसे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ ॥ ४ ॥

नागं कुवलयापीडं मल्लौ चाणूरमुष्टिकौ ।
अरिष्टं चापि जानामि दैत्यं वृषभरूपिणम् ॥ ५ ॥

'कुवलयापीड़ हाथी, चाणूर और मुष्टिक नामक मल्ल तथा वृषभरूपधारी दैत्य अरिष्टासुरको भी मैं अच्छी तरह जानता हूँ ॥ ५ ॥

विदितो मे खरश्चैव प्रलम्बश्च महासुरः ।
सा च मे विदिता विप्र पूतना दुहिता बलेः ॥ ६ ॥

'विप्रवर ! खर और प्रलम्ब नामक महान् असुर भी मुझसे अज्ञात नहीं हैं । राजा बलिकी पुत्री पूतनाको भी मैं जानता हूँ ॥ ६ ॥

कालियं चापि जानामि यमुनाह्रदगोचरम् ।
वैनतेयभयाद् यस्तु यमुनाह्रदमाविशत् ॥ ७ ॥

'यमुनाके कुण्डमे रहनेवाले कालियनागको भी मैं जानता हूँ, जो गरुड़के भयसे उस कुण्डमें जा घुसा है॥ ७ ॥

विदितो मे जरासंधः स्थितो मूर्ध्नि महीक्षिताम् ।
प्राग्ज्योतिषपुरे चापि नरकं साधु तर्कये ॥ ८ ॥

'मैं उस जरासंधसे भी परिचित हूँ, जो इस समय समस्त भूमिपालोंके मस्तकपर खड़ा है । प्राग्ज्योतिषपुरमें रहनेवाले नरकासुरको भी मैं भलीभाँति जानता हूँ ॥ ८ ॥

मानुषे पार्थिवे लोके मानुषत्वमुपागतम्।
बाणं च शोणितपुरे गुहप्रतिमतेजसम्॥ ९॥
दृप्तं बाहुसहस्रेण देवैरपि सुदुर्जयम्।
मय्यासक्तां च जानामि भारतीं महतीं धुरम्॥ १०॥

'भूतलके मानवलोकमें जो मनुष्यरूप धारण करके उत्पन्न हुआ है, जिसका तेज कुमार कार्तिकेयके समान है, जो शोणितपुरमें निवास करता है और अपनी सहस्र भुजाओंके कारण देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्जय हो रहा है, उस बलाभिमानी दैत्य बाणासुरको भी मैं जानता हूँ तथा यह भी समझता हूँ कि पृथ्वीपर जो भारती सेनाका महान् भार बढ़ा हुआ है, उसे उतारनेका कार्य मुझपर ही अवलम्बित है॥ ९-१०॥

सर्वं तच्च विजानामि यथा योत्स्यन्ति ते नृपाः।
क्षयो भुवि मया दृष्टः शक्रलोके च सत्क्रिया।
एषां पुरुषदेहानामपरावृत्तदेहिनाम्॥ ११॥

'मैं उन सारी बातोंसे परिचित हूँ कि किस प्रकार वे राजालोग आपसमें युद्ध करेंगे, भूतलपर उनका किस तरह संहार होगा और पुनर्जन्मसे रहित दिव्य पुरुष-देह धारण करनेवाले इन नरेशोंको इन्द्रलोकमें किस प्रकार सत्कार प्राप्त होगा—यह सब कुछ मेरी आँखोंके सामने है॥ ११॥

सम्प्रवेक्ष्याम्यहं योगमात्मनश्च परस्य च।
सम्प्राप्य पार्थिवं लोकं मानुषत्वमुपागतः॥ १२॥

'मैं भूलोकमें पहुँचकर मानवशरीर धारण करके स्वयं तो उद्योगका आश्रय लूँगा ही, दूसरोंको भी इसके लिये प्रेरित करूँगा॥ १२॥

कंसादींश्चापि तान् सर्वान् वधिष्यामि महासुरान्।
तेन तेन विधानेन येन यः शान्तिमेष्यति॥ १३॥

'जिस-जिस विधिसे जो-जो असुर मर सकेगा, उस-उस उपायसे ही मैं उन सभी कंस आदि बड़े-बड़े असुरोंका वध करूँगा॥ १३॥

अनुप्रविश्य योगेन तास्ता हि गतयो मया।
अमीषां हि सुरेन्द्राणां हन्तव्या रिपवो युधि॥ १४॥

'मैं योगसे इनके भीतर प्रवेश करके इनकी अन्तर्धान आदि गतियोंको नष्ट कर दूँगा और इस प्रकार युद्धमें इन देवेश्वरोंके शत्रुओंका संहार कर डालूँगा॥ १४॥

जगत्यर्थे कृतो योऽयमंशोत्सर्गो दिवौकसैः।
सुरदेवर्षिगन्धर्वैरितश्चानुमते मम॥ १५॥
विनिश्चयो प्रागेव नारदायं कृतो मया।

'नारद! पृथ्वीके हितके लिये स्वर्गवासी देवताओं, देवर्षियों तथा गन्धर्वोंने यहाँसे जो अपने-अपने अंशका उत्सर्ग किया है, यह सब मेरी अनुमतिसे हुआ है; क्योंकि मैंने पहलेसे ही ऐसा निश्चय कर लिया था॥ १५½॥

निवासं ननु मे ब्रह्मन् विदधातु पितामहः॥ १६॥
यत्र देशे यथा जातो येन वेषेण वा वसन्।
तानहं समरे हन्यां तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १७॥

'ब्रह्मन्! अब यह ब्रह्माजी मेरे लिये निवासस्थानकी व्यवस्था करें। पितामह! अब आप ही मुझे बताइये कि मैं किस प्रदेशमें कैसे प्रकट होकर अथवा किस वेशमें रहकर उन सब असुरोंका समरभूमिमें संहार करूँगा?'॥ १६-१७॥

ब्रह्मोवाच

नारायणेमं सिद्धार्थमुपायं शृणु मे विभो।
भुवि यस्ते जनयिता जननी च भविष्यति॥ १८॥
यत्र त्वं च महाबाहो जातः कुलकरो भुवि।
यादवानां महद् वंशमखिलं धारयिष्यसि॥ १९॥
तांश्चासुरान् समुत्पाट्य वंशं कृत्वाऽऽत्मनो महत्।
स्थापयिष्यसि मर्यादां नृणां तन्मे निशामय॥ २०॥

ब्रह्माजीने कहा—सर्वव्यापी नारायण! आप मुझसे इस उपायको सुनिये, जिसके द्वारा सारा प्रयोजन सिद्ध हो जायगा। महाबाहो! भूतलपर जो आपके पिता होंगे, जो माता होंगी और जहाँ जन्म लेकर आप अपने कुलकी वृद्धि करते हुए यादवोंके सम्पूर्ण विशाल वंशको धारण करेंगे तथा उन समस्त असुरोंका संहार करके अपने वंशका महान् विस्तार करते हुए जिस प्रकार मनुष्योंके लिये धर्मकी मर्यादा स्थापित करेंगे, वह सब बताता हूँ; सुनिये॥ १८-२०॥

पुरा हि कश्यपो विष्णो वरुणस्य महात्मनः।
जहार यज्ञिया गा वै पयोदास्तु महामखे॥ २१॥

विष्णो! पहलेकी बात है, महर्षि कश्यप अपने महान् यज्ञके अवसरपर महात्मा वरुणके यहाँसे कुछ दुधारू गौएँ माँग लाये थे, जो अपने दूध आदिके द्वारा यज्ञकार्यमें बहुत ही उपयोगिनी थीं॥ २१॥

अदितिः सुरभिश्चैते द्वे भार्ये कश्यपस्य तु।
प्रदीयमाना गास्तास्तु नैच्छतां वरुणस्य वै॥ २२॥

यज्ञ-कार्य पूर्ण हो जानेपर भी कश्यपकी दो पत्नी अदिति और सुरभिने वरुणको उनकी गौएँ लौटा देनेकी इच्छा नहीं की॥ २२॥

ततो मां वरुणोऽभ्येत्य प्रणम्य शिरसा ततः।
उवाच भगवन् गावो गुरुणा मे हृता इति॥ २३॥

तब वरुणदेव मेरे पास आये और मस्तक झुकाकर मुझे प्रणाम करनेके पश्चात् बोले—'भगवन्! पिताजीने मेरी गौएँ लाकर रख ली हैं॥ २३॥

कृतकार्यो हि गास्तास्तु नानुजानाति मे गुरुः।
अन्ववर्तत भार्ये द्वे अदितिं सुरभिं तथा॥ २४॥

'यद्यपि उन गौओंसे जो कार्य लेना था, वह पूरा हो गया

है, तो भी पिताजी मुझे उन्हें वापस ले जानेकी आज्ञा नहीं देते हैं। इस विषयमे उन्होंने अपनी दो पत्नियों अदिति और सुरभिके मतका अनुसरण किया है ॥ २४ ॥

मम ता ह्यक्षया गावो दिव्याः कामदुहः प्रभो।
चरन्ति सागरान् सर्वान् रक्षिताः स्वेन तेजसा॥ २५ ॥

'प्रभो! मेरी वे गौएँ दिव्य, अक्षय एवं कामधेनु है तथा अपने ही तेजसे सुरक्षित रहकर समस्त समुद्रोमें विचरण करती हैं ॥ २५ ॥

कस्ता धर्षयितुं शक्तो मम गाः कश्यपादृते।
अक्षयं वा क्षरन्त्यग्र्यं पयो देवामृतोपमम् ॥ २६ ॥

'देव! जो अमृतके समान उत्तम दूधको अविच्छिन्न रूपसे देती रहती हैं, मेरी उन गौओंको पिता कश्यपजीके सिवा दूसरा कौन बलपूर्वक रोक सकता है? ॥ २६ ॥

प्रभुर्वा व्युत्थितो ब्रह्मन् गुरुर्वा यदि वेतरः।
त्वया नियम्याः सर्वे वै त्वं हि नः परमा गतिः ॥ २७ ॥

'ब्रह्मन्! कोई कितना ही शक्तिशाली हो, गुरुजन हो अथवा और कोई हो, यदि वह मर्यादाका त्याग करता है तो आप ही ऐसे सब लोगोंपर नियन्त्रण कर सकते है; क्योंकि आप हम सब लोगोंके परम आश्रय हैं ॥ २७ ॥

यदि प्रभवतां दण्डो लोके कार्यमजानताम्।
न विद्यते लोकगुरो न स्युर्वै लोकसेतवः ॥ २८ ॥

'लोकगुरो! यदि संसारमे अपने कर्तव्यसे अनभिज्ञ रहनेवाले शक्तिशाली पुरुषोंके लिये दण्डकी व्यवस्था न हो तो जगत्‌की सारी मर्यादाएँ नष्ट हो जायँगी ॥ २८ ॥

यथा वास्तु तथा वास्तु कर्तव्ये भगवान् प्रभुः।
मम गावः प्रदीयन्तां ततो गन्तास्मि सागरम् ॥ २९ ॥

'इस कार्यका जैसा परिणाम होनेवाला हो वैसा ही कर्तव्यका पालन करने या करानेमें आप ही हमारे प्रभु हैं। मुझे मेरी गौएँ दिलवा दीजिये, तभी मै समुद्रको जाऊँगा ॥ २९ ॥

या आत्मदेवता गावो या गावः सत्त्वमव्ययम्।
लोकानां त्वत्प्रवृत्तानामेकं गोब्राह्मणं स्मृतम्॥ ३० ॥

'इन गौओंके देवता साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है तथा ये अविनाशी सत्त्वगुणका साकाररूप हैं। आपसे प्रकट हुए जो-जो लोक है, उन सबकी दृष्टिमे गौ तथा ब्राह्मण एक समान माने गये हैं ॥ ३० ॥

त्रातव्याः प्रथमं गावस्त्रातास्त्रायन्ति ता द्विजान्।
गोब्राह्मणपरित्राणे परित्रातं जगद् भवेत् ॥ ३१ ॥

'पहले गौओंकी रक्षा करनी चाहिये। फिर सुरक्षित हुई गौएँ ब्राह्मणोंकी रक्षा करती हैं। गौओ और ब्राह्मणोंकी रक्षा होनेपर सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा हो जाती है' ॥ ३१ ॥

इत्यम्बुपतिना प्रोक्तो वरुणेनाहमच्युत।
गवां कारणतत्त्वज्ञः कश्यपे शापमुत्सृजम् ॥ ३२ ॥

अच्युत! जलके स्वामी वरुणके ऐसा कहनेपर गौओंके कारण-तत्त्वको जाननेवाले मैंने कश्यपको शाप देते हुए कहा— ॥ ३२ ॥

येनांशेन हृता गावः कश्यपेन महर्षिणा।
स तेनांशेन जगतीं गत्वा गोपत्वमेष्यति ॥ ३३ ॥

'महर्षि कश्यपने अपने जिस अंशसे गौओंका अपहरण किया है, उस अंशसे वे पृथ्वीपर जाकर गोप होंगे ॥ ३३ ॥

या च सा सुरभिर्नाम अदितिश्च सुरारणिः।
तेऽप्युभे तस्य भार्ये वै तेनैव सह यास्यतः ॥ ३४ ॥

'वे जो सुरभि नामवाली देवी हैं तथा देवतारूपी अग्निको प्रकट करनेवाली अरणीके समान जो अदिति देवी हैं, वे दोनों पत्नियाँ कश्यपके साथ ही भूलोकमें जायँगी ॥ ३४ ॥

ताभ्यां च सह गोपत्वे कश्यपो भुवि रंस्यते।
स तस्य कश्यपस्यांशस्तेजसा कश्यपोपमः ॥ ३५ ॥
वसुदेव इति ख्यातो गोषु तिष्ठति भूतले।

'गोपयोनिमें प्रकट हुए कश्यप भूतलपर अपनी उन दोनों पत्नियोंके साथ सुखपूर्वक रहेंगे। कश्यपका जो दूसरा अंश कश्यपके समान ही तेजस्वी है, वह भूतलपर वसुदेव नामसे विख्यात हो गौओ और गोपोंके अधिपति रूपसे निवास करेंगे ॥ ३५½ ॥

गिरिर्गोवर्धनो नाम मथुरायास्त्वदूरतः ॥ ३६ ॥
तत्रासौ गोषु निरतः कंसस्य करदायकः।
तस्य भार्याद्वयं जातमदितिः सुरभिश्च ते ॥ ३७ ॥
देवकी रोहिणी चेमे वसुदेवस्य धीमतः।
सुरभी रोहिणी देवी चादितिर्देवकी त्वभूत् ॥ ३८ ॥

'मथुरासे थोडी दूरपर गोवर्धन नामक पर्वत है, जहाँ वे गौओंकी रक्षामे तत्पर रहेंगे और कंसको कर देनेवाले होंगे। वहाँ अदिति और सुरभि नामक इनकी दोनो पत्नियाँ बुद्धिमान् वसुदेवकी देवकी और रोहिणी नामक ही दो भार्याएँ होंगी; उनमे सुरभि तो रोहिणीदेवी कहलायेगी और अदिति देवकी ॥ ३६—३८ ॥

तत्र त्वं शिशुरेवादौ गोपालकृतलक्षणः।
वर्धयस्व महाबाहो पुरा त्रैविक्रमे यथा ॥ ३९ ॥

'महाबाहो! वहाँ आप पहले शिशुरूपमे ही रहकर गोपबालकका चिह्न धारण करके क्रमशः बड़े होइये। ठीक वैसे ही, जैसे त्रिविक्रमावतारके समय आप वामनसे बढ़कर विराट् हो गये थे ॥ ३९ ॥

छादयित्वाऽऽत्मनाऽऽत्मानं मायया योगरूपया।
तत्रावतर लोकानां भवाय मधुसूदन ॥ ४० ॥

'मधुसूदन ! योगमायाके द्वारा स्वयं ही अपने स्वरूपको आच्छादित करके आप लोकहितके लिये वहाँ अवतार लीजिये॥

जयाशीर्वचनैस्त्वेते वर्धयन्ति दिवौकसः।
आत्मानमात्मना हि त्वमवतार्य महीतले ॥ ४१ ॥
देवकीं रोहिणीं चैव गर्भाभ्यां परितोषय।
गोपकन्यासहस्राणि रमयंश्चर मेदिनीम् ॥ ४२ ॥

'ये देवतालोग विजयसूचक आशीर्वाद देकर आपके अभ्युदयकी कामना करते हैं। आप पृथ्वीपर स्वयं अपने-आपको उतारकर दो गर्भोंके रूपमें प्रकट हो माता देवकी तथा रोहिणीको संतुष्ट कीजिये। साथ ही यथासमय सहस्रों गोप-कन्याओंको आनन्द प्रदान करते हुए व्रजभूमिमें विचरण कीजिये ॥ ४१-४२ ॥

गाश्च ते रक्षतो विष्णो वनानि परिधावतः।
वनमालापरिक्षिप्तं धन्या द्रक्ष्यन्ति ते वपुः ॥ ४३ ॥

'विष्णो ! वहाँ गौओंकी रक्षा करते हुए जब आप वन-वनमें दौड़ते फिरेंगे, उस समय आपके वनमालाविभूषित मनोहर रूपका जो लोग दर्शन करेंगे, वे धन्य हो जायँगे ॥ ४३ ॥

विष्णौ पद्मपलाशाक्षे गोपालवसतिं गते।
बाले त्वयि महाबाहो लोको बालत्वमेष्यति ॥ ४४ ॥

'महाबाहो ! विकसित कमलदलके समान नेत्रवाले आप सर्वव्यापी परमेश्वर जब ग्वालबालके रूपमें व्रजमें निवास करेंगे, उस समय सब लोग आपके बालरूपकी झाँकी करके स्वयं भी बालक बन जायँगे (बाललीलाके रसास्वादनमें मग्न हो जायँगे) ॥ ४४ ॥

त्वद्भक्ताः पुण्डरीकाक्ष तव चित्तवशानुगाः।
गोपु गोपा भविष्यन्ति सहायाः सततं तव ॥ ४५ ॥

'कमलनयन ! आपके चित्तके अनुकूल चलनेवाले आपके भक्तजन वहाँ गौओंकी सेवाके लिये गोप बनकर प्रकट होंगे और सदा आपके साथ-साथ रहेंगे ॥ ४५ ॥

वने चारयतो गाश्च गोष्ठेषु परिधावतः।
मज्जतो यमुनायां च रतिं प्राप्स्यन्ति ते त्वयि ॥ ४६ ॥

'जब आप वनमें गौएँ चराते होंगे, व्रजमें इधर-उधर दौड़ते होंगे तथा यमुनाजीके जलमें गोते लगाते होंगे, उन सभी अवसरोंपर आपका दर्शन करके वे भक्तजन आपमें उत्तरोत्तर अनुराग प्राप्त करेंगे ॥ ४६ ॥

जीवितं वसुदेवस्य भविष्यति सुजीवितम्।
यस्त्वया तात इत्युक्तः स पुत्र इति वक्ष्यति ॥ ४७ ॥

'वसुदेवका जीवन वास्तवमें उत्तम जीवन होगा, जो आपके द्वारा 'तात' कहकर पुकारे जानेपर आपसे 'बेटा' कहकर बोलेंगे ॥ ४७ ॥

अथवा कस्य पुत्रत्वं गच्छेथाः कश्यपादृते।
का च धारयितुं शक्ता त्वां विष्णो अदितिं विना ॥ ४८ ॥

'विष्णो ! अथवा आप कश्यपके सिवा दूसरे किसके पुत्र होंगे ? देवी अदितिके बिना दूसरी कौन-सी स्त्री आपको गर्भमें धारण कर सकेगी ॥ ४८ ॥

योगेनात्मसमुत्थेन गच्छ त्वं विजयाय वै।
वयमप्यालयान् स्वान् स्वान् गच्छामो मधुसूदन ॥ ४९ ॥

'मधुसूदन ! आप अपने स्वाभाविक योगबलसे असुरोंपर विजय पानेके लिये यहाँसे प्रस्थान कीजिये और अब हम-लोग भी अपने-अपने निवासस्थानको जा रहे हैं' ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

स देवानभ्यनुज्ञाय विविक्ते त्रिदिवालये।
जगाम विष्णुः स्वं देशं क्षीरोदस्योत्तरां दिशम् ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवलोकके उस पुण्यप्रदेशमें बैठे हुए भगवान् विष्णु देवताओंको जानेकी आज्ञा देकर क्षीरसागरसे उत्तर दिशामें स्थित अपने निवासस्थानको चले गये ॥ ५० ॥

तत्र वै पार्वती नाम गुहा मेरोः सुदुर्गमा।
त्रिभिस्तस्यैव विक्रान्तैर्नित्यं पर्वसु पूजिता ॥ ५१ ॥

वहाँ मेरुपर्वतकी पार्वती नामसे प्रसिद्ध एक अत्यन्त दुर्गम गुफा है, जो भगवान् विष्णुके तीन चरणचिह्नोंसे उपलक्षित होती है; इसीलिये पर्वके अवसरोंपर सदा उसकी पूजा की जाती है ॥ ५१ ॥

पुराणं तत्र विन्यस्य देहं हरिरुदारधीः।
आत्मानं योजयामास वसुदेवगृहे प्रभुः ॥ ५२ ॥

उदारबुद्धिवाले भगवान् श्रीहरिने अपने पुरातन विग्रहको वहीं स्थापित करके अपने-आपको वसुदेवजीके घरमें अवतीर्ण होनेके कार्यमें लगा दिया ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे हरिवंशपर्वणि पितामहवाक्ये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत हरिवंशपर्वमें ब्रह्माजीका वचनविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

हरिवंशपर्व सम्पूर्ण।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

तस्य खिलभागो हरिवंशः

(तत्र विष्णुपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

मङ्गलाचरण, नारदजीका मथुरामें आकर कंसको आनेवाले भयकी सूचना देना और कंसका अपने सेवकोंके सामने बढ़-बढ़कर बातें बनाना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

बदरिकाश्रमनिवासी प्रसिद्ध ऋषि श्रीनारायण (अथवा अन्तर्यामी नारायण), नर (नारायणसखा अर्जुन अथवा आदि जीव हिरण्यगर्भ) तथा नरोत्तम (इन हिरण्यगर्भ एवं अन्तर्यामीसे भी श्रेष्ठ शुद्ध सच्चिदानन्दघन पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण) को और (इन नर-नारायण तथा नरोत्तमके तत्त्वको प्रकट करनेवाली) देवी सरस्वतीको एवं (देवी सरस्वतीने संसारपर अनुग्रह करनेके लिये जिनके शरीरमें प्रवेश किया है, उन) व्यासजीको प्रणाम करके अविद्यारूपी अज्ञानान्धकारको जीतनेवाले इतिहास-पुराण आदि ग्रन्थोंका पाठ आरम्भ करे ॥

वैशम्पायन उवाच

ज्ञात्वा विष्णुं क्षितिगतं भागांश्च त्रिदिवौकसाम्।
विनाशशंसी कंसस्य नारदो मथुरां ययौ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् विष्णु और देवताओंके अंश भूतलपर अवतीर्ण हो चुके हैं, यह जानकर देवर्षि नारद कंसको उसके निकटवर्ती विनाशकी सूचना देनेके लिये मथुराको गये ॥ १ ॥

त्रिविष्टपादापतितो मथुरोपवने स्थितः।
प्रेषयामास कंसस्य दूतं स मुनिपुङ्गवः॥ २ ॥

स्वर्गसे उतरकर वे मथुराके उपवनमें खड़े हो गये और वहींसे उन मुनिश्रेष्ठने कंसके पास एक दूत भेजा ॥ २ ॥

स दूतः कथयामास मुनेरागमनं वने।
स नारदस्यागमनं श्रुत्वा त्वरितविक्रमः॥ ३ ॥
निर्जगामासुरः कंसः स्वपुर्याः पद्मलोचनः।

उस दूतने कंसके पास जाकर बताया कि नगरके उपवनमें देवर्षि नारद पधारे हैं। नारदजीके आगमनका समाचार सुनकर कमललोचन असुर कंस जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाता हुआ अपनी पुरीसे बाहर निकला ॥ ३½ ॥

स ददर्शातिथिं श्लाघ्यं देवर्षिं वीतकल्मषम्॥ ४ ॥
तेजसा ज्वलनाकारं वपुषा सूर्यवर्चसम्।
सोऽभिवाद्यर्षये तस्मै पूजां चक्रे यथाविधि॥ ५ ॥

उपवनमें पहुँचकर उसने वहाँ अपने स्पृहणीय अतिथि देवर्षि नारदका दर्शन किया, जो पाप-तापसे रहित थे। उनका तेज प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ता था, वे शरीरसे सूर्यके समान दीप्तिमान् दिखायी देते थे। कंसने देवर्षिको प्रणाम करके उनका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ ४-५ ॥

आसनं चाग्निवर्णाभं विसृज्योपजहार सः।
निषसादासने तस्मिन् स वै शक्रसखो मुनिः॥ ६ ॥

उसने उनके लिये अग्निके समान कान्तिमान् सुवर्णमय आसन देकर क्रमशः अर्घ्य, पाद्य आदि उपहार प्रस्तुत किये। तत्पश्चात् इन्द्रके सखा नारद मुनि उस आसनपर बैठे ॥६॥

उवाच चोग्रसेनस्य सुतं परमकोपनम्।
पूजितोऽहं त्वया वीर विधिदृष्टेन कर्मणा॥ ७ ॥
गते त्वेवं मम वचः श्रूयतां गृह्यतां त्वया।

बैठनेके बाद वे परम क्रोधी उग्रसेनपुत्र कंससे बोले—'वीर ! तुमने मेरा शास्त्रीय विधिसे पूजन किया है, इसलिये मैं तुम्हें एक आवश्यक बात बताता हूँ, तुम मेरे उस वचनको सुनो और ग्रहण करो ॥ ७½ ॥

अनुसृत्य दिवोलोकानहं ब्रह्मपुरोगमान्॥ ८ ॥
गतः सूर्यसखं तात विपुलं मेरुपर्वतम्।
सनन्दनवनं चैव दृष्ट्वा चैत्ररथं वनम्॥ ९ ॥

आप्लुतं सर्वतीर्थेषु सरित्सु सह दैवतैः।
दिव्या त्रिधारा दृष्टा मे पुण्या त्रिपथगा नदी ॥ १० ॥
स्मरणादेव सर्वेषामंहसां या विभेदिनी।

'तात ! मैं ब्रह्मलोक आदि सभी स्वर्गीय लोकोंमें घूमता हुआ उस विशाल मेरुपर्वतपर जा पहुँचा, जो सूर्यदेवका सखा है। फिर नन्दनवन और चैत्ररथवनका दर्शन करके मैंने देवताओंके साथ सम्पूर्ण तीर्थों और सरिताओंमें स्नान किया। उसके बाद तीन धाराओंमें बँटी हुई दिव्य त्रिपथगा नदी पुण्यसलिला गङ्गाका दर्शन किया, जो स्मरणमात्रसे ही समस्त पापोंका विनाश कर देनेवाली हैं ॥ ८–१०½ ॥

उपस्पृष्टं च तीर्थेषु दिव्येषु च यथाक्रमम् ॥ ११ ॥
दृष्टं मे ब्रह्मसदनं ब्रह्मर्षिगणसेवितम्।
देवगन्धर्वनिर्घोषैरप्सरोभिश्च नादितम् ॥ १२ ॥

'तत्पश्चात् क्रमशः दिव्य तीर्थोंमें स्नान एवं आचमन करके मैंने ब्रह्मर्षियोंसे सेवित ब्रह्माजीके भवनका दर्शन किया, जो देवगन्धर्वोंके वाद्यघोषसे गूँजता और अप्सराओंके मधुर गीतोंसे निनादित होता रहता है ॥११-१२ ॥

सोऽहं कदाचिद् देवानां समाजे मेरुमूर्धनि।
संगृह्य वीणां संसक्तामगच्छं ब्रह्मणः सभाम् ॥१३ ॥

'वहाँसे होकर मैं किसी समय हाथमें वीणा लिये मेरुके शिखरपर विराजमान ब्रह्माजीकी सभामें गया, जहाँ देवताओंका समाज जुटा हुआ था ॥ १३ ॥

सोऽहं तत्र सितोष्णीषान् नानारत्नविभूषितान्।
दिव्यासनगतान् देवानपश्यं सपितामहान् ॥१४॥

'वहाँ देखा कि श्वेत पगड़ी धारण किये नाना रत्नोंसे विभूषित ब्रह्मा आदि सभी देवता दिव्य सिंहासनपर बैठे हुए हैं ॥ १४ ॥

तत्र मन्त्रयतामेवं देवतानां मया श्रुतः।
भवतः सानुगस्यैव वधोपायः सुदारुणः ॥१५॥

'उस सभामें देवताओंकी जो गुप्त मन्त्रणा हो रही थी, उसमें मैंने सुना कि सेवकोंसहित तुम्हारे वधके अत्यन्त दारुण उपायका ही विचार हो रहा है ॥ १५ ॥

तत्रैषा देवकी या ते मथुरायां लघुस्वसा।
योऽस्यां गर्भोऽष्टमः कंस स ते मृत्युर्भविष्यति ॥१६॥

'कंस ! वहाँ जो कुछ मैंने सुना है, उसके अनुसार मथुरामें जो तुम्हारी यह छोटी बहिन देवकी है, इसका आठवाँ गर्भ तुम्हारे लिये मृत्युरूप होगा ॥ १६ ॥

देवानां स तु सर्वस्वं त्रिदिवस्य गतिश्च सः।
परं रहस्यं देवानां स ते मृत्युर्भविष्यति ॥ १७ ॥

'वह गर्भ देवताओंका सर्वस्व तथा स्वर्गलोकका आश्रय होगा। वह देवताओंका परम गोपनीय रहस्य है। वही तुम्हारी मृत्युका कारण होगा ॥ १७ ॥

परश्चैवापरस्तेषां स्वयम्भूश्च दिवौकसाम्।
ततस्ते तन्महद्भूतं दिव्यं च कथयाम्यहम् ॥ १८ ॥

'वही देवताओंका पर और अपर (मोक्ष और स्वर्ग) है। वही उन स्वर्गवासियोंका स्वयम्भू ब्रह्मा है। इसीलिये मैं तुमसे कहता हूँ कि वह महान् दिव्य भूत है ॥ १८ ॥

श्लाघ्यश्च स हि ते मृत्युर्भूतपूर्वश्च तं स्मर।
यत्नश्च क्रियतां कंस देवक्या गर्भकृन्तने ॥ १९ ॥

'कंस ! वही पहले भी तुम्हारी मृत्यु रहा है और इस समय भी तुम्हारे लिये प्रशंसनीय मृत्युरूप होगा, अतः तुम देवकीके गर्भका उच्छेद करनेके लिये प्रयत्न करो ॥ १९ ॥

एषा मे त्वद्गता प्रीतिर्यदर्थं चाहमागतः।
भुज्यन्तां सर्वकामार्थाः स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम् ।२०।

'यह मेरा तुम्हारे ऊपर प्रेम है, जिसके लिये मैं यहाँतक आया हूँ। अच्छा, अब तुम सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंका उपभोग करो, तुम्हारा कल्याण हो, मैं जाता हूँ' ॥२०॥

इत्युक्त्वा नारदे याते तस्य वाक्यं विचिन्तयन्।
जहासोच्चैस्ततः कंसः प्रकाशदशनश्चिरम् ॥ २१ ॥

ऐसा कहकर जब नारदजी चले गये, तब कंस बहुत देरतक उनकी बातोंपर विचार करता रहा; फिर वह दाँत दिखाकर जोर-जोरसे अट्टहास करने लगा ॥ २१ ॥

प्रोवाच सस्मितं चैव भृत्यानामग्रतः स्थितः।
हास्यः खलु स सर्वेषु नारदो न विशारदः ॥ २२ ॥

और अपने सेवकोंके सामने खड़ा हो मुसकराकर बोला–'यह नारद मुनि सर्वसाधारणमें उपहासके ही पात्र हैं, विशेष चतुर नहीं हैं ॥ २२ ॥

नाहं भीषयितुं शक्यो दैवैरपि सवासवैः।
आसनस्थः शयानो वा प्रमत्तो मत्त एव च ॥ २३ ॥

'मैं बैठा अथवा सोया रहूँ, असावधान या मतवाला होऊँ, किसी भी दशामें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी मुझे डरा नहीं सकते ॥ २३ ॥

योऽहं दोर्भ्यामुदाराभ्यां क्षोभयेयं धरामिमाम्।
कोऽस्ति मां मानुषे लोके यः क्षोभयितुमुत्सहेत् ॥ २४ ॥

'मैं अपनी दोनों विशाल भुजाओंसे इस धरातलको क्षुब्ध कर सकता हूँ। मनुष्यलोकमें कौन ऐसा पुरुष है, जो मुझे क्षोभमें डालनेका साहस कर सके ॥ २४ ॥

अद्यप्रभृति देवानामेव देवानुवर्तिनाम्।
नृपक्षिपशुसंघानां करोमि कदनं महत् ॥ २५ ॥

'यह लो, आजसे मैं देवताओं तथा उनका अनुसरण

करनेवाले मनुष्यों, पक्षियों और पशुसमूहोंका महान् संहार करूँगा ॥ २५ ॥

आज्ञाप्यतां हयः केशी प्रलम्बो धेनुकस्तथा।
अरिष्टो वृषभश्चैव पूतना कालियस्तथा ॥ २६ ॥
अटध्वं पृथिवीं कृत्स्नां यथेष्टं कामरूपिणः।
प्रहरध्वं च सर्वेषु येऽस्माकं पक्षदूषकाः ॥ २७ ॥

'अश्वरूपधारी केशी, प्रलम्ब, धेनुक, वृषभरूपधारी अरिष्ट, पूतना और कालियनागको आज्ञा दे दो कि तुम सब लोग इच्छानुसार रूप धारण करके सारी पृथ्वीपर अपनी मौजसे घूमो और जो हमारे पक्षकी निन्दा करनेवाले हों, उन सबपर प्रहार करो ॥ २६-२७ ॥

गर्भस्थानामपि गतिर्विज्ञेया चैव देहिनाम्।
नारदेन हि गर्भेभ्यो भयं नः समुदाहृतम् ॥ २८ ॥

'जो प्राणी गर्भमें निवास करते हों, उनका भी पता लगा लेना चाहिये; क्योंकि नारदजीने मेरे लिये गर्भोंसे ही भय बताया है ॥ २८ ॥

भवन्तो हि यथाकामं मोदन्तां विगतज्वराः।
मां च वो नाथमाश्रित्य नास्ति देवकृतं भयम् ॥ २९ ॥

'तुमलोग निश्चिन्त होकर इच्छानुसार आनन्द भोगो। मैं तुम्हारा स्वामी और संरक्षक हूँ। मेरा आश्रय लेकर तुम्हें देवताओंकी ओरसे कोई भय नहीं है ॥ २९ ॥

स तु केलिकिलो विप्रो भेदशीलश्च नारदः।
सुश्लिष्टानपि लोकेऽस्मिन् भेदयँल्लभते रतिम् ॥ ३० ॥

'नारद बाबा तो युद्ध करानेका ही खेल खेलते हैं। लोगोंमें फूट डाल देना उनका स्वभाव है। इस संसारमें जो लोग बड़े स्नेहसे भलीभाँति मिल-जुलकर रहते हैं, उनमें भी फूट डालनेमें इन्हें आनन्द आता है ॥ ३० ॥

कण्डूयमानः सततं लोकानटति चञ्चलः।
घटमानो नरेन्द्राणां तन्त्रैर्वैराणि चैव हि ॥ ३१ ॥

'ये बड़े चञ्चल हैं और लोगोंमें सदा संघर्ष पैदा करते हुए घूमते रहते हैं। विभिन्न उपायोंद्वारा राजाओंमें वैर बढ़ा देनेके लिये ये सर्वदा सचेष्ट रहते हैं' ॥ ३१ ॥

एवं स विलपन्नेव वाङ्मात्रेणैव केवलम्।
विवेश कंसो भवनं दह्यमानेन चेतसा ॥ ३२ ॥

इस प्रकार केवल वाणीमात्रसे प्रलाप करता हुआ कंस अपने भवनमें चला गया। उस समय उसका चित्त चिन्ताकी आगमें जल रहा था ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि नारदागमने कंसवाक्ये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें नारदजीका आगमन तथा कंसका वाक्यविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥



द्वितीयोऽध्यायः

कंसद्वारा देवकीके गर्भके विनाशका प्रयत्न, भगवान् विष्णुका पाताललोकमें स्थित 'षड्गर्भ' नामक दैत्योंके जीवोंका आकर्षण करके उन्हें निद्रा देवीके हाथमें देना और देवकीके गर्भमें क्रमशः स्थापित करनेका आदेश देकर अन्य कर्तव्य बताना तथा कार्यसाधनके अनन्तर बढ़नेवाली उस देवीकी महिमाका उल्लेख

वैशम्पायन उवाच

सोऽज्ञापयत संरब्धः सचिवानात्मनो हि तान्।
यत्ता भवत सर्वे वै देवक्या गर्भकृन्तने ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! क्रोधमें भरे हुए कंसने अपने हितैषी मन्त्रियोंको आज्ञा दी कि तुम सब लोग देवकीके गर्भका उच्छेद करनेके लिये उद्यत हो जाओ ॥ १ ॥

प्रथमादेव हन्तव्या गर्भास्ते सप्त एव हि।
मूलादेव तु हन्तव्यः सोऽनर्थो यत्र संशयः ॥ २ ॥

पहले गर्भसे ही आरम्भ करके वे सातों गर्भ नष्ट कर देने चाहिये। जहाँ संशय हो, उस अनर्थका मूलसे ही उच्छेद कर देना आवश्यक है ॥ २ ॥

देवकी च गृहे गुप्ता प्रच्छन्नैरभिरक्षिता।
स्वैरं चरतु विश्रब्धा गर्भकाले तु रक्ष्यताम् ॥ ३ ॥

देवकी अपने भवनमें गुप्त रक्षकोंद्वारा सुरक्षित रहकर अपनी इच्छाके अनुसार निर्भय विचरे; परंतु जब वह गर्भवती हो जाय, उस समय उसे विशेष नियन्त्रणमें रखना चाहिये ॥ ३ ॥

मासान् वै पुष्पमासादीन् गणयन्तु मम स्त्रियः।
परिणामे तु गर्भस्य शेषं ज्ञास्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

मेरी स्त्रियाँ रजस्वलावस्थासे ही आरम्भ करके उसके गर्भधारणके मासोंकी गणना करती रहें। जब गर्भके परिपक्व होकर प्रकट होनेका समय आ जाय, तबसे जो शेष कृत्य है, उसे हमलोग स्वयं ही समझ लेंगे ॥ ४ ॥

वसुदेवस्तु संरक्ष्यः स्त्रीसनाथासु भूमिषु।
अप्रमत्तैर्मम हितै रात्रावहनि चैव हि।

स्त्रीभिर्वर्षवरैश्चैव वक्तव्यं न तु कारणम् ॥ ५ ॥

मेरे हितैषी सेवक रात-दिन सावधान रहकर स्त्रियोंसे सनाथ अन्तःपुरमें वसुदेवजीकी भलीभाँति रक्षा (देखभाल) करें। स्त्रियाँ और हिंजड़े भी उनपर कड़ी दृष्टि रखें, परंतु इसका कारण उन्हें नहीं बताना चाहिये ॥ ५ ॥

एष मानुष्यको यत्नो मानुषैरेव साध्यते।
श्रूयतां येन दैवं हि मद्विधैः प्रतिहन्यते ॥ ६ ॥

मनुष्योंद्वारा किया जानेवाला यह उपाय उन्हींसे साध्य हो सकता है, परंतु मेरे-जैसे शक्तिशाली पुरुष जिस उपायसे दैवको भी प्रतिहत (निष्फल) कर देते हैं, उसे सुनो ॥६॥

मन्त्रग्रामैः सुविहितैरौषधैश्च सुयोजितैः।
यत्नेन चानुकूलेन दैवमप्यनुलोम्यते ॥ ७ ॥

भलीभाँति किये हुए मन्त्रसमूहोंके जप, अच्छी तरह उपयोगमें लाये हुए औषधोंके सेवन तथा अनुकूल प्रयत्नसे दैवको भी अपने अनुकूल बना लिया जाता है ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स यत्नवान् कंसो देवकीगर्भकृन्तने।
भयेन मन्त्रयामास श्रुतार्थो नारदात् स वै ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार कंस देवकीके गर्भका विनाश करनेके यत्नमें लग गया। नारदजीसे सारी बातें वह सुन चुका था, इसलिये भयसे प्रेरित होकर अपनी रक्षाके लिये मन्त्रियोंके साथ मन्त्रणा करने लगा ॥८॥

एवं श्रुत्वा प्रयत्नं वै कंसस्यारिष्टसंज्ञितम्।
अन्तर्धानं गतो विष्णुश्चिन्तयामास वीर्यवान् ॥ ९ ॥

कंसका सारा प्रयत्न जगत्के लिये उत्पातरूप ही था, उसे सुनकर अदृश्य भावसे वहाँ स्थित हुए परम पराक्रमी भगवान् विष्णुने इस प्रकार विचार किया—॥ ९ ॥

सप्तेमान् देवकीगर्भान् भोजपुत्रो वधिष्यति।
अष्टमे च मया गर्भे कार्यमाधानमात्मनः ॥ १० ॥

'भोजकुमार कंस देवकीके इन सात गर्भोंको मार डालेगा। अथवा आठवें गर्भमें मुझे अपने स्वरूपका आधान करना चाहिये' ॥ १० ॥

तस्य चिन्तयतस्त्वेवं पातालमगमन्मनः।
यत्र ते गर्भशयनाः षड्गर्भा नाम दानवाः ॥ ११ ॥

इस प्रकार सोचते हुए भगवान्‌का मन सहसा पातालकी ओर गया, जहाँ वे गर्भमें शयन करनेवाले षड्गर्भ नामक दानव विद्यमान थे ॥ ११ ॥

विक्रान्तवपुषो दीप्तास्तेऽमृतप्राशनोपमाः।
अमरप्रतिमा युद्धे पुत्रा वै कालनेमिनः ॥ १२ ॥

उनके शरीर बल-विक्रमसे सम्पन्न थे। वे अमृतभोजी देवताओंके समान तेजस्वी थे और युद्धमें देवताओंके तुल्य पराक्रम प्रकट करते थे। वे सब-के-सब कालनेमि नामक दैत्यके पुत्र थे ॥ १२ ॥

ते ताततातं संत्यज्य हिरण्यकशिपुं पुरा।
उपासांचक्रिरे दैत्याः पुरा लोकपितामहम् ॥ १३ ॥

पहलेकी बात है, वे दैत्य अपने पिताके भी पिता हिरण्यकशिपुको छोड़कर लोकपितामह ब्रह्माजीकी उपासना करने लगे ॥ १३ ॥

तप्यमानास्तपस्तीव्रं जटामण्डलधारिणः।
तेषां प्रीतोऽभवद् ब्रह्मा षड्गर्भाणां वरं ददौ ॥ १४ ॥

सिरपर जटाका भार धारण किये वे तीव्र तपस्यामें लग गये। तब ब्रह्माजी उन 'षड्गर्भ' नामक दैत्योंपर प्रसन्न हो गये और उन्हें वर देने लगे ॥ १४ ॥

ब्रह्मोवाच

भो भो दानवशार्दूलास्तपसाहं सुतोषितः।
ब्रूत वो यस्य यः कामस्तस्य तं तं करोम्यहम् ॥ १५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—दानवकुलमें सिंहके समान पराक्रमी वीरो! मैं तुम्हारी तपस्यासे बहुत संतुष्ट हूँ। तुममेंसे जिसे जिस वस्तुकी इच्छा हो, उसे बताओ; मैं वह सब पूर्ण करूँगा ॥

ते तु सर्वे समानार्था दैत्या ब्रह्माणमब्रुवन्।
यदि नो भगवान् प्रीतो दीयतां नो वरो वरः ॥ १६ ॥

उन सब दैत्योंका प्रयोजन या मनोरथ एक-सा ही था। वे ब्रह्माजीसे बोले—'भगवन्! यदि आप हमपर प्रसन्न हों तो हमें यह श्रेष्ठ वर दीजिये ॥ १६ ॥

अवध्याः स्याम भगवन् दैवतैः समहोरगैः।
शापप्रहरणैश्चैव स्वस्ति नोऽस्तु महर्षिभिः' ॥ १७ ॥

'भगवन्! हम देवताओं तथा बड़े-बड़े नागोंसे भी अवध्य हों। जो शापद्वारा प्रहार करनेवाले हैं, उन महर्षियोंसे भी हमारा सदा कल्याण ही हो ॥ १७ ॥

यक्षगन्धर्वपतिभिः सिद्धचारणमानवैः।
मा भूद् वधो नो भगवन् ददासि यदि नो वरम् ॥ १८ ॥

'भगवन्! यदि आप हमें वर दे रहे हैं, तो यक्ष, गन्धर्वपति, सिद्ध, चारण तथा मनुष्योंद्वारा हमारा वध न हो' ॥

तानुवाच ततो ब्रह्मा सुप्रीतेनान्तरात्मना।
भवद्भिर्यदिदं प्रोक्तं सर्वमेतद् भविष्यति ॥ १९ ॥

तब ब्रह्माजीने उनके प्रति अत्यन्त प्रसन्नचित्तसे कहा—'तुमलोगोंने यह जो कुछ कहा है, वह सब पूरा होगा' ॥१९॥

षड्गर्भाणां वरं दत्त्वा स्वयम्भूस्त्रिदिवं गतः।
ततो हिरण्यकशिपुः सरोषो वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

'उन 'षड्गर्भ' नामवाले दैत्योंको इस प्रकार वर देकर स्वयम्भू ब्रह्माजी ब्रह्मलोकको चले गये। उधर हिरण्यकशिपुने रोषमें भरकर उनसे कहा—॥ २० ॥

मामुत्सृज्य वरो यस्माद् धृतो वः पद्मसम्भवात्।
तस्माद् वस्त्याजितः स्नेहः शत्रुभूतांस्त्यजाम्यहम्॥२१॥

'अरे! तुमने मुझे छोड़कर कमलयोनि ब्रह्माजीसे वर ग्रहण किया है; अतः अपने प्रति मेरे स्नेहका त्याग करा दिया। अब तुमलोग मेरे शत्रुभूत हो, इसलिये तुम्हें त्याग देता हूँ॥ २१ ॥

षड्गर्भा इति योऽयं वः शब्दः पित्राभिवर्धितः।
स एव वो गर्भगतान् पिता सर्वान् वधिष्यति॥ २२॥

'जिस पिताने तुम्हें 'षड्गर्भ' नाम दिया और पाल-पोसकर बड़ा किया है, वही गर्भमें स्थित होनेपर तुम सब लोगोंका वध कर डालेगा॥ २२ ॥

षडेव देवकीगर्भे षड्गर्भा वै महासुराः।
भविष्यथ ततः कंसो गर्भस्थान् वो वधिष्यति॥ २३॥

'तुम छहों 'षड्गर्भ' नामक महान् असुर देवकीके गर्भमें स्थित होओगे। तब कंस (जो तुम्हारे पिता कालनेमिका ही स्वरूप होगा) तुम गर्भस्थ बालकोंका वध कर डालेगा'॥

वैशम्पायन उवाच

जगामाथ ततो विष्णुः पातालं यत्र तेऽसुराः।
षड्गर्भाः संयताः सन्ति जले गर्भगृहेशयाः॥ २४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उनकी याद आते ही भगवान् विष्णु पाताललोकमें गये, जहाँ वे 'षड्गर्भ' नामक असुर संयमनिष्ठ होकर जलके भीतर गर्भगृहमें शयन करते थे॥

संददर्श जले सुप्तान् षड्गर्भान् गर्भसंस्थितान्।
निद्रया कालरूपिण्या सर्वानन्तर्हितान् स वै॥ २५॥

उन्होंने देखा, सब 'षड्गर्भ' नामक दैत्य कालरूपिणी निद्रासे तिरोहित होकर जलके भीतर गर्भगृहमें सो रहे हैं॥

स्वप्नरूपेण तेषां वै विष्णुर्देहानथाविशत्।
प्राणेश्वरांश्च निष्कृष्य निद्रायै प्रददौ तदा॥ २६॥

तब भगवान् विष्णु स्वप्नरूपसे उनके शरीरोंमें प्रविष्ट हुए और उनके जीवोंको खींचकर उन्होंने निद्राकी अधिष्ठात्री देवीके हाथमें दे दिया॥ २६ ॥

तां चोवाच ततो निद्रां विष्णुः सत्यपराक्रमः।
गच्छ निद्रे मयोत्सृष्टा देवकीभवनान्तिकम्॥ २७॥
इमान् प्राणेश्वरान् गृह्य षड्गर्भान् दानवोत्तमान्।
षड्गर्भान् देवकीगर्भे योजयस्व यथाक्रमम्॥ २८॥

तत्पश्चात् सत्यपराक्रमी भगवान् विष्णु उस निद्रासे बोले—'निद्रे! तुम मेरी प्रेरणासे इन जीवोंको लेकर देवकीके घरके निकट जाओ। ये सब-के-सब 'षड्गर्भ' नामवाले श्रेष्ठ दानव हैं। इन सब षड्गर्भोंको क्रमशः देवकीके गर्भमें स्थापित करती रहो॥ २७-२८ ॥

जातेष्वेतेषु गर्भेषु नीतेषु च यमक्षयम्।
कंसस्य विफले यत्ने देवक्याः सफले श्रमे॥ २९॥
प्रसादं ते करिष्यामि मत्प्रभावसमं भुवि।
येन सर्वस्य लोकस्य देवि देवी भविष्यसि॥ ३०॥

'जब ये गर्भ जन्म लेकर कंसद्वारा यमलोक पहुँचा दिये जायँगे, जब कंसका प्रयत्न निष्फल और देवकीका परिश्रम सफल हो जायगा, तब मैं तुमपर विशेष कृपा करूँगा। देवि! उस समयसे भूतलपर तुम्हारा प्रभाव मेरे प्रभावके समान ही हो जायगा, जिससे तुम सम्पूर्ण जगत्‌की आराध्य देवी बन जाओगी॥ २९-३० ॥

सप्तमो देवकीगर्भो योंऽशः सौम्यो ममाग्रजः।
स संक्रामयितव्यस्ते सप्तमे मासि रोहिणीम्॥ ३१॥

'देवकीका जो सातवाँ गर्भ होगा, वह मेरा ही सौम्य अंश होगा और मुझसे पहले अवतीर्ण होनेके कारण मेरा बड़ा भाई होगा। वह गर्भ जब सात महीनेका हो जाय, तब उस सातवें मासमें ही तुम उसे खींचकर रोहिणीदेवीके गर्भमें स्थापित कर देना॥ ३१ ॥

संकर्षणात्तु गर्भस्य स तु संकर्षणो युवा।
भविष्यत्यग्रजो भ्राता मम शीतांशुदर्शनः॥ ३२॥

'गर्भका संकर्षण होनेसे वह तरुण वीर 'संकर्षण' नामसे प्रसिद्ध होगा, चन्द्रमाके समान गौर वर्णसे सुशोभित दिखायी देगा तथा वह मेरा बड़ा भाई होगा॥ ३२ ॥

पतितो देवकीगर्भः सप्तमोऽयं भयादिति।
अष्टमे मयि गर्भस्थे कंसो यत्नं करिष्यति॥ ३३॥

'उस समय लोग यही कहेंगे कि 'देवकीका सातवाँ गर्भ कंसके भयसे गिर गया।' आठवें शिशुके रूपमें जब मैं गर्भमें आऊँगा, तब कंस मुझे भी मारनेका प्रयास करेगा॥ ३३ ॥

या तु सा नन्दगोपस्य दयिता भुवि विश्रुता।
यशोदा नाम भद्रं ते भार्या गोपकुलोद्वहा॥ ३४॥

'देवि! तुम्हारा भला हो, इस समय भूतलपर 'यशोदा' नामसे विख्यात जो नन्दगोपकी प्यारी पत्नी हैं, वे गोपकुलकी स्वामिनी हैं॥ ३४ ॥

तस्यास्त्वं नवमो गर्भः कुलेऽस्माकं भविष्यसि।
नवम्यामेव संजाता कृष्णपक्षस्य वै तिथौ॥ ३५॥

'तुम उन्हींके नवम[1] गर्भके रूपमें हमारे कुलमें उत्पन्न

---

१. यह नवम संख्या देवकीके आठ पुत्रोंकी अपेक्षासे कही गयी है। जान पड़ता है, श्रीकृष्णके बाद कुछ कालके लिये योगनिद्राका भी देवकीके उदरमें प्रवेश हुआ था।

होओगी। भाद्रपद कृष्णपक्षकी नवमी तिथिको ही तुम्हारा जन्म होगा ॥ ३५ ॥

अहं त्वभिजितो योगे निशायां यौवने स्थिते।
अर्धरात्रे करिष्यामि गर्भमोक्षं यथासुखम् ॥ ३६ ॥

'जब रात्रि युवावस्थामें स्थित होगी, उस आधी रातके समय अभिजित् मुहूर्तके योगमें मैं सुखपूर्वक गर्भवासका त्याग करूँगा (अर्थात् माताके उदरसे बाहर निकल आऊँगा) ॥

अष्टमस्य तु मासस्य जातावावां ततः समम्।
प्राप्स्यावो गर्भव्यत्यासं प्राप्ते कंसस्य नाशने ॥ ३७ ॥

'हम दोनों भाई-बहिन गर्भके आठवें महीनेमें जन्म लेंगे। फिर कंसके भावी विनाशका कारण प्राप्त होनेपर हम दोनों साथ ही गर्भव्यत्यासको प्राप्त होंगे (बदल दिये जायँगे) ॥ ३७ ॥

अहं यशोदां यास्यामि त्वं देवि भज देवकीम्।
आवयोर्गर्भसंयोगे कंसो गच्छतु मूढताम् ॥ ३८ ॥

'देवि ! मैं तो यशोदा माताके पास पहुँच जाऊँगा और तुम देवकीका आश्रय लेना। हम दोनोंके परिवर्तित गर्भसंयोगके विषयमें कंस मूढभावको ही प्राप्त हो (वह इस अदला बदलीके रहस्यसे अनभिज्ञ ही रहे) ॥ ३८ ॥

ततस्त्वां गृह्य चरणे शिलायां पातयिष्यति।
निरस्यमाना गगने स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ३९ ॥

'तदनन्तर कंस तुम्हारे पैर पकड़कर तुम्हें शिलापर पटक देगा, परंतु तुम उसके हाथसे निकलकर आकाशमें शाश्वत स्थान प्राप्त कर लोगी ॥ ३९ ॥

मच्छवीसदृशी कृष्णा संकर्षणसमानना।
बिभ्रती विपुलौ बाहू मम बाहूपमौ दिवि ॥ ४० ॥

'तुम्हारी अङ्ग-कान्ति मेरी ही छविके समान श्याम होगी, परंतु मुख भैया संकर्षणके समान गौर होगा। तुम आकाशमें मेरी ही भुजाओंके समान दोनों ओर दो-दो हृष्ट-पुष्ट विशाल बाहें धारण करोगी ॥ ४० ॥

त्रिशिखं शूलमुद्यम्य खड्गं च कनकत्सरुम्।
पात्रीं च पूर्णां मधुना पङ्कजं च सुनिर्मलम् ॥ ४१ ॥

'चार भुजाओंमें तीन शिखाओंसे युक्त शूल (त्रिशूल), सोनेकी मूठ लगी हुई तलवार, मधुसे भरा हुआ पात्र तथा अत्यन्त निर्मल कमल धारण करके सुशोभित होओगी ॥४१॥

नीलकौशेयसंवीता पीतेनोत्तरवाससा।
शशिरश्मिप्रकाशेन हारेणोरसि राजता ॥ ४२ ॥

'तुम्हारे श्रीअङ्गमें नीले रंगकी रेशमी साड़ी शोभा पायेगी और तुम रेशमी पीताम्बरकी चादर ओढ़े रहोगी। तुम्हारे वक्षःस्थलमें चन्द्रमाकी किरणोंके समान प्रकाशमान श्वेत हार शोभा दे रहा होगा ॥ ४२ ॥

दिव्यकुण्डलपूर्णाभ्यां श्रवणाभ्यां विभूषिता।
चन्द्रसापत्नभूतेन मुखेन त्वं विराजिता ॥ ४३ ॥

'दिव्य कुण्डलोंसे मण्डित कर्णयुगल तुम्हें विभूषित करेंगे और चन्द्रमाकी भी शोभाको छीन लेनेवाले अपने मनोरम मुखसे तुम अत्यन्त शोभायमान होओगी ॥ ४३ ॥

मुकुटेन विचित्रेण केशबन्धेन शोभिना।
भुजङ्गाभैर्भुजैर्भीमैर्भूषयन्ती दिशो दश ॥ ४४ ॥

'तुम्हारे मस्तकपर विचित्र मुकुट और शोभाशाली केशबन्ध फबते होंगे। भुजङ्गोंकी-सी आभावाली अपनी भयानक भुजाओंसे तुम दसों दिशाओंकी शोभा बढ़ाओगी॥४४॥

ध्वजेन शिखिबर्हेण उच्छ्रितेन विराजता।
अङ्गजेन मयूराणामङ्गदेन च भास्वता ॥ ४५ ॥

'मोरपंखसे विभूषित ऊँचे ध्वज तथा मयूरपिच्छके ही बने हुए प्रकाशमान अङ्गद (भुजबंद) से तुम प्रकाशित होओगी ॥ ४५ ॥

कीर्णा भूतगणैर्घोरैर्मन्नियोगानुवर्तिनी।
कौमारं व्रतमास्थाय त्रिदिवं त्वं गमिष्यसि ॥ ४६ ॥

'भयंकर भूतगणोंसे घिरकर मेरी आज्ञाके अधीन रहती हुई तुम सदा कुमारी रहनेका व्रत लेकर स्वर्गलोकको चली जाओगी ॥ ४६ ॥

तत्र त्वां शतदृक्छक्रो मत्प्रदिष्टेन कर्मणा।
अभिषेकेण दिव्येन दैवतैः सह योक्ष्यसे ॥ ४७ ॥

'वहाँ देवताओंसहित सहस्र नेत्रधारी इन्द्र मेरी आज्ञाके अनुसार सब कार्योंका सम्पादन करनेके कारण (अथवा मेरी बतायी हुई पद्धतिके अनुसार) तुम्हारा दिव्य विधिसे अभिषेक करेंगे ॥ ४७ ॥

तत्रैव त्वां भगिन्यर्थे ग्रहीष्यति स वासवः।
कुशिकस्य तु गोत्रेण कौशिकी त्वं भविष्यसि ॥ ४८ ॥

'वहीं इन्द्र अपनी बहिन बनानेके लिये तुम्हें सादर ग्रहण करेंगे। कुशिकके गोत्रसे सम्बन्ध होनेके कारण तुम 'कौशिकी' नामसे प्रसिद्ध होओगी ॥ ४८ ॥

स ते विन्ध्ये नगश्रेष्ठे स्थानं दास्यति शाश्वतम्।
ततः स्थानसहस्रैस्त्वं पृथिवीं शोभयिष्यसि ॥ ४९ ॥

'वे देवराज इन्द्र पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्यगिरिपर तुम्हें शाश्वत स्थान प्रदान करेंगे। तत्पश्चात् तुम अपने सहस्रों स्थानोंद्वारा सारी पृथ्वीको सुशोभित करोगी ॥ ४९ ॥

त्रैलोक्यचारिणी सा त्वं भुवि सत्योपयाचना।
चरिष्यसि महाभागे वरदा कामरूपिणी ॥ ५० ॥

१. एक ही रातमें अष्टमीके बाद नवमी लग जानेपर देवीका यशोदाके गर्भसे प्राकट्य हुआ था—ऐसा समझना चाहिये।

'महाभागे ! तुम इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली और वरदायिनी होकर तीनों लोकोंमें विचरोगी तथा तुमसे की हुई उपयाचना (मनौती) अवश्य सफल होगी ॥ ५० ॥

तत्र शुम्भनिशुम्भौ द्वौ दानवौ नगचारिणौ ।
तौ च कृत्वा मनसि मां सानुगौ नाशयिष्यसि ॥ ५१॥

'वहाँ मुझे मनमें स्थान देकर तुम विन्ध्यपर्वतपर विचरनेवाले शुम्भ और निशुम्भ नामक दानवोंको उनके अनुयायियों-सहित नष्ट कर डालोगी ॥ ५१ ॥

कृत्वानुयात्रां भूतैस्त्वं सुरामांसबलिप्रिया ।
तिथौ नवम्यां पूजां त्वं प्राप्स्यसे सपशुक्रियाम् ॥ ५२॥

'वहाँ तुम्हें मधुयुक्त एवं मांसरहित बलि (उपहार-सामग्री) प्रिय होगी और सब लोग बारंबार तुम्हारे तीर्थकी यात्रा करके नवमी तिथिको पशुपूजन कर्मके साथ तुम्हें पूजा देंगे, जिसे तुम प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करोगी ॥ ५२ ॥

ये च त्वां मत्प्रभावज्ञाः प्रणमिष्यन्ति मानवाः ।
तेषां न दुर्लभं किञ्चित् पुत्रतो धनतोऽपि वा ॥ ५३ ॥

'मेरे प्रभावको जाननेवाले जो मनुष्य तुम्हें प्रणाम करेंगे, उनके लिये पुत्र अथवा धन आदि कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं होगी ॥ ५३ ॥

कान्तारेष्ववसन्नानां मग्नानां च महार्णवे ।
दस्युभिर्वा निरुद्धानां त्वं गतिः परमा नृणाम् ॥ ५४ ॥

'कोई दुर्गम स्थानमें फँस जायँ, महासागरमें डूबने लगें अथवा लुटेरों या डाकुओंके द्वारा कैद कर लिये जायँ, उन सभी संकटग्रस्त मनुष्योंके लिये तुम सबसे बड़ा सहारा होओगी ॥ ५४ ॥

त्वां तु स्तोष्यन्ति ये भक्त्या स्तवेनानेन वै शुभे ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ५५ ॥

'शुभे ! जो लोग भक्तिपूर्वक इस (आगे बताये जानेवाले) स्तोत्रसे तुम्हारी स्तुति करेंगे, उनके लिये न तो मैं अदृश्य रहूँगा और न वे ही मेरी दृष्टिसे ओझल रहेंगे'॥५५॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि भारावतरणे निद्रासंविज्ञाने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पृथ्वीके भारको उतारनेके प्रसंगमें भगवान्‌द्वारा निद्राको कर्तव्यका ज्ञापनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

आर्याकी स्तुति

वैशम्पायन उवाच

आर्यास्तवं प्रवक्ष्यामि यथोक्तमृषिभिः पुरा ।
नारायणीं नमस्यामि देवीं त्रिभुवनेश्वरीम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पूर्वकालमें जैसा ऋषियोंने बताया है, उसके अनुसार मैं आर्या देवीकी स्तुतिका वर्णन करता हूँ। मैं तीनों लोकोंकी अधीश्वरी नारायणी देवीको नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

त्वं हि सिद्धिर्धृतिः कीर्तिः श्रीर्विद्या संनतिर्मतिः ।
संध्या रात्रिः प्रभा निद्रा कालरात्रिस्तथैव च ॥ २ ॥

देवि ! तुम्हीं सिद्धि, धृति, कीर्ति, श्री, विद्या, संनति, मति, संध्या, रात्रि, प्रभा, निद्रा और कालरात्रि हो ॥ २ ॥

आर्या कात्यायनी देवी कौशिकी ब्रह्मचारिणी ।
जननी सिद्धसेनस्य उग्रचारी महाबला ॥ ३ ॥

आर्या, कात्यायनी, देवी, कौशिकी, ब्रह्मचारिणी, सिद्धसेन (कुमार कार्तिकेय) की जननी, उग्रचारिणी तथा महान् बलसे सम्पन्न हो ॥ ३ ॥

जया च विजया चैव पुष्टिस्तुष्टिः क्षमा दया ।
ज्येष्ठा यमस्य भगिनी नीलकौशेयवासिनी ॥ ४ ॥

जया, विजया, पुष्टि, तुष्टि, क्षमा, दया, यमकी ज्येष्ठ बहिन तथा नीले रंगकी रेशमी साड़ी पहननेवाली हो ॥ ४ ॥

बहुरूपा विरूपा च अनेकविधिचारिणी ।
विरूपाक्षी विशालाक्षी भक्तानां परिरक्षिणी ॥ ५ ॥

तुम्हारे बहुत-से रूप हैं, इसलिये तुम बहुरूपा हो। विकराल रूप धारण करनेके कारण तुम विरूपा हो। अनेक प्रकारकी विधियोंको आचरणमें लानेवाली हो। तीन होनेके कारण तुम्हारे नेत्र विरूप प्रतीत होते हैं, इसलिये तुम विरूपाक्षी हो। तुम्हारे नेत्र बड़े-बड़े हैं, इस कारण विशालाक्षी हो। तुम सदा अपने भक्तोंकी रक्षा करनेवाली हो ॥ ५ ॥

पर्वताग्रेषु घोरेषु नदीषु च गुहासु च ।
वासस्ते च महादेवि वनेषूपवनेषु च ॥ ६ ॥

महादेवि ! पर्वतोंके घोर शिखरोंपर, नदियोंमें, गुफाओंमें तथा वनों और उपवनोंमें भी तुम्हारा निवास है ॥ ६ ॥

शबरैर्बर्बरैश्चैव पुलिन्दैश्च सुपूजिता ।
मयूरपिच्छध्वजिनी लोकान् क्रमसि सर्वशः ॥ ७ ॥

शबरों, बर्बरों और पुलिन्दोंने भी तुम्हारा अच्छी तरहसे पूजन किया है। तुम मोरपङ्खकी ध्वजासे सुशोभित हो और क्रमशः सभी लोकोंमें विचरती रहती हो ॥ ७ ॥

कुक्कुटैश्छागलैर्मेषैः सिंहैर्व्याघ्रैः समाकुला।
घण्टानिनादबहुला विन्ध्यवासिन्यभिश्रुता ॥ ८ ॥

मुर्गे, बकरे, भेंड़, सिंह तथा व्याघ्र आदि पशु-पक्षी तुम्हें सदा घेरे रहते हैं। तुम्हारे पास घण्टाकी ध्वनि अधिक होती है। तुम 'विन्ध्यवासिनी' नामसे विख्यात हो ॥ ८ ॥

त्रिशूलपट्टिशधरा सूर्यचन्द्रपताकिनी।
नवमी कृष्णपक्षस्य शुक्लस्यैकादशी तथा ॥ ९ ॥

देवि ! तुम त्रिशूल और पट्टिश धारण करनेवाली हो। तुम्हारी पताकापर सूर्य और चन्द्रके चिह्न हैं। तुम प्रत्येक मासके कृष्णपक्षकी नवमी और शुक्लपक्षकी एकादशी हो ॥

भगिनी बलदेवस्य रजनी कलहप्रिया।
आवासः सर्वभूतानां निष्ठा च परमा गतिः ॥ १० ॥

बलदेवजीकी बहिन हो। रात्रि तुम्हारा स्वरूप है। कलह तुम्हें प्रिय लगता है। तुम सम्पूर्ण भूतोंका आवासस्थान, मृत्यु तथा परम गति हो ॥ १० ॥

नन्दगोपसुता चैव देवानां विजयावहा।
चीरवासाः सुवासाश्च रौद्री संध्याचरी निशा ॥ ११ ॥

तुम नन्दगोपकी पुत्री, देवताओंको विजय दिलानेवाली, चीर वस्त्रधारिणी, सुवासिनी, रौद्री, संध्याकालमें विचरनेवाली और रात्रि हो ॥ ११ ॥

प्रकीर्णकेशी मृत्युश्च सुरामांसबलिप्रिया।
लक्ष्मीरलक्ष्मीरूपेण दानवानां वधाय च ॥ १२ ॥

तुम्हारे केश बिखरे हुए हैं। तुम्हीं प्राणियोंकी मृत्यु हो। मधुसे युक्त तथा मांससे रहित बलि तुम्हें प्रिय है। तुम्हीं लक्ष्मी हो तथा तुम्हीं दानवोंका वध करनेके लिये अलक्ष्मी बन जाती हो ॥ १२ ॥

सावित्री चापि देवानां माता भूतगणस्य च।
कन्यानां ब्रह्मचर्यं त्वं सौभाग्यं प्रमदासु च ॥ १३ ॥

तुम्हीं सावित्री, देवमाता अदिति तथा समस्त भूतोंकी जननी हो। कन्याओंका ब्रह्मचर्य तुम्हीं हो और विवाहिता युवतियोंका सौभाग्य भी तुम्हीं हो ॥ १३ ॥

अन्तर्वेदी च यज्ञानामृत्विजां चैव दक्षिणा।
कर्षकाणां च सीतेति भूतानां धरणीति च ॥ १४ ॥

तुम्हीं यज्ञोंकी अन्तर्वेदी तथा ऋत्विजोंकी दक्षिणा हो। किसानोंकी सीता (हल जोतनेसे उभरी हुई रेखा) तथा समस्त प्राणियोंको धारण करनेवाली धरणी भी तुम्हीं हो ॥

सिद्धिः सांयात्रिकाणां तु वेला त्वं सागरस्य च।
यक्षाणां प्रथमा यक्षी नागानां सुरसेति च ॥ १५ ॥

नौका या जहाजसे यात्रा करनेवाले व्यापारियोंको प्राप्त होनेवाली सिद्धि भी तुम्हीं हो। तुम्हीं समुद्रकी तट-भूमि, यक्षोंकी प्रथम यक्षी (कुबेरकी माता) तथा नागोंकी जननी सुरसा हो ॥ १५ ॥

ब्रह्मवादिन्यथो दीक्षा शोभा च परमा तथा।
ज्योतिषां त्वं प्रभा देवि नक्षत्राणां च रोहिणी ॥ १६ ॥

देवि ! तुम ब्रह्मवादिनी दीक्षा तथा परम शोभा हो। ज्योतिर्मय ग्रहों एवं तारिकाओंकी प्रभा हो तथा नक्षत्रोंमें रोहिणी हो ॥ १६ ॥

राजद्वारेषु तीर्थेषु नदीनां सङ्गमेषु च।
पूर्णा च पूर्णिमा चन्द्रे कृत्तिवासा इति स्मृता ॥ १७ ॥

राजद्वारों, तीर्थों तथा नदियोंके संगमोंमें तुम पूर्ण लक्ष्मी-रूपसे स्थित हो। तुम्हीं चन्द्रमामें पूर्णिमा रूपसे विराजमान होती हो तथा तुम्हीं कृत्तिवासा हो ॥ १७ ॥

सरस्वती च वाल्मीके स्मृतिर्द्वैपायने तथा।
ऋषीणां धर्मबुद्धिस्तु देवानां मानसी तथा ॥ १८ ॥

तुम महर्षि वाल्मीकिमें सरस्वती-रूपसे, श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासमें स्मृतिरूपसे तथा ऋषि-मुनियोंमें धर्म-बुद्धिरूपसे स्थित हो। देवताओंमें सत्यसंकल्पात्मक चित्तवृत्ति भी तुम्हीं हो ॥ १८ ॥

सुरा देवी तु भूतेषु स्तूयसे त्वं स्वकर्मभिः।
इन्द्रस्य चारुदृष्टिस्त्वं सहस्रनयनेति च ॥ १९ ॥

तुम समस्त भूतोंमें सुरा देवी हो और अपने कर्मोंद्वारा सदा प्रशंसित होती हो। इन्द्रकी मनोहर दृष्टि भी तुम्हीं हो; सहस्रों नेत्रोंसे युक्त होनेके कारण 'सहस्रनयना' नामसे तुम्हारी ख्याति है ॥ १९ ॥

तापसानां च देवी त्वमरणी चाग्निहोत्रिणाम्।
क्षुधा च सर्वभूतानां तृप्तिस्त्वं दैवतेषु च ॥ २० ॥

तुम तपस्वी मुनियोंकी देवी हो। अग्निहोत्र करनेवाले ब्राह्मणोंकी अरणी हो। समस्त प्राणियोंकी क्षुधा तथा देवताओंमें सदा बनी रहनेवाली तृप्ति हो ॥ २० ॥

स्वाहा तृप्तिर्धृतिर्मेधा वसूनां त्वं वसूमती।
आशा त्वं मानुषाणां च पुष्टिश्च कृतकर्मणाम् ॥ २१ ॥

तुम्हीं स्वाहा, तृप्ति, धृति और मेधा हो। वसुओंकी वसुमती भी तुम्हीं हो। तुम्हीं मनुष्योंकी आशा तथा कृतकृत्य पुरुषोंकी पुष्टि हो ॥ २१ ॥

दिशश्च विदिशश्चैव तथा ह्यग्निशिखा प्रभा।
शकुनी पूतना त्वं च रेवती च सुदारुणा ॥ २२ ॥

तुम्हीं दिशा, विदिशा, अग्निशिखा, प्रभा, शकुनी, पूतना तथा अत्यन्त दारुण रेवती हो ॥ २२ ॥

निद्रापि सर्वभूतानां मोहिनी क्षत्रिया तथा।
विद्यानां ब्रह्मविद्या त्वमोङ्कारोऽथ वषट् तथा ॥ २३ ॥

समस्त प्राणियोंको मोहमें डालनेवाली निद्रा भी तुम्हीं हो। तुम क्षत्रिया हो, विद्याओंमें ब्रह्मविद्या हो तथा तुम्हीं ॐकार एवं वषट्कार हो ॥ २३ ॥

नारीणां पार्वतीं च त्वां पौराणीमृषयो विदुः।
अरुन्धती च साध्वीनां प्रजापतिवचो यथा ॥ २४ ॥

ऋषि तुम्हें नारियोंमें पुराण-प्रसिद्ध पार्वती देवीके रूपमें जानते हैं। तुम साध्वी स्त्रियोंमें अरुन्धती हो, जैसा कि प्रजापतिका कथन है ॥ २४ ॥

पर्यायनामभिर्दिव्यैरिन्द्राणी चेति विश्रुता।
त्वया व्याप्तमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥ २५ ॥

तुम अपने पर्यायवाची दिव्य नामोंद्वारा इन्द्राणीके रूपमें विख्यात हो। तुमने इस समस्त चराचर जगत्‌को व्याप्त कर रखा है ॥ २५ ॥

संग्रामेषु च सर्वेषु अग्निप्रज्वलितेषु च।
नदीतीरेषु चौरेषु कान्तारेषु भयेषु च ॥ २६ ॥
प्रवासे राजबन्धे च शत्रूणां च प्रमर्दने।
प्राणात्ययेषु सर्वेषु त्वं हि रक्षा न संशयः ॥ २७ ॥

समस्त संग्रामोंमें, आगसे जलते हुए घरोंमें, नदीके तटोंपर, चोरों और लुटेरोंके दलोंमें, दुर्गम स्थानोंमें, भयके सभी अवसरोंमें, परदेशमें, राजाके द्वारा बन्धन प्राप्त होनेपर, शत्रुओंका मर्दन करते समय एवं सभी प्राणसंकटकी घड़ियोंमें तुम्हीं सबकी रक्षा करनेवाली हो, इसमें संशय नहीं है ॥

त्वयि मे हृदयं देवि त्वयि चित्तं मनस्त्वयि।
रक्ष मां सर्वपापेभ्यः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ २८ ॥

देवि! मेरा हृदय तुममें लगा हुआ है। मेरा चित्त और मन भी तुम्हारे ही चिन्तन एवं मननमें तत्पर है। तुम समस्त पापोंसे मेरी रक्षा करो। तुम्हें मुझपर कृपा करनी चाहिये ॥

इमं यः सुस्तवं दिव्यमिति व्यासप्रकल्पितम्।
यः पठेत् प्रातरुत्थाय शुचिः प्रयतमानसः ॥ २९ ॥
त्रिभिर्मासैः काङ्क्षितं च फलं वै सम्प्रयच्छसि।
षड्भिर्मासैर्वरिष्ठं तु वरमेकं प्रयच्छसि ॥ ३० ॥

जो मनुष्य मेरे (विष्णु) द्वारा किये गये तथा व्यासजीके द्वारा पद्यमें आबद्ध किये हुए इस सुन्दर दिव्य स्तोत्रका प्रातःकाल उठकर शुद्धभावसे संयतचित्त होकर पाठ करता है, उसे तुम तीन ही महीनोंमें मनोवाञ्छित फल प्रदान कर देती हो तथा जो छः महीनोंतक लगातार पाठ करता रहे, उसे कोई एक विशिष्ट वर देती हो ॥ २९-३० ॥

अर्चिता तु त्रिभिर्मासैर्दिव्यं चक्षुः प्रयच्छसि।
संवत्सरेण सिद्धिं तु यथाकामं प्रयच्छसि ॥ ३१ ॥

तीन महीनोंतक पूजित होनेपर तुम उपासकको दिव्य दृष्टि प्रदान करती हो और एक वर्षतक आराधना करनेपर उसे उसकी इच्छाके अनुसार सिद्धि देती हो ॥ ३१ ॥

सत्यं ब्रह्म च दिव्यं च द्वैपायनवचो यथा।
नृणां बन्धं वधं घोरं पुत्रनाशं धनक्षयम् ॥ ३२ ॥
व्याधिमृत्युभयं चैव पूजिता शमयिष्यसि।
भविष्यसि महाभागे वरदा कामरूपिणी ॥ ३३ ॥

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने जैसा बताया है, उसके अनुसार तुम्हीं सत्य एवं दिव्य ब्रह्म हो। महाभागे! तुम पूजित होनेपर मनुष्योंके बन्धन, भयानक वध, पुत्र और धनके नाश तथा रोग और मृत्युका भय दूर कर दोगी और इच्छानुसार रूप धारण करके उपासकोंके लिये वरदायिनी होओगी ॥३२-३३॥

मोहयित्वा च तं कंसमेका त्वं भोक्ष्यसे जगत्।
अहमप्यात्मनो वृत्तिं विधास्ये गोषु गोपवत् ॥ ३४ ॥

इतना ही नहीं, तुम उस कंसको मोहमें डालकर अकेली ही सम्पूर्ण जगत्‌का उपभोग करोगी। मैं भी व्रजमें गौओंके बीचमें रहकर गोपके समान ही अपना व्यवहार बनाऊँगा ॥

स्ववृद्ध्यर्थमहं चैव करिष्ये कंसगोपताम्।
एवं तां स समादिश्य गतोऽन्तर्धानमीश्वरः ॥ ३५ ॥

मैं अपनी पुष्टिके लिये कंसके गौओंकी चरवाही करूँगा। योगनिद्राको ऐसा आदेश देकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये ॥ ३५ ॥

सा चापि तं नमस्कृत्य तथास्त्विति च निश्चिता ॥ ३६ ॥

उस समय उस देवीने भी उन्हें नमस्कार करके 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञाके पालन करनेका निश्चित विचार कर लिया ॥ ३६ ॥

यश्चैतत् पठते स्तोत्रं शृणुयाद् वाप्यभीक्ष्णशः।
सर्वार्थसिद्धिं लभते नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ ३७ ॥

जो मनुष्य बारंबार इस स्तोत्रका पाठ अथवा श्रवण करता है, वह अपने सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि स्वप्नगर्भविधाने आर्यास्तुतौ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें स्वप्नगर्भ-विधान तथा आर्यादेवीकी स्तुतिविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

कंसद्वारा देवकीके नवजात शिशुओंकी हत्या, योगमायाद्वारा सातवें गर्भका संकर्षण, श्रीकृष्णका प्राकट्य और नन्दभवनमें प्रवेश, कंसद्वारा नन्दकन्याको मारनेका प्रयत्न और उसका दिव्य रूपमें दर्शन देना, कंसद्वारा क्षमाप्रार्थना और देवकीद्वारा उसे क्षमा-दान

वैशम्पायन उवाच

कृते गर्भविधाने तु देवकी देवतोपमा।
जग्राह सप्त तान् गर्भान् यथावत् समुदाहृतान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पति-द्वारा गर्भाधान किये जानेपर देवताके समान तेजस्विनी देवकीने पहले बताये हुए सात गर्भोंको क्रमशः यथोचितरूप-से ग्रहण किया ॥ १ ॥

षड्गर्भान् निस्सृतान् कंसस्ताञ्जघान शिलातले।
आपन्नं सप्तमं गर्भं सा निनायाथ रोहिणीम् ॥ २ ॥

पहले जो छः गर्भ क्रमशः प्रकट हुए, उन सबको कंसने पत्थरपर पटककर मार डाला। जब सातवाँ गर्भ प्राप्त हुआ, तब योगमायाने उसे रोहिणीके उदरमें स्थापित कर दिया ॥

अर्धरात्रे स्थितं गर्भं पातयन्ती रजस्वला।
निद्रया सहसाऽऽविष्टा पपात धरणीतले ॥ ३ ॥

रजस्वला रोहिणी आधी रातके समय अपने भीतर स्थापित हुए उस गर्भको गिरानेकी चेष्टा करने लगी; परंतु सहसा निद्रासे आविष्ट होकर वह स्वयं पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३ ॥

सा स्वप्नमिव तं दृष्ट्वा गर्भं निःसृतमात्मनः।
अपश्यन्ती च तं गर्भं मुहूर्तं व्यथिताभवत् ॥ ४ ॥

उसने अपने पेटसे निकले हुए उस गर्भको स्वप्नकी भाँति देखकर फिर नहीं देखा (क्योंकि योगमायाने उसे अदृश्य कर दिया था); इससे दो घड़ीतक उसके मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ ४ ॥

तामाह निद्रा संविग्नां नैशे तमसि रोहिणीम्।
रोहिणीमिव सोमस्य वसुदेवस्य धीमतः ॥ ५ ॥

रात्रिके अन्धकारमें बुद्धिमान् वसुदेवकी पत्नी रोहिणी चन्द्रमाकी प्यारी भार्या रोहिणीके समान दिखायी देती थी। वह उस गर्भके लिये उद्विग्न हो रही थी। उस समय निद्राने उससे कहा—॥ ५ ॥

कर्षणेनास्य गर्भस्य स्वगर्भे चाहितस्य वै।
संकर्षणो नाम सुतः शुभे तव भविष्यति ॥ ६ ॥

'शुभे ! तुम्हारे उदरमें स्थापित हुआ जो यह गर्भ है, इसका आकर्षण हुआ है; इस कारण तुम्हारा यह पुत्र संकर्षण नामसे प्रसिद्ध होगा' ॥ ६ ॥

सा तं पुत्रमवाप्यैवं हृष्टा किञ्चिदवाङ्मुखी।
विवेश रोहिणी वेश्म सुप्रभा रोहिणी यथा ॥ ७ ॥

इस प्रकार उस पुत्रको पाकर रोहिणी मन-ही-मन प्रसन्न हुई; किंतु लज्जासे उसका मुख कुछ नीचेको झुक गया। फिर तो वह उत्तम प्रभासे युक्त रोहिणीके समान अपने भवनके भीतर चली गयी ॥ ७ ॥

तस्य गर्भस्य मार्गेण गर्भमाधत्त देवकी।
यदर्थं सप्त ते गर्भाः कंसेन विनिपातिताः ॥ ८ ॥

उधर देवकीके उस सातवें गर्भकी खोज होने लगी; इतनेहीमें उसने आठवाँ गर्भ धारण किया, जिसके लिये कंस-ने उसके पहलेके सात गर्भ मार गिराये थे ॥ ८ ॥

तं तु गर्भं प्रयत्नेन ररक्षुस्तस्य मन्त्रिणः।
सोऽप्यत्र गर्भवसतौ वसत्यात्मेच्छया हरिः ॥ ९ ॥

कंसके मन्त्री उस आठवें गर्भकी रक्षामें यत्नपूर्वक लग गये। इधर भगवान् विष्णु भी स्वेच्छासे ही उस गर्भमें निवास करने लगे ॥ ९ ॥

यशोदापि समाधत्त गर्भं तदहरेव तु।
विष्णोः शरीरजां निद्रां विष्णुनिर्देशकारिणीम् ॥ १० ॥

उसी दिन (गोकुलमें)यशोदाने भी भगवान् विष्णुकी आज्ञाका पालन करनेवाली तथा उन्हींके शरीरसे प्रकट हुई योगनिद्राको अपने गर्भमें धारण किया ॥ १० ॥

गर्भकाले त्वसम्पूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ।
देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा ॥ ११ ॥

गर्भका समय पूर्ण होनेसे पहले ही आठवें मासमें उन दोनों स्त्रियों—यशोदा और रोहिणीने प्रायः एक ही साथ प्रसव किया ॥ ११ ॥

यामेव रजनीं कृष्णो जज्ञे वृष्णिकुलोद्वहः।
तामेव रजनीं कन्यां यशोदापि व्यजायत ॥ १२ ॥

वृष्णिकुलका भार वहन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण जिस रातमें प्रकट हुए, उसी रातमें यशोदाने भी एक कन्याको जन्म दिया ॥ १२ ॥

नन्दगोपस्य भार्यैका वसुदेवस्य चापरा।
तुल्यकालं च गर्भिण्यौ यशोदा देवकी तथा ॥ १३ ॥

एक यशोदा नन्दगोपकी भार्या थी और दूसरी देवकी वसुदेवकी। वे दोनों प्रायः एक ही समयमें गर्भवती हुईं ॥

देवक्यजनयद् विष्णुं यशोदा तां तु दारिकाम्।
मुहूर्तेऽभिजिति प्राप्ते सार्धरात्रे विभूषिते ॥ १४ ॥

(आठवें मासमें) आधी रातके समय सुन्दर अभिजित् मुहूर्तका योग प्राप्त होनेपर देवकीने भगवान् विष्णुको पुत्र-रूपसे जन्म दिया और यशोदाने उस कन्याको ॥ १४ ॥

सागराः समकम्पन्त चेलुश्च धरणीधराः।
जज्वलुश्चाग्नयः शान्ता जायमाने जनार्दने ॥ १५॥

भगवान् श्रीकृष्णके जन्म (अवतार) ग्रहण करते समय समुद्रोंमें ज्वार सा उठने लगा। पृथ्वीको धारण करनेवाले शेष आदि विचलित हो उठे और बुझी हुई अग्नियाँ अपने-आप प्रज्वलित हो गयीं ॥ १५ ॥

शिवाश्च प्रववुर्वाताः प्रशान्तमभवद् रजः।
ज्योतींष्यतिव्यकाशन्त जायमाने जनार्दने ॥ १६॥

श्रीकृष्णके अवतार लेते समय शीतल मन्द सुखदायिनी हवा चलने लगी। उड़ती हुई धूल शान्त हो गयी तथा ग्रह और नक्षत्र अत्यन्त प्रकाशित होने लगे ॥ १६ ॥

अभिजिन्नाम नक्षत्रं जयन्ती नाम शर्वरी।
मुहूर्तो विजयो नाम यत्र जातो जनार्दनः ॥ १७॥

जब भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए, उस समय अभिजित् नामक मुहूर्त था, रोहिणी नक्षत्रका योग होनेसे अष्टमीकी वह रात जयन्ती कहलाती थी और विजय नामक विशिष्ट मुहूर्त व्यतीत हो रहा था ॥ १७ ॥

अव्यक्तः शाश्वतः सूक्ष्मो हरिर्नारायणः प्रभुः।
जायमानो हि भगवान्नयनैर्मोहयन् प्रभुः ॥ १८॥

अव्यक्त सनातन सूक्ष्मस्वरूप पापहारी तथा सर्वसमर्थ भगवान् नारायणने प्रकट होते ही अपने नेत्रोंसे सबका मन मोह लिया ॥ १८ ॥

अनाहता दुन्दुभयो देवानां प्राणदन् दिवि।
आकाशात् पुष्पवृष्टिं च ववर्ष त्रिदशेश्वरः ॥ १९॥

स्वर्गलोकमें बिना बजाये ही देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं। देवेश्वर इन्द्र आकाशसे फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ १९ ॥

गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिः स्तुवन्तो मधुसूदनम्।
महर्षयः सगन्धर्वा उपतस्थुः सहाप्सराः ॥ २०॥

गन्धर्व और अप्सराओंसहित महर्षिगण अपने मङ्गलमय वचनोंद्वारा भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करते हुए उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ २० ॥

जायमाने हृषीकेशे प्रहृष्टमभवज्जगत्।
इन्द्रश्च त्रिदशैः सार्धं तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ २१॥

भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य होते ही सम्पूर्ण जगत्में हर्षोल्लास छा गया। देवताओंके साथ इन्द्रने उन भगवान् मधुसूदनकी स्तुति की ॥ २१ ॥

वसुदेवश्च तं रात्रौ जातं पुत्रमधोक्षजम्।
श्रीवत्सलक्षणं दृष्ट्वा युतं दिव्यैश्च लक्षणैः।
उवाच वसुदेवस्तु रूपं संहर वै प्रभो ॥ २२॥

वसुदेवने भी रात्रिमें प्रकट हुए अपने पुत्ररूप भगवान् अधोक्षजका स्तवन किया। उन्हें श्रीवत्सके चिह्न और दिव्य लक्षणोंसे सम्पन्न देखकर वसुदेवने कहा—'प्रभो! आप अपने स्वरूपको समेट लीजिये ॥ २२ ॥

भीतोऽहं देव कंसस्य तस्मादेवं ब्रवीम्यहम्।
मम पुत्रा हतास्तेन तव ज्येष्ठाम्बुजेक्षण ॥ २३॥

'देव! मैं कंसके भयसे डरा हुआ हूँ, इसीलिये ऐसी बात कहता हूँ। कमलनयन! उसने मेरे बहुत-से पुत्र मार डाले हैं, जो तुमसे जेठे थे' ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

वसुदेववचः श्रुत्वा रूपं चाहरदच्युतः।
अनुज्ञाप्य पितृत्वेन नन्दगोपगृहं नय ॥ २४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वसुदेवका यह वचन सुनकर भगवान् अच्युतने पिता होनेके कारण उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली और उनसे कहा, 'आप मुझे नन्दगोप-के घर पहुँचा दीजिये (तथा उनकी नवजात कन्याको यहाँ उठा लाइये)।' ऐसा कहकर उन्होंने अपने चतुर्भुज रूपका उपसंहार कर लिया ॥ २४ ॥

वसुदेवस्तु संगृह्य दारकं क्षिप्रमेव च।
यशोदाया गृहं रात्रौ विवेश सुतवत्सलः ॥ २५॥

तब पुत्रवत्सल वसुदेव शीघ्र ही उस बालकको गोदमें लेकर रातके समय यशोदाके घरमें घुस गये ॥ २५ ॥

यशोदायास्त्वविज्ञातस्तत्र निक्षिप्य दारकम्।
प्रगृह्य दारिकां चैव देवकीशयने न्यसत् ॥ २६॥

यशोदाको उनके आनेका कुछ पता न चला। वहाँ उन्होंने अपने बालकको रख दिया और उस कन्याको लेकर अपने निवासस्थानमें आनेके बाद उसे देवकीकी शय्यापर सुला दिया ॥ २६ ॥

परिवर्ते कृते ताभ्यां गर्भाभ्यां भयविक्लवः।
वसुदेवः कृतार्थो वै निर्जगाम निवेशनात् ॥ २७॥

इस प्रकार उन दोनों नवजात बालकोंकी अदला-बदली करके कृतार्थ हुए वसुदेवजी भयसे व्याकुल हो उस घरसे बाहर निकल गये ॥ २७ ॥

उग्रसेनसुतायाथ कंसायानकदुन्दुभिः।
निवेदयामास तदा तां कन्यां वरवर्णिनीम् ॥ २८॥

आनकदुन्दुभि नामसे प्रसिद्ध वसुदेवने उग्रसेनपुत्र कंस-के पास जाकर उसे अपनी सुन्दरी कन्याके जन्मका समाचार निवेदन किया ॥ २८ ॥

इत्युक्तवन्तं कंसं सा देवकी वाक्यमब्रवीत्।
साश्रुपूर्णमुखा दीना भर्तारमुपवीक्षती।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वत्सेति कंसं मातेव जल्पती॥ ५७॥

जब कंसने ऐसी बात कही, तब देवकीके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली। वह पतिकी ओर देखती हुई अत्यन्त दीन होकर कंससे माताके समान कहने लगी—'बेटा! उठो! उठो!'॥ ५७॥

देवक्युवाच

ममाग्रतो हता गर्भा ये त्वया कामरूपिणा।
कारणं त्वं न वै पुत्र कृतान्तोऽप्यत्र कारणम्॥ ५८॥

देवकीने फिर कहा—वत्स! तुम तो इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले हो। तुमने मेरे सामने ही जिन-जिन गर्भस्थ शिशुओंकी हत्या की है, उसमें केवल तुम्हीं कारण हो—ऐसी बात नहीं है, काल भी इसमें कारण है॥ ५८॥

गर्भकर्तनमेतन्मे सहनीयं त्वया कृतम्।
पादयोः पतता मूर्ध्ना स्वं च कर्म जुगुप्सता॥ ५९॥

परंतु आज तुम अपने कर्मकी निन्दा करते हुए जो मेरे पैरोंपर सिर रखकर पड़ गये, इससे तुम्हारे द्वारा किये गये इस गर्भोच्छेदरूप असह्य कष्टको भी मैं किसी तरह सह लूँगी॥ ५९॥

गर्भे च नियतो मृत्युर्बाल्येऽपि न निवर्तते।
युवापि मृत्योर्वशगः स्थविरो मृत एव तु॥ ६०॥

गर्भमें भी मृत्यु निश्चित रूपसे होती है। बाल्यावस्थामें भी वह टलती नहीं है। जवान मनुष्य भी मृत्युके अधीन होता है और वृद्ध पुरुष तो मरा हुआ है ही॥ ६०॥

कालपक्वमिदं सर्वं हेतुभूतस्तु त्वद्विधः।
अजाते दर्शनं नास्ति यथा वायुस्तथैव च॥ ६१॥

इस सम्पूर्ण जगत्‌को काल ही पका देता है (मार डालता है)। तुम्हारे-जैसे लोग तो केवल निमित्तमात्र होते हैं। जिसका जन्म नहीं हुआ है, उसका दर्शन नहीं होता। जैसे वायुकी सत्ता होनेपर भी वह दिखायी नहीं देती, उसी प्रकार जीवकी सत्ता होनेपर भी जन्मसे पहले वह दृष्टिगोचर नहीं होता है॥ ६१॥

जातोऽप्यजाततां याति विधात्रा यत्र नीयते।
तद् गच्छ पुत्र मा ते भून्मद्गतं मृत्युकारणम्॥ ६२॥

जो जन्म ले चुका है, वह भी मृत्युके बाद अजात-भावको ही प्राप्त हो जाता है (अर्थात् उसका भी दर्शन नहीं होता)। विधाता उसे जहाँ ले जाते हैं, वहाँ वह चला जाता है; अतः पुत्र! तुम जाओ। मुझे जो पुत्रोंकी मृत्युके कारण दुःख हो रहा है, उसके लिये तुम्हारे हृदयमें विचार न हो॥ ६२॥

मृत्युना प्रहृते पूर्वं शेषो हेतुः प्रवर्तते।
विधिना पूर्वदृष्टेन प्रजासर्गेण तत्त्वतः॥ ६३॥
मातापित्रोस्तु कार्येण जन्मतस्तूपपद्यते।

पहले मौत प्रहार करती है, उसके बाद मृत्युके शेष हेतुओंकी प्रवृत्ति होती है। विधि (संस्कार), पूर्वदृष्ट कर्म (जन्मान्तरीय कर्म या प्रारब्ध), प्रजाकी सृष्टि करनेवाले काल, वास्तवमें घटित हुए तात्कालिक कारण, माता-पिताके दूषित अन्न-भक्षण आदि कार्य तथा जातिगत स्वभावसे भी मृत्यु सम्भव होती है (इन्हीं सब कारणोंसे मेरे बच्चे मारे गये और तुम इसमें निमित्त बने, अतः इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है)॥ ६३½॥

वैशम्पायन उवाच

निशम्य देवकीवाक्यं स कंसः स्वं निवेशनम्॥ ६४॥
प्रविवेश ससंरब्धो दह्यमानेन चेतसा।
कृत्ये प्रतिहते दीनो जगाम विमना भृशम्॥ ६५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवकीका यह वचन सुनकर कंस अपनी असफलतापर क्षुब्ध हो मन-ही-मन जलता हुआ अपने भवनमें चला गया। अपने किये प्रयत्नके प्रतिहत (विफल) हो जानेपर वह मनमें बहुत ही खिन्न और दीन हो गया था, अतः वहाँसे चुपचाप चला गया॥ ६४-६५॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि श्रीकृष्णजन्मनि चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीकृष्णजन्मविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ॥ ४॥

पञ्चमोऽध्यायः

वसुदेवजीका नन्दको व्रजमें लौटनेकी सम्मति देना और नन्दजीका गोव्रजकी शोभा निहारते हुए वहाँ पधारना

वैशम्पायन उवाच

प्रागेव वसुदेवस्तु व्रजे शुश्राव रोहिणीम्।
प्रजातां पुत्रमेवाग्रे चन्द्रात् कान्ततराननम्॥ १॥
स नन्दगोपं त्वरितः प्रोवाच शुभया गिरा।
गच्छानया सहैव त्वं व्रजमेव यशोदया॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वसुदेवजीने

प्रसवसे पहले ही रोहिणीको व्रजमें भेज दिया था। जब उन्होंने सुना कि रोहिणीने पहले ही एक ऐसे पुत्रको जन्म दिया है, जिसका मुख चन्द्रमासे भी अधिक कान्तिमान् है, तब वे तुरंत ही (कंसका कर चुकानेके लिये पत्नीसहित मथुरामें आये हुए) नन्दगोपके पास जाकर मङ्गलमयी वाणीमें बोले—'मित्र! तुम इन यशोदाजीके साथ ही शीघ्र व्रजको लौट जाओ ॥ १-२ ॥

तत्र तौ दारकौ गत्वा जातकर्मादिभिर्गुणैः ।
योजयित्वा व्रजे तात संवर्धय यथासुखम् ॥ ३ ॥

'तात! वहाँ जाकर उन दोनों बालकोंको जातकर्म आदि संस्कारोंसे सम्पन्न करके व्रजमें ही सुखपूर्वक उनका पालन-पोषण और संवर्धन करो ॥ ३ ॥

रौहिणेयं च पुत्रं मे परिरक्ष शिशुं व्रजे ।
अहं वाच्यो भविष्यामि पितृपक्षेषु पुत्रिणाम् ॥ ४ ॥
योऽहमेकस्य पुत्रस्य न पश्यामि शिशोर्मुखम् ।

'व्रजमें रोहिणीके गर्भसे उत्पन्न हुआ जो मेरा शिशु पुत्र है, उसकी भी रक्षा करना। भाई! मैं तो पितृपक्षोंमे पुत्रवानोंके द्वारा निन्दनीय ही होऊँगा; क्योंकि मैं ऐसा भाग्यहीन हूँ कि अपने एकमात्र शिशुपुत्रका मुख नहीं देख पाता हूँ ॥

ह्रियते हि बलात् प्रज्ञा प्राज्ञस्यापि सतो मम ॥ ५ ॥
अस्माद्धि मे भयं कंसान्निर्घृणाद् वै शिशोर्वधे ।

'यद्यपि मुझे इस बातका ज्ञान है कि सुख-दुःख और संयोग-वियोग आदि प्रारब्धके ही अधीन हैं; तथापि निरन्तर बना रहनेवाला भय मुझ बुद्धिमान्‌की भी बुद्धिको बलपूर्वक हर लेता है। इस निर्दय कंससे मुझे सदा यह डर लगा रहता है कि कहीं यह मेरे इस शिशुका भी वध न कर डाले ॥५½॥

तद्यथा रौहिणेयं त्वं नन्दगोप ममात्मजम् ॥ ६ ॥
गोपायसि यथा तात तस्यान्वेषी तथा कुरु ।
विघ्ना हि बहवो लोके बालानुत्त्रासयन्ति हि ॥ ७ ॥

'अतः तात! नन्दगोप! तुम मेरे पुत्र रोहिणीकुमारकी जिस उपायसे भी रक्षा कर सको, करो। बालद्रोहियोंके स्वरूपका यथावत्‌रूपसे विचार करके जैसे बने, उसके जीवनकी रक्षा करो; क्योंकि जगत्‌में बहुत-से ऐसे विघ्न खड़े हुए हैं, जो बालकोंको त्रास दे रहे हैं ॥ ६-७ ॥

स च पुत्रो मम ज्यायान् कनीयांश्च तवाप्ययम् ।
उभावपि समं नाम्ना निरीक्षस्व यथासुखम् ॥ ८ ॥

'मेरा वह पुत्र बड़ा है और तुम्हारा यह बालक छोटा। तुम इन दोनोंको ही सुखपूर्वक समान दृष्टिसे देखो। जैसे इनके नाम एक-से (एक अर्थवाले) हैं*, उसी तरह इनपर तुम्हारा वात्सल्य भी एक-सा ही होना चाहिये ॥ ८ ॥

वर्धमानावुभावेतौ समानवयसौ यथा ।
शोभेतां गोव्रजे तस्मिन् नन्दगोप तथा कुरु ॥ ९ ॥

'नन्दगोप! इन दोनोंकी अवस्था प्रायः समान है। ये दोनों जिस तरह साथ-साथ तुम्हारे उस व्रजमें बढ़ते हुए शोभा पा सकें, वैसा यत्न करो ॥ ९ ॥

बाल्ये केलिकिलः सर्वो बाल्ये मुह्यति मानवः ।
बाल्ये चण्डतमः सर्वस्तत्र यत्नपरो भव ॥ १० ॥

'बाल्यावस्थामें सब लोग खेल-कूदसे मन बहलाते हैं। बालकपनमें प्रायः सभी मनुष्य मोहग्रस्त रहते हैं। उन्हें कर्तव्याकर्तव्यका बोध नहीं रहता तथा बचपनमें सभी बात-बातपर बहुत चिढ़ते और रूठते हैं; अतः बच्चोंको इन सभी दशाओंमें सँभालते हुए उनके लालन-पालनके लिये प्रयत्नशील रहो ॥ १० ॥

न च वृन्दावने कार्यो गवां घोषः कथंचन ।
भेतव्यं तत्र वसतः केशिनः पापदर्शिनः ॥ ११ ॥

'देखो, वृन्दावनमें किसी तरह भी गौओंके ठहरनेका स्थान न बनाना। वहाँ निवास करनेवाले पापदर्शी केशीसे तुम्हें सदा डरते रहना चाहिये ॥ ११ ॥

सरीसृपेभ्यः कीटेभ्यः शकुनिभ्यस्तथैव च ।
गोष्ठेषु गोभ्यो वत्सेभ्यो रक्ष्यौ ते द्वाविमौ शिशू ॥ १२ ॥

'वनमें साँप-बिच्छू, कीड़े-मकोड़े तथा पक्षियोंसे और गोव्रजमें गौओं तथा बछड़ोंसे इन दोनों शिशुओंकी तुम्हें सदा रक्षा करनी चाहिये ॥ १२ ॥

नन्दगोप गता रात्रिः शीघ्रयानो व्रजाशुगः ।
इमे त्वां व्याहरन्तीव पक्षिणः सव्यदक्षिणाः ॥ १३ ॥

'नन्दगोप! रात बीत गयी। तुम तेज चलनेवाली सवारीपर बैठकर शीघ्रतापूर्वक यहाँसे पधारो। ये दायें-बायें उड़नेवाले पक्षी मानो तुम्हे जानेके लिये कह रहे हैं—विदा दे रहे हैं' ॥ १३ ॥

रहस्यं वसुदेवेन सोऽनुज्ञातो महात्मना ।
यानं यशोदया सार्धमारुरोह मुदान्वितः ॥ १४ ॥

महात्मा वसुदेवके द्वारा किसी गुप्त रहस्यका ज्ञान करा दिये जानेपर नन्दबाबा यशोदाजीके साथ प्रसन्नतापूर्वक सवारीपर बैठे ॥ १४ ॥

कुमारस्कन्धवाह्यायां शिबिकायां समाहितः ।
संवेशयामास शिशुं शयनीयं महामतिः ॥ १५ ॥

तदनन्तर सदा सावधान रहनेवाले परम बुद्धिमान् नन्दजीने छोटे-छोटे बालक जिसे कंधेपर ढो सकें, ऐसी शिबिका (डोली) में अपने शयन करने योग्य शिशुको सुला दिया ॥ १५ ॥

---

* जैसे कृष्णका अर्थ है अपनी ओर खींचनेवाला, उसी तरह संकर्षणका भी है।

जगाम च विविक्तेन शीतलानिलसर्पिणा ।
बहूदकेन मार्गेण यमुनातीरगामिना ॥ १६ ॥

फिर यमुनाजीके किनारे-किनारे जानेवाले ऐसे एकान्त मार्गसे वे चले, जहाँ जलकी बहुतायत थी और ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी ॥ १६ ॥

स ददर्श शुभे देशे गोवर्धनसमीपगे ।
यमुनातीरसम्बद्धं शीतमारुतसेवितम् ॥ १७ ॥

गोवर्धनके निकटवर्ती शुभ प्रदेशमें पहुँचकर उन्होंने गौओंका व्रज देखा, जो यमुनाजीके तटसे जुड़ा हुआ था और शीतल वायु उसकी सेवा करती थी ॥ १७ ॥

विरुतश्वापदं रम्यं लतावल्लीमहाद्रुमम् ।
गोभिस्तृणविलग्नाभिः स्यन्दन्तीभिरलंकृतम् ॥ १८ ॥

विशेष प्रकारकी बोली बोलनेवाले शिकारी जीवोंके रहनेसे उस प्रदेशकी रमणीयता बढ़ गयी थी । वहाँ लता और वल्लरियोंसे लिपटे हुए बड़े-बड़े वृक्ष शोभा पा रहे थे । घास चरती और थनोंसे दूध झरती हुई गौओंसे वह स्थान अलंकृत था ॥ १८ ॥

समप्रचारं च गवां समतीर्थजलाशयम् ।
वृषाणां स्कन्धघातैश्च विषाणोद्घृष्टपादपम् ॥ १९ ॥

वहाँ गौओंके चरने-फिरनेके लिये सम भूमि थी, विषम नहीं; जलाशयोंमें उतरनेके लिये जो मार्ग थे, वे भी सम ही थे । बैलों या साँड़ोंके कंधोंकी टक्करसे तथा उनके सींगोंकी रगड़से वहाँके कई वृक्ष घिसे हुए दिखायी देते थे ॥ १९ ॥

भासामिषादानुसृतैः श्येनैश्चामिषगृध्नुभिः ।
सृगालमृगसिंहैश्च वसामेदाशिभिर्वृतम् ॥ २० ॥

वहाँ गीध और मांसभक्षी वनविलाव आदिके पीछे मांसकी इच्छा रखनेवाले बाज तथा वसा और मेदा खानेवाले गीदड़, चीते एवं बाघ-सिंह आदि लगे हुए थे । इन सबके द्वारा वह प्रदेश घिरा हुआ था ॥ २० ॥

शार्दूलशब्दाभिरुतं नानापक्षिसमाकुलम् ।
स्वादुवृक्षफलं रम्यं पर्याप्ततृणवीरुधम् ॥ २१ ॥

सिंहोंके दहाड़नेसे वहाँका वन-प्रान्त गूँजता रहता था । नाना प्रकारके पक्षी वहाँ सब ओर व्याप्त थे । उस व्रजमें जो वृक्षोंमें फल लगे थे, वे बड़े स्वादिष्ठ थे । वहाँ घास-पात और लता-वेलोंकी बहुलता थी ॥ २१ ॥

गोव्रजं गोरुतं रम्यं गोपनारीभिरावृतम् ।
हम्भारवैश्च वत्सानां सर्वतः कृतनिःस्वनम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार वह गोव्रज गौओंके रँभानेके शब्दसे मुखरित था । गोपाङ्गनाओंसे घिरा हुआ वह भूमाग बड़ा रमणीय दिखायी देता था । बछड़ोंके बोलनेसे वहाँका स्थान सब ओरसे गूँजता रहता था ॥ २२ ॥

शकटावर्तविपुलं कण्टकीवाटसंकुलम् ।
पर्यन्तेष्वावृतं वन्यैर्वृहद्भिः पतितैर्द्रुमैः ॥ २३ ॥

छकड़ोंकी गोलाकार श्रेणियोंसे वहाँका भूभाग बहुत विशाल जान पड़ता था । वहाँ चारों ओर काँटोंके बाड़ लगे थे । सीमाओंपर जंगलके गिरे हुए बड़े-बड़े वृक्ष रखे गये थे ॥ २३ ॥

वत्सानां रोपितैः कीलैर्दामभिश्च विभूषितम् ।
करीषाकीर्णवसुधं कटच्छन्नकुटीमठम् ॥ २४ ॥

बछड़ोंके लिये गाड़े गये खूँटों और बाँधनेकी रस्सियोंसे उस व्रजकी बड़ी शोभा हो रही थी । वहाँ धरतीपर सब ओर सूखे कंडे (या करसी) के ढेर पड़े थे । कुटी और मठ चटाइयों अथवा तृण-समूहसे छाये गये थे ॥ २४ ॥

क्षेम्यप्रचारबहुलं हृष्टपुष्टजनावृतम् ।
दामनीपाशबहुलं गर्गरोद्गारनिःस्वनम् ॥ २५ ॥

कुशलपूर्वक घूमने-फिरनेके लिये वहाँ बहुत-से स्थान थे (अथवा उत्तम लक्षणोंसे युक्त भटोंके प्रचारसे वह व्रज समृद्धिशाली प्रतीत होता था*) । वह भूभाग हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा था । वहाँ मोटी और पतली रस्सियोंकी बहुतायत थी । दूध-दही मथनेके लिये जो बड़े-बड़े माट या घड़े होते हैं, उनमेंसे मन्थनके समय जो शब्द प्रकट होता था, वह वहाँ सब ओर फैला हुआ था ॥ २५ ॥

तक्रनिःस्रावबहुलं दधिमण्डार्द्रमृत्तिकम् ।
मन्थानवलयोद्गारैर्गोपीनां जनितस्वनम् ॥ २६ ॥

वहाँ तक (मट्ठा) बहानेके लिये बहुत-सी नालियाँ बनी थीं । दहीके ऊपरका जो सारभाग (मण्ड) होता है, उससे वहाँकी मिट्टी गीली हो रही थी । मथानी चलानेके समय गोपियोंके हाथोंके कंगन खन-खनाते रहते थे । उनकी मधुर झनकार वहाँ सब ओर गूँजती रहती थी ॥ २६ ॥

काकपक्षधरैर्बालैर्गोपालक्रीडनाकुलम् ।
सार्गलद्वारगोवाटं मध्ये गोस्थानसंकुलम् ॥ २७ ॥

उस व्रजमें काकपक्ष (पीछेकी ओर सिरपर बड़े-बड़े बाल) धारण करनेवाले बालक खेल रहे थे । ग्वालोंके अखाड़ोंसे वहाँका भूभाग भरा था । गौओंके बाड़ों (रहनेके स्थानों) के दरवाजोंपर काठके कुंडे लगे हुए थे । बीचमें गौओंके ठहरने, विश्राम करने आदिके लिये पर्याप्त स्थान था । ऐसी गोशालाओंसे वह व्रज भरा हुआ था ॥ २७ ॥

सर्पिषा पच्यमानेन सुरभीकृतमारुतम् ।
नीलपीताम्बराभिश्च तरुणीभिरलंकृतम् ॥ २८ ॥

आगपर खौलाये जाते हुए घृतकी मनोरम गंधसे वहाँकी

* ऐसा अर्थ नीलकण्ठजीने किया है ।

वायु सुवासित हो रही थी। नीली-पीली साड़ियोंसे सुशोभित तरुणी स्त्रियाँ उस व्रजको अलंकृत किये हुए थीं॥ २८॥

वन्यपुष्पावतंसाभिर्गोपकन्याभिरावृतम्।
शिरोभिर्धृतकुम्भाभिर्बद्धैरग्रस्तनाम्बरैः॥ २९॥
यमुनातीरमार्गेण जलहारीभिरावृतम्।

वनके फूलोंका कर्णभूषण धारण किये बहुत-सी गोप-कन्याएँ वहाँ सिरपर घड़े लिये आती-जाती थीं। उनके स्तनोंके अग्रभाग चोलीसे बँधे थे और उनपर आँचल पड़ा हुआ था। यमुनाजीके तटपर गये हुए मार्गसे जल लानेवाली उन गोपकुमारियोंसे वह व्रज घिरा हुआ-सा जान पड़ता था २९३

स तत्र प्रविशन् हृष्टो गोव्रजं गोपनादितम्॥ ३०॥
प्रत्युद्गतो गोपवृद्धैः स्त्रीभिर्वृद्धाभिरेव च।
निवेशं रोचयामास परिवर्ते सुखाश्रये॥ ३१॥

ग्वालोंके शब्दसे गूँजते हुए उस गोव्रजमें प्रवेश करते समय नन्दरायजीको बड़ा हर्ष हुआ। वृद्ध गोपों तथा बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया। तत्पश्चात् उन्होंने चारों ओरसे घिरे हुए उस सुखदायक आवासस्थानमें रहनेके लिये रुचि प्रकट की॥ ३०-३१॥

सा यत्र रोहिणी देवी वसुदेवसुखावहा।
तत्र तं बालसूर्याभं कृष्णं गूढं न्यवेशयत्॥ ३२॥

वसुदेवजीको सुख देनेवाली रोहिणी देवी जहाँ रहती थीं, वहीं उन्होने व्रजमें गुप्तरूपसे रहनेवाले बालसूर्यके समान तेजस्वी श्रीकृष्णको सुला दिया॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि गोव्रजगमनं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें नन्दजीका गोव्रजमें गमनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५॥

षष्ठोऽध्यायः

शकट-भञ्जन और पूतना-वध

वैशम्पायन उवाच

तत्र तस्यासतः कालः सुमहानत्यवर्तत।
गोव्रजे नन्दगोपस्य वल्लवत्वं प्रकुर्वतः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस गोव्रजमें रहकर गोपकर्म करते हुए नन्दगोपके बहुत दिन बीत गये॥ १॥

दारकौ कृतनामानौ ववृधाते सुखं च तौ।
ज्येष्ठः संकर्षणो नाम कनीयान् कृष्ण एव तु॥ २॥

वहाँ उन दोनों बालकोंका उन्होंने नामकरण-संस्कार कर दिया। तदनन्तर वे दोनों भाई वहाँ बड़े सुखसे रहने और दिनोंदिन बढ़ने लगे। उनमें बड़ेका नाम 'संकर्षण' था और छोटेका 'कृष्ण'॥ २॥

मेघकृष्णस्तु कृष्णोऽभूद् देहान्तरगतो हरिः।
व्यवर्धत गवां मध्ये सागरस्य इवाम्बुदः॥ ३॥

दूसरे शरीरमें आये हुए भगवान् श्रीहरि ही 'कृष्ण' नामसे विख्यात हुए। उनकी अङ्गकान्ति श्याम मेघकी भाँति साँवली थी। जैसे समुद्रमें मेघकी वृद्धि होती है, उसी प्रकार वे गौओंके बीचमें रहकर बढ़ने लगे॥ ३॥

शकटस्य त्वधः सुप्तं कदाचित् पुत्रगृद्धिनी।
यशोदा तं समुत्सृज्य जगाम यमुनां नदीम्॥ ४॥

यशोदा अपने पुत्रको हृदयसे चाहनेवाली थी। एक दिनकी बात है, लाला कन्हैया छकड़ेके नीचे सोया था, उसे उसी अवस्थामें छोड़कर यशोदा मैया यमुनाजीमें नहानेके लिये चली गयीं॥ ४॥

शिशुलीलां ततः कुर्वन् स हस्तचरणौ क्षिपन्।
रुरोद मधुरं कृष्णः पादावूर्ध्वं प्रसारयन्॥ ५॥

फिर तो लाला कन्हैया बाललीला करता हुआ अपने दोनों हाथ-पैर फेंकने लगा। पैरोंको ऊँचेतक फैलाकर मधुर स्वरमें रोने लगा॥ ५॥

स तत्रैकेन पादेन शकटं पर्यवर्तयत्।
न्युब्जं पयोधराकाङ्क्षी चकार च रुरोद च॥ ६॥

(अब उसके मनमें मैयाके दूध पीनेकी इच्छा जाग उठी, फिर तो) उसने वहाँ एक ही पैरके धक्केसे छकड़ेको औंधा उलट दिया। यह सब उसने स्तन-पानकी इच्छासे ही किया था। यह अद्भुत लीला करके वह रोने लगा॥ ६॥

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ता यशोदा भयविक्लवा।
स्नाता प्रस्रवदिग्धाङ्गी बद्धवत्सेव सौरभी॥ ७॥

इसी बीचमें भयसे व्याकुल हुई यशोदा मैया नहाकर लौट आयी। उसके स्तनोंसे दूध झर रहा था, जो उसके अन्य अङ्गोंमें भी फैलता जा रहा था। जिसका बछड़ा बँधा हुआ हो, उस गायकी भाँति वह अपने बच्चेको स्तन पिलानेके लिये उत्सुक थी॥ ७॥

सा ददर्श विपर्यस्तं शकटं वायुना विना।
हाहेति कृत्वा त्वरिता दारकं जगृहे तदा ॥ ८ ॥

उसने देखा, बिना आँधी-पानीके ही यह छकड़ा उलटा पड़ा है। फिर तो 'हाय! हाय!' करके तुरंत ही लालाको गोदमें उठा लिया ॥ ८ ॥

न सा बुबोध तत्त्वेन शकटं परिवर्तितम्।
स्वस्ति मे दारकायेति प्रीता भीता च साभवत्॥ ९ ॥

वह इस बातको न जान सकी कि छकड़ेके उलट जानेका वास्तवमें क्या कारण है? 'भगवान् मेरे लालाको सकुशल रक्खें'—ऐसा कहकर मैया पुत्र-प्रेममें मग्न हो गयी और 'बच्चेको कहीं चोट तो नहीं लगी'—इस आशङ्कासे उसको भय भी हुआ ॥ ९ ॥

किं तु वक्ष्यति ते पुत्र पिता परमकोपनः।
त्वय्यधःशकटे सुप्ते अकस्माच्च विलोडिते ॥ १० ॥

(वह बच्चेकी ओर देखकर बोली—) 'बेटा! तुम्हारे पिता बड़े क्रोधी हैं। तुम छकड़ेके नीचे सोये थे और वह अकस्मात् उलट गया। यह सुनकर वे न जाने मुझे क्या-क्या कहेंगे? ॥ १० ॥

किं मे स्नानेन दुःस्नानं किं च मे गमने नदीम्।
पर्यस्ते शकटे पुत्र या त्वां पश्याम्यपावृतम् ॥ ११ ॥

'लाला! मुझे नहानेसे क्या मिलता? यदि तुम्हें कुछ हो जाता तो मेरा वह स्नान तो दुःस्नान ही था। मुझे नदी-तटपर जानेकी भी क्या आवश्यकता थी। वहाँसे लौटकर देखती हूँ तो छकड़ा उलटा पड़ा है और तुम खुले आकाशके नीचे सोये हो! (हाय! हाय! यह सब कैसे हुआ?)' ॥ ११ ॥

एतस्मिन्नन्तरे गोभिराजगाम वनेचरः।
काषायवाससी बिभ्रन् नन्दगोपो व्रजान्तिकम् ॥ १२ ॥

इसी समय गौओंके साथ वनमें विचरकर नन्दजी व्रजके निकट आये। उन्होंने गेरुए रंगके दो वस्त्र धारण कर रखे थे ॥ १२ ॥

स ददर्श विपर्यस्तं भिन्नभाण्डघटीघटम्।
अपास्तधूर्विभिन्नाक्षं शकटं चक्रमौलिनम् ॥ १३ ॥

उन्होंने देखा, छकड़ा औंधा पड़ा है। उसपर लदे हुए सारे बर्तन, घड़े, मॉट और मटके चकनाचूर हो गये हैं। जुआ निकलकर दूर जा पड़ा है। धुरा टूट गया है और पहिया मुकुटके समान ऊपरको उठ गया है ॥ १३ ॥

भीतस्त्वरितमागत्य सहसा साश्रुलोचनः।
अपि मे स्वस्ति पुत्रायेत्यसकृद् वचनं वदन् ॥ १४ ॥

यह देखकर वे डर गये और जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए सहसा घर आ पहुँचे। उस समय उनके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे। वे बार-बार पूछने लगे, 'महर! मेरा लाला कुशलसे तो है न?' ॥ १४ ॥

पिबन्तं स्तनमालक्ष्य पुत्रं स्वस्थोऽब्रवीत् पुनः।
वृषयुद्धं विना केन पर्यस्तं शकटं मम ॥ १५ ॥

फिर बेटेको स्तनपान करते देख उनके जीमें जी आया। उन्होंने पुनः पूछा, 'महर! बैलोंमें लड़ाई तो हुई नहीं, फिर यह छकड़ा कैसे उलट गया?' ॥ १५ ॥

प्रत्युवाच यशोदा तं भीता गद्गदभाषिणी।
न विजानाम्यहं केन शकटं परिवर्तितम् ॥ १६ ॥
अहं नदीं गता सौम्य चैलप्रक्षालनार्थिनी।
आगता च विपर्यस्तमपश्यं शकटं भुवि ॥ १७ ॥

यशोदाने भयभीत होकर गद्गद वाणीमें कहा—'नाथ! मैं नहीं जानती कि किसने छकड़ा उलट दिया। सौम्य! मैं तो कपड़े धोनेके लिये यमुनाजीके तटपर गयी थी। लौटकर देखती हूँ तो छकड़ा धरतीपर औंधा पड़ा है' ॥ १६-१७ ॥

तयोः कथयतोरेवमब्रुवंस्तत्र दारकाः।
अनेन शिशुना यानमेतत् पादेन लोडितम् ॥ १८ ॥
अस्माभिः सम्पतद्भिश्च दृष्टमेतद् यदृच्छया।

वे दोनों जब इस प्रकार वार्तालाप कर रहे थे, उस समय वहाँ आये हुए व्रजके बालकोंने कहा—'बाबा! तुम्हारे इस लालाने ही अपने पैरसे मारकर यह गाड़ी लुढ़का दी है। हमलोग अकस्मात् यहाँ दौड़े हुए आये थे। हमने अपनी आँखों यह घटना देखी है' ॥ १८½ ॥

नन्दगोपस्तु तच्छ्रुत्वा विस्मयं परमं ययौ ॥ १९ ॥
प्रहृष्टश्चैव भीतश्च किमेतदिति चिन्तयन्।

बालकोंकी वह बात सुनकर नन्दगोपको बड़ा विस्मय हुआ। वे पहले तो प्रसन्न हुए, परंतु ऐसा सोचते हुए कि यह क्या है, वे फिर डर गये ॥ १९½ ॥

न च ते श्रद्दधुर्गोपाः सर्वे मानुषबुद्धयः ॥ २० ॥
आश्चर्यमिति ते सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः।
स्वे स्थाने शकटं स्थाप्य चक्रबन्धमकारयन् ॥ २१ ॥

वहाँ जो बड़े-बड़े गोप थे, उन सबको इस बातपर विश्वास नहीं हुआ; क्योंकि वह उस बच्चेको साधारण मनुष्यका ही बालक समझते थे। फिर भी वे सब-के-सब इस घटनासे आश्चर्य करने लगे थे। उनके नेत्र विस्मयसे खिल उठे थे। वे छकड़ेको अपनी जगहपर खड़ा करके उसमें पहिये जोड़ने लगे ॥ २०-२१ ॥

वैशम्पायन उवाच

कस्यचित्त्वथ कालस्य शकुनी वेषधारिणी।
धात्री कंसस्य भोजस्य पूतनेति परिश्रुता ॥ २२ ॥

पूतना नाम शकुनी घोरा प्राणिभयंकरी।
आजगामार्द्धरात्रे वै पक्षौ क्रोधाद् विधुन्वती ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुछ कालके बाद व्रजमें आधी रातके समय क्रोधपूर्वक अपने दोनों पंख हिलाती हुई पक्षिणीका वेष धारण किये एक राक्षसी आयी। वह भोजराज कंसकी धाय थी, उसका नाम पूतना था। पूतना नामवाली वह घोर पक्षिणी समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर थी ॥ २२-२३ ॥

ततोऽर्धरात्रसमये पूतना प्रत्यदृश्यत।
व्याघ्रगम्भीरनिर्घोषं व्याहरन्ती पुनः पुनः ॥ २४ ॥

आधी रातके समय जब पूतना दिखायी दी, उस समय वह व्याघ्रके दहाड़नेके-से गम्भीर घोषमें बारंबार गर्जना कर रही थी ॥ २४ ॥

निलिल्ये शकटस्याक्षे प्रस्रवोत्पीडवर्षिणी।
ददौ स्तनं च कृष्णाय तस्मिन् सुप्ते जने निशि॥ २५ ॥

वह मानवी स्त्रीका वेष धारण करके छकड़ेके धुरेके नीचे छिप गयी। उस समय उसके स्तनोंमें इतना दूध बढ़ आया था कि उनमें पीड़ा होने लगी थी, इसीलिये वह दूधकी वर्षा सी करने लगी। उस निशीथ-कालमें जब सब लोग सो गये थे, उसने कृष्णके मुखमें अपना स्तन दे दिया ॥ २५ ॥

तस्याः स्तनं पपौ कृष्णः प्राणैः सह विनद्य च।
छिन्नस्तनी तु सहसा पपात शकुनी भुवि ॥ २६ ॥

लाला कन्हैया उस स्तनको उसके प्राणोंके साथ ही पी गया, उसका स्तन कट गया और वह पक्षिणी घोर चीत्कार करके सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २६ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तास्ततो बुबुधिरे भयात्।
स नन्दगोपो गोपा वै यशोदा च सुविक्लवा॥ २७ ॥

उसके उस शब्दसे संत्रस्त होकर नन्दगोप, दूसरे-दूसरे गोप तथा अत्यन्त व्याकुल हुई यशोदा—ये सब-के-सब भयके मारे जाग उठे ॥ २७ ॥

ते तामपश्यन् पतितां विसंज्ञां विपयोधराम्।
पूतनां पतितां भूमौ वज्रेणेव विदारिताम् ॥ २८ ॥

उन्होंने देखा, पूतना पृथ्वीपर अचेत होकर पड़ी है। उसका स्तन कट गया है और वह ऐसी प्रतीत होती है, मानो वज्रसे विदीर्ण कर दी गयी हो ॥ २८ ॥

इदं किं त्विति संत्रस्ताः कस्येदं कर्म चेत्यपि।
नन्दगोपं पुरस्कृत्य गोपास्ते पर्यवारयन् ॥ २९ ॥

यह क्या है ? किसका यह कर्म है ? ऐसी बातें करते हुए वे गोप भयभीत हो गये और नन्दजीको आगे करके पूतनाको घेरकर खड़े हो गये ॥ २९ ॥

नाध्यगच्छन्त च तदा हेतुं तत्र कदाचन।
आश्चर्यमाश्चर्यमिति ब्रुवन्तोऽनुययुर्गृहान् ॥ ३० ॥

वे उस समय उस घटनाके कारणका पता कदापि न लगा सके और आश्चर्य है ! आश्चर्य है !! ऐसा कहते हुए अपने-अपने घरोंको चले गये ॥ ३० ॥

गतेषु तेषु गोपेषु विस्मितेषु यथागृहम्।
यशोदां नन्दगोपस्तु पप्रच्छ गतसम्भ्रमः ॥ ३१ ॥

उन विस्मित हुए गोपोंके अपने-अपने घर चले जानेपर सम्भ्रमरहित हुए नन्दगोपने यशोदासे पूछा—॥ ३१ ॥

कोऽयं विधिर्न जानामि विस्मयो मे महानयम्।
पुत्रस्य मे भयं तीव्रं भीरुत्वं समुपागतम् ॥ ३२ ॥

'विधाताका यह कैसा विधान है, यह मेरी समझमें नहीं आता। इस घटनासे मुझे महान् विस्मय हो रहा है। यहाँ मेरे पुत्रके लिये तीव्र भय उपस्थित हुआ है, जिससे हमलोगोंमें भीरुता आ गयी है' ॥ ३२ ॥

यशोदा त्वब्रवीद् भीता नार्य जानामि किं त्विदम्।
दारकेण सहानेन सुप्ता शब्देन बोधिता ॥ ३३ ॥

यह सुनकर यशोदाने भयभीत होकर कहा—'आर्य ! मैं भी नहीं जानती कि यह क्या है ? मैं तो इस बच्चेके साथ सोयी थी। इस राक्षसीके चीत्कारसे ही जग गयी हूँ' ॥

यशोदायामजानन्त्यां नन्दगोपः सबान्धवः।
कंसाद् भयं चकारोग्रं विस्मयं च जगाम ह ॥ ३४ ॥

जब यशोदाने भी अपनी अनभिज्ञता प्रकट की, तब बन्धु-बान्धवोंसहित नन्दगोप कंससे अत्यन्त भय मानने लगे और मन-ही-मन विस्मयको प्राप्त हुए ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शिशुचर्यायां शकटभङ्गपूतनावधे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीकृष्णकी बाललीलाके प्रसङ्गमें शकट-भङ्ग और पूतनाका वधविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और बलरामका व्रजमें घुटनोंके बल चलना तथा श्रीकृष्णका उलूखलमें बँधकर यमलार्जुन-भङ्गकी लीला करना

वैशम्पायन उवाच

काले गच्छति तौ सौम्यौ दारकौ कृतनामकौ।
कृष्णसंकर्षणौ चोभौ रिङ्गिणौ समपद्यताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुछ काल

बीतनेपर वे दोनों सौम्य बालक, जिनके नामकरण-संस्कार हो चुके थे और जो कृष्ण और संकर्षण नामसे प्रसिद्ध थे, घुटनों-के बल चलने-फिरने लगे ॥ १ ॥

तावन्योन्यगतौ बालौ बाल्यादेवैकतां गतौ।
एकमूर्तिधरौ कान्तौ बालचन्द्रार्कवर्चसौ॥ २ ॥

बचपनसे ही वे दोनों बच्चे एक दूसरेमें अन्तर्भूत-से होकर एकताको प्राप्त हो गये थे। ऐसा जान पड़ता था कि ये दोनों एक ही शरीर धारण करते हैं। वे दोनों भाई बालचन्द्र और बालसूर्यके समान कान्तिमान् थे॥ २ ॥

एकनिर्माणनिर्मुक्तावेकशय्यासनाशनौ ।
एकवेषधरावेकं पुष्यमाणौ शिशुव्रतम्॥ ३ ॥

वे दोनों मानो एक ही साँचेके ढले थे (अथवा अभिन्न और जन्मरहित थे)। एक-सी शय्या, आसन और भोजन-का उपभोग करते थे। एक समान वेष धारण करते थे और एक ही शिशुव्रतका पालन करनेवाले थे॥ ३ ॥

एककार्यान्तरगतावेकदेहौ द्विधाकृतौ।
एकचर्यौ महावीर्यावेकस्य शिशुतां गतौ॥ ४ ॥

वे एक ही कार्यमें संलग्न थे और एक ही शरीरके दो भागसे प्रतीत होते थे। उनकी दिनचर्या एक-सी थी। वे महा-पराक्रमी बालक एक ही पिताके शिशु थे॥ ४ ॥

एकप्रमाणौ लोकानां देववृत्तान्तमानुषौ।
कृत्स्नस्य जगतो गोपौ संवृत्तौ गोपदारकौ॥ ५ ॥

लोगोंकी दृष्टिमें वे एक-जैसे कदके थे। उन्होंने देवताओं-के 'दुष्टदमन और धर्मस्थापन' रूप सिद्धान्तके पालनके लिये मानव-शरीर ग्रहण किया था। वे सम्पूर्ण जगत्के संरक्षक हो-कर भी गोपबालक बन गये थे॥ ५ ॥

अन्योन्यव्यतिषक्ताभिः क्रीडाभिरभिशोभितौ।
अन्योन्यकिरणग्रस्तौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे॥ ६ ॥

वे दोनों भाई एक दूसरेसे मिली हुई क्रीड़ाओंद्वारा सुशोभित होते थे, जैसे आकाशमें चन्द्रमा और सूर्य एक दूसरेकी किरणोंसे बँधकर एक साथ हो गये हों॥ ६ ॥

विसर्पन्तौ तु सर्वत्र सर्पभोगभुजावुभौ।
रेजतुः पांसुदिग्धाङ्गौ दृप्तौ कलभकाविव॥ ७ ॥

उन दोनोंकी भुजाएँ सर्पोंके शरीरके समान जान पड़ती थीं। वे उनके द्वारा सब ओर चलते-फिरते और सरकते थे। उस समय धूलसे भरे हुए शरीरवाले वे दोनों भाई दर्पभरे दो हस्ति-शावकोंके समान शोभा पाते थे॥ ७ ॥

क्वचिद् भस्मप्रदीप्ताङ्गौ करीषप्रोक्षितौ क्वचित्।
तौ तत्र पर्यधावेतां कुमाराविव पावकी॥ ८ ॥

कहीं तो उनके दीप्तिमान् अङ्गोंमें राख लिपट जाती और कहीं वे करसी (कंडोंके चूर्ण)से नहा उठते थे। वे वहाँ अग्नि-के दो कुमार शाख और विशाखके समान सुशोभित होते हुए सब ओर दौड़ लगाते थे॥ ८ ॥

क्वचिज्जानुभिरुद्घृष्टैः सर्पमाणौ विरेजतुः।
क्रीडन्तौ वत्सशालासु शकृद्दिग्धाङ्गमूर्धजौ॥ ९ ॥

कभी घिसे हुए घुटनोंके बल सरकते हुए श्रीकृष्ण-बलराम बड़ी शोभा पाते थे। कभी वे बछड़ोंके स्थानोंमें जाकर खेलने लगते और सारे अङ्गों तथा सिरके बालोंमें गो-बर लपेट लेते थे॥ ९ ॥

शुशुभाते श्रिया जुष्टावानन्दजननौ पितुः।
जनं च विप्रकुर्वाणौ विहसन्तौ क्वचित् क्वचित्॥ १० ॥

कान्तिरूपिणी श्रीसे सेवित होकर वे दोनों भाई अनुपम शोभा पाते और पिताको आनन्द प्रदान करते थे। कभी-कभी बालस्वभाववश किसी-किसीके विपरीत कार्य कर बैठते और जोर-जोरसे हँसने लगते थे॥ १० ॥

तौ तत्र कौतूहलिनौ मूर्धजव्याकुलेक्षणौ।
रेजतुश्चन्द्रवदनौ दारकौ सुकुमारकौ॥ ११ ॥

वे सदा क्रीड़ा-कौतूहलमें ही लगे रहते थे। उनके सिरके घुँघराले बाल नेत्रोंपर लटककर उन्हें व्याकुल एवं चञ्चल कर देते थे। उन दोनोंके मुख चन्द्रमाके समान सुन्दर थे, अतः वे सुकुमार बालक बड़े सुहावने लगते थे॥ ११ ॥

अतिप्रसक्तौ तौ दृष्ट्वा सर्वव्रजविचारिणौ।
नाशकत् तौ वारयितुं नन्दगोपः सुदुर्मदौ॥ १२ ॥

वे क्रीड़ामें ही आसक्त हो सारे व्रजमें विचरते रहते थे। उन दोनों अत्यन्त मतवाले बालकोंको सर्वत्र जाते देखकर भी नन्दगोप रोक नहीं पाते थे॥ १२ ॥

ततो यशोदा संक्रुद्धा कृष्णं कमललोचनम्।
आनाय्य शकटीमूले भर्त्सयन्ती पुनः पुनः॥ १३ ॥
दाम्ना चैवोदरे बद्ध्वा प्रत्यबन्धदुलूखले।
यदि शक्तोऽसि गच्छेति तमुक्त्वा कर्म साकरोत्॥ १४ ॥

तब एक दिन यशोदा मैया अत्यन्त कुपित हो कमल-नयन श्रीकृष्णको एक गाड़ीके पास ले जाकर बारंबार डाँटने-फटकारने लगी। इतना ही नहीं, उसने उनके पेट और कमर-में रस्सी बाँधकर उस रस्सीको ओखलीमें कस दिया और कहा—'अब जा सको तो जाओ।' इतना कहकर वह घरके काम-धंधोंमें लग गयी॥ १३-१४ ॥

व्यग्रायां तु यशोदायां निर्जगाम ततोऽङ्गणात्।
शिशुलीलां ततः कुर्वन् कृष्णो विस्मापयन् व्रजम्॥
सोऽङ्गणान्निःसृतः कृष्णः कर्षमाण उलूखलम्॥ १५ ॥
यमलाभ्यां प्रवृद्धाभ्यामर्जुनाभ्यां चरन् वने।
मध्यान्निश्चक्राम तयोः कर्षमाण उलूखलम्॥ १६ ॥

यशोदाके कार्यमें तत्पर होते ही लाला कन्हैया बाल-लीला करता और व्रजके लोगोंको विस्मयमें डालता हुआ आँगनसे निकला। वह ओखलीको घसीटता हुआ वनकी ओर चला। मार्गमें एक साथ उत्पन्न हुए दो अर्जुनके वृक्ष थे, जो बहुत बड़े हो गये थे। कन्हैया अपनी ओखलीको खींचता हुआ उन्हीं दोनों वृक्षोंके बीचसे होकर निकला ॥ १५-१६ ॥

तत् तस्य कर्षतो बद्धं तिर्यग्गतमुलूखलम्।
लग्नं ताभ्यां समूलाभ्यामर्जुनाभ्यां चकर्ष च ॥ १७ ॥

खींचते हुए कन्हैयाके उदरसे बँधी हुई वह ओखली टेढ़ी होकर उन दोनों अर्जुन-वृक्षोंकी जड़में जा लगी और वहीं अटक गयी। फिर तो उसने उन वृक्षोंसहित ओखलीको जोर-से खींचा ॥ १७ ॥

तावर्जुनौ कृष्यमाणौ तेन बालेन रंहसा।
समूलविटपौ भग्नौ स तु मध्ये जहास वै ॥ १८ ॥
निदर्शनार्थं गोपानां दिव्यं स्वबलमास्थितः।

बालक कन्हैयाद्वारा वेगसे खींचे गये वे दोनों अर्जुनवृक्ष जड़ और शाखाओंसहित टूटकर गिर पड़े और वह अपने दिव्य बलका आश्रय ले गोपोंको दिखानेके लिये उन दोनों वृक्षोंके बीचमें खड़ा-खड़ा हँसने लगा ॥ १८½ ॥

तद्दाम तस्य बालस्य प्रभावादभवद् दृढम् ॥ १९ ॥
यमुनातीरमार्गस्था गोप्यस्तं ददृशुः शिशुम्।
क्रन्दन्त्यो विस्मयन्त्यश्च यशोदां ययुरङ्गनाः ॥ २० ॥

उस बालकके प्रभावसे वह रस्सी और भी दृढ़ हो गयी। यमुनातीरके मार्गपर खड़ी हुई गोपियोंने जब बालकृष्णको उस अवस्थामें देखा, तब वे आश्चर्यचकित हो करुणक्रन्दन करती हुई यशोदाजीके पास गयीं ॥ १९-२० ॥

तास्तु सम्भ्रान्तवदना यशोदामूचुरङ्गनाः।
एह्यागच्छ यशोदे त्वं सम्भ्रमात् किं विलम्बसे ॥ २१ ॥
यौ तावर्जुनवृक्षौ तु व्रजे सत्योपयाचनौ।
पुत्रस्योपरि तावेतौ पतितौ ते महीरुहौ ॥ २२ ॥

उन सबके मुखपर घबराहट छायी हुई थी। उन गोपाङ्गनाओंने यशोदासे कहा—'यशोदाजी! वेगसे आओ! आओ!! सम्भ्रमके कारण तुम विलम्ब क्यों करती हो। व्रजमें वे जो दोनों अर्जुनवृक्ष थे, जहाँ हमारी प्रत्येक याचना और मनौती सफल होती थी, वे दोनों वृक्ष तुम्हारे पुत्रके ऊपर गिर पड़े ॥ २१-२२ ॥

दृढेन दाम्ना तत्रैव बद्धो वत्स इवोदरे।
जहास वृक्षयोर्मध्ये तव पुत्रः स बालकः ॥ २३ ॥

'जैसे बँधा हुआ बछड़ा हो, उसी प्रकार उदरमें मजबूत रस्सीसे बँधा हुआ तुम्हारा वह बालक उन वृक्षोंके बीचमें खड़ा-खड़ा हँस रहा था ॥ २३ ॥

उत्तिष्ठ गच्छ दुर्मेधे मूढे पण्डितमानिनि।
पुत्रमानय जीवन्तं मुक्तं मृत्युमुखादिव ॥ २४ ॥

'अपनेको पण्डित माननेवाली मूढ़ दुर्बुद्धि यशोदे! उठो। चलो हमारे साथ और अपने जीवित पुत्रको, जो मानो मौतके मुखसे बचकर निकला है, घर ले आओ' ॥ २४ ॥

सा भीता सहसोत्थाय हाहाकारं प्रकुर्वती।
तं देशमगमद् यत्र पातितौ तावुभौ द्रुमौ ॥ २५ ॥

यशोदा भयभीत हो सहसा उठी और हाहाकार करती हुई उस स्थानपर गयी, जहाँ उसके लालाने उन दोनों वृक्षों-को धराशायी कर दिया था ॥ २५ ॥

सा ददर्श तयोर्मध्ये द्रुमयोरात्मजं शिशुम्।
दाम्ना निबद्धमुदरे कर्षमाणमुलूखलम् ॥ २६ ॥

उसने अपने पुत्रको उन दोनों वृक्षोंके बीचमें खड़ा देखा, जो रस्सीसे पेटमें बँधी हुई ओखलीको अपनी ओर खींच रहा था ॥ २६ ॥

सगोपीगोपवृद्धश्च समुवाच व्रजस्तदा।
पर्यागच्छन्त ते द्रष्टुं गोपेषु महदद्भुतम् ॥ २७ ॥

गोपियों और बड़े-बूढ़े गोपोंसहित सारे व्रजमें उस समय इसी घटनाकी चर्चा होने लगी। गोपोंके यहाँ जो यह महान् और अद्भुत घटना घटित हुई थी, इसे देखनेके लिये चारों ओरसे लोग आने लगे ॥ २७ ॥

जजल्पुस्ते यथाकामं गोपा वनविचारिणः।
केनेमौ पातितौ वृक्षौ घोषस्यायतनोपमौ ॥ २८ ॥

वनमें विचरनेवाले वे गोप अपनी इच्छाके अनुसार वहाँ आकर कहने लगे—'अहो! व्रजके ये दोनों वृक्ष देवमन्दिरके समान थे, इनको किसने गिरा दिया ॥ २८ ॥

विना वातं विना वर्षं विद्युत्प्रपतनं विना।
विना हस्तिकृतं दोषं केनेमौ पातितौ द्रुमौ ॥ २९ ॥

'न आँधी चली, न वर्षा हुई, न बिजली गिरी और न किसी हाथीने ही आकर टक्कर मारी, इन सब दोषोंके बिना ही ये दोनों वृक्ष किसके द्वारा गिराये गये ॥ २९ ॥

अहो बत न शोभेते विमूलावर्जुनाविमौ।
भूमौ निपतितौ वृक्षौ वितोयौ जलदाविव ॥ ३० ॥

'अहो! जड़से अलग हो जानेके कारण पृथ्वीपर गिरे हुए ये दोनों अर्जुन वृक्ष जलहीन बादलोंके समान शोभारहित हो गये हैं ॥ ३० ॥

यदीमौ घोषरचितौ घोषकल्याणकारिणौ।
नन्दगोप प्रसन्नौ ते द्रुमावेवं गतावपि।
यच्च ते दारको मुक्तो विपुलाभ्यामपि क्षितौ ॥ ३१ ॥

'नन्दगोप! यदि ये दोनों वृक्ष इस गोष्ठमें लगाये गये थे और समस्त घोषवासियोंका कल्याण करते थे तो आज

इस अवस्थामें पहुँचकर भी ये दोनों आपपर प्रसन्न ही हैं, जिससे विशाल होनेपर भी इन वृक्षोंने पृथ्वीपर गिरते समय तुम्हारे बालकको जीवित छोड़ दिया है ॥ ३१ ॥

औत्पातिकमिदं घोषे तृतीयं वर्तते त्विह ।
पूतनाया विनाशश्च द्रुमयोः शकटस्य च ॥ ३२ ॥

'इस व्रजमें यह तीसरी बार औत्पातिक घटना हुई है। पूतनाका विनाश, छकड़ेका उलटना और वृक्षोंका धराशायी होना—ये तीन उपद्रव यहाँ हो चुके ॥ ३२ ॥

अस्मिन् स्थाने च वासोऽयं घोषस्यास्य न युज्यते ।
उत्पाता ह्यत्र दृश्यन्ते कथयन्तो न शोभनम् ॥ ३३ ॥

'इस स्थानपर हमारे इस व्रजका रहना अब उचित नहीं जान पड़ता; क्योंकि यहाँ अशुभ परिणामकी सूचना देनेवाले उत्पात दिखायी देने लगे हैं' ॥ ३३ ॥

नन्दगोपस्तु सहसा मुक्त्वा कृष्णमुलूखलात् ।
निवेश्य चाङ्के सुचिरं मृतं पुनरिवागतम् ॥ ३४ ॥
नातृप्यत् प्रेक्षमाणो वै कृष्णं कमललोचनम् ।

इतनेहीमें नन्दगोपने सहसा बन्धन खोलकर श्रीकृष्णको ओखलीसे मुक्त कर दिया और मानो वह बालक मरकर पुनः जी उठा हो, ऐसा मानते हुए वे देरतक उसे अपनी गोदमें चिपकाये रहे । उस समय वे कमलनयन श्रीकृष्णकी ओर देखते-देखते तृप्त नहीं होते थे ॥ ३४½ ॥

ततो यशोदां गर्हन् वै नन्दगोपो विवेश ह ॥ ३५ ॥
स च गोपजनः सर्वो व्रजमेव जगाम ह ।

तदनन्तर नन्दगोप यशोदाकी निन्दा करते हुए घरमें गये, साथ ही अन्य सब गोप भी व्रजमें ही पधारे ॥ ३५½ ॥

स च तेनैव नाम्ना तु कृष्णो वै दामबन्धनात् ।
गोष्ठे दामोदर इति गोपीभिः परिगीयते ॥ ३६ ॥

उस दाम अर्थात् रस्सीसे उदरमें बाँधे जानेके कारण श्रीकृष्णका नाम दामोदर हो गया । व्रजमें गोपियाँ उसी नामसे उनकी लीलाओंका गान करने लगीं ॥ ३६ ॥

एतदाश्चर्यभूतं हि बालस्यासीद् विचेष्टितम् ।
कृष्णस्य भरतश्रेष्ठ घोषे निवसतस्तदा ॥ ३७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! व्रजमें निवास करते समय बालक कृष्णकी ऐसी ही आश्चर्यमयी लीलाएँ होती रहती थीं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शिशुचर्यायां यमलार्जुनभङ्गो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें बाललीलाके प्रसङ्गमें यमलार्जुनभङ्गविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण-बलरामकी बालचर्या, श्रीकृष्णके द्वारा व्रजको अन्यत्र ले जानेकी चेष्टा और अपने शरीरसे भेड़ियोंको उत्पन्न करके उनका समूचे व्रजको डराना

वैशम्पायन उवाच

एवं तौ बाल्यमुत्तीर्णौ कृष्णसंकर्षणावुभौ ।
तस्मिन्नेव व्रजस्थाने सप्तवर्षौ बभूवतुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार श्रीकृष्ण और संकर्षण दोनों भाई उसी व्रजमें बाल्यावस्थाको पार करके सात वर्षके हो गये ॥ १ ॥

नीलपीताम्बरधरौ पीतश्वेतानुलेपनौ ।
बभूवतुर्वत्सपालौ काकपक्षधरावुभौ ॥ २ ॥

इनमेंसे एक (बलराम) तो नील वस्त्र धारण करते थे और दूसरे (श्रीकृष्ण) पीत वस्त्र । दोनोंके चन्दन और अङ्गराग भी क्रमशः पीले और श्वेत थे । दोनों ही काकपक्ष धारण करते थे । अब वे दोनों भाई बछड़े चराने लगे ॥ २ ॥

पर्णवाद्यं श्रुतिसुखं वादयन्तौ वराननौ ।
शुशुभाते वनगतौ त्रिशीर्षाविव पन्नगौ ॥ ३ ॥

उन दोनोंके मुख बड़े सुन्दर थे । वे वनमें जाकर कानोंको सुख देनेवाले पत्तोंके बाजे (पिपीहरी या सीटी) बजाते हुए तीन सिरवाले सर्पोंके समान शोभा पाते थे * ॥ ३ ॥

मयूराङ्गदकर्णौ तु पल्लवापीडधारिणौ ।
वनमालाकुलोरस्कौ द्रुमपोताविवोद्गतौ ॥ ४ ॥

मोरपङ्खके ही बाजूबंद और कर्णभूषण पहने तथा पत्तोंके ही मुकुट धारण किये वे दोनों भाई वृक्षके निकले

---

* ताड़ आदिके पत्तेको मोड़कर उसके सिरेपर छोटा-सा छेद रखकर उसे दोनों हाथसे पकड़े हुए बच्चे मुँहमें डालकर फूँकते हैं, उसमेंसे सीटी, बिगुल या बाँसुरी-जैसी आवाज निकलती है । उसे बजाते समय दोनों हाथ और सिर ऊँचाईपर रहते हैं । इसीकी सर्पके तीन सिरोंसे उपमा दी गयी है ।



श्रीकृष्ण और बलरामका वन-विहार (पृष्ठ-संख्या २३४)

हुए नये पौधोंके समान दिखायी देते थे। उनका वक्षःस्थल वनमालासे व्याप्त था ॥ ४ ॥

अरविन्दकृतापीडौ रज्जुयज्ञोपवीतिनौ ।
सशिक्यतुम्बकरकौ गोपवेणुप्रवादकौ ॥ ५ ॥

कमलपुष्पोंके शिरोभूषण और रस्सीके यज्ञोपवीत धारण करके वे दोनों ग्वालबालोंके समान मुरली बजाया करते थे। उनके साथ छींका, तुम्बी और करक (करुआ या पुरवा) भी थे ॥ ५ ॥

क्वचिद्धसन्तावन्योन्यं क्रीडमानौ क्वचित् क्वचित् ।
पर्णशय्यासु संसुप्तौ क्वचिन्निद्रान्तरेक्षणौ ॥ ६ ॥

कहीं एक दूसरेकी ओर देखकर हँसते-हँसाते, कहीं भाँति-भाँतिके खेल खेलते और कहीं पत्तोंके बिछौनोंपर सोकर आँखोंमें नींद भर लेते थे ॥ ६ ॥

एवं वत्सान् पालयन्तौ शोभयन्तौ महावनम् ।
चञ्चूर्यन्तौ रमन्तौ स्म किशोराविव चञ्चलौ ॥ ७ ॥

इस प्रकार बछड़े चराते, महावनकी शोभा बढ़ाते, बारंबार सब ओर चक्कर लगाते और चञ्चल गतिवाले अश्वशावकोंके समान वनमें विहार करते थे ॥ ७ ॥

अथ दामोदरः श्रीमान् संकर्षणमुवाच ह ।
आर्य नास्मिन् वने शक्यं गोपालैः सह क्रीडितुम् ॥ ८ ॥
अवगीतमिदं सर्वमावाभ्यां भुक्तकाननम् ।
प्रक्षीणतृणकाष्ठं च गोपैर्मथितपादपम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर एक दिन शोभासम्पन्न दामोदर श्रीकृष्णने अपने भाई संकर्षणसे कहा—'आर्य ! अब इस वनमें ग्वाल-बालोंके साथ खेलना सम्भव नहीं है। हमलोगोंने इस सारे वनको अपने उपभोगमें लाकर इसकी शोभा-सम्पत्ति नष्ट कर दी है। यहाँकी घास चर ली गयी और काठ भी तोड़ लिये गये हैं। गोपोंने यहाँके एक-एक वृक्षको मथ डाला है ॥ ८-९ ॥

घनीभूतानि यान्यासन् काननानि वनानि च ।
तान्याकाशनिकाशानि दृश्यन्तेऽद्य यथाऽसुखम् ॥ १० ॥

'जो वन और कानन सघन थे, वे अब आकाशके समान सूने दिखायी देती हैं। इन्हें देखकर अब सुख नहीं मिलता ॥

गोवाटेष्वपि ये वृक्षाः परिवृत्तार्गलेषु च ।
सर्वे गोष्ठाग्निषु गताः क्षयमक्षयवर्चसः ॥ ११ ॥

'जिनके फाटकोंमें गोलाकार कुंडे लगे हैं, उन गोशालाओंमें भी अमिट शोभावाले जो वृक्ष थे, वे सब गोष्ठकी आगमें जलकर नष्ट हो गये ॥ ११ ॥

संनिकृष्टानि यान्यासन् काष्ठानि च तृणानि च ।
तानि दूरावकृष्टासु मार्गितव्यानि भूमिषु ॥ १२ ॥

'जो तृण और काष्ठ बहुत निकट थे, वे दूरतककी जोती हुई भूमियोंमें अब ढूँढ़नेके योग्य रह गये हैं ॥ १२ ॥

अरण्यमिदमल्पोदमल्पकक्षं निराश्रयम् ।
अन्वेषितव्यविश्रामं दारुणं विरलद्रुमम् ॥ १३ ॥

'इस वनमें जल बहुत थोड़ा है, सूखे काठ और तृण भी बहुत कम हैं, यहाँ आश्रय लेनेयोग्य कोई स्थान नहीं है, यहाँ विश्रामके लिये भूमि खोजनी पड़ती है, विरले ही वृक्ष बच गये हैं, अतः इसकी बड़ी दारुण अवस्था हो गयी है ॥

अकर्मण्येषु वृक्षेषु स्थितविप्रस्थितद्विजम् ।
संवासस्यास्य महतो जनेनोत्सादितद्रुमम् ॥ १४ ॥

'यहाँके वृक्ष अब कामके नहीं रहे (इनमें फल-फूलका अभाव हो गया है)। इनपर जो पक्षी रहते थे, वे अब अन्यत्र प्रस्थान कर चुके हैं। इस विशाल बस्तीके लोगोंने यहाँके वृक्षोंको उजाड़ कर दिया है ॥ १४ ॥

निरानन्दं निरास्वादं निष्प्रयोजनमारुतम् ।
निर्विहङ्गमिदं शून्यं निर्व्यञ्जनमिवाशनम् ॥ १५ ॥

'यहाँ कोई आनन्द नहीं रहा, फलोंका आस्वाद दुर्लभ हो गया। यहाँ वायुका चलना भी निष्फल है (क्योंकि न तो वह सुगन्ध देती है और न फल ही गिराती है—इन दोनों वस्तुओंका यहाँ सर्वथा अभाव है)। पक्षियोंसे रहित यह सूना वन बिना व्यञ्जनके भोजनकी भाँति अच्छा नहीं लगता ॥

विक्रीयमाणैः काष्ठैश्च शाकैश्च वनसम्भवैः ।
उच्छिन्नसंचयतृणैर्घोषोऽयं नगरायते ॥ १६ ॥

'यहाँके सूखे काठ और इस वनमें होनेवाले शाक प्रतिदिन बेचे जा रहे हैं। यहाँ जो ढेर-के-ढेर तृण थे, उनका उच्छेद हो गया; इससे यह घोष (व्रज) नगरके समान जान पड़ता है ॥ १६ ॥

शैलानां भूषणं घोषो घोषाणां भूषणं वनम् ।
वनानां भूषणं गावस्ताश्चास्माकं परा गतिः ॥ १७ ॥

'पर्वतोंका भूषण है घोष (गोष्ठ), घोषोंका भूषण है वन और वनोंका आभूषण हैं गौएँ। वे गौएँ ही हमलोगोंकी परम गति (सबसे बड़ा सहारा) हैं ॥ १७ ॥

तस्मादन्यद् वनं यामः प्रत्यग्रयवसेन्धनम् ।
इच्छन्त्यनुपभुक्तानि गावो भोक्तुं तृणानि च ॥ १८ ॥

'अतः अब हम दूसरे वनमें चलें, जहाँ नयी-नयी घास और ईंधनकी अधिकता हो। हमारी गौएँ उन नयी-नयी घासोंको चरना चाहती हैं, जो अबतक चरी नहीं गयी हैं ॥ १८ ॥

तस्माद् वनं नवतृणं गच्छन्तु धनिनो व्रजाः ।
न द्वारबन्धावरणा न गृहक्षेत्रिणस्तथा ।
प्रशस्ता वै व्रजा लोके यथा वै चक्रचारिणः ॥ १९ ॥

'अतः जो व्रज धनसे सम्पन्न हों, वे उस वनमें चलें जहाँ नयी-नयी घास उपलब्ध हो। जिनमें दरवाजे बँध गये हैं

और चारों ओरसे बाड़ लग गये हैं, जहाँ स्थायी घर बन गये और खेत कर लिये गये; ऐसे व्रज लोकमें अच्छे नहीं माने जाते। उन्मुक्त विचरनेवाले हंसोंके समान बन्धनरहित होकर विभिन्न स्थानोंमें घूमते रहनेवाले व्रज ही श्रेष्ठ हैं ॥ १९ ॥

शकृन्मूत्रेषु तेष्वेव जातक्षाररसायनम्।
न तृणं भुञ्जते गावो नापि तत् पयसे हितम् ॥ २० ॥

'उन्हीं गोबर-मूत्रोंके ढेरपर जो तृण पैदा होते हैं अथवा अन्यत्र पैदा हुए तृणोंपर जब गोबर-गोमूत्र पड़ जाते हैं, तब उनमें क्षार एवं रसायनके गुण आ जाते हैं; अतः गौएँ उन घासोंको चाहसे नहीं खाती हैं तथा वे तृण दूधके लिये भी हितकारी नहीं होते हैं ॥ २० ॥

स्थलीप्रायासु रथ्यासु नवासु वनराजिषु।
चरावः सहितौ गोभिः क्षिप्रं संवाह्यतां व्रजः ॥ २१ ॥

'आजकल इस वनकी सारी गलियाँ स्थल-सी हो गयी हैं। उनमें घास-फूँसका नाम भी नहीं रह गया है; अतः चलिये, हम दोनों गौओंके साथ नूतन वन-श्रेणियोंमें विचरें। अब शीघ्र ही यहाँसे व्रजको अन्यत्र ले जाना चाहिये ॥ २१ ॥

श्रूयते हि वनं रम्यं पर्याप्ततृणसंस्तरम्।
नाम्ना वृन्दावनं नाम स्वादुवृक्षफलोदकम् ॥ २२ ॥

'सुना जाता है कि वृन्दावन नामक वन बड़ा ही रमणीय है। वहाँ पर्याप्त घास फैली हुई है। वहाँके वृक्षोंमें स्वादिष्ट फल लगे हैं और वहाँका जल भी सुस्वादु है ॥ २२ ॥

अझिल्लिकण्टकवनं सर्वैर्वनगुणैर्युतम्।
कदम्बपादपप्रायं यमुनातीरसंश्रितम् ॥ २३ ॥

'उस वनमें न झिल्लियाँ (झींगुर) हैं, न काँटे। उसमें सभी वनसम्बन्धी गुणोंका संयोग है। वहाँ अधिकतर कदम्बके वृक्ष हैं तथा वह वन यमुनाके तटपर ही स्थित है ॥

स्निग्धशीतानिलवनं सर्वर्तुनिलयं शुभम्।
गोपीनां सुखसंचारं चारुचित्रवनान्तरम् ॥ २४ ॥

'उसमें सदा स्निग्ध एवं शीतल वायु चलती रहती है। वहाँ सभी ऋतुओंका निवास है। वह वन बड़ा सुन्दर एवं सुखद है। वहाँ गोपियाँ बड़े सुखसे सब ओर विचर सकती हैं। वृन्दावनके भीतरी भागमें और भी बहुत-से विचित्र एवं मनोहर वन हैं ॥ २४ ॥

तत्र गोवर्धनो नाम नातिदूरे गिरिर्महान्।
भ्राजते दीर्घशिखरो नन्दनस्येव मन्दरः ॥ २५ ॥

'वहाँ गोवर्धन नामक महान् पर्वत है, जो उस वनसे अधिक दूर नहीं है। उसके बड़े-बड़े शिखर हैं। जैसे नन्दन-वनके पास मन्दराचलकी शोभा होती है, उसी प्रकार वृन्दा-वनके निकट गोवर्धन सुशोभित होता है ॥ २५ ॥

मध्ये चास्य महाशाखो न्यग्रोधो योजनोच्छ्रितः।
भाण्डीरो नाम शुशुभे नीलमेघ इवाम्बरे ॥ २६ ॥

'उस वनके मध्यभागमें विशाल शाखाओंसे सुशोभित एक बरगदका वृक्ष है, जो एक योजन ऊँचा है। उसका नाम है भाण्डीर वट। वह आकाशमें श्याम मेघके समान शोभा पाता है ॥ २६ ॥

मध्येन चास्य कालिन्दी सीमन्तमिव कुर्वती।
प्रयाता नन्दनस्येव नलिनी सरितां वरा ॥ २७ ॥

'जैसे नन्दन वनके बीचमें सरिताओंमें श्रेष्ठ नलिनी प्रवाहित होती है, उसी प्रकार वृन्दावनके मध्यभागमें सीमन्त-सा बनाती हुई कालिन्दी बहती है ॥ २७ ॥

तत्र गोवर्धनं चैव भाण्डीरं च वनस्पतिम्।
कालिन्दीं च नदीं रम्यां द्रक्ष्यावश्चरतः सुखम् ॥ २८ ॥

'हमलोग वहाँ चलनेपर गोवर्धन पर्वत, भाण्डीर वट तथा रमणीय कालिन्दी नदीका सुखपूर्वक दर्शन करेंगे ॥२८॥

तत्रायं कल्प्यतां घोषस्त्यज्यतां निर्गुणं वनम्।
संत्रासयावो भद्रं ते किंचिदुत्पाद्य कारणम् ॥ २९ ॥

'वहीं चलकर इस व्रजको बसाया जाय और इस गुणहीन वनको छोड़ दिया जाय। भैया! आपका भला हो, कोई नवीन कारण उत्पन्न करके हम इन व्रजवासियोंको डरावें' ॥

एवं कथयतस्तस्य वासुदेवस्य धीमतः।
प्रादुर्बभूवुः शतशो रक्तमांसवसाशनाः ॥ ३० ॥
घोराश्चिन्तयतस्तस्य स्वतनूरुहजास्तदा।
विनिष्पेतुर्भयकराः सर्वशः शतशो वृकाः ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ऐसा कह ही रहे थे कि उनके रोम-रोमसे सैकड़ों भयानक भेड़िये उत्पन्न होने लगे, जो रक्त, मांस और वसाका आहार करनेवाले थे। उनके चिन्तन करते ही सब ओर सैकड़ों भयंकर वृक निकल पड़े थे ॥ ३०-३१ ॥

निष्पतन्ति स्म बहवो व्रजस्योत्सादनाय वै।
वृकान् निष्पतितान् दृष्ट्वा गोषु वत्सेष्वथो नृषु ॥ ३२ ॥
गोपीषु च यथाकामं व्रजे त्रासोऽभवन्महान्।

व्रजको वहाँसे उजाड़नेके लिये जब श्रीकृष्णकी इच्छाके अनुसार बहुत-से भेड़िये प्रकट होने लगे, तब उन्हें देखकर गौओं, बछड़ों, मनुष्यों तथा गोपाङ्गनाओंमें अथवा यों कहिये सम्पूर्ण व्रजमें महान् त्रास छा गया ॥ ३२½ ॥

ते वृकाः पञ्चबद्धाश्च दशबद्धास्तथा परे ॥ ३३ ॥
त्रिंशद्विंशतिबद्धाश्च शतबद्धास्तथा परे।
निश्चेरुस्तस्य गात्रेभ्यः श्रीवत्सकृतलक्षणाः ॥ ३४ ॥

ये भेड़िये पाँच, दस, बीस, तीस तथा सौ-सौके झुंड बनाकर श्रीकृष्णके अङ्गोंसे निकल रहे थे। ये सभी श्रीवत्सके चिह्नसे सुशोभित थे ॥ ३३-३४ ॥

कृष्णस्य कृष्णवदना गोपानां भयवर्धनाः ।
भक्षयद्भिश्च तैर्वत्सांस्त्रासयद्भिश्च गोव्रजान् ॥ ३५ ॥
निशि बालान् हरद्भिश्च वृकैरुत्साद्यते व्रजः ।

श्रीकृष्णके अङ्गोंसे प्रकट हुए वे काले मुखवाले वृक गोपोंका भय बढ़ा रहे थे । वे बछड़ोंको खा जाते, गौओंके झुंडोंको त्रास देते तथा रातमें बालकोंका अपहरण कर लेते थे । इस प्रकार भेड़ियोंद्वारा वह व्रज उजाड़ा जाने लगा ॥

न वने शक्यते गन्तुं न गाश्च परिरक्षितुम् ॥ ३६ ॥
न वनात् किंचिदाहर्तुं न च वा तरितुं नदीम् ।

उस समय वनमें जाना, गौओंकी रक्षा करना, वनसे कोई वस्तु ले आना अथवा नदीको पार करना असम्भव हो गया ॥ ३६½ ॥

त्रस्ता ह्युद्विग्नमनसोऽगतास्तस्मिन् वनेऽवसन् ॥ ३७ ॥
एवं वृकैरुदीर्णैस्तु व्याघ्रतुल्यपराक्रमैः ।
व्रजो निष्पन्दचेष्टः स एकस्थानचरः कृतः ॥ ३८ ॥

वे सब-के-सब भयभीत थे, उनका चित्त उद्विग्न हो गया था । वे कहीं भी आ-जा न सके । डरके मारे केवल उस वनमें ही बैठे रहे । इस प्रकार बढ़े हुए व्याघ्रतुल्य पराक्रमी भेड़ियोंने सारे व्रजको निश्चेष्ट तथा एक स्थानमें ही सीमित रहनेवाला बना दिया ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शिशुचर्यायां वृकदर्शनेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें बाललीलाके प्रसङ्गमें वृकदर्शनविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८॥

नवमोऽध्यायः

भेड़ियोंके उत्पातसे व्रजवासियोंका उस स्थानको छोड़कर श्रीवृन्दावनमें जाना

वैशम्पायन उवाच

एवं वृकांश्च तान् दृष्ट्वा वर्धमानान् दुरासदान् ।
सस्त्रीपुमान् स घोषो वै समस्तोऽमन्त्रयत् तदा॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार उन दुर्जय भेड़ियोंको बढ़ते देख समस्त व्रजके स्त्री-पुरुष एकत्र हो उस समय इस प्रकार मन्त्रणा करने लगे—॥ १ ॥

स्थानेनेह न नः कार्यं व्रजामोऽन्यन्महद्वनम् ।
यच्छिवं च सुखोष्यं च गवां चैव सुखावहम्॥ २ ॥

'अब हमें इस स्थानपर रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । हम लोग दूसरे किसी विशाल वनमें चले चलें, जो हमारे लिये कल्याणकारी, सुखपूर्वक रहने योग्य तथा गौओंके लिये भी सुखदायक हो ॥ २ ॥

अद्यैव किं चिरेण स्म व्रजामः सह गोधनैः ।
यावद् वृकैर्वधं घोरं न नः सर्वो व्रजो व्रजेत् ॥ ३ ॥

'विलम्ब करनेसे क्या लाभ ? हम आज ही अपने गो-धनोंके साथ यहाँसे चल दें । भेड़ियोंसे हमारे सारे व्रजका भयंकर वध न हो जाय—इसके पहले ही हमें यहाँसे प्रस्थान कर देना चाहिये ॥ ३ ॥

एषां धूम्रारुणाङ्गानां दंष्ट्रिणां नखकर्षिणाम् ।
वृकाणां कृष्णवक्त्राणां बिभीमो निशि गर्जताम्॥ ४ ॥

'इन भेड़ियोंके सारे अङ्ग धूमिल और लाल रंगके हैं, इनके बड़ी-बड़ी दाढ़ें हैं । ये नखोंसे बकोट लेते हैं । इनके मुख काले हैं और रातके समय ये भीषण गर्जना करते हैं । हमें इनसे बड़ा भय लगता है ॥ ४ ॥

मम पुत्रो मम भ्राता मम वत्सोऽथ गौर्मम ।
वृकैर्व्यापादिता ह्येवं क्रन्दन्ति स्म गृहे गृहे ॥ ५ ॥

'घर-घरकी स्त्रियाँ करुणक्रन्दन करती हुई यों कहती हैं कि हाय ! इन भेड़ियोंने मेरे पुत्रको, मेरे भाईको, मेरे बछड़ेको और मेरी गायको मार डाला है' ॥ ५ ॥

तासां रुदितशब्देन गवां हंभारवेण च ।
व्रजस्योत्थापनं चक्रुर्घोषवृद्धाः समागताः ॥ ६ ॥

उनके रोनेके शब्दसे और गायोंके रँभानेसे चिन्तित हो एकत्र हुए व्रजके वृद्ध पुरुषोंने व्रजको वहाँसे उठा देनेका ही निश्चय किया ॥ ६ ॥

तेषां मतमथाज्ञाय गन्तुं वृन्दावनं प्रति ।
व्रजस्य विनिवेशाय गवां चैव हिताय च ॥ ७ ॥
वृन्दावननिवासाय ताञ्ज्ञात्वा कृतनिश्चयान् ।
नन्दगोपो बृहद्वाक्यं बृहस्पतिरिवाददे ॥ ८ ॥

जब नन्दजीने वृन्दावनमें जानेके लिये उनके मतको जान लिया तथा व्रजको नयी जगह बसाने एवं गौओंके हितके लिये वृन्दावनमें निवास करनेके निमित्त उन सबके दृढ़ निश्चयको समझ लिया, तब वे बृहस्पतिके समान यह महत्त्वपूर्ण वचन बोले—॥ ७-८ ॥

अद्यैव निश्चयप्राप्तिर्यदि गन्तव्यमेव नः ।
शीघ्रमाज्ञाप्यतां घोषः सज्जीभवत मा चिरम् ॥ ९ ॥

'यदि यह बात निश्चित हो गयी और हमें जाना ही होगा तो आज ही यात्रा कर देनी चाहिये । शीघ्र ही सारे व्रजमें यह आदेश दे दिया जाय कि तुम सब लोग शीघ्र ही यहाँसे प्रस्थानके लिये तैयार हो जाओ, देर न करो' ॥ ९ ॥

ततोऽवघुष्यत तदा घोषे तत् प्राकृतैर्जनैः।
शीघ्रं गावः प्रकल्प्यन्तां भाण्डं समभिरोप्यताम्॥ १०॥
वत्सयूथानि काल्यन्तां युज्यन्तां शकटानि च।
वृन्दावनमितः स्थानान्निवेशाय च गम्यताम्॥ ११॥

फिर तो प्राकृत जनोंद्वारा व्रजमें यह घोषणा करा दी गयी कि 'व्रजवासियो! शीघ्र ही गौओंको तैयार कर लो। अपने बर्तन-भाँड़ोंको छकड़ोंपर लाद लो। बछड़ोंके समूहोंको अभी हाँक दो। गाड़ियाँ जोतो और यहाँसे वृन्दावनमें रहनेके लिये प्रस्थान करो'॥ १०-११॥

तच्छ्रुत्वा नन्दगोपस्य वचनं साधु भाषितम्।
उदतिष्ठद् व्रजः सर्वः शीघ्रं गमनलालसः॥ १२॥

नन्दगोपका कहा हुआ यह उत्तम वचन सुनकर सारे व्रजके लोग जानेके लिये उत्सुक हो शीघ्र ही उठ खड़े हुए॥ १२॥

प्रयाह्युत्तिष्ठ गच्छामः किं शेषे याहि योजय।
उत्तिष्ठति व्रजे तस्मिन् गोपकोलाहलो ह्यभूत्॥ १३॥

इस प्रकार जब वह व्रज वहाँसे उठने लगा, तब गोपोंका कोलाहल इस तरह सुनायी देने लगा—'अरे! चलो, उठो, हम सब लोग चल रहे हैं, क्या सो रहे हो, जाओ, छकड़ा जोतो'॥ १३॥

उत्तिष्ठमानः शुशुभे शकटीशकटस्तु सः।
व्याघ्रघोषमहाघोषो घोषः सागरघोषवान्॥ १४॥

गाड़ियों और छकड़ोंसे युक्त वह व्रज जब वहाँसे उठकर चला, उस समय ऐसा भयंकर कोलाहल हुआ, मानो वहाँ व्याघ्रोंके दहाड़नेकी भारी आवाज हो रही हो अथवा समुद्रकी गर्जना सुनायी देती हो॥ १४॥

गोपीनां गर्गरीभिश्च मूर्ध्नि चोत्तम्भितैर्घटैः।
निष्पपात व्रजात् पंक्तिस्तारापंक्तिरिवाम्बरात्॥ १५॥

सिरपर माट और घड़े उठाये गोपियोंकी पंक्ति जब व्रजसे निकली, उस समय ऐसा जान पड़ा, मानो आकाशसे ताराओंकी पाँत उतर आयी हो॥ १५॥

नीलपीतारुणैस्तासां वस्त्रैरग्रस्तनोच्छ्रितैः।
शक्रचापायते पंक्तिर्गोपीनां मार्गगामिनी॥ १६॥

उनके नीले, पीले और लाल वस्त्र स्तनोंके अग्रभागपर ऊँचे दिखायी देते थे। उन वस्त्रोंसे सुशोभित हो मार्गपर चलती हुई गोपियोंकी पंक्ति इन्द्रधनुषके समान शोभा पाती थी॥ १६॥

दामनीदामभारैश्च केचित् कायावलम्बिभिः।
गोपा मार्गगता भान्ति सावरोहा इव द्रुमाः॥ १७॥

कुछ गोप मोटी और पतली रस्सियोंके बोझ लिये मार्गमें चल रहे थे। वे रस्सियाँ उनके अङ्गोंपर लटक रही थीं। उनसे उपलक्षित होनेवाले वे गोप, बरोहोंसे युक्त वटवृक्षके समान प्रतीत होते थे॥ १७॥

स व्रजो व्रजता भाति शकटौघेन भास्वता।
पोतैः पवनविक्षिप्तैर्निष्पतद्भिरिवार्णवः॥ १८॥

आगे बढ़ते हुए शोभाशाली शकटोंके समूहसे उस व्रजकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो पवनकी प्रेरणासे वेगपूर्वक चलते हुए असंख्य जलपोतों (जहाजों) से युक्त महासागर सुशोभित हो रहा हो॥ १८॥

क्षणेन तद् व्रजस्थानमीरिणं समपद्यत।
द्रव्यावयवनिर्धूतं कीर्णं वायसमण्डलैः॥ १९॥

एक ही क्षणमें व्रजका वह स्थान ऊसरभूमिके समान सूना हो गया। वहाँ जो अन्न आदि द्रव्योंके कण बिखरे हुए थे, उनके कारण उस स्थानपर कौओंकी मण्डली छा गयी थी॥ १९॥

ततः क्रमेण घोषः स प्राप्तो वृन्दावनं वनम्।
निवेशं विपुलं चक्रे गवां चैव हिताय च॥ २०॥

तदनन्तर क्रमशः आगे बढ़ता हुआ वह व्रज वृन्दावनमें जा पहुँचा और गौओंके हितके लिये बहुत दूरतक फैलकर बस गया॥ २०॥

शकटावर्तपर्यन्तं चन्द्रार्द्धाकारसंस्थितम्।
मध्ये योजनविस्तीर्णं तावद्द्विगुणमायतम्॥ २१॥

सीमापर छकड़ोंके बाड़ लगा दिये गये। सारा व्रज अर्धचन्द्रकी आकृतिमें स्थित हो गया। बीचके भूभागकी चौड़ाई एक योजन और लंबाई दो योजनकी थी॥ २१॥

कण्टकीभिः प्रवृद्धाभिस्तथा कण्टकितद्रुमैः।
निखातोच्छ्रितशाखाग्रैरभिगुप्तं समन्ततः॥ २२॥

बढ़ी हुई कण्टकी (नीलकाँटे आदि) तथा शाखाग्रभागको ऊँचे रखकर गाड़े गये काँटेदार वृक्षोंके द्वारा वह व्रज चारों ओरसे सुरक्षित था॥ २२॥

मन्थैरारोप्यमाणैश्च मन्थबन्धानुकर्षणैः।
अद्भिः प्रक्षाल्यमानाभिर्गर्गरीभिरितस्ततः॥ २३॥
कीलैरारोप्यमाणैश्च दामनीपाशपाशितैः।
स्तम्भनीभिर्धृताभिश्च शकटैः परिवर्तितैः॥ २४॥
नियोगपाशैरासक्तैर्गर्गरीस्तम्भमूर्धसु।
छादनार्थं प्रकीर्णैश्च कटकैस्तृणसंकटैः॥ २५॥
शाखाविटङ्कैर्वृक्षाणां क्रियमाणैरितस्ततः।
शोध्यमानैर्गवां स्थानैः स्थाप्यमानैरुलूखलैः॥ २६॥
प्राङ्मुखैः सिच्यमानैश्च संदीप्यद्भिश्च पावकैः।
सवत्सचर्मास्तरणैः पर्यङ्कैश्चावरोपितैः॥ २७॥
तोयमुत्तारयन्तीभिः प्रेक्षन्तीभिश्च तद् वनम्।
शाखाश्चाकर्षमाणाभिर्गोपीभिश्च समन्ततः॥ २८॥

युवभिः स्थविरैश्चैव गोपैर्व्यग्रकरैर्भृशम् ।
विशसद्भिः कुठारैश्च काष्ठान्यपि तरूनपि ॥ २९ ॥
तद् व्रजस्थानमधिकं शुशुभे काननावृतम् ।
रम्यं वननिवेशं वै स्वादुमूलफलोदकम् ॥ ३० ॥

कहीं दही-दूधके माटोंमें मथानी डाली जा रही थी, कहीं मथानीमें बँधी हुई रस्सी खींची जाती थी, कहीं इधर-उधर गगरियों या माटोंको जलसे धोया जाता था, कहीं कील या खूँटे गाड़े जाते थे, जिनमे मोटी-पतली रस्सियाँ बँधी होती थीं; कहीं बहुत-से खम्भे खड़े किये जा रहे थे, कहीं छकड़े घुमाये जाते थे, कहीं मन्थनपात्र या माटमें डाले गये थम्भके सिरे-पर रस्सियाँ बाँधी जाती थीं, कहीं घर छानेके लिये संचित चटाइयों तथा तिनकोंके समूह बिखरे पड़े थे, कहीं यत्र-तत्र वृक्षोंकी शाखाओंपर पक्षियोंके रहने योग्य स्थान बनाये जाते थे, कहीं गौओंके रहनेयोग्य स्थानोंकी शोध हो रही थी, कहीं ओखलियाँ रखी जाती थीं, उन्हें पूर्वाभिमुख करके धोया जा रहा था, कहीं आग जलायी जाती थी, कहीं छकड़ोंपरसे (अपनी मौतसे मरे हुए) बछड़ोंके चर्मसे निर्मित बिछौनों-सहित पलंग उतारे जा रहे थे, कहीं गोपियाँ अपने सिरसे जलका घड़ा उतारती हुई उस वनकी शोभा देखती थीं, कुछ गोपाङ्गनाएँ सब ओर घूम-घूमकर वृक्षोंकी डालियाँ खींच रही थीं; क्या बूढ़े, क्या जवान, सभी गोपोंके हाथ कार्यमें अत्यन्त व्यस्त थे, वे कुठारोंसे काठ और वृक्षोंको भी काट रहे थे। इन सबके कारण वनसे घिरा हुआ वह व्रजका स्थान अधिक शोभा पा रहा था। वृन्दावनका वह रमणोय प्रदेश स्वादिष्ठ फल, मूल और जलसे सम्पन्न था ॥ २३—३० ॥

तास्तु कामदुघा गावः सर्वपक्षिरुतं वनम् ।
वृन्दावनमनुप्राप्ता नन्दनोपमकाननम् ॥ ३१ ॥

व्रजकी वे सभी कामधेनु गौएँ समस्त पक्षियोंके कलरवोंसे मुखरित और नन्दन-सदृश काननोंसे युक्त वृन्दावनमें पहुँच गयीं ॥ ३१ ॥

पूर्वमेव तु कृष्णेन गवां वै हितकारिणा ।
शिवेन मनसा दृष्टं तद् वनं वनचारिणा ॥ ३२ ॥

वनमें विचरनेवाले, गौओंके हितकारी श्रीकृष्णने पहले ही अपने मनसे कल्याणचिन्तनपूर्वक उस वनको देखा था ॥ ३२ ॥

पश्चिमे तु ततो रूक्षे घर्मे मासे निरामये ।
वर्षतीवामृतं देवे तृणं तत्र व्यवर्धत ॥ ३३ ॥

अतः यद्यपि उस समय बहुत ही रूखे गर्मीके महीनेका अन्तिम भाग (आषाढ़) बीत रहा था, तो भी वहाँ घास-पात बहुत बढ़ने लगा, मानो इन्द्रदेव वहाँ अमृतकी वर्षा कर रहे हों ॥ ३३ ॥

न तत्र वत्साः सीदन्ति न गावो नेतरे जनाः ।
यत्र तिष्ठति लोकानां भवाय मधुसूदनः ॥ ३४ ॥

जहाँ भगवान् मधुसूदन सम्पूर्ण विश्वके हितके लिये विराजमान थे, उस वृन्दावनमे न तो बछड़े कभी शिथिल होते थे, न गौएँ कष्ट पाती थीं और न दूसरे ही लोगोंको कभी दुःखका अनुभव होता था ॥ ३४ ॥

ताश्च गावः स घोषस्तु स च संकर्षणो युवा ।
कृष्णेन विहितं वासं तमध्यासत निर्वृताः ॥ ३५ ॥

वे गौएँ, वह व्रज तथा वे तरुण वीर बलरामजी सब-के-सब श्रीकृष्णद्वारा विहित उस निवासस्थानमें बड़े आनन्दसे रहने लगे ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि वृन्दावनप्रवेशे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीवृन्दावन-प्रवेशविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

वर्षा ऋतुका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

तौ तु वृन्दावनं प्राप्तौ वसुदेवसुतावुभौ ।
चेरतुर्वत्सयूथानि चारयन्तौ सुरूपिणौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वृन्दावनमें पहुँचकर वसुदेवजीके वे दोनों पुत्र, जो बहुत ही सुन्दर थे, बछड़ोंके झुंडोंको चराते हुए वहाँ सब ओर विचरने लगे ॥ १ ॥

पूर्णस्तु धर्मसमयस्तयोस्तत्र वने सुखम् ।
क्रीडतोः सह गोपालैर्यमुनां चावगाहतोः ॥ २ ॥

वृन्दावनमे रहकर ग्वाल-बालोंके साथ क्रीडा और यमुना-स्नान करते हुए उन दोनों भाइयोंका ग्रीष्म-मास सुखपूर्वक बीत गया ॥ २ ॥

ततः प्रावृडनुप्राप्ता मनसः कामदीपिनी ।
प्रववर्षुर्महामेघाः शक्रचापाङ्कितोदराः ॥ ३ ॥

तदनन्तर मनकी कामनाको उद्दीपित करनेवाली वर्षा ऋतु आ पहुँची। मेघोंकी भारी घटा घिर आयी और वर्षा करने लगी। उन मेघोंके मध्यभाग इन्द्रधनुषसे अङ्कित दिखायी देते थे ॥ ३ ॥

बभूवादर्शनः सूर्यो भूमिश्चादर्शना तृणैः ।
पतता मेघवातेन नवतोयानुकर्षिणा ॥ ४ ॥
सम्मार्जिततला भूमिर्यौवनस्थेव लक्ष्यते ॥ ५ ॥

(मेघोंकी आड़में छिपे हुए) सूर्यका दर्शन नहीं हो पाता था । घास इतनी बढ़ गयी कि धरती भी अदृश्य हो गयी । नूतन जलराशिको खींच लानेवाले मेघरूपी वायुने भूतलको झाड़-बुहार और धोकर साफ कर दिया । उस समय भूमि ऐसी दिखायी देती थी, मानो उसकी युवावस्था आ गयी हो ॥ ४-५ ॥

नववर्षावसिक्तानि शक्रगोपकुलानि च ।
नष्टदावाग्निधूमानि वनानि प्रचकाशिरे ॥ ६ ॥

इन्द्रगोप नामक कीट नूतन वर्षाके जलसे भींग रहे थे । वनप्रान्तके दावानल और धूम नष्ट हो गये थे, इससे उन वनोंकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ६ ॥

नृत्यव्यापारकालश्च मयूराणां कलापिनाम् ।
मदरक्ताः प्रवृत्ताश्च केकाः पटुरवास्तथा ॥ ७ ॥

बड़े-बड़े पंखों (कलापों) से विभूषित मयूरोंके नृत्य-व्यापारका समय आ पहुँचा था; अतः उनकी मदमत्त दशाकी मधुर वाणी बड़ी पटुताके साथ श्रवणगोचर होती थी ॥ ७ ॥

नवप्रावृषि कान्तानां षट्पदाहारदायिनाम् ।
यौवनस्थकदम्बानां नवाभ्रैर्भ्राजते वपुः ॥ ८ ॥

नूतन वर्षामें जिनकी कमनीयता बढ़ गयी है, जो भ्रमरोंको आहार प्रदान करते तथा युवावस्थामें आ पहुँचे हैं, उन कदम्ब-वृक्षोंका आकार नये बादलोंके आनेसे अधिक शोभा पाने लगा ॥ ८ ॥

हासितं कुटजैर्वृक्षैः कदम्बैर्वासितं वनम् ।
नाशितं जलदैरुष्णं तोषिता वसुधा जलैः ॥ ९ ॥

कुटजके वृक्षोंने अपने फूलोंसे वहाँ सब ओर हास्यकी छटा छिटका दी । कदम्बोंने उस वनमें सुगन्ध भर दी । बादलोंने गर्मी मिटा दी और जलकी धाराओंने वसुधाको पूर्णतः तृप्त कर दिया ॥ ९ ॥

संतप्ता भास्करकरैरभितप्ता दवाग्निभिः ।
जलैर्बलाहकोत्सृष्टैरुच्छ्वसन्तीव पर्वताः ॥ १० ॥

जो सूर्यकी किरणोंसे संतप्त तथा दावानलसे दग्ध हो गये थे, वे पर्वत मेघोंके बरसाये हुए जलसे अभिषिक्त हो पुनः साँस-सी लेने लगे ॥ १० ॥

महावातसमुद्धूतं महामेघगणार्पितम् ।
महीमहाराजपुरैस्तुल्यमापद्यते नभः ॥ ११ ॥

उठी हुई प्रचण्ड वायु पताकाके समान फहरा रही थी । बड़े-बड़े मेघोंके समुदाय प्रासादों (महलों) के समान प्रतीत होते थे । इस प्रकार आकाश भूतलके महाराजोंके नगरके समान स्वरूप धारण किये था ॥ ११ ॥

क्वचित् कदम्बहासाढ्यं शिलीन्ध्राभरणं क्वचित् ।
सम्प्रदीप्तमिवाभाति फुल्लनीपद्रुमं वनम् ॥ १२ ॥

कहीं कदम्बका विकास हासकी-सी छटा बिखेर रहा था । कहीं भुँइफोड़ या गोबर-छत्ता आभूषणके समान शोभा देता था । जगह-जगह नीपके वृक्ष खिले हुए थे । इन सबके कारण वृन्दावन अत्यन्त दीप्तिमान्-सा प्रतीत होता था ॥ १२ ॥

ऐन्द्रेण पयसा सिक्तं मारुतेन च विस्तृतम् ।
पार्थिवं गन्धमाघ्राय लोकः क्षुभितमानसः ॥ १३ ॥

इन्द्रदेवके बरसाये हुए जलसे अभिषिक्त तथा वायुसे विस्तारको प्राप्त हुई पृथ्वीकी सोंधी सुगन्ध सूँघकर लोगोंका मन क्षुब्ध (कामविकारसे युक्त) हो उठता था ॥ १३ ॥

हृष्टसारङ्गनादेन दर्दुरव्याहृतेन च ।
नवैश्च शिखिविक्रुष्टैरवकीर्णा वसुन्धरा ॥ १४ ॥

मतवाले भ्रमरोंके गुंजारव, मेढकोंकी ध्वनि तथा मोरोंकी नूतन केकावाणीसे वहाँकी भूमि गूँज रही थी ॥ १४ ॥

भ्रमत्तूर्णमहावर्ता वर्षप्राप्तमहारयाः ।
हरन्त्यस्तीरजान् वृक्षान् विस्तारं यान्ति निम्नगाः॥ १५॥

नदियोंमें तीव्र गतिसे बड़ी-बड़ी भँवरें उठ रही थीं । वर्षाके कारण उनका वेग महान् हो गया था । वे तटवर्ती वृक्षोंको बहा ले जाती थीं और क्रमशः विस्तारको प्राप्त हो रही थीं ॥ १५ ॥

संततासारनिर्यत्नाः क्लिन्नयत्नोत्तरच्छदाः ।
न त्यजन्ति नगाग्राणि श्रान्ता इव पतत्रिणः ॥ १६ ॥

निरन्तर जलकी धारा बरसनेके कारण जो उड़नेके प्रयत्नमें असफल हो गये थे, जिनके ऊपरी पंख शिथिल-प्रयास होकर काम नहीं दे पाते थे, वे पक्षी थके-माँदेके समान वृक्षोंकी शाखाओंको छोड़ नहीं रहे थे ॥ १६ ॥

तोयगम्भीरलम्बेषु स्रवत्सु च नदत्सु च ।
उदरेषु नवाभ्राणां मज्जतीव दिवाकरः ॥ १७ ॥

सूर्यदेव नूतन जलधारोंके उदरोंमें, जो जलके कारण सघन और फैले हुए थे तथा वर्षाके साथ गर्जना भी करते थे, डूबते-से जा रहे थे ॥ १७ ॥

महीरुहैरुत्पतितैः सलिलोत्पीडसंकुला ।
अन्विष्यमार्गा वसुधा भाति शाद्वलमालिनी ॥ १८ ॥

भूमि एक तो घाससे ढकी हुई थी, दूसरे जलके प्रवाहमें डूब गयी थी, रास्तोंका पता चलना कठिन हो गया था, मार्गोंके किनारे उगे हुए वृक्षोंसे ही उन मार्गोंको ढूँढ़ा या पाया जा सकता था ॥ १८ ॥

वज्रेणेवावरुग्णानां नगानां नगशालिनाम् ।
स्रोतोभिः परिकृत्तानि पतन्ति शिखराण्यधः ॥ १९ ॥

वृक्षोंसे सुशोभित होनेवाले पर्वतोंके शिखर जलके स्रोतोंसे कटकर नीचे गिर रहे थे; ऐसा जान पड़ता था, मानो वे पर्वत वज्रके प्रहारसे विदीर्ण हो गये हों ॥ १९ ॥

पतता मेघवर्षेण यथा निम्नानुसारिणा ।
पल्वलोत्कीर्णमुक्तेन पूर्यन्ते वनराजयः ॥ २० ॥

मेघोंकी वर्षाका जल नीचे गिरकर नीची भूमिका अनुसरण करता हुआ गड्ढेमें जाता था। उसके भर जानेपर उससे निकलकर बाहर फैलता था और सारी वन-श्रेणियोंको आप्लावित कर देता था ॥ २० ॥

हस्तोच्छ्रितमुखा वन्या मेघनादानुसारिणः ।
भ्रान्तातिवृष्ट्या मातङ्गा गां गता इव तोयदाः ॥ २१ ॥

अत्यन्त वर्षासे भ्रान्त हुए जंगली हाथी सूँड़ और मुँहको ऊपर उठाये मेघकी गर्जनाका अनुकरण करते (गर्जते) थे। उस समय वे पृथ्वीपर उतरे हुए मूर्तिमान् मेघके समान जान पड़ते थे ॥ २१ ॥

प्रावृट्प्रवृत्तिं संलक्ष्य दृष्ट्वा चाम्बुधरान् घनान् ।
रौहिणेयो मिथः काले कृष्णं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

वर्षा ऋतु आ गयी और आकाशमें बादल घिर आये; यह देखकर रोहिणीनन्दन बलरामजीने श्रीकृष्णसे यह सामयिक बात कही— ॥ २२ ॥

पश्य कृष्ण घनान् कृष्णान् बलाकोज्ज्वलभूषणान् ।
गगने तव गात्रस्य वर्णचोरान् समुच्छ्रितान् ॥ २३ ॥

'श्रीकृष्ण ! आकाशमें उन ऊँचे उठे हुए काले बादलोंको तो देखो, जो बकपंक्तिरूपी उज्ज्वल हारोंसे विभूषित हैं। वे तुम्हारी अङ्गकान्ति चुराये लेते हैं ॥ २३ ॥

तव निद्राकरः कालस्तव गात्रोपमं नभः ।
त्वमिवाज्ञातवसतिं चन्द्रो वसति वार्षिकीम् ॥ २४ ॥

'यह तुम्हारे नींद लेनेका समय है*। काले मेघोंके कारण आकाश तुम्हारे अङ्गोंके समान श्यामवर्णका दिखायी देता है तथा वर्षा ऋतुमें चन्द्रमा भी तुम्हारी तरह अज्ञातवास कर रहे हैं ॥ २४ ॥

एतन्नीलाम्बुदश्यामं नीलोत्पलदलप्रभम् ।
सम्प्राप्ते दुर्दिने काले दुर्दिनं भाति वै नभः ॥ २५ ॥

'जो काले मेघोंके छा जानेसे श्याम दिखायी देता है तथा जिसकी आभा नील कमलदलके समान हो गयी है, वह आकाश दुर्दिन (वर्षाका समय) आनेपर स्वयं भी दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिवस) -सा प्रतीत होता है ॥ २५ ॥

पश्य कृष्ण जलोदग्रैः कृष्णैरुद्ग्रथितैर्घनैः ।
गोवर्धनो यथा रम्यो भाति गोवर्धनो गिरिः ॥ २६ ॥

'श्रीकृष्ण ! देखो, जलसे भरकर परस्पर गुँथे हुए इन काले बादलोंसे गौओंकी वृद्धि करनेवाला गोवर्धन पर्वत कैसा रमणीय प्रतीत होता है ! ॥ २६ ॥

पतितेनाम्भसा ह्येते समन्तान्मददर्पिताः ।
भ्राजन्ते कृष्णसारङ्गाः काननेषु मुदान्विताः ॥ २७ ॥

'ये कृष्णमृग चारों ओर जल गिरनेसे मदमत्त हो उठे हैं और आनन्दमग्न होकर काननोंमें विचरते हुए शोभा पा रहे हैं ॥ २७ ॥

एतान्यम्बुप्रहृष्टानि हरितानि मृदूनि च ।
तृणानि शतपत्राक्ष पत्रैर्गूहन्ति मेदिनीम् ॥ २८ ॥

'कमलनयन ! जलसे अभिषिक्त होकर हर्षोल्लासमें भरे हुए ये कोमल हरित तृण अपने पत्तोंसे पृथ्वीको ढकते जा रहे हैं ॥ २८ ॥

क्षरज्जलानां शैलानां वनानां जलदागमे ।
ससस्यानां च सीमानां न लक्ष्मीर्व्यतिरिच्यते ॥ २९ ॥

'मेघोंके आनेपर जलके झरने बहानेवाले पर्वतोंकी, वनोंकी तथा सस्य (हरी-भरी खेती) से सम्पन्न खेतोंकी लक्ष्मी (शोभा) एक-सी हो रही है। कहीं न्यून या अधिक नहीं है (अथवा इन तीनोंकी शोभा इनसे पृथक् नहीं होती है) ॥ २९ ॥

शीघ्रवातसमुद्धूताः प्रोषितौत्सुक्यकारिणः ।
दामोदरोद्दामरवाः प्रागल्भ्यं यान्ति तोयदाः ॥ ३० ॥

'दामोदर ! शीघ्रगामी वायुसे प्रेरित हो ऊपर उठे हुए तथा परदेशमें रहनेवाले पुरुषोंको घर आनेके लिये उत्सुक बनानेवाले ये बादल प्रचण्ड गर्जना करते हुए अपनी प्रगल्भताका परिचय देते हैं ॥ ३० ॥

हरे हर्यश्वचापेन त्रिवर्णेन त्रिविक्रम ।
विबाणज्येन रचितं तवेदं मध्यमं पदम् ॥ ३१ ॥

'त्रिविक्रमरूप धारण करनेवाले हरे ! बाण और प्रत्यञ्चासे रहित तिरंगे इन्द्रधनुषसे तुम्हारे मध्यम पद (अन्तरिक्ष) का शृङ्गार-सा किया गया है ॥ ३१ ॥

नभस्येष नभश्चक्षुर्न भात्येव चरन्नभः ।
मेघैः शीतातपकरो विरश्मिरिव रश्मिवान् ॥ ३२ ॥

'श्रावण मासमें आकाशके नेत्रस्वरूप ये अंशुमाली सूर्य प्रभाहीन-से होकर आकाशमें विचरते हुए अधिक शोभा नहीं पा रहे हैं तथा बादलोंसे आच्छन्न होनेके कारण इनकी तापदायिनी किरणें शीतल हो गयी हैं ॥ ३२ ॥

---

* वर्षाके चार महीनोंमें भगवान् विष्णु शयन करते हैं—यह पुराणप्रसिद्ध बात है तथा इस हरिवंशमें भी इसकी चर्चा आ चुकी है।

द्यावापृथिव्योः संसर्गः सततं विततैः कृतः।
अव्यवच्छिन्नधारौघैः समुद्रौघसमैर्घनैः॥ ३३॥

'आकाशमें फैलकर समुद्रके जलप्रवाह-से प्रतीत होनेवाले इन बादलोंने अविच्छिन्नरूपसे जलकी धाराएँ गिराकर आकाश और पृथ्वीको मानो सदाके लिये एक दूसरेके साथ जोड़ दिया है॥ ३३॥

नीपार्जुनकदम्बानां पृथिव्यां चातिवृष्टिभिः।
गन्धैः कोलाहला वान्ति वाता मदनदीपनाः॥ ३४॥

'पृथ्वीपर अत्यन्त वर्षा होनेके कारण नीप, अर्जुन और कदम्बोंकी गन्धसे वासित हुई कोलाहलयुक्त वायु कामियोंका कामोद्दीपन करती हुई बह रही है॥ ३४॥

सम्प्रवृत्तमहावर्षं लम्बमानमहाम्बुदम्।
भात्यगाधमपर्यन्तं ससागरमिवाम्बरम्॥ ३५॥

'बड़े जोरसे वर्षा आरम्भ हो गयी है। बड़े-बड़े मेघ बरसनेके लिये नीचेको झुक आये हैं, जिनसे यह आकाश अथाह अनन्त महासागरसे संयुक्त-सा प्रतीत होता है॥३५॥

धारानिर्मलनाराचं विद्युत्कवचवर्मिणम्।
शक्रचापायुधधरं युद्धसज्जमिवाम्बरम्॥ ३६॥

'जलकी धाराओंका निर्मल नाराच, विद्युत्‌रूपी कवच तथा इन्द्रधनुषरूपी आयुधको धारण किये हुए यह आकाश युद्धके लिये सुसज्जित हुआ-सा जान पड़ता है॥ ३६॥

शैलानां च वनानां च द्रुमाणां च वरानन।
प्रतिच्छन्नानि भासन्ते शिखराणि घनैर्घनैः॥ ३७॥

'सुमुख श्रीकृष्ण! पर्वतोंके शिखर तथा वनों और वहाँके वृक्षोंकी शिखाएँ घने बादलोंसे आच्छादित होकर कैसी शोभा पा रही हैं॥ ३७॥

गजानीकैरिवाकीर्णं सलिलोद्गारिभिर्घनैः।
वर्णसारूप्यतां याति गगनं सागरस्य च॥ ३८॥

'अपनी सूँड़ोंसे जल छोड़नेवाले गजसमूहोंकी भाँति इन काले घने बादलोंसे आच्छादित हुआ आकाश रंग-रूपमें समुद्रके समान हो गया है॥ ३८॥

समुद्रोद्धूतजनिता लोलशाद्वलकम्पिनः।
शीताः सपृषतोद्दामाः कर्कशा वान्ति मारुताः॥ ३९॥

'समुद्रके हिलोरें लेनेसे उत्पन्न हो चञ्चल घासोंको कम्पित करती हुई जलबिन्दुओंसहित उद्दाम गतिसे चलनेवाली शीतल एवं कर्कश वायु बह रही है॥ ३९॥

निशासु सुप्तचन्द्रासु मुक्ततोयासु तोयदैः।
मग्नसूर्यस्य नभसो न विभान्ति दिशो दश॥ ४०॥

'जिनमें चन्द्रमा भी सोये हुएके समान अदृश्य हो गये हैं, बादलोंने पानी बरसाना आरम्भ कर दिया है और आकाशके सूर्य भी डूब चुके हैं, ऐसी बरसाती रातोंमें दसों दिशाओंका कुछ पता नहीं चलता है॥ ४०॥

चेतनं पुष्करं कोशैः क्षुधाध्मातैः समन्ततः।
न घृणीनां न रम्याणां विवेकं यान्ति कृष्टयः॥ ४१॥

'सब ओर वायुसे मेघोंद्वारा उपलक्षित आकाश चेतन-सा प्रतीत होता है, किसानोंको न दिनका पता चलता है न रातका॥ ४१॥

घर्मदोषपरित्यक्तं मेघतोयविभूषितम्।
पश्य वृन्दावनं कृष्ण वनं चैत्ररथं यथा॥ ४२॥

'श्रीकृष्ण! देखो, घामरूपी दोषसे रहित और मेघोंके बरसाये हुए जलसे विभूषित हुआ वृन्दावन चैत्ररथ वनके समान शोभा पा रहा है'॥ ४२॥

एवं प्रावृड्गुणान् सर्वाञ्छ्रीमान् कृष्णस्य पूर्वजः।
कथयन्नेव बलवान् व्रजमेव जगाम ह॥ ४३॥

इस प्रकार श्रीकृष्णके बड़े भ्राता महाबली श्रीमान् बलराम वर्षाकालके गुणोंका वर्णन करते हुए ही उनके साथ व्रजमें चले गये॥ ४३॥

अन्योन्यं रममाणौ तु कृष्णसंकर्षणावुभौ।
तत्कालज्ञातिभिः सार्द्धं चेरतुस्तद् वनं महत्॥ ४४॥

एक दूसरेके साथ खेलते और घूमते हुए दोनों भाई श्रीकृष्ण और संकर्षण उस समयके भाई-बन्धुओंके साथ उस विशाल वनमें विचरने लगे॥ ४४॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि प्रावृड्वर्णने दशमोऽध्यायः॥ १०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें वर्षाका वर्णनविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०॥

एकादशोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी अङ्गच्छटा, भाण्डीर वट, यमुना और कालियदहका वर्णन तथा श्रीकृष्णद्वारा कालियनागके निग्रहका विचार

वैशम्पायन उवाच

कदाचित् तु तदा कृष्णो विना संकर्षणेन वै।
चचार तद् वनं रम्यं कामरूपी वराननः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक दिन इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले सुमुख श्रीकृष्ण अपने भाई संकर्षणके बिना ही उस रमणीय वृन्दावनमें विचरने लगे॥१॥

काकपक्षधरः श्रीमाञ्छ्यामः पद्मदलेक्षणः ।
श्रीवत्सेनोरसा युक्तः शशाङ्क इव लक्ष्मणा ॥ २ ॥

उन्होंने मस्तकके पिछले भागमें काकपक्ष (बड़े-बड़े केश) धारण कर रखे थे । उनके नेत्र कमलदलके समान सुन्दर एवं विशाल थे । वे श्यामसुन्दर छविसे युक्त एवं श्रीसम्पन्न थे तथा वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न धारण करके शशचिह्नसे संयुक्त चन्द्रमाके समान शोभा पाते थे ॥ २ ॥

साङ्गदेनाग्रहस्तेन पङ्कजोद्भिन्नवर्चसा ।
सुकुमाराभिताम्रेण क्रान्तविक्रान्तगामिना ॥ ३ ॥

बाजूबन्दसे विभूषित हुए उनके हाथोंका अग्रभाग विकसित कमलके समान कान्तिमान् था; उनके पैर सुकुमार, लाल और क्रान्त-विक्रान्त गतिसे चलनेवाले थे, जिनसे उनकी अनुपम शोभा होती थी ॥ ३ ॥

पीते प्रीतिकरे नृणां पद्मकिञ्जल्कसप्रभे ।
सूक्ष्मे वसानो वसने ससंध्य इव तोयदः ॥ ४ ॥

वे कमल-केसरके समान पीले रंगके दो महीन वस्त्र पहने हुए थे, जो मनुष्योंके आनन्दको बढ़ानेवाले थे । उन वस्त्रोंको धारण करनेवाले श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण संध्याकालकी स्वर्णिम आभासे युक्त मेघके समान सुशोभित होते थे ॥ ४ ॥

वत्सव्यापारयुक्ताभ्यां व्यग्राभ्यां गण्डरज्जुभिः ।
भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पूजिताभ्यां दिवौकसैः ॥ ५ ॥

उनकी दोनों भुजाएँ सुन्दर, गोल तथा देवताओंद्वारा पूजित थीं । वे बछड़ोंके व्यापारमें संलग्न थीं और उनके गलेमें घूँघुरू बाँधनेकी रस्सियोंसे उलझी हुई थीं, ऐसी भुजाओंसे श्रीकृष्णकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ५ ॥

सदृशं पुण्डरीकस्य गन्धेन कमलस्य च ।
रराज चास्य तद् बाल्ये रुचिरौष्ठपुटं मुखम् ॥ ६ ॥

बाल्य (पौगण्ड) अवस्थामें सुन्दर ओठोंसे सुशोभित उनका मुख कमलके सदृश सुन्दर और उसीके समान गन्धसे सुवासित होकर अपनी अद्भुत शोभा फैला रहा था ॥ ६ ॥

शिखाभिस्तस्य मुक्ताभी रराज मुखपङ्कजम् ।
वृतं षट्पदपंक्तीभिर्यथा स्यात् पद्ममण्डलम् ॥ ७ ॥

उनका मुखारविन्द खुले अलकोंसे आवृत होकर ऐसी शोभा पा रहा था, मानो भ्रमरावलियोंसे युक्त कमलमण्डल सुशोभित हो रहा हो ॥ ७ ॥

तस्यार्जुनकदम्बाढ्या नीपकन्दलमालिनी ।
रराज माला शिरसि नक्षत्राणां यथा दिवि ॥ ८ ॥

उनके मस्तकपर अर्जुन और कदम्बके फूलोंसे युक्त एक माला शोभा पा रही थी, जो नीपके पुष्पों तथा नूतन अंकुरोंसे सुशोभित थी । वह आकाशमें तारिकाओंकी भाँति अपनी छटा छिटका रही थी ॥ ८ ॥

स तया मालया वीरः शुशुभे कण्ठसक्तया ।
मेघमालाम्बुदश्यामो नभस्य इव मूर्तिमान् ॥ ९ ॥

वैसी ही माला उनके कण्ठमें भी पड़ी हुई थी, जिससे वीरवर घनश्याम श्रीकृष्ण मेघमालाओंकी श्यामकान्तिसे सम्पन्न मूर्तिमान् भाद्रपद मासकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ९ ॥

एकेनामलपत्रेण कण्ठसूत्रावलम्बिना ।
रराज बर्हिपत्रेण मन्दमारुतकम्पिना ॥ १० ॥

उनके कण्ठगत सूत्रमें एक निर्मल मोरपङ्ख लटक रहा था, जो मन्दगतिसे बहनेवाली वायुके हलके आघातसे हिल रहा था । उस मोरपङ्खसे भी उनके श्रीअङ्गोंकी शोभावृद्धि हो रही थी ॥ १० ॥

क्वचिद् गायन् क्वचित् क्रीडंश्चञ्चूर्यंश्च क्वचित् क्वचित् ।
पर्णवाद्यं श्रुतिसुखं वादयंश्च क्वचिद् वने ॥ ११ ॥

वे वनमें कहीं गाते, कहीं खेलते, कहीं भ्रमण करते और कहीं कानोंको सुख देनेवाला पत्तोंका बाजा बजाते थे ॥

गोपवेणुं सुमधुरं कामात् तमपि वादयन् ।
प्रह्लादनार्थं च गवां क्वचिद् वनगतो युवा ॥ १२ ॥

किसी समय वनमें जाकर तरुणरूप धारण करके गौओंको आनन्दित करनेके लिये इच्छानुसार अत्यन्त मधुर स्वरमें मुरली बजाया करते थे, जो उस समयके गोपोंका प्रमुख वाद्य थी ॥ १२ ॥

गोकुलेऽम्बुधरश्यामश्चचार द्युतिमान् प्रभुः ।
रेमे च तत्र रम्यासु चित्रासु वनराजिषु ॥ १३ ॥

नूतन जलधरके समान श्याम एवं कान्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण गोकुलके आसपास विचरने तथा रमणीय एवं विचित्र वनश्रेणियोंमें विहार करने लगे ॥ १३ ॥

मयूररवघुष्टासु मदनोद्दीपनीषु च ।
मेघनादप्रतिव्यूहेर्नादितासु समन्ततः ॥ १४ ॥

वहाँ मयूरोंकी केकाध्वनि गूँजती रहती थी । वे वन-पंक्तियाँ कामी पुरुषोंके मनमे कामभावका उद्दीपन करनेवाली थीं । मेघोंकी गर्जनाकी प्रतिध्वनियोंसे वहाँ सब ओर कोलाहल मचा रहता था ॥ १४ ॥

शाद्वलच्छन्नमार्गासु शिलीन्ध्राभरणासु च ।
कन्दलामलपत्रासु स्रवन्तीषु नवं जलम् ॥ १५ ॥

उनके मार्ग घासोंसे ढक गये थे । जगह-जगह उगे हुए छत्राक उनके आभूषण-से प्रतीत होते थे । उनमे नये-नये पल्लव अंकुरित हो रहे थे तथा वे नूतन जल टपका रही थीं ॥

केसराणां नवैर्गन्धैर्मदनिःश्वसितोपमैः ।
अभीक्ष्णं निःश्वसन्तीषु कामिनीष्विव नित्यशः ॥ १६ ॥

मदजनित निःश्वासके समान केसरोंकी नूतन गन्धसे वे

वनश्रेणियाँ कामिनियोंकी भाँति प्रतिदिन बारंबार उच्छ्वास ले रही थीं ॥ १६ ॥

सेव्यमानो नवैर्वातैर्द्रुमसंघातनिःसृतैः ।
तासु कृष्णो मुदं लेभे सौम्यासु वनराजिषु ॥ १७ ॥

वृक्षोंके समूहसे निकली हुई नूतन वायुसे सेवित हुए श्रीकृष्ण उन सौम्य वनराजियोंमें बड़े आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ १७ ॥

स कदाचिद् वने तस्मिन् गोभिः सह परिभ्रमन् ।
ददर्श विपुलोदग्रं शाखिनं शाखिनां वरम् ॥ १८ ॥

एक दिन उस वनमें गौओंके साथ भ्रमण करते हुए श्रीकृष्णने वहाँ एक वृक्षको देखा, जो बहुत ही ऊँचा तथा सभी वृक्षोंमें बड़ा था ॥ १८ ॥

स्थितं धरण्यां मेघाभं निबिडं पत्रसंचयैः ।
गगनार्धोच्छ्रिताकारं पर्वताभोगधारिणम् ॥ १९ ॥

अपने पत्तोंके संचयसे अत्यन्त घना प्रतीत होनेवाला वह वृक्ष पृथ्वीपर मूर्तिमान् मेघके समान खड़ा था । अपनी ऊँचाईसे उसने आकाशके आधे भागको रोक लिया था और वह पर्वतके समान विस्तृत आकार धारण करता था ॥१९॥

नीलचित्राङ्गवर्णैश्च सेवितं बहुभिः खगैः ।
फलैः प्रवालैश्च घनैः सेन्द्रचापघनोपमम् ॥ २० ॥

नीले एवं चितकबरे रंगवाले बहुत-से मोर उस वृक्षका सेवन करते थे । वह मूँगोंके समान लाल-लाल घने फलोंके द्वारा इन्द्रधनुषसहित मेघके समान जान पड़ता था ॥ २० ॥

भवनाकारविटपं लतापुष्पसुमण्डितम् ।
विशालमूलावनतं पवनाम्भोदधारिणम् ॥ २१ ॥

उसकी एक-एक शाखा विशाल गृहके समान प्रतीत होती थी । लताओं और फूलोंसे वह अच्छी तरह अलंकृत था । उसकी विशाल जड़ें बहुत दूरतक फैली हुई थीं । वह अपने ऊपर वायु और मेघको भी धारण करता था ॥ २१ ॥

आधिपत्यमिवान्येषां तस्य देशस्य शाखिनाम् ।
कुर्वाणं शुभकर्माणं निरावर्षमनातपम् ॥ २२ ॥

ऐसा जान पड़ता था कि वह वृक्ष उस प्रदेशके दूसरे सभी वृक्षोंका आधिपत्य-सा कर रहा है । उसके कर्म बड़े शुभ थे । वह वर्षा और धूपका निवारण करता था ॥ २२ ॥

न्यग्रोधं पर्वताग्राभं भाण्डीरं नाम नामतः ।
दृष्ट्वा तत्र मतिं चक्रे निवासाय ततः प्रभुः ॥ २३ ॥

वह बरगदका वृक्ष था और पर्वत-शिखरके समान प्रतीत होता था । उसका नाम था भाण्डीर वट । उसे देखकर भगवान्‌ने वहीं निवास करनेका विचार किया ॥ २३ ॥

स तत्र वयसा तुल्यैर्वत्सपालैः सहानघ ।
रेमे वै वासरं कृष्णः पुरा स्वर्गगतो यथा ॥ २४ ॥

निष्पाप जनमेजय ! उस वटके नीचे समान अवस्थावाले वत्सपालक मित्रोंके साथ श्रीकृष्ण दिनभर बड़े सुखसे रहे । पहले अपने धाममें रहते समय उन्हें जैसे सुखका अनुभव होता था, वैसा ही वहाँ भी हुआ ॥ २४ ॥

तं क्रीडमानं गोपालाः कृष्णं भाण्डीरवासिनम् ।
रमयन्ति स्म बहवो वन्यैः क्रीडनकैस्तदा ॥ २५ ॥

वहाँ खेलते हुए भाण्डीरवासी श्रीकृष्णको उस समय बहुत-से ग्वालबाल जंगली खिलौने देकर प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते थे ॥ २५ ॥

अन्ये स्म परिगायन्ति गोपा मुदितमानसाः ।
गोपालाः कृष्णमेवान्ये गायन्ति स्म रतिप्रियाः ॥ २६ ॥

दूसरे ग्वालबाल मन-ही-मन प्रसन्न हो अनेक प्रकारके गीत गाते थे । अन्य गोप-बालक जिन्हें श्रीकृष्णकी वह मधुर क्रीडा बहुत ही प्रिय थी अथवा जो श्रीकृष्णविषयक अनुराग-को ही अपनी प्रिय वस्तु मानते थे, वे श्रीकृष्णका ही यशोगान करने लगे ॥ २६ ॥

तेषां स गायतामेव वादयामास वीर्यवान् ।
पर्णवाद्यान्तरे वेणुं तुम्बीं वीणां च तत्र ह ॥ २७ ॥

उन ग्वालबालोंके गाते समय बलवान् श्रीकृष्ण पत्तोंके बनाये हुए वाद्योंके बीच-बीचमें मुरली, तुम्बी (तँबूरा) तथा बीन बजाते थे ॥ २७ ॥

कदाचिच्चारयन्नेव गाः स गोवृषभेक्षणः ।
जगाम यमुनातीरं लतालंकृतपादपम् ॥ २८ ॥

गाय-बैलोंके समान विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण किसी समय अपनी गौओंको चराते हुए ही यमुनाजीके तटपर जा पहुँचे । जहाँका प्रत्येक वृक्ष लताओंसे अलंकृत था ॥ २८ ॥

तरङ्गापाङ्गकुटिलां वारिस्पर्शसुखानिलाम् ।
तां च पद्मोत्पलवतीं ददर्श यमुनां नदीम् ॥ २९ ॥

जो अपनी चञ्चल तरङ्गरूपी कुटिल कटाक्षोंसे कुछ वक्र दिखायी देती थी, जिसके जलका स्पर्श करके सुखदायिनी हवा चल रही थी तथा जिसमें कमल और उत्पल खिले हुए थे, उस यमुना नदीको श्रीकृष्णने देखा ॥ २९ ॥

सुतीर्थां स्वादुसलिलां ह्रदिनीं वेगगामिनीम् ।
तोयवातोद्यतैर्वेगैरवनामितपादपाम् ॥ ३० ॥

उसमें उतरनेके लिये उत्तम मार्ग थे । उसका जल स्वादिष्ट था । उसके भीतर कई कुण्ड थे तथा वह बड़े वेगसे प्रवाहित हो रही थी । जल और वायुके द्वारा प्रकट हुए वेगसे उसने किनारेके वृक्षोंको झुका दिया था ॥ ३० ॥

हंसकारण्डवोद्घुष्टां सारसैश्च निनादिताम् ।
अन्योन्यमिथुनैश्चैव सेवितां मिथुनेचरैः ॥ ३१ ॥

हंसों और कारण्डवोंके उद्घोष तथा सारसोंके कलनादसे वहाँ सदा कोलाहल होता रहता था। अपने जोड़ेके साथ विचरनेवाले चक्रवाक आदि पक्षी परस्पर मैथुनमें प्रवृत्त हो यमुनातटका सेवन करते थे ॥ ३१ ॥

जलजैः प्राणिभिः कीर्णां जलजैर्भूषितां गुणैः।
जलजैः कुसुमैश्चित्रां जलजैर्हरितोदकाम् ॥ ३२ ॥

जलमें उत्पन्न होनेवाले प्राणी (मत्स्य आदि) यमुनाजीमें भरे हुए थे। वे जलजनित शीतलता आदि गुणोंसे विभूषित थीं। जलमें होनेवाले कमल आदि पुष्प उनमें विचित्र शोभाका आधान करते थे तथा जलजनित सेवार आदिके कारण उनका जल हरा दिखायी देता था ॥ ३२ ॥

प्रसृतस्रोतचरणां पुलिनश्रोणिमण्डलाम्।
आवर्तनाभिगम्भीरां पद्मरोमानुरञ्जिताम् ॥ ३३ ॥

फैले हुए स्रोत ही उनके चरण थे। दोनों तट नितम्बमण्डलकी शोभा धारण करते थे। उठती हुई भँवरें उनकी गम्भीर नाभि थी। वे कमलरूपी रोमावलिसे अनुरञ्जित थीं ॥

तटच्छेदोदरां कान्तां त्रितरङ्गवलीधराम्।
फेनप्रहृष्टवदनां प्रसन्नां हंसहासिनीम् ॥ ३४ ॥

तटके निकट जो प्रवाहकी कृशता थी, वही उनका सूक्ष्म उदर अथवा कृश कटिभाग थी। वे अपनी मनोहर कान्तिसे कमनीय प्रतीत होती थीं। वे तरङ्गमयी त्रिवली धारण करती थीं। फेन ही उनका हर्षोत्फुल्ल मुख था। वे सदा प्रसन्न (स्वच्छ) रहती थीं और हंस ही उनके हास थे ॥ ३४ ॥

रुचिरोत्पलरक्तोष्ठीं नतभ्रूं जलजेक्षणाम्।
ह्रददीर्घललाटान्तां कान्तां शैवलमूर्द्धजाम् ॥ ३५ ॥

सुन्दर लाल कमल उनके लाल-लाल ओष्ठोंकी झाँकी कराते थे। जलका नीचेकी ओर जाता हुआ प्रवाह ही उनकी झुकी हुई भौंहें थीं। नील कमल ही उनके नेत्र थे। जलका कुण्ड ही उनका विस्तृत ललाट-प्रान्त था तथा सेवार ही उनके सुन्दर केश थे। उनकी कान्ति बड़ी ही कमनीय थी ॥ ३५ ॥

चक्रवाकस्तनतटीं तीरपार्श्वायताननाम्।
दीर्घस्रोतायतभुजामाभोगश्रवणायताम् ॥ ३६ ॥

चकवा-चकईके जोड़े उनके मानो युगल उरोज थे। उनका विस्तृत मुख दोनों तटोंपर फैला हुआ था। लंबे स्रोत ही उनकी विशाल भुजाओंके समान थे। दोनों तटोंकी पूर्णता ही उनके विस्तृत कान थे ॥ ३६ ॥

कारण्डवाकुण्डलिनीं श्रीमत्पङ्कजलोचनाम्।
तटजाभरणोपेतां मीननिर्मलमेखलाम् ॥ ३७ ॥
वारिप्लवप्लवक्षौमां सारसारावनूपुराम्।
काशचामीकरं वासो वसानां हंसलक्षणम् ॥ ३८ ॥

वे कारण्डवोंके कुण्डल पहिने हुए थीं। उनके नील-कमलरूपी लोचन अनुपम शोभासे सम्पन्न थे। तटपर उत्पन्न हुए वृक्ष आदि ही उनके आभरण थे। मछलियोंकी पंक्ति उनकी उज्ज्वल मेखला (करधनी)-सी प्रतीत होती थी। उनके जलका फैला हुआ पाट ही पाटम्बरका काम देता था। सारसोंकी मीठी बोली ही उनके नूपुरोंकी मधुर ध्वनि थी। वे काशपुष्प, हंस एवं सुवर्णके समान सुन्दर स्वच्छ जलमय वस्त्र धारण करती थीं ॥ ३७-३८ ॥

भीमनक्रानुलिप्ताङ्गीं कूर्मलक्षणभूषिताम्।
निपानश्वापदापीडां नृभिः पीतपयोधराम् ॥ ३९ ॥

भयंकर नाके उनके अङ्गोंमें लगे हुए चन्दन-से प्रतीत होते थे। वे कच्छपरूपी लक्षणों (हाथ-पैरोंकी रेखाओं) से विभूषित थीं। पशुओंके पानी पीनेके घाटपर आये हुए श्वापद (हिंसक जन्तु) उनके शीशफूल थे। मनुष्य आदि प्राणी इनके पयोधर (जलपूर्ण स्तन) का पान करते थे ॥ ३९ ॥

श्वापदोच्छिष्टसलिलामाश्रमस्थानसंकुलाम्।
तां समुद्रस्य महिषीमीक्षमाणः समन्ततः ॥ ४० ॥
चचार रुचिरं कृष्णो यमुनामुपशोभयन्।

यमुनाके जलको हिंसक जन्तुओंने पीकर जूठा कर दिया था और उनके दोनों तट विभिन्न आश्रमोंसे भरे हुए थे। ऐसी समुद्रकी पटरानी यमुनाकी शोभा निहारते और बढ़ाते हुए श्रीकृष्ण अपनी मनोहर गतिसे वहाँ चारों ओर विचर रहे थे ॥ ४०½ ॥

तां चरन् स नदीं श्रेष्ठां ददर्श ह्रदमुत्तमम् ॥ ४१ ॥
दीर्घं योजनविस्तारं दुस्तरं त्रिदशैरपि।
गम्भीरमक्षोभ्यजलं निष्कम्पमिव सागरम् ॥ ४२ ॥

नदियोंमें श्रेष्ठ यमुनाके तटपर विचरते हुए श्रीकृष्णने एक उत्तम ह्रद (जलकुण्ड) देखा, जो बहुत बड़ा था। उसका विस्तार एक योजनका था। देवताओंके लिये भी उसे पार करना कठिन था। वह बहुत ही गहरा, क्षोभरहित जलसे परिपूर्ण तथा प्रशान्त समुद्रके समान हलचलसे शून्य था ॥ ४१-४२ ॥

तोयजैः श्वापदैस्त्यक्तं शून्यं तोयचरैः खगैः।
अगाधेनाम्भसा पूर्णं मेघपूर्णमिवाम्बरम् ॥ ४३ ॥

जलमें पैदा होनेवाले मगर आदि हिंसक जन्तुओंने भी उस ह्रदको त्याग दिया था। जलचर पक्षियोंसे भी वह सूना ही था तथा मेघोंसे आच्छादित हुए आकाशकी भाँति वह अगाध जलसे पूर्ण दिखायी देता था ॥ ४३ ॥

दुःखोपसर्प्यं तीरेषु ससर्पैर्विपुलैर्बिलैः।
विषारणिभवस्याग्नेर्धूमेन परिवेष्टितम् ॥ ४४ ॥

उसके तटोंपर बड़े-बड़े बिल थे, जिनमें सर्प रहते थे। उनके कारण उस कुण्डतक पहुँचना बहुत ही कष्टदायक

था। सर्पोंकी विषरूपी अरणिसे उत्पन्न हुई आगके धूमसे वह सारा कुण्ड व्याप्त रहता था ॥ ४४ ॥

अभोग्यं तत् पशूनां हि अपेयं च जलार्थिनाम्।
उपभोगैः परित्यक्तं सुरैस्त्रिषवणार्थिभिः ॥ ४५ ॥

वह पशुओंके उपभोगमें आनेके योग्य नहीं रह गया था। जलार्थी प्राणियोंके लिये उसका जल अपेय हो गया था। तीनों समय स्नानकी इच्छा रखनेवाले देवताओंने भी उसे त्याग दिया था। वह ह्रद उनके उपभोगमें भी नहीं आता था ॥ ४५ ॥

आकाशादप्यसंचार्यं खगैराकाशगोचरैः।
तृणेष्वपि पतत्स्वप्सु ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ ४६ ॥

उस कुण्डके ऊपर-ऊपर आकाशचारी पक्षियोंके लिये आकाशमार्गसे भी जाना असम्भव था। उसके जलमें तिनके भी पड़ जायँ तो वह कुण्ड अपनी विषाग्निके तेजसे प्रज्वलित हो उठता था ॥ ४६ ॥

समन्ताद् योजनं साग्रं देवैरपि दुरासदम्।
विषानलेन घोरेण ज्वालाप्रज्वलितद्रुमम् ॥ ४७ ॥

उसके चारों ओर एक-एक योजनसे अधिक भूमाग ऐसा था, जिसपर चलना देवताओंके लिये भी बहुत कठिन था। वहाँ फैली हुई भयानक विषाग्निसे जो लपट उठती थी, उसने आस-पासके वृक्षोंको भी जलाकर भस्म कर दिया था॥

व्रजस्योत्तरतस्तस्य क्रोशमात्रे निरामये।
तं दृष्ट्वा चिन्तयामास कृष्णो वै विपुलं ह्रदम् ॥ ४८ ॥
अगाधं द्योतमानं च कस्यायं महतो ह्रदः।

व्रजके उत्तर भागमें केवल एक कोसकी भूमि ऐसी रह गयी थी, जो उसकी विषाग्निके प्रभावसे बची रहनेके कारण रोग-शोकसे रहित थी। उस विशाल एवं अगाध कुण्डको, जो अपने तेजसे दीप्तिमान् था, देखकर श्रीकृष्णने मन-ही-मन सोचा, किस महान् प्राणीका यह कुण्ड है ॥ ४८½ ॥

अस्मिन् स कालियो नाम कालाञ्जनचयोपमः ॥ ४९ ॥
उरगाधिपतिः साक्षाद्ध्रदे वसति दारुणः।
उत्सृज्य सागरावासं यो मया विदितः पुरा ॥ ५० ॥
भयात् पतगराजस्य सुपर्णस्योरगाशिनः।

इस ह्रदमें काली अञ्जनराशिके समान काला तथा अत्यन्त दारुण वह साक्षात् नागराज कालिय निवास करता है, जो पूर्वकालमें मेरी जानकारीमें ही सर्पभोजी पक्षिराज गरुडके भयसे समुद्रका निवास छोड़कर यहाँ आ गया था॥

तेनेयं दूषिता सर्वा यमुना सागरङ्गमा ॥ ५१ ॥
भयात् तस्योरगपतेर्नायं देशो निषेव्यते।

उसीने इस सारी समुद्रगामिनी यमुनाको विषसे दूषित किया है। उस नागराजके भयसे ही कोई प्राणी इस देशका सेवन नहीं करता ॥ ५१½ ॥

तदिदं दारुणाकारमरण्यं रूढशाद्वलम् ॥ ५२ ॥
सावरोहद्रुमं घोरं कीर्णं नानालताद्रुमैः।
रक्षितं सर्पराजस्य सचिवैराप्तकारिभिः ॥ ५३ ॥

इसीलिये बड़ी-बड़ी घासोंसे भरा हुआ यह वन भयानक हो गया है। बरोह और वृक्षोंसहित यह घोर वन नाना प्रकारकी लताओं तथा पादपोंसे परिपूर्ण है तथा सर्पराज कालियके विश्वासी मन्त्री इस भूभागकी रक्षा करते हैं॥

वनं निर्विषयाकारं विषान्नमिव दुःस्पृशम्।
तैराप्तकारिभिर्नित्यं सर्वतः परिरक्षितम् ॥ ५४ ॥

यह वन आकाशकी भाँति अवलम्बशून्य हो गया है। विषमिश्रित अन्नके समान इसका स्पर्श भी दुःखदायक है। कालियके उन विश्वसनीय सचिवोंद्वारा यह सदा सब ओरसे सुरक्षित है ॥ ५४ ॥

शैवालनलिनैश्चापि वृक्षैः क्षुद्रलताकुलैः।
कर्तव्यमार्गौ भ्राजेते ह्रदस्यास्य तटावुभौ ॥ ५५ ॥

इस ह्रदके दोनों तट सिवार, कमल तथा छोटी-छोटी लताओंसे भरे हुए वृक्षोंसे सुशोभित होते हैं। मुझे यहाँतक पहुँचनेके लिये मार्ग बनाना होगा ॥ ५५ ॥

तदस्य सर्पराजस्य कर्तव्यो निग्रहो मया।
यथेयं सरिदम्भोदा भवेच्छिवजलाशया ॥ ५६ ॥

इसी दृष्टिसे मुझे इस नागराजका दमन करना है, जिससे जल देनेवाली यह नदी कल्याणकारी जलका आश्रय हो सके ॥ ५६ ॥

व्रजोपभोग्या च यथा नागे च दमिते मया।
सर्वत्र सुखसंचारा सर्वतीर्थसुखाश्रया ॥ ५७ ॥

इस नागका मेरे द्वारा दमन हो जानेपर यहाँकी नदी समूचे व्रजके उपभोगमें आने योग्य हो जायगी। यहाँ सब ओर सुखपूर्वक विचरण करना सम्भव हो जायगा तथा यह नदी समस्त तीर्थों और सुखोंका आश्रय हो जायगी ॥ ५७ ॥

एतदर्थं च वासोऽयं व्रजेऽस्मिन् गोपजन्म च।
अमीषामुत्पथस्थानां निग्रहार्थं दुरात्मनाम् ॥ ५८ ॥

इसीलिये व्रजमें मेरा यह निवास हुआ है और इसीलिये मैंने गोपोंमें अवतार ग्रहण किया है। इन कुमार्गपर स्थित हुए दुरात्माओंका दमन करनेके लिये ही यहाँ मेरा अवतार हुआ है ॥ ५८ ॥

एनं कदम्बमारुह्य तदेव शिशुलीलया।
विनिपत्य ह्रदे घोरे दमयिष्यामि कालियम् ॥ ५९ ॥

मैं बालकोंके खेल-खेलमें ही इस कदम्बपर चढ़कर उस घोर ह्रदमें कूद पड़ूँगा और कालियनागका दमन करूँगा॥

एवं कृते बाहुवीर्यं लोके ख्यातिं गमिष्यति ॥ ६० ॥

ऐसा करनेपर संसारमें मेरे बाहुबलकी ख्याति होगी ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि बालचरिते यमुनावर्णनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें बाललीलाके प्रसंगमें यमुनावर्णननामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा कालियनागका दमन, उसका समुद्रको प्रस्थान तथा गोपोंको श्रीकृष्णकी महत्ताका अनुभव

वैशम्पायन उवाच

सोपसृत्य नदीतीरं बद्ध्वा परिकरं दृढम्।
आरोहच्चपलः कृष्णः कदम्बशिखरं मुदा॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! चञ्चल श्रीकृष्णने नदीके तटपर पहुँचकर दृढ़तापूर्वक अपनी कमर कस ली। फिर प्रसन्नतापूर्वक वे कदम्बकी शाखापर चढ़ गये॥

कृष्णः कदम्बशिखराल्लम्बमानो घनाकृतिः।
ह्रदमध्येऽकरोच्छब्दं निपतन्नम्बुजेक्षणः॥ २॥

मेघके समान श्याम शरीरवाले कमलनयन श्रीकृष्णने कदम्बकी शाखासे लटककर कालियदहके बीचमें कूदते समय बड़े जोरका शब्द किया॥ २॥

कृष्णेन तत्र पतता क्षुभितो यमुनाह्रदः।
सम्प्रासिच्यत वेगेन भिद्यमान इवाम्बुदः॥ ३॥

श्रीकृष्णके वहाँ कूदनेसे यमुनाके उस कुण्डमें हलचल पैदा हो गयी। वह बड़े वेगसे जल उछालकर तट भूमिसहित सिंच उठा। ऐसा जान पड़ा, मानो वहाँ जलसे भरा हुआ मेघ फट पड़ा हो॥ ३॥

तेन शब्देन संक्षुब्धं सर्पस्य भवनं महत्।
उदतिष्ठज्जलात् सर्पो रोषपर्याकुलेक्षणः॥ ४॥

उस शब्दसे नागराजका विशाल भवन क्षुब्ध हो उठा और वह सर्प जलसे ऊपरको उठा। उस समय उसके नेत्र क्रोधसे भरे हुए थे॥ ४॥

स चोरगपतिः क्रुद्धो मेघराशिसमप्रभः।
ततो रक्तान्तनयनः कालियः समदृश्यत॥ ५॥

मेघोंकी घटाके समान काले रंगवाला वह नागराज कालिय जब कुपित होकर उठा, उस समय उसके नेत्रप्रान्त रक्तवर्णके दिखायी दे रहे थे॥ ५॥

पञ्चास्यः पावकोच्छ्वासश्चलजिह्वोऽनलाननः।
पृथुभिः पञ्चभिर्घोरैः शिरोभिः परिवारितः॥ ६॥

उसके पाँच मुख थे और उनके उच्छ्वासके साथ आगकी लपट उठती थी। उसकी जीभ चञ्चल गतिसे लपलपा रही थी और मुखमें आग भरी थी। वह पाँच भयंकर एवं स्थूल सिरसे घिरा रहता था॥ ६॥

पूरयित्वा ह्रदं सर्वं भोगेनानलवर्चसा।
स्फुरन्निव च रोषेण ज्वलन्निव च तेजसा॥ ७॥

अपने अग्निके समान तेजस्वी विशाल शरीरके द्वारा सारे ह्रदको पूर्ण करके वह क्रोधसे काँपता तथा तेजसे जलता हुआ-सा प्रतीत होता था॥ ७॥

क्रोधेन ज्वलतस्तस्य जलं शृतमिवाभवत्।
प्रतिस्रोताश्च भीतेव जगाम यमुना नदी॥ ८॥

क्रोधसे जलते हुए उस सर्पकी विषाग्निसे कालियकुण्डका जल खौलने-सा लगा तथा यमुनाका प्रवाह पीछेकी ओर लौट पड़ा। मानो वह नदी भयभीत-सी होकर पीछे भाग रही हो॥ ८॥

तस्य क्रोधाग्निपूर्णेभ्यो वक्त्रेभ्योऽभूच्च मारुतः।
दृष्ट्वा कृष्णं ह्रदगतं क्रीडन्तं शिशुलीलया॥ ९॥
सधूमाः पन्नगेन्द्रस्य मुखाग्निश्चेरुरर्चिषः।

श्रीकृष्णको अपने ह्रदमें आकर बालकोंके समान खेलते देख कालिय नागके क्रोधाग्निपूर्ण मुखोंसे उच्छ्वास वायु प्रकट हुई। उस नागराजके मुखसे धूमसहित आगकी लपटें निकलने लगीं॥ ९½॥

सृजता तेन रोषाग्निं समीपे तीरजा द्रुमाः॥ १०॥
क्षणेन भस्मसान्नीता युगान्तप्रतिमेन वै।

अपनी क्रोधाग्नि प्रकट करते हुए उस प्रलयंकर-जैसे सर्पने उस कुण्डके आस-पास उगे हुए तीरवर्ती वृक्षोंको क्षणभरमें जलाकर भस्म कर दिया॥ १०½॥

तस्य पुत्राश्च दाराश्च भृत्याश्चान्ये महोरगाः॥ ११॥
वमन्तः पावकं घोरं वक्त्रेभ्यो विषसम्भवम्।
सधूमं पन्नगेन्द्रास्ते निपेतुरमितौजसः॥ १२॥

उसके स्त्री, पुत्र, सेवक तथा अन्य बड़े-बड़े नाग एवं नागराज, जो अनन्त बलशाली थे, अपने मुखोंसे विषजनित, धूममिश्रित भयंकर आग उगलते हुए उनपर टूट पड़े॥

प्रवेशितश्च तैः सर्पैः स कृष्णो भोगबन्धनम्।
निर्यत्नचरणाकारस्तस्थौ गिरिरिवाचलः॥ १३॥

उन सभी सर्पोंने श्रीकृष्णको अपने शरीरोंके बन्धनमें बाँध लिया। उनके हाथ-पैर एवं सारे अङ्ग निश्चेष्ट हो गये। वे पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रह गये॥ १३॥

अदशन् दशनैस्तीक्ष्णैर्विषोत्पीडजलाविलैः।
ते कृष्णं सर्पपतयो न ममार च वीर्यवान्॥ १४॥

उन समस्त नागराजोंने विषके प्रवाहसे मिश्रित जलके द्वारा मलिन हुए अपने तीखे दाँतोंसे श्रीकृष्णको डँसना आरम्भ किया; परंतु शक्तिशाली श्रीकृष्ण मर न सके॥ १४॥

एतस्मिन्नन्तरे भीता गोपालाः सर्व एव ते ।
क्रन्दमाना व्रजं जग्मुर्बाष्पगद्गदया गिरा ॥ १५ ॥

इसी बीचमें समस्त ग्वालबाल भयभीत हो रोते हुए व्रजमें गये और अश्रुगद्गद वाणीमे इस प्रकार बोले ॥ १५ ॥

गोपा ऊचुः

एष मोहं गतः कृष्णो मग्नो वै कालिये ह्रदे ।
भक्ष्यते सर्पराजेन तदागच्छत मा चिरम् ॥ १६ ॥

गोपोंने कहा—ये श्रीकृष्ण कालीदहमें डूबकर मूर्च्छित हो गये हैं और नागराज इन्हें खाये जाता है; अतः जल्दी आओ, देर न करो ॥ १६ ॥

नन्दगोपाय वै क्षिप्रं सबलाय निवेद्यताम् ।
एष ते कृष्यते कृष्णः सर्पेणेति महाह्रदे ॥ १७ ॥

दल-बलसहित नन्दगोपसे कोई शीघ्र जाकर कह दो कि 'तुम्हारे कृष्णको सर्प महान् कुण्डमें खींचे लिये जाता है' ॥

नन्दगोपस्तु तच्छ्रुत्वा वज्रपातोपमं वचः ।
आर्तः स्खलितविक्रान्तस्तं जगाम ह्रदोत्तमम् ॥ १८ ॥

वह वज्रपातके समान दारुण वचन सुनकर नन्दगोप शोकसे व्याकुल हो लड़खड़ाते हुए उस विशाल ह्रदके पास जा पहुँचे ॥ १८ ॥

सबालयुवतीवृद्धः स च संकर्षणो युवा ।
आक्रीडं पन्नगेन्द्रस्य जलस्थं समुपागमत् ॥ १९ ॥

उनके साथ व्रजके बहुत-से बालक, वृद्ध और युवतियाँ भी थीं । रोहिणीके युवक पुत्र संकर्षण भी आ पहुँचे थे । ये सब-के-सब नागराजकी जलस्थ क्रीडाभूमिके पास आये ॥

नन्दगोपमुखा गोपास्ते सर्वे साश्रुलोचनाः ।
हाहाकारं प्रकुर्वन्तस्तस्थुस्तीरे ह्रदस्य वै ॥ २० ॥

नन्द आदि वे सभी गोप नेत्रोंसे आँसू बहाते और हाहाकार करते हुए कालियदहके तटपर खड़े हो गये ॥२०॥

व्रीडिता विस्मिताश्चैव शोकार्ताश्च पुनः पुनः ।
केचित् तु पुत्र हा हेति हा धिगित्यपरे पुनः ॥ २१ ॥

वे अपनी विवशतापर लज्जित थे । श्रीकृष्णका साहस देख-सुनकर आश्चर्यमें पड़े थे और उनके जीवनकी आशङ्कासे बारंबार शोकार्त हो जाते थे । कोई 'हाय बेटा ! हाय !' कहकर रो देते और दूसरे 'हाय ! धिक्कार है हम सबके जीवनको' ऐसा कहते हुए चिन्तामग्न हो जाते थे ॥ २१ ॥

अपरे हा हताः स्मेति रुरुदुर्भृशदुःखिताः ।
स्त्रियश्चैव यशोदां तां हा हतासीति चुक्रुशुः ॥ २२ ॥
या पश्यसि प्रियं पुत्रं सर्पराजवशं गतम् ।
स्पन्दितं सर्पभोगेन कृष्यमाणं यथा मृतम् ॥ २३ ॥

दूसरे लोग अत्यन्त दुखी हो 'हाय ! हम मारे गये !' ऐसा कहते हुए जोर-जोरसे रोते थे । व्रजकी स्त्रियाँ यशोदाकी ओर देख चिल्ला-चिल्लाकर कहती थीं—'हाय यशोदे ! तू बेमौत मारी गयी, क्योंकि अपने प्यारे लालाको आज इस नागराजके वशमें पड़ा हुआ देख रही हो । हाय ! वह सर्पके शरीरसे आबद्ध हो मृतककी भाँति घसीटा जा रहा है ॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं ते विलक्ष्यते ।
पुत्रं कथमिमं दृष्ट्वा यशोदे नावदीर्यसे ॥ २४ ॥

'यशोदे ! निश्चय ही तुम्हारा हृदय लोहेका बना हुआ दिखायी देता है । अरी ! पुत्रको इस दशामें देखकर तुम्हारी छाती फट क्यों नहीं जाती है ? ॥ २४ ॥

दुःखितं वत पश्यामो नन्दगोपं ह्रदान्तिके ।
न्यस्य पुत्रमुखे दृष्टिं निश्चेतनमवस्थितम् ॥ २५ ॥

'हाय ! हम देखते हैं, नन्दबाबा अत्यन्त दुखी हो कालियदहके निकट लाला कन्हैयाके मुखपर अपनी दृष्टि जमाये अचेत-से खड़े हैं ॥ २५ ॥

यशोदामनुगच्छन्त्यः सर्पावासमिमं ह्रदम् ।
प्रविशामो न यास्यामो विना दामोदरं व्रजम् ॥ २६ ॥

'हम सब-की सब यशोदाजीके पीछे-पीछे सर्पोंके निवासस्थान इस ह्रदमें प्रवेश कर जायँगी, किंतु दामोदर (श्रीकृष्ण) को साथ लिये बिना व्रजको नहीं लौटेंगी ॥२६॥

दिवसः को विना सूर्यं विना चन्द्रेण का निशा ।
विना वृषेण का गावो विना कृष्णेन को व्रजः ।
विना कृष्णं न यास्यामो विवत्सा इव धेनवः ॥ २७ ॥

'सूर्यके बिना दिन कैसा ? चन्द्रमाके बिना रात्रि कैसी ? साँड़के बिना गौएँ क्या ? तथा श्रीकृष्णके बिना व्रज कैसा ? बिना बछड़ेकी धेनुओंके समान हम श्रीकृष्णके बिना व्रजको नहीं लौटेंगी' ॥ २७ ॥

तासां विलपितं श्रुत्वा तेषां च व्रजवासिनाम् ।
विलापं नन्दगोपस्य यशोदारुदितं तथा ॥ २८ ॥
एकभावशरीरज्ञ एकदेहो द्विधा कृतः ।
संकर्षणस्तु संक्रुद्धो बभाषे कृष्णमव्ययम् ॥ २९ ॥

उन गोपियोंका, व्रजवासियोंका तथा नन्दबाबाका विलाप और यशोदाजीका करुणापूर्ण रोदन सुनकर श्रीकृष्णके साथ अपने एक भाव और एक शरीरके सम्बन्धको जाननेवाले संकर्षण, जो वास्तवमे एक ही देहके दो भागोंमेंसे एक थे, कुपित हो अविनाशी श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥२८-२९॥

कृष्ण कृष्ण महाबाहो गोपानां नन्दवर्द्धन ।
दम्यतामेष वै क्षिप्रं सर्पराजो विषायुधः ॥ ३० ॥

'गोपोंका आनन्द बढ़ानेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण ! कृष्ण ! विष ही जिसका अस्त्र-शस्त्र है, उस सर्पराजका अब शीघ्र दमन करो ॥ ३० ॥

इमे नो बान्धवास्तात त्वां मत्वा मानुषं विभो।
परिदेवन्ति करुणं सर्वे मानुषबुद्धयः ॥ ३१ ॥

'तात ! प्रभो ! ये हमारे समस्त बन्धु-बान्धव तुममें मानवबुद्धि ही रखते हैं और तुम्हे मनुष्य मानकर ही करुणाजनक विलाप करते हैं' ॥ ३१ ॥

तच्छ्रुत्वा रौहिणेयस्य वाक्यं संज्ञासमीरितम्।
विक्रम्यास्फोटयद् बाहू भित्त्वा तन्नागबन्धनम् ॥ ३२ ॥

रोहिणीनन्दन संकर्षणका यह सांकेतिक वचन सुनकर श्रीकृष्णने सर्पोंके उस बन्धनको तोड़ डाला और पराक्रम दिखाते हुए अपनी बाँहोंपर ताल ठोका ॥ ३२ ॥

तस्य पद्भ्यामथाक्रम्य भोगराशिं जलोत्थितम्।
शिरस्तु कृष्णो जग्राह स्वहस्तेनावनाम्य च ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् जलके ऊपर उठे हुए उस सर्पके भारी शरीरको अपने दोनों पैरोंसे दबाकर श्रीकृष्णने अपने हाथसे ही उसके मस्तकको झुकाकर पकड़ लिया ॥ ३३ ॥

तस्यारुरोह सहसा मध्यमं तन्महच्छिरः।
सोऽस्य मूर्ध्नि स्थितः कृष्णो ननर्त रुचिराङ्गदः ॥ ३४ ॥

फिर श्रीकृष्ण सहसा उसके बिचले विशाल सिरपर चढ़ गये और उसीपर खड़े हो नृत्य करने लगे। उस समय उनकी भुजाओंमें सुन्दर बाजूबंद शोभा पा रहे थे ॥ ३४ ॥

मृद्यमानः स कृष्णेन शान्तमूर्धा भुजङ्गमः।
आस्यैः सरुधिरोद्गारैः कातरो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

श्रीकृष्णके द्वारा मस्तकके कुचल दिये जानेपर उस सर्पका दिमाग ठंडा हो गया—उसके मस्तिष्ककी गर्मी शान्त हो गयी। वह अपने मुखोंसे खून उगलता हुआ कातर भावसे बोला—॥ ३५ ॥

अविज्ञानान्मया कृष्ण रोषोऽयं सम्प्रदर्शितः।
दमितोऽहं हतविषो वशगस्ते वरानन ॥ ३६ ॥

'सुमुख श्रीकृष्ण ! मैंने अज्ञानवश आपके सामने इस क्रोधका प्रदर्शन किया है। आपने मेरा दमन कर दिया। मेरा सारा विष नष्ट हो गया। अब मैं आपके अधीन हूँ ॥

तदाज्ञापय किं कुर्या सदा सापत्यबान्धवः।
कस्य वा वशतां यामि जीवितं मे प्रदीयताम् ॥ ३७ ॥

'अतः आज्ञा दीजिये, मैं सदा ही अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित आपकी क्या सेवा करूँ ? अथवा किसके अधीन हो जाऊँ ? मुझे जीवन-दान दीजिये' ॥ ३७ ॥

पञ्चमूर्द्धानतं दृष्ट्वा सर्पं सर्पारिकेतनः।
अक्रुद्ध एव भगवान् प्रत्युवाचोरगेश्वरम् ॥ ३८ ॥

उस सर्पको अपने पाँचों मस्तकोंसे प्रणत हुआ देख भगवान् गरुडध्वजने क्रोध न करके नागराज कालियसे इस प्रकार कहा—॥ ३८ ॥

तवास्मिन् यमुनातोये नैव स्थानं ददाम्यहम्।
गच्छार्णवजलं सर्प सभार्यः सहबान्धवः ॥ ३९ ॥

'ओ सर्प ! मैं तुम्हे इस यमुनाजीके जलमे नहीं रहने दूँगा। तुम अपनी पत्नी तथा भाई-बन्धुओंके साथ समुद्रके जलमे चले जाओ ॥ ३९ ॥

यश्चेह भूयो दृश्येत स्थाने वा यदि वा जले।
तव भृत्यस्तनूजो वा क्षिप्रं वध्यः स मे भवेत् ॥ ४० ॥

'अब फिर यहाँ इस स्थानपर या जलमे यदि कोई भी सर्प दिखायी देगा तो वह तुम्हारा भृत्य हो या पुत्र, मेरे हाथसे शीघ्र मार डाला जायगा ॥ ४० ॥

शिवं चास्य जलस्यास्तु त्वं च गच्छ महार्णवम्।
स्थाने त्विह भवेद् दोषस्तवान्तकरणो महान् ॥ ४१ ॥

'इस जलकी शुद्धि हो जाय—यह लोगोंके लिये मङ्गलकारी हो, इसलिये तुम महासागरमें चले जाओ। यहाँ रहनेपर तुम्हारे जीवनका अन्त कर देनेवाला महान् दोष प्राप्त होगा ॥

मत्पदानि च ते सर्प दृष्ट्वा मूर्धसु सागरे।
गरुडः पन्नगरिपुस्त्वयि न प्रहरिष्यति ॥ ४२ ॥

'सर्प ! समुद्रमें रहते समय भी तुम्हारे पाँचों मस्तकोंपर मेरे चरण-चिह्न देखकर सर्पोंके शत्रु गरुड़ तुमपर प्रहार नहीं करेंगे' ॥ ४२ ॥

गृह्य मूर्ध्ना तु चरणौ कृष्णस्योरगपुङ्गवः।
पश्यतामेव गोपानां जगामादर्शनं ह्रदात् ॥ ४३ ॥

तब नागप्रवर कालिय भगवान् श्रीकृष्णके दोनों चरणोंमे मस्तक झुकाकर गोपोंके देखते-देखते उस कुण्डसे अदृश्य हो गया ॥ ४३ ॥

निर्जिते तु गते सर्पे कृष्णमुत्तीर्य धिष्ठितम्।
विस्मितास्तुष्टुवुर्गोपाश्चक्रुश्चैव प्रदक्षिणम् ॥ ४४ ॥

जब वह सर्प हार मानकर चला गया और श्रीकृष्ण जलसे निकलकर किनारे खड़े हो गये, तब सब गोप आश्चर्यसे चकित हो उनकी स्तुति और परिक्रमा करने लगे ॥ ४४ ॥

ऊचुः सर्वे च सम्प्रीता नन्दगोपं वनेचराः।
धन्योऽस्यनुगृहीतोऽसि यस्य ते पुत्र ईदृशः ॥ ४५ ॥

समस्त वनचारी गोपोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर नन्दगोपसे कहा—'गोपराज ! आप धन्य हैं, आपपर भगवान्‌की बड़ी भारी कृपा है, जिससे आपको ऐसा पुत्र मिला ॥ ४५ ॥

अद्यप्रभृति गोपानां गवां गोष्ठस्य चानघ।
आपत्सु शरणं कृष्णः प्रभुश्चायतलोचनः ॥ ४६ ॥

'निष्पाप नन्द ! आजसे सभी आपदाओंके समय गोपों, गौओं और गोष्ठ (व्रज) के लिये ये विशाललोचन भगवान् श्रीकृष्ण ही शरणदाता और स्वामी हैं ॥ ४६ ॥

जाता शिवजला सर्वा यमुना मुनिसेविता।
तीरे चास्याः सुखं गावो विचरिष्यन्ति नः सदा ॥ ४७ ॥

'मुनियोंसे सेवित समस्त यमुनाका जल अब सबके लिये सुखद एवं मङ्गलमय हो गया। अब हमारी गौएँ सदा इसके तटपर चरती-फिरती रहेंगी ॥ ४७ ॥

व्यक्तमेव वयं गोपा वने यत् कृष्णमीदृशम्।
महद्भूतं न जानीमश्छन्नमग्निमिव व्रजे ॥ ४८ ॥

'हम वनमें रहनेवाले गँवार ग्वारियाँ हैं'—यह बात स्पष्ट ही सत्य दिखायी देती है; क्योंकि ऐसे महान् आत्मा श्रीकृष्ण राखमें छिपी हुई आगकी तरह व्रजमें विद्यमान हैं, परंतु हम इनके महत्त्वको समझते ही नहीं हैं' ॥ ४८ ॥

एवं ते विस्मिताः सर्वे स्तुवन्तः कृष्णमव्ययम्।
जग्मुर्गोपगणा घोषं देवाश्चैत्ररथं यथा ॥ ४९ ॥

इस प्रकार वे विस्मित हुए समस्त गोपगण अविनाशी भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए गोष्ठमें चले गये, मानो देवता चैत्ररथ वनमें गये हों ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शिशुचर्यायां कालियदमने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें बाललीलाके प्रसङ्गमें कालियदमनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

बलरामद्वारा धेनुकासुरका वध और भयरहित तालवनमें गौओं तथा गोपोंका विचरण

वैशम्पायन उवाच

दमिते सर्पराजे तु कृष्णेन यमुनाह्रदे।
तमेव चेरतुर्देशं सहितौ रामकेशवौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब श्रीकृष्णने यमुनाजीके कुण्डमें रहनेवाले नागराज कालियका दमन कर दिया, उसके बादसे वे दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्ण प्रायः उसी प्रदेशमें साथ-साथ विचरा करते थे ॥ १ ॥

आजग्मतुस्तौ सहितौ गोधनैः सह गामिनौ।
गिरिं गोवर्द्धनं रम्यं वसुदेवसुतावुभौ ॥ २ ॥

एक दिन वसुदेवके वे दोनों पुत्र गोधनके साथ विचरते हुए परम रमणीय गोवर्धन पर्वतके निकट आये ॥ २ ॥

गोवर्द्धनस्योत्तरतो यमुनातीरमाश्रितम्।
ददृशाते च तौ वीरौ रम्यं तालवनं महत् ॥ ३ ॥

वहाँ उन दोनों वीरोंने देखा—गोवर्धनसे उत्तर दिशामें यमुनाके तटका आश्रय लेकर एक विशाल एवं रमणीय तालवन शोभा पा रहा है ॥ ३ ॥

तौ तालपर्णप्रतते रम्ये तालवने रतौ।
चेरतुः परमप्रीतौ वृषपोताविवोद्धतौ ॥ ४ ॥

ताड़के पत्तोंसे विस्तारको प्राप्त हुए उस रमणीय तालवनमें क्रीडापरायण हो वे दोनों भाई दो उद्दण्ड बछड़ोंके समान बड़ी प्रसन्नताके साथ विचरने लगे ॥ ४ ॥

स तु देशः सदा स्निग्धो लोष्टपाषाणवर्जितः।
दर्भप्रायस्थलीभूतः सुमहान् कृष्णमृत्तिकः ॥ ५ ॥

वह विशाल प्रदेश सदा ही स्निग्ध (चिकना) रहता था, वहाँ ढेले और पत्थरोंके रोड़े नहीं थे। वहाँके स्थलोंपर प्रायः दर्भ (कुश, दूर्वा आदि) फैले हुए थे। उस स्थानकी मिट्टी काले रंगकी थी ॥ ५ ॥

तालैस्तैर्विपुलस्कन्धैरुच्छ्रितैः श्यामपर्वभिः।
फलाग्रशाखिभिर्भाति नागहस्तैरिवोच्छ्रितैः ॥ ६ ॥

वहाँ जो ताड़के वृक्ष थे, उनके तने मोटे थे। वे सभी वृक्ष बहुत ऊँचे थे। उनके पर्वस्थान (गाँठ) काले रंगके थे और उनकी शाखाएँ फलोंसे भरी-पूरी थीं। उन तालवृक्षोंसे उस स्थानकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो वहाँ अपनी सूँड ऊपरको उठाये बहुत-से हाथी खड़े हों ॥ ६ ॥

तत्र दामोदरो वाक्यमुवाच वदतां वरः।
अहो तालफलैः पक्वैर्वासितेयं वनस्थली ॥ ७ ॥
स्वादून्यार्य सुगन्धीनि श्यामानि रसवन्ति च।
पक्वतालानि सहितौ पातयावो लघुक्रमौ ॥ ८ ॥

वहाँ वक्ताओंमें श्रेष्ठ दामोदर (श्रीकृष्ण) ने संकर्षणसे कहा—'आर्य! यहाँकी वनस्थली तो इन पके हुए तालफलोंकी सुगन्धसे महक उठी है। ये काले और सुगन्धित ताल फल अवश्य ही स्वादिष्ट और सरस होंगे। हम दोनों भाई साथ-साथ रहकर शीघ्रतापूर्वक कदम उठाते हुए इन फलोंको यहाँ गिरावें ॥ ७-८ ॥

यद्येषामीदृशो गन्धो माधुर्यघ्राणतर्पणः।
रसेनामृतकल्पेन भवितव्यं च मे मतिः ॥ ९ ॥

'यदि इनकी गन्ध ऐसी है, जो अपनी मधुरतासे हमारी घ्राणेन्द्रियोंको तृप्त किये देती है तो मेरा विश्वास है कि इन फलोंको अमृततुल्य रससे युक्त होना चाहिये' ॥ ९ ॥

दामोदरवचः श्रुत्वा रौहिणेयो हसन्निव।
पातयन् पक्वतालानि चालयामास तांस्तरून् ॥ १० ॥

दामोदरकी यह बात सुनकर रोहिणीनन्दन बलराम हँसते हुए-से पके हुए तालफलोंको गिरानेके उद्देश्यसे उन वृक्षोंको हिलाने लगे ॥ १० ॥

तत्तु तालवनं नृणामसेव्यं दुरतिक्रमम्।
निर्माणभूतमिरिणं पुरुषादालयोपमम् ॥ ११ ॥

उस तालवनका सेवन मनुष्योंके लिये असम्भव हो गया था। उस वनको इस पारसे उस पारतक सकुशल लाँघ जाना अत्यन्त कठिन था। यद्यपि वह सारभूत स्थान था, तथापि राक्षसके घरकी भाँति मनुष्योंसे शून्य दिखायी देता था ॥११॥

दारुणो धेनुको नाम दैत्यो गर्दभरूपधृक्।
खरयूथेन महता वृतः समनुसेवते ॥ १२ ॥

गर्दभरूपधारी धेनुक नामक दारुण दैत्य विशाल गदहोंकी टोलीसे घिरा हुआ उस वनमें रहता था ॥ १२ ॥

स तु तालवनं घोरं गर्दभः परिरक्षति।
नृपक्षिश्वापदगणांस्त्रासयानः सुदुर्मतिः ॥ १३ ॥

वह गदहा असुर उस तालवनकी सब ओरसे रक्षा करता था। उसकी बुद्धि बहुत ही खोटी थी। वह मनुष्यों, पक्षियों तथा हिंसक जन्तुओंको भी आतङ्कित किये रहता था ॥ १३ ॥

तालशब्दं स तं श्रुत्वा संघुष्टं फलपातनात्।
नामर्षयत् स संक्रुद्धस्तालस्वनमिव द्विपः ॥ १४ ॥

उन तालफलोंके गिरानेसे जो धमाकेकी आवाज होती थी, उसे सुनकर धेनुकासुर सहन न कर सका। जैसे ताल ठोंकनेकी आवाज सुनकर हाथी कुपित हो उठता है, उसी प्रकार वह भी अत्यन्त क्रोधमें भर गया ॥ १४ ॥

शब्दानुसारी संक्रुद्धो दर्पाविद्धसटाननः।
स्तब्धाक्षो ह्रेषितपटुः खुरैर्निर्दारयन्महीम् ॥ १५ ॥
आविद्धपुच्छो हृषितो व्यात्तानन इवान्तकः।
आपतन्नेव ददृशे रौहिणेयमुपस्थितम् ॥ १६ ॥

वह उस धमाकेके शब्दका अनुसरण करता हुआ बड़े रोषके साथ चला। घमंडमें भरकर अपने अयाल और सिरको घुमाता आ रहा था। उसकी आँखें स्तब्ध हो गयी थीं। वह बड़ी पटुताके साथ रेंक रहा था और अपनी टापोंसे पृथ्वीको विदीर्ण-सा किये देता था। उसकी पूँछ घूम रही थी, रोंगटे खड़े हो गये थे, वह मुँह बाये हुए कालके समान जान पड़ता था। उसने आते ही रोहिणीनन्दन बलरामको वहाँ उपस्थित देखा ॥ १५-१६ ॥

तालानां तमधो दृष्ट्वा स ध्वजाकारमव्ययम्।
रौहिणेयं खरो दुष्टः सोऽदशद् दशनायुधः ॥ १७ ॥

ध्वजाकी-सी आकृतिवाले अविनाशी रोहिणीकुमारको ताड़ोंके नीचे खड़ा देख दाँतोंसे ही शस्त्रका काम लेनेवाले उस दुष्ट गदहेने उन्हें दाँतसे काट लिया ॥ १७ ॥

पद्भ्यामुभाभ्यां च पुनः पश्चिमाभ्यां पराङ्मुखः।
जघानोरसि दैत्येन्द्रो रौहिणेयं निरायुधम् ॥ १८ ॥

फिर दूसरी ओर मुँह करके उस दैत्यराज धेनुकने बिना हथियार लिये खड़े हुए रोहिणीकुमारकी छातीमें अपने पिछले दो पैरोंद्वारा चोट पहुँचायी ॥ १८ ॥

ताभ्यामेव स जग्राह पद्भ्यां तं दैत्यगर्दभम्।
आवर्जितमुखस्कन्धं प्रेरयंस्तालमूर्धनि ॥ १९ ॥

तब बलरामजीने उस गर्दभरूपधारी दैत्यके उन्हीं दोनों पैरोंको पकड़ लिया तथा उसके मुँह और कंधोंको घुमाते हुए उसे ताड़वृक्षके ऊपर दे मारा ॥ १९ ॥

सम्भग्नोरुकटिग्रीवो भग्नपृष्ठो दुराकृतिः।
खरस्तालफलैः सार्धं पपात धरणीतले ॥ २० ॥

उसकी दोनों जाँघें, कमर और गर्दन टूट गयीं। पीठकी हड्डी भी चूर-चूर हो गयी। उसकी आकृति बहुत बिगड़ गयी और वह गर्दभासुर तालफलोंके साथ ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २० ॥

तं गतासुं गतश्रीकं पतितं वीक्ष्य गर्दभम्।
ज्ञातींस्तथापरांस्तस्य तृणराजनि सोऽक्षिपत् ॥ २१ ॥

धेनुकासुरको प्राणशून्य और श्रीहीन होकर पृथ्वीपर पड़ा देख बलरामजीने उसके दूसरे भाई-बन्धुओंको भी उसी प्रकार ताड़वृक्षपर दे मारा ॥ २१ ॥

सा भूर्गर्दभदेहैश्च तालैः पक्वैश्च पातितैः।
बभासे छन्नजलदा द्यौरिवाव्यक्तशारदी ॥ २२ ॥

वहाँकी भूमि गधोंकी लाशों तथा गिराये गये परिपक्व तालफलोंसे आच्छादित हो, जिसमें शरद् ऋतुके लक्षण प्रकट न हुए हों और बादल छा रहे हों, ऐसे आकाशके समान सुशोभित होने लगी ॥ २२ ॥

तस्मिन् गर्दभदैत्ये तु सानुगे विनिपातिते।
रम्यं तालवनं तद्धि भूयो रम्यतरं बभौ ॥ २३ ॥

सेवकोंसहित उस गर्दभरूपधारी दैत्यके मारे जानेपर वह सुरम्य तालवन और अधिक रमणीय प्रतीत होने लगा ॥२३॥

विप्रमुक्तभयं शुभ्रं विविक्ताकारदर्शनम्।
चरन्ति स्म सुखं गावस्तत् तालवनमुत्तमम् ॥ २४ ॥

उस शुभ्र तालवनका सारा भय दूर हो गया। उसके एकान्त प्रदेशका भी सबको दर्शन होने लगा तथा उस उत्तम वनमें गौएँ सुखपूर्वक चरने लगीं ॥ २४ ॥

ततः प्रविष्टास्ते सर्वे गोपा वनविचारिणः।
वीतशोकभयायासाश्चञ्चूर्यन्ते समन्ततः ॥ २५ ॥

तदनन्तर वनमें विचरनेवाले सभी गोप उस तालवनमें जा घुसे। उनका शोक, भय और आयास दूर हो गया था, अतः वे वहाँ सब ओर बारंबार विचरण करने लगे ॥ २५ ॥

ततः सुखं प्रकीर्णासु गोषु नागेन्द्रविक्रमौ।
द्रुमपर्णासनं कृत्वा तौ यथार्हं निषीदतुः॥ २६॥

तदनन्तर जब गौएँ सुखपूर्वक सब ओर फैलकर चरने लगीं, तब गजराजके समान पराक्रमी श्रीकृष्ण और बलराम वृक्षोंके पत्तोंका आसन लगाकर यथोचित रीतिसे बैठ गये॥ २६॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शिशुचर्यायां धेनुकवधे त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें बाललीलाके प्रसंगमें धेनुकासुरका वधविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

बलरामद्वारा प्रलम्बासुरका वध

वैशम्पायन उवाच

अथ तौ जातहर्षौ तु वसुदेवसुतावुभौ।
तत् तालवनमुत्सृज्य भूयो भाण्डीरमागतौ॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर हर्षमें भरे हुए वे दोनों वसुदेवकुमार उस तालवनको छोड़कर पुनः भाण्डीरवटके पास आ गये॥ १॥

चारयन्तौ विवृद्धानि गोधनानि शुभानि च।
स्फीतसस्यप्ररूढानि वीक्षमाणौ वनानि च॥ २॥

वहाँ वे हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर गोधनोंको चराते तथा बढ़ी हुई खेतीसे सम्पन्न वनस्थलियोंकी शोभा निहारते हुए विचरने लगे॥ २॥

क्ष्वेडयन्तौ प्रगायन्तौ प्रचिन्वन्तौ च पादपान्।
नामभिर्व्याहरन्तौ च सवत्सा गाः परंतपौ॥ ३॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों भाई कभी ताल ठोंकते, कभी गीत गाते, कभी वृक्षोंके फल-फूल और पत्ते तोड़ते और कभी बछड़ेवाली गौओंको उनके नाम ले-लेकर पुकारते थे॥ ३॥

निर्योगपाशैरासक्तैः स्कन्धाभ्यां शुभलक्षणौ।
वनमालाकुलोरस्कौ बालशृङ्गाविवर्षभौ॥ ४॥

कंधेपर गौ बाँधनेकी रस्सी डाले, सुन्दर लक्षणोंसे सम्पन्न तथा वनमालासे विभूषित वक्षःस्थलवाले वे दोनों वीर नये सींगोंवाले बछड़ोंके समान शोभा पाते थे॥ ४॥

सुवर्णाञ्जनचूर्णाभावन्योन्यसदृशाम्बरौ।
महेन्द्रायुधसंसक्तौ शुक्लकृष्णाविवाम्बुदौ॥ ५॥

उन दोनोंमेंसे एकके शरीरकी कान्ति सुवर्ण-चूर्णके समान गौर थी, तो दूसरेकी अञ्जन-चूर्णके समान श्याम। वे दोनों एक दूसरेके अङ्गोंके समान रंगवाले वस्त्र धारण करते थे (अर्थात् गोरे बलभद्रका वस्त्र श्रीकृष्णकी अङ्गकान्तिके समान नीला था और श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका वस्त्र बलभद्रकी अङ्ग-प्रभाके समान सुनहरा एवं पीला था)। वे दोनों इन्द्रधनुषसे सटे हुए श्वेत और काले रंगके दो बादलोंके समान जान पड़ते थे॥ ५॥

कुशाग्रकुसुमानां च कर्णपूरौ मनोरमौ।
वनमार्गेषु कुर्वाणौ वन्यवेषधरावुभौ॥ ६॥

वे दोनों वनके मार्गोंपर कुशोंके अग्रभाग तथा फूलोंके मनोरम कर्णपूर बनाकर धारण करते और वन्य वेष ग्रहण करके शोभा पाते थे॥ ६॥

गोवर्धनस्यानु चरौ वने सानुचरौ तु तौ।
चेरतुर्लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिरपराजितौ॥ ७॥

वनमें उन दोनोंके पीछे चलनेवाले बहुत-से गोप-बालक थे। उन्हें साथ लेकर वे दोनों भाई गोवर्धनके आस-पास विचरा करते थे। वे कभी किसीसे पराजित होनेवाले नहीं थे। भाण्डीरवटके पास लोक-प्रचलित बालक्रीडाओंद्वारा मन बहलाते हुए श्रीकृष्ण और बलराम विचरण करने लगे॥

तावेवं मानुषीं दीक्षां वहन्तौ सुरपूजितौ।
तज्जातिगुणयुक्ताभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वनम्॥ ८॥

इस प्रकार देवताओंद्वारा पूजित होनेपर भी वे दोनों मानवी दीक्षा ग्रहण करके मनुष्य-जातिके गुणोंसे युक्त क्रीडाएँ करते हुए वनमें घूमने लगे॥ ८॥

तौ तु भाण्डीरमाश्रित्य बालक्रीडानुवर्तिनौ।
प्राप्तौ परमशाखाढ्यं न्यग्रोधं शाखिनां वरम्॥ ९॥

भाण्डीरके निकट आकर बालोचित क्रीड़ामें लगे हुए वे दोनों भाई उस उत्तम शाखाओंसे सम्पन्न एवं वृक्षोंमें श्रेष्ठ वटके नीचे आ गये॥ ९॥

तत्र त्वान्दोलिकाभिश्च युद्धमार्गविशारदौ।
अश्मभिः क्षेपणीयैश्च तौ व्यायाममकुर्वताम्॥ १०॥

युद्धकी प्रणालीमें परम चतुर वे दोनों भाई वहाँ कभी झूला झूलकर और कभी फेंकनेयोग्य पत्थर फेंककर व्यायाम करने लगे॥ १०॥

युद्धमार्गैश्च विविधैर्गोपालैः सहितावुभौ।
मुदितौ सिंहविक्रान्तौ यथाकामं विचेरतुः॥ ११॥

नाना प्रकारके युद्धके पैंतरे दिखाते हुए वे दोनो सिंहके समान पराक्रमी वीर ग्वालबालोंके साथ रहकर अपनी इच्छाके अनुसार सानन्द विचरने लगे ॥ ११ ॥

तयो रमयतोरेव तल्लिप्सुरसुरोत्तमः ।
प्रलम्बोऽभ्यागमत् तत्र च्छिद्रान्वेषी तयोस्तदा ॥ १२ ॥
गोपालवेषमास्थाय वन्यपुष्पविभूषितः ।
लोभयानः स तौ वीरौ हास्यैः क्रीडनकैस्तथा ॥ १३ ॥

वे दोनों जब इस प्रकार खेलका आनन्द ले रहे थे, उसी समय उन्हें उठा ले जानेकी इच्छासे असुरोंमें श्रेष्ठ प्रलम्ब एक गोपबालकका वेष धारण करके वहाँ आया। उसने वन्य-पुष्पोंसे अपने-आपको विभूषित कर रखा था। वह उस समय उनका छिद्र (उन्हें उठा ले जानेका अवसर) ढूँढ़ रहा था और उन दोनों वीरोंको अपने हँसी-खेलसे लुभा रहा था॥

सोऽवगाहत निश्शङ्कस्तेषां मध्यममानुषः ।
मानुषं वपुरास्थाय प्रलम्बो दानवोत्तमः ॥ १४ ॥

दानवप्रवर प्रलम्ब मनुष्य न होनेपर भी मनुष्यका शरीर धारण करके निःशङ्कभावसे उन बालकोंके बीच घुस गया ॥

प्रक्रीडिताश्च ते सर्वे सह तेनामरारिणा ।
गोपालवपुषं गोपा मन्यमानाः स्वबान्धवम् ॥ १५ ॥

वे सब बालक उस देवद्रोहीके साथ खेलने लगे। वह ग्वाल-बालका वेष धारण करके आया था, इसलिये समस्त गोप उसे अपना भाई-बन्धु ही मानते थे ॥ १५ ॥

स तु च्छिद्रान्तरप्रेप्सुः प्रलम्बो गोपतां गतः ।
दृष्टिं प्रणिदधे कृष्णे रौहिणेये च दारुणाम् ॥ १६ ॥

परंतु गोपवेशमें आया हुआ प्रलम्ब उन दोनों वीरोंकी दुर्बलताका अवसर ढूँढ़ रहा था, इसलिये उसने श्रीकृष्ण और बलरामपर क्रूरतापूर्ण दृष्टि डाली ॥ १६ ॥

अविषह्यं ततो मत्वा कृष्णमद्भुतविक्रमम् ।
रौहिणेयवधे यत्नमकरोद् दानवोत्तमः ॥ १७ ॥

श्रीकृष्णका पराक्रम अद्भुत था, इसलिये उन्हें अजेय मानकर उस दानवराजने रोहिणीकुमार बलरामजीको मारनेका प्रयत्न किया ॥ १७ ॥

हरिणाक्रीडनं नाम बालक्रीडनकं ततः ।
प्रक्रीडितास्तु ते सर्वे द्वौ द्वौ युगपदुत्पतन् ॥ १८ ॥

तदनन्तर वे सब ग्वाल-बाल हरिणाक्रीडन[1] नामक बालोचित खेल खेलने लगे। उसमें दो-दो बालक एक साथ उछलते हुए कुछ दूर जाते थे ॥ १८ ॥

कृष्णः श्रीदामसहितः पुप्लुवे गोपसूनुना ।
संकर्षणस्तु प्लुतवान् प्रलम्बेन सहानघ ॥ १९ ॥
गोपालास्त्वपरे द्वन्द्वं गोपालैरपरैः सह ।
प्रद्रुता लङ्घयन्तो वै तेऽन्योन्यं लघुविक्रमाः ॥ २० ॥

निष्पाप जनमेजय ! श्रीदामाके साथ श्रीकृष्ण और ग्वालबालके वेषमे आये हुए प्रलम्बके साथ संकर्षण कूद-कूदकर चलने लगे। इसी तरह दूसरे ग्वालबाल अन्य ग्वालबालोंके साथ दो-दोकी जोड़ी बनाकर एक-दूसरेको लाँघ जानेका प्रयत्न करते हुए शीघ्र गतिसे उछलते हुए चलने लगे ॥

श्रीदाममजयत् कृष्णः प्रलम्बं रोहिणीसुतः ।
गोपालैः कृष्णपक्षीयैर्गोपालास्त्वपरे जिताः ॥ २१ ॥

उस खेलमें श्रीकृष्णने श्रीदामाको, रोहिणीनन्दन बलरामने प्रलम्बको तथा अन्यान्य कृष्णपक्षीय गोपोंने दूसरे पक्षके गोपोंको पराजित कर दिया ॥ २१ ॥

ते वाहयन्तस्त्वन्योन्यं संहर्षात् सहसा द्रुताः ।
भाण्डीरस्कन्धमुद्दिश्य मर्यादां पुनरागमन् ॥ २२ ॥

जो-जो बालक हारे थे, वे अपने साथके विजयी बालकोंको पीठपर ढोते हुए हर्षके साथ सहसा दौड़े और भाण्डीर वृक्षके तनेतक पहुँचनेकी नियत सीमापर पहुँचकर फिर लौट आये ॥

संकर्षणं तु स्कन्धेन शीघ्रमुत्क्षिप्य दानवः ।
द्रुतं जगाम विमुखः सचन्द्र इव तोयदः ॥ २३ ॥

परंतु दानव प्रलम्ब बलरामजीको शीघ्र ही अपने कंधेपर चढ़ाकर वहाँसे विमुख हो तीव्र गतिसे आकाशकी ओर चल दिया। उस समय वह ऊपरी भागमें चन्द्रमाको धारण किये काले मेघके समान जान पड़ता था ॥ २३ ॥

स भारमसहंस्तस्य रौहिणेयस्य धीमतः ।
ववृधे सुमहाकायः शक्राक्रान्त इवाम्बुदः ॥ २४ ॥

बुद्धिमान् रोहिणीनन्दन बलरामके भारको सहन न कर सकनेके कारण वह दानव बढ़ने लगा। बढ़ते-बढ़ते वह विशालकाय हो इन्द्रका वाहन बने हुए मेघके समान प्रतीत होने लगा ॥ २४ ॥

स भाण्डीरवटप्रख्यं दग्धाञ्जनगिरिप्रभम् ।
स्वं वपुर्दर्शयामास प्रलम्बो दानवोत्तमः ॥ २५ ॥

दानवराज प्रलम्बने वहाँ अपने शरीरको भाण्डीरवट तथा जले हुए कज्जलगिरिके समान दिखाया ॥ २५ ॥

पञ्चस्तबकयुक्तेन मुकुटेनार्कवर्चसा ।
दीप्यमानाननो दैत्यः सूर्याक्रान्त इवाम्बुदः ॥ २६ ॥

उस दैत्यका मुख पाँच पुष्पगुच्छोंसे युक्त सूर्य-तुल्य तेजस्वी मुकुटसे देदीप्यमान था। उस मुकुटको धारण करके वह सूर्यसे आक्रान्त हुए काले मेघके समान जान पड़ता था ॥

---

१. एक निश्चित लक्ष्यके पास एक साथ दो-दो बालक हिरनकी भाँति उछलते हुए जाते हैं। जो दोनोंमें पहले पहुँच जाता है, वह विजयी होता है। हारा हुआ बालक जीते हुएको अपनी पीठपर चढ़ाकर मुख्य स्थानतक ले आता है, यही हरिणाक्रीडन है।

महाननो महाग्रीवः सुमहानन्तकोपमः।
रौद्रः शकटचक्राक्षो नमयंश्चरणैर्महीम् ॥ २७ ॥

उसका मुख बहुत बड़ा था, गरदन भी वैसी ही थी। वह महाकाय दैत्य यमराजके समान भयंकर दिखायी देता था। उसकी आँखें गाड़ीके पहिये-सी घूम रही थीं। वह अपने पैरोंसे पृथ्वीको झुका देता था ॥ २७ ॥

स्रग्दामलम्बाभरणः प्रलम्बाम्बरभूषणः।
वीरः प्रलम्बः प्रययौ लम्बतोय इवाम्बुदः ॥ २८ ॥

उसके गलेमें फूलोंकी लंबी माला शोभा दे रही थी। उसके वस्त्र और आभूषण भी बहुत बड़े-बड़े थे। वह वीर प्रलम्ब नीचेको गिरते हुए जलवाले मेघके समान तीव्र गतिसे चला जा रहा था ॥ २८ ॥

स जहाराथ वेगेन रौहिणेयं महासुरः।
सागरोपप्लवगतं कृत्स्नं लोकमिवान्तकः ॥ २९ ॥

उस महान् असुरने रोहिणीनन्दन बलरामको बड़े वेगसे हर लिया, ठीक उसी तरह जैसे प्रलयंकर काल एकार्णवमें डूबे हुए समस्त लोकका अपहरण कर लेता है ॥ २९ ॥

ह्रियमाणः प्रलम्बेन स तु संकर्षणो बभौ।
उह्यमान इवाकाशे कालमेघेन चन्द्रमाः ॥ ३० ॥

प्रलम्बासुरके द्वारा हरकर ले जाये जाते हुए संकर्षण आकाशमें ऐसे जान पड़ते थे, मानो कोई काला मेघ चन्द्रमाको अपने ऊपर बिठाकर लिये जा रहा हो ॥ ३० ॥

स संदिग्धमिवात्मानं मेने संकर्षणस्तदा।
दैत्यस्कन्धगतः श्रीमान् कृष्णं चेदमुवाच ह ॥ ३१ ॥

उस समय बलरामने अपने आपको प्राण-संशयकी स्थितिमें पड़ा हुआ समझा। तब दैत्यके कंधेपर बैठे हुए उन श्रीमान् संकर्षणने श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा— ॥ ३१ ॥

ह्रियेऽहं कृष्ण दैत्येन पर्वतोदग्रवर्ष्मणा।
प्रदर्शयित्वा महतीं मायां मानुषरूपिणीम् ॥ ३२ ॥

'श्रीकृष्ण! यह देखो! मुझे कोई पर्वतके समान विशालकाय दैत्य हरकर लिये जाता है। इसने मनुष्यरूप-धारिणी महती मायाका प्रदर्शन करके मुझे भ्रममें डाल दिया था ॥ ३२ ॥

कथमस्य मया कार्यं शासनं दुष्टचेतसः।
प्रलम्बस्य प्रवृद्धस्य दर्पाद् द्विगुणवर्चसः ॥ ३३ ॥

'यह दुष्टात्मा दैत्य बढ़कर बहुत लंबा हो गया है। बलके मदसे इसकी कान्ति दुगुनी हो गयी है। मुझे किस तरह इसका दमन करना चाहिये' ॥ ३३ ॥

तमाह सस्मितं कृष्णः साम्ना हर्षाकुलेन वै।
अभिज्ञो रौहिणेयस्य वृत्तस्य च बलस्य च ॥ ३४ ॥

तब रोहिणीनन्दन बलरामके चरित्र और बलको भलीभाँति जाननेवाले श्रीकृष्णने मुसकराकर हर्षभरी सान्त्वनायुक्त वाणीमें उनसे कहा— ॥ ३४ ॥

अहोऽयं मानुषो भावो व्यक्तमेवानुपाल्यते।
यस्त्वं जगन्मयं देवं गुह्याद् गुह्यतरं गतः ॥ ३५ ॥
स्मर नारायणात्मानं लोकानां त्वं विपर्यये।
अवगच्छात्मनाऽऽत्मानं समुद्राणां समागमे ॥ ३६ ॥

'अहो! आप तो स्पष्ट ही मानव-भावका अवलम्बन एवं पालन करते जा रहे हैं। आपका स्वरूप तो अखिल विश्वमय है। आप दिव्यस्वरूप तथा गुह्यसे भी गुह्यतर हैं। आप ही समस्त लोकोंका संहार होनेपर नारायणरूपसे स्थित होते हैं। आप अपने उस स्वरूपका स्मरण तो कीजिये। प्रलयकालमें जब सारे समुद्र मिलकर एक हो जाते हैं, उस समय आप जिस शेषशायी नारायणरूपसे विराजमान होते हैं, उसका स्वयं ही अनुभव कीजिये ॥ ३५-३६ ॥

पुरातनानां देवानां ब्रह्मणः सलिलस्य च।
आत्मवृत्तप्रभावाणां संस्मराद्यं च वै वपुः ॥ ३७ ॥

'पुरातन देवता, ब्रह्मा, जल तथा अपने चरित्र और प्रभाव—इन सबका आदि कारण तथा जो आपका शाश्वत स्वरूप है, उसका स्मरण कीजिये ॥ ३७ ॥

शिरः खं ते जलं मूर्तिः पादौ भूर्दहनो मुखम्।
वायुर्लोकायुरुच्छ्वासो मनः सोमो ह्यभूत् तव ॥ ३८ ॥

'आकाश आपका सिर है, जल मूर्ति है, पृथ्वी पैर है, अग्नि मुख है, लोकोंको जीवन देनेवाली वायु आपका उच्छ्वास है और चन्द्रमा आपका मन है ॥ ३८ ॥

सहस्रास्यः सहस्राङ्गः सहस्रचरणेक्षणः।
सहस्रपद्मनाभस्त्वं सहस्रांशुधरोऽरिहा ॥ ३९ ॥

'आपके सहस्रों मुख, सहस्रों शरीर, सहस्रों हाथ-पैर और सहस्रों नेत्र हैं। आपकी नाभिसे सहस्रों कमल प्रकट हो चुके हैं। आप सहस्र किरणोंवाले सूर्यको चक्ररूपसे धारण करके शत्रुओंका संहार करते हैं ॥ ३९ ॥

यत्त्वया दर्शितं लोके तत् पश्यन्ति दिवौकसः।
यत् त्वया नोक्तपूर्वं हि कस्तदन्वेष्टुमर्हति ॥ ४० ॥

'आपने पूर्वकालमें जो कुछ दिखाया है, संसारमें उसीको देवता लोग देखते हैं। आपने पहले जिसकी चर्चा नहीं की है, उसका अनुसंधान कौन कर सकता है? ॥ ४० ॥

यद् वेदितव्यं लोकेऽस्मिंस्तत्त्वया समुदाहृतम्।
विदितं यत् तवैकस्य देवा अपि न तद् विदुः ॥ ४१ ॥

'जगत्‌में जो कुछ जानने योग्य है, उसका आपने प्रतिपादन कर दिया है। एकमात्र आपको जो तत्त्व ज्ञात है, उसे देवता भी नहीं जानते ॥ ४१ ॥

आत्मजं ते वपुर्व्योम्नि न पश्यन्त्यात्मसम्भवम्।
यत् तु ते कृत्रिमं रूपं तदर्चन्ति दिवौकसः ॥ ४२ ॥

'आपका जो सहज, आकाशमे भी व्यापक एवं स्वयम्भू रूप है, उस (विशुद्ध सनातन एवं निर्गुण-निराकार रूप) को देवता भी देख या समझ नहीं पाते हैं। भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये आप जो सगुण-साकार रूपसे अवतार ग्रहण करते हैं, उसीकी देवता लोग पूजा एवं आराधना करते हैं॥४२॥

देवैर्न दृष्टश्चान्तस्ते तेनानन्त इति स्मृतः।
त्वं हि सूक्ष्मो महानेकः सूक्ष्मैरपि दुरासदः ॥ ४३ ॥

'देवताओंने भी आपका अन्त नही देखा है, इसलिये आप अनन्त माने गये हैं। आप ही सूक्ष्म, महान् और एक हैं। सूक्ष्म बुद्धि-इन्द्रियादिके द्वारा भी आपको जानना या पाना अत्यन्त कठिन है ॥ ४३ ॥

त्वय्येव जगतः स्तम्भे शाश्वती जगती स्थिता।
अचला प्राणिनां योनिर्धारयत्यखिलं जगत् ॥ ४४ ॥

'आप ही इस जगत्के आधारस्तम्भ हैं। आपपर प्रतिष्ठित होकर ही यह सनातन पृथ्वी अविचल भावसे सम्पूर्ण जगत्को धारण करती है और समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका स्थान बनती है ॥ ४४ ॥

चतुःसागरभोगस्त्वं चातुर्वर्ण्यविभागवित्।
चतुर्युगेषु लोकानां चातुर्होत्रफलाशनः ॥ ४५ ॥

'चारों समुद्र आपके स्वरूप हैं। आप चारों वर्णोंके विभागको जाननेवाले हैं। चारों युगोमे लोकोंके चातुर्होत्र यज्ञका जो फल है, उसका उपभोग करनेवाले भी आप ही हैं ॥ ४५ ॥

यथाहमपि लोकानां तथा त्वं तच्च मे मतम्।
उभावेकशरीरौ स्वो जगदर्थे द्विधाकृतौ ॥ ४६ ॥

'जैसे मैं समस्त लोकोंका अन्तर्यामी आत्मा हूँ, वैसे ही आप भी हैं, यहा मेरा मत है। हम दोनों ही एक शरीरवाले हैं, केवल जगत्के हितके लिये दो रूपोंमे प्रकट हुए हैं ॥४६॥

अहं वा शाश्वतः कृष्णस्त्वं वा शेषः पुरातनः।
लोकानां शाश्वतो देवस्त्वं हि शेषः सनातनः।
आवयोर्देहमात्रेण द्विधेदं धार्यते जगत् ॥ ४७ ॥

'मैं सनातन विष्णु हूँ और आप पुरातन शेष हैं; तीनों लोकोके सनातन देवता तथा सनातन शेष आप ही हैं; हमारा चिन्मय शरीरमात्र ही (विष्णु या अनन्तरूपसे) इस जड चेतनमय द्विविध जगत्को धारण करता है ॥ ४७॥

अहं यः स भवानेव यस्त्वं सोऽहं सनातनः।
द्वावेव विहितौ ह्यावामेकदेहौ महाबलौ ॥ ४८ ॥

'जो मैं हूँ, वह आप ही है। जो आप हैं, वह सनातन पुरुष मैं ही हूँ। हम दोनों ही एक आत्मा हैं, किंतु इस समय दो महाबली स्वरूपोंमे प्रकट हुए हैं ॥ ४८ ॥

तदास्से मूढवत् त्वं किं प्राणेन जहि दानवम्।
मूर्ध्नि देवरिपुं देव वज्रकल्पेन मुष्टिना ॥ ४९ ॥

'देव ! आप किंकर्तव्यविमूढ़की भाँति क्यों चुपचाप बैठे हैं ? बलपूर्वक इस दानवको मार डालिये। अपने वज्र-तुल्य मुक्केसे इस देवद्रोहीके मस्तकपर प्रहार कीजिये' ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

संस्मारितस्तु कृष्णेन रौहिणेयः पुरातनम्।
बलेनापूर्यत तदा त्रैलोक्यान्तरचारिणा ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार पुरातन रहस्यका स्मरण दिलाया, तब रोहिणीनन्दन बलराम त्रिलोकीके भीतर व्याप्त हुए अनन्त बलसे परिपूर्ण हो गये ॥ ५० ॥

ततः प्रलम्बं दुर्वृत्तं स बद्धेन महाभुजः।
मुष्टिना वज्रकल्पेन मूर्ध्नि चैनं समाहनत् ॥ ५१ ॥

तब उन महाबाहु वीरने दुराचारी प्रलम्बासुरके मस्तकपर अपनी बँधी हुई वज्रतुल्य मुष्टिकासे प्रहार किया ॥ ५१ ॥

तस्योत्तमाङ्गं स्वे काये विकपालं विवेश ह।
जानुभ्यां चाहतः शेते गतासुर्दानवोत्तमः ॥ ५२ ॥

इससे उसकी खोपड़ी उड़ गयी और शेष मस्तक उसके धड़में ही धँस गया। फिर वह घायल हुआ दानवराज पृथ्वीपर घुटने टेककर गिर पड़ा और प्राणहीन होकर सदाके लिये सो गया ॥ ५२ ॥

जगत्यां विप्रकीर्णस्य तस्य रूपमभूत् तदा।
प्रलम्बस्याम्बरस्थस्य मेघस्येव विदीर्यत ॥ ५३ ॥

जैसे आकाशमे स्थित हुए मेघकी घटा जब छिन्न भिन्न होकर बिखर जाती है, उस समय उसका जैसा रूप दिखायी देता है, पृथ्वीपर टूक-टूक होकर बिखरे हुए प्रलम्बासुरका रूप भी वैसा ही दृष्टिगोचर हुआ ॥ ५३ ॥

तस्य भग्नोत्तमाङ्गस्य देहात् सुस्राव शोणितम्।
बहुगैरिकसंयुक्तं शैलशृङ्गादिवोदकम् ॥ ५४ ॥

कटे-फटे मस्तकवाले उस असुरके शरीरसे खूनकी धारा बह चली, मानो पर्वतके शिखरसे अधिक गेरू मिला हुआ जल प्रवाहित हो रहा हो ॥ ५४ ॥

तं निहत्य प्रलम्बं तु संहृत्य बलमात्मनः।
पर्यष्वजत वै कृष्णं रौहिणेयः प्रतापवान् ॥ ५५ ॥

इस प्रकार प्रलम्बासुरको मारकर अपने बलको पुनः समेट लेनेके बाद प्रतापी रोहिणीकुमार बलरामने श्रीकृष्णको हृदयसे लगा लिया ॥ ५५ ॥

तं तु कृष्णश्च गोपाश्च दिविस्थाश्च दिवौकसः ।
तुष्टुवुर्निहते दैत्ये जयाशीर्भिर्महाबलम् ॥ ५६ ॥

उस समय उस दैत्यके मारे जानेपर श्रीकृष्ण, गोपगण तथा आकाशमें खड़े हुए देवता विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए महाबली बलरामजीकी स्तुति करने लगे ॥ ५६ ॥

बलेनायं हतो दैत्यो बालेनाक्लिष्टकर्मणा ।
विवदन्त्यशरीरिण्यो वाचः सुरसमीरिताः ॥ ५७ ॥

'अनायास ही महान् कर्म करनेवाले इस बालकने ऐसे महान् दैत्यको बलपूर्वक मार गिराया' इस प्रकार देवताओंकी कही हुई आकाशवाणी बारंबार प्रकट होने लगी ॥ ५७ ॥

बलदेवेति नामास्य देवैरुक्तं दिवि स्थितैः ।
बलं तु बलदेवस्य तदा भुवि जना विदुः ॥ ५८ ॥

उस समय आकाशमें खड़े हुए देवताओंने उनका नाम बलदेव रख दिया । तभीसे भूतलके मनुष्य बलदेवजीके बलको जानने लगे ॥ ५८ ॥

कर्मजं निहते दैत्ये देवैरपि दुरासदे ॥ ५९ ॥

जो देवताओंके लिये भी दुर्जय था, उस प्रलम्ब नामक दैत्यके मारे जानेपर बलरामजीको उनके पराक्रमके अनुसार वह (बलदेव) नाम प्राप्त हुआ था ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शिशुचर्यायां प्रलम्बवधे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें बाललीलाके प्रसङ्गमें प्रलम्बासुरका वधविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥



पञ्चदशोऽध्यायः

इन्द्रोत्सवके विषयमें श्रीकृष्णकी जिज्ञासा तथा एक वृद्ध गोपके द्वारा उसकी आवश्यकताका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

तयोः प्रवृत्तयोरेवं कृष्णस्य च बलस्य च ।
वने विचरतोर्मासौ व्यतियातौ स्म वार्षिकौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्ण और बलराम दोनोंके इस प्रकार बाललीलामें प्रवृत्त होकर वनमें विचरते हुए वर्षाके दो मास व्यतीत हो गये ॥ १ ॥

व्रजमाजग्मतुस्तौ तु व्रजे शुश्रुवतुस्तदा ।
प्राप्तं शक्रमहं वीरौ गोपांश्चोत्सवलालसान् ॥ २ ॥

एक दिन जब वे दोनों वीर व्रजमें आये, तब उन्होंने सुना कि इन्द्रयागके उत्सवका समय आ गया है और समस्त गोप उस उत्सवको देखनेके लिये लालायित हैं ॥ २ ॥

कौतूहलादिदं वाक्यं कृष्णः प्रोवाच तत्र तान् ।
कोऽयं शक्रमहो नाम येन वो हर्ष आगतः ॥ ३ ॥

तब श्रीकृष्णने कौतूहलवश उनसे यह बात पूछी—'यह इन्द्रयागका उत्सव क्या है ? जिससे तुमलोगोंको इतना हर्ष हो रहा है' ॥ ३ ॥

तत्र वृद्धतमस्त्वेको गोपो वाक्यमुवाच ह ।
श्रूयतां तात शक्रस्य यदर्थं ध्वज इज्यते ॥ ४ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर उन गोपोंमें सबसे बड़े-बूढ़े एक गोपने इस प्रकार कहा—'तात ! सुनो ! हमारे यहाँ इन्द्रके ध्वजकी पूजा किसलिये की जाती है, यह बताता हूँ ॥ ४ ॥

देवानामीश्वरः शक्रो मेघानां चारिसूदन ।
तस्य चायं महः कृष्ण लोकनाथस्य शाश्वतः ॥ ५ ॥

'शत्रुसूदन कृष्ण ! देवताओं और मेघोंके स्वामी देवराज इन्द्र हैं । वे ही सम्पूर्ण जगत्के सनातन रक्षक हैं । उन्हींका यह उत्सव मनाया जाता है ॥ ५ ॥

तेन संचोदिता मेघास्तस्य चायुधभूषिताः ।
तस्यैवाज्ञाकराः सस्यं जनयन्ति नवाम्बुभिः ॥ ६ ॥

'उन्हींसे प्रेरित हो उन्हींके आयुध (इन्द्रधनुष) से विभूषित हुए मेघ उनकी ही आज्ञाका पालन करते हुए नूतन जलकी वर्षा करके खेतीको उपजाते हैं ॥ ६ ॥

मेघस्य पयसो दाता पुरुहूतः पुरंदरः ।
सम्प्रहृष्टः स भगवान् प्रीणयत्यखिलं जगत् ॥ ७ ॥

'अनेक नामोंसे विभूषित भगवान् पुरन्दर (इन्द्र) मेघ और जलके दाता हैं। वे प्रसन्न होनेपर सम्पूर्ण जगत्को तृप्त करते हैं ॥ ७ ॥

तेन सम्पादितं सस्यं वयमन्ये च मानवाः ।
वर्तयामोपयुञ्जानास्तर्पयामश्च देवताः ॥ ८ ॥

'उनके द्वारा सम्पन्न की हुई खेतीसे जो अन्न पैदा होता है, उसीको हम तथा दूसरे मनुष्य खाते हैं, उसीका धर्मके कार्यमें भी उपयोग करते हुए देवताओंको यज्ञ आदिके द्वारा तृप्त करते हैं ॥ ८ ॥

देवे वर्षति लोकेऽस्मिंस्ततः सस्यं प्रवर्धते ।
पृथिव्यां तर्पितायां तु सामृतं लक्ष्यते जगत् ॥ ९ ॥

'इस संसारमें जब इन्द्रदेव वर्षा करते हैं, तब उसीसे खेतीकी उपज बढ़ती है । वर्षासे ही पृथ्वीके तृप्त होनेपर सम्पूर्ण जगत् सजल दिखायी देता है ॥ ९ ॥

क्षीरवत्यस्त्विमा गावो वत्सवत्यश्च निर्वृताः ।
तेन संवर्धितैस्तात तृणैः पुष्टाः सपुङ्गवाः ॥ १० ॥

'तात ! उस वर्षासे बढ़ी हुई घासोंद्वारा ही साँड़ोंसहित ये गौएँ हृष्ट-पुष्ट होकर बछड़े देतीं और दूध देनेवाली होती हैं ॥ १० ॥

नासस्या नातृणा भूमिर्न बुभुक्षार्दितो जनः ।
दृश्यते यत्र दृश्यन्ते वृष्टिमन्तो बलाहकाः ॥ ११ ॥

'जहाँ वर्षा करनेवाले मेघ दिखायी देते हैं, उस भूमिपर कभी अनाज और तृणका अभाव नहीं होता तथा वहाँके लोग कभी भूखसे पीड़ित नहीं देखे जाते हैं ॥ ११ ॥

दुदोह सवितुर्गा वै शक्रो दिव्याः पयस्विनीः ।
ताः क्षरन्ति नवं क्षीरं मेध्यं मेघौघधारितम् ॥ १२ ॥

'सूर्यदेवकी दिव्य किरणें पृथ्वीका जल सोखकर पयस्विनी (गौ अथवा जलवती) हो जाती हैं, तब इन्द्रदेव उनका दोहन करते हैं । उनके दोहन करनेपर वे किरणमयी गौएँ नूतन एवं पवित्र जलरूपी दूध प्रकट करती हैं, जिसे मेघोंकी घटारूप दुग्धपात्रमें संचित किया जाता है ॥ १२ ॥

वाय्वीरितं तु मेघेषु करोति निनदं महत् ।
जवेनावर्तितं चैव गर्जतीति जना विदुः ॥ १३ ॥

'वही वायुसे प्रेरित होकर वेगसे आवर्तित होनेपर मेघोंके भीतर अत्यन्त गम्भीर शब्द उत्पन्न करता है, जिसे लोग समझते हैं कि मेघ गर्जना कर रहा है ॥ १३ ॥

तस्य चैवोह्यमानस्य वायुयुक्तैर्बलाहकैः ।
वज्राशनिसमाः शब्दाः श्रूयन्ते नगभेदिनः ॥ १४ ॥

'वायुयुक्त मेघोंद्वारा ढोयी जाती हुई उस जलराशिका पर्वतभेदी शब्द ही वज्र एवं बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान सुनायी देता है ॥ १४ ॥

तज्जलं वज्रनिष्पेषैर्विमुञ्चति नभोगतैः ।
बहुभिः कामगैर्मेघैः शक्रो भृत्यैरिवेश्वरः ॥ १५ ॥

'जैसे राजा अपने सेवकोंसे काम लेता है, उसी प्रकार देवराज इन्द्र आकाशमें फैले हुए तथा इच्छानुसार सर्वत्र जा सकनेवाले बहुसंख्यक मेघोंद्वारा वज्रकी गड़गड़ाहटकी आवाजके साथ उस जलको इस भूतलपर बरसाते हैं ॥ १५ ॥

क्वचिद् दुर्दिनसंकाशैः क्वचिच्छिन्नाभ्रसंनिभैः ।
क्वचिद् भिन्नाञ्जनाकारैः क्वचिच्छीकरवर्षिभिः ॥ १६ ॥
मण्डयतीव देवेन्द्रो विश्वमेवं नभो घनैः ।
क्वचिच्छीकरमुक्ताभं कुरुते गगनं घनः ॥ १७ ॥

'कहीं वे मेघ दुर्दिन-से होकर सारे आकाशमें छा जाते हैं। कहीं फटे हुए बादलोंके रूपमें दिखायी देते हैं । कहीं खानसे काटकर निकाले गये कोयलेके समान काले होते हैं और कहीं जलकी छोटी-छोटी बूँदें बरसाते रहते हैं । इस तरह विभिन्न प्रकारके बादलोंद्वारा देवराज इन्द्र आकाश एवं विश्वको अलंकृत-सा करते रहते हैं । कहीं-कहीं तो बादल पानी बरसाकर आकाशको जलबिन्दुरूपी मोतियोंसे प्रकाशित कर देता है ॥ १६-१७ ॥

एवमेतत् पयो दुग्धं गोभिः सूर्यस्य वारिदैः ।
पर्जन्यः सर्वभूतानां भवाय भुवि वर्षति ॥ १८ ॥

'इस प्रकार पर्जन्यदेव (इन्द्र) इस पृथ्वीके जलको सूर्यकी किरणोंद्वारा खींचकर सम्पूर्ण प्राणियोंकी वृद्धिके लिये उसे मेघोंद्वारा भूतलपर बरसा देते हैं ॥ १८ ॥

यस्मात् प्रावृडियं कृष्ण शक्रस्य भुवि भाविनी ।
तस्मात् प्रावृषि राजानः सर्वे शक्रं मुदा युताः ।
महैः सुरेशमर्चन्ति वयमन्ये च मानवाः ॥ १९ ॥

'श्रीकृष्ण ! इसीलिये यह वर्षा ऋतु भूतलपर इन्द्रदेवकी पूजाका समय है; अतएव समस्त राजा वर्षा ऋतुमें बड़ी प्रसन्नताके साथ नाना प्रकारके उत्सवोंद्वारा देवराजकी पूजा करते हैं । हम तथा दूसरे मनुष्य भी ऐसा ही करते हैं' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शिशुचर्यायां गोपवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीकृष्णकी बाललीलाके प्रसंगमें गोपका वाक्यविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा गिरियज्ञ एवं गोपूजनका प्रस्ताव करते हुए शरद् ऋतुका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

गोपवृद्धस्य वचनं श्रुत्वा शक्रपरिग्रहे ।
प्रभावज्ञोऽपि शक्रस्य वाक्यं दामोदरोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इन्द्र-महोत्सवको स्वीकार करनेके सम्बन्धमें उस बड़े-बूढ़े गोपका वचन सुनकर इन्द्रके प्रभावको जानते हुए भी श्रीकृष्णने यह बात कही—॥ १ ॥

वयं वनचरा गोपाः सदा गोधनजीविनः ।
गावोऽस्मद्दैवतं विद्धि गिरयश्च वनानि च ॥ २ ॥

'आर्य ! हमलोग वनमें रहनेवाले गोप हैं और सदा

गोधनसे अपनी जीविका चलाते हैं; अतः आपको मालूम होना चाहिये कि गौएँ, पर्वत और वन—ये ही हमारे देवता हैं ॥२॥

कर्षुकाणां कृषिर्वृत्तिः पण्यं विपणिजीविनाम् ।
गावोऽस्माकं परा वृत्तिरेतत् त्रैविद्यमुच्यते ॥ ३ ॥

'किसानोंकी जीविका है खेती, व्यापारसे जीवननिर्वाह करनेवाले वैश्योंकी जीविका-वृत्ति है खरीद-बिक्री और हमलोगोंकी सर्वोत्तम वृत्ति है गौओंका पालन । ये वार्तारूप विद्याके तीन भेद कहलाते हैं ॥ ३ ॥

विद्यया यो यया युक्तस्तस्य सा दैवतं परम् ।
सैव पूज्यार्चनीया च सैव तस्योपकारिणी ॥ ४ ॥

'जो जिस विद्यासे युक्त है, उसके लिये वही सर्वोत्तम देवता है, वही पूजा-अर्चाके योग्य है और वही उसके लिये उपकारिणी है ॥ ४ ॥

योऽन्यस्य फलमश्नानः करोत्यन्यस्य सत्क्रियाम् ।
द्वावनर्थौ स लभते प्रेत्य चेह च मानवः ॥५॥

'जो मनुष्य एक व्यक्तिसे फल पाकर उसे भोगता है और दूसरेकी पूजा (आदर-सत्कार) करता है, वह इस लोक और परलोकमें दो अनर्थोंका भागी होता है ॥ ५ ॥

कृष्यन्ता प्रथिता सीमा सीमान्तं श्रूयते वनम् ।
वनान्ता गिरयः सर्वे ते चास्माकं गतिर्ध्रुवा ॥ ६ ॥

'जहाँतक खेती होती है, वहाँतक व्रजकी सीमा विख्यात है । सीमाके अन्तमें वन सुना जाता है और वनके अन्तमें समस्त पर्वत हैं । वे पर्वत ही हमारे अविचल आश्रय हैं ॥६॥

श्रूयन्ते गिरयश्चापि वनेऽस्मिन् कामरूपिणः ।
प्रविश्य तास्तास्तनवो रमन्ते स्वेषु सानुषु ॥ ७ ॥

'सुना जाता है कि इस वनमें रहनेवाले पर्वत भी इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले हैं । वे भिन्न-भिन्न शरीरोंमें प्रवेश करके अपने शिखरोंपर मौजसे घूमते-फिरते हैं ॥ ७ ॥

भूत्वा केसरिणः सिंहा व्याघ्राश्च नखिनां वराः ।
वनानि स्वानि रक्षन्ति त्रासयन्तो वनच्छिदः ॥ ८ ॥

'वे ही अयालोंसे विभूषित सिंह और नखधारी जन्तुओंमें श्रेष्ठ व्याघ्र बनकर वनको काटने या हानि पहुँचानेवाले लोगोंको त्रास देते हुए अपने-अपने वनोंकी रक्षा करते हैं ॥ ८ ॥

यदा चैषां विकुर्वन्ति ते वनालयजीविनः ।
घ्नन्ति तानेव दुर्वृत्तान् पौरुषादेन कर्मणा ॥ ९ ॥

'जब वनके आश्रयमें रहकर जीवननिर्वाह करनेवाले लोग इन वनों या वनदेवताओंको हानि पहुँचाते हैं, तब वे कामरूपी देवता राक्षसोचित हिंसाकर्मके द्वारा उन दुराचारी मनुष्योंको निश्चय ही मार डालते हैं ॥ ९ ॥

मन्त्रयज्ञपरा विप्राः सीतायज्ञाश्च कर्षुकाः ।
गिरियज्ञास्तथा गोपा इज्योऽस्माभिर्गिरिर्वने ॥ १० ॥

'ब्राह्मणलोग मन्त्रयज्ञमें तत्पर रहते हैं, किसान सीता-यज्ञ करते हैं अर्थात् खेतोंको अच्छी तरह जोतते और हल जोतनेसे जो रेखा बन जाती है, उसकी तथा हलकी पूजा करते हैं तथा गोपगण गिरियज्ञ करते हैं; अतः हमलोगोंको इस वनमें गिरियज्ञ करना चाहिये ॥ १० ॥

तन्मह्यं रोचते गोपा गिरियज्ञः प्रवर्तताम् ।
कर्म कृत्वा सुखस्थाने पादपेष्वथवा गिरौ ॥ ११ ॥
तत्र हत्वा पशून् मेध्यान् वितत्यायतने शुभे ।
सर्वघोषस्य संदोहः क्रियतां किं विचार्यते ॥ १२ ॥

'गोपगण ! मुझे तो यही अच्छा लगता है कि गिरियज्ञका आरम्भ हो । स्वस्तिवाचन आदि कर्म करके वृक्षोंके नीचे अथवा पर्वतके समीप किसी सुखद स्थानपर पवित्र पशुओंको एकत्र करके उनके पास जाकर उनका विस्तारपूर्वक पूजन किया जाय और एक शुभ मन्दिरमें सारे व्रजके दूधका संग्रह कर लिया जाय । इस विषयमें आपलोग क्या विचार कर रहे हैं ॥ ११-१२ ॥

तं शरत्कुसुमापीडाः परिवार्य प्रदक्षिणम् ।
गावो गिरिवरं सर्वास्ततो यान्तु पुनर्व्रजम् ॥ १३ ॥

'फिर शरद् ऋतुके फूलोंसे जिनके मस्तकका शृङ्गार किया गया हो, ऐसी समस्त गौएँ गिरिवर गोवर्धनकी दक्षिणावर्त परिक्रमा करके पुनः व्रजमें जायँ ॥ १३ ॥

प्राप्ता किलेयं हि गवां स्वादुतोयतृणा गुणैः ।
शरत् प्रमुदिता रम्या गतमेघजलाशया ॥ १४ ॥

'इस समय प्रमोदपूर्ण रमणीय शरद्-ऋतु आ गयी है, जब कि जल और घास गौओंके लिये स्वादुताके गुणोंसे सम्पन्न हो जाते हैं । अब जलाशयोंमें पानी बरसानेवाले बादल छँट गये ॥ १४ ॥

प्रियकैः पुष्पितैर्गौरं श्याम बाणासनैः क्वचित् ।
कठोरतृणमाभाति निर्मयूररुतं वनम् ॥ १५ ॥

'खिले हुए कदम्ब-पुष्पोंके कारण वन गौरवर्णका प्रतीत होता है । कहीं कहीं बाणासनों—झाड़-झंखाड़ोंके कारण वह श्याम रंगका दिखायी देता है । अब घासें कोमल नहीं रहीं—कुछ कठोर हो गयी हैं । वनमें मोरोंकी मधुर वाणी नहीं सुनायी देती है ॥ १५ ॥

विजला विमला व्योम्नि विबलाका विविद्युतः ।
विवर्धन्ते जलधरा विदन्ता इव कुञ्जराः ॥ १६ ॥

'आकाशमें जल, मल, बलाका और विद्युत्से रहित बादल दन्तहीन हाथियोंके समान बढ़ रहे हैं ॥ १६ ॥

पद्मिना मेघवातेन नवतोयानुकर्षिणा ।
पर्णोत्करघनाः सर्वे प्रसादं यान्ति पादपाः ॥ १७ ॥

'(वर्षा ऋतुमें) नूतन जलको खींच लानेवाले शक्ति-

शाली मेघयुक्त वायुसे अभिषिक्त होनेके कारण जो पत्तोंके बाहुल्यसे घने दिखायी देते थे, वे सभी वृक्ष अब पत्तोंके विरल हो जानेसे प्रसादको प्राप्त हो रहे हैं (पहले वहाँ अन्धकार छाया रहता था अब प्रकाश हो गया है) ॥ १७ ॥

सितवर्णाम्बुदोष्णीषं हंसचामरवीजितम् ।
पूर्णचन्द्रामलच्छत्रं साभिषेकमिवाम्बरम् ॥ १८ ॥

'इस समय आकाश मूर्धाभिषिक्त राजाके समान जान पड़ता है । सफेद बादल ही उसकी श्वेत पगड़ी या उज्ज्वल मुकुट हैं, हंसरूपी श्वेत चँवरके द्वारा मानो उसके लिये हवा की जाती है तथा पूर्ण चन्द्रमा ही उसका निर्मल छत्र बनकर शोभा पाता है ॥ १८ ॥

हंसैः प्रहसितानीव समुत्क्रुष्टानि सारसैः ।
सर्वाणि तनुतां यान्ति जलानि जलदक्षये ॥ १९ ॥

'वर्षाकाल बीत जानेपर सारे जलाशयोंके जल क्रमशः क्षीण होते जा रहे हैं, मानो हंसोंने उनकी हँसी उड़ायी हो और सारसोंने उनकी निन्दा की हो (इसी खेदसे उनमें कृशता आ गयी है) ॥ १९ ॥

चक्रवाकस्तनतटाः पुलिनश्रोणिमण्डलाः ।
हंसलक्षणहासिन्यः पतिं यान्ति समुद्रगाः ॥ २० ॥

'समुद्रगामिनी नदियाँ हंसरूपी हाससे सुशोभित हो अपने पति (समुद्र) के पास जा रही हैं । चक्रवाकके जोड़े उनके युगल उरोज-से जान पड़ते हैं और दोनों तट नितम्ब-मण्डल-की शोभा धारण करते हैं ॥ २० ॥

कुमुदोत्फुल्लमुदकं ताराभिश्चित्रमम्बरम् ।
सममभ्युत्स्मयन्तीव शर्वरीष्वितरेतरम् ॥ २१ ॥

'रातके समय (जलाशयोंमेंके) जलमें अगणित कुमुद खिल उठते हैं और आकाश असंख्य तारिकाओंसे चित्रित हो जाता है । वे दोनों मानो एक-दूसरेके प्रति गर्व-सा प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'मेरी शोभा तुमसे कम नहीं है' ॥

मत्तक्रौञ्चावघुष्टेषु कलमापक्वपाण्डुषु ।
निर्विष्टरमणीयेषु वनेषु रमते मनः ॥ २२ ॥

'जिनमें मदमत्त पुरुषोंकी भाँति क्रौञ्च पक्षियोंकी मधुर बोली गूँज रही है, जहाँ पके हुए धानकी बालें पीली साड़ीमें सजी हुई सुन्दरी बालाओंकी भाँति अपनी श्वेत-पीत प्रभा बिखेर रही हैं और इस प्रकार जो विवाहित स्त्री-पुरुषोंके कौतुकागारोंके सदृश रमणीयता धारण करते हैं, उन वनोंमें मनको अधिक आनन्दका अनुभव होता है ॥ २२ ॥

पुष्करिण्यस्तडागानि वाप्यश्च विकचोत्पलाः ।
केदाराः सरितश्चैव सरांसि च श्रियाज्वलन् ॥ २३ ॥

'पोखरियाँ, पोखरे, खिले हुए कमलोंसे सुशोभित बावड़ियाँ, खेतोंकी क्यारियाँ, नदियाँ और सरोवर—ये सब-के-सब अनुपम शोभा-सम्पत्तिसे प्रकाशित हो उठे हैं ॥ २३ ॥

पङ्कजानि च ताम्राणि तथान्यानि सितान्यपि ।
उत्पलानि च नीलानि भेजिरे वारिजां श्रियम् ॥ २४ ॥

'लाल कमल, अन्यान्य श्वेत-पीत आदि कमल तथा नील उत्पल भी जलजनित शोभाके भागी हुए हैं ॥ २४ ॥

मदं जहुः सितापाङ्गा मन्दं ववृधिरेऽनिलाः ।
अभवद् व्यभ्रमाकाशमभूच्च निभृतोऽर्णवः ॥ २५ ॥

'मोरोंका मद उतर गया है । वायु मन्दगतिसे आगे बढ़ रही है । आकाश बादलोंसे शून्य हो गया है और समुद्र भरा-पूरा दिखायी देता है ॥ २५ ॥

ऋतुपर्यायशिथिलैर्वृत्तनृत्यसमुज्झितैः ।
मयूराङ्गरुहैर्भूमिर्बहुनेत्रेव लक्ष्यते ॥ २६ ॥

'वर्षा ऋतु बीत जानेसे जो यत्र-तत्र शिथिल होकर बिखरे पड़े हैं, नृत्यका कार्य और उत्साह समाप्त हो जानेके कारण जो त्याग दिये गये हैं, उन मोर-पंखोंके कारण यह भूमि मानो बहुत-से नेत्रोंवाली दिखायी देती है ॥ २६ ॥

स्वपङ्कमलिनैस्तीरैः काशपुष्पलताकुलैः ।
हंससारसविन्यासैर्यमुना भाति शोभना ॥ २७ ॥

'जो अपने ही पङ्कसे मलिन हो रहे हैं, जहाँ काश खिले हुए हैं और लता-बेलें फैली हुई हैं तथा जिनपर यत्र-तत्र हंसों और सारसोंके बैठनेके स्थान हैं, ऐसे तटोंसे यमुनाकी बड़ी शोभा हो रही है ॥ २७ ॥

कलमापाकरम्येषु केदारेषु जलेषु च ।
सस्यादा जलजादाश्च मत्ता विरुरुवुः खगाः ॥ २८ ॥

'धानकी बालोंके पक जानेसे रमणीय दिखायी देनेवाली खेतोंकी क्यारियोंमें अनाजके दाने बीनकर खानेवाले सारस आदि पक्षी तथा जलाशयोंके जलोंमें मत्स्य आदि जलजन्तुओं-का भक्षण करनेवाले बक आदि पक्षी कलरव कर रहे हैं ॥

सिषिचुर्यानि जलदा जलेन जलदागमे ।
तानि सस्यानि बालानि कठिनत्वं गतानि वै ॥ २९ ॥

'वर्षाकालमें बादलोंने अपने जलसे जिन्हें सींचा था, वे अनाजके कोमल पौधे बाल्यावस्थासे प्रौढावस्थामें आकर कठोर हो गये हैं ॥ २९ ॥

त्यक्त्वा मेघमयं वासः शरद्गुणविदीपितः ।
एष वै विमले व्योम्नि हृष्टो वसति चन्द्रमाः ॥ ३० ॥

'ये चन्द्रदेव बादलरूपी वस्त्र उतारकर शरद् ऋतुके गुणोंसे और भी प्रकाशित हो इस निर्मल आकाशमें हर्षोल्लासके साथ निवास करते हैं ॥ ३० ॥

क्षीरिण्यो द्विगुणं गावः प्रमत्ता द्विगुणं वृषाः ।
वनानां द्विगुणा लक्ष्मीः सस्यैर्गुणवती मही ॥ ३१ ॥

'शरद् ऋतुमें गौएँ पहलेसे दूना दूध देने लगी हैं। साँड़ दुगुने मतवाले हो उठे हैं। वनोंकी शोभा-सम्पत्ति दुगुनी बढ़ गयी है और पकी हुई खेतीके कारण यह पृथ्वी अनन्त गुणोंसे सम्पन्न हो गयी है ॥ ३१ ॥

ज्योतींषि घनमुक्तानि पद्मवन्ति जलानि च।
मनांसि च मनुष्याणां प्रसादमुपयान्ति वै ॥ ३२ ॥

'बादलोंके आवरणसे मुक्त हुए ग्रह-नक्षत्र, कमल-मण्डित जल तथा मनुष्योंके मन प्रसाद (स्वच्छता एवं प्रसन्नता) को प्राप्त हो रहे हैं ॥ ३२ ॥

अस्त्रजत् सविता व्योम्नि निर्मुक्तो जलदैर्भृशम्।
शरत्प्रज्वलितं तेजस्तीक्ष्णरश्मिर्विशोषयन् ॥ ३३ ॥

'आकाशमें मेघमुक्त हुआ सूर्य शरद् ऋतुके प्रभावसे अधिक प्रज्वलित तेज (धूप) की सृष्टि करता है तथा अपनी किरणोंको और भी तीखी करके वसुधाके रसका शोषण कर रहा है ॥ ३३ ॥

नीराजयित्वा सैन्यानि प्रयान्ति विजिगीषवः।
अन्योन्यराष्ट्राभिमुखाः पार्थिवाः पृथिवीक्षितः ॥ ३४ ॥

'भूतलके नरेश अपने सैनिकोंसे उनके अस्त्रोंका मार्जन करवाकर (उन्हें साथ ले) विजयकी इच्छासे एक दूसरेके राष्ट्रकी ओर जा रहे हैं ॥ ३४ ॥

बन्धुजीवाभिताम्रासु बद्धपङ्कवतीषु च।
मनस्तिष्ठति कान्तासु चित्रासु वनराजिषु ॥ ३५ ॥

'बन्धुजीव (बन्धूक) के लाल फूलोंसे सुशोभित हो जो सब ओरसे लाल-लाल दिखायी देती हैं तथा जिनकी कीचड़ सूख गयी है, ऐसी विचित्र एवं कमनीय वनश्रेणियोंमें (उनकी शोभा निहारनेके लिये) मन आसक्त हो रहा है ॥ ३५ ॥

वनेषु च विराजन्ते पादपा वनशोभिनः।
असनाः सप्तपर्णाश्च कोविदाराश्च पुष्पिताः ॥ ३६ ॥
इषुसाह्वा निकुम्भाश्च प्रियकाः स्वर्णकास्तथा।
सृमराः पेचकाश्चैव केतक्यश्च समन्ततः ॥ ३७ ॥

'वनकी शोभा बढ़ानेवाले असन, छितवन, कोविदार, बाणासन, निकुम्भ, प्रियक और स्वर्णक नामवाले वृक्ष वनोंमें फूलोंसे लदकर अधिक शोभा पा रहे हैं। केतकी (केवड़े) के वृक्ष भी सब ओर खिले हुए हैं। सृमर (एक प्रकारके मृग) और उल्लू भी सर्वत्र सानन्द विचरते हैं ॥ ३६-३७ ॥

व्रजेषु च विशेषेण गर्गरोद्गारहासिषु।
शरत्प्रकाशयोपेव गोष्ठेष्वटति रूपिणी ॥ ३८ ॥

'दूध-दहीके माटों या घड़ोंसे जो माखन आदि ढाले जाते हैं, वे ही जिनकी हँसी हैं, उन व्रजों एवं गोष्ठोंमें तो यह शरद् ऋतु मूर्तिमती सुन्दरी युवतीकी भाँति घूम रही है ॥ ३८ ॥

नूनं त्रिदशभूयिष्ठं मेघकालसुखोषितम्।
पतत्त्रिकेतनं देवं बोधयन्ति दिवौकसः ॥ ३९ ॥

'निश्चय ही देवतालोग इस समय देवश्रेष्ठ भगवान् गरुडध्वजको, जो वर्षाकालमें सुखपूर्वक शयन कर चुके हैं, जगा रहे हैं ॥ ३९ ॥

शरद्येवं सुसस्यायां प्राप्तायां प्रावृषः क्षये।
नीलचन्द्रार्कवर्णैश्च रचितं बहुभिर्द्विजैः ॥ ४० ॥
फलैः प्रवालैश्च घनमिन्द्रचापघनोपमम्।
भवनाकारविटपं लतापरममण्डितम् ॥ ४१ ॥
विशालमूलावनतं पवनाभोगमण्डितम्।
अर्चयामो गिरिं देवं गाश्चैव च विशेषतः ॥ ४२ ॥

'वर्षा बीत जानेपर ऐसी सुन्दर खेतीसे सुशोभित शरद् ऋतुका शुभागमन हुआ है। इस समय (मेघके समान) नीले, चन्द्रमाके समान श्वेत तथा सूर्यके सदृश सुनहरे रंगवाले बहुत-से पक्षियोंने जिसे बहुरंगा बना दिया है, जो विविध प्रकारके फलों और नूतन पल्लवोंसे घना हो रहा है और इसलिये जो इन्द्रधनुषसे युक्त श्याम मेघकी-सी शोभा धारण करता है, जिसके वृक्षोंकी एक-एक शाखा घरके समान जान पड़ती है, जो लता और वल्लरियोंसे भलीभाँति अलंकृत है, जिसका विशाल मूलभाग बहुत दूरतक फैला हुआ है तथा जो वायुके विस्तारसे सुशोभित होता है, वह गोवर्धन पर्वत ही हमारा देवता है। हम उसकी तथा इन गौओंकी विशेष रूपसे पूजा करें ॥ ४०—४२ ॥

सावतंसैर्विषाणैश्च बर्हापीडैश्च दंशितैः।
घण्टाभिश्च प्रलम्बाभिः पुष्पैः शारदिकैस्तथा ॥ ४३ ॥
शिवाय गावः पूज्यन्तां गिरियज्ञः प्रवर्त्यताम्।
पूज्यतां त्रिदशैः शक्रो गिरिरस्माभिरिज्यताम् ॥ ४४ ॥

'गायोंके सींगोंमें मुकुट और मोरपंखके समान बने हुए आभूषण बाँधे जायँ। उनके गलेमें बड़ी घंटियाँ लटका दी जायँ और व्रजके कल्याणके लिये शरद्में सुलभ होनेवाले पुष्पोंद्वारा गौओंकी पूजा की जाय। साथ ही 'गिरियज्ञ' आरम्भ कर दिया जाय। देवतालोग इन्द्रकी पूजा करें और हमलोग गिरिराज गोवर्धनकी ॥ ४३-४४ ॥

कारयिष्यामि गोयज्ञं बलादपि न संशयः।
यद्यस्ति मयि वः प्रीतिर्यदि वा सुहृदो वयम्।
गावो हि पूज्याः सततं सर्वेषां नात्र संशयः ॥ ४५ ॥

'यदि आपलोगोंका मुझपर प्रेम है और यदि हमलोग एक दूसरेके हितैषी सुहृद् हैं तो मैं आपके द्वारा हठ एवं बलपूर्वक गोयज्ञ कराऊँगा। गौएँ सदा ही सबके लिये पूजनीय हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ ४५ ॥

यदि साम्ना भवेत् प्रीतिर्भवतां वैभवाय च ।
एतन्मम वचस्तथ्यं क्रियतामविचारितम् ॥ ४६ ॥

'यदि मेरे समझानेसे आपको प्रसन्नता होती हो तो आपलोग अपने ही वैभव (अभ्युदय) के लिये मेरी इस सच्ची बातको बिना विचारे मान लें और इसके अनुसार कार्य करें' ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शरद्वर्णने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें शरद्वर्णनविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

गोपोंद्वारा श्रीकृष्णकी बातको स्वीकार करके गिरियज्ञका अनुष्ठान तथा भगवान्‌का दिव्य रूप धारण करके उनकी पूजा ग्रहण करनेके पश्चात् उन्हें वर देना

वैशम्पायन उवाच

दामोदरवचः श्रुत्वा हृष्टास्ते गोषु जीविनः ।
तद्वागमृतमासाद्य प्रत्यूचुरविशङ्कया ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दामोदर (श्रीकृष्ण) की बात सुनकर गौओंपर ही अपनी जीविका निर्भर करनेवाले वे गोपगण प्रसन्नतापूर्वक उनके वचनामृतका आस्वादन करके निःशङ्क होकर बोले—॥ १ ॥

तवैषा बाल महती गोपानां हितवर्द्धिनी ।
प्रीणयत्येव नः सर्वान् बुद्धिर्वृद्धिकरी गवाम् ॥ २ ॥

'हमारे बाल-गोपाल ! तुम्हारी यह बुद्धि—यह विचार-धारा महत्त्वपूर्ण होनेके साथ ही गोपोंके लिये हितकर तथा गौओंकी वृद्धि करनेवाली है । यह हम सब लोगोंको तृप्ति ही प्रदान करती है ॥ २ ॥

त्वं गतिस्त्वं रतिश्चैव त्वं वेत्ता त्वं परायणम् ।
भयेष्वभयदस्त्वं नस्त्वमेव सुहृदां सुहृत् ॥ ३ ॥

'तुम्हीं हमारी गति हो, तुम्हीं रति (आनन्द) हो, तुम्हीं सर्वज्ञ और तुम्हीं हमारे सबसे बड़े आश्रय हो । भयके अवसरोंपर तुम्हीं हमें अभय देनेवाले हो तथा तुम्हीं हमारे लिये सुहृदोंके भी सुहृद् हो ॥ ३ ॥

त्वत्कृते कृष्ण घोषोऽयं क्षेमी मुदितगोकुलः ।
कृत्स्नो वसति शान्तारिर्यथा स्वर्गे गतस्तथा ॥ ४ ॥

'श्रीकृष्ण ! तुम्हारे कारण ही यह गोष्ठ सकुशल है । यहाँकी गौओंका समुदाय प्रसन्न है । सारे शत्रु शान्त हो गये हैं तथा समस्त व्रज, जैसे स्वर्गमें रह रहा हो, इस तरह यहाँ सुखपूर्वक निवास करता है ॥ ४ ॥

जन्मप्रभृति कर्मैतद् देवैरसुकरं भुवि ।
बोद्धव्याच्चाभिमानाच्च विस्मितानि मनांसि नः ॥ ५ ॥

'जन्मकालसे ही तुमने जो यह शकट-भंग और पूतना-वध आदि कार्य किया है, यह इस भूतलपर देवताओंके लिये भी सुकर नहीं है । यह सब देखकर तथा समझमें आने योग्य तुम्हारा जो अभिमानपूर्ण वचन है (कि मैं बलपूर्वक गो-यज्ञ आदि कराऊँगा) उसपर ध्यान देकर हमारे चित्त चकित हो उठे हैं ॥ ५ ॥

बलेन च परार्ध्येन यशसा विक्रमेण च ।
उत्तमस्त्वं मनुष्येषु देवेष्विव पुरंदरः ॥ ६ ॥

'तुम अपने परम उत्कृष्ट बल, सुयश और पराक्रमद्वारा मनुष्योंमें सबसे उत्तम हो । ठीक उसी तरह जैसे देवताओंमें इन्द्र सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ ६ ॥

प्रतापेन च तीक्ष्णेन दीप्त्या पूर्णतयापि च ।
उत्तमस्त्वं च मर्त्येषु देवेष्विव दिवाकरः ॥ ७ ॥

'तुम अपने तीक्ष्ण प्रताप, अनुपम दीप्ति तथा पूर्णता-की दृष्टिसे भी मनुष्योंमें उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ हो, जैसे देवताओं-में दिवाकर (सूर्य) ॥ ७ ॥

कान्त्या लक्ष्म्या प्रसादेन वदनेन स्मितेन च ।
उत्तमस्त्वं च मर्त्येषु देवेष्विव निशाकरः ॥ ८ ॥

'मनोरम कान्ति, शोभा-सम्पत्ति, प्रसाद, सुन्दर मुख और मुसकराहटके कारण भी तुम देवताओंमें चन्द्रमाकी भाँति मनुष्योंमें सबसे उत्तम हो ॥ ८ ॥

बलेन वपुषा चैव बाल्येन चरितेन च ।
स्यात् ते शक्तिधरस्तुल्यो न तु कश्चन मानुषः ॥ ९ ॥
यत् त्वयाभिहितं वाक्यं गिरियज्ञं प्रति प्रभो ।
कस्तल्लङ्घयितुं शक्तो वेलामिव महोदधिः ॥ १० ॥

'बल, शरीर, बचपन और मनोहर चरित्रकी दृष्टिसे भी तुम्हारे समान शक्तिशाली मनुष्य दूसरा कोई नहीं है । प्रभो ! तुमने गिरियज्ञके विषयमें जो बात कही है, उसका उल्लङ्घन कौन कर सकता है ? क्या महासागर कभी तटभूमिको लाँघ सका है ॥ ९-१० ॥

स्थितः शक्रमहस्तात श्रीमान् गिरिमहस्त्वयम् ।
त्वत्प्रणीतोऽद्य गोपानां गवां हेतोः प्रवर्त्यताम् ॥ ११ ॥

'तात ! आजसे इन्द्र-यागका उत्सव स्थगित हो गया ।

अब यह शोभासम्पन्न गिरियज्ञ, जिसे तुमने चालू किया है, गौओं और गोपोंके हितके लिये सम्पादित हो ॥ ११ ॥

भाजनान्युपकल्प्यन्तां पयसः पेशलानि च।
कुम्भाश्च विनिवेश्यन्तामुदपानेषु शोभनाः ॥ १२ ॥
पूर्यन्तां पयसा नद्यो द्रोण्यश्च विपुलायताः।
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च तत् सर्वमुपनीयताम् ॥ १३ ॥
भाजनानि च मांसस्य न्यस्यन्तामोदनस्य च।
त्रिरात्रं चैव संदोहः सर्वघोषस्य गृह्यताम् ॥ १४ ॥
विशस्यन्तां च पशवो भोज्या ये महिषादयः।
प्रवर्त्यतां च यज्ञोऽयं सर्वगोपसुसंकुलः ॥ १५ ॥

'दूधसे भरे हुए सुन्दर-सुन्दर पात्र एकत्र किये जायँ। कुओंपर सुन्दर-सुन्दर घड़े स्थापित किये जायँ। नयी बनायी हुई नहरों तथा बड़े-बड़े कुण्डोंको दूधसे भर दिया जाय। भक्ष्य-भोज्य और पेय सब कुछ तैयार कर लिया जाय। फल-के गूदों तथा भातसे भरे हुए पात्र रखे जायँ। सारे व्रजका तीन दिनोंका सारा दूध संगृहीत कर लिया जाय। भोजन करानेयोग्य जो भैंस-गाय आदि व्रजके पशु हैं, उन्हें बड़े आदरके साथ उत्तमोत्तम पदार्थ खिलाये जायँ और इस प्रकार समस्त गोपोंके सहयोगसे सम्पन्न होनेवाले इस यज्ञका आरम्भ हो' ॥ १२–१५ ॥

आनन्दजननो घोषो महान् मुदितगोकुलः।
तूर्यप्रणादघोषैश्च वृषभाणां च गर्जितैः ॥ १६ ॥
हम्भारवैश्च वत्सानां गोपानां हर्षवर्धनः।

फिर तो व्रजमें आनन्दजनक महान् कोलाहल होने लगा। सारा गोकुल हर्षोल्लासमें मग्न हो गया। वाद्योंके गम्भीर घोष, साँड़ोंकी गर्जना और बछड़ोंके रँभानेसे जो सम्मिलित शब्द प्रकट हुआ, वह गोपोंका हर्ष बढ़ाने लगा ॥

दध्नो ह्रदो घृतावर्तः पयःकुल्यासमाकुलः ॥ १७ ॥
मांसराशिः प्रभूताढ्यः प्रकाशौदनपर्वतः।
सम्प्रावर्तत यज्ञोऽस्य गिरेर्गोभिः समाकुलः।
तुष्टगोपजनाकीर्णो गोपनारीमनोहरः ॥ १८ ॥

दहीके कुण्डमें ऊपर-ऊपर घी छा रहा था। दूधकी अनेकों नहरें बहने लगीं। फलोंके गूदोंकी बड़ी भारी राशि ज़मा हो गयी। बहुत-से संस्कारक द्रव्य संचित हो गये और उज्ज्वल भातोंका पर्वताकार पुञ्ज प्रकाशित होने लगा। इस प्रकार गौओंसे भरा हुआ श्रीकृष्णका गिरियज्ञ चालू हो गया। संतुष्ट हुए समस्त गोपगण उसमें सम्मिलित होकर आवश्यक कार्य करते थे। गोपाङ्गनाओंने अपनी उपस्थितिसे उस महोत्सवको मनोहर बना दिया था ॥ १७-१८ ॥

भक्ष्याणां राशयस्तत्र शतशश्चोपकल्पिताः।
गन्धमाल्यैश्च विविधैर्धूपैरुच्चावचैस्तथा ॥ १९ ॥

वहाँ भक्ष्य पदार्थोंके सैकड़ों ढेर लगाये गये थे। नाना प्रकारके गन्ध, माल्य तथा भाँति भाँतिके धूपोंसे वह यज्ञ सुशोभित होता था ॥ १९ ॥

अथाधिश्रितपर्यन्ते सम्प्राप्ते यज्ञसंविधौ।
यज्ञं गिरेस्तिथौ सौम्ये चक्रुर्गोपा द्विजैः सह ॥ २० ॥

अग्निके समीप जो आज्यस्थाली और चरुस्थाली आदि रखी गयी थीं, वे उस यज्ञका विधान आरम्भ होते ही आग-पर चढ़ा दी गयीं। ब्राह्मणोंसहित गोपोंने किसी शुभ तिथिको उस यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया था ॥ २० ॥

यजनान्ते तदन्नं तु तत् पयो दधि चोत्तमम्।
मांसं च मायया कृष्णो गिरिर्भूत्वा समश्नुते ॥ २१ ॥

यज्ञके अन्तमें श्रीकृष्ण स्वयं ही मायासे पर्वतके अधिष्ठाता देवता बनकर उस अन्न, दूध, दही और फलोंके गूदोंको भोग लगाने लगे ॥ २१ ॥

तर्पिताश्चापि विप्राग्र्यास्तुष्टाः सम्पूर्णमानसाः।
उत्तस्थुः प्रीतमनसः स्वस्ति वाच्यं यथासुखम् ॥ २२ ॥

उस यज्ञमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको अन्न-पानसे तृप्त और दक्षिणा से संतुष्ट किया गया था। उन सबके मनोरथ पूर्ण हो गये थे। वे सुखपूर्वक स्वस्तिवाचन करके प्रसन्नचित्त होकर उठे थे ॥ २२ ॥

भुक्त्वा चावभृथे कृष्णः पयः पीत्वा च कामतः।
संतृप्तोऽस्मीति दिव्येन रूपेण प्रजहास वै ॥ २३ ॥

यज्ञान्तस्नानके समय गिरिदेवके रूपमें प्रकट हुए श्रीकृष्ण अपनेको अर्पित किये गये भोज्य-पदार्थोंको खाकर और इच्छानुसार दूध पीकर बोले—'मैं पूर्णतः तृप्त हो गया।' ऐसा कहकर वे उस दिव्यरूपके द्वारा जोर-जोरसे हँसने लगे ॥

तं गोपाः पर्वताकारं दिव्यस्रगनुलेपनम्।
गिरिमूर्ध्नि स्थितं दृष्ट्वा कृष्णं जग्मुः प्रधानतः ॥ २४ ॥

दिव्य माला और अनुलेप धारण किये उन पर्वताकार देवताको पर्वतके शिखरपर खड़ा देख सब लोगोंने उन्हें प्रधानतः श्रीकृष्ण ही समझकर उनकी शरण ली ॥ २४ ॥

भगवानपि तेनैव रूपेणाच्छादितः प्रभुः।
सहितैः प्रणतो गोपैर्ववन्दात्मानमात्मना ॥ २५ ॥

प्रभावशाली भगवान् श्रीकृष्णने भी उसी रूपसे अपनेको छिपाये रखकर वहाँ एकत्र हुए गोपोंके साथ नतमस्तक हो स्वयं ही अपने-आपको प्रणाम किया ॥ २५ ॥

तमूचुर्विस्मिता गोपा देवं गिरिवरे स्थितम्।
भगवंस्त्वद्वशे युक्ता दासाः किं कुर्म किङ्कराः ॥ २६ ॥

गिरिराजके शिखरपर खड़े हुए उन पर्वत देवतासे समस्त गोपोंने विस्मित होकर कहा—'भगवन्! हम आपके वशमें हैं; आपके दास एवं सेवक हैं, बताइये! हम आपकी क्या सेवा करें' ॥ २६ ॥

स उवाच ततो गोपान् गिरिप्रभवया गिरा ।
अद्यप्रभृति चेज्योऽहं गोषु यद्यस्तु वो दया ॥ २७ ॥

तब उन्होंने पर्वतसे प्रकट हुई वाणीद्वारा उन गोपोंसे कहा—'यदि तुमलोगोंमें दयाभाव विद्यमान हो, तो आजसे तुम्हें गौओंके भीतर मेरी पूजा करनी चाहिये ॥ २७ ॥

अहं वः प्रथमो देवः सर्वकामकरः शुभः ।
मम प्रभावाच्च गवामयुतान्येव भोक्ष्यथ ॥ २८ ॥

'मैं तुमलोगोंका प्रथम देवता हूँ, तुम्हारी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाला और शुभचिन्तक हूँ। तुम मेरे प्रभावसे दस हजार गौओंके स्वामी एवं (उनके दूध-दही आदिके) उपभोक्ता बने रहोगे ॥ २८ ॥

शिवश्च वो भविष्यामि मद्भक्तानां वने वने ।
रंस्ये च सह युष्माभिर्यथा दिविगतस्तथा ॥ २९ ॥

'मुझमें भक्ति रखनेवाले तुम गोपोंके लिये मैं प्रत्येक वनमें कल्याणकारी होऊँगा और तुमलोगोंके साथ मैं उसी प्रकार आनन्दपूर्वक रहूँगा, जैसे दिव्य धाममें रहा करता हूँ॥

ये चेमे प्रथिता गोपा नन्दगोपपुरोगमाः ।
एषां प्रीतः प्रयच्छामि गोपानां विपुलं धनम् ॥ ३० ॥

'ये जो नन्द आदि विख्यात गोप हैं, मैं प्रसन्न होकर इन सबको प्रचुर धन-सम्पत्ति प्रदान करूँगा ॥ ३० ॥

पर्याप्नुवन्तु क्षिप्रं मां गावो वत्ससमाकुलाः ।
एवं मम परा प्रीतिर्भविष्यति न संशयः ॥ ३१ ॥

'अब बछड़ोंसहित गौएँ शीघ्र मेरी परिक्रमा करें । इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ ३१ ॥

ततो नीराजनार्थं हि वृन्दशो गोकुलानि तम् ।
परिवव्रुर्गिरिवरं सवृषाणि समन्ततः ॥ ३२ ॥

फिर तो झुंड-की-झुंड गौएँ साँड़ोंके साथ आकर परिक्रमाके लिये गिरिराजको सब ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं ॥

ता गावः प्रद्रुता हृष्टाः सापीडस्तबकाङ्गदाः ।
सस्रजापीडश‍ृङ्गाग्राः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३३ ॥

उनके मस्तकपर फूलोंके आभूषण बँधे हुए थे, चारों पैरोंमें पुष्पगुच्छोंके ही बने हुए बाजूबंद पहनाये गये थे, सींगोंके अग्रभागमें फूलोंके गजरे और शिरोभूषण शोभा पा रहे थे, ऐसी सैकड़ों और हजारों गौएँ हर्षमें भरकर एक साथ परिक्रमाके पथपर दौड़ीं ॥ ३३ ॥

अनुजग्मुश्च गोपालाः कालयन्तो धनानि च ।
भक्तिच्छेदानुलिप्ताङ्गा रक्तपीतसिताम्बराः ॥ ३४ ॥

गोपगण अपने उन गोधनोंको हाँकते हुए उनके पीछे-पीछे चले । उन गोपोंके विभिन्न अङ्गोंमें विभागपूर्वक नाना रंगोंके अनुलेप लगे थे । वे लाल, पीले और सफेद कपड़ोंसे सुशोभित थे ॥ ३४ ॥

मयूरचित्राङ्गदिनो भुजैः प्रहरणावृतैः ।
मयूरपत्रवृन्तानां केशबन्धैः सुयोजितैः ॥ ३५ ॥
बभ्राजुरधिकं गोपाः समवाये तदाद्भुते ।

उनकी भुजाओंमें मोरपत्रके विचित्र बाजूबंद बँधे हुए थे और उन्हीं हाथोंमें डंडे भी शोभा पा रहे थे । उनके सुन्दर ढंगसे बँधे हुए केशोंमें मोरपंखके वृन्त खोंसे गये थे । इन सबके कारण उस अद्भुत समुदाय या मेलेमें उन गोपोंकी अधिक शोभा हो रही थी ॥ ३५½ ॥

अन्ये वृषानारुरुहुर्नृत्यन्ति स्म परे मुदा ॥ ३६ ॥
गोपालास्त्वपरे गाश्च जगृहुर्वेगगामिनः ।

कुछ अन्य गोप बैलोंपर चढ़े थे। दूसरे ग्वाले हर्षमें भरकर नाच रहे थे तथा अन्य बहुत-से गोपाल वेगपूर्वक भागी जाती हुई गौओंको पकड़ते थे ॥ ३६½ ॥

तस्मिन् पर्यायनिर्वृत्ते गवां नीराजनोत्सवे ॥ ३७ ॥
अन्तर्धानं जगामाशु तेन देहेन सोऽचलः ।

गौओंद्वारा नीराजना (परिक्रमा) का वह उत्सव बारी-बारीसे सम्पन्न हो जानेपर वे पर्वतदेवता अपने उस दिव्य शरीरसे शीघ्र ही अन्तर्धान हो गये ॥ ३७½ ॥

कृष्णोऽपि गोपसहितो विवेश व्रजमेव ह ॥ ३८ ॥
गिरियज्ञप्रवृत्तेन तेनाश्चर्येण विस्मिताः ।
गोपाः सबालवृद्धा वै तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ॥ ३९ ॥

इधर श्रीकृष्ण भी गोपोंके साथ व्रजमें ही चले गये । गिरियज्ञके अनुष्ठानसे प्राप्त हुए उस महान् आश्चर्यसे चकित हो बालकों और वृद्धोंसहित सम्पूर्ण गोप मधुसूदन श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे ॥ ३८-३९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि गिरियज्ञप्रवर्तने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें गिरियज्ञका अनुष्ठानविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

इन्द्रका संवर्तक मेघोंद्वारा वर्षा कराकर गौओं और गोपोंको कष्टमें डालना; श्रीकृष्णद्वारा गोवर्धनधारण तथा उसके नीचे गौओं और गोपोंसहित व्रजवासियोंका जाना

वैशम्पायन उवाच

महे प्रतिहते शक्रः सक्रोधस्त्रिदशेश्वरः ।
संवर्तकं नाम गणं तोयदानामथाब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपना उत्सव रोक दिये जानेके कारण देवराज इन्द्रको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने मेघोंके संवर्तक नामक गणको बुलाकर इस प्रकार कहा—॥१॥

भो बलाहकमातङ्गाः श्रूयतां मम भाषितम् ।
यदि वो मत्प्रियं कार्यं राजभक्तिपुरस्कृतम् ॥ २ ॥

'मतवाले हाथियोंके समान श्रेष्ठ मेघगण ! यदि तुम्हें राजभक्तिको सामने रखते हुए मेरा प्रिय कार्य करना उचित जान पड़े, तो मेरी यह बात सुनो ॥ २ ॥

एते वृन्दावनगता दामोदरपरायणाः ।
नन्दगोपादयो गोपा विद्विषन्ति ममोत्सवम् ॥ ३ ॥

'ये वृन्दावनमें गये हुए जो नन्द आदि गोप हैं, वे दामोदर श्रीकृष्णको ही सबसे बड़ा सहारा मानकर मेरे उत्सव-से द्वेष रखने लगे हैं ॥ ३ ॥

आजीवो यः परस्तेषां गोपत्वं च यतः स्मृतम् ।
ता गावः सप्तरात्रेण पीड्यन्तां वर्षमारुतैः ॥ ४ ॥

'अतः मेरी आज्ञा है कि उन गोपोंकी जो सबसे बड़ी आजीविका है तथा जिनका पालन करनेके कारण उनका गोपत्व सार्थक माना गया है, नन्द आदिकी उन गौओंको तुम लगातार सात रातोंतक भारी वर्षा और वायुके द्वारा पीड़ित करो ॥ ४ ॥

ऐरावतगतश्चाहं स्वयमेवाम्बु दारुणम् ।
स्रक्ष्यामि वृष्टिं वातं च वज्राशनिसमप्रभम् ॥ ५ ॥

'मैं भी ऐरावतपर आरूढ़ हो चलता हूँ और स्वयं ही वज्र एवं बिजलीके साथ-साथ प्रकाशित होनेवाले भयानक जल-की वर्षा एवं वायुकी सृष्टि करूँगा ॥ ५ ॥

भवद्भिश्चण्डवर्षेण चरता मारुतेन च ।
हतास्ताः सव्रजा गावस्त्यक्ष्यन्ति भुवि जीवितम् ॥ ६ ॥

'तुमलोग प्रचण्ड वायुके साथ विचरते हुए जब घोर वर्षा करोगे, तब उससे आहत एवं पीड़ित हुई गौएँ भूतलपर व्रजवासियोंसहित अपने प्राण त्याग देंगी' ॥ ६ ॥

एवमाज्ञापयामास सर्वाञ्जलधरान् प्रभुः ।
प्रत्याहते वै कृष्णेन शासने पाकशासनः ॥ ७ ॥

श्रीकृष्णद्वारा अपने उत्सव एवं शासनका विघात हो जानेपर प्रभावशाली पाकशासन इन्द्रने समस्त जलधरोंको इस प्रकार अपनी आज्ञा सुना दी ॥ ७ ॥

ततस्ते जलदाः कृष्णा घोरनादा भयावहाः ।
आकाशं छादयामासुः सर्वतः पर्वतोपमाः ॥ ८ ॥

तब वे घोर गर्जना करनेवाले पर्वताकार भयंकर काले मेघ आकाशमें सब ओर छा गये ॥ ८ ॥

विद्युत्सम्पातजननाः शक्रचापविभूषिताः ।
तिमिरावृतमाकाशं चक्रुस्ते जलदास्तदा ॥ ९ ॥

उस समय इन्द्रधनुषसे विभूषित हो बिजली गिराते हुए उन मेघोंने आकाशको अन्धकारपूर्ण कर दिया ॥ ९ ॥

गजा इवान्यसंयुक्ताः केचिन्मकरवर्चसः ।
नागा इवान्ये गगने चेरुर्जलदपुङ्गवाः ॥ १० ॥

कुछ मेघ दूसरे हाथियोंसे सटकर चलते हुए हाथियों-के समान प्रतीत होते थे । दूसरे मगरोंके समान प्रकाशित होते थे तथा अन्य बड़े-बड़े बादल आकाशमें नागोंके समान विचरने लगे ॥ १० ॥

तेऽन्योन्यं वपुषा बद्धा नागयूथायुतोपमाः ।
दुर्दिनं विपुलं चक्रुश्छादयन्तो नभस्तलम् ॥ ११ ॥

जैसे हजारों हाथियोंके झुंड एक दूसरेसे अपने शरीरको आबद्ध करके चल रहे हों, वैसे ही प्रतीत होनेवाले उन जलधरोंने आकाशको आच्छादित करके वहाँ बड़ा भारी दुर्दिन उपस्थित कर दिया ॥ ११ ॥

नृहस्तनागहस्ताभ्यां वेणूनां चैव सर्वतः ।
धाराभिस्तुल्यरूपाभिर्ववृषुस्ते बलाहकाः ॥ १२ ॥

मनुष्योंके हाथ, हाथियोंके शुण्डदण्ड तथा बाँसके तुल्य मोटी धाराएँ प्रकट करके वे मेघ वहाँ सब ओर वर्षा करने लगे ॥ १२ ॥

समुद्रं मेनिरे तं हि खमारूढं नृचक्षुषः ।
दुर्विगाह्यमपर्यन्तमगाधं दुर्दिनं महत् ॥ १३ ॥

मनुष्योंकी आँखोंने आकाशमें छाये हुए उस दुरवगाह अनन्त अगाध एवं महान् दुर्दिनको समुद्रके समान ही माना ॥ १३ ॥

नैवापतन् वै खगमा दुद्रुवुर्मृगजातयः ।
पर्वताभेषु मेघेषु खे नदत्सु समन्ततः ॥ १४ ॥

आकाशमें चारों ओर पर्वताकार मेघ गर्जना कर रहे थे। उस समय पक्षियोंने उड़ना बंद कर दिया तथा विभिन्न जाति-के पशु इधर-उधर भागने लगे ॥ १४ ॥

नष्टसूर्येन्दुसदृशैर्मेघैर्नभसि दारुणैः ।
अतिवृष्टेन लोकस्य विरूपमभवद् वपुः ॥ १५ ॥

चन्द्रमा और सूर्यको भी नष्ट कर देनेवाले प्रलयकालके समान आकाशमें छाये हुए उन भयंकर मेघोंने अपनी अति-वृष्टिके कारण समस्त पार्थिव जगत्के रूपको विकृत कर दिया ॥ १५ ॥

मेघौघैर्निष्प्रभाकारमदृश्यग्रहतारकम् ।
चन्द्रसूर्यांशुरहितं खं बभूवातिनिष्प्रभम् ॥ १६ ॥

मेघोंकी घटाएँ घिर आनेसे व्योम-मण्डल प्रभाशून्य हो गया। ग्रह और तारे दृष्टिपथसे ओझल हो गये। चन्द्रमा और सूर्यकी किरणोंका पता नहीं चलता था । अतः सारा आकाश अन्धकारसे आच्छन्न हो गया ॥ १६ ॥

वारिणा मेघमुक्तेन मुच्यमानेन चासकृत् ।
आबभौ सर्वतस्तत्र भूमिस्तोयमयी यथा ॥ १७ ॥

मेघोंके बरसाये हुए तथा बारंबार बरसाये जाते हुए जलसे आवृत हो वहाँ सब ओरकी भूमि जलमयी-सी प्रतीत होने लगी ॥ १७ ॥

विनेदुर्बर्हिणस्तत्र तोककल्परुताः खगाः ।
विवृद्धिं निम्नगा याताः प्लवगाः सम्प्लवं गताः ॥ १८ ॥

उस समय वहाँ मोर जोर-जोरसे बोलने लगे । पक्षियोंकी आवाज बहुत कम हो गयी । नदियोंमें बाढ़ आ गयी और किनारेके वृक्ष प्रवाहमें बह गये ॥ १८ ॥

गर्जितेन च मेघानां पर्जन्यनिनदेन च ।
तर्जितानीव कम्पन्ते तृणानि तरुभिः सह ॥ १९ ॥

मेघोंकी गर्जना तथा पर्जन्यदेवके गम्भीर नादसे डाँटे गयेकी भाँति वृक्षोंसहित तृण काँपने लगे ॥ १९ ॥

प्राप्तोऽन्तकालो लोकानां व्यक्तमेकार्णवा मही ।
इति गोपगणा वाक्यं व्याहरन्ति भयार्दिताः ॥ २० ॥

उस समय भयसे पीड़ित हुए गोप आपसमें कहने लगे कि 'निश्चय ही समस्त लोकोंका अन्तकाल आ पहुँचा है और पृथ्वी एकार्णवमें मग्न हो रही है' ॥ २० ॥

तेनोत्पाताम्बुवर्षेण गावो विप्रहता भृशम् ।
हम्भारवैः क्रन्दमाना न चेलुः स्तम्भितोपमाः ॥ २१ ॥

उस उत्पातस्वरूप जलकी भारी वर्षासे अत्यन्त ताड़ित एवं पीड़ित हुई गौएँ रँभानेकी ध्वनिमें करुणक्रन्दन करती हुई हिल-डुल भी न सकीं । ऐसा जान पड़ता था, उनके सारे अङ्ग अकड़ गये हैं ॥ २१ ॥

निष्कम्पसक्थिचरणा निष्प्रयत्नखुराननाः ।
हृष्टरोमार्द्रतनवः क्षामकुक्षिपयोधराः ॥ २२ ॥

उनकी जाँघें और पैर हिल नहीं पाते थे, खुर और मुख निश्चेष्ट थे, भीगे हुए शरीरमें रोंगटे खड़े हो गये थे और पेट तथा थन अत्यन्त दुबले होकर सिकुड़ गये थे ॥२२॥

काश्चित् प्राणाञ्जहुः श्रान्ता निपेतुः काश्चिदातुराः ।
काश्चित्सवत्साः पतिता गावः शीकरवेजिताः ॥ २३ ॥

कुछ गौओंने पीड़ासे श्रान्त होकर अपने प्राण त्याग दिये । कुछ आतुर होकर गिर पड़ीं और कितनी ही गौएँ जलके छींटोंसे उद्विग्न होकर बछड़ोंसहित धराशायिनी हो गयीं ॥ २३ ॥

काश्चिदाक्रम्य क्रोडेन वत्सांस्तिष्ठन्ति मातरः ।
विमुखाः श्रान्तसक्थ्यश्च निराहाराः कृशोदराः ।
पेतुरार्ता वेपमाना गावो वर्षपराजिताः ॥ २४ ॥

कुछ गौमाताएँ बछड़ोंको अपने अङ्कमें छिपाकर खड़ी थीं, कितनी ही बछड़ोंकी ओरसे विमुख हो गयी थीं, उनकी जाँघें शिथिल हो रही थीं, कुछ दाना-घास न मिलनेके कारण उनके पेट भीतरको धँस गये थे । वर्षासे परास्त होकर पीड़ित हुई गौएँ थर-थर काँपती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ती थीं ॥२४॥

वत्साश्चोन्मुखका बाला दामोदरमुखाः स्थिताः ।
त्राहीति वदनैर्दीनैः कृष्णमूचुरिवार्दिताः ॥ २५ ॥

छोटे-छोटे बछड़े मुँह ऊपर उठाकर दामोदरकी ओर देखते हुए खड़े थे, मानो वे पीड़ित बछड़े अपने दीन मुखोंसे श्रीकृष्णको सम्बोधित करके कह रहे थे कि 'प्रभो ! हमारी रक्षा कीजिये' ॥ २५ ॥

गवां तत् कदनं दृष्ट्वा दुर्दिनागमजं महत् ।
गोपांश्चासन्ननिधनान् कृष्णः कोपं समादधे ॥ २६ ॥

इस दुर्दिनके आनेसे गौओंका वह महासंहार होता देख और गोपोंको भी मौतके निकट पहुँचा हुआ जान श्रीकृष्णने इन्द्रके प्रति महान् कोप धारण किया ॥ २६ ॥

स चिन्तयित्वा संरब्धो दृष्टो योगो मयेति च ।
आत्मानमात्मना वाक्यमिदमूचे प्रियंवदः ॥ २७ ॥

प्रिय वचन बोलनेवाले श्रीकृष्णने कुछ देर सोच-विचारकर रोषावेशसे युक्त हो स्वयं ही अपने-आपसे इस प्रकार कहा—'इस वर्षासे बचनेका उपाय मैंने देख लिया ॥ २७ ॥

अद्याहमिममुत्पाट्य सकाननवनं गिरिम् ।
कल्पयेयं गवां स्थानं वर्षत्राणाय दुर्धरम् ॥ २८ ॥

'आज मैं वन और काननोंसहित इस दुर्धर गोवर्धन पर्वतको उखाड़कर गौओंको वर्षासे बचानेके लिये सुरक्षित स्थानका निर्माण करूँगा ॥ २८ ॥

अयं धृतो मया शैलः पृथ्वीगृहनिभोपमः ।
त्रास्यते सव्रजा गा वै मद्वश्यश्च भविष्यति ॥ २९ ॥

'मेरे द्वारा धारण किया हुआ यह पर्वत पृथ्वीपर बने हुए घरके समान होकर व्रजसहित समूची गौओंका परित्राण करेगा और मेरे अधीन हो जायगा' ॥ २९ ॥

एवं स चिन्तयित्वा तु कृष्णः सत्यपराक्रमः ।
बाह्वोर्बलं दर्शयिष्यन् समीपं तं महीधरम् ।
दोर्भ्यामुत्पाटयामास कृष्णो गिरिरिवापरः ॥ ३० ॥

इस प्रकार सोच-विचारकर सत्यपराक्रमी श्रीकृष्णने अपनी दोनों भुजाओंका बल दिखाते हुए उस निकटवर्ती पर्वतको दोनों हाथोंसे पकड़कर उखाड़ लिया । उस समय श्रीकृष्ण दूसरे पर्वतके समान ही जान पड़ते थे ॥ ३० ॥

स धृतः संगतो मेघैर्गिरिः सव्येन पाणिना ।
गृहभावं गतस्तत्र गृहाकारेण वर्चसा ॥ ३१ ॥

भगवान‌के बायें हाथसे धारण किया गया और मेघोंसे सटा हुआ वह पर्वत उनके गृहाकारक तेज या संकल्पसे वहाँ गृहभावको प्राप्त हो गया ॥ ३१ ॥

भूमेरुत्पाट्यमानस्य तस्य शैलस्य सानुषु।
शिलाः प्रशिथिलाश्चेलुर्विनिष्पेतुश्च पादपाः ॥ ३२ ॥

जिस समय वह पर्वत पृथ्वीसे उखाड़ा जाने लगा, उस समय उसके शिखरोंपर जो टूटी-फूटी शिलाएँ थीं, वे खिसककर गिरने लगीं और बहुत-से वृक्ष भी धराशायी हो गये ॥ ३२ ॥

शिखरैर्घूर्णमानैश्च सीदमानैश्च पादपैः।
विधूतैश्चोच्छ्रितैः शृङ्गैरगमः खगमोऽभवत् ॥ ३३ ॥

उस समय चक्कर काटते हुए शिखरों, खण्डित होते हुए वृक्षों तथा काँपती हुई ऊँची चोटियोंके कारण वह अविचल पर्वत आकाशचारी पक्षीके समान प्रतीत होने लगा ॥ ३३ ॥

चलत्प्रस्रवणैः पार्श्वैर्मेघौघैरेकतां गतैः।
भिद्यमानाश्मनिचयश्चचाल धरणीधरः ॥ ३४ ॥

पार्श्ववर्ती चञ्चल झरने मेघोंके समूहोंसे मिलकर एकताको प्राप्त हो गये। वह पर्वत हिलने लगा और उसकी प्रस्तरराशि विदीर्ण होकर बिखरने लगी ॥ ३४ ॥

न मेघानां प्रवृष्टानां न शैलस्याश्मवर्षिणः।
विविदुस्ते जना रूपं वायोस्तस्य च गर्जतः ॥ ३५ ॥

उस पर्वतके नीचे गर्भगृहमें बैठे हुए वे सब लोग न तो बरसते हुए मेघोंका, न पत्थर बरसानेवाले पर्वतका और न गरजती हुई वायुका ही स्वरूप जान सके ॥ ३५ ॥

मेघैः सशैलसंस्थानैर्नीलैः प्रस्रवणार्पितैः।
मिश्रीकृत इवाभाति गिरिरुद्दामबर्हवान् ॥३६ ॥

झरनोंसे मिले हुए पर्वताकार नील मेघोंसे मिश्रित हुआ वह पर्वत पंख उठाये हुए मोरके समान प्रतीत होता था ॥ ३६ ॥

आप्लुतोऽयं गिरिः पक्षैरिति विद्याधरोरगाः।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव वाचो मुञ्चन्ति सर्वशः ॥ ३७॥

विद्याधर, नाग गन्धर्व और अप्सराएँ सब ओर ऐसी चर्चा करते थे कि यह पर्वत अपने मेघरूपी पंखोंसे ऊपरको उड़नेके लिये उद्यत-सा प्रतीत होता है ॥ ३७ ॥

सहस्ततलविन्यस्तो मुक्तमूलः क्षितेस्तलात्।
रीतीर्निर्वर्तयामास काञ्चनाञ्जनराजतीः ॥३८ ॥

वह पर्वत श्रीकृष्णकी हथेलीपर टिका हुआ था। भूतलसे उसके मूल-भागका सम्बन्ध टूट चुका था। उस दशामे वह सोने, कोयले, चाँदी तथा गेरू आदि धातुओंको प्रकट करने लगा ॥ ३८ ॥

कानिचिच्छिथिलानीव संछिन्नार्धानि कानिचित्।
गिरेर्मेघप्रविष्टानि तस्य शृङ्गाणि चाभवन् ॥ ३९ ॥

उस पर्वतके कुछ शिखर शिथिल-से हो गये थे, कुछ आधे भागसे टूट गये थे और कितने ही शिखर बादलोंके भीतर घुस गये थे ॥ ३९ ॥

गिरिणा कम्पमानेन कम्पितानां तु शाखिनाम्।
पुष्पमुच्चावचं भूमौ व्यशीर्यत समन्ततः ॥ ४०॥

पर्वतके हिलनेके साथ ही उसके ऊपरके वृक्ष कम्पित हो उठे और उनके नाना प्रकारके फूल पृथ्वीपर सब ओर बिखर गये ॥ ४० ॥

निःसृताः पृथुमूर्धानः स्वस्तिकार्धविभूषिताः।
द्विजिह्वपततः क्रुद्धाः खेचराः खे समन्ततः ॥ ४१ ॥

उस समय मोटे-मोटे मस्तकवाले सर्पराज, जो आकाशमें उड़नेकी शक्ति रखते थे, कुपित होकर आकाशमें सब ओर निकल पड़े। उनके शरीर आधे स्वस्तिकसे विभूषित थे ॥ ४१ ॥

आर्तिं जग्मुः खगगणा वर्षेण च भयेन च।
उत्पत्योत्पत्य गगनात् पुनः पेतुरवाङ्मुखाः ॥४२ ॥

पक्षियोंके समुदाय वर्षा और भयसे बड़े कष्टमें पड़ गये। वे उड़-उड़कर आकाशमें जाते और वहाँसे पुनः नीचे मुख किये गिर पड़ते थे ॥ ४२ ॥

रोषारोपिताः सिंहाः सजला इव तोयदाः।
गर्गरा इव मथ्यन्तो नेदुः शार्दूलपुङ्गवाः ॥ ४३ ॥

बहुत-से सिंह रोषमें भरकर सजल जलधरोंके समान दहाड़ रहे थे। बड़े-बड़े बाघ मथे जानेवाले माटोंके समान गम्भीर घोष करते थे ॥ ४३ ॥

विषमैश्च समीभूतैः समैश्चात्यन्तदुर्गमैः।
व्यावृत्तदेहः स गिरिरन्य एवोपलक्ष्यते ॥ ४४ ॥

उस पर्वतकी विषम भूमि सम हो गयी और समभूमि विषम होकर अत्यन्त दुर्गम हो गयी, इससे उसके स्वरूपमें इतना उलट-फेर हो गया कि वह किसी और ही पर्वत-सा दिखायी देता था ॥ ४४ ॥

अतिवृष्टस्य तैर्मेघैस्तस्य रूपं बभूव ह।
स्तम्भितस्येव रुद्रेण त्रिपुरस्य विहायसि ॥ ४५ ॥

उन मेघोंके द्वारा अतिवृष्टि होनेसे उस पर्वतका रूप वैसा ही हो गया, जैसा कि आकाशमें भगवान् रुद्रके द्वारा स्तम्भित किये गये त्रिपुरका रूप दिखायी देता था ॥४५॥

बाहुदण्डेन कृष्णस्य विधृतं सुमहत् तदा।
नीलाभ्रपटलच्छन्नं तद्गिरिच्छत्रमाबभौ ॥ ४६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके बाहुदण्डसे धारण किया गया तथा काले मेघ-समूहोंसे आच्छादित हुआ वह पर्वतरूपी छत्र बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ४६ ॥

स्वप्नायमानो जलदैर्निमीलितगुहामुखः ।
बाहूपधाने कृष्णस्य प्रसुप्त इव खे गिरिः ॥ ४७ ॥

सोनेकी इच्छा-सी रखनेवाला वह पर्वत आकाशमें श्रीकृष्णकी बाँहका तकिया लगाकर सोया हुआ-सा जान पड़ता था। उस समय उसका गुफारूपी मुख बादलोंकी चादरसे ढका हुआ था ॥ ४७ ॥

निर्विहङ्गरुतैर्वृक्षैर्निर्मयूररुतैर्वनैः ।
निरालम्ब इवाभाति गिरिः स्वशिखरैर्वृतः ॥ ४८ ॥

उस पर्वतपर जो वृक्ष थे, उनपर पक्षियोंकी बोली नहीं सुनायी देती थी। वहाँके वन मयूरोंकी केका-ध्वनिसे शून्य हो गये थे। ऐसे वृक्षों और वनोंसे घिरा हुआ वह पर्वत अपने शिखरोंके साथ निरालम्ब-सा प्रतीत होता था ॥ ४८ ॥

पर्यस्तैर्घूर्णमानैश्च प्रचलद्भिश्च सानुभिः ।
सज्वराणीव शैलस्य वनानि शिखराणि च ॥ ४९ ॥

उसके शृंग अस्त-व्यस्त होकर चक्कर काटते और जोर-जोरसे हिलते थे। उनके कारण उस पर्वतके वन और शिखर ज्वरसे पीड़ित हुए-से प्रतीत होते थे ॥ ४९ ॥

उत्तमाङ्गगतास्तस्य मेघाः पवनवाहनाः ।
त्वर्यमाणा महेन्द्रेण तोयं मुमुचुरक्षयम् ॥ ५० ॥

उस पर्वतके मस्तक (शिखर) पर पहुँचे हुए वायुरूपी वाहनवाले मेघ देवराज इन्द्रके द्वारा शीघ्रता करनेके लिये प्रेरित होनेपर अक्षय जलकी वर्षा करने लगे ॥ ५० ॥

स लम्बमानः कृष्णस्य भुजाग्रे सघनो गिरिः ।
चक्रारूढ इवाभाति देशो नृपतिपीडितः ॥ ५१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णकी भुजाके अग्रभागमें लटकता हुआ मेघोंसहित वह पर्वत किसी शत्रु राजाके द्वारा पीड़ित हुए देशकी भाँति चक्रपर चढ़ा हुआ-सा प्रतीत होता था* ॥५१॥

स मेघनिचयस्तस्थौ गिरिं तं परिवार्य ह ।
पुरं पुरस्कृत्य यथा स्फीतो जनपदो महान् ॥ ५२ ॥

वह मेघोंका समुदाय उस पर्वतको चारों ओरसे घेरकर उसी तरह खड़ा था, जैसे समृद्धिशाली महान् जनपद नगर या राजधानीको अपने सामने रखकर चारों ओर निवास करता है ॥ ५२ ॥

निवेश्य तं करे शैलं तोलयित्वा च सस्मितम् ।
प्रोवाच गोप्ता गोपानां प्रजापतिरिव स्थितः ॥ ५३ ॥

उस पर्वतको अपने हाथपर रखकर उसे संतुलित रखते हुए प्रजापतिके समान खड़े हुए गोपरक्षक भगवान् श्रीकृष्णने मुसकराते हुए कहा—॥ ५३ ॥

एतद् देवैरसम्भाव्यं दिव्येन विधिना मया ।
कृतं गिरिगृहं गोपा निर्वातं शरणं गवाम् ॥ ५४ ॥

'गोपगण ! मैंने दिव्य विधिसे यह पर्वतका घर बना दिया है, जिसे बनाना देवताओंके लिये भी असम्भव था। इसमें वर्षा और वायुका प्रवेश नहीं है। यह गौओंके लिये उत्तम आश्रय है ॥ ५४ ॥

क्षिप्रं विशन्तु यूथानि गवामिह हि शान्तये ।
निर्वातेषु च देशेषु निवसन्तु यथासुखम् ॥ ५५ ॥

'यहाँ शान्ति पानेके लिये गौओंके यूथ शीघ्र प्रवेश करें और इन वायुरहित स्थानोंमें सुखपूर्वक निवास करें ॥ ५५॥

यथाश्रेष्ठं यथायूथं यथासारं यथासुखम् ।
विभज्यतामयं देशः कृतं वर्षनिवारणम् ॥ ५६ ॥

'जो जैसे बड़े-छोटे हों, जिनके जैसे यूथ हों, जिनके पास जैसी साधन-सामग्री हो, उसके अनुसार तुम सब लोग सुखपूर्वक इस स्थानका बटवारा कर लो। मैंने वर्षाका भली-भाँति निवारण कर दिया है ॥ ५६ ॥

शैलोत्पाटनभूरेषा महती निर्मिता मया ।
पञ्चक्रोशप्रमाणेन क्रोशैकविस्तरो महान् ।
त्रैलोक्यमप्युत्सहते रक्षितुं किं पुनर्व्रजम् ॥ ५७ ॥

'मैंने पर्वतको उखाड़कर यहाँ रहने योग्य विशाल भूमिका निर्माण कर दिया है। इसकी लंबाई पाँच कोस और चौड़ाई एक कोसकी है। यह महान् भूभाग तीनों लोकोंकी आँधी-पानीसे रक्षा कर सकता है, फिर व्रजकी तो बात ही क्या है ?' ॥ ५७ ॥

ततः किलकिलाशब्दो गवां हम्भारवैः सह ।
गोपानां तुमुलो जज्ञे मेघनादश्च बाह्यतः ॥ ५८ ॥

यह सुनकर भीतरकी ओर गौओंके रँभानेके साथ ही गोपोंकी किलकारियोंका तुमुल नाद गूँज उठा और बाहरकी ओर मेघोंकी गम्भीर गर्जना होने लगी ॥ ५८ ॥

प्राविशन्त ततो गावो गोपैर्यूथप्रकल्पिताः ।
तस्य शैलस्य विपुलं प्रदरं गह्वरोदरम् ॥ ५९ ॥

तदनन्तर गोपोंद्वारा एक-एक यूथके रूपमें विभक्त की हुई गौएँ उस पर्वतकी विशाल गुफामें, जिसका भीतरी भाग बहुत बड़ा था, प्रवेश करने लगीं ॥ ५९ ॥

कृष्णोऽपि मूले शैलस्य शैलस्तम्भ इवोच्छ्रितः।
दधारैकेन हस्तेन शैलं प्रियमिवातिथिम् ॥ ६० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण भी उस पर्वतके मूलभागमे प्रस्तरनिर्मित ऊँचे खम्भके समान खड़े हो गये। उन्होने उस पहाड़को

---

* शत्रु राजाद्वारा आक्रान्त देशके लोग रथ, शकट आदि वाहनोंपर आरूढ होकर जब पलायन करने लगते हैं, उस समय उन्हें चक्रारूढ कहा जाता है; उसी प्रकार इन्द्रसे पीडित पर्वत भगवान् श्रीकृष्णके हाथरूपी चक्रपर आरूढ हुआ दिखायी देता था।

अपने प्रिय अतिथिकी भाँति एक हाथमें पकड रखा था ॥ ६० ॥

ततो व्रजस्य भाण्डानि युक्तानि शकटानि च ।
विविशुर्वर्षभीतास्ते तद् गृहं गिरिनिर्मितम् ॥ ६१ ॥

तत्पश्चात् वर्षासे डरे हुए व्रजके गोप अपने वर्तन-भाँड़े और जुते हुए छकड़े लेकर उस पर्वतनिर्मित गृहमें प्रविष्ट हो गये ॥ ६१ ॥

अतिदैवं तु कृष्णस्य दृष्ट्वा तत् कर्म वज्रभृत् ।
मिथ्याप्रतिज्ञो जलदान् वारयामास वै विभुः ॥ ६२॥

श्रीकृष्णके उस कर्मको, जो देवताओंके लिये भी असम्भव है, देखकर वज्रधारी भगवान् इन्द्रने उन मेघोंको रोक दिया। व्रजको नष्ट कर देनेकी उनकी प्रतिज्ञा झूठी हो गयी ॥६२ ॥

सप्तरात्रे तु निर्वृत्ते धरण्यां विगतोत्सवः ।
जगाम संवृतो मेघैर्वृत्रहा स्वर्गमुत्तमम् ॥ ६३ ॥

सात राततक पृथ्वीपर वर्षा करनेके पश्चात् मेघोंसे घिरे हुए वृत्रनाशक इन्द्र उत्सवहीन (आनन्दशून्य)हो (अथवा व्रजमें मनाये जानेवाले अपने उत्सवसे वञ्चित हो) उत्तम स्वर्गलोकको लौट गये ॥ ६३ ॥

निवृत्ते सप्तरात्रे तु निष्प्रयत्ने शतक्रतौ ।
गताभ्रे विमले व्योम्नि दिवसे दीप्तभास्करे ॥ ६४ ॥
गावस्तेनैव मार्गेण परिजग्मुर्यथागतम् ।
स्वं च स्थानं ततो घोषः प्रत्ययात् पुनरेव सः ॥ ६५ ॥

सात रात बीत जानेपर जब इन्द्रका सारा प्रयत्न निष्फल हो गया, बादल नष्ट हो गये, आकाश निर्मल हो गया और दिनमें सूर्यदेव देदीप्यमान हो उठे, उस समय सारी गौएँ फिर उसी मार्गसे जैसे आयी थीं, उसी तरह लौट गयीं। सारा व्रज पुनः अपने निवासस्थानको चला गया ॥ ६४-६५ ॥

कृष्णोऽपि तं गिरिश्रेष्ठं स्वस्थाने स्थावरात्मवान् ।
प्रीतो निवेशयामास शिवाय वरदो विभुः ॥ ६६ ॥

स्थिर भावसे खड़े हुए वरदायक भगवान् श्रीकृष्णने भी प्रसन्न होकर फिर जगत्के कल्याणके लिये उस श्रेष्ठ पर्वतको अपने स्थानपर स्थापित कर दिया ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि गोवर्धनधारणेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीकृष्णका गोवर्धनधारणविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

देवराज इन्द्रका आगमन, श्रीकृष्णका गोविन्द-पदपर अभिषेक तथा इन्द्रका श्रीकृष्णको भावी कार्य बताकर अर्जुनकी देख-भालके लिये कहना और श्रीकृष्णका उसे स्वीकार करना

वैशम्पायन उवाच

धृतं गोवर्द्धनं दृष्ट्वा परित्रातं च गोकुलम् ।
कृष्णस्य दर्शनं शक्रो रोचयामास विस्मितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब इन्द्रने देखा कि श्रीकृष्णने गोवर्धन धारण करके गोकुलकी रक्षा कर ली, तब वे बड़े विस्मयमें पड़े । अब उन्हें श्रीकृष्णका दर्शन करनेकी इच्छा हुई ॥ १ ॥

स निर्जलाम्बुदाकारं मत्तं मदजलोक्षितम् ।
आरुह्यैरावतं नागमाजगाम महीतलम् ॥ २ ॥

वे जलहीन बादलके समान श्वेत वर्णवाले और मदके जलसे भीगे हुए ऐरावत नामक मदमत्त हाथीपर चढ़कर भूतलपर आये ॥ २ ॥

स ददर्शोपविष्टं वै गोवर्द्धनशिलातले ।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणं पुरुहूतः पुरंदरः ॥ ३ ॥

अनेक नामोंसे पुकारे जानेवाले पुरंदर इन्द्रने वहाँ आकर देखा, अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्ण गोवर्धन पर्वतकी एक शिलापर बैठे हुए हैं ॥ ३ ॥

तं वीक्ष्य बालं महता तेजसा दीप्तमव्ययम् ।
गोपवेषधरं विष्णुं प्रीतिं लेभे पुरंदरः ॥ ४ ॥

महान् तेजसे उद्भासित होनेवाले गोपवेषधारी विष्णु-स्वरूप उन अविनाशी बालकृष्णको देखकर देवराज इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ४ ॥

तं सोऽम्बुजदलश्यामं कृष्णं श्रीवत्सलक्षणम् ।
पर्याप्तनयनः शक्रः सर्वैर्नेत्रैरुदैक्षत ॥ ५ ॥

नीलकमलदलके समान श्यामसुन्दर एवं श्रीवत्स-चिह्न-विभूषित उन श्रीकृष्णको देखकर इन्द्रको अपने नेत्रोंका फल प्राप्त हो गया । उन्होंने अपने सम्पूर्ण नेत्रोंसे जी भरकर उन्हें देखा ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा चैनं श्रिया जुष्टं मर्त्यलोकेऽमरोपमम् ।
सूपविष्टं शिलापृष्ठे शक्रः स व्रीडितोऽभवत्॥ ६ ॥

मर्त्यलोकमें रहकर भी देवोपम शोभासे सम्पन्न श्रीकृष्णको शिलापृष्ठपर सुखपूर्वक बैठा देख इन्द्रको बड़ी लज्जा हुई ॥ ६ ॥

तस्योपविष्टस्य मुखं पक्षाभ्यां पक्षिपुङ्गवः ।
अन्तर्द्धानं गतश्छायां चकारोरगभोजनः ॥ ७ ॥

वहाँ बैठे हुए श्रीहरिके मुखपर सर्पभोजी पक्षिराज गरुड़ अदृश्य रहकर अपने दोनो पंखोसे छाया किये हुए थे ॥ ७ ॥

तं विविक्ते वनगतं लोकवृत्तान्ततत्परम्।
उपतस्थे गजं हित्वा कृष्णं बलनिषूदनः ॥ ८ ॥

बलसूदन इन्द्र हाथी छोड़कर उतर पड़े और एकान्तमे वनके भीतर रहकर लोक-व्यवहारमें तत्पर हुए श्रीकृष्णकी सेवामे उपस्थित हुए ॥ ८ ॥

स समीपगतस्तस्य दिव्यस्रगनुलेपनः।
रराज देवराजो वै वज्रपूर्णकरः प्रभुः ॥ ९ ॥

श्रीकृष्णके समीप जाकर दिव्य पुष्पोंके हार और अनुलेपन धारण करनेवाले प्रभावशाली देवराज इन्द्र बड़ी शोभा पा रहे थे। उनका हाथ वज्रसे परिपूर्ण था ॥ ९ ॥

किरीटेनार्कतुल्येन विद्युदुद्द्योतकारिणा।
कुण्डलाभ्यां स दिव्याभ्यां सततं शोभिताननः ॥ १० ॥

विद्युत्के समान प्रकाश फैलानेवाले सूर्यतुल्य तेजस्वी किरीट तथा दो दिव्य कुण्डलोसे उनके श्रीमुखकी सदा ही बड़ी शोभा होती थी ॥ १० ॥

पञ्चस्तबकलम्बेन हारेणोरसि भूषितः।
सहस्रपत्रकान्तेन देहभूषणकारिणा।
ईक्षमाणः सहस्रेण नेत्राणां कामरूपिणाम् ॥ ११ ॥

वे अपने वक्षःस्थलपर एक ऐसे हारसे विभूषित थे, जिसमें फूलोंके पॉच गुच्छे लटक रहे थे। खिले हुए कमल-दलके समान कान्तिमान्, सम्पूर्ण शरीरको विभूषित करनेवाले तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले एक सहस्र नेत्रोसे वे भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देख रहे थे ॥ ११ ॥

त्रिदशाज्ञापनार्थेन मेघनिर्घोषकारिणा।
अथ दिव्येन मधुरं व्याजहार स्वरेण तम् ॥ १२ ॥

उन्होंने देवताओंको आज्ञा देनेके लिये अभ्यस्त और मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर घोष करनेवाले दिव्य स्वरसे मधुर वाणीमे भगवान्से इस प्रकार कहा ॥ १२ ॥

इन्द्र उवाच

कृष्ण कृष्ण महाबाहो ज्ञातीनां नन्दिवर्द्धन।
अतिदिव्यं कृतं कर्म त्वया प्रीतिमता गवाम् ॥ १३ ॥

इन्द्र बोले—कृष्ण! कृष्ण!! महाबाहो!!! आप सजातीय बन्धुओंके आनन्दकी वृद्धि करनेवाले हैं। गौओके प्रति प्रीति रखकर आपने जो कर्म किया है, वह अति दिव्य है ॥ १३ ॥

मयोत्सृष्टेषु मेघेषु युगान्तावर्तकारिषु।
यत्त्वया रक्षिता गावस्तेनास्मि परितोषितः ॥ १४ ॥

मेरेद्वारा छोड़े गये प्रलयकी पुनरावृत्ति करनेवाले मेघोंके वर्षा करनेपर भी आपने जो गौओकी रक्षा की है, उससे मैं बहुत संतुष्ट हूँ ॥ १४ ॥

स्वायम्भुवेन योगेन यश्चायं पर्वतोत्तमः।
धृतो वेश्मवदाकाशे को ह्येतेन न विस्मयेत् ॥ १५ ॥

यह जो उत्तम पर्वत है, इसे आपने स्वायम्भुव[1] योगसे आकाशमे घरकी भॉति धारण कर लिया था। आपके इस अलौकिक कर्मसे किसको आश्चर्य नहीं होगा ॥ १५ ॥

प्रतिषिद्धे मम महे मयेयं रुषितेन वै।
अतिवृष्टिः कृता कृष्ण गवां वै सासरात्रिकी ॥ १६ ॥

श्रीकृष्ण! जब मेरा प्रचलित उत्सव रोक दिया गया, तब मैने रोषमे भरकर गौओंपर अपना क्रोध उतारनेके लिये सात राततक अतिवृष्टि की ॥ १६ ॥

सा त्वया प्रतिषिद्धेयं मेघवृष्टिर्दुरासदा।
देवैः सदानवगणैर्दुर्निवार्या मयि स्थिते ॥ १७ ॥

उस दुर्जय मेघवृष्टिका आपने निवारण कर दिया। मेरे रहते दानवोसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी उस वर्षाको रोकना बहुत ही कठिन था ॥ १७ ॥

अहो मे सुप्रियं कृष्ण यत् त्वं मानुषदेहवान्।
समग्रं वैष्णवं तेजो विनिगूहसि रोषितः ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण! यह एक आश्चर्यमयी घटना हुई है। मेरे लिये यह बहुत ही प्रिय है कि आप मनुष्यशरीर धारण करके भी अपने भीतर सम्पूर्ण वैष्णव तेजको छिपाये रखते हैं और रोष दिलाये जानेपर उसे प्रकट कर सकते हैं ॥ १८ ॥

साधितं देवतानां हि मन्येऽहं कार्यमव्ययम्।
त्वयि मानुष्यमापन्ने युक्ते चैव स्वतेजसा ॥ १९ ॥

आप मानव-शरीरको प्राप्त होकर भी अपने वैष्णव तेजसे सम्पन्न हैं, इसलिये मैं देवताओंके कार्यको सिद्ध हुआ ही मानता हूँ। अब हमारा कोई कार्य बिगड़ नहीं सकता ॥ १९ ॥

सेत्स्यते सर्वकार्यार्थो न किंचित् परिहास्यते।
देवानां यद् भवान् नेता सर्वकार्यपुरोगमः ॥ २० ॥

जब आप देवताओंके नेता हैं और सभी कार्योंमे अग्र-

---

[1] स्वयम्भुव योग कहते हैं हैरण्यगर्भी (ब्रह्म-सम्बन्धिनी) धारणाको, उसके करनेसे भारी-से-भारी वस्तु भी हलकी हो जाती है। जैसे श्रीकृष्णके उठाते समय गोवर्धन पर्वत हलका हो गया था, इसी तरह उस योग या धारणाका आश्रय लेनेमे बड़ी-से-बड़ी वस्तु भी बहुत छोटी या अल्प हो जाती है। जैसे अगस्त्यके समुद्रपान करते समय उनके लिये सारा समुद्र तीन ही आचमनमें सीमित होकर आ गया था।

गामी रहते हैं, तब हमारा सब कार्य, समस्त प्रयोजन सिद्ध हो जायगा, कुछ भी बिगड़ने नहीं पायेगा ॥ २० ॥

एकस्त्वमसि देवानां लोकानां च सनातनः।
द्वितीयं नात्र पश्यामि यस्तेषां च धुरं वहेत् ॥ २१ ॥

प्रभो ! एकमात्र आप ही सम्पूर्ण देवता तथा लोकोंके सनातन रक्षक हैं। मैं आपके सिवा दूसरे किसीको यहाँ ऐसा नहीं देखता, जो उन लोकों और देवताओंकी रक्षाका भार वहन कर सके ॥ २१ ॥

यथा हि पुङ्गवः श्रेष्ठो ह्यग्रे धुरि नियोज्यते।
एवं त्वमसि देवानां मग्नानां द्विजवाहनः ॥ २२ ॥

जैसे श्रेष्ठ बैल भार ढोनेके लिये सबसे आगे जोता जाता है, उसी प्रकार आप संकटमें डूबे हुए देवताओंका उद्धार करनेके लिये सबसे आगे रहते हैं। पक्षिराज गरुड आपके वाहन हैं ॥ २२ ॥

त्वच्छरीरगतं कृष्ण जगत्प्रकरणं त्विदम्।
ब्रह्मणा साधु निर्दिष्टं धातुभ्य इव काञ्चनम् ॥ २३ ॥

श्रीकृष्ण ! यह जो संसारकी सृष्टि है, वह सब आपके शरीरके भीतर ही है। ब्रह्माजीने तो उसका भलीभाँति निर्देश-मात्र किया है। जैसे सब धातुओंमें सुवर्ण श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त देवताओंमें आप हैं ॥ २३ ॥

स्वयं स्वयम्भूर्भगवान् बुद्ध्याथ वयसापि वा।
न त्वानुगन्तुं शक्नोति पङ्गुर्द्रुतगतिं यथा ॥ २४ ॥

साक्षात् स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा भी अपनी बुद्धि अथवा अवस्थाके द्वारा आपका अनुसरण नहीं कर सकते—आपके साथ-साथ नहीं चल सकते। ठीक उसी तरह, जैसे पङ्गु मनुष्य शीघ्रगामी पुरुषका पीछा नहीं कर सकता—उसके साथ नहीं जा सकता ॥ २४ ॥

स्थाणुभ्यो हिमवाञ्छ्रेष्ठो ह्रदानां वरुणालयः।
गरुत्मान् पक्षिणां श्रेष्ठो देवानां च भवान् वरः ॥ २५ ॥

समस्त पर्वतोंमें हिमवान् श्रेष्ठ है। सरोवरोंमें समुद्र उत्तम है। पक्षियोंमें गरुड तथा देवताओंमें आप श्रेष्ठ हैं ॥ २५ ॥

अपामधस्ताल्लोको वै तस्योपरि महीधराः।
नागानामुपरिष्टाद् भूः पृथिव्युपरि मानुषाः ॥ २६ ॥

सबसे नीचे जललोक है, उसके ऊपर पर्वत हैं। यह पृथ्वी नागोंके ऊपर स्थित है और पृथ्वीपर मनुष्य निवास करते हैं ॥ २६ ॥

मनुष्यलोकादूर्ध्वं तु खगानां गतिरुच्यते।
आकाशस्योपरि रविर्द्वारं स्वर्गस्य भानुमान् ॥ २७ ॥

मनुष्यलोकसे ऊपर आकाशमें पक्षियोंकी गति बतायी जाती है। आकाशसे ऊपर अंशुमाली सूर्य हैं, जो स्वर्गलोकके द्वार कहे गये हैं ॥ २७ ॥

देवलोकः परस्तस्माद् विमानगमनो महान्।
यत्राहं कृष्ण देवानामैन्द्रे विनिहितः पदे ॥ २८ ॥

सूर्यलोकसे ऊपर देवताओंका महान् लोक है, जहाँ विमानसे यात्रा की जाती है। श्रीकृष्ण ! वहीं मुझे देवेन्द्र-पदपर स्थापित किया गया है ॥ २८ ॥

स्वर्गादूर्ध्वं ब्रह्मलोको ब्रह्मर्षिगणसेवितः।
तत्र सोमगतिश्चैव ज्योतिषां च महात्मनाम् ॥ २९ ॥

स्वर्गसे ऊपर ब्रह्मलोक है, जो ब्रह्मर्षिगणोंसे सेवित है। वहाँतक चन्द्रमाकी तथा महात्मा ग्रह-नक्षत्रोंकी गति है ॥ २९ ॥

तस्योपरि गवां लोकः साध्यास्तं पालयन्ति हि।
स हि सर्वगतः कृष्ण महाकाशगतो महान् ॥ ३० ॥

ब्रह्मलोकसे ऊपर गोलोक है, जिसका साध्यगण पालन करते हैं। श्रीकृष्ण ! यह महान् लोक सर्वव्यापी है। महाकाश-में व्यापकरूपसे स्थित है ॥ ३० ॥

उपर्युपरि तत्रापि गतिस्तव तपोमयी।
यां न विद्मो वयं सर्वे पृच्छन्तोऽपि पितामहम् ॥ ३१ ॥

उसमें भी आपकी तपोमयी गति सर्वोपरि है। हम पितामहसे पूछते रहनेपर भी अबतक आपकी उस गतिको नहीं जान सके हैं ॥ ३१ ॥

लोकस्त्वधो दुष्कृतिनां नागलोकस्तु दारुणः।
पृथिवी कर्मशीलानां क्षेत्रं सर्वस्य कर्मणः ॥ ३२ ॥

भयंकर नागलोक सबसे नीचे है। वह पापाचारियोंको प्राप्त होनेवाला लोक या स्थान है। जो स्वभावसे ही कर्मठ हैं, उनके लिये यह भूलोक है। यह समस्त कर्मका क्षेत्र है ॥

खमस्थिराणां विषयो वायुना तुल्यवृत्तिनाम्।
गतिः शमदमाढ्यानां स्वर्गः सुकृतकर्मणाम् ॥ ३३ ॥

जो अस्थिर हैं, जिनकी वृत्ति वायुके समान है, उनका आश्रय आकाश या अन्तरिक्षलोक है। जो शम-दमसे सम्पन्न हो पुण्य-कर्ममें लगे रहते हैं, उन मनुष्योंकी गति स्वर्गलोक है॥

ब्राह्मे तपसि युक्तानां ब्रह्मलोकः परा गतिः।
गवामेव तु गोलोको दुरारोहा हि सा गतिः ॥ ३४ ॥

जो ब्राह्म-तपमें संलग्न रहनेवाले लोग हैं, उनकी परम गति ब्रह्मलोक है। गोलोक तो गौओंको ही सुलभ होनेवाला लोक है। वह गति दूसरोंके लिये दुरारोह (दुर्लभ) है ॥

स तु लोकस्त्वया कृष्ण सीदमानः कृतात्मना।
धृतो धृतिमता वीर निघ्नतोपद्रवान् गवाम् ॥ ३५ ॥

वीर श्रीकृष्ण ! इस समय (मेरे द्वारा वर्षाके कारण) वही गौओंका लोक संकटमें पड़ गया था, जिसे आप-जैसे धैर्यशाली पुण्यात्मा पुरुषने उन गौओंपर आये हुए उपद्रवों-का नाश करके बचाया है ॥ ३५ ॥

तदहं समनुप्राप्तो गवां वाक्येन चोदितः।
ब्रह्मणश्च महाभाग गौरवात् तव चागतः॥ ३६॥

अतः महाभाग! मैं (दिव्य कामधेनु आदि) गौओंके तथा ब्रह्माजीके वचनोंसे प्रेरित होकर यहाँ आया हूँ। आपके प्रति मेरे मनमें जो गौरव है, उससे भी मुझे यहाँ आनेमें प्रेरणा मिली है॥ ३६॥

अहं भूतपतिः कृष्ण देवराजः पुरंदरः।
अदितेर्गर्भपर्याये पूर्वजस्ते पुराकृतः॥ ३७॥

श्रीकृष्ण! मैं वही समस्त भूतोंका अधिपति देवराज इन्द्र हूँ, जिसे आपने पूर्वकालमें माता अदितिके गर्भमें आकर अपना बड़ा भाई बनाया था॥ ३७॥

स्वतेजस्तेजसा चैव यत् ते दर्शितवानहम्।
देवरूपेण तत् सर्वं क्षन्तुमर्हसि मे विभो॥ ३८॥

प्रभो! मैंने जो देवरूपसे उपस्थित होकर तेजसे अपना तेज प्रकट करके आपको दिखाया है, मेरे उस सारे अपराधको आप क्षमा कर दें॥ ३८॥

एवं क्षान्तमनाः कृष्ण स्वेन सौम्येन तेजसा।
ब्रह्मणः शृणु मे वाक्यं गवां च गजविक्रम॥ ३९॥

हाथीके समान पराक्रमी श्रीकृष्ण! इस प्रकार आप अपने सौम्य तेजसे मनमें क्षमाभाव लाकर ब्रह्माजी तथा गौओंके कहे हुए इस वचनको मेरे मुखसे सुनिये—॥ ३९॥

आह त्वां भगवान् ब्रह्मा गावश्चाकाशगा दिवि।
कर्मभिस्तोषिता दिव्यैस्तव संरक्षणादिभिः॥ ४०॥

भगवान् ब्रह्मा तथा द्युलोकमें स्थित हुई आकाशगामिनी गौओंने आपको यह संदेश दिया है कि 'हम आपके 'गोसंरक्षण' आदि दिव्य कर्मोंसे बहुत संतुष्ट हैं॥ ४०॥

भवता रक्षिता गावो गोलोकश्च महानयम्।
यद् वयं पुङ्गवैः सार्द्धं वर्द्धामः प्रसवैस्तथा॥ ४१॥

'आपने जो गौओंकी रक्षा की है, उससे इस महान् गोलोकका संरक्षण हुआ है; क्योंकि अब हम अपने साँड़ों और संतानोंके साथ दिनोंदिन बढ़ रही हैं॥ ४१॥

कर्षकान् पुङ्गवैर्वाह्यैर्मेध्येन हविषा सुरान्।
श्रियं शकृत्प्रवृत्तेन तर्पयिष्याम कामदाः॥ ४२॥

'हम गौएँ सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली हैं। अब हल या गाड़ीमें जोतने योग्य बलिष्ठ बैल देकर हम किसानोंको संतुष्ट करेंगी। दूध-घीके द्वारा पवित्र हविष्य प्रस्तुत करके देवताओंकी तृप्ति करेंगी और गोबर देकर साक्षात् श्रीदेवीको संतुष्ट करती रहेंगी॥ ४२॥

तदस्माकं गुरुस्त्वं हि प्राणदश्च महाबलः।
अद्यप्रभृति नो राजा त्वमिन्द्रो वै भव प्रभो॥ ४३॥

'प्रभो! आप महान् बलशाली प्रभु हमारा परित्राण करनेके कारण हमारे गुरुरूप हैं; अतः आजसे आप हम गौओंके राजा इन्द्र हो जायँ'॥ ४३॥

तस्मात् त्वं काञ्चनैः पूर्णैर्दिव्यस्य पयसो घटैः।
एभिरद्याभिषिञ्चस्व मया हस्तावनामितैः॥ ४४॥

अतः (गौओंके इस अनुरोधके अनुसार) मेरे द्वारा हाथपर रखकर प्रस्तुत किये गये इन दिव्य जलसे भरे हुए सोनेके कलशोंद्वारा आप अपना अभिषेक करें॥ ४४॥

अहं किलेन्द्रो देवानां त्वं गवामिन्द्रतां गतः।
गोविन्द इति लोकास्त्वां स्तोष्यन्ति भुवि शाश्वतम्॥ ४५॥

मैं देवताओंका इन्द्र हूँ और आप गौओंके इन्द्र हो गये! आजसे इस भूतलपर सब लोग आप सनातन प्रभुको 'गोविन्द' कहकर आपका स्तवन करेंगे॥ ४५॥

ममोपरि यथेन्द्रस्त्वं स्थापितो गोभिरीश्वरः।
उपेन्द्र इति कृष्ण त्वां गास्यन्ति दिवि देवताः॥ ४६॥

श्रीकृष्ण! गौओंने आप परमेश्वरको जो मेरे ऊपर इन्द्र बनाकर प्रतिष्ठित किया है, उसके अनुसार देवतालोग आपको 'उपेन्द्र' नाम देकर द्युलोकमें आपकी कीर्तिका गान करेंगे॥ ४६॥

ये चेमे वार्षिका मासाश्चत्वारो विहिता मम।
एषामर्द्धं प्रयच्छामि शरत्कालं तु पश्चिमम्॥ ४७॥

मेरी आराधनाके लिये जो ये वर्षाके चार महीने विहित हुए हैं, इनका पिछला आधा भाग, जिसे शरत्काल कहते हैं, मैं आपको दे रहा हूँ॥ ४७॥

अद्यप्रभृति मासौ द्वौ ज्ञास्यन्ति मम मानवाः।
वर्षार्द्धे च ध्वजो मह्यं ततः पूजामवाप्स्यसि।
ममाम्बुप्रभवं दर्पं तदा त्यक्ष्यन्ति बर्हिणः॥ ४८॥

सब मनुष्य आजसे 'श्रावण और भाद्रपद' इन दो ही महीनोंको मेरे लिये नियत मानेंगे। इनके साथ वर्षाका आधा भाग व्यतीत हो जानेपर इन्द्रव्रतकी समाप्तिके चिह्नभूत मेरे ध्वजकी स्थापना होगी। उसके बाद आपकी पूजा होने लगेगी। उस समय मोर मेरे द्वारा बरसाये गये जलसे उत्पन्न हुए मदको त्याग देंगे॥ ४८॥

अल्पवाचो गतमदा ये चान्ये मेघनादिनः।
शान्तिं सर्वे गमिष्यन्ति मम कालविचारिणः॥ ४९॥

उनकी बोली कम हो जायगी और उनका सारा मद उतर जायगा। मेघोंको देखकर गर्जना करनेवाले जो दूसरे प्राणी हैं, वे सब भी मेरे समयका विचार करके शान्ति (मौन) धारण कर लेंगे॥ ४९॥

त्रिशङ्कुमगस्त्यचरितामाशां च प्रचरिष्यति।
सहस्ररश्मिरादित्यस्तापयन् स्वेन तेजसा॥ ५०॥

वर्षामें ही सहस्र किरणोंवाले सूर्यदेव अपने तेजसे जगत्‌को ताप देते हुए 'त्रिशङ्कु' और 'अगस्त्य मुनि' के द्वारा उपभोगमें लायी हुई दक्षिण दिशामें संचार करेंगे ॥ ५० ॥

ततः शरदि युक्तायां मौनकामेषु बर्हिषु।
याचमाने खगे तोयं विप्लुतेषु प्लवेषु च ॥ ५१ ॥
हंससारसपूर्णेषु नदीनां पुलिनेषु च।
मत्तक्रौञ्चप्रणादेषु प्रमत्तवृषभेषु च ॥ ५२ ॥
गोषु चैव प्रहृष्टासु क्षरन्तीषु पयो बहु।
निवृत्तेषु च मेघेषु निर्यात्य जगतो जलम् ॥ ५३ ॥
आकाशे शस्त्रसंकाशे हंसेषु च चरत्सु च।
जातपद्मेषु तोयेषु वापीषु च सरस्सु च ॥ ५४ ॥
तडागेषु च कान्तेषु तोयेषु विमलेषु च।
कलमावनताग्रासु कृष्णकेदारपङ्क्तिषु ॥ ५५ ॥
मध्यस्थं सलिलारम्भं कुर्वन्तीषु नदीषु च।
सुसस्यायां च सीमायां मनोहर्यां मुनेरपि ॥ ५६ ॥
पृथिव्यां पृथुराष्ट्रायां रम्यायां वर्षसंक्षये।
श्रीमत्सु पंक्तिमार्गेषु फलवत्सु तृणेषु च।
इक्षुमत्सु च देशेषु प्रवृत्तेषु मखेषु च ॥ ५७ ॥
ततः प्रवर्त्स्यते पुण्या शरत् सुप्तोत्थिते त्वयि।

तदनन्तर जब शरद्‌ऋतुका योग प्राप्त होगा, मोर मौन रहनेकी इच्छा करेंगे, पपीहे जलकी याचना करने लगेंगे, नदियोंमें नाव चलना बंद हो जायगा (अर्थात् नदियोंमें जलकी बाढ़ नहीं रह जायगी); सरिताओंके तट हंसों और सारसोंसे भरे रहेंगे, मदमत्त क्रौञ्च पक्षी वहाँ कलरव करते होंगे, साँड़ मतवाले होकर घूमेंगे, गौएँ हर्षमें भरकर बहुत दूध देंगी, संसारके लिये जलकी वर्षा करके बादल विलीन हो जायँगे, आकाश शस्त्रोंकी भाँति चमक उठेगा—निर्मल हो जायगा, हंस सब ओर विचरने लगेंगे, बावड़ी और सरोवरोंके जलोंमें कमल उत्पन्न हो जायँगे, (उनके खिलनेसे) तड़ागोंकी शोभा बढ़ जायगी—वे कमनीय हो उठेंगे, सभी जलाशयोंके जल निर्मल हो जायँगे, खेतोंकी श्रेणीबद्ध काली-काली क्यारियोंमें धानोंकी पकी बालें अग्रभागकी ओरसे लटकती होंगी, नदियाँ अपने जलका बहाव बीचमें कर लेंगी, व्रजों अथवा गाँवोंकी सीमाएँ (खेतोंकी भूमि) सुन्दर सस्यों (अनाजों) से सम्पन्न हो मुनिवरोंके भी मनको मोह लेनेवाली हो जायँगी, वर्षा बीत जानेपर जब बहुत संख्यक राष्ट्रोंसे युक्त पृथ्वी रमणीय दिखायी देने लगेगी, पंक्तिबद्ध मार्ग शोभायमान हो जायँगे, तृण बेलों तथा ओषधियोंमें फल लग जायँगे, स्थान-स्थानपर ईखकी खेती लहराती दिखायी देगी, (आग्रायण और वाजपेय आदि) यज्ञ आरम्भ होने लगेंगे तथा आप (भगवान् विष्णु) जब सोकर जाग उठेंगे, उस समय पुण्यमयी शरद् ऋतुकी प्रवृत्ति होगी ॥ ५१–५७½ ॥

लोकेऽस्मिन् कृष्ण निखिले यथैव त्रिदिवे तथा ॥ ५८ ॥
नरास्त्वां चैव मां चैव ध्वजाकारासु यष्टिषु।
महेन्द्रं चाप्युपेन्द्रं च महयन्ति महीतले ॥ ५९ ॥

श्रीकृष्ण! वह शरत्काल प्राप्त होनेपर स्वर्गलोककी ही भाँति इस समस्त जगत्‌में रहनेवाले मनुष्य भी भूतलपर ध्वजाकार डंडोंमें मुझ महेन्द्रकी तथा आप उपेन्द्रकी पूजा करेंगे ॥ ५८-५९ ॥

ये चावयोः स्थिरे वृत्ते महेन्द्रोपेन्द्रसंज्ञिते।
मानवाः प्रणमिष्यन्ति तेषां नास्त्यनयागमः ॥ ६० ॥

जो मानव हम दोनोंसे सम्बन्ध रखनेवाले इस सनातन आचार (महेन्द्रोपेन्द्रमख नामक उत्सव) में हमें प्रणाम करेंगे, उन्हे कभी अनीतिका सामना नहीं करना पड़ेगा ॥ ६० ॥

ततः शक्रस्तु तान् गृह्य घटान् दिव्यपयोधरान्।
अभिषेकेण गोविन्दं योजयामास योगवित् ॥ ६१ ॥

तदनन्तर योगवेत्ता इन्द्रने दिव्य (मन्दाकिनीका) जल धारण करनेवाले उन कलशोंको हाथमे लेकर भगवान् श्रीकृष्णका 'गोविन्द (गौओंके इन्द्र)'-पदपर अभिषेक किया ॥ ६१ ॥

दृष्ट्वा तमभिषिक्तं तु गावस्ताः सह यूथपैः।
स्तनैः प्रस्रवयुक्तैश्च सिषिचुः कृष्णमव्ययम् ॥ ६२ ॥

(इन्द्रद्वारा) उनका अभिषेक हुआ देख यूथपतियों (साँड़ों) सहित उन दिव्य गौओंने भी दूधकी धारा बहाते हुए अपने थनोंद्वारा अविनाशी श्रीकृष्णका अभिषेचन किया ॥ ६२ ॥

मेघाश्च दिवि युक्ताभिः साम्रुताभिः समन्ततः।
सिषिचुस्तोयधाराभिरभिषिच्य तमव्ययम् ॥ ६३ ॥

इसके बाद मेघोंने भी आकाशमे छोड़ी हुई अमृतयुक्त जलधाराओंद्वारा श्रीकृष्णको सब ओरसे नहलाकर उन अविनाशी ईश्वरका अभिषेक-कर्म सम्पन्न किया ॥ ६३ ॥

वनस्पतीनां सर्वेषां सुस्रावेन्दुनिभं पयः।
ववर्षुः पुष्पवर्षं च नेदुस्तूर्याणि चाम्बरे ॥ ६४ ॥

तदनन्तर सभी वनस्पतियोंकी डालियोंसे चन्द्रमाके समान श्वेत दुग्ध टपकने लगा (इस तरह उन वनस्पतियोंने भी भगवान्‌का अभिषेक किया)। देवताओंने फूलोंकी वर्षा की तथा आकाशमें दिव्य बाजे अपने-आप बज उठे ॥ ६४ ॥

अस्तुवन् मुनयः सर्वे वाग्भिर्मन्त्रपरायणाः।
एकार्णवे विविक्तं च दधार वसुधा वपुः ॥ ६५ ॥

तत्पश्चात् सभी मन्त्रपरायण मुनियोंने भगवान् श्रीकृष्ण-का स्तवन किया। पृथ्वीने अपने उस स्वरूपको धारण किया, जो एकार्णवसे पृथक् होनेपर उसे प्राप्त हुआ था ॥ ६५ ॥

प्रसादं सागरा जग्मुर्ववुर्वाता जगद्धिताः।
मार्गस्थोऽपि बभौ भानुश्चन्द्रो नक्षत्रसंयुतः ॥ ६६ ॥

समस्त समुद्रोंके जल प्रसन्न (स्वच्छ–निर्मल) हो गये। वायु जगत्के लिये हितकारक होकर बहने लगी। सूर्यदेव अपने समुचित मार्गपर स्थित रहकर प्रकाशित होने लगे। चन्द्रमा नक्षत्रोंसे संयुक्त होकर सुशोभित होने लगे ॥ ६६ ॥

ईतयः प्रशमं जग्मुर्निर्वैररचना नृपाः।
प्रवालपत्रशबलाः पुष्पवन्तश्च पादपाः ॥ ६७ ॥

अतिवृष्टि आदि ईतियाँ शान्त हो गयीं। राजाओंके सभी कार्य वैरभावसे रहित होने लगे। वृक्ष फूलोंसे भर गये और नूतन पल्लवों तथा हरे-हरे पत्तोंसे विचित्र शोभा धारण करने लगे ॥ ६७ ॥

मदं प्रसुस्रुवुर्नागा यातास्तोषं वने मृगाः।
अलंकृता गात्ररुहैर्धातुभिर्भान्ति पर्वताः ॥ ६८ ॥

हाथी मद बहाने लगे। वनमे मृग आदि पशु संतोष प्राप्त करने लगे। पर्वत अपने ऊपर उगे हुए वृक्षों तथा विभिन्न धातुओंसे शोभा पाने लगे ॥ ६८ ॥

देवलोकोपमो लोकस्तृप्तोऽमृतरसैरिव।
आसीत् कृष्णाभिषेको हि दिव्यस्वर्गरसोक्षितः ॥ ६९ ॥

सम्पूर्ण जगत् देवलोकके समान सुखी हो गया, मानो उसे अमृत-रससे तृप्त कर दिया गया हो। इस प्रकार दिव्य स्वर्गीय रस (जल) से सिक्त होकर श्रीकृष्णका वह अभिषेक-कर्म सम्पन्न हुआ ॥ ६९ ॥

अभिषिक्तं तु तं गोभिः शक्रो गोविन्दमव्ययम्।
दिव्यमाल्याम्बरधरं देवदेवोऽब्रवीदिदम् ॥ ७० ॥

गौओंद्वारा अभिषिक्त होकर दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करनेवाले अविनाशी गोविन्दसे देवदेव इन्द्रने इस प्रकार कहा— ॥ ७० ॥

एष ते प्रथमः कृष्ण नियोगो गोषु यः कृतः।
श्रूयतामपरं कृष्ण ममागमनकारणम् ॥ ७१ ॥

'श्रीकृष्ण ! यह मैंने आपको अपने आगमनका प्रथम हेतु बताया है, जिसके अनुसार गौओंकी आज्ञाका पालन किया गया है। अब मेरे आनेका जो दूसरा कारण है, उसे भी सुन लीजिये ॥ ७१ ॥

क्षिप्रं प्रसाध्यतां कंसः केशी च तुरगाधमः।
अरिष्टश्च महाविप्रो राजराज्यं ततः कुरु ॥ ७२ ॥

'मुझे यह कहना है कि आप शीघ्र ही कंस तथा अश्वोंमें अधम केशीका भी वध कर डालिये। मदमत्त अरिष्टासुरको यमलोक भेज दीजिये। तदनन्तर राजाओंपर शासन कीजिये ॥ ७२ ॥

पितृष्वसरि जातस्ते ममांशोऽहमिव स्थितः।
स ते रक्ष्यश्च मान्यश्च सख्ये च विनियुज्यताम् ॥ ७३ ॥

'आपकी बुआ कुन्तीके गर्भसे मेरा अंश उत्पन्न हुआ है, जो मेरे ही समान है। आप उसकी रक्षा और आदर करें तथा उसे अपना सखा बना लें ॥ ७३ ॥

त्वया ह्यनुगृहीतः स तव वृत्तानुवर्तकः।
त्वद्वशे वर्तमानश्च प्राप्स्यते विपुलं यशः ॥ ७४ ॥

'आपसे अनुगृहीत होकर वह आपके बताये हुए आचार-का पालन करेगा और सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहकर भूमण्डलमें महान् यश प्राप्त कर लेगा ॥ ७४ ॥

भारतस्य च वंशस्य स वरिष्ठो धनुर्धरः।
भविष्यत्यनुरूपश्च त्वदृते न च रंस्यते ॥ ७५ ॥

'वह भरतवंशका सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होगा। आपकी इच्छा-के अनुरूप बनकर रहेगा और आपके बिना कभी कहीं भी उसका मन नहीं लगेगा ॥ ७५ ॥

भारतं त्वयि चायत्तं तस्मिंश्च पुरुषोत्तमे।
उभाभ्यामपि संयोगे यास्यन्ति निधनं नृपाः ॥ ७६ ॥

'आप और उस पुरुषप्रवर कुन्तीकुमारपर ही महाभारत युद्ध अवलम्बित होगा। आप दोनोंका संयोग प्राप्त होनेपर राजालोग युद्धमें मारे जायँगे ॥ ७६ ॥

प्रतिज्ञातं मया कृष्ण ऋषिमध्ये सुरेषु च।
मया पुत्रोऽर्जुनो नाम सृष्टः कुन्त्यां कुलोद्वहः ॥ ७७ ॥

'श्रीकृष्ण ! मैंने ऋषियों तथा देवताओंके बीचमे इस बातका विज्ञापन कर दिया है कि कुन्तीके गर्भसे मेरे द्वारा जिस कुलदीपक पुत्रकी उत्पत्ति हुई है, उसका नाम अर्जुन है ॥

सोऽस्त्राणां पारतत्त्वज्ञः श्रेष्ठश्चापविकर्षणे।
तं प्रवेक्ष्यन्ति वै सर्वे राजानः शस्त्रयोधिनः ॥ ७८ ॥

'वह अस्त्रोंकी विद्यामें पारंगत है। धनुषको खींचनेमें सबसे श्रेष्ठ है। शस्त्रोंद्वारा युद्ध करनेवाले सब नरेश उसीमे विलीन हो जायँगे ॥ ७८ ॥

अक्षौहिणीस्तु शूराणां राज्ञां संग्रामशालिनाम्।
स एकः क्षत्रधर्मेण योजयिष्यति मृत्युना ॥ ७९ ॥

'संग्राममे शोभा पानेवाले शूरवीर राजाओंकी कई अक्षौ-हिणी सेनाओंको वह अकेला ही क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्ध करके मौतके घाट उतार देगा ॥ ७९ ॥

तस्यास्त्रचरितं मार्गं धनुषो लाघवेन च।
नानुयास्यन्ति राजानो देवा वा त्वां विना प्रभो ॥ ८० ॥

'प्रभो ! आपको छोड़कर दूसरे कोई देवता अथवा भूतलके नरेश अर्जुनके अस्त्र-मार्गका अनुसरण नहीं कर सकेंगे। उसमें जो धनुष चलानेकी फुर्ती है, उसके द्वारा भी कोई उसकी समानता नहीं कर सकता ॥ ८० ॥

स ते बन्धुः सहायश्च संग्रामेषु भविष्यति।
तस्य योगो विधातव्यस्त्वया गोविन्द मत्कृते ॥ ८१ ॥

'गोविन्द ! युद्धके अवसरोंपर अर्जुन आपका सच्चा बन्धु एवं सहायक होगा। मेरे लिये अथवा मेरे कहनेसे आपको उसे अध्यात्मविद्याका उपदेश अवश्य करना चाहिये ॥ ८१ ॥

द्रष्टव्यश्च यथाहं वै त्वया मान्यश्च नित्यशः।
ज्ञाता त्वमेव लोकानामर्जुनस्य च नित्यशः ॥ ८२ ॥

'आप अर्जुनको उसी तरह अपनापनकी दृष्टिसे देखें, जैसा मुझे देखा करते हैं। प्रतिदिन उसका आदर करते रहें। आप ही सम्पूर्ण लोकोंके ज्ञाता हैं; अतः अर्जुनका भी सदा ध्यान रखें ॥ ८२ ॥

त्वया च नित्यं संरक्ष्य आहवेषु महत्सु सः।
रक्षितस्य त्वया तस्य न मृत्युः प्रभविष्यति ॥ ८३ ॥

'बड़े-बड़े युद्धके अवसरोंपर भी आपको नित्यप्रति उसकी रक्षा करनी चाहिये। आपसे सुरक्षित हुए अर्जुनपर मृत्युका वश नहीं चल सकेगा ॥ ८३ ॥

अर्जुनं विद्धि मां कृष्ण मां चैवात्मानमात्मना।
आत्मा तेऽहं यथा शश्वत् तथैव तव सोऽर्जुनः ॥ ८४ ॥

'श्रीकृष्ण ! आप अर्जुनको मेरा ही स्वरूप समझें और मुझे भी हृदयसे अपना आत्मा स्वीकार करें। जैसे मैं सदा ही आपका आत्मा हूँ, उसी प्रकार वह अर्जुन भी आपका आत्मा ही है ॥ ८४ ॥

त्वया लोकानिमाञ्जित्वा बलेर्हस्तात् त्रिभिः क्रमैः।
देवतानां कृतो राजा पुरा ज्येष्ठक्रमादहम् ॥ ८५ ॥

'पूर्वकालमें आपने तीन पगोंद्वारा इन तीनों लोकोंको नापकर बलिके हाथसे अपने अधिकारमें ले लिया और मुझे ही अपना बड़ा भाई मानकर देवताओंका राजा बना दिया ॥

त्वां च सत्यमयं ज्ञात्वा सत्येष्टं सत्यविक्रमम्।
सत्येनोपेत्य देवा वै योजयन्ति रिपुक्षये ॥ ८६ ॥

'आप सत्यमय हैं, सत्यरूपी यज्ञद्वारा आपका यजन हुआ है तथा आप सत्यपराक्रमी हैं, ऐसा जानकर देवतालोग सत्य-भावसे ही आपकी शरणमें आते और आपको शत्रु-संहारके कार्यमें लगाते हैं ॥ ८६ ॥

सोऽर्जुनो नाम मे पुत्रः पितुस्ते भगिनीसुतः।
इह सौहार्दमायातु भूत्वा सहचरस्तव ॥ ८७ ॥

'अर्जुन नामसे प्रसिद्ध मेरा पुत्र आपके पिताकी बहिन (बुआ) का बेटा है। वह इस जगत्में आपका सहचर होकर आपके साथ पूर्ण सौहार्द स्थापित करे ॥ ८७ ॥

तस्य ते युध्यतः कृष्ण स्वस्थानेऽपि गृहेऽपि वा।
वोढव्या पुङ्गवेनेव धूः सदा रणमूर्धनि ॥ ८८ ॥

'श्रीकृष्ण ! वह युद्ध कर रहा हो, अपने स्थानपर हो अथवा घरमें बैठा हो, आपको बलिष्ठ वृषभकी भाँति सदा उसका भार सँभालना चाहिये। युद्धके मुहानेपर तो सदा ही आपको उसकी रक्षाका बोझ उठाना है ॥ ८८ ॥

कंसे विनिहते कृष्ण त्वया भाव्यर्थदर्शिना।
अभितस्तन्महद् युद्धं भविष्यति महीक्षिताम् ॥ ८९ ॥

'श्रीकृष्ण ! आप तो भविष्यमें होनेवाली घटनाओंको भी प्रत्यक्षकी भाँति देखनेवाले हैं (अतः आपसे कुछ भी अज्ञात नहीं है)। जब कंस आपके द्वारा मार डाला जायगा, तब सब ओरसे आये हुए राजाओंका वह महान् युद्ध (महाभारत) होगा ॥ ८९ ॥

तत्र तेषां नृवीराणामतिमानुषकर्मणाम्।
विजयस्यार्जुनो भोक्ता यशसा त्वं च योक्ष्यसे ॥ ९० ॥

'उस युद्धमें अतिमानव (अलौकिक) कर्म करनेवाले उन नरवीर राजाओंको जीतकर अर्जुन विजय-सुखका उपभोग करेगा और आप महान् सुयशके भागी होंगे ॥ ९० ॥

एतन्मे कृष्ण कात्स्न्येन कर्तुमर्हसि भाषितम्।
यद्यहं ते सुराश्चैव सत्यं च प्रियमच्युत ॥ ९१ ॥

'अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले श्रीकृष्ण ! यदि मैं, सम्पूर्ण देवता तथा सत्य आपको प्रिय हैं तो मैंने जो कुछ यहाँ कहा है, वह सब कार्य आपको पूर्ण करना चाहिये'॥

शक्रस्य वचनं श्रुत्वा कृष्णो गोविन्दतां गतः।
प्रीतेन मनसा युक्तः प्रतिवाक्यं जगाद ह ॥ ९२ ॥

इन्द्रका यह वचन सुनकर 'गोविन्द' भावको प्राप्त हुए श्रीकृष्णने प्रसन्न-मनसे युक्त होकर इस प्रकार उत्तर दिया—॥

प्रीतोऽस्मि दर्शनाद् देव तव शक्र शचीपते।
यत् त्वयाभिहितं चेदं न किंचित् परिहास्यते ॥ ९३ ॥

'देव ! शचीवल्लभ शक्र ! मैं तो आपके दर्शनसे ही प्रसन्न हो गया हूँ। आपने यह जो कुछ कहा है, वह सब पूरा किया जायगा; कुछ भी छोड़ा नहीं जायगा ॥ ९३ ॥

जानामि भवतो भावं जानाम्यर्जुनसम्भवम्।
जाने पितृष्वसारं च पाण्डोर्दत्तां महात्मनः ॥ ९४ ॥

'आपका मेरे प्रति जो भाव है, उसे मैं जानता हूँ। मुझे अर्जुनके जन्मका भी पता है। महात्मा पाण्डुके साथ जिनका विवाह हुआ, उन अपनी बुआ कुन्तीको भी मैं अच्छी तरह जानता हूँ ॥ ९४ ॥

युधिष्ठिरं च जानामि कुमारं धर्मनिर्मितम्।
भीमसेनं च जानामि वायोः संतानजं सुतम् ॥ ९५ ॥

'धर्मके द्वारा उत्पन्न हुए कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे भी मैं परिचित हूँ। वायुकी संतान होकर उत्पन्न हुए अपनी बुआके बेटे भीमसेनको भी मैं जानता हूँ ॥ ९५ ॥

अश्विभ्यां साधु जानामि सृष्टं पुत्रद्वयं शुभम्।
नकुलं सहदेवं च माद्रीकुक्षिगतावुभौ ॥ ९६ ॥

'दोनों अश्विनीकुमारोंने जिन दो शुभलक्षण पुत्रोंकी सृष्टि की है तथा जो माद्रीके गर्भमें रह चुके हैं, उन दोनों भाई नकुल और सहदेवके विषयमें भी मैं भलीभाँति जानकारी रखता हूँ ॥ ९६ ॥

कानीनं चापि जानामि सवितुः प्रथमं सुतम्।
पितृष्वसरि कर्णं वै प्रसूतं सूततां गतम् ॥ ९७ ॥

'बुआ कुन्तीके गर्भसे सूर्यदेवका संयोग पाकर कन्यावस्थामें जो प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ था तथा जन्म लेनेके बाद जो सूत-भावको प्राप्त हो गया है, उस कर्णसे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ ॥ ९७ ॥

धार्तराष्ट्रांश्च मे सर्वे विदिता युद्धकाङ्क्षिणः।
पाण्डोरुपरमं चैव शापाशनिनिपातजम् ॥ ९८ ॥

'युद्धकी इच्छा रखनेवाले समस्त धृतराष्ट्र-पुत्रोंको भी मैं जानता हूँ। शापरूपी वज्रपातके कारण राजा पाण्डुका जो निधन हुआ है, वह भी मुझसे छिपा नहीं है ॥ ९८ ॥

तद् गच्छ त्रिदिवं शक्र सुखाय त्रिदिवौकसाम्।
नार्जुनस्य रिपुः कश्चिन्ममाग्रे प्रभविष्यति ॥ ९९ ॥

'अतः देवराज इन्द्र! आप देवताओंको सुख देनेके लिये स्वर्गलोकको पधारिये। मेरे सामने अर्जुनका कोई भी शत्रु उसे परास्त नहीं कर सकेगा ॥ ९९ ॥

अर्जुनार्थे च तान् सर्वान् पाण्डवानक्षतान् युधि।
कुन्त्या निर्यातयिष्यामि निवृत्ते भारते मृधे ॥१००॥

'अर्जुनके लिये ही मैं महाभारत-युद्ध समाप्त होनेपर उन समस्त पाण्डवोंको कुन्तीकी सेवामें सकुशल लौटा दूँगा ॥

यच्च वक्ष्यति मां शक्र तनूजस्तव सोऽर्जुनः।
भृत्यवत् तत् करिष्यामि तव स्नेहेन यन्त्रितः ॥१०१॥

'देवेन्द्र! आपका पुत्र अर्जुन मुझसे जो कुछ कहेगा, उसे मैं आपके स्नेह-पाशसे बँधकर आज्ञाकारी सेवककी भाँति पूर्ण करूँगा' ॥ १०१ ॥

सत्यसंधस्य तच्छ्रुत्वा प्रियं प्रीतस्य भाषितम्।
कृष्णस्य साक्षात् त्रिदिवं जगाम त्रिदशेश्वरः ॥१०२॥

सत्यप्रतिज्ञ श्रीकृष्णके प्रसन्नतापूर्वक कहे गये इस प्रिय वचनको सुनकर देवेश्वर इन्द्र साक्षात् स्वर्गलोकको चले गये ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि गोविन्दाभिषेके एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें गोविन्दका अभिषेकविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अलौकिक चरित्र देखकर आशङ्कित हुए गोपोंका उनसे प्रश्न और श्रीकृष्णद्वारा उत्तर तथा उनकी रासलीलाका संक्षेपसे वर्णन

वैशम्पायन उवाच

गते शक्रे ततः कृष्णः पूज्यमानो व्रजालयैः।
गोवर्धनधरः श्रीमान् विवेश व्रजमेव ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवराज इन्द्रके चले जानेपर व्रजवासियोंद्वारा पूजित एवं प्रशंसित होते हुए गोवर्धनधारी श्रीमान् कृष्णने व्रजमें ही प्रवेश किया ॥१॥

तस्य वृद्धाभिनन्दन्ति ज्ञातयश्च सहोषिताः।
धन्याः स्मोऽनुगृहीताः स्मस्त्वद्वृत्तेन नयेन च ॥ २ ॥
गावो वर्षभयात् तीर्णा वयं तीर्णा महाभयात्।
तव प्रसादाद् गोविन्द देवतुल्यपराक्रम ॥ ३ ॥

वहाँ बड़े-बूढ़े गोप और साथ रहनेवाले जाति-भाई उनका अभिनन्दन करते हुए बोले—'देवतुल्य पराक्रमी गोविन्द! हम धन्य हैं। तुमने अपने व्यवहार और नीतिसे हमलोगोंपर महान् अनुग्रह किया है। तुम्हारे प्रसादसे गौओंका वर्षाके भयसे उद्धार हुआ और हमलोग भी महान् भयसे पार हो गये ॥ २-३ ॥

अमानुषाणि कर्माणि तव पश्याम गोपते।
धारणेनास्य शैलस्य विद्मस्त्वां कृष्ण दैवतम् ॥ ४ ॥

'गोपते! हम तुम्हारे सभी कर्म अलौकिक देख रहे हैं। श्रीकृष्ण! इस गोवर्धन पर्वतको हाथपर धारण करनेसे हम यह अच्छी तरह समझ गये हैं कि तुम मनुष्य नहीं देवता हो ॥ ४ ॥

कस्त्वं भवसि रुद्राणां मरुतां च महाबलः।
वसूनां वा किमर्थं च वसुदेवः पिता तव ॥ ५ ॥

'तुम्हारा बल महान् है। बताओ, तुम रुद्रों, मरुद्गणों अथवा वसुओंमेंसे कौन हो? ये नन्दजी तुम्हारे पिता कैसे हो गये? ॥ ५ ॥

बलं च बाल्ये क्रीडा च जन्म चास्मासु गर्हितम्।
कृष्ण दिव्या च ते चेष्टा शङ्कितानि मनांसि नः ॥ ६ ॥

'श्रीकृष्ण! बचपनमें ही तुममें ऐसा अलौकिक बल है, तुम्हारे खेल भी अलौकिक हैं तथा तुम्हारी सारी चेष्टा दिव्य है। परंतु हमलोगोंमें जो तुम्हारा जन्म हुआ, यही निन्दित है। (तुम्हें ऐसा निन्दित जन्म कैसे प्राप्त हुआ?) इन बातोंको सोचकर हमारे हृदय शंकित हो उठे हैं ॥ ६ ॥

किमर्थं गोपवेषेण रमसेऽस्मासु गर्हितम्।
लोकपालोपमश्चैव गास्त्वं किं परिरक्षसि ॥ ७ ॥

---

१. हरिवंशपर्वके ५५ वें अध्यायमें वसुदेव और नन्दको अभिन्न बताया गया है। एक ही कश्यपके दो रूप हैं वसुदेव और नन्द। अतः कहीं-कहीं नन्दके लिये भी वसुदेव नामका प्रयोग हुआ है; इसीलिये यहाँ 'वसुदेव' पदका नन्द अर्थ किया गया है।

'तुम किसलिये गोपवेश धारण करके हमलोगोंमें रम रहे हो। यह कार्य तो तुम्हारे लिये गर्हित है। तुम लोकपालोंके समान शक्तिशाली होकर भी यहाँ क्यों गौओंकी चरवाही और रखवाली करते हो ॥ ७ ॥

देवो वा दानवो वा त्वं यक्षो गन्धर्व एव वा।
अस्माकं बान्धवो जातो योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते ॥ ८ ॥

'तुम देवता हो या दानव? यक्ष हो अथवा गन्धर्व? जो हमारे बन्धु-बान्धवके रूपमें उत्पन्न हुए हो? कृष्ण! तुम जो हो सो हो, तुम्हें हमारा नमस्कार है ॥ ८ ॥

केनचिद् यदि कार्येण वससीह यदृच्छया।
वयं तवानुगाः सर्वे भवन्तं शरणं गताः ॥ ९ ॥

'यदि किसी कार्यविशेषसे तुम स्वेच्छापूर्वक यहाँ रह रहे हो तो रहो। हम सब लोग तुम्हारे अनुगामी सेवक हैं और तुम्हारी शरणमें आये हैं' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

गोपानां वचनं श्रुत्वा कृष्णः पद्मदलेक्षणः।
प्रत्युवाच स्मितं कृत्वा ज्ञातीन् सर्वान् समागतान् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गोपोंकी यह बात सुनकर विकसित कमलदलके समान नेत्रवाले श्रीकृष्णने मुसकराकर उन समस्त समागत बन्धुओंको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १० ॥

मन्यन्ते मां यथा सर्वे भवन्तो भीमविक्रमम्।
तथाहं नावमन्तव्यः स्वजातीयोऽस्मि बान्धवः ॥ ११ ॥

'आप सब लोग मुझे जैसा भयानक पराक्रमी समझ रहे हैं, वैसा मानकर मेरा अनादर न करें। मैं तो आपलोगोंका सजातीय भाई-बन्धु ही हूँ ॥ ११ ॥

यदि त्ववश्यं श्रोतव्यं कालः सम्प्रतिपाल्यताम्।
ततो भवन्तः श्रोष्यन्ति मां च द्रक्ष्यन्ति तत्त्वतः ॥ १२ ॥

'यदि मेरे विषयमें आपलोगोंको यथार्थ बात अवश्य ही सुननी है तो इसके लिये उपयुक्त समयकी प्रतीक्षा करें, फिर आप मेरे विषयमें सुनेंगे और मैं वास्तवमें कैसा हूँ, यह देख और समझ सकेंगे ॥ १२ ॥

यद्ययं भवतां श्लाघ्यो बान्धवो देवसप्रभः।
परिज्ञानेन किं कार्यं यद्येषोऽनुग्रहो मम ॥ १३ ॥

'यदि देवोपम कान्तिसे युक्त यह बालक आपलोगोंका स्पृहणीय भाई-बन्धु है तो इसके विषयमें विशेष छानबीन करनेकी क्या आवश्यकता है। यदि आप मौन ही रहें तो यह मेरे ऊपर आपका महान् अनुग्रह होगा' ॥ १३ ॥

एवमुक्तास्तु ते गोपा वसुदेवसुतेन वै।
बद्धमौना दिशः सर्वे भेजिरे पिहिताननाः ॥ १४ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर उन गोपोंने अपना मुँह बंद कर लिया और मौन होकर वे सब-के-सब विभिन्न दिशाओंमें चले गये ॥ १४ ॥

कृष्णस्तु यौवनं दृष्ट्वा निशि चन्द्रमसो वनम्।
शारदीं च निशां रम्यां मनश्चक्रे रतिं प्रति ॥ १५ ॥

इधर श्रीकृष्णने पूर्णिमाकी रातमें चन्द्रमाका यौवन (अधिक कान्तिमान् रूप), रमणीय वन तथा शरत्-कालकी सुरम्य रजनीको देखकर मनमें रमण करनेकी इच्छा की ॥ १५ ॥

स करीषाङ्गरागासु व्रजरथ्यासु वीर्यवान्।
वृषाणां जातदर्पाणां युद्धानि समयोजयत् ॥ १६ ॥

पराक्रमी श्रीकृष्णने सूखे गोबरके चूर्णका अङ्गराग-सा धारण करनेवाली व्रजकी गलियोंमें बलोन्मत्त साँड़ोंके युद्धका आयोजन किया ॥ १६ ॥

गोपालांश्च बलोदग्रान् योधयामास वीर्यवान्।
वने स वीरो गाश्चैव जग्राह ग्राहवद् विभुः ॥ १७ ॥

उन बलशाली वीर भगवान् गोविन्दने बलमें बढ़े-चढ़े गोपोंमें परस्पर मल्लयुद्ध भी करवाया और वनमें घूमती हुई गौओंको ग्राहकी भाँति पकड़नेकी भी लीला की ॥ १७ ॥

युवतीर्गोपकन्याश्च रात्रौ संकाल्य कालवित्।
कैशोरकं मानयन् वै सह ताभिर्मुमोद ह ॥ १८ ॥

समयको पहचाननेवाले वे श्रीहरि अपनी किशोरावस्थाका आदर करते हुए युवती गोपकन्याओंको रातके समय वनमें ले गये और उन सबके साथ आमोद-प्रमोद करने लगे ॥ १८ ॥

तास्तस्य वदनं कान्तं कान्ता गोपस्त्रियो निशि।
पिबन्ति नयनाक्षेपैर्गां गतं शशिनं यथा ॥ १९ ॥

निशाकालमें वे कान्तिमती गोपाङ्गनाएँ प्रियतम श्रीकृष्णके कमनीय मुखका, जो भूतलपर उतरे हुए द्वितीय चन्द्रमाके समान प्रतीत होता था, अपने नेत्रोंद्वारा कटाक्षपातपूर्वक पान करने लगीं ॥ १९ ॥

हरितालार्द्रपीतेन स कौशेयेन वाससा।
वसानो भद्रवसनं कृष्णः कान्ततरोऽभवत् ॥ २० ॥

उस समय हरितालके पङ्ककी भाँति पीले रेशमी पीताम्बरसे अपने अङ्गोंको आच्छादित करनेवाले माङ्गलिक वस्त्रधारी श्रीकृष्ण और भी अधिक मनोहर प्रतीत हो रहे थे। २०

स बद्धाङ्गदनिर्व्यूहश्चित्रया वनमालया।
शोभमानो हि गोविन्दः शोभयामास तद् व्रजम् ॥ २१ ॥

बाहोंमें भुजबंद बाँधे और मस्तकपर मुकुट धारण किये, विचित्र वनमालासे सुशोभित गोविन्द उस व्रजकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २१ ॥

नाम दामोदरेत्येवं गोपकन्यास्तदाब्रुवन्।
विचित्रं चरितं घोषे दृष्ट्वा तत् तस्य भास्वतः ॥ २२ ॥

गोष्ठमें उन तेजस्वी श्रीकृष्णके विचित्र चरित्रोंको देखकर गोपकिशोरियाँ उस समय उन्हें 'दामोदर' कहकर पुकारती थीं ॥ २२ ॥

तास्तं पयोधरोत्तुङ्गैरुरोभिः समपीडयन्।
भ्रामिताक्षैश्च वदनैर्निरीक्षन्ते वराङ्गनाः ॥ २३ ॥

वे सुन्दरी गोपियाँ उन्हें पीन पयोधरोंसे युक्त ऊँचे वक्षःस्थलसे लगाकर गाढ़ आलिङ्गन करतीं और बारंबार आँखें घुमाकर उन्हींकी ओर मुँह करके उनका रूप निहारती रहती थीं ॥ २३ ॥

ता वार्यमाणाः पतिभिर्मातृभिर्भ्रातृभिस्तथा ।
कृष्णं गोपाङ्गना रात्रौ मृगयन्ते रतिप्रियाः ॥ २४ ॥

पति, पिता-माता तथा भाइयोंके मना करनेपर भी वे गोपाङ्गनाएँ रात्रिके समय श्रीकृष्णको ढूँढ़ती फिरती थीं; क्योंकि श्रीकृष्णविषयक रति उन्हें बहुत प्रिय थी ॥ २४ ॥

तास्तु पङ्क्तीकृताः सर्वा रमयन्ति मनोरमम् ।
गायन्त्यः कृष्णचरितं द्वन्द्वशो गोपकन्यकाः ॥ २५ ॥

वे सारी गोप-किशोरियाँ मण्डलाकार पंक्ति बनाकर खड़ी हो जातीं और उनमेंसे प्रत्येक गोपीके दोनों ओर श्रीकृष्ण विराजमान होते थे । इस प्रकार गोपी-कृष्णकी युगल-जोड़ी बनाकर वे सुन्दरियाँ श्रीकृष्णके चरित्रका गान करती हुई उन्हें आनन्द प्रदान करती थीं ॥ २५ ॥

कृष्णलीलानुकारिण्यः कृष्णप्रणिहितेक्षणाः ।
कृष्णस्य गतिगामिन्यस्तरुण्यस्ता वराङ्गनाः ॥ २६ ॥

उनकी आँखें श्रीकृष्णकी ओर ही लगी रहती थीं । वे तरुण-अवस्थावाली सुन्दरियाँ श्रीकृष्णकी लीलाका अनुकरण करतीं तथा उन्हींके समान चलती थीं ॥ २६ ॥

वनेषु तालहस्ताग्रैः कूजयन्त्यस्तथापराः ।
चेरुर्वै चरितं तस्य कृष्णस्य व्रजयोषितः ॥ २७ ॥

व्रजकी दूसरी गोपियाँ हाथोंके अग्रभागसे ताल दे-देकर श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान करती हुई वनोंमें विचरती थीं ।२७।

तास्तस्य नृत्यं गीतं च विलाससस्मितवीक्षितम् ।
मुदिताश्चानुकुर्वन्त्यः क्रीडन्ति व्रजयोषितः ॥ २८ ॥

वे व्रजाङ्गनाएँ बड़ी प्रसन्नताके साथ श्रीकृष्णके नृत्य, गीत, विलास, मुसकराहट तथा चञ्चल चितवनकी नकल करती हुई भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करती रहती थीं ॥ २८ ॥

भावनिस्पन्दमधुरं गायन्त्यस्ता वराङ्गनाः ।
व्रजं गताः सुखं चेरुर्दामोदरपरायणाः ॥ २९ ॥

वे गोपसुन्दरियाँ व्रजमण्डल (वन आदि) में जाकर ऐसे गीत गाती थीं, जिनसे उनका श्रीकृष्णविषयक प्रगाढ अनुराग स्पष्टतः प्रकट होने लगता था और इसीसे उन गीतोंका माधुर्य बढ़ जाता था । इस प्रकार दामोदरके ही चिन्तनमें तत्पर रहकर वे वहाँ सुखपूर्वक विचरती थीं ॥२९॥

करीषपांसुदिग्धाङ्ग्यस्ताः कृष्णमनुवव्रिरे ।
रमयन्त्यो यथा नागं सम्प्रमत्तं करेणवः ॥ ३० ॥

उनके अङ्गोंमें अङ्गरागकी जगह गोबरके चूर्ण लगे होते थे । वे श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करती हुई उन्हें उसी तरह घेरे रहती थीं, जैसे हथिनियाँ मदमत्त गजराजको ॥ ३० ॥

तमन्या भावविकचैर्नेत्रैः प्रहसिताननाः ।
पिबन्त्यतृप्तवनिताः कृष्णं कृष्णमृगेक्षणाः ॥ ३१ ॥

कृष्णसार मृगके सदृश नेत्रोंवाली कितनी ही अन्य गोपवनिताएँ अनुरागसे उत्फुल्ल नेत्रोंद्वारा प्यारे श्यामसुन्दरकी रूपसुधाका पान किया करती थीं, किंतु उससे तृप्त नहीं होती थीं । उनके मुखपर सदा ही हँसी खेलती रहती थी॥३१॥

मुखमस्याब्जसंकाशं तृषिता गोपकन्यकाः ।
रत्यन्तरगता रात्रौ पिबन्ति रसलालसाः ॥ ३२ ॥

वे गोपकन्याएँ श्रीकृष्ण-रसके लिये प्यासी रहती थीं । उनके मनमें उस रसके आस्वादनके लिये निरन्तर लालसा बनी रहती थी; अतः वे रात्रिके समय रासलीलामें सम्मिलित हो उनके मुखारविन्दकी मकरन्द-सुधाका पान करती थीं ॥ ३२ ॥

हा हेति कुर्वतस्तस्य प्रहृष्टास्ता वराङ्गनाः ।
जगृहुर्निःसृतां वाणीं नाम्ना दामोदरेरिताम् ॥ ३३ ॥

जब वे 'हा राधे ! हा व्रजगोपियो !' इत्यादि कहकर उन्हें पुकारते, उस समय उनका आह्वान सुनकर वे गोप-सुन्दरियाँ हर्षसे खिल उठती थीं । दामोदरके मुखसे निकली हुई उस मधुर वाणीको वे सादर ग्रहण करती थीं ॥ ३३ ॥

तासां ग्रथितसीमन्ता रतिं नीत्वाऽऽकुलीकृताः ।
चारु विस्रंसिरे केशाः कुचाग्रे गोपयोषिताम् ॥ ३४ ॥

उनके गुँथे हुए सीमन्तवाले केश रासलीलामें पहुँचकर आकुलताकी अवस्थामें खुल जाते और गोपियोंके कुचाग्रभागपर बिखर जाते थे । उस समय भी वे मनोहर ही लगते थे ॥ ३४ ॥

एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रवालैरलंकृतः ।
शारदीषु सचन्द्रासु निशासु मुमुदे सुखी ॥ ३५ ॥

इस प्रकार शरत्कालकी चाँदनी रातोंमें गोपीमण्डलसे अलंकृत हुए श्रीकृष्ण सुखपूर्वक रासक्रीडा करके आनन्द-मग्न हो जाते थे ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि रासक्रीडायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें रासक्रीडाविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

अरिष्टासुरका वध

वैशम्पायन उवाच

प्रदोषार्धे कदाचित् तु कृष्णे रतिपरायणे ।
त्रासयन् समदो गोष्ठमरिष्टः प्रत्यदृश्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! एक दिन

आधा प्रदोष (अर्थात् डेढ़ घंटा रात) बीतनेपर जब भगवान् श्रीकृष्ण रासक्रीडामें संलग्न थे, उसी समय सारे व्रजको त्रास देता हुआ मतवाला अरिष्टासुर वहाँ दिखायी दिया ॥ १॥

निर्वाणाङ्गारमेघाभस्तीक्ष्णशृङ्गोऽर्कलोचनः ।
क्षुरतीक्ष्णाग्रचरणः कालः काल इवापरः ॥ २ ॥

वह बुझे हुए अङ्गार (कोयले) तथा मेघोंके समान काला था, उसके सींग तीखे थे और आँखें सूर्यके समान तेजस्विनी दिखायी देती थीं। उसके चरणोंके अग्रभाग अथवा खुर छुरेके समान तेज थे। वह काला दैत्य दूसरे कालके समान जान पड़ता था ॥ २ ॥

लेलिहानः सनिष्पेषं जिह्वयोष्ठौ पुनः पुनः ।
गर्वितोविद्धलाङ्गूलः कठिनस्कन्धबन्धनः ॥ ३ ॥

वह दाँतसे ओठोंको चबाता और जिह्वासे उन्हें बारंबार चाटता था। उसने बलके घमंडमें आकर पूँछ उठा रखी थी तथा उसके कंधेका कुब्बड़ बहुत ही कठोर था ॥ ३ ॥

ककुदोदग्रनिर्माणः प्रमाणाद् दुरतिक्रमः ।
शकृन्मूत्रोपलिप्ताङ्गो गवामुद्वेजनो भृशम् ॥ ४ ॥

वह अपने कंधेके कुब्बड़से चोट करके बने-बनाये महल आदिको धराशायी कर देता था। उसकी ऊँचाई इतनी थी कि उसे लाँघकर जाना किसीके लिये भी बहुत कठिन था। उसके पिछले अङ्ग गोबर और मूतसे लिप्त हो रहे थे तथा वह गौओंको अत्यन्त उद्वेगमें डाल देता था ॥ ४ ॥

महाकटिः स्थूलमुखो दृढजानुर्महोदरः ।
विषाणावलिगतगतिर्लम्बता कण्ठचर्मणा ॥ ५ ॥

उसका कटिभाग विशाल था और मुख स्थूल था, दोनों घुटने सुदृढ़ थे और पेट बहुत बड़ा था। उसके गलेका कंबल लटक रहा था और वह सींग नीचे किये उछलता-कूदता आगे बढ़ रहा था ॥ ५ ॥

गवारोहेषु चपलस्तरुघाताङ्किताननः ।
युद्धसज्जविषाणाग्रो द्विपद्वृषभसूदनः ॥ ६ ॥

वह गौओंके पिछले भागपर चढ़नेके लिये चञ्चल हो रहा था। वृक्षोंसे टक्कर लेनेके कारण उसके मस्तकमें कई जगह घट्ठे पड़ गये थे। वह अपने सींगोंके अग्रभागको सदा जूझनेके लिये उद्यत रखता था तथा विपक्षी बैलोंको मार डालता था ॥ ६ ॥

अरिष्टो नाम हि गवामरिष्टो दारुणाकृतिः ।
दैत्यो वृषभरूपेण गोष्ठान् विपरिधावति ॥ ७ ॥

भयानक आकारवाला वह अरिष्टासुर गौओंके लिये अरिष्ट-कारक ग्रह बन गया था। वह दैत्य बैलके रूपमें आकर सभी गोठोंमें दौड़ लगाया करता था ॥ ७ ॥

पातयानो गवां गर्भान् दृप्तो गच्छत्यनार्तवम् ।
भजमानश्च चपलो गृष्टीः सम्प्रचचार ह ॥ ८ ॥

वह गौओंके गर्भ गिरा देता था। मदमत्त होकर बिना ऋतुके ही उनसे समागम करता तथा वह चञ्चल दैत्य तुरंत-की ब्यायी हुई गौओंका भी उपभोग करनेके लिये उनके पीछे पड़ा रहता था ॥ ८ ॥

शृङ्गप्रहरणो रौद्रः प्रहरन् गोषु दुर्मदः ।
गोष्ठेषु न रतिं लेभे विना युद्धेन गोवृषः ॥ ९ ॥

सींग ही उसके आयुध थे। वह बड़ा भयंकर एवं दुर्मद प्रतीत होता था। गौओंपर प्रहार करना उसका नित्यका काम था। वह वृषभरूपधारी दैत्य गोठोंमें पहुँचकर युद्ध किये बिना संतुष्ट नहीं होता था॥ ९ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य स वृषः केशवाग्रतः ।
आजगाम बलोदग्रो वैवस्वतवशे स्थितः ॥ १० ॥

किसी समय यमराजके वशमें पड़ा हुआ वह उत्कट बलशाली वृषभरूपधारी असुर भगवान् श्रीकृष्णके सामने आया ॥ १० ॥

स तत्र गास्तु प्रसभं बाधमानो मदोत्कटः ।
चकार निर्वृषं गोष्ठं निर्वत्सशिशुपुङ्गवम् ॥ ११ ॥

मदमत्त अरिष्टासुर वहाँ आते ही बलपूर्वक गौओंको सताने लगा। उसने उस गोष्ठको बैल, बछड़ों तथा बालकोंसे सूना कर दिया ॥ ११ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु गावः कृष्णसमीपगाः ।
त्रासयामास दुष्टात्मा वैवस्वतवशे स्थितः ॥ १२ ॥

इसी समय कालके वशमें पड़ा हुआ वह दुष्टात्मा दैत्य श्रीकृष्णके पास खड़ी हुई गौओंको त्रास देने लगा ॥ १२ ॥

सेन्द्राशनिरिवाम्भोदो नर्दमानो महासुरः ।
तालशब्देन तं कृष्णः सिंहनादैश्च मोहयन् ॥ १३ ॥

उस समय गर्जना करता हुआ वह महान् असुर इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके साथ आकाशमें छाये हुए मेघके समान जान पड़ता था। उसे मोहमें डालनेके लिये श्रीकृष्णने ताल ठोंका और सिंहनाद किया ॥ १३ ॥

अभ्यधावत गोविन्दो दैत्यं वृषभरूपिणम् ।
स कृष्णं गोवृषो दृष्ट्वा हृष्टलाङ्गूललोचनः ॥ १४ ॥

फिर वे भगवान् गोविन्द उस वृषभरूपधारी दैत्यकी ओर दौड़े। श्रीकृष्णको देखते ही उस बैलने हर्षमें भरकर अपनी पूँछ उठायी और उसके नेत्र भी खिल उठे ॥ १४ ॥

रोषितस्तालशब्देन युद्धाकाङ्क्षी ननर्द ह ।
तमापतन्तं दुर्वृत्तं दृष्ट्वा वृषभरूपिणम् ।
तस्मात् स्थानान्न व्यचलत् कृष्णो गिरिरिवाचलः॥ १५॥

उनके ताल ठोंकनेके शब्दसे वह रोषमें भरा हुआ था, अतः युद्धकी इच्छासे गर्जना करने लगा। बैलका रूप धारण करके अपनी ओर आते हुए उस दुराचारी दैत्यको देखकर भी श्रीकृष्ण उस स्थानसे तनिक भी इधर-उधर नहीं हुए, पर्वतके समान अविचल-भावसे खड़े रह गये ॥ १५ ॥

स कुक्षौ वृषभो दृष्टिं प्रणिधाय धृताननः।
कृष्णस्य निधनाकाङ्क्षी तूर्णमभ्युत्पपात ह ॥ १६ ॥

उस वृषभने श्रीकृष्णके पेटमें दृष्टि जमाकर उधर ही मस्तक भिड़ाया और उनके वधकी इच्छा रखकर तुरंत ही उछला ॥ १६ ॥

तमापतन्तं वेगेन प्रतिजग्राह दुर्द्धरम्।
कृष्णः कृष्णाञ्जननिभो वृषं प्रति वृषोपमः ॥ १७ ॥

काले अञ्जनके समान श्याम-शरीरवाले श्रीकृष्ण उस बैलका सामना करनेके लिये विपक्षी साँड़के समान प्रतीत होते थे। उन्होंने वेगसे अपनी ओर आते हुए उस दुर्धर दैत्यको पकड़ लिया ॥ १७ ॥

स संसक्तस्तु कृष्णो वै वृषेणेव महावृषः।
मुमोच वक्त्रजं फेनं नस्तश्चाथ सशब्दवत् ॥ १८ ॥

फिर तो श्रीकृष्ण उसके साथ इस तरह उलझ गये, जैसे एक साँड़के साथ दूसरा महासाँड़ भिड़ गया हो। अरिष्टासुर हाँफता हुआ अपनी नाक और मुखसे फेन छोड़ने लगा ॥

तावन्योन्यावरुद्धाङ्गौ युद्धे कृष्णवृषावुभौ।
रेजतुर्मेघसमये संसक्ताविव तोयदौ ॥ १९ ॥

श्रीकृष्ण और अरिष्टासुर दोनोंने उस युद्धमें एक दूसरेके शरीरको अवरुद्ध कर लिया था। उस समय वे दोनों वर्षा-कालमें परस्पर सटे हुए दो मेघोंके समान शोभा पा रहे थे ॥

तस्य दर्पबलं हत्वा कृत्वा शृङ्गान्तरे पदम्।
आपीडयदरिष्टस्य कण्ठं क्लिन्नमिवाम्बरम् ॥ २० ॥

इस प्रकार उसके बलको क्षीण करके घमंड चूर कर देनेके बाद श्रीकृष्णने उसके दोनों सींगोंके बीचमें एक पैर रखा और जैसे भीगे हुए कपड़ेको निचोड़ा जाता है, उसी प्रकार अरिष्टासुरके गलेको दबाकर मरोड़ दिया ॥ २० ॥

शृङ्गं चास्य पुनः सव्यमुत्पाट्य यमदण्डवत्।
तेनैव प्राहरद् वक्त्रे स ममार भृशं हतः ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् उसके बायें सींगको जो यमदण्डके समान जान पड़ता था, उखाड़ लिया और उसीके द्वारा उसके मुखपर प्रहार किया। उसकी गहरी चोट खाकर अरिष्टासुर मर गया ॥

स भिन्नशृङ्गो भग्नास्यो भग्नस्कन्धश्च दानवः।
पपात रुधिरोद्गारी साम्बुधार इवाम्बुदः ॥ २२ ॥

उसका सींग उखड़ गया, मुख कुचल दिया गया और गर्दन टूट गयी, उस दशामें वह दानव जलकी धारा बरसाने-वाले मेघके समान अपने मुखसे रक्तवमन करता हुआ गिर पड़ा ॥

गोविन्देन हतं दृष्ट्वा दृप्तं वृषभदानवम्।
साधु साध्विति भूतानि तत्कर्मास्याभितुष्टुवुः ॥ २३ ॥

मदसे उन्मत्त रहनेवाले उस वृषभरूपी दानवको भगवान् गोविन्दके हाथसे मारा गया देख सब प्राणी साधु-साधु कहकर उनके उस कर्मकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ २३ ॥

स चोपेन्द्रो वृषं हत्वा कान्तचन्द्रे निशामुखे।
अरविन्दाभनयनः पुनरेव ररास ह ॥ २४ ॥

उस प्रदोषकालमें जब कि चन्द्रमाकी कमनीय कान्ति बढ़ी हुई थी, कमलनयन भगवान् उपेन्द्र वृषभासुरको मार-कर पुनः रासक्रीड़ामें संलग्न हो गये ॥ २४ ॥

तेऽपि गोवृत्तयः सर्वे कृष्णं कमललोचनम्।
उपासांचक्रिरे हृष्टाः सर्वे शक्रमिवामराः ॥ २५ ॥

गौएँ ही जिनकी आजीविका हैं, वे समस्त गोप भी हर्षमें भरकर कमलनयन श्रीकृष्णकी उसी तरह उपासना करने लगे, जैसे सम्पूर्ण देवता इन्द्रकी आराधना करते हैं ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि वृषभासुरवधे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें वृषभासुरका वधविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

कंसकी आशङ्का, उसका रात्रिके समय यदुवंशियोंको बुलाकर भरी सभामें श्रीकृष्ण और विष्णुके प्रभावको बताना, वसुदेवपर कठोर आक्षेप करना तथा अक्रूरको श्रीकृष्ण आदिको बुला लानेके लिये व्रजमें जानेकी आज्ञा देना

वैशम्पायन उवाच

कृष्णं व्रजगतं श्रुत्वा वर्धमानमिवानलम्।
उद्वेगमगमत् कंसः शङ्कमानस्ततो भयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें जाकर अग्निकी भाँति बढ़ते, उत्तरोत्तर प्रज्वलित होते जा रहे हैं, यह सुनकर कंसको बड़ा उद्वेग हुआ। उसके मनमें श्रीकृष्णसे भय प्राप्त होनेकी शङ्का दृढ़ होने लगी ॥ १ ॥

पूतनायां हतायां च कालिये च पराजिते।
धेनुके प्रलयं नीते प्रलम्बे च निपातिते ॥ २ ॥
धृते गोवर्धने शैले विफले शक्रशासने।
गोपु त्रातासु च तथा स्पृहणीयेन कर्मणा ॥ ३ ॥
ककुद्मिनि हतेऽरिष्टे गोपेषु मुदितेषु च।
दृश्यमाने विनाशे च संनिकृष्टे महाभये ॥ ४ ॥
कर्षणे वृक्षयोश्चैव शकटस्य तथैव च।
अचिन्त्यं कर्म तच्छ्रुत्वा वर्धमानेषु शत्रुषु ॥ ५ ॥

प्राप्तारिष्टमिवात्मानं मेने स मथुरेश्वरः ।
विसंज्ञेन्द्रियभूतात्मा गतासुप्रतिमो बभौ ॥ ६ ॥

पूतना मारी गयी, कालिय नाग परास्त हुआ, धेनुकासुर कालके गालमें भेज दिया गया, प्रलम्बासुरको मार गिराया गया, गोवर्धन पहाड़को श्रीकृष्णने हाथपर उठा लिया, इन्द्रका शासन निष्फल हो गया, वैसे स्पृहणीय कर्मके द्वारा सम्पूर्ण गौओंकी रक्षा कर ली गयी, ऊँचे ककुद्वाले अरिष्टासुरको मार डाला गया, गोपगण आनन्दमें मग्न रहते हैं और अपना (कंसका) महाभयंकर विनाशकाल संनिकट दिखायी देने लगा है, यमलार्जुन वृक्षोंका ओखली खींचते समय टूट जाना, शकटका भङ्ग हो जाना आदि असम्भव कार्य सम्भव हो गये, शत्रु निरन्तर बढ़ रहे हैं और उनके द्वारा अचिन्त्य कर्म सम्पादित होने लगा है, यह सब सुनकर मथुरापति कंसने यह मान लिया कि अब मेरे ऊपर अरिष्ट आया ही चाहता है। इससे उसकी इन्द्रियाँ, शरीर और मन-बुद्धि सब-के सब अचेत हो गये तथा वह प्राणहीन-सा प्रतीत होने लगा ॥

ततो ज्ञातीन् समानाय्य पितरं चोग्रशासनः ।
निशि स्तिमितमूकायां मथुरायां जनाधिपः ॥ ७ ॥

तदनन्तर भयंकर शासनवाले राजा कंसने रात्रिके नीरव एवं निस्तब्ध-कालमें मथुरापुरीके भीतर रहनेवाले समस्त बन्धु-बान्धवों तथा अपने पिता उग्रसेनको भी बुलाया ॥ ७ ॥

वसुदेवं च देवाभं कङ्कं चाहूय यादवम् ।
सत्यकं दारुकं चैव कङ्कावरजमेव च ॥ ८ ॥
भोजं वैतरणं चैव विकद्रुं च महाबलम् ।
भयशङ्कुं च धर्मज्ञं विपृथुं च पृथुश्रियम् ॥ ९ ॥
बभ्रुं दानपतिं चैव कृतवर्माणमेव च ।
भूरितेजसमक्षोभ्यं भूरिश्रवसमेव च ॥ १० ॥
एतान् स यादवान् सर्वानाभाष्य श्रृणुतेति च ।
उग्रसेनसुतो राजा प्रोवाच मथुरेश्वरः ॥ ११ ॥

देवताके समान तेजस्वी वसुदेव, यदुकुलनन्दन कङ्क, सत्यक, दारुक, कङ्कके छोटे भाई, भोज, वैतरण, महाबली विकद्रु, धर्मज्ञ भयशङ्कु, पृथुल राजलक्ष्मीसे सम्पन्न विपृथु, दानपति बभ्रु (अक्रूर), कृतवर्मा, अक्षोभ्य भूरितेजा और भूरिश्रवा—इन सब यादवोंको बुलाकर सबको सम्बोधित करके मथुराके स्वामी उग्रसेनकुमार राजा कंसने कहा—'बन्धुओ ! आपलोग सुनें ॥ ८–११ ॥

भवन्तः सर्वकार्यज्ञा वेदेषु परिनिष्ठिताः ।
न्यायवृत्तान्तकुशलास्त्रिवर्गस्य प्रवर्तकाः ॥ १२ ॥
कर्तव्यानां च कर्तारो लोकस्य विबुधोपमाः ।
तस्थिवांसो महावृत्ते निष्कम्पा इव पर्वताः ॥ १३ ॥

'आप समस्त कर्तव्य-कर्मोंके ज्ञाता, वेदोंके परिनिष्ठित विद्वान्, न्यायोचित बर्तावमें कुशल, धर्म, अर्थ और कामके प्रवर्तक, कर्तव्य-पालक, जगत्‌के लिये देवताओंके समान माननीय, महान् आचार-विचारमें दृढ़तापूर्वक स्थिर रहनेवाले और पर्वतके समान अविचल हैं ॥ १२-१३ ॥

अदम्भवृत्तयः सर्वे सर्वे गुरुकुलोषिताः ।
राजमन्त्रधराः सर्वे सर्वे धनुषि पारगाः ॥ १४ ॥

'आप सब लोग पाखण्डपूर्ण वृत्तिसे दूर रहते हैं। सबने गुरुकुलमें रहकर शिक्षा पायी है। आप सब लोग राजाकी गुप्त मन्त्रणाको सुरक्षित रखनेवाले तथा धनुर्वेदमें पारङ्गत हैं ॥

यशःप्रदीपा लोकानां वेदार्थानां विवक्षवः ।
आश्रमाणां निसर्गज्ञा वर्णानां क्रमपारगाः ॥ १५ ॥

'आपके यशरूपी प्रदीप सम्पूर्ण जगत्‌में अपना प्रकाश फैला रहे हैं। आपलोग वेदोंके तात्पर्यका प्रतिपादन करनेमें समर्थ हैं। आश्रमोंके जो स्वाभाविक कर्म हैं, उन्हें आप जानते हैं। चारों वर्णोंके जो क्रमिक धर्म हैं, उनके आपलोग पारङ्गत विद्वान् हैं ॥ १५ ॥

प्रवक्तारः सुनियतं नेतारो नयदर्शिनाम् ।
भेत्तारः परराष्ट्राणां त्रातारः शरणार्थिनाम् ॥ १६ ॥

'आपलोग उत्तम विधियोंके वक्ता, नीतिदर्शी पुरुषोंके भी नेता, शत्रुराष्ट्रोंके गुप्त रहस्योंका भेदन करनेवाले तथा शरणार्थियोंके संरक्षक हैं ॥ १६ ॥

एवमक्षतचारित्रैः श्रीमद्भिरुदितोदितैः ।
द्यौरप्यनुगृहीता स्याद् भवद्भिः किं पुनर्मही ॥ १७ ॥

'आपके सदाचारमें कभी आँच नहीं आने पायी है ! आपलोग श्रीसम्पन्न हैं तथा श्रेष्ठ पुरुषोंकी चर्चा होते समय आपलोगोंके नाम बारंबार लिये जाते हैं। आपलोग चाहें तो स्वर्गलोकपर भी अनुग्रह कर सकते हैं, फिर इस भूतलकी तो बात ही क्या है ? ॥ १७ ॥

ऋषीणामिव वो वृत्तं प्रभावो मरुतामिव ।
रुद्राणामिव वः क्रोधो दीप्तिरङ्गिरसामिव ॥ १८ ॥

'आपका आचार ऋषियोंके, प्रभाव मरुद्गणोंके, क्रोध रुद्रोंके और तेज या दीप्ति अग्नियोंके समान है ॥ १८ ॥

व्यावर्तमानं सुमहद् भवद्भिः ख्यातकीर्तिभिः ।
धृतं यदुकुलं वीरैर्भूतलं पर्वतैरिव ॥ १९ ॥

'यह महान् यदुकुल जब अपनी मर्यादासे भ्रष्ट हो रहा था, उस समय विख्यात कीर्तिवाले आप-जैसे वीरोंने ही इसे मर्यादामें स्थापित किया, ठीक उसी तरह जैसे पर्वतोंने इस भूतलको दृढ़तापूर्वक धारण कर रखा है ॥ १९ ॥

एवं भवत्सु युक्तेषु मम चित्तानुवर्तिषु ।
वर्धमानो ममानर्थो भवद्भिः किमुपेक्षितः ॥ २० ॥

'आपलोग ऐसे सुयोग्य हैं और सदा मेरे अनुकूल चलते हैं, परंतु इस समय आपलोगोंके होते हुए भी मेरे अनर्थ (संकट) की वृद्धि हो रही है, पता नहीं आपने उसकी उपेक्षा कैसे कर दी है ॥ २० ॥

एष कृष्ण इति ख्यातो नन्दगोपसुतो व्रजे ।
वर्धमान इवाम्भोधिर्मूलं नः परिकृन्तति ॥ २१ ॥

'व्रजमें कृष्ण नामसे विख्यात जो यह नन्द गोपका बेटा है, वह (मर्यादाको लाँघकर) बढ़नेवाले समुद्रकी भाँति बढ़कर हमारी जड़ काट रहा है ॥ २१ ॥

अनमात्यस्य शून्यस्य चारान्धस्य ममैव तु ।
कारणान्नन्दगोपस्य स सुतो गोपितो गृहे ॥ २२ ॥

'मेरे पास कोई सुयोग्य मन्त्री नहीं है, मैं हृदय एवं विचारसे शून्य हूँ तथा गुप्तचररूपी नेत्रसे हीन होनेके कारण अंधा हो गया हूँ। मेरे इसी दोषके कारण नन्द-गोपका वह पुत्र अपने घरमे सुरक्षित रह सका है ॥ २२ ॥

उपेक्षित इव व्याधिः पूर्यमाण इवाम्बुदः ।
नदन्मेघ इवोष्णान्ते स दुरात्मा विवर्धते ॥ २३ ॥

'वह दुरात्मा उपेक्षित रोग तथा वर्षा ऋतुमें निरन्तर जलसे भरनेवाले गरजते हुए मेघकी भाँति बढ़ता जा रहा है॥

तस्य नाहं गतिं जाने न योगं न पराक्रमम् ।
नन्दगोपस्य भवने जातस्याद्भुतकर्मणः ॥ २४ ॥

'नन्दके घरमें उत्पन्न हुए उस अद्भुतकर्मा बालकका आश्रय क्या है ? यह मैं नहीं जानता । उसे वशमें करनेका उपाय क्या है, इसका भी मुझे पता नहीं तथा उसमें कितना पराक्रम है, यह भी अच्छी तरह ज्ञात नहीं हो सका ॥ २४ ॥

किं तद्भूतं समुद्भूतं देवापत्यं न विद्महे ।
अतिदेवैरमानुष्यैः कर्मभिः सोऽनुमीयते ॥ २५ ॥

'पता नहीं कौन-सा भूत उसके रूपमें उत्पन्न हुआ है। वह किसी देवताकी संतान है, यह बात भी मेरी समझमें नहीं आती। उसके जो कर्म हैं, वे देवताओं और मनुष्योंके लिये असाध्य हैं। उन कर्मोंसे ही यह अनुमान होता है कि वह देवताओंसे भी अधिक शक्तिशाली है ॥ २५ ॥

पूतना शकुनी बाल्ये शिशुनोत्तानशायिना ।
स्तनपानेप्सुना पीता प्राणैः सह दुरासदा ॥ २६ ॥

'पूतना नामवाली पक्षिणी एक दुर्जय राक्षसी थी। वह जब इसे बाल्यावस्थामे दूध पिलाने गयी, उस समय यह खाटपर उत्तान सोनेवाला शिशुमात्र था, परंतु उसका स्तन-पान करनेकी इच्छासे जब इसने मुँह लगाया, तब उसके प्राणोंके साथ यह उसे ही पी गया ॥ २६ ॥

यमुनाया ह्रदे नागः कालियो दमितस्तथा ।
रसातलचरो नीतः क्षणेनादर्शनं ह्रदात् ॥ २७ ॥

'यमुनाके कुण्डमें जो कालिय नाग रहता था, उसका भी इसने दमन कर दिया और क्षणभरमें उस कुण्डसे उसको अदृश्य करके रसातलचारी बना दिया ॥ २७ ॥

नन्दगोपसुतो योगं कृत्वा स पुनरुत्थितः ।
धेनुकस्तालशिखरात् पातितो जीवितं विना ॥ २८ ॥

'उस नागके हट जानेका उचित उपाय करके नन्द-गोपका यह पुत्र पुनः जलसे बाहर निकल आया। धेनुकासुरको ताड़के शिखरसे गिराकर प्राणशून्य कर दिया ॥ २८ ॥

प्रलम्बं यं मृधे देवा न शेकुरतिवर्तितुम् ।
बालेन मुष्टिनैकेन स हतः प्राकृतो यथा ॥ २९ ॥

'युद्धमें देवता भी जिस प्रलम्बासुरका सामना करने या उसे हरा देनेकी शक्ति नहीं रखते थे, उसे इस बालकने केवल एक मुक्केसे मारकर साधारण मनुष्यकी भाँति कालके गालमें भेज दिया ॥ २९ ॥

वासवस्योत्सवं भङ्क्त्वा वर्षं वासवरोषजम् ।
निर्जित्य गोगृहार्थाय धृतो गोवर्धनो गिरिः ॥ ३० ॥

'इन्द्रके उत्सवको भङ्ग करके उनके रोषसे होनेवाली वर्षापर भी काबू पा लिया और गौओंके लिये सुरक्षित घर प्रस्तुत करनेके लिये गोवर्धन पर्वतको हाथपर उठा लिया ॥

हतस्त्वरिष्टो बलवान् निःशृङ्गश्च कृतो व्रजे ।
अबालो बाल्यमास्थाय रमते शिशुलीलया ॥ ३१ ॥

'व्रजमे बलवान् अरिष्टासुरको मार डाला और उसका सींग उखाड़ लिया। यह वास्तवमे बालक नहीं है, केवल बाल्यावस्थाका आश्रय लेकर बालकों-जैसा खेल कर रहा है ॥ ३१ ॥

प्रबन्धः कर्मणामेवं तस्य गोव्रजवासिनः ।
संनिकृष्टं भयं चैव केशिनो मम च ध्रुवम् ॥ ३२ ॥

'गौओंके व्रजमें निवास करनेवाले इस बालकके कर्मोंकी जो इस प्रकार परम्परा चल रही है, उसे देखते हुए मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मुझपर और केशीपर भी निश्चय ही भय आनेवाला है और वह भय दूर नहीं अत्यन्त निकट है ॥ ३२ ॥

भूतपूर्वश्च मे मृत्युः सततं पूर्वदैहिकः ।
युद्धाकाङ्क्षी च स यथा तिष्ठतीह ममाग्रतः ॥ ३३ ॥

'पूर्वजन्ममें इस शरीरके लिये जो भूतपूर्व मृत्यु था, वही इस समय भी युद्धकी अभिलाषा रखकर सदा मेरे सामने खड़ा रहता है ॥ ३३ ॥

क्व च गोपत्वमशुभं मानुष्यं मृत्युदुर्बलम् ।
क्व च देवप्रभावेण क्रीडितव्यं व्रजे मम ॥ ३४ ॥

'कहाँ तो अशुभ गोपत्व और मौतकी दुर्बलता धारण करनेवाला मानव-शरीर तथा कहाँ उसका मेरे व्रजमें रहकर देवतुल्य प्रभावसे अद्भुत क्रीडा करना ॥ ३४ ॥

अहो नीचेन वपुषाच्छादयित्वाऽऽत्मनो वपुः ।
कोऽप्येष रमते देवः श्मशानस्थ इवानलः ॥ ३५ ॥

'अहो ! कितने आश्चर्यकी बात है कि यह कोई देवता अपने स्वरूपको नीच गोपवेशमें छिपाकर श्मशानमें स्थित हुई अग्निके समान यहाँ रम रहा है ॥ ३५ ॥

श्रूयते हि पुरा विष्णुः सुराणां कारणान्तरे ।
वामनेन तु रूपेण जहार पृथिवीमिमाम् ॥ ३६ ॥

'सुना जाता है कि पूर्वकालमें विष्णुने देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये वामनरूप धारण करके राजा बलिके हाथसे इस पृथ्वीको छीन लिया था ॥ ३६ ॥

कृत्वा केसरिणो रूपं विष्णुना प्रभविष्णुना ।
हतो हिरण्यकशिपुर्दानवानां पितामहः ॥ ३७ ॥

'उन्हीं प्रभावशाली विष्णुने सिंहका-सा रूप बनाकर दानवोंके पितामह हिरण्यकशिपुका वध कर डाला था ॥ ३७ ॥

अचिन्त्यरूपमास्थाय श्वेतशैलस्य मूर्धनि ।
भवेन च्याविता दैत्याः पुरा तत्त्रिपुरं घ्नता ॥ ३८ ॥

'इसी तरह पूर्वकालमें रुद्र (रूपधारी विष्णु) ने अचिन्त्य रूपका आश्रय लेकर श्वेताचलके शिखरपर स्थित हो त्रिपुरका नाश करके दैत्योंको वहाँसे नीचे गिरा दिया था ॥ ३८ ॥

चालितो गुरुपुत्रेण भार्गवोऽङ्गिरसेन वै ।
प्रविश्य दार्दुरीं मायामनावृष्टिं चकार ह ॥ ३९ ॥

'बृहस्पतिके पुत्र कचने दार्दुरी मायामें प्रविष्ट होकर शुक्राचार्यको अपनी प्रतिज्ञासे विचलित कर दिया था। उन्होंने ही दैत्योंके जगत्में 'अनावृष्टि' उत्पन्न कर दी थी। (जिससे दैत्योंकी बड़ी भारी हानि हुई*। ये कच भी विष्णुकी ही विभूति थे) ॥ ३९ ॥

अनन्तः शाश्वतो देवः सहस्रशिरसोऽव्ययः ।
वाराहं रूपमास्थाय प्रोज्जहारार्णवान्महीम् ॥ ४० ॥

'वे विष्णु अनन्त, सनातन देव, सहस्रों मस्तकोंसे विभूषित और अविनाशी हैं। उन्होंने वाराहरूप धारण करके समुद्रसे इस पृथ्वीका उद्धार किया ॥ ४० ॥

अमृते निर्मिते पूर्वं विष्णुः स्त्रीरूपमास्थितः ।
सुराणामसुराणां च युद्धं चक्रे सुदारुणम् ॥ ४१ ॥

'पूर्वकालमें जब अमृत प्रकट हुआ था, तब विष्णुने ही मोहिनी स्त्रीका रूप धारण करके देवताओं और असुरोंमें अत्यन्त भयंकर युद्ध करवाया था ॥ ४१ ॥

अमृतार्थे पुरा चापि देवदैत्यसमागमे ।
दधार मन्दरं विष्णुरकूपार इति श्रुतिः ॥ ४२ ॥

'अमृत निकालनेके लिये सम्मिलितरूपसे प्रयत्न करनेके उद्देश्यसे जब देवता और दैत्य परस्पर मिले थे, उस समय श्रीविष्णुने ही कच्छपरूप धारण करके समुद्रके भीतर मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किया था—ऐसा सुना जाता है ॥ ४२ ॥

वपुर्वामनमास्थाय नन्दनीयं पुरा बलेः ।
त्रिभिः क्रमैस्तु त्रींल्लोकाञ्जहार त्रिदिवालयम् ॥ ४३ ॥

'उन्होंने ही पहले अभिनन्दनीय वामनरूप धारण करके तीन पगोंद्वारा त्रिलोकीको नापकर बलिके हाथसे स्वर्गलोकका राज्य ले लिया था ॥ ४३ ॥

चतुर्धा तेजसो भागं कृत्वा दाशरथे गृहे ।
स एव रामसंज्ञो वै रावणं व्यनशत् तदा ॥ ४४ ॥

'वे ही राजा दशरथके घरमें अपने तेजको चार भागोंमें विभक्त करके अवतीर्ण हुए और 'राम' नामसे प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने उस समय रावणका वध किया था ॥ ४४ ॥

एवमेष निकृत्या वै तत्तद्रूपमुपागतः ।
साधयत्यात्मनः कार्यं सुराणामर्थसिद्धये ॥ ४५ ॥

'इस प्रकार ये विष्णु छलसे भिन्न-भिन्न रूप धारण करके देवताओंका मनोरथ सिद्ध करनेके लिये अपना काम बना लेते हैं ॥ ४५ ॥

तदेष नूनं विष्णुर्वा शक्रो वा मरुतां पतिः ।
मत्साधनेच्छया प्राप्तो नारदो मां यदुक्तवान् ॥ ४६ ॥

'अतः यह श्रीकृष्ण निश्चय ही विष्णु है अथवा देवराज इन्द्र। यह मेरा वध करनेकी इच्छासे ही व्रजभूमिमें आया है; जैसा कि देवर्षि नारदने मुझे बताया था ॥ ४६ ॥

अत्र मे शङ्कते बुद्धिर्वसुदेवं प्रति ध्रुवा ।
अस्य बुद्धिविशेषेण वयं कातरतां गताः ॥ ४७ ॥

'इस विषयमें मेरी बुद्धि निश्चय ही वसुदेवके प्रति संदेह करने लगी है। इस वसुदेवकी विशिष्ट बुद्धिसे हम अवश्य कातर हो उठे हैं ॥ ४७ ॥

अहं हि खट्वाङ्गवने नारदेन समागतः ।
द्वितीयं स हि मां विप्रः पुनरेवाब्रवीद् वचः ॥ ४८ ॥

'मैं खट्वाङ्गवनमें जब दूसरी बार नारदसे मिला था, तब उस ब्राह्मणने मुझसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ ४८ ॥

यस्त्वया हि कृतो यत्नः कंस गर्भकृते महान् ।
वसुदेवेन ते रात्रौ तत्कर्म विफलीकृतम् ॥ ४९ ॥

'कंस ! तुमने जो देवकीका गर्भ नष्ट कर देनेके लिये महान् प्रयत्न आरम्भ किया था, तुम्हारे उस कर्मको रातके समय वसुदेवने निष्फल कर दिया ॥ ४९ ॥

दारिका या त्वया रात्रौ शिलायां कंस पातिता ।
तां यशोदासुतां विद्धि कृष्णं च वसुदेवजम् ॥ ५० ॥

'कंस ! तुमने रातके समय जिस कन्याको शिलापर दे मारा था, उसे यशोदाकी पुत्री समझो और वहाँ जो श्रीकृष्ण है, वही वसुदेव (तथा देवकी) का पुत्र है ॥ ५० ॥

रात्रौ व्यावर्तितावेतौ गर्भौ तव वधाय वै ।
वसुदेवेन संधाय मित्ररूपेण शत्रुणा ॥ ५१ ॥

'तुम्हारे मित्र-रूपधारी शत्रु वसुदेवने रातके समय छलपूर्वक तुम्हारे वधके लिये इन दोनों बच्चोंकी अदला बदली कर ली थी ॥ ५१ ॥

* जैसे मेढक बारंबार मरकर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार कच भी दैत्योंद्वारा बारंबार मारे जानेपर जीवित हुए। यही उनका दार्दुरी मायामें प्रवेश है। एक बार दानवोंने कचको मारकर युक्तिसे शुक्राचार्यके पेटमें पहुँचा दिया। उनकी जीवन-रक्षाके लिये विवश होकर शुक्राचार्यको 'संजीवनी विद्या किसीको भी नहीं सिखाऊँगा' अपनी यह प्रतिज्ञा छोड़नी पड़ी और उन्होंने कचको विद्या सिखा दी। उसके प्रभावसे कच गुरुजीका पेट फाड़कर निकल आये। फिर उन्होंने गुरुजीको भी जीवित कर दिया। दैत्योंने जो ब्रह्महत्या की, उसी पापसे उनके राज्यमें वर्षा बंद हो गयी।

सा तु कन्या यशोदाया विन्ध्ये पर्वतसत्तमे।
हत्वा शुम्भनिशुम्भौ द्वौ दानवौ नगचारिणौ ॥ ५२ ॥

'यशोदाकी वह कन्या पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्यगिरिपर जाकर रहती है। वहाँ उस पर्वतपर विचरनेवाले जो शुम्भ और निशुम्भ नामक दो दानव थे, उनका वध करके प्रतिष्ठित हुई है ॥ ५२ ॥

कृताभिषेका वरदा भूतसंघनिषेविता।
अर्च्यते दस्युभिर्घोरैर्महाबलिपशुप्रिया ॥ ५३ ॥

'प्राणियोंके समुदायद्वारा सेवित वह देवी उपासकोंको अभीष्ट वर देनेवाली है। उसे महती पूजन-सामग्री और वहाँ विचरनेवाले पशु प्रिय हैं। वहाँ भयानक दस्यु उस देवीका अभिषेक करके पूजन करते हैं ॥ ५३ ॥

सुरापिशितपूर्णाभ्यां कुम्भाभ्यामुपशोभिता।
मयूराङ्गदचित्रैश्च बर्हभारैर्विभूषिता ॥ ५४ ॥

'वह मधु तथा फलके गूदोंसे भरे हुए दो कलशोंसे सुशोभित होती है। मोरपंखके बने हुए विचित्र भुजदण्ड तथा मोरोंकी पाँखसे ही बनाये गये दूसरे-दूसरे आभूषण उस देवीके अलंकार हैं ॥ ५४ ॥

हृष्टकुक्कुटसंनादं वनं वायसनादितम्।
मृगसंघैश्च सम्पूर्णमविरुद्धैश्च पक्षिभिः ॥ ५५ ॥
सिंहव्याघ्रवराहाणां नादेन प्रतिनादितम्।
वृक्षगम्भीरनिविडं कान्तारैः सर्वतो वृतम् ॥ ५६ ॥
दिव्यभृङ्गारुचमरैरादर्शैरुपशोभितम्।
देवतूर्यनिनादैश्च शतशः प्रतिनादितम् ॥ ५७ ॥
स्थानं तस्या नगे विन्ध्ये निर्मितं स्वेन तेजसा।
रिपूणां त्रासजननी नित्यं तत्र मनोरमे ॥ ५८ ॥
वसते परमप्रीता दैवतैरपि पूजिता।

'उस विन्ध्यपर्वतपर उसके अपने ही तेजसे निर्मित हुआ स्थान एक सुन्दर वन है, जहाँ हर्षमें भरे हुए मुर्गोंका कलनाद सुनायी देता है। कौओंके काँव-काँवकी आवाज भी गूँजती रहती है। मृग आदि पशुओंके समुदाय भी वहाँ भरे रहते हैं तथा मनके अनुकूल पक्षियोंसे भी वह स्थान सुशोभित रहता है। वहाँ सिंहों, व्याघ्रों और वराहोंकी गर्जनाका गम्भीर शब्द प्रतिध्वनित होता रहता है। वृक्षोंके बाहुल्यसे वह गम्भीर एवं गहन प्रतीत होता है। सब ओरसे दुर्गम स्थानोंद्वारा वह घिरा हुआ है। दिव्य गड़ुआ, चवँर और दर्पण देवीके उस स्थानकी शोभा बढ़ाते हैं। सैकड़ों देववाद्यों-की ध्वनियोंसे वह वन गूँजता रहता है। शत्रुओंको त्रास देनेवाली वह देवी सदा उसी मनोरम वनमें प्रसन्नतापूर्वक निवास करती है। वहाँ देवता भी उसकी पूजा करते हैं ॥ ५५—५८½ ॥

यस्त्वयं नन्दगोपस्य कृष्ण इत्युच्यते सुतः ॥ ५९ ॥
अत्र मे नारदः प्राह सुमहत्कर्मकारणम्।
द्वितीयो वसुदेवाद् वै वासुदेवो भविष्यति ॥ ६० ॥
स हि ते सहजो मृत्युर्बान्धवश्च भविष्यति।

'यह कृष्ण नामसे प्रसिद्ध जो नन्दगोपका पुत्र बताया जाता है, उसके विषयमें नारदजीने मुझसे कहा है कि 'व्रजमें जो पूतनावध आदि बड़े-बड़े कर्म हो रहे हैं, उनका प्रधान कारण वही है। वह वसुदेवसे उत्पन्न होनेवाला दूसरा पुत्र है, इसलिये वासुदेव नामसे विख्यात होगा। वह तुम्हारी सहज मृत्यु तथा बान्धव भी होगा ॥ ५९-६०½ ॥

स एव वासुदेवो वै वसुदेवसुतो बली।
बान्धवो धर्मतो मह्यं हृदयेनान्तको रिपुः ॥ ६१ ॥

'वसुदेवका वह बलवान् पुत्र वासुदेव ही धर्मतः मेरा बान्धव है; किंतु हृदयसे विनाशकारी शत्रु बना है ॥ ६१ ॥

यथा हि वायसो मूर्ध्नि पद्भ्यां यस्यावतिष्ठति।
नेत्रे तुदति तस्यैव वक्त्रेणामिषगृद्धिना ॥ ६२ ॥
वसुदेवस्तथैवायं सपुत्रज्ञातिबान्धवः।
छिनत्ति मम मूलानि भुङ्क्ते च मम पार्श्वतः ॥ ६३ ॥

'जैसे कौवा जिसके सिरपर दोनों पंजे रखकर बैठता है, अपनी मांसलोलुप चोंचसे उसीके दोनों नेत्रोंपर प्रहार करता है; उसी प्रकार ये वसुदेव भी अपने पुत्र और भाई-बन्धुओं-सहित मेरे ही पास खाते हैं और मेरी ही जड़ काटते हैं ॥ ६२-६३ ॥

भ्रूणहत्यापि संतार्या गोवधः स्त्रीवधोऽपि वा।
न कृतघ्नस्य लोकोऽस्ति बान्धवस्य विशेषतः ॥ ६४ ॥

'भ्रूणहत्याके पापसे मनुष्य तर सकता है, गोवध अथवा स्त्रीवधके पापको भी प्रायश्चित्त आदिके द्वारा लाँघा जा सकता है; परंतु जो कृतघ्न है, विशेषतः अपने भाई-बन्धुपर कृतघ्नता करता है, उसके लिये कोई लोक नहीं है—उसका कहीं भी ठिकाना नहीं लगता ॥ ६४ ॥

पतितानुगतं मार्गं निषेवत्यचिरेण सः।
यः कृतघ्नोऽनुबन्धेन प्रीतिं वहति दारुणाम् ॥ ६५ ॥

'जो भीतरसे कृतघ्न रहकर अपना काम बनानेके लिये ऊपरसे भयानक प्रीतिका बोझ ढोता है, वह शीघ्र ही पतितोंके पथका आश्रय लेता है ॥ ६५ ॥

नरकाध्युषितः पन्था गन्तव्यस्तेन दारुणः।
अपापे पापहृदयो यः पापमनुतिष्ठति ॥ ६६ ॥

'जो पापहीनके प्रति अपने हृदयमें पापपूर्ण भाव लेकर पापका ही बर्ताव करता है, उसे नरकके भयंकर मार्गपर जाना पड़ता है ॥ ६६ ॥

अहं वा स्वजनः श्लाघ्यः स वा श्लाघ्यतरः सुतः।
नियमैर्गुणवृत्तेन त्वया बान्धवकाम्यया ॥ ६७ ॥

'नियम, गुण और आचार—इनको सामने रखकर तुम्हें किसीको मित्र बनानेकी इच्छा करनी चाहिये। बतलाओ, तुम मुझ स्वजनको स्पृहणीय मानते हो अथवा अपने उस पुत्रको मुझसे भी अधिक श्लाघ्य समझते हो ? ॥ ६७ ॥

हस्तिनां कलहे घोरे वधमृच्छन्ति वीरुधः।
युद्धव्युपरमे ते तु सहाश्नन्ति महावने ॥ ६८ ॥
बान्धवानामपि तथा भेदकाले समुत्थिते।
वध्यते योऽन्तरप्रेप्सुः स्वजनो यदि वेतरः ॥ ६९ ॥

'हाथियोंमें भयंकर युद्ध छिड़ जानेपर घास-पात और लता-बेलें नष्ट होती हैं; फिर युद्धका विराम होनेपर वे हाथी उस महान् वनमें साथ-साथ खाते-पीते हैं; उसी प्रकार भाई-बन्धुओंमें भेद उपस्थित होनेपर जो छिद्र ढूँढ़नेवाला होता है, वही मारा जाता है; भले ही वह स्वजन हो या और कोई ॥ ६८-६९ ॥

कालस्त्वं हि विनाशाय मया पुष्टो विजानता।
वसुदेव कुलस्यास्य यद् विरोधयसे भृशम् ॥ ७० ॥

'वसुदेव ! तुम इस कुलके काल हो। मैंने अपने विनाशके लिये ही तुम्हें जान-बूझकर पाला-पोसा है। तभी तो तुम मुझसे अत्यन्त विरोध बढ़ा रहे हो ॥ ७० ॥

अमर्षी वैरशीलश्च सदा पापमतिः शठः।
स्थाने यदुकुलं मूढ शोचनीयं त्वया कृतम् ॥ ७१ ॥

'ओ मूढ ! तुम अमर्षशील (असहिष्णु) और स्वभावतः वैर रखनेवाले हो। तुम्हारी बुद्धि सदा पापमें ही लगी रहती है। तुम शठ हो। तुमने जो इस यदुकुलकी शोचनीय अवस्था कर दी है, वह उचित ही है ॥ ७१ ॥

वसुदेव वृथा वृद्ध यन्मया त्वं पुरस्कृतः।
श्वेतेन शिरसा वृद्धो नैव वर्षशतैर्भवेत् ॥ ७२ ॥
यस्य बुद्धिः परिणता स वै वृद्धतरो नृणाम् ॥ ७३ ॥

'बूढ़े वसुदेव ! मैंने जो तुम्हें पुरस्कृत किया—सदा अगुआ बनाकर रक्खा, वह सब व्यर्थ हो गया। सिरके बाल सफेद हो जायँ और सौ वर्षोंकी आयु हो जाय—इतनेसे ही कोई वृद्ध (श्रेष्ठ) नहीं हो सकता, जिसकी बुद्धि परिपक्व हो, वही मनुष्योंमें वृद्धतर (श्रेष्ठतम या बड़ा-बूढ़ा) माना गया है ॥ ७२-७३ ॥

त्वं च कर्कशशीलश्च बुद्ध्या च न बहुश्रुतः।
केवलं वयसा वृद्धो यथा शरदि तोयदः ॥ ७४ ॥

'तुम्हारा स्वभाव तो कर्कश (क्रूर) है। तुम बुद्धिसे भी बहुश्रुत (अधिक बातोंके जानकार) नहीं हो। शरद् ऋतुके बादलकी भाँति केवल अवस्थामें ही बूढ़े हो (अनुभवमें नहीं)।७४।

किं च त्वं साधु जानीषे वसुदेव वृथामते।
मृते कंसे मम सुतो मथुरां पालयिष्यति ॥ ७५ ॥

'इतना ही नहीं, व्यर्थ बुद्धि रखनेवाले वसुदेव ! तुम यह अच्छी तरह समझने लगे हो कि कंसके मर जानेपर मेरा बेटा मथुराका पालन करेगा—वही यहाँका राजा होगा ॥ ७५ ॥

छिन्नाशस्त्वं वृथावृद्धो मिथ्या त्वेवं विचारितम्।
जिजीविषुर्न सोऽप्यस्ति योऽवतिष्ठेन्ममाग्रतः ॥ ७६ ॥

'परंतु तुम्हारी यह आशा छिन्न-भिन्न हो जायगी। तुम व्यर्थ ही बूढ़े हुए। तुमने झूठे ही ऐसा विचार किया है। अरे ! जो मेरे सामने प्रतिद्वन्द्वी बनकर खड़ा हो, उसके विषयमें यह समझना चाहिये कि वह जीवित रहना नहीं चाहता ॥ ७६ ॥

प्रहर्तुकामो विश्वस्ते यस्त्वं दुष्टेन चेतसा।
तत् ते प्रतिकरिष्येऽहं पुत्रयोस्तव पश्यतः ॥ ७७ ॥

'मैंने सदा तुम्हारा विश्वास किया और तुमने दुष्टतापूर्ण चित्तसे मुझपर प्रहार करनेकी अभिलाषा की। इसका बदला मैं तुम्हारे दोनों पुत्रोंसे लूँगा और तुम उसे अपनी आँखों देखोगे ॥ ७७ ॥

न मे वृद्धवधः कश्चिद् द्विजस्त्रीवध एव च।
कृतपूर्वः करिष्ये वा विशेषेण तु बान्धवे ॥ ७८ ॥

'मैंने पहले कभी भी किसी बूढ़ेका, ब्राह्मणका अथवा स्त्रीका वध नहीं किया है तथा न आगे ही ऐसा करूँगा; विशेषतः अपने बन्धु-बान्धवपर तो मैं हाथ उठाऊँगा ही नहीं ॥ ७८ ॥

इह त्वं जातसंवृद्धो मम पित्रा विवर्धितः।
पितृष्वसुश्च मे भर्ता यदूनां प्रथमो गुरुः ॥ ७९ ॥

'वसुदेव ! तुम यहीं पैदा हुए, यहीं बढ़े और मेरे पिताने ही तुम्हें पाल-पोसकर बड़ा किया। तुम मेरी चचेरी बहिनके पति हो और यदुवंशियोंमें सर्वश्रेष्ठ गुरुरूप माने जाते हो ॥ ७९ ॥

कुले महति विख्यातः प्रथिते चक्रवर्तिनाम्[1]।
गुर्वर्थे पूजितः सद्भिर्महद्भिर्धर्मबुद्धिभिः ॥ ८० ॥

'चक्रवर्तियोंके सुविख्यात एवं महान् कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ, तुम स्वयं भी प्रसिद्ध हो तथा धर्मविषयक बुद्धि रखनेवाले श्रेष्ठ महापुरुषोंने उसी गौरवके कारण तुम्हारा पूजन, आदर-सत्कार किया है ॥ ८० ॥

किं करिष्यामहे सर्वे सत्सु वक्तव्यतां गताः।
यदूनां यूथमुख्यस्य यस्य ते वृत्तमीदृशम् ॥ ८१ ॥

'तुम यदुवंशियोंके समुदायमें मुख्य हो। जब तुम्हारा आचार-व्यवहार ऐसा है (तो औरोंका क्या कहा जाय ?)। क्या करें, हम सब लोग केवल तुम्हारे कारण सत्पुरुषोंके समाजमें निन्दाके पात्र बन गये ॥ ८१ ॥

मद्वधो वा जयो वाथ वसुदेवस्य दुर्नयैः।
सत्सु यास्यन्ति पुरुषा यदूनामवगुण्ठिताः ॥ ८२ ॥

'वसुदेवकी दुर्नीतिसे मेरा वध हो अथवा विजय, आजसे यदुकुलके पुरुष सज्जनोंके समाजमें अपना मुँह ढँककर जायँगे ॥ ८२ ॥

त्वया हि मद्वधोपायं तर्कमाणेन वै मृधे।
अविश्वास्यं कृतं कर्म वाच्याश्च यदवः कृताः ॥ ८३ ॥

'वसुदेव ! तुमने युद्धमें मेरे वधका उपाय सोचते-सोचते

---

१. यद्यपि ययातिके शापसे यदुकुलका कोई भी पुरुष चक्रवर्ती राजा नहीं हुआ तथापि यहाँ चक्रवर्तीके लक्षण-विशेषसे सम्पन्न पुरुषोंको ही चक्रवर्ती कहा गया है। वह लक्षण इस प्रकार है—यस्य मूर्धनि दृश्येत विना छत्रेण भूपतेः। पद्मानुकारिणी छाया तमाहुश्चक्रवर्तिनम् ॥ अर्थात् जिस राजाके मस्तकपर विना छत्र लगाये ही कमल-जैसी छाया दिखायी दे, उसे चक्रवर्ती कहते हैं।

ऐसा कर्म कर डाला, जिसके कारण यादवोंके ऊपरसे सबका विश्वास उठ गया। तुमने यदुवंशियोंको कलङ्कित करके निन्दाके योग्य बना दिया ॥ ८३ ॥

अशाम्यं वैरमुत्पन्नं मम कृष्णस्य चोभयोः।
शान्तिमेकतरे शान्तिं गते यास्यन्ति यादवाः ॥ ८४ ॥

'अब तो हम दोनोंमें—मुझ कंस और कृष्णमें कभी शान्त न होनेवाला वैर उत्पन्न हो गया है। हममेसे किसी एक व्यक्तिके शान्त होने—मर जानेपर ही यादवोंको शान्ति मिलेगी ॥ ८४ ॥

गच्छ दानपते क्षिप्रं ताविहानयितुं व्रजात्।
नन्दगोपं च गोपांश्च करदान् मम शासनात् ॥ ८५ ॥

'दानपते अक्रूर ! तुम मेरे आदेशसे वसुदेवके उन दोनों पुत्रोंको, नन्दगोपको तथा मुझे कर देनेवाले अन्य गोपोंको भी व्रजसे यहाँ बुला लानेके लिये शीघ्र जाओ ॥ ८५ ॥

वाच्यश्च नन्दगोपो वै करमादाय वार्षिकम्।
शीघ्रमागच्छ नगरं गोपैः सह समन्वितः ॥ ८६ ॥

'नन्दगोपसे कह देना कि तुम हमारा वार्षिक कर लेकर गोपोंके साथ शीघ्र ही मथुरापुरीको चलो ॥ ८६ ॥

कृष्णसंकर्षणौ चैव वसुदेवसुतावुभौ।
द्रष्टुमिच्छति वै कंसः सभृत्यः सपुरोहितः ॥ ८७ ॥

'वसुदेवके ये दोनों पुत्र जो श्रीकृष्ण और संकर्षण हैं, इन्हे सेवकों और पुरोहितोंसहित महाराज कंस देखना चाहते हैं ॥ ८७ ॥

एतौ युद्धविदौ रङ्गे कालनिर्माणयोधिनौ।
दृढौ च कृतिनौ चैव शृणोमि व्यायतोद्यमौ ॥ ८८ ॥

'सुनता हूँ कि ये दोनों अखाड़ेमे लड़ना जानते हैं और सामयिक युद्धकी कलामे कुशल हैं। इन्होंने दीर्घकालसे इसके लिये विशेष यत्न और परिश्रम किया है तथा ये दोनों भाई सुदृढ़ और चतुर हैं ॥ ८८ ॥

अस्माकमपि मल्लौ द्वौ सज्जौ युद्धकृतोत्सवौ।
ताभ्यां सह नियोत्स्येते तौ युद्धकुशलावुभौ ॥ ८९ ॥

'हमारे यहाँ भी दो पहलवान लड़ाईके लिये तैयार हैं। इन्हें लड़ने-भिड़नेमें बडा आनन्द आता है। वे दोनों ही युद्धमे कुशल हैं, जो उन दोनों श्रीकृष्ण और संकर्षणके साथ युद्ध करेंगे ॥ ८९ ॥

द्रष्टव्यौ च मयावश्यं बालौ तावमरोपमौ।
पितृष्वसुः सुतौ मुख्यौ व्रजवासौ वनेचरौ ॥ ९० ॥

'वे दोनो देवोपम बालक मेरी चचेरी बहिनके प्रधान पुत्र हैं, जो इस समय व्रजमे रहते और वनमे विचरते हैं। मुझे अवश्य उन दोनोंको देखना चाहिये ॥ ९० ॥

वक्तव्यं च व्रजे तस्मिन् समीपे व्रजवासिनाम्।
राजा धनुर्मखं नाम कारयिष्यति वै सुखी ॥ ९१ ॥

'उस व्रजमे जाकर व्रजवासियोंके समीप तुम्हे यह कहना चाहिये कि सुखी राजा कंस धनुर्यज्ञका उत्सव करायेंगे ॥ ९१ ॥

संनिकृष्टे वने ते तु निवसन्तु यथासुखम्।
जनस्यामन्त्रितस्यार्थे यथा स्यात् सर्वमव्ययम् ॥ ९२ ॥

'इस उत्सवमें आमन्त्रित हुए लोगोंको जिस प्रकार हर तरहसे आराम मिले, उसके लिये तुम सब व्रजवासी मथुराके समीपवर्ती वनमे आकर सुखपूर्वक रहो ॥ ९२ ॥

पयसः सर्पिषश्चैव दध्नो दध्युत्तरस्य च।
यथाकामप्रदानाय भोज्याधिश्रयणाय च ॥ ९३ ॥

'दूध, घी, दही और तक्र आदिको अतिथियोंकी इच्छाके अनुसार जुटाकर देना और खीर आदि बनानेके लिये जब जितने दूधको आगपर रखना आवश्यक हो, तब-तब उस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये पर्याप्त दूध प्रस्तुत करना—इसी उद्देश्यसे तुम्हें नगरके निकट निवास करना है ॥ ९३ ॥

अक्रूर गच्छ शीघ्रं त्वं तावानय ममाज्ञया।
संकर्षणं च कृष्णं च द्रष्टुं कौतूहलं हि मे ॥ ९४ ॥

'अक्रूर ! शीघ्र जाओ। मेरी आज्ञासे उन दोनों संकर्षण और कृष्णको यहाँ ले आओ। मुझे उन्हे देखनेके लिये बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ९४ ॥

तयोरागमने प्रीतिः परमा मत्कृता भवेत्।
दृष्ट्वा तु तौ महावीर्यौ तद् विधास्यामि यद्धितम् ॥ ९५ ॥

'उनके आ जानेसे मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, (जिसका श्रेय तुम्हे मिलेगा।) उन दोनों महापराक्रमी बालकोंको देखकर मैं वही करूँगा, जिसमें मेरा हित होगा ॥ ९५ ॥

शासनं यदि वा श्रुत्वा मम तौ परिभाषितम्।
नागच्छेतां यथाकालं निग्राह्यावपि तौ मम ॥ ९६ ॥

'मेरी यह आज्ञा तथा बातें सुनकर यदि वे दोनों यहाँ ठीक समयपर आनेको तैयार न हों तो मेरी रायमें वे बंदी बना लेनेके भी योग्य हैं (अर्थात् तुम उन्हें कैद करके भी ला सकते हो) ॥ ९६ ॥

सान्त्वमेव तु बालेषु प्रधानं प्रथमो नयः।
मधुरेणैव तौ मन्दौ स्वयमेवानयाशु वै ॥ ९७ ॥

'समझा-बुझाकर काम लेना ही बालकोंके प्रति प्रधान एवं प्रमुख नीति है; इसलिये तुम उन दोनों मूर्खोंको मीठी बातोंसे स्वयं ही राजी करके यहाँ शीघ्र ले आओ ॥ ९७ ॥

अक्रूर कुरु मे प्रीतिमेतां परमदुर्लभाम्।
यदि वा नोपजप्तोऽसि वसुदेवेन सुव्रत।
तथा कर्तव्यमेतद्धि यथा तावागमिष्यतः ॥ ९८ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले अक्रूर ! यदि वसुदेवने तुम्हारे भी कान न भर दिये हों तो तुम मेरी इस परम दुर्लभ प्रीतिका सम्पादन करो। तुम्हे वैसा ही प्रयत्न करना चाहिये, जिससे वे दोनों स्वतः यहाँ आ जायँ' ॥ ९८ ॥

एवमाक्षिप्यमाणोऽपि वसुदेवो वसूपमः।
सागराकारमात्मानं निष्प्रकम्पमधारयत् ॥ ९९ ॥

कंसके इस प्रकार आक्षेप करनेपर भी वसुओंके समान शक्तिशाली वसुदेवने अपने समुद्र-जैसे हृदयको क्षुब्ध या कम्पित नहीं होने दिया। उसे धैर्यपूर्वक काबूमें रखा ॥ ९९ ॥

वाक्छल्यैस्ताड्यमानस्तु कंसेनादीर्घदर्शिना।
क्षमां मनसि संधाय नोत्तरं प्रत्यभाषत ॥ १०० ॥

अदूरदर्शी कंसने उन्हें वाग्बाणोंसे बार-बार घायल किया। फिर भी उन्होंने मनमें क्षमाभाव रखकर उसे उसकी बातोंका कोई उत्तर नहीं दिया ॥ १०० ॥

ये तु तं ददृशुस्तत्र क्षिप्यमाणमनेकधा।
धिग्धिगित्यसकृत् ते वै शनैरूचुरवाङ्मुखाः ॥१०१॥

जिन लोगोंने वहाँ वसुदेवजीपर बारंबार आक्षेप होता देखा, वे अपना मुँह नीचे किये धीरे-धीरे अनेक बार बोल उठे कि धिक्कार है, धिक्कार है ॥ १०१ ॥

अक्रूरस्तु महातेजा जानन् दिव्येन चक्षुषा।
जलं दृष्ट्वेव तृषितः प्रेषितः प्रीतिमानभूत् ॥१०२॥

महातेजस्वी अक्रूर अपनी दिव्य दृष्टिसे सब कुछ जानते थे (कि भगवान् श्रीकृष्ण कौन हैं और किसलिये अवतीर्ण हुए हैं); अतः जैसे प्यासा मनुष्य पानीको देखते ही प्रसन्न हो उठता है, उसी प्रकार उन्हें कंसके भेजनेपर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव हुआ ॥ १०२ ॥

तस्मिन्नेव मुहूर्ते तु मथुरायाः स निर्ययौ।
प्रीतिमान् पुण्डरीकाक्षं द्रष्टुं दानपतिः स्वयम् ॥१०३॥

दानपति अक्रूर मन-ही-मन प्रसन्न हो स्वयं जाकर कमल-नयन श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये उसी मुहूर्तमें मथुरासे निकल पड़े ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि अक्रूरप्रस्थाने द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें अक्रूरका प्रस्थानविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

अन्धकका कंसको मुँहतोड़ उत्तर

वैशम्पायन उवाच

क्षिप्तं यदुवृषं दृष्ट्वा सर्वे ते यदुपुङ्गवाः।
निपीड्य श्रवणान् हस्तैर्मेनिरे तं गतायुषम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यदुकुलके उन सभी श्रेष्ठ पुरुषोंने यदुकुलतिलक वसुदेवपर आक्षेप होता देख शीघ्र ही हाथोंसे अपने-अपने कान बंद कर लिये। उन सबको यह निश्चय हो गया कि कंसकी आयु समाप्त हो चली है ॥ १ ॥

अन्धकोऽनुद्विग्नमना धैर्यादविकृतं वचः।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठः समाजे कंसमोजसा ॥ २ ॥

उसी समाजमें वक्ताओंमें श्रेष्ठ अन्धक भी थे, जिनके मनमें कंससे तनिक भी भय नहीं था। उन्होंने धैर्यसे अपनी वाणीको विकाररहित रखते हुए कंससे ओजस्वी स्वरमें कहा—॥

अश्लाघ्यो मे मतः पुत्र तवायं वाक्परिश्रमः।
अयुक्तो गर्हितः सद्भिर्बान्धवेषु विशेषतः ॥ ३ ॥

'बेटा! तुमने जो इतनी देरतक भाषण देनेका कष्ट उठाया है, तुम्हारा यह परिश्रम मेरे मतमें आदर या प्रशंसाके योग्य नहीं है। यह सर्वथा अनुचित है। श्रेष्ठ पुरुषोंने इसकी सदा निन्दा की है। विशेषतः अपने बन्धु-बान्धवोंके प्रति ऐसा आक्षेप सर्वथा निन्दित है ॥ ३ ॥

अयादवो यदि भवाञ्छृणु तावद् यदुच्यते।
न हि त्वां यादवं वीर बलात् कुर्वन्ति यादवाः ॥ ४ ॥

'वीर! अब इस समय मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो। यदि तुम यादव नहीं हो या अपनेको यादव नहीं मानते हो तो ये यदुवंशी तुम्हें जबरदस्ती यादव नहीं बना रहे हैं (और न बनाना चाहते हैं)॥ ४॥

अश्लाघ्या वृष्णयः पुत्र येषां त्वमनुशासिता।
इक्ष्वाकुवंशजो राजा विनिवृत्तः स्वयं सकृत् ॥ ५ ॥

'वत्स! जिनके शासक तुम हो, वे वृष्णिवंशी आदर और प्रशंसाके योग्य हो ही नहीं सकते हैं। इक्ष्वाकुवंशमें एक प्रजापीडक राजा उत्पन्न हुआ था, जो स्वयं ही किसी समय राज्य छोड़कर भाग गया अथवा मिट गया (इस यदुकुलमें तुम भी वैसे ही जान पड़ते हो, अतः तुम्हारी भी वैसी ही दशा होनेवाली है) ॥ ५ ॥

भोजो वा यादवो वासि कंसो वासि यथा तथा।
सहजं ते शिरस्तात जटी मुण्डोऽपि वा भव ॥ ६ ॥

'तात! तुम भोज हो, यादव हो अथवा कंस हो या जैसा-तैसा कोई भी हो, तुम्हारा मस्तक तुम्हारे साथ ही उत्पन्न हुआ है (और वह अभीतक मौजूद है)। तुम उसपर बड़ी-बड़ी जटाएँ रखा लो अथवा मूँड़ मुड़ा लो (यदि तुम यादव रहना नहीं चाहते तो जो चाहो, वही बन जाओ) ॥ ६ ॥

उग्रसेनस्त्वयं शोच्यो योऽस्माकं कुलपांसनः।
दुर्जातीयेन येन त्वमीदृशो जनितः सुतः ॥ ७ ॥

'मेरी दृष्टिमें तो यह उग्रसेन शोचनीय है, जो हमलोगोंमें कुलाङ्गार पैदा हो गया और जिस दुर्जातिने तुम्हारे-जैसे बेटेको जन्म दिया ॥ ७ ॥

न चात्मनो गुणांस्तात प्रवदन्ति मनीषिणः।
परेणोक्ता गुणा गौण्यं यान्ति वेदार्थसम्मिताः ॥ ८ ॥

'तात! मनीषी पुरुष अपने मुखसे अपने गुणोंका बखान नहीं करते हैं। दूसरेके द्वारा वर्णित या प्रशंसित हुए गुण ही सफल होते और वेदार्थके तुल्य प्रामाणिक माने जाते हैं ॥ ८ ॥

पृथिव्यां यदुवंशोऽयं निन्दनीयो महीक्षिताम्।
बालः कुलान्तकृन्मूढो येषां त्वमनुशासिता ॥ ९ ॥

'भूमण्डलमें यह यदुवंश समस्त भूपालोंके लिये निन्दनीय बन गया; क्योंकि तुम्हारे समान कुलनाशक, मूर्ख और अविवेकी बालक इन यादवोंका शासक है ॥ ९ ॥

असाधुमद्भिर्वाक्यैश्च त्वया साध्विति भाषितैः।
न चाप्यासादितं कार्यमात्मा च विवृतः कृतः॥ १०॥

'तुमने निन्दायुक्त वचनोंको उत्तम मानकर जो यहाँ कहा है, उनसे कोई कार्य तो सिद्ध हुआ नहीं; केवल तुम्हारे स्वरूपका स्पष्टीकरण हो गया है (इन बातोंसे सब लोग यह जान गये कि तुम कितने ओछे हो !) ॥ १० ॥

गुरोरनवलिप्तस्य मान्यस्य महतामपि।
क्षेपणं कः शुभं मन्ये द्विजस्येव वधे कृते॥ ११॥

'जो अहंकाररहित तथा महापुरुषोंके लिये भी माननीय गुरुजन हैं, उनपर आक्षेप करना ब्रह्महत्याके समान है। उसे करके कौन अपने लिये कल्याणकी आशा कर सकता है॥

मान्याश्चैवाभिगम्याश्च वृद्धास्तात यथाग्नयः।
क्रोधो हि तेषां प्रदहेल्लोकानन्तर्गतानपि॥ १२॥

'तात ! वृद्ध पुरुष अग्नियोंके समान आदरणीय तथा सेव्य होते हैं, उनका क्रोध आन्तरिक साधनाओंसे प्राप्त हुए लोकोंको भी जलाकर भस्म कर सकता है ॥ १२ ॥

बुधेन तात दान्तेन नित्यमभ्युच्छ्रितात्मना।
धर्मस्य गतिरन्वेष्या मत्स्यस्य गतिरप्स्विव॥ १३॥

'तात ! जिसका आत्मा उन्नतिके पथपर अग्रसर है तथा जो जितेन्द्रिय एवं विवेकशील विद्वान् है, उस पुरुषको धर्मकी गतिका सदा ही अन्वेषण करना चाहिये, जैसे जलमें मछलीकी गति अत्यन्त सूक्ष्म या अव्यक्त होती है, उसी प्रकार धर्मकी गति भी सूक्ष्म है ॥ १३ ॥

केवलं त्वं तु दर्पेण वृद्धानग्निसमानिह।
वाचा तुदसि मर्मघ्न्या अमन्त्रोक्ता यथाऽऽहुतिः॥ १४॥

'तुम तो केवल अहंकारवश यहाँ बैठे हुए अग्निके समान तेजस्वी वृद्ध पुरुषोंको अपनी मर्मभेदिनी वाणीद्वारा पीड़ा दे रहे हो। जैसे मन्त्रका उच्चारण किये बिना दी हुई आहुति व्यर्थ होती है, उसी प्रकार तुम्हारी यह आक्षेपपूर्ण बातें निष्फल हैं ॥ १४ ॥

वसुदेवं च पुत्रार्थे यदिमं परिगर्हसि।
तत्र मिथ्या प्रलापं ते निन्दामि कृपणं वचः॥ १५॥

'वसुदेवने अपने पुत्रकी रक्षाके लिये जो कुछ किया है, उसके लिये जो तुम इनपर आक्षेप करते हो, वह सब तुम्हारा मिथ्या प्रलाप है। उस विषयमें कही गयी तुम्हारी इन कायरतापूर्ण बातोंकी मैं निन्दा करता हूँ ॥ १५ ॥

दारुणे च पिता पुत्रे नैव दारुणतां व्रजेत्।
पुत्रार्थे ह्यापदः कष्टाः पितरः प्राप्नुवन्ति हि॥ १६॥

'पुत्र क्रूर स्वभावका हो जाय तो भी पिता उसके प्रति निष्ठुर नहीं हो सकता; क्योंकि पुत्रोंके लिये पिताओंको कितनी ही कष्टदायिनी विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं ॥ १६ ॥

छादितो वसुदेवेन यदि पुत्रः शिशुस्तदा।
मन्यसे यद्यकर्तव्यं तत् पृच्छ पितरं स्वकम्॥ १७॥

'यदि वसुदेवने उस समय अपने शिशु पुत्रको उसकी रक्षाके लिये छिपा दिया था तो यह कोई अनुचित कर्म नहीं किया। यदि तुम इसे न करनेयोग्य बुरा कर्म मानते हो तो इस विषयमें अपने पितासे ही पूछो ॥ १७ ॥

गर्हता वसुदेवं च यदुवंशं च निन्दता।
त्वया यादवपुत्राणां वैरजं विषमर्जितम्॥ १८॥

'वसुदेवपर आक्षेप और यादवकुलकी निन्दा करके तुमने यहाँ यादवकुमारोंके वैरजनित विषका ही उपार्जन किया है॥

अकर्तव्यं यदि कृतं वसुदेवेन पुत्रजम्।
किमर्थमुग्रसेनेन शिशुस्त्वं न विनाशितः॥ १९॥

'यदि वसुदेवने अपने पुत्रके प्राण बचाकर अनुचित कर्म किया है तो उग्रसेनने शैशवावस्थामें तुम्हें क्यों नहीं मार डाला था ॥ १९ ॥

पुन्नाम्नो नरकात् पुत्रो यस्मात् त्राता पितॄंस्तदा।
तस्माद् ब्रुवन्ति पुत्रेति पुत्रं धर्मविदो जनाः॥ २०॥

'पुत्र पुत् नामक नरकसे पितरोंकी रक्षा करता है, इसलिये धर्मज्ञ पुरुष पुत्रको पुत्र कहते हैं ॥ २० ॥

जात्यां हि यादवः कृष्णः स च संकर्षणो युवा।
त्वं चापि विधृतस्ताभ्यां जातवैरेण चेतसा॥ २१॥

'श्रीकृष्ण और नवयुवक संकर्षण भी यादव ही हैं, किंतु तुमने उनके उत्पन्न होते ही उनसे वैर बाँध लिया; फिर उन दोनोंने मनमें वैरभावको स्थान देकर तुमसे शत्रुता बाँध ली है (अतः इस वैर-भावमें प्रथम अपराध तुम्हारा ही है)॥२१॥

उद्धूतानीह सर्वेषां यदूनां हृदयानि वै।
वसुदेवे त्वयाऽऽक्षिप्ते वासुदेवे च कोपिते॥ २२॥

'तुमने वसुदेवपर आक्षेप किया और वसुदेवपुत्र श्रीकृष्णके मनमें अपने प्रति क्रोध उत्पन्न कर दिया, इससे समस्त यादवोंके हृदय यहाँ कम्पित हो उठे हैं ॥ २२ ॥

कृष्णे च भवतो द्वेष्ये वसुदेवविगर्हणात्।
शंसन्ति चेमानि भयं निमित्तान्यशुभानि ते॥ २३॥

'एक तो श्रीकृष्णके प्रति तुम्हारा द्वेष था ही, दूसरे तुमने वसुदेवकी भरपूर निन्दा भी कर डाली, इससे ये अशुभसूचक अपशकुन प्रकट होकर तुम्हारे लिये भयकी प्राप्ति बता रहे हैं ॥ २३ ॥

सर्पाणां दर्शनं तीव्रं दुःस्वप्नानां निशाक्षये।
पुर्या वैधव्यशंसीनि कारणैरनुमीमहे॥ २४॥

'जब रात समाप्त हो रही हो, उस समय सर्पों और बुरे स्वप्नोंका दर्शन अत्यन्त कष्टदायक होता है। ये जो शकुन दिखायी देते हैं, वे इस नगरीके भावी वैधव्यकी सूचना देनेवाले हैं। अबतक जो कारण प्राप्त हुए हैं, उनसे हमें ऐसा ही अनुमान होता है ॥ २४ ॥

एष घोरो ग्रहः स्वातीमुल्लिखन् खे गभस्तिभिः।
वक्रमङ्गारकश्चक्रे चित्रायां घोरदर्शनः॥ २५॥

'यह भयंकर ग्रह राहु आकाशमें अपनी किरणोंद्वारा स्वातिका वेध कर रहा है तथा भयानक दिखायी देनेवाला मंगल सर्वतोभद्रचक्रमें वक्रीभूत होकर चित्रा नक्षत्रपर स्थित है* ॥

* ज्योतिषके अनुसार सर्वतोभद्र नामक चक्रमें मृगशिरा कंसका जन्म-नक्षत्र है, उनसे दशम नक्षत्र चित्रा है, जो उसीका कर्मनक्षत्र -

बुधेन पश्चिमा संध्या व्याप्ता घोरेण तेजसा।
वैश्वानरपथे शुक्रो ह्यतिचारं चचार ह ॥ २६ ॥

'बुधने भयानक तेजसे पश्चिम संध्याको व्याप्त कर रखा है (अर्थात् वह पश्चिम दिशामें उदित हो रहे हैं, ऐसा होना राज्यभंगका सूचक है) तथा शुक्रने वैश्वानरपथ (सूर्यमार्ग) पर अतिचार गतिसे चलना आरम्भ किया है (सूर्यको लाँघकर जाना ही अतिचार है) ॥ २६ ॥

केतुना धूमकेतोस्तु नक्षत्राणि त्रयोदश।
भरण्यादीनि भिन्नानि नानुयान्ति निशाकरम् ॥ २७ ॥

'धूमकेतु नामक उत्पात-ग्रहके पुच्छभागसे भरणी आदि तेरह नक्षत्र विद्ध हो गये हैं, इसलिये वे चन्द्रमाका अनुसरण नहीं करते हैं ॥ २७ ॥

प्राक्संध्या परिघग्रस्ता भाभिर्बाधति भास्करम्।
प्रतिलोमं च यान्त्येव व्याहरन्तो मृगद्विजाः ॥ २८ ॥

'पूर्वकालकी संध्या परिघ[1]से ग्रस्त है। वह अपनी प्रभाओं-द्वारा सूर्यदेवको बाधा पहुँचाती है तथा पशु और पक्षी अपनी बोली बोलते हुए प्रतिकूल दिशासे होकर जाते हैं ॥ २८ ॥

शिवा श्मशानान्निष्क्रम्य निःश्वासाङ्गारवर्षिणी।
उभे संध्ये पुरीं घोरा पर्येति बहु वाशती ॥ २९ ॥

'दोनों संध्याओंके समय एक भयानक गीदड़ी श्मशान-भूमिसे निकलकर अपने निःश्वाससे अङ्गारकी वर्षा करती और बहुत बोलती हुई मथुरापुरीके चारों ओर चक्कर लगाती है ।२९।

उल्का निर्घातनादेन पपात धरणीतले।
चलत्यपर्वणि मही गिरीणां शिखराणि च ॥ ३० ॥

'कुछ ही समय पहले वज्रपातकी-सी ध्वनिके साथ पृथ्वी-पर उल्कापात हुआ है। यह पृथ्वी तथा पर्वतोंके शिखर अकस्मात् काँपने लगते हैं ॥ ३० ॥

ग्रस्तः स्वर्भानुना सूर्यो दिवा नक्तमजायत।
धूमोत्पातैर्दिशो व्याप्ताः शुष्काशनिसमाहताः ॥ ३१ ॥

'अभी पिछले दिनों राहुने सूर्यपर ग्रहण लगा दिया था, जिससे दिनमें ही रात हो गयी थी। धूम और उत्पातोंसे सम्पूर्ण दिशाएँ व्याप्त हैं। सूखेमें ही बिजलियाँ गिरती हैं ॥ ३१ ॥

प्रस्रवन्ति घना रक्तं साशनिस्तनयित्नवः।
चलिता देवताः स्थानात् त्यजन्ति विहगा नगान् ॥३२॥

'मेघ बिजली और गड़गड़ाहटके साथ रक्तकी वर्षा करते है। देवताओंकी प्रतिमाएँ अपने स्थानसे हट जाती हैं और पक्षी वृक्षोंको त्याग देते हैं ॥ ३२ ॥

यानि राजविनाशाय दैवज्ञाः कथयन्ति ह।
तानि सर्वाणि पश्यामो निमित्तान्यशुभानि वै ॥ ३३ ॥

'ज्योतिषीलोग राजाके विनाशकी सूचना देनेवाले जो-जो अशुभ निमित्त (अपशकुन) बताते हैं, उन सबको हम लोग देख रहे हैं ॥ ३३ ॥

त्वं चापि स्वजनद्वेषी राजधर्मपराङ्मुखः।
अनिमित्तागतक्रोधः संनिकृष्टभयो ह्यसि ॥ ३४ ॥

'तुम भी स्वजनोंसे द्वेष रखते हो, राजधर्मसे विमुख हो चुके हो और अकारण ही तुम्हें क्रोध आ जाता है, इससे जान पड़ता है, निकट-भविष्यमें ही तुम्हारे ऊपर भय आनेवाला है ॥

यस्त्वं देवोपमं वृद्धं वसुदेवं वसूपमम्।
मोहात् क्षिपसि दुर्बुद्धे कुतस्ते शान्तिरात्मनः ॥ ३५ ॥

'दुर्बुद्धे ! तुम जो देवताओं तथा वसुओंके समान तेजस्वी बूढ़े वसुदेवपर मोहवश आक्षेप कर रहे हो, इससे तुम्हारे आत्माको शान्ति कैसे मिल सकती है ॥ ३५ ॥

त्वद्गतो यो हि नः स्नेहस्तं त्यजामोऽद्य वै वयम्।
अहितं स्वस्य वंशस्य न त्वां क्षणमुपास्महे ॥ ३६ ॥

'तुम्हारे प्रति जो हमारा स्नेह रहा है, उसे हमलोग आज त्याग देते हैं। तुम अपने वंशका अहित करनेवाले हो, अतः अब हम एक क्षण भी तुम्हारे पास नहीं बैठेंगे ॥

स हि दानपतिर्धन्यो यो द्रक्ष्यति वने गतम्।
पुण्डरीकविशालाक्षं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥ ३७ ॥

'वे दानपति अक्रूर धन्य हैं, जो आज वनमें गये हुए अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कमलनयन श्रीकृष्णको अपनी आँखोंसे देखेंगे ॥ ३७ ॥

छिन्नमूलो ह्ययं वंशो यदूनां त्वत्कृते कृतः।
कृष्णो ज्ञातीन् समानाय्य स संधानं करिष्यति ॥ ३८ ॥

'तुम्हारे कारण इस यदुवंशकी जड़ कट गयी है। अब श्रीकृष्ण ही आकर समस्त भाई-बन्धुओंको जुटायेंगे और उनमें मेल करायेंगे ॥ ३८ ॥

क्षान्तमेव तवानेन वसुदेवेन धीमता।
कालसम्यक्परिज्ञानो ब्रूहि त्वं यद्यदिच्छसि ॥ ३९ ॥

'इन बुद्धिमान् वसुदेवने तो तुम्हारे अपराधको क्षमा ही कर दिया है। कालने तुम्हारी विवेकशक्ति नष्ट कर दी, अतः तुम जो-जो चाहो, बकते रहो ॥ ३९ ॥

मह्यं तु रोचते कंस वसुदेवसहायवान्।
गच्छ कृष्णस्य निलयं संधिस्तेन च रोचताम् ॥४०॥

'कंस ! मुझे तो यही अच्छा लगता है, कि 'तुम वसुदेव-को साथ लेकर श्रीकृष्णके स्थानपर जाओ और उनके साथ संधि करना स्वीकार करो' ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि अन्धकवचने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें अन्धकका वचनविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

है। वहीं भयंकर ग्रह राहु, जो क्रूर ग्रह माना गया है, स्थित है। मंगल भी वक्रगतिसे वहीं आ गया है। इन दोनोंने कर्मनक्षत्रको व्याप्त करके जन्मनक्षत्रको विद्ध कर दिया है। इसका फल बताते हुए अन्धक कहते हैं—'कंस तुम्हारा जीवित रहनेके लिये जो प्रयत्न है, वह निष्फल होगा और तुम्हारे देहका भी नाश हो जायगा।' (नीलकण्ठी)

[1] सूर्यमण्डलमें उगा हुआ तिरछा डंडा परिघ कहलाता है।

चतुर्विंशोऽध्यायः

केशीके अत्याचार और श्रीकृष्णद्वारा उसका वध

वैशम्पायन उवाच

अन्धकस्य वचः श्रुत्वा कंसः संरक्तलोचनः।
न किंचिदब्रवीत् क्रोधाद् विवेश स्वं निकेतनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अन्धककी बातें सुनकर कंसकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वह उनसे कुछ नहीं बोला और रोषपूर्वक उठकर अपने महलमें चला गया ॥ १ ॥

ते च सर्वे यथावेश्म यादवाः श्रुतविस्तराः।
जग्मुर्विगतसंकल्पाः कंसवैकृतशंसिनः ॥ २ ॥

फिर वे सब यादव, जो वहाँकी सारी बातें विस्तारपूर्वक सुन चुके थे, निराश होकर अपने-अपने घरको लौट गये। वे मार्गमें यह चर्चा कर रहे थे कि कंसका मस्तिष्क खराब हो गया है ॥ २ ॥

अक्रूरोऽपि यथाऽऽज्ञप्तः कृष्णदर्शनलालसः।
जगाम रथमुख्येन मनसा तुल्यगामिना ॥ ३ ॥

अक्रूरके मनमें भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसा जाग उठी थी, अतः वे भी कंसकी आज्ञाके अनुसार उठे और मनके समान शीघ्रगामी श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो वहाँसे चल दिये ॥ ३ ॥

कृष्णस्यापि निमित्तानि शुभान्यङ्गगतानि वै।
पितृतुल्येन शंसन्ति बान्धवेन समागमम् ॥ ४ ॥

उधर श्रीकृष्णको भी अपने अङ्गोंमें ही कुछ ऐसे शुभ लक्षण दिखायी देते थे, जो पिता-जैसे बान्धवसे भेंट होनेकी सूचना दे रहे थे ॥ ४ ॥

प्रागेव च नरेन्द्रेण माथुरेणौग्रसेनिना।
केशिनः प्रेषितो दूतो वधायोपेन्द्रकारणात् ॥ ५ ॥

(अक्रूरको भेजनेसे) पहले ही मथुराके राजा उग्रसेन-कुमार कंसने केशीके पास दूत भेजा और कहलाया कि तुम श्रीकृष्णका वध कर डालो ॥ ५ ॥

स च दूतवचः श्रुत्वा केशी क्लेशकरो नृणाम्।
वृन्दावनगतो गोपान् बाधते स्म दुरासदः ॥ ६ ॥

दूतकी बात सुनकर मनुष्योंको क्लेश प्रदान करनेवाला दुर्जय दैत्य केशी वृन्दावनमें जाकर गोपोंको सताने लगा ॥ ६ ॥

मानुषं मांसमश्नानः क्रुद्धो दुष्टपराक्रमः।
दुर्दान्तो वाजिदैत्योऽसावकरोत् कदनं महत् ॥ ७ ॥

केशी घोड़ेके रूपमें रहनेवाला दुर्दान्त दैत्य था और मनुष्यका मांस खाता था। उस दुष्ट पराक्रमी असुरने कुपित होकर वहाँ महान् संहार आरम्भ कर दिया ॥ ७ ॥

निघ्नन् गा वै सगोपालान् गवां पिशितभोजनः।
दुर्मदः कामचारी च स केशी निरवग्रहः ॥ ८ ॥

वह ग्वालोंसहित गौओंको मार डालता और गौओंका मांस खाया करता था। मदमत्त केशी स्वच्छन्द विचरनेवाला और उच्छृङ्खल था ॥ ८ ॥

तदरण्यं श्मशानाभं नृणां मांसास्थिभिर्वृतम्।
यत्रास्ते स हि दुष्टात्मा केशी तुरगदानवः ॥ ९ ॥

अश्वरूपधारी दुष्टात्मा दानव केशी जहाँ रहता था, वह वन मनुष्योंके मांस और हड्डियोंसे व्याप्त होकर श्मशान-भूमिके समान प्रतीत होता था ॥ ९ ॥

खुरैर्दारयते भूमिं वेगेनारुजते द्रुमान्।
हेषितैः स्पर्द्धते वायुं प्लुतैर्लङ्घयते नभः ॥ १० ॥

वह टापोंसे पृथ्वीको विदीर्ण कर देता और वेगसे वृक्षोंको भी तोड़ डालता था, हींसते या हिनहिनाते समय प्रचण्ड वायुके कोलाहलसे होड़ लगाता था और उछलकर आकाशको भी लाँघ जाता था ॥ १० ॥

अतिप्रवृद्धो मत्तश्च दुष्टोऽश्वो वनगोचरः।
आकम्पितसटो रौद्रः कंसस्य चरितानुगः ॥ ११ ॥

वह वनमें विचरनेवाला दुष्ट अश्व बहुत बड़ा और मतवाला था। उसके अयाल कुछ हिलते रहते थे। वह भयंकर दैत्य कंसके चरित्रका अनुसरण करनेवाला था ॥ ११ ॥

ईरिणं तद् वनं सर्वं तेनासीत् पापकर्मणा।
कृतं तुरगदैत्येन सर्वान् गोपाञ्जिघांसता ॥ १२ ॥

समस्त गोपोंको मार डालनेकी इच्छावाले उस पापाचारी अश्वरूपधारी दैत्यने वह सारा वन मनुष्योंसे सूना कर दिया था ॥ १२ ॥

तेन दुष्टप्रचारेण दूषितं तद् वनं महत्।
न नृभिर्गोधनैर्वापि सेव्यते वनवृत्तिभिः ॥ १३ ॥

उस दुराचारीने वह विशाल वन दूषित कर डाला था। वनसे ही जीवन निर्वाह करनेवाले मनुष्य और गोधन भी कभी उस वनका सेवन नहीं करते थे ॥ १३ ॥

निःसम्पातः कृतः पन्थास्तेन तद्विषयाश्रयः।
मदाच्चलितवृत्तेन नृमांसान्यश्नता भृशम् ॥ १४ ॥

मदके कारण वह सदाचारसे भ्रष्ट हो चुका था और अधिकतर मनुष्योंके ही मांस खाता था। उसके निवास-स्थानमें होकर जो रास्ता जाता था, उसे उसने अगम्य बना दिया था ॥ १४ ॥

नृशब्दानुसरः क्रुद्धः स कदाचिद् वनागमे।
जगाम घोषसंवासं चोदितः कालधर्मणा ॥ १५ ॥

एक समय मनुष्योंके शब्दका अनुसरण करता हुआ केशी क्रोधमें भरकर वृन्दावनके भीतर गोपोंकी बस्तीमें गया, उस समय उसपर काल सवार था ॥ १५ ॥

तं दृष्ट्वा दुद्रुवुर्गोपाः स्त्रियश्च शिशुभिः सह ।
क्रन्दमाना जगन्नाथं कृष्णं नाथमुपाश्रिताः ॥ १६ ॥

उसे देखते ही गोप और गोपाङ्गनाएँ शिशुओंको साथ लेकर भागीं तथा करुण क्रन्दन करती हुई जगत्के रक्षक, अपने स्वामी श्रीकृष्णकी शरणमें आ पहुँचीं ॥ १६ ॥

तासां रुदितशब्देन गोपानां क्रन्दितेन च ।
दत्त्वाभयं तु कृष्णो वै केशिनं सोऽभिदुद्रुवे ॥ १७ ॥

गोपाङ्गनाओंके रोदन और गोपोंके क्रन्दनसे द्रवित होकर श्रीकृष्णने उन्हें अभय कर दिया। फिर वे केशीपर टूट पड़े ॥१७॥

केशी चाप्युन्नतग्रीवः प्रकाशदशनेक्षणः ।
ह्रेषमाणो जवोदग्रो गोविन्दाभिमुखो ययौ ॥ १८ ॥

केशी भी अपनी गर्दन ऊपर उठाये हींसता हुआ बड़े वेगसे श्रीकृष्णकी ओर चला। उस समय वह दाँत दिखाता हुआ आँखें फाड़-फाड़कर उनकी ओर देख रहा था ॥१८॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य केशिनं हयदानवम् ।
प्रत्युज्जगाम गोविन्दस्तोयदः शशिनं यथा ॥ १९ ॥

उस अश्वरूपधारी दानव केशीको अपनी ओर आते देख भगवान् श्रीकृष्ण उसका सामना करनेके लिये आगे बढ़े, मानो श्याम मेघ चन्द्रमाकी ओर जा रहा हो ॥ १९ ॥

केशिनस्तु तमभ्याशे दृष्ट्वा कृष्णमवस्थितम् ।
मनुष्यबुद्धयो गोपाः कृष्णमूचुर्हितैषिणः ॥ २० ॥

श्रीकृष्णको केशीके निकट खड़ा हुआ देख उनके प्रति मनुष्य-बुद्धि रखनेवाले हितैषी गोप उनसे इस प्रकार बोले—॥२०॥

कृष्ण तात न खल्वेष सहसा ते हयाधमः ।
उपसर्प्यो भवान् बालः पापश्चैष दुरासदः ॥ २१ ॥

'तात श्रीकृष्ण ! तुम सहसा इस नीच अश्वके पास न चले जाना; क्योंकि तुम अभी बालक हो और यह पापात्मा एक दुर्धर्ष दैत्य है ॥ २१ ॥

एष कंसस्य सहजः प्राणस्तात बहिश्चरः ।
उत्तमश्च हयेन्द्राणां दानवोऽप्रतिमो युधि ॥ २२ ॥

'तात ! यह कंसका बाहर विचरनेवाला सहज प्राण है, बड़े-बड़े अश्वराजोंमें उत्तम है। युद्धमें इस दानवकी समानता करनेवाला कोई नहीं है ॥ २२ ॥

त्रासनः सर्वभूतानां तुरगाणां महाबलः ।
अवध्यः सर्वभूतानां प्रथमः पापकर्मणाम् ॥ २३ ॥

'समस्त प्राणियोंको त्रास देनेवाला यह दैत्य घोड़ोंमें सबसे अधिक बलवान् है। सम्पूर्ण भूतोंमेंसे किसीके लिये भी यह वध्य नहीं है। पापाचारियोंमें यह सबसे अग्रगण्य है' ॥ २३ ॥

गोपानां तद् वचः श्रुत्वा वदतां मधुसूदनः ।
केशिना सह युद्धाय मतिं चक्रेऽरिसूदनः ॥ २४ ॥

उपर्युक्त बातें कहनेवाले गोपोंका वह कथन सुनकर शत्रुसूदन भगवान् मधुसूदनने केशीके साथ युद्धके लिये विचार किया ॥ २४॥

ततः सव्यं दक्षिणं च मण्डलं स परिभ्रमन् ।
पद्भ्यामुभाभ्यां स हयः क्रोधेनारुजते द्रुमान् ॥ २५ ॥

तदनन्तर वह अश्व दायें-बायें चक्कर काटता हुआ अपने दोनों पैरोंसे क्रोधपूर्वक वृक्षोंको तोड़ने लगा ॥ २५ ॥

मुखे लम्बसटे चास्य स्कन्धे केशघनावृते ।
वलयोऽभ्रतरङ्गाभाः सुस्रुवुः क्रोधजं जलम् ॥ २६ ॥

उसके लंबे अयालवाले मुख और घने केशोंसे ढके हुए कंधेपर जो मेघोंकी लहरोंके समान वलियाँ (चमड़ेके सिकुड़नेसे बनी हुई रेखाएँ) थीं, वे क्रोधजनित जल (पसीना) टपकाने लगीं ॥ २६ ॥

स फेनं वक्त्रजं चैव ववर्ष रजसावृतम् ।
हिमकाले यथा व्योम्नि नीहारमिव चन्द्रमाः ॥ २७ ॥

वह अपने मुखसे पैदा हुए धूलमिश्रित फेनकी वर्षा करने लगा। मानो हेमन्त ऋतुमें चन्द्रमा आकाशमें कुहासा गिरा रहा हो ॥ २७ ॥

गोविन्दमरविन्दाक्षं हेषितोद्गारशीकरैः ।
स फेनैर्वक्त्रनिर्गीर्णैः प्रोक्षयामास भारत ॥ २८ ॥

भरतनन्दन ! उसने अपने हींसनेके साथ निकले हुए जलकणों तथा मुखसे गिरते हुए फेनोंद्वारा कमलनयन श्रीकृष्णको नहला दिया ॥ २८ ॥

खुरोद्धूतावसिक्तेन मधुकक्षोदपाण्डुना ।
रजसा स हयः कृष्णं चकारारुणमूर्धजम् ॥ २९ ॥

अपनी टापोंसे उठकर फैली हुई धूलसे, जो मुलेठीके चूर्णकी भाँति कुछ-कुछ पीले रंगकी थी, उस घोड़ेने श्रीकृष्ण-के मस्तकके बालोंको कुछ लाल-सा कर दिया ॥ २९ ॥

प्लुतवल्गितपादस्तु तक्षमाणो धरां खुरैः ।
दन्तान् निर्दशमानस्तु केशी कृष्णमुपाद्रवत् ॥ ३० ॥

केशीके पैर वहाँ उछल-कूद मचा रहे थे। वह अपनी टापोंसे पृथ्वीको खोदता और दाँतोंको पीसता हुआ श्रीकृष्णकी ओर दौड़ा ॥ ३० ॥

स संसक्तस्तु कृष्णेन केशी तुरगसत्तमः ।
पूर्वाभ्यां चरणाभ्यां वै कृष्णं वक्षस्यताडयत् ॥ ३१ ॥

अश्वोंमें श्रेष्ठ केशी श्रीकृष्णके साथ उलझ गया। उसने

अपने दोनों आगेवाले पैरोंसे उनकी छातीमें प्रहार किया॥ ३१ ॥

पुनः पुनः स च बली प्राहिणोत् पार्श्वतः खुरान्।
कृष्णस्य दानवो घोरं प्रहारममितौजसः ॥३२॥

उस बलवान् दानवने अगल-बगलसे भी बारंबार अपनी टाप चलायी और अमित तेजस्वी श्रीकृष्णपर घोर प्रहार किया ॥ ३२ ॥

वक्त्रेण चास्य घोरेण तीक्ष्णदंष्ट्रायुधेन वै।
अदशद् बाहुशिखरं कृष्णस्य रुषितो हयः॥ ३३॥

तीखी दाढ़ ही जिसका आयुध थी, उस भयानक मुखके द्वारा रोषमें भरे हुए उस घोड़ेने श्रीकृष्णकी भुजाके अग्रभागको दाँत गड़ाकर घायल कर दिया ॥ ३३ ॥

स लम्बकेसरसटः कृष्णेन सह सङ्गतः।
रराज केशी मेघेन संसक्तः ख इवांशुमान् ॥ ३४ ॥

लंबे-लंबे अयालसे सुशोभित केशी श्रीकृष्णके साथ जूझता हुआ उसी तरह शोभा पाने लगा, जैसे आकाशमें अंशुमाली सूर्य मेघके साथ उलझ गये हों ॥ ३४ ॥

उरस्तस्योरसा हन्तुमियेष बलवान् हयः।
वेगेन वासुदेवस्य क्रोधाद् द्विगुणविक्रमः॥ ३५॥

उस बलवान् घोड़ेका पराक्रम उसके क्रोधके कारण दूना बढ़ गया था। उसने श्रीकृष्णकी छातीपर अपनी छातीसे वेगपूर्वक चोट पहुँचानेका विचार किया॥ ३५ ॥

तस्योत्सिक्तस्य बलवान् कृष्णोऽप्यमितविक्रमः।
बाहुमाभोगिनं कृत्वा मुखे क्रुद्धः समादधत् ॥ ३६ ॥

तब अमित पराक्रमी बलवान् श्रीकृष्णने भी कुपित होकर उस घमंडी दैत्यके मुखमें अपनी एक बाँहको बहुत बड़ी करके डाल दिया ॥ ३६ ॥

स तं बाहुमशक्तो वै खादितुं भेत्तुमेव च।
दशनैर्मूलनिर्मुक्तैः सफेनं रुधिरं वमन् ॥ ३७ ॥

वह उनकी उस बाँहको अपने दाँतोंसे चबाने या विदीर्ण करनेमें समर्थ न हो सका, उलटे उसके दाँत ही जड़से उखड़ गये; साथ ही वह मुखसे फेनसहित रक्त वमन करने लगा ॥

विपाटिताभ्यामोष्ठाभ्यां कटाभ्यां विदलीकृतः।
अक्षिणी विवृते चक्रे विसृते मुक्तबन्धने ॥ ३८ ॥

उसके ओठ और गलफर फटकर दो दलोंमें विभक्त हो गये। स्नायुबन्धनके ढीले हो जानेसे केशीकी आँखें फटकर बाहर निकल आयीं ॥ ३८ ॥

निरस्तहनुराविष्टः शोणिताक्तविलोचनः।
उत्कर्णो नष्टचेतास्तु स केशी बह्वचेष्टत ॥ ३९ ॥

उसके होठोंका निचला भाग फटकर निकल गया। उस बाँहसे आविष्ट होनेके कारण उसके फटे हुए दोनों नेत्रोंसे रक्त बहने लगा। उसके कान भी उखड़कर गिर पड़े तथा चेतना नष्ट हो गयी। उस अवस्थामें केशी बारंबार छटपटाने लगा ॥

उत्पतन्नसकृत्पादैः शकृन्मूत्रं समुत्सृजन्।
खिन्नाङ्गरोमा श्रान्तस्तु निर्यत्नचरणोऽभवत् ॥ ४० ॥

वह बार-बार पैरोंको उछालने और मल-मूत्र छोड़ने लगा। उसका एक-एक अङ्ग और रोम-रोम खिन्न हो उठा था। अन्तमें वह थक गया और उसके पैर निश्चेष्ट हो गये ॥४०॥

केशिवक्त्रविलग्नस्तु कृष्णबाहुरशोभत।
व्याभुग्न इव घर्मान्ते चन्द्रार्धकिरणैर्घनः ॥ ४१ ॥

केशीके मुखमें लगी हुई श्रीकृष्णकी वह बाँह उसके मुखमण्डलसे आधी आवेष्टित-सी होकर वर्षाकालमें आधे चन्द्रमाकी किरणोंसे घिरे हुए बादलके समान शोभा पाती थी ॥ ४१ ॥

केशी च कृष्णसंसक्तः शान्तगात्रो व्यरोचत।
प्रभातावनतश्चन्द्रः श्रान्तो मेरुमिवाश्रितः ॥ ४२ ॥

श्रीकृष्णसे सटे हुए केशीका शरीर शान्त हो गया था। उस समय वह उसी तरह शोभा पा रहा था, जैसे प्रभात-कालमें अस्ताचलके शिखरपर पहुँचा हुआ चन्द्रमा थककर मेरुका आश्रय लेनेपर सुशोभित होता है ॥ ४२ ॥

तस्य कृष्णभुजोद्धूताः केशिनो दशना मुखात्।
पेतुः शरदि निस्तोयाः सिताभ्रावयवा इव ॥ ४३ ॥

श्रीकृष्णकी भुजासे टकराकर केशीके सारे दाँत मुखसे बाहर गिर पड़े। वे ऐसे प्रतीत होते थे, मानो शरदृतुके जलशून्य श्वेत बादलोंके टुकड़े बिखरे हुए हों ॥ ४३ ॥

स तु केशी भृशं शान्तः कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा।
स्वभुजं स्वायतं कृत्वा पाटितो बलवत् तदा ॥ ४४ ॥

जब केशी भलीभाँति शान्त हो गया, तब अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्णने अपनी बाँहको बहुत बड़ी करके उस दैत्यके शरीरको बलपूर्वक बीचसे चीर डाला॥४४॥

स पाटितो भुजेनाजौ कृष्णेन विकृताननः।
केशी नदन्महानादं दानवो व्यथितस्तदा ॥ ४५ ॥

उस युद्धस्थलमें श्रीकृष्णकी भुजाद्वारा फाड़े गये केशीका मुख विकराल हो उठा। वह दानव व्यथित होकर बड़े जोर-जोरसे आर्तनाद करने लगा ॥ ४५ ॥

विघूर्णमानस्त्रस्ताङ्गो मुखाद् रुधिरमुद्वमन्।
भृशं व्यङ्गीकृतवपुर्निकृत्तार्द्ध इवाचलः ॥ ४६ ॥

उसके सारे अङ्ग शिथिल हो गये थे। वह चक्कर काटता हुआ मुँहसे खून उगल रहा था। उसका शरीर कई अङ्गोंसे हीन हो चुका था। वह ऐसा दिखायी देता था, मानो किसी पर्वतको बीचसे चीर डाला गया हो ॥ ४६ ॥

व्यादितास्यो महारौद्रः सोऽसुरः कृष्णबाहुना ।
निपपात यथा कृत्तो नागो हि द्विदलीकृतः ॥ ४७ ॥

श्रीकृष्णकी भुजासे जिसका मुँह फट गया था, वह दो भागोंमें बँटा हुआ महाभयङ्कर असुर दो टुकड़ोंमें कटे हुए हाथीके समान पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४७ ॥

बाहुना कृत्तदेहस्य केशिनो रूपमाबभौ ।
पशोरिव महाघोरं निहतस्य पिनाकिना ॥ ४८ ॥

श्रीकृष्णकी भुजासे कटे हुए शरीरवाले केशीका रूप पिनाकपाणि भगवान् रुद्रद्वारा मारे गये पशु (महिषासुर)के समान अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता था ॥ ४८ ॥

द्विपादपृष्ठपुच्छार्द्धे श्रवणैकाक्षिनासिके ।
केशिनस्तद्द्विधाभूते द्वे चार्धे रेजतुः क्षितौ ॥ ४९ ॥

'केशीके शरीरके वे दोनों खण्ड दो पाँव, आधी पीठ, आधी पूँछ तथा एक-एक कान, आँख और नासिकारन्ध्रसे युक्त हो पृथ्वीपर पड़े-पड़े (अनुपम) शोभा पा रहे थे॥४९॥

केशिदन्तक्षतस्यापि कृष्णस्य शुशुभे भुजः ।
वृद्धः साल इवारण्ये गजेन्द्रदशनाङ्कितः ॥ ५० ॥

केशीके दाँतोंसे घायल हुई श्रीकृष्णकी वह बाँह ऐसी सुशोभित हो रही थी, मानो वनमें गजराजके दाँतोंके आघात-चिह्नसे अङ्कित कोई बहुत बड़ा शालका वृक्ष हो ॥ ५० ॥

तं हत्वा केशिनं युद्धे कल्पयित्वा च भागशः ।
कृष्णः पद्मपलाशाक्षो हसंस्तत्रैव तस्थिवान् ॥ ५१ ॥

इस प्रकार युद्धमें केशीको मारकर उसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े करके कमलनयन श्रीकृष्ण वहीं हँसते हुए खड़े रहे॥

तं हतं केशिनं दृष्ट्वा गोपा गोपस्त्रियस्तथा ।
बभूवुर्मुदिताः सर्वे हतविघ्ना गतक्लमाः ॥ ५२ ॥

उस केशीको मारा गया देख गोप और गोपाङ्गनाएँ बहुत प्रसन्न हुईं । सबके विघ्न नष्ट हो गये, कष्ट दूर हो गये॥५२॥

दामोदरं तु श्रीमन्तं यथास्थानं यथावयः ।
अभ्यनन्दन् प्रियैर्वाक्यैः पूजयन्तः पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

स्थान और अवस्थाके अनुसार सभी गोप बारंबार श्रीमान् दामोदरका पूजन करते हुए प्रिय वचनोंद्वारा उनका अभिनन्दन करने लगे ॥ ५३ ॥

गोपा ऊचुः

अहो तात कृतं कर्म हतोऽयं लोककण्टकः ।
दैत्यः क्षितिचरः कृष्ण हयरूपं समास्थितः ॥ ५४ ॥

गोप बोले—तात ! तुमने अद्भुत कर्म किया है । यह समस्त जगत्के लिये कंटकरूप दैत्य आज तुम्हारे हाथसे मारा गया । श्रीकृष्ण ! यह इस भूतलपर घोड़ेका रूप धारण करके विचरता था ॥ ५४ ॥

कृतं वृन्दावनं क्षेमं सेव्यं नृमृगपक्षिणाम् ।
घ्नता पापमिमं तात केशिनं हयदानवम् ॥ ५५ ॥

तात ! इस अश्वरूपधारी पापी दानव केशीका वध करके तुमने वृन्दावनको मनुष्यों तथा पशु-पक्षियोंके लिये सेव्य और क्षेमकारक बना दिया ॥ ५५ ॥

हता नो बहवो गोपा गावो वत्सेषु वत्सलाः ।
नैके चान्ये जनपदा हतानेन दुरात्मना ॥ ५६ ॥

इस दुरात्माने हमारे बहुत-से गोप मार डाले थे । बछड़ों-पर वात्सल्य रखनेवाली बहुत-सी गौओंका भी वध कर डाला था; इसके सिवा और भी कितने ही जनपद इसके हाथों नष्ट हो चुके थे ॥ ५६ ॥

एष संवर्तकं कर्तुमुद्यतः खलु पापकृत् ।
नृलोकं निर्नरं कृत्वा चर्तुकामो यथासुखम् ॥ ५७ ॥

यह पापाचारी दानव निश्चय ही संसारका प्रलय करनेके लिये उद्यत हुआ था । मनुष्य-लोकको मनुष्योंसे सूना करके यहाँ सुखपूर्वक विचरनेकी इच्छा रखता था ॥ ५७ ॥

नैतस्य प्रमुखे स्थातुं कश्चिच्छक्तो जिजीविषुः ।
अपि देवसमूहेषु किं पुनः पृथिवीतले ॥ ५८ ॥

जीवित रहनेकी इच्छावाला कोई भी पुरुष इसके सामने खड़ा नहीं हो सकता था । देवताओंके समूहमेंसे भी कोई इसका सामना नहीं कर सकता था, फिर भूतल-निवासियोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ५८ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथाहान्तर्हितो विप्रो नारदः खगमो मुनिः ।
प्रीतोऽस्मि विष्णो देवेश कृष्ण कृष्णेति चाब्रवीत् ५९

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर आकाशचारी मुनि विप्रवर नारदजी आकाशमें अदृश्य भावसे खड़े हो बोले—'देवेश्वर विष्णो ! कृष्ण ! कृष्ण !! मैं आप-पर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ ५९ ॥

नारद उवाच

यदिदं दुष्करं कर्म कृतं केशिजिघांसया ।
त्वय्येव केवलं युक्तं त्रिदिवे त्र्यम्बकस्य वा ॥ ६० ॥

नारदजी फिर बोले—प्रभो ! आपने केशीको मार डालनेकी इच्छासे जो यह दुष्कर कर्म किया है, यह केवल आपके ही योग्य था अथवा देवलोकमें केवल त्रिनेत्रधारी रुद्र ही ऐसा पराक्रम कर सकते थे ॥ ६० ॥

अहं युद्धोत्सुकस्तात त्वद्गतेनान्तरात्मना ।
इदं नरहयं युद्धं द्रष्टुं स्वर्गादिहागतः ॥ ६१ ॥

तात ! मैं युद्ध देखनेको सदा ही उत्सुक रहता हूँ । अतः अपनी अन्तरात्मासे आपका ही चिन्तन करता हुआ यह

मनुष्य और अश्वका संग्राम देखनेके लिये स्वर्गलोकसे यहाँ आया था ॥ ६१ ॥

पूतनानिधनादीनि कर्माणि तव दृष्टवान् ।
अहं त्वनेन गोविन्द कर्मणा परितोषितः ॥ ६२ ॥

गोविन्द ! आपके 'पूतनावध' आदि कर्मोंको मी मैं देख चुका हूँ । किंतु इस केशीके वधरूप कर्मसे मुझे विशेष संतोष हुआ है ॥ ६२ ॥

हयादस्मान्महेन्द्रोऽपि बिभेति बलसूदनः ।
कुर्वाणाच्च वपुर्घोरं केशिनो दुष्टचेतसः ॥ ६३ ॥

भयानक रूप धारण करनेवाले इस दुरात्मा अश्व केशीसे बलसूदन देवराज इन्द्र भी डरते थे ॥ ६३ ॥

यत्त्वया पाटितो देहो भुजेनायतपर्वणा ।
एषोऽस्य मृत्युरन्ताय विहितो विश्वयोनिना ॥ ६४ ॥

आपने अपनी बाँहके एक भागको बड़ा करके उसके द्वारा जो इसके शरीरको फाड़ डाला है, विश्वयोनि ब्रह्माजीने इसकी मृत्युके लिये ऐसा ही विधान बनाया था ॥ ६४ ॥

यस्मात् त्वया हतः केशी तस्मान्मच्छासनं शृणु ।
केशवो नाम नाम्ना त्वं ख्यातो लोके भविष्यसि ॥६५॥

अब आप मेरा यह अनुशासन सुनें—आपने केशीका वध किया है, इसलिये संसारमें 'केशव' नामसे विख्यात होंगे॥

स्वस्त्यस्तु भवतो लोके साधु याम्यहमाशुगः ।
कृत्यशेषं च ते कार्यं शक्तस्त्वमसि मा चिरम् ॥ ६६ ॥

जगत्‌में आपका (या आपसे जगत्‌का) कल्याण हो । आपको साधुवाद देकर मैं शीघ्र चला जाता हूँ । अब जो (कंस-वध आदि) कृत्य शेष रह गये हैं, उन्हे आपको पूर्ण करना है । आप इसमें समर्थ हैं, अतः शीघ्र कर डालें; विलम्ब न होने दें ॥ ६६ ॥

त्वयि कार्यान्तरगते नरा इव दिवौकसः ।
विडम्बयन्तः क्रीडन्ति लीलां त्वद्बलमाश्रिताः ॥ ६७ ॥

जब आप भूभार-हरण आदि अन्य कार्योंके लिये यहाँ (अवतार लेनेके लिये) चले आते है, तब आपके ही बलका आश्रय लेनेवाले देवता भी मनुष्योंकी भाँति आपकी लीलाका अनुकरण (अभिनय) करते हुए (नाटक आदि) खेलते हैं।६७।

अभ्याशे वर्तते कालो भारतस्याहवोदधेः ।
हस्तप्राप्तानि युद्धानि राज्ञां त्रिदिवगामिनाम् ॥ ६८ ॥

समुद्रतुल्य महाभारतयुद्धका समय अब बहुत निकट है । मरकर स्वर्गमें जानेवाले राजाओंके लिये युद्धके अवसर हाथमें आ गये हैं ॥ ६८ ॥

पन्थानः शोधिता व्योम्नि विमानारोहणोर्ध्वगाः ।
अवकाशा विभज्यन्ते शक्रलोके महीक्षिताम् ॥ ६९ ॥

विमानोंके आरोहणके लिये आकाशमें जो ऊर्ध्वगामी मार्ग हैं, उनका शोधन कर दिया गया है (रुकावटें दूर कर दी गयी हैं) । इन्द्रलोकमें आनेवाले राजाओंके लिये पृथक्-पृथक् अवकाश (निवास-स्थान) बनाये जाते हैं ॥ ६९ ॥

उग्रसेनसुते शान्ते पदस्थे त्वयि केशव ।
अभितस्तन्महद् युद्धं भविष्यति महीक्षिताम् ॥ ७० ॥

केशव ! उग्रसेनकुमार कंसके मारे जानेपर जब आप यादवोंके संरक्षणके रूपमें मुख्य पदपर प्रतिष्ठित होंगे; तब सब ओर राजाओंका वह महान् युद्ध आरम्भ हो जायगा।७०।

त्वां चाप्रतिमकर्माणं संश्रयिष्यन्ति पाण्डवाः ।
भेदकाले नरेन्द्राणां पक्षग्राहो भविष्यसि ॥ ७१ ॥

आपके कर्म (या पराक्रम) की कहीं तुलना नहीं है, अतः पाण्डवलोग आपकी ही शरण लेंगे । राजाओंमें भेदके अवसरपर जब युद्ध उपस्थित होगा, उस समय आप पाण्डवोंका ही पक्ष लेंगे ॥ ७१ ॥

त्वयि राजासनस्थे हि राजश्रियमनुत्तमाम् ।
शुभां त्यक्ष्यन्ति राजानस्त्वत्प्रभावान्न संशयः ॥ ७२ ॥

जब आप राजासनपर बैठेंगे, तब आपके प्रभावसे राजा लोग अपनी उत्तम एवं शुभ राज्यलक्ष्मीको त्याग देंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ७२ ॥

एष मे कृष्ण संदेशः श्रुतिभिः ख्यातिमेष्यति ।
देवतानां दिविस्थानां जगतश्च जगत्पते ॥ ७३ ॥

जगदीश्वर श्रीकृष्ण ! यह मेरा तथा स्वर्गवासी देवताओंका संदेश है, जो श्रुतियोंद्वारा गूढ़ रूपसे प्रतिपादित है ।* अब यह जगत्‌में भी विख्यात हो जायगा ॥ ७३ ॥

दृष्टं मे भवतः कर्म दृष्टश्चासि मया प्रभो ।
कंसे भूयः समेष्यामि साधिते साधु याम्यहम् ॥ ७४ ॥

---

* उन संदेशप्रतिपादक श्रुतियोंमेंसे एक श्रुति, जो महाभारतयुद्धपर प्रकाश डालती है, इस प्रकार है—"अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः । वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि" अर्थात् एक युद्धयज्ञका सम्बन्ध श्रीकृष्णसे है और दूसरे युद्धयज्ञका अर्जुनसे । उन दोनोंने एक साथ होकर जब कार्य किया, तब उनके द्वारा दो युद्ध-यज्ञ सम्पादित हुए । वे दोनों युद्धयज्ञ रजोगुणी थे; क्योंकि प्राप्य पैतृक सम्पत्तिको निमित्त बनाकर किये गये थे । वैश्वानर अर्थात् धर्म संसारमें जन्म ग्रहण करके (श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सहायतासे) निश्चय ही राजा हुआ । उसने प्रकाशमान अग्निकी सहायतासे असुरोंका अन्धकार तिरोहित कर दिया था (अर्थात् धर्मराजने खाण्डव-दाहके समय अग्निके दिये हुए चक्र और गाण्डीवकी सहायतासे श्रीकृष्ण और अर्जुनके पराक्रमद्वारा असुरोंका विध्वंस कराया । (नीलकण्ठीसे)

प्रभो ! मैंने आपका पराक्रम देखा, आपका भी दर्शन किया। साधुवाद ! अब मैं जाता हूँ, कंसके मारे जानेपर मैं फिर आपसे मिलूँगा ॥ ७४ ॥

एवमुक्त्वा तु स तदा नारदः खं जगाम ह ।
नारदस्य वचः श्रुत्वा देवसंगीतयोनिनः ॥ ७५ ॥
तथेति स समाभाष्य पुनर्गोपान् समासदत् ।
गोपाः कृष्णं समासाद्य विविशुर्व्रजमेव ह ॥ ७६ ॥

ऐसा कहकर नारदजी तत्काल आकाशमें चले गये। देवसङ्गीतके उत्पत्तिस्थान नारदजीका पूर्वोक्त वचन सुनकर श्रीकृष्णने 'तथास्तु' कहकर उनकी बात मान ली, फिर वे गोपोंसे मिले। गोपगण श्रीकृष्णसे मिलकर उनके साथ ही पुनः व्रजमें प्रविष्ट हुए ॥ ७५-७६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि केशिवधे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें केशीका वधविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

अक्रूरका व्रजमें आकर भगवान् श्रीकृष्णको देखना और उनके विषयमें अनेक प्रकारकी बातें सोचना

वैशम्पायन उवाच

अथास्तं गच्छति तदा मन्दरश्मौ दिवाकरे ।
संध्यारक्ततले व्योम्नि शशाङ्के पाण्डुमण्डले ॥ १ ॥
नीडस्थेषु विहङ्गेषु सत्सु प्रादुष्कृताग्निषु ।
ईषत्तमःसंवृतासु दिक्षु सर्वासु सर्वशः ॥ २ ॥
घोषवासिषु सुप्तेषु वाशन्तीषु शिवासु च ।
नक्तंचरेषु हृष्टेषु पिशिताशनकाङ्क्षिषु ॥ ३ ॥
शक्रगोपाह्वयामोदे प्रदोषेऽभ्यासतस्करे ।
संध्यामयीमिव गुहां सम्प्रविष्टे दिवाकरे ॥ ४ ॥
अधिश्रयणवेलायां प्राप्तायां गृहमेधिनाम् ।
वन्यैर्वैखानसैर्मन्त्रैर्हूयमाने हुताशने ॥ ५ ॥
उपावृत्तासु वै गोषु दुह्यमानासु च व्रजे ।
असकृद्व्याहरन्तीषु बद्धवत्सासु धेनुषु ॥ ६ ॥
प्रकीर्णदामनीकेषु गास्तथैवाह्वयत्सु च ।
सनिनादेषु गोपेषु काल्यमाने च गोधने ॥ ७ ॥
करीषेषु प्रक्लृप्तेषु दीप्यमानेषु सर्वशः ।
काष्ठभारानतस्कन्धैर्गोपैरभ्यागतैस्तथा ॥ ८ ॥
किंचिदभ्युद्यते सोमे मन्दरश्मौ विराजति ।
ईषद्विगाहमानायां रजन्यां दिवसे गते ॥ ९ ॥
प्राप्ते दिनव्युपरमे प्रवृत्ते क्षणदामुखे ।
भास्करे तेजसि गते सौम्ये तेजस्युपस्थिते ॥ १० ॥
अग्निहोत्राकुले काले सौम्येन्दौ समुपस्थिते ।
अग्नीषोमात्मके संधौ वर्तमाने जगन्मये ॥ ११ ॥
पश्चिमेनाग्निदीप्तेन पूर्वेणोत्पलवर्चसा ।
दग्धाद्रिसदृशे व्योम्नि किंचित्तारागणाकुले ॥ १२ ॥
वयोभिर्वासमुशतां बन्धुभिश्च समागमम् ।
शंसद्भिः स्यन्दनेनाशु प्राप्तो दानपतिर्व्रजम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस दिन जब सूर्यदेव अस्ताचलको जाने लगे, उनकी किरणें मन्द हो गयीं, पश्चिमके आकाशमें संध्याकी लाली छा गयी, चन्द्रमाका श्वेत-पीत मण्डल उदित होने लगा, पक्षी अपने नीड़ों (घोसलों) में विश्राम करने लगे, श्रेष्ठ याज्ञिकोंने जब अग्नि प्रज्वलित कर दी, सम्पूर्ण दिशाएँ सब ओरसे जब कुछ-कुछ अन्धकारसे आवृत हो गयीं, व्रजवासी सोनेकी तैयारी करने लगे, गीदड़ियाँ बोलने लगीं, मांसाहारकी अभिलाषा रखनेवाले निशाचर हर्षमें भर गये, धूपसे तपे हुए इन्द्रगोप नामक कीड़ोंको आनन्द देनेवाला और वेदोंके स्वाध्यायको बंद करनेवाला प्रदोषकाल जब आ पहुँचा, जब सूर्यदेव संध्यारूपिणी गुफामें प्रविष्ट हो गये, जब गृहस्थोंके लिये हवनीय घृत या दुग्धको आगपर रखनेकी वेला आ पहुँची, वनवासी वैखानस (वानप्रस्थ) जब मन्त्रोंद्वारा अग्निमें आहुति देने लगे, जब गौएँ वनसे लौटकर व्रजमें आ गयीं और उनका दूध दुह लिया गया, जिनके बछड़े बँधे थे और जो स्वयं भी लंबी रस्सियोंमें आबद्ध थीं, वे धेनुएँ जब बार-बार रँभाने लगीं, गौओंको बुलाते हुए गोपगण जब सब ओर कोलाहल करने लगे, जब बाँधनेके लिये गौओंको हाँककर ले जाया जाने लगा; काष्ठके भारसे झुके हुए कंधोंवाले गोप जब घर आकर सब ओर फैले हुए सूखे गोबरके चूरोंको सुलगाने या प्रज्वलित करने लगे, किंचित् उदित हुए चन्द्रदेव जब अपनी मन्द किरणोंसे ही प्रकाशित हो रहे थे, दिन चले जानेपर थोड़ी-सी ही रातका आगमन हुआ था, दिनकी पूर्ण समाप्ति होकर रात्रिके प्रथम प्रहरका अभी आरम्भ ही हुआ था, सूर्यका उष्ण प्रकाश अस्त होकर चन्द्रमाका शीतल प्रकाश उपस्थित हुआ था, जिस समय अग्निहोत्रकी सुगन्धि सब ओर व्याप्त हो रही थी, स्वभावतः सौम्य चन्द्रदेव उदित हुए, जब सम्पूर्ण जगत्में अग्नीषोमात्मक संधिका समय वर्तमान था, जब पश्चिममें अग्निके समान संध्याकालका अरुण प्रकाश फैला था तथा पूर्वमें भी लाल कमलके समान कान्तिवाले चन्द्रमाकी कुङ्कुम-

जैसी प्रभा फैली हुई थी और उन दोनों दिशाओंके अरुण प्रकाशसे जब आकाश उभयपार्श्वसे दग्ध हुए पर्वतके समान प्रतीत हो रहा था और उसमें कुछ-कुछ तारे प्रकट हो गये थे, ऐसे समयमें घर लौटनेकी इच्छावाले पथिकोंको बन्धुओंसे समागम होनेकी सूचना-सी देनेवाले पक्षियोंके साथ-साथ दानपति अक्रूर अपने रथके द्वारा शीघ्र ही व्रजमें आ पहुँचे ॥ १–१३ ॥

प्रविशन्नेव पप्रच्छ सांनिध्यं केशवस्य सः।
रौहिणेयस्य चाक्रूरो नन्दगोपस्य चासकृत् ॥ १४ ॥

व्रजमें प्रवेश करते ही अक्रूर वहाँके लोगोंसे बारंबार श्रीकृष्ण, रोहिणीनन्दन बलराम तथा नन्दगोपका निवास-स्थान पूछने लगे ॥ १४ ॥

स नन्दगोपस्य गृहं वासाय विबुधोपमः।
अवतीर्य ततो यानात् प्रविवेश महाबलः ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् देवोपम कान्तिसे युक्त महाबली अक्रूर उस रथसे उतरकर निवासके लिये नन्दगोपके घरमें प्रविष्ट हुए ॥ १५ ॥

हर्षपूर्णेन वक्त्रेण साश्रुनेत्रेण चैव हि।
प्रविशन्नेव च द्वारि ददर्शादोहने गवाम् ॥ १६ ॥
वत्समध्ये स्थितं कृष्णं सवत्समिव गोवृषम्।

उस समय उनके मुखपर पूर्ण हर्ष छा रहा था, नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बह रहे थे, नन्दके द्वारपर पदार्पण करते ही उन्होंने देखा, गौओंके दुहनेके स्थानमें श्रीकृष्ण बहुत-से बछड़ोंके बीचमें खड़े हैं। वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो बछड़ों-सहित साँड़ खड़ा हो ॥ १६½ ॥

स तं हर्षपरीतेन वचसा गद्गदेन वै ॥ १७ ॥
एहि केशव तातेति प्रत्याहरत धर्मवित्।

उन्हें देखते ही धर्मज्ञ अक्रूर हर्षभरी गद्गद वाणीद्वारा बोले—'तात केशव! यहाँ आओ!' ॥ १७½ ॥

उत्तानशायिनं दृष्ट्वा पुनर्दृष्ट्वा श्रिया वृतम् ॥ १८ ॥
अव्यक्तयौवनं कृष्णमक्रूरः प्रशशंस ह।

(कुछ ही वर्ष पहले) जिन्हें शैशवावस्थामें उत्तान सोते देखा-सुना था, उन्हीं श्रीकृष्णको पुनः अनुपम शोभासे सम्पन्न अव्यक्त यौवन-अवस्थामें देखकर अक्रूर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ १८½ ॥

अयं स पुण्डरीकाक्षः सिंहशार्दूलविक्रमः।
सम्पूर्णजलमेघाभः पर्वतप्रवराकृतिः ॥ १९ ॥

ये ही वे सिंह और व्याघ्रके समान पराक्रमी कमलनयन श्रीकृष्ण दिखायी देते हैं, जिनकी अङ्गकान्ति जलसे भरे हुए जलधरकी भाँति श्याम है और शरीरकी ऊँचाई श्रेष्ठ पर्वतके समान प्रतीत होती है ॥ १९ ॥

मृधेष्ववर्षणीयेन सश्रीवत्सेन वक्षसा।
द्विषन्निधनदक्षाभ्यां भुजाभ्यां साधु भूषितः ॥ २० ॥

इनका श्रीवत्सविभूषित वक्षःस्थल युद्धमें अजेय है और भुजाएँ शत्रुओंका संहार करनेमें कुशल हैं। इन भुजाओं तथा वक्षःस्थलसे इनके श्रीविग्रहकी बड़ी शोभा हो रही है ॥

मूर्तिमान् स रहस्यात्मा जगतोऽग्र्यस्य भाजनम्।
गोपवेषधरो विष्णुरुदग्राग्र्यतनूरुहः ॥ २१ ॥

ये ही वे मूर्तिमान् रहस्यात्मा (उपनिषदोंमें प्रतिपादित पुरुषोत्तम) हैं, जो इस संसारकी अग्रपूजा पानेके प्रथम अधिकारी हैं। वे भगवान् विष्णु ही यहाँ गोप-वेश धारण करके प्रकट हुए हैं। इनकी रोमावलि ऊपरकी ओर उठी हुई और परम पवित्र है (अर्थात् यह प्रेमी भक्तोंको देखते ही रोमाञ्चित हो उठते हैं) ॥ २१ ॥

किरीटलाञ्छनेनापि शिरसा छत्रवर्चसा।
कुण्डलोत्तमयोग्याभ्यां श्रवणाभ्यां विभूषितः ॥ २२ ॥

जिसपर किरीट धारण करनेका चिह्न है तथा जहाँ छत्राकार कान्ति प्रकाशित हो रही है, उस मस्तकसे और उत्तम कुण्डल पहनने योग्य दोनों कानोंसे ये विभूषित हो रहे हैं ॥

हारार्हेण च पीनेन सुविस्तीर्णेन वक्षसा।
द्वाभ्यां भुजाभ्यां वृत्ताभ्यां दीर्घाभ्यामुपशोभितः ॥ २३ ॥

हार पहनने योग्य ऊँची और चौड़ी छातीसे तथा गोलाकार दो विशाल भुजाओंसे इनकी बड़ी शोभा हो रही है ॥

स्त्रीसहस्रोपचर्येण वपुषा मन्मथाधिना।
पीते वसानो वसने सोऽयं विष्णुः सनातनः ॥ २४ ॥

इनका श्रीविग्रह उस यौवन और पौगण्ड अवस्थाकी संधिमे पहुँचा हुआ है, जहाँ कामदेवको आश्रय मिलता है। यह विग्रह सहस्रों स्त्रियोंद्वारा परिचर्या प्राप्त करने योग्य है, ऐसे दिव्य शरीरपर दो पीत-वस्त्र धारण किये ये वे ही सनातन विष्णु यहाँ विराजमान हैं ॥ २४ ॥

धरण्याश्रयभूताभ्यां चरणाभ्यामरिंदमः।
त्रैलोक्याक्रान्तिभूताभ्यां भुवि पद्भ्यां व्यवस्थितः ॥

जो पृथ्वीके आश्रयभूत हैं तथा तीनों लोकोंको आक्रान्त करनेमें समर्थ हैं, ऐसे संचरणशील युगल चरणोंसे यह शत्रु-दमन श्रीकृष्ण इस भूमिपर खड़े हैं ॥ २५ ॥

रुचिराग्रकरश्चास्य चक्राङ्कित इवेक्षते।
द्वितीय उद्यतश्चापि गदासंयोगमिच्छति ॥ २६ ॥

इनका एक हाथ, जिसका अग्रभाग बहुत ही सुन्दर है, चक्रसे चिह्नित-सा दिखायी देता है। दूसरा उठा हुआ हाथ गदासे संयुक्त होना चाहता है ॥ २६ ॥

अवतीर्णो भवायेह प्रथमं पद्मात्मनः।
शोभतेऽद्य भुवि श्रेष्ठस्त्रिदशानां धुरंधरः ॥ २७ ॥

ये ही परब्रह्म परमात्माके प्रथम पद[1] (तुरीय ब्रह्म) हैं, जो यहाँ जगत्के कल्याणके लिये अवतीर्ण हुए हैं। देवताओंकी रक्षाका भार वहन करनेवाले वे सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर आज भूतलपर अवतीर्ण होकर शोभा पाते हैं ॥ २७ ॥

अयं भविष्ये कथितो भविष्यकुशलैर्नरैः।
गोपालो यादवं वंशं क्षीणं विस्तारयिष्यति ॥ २८ ॥

इन्हींके विषयमें भविष्यकी बात बतानेमें कुशल मनुष्योंने कहा है कि गोपाल श्रीकृष्ण भविष्यमें क्षीण हुए यादववंशका विस्तार करेंगे ॥ २८ ॥

तेजसा यादवाश्चास्य शतशोऽथ सहस्रशः।
वंशमापूरयिष्यन्ति ह्योघा इव महार्णवम् ॥ २९ ॥

जैसे नदियोंके बहुत-से जलप्रवाह महासागरको पूर्ण करते रहते हैं, उसी प्रकार सैकड़ों और हजारों यदुवंशी इनके प्रभावसे अपने वंशकी वृद्धि करेंगे ॥ २९ ॥

अस्येदं शासने सर्वं जगत् स्थास्यति शाश्वतम्।
निहतामित्रसामन्तं स्फीतं कृतयुगे तथा ॥ ३० ॥

यह सारा जगत्, जो सनातनकालसे चला आ रहा है, इनके शासनमें स्थित होगा। उस समय इसको कष्ट देनेवाले शत्रु और सामन्त नष्ट हो जायँगे और यह विश्व सत्ययुगकी भाँति सुख-शान्ति एवं समृद्धिसे सम्पन्न हो जायगा ॥ ३० ॥

अयमास्थाय वसुधां स्थापयित्वा जगद् वशे।
राज्ञां भविष्यत्युपरि न च राजा भविष्यति ॥ ३१ ॥

ये इस वसुधापर रहकर जगत्को अपने वशमें स्थापित करके समस्त राजाओंके ऊपर प्रतिष्ठित हो जायँगे, परंतु स्वयं राजा नहीं बनेंगे ॥ ३१ ॥

नूनं त्रिभिः क्रमैर्जित्वा यथानेन प्रभुः कृतः।
पुरा पुरंदरो राजा देवतानां त्रिविष्टपे ॥ ३२ ॥
तथैव वसुधां जित्वा जितपूर्वां त्रिभिः क्रमैः।
स्थापयिष्यति राजानमुग्रसेनं न संशयः ॥ ३३ ॥

निश्चय ही पूर्वकालमें जिस प्रकार इन्होंने अपने तीन पगोंद्वारा त्रिलोकीको जीतकर स्वर्गमें पुरन्दर इन्द्रको देवताओंका राजा बनाया था, उसी प्रकार पहलेकी तीन पगोंद्वारा जीती हुई इस वसुधाको फिर जीतकर यह उग्रसेनको राजाके आसनपर बैठायेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ३२-३३ ॥

प्रसृष्टवैरगाधोऽयं प्रश्नैश्च बहुभिः श्रुतः।
ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादैश्च पुराणोऽयं हि गीयते ॥ ३४ ॥

यह फैले हुए वैरका अन्त करनेवाले हैं, प्रश्नोपनिषद्में बहुत-से (छः) प्रश्नोंद्वारा इन्हींके तत्त्वका प्रतिपादन सुना गया है। ब्रह्मवादी ब्राह्मणोंद्वारा ये पुराण-पुरुष कहे जाते हैं ॥ ३४ ॥

स्पृहणीयो हि लोकस्य भविष्यति च केशवः।
तथा ह्यस्योत्थिता बुद्धिर्मानुष्यमुपजीवितुम् ॥ ३५ ॥

यह भगवान् केशव समस्त जगत्के लिये स्पृहणीय होंगे, क्योंकि इनकी बुद्धिमें मानवताको नया जीवन देनेका विचार उठ खड़ा हुआ है ॥ ३५ ॥

अहं त्वस्याद्य वसतिं पूजयिष्ये यथाविधि।
विष्णुत्वं मनसा चैव पूजयिष्यामि मन्त्रवत् ॥ ३६ ॥

आज मैं इनके निवासस्थानका विधिपूर्वक पूजन करूँगा, फिर मन-ही-मन इनके विष्णुरूपकी भावना करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक उसकी अर्चना करूँगा ॥ ३६ ॥

यच्च ज्ञातिपरिज्ञानं प्रादुर्भावश्च वै नृषु।
अमानुषं वेद्मि चैनं ये चान्ये दिव्यचक्षुषः ॥ ३७ ॥

इनमें जो अपने बन्धु-बान्धवोंको पहचाननेकी शक्ति है और जो इनका मनुष्योंमें अवतार हुआ है, वह सब मेरे लिये आदरणीय है। मैं तो इन्हें अमानव (अलौकिक परमात्मा) समझता ही हूँ, दूसरे दिव्य नेत्रधारी महापुरुष भी इन्हें ऐसा ही मानते हैं ॥ ३७ ॥

सोऽहं कृष्णेन वै रात्रौ सम्मन्त्र्य विदितात्मना।
सहानेन गमिष्यामि सव्रजो यदि मंस्यते ॥ ३८ ॥

अतः मैं इन आत्मवेत्ता श्रीकृष्णके साथ रातमें भलीभाँति सलाह करके यदि व्रजवासियोंसहित ये मेरी बात मान लेंगे तो इनके साथ ही कल मथुराकी यात्रा करूँगा ॥ ३८ ॥

एवं बहुविधं कृष्णं दृष्ट्वा हेत्वर्थकारणैः।
विवेश नन्दगोपस्य कृष्णेन सह संसदम् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार युक्तियुक्त कार्य-कारणका विचार करते हुए अक्रूरने श्रीकृष्णको बारंबार देखा और उनके साथ नन्दगोपकी बैठकमें प्रवेश किया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि अक्रूरागमने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें अक्रूरका आगमनविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

---

१. माण्डूक्य उपनिषद्में प्रणवकी मात्राओंपर विचार करते हुए ब्रह्मके चार पाद बताये गये हैं—विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय। इनमें तुरीय साक्षात् पूर्ण परब्रह्मका बोधक है। उत्पत्ति-क्रमसे गणना करनेपर यह तुरीय ही प्रथम पाद हो सकता है। इसीलिये यहाँ प्रथम पदका अर्थ तुरीय ब्रह्म किया गया है।

षड्विंशोऽध्यायः

अक्रूरका गोपोंके लिये कंसका आदेश सुनाना और वसुदेव-देवकीकी दयनीय दशा बताकर श्रीकृष्ण-बलरामको मथुरा चलनेके लिये प्रेरित करना, मार्गमें अक्रूरको यमुनाजीके जलमें आश्चर्यमय नागलोक एवं भगवान् अनन्त तथा उनकी गोदमें श्रीकृष्णका दर्शन

वैशम्पायन उवाच

स नन्दगोपस्य गृहं प्रविष्टः सहकेशवः।
गोपवृद्धान् समानीय प्रोवाचामितदक्षिणः॥ १॥
कृष्णं चैवाब्रवीत् प्रीत्या रौहिणेयेन सङ्गतम्।
श्वः पुरीं मथुरां तात गमिष्यामः सुखाय वै॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्णके साथ नन्दके गृहमें प्रवेश करके अनन्त दान-दक्षिणा देनेवाले अक्रूरने बड़े-बूढ़े गोपोंको बुलवाया और उनसे तथा बलराम-सहित श्रीकृष्णसे प्रसन्नतापूर्वक यों कहा—'तात! कल सबेरे हमलोग मथुरापुरीको चलेंगे। वहाँ चलकर तुम सुखी होओगे॥

यास्यन्ति च व्रजाः सर्वे गोपालाः सपरिग्रहाः।
कंसाज्ञया समुचितं करमादाय वार्षिकम्॥ ३॥

'समस्त व्रजवासी गोप कंसकी आज्ञासे समुचित वार्षिक कर लेकर सपरिवार वहाँ चलेंगे॥ ३॥

समृद्धस्तत्र कंसस्य भविष्यति धनुर्महः।
तं द्रक्ष्यथ समृद्धं च स्वजनैश्च समेष्यथ॥ ४॥

'वहाँ कंसका धनुर्यज्ञ बड़ी धूम-धामसे सम्पन्न होगा। उस समृद्धिशाली यज्ञको तुमलोग देखोगे और स्वजनोंसे भी मिलोगे॥ ४॥

पितरं वसुदेवं च सततं दुःखभाजनम्।
दीनं पुत्रवधश्रान्तं युवामद्य समेष्यथः॥ ५॥

'तुम दोनों भाई पुत्रोंके वधसे अत्यन्त दीन-दुर्बल होकर सदा दुःख ही भोगनेवाले अपने पिता वसुदेवजीसे वहाँ मिलोगे॥

सततं पीड्यमानं च कंसेनाशुभबुद्धिना।
दशान्ते शोषितं वृद्धं दुःखैः शिथिलतां गतम्॥ ६॥

'अशुभ बुद्धिवाले कंसने उन्हें सदा ही पीड़ा दी है। इस बुढ़ापेमें उनके शरीरका रक्त-मांस सूख गया है। बूढ़े वसुदेव अनेक प्रकारके दुःखोंसे भी बहुत शिथिल हो गये हैं॥ ६॥

कंसस्य भयसंत्रस्तं भवद्भ्यां च विना कृतम्।
दह्यमानं दिवा रात्रौ सोत्कण्ठेनान्तरात्मना॥ ७॥

'एक तो कंसका भय उन्हें आतङ्कित किये रहता है, दूसरे तुम दोनोंसे वे बिछुड़ गये हैं; अतः तुम्हारे लिये उत्कण्ठितचित्त होकर दिन-रात चिन्ताकी आगमें जलते रहते हैं॥ ७॥

तां च द्रक्ष्यसि गोविन्द पुत्रैरस्नुदितस्तनीम्।
देवकीं देवसंकाशां सीदन्तीं विहतप्रभाम्॥ ८॥
पुत्रशोकेन शुष्यन्तीं त्वद्दर्शनपरायणाम्।
वियोगशोकसंतप्तां विवत्सामिव सौरभीम्॥ ९॥

'गोविन्द! तुम वहाँ चलकर अपनी माता देवकीका भी दर्शन करोगे, जिसके स्तनोंसे उसके पुत्रोंने कभी मुँह नहीं लगाया है। वह देवियों-जैसी नारी इस समय प्रभाहीन होकर दुःख भोग रही है। तुम्हारे दर्शनकी आशा लिये पुत्रशोकसे सूखती जा रही है। बिना बछड़ेकी गायके समान वह पुत्र-वियोगके शोकसे संतप्त रहती है॥ ८-९॥

उपप्लुतेक्षणां दीनां नित्यं मलिनवाससम्।
स्वर्भानुवदनग्रस्तां शशाङ्कस्य प्रभामिव॥ १०॥

'उस दुखियाके नेत्रोंमें निरन्तर आँसू भरे रहते हैं। उसके वस्त्र मैले हो गये हैं। वह राहुके मुखमें पड़ी हुई चन्द्रमाकी प्रभाके समान जान पड़ती है॥ १०॥

त्वद्दर्शनपरां नित्यं तवागमनकाङ्क्षिणीम्।
त्वत्प्रवृत्तेन शोकेन सीदन्तीं वै तपस्विनीम्॥ ११॥

'उसे सदा यही चिन्ता रहती है कि कब तुम्हारा दर्शन होगा। वह प्रतिदिन तुम्हारे शुभागमनकी अभिलाषा रखती है। वह तपस्विनी नारी तुम्हारे शोकसे शिथिल हो गयी है॥

त्वत्प्रलापेष्वकुशलां त्वया बाल्ये वियोजिताम्।
अरूपज्ञां तव विभो वक्त्रस्यास्येन्दुवर्चसः॥ १२॥

'प्रभो! बाल्यावस्थामें ही वह तुमसे बिछुड़ गयी, अतः तुम्हारी मीठी-मीठी बातोंमें क्या रस है, इसको समझनेकी चतुरता उसमें नहीं आ सकी है। वह तुम्हारे रूपको नहीं जानती, चन्द्रमाके समान कान्तिमान् इस मुखके दर्शनसे भी वञ्चित रह गयी है॥ १२॥

यदि त्वां जनयित्वा सा देवकी तात तप्यते।
अपत्यार्थो नु कस्तस्या वरं ह्येवानपत्यता॥ १३॥

'तात! यदि तुम्हें जन्म देकर देवकी इतना संताप सह रही है तो उसे संतानका क्या फल मिला? इससे तो उसका संतानहीन होना ही अच्छा था॥ १३॥

अपुत्राणां हि नारीणामेकः शोको विधीयते।
सपुत्रा त्वफले पुत्रे धिक्प्रजातेन तप्यते॥ १४॥

'जिन नारियोंके पुत्र नहीं हुआ है, उन्हें एक ही शोक रहता है; परंतु जो पुत्रवती होकर भी पुत्रका फल न पा सके, वह उस धिक्कार पानेके योग्य संतानसे सदा ही संतप्त होती रहती है॥ १४॥

त्वं तु शक्रसमः पुत्रो यस्यास्त्वत्सदृशो गुणैः।
परेषामप्यभयदो न सा शोचितुमर्हति ॥ १५ ॥

'जिसके तुम्हारे समान गुणवान्, इन्द्रतुल्य तेजस्वी तथा दूसरोंको भी अभयदान देनेवाला पुत्र हो, उस माताको शोककी भागिनी नहीं होना चाहिये ॥ १५ ॥

वृद्धौ तवाम्बापितरौ परभृत्यत्वमागतौ।
भर्त्सितौ त्वत्कृते नित्यं कंसेनाशुभबुद्धिना ॥ १६ ॥

'भैया! तुम्हारे बूढ़े माता-पिता दूसरेके दासभावको प्राप्त हो गये हैं। पापपूर्ण विचार रखनेवाला कंस उन्हें प्रतिदिन तुम्हारे कारण डाँटता-फटकारता रहता है ॥ १६ ॥

यदि ते देवकी मान्या पृथिवीवात्मधारिणी।
तां शोकसलिले मग्नामुत्तारयितुमर्हसि ॥ १७ ॥

'तुम्हारे शरीरको अपने गर्भमें धारण करनेवाली माता देवकी यदि लोकधारिणी पृथ्वीके समान माननीय है तो तुमने जैसे पृथ्वीका जलसे उद्धार किया था, उसी प्रकार शोक-सागरके जलमें डूबी हुई उस देवकीका भी तुम्हें उद्धार करना चाहिये ॥ १७ ॥

तं च वृद्धं प्रियसुतं वसुदेवं सुखोचितम्।
पुत्रयोगेन संयोज्य कृष्ण धर्ममवाप्स्यसि ॥ १८ ॥

'श्रीकृष्ण! जिन्हें अपने पुत्र बहुत ही प्रिय हैं तथा जो सुख भोगनेके योग्य हैं, उन बूढ़े वसुदेवको पुत्र-संयोगका सुख देकर तुम धर्मके भागी होओगे ॥ १८ ॥

यथा नागः सुदुर्वृत्तो दमितो यमुनाह्रदे।
विमूलः स कृतः शैलो यथा वै भूधरस्त्वया ॥ १९ ॥
दर्पोत्सिक्तश्च बलवानरिष्टो विनिपातितः।
परप्राणहरः केशी दुष्टात्मा च हयो हतः ॥ २० ॥
एतेनैव प्रयत्नेन वृद्धावुद्धृत्य दुःखितौ।
यथा धर्ममवाप्नोषि तत् कृष्ण परिचिन्त्यताम् ॥ २१ ॥

'श्रीकृष्ण! जैसे तुमने यमुनाके कुण्डमें रहनेवाले उस दुराचारी नागका दमन किया, जैसे गोवर्धन पर्वतको जड़से उखाड़ दिया, जिस प्रकार बलवान् एवं मदमत्त अरिष्टासुरको मार गिराया तथा जिस तरह दूसरोंके प्राण लेनेवाले अश्वरूपधारी दुष्टात्मा केशीका वध किया, वैसे ही प्रयत्नके द्वारा उन दुखी एवं वृद्ध माता-पिताका उद्धार करके तुम जैसे भी धर्मके भागी हो सको, उस उपायको सोचो ॥ १९–२१ ॥

निर्भर्त्स्यमानो यैर्दृष्टः पिता ते कंससंसदि।
ते सर्वे चक्रुरश्रूणि नेत्रैर्दुःखान्विता भृशम् ॥ २२ ॥

'जिन लोगोंने कंसकी सभामें तुम्हारे पितापर डाँट पड़ती देखी थी, वे सब-के-सब अत्यन्त दुखी होकर नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे थे ॥ २२ ॥

गर्भावकर्तनादीनि दुःखानि सुबहून्यपि।
माता ते देवकी कृष्ण कंसस्य सहतेऽवशा ॥ २३ ॥

'कृष्ण! तुम्हारी माता देवकी विवश होकर कंसके द्वारा दिये गये गर्भोच्छेद आदि बहुत-से दुःख सहती चली आ रही है ॥ २३ ॥

मातापितृभ्यां सर्वेण जातेन तनयेन वै।
ऋणं वै प्रतिकर्तव्यं यथायोगमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

'माता-पितासे उत्पन्न हुए सभी पुत्रोंको यथायोग्य सेवा करके उनके ऋणोंको उतार देना चाहिये, यह शास्त्रकी आज्ञा है ॥ २४ ॥

एवं ते कुर्वतः कृष्ण मातापित्रोरनुग्रहम्।
परित्यजेतां तौ शोकं स्याच्च धर्मस्तवानघ ॥ २५ ॥

'निष्पाप श्रीकृष्ण! यदि इस प्रकार तुमने माता-पितापर अनुग्रह किया तो वे दोनों अपने बीते हुए शोकको त्याग देंगे और तुम्हें धर्मकी प्राप्ति होगी' ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

कृष्णः सुविदितार्थो वै तमाहामितविक्रमम्।
बाढमित्येव तेजस्वी न च क्रोधवशं गतः ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इन सब बातोंको अच्छी तरह जान लेनेपर तेजस्वी श्रीकृष्णने अमितपराक्रमी अक्रूरसे कहा—'बहुत अच्छा! हमलोग आपके साथ चलेंगे।' वे क्रोधके वशीभूत नहीं हुए ॥ २६ ॥

ते च गोपाः समागम्य नन्दगोपपुरःसराः।
अक्रूरवचनं श्रुत्वा चेलुः कंसस्य शासनात् ॥ २७ ॥

नन्द आदि सभी गोप वहाँ एकत्र हो अक्रूरजीकी बात सुनकर कंसकी आज्ञासे मथुरा चलनेको उद्यत हो गये ॥२७॥

गमनाय च ते सज्जा बभूवुर्व्रजवासिनः।
सज्जं चोपायनं कृत्वा गोपवृद्धाः प्रतस्थिरे ॥ २८ ॥

वे व्रजवासी गोप यात्राके लिये सुसज्जित हो गये। भेंटकी सामग्रीको सजाकर बड़े-बूढ़े गोप वहाँसे प्रस्थित हुए ॥२८॥

करं चानडुहः सर्पिर्महिषांश्चौपनायिकान्।
यथासारं यथायूथमुपानीय पयो दधि ॥ २९ ॥
तं सज्जयित्वा कंसस्य करं चोपायनानि च।
ते सर्वे गोपपतयो गमनायोपतस्थिरे ॥ ३० ॥

वार्षिक कर, गाड़ीका बोझ ढोनेवाले बैल, भैंसें, घी, दूध और दही आदि उपहार-सामग्रियोंको अपनी-अपनी शक्ति और यूथके अनुसार लेकर एकत्र किया, फिर कंसकी उस उपायन-सामग्री और वार्षिक करको छकड़ेमें सजाकर वे सभी गोप सरदार यात्रा करनेके लिये नन्दके द्वारपर उपस्थित हुए ॥

अक्रूरस्य कथाभिश्च सह कृष्णेन जाग्रतः।
रौहिणेयतृतीयस्य सा निशा व्यत्यवर्तत ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्णके साथ बातचीत करनेमें अक्रूरकी वह सारी रात जागते ही बीती। उनके साथ तीसरे व्यक्ति रोहिणीनन्दन बलरामजी थे ॥ ३१ ॥

ततः प्रभाते विमले पक्षिव्याहारसंकुले।
नैशाकरे रश्मिजाले क्षणदाक्षयसंहृते ॥ ३२ ॥
नभस्यरुणसंस्तीर्णे पर्यस्ते ज्योतिषां गणे।
प्रत्यूषपवनासारैः क्लेदिते धरणीतले ॥ ३३ ॥
क्षीणाकारासु तारासु सुप्तनिष्प्रतिभासु च।
नैशमन्तर्दधे रूपमुद्गच्छति दिवाकरे ॥ ३४ ॥

तदनन्तर पक्षियोंके कलरवोंसे व्याप्त निर्मल प्रभातकाल उपस्थित हुआ। रात्रिकी समाप्तिके साथ ही चन्द्रदेवने अपने किरण-जालको समेट लिया। आकाशमें अरुणोदयकी लाली छा गयी। नक्षत्रोंका समुदाय अस्त हो गया। प्रातःकालकी वायुके साथ मिले हुए ओस-कणोंसे पृथ्वी गीली-सी हो गयी। तारिकाएँ क्षीण हो गयीं। वे सोयी हुईकी भाँति अपनी प्रभा खो बैठीं। सूर्योदय होनेके साथ ही निशाका रूप अदृश्य हो गया ॥ ३२—३४ ॥

शीतांशुः शान्तकिरणो निष्प्रभः समपद्यत।
एको नाशयते रूपमेको वर्धयते वपुः ॥ ३५ ॥

शीतरश्मि चन्द्रमाकी किरणें शान्त हो जानेके कारण वे प्रभाहीन हो गये। एक (चन्द्रमा) अपने रूपको अदृश्य करने लगा और दूसरा (सूर्य) अपने तेजको बढ़ाने लगा ॥

गोभिश्च समकीर्णासु व्रजनिर्याणभूमिषु।
मन्थनावर्तपूर्णेषु गर्गरेषु नदत्सु च ॥ ३६ ॥
दामभिर्दम्यमानेषु वत्सेषु तरुणेषु च।
गोपैरापूर्यमाणासु घोषरथ्यासु सर्वशः ॥ ३७ ॥
तत्रैव गुरुकं भाण्डं शकटारोपितं बहु।
त्वरिताः पृष्ठतः कृत्वा जग्मुः स्यन्दनवाहनाः ॥ ३८ ॥

व्रजसे बाहर जानेके मार्गोंकी भूमिपर गौएँ सब ओर फैल गयीं। मथानी घुमानेसे दहीके भरे मटकोंमें घर-घर ध्वनि होने लगी। नौजवान बछड़े रस्सियोंमें बाँधकर सधाये जाने लगे। व्रजकी गलियाँ सब ओरसे गोपोंद्वारा भर गयी थीं। ऐसे समयमें छकड़ेपर रखे गये दही-दूधके भारी-भारी भाण्डोंको पीछे करके गाड़ी हाँकनेवाले गोप तीव्र गतिसे चल दिये ॥ ३६—३८ ॥

कृष्णोऽथ रौहिणेयश्च स चैवामितदक्षिणः।
त्रयो रथगता जग्मुस्त्रिलोकपतयो यथा ॥ ३९ ॥

श्रीकृष्ण, बलराम और अमित दक्षिणा देनेवाले दानपति अक्रूर—ये तीनों त्रिलोकपतियोंके समान रथपर बैठकर चल रहे थे ॥ ३९ ॥

अथाह कृष्णमक्रूरो यमुनातीरमाश्रितः।
स्यन्दनं चात्र रक्षस्व यत्नं च कुरु वाजिषु ॥ ४० ॥

यमुनाजीके तटपर पहुँचकर अक्रूरने श्रीकृष्णसे कहा—'भैया ! रथको यहीं खड़ा रखो और घोड़ोंको काबूमें रखनेका प्रयत्न करो ॥ ४० ॥

हयेभ्यो यवसं दत्त्वा हयभाण्डे रथे तथा।
प्रगाढं यत्नमास्थाय क्षणं तात प्रतीक्ष्यताम् ॥ ४१ ॥

'तात ! घोड़ोंको दाना-घास देकर, इनके आभूषण और रथकी विशेष यत्नपूर्वक देख-भाल करते हुए एक क्षणतक मेरी प्रतीक्षा करो ॥ ४१ ॥

यमुनाया ह्रदे ह्यस्मिन् स्तोष्यामि भुजगेश्वरम्।
दिव्यैर्भागवतैर्मन्त्रैः सर्वलोकप्रभुं यतः ॥ ४२ ॥

'तबतक मैं यमुनाजीके इस कुण्डमें प्रवेश करके दिव्य भागवत मन्त्रोंद्वारा सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी नागराज अनन्तकी स्तुति कर लूँ ॥ ४२ ॥

गुह्यं भागवतं देवं सर्वलोकस्य भावनम्।
श्रीमत्स्वस्तिकमूर्द्धानं प्रणमिष्यामि भोगिनम्।
सहस्रशिरसं देवमनन्तं नीलवाससम् ॥ ४३ ॥

'वे गुह्यस्वरूप भागवत देवता हैं, सम्पूर्ण लोकोंके उत्पादक एवं उन्नायक हैं। उनका मस्तक कान्तिमान् स्वस्तिक चिह्नसे अलंकृत है। वे सर्व-विग्रहधारी भगवान् अनन्त देव सहस्र सिरोंसे सुशोभित तथा नील वस्त्र धारण करनेवाले हैं। मैं उन्हें प्रणाम करूँगा ॥ ४३ ॥

धर्मदेवस्य तस्याथ यद् विषं प्रभविष्यति।
सर्वं तदमृतप्रख्यमशिष्याम्यमरो यथा ॥ ४४ ॥
स्वस्तिकायतनं दृष्ट्वा द्विजिह्वं श्रीविभूषितम्।
समाजस्तत्र सर्पाणां शान्त्यर्थं वै भविष्यति ॥ ४५ ॥

'स्वस्तिकके आश्रयभूत श्रीविभूषित नागराज शेषका दर्शन करके मैं उन धर्मदेवका जो विष होगा, उसे अमृतके समान मानकर पी जाऊँगा। ठीक उसी तरह, जैसे देवतालोग अमृत पीते हैं। वहाँ भगवान् शेषके समीप सर्पोंका समुदाय शान्तिके लिये उपस्थित होगा ॥ ४४-४५ ॥

आस्तां मां समुदीक्षन्तौ भवन्तौ सङ्गतावुभौ।
निवृत्तो भुजगेन्द्रस्य यावदस्मि ह्रदोत्तमात् ॥ ४६ ॥

'मैं नागराजके इस उत्तम ह्रदसे लौटकर जबतक आ न जाऊँ, तबतक तुम दोनों भाई एक साथ मेरी राह देखते रहो' ॥ ४६ ॥

तमाह कृष्णः संहृष्टो गच्छ धर्मिष्ठ मा चिरम्।
आवां खलु न शक्तौ स्वस्त्वया हीनावुपासितुम् ॥ ४७ ॥

तब श्रीकृष्णने हर्षमें भरकर उनसे कहा—'धर्मिष्ठ महापुरुष ! जल्दी जाओ और लौटो। हम दोनों तुम्हारे बिना यहाँ (देरतक) नहीं बैठे रह सकेंगे' ॥ ४७ ॥

स ह्रदे यमुनायास्तु ममज्जामितदक्षिणः ।
रसातले स ददृशे नागलोकमिमं यथा ॥ ४८ ॥

तब अमित दक्षिणा देनेवाले अक्रूरने यमुनाजीके जलमें जाकर गोता लगाया । वहाँ उन्हें इसी लोककी भाँति रसातल-वर्ती नाग-लोकका स्पष्ट दर्शन होने लगा ॥ ४८ ॥

तस्य मध्ये सहस्रास्यं हेमतालोच्छ्रितध्वजम् ।
लाङ्गलासक्तहस्ताग्रं मुसलोपाश्रितोदरम् ॥ ४९ ॥

उस लोकके मध्यभागमें सहस्र सिरोंसे सुशोभित शेषका दर्शन हुआ । उनके पास सुवर्णमय ताल-चिह्नसे युक्त ऊँची ध्वजा फहराती थी । उनके एक हाथका अग्रभाग हलसे सटा हुआ था और उदर मुसलसे टिका हुआ था ॥ ४९ ॥

असिताम्बरसंवीतं पाण्डुरं पाण्डुरासनम् ।
कुण्डलैकधरं मत्तं सुप्तमम्बुरुहेक्षणम् ॥ ५० ॥

उनका शरीर गौर और आसन श्वेत वर्णका था । उनके श्रीअङ्ग नील वस्त्रसे आवृत थे । उन्होंने एक ही कानमें एक कुण्डल धारण कर रखा था । वे मतवाले-से होकर सोये थे । उनके नेत्र विकसित कमल दलके समान मनोहर थे ॥ ५० ॥

भोगोत्करासने शुभ्रे स्वेन देहेन कल्पिते ।
स्वासीनं स्वस्तिकाभ्यां च वराहाभ्यां महीधरम् ॥५१॥

वे अपनी ही देहसे कल्पित सर्प-शरीरमय विस्तृत एवं शुभ्र आसनपर सुन्दर ढंगसे विराजमान थे । पृथ्वीको धारण करनेवाले भगवान् अनन्त दो स्वस्तिक एवं वराह-चिह्नसे विभूषित थे ॥ ५१ ॥

किंचित् सव्यापवृत्तेन मौलिना हेमचूलिना ।
जातरूपमयैः पद्मैर्मालयाच्छन्नवक्षसम् ॥ ५२ ॥

उनके मस्तकपर सोनेकी कलँगीसे विभूषित मुकुट बायीं ओर कुछ झुका हुआ शोभा दे रहा था । वक्षःस्थल सुवर्णमय कमलोंकी मालासे आच्छादित था ॥ ५२ ॥

रक्तचन्दनदिग्धाङ्गं दीर्घबाहुमरिंदमम् ।
पद्मनाभसिताभ्राभं भाभिर्ज्वलिततेजसम् ॥ ५३ ॥

सारे अङ्गोंमें रक्त चन्दनका लेप लगा हुआ था । उनकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं । वे शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ थे । उनकी अङ्गकान्ति श्वेत वर्णवाले विष्णुकी शुक्ल प्रभा तथा श्वेत बादलोंकी आभाके समान थी । अपने ही प्रकाशसे उनका तेज प्रज्वलित हो रहा था ॥ ५३ ॥

ददर्श भोगिनां नाथं स्थितमेकार्णवेश्वरम् ।
पूज्यमानं द्विजिह्वेन्द्रैर्वासुकिप्रमुखैः प्रभुम् ॥ ५४ ॥

अक्रूरने देखा, एकार्णवके स्वामी तथा सर्पोंके रक्षक भगवान् शेष विराज रहे हैं और वासुकि आदि नागराज उन प्रभुकी पूजा कर रहे हैं ॥ ५४ ॥

कम्बलाश्वतरौ नागौ तौ चामरकरावुभौ ।
अवीजयेतां तं देवं धर्मासनगतं प्रभुम् ॥ ५५ ॥

कम्बल और अश्वतर नाग हाथोंमें चँवर लेकर धर्मासन-पर विराजमान भगवान् अनन्तदेवको हवा कर रहे थे ॥५५॥

तस्याभ्याशगतो भाति वासुकिः पन्नगेश्वरः ।
वृतोऽन्यैः सचिवैः सर्पैः कर्कोटकपुरःसरैः ॥ ५६ ॥

उनके निकट कर्कोटक आदि अन्य सर्पजातीय मन्त्रियोंसे घिरे हुए नागराज वासुकि सुशोभित हो रहे हैं ॥ ५६ ॥

तं घटैः काञ्चनैर्दिव्यैः पङ्कजच्छन्नमस्तकैः ।
राजानं स्नापयामासुः स्नातमेकार्णवाम्बुभिः ॥ ५७ ॥

उन्हें क्रमशः यह दिखायी दिया कि सेवकोंने कमलसे ढके हुए मुखवाले दिव्य सुवर्णमय घटोंद्वारा एकार्णवके जलसे नहाये हुए नागराज शेषको पुनः नहलाया है ॥ ५७ ॥

तस्योत्सङ्गे घनश्यामं श्रीवत्साच्छादितोरसम् ।
पीताम्बरधरं विष्णुं सूपविष्टं ददर्श ह ॥ ५८ ॥

उन शेषजीकी गोदमें उन्होंने पीताम्बरधारी भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण) को सुखपूर्वक विराजमान देखा । उनके श्रीअङ्गों-की कान्ति मेघके समान श्याम थी तथा उनका वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्नसे आच्छादित था ॥ ५८ ॥

अपरं चैव सोमेन तुल्यसंहननं प्रभुम् ।
संकर्षणमिवासीनं तं दिव्यं विष्टरं विना ॥ ५९ ॥

वहीं चन्द्रमाके समान गौर विग्रहवाले दूसरे प्रभावशाली देवता दिखायी दिये, जो संकर्षणसे मिलते-जुलते थे । वे उस दिव्य विस्तरके बिना ही वहाँ बैठे थे ॥ ५९ ॥

स कृष्णं तत्र सहसा व्याहर्तुमुपचक्रमे ।
तस्य संस्तम्भयामास वाक्यं कृष्णः स्वतेजसा ॥ ६० ॥

अक्रूरने सहसा वहाँ श्रीकृष्णसे बातचीत करनेकी चेष्टा की, परंतु श्रीकृष्णने अपने तेजसे उनकी वाणीको स्तम्भित कर दिया ॥ ६० ॥

सोऽनुभूय भुजङ्गानां तं भागवतमव्ययम् ।
उदतिष्ठत् पुनस्तोयाद् विस्मितोऽमितदक्षिणः ॥ ६१ ॥

सर्पोंके स्वामी उन अविनाशी भागवत देवकी महिमाका अनुभव करके अमित दक्षिणा देनेवाले दानपति अक्रूर आश्चर्य-चकित होकर पुनः जलसे ऊपर उठे ॥ ६१ ॥

स तौ रथस्थावासीनौ तत्रैव बलकेशवौ ।
निरीक्ष्यमाणावन्योन्यं ददर्शाद्भुतरूपिणौ ॥ ६२ ॥

उठकर उन्होंने देखा कि बलराम और श्रीकृष्ण दोनों वहीं रथपर बैठे हैं और एक दूसरेकी ओर देख रहे हैं; उन दोनोंके रूप अद्भुत हैं ॥ ६२ ॥

अथामज्जत् पुनस्तत्र तदाक्रूरः कुतूहलात् ।
इज्यते यत्र देवोऽसौ नीलवासाः सितानन: ॥ ६३ ॥

तब अक्रूरने पुनः कौतूहलवश वहाँ जलमें गोता लगाया और पुनः वे वहीं जा पहुँचे, जहाँ उज्ज्वल (गौर) मुखवाले नीलाम्बरधारी भगवान् अनन्तदेव पूजित हो रहे थे ॥

तथैवासीनमुत्सङ्गे सहस्रास्यधरस्य वै।
ददर्श कृष्णमक्रूरः पूज्यमानं तदा प्रभुम् ॥ ६४ ॥

फिर उसी प्रकार उन सहस्र मुखधारी शेषनागकी गोदमें बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णको भी अक्रूरने देखा, जो उस समय पूजित हो रहे थे ॥ ६४ ॥

भूयश्च सहसोत्थाय तं मन्त्रं मनसा जपन्।
रथं तेनैव मार्गेण जगामामितदक्षिणः ॥ ६५ ॥

तब मन-ही-मन उसी मन्त्रका जप करते हुए पुनः सहसा उठकर अमित दक्षिणा देनेवाले अक्रूर उसी मार्गसे रथके समीप चले गये ॥ ६५ ॥

तमाह केशवो हृष्टः स्थितमक्रूरमागमत्।
कीदृशं नागलोकस्य वृत्तं भागवते ह्रदे ॥ ६६ ॥

तब हर्षमें भरे हुए श्रीकृष्ण वहाँ खड़े हुए अक्रूरके पास आये और पूछने लगे—'कहिये, उस भागवत ह्रदमें नागलोकका वृत्तान्त कैसा रहा ? ॥ ६६ ॥

चिरं च भवता कालो व्याक्षेपेण विलम्बितः।
मन्ये दृष्टं त्वयाश्चर्यं हृदयं ते यथाचलम् ॥ ६७ ॥

'आपने तो ध्यानके ही व्यासंगसे बहुत देर लगा दी। मैं समझता हूँ, आपको वहाँ कोई आश्चर्यकी बात दिखायी दी है, तभी आपका हृदय स्थिरभावसे ध्यानमें लगा रहा है' ॥

प्रत्युवाच स तं कृष्णमाश्चर्यं भवता विना।
किं भविष्यति लोकेषु स्थावरेषु चरेषु च ॥ ६८ ॥

तब अक्रूरने श्रीकृष्णसे उनकी बातका उत्तर देते हुए कहा—'इस चराचर जगत्में तुम्हारे सिवा दूसरा कौन सा आश्चर्यका विषय होगा ? ॥ ६८ ॥

तत्राश्चर्यं मया दृष्टं कृष्ण यद् भुवि दुर्लभम्।
तदिहापि यथा तत्र पश्यामि च रमामि च ॥ ६९ ॥

'श्रीकृष्ण ! मैंने वहाँ वह आश्चर्य देखा है, जो भूतलपर दुर्लभ है। जैसा वहाँ देखा था, वैसा ही आश्चर्य यहाँ भी देखता हूँ और उसीमें रम रहा हूँ ॥ ६९ ॥

संगतश्चापि लोकानामाश्चर्येणेह रूपिणा।
अतः परतरं कृष्ण नाश्चर्यं द्रष्टुमुत्सहे ॥ ७० ॥

'श्रीकृष्ण ! यहाँ तीनों लोकोंके मूर्तिमान् आश्चर्यसे मेरी भेंट हो गयी है। अब इससे बढ़कर कोई आश्चर्य मैं नहीं देख सकता ॥ ७० ॥

तदागच्छ गमिष्यामः कंसराजपुरीं प्रभो।
यावन्नास्तं व्रजत्येष दिवसान्ते दिवाकरः ॥ ७१ ॥

'अतः प्रभो ! अब आओ, कंसराजकी मथुरा नगरीमें चलें। ये सूर्यदेव दिनके अन्तमें जबतक अस्त न हों, तभीतक हमें वहाँ पहुँच जाना चाहिये' ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि अक्रूरकृतनागलोककथने षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें अक्रूरद्वारा नागलोकके वृत्तान्तका कथनविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और बलरामका मथुरामें प्रवेश, उनके द्वारा रजकका वध, मालीको वरदान, कुब्जापर कृपा और कंसके धनुषका भञ्जन

वैशम्पायन उवाच

ते तु युङ्क्त्वा रथवरं सर्वं एवामितौजसः।
कृष्णेन सहिताः प्रायंस्तथा संकर्षणेन च ॥ १ ॥
आसेदुस्ते पुरीं रम्यां मथुरां कंसपालिताम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे सभी अमित तेजस्वी यात्री अपने श्रेष्ठ रथको जोतकर श्रीकृष्ण और संकर्षणके साथ राजा कंसके द्वारा सुरक्षित रमणीय मथुरापुरीमें जा पहुँचे ॥ १½ ॥

विविशुस्ते पुरीं रम्यां काले रक्तदिवाकरे ॥ २ ॥
तौ तु स्वभवनं वीरौ कृष्णसंकर्षणावुभौ।
प्रवेशितौ बुद्धिमता ह्यक्रूरेणार्कवर्चसौ ॥ ३ ॥

संध्या-कालमें जब कि सूर्यदेव लाल हो गये थे, उन सबने उस रमणीय मथुरा नगरीमें प्रवेश किया। बुद्धिमान् अक्रूर सूर्यतुल्य तेजस्वी श्रीकृष्ण और संकर्षण दोनों वीरोंको पहले अपने घरमें ले गये ॥ २-३ ॥

तावाह वरवर्णाभौ भीतो दानपतिस्तदा।
त्यक्तव्या तात गमने वसुदेवगृहे स्पृहा ॥ ४ ॥

वे दोनों भाई उत्तम कान्तिसे प्रकाशित हो रहे थे। उस समय दानपति अक्रूरने कंससे भयभीत होकर उनसे कहा—'तात ! तुम दोनोंको अभी वसुदेवके घरमें जानेकी इच्छा त्याग देनी चाहिये ॥ ४ ॥

युवयोर्हि कृते वृद्धः कंसेन स निरस्यते।

भर्त्स्यते च दिवा रात्रौ नेह स्थातव्यमित्यपि ॥ ५ ॥

'क्योंकि तुम्हारे कारण ही कंस बूढ़े वसुदेवको घरसे निकालता है और 'तुम्हें यहाँ नहीं रहना चाहिये' ऐसा कहकर उन्हें दिन-रात डाँटता रहता है ॥ ५ ॥

तद् युवाभ्यां हि कर्तव्यं पित्रर्थं सुखमुत्तमम् ।
यथा सुखमवाप्नोति तद् वै कार्यं हितान्वितम् ॥ ६ ॥

'अतः तुम दोनोंको पिताके लिये उत्तम सुखकी व्यवस्था करनी चाहिये । जिस तरह उन्हें सुख मिले, जैसे उनका हित हो, वही कार्य करना चाहिये' ॥ ६ ॥

तमुवाच ततः कृष्णो यास्यावावामतर्कितौ ।
प्रेक्षन्तौ मथुरां वीर राजमार्गं च धार्मिक ।
तस्यैव तु गृहं साधो गच्छावो यदि मन्यसे ॥ ७ ॥

तब श्रीकृष्णने उनसे कहा—'धर्मनिष्ठ वीर ! साधुपुरुष ! यदि आप स्वीकार करें तो हम दोनों भाई मथुरा नगर और इसके राजमार्गको देखते हुए यहाँसे जायँ और अतर्कित रूपसे कंसके ही घर पहुँच जायँ' ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

अक्रूरोऽपि नमस्कृत्य मनसा कृष्णमव्ययम् ।
जगाम कंसपार्श्वं तु प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अक्रूर भी मनसे ही अविनाशी भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करके प्रसन्न चित्तसे कंसके पास गये ॥ ८ ॥

अनुशिष्टौ च तौ वीरौ प्रस्थितौ प्रेक्षकावुभौ ।
आलानाभ्यामिवोन्मुक्तौ कुञ्जरौ युद्धकाङ्क्षिणौ ॥ ९ ॥

अक्रूरकी आज्ञा लेकर वे दोनों वीर श्रीकृष्ण और बलराम नगर देखनेके लिये वहाँसे इस तरह प्रस्थित हुए, मानो युद्धकी इच्छा रखनेवाले दो गजराज आलान[1]से छूट निकले हों ॥

तौ तु मार्गगतं दृष्ट्वा रजकं रङ्गकारकम् ।
अयाचेतां ततस्तौ तु वासांसि रुचिराणि वै ॥ १० ॥

उन दोनोंने रास्तेमें एक रजक (धोबी) को देखा, जो कपड़ोंमें रंग कर रहा था । उसे देखकर वे दोनों भाई उससे सुन्दर वस्त्र माँगने लगे ॥ १० ॥

रजकः स तु तौ प्राह युवां कस्य वनेचरौ ।
राजवासांसि यौ मौढ्याद् याचेथां निर्भयावुभौ ॥ ११ ॥

रजकने उन दोनोंसे कहा—'अरे ! तुम दोनों किसके (और कहाँके) वनेचर हो ? जो मूर्खतावश निर्भय होकर राजाके कपड़े माँग रहे हो ! ॥ ११ ॥

अहं कंसस्य वासांसि नानादेशोद्भवानि वै ।
कामरागाणि शतशो रञ्जयामि विशेषतः ॥ १२ ॥

'मैं तो विभिन्न देशोंके बने हुए राजा कंसके सैकड़ों वस्त्रोंको रँगता हूँ और उन वस्त्रोंपर विशेषतः उनकी इच्छाके अनुसार रंग देता हूँ ॥ १२ ॥

युवां कस्य वने जातौ मृगैः सह विवर्द्धितौ ।
जातरागाविदं दृष्ट्वा रक्तमाच्छादनं बहु ॥ १३ ॥

'तुम दोनों किसके बेटे हो ? तुम तो वनमें पैदा हुए और वन्य पशुओंके साथ ही बढ़े हो । आज इन बहुत-से रंगीन कपड़ोंको देखकर तुम्हारे मनमें इनके प्रति लोभ उत्पन्न हो गया है ? ॥ १३ ॥

अहो वां जीवितं त्यक्तं यौ भवन्ताविहागतौ ।
मूर्खौ प्राकृतविज्ञानौ वासो याचितुमिच्छतः ॥ १४ ॥

'अहो ! यह बड़े आश्चर्यकी बात है । जान पड़ता है, तुमने अपने जीवनका मोह त्याग दिया है, तभी तो यहाँ आ गये । तुम दोनों मूर्ख हो । तुम्हारी बुद्धि गवाँरों-जैसी है, इसीलिये तो राजाके कपड़े माँगनेकी इच्छा करते हो' ॥१४॥

तस्मै चुकोप वै कृष्णो रजकायाल्पमेधसे ।
प्राप्तारिष्टाय मूर्खाय सृजते वाङ्मयं विषम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर श्रीकृष्ण उस मन्दबुद्धि, अरिष्टग्रस्त, मूर्ख तथा जहरीली बात बोलनेवाले रजकपर कुपित हो उठे ॥

तलेनाशनिकल्पेन स तं मूर्द्धन्यताडयत् ।
स गतासुः पपातोर्व्यां रजको व्यस्तमस्तकः ॥ १६ ॥

उन्होंने उसके माथेपर एक तमाचा जड़ दिया । वह तमाचा क्या था, वज्र था । उसके लगते ही रजकका मस्तक फट गया और वह प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥

तं हतं परिदेवन्त्यो भार्यास्तस्य विचुक्रुशुः ।
त्वरितं मुक्तकेश्यश्च जग्मुः कंसनिवेशनम् ॥ १७ ॥

उसे मारा गया देख उसकी स्त्रियाँ चीखने-चिल्लाने लगीं । वे बाल खोले विलाप करती हुई तुरंत राजा कंसके दरबारमें गयीं ॥ १७ ॥

तावप्युभौ सुवसनौ जग्मतुर्माल्यकारणात् ।
वीथीमाल्यापणानां वै गन्धाघ्रातौ द्विपाविव ॥ १८ ॥

इधर वे दोनों भाई सुन्दर वस्त्र धारण करके फूलोंकी माला लेनेके लिये उस गलीमें गये, जहाँ मालाएँ बिकती थीं । वे ऐसे लगते थे, मानो दो गजराज उन फूलोंकी सुगन्ध पाकर वहाँ जा पहुँचे हों ॥ १८ ॥

गुणको नाम तत्रासीन्माल्यवृत्तिः प्रियंवदः ।
प्रभूतमाल्यापणवाँल्लक्ष्मीवान् प्रियदर्शनः ॥ १९ ॥

उस गलीमें गुणक नामसे प्रसिद्ध एक माली था, जो माला बेचकर ही जीविका चलाता था । उसकी बातें बड़ी प्रिय लगती थीं । उसकी दूकानमें बहुत-सी मालाएँ सजाकर

[1] १. जिसमें हाथी बाँधा जाता है, उस खम्भेको आलान कहते हैं ।

रखी गयी थीं। वह धनवान् होनेके साथ ही देखनेमें सुन्दर भी था ॥ १९ ॥

तं कृष्णः श्लक्ष्णया वाचा माल्यार्थमभिसृष्टया ।
देहीत्युवाच तत्काले मालाकारमकातरम् ॥ २० ॥

उस समय श्रीकृष्णने मालाके लिये ही मुखसे निकली हुई अपनी मधुर वाणीद्वारा उस निर्भय मालाकारसे कहा—'हम दोनोंके लिये मालाएँ दे दो' ॥ २० ॥

ताभ्यां प्रीतो ददौ माल्यं प्रभूतं माल्यजीवनः ।
भवतोः स्वमिदं चेति प्रोवाच प्रियदर्शनौ ॥ २१ ॥

मालासे ही जीवन-निर्वाह करनेवाले उस मालीने प्रसन्न होकर उन दोनों भाइयोंको बहुत-सी मालाएँ अर्पित कीं। वे दोनों देखनेमें बड़े प्रिय लगते थे। मालीने उनसे कहा—'यह सब आपकी ही सम्पत्ति है' ॥ २१ ॥

प्रीतः सुमनसा कृष्णो गुणकाय वरं ददौ ।
श्रीस्त्वां मत्सम्भवा सौम्य धनौघैरभिपत्स्यते ॥ २२ ॥

उसकी बात सुनकर श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने संतुष्ट-चित्तसे गुणकको यह वर दिया—'सौम्य! मेरी प्रसन्नता-से प्रकट होनेवाली लक्ष्मी तुम्हें धन-राशिसे सम्पन्न कर देगी'॥

स लब्ध्वा वरमव्यग्रो माल्यवृत्तिरधोमुखः ।
कृष्णस्य पतितो मूर्ध्ना प्रतिजग्राह तं वरम् ॥ २३ ॥

माली उस वरको पाकर शान्त-भावसे नतमस्तक हो गया। उसने श्रीकृष्णके चरणोंमें मस्तक रख दिया और उस वरको सादर शिरोधार्य किया ॥ २३ ॥

यक्षाविमाविति तदा स मेने माल्यजीवकः ।
स भृशं भयसंविग्नो नोत्तरं प्रत्यपद्यत ॥ २४ ॥

उस समय मालीने यही समझा कि ये दोनों यक्ष हैं; उसने कंससे अत्यन्त भयभीत होकर उन्हें कुछ उत्तर नहीं दिया ॥ २४ ॥

वसुदेवसुतौ तौ च राजमार्गगतावुभौ ।
कुब्जां ददृशतुर्भूयः सानुलेपनभाजनाम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर सड़कपर जाते हुए उन दोनों वसुदेव-पुत्रोंने कुब्जाको देखा, जो हाथोंमें अनुलेपन (अङ्गराग) का पात्र लिये हुए थी ॥ २५ ॥

तामाह कृष्णः कुब्जेति कस्येदमनुलेपनम् ।
नयस्यम्बुजपत्राक्षि क्षिप्रमाख्यातुमर्हसि ॥ २६ ॥
सस्मिता सम्मुखी भूत्वा प्रत्युवाचाम्बुजेक्षणम् ।
कृष्णं जलदगम्भीरं विद्युत्कुटिलगामिनी ॥ २७ ॥

उसे देखकर श्रीकृष्णने कहा—'कमलनयने कुब्जे! तुम यह किसके लिये अनुलेपन लिये जा रही हो, शीघ्र बताओ!' यह सुनकर कुब्जा मुसकराती हुई उनके सामने हो गयी। वह बिजलीके समान कुटिल गतिसे चलनेवाली थी। उसने कमल-नयन श्रीकृष्णसे मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा—॥२६ २७॥

राज्ञः स्नानगृहं यामि तद् गृहाणानुलेपनम् ।
दृष्ट्वैव त्वारविन्दाक्ष विस्मितास्मि वरानन ॥ २८ ॥
यत्त्वमिच्छसि मे वीर त्वं गृहाणानुलेपनम् ।
स्थितास्म्यागच्छ भद्रं ते हृदयस्यासि मे प्रियः ॥२९॥

'कमलनयन! मनोहर मुखवाले वीर! मैं तो राजाके स्नान-गृहको जा रही हूँ। तुम्हें अङ्गराग चाहिये तो ले लो। तुम्हें देखते ही मैं विस्मयसे विमुग्ध हो उठी हूँ। तुम्हें जैसा अङ्गराग चाहिये, वही ग्रहण करो। मैं तुम्हारे लिये ठहर गयी हूँ। तुम्हारा कल्याण हो, आओ मेरे घर। तुम मेरे हृदय-वल्लभ हो ॥ २८-२९ ॥

कुतश्चागम्यते सौम्य यन्मां त्वं नावबुध्यसे ।
महाराजस्य दयितां नियुक्तामनुलेपने ॥ ३० ॥

'सौम्य! तुम कहाँसे आते हो कि मुझे नहीं जानते। मैं तो महाराज कंसकी प्यारी दासी हूँ। उन्होंने मुझे अङ्गरागके ही कार्यमें लगा रखा है' ॥ ३० ॥

तामुवाच हसन्तीं तु कृष्णः कुब्जामवस्थिताम् ।
आवयोर्गात्रसदृशं दीयतामनुलेपनम् ॥३१॥
वयं हि देशातिथयो मल्लाः प्राप्ता वरानने ।
द्रष्टुं धनुर्महद् दिव्यं राष्ट्रे चैव महर्द्धिमत् ॥ ३२ ॥

वहाँ खड़ी होकर हँसती हुई कुब्जासे श्रीकृष्णने कहा—'सुमुखि! तुम हम दोनों भाइयोंके शरीरके अनुरूप अङ्गराग दे दो। हम पहलवान हैं और इस देशमें अतिथिके रूपमें आये हैं। इस राज्यमें जो अत्यन्त समृद्धिशाली, विशाल दिव्य धनुष है, उसे ही देखनेके लिये हमलोगोंका यहाँ आना हुआ है' ॥ ३१-३२ ॥

प्रत्युवाचाथ सा कृष्णं प्रियोऽसि मम दर्शने ।
राजार्हमिदमव्यग्रं तद् गृहाणानुलेपनम् ॥ ३३ ॥

तब कुब्जाने श्रीकृष्णसे कहा—'मेरी दृष्टिमें तुम परम प्रिय हो, अतः शान्तभावसे यह राजोचित अङ्गराग ग्रहण करो ॥

तावुभावनुलिप्ताङ्गौ चारुगात्रौ विरेजतुः ।
तीर्थगौ पङ्कदिग्धाङ्गौ यमुनायां यथा वृषौ ॥ ३४ ॥

अङ्गोंमें अङ्गराग लग जानेपर मनोहर शरीरवाले वे दोनों भाई बड़ी शोभा पाने लगे। उस समय वे ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे दो साँड़ यमुनाजीके जलमें गोता लगाकर सारे अङ्गोंमें कीचड़ लपेटे आ रहे हों ॥ ३४ ॥

तां च कुब्जां स्तगोर्मध्ये द्व्यङ्गुलेनाग्रपाणिना ।
शनैः सम्पीडयामास कृष्णो लीलाविधानवित् ॥३५॥

तदनन्तर लीलाविधिको जाननेवाले श्रीकृष्णने अपने

हाथकी दो अँगुलियोंसे कुब्जाके कूबड़के मध्यभागमें धीरेसे दबाया (इससे कूबड़ सीधा हो गया) ॥ ३५ ॥

सा च मग्नं स्वगुं मत्वा स्वायताङ्गी शुचिस्मिता ।
जहासोच्चैः स्तनतटी ऋजुयष्टिर्लता यथा ॥३६॥

मेरा कूबड़ बैठ गया, ऐसा जानकर सुन्दर एवं उन्नत अङ्गवाली कुब्जा पवित्र मुस्कानसे सुशोभित हो हँसने लगी। उसके स्तन प्रान्त उभरकर ऊँचे हो गये और वह सीधी लकड़ीपर चढ़ी हुई लताके समान शोभा पाने लगी ॥ ३६ ॥

प्रणयाच्चापि कृष्णं सा बभाषे मत्तकाशिनी ।
क्व यास्यसि मया रुद्धः कान्त तिष्ठ गृहाण माम् ॥३७॥

फिर तो मतवाली-सी होकर वह श्रीकृष्णसे प्रेमपूर्वक बोली—'प्रियतम ! अब तुम कहाँ जाओगे ? मैंने तुम्हें रोक लिया, यहीं रहो और मुझे अंगीकार करो' ॥ ३७ ॥

तौ जातहासावन्योन्यं सतलाक्षेपमव्ययौ ।
वीक्षमाणौ प्रहसितौ कुब्जायाः श्रुतविस्तरौ ॥ ३८ ॥

यह सुनकर उन्हें हँसी आ गयी । फिर तो वे अविनाशी बन्धु एक दूसरेकी ओर देखते हुए ताली पीट-पीटकर जोर-जोरसे हँसने लगे। कुब्जाके कानोंने उन दोनों भाइयोंके गुण विस्तारपूर्वक सुने थे ॥ ३८ ॥

कृष्णस्तु कुब्जां कामार्तां सस्मितं विससर्ज ह ।
ततस्तौ कुब्जया मुक्तौ प्रविष्टौ राजसंसदम् ॥३९॥

श्रीकृष्णने मुस्कराते हुए कामपीड़ित कुब्जाको वहीं छोड़ दिया और उससे छूटकर वे दोनों बन्धु राज-भवनमें प्रविष्ट हुए ॥ ३९ ॥

तावुभौ व्रजसंवृद्धौ गोपवेषविभूषितौ ।
गूढचेष्टाननौ भूत्वा प्रविष्टौ नृपवेश्म तत् ॥ ४० ॥

व्रजमें बड़े होकर गोपवेशसे विभूषित हुए उन दोनों वीरोंने जब उस राजभवनमें प्रवेश किया, उस समय उनकी प्रत्येक चेष्टा गुप्तरूपसे होती थी। उनके मुखका भाव ही ऐसा गूढ़ था कि उससे आन्तरिक चेष्टाका पता नहीं लगता था॥

धनुःशालां गतौ तत्र बालावपरितर्कितौ ।
हिमवद्वनसम्भूतौ सिंहाविव मदोत्कटौ ॥ ४१ ॥

हिमालयके वनमें उत्पन्न हुए दो मदमत्त सिंहोंके समान वे दोनों बालक वहाँ धनुषशालामें जा पहुँचे । उस समय वहाँ उनके पहुँचनेकी सम्भावना किसीको नहीं थी ॥ ४१ ॥

दिदृक्षन्तौ महत्तत्र धनुरायोगभूषितम् ।
पप्रच्छतुश्च तौ वीरावायुधागारिकं तदा ॥ ४२ ॥

वे वहाँ रखे हुए विशाल धनुषको, जो पुष्पमालासे विभूषित था, देखना चाहते थे; अतः उन दोनों वीरोंने उस समय शस्त्रागारके संरक्षकसे पूछा—॥ ४२ ॥

भोः कंसधनुषां पाल श्रूयतामावयोर्वचः ।
कतरत् तद् धनुः सौम्य महोऽयं यस्य वर्तते ॥ ४३ ॥
आयोगभूतं कंसस्य दर्शयस्व यदीच्छसि ।

'राजा कंसके धनुषोंकी रक्षा करनेवाले अस्त्र-संरक्षक ! तुम हम दोनोंकी बातें सुनो । सौम्य ! जिसका यह उत्सव होने जा रहा है, वह धनुष कौन-सा है ? यदि तुम्हारी इच्छा हो तो कंसके इस उत्सवका जो प्रधान निमित्त है, उस धनुषका हमें दर्शन कराओ' ॥ ४३½ ॥

स तयोर्दर्शयामास तद् धनुः स्तम्भसंनिभम् ॥ ४४ ॥
अनारोप्यमसम्भेद्यं देवैरपि सवासवैः ।

उसने उन दोनों भाइयोंको वह खम्भ-जैसा मोटा धनुष दिखा दिया। उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाना या उसे तोड़ना इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी असम्भव था ॥४४½॥

तद् गृहीत्वा तदा कृष्णस्तोलयामास वीर्यवान् ॥४५॥
दोर्भ्यां कमलपत्राक्षः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।

पराक्रमी कमलनयन श्रीकृष्णने प्रसन्नचित्तसे दोनों हाथों-द्वारा उस धनुषको उठाकर तौला ॥ ४५½ ॥

तोलयित्वा यथाकामं तद् धनुर्दैत्यपूजितम् ॥ ४६ ॥
आरोपयामास बली नामयामास चासकृत् ।
आनाम्यमानं कृष्णेन प्रकर्षादुरगोपमम् ॥ ४७ ॥
द्विधाभूतमभून्मध्ये धनुरायोगभूषितम् ।

दैत्योंद्वारा पूजित हुए उस धनुषको इच्छानुसार तौलकर बलवान् श्रीकृष्णने कई बार उसको झुकाया और उसके ऊपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी । श्रीकृष्णके द्वारा बहुत अधिक झुका दिये जानेके कारण वह पुष्पहारोंसे विभूषित सर्पाकार धनुष बीचसे टूटकर दो भागोंमें विभक्त हो गया ॥ ४६-४७½ ॥

भङ्क्त्वा तु तद् धनुःश्रेष्ठं कृष्णस्त्वरितविक्रमः ।
निश्चक्राम महावेगः स च संकर्षणो युवा ॥४८॥

उस श्रेष्ठ धनुषको तोड़कर श्रीकृष्ण तथा वे नवयुवक संकर्षण शीघ्रतापूर्वक कदम बढ़ाते हुए बड़े वेगसे उस भवन-से बाहर निकल गये ॥ ४८ ॥

धनुषो भङ्गनादेन वायुनिर्घोषकारिणा ।
चचालान्तःपुरं सर्वं दिशश्चैव पुपूरिरे ॥ ४९ ॥

उस धनुषके टूटनेसे जो धड़ाका हुआ, वह सहसा उठी हुई प्रचण्ड आँधीके समान गम्भीर घोष करनेवाला था । उस-से सारा अन्तःपुर काँप उठा और सम्पूर्ण दिशाओंमें वह आवाज गूँज उठी ॥ ४९ ॥

निर्गम्य त्वायुधागाराज्जग्मतुर्गोपसंनिधौ ।
वेगेनायुधपालस्तु गच्छन् सम्भ्रान्तमानसः ॥ ५० ॥
समीपं नृपतेर्गत्वा काकोच्छ्वासोऽभ्यभाषत ।

शस्त्रागारसे निकलकर दोनों भाई व्रजसे आये हुए गोपोंके निकट चले गये। इधर आयुधोंकी रक्षा करनेवाला वह सिपाही मन-ही-मन घबरा उठा और बड़े वेगसे राजदरबारकी ओर चल दिया। राजाके निकट जाकर कौएकी तरह चकित हो लम्बी साँस खींचता हुआ वह इस प्रकार बोला—॥ ५०½ ॥

श्रूयतां मम विज्ञाप्यमाश्चर्यं धनुषो गृहे ॥ ५१ ॥
निर्वृत्तमस्मिन् काले यज्जगतः सम्भ्रमोपमम् ।

'महाराज ! मैं जो बात बताना चाहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनिये। इस समय धनुष-शालामें एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई है, जो सम्पूर्ण जगत्‌के प्रलयकी भाँति प्रतीत होती है ॥ ५१½ ॥

नरौ कस्याप्यसदृशौ शिखावितमूर्द्धजौ ॥ ५२ ॥
नीलपीताम्बरधरौ पीतश्वेतानुलेपनौ ।
तावन्तःपुरमज्ञातौ प्रविष्टौ कामवेषिणौ ॥ ५३ ॥

'वहाँ दो मनुष्य आये थे, जिनकी तुलना किसीसे भी नहीं हो सकती। उनके मस्तकके सभी बाल शिखा (चोटी)के समान बड़े-बड़े थे। एकने नील वस्त्र पहन रखा था और दूसरेने पीला। एकके अङ्गोंमें पीला अङ्गराग था, तो दूसरेके अङ्गोंमें श्वेत। वे दोनों इच्छानुसार वेष धारण करनेमें कुशल थे, सहसा अन्तःपुरमें घुस आये और किसीको पता न चला॥५२-५३

देवपुत्रोपमौ वीरौ बालाविव हुताशनौ ।
स्थितौ धनुर्गृहे सौम्यौ सहसा खादिवागतौ ।
मया दृष्टौ परिव्यक्तं रुचिराच्छादनस्रजौ ॥ ५४ ॥

'वे दोनों वीर देवकुमारोंके समान प्रतीत होते थे। उनकी आकृति बड़ी सौम्य थी। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो बालरूपधारी अग्नि सहसा आकाशसे आकर धनुषशालामें खड़े हो गये हों। उन दोनोंके वस्त्र और पुष्पहार बड़े सुन्दर थे। मैंने उनको स्पष्टरूपसे देखा है ॥५४॥

तयोरेकस्तु पद्माक्षः श्यामः पीताम्बरस्रजः ।
जग्राह तद् धनूरत्नं दुर्ग्राह्यं दैवतैरपि ॥ ५५ ॥

'उनमेंसे एककी आँखें कमलके समान सुन्दर थीं, शरीरका वर्ण श्याम था। उसके वस्त्र और हार पीले रंगके थे। जिसे हाथमें लेना देवताओंके लिये भी कठिन है, उसी धनुषरत्नको उस श्यामसुन्दर वीरने अनायास ही उठा लिया ॥ ५५ ॥

तत् स बालो महच्चापं बलाद् यन्त्रमिवायसम् ।
आरोपयित्वा वेगेन नामयामास लीलया ॥ ५६ ॥

'उस बालकने उस विशाल धनुषको लोहयन्त्रकी भाँति बलात् हाथमें लेकर वेगपूर्वक उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और खेल-खेलमें ही उसे झुकाना आरम्भ किया ॥ ५६ ॥

आकृष्यमाणं तत् तेन विबाणं बाहुशालिना ।
मुष्टिदेशे विकूजित्वा द्विधाभूतमभज्यत ॥ ५७ ॥

'उस बाहुशाली वीरके खींचनेपर वह बाणरहित धनुष मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे धड़ाकेके साथ टूटकर दो टूक हो गया ॥ ५७ ॥

ततः प्रचलिता भूमिर्नैव भाति च भास्करः ।
धनुषो भङ्गनादेन भ्रमतीव नभस्तलम् ॥ ५८ ॥

'धनुष टूटनेकी आवाजसे धरती हिलने लगी, सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी और आकाश घूमता-सा प्रतीत होने लगा ॥ ५८ ॥

तदद्भुतं महद् दृष्ट्वा विस्मयं परमं गतः ।
भयाद् भयदशत्रुभ्यस्त्विहाख्यातुमागतः ॥ ५९ ॥

'वह महान् अद्भुत दृश्य देखकर मैं अत्यन्त विस्मयमें पड़ गया और भयदायक शत्रुओंकी ओरसे भय प्राप्त होनेकी आशङ्कासे आपको यह समाचार बतानेके लिये यहाँ आ गया ॥ ५९ ॥

न जानामि महाराज कौ तावमितविक्रमौ ।
एकः कैलाससंकाश एकोऽञ्जनगिरिप्रभः ॥ ६० ॥

'महाराज ! मैं नहीं जानता, वे दोनों अमित पराक्रमी वीर कौन थे ? उनमेंसे एक तो कैलासपर्वतके समान श्वेतवर्णका था और दूसरा अञ्जनगिरिके समान श्याम ॥ ६० ॥

स तु तच्चापरत्नं वै भङ्क्त्वा स्तम्भमिव द्विपः ।
निष्पपातानिलगतिः सानुगोऽमितविक्रमः ।
अगमत्तं द्विधा कृत्वा न जाने कोऽप्यसौ नृप ॥६१॥

'हाथी बाँधनेके खम्भेकी भाँति अत्यन्त सुदृढ़ उस धनुषरत्नको तोड़कर वह अमित पराक्रमी वीर अपने सहायकके साथ ही वायुके समान तीव्रगतिका आश्रय ले वहाँसे निकल गया। नरेश्वर ! न जाने वह कौन था, जो धनुषके दो टुकड़े करके चला गया' ॥ ६१ ॥

श्रुत्वैव धनुषो भङ्गं कंसो विदितविस्तरः ।
विसृज्यायुधपालं वै प्रविवेश गृहोत्तमम् ॥ ६२ ॥

कंसको सब बातें विस्तारपूर्वक विदित थीं। उसने धनुषभङ्गका समाचार सुनते ही शस्त्ररक्षकको विदा कर दिया और स्वयं अपने उत्तम भवनमें प्रवेश किया ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि कंसधनुर्भङ्गे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें कंसके धनुषका भङ्गविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

कंसकी चिन्ता, उसका रंगशालाको देखना और उसे सुसज्जित करनेका आदेश देना, चाणूर एवं मुष्टिकको तथा कुवलयापीडके महावतको श्रीकृष्ण-बलरामके वधके लिये आज्ञा देना, महावत-से द्रुमिलके द्वारा अपनी उत्पत्तिकी कथा कहना—उसकी माताका सुयामुन पर्वतपर द्रुमिलके साथ समागम तथा उन दोनोंका परस्पर वरदान एवं शाप

वैशम्पायन उवाच

स चिन्तयित्वा धनुषो भङ्गं भोजविवर्धनः।
बभूव विमना राजा चिन्तयन् भृशदुःखितः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भोजवंशकी वृद्धि करनेवाला राजा कंस धनुषके टूटनेकी घटनापर विचार करके मन-ही-मन खिन्न हो उठा। वह ज्यों-ही-ज्यों उसका चिन्तन करता, त्यों-ही-त्यों अत्यन्त दुःखमें निमग्न होता जाता था॥ १॥

कथं बालो विगतभीरवमत्य महाबलम्।
प्रेक्ष्यमाणस्तु पुरुषैर्धनुर्भङ्क्त्वा विनिर्गतः॥ २॥

वह सोचने लगा, 'अहो! वह बालक कैसे निर्भय हो महाबली रक्षककी अवहेलना करके दूसरे लोगोंके देखते देखते धनुष तोड़कर निकल गया॥ २॥

यस्यार्थे दारुणं कर्म कृतं लोकविगर्हितम्।
पितृष्वस्रात्मजान् वीरान् षडेवाहं न्यपोथयम्॥ ३॥

'यह वही बालक है, जिसे मारनेके लिये मैंने लोक-निन्दित क्रूरतापूर्ण कर्म किया। अपनी चचेरी बहिनके छः वीर पुत्रोंको शिलापर दे मारा॥ ३॥

दैवं पुरुषकारेण न शक्यमतिवर्तितुम्।
नारदोक्तं च वचनं नूनं मह्यमुपस्थितम्॥ ४॥

'सचमुच ही पुरुषार्थसे दैवके विधानका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता। नारदजीने मेरे लिये जो बात कही थी, वह अवश्य आकर उपस्थित हो गयी॥ ४॥

एवं राजा विचिन्त्याथ निष्क्रम्य स्वगृहोत्तमात्।
प्रेक्षागारं जगामाशु मञ्चानामवलोककः॥ ५॥

इस प्रकार चिन्ता करके राजा कंस अपने उत्तम भवनसे निकला और शीघ्र ही प्रेक्षागृह[1] (रङ्गशाला) मे वहाँ लगे हुए मञ्चोंका निरीक्षण करनेके लिये गया॥ ५॥

स दृष्ट्वा सर्वनिर्युक्तं प्रेक्षागारं नृपोत्तमः।
श्रेणीनां दृढनिर्युक्तैर्मञ्चवाटैर्निरन्तरम्॥ ६॥
सोत्तमागारयुक्ताभिर्वलभीभिर्विभूषितम्।
छर्दीभिः सम्प्रवृद्धाभिरेकस्तम्भैर्विभूषितम्॥ ७॥

उस श्रेष्ठ नरेशने प्रेक्षागृहको सब प्रकारसे सम्पन्न हुआ देखा। वहाँ एकमात्र शिल्पसे जीवननिर्वाह करनेवाले शिल्पियों-ने लगातार बहुत-से मञ्चोंके बाड़ बना रखे थे। वे सब-के-सब दृढ़तापूर्वक बाँधे गये थे। उत्तमोत्तम ग्रहोंसे लगे हुए छज्जे भी बनाये गये थे। उन छज्जोंमे कहीं तो छः-छः खम्भे एक साथ लगे थे, जिनसे उनकी विशालता बढ़ गयी थी और कहीं-कहीं एक-एक संख्यावाले ही खम्भे लगाये गये थे। इन खम्भों, छज्जो और मञ्चवाटोंने उस प्रेक्षागृहको विभूषित कर रखा था॥ ६-७॥

सर्वतः सारनिर्व्यूहं स्वायतं सुप्रतिष्ठितम्।
उदग्राक्लिष्टसुश्लिष्टमञ्चारोहणमुत्तमम्॥ ८॥

वहाँ सब ओर दीवारोंमें मजबूत खूटियाँ लगी थीं। वह भवन बहुत विशाल बना था। उसकी अच्छी प्रकार प्रतिष्ठा की गयी थी। उसके भीतर मञ्चोंपर चढ़नेके लिये ऊँची असंकीर्ण (चौड़ी) तथा परस्पर सटी हुई सीढ़ियाँ बनी थीं। इससे वह रंगभवन बहुत ही उत्तम दिखायी देता था॥

नृपासनपरिक्षिप्तं संचारपथसंकुलम्।
छन्नं तद् वेदिकाभिश्च मानुषौघभरक्षमम्॥ ९॥

वहाँ राजाओंके बैठनेके लिये चारों ओर सिंहासन रखे गये थे। उस रङ्गशालामें सब ओर आने-जानेके लिये बहुत-से मार्ग थे। सारा भवन बहुसंख्यक वेदियोंसे व्याप्त था। उसमें मनुष्योंकी बहुत बड़ी भीड़को अपने भीतर सुगमतापूर्वक भर लेनेकी क्षमता थी॥ ९॥

स दृष्ट्वा भूषितं रङ्गमाज्ञापयत बुद्धिमान्।
श्वः सचित्राः समाल्याश्च सपताकास्तथैव च॥ १०॥
सुवासिता वपुष्मन्त उपनीतोत्तरच्छदाः।
क्रियन्तां मञ्चवाटाश्च वलभ्यो वीथयस्तथा॥ ११॥

बुद्धिमान् कंसने उस रङ्गभवनको सब प्रकारसे सजा हुआ देख कार्यकर्ताओंको इस प्रकार आज्ञा दी—'कल सवेरे यहाँके मञ्चवाटों, छज्जों तथा गलियोंको चित्रों, मालाओं और पताकाओंसे सजा दिया जाय, सुगन्धित जल छिड़ककर इन सबको सुवासित किया जाय, मनोहर रूप दिया जाय, मञ्चों-पर सुन्दर चाँदनी बिछा दी जाय॥ १०—११॥

रङ्गवाटे करीषस्य कल्प्यन्तां राशयोऽव्ययाः।
पटास्तरणशोभाश्च वलयश्चानुरूपतः॥ १२॥

[1] धनुर्यज्ञका उत्सव देखनेके लिये बना हुआ विशाल स्थान।

स्थाप्यन्तां सुनिखाताश्च पानकुम्भा यथाक्रमम् ।
उदभारसहाः सर्वे सकाञ्चनघटोत्तमाः ॥ १३ ॥

'अखाड़ेमें गोमयचूर्णके अधिकसे-अधिक ढेर विछा दिये जायँ । जिससे उनकी कमी न पड़े । जगह-जगह शोभाके लिये सुन्दर परदे लगा दिये जायँ। उनके अनुरूप खम्भे खड़े किये जायँ, जो भूमिमें खूब गहराई तक गड़े हों । क्रमशः पानकुम्भ स्थापित किये जायँ, वे सब-के-सब जलका भार सह लेनेमें समर्थ हों । उनपर जलपूर्ण सोनेके उत्तम घड़े रख दिये जायँ ॥ १२-१३ ॥

वलयश्चोपकल्प्यन्तां कषायाश्चैव कुम्भशः ।
प्राश्निकाश्च निमन्त्र्यन्तां श्रेण्यश्च सपुरोगमाः ॥ १४ ॥

'उपहारकी वस्तुएँ भी एकत्र की जायँ, घड़ोंमें रस भर-कर रखे जायँ, मल्लयुद्धके नियमोंको जाननेवाले लोग निमन्त्रित किये जायँ, व्यवसायियों तथा कारीगरोंको उनके अगुओंसहित बुलाया जाय ॥ १४ ॥

आज्ञा च देया मल्लानां प्रेक्षकाणां तथैव च ।
समाजे मञ्चशोभाश्च कल्प्यन्तां सूपकल्पिताः ॥ १५ ॥

'मल्लों तथा प्रेक्षकों (युद्धमें हार-जीतके निर्णायकों) को ठीक समयसे आनेकी आज्ञा दे दी जाय । रङ्गशालामें स्थापित किये गये मञ्चोंकी शोभा बढ़ानेके लिये उन्हें अच्छी तरह सजाया जाय' ॥ १५ ॥

एवमाज्ञाप्य राजा स समाजविधिमुत्तमम् ।
समाजवाटान्निष्क्रम्य विवेश स्वं निवेशनम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार रंगशालाको अच्छी तरहसे सजानेकी उत्तम व्यवस्थाके लिये आज्ञा देकर राजा कंस वहाँसे निकला और अपने महलमें चला गया ॥ १६ ॥

आह्वानं तत्र संचक्रे तस्य मल्लद्वयस्य वै ।
चाणूरस्याप्रमेयस्य मुष्टिकस्य तथैव च ॥ १७ ॥

वहाँ उसने अपने दो मल्लोंको बुलाया—एक तो अप्रतिम बलशाली चाणूर था और दूसरा मुष्टिक ॥ १७ ॥

तौ तु मल्लौ महावीर्यौ बलिनौ बाहुशालिनौ ।
कंसस्याज्ञां पुरस्कृत्य हृष्टौ विविशतुस्तदा ॥ १८ ॥

अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले वे दोनों महा-पराक्रमी बलशाली मल्ल कंसकी आज्ञा शिरोधार्य करके बड़े हर्षके साथ उसके भवनमें प्रविष्ट हुए ॥ १८ ॥

तौ समीपगतौ दृष्ट्वा मल्लौ जगति विश्रुतौ ।
उवाच कंसो नृपतिः सोपन्यासमिदं वचः ॥ १९ ॥

उन दोनों विश्वविख्यात पहलवानोंको अपने समीप आया देख राजा कंसने यह युक्तियुक्त वचन कहा—॥१९॥

भवन्तौ मम विख्यातौ मल्लौ वीरध्वजोच्छ्रितौ ।
पूजितौ च यथान्यायं सत्कारार्हौ विशेषतः ॥ २० ॥

'तुम दोनों मेरे दरबारके विख्यात मल्ल हो और वीर-ध्वज (शौर्यसूचक सम्मान-चिह्न) प्राप्त करके मल्लोंमें उच्चतम स्थानपर प्रतिष्ठित हुए हो । तुम दोनों मेरे द्वारा विशेष सत्कार पानेके योग्य रहे हो, इसलिये मैंने सदा ही तुम्हारा यथोचित सम्मान किया है ॥ २० ॥

तन्मत्तो यदि सत्कारः स्मर्यते सुकृतानि च ।
कर्तव्यं मे महत् कर्म भवद्भ्यां स्वेन तेजसा ॥ २१ ॥

'अतः यदि तुम्हें मुझसे प्राप्त हुए सत्कारोंका स्मरण है, मेरे द्वारा किये गये उपकार और सद्व्यवहार भूले नहीं हैं तो आज तुम दोनोंको अपने तेज (बल-पराक्रम) से मेरा एक महान् कार्य सिद्ध करना होगा ॥ २१ ॥

यावेतौ मम संवृद्धौ व्रजे गोपालकावुभौ ।
संकर्षणश्च कृष्णश्च बालावपि जितश्रमौ ॥ २२ ॥

'ये जो मेरे व्रजमें पले हुए संकर्षण और कृष्ण नामक दो ग्वाले हैं, बालक होनेपर भी परिश्रमको जीत चुके हैं (कभी थकते नहीं हैं) ॥ २२ ॥

एतौ रङ्गगतौ युद्धे युद्ध्यमानौ वनेचरौ ।
निपातानन्तरं शीघ्रं हन्तव्यौ नात्र संशयः ॥ २३ ॥

'ये दोनों वनेचर जब अखाड़ेमें उतरकर युद्धके समय तुमसे लड़ने लगें, तब तुम दोनो उन्हे नीचे गिराते ही शीघ्र मार डालना । इसमें कोई संशय नहीं मानना चाहिये ॥२३॥

बालाविमौ सुचपलावक्रियाविति सर्वथा ।
नावज्ञा तत्र कर्तव्या कर्तव्यो यत्न एव हि ॥ २४ ॥

'ये चञ्चल बालक हैं, इन्हे युद्धकी शिक्षा नहीं मिली है—सर्वथा ऐसा समझकर तुम उन दोनोंकी अवहेलना न करना । तुम्हें उन्हे मार डालनेके लिये पूरा-पूरा यत्न करना ही चाहिये ॥

ताभ्यां युधि निरस्ताभ्यां गोपाभ्यां रङ्गसंनिधौ ।
आयत्यां च तदात्वे च श्रेयो मम भविष्यति ॥२५॥

'यदि रंगस्थलके समीप युद्धमें वे दोनों गोप-बालक मार डाले जायँ तो वर्तमान और भविष्यमे भी मेरा कल्याण होगा'॥

नृपतेः स्नेहसंयुक्तैर्वचोभिर्हृष्टमानसौ ।
ऊचतुर्युद्धसम्मत्तौ मल्लौ चाणूरमुष्टिकौ ॥ २६ ॥

राजा कंसके इन स्नेहयुक्त वचनोंसे उन दोनों मल्लोंके हृदयमे बड़ी प्रसन्नता हुई । युद्धके लिये सदा मतवाले रहने-वाले वे दोनों पहलवान चाणूर और मुष्टिक राजासे इस प्रकार बोले—॥ २६ ॥

---

१. पानीसे भरे घड़ों या माँटोंको रखनेके लिये काठकी बनी हुई चार या छः पायेंकी टेबुल-जैसी एक चीज, जिसे कुछ स्थानोंपर पल्हैंडी कहते हैं । इसीका नाम पानकुम्भ है । नीलकण्ठने इसका पर्यायवाची शब्द घटोच्छ्रायिका बताया है ।

यद्यावयोस्तौ प्रमुखे स्थास्येते गोपकिल्बिषौ।
हतावित्येव मन्तव्यौ प्रेतरूपौ तपस्विनौ ॥ २७ ॥

'यदि वे दोनों गोपकुल-कलंक युद्धमें हमारे सामने खड़े हो जायँगे तो आप उन्हें मरा हुआ ही समझिये। वे कष्ट उठानेवाले प्रेतरूप ही हैं—ऐसा मानिये ॥ २७ ॥

यद्यावां प्रतियोत्स्येते तावरिष्टपरिप्लुतौ।
आवाभ्यां रोषयुक्ताभ्यां प्रमुखे तौ वनेचरौ ॥ २८ ॥

'यदि किसी अरिष्ट-ग्रहसे ग्रस्त होकर वे दोनों हमलोगोंसे लड़ेंगे तो हम रोषमें भरकर सबके सामने उन दोनों वनेचरोंको अवश्य मार डालेंगे ॥ २८ ॥

एवं वाग्विषमुत्सृज्य तावुभौ मल्लपुङ्गवौ।
अनुज्ञातौ नरेन्द्रेण स्वे गृहे तौ प्रजग्मतुः ॥ २९ ॥

इस तरह वाणीरूप विषका वमन करके वे दोनों मल्ल-पुङ्गव राजा कंसकी आज्ञा ले अपने घर चले गये ॥ २९ ॥

महामात्रं ततः कंसो बभाषे हस्तिजीविनम्।
हस्ती कुवलयापीडः समाजद्वारि तिष्ठतु ॥ ३० ॥
बलवान् मदलोलाक्षश्चपलः क्रोधनो नृषु।
दानोत्कटकटश्चण्डः प्रतिवारणरोषणः ॥ ३१ ॥
स संनोदयितव्यस्ते तावुद्दिश्य वनौकसौ।
वसुदेवसुतौ वीरौ यथा स्यातां गतायुषौ ॥ ३२ ॥
त्वया चैव गजेन्द्रेण यदि तौ गोष्ठजीविनौ।
भवेतां पतितौ रङ्गे पश्येयमहमुत्कटौ ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् कंसने हाथीकी परिचर्यासे ही जीविका चलानेवाले अपने महावतको बुलाकर कहा—'कुवलयापीड नामक हाथी रंगशालाके द्वारपर खड़ा रहे। वह बलवान्, मदसे चञ्चल नेत्रवाला, चपल तथा मनुष्योंके प्रति कुपित रहनेवाला है। उसके गण्डस्थल मदकी धारासे उत्कट दिखायी देते हैं। वह किसी विपक्षी हाथीको देखते ही रोषसे भर जाता है तथा स्वभावसे ही अत्यन्त क्रोधी है। वसुदेवके जो वनमें रहनेवाले वीर पुत्र हैं, वे यदि द्वारपर आ जायँ तो तुम उनके ऊपर उस हाथीको हाँक देना, जिससे वहीं उनकी जीवन-लीला समाप्त हो जाय। मैं चाहता हूँ कि गोष्ठमे जीनेवाले उन दोनों मदमत्त बालकोंको तुम्हारे और गजराज कुवलयापीडके द्वारा रंगशालाके द्वारपर धराशायी किया हुआ देखूँ ॥

ततस्तौ पतितौ दृष्ट्वा वसुदेवः सबान्धवः।
छिन्नमूलो निरालम्बः सभार्यो विनशिष्यति ॥ ३४ ॥

'उन दोनोंको पृथ्वीपर पड़ा देख वसुदेवकी तो जड़ ही कट जायगी। वे पत्नी और बन्धु-बान्धवोंसहित निरवलम्ब होकर स्वयं नष्ट हो जायँगे ॥ ३४ ॥

ये चेमे यादवा मूर्खाः सर्वे कृष्णपरायणाः।
विनशिष्यन्ति च्छिन्नाशा दृष्ट्वा कृष्णं निपातितम् ॥ ३५॥

'साथ ही ये जो-जो मूर्ख यादव श्रीकृष्णका भरोसा रखते हैं, वे सब श्रीकृष्णको मारा गया देख हताश होकर विनाशके गर्तमें गिर जायँगे ॥ ३५ ॥

एतौ हत्वा गजेन्द्रेण मल्लैर्वा स्वयमेव वा।
पुरीं निर्यादवीं कृत्वा विचरिष्याम्यहं सुखी ॥ ३६ ॥

'इन दोनोंको गजराज कुवलयापीड अथवा मल्लोंके द्वारा मरवाकर या स्वयं ही मारकर मथुरापुरीको यादवोंसे सूनी करके मैं सुखपूर्वक विचरूँगा ॥ ३६ ॥

पिता हि मे परित्यक्तो यादवानां कुलोद्वहः।
शेषाश्च मे परित्यक्ता यादवाः कृष्णपक्षिणः ॥ ३७ ॥

'मैंने यादवकुलका भार वहन करनेवाले अपने पिताको ही त्याग दिया। कृष्णका पक्ष लेनेवाले जो शेष यादव हैं, वे भी मेरे द्वारा परित्यक्त हो चुके हैं ॥ ३७ ॥

न चाहमुग्रसेनेन जातः किल सुतार्थिना।
मानुषेणाल्पवीर्येण यथा मामाह नारदः ॥ ३८ ॥

'यथार्थ बात यह है कि पुत्रकी इच्छा रखनेवाले इस अल्पपराक्रमी मानव उग्रसेनके द्वारा मेरा जन्म नहीं हुआ है, जैसा कि नारदजीने मुझे बताया है ॥ ३८ ॥

महामात्र उवाच

कथमुक्तं नारदेन राजन् देवर्षिणा पुरा।
आश्चर्यमेतत् कथितं त्वत्तः श्रुतमरिंदम ॥ ३९ ॥

महावतने पूछा—राजन्! पूर्वकालमें देवर्षि नारदने कैसी बात बतायी थी? शत्रुदमन! यह तो मैंने आपके मुखसे बड़े आश्चर्यकी बात सुनी है ॥ ३९ ॥

कथमन्येन जातस्त्वमुग्रसेनात् पितुर्विना।
तव मात्रा कथं राजन् कृतं कर्मेदमीदृशम् ॥ ४० ॥

यदि आपके पिता उग्रसेन नहीं हैं तो उनके बिना दूसरेसे आपका जन्म कैसे हुआ है? महाराज! आपकी माताने यह ऐसा कुत्सित कर्म कैसे किया? ॥ ४० ॥

अन्यापि प्राकृता नारी न कुर्याच्च जुगुप्सितम्।
विस्तरं श्रोतुमिच्छामि ह्येतत् कौतूहलं हि मे ॥ ४१ ॥

दूसरी साधारण स्त्री भी ऐसा घृणित कार्य नहीं कर सकती है; फिर उन्होंने कैसे किया? मैं विस्तारपूर्वक इस प्रसगको सुनना चाहता हूँ। इसे जाननेके लिये मेरे मनमे बड़ा कौतूहल है ॥ ४१ ॥

कंस उवाच

यथा कथितवान् विप्रो महर्षिर्नारदः प्रभुः।
तथाहं सम्प्रवक्ष्यामि यदि ते श्रवणे मतिः ॥ ४२ ॥

कंसने कहा—महावत! यदि तुम्हारा विचार इस रहस्यको सुननेका ही है तो प्रभावशाली महर्षि नारद बाबाने

मुझसे जैसा कहा था, उसी तरह मैं इस प्रसंगका वर्णन करूँगा ॥ ४२ ॥

आगतः शक्रसदनात् स वै शक्रसखो मुनिः ।
चन्द्रांशुशुक्लवसनो जटामण्डलमुद्वहन् ॥ ४३ ॥

वे मुनि नारद देवराज इन्द्रके सखा हैं। एक दिन चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेत वस्त्र पहने और सिरपर जटा-मण्डलका भार धारण किये वे इन्द्रभवनसे मेरे यहाँ आये ॥

कृष्णाजिनोत्तरीयेण रुक्मयज्ञोपवीतवान् ।
दण्डी कमण्डलुधरः प्रजापतिरिवापरः ॥ ४४ ॥

उनके कंधेपर काले मृगचर्मकी चादर पड़ी थी। वे सुवर्णमय यज्ञोपवीतसे विभूषित थे और दण्ड-कमण्डलु धारण किये दूसरे प्रजापतिके समान जान पड़ते थे ॥ ४४ ॥

गाता चतुर्णां वेदानां विद्वान् गान्धर्ववेदवित् ।
स नारदोऽथ देवर्षिर्ब्रह्मलोकचरोऽव्ययः ॥ ४५ ॥

नारदजी वेदोंके विद्वान् तो हैं ही, गान्धर्ववेद (संगीत-विद्या) के भी पूर्ण पण्डित हैं, अतः चारों वेदोंका गान किया करते हैं। ब्रह्मलोकमें विचरनेवाले वे अविनाशी देवर्षि नारद ही मेरे यहाँ पधारे थे ॥ ४५ ॥

तमागतमृषिं दृष्ट्वा पूजयित्वा यथाविधि ।
पाद्यार्घ्यमासनं दत्त्वा सम्प्रवेश्योपविश्य ह ॥ ४६ ॥

अपने यहाँ आये हुए उन महर्षिको देखकर मैंने पाद्य-अर्घ्य और आसन समर्पित करके उनकी विधिपूर्वक पूजा की और महलके भीतर ले जाकर उन्हें बिठाया ॥ ४६ ॥

सुखोपविष्टोऽथ मुनिः पृष्ट्वा च कुशलं मम ।
उवाच च प्रीतमना देवर्षिर्भावितात्मवान् ॥ ४७ ॥

जब सुखपूर्वक बैठ गये, तब मुझसे कुशल-प्रश्न करनेके अनन्तर प्रसन्नचित्त हुए उन शुद्ध अन्तःकरणवाले देवर्षिने इस प्रकार कहा ॥ ४७ ॥

नारद उवाच

पूजितोऽहं त्वया वीर विधिदृष्टेन कर्मणा ।
इदमेकं मम वचः श्रूयतां प्रतिगृह्यताम् ॥ ४८ ॥

नारदजी बोले—वीर ! तुमने शास्त्रीय विधिके अनुसार मेरा पूजन किया है; अतः मेरी यह एक बात सुनो और इसे ग्रहण करो ॥ ४८ ॥

गतोऽहं देवसदनं सौवर्णं मेरुपर्वतम् ।
सोऽहं कदाचिद् देवानां समाजे मेरुमूर्धनि ॥ ४९ ॥

सुवर्णमय मेरुपर्वत देवताओंका निवास-स्थान है । उस पर्वतके शिखरपर एक दिन देवताओंका समाज जुटा हुआ था। उसीमें मैं भी गया था ॥ ४९ ॥

तत्र मन्त्रयतामेवं देवतानां मया श्रुतः ।
भवतः सानुगस्यैव वधोपायः सुदारुणः ॥ ५० ॥

वहाँ देवतालोग, अनुचरोंसहित तुम्हारे वधके अत्यन्त दारुण उपायपर विचार कर रहे थे। वहीं उनके मुखसे यह बात मैंने सुनी थी ॥ ५० ॥

तत्र यो देवकीगर्भो विष्णुर्लोकनमस्कृतः ।
योऽस्या गर्भोऽष्टमः कंस स ते मृत्युर्भविष्यति ॥ ५१ ॥

कंस ! इस देवकीका जो आठवाँ गर्भ है, उसमें विश्ववन्दित भगवान् विष्णु निवास करेंगे; अतः वह गर्भ तुम्हारी मृत्युका कारण होगा ॥ ५१ ॥

देवानां स तु सर्वस्वं त्रिदिवस्य गतिश्च सः ।
परं रहस्यं देवानां स ते मृत्युर्भविष्यति ॥ ५२ ॥

वे विष्णु ही देवताओंके सर्वस्व हैं। स्वर्गलोकके आश्रय हैं तथा देवगणोंके परम रहस्य है। वे ही तुम्हारी मृत्युमें कारण होंगे ॥ ५२ ॥

यत्नश्च क्रियतां कंस गर्भाणां पातनं प्रति ।
नावज्ञा रिपवे कार्या दुर्बले स्वजनेऽपि वा ॥ ५३ ॥

कंस ! तुम देवकीके गर्भोंको मार गिरानेके लिये यत्न करो। शत्रु दुर्बल अथवा स्वजन हो तो भी उसके प्रति उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ॥ ५३ ॥

न चायमुग्रसेनः स पिता तव महाबलः ।
द्रुमिलो नाम तेजस्वी सौभस्य पतिरूर्जितः ॥ ५४ ॥

ये उग्रसेन तुम्हारे पिता नहीं हैं। सौभ विमानका स्वामी ओज और तेजसे सम्पन्न महाबली द्रुमिल तुम्हारा पिता है ॥

श्रुत्वाहं तद् वचस्तस्य किंचिद् रोषसमन्वितः ।
भूयोऽपृच्छं कथं ब्रह्मन् द्रुमिलो नाम दानवः ॥ ५५ ॥
मम मात्रा कथं तस्य ब्रूहि विप्र समागमः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ॥ ५६ ॥

नारदजीकी यह बात सुनकर मुझे कुछ रोष आ गया । मैंने पुनः पूछा—'ब्रह्मन् ! द्रुमिल नामक दानव किस तरह मेरा पिता हुआ ? तपोधन विप्र ! बताइये, मेरी माताके साथ उसका समागम कैसे हुआ ? मैं यह सब विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ' ॥ ५५-५६ ॥

नारद उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु राजन् यथार्थतः ।
द्रुमिलस्य च मात्रा ते संवादं च समागमम् ॥ ५७ ॥

नारदजीने कहा—राजन् ! बहुत अच्छा, द्रुमिलका तुम्हारी माताके साथ जो संवाद और समागम हुआ था, वह सब मैं तुम्हें यथार्थ रूपसे बता रहा हूँ, सुनो ॥ ५७ ॥

सुयामुनं नाम नगं तव माता रजस्वला ।
प्रेक्षितुं सहिता स्त्रीभिर्गता वै सा कुतूहलात् ॥ ५८ ॥

एक समयकी बात है, तुम्हारी माता जब रजस्वला

(होनेके पश्चात् स्नान कर चुकी) थी, कौतूहलवश दूसरी स्त्रियोंके साथ सुयामुन नामक पर्वतका दर्शन करनेके लिये गयी ॥ ५८ ॥

सा तत्र रमणीयेषु रुचिरद्रुमसानुषु ।
चचार नगशृङ्गेषु कन्दरेषु नदीषु च ॥ ५९ ॥

वह वहाँ पर्वतके रमणीय शिखरोंपर, जो मनोहर वृक्षोंसे सुशोभित थे, विचरने लगी । उसने वहाँकी कन्दराओंमें तथा नदियोंके तटोंपर भी भ्रमण किया ॥ ५९ ॥

किन्नरोद्गीतमधुराः प्रतिश्रुत्यभिनादिताः ।
शृण्वन्ती कामजननीर्वाचः श्रोत्रसुखावहाः ॥ ६० ॥

वहाँ उसे कानोंको सुख देनेवाली कुछ ऐसी बातें सुननेको मिलीं, जो कामोद्दीपन करनेवाली थीं । वे बातें किन्नरोंके गाये हुए गीतोंके रूपमें उपलब्ध होनेके कारण बड़ी मधुर प्रतीत होती थीं और प्रतिध्वनिसे सब ओर गूँजती रहती थीं ॥ ६० ॥

बर्हिणां चैव विरुतं खगानां च विकूजितम् ।
अभीक्ष्णमभिशृण्वन्ती स्त्रीधर्ममभिरोचयत् ॥ ६१ ॥

मयूरोंकी मधुर केकाध्वनि तथा विहंगमोंके कलरवोंको निरन्तर सुनती हुई तुम्हारी माताके मनमें स्त्रीधर्म (पुरुष-सहवास) की रुचि जाग्रत् हो उठी ॥ ६१ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वायुर्वनराजिविनिःसृतः ।
हृद्यः कुसुमगन्धाढ्यो ववौ मन्मथबोधनः ॥ ६२ ॥

इसी बीचमें वनश्रेणियोंसे निकलकर फूलोंकी सुगन्धसे भरी हुई मनोरम वायु चलने लगी, जो कामभावको जगानेवाली थी ॥ ६२ ॥

द्विरेफाभरणाश्चैव कदम्बा वायुघट्टिताः ।
मुमुचुर्गन्धमधिकं संततासारमूर्छिताः ॥ ६३ ॥

खिले हुए कदम्बोंपर भ्रमर छाये हुए थे, जो उनके आभूषणसे जान पड़ते थे । वायुके झोंके खाकर और निरन्तर गिरती हुई जलधाराओंसे मूर्च्छित-से होकर वे कदम्ब अधिकाधिक गन्ध छोड़ने लगे ॥ ६३ ॥

केसराः पुष्पवर्षैश्च ववृषुर्मदबोधनाः ।
नीपा दीपा इवाभान्ति पुष्पकण्टकधारिणः ॥ ६४ ॥

मदनोन्मादको जगानेवाले नागकेसर अपने फूलोंकी वर्षा कर रहे थे । पुष्पमय कण्टक धारण करनेवाले नीप दीपके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ६४ ॥

मही नवतृणच्छन्ना शक्रगोपविभूषिता ।
यौवनस्थेव वनिता स्वं दधारार्तवं वपुः ॥ ६५ ॥

नयी-नयी घासोंसे ढकी और बीरबहूटीसे विभूषित हुई वसुधा नवयुवती नारीके समान मानो रजस्वला-रूप धारण किये हुए थी ॥ ६५ ॥

अथ सौभपतिः श्रीमान् द्रुमिलो नाम दानवः ।
भविष्यद्दैवयोगेन विधात्रा तत्र नीयते ॥ ६६ ॥

ऐसे समयमें सौभविमानका अधिपति द्रुमिल नामक दीप्तिमान् दानव भावी दैवयोगसे विधाताद्वारा प्रेरित होकर वहाँ आ पहुँचा ॥ ६६ ॥

कामगेन रथेनाशु तरुणादित्यवर्चसा ।
यदृच्छया गतस्तत्र सुयामुनदिदृक्षया ॥ ६७ ॥

इच्छानुसार चलनेवाला उसका विमान प्रभातकालके सूर्यकी भाँति तेजःपुञ्जसे प्रकाशित हो रहा था । उसके द्वारा वह वहाँ सुयामुन पर्वतकी शोभा देखनेकी इच्छासे शीघ्रतापूर्वक सहसा आ गया ॥ ६७ ॥

विहायसा कामगमो मनसोऽप्याशुगामिना ।
स तं प्राप्य पर्वतेन्द्रमवतीर्य रथोत्तमात् ॥ ६८ ॥

मनसे भी तीव्र गतिवाले उस विमानद्वारा आकाशमार्गसे इच्छानुसार चलनेवाला वह दानव पर्वतराज सुयामुनपर आकर उस श्रेष्ठ रथसे नीचे उतरा ॥ ६८ ॥

पर्वतोपवने न्यस्य रथं पररथारुजम् ।
अथासौ सूतसहितश्चचार नगमूर्धनि ॥ ६९ ॥

शत्रुओंके रथको तोड़ डालनेवाले उस रथ (विमान)को उस पर्वतके उपवनमें खड़ा करके वह विमानचालकके साथ पर्वत-शिखरपर विचरण करने लगा ॥ ६९ ॥

ततो बहून्यपश्येतां काननानि वनानि च ।
सर्वर्तुगुणसम्पन्नं नन्दनस्येव काननम् ॥ ७० ॥

उन दोनोंने वहाँ बहुत-से वन और कानन देखे । वहाँकी वनस्थली नन्दनवनके समान सभी ऋतुओंके गुणोंसे सम्पन्न थी ॥ ७० ॥

चेरतुर्नगशृङ्गेषु कन्दरेषु नदीषु च ।
नानाधातुपिनद्धैश्च शृङ्गैर्बहुभिरुच्छ्रितैः ॥ ७१ ॥
नानारत्नविचित्रैश्च काञ्चनाञ्जनराजतान् ।
नानाकुसुमगन्धाढ्यान् नानासत्त्वगणैर्युतान् ॥ ७२ ॥
नानाद्विजगणैर्घुष्टान् नानापुष्पफलद्रुमान् ।
नानौषधिसमायुक्तानृषिसिद्धानुसेवितान् ॥ ७३ ॥

वे दोनों उस पर्वतके शिखरोंपर, कन्दराओंमें और नदियोंके किनारे-किनारे घूमने लगे । उस पर्वतके बहुत-से ऊँचे-ऊँचे शिखर नाना प्रकारकी धातुओंसे आवृत थे। भाँति-भाँतिके रत्नोंसे उनकी विचित्र शोभा हो रही थी। उन दोनोंने देखा, पर्वतके विभिन्न शिखर सुवर्णमय, रजतमय तथा अञ्जनमय दिखायी दे रहे हैं। नाना प्रकारके फूलोंकी सुगन्ध वहाँ व्याप्त हो रही है । भाँति-भाँतिके जीव-जन्तुओंके समुदाय वहाँ निवास करते हैं । अनेक प्रकारके पक्षी अपने कलरवोंसे उन शिखरोंको कोलाहलपूर्ण कर रहे हैं । भाँति-भाँतिके पुष्प

और फलोंसे सम्पन्न वृक्ष वहाँ लहलहा रहे हैं। नाना प्रकारकी ओषधियोंसे संयुक्त उन शिखरोंपर ऋषि और सिद्ध पुरुष निवास करते हैं ॥ ७१—७३ ॥

विद्याधरान् किम्पुरुषानृक्षवानरराक्षसान्।
सिंहान् व्याघ्रान् वराहांश्च महिषाञ्छरभाञ्छशान् ॥
सृमरांश्चमरान् न्यङ्कून् मातङ्गान् यक्षराक्षसान्।
एवं बहुविधान् पश्यंश्चरमाणो नगोत्तमम् ॥ ७६ ॥

विद्याधर, किन्नर, रीछ, वानर, राक्षस, सिंह, व्याघ्र, वराह, भैंसे, शरभ, खरगोश, सृमर (मृगविशेष), चमर (चवँरी गाय), न्यङ्कु (बारहसिंगा), हाथी, यक्ष, निशाचर तथा ऐसे ही नाना प्रकारकी जातिके प्राणियोंको देखता हुआ वह दानव उस उत्तम पर्वतपर भ्रमण कर रहा था ॥७४-७५॥

दूराद् ददर्श नृपतिर्देवीं देवसुतोपमाम्।
क्रीडमानां सखीभिश्च पुष्पं चैव विचिन्वतीम् ॥ ७६ ॥

इसी समय उस दानवराजने दूरसे ही उग्रसेनकी रानीको देखा, जो सखियोंके साथ क्रीडा करती तथा फूल चुनती हुई देवकन्याके समान सुशोभित हो रही थी ॥ ७६ ॥

ततश्चरन्तीं सुश्रोणीं सखीभिः सह संवृताम्।
दृष्ट्वा सौभपतिर्दूराद् विस्मयन् सूतमब्रवीत् ॥ ७७ ॥

सखियोंसे घिरी हुई उस सुन्दर कटिप्रदेशवाली रमणीको दूरसे ही वहाँ विचरती देख सौभ विमानका स्वामी द्रुमिल चकित हो उठा और अपने विमानचालकसे इस प्रकार बोला—॥ ७७ ॥

कस्येयं मृगशावाक्षी वनान्तरविचारिणी।
रूपौदार्यगुणोपेता मन्मथस्य रतिर्यथा ॥ ७८ ॥

'सूत ! इस वनके भीतर विचरनेवाली यह मृगनयनी बाला किसकी स्त्री है, जो रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न होकर कामपत्नी रतिके समान शोभा पा रही है ॥७८॥

शचीव पुरुहूतस्य उताहो वा तिलोत्तमा।
नारायणोरुं निर्भिद्य सम्भूता वरवर्णिनी।
ऐलस्य दयिता देवी योषिद्रत्नं किमुर्वशी ॥ ७९ ॥

'अहो ! क्या यह देवराज इन्द्रकी पत्नी शची है या तिलोत्तमा है अथवा जो भगवान् नारायणके ऊरुका भेदन करके प्रकट हुई और पुरूरवाकी प्यारी महारानी बनी थी, वह सुन्दर कान्तिवाली रमणीरत्न उर्वशी है ? ॥ ७९ ॥

क्षीरार्णवे मथ्यमाने सुरासुरगणैः सह।
मन्थानं मन्दरं कृत्वामृतार्थमिति नः श्रुतम् ॥ ८० ॥
ततोऽमृतात् समुत्तस्थौ देवी श्रीर्लोकभाविनी।
नारायणाङ्कलुलिता किं श्रीरेषा वराङ्गना ॥ ८१ ॥

'हमने सुना है—देवताओंने असुरोंके साथ मिलकर अमृतकी प्राप्तिके लिये मन्दराचलको मथानी बनाकर जब क्षीरसागरका मन्थन किया था, उस समय उसके अमृतमय दुग्धसे लोकभाविनी लक्ष्मी देवीका प्रादुर्भाव हुआ था, जो भगवान् नारायणके अङ्कमें सुशोभित होती हैं, यह सुन्दरी अङ्गना वही लक्ष्मी देवी तो नहीं है ॥ ८०-८१ ॥

नीलमेघान्तरगता द्योतयन्त्यचिरप्रभा।
तथा योषिद्‌गणान् मध्ये रूपं प्रद्योतयद् वनम् ॥ ८२ ॥

'जैसे थोड़ी-थोड़ी देरमें चमकनेवाली बिजली नील मेघके भीतर रहकर अपना प्रकाश फैलाती है, उसी प्रकार यह स्त्रियोंके बीचमें रहकर अपने रूप और वनको प्रकाशित करती हुई यहाँ विचर रही है ॥ ८२ ॥

अतीव सुकुमाराङ्गी सुप्रभेन्दुनिभानना।
दृष्ट्वा रूपमनिन्द्याङ्ग्या विभ्रान्तो व्याकुलेन्द्रियः ॥ ८३ ॥

'इसके अङ्ग बड़े ही सुकुमार हैं, मुख चन्द्रमाके समान सुन्दर कान्तिसे उद्भासित हो रहा है। इस निर्दोष अङ्गोंवाली रमणीका रूप देखकर मैं पागल हो गया हूँ। मेरी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठी हैं ॥ ८३ ॥

कामस्य वशमापन्नो मनो विह्वलतीव मे।
भृशं कृन्तति मेऽङ्गानि सायकैः कुसुमायुधः।
भित्त्वा हृदि शरान् पञ्च निर्दयं हन्ति मे मनः ॥ ८४ ॥

'मैं कामके अधीन हो गया हूँ। मेरा मन विह्वल-सा हो रहा है। पुष्पधन्वा कामदेव अपने सायकोंसे मेरे अङ्गोंको बड़े वेगसे छिन्न-भिन्न कर रहा है। मेरे हृदयमें अपने पाँचों बाणोंका प्रहार करके वह बड़ी निर्दयताके साथ उसे विदीर्ण कर रहा है ॥ ८४ ॥

हृदयाग्निर्वर्धयति आज्यसिक्त इवानलः।
कथमद्य भवेत् कार्यं शमार्थं मन्मथाग्निना ॥ ८५ ॥
केनोपायेन किं कुर्मो भजेन्मां मत्तगामिनी।

'मेरे हृदयके भीतर कामाग्नि बढ़ रही है। वह घीकी आहुति पाकर बढ़ी हुई आगके समान प्रज्वलित हो उठी है। इस कामाग्निसे शान्ति पानेके लिये इस समय कैसे कौन-सा यत्न किया जाय ? अहो ! किस उपायसे हम क्या करें, जिससे यह मतवाली चालसे चलनेवाली रमणी मुझे अङ्गीकार कर ले' ॥ ८५½ ॥

एवं बहु चिन्तयानो नोपलभ्य च दानवः ॥ ८६ ॥
सूतमाह मुहूर्तं तु तिष्ठस्व त्वमिहानघ।
अहं यास्यामि तां द्रष्टुं कस्येयमिति योषितम् ॥ ८७ ॥

इस प्रकार बहुत सोचनेपर भी जब कोई उपाय नहीं सूझा, तब उस दानवने अपने सारथिसे कहा—'अनघ ! तुम दो घड़ी यहीं ठहरो, मैं स्वयं ही उसे देखने तथा यह किसकी स्त्री है, इस बातका पता लगानेके लिये जाता हूँ ॥८६-८७॥

प्रतीक्षमाणस्तिष्ठस्व यावदागमनं मम।
श्रुत्वा तु वचनं तस्य तथास्त्विति वचोऽब्रवीत् ॥८८॥

'जबतक मैं लौटकर न आऊँ, तबतक तुम यहीं मेरी प्रतीक्षा करते हुए खड़े रहो।' द्रुमिलकी यह बात सुनकर उसके सारथिने कहा, 'बहुत अच्छा! ऐसा ही होगा'॥ ८८॥

एवमुक्त्वा दानवेन्द्रो गमनाय मनो दधे।
वार्युपस्पृश्य बलवान् ध्यानमेवान्वचिन्तयत्॥ ८९॥

सारथिसे उपर्युक्त बात कहकर बलवान् दानवराज द्रुमिलने उसके पास जानेका विचार किया। फिर उसने जलसे आचमन किया और ध्यान लगाकर उसके विषयमें चिन्तन करने लगा॥

मुहूर्तं ध्यानमात्रेण दृष्टं ज्ञानबलात् ततः।
उग्रसेनस्य पत्नीति ज्ञात्वा हर्षमुपागतः॥ ९०॥

दो घड़ीतक ध्यान करनेमात्रसे उसने ज्ञानबलसे देख लिया कि यह राजा उग्रसेनकी पत्नी है। यह जानकर उसे बड़ा हर्ष हुआ॥ ९०॥

उग्रसेनस्य रूपं वै कृत्वा स्वं परिवर्त्य सः।
उपासर्पन्महाबाहुः प्रहसन् दानवेश्वरः॥ ९१॥
स्मयमानश्च शनकैर्जग्राहामितवीर्यवान्।
उग्रसेनस्य रूपेण मातरं ते व्यधर्षयत्॥ ९२॥

फिर तो उसने अपना रूप बदलकर उग्रसेनका रूप धारण कर लिया। तत्पश्चात् वह अमितपराक्रमी महाबाहु दानवराज हँसता हुआ उसके पास गया, फिर धीरे-धीरे मुसकराते हुए ही उसने उसे अपनी भुजाओंमें कस लिया। इस प्रकार उग्रसेनके ही रूपसे उसने तुम्हारी माताका सतीत्व भङ्ग किया॥ ९१-९२॥

सा पतिस्निग्धहृदया तं भावेनोपसर्पती।
शङ्किता चाभवत् पश्चात् तस्य गौरवदर्शनात्॥ ९३॥

पतिके प्रति हृदयमें अत्यन्त स्नेह रखनेके कारण वह देवी बड़े प्रेमसे उसकी सेवामें उपस्थित हुई। पीछे उसके शरीरके भारीपनका अनुभव करके वह शङ्कित हो उठी॥

सा तमाहोत्थिता भीता न त्वं मम पतिर्ध्रुवम्।
कस्य त्वं विकृताचारो येनास्मि मलिनीकृता॥ ९४॥

उठकर भयभीत हो उसने उससे कहा—'निश्चय ही तू मेरा पति नहीं है; अतः बता, तू किसका दुराचारी पुत्र है, जिसने मुझे कलङ्कित कर दिया?॥ ९४॥

एकभर्तृव्रतमिदं मम संदूषितं त्वया।
पत्युर्मे रूपमास्थाय नीच नीचेन कर्मणा॥ ९५॥

'नीच! तूने मेरे पतिका रूप धारण करके अपने नीच कर्मसे मेरे पातिव्रत्यको दूषित कर दिया॥ ९५॥

किं मां वक्ष्यन्ति रुषिता बान्धवाः कुलपांसनीम्।
जुगुप्सिता च वत्स्यामि पतिपक्षैर्निराकृता॥ ९६॥

'अब रोषमें भरे हुए मेरे बन्धु-बान्धव मुझ कुलकलङ्किनीको क्या कहेंगे? मुझे पतिपक्षके लोगोंसे निन्दित और तिरस्कृत होकर रहना पड़ेगा॥ ९६॥

धिक्त्वामीदृशमक्षान्तं दुष्कुलं व्युत्थितेन्द्रियम्।
अविश्वास्यमनार्यं च परदाराभिमर्शनम्॥९७॥

'तू ऐसा असहनशील, दूषित कुलमें उत्पन्न, अजितेन्द्रिय, अविश्वसनीय, अनार्य तथा परस्त्रीको कलङ्कित करनेवाला है, तुझे धिक्कार है'॥ ९७॥

स तामाह प्रसज्जन्तीं क्षिप्तः क्रोधेन दानवः।
अहं वै द्रुमिलो नाम सौभस्य पतिरूर्जितः॥ ९८॥
किं मां क्षिपसि रोषेण मूढे पण्डितमानिनि।
मानुषं पतिमाश्रित्य नीचं मृत्युवशे स्थितम्॥ ९९॥

जब इस प्रकार धिक्कार देती हुई वह उससे उलझ पड़ी, तब उसके आक्षेप सुनकर उस दानवने क्रोधपूर्वक कहा—'मूढ़ नारी! तू अपनेको बड़ी विदुषी मानती है? अरी! मैं सौभ विमानका अधिपति ओजस्वी दानव द्रुमिल हूँ, तू मृत्युके वशमें रहनेवाले तुच्छ मानव पतिका आश्रय लेकर रोषपूर्वक मेरे ऊपर आक्षेप क्यों करती है?॥ ९८-९९॥

व्यभिचारान्न दुष्यन्ति स्त्रियः स्त्रीमानगर्विते।
न ह्यासां नियता बुद्धिर्मानुषीणां विशेषतः॥१००॥

'स्त्रीके सम्मानपर गर्व करनेवाली नारी! (देवताओं और दानवोंके साथ) विवशतापूर्वक व्यभिचार घटित होनेसे स्त्रियाँ दूषित नहीं होती हैं। इन स्त्रियोंकी विशेषतः मानवी स्त्रियोंकी बुद्धि निश्चल नहीं होती॥ १००॥

श्रूयन्ते हि स्त्रियो बह्व्यो व्यभिचारव्यतिक्रमैः।
प्रसूता देवसंकाशान् पुत्रान् निश्चलविक्रमान्॥१०१॥

'सुननेमें आता है कि बहुतेरी स्त्रियाँ व्यभिचाररूप दोष बन जानेपर भी अविचल पराक्रमी देवोपम पुत्रोंकी जननी हुई हैं॥ १०१॥

अतीव हि त्वं स्त्रीलोके पतिधर्मवती सती।
शुद्धा केशान् विधुन्वन्ती भाषसे यद्यदिच्छसि॥१०२॥

'स्त्री-जगत्‌में एक तू ही तो बड़ी पतिधर्म-परायणा और दूधकी धोयी हुई शुद्ध सती है, जो अपने केश-कलापोंको कम्पित करती हुई जो-जो चाहती है, बकती चली जा रही है॥१०२॥

कस्य त्वमिति यच्चाहं त्वयोक्तो मत्तकाशिनि।
कंसस्तस्माद् रिपुध्वंसी तव पुत्रो भविष्यति॥१०३॥

'मतवाली स्त्री! तुमने जो मुझसे यह पूछा है कि—'कस्य त्वम्—तू किसका पुत्र है' इससे तुम्हें कंस नामक शत्रुनाशक पुत्र प्राप्त होगा'॥ १०३॥

सा सरोषा पुनर्भूत्वा निन्दन्ती तस्य तं वरम्।
उवाच व्यथिता देवी दानवं धृष्टवादिनम्॥१०४॥

यह सुनकर वह देवी पुनः रोषमें भरकर उसके उस वरकी निन्दा करने लगी और ढिठाईके साथ बात करनेवाले उस दानवसे व्यथित होकर बोली—॥ १०४ ॥

धिक् ते वृत्तं सुदुर्वृत्त यः सर्वा निन्दसि स्त्रियः।
सन्ति स्त्रियो नीचवृत्ताः सन्ति चैव पतिव्रताः ॥१०५॥

'दुराचारी दानव ! तेरे इस घृणित आचारको धिक्कार है, जो तू संसारकी सारी स्त्रियोंकी निन्दा कर रहा है। माना कि जगत्‌मे नीच आचार-विचारवाली स्त्रियाँ भी हैं, परंतु पतिव्रताएँ भी कम नहीं हैं ॥ १०५ ॥

यास्त्वेकपत्न्यः श्रूयन्तेऽरुन्धतीप्रमुखाः स्त्रियः।
धृता याभिः प्रजाः सर्वा लोकाश्चैव कुलाधम ॥१०६॥

'कुलाधम ! अरुन्धती आदि जो पतिव्रता स्त्रियाँ सुनी जाती हैं, उनका स्मरण कर ! जिन्होंने समस्त प्रजाओं तथा सम्पूर्ण लोकोंको अपने सतीत्वके बलसे ही धारण किया है ॥ १०६ ॥

यस्त्वया मम पुत्रो वै दत्तो वृत्तविनाशनः।
न मे बहुमतस्त्वेष शृणु चापि यदुच्यते ॥१०७॥

'तूने जो मुझे सदाचारनाशक पुत्र प्रदान किया है, इसके प्रति मेरे मनमे अधिक आदर नहीं है। इस विषयमें मैं जो कुछ कहती हूँ, उसे सुन ले ॥ १०७ ॥

उत्पत्स्यति पुमान् नीच पतिवंशे ममाद्य यः।
भविष्यति स ते मृत्युर्यश्च दत्तस्त्वया सुतः ॥१०८॥

'नीच ! अब मेरे पतिके कुलमें परमपुरुष परमेश्वर अवतार लेंगे, जो तेरी तथा तूने जो पुत्र दिया है, उसकी भी मृत्युके कारण होंगे' ॥ १०८ ॥

द्रुमिलस्त्वेवमुक्तस्तु जगामाकाशमेव तु।
तेनैव रथमुख्येन दिव्येनाप्रतिगामिना ॥१०९॥

उसके ऐसा कहनेपर द्रुमिल उसी अनुपम गतिवाले दिव्य विमानद्वारा पुनः आकाशको ही चला गया ॥ १०९ ॥

जगाम च पुरीं दीना माता तदहरेव ते।
मामेवमुक्त्वा भगवान् नारदो मुनिसत्तमः ॥११०॥
दीप्यमानस्तपोवीर्यात् साक्षादग्निरिव ज्वलन्।
वल्लकीं वादयमानो हि सप्तस्वरविमूर्च्छिताम् ॥१११॥
गायनो लक्ष्यवीथीं स जगाम ब्रह्मणोऽन्तिकम्।

तुम्हारी माता अत्यन्त दीन होकर उसी दिन मथुरापुरीको चली गयी। महावत ! मुझसे इस प्रकार कहकर मुनिश्रेष्ठ भगवान् नारद अपने तपोबलसे प्रकाशित तथा साक्षात् अग्निके समान देदीप्यमान हो, सात स्वरोंकी मूर्च्छनाका विस्तार करनेवाली वीणा बजाते और गाते हुए लक्ष्यवीथी (अथवा अलक्ष्यवीथी) देवयान मार्गसे ब्रह्माजीके पास चले गये ॥ ११०-१११½ ॥

शृणुष्वेदं महामात्र निबोध वचनं मम ॥११२॥
तथ्यं चोक्तं नारदेन त्रैलोक्यज्ञेन धीमता।

महावत ! मेरी वह बात सुनो और समझो। तीनों लोकोंकी बातें जाननेवाले बुद्धिमान् नारदने सब कुछ ठीक ही कहा था ॥ ११२½ ॥

अलं बलेन वीर्येण नयेन विनयेन च ॥११३॥
प्रमाणेर्वापि वीर्येण तेजसा विक्रमेण च।
सत्येन चैव दानेन नान्योऽस्ति सदृशः पुमान् ॥११४॥

अधिक कहनेकी क्या आवश्यकता—बल, वीर्य, नय, विनय, प्रमाण, शक्ति, तेज, पराक्रम, सत्य और दानके द्वारा मेरी समानता करनेवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं है।११३-११४।

विदित्वा सर्वमात्मानं वचनं श्रद्दधाम्यहम्।
क्षेत्रजोऽहं सुतस्तस्य उग्रसेनस्य हस्तिप ॥११५॥

महावत ! अपनेको सर्वथा इन गुणोसे युक्त समझकर मैं नारदजीकी बातपर श्रद्धा करता हूँ, इसमें संदेह नहीं कि मैं उग्रसेनका क्षेत्रज पुत्र ही हूँ ॥ ११५ ॥

मातापितृभ्यां संत्यक्तः स्थापितः स्वेन तेजसा।
उभाभ्यामपि विद्विष्टो बान्धवैश्च विशेषतः ॥११६॥

माता-पिताने तो मुझे त्याग ही दिया है। मैं अपने तेजसे ही इस सिंहासनपर बैठा हूँ। मेरे माता-पिता तथा विशेषतः सभी बन्धु-बान्धव मुझसे द्वेष रखते हैं ॥ ११६ ॥

एतानपि हनिष्यामि यादवान् कृष्णपक्षिणः।
तदिमौ घातयित्वा तु हस्तिना गोपकिल्बिषौ ॥११७॥

ये सभी यादव श्रीकृष्णके पक्षमें मिल गये हैं, अतः मैं इन दोनों गोपकुलकलंकोंको हाथीके द्वारा मरवाकर इन यादवोंका भी वध कर डालूँगा ॥ ११७ ॥

तद् गच्छ गजमारुह्य सांकुशप्रासतोमरः।
स्थिरो भव महामात्र समाजद्वारि मा चिरम् ॥११८॥

अतः महावत ! तुम जाओ ! कुवलयापीड़ हाथीपर आरूढ़ हो अंकुश, भाला और तोमर लिये रङ्गशालाके द्वारपर दृढ़तापूर्वक डट जाओ, विलम्ब न करो ॥ ११८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि कंसवाक्येऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें कंसका वाक्यविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥



एकोनत्रिंशोऽध्यायः

नागरिकोंसे भरी रङ्गशालामें मञ्चों तथा प्रेक्षागृहोंकी शोभा, कंस तथा मल्लोंका आगमन, श्रीकृष्ण और बलरामका रङ्गद्वारपर पदार्पण, कुवलयापीड, महावत तथा हाथीके पादरक्षकोंका वध और दोनों बन्धुओंका रङ्गस्थलमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन्नहनि निर्वृत्ते द्वितीये समुपस्थिते।
आपूर्यत महारङ्गः पौरैर्युद्धदिदृक्षुभिः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वह दिन समाप्त होकर जब दूसरा उपस्थित हुआ, तब युद्ध देखनेकी इच्छावाले पुरवासियोंसे वह महान् रङ्गस्थल भर गया॥ १॥

सचित्राग्रास्त्रिचरणाः सार्गलद्वारवेदिकाः।
सगवाक्षार्धचन्द्राश्च सुतल्पोत्तमभूषिताः॥ २॥

वहाँ जो मञ्च रखे गये थे, वे चित्रोंसे सुशोभित तथा आठ कोणवाले पायोंसे अलंकृत थे। जिन घरोंमें वे मञ्च थे, उनके द्वारोंपर वेदियाँ बनी थीं और कुण्डीके साथ किवाड़ें भी थीं। उनमें झरोखोंके रूपमें अर्द्धचन्द्राकार छिद्र रखे गये थे। वे मञ्च और मञ्चागार उत्तमोत्तम बिछौनोंसे विभूषित थे॥ २॥

प्राङ्मुखैश्चारुनिर्मुक्तैर्माल्यदामावतंसितैः।
अलंकृतैर्विराजद्भिः शारदैरिव तोयदैः॥ ३॥
मञ्चागारैः सुनिर्युक्तैर्युद्धाय सुविभूषितैः।
समाजवाटः शुशुभे समेघौघ इवार्णवः॥ ४॥

उन मञ्चागारोंके द्वार पूर्वाभिमुख थे। वे सब-के-सब सुन्दर और खुले हुए थे (अथवा उनमें झीने सूतके मनोहर परदे लगे थे)। फूलोंकी मालाओं तथा मोती आदिकी लड़ियोंसे उन सबको सजाया गया था। वे शोभासम्पन्न एवं अलंकृत मञ्चागार शरद्-ऋतुके बादलोंके समान शोभा पाते थे। उनमें सुन्दर मल्ल आदि यथास्थान बैठें थे, जिन्हें युद्धके लिये भलीभाँति विभूषित किया गया था। उन सबके द्वारा वह समाजवाट या रङ्गस्थल मेघोंकी घटासे युक्त महासागरके समान शोभा पा रहा था॥ ३-४॥

स्वकर्मद्रव्ययुक्ताभिः पताकाभिर्निरन्तरम्।
श्रेणीनां च गणानां च मञ्चा भान्त्यचलोपमाः॥ ५॥

वहाँ एक ही शिल्पसे जीवननिर्वाह करनेवाले श्रेणी नामक कारीगरों तथा एक जातिके समुदायोंके लिये पृथक्-पृथक् मञ्च थे। उन मञ्चोंपर जो पताकाएँ निरन्तर फहराती रहती थीं, उनमें उन कारीगरोंके उपकरण-द्रव्यके चिह्न अङ्कित थे। उन पताकाओंसे वे मञ्च पर्वतोंके समान शोभा पाते थे॥ ५॥

अन्तःपुरचराणां च प्रेक्षागाराण्यनेकशः।
रेजुः काञ्चनचित्राणि रत्नज्वालाकुलानि च॥ ६॥

अन्तःपुरकी स्त्रियोंके लिये अनेक प्रेक्षागार सुशोभित हो रहे थे, जो सुवर्णसे चित्रित तथा रत्नोंकी प्रभासे व्याप्त थे॥ ६॥

तानि रत्नौघकलशानि ससानुप्रग्रहाणि च।
रेजुर्जवनिकाक्षेपैः सपक्षा इव खे नगाः॥ ७॥

रत्नराशिसे निर्मित उन प्रेक्षागारोंके ऊपरी भागमें पताकाएँ फहरा रही थीं और उनके निचले भागमें परदे पड़े हुए थे। इससे वे आकाशमें पंखयुक्त पर्वतके समान शोभा पाते थे॥ ७॥

तत्र चामरहारैश्च भूषणानां च सिञ्जितैः।
मणीनां च विचित्राणां विचित्राश्चेरुरर्चिषः॥ ८॥

उन प्रेक्षागारोंमें चामरों, हारों, झनकारते हुए भूषणों तथा विचित्र मणियोंकी चित्र-विचित्र प्रभाएँ सब ओर फैल रही थीं॥ ८॥

गणिकानां पृथङ्मञ्चाः शुभैरास्तरणाम्बरैः।
शोभिता वारमुख्याभिर्विमानप्रतिमौजसः॥ ९॥

गणिकाओंके लिये पृथक् मञ्च बने थे, जो सुन्दर बिछौनों और वस्त्रोंसे ढँके हुए थे। वे सब-के-सब विमानके समान कान्तिमान् दिखायी देते थे और मुख्य-मुख्य वाराङ्गनाएँ उनकी शोभा बढ़ाती थीं॥ ९॥

तत्रासनानि ख्यातानि पर्यङ्काश्च हिरण्मयाः।
प्रकीर्णाश्च कुथाश्चित्राः सपुष्पस्तवकैर्वृताः॥ १०॥

वहाँ विख्यात आसन, सोनेके पलंग तथा बिछे हुए विचित्र एवं पुष्पगुच्छोंसे युक्त कालीन सुशोभित थे॥ १०॥

सौवर्णाः पानकुम्भाश्च पानभूम्यश्च शोभिताः।
फलावदंशपूर्णाश्च चाङ्गेर्यः पानयोजिताः॥ ११॥

वहाँ सोनेके घड़ोंमें पीनेके लिये जल रखे गये थे। जलपानके जो स्थान थे, उन्हें भी शोभासे सम्पन्न किया गया था। वहाँ फलके टुकड़ोंसे भरी हुई चँगेरियाँ (टोकरियाँ) रखी गयी थीं, जिन्हें जलपान या कलेवेके उपयोगके लिये वहाँ स्थापित किया गया था॥ ११॥

अन्ये च मञ्चा बहवः काष्ठसंचयबन्धनाः।
रेजुः प्रस्तरणास्तत्र शतशोऽथ सहस्रशः॥ १२॥

और भी बहुत-से मञ्च थे, जो लकड़ियोंके ढेरसे आबद्ध थे। उनपर भी अच्छे बिछावन डाले गये थे। इस तरहके सैकड़ों-हजारों मञ्च वहाँ शोभा पा रहे थे ॥१२॥

उत्तमागारिकाश्चैव सूक्ष्मजालावलोकिनः।
स्त्रीणां प्रेक्षागृहा भान्ति राजहंसा इवाम्बरे ॥ १३ ॥

घरोंके ऊपर जो घर थे, उनमें स्त्रियोंके लिये प्रेक्षागृह बने थे। उनके दरवाजोंपर महीन जालीदार परदा पड़ा था, जिससे वहाँ बैठे हुए लोग बाहरकी सारी वस्तुएँ देख सकते थे। वे प्रेक्षाभवन आकाशमें राजहंसोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १३ ॥

प्राङ्मुखश्चारुनिर्मुक्तो मेरुशृङ्गसमप्रभः।
रुक्मपत्रनिभस्तम्भश्चित्रनिर्योगशोभितः ॥ १४ ॥
प्रेक्षागारः स कंसस्य प्रचकाशेऽधिकं श्रिया।
शोभितो माल्यदामैश्च निवासकृतलक्षणः ॥ १५ ॥

कंसके लिये जो प्रेक्षागार (दृश्य देखनेका स्थान) बना था, वह अधिक शोभासे प्रकाशित हो रहा था। उसका दरवाजा पूर्वकी ओर था। उसपर मनोहर जालीदार पर्दा पड़ा था। वह भवन मेरुपर्वतके शिखरके समान सुनहरी प्रभासे उद्भासित होता था। उसके खम्भे स्वर्णपत्रसे जटित होनेके कारण विशेष शोभासे सम्पन्न थे तथा वह भवन चारु चित्रोंके संनिवेशसे सुशोभित था। मालाओंकी लड़ियोसे भी उसे सजाया गया था। राजाकी बैठक या निवास-स्थानके लिये जो आवश्यक लक्षण होने चाहिये, उन सबसे वह सम्पन्न था ॥ १४-१५ ॥

तस्मिन् नानाजनाकीर्णे जनौघप्रतिनादिते।
समाजवाटे संस्तब्धे कम्पमानार्णवप्रभे ॥ १६ ॥
राजा कुवलयापीडः समाजद्वारि कुञ्जरः।
तिष्ठत्विति समाज्ञाप्य प्रेक्षागारमुपाययौ ॥ १७ ॥

नाना प्रकारके मनुष्योंसे भरा-पूरा और जनसमुदायके शब्दोंसे प्रतिध्वनित होता हुआ वह समाजवाट या रङ्गस्थल चञ्चल लहरोंवाले विक्षुब्ध महासागरके समान प्रतीत होता था। थोड़ी ही देरमें वहाँ सन्नाटा छा गया और 'कुवलयापीड नामक हाथी रङ्गशालाके द्वारपर खड़ा रहे'—यह आज्ञा देता हुआ राजा कंस अपने प्रेक्षागारमें आ पहुँचा ॥१६-१७॥

स शुक्ले वाससी बिभ्रच्छ्वेतव्यजनचामरः।
शुशुभे श्वेतमुकुटः श्वेताभ्र इव चन्द्रमाः ॥ १८ ॥

उसने दो श्वेत वस्त्र धारण कर रखे थे। उसपर श्वेत चँवर और व्यजन डुलाये जा रहे थे तथा उसके मस्तकपर श्वेत मुकुट प्रकाशित होता था, अतः वह श्वेत बादलोंसे युक्त चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था ॥ १८ ॥

तस्य सिंहासनस्थस्य सुखासीनस्य धीमतः।
रूपमप्रतिमं दृष्ट्वा पौराः प्रोचुर्जयाशिषः ॥ १९ ॥

जब वह सिंहासनपर सुखपूर्वक विराजमान हुआ, उस समय उस बुद्धिमान् नरेशके अनुपम रूपको देखकर समस्त पुरवासी उसकी 'जय' बोलते हुए उसे आशीर्वाद देने लगे ॥

ततः प्रविविशुर्मल्ला रङ्गमावलिताम्बराः।
तिस्रश्च भागशः कक्षाः प्राविशन् बलशालिनः ॥ २० ॥

तदनन्तर मल्लोंने रङ्गभूमिमें प्रवेश किया। उनके कपड़े फहरा रहे थे। वे बलशाली मल्ल अलग-अलग तीन कक्षाओंमें प्रविष्ट हुए ॥ २० ॥

ततस्तूर्यनिनादेन क्ष्वेडितास्फोटितेन च।
वसुदेवसुतौ हृष्टौ रङ्गद्वारमुपस्थितौ ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् वाद्योंकी तुमुल ध्वनिके साथ मल्लोंके गर्जने और ताल ठोंकनेके शब्द सुनायी देने लगे। इसी समय हर्षमें भरे हुए दोनों वसुदेव-पुत्र रङ्गशालाके द्वारपर उपस्थित हुए ॥ २१ ॥

वल्गवौ वस्त्रसंवीतौ सुरचन्दनभूषितौ।
ऊर्ध्वपीडौ स्रगापीडौ बाहुशस्त्रकृतौ यमौ ॥ २२ ॥
आस्फोटयन्तावन्योन्यं बाहू चैवार्गलोपमौ।

वे दोनों बन्धु ग्वालबालोंके ही वेषमें थे। उनके अङ्ग सुन्दर वस्त्रोंसे आच्छादित एवं सुशोभित थे। वे दिव्य चन्दन (अङ्गराग) से विभूषित थे। सिरके ऊपर पुष्पमाला और गलेमें गजरे शोभा दे रहे थे। उन्होंने अपनी भुजाओंको ही आयुध बना रखा था। वे दोनों जुड़वें-से जान पड़ते थे और एक दूसरेकी अर्गलाके समान मोटी बाँहोंपर ताल ठोंक रहे थे ॥ २२½ ॥

तावापतन्तौ त्वरितौ प्रतिषिद्धौ वराननौ।
तेन मत्तेन नागेन चोद्यमानेन वै भृशम् ॥ २३ ॥

वे दोनों सुन्दर मुखवाले वीर बड़ी उतावलीके साथ रङ्गशालाकी ओर आ रहे थे, किंतु महावतके द्वारा अत्यन्त प्रेरित किये गये उस मतवाले गजराजने उन्हें सहसा रोक दिया ॥ २३ ॥

स मत्तहस्ती दुष्टात्मा कृत्वा कुण्डलिनं करम्।
चकार चोदितो यत्नं निहन्तुं बलकेशवौ ॥ २४ ॥

वह मदमत्त हाथी बड़ा ही दुष्ट था। महावतके हाँकनेपर उसने अपनी सूँड़को सिकोड़कर श्रीकृष्ण और बलरामको मार डालनेका प्रयत्न किया ॥ २४ ॥

ततः प्रहसितः कृष्णस्त्रास्यमानो गजेन वै।
कंसस्य तन्मतं चैव जगर्हे स दुरात्मनः ॥ २५ ॥

उस हाथीके त्रास देनेपर श्रीकृष्ण हँस पड़े और दुरात्मा कंसके उस मनसूबेकी निन्दा करने लगे ॥ २५ ॥

त्वरते खलु कंसोऽयं गन्तुं वैवस्वतक्षयम्।
यो मामनेन नागेन प्रधर्षयितुमिच्छति ॥ २६ ॥

वे बोले—'निश्चय ही जान पड़ता है कि यह कंस यमलोकमें जानेके लिये उतावला हो उठा है, इसीलिये इस हाथीके द्वारा वह मुझे कुचल देना चाहता है' ॥ २६ ॥

संनिकृष्टे ततो नागे गर्जमाने यथा घने।
सहसोत्पत्य गोविन्दश्चक्रे तालस्वनं प्रभुः ॥ २७ ॥

तदनन्तर मेघके समान गम्भीर गर्जना करता हुआ वह हाथी जब बहुत निकट आ गया, तब भगवान् गोविन्द सहसा उछलकर ताली पीटने लगे ॥ २७ ॥

क्ष्वेडितास्फोटितरवं कृत्वा नागस्य चाग्रतः।
करं ससीकरं तस्य प्रतिजग्राह वक्षसा ॥ २८ ॥

हाथीके सामने ही गर्जने और ताल ठोंकनेकी आवाज करके उन्होंने जलके फुहारे छोड़नेवाली उसकी सूँड़को अपनी छातीपर दबा लिया ॥ २८ ॥

विषाणान्तरगो भूत्वा पुनश्चरणमध्यगः।
बबाधे तं गजं कृष्णः पवनस्तोयदं यथा ॥ २९ ॥

फिर श्रीकृष्ण उसके दोनों दाँतोंके बीचसे होकर पैरोंके मध्यभागमें आ गये और जैसे हवा बादलको इधर-उधर उड़ाती रहती है, उसी प्रकार वे उस हाथीको सताने और व्याकुल करने लगे ॥ २९ ॥

स हस्ताग्राद् विनिष्क्रान्तो विषाणाग्राच्च दन्तिनः।
विमुक्तः पदमध्याच्च कृष्णो द्विपमपोथयत् ॥ ३० ॥

वे उस हाथीकी सूँड़के अग्रभागसे निकलकर, दाँतोंके भी अग्रभागसे बचकर तथा पैरोंके भी बीचसे छूटकर बाहर आ गये। फिर श्रीकृष्णने उस हाथीको पीछेसे ऊँचाईकी ओर खींचकर घसीटना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

सोऽतिकायस्तु सम्मूढो हन्तुं कृष्णमशक्नुवन्।
गजः स्वेष्वेव गात्रेषु मथ्यमानो ररास ह ॥ ३१ ॥

वह विशालकाय हाथी व्याकुल हो उठा और श्रीकृष्णको मारनेमें असफल हो अपने ही अङ्गोंमें मथित होता हुआ जोर-जोरसे चिग्घाड़ने लगा ॥ ३१ ॥

पपात भूमौ जानुभ्यां दशनाभ्यां तुतोद च।
मदं सुस्राव रोषाच्च घर्मापाये यथा घनः ॥ ३२ ॥

फिर तो वह दोनों घुटनोंके बल गिर पड़ा, दोनों दाँत भूमिसे टकरा जड़से हिल गये, जिससे उसको बड़ी व्यथा हुई। वह रोषसे मदकी धारा बहाने लगा, मानो पावसमें मेघ पानी बरसा रहा हो ॥ ३२ ॥

कृष्णस्तु तेन नागेन क्रीडित्वा शिशुलीलया।
निधनाय मतिं चक्रे कंसद्विष्टेन चेतसा ॥ ३३ ॥

श्रीकृष्णने उस हाथीके साथ बालकोंके समान खिलवाड़ करके कंसके प्रति मनमें द्वेष लेकर कुवलयापीडको मार डालनेका विचार किया ॥ ३३ ॥

स तस्य प्रमुखे पादं कृत्वा कुम्भादनन्तरम्।
दोर्भ्यां विषाणमुत्पाट्य तेनैव प्राहरत् तदा ॥ ३४ ॥

उन्होंने उसके ललाटमें कुम्भस्थलसे नीचे पैर लगाकर दोनों हाथोंसे एक दाँत उखाड़ लिया और उस समय उसीसे उसको पीटना आरम्भ किया ॥ ३४ ॥

स तेन वज्रकल्पेन स्वेन दन्तेन कुञ्जरः।
हन्यमानः शकृन्मूत्रं मुमोचार्तो ररास ह ॥ ३५ ॥

उस वज्रतुल्य दाँतसे पीटा जाता हुआ वह हाथी मल-मूत्र त्यागने और आर्तभावसे चीत्कार करने लगा ॥ ३५ ॥

कृष्णजर्जरिताङ्गस्य कुञ्जरस्यार्तचेतसः।
कटाभ्यामति सुस्राव वेगवद् भूरि शोणितम् ॥ ३६ ॥

श्रीकृष्णने जिसके अङ्गोंको पीट-पीटकर जर्जर बना दिया था, उस आर्तचित्त हाथीके दोनों गालोंसे वेगपूर्वक भूरि-भूरि रक्तकी धारा बहने लगी ॥ ३६ ॥

लाङ्गूलं चास्य वेगेन निश्चकर्ष हलायुधः।
शैलपृष्ठार्धसंलीनं वैनतेय इवोरगम् ॥ ३७ ॥

इधर बलरामजी उसकी पूँछ पकड़कर बड़े वेगसे खींचने लगे, मानो शिलापृष्ठमें आधे शरीरसे छिपे हुए किसी सर्पको गरुड़ खींच रहे हों ॥ ३७ ॥

तेनैव गजदन्तेन कृष्णो हत्वा तु दन्तिनम्।
जघानैकप्रहारेण गजारोहणमुल्वणम् ॥ ३८ ॥

हाथीको मारकर श्रीकृष्णने उसके उसी दाँतसे एक प्रहार करके मतवाले महावतको भी मौतके मुखमें डाल दिया ॥ ३८ ॥

सोऽऽर्तनादं महत् कृत्वा विदन्तो दन्तिनां वरः।
पपात समहामात्रो वज्रभिन्न इवाचलः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर दाँतवाले हाथियोंमें श्रेष्ठ वह कुवलयापीड दन्तहीन हो महान् आर्तनाद करके वज्रसे विदीर्ण हुए पर्वतके समान महावतसहित गिर पड़ा ॥ ३९ ॥

ततस्तौ तोरणाङ्गानि प्रगृह्य रणकर्कशौ।
गजस्य पादरक्षांश्च जघ्नतुः पुरुषर्षभौ ॥ ४० ॥

फिर उन दोनों पुरुषप्रवर रणकर्कश वीरोंने फाटकके खम्भे आदि लेकर हाथीके पादरक्षकोंको भी मार डाला ॥ ४० ॥

तांश्च हत्वा विविशतुर्मध्यं रङ्गस्य तावुभौ।
नासत्यावश्विनौ स्वर्गादवतीर्णाविवेच्छया ॥ ४१ ॥

उन सबका संहार करके वे दोनों भाई रङ्गस्थलमें प्रविष्ट हुए, मानो दोनों अश्विनीकुमार इच्छानुसार स्वर्गसे भूतलपर उतर आये हों ॥ ४१ ॥

वृष्ण्यन्धकाश्च भोजाश्च ददृशुर्वनमालिनौ।
क्ष्वेडितोत्कुष्टनादेन बाह्वोरास्फोटितेन च।
सिंहनादैश्च तालैश्च हर्षयामासतुर्जनम्॥ ४२॥

उस समय वृष्णि, अन्धक तथा भोजकुलके यादवोंने वनमालाधारी श्रीकृष्ण-बलरामको देखा। उन दोनों वीरोंने गर्जने, किलकारने, भुजाओंपर ताल ठोकने, सिंहोंके समान दहाड़ने और ताली पीटने आदिके द्वारा वहाँके जनसमुदायको हर्षसे उत्फुल्ल कर दिया॥ ४२॥

तौ दृष्ट्वा भोजराजस्तु विषसाद वृथामतिः।
पौराणामनुरागं च हर्षं चालक्ष्य भारत॥ ४३॥

भारत! व्यर्थ बुद्धिवाला भोजराज कंस उन दोनों भाइयोंको उपस्थित देख, उनके प्रति पुरवासियोंके अनुराग और हर्षको लक्ष्य करके विषादमें डूब गया॥ ४३॥

तं हत्वा पुण्डरीकाक्षो नदन्तं दन्तिनां वरम्।
अवतीर्णोऽर्णवाकारं समाजं सहपूर्वजः॥ ४४॥

इस प्रकार कमलनयन श्रीकृष्णने गरजते हुए गजश्रेष्ठ कुवलयापीडको मारकर अपने पूर्वज बलरामजीके साथ उस समुद्रके समान विशाल जनसमुदायमें प्रवेश किया॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि कुवलयापीडवधे एकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें कुवलयापीड़ हाथीका वधविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९॥

त्रिंशोऽध्यायः

रङ्गशालामें मल्लयुद्धके विषयमें श्रीकृष्णके विचार, श्रीकृष्ण और बलदेवके द्वारा चाणूर और मुष्टिक आदिका वध, कंसका संहार तथा पिता-माताके चरणोंमें प्रणाम करके दोनों भाइयोंका उनके घरमें जाना

वैशम्पायन उवाच

प्रविशन्तं तु वेगेन मारुतावल्गिताम्बरम्।
पूर्वजं पुरतः कृत्वा कृष्णं कमललोचनम्॥ १॥
गजदन्तकृतोल्लेखं सुभुजं देवकीसुतम्।
लीलाकृताङ्गदं वीरं मदेन रुधिरेण च॥ २॥
वल्गमानं यथा सिंहं व्यूहमानं यथा घनम्।
बाहुशब्दप्रहारेण चालयन्तं वसुंधराम्॥ ३॥
औग्रसेनिः समालोक्य दन्तिदन्तोद्यतायुधम्।
कृष्णं भृशायस्तमुखः सरोषं समुदैक्षत॥ ४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कमलनयन श्रीकृष्ण अपने बड़े भाई बलरामको आगे करके बड़े वेगसे रंगशालामें घुसे थे। उस समय उनके वस्त्र हवाके झोंकेसे फहरा उठे थे। हाथीका दाँत उनकी पहचान करानेवाला चिह्न या उपलक्षण बन गया था। उनकी भुजाएँ बड़ी सुन्दर थीं। देवकीनन्दन वीर श्रीकृष्णकी बाहोंमें हाथीके मद और रुधिर इस तरह लिपटे थे कि उनमें लीलापूर्वक अङ्गद (बाजूबंद) की रचना हो गयी थी। वे सिंहकी तरह उछलते तथा कंसवधकी युक्ति सोचते हुए आकाशमें बादलकी भाँति रंगशालामें विचर रहे थे। भुजाओंपर ताल ठोककर जब वे उसकी ध्वनि फैलाते थे, तब पृथ्वीको भी हिला देते थे। उन्हें हाथीके दाँतको ही आयुध रूपसे हाथमें लिये देख उग्रसेनकुमार कंस अत्यन्त मलिन हो गया और वह बड़े रोषमें भरकर उनकी ओर देखने लगा॥ १—४॥

भुजासक्तेन शुशुभे गजदन्तेन केशवः।
चन्द्रार्धबिम्बसंसक्तो यथैकशिखरो गिरिः॥ ५॥

अपने हाथमें सटे हुए उस गजदन्तसे सुशोभित होनेवाले श्रीकृष्ण अर्धचन्द्रके बिम्बसे संयुक्त हुए एक शिखरवाले पर्वतके समान जान पड़ते थे॥ ५॥

वल्गमाने तु गोविन्दे स कृत्स्नो रङ्गसागरः।
जनौघप्रतिनादेन पूर्यमाण इवाबभौ॥ ६॥

श्रीकृष्णके उछलते-कूदते आते ही वह समुद्र-जैसा सम्पूर्ण रंगस्थल जनसमुदायके हर्षनादसे परिपूर्ण हुआ-सा प्रतीत होने लगा॥ ६॥

ततः क्रोधामिताम्राक्षः कंसः परमकोपनः।
चाणूरमादिशद् युद्धे कृष्णस्य सुमहाबलम्॥ ७॥
अन्ध्रं मल्लं च निकृतिं मुष्टिकं च महाबलम्।
बलदेवाय सक्रोधो दिदेशाद्रिचयोपमम्॥ ८॥

तदनन्तर क्रोधसे लाल आँखें किये परम क्रोधी कंसने महाबली अन्ध्र मल्ल चाणूरको जो कपटयुद्ध करनेवाला था, श्रीकृष्णके साथ लड़नेका आदेश दिया और जिसका शरीर प्रस्तरसमूहके समान सुदृढ़ था, उस कपटी महाबली मुष्टिकको रोषमें भरे हुए कंसने बलदेवके साथ जूझनेकी आज्ञा दी॥ ७-८॥

कंसेनापि समाज्ञप्तश्चाणूरः पूर्वमेव तु।
योद्धव्यं सह कृष्णेन त्वया यत्नवतेति वै॥ ९॥

कंसने चाणूरको तो पहलेसे ही यह आज्ञा दे रखी थी, कि तुम्हें श्रीकृष्णके साथ यत्नपूर्वक युद्ध करना चाहिये ॥९॥

स रोषेण तु चाणूरः कषायीकृतलोचनः ।
अभ्यावर्तत युद्धार्थमपां पूर्णो यथा घनः ॥ १० ॥

अतः रोषसे लाल आँखें किये चाणूर युद्ध करनेके लिये श्रीकृष्णके निकट आया। उस समय वह जलसे भरे-पूरे मेघके समान जान पड़ता था ॥ १० ॥

अवघुष्टे समाजे तु निश्शब्दस्तिमिते जने ।
यादवाः सहितास्तत्र इदं वचनमब्रुवन् ॥ ११ ॥

राजाकी ओरसे शान्त रहनेकी घोषणा होते ही वहाँ-का सारा जनसमुदाय नीरव तथा निश्चल हो गया, तब वहाँ एक साथ बैठे हुए यादव इस प्रकार कहने लगे—॥११॥

बाहुयुद्धमिदं रंगे सप्राश्निकमकातरम् ।
क्रियाबलसमाज्ञातमशस्त्रं निर्मितं पुरा ॥ १२ ॥

'पूर्वकालमें विधाताने मल्लयुद्धके विषयमें यह नियम बनाया था कि यह युद्ध रङ्गस्थलके अखाड़ेमें केवल भुजाओंद्वारा हो । इसमें किसी प्रकारके अस्त्र-शस्त्रका प्रयोग न किया जाय। इसमे (दो व्यक्तियोंका जोड़ निश्चित करनेके लिये) कोई-न-कोई परीक्षक रहना चाहिये। इसमें कायर या डरपोकको सम्मिलित नहीं करना चाहिये। इसमें क्रिया (दाँव-पेंच आदि) और बल (शारीरिक शक्ति) के द्वारा ही विपक्षीको परास्त करनेकी आज्ञा दी गयी है ॥

अद्भिश्चातिश्रमो नित्यं विनेयः कालदर्शिभिः ।
करीषेण च मल्लस्य सततं सत्क्रिया स्मृता ॥ १३ ॥

'समयोचित कर्तव्यको देखने और समझनेवाले पुरुषोंको उचित है कि वे सदा योद्धाओंके लिये जल प्रस्तुत करके उनकी भारी थकावट दूर करें और गोबरका चूर्ण सुलभ करके पहलवानका सदा सत्कार करना चाहिये ॥ १३ ॥

स्थितो भूमिगतेनैव यो यथा मार्गतः स्थितः ।
संयुज्यतश्च पर्यायः प्राश्निकैः समुदाहृतः ॥ १४ ॥

'युद्धपरीक्षकोंने यह बताया है कि जो जिस मार्ग (दाँव-पेंच) से लड़े, उसके साथ उसीके अनुरूप दाँव लगाकर भूमिपर खड़े हुएके साथ खड़ा होकर ही लड़ना चाहिये और एक-एक योद्धाको क्रमशः एक-एकके साथ ही लड़ाना चाहिये॥ १४ ॥

बालो वा यदि वा वृद्धो मध्यो वापि कृशोऽपि वा ।
बलस्थो वा स्थितो रंगे ज्ञेयः कक्षान्तरेण वै ॥१५॥

'कोई बालक हो, वृद्ध हो, मध्य अवस्थाका हो, दुर्बल हो, अथवा बलवान् हो, वह यदि अखाड़ेमें उतरे तो उसके जोड़का विचार उसीकी कक्षाके लोगोंमेंसे ही करना चाहिये ॥ १५ ॥

बलतश्च क्रियातश्च बाहुयुद्धविधिर्युधि ।
निपातानन्तरं किंचिन्न कर्तव्यं विजानता ॥ १६ ॥

'शारीरिक बल और क्रिया (दाँव-पेंच) से ही बाहुयुद्ध करनेका विधान है। विज्ञ पुरुषको चाहिये कि प्रतिद्वन्द्वीको गिरा देनेके बाद उसके साथ और कुछ न करे ॥ १६ ॥

तदिदं प्रस्तुतं रंगे युद्धं कृष्णान्ध्रमल्लयोः ।
बालः कृष्णो महानन्ध्रः कथं न स्याद् विचारणा॥ १७ ॥

'इस समय रंगस्थलमे श्रीकृष्ण और अन्ध्र मल्ल चाणूर-का युद्ध प्रस्तुत है, परंतु इनमें श्रीकृष्ण तो अभी बालक हैं और यह चाणूर विशालकाय पहलवान है, इस विषमतापर विचार क्यों नहीं किया जाता ?' ॥ १७ ॥

ततः किलकिलाशब्दः समाजे समवर्तत ।
प्रावल्गत च गोविन्दो वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १८ ॥

यह सुनकर उस जनसमाजमे कोलाहल मच गया। तब भगवान् श्रीकृष्ण उछल पड़े और इस प्रकार बोले–॥१८॥

अहं बालो महानन्ध्रो वपुषा पर्वतोपमः ।
युद्धं ममानेन सह रोचते बाहुशालिना ॥ १९ ॥

'मैं बालक हूँ और यह महामल्ल अन्ध्र शरीरसे पर्वत-जैसा दिखायी देता है, तथापि इस बाहुशाली वीरके साथ मेरा युद्ध हो, यह मुझे पसंद है ॥ १९ ॥

युद्धव्यतिक्रमः कश्चिन्न भविष्यति मत्कृतः ।
न ह्यहं बाहुयोधानां दूषयिष्यामि यन्मतम् ॥ २० ॥

'मेरी ओरसे युद्धसम्बन्धी नियमका कोई उल्लङ्घन नहीं होगा। बाहुयुद्ध करनेवाले योद्धाओंका जो मत है, उसे मैं कलंकित नहीं करूँगा ॥ २० ॥

योऽयं करीषधर्मश्च तोयधर्मश्च रंगजः ।
कषायस्य च संसर्गः समयो ह्येष कल्पितः ॥ २१ ॥

'गोबरके चूर्णको उबटनके समान शरीरमें मलना, जल-से धोना और गेरूके रंगका लेपन करना रंगस्थल (अखाड़ेमें उतरनेवालों) का धर्म है, यह मल्लोंका बनाया हुआ आचार है ॥ २१ ॥

संयमः स्थिरता शौर्यं व्यायामः सत्क्रिया बलम् ।
रंगे च नियता सिद्धिरेतद् युद्धविदां मतम् ॥२२॥

'संयम (एक दूसरेको पीछे हटाना), स्थिरता (अपने स्थानसे न हटना), शौर्य, व्यायाम (स्थिर रहते हुए भी हाथ-पैर चलाना), सत्क्रिया (सद् बर्ताव—मर्मस्थानोंमें चोट न पहुँचाना),असद् व्यवहारसे बचते हुए भी अधिक-से-अधिक बल प्रकट करना, इन छः साधनोंके द्वारा रङ्गभूमिमे विजय-रूप सिद्धिका प्राप्त होना निश्चित है; यह मल्लयुद्धके विद्वानों-का मत है ॥ २२ ॥

अवैरमेवं यदयं सवैरं कर्तुमुद्यतः।
अत्र वै निग्रहः कार्यस्तोषयिष्याम्यहं जगत् ॥ २३ ॥

'यह (चाणूर अथवा कंस) इस वैररहित युद्धको भी वैरयुक्त कर देनेपर तुला हुआ है, अतः यहाँ इसका निग्रह करना आवश्यक है, ऐसा करके मैं सम्पूर्ण जगत्‌को संतुष्ट करूँगा ॥ २३॥

करूषेषु प्रसूतोऽयं चाणूरो नाम नामतः।
बाहुयोधी शरीरेण कर्मभिश्चात्र चिन्त्यताम् ॥ २४ ॥

'यह चाणूर नामक बाहुयोधी मल्ल करूष देशमें उत्पन्न हुआ है। इसके शरीर और कर्मसे जो घटनाएँ घटित हुई हैं, उनपर भी आपलोग विचार कर लें ॥ २४ ॥

एतेन बहवो मल्ला निपातानन्तरं हताः।
रङ्गप्रतापकामेन मल्लमार्गश्च दूषितः ॥ २५ ॥

'इसने रंगभूमिमें अपना प्रताप प्रकट करने या दबदबा जमानेकी इच्छासे बहुतेरे पहलवानोंको भूमिपर गिरानेके बाद मार डाला और इस प्रकार मल्ल-मार्गको कलंकित किया है ॥ २५ ॥

शस्त्रसिद्धिस्तु योधानां संग्रामे शस्त्रयोधिनाम्।
रङ्गसिद्धिस्तु मल्लानां प्रतिमल्लनिपातजा ॥ २६ ॥

'शस्त्रद्वारा युद्ध करनेवाले योद्धाओंके लिये संग्राममें शत्रुको विदीर्ण कर देना ही सिद्धि है, परंतु मल्लोंको प्रतिद्वन्द्वी मल्लको गिरा देनेमात्रसे ही रंगस्थलमें विजयरूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ २६ ॥

रणे विजयमानस्य कीर्तिर्भवति शाश्वती।
हतस्यापि रणे शस्त्रैर्नाकपृष्ठं विधीयते ॥ २७ ॥

'शस्त्रयुद्धमें विजय पानेवालेको अक्षय कीर्ति प्राप्त होती है। यदि वह रणक्षेत्रमें शस्त्रोंद्वारा मारा गया तो भी उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

रणे ह्युभयतः सिद्धिर्हतस्येह घ्नतोऽपि वा।
सा हि प्राणान्तिकी यात्रा महद्भिः साधुपूजिता ॥ २८ ॥

'शस्त्रयुद्धमें मारे जानेवालेको तथा मारनेवाले दोनोंको ही सिद्धि प्राप्त होती है, क्योंकि वह प्राणान्तक यात्रा है, जिसकी महान् पुरुषोंने भलीभाँति पूजा (प्रशंसा) की है ॥ २८ ॥

अयं तु मार्गो बलतः क्रियातश्च विनिःसृतः।
मृतस्य रङ्गे क्व स्वर्गो जयतो वा कुतो रतिः ॥ २९ ॥

'परंतु यह मल्ल-युद्धका मार्ग शारीरिक बल और दाँव-पेंचके कौशलसे प्रकट हुआ है। अखाड़ेमें मरनेवालेको कहाँ स्वर्ग मिलता है ? अथवा जीतनेवालेको कहाँका सुख प्राप्त होता है ? ॥ २९ ॥

ये तु केचित् स्वदोषेण राज्ञः पण्डितमानिनः।
प्रतापार्थं हता मल्ला मल्लहन्तुर्वधो हि सः ॥ ३० ॥

'किसी पण्डितमानी राजाका प्रताप बढ़ानेके लिये जो कोई भी मल्ल किसी पहलवानके द्वारा अपने अपराधसे मारे गये हैं, वहाँ उस मल्ल-हत्यारेको हत्याजनित पाप ही लगता है' ॥ ३० ॥

एवं संजल्पतस्तस्य ताभ्यां युद्धं सुदारुणम्।
उभाभ्यामभवद् घोरं वारणाभ्यां यथा वने ॥ ३१ ॥

जब श्रीकृष्ण ऐसा कह रहे थे, उसी समय उनमें और चाणूरमें—दोनोंमें ही अत्यन्त दारुण एवं भयानक युद्ध होने लगा, जैसे वनमें दो हाथी लड़ पड़ें ॥ ३१ ॥

कृतप्रतिकृतैश्चित्रैर्बाहुभिश्च सकण्टकैः।
संनिपातावधूतैश्च प्रमाथोन्मथनैस्तथा[1] ॥ ३२ ॥

उनमेंसे जब एक-दूसरेका कोई अङ्ग जोरसे दबाता, तब दूसरा तुरंत उसका प्रतीकार करता—उस अङ्गको उसकी पकड़से छुड़ा लेता था। दोनों एक-दूसरेके हाथोंको मुट्ठीसे पकड़कर विवश कर देते और विचित्र ढंगसे परस्पर प्रहार करते थे। दोनों ही एक-दूसरेको अपनी भुजाओंमें बाँधकर रोक लेते, कभी दोनों आपसमें गुँथ जाते और फिर धक्के देकर दूर हटा देते थे। कभी एक दूसरेको जमीनपर पटककर रगड़ता तो दूसरा नीचेसे ही कुलाँचकर ऊपरवालेको दूर फेंक देता, या लिये-दिये खड़ा हो अपने शरीरसे दबाकर उसके अङ्गोंको भी मथ डालता था ॥ ३२ ॥

तावुभावपि संश्लिष्टौ यथा शैलमयौ तथा।
क्षेपणैर्मुष्टिभिश्चैव वराहोद्धूतनिःस्वनैः ॥ ३३ ॥

वे दोनों ही एक-दूसरेसे सटकर ऐसे जान पड़ते थे, मानो दो पर्वत परस्पर भिड़ गये हों। कभी दोनों दोनोंको बलपूर्वक पीछे हटाते और मुक्कोंसे एक-दूसरेकी छातीपर चोट करते थे, कभी एकको दूसरा अपने कंधेपर उठा लेता और उसका मुँह नीचे कर घुमाकर पटक देता था, जिससे ऐसा शब्द होता, मानो किसी शूकरने चोट की हो ॥ ३३ ॥

कीलैर्वज्रनिपातैश्च प्रसृष्टाभिस्तथैव च।
शलाकानखपातैश्च पादोद्धूतैश्च दारुणैः ॥ ३४ ॥

---

१. प्रमाथ तथा उन्मथन आदि मल्ल-युद्धके दाँव-पेंचोंके नाम हैं। मल्ल-शास्त्रके अनुसार इनके लक्षण नीचे दिये जाते हैं। इनका भाव मूलश्लोकके अनुवादमें आ गया है—

निपात्य पेषणं भूमौ प्रमाथ इति कथ्यते।
यत् तूत्थायाङ्गमथनं तदुन्मथनमुच्यते ॥

२. क्षेपणं कथ्यते यत् तु स्थानात् प्रच्यावनं हठात् ॥

३. उभयोर्भुजयोर्मुष्टिरुरोमध्ये निपात्यते।
मुष्टिरित्युच्यते तज्ज्ञैर्मल्लविद्याविशारदैः ॥

४. अवाङ्मुखं स्कन्धगतं भ्रामयित्वा तदैव यः।
क्षिप्तस्य शब्दः स भवेद् वराहोद्धूतनिःस्वनः ॥

५. अङ्गुल्यः प्रसृतायास्तु ताः प्रसृष्टा उदीरिताः ॥

कभी वे दोनों योधा एक-दूसरेके शरीरपर कोहनियों और घुटनोंसे चोट करते थे, कभी हाथकी अँगुलियोंको फैलाकर एक दूसरेको पीटते थे, कभी आपसमें पंजे लड़ाते थे, कभी रोषपूर्वक अँगुलियोंके नखोंसे बकोट लेते थे, कभी पैरोंमें उलझाकर दोनों दोनोंको गिरा देते। इस प्रकार भयंकर दाँव-पेंचका प्रयोग करते थे ॥ ३४ ॥

जानुभिश्चाश्मनिर्घोषैः शिरोभ्यां चावघट्टितैः।
तद् युद्धमभवद् घोरमशस्त्रं बाहुतेजसा ॥ ३५ ॥
बलप्राणेन शूराणां समाजोत्सवसंनिधौ।
अरज्यत जनः सर्वः सोत्कृष्टनिनदोत्थितः ॥ ३६ ॥

कभी घुटनों और सिरसे टक्कर मारते थे, जिससे पत्थरोंके टकरानेके समान शब्द होता था। जनसमुदायके समक्ष किये जानेवाले उस उत्सवमें शूरवीरोंके निकट उन दोनोंमें केवल बाहुबल, शारीरिक बल तथा प्राणबलसे किसी अस्त्र-शस्त्रके बिना ही बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। उस युद्धके रंगमें सब लोग रँग गये। सभी दर्शक विजेताका उत्साह बढ़ानेके लिये जोर-जोरसे हर्षनाद कर उठते थे ॥ ३५-३६ ॥

साधुवादांश्च मञ्चेषु घोषयन्त्यपरे जनाः।
ततः प्रस्विन्नवदनः कृष्णप्रणिहितेक्षणः।
न्यवारयत तूर्याणि कंसः सव्येन पाणिना ॥ ३७ ॥

दूसरे लोग मञ्चोंपर बैठे-बैठे ही 'साधु-साधु' (बहुत अच्छा, बहुत अच्छा) की घोषणा करते थे। यह सब देख-सुनकर कंसके वदनसे पसीना छूटने लगा। उसकी आँखें श्रीकृष्णकी ओर ही लगी थीं। उसने बायें हाथसे संकेत करके बाजे बंद करा दिये ॥ ३७ ॥

प्रतिषिद्धेषु तूर्येषु मृदङ्गादिषु तेषु वै।
खे संगतान्यवाद्यन्त देवतूर्याण्यनेकशः ॥ ३८ ॥

कंसने जब मृदङ्ग आदि वाद्योंका बजाना रोक दिया, तब आकाशमें देवताओंके अनेक प्रकारके वाद्य स्वतः एक साथ बज उठे ॥ ३८ ॥

युद्ध्यमाने हृषीकेशे पुण्डरीकनिभेक्षणे।
स्वयमेव प्रवाद्यन्त तूर्यघोषास्तु सर्वशः ॥ ३९ ॥

कमलनयन श्रीकृष्णके युद्ध करते समय सब प्रकारके वाद्य स्वयं ही बजने लगे और उनकी ध्वनि सब ओर छा गयी॥

अन्तर्धानगता देवा विमानैः कामरूपिभिः।
चेरुर्विद्याधरैः सार्द्धं कृष्णस्य जयकाङ्क्षिणः ॥ ४० ॥

देवता अदृश्य होकर श्रीकृष्णकी विजय चाहते हुए अपने कामरूपी विमानोंद्वारा विद्याधरगणोंके साथ वहाँ आकाशमें विचर रहे थे ॥ ४० ॥

जयस्व कृष्ण चाणूरं दानवं मल्लरूपिणम्।
इति सप्तर्षयः सर्वे ऊचुश्चैव नभोगताः ॥ ४१ ॥

समस्त सप्तर्षि वहाँके आकाशमें स्थित हो कहने लगे—'श्रीकृष्ण! तुम्हें इस मल्लरूपधारी दानव चाणूरपर विजय प्राप्त हो' ॥ ४१ ॥

चाणूरेण चिरं कालं क्रीडित्वा देवकीसुतः।
बलमाहारयामास कंसस्याभावदर्शिवान् ॥ ४२ ॥

कंसकी मृत्युको समीप देखनेवाले देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने चाणूरके साथ चिरकालतक युद्धकी लीला करके अपनेमें अनन्त बलका समावेश किया ॥ ४२ ॥

ततश्चचाल वसुधा मञ्चाश्चैव जुघूर्णिरे।
मुकुटाच्चापि कंसस्य पपात मणिरुत्तमः ॥ ४३ ॥

फिर तो धरती डोलने लगी। वहाँ बिछे हुए मञ्च घूमने लगे और कंसके मुकुटसे भी उत्तम मणि गिर पड़ी ॥ ४३ ॥

दोर्भ्यामानम्य कृष्णस्तु चाणूरं शीर्णजीवितम्।
प्राहरन्मुष्टिना मूर्ध्नि वक्षस्याहत्य जानुना ॥ ४४ ॥

चाणूरकी जीवनीशक्ति अथवा आयु क्षीण हो चुकी थी। श्रीकृष्णने अपनी दोनों भुजाओंसे चाणूरको झुकाकर उसकी छातीमें घुटनेसे चोट करके उसके मस्तकपर मुक्केसे प्रहार किया ॥ ४४ ॥

निःसृते साश्रुरुधिरे तस्य नेत्रे सबन्धने।
तापनीये यथा घण्टे कक्षोपरि विलम्बिते ॥ ४५ ॥

इससे स्नायु-बन्धन तथा आँसू और रक्तके साथ उसकी दोनों आँखें बाहर निकल आयीं और ऐसी दिखायी देने लगीं मानो हाथीको कसनेवाली रस्सी या जंजीरमें दो सोनेकी घंटियाँ लटक रही हों ॥ ४५ ॥

पपात स तु रङ्गस्य मध्ये निःसृतलोचनः।
चाणूरो विगतप्राणो जीवितान्ते महीतले ॥ ४६ ॥

आँखें निकल जानेपर जीवनके अन्तमें प्राणशून्य हुआ चाणूर अखाड़ेके बीचमें गिर पड़ा ॥ ४६ ॥

देहेन तस्य मल्लस्य चाणूरस्य गतायुषः।
संनिरुद्धो महारङ्गः स शैलेनेव लक्ष्यते ॥ ४७ ॥

जिसकी आयु समाप्त हो गयी थी, उस चाणूर मल्लके शरीरसे वह विशाल रंगस्थल इस प्रकार अवरुद्ध दिखायी देता था, मानो किसी पर्वतसे रुँध गया हो ॥ ४७ ॥

रौहिणेयो हते तस्मिंश्चाणूरे बलदर्पिते।
जग्राह मुष्टिकं रंगे कृष्णस्तोशलकं पुनः ॥ ४८ ॥

बलाभिमानी चाणूरके मारे जानेपर रोहिणीनन्दन बलरामने उस रंगभूमिमें मुष्टिकको पकड़ लिया तथा श्रीकृष्णने पुनः तोशलको धर दबाया ॥ ४८ ॥

सन्निपाते तु तौ मल्लौ प्रथमे क्रोधमूर्च्छितौ।
समेयातां रामकृष्णौ कालस्य वशवर्तिनौ।
निर्घातावनतौ भूत्वा रङ्गमध्ये ववल्गतुः ॥ ४९ ॥

युद्ध आरम्भ होनेपर पहले तो कालके अधीन हुए वे दोनों असुर मल्ल क्रोधसे मूर्च्छित हो बलराम और श्रीकृष्णसे भिड़ गये, परंतु जब उन दोनों वीरोंकी मार पड़ी, तब वे सिर झुकाकर अखाड़ेमें इधर-उधर उछल-कूद मचाने लगे ॥

कृष्णस्तोशलमुद्यम्य गिरिशृङ्गोपमं बली।
भ्रामयित्वा शतगुणं निष्पिपेष महीतले ॥ ५० ॥

बलवान् श्रीकृष्णने पर्वतशिखरके समान विशालकाय तोशलको दोनों हाथोंसे उठा लिया और सौ बार घुमानेके बाद पृथ्वीपर पटककर उसे पीस डाला ॥ ५० ॥

तस्य कृष्णाभिपन्नस्य पीडितस्य बलीयसः।
मुखाद् रुधिरमत्यर्थमुज्जगाम मुमूर्षतः ॥ ५१ ॥

श्रीकृष्णके द्वारा आक्रान्त एवं पीड़ित होकर मरणासन्न हुए उस महाबली मल्लके मुखसे बहुत अधिक रक्त निकलने लगा ॥ ५१ ॥

संकर्षणस्तु सुचिरं योधयित्वा महाबलः।
अन्ध्रमल्लं महामल्लो मण्डलानि व्यदर्शयत् ॥ ५२ ॥

इधर महाबली महामल्ल संकर्षण आन्ध्रदेशीय मल्ल मुष्टिकके साथ देरतक युद्ध करके उसे कुश्तीके अनेक पैंतरे दिखाने लगे ॥ ५२ ॥

मुष्टिनैकेन तेजस्वी साशनिस्तनयित्नुना।
शिरस्यभ्यहनद् वीरो वज्रेणेव महागिरिम् ॥ ५३ ॥

फिर उन तेजस्वी वीरने उसके मस्तकपर एक मुक्का मारा। उससे वज्रपातके समान शब्द हुआ। मानो किसी महान् पर्वतपर वज्रसे आघात किया गया हो ॥ ५३ ॥

स निष्पतितमस्तिष्को विस्रस्तनयनो भुवि।
पपात निहतस्तेन ततो नादो महानभूत् ॥ ५४ ॥

इससे उसका मस्तक फटकर गिर पड़ा, आँखें निकल आयीं और बलरामजीके द्वारा मारा गया वह मल्ल पृथ्वीपर गिर पड़ा। उस समय बड़े जोरसे धमाकेका शब्द हुआ ॥

अन्ध्रतोशलकौ हत्वा कृष्णसंकर्षणावुभौ।
क्रोधसंरक्तनयनौ रंगमध्ये ववल्गतुः ॥ ५५ ॥

आन्ध्र-देशीय मुष्टिक और तोशल इन दोनोंको मारकर श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाई क्रोधसे लाल आँखें किये अखाड़ेमें उछलने-कूदने लगे ॥ ५५ ॥

समाजवाटो निर्मल्लः सोऽभवद् भीमदर्शनः।
अन्ध्रे तदा महामल्ले मुष्टिके च निपातिते ॥ ५६ ॥

उस समय महामल्ल चाणूर और मुष्टिकके मारे जानेपर वह समाजवाट (रंगभवन) मल्लोंसे सूना हो गया और अत्यन्त भयंकर दिखायी देने लगा ॥ ५६ ॥

ये च सम्प्रेक्षका गोपा नन्दगोपपुरोगमाः।
भयक्षोभितसर्वाङ्गाः सर्वे तत्रावतस्थिरे ॥ ५७ ॥

नन्द आदि जो-जो गोप यह सब देख रहे थे, उनके सारे अङ्ग भयसे क्षुब्ध हो उठे थे। वे सब लोग वहाँ चुपचाप बैठे रहे ॥ ५७ ॥

हर्षजं वारि नेत्राभ्यां वर्षमाणा प्रवेपती।
प्रस्नवोत्पीडिता कृष्णं देवकी समुदैक्षत ॥ ५८ ॥

उधर देवकी थर-थर काँपती और दोनों नेत्रोंसे हर्ष-जनित आँसुओंकी वर्षा करती हुई स्तनोंमें दूधकी बाढ़ आ जानेसे पीड़ित हो श्रीकृष्णकी ओर देख रही थी ॥ ५८ ॥

कृष्णदर्शनजातेन बाष्पेणाकुलितेक्षणः।
वसुदेवो जरां त्यक्त्वा स्नेहेन तरुणायते ॥ ५९ ॥

श्रीकृष्ण-दर्शनजनित आँसुओंसे भरे हुए नेत्रोंवाले वसुदेवजी मानो अपनी वृद्धावस्था त्यागकर वात्सल्य-स्नेहसे परिपुष्ट हो तरुण हो रहे थे ॥ ५९ ॥

वारमुख्याश्च ताः सर्वाः कृष्णस्य मुखपङ्कजम्।
पपुर्हि नेत्रभ्रमरैर्निमेषान्तरगामिभिः ॥ ६० ॥

वहाँ जो मुख्य-मुख्य वाराङ्गनाएँ उपस्थित थीं, वे सब-की-सब निमेषके भीतर चलनेवाले नेत्ररूपी भ्रमरोंद्वारा श्रीकृष्णके मुखारविन्दका रस पान करने लगीं ॥ ६० ॥

कंसस्याथ मुखे स्वेदो भ्रूभेदान्तरगोचरः।
अभवद् रोषनिर्यासः कृष्णसंदर्शनेरितः ॥ ६१ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णको देखनेसे कंसके मुखमें दोनों भौंहोंके बीच रोषवश पसीना निकल आया ॥ ६१ ॥

केशवाय सधूमेन रोषनिश्वासवायुना।
दीप्तमन्तर्गतं तस्य हृदयं मानसाग्निना ॥ ६२ ॥

श्रीकृष्णके प्रति कंस जो कठोरता प्रकट करता था, वही जिसका धुआँ था तथा रोषरूपी उच्छ्वास-वायु जिसे प्रज्वलित कर रही थी, उस मानसिक चिन्तारूपी आगने कंसके आन्तरिक हृदयको जलाना आरम्भ किया ॥ ६२ ॥

तस्य प्रस्फुरितौष्ठस्य स्विन्नालिकतलस्य वै।
कंसवक्त्रस्य रोषेण रक्तसूर्यायते वपुः ॥ ६३ ॥

जिसके ओठ फड़क रहे थे और ललाटमे पसीना निकल आया था, कंसके उस मुखमण्डलका स्वरूप रोषके कारण लाल सूर्यके समान प्रतीत होता था ॥ ६३ ॥

क्रोधरक्तान्मुखात्तस्य निःसृताः स्वेदबिन्दवः।
यथा रविकरस्पृष्टा वृक्षावश्यायबिन्दवः ॥ ६४ ॥

क्रोधसे लाल हुए कंसके मुखसे जो पसीनेकी बूँदें निकली थीं, वे वृक्षोंके पत्तोंपर पड़े हुए उन ओसकणोंके समान सुशोभित होती थीं, जिन्हे सूर्यकी किरणोंका स्पर्श प्राप्त हुआ हो॥

सोऽज्ञापयत संक्रुद्धः पुरुषान् व्यायतान् बहून्।
गोपावेतौ समाजौघान्निष्क्राम्येतां वनेचरौ ॥ ६५ ॥

उसने अत्यन्त कुपित होकर बहुत-से व्यायामशाली पुरुषोंको आज्ञा दी कि 'इन दोनों वनेचर गोपोंको इस जन-समुदायसे बाहर निकाल दो ॥ ६५ ॥

न चैतौ द्रष्टुमिच्छामि विकृतौ पापदर्शनौ ।
गोपानामपि मे राज्ये न कश्चित्स्थातुमर्हति ॥ ६६ ॥

'ये दोनों विकृत हो गये हैं। इन्हें देखना भी पाप है। मैं इनकी ओर दृष्टिपात करना नहीं चाहता। गोपोंमेंसे भी कोई मेरे इस राज्यमें नहीं रह सकता ॥ ६६ ॥

नन्दगोपश्च दुर्मेधाः पापेष्वभिरतो मम ।
आयसैर्निगडाकारैर्लोहपाशैर्निगृह्यताम् ॥ ६७ ॥

'खोटी बुद्धिवाला नन्दगोप सदा मेरे प्रति कपटपूर्ण बर्तावोंमें ही तत्पर रहा है, अतः इसे लोहेकी बेड़ियों और हथकड़ियोंमें बाँधकर कैद कर लो ॥ ६७ ॥

वसुदेवश्च दुर्वृत्तो नित्यं द्वेषकरो मम ।
अवृद्धार्हेण दण्डेन क्षिप्रमद्यैव शास्यताम् ॥ ६८ ॥

'दुराचारी वसुदेव सदा मुझसे द्वेष रखता है। इसे आज ही शीघ्र-से-शीघ्र ऐसा कठोर दण्ड दो, जो अवृद्ध (नौजवान) पुरुषोंके योग्य हो ॥ ६८ ॥

ये चेमे प्राकृता गोपा दामोदरपरायणाः ।
ह्रियन्तां गाव एतेषां यच्चास्ति वसु किंचन ॥ ६९ ॥

'ये जो दामोदरका आश्रय लेकर रहनेवाले गँवार गोप हैं, इन सबकी गौओंको तथा इनके पास जो कुछ धन हो, उसको भी छीन लो' ॥ ६९ ॥

एवमाज्ञापयानं तं कंसं परुषभाषिणम् ।
ददर्शायस्तनयनः कृष्णः सत्यपराक्रमः ॥ ७० ॥

इस तरह आज्ञा देते और कठोर बातें कहते हुए उस कंसकी ओर सत्यपराक्रमी श्रीकृष्णने आँखें फाड़कर देखा ॥

क्षिप्ते पितरि चुक्रोध नन्दगोपे च केशवः ।
ज्ञातीनां च व्यथां दृष्ट्वा विसंज्ञां चैव देवकीम् ॥ ७१ ॥
स सिंह इव वेगेन केशवो जातविक्रमः ।
आरुरुक्षुर्महाबाहुः कंसनाशार्थमच्युतः ॥ ७२ ॥
रङ्गमध्यादुत्पपात कृष्णः कंसासनान्तिकम् ।
असज्जद् वायुनाऽऽक्षिप्तो यथा खस्थो घनाघनः ॥ ७३ ॥

पिता वसुदेव तथा नन्दगोपपर आक्षेप होते ही केशव कुपित हो उठे। उन्होंने बन्धु-बान्धवोंकी व्यथा और माता देवकीकी अचेत अवस्था देखकर कंसका विनाश करनेके लिये उसके मञ्चपर चढ़नेका विचार किया। उस समय केशवका पराक्रम जाग उठा और अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण उस रंगस्थलसे सिंहके समान वेगपूर्वक उछले और कंसके सिंहासनके पास जा पहुँचे, ठीक उसी तरह जैसे आकाशवर्ती महामेघ वायुसे फेंका जाकर दूर पहुँच जाता है ॥ ७१—७३ ॥

ददृशुर्न हि तं सर्वे रङ्गमध्यादवप्लुतम् ।
केवलं कंसपार्श्वस्थं ददृशुः पुरवासिनः ॥ ७४ ॥

वे कब अखाड़ेसे कूदे हैं, इसका सब लोगोंने नहीं देखा। पुरवासियोंको वे केवल कंसके पास खड़े दिखायी दिये ॥ ७४ ॥

सोऽपि कंसस्तथाऽऽयस्तः परीतः कालधर्मणा ।
आकाशादिव गोविन्दं मेने तत्रागतं प्रभुम् ॥ ७५ ॥

कालधर्म (मौत) से घिरा हुआ कंस भी व्याकुल हो उठा और उसने यही समझा कि भगवान् गोविन्द आकाशसे ही मेरे पास उतर आये हैं ॥ ७५ ॥

स कृष्णेनायतं कृत्वा बाहुं परिघसंनिभम् ।
मूर्धजेषु परामृष्टः कंसो वै रङ्गसंसदि ॥ ७६ ॥

श्रीकृष्णने अपनी परिघ-जैसी मोटी एक बाँह बढ़ाकर रंगशालामें कंसकी चोटी पकड़ ली ॥ ७६ ॥

मुकुटश्चापतत् तस्य काञ्चनो वज्रभूषितः ।
शिरसस्तस्य कृष्णेन परामृष्टस्य पाणिना ॥ ७७ ॥

उस समय श्रीकृष्णके हाथसे पकड़े गये कंसके सिरसे उसका वज्रमणिसे विभूषित सुवर्णमय मुकुट खिसककर गिर पड़ा ॥ ७७ ॥

स ग्रहग्रस्तकेशश्च कंसो निर्यत्नतां गतः ।
तथैव च विसम्मूढो वैकल्यं समपद्यत ॥ ७८ ॥

जैसे किसी ग्रहने केश पकड़ लिये हों, उस अवस्थामें पड़ा हुआ कंस निश्चेष्ट हो गया तथा किंकर्तव्यविमूढ़ हो व्याकुलतामें पड़ गया ॥ ७८ ॥

निगृहीतश्च केशेषु गतासुरिव निःश्वसन् ।
न शशाक मुखं द्रष्टुं कंसः कृष्णस्य वै तदा ॥ ७९ ॥

केश पकड़ लिये जानेपर कंस मुर्दा-सा हो गया। वह लंबी साँस लेता हुआ उस समय कृष्णके मुखकी ओर दृष्टि न डाल सका ॥ ७९ ॥

विकुण्डलाभ्यां कर्णाभ्यां छिन्नहारेण वक्षसा ।
प्रलम्बाभ्यां च बाहुभ्यां गात्रैर्विस्रुतभूषणैः ॥ ८० ॥
भ्रंशितेनोत्तरीयेण सहसावलिताननः ।
चेष्टमानः समाक्षिप्तः कंसः कार्ष्णेन तेजसा ॥ ८१ ॥

उसके कानोंसे कुण्डल खिसक गये। वक्षःस्थलका हार छिन्न-भिन्न हो गया। दोनों भुजाएँ लटक गयीं। सारे अङ्गोंके आभूषण गिर गये। चादर खिसक गयी और उसने सहसा उसके कण्ठको आवेष्टित कर लिया। श्रीकृष्णके अनुपम तेजसे झटकेके साथ नीचे डाला गया कंस पृथ्वीपर गिरकर छटपटाने लगा ॥ ८०-८१ ॥

चकर्ष च महारङ्गे मञ्चान्निष्क्रम्य केशवः ।
केशेषु तं बलाद् गृह्य कंसं क्लेशार्हतां गतम् ॥ ८२ ॥

उस समय श्रीकृष्ण मञ्चसे निकलकर बाहर आ गये। कंस क्लेशयुक्त शोचनीय अवस्थामें पड़ गया था। श्रीकृष्ण पुनः बलपूर्वक उसके सिरके बाल पकड़कर उस महान् रंगस्थलमें उसे घसीटने लगे॥ ८२॥

कृष्यमाणः स कृष्णेन भोजराजो महाद्युतिः।
समाजवाटे परिखां देहकृष्टां चकार ह॥ ८३॥

श्रीकृष्णके द्वारा घसीटे जाते हुए महातेजस्वी भोजराज कंसने उस रंगशालामें अपनी देहकी रगड़से खाई-सी बना दी॥

समाजवाटे क्रीडित्वा विकृष्य च गतायुषम्।
कृष्णो विसर्जयामास कंसदेहमदूरतः॥ ८४॥

रंगशालामें खिलवाड़ करते हुए घसीटकर निर्जीव हुए कंसके शरीरको श्रीकृष्णने पास ही छोड़ दिया॥ ८४॥

धरण्यां मृदितः शिश्ये तस्य देहः सुखोचितः।
क्रमेण विपरीतेन पांसुभिः परुषीकृतः॥ ८५॥

उसका जो शरीर सुख भोगनेके योग्य था, वह मर्दित होकर पृथ्वीपर सो गया। शूरवीरोंके लिये अयोग्य विपरीत विधिसे धूलमें सनकर वह कोमल अङ्ग कठोर हो गया॥८५॥

तस्य तद् वदनं श्यामं सुताक्षं मुकुटं विना।
न विभाति विपर्यस्तं विपलाशं यथाम्बुजम्॥ ८६॥

गर्दन टूट जानेसे उसका शरीर अस्त-व्यस्त हो गया था। उसके नेत्र बंद हो गये थे तथा उसका श्याम मुख मुकुटके बिना दलरहित कमलके समान सुशोभित नहीं हो रहा था॥८६॥

असंग्रामहतः कंसः स बाणैरपरिक्षतः।
केशग्रहाद्विनिरस्तासुर्वीरमार्गान्निराकृतः॥ ८७॥

कंस बिना युद्धके मारा गया था। उसके शरीरपर बाणोंसे घाव नहीं होने पाया था। उसको केश पकड़कर घसीटा गया था, इस अवस्थामें उसके प्राण निकले और वह वीरोचित मार्गसे भ्रष्ट हो गया॥ ८७॥

तस्य देहे प्रकाशन्ते सहसा केशवार्पिताः।
मांसच्छेदघनाः सर्वे नखाग्रा जीवितच्छिदः॥ ८८॥

उसके शरीरमें श्रीकृष्णद्वारा सहसा गड़ाये गये उनके सभी नखाग्र कंसके जीवनका उच्छेद करके प्रकाशित हो रहे थे। वे उसके मांसको छेद-छेदकर सघन रूपसे वहाँ अङ्कित हो गये थे॥ ८८॥

तं हत्वा पुण्डरीकाक्षः प्रहर्षाद् द्विगुणप्रभः।
ववन्दे वसुदेवस्य पादौ निहतकण्टकः॥ ८९॥

उसका वध करके कमलनयन श्रीकृष्णको इतना अपार हर्ष हुआ कि उनके अङ्गोंकी प्रभा द्विगुण दीप्तिसे प्रकाशित हो उठी। उन्होंने जगत्के लिये कण्टकरूप कंसका विनाश करके पिता वसुदेवके दोनों चरणोंमें प्रणाम किया॥ ८९॥

मातुश्च शिरसा पादौ निपीड्य यदुनन्दनः।
सासिञ्चत् प्रस्रवोत्पीडैः कृष्णमानन्दनिःसृतैः॥ ९०॥

तत्पश्चात् यदुनन्दन श्रीकृष्णने माताके दोनों चरणोंमें अपना मस्तक रखकर उनकी वन्दना की। उस समय देवकी आनन्दातिरेकसे निकले हुए अपने स्तनोंके दूधसे उन्हें सींचने लगी॥ ९०॥

यादवांश्चैव तान् सर्वान् यथास्थानं यथावयः।
पप्रच्छ कुशलं कृष्णो दीप्यमानः स्वतेजसा॥ ९१॥

तदनन्तर अपने तेजसे उद्दीप्त हुए श्रीकृष्णने वय और स्थितिके अनुसार उन समस्त यादवोंकी कुशल पूछी॥९१॥

बलदेवोऽपि धर्मात्मा कंसभ्रातरमूर्जितम्।
बाहुभ्यामेव तरसा सुनामानमपोथयत्॥ ९२॥

इधर धर्मात्मा बलदेवने भी कंसके ओजस्वी भ्राता सुनामाको अपनी दोनों भुजाओंद्वारा ही वेगपूर्वक मार गिराया॥ ९२॥

तौ जितारी जितक्रोधौ चिरविप्रोषितौ व्रजे।
स्वपितुर्भवनं वीरौ जग्मतुर्हृष्टमानसौ॥ ९३॥

शत्रु और क्रोध दोनोंको जीतकर व्रजमें चिरकालतक रहे हुए वे दोनों वीर मन-ही-मन हर्ष और उल्लाससे भरकर अपने पिताके भवनमें गये॥ ९३॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि कंसवधे त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें कंसवधविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

कंसकी स्त्रियों और माताका विलाप

वैशम्पायन उवाच

भर्तारं पतितं दृष्ट्वा क्षीणपुण्यमिव ग्रहम्।
कंसपत्न्यो हतं कंसं समन्तात् पर्यवारयन्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जिसका पुण्य क्षीण हो गया हो, उस ग्रहके समान भूमिपर गिरे हुए पतिको देखकर राजा कंसकी पत्नियाँ उसके मृतक शरीरको सब ओरसे घेरकर बैठ गयीं॥ १॥

तं महीशयने सुप्तं क्षितिनाथं गतायुषम्।
भार्याः स दृष्ट्वा शोचन्ति मृग्यो मृगपतिं यथा॥ २॥

जो कभी पृथ्वीके स्वामी और संरक्षक थे, वे ही पतिदेव आयु समाप्त होनेपर भूमिमयी शय्यापर सो रहे हैं, यह देख राजा कंसकी रानियाँ उसके लिये उसी तरह शोक करने लगीं, जैसे हरिणियाँ यूथपति हरिणके लिये शोकमग्न हो जाती हैं ॥

हा हताः स्म महाबाहो हताशा हतबान्धवाः ।
वीरपत्न्यो हते वीरे त्वयि वीरव्रतप्रिये ॥ ३ ॥

(वे विलाप करती हुई कहने लगीं—) 'हाय ! महाबाहु वीर ! आपको वीरव्रत प्रिय था । आपके मारे जानेपर हम सब वीर-पत्नियाँ मारी गयीं । हमारी आशाओंकी हत्या हो गयी । हमारे बन्धु-बान्धव भी (अनाथ होनेके कारण) मारे ही गये ! ॥ ३ ॥

इमामवस्थां पश्यन्त्यः पश्चिमां तव नैष्ठिकीम् ।
कृपणं राजशार्दूल विलपामः सबान्धवाः ॥ ४ ॥

'राजशिरोमणे ! आपकी मृत्युसम्बन्धिनी इस अन्तिम अवस्थाको देखती हुई हम सब (आपकी पत्नियाँ) अपने बान्धवोंसहित दीनतापूर्ण विलाप कर रही हैं ॥ ४ ॥

छिन्नमूलाः स्म संवृत्ताः परित्यक्तास्त्वया विभो ।
त्वयि पञ्चत्वमापन्ने नाथेऽस्माकं महाबले ॥ ५ ॥

'प्रभो ! आप हमारे महाबली प्राणनाथ थे, आपके मारे जानेसे हमारी तो जड़ कट गयी । हाय ! आपने हमें त्याग दिया ! ॥ ५ ॥

को नः कोपपरीताङ्गी रतिसंसर्गलालसाः ।
लता इव विचेष्टन्तीः शयनीयानि नेष्यति ॥ ६ ॥

'हा प्राणाधार ! हम मनमें रतिसंसर्गकी लालसा रखकर भी (मानावस्थामें) प्रणयकोपसे युक्त हो जब पृथ्वीपर लताओंकी भाँति लोटकर विपरीत चेष्टा करने लगतीं,उस समय आप हमें प्रेमपूर्वक मनाकर शय्याओंपर सुलाते थे । अब हमें कौन इस तरह उठाकर सेजोंतक ले जायगा ? ॥ ६ ॥

इदं तेऽसदृशं सौम्य हृद्यनिःश्वासमारुतम् ।
दहत्यर्को मुखं कान्तं निस्तोयमिव पङ्कजम् ॥ ७ ॥

'सौम्य ! जिससे मनोरम निःश्वास वायु निकला करती थी, आपके उस कान्तिमान् मुखको सूर्य जलरहित (तालाबमें उगे हुए) कमलकी भाँति अपनी दुःसह किरणोंसे दग्ध कर रहे हैं । यह दुरवस्था आपके योग्य नहीं है ॥ ७ ॥

इमे ते श्रवणे शून्ये न शोभेते विकुण्डले ।
शिरोधरायां संलीने सततं कुण्डलप्रिये ॥ ८ ॥

'ये आपके कुण्डलरहित सूने कान, जिन्हें सदा ही कुण्डल धारण करना प्रिय रहा है, इस समय कण्ठमें विलीन होकर शोभा नहीं पा रहे हैं ॥ ८ ॥

क्व ते स मुकुटो वीर सर्वरत्नविभूषितः ।
अत्यर्थं शिरसो लक्ष्मीं यो दधारार्कसप्रभाम् ॥ ९ ॥

'वीर ! सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित आपका वह मुकुट कहाँ है, जो आपके मस्तकपर सूर्यकी प्रभाके समान अतिशय शोभाका आधान करता था ! ॥ ९ ॥

अनेन हि कलत्रेण तवान्तःपुरशोभिना ।
कथं दीनेन कर्तव्यं त्वयि लोकान्तरं गते ॥ १० ॥

'प्राणनाथ ! आपकी ये रानियाँ जो अन्तःपुरकी शोभा बढ़ाती थीं, आपके लोकान्तरमें चले जानेसे अब दीन और अनाथ होकर कैसे निर्वाह करेंगी ॥ १० ॥

ननु नाम स्त्रियः साध्व्यः प्रियभोगेष्ववञ्चिताः ।
पतीनामपरित्याज्याः स त्वं नस्त्यज्य गच्छसि ॥ ११ ॥

'नाथ ! सुना था, साध्वी स्त्रियाँ न तो प्रिय भोगोंसे कभी वञ्चित होती हैं और न उनके पति उनका परित्याग ही करते हैं; परंतु आप तो हमें छोड़कर चले जा रहे हैं (हाय ! अब हम कैसे रहेंगी) ॥ ११ ॥

अहो कालो महावीर्यो येन पर्ययकर्मणा ।
कालतुल्यः सपत्नानां त्वं क्षिप्रमपनीयसे ॥ १२ ॥

'अहो ! काल महान् बलसे सम्पन्न है, जो अपनी उलट-फेरकी क्रियाद्वारा शत्रुओंके लिये कालके समान आपको भी शीघ्रतापूर्वक यहाँसे लिये जा रहा है ॥ १२ ॥

वयं दुःखेष्वनुचिताः सुखेष्वेव त्वयैधिताः ।
कथं वत्स्याम विधवा नाथ कार्पण्यमाश्रिताः ॥ १३ ॥

'नाथ ! आपने हमें सदा सुखोंमें ही रखकर पाला-पोसा और बड़ी किया है । हम दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं; किंतु आज आपसे बिछुड़कर विधवा होकर दयनीय दशाको पहुँच गयी हैं । अब हम कैसे यहाँ रह सकेंगी ? ॥ १३ ॥

स्त्रीणां चारित्रलुब्धानां पतिरेकः परा गतिः ।
त्वं हि नः सा गतिश्छिन्ना कृतान्तेन बलीयसा ॥१४॥

'जिनके मनमें सदाचारके पालनका लोभ हो, उन साध्वी स्त्रियोंके लिये एकमात्र पति ही परम गति है—सबसे बडा सहारा है, किंतु महाबली कालने हमारे उस सहारेको काट डाला ॥ १४ ॥

वैधव्येनाभिभूताः स्मः शोकसंततमानसाः ।
रोदितव्यह्रदे मग्नाः क्व गच्छामस्त्वया विना ॥ १५ ॥

'हम वैधव्यसे अभिभूत हो गयी हैं । हमारा मन शोकसे संतप्त हो उठा है । हम विपत्तिके उस गहरे कुण्डमें डूब गयी हैं, जहाँ केवल रोना-ही-रोना रह जाता है । अब हम आपके बिना कहाँ जायँगी ? ॥ १५ ॥

सह त्वया गतः कालस्त्वदङ्के क्रीडितं कृतम् ।
क्षणेन तद्विहीनाः स्म अनित्या हि नृणां गतिः ॥ १६ ॥

'हमारा समय आपके साथ ही बीता है । हमने जबतक

आपके अङ्कमें ही क्रीड़ाएँ की हैं; किंतु एक ही क्षणमें हम उस सौभाग्यसे वञ्चित हो गयीं । सचमुच ही मनुष्योंकी गति अनित्य है—क्षणभङ्गुर है ॥ १६ ॥

अहो बलविहीनाः स्म विपन्ने त्वयि मानद ।
एकदुष्कृतकारिण्यः सर्वा वैधव्यलक्षणाः ॥ १७ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले महाराज ! आपके निधनसे हम सब-की-सब निर्बल हो गयीं । जान पड़ता है, हम सबने एक समान ही पाप किया था, जिससे सबको वैधव्यका चिह्न धारण करना पड़ा ॥ १७ ॥

त्वया स्वर्गप्रतिच्छन्दैर्लालिताः स्म रतिप्रियाः ।
त्वयि कामवशाः सर्वाः स नस्त्यज्य क गच्छसि ॥ १८ ॥

'आपने हम रतिप्रिया रमणियोंको स्वर्गके समान सुख-भोग देकर सदा हमारा लालन-पालन किया था । हम सभी आपके प्रति कामासक्त रही हैं, फिर आप हमें छोड़कर कहाँ चले जा रहे हैं ॥ १८ ॥

अस्माकं त्वमनाथानां नाथो ह्यसि सुरोपम ।
आसां विलपमानानां कुररीणामिव प्रभो ।
प्रतिवाक्यं जगन्नाथ दातुमर्हसि मानद ॥ १९ ॥

'देवोपम प्रभो ! आप ही हम अनाथाओंके नाथ हैं । जगन्नाथ ! मानद ! कुररीके समान विलाप करनेवाली अपनी इन पत्नियोंको कुछ उत्तर देनेकी कृपा करें ॥ १९ ॥

एवमार्तकलत्रस्य शाम्यमानेषु बन्धुषु ।
गमनं ते महाभाग दारुणं प्रतिभाति नः ॥ २० ॥

'महाभाग ! जब कि आपके सभी बन्धु मारे जा रहे हैं और स्त्रियाँ शोकसे पीड़ित हैं, ऐसे अवसरपर आपका परलोक-गमन हमें बड़ा दारुण प्रतीत होता है ॥ २० ॥

नूनं कान्ततराः कान्त परलोके वरस्त्रियः ।
यतस्त्वं प्रस्थितो वीर विहायेमं गृहे जनम् ॥ २१ ॥

'प्रियतम ! वीर ! निश्चय ही परलोककी सुन्दरियाँ बड़ी ही कमनीय हैं, जिससे आप अपने घरकी इन रानियोंको छोड़कर उनके पास जानेके लिये प्रस्थित हो गये ॥ २१ ॥

किं नु ते कारणं वीर भार्यास्वेतासु भूरिद ।
आर्तनादं रुदन्तीषु यन्मोहान्नावबुध्यसे ॥ २२ ॥

'अधिक-से-अधिक (सुख-सुविधा) प्रदान करनेवाले महाराज ! क्या कारण है, जो अपनी इन पत्नियोंके रोने और आर्तनाद करनेपर भी आप मोहवश इनके दुःखको समझ नहीं पाते अथवा इस मोहनिद्रासे जाग नहीं उठते हैं ॥ २२ ॥

अहो निष्करुणा यात्रा नराणामौर्ध्वदेहिकी ।
यत् परित्यज्य दारान् स्वान् निरपेक्षा व्रजन्ति हि ॥ २३ ॥

'अहो ! पुरुषोंकी यह पारलौकिक यात्रा बड़ी ही निर्दय होती है; क्योंकि वे अपनी पत्नियोंको छोड़कर उनकी कोई अपेक्षा न रखते हुए चल देते हैं ॥ २३ ॥

अपतित्वं स्त्रियाः श्रेयो न तु शूरः पतिः स्त्रियाः ।
स्वर्गस्त्रीणां प्रियाः शूरास्तेषामपि च ताः प्रियाः ॥ २४ ॥

'स्त्रियोंका बिना पतिके ही रह जाना अच्छा, किंतु उनके लिये शूरवीर पतिका होना अच्छा नहीं है; क्योंकि वे शूरवीर स्वर्गलोककी सुन्दरियोंको प्रिय होते हैं और वे सुन्दरियाँ भी उन शूरवीरोंको प्रिय होती हैं ॥ २४ ॥

अहो क्षिप्रमदृश्येन नयता त्वां रणप्रियम् ।
प्रहृतं नः कृतान्तेन सर्वासामन्तरात्मसु ॥ २५ ॥

'अहो ! जिन्हें युद्ध ही प्रिय था, उन आपको अदृश्य-भावसे शीघ्रतापूर्वक ले जानेवाले कालने हम सबकी अन्त-रात्माओंपर एक साथ ही प्रहार किया है ॥ २५ ॥

हत्वा जरासंधबलं जित्वा यक्षांश्च संयुगे ।
कथं मानुषमात्रेण हतस्त्वं जगतीतले ॥ २६ ॥

'वीरवर ! आप युद्धमें जरासंधकी सेनाका विनाश करके यक्षोंको भी हराकर इस भूतलपर एक मनुष्यमात्रके हाथसे किस तरह मार डाले गये ? ॥ २६ ॥

इन्द्रेण सह संग्रामं कृत्वा सायकविग्रहम् ।
अमर्त्यैरजितो युद्धे मर्त्येनासि कथं हतः ॥ २७ ॥

'इन्द्रके साथ बाणोंद्वारा युद्ध करके जो समराङ्गणमें अमरोंसे भी पराजित न हो सके, वे ही आप एक मरणधर्मा मनुष्यके हाथसे कैसे मारे गये ? ॥ २७ ॥

त्वया सागरमक्षोभ्यं विक्षोभ्य शरवृष्टिभिः ।
रत्नसर्वस्वहरणं जित्वा पाशधरं कृतम् ॥ २८ ॥

'आपने अपने बाणोंकी वर्षासे पाशधारी वरुणको परास्त करके अक्षोभ्य महासागरको भी विक्षुब्ध करते हुए उसके रत्नरूपी सर्वस्वका अपहरण कर लिया था ॥ २८ ॥

त्वया पौरजनस्यार्थे मन्दं वर्षति वासवे ।
सायकैर्जलदाञ्जित्वा बलाद् वर्षं प्रवर्तितम् ॥ २९ ॥

'एक बार इन्द्रने जब वर्षामें कमी कर दी थी, तब आपने अपने सायकोंसे बादलोंको जीतकर पुरवासियोंके हितके लिये बलपूर्वक वर्षा करवायी थी ॥ २९ ॥

प्रतापावनताः सर्वे तव तिष्ठन्ति पार्थिवाः ।
प्रेषयन्तो वरार्हाणि रत्नान्याच्छादनानि च ॥ ३० ॥

'भूमण्डलके समस्त भूपाल आपके प्रतापसे नतमस्तक रहा करते थे और उपहारके रूपमें आपके पास बहुमूल्य रत्न एवं वस्त्र भेजते रहते थे ॥ ३० ॥

तवैवं देवकल्पस्य दृष्टवीर्यस्य शत्रुभिः ।
कथं प्राणान्तकं घोरमीदृशं भयमागतम् ॥ ३१ ॥

'इस प्रकार आप देवताओंके समान तेजस्वी थे। शत्रुओंने आपके बल-पराक्रमको प्रत्यक्ष देखा था तो भी आपके ऊपर ऐसा प्राणान्तकारी घोर भय कैसे आया ॥ ३१ ॥

प्राप्ताः स्मो विधवाशब्दं त्वयि नाथे निपातिते।
अप्रमत्ताः प्रमत्तेन कृतान्तेन निराकृताः ॥ ३२ ॥

'हा नाथ! आपके मारे जानेसे आज हमें विधवाकी पदवी प्राप्त हुई है। हम सदा प्रमादसे दूर रहती थीं; परंतु मतवाले कृतान्तने हमको भी मिट्टीमें मिला दिया ॥ ३२ ॥

यद्येवं नाथ गन्तव्यं यदि वा विस्मृता वयम्।
वाङ्मात्रेणापि यामीति वक्तव्ये कः परिश्रमः ॥ ३३ ॥

'नाथ! यदि इस प्रकार आपको जाना ही था अथवा यदि हमें भुला ही देना था तो वाणीमात्रसे भी 'मैं जा रहा हूँ'—ऐसा कहकर विदा ले लेनेमें आपके लिये क्या परिश्रम था ॥ ३३ ॥

प्रसीद नाथ भीताः स्म पादौ ते याम मूर्द्धभिः।
अलं दूरप्रवासेन निवर्तस्व नराधिप ॥ ३४ ॥

'प्राणनाथ! प्रसन्न होइये। हम भयभीत हैं। आपके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रार्थना करती हैं। नरेश्वर! दूर देशमें जाने और रहनेसे कोई लाभ नहीं। आप घरको ही लौट चलिये ॥ ३४ ॥

अहो वीर कथं शेषे निपण्णस्तृणपांसुषु।
शयानस्य हि ते भूमौ कस्मान्नोद्विजते वपुः ॥ ३५ ॥

'वीर! हमें आश्चर्य है, आप तिनकों और धूलोंमें लोटकर कैसे सो रहे हैं? इस तरह पृथ्वीपर सोये हुए आपके शरीरको उद्वेग क्यों नहीं प्राप्त होता है? ॥ ३५ ॥

केन सुप्तप्रहारोऽयं दत्तोऽस्माकमतर्कितः।
प्रहृतं केन सर्वासु नारीष्वेवं सुदारुणम् ॥ ३६ ॥

'जैसे किसीपर सोते समय आघात किया जाय, उस प्रकार किसने हमलोगोंको यह अप्रत्याशित (जिसकी हमें कोई आशा नहीं थी, ऐसा) घोर दण्ड दिया है? किस निष्ठुरने हम सब नारियोंपर इस तरह अत्यन्त दारुण प्रहार किया है? ॥ ३६ ॥

रुदितानुशयो नार्या जीवन्त्याः परिदेवनम्।
किं वयं सति गन्तव्ये सह भर्त्रा रुदामहे ॥ ३७ ॥

'अहो! विधवा नारी जबतक जीवित रहती है, उसे विलाप ही करना पड़ता है। उसका अन्तःकरण रोता रहता है। हमें तो पतिके साथ ही चलना है, ऐसे अवसरपर हम रो क्यों रही हैं?' ॥ ३७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे दीना कंसमाता प्रवेपती।
क्व मे वत्सः क्व मे पुत्र इति रोरूयती भृशम् ॥ ३८ ॥

इसी बीचमें कंसकी दुखिया माता काँपती हुई वहाँ आयी और 'कहाँ है मेरा बच्चा? कहाँ है मेरा बेटा?' ऐसा कहकर जोर-जोरसे रोने लगी ॥ ३८ ॥

सापश्यन्निहतं पुत्रं निष्प्रभं शशिनं यथा।
हृदयेन विदीर्णेन भ्राम्यमाणा पुनः पुनः ॥ ३९ ॥

उसने अपने मरे हुए पुत्रको देखा। वह कान्तिहीन चन्द्रमाके समान प्रतीत होता था। उसकी ऐसी दशा देखकर माताका हृदय विदीर्ण हो गया। उसे बार-बार चक्कर आने लगा ॥ ३९ ॥

पुत्रं समभिवीक्षन्ती हा हतास्मीति वाशती।
स्नुषाणामार्तनादेन विललाप रुरोद च ॥ ४० ॥

वह पुत्रके मुखकी ओर देखती हुई चीखने लगी—'हाय! मैं मारी गयी!' पुत्रवधुओंके आर्तनादके साथ रोने-बिलखने लगी ॥ ४० ॥

सा तस्य वदनं दीनमुत्संगे पुत्रगृद्धिनी।
कृत्वा पुत्रेति कारुण्यं विललापार्तया गिरा ॥ ४१ ॥

पुत्रके जीवनकी इच्छा रखनेवाली राजमाता उसके दीन मुखको अपनी गोदमें रखकर आर्त वाणीमें 'हा पुत्र' कहकर करुणाजनक विलाप करने लगी—॥ ४१ ॥

पुत्र शूरव्रते युक्त ज्ञातीनां नन्दिवर्द्धन।
किमिदं त्वरितं वत्स प्रस्थानं कृतवानसि ॥ ४२ ॥

'बेटा! तुम तो वीर-व्रतमें तत्पर रहते थे और अपने बन्धु-बान्धवोंका आनन्द बढ़ाते थे। वत्स! तुमने क्यों इतनी जल्दी यहाँसे प्रस्थान किया है? ॥ ४२ ॥

प्रसुप्तश्चातिविवृते किं पुत्र नियमं विना।
वत्स नैवंविधा भूमौ शेरते कृतलक्षणाः ॥ ४३ ॥

'पुत्र! तुम बिना किसी नियम (नियन्त्रण) के इस अत्यन्त खुले हुए स्थानमें क्यों सो रहे हो? वत्स! तुम्हारे-जैसे शुभ-लक्षण-सम्पन्न नरेश इस तरह भूमिपर नहीं सोते हैं ॥ ४३ ॥

रावणेन पुरा गीतः श्लोकोऽयं साधुसम्मतः।
बलज्येष्ठेन लोकेषु राक्षसानां समागमे ॥ ४४ ॥

'तीनों लोकोंमें जो बलमें सबसे बढ़ा-चढ़ा था, उस रावणने प्राचीनकालमें राक्षसोंके समुदायमें इस सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित श्लोकका गान किया था ॥ ४४ ॥

एवमूर्जितवीर्यस्य मम देवनिघातिनः।
बान्धवेभ्यो भयं घोरं दुर्निवार्यं भविष्यति ॥ ४५ ॥

'मैं इस प्रकार बल और पराक्रममें बढ़ा हुआ हूँ तथा देवताओंका वध करनेमें समर्थ हूँ तो भी मुझे अपने ही भाई-बन्धुओंसे घोर एवं अनिवार्य भय प्राप्त होगा ॥ ४५ ॥

तथैव ज्ञातिलुब्धस्य मम पुत्रस्य धीमतः।
ज्ञातिभ्यो भयमुत्पन्नं शरीरान्तकरं महत् ॥ ४६ ॥

'उसी प्रकार मेरा बुद्धिमान् पुत्र अपने सजातीय बन्धुओं-पर लुभाया रहता था तो भी इसे भाई-बन्धुओंसे ही यह देह-विनाशक महान् भय प्राप्त हुआ है' ॥ ४६ ॥

सा पतिं भूपतिं वृद्धमुग्रसेनं विचेतसम्।
उवाच रुदती वाक्यं विवत्सा हरिणी यथा ॥ ४७ ॥
एह्येहि राजञ्छुद्धात्मन् पश्य पुत्रं जनेश्वरम्।
शयानं वीरशयने वज्राहतमिवाचलम् ॥ ४८ ॥

वह अपने पति बूढ़े राजा उग्रसेनसे, जो उस समय अचेत-से हो रहे थे, बछड़ेसे बिछुड़ी हुई हरिणीके समान रोती हुई बोली—'शुद्ध अन्तःकरणवाले महाराज! आइये, आइये! अपने पुत्र राजा कंसको देखिये, जो वज्रके मारे हुए पर्वतकी भाँति वीरशय्यापर सो रहा है ॥ ४७-४८ ॥

अस्य कुर्मो महाराज निर्याणसदृशीं क्रियाम्।
प्रेतत्वमुपपन्नस्य गतस्य यमसादनम् ॥ ४९ ॥

'महाराज! अब हमलोग इसके लिये मृत्युकालोचित कर्म करें; क्योंकि यह यमलोकमें जाकर प्रेतत्वको प्राप्त हुआ है ॥ ४९ ॥

वीरभोग्यानि राज्यानि वयं चापि पराजिताः।
गच्छ विज्ञाप्यतां कृष्णः कंससत्कारकारणात् ॥ ५० ॥

'राज्यका उपभोग तो वीर पुरुष ही करते हैं। हमलोग तो अब पराजित हो गये; अतः जाइये, कृष्णको यह सूचित कीजिये कि कंसके अन्त्येष्टि-संस्कारकी व्यवस्था होनी चाहिये ॥ ५० ॥

मरणान्तानि वैराणि शान्ते शान्तिर्भविष्यति।
प्रेतकार्याणि कार्याणि मृतः किमपराध्यते ॥ ५१ ॥

'शत्रुके मरनेतक ही वैर रहता है। उसके शान्त हो जानेपर अब वैरकी भी शान्ति हो ही जायगी। इसके प्रेत-कार्य तो करने ही चाहिये। मरा हुआ क्या अपराध करता है'॥

एवमुक्त्वा पतिं भोजं केशानारुज्य दुःखिता।
पुत्रस्य मुखमीक्षन्ती विललापैव सा भृशम् ॥ ५२ ॥

अपने पति भोजराजसे ऐसा कहकर दुःखिनी राजमाता पुत्रका मुख निहारती हुई अपने केश खींच-खींचकर अत्यन्त विलाप करने लगी ॥ ५२ ॥

इमास्ते किं करिष्यन्ति भार्या राजन् सुखोषिताः।
त्वां पतिं सुपतिं प्राप्य या विपन्नमनोरथाः ॥५३॥

'राजन्! ये सुखमें पली हुई तुम्हारी रानियाँ अब क्या करेंगी। तुम्हारे-जैसे श्रेष्ठ पतिको पाकर भी इन बेचारी बहुओं-का सारा मनोरथ नष्ट हो गया ॥ ५३ ॥

इमं ते पितरं वृद्धं कृष्णस्य वशवर्तिनम्।
कथं द्रक्ष्यामि शुष्यन्तं कासारसलिलं यथा ॥ ५४ ॥

'ये तुम्हारे बूढ़े पिता अब श्रीकृष्णके अधीन हो गये। सूखते हुए पोखरेके जलकी भाँति अब मैं इन्हें परतन्त्र दशामें कैसे देख सकूँगी ॥ ५४ ॥

अहं ते जननी पुत्र किमर्थं नाभिभाषसे।
प्रस्थितो दीर्घमध्वानं परित्यज्य प्रियं जनम् ॥ ५५ ॥

'बेटा! मैं तुम्हारी जननी हूँ। मुझसे क्यों नहीं बोलते हो? क्यों आज अपने प्रियजनोंका परित्याग करके तुमने परलोकके विशाल पथको प्रस्थान किया है? ॥ ५५ ॥

अहो वीराल्पभाग्यायाः कृतान्तेनाभिवर्तिना।
आच्छिद्य मम संदायो नीयसे नयकोविदः ॥ ५६ ॥

'अहो वीर! तुम नीतिकुशल नरेश थे, मेरी सम्पत्ति थे; किंतु सदा समीप रहनेवाला काल आज तुम्हें मुझ अभागिनी-की गोदसे छीनकर लिये जा रहा है ॥ ५६ ॥

दानमानगृहीतानि तुष्टान्येतानि तैर्गुणैः।
रुदन्ति तव भृत्यानां कुलानि कुलयूथप ॥ ५७ ॥

'कितने ही कुलों (परिवारों) के समुदायका पालन करनेवाले मेरे वीर पुत्र! तुमने जिन्हें दान और मानसे अनुगृहीत कर रखा था, जो तुम्हारे उन गुणोंसे अत्यन्त संतुष्ट थे, वे ही ये तुम्हारे भृत्योंके कुलोंके लोग आज तुम्हारे लिये रो रहे हैं ॥ ५७ ॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल दीर्घबाहो महाबल।
त्राहि दीनं जनं सर्वं पुरमन्तःपुरं यथा ॥ ५८ ॥

'नरश्रेष्ठ! उठो। महाबाहो! महाबली वीर! इन दीन-दुखी लोगोंकी और समस्त नगरकी अन्तःपुरके समान ही रक्षा करो' ॥ ५८ ॥

रुदतीनां भृशार्तानां कंसस्त्रीणां सुविस्तरम्।
जगामास्तं दिनकरः संध्यारागेण रञ्जितः ॥ ५९ ॥

अत्यन्त आर्त होकर उसके विस्तृत गुणोंको याद करके कंसकी स्त्रियों और माताके रोते-रोते संध्या हो गयी और संध्याकालीन अरुण-रागसे रंजित हुए दिवाकर (सूर्य) अस्ताचलको चले गये ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि कंसस्त्रीविलापे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें कंसकी स्त्रियोंका विलापविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कंसवधके लिये पश्चात्तापपूर्वक उसके औचित्यका समर्थन, उग्रसेनका श्रीकृष्णको सर्वस्व-समर्पणके पश्चात् कंसका अन्त्येष्टि-संस्कार करनेके लिये अनुरोध, श्रीकृष्णका उन्हें समझा-बुझाकर राज्यपर अभिषिक्त करना और समस्त यादवोंके साथ जाकर कंस आदिका अन्त्येष्टि-संस्कार कराना

वैशम्पायन उवाच

उग्रसेनस्तु कृष्णस्य समीपं दुःखितो ययौ ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तो विषपीत इव श्वसन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा उग्रसेन पुत्रशोकसे संतप्त एवं दुखी होकर श्रीकृष्णके समीप गये । उस समय वे इस प्रकार लंबी साँस खींच रहे थे, मानो उन्होंने विष पी लिया हो ॥ १ ॥

स ददर्श गृहे कृष्णं यादवैः परिवारितम् ।
पश्चानुतापाद् ध्यायन्तं कंसस्य निधनाविलम् ॥ २ ॥

उन्होंने देखा, पिताके घरमें श्रीकृष्ण यादवोंसे घिरे हुए बैठे हैं और कंसके निधनसे मलिन-मुख हो पश्चात्ताप करते हुए चिन्तामग्न हो रहे हैं ॥ २ ॥

कंसनारीविलापांश्च श्रुत्वा स करुणान् बहून् ।
गर्हमाणस्तथाऽऽत्मानं तस्मिन् यादवसंसदि ॥ ३ ॥

वे कंसकी पत्नियोंके बहुतेरे करुण विलाप सुनकर उस यादव-समाजमें अपनी निन्दा करते हुए बोले—॥ ३ ॥

अहो मयातिबाल्येन रोषाद् दोषानुवर्तिना ।
वैधव्यं स्त्रीसहस्राणां कंसस्यास्य वधे कृतम् ॥ ४ ॥

'अहो ! मैंने अत्यन्त अविवेकके कारण रोषवश दोषका ही अनुसरण किया और इस कंसका वध करके हजारों स्त्रियों-को विधवा बना दिया है ॥ ४ ॥

कारुण्यं खलु नारीषु प्राकृतस्यापि जायते ।
एवमार्ते रुदन्तीषु मया भर्तरि पातिते ॥ ५ ॥
परिदेवितमात्रेण शोकः खलु विधीयते ।

'साधारण मनुष्योंको भी स्त्रियोंपर दया हो आती है, परंतु मेरे द्वारा अपने पतिके मारे जानेपर जो इस प्रकार आर्त होकर रो रही हैं, उन रानियोंके प्रति केवल पश्चात्ताप प्रकट करके मैं अपना शोक प्रकाशित कर रहा हूँ ॥ ५½ ॥

कृतान्तस्यानभिज्ञानां स्त्रीणां कारुण्यसम्भवः ॥ ६ ॥

'इन भोली-भाली स्त्रियोंके विलापको सुनकर तो यमराज-के हृदयमें भी करुणाका संचार हो सकता है ॥ ६ ॥

कंसस्य हि वधः श्रेयान् प्रागेवाभिमतो मम ।
सतामुद्वेजनीयस्य पापेष्वभिरतस्य च ॥ ७ ॥
लोके पतितवृत्तस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
अक्लिष्टं मरणं श्रेयो न विद्विष्टस्य जीवितम् ॥ ८ ॥

'मैंने तो पहलेसे ही यह निश्चय कर लिया था कि कंसका वध ही श्रेष्ठ है । जो सदा पापोंमें तत्पर रहनेके कारण साधु पुरुषोंकी दृष्टिमें भी उद्वेजनीय (उद्वेगमें डालने योग्य) हो गया हो, संसारमें सदाचारसे गिर गया हो तथा सब लोग जिससे विद्वेष रखने लगे हों, ऐसे मन्दबुद्धि पुरुषका मर जाना ही श्रेयस्कर है । वही उसे क्लेशसे छुटकारा दिलाने-वाला है, जीवित रहना नहीं ॥ ७-८ ॥

कंसः पापपरश्चैव साधूनामप्यसम्मतः ।
धिक्छब्दपतितश्चैव जीविते चास्य का दया ॥ ९ ॥

'कंस सदा पापोंमें ही लगा रहता था, साधु पुरुष भी (उसे दुष्ट समझकर) उसका आदर नहीं करते थे तथा वह सबका धिक्कार पाकर पतित हो गया था, अतः उसके जीवन-पर क्या दया हो सकती है ? ॥ ९ ॥

स्वर्गे तपोभृतां वासः फलं पुण्यस्य कर्मणः ।
इहापि यशसा युक्तः स्वर्गस्थैरवधार्यते ॥ १० ॥

'तपस्वी पुरुषोंको जो स्वर्गलोकमें निवास प्राप्त होता है, वह उनके पुण्यकर्मका ही फल है । पुण्यात्मा पुरुष इस जगत्में भी यशस्वी होता है और स्वर्गवासी देवता भी उसे सादर ग्रहण करते हैं ॥ १० ॥

यदि स्युर्निर्वृता लोकाः स्युश्च धर्मपराः प्रजाः ।
नरा धर्मप्रवृत्ताश्च न राज्ञामनयः स्पृशेत् ॥ ११ ॥

'यदि सब लोग संतुष्ट हों, सारी प्रजा धर्ममें तत्पर रहे और मनुष्योंकी केवल धर्ममें ही प्रवृत्ति हो तो राजाओंको अन्याय छू भी नहीं सकता ॥ ११ ॥

निग्रहे दुष्टवृत्तीनां कृतान्तः कुरुते फलम् ।
इष्टधर्मेषु लोकेषु कर्तव्यं पारलौकिकम् ॥ १२ ॥

'यदि राजा इस लोकमें दुष्ट वृत्तिवाले पुरुषोंका दमन करे तो परलोकमें धर्मराज उसे उसका फल देते हैं । सम्पूर्ण लोकोंको धर्म (उसके फलस्वरूप सुखकी प्राप्ति) ही अभीष्ट है, इसलिये उनमें रहनेवाले पुरुषोंको परलोकमें सुख देनेवाले पुण्यकर्मोंका ही अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १२ ॥

अतीव देवा रक्षन्ति नरं धर्मपरायणम् ।
कर्तारः सुलभा लोके दुष्कृतस्य हि कर्मणः ॥ १३ ॥

'देवता धर्मपरायण मनुष्यकी विशेषरूपसे रक्षा करते हैं, क्योंकि लोकमें अधिकतर पाप कर्म करनेवाले ही सुलभ होते हैं ॥ १३ ॥

हतः सोऽयं मया कंसः साध्वेतदवगम्यताम्।
मूलच्छेदः कृतस्तस्य विपरीतस्य कर्मणः ॥ १४॥

'अतः मैंने जो इस कंसका वध किया है, इसे आपलोग ठीक समझें, क्योंकि ऐसा करके मैंने उसके पाप-कर्मका मूलोच्छेद कर डाला है ॥ १४ ॥

तदेष सान्त्वयतां सर्वः शोकार्तः प्रमदाजनः।
पौराश्च पुर्यां श्रेण्यश्च सान्त्व्यन्तां सर्व एव हि ॥ १५॥

'इसलिये इन समस्त शोकाकुल नारियोंको आपलोग सान्त्वना प्रदान करें और मथुरापुरीके नागरिकों एवं शिल्पियों-तथा व्यवसायियोंको भी समझा-बुझाकर धीरज बँधावें' ॥१५॥

एवं ब्रुवति गोविन्दे विवेशावनताननः।
उग्रसेनो यदून् गृह्य पुत्रकिल्बिषशङ्कितः ॥ १६॥

जब श्रीकृष्ण इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय राजा उग्रसेन अपना मुँह नीचे किये कुछ यादवोंको साथ ले उस घरमें प्रविष्ट हुए। वे मन-ही-मन अपने पुत्र कंसके अपराधसे डरे हुए थे ॥ १६ ॥

स कृष्णं पुण्डरीकाक्षमुवाच यदुसंसदि।
बाष्पसंदिग्धया वाचा दीनया सज्जमानया ॥ १७॥

उन्होंने उस यादव-सभामें कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णसे आँसूभरी दीन, गद्गद तथा लड़खड़ाती हुई वाणीमें इस प्रकार कहा—॥ १७ ॥

पुत्रो निर्यातितः क्रोधान्नीतो याम्यां दिशं रिपुः।
स्वधर्माधिगता कीर्तिर्नाम विश्रावितं भुवि ॥१८॥

'श्रीकृष्ण! तुमने मेरे पुत्रसे उसके अपराधका बदला ले लिया, अपने उस शत्रुको क्रोधपूर्वक यमलोक पहुँचा दिया, धर्मके अनुसार कीर्ति प्राप्त कर ली और भूमण्डलमें अपने नामका डंका पीट दिया ॥ १८ ॥

स्थापितं सत्सु माहात्म्यं शङ्किता रिपवः कृताः।
स्थापितो यादवो वंशो गर्विताः सुहृदः कृताः ॥१९॥

'सत्पुरुषोंके हृदयमें अपनी महत्ता स्थापित कर दी और शत्रुओंको भयभीत कर दिया, यदुवंशकी जड़ जमा दी और सुहृदोंको अपने ऊपर गर्व करनेका अवसर दिया ॥ १९ ॥

सामन्तेषु नरेन्द्रेषु प्रतापस्ते प्रकाशितः।
मित्राणि त्वां भजिष्यन्ति संश्रयिष्यन्ति पार्थिवाः ॥२०॥

'सामन्त राजाओंमें तुम्हारा प्रताप प्रकाशित हो गया, मित्रगण तुम्हें अपनायेंगे और भूमण्डलके राजा तुम्हारा आश्रय लेंगे ॥ २० ॥

प्रकृतयोऽनुयास्यन्ति स्तोष्यन्ति त्वां द्विजातयः।
संधिविग्रहमुख्यास्त्वां प्रणमिष्यन्ति मन्त्रिणः ॥२१॥

'प्रकृतियाँ (प्रजा, मन्त्री आदि) तुम्हारा अनुसरण करेंगी, ब्राह्मणलोग तुम्हारी स्तुति करेंगे—तुम्हारे गुण गायेंगे और संधि-विग्रहके कार्योंमें प्रमुखरूपसे भाग लेनेवाले मन्त्री तुम्हें प्रणाम करेंगे ॥ २१ ॥

हस्त्यश्वरथसम्पूर्णं पदातिगणसंकुलम्।
प्रतिगृहाण कृष्णेदं कंसस्य बलमव्ययम् ॥ २२॥

'श्रीकृष्ण! हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंसे भरी हुई कंसकी यह अक्षय सेना ग्रहण करो ॥ २२ ॥

धनं धान्यं च यत् किंचिद् रत्नान्याच्छादनानि च।
प्रतीच्छन्तु नियुक्ता वै त्वदीयाः कृष्ण पूरुषाः ॥२३॥
स्त्रियो हिरण्यं यानानि यदन्यद् वसु किंचन।

'श्रीकृष्ण! जो कुछ भी धन, धान्य, रत्न और वस्त्र आदि कंसके अधिकारमें थे, उन सबको तुम्हारे आदमी सँभाल लें। स्त्रियाँ, सुवर्ण, वाहन तथा अन्य जो कुछ भी धन, रत्न आदि हैं, उनपर भी वे अधिकार कर लें ॥ २३½ ॥

एवं हि विहिते योगे पर्याप्ते कृष्ण विग्रहे ॥ २४॥
प्रतिष्ठितायां मेदिन्यां यदूनां शत्रुसूदन।
त्वं गतिश्चागतिश्चैव यदूनां यदुनन्दन ॥ २५॥

'यदुवंशियोंके शत्रुओंका संहार करनेवाले यदुनन्दन श्रीकृष्ण! जब इस प्रकार अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिरूप योग सम्पन्न हो गया, विग्रहकी समाप्ति हो गयी और इस पृथ्वीपर तुम्हारा पूर्णरूपसे अधिकार हो गया, तब हम सभी यादवोंकी गति और अगति एकमात्र तुम्हीं हो ॥ २४-२५ ॥

शृणुष्व वदतां वीर कृपणानामिदं वचः।
अस्य त्वत्कोपदग्धस्य कंसस्याशुभकर्मणः ॥ २६॥
तव प्रसादाद् गोविन्द प्रेतकार्यं क्रियेत ह।

'वीर! हम दीनजन तुम्हारे सामने जो कुछ कह रहे हैं—हमारी यह प्रार्थना स्वीकार करो। गोविन्द! यह पापकर्मा कंस तुम्हारे कोपसे दग्ध हो गया। हम चाहते हैं कि तुम्हारी ही कृपासे अब इसका प्रेतकार्य सम्पन्न कर दिया जाय॥२६½॥

तस्य कृत्वा नरेन्द्रस्य विपन्नस्यौर्ध्वदेहिकम् ॥ २७॥
सस्नुषोऽहं सभार्यश्च चरिष्यामि मृगैः सह।

'उस मरे हुए नरेशका और्ध्वदैहिक संस्कार पूर्ण करके मैं अपनी पत्नी और पुत्रवधुओंको साथ ले वनमें मृगोंके साथ विचरूँगा ॥ २७½ ॥

प्रेतसत्कारमात्रेण कृते बान्धवकर्मणि।
आनृण्यं लौकिकं कृष्ण गताः किल भवन्ति हि ॥ २८॥

'श्रीकृष्ण! कहते हैं कि मरे हुए मनुष्यका प्रेत-संस्कार मात्र कर देनेसे उसके बान्धवोंका कर्तव्य पूरा हो जाता है और फिर वे उसके लौकिक ऋणसे उऋण हो जाते हैं ॥

तस्याग्निं पश्चिमं कृत्वा चितिस्थाने विधानतः।
तोयप्रदानमात्रेण कंसस्यानृण्यमाप्नुयाम् ॥ २९॥

'अतः मैं चिता-स्थानपर विधिपूर्वक कंसका अन्तिम अग्नि-संस्कार करके उसको जलाञ्जलिमात्र देकर उसके ऋणसे उऋण हो जाऊँ; यही मेरी इच्छा है ॥ २९ ॥

एतत्ते कृष्ण विज्ञाप्यं स्नेहोऽत्र मयि युज्यताम् ।
प्राप्नोति सुगतिं तत्र कृपणः पश्चिमां क्रियाम् ॥ ३० ॥

'श्रीकृष्ण ! यही तुमसे मेरा निवेदन है, इस विषयमें मुझपर अपना स्नेहभाव प्रकट करो । सुना है, चितापर अन्तिम संस्कार कर देनेसे बेचारा मृतक प्राणी उत्तम गति प्राप्त कर लेता है' ॥ ३० ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य कृष्णः परमविस्मितः ।
प्रत्युवाचोग्रसेनं वै सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ ३१ ॥

उग्रसेनका यह वचन सुनकर श्रीकृष्णको बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने सान्त्वनापूर्वक उग्रसेनको समझाते हुए उनकी बातका इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ३१ ॥

कालयुक्तमिदं तात तवैतद् यत् प्रभाषितम् ।
सदृशं राजशार्दूल वृत्तस्य च कुलस्य च ॥ ३२ ॥

'तात ! आपने यह जो कुछ कहा है, वह सब इस समयके अनुरूप है । राजसिंह ! आपकी बात आपके उत्तम आचार-विचार और श्रेष्ठ कुलके अनुरूप है ॥ ३२ ॥

यत् त्वमेवंविधं नृपे गतेऽर्थे दुरतिक्रमे ।
प्राप्स्यते नृपसत्कारं कंसः प्रेतगतोऽपि सन् ॥ ३३ ॥

'जो बात बीत गयी; वह वैसी ही होनेवाली थी । दैवके उस विधानको लाँघना किसीके लिये भी दुष्कर था; फिर भी उससे प्रभावित होकर जो आप ऐसी बातें कह रहे हैं (इससे मुझे दुःख हुआ), कंस मर जानेपर भी मेरे द्वारा राजोचित सत्कार प्राप्त करेगा (इस बातके लिये मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ) ॥ ३३ ॥

कुले महति ते जन्म वेदान् विदितवानसि ।
कथं न ज्ञायते तात नियतिर्दुरतिक्रमा ॥ ३४ ॥

'तात ! आपका महान् कुलमें जन्म हुआ है । आपने वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया है, फिर आप कैसे नहीं समझ पा रहे हैं कि नियति (दैवके विधान) का उल्लङ्घन करना बहुत ही कठिन है ॥ ३४ ॥

स्थावराणां च भूतानां जङ्गमानां च पार्थिव ।
पूर्वजन्मकृतं कर्म कालेन परिपच्यते ॥ ३५ ॥

'पृथ्वीनाथ ! स्थावर और जङ्गम सभी प्राणियोंके पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्म समयमें परिपक्व होते (और उन्हें शुभाशुभ फलकी प्राप्ति कराते) हैं ॥ ३५ ॥

श्रुतवन्तोऽर्थवन्तश्च दातारः प्रियदर्शनाः ।
ब्राह्मण्या नयसम्पन्ना दीनानुग्रहकारिणः ॥ ३६ ॥

लोकपालसमास्तात महेन्द्रसमविक्रमाः ।
क्षितिपालाः कृतान्तेन नीयन्ते नृपसत्तम ॥ ३७ ॥

'तात ! नृपश्रेष्ठ ! जो वेद-शास्त्रोंके विद्वान्, धनवान्, दाता, प्रियदर्शन (सुन्दर), ब्राह्मणभक्त, नीतिसम्पन्न, दीनोंपर अनुग्रह करनेवाले, लोकपालोंके समान यशस्वी और महेन्द्रतुल्य पराक्रमी राजा हैं, उन्हें भी काल उठा ले जाता है ॥ ३६-३७ ॥

धार्मिकाः सर्वभावज्ञाः प्रजापालनतत्पराः ।
क्षत्रधर्मपरा दान्ताः कालेन निधनं गताः ॥ ३८ ॥

'जो धर्मात्मा, सम्पूर्ण भावोंके ज्ञाता, प्रजापालनमें तत्पर, क्षत्रियधर्मपरायण तथा जितेन्द्रिय थे, वे भी कालके गालमें चले गये ॥ ३८ ॥

स्वयमात्मकृतं कर्म शुभं वा यदि वाशुभम् ।
प्राप्ते काले तु तत्कर्म दृश्यते सर्वदेहिनाम् ॥ ३९ ॥

'स्वयं अपना किया हुआ जो शुभ या अशुभ कर्म है, वही समय आनेपर समस्त देहधारियोंके समक्ष सुख-दुःखके रूपमें दिखायी देता है ॥ ३९ ॥

एषा ह्यन्तर्हिता माया दुर्विज्ञेया सुरैरपि ।
यथायं मुह्यते लोको ह्यत्र कर्मैव कारणम् ॥ ४० ॥

'यह भगवान्‌की अदृश्यरूपसे रहनेवाली माया ही है, जिससे यह जगत् मोहित हो जाता है, उसके स्वरूपको जानना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है । वास्तवमें सुख और दुःखकी प्राप्तिमें कर्म ही कारण है (मनुष्य जो चिन्तित एवं व्यथित होता है, यह मायाजनित मोह ही है) ॥ ४० ॥

कालेनाभिहतः कंसः पूर्वकर्मप्रचोदितः ।
न ह्यहं कारणं तत्र कालः कर्म च कारणम् ॥ ४१ ॥

'कंस अपने पूर्व कर्मोंसे प्रेरित होकर ही कालके द्वारा मारा गया है । मैं उसमें कारण नहीं हूँ, काल और कर्म ही कारण हैं ॥ ४१ ॥

सूर्यसोममयं तात कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ।
कालेन निधनं गत्वा कालेनैव च जायते ॥ ४२ ॥

'तात ! सारा चराचर जगत् सूर्य और सोममय (अग्नीषोमात्मक) है । वह कालसे मृत्युको प्राप्त होकर फिर कालसे ही जन्म ग्रहण करता है ॥ ४२ ॥

स कालः सर्वभूतानां निग्रहानुग्रहे रतः ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि कालस्य वशगानि वै ॥ ४३ ॥

'काल ही समस्त प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रहमें तत्पर है, इसलिये सम्पूर्ण भूत कालके ही अधीन हैं ॥ ४३ ॥

स्वदोषेणैव दग्धस्य सूनोस्तव नराधिप ।
नाहं वै कारणं तत्र कालस्तत्र च कारणम् ॥ ४४ ॥

'नरेश्वर ! आपका पुत्र अपने ही दोषोंसे दग्ध हुआ है। उसकी मृत्युका कारण मैं नहीं, काल है ॥ ४४ ॥

अथवाहं भविष्यामि कारणं नात्र संशयः।
परायणपरः कालः किं करिष्यत्यकारणः ॥ ४५ ॥

'अथवा मैं इसमें निमित्तकारण हो सकता हूँ, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि दूसरे निमित्तोका सहारा लेनेवाला कालअकेला ही क्या करेगा ॥ ४५ ॥

कालस्तु बलवान् राजन् दुर्विज्ञेया हि सा गतिः।
परावरविशेषज्ञा यां यान्ति समदर्शिनः ॥ ४६ ॥
गतिः कालस्य सा येन सर्वं कालस्य गोचरम्।

'राजन् ! काल सबसे अधिक बलवान् है। कालसे परे जो मोक्षरूपा गति है, वह दुर्विज्ञेय है। उसे पर और अपर (पुरुष और प्रकृति) के अन्तरको जाननेवाले समदर्शी पुरुष ही प्राप्त होते हैं। वही कालकी परम गति है, जिससे सब कुछ कालके अधीन प्रतीत होता है ॥ ४६½॥

ब्रवीमि यदहं तात तदनुष्ठीयतां वचः ॥ ४७ ॥
न हि राज्येन मे कार्यं नाप्यहं नृप काङ्क्षितः।
न चापि राज्यलुब्धेन मया कंसो निपातितः ॥ ४८ ॥

'तात ! अब मैं जो कुछ कहता हूँ, मेरे बताये हुए उस कार्यको आप करें। नरेश्वर ! मुझे राज्यसे कोई प्रयोजन नहीं है। न तो मैं राज्यका अभिलाषी हूँ और न राज्यके लोभसे मैंने कंसको मारा ही है ॥ ४७-४८ ॥

किं तु लोकहितार्थाय कीर्त्यर्थं च सुतस्तव।
व्यङ्गभूतः कुलस्यास्य सानुजो विनिपातितः ॥ ४९ ॥

'मैंने तो केवल लोकहितके लिये और कीर्तिके लिये भाई-सहित तुम्हारे पुत्रको मार गिराया है, जो इस कुलका विकृत (सड़ा हुआ) अङ्ग था ॥ ४९ ॥

अहं स एव गोमध्ये गोपैः सह वनेचरः।
प्रीतिमान् विचरिष्यामि कामचारी यथा गजः ॥ ५० ॥

'मैं वही वनेचर होकर गोपोंके साथ गौओंके बीच प्रसन्नतापूर्वक विचरूँगा, जैसे इच्छानुसार विचरनेवाला हाथी वनमें स्वच्छन्द घूमता है ॥ ५० ॥

एतावच्छतशोऽप्येवं सत्येनैतद् ब्रवीमि ते।
न मे कार्यं नृपत्वेन विज्ञाप्यं क्रियतामिदम् ॥ ५१ ॥

'मैं सत्यकी शपथ खाकर इन बातोंको सौ-सौ बार दुहराकर आपसे कहता हूँ, मुझे राज्यसे कोई काम नहीं है, आप इसका विज्ञापन कर दीजिये ॥ ५१ ॥

भवान् राजास्तु मान्यो मे यदूनामग्रणीः प्रभुः।
विजयायाभिषिच्यस्व स्वराज्ये नृपसत्तम ॥ ५२ ॥

'आप यदुवंशियोंके अग्रगण्य स्वामी तथा मेरे लिये भी माननीय हैं, अतः आप ही राजा हों। नृपश्रेष्ठ ! आप अपने राज्यपर अपना अभिषेक कराइये, आपकी विजय हो ॥५२ ॥

यदि ते मत्प्रियं कार्यं यदि वा नास्ति ते व्यथा।
मया निसृष्टं राज्यं स्वं चिराय प्रतिगृह्यताम् ॥ ५३ ॥

'यदि आपको मेरा प्रिय कार्य करना हो अथवा यदि आपके मनमे मेरी ओरसे कोई व्यथा न हो तो मेरे द्वारा लौटाये गये इस राज्यको दीर्घकालके लिये ग्रहण करें' ॥५३॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं नोत्तरं प्रत्यभाषत।
व्रीडिताधोमुखं तं तु राजानं यदुसंसदि।
अभिषेकेन गोविन्दो योजयामास धर्मवित् ॥ ५४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर उग्रसेनने कोई उत्तर नहीं दिया। वे लज्जित होकर सिर झुकाये चुपचाप खड़े रह गये। उस समय धर्मके ज्ञाता गोविन्दने राजा उग्रसेनको यादवोंके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ५४ ॥

स बद्धमुकुटः श्रीमानुग्रसेनो महाद्युतिः।
चकार सह कृष्णेन कंसस्य निधनक्रियाम् ॥ ५५ ॥

सिरपर मुकुट बाँधे महातेजस्वी श्रीमान् राजा उग्रसेनने श्रीकृष्णके साथ रहकर कंसका अन्त्येष्टि-संस्कार किया था ॥

तं सर्वे यादवा मुख्या राजानं कृष्णशासनात्।
अनुजग्मुः पुरीमार्गे देवा इव शतक्रतुम् ॥ ५६ ॥

श्रीकृष्णके आदेशसे समस्त मुख्य-मुख्य यादवोंने मथुरा-पुरीके राजमार्गपर राजा उग्रसेनका उसी प्रकार अनुसरण किया था, जैसे देवता देवराज इन्द्रका अनुगमन करते हैं ५६

रजन्यां तु निवृत्तायां ततः सूर्ये विराजिते।
पश्चिमं कंससंस्कारं चक्रुस्ते यदुपुङ्गवाः ॥ ५७ ॥

जब रात बीती और सूर्योदय हुआ, उस समय श्रेष्ठ यादवोंने मिलकर कंसके अन्त्येष्टि-संस्कारकी तैयारी की ॥५७॥

शिबिकायामथारोप्य कंसदेहं यथाक्रमम्।
नैष्ठिकेन विधानेन चक्रुस्ते कंससत्क्रियाम् ॥ ५८ ॥

उन सबने कंसके शरीरको शिबिकामें रखकर क्रमशः अन्त्येष्टि-कर्मके विधानसे उसका दाह-संस्कार किया था ॥५८॥

स नीतो यमुनातीरमुत्तमं नृपतेः सुतः।
सत्कृतश्च यथान्यायं नैधनेन चिताग्निना ॥ ५९ ॥

राजकुमार कंसका शव पहले यमुनाजीके उत्तम तटपर लाया गया, फिर यथोचित रीतिसे मृत्युकालिक चिताग्निके द्वारा उसका सादर अन्त्येष्टि-संस्कार किया गया ॥ ५९ ॥

तथैव भ्रातरं चास्य सुनामानं महाभुजम्।
संस्कारं लम्भयामासुः सह कृष्णेन यादवाः ॥ ६० ॥

उसी प्रकार श्रीकृष्णसहित यादवोंने उसके भाई महाबाहु सुनामाका भी दाह-संस्कार किया ॥ ६० ॥

ताभ्यां ते सलिलं चक्रुर्वृष्ण्यन्धकपुरोगमाः ।
अक्षयं चास्तु प्रेतेभ्यो भाषमाणाः पुनः पुनः ॥ ६१ ॥

वृष्णि और अन्धक आदि कुलोंके लोगोंने उन दोनोंके लिये जलदान किया और बारंबार यह कहा कि 'यह जल प्रेतोंके लिये अक्षय हो' ॥ ६१ ॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य दश कोटीस्तथा हरिः ।
गावो रत्नानि वासांसि ग्रामान् नगरसम्मतान् ॥ ६२ ॥
ददौ कंसं समुद्दिश्य ब्राह्मणेभ्यो नृपोत्तमः ।
अक्षयं चापि विप्रेभ्यो भाषमाणाः पुनः पुनः ॥ ६३ ॥

श्रीहरि तथा नृपश्रेष्ठ उग्रसेनने श्राद्धमें कंसके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको दस करोड़ स्वर्णमुद्राएँ, बहुत-सी गौएँ, रत्न, वस्त्र तथा नगरों-जैसे सम्मानित ग्राम दिये और बारंबार विप्रोंसे यह कहा—हमारा दिया हुआ यह दान उस दिवंगत आत्माके लिये अक्षय हो ॥ ६२-६३ ॥

तयोस्ते सलिलं दत्त्वा यादवा दीनमानसाः ।
पुरस्कृत्योग्रसेनं वै विविशुर्मथुरां पुरीम् ॥ ६४ ॥

इस प्रकार कंस और सुनामाके लिये जलदान करके दीनचित्त यादव राजा उग्रसेनको आगे किये मथुरापुरीमें प्रविष्ट हुए ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि उग्रसेनाभिषेककंससंस्कारकथने द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें उग्रसेनका अभिषेक तथा कंसके अन्त्येष्टि-संस्कारकथनविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

बलराम और श्रीकृष्णका गुरु सान्दीपनिके यहाँ जाकर विद्या पढ़ना और गुरुदक्षिणामें उनके मरे हुए पुत्रको उन्हें देकर मथुरापुरीको लौट आना

वैशम्पायन उवाच

स कृष्णस्तत्र बलवान् रौहिणेयेन संगतः ।
मथुरां यादवाकीर्णां पुरीं तां सुखमावसत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बलवान् श्रीकृष्ण वहाँ रोहिणीकुमार बलरामजीके साथ यादवोंसे भरी हुई उस मथुरापुरीमें सुखपूर्वक रहने लगे ॥ १ ॥

प्राप्तयौवनदेहस्तु युक्तो राजश्रिया ज्वलन् ।
चचार मथुरां वीरः स रत्नाकरभूषणाम् ॥ २ ॥

उनके शरीरको युवावस्था प्राप्त हुई । वे वीर श्रीकृष्ण राजश्रीसे प्रकाशित होते हुए रत्नराशिमय आभूषणोंसे विभूषित मथुरापुरीमें विचरण करने लगे ॥ २ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य सहितौ रामकेशवौ ।
गुरुं सान्दीपनिं काश्यमवन्तिपुरवासिनम् ॥ ३ ॥

कुछ कालके अनन्तर बलराम और श्रीकृष्ण एक साथ अवन्तिपुर (उज्जयिनी) के निवासी गुरु सान्दीपनिके यहाँ गये, जो काशिदेशमें उत्पन्न हुए थे ॥ ३ ॥

धनुर्वेदचिकीर्षार्थमुभौ तावभिजग्मतुः ।
निवेद्य गोत्रं स्वाध्यायमाचारेणाभ्यलंकृतौ ॥ ४ ॥

वे दोनों भाई वहाँ धनुर्वेदकी शिक्षा ग्रहण करनेके लिये गये थे । अपना गोत्र बताकर गुरुकुलके आचारसे अपनेको अलंकृत करके दोनों ही स्वाध्याय करने लगे ॥ ४ ॥

शुश्रूषू निरहंकारावुभौ रामजनार्दनौ ।
प्रतिजग्राह तौ काश्यो विद्याः प्रादाच्च केवलाः ॥ ५ ॥

बलराम और श्रीकृष्ण दोनों गुरुकी सेवामें तत्पर रहते थे । अहंकार तो उन्हें छू भी नहीं सका था । काशिदेशीय गुरुने उन दोनोको शिष्यरूपसे ग्रहण किया और उन्हें विशुद्ध विद्याएँ प्रदान कीं ॥ ५ ॥

तौ च श्रुतिधरौ वीरौ यथावत् प्रतिपद्यताम् ।
अहोरात्रैश्चतुष्षष्ट्या साङ्गवेदमधीयताम् ॥ ६ ॥

वे दोनों वीर श्रुतिधर थे—किसी भी बातको एक बार सुन लेनेमात्रसे ही ग्रहण कर लेते थे, अतः उन्होंने यथावत् रूपसे विद्याओंको प्राप्त किया । चौंसठ दिन-रातमें ही छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदका अध्ययन कर लिया ॥ ६ ॥

चतुष्पादं धनुर्वेदं शस्त्रग्रामं ससंग्रहम् ।
अचिरेणैव कालेन गुरुस्तावभ्यशिक्षयत् ॥ ७ ॥

गुरुजीने उन्हें थोड़े ही समयमें दीक्षा, संग्रह, सिद्धि और प्रयोग—इन चार पादोंसे युक्त धनुर्वेदकी तथा रहस्यसहित शस्त्रसमूहोंकी शिक्षा दे दी ॥ ७ ॥

अतीवामानुषीं मेधां चिन्तयित्वा तयोर्गुरुः ।
मेने तावागतौ वीरौ देवौ चन्द्रदिवाकरौ ॥ ८ ॥

उनकी अत्यन्त अलौकिक बुद्धिका विचार करके गुरुने यही माना कि इन दोनों वीरोंके रूपमें मेरे यहाँ साक्षात् चन्द्रदेव और सूर्यदेव पधारे हैं ॥ ८ ॥

ददर्श च महात्मानावुभौ तावपि पर्वसु।
पूजयन्तौ महादेवं साक्षाद् विष्णुं व्यवस्थितम्॥ ९॥

उन्होंने पर्वके अवसरोंपर उन दोनों महात्माओंको अर्चाविग्रहमें प्रतिष्ठित महान् देवता साक्षात् भगवान् विष्णुकी आराधना करते हुए भी देखा था॥ ९॥

गुरुं सान्दीपनिं कृष्णः कृतकृत्योऽभ्यभाषत।
गुर्वर्थं किं ददानीति रामेण सह भारत॥ १०॥

भारत! विद्या पढ़कर कृतकृत्य हो बलरामसहित श्रीकृष्णने अपने गुरु सान्दीपनिसे पूछा—'भगवन्! आपको गुरुदक्षिणाके रूपमें मैं क्या दूँ?'॥ १०॥

तयोः प्रभावं स ज्ञात्वा गुरुः प्रोवाच हृष्टवान्।
पुत्रमिच्छाम्यहं दत्तं यो मृतो लवणाम्भसि॥ ११॥

उन दोनोंका प्रभाव जानकर हर्षमें भरे हुए गुरुने कहा—'मेरा जो पुत्र खारे पानीके समुद्रमें डूबकर मर गया था, उसे ही तुम ले आकर दे दो, यही मेरी इच्छा है॥ ११॥

पुत्र एकोऽपि मे जातः स चापि तिमिना हृतः।
प्रभासे तीर्थयात्रायां तं मे त्वं पुनरानय॥ १२॥

'मेरे एक ही पुत्र हुआ था। वह भी तीर्थयात्राके अवसरपर प्रभासक्षेत्रमें तिमि नामक मत्स्यद्वारा मार डाला गया, उसीको तुम फिर ले आओ'॥ १२॥

तथेत्येवाब्रवीत् कृष्णो रामस्यानुमते स्थितः।
गत्वा समुद्रं तेजस्वी विवेशान्तर्जलं हरिः॥ १३॥

तब बलरामजीकी अनुमति लेकर श्रीकृष्णने उनसे कहा, 'बहुत अच्छा'; फिर वे तेजस्वी श्रीहरि समुद्रतटपर जाकर उसके जलके भीतर घुस गये॥ १३॥

समुद्रः प्राञ्जलिर्भूत्वा दर्शयामास स्वं तदा।
तमाह कृष्णः क्वासौ भोः पुत्रः सान्दीपनेरिति॥ १४॥

उस समय समुद्रने हाथ जोड़कर उन्हें दर्शन दिया। श्रीकृष्णने उससे पूछा—'अजी, सान्दीपनि मुनिका पुत्र कहाँ है?'॥ १४॥

समुद्रः प्रत्युवाचेदं दैत्यः पञ्चजनो महान्।
तिमिरूपेण तं बालं ग्रस्तवानिति माधव॥ १५॥

समुद्रने उत्तर दिया—'माधव! पञ्चजन नामक महान् दैत्यने तिमिरूपसे उस बालकको अपना ग्रास बना लिया था'॥ १५॥

स पञ्चजनमासाद्य जघान पुरुषोत्तमः।
न चाससाद तं बालं गुरुपुत्रं तदाच्युतः॥ १६॥

तब अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् पुरुषोत्तमने पञ्चजनके पास जाकर उसे मार डाला, परंतु उन्हें वहाँ उनके गुरुका पुत्र नहीं प्राप्त हुआ॥ १६॥

स तु पञ्चजनं हत्वा शङ्खं लेभे जनार्दनः।
यस्तु देवमनुष्येषु पाञ्चजन्य इति श्रुतः॥ १७॥

पञ्चजनको मारकर भगवान् जनार्दनने एक शङ्ख हस्तगत किया, जो देवताओं और मनुष्योंमें पाञ्चजन्य नामसे विख्यात है॥ १७॥

ततो वैवस्वतपुरं जगाम पुरुषोत्तमः।
ततो यमोऽभ्युपागम्य ववन्दे तं गदाधरम्॥ १८॥

तदनन्तर भगवान् पुरुषोत्तम वैवस्वत यमकी पुरीमें गये। यमने आकर उन भगवान् गदाधरको प्रणाम किया॥

तमुवाचाथ वै कृष्णो गुरुपुत्रः प्रदीयताम्।
तयोस्तत्र तदा युद्धमासीद् घोरतरं महत्॥ १९॥

तब श्रीकृष्णने उनसे कहा—'मुझे मेरे गुरुका पुत्र दे दो (परंतु यमने उसे देनेसे इनकार किया)। तब उन दोनोंमें वहाँ महान् घोरतर युद्ध हुआ॥ १९॥

ततो वैवस्वतं घोरं निर्जित्य पुरुषोत्तमः।
आससाद च तं बालं गुरुपुत्रं तदाच्युतः॥ २०॥

भयानक यमराजको जीतकर पुरुषोत्तम अच्युतने अपने बालक गुरुपुत्रको प्राप्त कर लिया॥ २०॥

आनिनाय गुरोः पुत्रं चिरं नष्टं यमक्षयात्।
ततः सान्दीपनेः पुत्रः प्रभावादमितौजसः॥ २१॥
दीर्घकालगतः प्रेतः पुनरासीच्छरीरवान्।

जो दीर्घकालसे नष्ट हो चुका था, उस गुरुपुत्रको भगवान् यमलोकसे यहाँ उठा ले आये। उन अमिततेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावसे दीर्घकालका मरा हुआ सान्दीपनिका पुत्र पुनः पूर्ववत् शरीर धारण करके जी उठा २१½

तदशक्यमचिन्त्यं च दृष्ट्वा सुमहदद्भुतम्॥ २२॥
सर्वेषामेव भूतानां विस्मयः समजायत।

वह अशक्य, अचिन्त्य और अत्यन्त अद्भुत कार्य देखकर सभी प्राणियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ॥ २२½॥

स गुरोः पुत्रमादाय पाञ्चजन्यं च माधवः।
रत्नानि च महार्हाणि पुनरायाज्जगत्प्रभुः॥ २३॥

जगत्के स्वामी लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण गुरुपुत्रको साथ ले पाञ्चजन्य शङ्ख तथा बहुत-से बहुमूल्य रत्न लेकर पुनः लौट आये॥ २३॥

राक्षसैस्तस्य रत्नानि महार्हाणि बहूनि च।
आनाय्यावेदयामास गुरवे वासवानुजः॥ २४॥

इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णने उन बहुसंख्यक एवं बहुमूल्य रत्नोंको राक्षसोंद्वारा (जो यमके किंकर थे) मँगवाकर गुरुको निवेदन किया॥ २४॥

गदापरिघयुद्धेषु सर्वास्त्रेषु च तावुभौ।
अचिरान्मुख्यतां प्राप्तौ सर्वलोके धनुर्भृताम्॥ २५॥

दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्णने गदा और परिघके युद्धोंमें तथा सम्पूर्ण अस्त्रोंमें शीघ्र ही प्रमुखता प्राप्त कर ली। वे समस्त संसारके धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ माने जाने लगे ॥ २५ ॥

ततः सान्दीपनेः पुत्रं तद्रूपवयसं तदा।
प्रादात् कृष्णः प्रतीतात्मा सह रत्नैरुदारधीः ॥ २६ ॥

उदारबुद्धिवाले श्रीकृष्णने प्रसन्नचित्त होकर सान्दीपनिके पुत्रको उसी रूप और अवस्थामें रत्नोंके साथ उन्हें लौटा दिया॥

चिरनष्टेन पुत्रेण काश्यः सान्दीपनिस्तदा।
समेत्य मुमुदे राजन् पूजयन् रामकेशवौ ॥ २७ ॥

राजन्! काशिदेशमें उत्पन्न हुए सान्दीपनिने चिरकाल-से नष्ट हुए अपने पुत्रसे मिलकर बलराम और श्रीकृष्णकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए बड़े प्रसन्न हुए ॥ २७ ॥

कृतास्त्रौ तावुभौ वीरौ गुरुमामन्त्र्य सुव्रतौ।
आयातौ मथुरां भूयो वसुदेवसुतावुभौ ॥ २८ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे दोनों वीर वसुदेवपुत्र अस्त्र-विद्याकी शिक्षा पाकर गुरुकी आज्ञा ले पुनः मथुरापुरी-को लौट आये ॥ २८ ॥

ततः प्रत्युद्ययुः सर्वे यादवा यदुनन्दनौ।
सबला हृष्टमनस उग्रसेनपुरोगमाः ॥ २९ ॥

उस समय उग्रसेन आदि समस्त यादवोंने प्रसन्नचित्त होकर सेनासहित आगे जा उन दोनों यदुनन्दन वीरोंकी अगवानी की ॥ २९ ॥

श्रेण्यः प्रकृतयश्चैव मन्त्रिणः सपुरोहिताः।
सबालवृद्धा सा चैव पुरी समभिवर्तत ॥ ३० ॥

व्यवसायीवर्ग, प्रजावर्ग अथवा प्रकृतिमण्डल, मन्त्री, पुरोहित तथा बालकों और बूढ़ोंसहित वह सारी पुरी (श्रीकृष्ण-बलरामके दर्शनके लिये) उमड़ पड़ी ॥ ३० ॥

नन्दितूर्याण्यवाद्यन्त तुष्टुवुश्च जनार्दनम्।
रथ्याः पताकामालिन्यो भ्राजन्ते स्म समन्ततः ॥ ३१ ॥

आनन्दसूचक बाजे बजने लगे। सब लोग श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे। मथुरापुरीकी गलियाँ और सड़कें ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत हो सब ओरसे सुशोभित होने लगीं ॥

प्रहृष्टमुदितं सर्वमन्तःपुरमशोभत।
गोविन्दागमनेऽत्यर्थं यथैवेन्द्रमहे तथा ॥ ३२ ॥

गोविन्दके आगमनसे इन्द्रोत्सवके समान सारे नगर और अन्तःपुरमें अत्यन्त हर्ष एवं आनन्द छा गया। उसकी शोभा बढ़ गयी ॥ ३२ ॥

मुदिताश्चाथ गायन्ति राजमार्गेषु गायकाः।
तत्रासीत् प्रथिता गाथा यादवानां प्रियङ्करा ॥ ३३ ॥
गोविन्दरामौ सम्प्राप्तौ भ्रातरौ लोकविश्रुतौ।
स्वे पुरे निर्भयाः सर्वे क्रीडध्वं सह बान्धवैः ॥ ३४ ॥

राजमार्गोंपर बहुतेरे गायक आनन्दित होकर गीत गाने लगे। उस समय यादवोंको प्रिय लगनेवाली यह गाथा वहाँ सब ओर कही-सुनी जाने लगी—'नागरिको! विश्वविख्यात वीर श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाई मथुरामें आ पहुँचे हैं। अब तुम सब लोग निर्भय हो अपने नगरमें बन्धु-बान्धवोंके साथ क्रीडा करो' ॥ ३३-३४ ॥

न तत्र कश्चिद् दीनो वा मलिनो वा विचेतनः।
मथुरायामभूद् राजन् गोविन्दे समुपस्थिते ॥ ३५ ॥

राजन्! गोविन्दके मथुरामें उपस्थित होनेपर वहाँ न तो कोई दीन था, न मलिन था और न चेतनासे शून्य ही था ॥

वयांसि साधुवाक्यानि प्रहृष्टा गोहयद्विपाः।
नरनारीगणाः सर्वे भेजिरे मनसः सुखम् ॥ ३६ ॥

पक्षी मीठी-मीठी बोली बोलते थे। गाय, बैल, घोड़े, हाथी हृष्ट-पुष्ट रहते थे और पुरुषों तथा स्त्रियोंके सभी समुदाय मनमें सुखका अनुभव करते थे ॥ ३६ ॥

शिवाश्च वाताः प्रववुर्विरजस्का दिशो दश।
दैवतानि च हृष्टानि सर्वेष्वायतनेषु च ॥ ३७ ॥

शीतल सुखद हवा चलती थी। दसों दिशाओंमें धूल नहीं उड़ती थी और सभी मन्दिरोंमें हर्षपूर्वक देवता निवास करते थे ॥ ३७ ॥

यानि लिङ्गानि लोकस्य चासन् कृतयुगे पुरा।
तानि सर्वाण्यदृश्यन्त पुरीं प्राप्ते जनार्दने ॥ ३८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके मथुरापुरीको लौट आनेपर वहाँ सारे चिह्न वैसे ही दिखायी देने लगे, जो सत्ययुगके समय पहले जगत्‌में प्रकट होते थे ॥ ३८ ॥

ततः काले शिवे पुण्ये स्यन्दनेनारिमर्दनः।
हरियुक्तेन गोविन्दो विवेश मथुरां पुरीम् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर मङ्गलमयी पुण्यवेलामें शत्रुमर्दन भगवान् गोविन्दने घोड़े जुते हुए रथपर बैठकर मथुरापुरीमें प्रवेश किया ॥ ३९ ॥

विशन्तं मथुरां रम्यां तमुपेन्द्रमरिंदमम्।
अनुजग्मुर्यदुगणाः शक्रं देवगणा इव ॥ ४० ॥

रमणीय मथुरापुरीमें प्रवेश करते समय समस्त यादव उन शत्रुदमन उपेन्द्र श्रीकृष्णके पीछे-पीछे उसी प्रकार चले, जैसे देवता देवेन्द्रका अनुसरण करते हैं ॥ ४० ॥

वसुदेवस्य भवनं ततस्तौ यदुनन्दनौ।
प्रविष्टौ हृष्टवदनौ चन्द्रादित्याविवाचलम् ॥ ४१ ॥
परेण तेजसोपेतौ सुरेन्द्राविव रूपिणौ।
तावायुधानि विन्यस्य गृहे स्वे स्वैरचारिणौ ॥ ४२ ॥

तदनन्तर यदुकुलको आनन्दित करनेवाले वे दोनों बन्धु वसुदेवके भवनमें प्रविष्ट हुए। उस समय उनके मुखपर हर्षो-

ल्लास छा रहा था और वे मेरु पर्वतपर जानेवाले चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रतीत होते थे। वे महान् तेजसे सम्पन्न तथा देवेश्वरोंके समान मनोहर रूपधारी श्रीकृष्ण बलराम आयुधोंको अपने घरमें रखकर उस पुरीमें स्वेच्छानुसार विचरने लगे ॥४१-४२॥

मुमुदाते यदुवरौ वसुदेवसुतावुभौ।
उद्यानेषु विचित्रेषु फलपुष्पावनामिषु ॥ ४३ ॥

वसुदेवके वे दोनों पुत्र यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण-बलराम फल और फूलोंके भारसे झुके हुए वृक्षोंवाले विचित्र उद्यानोंमें सानन्द विचरते थे ॥ ४३ ॥

चेरतुः सुमहात्मानौ यादवैः परिवारितौ।
रैवतस्य समीपेषु सरित्सु विमलासु च ॥ ४४ ॥
पद्मपत्रविवृद्धासु कारण्डवयुतासु च।

यादवोंसे घिरे हुए वे दोनों महात्मा रैवतक पर्वतके समीपवर्ती प्रदेशोंमें तथा बढ़े हुए पद्म-पत्रोंसे युक्त एवं कारण्डव पक्षियोंके कलरवोंसे मुखरित निर्मल सरिताओंके तटोंपर भ्रमण करते थे ॥ ४४½॥

एवं तावेकनिर्माणौ मथुरायां शुभाननौ।
उग्रसेनानुगौ भूत्वा कंचित् कालं मुमोदतुः ॥ ४५ ॥

वे दोनों भाई एक तत्त्वके बने हुए थे (एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा इन दोनोंके रूपोंमें प्रकट हुए थे)। उन दोनोंके मुख बड़े ही सुन्दर एवं मङ्गलकारी थे। वे कुछ कालतक उग्रसेनका अनुसरण करते हुए मथुरामें बड़े सुखसे रहे ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि रामकृष्णप्रत्यागमने त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीबलराम और कृष्णका मथुरामें प्रत्यागमनविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

जरासंधका अपनी विशाल सेनाके द्वारा आकर मथुरापुरीपर घेरा डालना

वैशम्पायन उवाच

स कृष्णस्तत्र सहितो रौहिणेयेन संगतः।
मथुरां यादवाकीर्णां पुरीं तां सुखमावसत् ॥ १ ॥
प्राप्तयौवनदेहस्तु युक्तो राजश्रिया विभुः।
चचार मथुरां प्रीतः स वनाकरभूषणाम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बलरामसहित श्रीकृष्ण यादवोंसे भरी हुई मथुरापुरीमें सुखपूर्वक रहने लगे। उनके श्रीअङ्गोंको युवावस्था प्राप्त हुई थी। वे भगवान् राजोचित शोभासे सुशोभित हो वन-प्रान्तोंसे विभूषित मथुरापुरीमें प्रसन्नतापूर्वक विचरते थे ॥ १-२ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा राजगृहेश्वरः।
शुश्राव निहतं कंसं दुहितृभ्यां महीपतिः ॥ ३ ॥

कुछ कालके अनन्तर राजगृहके स्वामी पृथ्वीपति राजा जरासंधने अपनी दोनों पुत्रियोंसे सुना कि 'कंस मारा गया' ॥

ततो नातिचिरात् कालाज्जरासंधः प्रतापवान्।
आजगाम षडङ्गेन बलेन महता वृतः ॥ ४ ॥
जिघांसुर्हि यदून् क्रुद्धः कंसस्यापचितिं स्मरन्।

यह दुःखद समाचार सुनकर प्रतापी जरासंध थोड़े ही दिनोंमें छः[1] अङ्गोंसे युक्त अपनी विशाल सेनासे घिरा हुआ मथुरापुरीपर चढ़ आया। वह कंससे उऋण होनेकी बातका ध्यान रखकर कुपित हो समस्त यादवोंका विनाश कर डालना चाहता था ॥ ४½ ॥

अस्तिः प्राप्तिश्च नाम्ना ते मागधस्य सुते नृप ॥ ५ ॥
जरासंधस्य कल्याण्यौ पीनश्रोणिपयोधरे।
उभे कंसस्य ते भार्ये प्रादाद् बार्हद्रथो नृपः ॥ ६ ॥

नरेश्वर! मगधराज जरासंधके दो कल्याणमयी कन्याएँ थीं, जिनके नाम थे अस्ति और प्राप्ति। इन दोनोंके कटि-प्रदेशके पिछले भाग स्थूल तथा उरोज पीन थे। बृहद्रथपुत्र जरासंधने अपनी वे दोनों कन्याएँ कंसको दे दी थीं। वे दोनों कंसकी पत्नियाँ थीं ॥ ५-६ ॥

स ताभ्यां मुमुदे राजा बद्ध्वा पितरमाहुकम्।
समाश्रित्य जरासंधमनादृत्य च यादवान्।
शूरसेनेश्वरो राजा यथा ते बहुशः श्रुतः ॥ ७ ॥

शूरसेनदेशका स्वामी कंस जरासंधका आश्रय ले यादवोंका अनादर करके अपने पिता उग्रसेनको कैद कर स्वयं ही राजा बन बैठा था और अपनी उन दोनों पत्नियोंके साथ आनन्द भोगने लगा था; जैसा कि तुमने बहुत बार सुना होगा ॥ ७ ॥

ज्ञातिकार्यार्थसिद्ध्यर्थमुग्रसेनहिते रतः।
वसुदेवोऽभवन्नित्यं कंसो न ममृषे च तम् ॥ ८ ॥

भाई-बन्धुओंके कार्य और प्रयोजनकी सिद्धिके लिये

1. रथ, हाथी, घोड़े, पैदल, पण्य धान्य (बिकाऊ अन्न) तथा आपणिक (विक्रेता व्यापारी)—ये सेनाके छः अङ्ग हैं।

वसुदेवजी सदा उग्रसेनके हितमें तत्पर रहते थे; किंतु कंस उनके इस बर्तावको सहन नहीं कर पाता था ॥ ८ ॥

रामकृष्णौ समाश्रित्य हते कंसे दुरात्मनि ।
उग्रसेनोऽभवद् राजा भोजवृष्ण्यन्धकैर्वृतः ॥ ९ ॥

बलराम और श्रीकृष्णसे भिड़कर जब दुरात्मा कंस मारा गया, तब भोज, वृष्णि और अन्धकवंशी यादवोंसे घिरे हुए उग्रसेन स्वयं राजा हुए ॥ ९ ॥

दुहितृभ्यां जरासंधः प्रियाभ्यां बलवान् नृपः ।
नोदितो वीरपत्नीभ्यामुपायान्मथुरां ततः ॥ १० ॥

तदनन्तर अपनी दोनों प्रिय पुत्रियोंसे, जो वीर कंसकी पत्नियाँ थीं, प्रेरित होकर बलवान् राजा जरासंधने मथुरापर आक्रमण किया ॥ १० ॥

कृत्वा सर्वं समुद्योगं क्रोधादग्निसमो ज्वलन् ।
प्रतापावनता ये च जरासंधस्य पार्थिवाः ॥ ११ ॥
मित्राणि ज्ञातयश्चैव संयुक्ताः सुहृदस्तथा ।
तमेवानुययुः सर्वे सैन्यैः समुदितैर्वृताः ॥ १२ ॥

वह क्रोधसे अग्निके समान जल रहा था। उसने सब प्रकारसे पूरा उद्योग करके चढ़ाई की थी। जरासंधके प्रतापसे नतमस्तक हुए जो-जो राजा थे तथा जो उसके मित्र, भाई-बन्धु, मिलने-जुलनेवाले और सुहृद् थे, उन सबने अपनी सारी सेनाओंके साथ जरासंधका ही अनुसरण किया ॥११-१२॥

महेष्वासा महावीर्या जरासंधप्रियैषिणः ।
कारूषो दन्तवक्त्रश्च चेदिराजश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
कलिङ्गाधिपतिश्चैव पौण्ड्रश्च बलिनां वरः ।
सांकृतिः कैशिकश्चैव भीष्मकश्च नराधिपः ॥ १४ ॥
पुत्रश्च भीष्मकस्यापि रुक्मी मुख्यो धनुर्भृताम् ।
वासुदेवार्जुनाभ्यां यः स्पर्धते स महाहवे ॥ १५ ॥

वे महाधनुर्धर तथा महापराक्रमी नरेशगण जरासंधका ही प्रिय चाहनेवाले थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—करूष देशका राजा दन्तवक्त्र, पराक्रमी चेदिराज शिशुपाल, कलिङ्ग-देशका राजा श्रुतायु, बलवानोंमें श्रेष्ठ पौण्ड्रक (वासुदेव), सांकृति, कैशिक, राजा भीष्मक तथा धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मकपुत्र रुक्मी, जो महासमरमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके साथ लड़नेका हौसला रखता था ॥ १३—१५ ॥

वेणुदारिः श्रुतर्वा च क्रथश्चैवांशुमानपि ।
अङ्गराजश्च बलवान् वङ्गानामधिपस्तथा ॥ १६ ॥
कौसल्यः काशिराजश्च दशार्णाधिपतिस्तथा ।
सुखेश्वरश्च विक्रान्तो विदेहाधिपतिस्तथा ॥ १७ ॥
मद्रराजश्च बलवांस्त्रिगर्तानामथेश्वरः ।
शाल्वराजश्च विक्रान्तो दरदश्च महाबलः ॥ १८ ॥
यवनाधिपतिश्चैव भगदत्तश्च वीर्यवान् ।
सौवीरराजः शैव्यश्च पाण्ड्यश्च बलिनां वरः ॥ १९ ॥
गान्धारराजः सुबलो नग्नजिच्च महाबलः ।
काश्मीरराजो गोनर्दो दरदाधिपतिर्नृपः ।
दुर्योधनादयश्चैव धार्तराष्ट्रा महाबलाः ॥ २० ॥
एते चान्ये च राजानो बलवन्तो महारथाः ।
तमन्वयुर्जरासंधं विद्विषन्तो जनार्दनम् ॥ २१ ॥

वेणुदारि, श्रुतर्वा, क्रथ, अंशुमान्, बलवान् अङ्गराज, वङ्गनरेश, कोसलनरेश, काशिराज, दशार्णदेशके अधिपति, पराक्रमी सुखेश्वर, विदेहराज, बलवान् मद्रराज (शल्य), त्रिगर्तदेशका शासक सुशर्मा, पराक्रमी शाल्वराज, महाबली दरद, यवनोंका राजा पराक्रमी भगदत्त, सौवीरदेशका राजा, शैव्य, बलवानोंमें श्रेष्ठ पाण्ड्य, गान्धारराज सुबल, महाबली नग्नजित्, काश्मीरराज गोनर्द, दरददेशके अधिपति, धृतराष्ट्रके महाबली पुत्र दुर्योधन आदि—ये तथा और भी बलवान् महारथी राजा श्रीकृष्णसे द्वेष रखते हुए जरासंधके साथ आये थे ॥ १६—२१ ॥

ते शूरसेनानाविश्य प्रभूतयवसेन्धनान् ।
ऊषुः संरुध्य मथुरां पुरस्कृत्य बलं तदा ॥ २२ ॥

वे शूरसेनदेशमें, जहाँ दाना-घास और लकड़ीकी बहुतायत थी, आकर अपनी-अपनी सेनाओंको आगे करके मथुरापर घेरा डालकर रहने लगे ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि मथुरोपरोधे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें जरासंधकी सेनाद्वारा मथुरापर घेराविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

जरासंधकी सेनाका वर्णन, उसकी चारों दिशाओंसे मथुरापुरीपर आक्रमणकी योजना, यादवोंके साथ जरासंधकी सेनाका युद्ध, श्रीकृष्ण और बलरामके पराक्रमसे उसकी सेनाका पलायन, जरासंधद्वारा अपने सैनिकोंको प्रोत्साहन तथा उभय-पक्षके वीरोंमें घमासान युद्ध

वैशम्पायन उवाच

मथुरोपवने गत्वा निविष्टांस्तान् नराधिपान् ।
अपश्यन् वृष्णयः सर्वे पुरस्कृत्य जनार्दनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे सब नरेश मथुराके उपवनमें पहुँचकर छावनी डाले हुए थे। वहाँ समस्त वृष्णिवंशियोंने श्रीकृष्णको आगे करके उन्हें देखा ॥ १ ॥

ततो हृष्टमनाः कृष्णो रामं वचनमब्रवीत्।
त्वरते खलु कार्यार्थो देवतानां न संशयः ॥ २ ॥

तब श्रीकृष्णने मन-ही-मन प्रसन्न होकर बलरामजीसे कहा—'आर्य! देवताओंका कार्य एवं प्रयोजन शीघ्र ही सिद्ध होना चाहता है—इसमें संशय नहीं है ॥ २ ॥

यथायं संनिकृष्टो हि जरासंधो नराधिपः।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाग्राणि रथानां वातरंहसाम् ॥ ३ ॥

'तभी तो यह राजा जरासंध स्वयं ही हमारे निकट आ पहुँचा। यह वायुके समान वेगशाली रथोंकी ध्वजाओंके अग्रभाग दिखायी दे रहे हैं ॥ ३ ॥

एतानि शशिकल्पानि नृपाणां विजिगीषताम्।
छत्राण्यार्य विराजन्ते प्रोच्छ्रितानि सितानि च ॥ ४ ॥

'भैया! विजयकी इच्छासे आये हुए राजाओंके ये चन्द्रमा-जैसे श्वेत एवं ऊँचे-ऊँचे छत्र शोभा पा रहे हैं ॥४॥

अहो नृपरथोदग्रा विमलाश्छत्रपङ्क्तयः।
अभिवर्तन्ति नः शुभ्रा यथा खे हंसपङ्क्तयः ॥ ५ ॥

'अहो! राजाओंके रथोंपर ऊँची-ऊँची निर्मल एवं शुभ्र छत्र-पंक्तियाँ आकाशमें हंसकी पाँतोंके समान शोभा पाती हुई हमारे निकट आ रही है ॥ ५ ॥

काले खलु नृपः प्राप्तो जरासंधो महीपतिः।
आवयोर्युद्धनिकषः प्रथमः समरातिथिः ॥ ६ ॥

'पृथ्वीपति जरासंध ठीक समयपर आ पहुँचा है। यह हम दोनोंके युद्धकी कसौटी तथा समराङ्गणका पहला अतिथि है ॥ ६ ॥

आर्य तिष्ठाव सहितावनुप्राप्ते महीपतौ।
युद्धारम्भः प्रयोक्तव्यो बलं तावद्विमृश्यताम् ॥ ७ ॥

'आर्य! उस राजाके आ जानेपर हम दोनो साथ ही रहें। युद्धका आरम्भ पीछे होगा। पहले उसकी सेना कितनी है, इसका विचार कर लें' ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा ततः कृष्णः स्वस्थः संग्रामलालसः।
जरासंधबलं प्रेप्सुश्चकार बलदर्शनम् ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर श्रीकृष्ण स्वस्थ-चित्तसे संग्रामकी लालसा रखकर जरासंधकी शक्तिका पता लगानेके लिये उसकी सेनाका निरीक्षण करने लगे ॥ ८ ॥

वीक्षमाणश्च तान् सर्वान् नृपान् यदुवरोऽव्ययः।
आत्मनैवात्मनो वाक्यमुवाच हृदि मन्त्रवित् ॥ ९ ॥

अविनाशी यदुकुलतिलक मन्त्रवेत्ता श्रीकृष्ण उन सब राजाओंको देखकर अपने-आप ही मनमें इस प्रकार कहने लगे—॥ ९ ॥

इमे ते पृथिवीपालाः पार्थिवे वर्त्मनि स्थिताः।
ये विनाशं गमिष्यन्ति शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ १० ॥

'ये हैं वे भूपाल, जो राजोचित मार्गपर स्थित हैं और शास्त्रोक्त विधिसे विनाशको प्राप्त होनेवाले हैं ॥ १० ॥

प्रोक्षितान् खल्विमान् मन्ये मृत्युना नृपपुङ्गवान्।
स्वर्गगामीनि चाप्येषां वपूंषि प्रचकाशिरे ॥ ११ ॥

'मैं समझता हूँ कि मृत्युने रण-यज्ञकी आहुति बनानेके लिये इन श्रेष्ठ नरेशोंका प्रोक्षण किया है। इनके स्वर्गगामी शरीर भी प्रकाशित हो उठे हैं ॥ ११ ॥

स्थाने भारपरिश्रान्ता वसुधेयं दिवं गता।
एषां नृपाणां मुख्यानां बलौघैरभिपीडिता ॥ १२ ॥

'यह पृथ्वी इन मुख्य-मुख्य नरेशोंके सैन्य-समुदायसे पीड़ित हो महान् भारसे थककर जो देवलोकमें गयी थी, वह इसका जाना उचित ही था ॥ १२ ॥

मही निरन्तरा चेयं बलराष्ट्राभिसंवृता।
स्वल्पेन खलु कालेन विविक्तं पृथिवीतलम् ॥ १३ ॥
भविष्यति नरेन्द्रौघैः शतशो विनिपातितैः।

'इन राजाओंके सैन्य-समुदायसे आवृत होकर यहाँकी भूमि ठसाठस भर गयी है। कहीं थोड़ा सा भी अवकाश नहीं रह गया है; परंतु थोड़े ही समयमें जब ये सैकड़ो नरेश सैन्यसहित मार गिराये जायँगे, तब यह भूतल निर्जन-सा हो जायगा' ॥

वैशम्पायन उवाच

जरासंधस्ततः क्रुद्धः प्रभुः सर्वमहीक्षिताम् ॥ १४ ॥
नराधिपसहस्रौघैरनुयातो महाद्युतिः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर समस्त राजाओंका स्वामी महातेजस्वी जरासंध कुपित हो सहस्रों नरेश-समुदायोंके साथ आगे बढ़ा ॥ १४½ ॥

व्यायतोदग्रतुरगैः सुयानैः सुसमाहितैः ॥ १५ ॥
रथैः सांग्रामिकैर्युक्तैरसङ्गगतिभिः क्वचित्।

कहीं सुन्दर ढंगसे सुसज्जित सुन्दर वाहन, रथ युद्धोपयोगी सामग्रियोंसे सम्पन्न थे। उनमें विशाल एवं प्रचण्ड वेगवाले अश्व जुते हुए थे। उन रथोंकी गति कहीं भी अवरुद्ध नहीं होती थी (ऐसे रथोंद्वारा रथी योद्धा युद्धके लिये आगे बढ़ रहे थे) ॥ १५½ ॥

हेमकक्षैर्महाघण्टैर्वारणैर्वारिदोपमैः ॥ १६ ॥
महामात्रोत्तमारूढैः कल्पितै रणकोविदैः।

कहीं बहुसंख्यक हाथी चल रहे थे, जिन्हें सोनेकी जंजीरोंसे कसा गया था। उनके दोनो ओर बड़े-बड़े घण्टे लटक रहे थे। वे हाथी काले मेघोंके समान प्रतीत होते थे। उनके ऊपर अच्छे महावत बैठे थे तथा रणकुशल योद्धाओंद्वारा उन्हें सुसज्जित किया गया था (उन हाथियोंद्वारा गजारोही योद्धा आगे बढ़ रहे थे) ॥ १६½ ॥

स्वारूढैः सादिभिर्युक्तैः प्रेङ्खमाणैः प्रवल्गितैः ॥ १७ ॥

वाजिभिर्वायुसंकाशैः प्लवद्भिरिव पत्रिभिः ।

कुछ घुड़सवार योद्धा घोड़ोंपर अच्छी तरहसे सवार थे। उनके वे घोड़े वायुके समान वेगशाली थे और उछलते-कूदते हुए आगे बढ़ते समय आकाशमें उड़ते हुए पक्षियोंके समान प्रतीत होते थे ॥ १७½ ॥

खड्गचर्मधरोदग्रैः पत्तिभिर्बलिनां वरैः ॥ १८ ॥
सहस्रसंख्यासंयुक्तैरुत्पतद्भिरिवोरगैः ।

बलवानोंमें श्रेष्ठ पैदल सैनिक भी ढाल और तलवार लिये प्रचण्ड रूप धारण करके आगे बढ़ते थे । वे हजार-हजारकी टोलियोंमें एक साथ चलते थे और उछलते हुए सर्पोंके समान दिखायी देते थे ॥ १८½ ॥

एवं चतुर्विधैः सैन्यैः कम्पमानैरिवाम्बुदैः ॥ १९ ॥
नृपः प्रयातो बलवाञ्जरासंधो धृतव्रतः ।

इस प्रकार मँडराते हुए बादलोंके समान चतुरङ्गिणी सेनाएँ साथ लेकर वीरव्रतको धारण करनेवाला बलवान् राजा जरासंध युद्धके लिये आगे बढ़ रहा था ॥ १९½ ॥

स रथैर्मेघनिर्घोषैर्गजैश्च मदसंयुतैः ॥ २० ॥
हेषमाणैश्च तुरगैः क्ष्वेडमानैश्च पत्तिभिः ।
नादयानो दिशः सर्वास्तस्याः पुर्या वनानि च ॥ २१ ॥

वह मेघके समान गम्भीर घर्घर घोष करनेवाले रथों, चिग्घाड़ते हुए मतवाले हाथियों, हिनहिनाते हुए घोड़ों तथा गर्जते हुए पैदल सैनिकोंद्वारा उस पुरीकी सम्पूर्ण दिशाओं तथा वनोंको कोलाहलपूर्ण बनाता हुआ आ रहा था ॥२०-२१॥

स राजा सागराकारः ससैन्यः प्रत्यदृश्यत ।
तद्बलं पृथिवीशानां हृष्टयोधजनाकुलम् ॥ २२ ॥

सेनाके साथ आता हुआ राजा जरासंध विशाल समुद्रके समान दिखायी देता था । भूमिपालोंकी वह सेना हृष्ट-पुष्ट योद्धाओंसे परिपूर्ण थी ॥ २२ ॥

क्ष्वेडितास्फोटितरवं मेघसैन्यमिवाबभौ ।
रथैः पवनसम्पातैर्गजैश्च जलदोपमैः ।
तुरगैश्च जवोपेतैः पत्तिभिः खगमोपमैः ॥ २३ ॥
विमिश्रं सर्वतो भाति मत्तद्विपसमाकुलम् ।
घर्मान्ते सागरगतं यथाभ्रपटलं तथा ॥ २४ ॥

गर्जने और ताल ठोंकनेकी गम्भीर ध्वनिसे वह मेघोंकी गर्जती हुई घटाके समान प्रतीत होती थी । वायुके समान शीघ्रगामी रथों, मेघोंके सदृश दिखायी देनेवाले हाथियों, वेगशाली घोड़ों तथा आकाशचारी पक्षियोंके समान जान पड़नेवाले पैदल सैनिकोंसे मिश्रित हुई उस सेनाकी सब ओरसे बड़ी शोभा हो रही थी । मतवाले हाथियोंसे व्याप्त हुई वह विशाल वाहिनी वर्षा-ऋतुमें समुद्रके भीतर लक्षित होनेवाले मेघोंके समूहकी शोभा धारण करती थी ॥ २३-२४ ॥

सबलास्ते महीपाला जरासंधपुरोगमाः ।
परिवार्य पुरीं सर्वे निवेशायोपचक्रिरे ॥ २५ ॥

वे जरासंध आदि समस्त भूपाल अपनी सेनाके साथ मथुरापुरीको चारों ओरसे घेरकर छावनी डालनेकी तैयारी करने लगे ॥ २५ ॥

बभौ तस्य निविष्टस्य बलस्याग्र्यः शिबिरस्य वै ।
शुक्लपर्यन्तपूर्णस्य यथा रूपं महोदधेः ॥ २६ ॥

वहाँ डेरा डाले हुए जरासंधके सैनिक-शिविरोंकी शोभा वैसी ही प्रतीत होती थी, जैसा कि शुक्लपक्षकी पूर्णिमाको अपनी उत्ताल तरङ्गोंसे परिपूर्ण हुए महासागरका रूप देखनेमें आता है ॥ २६ ॥

वीतरात्रे ततः काले समुत्तस्थुर्महीक्षितः ।
आरोहणार्थं पुर्यास्ते समीयुर्युद्धलालसाः ॥ २७ ॥

तदनन्तर रात बीतनेपर प्रातःकाल सब राजा उठे और युद्धकी लालसासे मथुरापुरीपर चढ़ाई करनेके लिये एकत्र होने लगे ॥ २७ ॥

समवायीकृताः सर्वे यमुनामनु ते नृपाः ।
निविष्टा मन्त्रयामासुर्युद्धकालकुतूहलाः ॥ २८ ॥

यमुनाके किनारे एकत्र होकर वे सभी नरेश बैठे और युद्धके शुभ अवसरके लिये उत्सुक हो आपसमें मन्त्रणा करने लगे ॥ २८ ॥

तेषां सुतुमुलः शब्दः शुश्रुवे पृथिवीक्षिताम् ।
युगान्ते भिद्यमानानां सागराणामिव स्वनः ॥ २९ ॥

सेनासहित उन नरेशोंकी तुमुल ध्वनि प्रलयकालमें मर्यादाको तोड़कर बहनेवाले समुद्रोंकी भयंकर गर्जनाके समान सुनायी देती थी ॥ २९ ॥

तेषां सकञ्चुकोष्णीषाः स्थविरा वेत्रपाणयः ।
चेरुर्मा शब्द इत्येवं वदन्तो राजशासनात् ॥ ३० ॥

उन राजाओंके छड़ीदार बूढ़े सिपाही चोगा और पगड़ी धारण किये तथा हाथमें बेत लिये राजाज्ञासे यह कहते हुए विचरने लगे कि 'सब लोग मौन रहें । कोई एक शब्द भी न बोले' ॥ ३० ॥

तस्य रूपं बलस्यासीन्निःशब्दस्तिमितस्य वै ।
लीनमीनग्रहस्येव निःशब्दस्य यथोदधेः ॥ ३१ ॥

उस समय नीरव और निश्चल हुए उस सैन्यसमूहका रूप जिसके मत्स्य और ग्राह विलीन हो गये हों उस शब्द-हीन शान्त महासागरके समान प्रतीत होता था ॥ ३१ ॥

निःशब्दस्तिमिते तस्मिन् योगादिव महार्णवे ।
जरासंधो बृहद् वाक्यं बृहस्पतिरिवाददे ॥ ३२ ॥

उस सैन्य-समुद्रके मानो योगबलसे सहसा नीरव तथा

निश्चल हो जानेपर बृहस्पतिके समान नीतिमान् जरासंधने यह महत्त्वपूर्ण बात कही—॥ ३२ ॥

शीघ्रं समभिवर्तन्तां बलानि पृथिवीक्षिताम्।
सर्वतो नगरी चेयं जनौघैः परिवार्यताम् ॥ ३३ ॥

'राजाओंकी सेनाएँ शीघ्र आक्रमण करें और इस मथुरानगरीको सब ओरसे सैनिक-समूहोंद्वारा घेर लें ॥३३॥

अश्मयन्त्राणि युज्यन्तां क्षेपणीयाश्च मुद्गराः।
कार्या भूमिः समा सर्वा जलौघैश्च परिप्लुता।
ऊर्ध्वं चापा निबाध्यन्तां प्रासा वै तोमरास्तथा ॥ ३४ ॥

'पत्थरोंके गोले बरसानेवाले यन्त्र लगा दिये जायँ। क्षेपणीय (गोफना या ढेलवाँस) तथा मुद्गर सँभाल लिये जायँ। सारी भूमि समतल कर दी जाय और उसे जल-राशियोंसे आप्लावित किया जाय। धनुषोंको ऊपर उठा लेना चाहिये, प्रासों और तोमरोंको भी हाथमें ले लिया जाय ॥ ३४ ॥

दार्यतां चैव टङ्काद्यैः खनित्रैश्च पुरी द्रुतम्।
नृपाश्च युद्धमार्गज्ञा विन्यस्यन्तामदूरतः ॥ ३५ ॥

'टंक आदिके द्वारा तथा खनित्रोंसे इस पुरीको तुरंत ही विदीर्ण कर दिया जाय। युद्धकी प्रणालीको जाननेवाले नरेशोंको उसके समीप ही यथास्थान खड़ा किया जाय ॥३५॥

अद्यप्रभृति सैन्यैर्मे पुरीरोधः प्रवर्त्यताम्।
यावदेतौ रणे गोपौ वसुदेवसुतावुभौ ॥ ३६ ॥
संकर्षणं च कृष्णं च घातयामि शितैः शरैः।
आकाशमपि बाणौघैर्निःसम्पातं यथा भवेत् ॥ ३७ ॥

'आजसे मेरे सैनिकोंद्वारा मथुरापुरीपर घेरा डाल दिया जाय और उसे तबतक चालू रखा जाय, जबतक कि मैं युद्धमें इन दोनों ग्वालों वसुदेवपुत्र संकर्षण और कृष्णको अपने तीखे बाणोंद्वारा मार न डालूँ। उस समयतक आकाशको भी बाणसमूहोंसे इस तरह रूँध दिया जाय, जिससे पक्षी भी उड़कर बाहर न जा सके ॥ ३६-३७ ॥

मयानुशिष्टास्तिष्ठन्तु पुरीभूमिषु भूमिपाः।
तेषु तेष्ववकाशेषु शीघ्रमारुह्यतां पुरी ॥ ३८ ॥

'मेरा अनुशासन मानकर समस्त भूपाल मथुरापुरीके निकटवर्ती भूभागोंमें खड़े रहें और जब जहाँ अवकाश मिल जाय, तब तहाँ शीघ्र ही पुरीपर चढ़ाई कर दें ॥ ३८ ॥

मद्रः कलिङ्गाधिपतिश्चेकितानः सबाह्लिकः।
काश्मीरराजो गोनर्दः करूषाधिपतिस्तथा ॥ ३९ ॥
द्रुमः किम्पुरुषश्चैव पर्वतीयो ह्यनामयः।
नगर्याः पश्चिमं द्वारं शीघ्रमारोधयन्त्विति ॥ ४० ॥

'मद्रराज (शल्य), कलिङ्गराज श्रुतायु, चेकितान, बाह्लिक, काश्मीरराज गोनर्द, करूषराज दन्तवक्त्र तथा पर्वतीय प्रदेशके रोगरहित किन्नरराज द्रुम—ये शीघ्र ही मथुरापुरीके पश्चिम द्वारको रोक लें ॥ ३९-४० ॥

पौरवो वेणुदारिश्च वैदर्भः सोमकस्तथा।
रुक्मी च भोजाधिपतिः सूर्याक्षश्चैव मालवः ॥ ४१ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दन्तवक्त्रश्च वीर्यवान्।
छागलिः पुरमित्रश्च विराटश्च महीपतिः ॥ ४२ ॥
कौरव्यो मालवश्चैव शतधन्वा विदूरथः।
भूरिश्रवास्त्रिगर्तश्च बाणः पञ्चनदस्तथा ॥ ४३ ॥
उत्तरं नगरद्वारमेते दुर्गसहा नृपाः।
आरुह्य चाभिमर्दन्तां वज्रप्रतिमगौरवाः ॥ ४४ ॥

'पूरुवंशी वेणुदारि, विदर्भदेशीय सोमक, भोजोंके अधिपति रुक्मी, मालवाके राजा सूर्याक्ष, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, पराक्रमी दन्तवक्त्र, छागलि, पुरमित्र, राजा विराट, कुरुवंशी मालव, शतधन्वा, विदूरथ, भूरिश्रवा, त्रिगर्त, बाण और पञ्चनद—ये दुर्गका आक्रमण सह सकनेवाले नरेश मथुरा नगरके उत्तर द्वारपर चढ़ाई करके शत्रुओंको कुचल डालें। इनका गौरव वज्रके तुल्य है ॥ ४१–४४ ॥

उलूकः कैतवश्चैव वीरश्चांशुमतः सुतः।
एकलव्यो बृहत्क्षत्रः क्षत्रधर्मा जयद्रथः ॥ ४५ ॥
उत्तमौजाश्च शल्यश्च कौरवाः कैकयास्तथा।
वैदिशो वामदेवश्च सांकृतिश्च सिनीपतिः ॥ ४६ ॥
पूर्वं नगरनिर्व्यूहमेतेष्वायत्तमस्तु नः।
दारयन्तो विधावन्तु वाता इव बलाहकान् ॥ ४७ ॥

'शकुनिपुत्र उलूक, अंशुमान्‌के पुत्र वीर एकलव्य, बृहत्क्षत्र, क्षत्रधर्मा, जयद्रथ, उत्तमौजा, शल्य, कुरुवंशी, केकयराजकुमार, विदिशाके राजा वामदेव तथा सिनीपति सांकृति—इन सबके अधीन मथुरापुरीका पूर्व द्वार कर दिया जाय। ये लोग जैसे वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार शत्रुओंको विदीर्ण करनेके लिये उनपर धावा बोल दें ॥ ४५–४७ ॥

अहं च दरदश्चैव चेदिराजश्च वीर्यवान्।
दक्षिणं नगरद्वारं पालयामः सुदंशिताः ॥ ४८ ॥

'मैं, दरद तथा पराक्रमी चेदिराज शिशुपाल कवच धारण करके नगरके दक्षिण द्वारका मोरचा सँभालेंगे ॥ ४८ ॥

एवमेषा पुरी क्षिप्रं समन्ताद् वेष्टिता बलैः।
वज्रावपातविषमं प्राप्नोतु तुमुलं भयम् ॥ ४९ ॥

'इस प्रकार हमारी सेनाओंद्वारा चारों ओरसे घिरी हुई यह नगरी मानो इसपर वज्रपात हो गया हो' इस प्रकार विभ्रम एवं घोर भय प्राप्त करे ॥ ४९ ॥

गदिनो ये गदाभिस्ते परिघैः परिघायुधाः।
अपरे विविधैः शस्त्रैर्दारयन्तु पुरीमिमाम् ॥ ५० ॥

'गदाधारी वीर गदाओंसे, परिघ चलानेवाले परिघोंसे

तथा अन्य वीर नाना प्रकारके दूसरे शस्त्रोंसे इस पुरीको विदीर्ण कर डालें ॥ ५० ॥

अद्यैव नगरी ह्येषा विषमोच्चयसंकटा ।
कार्या भूमिसमा सर्वा भवद्भिर्वसुधाधिपैः ॥ ५१ ॥

'आज ही आप सब भूपाल मिलकर ऊँचे-नीचे महलोंके समूहोंसे भरी हुई इस सारी नगरीको गर्दमें मिलाकर समतल भूमिके समान कर दें' ॥ ५१ ॥

चतुरङ्गबलैर्व्यूह्य जरासंधो व्यवस्थितः ।
अथाभ्ययाद् यदून् क्रुद्धैः सह सर्वैर्नराधिपैः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार आदेश दे चतुरङ्गिणी सेनाओंका व्यूह बनाकर जरासंध युद्धके लिये डट गया और क्रोधमें भरे हुए समस्त नरेशोंके साथ यादवोंपर चढ़ आया ॥ ५२ ॥

प्रतिजग्मुर्दशार्हास्तं व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।
तद् युद्धमभवद् घोरं तेषां देवासुरोपमम् ।
अल्पानां बहुभिः सार्धं व्यतिषक्तरथद्विपम् ॥ ५३ ॥

उस समय अपनी सेनाका व्यूह बनाकर प्रहारकुशल यादवोंने जरासंधका सामना किया । उनका वह युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर प्रतीत होता था । यह थोड़ेसे योद्धाओं-का बहुसंख्यक शत्रुओंके साथ युद्ध हुआ, जिसमें उभय पक्षके रथ और हाथी एक दूसरेसे सटकर जूझ रहे थे ॥ ५३ ॥

नगरान्निस्सृतौ दृष्ट्वा वसुदेवसुतावुभौ ।
क्षुभितं नृवरानीकं त्रस्तसम्मूढवाहनम् ॥ ५४ ॥

इसी समय वसुदेवके दोनों पुत्र श्रीकृष्ण और बलराम नगरसे बाहर निकले । उन्हें देखते ही उन श्रेष्ठ राजाओंकी विशाल वाहिनी क्षुब्ध हो उठी । उसके वाहन भयभीत और मोहाच्छन्न-से हो गये ॥ ५४ ॥

रथस्थौ दंशितौ चैव चेरतुस्तत्र यादवौ ।
मकराविव संरब्धौ समुद्रक्षोभणावुभौ ॥ ५५ ॥

कवच धारण करके रथपर बैठे हुए वे दोनों यादव-वीर वहाँ विचरने लगे, मानो क्रोधमें भरे हुए दो मगर समुद्रमें हलचल मचा रहे हों ॥ ५५ ॥

तयोः प्रयुध्यतोः संख्ये मतिरासीन्महात्मनोः ।
आयुधानां पुराणानामादानकृतलक्षणा ॥ ५६ ॥

उस संग्राममें जूझते हुए उन दोनों महात्मा वीरोंके मनमें यह संकल्प उठा, यदि हमारे पुरातन अस्त्र आ जाते तो हम उन्हें ही लेकर युद्ध करते ॥ ५६ ॥

ततः खान्निपतन्ति स्म दिव्यान्याहवसम्प्लवे ।
लेलिहानानि दीप्तानि महान्ति सुदृढानि च ॥ ५७ ॥

उनके इतना सोचते ही उस युद्धमें आकाशसे वे दिव्य आयुध नीचे आने लगे । वे सब-के-सब सुदृढ़, महान् और देदीप्यमान थे तथा शत्रुओंको चाट जानेके लिये उद्यत दिखायी देते थे ॥ ५७ ॥

क्रव्यादैरनुयातानि मूर्तिमन्ति बृहन्ति च ।
तृषितान्याहवे भोक्तुं नृपमांसानि वै भृशम् ॥ ५८ ॥

उनके पीछे मांसभक्षी भूत-प्रेत आदि भी आ रहे थे । वे दिव्य अस्त्र मूर्तिमान् एवं विशाल थे तथा युद्धमें आये हुए राजाओंके रक्त-मांसका उपभोग करनेके लिये मानो अत्यन्त भूखे प्यासे थे ॥ ५८ ॥

दिव्यस्रग्दामधारीणि त्रासयन्ति च खेचरान् ।
प्रभया भासमानानि पतमानानि चाम्बरात् ॥ ५९ ॥

उन्होंने दिव्य फूलोंके हार धारण किये थे । अपनी प्रभासे प्रकाशित हो आकाशसे गिरते हुए वे दिव्यास्त्र आकाशचारी प्राणियोंके मनमें भय उत्पन्न करते थे ॥ ५९ ॥

हलं संवर्तकं नाम सौनन्दं मुसलं तथा ।
धनुषां प्रवरं शार्ङ्गं गदा कौमोदकी तथा ॥ ६० ॥
चत्वार्येतानि तेजांसि विष्णुप्रहरणानि च ।
ताभ्यां समवतीर्णानि यादवाभ्यां महामृधे ॥ ६१ ॥

संवर्तक नामक हल, सौनन्द नामक मूसल, धनुषोंमें श्रेष्ठ शार्ङ्ग तथा कौमोदकी गदा—भगवान् विष्णुके ये चार तेजस्वी आयुध उन दोनों भाइयोंके लिये यादवोंके उस महासमरमें उतर आये ॥ ६०-६१ ॥

जग्राह प्रथमं रामो ललामप्रतिमं हलम् ।
सर्पन्तमिव सर्पेन्द्रं दिव्यमालाकुलं मृधे ॥ ६२ ॥

बलरामजीने उस युद्धस्थलमें पहले सर्पराजके समान सर्पणशील (गतिमान्) तथा दिव्य मालाओंसे अलंकृत सुन्दर आकृतिवाले हलको (दाहिने हाथमें) ग्रहण किया ॥

सौनन्दं च ततः श्रीमान् निरानन्दकरं द्विषाम् ।
सव्येन सात्वतां श्रेष्ठो जग्राह मुसलोत्तमम् ॥ ६३ ॥

तदनन्तर यादवोंमें श्रेष्ठ श्रीमान् संकर्षणने शत्रुओंके आनन्दको हर लेनेवाले सौनन्द नामक श्रेष्ठ मूसलको बायें हाथसे ग्रहण किया ॥ ६३ ॥

दर्शनीयं च लोकेषु धनुर्जलदनिःस्वनम् ।
नाम्ना शार्ङ्गमिति ख्यातं कृष्णो जग्राह वीर्यवान् ॥ ६४ ॥

इसके बाद पराक्रमी श्रीकृष्णने मेघोंके समान गम्भीर घोष करनेवाले शार्ङ्ग नामक धनुषको ग्रहण किया, जो समस्त लोकोंमें दर्शनीय है ॥ ६४ ॥

देवैर्निगदितार्थस्य गदा तस्यापरे करे ।
निक्षिप्ता कुमुदाक्षस्य नाम्ना कौमोदकीति सा ॥ ६५ ॥

देवताओंने जिन्हें अपना प्रयोजन बताया था और जिनके नेत्र खिले हुए कुमुदके समान शोभा पाते हैं, उन भगवान्

श्रीकृष्णके दूसरे हाथमें वह सुप्रसिद्ध कौमोदकी गदा स्वतः आ गयी ॥ ६५ ॥

तौ सप्रहरणौ वीरौ साक्षाद् विष्णुतनूपमौ।
समरे रामगोविन्दौ रिपूंस्तान् प्रत्ययुद्ध्यताम् ॥ ६६ ॥

उन आयुधोंसे युक्त हो साक्षात् विष्णु-विग्रहके समान शरीरवाले दोनों वीर बलराम और श्रीकृष्ण समराङ्गणमें उन शत्रुओंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ६६ ॥

सायुधप्रग्रहौ वीरौ तावन्योन्याश्रयावुभौ।
पूर्वजानुजसंज्ञौ तौ रामगोविन्दलक्षणौ ॥ ६७ ॥
द्विषत्सु प्रतिकुर्वाणौ पराक्रान्तौ यथेश्वरौ।
विचेरतुर्यथा देवौ वसुदेवसुतावुभौ ॥ ६८ ॥

उन दिव्य आयुधोंको ग्रहण करके एक दूसरेको सहारा देनेवाले वे अग्रज और अनुजरूप दोनों वीर बन्धु श्रीबलराम और श्रीकृष्ण शत्रुओंका सामना करते हुए ईश्वरकोटिके महापुरुषोंके समान पराक्रम दिखाने लगे। वसुदेवके वे दोनों पुत्र रणभूमिमें देवताओंके समान विचरते थे ॥ ६७-६८ ॥

हलमुद्यम्य रामस्तु सर्पेन्द्रमिव कोपितः।
चचार समरे वीरो द्विषतामन्तको यथा ॥ ६९ ॥

वीर बलराम क्रोधमें भरकर सर्पराजके समान हल उठाये शत्रुओंके लिये कालरूप होकर समरभूमिमें विचर रहे थे ॥

विकर्षन् रथवृन्दानि क्षत्रियाणां महात्मनाम्।
चकार रोषं सफलं नागेषु च हयेषु च ॥ ७० ॥

वे महामनस्वी क्षत्रियोंके रथसमूहोंको पीछे ढकेलते हुए हाथियों और घोड़ोंपर अपना रोष सफल करने लगे ॥ ७० ॥

कुञ्जराल्लाँङ्गलक्षिप्तान् मुसलाक्षेपताडितान्।
रामो विराजन् समरे निर्ममन्थ यथाचलान् ॥ ७१ ॥

बलरामजी गजराजोंको हलसे खींचकर उन्हें मूसलकी मारसे घायल करते हुए समराङ्गणमें अद्भुत शोभा पा रहे थे। उन्होंने पर्वतोंके समान हाथियोंको मथ डाला ॥ ७१ ॥

ते वध्यमाना रामेण रणे क्षत्रियपुङ्गवाः।
जरासंधान्तिकं भीताः समरात् प्रतिजग्मिरे ॥ ७२ ॥

रणभूमिमें बलरामजीके द्वारा मारे जाते हुए वे क्षत्रिय-शिरोमणि भयभीत हो समरसे पीछे हटकर जरासंधके पास भाग गये ॥ ७२ ॥

तानुवाच जरासंधः क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः।
धिगेतां क्षत्रवृत्तिं वः समरे कातरात्मनाम् ॥ ७३ ॥

उस समय क्षत्रिय-धर्ममें स्थिर रहनेवाले जरासंधने उन क्षत्रियोंसे कहा—'अरे समराङ्गणमें कातर-हृदय होकर पीछे भागनेवाले तुम सब लोगोंकी इस क्षत्रिय-वृत्तिको धिक्कार है!।

परावृत्तस्य समरे विरथस्य पलायतः।
भ्रूणहत्यामिवासह्यां प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ७४ ॥

'जो क्षत्रिय संग्रामभूमिमें रथहीन होनेपर पीठ दिखाकर भागने लगता है, उसकी इस भीरुताको मनीषी पुरुष भ्रूण-हत्याके समान असह्य बताते हैं ॥ ७४ ॥

भीताः कस्मान्निवर्तध्वं धिगेतां क्षत्रवृत्तिताम्।
क्षिप्रं सर्वे निवर्तध्वं मम वाक्येन चोदिताः ॥ ७५ ॥

'योद्धाओ ! तुम भयभीत होकर युद्धसे पीछे क्यों हटते हो ? तुम्हारी ऐसी क्षत्रियवृत्तिको धिक्कार है ! मेरी वाणीसे प्रेरित हो तुम सब लोग शीघ्र ही युद्धभूमिको लौट जाओ ॥

अथवा तिष्ठत रथैः प्रेक्षकाः समवस्थिताः।
यावदेतौ रणे गोपौ प्रेषयामि यमक्षयम् ॥ ७६ ॥

'अथवा रथोंके द्वारा दर्शक बनकर तबतक खड़े रहो, जबतक कि मैं रणभूमिमें इन ग्वालोंको मारकर यमलोक नहीं भेज देता हूँ' ॥ ७६ ॥

ततस्ते क्षत्रियाः सर्वे जरासंधेन नोदिताः।
सृजन्तः शरजालानि हृष्टा योद्धुं व्यवस्थिताः ॥ ७७ ॥

तब जरासंधसे प्रेरित हो वे समस्त क्षत्रिय बाण-समूहोंकी वृष्टि करते हुए बड़े हर्षके साथ युद्धके लिये डट गये ॥७७॥

ते हयैः काञ्चनापीडै रथैश्चाम्बुदनादिभिः।
नागैश्चाम्बुदसंकाशैर्महामात्रप्रचोदितैः ॥ ७८ ॥

वे सोनेके आभूषणोंसे विभूषित हुए घोड़ों, मेघकी गर्जनाके समान घरघर ध्वनि फैलानेवाले रथों और महावतों-द्वारा हाँके गये मेघोंके समान काले गजराजोंद्वारा आगे बढ़कर युद्ध करने लगे ॥ ७८ ॥

सतनुत्राः सनिस्त्रिंशाः सपताकायुधध्वजाः।
स्वारोपितधनुष्मन्तः सतूणीराः सतोमराः ॥ ७९ ॥

उन सबके शरीरमें कवच बँधे थे, सबने तलवारें ले रखी थीं, सभी ध्वजा-पताका और आयुधोंसे सम्पन्न थे, सभीके धनुष चढ़े हुए थे तथा सबने तरकस और तोमर ले रखे थे ॥ ७९ ॥

सच्छत्राः सादिनश्चैव चारुचामरवीजिताः।
रणे तेऽधिगता रेजुः स्यन्दनस्था महीक्षितः ॥ ८० ॥

रथपर बैठे हुए उन राजाओंके ऊपर छत्र तने हुए थे, मनोहर चँवर डुलाये जाते थे। उनके साथ घुड़सवार भी थे। युद्धभूमिमें स्थित हुए वे सभी नरेश बड़ी शोभा पा रहे थे ॥

ते युद्धरागा रथिनो व्यगाहन्त युधां वराः।
गदाभिश्चैव गुर्वीभिः क्षेपणीयैश्च मुद्गरैः ॥ ८१ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ उन रथी वीरोंका युद्धमें अनुराग था, इसलिये वे भारी गदाओं, क्षेपणीयों (गोफनों) तथा मुद्गरोंसे विपक्षियोंको घायल करते हुए उनकी सेनाओंमें घुस गये।

एतस्मिन्नन्तरे तत्र देवानां नन्दिवर्धनः।
सुपर्णध्वजमास्थाय कृष्णस्तु रथमुत्तमम् ॥ ८२ ॥
समभ्ययाज्जरासंधं शरैर्विव्याध चाष्टभिः।
सारथिं चास्य विव्याध पञ्चभिर्निशितैः शरैः ॥ ८३ ॥

इसी बीचमें देवताओंका आनन्द बढ़ानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण उत्तम गरुड़ध्वज रथपर आरूढ़ हो जरासंधपर चढ़ आये। उन्होंने आठ बाणोंसे उसको घायल कर दिया और पाँच पैने बाणोंद्वारा उसके सारथिको भी बींध डाला ॥

जघान तुरगांश्चाजौ यतमानस्य वीर्यवान्।
तं कृच्छ्रगतमाज्ञाय चित्रसेनो महारथः ॥ ८४ ॥
सेनानीः कैशिकश्चैव कृष्णं विविधतुः शरैः।

जरासंध बचनेका प्रयत्न करता ही रह गया, किंतु पराक्रमी श्रीकृष्णने रणभूमिमें उसके घोड़ोंको भी मार डाला। उसे संकटमें पड़ा जान महारथी चित्रसेन तथा सेनापति कैशिक दोनों आ पहुँचे और श्रीकृष्णको अपने बाणोंद्वारा घायल करने लगे ॥ ८४½ ॥

त्रिभिर्विव्याध संसक्तं बलदेवं च कैशिकः ॥ ८५ ॥
बलदेवो धनुश्चास्य भल्लेनाजौ द्विधाकरोत्।
जवेनाभ्यर्दयच्चापि तानरीञ्छरवृष्टिभिः ॥ ८६ ॥

कैशिकने लगातार तीन बाणोंसे बलरामजीको बींध दिया। तब बलरामने भी एक भल्ल मारकर युद्धमें उसके धनुषके दो टुकड़े कर डाले। साथ ही वेगपूर्वक बाणोंकी वर्षा करके उन तीनों शत्रुओंको पीड़ित कर दिया ॥ ८५-८६ ॥

बहुभिर्बहुधा वीरान् समन्तात् स्वर्णभूषणैः।
तं चित्रसेनः संरब्धो विव्याध नवभिः शरैः ॥ ८७ ॥
कैशिकः पञ्चभिश्चापि जरासंधश्च सप्तभिः।

उन्होंने बहुतसे स्वर्णभूषित बाणोंद्वारा उन वीरोंको सब ओरसे बारंबार घायल किया। तब क्रोधमें भरे हुए चित्रसेनने नौ, कैशिकने पाँच तथा जरासंधने सात बाणोंसे उनको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ८७½ ॥

त्रिभिस्त्रिभिश्च नाराचैस्तान् बिभेद जनार्दनः ॥ ८८ ॥
पञ्चभिः पञ्चभिश्चैव बलदेवः शितैः शरैः।

यह देख श्रीकृष्णने तीन-तीन नाराचोंसे उन तीनोंको बेध डाला। फिर बलदेवने भी पाँच-पाँच पैने बाणोंसे उन सबको घायल कर दिया ॥ ८८½ ॥

रथं चैवास्य चिच्छेद चित्रसेनस्य वीर्यवान् ॥ ८९ ॥
बलदेवो धनुश्चास्य भल्लेनाजौ द्विधाकरोत्।

इसके बाद पराक्रमी बलरामने चित्रसेनके रथके टुकड़े-टुकड़े कर दिये तथा एक भल्ल मारकर युद्धस्थलमें उसके धनुषके भी दो खण्ड कर डाले ॥८९½॥

स च्छिन्नधन्वा विरथो गदामादाय वीर्यवान् ॥ ९० ॥
अभ्यधावत् सुसंरब्धो जिघांसुर्मुसलायुधम्।

धनुष और रथके नष्ट हो जानेपर रोषमें भरा हुआ पराक्रमी चित्रसेन मूसलधारी बलरामको मार डालनेकी इच्छासे हाथमें गदा लेकर उनकी ओर दौड़ा ॥ ९०½ ॥

सिसृक्षतस्तु नाराचांश्चित्रसेनवधैषिणः।
धनुश्चिच्छेद रामस्य जरासंधो महाबलः ॥ ९१ ॥

यह देख बलराम चित्रसेनके वधकी इच्छासे उसपर नाराचोंकी वृष्टि करने लगे। इतनेहीमें महाबली जरासंधने बलरामजीके धनुषको काट दिया ॥ ९१ ॥

गदया च जघानाश्वान् क्रोधात् स मगधेश्वरः।
रामं चाभ्यद्रवद् वीरो जरासंधो महाबलः ॥ ९२ ॥

साथ ही क्रोधपूर्वक गदाका प्रहार करके महाबली वीर मगधराज जरासंधने उनके घोड़ोंको कालके गालमें भेज दिया, फिर बलरामपर भी धावा किया ॥ ९२ ॥

आदाय मुसलं रामो जरासंधमुपाद्रवत्।
तयोस्तद् युद्धमभवत् परस्परवधैषिणोः ॥ ९३ ॥

बलरामजी भी मूसल लेकर जरासंधपर टूट पड़े। एक दूसरेके वधकी इच्छावाले उन दोनों वीरोंमें घोर युद्ध होने लगा ॥ ९३ ॥

चित्रसेनस्तु संसक्तं दृष्ट्वा रामेण मागधम्।
रथमन्यं समारुह्य जरासंधमवारयत् ॥ ९४ ॥

उधर चित्रसेन मगधराजको बलरामजीके साथ उलझा हुआ देख दूसरे रथपर चढ़कर आ गया और जरासंधको लड़नेसे रोकने लगा ॥ ९४ ॥

ततो बलेन महता गजानीकेन चाप्यथ।
उभयोरन्तरे ताभ्यां संकुलं समपद्यत ॥ ९५ ॥

तदनन्तर वह विशाल गजसेनाके साथ जरासंध और बलरामके बीचमें आ गया और उन दोनों भाइयोंके साथ घोर युद्ध करने लगा ॥ ९५ ॥

ततः सैन्येन महता जरासंधोऽभिसंवृतः।
रामकृष्णाग्रगान् भोजानाससाद महाबलः ॥ ९६ ॥

तब विशाल सेनासे घिरा हुआ महाबली जरासंध बलराम और श्रीकृष्णके अग्रगामी भोजोंपर जा चढ़ा ॥ ९६ ॥

तत्र संक्षुभितस्येव सागरस्य महास्वनः।
प्रादुर्बभूव तुमुलः सेनयोरुभयोरपि ॥ ९७ ॥

फिर तो वहाँ उभय पक्षकी सेनाओंमे विक्षुब्ध महासागरके समान बड़ी भयंकर एवं भारी गर्जना सुनायी देने लगी ॥ ९७ ॥

वेणुभेरीमृदङ्गानां शङ्खानां च सहस्रशः।
उभयोः सेनयो राजन् प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ९८ ॥

राजन् ! दोनों सेनाओंमें वेणु, भेरी, मृदङ्ग और शङ्ख आदि सहस्रों वाद्योंका महान् घोष होने लगा ॥ ९८ ॥

क्ष्वेडितास्फोटितोत्क्रुष्टैस्तुमुलः सर्वतोऽभवत्।
उत्पपात रजश्चापि खुरनेमिसमुद्धतम् ॥ ९९ ॥

योद्धाओंके गर्जने, ताल ठोंकने और उच्च स्वरसे पुकारने आदिके कारण वहाँ सब ओर तुमुल ध्वनि छा गयी। घोड़ोंकी टापों और रथके पहियोंके प्रान्तभागसे उठी हुई धूल सब ओर उड़ने लगी ॥ ९९ ॥

समुद्यतमहाशस्त्राः प्रगृहीतशरासनाः।
अन्योन्यमभिगर्जन्तः शूरास्तत्रावतस्थिरे ॥१००॥

उभयपक्षके शूर-वीर सैनिक बड़े-बड़े शस्त्र उठाये, धनुष लिये एक दूसरेके सम्मुख गर्जना करते हुए युद्धस्थलमें डटे हुए थे ॥ १०० ॥

रथिनः सादिनश्चैव पत्तयश्च सहस्रशः।
गजाश्चातिबलास्तत्र समुत्पेतुः समन्ततः ॥१०१॥

उस युद्धमें सब ओर रथी, घुड़सवार, सहस्रों पैदल तथा अत्यन्त बलशाली गजराज एक दूसरेपर टूटे पड़ते थे ।१०१।

स संनिपातस्तुमुलस्त्यक्त्वा प्राणानवर्तत।
वृष्णिभिः सह योधानां जरासंधस्य दारुणः ॥१०२॥

वृष्णियोंके साथ जरासंधके योद्धाओंका वह घमासान युद्ध प्राणोंका मोह छोड़कर हो रहा था और भयानक रूप धारण करता जा रहा था ॥ १०२ ॥

ततः शिनिरनाधृष्टिर्बभ्रुर्विपृथुराहुकः।
बलदेवं पुरस्कृत्य सैन्यस्यार्द्धेन दंशिताः ॥१०३॥
दक्षिणं पक्षमासेदुः शत्रुसैन्यस्य भारत।

भरतनन्दन ! तदनन्तर शिनि, अनाधृष्टि, बभ्रु (अक्रूर), विपृथु और आहुक (उग्रसेन)—इन सबने बलदेवजीको आगे रखकर अपनी आधी सेनासे घिरे रहकर शत्रुओंकी सेनाके दक्षिण भागपर आक्रमण किया ॥ १०३½ ॥

पालितं चेदिराजेन जरासंधेन वा विभो ॥१०४॥
उदीच्यैश्च महावीर्यैः शल्यशाल्वादिभिर्नृपैः।
सृजन्तः शरवर्षाणि समभित्यक्तजीविताः ॥१०५॥

प्रभो ! उस भागकी रक्षा चेदिराज शिशुपाल, जरासंध तथा उत्तर दिशाके महापराक्रमी योद्धा शल्य और शाल्व आदि नरेश कर रहे थे। यादवोंने जीवनका मोह छोड़कर शत्रुओंपर बाणवर्षा आरम्भ कर दी ॥ १०४-१०५ ॥

अवगाहः पृथुः कङ्कः शतद्युम्नो विदूरथः।
हृषीकेशं पुरस्कृत्य सैन्यस्यार्द्धेन दंशिताः ॥१०६॥

शेष सेनाके आधे भागसे घिरे हुए अवगाह, पृथु, कङ्क, शतद्युम्न और विदूरथ आदि वीरोंने भगवान् श्रीकृष्णको आगे रखकर शत्रुसेनाके वामभागपर आक्रमण किया ॥ १०६ ॥

भीष्मकेणाभिगुप्तश्च रुक्मिणा च महात्मना।
देवकेनापि राजेन्द्र तथा मद्रेश्वरेण च ॥१०७॥
प्राच्यैश्च दाक्षिणात्यैश्च गुप्तवीर्यबलान्वितैः।
तेषां च युद्धमभवत् समभित्यक्तजीवितम् ॥१०८॥
शक्त्यृष्टिप्रासबाणौघान् सृजतामशनिस्वनान्।

राजेन्द्र ! वह भाग भीष्मक, महामना रुक्मी, देवक, मद्रराज शल्य तथा गुप्त बल-पराक्रमसे सम्पन्न पूर्व और दक्षिण दिशाके वीरोंसे सुरक्षित था। इन्हीं सब लोगोंमें जीवनका मोह छोड़कर युद्ध होने लगा। ये लोग बिजलीके समान गड़गड़ाहट पैदा करनेवाले शक्ति, ऋष्टि, प्रास तथा बाणसमूहोंकी वर्षा करते थे ॥ १०७–१०८½ ॥

सात्यकिश्चित्रकः श्यामो युयुधानश्च वीर्यवान्।
राजाधिदेवो मृदुरः श्वफल्कश्च महारथः ॥१०९॥
सत्राजिच्च प्रसेनश्च बलेन महता वृताः।
व्यूहस्य पुच्छं ते सर्वे प्रतीयुर्द्विपतां मृधे ॥११०॥
व्यूहस्यार्द्धं समासेदुर्मृदुरेणाभिरक्षिताः।
राजभिश्चापि बहुभिर्वेणुदारिमुखैः सह ॥१११॥

सात्यकि, चित्रक, श्याम, पराक्रमी युयुधान, राजाधिदेव, मृदुर, महारथी श्वफल्क, सत्राजित् और प्रसेन—इन सबने विशाल सेनासे घिरकर युद्धस्थलमें शत्रुओंके व्यूहके पुच्छभागपर आक्रमण किया। मृदुरसे सुरक्षित रहकर इन्होंने व्यूहके आधे भागपर धावा बोल दिया था, उस समय इनका वेणुधारि आदि बहुत-से राजाओंके साथ युद्ध हुआ ॥ १०९–१११ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि मथुरोपरोधे युद्धवर्णने पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें जरासंधका मथुरापर घेरा और दोनों पक्षके योद्धाओंके युद्धका वर्णनविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

वृष्णिवंशियों तथा जरासंधके सैनिकोंका युद्ध, बलराम और जरासंधका गदायुद्ध तथा जरासंधका पराजित होकर पलायन करना

वैशम्पायन उवाच

ततो युद्धानि वृष्णीनां बभूवुः सुमहान्त्यथ।
मागधस्य महामात्रैर्नृपैश्चैवानुयायिभिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर जरासंधके महावतों और अनुगामी नरेशोंके साथ वृष्णिवंशियोंके कई बड़े-बड़े युद्ध हुए ॥ १ ॥

रुक्मिणा वासुदेवस्य भीष्मकेणाहुकस्य च।
क्रथेन वसुदेवस्य कैशिकस्य तु बभ्रुणा ॥ २ ॥
गदेन चेदिराजस्य दन्तवक्त्रस्य शङ्कुना।
तथान्यैर्वृष्णिवीराणां नृपाणां च महात्मनाम् ॥ ३ ॥
युद्धमासीद्धि सैन्यानां सैनिकैर्भरतर्षभ।
अहानि पञ्च चैकं च षट् सप्ताष्टौ च दारुणम् ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ! रुक्मीके साथ वासुदेव श्रीकृष्णका, भीष्मकके साथ आहुक (उग्रसेन) का, क्रथके साथ वसुदेवका, बभ्रु (अक्रूर) के साथ कैशिकका, गदके साथ चेदिराज शिशुपालका, शंकुके साथ दन्तवक्त्रका तथा अन्य सैनिकोंके साथ वृष्णिकुलके महामना वीर नरेशोंका, सारांश यह कि उभय पक्षके सैनिकोंका प्रतिद्वन्द्वी सैनिकोंके साथ दारुण द्वन्द्व युद्ध होने लगा, जो सत्ताईस दिनोंतक चलता रहा॥ २–४॥

गजैर्गजा हयैरश्वाः पदाताश्च पदातिभिः।
रथै रथा विमिश्राश्च योधा युयुधिरे नृप ॥ ५ ॥

नरेश्वर! हाथियोंसे हाथी, घोड़ोंसे घोड़े, पैदलोंसे पैदल और रथोंसे रथ मिश्रित हो गये और इस प्रकार घोल-मेल कर सभी योद्धा विपक्षियोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ५ ॥

जरासंधस्य नृपते रामेणासीत् समागमः।
महेन्द्रस्येव वृत्रेण दारुणो रोमहर्षणः ॥ ६ ॥

राजा जरासंधका बलरामजीके साथ उसी प्रकार दारुण एवं रोमाञ्चकारी संघर्ष हुआ, जैसा वृत्रासुरके साथ देवराज इन्द्रका हुआ था ॥ ६ ॥

अवेक्ष्य रुक्मिणीं कृष्णो रुक्मिणं न व्यपोथयत्।
ज्वलनार्कांशुसंकाशानाशीविषविषोपमान् ॥ ७ ॥
वारयामास कृष्णो वै शरांस्तस्य तु शिक्षया।

रुक्मिणीके साथ भविष्यमें होनेवाले सम्बन्धको दृष्टिमें रखकर श्रीकृष्णने रुक्मीको नहीं मारा, उसकी ओरसे आनेवाले अग्नि और सूर्यकी किरणोंके समान तेजस्वी तथा विषधर सर्पोंके समान विषैले बाणोंका उन्होंने अपनी शिक्षाके बलसे निवारण कर दिया ॥ ७½ ॥

इत्येषां सुमहानासीद् बलौघानां परिक्षयः ॥ ८ ॥
उभयोः सेनयो राजन् मांसशोणितकर्दमः।

राजन्! इस प्रकार दोनों सेनाओंके सैनिकसमूहोंका महान् विनाश हुआ। वहाँ रक्त और मांसकी कीच जम गयी ॥ ८½ ॥

कबन्धानि समुत्तस्थुः सुबहूनि समन्ततः ॥ ९ ॥
तस्मिन् विमर्दे योधानां संख्यावृत्तिकराणि च।

योद्धाओंके उस महान् संहारमें चारों ओरसे बहुत-से कबन्ध उठने लगे, जिनकी गणना नहीं की जा सकती थी ॥ ९½ ॥

रथी रामो जरासंधं शरैराशीविषोपमैः ॥ १० ॥
आवृण्वन्नभ्ययाद् वीरस्तं च राजा स मागधः।
अभ्यवर्तत वेगेन स्यन्दनेनाशुगामिना ॥ ११ ॥

रथारूढ़ वीर बलरामने विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाणोंद्वारा जरासंधको आच्छादित करते हुए उसपर आक्रमण किया तथा मगधराज भी अपने शीघ्रगामी रथद्वारा बड़े वेगसे उनका सामना करनेके लिये आ पहुँचा ॥ १०–११ ॥

अन्योन्यं विविधैरस्त्रैर्विद्ध्वा विद्ध्वा विनेदतुः।
तौ क्षीणशस्त्रौ विरथौ हताश्वौ हतसारथी ॥ १२ ॥
गदे गृहीत्वा विक्रान्तावन्योन्यमभिधावताम्।

वे दोनों नाना प्रकारके अस्त्रोंद्वारा एक दूसरेको घायल करके जोर-जोरसे गरजते थे। दोनोंके अस्त्र-शस्त्र क्षीण हो गये, दोनों ही रथहीन हो गये तथा दोनोंके ही घोड़े और सारथि मारे गये। उस दशामें वे दोनों पराक्रमी योद्धा गदा हाथमें लेकर एक-दूसरेपर टूट पड़े ॥ १२½ ॥

कम्पयन्तौ भुवं वीरौ तावुद्यतगदावुभौ ॥ १३ ॥
ददृशाते महात्मानौ गिरी सशिखराविव।

हाथमें गदा उठाये वे दोनों महामनस्वी वीर पृथ्वीको कम्पित करते हुए वहाँ एक-एक शिखरवाले दो पर्वतोंके समान दिखायी देते थे ॥ १३½ ॥

व्युपारमन्त युद्धानि पश्यता तौ महाभुजौ।
संरब्धावभिधावन्तौ गदायुद्धेषु विश्रुतौ ॥ १४ ॥

उन दोनों महाबाहु वीरोंको युद्धके लिये उद्यत देख दूसरे योद्धाओंके युद्ध बंद हो गये। उन दोनोंकी गदायुद्धमें ख्याति थी। वे दोनों बड़े रोषमें भरकर एक-दूसरेपर धावा करते थे ॥ १४ ॥

उभौ तौ परमाचार्यौ लोके ख्यातौ महाबलौ।
मत्ताविव गजौ युद्धे तावन्योन्यमयुध्यताम् ॥ १५ ॥

वे दोनों महाबली वीर संसारमें गदायुद्धके उत्तम आचार्यके रूपमें विख्यात थे तथा जैसे दो मतवाले हाथी लड़ते हैं, उसी प्रकार रणभूमिमें वे एक-दूसरेके साथ जूझ रहे थे ॥ १५ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च समहर्षयः।
समन्ततश्चाप्सरसः समाजग्मुः सहस्रशः ॥ १६ ॥

उस समय गन्धर्वोंसहित देवता, सिद्ध, महर्षि तथा सहस्रों अप्सराएँ सब ओरसे उस युद्धको देखनेके लिये आ पहुँचीं ॥ १६ ॥

तद् देवयक्षगन्धर्वमहर्षिभिरलंकृतम्।
शुशुभेऽभ्यधिकं राजन् दिवं ज्योतिर्गणैरिव ॥ १७ ॥
अभिदुद्राव रामं तु जरासंधो महाबलः।
सव्यं मण्डलमाश्रित्य बलदेवस्तु दक्षिणम् ॥ १८ ॥

राजन्! देवताओं, यक्षों, गन्धर्वों और महर्षियोंसे अलंकृत हुआ आकाशका वह भाग नक्षत्रसमूहोंसे विभूषित हुआ-सा अधिक शोभा पाने लगा। महाबली जरासंध बायेंसे पैंतरा देकर बलरामजीकी ओर दौड़ा और बलरामजीने दाहिनेसे उसपर आक्रमण किया ॥ १७-१८ ॥

प्रहरन्तौ ततोऽन्योन्यं गदायुद्धविशारदौ।
दन्ताभ्यामिव मातङ्गौ नादयन्तौ दिशो दश ॥ १९ ॥
गदानिपातो रामस्य शुश्रुवेऽशनिनिःस्वनः।
जरासंधस्य च रणे पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ २० ॥

गदायुद्धमें कुशल वे दोनों वीर दसों दिशाओंको निनादित करते हुए एक दूसरेपर उसी प्रकार प्रहार करने लगे, जैसे दो मतवाले हाथी परस्पर दाँतोंसे आघात करते हों। बलरामजी जब गदाका आघात करते, तब वज्रपातके समान भयानक शब्द सुनायी पड़ता था तथा रणभूमिमें जरासंधके गदाघातसे ऐसी आवाज होती थी, मानो कोई पर्वत फट पड़ा हो ॥१९-२०॥

न स कम्पयते रामं जरासंधकरच्युता।
गदा गदाभृतां श्रेष्ठं विन्ध्यं गिरिमिवानिलः ॥ २१ ॥
रामस्य तु गदावेगं वीर्यात् स मगधेश्वरः।
सेहे धैर्येण महता शिक्षया च व्यपोहयत् ॥ २२ ॥

जैसे प्रचण्ड वायु विन्ध्यपर्वतको नहीं हिला सकती, उसी प्रकार जरासंधके हाथसे छूटी हुई गदा गदाधारियोंमें श्रेष्ठ बलरामजीको कम्पित नहीं कर पाती थी। बलरामजीकी गदाके वेगको मगधराज जरासंध अपने बलकी अधिकताके कारण महान् धैर्यके साथ सह लेता था तथा अपनी शिक्षाके द्वारा उनके प्रहारको व्यर्थ कर देता था ॥ २१-२२ ॥

एवं तौ तत्र संग्रामे विचरन्तौ महाबलौ।
मण्डलानि विचित्राणि विचेरतुररिंदमौ ॥ २३ ॥

इस प्रकार शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों महाबली योद्धा उस संग्राममें विचित्र पैंतरे दिखाते हुए विचर रहे थे॥

व्यायच्छन्तौ चिरं कालं परिश्रान्तौ च तस्थतुः।
समाश्वस्य मुहूर्तं तु पुनरन्योन्यमाहताम् ॥ २४ ॥

देरतक परिश्रम करके थक जानेपर दोनों खड़े हो जाते थे; फिर दो घड़ीतक सुस्ताकर एक-दूसरेपर प्रहार करने लगते थे ॥ २४ ॥

एवं तौ योधमुख्यौ तु समं युयुधतुश्चिरम्।
न च तौ युद्धवैमुख्यमुभावेव प्रजग्मतुः ॥ २५ ॥

इस प्रकार वे दोनों प्रमुख योद्धा समानभावसे देरतक लड़ते रहे। वे दोनों ही युद्धसे विमुख नहीं हुए ॥ २५ ॥

अथापश्यद् गदायुद्धे विशेषं तस्य वीर्यवान्।
रामः क्रुद्धो गदां त्यक्त्वा जग्राह मुसलोत्तमम् ॥२६॥

तदनन्तर पराक्रमी बलरामजीने जब गदायुद्धमें जरासंधकी विशेषता देखी, तब उन्होंने कुपित हो गदा त्यागकर उत्तम मूसल हाथमें लिया ॥ २६ ॥

तमुद्यन्तं तदा दृष्ट्वा मुसलं घोरदर्शनम्।
अमोघं बलदेवेन क्रुद्धेन तु महारणे ॥ २७ ॥
ततोऽन्तरिक्षे वागासीत् सुस्वरा लोकसाक्षिणी।
उवाच बलदेवं तं समुद्यतहलायुधम् ॥ २८ ॥

उस महासमरमें कुपित हुए बलदेवजीके द्वारा उस भयानक तथा अमोघ मूसलको उठाया जाता देख आकाशमें सब लोगोंके सामने स्पष्ट शब्दोंमें देववाणी सुनायी दी। उसने हल-मूसल उठाये हुए बलदेवजीसे कहा—॥ २७-२८ ॥

न त्वया राम वध्योऽयमलं खेदेन मानद।
विदितोऽस्य मया मृत्युस्तस्मात् साधु व्युपारम।
अचिरेणैव कालेन प्राणांस्त्यक्ष्यति मागधः ॥ २९ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले बलरामजी! जरासंधका वध आपके हाथसे होनेवाला नहीं है; अतः खेद करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसकी मृत्युका हेतु मुझे विदित हो गया है; अतः आप इसे मारनेकी चेष्टासे निवृत्त हो जाइये। मगधराज जरासंध थोड़े ही समयमें अपने प्राणोंका परित्याग करेगा' ॥ २९ ॥

जरासंधस्तु तच्छ्रुत्वा विमनाः समपद्यत।
न प्रजह्रे ततस्तस्मै पुनरेव हलायुधः ॥ ३० ॥

यह सुनकर जरासंधका मन उदास हो गया और बलरामजीने फिर उसपर प्रहार नहीं किया ॥ ३० ॥

तौ व्युपारमतां युद्धे वृष्णयस्ते च पार्थिवाः।
असक्तमभवद् युद्धं तेषामेवं सुदारुणम् ॥ ३१ ॥
दीर्घकालं महाराज निघ्नतामितरेतरम्।

अब वे दोनों युद्धसे विरत हो गये; फिर तो वृष्णिवंशी योद्धा तथा दूसरे राजाओंने भी युद्ध बंद कर दिया। महाराज! इस प्रकार दीर्घकालतक एक-दूसरेपर प्रहार करते हुए उन योद्धाओंका जो अत्यन्त भयंकर युद्ध अविराम गतिसे चलता आ रहा था, वह शान्त हो गया॥ ३१½ ॥

पराजिते त्वपक्रान्ते जरासंधे महीपतौ ॥ ३२ ॥
अस्तं याते दिनकरे नानुसस्रुस्तदा निशि।

राजा जरासंध जब परास्त होकर युद्धसे हट गया और सूर्यदेव अस्त हो गये, तब रातके समय यादवोंने फिर उसका पीछा नहीं किया ॥ ३२½ ॥

समानीय स्वकं सैन्यं लब्धलक्ष्या महाबलाः ॥ ३३ ॥
पुरीं प्रविविशुर्हृष्टाः केशवेनाभिपालिताः।

भगवान् श्रीकृष्णद्वारा सुरक्षित महाबली यादव अपने लक्ष्यमें सफल हो चुके थे, अतः वे अपनी सेना साथ लेकर बड़ी प्रसन्नताके साथ मथुरापुरीमें लौट आये ॥ ३३½ ॥

खाच्च्युतान्यायुधान्येवं तान्येवान्तर्दधुस्तदा ॥ ३४ ॥
जरासंधोऽपि नृपतिर्विमनाः स्वपुरीं ययौ ।
राजानश्चानुगा येऽस्य स्वराष्ट्राण्येव ते ययुः ॥ ३५ ॥

इसी तरह आकाश या दिव्य लोकसे जो आयुध आये थे, वे भी तत्काल अन्तर्धान हो गये। इधर राजा जरासंध भी उदास होकर अपनी पुरीको लौट गया। उसके साथ जो राजा लोग आये थे, वे भी अपने-अपने राष्ट्रोंको ही लौट गये॥

जरासंधं तु ते जित्वा मेनिरे नैव निर्जितम् ।
वृष्णयः कुरुशार्दूल राजा ह्यतिबलः स वै ॥ ३६ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! वृष्णिवंशी वीर जरासंधको जीतकर भी उसे हारा हुआ नहीं मानते थे; क्योंकि उस राजाके पास बहुत बड़ी सेना थी तथा वह स्वयं भी अत्यन्त बलशाली था॥

दश चाष्टौ च संग्रामाञ्जरासन्धस्य यादवाः ।
ददुर्न चैनं समरे हन्तुं शेकुर्महाबलाः ॥ ३७ ॥

महाबली यादवोंने जरासंधको अठारह बार युद्धका अवसर प्रदान किया; किंतु वे किसी भी समरमें उसे मार न सके॥

अक्षौहिण्यश्च तस्यासन् विंशतिश्च महामते ।
जरासन्धस्य नृपतेस्तदर्थं याः समागताः ॥ ३८ ॥

महामते ! राजा जरासंधके पास बीस अक्षौहिणी सेनाएँ थीं, जो उसके लिये लड़नेको आयी थीं ॥ ३८ ॥

अल्पत्वादभिभूतास्तु वृष्णयो भरतर्षभ ।
बार्हद्रथेन राजेन्द्र राजभिः सहितेन वै ॥ ३९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजेन्द्र ! वृष्णिवंशी वीर संख्यामें बहुत कम थे, इसलिये वे राजाओंसहित जरासंधसे अभिभूत हो जाते थे ॥ ३९ ॥

जित्वा तु मागधं संख्ये जरासन्धं महीपतिम् ।
विहरन्ति स्म सुखिनो वृष्णिसिंहा महारथाः ॥ ४० ॥

मगधके राजा पृथ्वीपति जरासंधको इस प्रकार युद्धमें जीतकर वृष्णिवंशके सिंह-जैसे पराक्रमी महारथी सुखपूर्वक वहाँ विहार करने लगे ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि जरासंधापयानं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें जरासंधका पलायनविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

जरासंधके पुनः आक्रमणसे शङ्कित यादवोंकी सभामें विकद्रुका भाषण—राजा हर्यश्वका चरित्र तथा उनसे यदु एवं यादवोंकी उत्पत्तिका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

स कृष्णस्तत्र बलवान् रौहिणेयेन संगतः ।
मथुरां यादवाकीर्णां पुरीं तां सुखमावसत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाबली भगवान् श्रीकृष्ण रोहिणीकुमार बलदेवजीके साथ मिलकर यादवोंसे भरी हुई उस मथुरापुरीमें सुखपूर्वक रहने लगे॥ १ ॥

प्राप्तयौवनदेहस्तु युक्तो राजश्रिया विभुः ।
चचार मथुरां प्रीतः सवनाकरभूषणाम् ॥ २ ॥

उनके श्रीअङ्गोंमें यौवनावस्थाका प्रवेश हुआ था। वे भगवान् राजोचित शोभासे सम्पन्न हो वन-प्रान्तसे विभूषित मथुरामें प्रसन्नतापूर्वक विचरते थे ॥ २ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य राजा राजगृहेश्वरः ।
सस्मार निहतं कंसं जरासंधः प्रतापवान् ॥ ३ ॥

कुछ कालके अनन्तर राजगृहके स्वामी प्रतापी राजा जरासंधने कंसके मारे जानेकी घटनाको फिरसे स्मरण किया॥

युद्धाय योजितो भूयो दुहितृभ्यां महीपतिः ।
दश सप्त च संग्रामाञ्जरासंधस्य यादवाः ।
ददुर्न चैनं समरे हन्तुं शेकुर्महारथाः ॥ ४ ॥

उसकी दोनों कन्याओंने पुनः उसे युद्धके लिये उत्साहित किया। यादवोंने जरासंधको क्रमशः सत्रह बार युद्धका अवसर दिया; परंतु वे महारथी यादव समरभूमिमें उसे मार न सके॥

ततो मागधराट् श्रीमांश्चतुरङ्गबलान्वितः ।
भूयोऽप्यष्टादशं कर्तुं संग्रामं स समारभत् ॥ ५ ॥

तदनन्तर श्रीमान् मगधराजने चतुरङ्गिणी सेनाको साथ लेकर फिर अठारहवीं बार यादवोंके साथ युद्ध करनेका आयोजन किया ॥ ५ ॥

वैलक्ष्यात् पुनरेवासौ राजा राजगृहेश्वरः ।
जरासंधो बली श्रीमान् पाकशासनविक्रमः ॥ ६ ॥

राजगृहका स्वामी बलवान् राजा श्रीमान् जरासंध इन्द्रके समान पराक्रमी था। उसने पहलेकी पराजयसे लज्जाका अनुभव करनेके कारण पुनः युद्धकी तैयारी की ॥ ६ ॥

स साधनेन महता बृहद्रथसुतो बली ।
कृष्णस्य वधमन्विच्छन् भूयो वै संन्यवर्तत ॥ ७ ॥

बृहद्रथका वह बलवान् पुत्र महान् साधनसे सम्पन्न हो श्रीकृष्णका वध चाहता हुआ फिर मथुरापुरीकी ओर लौटा ॥

तं श्रुत्वा सहिताः सर्वे निवृत्तं मगधेश्वरम् ।
यादवा मन्त्रयामासुर्जरासंधभयार्दिताः ॥ ८ ॥

मगधराजको पुनः लौटा हुआ सुनकर जरासंधके भयसे पीड़ित हुए सब यादव एक साथ बैठकर मन्त्रणा करने लगे ॥

ततः प्राह महातेजा विकद्रुर्नयकोविदः ।
कृष्णं कमलपत्राक्षमुग्रसेनस्य शृण्वतः ॥ ९ ॥

उस समय नीतिकुशल महातेजस्वी विकद्रुने उग्रसेनके सुनते हुए कमलनयन श्रीकृष्णसे कहा—॥ ९ ॥

श्रूयतां तात गोविन्द कुलस्यास्य समुद्भवः ।
श्रूयतामभिधास्यामि प्राप्तकालमहं ततः ।
युक्तं चेन्मन्यसे साधो करिष्यसि वचो मम ॥ १० ॥

'तात ! गोविन्द ! इस कुलकी उत्पत्तिका प्रसंग सुनो । इसके लिये उपयुक्त अवसर आया है, इसलिये बता रहा हूँ; ध्यान देकर श्रवण करो । साधो ! इसे सुनकर यदि उचित समझो तो मेरे कथनानुसार कार्य करना ॥ १० ॥

यादवस्यास्य वंशस्य समुद्भवमशेषतः ।
यथा मे कथितः पूर्वं व्यासेन विदितात्मना ॥ ११ ॥

'यादववंशकी इस उत्पत्तिका सारा प्रसंग आत्मज्ञानी व्यासजीने पूर्वकालमें मुझे जैसा बताया था, वैसा ही सुना रहा हूँ ॥ ११ ॥

आसीद् राजा मनोर्वंशे श्रीमानिक्ष्वाकुसम्भवः ।
हर्यश्व इति विख्यातो महेन्द्रसमविक्रमः ॥ १२ ॥

'वैवस्वत मनुके वंशमें इक्ष्वाकुके पुत्र हर्यश्व नामसे विख्यात एक श्रीसम्पन्न राजा हो गये हैं, जो महेन्द्रके तुल्य पराक्रमी थे ॥ १२ ॥

तस्यासीद् दयिता भार्या मधोर्दैत्यस्य वै सुता ।
देवी मधुमती नाम यथेन्द्रस्य शची तथा ॥ १३ ॥

'मधु नामक दैत्यकी पुत्री मधुमती देवी उनकी प्राण-प्यारी भार्या थी । जैसे इन्द्रको शची प्रिय है, उसी प्रकार हर्यश्वको मधुमती प्रिय थी ॥ १३ ॥

सा यौवनगुणोपेता रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
मनोरथकरी राज्ञः प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ १४ ॥

'वह यौवनके गुणोंसे सम्पन्न थी । इस पृथ्वीपर उसके रूप सौन्दर्यकी कहीं तुलना नहीं थी । वह राजा हर्यश्वके मनोरथको सिद्ध करनेवाली होनेके कारण उन्हे प्राणोसे भी अधिक माननीया थी ॥ १४ ॥

दानवेन्द्रकुले जाता सुश्रोणी कामरूपिणी ।
एकपत्नीव्रतधरा खेचरा रोहिणी यथा ॥ १५ ॥

'दानवराज मधुके कुलमें उत्पन्न हुई वह सुन्दर कटि-प्रदेशवाली कामरूपिणी देवी रोहिणीके समान एकपत्नीव्रतका पालन करनेवाली तथा आकाशमे विचरनेवाली थी ॥ १५ ॥

सा तमिक्ष्वाकुशार्दूलं कामयामास कामिनी ।
स कदाचिन्नरश्रेष्ठो भ्रात्रा ज्येष्ठेन माधव ॥ १६ ॥
राज्यान्निरस्तो विश्वस्तः सोऽयोध्यां सम्परित्यजत् ।
स तदाल्पपरीवारः प्रियया सहितो वने ॥ १७ ॥

'वह कामिनी होकर इक्ष्वाकुवंशके श्रेष्ठ वीर हर्यश्वको सम्पूर्ण हृदयसे चाहती थी । माधव ! एक दिन बड़े भाईने उनके विश्वासपर रहनेवाले नरश्रेष्ठ हर्यश्वको राज्यसे निकाल दिया, तब उन्होंने अयोध्या छोड़ दी और थोड़े-से परिवारके साथ अपनी प्रिया मधुमतीसहित वे वनमें रहने लगे ॥

रेमे समेत्य कालज्ञः प्रियया कमलेक्षणः ।
भ्रात्रा विनिष्कृतं राज्यात् प्रोवाच कमलेक्षणा ॥ १८ ॥

'कालकी महिमाको जाननेवाले कमलनयन हर्यश्व अपनी प्यारी पत्नीके साथ मिलकर वहाँ बड़े आनन्दसे समय बिताने लगे । एक दिन कमलनयनी मधुमतीने भाईद्वारा राज्यसे निकाले गये पतिसे कहा—॥ १८ ॥

एह्यागच्छ नरश्रेष्ठ त्यज राज्यकृतां स्पृहाम् ।
गच्छावः सहितौ वीर मधोर्मम पितुर्गृहम् ॥ १९ ॥

'नरश्रेष्ठ वीर ! अयोध्याके राज्यकी अभिलाषा छोड़ दो और आओ मेरे साथ चलो । हम दोनों मेरे पिता मधुके घरपर चलें ॥ १९ ॥

रम्यं मधुवनं नाम कामपुष्पफलद्रुमम् ।
सहितौ तत्र रंस्यावो यथा दिवि गतौ तथा ॥ २० ॥

'सुरम्य मधुवन नामक वन ही मेरे पिताका निवासस्थान है । वहाँके वृक्ष इच्छानुसार फूल और फल देनेवाले हैं । वहाँ हम दोनों साथ रहकर स्वर्गवासियोंके समान मौज करेंगे॥

पितुर्मे दयितस्त्वं हि मातुर्मम च पार्थिव ।
मत्प्रियार्थं प्रियतरो भ्रातुश्च लवणस्य वै ॥ २१ ॥

'पृथ्वीनाथ ! मेरे पिता और माता दोनोंको ही तुम बहुत प्रिय हो तथा मेरा प्रिय करनेके लिये मेरा भाई लवणासुर भी तुम्हे अत्यन्त प्रिय मानेगा ॥ २१ ॥

रंस्यावस्तत्र सहितौ राज्यस्थाविव कामगौ ।
तत्र गत्वा नरश्रेष्ठ ह्यमराविव नन्दने ।
भद्रं ते विहरिष्यावो यथा देवपुरे तथा ॥ २२ ॥

'नरश्रेष्ठ ! वहाँ जाकर हम दोनो साथ-साथ रहकर राज्यपर बैठे हुए दम्पतियोंकी भाँति इच्छानुरूप वस्तुओंका उपभोग करते हुए रमण करेंगे । जैसे देवपुरीके नन्दनवनमें देवाङ्गना और देवता विहार करते हैं, उसी प्रकार वहाँ हम दोनों विहार करेंगे । आपका भला हो ॥ २२ ॥

तं त्यजाव महाराज भ्रातरं तेऽभिमानिनम् ।
आवयोर्द्वेषिणं नित्यं मत्तं राज्यमदेन वै ॥ २३ ॥

'महाराज ! आपका भाई राज्यके मदसे सदा उन्मत्त रहकर अभिमानमें भरा रहता है और हम दोनोंसे द्वेष रखता है; अतः हम दोनों उसे त्याग दें ॥ २३ ॥

धिगिमं गर्हितं वासं भृत्यवच्च पराश्रयम् ।
गच्छावः सहितौ वीर पितुर्मे भवनान्तिकम् ॥ २४ ॥

'दासकी भाँति दूसरेके आश्रित होकर रहना अच्छा नहीं है; अतः इस निन्दित निवासको धिक्कार है । वीर ! चलो, हम दोनों मेरे पिताके घरके पास चलें' ॥ २४ ॥

तस्य सम्यक्प्रवृत्तस्य पूर्वजं भ्रातरं प्रति ।
कामार्तस्य नरेन्द्रस्य पत्न्यास्तद् रुरुचे वचः ॥ २५ ॥

'श्रीकृष्ण ! यद्यपि हर्यश्वका अपने बड़े भाईके प्रति अच्छा बर्ताव था (वह उनसे कोई प्रतिशोध नहीं लेना चाहता था);तो भी कामसे पीड़ित होनेके कारण उस नरेशको पत्नीकी बात पसंद आ गयी ॥ २५ ॥

ततो मधुपुरं राजा हर्यश्वः स जगाम च ।
भार्यया सह कामिन्या कामी पुरुषपुङ्गवः ॥ २६ ॥

'तब कामी पुरुषप्रवर राजा हर्यश्व अपनी कामवती पत्नी-के साथ मधुपुरको चला गया ॥ २६ ॥

मधुना दानवेन्द्रेण स साम्ना समुदाहृतः ।
स्वागतं वत्स हर्यश्व प्रीतोऽस्मि तव दर्शनात् ॥ २७ ॥

'वहाँ दानवराज मधुने उससे सान्त्वनापूर्वक कहा—'बेटा हर्यश्व ! तुम्हारा स्वागत है । मैं तुम्हारे दर्शनसे (अथवा तुमसे मिलकर) बहुत प्रसन्न हूँ ॥ २७ ॥

यदेतन्मम राज्यं वै सर्वं मधुवनं विना ।
ददामि तव राजेन्द्र वासश्च प्रतिगृह्यताम् ॥ २८ ॥

'राजेन्द्र ! यह जो मेरा सारा राज्य है, उसे मैं केवल मधुवनको छोड़कर तुम्हें सौंप रहा हूँ । तुम यहाँ निवास करो ॥ २८ ॥

वनेऽस्मिँल्लवणश्चायं सहायस्ते भविष्यति ।
अमित्रनिग्रहे चैव कर्णधारत्वमेष्यति ॥ २९ ॥

'इस वनमें यह मेरा पुत्र लवण भी तुम्हारा सहायक होगा तथा शत्रुओंका निग्रह करनेमें यह तुम्हारे लिये कर्ण-धारका काम देगा ॥ २९ ॥

पालयैनं शुभं राष्ट्रं समुद्रानूपभूषितम् ।
गोसमृद्धं श्रिया जुष्टमाभीरप्रायमानुषम् ॥ ३० ॥

'तुम समुद्रके जलप्राय प्रदेशसे विभूषित इस शुभ राष्ट्र-का पालन करो । यह गौओंसे समृद्ध और लक्ष्मीसे सेवित है तथा इसमें अधिकतर आभीर जातिके लोगोंका निवास है ॥

अत्र ते वसतस्तात दुर्गं गिरिपुरं महत् ।
भविता पार्थिवावासः सुराष्ट्रविषयो महान् ॥ ३१ ॥
अनूपविषयश्चैव समुद्रान्ते निरामयः ।

'तात ! यहाँ रहनेपर महान् एवं दुर्गम गिरिपुर (गिरि-नार या रैवतक पर्वतसे मिला हुआ नगर) तुम्हारी राजधानी-के रूपमें प्रतिष्ठित होगा । यह महान् सुराष्ट्र राज्य समुद्रके निकट और जलप्राय प्रदेशसे युक्त है । यहाँ किसी प्रकारका रोग नहीं होता ॥ ३१½ ॥

आनर्तं नाम ते राष्ट्रं भविष्यत्यायतं महत् ॥ ३२ ॥
तद् भविष्यमहं मन्ये कालयोगेन पार्थिव ।
अध्यास्यतां यथाकालं पार्थिवं वृत्तमुत्तमम् ॥ ३३ ॥

'तुम्हारा विशाल एवं विस्तृत राज्य आनर्त नामसे विख्यात होगा । पृथ्वीनाथ ! मेरा विश्वास है कि कालयोगसे वह अवश्यम्भावी है । तुम समयानुसार उत्तम राजोचित बर्तावका आश्रय लेकर यहाँ रहो ॥ ३२-३३ ॥

ययातमपि वंशस्ते समेष्यति च यादवम् ।
अनु वंशं च वंशस्ते सोमस्य भविता किल ॥ ३४ ॥

'तुम्हारा यह वंश ययाति एवं यदुके वंशमें मिल जायगा। चन्द्रवंशके भीतर तुम्हारा वंश चलेगा (सूर्यवंशसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा) ॥ ३४ ॥

एष मे विभवस्तात तवेमं विषयोत्तमम् ।
दत्त्वा यास्यामि तपसे सागरं लवणालयम् ॥ ३५ ॥

'तात ! यही मेरा विभव है । मैं तुम्हें यह उत्तम राज्य देकर तपस्याके लिये लवणसमुद्रको चला जाऊँगा ॥ ३५ ॥

लवणेन समायुक्तस्त्वमिमं विषयोत्तमम् ।
पालयस्वाखिलं तात स्वस्य वंशस्य वृद्धये ॥ ३६ ॥

'तात ! तुम लवणके साथ रहकर अपने वंशकी वृद्धिके लिये इस समस्त उत्तम राज्यका पालन करो, ॥ ३६ ॥

बाढमित्येव हर्यश्वः प्रतिजग्राह तत् पुरम् ।
स च दैत्यस्तपोवासं जगाम वरुणालयम् ॥ ३७ ॥

'तब 'बहुत अच्छा' कहकर हर्यश्वने उस पुरको ग्रहण किया; फिर वह दैत्य तपस्याके लिये समुद्रको चला गया ॥

हर्यश्वश्च महातेजा दिव्ये गिरिवरोत्तमे ।
निवेशयामास पुरं वासार्थममरोपमः ॥ ३८ ॥

'अमरोंके समान महातेजस्वी हर्यश्वने दिव्य एवं श्रेष्ठ गिरिवर (रैवतक) के समीप अपने रहनेके लिये एक नगर बसाया ॥ ३८ ॥

आनर्तं नाम तद् राष्ट्रं सुराष्ट्रं गोधनायुतम् ।
अचिरेणैव कालेन समृद्धं प्रत्यपद्यत ॥ ३९ ॥

'आनर्त नामसे प्रसिद्ध वह गोधनसम्पन्न राष्ट्र सुराष्ट्र

कहलाया और थोड़े ही समयमें समृद्धिशाली हो गया ॥ ३९ ॥

अनूपविषये चैव वेलावनविभूषितम् ।
विचित्रं क्षेत्रसस्याढ्यं प्राकारग्रामसंकुलम् ॥ ४० ॥
शशास नृपतिः स्फीतं तद् राष्ट्रं राष्ट्रवर्द्धनः ।
राजधर्मेण यशसा प्रजानां नन्दिवर्द्धनः ॥ ४१ ॥

'जलप्राय देशमें समुद्रतटवर्ती वनोंसे विभूषित, विचित्र, खेतों और हरी-भरी खेतीसे सुशोभित, परकोटों और गाँवोंसे युक्त तथा धनधान्यसे सम्पन्न उस राष्ट्रपर राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाले राजा हर्यश्व शासन करने लगे और राजधर्म एवं यशसे प्रजाका आनन्द बढ़ाने लगे ॥ ४०-४१ ॥

तस्य सम्यक् प्रचारेण हर्यश्वस्य महात्मनः ।
व्यवर्धत तदक्षोभ्यं राष्ट्रं राष्ट्रगुणैर्युतम् ॥ ४२ ॥

'महामना हर्यश्वके उत्तम आचार-व्यवहारके कारण वह अक्षोभ्य राष्ट्र उत्तम राष्ट्रके गुणोंसे सम्पन्न हो निरन्तर उन्नति करने लगा ॥ ४२ ॥

स हि राजा स्थितो राज्ये राजवृत्तेन शोभितः ।
प्राप्तः कुलोचितां लक्ष्मीं वृत्तेन च नयेन च ॥ ४३ ॥

'राज्यपर स्थित होकर राजोचित बर्तावसे सुशोभित होनेवाले उन राजा हर्यश्वने सदाचार और उत्तम नीतिसे अपने कुलके लिये उचित लक्ष्मी प्राप्त कर ली ॥ ४३ ॥

तस्यैव च सुवृत्तस्य पुत्रकामस्य धीमतः ।
मधुमत्यां सुतो जज्ञे यदुर्नाम महायशाः ॥ ४४ ॥

'पुत्रकी इच्छा रखनेवाले उन्हीं सदाचारी एवं बुद्धिमान् हर्यश्वके मधुमतीके गर्भसे महायशस्वी यदुका जन्म हुआ* ॥ ४४ ॥

सोऽवर्धत महातेजा यदुर्दुन्दुभिनिःस्वनः ।
राजलक्षणसम्पन्नः सपत्नैर्दुरतिक्रमः ॥ ४५ ॥

'महातेजस्वी यदुका स्वर दुन्दुभिनिनादके समान गम्भीर था । वे राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न होकर दिनोंदिन बढ़ने लगे । शत्रुओंके लिये वे सर्वथा दुर्जय थे ॥ ४५ ॥

यदुर्नामाभवत् पुत्रो राजलक्षणपूजितः ।
यथास्य पूर्वजो राजा पूरुः स सुमहायशाः ॥ ४६ ॥

'हर्यश्वका वह पुत्र यदु नामसे ही विख्यात हुआ । यदु राजोचित लक्षणोंसे सम्मानित थे, ठीक उसी तरह जैसे उनके पूर्वज राजा महायशस्वी पूरु सम्मानित होते थे ॥ ४६ ॥

स एक एव तस्यासीत् पुत्रः परमशोभनः ।
ऊर्जितः पृथिवीभर्ता हर्यश्वस्य महात्मनः ॥ ४७ ॥

'महामना हर्यश्वके एक ही पुत्र यदु हुए । वे परम सुन्दर, बलवान् और पृथ्वीका भरण-पोषण करनेमें समर्थ थे ॥ ४७ ॥

दस वर्षसहस्राणि स कृत्वा राज्यमव्ययम् ।
जगाम त्रिदिवं राजा धर्मेणाप्रतिमो भुवि ॥ ४८ ॥

'राजा हर्यश्व दस हजार वर्षोंतक अक्षय राज्यका उपभोग करके स्वर्गलोकमें चले गये । वे भूमण्डलके अनुपम धर्मात्मा थे ॥ ४८ ॥

ततो यदुरदीनात्मा प्रजाभिस्त्वभ्यषिच्यत ।
पितर्युपरते श्रीमान् क्रमेणार्क इवोदितः ॥ ४९ ॥

'पिताके मर जानेपर प्रजाओंने उदारचेता श्रीमान् यदुको उनके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया । वे क्रमशः एक सूर्यके बाद दूसरे सूर्यके समान उदित हो प्रकाशित होने लगे ॥ ४९ ॥

शशास चेमां वसुधां प्रशान्तभयतस्कराम् ।
यदुरिन्द्रप्रतीकाशो नृपो येनास्म यादवाः ॥ ५० ॥

'वे इन्द्रतुल्य तेजस्वी यदु, जिनके कारण हमलोग यादव कहलाते हैं, जब इस पृथ्वीका शासन करने लगे, तब यहाँका सारा भय शान्त हो गया । चोर-लुटेरे आदि लुप्त हो गये ॥ ५० ॥

स कदाचिन्नृपश्चक्रे जलक्रीडां महोदधौ ।
दारैः सह गुणोदारैः सतार इव चन्द्रमाः ॥ ५१ ॥

'एक समयकी बात है, राजा यदु अपनी उदार गुणवाली पत्नियोंके साथ ताराओंसहित चन्द्रमाके समान महासागरमें जलक्रीडा कर रहे थे ॥ ५१ ॥

स तत्र सहसा क्षिप्तस्तितीर्षुः सागराम्भसि ।
धूम्रवर्णेन नृपतिः सर्पराजेन वीर्यवान् ॥ ५२ ॥
सोऽपाकृष्यत वेगेन जले सर्पपुरं महत् ।

'वे पराक्रमी राजा यदु जलको पार करके निकलना ही चाहते थे कि सहसा किसीने उन्हें समुद्रके गहरे जलमें डाल दिया । बात यह हुई कि सर्पोंके राजा धूम्रवर्णने बड़े वेगसे उनको खींचा और जलके भीतर बसे हुए सर्पोंके एक महान् नगरमें पहुँचा दिया ॥ ५२½ ॥

मणिस्तम्भगृहद्वारं मुक्तादामविभूषितम् ॥ ५३ ॥
कीर्णं शङ्खकुलैः शुभ्रै रत्नराशिविभूषितम् ।
प्रवालाङ्कुरपत्राढ्यैः पादपैरुपशोभितम् ॥ ५४ ॥

'वहाँके खम्भे, घर और द्वार सभी मणियोंके बने हुए थे । उन सबको मोतीकी लड़ियों एवं झालरोंसे सजाया गया था । वहाँ ढेर-के-ढेर श्वेत शङ्खोंके समूह पड़े हुए थे । रत्न-

* कहते हैं, जैसे ब्रह्माजीके मानसपुत्र वसिष्ठ किसी कारणवश मित्रावरुणके अंशसे नूतन शरीर धारण करके प्रकट हुए; फिर भी वसिष्ठ ही बने रहे, उसी प्रकार ययातिपुत्र महाराज यदु ही योगबलसे हर्यश्वके पुत्ररूपमें प्रकट हुए थे और उसी पूर्व नामसे प्रख्यात हुए ।

राशियोंसे उस नगरके घर-द्वारको विभूषित किया गया था। नूतन पल्लव, अंकुर और पत्तोंसे युक्त वृक्ष उस नगरकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ५३-५४ ॥

कीर्णं पन्नगनार्योघैः समुद्रोदरवासिभिः।
स्वर्णवर्णेन भास्वन्तं स्वस्तिकेनेन्दुवर्चसा ॥ ५५ ॥

'वहाँ समुद्रके उदरमें निवास करनेवाली नागललनाएँ भरी हुई थीं। वह ग्राम कहीं सुवर्णमय और कहीं चन्द्रमाके समान श्वेत कान्तिमान् स्वस्तिकसे प्रकाशित होता था ॥५५॥

स तं ददर्श राजेन्द्रो विमले सागराम्भसि।
पन्नगेन्द्रपुरं तोये जगत्यामिव निर्मितम् ॥ ५६ ॥

'राजाधिराज यदुने देखा—समुद्रके निर्मल जलमें बना हुआ यह नागराजका नगर भूतलपर ही निर्मित हुआ-सा जान पड़ता है ॥ ५६ ॥

स्वच्छं चैव पुरं तत्र प्रविवेश नृपो यदुः।
अगाधं तोयदाकारं पूर्णं सर्पवधूगणैः ॥ ५७ ॥

'राजा यदुने सर्पवधुओंसे भरे हुए उस अगाध जलदाकार स्वच्छ नगरमें प्रवेश किया ॥ ५७ ॥

तस्य दत्तं मणिमयं जलजं परमासनम्।
स्वास्तीर्णं पद्मपत्रैश्च पद्मसूत्रोत्तरच्छदम् ॥ ५८ ॥

'वहाँ उन्हें मणिमय कमलका आसन दिया गया, जिसपर पद्मोंके दल बिछे हुए थे और पद्मसूत्रोंकी ही बनी हुई चादर डाली गयी थी ॥ ५८ ॥

तमासीनं नृपं तत्र परमे पन्नगासने।
द्विजिह्वपतिरव्यग्रो धूम्रवर्णोऽभ्यभाषत ॥ ५९ ॥

'सर्पोंके दिये हुए उस उत्तम आसनपर जब राजा यदु वहाँ विराजमान हुए, तब सर्पराज धूम्रवर्णने उनसे शान्तभावसे कहा—॥ ५९ ॥

पिता ते स्वर्गतिं प्राप्तः कृत्वा वंशमिमं महत्।
भवन्तं तेजसा युक्तमुत्पाद्य वसुधाधिपम् ॥ ६० ॥

'राजन्! तुम्हारे पिता इस विशाल वंशकी नींव डालकर और तुम-जैसे तेजस्वी भूपालको जन्म देकर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ६० ॥

यादवानामयं वंशस्त्वन्नाम्ना यदुपुङ्गव।
पित्रा ते मङ्गलार्थाय स्थापितः पार्थिवाकरः ॥ ६१ ॥

'यदुपुङ्गव! तुम्हारे नामसे ही यह वंश यादववंश कहलायेगा। तुम्हारे पिताने तुम्हारे मङ्गलके लिये ही इस कुलकी स्थापना की है, जो राजाओंकी खान है ॥ ६१ ॥

वंशे चास्मिंस्तव विभो देवानां तनयाव्ययाः।
ऋषीणामुरगाणां च उत्पत्स्यन्ते नृयोनिजाः ॥ ६२ ॥

'प्रभो! तुम्हारे इस वंशमें देवताओं और ऋषियों तथा नागोंकी अक्षय संतानें मनुष्य-योनिमें उत्पन्न होंगी ॥ ६२ ॥

तन्ममेमाः सुताः पञ्च कुमार्यो वृत्तसम्मताः।
उत्पन्ना यौवनाश्वस्य भगिन्यां नृपसत्तम ॥ ६३ ॥

'नृपश्रेष्ठ! मेरी जो ये पाँच कुमारी कन्याएँ हैं, ये उत्तम आचार-व्यवहारसे सम्मानित हैं। इनका जन्म यौवनाश्वकी बहिनके गर्भसे हुआ है ॥ ६३ ॥

प्रतीच्छेमाः स्वधर्मेण प्राजापत्येन कर्मणा।
वरं च ते प्रदास्यामि वरार्हस्त्वं मतो मम ॥ ६४ ॥

'तुम अपने धर्मके अनुसार वैवाहिक विधिसे इन कन्याओंको ग्रहण करो। मेरी धारणाके अनुसार तुम वर पानेके योग्य हो, अतः मैं तुम्हें मनोवाञ्छित वर भी दूँगा ॥ ६४ ॥

भैमाश्च कुकुराश्चैव भोजाश्चान्धकयादवाः।
दाशार्हा वृष्णयश्चेति ख्यातिं यास्यन्ति सप्त ते॥ ६५ ॥

'तुमसे सात कुल विख्यात होंगे, जो भैम, कुक्कुर, भोज, अन्धक, यादव, दाशार्ह तथा वृष्णिके नामसे प्रसिद्ध होंगे' ॥

स तस्मै धूम्रवर्णो वै कन्याः कन्याव्रते स्थिताः।
जलपूर्णेन योगेन ददाविन्द्रसमाय वै ॥ ६६ ॥

'ऐसा कहकर धूम्रवर्णने इन्द्रतुल्य तेजस्वी यदुको कन्याव्रतमें स्थित हुई वे कन्याएँ हाथमें जल लेकर संकल्पपूर्वक दे दीं ॥ ६६ ॥

वरं चास्मै ददौ प्रीतः स वै पन्नगपुङ्गवः।
श्रावयन् कन्यकाः सर्वा यथाक्रममदीनवत् ॥ ६७ ॥

'फिर उन नागशिरोमणि धूम्रवर्णने प्रसन्न होकर समस्त कन्याओंको सुनाते हुए एक उदार पुरुषकी भाँति राजाको क्रमशः वर प्रदान किये ॥ ६७ ॥

एतासु ते सुताः पञ्च सुतासु मम मानद।
उत्पत्स्यन्ते पितुस्तेजो मातुश्चैव समाश्रिताः ॥ ६८ ॥

'मानद! मेरी इन पाँच कन्याओंसे तुम्हारे पाँच पुत्र उत्पन्न होंगे, जो पिता और माता दोनोंके तेजसे सम्पन्न होंगे ॥ ६८ ॥

अस्मत्समयबद्धाश्च सलिलाभ्यन्तरेचराः।
तव वंशे भविष्यन्ति पार्थिवाः कामरूपिणः ॥ ६९ ॥

'हमारे वरदानसे अनुगृहीत होकर तुम्हारे वंशके वे सभी राजा जलके भीतर विचरनेवाले तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ होंगे ॥ ६९ ॥

स वरं कन्यकाश्चैव लब्ध्वा यदुवरस्तदा।
उदतिष्ठत वेगेन सलिलाच्चन्द्रमा इव ॥ ७० ॥

'वे श्रेष्ठ यदु उस समय वर और उन कन्याओंको पाकर चन्द्रमाके समान वेगपूर्वक जलसे ऊपर उठे ॥ ७० ॥

स पञ्चकन्यामध्यस्थो ददृशे तत्र पार्थिवः।
पञ्चतारेण संयुक्तो नक्षत्रेणेव चन्द्रमाः ॥ ७१ ॥

'पाँच कन्याओंके बीचमें स्थित हुए राजा यदु वहाँ पाँच

ताराओंवाले नक्षत्रसे संयुक्त चन्द्रमाके समान दिखायी देते थे ॥ ७१ ॥

स तदन्तःपुरं सर्वं ददर्श नृपसत्तमः ।
वैवाहिकेन वेषेण दिव्यस्रगनुलेपनः ॥ ७२ ॥

'वैवाहिक वेशसे युक्त तथा दिव्य हार एवं चन्दन धारण करनेवाले नृपश्रेष्ठ यदुने जलसे बाहर आकर अपने समस्त अन्तःपुरको वहाँ उपस्थित देखा ॥ ७२ ॥

समाश्वास्य च ताः सर्वाः स पत्नीः पावकोपमाः।
जगाम स्वपुरं राजा प्रीत्या परमया युतः ॥ ७३ ॥

'तदनन्तर अग्निके समान तेजस्विनी उन सारी पत्नियोंको आश्वासन देकर राजा यदु अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उन सबके साथ अपने नगरको चले गये' ॥ ७३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि विकद्रुवाक्यं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें विकद्रुका वाक्यविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

विकद्रुद्वारा यदुकी संततिका वर्णन तथा मथुरापुरीको जरासंधका आक्रमण सहनेके अयोग्य बताना

वैशम्पायन उवाच

स तासु नागकन्यासु कालेन महता नृपः ।
जनयामास विक्रान्तान् पञ्च पुत्रान् कुलोद्वहान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यदुने दीर्घकालके पश्चात् उन पाँचो नागकन्याओंके गर्भसे पाँच पराक्रमी एवं कुलका भार वहन करनेमे समर्थ पुत्र उत्पन्न किये ॥ १ ॥

मुचुकुन्दं महाबाहुं पद्मवर्णं तथैव च ।
माधवं सारसं चैव हरितं चैव पार्थिवम् ॥ २ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—महाबाहु मुचुकुन्द, पद्मवर्ण, माधव, सारस तथा राजा हरित ॥ २ ॥

एतान् पञ्च सुतान् राजा पञ्चभूतोपमान् भुवि ।
ईक्षमाणो नृपः प्रीतिं जगामातुलविक्रमः ॥ ३ ॥

ये पाँचों पुत्र भूतलपर पाँच भूतोंके समान थे। अतुल पराक्रमी राजा यदु इन्हे देखकर बहुत प्रसन्न होते थे ॥ ३ ॥

ते प्राप्तवयसः सर्वे स्थिताः पञ्च यथाद्रयः ।
तेजिता बलदर्पाभ्यामूचुः पितरमग्रतः ॥ ४ ॥

जब वे सब वयस्क हुए, तब पाँच पर्वतोंके समान प्रतीत होने लगे। एक दिन अपने बल और दर्पसे प्रोत्साहित होकर वे अपने पिताके सामने खड़े हो इस प्रकार बोले—॥ ४ ॥

तात युक्ताः स्म वयसा बले महति संस्थिताः ।
क्षिप्रमाज्ञप्तुमिच्छामः किं कुर्मस्तव शासनात् ॥ ५ ॥

'तात ! अब हम बड़ी अवस्थाके हो गये, महान् बलमे हमारी स्थिति है (हम महान् बलवान् हैं); अतः शीघ्र आपकी आज्ञा चाहते हैं, बताइये, आपके आदेशसे हम कौन-सा कार्य करें ?' ॥ ५ ॥

स तान् नृपतिशार्दूलः शार्दूलानिव वेगितान् ।
प्रीत्या परमया प्राह सुतान् वीर्यकुतूहलात् ॥ ६ ॥

नरेशोमे सिंहके समान पराक्रमी यदुने सिंहोंके ही सदृश वेगशाली अपने इन पुत्रोंसे उनके बल-पराक्रमको जाननेकी उत्सुकतासे अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कहा—॥ ६ ॥

विन्ध्यर्क्षवन्तावभितो द्वे पुर्यौ पर्वताश्रये ।
निवेशयतु यत्नेन मुचुकुन्दः सुतो मम ॥ ७ ॥

'मेरा पुत्र मुचुकुन्द विन्ध्य और ऋक्षवान् पर्वतोंके निकट पर्वतीय भूमिका ही आश्रय ले यत्नपूर्वक दो पुरियाँ बसाये ॥ ७ ॥

सह्यस्य चोपरिष्टात्तु दक्षिणां दिशमाश्रितः ।
पद्मवर्णोऽपि मे पुत्रो निवेशयतु मा चिरम् ॥ ८ ॥

'मेरा बेटा पद्मवर्ण भी दक्षिण दिशाका आश्रय ले सह्यपर्वतके शिखरपर शीघ्र एक नगर बसाये ॥ ८ ॥

तत्रैव परतः कान्ते देशे चम्पकभूषिते ।
सारसो मे पुरं रम्यं निवेशयतु पुत्रकः ॥ ९ ॥

'वहीं पश्चिम दिशाकी ओर चम्पाके वृक्षोंसे सुशोभित मनोरम प्रदेशमे बेटा सारस एक रमणीय राजधानीकी स्थापना करे ॥ ९ ॥

हरितोऽयं महाबाहुः सागरे हरितोदके ।
द्वीपं पन्नगराजस्य सुतो मे पालयिष्यति ॥ १० ॥

'मेरा पुत्र यह महाबाहु हरित हरे जलसे भरे हुए समुद्रमें नागराज धूम्रवर्णके द्वीपका पालन करेगा ॥ १० ॥

माधवो मे महाबाहुर्ज्येष्ठपुत्रश्च धर्मवित् ।
यौवराज्येन संयुक्तः स्वपुरं पालयिष्यति ॥ ११ ॥

'मेरा पाँचवाँ पुत्र महाबाहु माधव ज्येष्ठ तथा धर्मज्ञ है, यह युवराज होकर अपने इसी नगरका (जो रैवतकके समीप है) पालन करेगा' ॥ ११ ॥

सर्वे नृपश्रियं प्राप्ता अभिषिक्ताः सचामराः ।
पित्रानुशिष्टाश्चत्वारो लोकपालोपमा नृपाः ॥ १२ ॥

स्वं स्वं निवेशनं सर्वे भेजिरे नृपसत्तमाः ।
पुरस्थानानि रम्याणि मृगयन्तो यथाक्रमम् ॥ १३ ॥

उन सबको राज्यलक्ष्मी प्राप्त हुई । सबका विभिन्न राज्यों-पर अभिषेक हुआ तथा सभी छत्र-चमर आदि राजोचित चिह्नोंसे अलंकृत हुए । तत्पश्चात् पिताकी आज्ञा पाकर लोक-पालोंके समान वे चारों नृपश्रेष्ठ राजकुमार अपने-अपने घरमें गये । फिर उन्होंने क्रमशः सुरम्य राजधानी बनानेके लिये स्थानकी खोज प्रारम्भ की ॥ १२-१३ ॥

मुचुकुन्दश्च राजर्षिर्विन्ध्यमध्यमरोचयत् ।
स्वस्थानं नर्मदातीरे दारुणोपलसंकटे ॥ १४ ॥

राजर्षि मुचुकुन्दने विन्ध्यपर्वतके मध्यवर्ती स्थानको पसंद किया । उन्होंने विषम प्रस्तरखण्डोंसे भरे हुए दुर्गम नर्मदा-तटपर अपना स्थान बनाया ॥ १४ ॥

स च तं शोधयामास विविक्तं च चकार ह ।
सेतुं चैव समं चक्रे परिखाश्चामितोदकाः ॥ १५ ॥

उन्होंने उस स्थानका शोधन किया और उसे एकान्त एवं पवित्र बनाया । सम सेतुका निर्माण किया और अथाह जलसे भरी हुई खाइयाँ खुदवायीं ॥ १५ ॥

स्थापयामास भागेषु देवतायतनान्यपि ।
रथ्या वीथीर्नृणां मार्गांश्चत्वराणि वनानि च ॥ १६ ॥

नगरके विभिन्न भागोंमें बहुत-से देवमन्दिर भी स्थापित किये । सड़कें, गलियाँ, जनसाधारणके मार्ग तथा चौराहे बनवाये और वन भी लगवाये ॥ १६ ॥

स तां पुरीं धनवतीं पुरुहूतपुरीप्रभाम् ।
नातिदीर्घेण कालेन चकार नृपसत्तमः ॥ १७ ॥

उन नृपश्रेष्ठ मुचुकुन्दने उस पुरीको थोड़े ही दिनोंमें धन-धान्यसे सम्पन्न करके इन्द्रपुरीके समान प्रकाशित एवं सुशोभित कर दिया ॥ १७ ॥

नाम चास्याः शुभं चक्रे निर्मितं स्वेन तेजसा ।
तस्याः पुर्या नृपश्रेष्ठो देवश्रेष्ठपराक्रमः ॥ १८ ॥

देवताओंके समान श्रेष्ठ पराक्रमी नृपवर मुचुकुन्दने उस पुरीका अपने ही तेजसे निर्मित शुभ सुन्दर नाम रक्खा—॥ १८ ॥

महाश्मसंघातवती यथेयं विन्ध्यसानुगा ।
माहिष्मती नाम पुरी प्रकाशमुपयास्यति ॥ १९ ॥

'विन्ध्य-गिरिके शिखरपर बसी हुई यह नगरी महान् अश्मसंघात (प्रस्तर-समूह) से युक्त है, इसलिये संसारमें 'माहिष्मतीपुरी' के नामसे विख्यात होगी' ॥ १९ ॥

उभयोर्विन्ध्ययोः पादे नगयोस्तां महापुरीम् ।
मध्ये निवेशयामास श्रिया परमया वृताम् ॥ २० ॥

राजा मुचुकुन्दने उत्तम शोभा-सम्पत्तिसे सम्पन्न उस महापुरीको दोनों विन्ध्यपर्वतोंके बीचमें बसाया था ॥ २० ॥

पुरिकां नाम धर्मात्मा पुरीं देवपुरीप्रभाम् ।
उद्यानशतसम्बाधां समृद्धापणचत्वराम् ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् उन धर्मात्मा नरेशने एक 'पुरिका' नामवाली पुरी बसायी, जो देवपुरीके समान प्रकाशित होती थी । उसके भीतर सैकड़ों उद्यान बने थे तथा वैभवपूर्ण हाट-बाजार और चौराहे भी उसकी शोभा बढ़ाते थे ॥ २१ ॥

ऋक्षवन्तं समभितस्तीरे तत्र निरामये ।
निर्मिता सा पुरी राज्ञा पुरिका नाम नामतः ॥ २२ ॥

ऋक्षवान् पर्वतके समीप, रोग-शोकसे रहित नर्मदा-तट-पर राजाने पुरिका नामक पुरीका निर्माण कराया था ॥२२॥

स ते द्वे विपुले पुर्यौ देवभोग्योपमे शुभे ।
पालयामास धर्मात्मा राजा धर्मे व्यवस्थितः ॥ २३ ॥

धर्ममें स्थित हुए वे धर्मात्मा नरेश देवताओंके उपभोगमें आनेवाली स्वर्गीय पुरियोंके समान उन दो सुन्दर नगरोंका निर्माण करके उनका पालन करने लगे ॥ २३ ॥

पद्मवर्णोऽपि राजर्षिः सह्यपृष्ठे पुरोत्तमम् ।
चकार नद्या वेणायास्तीरे तरुलताकुले ॥ २४ ॥

राजर्षि पद्मवर्णने भी सह्यपर्वतके पृष्ठभागमें वृक्षों और लताओंसे व्याप्त वेणा नदीके तटपर एक उत्तम नगरका निर्माण कराया ॥ २४ ॥

विषयस्याल्पतां ज्ञात्वा सम्पूर्णं राष्ट्रमेव च ।
निवेशयामास नृपः स वप्रप्रायमुत्तमम् ॥ २५ ॥

अपनी राज्यभूमिका विस्तार दूसरोंकी अपेक्षा छोटा जान-कर उन्होंने अपने सम्पूर्ण राष्ट्रको ही एक नगरके रूपमें बसाया और उसे सब ओरसे एक विशाल चहारदिवारीके द्वारा घेर दिया । उस उत्तम राष्ट्रमें परकोटेकी ही प्रधानता थी ॥ २५ ॥

पद्मावतं जनपदं करवीरं च तत्पुरम् ।
निर्मितं पद्मवर्णेन प्राजापत्येन कर्मणा ॥ २६ ॥

उनका राज्य पद्मावत जनपदके नामसे प्रसिद्ध हुआ । उनकी राजधानीका नाम करवीरपुर हुआ । पद्मवर्णने शिल्प-शास्त्रके नियमोंके अनुसार उस नगरका निर्माण कराया था ॥

सारसेनापि विहितं रम्यं क्रौञ्चपुरं महत् ।
चम्पकाशोकबहुलं विपुलं ताम्रमृत्तिकम् ॥ २७ ॥

राजा सारसने भी क्रौञ्चपुर[1] नामक महान् एवं रमणीय नगरका निर्माण कराया, जिसमें चम्पा और अशोक वृक्षोंकी

---

१. आचार्य नीलकण्ठने 'क्रौञ्चपुर' नगरकी स्थिति वेणाके दक्षिण तटपर बतायी है ।

बहुलता थी। उसका विस्तार बड़ा था और वहाँ ताँबेका कारोबार होता था, जिससे लोगोकी जीविका चलती थी ॥ २७ ॥

वनवासीति विख्यातः स्फीतो जनपदो महान्।
पुरस्य तस्य तु श्रीमान् द्रुमैः सार्वर्तुकैर्वृतः ॥ २८ ॥

उस नगरका महान् समृद्धिशाली एवं शोभायमान जनपद 'वनवासी' नामसे विख्यात हुआ। वहाँ सभी ऋतुओंमे फूलने-फलनेवाले वृक्ष सब ओर हरे-भरे दिखायी देते थे ॥२८॥

हरितोऽपि समुद्रस्य द्वीपं समभिपालयत्।
रत्नसंचयसम्पूर्णं नारीजनमनोहरम् ॥ २९ ॥

हरित भी रत्नराशिसे पूर्ण उस समुद्र-सम्बन्धी द्वीपका पालन करने लगे, जो नारीजनोंके लिये मनोहर था (अथवा नारियोंके कारण मनोहर प्रतीत होता था) ॥ २९ ॥

तस्य दाशा जले मग्ना मद्गुरा नाम विश्रुताः।
ये हरन्ति सदा शङ्खान् समुद्रोदरचारिणः ॥ ३० ॥

राजा हरितके द्वारा नियुक्त हुए धीवर, जो वहाँ 'मद्गुर' नामसे प्रसिद्ध थे, जलमे डूबकर समुद्रके भीतर विचरनेवाले शङ्खोंको पकड़ लाते थे ॥ ३० ॥

तस्यापरे दाशजनाः प्रवालाञ्जलसम्भवान्।
संचिन्वन्ति सदा युक्ता जातरूपं च मौक्तिकम् ॥ ३१ ॥

उनके दूसरे-दूसरे मल्लाह सदा सावधान रहकर जलके भीतर होनेवाले मूँगो तथा चमकीले मोतियोंका संग्रह करते थे ॥ ३१ ॥

जलजानि च रत्नानि निषादास्तस्य मानवाः।
प्रचिन्वन्तोऽर्णवे युक्ता नौभिः संयानगामिनः ॥ ३२ ॥

हरितके ही कार्यकर्ता निषाद बड़ी-बड़ी नौकाओंको साथ लिये छोटी नौकाओंद्वारा समुद्रमे जाते और जलमे उत्पन्न होनेवाले रत्नोंकी खोज करते थे (छोटी नावोंसे दूर-दूरतक जाकर वे रत्नोंका संचय करते और एक जगह खड़ी हुई बड़ी नौकामे लाकर रखते थे) ॥ ३२ ॥

मत्स्यमांसेन ते सर्वे वर्तन्ते स्म सदा नराः।
गृह्णन्तः सर्वरत्नानि रत्नद्वीपनिवासिनः ॥ ३३ ॥

उस रत्नद्वीपमें निवास करनेवाले वे मल्लाह जातिके लोग सब प्रकारके रत्नोंका संग्रह करते और मछलीके मांससे जीवन-निर्वाह करते थे ॥ ३३ ॥

तैः संयानगतैर्द्रव्यैर्वणिजो दूरगामिनः।
हरितं तर्पयन्त्येकं यथैव धनदं तथा ॥ ३४ ॥

नौकाओंमें समुद्रमे निकाले गये जो द्रव्य संचित होते, उनके द्वारा दूर देशोकी यात्रा करनेवाले व्यवसायी वैश्य व्यापार करते और प्राप्त हुए धनसे एकमात्र राजा हरितको ही तृप्त करते थे, जैसे यक्ष केवल कुबेरको ही अपने उपार्जित धनसे संतुष्ट किया करते हैं ॥ ३४ ॥

एवमिक्ष्वाकुवंशात् तु यदुवंशो विनिःसृतः।
चतुर्धा यदुपुत्रैस्तु चतुर्भिर्भिद्यते पुनः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार यह यदुवंश इक्ष्वाकुवंशसे निकला है। फिर यदुके चार छोटे पुत्रोंद्वारा यह चार अन्य शाखाओमे विभक्त हुआ है ॥ ३५ ॥

स यदुर्माधवे राज्यं विसृज्य यदुपुङ्गवे।
त्रिविष्टपं गतो राजा देहं त्यक्त्वा महीतले ॥ ३६ ॥

वे राजा यदु अपने बड़े पुत्र यदुकुल-पुङ्गव माधवको अपना राज्य दे इस भूतलपर शरीरका परित्याग करके स्वर्गको चले गये ॥ ३६ ॥

बभूव माधवसुतः सत्त्वतो नाम वीर्यवान्।
सत्त्ववृत्तिर्गुणोपेतो राजा राजगुणे स्थितः ॥ ३७ ॥

माधवका पराक्रमी पुत्र सत्त्वत नामसे विख्यात हुआ। वे गुणवान् राजा सत्त्वत राजोचित गुणोंमें प्रतिष्ठित थे और सदा सात्त्विक वृत्तिसे रहते थे ॥ ३७ ॥

सत्त्वतस्य सुतो राजा भीमो नाम महानभूत्।
येन भैमाः सुसंवृत्ताः सत्त्वतात् सात्त्वताःस्मृताः॥३८॥

सत्त्वतके पुत्र महान् राजा भीम हुए, जिनसे भावी पीढ़ीके लोग 'भैम' कहलाये। सत्त्वतसे उत्पन्न होनेके कारण उन सबको 'सात्त्वत' भी माना गया है॥ ३८ ॥

राज्ये स्थिते नृपे तस्मिन् रामे राज्यं प्रशासति।
शत्रुघ्नो लवणं हत्वा चिच्छेद स मधोर्वनम् ॥ ३९ ॥

जब राजा भीम आनर्त देशके राज्यपर प्रतिष्ठित थे, उन्हीं दिनों अयोध्यामे भगवान् श्रीराम भूमण्डलके राज्यका शासन करते थे। उनके राज्यकालमे शत्रुघ्नने मधुपुत्र लवणको मारकर मधुवनका उच्छेद कर डाला॥ ३९ ॥

तस्मिन् मधुवने स्थाने पुरीं च मथुरामिमाम्।
निवेशयामास विभुः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ४० ॥

उसी मधुवनके स्थानमे सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले प्रभावशाली शत्रुघ्नने इस मथुरापुरीको बसाया था ॥ ४० ॥

पर्यये चैव रामस्य भरतस्य तथैव च।
सुमित्रासुतयोश्चैव स्थानं प्राप्तं च वैष्णवम् ॥ ४१ ॥
भीमेनेयं पुरी तेन राज्यसम्बन्धकारणात्।
स्ववशे स्थापिता पूर्वं स्वयमध्यासिता तथा ॥ ४२ ॥

जब श्रीरामके अवतारका उपसंहार हुआ और श्रीराम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न सभी परमधामको पधारे, तब भीमने इस वैष्णव स्थान (मथुरा) को प्राप्त किया; क्योंकि (लवणके) मारे जानेपर अब उस राज्यसे उन्हींका लगाव रह गया था। (वे ही उत्तराधिकारी होनेयोग्य थे।)*

* हर्यश्वके पुत्र यदु मधुकी पुत्री मधुमतींके गर्भसे उत्पन्न हुए थे; अतः वे मधुके दौहित्र थे। नानाके कोई पुत्र न हो तो उसकी

भीमने इस पुरीको अपने वशमें किया और वे स्वयं भी यहीं आकर रहने लगे ॥ ४१-४२ ॥

ततः कुशे स्थिते राज्ये लवे तु युवराजनि ।
अन्धको नाम भीमस्य सुतो राज्यमकारयत् ॥ ४३ ॥

तदनन्तर जब अयोध्याके राज्यपर कुश प्रतिष्ठित हुए और लव युवराज बन गये, तब मथुरामें भीमके पुत्र अन्धक राज्य करने लगे ॥ ४३ ॥

अन्धकस्य सुतो जज्ञे रेवतो नाम पार्थिवः ।
ऋक्षोऽपि रेवताज्जज्ञे रम्ये पर्वतमूर्धनि ॥ ४४ ॥
ततो रैवत उत्पन्नः पर्वतः सागरान्तिके ।
नाम्ना रैवतको नाम भूमौ भूमिधरः स्मृतः ॥ ४५ ॥

अन्धकके पुत्र राजा रेवत हुए । रेवतसे पर्वतके रमणीय शिखरपर ऋक्षका जन्म हुआ । इस प्रकार उनसे रैवत (ऋक्ष) की उत्पत्ति हुई । उस समय समुद्रके तटकी भूमिपर जो विशाल भूधर था, वह उसी रैवतके नामपर रैवतक पर्वतके नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ४४-४५ ॥

रैवतस्यात्मजो राजा विश्वगर्भो महायशाः ।
बभूव पृथिवीपालः पृथिव्यां प्रथितः प्रभुः ॥ ४६ ॥

रैवत (ऋक्ष) के पुत्र महायशस्वी राजा विश्वगर्भ हुए, जो इस पृथ्वीपर प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली भूमिपाल थे ॥४६॥

तस्य तिसृषु भार्यासु दिव्यरूपासु केशव ।
चत्वारो जज्ञिरे पुत्रा लोकपालोपमाः शुभाः ॥ ४७ ॥

केशव ! उनके तीन भार्याएँ थीं । तीनों ही दिव्य रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित होती थीं । उनके गर्भसे राजाके चार सुन्दर पुत्र हुए, जो लोकपालोंके समान पराक्रमी थे ॥४७॥

वसुर्बभ्रुः सुषेणश्च सभाक्षश्चैव वीर्यवान् ।
यदुप्रवीराः प्रख्याता लोकपाला इवापरे ॥ ४८ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—वसु, बभ्रु, सुषेण और बलवान् सभाक्ष । ये यदुकुलके प्रख्यात श्रेष्ठ वीर दूसरे लोकपालोंके समान शक्तिशाली थे ॥ ४८ ॥

तैरयं यादवो वंशः पार्थिवैर्बहुलीकृतः ।
यैः सार्धं कृष्ण लोकेऽस्मिन् प्रजावन्तः प्रजेश्वराः॥४९॥
वसोस्तु कुन्तिविषये वसुदेवः सुतो विभुः ।
ततः स जनयामास सुप्रभे द्वे च दारिके ॥ ५० ॥
कुन्तीं च पाण्डोर्महिषीं देवतामिव भूचरीम् ।
भार्यां च दमघोषस्य चेदिराजस्य सुप्रभाम् ॥ ५१ ॥

श्रीकृष्ण ! उन राजाओंने इस यादव-वंशको बढ़ाकर बड़ी भारी संख्यासे सम्पन्न कर दिया । जिनके साथ इस संसारमें बहुत-से संतानवान् नरेश हैं । वसुसे (जिनका दूसरा नाम शूर था) वसुदेव उत्पन्न हुए । ये वसुपुत्र वसुदेव बड़े प्रभावशाली हैं । वसुदेवकी उत्पत्तिके अनन्तर वसुने दो कान्तिमती कन्याओंको जन्म दिया (जो पृथा (कुन्ती) और श्रुतश्रवा नामसे विख्यात हुईं) । इनमेंसे पृथा कुन्तिदेशमें (राजा कुन्तिभोजकी दत्तक पुत्रीके रूपमें) रहती थी । कुन्ती जो पृथ्वीपर विचरनेवाली देवाङ्गनाके समान थी, महाराज पाण्डुकी महारानी हुई तथा सुन्दर कान्तिसे प्रकाशित होनेवाली श्रुतश्रवा चेदिराज दमघोषकी पत्नी हुई ॥

एष ते स्वस्य वंशस्य प्रभवः सम्प्रकीर्तितः ।
श्रुतो मया पुरा कृष्ण कृष्णद्वैपायनान्तिकात् ॥ ५२ ॥

श्रीकृष्ण ! यह मैंने तुमसे अपने यादववंशकी उत्पत्ति बतायी है । इसे मैंने पहले श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीसे सुना था ॥ ५२ ॥

त्वं त्विदानीं प्रणष्टेऽस्मिन् वंशे वंशभृतां वर ।
स्वयम्भूरिव सम्प्राप्तो भवायास्मज्जयाय च ॥ ५३ ॥

वंशधारियोंमें श्रेष्ठ गोविन्द ! इस समय यह वंश नष्ट-सा हो चला था । परंतु तुम स्वयम्भू ब्रह्माजीके समान इस वंशके उद्भव तथा हमारी विजयके लिये इसमें अवतीर्ण हुए हो ॥

न तु त्वां पौरमात्रेण शक्ता गूहयितुं वयम् ।
देवगुह्येष्वपि भवान् सर्वज्ञः सर्वभावनः ॥ ५४ ॥

हमलोग तुम्हें साधारण पुरवासी बताकर छिपानेमें असमर्थ हैं; क्योंकि तुम देवताओंके गुप्त रहस्योंसे भी परिचित, सर्वज्ञ तथा सबको उत्पन्न करनेवाले हो ॥ ५४ ॥

शक्तश्चापि जरासंधं नृपं योधयितुं विभो ।
त्वद्बुद्धिवशगाः सर्वे वयं योधव्रते स्थिताः ॥ ५५ ॥

प्रभो ! तुम राजा जरासंधसे युद्ध करनेमें समर्थ हो । हम सब लोग योधाओंके व्रतमें स्थिर रहकर सदा तुम्हारी बुद्धिके वशीभूत रहेंगे ॥ ५५ ॥

जरासंधस्तु बलवान् नृपाणां मूर्ध्नि तिष्ठति ।
अप्रमेयबलश्चैव वयं च कृशसाधनाः ॥ ५६ ॥

परंतु राजा जरासंध बड़ा बलवान् है । वह राजाओंके सिरपर खड़ा है । उसके पास असंख्य सेना है और इधर हम लोगोंके पास युद्धकी साधन-सामग्री बहुत थोड़ी है ॥ ५६ ॥

न चेयमेकाहमपि पुरी रोधं सहिष्यति ।
कृशभक्तेन्धनक्षामा दुर्गैरपरिवेष्टिता ॥ ५७ ॥

यह मथुरापुरी शत्रुओंद्वारा किये गये एक दिनके उपरोध (घेरे) को भी नहीं सह सकेगी; क्योंकि यहाँ खाने-पीनेकी सामग्री बहुत कम है । लकड़ियोंका सञ्चय भी स्वल्प ही है तथा यह पुरी विभिन्न प्रकारके दुर्गोंसे घिरी हुई नहीं है ॥ ५७ ॥

सम्पत्ति दौहित्रको ही प्राप्त होनी चाहिये—यह शास्त्रका नियम है, अतः लवणासुरके मारे जानेपर यदु-पौत्र भीम ही उस समय उस राज्यके अधिकारी हुए ।

असंस्कृताम्बुपरिखा द्वारयन्त्रविवर्जिता ।
वप्रप्राकारनिचया कर्तव्या बहुविस्तरा ॥ ५८ ॥

इसके चारों ओर जो जल भरनेके लिये खाइयाँ बनी हुई हैं, उनकी बहुत दिनोंसे मरम्मत और सफाई नहीं हुई है तथा नगरके द्वारपर रक्षाके लिये यन्त्र (तोप आदि) भी नहीं लगे हुए हैं। पुरीकी रक्षाके लिये चारों ओरसे मिट्टीकी मोटी दीवारें तथा कई पक्के परकोटे बनवानेकी आवश्यकता है, जिनका विस्तार बहुत बड़ा हो ॥ ५८ ॥

संस्कर्तव्यायुधागारा योक्तव्या चेष्टिकाचयैः ।
कंसस्य बलभोग्यत्वान्नातिगुप्ता पुरा जनैः ॥ ५९ ॥

नगरके जितने आयुधागार हैं, उन सबका संस्कार (मरम्मत और सफाई) होना चाहिये । जगह-जगह ईंटोंके ढेर जुटा लेनेकी आवश्यकता है । कंसकी सेनाके उपयोगमें आनेके कारण इस नगरकी रक्षाके लिये लोगोंने पहलेसे कोई व्यवस्था नहीं कर रखी है ॥ ५९ ॥

सद्यो निपतिते कंसे राज्येऽस्माकं नवोदये ।
पुरी प्रत्यग्ररोधेव न रोधं विसहिष्यति ॥ ६० ॥

अभी हालमें ही कंस मारा गया है; अतः हमारे राज्यका अभी नवोदय (प्रभात) काल है । जैसे राजाके सिपाही कर वसूल करनेके लिये गाँवको घेर लेते हैं, उसी तरह यदि इस पुरीका भी अवरोध हुआ तो यह उसे सहन न कर सकेगी॥

बलं सम्मर्दभग्नं च कृष्यमाणं परेण ह ।
असंशयमिदं राष्ट्रं जनैः सह विनङ्क्ष्यति ॥ ६१ ॥

हमारी सेना अनेकों युद्धोंका सामना करनेके कारण हताश हो गयी है । शत्रु इसे बार-बार पीड़ा देकर क्षीण कर रहा है, अतः यह राष्ट्र यहाँके निवासियोंके साथ ही नष्ट हो जायगा । इसमें संदेह नहीं है ॥ ६१ ॥

यादवानां विरोधेन ये जिता राज्यकामुकैः ।
ते सर्वे द्वैधमिच्छन्ति यत् क्षमं तद् विधीयताम् ॥ ६२ ॥

हमलोगोंने राज्यप्राप्तिकी इच्छा रखकर यादवोंका विरोध करनेके कारण जिन-जिन लोगोंको पराजित किया है, वे सब लोग हममें फूट डालना चाहते हैं । ऐसी परिस्थितिमें जो उचित हो सो करो ॥ ६२ ॥

वञ्चनीया भविष्यामो नृपाणां नृपकारणात् ।
जरासंधभयार्तानां द्रवतां राज्यसम्भ्रमे ॥ ६३ ॥

राजा जरासंधके कारण दूसरे-दूसरे राजा भी हमें धोखा देंगे; क्योंकि वे जरासंधके भयसे पीड़ित हैं और अपने राज्यमें कोई विप्लव न मच जाय, इसके डरसे सब-के-सब उसके पीछे दौड़ते हैं ॥ ६३ ॥

आर्ता वक्ष्यन्ति नः सर्वे रुध्यमानाः पुरे जनाः ।
यादवानां विरोधेन विनष्टाः स्मेति केशव ॥ ६४ ॥

केशव ! यदि इस नगरके सब लोग शत्रुओंके घेरा डालनेसे अवरुद्ध हो जायँगे तो ये पीड़ित होकर हमारे लिये यही कहेंगे कि हम यादवोंके विरोधसे नष्ट हो गये ॥६४॥

एतन्मम मतं कृष्ण विस्रम्भात् समुदाहृतम् ।
त्वं तु विज्ञापितः पूर्वं न पुनः सम्प्रबोधितः ॥ ६५ ॥

श्रीकृष्ण ! यह मेरा मत है, जिसे तुमपर विश्वास होनेके कारण मैंने प्रकट किया है । तुम्हें इस बातकी पहले-पहल सूचना दी गयी है । तुम्हें समझानेका प्रयत्न नहीं किया गया है ॥ ६५ ॥

यदत्र वः क्षमं कृष्ण तच्च वै संविधीयताम् ।
त्वमस्य नेता सैन्यस्य वयं त्वच्छासने स्थिताः ।
त्वन्मूलश्च विरोधोऽयं रक्षास्मानात्मना सह ॥ ६६ ॥

श्रीकृष्ण ! इस परिस्थितिमें जो उचित हो, वह करो । तुम इस यादव-सेनाके नेता हो और हम तुम्हारे शासनमें स्थित हैं । इस विरोधके मूल कारण तुम्हीं हो, इसलिये तुम अपने साथ ही हमलोगोंकी रक्षा करो ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि विकद्रुवाक्यं नामाष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें विकद्रुका वाक्यविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

बलराम और श्रीकृष्णका पुरी और पुरवासियोंकी रक्षाके लिये मथुरासे दक्षिण भारतकी ओर प्रस्थान, परशुरामजीसे उनकी भेंट तथा उन दोनोंको गोमन्तपर्वतपर चलनेके लिये उनकी सलाह

वैशम्पायन उवाच

विकद्रोस्तु वचः श्रुत्वा वसुदेवो महायशाः ।
परितुष्टेन मनसा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विकद्रुकी बात सुनकर महायशस्वी वसुदेव संतुष्टचित्तसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

राजा षाड्गुण्यवक्ता वै राजा मन्त्रार्थतत्त्ववित् ।
सतत्त्वं च हितं चैव कृष्णोक्तं किल धीमता ॥ २ ॥

'श्रीकृष्ण ! जो राजनीतिके छः गुणोंसे युक्त बात बोले अथवा उन छहों गुणोंके उपयोगका अवसर बताये, वह राजा है । जो मन्त्रार्थ-तत्त्व (गुप्त मन्त्रणाका प्रयोजन एवं महत्त्व)

समझता हो, वह राजा है। बुद्धिमान् विकद्रुने तत्त्व और हित-की बात बतायी है ॥ २ ॥

भाषिता राजधर्माश्च सत्याश्च जगतो हिताः।
विकद्रुणा यदुश्रेष्ठ यद्धितं तद् विधीयताम् ॥ ३ ॥

'यदुश्रेष्ठ ! विकद्रुने उन राजधर्मोंका प्रतिपादन किया है, जो सत्य होनेके साथ ही जगत्के लिये हितकर हैं। अब तुम्हें जो हितकर जान पड़े, वह करो' ॥ ३ ॥

एतच्छ्रुत्वा पितुर्वाक्यं विकद्रोश्च महात्मनः।
वाक्यमुत्तममेकाग्रो बभाषे पुरुषोत्तमः ॥ ४ ॥

अपने पिता वसुदेव तथा महात्मा विकद्रुका यह कथन सुनकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने एकाग्रचित्त होकर यह उत्तम बात कही— ॥ ४ ॥

ब्रुवतां वः श्रुतं वाक्यं हेतुतः क्रमतस्तथा।
न्यायतः शास्त्रतश्चैव दैवं चैवानुपश्यताम् ॥ ५ ॥

'आपलोगोंने वैरके मूल-कारण, शत्रुके पराक्रम, न्यायोचित बर्ताव, शास्त्रकी आज्ञा तथा दैववश भविष्यमें होनेवाले कार्यपर दृष्टि रखते हुए जो कुछ कहा है, वह सब मैंने सुन लिया ॥ ५ ॥

श्रूयतामुत्तरं वाक्यं श्रुत्वा च परिगृह्यताम्।
नयेन व्यवहर्तव्यं पार्थिवेन यथाक्रमम् ॥ ६ ॥
संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च।
द्वैधीभावं संश्रयं च षाड्गुण्यं चिन्तयेत् सदा ॥ ७ ॥

'अब उसका उत्तर सुनिये और सुनकर यदि ठीक जँचे तो उसे ग्रहण कीजिये। इसमें संदेह नहीं कि राजाको राजनीतिके अनुसार व्यवहार करना चाहिये। उसके लिये यह उचित है कि संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय-इन छः गुणोंका क्रमशः सदा चिन्तन करता रहे* ॥ ६-७ ॥

बलिनः संनिकृष्टे तु न स्थेयं पण्डितेन वै।
अपक्रमेद्धि कालज्ञः समर्थो युद्धमुद्वहेत् ॥ ८ ॥

'विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह बलवान् शत्रुके समीप न ठहरे। समयका ज्ञान रखनेवाला पुरुष बलवान् शत्रुसे अपनी रक्षा करनेके लिये स्थान छोड़कर हट जाय। यदि वह शत्रु-सेनाका सामना करनेके लिये समर्थ हो तो युद्धका बोझ उठावे ॥ ८ ॥

* संधि, विग्रह आदि छः गुणोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—शत्रुसे मेल रखना संधि, उससे लड़ाई छेड़ना विग्रह, आक्रमण करना यान, अवसरकी प्रतीक्षामें बैठे रहना आसन, दुरंगी नीति बर्तना द्वैधीभाव और अपनेसे बलवान् राजाकी शरण लेना समाश्रय कहलाता है।

अहं तावत् सहार्येण मुहूर्तेऽस्मिन् प्रकाशिते।
जीवितार्थं गमिष्यामि शक्तिमानप्यशक्तवत् ॥ ९ ॥

'मैं शक्तिशाली होकर भी असमर्थकी भाँति इस वर्तमान मुहूर्तमें भैया बलरामजीके साथ जीवनकी रक्षाके लिये यहाँसे पलायन करूँगा ॥ ९ ॥

ततः सह्याचलयुतं सहार्येणाहमक्षयम्।
आत्मद्वितीयः श्रीमन्तं प्रवेक्ष्ये दक्षिणापथम् ॥ १० ॥

'यहाँसे प्रस्थान करनेके बाद मैं आर्य बलरामके साथ अपने आपको ही उनका दूसरा साथी बनाकर उस अक्षय शोभासम्पन्न दक्षिणापथमें प्रवेश करूँगा, जो सह्य पर्वतसे मिला-जुला है ॥ १० ॥

करवीरपुरं चैव रम्यं क्रौञ्चपुरं तथा।
द्रक्ष्यावस्तत्र सहितौ गोमन्तं च नगोत्तमम् ॥ ११ ॥

'वहाँ हम दोनों भाई एक साथ रहकर करवीरपुर, रमणीय क्रौञ्चपुर तथा पर्वतश्रेष्ठ गोमन्तका दर्शन करेंगे ॥

आवयोर्गमनं श्रुत्वा जितकाशी स पार्थिवः।
अप्रविश्य पुरीं दर्पादनुसारं करिष्यति ॥ १२ ॥

'हमलोगोंका दक्षिण-गमन सुनकर विजयसे सुशोभित होनेवाला राजा जरासंध बलके घमण्डमें आकर मथुरापुरीमें प्रवेश न करके हमारा पीछा ही करेगा ॥ १२ ॥

ततः सह्यवनेष्वेव राजा याति स सानुगः।
आवयोर्ग्रहणे चैव नृपतिः प्रयतिष्यति ॥ १३ ॥

'तत्पश्चात् हमारा अनुसरण करता हुआ वह राजा सेवकों-सहित सह्याचलके वनोंमें ही जा पहुँचेगा और हम दोनोंको पकड़ लेनेके लिये पूरा प्रयत्न करेगा ॥ १३ ॥

एषा नः श्रेयसी यात्रा भविष्यति कुलस्य वै।
पौराणामथ पुर्याश्च देशस्य च सुखावहा ॥ १४ ॥

'हमारी यह यात्रा इस यादवकुलके लिये कल्याणकारिणी होगी तथा पुरवासियोंके, मथुरापुरीके एवं इस शूरसेन देशके लिये भी सुखदायिनी होगी ॥ १४ ॥

न च शत्रोः परिभ्रष्टा राजानो विजिगीषवः।
परराष्ट्रेषु मृष्यन्ति मृधे शत्रोः क्षयं विना ॥ १५ ॥

'विजयकी इच्छा रखनेवाले राजालोग जब शत्रु हाथमें आकर निकल जाता है, तब वे उस शत्रुके राज्योंमें पहुँचकर युद्धमें उसका वध किये बिना शान्त नहीं होते हैं' ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा तु तौ वीरौ कृष्णसंकर्षणावुभौ।
प्रपेदतुरसम्भ्रान्तौ दक्षिणौ दक्षिणापथम् ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर वे दोनों नीतिनिपुण वीर श्रीकृष्ण और संकर्षण बिना किसी घबराहटके दक्षिणापथकी ओर चल दिये ॥ १६ ॥

तौ तु राष्ट्राणि शतशश्चरन्तौ कामरूपिणौ ।
दक्षिणां दिशमास्थाय चेरतुर्मार्गगौ सुखम् ॥ १७ ॥

इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वे दोनों वीर सैकड़ों राष्ट्रोंपर विचरते हुए दक्षिण दिशामें पहुँचकर उत्तम मार्गका आश्रय ले सुखपूर्वक आगे बढ़ने लगे ॥ १७ ॥

सह्यपृष्ठेषु रम्येषु मोदमानावुभौ तथा ।
दक्षिणापथगौ वीरावध्वानं सम्प्रपेदतुः ॥ १८ ॥

सह्यपर्वतके रमणीय शिखरोंपर सानन्द विचरते हुए वे दोनों दक्षिणापथके वीर यात्री अपने मार्गपर बढ़ते ही चले गये ॥ १८ ॥

तौ च स्वल्पेन कालेन सह्याचलविभूषितम् ।
करवीरपुरं प्राप्तौ स्ववंशेन विभूषितम् ॥ १९ ॥

थोड़े ही समयमें वे दोनों भाई सह्यकी पर्वत-मालाओंसे अलंकृत करवीरपुरमें जा पहुँचे, जो उन्हींके वंशके लोगोंसे विभूषित था ॥ १९ ॥

तौ तत्र गत्वा वेणाया नद्यास्तीरान्तमाश्रितम् ।
आसेदतुः प्ररोहाढ्यं न्यग्रोधं तरुपुङ्गवम् ॥ २० ॥

वहाँ पहुँचकर वे दोनों वीर वेणा नदीके तटपर ही बढ़े हुए, बरोहोंसे युक्त एक श्रेष्ठ वृक्ष बरगदके समीप गये ॥

अधस्तात् तस्य वृक्षस्य मुनिं दीप्ततपोधनम् ।
अंसावसक्तपरशुं जटावल्कलधारिणम् ॥ २१ ॥
गौरमग्निशिखाकारं तेजसा भास्करोपमम् ।
क्षत्रान्तकरमक्षोभ्यं वपुष्मन्तमिवार्णवम् ॥ २२ ॥
न्यस्तसंकुचिताधानं काले हुतहुताशनम् ।
क्लिन्नं त्रिषवणाम्भोभिराद्यं देवगुरुं यथा ॥ २३ ॥
सवत्सां धेनुकां श्वेतां होमधुक् कामदोहनाम् ।
क्षीरारणिं कर्षमाणं महेन्द्रगिरिगोचरम् ॥ २४ ॥
ददृशतुस्तौ सहितावपरिश्रान्तमव्ययम् ।
भार्गवं राममासीनं मन्दरस्थं यथा रविम् ॥ २५ ॥

उस वृक्षके नीचे उद्दीप्त तपस्वी भृगुनन्दन परशुरामजी विराजमान थे, जिनके एक कंधेपर फरसा सटा हुआ था और जो जटा और वल्कल धारण किये हुए थे । उनके शरीरका वर्ण गौर तथा अग्निशिखाके समान प्रकाशमान था। वे सूर्यके समान तेजस्वी दिखायी देते थे । क्षत्रियोंका अन्त करनेवाले परशुराम किसीसे क्षुब्ध होनेवाले नहीं थे। वे मूर्तिमान् समुद्रके समान गम्भीर प्रतीत होते थे । उनका अग्न्याधान-सम्बन्धी कार्य समाप्त एवं संकुचित हो चुका था, फिर भी वे समय-समयपर प्रज्वलित अग्निमें आहुति दिया करते थे । तीनों समय स्नान करनेके कारण उनका शरीर एवं वस्त्र जलसे भीगे हुए थे । वे देवताओंके आदि-गुरु बृहस्पतिके समान जान पड़ते थे । उनके पास जो श्वेत रंगकी सवत्सा (बछड़ेवाली) धेनु थी, वह केवल होमके लिये दुही जाती थी, इसलिये होमधेनु कहलाती थी । इसके सिवा वह मुनिकी इच्छाके अनुसार समस्त वस्तुओंको देनेमें समर्थ थी, इसलिये कामदोहना या कामधेनु कहलाती थी । दूधरूपी अग्निको प्रकट करनेके लिये अरणीके समान शोभित होनेवाली उस होमधेनुको परशुरामजी कहीं खींच-कर ले जा रहे थे । वे कभी परिश्रमसे थकते नहीं हैं और अविनाशी हैं । श्रीकृष्ण और बलरामने महेन्द्र गिरिपर विचरनेवाले परशुरामजीको, वहाँ मन्दराचलके शिखरपर प्रकाशित होनेवाले सूर्यके समान देखा ॥ २१—२५ ॥

न्यायतस्तौ तु तं दृष्ट्वा पादमूले कृताञ्जली ।
वसुदेवसुतौ वीरौ सधिष्ण्याविव पावकौ ॥ २६ ॥

उनका दर्शन करके वसुदेवके उन दोनों वीर पुत्रोंने न्यायानुसार उनके चरणोंमें हाथ जोड़कर प्रणाम किया । वे उस समय वेदीपर प्रज्वलित अग्नियोंके समान जान पड़ते थे ॥ २६ ॥

कृष्णस्तमृषिशार्दूलमुवाच वदतां वरः ।
श्लक्ष्णं मधुरया वाचा लोकवृत्तान्तकोविदः ॥ २७ ॥

इसके बाद वक्ताओंमें श्रेष्ठ एवं लोकवृत्तान्तके ज्ञानमें कुशल श्रीकृष्णने मुनिश्रेष्ठ परशुरामजीसे स्नेहयुक्त मधुर-वाणीमें कहा—॥ २७ ॥

भगवन् जामदग्न्यं त्वामवगच्छामि भार्गवम् ।
रामं मुनीनामृषभं क्षत्रियाणां कुलान्तकम् ॥ २८ ॥

'भगवन् ! मैं समझता हूँ कि आप भृगुकुलभूषण क्षत्रिय-कुलविनाशक मुनिश्रेष्ठ जमदग्निनन्दन परशुरामजी हैं ॥ २८॥

त्वया सायकवेगेन क्षिप्तो भार्गव सागरः ।
इषुपातेन नगरं कृतं शूर्पारकं त्वया ॥ २९ ॥

'भृगुनन्दन ! आपने अपने बाणके वेगसे समुद्रको पीछे ढकेल दिया और जितनी दूरीमें बाण गिरा समुद्रसे उतनी ही भूमि लेकर वहाँ शूर्पारक नगरका निर्माण किया ॥ २९ ॥

धनुःपञ्चशतायाममिषुपञ्चशतोच्छ्रयम् ।
सह्यस्य च निकुञ्जेषु स्फीतो जनपदो महान् ॥ ३० ॥

'उस नगरकी लंबाई पाँच सौ धनुष और चौड़ाई पाँच सौ बाण है* । सह्यपर्वतके निकुञ्जोंमें वह समृद्धिशाली महान् जनपद बसा हुआ है ॥ ३० ॥

अतिक्रम्योदधेर्वेलामपरान्ते निवेशितः ।
त्वया तत् कार्तवीर्यस्य सहस्रभुजकाननम् ॥ ३१ ॥
छिन्नं परशुनैकेन स्मरता निधनं पितुः ।

* धनुष चार हाथ लंबा और बाण दो हाथ लंबा माना गया है ।

'आपने समुद्रवेलाका उल्लङ्घन करके अपरान्तदेशमें (जो पश्चिम समुद्रके तटपर है) उस महान् जनपदको बसाया है। आपने ही अपने पिताकी मृत्युको याद करके एक ही फरसेसे कार्तवीर्यकी सहस्र भुजाओंका वह जंगल काट डाला था ॥ ३१½ ॥

इयमद्यापि रुधिरैः क्षत्रियाणां हतद्विषाम् ॥ ३२ ॥
स्निग्धैस्त्वत्परशूत्सृष्टै रक्तपङ्का वसुंधरा।
रैणुकेयं विजाने त्वां क्षितौ क्षितिपरोषणम् ॥ ३३ ॥

'आपके द्वारा मारे गये जो शत्रुभूत क्षत्रिय थे, आपके फरसेसे प्रवाहित हुए उनके स्निग्ध रुधिरसे आज भी यह वसुन्धरा भीगकर रक्तकी कीचसे युक्त दिखायी देती है। मैं जानता हूँ कि आप भूमण्डलके क्षत्रियोंपर रोष प्रकट करनेवाले रेणुकानन्दन परशुराम हैं ॥ ३२-३३ ॥

परशुप्रग्रहे युक्तं यथैवेह रणे तथा।
तदिच्छावस्त्वया विप्र कंचिदर्थमुपश्रुतम् ॥ ३४ ॥
उत्तरं च श्रुतार्थेन प्रत्युक्तमविशङ्कया।

'क्योंकि आप रणभूमिकी ही भाँति यहाँ भी फरसा लिये हुए हैं, अतः विप्रवर ! हम दोनों आपसे एक बात पूछना चाहते हैं तथा आप हमारी बात सुनकर निर्भीक हो हमें जो उत्तर देंगे, उसे सुननेकी भी हमारी इच्छा है ॥ ३४½ ॥

आवयोर्मथुरा राम यमुनातीरशोभिनी ॥ ३५ ॥
यादवौ स्वो मुनिश्रेष्ठ यदि ते श्रुतिमागतौ।
वसुदेवो यदुश्रेष्ठः पिता नौ हि धृतव्रतः ॥ ३६ ॥

'मुनिश्रेष्ठ परशुराम ! हमारी निवासभूमि मथुरापुरी है, जो यमुनातटपर शोभा पाती है। हम दोनों यादव हैं। यदि हमारे नाम भी कभी आपके कानोंमें पड़े हों तो आप हमें जानते भी होंगे। यदुकुलके श्रेष्ठ पुरुष तथा उत्तम व्रत धारण करनेवाले वसुदेवजी हम दोनोंके पिता हैं ॥३५-३६॥

जन्मप्रभृति चैवावां व्रजेष्वेव नियोजितौ।
तौ स्वः कंसभयात् तत्र शङ्कितौ परिवर्द्धितौ ॥ ३७ ॥

'हम दोनों भाई जन्मसे ही कंसके भयसे व्रजमें ही रक्खे गये और वहीं उससे शङ्कित रहकर बड़े हुए हैं ॥ ३७ ॥

वयश्च प्रथमं प्राप्तौ मथुरायां प्रवेशितौ।
तावावां व्युत्थितं हत्वा समाजे कंसमोजसा ॥ ३८ ॥
पितरं तस्य तत्रैव स्थापयित्वा जनेश्वरम्।
स्वमेव कर्म चारब्धौ गवां व्यापारकारकौ ॥ ३९ ॥

'प्रथम किशोरावस्थाको प्राप्त होनेपर हम दोनों भाइयोंका मथुरामें प्रवेश हुआ। वहाँ हमने धर्म-मर्यादासे विचलित हुए कंसको रंगशालामें बलपूर्वक मार डाला और उसके राज्यपर उसीके पिताको राजा बनाकर बिठा दिया। तत्पश्चात् सदासे गोपालन-सम्बन्धी कार्य करनेवाले हम दोनों भाइयोंने फिर वही अपना काम-धंधा आरम्भ कर दिया ॥ ३८-३९ ॥

अथावयोः पुरं रोद्धुं जरासंधो व्यवस्थितः।
संग्रामान् सुबहून् कृत्वा लब्धलक्षावपि स्वयम् ॥ ४० ॥
ततः स्वपुररक्षार्थं प्रजानां च धृतव्रत।
अकृतार्थावनुद्योगौ कर्तव्यबलसाधनौ ॥ ४१ ॥

'तदनन्तर राजा जरासंधने हम दोनोंके नगरपर घेरा डालनेके लिये निश्चित विचार कर लिया। यद्यपि हम दोनों उसके साथ बहुत युद्ध कर चुके हैं और उनमें अपना लक्ष्य सिद्ध करनेमें सफल भी हुए हैं तथापि अपने नगर और प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये हमने जरासंधसे लड़नेके लिये कोई उद्योग नहीं किया। व्रतधारी मुने! अभी हमलोगोंको शक्ति और साधनका संचय करना है, अतः अकृतार्थ होकर ही हमलोग वहाँसे चल पड़े ॥ ४०-४१ ॥

अरथौ पत्तिनौ युद्धे निस्तनुत्रौ निरायुधौ।
जरासंधोग्रभयात् पुराद् द्वावेव निःसृतौ ॥ ४२ ॥

'हमारे पास युद्धके लिये रथ नहीं है। हम पैदल ही हैं। हमारे शरीरपर कवच और हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र भी नहीं हैं। हम जरासंधके आक्रमणके भयसे नगरको छोड़कर केवल दो ही जने वहाँसे निकल आये हैं ॥ ४२ ॥

एवमावामनुप्राप्तौ मुनिश्रेष्ठ तवान्तिकम्।
आवयोर्मन्त्रमात्रेण कर्तुमर्हसि सत्क्रियाम् ॥ ४३ ॥

'मुनिश्रेष्ठ ! इस प्रकार हम दोनों आपके निकट आये हैं। आप हमें सलाहमात्र देकर हमारा सत्कार करें' ॥ ४३ ॥

श्रुत्वैतद् भार्गवो रामस्तयोर्वाक्यमनिन्दितम्।
रैणुकेयः प्रतिवचो धर्मसंहितमब्रवीत् ॥ ४४ ॥

उन दोनोंका यह निर्दोष वचन सुनकर रेणुकानन्दन भृगुवंशी परशुरामने उन्हें यह धर्मयुक्त उत्तर दिया—॥४४॥

अपरान्तादहं कृष्ण सम्प्रतीहागतः प्रभो।
एक एव विना शिष्यैर्युवयोर्मन्त्रकारणात् ॥ ४५ ॥

'प्रभावशाली श्रीकृष्ण ! मैं तुम दोनोंको सलाह देनेके लिये ही इस समय यहाँ अपरान्तसे अकेला ही चला आया हूँ। शिष्योंको भी मैंने साथ नहीं लिया है ॥ ४५ ॥

विदितो मे व्रजे वासस्तत्र पद्मनिभेक्षण।
दानवानां वधश्चापि कंसस्यापि दुरात्मनः ॥ ४६ ॥

'कमलनयन ! तुम्हारा जो व्रजमें निवास हुआ है तथा तुम्हारे हाथसे जो दानवों और दुरात्मा कंसका वध हुआ है, वह सब मुझे विदित है ॥ ४६ ॥

विग्रहं च जरासंधे विदित्वा पुरुषोत्तम।
तव सभ्रातृकस्येह सम्प्राप्तोऽस्मि वरानन ॥ ४७ ॥

'सुन्दर मुखवाले पुरुषोत्तम ! जरासंधके साथ होनेवाले

विग्रहको जानकर ही मैं भाईसहित तुमसे मिलनेके लिये यहाँ आ गया हूँ ॥ ४७ ॥

जाने त्वां कृष्ण गोप्तारं जगतः प्रभुमव्ययम् ।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमबालं बालतां गतम् ॥ ४८ ॥

'श्रीकृष्ण ! मैं तुम्हे अच्छी तरह जानता हूँ । तुम जगत्के रक्षक अविनाशी भगवान् हो और देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये बालक न होनेपर भी बालक बनकर प्रकट हुए हो ॥ ४८ ॥

न त्वयाविदितं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
तथापि भक्तिमात्रेण शृणु वक्ष्यामि ते वचः ॥ ४९ ॥

'तीनों लोकोंमें जो कुछ भी है, वह तुमसे अविदित नहीं है (अतः तुम्हें सलाह देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है), तथापि मैं अपनी भक्तिमात्रसे प्रेरित हो तुमसे जो बात कहता हूँ, उसे सुनो ॥ ४९ ॥

पूर्वजैस्तव गोविन्द पूर्वं पुरमिदं कृतम् ।
करवीरपुरं नाम राष्ट्रं चैव निवेशितम् ॥ ५० ॥

'गोविन्द ! पहले तुम्हारे पूर्वजोंने यहाँ इस करवीरपुर नामक नगरका निर्माण किया और इस राष्ट्रको बसाया है ॥

पुरेऽस्मिन् नृपतिः कृष्ण वासुदेवो महायशाः ।
शृगाल इति विख्यातो नित्यं परमकोपनः ॥ ५१ ॥

'श्रीकृष्ण ! इस करवीरपुरमें इस समय महायशस्वी वासुदेव रहता है, जो शृगाल नामसे विख्यात है । वह सदा ही अत्यन्त क्रोधमें भरा रहता है ॥ ५१ ॥

नृपेण तेन गोविन्द तव वंशभवा नृपाः ।
दायादा निहताः सर्वे वीर द्वेषानुशायिना ॥ ५२ ॥

'वीर गोविन्द ! सदा द्वेषका ही अनुसरण करनेवाले उस राजा शृगालने तुम्हारे कुलमें उत्पन्न हुए समस्त उत्तराधिकारी क्षत्रिय नरेशोंको मार डाला है ॥ ५२ ॥

अहंकारपरो नित्यमजितात्मातिमत्सरी ।
राज्यैश्वर्यमदाविष्टः पुत्रेष्वपि च दारुणः ॥ ५३ ॥

'वह नित्य घमंडमें भरा रहता है । उसका मन वशमें नहीं है । वह दूसरोंसे अत्यन्त डाह रखता है । राज्य और ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त होकर अपने पुत्रोंके प्रति भी निर्दयतापूर्ण बर्ताव करता है ॥ ५३ ॥

तन्नेह भवतः स्थानं रोचते मे नरोत्तम ।
करवीरपुरे घोरे नित्यं पार्थिवदूषिते ॥ ५४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इसीलिये यहाँ सर्वदा इस राजाद्वारा कलङ्कित घोर करवीरपुरमें तुम्हारा ठहरना मुझे ठीक नहीं जँचता है ॥

श्रूयतां कथयिष्यामि यत्रोभौ शत्रुबाधनौ ।
जरासंधं बलोदग्रं भवन्तौ योधयिष्यतः ॥ ५५ ॥

'जहाँ रहकर तुम दोनों बन्धु शत्रुको बाधा पहुँचाते हुए बलमें बढ़े-चढ़े जरासंधके साथ युद्ध करोगे, उस स्थानका परिचय देता हूँ; सुनो ॥ ५५ ॥

तीर्त्वा वेणामिमां पुण्यां नदीमद्यैव बाहुभिः ।
विषयान्ते निवासाय गिरिं गच्छाम दुर्गमम् ॥ ५६ ॥

'हमलोग आज ही इस पुण्य नदी वेणाको भुजाओंसे ही पार करके इस देशकी सीमापर स्थित एक दुर्गम पर्वतपर चले चलें, वहीं निवास करेंगे ॥ ५६ ॥

रम्यं यज्ञगिरिं नाम सह्यस्य प्ररुहं गिरिम् ।
निवासं मांसभक्षाणां चौराणां घोरकर्मणाम् ॥ ५७ ॥

'उस पर्वतका नाम है यज्ञगिरि, जो सह्यपर्वतकी ही उपशाखा है । वह बड़ा ही रमणीय स्थान है । वहाँ इन दिनों भयानक कर्म करनेवाले मांसाहारी चोर-डाकुओंने अड्डा जमा रखा है ॥ ५७ ॥

नानाद्रुमलतायुक्तं चित्रं पुष्पितपादपम् ।
प्रोष्ये तत्र निशामेकां खट्वाङ्गां नाम निम्नगाम्॥ ५८ ॥
भद्रं ते संतरिष्यामो निकषोपलभूषणाम् ।
गङ्गाप्रपातप्रतिमां भ्रष्टां च महतो गिरेः ॥ ५९ ॥

'उस पर्वतपर भाँति-भाँतिके वृक्ष और लताएँ लहलहा रही हैं । वृक्षोंमें फूल लगे हुए हैं । इससे उस पर्वतकी विचित्र शोभा होती है । वहाँ हमलोग एक रात निवास करेंगे । तदनन्तर खट्वाङ्गा नामवाली नदीको पार करेंगे, जो कसौटीके पत्थरोंसे विभूषित है । तुम्हारा भला हो । वह नदी उस महान् पर्वतसे गिरी हुई है, जो गङ्गाके प्रपात-सी दिखायी देती है ॥ ५८-५९ ॥

तस्याः प्रपातं द्रक्ष्यामस्तापसारण्यभूषणम् ।
उपभुज्य विमान् कामान् गत्वा तान् धरणीधरान्॥ ६० ॥
द्रक्ष्यामस्तत्र तान् विप्रान्छाम्यतो वै तपोधनान्।
रम्यं क्रौञ्चपुरं नाम गमिष्यामः पुरोत्तमम् ॥ ६१ ॥

'खट्वाङ्गाका प्रपात (झरना) तापसारण्यसे विभूषित है, हमलोग उसे देखेंगे और वहीं कुछ खा-पीकर इन कमनीय एवं प्रसिद्ध पर्वतोंपर विचरते हुए वहाँ उन तपस्वी ब्राह्मणोंका दर्शन करेंगे, जो तपमें संलग्न होकर कष्ट उठा रहे हैं । तत्पश्चात् हम रमणीय एवं श्रेष्ठ नगर क्रौञ्चपुरमें चलेंगे ॥ ६०-६१ ॥

वंशजस्तत्र ते राजा कृष्ण धर्मरतः सदा ।
महाकपिरिति ख्यातो वनवास्यजनाधिपः ॥ ६२ ॥

'श्रीकृष्ण ! वहाँ तुम्हारे ही कुलमें उत्पन्न एक राजा राज्य करते हैं, जो सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं, उनका नाम है महाकपि । वे वनवासी जनपद तथा वहाँकी निवासी प्रजाओंके अधिपति हैं ॥ ६२ ॥

तमदृष्ट्वैव राजानं निवासाय गतेऽहनि।
तीर्थमानडुहं नाम तत्रस्थाः स्याम संगताः ॥ ६३ ॥

'उस राजासे मिले बिना ही हमलोग निवासके लिये संध्या होते-होते आनडुह नामक तीर्थमें जा पहुँचेंगे और वहाँ एक साथ मिलकर रहेंगे ॥ ६३ ॥

ततश्च्युता गमिष्यामः सह्यस्य विवरे गिरिम्।
गोमन्तमिति विख्यातं नैकशृङ्गविभूषितम् ॥ ६४ ॥

'वहाँसे उतरकर हमलोग सह्यपर्वतकी गुफामें होते हुए उस गोमन्त नामसे विख्यात शैलपर जा पहुँचेंगे, जो अनेकानेक शिखरोंसे विभूषित है ॥ ६४ ॥

स्वर्गतैकमहाशृङ्गं दुरारोहं खगैरपि।
विश्रामभूतं देवानां ज्योतिर्भिरभिसंवृतम् ॥ ६५ ॥

'इसका एक विशाल शिखर इतना ऊँचा है कि वह स्वर्गलोकतक पहुँचा हुआ जान पड़ता है। आकाशचारी पक्षियोंके लिये भी उसपर चढ़ना कठिन है। वह देवताओंका विश्राम-स्थल है और ज्योतियोंसे घिरा हुआ है ॥ ६५ ॥

सोपानभूतं स्वर्गस्य गगनाद्रिमिवोच्छ्रितम्।
तं विमानावतरणं गिरिं मेरुमिवापरम् ॥ ६६ ॥

'उसे स्वर्गका सोपान समझा जाता है। वह उच्चतम पर्वत (भूतलका नहीं) आकाशका-सा पर्वत जान पड़ता है। उसपर देवताओंके विमान उतरते हैं तथा वह दूसरे मेरु-गिरिके समान प्रतीत होता है ॥ ६६ ॥

तस्योत्तमे महाशृङ्गे भास्वन्तौ देवरूपिणौ।
उदयास्तमये सूर्यं सोमं च ज्योतिषां पतिम् ॥ ६७ ॥
ऊर्मिमन्तं समुद्रं च अपारद्वीपभूषणम्।
प्रेक्षमाणौ सुखं तत्र नगाग्रे विचरिष्यथः ॥ ६८ ॥

'तुम दोनों भाई देवताओंके समान दिव्य रूपधारी तथा तेजस्वी हो। उस गोमन्त गिरिके महान् शिखरपर आरूढ़ होकर उदय और अस्तके समय सूर्य एवं नक्षत्रोंके स्वामी चन्द्रमाका तथा अपार द्वीपोंसे विभूषित और तरङ्गमालाओंसे अलंकृत समुद्रका दर्शन करते हुए तुम दोनों बन्धु वहाँ पर्वतीय शिखरके अग्रभागमें सुखपूर्वक विचरोगे ॥६७-६८॥

शृङ्गस्थौ तस्य शैलस्य गोमन्तस्य वनेचरौ।
दुर्गयुद्धेन धावन्तौ जरासंधं विजेष्यथः ॥ ६९ ॥

'उस गोमन्त नामक शैलके शिखरपर रहकर वहाँके वनमें विचरते हुए तुम दोनों वीर दुर्ग-युद्धद्वारा धावा करके जरासंधको जीत लोगे ॥ ६९ ॥

तत्र शैलगतौ दृष्ट्वा भवन्तौ युद्धदुर्मदौ।
आसक्तः शैलयुद्धे वै जरासंधो भविष्यति ॥ ७० ॥

'तुम दोनों रण-दुर्मद वीरोंको उस पर्वतपर आरूढ़ हुआ देख जरासंध पर्वत-युद्धमें ही आसक्त हो जायगा ॥ ७० ॥

भवतोरपि युद्धे तु प्रवृत्ते तत्र दारुणे।
आयुधैः सह संयोगं पश्यामि नचिरादिव ॥ ७१ ॥

'वहाँ भयंकर युद्ध आरम्भ हो जानेपर तुम दोनोंके हाथमें भी शीघ्र ही दिव्य आयुधोंका संयोग हुआ देखूँगा ॥

संग्रामश्च महान् कृष्ण निर्दिष्टस्तत्र दैवतैः।
यदूनां पार्थिवानां च मांसशोणितकर्दमः ॥ ७२ ॥

'श्रीकृष्ण! वहाँ देवताओंने यादवों तथा अन्य राजाओंके महान् युद्धका निर्देश किया है, जिसमें रक्त और मांसकी कीच जम जानेवाली है ॥ ७२ ॥

तत्र चक्रं हलं चैव गदां कौमोदकीं तथा।
सौनन्दं मुसलं चैव वैष्णवान्यायुधानि च ॥ ७३ ॥
दर्शयिष्यन्ति संग्रामे पास्यन्ति च महीक्षिताम्।
रुधिरं कालयुक्तानां वपुर्भिः कालसंनिभैः ॥ ७४ ॥

'वहाँ सुदर्शन चक्र, संवर्तक हल, कौमोदकी गदा तथा सौनन्द नामक मुसल—ये विष्णुसम्बन्धी आयुध संग्राममें तुम्हें दर्शन देंगे और अपने कालके समान स्वरूपोंसे कालके अधीन हुए राजाओंका रक्त पीयेंगे ॥ ७३-७४ ॥

स चक्रमुसलो नाम संग्रामः कृष्ण विश्रुतः।
दैवतैरिह निर्दिष्टः कालस्यादेशसंज्ञितः ॥ ७५ ॥

'श्रीकृष्ण! वह संग्राम चक्र-मुसलके नामसे विख्यात होगा। देवताओंने इसी स्थानपर उसके होनेका संकेत किया है। वह युद्ध साक्षात् कालका आज्ञापत्र है ॥ ७५ ॥

तत्र ते कृष्ण संग्रामे सुव्यक्तं वैष्णवं वपुः।
द्रक्ष्यन्ति रिपवः सर्वे सुराश्च सुरभावन ॥ ७६ ॥

'देवताओंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले श्रीकृष्ण! उस संग्राममें समस्त शत्रु और देवता भी तुम्हारे भलीभाँति व्यक्त हुए वैष्णव रूपका दर्शन करेंगे ॥ ७६ ॥

तां भजस्व गदां कृष्ण चक्रं च चिरविस्मृतम्।
भजस्व स्वेन रूपेण सुराणां विजयाय वै ॥ ७७ ॥

'श्रीकृष्ण! तुम अपने उसी वैष्णव रूपसे स्थित हो देवताओंकी विजयके लिये चिरकालसे भूले हुए अपने उस चक्र और गदाको ग्रहण करना ॥ ७७ ॥

बलश्चायं हलं घोरं मुसलं चारिभेदनम्।
वधाय सुरशत्रूणां भजताल्लोकभावनः ॥ ७८ ॥

'तथा ये लोकभावन बलराम भी देवद्रोहियोंका वध करनेके लिये अपने शत्रुविदारण घोर हल और मुसलको हाथमें ले लें ॥ ७८ ॥

एष ते प्रथमः कृष्ण संग्रामो भुवि पार्थिवैः।
पृथिव्यर्थे समाख्यातो भारावतरणे सुरैः ॥ ७९ ॥

'श्रीकृष्ण ! पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भूमण्डलके राजाओंके साथ तुम्हारा यह पहला संग्राम देवताओंद्वारा बताया गया है ॥ ७९ ॥

आयुधावाप्तिरत्रैव वपुषो वैष्णवस्य च।
लक्ष्म्याश्च तेजसश्चैव व्यूहानां च विदारणम् ॥ ८० ॥

'यहीं तुम्हें अपने दिव्य आयुधोंकी, वैष्णव स्वरूपकी, लक्ष्मीकी तथा शत्रुव्यूहोंका विदारण करनेवाले तेजकी प्राप्ति होगी ॥ ८० ॥

अतःप्रभृति संग्रामो धरण्यां शस्त्रमूर्च्छितः।
भविष्यति महान् कृष्ण भारतं नाम वैशसम् ॥ ८१ ॥

'श्रीकृष्ण ! इसके बाद पृथ्वीपर अस्त्र-शस्त्रोंसे व्याप्त एक महान् संग्राम होगा, जो लोगोंमें महाभारतके नामसे प्रसिद्ध होगा ॥ ८१ ॥

तद् गच्छ कृष्ण शैलेन्द्रं गोमन्तं च नगोत्तमम्।
जरासंधमृधे चापि विजयस्त्वामुपस्थितः ॥ ८२ ॥

'अतः श्रीकृष्ण ! तुम पर्वतोंमें श्रेष्ठ गिरिराज गोमन्त-पर चलो। जरासंधके युद्धमें भी विजयश्री तुम्हारा ही वरण करनेके लिये प्रस्तुत है ॥ ८२ ॥

इदं चैवामृतप्रख्यं होमधेनोः पयोऽमृतम्।
पीत्वा गच्छत भद्रं वो मयाऽऽदिष्टेन वर्त्मना ॥ ८३ ॥

'तुम्हारा कल्याण हो। मेरी इस होमधेनुका यह अमृतोपम सुमधुर दुग्ध पीकर मेरे बताये हुए मार्गसे चलो' ॥ ८३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि रामवाक्ये एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत परशुरामवाक्यविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण, बलराम और परशुरामजीका गोमन्तपर्वतपर आरोहण, गोमन्तकी शोभाका वर्णन तथा परशुरामजीका श्रीकृष्णको युद्धके लिये प्रोत्साहन देकर वहाँसे प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

तत्तु धेन्वाः पयः पीत्वा बलदर्पसमन्वितौ।
ततस्तौ रामसहितौ प्रस्थितौ यदुपुङ्गवौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस होमधेनुका दूध पीकर बल और दर्पसे भरे हुए वे दोनों यदुपुङ्गव वीर परशुरामजीके साथ वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

गोमन्तं पर्वतं द्रष्टुं मत्तनागेन्द्रगामिनौ।
जामदग्न्यप्रदिष्टेन मार्गेण वदतां वरौ ॥ २ ॥

मतवाले गजराजकी भाँति मस्तीके साथ चलनेवाले वे वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और बलराम परशुरामजीके बताये हुए मार्गसे गोमन्तपर्वतका दर्शन करनेके लिये चले ॥ २ ॥

जामदग्न्यतृतीयास्ते त्रयस्त्रय इवाग्नयः।
शोभयन्ति स्म पन्थानं त्रिदिवं त्रिदशा इव ॥ ३ ॥

उन दोनोंके साथ तीसरे परशुरामजी थे। वे तीनों तीन अग्नियोंके समान उसी तरह उस मार्गकी शोभा बढ़ाते थे, जैसे देवता स्वर्गकी ॥ ३ ॥

ते चाध्वविधिना सर्वे ततो वै दिवसक्रमात्।
गोमन्तमचलं प्राप्ता मन्दरं त्रिदशा इव ॥ ४ ॥

मनुष्य जिस तरह किसी मार्गपर चलते हैं, उसी विधिसे वे सब लोग यात्रा करते हुए क्रमशः कई दिनोंके बाद गोमन्त गिरिपर जा पहुँचे, मानो देवता मन्दराचलके शिखरपर गये हों ॥ ४ ॥

लताचारुविचित्रं च नानाद्रुमविभूषितम्।
नानागुरुपिनद्धाङ्गं चित्रं चित्रैर्मनोहरैः ॥ ५ ॥

नाना प्रकारकी लताओंके विस्तारसे उस पर्वतकी सुन्दर एवं विचित्र शोभा हो रही थी। भाँति-भाँतिके वृक्ष उसके लिये भूषणका काम दे रहे थे। उस पर्वतका सारा अङ्ग अनेक प्रकारके अगुरु आदि सुगन्धित धूपोंसे व्याप्त था। मनोहर मयूर उसे और भी विचित्र शोभासे सम्पन्न किये देते थे ॥ ५ ॥

द्विरेफगणसंकीर्णं शिलासंकटपादपम्।
मत्तबर्हिणनिर्घोषैर्नादितं मेघनादिभिः ॥ ६ ॥

भ्रमरोंसे व्याप्त और शिला तथा वृक्षोंसे भरा हुआ वह पर्वत मेघोंके समान गम्भीर स्वरोंमें बोलनेवाले मतवाले मयूरोंकी मधुर ध्वनिसे निनादित हो रहा था ॥ ६ ॥

गगनालग्नशिखरं जलदासक्तपादपम्।
मत्तद्विपविषाणाग्रैः परिघृष्टोपलाङ्कितम् ॥ ७ ॥

उसके शिखर आकाशके ऊर्ध्वभागसे लगे हुए थे। बादल उसके वृक्षोंका आलिङ्गन करते थे तथा उसके प्रस्तर-खण्ड मतवाले हाथियोंके दाँतोंके अग्रभागकी रगड़से घिसे हुए दिखायी देते थे। उन प्रस्तरोंसे अङ्कित हुआ वह पर्वत बड़ी शोभा पाता था ॥ ७ ॥

कूजद्भिश्चाण्डजगणैः समन्तात् प्रतिनादितम्।
दरीप्रपाताम्बुरवैश्छन्नं शार्दूलतल्लजैः ॥ ८ ॥

वहाँ चारों ओर पक्षी कलरव करते थे, जिनकी प्रतिध्वनि

सब ओर छायी रहती थी। गुफाओंमें झरनेका जल गिरनेसे जो शब्द होता था तथा बड़े-बड़े व्याघ्रोंके दहाड़नेसे जो ध्वनि होती थी, उससे भी वह पर्वत व्याप्त हो रहा था ॥ ८ ॥

नीलाश्मचयसंघातैर्बहुवर्णं यथा घनम्।
धातुविस्रावदिग्धाङ्गं सानुप्रस्रवभूषितम् ॥ ९ ॥

वहाँ नीले पत्थरोंके ढेर-के-ढेर पड़े थे, जिनमें वह अनेक वर्णके मेघकी भाँति सुशोभित होता था। पानीके साथ गेरू आदि धातुओंके बहानेसे उसका अङ्ग चन्दनसे चर्चित-सा जान पड़ता था। शिखरोंसे जो झरने गिर रहे थे, वे आभूषण-के समान उसकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ९ ॥

कीर्णं सुरगणैः कान्तैर्मैनाकमिव कामगम्।
उच्छ्रितं सुविशालाग्रं समूलाम्बुपरिस्रवम् ॥ १० ॥

कान्तिमान् देवता वहाँ सब ओर फैले हुए थे। वह इच्छानुसार विचरनेवाले मैनाक-सा प्रतीत होता था। अत्यन्त विशाल शिखरसे सुशोभित वह उच्चतम पर्वत अपने मूलभागसे निर्झरोंके जलकी धारा बहा रहा था ॥ १० ॥

सकाननदरीप्रस्थं श्वेताभ्रगणभूषितम्।
पनसाम्रातकाम्रौघैर्वेत्रस्यन्दनचन्दनैः ॥ ११ ॥
तमालैलावनयुतं मरीचक्षुपसंकुलम्।

वन, गुफा और शिखरोंसे सम्पन्न वह शैलराज श्वेत बादलोंसे विभूषित था। वहाँ कटहल, आम्रातक (अमड़ा), आमोंके समूह, बेंत, स्यन्दन (तिनिश), चन्दन, तमाल, इलायचीके वन तथा मिर्चकी झाड़ियाँ शोभा पाती थीं ॥ ११½ ॥

पिप्पलीवल्लिकलिलं चित्रमिङ्गुदिपादपैः ॥ १२ ॥
द्रुमैः सर्जरसानां च सर्वतः परिशोभितम्।
प्रांशुशालवनैर्युक्तं बहुचित्रवनैर्युतम् ॥ १३ ॥

वहाँ सब ओर पिप्पलीकी बेलें फैली थीं। इङ्गुदीके वृक्ष विचित्र शोभा दे रहे थे तथा सर्जरस (राल) के वृक्ष सब ओरसे उस पर्वतको सुशोभित किये हुए थे। ऊँचे-ऊँचे शाल वृक्षोंके वन तथा अन्य बहुत-से विचित्र वन उस पर्वतकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १२-१३ ॥

सर्जनिम्बार्जुनवनं पाटलीकुलसंकुलम्।
हिन्तालैश्च तमालैश्च पुन्नागैश्चोपशोभितम् ॥ १४ ॥

राल, नीम और अर्जुन वृक्षोंका वन शोभा दे रहा था। पाड़र वृक्षोंके समूह वहाँ सब ओर छा रहे थे। हिंताल, तमाल और पुन्नाग (जायफल) उस शैलशिखरकी शोभा बढ़ाते थे ॥ १४ ॥

जलेषु जलजैश्छन्नं स्थलेषु स्थलजैरपि।
पङ्कजैर्द्रुमखण्डैश्च सर्वतः प्रतिभूषितम् ॥ १५ ॥

वहाँ जलोंमें जलज कमल, स्थलोंमें स्थलज कमल तथा अन्यान्य वृक्षसमूह सब ओरसे उस पर्वतके आभूषण बने हुए थे ॥ १५ ॥

जम्बूजम्बूलवृक्षाढ्यं कद्रुकन्दलभूषितम्।
चम्पकाशोकबकुलं बिल्वतिन्दुकशोभितम् ॥ १६ ॥

जामुन, केवड़े, कद्रु, केले, चम्पा, अशोक, बकुल, बिल्व और तिन्दुक आदि वृक्षोंसे वह शैल सुशोभित था ॥

कुञ्जैश्च नागपुष्पैश्च समन्तादुपशोभितम्।
नागयूथसमाकीर्णं मृगसंघातशोभितम् ॥ १७ ॥

बहुत-से कुञ्ज और नागकेसरके फूल सब ओरसे उसकी शोभा बढ़ाते थे। झुंड-के-झुंड हाथी वहाँ सब ओर फैले हुए थे। मृगोंके समुदायसे वह शोभायमान था ॥ १७ ॥

सिद्धचारणरक्षोभिः सेवितप्रस्तरान्तरम्।
गन्धर्वैश्च समायुक्तं गुह्यकैः पक्षिभिस्तथा ॥ १८ ॥

उसके प्रस्तरखण्डोंके मध्यभागोंमें सिद्ध, चारण तथा राक्षस बैठे हुए थे। गन्धर्व, गुह्यक तथा पक्षी भी उस पर्वत-का सेवन करते थे ॥ १८ ॥

विद्याधरगणैर्नित्यमनुकीर्णशिलातलम्।
सिंहशार्दूलसंनादैः सततं प्रतिनादितम्।
सेवितं वारिधाराभिश्चन्द्रपादैश्च शोभितम् ॥ १९ ॥

उसकी शिलाएँ सदा ही विद्याधरगणोंसे सेवित होती थीं। सिंहों और व्याघ्रोंके दहाड़नेकी ध्वनिसे वह पर्वत निरन्तर गूँजता रहता था। जलकी धाराएँ और चन्द्रमाकी किरणें उसका सेवन एवं शोभा-संवर्धन करती थीं ॥ १९ ॥

स्तुतं त्रिदशगन्धर्वैरप्सरोभिरलंकृतम्।
वनस्पतीनां दिव्यानां पुष्पैरुच्चावचैः श्रितम् ॥ २० ॥

देवता और गन्धर्व उसकी प्रशंसा करते थे। वह पर्वत अप्सराओंसे अलंकृत था। दिव्य वनस्पतियोंके नाना प्रकारके फूल वहाँ सब ओर बिखरे पड़े थे ॥ २० ॥

शक्रवज्रप्रहाराणामनभिज्ञं कदाचन।
दावाग्निभयनिर्मुक्तं महावातभयोज्झितम् ॥ २१ ॥

उस पर्वतको कभी भी इन्द्रके वज्रप्रहारकी व्यथाका अनुभव नहीं हुआ था। वहाँ न तो दावानलका भय था और न प्रचण्ड आँधीका ॥ २१ ॥

प्रपातप्रभवाभिश्च सरिद्भिरुपशोभितम्।
काननैराननाकारैर्विशेषद्भिरिव श्रियम् ॥ २२ ॥

निर्झरोंसे प्रकट हुई सरिताएँ उस पर्वतको सुशोभित करती थीं। वह अपनी शोभा बढ़ाते हुए-से मुखाकार काननोंसे उपलक्षित होता था ॥ २२ ॥

जलशैवलशृङ्गाग्रैरुन्मिषन्तमिव श्रिया।
स्थलीभिर्मृगजुष्टाभिः कान्ताभिरुपशोभितम् ॥ २३ ॥

जल और सिवारसे युक्त शिखरोंके अग्रभागद्वारा मानो वह लक्ष्मीसे आँख मिला रहा था। पशुओंसे सेवित कमनीय वनस्थलियाँ उसकी शोभा बढ़ाती थीं ॥ २३ ॥

पार्श्वैरुपलकल्माषैर्मेघैरिव विभूषितम् ।
पादपच्छन्नभूमीभिः सपुष्पाभिः समन्ततः ॥ २४ ॥
मण्डितं वनराजीभिः प्रमदाभिः पतिर्यथा ।

पार्श्वभागमें स्थित चितकबरे प्रस्तरखण्डोंसे वह ऐसी शोभा पा रहा था, मानो बहुरंगे बादलोंसे विभूषित हो रहा हो । अपने वृक्षसमूहोंसे भूमिको ढक देनेवाली पुष्पशोभित वनश्रेणियाँ उस पर्वतको सब ओरसे घेरकर उसी प्रकार शोभा-सम्पन्न किए हुए थीं, जैसे पुष्पवती (रजस्वला होनेके पश्चात् स्नान एवं पुष्पहारसे अलंकृत) युवती स्त्रियाँ पतिको घेरकर खड़ी हों ॥ २४½ ॥

सुन्दरीभिर्दरीभिश्च कन्दराभिस्तथैव च ॥ २५ ॥
तेषु तेष्ववकाशेषु सदारमिव शोभितम् ।

जगह-जगह सुन्दर गुफाओं और मनोहर कन्दराओंसे अलंकृत हुआ गोमन्तगिरि विभिन्न स्थानोंमें सपत्नीक पुरुषकी भाँति शोभा पाता था ॥ २५½ ॥

औषधीदीप्तशिखरं वानप्रस्थनिषेवितम् ।
जातरूपैर्वनोद्देशैः कृत्रिमैरिव भूषितम् ॥ २६ ॥

विभिन्न प्रकारकी ओषधियाँ उसके शिखरको उद्भासित किये हुए थीं । वानप्रस्थ मुनि उसका सेवन करते थे तथा उसके सहज सुन्दर वनोद्देश कृत्रिम उद्यानोंकी भाँति उसे विभूषित किये हुए थे ॥ २६ ॥

मूलेन सुविशालेन शिरसाप्युच्छ्रितेन च ।
पृथिवीमन्तरिक्षं च ग्राहयन्तमिव स्थितम् ॥ २७ ॥

वह पर्वत अपने अत्यन्त विशाल मूलभाग और उच्चतम शिखरसे पृथ्वी और आकाशमें प्रविष्ट होकर उनकी थाह लगाता हुआ-सा खड़ा था ॥ २७ ॥

ते समासाद्य गोमन्तं रम्यं भूमिधरोत्तमम् ।
रुचिरं रुरुचुः सर्वे वासायामरसंनिभाः ॥ २८ ॥

पर्वतोंमें श्रेष्ठ सुन्दर एवं मनोहर गोमन्तपर्वतपर पहुँचकर उन सभी देवोपम पुरुषोंने वहाँ निवास करनेकी इच्छा की ॥ २८ ॥

रुरुहुस्ते गिरिवरं खमूर्ध्वमिव पक्षिणः ।
असज्जमाना वेगेन वैनतेयपराक्रमाः ॥ २९ ॥

गरुड़के समान पराक्रमी वे तीनों महापुरुष उस श्रेष्ठ पर्वतपर उसी तरह वेगसे चढ़ने लगे, जैसे पक्षी ऊपर आकाशमें उड़ते हैं । उस समय उनमेंसे किसीकी भी गति अवरुद्ध नहीं होती थी ॥ २९ ॥

ते तु तस्योत्तरं शृङ्गमारूढास्त्रिदशा इव ।
अगारं सहसा चक्रुर्मनसा निर्मितोपमम् ॥ ३० ॥

वे देवताओंकी भाँति उसके सर्वोच्च शिखरपर आरूढ़ हो गये । वहाँ उन्होंने सहसा अपने रहनेके लिये घर बना लिया, मानो मानसिक संकल्पसे ही उसका निर्माण कर लिया हो ॥ ३० ॥

निविष्टौ यादवौ दृष्ट्वा जामदग्न्यो महामतिः ।
रामोऽभिमतमक्लिष्टमापृच्छ्युपचक्रमे ॥ ३१ ॥

उन दोनों यदुकुमारोंको वहाँ विराजमान हुआ देख परम बुद्धिमान् परशुरामजीने प्रसन्नतापूर्वक अपने अभीष्ट स्थानपर जानेके लिये उनसे पूछना आरम्भ किया—॥ ३१ ॥

कृष्ण यास्याम्यहं तात पुरं शूर्पारकं विभो ।
युवयोर्नास्ति वैमुख्यं संग्रामे दैवतैरपि ॥ ३२ ॥

'तात ! प्रभावशाली श्रीकृष्ण ! अब मैं शूर्पारक नगरको जाऊँगा । आप दोनोंको तो युद्धमें देवता भी नहीं हरा सकते (फिर मनुष्यकी तो बात ही क्या है ?) ॥ ३२ ॥

प्राप्तवानस्मि यां प्रीतिं मार्गानुगमनादपि ।
सा मे कृष्णानुगृह्णाति शरीरमिदमव्ययम् ॥ ३३ ॥

'श्रीकृष्ण ! तुम दोनोंके साथ मार्गका अनुसरण करनेसे मुझे जो प्रसन्नता प्राप्त हुई है, वह मेरे इस अविनाशी शरीरको अनुगृहीत कर रही है ॥ ३३ ॥

इदं तत् स्थानमुद्दिष्टं यत्रायुधसमागमः ।
युवयोर्विहितो दैवैः समयः साम्परायिकः ॥ ३४ ॥

'मैंने जिसे बताया था और जहाँ तुम्हें अपने दिव्य आयुध प्राप्त होनेवाले हैं, वह स्थान यही है । देवताओंने तुम्हारे लिये उनकी प्राप्तिका यही समय निर्धारित किया है, जो परलोकके लिये हितकर है ॥ ३४ ॥

देवानां मुख्य वैकुण्ठ विष्णो देवैरभिष्टुत ।
कृष्ण सर्वस्य लोकस्य श‍ृणु मे नैष्ठिकं वचः ॥ ३५ ॥

'देवताओंमें श्रेष्ठ वैकुण्ठ ! तुम सर्वव्यापी विष्णु हो । देवताओंने सदा तुम्हारी स्तुति की है । श्रीकृष्ण ! तुम मेरी यह तात्त्विक बात सुनो, जो सम्पूर्ण जगत्के लिये हितकर है ॥ ३५ ॥

यदिदं प्रस्तुतं कर्म त्वया गोविन्द लौकिकम् ।
मानुषाणां हितार्थाय लोके मानुषदेहिना ॥ ३६ ॥
तस्यायं प्रथमः कल्पः कालेन तु नियोजितः ।

'गोविन्द ! तुमने मनुष्योंके हितके लिये संसारमें मानव-शरीर धारण करके जो यह लौकिक कर्म प्रारम्भ किया है, उसका यह पहला प्रयोग यहीं होने जा रहा है । कालने उसका आयोजन यहीं किया है ॥ ३६½ ॥

जरासंधेन वै सार्धं संग्रामे समुपस्थिते ॥ ३७ ॥
तत्रायुधबलं चैव रूपं च रणकर्कशम् ।
स्वयमेवात्मना कृष्ण त्वमात्मानं विधत्स्व ह ॥ ३८ ॥

'श्रीकृष्ण ! जरासंधके साथ संग्राम उपस्थित होनेपर तुम स्वयं ही अपने-आपके द्वारा अपनेको आयुध-बलसे सम्पन्न कर लेना और अपना रण-कर्कश रूप बना लेना ॥ ३७-३८ ॥

चक्रोद्यतकरं दृष्ट्वा त्वां गदापाणिमाहवे ।
चतुर्द्विगुणपीनांसं बिभ्येदपि शतक्रतुः ॥ ३९ ॥

'जिस समय तुम आठ मांसल कंधोंसे युक्त हो हाथोंमें चक्र और गदा उठाये युद्धके लिये उपस्थित होओगे, उस समय तुम्हें देखकर देवराज इन्द्र भी भयभीत हो उठेंगे ॥

अद्यप्रभृति ते यात्रा स्वर्गोक्ता समुपस्थिता ।
पृथिव्यां पार्थिवेन्द्राणां कृतास्त्रे त्वयि मानद ॥ ४० ॥

'मानद ! जब तुम हाथमें हथियार लेकर युद्धके लिये उद्यत हो गये हो, तब आजसे ही भूमण्डलके राजाओंकी स्वर्गीय यात्रा आरम्भ हो जायगी ॥ ४० ॥

वैनतेयस्य चाह्वानं वाहनं ध्वजकर्मणि ।
कुरु शीघ्रं महाबाहो गोविन्द वदतां वर ॥ ४१ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाबाहु गोविन्द ! तुम अपने ध्वजारोपणरूप कार्यकी सिद्धिके लिये शीघ्र ही वाहनरूप विनतानन्दन गरुड़का आवाहन करो ॥ ४१ ॥

युद्धकामा नृपतयस्त्रिदिवाभिमुखोद्यताः ।
धार्तराष्ट्रस्य वशगास्तिष्ठन्ति रणवृत्तयः ॥ ४२ ॥

'युद्धकी इच्छा करनेवाले नरेशगण स्वर्गके लिये अभिमुख एवं उद्यत होकर युद्धवृत्तिका आश्रय ले धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके अधीन होकर खड़े हैं ॥ ४२ ॥

राज्ञां निधनदृष्टार्था वैधव्येनाधिवासिता ।
एकवेणीधरा चेयं वसुधा त्वां प्रतीक्षते ॥ ४३ ॥

'राजाओंका निधन होनेवाला है, यह बात प्रत्यक्ष देखकर वैधव्यसूचक वेष-भूषा धारण किये एक वेणीधारिणी (केश-संस्कारसे रहित) यह वसुन्धरा तुम्हारी राह देखती है ॥४३॥

सग्रहं कृष्ण नक्षत्रं संक्षिप्यारिविमर्दन ।
त्वयि मानुष्यमापन्ने युद्धे च समुपस्थिते ॥ ४४ ॥

'शत्रुमर्दन श्रीकृष्ण ! आप मानवरूप धारण करके इस धरातलपर आ गये हैं और युद्धका अवसर भी उपस्थित है, इसलिये क्षत्रियसमाज मृत्युसे संकुचित न होकर रणभूमिमें आनेके लिये उतावला हो उठा है। किसी समयविशेषकी प्रतीक्षा नहीं कर रहा है, क्योंकि उसका जन्मनक्षत्र क्रूरग्रहसे आक्रान्त हो गया है ॥ ४४ ॥

त्वरस्व कृष्ण युद्धाय दानवानां वधाय च ।
स्वर्गाय च नरेन्द्राणां देवतानां सुखाय च ॥ ४५ ॥

'श्रीकृष्ण ! तुम दानवोंका वध करने, नरेशोंको स्वर्गलोकमें भेजने और देवताओंको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे युद्धके लिये जल्दी करो ॥ ४५ ॥

सत्कृतोऽहं त्वया कृष्ण लोकैश्च सचराचरैः ।
त्वया सत्कृतरूपेण येन सत्कृतवानहम् ॥ ४६ ॥

'सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण ! तुम स्वरूपतः सबके द्वारा सत्कृत हो। तुम सर्वात्माने जो मेरा सत्कार किया है, उससे मैं चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण लोकोंद्वारा सत्कृत हो गया और सदाके लिये सत्कारवान् बन गया ॥ ४६ ॥

साधयामि महाबाहो भवतः कार्यसिद्धये ।
स्मर्तव्यश्चास्मि युद्धेषु कान्तारेषु महीक्षिताम् ॥ ४७ ॥

'महाबाहो ! मैं तुम्हारे कार्यकी सिद्धिके लिये स्वयं भी साधना करूँगा। सभी भूमिपालोंको चाहिये कि वे दुर्गम संकट और युद्धके अवसरोंपर मेरा स्मरण करें' ॥ ४७ ॥

इत्युक्त्वा जामदग्न्यस्तु कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ।
जयाशिषा वर्द्धयित्वा जगामाभीप्सितां दिशम् ॥ ४८ ॥

ऐसा कहकर परशुरामजी अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्णको विजयसूचक आशीर्वादसे बढ़ावा देकर स्वयं अभीष्ट दिशाको चले गये ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि गोमन्तारोहणं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीकृष्णका गोमन्तपर्वतपर आरोहणविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

बलरामके पास वारुणी, कान्ति एवं श्री (शोभा)—इन देवाङ्गनाओंका आगमन, गरुड़के द्वारा श्रीकृष्णको वैष्णव मुकुटकी प्राप्ति, श्रीकृष्णका बलरामसे वार्तालाप तथा जरासंधकी सेनाका निरीक्षण करके अपने आपसे ही मानसिक उद्गार प्रकट करना

वैशम्पायन उवाच

जामदग्न्ये गते रामे तौ यादवकुलोद्वहौ ।
गोमन्तशिखरे रम्ये चेरतुः कामरूपिणौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परशुरामजीके चले जानेपर यादवकुलका भार वहन करनेवाले वे श्रीकृष्ण और बलराम इच्छानुसार रूप धारण करके गोमन्त-

पर्वतके रमणीय शिखरपर विचरने लगे ॥ १ ॥

वनमालाकुलोरस्कौ नीलपीताम्बरावुभौ ।
नीलश्वेतवपुष्मन्तौ गगनस्थाविवाम्बुदौ ॥ २ ॥

उन दोनोंके वक्षःस्थलोंमें वनमाला शोभा पा रही थी। दोनों क्रमशः नीले-पीले वस्त्र धारण करके अपने गौर-श्याम शरीरसे आकाशमे स्थित हुए दो मेघोके समान शोभा पा रहे थे ॥ २ ॥

तौ शैलधातुदिग्धाङ्गौ युवानौ शिखरे स्थितौ ।
चेरतुस्तत्र कान्तेषु वनेषु रतिलालसौ ॥ ३ ॥

पर्वतीय धातुओंसे अपने अङ्गोंका शृङ्गार करके उस पर्वतके शिखरपर खड़े हुए दोनो नवयुवक वीर क्रीड़ाकी लालसा लिये कमनीय वनोंमें विचरण करने लगे ॥ ३ ॥

उदयन्तं निरीक्षन्तौ शशिनं ज्योतिषां वरम् ।
उदयास्तमने चैव ग्रहाणां धरणीधरे ॥ ४ ॥

वे उस पर्वतपर ज्योतिर्मय नक्षत्रोंमें श्रेष्ठ चन्द्रमाके उदयकी शोभा देखते और ग्रहोके उदय-अस्त देखा करते थे ॥ ४ ॥

अथ संकर्षणः श्रीमान् विना कृष्णेन वीर्यवान् ।
चचार तस्य शिखरे नगस्य नगसंनिभः ॥ ५ ॥

एक दिन परम पराक्रमी श्रीमान् संकर्षण श्रीकृष्णके बिना ही उस पर्वतके शिखरपर विचर रहे थे। वे स्वयं भी पर्वतके समान ही प्रतीत होते थे ॥ ५ ॥

प्रफुल्लस्य कदम्बस्य सुच्छाये निषसाद ह ।
वायुना मन्दगन्धेन वीज्यमानः सुखेन वै ॥ ६ ॥

घूमते-घूमते एक खिले हुए कदम्बकी मनोहर छायामें बैठ गये। उस समय कदम्बकी मधुर मन्द गन्धसे वासित वायु उन्हें सुखपूर्वक व्यजन डुलाने लगी ॥ ६ ॥

तस्य तेनानिलौघेन सेव्यमानस्य तत्र वै ।
मद्यसंस्पर्शजो गन्धः संस्पृशन् घ्राणमागतः ॥ ७ ॥

वह मन्द-मन्द वायु बहकर जब बलरामजीकी सेवा कर रही थी, उस समय उनकी घ्राणेन्द्रियमें मधुका स्पर्श करके आये हुए सुगन्धित समीरने प्रवेश किया ॥ ७ ॥

तृष्णा चैनं विवेशाशु वारुणीप्रभवा तदा ।
शुशोष च मुखं तस्य मत्तस्येवापरेऽहनि ॥ ८ ॥

उस समय उनके भीतर वारुणी (मधु या अमृत) की तृष्णाका आवेश हुआ। फिर तो दूसरे दिन मतवाले पुरुषकी भाँति उनका मुँह सूखने लगा ॥ ८ ॥

स्मारितः स पुरावृत्तममृतप्राशनं विभुः ।
तृषितो मदिरान्वेषी ततस्तं तरुमैक्षत ॥ ९ ॥

उन्हे पूर्वकालमे किये गये अमृतपानका स्मरण हो आया। वे तृषित होकर उस अमृतकी खोज करने लगे। तब उन्होंने उस वृक्षकी ओर देखा ॥ ९ ॥

तस्य प्रावृषि फुल्लस्य यदम्भो जलजोज्झितम् ।
तत्कोटरस्थं मदिरा संजायत मनोहरा ॥ १० ॥

वर्षाकालमें उस खिले हुए कदम्बपर जो मेघोंका बरसाया हुआ जल गिरा था, वह उसके कोटरमें मनोहर सुधाके रूपमें प्रकट हो गया ॥ १० ॥

तां तु तृष्णाभिभूतात्मा पिबन्नार्त इवासकृत् ।
मोहाच्च चलिताकारः समजायत स प्रभुः ॥ ११ ॥

बलरामजीका हृदय प्याससे घबरा उठा था। वे पिपासा-पीड़ित पुरुषकी भाँति उस अमृतको बार-बार पीने लगे। उसको अधिक पी लेनेके कारण उनपर मोह (नशा-) सा छा गया, जिससे उन प्रभावशालीका शरीर कुछ लड़खड़ाने-सा लगा ॥ ११ ॥

तस्य मत्तस्य वदनं किंचिच्चलितलोचनम् ।
घूर्णिताकारमभवच्छरत्कालेन्दुसप्रभम् ॥ १२ ॥

मधुसे मत्त हुए बलरामका मुख कुछ झूमता-सा प्रतीत हुआ, नेत्र किंचित् चञ्चल हो उठे। उस मुखकी प्रभा शरत्-कालके चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित होने लगी ॥ १२ ॥

कदम्बकोटरे जाता नाम्ना कादम्बरीति सा ।
रूपिणी वारुणी तत्र देवानाममृतारणी ॥ १३ ॥

वह मधुमयी सुधा कदम्बके कोटरमें उत्पन्न हुई थी, इसलिये कादम्बरी नामसे विख्यात हुई। वहाँ मूर्तिमती वारुणी प्रकट हुई थी, जो देवताओंके लिये अमृत पैदा करनेवाली है ॥ १३ ॥

कादम्बरीमदकलं विदित्वा कृष्णपूर्वजम् ।
तिस्रस्त्रिदशनार्यस्तमुपतस्थुः प्रियंवदाः ॥ १४ ॥

श्रीकृष्णके बड़े भाईको कादम्बरी (मधु या अमृत) के नशेसे स्पष्ट बात बोलनेमे असमर्थ जान तीन प्रियवादिनी देवाङ्गनाएँ उनकी सेवामें उपस्थित हुईं ॥ १४ ॥

मदिरा रूपिणी भूत्वा कान्तिश्च शशिनः प्रिया ।
श्रीश्च देवी वरिष्ठा स्त्री स्वयमेवाम्बुजध्वजा ॥ १५ ॥
साञ्जलिप्रग्रहा देवी रौहिणेयमुपस्थिता ।
वारुण्या सहितं वाक्यमुवाच मदविक्लवम् ॥ १६ ॥

एक तो मादक मधु या अमृतकी अधिष्ठात्री देवी (जिन्हें वारुणी कहते हैं) मूर्तिमती होकर प्रकट हुई। दूसरी चन्द्रमाकी प्रिय कान्ति (की अधिष्ठात्री देवी) थी और तीसरी श्री देवी थीं, जो सर्वश्रेष्ठ स्त्री मानी जाती हैं, उनके ध्वजमे कमलका चिह्न है, वे देवी स्वयं ही हाथ जोड़े हुए रोहिणीनन्दन बलरामकी सेवामें उपस्थित हुई थीं। वारुणीके साथ उन्होंने मदविह्वल बलरामजीसे इस प्रकार कहा—॥ १५-१६ ॥

बलं जयस्व दैत्यानां बलदेव दिवीश्वर ।
अहं ते दयिता कान्ता वारुणी समुपस्थिता ॥ १७ ॥

'पहले वारुणी बोली 'देवलोकेश्वर बलदेव ! आप दैत्योंकी सेनापर विजय प्राप्त करें। मैं आपकी प्राणवल्लभा वारुणी सेवामें उपस्थित हुई हूँ ॥ १७ ॥

त्वामेवान्तर्हितं श्रुत्वा शाश्वतं वडवामुखे।
क्षीणपुण्येव वसुधां पर्येमि विमलानन ॥ १८॥

'निर्मल मुखवाले देव ! मैं आपको वड़वानलके समीप पातालमें शेषरूपसे नित्य विराजमान जानती थी, किंतु इस समय भूतलमें अवतार लेनेके कारण वहाँसे अदृश्य हो गये हैं, ऐसा सुनकर मैं पुण्यहीना नारी-सी आपकी खोजमें सारी पृथ्वीपर भटक रही थी ॥ १८ ॥

पुष्पचक्रानुलिप्तेषु केसरेषूषितं मया।
अतिमुक्तेषु चाक्षोभ्य पुष्पस्तवकवत्सु च ॥ १९॥

'अजेय वीर ! मैंने पुष्पसमूहोंसे अनुलिप्त हुए केसरोंमें निवास किया है, फूलोंके गुच्छोंसे सुशोभित वासन्ती लताओंमें वास किया है ॥ १९ ॥

अहं कदम्बमालीना मेघकाले मुखप्रिया।
तृषितं मार्गमाणा त्वां स्वेन रूपेण छादिता ॥ २० ॥

'मेरे लिये प्यासे हुए आपकी खोज करती हुई मैं अपने रूपको छिपाकर वर्षाकालमें कदम्ब वृक्षके भीतर छुक-छिपकर रहती आयी हूँ । मुझे आपके मुखका निवास ही विशेष प्रिय है ॥ २० ॥

सास्मि पूर्णेन योगेन यथैवामृतमन्थने।
समीपं प्रेषिता पित्रा वरुणेन तवानघ ॥ २१ ॥
सा यथैवार्णवगता तथैव वडवामुखे।
त्वयोपभोक्तुमिच्छामि सम्मतस्त्वं हि मे गुरुः ॥ २२ ॥

'निष्पाप बलराम ! जैसे पूर्वकालमें अमृतमन्थनके समय पूर्णयोगसे युक्त होनेपर मेरे पिता वरुणने मुझे आपके समीप भेजा था, जैसे समुद्रमें और पातालमें मैं आपके पास रही हूँ, उसी प्रकार इस समय भी आपकी सेवामें उपस्थित हुई हूँ और चाहती हूँ, कि आपके द्वारा मेरा उपभोग हो; क्योंकि मेरे हृदयने आपहीको अपना स्वामी माना है ॥ २१-२२ ॥

न त्वानन्तं परित्यक्ष्ये भर्त्सितापि त्वयानघ।
नाहं त्वया विना लोकानुत्सहे देव सेवितुम् ॥ २३ ॥
आदिपद्मं च पद्माङ्कं दिव्यं श्रवणभूषणम्।
कौशेयानि च नीलानि समुद्रार्हाणि बिभ्रती ॥ २४॥

'अनघ ! आप मुझे डाँट बतायें, तो भी मैं आप अनन्त-का परित्याग नहीं करूँगी। देव ! मैं समुद्रमें रहनेवालीके योग्य नीले रंगकी रेशमी साड़ी पहनकर आदिपद्म तथा पद्मचिह्नित दिव्य कर्णभूषण धारण कर आपकी सेवामें आयी हूँ। आपके बिना मैं दूसरे किन्हीं लोकोंका सेवन करना नहीं चाहती'२३-२४

मदिरानन्तरं कान्तिः संकर्षणमुपस्थिता।
मदेनागलितश्रोणी किंचिदाघूर्णितेक्षणा ॥ २५ ॥
प्रोवाच प्रणयात् कान्तिर्बद्धाञ्जलिपुटा सती।
जयपूर्वेण योगेन सस्मितं वाक्यमर्थवत् ॥ २६ ॥

वारुणीके बाद कान्तिदेवी संकर्षणकी सेवामें उपस्थित हुई। उसका कटिप्रदेश मदसे कुछ कम्पित हो रहा था। आँखें भी कुछ घूम रही थीं। उसने दोनों हाथ जोड़कर कहा—'जय हो बलरामजीकी !' फिर प्रेमसे मुसकराती हुई वह प्रयोजनयुक्त वचन बोली—॥ २५-२६ ॥

अहं चन्द्रादपि गुरुं सहस्रशिरसं प्रभुम्।
स्वैर्गुणैरनुरक्ता त्वां यथैव मदिरा तथा ॥ २७ ॥

'प्रभो ! आपके सहस्रों मस्तक हैं। आप जगत्के स्वामी हैं। मेरी दृष्टिमें आपका गौरव चन्द्रमासे भी अधिक है। मैं भी वारुणीकी भाँति आपके निजी गुणोंसे आकृष्ट हो आपमें अनुरक्त हो गयी हूँ (इसीलिये आपकी सेवामें उपस्थित हूँ। आप मुझे अङ्गीकार करें।)' ॥ २७ ॥

श्रीश्च पद्मालया देवी निधेया वैष्णवोरसि।
रौहिणेयोरसि शुभा मालेवामलतां गता ॥ २८॥
सा मालाममलां गृह्य वलम्योरसि दर्शिता।
पद्मास्या पद्महस्ता वै संकर्षणमथाब्रवीत् ॥ २९॥

जो भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें नित्य निवास करने योग्य हैं, वे कमलवनमें वास करनेवाली देवी श्री* (शोभा) रोहिणीनन्दन बलरामके वक्षःस्थलमें सुन्दर मालाकी भाँति प्रतिष्ठित हो निर्मल भावको प्राप्त हुईं। उनका मुख कमलके समान सुशोभित था, उनके हाथमें भी कमल-पुष्प शोभा दे रहा था; वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हुईं वे मूर्तिमती शोभा देवी बलरामके वक्षमें स्थित हो एक निर्मल माला हाथमें लेकर संकर्षणसे बोलीं—॥ २८-२९ ॥

राम रामाभिरामस्त्वं वारुण्या समलंकृतः।
कान्त्या मया च देवेश संगतश्चन्द्रमा यथा ॥ ३० ॥

'देवेश्वर राम ! बलराम ! आप बड़े ही अभिराम (सुन्दर) हैं। वारुणी (सुधा) से, चन्द्रमाकी-सी कान्तिसे तथा मुझसे (कमलालयाकी-सी शोभासे) सम्पन्न होकर चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ३० ॥

इयं च सा मया मौलिः प्रोद्धृता वरुणालयात्।
मूर्ध्नि शीर्षसहस्रस्य या ते भानुरिवाबभौ ॥ ३१ ॥

'आप सहस्र सिरवाले अनन्तदेवके मस्तकपर जो सूर्यके समान उद्भासित होता था, वह मुकुट समुद्रसे निकालकर मैं यहाँ ले आयी हूँ। यही है वह मुकुट ॥ ३१ ॥

---

* यहाँ श्रीका अर्थ शोभाकी अधिष्ठात्री देवी है। साक्षात् भगवती लक्ष्मी तो भगवान् विष्णुकी अनन्यानुरागिणी पतिव्रता पत्नी है। यहाँ मधु, कान्ति और शोभा —इन तीन लोकसामान्य वस्तुओं-की अधिष्ठात्री देवियोंका ही उल्लेख किया गया है—ऐसा समझना चाहिये।

जातरूपमयं चैकं कुण्डलं वज्रभूषितम्।
आदिपद्मं च पद्माक्षं दिव्यश्रवणभूषणम्॥ ३२॥

'इसके सिवा वज्रमणि (हीरे) से विभूषित एक सुवर्णमय कुण्डल भी लेती आयी हूँ, जो आपके एक कानका दिव्य भूषण है। यह आदिपद्म और पद्माक्ष कहलाता है॥ ३२॥

कौशेयानि च नीलानि समुद्राऱ्हाणि भावतः।
हारं च पीनतरलं समुद्राभ्यन्तरोषितम्॥ ३३॥

'जो समुद्रमें ही मिल सकते हैं, ऐसे कितने ही नीले रंगके रेशमी वस्त्र (अथवा आपकी इच्छाके अनुरूप नील कौशेय वस्त्र) तथा यह पीन तरल हार, जो समुद्रमें ही विद्यमान था, मैं आपके लिये लायी हूँ। आप इसे सादर ग्रहण करें॥ ३३॥

देवेमां प्रतिगृह्णीष्व पौराणीं भूषणक्रियाम्।
समयस्ते महाबाहो भूषणानामलंक्रिया॥ ३४॥

'देव! यह सब आपकी पुरातन भूषण-सामग्री है। इसे ग्रहण कीजिये। महाबाहो! यह आपके भूषण ग्रहण करनेका समय है। आपसे ही इन भूषणोंकी शोभा है, इनसे आपकी नहीं'॥

संगृह्य तमलंकारं ताश्च तिस्रः सुरस्त्रियः।
शुशुभे बलदेवो हि शारदेन्दुसमप्रभः॥ ३५॥

वह अलङ्कार तथा उन तीनों देवाङ्गनाओंको ग्रहण करके बलदेवजी शरत्कालके चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाने लगे॥

स समागम्य कृष्णेन जलजाम्भोदवर्चसा।
मुदं परमिकां लेभे ग्रहयुक्तः शशी यथा॥ ३६॥

तदनन्तर वे नीलकमल और मेघके समान श्याम कान्तिवाले श्रीकृष्णके साथ मिलकर ग्रहयुक्त चन्द्रमाके समान सुशोभित होने लगे। उस समय उनको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई॥ ३६॥

ताभ्यामुभाभ्यां संलापे वर्तमाने गृहे यथा।
वैनतेयस्ततोऽध्वानमतिचक्राम वेगतः॥ ३७॥

वे दोनों भाई जैसे घरमें बैठे हों, उस प्रकार बातचीत करने लगे। इसी समय विनतानन्दन गरुड बड़े वेगसे विशाल मार्ग तै करके वहाँ आये॥ ३७॥

संग्राममुक्तस्तेजस्वी दैत्यप्रहरणाङ्कितः।
देवतानां जयश्लाघी दिव्यस्रगनुलेपनः॥ ३८॥

तेजस्वी गरुड़ उस समय एक संग्रामसे छूटकर आये थे। दैत्योंके प्रहारोंके चिह्न उस समय भी उनके अङ्गोंमें अङ्कित थे। वे देवताओंकी विजय चाहनेवाले तथा दिव्य पुष्पोंकी माला और दिव्य चन्दन धारण करनेवाले थे॥३८॥

सुप्तस्य शयने दिव्ये क्षीरोदे वरुणालये।
विष्णोः किरीटं दैत्येन हृतं वैरोचनेन वै॥ ३९॥

वरुणके निवासभूत क्षीरसमुद्रमें जब भगवान् विष्णु दिव्य शय्यापर सो रहे थे, उस समय विरोचनके पुत्र एक दैत्यने उनका किरीट चुरा लिया॥ ३९॥

तदर्थस्तेन संग्रामः कृतो गुर्वर्थमोजसा।
किरीटार्थे समुद्रस्य मध्ये दैत्यगणैः सह॥ ४०॥

अपने गुरुरूप भगवान्‌के लिये उस किरीटको वापस लानेके उद्देश्यसे गरुड़ने बीच समुद्रमें दैत्योंके साथ बलपूर्वक संग्राम किया॥ ४०॥

मोक्षयित्वा किरीटं तु वैष्णवं पततां वरः।
व्यत्यक्रमत वेगेन गगनं देवतालयम्॥ ४१॥

भगवान् विष्णुके उस किरीटको दैत्योंके हाथसे छुड़ाकर पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड़ बड़े वेगसे देवताओंके निवासभूत आकाशमें उड़ चले॥ ४१॥

स ददर्श गुरुं शैले विष्णुं कार्यान्तरागतम्।
तेन क्रीडावलम्बेन किरीटेन विराजता॥ ४२॥

उन्होंने देखा, मेरे स्वामी विष्णु दूसरे कार्यसे इस पर्वतपर पधारे हैं। वे उस समय उस प्रकाशमान किरीटको क्रीडापूर्वक अपनी चोंचमें लटकाये चल रहे थे॥ ४२॥

स दृष्ट्वा मानुषं विष्णुं शैलराजशिरोगतम्।
प्रकाशचेष्टानिर्मुक्तं विमौलिमिव मानुषम्॥ ४३॥
अभिज्ञस्तस्य भावानां गरुत्मान् पततां वरः।
चिक्षेप खंगतो मौलिं विष्णोः शिरसि हृष्टवत्॥ ४४॥

गिरिराज गोमन्तके शिखरपर विराजमान मानवरूपधारी विष्णुको प्रकाश और चेष्टाओंसे रहित तथा मुकुटहीन देख उनके मानसिक भावोंको समझनेवाले पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड़ने आकाशमें स्थित होकर बड़े हर्षके साथ उन श्रीविष्णुके सिरपर वह मुकुट डाल दिया॥ ४३-४४॥

उपेन्द्रमूर्ध्नि सा मौलिरपिनद्धा इवापतत्।
शिरसः स्थाननिर्युक्ता कृष्णं चैवान्वशोभयत्।
यथैव मेरुशिखरे भानुर्मध्यंदिने यथा॥ ४५॥

वह मुकुट श्रीकृष्णके मस्तकपर गिरा और इस प्रकार बैठ गया मानो किसीने पहना दिया हो। मस्तकके स्थानपर निश्चित रूपसे आबद्ध होकर उस मुकुटने भगवान् श्रीकृष्णकी शोभा बढ़ा दी। जैसे दोपहरके समय मेरुके शिखरपर सूर्यदेव प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार वह मुकुट भी देदीप्यमान हो रहा था॥ ४५॥

वैनतेयप्रयोगेण विदित्वा मौलिमागताम्।
कृष्णः प्रहृष्टवदनो रामं वचनमब्रवीत्॥ ४६॥

गरुड़के प्रयोगसे मुकुटको मस्तकपर आया हुआ जान श्रीकृष्णका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और वे बलरामजीसे इस प्रकार बोले—॥ ४६॥

त्वरते खलु कार्यार्थी देवतानां न संशयः।
यथेयमावयोः शैले संग्रामरचना कृता॥ ४७॥

'भैया ! इस पर्वतपर हम दोनोंके लिये जिस प्रकार युद्धोपयोगी वेष-भूषाकी रचना कर दी गयी है, इससे यही अनुमान होता है कि देवताओंका कार्य एवं प्रयोजन शीघ्र ही सिद्ध होना चाहता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४७ ॥

वैरोचनेन सुप्तस्य मम मौलिर्महोदधौ ।
शक्रस्य सदृशं रूपं दिव्यमास्थाय सागरात् ॥ ४८ ॥
ग्राहरूपेण यो नीत आनीतोऽसौ गरुत्मता ।
ममाहिशयनान्मौलिर्हृत्वा क्षिप्तो गरुत्मता ॥ ४९ ॥

'जब मैं महासागरमें सो रहा था, उस समय विरोचनका पुत्र इन्द्रका-सा रूप धारण करके वहाँ चला गया और जब मैं शेष-शय्यासे उठकर यहाँ आ गया, तब वह ग्राहरूप धारण करके वहाँसे मेरा मुकुट उठा लाया। वही मुकुट गरुड़ उससे छीन लाये हैं और उन्होंने इसे मेरे मस्तकपर रख दिया है ॥

सुव्यक्तं संनिकृष्टः स जरासंधो नराधिपः ।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाग्राणि रथानां वातरंहसाम् ॥ ५० ॥

'निश्चय ही राजा जरासंध अब बहुत निकट आ गया है; क्योंकि वायुके समान वेगवाले रथोंकी ध्वजाओंके अग्रभाग दिखायी दे रहे हैं ॥ ५० ॥

एतानि विजिगीषूणां शशिकल्पानि भूभृताम् ।
छत्राण्यार्य विराजन्ते दंशितानि मितानि च ॥ ५१ ॥

'आर्य ! विजयकी अभिलाषा रखनेवाले राजाओंके ये चन्द्रमा-जैसे श्वेत कान्तिवाले सुसज्जित छत्र प्रकाशित हो रहे हैं; इनकी संख्या परिमित ही है ॥ ५१ ॥

अहो नृपरथोदग्रा विमलाश्छत्रपङ्क्तयः ।
अभिवर्तन्ति नः शुभ्रा यथा खे हंसपङ्क्तयः ॥ ५२ ॥

'अहो ! राजाओंके रथोंपर विराजमान जो ये श्वेत वर्णवाली ऊँची छत्र-पङ्क्तियाँ हमलोगोंकी ओर बढ़ी आ रही हैं, ये आकाशमें उज्ज्वल हंसपङ्क्तियोंके समान सुशोभित होती हैं ॥ ५२ ॥

अहो द्यौर्विमलाभानां शस्त्राणां विमलानना ।
प्रभा भास्करभामिश्रा चरन्तीव दिशो दश ॥ ५३ ॥

'अहो ! इन निर्मल प्रभाववाले शस्त्रोंकी चमकसे आकाशका मुख भी उज्ज्वल एवं प्रकाशित हो उठा है। शस्त्रोंकी ये दीप्तियाँ सूर्यदेवकी किरणोंसे मिलकर दसों दिशाओंमें विचरती-सी प्रतीत होती हैं ॥ ५३ ॥

एतानि नूनं समरे पार्थिवैरायुधानि च ।
क्षिप्तानि विनशिष्यन्ति मयि सर्वाणि संयुगे ॥ ५४ ॥

'निश्चय ही, समराङ्गणमें भूमिपालोंद्वारा मुझपर चलाये गये ये समस्त अस्त्र-शस्त्र नष्ट हो जायँगे ॥ ५४ ॥

काले खलु नृपः प्राप्तो जरासंधो महीपतिः ।
आवयोर्युद्धनिकषः प्रथमः समरातिथिः ॥ ५५ ॥

'राजा जरासंध ठीक समयपर आया है। यह हमलोगोंके युद्ध-कौशलकी कसौटी है तथा समराङ्गणका पहला अतिथि है ॥

आर्य तिष्ठाव सहितौ न खल्वानागते नृपे ।
युद्धारम्भः प्रयोक्तव्यो बलं तावद् विमृश्यताम् ॥ ५६ ॥

'आर्य ! हम दोनों साथ रहें। राजा जरासंधके आनेसे पहले अभी हमें युद्ध आरम्भ नहीं करना चाहिये। जबतक वह नहीं आता है, तबतक हम उसके बलका विचार कर लें'॥

एवमुक्त्वा ततः कृष्णः स्वस्थः संग्रामलालसः ।
जरासंधवधं प्रेप्सुश्चकार बलदर्शनम् ॥ ५७ ॥

ऐसा कहकर श्रीकृष्ण स्वस्थभावसे संग्रामकी इच्छा रखकर जरासंधका वध चाहते हुए उसके सैनिक-बलका निरीक्षण करने लगे ॥ ५७ ॥

वीक्षमाणश्च तान् सर्वान् नृपान् यदुवरोऽव्ययः ।
आत्मानमात्मनोवाच यत्पूर्वं दिवि मन्त्रितम् ॥ ५८ ॥
इमे ते पृथिवीपालाः पार्थिवे वर्त्मनि स्थिताः ।
ये विनाशं गमिष्यन्ति शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ५९ ॥

उन सब राजाओंका निरीक्षण करते हुए अविनाशी यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही अपने-आपसे कहने लगे—'अहो ! दिव्यलोकमें देवताओंके साथ बैठकर जो गुप्त मन्त्रणा की गयी थी, उसके अनुसार ये भूमिपाल राजोचित मार्गपर स्थित हैं। ये शास्त्रोक्त विधिसे संग्राममें विनाशको प्राप्त होंगे ॥ ५८-५९ ॥

प्रोक्षितान् खल्विमान् मन्ये मृत्युना नृपसत्तमान् ।
स्वर्गगामीनि चाप्येषां वपूंषि प्रचकाशिरे ॥ ६० ॥

'मैं तो समझता हूँ कि मृत्युने रणयज्ञमें आहुति देनेके लिये इन श्रेष्ठ राजाओंका प्रोक्षण कर लिया है। इनके स्वर्गगामी शरीर अभीसे प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ६० ॥

स्थाने भारपरिश्रान्ता वसुधेयं दिवं गता ।
एषां नृपतिसिंहानां बलौघैरभिपीडिता ॥ ६१ ॥

'यह पृथ्वी इन राजसिंहोंके सैन्यसमूहोंसे पीडित हो इनके भारसे थककर जो देवलोकमें गयी थी, वह इसका जाना उचित ही था ॥ ६१ ॥

अल्पेन खलु कालेन विविक्तं पृथिवीतलम् ।
भविष्यति नरेन्द्रौघैराकीर्णं च नभस्तलम् ॥ ६२ ॥

'अब थोड़े ही समयमें यह भूमण्डल इन राजसमूहोंसे खाली हो जायगा और आकाश भर जायगा' ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि जरासंधाभिगमनं नामैकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें जरासंधका अभियानविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४१॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

जरासंधकी सेनाका वर्णन, उसका सेनाको पर्वतपर आक्रमण करनेकी आज्ञा देना, शिशुपालकी सम्मतिसे गोमन्तपर्वतमें आग लगाया जाना, पर्वतका जलना तथा बलराम और श्रीकृष्णका पर्वतसे कूदकर राजाओंकी सेनामें आ पहुँचना—

वैशम्पायन उवाच

जरासंधस्ततः प्राप्तो नृपः सर्वमहीक्षिताम्।
नराधिपैर्बलयुतैरनुयातो महाद्युतिः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर समस्त राजाओंका राजा महातेजस्वी जरासंध वहाँ आ पहुँचा। उसके पीछे अपनी-अपनी सेनाओंके साथ दूसरे भी बहुत-से नरेश थे॥ १॥

व्यायतोदग्रतुरगैर्धिस्पष्टार्थसमाहितैः।
रथैः साङ्ग्रामिकैर्युक्तैरसङ्गगतिभिः क्वचित्॥ २॥

कहीं अस्त्र-शास्त्रके ज्ञाता पुरुषोंद्वारा भलीभाँति सिखाये गये विशाल एवं प्रचण्ड बलशाली अश्वोंसे युक्त रथ युद्धोपयोगी सामग्रियोंसे सम्पन्न होकर आगे बढ़ रहे थे। उन रथोंकी गति कहीं भी अवरुद्ध नहीं होती थी॥ २॥

हेमकक्षैर्महाघण्टैर्वारणैर्वारिदोपमैः।
महामात्रोत्तमारूढैः कल्पितै रणगर्वितैः॥ ३॥

कहीं बहुसंख्यक हाथी चल रहे थे, जिन्हें सोनेकी जंजीरोंसे कसा गया था। उनके दोनों पार्श्वमें बड़े-बड़े घंटे लटक रहे थे। वे सभी हाथी मेघोंकी घटाके समान जान पड़ते थे। उनके ऊपर अच्छे महावत बैठे थे तथा रणगर्वित कुशल योद्धाओंद्वारा उन्हें सुसज्जित किया गया था॥ ३॥

स्वारूढैः सादिभिर्युक्तैः प्रेङ्खमाणैः प्रवल्गितैः।
वाजिभिर्वायुसंकाशैः प्लवद्भिरिव पत्रिभिः॥ ४॥

कहीं घुड़सवार योद्धा घोड़ोंपर अच्छी तरहसे सवार थे। उनके वे घोड़े वायुके समान वेगशाली थे और उछलते-कूदते हुए आगे बढ़ते समय आकाशमें उड़ते हुए पक्षियोंके समान प्रतीत होते थे॥ ४॥

खड्गचर्मबलोदग्रैः पत्तिभिर्बलिनां वरैः।
सहस्रसंख्यैर्निर्मुक्तैरुत्पतद्भिरिवोरगैः॥ ५॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ पैदल सैनिक भी ढाल और तलवार लिये प्रचण्डरूप धारण करके आगे बढ़ते थे। वे हजार-हजारकी टोलियोंमें एक साथ चलते और केंचुलसे छूटे हुए सर्पोंके समान उछलते थे॥ ५॥

एवं चतुर्विधैः सैन्यैः प्रचलद्भिरिवाम्बुदैः।
नृपोऽभियातो बलवाञ्जरासंधो धृतव्रतः॥ ६॥

इस प्रकार मँडराते हुए बादलोंके समान चतुरङ्गिणी सेनाएँ साथ लेकर वीर-व्रतको धारण करनेवाला बलवान् राजा जरासंध युद्धके लिये आगे बढ़ रहा था॥ ६॥

स रथैर्नेमिघोषैश्च गजैश्च मदसंयुतैः।
हेषद्भिश्चापि तुरगैः क्ष्वेडितोग्रैश्च पत्तिभिः॥ ७॥
संनादयन् दिशः सर्वाः सर्वांश्चापि गुहाशयान्।
स राजा सागराकारः ससैन्यः प्रत्यदृश्यत॥ ८॥

वह राजा पहियोंके घर्घर घोषसे युक्त रथों, (चिग्घाड़ते हुए) मतवाले हाथियों, हिनहिनाते हुए घोड़ों तथा गर्जते हुए पैदल सैनिकोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं एवं समस्त पर्वतीय कन्दराओंको प्रतिध्वनित करता हुआ, सेनाके साथ समुद्रके समान दिखायी देता था॥ ७-८॥

तद्बलं पृथिवीशानां हृष्टयोधजनाकुलम्।
क्ष्वेडितास्फोटितरवं मेघसैन्यमिवाबभौ॥ ९॥

भूमिपालोंकी वह सेना हृष्टपुष्ट योद्धाओंसे परिपूर्ण थी। गर्जने और ताल ठोंकनेकी गम्भीर ध्वनिसे वह गर्जती हुई मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होती थी॥ ९॥

रथैः पवनसंपातैर्गजैश्च जलदोपमैः।
तुरगैश्च सिताभ्राभैः पत्तिभिश्चापि दंशितैः॥ १०॥
व्यामिश्रं तद्बलं भाति मत्तद्विपसमाकुलम्।
घर्मान्ते सागरगतं यथाभ्रपटलं तथा॥ ११॥

वायुके समान तीव्र गतिसे चलनेवाले रथों, काले मेघोंके समान प्रतीत होनेवाले हाथियों, श्वेत बादलोंके समान घोड़ों तथा कवच आदिसे सुसज्जित पैदल योद्धाओंसे मिश्रित हुई वह सेना सब ओरसे सुशोभित हो रही थी। मतवाले हाथियोंसे व्याप्त हुई वह विशाल वाहिनी वर्षाऋतुमें समुद्रके भीतर लक्षित होनेवाले मेघोंके समूहकी शोभा धारण करती थी॥ १०-११॥

सबलास्ते महीपाला जरासंधपुरोगमाः।
परिवार्य गिरिं सर्वे निवेशायोपचक्रमुः॥ १२॥

जरासंध आदि समस्त भूपाल अपनी सेनाके साथ उस पर्वतको चारों ओरसे घेरकर छावनी डालनेकी तैयारी करने लगे॥ १२॥

बभौ तस्य निविष्टस्य बलश्रीः शिबिरस्य वै।
शुक्ले पर्वणि पूर्णस्य यथा रूपं महोदधेः॥ १३॥

वहाँ डेरा डाले हुए जरासंधके सैनिकशिविरकी शोभा वैसी ही प्रतीत होती थी, जैसा कि शुक्लपक्षकी पूर्णिमाको

अपनी उत्ताल तरंगोंसे परिपूर्ण हुए महासागरका रूप देखनेमें आता है ॥ १३ ॥

वीतरात्रे ततः काले नृपास्ते कृतकौतुकाः ।
आरोहणार्थं शैलस्य समेता युद्धलालसाः ॥ १४ ॥

तदनन्तर रात बीतनेपर सब राजा उठे और मंगलाचारसे सम्पन्न हो युद्धकी लालसासे गोमन्तपर्वतपर चढ़नेके लिये एकत्र होने लगे ॥ १४ ॥

समवायीकृताः सर्वे गिरिप्रस्थेषु ते नृपाः ।
निविष्टा मन्त्रयामासुर्युद्धकालकुतूहलाः ॥ १५ ॥

पर्वतके शिखरोंपर एकत्र हो वे सभी राजा बैठे और युद्धके शुभ अवसरके लिये उत्सुक हो आपसमें मन्त्रणा करने लगे ॥ १५ ॥

एषां तु तुमुलः शब्दः शुश्रुवे पृथिवीक्षिताम् ।
युगान्ते भिद्यमानानां सागराणां यथा स्वनः ॥ १६ ॥

सेनासहित इन नरेशोंकी तुमुल ध्वनि प्रलयकालमें मर्यादाको तोड़कर बहनेवाले समुद्रोंकी भयंकर गर्जनाके समान सुनायी देती थी ॥ १६ ॥

तेषां सकञ्चुकोष्णीषाः स्थविरा वेत्रपाणयः ।
चेरुर्मा शब्द इत्येवं ब्रुवन्तो राजशासनात् ॥ १७ ॥

'उन राजाओंके छड़ीदार बूढ़े सिपाही चोगा और पगड़ी धारण किये तथा हाथमें बेंत लिये राजाज्ञासे यह कहते हुए विचरने लगे कि सब लोग मौन रहें । कोई एक शब्द भी न बोले ॥ १७ ॥

तस्य रूपं बलस्यासीन्निःशब्दस्तिमितस्य वै ।
लीनमीनभुजङ्गस्य निःशब्दस्य पयोदधेः ॥ १८ ॥

उस समय नीरव और निश्चल हुए उस सैन्यसमूहका रूप उस शब्दहीन प्रशान्त महासागरके समान प्रतीत होता था, जिसके मत्स्य और भुजङ्ग जलके भीतर विलीन हो गये हों ॥ १८ ॥

तस्मिन् स्तिमितनिःशब्दे योगादिव महार्णवे ।
जरासन्धो बृहद्वाक्यं बृहस्पतिरिवाददे ॥ १९ ॥

वह सैन्यसागर मानो योगबलसे जब सहसा नीरव तथा निश्चल हो गया, तब बृहस्पतिके समान नीतिज्ञ जरासंधने यह महत्त्वपूर्ण बात कही—॥ १९ ॥

शीघ्रं समभिवर्तन्तां बलानीह महीक्षिताम् ।
सर्वतः पर्वतश्चायं बलौघैः परिवार्यताम् ॥ २० ॥

'राजाओंकी सेनाएँ शीघ्र ही आक्रमण करें और सब ओरसे सैनिकसमूह इस पर्वतको घेर लें ॥ २० ॥

अश्मयन्त्राणि युज्यन्तां क्षेपणीयाश्च मुद्गराः ।
ऊर्ध्वं चापि प्रवाह्यन्तां प्रासा वै तोमराणि च ॥ २१ ॥

'पत्थरोंके गोले बरसानेवाले यन्त्र लगा दिये जायँ । क्षेपणीय (गोफना या ढेलवाँस) तथा मुद्गर सँभाल लिये जायँ । प्रास और तोमर भी ऊपर कर लिये जायँ ॥ २१ ॥

ऊर्ध्वं प्रक्षेपणार्थाय दृढानि च लघूनि च ।
शस्त्रपातविघातानि क्रियन्तामाशु शिल्पिभिः ॥ २२ ॥

'शत्रुओंके शस्त्रप्रहारको नष्ट करनेमें समर्थ सुदृढ़ और हल्के गोलोंको ऊपर फेंकनेके लिये हमारे शिल्पी शीघ्र तैयार करें ॥ २२ ॥

शूराणां युद्धयमानानां प्रमत्तानां परस्परम् ।
यथा नरपतिः प्राह तथा शीघ्रं विधीयताम् ॥ २३ ॥

'परस्पर प्रमत्त होकर युद्ध करनेवाले शूरवीरोंके लिये जैसा राजा शिशुपाल कहें, शीघ्र वैसा ही प्रबन्ध किया जाय ॥

दार्यतामेष टङ्कौघैः खनित्रैश्च नगोत्तमः ।
नृपाश्च युद्धमार्गज्ञा विन्यस्यन्तामदूरतः ॥ २४ ॥

'उस उत्तम पर्वतको टंकसमूहों और खनित्रोंसे खोदकर विदीर्ण कर डाला जाय । युद्धकी प्रणालीके जानकार नरेशोंको इसके समीप ही यथास्थान खड़ा किया जाय ॥२४॥

अद्यप्रभृति सैन्यैर्मे गिरिरोधः प्रवर्त्यताम् ।
यावदेतौ पातयामो वसुदेवसुतावुभौ ॥ २५ ॥

'आजसे मेरे सैनिक इस पर्वतपर घेरा डाल दें और इसे तबतक चालू रखें, जबतक कि हम इन दोनों वसुदेवपुत्रोंको मार न डालें ॥ २५ ॥

अचलोऽयं शिलायोनिः क्रियतां निश्चलाण्डजः ।
आकाशमपि बाणौघैर्निःसम्पातं विधीयताम् ॥ २६ ॥

'शिलाओंसे ही उत्पन्न हुआ (अथवा शिलाओंका उत्पादक) यह पर्वत स्वयं तो अचल है ही, इसपर रहनेवाले पक्षियोंको भी सायकोंद्वारा अचल (हिलने-डुलने या उड़नेमें असमर्थ) कर दिया जाय । आकाशको भी बाणसमूहोंसे इस तरह रूँध दिया जाय कि उसमें पक्षी भी उड़ न सकें ॥२६॥

मयानुशिष्टास्तिष्ठन्तु गिरिभूमिषु भूमिपाः ।
तेषु तेष्ववकाशेषु शीघ्रमारुह्यतां गिरिः ॥ २७ ॥

'मेरी आज्ञा मानकर समस्त भूपाल पर्वतीय स्थानोंमें खड़े रहें और जहाँ-जहाँ अवकाश मिल जाय, वहाँ-वहाँसे शीघ्र ही पर्वतपर चढ़ जायँ ॥ २७ ॥

मद्रः कलिङ्गाधिपतिश्चेकितानश्च बाह्लिकः ।
काश्मीरराजो गोनर्दः करूषाधिपतिस्तथा ॥ २८ ॥
द्रुमः किंपुरुषश्चैव पर्वतीयाश्च मानवाः ।
पर्वतस्यापरं पार्श्वं क्षिप्रमारोहयन्त्वमी ॥ २९ ॥

'मद्रराज शल्य, कलिङ्गराज श्रुतायु, चेकितान, बाह्लिक, काश्मीरराज गोनर्द, करूषराज दन्तवक्त्र, किंनरराज द्रुम तथा

पर्वतीय प्रदेशके योद्धा—ये सब लोग इस पर्वतके पश्चिम भागपर शीघ्र ही चढ़ाई कर दें ॥ २८-२९ ॥

पौरवो वेणुदारिश्च वैदर्भः सोमकस्तथा ।
रुक्मी च भोजाधिपतिः सूर्याक्षश्चैव मालवः ॥ ३० ॥
पाञ्चालाधिपतिश्चैव द्रुपदश्च नराधिपः ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दन्तवक्त्रश्च वीर्यवान् ॥ ३१ ॥
छागलिः पुरमित्रश्च विराटश्च महीपतिः ।
कौशाम्ब्यो मालवश्चैव शतधन्वा विदूरथः ॥ ३२॥
भूरिश्रवास्त्रिगर्तश्च बाणः पञ्चनदस्तथा ।
उत्तरं पर्वतोद्देशमेते दुर्गसहा नृपाः ।
आरोहन्तु विमर्दन्तो वज्रप्रतिमगौरवाः ॥ ३३ ॥

पूरुवंशीय वेणुदारि, विदर्भदेशीय सोमक, भोजोंके अधिपति रुक्मी, मालवाके राजा सूर्याक्ष, पाञ्चालदेशके अधिपति राजा द्रुपद, अवन्तिके दोनो राजकुमार विन्द और अनुविन्द, पराक्रमी दन्तवक्त्र, छागलि, पुरुमित्र, राजा विराट, कौशाम्बीनरेश मालव, शतधन्वा, विदूरथ, भूरिश्रवा, त्रिगर्त, बाण और पञ्चनद—ये दुर्गयुद्धका वेग सह सकनेवाले नरेश शत्रुओंको कुचलते हुए इस पर्वतके उत्तरभागपर चढ़ाई करें, इनका गौरव वज्रके तुल्य है ॥ ३०-३३ ॥

उलूकः कैतवेयश्च वीरश्चांशुमतः सुतः ।
एकलव्यो दृढाश्वश्च क्षत्रधर्मा जयद्रथः ॥ ३४ ॥
उत्तमौजास्तथा शाल्वः कैरलेयश्च कैशिकः ।
वैदिशो वामदेवश्च सुकेतुश्चापि वीर्यवान् ॥ ३५ ॥
पूर्वपर्वतनिर्व्यूहमेतेष्वायतमस्तु नः ।
विदारयन्तो धावन्तो वाता इव वलाहकान् ॥ ३६ ॥

'शकुनिपुत्र उलूक, अंशुमान्‌के पुत्र वीर, एकलव्य, दृढाश्व, क्षत्रधर्मा, जयद्रथ, उत्तमौजा, शाल्व, केरलराज कैशिक, विदिशाके राजा वामदेव और पराक्रमी सुकेतु—इन सबके अधीन इस पर्वतका पूर्वभाग सौंप दिया जाय। ये लोग जैसे वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार शत्रुओंको विदीर्ण करते हुए उनपर धावा बोल दें ॥३४-३६॥

अहं च दरदश्चैव चेदिराजश्च वीर्यवान् ।
दक्षिणं शैलनिचयं दारयिष्याम दंशिताः ॥ ३७ ॥

'मैं दरद तथा पराक्रमी चेदिराज शिशुपाल कवच आदिसे सुसज्जित होकर इस पर्वतके दक्षिणभागको विदीर्ण कर डालेंगे ॥ ३७ ॥

एवमेष गिरिः क्षिप्रं समन्ताद् वेष्टितो बलैः ।
वज्रप्रपातप्रतिमं प्राप्नोतु तुमुलं भयम् ॥ ३८ ॥

'इस प्रकार हमारी सेनाओंद्वारा चारों ओरसे घिरा हुआ यह पर्वत शीघ्र ही, मानो इसपर वज्रका आघात हो रहा हो, इस तरह घोर भय प्राप्त करे ॥ ३८ ॥

गदिनो वै गदाभिश्च परिघैः परिघायुधाः ।
अपरे विविधैः शस्त्रैर्दारयन्तु नगोत्तमम् ॥ ३९ ॥

'गदाधारी वीर गदाओंसे, परिघ चलानेवाले परिघोंसे तथा अन्य वीर नाना प्रकारके दूसरे अस्त्र-शस्त्रोंसे इस श्रेष्ठ पर्वतके टुकड़े-टुकड़े कर डालें ॥ ३९ ॥

एष भूमिधरोऽद्यैव विषमोच्चशिलान्वितः ।
कार्यो भूमिसमः सर्वैर्भवद्भिर्वसुधाधिपैः ॥ ४० ॥

'विषम एवं ऊँची शिलाओंसे युक्त इस भूधरको आप सभी भूपाल मिलकर आज ही भूमिके समान समतल कर डालें' ॥ ४० ॥

जरासंधवचः श्रुत्वा पार्थिवा राजशासनात् ।
गोमन्तं वेष्टयामासुः सागराः पृथिवीमिव ॥ ४१ ॥

जरासंधकी बात सुनकर समस्त राजाओंने मगधराजकी आज्ञासे गोमन्तपर्वतको चारों ओरसे घेर लिया, ठीक उसी तरह जैसे समुद्र पृथ्वीको घेरे हुए है ॥ ४१॥

उवाच राजा चेदीनां देवानां मघवानिव ।
किं ते युद्धेन दुर्गेऽस्मिन् गोमन्ते च नगोत्तमे ॥ ४२ ॥

उस समय देवताओंके राजा इन्द्रके समान चेदिवासियोंके अधिपति राजा दमघोषने जरासंधसे कहा—राजन्! यह पर्वतोंमें श्रेष्ठ गोमन्त दुर्गम पर्वत है। इसपर युद्ध करनेसे आपको क्या लाभ होगा ॥ ४२ ॥

दुरारोहश्च शिखरे प्रांशुपादपकण्टके ।
काष्ठैस्तृणैश्च बहुभिः परिवार्य समन्ततः ॥ ४३ ॥
अद्यैव दीप्यतां क्षिप्रमलमन्येन कर्मणा ।

'इसके शिखरपर ऊँचे-ऊँचे वृक्ष और काँटेरे हैं; अतः इसपर चढ़ना बहुत कठिन काम है। मेरी तो राय है, बहुत-से काठ और घासफूस जुटाकर इस पर्वतको चारों ओरसे घेर दिया जाय और अभी इसमें आग लगा दी जाय। इसी कार्यमें शीघ्रता करनी चाहिये। दूसरे किसी प्रयत्नसे कुछ होने-जानेवाला नहीं है ॥ ४३½ ॥

क्षत्रियाः सुकुमारा हि रणे सायकयोधिनः ॥ ४४ ॥
नियुक्ताः पर्वते दुर्गे नियोक्तुं पादयोधिनः ।
ननाम प्रतिबन्धेन न चावस्कन्दकर्मणा ॥ ४५ ॥
शक्य एष गिरिस्तात देवैरप्यवमर्दितुम् ।

'क्योंकि क्षत्रिय लोग सुकुमार होते है। ये रणभूमिमें बाणोंद्वारा ही युद्ध कर सकते हैं। (पर्वतपर चढ़ना इनके लिये अत्यन्त कठिन है।) इस समय इन्हें दुर्गम पर्वतपर चढ़कर वहाँके पैदल योद्धाओंके साथ युद्ध करनेके कामपर नियुक्त किया गया है (जो इनके लिये दुष्कर है)। तात! केवल घेरा डालनेसे या ऊपर चढ़ जानेसे देवता भी इस पर्वतका मर्दन नहीं कर सकते ॥ ४४-४५½ ॥

दुर्गयुद्धे क्रमः श्रेयान् रोधयुद्धेन पार्थिवाः ॥ ४६ ॥
भक्तोदकेन्धनैः क्षीणाः पात्यन्ते गिरिसंश्रिताः ।
वयं बहव इत्येवं नाप्येष निपुणो नयः ॥ ४७ ॥

राजाओ ! दुर्गयुद्धमें रोधयुद्ध (घेरा डालने) के द्वारा जो लड़ाईका क्रम चालू किया जाता है, वह श्रेयस्कर होता है (क्योंकि दुर्गकी खाद्यसामग्री समाप्त होनेपर वहाँके निवासियोंका पतन अवश्यम्भावी है; परंतु यहाँ पर्वतनिवासियोंके लिये खाने-पीनेकी सामग्री सदा सुलभ है) । अन्न, जल और लकड़ीकी कमी हो जाय तभी पर्वतवासी योद्धाओंको धराशायी किया जा सकता है । हमारी संख्या बहुत है और विपक्षियोंकी कम—ऐसा सोचना भी निपुण नीतिका परिचायक नहीं है ॥ ४६-४७ ॥

यादवौ नावमन्तव्यौ द्वावप्येतौ रणे स्थितौ ।
अविज्ञातबलावेतौ श्रूयेते देवसम्मितौ ॥ ४८ ॥

'ये दोनों यदुवंशी भी युद्धके लिये तैयार खड़े हैं; अतः इनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। इनके पूरे-पूरे बलका ज्ञान किसीको नहीं है । ये दोनों देवताओंके समान तेजस्वी सुने जाते हैं ॥ ४८ ॥

कर्मभिस्त्वमरौ विद्यो बालावतिबलान्वितौ ।
दुष्कराणीह कर्माणि कृतवन्तौ यदूत्तमौ ॥ ४९ ॥

'अपने कर्मोंसे तो ये अमर जान पड़ते हैं; क्योंकि बाल्यावस्थामें ही ये अत्यन्त बलशाली हैं । यदुकुलके इन श्रेष्ठ पुरुषोंने इस जगत्‌में बड़े-बड़े दुष्कर कर्म किये हैं ॥ ४९ ॥

शुष्ककाष्ठैस्तृणैर्वेष्ट्य सर्वतः पर्वतोत्तमम् ।
अग्निना दीपयिष्यामो दह्येतां गतचेतनौ ॥ ५० ॥

'अतः सूखे काठों और तिनकोंसे आवेष्टित करके इस उत्तम पर्वतमें हम सब ओरसे आग लगा देंगे । इससे अचेत होकर वे दोनों भस्म हो जायँगे ॥ ५० ॥

यदि चेन्निष्क्रमिष्येते दह्यमानावितोऽन्तिके ।
समेत्य पातयिष्यामस्त्यक्ष्यतो जीवितं ततः ॥ ५१ ॥

'यदि आगसे जलते हुए वे दोनों हमारे पाससे निकलेंगे तो हम सब लोग मिलकर उन्हें मार गिरायेंगे । इस तरह उन दोनोंको अपने जीवनसे हाथ धोना पड़ेगा' ॥ ५१ ॥

वाक्यमेतत्तु रुरुचे सबलानां महीक्षिताम् ।
यदुक्तं चेदिराजेन नृपाणां हितशंसिना ॥ ५२ ॥

राजाओंके हितकी बात बतानेवाले चेदिराजने जो बात वहाँ कही, वह सेनासहित समस्त राजाओंको अच्छी लगी ॥ ५२ ॥

ततः काष्ठैस्तृणैर्वंशैः शुष्कशाखैश्च पादपैः ।
उपादीप्यत शैलेन्द्रः सूर्यपादैरिवाम्बुदः ॥ ५३ ॥

तदनन्तर उन्होंने काठ-कबाड़, घास-फूस और सूखी डालवाले वृक्ष लाकर उनके द्वारा उस गिरिराज गोमन्तमें आग लगा दी । उस समय आगकी ज्वालाओंसे घिरा हुआ वह पर्वत सूर्यकी किरणोंसे आवृत मेघके समान प्रतीत होता था ॥ ५३ ॥

ददुस्ते सर्वतस्तूर्णं पावकं तत्र पार्थिवाः ।
यथोद्देशं यथावातं शैलस्य लघुविक्रमाः ॥ ५४ ॥

इसके बाद शीघ्रतापूर्वक पैर बढ़ाते हुए राजाओंने जहाँ जैसा हवाका रुख था, उसके अनुसार तुरंत ही पर्वतके चारों ओर वह आग फैला दी ॥ ५४ ॥

स वायुदीपितो वह्निरुत्पपात समन्ततः ।
सधूमज्वालमालाभिर्भाभिः खमिव शोभयन् ॥ ५५ ॥

वायुसे प्रज्वलित हुई आग वहाँ सब ओरसे ऊपरको उठने लगी और धूमयुक्त ज्वालामालाओंकी प्रभासे आकाशकी शोभा-सी बढ़ाने लगी ॥ ५५ ॥

सोऽनलः पवनायस्तः काष्ठसंचयमूलवान् ।
ददाह शैलं श्रीमन्तं गोमन्तं कान्तपादपम् ॥ ५६ ॥

सूखे काठोंके ढेर ही जिसकी जड़ थे, वह आग वायुके सहारेसे बढ़कर कमनीय वृक्षोंवाले शोभा-सम्पन्न गोमन्तपर्वतको चारों ओरसे दग्ध करने लगी ॥ ५६ ॥

स दह्यमानः शैलेन्द्रो मुमोच विपुलाः शिलाः ।
शतशः शतधा भूत्वा महोल्काकारदर्शनाः ॥ ५७ ॥

उस आगसे दग्ध होता हुआ गिरिराज गोमन्त बड़ी-बड़ी शिलाएँ छोड़ने लगा (अग्निके तापसे चटककर प्रस्तर-खण्ड टूट-टूटकर गिरने लगे), वे सैकड़ों शिलाएँ सौ-सौ टूक होकर गिरते समय बड़ी-बड़ी उल्काओंके समान दिखायी देती थीं ॥ ५७ ॥

स चित्रभानुः शैलेन्द्रं भाभिर्भानुरिवाम्बुदम् ।
आलिम्पतीव विधिवत् समन्तादर्चिरुद्धतः ॥ ५८ ॥

लपटोंसे ऊपरको उठती हुई वह आग उस पर्वतराजको सब ओरसे प्रभाओंद्वारा विधिपूर्वक लीपती-सी प्रतीत होती थी, ठीक उसी तरह जैसे सूर्यदेव अपनी किरणोंद्वारा मेघोंको अनुलिप्त कर देते हैं ॥ ५८ ॥

धातुभिः पच्यमानैश्च ज्वलद्भिश्चैव पादपैः ।
उद्भ्रान्तश्वापदो रौति तुद्यमान इवाद्रिराट् ॥ ५९ ॥

पकती हुई धातुओं, जलते हुए वृक्षों तथा घबड़ाये हुए हिंसक जन्तुओंसे युक्त वह पर्वतराज ऐसा जान पड़ता था, मानो व्यथासे पीड़ित होकर रो रहा हो ॥ ५९ ॥

प्रतप्तो दह्यमानस्तु स शैलः कृष्णवर्त्मना ।
रीतीर्निर्वर्तयामास काञ्चनाञ्जनराजतीः ॥ ६० ॥

आगसे दग्ध होकर तपा हुआ वह पर्वत सोने, चाँदी

तथा काले रंगकी धातुओंके पिघले हुए रसोंकी धारा बहाने लगा ॥ ६० ॥

वह्निना चापि दीप्ताङ्गो गिरिर्नातिविराजते।
धूमान्धकारोर्ध्वतनुर्मज्जमान इवाम्बुदः ॥ ६१ ॥

यद्यपि अग्निसे उसका सारा अङ्ग उद्भासित हो उठा था, तो भी उसके ऊपरी भागमें धुएँका अन्धकार छा रहा था, इसलिये उस पर्वतकी अधिक शोभा नहीं हो रही थी। वह समुद्रमें डूबते हुए मेघके समान जान पड़ता था ॥ ६१ ॥

विश्लिष्टोपलसंघातः कर्कशाङ्गारवर्षणः।
गिरिर्भात्यनलोद्गारैरुल्कावृष्टिरिवाम्बुदः ॥ ६२ ॥

उसके प्रस्तरसमूह अलग हो-होकर गिर रहे थे। उससे कड़े अङ्गारोंकी वर्षा हो रही थी। उस समय आग उगलनेके कारण वह पर्वत उल्काओंकी वर्षा करनेवाले मेघके समान प्रतीत होता था ॥ ६२ ॥

प्रपातप्रस्रवोच्छिन्नो धूमसंवर्द्धितोदरः।
स गिरिर्भस्मतां यातो युगान्ताग्निहतोपमः ॥ ६३ ॥

उसके झरनोंके स्रोत सूख गये, मध्यभागमें धुआँ फैल गया। उस अवस्थामें वह पर्वत प्रलयाग्निसे दग्ध होकर भस्म हुआ-सा जान पड़ता था ॥ ६३ ॥

विह्वलास्तस्य पार्श्वेभ्यः सर्पा दग्धार्धदेहिनः।
श्वसन्तः पृथुमूर्धानो निश्चेरुरुरशिवेक्षणाः ॥ ६४ ॥

उसके पार्श्वभागोंसे घबराये हुए सर्प निकलने लगे। उनके आधे शरीर जल गये थे। उनकी आँखोंसे क्रूरता टपक रही थी तथा वे अपने फैले हुए मस्तकों (फनों) से फुङ्कार मार रहे थे ॥ ६४ ॥

उत्पत्योत्पत्य गगनात् पुनः पुनरवाङ्मुखाः।
रेसुश्चोद्वेजिताः सिंहाः शार्दूलाश्चानलाविलाः ॥ ६५ ॥

आगसे झुलसे हुए सिंह और व्याघ्र भयसे उद्विग्न हो बारंबार उछलकर आकाशसे नीचे मुँह किये गिरते और आर्तनाद करते थे ॥ ६५ ॥

मुमुचुः पादपाश्चैव दाहनिर्यासजं जलम् ॥ ६६ ॥

वहाँके वृक्ष दग्ध होनेके कारण अपने भीतरके रसको पानीके रूपमें बहाने लगे ॥ ६६ ॥

वहत्यूर्ध्वगतिर्वातो भस्माङ्गारातिपिङ्गलः।
धूमच्छाया च गगने दर्शिताम्भोददर्शना ॥ ६७ ॥

ऊपरको उठनेवाली वायु भस्म और अङ्गारोंसे अत्यन्त पिंगलवर्णकी होकर बहने लगी और आकाशमें धूमकी छाया घुमड़कर घिरी हुई मेघोंकी घटाके समान दिखायी देने लगी

व्यज्यमानो महासानुर्विहगैः श्वापदैरपि।
गिरिर्वैकल्यमायाति प्रागल्भ्यात्कृष्णवर्त्मनः ॥ ६८ ॥

पक्षी और हिंसक जन्तु भी उसे छोड़कर भाग रहे थे। वह महान् शिखरवाला पर्वत अधिक आग बढ़ जानेके कारण व्याकुल-सा हो उठा था ॥ ६८ ॥

स मुमोच शिलाः शैलश्चलोदग्रशिलोच्चयः।
वज्रेण पुरुहूतस्य यथा स्याद् दारितस्तथा ॥ ६९ ॥

बड़ी-बड़ी चञ्चल शिलाओंके ढेरसे युक्त वह पर्वत आगसे तपकर अपनी शिलाओंको इस प्रकार छोड़ रहा था, मानो इन्द्रके वज्रसे विदीर्ण होकर बिखरा जा रहा हो ॥ ६९ ॥

आदीप्य तं तु शैलेन्द्रं क्षत्रिया व्यूहदंशिताः।
अर्धक्रोशमपक्रान्ताः पावकेनाभितापिताः ॥ ७० ॥

उस पर्वतराजमें आग लगाकर व्यूहके आकारमें सुसज्जित होकर खड़े हुए क्षत्रिय उस प्रचण्ड पावकसे सन्तप्त हो आधा कोस पीछे हट गये ॥ ७० ॥

दह्यमाने नगश्रेष्ठे सीदमानैर्महाद्रुमैः।
धूमभारैरनालक्ष्ये मूले शिथिलतां गते ॥ ७१ ॥
सरोषं हि तदा रामो वचनं केशिसूदनम्।
बभाषे पद्मपत्राक्षं स साक्षान्मधुसूदनम् ॥ ७२ ॥

वह पर्वतोंमें श्रेष्ठ गोमन्त नष्ट होते हुए महान् वृक्षोंके साथ जब इस प्रकार दग्ध होने लगा, धूमभारसे उसकी ओर देखना असम्भव हो गया और उसका मूलभाग शिथिल होने लगा, तब बलरामजीने केशी और मधुनामक दैत्योंका संहार करनेवाले साक्षात् विष्णुस्वरूप कमलनयन श्रीकृष्णसे रोषपूर्वक कहा—॥ ७१-७२ ॥

दह्यतेऽयं गिरिस्तात ससानुशिखरद्रुमः।
आवयोः कृष्ण वैरेण बलिभिर्वसुधाधिपैः ॥ ७३ ॥

'तात! श्रीकृष्ण! हमलोगोंसे वैर हो जानेके कारण इन बलवान् भूपतियोंद्वारा छोटे-बड़े शिखरों और वृक्षोंसहित यह पर्वत जलाया जा रहा है ॥ ७३ ॥

पश्य कृष्णानलोष्णानां सधूमानां समन्ततः।
वनानां विरसन्तीव नगाभ्याशे द्विपोत्तमाः ॥ ७४ ॥

'श्रीकृष्ण! देखो, चारों ओर आगसे तपे और धुएँसे भरे इन जंगलोंके वृक्षोंके निकट ये उत्तम हाथी करुण-क्रन्दन-सा कर रहे हैं ॥ ७४ ॥

अयं यद्यावयोरर्थे गोमन्तस्तात दह्यते।
अयशस्यमिदं लोके कौलीनं च भविष्यति ॥ ७५ ॥

'तात! यदि हम दोनोंके लिये गोमन्त जला दिया जायगा, तो यह संसारमें हमारे लिये महान् अपयश और कलङ्ककी बात होगी ॥ ७५ ॥

तदस्यानृण्यहेतोर्हि नगस्य नगसंनिभ।
क्षत्रियाग्निहनिष्यामो दोर्भ्यामेव युधां वर ॥ ७६ ॥

'अतः योद्धाओंमें श्रेष्ठ तथा युद्धमें पर्वतके समान

अविचल रहनेवाले श्रीकृष्ण ! इस गोमन्त पर्वतसे उऋण होनेके लिये हमलोग अपनी भुजाओंसे ही इन क्षत्रियोंको मार डालेंगे ॥ ७६ ॥

एते ते क्षत्रियाः सर्वे गिरिमादीप्य दंशिताः ।
रथिनस्तात दृश्यन्ते यथादेशं युयुत्सवः ॥ ७७ ॥

'तात ! ये सारे क्षत्रिय इस पर्वतको जलाकर कवच आदिसे सुसज्जित हो रथपर बैठकर यथास्थान युद्ध करनेके लिये उत्सुक दिखायी देते हैं ॥ ७७ ॥

एवमुक्त्वा गिरेः शृङ्गान्मेरुशृङ्गादिवोडुराट् ।
निपपात बलः श्रीमान् वनमालाधरो युवा ॥ ७८ ॥

ऐसा कहकर मेरुपर्वतके शिखरसे नीचे उतरनेवाले चन्द्रमाके समान कान्तिमान् वनमालाधारी नवयुवक बलराम गोमन्त पर्वतकी चोटीसे कूद पड़े ॥ ७८ ॥

कादम्बरीमदक्षीबो नीलवासाः सिताननः ।
स शारदेन्दुसंकाशो वनमालाञ्चितोदरः ॥ ७९ ॥

उस समय वे कादम्बरी (सुधा या मधु) के मदसे कुछ मत्त-से हो रहे थे। उनके शरीरपर नील वस्त्र शोभा पाता था। उनका मुख गौरवर्णका था। वे शरत्-कालके चन्द्रमाकी भाँति उज्ज्वल प्रभासे उद्भासित हो रहे थे। उनका उदरभाग वन-मालासे अलंकृत था ॥ ७९ ॥

कान्तैककुण्डलधरश्चारुमौलिरवाङ्मुखः ।
निपपात नरेन्द्राणां मध्ये केशवपूर्वजः ॥ ८० ॥

उन्होंने एक कानमें कमनीय कुण्डल धारण कर रखा था तथा उनके मस्तकपर मनोहर मुकुट शोभा दे रहा था। श्रीकृष्णके बड़े भाई बलराम नीचे मुँह किये राजाओंके बीचमें ही कूद पड़े ॥ ८० ॥

अवप्लुते ततो रामे कृष्णः कृष्णाम्बुदोपमः ।
गोमन्तशिखराच्छ्रीमानाप्लुतोऽमितविक्रमः ॥ ८१ ॥

बलरामजीके कूदनेके पश्चात् काले मेघके समान श्याम कान्तिमान् और अमित पराक्रमी श्रीमान् कृष्ण भी गोमन्त-शिखरसे कूद पड़े ॥ ८१ ॥

ततस्तं पीडयामास पद्भ्यां गिरिवरं हरिः ।
स पीडितो गिरिस्तेन निर्ममज्ज समन्ततः ॥ ८२ ॥
जलाकुलोपलस्तत्र प्रस्रुतो द्विरदो यथा ।
स तेन वारिणा वह्निस्तत्क्षणात् प्रशमं ययौ ॥ ८३ ॥
कल्पान्ते वारिधाराभिर्मेघजालैरिवांशुमान् ।

कूदते समय श्रीहरिने उस श्रेष्ठ पर्वतको अपने दोनों पैरोंसे दबाया। उनके द्वारा दबाव पड़नेपर वह पर्वत चारों ओरसे जलमग्न-सा हो गया। उसका एक-एक पत्थर जलसे नहा उठा और मदकी बूँदें टपकानेवाले हाथीके समान जल-का स्रोत बहाने लगा। उस जलसे वहाँकी सारी आग तत्काल बुझ गयी। मानो प्रलयकालमें मेघसमूहोंद्वारा बरसायी हुई वारिधाराओंसे अंशुमाली सूर्य शान्त हो गये हों ॥८२-८३½॥

सिंहारसितनिर्घोषः पीतवासा घनाकृतिः ॥ ८४ ॥
किरीटमूर्द्धा सौम्यास्यः पुण्डरीकनिभेक्षणः ।
श्रीवत्सवक्षाः सुमुखः सहस्राक्षसमद्युतिः ॥ ८५ ॥
रामादनन्तरं कृष्णः प्लुतो वै वीर्यवांस्ततः ।

उस समय पीताम्बरधारी घनश्याम-विग्रह कमलनयन श्रीकृष्ण सिंहके समान दहाड़ रहे थे। उनके मस्तकपर दिव्य किरीट शोभा पा रहा था और मुख बड़ा ही सौम्य दिखायी देता था। उनके वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न सुशोभित था। मुख बहुत ही सुन्दर था और अंगोंकी कान्ति देवराज इन्द्रके समान प्रकाशित हो रही थी। बलरामजीके बाद पराक्रमी श्रीकृष्ण भी वहीं (राजाओंके बीचमें ही) कूद पड़े थे ॥

ताभ्यामेव प्लुताभ्यां च चरणैः पीडितो गिरिः ॥ ८६ ॥
मुमोच सलिलोत्पीडांस्तीव्रपावकशान्तये ।
सलिलोत्पीडनं दृष्ट्वा पार्थिवा भयमाविशन् ॥ ८७ ॥

उन दोनों भाइयोंके कूदनेसे उनके चरणोंका दबाव पाकर वह पर्वत जलके स्रोत बहाने लगा था, जो उस भयानक अग्निको बुझानेमें सहायक हुआ। पर्वतसे जलके स्रोत निकलते देखकर राजाओंके मनमें भय समा गया ॥८६-८७॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि गोमन्तदाहे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें गोमन्त-पर्वतका दाहविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रयश्चत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और बलरामका जरासंध और उसकी सेनाओंके साथ युद्ध, राजा दरदकी मृत्यु, जरासंधका पराजित होकर पलायन तथा चेदिराज दमघोषके साथ श्रीकृष्ण और बलरामका करवीरपुरमें जाना

वैशम्पायन उवाच

तौ नगादाप्लुतौ दृष्ट्वा वसुदेवसुतावुभौ ।
क्षुब्धं नरवरानीकं सर्वं सम्मूढवाहनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वसुदेवके

उन दोनों पुत्रोंको पर्वतसे कूदकर आया देख उन नरेशोंकी सारी सेनामें हलचल मच गयी। उसके वाहनोंपर मोह छा गया ॥ १ ॥

बाहुप्रहरणौ तौ तु चेरतुस्तत्र यादवौ।
मकराविव संरब्धौ समुद्रक्षोभणावुभौ ॥ २ ॥

रोषमें भरे हुए वे दोनों यदुवंशी वीर अपनी भुजाओंसे ही आयुधका काम लेते हुए उस विशाल सेनामें विचरने लगे, जैसे दो महान् मगर समुद्रको विक्षुब्ध करते हुए उसके भीतर घूम रहे हों ॥ २ ॥

ताभ्यां मृधे प्रविष्टाभ्यां यादवाभ्यां मतिस्त्वभूत्।
आयुधानां पुराणानामादानकृतलक्षणा ॥ ३ ॥

समराङ्गणमें प्रविष्ट होनेपर उन दोनों यादवोंके मनमें अपने पुराने आयुधोंको ग्रहण करनेका विचार हुआ ॥ ३ ॥

ततोऽम्बरतलाद् भूयः पतन्ति स्म महात्मनोः।
मध्ये राजसहस्रस्य समरं प्रतिकाङ्क्षिणोः ॥ ४ ॥
यानि वै माथुरे युद्धे प्राप्तान्याहवशोभिनोः।

फिर तो सहस्रों राजाओंके बीचमें युद्धकी आकांक्षा रखने तथा समरमें शोभा पानेवाले उन दोनों महात्माओंके हाथमें आकाशसे वे ही अस्त्र-शस्त्र आ गये, जो मथुराके युद्धमें उन दोनोंको प्राप्त हुए थे ॥ ४½ ॥

तान्यम्बरात् पतन्ति स्म दिव्यान्याहवसम्प्लवे ॥ ५ ॥
लेलिहानानि दीप्तानि दीप्ताग्निसदृशानि वै।
निक्षिप्य यानि तत्रैव तानि प्राप्तौ स्म यादवौ ॥ ६ ॥

उस युद्धसम्बन्धी विप्लवके समय वे ही प्रज्वलित अग्निके तुल्य तेजस्वी, दीप्तिमान् तथा शत्रुओंको चाट जानेवाले दिव्यास्त्र आकाशसे आ पड़े। जिन्हें वे यादव-वीर मथुरामें ही (आकाशमें) फेंककर चले गये थे, उन यदुवंशी वीरोंको पुनः उन दिव्यास्त्रोंकी प्राप्ति हो गयी ॥ ५-६ ॥

क्रव्यादैरनुयातानि मूर्तिमन्ति बृहन्ति च।
तृषितान्याहवे भोक्तुं नृपमांसानि सर्वशः ॥ ७ ॥

उन अस्त्रोंके पीछे मांसभक्षी भूत-प्रेत आदि भी आ रहे थे। वे विशाल अस्त्र मूर्तिमान् होकर उस युद्धमें समस्त राजाओंके रक्त-मांसका उपभोग करनेके लिये मानो भूखे-प्यासे थे ॥ ७ ॥

दिव्यस्रग्दामधारीणि त्रासयन्ति च खेचरान्।
प्रभया भासमानानि दर्शितानि दिशो दश ॥ ८ ॥

उन सबने दिव्य पुष्पोंकी मालाएँ धारण की थीं। वे अपनी प्रभासे प्रकाशित होकर दसों दिशाओंको सुशोभित करते थे और आकाशचारी प्राणियोंको भी भयभीत कर देते थे ॥ ८ ॥

हलं सांवर्तकं नाम सौनन्दं मुसलं तथा।
चक्रं सुदर्शनं नाम गदां कौमोदकीं तथा ॥ ९ ॥
चत्वार्येतानि तेजांसि विष्णुप्रहरणानि वै।
ताभ्यां समवतीर्णानि यादवाभ्यां महामृधे ॥ १० ॥

सांवर्तक हल, सौनन्द मूसल, सुदर्शन चक्र और कौमोदकी गदा—भगवान् विष्णुके ये चार तेजस्वी अस्त्र-शस्त्र उस महासमरमें उन दोनों यादव-वीरोंके लिये उतरे थे ॥ ९-१० ॥

जग्राह प्रथमं रामो ललामप्रतिमं रणे।
सर्पन्तमिव सर्पेन्द्रं दिव्यमालाकुलं हलम् ॥ ११ ॥

पहले बलरामजीने रणभूमिमें सुन्दर आकृतिवाले सर्पराजके समान सर्पणशील तथा दिव्यमालाओंसे अलंकृत हलको अपने दायें हाथमें ग्रहण किया ॥ ११ ॥

सव्येन सात्वतां श्रेष्ठो जग्राह मुसलोत्तमम्।
सौनन्दं नाम बलवान् निरानन्दकरं द्विषाम् ॥ १२ ॥

फिर उन यदुकुलतिलक बलवान् वीरने बायें हाथसे सौनन्द नामक उत्तम मूसलको ग्रहण किया, जो शत्रुओंको आनन्दशून्य कर देनेवाला था ॥ १२ ॥

दर्शनीयं च लोकेषु चक्रमादित्यवर्चसम्।
नाम्ना सुदर्शनं नाम प्रीतो जग्राह केशवः ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने सम्पूर्ण लोकोंमें दर्शनीय तथा सूर्यके समान तेजस्वी सुदर्शन नामक चक्रको बड़ी प्रसन्नताके साथ ग्रहण किया ॥ १३ ॥

दर्शनीयं च लोकेषु धनुर्जलदनिःस्वनम्।
नाम्ना शार्ङ्गमिति ख्यातं प्रीतो जग्राह वीर्यवान् ॥ १४ ॥

फिर समस्त लोकोंमें दर्शनीय तथा मेघोंकी गर्जनाके समान टंकारध्वनि करनेवाले शार्ङ्ग नामसे विख्यात धनुषको भी उन बलवान् श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक अपने हाथमें ले लिया ॥

देवैर्निगदितार्थस्य गदा तस्यापरे करे।
निषक्ता कुमुदाक्षस्य नाम्ना कौमोदकीति सा ॥ १५ ॥

तदनन्तर देवताओंने जिनसे अपना प्रयोजन निवेदन किया था तथा जिनके नेत्र विकसित कुमुद-कुसुमके समान शोभायमान हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके दूसरे हाथमें कौमोदकी नामक गदा आ गयी ॥ १५ ॥

तौ सप्रहरणौ वीरौ साक्षाद्विष्णुतनूपमौ।
समरे रामगोविन्दौ रिपूंस्तान् प्रत्ययुद्ध्यताम् ॥ १६ ॥

साक्षात् विष्णुके-से विग्रहवाले वे दोनों वीर बलराम और श्रीकृष्ण जब अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो गये, तब समरभूमिमें उन शत्रुओंके साथ युद्ध करने लगे ॥ १६ ॥

आयुधप्रग्रहौ वीरौ तावन्योन्यमयावुभौ।
पूर्वजानुजसंज्ञौ तु रामगोविन्दलक्षणौ ॥ १७ ॥

अस्त्र ग्रहण करके समराङ्गणमें खड़े हुए वे दोनों अग्रज और अनुज वीर बलराम तथा श्रीकृष्ण अन्योन्यमय (एक-दूसरेपर आश्रित अथवा एक दूसरेके स्वरूप) थे ॥ १७ ॥

समरेऽप्रतिरूपौ तौ विष्णुरेको द्विधा कृतः ।
द्विषत्सु प्रतिकुर्वाणौ पराक्रान्तौ यथेश्वरौ ॥ १८ ॥

रणभूमिमें उनकी तुलना करनेवाला दूसरा कोई नहीं था । वे दोनों एक ही विष्णुके दो स्वरूप थे तथा शत्रुओंका प्रतीकार करते हुए सर्वसमर्थ ईश्वरकी भाँति पराक्रम प्रकट कर रहे थे ॥ १८ ॥

हलमुद्यम्य रामस्तु सर्पेन्द्रमिव कोपनम् ।
चचार समरे वीरो द्विषतामन्तकोपमः ॥ १९ ॥

वीर बलराम क्रोधमे भरे हुए सर्पराजके तुल्य सांवर्तक हलको हाथमें उठाकर समरमें शत्रुओंके लिये कालरूप होकर विचरने लगे ॥ १९ ॥

विकर्षन् रथवृन्दानि क्षत्रियाणां महात्मनाम् ।
चकार रोषं सफलं नागेषु च हयेषु च ॥ २० ॥
कुञ्जरांल्लाङ्गलोत्क्षिप्तान् मुसलाक्षेपताडितान् ।
रामोऽभिरामः समरे निर्ममन्थ यथाचलान् ॥ २१ ॥

वे महामनस्वी क्षत्रियोंके रथसमूहोंको पीछे ढकेलते हुए हाथियों और घोड़ोंपर अपना रोष सफल करने लगे । समरमें परम सुन्दर प्रतीत होनेवाले बलराम हलसे हाथियोंको ऊपर उछाल देते और मूसल फेंककर उन्हें मार डालते थे । इस प्रकार उन पर्वतोपम हाथियोंको उन्होंने मार डाला ॥२०-२१॥

ते वध्यमाना रामेण समरे क्षत्रियर्षभाः ।
जरासंधान्तिकं भीता विरथाः प्रतिजग्मिरे ॥ २२ ॥

समराङ्गणमें बलरामजीके द्वारा मारे जाते हुए वे क्षत्रिय-शिरोमणि योद्धा रथहीन हो भयके मारे जरासंधके पास भाग गये ॥ २२ ॥

तानुवाच जरासंधः क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः ।
धिगेतां क्षत्रवृत्तिं वः समरे कातरात्मनाम् ॥ २३ ॥

तब क्षत्रियधर्ममें स्थित रहनेवाले जरासंधने उनसे कहा—'समरभूमिमे आकर मनमे कायरता लानेवाले तुमलोगोंकी इस क्षत्रियवृत्तिको धिक्कार है ॥ २३ ॥

पराक्रान्तस्य समरे विरथस्य पलायतः ।
भ्रूणहत्यामिवासह्यां प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २४ ॥

'मनीषी पुरुष समरमें पराक्रम प्रकट करके रथहीन होकर भागनेवाले योद्धाकी इस कायरताको भ्रूणहत्याके समान असह्य बताते हैं ॥ २४ ॥

पत्तिनो भुवि चैकस्य गोपस्याल्पबलीयसः ।
भीताः किं विनिवर्तध्वं धिगेतां क्षत्रवृत्तिताम् ॥ २५ ॥

'यह ग्वाला अत्यन्त बलहीन है, पैदल है और पृथ्वीपर अकेला खड़ा है । भला, इससे भयभीत होकर तुमलोग क्यों भाग रहे हो ? तुम्हारी इस क्षत्रियवृत्तिको धिक्कार है ॥२५॥

क्षिप्रं समभिवर्तन्तां मम वाक्येन नोदिताः ।
यावदेतौ रणे गोपौ प्रेषयामि यमक्षयम् ॥ २६ ॥

'मेरी आज्ञासे प्रेरित होकर तुम सब लोग शीघ्र ही शत्रुओंपर आक्रमण करो । तबतक मैं रणभूमिमें इन दोनो ग्वालोंको मारकर यमलोक भेज देता हूँ' ॥ २६ ॥

ततस्ते क्षत्रियाः सर्वे जरासंधेन नोदिताः ।
क्षिपन्तः शरजालानि हृष्टा योद्धुमुपस्थिताः ॥ २७ ॥
ते हयैः काञ्चनापीडै रथैश्चेन्दुसमप्रभैः ।
नागैश्चाम्भोदसंकाशैर्महामात्रप्रणोदितैः ॥ २८ ॥

तब जरासंधसे प्रेरित होकर वे समस्त क्षत्रिय बाणसमूहों-की वर्षा करते हुए बड़े हर्षके साथ युद्धके लिये डट गये । वे सोनेके आभूषणोसे विभूषित अश्वों, चन्द्रमाके समान कान्तिमान् रथों और महावतोंद्वारा हाँके गये एवं मेघोंके समान काले रंगवाले हाथियोंद्वारा रणभूमिमें आगे बढ़ने लगे ॥

सतनुत्राणनिस्त्रिंशाः सायुधाभरणाम्बराः ।
सारोपितधनुष्मन्तः सतूणीराः ससायकाः ॥ २९ ॥

उनके शरीरोंमें कवच और हाथोंमें खड्ग थे । वे आयुध, आभूषण तथा वस्त्रोंसे सुसज्जित थे । उन्होंने धनुषोंको भली-भाँति चढ़ा रखा था । वे बाणों और तरकसोंसे सम्पन्न थे॥२९॥

सच्छत्रोत्सेधिनः सर्वे चारुचामरवीजिताः ।
रणावनिगता रेजुः स्यन्दनस्था महीक्षितः ॥ ३० ॥

जो राजा रणभूमिमें रथोंपर बैठे हुए थे, उनके सिरपर ऊँचे छत्र तने थे तथा मनोहर चामरोंद्वारा उनके लिये हवा की जा रही थी। इस तरह वे सभी बड़ी शोभा पाते थे ॥ ३० ॥

तौ युद्धरङ्गापतितौ विधावन्तौ महाभुजौ ।
वसुदेवसुतौ वीरौ युयुत्सू प्रत्यदृश्यताम् ॥ ३१ ॥

युद्धकी रंगभूमिमे उतर कर सब ओर धावा करनेवाले वे महाबाहु वीर वसुदेवपुत्र युद्धके लिये उत्सुक दिखायी देते थे ॥ ३१ ॥

तद् युद्धमभवत् तत्र तयोस्तेषां तु संयुगे ।
सायकोत्सर्गबहुलं गदानिर्घातदारुणम् ॥ ३२ ॥

वहाँ रणभूमिमें उन दोनो भाइयो तथा उन राजाओंमे भारी युद्ध होने लगा । उसमें बहुत-से बाणोंकी वर्षा की जा रही थी । गदाओंके आघातसे उस युद्धकी भयङ्करता और बढ़ गयी थी ॥ ३२ ॥

ततः शरसहस्राणि प्रतीच्छन्तौ रणैषिणौ ।
तस्थतुर्योधमुख्यौ तावभिवृष्टौ यथाचलौ ॥ ३३ ॥

तदनन्तर सहस्रों बाणोंकी बौछार ग्रहण करते हुए वे दोनों युद्धाभिलाषी महायोद्धा वर्षाका आघात सहन करनेवाले दो पर्वतोंके समान वहाँ अविचलभावसे खड़े रहे ॥ ३३ ॥

गदाभिश्चैव गुर्वीभिः क्षेपणीयैश्च मुद्गरैः ।
अर्द्यमानौ महेष्वासौ यादवौ न चकम्पतुः ॥ ३४ ॥

शत्रुओंकी भारी गदाओं, गोफनों या ढेलवासों तथा मुद्गरोंकी मारसे पीड़ित होते हुए भी वे दोनों महाधनुर्धर यादव वीर कम्पित नहीं हुए ॥ ३४ ॥

ततः कृष्णोऽम्बुदाकारः शङ्खचक्रगदाधरः ।
व्यवर्धत महातेजा वातयुक्त इवानलः ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले घन-श्यामविग्रह महातेजस्वी श्रीकृष्ण वायुसे प्रेरित होकर प्रज्वलित हुई अग्निके समान बढ़ने लगे ॥ ३५ ॥

स चक्रेणार्कतुल्येन दीप्यमानेन तेजसा ।
चिच्छेद समरे वीरो नृगजाश्वमहारथान् ॥ ३६ ॥

समराङ्गणमें उन वीर मधुसूदनने तेजसे उद्दीप्त होनेवाले सूर्यतुल्य तेजस्वी चक्रके द्वारा मनुष्यों, हाथियों, घोड़ों तथा बड़े-बड़े रथोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ३६ ॥

गदानिपातविहता लाङ्गलेन च कर्षिताः ।
न शेकुस्ते रणे स्थातुं पार्थिवा नष्टचेतसः ॥ ३७ ॥

गदाके आघातसे मारे गये तथा हलसे खींचकर नष्ट किये गये राजा लोग अपनी चेतना खोकर रणभूमिमें खड़े न रह सके ॥ ३७ ॥

चक्रक्षुरनिकृत्तानि विचित्राणि महीक्षिताम् ।
रथयूथानि भग्नानि न शेकुश्चलितुं रणे ॥ ३८ ॥

चक्रके छुरोंसे टुकड़े-टुकड़े किये गये राजाओंके विचित्र रथसमूह भग्न होकर युद्धभूमिमें आगे न बढ़ सके ॥ ३८ ॥

मुसलाक्षेपभग्नाश्च कुञ्जराः षष्टिहायनाः ।
घना इव घनापाये भग्नदन्ता विचुक्रुशुः ॥ ३९ ॥

मुसलोंकी मारसे घायल हुए साठ वर्षोंकी अवस्थावाले हाथी दाँत टूट जानेके कारण शरद्-ऋतुके जलहीन बादलोंके समान असमर्थ हो आर्तभावसे चीत्कार कर रहे थे ॥ ३९ ॥

चक्रानलज्वालहताः सादिनः सपदातयः ।
पेतुः परासवस्तत्र यथा वज्रहतास्तथा ॥ ४० ॥

सुदर्शन चक्रसे प्रकट हुई आगकी ज्वालासे झुलसकर कितने हो घुड़सवार और पैदल योद्धा धरतीपर पड़े थे। उनके प्राण-पखेरू उड़ गये थे तथा वे वज्रके आघातसे मरे हुएके तुल्य प्रतीत होते थे ॥ ४० ॥

चक्रलाङ्गलनिर्दग्धं तत्सैन्यं विदलीकृतम् ।
युगान्तोपहतप्रख्यं सर्वं पतितमाबभौ ॥ ४१ ॥

चक्र और हलसे दग्ध होकर विदीर्ण की गयी वह सारी सेना इस तरह धरतीपर पड़ी थी मानो प्रलयकालमें सबका एक साथ संहार हो गया हो ॥ ४१ ॥

आक्रीडभूमिं दिव्यानामायुधानां वपुष्मताम् ।
वैष्णवानां नृपास्ते तु द्रष्टुमप्यबलीयसः ॥ ४२ ॥

वहाँ मूर्तिमान् होकर प्रकट हुए उन वैष्णव दिव्यास्त्रोंकी क्रीडा-भूमिरूप युद्धस्थलकी ओर देखनेमें भी वे राजालोग असमर्थ हो गये थे ॥ ४२ ॥

केचिद् रथाः सम्मृदिताः केचिन्निहतपार्थिवाः ।
भग्नैकचक्रास्त्वपरे विकीर्णा धरणीतले ॥ ४३ ॥

कितने ही रथ रौंद डाले गये। कितनोंके राजा मार डाले गये और कितने ही एक-एक पहिया नष्ट हो जानेके कारण भूतलपर बिखरे पड़े थे ॥ ४३ ॥

तस्मिन् विशसने घोरे चक्रलाङ्गलसम्प्लवे ।
दारुणानि प्रवृत्तानि रक्षांस्यौत्पातिकानि च ॥ ४४ ॥

चक्र और हलद्वारा जहाँ विप्लव मच गया था, उस घोर संग्राममें राक्षसोंद्वारा उपस्थित की गयी भयंकर उत्पात-सूचक घटनाएँ घटित होने लगीं ॥ ४४ ॥

आर्तानां कूजमानानां पाटितानां च वेणुवत् ।
अन्तो न शक्यतेऽन्वेष्टुं नृनागरथवाजिनाम् ॥ ४५ ॥

जो आर्तभावसे चीख रहे थे तथा जो बाँसकी तरह चीर डाले गये थे, ऐसे मनुष्यों, हाथियों, रथारोहियों और घोड़ों-की अन्तिम संख्या कितनी है, इसका पता लगाना असम्भव हो गया था ॥ ४५ ॥

सा पातितनरेन्द्राणां रुधिराऽऽर्द्रा रणक्षितिः ।
योषेव चन्दनार्द्राङ्गी भैरवा प्रतिभाति वै ॥ ४६ ॥

धरतीपर पड़े हुए राजाओंके रुधिरसे भीगी हुई वह रणभूमि लाल चन्दनसे आर्द्र अङ्गवाली नारीके समान भयंकर प्रतीत होती थी ॥ ४६ ॥

नरकेशास्थिमज्जान्त्रैः शातितानां च दन्तिनाम् ।
रुधिरौघप्लवस्तत्र च्छादयामास मेदिनीम् ॥ ४७ ॥

मनुष्योंके केशों, हड्डियों, मज्जाओं तथा आँतोंसे मिला हुआ कटे हाथियोंके रक्तका प्रवाह वहाँकी भूमिको आच्छादित करता जा रहा था ॥ ४७ ॥

तस्मिन् महाभीषणके नरवाहनसंक्षये ।
शिवानामशिवैः शब्दैर्नादिते घोरदर्शने ॥ ४८ ॥

वह रणभूमि बड़ी भयानक प्रतीत होती थी। वहाँ मनुष्यों और उनके वाहनोंका संहार हो रहा था। गीदड़ियों-के अमङ्गलसूचक शब्द वहाँ सदा गूँजते रहते थे। वह देखने-में भी बड़ी भयंकर थी ॥ ४८ ॥

आर्तस्तनितसंनादे रुधिराम्बुह्रदाकुले।
अन्तकाक्रीडसदृशे नागदेहैः समावृते ॥ ४९ ॥

आर्त प्राणियोंकी चीख—पुकारका शब्द सब ओर फैला हुआ था। रक्तके कितने ही कुण्ड बन गये थे। हाथियोंकी लाशोंसे ढकी हुई वह युद्धस्थली कालकी क्रीडाभूमिके समान प्रतीत होती थी ॥ ४९ ॥

अपास्तैर्बाहुभिर्योधैस्तुरगैश्च विदारितैः।
कङ्कैश्च बलगृध्रैश्च नादितैः प्रतिनादिते ॥ ५० ॥

कहीं योद्धाओंकी बाँहें कटकर गिरी थीं। कहीं बहुत-से योद्धा ही मरे पड़े थे और कहीं विदीर्ण हुए घोड़ोंकी लाशें बिछी हुई थीं। बड़े-बड़े बगुलों, कौओं और गीधोंकी बोलियोंसे वह समराङ्गण गूँज रहा था ॥ ५० ॥

निपाते पृथिवीशानां मृत्युसाधारणे रणे।
कृष्णः शत्रुवधं कर्तुं चचारान्तकदर्शनः ॥ ५१ ॥

जहाँ बड़े-बड़े भूमिपाल धराशायी हो रहे थे और मृत्यु एक साधारण-सी बात हो गयी थी; उस रणभूमिमें कालके समान दिखायी देनेवाले श्रीकृष्ण शत्रुओंका वध करनेके लिये विचर रहे थे ॥ ५१ ॥

युगान्तार्कप्रभं चक्रं कालीं चैवायसीं गदाम्।
गृह्य सैन्यावनिगतो बभाषे केशवो नृपान् ॥ ५२ ॥

प्रलयकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होनेवाले चक्र और लोहेकी बनी हुई काली गदाको हाथमें लेकर भगवान् श्रीकृष्ण सेनाके मध्यकी भूमिमें खड़े हो राजाओंसे इस प्रकार बोले—॥

किन्न युद्ध्यत वै शूरा हस्त्यश्वरथसंयुताः।
किमिदं गम्यते शूराः कृतास्त्रा दृढनिश्चयाः।
अहं सपूर्वजः संख्ये पदातिः प्रमुखे स्थितः ॥ ५३ ॥

'हाथी, घोड़े और रथोंसे युक्त शूरवीरो! अब युद्ध क्यों नहीं करते हो? अस्त्रोंके विद्वान् तथा युद्धका दृढ़ निश्चय रखनेवाले वीरो! क्यों इस प्रकार पलायन करते हो? मैं तो युद्धमें अपने बड़े भाईके साथ तुम्हारे सामने पैदल ही खड़ा हूँ ॥ ५३ ॥

अदृष्टदोषेण रणे भवन्तो येन पालिताः।
स इदानीं जरासंधः किमर्थं नाभिवर्तते ॥ ५४ ॥

'युद्धमें जिसने दोष नहीं देखा है तथा जिसके द्वारा तुम लोग पालित हुए हो, वह जरासंध अब हमारे सामने क्यों नहीं आ रहा है?' ॥ ५४ ॥

एवमुक्ते तु नृपतिर्दरदो नाम वीर्यवान्।
रामं हलाग्रोग्रभुजं प्रत्ययात् सैन्यमध्यगम् ॥ ५५ ॥

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर पराक्रमी राजा दरद सेनाके मध्यमें खड़े हुए तथा हलके अग्रभागसे उग्र भुजावाले बलरामके सामने आया ॥ ५५ ॥

बभाषे स तु ताम्राक्षमुक्षाणमिव सेवनी।
एह्येहि राम युध्यस्व मया सार्द्धमरिंदम ॥ ५६ ॥

जैसे किसान बैलसे बात करता है, उसी प्रकार उसने लाल नेत्रोंवाले बलरामजीसे इस प्रकार कहा—'शत्रुदमन राम! आओ, आओ। मेरे साथ युद्ध करो' ॥ ५६ ॥

तद् युद्धमभवत् ताभ्यां रामस्य दरदस्य च।
मृधे लोकवरिष्ठाभ्यां कुञ्जराभ्यामिवौजसा ॥ ५७ ॥

बलराम और दरद—दोनों जगत्के श्रेष्ठ वीर थे। युद्धस्थलमें उन दोनोंका बलपूर्वक संग्राम होने लगा, मानो दो हाथी आपसमें लड़ रहे हों ॥ ५७ ॥

योजयित्वा ततः स्कन्धे रामो दरदमाहवे।
हलेन बलिनां श्रेष्ठो मुसलेनावपोथयत् ॥ ५८ ॥

तब बलवानोंमें श्रेष्ठ बलरामने युद्धस्थलमें दरदके कंधेसे हल फँसाकर उसे मुसलसे मार डाला ॥ ५८ ॥

स्वकायगतमूर्धा वै मुसलेनावपोथितः।
पपात दरदो भूमौ दारिताद्रि इवाचलः ॥ ५९ ॥

मुसलसे मारे गये दरदका मस्तक उसके शरीरमें ही घुस गया और वह विदीर्ण हुए पर्वतकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ५९ ॥

रामेण निहते तस्मिन् दरदे राजसत्तमे।
जरासंधस्य राजस्तु रामेणासीत् समागमः ॥ ६० ॥
महेन्द्रस्येव वृत्रेण दारुणो लोमहर्षणः।

राजाओंमें श्रेष्ठ दरदके बलरामद्वारा मारे जानेपर राजा जरासंधका उनके साथ अत्यन्त भयंकर एवं रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। मानो देवराज इन्द्रका वृत्रासुरके साथ संग्राम हो रहा हो ॥ ६०½ ॥

गदे गृहीत्वा विक्रान्तावन्योन्यमभिधावतः ॥ ६१ ॥
कम्पयन्तौ भुवं वीरौ तावुद्यतमहागदौ।
ददृशाते महात्मानौ गिरी सशिखराविव ॥ ६२ ॥

वे दोनों पराक्रमी वीर गदाएँ हाथमें लेकर पृथ्वीको कम्पित करते हुए एक दूसरेकी ओर दौड़े। दो विशाल गदाएँ उठाये हुए वे दोनों महामनस्वी योद्धा शिखरोंसे युक्त दो पर्वतोंके समान दिखायी देते थे ॥ ६१-६२ ॥

व्युपारमन्त युद्धानि प्रेक्ष्य तौ पुरुषर्षभौ।
संरब्धाविव धावन्तौ गदायुद्धेषु विश्रुतौ ॥ ६३ ॥

उन दोनों पुरुषप्रवर वीरोंको युद्ध करते देख दूसरोंके युद्ध बंद हो गये। गदायुद्धोंमें विख्यात जरासंध और बलराम रोषावेशमें भरे हुए-से एक दूसरेपर धावा करते थे ॥ ६३ ॥

तावुभौ परमाचार्यौ लोके ख्यातौ महाबलौ।
मत्ताविव महानागावन्योन्यं समधावताम् ॥ ६४ ॥

वे दोनों महाबली वीर संसारमें गदायुद्धके उत्तम आचार्य कहे जाते थे। वे दो मदमत्त विशालकाय हाथियोंके समान परस्पर आक्रमण करते थे ॥ ६४ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
यक्षाश्चाप्सरसश्चैव समाजग्मुः सहस्रशः ॥ ६५ ॥

उस समय देवता, गन्धर्व, सिद्ध, महर्षि, यक्ष तथा सहस्रों अप्सराएँ वह युद्ध देखनेके लिये आ गयीं ॥ ६५ ॥

तद्देवयक्षगन्धर्वमहर्षिभिरलंकृतम् ।
शुशुभेऽभ्यधिकं राजन् नभो ज्योतिर्गणैरिव ॥ ६६ ॥

राजन्! देवताओं, यक्षों, गन्धर्वों और महर्षियोंसे अलंकृत हुआ वहाँका आकाश नक्षत्रोंसे आवृत हुआ-सा अधिक शोभा पाने लगा ॥ ६६ ॥

अभिदुद्राव रामं तु जरासंधो नराधिपः ।
सव्यं मण्डलमाश्रित्य बलदेवस्तु दक्षिणम् ॥ ६७ ॥

राजा जरासंध बायीं ओरसे पैंतरा देकर बलरामजीपर टूट पड़ा और बलदेवजीने दाहिनी ओरसे उसपर धावा किया ॥ ६७ ॥

तावन्योन्यं प्रजह्राते गदायुद्धविशारदौ ।
दन्ताभ्यामिव मातङ्गौ नादयन्तौ दिशो दश ॥ ६८ ॥

गदायुद्धमें निपुण वे दोनों वीर एक दूसरेपर प्रहार करने लगे। जैसे दो मतवाले हाथी अपने दाँतोंसे परस्पर चोट करते हों, उसी प्रकार गदाओंसे आघात करते हुए वे दसों दिशाओंको निनादित करने लगे ॥ ६८ ॥

गदानिपातो रामस्य शुश्रुवेऽशनिनिःस्वनः ।
जरासंधस्य च रणे पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ ६९ ॥

रणभूमिमें बलरामजीकी गदाके आघातका शब्द वज्रपातके समान सुनायी पड़ता था तथा जरासंधके गदाघातकी ध्वनि फटते हुए पहाड़के समान प्रतीत होती थी ॥ ६९ ॥

न स्म कम्पयते रामं जरासंधकरच्युता ।
गदा गदाभृतां श्रेष्ठं विन्ध्यं गिरिमिवानिलः ॥ ७० ॥

जरासंधके हाथसे छूटी हुई गदा गदाधारियोंमें श्रेष्ठ बलरामजीको उसी प्रकार कम्पित नहीं कर पाती थी, जैसे वायु विन्ध्यगिरिको नहीं हिला सकती है ॥ ७० ॥

रामस्य तु गदावेगं राजा स मगधेश्वरः ।
सेहे धैर्येण महता शिक्षया च व्यपोथयत् ॥ ७१ ॥

बलरामजीकी गदाका वेग मगधराज जरासंध बड़े धैर्यसे सहन करता और शिक्षा-कौशलसे उसको विफल भी कर देता था ॥ ७१ ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीत् सुस्वरा लोकसाक्षिणी ।
"न त्वया राम वध्योऽयमलं खेदेन मानद ॥७२॥
विहितोऽस्य मया मृत्युस्तस्मात् साधु व्युपारम ।
अचिरेणैव कालेन प्राणांस्त्यक्ष्यति मागधः ॥७३॥"

उस समय आकाशमें सब लोगोंके समक्ष सुस्पष्ट स्वरमें दैवी वाणी सुनायी दी—'दूसरोंको मान देनेवाले बलराम! जरासंधका वध तुम्हारे हाथोंसे होनेवाला नहीं है, अतः खेद न करो। इसकी मृत्युका विधान मेरे द्वारा बना दिया गया है, अतः तुम इस युद्धसे विरत हो जाओ। थोड़े ही समयमें मगधराजको अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा' ॥७२-७३ ॥

जरासंधस्तु तच्छ्रुत्वा विमनाः समपद्यत ।
न प्राहरत् ततस्तस्मै पुनरेव हलायुधः ।
तौ व्युपारमतां युद्धाद् वृष्णयस्ते च पार्थिवाः ॥ ७४ ॥
दीर्घकालं महाराज निजघ्नुरितरेतरम् ।
पराजिते त्वपक्रान्ते जरासंधे महीपतौ ।
विविक्तमभवत् सैन्यं परावृत्तमहारथम् ॥ ७५ ॥

वह आकाशवाणी सुनकर जरासंधका मन उदास हो गया। तदनन्तर बलरामने उसपर पुनः प्रहार नहीं किया। वे दोनों वीर युद्धसे विरत हो गये। महाराज! इसके पहले ये वृष्णिवंशी योद्धा और वे राजा लोग दीर्घकालतक एक दूसरेपर प्रहार करते रहे। जब राजा जरासंध पराजित होकर पलायन करने लगा, तब उसकी सारी सेना खाली हो गयी। उसके विशाल रथ पीछेकी ओर लौट गये ॥७४-७५ ॥

ते नृपाश्चोदितैर्नागैः स्यन्दनैस्तुरगैस्तथा ।
दुद्रुवुर्भीतमनसो व्याघ्राघ्राता मृगा इव ॥ ७६ ॥

वे राजा व्याघ्रके सूँघे हुए मृगोंके समान मन-ही-मन बहुत डरे हुए थे, अतः अपने हाथी, घोड़े और रथोंको हाँकते हुए रणभूमिसे भाग चले ॥ ७६ ॥

तन्नरेन्द्रैः परित्यक्तं भग्नदर्पैर्महारथैः ।
घोरं क्रव्यादबहुलं रौद्रमायोधनं बभौ ॥ ७७ ॥

जिनका घमंड चूर-चूर हो गया था, उन महारथी नरेशोंद्वारा परित्यक्त हुए उस घोर युद्धस्थलमें अधिकतर मांसभक्षी जीव-जन्तु ही रह गये थे। इससे वह बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ ७७ ॥

द्रवत्सु रथमुख्येषु चेदिराजो महाद्युतिः ।
स्मृत्वा यादवसम्बन्धं कृष्णमेवान्ववर्तत ॥ ७८ ॥

जब मुख्य-मुख्य रथी भाग चले, तब महातेजस्वी चेदिराज दमघोषने यादवोंके साथ अपने सम्बन्धको स्मरण करके श्रीकृष्णका ही अनुसरण किया ॥ ७८ ॥

वृतः कारूषसैन्येन चेदिसैन्येन चानघ ।
सम्बन्धकामो गोविन्दमिदमाह स चेदिराट् ॥ ७९ ॥

निष्पाप जनमेजय! करूष और चेदिदेशकी सेनासे घिरे हुए चेदिराज श्रीकृष्णके साथ सम्बन्ध बढ़ानेकी इच्छासे उनसे इस प्रकार बोले— ॥ ७९ ॥

अहं पितृष्वसुर्भर्ता तव यादवनन्दन।
सबलस्त्वामुपावृत्तस्त्वं हि मे दयितः प्रभो ॥ ८० ॥

'यादवनन्दन ! मैं तुम्हारी बूआका पति हूँ और सेना-सहित तुम्हारे पास आया हूँ। प्रभो ! तुम मेरे परम प्रिय हो ॥ ८० ॥

उक्तश्चैष मया राजा जरासंधोऽल्पचेतनः।
कृष्णाद् विरम दुर्बुद्धे विग्रहाद् रणकर्मणि ॥ ८१ ॥

'मैंने इस मन्दबुद्धि राजा जरासंधसे कहा था कि अरे दुर्बुद्धे ! तू इस विग्रहमें श्रीकृष्णके साथ युद्ध करनेसे विरत हो जा, किंतु इसने नहीं माना ॥ ८१ ॥

तदेषोऽद्य मया त्यक्तो मम वाक्यस्य दूषकः।
भग्नो युद्धे जरासंधस्त्वया व्रजति सानुगः ॥ ८२ ॥

'इसने मेरे इस कथनकी निन्दा की थी, अतः अब मैंने इसे त्याग दिया है। युद्धमें तुम्हारे द्वारा पराजित होकर यह जरासंध अपने साथियोंसहित भागा जा रहा है ॥ ८२ ॥

निर्वैरो नैष संयाति स्वपुरं पृथिवीपतिः।
त्वय्येव भूयोऽप्यपरं दर्शयिष्यति किल्बिषम् ॥ ८३ ॥

'परंतु यह राजा वैर-भाव छोड़कर अपने नगरको नहीं लौट रहा है; अतः यह फिर तुम्हारे प्रति ही दूसरे पापपूर्ण कृत्यका प्रदर्शन करेगा ॥ ८३ ॥

तदिमां संत्यजाशु त्वं महीं हतनराकुलाम्।
क्रव्यादगणसंकीर्णां सेवितव्याममानुषैः ॥ ८४ ॥

'इसलिये अब तुम शीघ्र ही इस भूमिको त्याग दो। यह मुर्दे मनुष्योंसे भरी हुई है और यहाँ सब ओर हिंसक प्राणी छा गये हैं। अब यह स्थान मानवेतर (राक्षस आदि) प्राणियोंके ही सेवन करने योग्य है ॥ ८४ ॥

करवीरपुरं कृष्ण गच्छामः सबलानुगाः।
शृगालं वासुदेवं वै द्रक्ष्यामस्तत्र पार्थिवम् ॥ ८५ ॥

'श्रीकृष्ण ! अब हमलोग सैनिकों और सेवकोंसहित करवीरपुरमें चलें। वहाँ शृगाल नामसे विख्यात राजा वासुदेव रहते हैं। उनसे हम मिलेंगे ॥ ८५ ॥

इमौ रथवरोदग्रौ युवयोः कारितौ मया।
योजितौ शीघ्रतुरगैः स्वङ्गचक्राक्षकूबरौ ॥ ८६ ॥

'ये दो श्रेष्ठ रथ मैंने तुम दोनों भाइयोंके लिये तैयार कराये हैं। इनमें शीघ्रगामी घोड़े जुते हुए हैं। इनके सभी अङ्ग, पहिये, धुरे और कूबर आदि सुदृढ़ हैं ॥ ८६ ॥

शीघ्रमारुह भद्रं ते बलदेवसहायवान्।
त्वरामः करवीरस्थं द्रष्टुं तं वसुधाधिपम् ॥ ८७ ॥

'तुम्हारा भला हो। तुम बलदेवके साथ शीघ्र रथपर आरूढ़ हो जाओ। हमे करवीरपुरमें निवास करनेवाले राजा शृगालसे मिलनेके लिये जल्दी लगी हुई है' ॥ ८७ ॥

वैशम्पायन उवाच

पितृष्वसृपतेर्वाक्यं श्रुत्वा चेदिपतेस्तदा।
वाक्यं हृष्टमनाः कृष्णो जगाद जगतो गुरुः ॥ ८८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अपने फूफा चेदिराज दमघोषका यह वचन सुनकर जगद्गुरु श्रीकृष्णके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे बोले—॥ ८८ ॥

अहो युद्धाभिसंतप्तौ देशकालोचितं त्वया।
बान्धवप्रतिरूपेण संसिक्तौ वचनाम्बुना ॥ ८९ ॥

'अहो ! हमलोग युद्धसे संतप्त हो गये थे। आपने एक आत्मीय बन्धुकी भाँति आकर अपने देशकालोचित वचन-रूपी जलसे हमें नहला दिया है ॥ ८९ ॥

देशकालविशिष्टस्य हितस्य मधुरस्य च।
वाक्यस्य दुर्लभा लोके वक्तारश्चेदिसत्तम ॥ ९० ॥

'चेदिराज ! इस जगत्में देशकालके अनुरूप हितकर और मधुर वचन बोलनेवाले लोग दुर्लभ हैं ॥ ९० ॥

चेदिनाथ सनाथौ स्वः संवृत्तौ तव दर्शनात्।
नावयोः किंचिदप्राप्यं ययोस्त्वं बन्धुरीदृशः ॥ ९१ ॥

'चेदिनाथ ! आपके दर्शनसे हम दोनों सनाथ हो गये। जब हमारे आप-जैसे बन्धु यहाँ मौजूद हैं, तब यहाँ हमारे लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं है ॥ ९१ ॥

जरासंधस्य निधनं ये चान्ये तत्समा नृपाः।
पर्याप्तौ त्वत्सनाथौ स्वः कर्तुं चेदिकुलोद्वह ॥ ९२ ॥

'चेदिकुलभूषण ! हम दोनों आपसे सनाथ होकर जरासंध तथा उसके समान जो दूसरे राजा हैं, उन सबको मौतके घाट उतार देनेमें समर्थ हैं ॥ ९२ ॥

यदूनां प्रथमो बन्धुस्त्वं हि सर्वमहीक्षिताम्।
अतःप्रभृति संग्रामान् द्रक्ष्यसे चेदिसत्तम ॥ ९३ ॥

'चेदिप्रवर ! समस्त राजाओंमें आप ही यदुवंशियोंके प्रथम बन्धु हैं। अबसे आपको बहुत-से संग्राम देखनेको मिलेंगे ॥ ९३ ॥

चाक्रं मौसलमित्येवं संग्रामं रणवृत्तयः।
कथयिष्यन्ति लोकेऽस्मिन् ये धरिष्यन्ति पार्थिवाः ॥ ९४ ॥

'युद्धसे जीवन-निर्वाह करनेवाले जो राजा इस लोकमें जीवित रहेंगे, वे आजके इस चाक्र-मौसल युद्धकी सदा चर्चा करेंगे ॥ ९४ ॥

राज्ञां पराजयं युद्धे गोमन्तेऽचलसत्तमे।
श्रवणाद् धारणाद् वापि स्वर्गलोकं व्रजन्ति हि ॥ ९५ ॥

'पर्वतोंमें श्रेष्ठ गोमन्तके समीप युद्धमें हमारे द्वारा जो यह राजाओंकी पराजय हुई है, इसके सुनने अथवा स्मरण करनेसे भी मनुष्य स्वर्गलोकमें जायँगे ॥ ९५ ॥

तद्गच्छाम महाराज करवीरं पुरोत्तमम्।

त्वयोद्दिष्टेन मार्गेण चेदिराज शिवाय वै ॥ ९६ ॥

'अतः महाराज चेदिराज ! अब हमलोग आपके बताये हुए मार्गसे अपने कल्याणके लिये उत्तम नगर करवीरपुरको चलें' ॥ ९६ ॥

ते स्यन्दनगताः सर्वे पवनोत्पातिभिर्हयैः ।
भेजिरे दीर्घमध्वानं मूर्तिमन्त इवाग्नयः ॥ ९७ ॥

तदनन्तर वे सब-के-सब तीन मूर्तिमान् अग्नियोंके समान रथपर आरूढ़ हो हवाकी भाँति उड़नेवाले घोड़ोंद्वारा विशाल मार्गपर चल दिये ॥ ९७ ॥

ते त्रिरात्रोषिताः प्राप्ताः करवीरं पुरोत्तमम् ।
शिवाय च शिवे देशे निविष्टास्त्रिदशोपमाः ॥ ९८ ॥

वे देवोपम वीर मार्गमें तीन रात निवास करके उत्तम करवीरपुरमें जा पहुँचे । वहाँ उन्होंने अपने भलेके लिये एक सुखद स्थानमें डेरा डाला ॥ ९८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि करवीरपुराभिगमने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीकृष्ण आदिकी करवीरपुरमें गमनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा शृगालका वध तथा उसके पुत्रका करवीरपुरके राज्यपर अभिषेक

वैशम्पायन उवाच

तानागतान् विदित्वाथ शृगालो युद्धदुर्मदः ।
पुरस्य धर्षणं मत्वा निर्जगामेन्द्रविक्रमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन सबके आनेका समाचार पाकर इन्द्रके समान पराक्रमी रणदुर्मद राजा शृगाल अपनी पुरीपर आक्रमण हुआ समझकर नगरसे बाहर निकला ॥ १ ॥

रथेनादित्यवर्णेन भास्वता रणगामिना ।
आयुधप्रतिपूर्णेन नेमिनिर्घोषहासिना ॥ २ ॥
मन्दराचलकल्पेन चित्राभरणभूषिणा ।
अक्षय्यसायकैस्तूणैः पूर्णेनार्णवघोषिणा ॥ ३ ॥
हर्यश्वेनाशुगतिनासक्तेन शिखरेष्वपि ।
हेमकूबरगर्भेण दृढाक्षेणातिशोभिना ॥ ४ ॥
सुबन्धुरेण दीप्तेन पतत्त्रिवरगामिना ।
खगतेनेव शक्रस्य हर्यश्वेन रथाद्रिणा ॥ ५ ॥
सावित्रे नियमे पूर्णे यं ददौ सविता स्वयम् ।
आदित्यरश्मिभिरिव रश्मिभिर्यो निगृह्यते ॥ ६ ॥
तेन स्यन्दनमुख्येन द्विषत्स्यन्दनघातिना ।
स शृगालोऽभ्ययात्कृष्णं शलभः पावकं यथा ॥ ७ ॥

वह एक श्रेष्ठ रथपर चढ़कर चला । उसका वह रथ सूर्यके समान तेजःपुञ्जसे प्रकाशित हो रहा था । वह रणभूमिमें (अप्रतिहतगति) से जानेवाला था । उसमें सभी तरहके अस्त्र-शस्त्र भरे हुए थे । उसके पहियोंकी जो घरघराहट होती थी, वही मानो उसका अट्टहास था (अथवा वह पहियोंकी घर्घर ध्वनिसे मेघकी-गम्भीर गर्जनाका उपहास कर रहा था)। उसका आकार मन्दराचलके समान था । उस रथको विचित्र आभरणोंसे विभूषित किया गया था । वह अक्षय सायकोंसे भरे हुए तूणीरोंसे परिपूर्ण था तथा समुद्रकी गम्भीर गर्जनाके समान घरघराहट पैदा करता था । उसमें हरे रङ्गके शीघ्रगामी घोड़े जुते हुए थे । वह पर्वतके शिखरोंपर भी कहीं अटकता नहीं था । उसके कूबरके * भीतरी भागमें सोना जड़ा हुआ था, उसका धुरा भी सुदृढ़ था, उस रथकी बड़ी शोभा हो रही थी । वह सुन्दर रस्सियोंसे भलीभाँति बँधा हुआ था, उसकी दीप्ति सब ओर छिटक रही थी; वह पक्षिराज गरुड़के समान तीव्र गतिसे चलनेवाला था और इन्द्रके हरित अश्वसे जुते हुए आकाशगामी पर्वताकार रथकी समानता करता था । शृगालने नियमपूर्वक गायत्री जप करके सूर्यदेवकी आराधना की थी । उसका वह नियम पूर्ण होनेपर साक्षात् भगवान् सूर्यने उसे वह रथ दिया था, जो सूर्यकी किरणोंके समान सुनहरी बागडोरोंसे उस रथके घोड़ोंको काबूमें लाया जाता था । शत्रुओंके रथोंको नष्ट कर देनेवाले उस श्रेष्ठ रथके द्वारा राजा शृगाल उसी तरह श्रीकृष्णपर चढ़ आया जैसे पतिंगा आगपर टूट पड़ता है ॥ २-७ ॥

चापपाणिः सुतीक्ष्णेषुः कवची हेममालिकः ।
सितप्रावरणोष्णीषः पावकाकारलोचनः ॥ ८ ॥

उसके हाथमें धनुष और तीखे बाण शोभा पाते थे । वह कवच धारण करके सोनेकी मालासे विभूषित था । उसकी चादर और पगड़ी श्वेतवर्णकी थी और नेत्र अग्निके समान जलते-से प्रतीत होते थे ॥ ८ ॥

मुहुर्मुहुर्ज्याचपलं विक्षिपन् दुःसहं धनुः ।
निर्वमन् रोषजं वायुं सानलज्वालमण्डलम् ॥ ९ ॥

* कूबर रथका वह भाग है, जिसपर जूआ बाँधा जाता है ।

वह बारंबार अपने दुःसह धनुषको हिलाता हुआ उसकी प्रत्यञ्चा खींचता था और आगकी ज्वालाओंसे युक्त रोषजनित उच्छ्वास छोड़ रहा था ॥ ९ ॥

आभिर्भूषणपंक्तीनां दीप्तो मेरुरिवाचलः ।
रथस्थ इव शैलेन्द्रः श्रृगालः प्रत्यदृश्यत ॥ १० ॥

अपने आभूषण-समूहोंकी प्रभाओंसे प्रकाशित होकर वह राजा श्रृगाल मेरुपर्वतके समान शोभा पाता था और रथपर बैठे हुए गिरिराज-सा दृष्टिगोचर होता था ॥ १० ॥

तस्यारसितशब्देन रथनेमिस्वनेन च ।
गुरुत्वेन च नाम्यन्ती चचालोर्वी भयातुरा ॥ ११ ॥

उसके गर्जनेकी ध्वनि, रथके पहियोंकी घर्घराहट और भारीपनसे दबी जाती हुई पृथ्वी भयसे आतुर हो डगमगाने लगी ॥ ११ ॥

तमापतन्तं श्रीमन्तं मूर्तिमन्तमिवाचलम् ।
श्रृगालं लोकपालाभं दृष्ट्वा कृष्णो न विव्यथे ॥ १२ ॥

लोकपालोंके समान तेजस्वी और मूर्तिमान् पर्वतके समान विशालकाय श्रीमान् राजा श्रृगालको आक्रमण करते देख श्रीकृष्णके मनमें तनिक भी व्यथा नहीं हुई ॥ १२ ॥

श्रृगालश्चापि संरब्धः स्यन्दनेनाशुगामिना ।
समीपे वासुदेवस्य युयुत्सुः प्रत्यदृश्यत ॥ १३ ॥

इधर श्रृगाल भी रोषमें भरकर उस शीघ्रगामी रथके द्वारा श्रीकृष्णके पास आकर युद्धके लिये उत्सुक दिखायी देने लगा ॥ १३ ॥

वासुदेवं स्थितं दृष्ट्वा श्रृगालो युद्धलालसः ।
अभिदुद्राव वेगेन मेघराशिरिवाचलम् ॥ १४ ॥

श्रीकृष्णको अपने सामने खड़ा देख श्रृगालकी युद्ध-लालसा जाग उठी और जिस प्रकार मेघोंका समूह वर्षाद्वारा पर्वतपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार उसने वेगपूर्वक उनपर धावा किया ॥ १४ ॥

वासुदेवः स्मितं कृत्वा प्रतियुद्धाय तस्थिवान् ।
तद् युद्धमभवत् ताभ्यां समरे घोरदर्शनम् ।
उभाभ्यामिव मत्ताभ्यां कुञ्जराभ्यां यथा वने ॥ १५ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्ण मुसकराकर उसका सामना करनेके लिये खड़े हो गये; फिर तो समरभूमिमें उन दोनोंका बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा, जैसे वनमें दो मदमत्त हाथी आपसमे लड़ रहे हों ॥ १५ ॥

श्रृगालस्त्वब्रवीत् कृष्णं समरे समुपस्थितम् ।
युद्धरागेण तेजस्वी मोहाच्चलितगौरवः ॥ १६ ॥

उस समय मोहवश जो अपने गौरवसे गिर गया था, उस तेजस्वी श्रृगालने समराङ्गणमें उपस्थित हुए श्रीकृष्णसे युद्धविषयक आसक्तिसे प्रेरित होकर कहा ॥ १६ ॥

गोमन्ते युद्धमार्गेण यत् त्वया कृष्ण चेष्टितम् ।
अनायकानां मूर्खाणां नृपाणां दुर्बले बले ॥ १७ ॥
स मे सुविदितः कृष्ण क्षत्रियाणां पराजयः ।
कृपणानामसत्त्वानामयुद्धानां रणोत्सवे ॥ १८ ॥

'कृष्ण ! तुमने गोमन्तके समीप नायकरहित मूर्ख नरेशोंकी दुर्बल सेनाके भीतर युद्धके मार्गसे जो-जो चेष्टाएँ की हैं, उनके विषयमें मुझे सब कुछ भलीभाँति विदित हो गया है। क्षत्रियोंके उस पराजयसे मैं अच्छी तरह परिचित हूँ; परंतु वे क्षत्रिय कायर, धैर्य और शक्तिसे रहित तथा समरोत्सवमें कभी युद्ध न कर सकनेवाले थे ॥ १७-१८ ॥

तिष्ठेदानीं यथाकामं स्थितोऽहं पार्थिवे पदे ।
क यास्यसि मया रुद्धो रणेष्वपरिनिष्ठितः ॥ १९ ॥

'परंतु इस समय तुम इच्छानुसार युद्ध करनेके लिये खड़े हो जाओ, मैं यहाँ राजाके पदपर प्रतिष्ठित हूँ। यदि मैं तुम्हें सब ओरसे घेरा डालकर रोक लूँ, तो तुम कहाँ जाओगे; क्योंकि तुम तो रणकर्ममें परिनिष्ठित (निपुण) हो नहीं ॥ १९ ॥

न चाहमेकं सबलो युक्तस्त्वां योद्धुमाहवे ।
अहमेकस्त्वमप्येको द्वौ युध्याव रणे स्थितौ ॥ २० ॥

'तुम अकेले हो और मैं सेनाके साथ हूँ। अतः रणभूमिमें तुम्हारे साथ युद्ध करना मेरे लिये उचित न होगा। इधरसे मैं अकेला रहूँ और उधरसे तुम, फिर हम दोनों समरभूमिमें डटकर युद्ध करें ॥ २० ॥

किं जनेन निरस्तेन त्वं वाहं च रणे स्थितः ।
धर्मयुद्धेन निधनं व्रजत्वेकतरो रणे ॥ २१ ॥

'साधारण लोगोंको मारनेसे क्या लाभ ? रणभूमिमें खड़े हुए तुम या मैं—दोनोंमेंसे एक योद्धा धर्मयुद्धके द्वारा मृत्युको प्राप्त हो ॥ २१ ॥

लोकेऽस्मिन् वासुदेवोऽहं भविष्यामि हते त्वयि ।
हते मयि त्वमप्येको वासुदेवो भविष्यसि ॥ २२ ॥

'तुम्हारे मारे जानेपर इस संसारमें मैं अकेला ही वासुदेव रहूँगा और मेरे मारे जानेपर तुम भी अकेले वासुदेव बने रहोगे' ॥ २२ ॥

श्रृगालस्य वचः श्रुत्वा वासुदेवः क्षमापरः ।
ईर्ष्यन्तं प्रहरस्वेति तमुक्त्वा चक्रमाददे ॥ २३ ॥

श्रृगालकी यह बात सुनकर क्षमाशील भगवान् वासुदेवने उस ईर्ष्यालु नरेशसे कहा, 'पहले तुम प्रहार करो' ऐसा कहकर उन्होंने हाथमें चक्र ले लिया ॥ २३ ॥

ततः सायकजालानि श्रृगालः क्रोधमूर्छितः ।
चिक्षेप कृष्णे घोराणि युद्धाय लघुविक्रमः ॥ २४ ॥

तब युद्धके लिये शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले

शृगालने क्रोधमें उन्मत्त होकर श्रीकृष्णपर घोर बाण-समूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २४ ॥

शस्त्राणि यानि चान्यानि मुसलाद्यानि संयुगे ।
पातयामास गोविन्दे स शृगालः प्रतापवान् ॥ २५ ॥

प्रतापी शृगालने उस युद्धमें गोविन्दपर मूसल आदि अन्य शस्त्रोंका भी प्रहार किया ॥ २५ ॥

शृगालप्रहितैरस्त्रैः पावकज्वालमालिभिः ।
निर्दयाभिहतः कृष्णः स्थितो गिरिरिवाचलः ॥ २६ ॥
सोऽस्त्रप्रहाराभिहतः किंचिद् रोषसमन्वितः ।
चक्रमुद्यम्य गोविन्दः शृगालस्य परिक्षिपत् ॥ २७ ॥

शृगालके चलाये हुए अस्त्रोंद्वारा, जिनसे आगकी लपटें उठ रही थीं, निर्दयतापूर्वक आहत होनेपर भी श्रीकृष्ण पर्वतके समान अविचल-भावसे खड़े रहे । उसके अस्त्रोंके प्रहारसे घायल होकर किञ्चित् रोषसे युक्त हुए भगवान् गोविन्दने चक्र उठाकर शृगालपर प्रहार किया ॥२६-२७॥

तं रथस्थं प्रमाणस्थं शृगालं युद्धदुर्मदम् ।
जघान समरे चक्रं जातदर्पं महाबलम् ॥ २८ ॥

रणदुर्मद महाबली शृगाल घमण्डमें भरकर रथपर ही बैठा रहा, अपनी जगहसे हटा नहीं । इसी समय (भगवान्के चलाये हुए) चक्रने समरभूमिमें उसपर गहरी चोट की ॥ २८ ॥

ततः सुदर्शनं चक्रं पुनरायाद् गुरोः करे ।
चक्रेणोरसि निर्भिन्नः स गतासुर्गतोत्सवः ।
पपात क्षतजस्रावी शृगालोऽद्रिरिवाहतः ॥ २९ ॥

इसके बाद सुदर्शन चक्र पुनः जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णके हाथमें आ गया । उस चक्रसे आहत होकर शृगालकी छाती फट गयी और वह वज्रके मारे हुए पर्वतकी भाँति खूनकी धारा बहाता हुआ प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । उसके जीवनका सारा आनन्दोत्सव समाप्त हो गया ॥ २९ ॥

निशम्य तं निपतितं वज्रपातादिवाचलम् ।
तस्य सैन्यान्यपययुर्विमनांसि हते नृपे ॥ ३० ॥

वज्रपातसे धराशायी हुए पर्वतकी भाँति राजा शृगालको पृथ्वीपर पड़ा देख, उसके मारे जानेपर उसके सारे सैनिक खिन्नचित्त होकर भाग गये ॥ ३० ॥

केचित् प्रविश्य नगरं कश्मलाभिहता भृशम् ।
रुरुदुर्दुःखसंतप्ता भर्तृशोकाभिपीडिताः ॥ ३१ ॥

कुछ सैनिक नगरमें प्रवेश करके अत्यन्त मोहग्रस्त, दुःखसे सन्तप्त तथा स्वामीके शोकसे पीड़ित हो फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ३१ ॥

केचित् तत्रैव शोचन्तः स्मरन्तः सुकृतानि च ।
पतितं भूपतिं भूमौ न त्यजन्ति स्म दुःखिताः ॥ ३२ ॥

कुछ सैनिक वहीं शोक करने लगे । वे स्वामीके उपकारोंका स्मरण करके दुखी हो भूमिपर पड़े हुए भूपालको छोड़ नहीं रहे थे ॥ ३२ ॥

ततो मेघनिनादेन स्वरेणारिविमर्दनः ।
कृष्णः कमलपत्राक्षो जनानामभयं ददौ ॥ ३३ ॥

तदनन्तर शत्रुमर्दन कमलनयन श्रीकृष्णने मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर स्वरसे उन सब लोगोंको अभयदान दिया ॥३३॥

चक्रोचितेन हस्तेन राजताङ्गुलिपर्वणा ।
न भेतव्यं न भेतव्यमिति तानभ्यभाषत ॥ ३४ ॥
नास्य पापस्य दोषेण निराबाधकरं जनम् ।
घातयिष्यामि समरे नेदं शूरव्रतं मतम् ॥ ३५ ॥

उन्होंने अङ्गुलिपर्वसे सुशोभित तथा चक्र धारण करनेके योग्य उठे हुए दाहिने हाथके द्वारा संकेत करके उन सबसे कहा, 'सैनिको ! तुम डरो मत ! डरो मत !! इस पापीके अपराधसे मैं समरभूमिमें निरपराध मनुष्योंका वध नहीं करूँगा; क्योंकि—यह वीरोंका व्रत नहीं है' ॥ ३४-३५ ॥

अश्रुपूर्णमुखा दीनाः क्रन्दमाना भृशं तदा ।
ते स्म पश्यन्ति पतितं धरण्यां धरणीपतिम् ॥ ३६ ॥
चक्रनिर्दारितोरस्कं भिन्नशृङ्गमिवाचलम् ॥ ३७ ॥

वे सैनिक अत्यन्त दीनभावसे क्रन्दन करते हुए उस समय पृथ्वीपर पड़े हुए पृथ्वीपति शृगालकी ओर देख रहे थे । उनका सारा मुखमण्डल आँसुओंसे भींगा हुआ था । राजाका वक्षःस्थल चक्रसे विदीर्ण हो गया था । वह टूटे हुए शिखरवाले पर्वतके समान भूमिपर पड़ा था ॥ ३६-३७ ॥

विलपन्ति स्म ते सर्वे सचिवाः सप्रजा भृशम् ।
साश्रुपातेक्षणा दीनाः शोकस्य वशमागताः ॥ ३८ ॥

वे समस्त सचिव तथा प्रजावर्गके लोग शोकके वशीभूत हो नेत्रोंसे अश्रुपात करते हुए अत्यन्त दीनभावसे विलाप करते थे ॥ ३८ ॥

तेषां रुदितशब्देन पौराणां विस्वरैः स्वरैः ।
महिष्यस्तस्य निष्पेतुः सपुत्रा रुदिताननाः ॥ ३९ ॥

उन पुरवासियोंके रोनेके शब्द तथा फटे हुए स्वरोंसे अनिष्टकी आशङ्का करके राजा शृगालकी रानियाँ भी पुत्रोंको साथ लिये रोती हुई वहाँ निकल आयीं ॥ ३९ ॥

तास्तं निपतितं दृष्ट्वा श्लाघ्यं भूमिपतिं पतिम् ।
स्तनानारुज्य करजैर्भृशार्ताः पर्यदेवयन् ॥ ४० ॥

अपने स्पृहणीय पति भूमिपाल शृगालको वहाँ धरतीपर पड़ा देख वे रानियाँ अत्यन्त आर्त हो अपनी अङ्गुलियोंसे स्तनोंको नोचती हुई करुण विलाप करने लगीं ॥ ४० ॥

उरांस्युरसिजांश्चैव शिरोजान्याकुलान्यपि ।
निर्दयं ताडयन्त्यस्ता विस्वरं रुरुदुः स्त्रियः ॥ ४१ ॥

वे स्त्रियाँ अपनी छाती, स्तन और वहाँ फैले हुए सिरके बालोंको भी निर्दयतापूर्वक पीटती हुई पुक्का फाड़-फाड़कर रोने लगीं ॥ ४१ ॥

तस्योरसि सुदुःखार्ता मृदिताः क्लिन्नलोचनाः ।
पेतुरूर्ध्वभुजाः सर्वाश्छिन्नमूला लता इव ॥ ४२ ॥

वे सब रानियाँ अत्यन्त दुःखसे आतुर और मर्दित हो नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई दोनों बाँहें ऊपर उठाकर जड़से कटी हुई लताओंकी भाँति राजाकी छातीपर गिर पड़ीं ॥४२॥

तासां बाष्पाम्बुपूर्णानि नेत्राणि नृपयोषिताम् ।
वारिविप्रहतानीव पङ्कजानि चकाशिरे ॥ ४३ ॥

उन राजरानियोंके आँसूभरे नेत्र जल (या ओले) से आहत हुए कमलोंके समान प्रकाशित होते थे ॥ ४३ ॥

ताः पतिं पतितं भूमौ रुदन्त्यो हृदि ताडिताः ।
लालप्यमानाः करुणं योषितः पर्यदेवयन् ॥ ४४ ॥

धरतीपर पड़े हुए पतिकी ओर देखकर रोती और छाती पीटती हुई वे राजपत्नियाँ करुण विलाप करती हुई शोकोद्गार प्रकट करने लगीं ॥ ४४ ॥

पुत्रं चास्य पुरस्कृत्य बालं प्रस्रुतलोचनम् ।
शक्रदेवं पितुः पार्श्वे द्विगुणं रुरुदुः स्त्रियः ॥ ४५ ॥

उस राजाके बालक पुत्र शक्रदेवको अपने आगे पिताके पास खड़ा करके वे रानियाँ और दूने वेगसे रोने तथा विलाप करने लगीं । उस बालकके नेत्रोंसे भी आँसू बह रहा था ॥

अयं ते वीर विक्रान्तो बालः पुत्रो न पण्डितः ।
त्वद्विहीनः कथमयं पदे स्थास्यति पैतृके ॥ ४६ ॥

वे बोलीं—'वीर महाराज ! यह आपका पराक्रमी पुत्र अभी बालक है, विद्वान् नहीं हो सका है । अब आपके बिना यह अपने पैतृक राज्यपर कैसे प्रतिष्ठित हो सकेगा ? ॥४६॥

कथमेकपदे त्यक्त्वा गतोऽस्यन्तःपुरं परम् ।
अतृप्तास्तव सौख्यानां किं कुर्मो विधवा वयम् ॥ ४७ ॥

'(प्राणनाथ !) आप अपने अन्तःपुरकी रानियोंको सहसा त्यागकर क्यों परलोकको चले गये ? हम आपके दिये हुए सुखोंसे अभी तृप्त नहीं हुई थीं । हाय ! हम विधवा हो गयीं, अब क्या करें ?' ॥ ४७ ॥

तस्य पद्मावती नाम महिषी प्रमदोत्तमा ।
रुदती पुत्रमादाय वासुदेवमुपस्थिता ॥ ४८ ॥

राजा शृगालकी पटरानीका नाम पद्मावती था । वह स्त्रियोंमें श्रेष्ठ थी । पद्मावती रोती हुई अपने पुत्रको साथ ले भगवान् वासुदेवके पास गयी ॥ ४८ ॥

यस्त्वया पातितो वीर रणप्रोक्तेन कर्मणा ।
तस्य प्रेतगतस्यायं पुत्रस्त्वां शरणं गतः ॥ ४९ ॥

और बोली—'वीर ! आपने युद्ध-कर्मके द्वारा जिन्हें मार गिराया है, उन्हीं परलोकवासी नरेशका यह पुत्र आपकी शरणमें आया है ॥ ४९ ॥

यदि त्वां प्रणमेतासौ कुर्याद् वा शासनं तव ।
नायमेकप्रहारेण जनस्तप्येत दारुणम् ॥ ५० ॥

'यदि ये महाराज आपको प्रणाम करते—आपके सम्मुख विनीत भावका परिचय देते अथवा आपकी आज्ञाका पालन करते तो आपके एक ही प्रहारसे इन्हें संतापका भागी नहीं होना पड़ता ॥ ५० ॥

यदि कुर्यादयं मूढस्त्वयि बान्धवकं विधिम् ।
नैवं परीतः क्रूपणः सेवेत धरणीतलम् ॥ ५१ ॥

'यदि ये मूढ (विवेकशून्य) नरेश आपके प्रति बन्धु-जनोचित बर्ताव करते तो इन्हें मांसभक्षी जन्तुओंसे घिरकर पृथ्वीका सेवन नहीं करना पड़ता ॥ ५१ ॥

अयमस्य विपन्नस्य बान्धवस्य तवानघ ।
सन्तती रक्ष्यतां वीर पुत्रः पुत्र इवात्मजः ॥ ५२ ॥

'अनघ ! वीर ! यह आपके इस मरे हुए बान्धवकी ही सन्तति है; आप अपने पुत्रकी ही भाँति इसकी रक्षा करें' ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा महिष्या यदुनन्दनः ।
मृदुपूर्वमिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥ ५३ ॥

रानीका यह वचन सुनकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ यदुनन्दन श्रीकृष्णने मधुर वाणीमें कहा—॥ ५३ ॥

राजपत्नि गतो रोषः सहानेन दुरात्मना ।
प्रकृतिस्था वयं जाता देवि सैषोऽस्मि बान्धवः ॥ ५४ ॥

'राजरानी ! मेरा रोष तो इस दुरात्माके मारे जानेके साथ ही दूर हो गया । देखें ! अब हम स्वाभाविक स्थितिमें हैं । मैं आपका वही भाई-बन्धु हूँ ॥ ५४ ॥

रोषो मे विगतः साध्वि तव वाक्यैरकल्मषैः ।
योऽयं पुत्रः शृगालस्य ममाप्येष न संशयः ॥ ५५ ॥

'साध्वी रानी ! तुम्हारे इन निर्दोष वचनोंसे मेरा सारा क्रोध दूर हो गया । राजा शृगालका जो यह पुत्र है, यह मेरे लिये भी पुत्रके ही समान है, इसमें संशय नहीं है ॥५५॥

अभयं चाभिषेकं च ददाम्यस्मै सुखाय वै ।
आहूयन्तां प्रकृतयः पुरोधा मन्त्रिणस्तथा ॥ ५६ ॥
पितृपैतामहे राज्ये तत्र पुत्रोऽभिषिच्यताम् ।

'मैं इसके सुखके लिये इसे अभय देनेके साथ ही इसका राज्याभिषेक भी कर दूँगा । आप समस्त प्रकृतियों तथा मन्त्री और पुरोहितोंको भी बुलवाइये, जिससे आपके इस पुत्र-

को, इसके बाप-दादोंके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया जाय' ॥

ततः प्रकृतयः सर्वाः पुरोधा मन्त्रिणस्तथा ॥ ५७ ॥
अभिषेकार्थमाजग्मुर्यतो वै रामकेशवौ ।

तदनन्तर, सारी प्रकृतियाँ (प्रजा आदि), पुरोहित और मन्त्री भी राजकुमारका अभिषेक करनेके लिये उस स्थानपर आये, जहाँ श्रीबलराम और श्रीकृष्ण विराजमान थे ॥ ५७½ ॥

ततः सिंहासनस्थं तु राजपुत्रं जनार्दनः ॥ ५८ ॥
अभिषेकेण दिव्येन योजयामास वीर्यवान् ।

इसके बाद पराक्रमी भगवान् जनार्दनने राजकुमारको राज्य सिंहासनपर बिठाकर दिव्य अभिषेककी विधिसे उसका राज्याभिषेक कर्म सम्पन्न किया ॥ ५८½ ॥

अभिषिच्य शृगालस्य करवीरपुरे सुतम् ।
कृष्णस्तदहरेवाशु प्रस्थानमभ्यरोचयत् ॥ ५९ ॥

शृगालके पुत्रको करवीरपुरके राज्यपर अभिषिक्त करके श्रीकृष्णने उसी दिन वहाँसे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान कर देना उचित समझा ॥ ५९ ॥

रथेन हरियुक्तेन तेन युद्धार्जितेन वै ।
केशवः प्रस्थितोऽध्वानं वृत्रहा त्रिदिवं यथा ॥ ६० ॥

जैसे इन्द्र स्वर्गलोकको जाते हैं, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी युद्धमें प्राप्त हुए उस अश्वयुक्त रथके द्वारा मथुराके पथपर चल दिये ॥ ६० ॥

शक्रदेवोऽपि धर्मात्मा सह मात्रा परंतपः ।
सबालवृद्धयुवतीमुख्याः प्रकृतयस्तथा ॥ ६१ ॥
शिबिकायामथारोप्य शृगालं युद्धदुर्मदम् ।
संहता दूरमार्गेण पश्चिमाभिमुखा ययुः ॥ ६२ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाला धर्मात्मा राजा शक्रदेव भी माताके साथ बालक, वृद्ध और युवती आदि सारी प्रकृतियोंको साथ ले रणदुर्मद शृगालके शवको पालकीमें सुलाकर सब लोग संगठित हो नगरसे दूरके रास्तेपर पश्चिमकी ओर चले ॥ ६१-६२ ॥

नैधनस्य विधानेन चक्रुस्ते तस्य सत्क्रियाम् ।
सत्कारं कारयामासुः पितॄणां पारलौकिकम् ॥ ६३ ॥

श्मशान-भूमिमें ले जाकर अन्त्येष्टिकी विधिसे उन सबने शक्रदेवद्वारा राजाका दाह-संस्कार करवाया और पितरोंके लिये पारलौकिक कृत्यका सम्पादन कराया ॥ ६३ ॥

उद्दिश्योद्दिश्य राजानं श्राद्धं कृत्वा सहस्रशः ।
ततस्ते सलिलं दत्त्वा नामगोत्रादिकीर्तनैः ॥ ६४ ॥
पितर्युपरते घोरे शोकसंविग्नमानसः ।
कृत्वोदकं तदा राजा प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ ६५ ॥

राजाके उद्देश्यसे सहस्रों प्रकारकी वस्तुएँ श्राद्धमें देकर उन सबने शृगालके लिये नाम-गोत्र आदिके उच्चारणपूर्वक जलदान किया । इस प्रकार पिताकी घोर मृत्यु हो जानेपर शोकसे व्याकुलचित्त हुए राजा शक्रदेवने उन्हें जलाञ्जलि देकर अपने उत्तम नगरमें प्रवेश किया ॥ ६४-६५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शृगालवधो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें शृगालका वधनामक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

बलराम और श्रीकृष्णका मथुरामें प्रत्यागमन और स्वागत

वैशम्पायन उवाच

तौ तु स्वल्पेन कालेन दमघोषेण संगतौ ।
अथाध्वविधिना तौ तु पञ्चरात्रोषितौ पथि ॥ १ ॥
दमघोषेण संगम्य एकरात्रोषिताविव ।
जग्मतुः सहितौ वीरौ मुदा परमया युतौ ।
नगरीं मथुरां प्राप्तौ वसुदेवसुतावुभौ ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर, वे दोनों भाई चेदिराज दमघोषके साथ मिलकर यात्रा करने लगे । मार्गके नियमानुसार चलते हुए उन्होंने बीच-बीचमें पाँच रात निवास किया; किंतु दमघोषके साथ रहनेसे उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि हम एक ही रात मार्गमें रहे हैं । इस प्रकार परमानन्दसे सम्पन्न हो वे दोनों वीर वसुदेवकुमार साथ-साथ थोड़े ही समयमें मथुरा नगरीमें जा पहुँचे ॥ १-२ ॥

ततः प्रत्युद्गताः सर्वे यादवा यदुनन्दनौ ।
सबला हृष्टमनस उग्रसेनपुरोगमाः ॥ ३ ॥

उस समय उग्रसेन आदि सभी यादवोंने सेनासहित आगे आकर प्रसन्नचित्तसे उन दोनों यदुनन्दन वीरोंका स्वागत किया ॥ ३ ॥

श्रेण्यः प्रकृतयश्चैव मन्त्रिणश्च यथोचिताः ।
सबालवृद्धा सा चैव पुरी समभिवर्तत ॥ ४ ॥

अनेक प्रकारके शिल्पोंद्वारा जीवन-निर्वाह करनेवाले नाना जातिके शिल्पी, प्रजावर्ग, मन्त्री तथा बालकों और

वृद्धोंसहित सारी मथुरापुरी यथोचित रीतिसे उनके स्वागतमें जुटी थी ॥ ४ ॥

नन्दितूर्याण्यवाद्यन्त स्तूयेतां पुरुषर्षभौ ।
रथ्यां पताकामालिन्यो भासन्ति स्म समन्ततः ॥ ५ ॥

आनन्दवर्धक मङ्गल-वाद्य बजने लगे । उन दोनों पुरुष-प्रवर वीरोंकी स्तुति होने लगी । सब ओरकी गलियाँ और सड़कें पताकाओंसे अलङ्कृत हो उत्तम शोभा पाने लगीं ॥

हृष्टा प्रमुदिता सर्वा पुरी परमशोभिता ।
भ्रात्रोस्तयोरागमने यथैवेन्द्रमहे तथा ॥ ६ ॥

उन दोनों भाइयोंके आनेसे इन्द्रोत्सवके समान सारी पुरी परम शोभासे सम्पन्न हो हर्षसे खिल उठी । सर्वत्र आनन्द छा गया ॥ ६ ॥

मुदितास्तत्र गायन्ति राजमार्गेषु गायकाः ।
स्तवाशीर्बहुला गाथा यादवानां प्रियंकराः ॥ ७ ॥

सड़कोंपर आनन्दमग्न हुए गायक यादवोंको प्रिय लगने-वाली आशीर्वादयुक्त गाथाएँ गा रहे थे ॥ ७ ॥

गोविन्दरामौ सम्प्राप्तौ भ्रातरौ लोकविश्रुतौ ।
स्वे पुरे निर्भयाः सर्वे क्रीडध्वं यादवाः सुखम् ॥ ८ ॥

और सर्वत्र यह घोषणा करते थे कि 'यादवो ! विश्वविख्यात वीर दोनों भाई श्रीकृष्ण और बलराम अब अपने नगरमें आ गये हैं, अतः सबलोग निर्भय होकर सुखपूर्वक क्रीड़ा करो' ॥ ८ ॥

न तत्र कश्चिद् दीनो वा मलिनो वा विचेतनः ।
मथुरायामभूत् कश्चिद् रामकृष्णसमागमे ॥ ९ ॥

बलराम और श्रीकृष्णके आ जानेपर उस मथुरापुरीमें कोई भी दीन, मलिन अथवा उदासचित्त नहीं दिखायी देता था ॥ ९ ॥

वयांसि साधुवाक्यानि प्रहृष्टा गोहयद्विपाः ।
नरनारीगणाश्चैव भेजिरे मानसं सुखम् ॥ १० ॥

पक्षी सुमधुर बोली बोलते थे; गौ, घोड़े और हाथी भी बहुत प्रसन्न थे तथा स्त्रियों और पुरुषोंके मनको भी बड़ा ही सुख मिला ॥ १० ॥

शिवाश्च प्रववुर्वाता विरजस्का दिशो दश ।
दैवतान्यपि सर्वाणि हृष्यन्त्यायतनेष्वथ ॥ ११ ॥

शीतल एवं सुखदायिनी हवाएँ चलने लगीं, दसों दिशाओंकी धूल उड़ गयी और मन्दिरोंमें स्थित सम्पूर्ण देवता भी बड़े प्रसन्न हुए ॥ ११ ॥

यानि लिङ्गानि लोकस्य वृत्तानीह कृते युगे ।
तानि सर्वाण्यदृश्यन्त तयोरागमने तदा ॥ १२ ॥

सत्ययुग आनेपर इस जगत्में जो-जो लक्षण एवं वृत्तान्त घटित होते हैं, वे सब-के-सब श्रीकृष्ण एवं बलरामके आगमन-पर प्रत्यक्ष दिखायी देने लगे ॥ १२ ॥

ततः काले शिवे पुण्ये स्यन्दनेनारिमर्दनौ ।
हरियुक्तेन तौ वीरौ प्रविष्टौ मथुरां पुरीम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर, मङ्गलमय पुण्यमुहूर्तमें वे दोनों शत्रुमर्दन वीर उस अश्वयुक्त रथके द्वारा मथुरापुरीमें प्रविष्ट हुए ॥ १३ ॥

प्रविशन्तं पुरीं रम्यां गोविन्दं राममेव च ।
अनुजग्मुर्यदुगणाः शक्रं देवगणा इव ॥ १४ ॥

उस रमणीय पुरीमें प्रवेश करते समय श्रीकृष्ण और बलरामके पीछे समस्त यादव उसी प्रकार चले, जैसे देवता इन्द्रके पीछे चलते हैं ॥ १४ ॥

वसुदेवस्य भवनं पितुस्तौ यदुनन्दनौ ।
प्रविष्टौ हृष्टवदनौ चन्द्रादित्याविवाचलम् ॥ १५ ॥

जैसे चन्द्रमा और सूर्य सुमेरुपर्वतकी गुफामें प्रवेश करते हों, उसी प्रकार वे दोनों यदुनन्दन वीर पिता वसुदेवके घरमें प्रविष्ट हुए । उस समय उन दोनोंके मुखपर प्रसन्नता छा रही थी ॥ १५ ॥

तत्रायुधानि संन्यस्य गृहे स्वे स्वैरचारिणौ ।
मुमुदाते यदुवरौ वसुदेवसुतावुभौ ॥ १६ ॥

वहाँ अपने घरमें आयुधोंको रखकर वे दोनों यदुकुल-तिलक वसुदेवपुत्र स्वेच्छानुसार विचरते हुए आनन्दमग्न रहने लगे ॥ १६ ॥

ततस्तु वसुदेवस्य पादौ समभिपीड्य च ।
तत्रोग्रसेनं राजानमन्यांश्च यदुपुङ्गवान् ॥ १७ ॥
यथान्यायं पूजयित्वा तौ सर्वैश्चाभिनन्दितौ ।
जग्मतुर्हृष्टमनसौ मातुरेव निवेशनम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर, वसुदेवजीके दोनों चरणोंको दबाकर राजा उग्रसेन तथा अन्य प्रधान यदुवंशियोंका यथोचित सत्कार करनेके पश्चात् उन सबके द्वारा स्वयं भी अभिनन्दित हो, वे दोनों भाई प्रसन्न मनसे माताके ही महलमें चले गये १७-१८

एवं तावेकनिर्माणौ मथुरायां शुभाननौ ।
उग्रसेनानुगौ भूत्वा कंचित्कालं मुमोदतुः ॥ १९ ॥

इस प्रकार एक ही तत्त्वके बने और एक ही उद्देश्यकी सिद्धिके लिये प्रकट हुए वे दोनों श्रीकृष्ण और बलराम राजा उग्रसेनके अनुगामी होकर कुछ कालतक वहाँ सुखसे रहे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि रामकृष्णयोर्मथुरां प्रत्यागमने पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें बलराम और श्रीकृष्णका मथुरामें प्रत्यागमनविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

बलरामजीकी व्रजयात्रा तथा उनके द्वारा यमुनाजीका आकर्षण

वैशम्पायन उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य स्मृत्वा गोपेषु सौहृदम्।
जगामैको व्रजं रामः कृष्णस्यानुमते स्थितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुछ कालके अनन्तर गोपोंके सौहार्दका स्मरण करके श्रीकृष्णकी अनुमति ले बलरामजी अकेले ही व्रजमें गये ॥ १ ॥

स गतस्तत्र रम्याणि ददर्श विपुलानि वै।
भुक्तपूर्वाण्यरण्यानि सरांसि सुरभीणि च ॥ २ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने बहुत-से बड़े-बड़े सुगन्धित वन तथा सरोवर देखे, जो पहले उनके उपभोगमें आ चुके थे ॥ २ ॥

स प्रविष्टस्तु वेगेन तं व्रजं कृष्णपूर्वजः।
वन्येन रमणीयेन वेषेणालंकृतः प्रभुः ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णके पूर्वज बलरामजी बड़े वेगसे उस व्रजमें प्रविष्ट हुए। उस समय वे प्रभावशाली संकर्षण वनवासियोंके योग्य रमणीय वेष-भूषासे अलंकृत थे ॥ ३ ॥

स तानभाषत प्रीत्या यथापूर्वमरिंदमः।
गोपांस्तेनैव विधिना यथान्यायं यथावयः ॥ ४ ॥

शत्रुदमन बलराम पहलेकी ही भाँति उसी तौर-तरीकेसे अवस्थाकी छोटाई-बड़ाईके अनुसार यथायोग्य सब गोपोंके साथ मिले और प्रेमपूर्वक उनसे बातचीत करने लगे ॥४॥

तथैव प्राह तान् सर्वांस्तथैव परिहर्षयन्।
तथैव सह गोपीभिर्योजयन् मधुराः कथाः ॥ ५ ॥

उन्होंने पूर्ववत् सबका हर्ष बढ़ाते हुए सबसे उसी तरह बातें कीं तथा गोपियोंके साथ भी पहले-जैसी ही मधुर चर्चाएँ छेड़ दीं ॥ ५ ॥

तमूचुः स्थविरा गोपाः प्रियं मधुरभाषिणः।
रामं रमयतां श्रेष्ठं प्रवासात् पुनरागतम् ॥ ६ ॥

रमानेवाले (मनको आनन्दित करनेवाले) पुरुषोंमें श्रेष्ठ बलरामजी परदेशमें रहकर फिर लौटे थे और गोपोंके बहुत ही प्रिय थे। अतः मधुरभाषी बड़े-बूढ़े गोपोंने उनसे कहा—॥ ६ ॥

स्वागतं ते महाबाहो यदूनां कुलनन्दन।
अद्य स्म निर्वृतास्तात यत् त्वां पश्यामहे वयम्॥ ७ ॥

'यदुकुलको आनन्दित करनेवाले महाबाहो ! तुम्हारा स्वागत है। तात ! आज हम बहुत खुश हैं, क्योंकि हमे दीर्घकालके बाद तुम्हे देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है ॥ ७ ॥

प्रीताश्चैव वयं वीर यत् त्वं पुनरिहागतः।
विख्यातस्त्रिषु लोकेषु रामः शत्रुभयंकरः ॥ ८ ॥

'वीर ! तुम जो पुनः लौटकर यहाँ आये हो, इससे हम बहुत संतुष्ट हैं। शत्रुओंको भय देनेवाले वीर बलरामकी तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि है ॥ ८ ॥

वर्धनीया वयं वीर त्वया यादवनन्दन।
अथवा प्राणिनस्तात रमन्ते जन्मभूमिषु ॥ ९ ॥

'वीर ! यादवनन्दन ! यहाँ आकर तुमने हमारा गौरव बढ़ाया है, यह तुम्हारे लिये उचित ही है। अथवा तात ! अपनी जन्मभूमिमें सभी प्राणियोंको सुख मिलता है ॥ ९ ॥

त्रिदशानां वयं मान्या ध्रुवमद्यामलानन।
ये स्म दृष्टास्त्वया तात काङ्क्षमाणास्तवागमम् ॥१०॥

'अमलानन ! तुमने जो हम लोगोंपर कृपादृष्टि की है, इससे निश्चय ही अब हम देवताओंके लिये भी माननीय हो गये। तात ! हमलोग प्रतिदिन तुम्हारा शुभागमन चाहते थे॥१०॥

दिष्ट्या ते निहता मल्लाः कंसश्च विनिपातितः।
उग्रसेनोऽभिषिक्तश्च माहात्म्येन जनेन वै ॥ ११ ॥

'बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम दोनों भाइयोंके द्वारा वे मल्ल मारे गये, कंस भी मार गिराया गया तथा उग्रसेनका राज्यपर अभिषेक हो गया। उनके महात्मापन(साधुस्वभाव) के कारण ही सब लोगोंने उनको राज्यपर अभिषिक्त किया है ॥ ११ ॥

समुद्रे च श्रुतोऽस्माभिस्तिमिना सह विग्रहः।
वधः पञ्चजनस्यैव जरासंधेन विग्रहः।
गोमन्ते च श्रुतोऽस्माभिः क्षत्रियैः सह विग्रहः ॥ १२ ॥

'हमने यह भी सुना है कि समुद्रमे तिमि (पञ्चजन नामक मगरमच्छ) के साथ तुमलोगोंका युद्ध हुआ था। उसमें पञ्चजन मारा गया। तत्पश्चात् मथुरामें जरासंधके साथ बड़ा भारी युद्ध हुआ। इतना ही नहीं, हमारे सुननेमें यह भी आया है कि गोमन्तपर्वतके निकट क्षत्रियोके साथ तुम लोगोंका घोर युद्ध हुआ था ॥ १२ ॥

दरदस्य वधश्चैव जरासंधपराजयः।
तत्रायुधावतरणं श्रुतं नः परमाहवे ॥ १३ ॥

'उस संग्राममे राजा दरदका वध हुआ और जरासंधकी पराजय हुई। सुना था कि उस महायुद्धमें तुम लोगोंके लिये आकाशसे दिव्य आयुध उतर आये थे ॥ १३ ॥

वधश्चैव शृगालस्य करवीरपुरोत्तमे।
तत्सुतस्याभिषेकश्च नागराणां च सान्त्वनम् ॥ १४ ॥

'इसके सिवा, उत्तम करवीरपुरमें राजा शृगालका वध करके उसके पुत्रका वहाँ अभिषेक किया गया और वहाँके नागरिकोंको तुम्हारी ओरसे सान्त्वना दी गयी ॥ १४ ॥

मथुरायां प्रवेशश्च कीर्तनीयः सुरोत्तमैः ।
प्रतिष्ठिता च वसुधा पार्थिवाश्च वशीकृताः ॥ १५ ॥

'फिर तुमलोगोंका मथुरामें प्रवेश हुआ, जो देवताओंके लिये कीर्तन करने योग्य है । पृथ्वीका भार उतारकर तुमने इसे भलीभाँति प्रतिष्ठित कर दिया और भूमण्डलके सभी नरेशों-को वशमें कर लिया ॥ १५ ॥

तत्र चागमनं दृष्ट्वा सभाग्याः स यथा पुरा ।
तेन स परितुष्टा वै हर्षिताश्च सबान्धवाः ॥ १६ ॥

'तुम्हारा शुभागमन देखकर हम पूर्ववत् सौभाग्यशाली हो गये हैं । हमें सब तरहसे संतोष प्राप्त हुआ है और हम अपने बन्धु-बान्धवोंसहित हर्षसे उत्फुल्ल हो उठे हैं' ॥ १६ ॥

प्रत्युवाच ततो रामः सर्वांस्तानभितः स्थितान् ।
यादवेष्वपि सर्वेषु भवन्तो मम बान्धवाः ॥ १७ ॥
इहावयोर्गतं बाल्यमिह चैवावयो रतम् ।
भवद्भिर्वर्द्धितादचैव यास्यामो विक्रियां कथम् ॥ १८ ॥

तब बलरामजीने अपने सब ओर खड़े हुए उन समस्त गोपोंसे कहा—'समस्त यादवोंके होते हुए भी आपलोग ही हमारे सगे बान्धव हैं । यहीं हम लोगोंका बचपन बीता, यहीं हम खेले-कूदे और आप लोगोंने ही हमें पाल-पोसकर बड़ा किया; फिर हम आप लोगोंको भुला कैसे सकते हैं ॥१७-१८॥

गृहेषु भवतां भुक्तं गावश्च परिरक्षिताः ।
अस्माकं बान्धवाः सर्वे भवन्तो बद्धसौहृदाः ॥ १९ ॥

'हमने आपके घरोंमें खाया-पीया और गौएँ चरायीं । आप सब लोग हममें अनुराग रखनेवाले हमारे बन्धु-बान्धव हैं' ॥ १९ ॥

ब्रुवत्येवं यथातत्त्वं गोपमध्ये हलायुधे ।
संहृष्टवदना भूयो बभूवुर्व्रजयोषितः ॥ २० ॥

हल धारण करनेवाले बलरामजी जब इस प्रकार यथार्थ बात कह रहे थे, उस समय उनकी बातें सुनकर व्रजसुन्दरि-योंके मुखपर पुनः प्रसन्नता छा गयी ॥ २० ॥

ततो वनान्तरगतो रेमे रामो महाबलः ।
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ते रामाय विदितात्मने ॥ २१ ॥
गोपालैर्देशकालज्ञैरुपानीयत वारुणी ।
सोऽपिबत् पाण्डुराभ्राभस्तत्कालं ज्ञातिभिर्वृतः॥२२॥

तदनन्तर, महाबली बलराम वनके भीतर जाकर सुख-पूर्वक विचरने लगे । इसी समय उनके मनोभावको जानकर देश-कालके ज्ञाता गोपालगण उनके लिये वारुणी (सुधा या शहद) ले आये । फिर उन बन्धुजनोंसे घिरे हुए गौर-कान्ति बलरामने उस समय उसका पान किया ॥ २१-२२ ॥

वनान्तरगतो रामः पानं मदसमीरणम् ।
उपनिन्युस्ततस्तस्मै वन्यानि विविधानि च ॥ २३ ॥
प्रत्यग्ररमणीयानि पुष्पाणि च फलानि च ।
मेध्यांश्च विविधान् गन्धान् भक्ष्यांश्च हृदयंगमान् ।
सद्यो हृतानि पद्मानि विकचान्युत्पलानि च ॥ २४ ॥

वनमें गये हुए बलरामजीने जो मधु पीया था, वह कुछ नशा लानेवाला था; उसके पीनेके बाद ग्वाल-बाल उनके लिये वनके नाना प्रकारके पुष्प और फल ले आये, जो अभी नये (ताजे) होनेके कारण बड़े रमणीय लगते थे । इसके सिवा गोपोंने उनके लिये भाँति-भाँतिकी पवित्र गन्ध तथा मनोरम भक्ष्य पदार्थ प्रस्तुत किये । तुरंतके लाये हुए विकसित कमल और उत्पल भी भेंट किये ॥२३-२४॥

शिरसा चारुकेशेन किंचिदावृतमौलिना ।
श्रवणैकावलम्बेन कुण्डलेन विराजता ॥ २५ ॥
चन्दनार्द्रेण पीतेन वनमालावलम्बिना ।
विबभावुरसा रामः कैलासेनेव मन्दरः ॥ २६ ॥

बलरामजीके सिरके बाल बड़े मनोहर थे । उसपर रखा हुआ मुकुट कुछ टेढ़ा था । उनके एक कानमें सुन्दर कुण्डल लटक रहा था । वक्षःस्थल चन्दनके अनुलेपसे आर्द्र एवं पीत था, उसपर वनमाला लटक रही थी । ऐसे वक्षसे बल-रामजीकी वैसी ही शोभा होती थी, जैसे कैलास पर्वतसे मन्दराचल सुशोभित होता है ॥ २५-२६ ॥

नीले वसानो वसने प्रत्यग्रजलदप्रभे ।
रराज वपुषा शुभ्रस्तिमिरौघे यथा शशी ॥ २७ ॥

उन्होंने नूतन जलधरके समान कान्तिवाले दो नीले वस्त्र धारण कर रखे थे और शरीरसे वे गोरे थे; अतः अन्धकार-राशिमें चन्द्रमाके समान सुशोभित होते थे ॥ २७ ॥

लाङ्गलेनावसक्तेन भुजगाभोगवर्तिना ।
तथा भुजाग्रश्लिष्टेन मुसलेन च भास्वता ॥ २८ ॥

उनके एक हाथमें सर्प-शरीरके समान हल शोभा पाता था और दूसरेमें प्रकाशमान मुसल ॥ २८ ॥

स मत्तो बलिनां श्रेष्ठो रराजाघूर्णिताननः ।
शैशिरीषु त्रियामासु यथा स्वेदालसः शशी ॥ २९ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ बलरामजी मधुसे मत्त-से हो रहे थे । उनका मुख झूम रहा था । वे ऐसे लगते थे, मानो शरद्की रातोंमें स्वेद-बिन्दुओंसे युक्त अलसाये हुए चन्द्रमा शोभा पाते हों ॥ २९ ॥

रामस्तु यमुनामाह स्नातुमिच्छे महानदि ।
एहि मामभिगच्छ त्वं रूपिणी सागरंगमे ॥ ३० ॥

उस समय बलरामजीने यमुनासे कहा—'महानदि ! मैं स्नान करना चाहता हूँ। सागरगामिनि ! मूर्तिमती होकर आओ, चलो मेरे साथ' ॥ ३० ॥

संकर्षणस्य मत्तोक्तां भारतीं परिभूय सा।
नाभ्यवर्तत तं देशं स्त्रीस्वभावेन मोहिता ॥ ३१ ॥

संकर्षणकी बातको मतवालेकी बहक समझकर नारी-स्वभावसे मोहित हुई उस नदीने उसकी अवहेलना कर दी। वह उनके अभीष्ट स्थानको नहीं गयी ॥ ३१ ॥

ततश्चुक्रोध बलवान् रामो मदसमीरितः।
चकार स हलं हस्ते कर्षणाधोमुखं बली ॥ ३२ ॥

तब बलवान् बलराम मदसे प्रेरित हो कुपित हो उठे। उन्होंने यमुनाका कर्षण करनेके लिये हलका मुख नीचेको कर लिया ॥ ३२ ॥

तस्यामुपरि मेदिन्यां पेतुस्तामरसस्रजः।
मुमुचुः पुष्पकोशैश्च वासरेण्वरुणं जलम् ॥ ३३ ॥

यमुनाको खींचते समय उनके गलेसे जो कमल-पुष्पकी मालाएँ टूटकर पृथ्वीपर गिरीं, वे पुष्प-कोशोंद्वारा सुगन्धित परागसे अरुण रंगका जल छोड़ने लगीं ॥ ३३ ॥

स हलेनानताग्रेण कूले गृह्य महानदीम्।
चकर्ष यमुनां रामो व्युत्थितां वनितामिव ॥ ३४ ॥

जिसका अग्रभाग कुछ झुका हुआ था, उस हलको यमुनाके तटसे लगाकर स्वेच्छाचारिणी वनिताके समान उस महानदीको अभीष्ट दिशाकी ओर खींचा ॥ ३४ ॥

सा विह्वलजलस्रोता ह्रदप्रस्थितसंचया।
व्यावर्तत नदी भीता हलमार्गानुसारिणी ॥ ३५ ॥

उसका जल-स्रोत क्षुब्ध हो उठा। कुण्डोंमें जो अगाध जलराशिका संचय था, वह वहाँसे निकलने लगा और वह नदी भयभीत-सी होकर हलके बनाये हुए मार्गसे चलने लगी॥

लाङ्गलादिष्टवर्त्मा सा वेगगा वक्रगामिनी।
संकर्षणभयत्रस्ता योषेवाकुलतां गता ॥ ३६ ॥

हलकी रेखा ही उसे गन्तव्य मार्गका आदेश दे रही थी। सीधे मार्गपर वेगसे बहनेवाली वह नदी टेढ़े रास्तेपर मन्थर गतिसे चलने लगी। वह संकर्षणके भयसे त्रस्त हुई किसी युवतीकी भाँति व्याकुल हो उठी थी ॥ ३६ ॥

पुलिनश्रोणिबिम्बौष्ठी मृदितैस्तोयताडितैः।
फेनमेखलसूत्रैश्च च्छिन्नैरम्बुदगामिनी ॥ ३७ ॥

दोनों किनारे ही उसके नितम्ब थे, रक्तकमलोंका समूह ही उसके अरुण अधरोंका प्रतीक था। फेन ही उसके मेखला-सूत्र थे, जो जलसे ताडित और मर्दित होकर छिन्न-भिन्न हो गये थे; वह नदीरूपिणी युवती समुद्ररूपी प्रियतमके साथ समागम करनेवाली थी ॥ ३७ ॥

तरङ्गविषमापीडा चक्रवाकोन्मुखस्तनी।
वेगगम्भीरवक्राङ्गी त्रस्तमीनविभूषणा ॥ ३८ ॥

उसके तरङ्गरूपी शिरोभूषण ऊँचे-नीचे हो रहे थे, चक्रवाकरूपी स्तन ऊँचे उठे हुए थे, उसके गम्भीर अंग वेगके कारण वक्र हो रहे थे, वह त्रस्त मीनरूपी आभूषणोंसे विभूषित थी ॥ ३८ ॥

सितहंसेक्षणापाङ्गी काशक्षौमोच्छ्रिताम्बरा।
तीरजोद्धूतकेशान्ता जलस्खलितगामिनी ॥ ३९ ॥

श्वेत हंस उसके नेत्र और अपाङ्ग[1] थे, काश-पुष्प उसके फहराते हुए रेशमी वस्त्र थे, तटवर्ती पौदे या वृक्ष उसके केश थे तथा जलका प्रवाह ही उसकी स्खलित गतिका प्रतीक था॥

लाङ्गलोल्लिखितापाङ्गी क्षुभिता सागरंगमा।
मत्तेव कुटिला नारी राजमार्गेण गच्छती ॥ ४० ॥

उसके नेत्र-प्रान्त मानो हलकी नोकसे छिल गये थे, वह सागरगामिनी क्षुब्ध हो उठी थी, वह कुटिला एवं मतवाली स्त्रीके समान खुली सड़कपर चल रही थी ॥ ४० ॥

कृष्यते सातिवेगेन स्रोतःस्खलितगामिनी।
उन्मार्गानीतमार्गा सा येन वृन्दावनं वनम् ॥ ४१ ॥

ऊँचे-नीचे प्रवाह ही उसकी स्खलित गतिके सूचक थे। वह उस विपरीत मार्गपर लायी गयी थी, जिस ओर वृन्दावन सुशोभित होता था ॥ ४१ ॥

वृन्दावनस्य मध्येन सा नीता यमुना नदी।
रोरूयमाणेव खगैरन्विता तोयवासिभिः ॥ ४२ ॥

यमुना नदी वृन्दावनके बीचसे लायी गयी थी। जलमें निवास करनेवाले पक्षी उसके साथ-साथ बोलते हुए आ रहे थे। उन पक्षियोंके शब्दोंमें मानो वह नदी ही जोर-जोरसे रो रही थी ॥ ४२ ॥

सा यदा समतिक्रान्ता नदी वृन्दावनं वनम्।
तदा स्त्रीरूपिणी भूत्वा यमुना राममब्रवीत् ॥ ४३ ॥

वह नदी जब वृन्दावनको लाँघ गयी, तब स्त्रीरूपमें प्रकट हो बलरामजीसे बोली—॥ ४३ ॥

प्रसीद नाथ भीतास्मि प्रतिलोमेन कर्मणा।
विपरीतमिदं रूपं तोयं च मम जायते ॥ ४४ ॥

'नाथ ! प्रसन्न होइये। मैं आपके इस विपरीत कर्मसे बहुत डर गयी हूँ। मेरा यह रूप और जल विपरीत हो गया है ॥ ४४ ॥

असत्यहं नदीमध्ये रौहिणेय त्वया कृता।
कर्षणेन महाबाहो स्वमार्गव्यभिचारिणी ॥ ४५ ॥

१. नेत्रके अन्तभाग।

'रोहिणीनन्दन ! महाबाहो ! आपने इस तरह मुझे खींचकर नदियोंके बीचमें 'असती' बना दिया । मुझे मेरे मार्गसे भ्रष्ट कर दिया ॥ ४५ ॥

प्राप्तां मां सागरे पूर्वं सपत्न्यो वेगगर्विताः ।
फेनहासैर्हसिष्यन्ति तोयव्यावृत्तगामिनीम् ॥ ४६ ॥

'जब मैं समुद्रके निकट जाऊँगी, उस समय मेरी सौतें वेगसे गर्वित होकर अपने फेनरूपी हासोंद्वारा मेरी हँसी उड़ायेंगी, मुझे जलके द्वारा विपरीतगामिनी बतायेंगी ॥४६॥

प्रसादं कुरु मे वीर याचे त्वां कृष्णपूर्वज ।
सुप्रसन्नमना नित्यं भव त्वं सुरसत्तम ॥ ४७ ॥

'श्रीकृष्णके बड़े भैया वीर सुरश्रेष्ठ ! आप मुझपर कृपा करें । मैं आपसे याचना करती हूँ, आप मुझपर सदा प्रसन्नचित्त रहें ॥ ४७ ॥

कर्षणायुधकृष्टास्मि रोषोऽयं विनिवर्त्यताम् ।
मूर्ध्ना गच्छामि चरणौ तवैषा लाङ्गलायुध ।
मार्गमादिष्टमिच्छामि क्व गच्छामि महाभुज ॥ ४८ ॥

'हलायुध ! मैं आपके कर्षणायुध (हल) से यहाँतक खींच लायी गयी हूँ । आप अपने इस रोषको लौटा लें । मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखती हूँ । महाबाहो ! मुझे राह बताइये, मैं कहाँ जाऊँ ?' ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रणयावनतां दृष्ट्वा यमुनां लाङ्गलायुधः ।
प्रत्युवाचार्णववधूं मदक्लान्त इदं वचः ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! समुद्र-पत्नी यमुनाको प्रेमसे नतमस्तक हुई देख मधुके मदसे क्लान्त हुए बलरामजीने यह बात कही ॥ ४९ ॥

लाङ्गलादिष्टमार्गा त्वमिमं मे प्रियदर्शने ।
देशमम्बुप्रदानेन प्लावयस्वाखिलं शुभे ॥ ५० ॥

'शुभे ! प्रियदर्शने ! मैंने हलके द्वारा तुम्हारे जानेके लिये मार्ग बता दिया है, तुम इस सारे प्रदेशको अपना जल देकर आप्लावित कर दो ॥ ५० ॥

एष ते सुभ्रु संदेशः कथितः सागरंगमे ।
शान्तिं व्रज महाभागे गम्यतां च यथासुखम् ॥ ५१ ॥
यावत् स्थास्यति लोकोऽयं तावत् तिष्ठतु मे यशः ।

'सुभ्रु ! सागरगामिनी महाभागे ! यह तुम्हारे लिये सन्देश कहा गया है । शान्ति धारण करो और जहाँ तुम्हारी मौज हो चली जाओ । जबतक यह संसार रहेगा, तबतक मेरा यह सुयश भी बना रहेगा' ॥ ५१½ ॥

यमुनाकर्षणं दृष्ट्वा सर्वे ते व्रजवासिनः ॥ ५२ ॥
साधु साध्विति रामाय प्रणामं चक्रिरे तदा ।

यमुनाजीका आकर्षण हुआ देख समस्त व्रजवासियोंने उस समय साधु ! साधु !! (वाह-वाह) कहकर बलरामजीको प्रणाम किया ॥ ५२½ ॥

तां विसृज्य महाभागां तांश्च सर्वान् व्रजौकसः ॥ ५३ ॥
ततः संचिन्त्य मनसा रामः प्रहरतां वरः ।
पुनः प्रतिजगामाशु मथुरां रोहिणीसुतः ॥ ५४ ॥

महाभागा यमुना तथा उन समस्त व्रजवासियोंको विदा करके प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ रोहिणीपुत्र बलरामजीने मन-ही-मन कुछ सोचकर पुनः शीघ्र ही मथुराको प्रस्थान किया॥

स गत्वा मथुरां रामो भवने मधुसूदनम् ।
परिवर्तमानं ददृशे पृथिव्याः सारमव्ययम् ॥ ५५ ॥

मथुरा पहुँचकर बलरामने पृथ्वीके सारभूत अविनाशी मधुसूदनको भवनके भीतर शय्यापर करवट बदलते देखा ॥

तथैवाध्वन्यवेषेण सोपश्लिष्टो जनार्दनम् ।
प्रत्यग्रवनमालेन वक्षसाभिविराजता ॥ ५६ ॥

तब उसी राहगीरके वेषमें बलरामने नूतन वनमालासे विभूषित सुन्दर वक्षःस्थलद्वारा भगवान् जनार्दनका आलिङ्गन किया ॥ ५६ ॥

स दृष्ट्वा तूर्णमायान्तं रामं लाङ्गलधारिणम् ।
सहसोत्थाय गोविन्दो ददावासनमुत्तमम् ॥ ५७ ॥

लाङ्गलधारी बलरामको शीघ्रतापूर्वक आते देख गोविन्दने सहसा उठकर उनके लिये उत्तम आसन दिया ॥ ५७ ॥

उपविष्टं तदा रामं पप्रच्छ कुशलं व्रजे ।
बान्धवेषु च सर्वेषु गोषु चैव जनार्दनः ॥ ५८ ॥

जब बलरामजी बैठ गये, तब श्रीकृष्णने उनसे व्रजकी कुशल पूछी । समस्त बान्धवों तथा गौओंके विषयमें भी जिज्ञासा की ॥ ५८ ॥

प्रत्युवाच ततो रामो भ्रातरं साधुभाषिणम् ।
सर्वत्र कुशलं कृष्ण येषां कुशलमिच्छसि ॥ ५९ ॥

तब बलरामने उत्तम भाषण करनेवाले भाई श्रीकृष्णको इस प्रकार उत्तर दिया, 'श्रीकृष्ण ! तुम जिनकी कुशल चाहते हो, उनकी सर्वत्र कुशल है' ॥ ५९ ॥

ततस्तयोर्विचित्रार्थाः पौराण्यश्चाभवन् कथाः ।
वसुदेवाग्रतः पुण्या रामकेशवयोस्तदा ॥ ६० ॥

तदनन्तर वसुदेवजीके आगे बलराम और श्रीकृष्णकी विचित्र अर्थसे युक्त पवित्र एवं पुरातन कथाएँ होने लगीं ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि यमुनाकर्षणे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें बलरामजीके द्वारा यमुनाजीका आकर्षणविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका यादवोंके साथ रुक्मिणी-स्वयंवरके अवसरपर कुण्डिनपुरमें जाना तथा राजा कैशिकद्वारा उनका सत्कार

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ता लोकप्रावृत्तिका नराः ।
चक्रायुधगृहं सर्वे लोकपालगृहोपमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी बीचमें जगत्‌में होनेवाली प्रवृत्तियों अथवा घटनाओंकी सूचना देनेवाले सब लोग मथुरामें आये और लोकपालोंके भवनकी भाँति शोभा पानेवाले चक्रधारी श्रीकृष्णके गृहमें एकत्र हुए ॥ १ ॥

तेष्वात्ययिकशंसीषु लोकप्रावृत्तिकेष्विह ।
कृतसंज्ञा यदुश्रेष्ठाः समेताः कृष्णसंसदि ॥ २ ॥

वे लोग विनाशकारी युद्धका समाचार बताना चाहते थे। उनके आ जानेपर आपसका संकेत पाकर समस्त श्रेष्ठ यादव श्रीकृष्णकी सभामें जुट गये ॥ २ ॥

समागतेषु सर्वेषु यदुमुख्येषु संसदि ।
प्रावृत्तिका नराः प्राहुः पार्थिवात्ययिकं वचः ॥ ३ ॥

समस्त प्रधान यादवोंके उस सभामें आ जानेपर वे समाचार या सन्देश लानेवाले मनुष्य राजाओंके विनाशका कारणभूत वचन इस प्रकार बोले—॥ ३ ॥

जनार्दन नरेन्द्राणां पार्थिवानां समागमः ।
भविष्यति क्षितीशानां समूढानामनेकशः ॥ ४ ॥

'जनार्दन ! अनेक देशोंके विवाहार्थी पृथ्वीपतियों, शासकों एवं नरेशोंका समागम होनेवाला है ॥ ४ ॥

त्वरितास्तत्र गच्छन्ति नानाजनपदेश्वराः ।
कुण्डिने पुण्डरीकाक्ष भोजपुत्रस्य शासनात् ॥ ५ ॥

'कमलनयन ! भोजपुत्र रुक्मीका निमन्त्रण पाकर अनेक जनपदोंके राजा बड़ी उतावलीके साथ वहाँ कुण्डिनपुरमें जा रहे हैं ॥ ५ ॥

प्रकाशं स कथास्तत्र श्रूयन्ते मनुजेरिताः ।
रुक्मिणी किल नामास्ति रुक्मिणः प्रथमा स्वसा ॥ ६ ॥
भावी स्वयंवरस्तत्र तस्याः किल जनार्दन ।
इत्यर्थमेते सबला गच्छन्ति मनुजाधिपाः ॥ ७ ॥

'जनार्दन ! वहाँ लोगोंके मुँहसे यह बात स्पष्टरूपसे सुनी जाती है कि रुक्मीकी जो पहली बहन है, जिसका नाम रुक्मिणी है, उसका वहाँ स्वयंवर होनेवाला है। इसीलिये ये नरेशगण सेनाओंसहित वहाँ पधार रहे हैं ॥ ६-७ ॥

तस्यास्त्रैलोक्यसुन्दर्यास्तृतीयेऽहनि यादव ।
रुक्मभूषणभूषिण्या भविष्यति स्वयंवरः ॥ ८ ॥

'यदुनन्दन ! आजसे तीसरे दिन सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित रहनेवाली उस त्रिलोकसुन्दरी रुक्मिणीका स्वयंवर होगा ॥ ८ ॥

राज्ञां तत्र समेतानां हस्त्यश्वरथगामिनाम् ।
द्रक्ष्यामः शतशस्तत्र शिबिराणि महात्मनाम् ॥ ९ ॥

'हाथी, घोड़े और रथसे यात्रा करके वहाँ एकत्र हुए महामनस्वी नरेशोंके सैकड़ों शिविर हमें वहाँ देखनेको मिलेंगे ॥

सिंहशार्दूलदृप्तानां मत्तद्विरदगामिनाम् ।
सदा युद्धप्रियाणां हि परस्परममर्षिणाम् ॥ १० ॥
जयाय शीघ्रं सहिता बलौघेन समन्विताः ।
निरुद्धाः पृथिवीपालाः किमेकान्तचरा वयम् ।
निरुत्साहा भविष्यामो गच्छामो यदुनन्दन ॥ ११ ॥

'जो सिंह और बाघके समान अपने बलके घमण्डमें भरे रहते हैं, मतवाले हाथियोंके समान चलते हैं, सदा युद्धसे ही प्रेम रखते हैं और आपसमें एक दूसरेके प्रति अमर्षसे भरे रहते हैं, ऐसे नरेशोंपर शीघ्र विजय पानेके लिये बहुत-से भूपाल अपने सैन्यसमूहके साथ संगठित होकर वहाँ रुक्मिणीको पानेकी इच्छासे रुके हुए हैं। यदुनन्दन ! क्या हमलोग एकान्तमें रहनेवाले कोल-भील हैं, जो ऐसे अवसरपर उत्साहहीन हो बैठे रहेंगे, हम भी अवश्य उत्साहपूर्वक वहाँ चलेंगे' ॥

श्रुत्वैतत् केशवो वाक्यं हृदि शल्यमिवार्पितम् ।
निर्जगाम यदुश्रेष्ठो यदूनां सहितो बलैः ॥ १२ ॥

यह समाचार सुनकर श्रीकृष्णको ऐसा लगा, जैसे उनके हृदयमें किसीने काँटा-सा चुभो दिया हो। वे यदुश्रेष्ठ गोविन्द यदुवंशियोंकी सेनाके साथ नगरसे बाहर निकले ॥ १२ ॥

यादवास्ते बलोदग्राः सर्वे संग्रामलालसाः ।
निर्ययुः स्यन्दनवरैर्गर्वितास्त्रिदशा इव ॥ १३ ॥

वे समस्त यादव, जो बलमें बढ़े-चढ़े थे और संग्रामकी लालसा रखते थे, श्रेष्ठ रथोंद्वारा यात्राके लिये निकले। उस समय वे गर्वीले देवताओंके समान जान पड़ते थे ॥ १३ ॥

बलाग्रेण नियुक्तेन हरिरीशानसम्मतः ।
चक्रोद्यतकरः कृष्णो गदापाणिर्व्यरोचत ॥ १४ ॥

अपनी आज्ञाके अनुसार चलनेवाली श्रेष्ठ सेनाके साथ यात्राके लिये उद्यत हुए भगवान् श्रीकृष्ण, जो शिवजीके परम प्रिय हैं, एक हाथमें चक्र और दूसरेमें गदा लिये बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ १४ ॥

यादवाश्चापरे तत्र वासुदेवानुयायिनः ।
रथैरादित्यसंकाशैः किङ्किणीप्रतिनादितैः ॥ १५ ॥

दूसरे यादव भी सूर्यके समान तेजस्वी तथा छोटी-छोटी घण्टियोंके नादसे निनादित रथोंद्वारा भगवान् वासुदेवके पीछे-पीछे वहाँ जानेको उद्यत हुए ॥ १५ ॥

उग्रसेनं तु गोविन्दः प्राह निश्चितदर्शनः ।
तिष्ठ त्वं नृपशार्दूल भ्रात्रा मे सहितोऽनघ ॥ १६ ॥

उस समय निश्चित दृष्टि रखनेवाले भगवान् गोविन्दने राजा उग्रसेनसे कहा— 'अनघ ! नृपश्रेष्ठ ! आप मेरे बड़े भाई बलरामजीके साथ यहीं रहिये ॥ १६ ॥

क्षत्रिया विकृतिप्रज्ञाः शास्त्रनिश्चितदर्शनाः ।
पुरीं शून्यामिमां वीर जघन्येऽभिपतन्ति ह ॥ १७ ॥

'वीर ! प्रायः क्षत्रिय छल-कपटमें चतुर होते हैं, उनकी दृष्टि राजनीतितक ही सीमित रहती है । कहीं ऐसा न हो कि वे मेरे जानेके पश्चात् इस पुरीको सूनी समझकर इसपर आक्रमण कर दें ॥ १७ ॥

अस्मात्क शङ्किताः सर्वे जरासंधवशानुगाः ।
मोदन्ते सुखिनस्तत्र देवलोके यथामराः ॥ १८ ॥

'हमसे शङ्कित हो वे सब-के सब जरासंधके वशवर्ती हो गये हैं और देवलोकमें निवास करनेवाले देवताओंकी भाँति वे जरासंधके यहाँ बड़े सुख और आनन्दसे रहते हैं' ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भोजराजो महायशाः ।
कृष्णस्नेहेन विकृतं बभाषे वचनामृतम् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णकी वह बात सुनकर महायशस्वी भोजराज उग्रसेन उनके स्नेहसे गद्गद हुई अमृतमयी वाणीमें बोले ॥ १९ ॥

कृष्ण कृष्ण महाबाहो यदूनां नन्दिवर्द्धन ।
श्रूयतां यदहं त्वद्य वक्ष्यामि रिपुसूदन ॥ २० ॥

'कृष्ण ! कृष्ण !! महाबाहो !!! तुम यादवोंका आनन्द बढ़ानेवाले हो । शत्रुसूदन ! इस समय मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसको सुनो ॥ २० ॥

त्वया विहीनाः सर्वे स्म न शक्ताः सुखमासितुम् ।
पुरेऽस्मिन् विषयान्ते वा पतिहीना इव स्त्रियः ॥ २१ ॥

'तुम्हारे विना हम सब लोग इस नगर या राज्यमें सुखसे नहीं रह सकते, ठीक उसी तरह जैसे पतिहीन स्त्रियाँ कहीं भी सुखसे नहीं रह पाती हैं ॥ २१ ॥

त्वत्सनाथा वयं तात त्वद्बाहुबलमाश्रिताः ।
विभीमो न नरेन्द्राणां सेन्द्राणामपि मानद ॥ २२ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले तात ! तुमसे ही हमलोग सनाथ हैं । तुम्हारे बाहुबलका आश्रय लेकर हम नरेन्द्रोंकी तो बात ही क्या है ? देवेन्द्रसहित देवताओंसे भी नहीं डरते हैं ॥२२॥

विजयाय यदुश्रेष्ठ यत्र यत्र गमिष्यसि ।
तत्र त्वं सहितोऽस्माभिर्गच्छेथा यादवर्षभ ॥ २३ ॥

'यदुश्रेष्ठ ! यादवप्रवर ! तुम विजयके लिये जहाँ-जहाँ भी जाओ, वहाँ हम लोगोंके साथ ही चलो' ॥ २३ ॥

तस्य राज्ञो वचः श्रुत्वा सस्मितं देवकीसुतः ।
यथेष्टं भवतामद्य तथा कर्तास्म्यसंशयम् ॥ २४ ॥

राजा उग्रसेनका यह वचन सुनकर देवकीनन्दन श्रीकृष्ण मुस्कराते हुए बोले, 'महाराज ! आप लोगोंकी जैसी इच्छा होगी, वैसा ही मैं करूँगा इसमें संशय नहीं है' ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु वै कृष्णो जगामाशु रथेन वै ।
भीष्मकस्य गृहं प्राप्तो लोहितायति भास्करे ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर श्रीकृष्ण शीघ्र ही रथसे चल दिये और सूर्यका रंग लाल होते राजा भीष्मकके घरपर जा पहुँचे ॥ २५ ॥

प्राप्ते राजसमाजे तु शिबिराकीर्णभूतले ।
रङ्गं सुविपुलं दृष्ट्वा राजसीं तनुमाविशत् ॥ २६ ॥

राजाओंका समाज आ चुका था । उनके शिविरोंसे कुण्डिनपुरके आस-पासका भूभाग आच्छादित हो गया था । स्वयंवरका रङ्गस्थल भी बहुत विस्तृत था । उसे देखकर भगवान् श्रीकृष्णने राजस प्रकृतिका आश्रय लिया ॥ २६ ॥

वित्रासनार्थं भूपानां प्रकाशार्थं पुरातनम् ।
मनसा चिन्तयामास वैनतेयं महाबलम् ॥ २७ ॥

उन्होंने राजाओंको डराने और अपने प्रभावको प्रकाशित करनेके लिये पुरातन वाहन महाबली विनतानन्दन गरुडका मन-ही-मन चिन्तन किया ॥ २७ ॥

ततश्चिन्तितमात्रस्तु विदित्वा विनतात्मजः ।
सुखलक्ष्यं वपुः कृत्वा निलिल्ये केशवान्तिके ॥ २८ ॥

उनके चिन्तन करनेमात्रसे ही उनके मनोभावको जानकर विनताकुमार गरुड सुखपूर्वक देखने योग्य सौम्य शरीर धारण करके श्रीकृष्णके पास छिपे हुए आये ॥ २८ ॥

तस्य पक्षनिपातेन पवनोद्भ्रान्तकारिणा ।
कम्पिता मनुजाः सर्वे न्युब्जाश्च पतिता भुवि ॥ २९ ॥

उनका पंखसंचालन वायुको भी उद्भ्रान्त कर देनेवाला था । इसकी हवा लगनेसे वहाँके सारे मनुष्य काँप उठे और औंधे होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २९ ॥

गरुडाभिहताः सर्वे प्रचेष्टन्तो यथोरगाः ।
तान् संनिपतितान् दृष्ट्वा कृष्णो गिरिरिवाचलः ॥ ३० ॥

स तदा पक्षवातेन मेने पतगसत्तमम्।

गरुडके वेगसे आहत होकर पृथ्वीपर गिरे हुए वे सारे मनुष्य सर्पोंके समान छटपटाने लगे। उन सबको गिरा हुआ देख पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हुए श्रीकृष्णने उस समय पङ्खकी हवासे ही यह अनुमान कर लिया कि पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड आ गये।(फिर उन्होंने मन-ही-मन उनका आदर किया) ॥ ३०½ ॥

ददर्श गरुडं प्राप्तं दिव्यस्रगनुलेपनम् ॥ ३१ ॥
पक्षवातेन पृथिवीं चालयन्तं मुहुर्मुहुः।

थोड़ी देरमें ही उन्होंने देखा, गरुड आ पहुँचे। वे दिव्य पुष्पोंके हार और दिव्य चन्दनसे अलंकृत थे। वे अपने पंखोंके संचालनसे उठी हुई वायुके द्वारा पृथ्वीको भी बारंबार हिला देते थे ॥ ३१½ ॥

पृष्ठासक्तैः प्रहरणैर्लेलिह्यन्तमिवोरगैः ॥ ३२ ॥
वैष्णवं हस्तसंश्लेषं मन्यमानमवाङ्मुखम्।

उनके पृष्ठभागमें कुछ दिव्य आयुध सटे हुए थे, जिनसे ऐसा जान पड़ता था कि कुछ सर्प उन्हें चाट रहे हैं। वे मुँह नीचे किये मन-ही-मन अनुभव कर रहे थे कि मुझे भगवान् विष्णुके वरद हस्तका स्पर्श प्राप्त हो रहा है॥३२½॥

चरणाभ्यां प्रकर्षन्तं पाण्डुरं भोगिनां वरम् ॥ ३३ ॥
हेमपत्रैरुपचितं धातुमन्तमिवाचलम्।

गरुड अपने दोनों पंजोंसे एक विशाल सर्पको खींचे चले आ रहे थे, जिसका रंग श्वेत था। वे सुवर्णमय पंखोंसे सम्पन्न होनेके कारण विविध धातुओंसे युक्त पर्वतके समान प्रतीत होते थे ॥ ३३½ ॥

अमृतारम्भहर्तारं द्विजिह्वेन्द्रविनाशनम् ॥ ३४ ॥
त्रासनं दैत्यसंघानां वाहनं ध्वजलक्षणम्।

ये वे ही गरुड थे, जिन्होंने एक बार अमृतका अपहरण कर लिया था। वे बड़े-बड़े सर्पराजोंका विनाश करनेमें समर्थ, दैत्यसमूहोंको भयभीत करनेवाले तथा भगवान् विष्णुके ध्वजचिह्न एवं वाहन थे ॥ ३४½ ॥

तं दृष्ट्वा स ध्वजं प्राप्तं सचिवं साम्परायिकम् ॥ ३५ ॥
धृतिमन्तं गरुत्मन्तं जगाद मधुसूदनः।
दृष्ट्वा परमसंहृष्टः स्थितं देवमिवापरम्।
तुल्यसामर्थ्यया वाचा गरुत्मन्तमवस्थितम् ॥ ३६ ॥

अपने ध्वज, सचिव तथा संकटकालके साथी धैर्यवान् गरुडको आया देख भगवान् मधुसूदनको बड़ा हर्ष हुआ। वे दूसरे देवताकी भाँति सामने खड़े थे। इस प्रकार सम्मुख उपस्थित हुए गरुड़से अपने समान शक्तिशालिनी वाणीद्वारा मधुसूदनने इस प्रकार कहा ॥ ३५-३६ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

स्वागतं खेचरश्रेष्ठ सुरसेनारिमर्दन।
विनताहृदयानन्द स्वागतं केशवप्रिय ॥ ३७ ॥

श्रीकृष्ण बोले—आकाशचारियोंमें श्रेष्ठ गरुड ! तुम्हारा स्वागत है। देवसेनाके शत्रुओंका मर्दन करनेवाले केशवप्रिय विनतानन्दन ! तुम्हारा स्वागत है ॥ ३७ ॥

व्रज पत्ररथश्रेष्ठ कैशिकस्य निवेशनम्।
वयं तत्रैव गत्वाद्य प्रतीक्षाम स्वयंवरम् ॥ ३८ ॥

पंख ही जिनका रथ है, उन पक्षियोंमें सबसे श्रेष्ठ गरुड़! तुम राजा कैशिक[1]के भवनमे चलो। हम आज वहीं चलकर स्वयंवरकी प्रतीक्षा करें ॥ ३८ ॥

राज्ञां तत्र समेतानां हस्त्यश्वरथगामिनाम्।
द्रक्ष्यामः शतशस्तत्र समेतानां महात्मनाम् ॥ ३९ ॥

वहाँ हाथी, घोड़े और रथोंद्वारा यात्रा करनेवाले सैकड़ों महामनस्वी नरेश एकत्र हुए हैं, जिनका हमें दर्शन प्राप्त होगा ॥ ३९ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्वैनतेयं महाबलम्।
जगामाथ पुरीं कृष्णः कैशिकस्य महात्मनः ॥ ४० ॥
वैनतेयसखः श्रीमान् यादवैश्च महारथैः।

महाबली विनतानन्दन गरुड़से ऐसा कहकर महाबाहु श्रीमान् कृष्ण गरुड तथा महारथी यादवोंके साथ महामना कैशिककी राजधानी कुण्डिनपुरमें गये ॥ ४०½ ॥

विदर्भनगरीं प्राप्ते कृष्णे देवकिनन्दने ॥ ४१ ॥
हृष्टाः प्रमुदिताः सर्वे निवासायोपचक्रमुः।
सर्वे शस्त्रायुधधरा राजानो बलशालिनः ॥ ४२ ॥

देवकीनन्दन श्रीकृष्णके विदर्भनगरमें पहुँच जानेपर उनके साथके सब लोग बड़े प्रसन्न हुए। सबके मनमे बड़ा हर्ष हुआ। वे समस्त बलशाली तथा अस्त्र-शस्त्रधारी राजपूत वहाँ ठहरनेकी तैयारी करने लगे ॥ ४१-४२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु राजा नयविशारदः।
कैशिकस्तत उत्थाय प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ४३ ॥
अर्घ्यमाचमनं दत्त्वा स राजा कैशिकः स्वयम्।
सत्कृत्य विधिवत् कृष्णं स्वपुरं सम्प्रवेशयत् ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय नीतिविशारद राजा कैशिक प्रसन्नचित्तसे उठकर स्वयं ही श्रीकृष्णके पास गये और उन्हें अर्घ्य, आचमन आदि देकर विधिपूर्वक सत्कार करके अपने नगरमें ले आये ॥ ४३-४४ ॥

पूर्वमेव तु कृष्णाय कारितं दिव्यमन्दिरम्।

---

१. ये राजा कैशिक विदर्भराज भीष्मकके पिता तथा रुक्मीके पितामह थे।

विवेश सबलः श्रीमान् कैलासं शंकरो यथा ॥ ४५ ॥

उन्होंने श्रीकृष्णके लिये पहलेसे ही एक दिव्य भवनका निर्माण करा रखा था। जैसे भगवान् शंकर कैलासधाममे जाते हैं, उसी प्रकार श्रीमान् कृष्णने अपनी सेनाके साथ कैशिकके उस भवनमे प्रवेश किया ॥ ४५ ॥

खाद्यपानादिरत्नौघैरर्चितो वासवानुजः ।
सुखेन उषितः कृष्णस्तस्य राज्ञो निवेशने ।
पूजितो बहुमानेन स्नेहपूर्णेन चेतसा ॥ ४६ ॥

इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्ण उस राजमहलमें खान-पान आदिसे एवं रत्न-राशियोंद्वारा भलीभाँति पूजित हो सुखपूर्वक रहने लगे। राजा कैशिकने बड़े ही सम्मानके साथ स्नेहपूर्ण हृदयसे उनका पूजन किया था ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि रुक्मिणीस्वयंवरे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें रुक्मिणीस्वयंवरविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके आगमनसे चिन्तित हुए राजाओंकी सभामें जरासंध और सुनीथका भाषण

वैशम्पायन उवाच

ते कृष्णमागतं दृष्ट्वा वैनतेयसहाच्युतम् ।
बभूवुश्चिन्तयाविष्टाः सर्वे नृपतिसत्तमाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले श्रीकृष्णको गरुड़के साथ आया देख सभी श्रेष्ठ नरपति चिन्तामग्न हो गये ॥ १ ॥

ते समेत्य सभां राजन् राजानो भीमविक्रमाः ।
मन्त्राय मन्त्रकुशला नीतिशास्त्रार्थवित्तमाः ॥ २ ॥

राजन् ! वे भयानक पराक्रमी राजा नीति-शास्त्रके भी अच्छे ज्ञाता तथा मन्त्रणा करनेमें कुशल थे। उन्होंने परस्पर मन्त्रणा करनेके लिये एक सभामे एकत्र होनेका विचार किया ॥ २ ॥

भीष्मकस्य सभां गत्वा रम्यां हेमपरिष्कृताम् ।
सिंहासनेषु चित्रेषु विचित्रास्तरणेषु च ।
निषेदुस्ते नृपवरा देवा देवसभामिव ॥ ३ ॥

फिर जैसे देवता देवसभामें विराजमान होते हैं, उसी प्रकार वे श्रेष्ठ नरेशगण राजा भीष्मककी सुवर्णभूषित रमणीय सभामें जाकर विचित्र बिछौनोंसे युक्त भाँति-भाँतिके सिंहासनोंपर बैठे ॥ ३ ॥

तेषां मध्ये महाबाहुर्जरासंधो महाबलः ।
बभाषे स महातेजा देवान् देवेश्वरो यथा ॥ ४ ॥

उनके बीचमें महाबली, महातेजस्वी और महाबाहु जरासंधने उसी तरह भाषण देना आरम्भ किया, जैसे देवराज इन्द्र देवताओंके समक्ष प्रवचन करते हैं ॥ ४ ॥

जरासंध उवाच

श्रूयतां भो नृपश्रेष्ठा भीष्मकश्च महामतिः ।
कथ्यमानं मया बुद्ध्या वचनं वदतां वराः ॥ ५ ॥

जरासंध बोला—इस सभामें उपस्थित हुए वक्ताओंमे श्रेष्ठ नरेशो ! मैं यहाँ अपनी बुद्धिके अनुसार जो कुछ कह रहा हूँ, उसे आपलोग तथा परम बुद्धिमान् राजा भीष्मक भी सुनें ॥ ५ ॥

योऽसौ कृष्ण इति ख्यातो वसुदेवसुतो बली ।
वैनतेयसहायेन सम्प्राप्तः कुण्डिनं त्विह ॥ ६ ॥
कन्याहेतोर्महातेजा यादवैरभिसंवृतः ।
अवश्यं कुरुते यत्नं कन्यावाप्तिर्यथा भवेत् ॥ ७ ॥

वे जो श्रीकृष्ण नामसे विख्यात बलवान् वसुदेवपुत्र इस कुण्डिनपुरमें गरुडके साथ पधारे हैं, बड़े तेजस्वी हैं। यहाँकी राजकन्याको प्राप्त करनेके लिये ही वे यादवोंसे घिरे हुए यहाँतक आये हैं। जिस तरह भी कन्याकी प्राप्ति हो सके वैसा प्रयत्न वे अवश्य करेंगे ॥ ६-७ ॥

यदत्र कारणं कार्यं सुनयोपेतमृद्धितम् ।
कुरुध्वं नृपशार्दूला विनिश्चित्य बलाबलम् ॥ ८ ॥

श्रेष्ठ नरपतियो ! यहाँ जो सुनीतिसे युक्त तथा समृद्धिका हेतुभूत कारण (उपाय) काममें लाने योग्य है, उसे अपने बलाबलका विचार करके आपलोग करें ॥ ८ ॥

पदातिनौ महावीर्यौ वसुदेवसुतावुभौ ।
वैनतेयं विना तस्मिन् गोमन्ते पर्वतोत्तमे ।
कृतवन्तौ महाघोरं भवद्भिर्विदितं हि तत् ॥ ९ ॥

वसुदेवके ये दोनों पुत्र महान् पराक्रमी हैं। ये लोग पर्वतोंमें श्रेष्ठ गोमन्तपर गरुडको साथ लिये बिना पैदल ही आये थे, तो भी इन्होंने जो घोर महायुद्ध किया था, वह आपलोगोंको विदित ही है ॥ ९ ॥

वृष्णिभिर्यादवैश्चैव भोजान्धकमहारथैः ।
समेत्य युद्ध्यमानस्य कीदृशो विग्रहो भवेत् ॥ १० ॥

इस समय जब ये यदुवंशी, वृष्णिवंशी, भोजवंशी तथा अन्धकवंशी महारथियोंके साथ मिलकर युद्ध करेंगे, तब इनका

संग्राम कैसा होगा—(यह आपलोग स्वयं अनुमान कर सकते हैं)॥ १० ॥

कन्यार्थे यततानेन गरुडस्थेन विष्णुना।
कः स्थास्यति रणे तस्मिन्नपि शक्रः सुरैः सह॥ ११॥

राजकन्याके लिये यत्न करते हुए इन गरुडवाहन भगवान् विष्णुके साथ युद्धमें देवताओंसहित इन्द्र ही क्यों न हों, कौन ठहर सकेगा ॥ ११ ॥

यदा चास्मै नापि सुता कदाचित् सम्प्रदीयते।
ततो ह्ययं बलादेनां नेतुं शक्तः सुरैः सह॥ १२॥

यदि कदाचित् इन्हें कन्या न भी दी जाय तो ये देवताओंके साथ उपस्थित हो बलपूर्वक इसे ले जानेमें समर्थ हैं॥

पुरा एकार्णवे घोरे श्रूयते मेदिनी त्वियम्।
पातालतलसम्मग्ना विष्णुना प्रभविष्णुना॥ १३॥
वाराहं रूपमास्थाय उद्धृता जगदादिना।
हिरण्याक्षश्च दैत्येन्द्रो वराहेण निपातितः॥ १४॥

सुना जाता है कि प्राचीन कालमें यह पृथ्वी भयंकर एकार्णवमें निमग्न हो रसातलमें जा पहुँची थी। उस समय जगत्‌के आदि कारण इन्हीं प्रभावशाली विष्णुने वाराहरूप धारण करके इसका उद्धार किया था। उस समय दैत्यराज हिरण्याक्षको भी वाराहरूपसे ही मार गिराया था॥ १३-१४॥

हिरण्यकशिपुश्चैव महाबलपराक्रमः।
अवध्योऽमरदैत्यानामृषिगन्धर्वकिन्नरैः॥ १५॥
यक्षराक्षसनागानां नाकाशे नावनिस्थले।
न चाभ्यन्तररात्र्यह्नोर्न शुष्केणार्द्रकेण च॥ १६॥

महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न दैत्यराज हिरण्यकशिपु देवताओं और दैत्योंके लिये भी अवध्य था। ऋषि, गन्धर्व और किन्नर भी उसे मार नहीं सकते थे। यक्ष, राक्षस और नागोंके लिये भी वह अजेय था। वह न तो आकाशमें मर सकता था, न पृथ्वीपर। न रातमें न दिनमें और न सूखे अस्त्रसे न गीले अस्त्रसे ही॥ १५-१६॥

अवध्यस्त्रिषु लोकेषु दैत्येन्द्रस्त्वपराजितः।
नरसिंहेन रूपेण निहतो विष्णुना पुरा॥ १७॥

तीनों लोकोंमें अवध्य वह दैत्यराज किसीसे पराजित होनेवाला नहीं था, तो भी पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने नरसिंहरूप धारण करके उसे मार डाला॥ १७॥

वामनेन तु रूपेण कश्यपस्यात्मजो बली।
अदित्या गर्भसम्भूतो बलिर्बद्धोऽसुरोत्तमः॥ १८॥
सत्यरज्जुमयैः पाशैः कृतः पातालसंश्रयः।

फिर किसी समय बलवान् विष्णु महर्षि कश्यपके पुत्ररूपमें देवी अदितिके गर्भसे प्रकट हुए। उस समय उन्होंने वामनरूप धारण करके असुरराज बलिको सत्यकी रस्सीसे बनाये गये पाशोंद्वारा बाँध लिया और उसे पाताललोकका निवासी बना दिया॥ १८½॥

कार्तवीर्यो महावीर्यः सहस्रभुजविग्रहः॥ १९॥
दत्तात्रेयप्रसादेन मत्तो राज्यमदेन च।

कृतवीर्यका पुत्र महापराक्रमी अर्जुनका शरीर दत्तात्रेयजीकी कृपासे सहस्र भुजाओंसे सुशोभित होता था। वह राज्यमदसे उन्मत्त हो गया था॥ १९½॥

जामदग्न्यो महातेजा रेणुकागर्भसंभवः॥ २०॥
त्रेताद्वापरयोः संधौ रामः शस्त्रभृतां वरः।

(उसके दमनके लिये भगवान् विष्णु) त्रेता और द्वापरकी सन्धिके समय रेणुकाके गर्भसे प्रकट हुए। वे शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी जमदग्निकुमार परशुरामके नामसे प्रसिद्ध हुए॥ २०½॥

परशुना वज्रकल्पेन सप्तद्वीपेश्वरो नृपः।
विष्णुना निहतो भूयः छद्मरूपेण हैहयः॥ २१॥

इस तरह पुनः छद्मरूपधारी भगवान् विष्णुने हैहयवंशमें उत्पन्न राजा कार्तवीर्यको, जो सातों द्वीपोंका स्वामी था, अपने वज्रतुल्य फरसेसे मार डाला॥ २१॥

इक्ष्वाकुकुलसम्भूतो रामो दाशरथिः पुरा।
त्रिलोकविजयं वीरं रावणं संन्यपातयत्॥ २२॥

तत्पश्चात् वे इक्ष्वाकु-कुलमें दशरथनन्दन श्रीरामके रूपमें प्रकट हुए। उन्होंने पूर्वकालमें त्रिलोकविजयी वीर रावणको मार गिराया था॥ २२॥

पुरा कृतयुगे विष्णुः संग्रामे तारकामये।
षोडशार्द्धभुजो भूत्वा गरुडस्थो हि वीर्यवान्॥ २३॥
निजघानासुरान् युद्धे वरदानेन गर्वितान्।
कालनेमिश्च दैतेयो देवानां च भयप्रदः॥ २४॥

प्राचीन कालकी बात है—सत्ययुगमें जब तारकामय संग्राम हुआ था, उस समय पराक्रमी विष्णु आठ भुजाओंसे युक्त हो गरुडपर बैठकर वहाँ पधारे। वहाँ उन्होंने वरदानसे गर्वित हुए असुरोंको युद्धमें मार डाला तथा देवताओंको भय देनेवाले कालनेमि नामक दैत्यका भी वध कर दिया॥ २३-२४॥

सहस्रकिरणाभेन चक्रेण निहतो युधि।
महायोगबलेनाजौ विश्वरूपेण विष्णुना॥ २५॥

यह सम्पूर्ण विश्व जिनका रूप है, उन भगवान् विष्णुने युद्धमें महान् योगबलसे सूर्य-तुल्य तेजस्वी चक्रद्वारा उस दैत्यका संहार किया था॥ २५॥

अनेन प्राप्तकालास्ते निहता बहवोऽसुराः।
वने वनचरा दैत्या महाबलपराक्रमाः॥ २६॥
निहता बालभावेन प्रलम्बारिष्टधेनुकाः।

इन श्रीकृष्णने ऐसे बहुत-से असुरोंको मार डाला है, जिनका काल आ पहुँचा था। वनमें विचरनेवाले महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न प्रलम्ब और धेनुक नामक दैत्योंको इन्होंने बाल्यावस्थामें ही वनके भीतर मार गिराया ॥ २६½ ॥

शकुनीं केशिनं चैव यमलार्जुनकावपि ॥ २७ ॥
नागं कुवलयापीडं चाणूरं मुष्टिकं तथा।
कंसं च बलिनां श्रेष्ठं सगणं देवकीसुतः ॥ २८ ॥
न्यहनद् गोपवेषेण क्रीडमानो हि केशवः।

पूतना, केशी, यमलार्जुन, कुवलयापीड हाथी, चाणूर, मुष्टिक तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ कंसको भी उसके गणोंसहित इन देवकीपुत्र केशवने नष्ट कर दिया है। उस समय ये गोपवेषमें क्रीडा करते थे ॥ २७-२८½ ॥

एवमादीनि दिव्यानि छद्मरूपाणि चक्रिणा ॥ २९ ॥
कृतानि दिव्यरूपाणि विष्णुना प्रभविष्णुना।

इन प्रभावशाली चक्रधारी विष्णुने ये तथा और भी इसी तरहके बहुत से दिव्य छद्मरूप समय-समयपर धारण किये हैं ॥

तेनाहं वः प्रवक्ष्यामि भवतां हितकाम्यया ॥ ३० ॥
तं मन्ये केशवं विष्णुं सुराद्यमसुरान्तकम्।

इसलिये मैं आपलोगोंके हितकी इच्छासे यह कह रहा हूँ कि श्रीकृष्ण देवताओंके आदि कारण एवं असुर-विनाशक विष्णु हैं। मैं उन्हें ऐसा ही समझता हूँ ॥ ३०½ ॥

नारायणं जगद्योनिं पुराणं पुरुषं ध्रुवम् ॥ ३१ ॥
स्रष्टारं सर्वभूतानां व्यक्ताव्यक्तं सनातनम्।
अधृष्यं सर्वलोकानां सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ ३२ ॥
अनादिमध्यनिधनं क्षरमक्षरमव्ययम्।
स्वयम्भुवमजं स्थाणुमजेयं सचराचरैः ॥ ३३ ॥
त्रिविक्रमं त्रिलोकेशं त्रिदशेन्द्रारिनाशनम्।

वे जगत्की उत्पत्तिके स्थानभूत पुराणपुरुष अविनाशी भगवान् नारायण हैं। वे ही समस्त भूतोंकी सृष्टि करनेवाले तथा व्यक्ताव्यक्तस्वरूप सनातन परमात्मा हैं। सम्पूर्ण लोक मिलकर भी उन्हें पराजित नहीं कर सकते। सारा संसार उनके चरणोंमें मस्तक झुकाता है। वे आदि, मध्य और अन्तसे रहित, क्षर (सर्वभूतमय), अक्षर (कूटस्थ) और अविकारी हैं। वे ही स्वयंभू, अजन्मा, सदा स्थिर रहनेवाले तथा चराचर प्राणियोंके लिये अजेय हैं। उन्हींको मैं देवेन्द्रके शत्रुओंका विनाशक, त्रिलोकीनाथ, त्रिविक्रमरूपधारी विष्णु मानता हूँ ॥ ३१—३३½ ॥

इति मे निश्चिता बुद्धिर्जातोऽयं मथुरामधि ॥ ३४ ॥
कुले महति वै राज्ञां विपुले चक्रवर्तिनाम्।
कथमन्यस्य मर्त्यस्य गरुडो वाहनं भवेत् ॥ ३५ ॥

यही मेरी बुद्धिका निश्चय है। ये विष्णु ही मथुरामें चक्रवर्ती राजाओंके महान् एवं विशाल कुलमें प्रकट हुए हैं। अन्यथा दूसरे किसी मनुष्यका वाहन गरुड़ कैसे हो सकते हैं ॥

विशेषेण तु कन्यार्थे विक्रमस्थे जनार्दने।
कः स्थास्यति पुमानद्य गरुडस्याग्रतो बली ॥ ३६ ॥

विशेषतः जब भगवान् जनार्दन राजकन्याकी प्राप्तिके लिये पराक्रम प्रकट करनेपर तुल जायँगे, तब कौन ऐसा बलवान् पुरुष है, जो आज गरुड़के सामने खड़ा हो सकेगा ॥

स्वयंवरकृतेनासौ विष्णुः स्वयमिहागतः।
विष्णोरागमने चैव महान् दोषः प्रकीर्तितः ॥ ३७ ॥
भवद्भिरनुचिन्त्येदं क्रियतां यदनन्तरम्।

इस स्वयंवरके लिये साक्षात् विष्णु यहाँ पधारे हैं। विष्णुका आगमन होनेपर हमारे लिये जो महान् दोष (बाधा) उपस्थित है, उसे मैंने बताया। अब आप लोग भी इसपर विचार करके आगे जो कुछ करना हो, वह करें ॥ ३७½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विब्रुवमाणे तु मगधानां जनेश्वरे ॥ ३८ ॥
सुनीथोऽथ महाप्राज्ञो वचनं चेदमब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मगधदेशका राजा जब इस प्रकार भाषण दे चुका, तब महाबुद्धिमान् सुनीथने इस प्रकार कहा ॥ ३८½ ॥

सुनीथ उवाच

सम्यगाह महाबाहुर्मगधाधिपतिर्नृपः ॥ ३९ ॥
समक्षं नरदेवानां यथावृत्तं महाहवे।
गोमन्ते रामकृष्णाभ्यां कृतं कर्म सुदुष्करम् ॥ ४० ॥

सुनीथ बोले—महाबाहु मगधराज ठीक कहते हैं। गोमन्त पर्वतके समीप महासमरमें जैसी घटना घटित हुई थी तथा बलराम और श्रीकृष्णने जो अत्यन्त दुष्कर कर्म कर दिखाया था, वह इन समस्त नरेशोंने अपनी आँखों देखा था ॥ ३९-४० ॥

गजाश्वरथसम्बाधा पत्तिध्वजसमाकुला।
निर्दग्धा महती सेना चक्रलाङ्गलवह्निना ॥ ४१ ॥

हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी तथा पैदलों और ध्वजोंसे व्याप्त हुई राजाओंकी वह विशाल सेना चक्र और हलरूपी अग्निसे जलकर भस्म हो गयी ॥ ४१ ॥

तेनायं मागधः श्रीमाननागतमचिन्तयत्।
ब्रुवते राजसेनायामनुस्मृत्य सुदारुणम् ॥ ४२ ॥
यदात्योर्युध्यतोस्तत्र बलकेशवयोर्युधि।
दुर्निवार्यतरो घोरो ह्यभवद् वाहिनीक्षयः ॥ ४३ ॥

इसीलिये इन श्रीमान् मगधनरेशने आज भावी परिणामका विचार किया है। राजाओंकी सेनामें जो अत्यन्त दारुण घटना घटित हुई थी, उसका स्मरण करके ये इस समय

उपर्युक्त बात कह गये हैं । वहाँ युद्धमें बलराम और श्रीकृष्ण पैदल ही लड़ रहे थे, तो भी हमारी विशाल वाहिनीका ऐसा घोर संहार हुआ, जिसे रोकना अत्यन्त कठिन हो गया था ॥ ४२-४३ ॥

विदितं वः सुपर्णस्य स्वागतस्य नृपोत्तमाः ।
पक्षवेगानिलोद्धूता बभ्रमुर्गगनेचराः ॥ ४४ ॥

श्रेष्ठ नरपतियो ! गरुड़के आते समय यहाँ जो प्रभाव पड़ा था, उसे आपलोग अच्छी तरह जानते हैं । उनके पंखोंके वेगसे जो वायु उठी थी, उसका झोंका खाकर आकाशचारी प्राणी चक्कर काटने लगे थे ॥ ४४ ॥

समुद्राः क्षुभिताः सर्वे चचालाद्रिर्मही मुहुः ।
वयं सर्वे सुसंत्रस्ताः किमुत्पातेति विक्लवाः ॥ ४५ ॥

सारे समुद्र क्षुब्ध हो उठे थे । पर्वत काँपने लगे और धरती भी बार-बार डोलने लगी थी । हम सब लोग यह सोचकर भयभीत एवं व्याकुल हो गये थे कि यह कैसा उत्पात खड़ा हो गया ॥ ४५ ॥

यदा संनह्य युध्येत आरूढः केशवः खगम् ।
कथमस्मद्विधः शक्तः प्रतिस्थातुं रणाजिरे ॥ ४६ ॥

जब केशव कवच बाँधकर गरुड़की पीठपर आरूढ़ हो युद्ध करेंगे, उस समय हमारे-जैसा पुरुष समराङ्गणमें कैसे ठहर सकता है ॥ ४६ ॥

राज्ञां स्वयंवरो नाम सुमहान् हर्षवर्धनः ।
कृतो नरवरैराद्यैर्यशोधर्मस्य वै विधिः ॥ ४७ ॥

स्वयंवर राजाओंके लिये महान् आनन्दवर्धक उत्सव है । पूर्वकालके श्रेष्ठ नरेशोंने इसे सुयश और धर्मकी सिद्धिके लिये प्रचलित किया था ॥ ४७ ॥

इदं तु कुण्डिनगरमासाद्य मनुजेश्वराः ।
पुनरेवेप्स्यते क्षिप्रं महापुरुषविग्रहम् ॥ ४८ ॥

परंतु मनुजेश्वरो ! इस कुण्डिनपुरमें आकर हमारे सामने पुनः शीघ्र ही महापुरुषके साथ महान् युद्धका अवसर आना चाहता है ॥ ४८ ॥

यदि सा वरयेदन्यं राज्ञां मध्ये नृपात्मजा ।
कृष्णस्य भुजयोर्वीर्यं कः पुमान् प्रसहिष्यति ॥ ४९ ॥

यदि राजकुमारी रुक्मिणी राजाओंके बीचमें किसी दूसरे नरेशका वरण कर ले, तब कौन ऐसा पुरुष है—जो श्रीकृष्णकी भुजाओंका पराक्रम सह सकेगा ॥ ४९ ॥

विज्ञापितमिदं दोषं स्वयंवरमहोत्सवे ।
तदर्थमागतः कृष्णो वयं चैव नराधिपाः ॥ ५० ॥

इस स्वयंवर-महोत्सवमें यह युद्धकी सम्भावना ही महान् दोष है, जिसे सूचित कर दिया गया । श्रीकृष्ण तथा हम सब नरेश भी स्वयंवरके लिये ही यहाँ पधारे हैं ॥ ५० ॥

कृष्णस्यागमनं चैव नृपाणामतिगर्हितम् ।
कन्याहेतोर्नरेन्द्राणां यथा वदति मागधः ॥ ५१ ॥

राजकन्याके उद्देश्यसे श्रीकृष्णका आगमन हम सब नरेशोंके लिये अत्यन्त गर्हित सिद्ध हो रहा है—जैसा कि मगधराजका कथन है ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि रुक्मिणीस्वयंवरे मागधसुनीथवाक्ये अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें रुक्मिणीस्वयंवरके प्रसंगमें जरासंध और सुनीथका भाषणविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दन्तवक्त्र और शाल्वका भाषण सुनकर भीष्मकका श्रीकृष्णके प्रभावका वर्णन करते हुए उन्हें प्रसन्न करनेका ही निश्चय करना

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते वचने सुनीथेन महात्मना ।
करूषाधिपतिर्वीरो दन्तवक्त्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महामना सुनीथके ऐसा कहनेपर करूषदेशके वीर राजा दन्तवक्त्रने भाषण देना आरम्भ किया ॥ १ ॥

दन्तवक्त्र उवाच

यदुक्तं मागधेनात्र सुनीथेन नराधिपाः ।
युक्तपूर्वमहं मन्ये यदस्माकं वचो हितम् ॥ २ ॥

दन्तवक्त्र बोला—राजाओ ! यहाँ मगधराजने और राजा सुनीथने जो कुछ कहा है, उसे मैं युक्तिसंगत मानता हूँ; क्योंकि इनका प्रवचन हमलोगोंके लिये हितकर है ॥ २ ॥

न च विद्वेषणेनाहं न चाहंकारवादिना ।
न चात्मविजिगीषुत्वाद् दूषयामि वचोऽमृतम्॥ ३ ॥

मैं न तो विद्वेषके कारण, न अहंकारवादी होनेके कारण और न अपनी विजयकी अभिलाषा रखनेके ही कारण आप दोनोंके अमृतमय वचनोंको सदोष बता रहा हूँ ॥ ३ ॥

वाक्यार्णवं महागाधं नीतिशास्त्रार्थबृंहितम् ।
क एष निखिलं वक्तुं शक्तो वै राजसंसदि ॥ ४ ॥

इस राजसभामें कौन ऐसा पुरुष है जो इस प्रकार समुद्रके समान अत्यन्त अगाध एवं नीतिशास्त्रके अनुकूल सद्गुणसम्पन्न बात कह सके ॥ ४ ॥

किं त्वनुस्मरणार्थेऽहं यद् ब्रवीमि शृणुध्वं मे ।
आगतो वासुदेवेति किमाश्चर्यं नराधिपाः ॥ ५ ॥

परंतु आपलोगोंको एक कर्तव्यकी याद दिलानेके लिये मैं जो कुछ कहता हूँ, मेरी यह बात सुन लीजिये । नरेश्वरो ! यदि वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधारे हैं, तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है ॥ ५ ॥

यथाऽऽगता वयं सर्वे कृष्णोऽपीह तथाऽऽगतः ।
किमत्र दोषो गौण्यो वा कन्याहेतोः समागताः ॥ ६ ॥

जैसे हम सब लोग यहाँ आये हैं, उसी तरह श्रीकृष्ण भी चले आये हैं । इसमें क्या दोष है और क्या गुण । हम सब लोगोंके आगमनका एक ही उद्देश्य है—राजकन्याकी प्राप्ति॥

यदस्माभिः समेत्यैक्यात् कृतं गोमन्तरोधनम् ।
तत्र युद्धकृतं दोषं कथं वै वक्तुमर्हथ ॥ ७ ॥

हमलोगोंने एक साथ मिलकर आपसमें एकता स्थापित करके जो गोमन्त पर्वतपर घेरा डाल रखा था, उस दशामें यदि वहाँ युद्ध हुआ तो उसे आपलोग दोष कैसे बता रहे हैं॥

वनवासे स्थितौ वीरौ कंसव्यामोहहेतुना ।
देवर्षिवचनाद् राजन् वृन्दावनतटे स्थितौ ॥ ८ ॥
तावाहूय वधार्थेन उभौ रामजनार्दनौ ।
नागेनोद्दीपितौ वीरौ हत्वा नागं विवेशतुः ॥ ९ ॥
ततः स्ववीर्यमाश्रित्य निहतो रङ्गसागरे ।
गतासुरिव चासीनो मथुरेशः सहानुगः ॥ १० ॥
किमत्र विहितो दोषो येनास्माभिर्वनेऽधिकैः ।
उपरोधपरा राजन् वयं सर्वे समागताः ॥ ११ ॥

राजन् ! वीर बलराम और श्रीकृष्ण कंसको मोहमें डालनेके लिये ही वनवास कर रहे थे । वृन्दावनके किनारे रहते थे; परंतु देवर्षि नारदके कहनेसे उन दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्णको कंसने उनका वध करनेके लिये बुलवाया और कुवलयापीड हाथीके द्वारा आक्रमण कराकर उन दोनों वीरोंके क्रोधको उद्दीपित किया । उस दशामें वे दोनों उस हाथीको मारकर समुद्रके समान विशाल रंगशालामें प्रविष्ट हुए; फिर उन्होंने अपने बाहुबलका आश्रय लेकर मुर्देके समान बैठे हुए मथुरानरेशको यदि उसके साथियोंसहित मार डाला तो इसमें उनके द्वारा क्या दोष बन गया । राजन् ! इसी तरह कंसका वध करके यदि श्रीकृष्ण और बलरामने हम वयोवृद्ध नरेशोंके साथ विरोध किया और उस दशामें यदि हम सब लोगोंने वहाँ पहुँचकर मथुरापुरीपर घेरा डाल दिया तो उसमें भी क्या दोष था ॥ ८–११ ॥

सेनातिबलमालोक्य विग्रस्तौ रामकेशवौ ।
पुरं बलं समुत्सृज्य गोमन्तं च गतावुभौ ॥ १२ ॥

हमारी सेनाका महान् बल देखकर बलराम और कृष्ण डर गये और अपने नगर तथा सेनाको छोड़कर दोनों भाई गोमन्तपर्वतपर चले गये ॥ १२ ॥

तथापि गतमस्माभिर्हन्तुं समग्रयोधिभिः ।
अप्राप्तयौवनाभ्यां च पदातिभ्यां रणाजिरे ॥ १३ ॥
रथाश्वनरनागेन नास्माभिर्विग्रहः कृतः ।
कृत्वोपरोधं शैलस्य क्षत्रधर्मेण दीपितः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् हम समराङ्गणमें युद्ध करनेवाले योद्धाओंने उन्हें मार डालनेके लिये वहाँ भी धावा किया । वे दोनों अभी जवान नहीं हुए थे और रणभूमिमें पैदल ही लड़ते थे; इसलिये हमने हाथी-घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंकी चतुरङ्गिणी सेनाद्वारा उनके साथ युद्ध नहीं किया; अपितु क्षत्रिय-धर्मके अनुसार गोमन्तपर्वतपर घेरा डालकर उसमें आग लगा दी थी॥

दावाग्निमुखमाविश्य दुर्विनीततपस्विनौ ।
विनीत इति मन्यामः सर्वे क्षत्रियपुङ्गवाः ।
प्रतियुद्धे कृते त्वेवं दूषयाम जनार्दनम् ॥ १५ ॥

हम सभी क्षत्रिय-पुङ्गव यह समझते थे कि ये दोनों उद्दण्ड तपस्वी बालक दावानलके मुखमें पड़कर सीख जायँगे (अपने कियेका फल पा जायँगे) । ऐसी दशामें उन दोनों भाइयोंने यदि प्रतिरोधात्मक युद्ध किया तो हम जनार्दनको इस तरह दोष क्यों दें (उन्होंने जो कुछ किया, ठीक ही किया) ॥ १५ ॥

यत्र यत्र प्रयास्यामो वयं तत्र भवेत् कलिः ।
प्रीत्यर्थं प्रयतिष्यामः कृष्णेन सह भूमिपाः ॥ १६ ॥

(श्रीकृष्णसे वैर रखनेपर) हमलोग जहाँ-जहाँ जायँगे, वहीं-वहीं कलह हो सकता है । अतः राजाओ ! आजसे हम श्रीकृष्णके साथ प्रेम बढ़ानेका प्रयत्न करेंगे ॥ १६ ॥

इदं कुण्डिनपुरं कृष्णो नागतः कलिहेतुना ।
कन्यानिमित्तागमने कस्य युद्धं प्रयच्छति ॥ १७ ॥

इस कुण्डिनपुरमें श्रीकृष्ण युद्धके लिये नहीं आये हैं । यदि राजकन्याके निमित्त ही उनका आगमन हुआ है, तब वे किसके साथ युद्ध करेंगे ॥ १७ ॥

मर्त्येऽस्मिन् पुरुषेन्द्रोऽसौ न कश्चित् प्राकृतो नरः ।
देवलोकेषु देवेषु प्रवरः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

वे कोई प्राकृत मनुष्य नहीं हैं । इस मर्त्यलोकमें श्रेष्ठ पुरुष हैं । देवलोकवासी देवताओंमें भी सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तम हैं॥

देवानामपि कर्तासौ लोकानां च विशेषतः ।
न चैव बालिशा बुद्धिर्न चेर्ष्या नापि मत्सरः ॥ १९ ॥

वे देवताओंके भी कर्ता हैं और विशेषतः सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा भी वे ही हैं। उनकी बुद्धि गँवारों-जैसी नहीं है। उनके मनमें न ईर्ष्या है, न मात्सर्य ॥ १९ ॥

न स्तब्धो न कृशो नार्तः प्रणतार्तिहरः सदा ।
एष विष्णुः प्रभुर्देवो देवानामपि दैवतम् ॥ २० ॥

ये न तो कठोर हैं, न दुर्बल हैं और न रोग-शोकसे पीड़ित ही हैं। ये तो सदा शरणागतोंका दुःख दूर करते रहते हैं। ये श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् विष्णु तथा देवताओंके भी देवता हैं ॥ २० ॥

आगतो गरुडेनेहच्छद्मप्राकाश्यहेतुना ।
नानास्त्रसहितो याति कृष्णः शत्रुविनाशने ॥ २१ ॥
इमां यात्रां विजानीध्वं प्रीत्यर्थं ह्यागतो हरिः ।
सहितो यादवेन्द्रैश्च भोजवृष्ण्यन्धकैरिह ॥ २२ ॥

इस समय ये अपने छद्मरूपको प्रकाशित करनेके लिये गरुड़के द्वारा यहाँ पधारे हैं। श्रीकृष्ण शत्रुओंका विनाश करनेके लिये नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंके साथ यात्रा करते हैं। परंतु उनकी इस यात्राको वैसा न समझो। इस समय तो ये श्रीहरि भोज, वृष्णि, अन्धक आदि यादवेन्द्रोंके साथ यहाँ प्रीति बढ़ानेके लिये ही आये हैं ॥ २१-२२ ॥

अर्घ्यमाचमनं दत्त्वा आतिथ्यं च नराधिपाः ।
करिष्यामो वयं सर्वे केशवाय महात्मने ॥ २३ ॥

अतः नरेश्वरो! हम सब लोग यहाँ महात्मा केशवको अर्घ्य और आचमन आदि देकर उनका आतिथ्य-सत्कार करेंगे ॥ २३ ॥

एवं संधानतः कृत्वा कृष्णेन सहिता वयम् ।
वसामो विगतोद्वेगा निर्भया विगतज्वराः ॥ २४ ॥

इस प्रकार सन्धि करके हमलोग श्रीकृष्णके साथ उद्वेग, भय और चिन्तासे रहित होकर निवास करेंगे ॥ २४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दन्तवक्त्रस्य धीमतः ।
शाल्वः प्रवदतां श्रेष्ठस्तानुवाच नराधिपान् ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् दन्तवक्त्रका यह वचन सुनकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ शाल्वने उन नरेशोंसे कहा—॥ २५ ॥

शाल्व उवाच

किं भयेनास्य नः सर्वे न्यस्तशस्त्रा भवामहे ।
संधानकरणाद्धेतोः कृष्णस्य भयकम्पिताः ॥ २६ ॥

शाल्व बोला—राजाओ! यदि ऐसी बात है तो क्या हम सब लोग श्रीकृष्णके भयसे अब अपने अस्त्र-शस्त्र नीचे डालकर निहत्थे हो जायँ। सन्धि करनेके हेतुसे तो यही पता लगता है कि सब नरेश श्रीकृष्णके भयसे काँप रहे हैं ॥ २६ ॥

परस्तवेन किं कार्यं विनिन्द्य बलमात्मनः ।
नैष धर्मो नरेन्द्राणां क्षात्रे धर्मे च तिष्ठताम् ॥ २७ ॥

अपने बलकी निन्दा करके दूसरेकी स्तुति करनेसे क्या प्रयोजन। क्षत्रिय-धर्ममें स्थित रहनेवाले नरेशोंका यह धर्म नहीं है ॥ २७ ॥

महत्सु राजवंशेषु सम्भूताः कुलवर्द्धनाः ।
तेषां कापुरुषा बुद्धिः कथं भवितुमर्हति ॥ २८ ॥

जो महान् राजवंशोंमें उत्पन्न होकर अपने कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले हैं, उन राजाओंकी बुद्धिमें ऐसे कायरतापूर्ण विचारका उदय कैसे हो सकता है ॥ २८ ॥

अहं जानामि वै कृष्णमादिदेवं सनातनम् ।
प्रभुं सर्वामरेन्द्राणां नारायणपरायणम् ॥ २९ ॥

मैं जानता हूँ, श्रीकृष्ण समस्त अमरेश्वरोंके स्वामी आदिदेव सनातन पुरुष हैं। नारायण ही इनके महान् आश्रय (स्वरूप) हैं ॥ २९ ॥

वैकुण्ठमजयं लोके चराचरगुरुं हरिम् ।
सम्भूतं देवकीगर्भे विष्णुं लोकनमस्कृतम् ॥ ३० ॥
कंसराजवधार्थाय भारावतरणाय च ।
अस्माकं च विनाशाय लोकसंरक्षणाय च ॥ ३१ ॥
अंशावतरणे कृत्स्नं जाने विष्णोर्विचेष्टितम् ।

लोकमें अजेय, वैकुण्ठ-धामके अधिपति, चराचरगुरु, पापहारी विश्ववन्दित भगवान् विष्णु ही पृथ्वीका भार उतारने, कंसराजको मारने तथा हमारा विनाश और सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करनेके लिये देवकीके गर्भसे प्रकट हुए हैं। अपने अंशसहित भगवान् विष्णुके इस पूर्ण अवतारमें जो-जो कार्य होनेवाला है, वह सब मैं अच्छी तरह जानता हूँ ॥ ३०-३१½ ॥

संग्राममतुलं कृत्वा विष्णुना सह भूमिपाः ॥ ३२ ॥
चक्रानलविनिर्दग्धा यास्यामो यमसादनम् ।

अतः भूमिपालो! हमलोग इन भगवान् विष्णुके साथ अनुपम संग्राम करके इनकी चक्राग्निसे दग्ध हो यमलोकमें जा पहुँचेंगे ॥ ३२½ ॥

तत्त्वं जानामि राजेन्द्राः कालेनायुःक्षयो भवेत् ॥ ३३ ॥
नाकाले म्रियते कश्चित् प्राप्ते काले न जीवति ।

राजेन्द्रगण! मैं इस तत्त्वको जानता हूँ कि कालसे ही आयु क्षीण होती है। जबतक काल न आया हो कोई नहीं मरता है और काल आ जानेपर कोई जीवित नहीं रहता ॥

एवं विनिश्चयं कृत्वा न कुर्यात् कस्यचिद् भयम् ॥ ३४ ॥
स एव भगवान् विष्णुरालोक्य तपसः क्षयम् ।
निहन्ता दितिजेन्द्राणां यथाकालेन योगवित् ॥ ३५ ॥

अपने मनमें ऐसा दृढ़ निश्चय रखकर कभी किसीसे भय नहीं रखना चाहिये। वे ही योगवेत्ता भगवान् विष्णु दैत्य-

राजोंकी तपस्या क्षीण हुई देख यथासमय उनका संहार करते हैं ॥ ३४-३५ ॥

बलिं वैरोचनिं चैवं वद्ध्वावध्यं महाबलम् ।
कृतवान् देवदेवेशः पातालतलवासिनम् ॥ ३६ ॥

उन्हीं देवदेवेश्वरने महाबली विरोचनकुमार बलिको, जो किसीके हाथसे मारे जानेवाले नहीं हैं, बाँधकर उन्हें पाताल-लोकका निवासी बना दिया है ॥ ३६ ॥

एवमादीनि वै विष्णोश्चेष्टानि च नराधिपाः ।
तस्मादयुक्तं भवतां विग्रहार्थं विचारणम् ॥ ३७ ॥

नरेश्वरो ! भगवान् विष्णुकी ऐसी ही चेष्टाएँ हुआ करती हैं । अतः आप लोगोंका युद्धके लिये विचार करना अनुचित है ॥ ३७ ॥

न च संग्रामहेतोर्हि कृष्णस्यागमनं त्विह ।
यस्य वा कस्य वा कन्या वरयिष्यति तस्य सा ।
किमत्र विग्रहो राज्ञां प्रीतिर्भवतु वै ध्रुवम् ॥ ३८ ॥

श्रीकृष्णका यहाँ आना युद्धके लिये नहीं हुआ है । राजकन्या जिस किसीका भी वरण करेगी, उसीकी पत्नी होगी । इसमें झगड़ेकी कौन-सी बात है । राजाओंमें सदा अटल प्रीति बनी रहनी चाहिये ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं कथयमानानां नृपाणां बुद्धिशालिनाम् ।
न किंचिदब्रवीद् राजा भीष्मकः पुत्रकारणात् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन बुद्धिशाली नरेशोंके इस प्रकार कहनेपर भी राजा भीष्मक अपने पुत्रके कारण कुछ बोल न सके ॥ ३९ ॥

महावीर्यमदोत्सिक्तं भार्गवास्त्राभिरक्षितम् ।
रणप्रचण्डातिरथं विचिन्त्य मनसा सुतम् ॥ ४० ॥

वह अपने महान् बलके घमंडमें भरा रहता था । भार्गवास्त्रसे सुरक्षित था और रणभूमिमें प्रचण्ड पराक्रम प्रकट करनेवाला अतिरथी वीर था । भीष्मकने मन-ही-मन अपने उस पुत्रका चिन्तन करके इस प्रकार कहा—॥ ४० ॥

भीष्मक उवाच

कृष्णं न सहते नित्यं पुत्रो मे बलदर्पितः ।
नित्याभिमानी च रणे न बिभेति च कस्यचित् ॥ ४१ ॥

भीष्मक बोले—मेरा पुत्र सदा बलके घमंडमें भरा रहनेवाला और अभिमानी है । वह श्रीकृष्ण और उनके प्रभावको सहन नहीं कर पाता है तथा युद्धमें किसीसे डरता नहीं है ॥ ४१ ॥

कृष्णस्य भुजवीर्येण ह्रियते नात्र संशयः ।
भविष्यति ततो युद्धं महापुरुषविग्रहम् ॥ ४२ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि श्रीकृष्णकी भुजाओंके बलसे कन्याका अपहरण होगा । उस अवसरपर महापुरुषके साथ महान् विग्रह एवं युद्ध होकर ही रहेगा ॥ ४२ ॥

द्वेषी चैवाभिमानी च कुतो जीवति मे सुतः ।
जीवितं नात्र पश्यामि मम पुत्रस्य केशवात् ॥ ४३ ॥

उस अवस्थामें श्रीकृष्णसे द्वेष रखनेवाला मेरा अभिमानी पुत्र कैसे जीवित रह सकता है । अतः मुझे श्रीकृष्णके हाथसे यहाँ अपने पुत्रके जीवनकी रक्षा होती नहीं दिखायी देती ॥

कन्याहेतोः सुतं ज्येष्ठं पितॄणां नन्दिवर्द्धनम् ।
कारयिष्ये कथं युद्धं पुत्रेण सह केशवम् ॥ ४४ ॥

कन्याके लिये पितरोंका आनन्द बढ़ानेवाले अपने ज्येष्ठ पुत्रको केशवके साथ और केशवको अपने पुत्रके साथ युद्ध करनेका अवसर कैसे दूँगा ॥ ४४ ॥

न च नारायणं देवं वरमिच्छति रुक्मवान् ।
मूढभावो मदोन्मत्तः संग्रामेष्वनिवर्तकः ।
नियतं भस्मसाद् याति तूलराशिर्यथानलात् ॥ ४५ ॥

रुक्मीका मनोभाव मूढ़तासे भरा हुआ है । अतः वह भगवान् नारायणको रुक्मिणीका वर बनाना नहीं चाहता । वह बलके मदसे उन्मत्त रहता और युद्धसे कभी मुँह नहीं मोड़ता है । अतः जैसे आग लगनेसे रूईका ढेर जल जाता है, उसी प्रकार वह श्रीकृष्णसे भिड़कर निश्चय ही भस्म हो जायगा ॥ ४५ ॥

करवीरेश्वरः शूरः शृगालश्चित्रयोधिना ।
क्षणेन भस्मसान्नीतः केशवेन बलीयसा ॥ ४६ ॥

विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले अत्यन्त बलवान् केशवने करवीरपुरके शूरवीर राजा शृगालको क्षणभरमें धूलमें मिला दिया ॥ ४६ ॥

वृन्दावनेऽवसच्छ्रीमान् केशवो बलिनां वरः ।
उद्धृत्यैकेन हस्तेन सप्ताहं धृतवान् गिरिम् ॥ ४७ ॥
दुष्करं कर्म संस्मृत्य मनः सीदति मे भृशम् ॥ ४८ ॥

जब बलवानोंमें श्रेष्ठ श्रीमान् केशव वृन्दावनमें रहते थे, उस समय उन्होंने गोवर्धन पर्वतको उठाकर सात दिनोंतक उसे एक ही हाथसे धारण कर रखा था । उनके उस दुष्कर कर्मको याद करके मेरा हृदय अत्यन्त शिथिल हो जाता है ॥ ४७-४८ ॥

नगेन्द्रे सहसाऽऽगम्य दैवतैः सह वृत्रहा ।
अभिषिच्याब्रवीत् कृष्णमुपेन्द्रेति शचीपतिः ॥ ४९ ॥

उस समय देवताओंके साथ वृत्रासुरविनाशक शचीपति इन्द्रने सहसा गिरिराज गोवर्धनपर आकर श्रीकृष्णका गौओंके इन्द्रके पदपर अभिषेक किया और उन्हें उपेन्द्र कहकर पुकारा ॥

यथा वै दमितो नागः कालियो यमुनाह्रदे ।
विषाग्निज्वलितो घोरः कालान्तकसमप्रभः ॥ ५० ॥

यमुनाके कुण्डमें निवास करनेवाले घोर कालिय नाग अपनी विषाग्निसे प्रज्वलित हो काल और अन्तकके समान प्रतीत होता था; किंतु इन श्रीकृष्णने उसका भी जिस प्रकार दमन किया (वह सबको विदित है) ॥ ५० ॥

केशी चापि महावीर्यो दानवो हयविग्रहः ।
निहतो वासुदेवेन देवैरपि दुरासदः ॥ ५१ ॥

महापराक्रमी केशी नामक दानव घोड़ेका शरीर धारण करके रहता था । उसको जीतना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन था; परंतु इन भगवान् वासुदेवने उसको भी मार डाला ॥ ५१ ॥

सान्दीपनिसुतश्चैव चिरनष्टो हि सागरे ।
दैत्यं पञ्चजनं हत्वा आनीतो यममन्दिरात् ॥ ५२ ॥

इन्होंने समुद्रमें चिरकालसे नष्ट हुए सान्दीपनिके पुत्रको पञ्चजन दैत्यका वध करके यमलोकसे ला दिया था ॥

गोमन्ते सुमहद् युद्धं बहुभिर्वेष्टितावुभौ ।
कृत्वा वित्रासजननं नागाश्वरथसंक्षयम् ॥ ५३ ॥
गजेन गजवृन्दानि रथेन रथयोधिनः ।
सादिनश्चाश्वयोधेन नरेण च पदातिनः ।
जघ्नतुस्तौ महावीर्यौ वसुदेवसुतावुभौ ॥ ५४ ॥

गोमन्त पर्वतपर जो महान् युद्ध हुआ था, उसमें बहुत-से राजाओंद्वारा यह दोनों भाई घिर गये थे । परंतु वसुदेवके उन दोनों महापराक्रमी पुत्रोंने हाथी, घोड़े तथा रथोंका संहाररूप अत्यन्त भयदायक पराक्रम कर दिखाया । हाथीसे हाथियोंके समूहोंको, रथसे रथारूढ़ योद्धाओंको, घुड़सवारसे ही घुड़सवारोंको और पैदल योद्धासे ही पैदलोंको मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥ ५३-५४ ॥

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः ।
न नागा न च दैत्येन्द्रा न पिशाचा न गुह्यकाः ॥ ५५ ॥
कृतवन्तस्तथा घोरं गजाश्वरथसंक्षयम् ।
तमनुस्मृत्य संग्रामं भृशं सीदति मे मनः ॥ ५६ ॥

देवताओं, असुरों, गन्धर्वों, यक्षो, सर्पों, राक्षसों, नागों, दैत्यराजों, पिशाचों और गुह्यकोंने भी कभी हाथी, घोड़े और रथोंका ऐसा घोर संहार नहीं मचाया था । उस संग्रामको बारंबार याद करके मेरा मन शिथिल होता जा रहा है ॥ ५५-५६ ॥

न मया श्रुतपूर्वो वा दृष्टपूर्वः कुतोऽपि वा ।
तादृशो भुवि मर्त्योऽन्यो वासुदेवात् सुरोत्तमात् ॥ ५७ ॥

मैंने पहले कभी भूतलपर सुरश्रेष्ठ भगवान् वासुदेवको छोड़कर दूसरे किसी वैसे मनुष्यका होना न तो देखा है और न सुना ही है ॥ ५७ ॥

सम्यगाह महाबाहुर्दन्तवक्त्रो महीपतिः ।
सान्त्वयित्वा महावीर्यं संविधास्याम यत्क्षमम् ॥ ५८ ॥

महाबाहु राजा दन्तवक्त्र ठीक कहते हैं । हम पहले महापराक्रमी श्रीकृष्णको सान्त्वनाद्वारा शान्त करके फिर जैसा उचित हो वैसा करें ॥ ५८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति संचिन्त्य मनसा बलाबलविनिश्चयम् ।
गमनाय मतिं चक्रे प्रसादयितुमच्युतम् ॥ ५९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार मन-ही-मन अपने बलाबलका निश्चय करके राजा भीष्मकने भगवान् श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये उनके पास जानेका विचार किया ॥ ५९ ॥

चिन्तयानो नरेन्द्रस्तु बहुभिर्नयशालिभिः ।
सूतमागधवन्दिभ्यो बोधितः स्तुतिमङ्गलैः ॥ ६० ॥

बहुत-से नीतिशाली विद्वान् मन्त्रियोंके साथ विचार करते हुए राजा भीष्मक जब रातमें सो गये, तब सबेरा होनेके समय सूतों, मागधों और वन्दियोंके मुखसे स्तुति एवं मङ्गल-पाठ सुनकर जगे ॥ ६० ॥

प्रभातायां रजन्यां तु कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः ।
उपविष्टा नृपाः सर्वे स्वेषु विश्रामवेश्मसु ॥ ६१ ॥

जब रात बीतनेपर प्रभातकाल आया, तब सब नरेश पूर्वाह्णकालके नित्यकर्म पूर्ण करके अपने-अपने विश्राम-भवनोंमें बैठे ॥ ६१ ॥

ये विसृष्टास्तु राजानो विदर्भायां नराधिपैः ।
तैरागम्य स्वभूपेषु रहो गत्वा निवेदितम् ॥ ६२ ॥

राजाओंने अपनी ओरसे जिन-जिन राजकुमारोंको विदर्भपुरीमें भेजा था, उन्होंने लौटकर अपने-अपने राजाओंके पास एकान्तमें जाकर वहाँका समाचार निवेदन किया ॥ ६२ ॥

श्रुत्वा कृष्णाभिषेकं तु केचिद् धृष्टा नराधिपाः ।
केचिद् दीनतरा भीता उदासीनास्तथा परे ॥ ६३ ॥

श्रीकृष्णके अभिषेकका समाचार सुनकर कुछ नरेश तो बहुत ही प्रसन्न हुए, कुछ लोग अत्यन्त दीन, भयभीत हो गये और दूसरे राजा उदासीन (तटस्थ) बने रहे ॥ ६३ ॥

त्रिधा प्रभिन्ना सा सेना नरनागाश्वमालिनी ।
महार्णव इव क्षुब्धा अभिषेकेण चालिता ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णके अभिषेकसे चालित हुई मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंसे भरी हुई वह सेना तीन भागोंमें बँट गयी और महासागरके समान विक्षुब्ध हो उठी ॥ ६४ ॥

नृपाणां भेदमालोक्य भीष्मको राजसत्तमः ।
व्यतिक्रममचिन्त्यं च कृतं नृपतिना स्वयम् ॥ ६५ ॥

विचिन्त्य मनसा राजा दह्यमानेन चेतसा।
जगाम नरदेवानां समाजे प्रतिबोधितुम् ॥ ६६ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ भीष्मक उन नरेशोंमें भेद हुआ देखकर और स्वयं अपने ही किये हुए अचिन्त्य अपराधका विचार करके मन-ही-मन चिन्तासे दग्ध होते हुए उन नरदेवोंके समाजमें उन्हें समझानेके लिये गये ॥ ६५-६६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे दूताः सम्प्राप्ताः क्रथकैशिकौ।
लेखमुद्धृत्य शिरसा विविशुस्ते नृपार्णवम् ॥ ६७ ॥

इसी बीचमें इन्द्रके दूत राजा क्रथ और कैशिकके पास जा पहुँचे और सिर झुका एक पत्र निकालकर उन्हें दिया; फिर वे राजाओंके समुद्र-जैसे समाजमें घुस गये ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि रुक्मिणीस्वयंवरे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें रुक्मिणीस्वयंवरविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

क्रथ और कैशिकद्वारा भगवान् श्रीकृष्णको अपने राज्यका समर्पण, देवराज इन्द्रके आदेशसे सब नरेशोंद्वारा भगवान्‌का राजेन्द्रके पदपर अभिषेक तथा भगवान्‌का सबको आश्वासन देना

जनमेजय उवाच

हत्वा कंसं महावीर्यं देवैरपि दुरासदम्।
नाभिषिक्तः स्वयं राज्ये नोपविष्टो नृपासने ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने! जो देवताओंके लिये भी दुर्जय था, उस महापराक्रमी कंसका वध करके भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं न तो राज्यपर अभिषिक्त हुए और न राजाके आसनपर ही बैठे, इसका क्या कारण है? ॥ १ ॥

कन्यार्थे चागतः कृष्णस्तत्रापि न कृतोऽतिथिः।
अमानमतुलं प्राप्य क्षान्तवान् केन हेतुना ॥ २ ॥

भगवान श्रीकृष्ण कुण्डिनपुरमें कन्याके लिये आये थे परंतु वहाँ भी वे निमन्त्रित अतिथि नहीं बनाये गये थे (अपने आप बिना बुलाये आये थे और अपने प्रभावके कारण पूजित हुए थे)। ऐसे अनुपम अपमानको पाकर भी श्रीकृष्णने किसलिये क्षमा कर दी ॥ २ ॥

विनतायाः सुतश्चैव महाबलपराक्रमः।
स चापि क्षमया युक्तः कारणं किमपेक्षितः।
एतदाख्याहि भगवन् परं कौतूहलं हि मे ॥ ३ ॥

विनताके पुत्र गरुड़ भी तो महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न हैं। उन्होंने भी किस कारणकी अपेक्षासे क्षमाभाव धारण कर लिया? भगवन! यह मुझे बताइये, इसको सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

विदर्भनगरीं प्राप्ते वैनतेये सहाच्युते।
मनसा चिन्तयामास वासुदेवाय कैशिकः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! (क्रथ और कैशिक भगवान्‌के भक्त थे। उनपर कृपा करनेके लिये ही भगवान् वहाँ स्वयं पधारे थे।) जब भगवान् श्रीकृष्णके साथ विनतानन्दन गरुड़ भी विदर्भपुरीमें गये, उस समय कैशिकने उन वासुदेवके लिये मन-ही-मन इस प्रकार चिन्तन किया ॥ ४ ॥

दृष्ट्वाऽऽश्चर्यं हि नः सर्वान् राजन्यान् प्रवदाम्यहम्।
वसुदेवसुते दृष्टे ध्रुवं पापक्षयो भवेत् ॥ ५ ॥
विशुद्धभावः कृष्णस्य आवयोर्दृष्टतत्त्वतः।
अतः पात्रतरः कोऽन्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ६ ॥
कृष्णात् कमलपत्राक्षाद् देवदेवाज्जनार्दनात्।

(यदि हम दोनों भाई श्रीकृष्णका अभिषेक करें तो) भगवान् श्रीकृष्णके आश्चर्यमय अभिषेकको देखकर हमारे पापोंका नाश हो जायगा तथा सबके मनमें विशुद्ध भावका उदय होगा, अतः मैं राजाओंसे कहूँगा—'वसुदेवपुत्र भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन कर लेनेपर निश्चय ही सबके पापोंका क्षय हो जाता है। हम दोनोंने श्रीकृष्णके तत्त्वका साक्षात्कार किया है। तीनों लोकोंमें उन कमलनयन देवाधिदेव जनार्दन श्रीकृष्णसे बढ़कर सुपात्र दूसरा कौन है ५-६½

तस्यावां किं प्रदास्याव आतिथ्यकरणे नृप ॥ ७ ॥
पात्रमासाद्य वै राजन् यथा धर्मो न लुप्यते।

'नरेश्वर! हम दोनों उनके आतिथ्य-सत्कारके समय उन्हें कौन सी ऐसी वस्तु भेंट करें, जिससे उत्तम पात्रको पाकर उसका समुचित आदर न करनेके कारण हमारे धर्मका लोप न होने पावे' ॥ ७½ ॥

एवमन्योन्यं संचिन्त्य भ्रातरौ क्रथकैशिकौ ॥ ८ ॥
स्वं राज्यं दातुकामौ तु जग्मतुः केशवान्तिकम्।

इस प्रकार दोनों भाई क्रथ और कैशिक आपसमें विचार करके अपना राज्य समर्पित करनेकी इच्छासे भगवान् केशवके निकट गये ॥ ८½ ॥

देवमासाद्य तौ वीरौ विदर्भनगराधिपौ ॥ ९ ॥
ऊचतुस्तौ महाभागौ प्रणम्य शिरसा हरिम् ।

भगवान्‌के पास पहुँचकर विदर्भनगरके स्वामी वे दोनों महाभाग वीर उन श्रीहरिको शिर झुकाकर प्रणाम करनेके पश्चात् उनसे इस प्रकार बोले—॥ ९½ ॥

अद्यावां सफलं जन्म अद्यावां सफलं यशः ।
अद्यावां पितरस्तृप्ता देवे चावां गृहागते ॥ १० ॥

'भगवन् ! आज आप हमारे घर पधारे, इससे हम दोनोंका जीवन सफल हो गया, हमारा यश भी सफल हो गया और हमारे सम्पूर्ण पितर भी तृप्त हो गये ॥ १० ॥

चामरं व्यजनं छत्रं ध्वजं सिंहासनं बलम् ।
स्फीतकोशा पुरी चेयमावाभ्यां सहिता तव ॥ ११ ॥

'यह चामर, व्यजन, छत्र, ध्वज, सिंहासन, सेना तथा समृद्धिशाली कोषसे परिपूर्ण यह पुरी हम दोनों भाइयोंके साथ आपकी सेवामें समर्पित है—हम सब आपके हैं ॥११॥

उपेन्द्रस्त्वं महाबाहो देवेन्द्रेणाभिषिक्तवान् ।
आवामिह हि राज्ये त्वामभिषिक्तं ददामि ते ॥ १२ ॥

'महाबाहो ! आप उपेन्द्र हैं। साक्षात् देवेन्द्रने आपका अभिषेक किया है । हम भी इस राज्यपर आपका अभिषेक करते हैं—सारा राज्य आपको दे रहे हैं ॥ १२ ॥

आवयोर्यत्कृतं कार्यं बहुभिः पार्थिवैरपि ।
न शक्यतेऽन्यथा कर्तुं जरासंधेन वा स्वयम् ॥ १३ ॥

'हम दोनोंने जो आपका अभिषेकरूप कार्य कर दिया है, उसे बहुत-से भूपाल अथवा स्वयं राजा जरासंध भी अन्यथा नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

शत्रुस्ते मागधो राजा जरासंधो महाद्युतिः ।
कथां ते ब्रुवते नित्यं नृपाणामभयप्रदः ॥ १४ ॥

'मगधदेशका अधिपति महातेजस्वी राजा जरासंध आपका शत्रु है। उसने आपके विरुद्ध होकर राजाओंको अभय प्रदान किया है । वह प्रतिदिन आपके सम्बन्धमें इस तरहकी बातें किया करता है ॥ १४ ॥

सिंहासनमनध्यास्यं पुरं चास्य न विद्यते ।
कथं राजसमाजेऽस्मिन्नास्यते देवकीसुतः ॥ १५ ॥

''कोई भी सिंहासन श्रीकृष्णके बैठने योग्य नहीं है (क्योंकि इसपर मूर्धाभिषिक्त नरेश ही बैठ सकते हैं), इनका कोई नगर या राजधानी भी नहीं है, अतः देवकी-नन्दन श्रीकृष्ण राजाओंके इस समाजमें सिंहासनपर कैसे बैठेंगे ॥ १५ ॥

कृष्णोऽपि सुमहावीर्यो ह्यभिमानी महाद्युतिः ।
न चागमिष्यते चास्मिन् कन्यार्थे च स्वयंवरे ॥ १६ ॥

'श्रीकृष्ण भी महापराक्रमी, अभिमानी और महातेजस्वी हैं। वे कन्याके लिये इस स्वयंवरमें कदापि नहीं पधारेंगे ॥१६॥

पार्थिवेषूपविष्टेषु स्वेषु सिंहासनेषु वै ।
कथमास्यति नीचेषु आसनेषु महाद्युतिः ॥ १७ ॥

'जब राजालोग अपने सिंहासनोंपर बैठे होंगे, उस समय वहाँ महातेजस्वी श्रीकृष्ण नीच आसनोंपर कैसे बैठेंगे'' ॥ १७ ॥

इति संचोद्यमानस्तु श्रुत्वासौ भीष्मको नृपः ।
आवयोः सह सम्मन्त्र्य विग्रहोपशमाय च ॥ १८ ॥
तव विश्रामहेतोर्हि कारितेदं गृहोत्तमम् ।

'इस प्रकार पूछे जानेपर राजा भीष्मकने उसकी बात सुनकर हम दोनोंके साथ सलाह की और कलहकी शान्तिके लिये उन्होंने आपके विश्रामके लिये इस उत्तम भवनका निर्माण कराया है ॥ १८½ ॥

देवानामादिदेवोऽसि सर्वलोकनमस्कृतः ॥ १९ ॥
मानुष्ये मर्त्यलोकेऽस्मिन् राजेन्द्रत्वं समाचर ।
समाजे मनुजेन्द्राणां मा भूदासनसंकटम् ॥ २० ॥

'प्रभो ! आप देवताओंके भी आदिदेव हैं। समस्त संसार आपके चरणोंमें मस्तक झुकाता है। आप मर्त्यलोकमें इस मानव-जगत्‌में राजा ही नहीं, राजेन्द्र बनकर रहिये, जिससे नरेन्द्रोंके समुदायमें आसनका संकट (सिंहासनपर बैठनेके प्रश्नको लेकर विवाद) उपस्थित न हो ॥ १९-२० ॥

विदर्भनगरे चैषां राजेन्द्रत्वं विचेष्टय ।
आस्यतामासने शुभ्रे श्वः प्रभाते महाद्युते ॥ २१ ॥

'महातेजस्वी गोविन्द ! विदर्भनगरमें इन राजाओंकी राजेन्द्रताको आप विचलित कर दीजिये और कल प्रातः-काल रंग-भूमिमें एक उज्ज्वल सिंहासनपर विराजमान होइये ॥ २१ ॥

अधिवास्याद्य चात्मानं विधिदृष्टेन कर्मणा ।
यथा गमिष्यन्ति नृपाः करिष्ये देवशासनात् ॥ २२ ॥

'आज आप शास्त्रीय विधिके अनुसार अपने आपको अधिवासित (राज्याभिषेकके पूर्वाङ्ग संस्कारसे सम्पन्न) कीजिये । फिर कल मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे देवराज इन्द्रके आदेशसे सब राजा आपके अभिषेकके लिये यहाँ पधारेंगे' ॥ २२ ॥

एवमुक्त्वा सुरश्रेष्ठं प्रणिपत्य कृताञ्जली ।
प्रेषयामासतुर्वीरौ रङ्गमध्ये नृपैर्वृते ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर वीर क्रथ और कैशिकने दोनों हाथ जोड़-कर सुरश्रेष्ठ श्रीकृष्णको प्रणाम किया और राजाओंसे भरे हुए रङ्गस्थलमें (देवराज इन्द्रका वह आदेशपत्र) भेजा ॥२३॥

देवदूतस्य वचनं यथोक्तं वज्रपाणिना ।
लिखित्वा सुमहातेजाः कैशिकः प्राह शासनम् ॥ २४ ॥

महातेजस्वी कैशिकने देवदूतके वचनको, जैसा कि वज्रधारी इन्द्रने उसके द्वारा कहलाया था, स्वयं लिखकर राजाओंको सुनाया तथा इन्द्रके आदेशपत्रको भी पढ़ा ॥२४॥

कैशिक उवाच

विदितं वो नृपाः सर्वे वैनतेयस्कन्धाच्युतः ।
आगतोऽतिथिरूपेण विदर्भनगरीं हरिः ॥ २५ ॥

कैशिक बोले—राजाओ ! आप सब लोगोंको यह विदित है कि अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् श्रीहरि गरुड़के साथ अतिथिरूपसे विदर्भपुरीमें पधारे हैं ॥ २५ ॥

पात्रमाल्लोक्य पात्रोऽयमिति संचिन्त्य भूपतिः ।
प्रददौ वासुदेवाय स्वं राज्यं धर्महेतुना ॥ २६ ॥
इदमासनमास्स्वेति भ्रात्रा मे चोदिते ततः ।
वागुक्ता चाशरीरेण केनापि व्योमचारिणा ॥ २७ ॥

उन्हें आया देख 'यह उत्तम पात्र हैं' ऐसा सोचकर राजा क्रथने भगवान् वासुदेवको धर्मके लिये अपना सारा राज्य समर्पित कर दिया । फिर मेरे भाई क्रथने भगवान्से कहा, 'प्रभो ! यह सिंहासन आपकी सेवामें समर्पित है, इस-पर बैठिये ।' उनके इतना कहते ही किसी आकाशचारी दिव्य प्राणीने, जिसका शरीर दिखायी नहीं देता था, यह बात कही ॥ २६-२७ ॥

देवदूत उवाच

न युक्तमासनं दातुं त्वयासीनं नराधिप ।
इदमस्यासनं दिव्यं सर्वरत्नविभूषितम् ॥ २८ ॥
जाम्बूनदमयं शुभ्रं रचितं विश्वकर्मणा ।
प्रेषितं देवराजेन सिंहलक्षणलक्षितम् ॥ २९ ॥
अत्रोपविष्टं देवेशं चराचरनमस्कृतम् ।
अभिषिञ्चन्तु राजेन्द्रं यद्युभिः पार्थिवैः सह ॥ ३० ॥

देवदूत बोला—नरेश्वर ! जिसपर दूसरे लोग बैठ चुके हैं, ऐसा सिंहासन तुम्हें श्रीकृष्णके लिये देना उचित नहीं है । इनके लिये तो यह सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित दिव्य सिंहासन प्रस्तुत है, जो जाम्बूनद नामक सुवर्णका बना हुआ और परम उज्ज्वल है । भगवान् विश्वकर्माने इसका निर्माण किया है । यह सिंहके चिह्नसे चिह्नित है, देवराज इन्द्रने यह आसन भगवान्‌के लिये भेजा है । समस्त चराचर प्राणी जिनके चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं, वे देवेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जब इसपर बैठ जायँ, तब तुम लोग यदुवंशी राजाओंके साथ मिलकर इनका राजेन्द्रके पदपर अभिषेक करो ॥ २८-३० ॥

आगताः कुण्डिननगरे कन्याहेतोर्नराधिपाः ।
नागमिष्यति यः कश्चित् सोऽस्य वध्यो भविष्यति ॥ ३१ ॥

इस कुण्डिनपुरमें राजकन्याकी प्राप्तिके लिये जो-जो नरेश पधारे हैं, उनमेंसे जो कोई भी इनके अभिषेकमें न आयेगा, वह इनका वध्य होगा ॥ ३१ ॥

इमे चैवाष्टकलशा निधीनामंशसम्भवाः ।
अक्षया राजराजस्य धनेशस्य महात्मनः ॥ ३२ ॥
दिव्या काञ्चनरत्नाढ्या दिव्याभरणयोनयः ।
राजेन्द्रस्याभिषेकार्थमागच्छन्ति नृपैर्वृताः ॥ ३३ ॥

ये आठ अक्षय कलश हैं, जो निधियोंके अंशसे उत्पन्न हुए हैं । ये राजाधिराज महात्मा धनेश (कुबेर) के कलश दिव्य कलश हैं, जो सुवर्ण और रत्नोंसे सम्पन्न हैं । इनके आभूषण और आसन भी दिव्य हैं । ये कलश श्रीकृष्णका राजेन्द्रपदपर अभिषेक करनेके लिये राजाओंके साथ आ रहे हैं ॥ ३२-३३ ॥

एष शक्रस्य संदेशः कथितो वो नराधिपाः ।
लेखेनाहूय तान् सर्वानभिषिञ्चन्तु केशवम् ॥ ३४ ॥

नरेश्वरो ! यह मैंने आपलोगोंसे इन्द्रका संदेश सुनाया है । अतः आपलोग इस लिखित आज्ञापत्रके द्वारा सब राजाओंको बुलाकर भगवान् श्रीकृष्णका अभिषेक करें ॥३४॥

कैशिक उवाच

इति संचोद्य खस्थोऽसौ देवदूतो गतो दिवम् ।
दत्त्वाऽऽसनं च कृष्णाय बालार्कसदृशप्रभम् ॥ ३५ ॥

कैशिकने कहा—ऐसी प्रेरणा देकर तथा श्रीकृष्णके लिये प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिमान् सिंहासन समर्पित करके वह आकाशमें स्थित हुआ देवदूत स्वर्गलोकको चला गया ॥ ३५ ॥

तेनाहं नोदयिष्यामि भवद्भिर्ये समागताः ।
दुर्निवार्यतरं घोरं शक्रस्य स्वयमीरितम् ॥ ३६ ॥

इसलिये मैं आपलोगोंको श्रीकृष्णका अभिषेक करनेके लिये प्रेरित कर रहा हूँ । आपमेंसे जो लोग यहाँ पधारे हैं, उन सबके लिये साक्षात् इन्द्रके द्वारा दी गयी इस आज्ञा-का उल्लङ्घन करना अत्यन्त कठिन एवं भयंकर है ॥ ३६ ॥

युष्माभिर्दर्शनं युक्तमद्भुतं भुवि दुर्लभम् ।
कलशैरभिषिच्यन्तं स्वयमेव नभस्तलात् ॥ ३७ ॥
दृष्ट्वाऽऽश्चर्यं हि नः सर्वान् ध्रुवं पापक्षयो भवेत् ।

आकाशसे आठ कलशोंद्वारा श्रीकृष्णका स्वयं ही अभिषेक होगा—यह अद्भुत दृश्य पृथ्वीपर सर्वथा दुर्लभ है । आपलोगोंको भी यह दर्शनीय उत्सव अवश्य देखना चाहिये । इस आश्चर्यजनक दृश्यको देखकर हम सब लोगों-का पाप निश्चय ही दूर हो जायगा ॥ ३७½ ॥

स्नापनार्थं च कृष्णाय देवदेवाय विष्णवे ॥ ३८ ॥
आगच्छध्वं नृपश्रेष्ठा न भयं कर्तुमर्हथ ।

श्रेष्ठ नरपतियो ! आपलोग देवाधिदेव विष्णुस्वरूप श्रीकृष्णको नहलानेके लिये आइये। उनसे भय न कीजिये॥३८½॥

आवयोः कृतसन्धानो युष्मदर्थे जनार्दनः ॥ ३९ ॥
सर्वेषां मनुजेन्द्राणामभयं कुरुते हरिः ।
विशुद्धभावः कृष्णस्तु आवयोर्दृष्टतत्त्वतः ॥ ४० ॥

हमने आपलोगोंके लिये जनार्दनसे संधि कर ली है। भगवान् श्रीहरि समस्त नरेशोंको अभयदान कर रहे हैं। हमने श्रीकृष्णके स्वरूपको अच्छी तरह देख और समझ लिया है। आपलोगोंके प्रति इनका भाव सर्वथा शुद्ध है ॥ ३९-४० ॥

मागधस्य विशेषेण न वैरं हृदि दृश्यते ।
यदत्र कारणं कार्ये तद् भवद्भिर्विचिन्त्यताम् ॥ ४१ ॥

विशेषतः मगधराज जरासंधके लिये उनके हृदयमें तनिक भी वैर नहीं दिखायी देता है। इसलिये यहाँ जो कार्य-कारण उपस्थित है, उसपर आपलोग अच्छी तरह विचार कर लें ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं संचिन्तयामासुर्नृपाः शापभयार्दिताः ।
भूयः शुश्रुवु राजेन्द्राः केशवाय महात्मने ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसी बात सुनकर वे राजा शापके भयसे पीड़ित हो नाना प्रकारकी चिन्ताएँ करने लगे। इतनेमें ही उन राजेन्द्रोने महात्मा केशवके निमित्त पुनः आकाशवाणी सुनी ॥ ४२ ॥

मेघगम्भीरनादेन स्वरेणापूरयन् नभः ।
वागुवाचाशरीरेण देवराजस्य शासनात् ॥ ४३ ॥

देवराजके शासनसे किसी अदृश्य व्यक्तिने मेघके समान गम्भीर ध्वनिसे आकाशको पूर्ण करते हुए इस प्रकार कहा—॥ ४३ ॥

चित्राङ्गद उवाच

त्रैलोक्याधिपतिः शक्रः प्रजापालनहेतुना ।
आज्ञापयति युष्माकं नृपाणां हितकाम्यया ॥ ४४ ॥

चित्राङ्गद बोला—त्रिलोकीनाथ इन्द्र प्रजा-पालनके लिये तुम सब राजाओंका हित चाहते हुए तुम्हें इस प्रकार आज्ञा दे रहे हैं ॥ ४४ ॥

न युक्तं वसतान्योन्यं कृष्णेन सह वैरिणा ।
वसध्वं प्रीतिमुत्पाद्य स्वराष्ट्रेषु नृपोत्तमाः ॥ ४५ ॥

श्रेष्ठ नरेशगण! तुमलोग श्रीकृष्णके साथ वैरभाव रखकर अथवा श्रीकृष्णको वैरी बनाकर जो उनके साथ रहते हो, ऐसा तुम्हारे लिये उचित नहीं है। तुम्हें एक दूसरेके साथ वैरभाव नहीं रखना चाहिये। तुमलोग परस्पर प्रेम-भाव उत्पन्न करके अपने-अपने राष्ट्रोंमें निवास करो ॥ ४५ ॥

प्रणतार्तिहरः कृष्णः प्रतिसेनान्तकोऽनलः ।
अनेन सह सम्प्रीत्या मोदध्वं विगतज्वराः ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण शरणागतोंका दुःख दूर करनेवाले हैं; परंतु शत्रुओंकी सेनाके लिये काल और अग्निके समान भयंकर हैं। तुमलोग इनके साथ प्रेमभाव रखकर निश्चिन्त एवं प्रसन्न रहो ॥ ४६ ॥

मानुषाणां नृपा देवा नृपाणां देवताः सुराः ।
सुराणां देवता शक्रः शक्रस्यापि जनार्दनः ॥ ४७ ॥

साधारण मनुष्योंके लिये राजा ही देवता हैं। राजाओंके लिये देवता ही आराध्यदेव हैं। देवताओंके देवता इन्द्र हैं और इन्द्रके भी देवता भगवान् श्रीकृष्ण हैं ॥ ४७ ॥

एष विष्णुः प्रभुर्देवो देवानामपि दैवतम् ।
जातोऽयं मानुषे लोके नररूपेण केशवः ॥ ४८ ॥

ये भगवान् विष्णुदेव देवताओंके भी देवता हैं। ये केशव ही मनुष्यलोकमें मानवरूपमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ ४८ ॥

अजेयः सर्वलोकेषु देवदानवमानवैः ।
कार्तिकेयसहायस्य अपि शूलभृतः स्वयम् ॥ ४९ ॥

समस्त लोकोंमें देवता, दानव और मनुष्य इन्हें कभी जीत नहीं सकते। कार्तिकेयके साथ साक्षात् भगवान् त्रिशूलधारी शंकरके लिये भी ये अजेय हैं ॥ ४९ ॥

तस्मै देवाधिदेवाय केशवाय महात्मने ।
अभिषेक्तुं सुरैः सार्द्धं किमिच्छेयमतः परम् ॥ ५० ॥

उन्हीं देवाधिदेव महात्मा केशवके लिये देवताओंसहित मेरी यह इच्छा है कि इनका राजेन्द्रपदपर अभिषेक हो। इससे बढ़कर मुझे और कौन-सी इच्छा हो सकती है ॥ ५० ॥

न चाधिकारो देवानां राजेन्द्रस्याभिषेचने ।
तेनाहं नाभिषिञ्चामि सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ ५१ ॥

परंतु राजेन्द्रपदपर किसीका अभिषेक करनेके लिये देवताओका अधिकार नहीं है; इसीलिये मैं सर्वलोकवन्दित श्रीकृष्णका स्वयं भी अभिषेक नहीं कर रहा हूँ ॥ ५१ ॥

नृपाणामधिकारोऽयं राजेन्द्रस्य निवेशने ।
गत्वा यूयं विदर्भायां क्रथकैशिकयोः सह ॥ ५२ ॥
संचिन्त्य विधिदृष्टेन कुरुध्वं नृपसत्तमाः ।

श्रेष्ठ नरेशगण ! राजेन्द्रपदपर किसीको प्रतिष्ठित करनेका अधिकार केवल राजाओंको ही प्राप्त है। अतः तुम लोग क्रथ और कैशिकके साथ विदर्भपुरीमें जाकर भलीभाँति सोच-विचार करके शास्त्रीय विधिके अनुसार श्रीकृष्णका अभिषेक करो ॥ ५२½ ॥

प्रीतिसन्धानकालोऽयमिति संचिन्त्य वासवः ॥ ५३ ॥
बोधनार्थं विसृष्टोऽहं युष्माकं मनुजेश्वराः ।

नरेश्वरो ! यह तुम लोगोंके लिये परस्पर प्रेमपूर्वक संधि कर लेनेका समय है। इसलिये तुम्हें समझानेके लिये मैं देवताओंकी ओरसे दूत बनाकर भेजा गया हूँ ॥ ५३½ ॥

विदर्भनगरे कृष्णः श्रावितोऽस्याधिवासनम् ॥ ५४ ॥
राजेन्द्रत्वाभिषेकार्थं राजानौ क्रथकैशिकौ ।
ताभ्यां सह नृपश्रेष्ठाः कृत्वा सुमहदुत्सवम् ॥ ५५ ॥
अभिषेकेण सत्कृत्य प्रतिगृह्यास्य दक्षिणम् ।
आगमिष्यथ संहृष्टाः पुनरेव स्वयंवरम् ॥ ५६ ॥

श्रेष्ठ राजाओ ! भगवान् श्रीकृष्ण विदर्भ नगरमें विराजमान हैं और उन्हें उनका अधिवास (अभिषेकका पूर्वाङ्ग संस्कार) सुना दिया गया है अर्थात् वे पूर्वाङ्ग संस्कारसे सम्पन्न हो गये हैं। राजा क्रथ और कैशिक उनका राजेन्द्र-पदपर अभिषेक करनेके लिये सारी तैयारी कर चुके हैं। तुम सब लोग उन दोनोंके साथ महान् उत्सव करके राज्याभिषेक-के द्वारा भगवान्‌का सत्कार और उनकी परिक्रमा करनेके पश्चात् पुनः प्रसन्नतापूर्वक स्वयंवरमें लौट आओ ॥५४-५६॥

जरासंधः सुनीथश्च रुक्मी चैव महारथः ।
शाल्वः सौभपतिश्चैव चत्वारो राजसत्तमाः ॥ ५७ ॥
रङ्गस्याशून्यहेतोर्हि तिष्ठन्तु इह पार्थिवाः ।

यह रङ्गभूमि सूनी न हो जाय—इसके लिये यहाँ चार श्रेष्ठ राजा बैठे रहें—जरासंध, सुनीथ, महारथी रुक्मी और सौभविमानके अधिपति राजा शाल्व ॥ ५७½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाज्ञां सुरेशस्य श्रुत्वा चित्राङ्गदेरिताम् ॥ ५८ ॥
गमनाय मतिं चक्रुः सर्व एव नृपोत्तमाः ।
अनुज्ञाता नरेन्द्रेण जरासंधेन धीमता ॥ ५९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार चित्राङ्गदके द्वारा कही गयी देवेश्वर इन्द्रकी आज्ञा सुनकर उन सभी श्रेष्ठ नरेशोंने श्रीकृष्णके अभिषेकमें जानेका विचार कर लिया। बुद्धिमान् नरेश जरासंधने भी उन्हें जानेकी अनुमति दे दी ॥ ५८-५९ ॥

भीष्मकं पुरतः कृत्वा प्रयाताः स्वबलैर्वृताः ।
भीष्मकश्च महाबाहुः स्वबलेन समन्वितः ॥ ६० ॥
जगाम पार्थिवैः सार्द्धं दह्यमानेन चेतसा ।
यत्र कृष्णो महाबाहुः कैशिकस्य निवेशने ॥ ६१ ॥

फिर तो वे राजा भीष्मकको आगे करके अपनी सेनाओं-के साथ वहाँ गये। महाबाहु भीष्मक भी अपनी सेनाके साथ दूसरे राजाओंको साथ लिये कैशिकके भवनमें, जहाँ महाबाहु श्रीकृष्ण विराजमान थे, गये। उस समय अपने पुत्रके दोषसे उनका चित्त चिन्ताकी आगमें जल रहा था ॥ ६०-६१ ॥

दूरादेव प्रकाशन्ती पताकाध्वजमालिनी ।
शुभा देवसभा रम्या स्नानहेतोरिहागता ॥ ६२ ॥

भगवान्‌के स्नानके लिये सुन्दर सुरम्य देवसभा इस भूतलपर उतर आयी थी, जो दूरसे ही प्रकाशित हो रही थी। वह ध्वजा, पताकाओंसे अलंकृत थी ॥ ६२ ॥

दिव्यरत्नप्रभाकीर्णा दिव्यध्वजसमाकुला ।
दिव्याम्बरपताकाढ्या दिव्याभरणभूषिता ॥ ६३ ॥

उसमें दिव्य रत्नोंकी प्रभा सब ओर व्याप्त हो रही थी। दिव्य ध्वजाएँ फहराती थीं। दिव्य वस्त्रोंकी पताकाएँ उसकी शोभा बढ़ाती थीं और दिव्य आभूषणों (सजावटकी सामग्रियों) से वह सभा विभूषित थी ॥ ६३ ॥

दिव्यस्रग्दामकलिला दिव्यगन्धाधिवासिता ।
विमानयानैः श्रीमद्भिः समन्तात् परिवारिता ॥ ६४ ॥

उसमें जगह-जगह दिव्य पुष्पोंकी मालाएँ लटक रही थीं। दिव्य गन्धोंसे वह सभा सुवासित थी। विमानपर चलनेवाले कान्तिमान् देवताओंने उसे सब ओरसे घेर रखा था ॥ ६४ ॥

दिव्याप्सरोगणाश्चैव विद्याधरगणास्तथा ।
गन्धर्वा मुनयश्चैव किन्नराश्च समन्ततः ॥ ६५ ॥
उपगायन्ति देवेशमम्बरान्तरमाश्रिताः ।
स्तुवन्ति मुनयश्चैव सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ ६६ ॥

दिव्य अप्सराओंके समुदाय, विद्याधरोंके समूह, गन्धर्व, मुनि और किन्नर सब ओर आकाशमें स्थित हो देवेश्वर श्रीकृष्णका यश गाते थे तथा मुनि, सिद्ध एवं महर्षि उनकी स्तुति करते थे ॥ ६५-६६ ॥

देवदुन्दुभयश्चैव स्वयमेवानदन् दिवि ।
पञ्चयोनिसमुत्थानि गन्धचूर्णान्यनेकशः ॥ ६७ ॥
समन्तात् पात्यमानानि चाकाशस्थैर्दिवौकसैः ।

देवताओंकी दुन्दुभियाँ आकाशमें स्वयं ही बज उठीं। आकाशमें खड़े हुए देवता सब ओरसे बारंबार पञ्चयोनि-जनित[1] सुगन्धचूर्ण गिरा रहे थे ॥ ६७½ ॥

स्वयमागत्य देवेन्द्रो देवैः सह शचीपतिः ॥ ६८ ॥
विमानवरमारुह्य सप्रकाशः स्थितोऽम्बरे ।

देवताओंके साथ शचीवल्लभ देवेन्द्र स्वयं आकर एक श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ हो आकाशमें स्थित थे और सब लोग उन्हें प्रत्यक्ष देख रहे थे ॥ ६८½॥

---

१ विभिन्न वृक्षोंके मूल, त्वचा, पत्र, पुष्प और फल—ये पाँच योनि अर्थात् कारण हैं। इनसे जो गन्धचूर्ण तैयार किये गये हैं, उन्हें पञ्चयोनिजनित कहते हैं। अथवा मन्दार, पारिजात, संतान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन नामक जो पाँच देववृक्ष हैं, उनसे प्रकट हुए दिव्य गन्धचूर्णको भी यहाँ पञ्चयोनिजनित कहा गया है।

अष्टौ ये लोकपालास्ते स्वासु दिक्षु समास्थिताः ॥ ६९ ॥
उपगायन्ति नृत्यन्ति स्तुवन्ति च समन्ततः ।

जो आठ लोकपाल थे, वे अपनी दिशाओंमें स्थित हो सब ओर भगवान्‌के यशका गान, नृत्य एवं स्तुति करते थे ॥ ६९½ ॥

श्रुत्वा सुतुमुलं नादं सर्व एव नराधिपाः ॥ ७० ॥
विस्मयोत्फुल्लनयना विविशुस्ते सभां शुभाम् ।

उनके नृत्य-गान आदिके सम्मिलित शब्दको सुनकर सभी नरेशोंके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे और उन्होंने उस मङ्गलमयी दिव्य सभामें प्रवेश किया ॥ ७०½ ॥

कैशिकश्च महाबाहुरुपगम्य नराधिपान् ॥ ७१ ॥
प्रवेशयामास बली प्रतिपूज्य यथाविधि ।

उस समय बलवान् महाबाहु कैशिक समस्त नरेशोंके पास जाकर उनका विधिपूर्वक पूजन करके उन सबको भीतर ले आये ॥ ७१½ ॥

निवेदिते सुरश्रेष्ठे पार्थिवानां समागमे ॥ ७२ ॥
निर्जगाम हरिः श्रीमान् सर्वमङ्गलपूजितः ।

जब सुरश्रेष्ठ भगवान्‌को समस्त राजाओंके शुभागमनकी सूचना दी गयी, तब सम्पूर्ण मङ्गलमयी सामग्रियोंसे पूजित हुए वे श्रीमान् हरि भवनसे बाहर निकले ॥ ७२½ ॥

ततोऽम्बरस्थास्ते दिव्याः कलशाश्चैलकण्ठिनः ॥७३॥
सहकारसमायुक्ता ववर्षुर्जलदा इव ।

तदनन्तर, आकाशमें स्थित हुए वे दिव्य कलश, जिनके कण्ठमें वस्त्र लपेटे गये थे तथा जो आम्रपल्लवोंसे सुशोभित थे, भगवान्‌के ऊपर बादलोंके समान जलकी वर्षा करने लगे ॥ ७३½ ॥

दिव्यकाञ्चनरत्नौघैर्दिव्यपुष्पसमन्वितैः ॥ ७४ ॥
गन्धचूर्णविमिश्रैश्च राजेन्द्रस्याभिषेचने ।
यथोक्तविधिपूर्वेण अभिषिच्य जनार्दनम् ॥ ७५ ॥
दर्शयित्वा नरेन्द्राणां दिव्यैराबरणैः शुभैः ।

उन दिव्य कलशोंने भगवान्‌का राजेन्द्रपदपर अभिषेक करते समय दिव्य सुवर्ण एवं रत्नोंके समुदायसे युक्त, दिव्य पुष्पोंसे सुवासित तथा सुगन्धचूर्णसे मिश्रित जलके द्वारा शास्त्रोक्त विधिके अनुसार श्रीकृष्णके अभिषेकका कार्य सम्पन्न करके उन्हें सुन्दर दिव्य वस्त्राभूषणोंद्वारा अलंकृत एवं नरेशोंके लिये दर्शनीय कर दिया ॥ ७४-७५½ ॥

दिव्याम्बरविचित्रैश्च दिव्यमाल्यानुलेपनैः ॥ ७६ ॥
सत्कृत्य विधिवद्राज्ञ उपविष्टो जनार्दनः ।
शुभे देवसभे रम्ये स्नानहेतोरिहागते ॥ ७७ ॥

तत्पश्चात् दिव्य वस्त्र, विचित्र दिव्य माला और दिव्य अनुलेपनसे यहाँ आये हुए राजाओंका विधिपूर्वक सत्कार करके उनकी अनुमति ले, भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्नानके लिये इस भूतलपर उतरी हुई सुन्दर एवं रमणीय देवसभाके भीतर (एक उज्ज्वल दिव्य सिंहासनपर) विराजमान हुए ॥

उपास्यमानो यदुभिर्विदर्भैश्च नराधिपैः ।
वैनतेयश्च बलवान् कामरूपी नराकृतिः ॥ ७८ ॥
दक्षिणं पार्श्वमाश्रित्य आसनस्थो महाबलः ।
क्रथश्च कैशिको वीरो वामपार्श्वे तथासने ॥ ७९ ॥
उपविष्टौ महात्मानौ देवस्यानुमते नृपौ ।
तथैव वामपार्श्वे तु वृष्ण्यन्धकमहारथाः ॥ ८० ॥
सात्यकिप्रमुखा वीरा उपविष्टा महाबलाः ।

उस समय यादव तथा विदर्भदेशीय नरेश उनकी सेवामें पास ही खड़े थे । इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले बलवान् एवं महापराक्रमी गरुड़ मनुष्यका रूप धारण करके भगवान्‌के दाहिने बगलमें जाकर एक आसनपर बैठे । वीर क्रथ और कैशिक—ये दोनों महात्मा नरेश भगवान्‌की आज्ञा पाकर उनके वाम पार्श्वमें एक आसनपर बैठे । उसी प्रकार वाम भागमें ही वृष्णि और अन्धक वंशके महारथी सात्यकि आदि महाबली वीर भी विराजमान हुए ॥ ७८-८०½ ॥

भास्करप्रतिमे दिव्ये दिव्यास्तरणविस्तृते ॥ ८१ ॥
सुखोपविष्टं श्रीमन्तं देवैरिव शचीपतिम् ।

सूर्यके समान तेजस्वी तथा दिव्य बिछौनोंसे सुसज्जित दिव्य सिंहासनपर सुखपूर्वक बैठे हुए श्रीमान् भगवान् श्रीकृष्ण देवताओंके साथ विराजमान शचीपति इन्द्रके समान शोभा पा रहे थे ॥ ८१½ ॥

सचिवैः श्राविताः सर्वे प्रविष्टास्ते नराधिपाः ॥ ८२ ॥
यथार्हेण च सम्पूज्य राजानः सर्व एव ते ।
सुखोपविष्टास्ते स्वेषु आसनेषु नराधिपाः ॥ ८३ ॥

तदनन्तर मन्त्रियोंसे राजाज्ञा पाकर सभी नरेश उस भवनमें प्रविष्ट हुए । उन समस्त नरेशोंने यथायोग्य भगवान्‌का पूजन किया; फिर वे अपने आसनोंपर सुखपूर्वक बैठ गये ॥ ८२-८३ ॥

कैशिकस्तु महाप्राज्ञः सर्वशास्त्रार्थवित्तमः ।
पूजयित्वा यथान्यायमुवाच वदतां वरः ॥ ८४ ॥

इसके बाद वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाज्ञानी कैशिक, जो समस्त शास्त्रोंके मर्मज्ञ थे, यथोचितरूपसे भगवान्‌का पूजन करके इस प्रकार बोले—॥ ८४ ॥

कैशिक उवाच

अविज्ञाता नृपाः सर्वे मानुषोऽयमिति प्रभो ।
भवन्तमुपरुद्धानां देव त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ८५ ॥

कैशिकने कहा—प्रभो ! देव ! अबतक सब राजा अज्ञानवश आपके विषयमें यही जानते थे कि ये भी मनुष्यही हैं;

इसीलिये ये लोग आपके प्रति अपराध कर बैठे हैं। आप इन अपराधियोंको क्षमा कर दें ॥ ८५ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

न मे वैरं प्रवसति एकाहमपि कैशिक।
विशेषेण नरेन्द्राणां क्षत्रधर्मेऽवतिष्ठताम् ॥ ८६ ॥
योद्धव्यमिति धर्मेण अधर्मे तु पराङ्मुखे।
तेषां किंहेतुना कोपः कर्तव्यस्त्ववनीश्वराः ॥ ८७ ॥
यद्गतं तदतिक्रान्तं ये मृतास्ते दिवं गताः।
एष धर्मो नृलोकेऽस्मिञ्जायन्ते च म्रियन्ति च ॥ ८८ ॥

श्रीकृष्ण बोले—कैशिक ! मेरे मनमें एक दिन भी वैर नहीं टिकता है। विशेषतः क्षत्रिय-धर्ममें स्थिर रहनेवाले नरेशोंपर, जो युद्धको धर्म समझकर उसमें प्रवृत्त होते और अधर्मसे मुँह मोड़े रहते हैं, किसलिये क्रोध किया जाय। भूमिपालो ! जो बीत गया, वह गया; जो लोग मर गये, वे स्वर्गमें चले गये। इस मनुष्य-लोकका यह स्वाभाविक धर्म (नियम) है कि यहाँ प्राणी जन्म लेते और मरते रहते हैं ॥

तस्मादशोच्यं भवतां मृतार्थे च नराधिपाः।
क्षन्तव्यं रोचतेऽस्माकं वीतवैरा भवन्तु ते ॥ ८९ ॥

अतः नरेश्वरो ! जो लोग मर गये या मारे गये, उनके लिये आपलोगोंको शोक नहीं करना चाहिये। हमें तो क्षमा ही अच्छी लगती है। अतः वे सब राजा आजसे वैरभावका त्याग करके निर्वैर हो जायँ ॥ ८९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा नरेन्द्रांस्तानाश्वास्य मधुसूदनः।
कैशिकस्य मुखं वीक्ष्य विरराम महाद्युतिः ॥ ९० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन नरेशोंसे ऐसा कहकर उन्हें आश्वासन दे महातेजस्वी भगवान् मधुसूदन कैशिकके मुँहकी ओर देखकर चुप हो गये ॥ ९० ॥

एतस्मिन्नेव काले तु भीष्मको नयकोविदः।
पूजयित्वा यथान्यायमुवाच वदतां वरः ॥ ९१ ॥

इसी समय वक्ताओंमें श्रेष्ठ नीतिकुशल राजा भीष्मक भगवान्का यथोचित पूजन करके बोले— ॥ ९१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि रुक्मिणीस्वयंवरे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें रुक्मिणीका स्वयंवरविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और भीष्मकका संवाद, भीष्मकद्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति तथा श्रीकृष्णका मथुरागमन

भीष्मक उवाच

पुत्रो मे बालभावेन भगिनीं दातुमिच्छति।
स्वयंवरे नरेन्द्राणां न चाहं दातुमुत्सहे ॥ १ ॥

भीष्मकने कहा—भगवन् ! मेरा पुत्र रुक्मी अपने बालचापल्य या अविवेकके कारण अपनी बहिनको नरेन्द्रोंके समक्ष स्वयंवरमें देना चाहता है; परंतु मेरी इच्छा उसे स्वयवरमें देनेकी नहीं है ॥ १ ॥

अतीव बालभावत्वाद् दातुमिच्छेन्मतिर्मम।
एका ह्येकं समालोक्य वरयिष्यति मे मतिः ॥ २ ॥

अत्यन्त बचपन या मूर्खताके कारण ही वह अपनी बहिनको स्वयंवरमें देना चाहता है, ऐसा मेरा विश्वास है। मेरी राय तो यही है कि वह अकेली एकमात्र मनोनीत पति-का वरण करे ॥ २ ॥

अतः प्रसादयिष्ये त्वां पुत्रदुर्नयहेतुना।
प्रसादं कुरु देवेश क्षन्तुमर्हसि मे प्रभो ॥ ३ ॥

अतः प्रभो ! मैं अपने पुत्रकी दुर्नीतिके कारण (अपनेको अपराधी मानकर) आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। देवेश्वर ! आप मुझपर कृपा बनाये रखें और मेरे अपराधको क्षमा कर दें ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

बालभावेन पुत्रेण चालितं नृपमण्डलम्।
यदा भवति वै प्रौढः कीदृशोऽविनयो भवेत् ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! आपके पुत्रने बाल्यावस्थामें ही समस्त नरेश-मण्डलमें हलचल मचा दी है; फिर जब वह प्रौढ़ होगा, तब न जाने उसकी उद्दण्डता कैसी हो जायेगी ? ॥ ४ ॥

सूर्येन्दुसदृशाँल्लोकांस्तपसोपार्जितश्रियः।
लोकेऽस्मिन् नरदेवानां महाकुलसमुद्भवान् ॥ ५ ॥
एकस्यापि नृपस्याग्रे मोहाद् यो वितथं वदेत्।
न स तिष्ठति लोकेऽस्मिन् निर्दहेद् दण्डवह्निना ॥ ६ ॥

जो एक राजाके सामने भी मोहवश झूठ बोलता है, वह राजाओंको मिलनेवाले सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशमान तथा तपस्यासे श्रीसम्पन्न हुए लोकोंको, जो उसे महान् कुलमें उत्पन्न होनेके कारण सुगमतापूर्वक किये गये बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा प्राप्त हुए हैं, यम-यातनाकी आगसे दग्ध कर देता है और उन लोकोंमेंसे ही एक जो यह लोक है, इसमें भी वह रह नहीं पाता है ॥ ५-६ ॥

एष धर्मो नरेन्द्राणामिति ते विदितं प्रभो।
लोकधर्मं पुरस्कृत्य पुरा गीतं स्वयम्भुवा ॥ ७ ॥

प्रभो! यह (सत्यभाषण) नरेशोंका धर्म है। इस बात-को आप भी जानते ही होंगे। स्वयम्भू ब्रह्माजीने पूर्वकालमें लोकधर्मको सामने रखते हुए सत्यके ही महत्त्वका मान किया है ॥ ७ ॥

कथं तव सुतस्तेषामग्रतो मनुजेश्वर।
वक्तुमर्हति राजेन्द्र वितथं राजसंसदि ॥ ८ ॥

मनुजेश्वर! राजेन्द्र! ऐसी दशामें आपका पुत्र राज-सभामें उन राजाओंके आगे झूठ कैसे बोल सकता है? (जिसमें आपकी सम्मति नहीं होगी, उसकी घोषणा वह कैसे कर सकता है) ॥ ८ ॥

तादृशं रङ्गमतुलं कारयंस्तनयस्तव।
कथं त्वया ह्यविज्ञात इति मे संशयो महान् ॥ ९ ॥

आपका पुत्र जब वैसा अनुपम रंगस्थल बनवा रहा था, तब आप उसकी उस चेष्टासे किस तरह अनजान रह गये? यह मेरे मनमें महान् संशय है ॥ ९ ॥

आगतानां नरेन्द्राणामनलार्केन्दुवर्चसाम्।
यथार्हेण तु सम्पूज्य आतिथ्यं कृतवानसि ॥ १० ॥

अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाके समान कान्तिमान् नरेश यहाँ पधारे हैं और आपने उन सबका यथायोग्य पूजन करके आतिथ्यसत्कार किया है। (फिर आप इन सब बातोंसे अपने-को अपरिचित कैसे बता रहे हैं) ॥ १० ॥

रथाश्वनरनागानां विमर्दमतुलं तथा।
कथं न ज्ञातवान् राजंस्तव पुत्रस्य चेष्टितम् ॥ ११ ॥

राजन्! रथ, घोड़े, हाथी और पैदल सैनिकोंसे भरी हुई चतुरङ्गिणी सेनाका जो अनुपम संहार हुआ है, वह सब आपके पुत्रकी कुचेष्टाका ही फल है, इस बातकी जानकारी आपको कैसे नहीं हुई? ॥ ११ ॥

विषादो न भवेदत्र चतुरङ्गबलागमे।
कथं न ज्ञायते राजन्निति मे बुद्धिसंशयः ॥ १२ ॥

राजन्! जब यहाँ चतुरङ्गिणी सेनाका जमाव होगा, तब क्या कोई खेदजनक घटना नहीं घटित होगी—यह बात आप-की समझमें कैसे नहीं आ रही है। यह मेरी बुद्धिमें संशय उत्पन्न हो गया है ॥ १२ ॥

ममागमनमेवेह प्रायेण न हितं तव।
अतो न कृतमातिथ्यमपात्राय नरेश्वर ॥ १३ ॥

नरेश्वर! मेरा यहाँ आगमन ही प्रायः आपके लिये हित-कर नहीं है—ऐसा समझकर ही आपने मुझ अपात्रका आतिथ्य-सत्कार नहीं किया ॥ १३ ॥

पात्रेभ्यो दीयतां कन्या मामपास्य नरेश्वर।
ममागमनदोषेण कथं कन्यां न दास्यसे ॥ १४ ॥

राजन्! मुझे छोड़कर आप इन सुपात्र राजाओंको अपनी कन्या दीजिये। मेरे आ जानेके ही दोषसे आप अपनी कन्या-का दान कैसे नहीं करेंगे ॥ १४ ॥

कन्याविघ्नं च कुर्वाणो नरके परिपच्यते।
इति धर्मविदैर्गीतं मन्वादिभिर्नरोत्तमैः ॥ १५ ॥

कन्याके विवाहमें विघ्न डालनेवाला मनुष्य नरककी आगमें पकाया जाता है—ऐसा मनु आदि धर्मज्ञ नरेशोंने कहा है ॥ १५ ॥

अतोऽर्थं न प्रविष्टोऽहं रङ्गमध्ये विशाम्पते।
विदित्वा नष्टतातिथ्यं नरदेव तवालयम् ॥ १६ ॥

प्रजानाथ! इसीलिये मैं रङ्गभूमिमें नहीं आया हूँ, नरदेव! मुझे पहले ही ज्ञात हो गया था कि आपका घर आतिथ्यहीन है ॥ १६ ॥

ह्रियाभिभूतो राजेन्द्रपार्थिवोऽहं नराधिप।
विदर्भनगरे राजन् बलविश्रामहेतुना ॥ १७ ॥

राजन्! नरेश्वर! मैंने विदर्भ नगरमें विश्रामके लिये जो अपनी सेनाको ठहरा दिया—इसके कारण राजेन्द्रोंका राजा होकर भी मैं लज्जासे गड़ गया हूँ (क्योंकि यदि मैंने यहाँ विश्राम न किया होता, तो मुझे आपके द्वारा सत्कृत न होने-का अपमान नहीं सहना पड़ता) ॥ १७ ॥

आवाभ्यां कृतमातिथ्यं कैशिकस्तु प्रियातिथिः।
उषितौ च यथा स्वर्गे पुरा गरुडकेशवौ ॥ १८ ॥

इतनेपर भी मैंने और गरुड़ने पूरा-पूरा आतिथ्य-सत्कार प्राप्त किया है; क्योंकि राजा कैशिकको अतिथि प्रिय है। हम दोनों यहाँ उसी तरह सुखसे रहे हैं, जैसे पहले वैकुण्ठधाममें रहा करते थे ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमेव ब्रुवाणं तु कृष्णं वाग्वज्रचोदितम्।
श्लक्ष्णवाचाम्बुनाऽऽसिच्य शमितोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसी ही बातें कहकर जिन्होंने वाग्वज्रका प्रहार किया था, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णको, जो अग्निके समान प्रज्वलित हो रहे थे, राजा भीष्मकने अपनी मधुर-वाणीरूप जलसे सींचकर शान्त किया ॥ १९ ॥

भीष्मक उवाच

प्रसीद देवलोकेश पाहि मां लोकशासन।
अज्ञानतमसाविष्टं ज्ञानचक्षुःप्रदो भव ॥ २० ॥

भीष्मक बोले—'देवलोकेश्वर! आप मुझपर प्रसन्न हों, लोकशासक परमेश्वर! मेरी रक्षा कीजिये। मैं अज्ञानरूपी

अन्धकारसे घिरा हुआ हूँ, आप मुझे ज्ञानरूपी नेत्र प्रदान करें ॥ २० ॥

मानुष्ये मांसचक्षुष्ट्वादसम्यग्विदिता वयम् ।
न प्रसिद्ध्यन्ति कर्माणि क्रियतामविचारणात् ॥ २१ ॥

मनुष्ययोनिमें जन्म लेकर मांसपिण्डपर ही दृष्टि रखनेके कारण अथवा केवल स्थूलदर्शी होनेके कारण हम सम्यग् ज्ञान-से वञ्चित हैं (हमारी बुद्धि उलटी हो गयी है) । अतः अवि-चारपूर्वक कर्म करनेके कारण हमारे कार्य सिद्ध नहीं हो पाते ॥ २१ ॥

भवन्तं शरणं प्राप्य देवानामपि दैवतम् ।
सम्यग् भवतु मे दृष्टिः सम्पद्यन्तु च मे क्रियाः॥ २२ ॥

आप देवताओंके भी देवता हैं । आपकी शरणमें आकर मेरी दृष्टि उत्तम हो जाय और मेरे सारे कर्म ठीक ढंगसे सम्पन्न हों ॥ २२ ॥

अनिष्पन्नामपि क्रियां नयोपेतां विचक्षणाः ।
फलदां हि प्रकुर्वन्ति महासेनापतिर्यथा ॥ २३ ॥

जैसे प्रधान-सेनापति अयोग्य सेनाका भी नीतिपूर्वक सञ्चालनकर उसे सफल बना देता है, उसी तरह विद्वान् पुरुष असम्पन्न कर्मको भी यदि वह न्याययुक्त है, तो फल-दायक बना देते हैं ॥ २३ ॥

भवन्तं शरणं प्राप्य नाति बाधति मे भयम् ।
यन्मया चिन्तितं कार्यं तद् भवाञ्छ्रोतुमर्हति ॥ २४ ॥

आपकी शरणमें आ जानेके कारण अब मुझे किसी प्रकारका भय नहीं सता रहा है । मैंने जो कार्य सोचा है, उसे आप सुननेकी कृपा करें ॥ २४ ॥

न दातुमिच्छे कन्यां वै पार्थिवेभ्यः स्वयंवरे ।
प्रसादं कुरु देवेश न कोपं कर्तुमर्हसि ॥ २५ ॥

देवेश्वर ! मैं स्वयंवरमें आये हुए राजाओंको अपनी कन्या देना नहीं चाहता । आप मुझपर कृपा करें, क्रोध न करें ॥

श्रीकृष्ण उवाच

वचनेन किमुक्तेन त्वया राजन् महामते ।
स्वकन्यां दास्यसे नेति कोऽत्र नेता तवानघ ॥ २६ ॥

श्रीकृष्ण बोले—महामते नरेश्वर ! आप केवल बातें बनाते हैं । इससे क्या होगा ? अनघ ! आप अपनी कन्या किसीको देंगे या नहीं—इस विषयमें आपको रोकनेवाला कौन है ? ॥ २६ ॥

मा देहीति न चाख्येयं ददस्वेति न मे वचः ।
रुक्मिण्या दिव्यमूर्तित्वं सम्बन्धे कारणं मम ॥ २७ ॥

'आप दूसरेको कन्या न दीजिये, मुझे ही दीजिये' यह दोनों प्रकारकी बातें मुझे नहीं कहनी चाहिये। रुक्मिणी दिव्य-रूपधारिणी देवी है, उसकी यह दिव्यता ही उसके साथ मेरे भावी सम्बन्धमें कारण है ॥ २७ ॥

मेरुकूटे पुरा देवैः कृतमंशावतारणम् ।
तदा निसृष्टा श्रीः पूर्वं गच्छ त्वं पतिना सह ॥ २८ ॥
मानुष्ये कुण्डिनगरे भीष्मकस्याङ्गनोदरे ।
जायस्व विपुलश्रोणि प्रत्यवेक्ष्य च वासवम् ॥ २९ ॥

पूर्वकालमें मेरुपर्वतके शिखरपर एकत्र हुए देवताओंने अपने-अपने अंशको भूतलपर उतारा था । उस समय ब्रह्माजी-ने लक्ष्मीसे कहा—'देवि ! तुम भी अपने पतिके साथ जाओ ! और मनुष्यलोकमें कुण्डिनपुरके भीतर राजा भीष्मककी रानी-के गर्भसे जन्म लो । विपुलश्रोणि ! इन्द्रपर कृपा करके तुम्हें ऐसा करना चाहिये ॥ २८-२९ ॥

तेनाहं वः प्रवक्ष्यामि राजन्नकृतकं वचः ।
श्रुत्वा स्वयं विनिश्चित्य यद् युक्तं तत् करिष्यति ॥ ३० ॥
रुक्मिणी नाम ते कन्या न सा प्राकृतमानुषी ।
श्रीरेषा ब्रह्मवाक्येन जाता केनापि हेतुना ॥ ३१ ॥

राजन् ! इसीलिये मैं आपसे स्वाभाविक बात कह रहा हूँ, इसमें कहीं कृत्रिमता या बनावट नहीं है । इस बातको सुनकर आपकी कन्या रुक्मिणी स्वयं ही अपने कर्तव्यका निश्चय करके जो उचित समझेगी, वह करेगी; क्योंकि वह साधारण स्त्री नहीं है, यह साक्षात् लक्ष्मी है और किसी कारण-वश ब्रह्माजीके कहनेसे यहाँ प्रकट हुई है ॥ ३०-३१ ॥

न च सा मनुजेन्द्राणां स्वयंवरविधिक्षमा ।
एका त्वेकाय दातव्या इति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ३२ ॥

वह नरेन्द्रोंके सामने स्वयंवरविधिका पालन करने योग्य नहीं है । एक कन्याको एक ही वरके हाथमें देना चाहिये—यही सिद्धान्तभूत सुस्थिर धर्म है ॥ ३२ ॥

न च तां शक्यसे राजल्लँक्ष्मीं दातुं स्वयंवरे ।
सदृशं वरमालोक्य दातुमर्हसि धर्मतः ॥ ३३ ॥

राजन् ! आप उस लक्ष्मीको स्वयंवरमे नहीं दे सकते । किसी योग्य वरको देखकर धर्मपूर्वक उसके हाथमें उसका दान कर देना ही आपके लिये उचित है ॥ ३३ ॥

अतोऽर्थे वैनतेयोऽयं विघ्नकारणहेतुना ।
आगतः कुण्डिनगरे देवराजेन चोदितः ॥ ३४ ॥

इसीलिये देवराज इन्द्रसे प्रेरित होकर यह विनतानन्दन गरुड़ इस स्वयंवरमें विघ्न डालनेके हेतु कुण्डिनपुरमें पधारे हैं ॥ ३४ ॥

अहं चैवागतो राज्ञां द्रष्टुकामो महोत्सवम् ।
तां च कन्यां वरारोहां पद्मेन रहितां श्रियम् ॥ ३५ ॥

मैं राजाओंके इस महान् उत्सवको तथा बिना कमलकी लक्ष्मीरूपा इस परम सुन्दरी राजकन्याको देखनेकी इच्छासे यहाँ आया था ॥ ३५ ॥

क्षन्तव्यमिति यत् प्रोक्तं त्वया राजन् ममाग्रतः।
युक्तिपूर्वमहं मन्ये कलुषाय न पार्थिव ॥ ३६ ॥

राजन्! पृथ्वीनाथ! आपने जो मेरे सामने यह बात कही कि मेरा अपराध क्षमा करना चाहिये, सो ठीक है। मैं इसे युक्तिसंगत मानता हूँ। इसमें दुर्भावका कोई कारण नहीं है ॥ ३६ ॥

पूर्वमेव मयाऽऽख्यातं येनास्मि विषये तव।
आगतः सौम्यरूपेण तेनैव क्षान्तवान् विभो ॥ ३७ ॥

विभो! इस विषयमें तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आपके राज्यमें सौम्यरूपसे आया हूँ (विरोधीरूपसे नहीं)। इसीसे आपको समझ लेना चाहिये कि मैंने क्षमा कर दी है ॥ ३७ ॥

क्षान्तेषु गुणबाहुल्यं दोषापहरणं क्षमा।
कथमस्मद्विधे राजन् कलुषो वसते हृदि ॥ ३८ ॥

राजन्! क्षमाशील पुरुषोंमें बहुत-से गुण प्रकट होते हैं। क्षमा सब दोषोंको दूर लेनेवाली है। मुझ-जैसे पुरुषके हृदयमें दुर्भाव कैसे रह सकता है ॥ ३८ ॥

कुलजे सत्त्वसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि।
भवादृशे कथं राजन् कलुषो भुवि वर्तते ॥ ३९ ॥

नरेश्वर! आप भी कुलीन, सत्त्वगुण-सम्पन्न, धर्मज्ञ और सत्यवादी हैं। इस भूतलपर आप-जैसे पुरुषके हृदयमें कलुष-भाव कैसे टिक सकता है ॥ ३९ ॥

क्षान्तोऽयमिति मन्तव्यं मम सेनासहागतम्।
न चाहं सेनया सार्द्धं यास्यामि रिपुवाहिनीम् ॥ ४० ॥

मैं सेनाके साथ यहाँ आया हूँ, इसलिये आपको यही मानना चाहिये कि ये क्षमाशील हैं; क्योंकि मैं शत्रुओंकी सेनामें अपनी सेना साथ लेकर नहीं जाता हूँ ॥ ४० ॥

अक्षान्तश्चारिसेनायां यास्यामि द्विजवाहने।
स्थितः सोमार्कसंकाशान्यायुधानि करैर्वहन् ॥ ४१ ॥

जब मैं असहिष्णु होकर शत्रु-सेनापर आक्रमण करता हूँ, तब गरुड़पर बैठता हूँ और अपने हाथोंमें चन्द्रमा तथा सूर्यके समान चमकीले अस्त्र-शस्त्र धारण करता हूँ ॥ ४१ ॥

मान्योऽस्माकं त्वया राजन् वयसा च पिता समः।
पालयस्व पुरीं सम्यक्क्षत्रेषु पितृवद् वस ॥ ४२ ॥

राजन्! मेरे लिये पिता सबसे अधिक आदरणीय हैं, जो अवस्थामें आपके ही तुल्य हैं (अतः आप भी मेरे लिये पिताके ही तुल्य हैं)। आप अपनी पुरीका भलीभाँति पालन कीजिये और क्षत्रियोंमें पिताके समान आदरणीय बनकर रहिये॥

कलुषो नाम राजेन्द्र वसेत् कापुरुषेषु वै।
शूरेषु शुद्धभावेषु कलुषो वसते कथम् ॥ ४३ ॥

राजेन्द्र! दुर्भाव तो कायरोंमें रहा करता है, विशुद्ध भाववाले शूरवीरोंमें कलुषित भाव कैसे रह सकता है ॥४३॥

जानीध्वमेषा मे वृत्तिः पुत्रेषु पितृवद् वयम्।
इमावपि च राजानौ विदर्भनगराधिपौ ॥ ४४ ॥

मेरी यह वृत्ति सर्वथा कलुष भावसे रहित है, इस बातको आपलोग अच्छी तरह जान लें। हम पुत्रोंपर पिताके तुल्य ही स्नेह रखते हैं। ये दोनों विदर्भनगरके अधिपति राजा क्रथ और कैशिक भी ऐसे ही स्वभावके हैं ॥ ४४ ॥

आतिथ्यकरणेऽस्माकं स्वराज्यं ददतावुभौ।
तेन दानफलेनास्य दशपूर्वा दिवं गताः ॥ ४५ ॥

इन दोनोंने हमलोगोंका आतिथ्य-सत्कार करते समय मुझे अपना सारा राज्य ही समर्पित कर दिया। उस दानके फलसे इनके दस पीढ़ी पहलेके पूर्वज स्वर्गलोकमें चले गये ॥

भविष्याश्चैव राजानः पुत्रपौत्रा दशावराः।
तेऽपि तत्रैव यास्यन्ति देवलोकं नराधिपाः ॥ ४६ ॥

भविष्यमें भी दस पीढ़ीतक जो पुत्र-पौत्र आदि राजा होंगे, वे सभी नरेश उक्त दानके फलसे उसी देवलोकमें जायँगे॥

अनयोः सुचिरं कालं भुक्त्वा राज्यमकण्टकम्।
यदाभिलाषो मोक्षस्य यास्येते निर्वृतिं सुखम् ॥ ४७ ॥

इन दोनोंको चिरकालतक अकण्टक राज्य भोग लेनेके पश्चात् जब मोक्षकी अभिलाषा होगी, तब ये सुखस्वरूप परमानन्द-पदको प्राप्त कर लेंगे ॥ ४७ ॥

नरेन्द्राश्च महाभागा येऽभिषेचितुमागताः।
कालेन तेऽपि यास्यन्ति देवलोकं त्रिविष्टपम् ॥ ४८ ॥

जो महाभाग नरेश मेरा अभिषेक करनेके लिये आये थे, वे भी समयानुसार देवताओंके निवासभूत स्वर्गलोकमें चले जायँगे ॥ ४८ ॥

स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि वैनतेयसहायवान्।
नगरीं मथुरां रम्यां भोजराजेन पालिताम् ॥ ४९ ॥

आपलोगोंका कल्याण हो, अब मैं गरुड़के साथ भोजराज उग्रसेनद्वारा पालित रमणीय मथुरापुरीको जाऊँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु राजानं भीष्मकं यदुनन्दनः।
राज्ञश्चैवमुपामन्त्र्य वैदर्भाभ्यां विशेषतः ॥ ५० ॥
सभानिष्क्रम्य देवेशो जगाम रथमन्तिकम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा भीष्मकसे ऐसा कहकर विशेषतः वहाँ बैठे हुए राजाओंसे विदा ले यदुकुलनन्दन देवेश्वर श्रीकृष्ण विदर्भराज क्रथ और कैशिकके साथ सभाभवनसे निकलकर रथके निकट गये ॥ ५०½ ॥

ततः प्रहृष्टो राजर्षिर्भीष्मकः किल केशवम् ॥ ५१ ॥
ते सर्वे च महीपाला विषण्णवदनाभवन्।

तदनन्तर, भगवान् श्रीकृष्णको जाते देख राजर्षि भीष्मक बड़े प्रसन्न हुए और उन समस्त भूपालोंके मुखपर विषाद छा गया ॥ ५१½ ॥

आद्यं स्वायम्भुवं रूपं सुरासुरनमस्कृतम् ॥ ५२ ॥
सहस्रपात् सहस्राक्षं सहस्रभुजविग्रहम् ।
सहस्रशिरसं देवं सहस्रमुकुटोज्ज्वलम् ॥ ५३ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
दिव्याभरणसंयुक्तं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ ५४ ॥
कृष्णं रक्तारविन्दाक्षं चन्द्रसूर्याग्निलोचनम् ।
दृष्ट्वा स राजा राजेन्द्रं प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ ५५ ॥
वाङ्मनःकायसंयुक्तं स्तोतुमारब्धवांस्तदा ।

जो सबके आदिकारण, स्वयम्भूस्वरूप, देवताओं और असुरोंद्वारा वन्दित, सहस्रों चरणोंसे युक्त, सहस्रों नेत्रोंसे विभूषित, सहस्र भुजाओंसे सुशोभित शरीरवाले, सहस्रों मस्तकोंसे सम्पन्न तथा सहस्रों मुकुटोंसे प्रकाशमान हैं, जो दिव्य माला तथा दिव्य वस्त्र धारण करनेवाले, दिव्य गन्ध और दिव्य अनुलेपनसे अलंकृत हैं, जिनके श्रीअंगोंपर दिव्य आभूषण शोभा देते हैं, जो अनेक दिव्य आयुधोंसे सम्पन्न हैं तथा चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि जिनके नेत्र हैं, उन अरुण कमलनयन राजेन्द्र श्रीकृष्णको देखकर राजा भीष्मक हाथ जोड़ उनके चरणोंमें गिर पड़े । इस प्रकार मन, वाणी और शरीरद्वारा प्रणाम करके उन्होंने उस समय उनकी स्तुति आरम्भ की ॥ ५२–५५½ ॥

भीष्मक उवाच

देवदेव नमस्तुभ्यमनादिनिधनाय वै ॥ ५६ ॥
शाश्वतायादिदेवाय नारायण परायण ।

भीष्मक बोले—देवदेव ! आपको नमस्कार है । आप आदि और अन्तसे रहित हैं, आपको नमस्कार है । नारायण ! आप सबके परम आश्रय हैं । आप सनातन आदिदेवको नमस्कार है ॥ ५६½ ॥

स्वयम्भुवे च विश्वाय स्थाणवे वेधसाय च ॥ ५७ ॥
पद्मनाभाय जटिने दण्डिने पिङ्गलाय च ।
हंसप्रभाय हंसाय चक्ररूपाय वै नमः ॥ ५८ ॥

आप ही स्वयम्भू (ब्रह्मा), विश्वरूप, स्थाणु (महादेव अथवा स्थावर प्राणी), वेधस् (विधाता), पद्मनाभ, जटाधारी, दण्डधारी, पिङ्गलवर्ण, हंसकान्ति, हंसरूप तथा चक्रस्वरूप हैं । आपको नमस्कार है ॥ ५७-५८ ॥

वैकुण्ठाय नमस्तस्मै अजाय परमात्मने ।
सदसद्भावयुक्ताय पुराणपुरुषाय च ॥ ५९ ॥

आप वैकुण्ठ-धामके अधिपति, अजन्मा एवं परमात्मा हैं । आपको नमस्कार है । आप ही सद्भाव और असद्भावसे युक्त हैं, आप ही पुराणपुरुष हैं । आपको नमस्कार है ॥ ५९ ॥

पुरुषोत्तमाय युक्ताय निर्गुणाय नमोऽस्तु ते ।
वरदो भव मे नित्यं त्वद्भक्ताय सुरोत्तम ॥ ६० ॥
लोकनाथोऽसि नाथ त्वं विष्णुस्त्वं विदितात्मनाम् ।

आप योगयुक्त पुरुषोत्तम एवं निर्गुण परमात्मा हैं । आपको नमस्कार है । सुरश्रेष्ठ ! मैं आपका भक्त हूँ । आप मेरे लिये सदा वरदायक हों । नाथ ! आप ही सम्पूर्ण लोकोंके नाथ—संरक्षक हैं । आत्मज्ञानियोंके 'विष्णु' (सर्वव्यापी परमात्मा) भी आप ही हैं ॥ ६०½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स्तुत्वा महादेवं नृपाणामग्रतो नृपः ॥ ६१ ॥
महार्हमणिमुक्ताभिर्वज्रवैदूर्यहासिनम् ।
शातकुम्भस्य निचयं कृष्णाय प्रददौ नृपः ॥ ६२ ॥
पुनश्चक्रे नमस्कारं वैनतेये महाबले ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा भीष्मकने समस्त नरेशोंके सामने बहुमूल्य मणियों तथा मुक्ताओंद्वारा वज्र और वैदूर्यमणिका भी उपहास करनेवाले महान् देवता श्रीकृष्णकी इस प्रकार स्तुति करके उन्हें सुवर्णकी राशि भेंट की । फिर महाबली विनतानन्दन गरुडको भी नमस्कार किया ॥

भीष्मक उवाच

नमस्तस्मै खगेन्द्राय नमो मारुतरंहसे ॥ ६३ ॥
कामरूपाय दिव्याय काश्यपाय च वै नमः ।

भीष्मक बोले—जिनका वेग वायुके समान है, जो इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, दिव्यस्वरूप एवं कश्यपमुनिके पुत्र हैं, उन पक्षिराज गरुडको नमस्कार है, नमस्कार है ॥

वैशम्पायन उवाच

इति संक्षेपतः स्तुत्वा सत्कृत्य वरभूषणैः ॥ ६४ ॥
ततो विसर्जयामास कृष्णं कमललोचनम् ।
अनुजग्मुर्नृपाश्चैव प्रस्थितं वासवानुजम् ॥ ६५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार संक्षेपसे ही गरुडकी स्तुति करके उत्तम आभूषणोंद्वारा सत्कार करनेके पश्चात् राजाने कमललोचन श्रीकृष्णको विदा किया । इन्द्रके छोटे भाई उपेन्द्रके प्रस्थान करनेपर बहुत-से राजा उनके पीछे-पीछे गये ॥ ६४-६५ ॥

प्रतिगृह्य च सत्कारं नृपानामन्त्र्य वीर्यवान् ।
जगाम मथुरां कृष्णो द्योतयानो दिशो दश ॥ ६६ ॥
वैनतेयं पुरस्कृत्य सौम्यरूपं खगोत्तमम् ।

पराक्रमी श्रीकृष्ण उन राजाओंका सत्कार ग्रहण करके उनसे विदा ले दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए सौम्यरूपधारी पक्षिप्रवर विनतानन्दन गरुडको आगे करके मथुरापुरीको गये ॥ ६६½ ॥

महता रथवृन्देन परिवार्य समन्ततः ॥ ६७ ॥
भेरीपटहनादेन शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
बृंहितेन च नागानां हयानां हेषितेन च ॥ ६८ ॥
सिंहनादेन शूराणां रथनेमिस्वनेन च ।
तुमुलः सुमहानासीन्महामेघरवोपमः ॥ ६९ ॥

वे अपनेको चारों ओरसे विशाल रथसमूहद्वारा घेरकर भेरी, पटह, शङ्ख और दुन्दुभियोंकी ध्वनिके साथ प्रस्थित हुए। हाथियोंके चिग्घाडने, घोड़ोंके हिनहिनाने, शूरवीरोंके सिंहनाद करने तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटसे मिलकर उन वाद्योंका ऐसा महान् तुमुल नाद हुआ, जो महामेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान प्रतीत होता था ॥ ६७–६९ ॥

गते कृष्णे महावीर्ये आदाय वरमासनम् ।
सभामादाय देवाश्च प्रययुस्त्रिदशालयम् ॥ ७० ॥

महापराक्रमी श्रीकृष्णके चले जानेपर देवतालोग उस श्रेष्ठ सिंहासन तथा सभाभवनको साथ ले स्वर्गलोकको चले गये ॥

महता चतुरङ्गेण बलेन परिवारिताः ।
क्रोशमात्रमुपव्रज्य अनुज्ञाते जनार्दने ॥ ७१ ॥
प्रययुस्ते नृपाः सर्वे पुनरेव स्वयंवरम् ॥ ७२ ॥

विशाल चतुरङ्गिणी सेनासे घिरे हुए राजा लोग एक कोसतक पीछे-पीछे जाकर भगवान् जनार्दनकी आज्ञा मिलनेपर लौटे और सब-के-सब पुनः स्वयंवरमें चले गये ॥ ७१-७२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि श्रीकृष्णाभिषेको नामैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीकृष्णका अभिषेकनामक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

शाल्वके कथनानुसार जरासंध आदि नरेशोंका शाल्वको ही कालयवनके पास दूत बनाकर भेजना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयाते वसुदेवपुत्रे
नराधिपा भूषणभूषिताङ्गाः ।
सभां समाजग्मुः सुरेन्द्रकल्पाः
प्रबोधनार्थं गमनोत्सवास्ते ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वसुदेवपुत्र श्रीकृष्णके वहाँसे चले जानेपर सब राजा अपने अङ्गोंको आभूषणोंसे विभूषित करके देवेन्द्रके समान सज-धजकर राजा भीष्मककी सभामें उन्हें समझानेके लिये गये। श्रीकृष्णके चले जानेसे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई थी ॥ १ ॥

सभागतान् सोमरविप्रकाशान्
सुखोपविष्टान् रुचिरासनेषु ।
समीक्ष्य राजा सुनयार्थवादी
जगाद वाक्यं नरराजसिंहः ॥ २ ॥

सभामें आकर सुन्दर सिंहासनोंपर सुखपूर्वक बैठे हुए सोम और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले राजाओंको देखकर उत्तम नीतिके अनुकूल युक्तियुक्त बात कहनेवाले नरेशोंमें सिंहके समान पराक्रमी राजा भीष्मक इस प्रकार बोले ॥ २ ॥

स्वयंवरकृतं दोषं विदित्वा वो नराधिपाः ।
क्षन्तव्यो मम वृद्धस्य दुर्दग्धस्य फलोदयम् ॥ ३ ॥

'नरेश्वरो ! स्वयंवरके द्वारा जो श्रीकृष्णविरोधरूपी दोष सम्पादित हो रहा था, उसे जानकर (मैंने इसे स्थगित कर दिया।) आपलोग मुझ वृद्धके अपराधको क्षमा करें। जिसे दैवरूपी दावानलने अच्छी तरह जला दिया हो, उस वृक्षसे फलकी प्राप्ति कैसे हो सकती है (जिस स्वयंवरमे भगवद्विरोधकी सम्भावना हो, वह सफल नहीं हो सकता) ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाभाष्य तान् सर्वान् सत्कृत्य च यथाविधि ।
ततो विसर्जयामास नृपांस्तान् मध्यदेशजान् ॥ ४ ॥
पूर्वपश्चिमजांश्चैव उत्तरापथिकानपि ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भीष्मकने उन सब राजाओंका विधिपूर्वक सत्कार करके उन्हें विदा कर दिया। उनमेसे कोई मध्य देशके थे, कोई पूर्व, पश्चिम और उत्तर भारतके। उन सबको उन्होंने सादर विदा किया ॥ ४½ ॥

येऽपि सर्वे महेष्वासाः प्रहृष्टमनसो नराः ॥ ५ ॥
यथार्हेण च सम्पूज्य जग्मुस्ते नरपुङ्गवाः ।

वे सब महाधनुर्धर नरेश भी प्रसन्नचित्त होकर राजाका यथायोग्य सम्मान करके अपने-अपने स्थानको चले गये ॥५½॥

जरासंधः सुनीथश्च दन्तवक्त्रश्च वीर्यवान् ॥ ६ ॥
शाल्वः सौभपतिश्चैव महाकूर्मश्च पार्थिवः ।
क्रथकैशिकमुख्याश्च नृपाः प्रवरवंशजाः ॥ ७ ॥
वेणुदारिश्च राजर्षिः काश्मीराधिपतिस्तथा ।
एते चान्ये च बहवो दक्षिणापथिका नृपाः ॥ ८ ॥
श्रोतुकामा रहो वाक्यं स्थिता वै भीष्मकान्तिके ।

जरासंध, सुनीथ, पराक्रमी दन्तवक्त्र, सौभपति शाल्व, राजा महाकूर्म, क्रथ और कैशिक आदि श्रेष्ठ कुलके नरेश, राजर्षि वेणुदारि तथा काश्मीरनरेश—ये एवं दूसरे बहुत-से दाक्षिणात्य नरपाल राजा भीष्मककी एकान्त वार्ता सुननेकी इच्छासे उनके पास ही ठहर गये ॥ ६—८½ ॥

तान् वै समीक्ष्य राजेन्द्रः स राजा भीष्मको बली ॥९॥
स्नेहपूर्णेन मनसा स्थितांस्तानवनीश्वरान् ।
त्रिवर्गसहितं श्लक्ष्णं षड्गुणालंकृतं शुभम् ॥ १० ॥
उवाच नयसम्पन्नं स्निग्धगम्भीरया गिरा ।

उन सबको देखकर बलवान् राजाधिराज राजा भीष्मकने स्नेहपूर्ण हृदयसे वहाँ खड़े हुए उन भूपालोंके प्रति स्निग्ध एवं गम्भीर वाणीमें धर्म, अर्थ और कामसे युक्त, मधुर,

सन्धि-विग्रह आदि छः गुणोंसे अलंकृत, शुभ एवं नीतिसम्पन्न बात कही ॥ ९—१०½ ॥

भीष्मक उवाच

भवतामवनीशानां समालोक्य नयान्वितम् ॥ ११ ॥
वचनं व्याहृतं श्रुत्वा कृतवान् कार्यमीदृशम् ।
सद्भिर्भवद्भिः क्षन्तव्यं वयं नित्यापराधिनः ॥ १२ ॥

भीष्मक बोले—राजाओ ! आप सब पृथ्वीपतियोंकी ओर देखकर और आपके द्वारा कहे गये नीतियुक्त वचनको सुनकर मैंने ऐसा कार्य किया है। आप सब लोग सत्पुरुष हैं; अतः मेरे इस बर्तावको क्षमापूर्वक सह लेंगे। हम अपनेको सदा अपराधी मानते हैं ॥ ११-१२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु राजा स भीष्मको नयकोविदः ।
उवाच सुतमुद्दिश्य वचनं राजसंसदि ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर नीति-निपुण विद्वान् राजा भीष्मक उस राजसभामें अपने पुत्रको लक्ष्य करके बोले ॥१३ ॥

भीष्मक उवाच

पुत्रस्य चेष्टामालोक्य त्रासाकुलितलोचनः ।
मन्ये बालानिमाँल्लोकान् स एष पुरुषः परः ॥ १४ ॥

भीष्मकने कहा—राजाओ ! अपने पुत्रकी चेष्टाको देखकर मेरे नेत्र भयसे व्याकुल हो उठे हैं। मैं इन लोगोंको (रुक्मी आदिको) बालक (विवेकशून्य) मानता हूँ। मेरी दृष्टिमें ये भगवान् श्रीकृष्ण परम पुरुष हैं ॥ १४ ॥

कीर्तिः कीर्तिमतां श्रेष्ठो यशश्च विपुलं तथा ।
स्थापितं भुवि मर्त्येऽस्मिन् स्वबाहुबलमूर्जितम् ॥१५॥

ये कीर्तिमानोंमें श्रेष्ठ हैं। इन्होंने इस मर्त्यलोकमें भूतलपर अपनी उत्तम कीर्ति और सुयशकी स्थापना की है तथा अपने ओजस्वी बाहुबलका भी परिचय दिया है ॥ १५॥

धन्या खलु महाभागा देवकी योषितां वरा ।
पुत्रं त्रिभुवनश्रेष्ठं कृत्वा गर्भेण केशवम् ॥ १६ ॥
कृष्णं कमलपत्राक्षं श्रीपुञ्जममरार्चितम् ।
नेत्राभ्यां स्नेहपूर्णाभ्यां वीक्षते मुखपङ्कजम् ॥ १७ ॥

धन्य हैं नारियोंमें श्रेष्ठ महाभागा देवकी, जो तीनों लोकोंमें सबसे श्रेष्ठ, शोभाके पुञ्ज, देवपूजित, कमलदललोचन केशव कृष्णको पुत्ररूपसे गर्भमें रखकर जन्म देनेके पश्चात् सदा स्नेहपूर्ण नेत्रोंसे उनके मुखारविन्दको निहारा करती हैं ॥ १६-१७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं लालप्यमानं तु राजानं राजसंसदि ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा शाल्वराजो महाद्युतिः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजसभामें राजा भीष्मकको इस प्रकार बारंबार बोलते देख महातेजस्वी शाल्वराजने सान्त्वनापूर्ण मधुर वाणीमें कहा ॥ १८ ॥

शाल्व उवाच

अलं खेदेन राजेन्द्र सुताय रिपुमर्दिने ।
क्षत्रियस्य रणे राजन् ध्रुवं जयपराजयौ ॥ १९ ॥

शाल्व बोला—राजेन्द्र ! (आप खेद क्यों प्रकट करते हैं) आपका पुत्र शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाला है। इसके लिये खेद करना व्यर्थ है (इसपर तो आपको गर्व होना चाहिये)। राजन् ! रणभूमिमें क्षत्रियको जय अथवा पराजय अवश्य प्राप्त होती है ॥ १९ ॥

नियता गति[1] मर्त्यानामेष धर्मः सनातनः ।
बलकेशवयोरन्यस्तृतीयः कः पुमानिह ॥ २० ॥
रणे योधयितुं शक्तस्तव पुत्रं महाबलम् ।

यह मनुष्योंकी नियत गति है। यह सनातन धर्म है। बलराम और श्रीकृष्णके सिवा इस भूतलपर तीसरा कौन ऐसा पुरुष है, जो समराङ्गणमें आपके महाबली पुत्रका सामना कर सके ॥ २०½ ॥

रथातिरथवृन्दानामेक एव रणाजिरे ॥ २१ ॥
रिपून् बाधयितुं शक्तो धनुर्गृह्य महाभुजः ।

यह महाबाहु वीर हाथमें धनुष लेकर अकेला ही युद्ध-क्षेत्रमें रथियों और अतिरथियोंके समूहका सामना करने और शत्रुओंको बाधा पहुँचानेमें समर्थ है ॥ २१½ ॥

भार्गवास्त्रं महारौद्रं देवैरपि दुरासदम् ॥ २२ ॥
सृजतो बाहुवीर्येण कः पुमान् प्रसहिष्यति ।

जिस समय यह अपने बाहुबलसे देवताओंके लिये भी दुर्जय महाभयंकर भार्गवास्त्रका प्रयोग करेगा, उस समय इस वीरका आक्रमण कौन पुरुष सह सकेगा ॥ २२½ ॥

अयं तु पुरुषः कृष्णो ह्यनादिनिधनोऽव्ययः ॥ २३ ॥
तं विजेता नृलोकेऽस्मिन् नापि शूलधरः स्वयम् ।

ये श्रीकृष्ण तो अनादि, अनन्त और अविनाशी पुरुष हैं। इस नरलोकमें साक्षात् त्रिशूलधारी भगवान् शङ्कर भी उन्हें जीत नहीं सकते ॥ २३½ ॥

तव पुत्रो महाराज सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥ २४ ॥
विदित्वा देवमीशानं न योधयति केशवम् ।

महाराज ! आपका पुत्र सम्पूर्ण शास्त्रोंका तत्त्ववेत्ता है। यह श्रीकृष्णको देवता और ईश्वर समझकर ही उनसे युद्ध नहीं करता है ॥ २४½ ॥

अद्य तस्य रणे जेता यवनाधिपतिर्नृप ॥ २५ ॥
स कालयवनो नाम अवध्यः केशवस्य ह ।

नरेश्वर ! आजकल युद्धमें श्रीकृष्णपर विजय पानेवाला

---

१. 'गति' के स्थानमें 'गतिः' समझना चाहिये। नीलकण्ठने यहाँ विभक्तिका लोप आर्ष माना है।

केवल कालयवन है, जो यवनोंका अधिपति है। वह श्रीकृष्णके लिये अवध्य है ॥ २५½ ॥

तप्त्वा सुदारुणं घोरं तपः परमदुश्चरम् ॥ २६ ॥
रुद्रमाराधयामास द्वादशाब्दानयोऽशनः ।
पुत्रकामेन मुनिना तोष्य रुद्रात्सुतो वृतः ॥ २७ ॥
माथुराणामवध्योऽयं भवेदिति च शङ्करात् ।
एवमस्त्विति रुद्रोऽपि प्रददौ मुनये सुतम् ॥ २८ ॥

गार्ग्यमुनिने अत्यन्त दुष्कर, भयंकर एवं दारुण तपस्या करके बारह वर्षोंतक पुत्रकी कामनासे रुद्रदेवकी आराधना की थी। वे उन दिनों केवल लोहका चूर्ण खाकर रहते थे। इस प्रकार रुद्रदेवको संतुष्ट करके उन्होंने उनसे एक पुत्र माँगा तथा भगवान् शङ्करसे यह भी प्रार्थना की कि मेरा वह पुत्र माथुरों (मथुरामें उत्पन्न हुए लोगों) के लिये अवध्य हो। तब रुद्रदेवने 'एवमस्तु' कहकर मुनिको वैसा पुत्र प्रदान कर दिया ॥ २६—२८ ॥

एवं गार्ग्यस्य तनयः श्रीमान् रुद्रवरोद्भवः ।
माथुराणामवध्योऽयं मथुरायां विशेषतः ॥ २९ ॥

इस तरह गार्ग्यका वह तेजस्वी पुत्र रुद्रदेवके वरसे उत्पन्न हुआ है और विशेषतः माथुरों (मथुरामें पैदा हुए वीरों) के लिये अवध्य है ॥ २९ ॥

कृष्णोऽपि बलवानेष माथुरो जातवानयम् ।
स जेष्यति रणे कृष्णं मथुरायां समागतः ॥ ३० ॥

ये श्रीकृष्ण बलवान् होनेपर भी मथुरामें जन्म लेनेके कारण माथुर ही हैं। अतः मथुरामें आया हुआ कालयवन रणभूमिमें श्रीकृष्णको अवश्य जीत लेगा ॥ ३० ॥

मन्यध्वं यदि वा युक्तां नृपा वाचं मयेरिताम् ।
तत्र दूतं विसृजध्वं यवनेन्द्रपुरं प्रति ॥ ३१ ॥

नरपतियो ! यदि आपलोग मेरी कही हुई इस बातको उचित समझें तो यवनराजके नगरको दूत भेज दें ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा सौभपतेर्वाक्यं सर्वे ते नृपसत्तमाः ।
कुर्म इत्यब्रुवन् हृष्टा जरासंधं महाबलम् ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सौभ विमानके अधिपति राजा शाल्वकी बात सुनकर वे सभी श्रेष्ठ नरेश हर्षमें भरकर महाबली जरासंधसे बोले—'हमलोग अवश्य ऐसा ही करें' ॥ ३२ ॥

स तेषां वचनं श्रुत्वा जरासंधो महीपतिः ।
बभूव विमना राजन् ब्रह्मणो वचनं स्मरन् ॥ ३३ ॥

राजन् ! उन राजाओंकी बात सुनकर आकाशवाणीकी बात याद करके पृथ्वीपति जरासंधका मन उदास हो गया ॥ ३३ ॥

जरासंध उवाच

मां समाश्रित्य पूर्वस्मिन् नृपा नृपभयार्दिताः ।
प्राप्नुवन्ति हृतं राज्यं सभृत्यबलवाहनम् ॥ ३४ ॥

जरासंध बोला—आजसे पहले सब राजा दूसरे राजाओंके भयसे पीड़ित होनेपर मेरी शरणमें आते थे और भृत्य, सेना तथा वाहनोंसहित अपने खोये हुए राज्यको मेरे सहयोगसे पुनः प्राप्त कर लेते थे ॥ ३४ ॥

इह संचोद्यते भूपैः परसंश्रयहेतुना ।
कन्येव स्वपतिद्वेषादन्यं रतिपरायणा ॥ ३५ ॥

इस समय यहाँ सब राजा मुझे दूसरेका आश्रय लेनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं। जैसे रतिलोलुप नारी अपने पतिके प्रति द्वेष होनेसे उसे छोड़कर दूसरे पुरुषका आश्रय लेती है, (उसी प्रकार मैं अपने बलका आश्रय न लेकर दूसरेका सहारा लेनेको उद्यत हुआ हूँ) ॥ ३५ ॥

अहो सुबलवद् दैवमशक्यं विनिवर्तितुम् ।
यदहं कृष्णभीतोऽन्यं संश्रयामि बलाधिकम् ॥ ३६ ॥

अहो ! दैव बड़ा प्रबल है। उसे लौटाया नहीं जा सकता; क्योंकि आज मैं श्रीकृष्णसे डरकर दूसरे अधिक बलशाली राजाका आश्रय ग्रहण कर रहा हूँ ॥ ३६ ॥

नूनं योगविहीनोऽहं कारयिष्ये पराश्रयम् ।
श्रेयो हि मरणं मह्यं न चान्यं संश्रये नृपाः ॥ ३७ ॥

निश्चय ही मैं निरुपाय हो गया हूँ, अतः मुझे दूसरेका आश्रय लेना पड़ेगा; परंतु ऐसे जीवनसे तो मेरा मर जाना ही अच्छा है। नरपतियो ! मैं दूसरेकी शरण नहीं लूँगा ॥ ३७ ॥

कृष्णो वा बलदेवो वा यो वासौ वा नराधिपः ।
हन्तारं प्रतियोत्स्यामि यथा ब्राह्मप्रचोदितः ॥ ३८ ॥

श्रीकृष्ण हों, बलदेव हों अथवा जो कोई भी राजा क्यों न हो, जो मुझे मारेगा, उसका मैं डटकर सामना करूँगा। जैसा कि आकाशवाणीने कहा है कि मुझे कोई दूसरा मारनेवाला है ॥ ३८ ॥

एषा मे निश्चिता बुद्धिरेतत्सत् पुरुषव्रतम् ।
अतोऽन्यथा न शक्तोऽहं कर्तुं परसमाश्रयम् ॥ ३९ ॥

यही मेरी बुद्धिका निश्चय है, यही सत्पुरुषका व्रत है। इसके विपरीत मैं दूसरेका आश्रय लेनेमें असमर्थ हूँ ॥ ३९ ॥

भवतां साधुवृत्तानामाबाधं न करोति सः ।
तेन दूतं प्रदास्यामि नृपाणां रक्षणाय वै ॥ ४० ॥

आप सदाचारी नरेशोंको श्रीकृष्ण बाधा न पहुँचावें, इस उद्देश्यसे राजाओंकी रक्षाके लिये मैं दूत दूँगा अर्थात् दूत भेजना स्वीकार करूँगा ॥ ४० ॥

व्योममार्गेण यातव्यं यथा कृष्णो न बाधते ।
गच्छन्तमनुचिन्त्यैवं प्रेषयध्वं नृपोत्तमाः ॥ ४१ ॥

श्रेष्ठ राजाओ ! इस दूतको आकाशमार्गसे जाना चाहिये, जिससे यहाँसे जाते समय उसे श्रीकृष्ण बाधा न दे सकें। इसी [illegible] भाँति विचार करके ही तुमलोग दूत भेजो ॥ ४१ ॥

अयं सौभपतिः श्रीमाननलार्केन्दुविक्रमः ।
रथेनादित्यवर्णेन प्रयाति स्वपुरं बली ॥ ४२ ॥

ये श्रीमान् सौभपति बलवान् राजा शाल्व अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाके समान पराक्रमी हैं। ये सूर्यतुल्य तेजस्वी रथ (विमान) द्वारा अपने नगरको जाते हैं ॥ ४२ ॥

यवनेन्द्रो यथाभ्येति नरेन्द्राणां समागमम् ।
वचनं च तथास्माभिर्दूत्ये नः कृष्णविग्रहे ॥ ४३ ॥

ये दूतकर्म करते समय हमलोगोंकी ओरसे जैसी बात कहनी चाहिये, वैसी ही कहें, जिससे श्रीकृष्णके साथ हम लोगोंका युद्ध उपस्थित होनेपर वह यवनराज कालयवन हम नरेशोंकी मण्डलीसे आकर मिल जाय ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच

पुनरेवाब्रवीद् राजा सौभस्य पतिमूर्जितम् ।
गच्छ सर्वनरेन्द्राणां साहाय्यं कुरु मानद ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! फिर राजा जरासंधने सौभविमानके स्वामी बलवान् राजा शाल्वसे कहा—'मानद! जाओ, सम्पूर्ण नरेशोंकी सहायता करो ॥ ४४ ॥

यवनेन्द्रो यथा याति यथा कृष्णं विजेष्यति ।
यथा वयं च तुष्यामस्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ४५ ॥

तुम ऐसी नीतिका प्रयोग करो, जिससे यवनराज चढ़ाई करे, श्रीकृष्णको जीते और हमलोगोंको संतोष हो' ॥ ४५ ॥

एवं संदिश्य सर्वांस्तान् भीष्मकं पूज्य धर्मतः ।
प्रययौ स्वपुरं राजा स्वेन सैन्येन संवृतः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार सबको संदेश देकर और धर्मानुसार भीष्मकका भी सम्मान करके राजा जरासंध अपनी सेनाके साथ अपने नगरको चला गया ॥ ४६ ॥

शाल्वोऽपि नृपतिश्रेष्ठस्तांश्च सम्पूज्य धर्मतः ।
जगामाकाशमार्गेण रथेनानिलरंहसा ॥ ४७ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ शाल्व भी उन सबका धर्मपूर्वक आदर करके वायुके समान वेगशाली विमानद्वारा आकाशमार्गसे चला गया ॥ ४७ ॥

तेऽपि सर्वे महीपाला दक्षिणापथवासिनः ।
अनुव्रज्य जरासंधं गताः स्वनगरं प्रति ॥ ४८ ॥

दक्षिण भारतके रहनेवाले जो समस्त भूमिपाल वहाँ उपस्थित थे, वे भी कुछ दूरतक जरासंधके पीछे जाकर फिर अपने नगरको चले गये ॥ ४८ ॥

भीष्मकः सह पुत्रेण तावुभौ चिन्त्य दुर्नयम् ।
स्वे गृहे न्यवसद् दीनः कृष्णमेवानुचिन्तयन्॥ ४९ ॥

राजा भीष्मक अपने पुत्र रुक्मीके साथ ही उन दोनों शाल्व और जरासंधका तथा उन सबकी दुर्नीतिका विचार करके श्रीकृष्णका ही चिन्तन करते हुए दीनभावसे अपने घरमें रहने लगे ॥ ४९ ॥

विदिता रुक्मिणी साध्वी स्वयंवरनिवर्तनम् ।
कृष्णस्यागमनाद्धेतोर्नृपाणां दोषदर्शनम् ॥ ५० ॥
गत्वा तु सा सखीमध्ये उवाच व्रीडितानना ।
न चान्येषां नरेन्द्राणां पत्नी भवितुमुत्सहे ।
कृष्णात् कमलपत्राक्षात् सत्यमेतद् वचो मम ॥ ५१ ॥

सती साध्वी रुक्मिणीको जब यह पता लग गया कि श्रीकृष्णका आगमन होनेसे स्वयंवर स्थगित हो गया तथा राजाओंकी जो दोषदृष्टि थी उसका भी ज्ञान हो गया, तब वे अपनी सखियोंके बीचमें जाकर लज्जासे सिर झुकाये हुए बोली—'सखियो! मैं कमलनयन श्रीकृष्णको छोड़कर दूसरे नरेशोंकी पत्नी नहीं हो सकती—यह मेरी सच्ची बात है ।५०-५१।

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि रुक्मिणीस्वयंवरे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें रुक्मिणीका स्वयंवरविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कालयवनकी विशेषता, राजा शाल्वका उसके यहाँ दूत बनकर आना और उसे जरासंधका संदेश सुनाना

वैशम्पायन उवाच

यवनानां बलोदग्रः स कालयवनो नृपः ।
बभूव राजा धर्मेण रक्षिता पुरवासिनाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सबसे अधिक बलशाली कालयवन यवनोंका राजा था, जो धर्मके अनुसार पुरवासियोंकी रक्षा करता था ॥ १ ॥

त्रिवर्गविदितः प्राज्ञः षड्गुणानुपजीवकः ।
सप्तव्यसनसम्मूढो गुणेष्वभिरतः सदा ॥ २ ॥

वह त्रिवर्ग (पद, स्थान एवं वृद्धि अथवा धर्म, अर्थ और काम) का ज्ञाता, बुद्धिमान्, राजनीतिके छः गुणों(संधि-विग्रह आदि) का आश्रय लेनेवाला, सात[1] प्रकारके व्यसनोंसे अनभिज्ञ और सदा गुणोंमें तत्पर रहनेवाला था ॥ २॥

श्रुतिमान् धर्मशीलश्च सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
सांग्रामिकविधिज्ञश्च दुर्गलाभानुसारणः ॥ ३ ॥

१ सात व्यसन इस प्रकार हैं—मृगया, जुआ, दिनमें सोना, परायी निन्दा, स्त्रीविषयक आसक्ति, मद्यपान और व्यर्थ भाषण।

विद्यावान्, धर्मशील, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, युद्धविधि-का ज्ञाता तथा दुर्लभ लाभका अनुसरण करनेवाला था ॥३॥

शूरोऽप्रतिबलश्चैव मन्त्रिप्रवरसेवकः ।
सुखासीनः सभां रम्यां सचिवैः परिवारितः ॥ ४ ॥
उपास्यमानो यवनैरात्मविद्भिर्विपश्चितैः ।
विविधाश्च कथा दिव्याः कथ्यमानाः परस्परम् ॥ ५ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु दिव्यगन्धवहोऽनिलः ।
प्रववौ मदनाबोधं चकार सुखशीतलः ॥ ६ ॥

उसके समान बलवान् दूसरा कोई नहीं था । वह शूर-वीर और श्रेष्ठ मन्त्रियोंका सेवन करनेवाला था । एक दिन जब वह मन्त्रियोंसे घिरा हुआ अपनी रमणीय सभामें सुखपूर्वक बैठा था, आत्मज्ञ एवं विद्वान् यवन उसकी सेवामें उपस्थित थे और उनमें परस्पर नाना प्रकारकी दिव्य कथाएँ हो रही थीं । इसी समय दिव्य सुगन्ध लेकर मन्द-मन्द वायु बहने लगी । वह सुखद एवं शीतल वायु उन सबके कामभावको जाग्रत् करने लगी ॥ ४—६ ॥

किंस्विदित्येकमनसः सभायां ये समागताः ।
उत्फुल्लनयनाः सर्वे राजा चैवावलोक्य सः ॥ ७ ॥

उस समय सभामें जो लोग आये थे, वे सभी एकचित्त होकर यह जिज्ञासा करने लगे कि 'यह क्या है ?' सबके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे थे । राजा कालयवन भी यह अद्भुत बात देखकर प्रभावित हुए बिना न रह सका ॥ ७ ॥

अपश्यन्त रथं दिव्यमायान्तं भास्करोपमम् ।
शातकुम्भमयैः शुभ्रं रथाङ्गैरुपशोभितम् ॥ ८ ॥
दिव्यरत्नप्रभाकीर्णं दिव्यध्वजपताकिनम् ।
वाहितं दिव्यतुरगैर्मनोमारुतरंहसैः ॥ ९ ॥

उन सबने आकाशसे एक सूर्यके समान तेजस्वी दिव्य विमानको उतरते देखा, जो सुवर्णमय चमकीले पहियोंसे शोभा पाता था, वह रथ या विमान दिव्य रत्नोंकी प्रभासे व्याप्त था । उसमें दिव्य ध्वजा-पताकाएँ फहरा रहीं थीं तथा मन एवं वायुके समान वेगशाली दिव्य अश्व उस रथको खींच रहे थे ॥ ८-९ ॥

चन्द्रभास्करबिम्बानि कृत्वा जाम्बूनदेन तम् ।
रचितं वै विश्वकृता वैयाघ्रवरभूषितम् ॥ १० ॥

विश्वकर्माने चन्द्रमा और सूर्यके बिम्ब बनाकर जाम्बूनद नामक सुवर्णसे उस रथका निर्माण किया था । वह चारों ओरसे उत्तम व्याघ्रचर्मद्वारा मढ़ा हुआ था ॥ १० ॥

रिपूणां त्रासजननं मित्राणां हर्षवर्द्धनम् ।
दक्षिणादिगुपायान्तं रथं पररथारुजम् ॥ ११ ॥

वह रथ शत्रुओंके मनमें त्रास उत्पन्न करनेवाला और मित्रोंका हर्ष बढ़ानेवाला था । वह दक्षिण दिशाकी ओरसे आ रहा था और शत्रुओंके रथको तोड़ डालनेमे समर्थ था ११

तत्रोपविष्टं श्रीमन्तं सौभस्य पतिमूर्जितम् ।
दृष्ट्वा परमसंहृष्टश्चार्घ्यं पाद्येति चासकृत् ॥ १२ ॥
उवाच यवनेन्द्रस्य मन्त्री मन्त्रविदां वरः ।

उसमे बैठे हुए सौभपति तेजस्वी राजा श्रीमान् शाल्वको देखकर मन्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ यवनराजका मन्त्री बहुत प्रसन्न हुआ और बारंबार कहने लगा—'अरे ! अर्घ्य लाओ, पाद्य लाओ' ॥ १२½ ॥

ततोत्थाय महाबाहुः स्वयमेव नृपासनात् ॥ १३ ॥
प्रत्युद्गम्यार्घ्यमादाय रथावतरणे स्थितः ।

उस समय महाबाहु राजा कालयवन स्वयं ही राजसिंहासन-से उठा और अर्घ्य लिये आगे बढ़कर विमानसे उतरनेकी सीढ़ीके पास खड़ा हो गया ॥ १३½ ॥

शाल्वोऽपि च महातेजा दृष्ट्वा राजानमागतम् ॥ १४ ॥
मुदा परमया युक्तं शक्रप्रतिमतेजसम् ।
अवतीर्य सुविश्रब्ध एक एव रथोत्तमात् ॥ १५ ॥
विवेश परमं प्रीतो मित्रदर्शनलालसः ।

महातेजस्वी राजा शाल्व भी इन्द्रके समान तेजस्वी राजा कालयवनको बड़ी प्रसन्नताके साथ आया देख निर्भय हो अकेला ही उस उत्तम रथसे उतर पड़ा और मित्रके दर्शन-की लालसा मनमें रखकर अत्यन्त संतुष्ट हो उसके भवनमें प्रविष्ट हुआ ॥ १४-१५½ ॥

दृष्ट्वार्घमुद्यतं राजा शाल्वो राजर्षिसत्तमः ॥ १६ ॥
उवाच श्लक्ष्णया वाचा नार्घार्होऽसि महाद्युते ।

अपने लिये अर्घ्य उपस्थित देख राजर्षियोंमें श्रेष्ठ राजा शाल्व मधुर वाणीमे बोला—'महाद्युते ! मैं अर्घ्य ग्रहण करने-के योग्य नहीं हूँ ॥ १६½ ॥

दूतोऽहं मनुजेन्द्राणां सकाशाद् भवतोऽन्तिकम् ॥ १७ ॥
प्रेषितो बहुभिः सार्द्धं जरासंधेन धीमता ।
तेन मन्ये महाराज नार्घार्होऽस्मीति राजसु ॥ १८ ॥

'मैं नरेशोंका दूत बनकर उनकी ओरसे आपके पास आया हूँ । बुद्धिमान् जरासध तथा बहुत-से नरेशोंने एक साथ मिलकर मुझे आपके पास भेजा है । महाराज ! इसीलिये मैं समझता हूँ कि इस समय मैं राजाओंका अर्घ्य लेने योग्य नहीं हूँ' ॥ १७-१८ ॥

कालयवन उवाच

जानाम्यहं महाबाहो दौत्येन त्वामिहागतम् ।
साहित्ये नरदेवानां प्रेषितो मागधेन वै ॥ १९ ॥

कालयवन बोला—महाबाहो ! मैं जानता हूँ कि तुम दूत बनकर यहाँ आये हो और नरपतियोंके साथ मगधराज जरासंधने तुम्हे यहाँ भेजा है ॥ १९ ॥

तेन त्वामर्चये राजन् विशेषेण महामते।
अर्घ्यपाद्यादिसत्कारैरासनेन यथाविधि ॥ २० ॥
भवत्यभ्यर्चिते राज्ञां सर्वेषामर्चितं भवेत्।
आस्यतामासने शुभ्रे मया सार्द्धं जनेश्वर ॥ २१ ॥

राजन्! महामते! इसीलिये मैं तुम्हारी विशेषरूपसे पूजा करना चाहता हूँ। अर्घ्य, पाद्य आदि सत्कारोंसे तथा विधिपूर्वक आसन देनेसे यदि आपकी पूजा हो जायगी तो इसके द्वारा समस्त राजाओंका पूजन सम्पन्न हो जायगा। अतः जनेश्वर! अब मेरे साथ उज्ज्वल सिंहासनपर विराजमान होइये ॥ २०-२१ ॥

वैशम्पायन उवाच

स हस्तालिङ्गनं कृत्वा पृष्ट्वा च कुशलामयम्।
सुखोपविष्टौ सहितौ शुभे सिंहासने स्थितौ ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कालयवनने शाल्वसे हाथ मिलाकर उसका कुशलमंगल पूछा। फिर दोनों एक सुन्दर सिंहासनपर साथ-साथ सुखपूर्वक बैठे ॥ २२ ॥

कालयवन उवाच

यद्बाहुबलमाश्रित्य वयं सर्वे नराधिपाः।
वसामो विगतोद्विग्ना देवा इव शचीपतिम् ॥ २३ ॥
किमसाध्यं भवेदस्य येनासि प्रेषितो मयि।

उस समय कालयवनने कहा—राजन्! जिनके बाहुबलका सहारा लेकर हम सब नरेश उसी प्रकार निर्भय रहते हैं, जैसे देवता शचीपति इन्द्रका सहारा लेकर भयसे मुक्त हो जाते हैं; उन्हीं महाराज जरासंधके लिये कौन-सा कार्य असाध्य हो गया है, जिससे उन्होंने मेरे पास आपको भेजा है? ॥ २३½ ॥

यद् सत्यं वचस्तस्य किमाज्ञापयति प्रभुः।
करिष्ये वचनं तस्य अपि कर्म सुदुष्करम् ॥ २४ ॥

उन्होंने क्या कहा है, यह सच-सच बताइये। वे प्रभु मेरे लिये क्या आज्ञा देते हैं? मैं उनकी आज्ञाका पालन करूँगा। उनके कहनेसे अत्यन्त दुष्कर कर्म भी कर सकता हूँ ॥ २४ ॥

शाल्व उवाच

यथा वदति राजेन्द्र मगधाधिपतिस्तव।
तथाहं सम्प्रवक्ष्यामि श्रूयतां यवनाधिप ॥ २५ ॥

शाल्व बोला—राजेन्द्र! यवनेश्वर! मगधराज जरासंधने आपसे जैसी बात कहनेको कहा है, वैसी ही बता रहा हूँ, सुनिये ॥ २५ ॥

जरासंध उवाच

जातोऽयं जगतां बाधी कृष्णः परमदुर्जयः।
विदित्वा तस्य दुर्वृत्तमहं हन्तुं समुद्यतः ॥ २६ ॥

जरासंधका कथन है कि—ये जो परम दुर्जय श्रीकृष्ण प्रकट हुए हैं, सम्पूर्ण जगत्‌को बड़ा कष्ट दे रहे हैं। उनके दुराचारको जानकर मैं उन्हें मार डालनेके लिये उद्यत हुआ था ॥ २६ ॥

पार्थिवैर्बहुभिः सार्द्धं समग्रबलवाहनैः।
उपरुध्य महासैन्यैर्गोमन्तमचलोत्तमम् ॥ २७ ॥
चेदिराजस्य वचनं महार्थं श्रुतवानहम्।
तदा तयोर्विनाशाय हुताशनमयोजयम् ॥ २८ ॥

बहुत-से राजा अपनी समूची सेना और सवारियाँ लेकर मेरे साथ हो गये थे। उन सबकी विशाल सेनाओंद्वारा मैंने गोमन्त नामक उत्तम पर्वतपर घेरा डाला (क्योंकि उस समय श्रीकृष्ण और बलराम गोमन्तपर ही विद्यमान थे)। घेरा डालनेके बाद मैंने चेदिराज दमघोषका वचन सुना, जो महान् अर्थसे भरा था। तब मैंने उन दोनोंके विनाशके लिये उस पर्वतपर आग लगा दी ॥ २७-२८ ॥

ज्वालाशतसहस्राढ्यं युगान्ताग्निसमप्रभम्।
दृष्ट्वा रामो गिरेः कूटादाप्लुतो हेमतालधृक् ॥ २९ ॥
विनिष्पत्य महासेनां मध्ये सागरसंनिभाम्।
आजघान दुराधर्षो नराश्वरथदन्तिनाम् ॥ ३० ॥

वह आग सैकड़ों और हजारों लपटोंसे प्रज्वलित हो उठी, जो प्रलयकालकी संवर्तक अग्निके समान प्रकाशित हो रही थी। उस आगको देखकर सुवर्णमय तालध्वज धारण करनेवाले बलराम पर्वतके शिखरसे कूद पड़े और समुद्र-जैसी प्रतीत होनेवाली उस विशाल सेनाके मध्यभागमें पहुँचकर हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंका संहार करने लगे। उस समय उन्हें पराजित करना अत्यन्त कठिन हो गया था२९-३०

सर्पन्तमिव सर्पेन्द्रं विकृष्याकृष्य लाङ्गलम्।
नरनागाश्ववृन्दानि मुसलेन व्यपोथयत् ॥ ३१ ॥

उन्होंने सर्पराजके समान सरकते हुए हलका आकर्षण और विकर्षण करके अर्थात् उस हलद्वारा शत्रुसैनिकोंको ढकेलते और खींचते हुए बहुत-से मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंको मुसलसे मार डाला ॥ ३१ ॥

गजेन गजमास्फाल्य रथेन रथयोधिनम्।
हयेन च हयारोहं पदातेन पदातिनम् ॥ ३२ ॥

वे हाथीसे हाथीको, रथसे रथी योद्धाको, घोड़ेसे घुड़सवारको तथा पैदलसे पैदल सिपाहीको मौतके घाट उतार देते थे ॥ ३२ ॥

समरे स महातेजा नृपार्कशतसंकुले।
विचरन् विविधान् मार्गान् निदाघे भास्करो यथा॥३३॥

जैसे ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यदेव प्रचण्ड तेजसे सम्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार सैकड़ों राजारूपी सूर्यसे व्याप्त समराङ्गणमें वे

महातेजस्वी बलराम भाँति-भाँतिके पैंतरे दिखाते हुए विचरने लगे ॥ ३३ ॥

रामादनन्तरं कृष्णः प्रगृह्यार्कसमप्रभम् ।
चक्रं चक्रभृतां श्रेष्ठः सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ३४ ॥

बलरामसे छोटे हैं श्रीकृष्ण, जो चक्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं। वे सूर्यके समान तेजस्वी चक्र हाथमें लेकर उसी तरह शत्रु-सैनिकोंपर टूट पड़े, जैसे सिंह क्षुद्र मृगोंपर आक्रमण करता है ॥ ३४ ॥

प्रविचाल्य महावीर्यः पादवेगेन तं गिरिम् ।
शत्रुसैन्ये पपातोच्चैर्यदुवीरः प्रतापवान् ॥ ३५ ॥
प्रनृत्यन्निव शैलेन्द्रस्तोयधाराभिषेचितः ।
घूर्णमानो विवेशोर्वीं विनिर्वाप्य हुताशनम् ॥ ३६ ॥

महापराक्रमी प्रतापी यदुवीर श्रीकृष्ण अपने पैरोंके वेगसे उस पर्वतको हिलाकर जब ऊँचे शिखरसे शत्रुओंकी सेनामें कूदे थे, उस समय वह शैलराज नाचता-सा प्रतीत होता था। वह अपने ही अवयवोंसे निकली हुई जलधारासे नहा उठा और सारी आगको बुझाकर चक्कर काटता-सा कुछ दूरतक पृथ्वीमें धुस गया ॥ ३५-३६ ॥

आदीप्यमानशिखरादवप्लुत्य जनार्दनः ।
जघान वाहिनीं राजंश्चक्रव्यग्रेण पाणिना ॥ ३७ ॥

राजन्! पर्वतके जलते हुए शिखरसे नीचे कूदकर श्रीकृष्णने चक्रयुक्त हाथसे राजाओंकी सेनाका संहार आरम्भ किया ॥ ३७ ॥

विक्षिप्य विपुलं चक्रं गदापातादनन्तरम् ।
नरनागाश्ववृन्दानि मुसलेन व्यचूर्णयत् ॥ ३८ ॥

विशाल चक्र फेंककर फिर गदाद्वारा आघात करते थे। तदनन्तर बलराम मुसलसे हाथी, घोड़े और मनुष्योंके समूहोंका कचूमर निकाल देते थे ॥ ३८ ॥

क्रोधानिलसमुद्भूतचक्रलाङ्गलवह्निना ।
निर्दग्धा महती सेना नरेन्द्रार्काभिपालिता ॥ ३९ ॥

क्रोधरूपी वायुसे प्रज्वलित चक्र और हलरूपी आगसे नरेशरूपी सूर्यद्वारा पालित वह विशाल सेना जलकर भस्म हो गयी ॥ ३९ ॥

नरनागाश्वकलिलं पत्तिध्वजसमाकुलम् ।
रथानीकं पदाताभ्यां क्षणेन विदलीकृतम् ॥ ४० ॥

इन दो ही पैदल वीरोंने हाथी, घोड़ों और मनुष्योंसे परिपूर्ण एवं पैदलों और ध्वजोंसे व्याप्त रथसमूहका क्षणभरमें ही संहार कर डाला ॥ ४० ॥

सेनां प्रभग्नामालोक्य चक्रानलभयार्दिताम् ।
महता रथवृन्देन परिवार्य समन्ततः ॥ ४१ ॥
तत्राहं युद्ध्यमानस्तु भ्रातास्य बलवान् बली ।
स्थितो ममाग्रतः शूरो गदापाणिर्हलायुधः ॥ ४२ ॥

चक्राग्निके भयसे पीड़ित हुई अपनी सेनाको पलायन करती देख मैं विशाल रथसमूहके द्वारा उन दोनोंको सब ओरसे घेरकर युद्ध करने लगा। उस समय श्रीकृष्णके बलवान् भ्राता शूरवीर बलराम हाथमें गदा और हल लिये मेरे सामने खड़े हो गये ॥ ४१-४२ ॥

द्वादशाक्षौहिणीर्हत्वा प्रभिन्न इव केसरी ।
हलं सौनन्दमुत्सृज्य गदया मामताडयत् ॥ ४३ ॥

उन्होंने चोट खाये हुए सिंहके समान कुपित हो मेरी बारह अक्षौहिणी सेनाओंका संहार करके हल और मुसलको तो छोड़ दिया और गदासे ही मुझपर आघात किया ॥ ४३ ॥

वज्रपातनिभं वेगं पातयित्वा ममोपरि ।
भूयः प्रहर्तुकामो मां वैशाखेनास्थितो महीम् ॥ ४४ ॥

उसका वेग वज्रपातके समान था। मेरे ऊपर उस गदा-का प्रहार करके वे पुनः मुझपर चोट करनेकी इच्छासे वैशाखी (शक्ति) लेकर पृथ्वीपर खड़े हो गये ॥ ४४ ॥

वैशाखं स्थानमास्थाय गुहः क्रौञ्चं यथा पुरा ।
तथा मां दीर्घनेत्राभ्यामीक्षते निर्दहन्निव ॥ ४५ ॥

जैसे पूर्वकालमें कार्तिकेयने क्रौञ्च पर्वतको विदीर्ण किया था, उसी प्रकार वे मेरे मर्मस्थानको लक्ष्य करके शक्ति छोड़नेकी इच्छासे अपने बड़े-बड़े नेत्रोंद्वारा मेरी ओर इस तरह देखने लगे, मानो मुझे जलाकर भस्म कर डालेंगे ॥ ४५ ॥

तादृग्रूपं समालोक्य बलदेवं रणाजिरे ।
जीवितार्थी नृलोकेऽस्मिन् कः पुमान् स्थातुमर्हति ॥ ४६ ॥

रणभूमिमें बलदेवके वैसे स्वरूपको देखकर अपने जीवन-की इच्छा रखनेवाला इस मनुष्यलोकका कौन पुरुष उनके सामने ठहर सकता है ॥ ४६ ॥

गृहीत्वा स गदां भीमां कालदण्डमिवोद्यताम् ।
कालाङ्कुशेन निर्धूतां स्थित एवाग्रतो मम ॥ ४७ ॥

फिर कालदण्डके समान उठी हुई भयानक गदाको हाथ-में लेकर वे मेरे सामने खड़े हो गये। वह गदा कालकी प्रेरणा-से घुमायी जा रही थी ॥ ४७ ॥

ततो जलदगम्भीरस्वरेणापूरयन् नभः ।
वागुवाचाशरीरेण स्वयं लोकपितामहः ॥ ४८ ॥
प्रहर्तव्यो न राजायमवध्योऽयं तवानघ ।
कल्पितोऽस्य वधोऽन्यस्माद् विरमस्व हलायुध ॥ ४९ ॥

इसी बीचमें साक्षात् लोकपितामह ब्रह्माजी मेघके समान गम्भीर स्वरसे आकाशको पूर्ण करते हुए अदृश्यरूपसे बोले—'अनघ! इस राजापर प्रहार न करना। यह तुम्हारे लिये

अवध्य है। इसका वध दूसरेके हाथसे निश्चित किया गया है, अतः हलधारी बलराम! तुम प्रहारसे विरत हो जाओ' ४८-४९

श्रुत्वाहं तेन वाक्येन चिन्ताविष्टो निवर्तितः।
सर्वप्राणहरं घोरं ब्रह्मणा स्वयमीरितम्॥ ५०॥

यह सुनकर उस आकाशवाणीके कारण मैं चिन्तामें निमग्न हो गया और युद्धसे लौट पड़ा; क्योंकि साक्षात् ब्रह्माजीने वह ऐसा घोर वचन सुनाया था, जो मेरी सम्पूर्ण प्राणशक्तिको हर लेनेवाला था॥ ५०॥

तेनाहं वः प्रवक्ष्यामि नृपाणां हितकाम्यया।
श्रुत्वा त्वमेव राजेन्द्र कर्तुमर्हसि तद् वचः॥ ५१॥

राजेन्द्र! इसलिये मैं तुमसे समस्त नरेशोंके हितकी कामनासे कुछ कहना चाहता हूँ, उसे सुनकर तुम्हीं उसे पूर्ण कर सकते हो॥ ५१॥

तपसोग्रेण महता पुत्रार्थी तोष्य शङ्करम्।
प्राप्तवान् देवदेवं त्वामवध्यं माथुरैर्जनैः॥ ५२॥

महामुनिश्चायसचूर्णमश्नन्-
न्नुपस्थितो द्वादशवार्षिकं व्रतम्।
सुरासुरैः संस्तुतपादपङ्कजः
स लब्धवानीप्सितकामसम्पदम्॥ ५३॥

महामुनि गार्ग्य, जिनके चरणारविन्दोंकी स्तुति देवता और असुर भी करते हैं; बारह वर्षोंतक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेके पश्चात् लोहचूर्ण खाकर तपस्या करने लगे। मनमें पुत्रकी कामना रखकर उस उग्र एवं महान् तपके द्वारा भगवान् शङ्करको संतुष्ट करके उनसे उन्होंने अपनी अभीष्ट कामसम्पत्तिके रूपमें देवराज-तुल्य तुमको प्राप्त किया। तुम मथुरामण्डलमें उत्पन्न होनेवाले लोगोंके लिये अवध्य हो॥ ५२-५३॥

तपोबलाद् गार्ग्यमुनेर्महात्मनो
वरप्रभावाच्छकलेन्दुमौलिनः।
भवन्तमासाद्य जनार्दनो हिमं
विलीयते भास्कररश्मिना यथा॥ ५४॥

महामुनि गार्ग्यके तपोबल और चन्द्रार्धशेखर भगवान् शिवके वरदानसे तुम्हारा प्राकट्य हुआ है। तुमसे टक्कर लेनेपर श्रीकृष्ण उसी प्रकार नष्ट हो जायँगे, जैसे बर्फ सूर्यकी किरणोंसे गल जाता है॥ ५४॥

यतस्व राज्ञां वचनप्रचोदितो
व्रजस्व यात्रां विजयाय केशवम्।
प्रविश्य राष्ट्रं मथुरां च सेनया
निहत्य कृष्णं प्रथयन् स्वकं यशः॥ ५५॥

राजन्! तुम राजाओंके वचनोंसे प्रेरित हो श्रीकृष्णको जीतनेका प्रयत्न करो। उनपर विजय पानेके लिये मथुरापर चढ़ाई कर दो। अपनी सेनाद्वारा मथुराके राज्य और नगरमें प्रवेश करके श्रीकृष्णको मारकर अपने यशका विस्तार करो॥ ५५॥

माथुरो वासुदेवोऽयं बलदेवः सबान्धवः।
तौ विजेष्यसि संग्रामे गत्वा तां मथुरां पुरीम्॥ ५६॥

वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण और बलदेव अपने बन्धु-बान्धवोंसहित माथुर ही हैं; तुम मथुरापुरीपर चढ़ाई करके उन दोनों भाइयोंको युद्धमें जीत लोगे॥ ५६॥

शाल्व उवाच

इत्येवं नरपतिभास्करप्रगीतं
वाक्यं ते कथितमिदं हितं नृपाणाम्।
तत्सर्वं सह सचिवैर्विमृश्य बुद्ध्या
यद्युक्तं कुरु मनुजेन्द्र चात्मनिष्टम्॥ ५७॥

शाल्व कहता है—नरेन्द्र! राजाओंमें सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले जरासंधने इस प्रकार जो सम्पूर्ण नरेशोंके लिये हितकारक बात कही है, वह मैंने तुम्हें कह सुनायी। तुम अपने मन्त्रियोंके साथ बैठकर उन सारी बातोंपर बुद्धिपूर्वक विचार करके जो अपने लिये लाभदायक और उचित जान पड़े, वह करो॥ ५७॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शाल्ववाक्ये त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें शाल्वका वाक्यविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५३॥



चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कालयवनका राजाओंका अनुरोध स्वीकार करके श्रीकृष्णपर विजय पानेके लिये मथुराको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

एवं कथयमानं तं शाल्वराजं नृपाज्ञया।
उवाच परमप्रीतो यवनाधिपतिर्नृपः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! नरेशोंकी आज्ञाके अनुसार शाल्वराजने जब उपर्युक्त बात कही, तब यवनोंके अधिपति राजा कालयवनने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा॥

कालयवन उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि सफलं जीवितं मम।
कृष्णनिग्रहहेतोर्यन्नियुक्तो बहुभिर्नृपैः॥ २॥

कालयवन बोला—बहुत-से राजाओंने मिलकर जो मुझे श्रीकृष्णके निग्रहके लिये नियुक्त किया है, इससे मैं धन्य हो गया। यह उन सबका मुझपर महान् अनुग्रह है। आज मेरा जीवन सफल हो गया॥ २॥

दुर्जयस्त्रिषु लोकेषु सुरासुरगणैरपि।
तस्य निग्रहहेतोर्मामवधार्य जयाशिषम्॥ ३॥
प्रहृष्टै राजसिंहैस्तैरवधार्यो जयो मम।
तेषां वाचाम्बुवर्षेण विजयो मे भविष्यति॥ ४॥

जो तीनों लोकोंमें देवताओं और असुरोंके लिये भी दुर्जय हैं, उन्हींके निग्रहके लिये मुझे भेजनेका निश्चय किया गया और मुझे विजयसूचक आशीर्वाद भी प्राप्त हुआ। हर्षमें भरे हुए उन राजसिंहोंने यदि मेरी विजयका निश्चय किया है तो उनके वचनामृतकी वर्षासे मेरी जीत अवश्य होगी॥ ३-४॥

करिष्ये वचनं तेषां नृपसत्तमचोदितम्।
पराजयोऽपि राजेन्द्र जयेन सदृशो मम॥ ५॥

राजेन्द्र! मैं नृपश्रेष्ठ जरासंधके कथनानुसार उन राजाओंके वचनका पालन अवश्य करूँगा। इस युद्धमें यदि मेरी पराजय भी हुई तो वह मेरे लिये विजयके ही समान होगी॥ ५॥

अद्यैव तिथिनक्षत्रं मुहूर्तं करणं शुभम्।
यास्यामि मथुरां राजन् विजेतुं केशवं रणे॥ ६॥

राजन्! मैं आजकी तिथि, नक्षत्र, मुहूर्त और करणको शुभ मानकर श्रीकृष्णको युद्धमें जीतनेके लिये आज ही मथुराको प्रस्थान करूँगा॥ ६॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाभाष्य राजानं सौभस्य पतिमूर्जितम्।
सत्कृत्य च यथान्यायं महार्हमणिभूषणैः॥ ७॥
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं सिद्ध्यादेशाय वै नृपः।
पुरोहिताय राजेन्द्र प्रददौ बहुशो धनम्॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सौभविमानके अधिपति बलवान् राजा शाल्वसे ऐसा कहकर कालयवनने बहुमूल्य मणिमय आभूषणोंद्वारा उसका यथोचित सत्कार किया। राजेन्द्र! तत्पश्चात् उस राजाने सिद्धिसूचक आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये ब्राह्मणोंको धन दान दिया और पुरोहितको बहुत-सा धन अर्पित किया॥ ७-८॥

हुत्वाग्निं विधिवद् राजा कृतकौतुकमङ्गलः।
प्रस्थानं कृतवान् सम्यग् जेतुकामो जनार्दनम्॥ ९॥

तदनन्तर, विधिपूर्वक अग्निमें आहुति करके यात्राकालिक मङ्गलाचार सम्पन्न करनेके पश्चात् राजा कालयवनने जनार्दन श्रीकृष्णपर भलीभाँति विजय पानेके लिये वहाँसे प्रस्थान किया॥ ९॥

शाल्वोऽपि भरतश्रेष्ठ कृतार्थो हृष्टमानसः।
यवनेन्द्रं परिष्वज्य जगाम स्वपुरं नृपः॥ १०॥

भरतश्रेष्ठ! इधर राजा शाल्व भी कृतार्थ एवं प्रसन्नचित्त हो यवनराजको हृदयसे लगाकर अपने नगरको चला गया॥ १०॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि कालयवनवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें कालयवनका वाक्यविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५४॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

गरुड़का श्रीकृष्णके निवासयोग्य भूमि देखनेके लिये जाना, मथुरामें राजेन्द्र श्रीकृष्णका स्वागत, श्रीकृष्णद्वारा राजा उग्रसेन तथा मथुरावासियोंका सत्कार एवं गरुड़का लौटकर कुशस्थलीके विषयमें बताना।

जनमेजय उवाच

विदर्भनगराद् याते शक्रतुल्यपराक्रमे।
किमर्थं गरुडो नीतः किं च कर्म चकार सः॥ १॥

जनमेजयने पूछा—इन्द्रके तुल्य पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण जब विदर्भ नगरसे मथुराको गये, उस समय अपने साथ गरुड़को क्यों ले गये और गरुड़ने वहाँ जाकर कौन-सा कार्य सम्पन्न किया?॥ १॥

न चारुरोह भगवान् वैनतेयं महाबलम्।
एतन्मे संशयं ब्रह्मन् ब्रूहि तत्त्वं महामुने॥ २॥

महामुने! ब्रह्मन्! भगवान् श्रीकृष्ण महाबली गरुड़पर आरूढ़ क्यों नहीं हुए? यह मेरा संशय है। आप इसका ठीक-ठीक समाधान करें॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् सुपर्णेन कृतं कर्मातिमानुषम्।
विदर्भनगरीं गत्वा वैनतेयो महाद्युतिः॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! महातेजस्वी विनता-नन्दन गरुड़ने विदर्भनगरमें जाकर ऐसा कार्य किया था, जो मानवीय शक्तिसे परेकी वस्तु है॥ ३॥

असम्प्राप्ते च नगरीं मथुरां मधुसूदने।
मनसा चिन्तयामास वैनतेयो महाद्युतिः ॥ ४ ॥
यदुक्तं देवदेवेन नृपाणामग्रतः प्रभो।
यास्यामि मथुरां रम्यां भोजराजेन पालिताम् ॥ ५ ॥
इति तद्वचनस्यान्ते गमिष्येति विचिन्तयन्।
कृताञ्जलिपुटः श्रीमान् प्रणिपत्याब्रवीदिदम् ॥ ६ ॥

प्रभो! मधुसूदन श्रीकृष्ण विदर्भनगरसे चलकर अभी मार्गमें ही थे, मथुरापुरी नहीं पहुँचे थे। तभी महातेजस्वी गरुड़ने मन-ही-मन विचार किया कि देवाधिदेव श्रीहरिने सब राजाओंके सामने जो कहा था कि 'मैं भोजराज उग्रसेनके द्वारा पालित रमणीय नगरी मथुराको जाऊँगा' उनके उस कथनके अन्तमें 'चलूँगा' यह कहकर मैंने भी चलना स्वीकार कर लिया था। यही सोचते हुए गरुड़को एक कार्य सूझ गया और उन तेजस्वी पक्षिराजने दोनों हाथ जोड़ भगवान्को प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥ ४–६ ॥

गरुड उवाच

देव यास्यामि नगरीं रैवतस्य कुशस्थलीम्।
रैवतं च गिरिं रम्यं नन्दनप्रतिमं वनम् ॥ ७ ॥

गरुड़ बोले—देव! मैं राजा रैवतकी कुशस्थली नगरीको जाऊँगा। वहाँ रमणीय रैवत गिरि है, जहाँ नन्दनके समान मनोहर वन है॥ ७ ॥

रुक्मिणोद्वासितां रम्यां शैलोदधितटाश्रयाम्।
वृक्षगुल्मलताकीर्णां पुष्परेणुविभूषिताम् ॥ ८ ॥

रुक्मीने पर्वत और समुद्रतटका आश्रय लेकर बसी हुई उस रमणीय नगरीको उजाड़ दिया है। वहाँ हरे-भरे वृक्ष, गुल्म और लताएँ फैली हुई हैं। फूलोंके पराग उसकी शोभा बढ़ाते हैं॥ ८ ॥

गजेन्द्रभुजगाकीर्णामृक्षवानरसेविताम्।
वराहमहिषाक्रान्तां मृगयूथैरनेकशः ॥ ९ ॥

वहाँ हाथी और सर्प भरे हुए हैं। रीछ तथा वानर उसका सेवन करते हैं। वाराह, भैंसे तथा मृगोंके अनेकानेक झुंड वहाँ वास करते हैं॥ ९ ॥

तां समन्तात् समालोक्य वासार्थं ते क्षमां क्षमा।
यदि स्याद् भवतो रम्या प्रशस्ता नगरीति च ॥ १० ॥
कण्टकोद्धरणं कृत्वा आगमिष्ये तवान्तिकम्।

उस भूमिका सब ओरसे निरीक्षण करके मैं यह देखूँगा कि वह आपके निवासके लिये उपयुक्त है या नहीं। यदि वह आपके योग्य रमणीय या उत्तम नगरी हो सकेगी तो वहाँके कण्टकोंको (आपके मार्गका अवरोध करनेवाले शत्रुओंको) उखाड़ फेंकूँगा और आपके पास लौट आऊँगा॥ १०½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विज्ञाप्य देवेशं प्रणिपत्य जनार्दनम् ॥ ११ ॥
जगाम पतगेन्द्रोऽपि पश्चिमाभिमुखो बली।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार अपना अभिप्राय निवेदन करके देवेश्वर जनार्दनको प्रणाम करनेके अनन्तर बलवान् पक्षिराज गरुड़ पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये॥ ११½ ॥

कृष्णोऽपि यदुभिः सार्द्धं विवेश मथुरां पुरीम् ॥ १२ ॥
स्वैरिण्य उग्रसेनश्च नागराश्चैव सर्वशः।
प्रत्युद्गम्यार्चयन् कृष्णं प्रहृष्टजनसंकुलम् ॥ १३ ॥

इधर श्रीकृष्ण भी यदुवंशियोंके साथ मथुरापुरीमें जा पहुँचे। उस समय राजा उग्रसेन, नर्तकियों तथा मथुराके नागरिक सबने आगे बढ़कर हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंके साथ आये हुए श्रीकृष्णका स्वागत सत्कार किया॥ १२-१३ ॥

जनमेजय उवाच

श्रुत्वाभिषिक्तं राजेन्द्रं बहुभिर्वसुधाधिपैः।
किं चकार महाबाहुरुग्रसेनो महीपतिः ॥ १४ ॥

जनमेजयने पूछा—बहुत-से राजाओंने मिलकर श्रीकृष्णका राजेन्द्रपदपर अभिषेक किया है—यह समाचार सुनकर महाबाहु राजा उग्रसेनने क्या किया? ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वाभिषिक्तं राजेन्द्रं बहुभिः पार्थिवोत्तमैः।
इन्द्रेण कृतसंधानं दूतं चित्राङ्गदं कृतम् ॥ १५ ॥
एकैकं नृपतेर्भोगं शतसाहस्रसम्मितम्।
राजेन्द्रे त्वर्बुदं दत्तं मानवेषु च वै दश ॥ १६ ॥
ये तत्र समनुप्राप्ता न रिक्तास्ते गृहं गताः।
शङ्खो यादवरूपेण प्रददौ हरिचिन्तितम् ॥ १७ ॥
एवं निधिपतिः श्रीमान् दैवतैरनुमोदितः।

वैशम्पायनजीने कहा—बहुत-से श्रेष्ठ नरेशोंने मिलकर श्रीकृष्णका राजेन्द्रके पदपर अभिषेक किया है। इन्द्रका अभिप्राय निवेदन करनेके लिये चित्राङ्गद दूत बनकर आये थे। एक-एक राजाको एक-एक लाख मुद्राएँ पुरस्कारमें दी गयीं। जो राजेन्द्र था, उसे एक अर्बुद (दस करोड) दिया गया तथा साधारण मनुष्योंको भी दस दस हजार रुपये दिये गये। जो वहाँ पहुँच गये थे, वे खाली हाथ घर नहीं लौटे। श्रीमान् निधिपति शङ्ख ही यादवरूपसे उपस्थित हो भगवान् श्रीकृष्णकी इच्छाके अनुसार धन देता था और सम्पूर्ण देवता इसका अनुमोदन करते थे॥ १५–१७½ ॥

इति श्रुत्वात्मिकजनाल्लोकप्रवृत्तिकान्तरात् ॥ १८ ॥

चकार महतीं पूजां देवतायतनेष्वपि ।

यह समाचार आत्मीय जनोंसे सुनकर तथा लोकवृत्तान्तकी जानकारी करानेवाले गुप्तचरके मुखसे जानकर उग्रसेनने देवमन्दिरोंमें विशेष रूपसे पूजाकी व्यवस्था करायी ॥ १८½ ॥

वसुदेवस्य भवने तोरणोभयपार्श्वतः ॥ १९ ॥
नटानां नृत्यगेयानि वाद्यानि च समन्ततः ।

वसुदेवके भवनके दोनों बगलमें तोरण लगे और सब ओर नटोंके नाच-गान होने और बाजे बजने लगे ॥ १९½ ॥

पताकध्वजमालाढ्यां कारयामास वै नृपः ॥ २० ॥
कंसराजस्य च सभां विचित्राम्वरसुप्रभाम् ।

राजा उग्रसेनने कंसराजकी सभाको विचित्र वस्त्रोंसे सुसज्जित तथा ध्वजा-पताका एवं मालाओंसे अलंकृत कराया ॥ २०½ ॥

पताका विविधाकारा दापयामास भोजराट् ॥ २१ ॥
तोरणं गोपुरं चैव सुधापङ्कानुलेपनम् ।
कारयामास राजेन्द्रो राजेन्द्रस्यासनालयम् ॥ २२ ॥

भोजराजने सब ओर भाँति-भाँतिकी पताकाएँ लगवायीं और प्रत्येक फाटक एवं गोपुरको चूनेसे लिपवाया। इस प्रकार राजेन्द्र उग्रसेनने राजेन्द्र श्रीकृष्णके लिये सिंहासन और भवन तैयार करवाया ॥ २१-२२ ॥

नटानां नृत्यगेयानि वाद्यानि च समन्ततः ।
पताका वनमालाढ्याः पूर्णकुम्भाः समन्ततः ॥ २३ ॥
राजमार्गेषु राजेन्द्र चन्दनोदकसेचितम् ।

राजेन्द्र! नगरमें चारों ओर नाच-गान होने और बाजे बजने लगे। राजमार्गोंपर चन्दनयुक्त जलका छिड़काव किया गया था और वहाँ चारों ओर जलसे भरे हुए कलश रखे गये थे। उन कलशोंको पताका और वनमालाओंसे अलंकृत किया गया था ॥ २३½ ॥

वस्त्राभरणकं राजा दापयामास भूतले ॥ २४ ॥
धूपं पार्श्वोभये चैव चन्दनागुरुगुग्गुलैः ।
गुडं सर्जरसं चैव दह्यमानं ततस्ततः ॥ २५ ॥

राजा उग्रसेनने भूतलपर पाँवड़ेके रूपमें वस्त्र बिछवा दिये थे और वहाँ फूलोंकी मालाएँ रखवा दी थीं तथा सड़कोंके दोनों बगल चन्दन, अगुरु और गुग्गुलकी धूप जलवायी। जहाँ-तहाँ राल और गुड जलाये जा रहे थे ॥ २४-२५ ॥

वृद्धस्त्रीजनसंघैश्च गायद्भिः स्तुतिमङ्गलम् ।
अर्घं कृत्वा प्रतीक्षन्ते स्वेषु स्थानेषु योषितः ॥ २६ ॥

बूढ़ी स्त्रियोंके समुदाय स्थान-स्थानपर स्तुति और मङ्गल गाते थे। उनके साथ ही युवतियाँ अपने-अपने घरोंपर अर्घ्य सजाकर श्रीकृष्णके शुभागमनकी बाट जोह रही थीं ॥ २६ ॥

एवं कृत्वा पुरानन्दमुग्रसेनो नराधिपः ।
वसुदेवगृहं गत्वा प्रियाख्यानं निवेद्य च ॥ २७ ॥
रामेण सह सम्मन्त्र्य निर्गतो रथमन्तिकम् ।

इस प्रकार राजा उग्रसेन नगरमें आनन्दोत्सवकी व्यवस्था करके वसुदेवके घरपर गये और श्रीकृष्णके अभिषेक तथा आगमनका प्रिय समाचार निवेदन करके बलरामके साथ सलाहकर श्रीकृष्णके रथके निकट चले ॥ २७½ ॥

तस्मिन्नेवान्तरे राजञ्शङ्खध्वनिरभून्महान् ॥ २८ ॥
पाञ्चजन्यस्य निनदं श्रुत्वा मधुरवासिनः ।
स्त्रियो वृद्धाश्च बालाश्च सूता मागधवन्दिनः ॥ २९ ॥
विनिर्ययुर्महासेना रामं कृत्वाग्रतो नृप ।
अर्घ्यं पाद्यं पुरस्कृत्य उग्रसेनेन धीमता ॥ ३० ॥

राजन्! नरेश्वर! इसी बीचमें बड़े जोरसे शङ्ख-ध्वनि सुनायी दी। पाञ्चजन्यका गम्भीर नाद सुनकर मधुपुरवासी स्त्री, बालक, वृद्ध, सूत, मागध और वन्दी बलरामजीको आगे करके विशाल सेनाके साथ अर्घ्य-पाद्य आदि लिये नगरसे बाहर निकले। इन सबके साथ बुद्धिमान् राजा उग्रसेन भी थे ॥ २८—३० ॥

दृष्टिपन्थानमासाद्य उग्रसेनो महीपतिः ।
अवतीर्य रथाच्छुभ्रात् पादमार्गेण चाग्रतः ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्णके दृष्टिपथमें आकर राजा उग्रसेन अपने उज्ज्वल रथसे उतर पड़े और पैदल ही आगे बढ़े ॥ ३१ ॥

दृष्ट्वाऽऽसीनं रथे रम्ये दिव्यरत्नविभूषितम् ।
अङ्गेष्वाभरणं चैव दिव्यरत्नप्रभायुतम् ॥ ३२ ॥
वनमालोरसं दिव्यं तपन्तमिव भास्करम् ।
चामरं व्यजनं छत्रं खगेन्द्रध्वजमुच्छ्रितम् ॥ ३३ ॥
राजलक्षणसम्पूर्णमासन्नार्कमिवोज्ज्वलम् ।
श्रियाभिभूतं देवेशं दुर्निरीक्ष्यतरं हरिम् ॥ ३४ ॥

उन्होंने देखा, भगवान् श्रीकृष्ण एक रमणीय रथपर विराजमान हैं। दिव्य रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित हैं। उनके अङ्गोंके आभूषण दिव्य रत्नोंकी प्रभासे प्रकाशित हो रहे हैं। उनके वक्षःस्थलपर वनमाला विराज रही है। वे दिव्य रूपधारी श्रीहरि तपते हुए सूर्यके समान जान पड़ते हैं। उनके दोनों पार्श्वमें चवँर और व्यजन डुलाये जाते हैं। सिरपर छत्र तना हुआ है। रथपर ऊँचा गरुड़ध्वज फहरा रहा है। वे समस्त राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न हैं और निकट आये हुए सूर्यके समान दिव्य ज्योतिसे जाज्वल्यमान

हो रहे हैं। अद्भुत शोभासे व्याप्त दिखायी देते हैं। उन देवेश्वर श्रीहरिकी ओर देखना भी अत्यन्त कठिन हो रहा है ॥ ३२—३४ ॥

दृष्ट्वा स राजा राजेन्द्र हर्षगद्गदया गिरा।
बभाषे पुण्डरीकाक्षं रामं बलनिषूदनम् ॥ ३५ ॥

राजेन्द्र ! भगवान् श्रीकृष्णको इस रूपमें देखकर राजा उग्रसेन शत्रुसैन्यहन्ता कमलनयन बलरामजीसे हर्षगद्गद वाणीमें बोले—॥ ३५ ॥

रथेन न मया गन्तुं युक्तपूर्वेति चिन्त्य वै।
अवतीर्णो महाभाग गच्छ त्वं स्यन्दनेन च ॥ ३६ ॥

'महाभाग ! मैंने पहलेसे ही यह सोच लिया है कि मुझे रथपर बैठकर भगवान्‌के सामने नहीं जाना चाहिये। अतः तुम्हीं रथसे यात्रा करो।' ऐसा कहकर वे रथसे उतर गये ॥ ३६ ॥

विष्णुना छद्मरूपेण गत्वेमां मथुरां पुरीम्।
अनुप्रकाशितात्मानं देवेन्द्रत्वं नृपार्णवे ॥ ३७ ॥
तमहं स्तोतुमिच्छामि सर्वभावेन केशवम्।

उतरकर वे फिर बोले—भगवान् विष्णु छद्मरूप धारण करके इस मथुरापुरीमें आये थे। इन्होंने राजाओंके समुद्रमें जाकर अपने देवेन्द्र-रूपको प्रकाशित किया है; अतः मैं केशवकी सर्वतोभावसे स्तुति करना चाहता हूँ ॥ ३७½ ॥

प्रत्युवाच महातेजा राजानं कृष्णपूर्वजः ॥ ३८ ॥
न युक्तं नृपते स्तोतुं व्रजन्तं देवसत्तमम्।
विना स्तोत्रेण संतुष्टस्तव राजञ्जनार्दनः ॥ ३९ ॥
तुष्टस्य स्तुतिना किं ते दर्शनेन तव स्तुतिः।

तब श्रीकृष्णके बड़े भाई महातेजस्वी बलरामने राजा उग्रसेनको इस प्रकार उत्तर दिया—'नरेश्वर ! यहाँ आते हुए देवप्रवर श्रीकृष्णकी स्तुति करना आपके लिये उचित नहीं है। राजन् ! आपपर तो श्रीकृष्ण बिना स्तुतिके ही संतुष्ट हैं। जब वे संतुष्ट ही हैं तो उनकी स्तुतिसे आपको क्या लेना है । आपके दर्शनमात्रसे ही उनकी स्तुति हो गयी ॥ ३८-३९½ ॥

राजेन्द्रत्वमनुप्राप्य आगतस्तव वेश्मनि ॥ ४० ॥
न त्वया स्तुतवान् राजन् दिव्यैः स्तोत्रैरमानुषैः।

राजन् ! श्रीकृष्ण राजेन्द्रका पद पाकर आपके घर आ रहे हैं; इसलिये आप अमानुषिक दिव्य स्तुतियोंद्वारा उनकी स्तुति करें—यह आपके लिये उचित नहीं है ॥ ४०½ ॥

एवमानुवमाणौ तौ सम्प्राप्तौ केशवान्तिकम् ॥ ४१ ॥

अर्घोद्यतभुजं दृष्ट्वा स्थापयित्वा रथोत्तमम्।
उवाच वदतां श्रेष्ठ उग्रसेनं नराधिपम् ॥ ४२ ॥

इस तरह बातचीत करते हुए वे दोनों श्रीकृष्णके निकट जा पहुँचे। राजा उग्रसेनको हाथमें अर्घ्य लिये खड़ा देख वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण अपने उत्तम रथको ठहराकर उनसे इस प्रकार बोले—॥ ४१-४२ ॥

यन्मया चाभिषिक्तस्त्वं मथुरेशो भवत्विति।
न युक्तमन्यथा कर्तुं मथुराधिपते स्वयम् ॥ ४३ ॥

'मथुरापते ! मैंने जो आपका इसलिये अभिषेक किया था कि आप मथुराराज्यके स्वामी हों, उसे आप स्वयं ही मटियामेट कर दें—यह आपके लिये उचित नहीं है ॥४३॥

अर्घ्यमाचमनीयं च पाद्यं चास्मै निवेदितम्।
न दातुमर्हसे राजन्नेष मे मनसः प्रियः ॥ ४४ ॥

'राजन् ! मैंने आपको अर्घ्य, पाद्य और आचमनीय निवेदन किया है। अतः आप मुझे ये सब वस्तुएँ न दें—यही मेरे मनको प्रिय है ॥ ४४ ॥

तवाभिप्रायं विज्ञाय ब्रवीमि नृपते वचः।
त्वमेव माथुरो राजा नान्यथा कर्तुमर्हसि ॥ ४५ ॥

'नरेश्वर ! मैं आपके मनोभावको जानकर कहता हूँ। आप ही मथुराके राजा हैं और रहेंगे। इसे अन्यथा करना आपके लिये उचित नहीं है ॥ ४५ ॥

स्थानभागं च नृपते दास्यामि तव दक्षिणम्।
यथा नृपाणां सर्वेषां तथा ते स्थापितोऽग्रतः ॥ ४६ ॥

'महाराज ! मैं आपको पुरस्कारके रूपमें नियत धनका भाग अर्पित करूँगा। जैसे अन्य सब राजाओंको दिया गया है, वैसे आपके लिये भी सामने रखा हुआ है ॥ ४६ ॥

शतसाहस्रिको भागो वस्त्राभरणवर्जितः।
आरुहस्व रथं शुभ्रं चामीकरविभूषितम् ॥ ४७ ॥

'वस्त्र और आभूषण छोड़कर केवल एक लाख स्वर्ण (दीनार) आपके हिस्सेमें अर्पित हैं। अब आप इस स्वर्ण-भूषित शुभ्र रथपर आरूढ़ होइये ॥ ४७ ॥

चामरं व्यजनं छत्रं ध्वजं च मनुजेश्वर।
दिव्याभरणसंयुक्तं मुकुटं भास्करप्रभम् ॥ ४८ ॥
धारयस्व महाभाग पालयस्व पुरीमिमाम्।

'महाभाग ! मनुजेश्वर ! चँवर, व्यजन, छत्र, ध्वज और दिव्य आभूषणोंसहित सूर्यके समान प्रकाशमान मुकुट धारण कीजिये। साथ ही इस पुरीका पालन करते रहिये ॥४८½॥

पुत्रपौत्रैः प्रमुदितो मथुरां परिपालय ॥ ४९ ॥
जित्वारिगणसंघांश्च भोजवंशं विवर्द्धय ।

आप पुत्रों और पौत्रोंके साथ आनन्दित रहकर मथुरापुरीका पालन कीजिये । शत्रुगणोंको पराजित करके भोजवंशको बढ़ाइये ॥ ४९½ ॥

देवदेवाद्यनन्ताय शौरिणे वज्रपाणिना ॥ ५० ॥
प्रेषितं देवराजेन दिव्याभरणमम्बरम् ।

'वज्रधारी इन्द्रने शूरसेनके कुलमें उत्पन्न हुए देवताओंके भी देवता, सबके आदि कारण शेषस्वरूप बलरामजीके लिये दिव्य वस्त्र और आभूषण भेजा है ॥ ५०½ ॥

माथुराणां च सर्वेषां भागा दीनारका दश ॥ ५१ ॥
सूतमागधबन्दीनामेकैकस्य सहस्रकम् ।
वृद्धस्त्रीजनसंघानां गणिकानां शतं शतम् ॥ ५२ ॥
नृपेण सह तिष्ठन्ति विकद्रुप्रमुखाश्च ये ।
दशसाहस्रिको भागस्तेषां धात्रा प्रकल्पितः ॥ ५३ ॥

'मथुराके सभी नागरिकोंके लिये पृथक्-पृथक् दस-दस दीनार[1] सुवर्णके भाग नियत किये गये हैं । सूत, मागध और वन्दीजनोंमेंसे एक-एकको एक-एक हजार दीनार प्राप्त होंगे । मङ्गल गानेवाली बूढ़ी स्त्रियों तथा नर्तकियोंको सौ-सौ दीनार दिये जायँगे । विकद्रु आदि जो प्रमुख यादव राजा उग्रसेनके साथ रहते हैं, उनमेंसे प्रत्येकका भाग इन्द्रने दस दस हजार दीनार नियत किया है' ॥ ५१–५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्पूज्य राजानं माथुराणां चमूमुखे ।
कृत्वा सुमहदानन्दां मथुरां मधुसूदनः ॥ ५४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार मथुरावासियोंकी सेनाके मुहानेपर राजा उग्रसेनका सम्मान करके भगवान् मधुसूदनने सारी मथुराको महान् आनन्दसे परिपूर्ण करते हुए उसमे प्रवेश किया ॥ ५४ ॥

दिव्याभरणमाल्यैश्च दिव्याम्बरविलेपनैः ।
दीप्यमानाः समन्ताच्च देवा इव त्रिविष्टपे ॥ ५५ ॥

जैसे स्वर्गमें देवता शोभा पाते हैं, उसी प्रकार मथुरामें भगवान् श्रीकृष्ण और वहाँके नागरिक दिव्य आभूषणों, दिव्य पुष्पोंकी मालाओं तथा दिव्य वस्त्र और चन्दनोंसे अलंकृत हो सब ओर प्रकाशित हो रहे थे ॥ ५५ ॥

भेरीपटहनादेन शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
बृंहितेन च नागानां हयानां हेषितेन च ॥ ५६ ॥
सिंहनादेन शूराणां रथनेमिस्वनेन च ।
तुमुलः सुमहानासीन्मेघनाद इवाम्बरे ॥ ५७ ॥

'भेरी, पटह, शङ्ख और दुन्दुभि आदि वाद्योंकी ध्वनिके साथ हाथियोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हींसने, शूरवीरोंके सिंहनाद करने तथा रथके पहियोंकी घरघराहट होनेसे जो सम्मिलित महान् शब्द होता था, वह आकाशमें मेघोंकी गर्जनाके समान प्रतीत होता था ॥ ५६-५७ ॥

बन्दिभिः स्तूयमानं च नमश्चक्रुरपि प्रजाः ।
दत्त्वा दानमनन्तं च न ययौ विस्मयं हरिः ॥ ५८ ॥

बन्दीजन भगवान्‌की स्तुति करते थे और प्रजावर्गके लोग उनके चरणोंमें मस्तक झुकाते थे । उस समय धनका अनन्त दान करके भी श्रीहरिको कोई विस्मय या गर्व नहीं हुआ ॥ ५८ ॥

स्वभावोन्नतभावत्वाद् दृष्टपूर्वात् ततोऽधिकम् ।
अनहंकारभावाच्च विस्मयं न जगाम ह ॥ ५९ ॥

एक तो स्वभावसे ही उनका ऊँचा भाव था । वे उससे पहले उसकी अपेक्षा भी अधिक धनका दान देख चुके थे और स्वाभाविक ही उन्हें अहंकार छू नहीं गया था; इसलिये उनको विस्मय या गर्व नहीं हुआ ॥ ५९ ॥

दीप्यमानं स्ववपुषा आयान्तं भास्करप्रभम् ।
दृष्ट्वा मथुरवासिन्यो नमश्चक्रुः पदे पदे ॥ ६० ॥

अपने इस शरीरसे प्रकाशित होते हुए सूर्यतुल्य तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णको आते देख मथुरावासी स्त्रियाँ पग-पगपर उन्हे नमस्कार करती थीं ॥ ६० ॥

एष नारायणः श्रीमान् क्षीरार्णवनिकेतनः ।
नागपर्यङ्कमुत्सृज्य प्राप्तोऽयं मथुरां पुरीम् ॥ ६१ ॥

(उस समय मथुरावासी आपसमें इस प्रकार कहते थे) 'ये ही क्षीरसमुद्रमें निवास करनेवाले श्रीमान् भगवान् नारायण हैं, जो इस समय शेषशय्याका परित्याग करके मथुरा पुरीमें आ गये हैं ॥ ६१ ॥

बद्ध्वा बलिं महावीर्यं दुर्जयं त्रिदशैरपि ।
शक्राय प्रददौ राज्यं त्रैलोक्यं वज्रपाणये ॥ ६२ ॥

'इन्होंने देवताओंके लिये भी दुर्जय महापराक्रमी राजा बलिको बाँधकर वज्रधारी इन्द्रको त्रिलोकीका राज्य दे दिया था ॥ ६२ ॥

हत्वा दैत्यगणान् सर्वान् कंसं च बलिनां वरम् ।

---

१. एक हजार स्वर्णमुद्राओंका एक दीनार होता है । इसके अनुसार मथुराके प्रत्येक नागरिकको दस-दस हजार स्वर्णमुद्राएँ अर्पित की गयीं ।

भोजराजाय मथुरां दत्त्वा केशिनिषूदनः ॥ ६३ ॥
नाभिषिक्तः स्वयं राज्ये न चासीनो नृपासने ।
राजेन्द्रत्वं च सम्प्राप्य मथुरामाविशत् ततः ॥ ६४ ॥

'इन केशिनिषूदन केशवने समस्त दैत्यसमूहोंका वध करके बलवानोंमें श्रेष्ठ कंसको मारकर मथुराका राज्य भोजराज उग्रसेनको दे दिया; किंतु न तो स्वयं ये राज्यपर अभिषिक्त हुए और न राजाके सिंहासनपर ही बैठे। इस समय राजेन्द्र-पद प्राप्त करके ये मथुरामें प्रविष्ट हुए हैं' ॥ ६३-६४ ॥

एवमन्योन्यसंजल्पं श्रुत्वा पुरनिवासिनाम् ।
बन्दिमागधसूतानामिदमूचुर्गणाधिपाः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार आपसमें कही गयी पुरवासियोंकी बातें सुनकर सूत, मागध और वन्दीजनोंके प्रधान लोग इस प्रकार कहने लगे— ॥ ६५ ॥

किं वा शक्यामहे वक्तुं गुणानां ते गुणोदधे ।
मानुषेणैकजिह्वेन प्रभावोत्साहसम्भवान् ॥ ६६ ॥

'गुणसागर! हम मनुष्यको मिली हुई एक जिह्वाके द्वारा आपके गुणोंका प्रभाव, उत्साह और प्राकट्य कैसे बता सकते हैं? ॥ ६६ ॥

स तत्र भोगी नागेन्द्रः कदाचिद् देव बुद्धिमान् ।
द्विसाहस्रेण जिह्वेन वासुकिः कथयिष्यति ॥ ६७ ॥

'देव! कदाचित् पाताललोकमें रहनेवाले सर्पशरीरधारी नागराज बुद्धिमान् वासुकि (शेष) अपनी दो हजार जिह्वाओं-द्वारा आपके गुण प्रभावका वर्णन कर सकेंगे ॥ ६७ ॥

किं त्वद्भुतमिदं लोके मानवेन्द्रेषु भूतले ।
न भूतं न भविष्यं च शक्राद्‌ासनमागतम् ॥ ६८ ॥

'इस भूतलपर या जगत्‌में नरेशोंके लिये कभी इन्द्रलोक-से सिंहासन आया हो, यह अद्भुत बात न कभी हुई थी और न भविष्यमें कभी होनेवाली है। (किंतु आपने इस असम्भव-को भी सम्भव कर दिखाया) ॥ ६८ ॥

सभावतरणं चैव कलशैरागतं स्वयम् ।
न श्रुतं न च दृष्टं वा तेन मन्यामहेऽद्भुतम् ॥ ६९ ॥

'स्वर्गसे सभाभवनका उतरना और आकाशमें दिव्य कलशोंका प्रकट होकर स्वयं ही अभिषेक करना न तो किसीने देखा था और न कभी सुननेमें ही आया था। इसलिये हम इस घटना-को अद्भुत मानते हैं ॥ ६९ ॥

धन्या देवी महाभागा देवकी योषितां वरा ।
भवन्तं त्रिदशश्रेष्ठं धृत्वा गर्भेण केशवम् ॥ ७० ॥
कृष्णं पद्मपलाशाक्षं श्रीपुञ्जममरार्चितम् ।
नेत्राभ्यां स्नेहपूर्णाभ्यां वीक्षते मुखपङ्कजम् ॥ ७१ ॥

'युवतियोंमें श्रेष्ठ महाभागा देवकीदेवी धन्य हैं, जिन्होंने आप देवप्रवर केशवको गर्भमें धारण करनेका महान् सौभाग्य प्राप्त किया और अब वे अपने स्नेहपूर्ण नेत्रोंसे आपके श्याम-सुन्दर कमलनयन शोभाधाम देवपूजित मुखारविन्दको निहारा करती हैं' ॥ ७०-७१ ॥

इति संजल्पमानानां शृण्वन्तौ पृथगीरितम् ।
उग्रसेनं पुरस्कृत्य भ्रातरौ रामकेशवौ ॥ ७२ ॥
प्राकारद्वारि सम्प्राप्तावर्चयामास वै तदा ।
अर्घ्यमाचमनं दत्त्वा पाद्यं पाद्येति चाब्रवीत् ॥ ७३ ॥
उग्रसेनस्ततो धीमान् केशवस्य रथाग्रतः ।

ऐसी बातें कहनेवाले सूत, मागध और बन्दियोंके पृथक्-पृथक् वचनोंको सुनते हुए दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्ण उग्रसेनको आगे करके नगरकी चहारदिवारीके दरवाजेपर आ पहुँचे। उस समय बुद्धिमान् राजा उग्रसेनने भगवान् श्री-कृष्णके रथके आगे खड़ा होकर कहा—पाद्य लाओ, पाद्य लाओ।' फिर स्वयं ही पाद्य, अर्घ्य और आचमन देकर उनका पूजन किया ॥ ७२–७३½ ॥

प्रणम्य शिरसा कृष्णं गजमारुह्य वीर्यवान् ॥ ७४ ॥
घनवत् तोयधारेण ववर्ष कनकाम्बुभिः ।

तत्पश्चात् श्रीकृष्णको सिरसे प्रणाम करके वे पराक्रमी राजा उग्रसेन हाथीपर चढ़ गये और जैसे मेघ पानीकी धारा गिराता है, उसी प्रकार वे सुवर्णमय जलकी वर्षा करने लगे ॥ ७४½ ॥

धनौघैर्वर्षमाणस्तु सम्प्राप्तः पितृवेश्मनि ॥ ७५ ॥
मथुराधिपतिः श्रीमानुवाच मधुसूदनम् ।

उस वर्षाके साथ ही श्रीकृष्ण अपने पिताके घर जा पहुँचे। वहाँ श्रीमान् मथुरानरेश उग्रसेनने मधुसूदन श्रीकृष्ण-से कहा— ॥ ७५½ ॥

राजेन्द्रत्वमनुप्राप्य युक्तं मे नृपवेश्मनि ॥ ७६ ॥
स्थापितुं देवराजेन दत्तं सिंहासनं प्रभो ।

'प्रभो! आपने राजेन्द्रका पद प्राप्त किया है; अतः आपके लिये यही उचित है कि आप देवराज इन्द्रके दिये हुए सिंहासनको इस राजमहलमें स्थापित करें ॥ ७६½ ॥

नेष्यामि मथुरेशस्य सभां भुजबलार्जिताम् ॥ ७७ ॥
प्रसादयिष्ये भगवन् न कोपं कर्तुमर्हसि ।

भगवन्! 'आप ही मथुराके स्वामी हैं। आपने यहाँकी राजसभाको अपनी भुजाओंके बलसे प्राप्त किया है। मैं आपको उस सभामें ले चलूँगा। एवं अपने व्यवहारोंसे आपको प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करूँगा। आप मुझपर क्रोध न करें ॥ ७७½ ॥

देवकी वसुदेवश्च रोहिणी च विशाम्पते ॥ ७८ ॥
न किंचित्करणे शक्ता हर्षक्रमविमोहिता ।

'प्रजानाथ ! देवकी, वसुदेव और रोहिणी—ये हर्षके उद्रेकसे मोहित हो गये थे; अतः उस समय कुछ भी न कर सके ॥ ७८½ ॥

कंसमाता ततो राजन्नर्चयामास केशवम् ॥ ७९ ॥
नानादिग्देशजानीतं कंसेनोपार्जितं धनम् ।
देशकालं समालोक्य पादयुग्मे न्यवेदयत् ॥ ८० ॥
उग्रसेनं समाहूय उवाच श्लक्ष्णया गिरा ।

राजन् ! तब कंसकी माता पद्मावतीने भगवान् केशवका पूजन किया और कंस अनेक देशोंसे जिस धनको जीतकर लाया था, उसे देशकालका विचार करके श्रीकृष्णके युगल चरणोंमें निछावर कर दिया। इस समय श्रीकृष्णने राजा उग्रसेनको बुलाकर मधुर वाणीमें इस प्रकार कहा ॥७९-८०½॥

श्रीकृष्ण उवाच

न चाहं मथुराकाङ्क्षी न मया वित्तकाङ्क्षया ॥ ८१ ॥
घातितस्तव पुत्रोऽयं कालेन निधनं गतः ।

श्रीकृष्ण बोले—महाराज ! मैं मथुराका राज्य नहीं चाहता। मैंने धनकी अभिलाषासे आपके पुत्रका वध नहीं किया है। यह कालसे ही मृत्युको प्राप्त हुआ है ॥ ८१½ ॥

यजस्व विविधान् यज्ञान् ददस्व विपुलं धनम् ॥ ८२ ॥
जयस्व रिपुसैन्यानि मम बाहुबलाश्रयात् ।

राजन् ! आप नाना प्रकारके यज्ञ कीजिये, प्रचुर धनका दान दीजिये और मेरे बाहुबलका आश्रय लेकर शत्रुओंकी सेनाओंपर विजय पाइये ॥ ८२½ ॥

त्यजस्व मनसस्तापं कंसनाशोद्भवं भयम् ॥ ८३ ॥
नयस्व वित्तनिचयं मया दत्तं पुनस्तव ।

आप मानसिक संतापको त्याग दीजिये। कंस-वधजनित भयको मनसे निकाल दीजिये तथा मेरी दी हुई इस धन-राशिको पुनः अपने ही भवनमें ले जाइये ॥ ८३½ ॥

इति प्राश्वास्य राजानं कृष्णस्तु हलिना सह ॥ ८४ ॥
प्रविवेश ततः श्रीमान् मातापित्रोरथान्तिकम् ।

इस तरह राजा उग्रसेनको आश्वासन दे श्रीमान् श्रीकृष्ण हलधरके साथ माता-पिताके पास गये ॥ ८४½ ॥

आनन्दपरिपूर्णाभ्यां हृदयाभ्यां महाबलौ ॥ ८५ ॥
पितृमात्रोस्तु पादान् वै नमश्चक्रतुरानतौ ।

वहाँ उन दोनों महाबली वीरोंने आनन्दपूर्ण हृदयसे विनीत होकर माता-पिताके चरणोंमें नमस्कार किया ॥८५½॥

तस्मिन् मुहूर्ते नगरी मथुरा तु बभूव सा ॥ ८६ ॥
स्वर्गलोकं परित्यज्यावतीर्णेवामरावती ।

उस मुहूर्तमें मथुरा नगरी ऐसी जान पड़ती थी, मानो अमरावतीपुरी स्वर्गलोकका परित्याग करके भूतलपर उतर आयी हो ॥ ८६½ ॥

वसुदेवस्य भवनं समीक्ष्य पुरवासिनः ॥ ८७ ॥
मनसा चिन्तयामासुर्देवलोकं न भूतलम् ।

वसुदेवके घरकी ओर देखकर पुरवासी अपने मनमें सोचने लगे कि यह भूलोक नहीं देवलोक है ॥ ८७½ ॥

विसृज्य मथुरेशं तु महिषीसहितं तदा ॥ ८८ ॥
भवनं वसुदेवस्य प्रविश्य बलकेशवौ ।
न्यस्तशस्त्रावुभौ वीरौ स्वगृहे स्वैरचारिणौ ॥ ८९ ॥

उस समय रानीसहित मथुरानरेशको विदा करके दोनों वीर बलराम और श्रीकृष्ण वसुदेवके घरमें प्रविष्ट हुए और अस्त्र-शस्त्र रखकर अपने घरमें इच्छानुसार विचरने लगे ॥ ८८-८९ ॥

ततः कृताह्निकौ भूत्वा सुखासीनौ कथान्तरे ।
एतस्मिन्नेव काले तु महोत्पातो बभूव ह ॥ ९० ॥

तदनन्तर, नित्य कर्म करके सुखपूर्वक बैठकर जब वे दोनों बातचीत करने लगे, इसी समय वहाँ महान् उत्पात प्रकट हुआ ॥ ९० ॥

बभ्रमुश्च घनाकाशे चेलुश्च भुवि पर्वताः ।
समुद्राः क्षुभिताः सर्वे विभ्रान्तो भोगिनां वरः ॥९१॥
कम्पिता यादवाः सर्वे न्युब्जाश्च पतिता भुवि ।

आकाशमें बादल चक्कर काटने लगे। पृथ्वीपर पर्वत हिलने लगे। सारे समुद्र क्षुब्ध हो उठे और सर्पोंमें श्रेष्ठ शेषनाग भी चकरा गये। समस्त यादव कम्पित हो औंधे मुँह पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ९१½ ॥

तौ तान् निपतितान् दृष्ट्वा रामकृष्णौ तु निश्चलौ॥ ९२ ॥
महता पक्षवातेन विज्ञातौ पतगोत्तमम् ।

उन सबको गिरा हुआ देखकर भी बलराम और श्रीकृष्ण विचलित नहीं हुए। पाँखोंसे उठी हुई प्रचण्ड वायुके द्वारा उन्हें यह पता लग गया कि पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड़ आ रहे हैं ॥ ९२½ ॥

ददर्श समनुप्राप्तं दिव्यस्रगनुलेपनम् ॥ ९३ ॥
प्रणम्य शिरसा ताभ्यां सौम्यरूपी कृतासनः ।

इतनेमें ही श्रीकृष्णने देखा, गरुड़जी आ गये। वे दिव्य पुष्पोंके हार और दिव्य चन्दनसे अलंकृत थे। उन्होंने सिर

झुकाकर उन दोनों भाइयोंको प्रणाम किया । फिर वे सौम्यरूप धारण करके एक आसनपर बैठ गये ॥ ९३½ ॥

तं दृष्ट्वा समनुप्राप्तं सचिवं साम्परायिकम् ॥ ९४ ॥
धृतिमन्तं गरुत्मन्तमुवाच बलिसूदनः ।

अपने समरसचिव धैर्यवान् गरुड़को आया देख बलिको बाँधनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार बोले—॥ ९४½ ॥

स्वागतं खेचरश्रेष्ठ सुरसेनारिमर्दन ॥ ९५ ॥
विनताहृदयानन्द स्वागतं केशवप्रिय ।

'पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड ! तुम्हारा स्वागत है । देवसेनाके शत्रुओंको कुचल देनेवाले पक्षिराज ! तुम्हारा स्वागत है । विनताके हृदयको आनन्द देनेवाले केशवप्रिय गरुड़ ! तुम्हारा स्वागत है' ॥ ९५½ ॥

तमुवाच ततः कृष्णः स्थितं देहमिवापरम् ॥ ९६ ॥
तुल्यसामर्थ्यया वाचा आसीनं विनतात्मजम् ।

तदनन्तर, श्रीकृष्ण अपने दूसरे शरीरके समान बैठे हुए विनतानन्दन गरुड़से अपनी शक्तिके अनुरूप वाणीद्वारा इस प्रकार बोले—॥ ९६½ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

यास्यामः पतगश्रेष्ठ भोजस्यान्तःपुरं महत् ॥ ९७ ॥
तत्र गत्वा सुखासीना मन्त्रयामो मनोगतम् ।

श्रीकृष्णने कहा—पक्षिप्रवर ! हमलोग भोजराजके विशाल अन्तःपुरमें चलेंगे और वहीं सुखपूर्वक बैठकर मनोगत विषयपर गुप्तरूपसे विचार करेंगे ॥ ९७½ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रविष्टौ तौ महावीर्यौ बलदेवजनार्दनौ ॥ ९८ ॥
वैनतेयतृतीयौ च गुह्यं मन्त्रमथाब्रुवन् ।
अवध्योऽसौ कृतोऽस्माकं सुमहच्च रिपोर्बलम् ॥ ९९ ॥
वृतः सैन्येन महता महद्भिश्च नराधिपैः ।
बहुलानि च सैन्यानि हन्तुं वर्षशतैरपि ॥१००॥
न शक्ष्यामः क्षयं कर्तुं जरासंधस्य वाहिनीम् ।
अतोऽर्थं वैनतेय त्वां ब्रवीमि मथुरां पुरीम् ॥१०१॥
वसतोरावयोः श्रेयो न भवेदिति मे मतिः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसके बाद महापराक्रमी बलराम और श्रीकृष्ण तीसरे गरुड़को साथ लेकर उक्त भवनमें प्रविष्ट हुए और गुप्त विषयपर मन्त्रणा करने लगे । उस समय श्रीकृष्ण बोले—'विनतानन्दन ! जरासंधको हमलोगोंके लिये अवध्य बना दिया गया है (यही दशा कालयवनकी भी है) । परंतु हमारे उस शत्रुका सैनिक एवं शारीरिक बल बहुत बड़ा है । वह बहुत बड़ी सेना तथा महान् नरेशोंसे घिरा रहता है । उसकी सेनाएँ इतनी अधिक हैं कि हमलोग जरासंधकी उस विशालवाहिनीका सौ वर्षोंमें भी संहार नहीं कर सकेंगे । अतः मैं तुमसे कहता हूँ कि अब मथुरापुरीमें रहनेसे हम दोनोंका भला नहीं होगा । मेरा तो ऐसा ही विश्वास है' ॥ ९८—१०१½ ॥

गरुड उवाच

देवदेवं नमस्कृत्य गतोऽहं भवतोऽन्तिकात् ॥१०२॥
वासार्थमीक्षितुं भूमिं तव देव कुशस्थलीम् ।

गरुड़ बोले—देव ! आप देवताओंके भी देवता हैं । आपको नमस्कार करके मैं आपके निकटसे आपहीके रहनेयोग्य निवासभूमिका निरीक्षण करनेके लिये कुशस्थलीकी ओर चला गया था ॥ १०२½ ॥

गत्वाहं खे समास्थाय समन्तादवलोक्य ताम् ॥१०३॥
दृष्टाहं विबुधश्रेष्ठ पुरीं लक्षणपूजिताम् ।

सुरश्रेष्ठ ! वहाँ जाकर आकाशका आश्रय ले सब ओरसे निरीक्षण करके मैं इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि वहाँ सभी शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न एवं सम्मानित पुरीका निर्माण हो सकता है ॥ १०३½ ॥

सागरानूपविपुलां प्रागुदक्प्लवशीतलाम् ॥१०४॥
सर्वतोदधिमध्यस्थामभेद्यां त्रिदशैरपि ।

कुशस्थलीके बहुत-से प्रदेश सागरके समीप होनेसे जलप्राय हैं । वहाँकी भूमि पूर्व और उत्तरकी ओरसे कुछ ढालू और शीतल है । वह सब ओरसे समुद्रके बीचमें है, इस कारण वहाँ बसी हुई पुरीका भेदन करना देवताओंके लिये भी असम्भव होगा ॥ १०४½ ॥

सर्वरत्नाकरवतीं सर्वकामफलद्रुमाम् ॥१०५॥
सर्वर्तुकुसुमाकीर्णां सर्वतः सुमनोहराम् ।

वहाँ जो पुरी बनेगी, वह सब प्रकारके रत्नोंकी खान होगी । वहाँके वृक्ष सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंको फलके रूपमें प्रदान करनेवाले होंगे । सभी ऋतुओंमें खिलनेवाले फूल उस पुरीकी शोभा बढ़ायेंगे । वह सब ओरसे अत्यन्त मनोहर होगी ॥ १०५½ ॥

सर्वाश्रमाधिवासां च सर्वकामगुणैर्युताम् ॥१०६॥
नरनारीसमाकीर्णां नित्यामोदविवर्द्धिनीम् ।

वहाँ सभी आश्रमोंके लोग निवास करेंगे । वह पुरी समस्त कमनीय गुणोंसे अलंकृत होगी । असंख्य नर-नारियोंसे भरी रहकर सदा ही आमोद-प्रमोदको बढ़ानेवाली होगी ॥ १०६½ ॥

प्राकारपरिखोपेतां गोपुराट्टालमालिनीम् ॥१०७॥
विचित्रचत्वरपथां विपुलद्वारतोरणाम्।
यन्त्रार्गलविचित्राढ्यां हेमप्राकारशोभिताम् ॥१०८॥

वह नगरी परकोटों, खाइयों, गोपुरों और अट्टालिकाओंकी पङ्क्तियोंसे सुशोभित होगी। इसकी सड़कें और चौराहे अद्भुत शोभासे सम्पन्न होंगे। उस पुरीके द्वार एवं फाटक बहुत बड़े-बड़े होंगे। विचित्र-विचित्र यन्त्रों और अर्गलाओंसे वह सम्पन्न होगी। सोनेकी चहारदीवारी उसकी शोभा बढ़ायेगी॥

नरनागाश्वकलिलां रथसैन्यसमाकुलाम्।
नानादिग्देशजाकीर्णां दिव्यपुष्पफलद्रुमाम् ॥१०९॥

हाथी, घोड़े, मनुष्य और रथोंकी सेनासे वह पुरी व्याप्त रहेगी। विभिन्न दिशाओं और देशोंके लोगों तथा वहाँ उत्पन्न हुए पदार्थोंसे वह भरी होगी। दिव्य पुष्प और फल देनेवाले देववृक्ष उसकी शोभा बढ़ायेंगे ॥ १०९ ॥

पताकाध्वजमालाढ्यां महाभवनशालिनीम्।
भीषणीं रिपुसंघानां मित्राणां हर्षवर्द्धनीम् ॥११०॥

वह नगरी ध्वजा-पताकाओंकी पङ्क्तियोंसे अलंकृत तथा बड़े-बड़े भवनोंसे सुशोभित होगी। शत्रु-समूहोंका भय और मित्रोंका हर्ष बढ़ाती रहेगी ॥ ११० ॥

मनुजेन्द्राधिवासेभ्यो विशिष्टां नगरोत्तमाम्।
रैवतं च गिरिश्रेष्ठं कुरु देव सुरालयम् ॥१११॥
नन्दनप्रतिमं दिव्यं पुरद्वारस्य भूषणम्।
कारयस्वाधिवासं च तत्र गत्वा सुरोत्तम ॥११२॥

देव! अबतक नरेन्द्रके जितने अधिवास हैं, उन सबसे वह पुरी विशिष्ट होगी। देवताओंका निवासस्थान जो गिरिश्रेष्ठ रैवतक है, उसको और वहाँके नन्दनवन-सदृश दिव्य वनको अपने नगरद्वारका भूषण बनाइये। सुरश्रेष्ठ! वहीं चलकर आप निवास कीजिये ॥ १११-११२ ॥

कुमारीणां प्रचारश्च सुरमण्यो भविष्यति।
नाम्ना द्वारवती ज्ञेया त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥११३॥
भविष्यति पुरी रम्या शक्रस्येवामरावती।

वहाँ कुमारियोंका अत्यन्त मनोहर ढंगसे घूमना-फिरना हो सकेगा। उस पुरीका नाम होगा द्वारवती या द्वारका, जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध होगी। वह पुरी इन्द्रकी अमरावतीके समान परम रमणीय होगी ॥ ११३½ ॥

यदि स्यात् संवृतां भूमिं प्रदास्यति महोदधिः॥११४॥
यथेष्टं विविधं कर्म विश्वकर्मा करिष्यति।

यदि महासागर जलसे ढकी हुई भूमि (का कुछ भाग) दे देगा, तो वहाँ उपर्युक्त गुणोंसे सम्पन्न पुरीका निर्माण हो सकेगा। साक्षात् विश्वकर्मा पधारकर वहाँ आपकी इच्छाके अनुसार नाना प्रकारके शिल्प-कर्म करेंगे ॥ ११४½ ॥

मणिमुक्ताप्रवालाभिर्वज्रवैदूर्यसप्रभैः ॥११५॥
दिव्यैरभिप्राययुतैर्दिव्यरत्नैस्त्रिलोकजैः।
दिव्यस्तम्भशताकीर्णान् स्वर्गे देवसभोपमान् ॥११६॥
जाम्बुनदमयाञ्छुभ्रान् सर्वरत्नविभूषितान्।
दिव्यध्वजपताकाढ्यान् देवगन्धर्वपालितान् ॥११७॥
चन्द्रसूर्यप्रतीकाशान् प्रासादान् कारय प्रभो।

प्रभो! आप मणि, मोती, मूँगा, हीरा, वैदूर्य तथा दिव्य भावोंसे युक्त त्रिलोकीके अन्यान्य दिव्य रत्नोंद्वारा ऐसे महल बनवाइये, जो स्वर्गलोककी देव-सभाओंके समान शोभा पा रहे हों। उनमें सैकड़ों दिव्य खम्भे लगे हों। वे महल सोनेकी ईंटोंसे बने हों और उन्हें सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित किया गया हो। वे शुभ्र प्रासाद दिव्य ध्वजा और पताकाओंसे अलंकृत हों। चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रतीत होते हों और देव-गन्धर्व उनकी रक्षामें तत्पर रहें ॥ ११५–११७½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं कृत्वा तु संकल्पं वैनतेयोऽथ केशवम् ॥११८॥
प्रणम्य शिरसा ताभ्यां निषसाद कृतासनः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार श्रीकृष्णके प्रति अपना मनोभाव प्रकट करके विनतानन्दन गरुड़ने सिर झुकाकर उन दोनों भाइयोंको प्रणाम किया। फिर वे अपने आसनपर बैठ गये ॥ ११८½ ॥

कृष्णोऽपि रामसहितो विचिन्त्य हितमीरितम्॥११९॥
प्रकाशकर्तुकामौ तौ विसृज्य विनतात्मजम्।
सत्कृत्य विधिवद् राजन् महार्हवरभूषणैः ॥१२०॥
मोदेते सुखिनौ तत्र सुरलोके यथामरौ।

राजन्! फिर बलरामसहित श्रीकृष्णने भी गरुड़की कही हुई हितकर बातपर विचार करके उसे प्रकाशित करनेकी इच्छा की और बहुमूल्य सुन्दर आभूषणोंद्वारा विनतानन्दन गरुड़का विधिवत् सत्कार करके उन्हे विदा कर दिया। तत्पश्चात् देवलोकमें विहार करनेवाले दो अमरोंकी भाँति वे दोनों भाई मथुरामें सुख और आनन्दके साथ रहने लगे ॥११९-१२०½॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भोजराजो महायशाः ॥१२१॥
कृष्णं स्नेहेन विस्रब्धं बभाषे वचनामृतम्।

गरुड़का वह वचन सुनकर महायशस्वी भोजराज उग्रसेन श्रीकृष्णसे स्नेह और विश्वासपूर्वक यह अमृतके समान मधुर वचन बोले—॥ १२१½ ॥

कृष्ण कृष्ण महाबाहो यदूनां नन्दिवर्द्धन ॥१२२॥
श्रूयतां वचनं त्वाद्य वक्ष्यामि रिपुसूदन ।

'श्रीकृष्ण! यदुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण! शत्रुसूदन! आज मैं तुमसे जो बात कहता हूँ, उसे सुनो ॥ १२२½ ॥

त्वया विहीनाः सर्वे स्म न शक्ताः सुखमासितुम् ॥१२३॥
पुरेऽस्मिन् विषयान्ते वा पतिहीना इव स्त्रियः ।

'जैसे पतिहीन स्त्रियाँ कहीं सुखसे नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार तुमसे बिछुड़कर हम समस्त यादव इस नगर या राज्यमें सुखसे नहीं रह सकते हैं ॥ १२३½ ॥

त्वत्सनाथा वयं तात त्वद्बाहुबलमाश्रिताः ॥१२४॥
बिभीमो न नरेन्द्राणां सेन्द्राणामपि मानद ।

'दूसरोंको मान देनेवाले तात! हम तुमसे सनाथ होकर तुम्हारे बाहुबलका आश्रय ले नरेन्द्रोंकी तो बात ही क्या है, इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंसे भी नहीं डरते हैं ॥ १२४½ ॥

विजयाय यदुश्रेष्ठ यत्र यत्र गमिष्यसि ॥१२५॥
तत्र त्वं सहितोऽस्माभिर्गच्छेथा यादवर्षभ ।

'यदुश्रेष्ठ! यादवप्रवर! तुम विजयके लिये जहाँ-जहाँ जाओ, वहाँ हम सबको साथ लिये चलो' ॥ १२५½ ॥

तस्य राज्ञो वचः श्रुत्वा सस्मितं देवकीसुतः ॥१२६॥
यथेष्टं भवतामद्य तथा कर्तास्म्यसंशयम् ॥१२७॥

राजा उग्रसेनकी यह बात सुनकर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण मुसकराकर बोले—'राजन्! अब आपकी जैसी इच्छा होगी, वैसा ही करूँगा, इसमें संशय नहीं है ॥१२६-१२७॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि श्रीकृष्णस्य मथुरागमनमहोत्सवो द्वारवतीप्रयाणसंकेतो नाम पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीकृष्णका मथुरा-गमनमहोत्सव तथा उनके द्वारका जानेका संकेतनामक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी आज्ञासे यादवोंका द्वारकापुरीको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य सभ्यांस्तान् यदुसंसदि ।
बभाषे पुण्डरीकाक्षो हेतुमद्वाक्यमुत्तमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर, किसी समय कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने यादवोंकी सभामें बैठे हुए समस्त सभासदोंसे यह हेतुयुक्त उत्तम वचन कहा—॥ १ ॥

यादवानामियं भूमिर्मथुरा राष्ट्रमालिनी ।
वयं चैवेह सम्भूता व्रजे च परिवर्द्धिताः ॥ २ ॥

'यह राष्ट्रकी मालासे अलंकृत (समूचे राष्ट्रको मालाकी भाँति धारण करनेवाली राजधानी) मथुरापुरी यादवोंकी भूमि है। हम भी यहीं पैदा हुए हैं और इसीके व्रजमें पलकर बड़े हुए हैं ॥ २ ॥

तदिदानीं गतं दुःखं शत्रवश्च पराजिताः ।
नृपेषु जनितं वैरं जरासंधेन विग्रहः ॥ ३ ॥

'इस समय हमारा सारा दुःख दूर हो गया है। हमारे शत्रु भी हमसे हार मान चुके हैं। हमने राजाओंसे वैर मोल ले लिया और जरासंधसे लड़ाई छेड़ दी है ॥ ३ ॥

वाहनानि च नः सन्ति पादातं चाप्यनन्तकम् ।
रत्नानि च विचित्राणि मित्राणि च बहूनि च ॥ ४ ॥

'हमारे पास पर्याप्त वाहन हैं। पैदलोंकी संख्या भी अनन्त है। हमारे खजानेमें विचित्र रत्न हैं तथा हमारे मित्रोंकी संख्या भी बहुत है ॥ ४ ॥

इयं च माथुरी भूमिरल्पा गम्या परस्य तु ।
वृद्धिश्चैव परास्माकं बलतो मित्रतस्तथा ॥ ५ ॥

'परंतु यह मथुराकी भूमि बहुत छोटी है और शत्रुका सुगमतापूर्वक इसमें प्रवेश हो जाता है। इधर हमारे सैनिकों और मित्रोंकी बहुत अधिक वृद्धि हुई है ॥ ५ ॥

कुमारकोट्यो याश्चेमाः पदातीनां गणाश्च ये ।
एषामपीह वसतां सम्मर्दमुपलक्षये ॥ ६ ॥

'हमारे पास जो ये एक करोड़ कुमार (अविवाहित)

सैनिक हैं तथा ये जो पैदलोंके बहुत-से दल हैं, इनके भी यहीं रहनेसे यहाँ बड़ी भीड़-भाड़ दिखायी देती है॥ ६ ॥

अत्र नो रोचते मह्यं निवासो यदुपुङ्गवाः ।
पुरीं निवेशयिष्यामि मम तत् क्षन्तुमर्हथ ॥ ७ ॥

'अतः यदुपुङ्गवो ! अब यहाँ निवास करना मुझे अच्छा नहीं लगता है; इसलिये मैं दूसरी पुरी बसाऊँगा । मेरी इस धृष्टताको आपलोग क्षमा करेंगे ॥ ७ ॥

एतद् यदनुरूपं वो ममाभिप्रायजं वचः ।
भवाय भवतां काले यदुक्तं यदुसंसदि ॥ ८ ॥

'इस यादवसभामें मेरे हार्दिक अभिप्रायके अनुसार जो बात कही गयी है, वह समयानुसार आपलोगोंके उद्भवके लिये ही है । यदि आपलोगोंको अनुकूल जँचती हो तो कहिये' ॥ ८ ॥

तमूचुर्यादवाः सर्वे हृष्टेन मनसा तदा ।
साध्यतां यदभिप्रेतं जनस्यास्य भवाय वै ॥ ९ ॥

तब समस्त यादव प्रसन्न मनसे बोल उठे—'प्रभो ! इस यादव समाजके उद्भवके लिये आपको जो अभीष्ट हो, वह कार्य कीजिये' ॥ ९ ॥

ततः सम्मन्त्रयामासुर्वृष्णयो मन्त्रमुत्तमम् ।
अवध्योऽसौ कृतोऽस्माकं सुमहच्च रिपोर्बलम्॥ १० ॥

तब समस्त वृष्णिवंशी मिलकर उत्तम मन्त्रणा करने लगे—'यह जरासंध (या कालयवन) हमलोगोंके लिये अवध्य कर दिया गया है । हमारे उस शत्रुका सैनिक बल बहुत बड़ा है ॥ १० ॥

कृतः सैन्यक्षयश्चापि महानिह नराधिपैः ।
बहुलानि च सैन्यानि हन्तुं वर्षशतैरपि ।
न शक्ष्यामो ह्यतस्तेषामपयानेऽभवन्मतिः ॥ ११ ॥

'हमारे पक्षके नरेशोंने शत्रुकी उस सेनाका बड़ा भारी विनाश किया है तो भी उसके पास अभी बहुत-सी सेनाएँ हैं, जिन्हें हमलोग सौ वर्षोंमें भी नहीं मार सकते । अतः हमारा विचार उनसे हट जानेके लिये हो गया है' ॥ ११ ॥

तस्मिन्नेवान्तरे राजा सकालयवनस्तदा ।
सैन्येन तद्विधेनैव मथुरामभ्युपागमत् ॥ १२ ॥

इसी बीचमें कालयवनसहित राजा जरासंध फिर वैसी ही सेना साथ लेकर मथुरापर चढ़ आया ॥ १२ ॥

ततो जरासंधबलं दुर्निवार्यमभूत् तदा ।
ते कालयवनं चैव श्रुत्वेदं प्रतिपेदिरे ॥ १३ ॥

उस समय मथुराके सैनिकोंके लिये जरासंधकी सेनाको ही रोकना अत्यन्त कठिन कार्य था । फिर जब यादवोंने कालयवनका भी आगमन सुना, तब तो उन्होंने मथुरासे हट जाना ही अपने लिये श्रेयस्कर समझा ॥ १३ ॥

केशवः पुनरेवाह यादवान् सत्यसंगरः ।
अद्यैव दिवसः पुण्यो निर्यामः स्वबलानुगाः ॥ १४ ॥

सत्यप्रतिज्ञ श्रीकृष्णने वहाँ यादवोंसे फिर कहा—'आज ही वह पुण्य दिवस है, जब कि अपनी सेनाके साथ हमे यहाँसे निकल चलना है' ॥ १४ ॥

ततो निश्चक्रमुः सर्वे यादवाः कृष्णशासनात् ।
ओघा इव समुद्रस्य बलौघप्रतिनादिताः ॥ १५ ॥

यह सुनकर समस्त यादव श्रीकृष्णकी आज्ञासे उस पुरीको छोड़कर निकल गये । उस समय सैन्यसमूहोंके कोलाहलसे भरे हुए यादवोंके दल समुद्रके जलप्रवाहकी भाँति जान पड़ते थे ॥ १५ ॥

संगृह्य ते कलत्राणि वसुदेवपुरोगमाः ।
सुसन्नद्धैर्गजैर्मत्तै रथैरश्वैश्च दंशितैः ॥ १६ ॥
आहत्य दुन्दुभीन् सर्वे स्वजनज्ञातिबान्धवाः ।
निर्ययुर्यादवाः सर्वे मथुरामपहाय वै ॥ १७ ॥

वसुदेव आदि सभी यादव अपनी स्त्रियोंको साथ ले कसे-कसाये मतवाले हाथियों, रथों और सुसज्जित अश्वोंके द्वारा मथुरा छोड़कर चल दिये । उन सबने डंके पीटकर स्वजनों तथा जाति-भाइयोंके साथ वहाँसे प्रस्थान किया था ॥ १६-१७ ॥

स्यन्दनैः काञ्चनापीडैर्मत्तैश्च वरवारणैः ।
सूतैः प्लुतैश्च तुरगैः कशापार्ष्णिप्रणोदितैः ॥ १८ ॥
स्वानि स्वानि बलाग्राणि शोभयन्तः प्रकर्षिणः ।
प्रत्यङ्मुखा ययुर्हृष्टा वृष्णयो भरतर्षभ ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सुवर्णभूषित रथों, मतवाले गजराजों और सारथीकी आज्ञामात्रसे उछलकर चलनेवाले तथा हाथमें चाबुक लिये सवारोंद्वारा हाँके जानेवाले घोड़ोंसे अपनी-अपनी श्रेष्ठ सेनाओंकी शोभा बढ़ाते तथा उन्हें खींचकर अपने साथ लिये जाते हुए वृष्णिवंशी बड़े हर्षके साथ पश्चिम दिशाकी ओर प्रस्थित हुए ॥ १८-१९ ॥

ततो मुख्यतमाः सर्वे यादवा रणकोविदाः ।
अनीकाग्राणि कर्षन्तो वासुदेवपुरोगमाः ॥ २० ॥

तदनन्तर, युद्धकुशल श्रीकृष्ण आदि सभी मुख्य-मुख्य यादव अपनी सेनाओंको साथ लेकर चले ॥ २० ॥

ते स्म नानालताचित्रं नारिकेलवनायुतम् ।
कीर्णं नागवलैः कान्तं केतकीखण्डमण्डितम् ॥ २१ ॥
तालपुन्नागवकुलद्राक्षावनघनं क्वचित् ।
अनूपं सिन्धुराजस्य प्रपेतुर्यदुपुङ्गवाः ॥ २२ ॥

वे यदुपुङ्गव वीर सिंधुराजके जलप्राय देशमें जा पहुँचे, जो नाना प्रकारकी लताओंसे विचित्र शोभा पा रहा था। नारियलके बहुत-से वन वहाँ सुशोभित होते थे। नागकेसरोंके झुंड इधर-उधर सब ओर फैले थे, जिनसे वहाँकी कमनीयता और भी बढ़ गयी थी। केवड़ोंकी झाड़ियोंसे वह प्रदेश अलंकृत हो रहा था। कहीं-कहीं ताड़, पुन्नाग, वकुल और अंगूरके वन उस भूभागको और घना बना रहे थे ॥२१-२२॥

ते तत्र रमणीयेषु विषयेषु सुखप्रियाः।
मुमुदुर्यादवाः सर्वे देवाः स्वर्गगता इव ॥ २३ ॥

जिन्हें सुख ही प्रिय है, वे सब यादव वहाँके रमणीय स्थानोंमें स्वर्गमें रहनेवाले देवताओंके समान आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ २३ ॥

पुरवास्तु विचिन्वन् स कृष्णस्तु परवीरहा।
ददर्श विपुलं देशं सागरेणोपशोभितम् ॥ २४ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले श्रीकृष्णने नगरके वास्तु-स्थानकी खोज करते हुए समुद्रसे सुशोभित होनेवाले एक विशाल प्रदेशको देखा ॥ २४ ॥

वाहनानां हितं चैव सिकताताम्रमृत्तिकम्।
पुरलक्षणसम्पन्नं कृतास्पदमिव श्रिया ॥ २५ ॥

वह स्थान बालूके साथ ही ताँबेके रङ्गवाली मिट्टीसे सुशोभित था। वाहनोंके लिये हितकर तथा नगरोपयोगी शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न था। वह ऐसा मनोहर प्रतीत होता था, मानो लक्ष्मीने उसे अपना वासस्थान बना लिया हो॥२५॥

सागरानिलसंवीतं सागराम्बुनिषेवितम्।
विषयं सिन्धुराजस्य शोभितं पुरलक्षणैः ॥ २६ ॥

सिंधुराजका वह प्रदेश समुद्रकी वायुसे विजित, सागरके जलसे सेवित तथा नगरोपयोगी लक्षणोंसे सुशोभित था॥२६॥

तत्र रैवतको नाम पर्वतो नातिदूरतः।
मन्दरोदारशिखरः सर्वतोऽभिविराजते ॥ २७ ॥

वहाँ पास ही रैवतक नामसे प्रसिद्ध पर्वत था, जिसके शिखर मन्दराचलके समान ऊँचे और रमणीय थे। वह पर्वत सब ओरसे बड़ी शोभा पा रहा था॥ २७ ॥

तत्रैकलव्यसंवासो द्रोणेनाध्युषितश्चिरम्।
प्रभूतपुरुषोपेतः सर्वरत्नसमाकुलः ॥ २८ ॥

वहाँ एकलव्य रहता था। आचार्य द्रोण भी वहाँ दीर्घकालतक निवास कर चुके थे। बहुत-से मनुष्य वहाँ आते-जाते थे तथा वह पर्वत सब प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त था ॥ २८ ॥

विहारभूमिस्तत्रैव तस्य राज्ञः सुनिर्मिता।
नाम्ना द्वारवती नाम स्वायताष्टापदोपमा ॥ २९ ॥

उसके पास ही उस राजा रेवतकी विहारभूमि थी, जिसका बड़े सुन्दर ढंगसे निर्माण किया गया था। उस भूमिका नाम था द्वारवती, जो विशाल होनेके साथ ही शतरंज या चौपरकी बिछौनेके समान चौकोर थी ॥ २९ ॥

केशवेन मतिस्तत्र पुर्यर्थे विनिवेशिता।
निवेशं तत्र सैन्यानां रोचयन्ति स्म यादवाः ॥ ३० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ नगर बसानेका विचार किया। यादवोंको भी वहाँ सेनाका पड़ाव डालना जँच गया ॥ ३० ॥

ते रक्तसूर्यदिवसे तत्र यादवपुङ्गवाः।
सेनापालांश्च संचक्रुः स्कन्धावारनिवेशनम् ॥ ३१ ॥

दिनमें जब कि सूर्यपर लाली छा रही थी, वहाँ श्रेष्ठ यादवोंने सेनाके रक्षक नियुक्त किये और सैनिकोंके ठहरनेके लिये छावनियाँ तैयार करायीं ॥ ३१ ॥

ध्रुवाय तत्र न्यवसत् केशवः सह यादवैः।
देशे पुरनिवेशाय स यदुप्रवरो विभुः ॥ ३२ ॥

यदुप्रवर भगवान् श्रीकृष्णने यादवोंके साथ उस प्रदेशमें एक सुस्थिर नगर बसानेके लिये निवास किया ॥ ३२ ॥

तस्यास्तु विधिवन्नाम वास्तूनि च गदाग्रजः।
निर्ममे पुरुषश्रेष्ठो मनसा यादवोत्तमः ॥ ३३ ॥

गदके बड़े भाई यादवश्रेष्ठ पुरुषोत्तमने मानसिक संकल्पके द्वारा उस पुरीका नाम निश्चित किया और मनसे ही विधिपूर्वक उसमें गृहोंका विभाग किया ॥ ३३ ॥

एवं द्वारवतीं चैव पुरीं प्राप्य सबान्धवाः।
सुखिनो न्यवसन् राजन् स्वर्गे देवगणा इव ॥ ३४ ॥

राजन्! इस प्रकार बन्धु-बान्धवोंसहित यदुवंशी द्वारकापुरीमें पहुँचकर वहाँ उसी तरह सुखसे रहने लगे, जैसे देवता स्वर्गमें रहते हैं ॥ ३४ ॥

कृष्णोऽपि कालयवनं ज्ञात्वा केशिनिषूदनः।
जरासंधभयाच्चैव पुरीं द्वारवतीं ययौ ॥ ३५ ॥

केशिहन्ता श्रीकृष्ण भी कालयवनका आना जानकर उसके और जरासंधके भयसे द्वारकापुरीको चले गये ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि द्वारवतीप्रयाणे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीकृष्णसहित यादवोंका द्वारकापुरीको प्रयाणविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कालयवनका वध

जनमेजय उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि विस्तरेण महात्मनः।
चरितं वासुदेवस्य यदुश्रेष्ठस्य धीमतः॥ १॥

जनमेजयने पूछा—भगवन्! मैं बुद्धिमान् यदुश्रेष्ठ महात्मा वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका चरित्र विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ॥ १॥

किमर्थं च परित्यज्य मथुरां मधुसूदनः।
मध्यदेशस्य ककुदं धाम लक्ष्म्याश्च केवलम्॥ २॥
शृङ्गं पृथिव्याः स्वालक्ष्यं प्रभूतधनधान्यवत्।
आर्याढ्यजलभूयिष्ठमधिष्ठानवरोत्तमम्॥ ३॥
अयुद्धेनैव दाशार्हस्त्यक्तवान् द्विजसत्तम।
स कालयवनश्चापि कृष्णे किं प्रत्यपद्यत॥ ४॥

भगवान् मधुसूदन किसलिये मथुरा छोड़कर चले गये? वह तो मध्यदेशका ककुद (सर्वोत्तम स्थान), लक्ष्मीका अद्वितीय धाम, पृथ्वीका शृङ्ग, सुन्दर, दर्शनीय, प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न, आर्योंका निवासस्थान, जलकी अधिकतासे सुशोभित तथा सभी अधिष्ठानोंमें सबसे उत्तम है। द्विजश्रेष्ठ! दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्णने बिना युद्धके ही उसे क्यों छोड़ दिया? तथा कालयवनने भी श्रीकृष्णके साथ क्या बर्ताव किया?॥ २–४॥

द्वारकां च समासाद्य वारिदुर्गां जनार्दनः।
किं चकार महाबाहुर्महायोगी महातपाः॥ ५॥

महाबाहु, महायोगी और महातपस्वी भगवान् जनार्दनने जलरूपी दुर्गसे घिरी हुई द्वारकामें जाकर क्या किया?॥ ५॥

किंवीर्यः कालयवनः केन जातश्च वीर्यवान्।
यमसह्यं समालक्ष्य व्यपयातो जनार्दनः॥ ६॥

कालयवनका पराक्रम कैसा था? किसने उस बलशाली वीरको जन्म दिया था, जिसे असह्य समझकर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकासे हट गये थे?॥ ६॥

वैशम्पायन उवाच

वृष्णीनामन्धकानां च गुरुर्गार्ग्यो महामनाः।
ब्रह्मचारी पुरा भूत्वा न स्म दारान् स विन्दति॥ ७॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! वृष्णि और अन्धक वंशी यादवोंके गुरु (पुरोहित) महामना गार्ग्यमुनि पहले नियमपूर्वक ब्रह्मचारी रहकर किसी साधनामें लगे हुए थे। वे उन दिनों स्त्री-संसर्गसे दूर रहते थे॥ ७॥

तथा हि वर्तमानं तमूर्ध्वरेतसमव्ययम्।
स्यालोऽभिशस्तवान् गार्ग्यमपुमानिति राजनि॥ ८॥

विकाररहित ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारीके रूपमें रहते हुए उन गार्ग्य-मुनिपर उन्हींके सालेने राजसभामें नपुंसक होनेका कलङ्क लगाया॥

सोऽभिशस्तस्तदा राजन् नगरे त्वजितं जये।
अलिप्संस्तु स्त्रियं चैव तपस्तेपे सुदारुणम्॥ ९॥

राजन्! जिन्होंने अजित परमात्माको भी जीत लिया था, उस नगरमें इस प्रकार कलङ्कित होनेपर उन्होंने स्त्रीकी इच्छा तो नहीं की, परंतु क्रोधपूर्वक अत्यन्त कठोर तपस्या आरम्भ कर दी॥ ९॥

ततो द्वादशवर्षाणि सोऽयश्चूर्णमभक्षयत्।
आराधयन् महादेवमचिन्त्यं शूलपाणिनम्॥ १०॥

वे गार्ग्यमुनि अचिन्त्यस्वरूप शूलपाणि महादेवजीकी आराधना करते हुए बारह वर्षोंतक केवल लोहेका चूर्ण खाकर रहे॥ १०॥

रुद्रस्तस्मै वरं प्रादात् समर्थं युधि निग्रहे।
वृष्णीनामन्धकानां च सर्वतेजोमयं सुतम्॥ ११॥

तब भगवान् रुद्रने उन्हे वरके रूपमे पूर्ण तेजस्वी पुत्र प्रदान किया, जो युद्धमें वृष्णि और अन्धक-वंशके वीरोंका भी निग्रह करनेमें समर्थ था॥ ११॥

ततः शुश्राव तं राजा यवनाधिपतिर्वरम्।
पुत्रप्रसवजं दैवादपुत्रः पुत्रकामिता॥ १२॥

इसी समय यवनोंके अधिपति एक राजाने उस पुत्र-प्रदान करनेवाले वरका वृत्तान्त सुना। वह दैवयोगसे पुत्रहीन था और पुत्र पानेकी इच्छा रखता था॥ १२॥

स नृपस्तमुपानाय्य सान्त्वयित्वा द्विजोत्तमम्।
तं घोषमध्ये यवनो गोपस्त्रीषु समासृजत्॥ १३॥

उस यवन-नरेशने द्विजश्रेष्ठ गार्ग्यको सान्त्वनापूर्वक घर लाकर ठहराया और किसी गोष्ठके भीतर उन्हे गोपनारियोंके संसर्गमें रखा॥ १३॥

गोपाली त्वप्सरास्तत्र गोपस्त्रीवेषधारिणी।
धारयामास गार्ग्यस्य गर्भं दुर्धरमच्युतम्॥ १४॥

उसी गोष्ठमे गोपाली नामवाली अप्सरा थी, जो गोप-नारीका वेष धारण करके वहाँ रहती थी। उसीने गार्ग्यमुनिके उस दुर्धर एवं अच्युत गर्भको धारण किया॥ १४॥

मानुष्यां गार्ग्यभार्यायां नियोगाच्छूलपाणिनः।
स कालयवनो नाम जज्ञे शूरो महाबलः॥ १५॥

भगवान् शङ्करके वरके प्रभावसे गार्ग्यमुनिकी उस मानवी-रूपधारिणी अप्सरारूपा भार्याके गर्भसे महाबली शूरवीर कालयवनका जन्म हुआ॥ १५॥

अपुत्रस्याथ राज्ञस्तु ववृधेऽन्तःपुरे शिशुः।
तस्मिन्नुपरते राजन् स कालयवनो नृपः॥ १६॥

राजन्! उस शिशुका उस पुत्रहीन राजाके अन्तःपुरमें लालन-पालन एवं संवर्द्धन होने लगा। उस राजाकी मृत्यु होनेके पश्चात् कालयवन ही उसके राज्यका अधिपति हुआ॥

युद्धाभिकामो नृपतिः पर्यपृच्छद् द्विजोत्तमान्।
वृष्ण्यन्धककुलं तस्य नारदेन निवेदितम्॥ १७॥

राजा कालयवन युद्धकी अभिलाषा रखकर श्रेष्ठ द्विजोंसे पूछने लगा कि 'सबसे बड़े वीर कौन हैं और कहाँ रहते हैं?' तब देवर्षि नारदने उसे वृष्णि और अन्धकवंशका परिचय दिया॥ १७॥

ज्ञात्वा तु वरदानं तन्नारदान्मधुसूदनः।
उपप्रैक्षत तेजस्वी वर्द्धन्तं यवनेषु तम्॥ १८॥

नारदजीसे उसको मिले हुए वरदानका समाचार जानकर भी तेजस्वी मधुसूदनने यवनोंके यहाँ पलते हुए उस कालयवनकी उपेक्षा कर दी॥ १८॥

समृद्धो हि यदा राजा यवनानां महाबलः।
तत एवं नृपा म्लेच्छाः संश्रित्यानुययुस्तदा॥ १९॥

जब यवनोका राजा महाबली कालयवन समृद्धिशाली हुआ, तब दूसरे म्लेच्छ नरेश उसकी शरण लेकर उसीका अनुसरण करने लगे॥ १९॥

शकास्तुषारा दरदाः पारदाः श्रृङ्गलाः खसाः।
पह्लवाः शतशश्चान्ये म्लेच्छा हैमवतास्तथा॥ २०॥

शक, तुषार, दरद, पारद, श्रृङ्गल, खस, पह्लव तथा दूसरे-दूसरे सैकड़ों हिमालय-निवासी म्लेच्छ उसके साथ हो गये॥ २०॥

स तैः परिवृतो राजा दस्युभिः शलभैरिव।
नानावेषायुधैर्भीमैर्मथुरामभ्यवर्तत॥ २१॥

शलभोंके समान उन अगणित लुटेरोंसे, जो नाना प्रकारके वेश और आयुध धारण करनेके कारण बड़े भयंकर प्रतीत होते थे, घिरा हुआ राजा कालयवन मथुरापर चढ़ आया॥

गजवाजिखरोष्ट्राणामयुतैरर्बुदैरपि।
पृथिवीं कम्पयामास सैन्येन महता वृतः॥ २२॥
रेणुना सूर्यमार्गं तु समवच्छाद्य पार्थिवः।
मूत्रेण शकृता चैव सैन्येन ससृजे नदीम्॥ २३॥

उसके साथ हाथी, घोड़े, गदहे और ऊँट हजारों, लाखों तथा करोड़ोंकी संख्यामें विद्यमान थे। वह उस विशाल सेनासे घिरकर इस पृथ्वीको कम्पित कर रहा था। उस राजाने सेनाद्वारा उठी हुई धूलसे सूर्यके मार्गको आच्छादित कर दिया और सैनिकोंके मल-मूत्रसे नूतन नदीकी सृष्टि कर दी॥

अश्वोष्ट्रशकृतां राशेर्निःसृतेति जनाधिप।
ततोऽश्वशकृदित्येवं नाम नद्या बभूव ह॥ २४॥

जनेश्वर! घोड़ों और ऊँटोंकी लीदोंके ढेरमें वह नदी प्रकट हुई थी, इसलिये उसका नाम 'अश्वशकृत्' हो गया॥ २४॥

तत्सैन्यं महदायाद् वै श्रुत्वा वृष्ण्यन्धकाग्रणीः।
वसुदेवः समानाय्य ज्ञातीनिदमुवाच ह॥ २५॥

उसकी विशाल सेनाके आगमनका समाचार सुनकर वृष्णि और अन्धक-कुलके अगुआ वसुदेवजी सब जाति-भाइयोंको एकत्र करके उनसे इस प्रकार बोले—॥ २५॥

इदं समुत्थितं घोरं वृष्ण्यन्धकभयं महत्।
अवध्यश्चापि नः शत्रुर्वरदानात् पिनाकिनः॥ २६॥

'बन्धुओ! यह वृष्णि और अन्धक-कुलके लिये महान् एवं घोर संकट उठ खड़ा हुआ है। पिनाकपाणि भगवान् शंकरके वरदानसे हमारा शत्रु अवध्य है॥ २६॥

सामादयोऽभ्युपायाश्च विहितास्तस्य सर्वशः।
मत्तो मदबलाभ्यां तु युद्धमेव चिकीर्षति॥ २७॥

'उसे शान्त करनेके लिये हमने साम आदि उपायोंका भी सर्वथा प्रयोग किया है, परंतु वह मद और बलसे उन्मत्त होनेके कारण केवल युद्ध करनेकी ही इच्छा प्रकट करता है॥

एतावानिह वासश्च कथितो नारदेन मे।
एतावति च वक्तव्यं सामैव परमं मतम्॥ २८॥

'नारदजीने इतने ही समयतक हमलोगोंका यहाँ निवास बतलाया था। ऐसे शक्ति-साधन सम्पन्न शत्रुके प्रति सान्त्वना-पूर्ण वचन कहना ही परम उत्तम माना गया है॥ २८॥

जरासंधश्च नो राजा नित्यमेव न मृष्यते।
तथान्ये पृथिवीपाला वृष्णिचक्रप्रतापिताः॥ २९॥
केचित् कंसवधाच्चापि विरक्तास्तद्गता नृपाः।
समाश्रित्य जरासंधमस्मानिच्छन्ति बाधितुम्॥ ३०॥

'राजा जरासंध हमलोगोंको कभी क्षमा नहीं करता है—हमारे प्रति सदा अमर्षसे ही भरा रहता है तथा दूसरे भूपाल जो वृष्णिमण्डलसे सताये गये हैं एवं कुछ नरेश, जो कंस-वधके कारण हमलोगोंसे विरक्त हो गये हैं, वे सब-के-सब जरासंधसे मिल गये हैं और उसीका आश्रय लेकर हमलोगों-को बाधा पहुँचाना चाहते हैं॥ २९-३०॥

बहवो ज्ञातयश्चैव यदूनां निहता नृपैः।
वर्द्धितुं नैव शक्ष्याम पुरेऽस्मिन्निति केशवः॥ ३१॥
अपयाने मतिं कृत्वा दूतं तस्मै ससर्ज ह।

'उन राजाओंने यदुकुलके बहुत-से भाई-बन्धुओंको मार डाला है। हमलोग यहाँ रहकर फल-फूल नहीं सकेंगे, यही सोचकर श्रीकृष्णने यहाँसे हट जानेका विचार करके उसके पास एक दूत भेजा था॥ ३१½॥

ततः कुम्भे महासर्पं भिन्नाञ्जनचयोपमम् ॥ ३२ ॥
घोरमाशीविषं कृष्णं कृष्णः प्राक्षेपयत् तदा ।
ततस्तं मुद्रयित्वा तु स्वेन दूतेन हारयत् ॥ ३३ ॥

'श्रीकृष्णने उस समय खानसे काटकर निकाले गये कोयलेके ढेरके समान काले, भयंकर, विषधर महासर्पको एक घड़ेमें रखवाया और उसका मुँह बंद करके उस घड़ेको अपने दूतके द्वारा उसके पास पहुँचवा दिया ॥ ३२-३३ ॥

निदर्शनार्थं गोविन्दो भीषयामास तं नृपम् ।
स दूतः कालयवने दर्शयामास तं घटम् ॥ ३४ ॥
कालसर्पोपमः कृष्ण इत्युक्त्वा भरतर्षभ ।

'गोविन्दने दृष्टान्तके लिये वह सर्प भेजकर उस राजाको डरानेकी चेष्टा की थी। भरतश्रेष्ठ ! उस दूतने कालयवनसे यह कहकर कि श्रीकृष्ण काले सर्पके समान भयंकर हैं, उसे वह घड़ा दिखलाया ॥ ३४½ ॥

तत्कालयवनो बुद्ध्वा त्रासनं यादवैः कृतम् ॥ ३५ ॥
पिपीलिकानां चण्डानां पूरयामास तं घटम् ।

'कालयवनने यह समझकर कि यादवोंने मुझे डरानेका प्रयत्न किया है, उस घड़ेमें बहुत-से रोषभरे चींटोंको भर दिया ॥ ३५½ ॥

स सर्पो बहुभिस्तीक्ष्णैः सर्वतस्तैः पिपीलिकैः ।
भक्ष्यमाणः किलाङ्गेषु भस्मीभूतोऽभवत् तदा ॥ ३६ ॥

'उन बहुसंख्यक तीखे चींटोंने सब ओरसे उस सर्पके शरीरको काटना शुरू किया, जिससे वह काला सर्प तत्काल कालके गालमें चला गया ॥ ३६ ॥

तं मुद्रयित्वा तु घटं तथैव यवनाधिपः ।
प्रेषयामास कृष्णाय बाहुल्यमुपवर्णयन् ॥ ३७ ॥

'फिर उस घड़ेको उसी तरह बंद करके यवनराजने अपनी सैनिक-शक्तिकी बहुलताका वर्णन करते हुए श्रीकृष्णके पास भेज दिया ॥ ३७ ॥

वासुदेवस्तु तं दृष्ट्वा योगं विहतमात्मनः ।
उत्सृज्य मथुरामाशु द्वारकामभिजग्मिवान् ॥ ३८ ॥

'भगवान् श्रीकृष्णने अपने उस प्रयोगको विफल हुआ देख तुरंत ही मथुरा छोड़कर द्वारकाको प्रस्थान कर दिया' ॥

वैरस्यान्तं विधित्संस्तु वासुदेवो महायशाः ।
निवेश्य द्वारकां राजन् वृष्णीनाश्वास्य चैव ह ॥ ३९ ॥

राजन् ! महायशस्वी वासुदेवने उस वैरका अन्त कर डालनेकी इच्छासे द्वारकापुरी बसाकर वृष्णिवंशियोंको आश्वासन दे (पुनः वहाँसे मथुराको प्रस्थान किया) ॥३९॥

पदातिः पुरुषव्याघ्रो बाहुप्रहरणस्तदा ।
आजगाम महावीर्यो मथुरां मधुसूदनः ॥ ४० ॥

महापराक्रमी पुरुषसिंह मधुसूदन केवल भुजाओंको ही आयुधरूपमें साथ ले पैदल ही मथुरामें आये ॥ ४० ॥

तं दृष्ट्वा निर्ययौ हृष्टः स कालयवनो रुषा ।
प्रेक्षापूर्वं च कृष्णोऽपि निश्चकर्ष महाबलः ॥ ४१ ॥

उन्हें देखकर हर्ष और रोषसे भरा हुआ कालयवन निकला। इधर महाबली श्रीकृष्ण भी अपने-आपको दिखाकर भागते हुए उसे भी अपने पीछे खींच ले चले ॥ ४१ ॥

अथान्वगच्छद् गोविन्दं जिघृक्षुर्यवनेश्वरः ।
न चैनमशकद् राजा ग्रहीतुं योगधर्मिणम् ॥ ४२ ॥

यवनेश्वर राजा कालयवन गोविन्दको पकड़ लेनेकी इच्छासे उनके पीछे-पीछे चला; परंतु इन योगधर्मी श्रीकृष्णको वह पकड़ न सका ॥ ४२ ॥

मान्धातुस्तु सुतो राजा मुचुकुन्दो महायशाः ।
पुरा देवासुरे युद्धे कृतकर्मा महाबलः ॥ ४३ ॥

प्राचीन कालमें जब देवासुर-संग्राम हुआ था, उस समय मान्धाताके पुत्र महायशस्वी, महाबली राजा मुचुकुन्दने देवताओंकी ओरसे युद्ध करके उसमें सफलता प्राप्त की थी ॥

वरेण च्छन्दितो देवैर्निद्रामेव गृहीतवान् ।
श्रान्तस्य तस्य वागेवं तदा प्रादुरभूत् किल ॥ ४४ ॥

देवताओंने उनसे वर माँगनेका अनुरोध किया, तब उन्होंने निद्राको ही वरके रूपमें ग्रहण किया। युद्धसे थके होनेके कारण उस समय उनके मुँहसे निम्नाङ्कित वाणी प्रकट हुई— ॥ ४४ ॥

प्रसुप्तं बोधयेद् यो मां तं दहेयमहं सुराः ।
चक्षुषा क्रोधदीप्तेन एवमाह पुनः पुनः ॥ ४५ ॥

'देवताओ ! जो मुझे सोतेसे जगा दे, उसे मैं क्रोधसे प्रज्वलित हुई दृष्टिके द्वारा जलाकर भस्म कर दूँ' ऐसा उन्होंने बारंबार कहा ॥ ४५ ॥

एवमस्त्विति तं शक्र उवाच त्रिदशैः सह ।
स सुरैरभ्यनुज्ञातो ह्यद्रिराजमुपागमत् ॥ ४६ ॥

तब देवताओंसहित इन्द्रने उनसे कहा 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो)। इस प्रकार देवताओंसे आज्ञा लेकर वे गिरिराजके पास आये ॥ ४६ ॥

स पर्वतगुहां कांचित् प्रविश्य श्रमकर्शितः ।
सुष्वाप कालमेतं वै यावत्कृष्णस्य दर्शनम् ॥ ४७ ॥

श्रमसे थके हुए राजाने पर्वतकी किसी गुफामें प्रवेश करके उस समयतक शयन किया, जबतक कि उन्हें श्रीकृष्णका दर्शन नहीं हुआ था ॥ ४७ ॥

तत्सर्वं वासुदेवाय नारदेन निवेदितम् ।
वरदानं च देवेभ्यस्तेजस्तस्य च भूपतेः ॥ ४८ ॥

राजा मुचुकुन्दके तेज तथा देवताओंसे उन्हें मिले हुए वरदानकी सारी बातें देवर्षि नारदने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको बतायी थी ॥ ४८ ॥

कृष्णोऽनुगम्यमानश्च तेन म्लेच्छेन शत्रुणा ।
तां गुहां मुचुकुन्दस्य प्रविवेश विनीतवत् ॥ ४९ ॥

उस म्लेच्छजातीय शत्रुके द्वारा पीछा किये जाते हुए श्रीकृष्णने मुचुकुन्दकी उस गुफामें एक विनीत पुरुषकी भाँति प्रवेश किया ॥ ४९ ॥

शिरःस्थाने तु राजर्षेर्मुचुकुन्दस्य केशवः ।
संदर्शनपथं त्यक्त्वा तस्थौ बुद्धिमतां वरः ॥ ५० ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण राजर्षि मुचुकुन्दके सिरहानेकी ओर उनके दृष्टिपथको त्यागकर (अर्थात् जहाँसे उन्हें दिखायी न दे सकें—ऐसे स्थानपर) खड़े हो गये ॥ ५० ॥

अनुप्रविश्य यवनो ददर्श पृथिवीपतिम् ।
स तं सुप्तं कृतान्ताभमाससाद सुदुर्मतिः ॥ ५१ ॥

उनके पीछे-पीछे उस कालयवनने भी गुफामें प्रवेश करके सोये हुए राजा मुचुकुन्दको देखा । वह दुर्बुद्धि अपने लिये कालके समान उन नरेशके पास स्वयं ही जा पहुँचा ॥ ५१ ॥

वासुदेवं तु तं मत्वा घट्टयामास पार्थिवम् ।
पादेनात्मविनाशाय शलभः पावकं यथा ॥ ५२ ॥

जैसे पतिंगा अपने ही विनाशके लिये आगमें कूद पड़ता है, उसी प्रकार कालयवनने मुचुकुन्दको श्रीकृष्ण समझकर उन्हें अपने विनाशके लिये ही लातसे मारा ॥ ५२ ॥

मुचुकुन्दस्तु राजर्षिः पादस्पर्शप्रबोधितः ।
निद्राच्छेदेन चुक्रोध पादस्पर्शेन तेन च ॥ ५३ ॥

राजर्षि मुचुकुन्द उसके पैरोंकी ठोकर लगनेसे जाग उठे । एक तो उनकी निद्रा भङ्ग हुई थी और दूसरे उस यवनने उन्हें पैरसे छू दिया था, इससे वे कुपित हो उठे ॥ ५३ ॥

संस्मृत्य स वरं शक्राद्वैक्षत तमग्रतः ।
स दृष्टमात्रः क्रोधेन सम्प्रजज्वाल सर्वशः ॥ ५४ ॥

फिर इन्द्रसे मिले हुए वरका स्मरण करके उन्होंने सामने खड़े हुए कालयवनकी ओर देखा । उनके क्रोधपूर्वक देखते ही वह सब ओरसे आगमें जलने लगा ॥ ५४ ॥

ददाह पावकस्तं तु शुष्कं वृक्षमिवाशनिः ।
क्षणेन कालयवनं नेत्रतेजोविनिर्गतः ॥ ५५ ॥

जैसे वज्र सूखे वृक्षको जला देता है, उसी प्रकार मुचुकुन्दके नेत्रोंके तेजसे प्रकट हुई उस अग्निने कालयवनको क्षणभरमें ही जलाकर भस्म कर दिया ॥ ५५ ॥

तं वासुदेवः श्रीमन्तं चिरसुप्तं नराधिपम् ।
कृतकार्योऽब्रवीद् धीमानिदं वचनमुत्तमम् ॥ ५६ ॥

बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णका अभीष्ट कार्य सिद्ध हो गया । वे चिरकालसे सोये हुए उन तेजस्वी राजा मुचुकुन्दसे यह उत्तम वचन बोले ॥ ५६ ॥

राजंश्चिरप्रसुप्तोऽसि कथितो नारदेन मे ।
कृतं मे सुमहत्कार्यं स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम् ॥ ५७ ॥

'राजन् ! आप दीर्घकालसे यहाँ सो रहे थे । मुझे नारदजीने आपके विषयमें बताया था । आपने मेरा महान् कार्य सिद्ध कर दिया । आपका कल्याण हो । अब मैं जाता हूँ' ॥

वासुदेवमुपालक्ष्य राजा ह्रस्वं प्रमाणतः ।
परिवृतं युगं मेने कालेन महता तदा ॥ ५८ ॥

राजा मुचुकुन्दने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको कदमें छोटा देखकर यह समझ लिया कि दीर्घकाल व्यतीत होनेसे युग बदल गया ॥ ५८ ॥

उवाच राजा गोविन्दं को भवान् किमिहागतः ।
कश्च कालः प्रसुप्तस्य यदि जानासि कथ्यताम् ॥ ५९ ॥

राजाने गोविन्दसे पूछा—'आप कौन हैं ? और किसलिये यहाँ आये हैं ? मेरे सोते-सोते कितना समय व्यतीत हो गया ! यदि जानते हों तो बताइये' ॥ ५९ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

सोमवंशोद्भवो राजा ययातिर्नाम नाहुषः ।
तस्य पुत्रो यदुर्ज्येष्ठश्चत्वारोऽन्ये यवीयसः ॥ ६० ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! चन्द्रवंशमें नहुषके पुत्र राजा ययाति हो गये हैं । उनके ज्येष्ठ पुत्र यदु थे । यदुके चार छोटे भाई और थे ॥ ६० ॥

यदुवंशात् समुत्पन्नं वसुदेवात्मजं विभो ।
वासुदेवं विजानीहि नृपते मामिहागतम् ॥ ६१ ॥

विभो ! नरेश्वर ! आपको विदित हो कि मैं यदुवंशमें उत्पन्न हुआ हूँ । वसुदेवका पुत्र हूँ, अतएव लोग मुझे वासुदेव कहते हैं । मैं वासुदेव ही यहाँ आया हूँ ॥ ६१ ॥

त्रेतायुगे प्रसुप्तोऽसि विदितो मेऽसि नारदात् ।
इदं कलियुगं विद्धि किमन्यत् करवाणि ते ॥ ६२ ॥

आप त्रेतायुगमें सोये थे । मुझे आपके विषयमें नारदजीसे सब बातें ज्ञात हुई हैं । इस समय द्वापर और कलियुगकी संधिका काल समझिये । इसके सिवा आपकी क्या सेवा करूँ ॥

मम शत्रुस्त्वया दग्धो देवदत्तवरो नृप ।
अवध्यो यो मया संख्ये भवेद् वर्षशतैरपि ॥ ६३ ॥

नरेश्वर ! तुमने मेरे उस शत्रुको जलाकर भस्म किया है, जिसे देवताओंसे वरदान प्राप्त था और जो युद्धमें मेरे द्वारा सौ वर्षोंमें भी नहीं मारा जा सकता था ॥ ६३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु कृष्णेन निर्जगाम गुहामुखात्।
अन्वीयमानः कृष्णेन कृतकार्येण धीमता ॥ ६४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर राजा मुचुकुन्द गुफाके द्वारसे बाहर निकले। उनके पीछे कृतकृत्य हुए बुद्धिमान् श्रीकृष्ण भी थे ॥ ६४ ॥

ततो ददर्श पृथिवीमावृतां ह्रस्वकैर्नरैः।
स्वल्पोत्साहैरल्पबलैरल्पवीर्यपराक्रमैः ।
परेणाधिष्ठितं चैव राज्यं केवलमात्मनः ॥ ६५ ॥

उन्होंने देखा, पृथ्वीपर छोटे-छोटे मनुष्य भरे हुए हैं। उन सबके उत्साह, बल, वीर्य और पराक्रम बहुत थोड़े हैं। अब अपना केवल राज्य बच गया है, जिसपर दूसरेका प्रभुत्व स्थापित हो चुका है ॥ ६५ ॥

प्रीत्या विसृज्य गोविन्दं प्रविवेश महद् वनम्।
हिमवन्तमगाद् राजा तपसे धृतमानसः ॥ ६६ ॥

तब राजाने बड़े प्रेमसे भगवान् श्रीकृष्णको विदा किया और स्वयं अपने मनमें तपस्याका निश्चय करके हिमालयपर्वतपर वहाँके विशाल वनमें चले गये ॥ ६६ ॥

ततः स तप आस्थाय विनिर्मुच्य कलेवरम्।
आरुरोह दिवं राजा कर्मभिः स्वैर्जिताशुभैः ॥ ६७ ॥

वहाँ तपस्या करके शरीरको त्यागकर राजा मुचुकुन्द अपने अशुभनिवारक पुण्यकर्मोंके द्वारा स्वर्गलोकमें जा पहुँचे ॥ ६७ ॥

वासुदेवोऽपि धर्मात्मा उपायेन महामनाः।
घातयित्वाऽऽत्मनः शत्रुं तत्सैन्यं प्रत्यपद्यत ॥ ६८ ॥

इधर महामनस्वी धर्मात्मा भगवान् वासुदेवने भी अपने शत्रुको पूर्वोक्त रूपसे मरवाकर उसकी सारी सेनापर अधिकार कर लिया ॥ ६८ ॥

प्रभूतरथहस्त्यश्ववर्मशस्त्रायुधध्वजम् ।
आदायोपययौ धीमान् स सैन्यं निहतेश्वरम् ॥ ६९ ॥

बुद्धिमान् श्रीकृष्ण बहुसंख्यक रथ, हाथी, घोड़े, कवच, अस्त्र, शस्त्र और ध्वजाओंसे युक्त सेनाको, जिसका राजा मारा गया था, अपने साथ ले गये ॥ ६९ ॥

निवेदयामास ततो नराधिपे
तदुग्रसेने प्रतिपूर्णमानसः।
जनार्दनो द्वारवतीं च तां पुरी-
मशोभयत् तेन धनेन भूरिणा ॥ ७० ॥

उनका मनोरथ पूर्ण हो चुका था। जनार्दनने वह सारी सेना राजा उग्रसेनको समर्पित कर दी और उस प्रचुर धनराशिसे उन्होंने द्वारकापुरीकी शोभा बढ़ायी ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि कालयवनवधे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें कालयवनका वधविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

द्वारकापुरीका विश्वकर्माद्वारा निर्माण, निधिपति शङ्ख और सुधर्मासभाका आनयन, श्रीकृष्णद्वारा सुव्यवस्थापूर्वक वहाँ यादवोंको बसाना तथा बलरामजीका रेवतीके साथ विवाह

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रभाते विमले भास्करे उदिते तदा।
कृतजाप्यो हृषीकेशो वनान्ते निषसाद ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर, निर्मल प्रभातकालमें सूर्योदय होनेपर भगवान् श्रीकृष्ण नैत्यिक जप एवं स्वाध्याय आदि पूर्ण करके वनके भीतर बैठे ॥ १ ॥

परिचक्राम तं देशं दुर्गस्थानदिदृक्षया।
उपतस्थुः कुलप्राग्र्या यादवा यदुनन्दनम् ॥ २ ॥

तत्पश्चात् दुर्गके लिये उपयुक्त स्थान देखनेकी इच्छासे वे उस प्रदेशमें घूमने लगे। उस समय कुलके बड़े-बूढ़े यदुवंशी भी यदुनन्दन श्रीकृष्णके पास आ गये थे ॥ २ ॥

रोहिण्यामहनि श्रेष्ठे स्वस्ति वाच्य द्विजोत्तमान्।
पुण्याहघोषैर्विपुलैर्दुर्गस्यारब्धवान् क्रियाम् ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णने रोहिणी नक्षत्रमें श्रेष्ठ शनिवारको उत्तम ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर, विपुल पुण्याहघोषके साथ दुर्गनिर्माणका कार्य आरम्भ कर दिया ॥ ३ ॥

ततः पङ्कजपत्राक्षो यादवान् केशिसूदनः।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठो देवान् वृत्ररिपुर्यथा ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् वक्ताओंमें श्रेष्ठ केशिहन्ता कमलनयन श्रीकृष्णने जैसे वृत्रासुरके वैरी इन्द्र देवताओंसे कोई बात कहते हैं, उसी प्रकार यादवोंसे कहा— ॥ ४ ॥

कल्पितेयं मया भूमिः पश्यध्वं देवसद्मवत्।
नाम चास्याः कृतं पुर्याः ख्यातिं यदुपयास्यति ॥ ५ ॥

'यादवो ! मैंने देवसदनके समान इस भूमिका निर्माण कर लिया है। आप सब लोग देखें। मैंने इसका नाम भी निश्चित कर लिया है, जिससे इसकी ख्याति होगी ॥ ५ ॥

इयं द्वारवती नाम पृथिव्यां निर्मिता मया ।
भविष्यति पुरी रम्या शक्रस्येवामरावती ॥ ६ ॥

'मेरे द्वारा इस भूतलपर निर्मित हुई यह पुरी द्वारवतीके नामसे प्रसिद्ध होगी तथा इन्द्रकी अमरावतीके समान रमणीय दिखायी देगी ॥ ६ ॥

तान्येवास्याः कारयिष्ये चिह्नान्यायतनानि च ।
चत्वरान् राजमार्गांश्च सम्यगन्तःपुराणि च ॥ ७ ॥

'मैं इस पुरीके वे ही चिह्न, वे ही मन्दिर, वैसे ही चौराहे, उसी तरहकी सड़कें और वैसे ही उत्तम अन्तःपुर बनवाऊँगा, जैसे कि अमरावतीमें है ॥ ७ ॥

देवा इवात्र मोदन्तु भवन्तो विगतज्वराः ।
बाधमाना रिपून् युग्रानुग्रसेनपुरोगमाः ॥ ८ ॥

'जैसे देवता अमरावतीमें आनन्द भोगते हैं, उसी प्रकार उग्रसेन आदि आपलोग भी निश्चिन्त हो अपने शत्रुओंको पीड़ा देते हुए इस पुरीमें सानन्द निवास करें ॥८॥

गृह्यन्तां वेश्मवास्तूनि कल्प्यन्तां त्रिकचत्वराः ।
मीयन्तां राजमार्गाश्च प्रासादस्य च या गतिः ॥ ९ ॥

'घरोंके शिलान्यासकी सामग्रियाँ संग्रह करके लायी जायँ। तिराहों और चौराहोंकी कल्पना की जाय । सड़कोंके लिये भूमिका माप किया जाय तथा राजमहलमें जानेका जो मार्ग है, उसके लिये भी भूमि नापी जाय ॥ ९ ॥

प्रेष्यन्तां शिल्पिमुख्या वै नियुक्ता वेश्मकर्मसु ।
नियुज्यन्तां च देशेषु प्रेष्यकर्मकरा जनाः ॥ १० ॥

'गृहनिर्माणके कार्यमें लगे रहनेवाले जो सुयोग्य एवं श्रेष्ठ शिल्पी हों, उन्हें यहाँ भेजा जाय और जगह-जगह मजदूरीका काम करनेवाले मजदूरोंको (कारीगरोंके साथ) काम करनेके लिये लगा दिया जाय' ॥ १० ॥

एवमुक्ते तु यदवो गृहसंग्रहतत्पराः ।
यथानिवेशं संहृष्टाश्चक्रुर्वास्तुपरिग्रहम् ॥ ११ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर सब यादव हर्षसे उल्लसित हो गृहनिर्माणके लिये उपयोगी सामग्रीका संग्रह करनेमें लग गये । उन्होंने सभी घरोंके लिये उनकी स्थितिके अनुसार शिलान्यासके निमित्त आवश्यक वस्तुओंका संग्रह किया ॥ ११ ॥

सूत्रहस्तास्ततो मानं चक्रुर्यादवसत्तमाः ।
पुण्येऽहनि महाराज द्विजातीनभिपूज्य च ॥ १२ ॥

महाराज ! तदनन्तर श्रेष्ठ यादवोंने एक पवित्र दिनको ब्राह्मणोंका पूजन करके हाथोंमें सूत्र लेकर भूमिको नापना आरम्भ किया ॥ १२ ॥

वास्तुदैवतकर्माणि विधिना कारयन्ति च ।
स्थपतीनथ गोविन्दस्तत्रोवाच महामतिः ॥ १३ ॥

वे वास्तु देवताके पूजन आदि कर्म भी विधिपूर्वक सम्पन्न कराने लगे । तत्पश्चात् परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ थवइयोंसे कहा—॥ १३ ॥

अस्मदर्थे सुविहितं क्रियतामत्र मन्दिरम् ।
विविक्तचत्वरपथं सुनिविष्टेष्टदैवतम् ॥ १४ ॥

'कारीगरो ! तुमलोग यहाँ हम यादवोंके लिये सुन्दर ढंगसे एक मन्दिरका निर्माण करो, जिसमें इष्टदेवताकी उत्तम विधिसे स्थापना की जाय । यहाँका मार्ग और चौराहा पृथक् रहना चाहिये' ॥ १४ ॥

ते तथेति महाबाहुमुक्त्वा स्थपतयस्तदा ।
दुर्गकर्माणि संस्कारानुपकल्प्य यथाविधि ॥ १५ ॥
यथान्यायं निर्ममिरे दुर्गाण्यायतनानि च ।
स्थानानि निदधुश्चात्र ब्रह्मादीनां यथाक्रमम् ॥ १६ ॥

तब उन थवइयोंने महाबाहु श्रीकृष्णसे 'बहुत अच्छा' कहकर विधिपूर्वक दुर्ग-कर्म (दुर्गनिर्माण-सम्बन्धी प्रारम्भिक कार्य—नींव खोदना आदि) और संस्कार (भूमिशोधन—कण्टकनिवारण आदि) करके यथोचित रीतिसे विभिन्न दुर्गों और मन्दिरोंका निर्माण किया तथा उनमें क्रमशः ब्रह्मा आदि देवताओंके लिये स्थान बनाये ॥ १५-१६ ॥

अपामग्नेः सुरेशस्य दृषदोलूखलस्य च ।
चातुर्दैवानि चत्वारि द्वाराणि निदधुश्च ते ॥ १७ ॥

उन्होंने जल, अग्नि, इन्द्र तथा सिल-ओखली—इन चार देवताओंके लिये चार द्वार बनाये (अथवा शुद्धाक्ष आदि चार देवताओंके लिये द्वारोंका निर्माण किया) ॥१७॥

शुद्धाक्षमैन्द्रं भल्लाटं पुष्पदन्तं तथैव च ।
तेषु वेश्मसु युक्तेषु यादवेषु महात्मसु ॥ १८ ॥
पुर्याः क्षिप्रं निवेशार्थे चिन्तयामास माधवः ।

उन कारीगरोंने शुद्धाक्ष, ऐन्द्र, भल्लाट और पुष्पदन्तकी भी मूर्तियाँ बनायीं और उनके लिये उपयुक्त स्थानका निर्माण किया । जब महामनस्वी यादव उन भवनोंके निर्माण कार्यमें जुट गये, तब माधव श्रीकृष्ण इस चिन्तामें पड़े कि किस तरह इस पुरीका शीघ्र निर्माण हो जाय ॥ १८½ ॥

तस्य दैवोत्थिता बुद्धिर्विमला क्षिप्रकारिणी ॥ १९ ॥
पुर्याः प्रियकरी सा वै यदूनामभिवर्द्धिनी ।

दैववश उनके भीतर पुरीका शीघ्र निर्माण करानेवाली निर्मल बुद्धिका उदय हुआ, जो यादवोंका प्रिय एवं अभ्युदय करनेवाली थी ॥ १९½ ॥

शिल्पिमुख्यस्तु देवानां प्रजापतिसुतः प्रभुः ॥ २० ॥
विश्वकर्मा स्वमत्या वै पुरीं संस्थापयिष्यति ।

उन्होंने सोचा, 'देवताओंके प्रधान शिल्पी प्रजापतिपुत्र विश्वकर्मा इस कार्यमें समर्थ हैं । वे अपनी बुद्धिके अनुसार इस पुरीकी स्थापना करेंगे' ॥ २०½ ॥

मनसा समनुध्याय तस्यागमनकारणात् ।
त्रिदशाभिमुखः कृष्णो विविक्ते समपद्यत ॥ २१ ॥

मन-ही-मन यह बात सोचकर भगवान् श्रीकृष्ण एकान्त स्थानमें विश्वकर्माके आगमनके लिये देवताओंकी ओर उन्मुख हुए ॥ २१ ॥

तस्मिन्नेव ततः काले शिल्पाचार्यो महामतिः ।
विश्वकर्मा सुरश्रेष्ठः कृष्णस्य प्रमुखे स्थितः ॥ २२ ॥

इसी समय परम बुद्धिमान् शिल्पाचार्य सुरश्रेष्ठ विश्वकर्मा श्रीकृष्णके सामने आकर खड़े हो गये ॥ २२ ॥

विश्वकर्मोवाच

शक्रेण प्रेषितः क्षिप्रं तव विष्णो धृतव्रत ।
किङ्करः समनुप्राप्तः शाधि मां किं करोमि ते ॥ २३ ॥

विश्वकर्मा बोले— उत्तम व्रतको धारण करनेवाले विष्णुदेव ! मुझे इन्द्रने आपके पास शीघ्र भेजा है । मैं सेवक आपकी सेवामें उपस्थित हूँ । आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ २३ ॥

यथासौ देवदेवो मे शङ्करश्च यथाव्ययः ।
तथा त्वं देव मान्यो मे विशेषो नास्ति वः प्रभो ॥ २४ ॥

देव ! प्रभो ! मेरे लिये जैसे देवाधिदेव ब्रह्माजी तथा अविनाशी भगवान् शङ्कर माननीय हैं, उसी प्रकार आप भी मेरे लिये सम्माननीय हैं । मेरी धारणाके अनुसार आप तीनोंमें कोई अन्तर नहीं है ॥ २४ ॥

त्रैलोक्यज्ञापिकां वाचमुत्सृजस्व महाभुज ।
एषोऽसि परिदिष्टार्थः किं करोमि प्रशाधि माम् ॥ २५ ॥

महाबाहो ! आपकी वाणी तीनों लोकोंका ज्ञान करानेवाली है (अथवा तीनों लोकोंको आज्ञा देनेमें समर्थ है) । आप मेरे प्रति उसीका प्रयोग कीजिये । मैं शिल्पशास्त्रका पारदर्शी आपके सामने खड़ा हूँ । आज्ञा दीजिये, कौन-सा कार्य करूँ ॥ २५ ॥

श्रुत्वा विनीतं वचनं केशवो विश्वकर्मणः ।
प्रत्युवाच यदुश्रेष्ठः कंसारिरतुलं वचः ॥ २६ ॥

विश्वकर्माका यह विनययुक्त वचन सुनकर कंसविध्वंसी यदुश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण उनसे यह अनुपम वचन बोले—॥

श्रुतार्थो देवगुह्यस्य भवान् यत्र वयं स्थिताः ।
अवश्यं त्विह कर्तव्यं सदनं मे सुरोत्तम ॥ २७ ॥

'सुरश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें देवताओंकी जो गुप्त सभा बैठी थी, जहाँ हमलोग उपस्थित थे, वहाँ तुम भी थे, अतः देवताओंका जो गूढ़ प्रयोजन है, उसे तुमने भी सुना ही है। अतः यहाँ मेरे रहनेके लिये अवश्य ही सुन्दर सदनका निर्माण करना होगा ॥ २७ ॥

तदियं पूः प्रकाशार्थं निवेश्या मयि सुव्रत ।
मत्प्रभावानुरूपैश्च गृहैश्चेयं समन्ततः ॥ २८ ॥

'उत्तमव्रतधारी देव ! मेरे निमित्त अपने शिल्पकौशलका प्रदर्शन करनेके लिये तुम्हे इस नगरीको बसाना और इसके भवनोंका निर्माण करना है । यह पुरी सब ओरसे मेरे प्रभावके अनुरूप गृहोंद्वारा सुशोभित हो ॥ २८ ॥

उत्तमा च पृथिव्यां वै यथा स्वर्गेऽमरावती ।
तथेयं हि त्वया कार्या शक्तो ह्यसि महामते ॥ २९ ॥

'महामते ! जैसे स्वर्गमें अमरावतीपुरी सबसे श्रेष्ठ है, उसी तरह इस पृथ्वीपर यह पुरी जैसे भी सर्वोत्तम हो सके, वैसा ही प्रयत्न करके तुम्हे इसका निर्माण करना है । तुम इस कार्यमें समर्थ हो ॥ २९ ॥

मम स्थानमिदं कार्यं यथा वै त्रिदिवे तथा ।
मर्त्याः पश्यन्तु मे लक्ष्मीं पुर्यां यदुकुलस्य च ॥ ३० ॥

'मेरा यह स्थान तुम्हे वैसा ही बनाना है, जैसा कि वैकुण्ठधाममें है । जिससे यहाँके सब मनुष्य मेरा, इस पुरीका तथा यदुकुलका वैभव देख सकें' ॥ ३० ॥

एवमुक्तस्ततः प्राह विश्वकर्मा मतीश्वरः ।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणं देवामित्रविनाशनम् ॥ ३१ ॥

उनके ऐसा कहनेपर बुद्धिके स्वामी प्रजापति विश्वकर्माने अनायास ही महान् कर्म करनेवाले देवशत्रुविनाशक श्रीकृष्णसे कहा—॥ ३१ ॥

सर्वमेतत् करिष्यामि यत् त्वयाभिहितं प्रभो ।
पुरी त्वियं जनस्यास्य न पर्याप्ता भविष्यति ॥ ३२ ॥

'प्रभो ! आपने जो कुछ कहा है, वह सब मैं करूँगा; परंतु पुरीके लिये जो भूमि है, यह इस विशाल जनसमुदायके लिये पर्याप्त नहीं होगी ॥ ३२ ॥

भविष्यति च विस्तीर्णा वृद्धिरस्यास्तु शोभना ।
चत्वारः सागरा ह्यस्यां विचरिष्यन्ति रूपिणः ॥ ३३ ॥
यदीच्छेत् सागरः किंचिदुत्स्रष्टुमपि तोयराट् ।
ततः स्वायतलक्षण्या पुरी स्यात् पुरुषोत्तम ॥ ३४ ॥

'पुरुषोत्तम ! आप चाहे तो यह विस्तृत हो सकेगी । मेरी इच्छा है, इसका सुन्दर विस्तार हो । इसमें चारों समुद्र मूर्तिमान् होकर विचरेंगे । यदि जलके स्वामी समुद्र कुछ भूमि छोड़ सकें तो यह पुरी भलीभाँति विस्तृत एवं उत्तम लक्षणों से सम्पन्न हो सकेगी' ॥ ३३-३४ ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णः प्रागेव कृतनिश्चयः ।
सागरं सरितां नाथमुवाच वदतां वरः ॥ ३५ ॥

विश्वकर्माके ऐसा कहनेपर वक्ताओमे श्रेष्ठ श्रीकृष्ण, जो पहलेसे ही समुद्रसे भूमि लेनेका निश्चय कर चुके थे, सरिताओंके स्वामी सागरसे बोले—॥ ३५ ॥

समुद्र दश च द्वे च योजनानि जलाशये ।
प्रतिसंह्रियतामात्मा यद्यस्ति मयि मान्यता ॥ ३६ ॥

'समुद्र ! यदि मेरे प्रति तुम्हारी आदरबुद्धि है तो तुम मेरे कहनेसे बारह योजनतक जलाशयमेंसे अपने स्वरूप (जल) को समेट लो ॥ ३६ ॥

अवकाशे त्वया दत्ते पुरीयं मामकं बलम्।
पर्याप्तविषया रम्या समग्रं विसहिष्यति ॥ ३७ ॥

'तुम्हारे जगह दे देनेपर यहाँ बननेवाली इस पुरीका प्रदेश पर्याप्त विस्तारको प्राप्त हो जायगा तथा यह रमणीय पुरी मेरे समस्त सैन्यसमूहका भार सहन कर सकेगी' ॥३७॥

ततः कृष्णस्य वचनं श्रुत्वा नदनदीपतिः।
स मारुतेन योगेन उत्ससर्ज जलाशयम् ॥ ३८ ॥

उस समय श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर नदों और नदियोंके अधिपति समुद्रने मारुतयोग (वायुके संकोच) द्वारा अपने जलाशयके जलका उपसंहार करके उतनी भूमि छोड़ दी ॥ ३८ ॥

विश्वकर्मा ततः प्रीतः पुर्याः संलक्ष्य वास्तु तत्।
गोविन्दे चैव सम्मानं कृतवान् सागरस्तदा ॥ ३९ ॥

पुरीका वह विशाल वास्तु देखकर विश्वकर्माको बड़ी प्रसन्नता हुई। समुद्रने उस समय भगवान् श्रीकृष्णका सम्मान किया ॥ ३९ ॥

विश्वकर्मा ततः कृष्णमुवाच यदुनन्दनम्।
अद्यप्रभृति गोविन्द सर्वे समधिरोहत ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् विश्वकर्माने यदुनन्दन श्रीकृष्णसे कहा—'गोविन्द ! आप सब लोग आजसे ही इस पुरीमें निवास करनेके लिये तैयार हो जाइये ॥ ४० ॥

मनसा निर्मिता चेयं मया पूः प्रवरा विभो।
अचिरेणैव कालेन गृहसम्बाधमालिनी ॥ ४१ ॥
भविष्यति पुरी रम्या सुद्वारा प्राग्र्यतोरणा।
चयाट्टालककेयूरा पृथिव्यां ककुदोपमा ॥ ४२ ॥

'प्रभो ! मैंने मनसे इस श्रेष्ठ पुरीका निर्माण कर लिया है। अब थोड़े ही समयमें यह गृहोंकी पङ्क्तियोंसे अलंकृत रमणीय पुरीके रूपमें प्रकट हो जायगी। इसके दरवाजे बहुत ही सुन्दर होंगे। इसमें सब ओर सुन्दर वन्दनवारें लगी होंगी। टीले, परकोटे और अट्टालिकाएँ इस पुरीको केयूर (भुजबन्द) के समान सुशोभित करेंगे। यह पुरी भूतलपर पृथ्वीकी चोटीके समान मानी जायगी' ॥ ४१-४२ ॥

अन्तःपुरं च कृष्णस्य परिचर्याक्षयं महत्।
चकार तस्यां पुर्यां वै देशे त्रिदशपूजिते ॥ ४३ ॥

विश्वकर्माने इस पुरीके देवपूजित प्रदेशमें श्रीकृष्णके लिये विशाल अन्तःपुरका निर्माण किया, जिसमें परिचर्या (स्नान आदि) के लिये अलग-अलग घर बने हुए थे ॥

ततः सा निर्मिता कान्ता पुरी द्वारावती तदा।
मानसेन प्रयत्नेन वैष्णवी विश्वकर्मणा ॥ ४४ ॥

इस प्रकार उस समय विश्वकर्माने मानसिक प्रयत्न (संकल्प) के द्वारा उस कमनीय वैष्णवीपुरी द्वारावतीका निर्माणकार्य सम्पन्न किया ॥ ४४ ॥

विधानविहितद्वारा प्राकारवरशोभिता।
परिखाचयसंगुप्ता साट्टप्राकारतोरणा ॥ ४५ ॥

उसके द्वार शिल्पशास्त्रकी विधिके अनुसार बनाये गये थे। श्रेष्ठ परकोटे उसकी शोभा बढ़ाते थे। खाइयों और टीलोंसे वह पुरी सुरक्षित थी तथा उसमें अट्टालिका, चहार-दीवारी और तोरण यथास्थान बने हुए थे ॥ ४५ ॥

कान्तनारीनरगणा वणिग्भिरुपशोभिता।
नानापण्यगणाकीर्णा खेचरीव च गां गता ॥ ४६ ॥

सुन्दर नर-नारियोंके समुदाय वहाँ बसे हुए थे। व्यापारी वर्गके लोग उसकी शोभा बढ़ाते थे। नाना प्रकारके क्रय-विक्रयकी वस्तुओं और दूकानोंसे वह भरी हुई थी। ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशमें विचरनेवाली पुरी पृथ्वीपर उतर आयी हो ॥ ४६ ॥

प्रपावापीप्रसन्नोदा उद्यानैरुपशोभिता।
समन्ततः संवृताङ्गी वनितेवायतेक्षणा ॥ ४७ ॥

उस पुरीके पौंसले और बावड़ियोंमें स्वच्छ जल भरा हुआ था तथा नाना प्रकारके उद्यान उसे सब ओरसे सुशोभित कर रहे थे। इस अवस्थामें वह ढँकी हुई अङ्गोंवाली विशाललोचना वनिताके समान जान पड़ती थी ॥ ४७ ॥

समृद्धचत्वरवती वेश्मोत्तमघनाचिता।
रथ्याकोटिसहस्राढ्या शुभ्रराजपथोत्तरा ॥ ४८ ॥

उसके चौराहे बड़े समृद्धिशाली थे। उसके ऊँचे-ऊँचे महल बादलोंसे व्याप्त हो रहे थे। उस पुरीमें कोटि सहस्र गलियाँ थीं और उज्ज्वल राजमार्गसे उसकी उत्कृष्ट शोभा हो रही थी ॥ ४८ ॥

भूषयन्ती समुद्रं सा स्वर्गमिन्द्रपुरी यथा।
पृथिव्यां सर्वरत्नानामेका निचयशालिनी ॥ ४९ ॥

जैसे इन्द्रपुरी स्वर्गकी शोभा बढ़ाती है, उसी प्रकार वह समुद्रकी शोभा बढ़ाती थी। वह भूतलपर सम्पूर्ण रत्नोंके सञ्चयसे सुशोभित होनेवाली एकमात्र नगरी थी ॥ ४९ ॥

सुराणामपि सुक्षेत्रा सामन्तक्षोभकारिणी।
अप्रकाशं तदाकाशं प्रासादैरुपकुर्वती ॥ ५० ॥

द्वारकापुरी देवताओंके लिये भी पुण्यक्षेत्र थी। सीमावर्ती नरेशोंके मनमे क्षोभ उत्पन्न करनेवाली थी तथा वह अपने ऊँचे-ऊँचे महलोंके द्वारा आकाशको भी आच्छादित किये देती थी ॥ ५० ॥

पृथिव्यां पृथुराष्ट्रायां जनौघप्रतिनादिता ।
ओघैश्च वारिराजस्य शिशिरीकृतमारुता ॥ ५१ ॥

बहुत-से राष्ट्रोंवाली इस पृथ्वीपर बसी हुई द्वारकापुरी जनसमुदायके कोलाहलसे गूँजती रहती थी और जलके स्वामी समुद्रके प्रवाह एवं उत्ताल तरङ्गोंके कारण वहाँकी वायु सदा शीतल बनी रहती थी ॥ ५१ ॥

अनूपोपवनैः कान्तैः कान्त्या जनमनोहरा ।
सतारका द्यौरिव सा द्वारका प्रत्यराजत ॥ ५२ ॥

समुद्रके जलप्राय तटपर लहराते हुए कमनीय उपवनोंके द्वारा बढ़ी हुई अपनी अनुपम कान्तिसे वह द्वारकापुरी मनुष्योंके मनको मोहे लेती थी और नक्षत्रोंसे युक्त आकाश-की भाँति शोभा पाती थी ॥ ५२ ॥

प्राकारेणार्कवर्णेन शातकौम्भेन संवृता ।
हिरण्मयप्रतिवर्णैश्च गृहैर्गम्भीरनिःस्वनैः ॥ ५३ ॥
शुभ्रमेघप्रतीकाशैर्द्वारैः सौधैश्च शोभिता ।

सूर्यके समान वर्णवाले सुवर्णमय परकोटेसे घिरी हुई वह नगरी गम्भीर घोषवाले स्वर्णनिर्मित भवनों तथा श्वेत बादलों-के सदृश उज्ज्वल द्वारों और अट्टालिकाओंसे सुशोभित होती थी ॥ ५३½ ॥

क्वचित् क्वचिदुदग्राग्रैरुपावृतमहापथा ॥ ५४ ॥
तामावसत् पुरीं कृष्णः सर्वे यादवनन्दनाः ।
अभिप्रेतजनाकीर्णां सोमः खमिव भासयन् ॥ ५५ ॥

कहीं-कहीं बहुत ऊँचे महलोंकी छायासे उसकी विशाल सड़कें आच्छादित हो रही थीं । ऐसी द्वारकापुरीमें श्रीकृष्ण तथा समस्त यादवनन्दन निवास करने लगे । वह पुरी अभीष्ट-जनोंसे ही भरी-पूरी थी । जैसे चन्द्रमा आकाशको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण उस पुरीकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ५४-५५ ॥

विश्वकर्मा च तां कृत्वा पुरीं शक्रपुरीमिव ।
जगाम त्रिदिवं देवो गोविन्देनाभिपूजितः ॥ ५६ ॥

इन्द्रपुरीके समान द्वारकापुरीका निर्माण करके देव विश्वकर्मा भगवान् श्रीकृष्णद्वारा सम्मानित हो स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ५६ ॥

भूयश्च बुद्धिरभवत् कृष्णस्य विदितात्मनः ।
जनानिमान् धनौघैश्च तर्पयेयमहं यदि ॥ ५७ ॥

तत्पश्चात् आत्मज्ञानी भगवान् श्रीकृष्णके मनमें यह विचार उठा कि 'यहाँके लोगोंको यदि मैं धनसे तृप्त कर सकता तो बहुत अच्छा होता' ॥ ५७ ॥

स वैश्रवणसंस्पृष्टं निधीनामुत्तमं निधिम् ।
शङ्खमाह्वयतोपेन्द्रो निशि स्वं भवनं प्रभुः ॥ ५८ ॥

तब उन भगवान् उपेन्द्रने कुबेरके सम्पर्कमें रहनेवाले निधियोंमें उत्तम निधि शङ्खका रात्रिके समय अपने भवनमें आवाहन किया ॥ ५८ ॥

स शङ्खः केशवाह्वानं ज्ञात्वा हि निधिराट् स्वयम् ।
आजगाम समीपं वै तस्य द्वारवतीपतेः ॥ ५९ ॥

'भगवान् श्रीकृष्णने मेरा आह्वान किया है' यह जानकर निधियोंका राजा शङ्ख स्वयं ही द्वारकानाथके समीप आ गया ॥ ५९ ॥

स शङ्खः प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयादवनिं गतः ।
कृष्णं विज्ञापयामास यथा वैश्रवणं तथा ॥ ६० ॥

उस शङ्खने विनयपूर्वक हाथ जोड़ धरतीपर माथा टेककर कुबेरके ही समान भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम किया और इस प्रकार कहा— ॥ ६० ॥

भगवन् किं मया कार्यं सुराणां वित्तरक्षिणा ।
नियोजय महाबाहो यत् कार्यं यदुनन्दन ॥ ६१ ॥

'भगवन् ! मैं देवताओंका वित्तरक्षक हूँ । महाबाहु यदुनन्दन ! मुझे क्या करना होगा ? जो कार्य हो, उसके लिये मुझे आज्ञा दीजिये' ॥ ६१ ॥

तमुवाच हृषीकेशः शङ्खं गुह्यकमुत्तमम् ।
जनाः कृशधना येऽस्मिंस्तान् धनेनाभिपूरय ॥ ६२ ॥

तब श्रीकृष्णने उस शङ्ख नामक उत्तम गुह्यकसे कहा— 'इस नगरमें जो निर्धन या अल्प धनवाले मनुष्य हैं, उनको धनसे परिपूर्ण कर दो ॥ ६२ ॥

नेच्छाम्यनशितं द्रष्टुं कृशं मलिनमेव च ।
देहीति चैव याचन्तं नगर्यां निर्धनं नरम् ॥ ६३ ॥

'मैं इस नगरीमें किसी भी ऐसे निर्धन मनुष्यको नहीं देखना चाहता, जिसे भोजन न मिलनेके कारण उपवास करना पड़ता हो, जो दुर्बल और मलिन हो तथा 'दीजिये' कहकर किसीके सामने हाथ फैलाता या भीख माँगता हो' ॥ ६३ ॥

वैशम्पायन उवाच

गृहीत्वा शासनं मूर्ध्ना निधिराट् केशवस्य ह ।
निधीनाज्ञापयामास द्वारवत्यां गृहे गृहे ॥ ६४ ॥
धनौघैरभिवर्षध्वं चक्रुः सर्वे तथा च ते ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्री-कृष्णकी आज्ञा शिरोधार्य करके निधियोंके राजा शङ्खने समस्त निधियोंको आदेश दिया—'तुमलोग द्वारकामें घर-घर जाकर धनराशिकी वर्षा करो ।' उन सब निधियोंने वैसा ही किया ॥ ६४½ ॥

नाधनो विद्यते तत्र क्षीणभाग्योऽपि वा नरः ॥ ६५ ॥
कृशो वा मलिनो वापि द्वारवत्यां कथंचन ।
द्वारवत्यां पुरि पुरा केशवस्य महात्मनः ॥ ६६ ॥

इस तरह पूर्वकालमें महात्मा केशवकी पुरी द्वारकामें कोई मनुष्य किसी तरह भी निर्धन अथवा भाग्यहीन नहीं रह गया। दुर्बल या मलिन भी नहीं रहा ॥ ६५-६६ ॥

चकार वायोराह्वानं भूयश्च पुरुषोत्तमः।
तत्रस्थ एव भगवान् यादवानां प्रियंकरः ॥ ६७ ॥

तत्पश्चात् यादवोंका प्रिय करनेवाले पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकामें स्थित होकर ही वायुदेवका आवाहन किया ॥ ६७ ॥

प्राणयोनिस्तु भूतानामुपतस्थे गदाधरम्।
एकमासीनमेकान्ते देवगुह्यधरं प्रभुम् ॥ ६८ ॥

समस्त भूतोंके प्राणोंकी योनिरूप वायुदेव एकान्तमें अकेले बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णकी, जो देवताओंके गुप्त प्रयोजनको अपने हृदयमें धारण किये हुए थे, सेवामें उपस्थित हुए ॥

किं मया देव कर्तव्यं सर्वगेनाशुगामिना।
यथैव दूतो देवानां तथैवास्मि तवानघ ॥ ६९ ॥

और बोले—'देव! मैं शीघ्रगामी तथा सर्वग (सर्वत्र पहुँचनेमें समर्थ) हूँ। मुझे आपकी कौन-सी सेवा करनी है? अनघ! मैं जैसे देवताओंका दूत हूँ, उसी तरह आपका भी हूँ' ॥

तमुवाच ततः कृष्णो रहस्यं पुरुतो हरिः।
मारुतं जगतः प्राणं रूपिणं समुपस्थितम् ॥ ७० ॥

जगत्के प्राण-स्वरूप वायुदेव मूर्तिमान् होकर सेवामें उपस्थित हैं, यह देख अन्तर्यामी, पापहारी भगवान् श्रीकृष्ण उनसे रहस्यभरी बात बोले—॥ ७० ॥

गच्छ मारुत देवेशमनुमान्य सहामरैः।
सभां सुधर्मामादाय देवेभ्यस्त्वमिहानय ॥ ७१ ॥

'मारुत! जाओ, देवताओंसहित देवराज इन्द्रका आदर करके उनकी अनुमति ले देवताओंके यहाँसे सुधर्मानामक सभाको यहाँ उठा ले आओ ॥ ७१ ॥

यादवा धार्मिका ह्येते विक्रान्ताश्च सहस्रशः।
तस्यां विशेयुरेते वै न तु या कृत्रिमा भवेत् ॥ ७२ ॥

'ये सहस्रों धर्मात्मा तथा पराक्रमी यादव उसी सभामें बैठें, जो कृत्रिम (क्षणभंगुर) न हो ॥ ७२ ॥

या ह्यक्षया सभा रम्या कामगा कामरूपिणी।
सा यदून् धारयेत् सर्वान् यथैव त्रिदशांस्तथा ॥ ७३ ॥

'जो सभा अक्षय, रमणीय, इच्छानुसार सर्वत्र चल सकनेवाली तथा सभासदोंकी इच्छाके अनुरूप स्वरूप धारण करनेवाली है, वह सुधर्मा सभा अपने भीतर इन समस्त यदुवंशियोंको धारण करे, ठीक उसी तरह जैसे वह देवताओं-को धारण करती है' ॥ ७३ ॥

संगृह्य वचनं तस्य कृष्णस्याक्लिष्टकर्मणः।
वायुरात्मोपमगतिर्जगाम त्रिदिवालयम् ॥ ७४ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्णका संदेश लेकर अपने ही समान गतिवाले वायुदेव स्वर्गलोकमें गये ॥

सोऽनुमान्य सुरान् सर्वान् कृष्णवाक्यं निवेद्य च।
सभां सुधर्मामादाय पुनरायान्महीतलम् ॥ ७५ ॥

उन्होंने समस्त देवताओंको आदरपूर्वक श्रीकृष्णका वचन सुनाया और उनकी अनुमतिसे सुधर्मा सभाको लेकर वे पुनः भूतलपर आये ॥ ७५ ॥

सुधर्माय सुधर्मां तां कृष्णायाक्लिष्टकारिणे।
देवो देवसभां दत्त्वा वायुरन्तरधीयत ॥ ७६ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले सुधर्मात्मा श्रीकृष्णको वह सुधर्मा नामक देवसभा देकर वायुदेव अन्तर्धान हो गये॥

द्वारवत्यास्तु सा मध्ये केशवेन निवेशिता।
सुधर्मा यदुमुख्यानां देवानां त्रिदिवे यथा ॥ ७७ ॥

श्रीकृष्णने द्वारकापुरीके मध्यभागमें उस सुधर्मा सभाको स्थापित किया। जैसे स्वर्गमें देवताओंकी सभा है, उसी प्रकार भूतलपर वह प्रमुख यादवोंकी सभा हुई ॥ ७७ ॥

एवं दिव्यैश्च भोगैश्च जलजैश्चाव्ययो हरिः।
द्रव्यैरलंकरोति स्म पुरीं स्वां प्रमदामिव ॥ ७८ ॥

इस प्रकार अविनाशी श्रीहरि दिव्य भोगों तथा समुद्रके जलसे प्रकट हुए द्रव्यों (रत्नों) से अपनी पुरीको युवती स्त्रीकी भाँति अलंकृत करते थे ॥ ७८ ॥

मर्यादाश्चैव संचक्रे श्रेणीश्च प्रकृतीस्तथा।
बलाध्यक्षांश्च युक्तांश्च प्रकृतीशांस्तथैव च ॥ ७९ ॥

उन्होंने सबके लिये धर्मकी मर्यादाएँ बाँध दीं। व्यापारियों, प्रजाजनों, सेनापतियों तथा प्रजावर्गके शासकोंके लिये भी समुचित मर्यादाएँ स्थापित कर दीं ॥ ७९ ॥

उग्रसेनं नरपतिं काश्यं चापि पुरोहितम्।
सेनापतिमनाधृष्टिं विकद्रुं मन्त्रिपुङ्गवम् ॥ ८० ॥

उग्रसेनको द्वारकाका राजा बनाया, काशीके विद्वान् सान्दीपनि मुनिको पुरोहितके पदपर प्रतिष्ठित किया। अनाधृष्टिको सेनापति तथा विकद्रुको प्रधान मन्त्री बनाया ॥

यादवानां कुलकरान् स्थविरान् दश तत्र वै।
मतिमान् स्थापयामास सर्वकार्येष्वनन्तरान् ॥ ८१ ॥

बुद्धिमान् श्रीकृष्णने यादवोंके वंशधर दस बड़े-बूढ़े पुरुषोंको* सभी कार्योंमें सलाह देनेके लिये अवान्तर मन्त्रीके पदपर स्थापित किया था ॥ ८१ ॥

---

* दस बड़े-बूढ़े पुरुषोंके नाम ये हैं—

उद्धव, वसुदेव, कङ्क, विपृथु, श्वफल्क, चित्रक, गद, सत्यक, बलभद्र और पृथु।

रथेष्वतिरथो यन्ता दारुकः केशवस्य वै।
योधमुख्यश्च योधानां प्रवरः सात्यकिः कृतः ॥ ८२ ॥

रथोंमें अतिरथी दारुक भगवान् श्रीकृष्णका सारथि था। योधाओंमें श्रेष्ठ सात्यकि ही समस्त योद्धाओंके प्रधान बनाये गये थे ॥ ८२ ॥

विधानमेवं कृत्वाथ कृष्णः पुर्यामनिन्दितः।
मुमुदे यदुभिः सार्द्धं लोकस्रष्टा महीतले ॥ ८३ ॥

समस्त लोकोंके स्रष्टा अनिन्द्य कीर्तिवाले भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार वैधानिक व्यवस्था करके द्वारकापुरीमें यादवोंके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥ ८३ ॥

रेवतस्याथ कन्यां च रेवतीं शीलसम्मताम्।
प्राप्तवान् बलदेवस्तु कृष्णस्यानुमते तदा ॥ ८४ ॥

उस समय श्रीकृष्णकी अनुमतिसे बलदेवजीने राजा रेवतकी सुशील कन्या रेवतीको पत्नीरूपमें ग्रहण किया ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि द्वारावतीनिर्माणेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें द्वारावतीका निर्माणविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा रुक्मिणीका हरण तथा यादववीरोंका जरासंध एवं शिशुपाल आदिके साथ घोर युद्ध

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु जरासंधः प्रतापवान्।
नृपानुद्योजयामास चेदिराजप्रियेप्सया ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय प्रतापी जरासंध चेदिराजका प्रिय करनेकी इच्छासे राजाओंको एकत्र करनेका उद्योग किया ॥ १ ॥

सुताया भीष्मकस्याथ रुक्मिण्या रुक्मभूषणः।
शिशुपालस्य नृपतेर्विवाहो भविता किल ॥ २ ॥

उसने सर्वत्र यह समाचार भेज दिया कि 'भीष्मककी पुत्री रुक्मिणी तथा राजा शिशुपालका विवाह होनेवाला है। इसमें केवल सुवर्णके आभूषणोंका उपयोग होगा ॥ २ ॥

दन्तवक्त्रस्य तनयं सुवक्त्रममितौजसम्।
सहस्राक्षसमं युद्धे मायाशतविशारदम् ॥ ३ ॥

दन्तवक्त्रके पुत्र अमिततेजस्वी सुवक्त्रको, जो सैकड़ों मायाओंके ज्ञान एवं प्रयोगमें कुशल तथा युद्धमें सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके तुल्य पराक्रमी था (जरासंधने जोर देकर बुलवाया) ॥ ३ ॥

पौण्ड्रस्य वासुदेवस्य तथा पुत्रं महाबलम्।
सुदेवं वीर्यसम्पन्नं पृथगक्षौहिणीपतिम् ॥ ४ ॥

पौण्ड्रक वासुदेवके महाबली और पराक्रमसम्पन्न पुत्र सुदेवको भी जो पृथक् एक अक्षौहिणी सेनाका अधिपति था (जरासंधने दबाव डालकर ही बुलवाया था) ॥ ४ ॥

एकलव्यस्य पुत्रं च वीर्यवन्तं महाबलम्।
पुत्रं च पाण्ड्यराजस्य कलिङ्गाधिपतिं तथा ॥ ५ ॥
कृताप्रियं च कृष्णेन वेणुदारिं नराधिपम्।
अंशुमन्तं तथा क्राथं श्रुतधर्माणमेव च ॥ ६ ॥
निवृत्तशत्रुं कालिङ्गं गान्धाराधिपतिं तथा।
प्रसह्य च महावीर्यं कौशाम्ब्यधिपमेव च ॥ ७ ॥

एकलव्यके महाबली एवं पराक्रमी पुत्रको, पाण्ड्यराजके पुत्रको, कलिङ्गदेशके अधिपतिको, श्रीकृष्णने जिसका अप्रिय किया था, उस राजा वेणुदारिको, क्रथपुत्र अंशुमान् एवं श्रुतधर्माको, शत्रुओंको पराजित करनेवाले कलिङ्गराजको, गान्धार-नरेशको तथा महापराक्रमी कौशाम्बीपतिको भी जरासंधने बलपूर्वक बुलानेकी चेष्टा की थी ॥ ५–७ ॥

भगदत्तो महासेनः शलः शाल्वो महाबलः।
भूरिश्रवा महासेनः कुन्तिवीर्यश्च वीर्यवान्।
स्वयं वरार्थं सम्प्राप्ता भोजराजनिवेशने ॥ ८ ॥

विशाल सेनासे युक्त राजा भगदत्त, शल, महाबली शाल्व, बहुत बड़ी सेनावाले भूरिश्रवा तथा पराक्रमी कुन्तिवीर्य—ये सब लोग स्वयं ही वर शिशुपालकी बारात करनेके लिये भोजराज भीष्मकके भवनमें पधारे थे ॥ ८ ॥

जनमेजय उवाच

कस्मिन् देशे नृपो जज्ञे रुक्मी वेदविदां वरः।
कस्यान्ववाये द्युतिमान् सम्भूतो द्विजसत्तम ॥ ९ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! वेदवेत्ताओंमें उत्तम कान्तिमान् राजा रुक्मी किस देश और किस कुलमें उत्पन्न हुआ था ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

राजर्षेर्यादवस्यासीद् विदर्भो नाम वै सुतः।
विन्ध्यस्य दक्षिणे पार्श्वे विदर्भायां न्यवेशयत् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! राजर्षि यादवके

विदर्भनामक एक पुत्र था, जो विन्ध्यगिरिके दक्षिण पार्श्वमें विदर्भानगरीमें निवास करता था ॥ १० ॥

क्रथकैशिकमुख्यास्तु पुत्रास्तस्य महाबलाः ।
बभूवुर्वीर्यसम्पन्नाः पृथग्वंशकरा नृपाः ॥ ११ ॥

विदर्भके क्रथ, कैशिक आदि बहुत-से महाबली पुत्र हुए, जो पराक्रमसम्पन्न तथा पृथक्-पृथक् वंशोंके प्रवर्तक नरेश थे॥

तस्यान्ववाये भीमस्य जज्ञिरे वृष्णयो नृपाः ।
क्रथस्य त्वंशुमान् वंशे भीष्मकः कैशिकस्य तु ॥ १२ ॥

राजर्षि यादवके ही वंशमें भीमसे वृष्णिवंशी राजाओंकी उत्पत्ति हुई थी । क्रथके वंशमें अंशुमान् और कैशिकके वंशज भीष्मक हुए ॥ १२ ॥

हिरण्यरोमेत्याहुर्यं दाक्षिणात्येश्वरं नृपाः ।
अगस्त्यगुप्तामाशां यः कुण्डिनस्थोऽन्वशान्नृपः॥ १३ ॥

भीष्मकको ही राजा लोग हिरण्यरोमा तथा दाक्षिणात्येश्वर कहते हैं, जिन्होंने कुण्डिनपुरमें रहकर अगस्त्य मुनिके द्वारा सुरक्षित दिशा दक्षिणका शासन किया था॥ १३ ॥

रुक्मी तस्याभवत् पुत्रो रुक्मिणी च विशाम्पते ।
रुक्मी चास्त्राणि दिव्यानि द्रुमात् प्राप महाबलः ॥१४॥
जामदग्न्यात् तथा रामाद् ब्राह्ममस्त्रमवाप्तवान् ।
प्रास्पर्द्धत स कृष्णेन नित्यमद्भुतकर्मणा ॥ १५ ॥

प्रजानाथ ! उन्हीं राजा भीष्मकका पुत्र रुक्मी था तथा रुक्मिणी भी उन्हींकी कन्या थी । महाबली रुक्मीने (किम्पुरुषराज) द्रुमसे दिव्यास्त्र प्राप्त किये थे । साथ ही जमदग्निनन्दन परशुरामसे उसको ब्रह्मास्त्रकी प्राप्ति हुई थी । रुक्मी अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीकृष्णके साथ सदा ही स्पर्धा रखता था ॥ १४-१५ ॥

रुक्मिणी त्वभवद् राजन् रूपेणासदृशी भुवि ।
चकमे वासुदेवस्तां श्रवादेव महाद्युतिः ॥ १६ ॥

राजन् ! रुक्मिणीके रूपकी समानता करनेवाली इस पृथ्वीपर दूसरी कोई स्त्री नहीं थी । महातेजस्वी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण उसका परिचय सुनकर ही उसे चाहने लगे थे ॥ १६ ॥

स तया चाभिलषितः श्रवादेव जनार्दनः ।
तेजोवीर्यबलोपेतः स मे भर्ता भवेदिति ॥ १७ ॥

इसी प्रकार रुक्मिणी भी श्रीकृष्णकी प्रशंसा सुनकर ही उन्हें चाहने लगी थी । उसकी इच्छा थी कि तेज, वीर्य और बलसे सम्पन्न श्रीकृष्ण ही मेरे पति हों ॥ १७ ॥

तां ददौ न च कृष्णाय द्वेषाद् रुक्मी महाबलः ।
कंसस्य वधसंतापात् कृष्णायामिततेजसे ॥ १८ ॥
याचमानाय कंसस्य द्वेष्योऽयमिति चिन्तयन् ।

महाबली रुक्मी श्रीकृष्णसे द्वेष रखता था, इसलिये उसने श्रीकृष्णको अपनी बहिन नहीं दी । कंसका वध सुनकर उसे बड़ा संताप हुआ था । वह सदा यही सोचता था कि कृष्ण कंसद्रोही है, इसलिये उनके याचना करनेपर भी रुक्मीने अमित तेजस्वी श्रीकृष्णको रुक्मिणी नहीं दी ॥ १८½ ॥

चैद्यस्यार्थे सुनीथस्य जरासंधस्तु भूमिपः ।
वरयामास तां राजा भीष्मकं भीमविक्रमम् ॥ १९ ॥

पृथ्वीपति राजा जरासंधने चेदिराज सुनीथके पुत्र शिशुपालके लिये भयानक पराक्रमी भीष्मकसे उनकी कन्या रुक्मिणीको माँगा था ॥ १९ ॥

चेदिराजस्य तु वसोरासीत् पुत्रो बृहद्रथः ।
मगधेषु पुरा येन निर्मितोऽसौ गिरिव्रजः ॥ २० ॥

चेदिराज उपरिचर वसुके एक पुत्रका नाम बृहद्रथ था, जिसने पूर्वकालमें मगधदेशके भीतर गिरिव्रज नामक नगरका निर्माण कराया था ॥ २० ॥

तस्यान्ववाये जज्ञेऽसौ जरासंधो महाबलः ।
वसोरेव तदा वंशे दमघोषोऽपि चेदिराट् ॥ २१ ॥

उसीके वंशमें महाबली जरासंध पैदा हुआ । उपरिचर वसुके ही वंशमें उन दिनों दमघोष पैदा हुए थे, जो चेदि-देशके राजा थे ॥ २१ ॥

दमघोषस्य पुत्रास्तु पञ्च भीमपराक्रमाः ।
भगिन्यां वसुदेवस्य श्रुतश्रवसि जज्ञिरे ॥ २२ ॥

दमघोषके पाँच भयानक पराक्रमी पुत्र हुए, जो वसुदेवकी बहिन श्रुतश्रवाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे ॥ २२ ॥

शिशुपालो दशग्रीवो रैभ्योऽथोपदिशो बली ।
सर्वास्त्रकुशला वीरा वीर्यवन्तो महाबलाः ॥ २३ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—शिशुपाल, दशग्रीव, रैभ्य, उपदिश और बली । ये सब-के-सब सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञानमें निपुण, वीर, पराक्रमी और महाबली थे ॥ २३ ॥

ज्ञातेः समानवंशस्य सुनीथः प्रददौ सुतम् ।
जरासंधस्तु सुतवद् ददर्शैनं जुगोप च ॥ २४ ॥

जरासंध कुटुम्बी था तथा समान वंशमें उत्पन्न हुआ था, इसलिये सुनीथ (दमघोष) ने अपना पुत्र शिशुपाल उसे सौंप दिया था (शिशुपालको जरासंधका सहयोगी बना दिया था) । जरासंध भी शिशुपालको अपने पुत्रके समान समझता और उसकी रक्षा करता था ॥ २४ ॥

जरासंधं पुरस्कृत्य वृष्णिशत्रुं महाबलम् ।
कृतान्यागांसि चैद्येन वृष्णीनां चाप्रियैषिणा ॥ २५ ॥

वृष्णिवंशके शत्रु महाबली जरासंधको आगे करके चेदिराजने वृष्णियोंका अप्रिय चाहते हुए उनके अनेक अपराध किये थे ॥ २५ ॥

जामाता त्वभवत् तस्य कंसस्तस्मिन् हते युधि ।
कृष्णार्थं वैरमभवज्जरासंधस्य वृष्णिभिः ॥ २६ ॥

कंस जरासंधका जामाता था । जब वह युद्धमें श्रीकृष्णके हाथसे मारा गया, तब श्रीकृष्णके ही लिये समस्त वृष्णि-वंशियोंके साथ जरासंधका वैर हो गया ॥ २६ ॥

भीष्मकं वरयामास सुनीथार्थे च रुक्मिणीम् ।
तां ददौ भीष्मकश्चापि शिशुपालाय वीर्यवान् ॥ २७ ॥

जरासंधने सुनीथपुत्र शिशुपालके लिये ही भीष्मकसे रुक्मिणीको माँगा था और पराक्रमी भीष्मकने उसका शिशु-पालके लिये वाग्दान कर दिया ॥ २७ ॥

ततश्चैद्यमुपादाय जरासंधो नराधिपः ।
ययौ विदर्भान् सहितो दन्तवक्त्रेण यायिना ॥ २८ ॥

तब राजा जरासंध अपने सहायक दन्तवक्त्रके साथ शिशुपालको लेकर विदर्भ देशको गया ॥ २८ ॥

अनुज्ञातश्च पौण्ड्रेण वासुदेवेन धीमता ।
अङ्गवङ्गकलिङ्गानामीश्वरः स महाबलः ॥ २९ ॥

बुद्धिमान् पौण्ड्रक वासुदेवने भी इस कार्यमें जरासंधका अनुमोदन किया था । महाबली जरासंध अङ्ग-वङ्ग और कलिङ्ग देशोंका भी सम्राट् था ॥ २९ ॥

मानयिष्यंश्च तान् रुक्मी प्रत्युद्गम्य नराधिपान् ।
परया पूजयोपेतांस्तान् निनाय पुरीं प्रति ॥ ३० ॥

रुक्मीने उन नरेशोंका सम्मान करनेके लिये उनकी अगवानी की और अच्छे ढंगसे उनका स्वागत-सत्कार करके वह उन्हें अपनी पुरीमें ले गया ॥ ३० ॥

पितृष्वसुः प्रियार्थं च रामकृष्णावुभावपि ।
प्रययुर्वृष्णयश्चान्ये रथैस्तत्र बलान्विताः ॥ ३१ ॥

बलराम और श्रीकृष्ण ये दोनों भाई भी अपनी बुआकी प्रसन्नताके लिये वहाँ गये । साथ ही दूसरे बलशाली वृष्णि-वंशी वीर भी रथोंद्वारा वहाँ पधारे ॥ ३१ ॥

क्रथकैशिकभर्ता तान् प्रतिगृह्य यथाविधि ।
पूजयामास पूजार्हान् बहिश्चैव न्यवेशयत् ॥ ३२ ॥

क्रथकैशिक देशके स्वामी भीष्मकने उन पूजनीय पुरुषों-का विधिपूर्वक पूजन किया और उन्हें बाहर ही ठहराया ॥

श्वोभाविनि विवाहे च रुक्मिणी निर्ययौ बहिः ।
चतुर्युजा रथेनैन्द्रे देवतायतने शुभे ॥ ३३ ॥
इन्द्राणीमर्चयिष्यन्ती कृतकौतुकमङ्गला ।
दीप्यमानेन वपुषा बलेन महता वृता ॥ ३४ ॥

जब विवाह कल होनेवाला था अर्थात् जब उसके होने-में एक ही दिन शेष रह गया था, उस समय राजकुमारी रुक्मिणी तत्कालोचित मङ्गलाचारसे सम्पन्न हो अपने दीप्ति-मान् शरीरसे सुशोभित होती हुई सुन्दर देवालयमें इन्द्राणी-की पूजा करनेके लिये चार घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर ज्येष्ठा नक्षत्रमें राजमहलसे बाहर निकली । उस समय वह विशाल सेनासे घिरी हुई थी ॥ ३३-३४ ॥

तां ददर्श तदा कृष्णो लक्ष्मीं साक्षादिव स्थिताम् ।
रूपेणाग्र्येण सम्पन्नां देवतायतनान्तिके ॥ ३५ ॥

उस यात्राके समय देवमन्दिरके निकट परम सुन्दर रूपसे सम्पन्न साक्षात् लक्ष्मी-सी खड़ी हुई रुक्मिणीको भगवान् श्रीकृष्णने देखा ॥ ३५ ॥

वह्नेरिव शिखां दीप्तां मायां भूमिगतामिव ।
पृथिवीमिव गम्भीरामुत्थितां पृथिवीतलात् ॥ ३६ ॥

वह प्रज्वलित हुई अग्निकी शिखा, पृथ्वीपर उतरी हुई देवमाया तथा भूतलसे उठी हुई गम्भीर स्वभाववाली मूर्ति-मती भूदेवीके समान जान पड़ती थी ॥ ३६ ॥

मरीचिमिव सोमस्य सौम्यां स्त्रीविग्रहां भुवि ।
श्रीमिवाग्र्यां विना पद्मं भविष्यां श्रीसहायिनीम् ।
कृष्णेन मनसा दृष्टां दुर्निरीक्ष्यां सुरैरपि ॥ ३७ ॥

उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो चन्द्रमाकी सौम्य किरण सुन्दरी नारीका रूप धारण करके पृथ्वीपर उतरी हो, बिना कमलकी श्रेष्ठ लक्ष्मी हो अथवा भविष्यमें होनेवाली लक्ष्मीकी सहायिका हो । देवताओंके लिये भी जिसका दर्शन होना अत्यन्त कठिन था, उस रुक्मिणीको श्रीकृष्णने जी भर-कर देखा ॥ ३७ ॥

श्यामावदाता सा ह्यासीत् पृथुचार्वायतेक्षणा ।
ताम्रौष्ठनयनापाङ्गी पीनोरुजघनस्तनी ॥ ३८ ॥

उसकी सोलह वर्षकी अवस्था थी । अङ्गोंकी कान्ति गौरवर्णकी थी । उसके नेत्र बहुत ही मनोहर एवं विशाल थे । ओठ तथा नयनोंके प्रान्तभाग ताँबेके समान लाल थे । जाँघ, नितम्ब और स्तन मोटे एवं मांसल थे ॥ ३८ ॥

बृहती चारुसर्वाङ्गी तन्वी शशिसिताानना ।
ताम्रतुङ्गनखी सुभ्रूर्नीलकुञ्चितमूर्धजा ॥ ३९ ॥

वह पतले और लंबे कदकी स्त्री थी । उसके सारे अङ्ग बड़े ही मनोहर थे । उसका मुख चन्द्रमाके समान गौर कान्तिसे सुशोभित था । नख लाल और ऊँचे थे । भौंहे सुन्दर तथा सिरके बाल काले और घुँघराले थे ॥ ३९ ॥

अत्यर्थं रूपतः कान्ता पीनश्रोणिपयोधरा ।
तीक्ष्णशुक्लैः समैर्दन्तैः प्रभासद्भिरलंकृता ॥ ४० ॥

वह रूपकी दृष्टिसे अत्यन्त कमनीया थी । उसके नितम्ब और उरोज पीन (उभरे हुए) थे । वह तीक्ष्ण, श्वेत, बराबर जमे हुए और चमकीले दाँतोंसे सुशोभित होती थी ॥ ४० ॥

अनन्या प्रमदा लोके रूपेण यशसा श्रिया।
रुक्मिणी रूपिणी देवी पाण्डुरक्षौमवासिनी ॥ ४१ ॥

रूप, यश और शोभाकी दृष्टिसे संसारमे दूसरी कोई युवती उसके समान नहीं थी। उज्ज्वल रेशमी साडी पहने हुए राजकुमारी रुक्मिणी रूपवती देवी-सी जान पड़ती थी ॥ ४१ ॥

तां दृष्ट्वा ववृधे कामः कृष्णस्य प्रियदर्शनाम्।
हविषेवानलस्यार्चिर्मनस्तस्यां समादधत् ॥ ४२ ॥

जैसे घीकी आहुति डालनेसे अग्निकी ज्वाला प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार उस प्रियदर्शना राजकन्याको देखकर श्रीकृष्णकी उसे पानेके लिये कामना बहुत बढ़ गयी। उन्होंने अपना हृदय उसीपर निछावर कर दिया ॥ ४२ ॥

रामेण सह निश्चित्य केशवस्तु महाबलः।
तत्प्रमाथेऽकरोद् बुद्धिं वृष्णिभिः प्रणिधाय च ॥ ४३ ॥

तदनन्तर महाबली श्रीकृष्णने वृष्णिवंशियोंके साथ सलाह और बलरामजीके साथ कर्तव्यका निश्चय करके रुक्मिणीको हर लेनेका विचार किया ॥ ४३ ॥

कृते तु देवताकार्ये निष्क्रामन्तीं सुरालयात्।
उन्मथ्य सहसा कृष्णः स्वं निनाय रथोत्तमम् ॥ ४४ ॥

इतनेमें ही देवपूजाका कार्य सम्पन्न करके रुक्मिणी देवालयसे निकलने लगी। उसी समय श्रीकृष्णने सहसा पहुँचकर उसे गोदमें उठा लिया और अपने उत्तम रथपर पहुँचा दिया ॥ ४४ ॥

वृक्षमुत्पाट्य रामोऽपि जघानापततः परान्।
समनह्यन्त दाशार्हास्तदाज्ञप्ताश्च सर्वशः ॥ ४५ ॥

इधर बलरामने भी एक पेड़ उखाड़कर आक्रमण करनेवाले शत्रुओंका उसीसे संहार कर डाला। उस समय बलरामकी आज्ञा पाकर समस्त यदुवंशी वीर युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हो गये ॥ ४५ ॥

ते रथैर्विविधाकारैः समुच्छ्रितमहाध्वजैः।
वाजिभिर्वारणैश्चैव परिवव्रुर्हलायुधम् ॥ ४६ ॥

वे ऊँचे एवं विशाल ध्वजोंसे युक्त भाँति-भाँतिके रथो, घोड़ों और हाथियोद्वारा बलरामजीको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ४६ ॥

आदाय रुक्मिणीं कृष्णो जगामाशु पुरीं प्रति।
रामे भारं तमासज्य युयुधाने च वीर्यवान् ॥ ४७ ॥

बलवान् श्रीकृष्ण युद्धका सारा भार बलराम तथा सात्यकिपर छोड़कर रुक्मिणीको साथ ले शीघ्र ही द्वारकापुरीको चल दिये ॥ ४७ ॥

अक्रूरे विपृथौ चैव गदे च कृतवर्मणि।
चक्रदेवे सुदेवे च सारणे च महाबले ॥ ४८ ॥

निवृत्तशत्रौ विक्रान्ते भङ्गकारे विदूरथे।
उग्रसेनात्मजे कङ्के शतद्युम्ने च केशवः ॥ ४९ ॥

राजाधिदेवे मृदुरे प्रसेने चित्रके तथा।
अतिदान्ते बृहद्दुर्गे श्वफल्के सत्यके पृथौ ॥ ५० ॥

वृष्ण्यन्धकेषु चान्येषु मुख्येषु मधुसूदनः।
गुरुमासज्य तं भारं ययौ द्वारवतीं प्रति ॥ ५१ ॥

मधुसूदन श्रीकृष्णने युद्धका वह गुरुतर भार (बलराम और सात्यकिके सिवा) अक्रूर, विपृथु, गद, कृतवर्मा, चक्रदेव, सुदेव, महाबली सारण, निवृत्तशत्रु, पराक्रमी भङ्गकार, विदूरथ, उग्रसेनकुमार कङ्क, शतद्युम्न, राजाधिदेव, मृदुर, प्रसेन, चित्रक, अतिदान्त, बृहद्दुर्ग, श्वफल्क, सत्यक, पृथु तथा अन्यान्य वृष्णि और अन्धकवंशके प्रमुख वीरोंपर रखकर द्वारकापुरीकी ओर प्रस्थान किया ॥ ४८—५१ ॥

दन्तवक्त्रो जरासंधः शिशुपालश्च वीर्यवान्।
संनद्धा निर्ययुः क्रुद्धा जिघांसन्तो जनार्दनम् ॥ ५२ ॥

उधर दन्तवक्त्र, जरासंध और पराक्रमी शिशुपाल कवच बाँधकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे क्रोधमें भरे हुए निकले ॥ ५२ ॥

अङ्गवङ्गकलिङ्गैश्च सार्द्धं पौण्ड्रैश्च वीर्यवान्।
निर्ययौ चेदिराजस्तु भ्रातृभिः स महारथैः ॥ ५३ ॥

पराक्रमी चेदिराज शिशुपाल अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग तथा पुण्ड्रदेशीय योद्धाओं और अपने महारथी भाइयोंके साथ युद्धके लिये निकला ॥ ५३ ॥

तान् प्रत्यगृह्णन् संरब्धा वृष्णिवीरा महारथाः।
संकर्षणं पुरस्कृत्य वासवं मरुतो यथा ॥ ५४ ॥

उस समय रोषमें भरे हुए वृष्णिवंशके महारथी वीरोंने जैसे देवता इन्द्रको आगे रखते हैं, उसी प्रकार बलरामजीको आगे करके उन समस्त शत्रुओंको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ५४ ॥

आपतन्तं हि वेगेन जरासंधं महाबलम्।
षड्भिर्विव्याध नाराचैर्युयुधानो महामृधे ॥ ५५ ॥

उस महासमरमें वेगसे आगे बढ़ते हुए महाबली जरासंधको सात्यकिने छः नाराचोंसे मारकर घायल कर दिया ॥ ५५ ॥

अक्रूरो दन्तवक्त्रं तु विव्याध नवभिः शरैः।
तं प्रत्यविद्ध्यत् कारूषो बाणैर्दशभिराशुगैः ॥ ५६ ॥

अक्रूरने दन्तवक्त्रको नौ बाणोंसे बेध दिया; तब करूषराज दन्तवक्त्रने दस शीघ्रगामी बाणोद्वारा अक्रूरको भी बींधकर बदला चुकाया ॥ ५६ ॥

विपृथुः शिशुपालं तु शरैर्विव्याध सप्तभिः।
अष्टभिः प्रत्यविद्ध्यत् तं शिशुपालः प्रतापवान् ॥ ५७ ॥

विपृथुने सात बाणोंसे शिशुपालको घायल कर दिया, तब प्रतापी शिशुपालने आठ बाणोंसे विपृथुको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ५७ ॥

गवेषणस्तु चैवं तु षड्भिर्विव्याध मार्गणैः ।
अतिदान्तस्तथाष्टाभिर्बृहद्दुर्गश्च पञ्चभिः ॥ ५८ ॥

तब गवेषणने छः; अतिदान्तने आठ और बृहद्दुर्गने पाँच बाणोंसे चेदिराज शिशुपालको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ५८ ॥

प्रतिविव्याध तांश्चैद्यः पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः ।
जघानाश्वांश्च चतुरश्चतुर्भिर्विपृथोः शरैः ॥ ५९ ॥

शिशुपालने भी उन सबको पाँच-पाँच बाण मारकर बदला चुकाया और चार बाणोंसे विपृथुके चारों घोड़ोंको मार डाला ॥ ५९ ॥

बृहद्दुर्गस्य भल्लेन शिरश्चिच्छेद चारिहा ।
गवेषणस्य सूतं तु प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ ६० ॥
हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा विपृथुस्तु महाबलः ।
आरुरोह रथं शीघ्रं बृहद्दुर्गस्य वीर्यवान् ॥ ६१ ॥

इतना ही नहीं, शत्रुसूदन शिशुपालने एक भल्लसे बृहद्दुर्गका सिर काट लिया और गवेषणके सारथिको यमलोक पहुँचा दिया। तब महाबली एवं पराक्रमी विपृथु अपने अश्वहीन रथको त्यागकर शीघ्र ही बृहद्दुर्गके रथपर जा चढ़े ॥ ६०-६१ ॥

विपृथोः सारथिश्चापि गवेषणरथं द्रुतम् ।
आरुह्य जवनानश्वान् नियन्तुमुपचक्रमे ॥ ६२ ॥

विपृथुका सारथि भी तुरंत ही गवेषणके रथपर जा बैठा और उसके वेगशाली घोड़ोंको काबूमें रखनेकी चेष्टा करने लगा ॥ ६२ ॥

ते क्रुद्धाः शरवर्षेण सुनीथं समवाकिरन् ।
नृत्यन्तं रथमार्गेषु चापहस्ताः कलापिनः ॥ ६३ ॥

फिर तो वे कुपित हो धनुष और बाण हाथमें लेकर रथमार्गोंपर नृत्य-सा करते हुए सुनीथपुत्र शिशुपालपर बाणोंकी बौछार करने लगे ॥ ६३ ॥

चक्रदेवो दन्तवक्त्रं विभेदोरसि पत्रिणा ।
षड्रथं पञ्चभिश्चैव विव्याध युधि मार्गणैः ॥ ६४ ॥

चक्रदेवने पंखवाले बाणसे मारकर दन्तवक्त्रकी छाती छेद डाली। फिर पाँच बाणोंद्वारा उन्होंने युद्धमें षड्रथको भी घायल कर दिया ॥ ६४ ॥

ताभ्यां स विद्धो दशभिर्बाणैर्मर्मातिगैः शितैः ।
ततो बली चक्रदेवं विभेद दशभिः शरैः ॥ ६५ ॥

तब उन दोनोंने भी पैनी धारवाले दस मर्मभेदी बाणोंद्वारा चक्रदेवको गहरी चोट पहुँचाया। फिर शिशुपालके भाई बलीने भी चक्रदेवको दस बाण मारे ॥ ६५ ॥

पञ्चभिश्चापि विव्याध सोऽपि दूराद् विदूरथम् ।
विदूरथोऽपि तं षड्भिर्विव्याधाजौ शितैः शरैः ॥ ६६ ॥

तत्पश्चात् उसने दूरसे ही पाँच बाण मारकर विदूरथको भी घायल कर दिया। विदूरथने भी छः पैने बाण मारकर युद्धमें बलीको आहत कर दिया ॥ ६६ ॥

त्रिंशता प्रत्यविध्यत् तं बली बाणैर्महाबलम् ।
कृतवर्मा विभेदाजौ राजपुत्रं त्रिभिः शरैः ॥ ६७ ॥
न्यहनत् सारथिं चास्य ध्वजं चिच्छेद सोच्छ्रितम् ।

तब बलीने महाबली विदूरथको बदलेमें तीस बाण मारे। दूसरी ओर कृतवर्माने युद्धमें पौण्ड्रक वासुदेवके पुत्रको तीन बाणोंसे घायल कर दिया। साथ ही उसके सारथिको भी मार डाला और ऊँचे ध्वजको काट गिराया ॥ ६७½ ॥

प्रतिविव्याध तं क्रुद्धः पौण्ड्रः षड्भिः शिलीमुखैः ॥६८॥
धनुश्चिच्छेद चाप्यस्य भल्लेन कृतवर्मणः ।

तब क्रोधमें भरे हुए पौण्ड्रने छः बाण मारकर बदला चुकाया और एक भल्लसे कृतवर्माका धनुष भी काट दिया ॥

निवृत्तशत्रुः कालिङ्गं विभेद निशितैः शरैः ।
तोमरेणांसदेशे तं निर्बिभेद कलिङ्गराट् ॥ ६९ ॥

निवृत्तशत्रुने बहुत-से पैने बाण मारकर कलिङ्गराजको बींध डाला। तब कलिङ्गराजने एक तोमरका प्रहार करके उसके कंधेपर घाव कर दिया ॥ ६९ ॥

गजेनासाद्य कङ्कस्तु गजमङ्गस्य वीर्यवान् ।
तोमरेण विभेदाङ्गं विभेदाङ्गश्च तं शरैः ॥ ७० ॥

पराक्रमी कङ्कने हाथीके द्वारा आक्रमण करके अङ्गराजके हाथी और अङ्गराजको भी तोमरसे घायल कर दिया। तब अङ्गराजने भी अनेक बाणोंद्वारा कङ्कको चोट पहुँचायी ॥७०॥

चित्रकश्च श्वफल्कश्च सत्यकश्च महारथः ।
कलिङ्गस्य तथानीकं नाराचैर्बिभिदुः शतैः ॥ ७१ ॥

उधर चित्रक, श्वफल्क और महारथी सत्यकने कलिङ्गराजकी सेनाको सौ नाराचोंसे मारकर विदीर्ण कर डाला ॥

तं निस्त्रष्टद्रुमेणाजौ वङ्गराजस्य कुञ्जरम् ।
जघान रामः संक्रुद्धो वङ्गराजं च सयुगे ॥ ७२ ॥

तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए बलरामने एक पत्रहीन वृक्षके द्वारा युद्धस्थलमें वङ्गराजके हाथी और वङ्गराजको भी कालके गालमें भेज दिया ॥ ७२ ॥

तं हत्वा रथमारुह्य धनुरादाय वीर्यवान् ।
संकर्षणो जघानोग्रैर्नाराचैः कैशिकान् बहून् ॥ ७३ ॥

वङ्गराजका वध करके पराक्रमी संकर्षणने धनुष हाथमें ले रथपर आरूढ़ हो भयंकर नाराचोंद्वारा बहुत-से कैशिकोंका संहार कर डाला ॥ ७३ ॥

षड्भिर्निहत्य कारूषान् महेष्वासान् स वीर्यवान्।
शतं जघान संक्रुद्धो मागधानां महाबले ॥ ७४ ॥

अत्यन्त कुपित हुए पराक्रमी बलरामने छः बाणोंसे करूष देशके अनेक महाधनुर्धरोंका वध करके मागधोंकी विशाल सेनामेंसे सौ चुने हुए वीरोंको यमलोक पहुँचा दिया॥

निहत्य तान् महाबाहुर्जरासंधं ततोऽभ्ययात्।
तमापतन्तं विव्याध नाराचैर्मागधस्त्रिभिः ॥ ७५ ॥

उन सबका संहार करके महाबाहु बलरामने जरासंधपर धावा किया। अपनी ओर आते हुए बलरामको मगधराजने तीन नाराचोंसे घायल कर दिया ॥ ७५ ॥

तं बिभेदाष्टभिः क्रुद्धो नाराचैर्मुसलायुधः।
चिच्छेद चास्य भल्लेन ध्वजं हेमपरिष्कृतम् ॥ ७६ ॥

तब मूसलधारी बलदेवने कुपित हो आठ नाराचोंसे जरासंधको क्षत-विक्षत कर दिया और उसके सुवर्ण-भूषित ध्वजको एक भल्लसे काट गिराया ॥ ७६ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं तेषां देवासुरोपमम्।
सृजतां शरवर्षाणि निघ्नतामितरेतरम् ॥ ७७ ॥

बाणोंकी वृष्टि करते और एक-दूसरेको मारते हुए उन वीरोंमें देवासुरसंग्रामके समान घोर युद्ध होने लगा ॥ ७७ ॥

गजैर्गजा हि संक्रुद्धाः संनिपेतुः सहस्रशः।
रथै रथाश्च संरब्धाः सादिनश्चापि सादिभिः ॥ ७८ ॥

क्रोधमें भरे हुए सहस्रों हाथी हाथियोंसे, रथ रथोंसे और रोषावेशसे युक्त घुड़सवार घुड़सवारोंसे भिड़ गये ॥ ७८ ॥

पदातयः पदातींश्च शक्तिचर्मासिपाणयः।
छिन्दन्तश्चोत्तमाङ्गानि विचेरुर्युधि ते पृथक् ॥ ७९ ॥

हाथोंमें शक्ति, ढाल और तलवार लिये हुए पैदल वीर पैदलोंसे जूझते और उनके मस्तक काटते हुए युद्धमें पृथक्-पृथक् विचरने लगे ॥ ७९ ॥

असीनां पात्यमानानां कवचेषु महास्वनः।
शराणां पततां शब्दः पक्षिणामिव शुश्रुवे ॥ ८० ॥

कवचोंपर गिरायी जाती हुई तलवारों और गिरते हुए बाणोंका महान् शब्द पक्षियोंके चहचहानेके समान सुनायी पड़ता था ॥ ८० ॥

भेरीशङ्खमृदङ्गानां वेणूनां च मृधे ध्वनिम्।
जुगूह घोषः शस्त्राणां ज्याघोषश्च महात्मनाम् ॥ ८१ ॥

युद्धस्थलमें महामनस्वी वीरोंकी प्रत्यञ्चाके खींचने और शस्त्रोंके टकरानेका शब्द भेरी, शङ्ख, मृदङ्ग और वेणुओंकी ध्वनिको आच्छादित कर देता था ॥ ८१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि रुक्मिणीहरणे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें रुक्मिणीहरणविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा रुक्मीकी पराजय तथा रुक्मिणी आदिके साथ श्रीकृष्णका विवाह एवं उनसे उत्पन्न हुई संतानोंका संक्षिप्त परिचय

वैशम्पायन उवाच

कृष्णेन ह्रियमाणां तां रुक्मी श्रुत्वा तु रुक्मिणीम्।
प्रतिज्ञामकरोत् क्रुद्धः समक्षं भीष्मकस्य ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! रुक्मीने जब सुना कि श्रीकृष्ण रुक्मिणीको हरकर लिये जा रहे हैं, उसने कुपित होकर भीष्मकके सामने ही यह प्रतिज्ञा की ॥ १ ॥

रुक्म्युवाच

अहत्वा युधि गोविन्दमनानीय च रुक्मिणीम्।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ २ ॥

रुक्मी बोला—मैं युद्धमें श्रीकृष्णका वध किये बिना तथा रुक्मिणीको वापस लाये बिना कुण्डिनपुरमें प्रवेश नहीं करूँगा; यह मैं सत्य कहता हूँ ॥ २ ॥

आस्थाय स रथं वीरः समुदग्रायुधध्वजम्।
जवेन प्रययौ क्रुद्धो बलेन महता वृतः ॥ ३ ॥

ऐसी प्रतिज्ञा करके क्रोधमें भरा हुआ वीर रुक्मी प्रचण्ड आयुध और ऊँचे ध्वजसे सुशोभित रथपर आरूढ़ हो विशाल सेनाके साथ बड़े वेगसे आगे बढ़ा ॥ ३ ॥

तमन्वयुर्नृपाश्चैव दक्षिणापथवर्तिनः।
क्राथोऽंशुमाञ्छ्रुतर्वा च वेणुदारिश्च वीर्यवान् ॥ ४ ॥
भीष्मकस्य सुताश्चान्ये रथेन रथिनां वराः।
क्रथकैशिकमुख्याश्च सर्व एव महारथाः ॥ ५ ॥

उसके पीछे दक्षिण भारतके बहुत-से नरेश, क्रथपुत्र अंशुमान्, श्रुतर्वा तथा पराक्रमी वेणुदारि भी चले। भीष्मकके अन्य पुत्र भी, जो रथियोंमें श्रेष्ठ थे, रथके द्वारा रुक्मीके साथ गये। क्रथकैशिकदेशके सभी मुख्य महारथियोंने भी रुक्मीका साथ दिया ॥ ४-५ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं सरितं नर्मदामनु।
गोविन्दं ददृशुः क्रुद्धाः सहैव प्रियया स्थितम् ॥ ६ ॥

उन सबने दूरतक रास्ता तै करके नर्मदा नदीके किनारे अपनी प्रियतमा रुक्मिणीके साथ रथपर बैठे हुए श्रीकृष्णको क्रोधपूर्वक देखा ॥ ६ ॥

अवस्थाप्य च तत्सैन्यं रुक्मी मदबलान्वितः ।
चिकीर्षुर्द्वैरथं युद्धमभ्ययान्मधुसूदनम् ॥ ७ ॥

रुक्मीको अपने बलका बड़ा घमंड था। उसने अपने साथ आयी हुई सारी सेनाको एक जगह खड़ी करके द्वैरथ युद्ध करनेकी इच्छासे स्वयं ही भगवान् मधुसूदनपर आक्रमण किया ॥ ७ ॥

स विव्याध चतुःषष्ट्या गोविन्दं निशितैः शरैः ।
तं प्रत्यविध्यत् सप्तत्या बाणैर्युधि जनार्दनः ॥ ८ ॥

उसने चौंसठ पैने बाणोंसे श्रीकृष्णको बींध डाला। तब जनार्दनने भी समरमें सत्तर बाण मारकर रुक्मीसे बदला चुका लिया ॥ ८ ॥

यतमानस्य चिच्छेद ध्वजं चास्य महाबलः ।
जहार च शिरः कायात् सारथेस्तस्य वीर्यवान् ॥ ९ ॥

महाबली और पराक्रमी श्रीकृष्णने विजयके लिये प्रयत्नशील रुक्मीके ध्वजको काट डाला तथा उसके सारथिके सिरको धड़से काट लिया ॥ ९ ॥

तं कृच्छ्रगतमाज्ञाय परिवव्रुर्जनार्दनम् ।
दाक्षिणात्या जिघांसन्तो राजानः सर्व एव हि ॥ १० ॥

उसे संकटमें पड़ा जान दक्षिण दिशाके समस्त राजाओंने श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छा रखते हुए उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ॥ १० ॥

तमंशुमान् महाबाहुर्विव्याध दशभिः शरैः ।
श्रुतर्वा पञ्चभिः क्रुद्धो वेणुदारिश्च सप्तभिः ॥ ११ ॥

महाबाहु अंशुमान्ने दस, श्रुतर्वाने पाँच और क्रोधमें भरे हुए वेणुदारिने सात बाणोंसे उन्हें घायल कर दिया ॥

ततोऽंशुमन्तं गोविन्दो बिभेदोरसि वीर्यवान् ।
निषसाद रथोपस्थे व्यथितः स नराधिपः ॥ १२ ॥

तब पराक्रमी गोविन्दने एक बाणसे अंशुमान्की छाती छेद डाली। इससे व्यथित होकर राजा अंशुमान् रथके पिछले भागमें जा बैठा ॥ १२ ॥

श्रुतर्वणो जघानाश्वांश्चतुर्भिश्चतुरः शरैः ।
वेणुदारेर्ध्वजं छित्त्वा भुजं विव्याध दक्षिणम् ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्णने चार बाणोंसे श्रुतर्वाके चारों घोड़ोंको मार डाला और वेणुदारिकी ध्वजा काटकर उसकी दाहिनी बाँहमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १३ ॥

तथैव च श्रुतर्वाणं शरैर्विव्याध पञ्चभिः ।
शिश्रिये स ध्वजं शान्तो न्यषीदच्च व्यथान्वितः ॥ १४ ॥

इसी प्रकार श्रुतर्वाको भी पाँच बाणोंसे घायल कर दिया। श्रुतर्वा व्यथासे पीड़ित हो ध्वजका सहारा ले शान्त होकर बैठ गया ॥ १४ ॥

मुञ्चन्तः शरवर्षाणि वासुदेवं ततोऽभ्ययुः ।
क्रथकैशिकमुख्याश्च सर्व एव महारथाः ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् क्रथकैशिक देशके सभी मुख्य महारथी बाणोंकी वर्षा करते हुए भगवान् श्रीकृष्णपर चढ़ आये ॥ १५ ॥

बाणैर्बाणांश्च चिच्छेद तेषां युधि जनार्दनः ।
जघान चैषां संरब्धः पतमानांश्च ताञ्छरान् ॥ १६ ॥

श्रीकृष्णने युद्धस्थलमें अपने बाणोंद्वारा उन सबके बाण काट डाले तथा रोषावेशमें भरकर उन्होंने शत्रुओंके उन गिरते हुए बाणोंको नष्ट कर दिया ॥ १६ ॥

पुनरन्यांश्चतुःषष्ट्या जघान निशितैः शरैः ।
क्रुद्धानापततो वीरानद्रिवत् स महाबलः ॥ १७ ॥

पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हुए उन महाबली श्रीकृष्णने पुनः चौंसठ पैने बाणोंद्वारा क्रोधमें भरकर अपनेपर आक्रमण करनेवाले शत्रुपक्षके अन्य वीरोंको मार गिराया ॥ १७ ॥

विद्रुतं स्वबलं दृष्ट्वा रुक्मी क्रोधवशंगतः ।
पञ्चभिर्निशितैर्बाणैर्विव्याधोरसि केशवम् ॥ १८ ॥

अपनी सेनाको भागती देख रुक्मी क्रोधके वशीभूत हो गया। उसने पाँच तीखे बाणोंसे श्रीकृष्णकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १८ ॥

सारथिं चास्य विव्याध सायकैर्निशितैस्त्रिभिः ।
आजघान शरेणास्य ध्वजं च नतपर्वणा ॥ १९ ॥

साथ ही तीन पैने सायकोंसे उनके सारथिको भी घायल कर दिया और झुकी हुई गाँठवाले एक बाणसे उनके ध्वजपर भी आघात किया ॥ १९ ॥

केशवस्त्वरितं दृष्ट्वा क्रुद्धो विव्याध मार्गणैः ।
धनुश्चिच्छेद चाप्यस्य यतमानस्य रुक्मिणः ॥ २० ॥

रुक्मीको शीघ्रतापूर्वक बाण मारते देख श्रीकृष्ण कुपित हो उठे। उन्होंने अपने बाणोंसे रुक्मीको घायल कर दिया और विजयके लिये प्रयत्नशील हुए रुक्मीके धनुषको भी काट डाला ॥ २० ॥

अथान्यद् धनुरादाय रुक्मी कृष्णजिघांसया ।
प्रादुश्चकार चान्यानि दिव्यान्यस्त्राणि वीर्यवान् ॥ २१ ॥

फिर तो पराक्रमी रुक्मी दूसरा धनुष हाथमें लेकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे दूसरे-दूसरे दिव्यास्त्र प्रकट करने लगा ॥ २१ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य तस्य कृष्णो महाबलः ।
पुनश्चिच्छेद तच्चापं रथेषां च त्रिभिः शरैः ॥ २२ ॥

महाबली श्रीकृष्णने अपने अस्त्रोंद्वारा उसके अस्त्रोंका निवारण करके पुनः तीन बाणोंद्वारा उसके धनुष और रथके हरसेको काट डाला ॥ २२ ॥

स च्छिन्नधन्वा विरथः खड्गमादाय चर्म च।
उत्पपात रथाद् वीरो गरुत्मानिव वीर्यवान् ॥ २३ ॥

धनुष कट जानेपर रथहीन हुआ पराक्रमी वीर रुक्मी हाथमें ढाल और तलवार लेकर उस टूटे रथसे गरुड़की भाँति कूद पड़ा ॥ २३ ॥

तस्याभिपततः खड्गं चिच्छेद युधि केशवः।
नाराचैश्च त्रिभिः क्रुद्धो बिभेदैनमथोरसि ॥ २४ ॥

युद्धमें अपने सामने आते हुए रुक्मीकी तलवारको श्रीकृष्णने काट डाला और कुपित होकर तीन नाराचोंसे उसकी छाती छेद डाली ॥ २४ ॥

स पपात महाबाहुर्वसुधामनुनादयन्।
विसंज्ञो मूर्च्छितो राजा वज्रेणेव महासुरः ॥ २५ ॥

तब संज्ञाशून्य हुआ महाबाहु राजा रुक्मी पृथ्वीको प्रतिध्वनित करता हुआ मूर्च्छित होकर गिर पड़ा, मानो कोई महान् असुर वज्रसे मारा गया हो ॥ २५ ॥

तांश्च राज्ञः शरैः सर्वान् पुनर्विव्याध माधवः।
रुक्मिणं पतितं दृष्ट्वा व्यद्रवन्त नराधिपाः ॥ २६ ॥

तदनन्तर माधवने पुनः अपने बाणोंद्वारा उन सब नरेशोंको घायल करना आरम्भ किया। रुक्मीको धराशायी हुआ देख सब नरेश भाग खड़े हुए ॥ २६ ॥

विचेष्टमानं तं भूमौ भ्रातरं वीक्ष्य रुक्मिणी।
पादयोर्न्यपतद् विष्णोर्भ्रातुर्जीवितकाङ्क्षिणी ॥ २७ ॥

अपने भाईको भूमिपर छटपटाते देख उसके जीवनकी इच्छा रखनेवाली रुक्मिणी भगवान् श्रीकृष्णके पैरोंपर गिर पड़ी ॥ २७ ॥

तामुत्थाप्य परिष्वज्य सान्त्वयामास केशवः।
अभयं रुक्मिणे दत्त्वा प्रययौ स्वपुरीं ततः ॥ २८ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने उसे उठाकर हृदयसे लगा लिया और भलीभाँति सान्त्वना दी। फिर रुक्मीको अभय देकर वे अपनी पुरीको चले गये ॥ २८ ॥

वृष्णयोऽपि जरासंधं भङ्क्त्वा तांश्चैव पार्थिवान्।
प्रययुर्द्वारकां हृष्टाः पुरस्कृत्य हलायुधम् ॥ २९ ॥

वृष्णिवंशी भी जरासंध तथा उन राजाओंको पीछे हटाकर हर्षसे उल्लसित हो बलरामजीको आगे करके द्वारकापुरीकी ओर चल दिये ॥ २९ ॥

प्रयाते पुण्डरीकाक्षे श्रुतर्वाभ्येत्य संगरे।
रुक्मिणं रथमारोप्य प्रययौ स्वां पुरीं प्रति ॥ ३० ॥

कमलनयन श्रीकृष्णके चले जानेपर श्रुतर्वा रणभूमिमें आया और रुक्मीको रथपर बिठाकर अपनी पुरीकी ओर ले चला ॥ ३० ॥

अनानीय स्वसारं तु रुक्मी मानमदान्वितः।
हीनप्रतिज्ञो नैच्छत् स प्रवेष्टुं कुण्डिनं पुरम् ॥ ३१ ॥

अभिमान और मदसे उन्मत्त रहनेवाला रुक्मी अपनी बहिनको लौटाकर न ला सका, इसलिये उसकी प्रतिज्ञा भङ्ग हो गयी। इसीसे उसने कुण्डिनपुरमें प्रवेश करनेकी इच्छा नहीं की ॥ ३१ ॥

विदर्भेषु निवासार्थं निर्ममेऽन्यत् पुरं महत्।
तद् भोजकटमित्येव बभूव भुवि विश्रुतम् ॥ ३२ ॥

उसने विदर्भ देशमें अपने रहनेके लिये दूसरे विशाल नगरका निर्माण किया, जो इस भूतलपर भोजकटके नामसे विख्यात हुआ ॥ ३२ ॥

तत्रौजसा महातेजा दक्षिणां दिशमन्वगात्।
भीष्मकः कुण्डिने चैव राजोवास महाभुजः ॥ ३३ ॥

उस महातेजस्वी वीरने वहाँ बलपूर्वक रहकर दक्षिण दिशाका शासन किया और महाबाहु राजा भीष्मक कुण्डिनपुरमें रहने लगे ॥ ३३ ॥

द्वारकां चापि सम्प्राप्ते रामे वृष्णिबलान्विते।
रुक्मिण्याः केशवः पाणिं जग्राह विधिवत् प्रभुः ॥ ३४ ॥

वृष्णिवंशियोंकी सेनाके साथ जब बलरामजी द्वारकामें पहुँचे, तब भगवान् श्रीकृष्णने विधिपूर्वक रुक्मिणीका पाणिग्रहण किया ॥ ३४ ॥

ततः सह तया रेमे प्रियया प्रीयमाणया।
सीतयेव पुरा रामः पौलोम्येव पुरंदरः ॥ ३५ ॥

पूर्वकालमें जैसे श्रीरामचन्द्रजी सीता और देवराज इन्द्र पुलोमकुमारी शचीके साथ सानन्द रमण करते थे, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न हुई प्रिय पत्नी रुक्मिणीके साथ रमण करने लगे ॥ ३५ ॥

सा हि तस्याभवज्ज्येष्ठा पत्नी कृष्णस्य भामिनी।
पतिव्रता गुणोपेता रूपशीलगुणान्विता ॥ ३६ ॥

वह श्रीकृष्णकी ज्येष्ठ पत्नी थी। भामिनी रुक्मिणी पतिव्रता, सद्गुणवती, रूपवती, सुशीला तथा अन्यान्य उत्तम गुणोंसे सम्पन्न थी ॥ ३६ ॥

तस्यामुत्पादयामास पुत्रान् दश महारथान्।
चारुदेष्णं सुदेष्णं च प्रद्युम्नं च महाबलम् ॥ ३७ ॥
सुषेणं चारुगुप्तं च चारुबाहुं च वीर्यवान्।
चारुविन्दं सुचारुं च भद्रचारुं तथैव च ॥ ३८ ॥
चारुं च बलिनां श्रेष्ठं सुतां चारुमतीं तथा।
धर्मार्थकुशलास्ते तु कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥ ३९ ॥

बल और पराक्रमसे युक्त श्रीकृष्णने रुक्मिणीके गर्भसे दस पराक्रमी पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम इस प्रकार हैं—चारुदेष्ण, सुदेष्ण, महाबली प्रद्युम्न, सुषेण, चारुगुप्त, चारुबाहु, चारुविन्द, सुचारु, भद्रचारु तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ चारु। इनके सिवा एक कन्याको भी उन्होंने जन्म दिया, जिसका नाम चारुमती था। वे सभी पुत्र धर्म और अर्थमें कुशल, अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता तथा युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले वीर थे ॥ ३७—३९ ॥

महिषीरष्ट कल्याणीस्ततोऽन्या मधुसूदनः।
उपयेमे महाबाहुर्गुणोपेताः कुलोद्भवाः ॥ ४० ॥
कालिन्दीं मित्रविन्दां च सत्यां नाग्नजितीमपि।
सुतां जाम्बवतश्चापि रोहिणीं कामरूपिणीम् ॥ ४१ ॥
मद्रराजसुतां चापि सुशीलां शुभलोचनाम्।
सात्राजितीं सत्यभामां लक्ष्मणां चारुहासिनीम् ॥४२॥
शैब्यस्य च सुतां तन्वीं रूपेणाप्सरसोपमाम्।
स्त्रीसहस्राणि चान्यानि षोडशातुलविक्रमः ॥ ४३ ॥
उपयेमे हृषीकेशः सर्वा भेजे स ताः समम्।

तदनन्तर महाबाहु मधुसूदनने कल्याणस्वरूपा सद्गुणवती तथा उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई अन्य आठ पटरानियोंके साथ विवाह किया, जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. (सूर्य-पुत्री) कालिन्दी, २. (श्रीकृष्णकी बुआ राजाधिदेवीके गर्भसे अवन्ती देशमें उत्पन्न हुई) मित्रविन्दा, ३. (अयोध्यानरेश) नग्नजित्‌की पुत्री सत्या, ४. जाम्बवान्‌की पुत्री जाम्बवती, ५. इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली रोहिणी (जिसका दूसरा नाम भद्रा था। केकयनरेशकी पुत्री होनेसे यही कैकेयी कहलाती थी। यह श्रीकृष्णकी बुआ श्रुतकीर्तिकी कन्या थी।), ६. मद्रराजकी सुशीला एवं शुभलोचना पुत्री मनोहर मुसकानवाली लक्ष्मणा, ७. सत्राजित्‌की पुत्री सत्यभामा, ८. राजा शैब्यकी तन्वङ्गी पुत्री (गान्धारी), जो रूपमें अप्सराके समान थी। इनके सिवा सोलह हजार और स्त्रियाँ थीं। उन सबके साथ अतुल पराक्रमी श्रीकृष्णने एक ही समय उतने ही रूप धारण करके विवाह किया था ॥ ४०—४३½ ॥

परार्ध्यवस्त्राभरणाः कामैः सर्वैः सुखोचिताः।
जज्ञिरे तासु पुत्राश्च तस्य वीराः सहस्रशः ॥ ४४ ॥

उन सबके वस्त्र और आभूषण बहुमूल्य थे। वे सब-के-सब सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न तथा सुख भोगनेके योग्य थीं। उन सबके गर्भसे श्रीकृष्णके सहस्रों वीर पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ ४४ ॥

शास्त्रार्थकुशलाः सर्वे बलवन्तो महारथाः।
यज्वानः पुण्यकर्माणो महाभागा महाबलाः ॥ ४५ ॥

वे सभी पुत्र शास्त्रार्थकुशल, बलवान्, महारथी, यज्ञकर्ता, पुण्यकर्मा, महान् भाग्यशाली तथा महाबली थे ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि रुक्मिणीहरणं नाम षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें रुक्मिणीहरणविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

रुक्मीकी पुत्री शुभाङ्गीद्वारा स्वयंवरमें प्रद्युम्नका वरण, प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्धका रुक्मीकी पौत्री रुक्मवतीके साथ विवाह तथा बलरामद्वारा रुक्मीका वध

वैशम्पायन उवाच

ततः काले व्यतीते तु रुक्मी महति वीर्यवान्।
दुहितुः कारयामास स्वयंवरमरिंदमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर दीर्घकाल व्यतीत हो जानेके पश्चात् शत्रुओंका दमन करनेवाले पराक्रमी वीर रुक्मीने अपनी पुत्रीका स्वयंवर रचाया ॥ १ ॥

तत्राहूता हि राजानो राजपुत्राश्च रुक्मिणा।
समाजग्मुर्महावीर्या नानादिग्भ्यः श्रियान्विताः ॥२॥

उसमें रुक्मीका बुलावा पाकर विभिन्न दिशाओंसे बहुतेरे महापराक्रमी श्रीसम्पन्न राजा और राजकुमार आये ॥ २ ॥

तत्राजगाम प्रद्युम्नः कुमारैरपरैर्वृतः।
सा हि तं चकमे कन्या स च तां शुभलोचनाम् ॥ ३ ॥

वहाँ बहुत-से अन्य यदुकुमारोंके साथ प्रद्युम्न भी आये थे। रुक्मीकी कन्या उन्हें चाहती थी और प्रद्युम्न भी उस शुभलोचना राजकुमारीको पानेकी इच्छा रखते थे ॥ ३ ॥

शुभाङ्गी नाम वैदर्भी कान्तिद्युतिसमन्विता।
पृथिव्यामभवत् ख्याता रुक्मिणस्तनया तदा ॥ ४ ॥

उस विदर्भ-राजकुमारीका नाम था शुभाङ्गी। वह कान्ति और शोभासे सम्पन्न थी। रुक्मीकी वह कन्या उन दिनों अपने रूप-सौन्दर्यके लिये समस्त भूमण्डलमें विख्यात थी ॥ ४ ॥

उपविष्टेषु सर्वेषु पार्थिवेषु महामखे।
वैदर्भी वरयामास प्रद्युम्नमरिसूदनम् ॥ ५ ॥

जब सभी महामनस्वी भूपाल स्वयंवरसभामें बैठ गये,

तब उस विदर्भराजकुमारीने आकर शत्रुसूदन प्रद्युम्नका वरण कर लिया ॥ ५ ॥

स हि सर्वास्त्रकुशलः सिंहसंहननो युवा ।
रूपेणाप्रतिमो लोके केशवस्यात्मजोऽभवत् ॥ ६ ॥

प्रद्युम्न सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञान एवं प्रयोगमें कुशल थे । उनका शरीर सिंहके समान सुदृढ़ था । वे नवयुवक थे । रूपमें श्रीकृष्णके उस पुत्रकी समानता करनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं था ॥ ६ ॥

वयोरूपगुणोपेता राजपुत्री च साभवत् ।
नारायणीवेन्द्रसेना जातकामा च तं प्रति ॥ ७ ॥

वह राजकुमारी भी नयी अवस्था, सुन्दर रूप और उत्तम गुणोंसे सम्पन्न थी । जैसे नारायणी इन्द्रसेना अपने पति महर्षि मुद्गलके प्रति प्रेम करती थी, उसी प्रकार शुभाङ्गी भी प्रद्युम्नके प्रति अनुरक्त थी ॥ ७ ॥

वृत्ते स्वयंवरे जग्मू राजानः स्वपुराणि ते ।
उपादाय च वैदर्भीं प्रद्युम्नो द्वारकां ययौ ॥ ८ ॥

स्वयंवर समाप्त हो जानेपर सब राजा अपने-अपने नगरको चले गये और प्रद्युम्न उस विदर्भराजकुमारीको साथ लेकर द्वारका चले आये ॥ ८ ॥

रेमे सह तया वीरो दमयन्त्या नलो यथा ।
स तस्यां जनयामास देवगर्भोपमं सुतम् ॥ ९ ॥

वीर प्रद्युम्न उसके साथ उसी प्रकार रमण करने लगे, जैसे राजा नल दमयन्तीके साथ करते थे । उन्होंने वैदर्भीके गर्भसे देवकुमारके समान तेजस्वी पुत्रको जन्म दिया ॥ ९ ॥

अनिरुद्धमिति ख्यातं कर्मणाप्रतिमं भुवि ।
धनुर्वेदे च वेदे च नीतिशास्त्रे च पारगम् ॥ १० ॥

उसका नाम था अनिरुद्ध । वह अपने पराक्रमपूर्ण कार्योंद्वारा भूमण्डलमें अनुपम वीर माना जाता था । वह धनुर्वेद, वेद तथा नीतिशास्त्रका पारंगत विद्वान् था ॥ १० ॥

अभवत् स यदा राजन्ननिरुद्धो वयोऽन्वितः ।
तदास्य रुक्मिणः पौत्रीं रुक्मिणी रुक्मसंनिभाम् ।
पत्न्यर्थे वरयामास नाम्ना रुक्मवतीति सा ॥ ११ ॥

राजन् ! जब अनिरुद्ध युवावस्थासे सम्पन्न हुए, तब रुक्मिणीने उनकी पत्नी बनानेके लिये रुक्मीकी पौत्रीको, जो सुवर्णके समान गौर वर्णवाली थी, उससे माँगा । उसका नाम था रुक्मवती ॥ ११ ॥

अनिरुद्धगुणैर्दातुं कृतबुद्धिर्नृपस्ततः ।
प्रीत्या हि रौक्मिणेयस्य रुक्मिण्याश्चाप्युपग्रहात् ॥ १२ ॥
विस्पर्द्धन्नपि कृष्णेन वैरं त्यज्य महायशाः ।
ददामीत्यब्रवीद् राजा प्रीतिमाञ्जनमेजय ॥ १३ ॥

जनमेजय ! राजा रुक्मी अनिरुद्धके गुणोंसे ही आकृष्ट होकर अपनी पौत्रीका विवाह उनके साथ करना चाहता था, अतः रुक्मिणीके आग्रहसे उसे राजी रखनेके लिये तथा प्रद्युम्नकी प्रसन्नताके निमित्त उस महायशस्वी राजाने श्रीकृष्णके साथ स्पर्धा रखते हुए भी वैर त्यागकर प्रसन्नतापूर्वक कहा कि 'मैं अपनी पौत्री अनिरुद्धके लिये दे रहा हूँ' ॥ १२-१३ ॥

केशवः सह रुक्मिण्या पुत्रैः संकर्षणेन च ।
अन्यैश्च वृष्णिभिः सार्द्धं विदर्भान् सबलो ययौ ॥ १४ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्ण अपनी पत्नी रुक्मिणी, प्रद्युम्न आदि पुत्रगण, भैया बलराम तथा अन्य वृष्णिवंशी योद्धाओंके साथ सेनासहित विदर्भदेशमें गये ॥ १४ ॥

संयुक्ता ज्ञातयश्चैव रुक्मिणः सुहृदश्च ये ।
आहूता रुक्मिणा तेऽपि तत्राजग्मुर्नराधिपाः ॥ १५ ॥

उस विवाहोत्सवमें रुक्मीके भाई-बन्धु और सुहृद् नरेश भी उसका निमन्त्रण पाकर वहाँ आये थे ॥ १५ ॥

शुभे तिथौ महाराज नक्षत्रे चाभिपूजिते ।
विवाहः सोऽनिरुद्धस्य बभूव परमोत्सवः ॥ १६ ॥

महाराज ! शुभ तिथि तथा उत्तम नक्षत्रमें अनिरुद्धका वह परम उत्सवमय विवाह-कार्य सम्पन्न हुआ ॥ १६ ॥

पाणौ गृहीते वैदर्भ्यास्त्वनिरुद्धेन तत्र वै ।
वैदर्भयादवानां च बभूव परमोत्सवः ॥ १७ ॥

जब अनिरुद्धने विदर्भराजकुमारी रुक्मवतीका पाणिग्रहण किया, उस समय विदर्भनिवासियों तथा यादवोंके मनमें बड़ा हर्ष हुआ ॥ १७ ॥

रेमिरे वृष्णयस्तत्र पूज्यमाना यथामराः ।
अथाश्मकानामधिपो वेणुदारिरुदारधीः ॥ १८ ॥
अक्षः श्रुतर्वा चाणूरः क्राथश्चैवांशुमानपि ।
जयत्सेनः कलिङ्गानामधिपश्च महाबलः ॥ १९ ॥
पाण्ड्यश्च नृपतिः श्रीमानृषीकाधिपतिस्तथा ।
एते सम्मन्त्र्य राजानो दाक्षिणात्या महर्द्धयः ॥ २० ॥
अभिगम्याब्रुवन् सर्वे रुक्मिणं रहसि प्रभुम् ।

वैदर्भोंद्वारा पूजित हुए यदुवंशी वहाँ देवताओंके समान आनन्दपूर्वक रम रहे थे । इसी समय अश्मक देशका अधिपति उदारबुद्धि वेणुदारि, अक्ष, श्रुतर्वा, चाणूर, क्रथपुत्र अंशुमान्, कलिङ्गदेशका अधिपति जयत्सेन, राजा पाण्ड्य तथा श्रीमान् ऋषीकनरेश—ये सब अत्यन्त समृद्धिशाली दाक्षिणात्य नरेश एकान्तमें सामर्थ्यशाली रुक्मीके पास जाकर बोले—॥ १८—२०½ ॥

भवानक्षेषु कुशलो वयं चापि रिरंसवः ॥ २१ ॥
प्रियद्यूतश्च रामोऽसावक्षेष्वनिपुणोऽपि च ।

'आप अक्षविद्या (द्यूत) में कुशल हैं और हमलोग भी द्यूतक्रीड़ाकी इच्छा रखते हैं । उधर बलराम द्यूतक्रीड़ामें निपुण न होनेपर भी उससे प्रेम रखते हैं ॥ २१½ ॥

ते भवन्तं पुरस्कृत्य जेतुमिच्छाम तं वयम्।
इत्युक्तो रोचयामास रुक्मी द्यूतं महारथः ॥ २२ ॥

'अतः हम चाहते हैं कि आपको आगे करके बलरामको द्यूतक्रीडाद्वारा जीत लें।' उनके ऐसा कहनेपर महारथी रुक्मीको जुआ खेलनेकी बात पसंद आ गयी ॥ २२ ॥

ते शुभां काञ्चनस्तम्भां कुसुमैर्भूषिताजिराम्।
सभामाविविशुर्हृष्टाः सिक्तां चन्दनवारिणा ॥ २३ ॥

तदनन्तर वे समस्त भूपाल बड़े हर्षके साथ सुन्दर द्यूत-सभामें प्रविष्ट हुए, जिसमें सोनेके खम्भे लगे थे और जिसके आँगनको फूलोंसे सजाया गया था। उस सभामें चन्दनके जलसे छिड़काव किया गया था ॥ २३ ॥

तां प्रविश्य ततः सर्वे शुभ्रस्रगनुलेपनाः।
सौवर्णेष्वासनेष्वासांचक्रिरे विजिगीषवः ॥ २४ ॥

सुन्दर माला और चन्दनसे अलंकृत हो उस सभामें प्रवेश करके वे सभी राजा सोनेके सिंहासनोंपर बैठ गये। उन सबकी यही इच्छा थी कि हम बलभद्रको जीत लें ॥ २४ ॥

आहूतो बलदेवस्तु कितवैरक्षकोविदैः।
बाढमित्यब्रवीद्धृष्टः सह दीव्याम पण्यताम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर द्यूतक्रीडामें निपुण जुआरियोंद्वारा बलदेवजीको आमन्त्रित किया गया। वे 'बहुत अच्छा' कहकर प्रसन्नता-पूर्वक बोले—'अच्छा, हमलोग साथ-साथ खेलें। आपलोग दाँव लगाइये' ॥ २५ ॥

निकृत्या विजिगीषन्तो दाक्षिणात्या नराधिपाः।
मणिमुक्ताः सुवर्णं च तत्रानिन्युः सहस्रशः ॥ २६ ॥

छलसे जीतनेकी इच्छा रखनेवाले दाक्षिणात्य नरेश वहाँ सहस्रों मणि, मोती एवं सुवर्ण ले आये ॥ २६ ॥

ततः प्रावर्तत द्यूतं तेषां रतिविनाशनम्।
कलहस्यास्पदं घोरं दुर्मतीनां क्षयावहम् ॥ २७ ॥

फिर तो उनमें द्यूत आरम्भ हुआ, जो पारस्परिक प्रेमका नाश करनेवाला एवं कलहका घोर स्थान है तथा दुर्बुद्धि पुरुषोंका संहार करनेवाला है ॥ २७ ॥

निष्काणां च सहस्राणि सुवर्णस्य दशादितः।
रुक्मिणा सह सम्पाते बलदेवो ग्लहं ददौ ॥ २८ ॥

बलदेवजीने रुक्मीके साथ जुआ खेलते समय पहले दस हजार सोनेकी मोहरें दाँवपर रखीं ॥ २८ ॥

तं जिगाय ततो रुक्मी यतमानं महाबलम्।
तावदेवापरं भूयो बलदेवं जिगाय सः ॥ २९ ॥

महाबली बलदेव जीतनेका प्रयत्न करते ही रह गये, परंतु रुक्मीने उस दाँवको जीत लिया। तत्पश्चात् उसने पुनः बलदेवका उतना ही सुवर्ण जीता ॥ २९ ॥

असकृज्जीयमानस्तु रुक्मिणा केशवाग्रजः।
सुवर्णकोटीर्जग्राह ग्लहं तस्य महात्मनः ॥ ३० ॥

रुक्मीके द्वारा बारंबार जीते जानेपर श्रीकृष्णके बड़े भाई बलरामने उस महामनस्वी रुक्मीके दाँवपर एक करोड़ सुवर्णमुद्राएँ लेकर रक्खीं ॥ ३० ॥

जितमित्येव हृष्टोऽथ नमाहूतिरभाषत।
श्लाघ्यमानश्च चिक्षेप प्रहसन् मुसलायुधम् ॥ ३१ ॥

रुक्मी अत्यन्त कुटिल था। वह हर्षमें भरकर बोल उठा—'मैंने ही जीता।' सब राजा उसकी प्रशंसा करने लगे। उसने हँसते हुए वहाँ मुसलधारी बलरामजीपर आक्षेप किया—॥ ३१ ॥

अविद्यो दुर्बलः श्रीमान् हिरण्यममितं मया।
अजेयो बलदेवोऽयमक्षद्यूते पराजितः ॥ ३२ ॥

'ये श्रीमान् बलदेव विद्याहीन एवं दुर्बल हैं। ये अजेय बनते थे; परंतु आज इस अक्षद्यूतमें मुझसे पराजित हो गये। मैंने इनसे असंख्य सुवर्ण जीता है' ॥ ३२ ॥

कलिङ्गराजस्तच्छ्रुत्वा प्रजहास भृशं तदा।
दन्तान् संदर्शयन् हृष्टस्तत्राक्रुद्ध्यद्धलायुधः ॥ ३३ ॥

रुक्मीकी वह बात सुनकर कलिङ्गराज हर्षसे उल्लसित हो उठा। वह अपने दाँत दिखा-दिखाकर जोर-जोरसे हँसने लगा। तब वहाँ बलरामजी कुपित हो उठे ॥ ३३ ॥

रुक्मिणस्तद् वचः श्रुत्वा पराजयनिमित्तजम्।
निगृह्यमाणस्तीक्ष्णाभिर्वाग्भिर्भीष्मकसूनुना ॥ ३४ ॥
रोषमाहारयामास जितरोषोऽपि धर्मवित्।
संक्रुद्धो धर्षणां प्राप्य रौहिणेयो महाबलः ॥ ३५ ॥

रुक्मीके उस वचनको, जो बलदेवजीकी पराजयको निमित्त बनाकर कहा गया था, जब उन्होंने सुना और जब भीष्मकपुत्र रुक्मी अपने तीखे वचनोंसे उन्हें निगृहीत करने लगा, तब महाबली रोहिणीकुमार बलरामजी उस तिरस्कार-को पाकर अत्यन्त कुपित हो उठे। यद्यपि वे धर्मज्ञ थे, उन्होंने रोषपर विजय भी पायी थी, तो भी उस समय उनके मनमें बड़ा भारी रोष हुआ ॥ ३४-३५ ॥

धैर्येण मनः संनिधाय ततो वचनमब्रवीत्।
दशकोटिसहस्राणि ग्लह एको ममापरः ॥ ३६ ॥
एनं सम्परिगृह्णीष्व पातयाक्षान् नराधिप।
कृष्णाक्षाँल्लोहिताक्षांश्च देशेऽस्मिंस्त्वधिपांसुले ॥ ३७ ॥
इत्येवमाह्वयामास रुक्मिणं रोहिणीसुतः।

इतनेपर भी उन्होंने धैर्यपूर्वक मनको काबूमें किया और इस प्रकार कहा—'विदर्भनरेश्वर! दस सहस्र कोटि स्वर्ण मुद्राओंका यह मेरा एक दूसरा दाँव है। इसे ग्रहण करो और इस अधिक रजोगुणी देश-कालमें तुम काले और लाल पासे

फेंको।' ऐसा कहकर रोहिणीकुमार बलरामने पुनः जुआ खेलनेके लिये ललकारा ॥ ३६-३७½ ॥

अनुक्त्वा वचनं किंचिद् बाढमित्यब्रवीत् पुनः॥ ३८ ॥
अक्षान् रुक्मी ततो हृष्टः पातयामास पार्थिवः ।

इसके उत्तरमें राजा रुक्मीने कोई दूसरी बात न कहकर फिर इतना ही कहा कि 'बहुत अच्छा।' इसके बाद उसने हर्षपूर्वक पासे फेंके ॥ ३८½ ॥

चातुरक्षे तु निर्वृत्ते निर्जितस्य नराधिपः ॥ ३९ ॥
बलदेवेन धर्मेण नेत्युवाच ततो बलम् ।

उस समय चार अंकवाला पासा गिरा। उसके अनुसार बलदेवजीने धर्मतः उसे हरा दिया था, तो भी उस नरेश्वरने बलदेवजीसे यही कहा कि 'आपकी विजय नहीं हुई है' ३९½

धैर्यान्मनः समाधाय स न किंचिदुवाच ह ॥ ४० ॥
बलदेवं ततो रुक्मी मया जितमिति स्मयन् ।

बलरामजीने पुनः अपने मनको धैर्यपूर्वक काबूमें करके कोई बात नहीं कही। तब रुक्मीने मुसकराते हुए बलरामजीसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता है' ॥ ४०½॥

बलदेवस्तु तच्छ्रुत्वा जिह्मं वाक्यं नराधिप ॥ ४१ ॥
भूयः क्रोधसमाविष्टो नोत्तरं व्याजहार ह ।

नरेश्वर! उसकी यह कुटिलतापूर्ण बात सुनकर बलदेवजीको पुनः बड़ा क्रोध हुआ, तथापि उन्होंने उसे कोई उत्तर नहीं दिया ॥ ४१½ ॥

ततो गम्भीरनिर्घोषा वागुवाचाशरीरिणी ॥ ४२ ॥
बलदेवस्य तं क्रोधं वर्धयन्ती महात्मनः ।

तब गम्भीर घोषके साथ वहाँ आकाशवाणी हुई, जो महात्मा बलदेवके क्रोधको बढ़ानेवाली थी ॥ ४२½ ॥

सत्यमाह बलः श्रीमान् धर्मेणैष पराजितः ॥ ४३ ॥
अनुक्त्वा वचनं किंचित् प्राप्तो भवति कर्मणा ।
मनसा समनुज्ञातं तत् स्यादित्यवगम्यताम् ॥ ४४ ॥

'श्रीमान् बलदेवजी सत्य कहते हैं। यह रुक्मी धर्मतः पराजित हो चुका है। यद्यपि इसने दाँव लगाते समय कोई बात नहीं कही थी तो भी इसने जो पासा फेंकने आदिका कर्म किया, उससे उस दाँवमें इसका सहयोग स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसने मनसे उस दाँवको स्वीकार कर लिया था, ऐसा समझना चाहिये' ॥ ४३-४४ ॥

इति श्रुत्वा वचस्तथ्यमन्तरिक्षात् सुभाषितम् ।
संकर्षणस्तथोत्थाय सौवर्णेनोरुणा बली ॥ ४५ ॥
रुक्मिण्या भ्रातरं ज्येष्ठं निजघान महीतले ।

आकाशसे सुन्दर ढंगसे कहा गया यह यथार्थ वचन सुनकर बलवान् संकर्षण उठकर खड़े हो गये और उन्होंने सोनेके बने हुए विशाल अष्टापदके[1] द्वारा रुक्मिणीके बड़े भाई रुक्मीको पृथ्वीपर मार गिराया ॥ ४५½ ॥

विवादे कुपितो रामः क्षेप्तारं किल रुक्मिणम् ।
अघानाष्टापदेनैव प्रमथ्य यदुनन्दनः ॥ ४६ ॥

विवादमें कुपित हुए यदुनन्दन बलरामने अपने ऊपर आक्षेप करनेवाले रुक्मीको पटककर अष्टापदसे ही मार डाला।

ततोऽपसृत्य संक्रुद्धः कलिङ्गाधिपतेरपि ।
दन्तान् बभञ्ज संरम्भाद्विननाद च सिंहवत् ॥ ४७ ॥

वहाँसे हटकर अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए संकर्षणने कलिङ्गराज जयत्सेनके सारे दाँत तोड़ डाले तथा रोषसे वे सिंहके समान दहाड़ने लगे ॥ ४७ ॥

खड्गमुद्यम्य तान्सर्वांस्त्रासयामास पार्थिवान् ।
स्तम्भं सभायाः सौवर्णमुत्पाट्य बलिनां वरः ॥ ४८ ॥

इसके बाद उन्होंने तलवार उठाकर समस्त राजाओंको भयभीत कर दिया। फिर द्यूतसभाके सुवर्णमय खम्भको उखाड़कर बलवानोंमें श्रेष्ठ बलरामजी आगे बढ़े ॥ ४८ ॥

गजेन्द्र इव तं स्तम्भं कर्षन् संकर्षणस्ततः ।
निर्जगाम सभाद्वारात् त्रासयामास कैशिकान्॥ ४९ ॥

गजराजके समान उस खंभेको खींचकर लिये जाते हुए संकर्षण जब सभाद्वारसे बाहर निकले, तब उन्होंने समस्त कैशिकोंको भयभीत कर दिया ॥ ४९ ॥

रुक्मिणं निकृतिप्रज्ञं स हत्वा यादवर्षभः ।
वित्रास्य विद्विषः सर्वान् सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ५० ॥

इस प्रकार छल-कपटमें चतुर रुक्मीको मारकर यादवप्रवर बलरामने समस्त शत्रुओंको उसी तरह भयमें डाल दिया, जैसे सिंह छोटे पशुओंको भयभीत कर देता है ॥५०॥

जगाम शिबिरं रामः स्वयमेव जनावृतः ।
न्यवेदयत् स कृष्णाय तत्र सर्वं यथाभवत् ॥ ५१ ॥

तदनन्तर स्वजनोंसे घिरे हुए बलराम अपने शिविरमें गये और द्यूतसभामें जो कुछ हुआ था, वह सब स्वयं ही उन्होंने श्रीकृष्णको बता दिया ॥ ५१ ॥

नोवाच स तदा कृष्णः किंचिद् रामं महाद्युतिः ।
निगृह्य च तदाऽऽत्मानं कृच्छ्रादश्रूण्यवर्तयत् ॥ ५२ ॥

उस समय महातेजस्वी श्रीकृष्णने बलरामजीसे कुछ नहीं कहा; वे अपने आपको किसी तरह सँभालकर बड़े कष्टसे आँसू बहाने लगे ॥ ५२ ॥

न हतो वासुदेवेन यः पूर्वं परवीरहा ।
ज्येष्ठो भ्राताथ रुक्मिण्या रुक्मिणीस्नेहकारणात् ५३

---

१. अमरकोषके अनुसार शारिफल (शतरंज या चौसरकी बिछौत अथवा बिसात) को अष्टापद कहते हैं।

स रामकरमुक्तेन निहतो द्यूतमण्डले।
अष्टापदेन बलवान् राजा वज्रधरोपमः ॥ ५४ ॥

भगवान् वासुदेवने पहले रुक्मिणीके प्रति स्नेहके कारण उसके जिस बड़े भाईको नहीं मारा था, वही वज्रधारी इन्द्रके समान बलवान् एवं शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला राजा रुक्मी बलरामजीके हाथसे छूटे हुए अष्टापदके द्वारा मार डाला गया॥

तस्मिन् हते महावीर्ये नृपतौ भीष्मकात्मजे।
द्रुमभार्गवतुल्ये वै द्रुमभार्गवशिक्षिते ॥ ५५ ॥
कृतौ च युद्धकुशले नित्ययाजिनि पातिते।
वृष्णयश्चान्धकाश्चैव सर्वे विमनसोऽभवन् ॥ ५६ ॥

भीष्मकपुत्र राजा रुक्मी महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न था। वह द्रुम और परशुरामजीसे अस्त्र-शिक्षा पाकर उन्हीं दोनोंके समान पराक्रमी हो गया था। रुक्मी विद्वान्, युद्ध-कुशल और नित्य यज्ञ करनेवाला था। उसके मारे जानेपर वृष्णि और अन्धकवंशके सभी वीर उदास हो गये ॥५५-५६॥

वैशम्पायन उवाच

रुक्मिणी च महाभागा विलपन्त्यार्तया गिरा।
विलपन्तीं तथा दृष्ट्वा सान्त्वयामास केशवः ॥ ५७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! (भाईके मारे जानेसे) महाभागा रुक्मिणी आर्तवाणीमें विलाप करने लगीं। उन्हें रोती-बिलखती देख भगवान् कृष्णने सान्त्वना दी॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं रुक्मिणो निधनं यथा।
वैरस्य च समुत्थानं वृष्णिभिर्भरतर्षभ ॥ ५८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह मैंने तुम्हें रुक्मीके वधका यथावत् वृत्तान्त बताया है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उसका वृष्णिवंशियोंके साथ किस प्रकार वैर हुआ था ? ॥

वृष्णयोऽपि महाराज धनान्यादाय सर्वशः।
रामकृष्णौ समाश्रित्य ययुर्द्वारवतीं प्रति ॥ ५९ ॥

महाराज ! वृष्णिवंशी भी वहाँसे सब प्रकारके धन लेकर बलराम और श्रीकृष्णका आश्रय ले द्वारकापुरीको चले गये ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि रुक्मिवधो नामैकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें रुक्मीका वधविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

बलदेवजीका माहात्म्य, उनके द्वारा हस्तिनापुरको गङ्गामें गिरानेका अद्भुत प्रयत्न

राजोवाच

भूय एव तु विप्रर्षे बलदेवस्य धीमतः।
माहात्म्यं श्रोतुमिच्छामि शेषस्य धरणीभृतः ॥ १ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मर्षे ! धरतीको धारण करनेवाले शेषके अवतार बुद्धिमान् बलरामके माहात्म्यको मैं पुनः सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

अतीव बलदेवं तं तेजोराशिमनिर्जितम्।
कथयन्ति महात्मानं ये पुराणविदो जनाः ॥ २ ॥

जो पुराणवेत्ता पुरुष हैं, वे महात्मा बलदेवको अत्यन्त तेजकी राशि और अपराजित बताते हैं ॥ २ ॥

तस्य कर्माण्यहं विप्र श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
अनन्तं यं विदुर्नागमादिदेवं महौजसम् ॥ ३ ॥

विप्रवर ! मैं उनके कर्मोंको पुनः यथार्थरूपसे श्रवण करना चाहता हूँ, जिन्हें विद्वान् पुरुष महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न आदिदेव अनन्त नागके रूपमें जानते हैं ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

पुराणे नागराजोऽसौ पठ्यते धरणीधरः।
शेषस्तेजोनिधिः श्रीमानकम्प्यः पुरुषोत्तमः ॥ ४ ॥
योगाचार्यो महावीर्यो देवमन्त्रप्रमुखो बली।
जरासंधं गदायुद्धे जितवान् यो न चावधीत् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पुराणमें बलभद्रजीको साक्षात् नागराज धरणीधर शेष बताया जाता है। वे तेजकी निधि, दिव्य शोभासे सम्पन्न, कभी कम्पित न होनेवाले और पुरुषोत्तम हैं। वे योगके आचार्य, महा-पराक्रमी, बलवान् तथा देवताओंकी गुप्त मन्त्रणाको सुनने और उसपर विचार करनेवालोंमें प्रधान हैं। उन्होंने गदा-युद्धमें जरासंधको जीत लिया, परंतु उसका वध नहीं किया॥

बहवश्चैव राजानः प्रथिताः पृथिवीतले।
अन्वयुर्मागधं सर्वे ते चापि विजिता रणे ॥ ६ ॥

भूतलके बहुत-से विख्यात राजा, जो सबके सब मगध-राज जरासंधका अनुसरण करते थे, युद्धमें बलदेवजीके द्वारा परास्त कर दिये गये ॥ ६ ॥

नागायुतबलप्राणो भीमो भीमपराक्रमः।
असकृद् बलदेवेन बाहुयुद्धे पराजितः ॥ ७ ॥

जिनमें दस हजार हाथियोंका बल था, वे भयानक पराक्रमी भीमसेन बाहुयुद्धमें बलदेवजीके द्वारा अनेक बार पराजित हो चुके थे ॥ ७ ॥

दुर्योधनस्य कन्यां तु हरमाणो न्यगृह्यत।
साम्बो जाम्बवतीपुत्रो नगरे नागसाह्वये ॥ ८ ॥
राजभिः सर्वतो रुद्धे हरमाणो बलात् किल।

एक समय दुर्योधनकी पुत्री लक्ष्मणाका अपहरण करते हुए जाम्बवतीकुमार साम्बको कौरवोंने हस्तिनापुरमें कैद कर लिया। यह नगर सब ओरसे राजाओंद्वारा घिरा हुआ था। कहते हैं, साम्ब बलपूर्वक उस कन्याको ले जा रहे थे, इसलिये उन्हें बंदी बनाया गया ॥ ८½ ॥

तदुपश्रुत्य संरुद्धमाजगाम महाबलः ॥ ९ ॥
रामस्तस्य तु मोक्षार्थमागतो नालभच्च तम्।

साम्बको कैद कर लिया गया है, यह सुनकर महाबली बलराम उन्हें छुड़ानेके लिये आये; परंतु वे शान्तिपूर्वक माँगनेपर साम्बको न पा सके ॥ ९½ ॥

ततश्चुक्रोध बलवानद्भुतं चाकरोन्महत् ॥ १० ॥
अनिवार्यमभेद्यं च दिव्यमप्रतिमं बले।
लाङ्गलास्त्रं समुद्यम्य ब्रह्ममन्त्राभिमन्त्रितम् ॥ ११ ॥
प्राकारवप्रे विन्यस्य पुरस्य च महाद्युतिः।
प्रक्षेप्तुमैच्छद् गङ्गायां नगरं कौरवस्य तत् ॥ १२ ॥

तब बलवान् बलराम कुपित हो उठे और उन्होंने वहाँ एक महान् अद्‌भुत कार्य कर दिखाया। महातेजस्वी बलरामजीने, जो किसीके द्वारा भी निवारण या भेदन करनेयोग्य नहीं है, उस अप्रतिम शक्तिशाली दिव्य हल नामक अस्त्रको उठाकर उसे ब्रह्ममन्त्रसे अभिमन्त्रित किया और कौरवनगर हस्तिनापुरके परकोटेकी नींवमें धँसाकर समूचे नगरको गङ्गाजीमें उलट देनेकी इच्छा की ॥ १०—१२ ॥

तद् विघूर्णितमालक्ष्य पुरं दुर्योधनो नृपः।
साम्बं निर्यातयामास सभार्यं तस्य धीमतः ॥ १३ ॥

अपने नगरको चक्कर काटता देख राजा दुर्योधनने तुरंत आकर बुद्धिमान् बलदेवजीकी सेवामें पत्नीसहित साम्बको लौटा दिया ॥ १३ ॥

ददौ शिष्यं तदाऽऽत्मानं रामस्य सुमहात्मनः।
गदायुद्धे कुरुपतिं शिष्यं जग्राह तं च सः ॥ १४ ॥

उस समय उसने अपने-आपको महात्मा बलरामजीके हाथमें शिष्य-भावसे सौंप दिया। तब उन्होंने कुरुराज दुर्योधनको गदायुद्धकी शिक्षा देनेके लिये अपना शिष्य बना लिया ॥

ततः प्रभृति राजेन्द्र पुरमेतद् विघूर्णितम्।
आवर्जितमिवाभाति गङ्गामभिमुखं नृप ॥ १५ ॥

राजेन्द्र! तभीसे यह नगर कुछ घुमा और गङ्गाकी ओर झुकाया हुआ-सा प्रतीत होता है ॥ १५ ॥

इदमत्यद्भुतं कर्म रामस्य कथितं भुवि।
भाण्डीरे कथितं राजन् यत् कृतं शौरिणा पुरा ॥ १६ ॥

राजन्! यह भूतलपर बलरामजीका अत्यन्त अद्‌भुत कर्म कहा गया है। पहले भाण्डीरवटके निकट उन्होंने जो कुछ किया था, उसका वर्णन तो कर ही दिया गया है ॥ १६ ॥

प्रलम्बं मुष्टिनैकेन यज्जघान हलायुधः।
धेनुकं तु महावीर्यं चिक्षेप नगमूर्द्धनि।
स गतायुः पपातोर्व्यां दैत्यो गर्दभरूपधृक् ॥ १७ ॥

उस समय हलधरने प्रलम्बको एक ही मुक्केसे मारकर कालके गालमें डाल दिया था और महापराक्रमी धेनुकासुरको ताड़की चोटीपर फेंक दिया था। वह गर्दभरूपधारी दैत्य वहींसे गतायु होकर पृथ्वीपर गिरा था ॥ १७ ॥

लवणजलगमा महानदी
द्रुतजलवेगतरङ्गमालिनी।
नगरमभिमुखं यदा हृता
हलविधृता यमुना यमस्वसा ॥ १८ ॥

खारे पानीके समुद्रमें मिलनेवाली यमकी बहिन महानदी यमुनाको, जो बहते हुए जलके वेग और तरंगोंसे अलंकृत थी, उन्होंने हलके द्वारा नगरकी ओर खींच लिया था ॥

बलदेवस्य माहात्म्यमेतत् ते कथितं मया।
अनन्तस्याप्रमेयस्य शेषस्य धरणीभृतः ॥ १९ ॥

जो अनन्त, अप्रमेय, धरणीधर शेषके अवतार हैं, उन बलदेवजीका माहात्म्य मैंने तुम्हें बता दिया ॥ १९ ॥

इति पुरुषवरस्य लाङ्गले-
र्बहुविधमुत्तममन्यदेव च।
यदकथितमिहाद्य कर्म ते
तदुपलभस्व पुराणविस्तरात् ॥ २० ॥

इस प्रकार पुरुषोत्तम हलधरके दूसरे-दूसरे भी उत्तम चरित्र हैं, उनके जिस कर्मकी यहाँ चर्चा नहीं की गयी है, उसे तुम विस्तृत पुराणोंसे जान लो ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि बलदेवमाहात्म्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें बलदेवका माहात्म्यविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

नरकासुरका परिचय, द्वारकामें इन्द्रका आगमन और श्रीकृष्णसे नरकवधके लिये अनुरोध, सत्यभामासहित श्रीकृष्णका प्राग्ज्योतिषपुरमें गमन तथा उनके द्वारा मुरु, निसुन्द, हयग्रीव, विरुपाक्ष, पञ्चनाद, अन्यान्य असुर तथा नरकासुरका वध

जनमेजय उवाच

प्रत्येत्य द्वारकां विष्णुर्हते रुक्मिणि वीर्यवान्।
अकरोद् यन्महाबाहुस्तन्मे वद महामुने ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—महामुने! रुक्मीके मारे जानेपर



भगवान् श्रीकृष्णका इन्द्रके साथ प्राग्ज्योतिषपुरके लिये अभियान (पृष्ठ-संख्या ४५६)

जब परम पराक्रमी महाबाहु श्रीकृष्ण द्वारकाको लौट आये, तब उन्होंने क्या किया; यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

स तैः परिवृतः श्रीमान् पुरीं यादवनन्दनः ।
द्वारकां भगवान् विष्णुः प्रत्यवैक्षत वीर्यवान् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीमान् यादव-नन्दन पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण उन यादवोंसे घिरे हुए जब द्वारकाको आये, तब उन्होंने उस पुरीका भलीभाँति निरीक्षण किया ॥ २ ॥

प्रत्यपद्यत रत्नानि विविधानि वसूनि च ।
यथार्हं पुण्डरीकाक्षो नैर्ऋतान् प्रत्यवारयत् ॥ ३ ॥

कमलनयन श्रीकृष्णने जो नाना प्रकारके धन और रत्न प्राप्त किये थे, उनका वे द्वारकामें यथोचितरूपसे संरक्षण करते थे और उन्हें हड़पनेकी इच्छावाले राक्षसोंको उन्होंने मार भगाया था ॥ ३ ॥

तत्र विघ्नं चरन्ति स्म दैतेयाः सह दानवैः ।
ताञ्जघान महाबाहुर्वरदत्तान् महासुरान् ॥ ४ ॥

वहाँ उनके मार्गमें दैत्य और दानव विघ्न डाला करते थे । महाबाहु श्रीकृष्णने वर पाकर उन्मत्त हुए उन बड़े-बड़े असुरोंको मार डाला ॥ ४ ॥

विघ्नं चास्याकरोत् तत्र नरको नाम दानवः ।
त्रासनः सर्वदेवानां देवराजरिपुर्महान् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् नरक नामक दानवने भगवान्‌के कार्यमें विघ्न डालना आरम्भ किया । वह समस्त देवताओंको भयभीत करनेवाला तथा देवराज इन्द्रका महान् शत्रु था ॥ ५ ॥

स भूमौ मूर्तिलिङ्गस्थः सर्वदेवाधिबाधिता ।
देवतानामृषीणां च प्रतीपमकरोत् तदा ॥ ६ ॥

समस्त देवताओंको बाधा देनेवाला नरकासुर भूमिके भीतर मूर्तिलिङ्ग[१]में स्थित होकर देवताओं और ऋषियोंके प्रति-कूल आचरण किया करता था ॥ ६ ॥

त्वष्टुर्दुहितरं भौमः कशेरुमगमत् तदा ।
गजरूपेण जग्राह रुचिराङ्गीं चतुर्दशीम् ॥ ७ ॥

भूमिका पुत्र होनेसे नरकको भौमासुर भी कहते हैं । उसने हाथीका रूप धारण करके प्रजापति त्वष्टाकी पुत्री कशेरुके, जो चौदह वर्षकी अवस्थावाली तथा सुन्दर अङ्गोंसे सुशोभित थी, समीप जाकर उसे पकड़ लिया ॥ ७ ॥

प्रमथ्य तां वरारोहां नरको वाक्यमब्रवीत् ।
नष्टशोकभयो मोहात् प्राग्ज्योतिषपतिस्तदा ॥ ८ ॥

नरकासुर प्राग्ज्योतिषपुरका राजा था । उसके शोक और भय नष्ट हो गये थे । वह मोहवश सुन्दरी कशेरुको अपनी दोनों भुजाओंमें दबाकर हर ले गया और उससे इस प्रकार बोला—॥ ८ ॥

यानि देवमनुष्येषु रत्नानि विविधानि च ।
बिभर्ति च मही कृत्स्ना सागरेषु च यद् वसु ॥ ९ ॥
अद्यप्रभृति तानीह सहिताः सर्वनैर्ऋताः ।
तवैवोपाहरिष्यन्ति दैत्याश्च सह दानवैः ॥ १० ॥

'देवि ! देवता और मनुष्योंके पास जो नाना प्रकारके रत्न हैं, सारी पृथ्वी जिन रत्नोंको धारण करती है तथा समुद्रोंमें जो रत्न संचित हैं, उन सबको आजसे सभी राक्षस, दैत्य और दानव भी तुम्हे ही लाकर दिया करेंगे' ॥९-१०॥

एवमुत्तमरत्नानि वस्त्राणि विविधानि च ।
स जहार तदा भौमस्तच्च नाधिचकार सः ॥ ११ ॥

इस प्रकार भौमासुरने नाना प्रकारके उत्तम रत्नों और भाँति-भाँतिके वस्त्रोंका उस समय अपहरण किया था । अप-हरण करके भी उसने उनपर अधिकार नहीं किया (उन्हें अपने उपभोगमें नहीं लाया) ॥ ११ ॥

गन्धर्वाणां च याः कन्या जहार नरको बली ।
याश्च देवमनुष्याणां सप्त चाप्सरसां गणाः ॥ १२ ॥

गन्धर्वोंकी जो कन्याएँ थीं, उन्हें भी बलवान् नरकासुर हर लाया था । देवताओं और मनुष्योंकी कन्याओं तथा अप्सराओंके सात समुदायोंका भी उसने अपहरण कर लिया ॥ १२ ॥

चतुर्दश सहस्राणि एकविंशच्छतानि च ।
एकवेणीधराः सर्वाः सतीमार्गमनुव्रताः ॥ १३ ॥

इस प्रकार सोलह हजार एक सौ सुन्दरी स्त्रियाँ उसके घरमें एकत्र हो गयीं । वे सब-की-सब सतियोंके मार्गका अनु-सरण करके व्रत और नियमोंके पालनमें तत्पर हो एक वेणी धारण करती थीं ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तासां पुरवरं भौमोऽकारयन्मणिपर्वतम् ।
अलकायामदीनात्मा मुरोः स्वविषयं प्रति ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उदार हृदय-वाले भौमासुरने उनके रहनेके लिये मणिपर्वतपर एक श्रेष्ठ पुरका निर्माण कराया था । जिस स्थानपर वह पुर बना था, वह अलका नामसे प्रसिद्ध था । वह स्थान मुर नामक दैत्यके अधिकृत प्रदेशमें था ॥ १४ ॥

---

१. मूर्ति या शिवलिङ्गके आकारका कोई दुर्भेद्य गृह, जो पृथ्वी-के भीतर गुफामें बनाया गया हो । शत्रुओंसे आत्मरक्षाकी दृष्टिसे नरकासुरने ऐसे निवासस्थानका निर्माण करा रखा था ।

ताश्च प्राग्ज्योतिषपतिं मुरोश्चैव दशात्मजाः ।
नैर्ऋताश्च यथा मुख्याः पालयन्त उपासते ।
स एष तपसः पारे वरदत्तो महासुरः ॥ १५ ॥

मुर या मुरु नामक दैत्यके दस पुत्र तथा प्रधान-प्रधान राक्षस उन कुमारियों तथा प्राग्ज्योतिषपति भौमकी रक्षा करते हुए उसकी उपासना करते थे । यह महान् असुर नरक तपस्याके अन्तमें वर पाकर उन्मत्त हो गया था ॥ १५ ॥

न चासुरगणैः सर्वैः सहितैः कर्म तत् पुरा ।
कृतपूर्वं तदा घोरं यदकार्षीन्महासुरः ॥ १६ ॥

पूर्वकालमें समस्त महादैत्योंने एक साथ मिलकर भी वैसा अत्यन्त घोर पापकर्म नहीं किया था, जो उस महान् असुरने अकेले ही कर डाला था ॥ १६ ॥

अदितिं धर्षयामास कुण्डलार्थे महासुरः ।
यं मही सुषुवे देवी यस्य प्राग्ज्योतिषं पुरम् ॥ १७ ॥
द्वारपालाश्च चत्वारस्तस्यासन् युद्धदुर्मदाः ।

उस महादैत्यने कुण्डलोंके लिये देवमाता अदितितकका तिरस्कार कर दिया था । पृथ्वी देवीने जिसे जन्म दिया था और प्राग्ज्योतिषपुरपर जिसका अधिकार था, उस नरकासुरके चार युद्धोन्मत्त दैत्य द्वारपाल थे ॥ १७½ ॥

हयग्रीवो निसुन्दश्च वीरः पञ्चनदस्तथा ॥ १८ ॥
मुरुः पुत्रसहस्रैश्च वरदत्तोऽसुरो महान् ।

उनके नाम इस प्रकार हैं—हयग्रीव, निसुन्द, वीर पञ्चनद तथा सहस्र पुत्रोंसहित महान् असुर मुरु, जो कि वरदान प्राप्त कर चुका था ॥ १८½ ॥

आदेवयानमावृत्य पन्थानं समुपस्थितः ।
वित्रासनः सुकृतिनां विरूपै राक्षसैः सह ॥ १९ ॥

वह नरकासुर समूचे देवयान मार्गको घेरकर वहाँ उपस्थित हो जाता और भयंकर रूपवाले राक्षसोंके साथ रहकर उधरसे जानेवाले पुण्यात्माओंको डराया करता था ॥

तद्वधार्थं महाबाहुः शङ्खचक्रगदासिभृत् ।
जातो वृष्णिषु देवक्यां वसुदेवाज्जनार्दनः ॥ २० ॥

उसके वधके लिये शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण वृष्णिकुलमें देवकीके गर्भ और वसुदेवके संयोगसे प्रकट हुए ॥ २० ॥

तस्याथ पुरुषेन्द्रस्य लोकप्रथिततेजसः ।
निवासो द्वारका देवैरुपायादुपपादिता ॥ २१ ॥

उनका तेज सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात है । उन पुरुषप्रवर श्रीकृष्णका निवासस्थान द्वारका है, जिसे देवताओंने उपयुक्त उपायसे उपलब्ध कराया था ॥ २१ ॥

अतीव हि पुरी रम्या द्वारका वासवक्षयात् ।
महार्णवपरिक्षिप्ता पञ्चपर्वतशोभिता ॥ २२ ॥

द्वारकापुरी इन्द्रके निवासस्थान अमरावतीपुरीसे भी अत्यन्त रमणीय है । वह महासागरसे घिरी हुई तथा पाँच पर्वतोंसे सुशोभित है ॥ २२ ॥

तस्यां देवपुराभायां सभा काञ्चनतोरणा ।
सा दाशार्हीति विख्याता योजनायामविस्तृता ॥ २३ ॥

देवपुरीके समान सुशोभित होनेवाली द्वारकामें एक सभा है, जिसमें सोनेकी वन्दनवारें लगी हैं । उसकी लंबाई-चौड़ाई एक-एक योजनकी है तथा वह दाशार्हीसभाके नामसे विख्यात है ॥ २३ ॥

तत्र वृष्ण्यन्धकाः सर्वे रामकृष्णपुरोगमाः ।
लोकयात्रामिमां कृत्स्नां परिरक्षन्त आसते ॥ २४ ॥

उसमें बलराम और श्रीकृष्ण आदि वृष्णि और अन्धकवंशके सभी लोग बैठते थे और सम्पूर्ण लोकजीवनकी रक्षामें दत्तचित्त रहते थे ॥ २४ ॥

तत्रासीनेषु सर्वेषु कदाचिद् भरतर्षभ ।
दिव्यगन्धो ववौ वायुः पुष्पवर्षं पपात ह ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! एक दिनकी बात है, सभी यदुवंशी उस सभामें विराजमान थे । इतनेमें ही दिव्य सुगन्धसे भरी हुई वायु चलने लगी और दिव्य कुसुमोंकी वर्षा होने लगी ॥

ततः किलकिलाशब्दः प्रभाजालाभिसंवृतः ।
मुहूर्तमन्तरिक्षेऽभूत् ततो भूमौ प्रतिष्ठितः ॥ २६ ॥

तदनन्तर दो ही घड़ीके अंदर आकाशमें किलकिलाहटका शब्द हुआ और तेजोराशिसे घिरी हुई दिव्य आकृति प्रकट हुई, जो धीरे-धीरे पृथ्वीपर आकर खड़ी हो गयी ।२६।

मध्ये तु तेजसस्तस्य पाण्डुरं गजमास्थितः ।
वृतो देवगणैः सर्वैर्वासवः समदृश्यत ॥ २७ ॥

उस तेजपुञ्जके भीतर श्वेत हाथीपर बैठे हुए इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंके साथ दिखायी दिये ॥ २७ ॥

रामकृष्णौ च राजा स वृष्ण्यन्धकगणैः सह ।
प्रत्युद्ययुर्महात्मानं पूजयन्तः सुरेश्वरम् ॥ २८ ॥

उस समय महात्मा देवराज इन्द्रका स्वागत करनेके लिये बलराम, श्रीकृष्ण तथा राजा उग्रसेन वृष्णि और अन्धकवंशके अन्य लोगोंके साथ उठकर उनकी अगवानीमें गये ॥२८॥

सोऽवतीर्य गजात् तूर्णं परिष्वज्य जनार्दनम् ।
सस्वजे बलदेवं च तं च राजानमाहुकम् ॥ २९ ॥

इन्द्रने हाथीसे उतरकर शीघ्र ही भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया; फिर बलदेव तथा राजा उग्रसेनसे भी वे उसी प्रकार मिले ॥ २९ ॥

वृष्णीनन्यान् सस्वजे च यथाकालं यथावयः ।
पूजितो रामकृष्णाभ्यामाविवेश स तां सभाम् ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् उन्होंने यथासमय अवस्थाके अनुसार सभी वृष्णिवंशी वीरोंको हृदयसे लगाया। इसके बाद बलराम और श्रीकृष्णसे पूजित हो वे उस दाशार्ही सभामें गये ॥ ३० ॥

तत्रासीनोऽभ्यलंकृत्वा सभांताममरेश्वरः।
अर्घ्यादिसमुदाचारं प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ॥ ३१ ॥

वहाँ बैठकर उस सभाकी शोभा बढ़ाते हुए देवेश्वर इन्द्रने विधिपूर्वक अर्घ्य आदि उपचार ग्रहण किया ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथोवाच महातेजा वासवो वासवानुजम्।
सान्त्वपूर्वं करेणास्य संस्पृश्य वदनं शुभम् ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महातेजस्वी इन्द्रने अपने अनुज श्रीकृष्णको सान्त्वना देकर उनके सुन्दर मुखारविन्दपर हाथ फेरते हुए कहा—॥ ३२ ॥

देवकीनन्दन वचः शृणु मे मधुसूदन।
येन त्वाभिगतोऽस्म्यद्य कार्येणामित्रकर्शन ॥ ३३ ॥

'देवकीनन्दन ! मधुसूदन ! शत्रुनाशन ! आज मैं जिस कार्यसे तुम्हारे पास आया हूँ, उसके विषयमें मेरी बात सुनो ॥ ३३ ॥

नैर्ऋतो नरको नाम ब्रह्मणो वरदर्पितः।
अदित्याः कुण्डले मोहाज्जहार दितिनन्दनः ॥ ३४ ॥

'नरक नामवाला एक राक्षस है, जो ब्रह्माजीका वरदान पाकर घमंडसे भर गया है। उस दैत्यने मोहवश देवमाता अदितिके दोनों कुण्डल हर लिये हैं ॥ ३४ ॥

देवानां विप्रिये नित्यमृषीणां च स वर्तते।
तं च देवान्तरं प्रेक्ष्य जहि त्वं पापपूरुषम् ॥ ३५ ॥

'देव ! वह प्रतिदिन देवताओं तथा ऋषियोंके विरोधमें ही लगा रहता है। अतः तुम अवसर देखकर उस पापात्मा पुरुषको मार डालो ॥ ३५ ॥

अयं त्वां गरुडस्तत्र प्रापयिष्यति कामगः।
कामवीर्योऽतितेजस्वी वैनतेयोऽन्तरिक्षगः ॥ ३६ ॥

'ये इच्छानुसार सर्वत्र जा सकनेवाले गरुड़ तुम्हें वहाँ पहुँचा देंगे; क्योंकि इनमें यथेष्ट बल है। ये अन्तरिक्षचारी विनतानन्दन गरुड़ अत्यन्त तेजस्वी हैं ॥ ३६ ॥

अवध्यः सर्वभूतानां भौमः स नरकोऽसुरः।
निषूदयित्वा तं पापं क्षिप्रमागन्तुमर्हसि ॥ ३७ ॥

'भूमिपुत्र नरकासुर समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य है, अतः तुम उस पापीका शीघ्र ही संहार करके लौट आओ' ॥ ३७ ॥

इत्युक्तः पुण्डरीकाक्षो देवराजेन केशवः।
प्रतिजज्ञे महाबाहुर्नरकस्य निवर्हणे ॥ ३८ ॥

देवराजके ऐसा कहनेपर महाबाहु कमलनयन श्रीकृष्णने उनके सामने नरकासुरके संहारकी प्रतिज्ञा की ॥ ३८ ॥

ततः सहैव शक्रेण शङ्खचक्रगदासिभृत्।
प्रतस्थे गरुडेनाथ सत्यभामासहायवान् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण सत्यभामासहित गरुड़पर बैठकर इन्द्रके साथ ही चल दिये ॥ ३९ ॥

क्रमेण सप्तस्कन्धान् स मरुतां सहवासवः।
पश्यतां यदुसिंहानामूर्ध्वमाचक्रमे बली ॥ ४० ॥

यदुकुलके सिंह-सदृश पराक्रमी वीरोंके देखते-देखते इन्द्रसहित बलवान् श्रीकृष्ण क्रमशः वायुके सातों स्कन्धोंको लाँघकर ऊपर चले गये ॥ ४० ॥

वारणेन्द्रगतः शक्रो गरुडस्थो जनार्दनः।
विदूरत्वात् प्रकाशेते सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ ४१ ॥

गजराज ऐरावतपर चढ़े हुए इन्द्र और गरुड़पर बैठे हुए भगवान् जनार्दन अधिक दूर चले जानेके कारण सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४१ ॥

अन्तरिक्षे च गन्धर्वैरप्सरोभिश्च केशवः।
स्तूयमानोऽथ शक्रश्च क्रमेणान्तरधीयत ॥ ४२ ॥

अन्तरिक्षमें गन्धर्व और अप्सराओंद्वारा स्तुति किये जाते हुए श्रीकृष्ण और इन्द्र बारी-बारीसे अदृश्य हो गये ॥ ४२ ॥

समाधायेतिकर्तव्यं वासवो विबुधाधिपः।
स्वमेव भवनं प्रायात् कृष्णः प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥ ४३ ॥

अपने कार्यकी सिद्धिके लिये उपयुक्त व्यवस्था करके देवराज इन्द्र अपने भवनको चले गये और श्रीकृष्णने प्राग्ज्योतिषपुरकी राह ली ॥ ४३ ॥

पक्षानिलहतो वायुः प्रतिलोमं ववौ तदा।
ततो भीमरवा मेघा बभ्रमुर्गगनेचराः ॥ ४४ ॥

गरुड़के पंखोंसे आहत होकर वायु उलटी दिशाको बहने लगी। फिर तो आकाशमें विचरनेवाले बादल भयानक आवाजके साथ वहीं चक्कर काटने लगे ॥ ४४ ॥

क्षणेन समनुप्राप्तो द्विजेनाकाशगेन वै।
दूरादेव च तान् दृष्ट्वा प्रययौ यत्र ते स्थिताः ॥ ४५ ॥

आकाशचारी पक्षी गरुड़के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण क्षणभरमें प्राग्ज्योतिषपुरमें जा पहुँचे। उन्होंने दूरसे ही उन राक्षसोंको देखकर जहाँ वे खड़े थे, उधर ही यात्रा की ॥ ४५ ॥

अपश्यद् द्वारि तत्रस्थां हस्त्यश्वरथवाहिनीम्।
क्षुरान्तान् मौरवान् पाशान् षट्सहस्रान् ददर्श ह ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्णने देखा, प्राग्ज्योतिषपुरके द्वारपर हाथी, घोड़े और रथोंकी विशाल वाहिनी खड़ी है। उन्होंने मुर दैत्यके बनाये हुए छः हजार पाश देखे, जिनके किनारेके भागोंमें छुरे लगे हुए थे ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

गरुडस्योपरि श्रीमाञ्छङ्खचक्रगदाधरः ।
विभ्रन्नीलाम्बुदाकारं पीतवासाश्चतुर्भुजः ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले श्रीमान् भगवान् श्रीकृष्ण श्याम मेघके समान सुन्दर विग्रह धारण किये गरुड़पर बैठे थे । उनके अङ्गोंपर पीताम्बर शोभा पा रहा था । वे चार भुजाओंसे विभूषित थे ॥ ४७ ॥

वनमालाकुलोरस्कः श्रीवत्साङ्कितभूषणः ।
किरीटमूर्द्धा सूर्याभः सविद्युदिव चन्द्रमाः ॥ ४८ ॥

उनका वक्षःस्थल वनमालासे व्याप्त था । वे श्रीवत्स-चिह्नसे अलंकृत थे । उनके मस्तकपर किरीट शोभा पाता था, जिससे वे सूर्यके समान प्रकाशमान और विद्युत्सहित चन्द्रमाके सदृश शोभायमान दिखायी देते थे ॥ ४८ ॥

ज्यां विकूजन्महाशब्दः श्रूयतेऽशनिनिःस्वनः ।
ज्ञात्वा च दानवः सर्वं स्वयं विष्णुरिहागतः ॥ ४९ ॥

उन्होंने धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचकर जब उसकी टंकार-ध्वनि फैलायी, उस समय वज्रपातके समान महाभयंकर शब्द सुनायी दिया । तब दानव मुरने वह सब जानकर यह समझ लिया कि साक्षात् भगवान् विष्णु ही यहाँ पधारे हैं ॥ ४९ ॥

क्रोधाद् द्विगुणरक्ताक्षो मुरुः कालान्तकोपमः ।
अभ्यधावत वेगेन शक्तिं गृह्य महासुरः ॥ ५० ॥

इससे मुरुको बड़ा क्रोध हुआ । उसकी आँखें रोषसे दुगुनी लाल हो गयीं । काल और अन्तकके समान भयंकर वह महान् असुर हाथमें शक्ति लेकर बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़ा ॥ ५० ॥

चिक्षेप सुमहाशक्तिं वज्रकाञ्चनभूषिताम् ।
तामापतन्तीं शक्तिं तु महोल्कां ज्वलितामिव ॥ ५१ ॥
समाधत्त शरं चैकं रुक्मपुङ्खं जनार्दनः ।
द्विधाच्छिनत् क्षुरप्रेण वासुदेवः स वीर्यवान् ॥ ५२ ॥

उसने हीरे और सुवर्णसे भूषित वह महाशक्ति भगवान् श्रीकृष्णपर चलायी । जलती हुई बड़ी भारी उल्काके समान उस शक्तिको अपनी ओर आती देख पराक्रमी वसुदेवपुत्र श्रीकृष्णने एक सोनेके पंखवाले बाणको धनुषपर रक्खा । उस क्षुरप्रके द्वारा उन्होंने मुरुकी शक्तिके दो टुकड़े कर डाले॥

शक्तिं चिच्छेद तत्रासौ विद्युत्पुञ्ज इव ज्वलन् ।
पुनश्च क्रोधरक्ताक्षो मुरुर्गृह्य महागदाम् ॥ ५३ ॥

जब उन्होंने शक्ति काट डाली, तब वहाँ खड़ा हुआ मुरु, जो विद्युत्-पुञ्जके समान प्रज्वलित हो रहा था, पुनः क्रोधसे लाल आँखें करके एक विशाल गदा हाथमें ले ली ॥

इन्द्राशनिरिवेन्द्रेण विकृष्ट इव निःस्वनः ।
आकर्णमुक्तं चिक्षेप अर्धचन्द्रं सुरोत्तमः ॥ ५४ ॥
मध्यदेशे तु चिच्छेद गदां तां रुक्मभूषिताम् ।
पुनश्चिच्छेद भल्लेन दानवस्य शिरो रणे ॥ ५५ ॥

इतनेहीमें सुरश्रेष्ठ श्रीकृष्णने अर्धचन्द्रनामक बाण हाथमें लिया, मानो इन्द्रने वज्र उठा लिया हो । उस समय धनुषको खींचनेसे वज्र गिरनेके समान ही शब्द हुआ । भगवान्ने उस अर्धचन्द्रको कानतक खींचकर चलाया । उसने उस सुवर्णभूषित गदाको बीचसे ही काट गिराया । फिर श्रीकृष्णने एक भल्लद्वारा रणभूमिमें उस दानवका सिर उड़ा दिया ॥

संछिद्य पाशान् सर्वांस्तान् मुरुं हत्वा सबान्धवम् ।
सोऽग्र्यान् रक्षोगणान् हत्वा नरकस्य महाबलान् ॥५६॥
शिलासंघानतिक्रम्य भगवान् देवकीसुतः ।
अपश्यद् दानवं सैन्यं निसुन्दं च महाबलम् ॥ ५७ ॥
हयग्रीवं च दितिजं तथान्यांश्चित्रयोधिनः ।

मुरुके समस्त पाशोंका छेदन करके उसे भाई-बन्धुओंसहित मारकर नरकासुरके महाबली अग्रगामी राक्षसोंका संहार करनेके अनन्तर शिलासमूहोंको लाँघकर भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्णने दानवोंकी विशाल सेनाको और महाबली निसुन्द दैत्य, हयग्रीव तथा विचित्र युद्ध करनेवाले अन्यान्य दैत्योंको भी देखा ॥ ५६-५७½ ॥

रोधयामास तन्मार्गं स्वसैन्येन महाबलः ॥ ५८ ॥
निसुन्दो बलिनां श्रेष्ठो रथमारुह्य सत्वरम् ।
जग्राह कार्मुकं दिव्यं हेमपृष्ठं दुरासदम् ॥ ५९ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबली निसुन्दने अपनी सेनाके द्वारा श्रीकृष्णका मार्ग रोक दिया और तुरंत रथपर आरूढ़ हो सोनेकी पीठवाले दिव्य दुर्जय धनुषको हाथमें ले लिया ॥

विव्याध दशभिर्बाणैर्निसुन्दो मधुसूदनम् ।
केशवश्चापि सप्तत्या विव्याध निशितैः शरैः ॥ ६० ॥

इसके बाद निसुन्दने दस बाणोंसे मधुसूदनको बेध दिया । तब श्रीकृष्णने भी उसपर सत्तर पैने बाणोंका प्रहार किया ॥ ६० ॥

अप्राप्तांश्चान्तरिक्षे ताञ्छरांश्चिच्छेद माधवः ।
ते सर्वे सैनिकाः कृष्णं समन्तात् पर्यवारयन् ॥ ६१ ॥
शरजालेन महता छाद्यमानः सुरोत्तमः ।
दृष्ट्वा तान् दानवान् सर्वान् सक्रोधो मधुसूदनः ॥ ६२ ॥

उस दानवके बाणोंको अपने पास पहुँचनेसे पहले आकाशमें ही श्रीकृष्णने काट डाला । तब उसके सैनिकोंने उन्हें चारों ओरसे घेर लिया और बाणोंके विशाल जालसे ढकना आरम्भ किया । तब उन समस्त दानवोंको देखकर भगवान् मधुसूदन कुपित हो उठे ॥ ६१-६२ ॥

ततो दिव्येन चास्त्रेण पार्जन्येन जनार्दनः।
महता शरवर्षेण धारयामास तद्बलम् ॥ ६३ ॥

जनार्दनने पार्जन्यनामक दिव्य अस्त्रसे बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा करके उसकी सेनाको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥

पञ्चपञ्चशरैस्तेषु एकैकेन च तान् बहून्।
पार्जन्यस्य प्रभावेण सर्वान् मर्मस्वताडयत् ॥ ६४ ॥

उन्होंने पार्जन्य अस्त्रके प्रभावसे एक-एक करके उन सब बहुसंख्यक दानवोंके मर्मस्थानोंमें पाँच-पाँच बाणोंका प्रहार किया ॥ ६४ ॥

दुद्रुवुर्भयसंत्रस्ता भग्नास्ते दानवा रणे।
स्वसैन्यं विद्रुतं दृष्ट्वा निश्चक्राम पुनर्मृधे ॥ ६५ ॥

वे सभी दानव भयसे संत्रस्त होकर रणभूमिसे भाग खड़े हुए। अपनी सेनाको भागती देख निसुन्द पुनः युद्धके लिये निकला ॥ ६५ ॥

विसृजञ्छरवर्षाणि छादयामास केशवम्।
न विभाति रणे सूर्यो नापि व्योम दिशो दश ॥ ६६ ॥

वह बाणोंकी वर्षा करता हुआ श्रीकृष्णको आच्छादित करने लगा। उस समय युद्धमें न तो सूर्यका पता चलता था और न आकाश तथा दसों दिशाओंका ही ॥ ६६ ॥

शरैः संछादयामास निसुन्दो गरुडध्वजम्।
सावित्रं नाम दिव्यास्त्रं जग्राह पुरुषोत्तमः ॥ ६७ ॥

निसुन्दने अपने बाणोंसे गरुड-ध्वजको ढक दिया। तब पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने सावित्र नामक दिव्यास्त्रको ग्रहण किया॥

तेन बाणेन तान् बाणांश्चिच्छेद समरे हरिः।
बाणैर्बाणांश्च संच्छिद्य तस्य कृष्णो महाबलः ॥ ६८ ॥
छत्रमेकेन बाणेन रथेषां च त्रिभिः शरैः।
पुनश्चिच्छेद तानश्वांश्चतुर्भिश्चतुरः शरैः ॥ ६९ ॥
सारथिं पञ्चभिर्बाणैर्ध्वजमेकेन चिच्छिदे।

उस अस्त्रद्वारा छोड़े हुए बाणसे समराङ्गणमें श्रीहरिने निसुन्दके उन सभी बाणोंको काट डाला। महाबली श्रीकृष्णने अपने बाणोंद्वारा उसके सायकोंके टुकड़े-टुकड़े करके एक बाणसे उसका छत्र और तीन बाणोंसे उसके रथका हरसा काट डाला; फिर चार बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको और पाँच बाणोंसे सारथिको मारकर एक बाणसे उसकी ध्वजा काट डाली॥

शरैकेन वपुः कृष्णः सुतीक्ष्णेन शितेन वै ॥ ७० ॥
शिरश्चिच्छेद भल्लेन निसुन्दस्य सुरोत्तमः।

फिर सुरश्रेष्ठ श्रीकृष्णने एक अत्यन्त तीखे बाणसे उसके शरीरको और एक भल्लके द्वारा निसुन्दके मस्तकको भी काट गिराया ॥ ७०½ ॥

यः सहस्रसमास्त्वेकः सर्वान् देवानयोधयत् ॥ ७१ ॥
निसुन्दं पतितं दृष्ट्वा हयग्रीवः प्रतापवान्।
शिलां प्रगृह्य महतीं तोलयामास दानवः ॥ ७२ ॥

जिसने अकेले ही लगातार एक सहस्र वर्षोंतक सम्पूर्ण देवताओंके साथ युद्ध किया था, उसी निसुन्दको धराशायी हुआ देख प्रतापी दानव हयग्रीवने एक बहुत बड़ी चट्टान लेकर उसे हाथोंपर तोला ॥ ७१-७२ ॥

आविध्य सहसामुञ्चच्छिलां शैलसमां प्रभुः।
गृहीत्वा दिव्यपार्जन्यमस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥ ७३ ॥
दिव्यास्त्रेण शिलां विष्णुः सप्तधाकृत तेजसा।
तद् विदार्य महच्चाश्म पातयामास भूतले ॥ ७४ ॥

फिर सहसा घुमाकर वह पहाड़-जैसी शिला उसने श्रीकृष्णपर दे मारी, परंतु अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान् विष्णुने दिव्य पार्जन्यास्त्र लेकर उसके द्वारा अपने तेजसे उस शिलाके सात टुकड़े कर डाले। उस बहुत बड़ी चट्टानको विदीर्ण करके उन्होंने पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ७३-७४ ॥

ततस्तैः शार्ङ्गनिर्मुक्तैर्नानावर्णैर्महाशरैः।
यथा देवासुरं युद्धमभवद् भरतर्षभ।
नानाप्रहरणाकीर्णं तथा घोरमवर्तत ॥ ७५ ॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर शार्ङ्गधनुषसे छोड़े गये नाना प्रकारके महान् बाणोंद्वारा देवासुर-संग्रामके समान घोर युद्ध आरम्भ हो गया। उसमें भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र छोड़े जाने लगे, जिनसे सारा युद्धस्थल व्याप्त हो गया ॥ ७५ ॥

ततः शार्ङ्गविनिर्मुक्तैर्नानावर्णैर्महाशरैः।
गरुडस्थो महाबाहुर्निजघान महासुरान् ॥ ७६ ॥

तत्पश्चात् गरुड़पर बैठे हुए महाबाहु श्रीकृष्णने शार्ङ्गधनुषसे छोड़े गये भाँति-भाँतिके रंगवाले विशाल बाणोंद्वारा बड़े-बड़े असुरोंका संहार करना आरम्भ किया ॥ ७६ ॥

महालाङ्गलनिर्भिन्नाः शङ्खशक्तिनिपातिताः।
विनेशुर्दानवाः सर्वे समासाद्य जनार्दनम् ॥ ७७ ॥

वे समस्त दानव भगवान् श्रीकृष्णसे टक्कर लेकर उनके द्वारा चलाये गये महान् हलसे विदीर्ण तथा उनके शङ्खकी शक्तिसे धराशायी होकर नष्ट हो गये ॥ ७७ ॥

केचिच्चक्राग्निनिर्दग्धा दानवाः पेतुरम्बरात्।
संनिकर्षगताः केचिद् गतासुविकृताननाः ॥ ७८ ॥

कितने ही दानव उनके निकट आकर चक्राग्निसे दग्ध हो आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े। प्राणशून्य होनेपर उनके मुख विकराल हो गये थे ॥ ७८ ॥

असृजञ्छरवर्षाणि वृष्टिमन्त इवाम्बुदाः।
विकृताङ्गासुराः सर्वे कृष्णबाणप्रपीडिताः ॥ ७९ ॥
शोणिताक्ताः स्म दृश्यन्ते पुष्पिता इव किंशुकाः।
व्यद्रवन्त सुवित्रस्ता भग्नास्तांश्चित्रयोधिनः ॥ ८० ॥

वे असुर वर्षा करनेवाले बादलोंकी भाँति श्रीकृष्णपर बाणोंकी वृष्टि करने लगे; परंतु श्रीकृष्णके सायकोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर उन सबके अंग-भंग हो गये और वे खूनसे रँग जानेके कारण फूले हुए पलाशके समान दिखायी देते थे। विचित्र युद्ध करनेवाले वे दानव अपने अस्त्र-शस्त्रोंके भंग हो जानेसे अत्यन्त भयभीत हो भाग खड़े हुए ॥ ७९-८० ॥

पुनश्च क्रोधरक्ताक्षो वायुवेगेन दानवः।
दशव्यामोच्छ्रितं वृक्षं समारुह्य वनस्पतिम् ॥ ८१ ॥
वृक्षमुत्पाट्य वेगेन प्रतिगृह्याभ्यधावत।

तब पुनः क्रोधसे लाल आँखें करके दानव हयग्रीव वायुके समान वेगसे चढ़ आया। उसने दस व्याम[१] ऊँचे एक वनस्पतिको उखाड़ा और उखाड़कर उस वृक्षको हाथोंमें लिये हुए वह बड़े वेगसे श्रीकृष्णकी ओर दौड़ा ॥ ८१½ ॥

चिक्षेप स महावृक्षं शिक्षया सुघनाकृतिः ॥ ८२ ॥
वृक्षवेगानिलोद्धूतः शुश्रुवे सुमहास्वनः।

काले बादलके समान आकारवाले हयग्रीवने उस विशाल वृक्षको शिक्षाके अनुसार कुशलतापूर्वक श्रीकृष्णपर दे मारा। उस वृक्षके वेगसे उठी हुई वायुके द्वारा बड़े जोरका शब्द सुनायी पड़ा ॥ ८२½ ॥

ततः शरसहस्रेण यतमानो जनार्दनः ॥ ८३ ॥
नैकधा तं प्रचिच्छेद चित्रभानुनिभाकृतिम्।

तब विजयके लिये प्रयत्न करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने एक सहस्र बाण मारकर उस वृक्षके बहुतेरे टुकड़े कर डाले। उस समय उसकी आकृति चित्रलिखित सूर्यके समान जान पड़ती थी ॥ ८३½ ॥

पुनश्चैकेन बाणेन हयग्रीवस्य चोरसि ॥ ८४ ॥
विव्याध स्तनयोर्मध्ये सायको ज्वलनप्रभः।
विवेश सोऽपि वेगेन हृदं भित्त्वा विनिर्गतः ॥ ८५ ॥

फिर उन्होंने एक बाणसे हयग्रीवकी छाती छेद डाली। अग्निके समान प्रकाशित होनेवाला वह बाण उसके दोनों स्तनोंके बीचमें गहरा आघात करता हुआ वेगपूर्वक भीतर घुस गया और हृदय विदीर्ण करके बाहर निकल गया ॥

तं जघान महाघोरं हयग्रीवं महाबलम्।
अपारतेजा दुर्द्धर्षः स वै यादवनन्दनः ॥ ८६ ॥
मध्ये लोहितगङ्गस्य भगवान् देवकीसुतः।
औदकायां विरूपाक्षं पाप्मानं पुरुषोत्तमः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार अपार तेजस्वी दुर्धर्ष वीर यादवनन्दन भगवान् देवकीपुत्र पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने लोहितगङ्ग* नामक प्रदेशके मध्यभागमें औदका[१] (या अलका) के समीप कुरूप नेत्रोंवाले महाभयंकर और महाबली पापी हयग्रीवको कालके गालमें डाल दिया ॥ ८६-८७ ॥

अष्टौ शतसहस्राणि दानवानां परंतपः।
निहत्य पुरुषव्याघ्रः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥ ८८ ॥

तत्पश्चात् आठ लाख दानवोंका संहार करके शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह श्रीकृष्णने प्राग्ज्योतिषपुरपर धावा किया ॥ ८८ ॥

हत्वा पञ्चनदं नाम नरकस्य महासुरम्।
ततः प्राग्ज्योतिषं नाम दीप्यमानमिव श्रिया ॥ ८९ ॥
पुरमासादयामास युद्धं तत्राभवन्महत्।

नरकासुरके प्रमुख योद्धा महान् असुर पंचनद (या पञ्चजन) को मारकर वे प्राग्ज्योतिषपुरमें जा पहुँचे, जो अपनी शोभासे देदीप्यमान-सा हो रहा था। वहाँ असुरोंके साथ उनका महान् युद्ध हुआ ॥ ८९½ ॥

ततः प्राधमापयच्छङ्खं पाञ्चजन्यं महाबलः ॥ ९० ॥
शुश्रुवे सुमहाशब्दः संवर्तनिनदो यथा।
श्रूयते त्रिषु लोकेषु भीमगम्भीरनिःस्वनः।
तं श्रुत्वा नरकश्चासीत् क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ ९१ ॥

तत्पश्चात् महाबली श्रीकृष्णने अपना पाञ्चजन्यनामक शङ्ख बजाया। उसका महान् शब्द उसी प्रकार सुनायी दिया, जैसे प्रलयकालीन संवर्तक मेघकी भयानक गम्भीर गर्जना तीनों लोकोंमें सुनायी पड़ती है। उस शङ्ख-ध्वनिको सुनकर नरकासुरकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं ॥ ९०-९१ ॥

लोहचक्राष्टसंयुक्तं त्रिनल्वप्रतिमं रथम्।
रत्नकाञ्चनचित्राढ्यं वेदिकाभोगविस्तरम् ॥ ९२ ॥
वज्रध्वजेन महता काञ्चनेन विराजितम्।
हेमदण्डपताकाढ्यं वैदूर्यमणिकूबरम् ॥ ९३ ॥
युक्तमश्वसहस्रेण रथं पररथारुजम्।
लोहजालैश्च संछन्नं चित्रभक्तिविराजितम् ॥ ९४ ॥

वह एक ऐसे रथपर आरूढ़ हुआ, जिसमें लोहेके आठ

---

१. दोनों भुजाओंको दोनों ओर फैलानेपर एक हाथकी अँगुलियोंके सिरेसे दूसरे हाथकी अँगुलियोंके सिरेतक जितनी दूरी होती है, उसे व्याम कहते हैं।

* यह सिन्धुका ही प्रदेशविशेष था।

१. वहाँ जलकी अधिकता थी या जलसे भरी हुई खाई थी, इसलिये उस पुर या स्थानका नाम 'औदका' रक्खा गया था। महाभारत सभापर्व पृष्ठ ८०५ में भी इसका वर्णन आया है। हरिवंशके इसी अध्यायमें १४ वें श्लोकमें इसका नाम अलका आया है।

पहिये लगे थे। उसकी लंबाई तीन नल्व[1]के बराबर थी। वह रत्न और सुवर्णसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभासे सम्पन्न था। उसकी बैठक बहुत विस्तृत थी। वह रथ सुवर्ण-निर्मित तथा हीरकजटित विशाल ध्वजसे सुशोभित था। उसकी पताकामें सोनेका डंडा लगा हुआ था। उस रथका कूबर वैदूर्य मणिका बना हुआ था। उसमें एक हजार घोड़े जुते हुए थे और वह शत्रुपक्षके रथोंको तोड़ डालनेमें समर्थ था। उसे ऊपरसे लोहेकी जालीद्वारा ढक दिया गया था और वह रथ विचित्र बेल-बूटोंसे सुशोभित था ॥९२-९४॥

रथमध्यगतो वीरः ससंध्य इव भास्करः।
नानाप्रहरणाकीर्णं रथं हेमपरिष्कृतम् ॥ ९५ ॥

उस रथके मध्यभागमें बैठा हुआ नरकासुर संध्या-कालसे युक्त सूर्यके समान जान पड़ता था। उसका वह सुवर्णभूषित रथ नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे भरा हुआ था॥

वज्रं तथोरच्छदमिन्दुवर्णं
व्यानद्धमुक्तानलतुल्यतेजाः ।
किरीटमूर्द्धार्कहुताशनाभः
कर्णौ तथा कुण्डलयोर्ज्वलन्तौ ॥ ९६ ॥

हीरेका बना हुआ वक्षःस्थलको ढकनेवाला उसका कवच चन्द्रमाके समान श्वेत कान्तिसे प्रकाशित हो रहा था। मुक्ताकी माला धारण करके वह अग्निके तुल्य तेजस्वी प्रतीत होता था। मस्तकपर उद्दीप्त किरीट धारण करके वह सूर्य एवं अग्निकी-सी प्रभासे प्रकाशित होता था तथा उसके दोनों कान सुन्दर कुण्डलोंसे जगमगा रहे थे ॥ ९६ ॥

धूम्रवर्णा महाकाया रक्ताक्षा विकृताननाः।
नानाकवचिनः सर्वे दैत्यदानवराक्षसाः ॥ ९७ ॥

उसके साथ धुएँके समान रंगवाले विशालकाय लाल नेत्र और विकराल मुखवाले जो दैत्य, दानव और राक्षस आये थे, वे सब-के-सब नाना प्रकारके कवच धारण किये हुए थे ॥ ९७ ॥

खड्गचर्मधराः केचित् केचित् तूणधनुर्भृतः।
शक्तिहस्तास्तथा केचिच्छूलहस्तास्तथापरे ॥ ९८ ॥

कोई ढाल और तलवार लिये हुए थे तो कोई धनुष, बाण और तरकस। किन्हींके हाथमें शक्ति थी तो किन्हींके हाथमें शूल ॥ ९८ ॥

गजवाजिरथौघैश्च चालयन्तश्च मेदिनीम्।
निर्ययुर्नगरात् सर्वे सुसंनद्धाः प्रहारिणः ॥ ९९ ॥

वे सब भलीभाँति कवच आदिसे सुसज्जित एवं प्रहार करनेके लिये उद्यत हो हाथी, घोड़े तथा रथसमूहोंद्वारा पृथ्वीको कम्पित करते हुए नगरसे बाहर निकले ॥ ९९ ॥

वृतो दैत्यगणैः सार्द्धं नरकः कालसंनिभः।
भेरीशङ्खमृदङ्गानां पणवानां सहस्रशः ॥१००॥
शुश्राव वाद्यमानानां जीमूतनिनदोपमम्।

दैत्य-समूहोंसे घिरे हुए कालसदृश नरकासुरने बजते हुए शङ्ख, भेरी, मृदङ्ग तथा पणव आदि सहस्रों वाद्योंका मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर शब्द सुना ॥ १००½ ॥

यतः कृष्णस्ततो गत्वा सर्वे ते विकृताननाः ॥१०१॥
परिवार्य गरुत्मन्तं सर्वेऽयुध्यन्त संगताः।

वे सभी विकराल मुखवाले निशाचर जहाँ कृष्ण थे, उधर ही जाकर गरुड़को घेरकर खड़े हो गये और सब-के-सब संगठित होकर युद्ध करने लगे ॥ १०१½ ॥

महता छादयामासुः शरवर्षेण सैनिकाः ॥१०२॥
शक्तिशूलगदाप्रासांस्तोमरान् सायकान् बहून्।
आकाशं छादयामासुर्विमुञ्चन्तः सहस्रशः ॥१०३॥

उन समस्त सैनिकोंने बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा करके भगवान्‌को ढक दिया। उन्होंने कई सहस्र शक्ति, शूल, गदा, प्रास, तोमर और सायकोंका प्रहार करके आकाशको आच्छादित कर दिया ॥ १०२-१०३ ॥

कृष्णः कृष्णाम्बुदाकारः शार्ङ्गं गृह्य धनुस्ततः।
विस्फार्य सुमहच्चापं धनुर्जलदनिःस्वनम् ॥१०४॥
व्यसृजच्छरवर्षाणि दानवानां जनार्दनः।
शरवर्षेण तत्सैन्यं व्यद्रवत् तु महाहवात् ॥१०५॥

काले मेघके समान श्यामसुन्दर शरीरवाले जनार्दन श्रीकृष्णने मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि करनेवाले शार्ङ्गनामक सुविशाल धनुषको हाथमें लेकर उसे खींचा और दानवोंपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी। उस बाण-वर्षासे भयभीत हो असुरोंकी वह सेना उस महासमरसे भाग खड़ी हुई ॥ १०४-१०५ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं घोररूपेण रक्षसा।
भग्नव्यूहाश्च ते सर्वे कृष्णबाणप्रपीडिताः ॥१०६॥

उस भयंकर रूपधारी राक्षसके साथ श्रीकृष्णका घोर युद्ध हुआ। वे सभी दानव श्रीकृष्णके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो अपनी सेनाका व्यूह भंग करके भाग गये ॥ १०६ ॥

केचिच्छिन्नभुजाश्चैव च्छिन्नग्रीवाशिराननाः।
केचिच्चक्रद्विधाच्छिन्नाः केचिद् बाणार्दितोरसः॥१०७॥

किन्हींकी भुजाएँ कट गयी थीं, किन्हींके कण्ठ, मस्तक और मुख छिन्न-भिन्न हो गये थे। किन्हींके चक्रद्वारा दो टुकड़े हो गये थे और किन्हींके वक्षःस्थल बाणोंके आघातसे पीड़ित हो रहे थे ॥ १०७ ॥

१. प्राचीन कालकी मान्यताके अनुसार भूमिकी एक प्रकारकी नाप या परिमाण, जो किसीके मतसे सौ हाथका और किसीके मतसे चार सौ हाथका होता था।

केचिद् द्विधाकृताः शक्त्या गजाश्वरथवाहनाः ।
केचित् कौमोदकीभिन्नाः केचिच्चक्रविदारिताः ॥१०८॥

कोई हाथी, घोड़े और रथोंपर सवार होकर युद्ध करनेवाले योद्धा शक्तिके प्रहारसे दो टूक हो गये थे। कोई कौमोदकी गदाके आघातसे पिस गये थे तथा कितने ही चक्रद्वारा विदीर्ण कर दिये गये थे ॥ १०८ ॥

एवं विमथिता सर्वा नराश्वरथवाहिनी ।
तत्रासीन्नरकेणास्य युद्धं परमदारुणम् ॥१०९॥

इस प्रकार मनुष्य, घोड़े, रथ और हाथियोंसे युक्त वह सारी सेना मथ डाली गयी थी। वहाँ नरकासुरके साथ भगवान् श्रीकृष्णका अत्यन्त दारुण युद्ध हुआ था ॥

यत् समासेन वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ।
त्रासनः सुरसंघानां नरकः पुरुषोत्तमम् ॥११०॥
योधयामास तेजस्वी मधुवन्मधुसूदनम् ।
क्रोधरक्तान्तनयनो नरको घनसंनिभः ॥१११॥

यहाँ मैं संक्षेपसे जो कुछ बता रहा हूँ, वह मेरे मुखसे सुनो। देवसमूहको त्रास देनेवाला तेजस्वी नरकासुर मधुकी भाँति मधुसूदन भगवान् पुरुषोत्तमके साथ युद्ध करने लगा। उसके नेत्रप्रान्त क्रोधसे लाल हो रहे थे और उसकी आकृति मेघके समान काली थी ॥ ११०-१११ ॥

जग्राह कार्मुकं वीरः शक्रचापमिवोच्छ्रितम् ।
तथार्ककिरणप्रख्यं बाणं जग्राह केशवः ॥११२॥

वीर श्रीकृष्णने इन्द्रधनुषके समान ऊँचा शरासन उठाया और सूर्यकिरणोंके समान चमचमाता हुआ बाण हाथमें लिया॥

दिव्येनास्त्रेण समरे पूरयामास तं रथम् ।
उत्तमास्त्रं महापातं मुमोच नरको बली ॥११३॥

उन्होंने समराङ्गणमे अपने दिव्यास्त्रद्वारा नरकासुरके उस रथको भर दिया, तब बलवान् नरकासुरने भी बड़े वेगसे आघात करनेवाले उत्तम अस्त्रका प्रहार किया ॥ ११३ ॥

वज्रविस्फूर्जिताकारमायान्तं वीक्ष्य केशवः ।
चिच्छेदास्त्रं महाभागश्चक्रेण मधुसूदनः ॥११४॥

वज्रके समान गड़गड़ाहट पैदा करते हुए उस अस्त्रको आते देख महाभाग मधुसूदन केशवने चक्रके द्वारा उसका उच्छेद कर डाला ॥ ११४ ॥

व्यहनत् सारथिं चास्य शरेकेण जनार्दनः ।
स रथं सध्वजं साश्वं जघान दशभिः शरैः ॥११५॥

भगवान् श्रीकृष्णने एक बाणसे उसके सारथिको मार डाला और दस बाणोंसे ध्वज और घोड़ोंसहित उस रथका संहार कर डाला ॥ ११५ ॥

तनुत्रं चैव चिच्छेद शरेण मधुसूदनः ।
ततो विमुक्तकवचः सर्पस्येव तनुर्यथा ॥११६॥

इसके बाद मधुसूदनने एक बाणसे उसके कवचको काट गिराया। कवच कट जानेपर उसका शरीर केंचुलसे निकले हुए सर्पके समान प्रतीत होने लगा ॥ ११६ ॥

हताश्वोऽपि रणे वीरो वितनुत्रश्च दानवः ।
जग्राह विमलज्वालं लोहभारार्पितं दृढम् ॥११७॥
आविध्य सहसा मुक्तं शूलमिन्द्राशनिप्रभम् ।

घोड़ोंके मारे जाने तथा कवचके कट जानेपर भी रणभूमिमें खड़े हुए उस दानव वीरने एक निर्मल ज्वालासे युक्त, लोहभारसे सम्पन्न और सुदृढ़ शूल हाथमें लिया, जो इन्द्रके वज्रकी भाँति प्रकाशित हो रहा था। उसने उस शूलको सहसा घुमाकर छोड़ दिया ॥ ११७½ ॥

तदापतत् स सम्प्रेक्ष्य शूलं हेमपरिष्कृतम् ॥११८॥
द्विधा छिन्नं क्षुरप्रेण कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।

उस सुवर्णभूषित शूलको अपनी ओर आता देख अद्भुतकर्मा श्रीकृष्णने एक क्षुरप्रके द्वारा उसके दो टुकड़े कर डाले ॥ ११८½ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं घोररूपेण रक्षसा ॥११९॥
शस्त्रपातमहाघातं नरकेण महात्मना ।

उस समय उनका उस भयानक रूपधारी विशालकाय राक्षस नरकके साथ शस्त्रोंके सम्पात एवं महाघातसे युक्त घोर युद्ध हुआ ॥ ११९½ ॥

मुहूर्तं योधयामास नरकं मधुसूदनः ॥१२०॥
अथोग्रचक्रश्चक्रेण प्रदीप्तेनाकरोद् द्विधा ।

उग्र चक्रधारी मधुसूदनने दो घड़ीतक नरकासुरके साथ युद्ध किया। तत्पश्चात् प्रज्वलित चक्रद्वारा उसके शरीरके दो टुकड़े कर डाले ॥ १२०½ ॥

चक्रद्विधाकृतं तस्य शरीरमपतद् भुवि ॥१२१॥
विभक्तं कुलिशेनैव गिरेः शृङ्गं द्विधाकृतम् ।

चक्रसे दो टूक हुआ नरकासुरका शरीर पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो किसी पर्वतका शिखर वज्रके आघातसे दो भागोंमे विभक्त होकर धराशायी हो गया हो ॥ १२१½ ॥

कृष्णमासाद्य देवेशं जगामास्तमिवांशुमान् ॥१२२॥
चक्रोत्कृन्तितगात्रोऽसौ दानवः पतितो रणे ।
वज्रप्रहारनिर्भिन्नं यथा गैरिकपर्वतम् ॥१२३॥

देवेश्वर श्रीकृष्णसे टक्कर लेकर वह सूर्यकी भाँति अस्ताचलको चला गया। चक्रसे शरीरके टूक-टूक हो जानेपर वह दानव रणभूमिमें गिर पड़ा। उस समय वह वज्रके प्रहारसे विदीर्ण हुए गेरूके पहाड़-जैसा जान पड़ता था१२२-१२३

भूमिस्तु पतितं पुत्रं निरीक्ष्यादाय कुण्डले ।
उपातिष्ठत गोविन्दं वचनं चेदमब्रवीत् ॥१२४॥

अपने पुत्रको गिरा हुआ देख मूर्तिमती भूमिदेवी

अदितिके दोनों कुण्डल ले गोविन्दकी सेवामें उपस्थित हुई और इस प्रकार बोली—॥ १२४ ॥

दत्तस्त्वयैव गोविन्द त्वयैव विनिपातितः।
यथेच्छसि तथा क्रीड बालः क्रीडनकैरिव ॥१२५॥
इमे ते कुण्डले देव प्रजास्तस्यानुपालय ॥१२६॥

'गोविन्द! आपहीने मुझे यह पुत्र प्रदान किया था और आपहीने इसे मार गिराया। प्रभो! आपकी जैसी इच्छा हो वैसी क्रीडा कीजिये, ठीक वैसे ही, जैसे बालक खिलौनोंसे खेला करता है। देव! ये ही वे दोनों कुण्डल हैं, इन्हें लीजिये और उस नरकासुरकी संतानका पालन कीजिये'॥१२५-१२६॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि नरकवधे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें नरकासुरका वधविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका नरकासुरके भवनमें प्रवेश करके वहाँके धन-वैभव तथा सोलह हजार कुमारियोंको द्वारका भेजना और स्वयं देवलोकमें जा अदितिको कुण्डल दे वहाँसे पारिजात लेकर लौटना

वैशम्पायन उवाच

निहत्य नरकं भौमं वासवोपमविक्रमम्।
वासवावरजो विष्णुर्ददर्श नरकालयम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इन्द्रके समान पराक्रमी भूमिपुत्र नरकासुरका वध करके इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णने उसके भवनका निरीक्षण किया ॥ १ ॥

अथार्थगृहमासाद्य नरकस्य जनार्दनः।
ददर्श धनमक्षय्यं रत्नानि विविधानि च ॥ २ ॥

तदनन्तर नरकासुरके धनागार (खजाने) में जाकर भगवान् जनार्दनने अक्षय धन और भाँति-भाँतिके रत्न देखे ॥ २ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि वैदूर्यस्य च संचयान्।
मासारगल्वकूटानि तथा वज्रस्य संचयान् ॥ ३ ॥
जाम्बूनदमयान्यस्य शातकुम्भमयानि च।
प्रदीप्तज्वलनाभानि शीतरश्मिनिभानि च ॥ ४ ॥

मणि, मोती, मूँगे, वैदूर्यमणिके ढेर, चन्द्रकान्त मणिकी पर्वतोपम राशि तथा हीरोंके संग्रह देखे। जाम्बूनद तथा शातकुम्भ नामक सुवर्णोंकी बनी हुई बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ वहाँ दृष्टिगोचर हुईं, जो प्रज्वलित अग्नि और शीतरश्मि चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रही थीं ॥ ३-४ ॥

शयनानि महार्हाणि तथा सिंहासनानि च।
हिरण्यदण्डरुचिरं शीतरश्मिसमप्रभम् ॥ ५ ॥
ददर्श तन्महच्छत्रं वर्षमाणमिवाम्बुदम्।
जातरूपस्य शुभ्रस्य धाराः शतसहस्रशः ॥ ६ ॥

बहुमूल्य शय्या तथा सिंहासन भी देखनेमें आये। वहीं उन्होंने वह विशाल छत्र भी देखा, जो वर्षा करनेवाले मेघके समान उज्ज्वल सुवर्णकी लाखों धाराएँ बहा रहा था, उसका सुन्दर दण्ड सुवर्णका बना हुआ था तथा उसकी कान्ति चन्द्रमाके समान श्वेत वर्णकी थी ॥ ५-६ ॥

वरुणादाहृतं पूर्वं नरकेणेति नः श्रुतम्।
यावद्रत्नं गृहे दृष्टं नरकस्य धनं बहु ॥ ७ ॥
नैव राज्ञः कुबेरस्य न शक्रस्य यमस्य च।
रत्नसंनिचयस्तादृग् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः ॥ ८ ॥

हमने सुना है कि वह छत्र नरकासुर पहले वरुणके यहाँसे छीन लाया था। नरकासुरके घरमें जितना रत्न और असंख्य धन देखा गया, उतना राजा कुबेर, इन्द्र और यमके पास भी नहीं था। रत्नोंका वैसा संग्रह कुबेर आदिके यहाँ भी न तो कभी देखा गया और न सुना ही गया ॥ ७-८ ॥

हते भौमे निसुन्दे च हयग्रीवे च दानवे।
उपानिन्युस्ततस्तानि रत्नान्यन्तःपुराणि च ॥ ९ ॥
दानवा हतशिष्टा ये कोशसंचयरक्षिणः।
केशवाय महार्हाणि यान्यर्हति जनार्दनः ॥ १० ॥

भौमासुर, निसुन्द और दानव हयग्रीवके मारे जानेपर मरनेसे बचे हुए जो दानव और खजानेके रक्षक थे, वे उन बहुमूल्य रत्नों और अन्तःपुरकी वस्तुओंको भगवान् श्रीकृष्णके पास ले आये, जिन्हें पाने और रखनेकी योग्यता एकमात्र श्रीकृष्णमें ही थी ॥ ९-१० ॥

दैत्या ऊचुः

इमानि मणिरत्नानि विविधानि बहूनि च।
भीमरूपाश्च मातङ्गाः प्रवालविकृताः कुथाः ॥ ११ ॥
हेमसूत्रा महाकक्षाश्चापतोमरशालिनः।
रुचिराभिः पताकाभिः शबला रुचिरांकुशाः ॥ १२ ॥
ते च विंशतिसाहस्रा द्विस्तावत्यः करेणवः।
अष्टौ शत सहस्राणि देशजाश्चोत्तमा हयाः ॥ १३ ॥
गोषु चापि कृतो यावान् कामस्तव जनार्दन।
तावतीः प्रापयिष्यामो वृष्ण्यन्धकनिवेशनम् ॥ १४ ॥

दैत्योंने कहा—जनार्दन! ये जो नाना प्रकारके बहुसंख्यक मणिरत्न हैं तथा जो भयंकर रूपवाले गजराज हैं,

जिनके ऊपर बिछायी जानेवाली कालीनें मूँगोंसे विभूषित हैं, जो सोनेके तारोंके बने हुए रस्सोंसे कसे जाते हैं, जिनकी जंजीरें बहुत बड़ी हैं, जो धनुष और तोमर आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सुशोभित होते हैं, जिनके अङ्कुश बड़े सुन्दर हैं तथा जो नाना प्रकारकी सुन्दर पताकाओंद्वारा चितकबरे दिखायी देते हैं, उन गजराजोंकी संख्या बीस हजार है। इनसे दूनी हथिनियाँ हैं। आठ लाख उत्तम देशी घोड़े हैं। इनके सिवा बहुत-सी गौएँ हैं। इनमेंसे जिनके लिये आपको जितनी आवश्यकता हो, उतनी संख्यामें हम इन सबको वृष्णि और अन्धकवंशी यादवोंके निवासस्थान द्वारकामें पहुँचा देंगे ॥ ११–१४ ॥

आविकानि च सूक्ष्माणि शयनान्यासनानि च।
कामव्याहारिणश्चैव पक्षिणः प्रियदर्शनाः ॥ १५ ॥
चन्दनागुरुकाष्ठानि तथा कालीयकान्यपि।
वसु यत् त्रिषु लोकेषु धर्मेणाधिगतं तव।
प्रापयिष्याम तत् सर्वं वृष्ण्यन्धकनिवेशनम् ॥ १६ ॥
देवगन्धर्वरत्नानि पन्नगानां च यद् वसु।
तानि सर्वाणि सन्तीह नरकस्य निवेशने ॥ १७ ॥

प्रभो! महीन ऊनी वस्त्र, अनेक प्रकारकी शय्याएँ, बहुत-से आसन, इच्छानुसार बोली बोलनेवाले और देखनेमें सुन्दर पक्षी, चन्दन और अगुरुकाष्ठ, कालागुरु तथा तीनों लोकोंमें जो धन और रत्न यहाँ सञ्चित हैं, उन सबपर आपका धर्मतः अधिकार हो गया है। हम उन सबको वृष्ण्यन्धकपुरी द्वारकामें पहुँचा देंगे। देवताओं और गन्धर्वोंके यहाँ जो रत्न हैं तथा नागोंके यहाँ जो वैभव है, वे सब यहाँ नरकासुरके भवनमें विद्यमान हैं ॥ १५–१७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्च सर्वं हृषीकेशः परिगृह्य परीक्ष्य च।
सर्वमाहारयामास दानवैर्द्वारकां पुरीम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णने वह सारा वैभव लेकर उसकी परीक्षा करके सब-का-सब दानवोंद्वारा द्वारकापुरीको पहुँचवा दिया ॥ १८ ॥

ततस्तद् वारुणं छत्रं स्वयमुत्क्षिप्य माधवः।
हिरण्यवर्षं वर्षन्तमारुरोह विहङ्गमम् ॥ १९ ॥
गरुडं पतगश्रेष्ठं मूर्तिमन्तमिवाम्बुदम्।
ततोऽभ्ययाद् गिरिश्रेष्ठमभितो मणिपर्वतम् ॥ २० ॥

तदनन्तर माधवने सुवर्णकी वर्षा करते हुए वरुणके उस छत्रको स्वयं ही उठाकर गरुड़पर रख दिया और मूर्तिमान् मेघके समान आकाशगामी पक्षिप्रवर गरुड़पर वे स्वयं भी बैठ गये। तत्पश्चात् वे गिरिश्रेष्ठ मणिपर्वतके समीप गये।१९-२०।

तत्र पुण्या ववुर्वाता ह्यभवंश्चामलाः प्रभाः।
मणीनां हेमवर्णानामभिभूय दिवाकरम् ॥ २१ ॥

वहाँ बड़ी पवित्र हवा चल रही थी। सोनेके समान रंगवाली मणियोंकी निर्मल प्रभाएँ सूर्यको तिरस्कृत-सा करके प्रकाशित हो रही थीं ॥ २१ ॥

तत्र वैदूर्यवर्णानि ददर्श मधुसूदनः।
सतोरणपताकानि द्वाराणि शरणानि च ॥ २२ ॥

वहाँ मधुसूदनने बहुत-से वैदूर्यमणिके समान रंगवाले प्रकाशमान द्वार और घर देखे, जहाँ वन्दनवारें बँधी थीं और पताकाएँ फहरा रही थीं ॥ २२ ॥

विद्युद्ग्रथितमेघाभः प्रबभौ मणिपर्वतः।
हेमचित्रवितानैश्च प्रासादैरुपशोभितः ॥ २३ ॥

वह मणिपर्वत (जो कन्याओंका अन्तःपुर था) बिजलीसे गुँथे हुए मेघके समान प्रकाशित होता था। जिनमें सोनेके विचित्र चँदोवे तने हुए थे, ऐसे महल उसकी शोभा बढ़ाते थे ॥ २३ ॥

तत्र ता वरहेमाभा ददर्श मधुसूदनः।
गन्धर्वसुरमुख्यानां प्रिया दुहितरस्तथा ॥ २४ ॥
ददर्श पृथुलश्रोणीः संरुद्धा गिरिकन्दरे।
नरकेण समानीता रक्ष्यमाणाः समन्ततः ॥ २५ ॥

वहाँ मधुसूदनने श्रेष्ठ सुवर्णके समान कान्तिवाली प्रधान-प्रधान गन्धर्वों और देवताओंकी उन प्यारी पुत्रियोंको देखा, जो उस पर्वतकी कन्दरामें कैद की गयी थीं। उन सबके नितम्बभाग स्थूल और मांसल थे। नरकासुरने सब ओरसे लाकर उन्हें रख छोड़ा था ॥ २४-२५ ॥

त्रिविष्टपसमे देशे तिष्ठन्तीरपराजिताः।
निर्विशन्त्यो यथा देव्यः सुखिन्यः कामवर्जिताः ॥ २६ ॥

वह प्रदेश स्वर्गके समान सुखद था। वहाँ रहती हुई वे कुमारियाँ नरकासुरसे पराजित नहीं हुई थीं। उन्होंने कामभोगका परित्याग कर रक्खा था और वे देवियोंके समान वहाँ सुखपूर्वक रहती थीं ॥ २६ ॥

परिवव्रुर्महाबाहुमेकवेणीधराः स्त्रियः।
सर्वाः काषायवासिन्यः सर्वाश्च नियतेन्द्रियाः ॥ २७ ॥

एक वेणी धारण करनेवाली तथा काषाय वस्त्रसे अपने अङ्गोंको आच्छादित करनेवाली उन समस्त कुमारियोंने महाबाहु श्रीकृष्णको चारों ओरसे घेर लिया। उन्होंने अपनी इन्द्रियोंको पूर्णतः संयममें रक्खा था ॥ २७ ॥

व्रतोपवासतन्वङ्ग्यः काङ्क्षन्त्यः कृष्णदर्शनम्।
समेत्य यदुसिंहस्य सर्वाश्चक्रुः स्त्रियोऽञ्जलीन् ॥ २८ ॥

व्रत और उपवास करनेके कारण उनके सारे अङ्ग दुबले हो गये थे। वे सदा ही श्रीकृष्णके दर्शनकी अभिलाषा रखती थीं। यदुकुलके सिंह श्रीकृष्णके पास जाकर उन सब कुमारियोंने हाथ जोड़ लिये ॥ २८ ॥

नरकं निहतं ज्ञात्वा मुरं चैव महासुरम्।
हयग्रीवं निसुन्दं च ताः कृष्णं पर्यवारयन्॥ २९॥

नरकासुर, महान् असुर मुर, हयग्रीव तथा निसुन्दको मारा गया जानकर वे सब स्त्रियाँ श्रीकृष्णको घेरकर खड़ी हुई थीं॥ २९॥

ये चासां रक्षिणो वृद्धा दानवा यदुनन्दनम्।
कृताञ्जलिपुटाः सर्वे प्रणिपेतुर्वयोऽधिकाः॥ ३०॥

जो बड़े-बूढ़े दानव उन कुमारियोंके रक्षक थे, उनकी अवस्था बहुत अधिक थी। उन सबने हाथ जोड़कर यदुनन्दनको प्रणाम किया॥ ३०॥

तासां परमनारीणामृषभाक्षं निरीक्ष्य तम्।
सर्वासामेव संकल्पः पतित्वेनाभवत् ततः॥ ३१॥

वृषभके समान विशाल नेत्रवाले श्रीकृष्णका दर्शन करके उन समस्त सुन्दरियोंके मनमें उन्हें पति बनानेका संकल्प उदित हुआ॥ ३१॥

तस्य चन्द्रोपमं वक्त्रं निरीक्ष्य मुदितेन्द्रियाः।
सम्प्रहृष्टा महाबाहुमिदं वचनमब्रुवन्॥ ३२॥

श्रीकृष्णका चन्द्रमाके समान मनोहर मुख देखकर उनकी सारी इन्द्रियाँ आनन्दसिन्धुमें निमग्न हो गयी थीं। वे अत्यन्त हर्षमें भरकर उन महाबाहुसे इस प्रकार बोलीं—॥ ३२॥

सत्यं च यत् पुरा वायुरिहास्मान् वाक्यमब्रवीत्।
सर्वभूतमतिज्ञश्च देवर्षिरपि नारदः॥ ३३॥

'भगवन्! पूर्वकालमें वायुदेवने तथा सम्पूर्ण भूतोंके मनोभावको जाननेवाले देवर्षि नारदने भी जो बात कही थी, वह आज सत्य हो गयी॥ ३३॥

विष्णुर्नारायणो देवः शङ्खचक्रगदासिभृत्।
स भौमं नरकं हत्वा भर्ता च भविता स वः॥ ३४॥

'उन्होंने कहा था कि शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले जो सर्वव्यापी नारायणदेव हैं, वे भूमिपुत्र नरकका वध करके तुम सब लोगोंके पति होंगे॥ ३४॥

सुप्रियं बत पश्यामश्चिरश्रुतमरिंदमम्।
दर्शनेन कृतार्था हि वयमद्य महात्मनः॥ ३५॥

'हम चिरकालसे जिन शत्रुदमन श्यामसुन्दरके विषयमें बहुत कुछ सुनती चली आ रही हैं, आज उन्हीं परम प्रियतम प्रभुको प्रत्यक्ष देखनेका हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ। आज आप परमात्माके दर्शनसे हम सब कृतार्थ हो गयीं'॥ ३५॥

ततस्ताः सान्त्वयामास प्रमदा वासवानुजः।
सर्वाः कमलपत्राक्षीर्दृष्ट्वा चोवाच माधवः॥ ३६॥

तब इन्द्रके छोटे भाई माधवने उन समस्त कमलनयनी युवतियोंको सान्त्वना दी, उनकी ओर देखा और उनसे वार्तालाप किया॥ ३६॥

यथार्हतः पूजयित्वा समाभाष्य च केशवः।
यानैः किङ्करसंयुक्तैरुवाह मधुसूदनः॥ ३७॥

इसके बाद मधुसूदन केशवने उनका यथोचित सम्मान तथा उनसे सम्भाषण करके उन्हें किङ्कर नामक दानवोंसे युक्त शिविकाओंपर सवार कराया॥ ३७॥

किङ्कराणां सहस्राणि रक्षसां वातरंहसाम्।
शिबिकां वहतां तत्र निर्घोषः सुमहानभूत्॥ ३८॥

वायुके समान वेगशाली किङ्कर नामक सहस्रों राक्षस उनकी शिबिकाएँ ढोने लगे। उस समय उनका महान् घोष सर्वत्र छा गया॥ ३८॥

तस्य पर्वतराजस्य शृङ्गं यत् परमार्चितम्।
विमलार्केन्दुसंकाशं मणिकाञ्चनतोरणम्॥ ३९॥

उस पर्वतराज मणिपर्वतका जो सर्वोत्तम एवं प्रशंसित शिखर था, वह निर्मल सूर्य एवं चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता था। उसमें मणि एवं सुवर्णके फाटक बने हुए थे॥ ३९॥

सपक्षिगणमातङ्गं समृगव्यालपादपम्।
शाखामृगगणाकीर्णं सुप्रस्तरशिलातलम्॥ ४०॥
न्यंकुभिश्च वराहैश्च रुरुभिश्च निषेवितम्।
सप्रपातं महासानुं विचित्रशिखरद्रुमम्॥ ४१॥
अत्यद्भुतमचिन्त्यं च मृगवृन्दविलोडितम्।
जीवञ्जीवकसंघैश्च बर्हिभिश्च निनादितम्॥ ४२॥

वहाँ पक्षियोंके समुदाय, हाथी, मृग, सर्प और वृक्ष शोभा पाते थे। वंदरोंके समुदाय सब ओर भरे हुए थे। वहाँके प्रस्तर और शिलाएँ बहुत सुन्दर थीं। न्यङ्कु (बारहसिंहाविशेष), वराह और रुरुमृग उसका सेवन करते थे। वहाँ अनेकानेक झरने गिरते थे। उसके कई बड़े-बड़े आन्तर शिखर थे। उसके शृङ्ग और वृक्ष विचित्र शोभासे सम्पन्न थे। मणिपर्वतका वह शिखर अत्यन्त अद्भुत और अचिन्त्य था। मृगोंके झुंड वहाँ दौड़ लगाते रहते थे। चकोरोंके झुंड और मोर अपने कलरवोंसे उसे प्रतिध्वनित किये रहते थे॥ ४०—४२॥

तदप्यतिबलो विष्णुर्दोर्भ्यामुत्पाट्य भासुरम्।
आरोपयामास बली गरुडे पक्षिणां वरे॥ ४३॥

अत्यन्त बलशाली भगवान् श्रीकृष्णने अपनी दोनों भुजाओंसे उस तेजस्वी पर्वत-शिखरको उखाड़कर पक्षिप्रवर गरुड़की पीठपर रख लिया॥ ४३॥

मणिपर्वतशृङ्गं च सभार्यं च जनार्दनम्।
उवाह लीलया पक्षी गरुडः पततां वरः॥ ४४॥

पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड़ मणिपर्वतके उस शिखरको तथा पत्नीसहित श्रीकृष्णको भी लेकर लीलापूर्वक चलने लगे॥ ४४॥

स पक्षबलविक्षेपैर्हिमाद्रिशिखरोपमः ।
दिक्षु सर्वासु संह्रादं जनयामास पक्षिराट् ॥ ४५ ॥

उनका शरीर हिमालयके शिखरके समान विशाल था। वे पक्षिराज अपनी पाँखोंको बलपूर्वक हिला-हिलाकर सम्पूर्ण दिशाओंमें महान् कोलाहल मचाते जा रहे थे ॥ ४५ ॥

आरुजन् पर्वताग्राणि पादपांश्च समुत्क्षिपन् ।
संजहार महाभ्राणि विजहार च कानिचित् ॥ ४६॥

वे बड़े-बड़े पर्वतशिखरोंको तोड़ डालते, वृक्षोंको उखाड़ फेंकते, बड़े-बड़े बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देते और कुछको अपने साथ उड़ाये लिये जाते थे ॥ ४६ ॥

विषयं समतिक्रम्य देवयोश्चन्द्रसूर्ययोः ।
ययौ वातजवः पक्षी जनार्दनवशे स्थितः ॥ ४७ ॥

चन्द्रदेव और सूर्यदेवके प्रदेशको लाँघकर वे वायुके समान वेगशाली पक्षी गरुड़ भगवान् श्रीकृष्णके वशमें होकर चलते थे ॥ ४७ ॥

स मेरुगिरिमासाद्य देवगन्धर्वसेवितम् ।
देवसद्मानि सर्वाणि ददर्श मधुसूदनः ॥ ४८ ॥

देवताओं और गन्धर्वोंसे सेवित मेरुगिरिपर पहुँचकर उन भगवान् मधुसूदनने समस्त देवगृहोंका दर्शन किया ॥४८॥

विश्वेषां मरुतां चैव साध्यानां च नराधिप ।
भ्राजमानान्यतिक्रामन्नश्विनोश्च परंतप ॥ ४९ ॥
प्राप्य पुण्यतमांल्लोकान् देवलोकमरिंदमः ।
शक्रसद्म समासाद्य प्रविवेश जनार्दनः ॥ ५० ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश्वर ! उन्होंने विश्वेदेवों, मरुद्गणों, साध्यों और अश्विनीकुमारोंके प्रकाशमान स्थानोंको लाँघते हुए पुण्यतम लोकोंमें पहुँचकर देवलोकमें पदार्पण किया। तत्पश्चात् शत्रुदमन जनार्दनने इन्द्रभवनके निकट जाकर उसके भीतर प्रवेश किया ॥ ४९-५० ॥

अवतीर्य स तार्क्ष्यात् तु ददर्श विबुधाधिपम् ।
प्रीतश्चैवाभ्यनन्दत् तं देवराजः शतक्रतुः ॥ ५१ ॥

वहाँ गरुड़से उतरकर वे देवेश्वर इन्द्रसे मिले। देवराज इन्द्रने भी प्रसन्नतापूर्वक उनका अभिनन्दन किया ॥ ५१ ॥

प्रादाय कुण्डले दिव्ये ववन्दे तं तदाच्युतः ।
सभार्यो विबुधश्रेष्ठं नरश्रेष्ठो जनार्दनः ॥ ५२ ॥

उस समय अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले पत्नीसहित नरश्रेष्ठ जनार्दनने वे दोनों दिव्य कुण्डल उन्हें देकर देवप्रवर इन्द्रको प्रणाम किया ॥ ५२ ॥

अर्चितो देवराजेन रत्नैश्च प्रतिपूजितः ।
सत्यभामा च पौलोम्या यथावदभिनन्दिता ॥ ५३॥

देवराज इन्द्रने नाना प्रकारके रत्नोंद्वारा श्रीकृष्णका आदर-सत्कार किया। इसी प्रकार पुलोमकन्या शचीने भी सत्यभामाका यथोचित रूपसे अभिनन्दन किया ॥ ५३ ॥

वासवो वासुदेवश्च जग्मतुः सहितौ तदा ।
अदित्या भवनं दिव्यं देवमातुर्महर्द्धिमत् ॥ ५४ ॥

तदनन्तर इन्द्र और भगवान् श्रीकृष्ण दोनोंने एक साथ होकर देवमाता अदितिके अत्यन्त समृद्धिशाली दिव्य भवनमें प्रवेश किया ॥ ५४ ॥

तत्रादितिमुपास्यन्तीमप्सरोभिः समन्ततः ।
ददृशाते महात्मानौ महाभागां तपोऽन्विताम् ॥ ५५ ॥

वहाँ उन दोनों महात्माओंने महाभागा तपस्विनी अदितिका दर्शन किया, जिनकी सब ओरसे अप्सराएँ उपासना (सेवा) करती थीं ॥ ५५ ॥

ततस्ते कुण्डले दिव्ये प्रादाददितिनन्दनः ।
ववन्दे तां शचीभर्ता मातरं स्वां पुरंदरः ॥ ५६ ॥

वहाँ अदितिनन्दन शचीवल्लभ पुरन्दर इन्द्रने वे दोनों कुण्डल अपनी माताको दे दिये और उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ५६ ॥

जनार्दनं पुरस्कृत्य कर्म चैव शशंस तत् ।
अदितिस्तौ सुतौ प्रीत्या परिष्वज्याभिनन्द्य च ॥ ५७ ॥
आशीर्भिरनुकूलाभिरुभावप्यवदत् तदा ।

इन्द्रने जनार्दनको आगे करके उनके पराक्रमकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। अदितिने अपने उन दोनों पुत्रोंको प्रसन्नतापूर्वक हृदयसे लगाकर उनका अभिनन्दन किया और दोनोंके लिये अनुकूल आशीर्वाद प्रदान किया ॥ ५७½ ॥

पौलोमी सत्यभामा च प्रीत्या परमया युते ॥ ५८ ॥
अगृह्णीतां वरार्हाया देव्यास्ते चरणौ शुभौ ।
ते चाप्यभ्यवदत् प्रेम्णा देवमाता यशस्विनी ॥ ५९ ॥

शची और सत्यभामाने भी बड़ी प्रसन्नताके साथ परम पूजनीया देवी अदितिके सुन्दर चरणोंका स्पर्श किया। तब यशस्विनी देवमाताने उन दोनोंसे भी प्रेमपूर्वक वार्तालाप किया ॥

यथावदब्रवीच्चैव जनार्दनमिदं वचः ।
अधृष्यः सर्वभूतानामवध्यश्च भविष्यसि ॥ ६० ॥
यथैव देवराजोऽयमजितो लोकपूजितः ।

इसके बाद अदितिने भगवान् जनार्दनसे यह यथार्थ बात कही—'वत्स ! तुम सम्पूर्ण भूतोंके लिये अजेय और अवध्य होओगे। जैसे ये देवराज इन्द्र हैं, उसी प्रकार तुम भी अपराजित और लोकपूजित होओगे ॥ ६०½ ॥

भवत्वियं वरारोहा नित्यं च प्रियदर्शना ॥ ६१ ॥
सर्वलोकेषु विख्याता दिव्यगन्धा मनोरमा ।
सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां सुभगा स्थिरयौवना ॥ ६२ ॥
जरां न यास्यति वधूर्यावत्त्वं कृष्ण मानुषः ।

'यह सुन्दरी सत्यभामा सदा प्रियदर्शना, सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात, दिव्य गन्धवाली, मनोरमा, सुस्थिर-यौवना, सौभाग्यवती तथा स्त्रियोंमें उत्तम हो। श्रीकृष्ण! जबतक तुम मानव बनकर मनुष्यलोकमें रहोगे, तबतक बहू सत्यभामा बूढ़ी नहीं होगी' ॥ ६१-६२½ ॥

एवमभ्यर्चितः कृष्णो देवमात्रा महाबलः ॥ ६३ ॥
देवराजाभ्यनुज्ञातो रत्नैश्च प्रतिपूजितः।
वैनतेयं समारुह्य सहितः सत्यभामया ॥ ६४ ॥
देवाक्रीडं परिक्रामन् पूज्यमानं सुरर्षिभिः।

देवमाता अदितिके द्वारा इस प्रकार सत्कार पाकर देवराजकी आज्ञा ले उनसे रत्नोंद्वारा पूजित हो महाबली श्रीकृष्ण सत्यभामासहित गरुड़पर आरूढ़ हुए और देवर्षियोंद्वारा प्रशंसित देवताओंके क्रीड़ा-कानन नन्दनवनमें सब ओर घूमने लगे ॥ ६३-६४½ ॥

स ददर्श महाबाहुराक्रीडे वासवस्य ह ॥ ६५ ॥
दिव्यमभ्यर्चितं देवैः पारिजातं महाद्रुमम्।
नित्यपुष्पधरं दिव्यं पुण्यगन्धमनुत्तमम् ॥ ६६ ॥

इन्द्रके उस क्रीड़ावनमें महाबाहु श्रीकृष्णने पारिजात नामक दिव्य विशाल वृक्षको देखा, जो देवताओंद्वारा पूजित था। वह दिव्य वृक्ष सदा ही फूल धारण करनेवाला, पवित्र गन्धसे सुवासित तथा परम उत्तम था ॥ ६५-६६ ॥

यमासाद्य जनः सर्वो जातिं स्मरति पौर्विकीम्।
संरक्ष्यमाणं देवैस्तं प्रसह्यामितविक्रमः ॥ ६७ ॥
उत्पाट्यारोपयामास विष्णुस्तं गरुडोपरि।

उसके पास जानेपर सब लोगोंको अपने पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण हो आता था। देवता उस वृक्षकी रक्षा करते थे; परंतु अमितपराक्रमी श्रीकृष्णने उसे बलपूर्वक उखाड़कर गरुड़की पीठपर रख लिया ॥ ६७½ ॥

सोऽपश्यत् सत्यभामा च दिव्यमप्सरसां गणम् ॥ ६८ ॥
पृष्ठतः सत्यभामा च दिव्या योषा च वीक्षिता।
प्रायात् ततो द्वारवतीं वायुजुष्टेन वै पथा ॥ ६९ ॥

वहाँ श्रीकृष्ण तथा सत्यभामाने दिव्य अप्सराओंके समुदायको देखा। उन्होंने भी पीछेसे दिव्य युवती सत्यभामाका दर्शन किया। तदनन्तर वायुसेवित मार्गसे श्रीकृष्ण द्वारकापुरीकी ओर चल दिये ॥ ६८-६९ ॥

श्रुत्वा तं देवराजस्तु कर्म कृष्णस्य तत् तदा।
अनुमेने महाबाहुः कृतकर्मेति चाब्रवीत् ॥ ७० ॥

महाबाहु देवराज इन्द्रने जब उस समय श्रीकृष्णके पारिजात-हरणरूपी उस कर्मको सुना, तब यह कहकर उसका अनुमोदन किया कि 'श्रीकृष्णने मेरा बहुत बड़ा कार्य सिद्ध किया है' ॥ ७० ॥

स पूज्यमानस्त्रिदशैः सप्तर्षिगणसंस्तुतः।
प्रतस्थे द्वारकां कृष्णो देवलोकादरिंदमः ॥ ७१ ॥

देवताओंसे पूजित और सप्तर्षियोंसे प्रशंसित हो शत्रुदमन श्रीकृष्णने देवलोकसे द्वारकाको प्रस्थान किया ॥ ७१ ॥

सोऽभिपत्य महाबाहुर्दीर्घमध्वानमल्पवत्।
पूजितो देवराजेन ददृशे यादवीं पुरीम् ॥ ७२ ॥

देवराजसे सम्मानित हुए महाबाहु श्रीकृष्णने उस विशाल मार्गको लघु मार्गकी भाँति थोड़ी ही देरमें तै करके यादवपुरीको देखा ॥ ७२ ॥

तथा कर्म महत् कृत्वा भगवान् वासवानुजः।
उपायाद् द्वारकां कृष्णः श्रीमान् गरुडवाहनः ॥ ७३ ॥

इन्द्रके छोटे भाई गरुड़वाहन श्रीमान् भगवान् श्रीकृष्ण वैसा महान् कर्म करके द्वारकामें चले गये ॥ ७३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे द्वारकाप्रवेशे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजात-हरण और द्वारकामें प्रवेशविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

रैवतक पर्वतपर रुक्मिणीके व्रतोद्यापनका उत्सव, उसमें पारिजात-पुष्प देकर श्रीकृष्णद्वारा रुक्मिणीका सम्मान, नारदजीद्वारा रुक्मिणीके सर्वाधिक सौभाग्यकी प्रशंसा तथा सत्यभामाका कोपभवनमें प्रवेश

जनमेजय उवाच

प्रादुर्भावे मुनिश्रेष्ठ माथुरे चरितं शुभम्।
शृण्वन्नैवाधिगच्छामि तृप्तिं कृष्णस्य धीमतः ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—मुनिश्रेष्ठ! मथुरामें अवतार लेकर बुद्धिमान् श्रीकृष्णने जो मङ्गलमयी लीलाएँ की हैं, उन्हें सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥ १ ॥

द्वारकायां निवसतः कृतदारस्य षड्गुणम्।
चरितं ब्रूहि कृष्णस्य सर्वं हि विदितं तव ॥ २ ॥

द्वारकामें निवास करके सपत्नीक हो जानेपर श्रीकृष्णने जो षड्गुणसम्पन्न चरित्र किये हैं, उन्हें बताइये; क्योंकि श्रीकृष्णकी सारी लीलाएँ आपको विदित हैं ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

जनमेजय कृष्णस्य कृतदारस्य भारत।
निबोध चरितं चित्रं तस्यैव सदृशं प्रभो ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन जनमेजय ! पत्नी परिग्रह करनेके पश्चात् श्रीकृष्णके जो विचित्र चरित्र हैं, उन्हें सुनो। प्रभो ! वे चरित्र उन्हींके अनुरूप हैं ॥ ३ ॥

प्राप्तदारो महातेजा वासुदेवः प्रतापवान्।
रुक्मिण्या सहितो देव्या ययौ रैवतकं नृप ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! सपत्नीक होनेके पश्चात् एक समय महातेजस्वी एवं प्रतापी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण महारानी रुक्मिणीके साथ रैवतक पर्वतपर गये ॥ ४ ॥

उपवासावसानं हि रुक्मिण्याः प्रतिपूजयन्।
तर्पयिष्यन् स्वयं विप्राञ्जगाम मधुसूदनः ॥ ५ ॥

उस रुक्मिणी देवीके उपवास-व्रतका उद्यापन था। उसका समादर करते हुए भगवान् मधुसूदन स्वयं ही ब्राह्मणों-को भोजन आदिसे तृप्त करनेके लिये वहाँ गये ॥ ५ ॥

कुमाराः प्रययुस्तत्र पुत्रभ्रातर एव च।
प्रेषिता वासुदेवेन नारदस्याभ्यनुज्ञया ॥ ६ ॥

देवर्षि नारदकी अनुमतिसे भगवान् वासुदेवके भेजनेपर यदुकुलके कुमार, पुत्र और भाई भी वहाँ गये ॥ ६ ॥

षोडश स्त्रीसहस्राणि जग्मुरेव च धीमतः।
ऋद्ध्या परमया राजन् विष्णोरेवानुरूपया ॥ ७ ॥

राजन् ! परम बुद्धिमान् विष्णुस्वरूप श्रीकृष्णके अनुरूप उत्तम समृद्धिसे सम्पन्न सोलह हजार स्त्रियाँ भी उस उत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये गयीं ॥ ७ ॥

ततस्तत्र द्विजातीनां कामान् प्रादादधोक्षजः।
अर्थिनां धर्मनित्यानां वन्दिनामिष्टवादिनाम् ॥ ८ ॥
कल्याणनामगोत्राणां महतां पुण्यकर्मणाम्।
यौनैः श्रौतैश्च मार्खैश्च शुद्धानां कुरुनन्दन ॥ ९ ॥

कुरुनन्दन ! तदनन्तर वहाँ भगवान् श्रीकृष्णने प्रार्थी, नित्य धर्मपरायण, वन्दी, प्रियवादी, माङ्गलिक नाम-गोत्रसे युक्त, महान् पुण्यकर्मा तथा योनि, विद्या और यशके सम्बन्ध-से शुद्ध ब्राह्मणोंको मनोवाञ्छित पदार्थ दिये ॥ ८-९ ॥

१. समग्र ऐश्वर्य, समग्र ज्ञान, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र वैराग्य और समग्र धर्म—ये छः भग (ऐश्वर्य) ही छः गुण हैं। अथवा सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, अलुप्तशक्तिता और अनन्त शक्तिका होना—ये परमेश्वरके स्वरूपभूत गुण ही यहाँ छः गुणोंके नामसे स्मरण किये गये हैं।

तर्पयित्वा द्विजान् कामैरिष्टैरिष्टः सतां गतिः।
ज्ञातीन् संतर्पयामास यथार्हं भक्तवत्सलः ॥ १० ॥

ब्राह्मणोंको अभीष्ट वस्तुओंसे तृप्त करके सत्पुरुषोंके प्रिय आश्रय भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णने अपने भाई-बन्धुओंको भी यथायोग्य संतुष्ट किया ॥ १० ॥

उपवासावसानेऽथ भगवान् स विशेषतः।
बहु मेने प्रियां भार्यां रुक्मिणीं भीष्मकात्मजाम् ॥ ११ ॥

उपवासके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने अपनी प्यारी पत्नी भीष्मकराजकुमारी रुक्मिणीका विशेषरूपसे बहुत आदर किया ॥ ११ ॥

वसतस्तस्य कृष्णस्य सदारस्यामितौजसः।
सहासीनस्य रुक्मिण्या नारदोऽभ्याययौ मुनिः ॥ १२ ॥

अमिततेजस्वी श्रीकृष्ण पत्नियोंसहित वहाँ रहकर जब रुक्मिणीदेवीके साथ बैठे हुए थे, उसी समय नारदमुनि उनके निकट आये ॥ १२ ॥

आगतं चाप्रमेयात्मा मुनिमिन्द्रानुजस्तदा।
शास्त्रदृष्टेन विधिना अर्चयामास केशवः ॥ १३ ॥

अप्रमेयस्वरूप इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीकृष्णने उस समय वहाँ आये हुए नारदमुनिका शास्त्रोक्त विधिसे पूजन किया ॥ १३ ॥

सोऽर्चितो वासुदेवेन मुनिरर्च्यतमः सताम्।
पारिजाततरोः पुष्पं ददौ कृष्णाय भारत ॥ १४ ॥

भरतनन्दन ! भगवान् वासुदेवसे पूजित हो सत्पुरुषोंके परम पूजनीय मुनिने वहाँ श्रीकृष्णके हाथमें पारिजात वृक्षका एक फूल दिया ॥ १४ ॥

तद् वृक्षराजकुसुमं रुक्मिण्याः प्रददौ हरिः।
पार्श्वस्था सा हि कृष्णस्य भैष्मी नरवराभवत् ॥ १५ ॥

नरश्रेष्ठ ! वृक्षराज पारिजातके उस फूलको श्रीहरिने रुक्मिणीदेवीके हाथमें दे दिया; क्योंकि वे भीष्मकुलनन्दिनी रुक्मिणी श्रीकृष्णके पास उनके बगलमें ही बैठी हुई थीं ॥

प्रतिगृह्य तु तत् पुष्पं कामारणिरनिन्दिता।
शिरस्यमलपत्राक्षी ददौ कृष्णेङ्गितानुगा ॥ १६ ॥

उस पुष्पको हाथमें लेकर प्रद्युम्नजननी सती-साध्वी कमलनयनी रुक्मिणीने, जो श्रीकृष्णके संकेतका अनुसरण करनेवाली थीं, अपने सिरके बालोंमें लगा लिया ॥ १६ ॥

त्रैलोक्यरूपसर्वस्वं नारायणमनोहरा।
शुशुभे देवपुष्पेण द्विगुणं भैष्मकी तदा ॥ १७ ॥

त्रिभुवनकी सारी रूपसम्पत्ति जिनमें निहित थी, वे इन नारायणकी मनोहारिणी लक्ष्मीस्वरूपा रुक्मिणी उस देवपुष्पको धारण करनेसे दुगुनी शोभा पाने लगीं ॥ १७ ॥

तां नारदस्तथोवाच मुनिर्ब्रह्मसुतस्तदा ।
तवैवौपयिकं पुष्पमेकं देवि पतिव्रते ॥ १८ ॥

उस समय ब्रह्मकुमार नारद मुनि उनसे बोले—'देवि ! पतिव्रते ! यह एकमात्र पुष्प तुम्हारे ही योग्य था ॥ १८ ॥

अलंकृतं पुष्पमेतत् संसर्गात् तव सर्वथा ।
अत्यर्हा च मता मे त्वमेतत्पुष्पाद् धृतव्रते ॥ १९ ॥

'व्रतको धारण करनेवाली देवि ! तुम्हारे संसर्गसे यह फूल सर्वथा अलंकृत हो गया । इस पुष्पको धारण करनेसे तुम मेरी दृष्टिमें अत्यन्त पूजनीय हो गयी हो ॥ १९ ॥

कल्याणगुणसम्पन्ने सततं भर्तृवत्सले ।
अम्लानमेतत् सततं पुष्पं भवति कामिनि ॥ २० ॥
संवत्सरपरं कालं कालज्ञे गुणसम्मते ।
ईप्सितानपि गन्धांश्च ददाति वदतां वरे ॥ २१ ॥

'कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न पतिवत्सले ! कामिनि ! यह फूल एक वर्षतक सदा ताजा बना रहता है, कभी कुम्हलाता नहीं है । समयका ज्ञान रखनेवाली, अपने गुणोंसे आदर पानेवाली, वक्ताओंमें श्रेष्ठ रुक्मिणी ! यह फूल एक सालतक मनोवाञ्छित गन्ध प्रदान करता रहता है ॥ २०-२१ ॥

शीतोष्णे चेच्छिते देवि पुष्पमेतत् प्रयच्छति ।
स्रवत्यपि रसान् देवि मनसा काङ्क्षितान् वरान् ॥ २२ ॥

'देवि ! जितनी सर्दी या गर्मी अभीष्ट हो, यह फूल उसे देता रहता है तथा मनमें जिन श्रेष्ठ रसोंको प्राप्त करनेकी अभिलाषा हो, उन्हें भी यह पुष्प स्वयं ही झरता रहता है ॥

सेव्यमानं च सौभाग्यं ददाति वरवर्णिनि ।
स्रवत्यपि तथा गन्धानीप्सितान् प्रीतिवर्द्धनान् ॥ २३ ॥

'वरवर्णिनि ! इस पुष्पका सेवन किया जाय तो यह सौभाग्य प्रदान करता है तथा मनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाली अभीष्ट सुगन्ध झरता रहता है ॥ २३ ॥

यानि यानि च पुष्पाणि त्वं देव्यभिलषिष्यसि ।
कुसुमं वृक्षराजस्य तानि तानि प्रदास्यति ॥ २४ ॥

'देवि ! तुम जिन-जिन फूलोंकी अभिलाषा करोगी, वृक्षराज पारिजातका यह फूल उन सबको प्रस्तुत कर देगा ॥

एतदेव भगाधानं धर्मिष्ठे पुत्रदं तथा ।
मतिं च नाशुभे धत्ते धार्यमाणं सदा शुभे ॥ २५ ॥

'धर्ममें निष्ठा रखनेवाली शुभे ! देवि ! यह पुष्प ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाला तथा पुत्रदायक है । इसे सदा धारण किया जाय तो यह बुद्धिको अशुभ चिन्तनमे नहीं लगने देता ॥

यद् यदिच्छसि वर्णं च तत् सर्वं धारयिष्यति ।
स्वल्पं वा यदि वा स्थूलं छन्दतस्ते भविष्यति ॥ २६ ॥

'तुम इस फूलको जिस-जिस रूप-रंगमें देखना चाहोगी, वह सब यह धारण कर लेगा । तुम्हारी इच्छाके अनुसार यह छोटा-बड़ा, हल्का-भारी अथवा स्थूल-सूक्ष्म हो जायगा ॥२६॥

अनिष्टगन्धहरणमेतत् सद्गन्धवर्द्धनम् ।
प्रदीपकर्म रात्रौ च करोति कमलेक्षणे ॥ २७ ॥

'कमललोचने ! यह पुष्प अप्रिय गन्धका निवारण तथा उत्तम गन्धकी वृद्धि करनेवाला है । रातके समय यह दीपकका भी काम करता है ॥ २७ ॥

संतानकस्रजो मालां पुष्पवस्त्रादि वाच्युतम् ।
पुष्पमण्डपमुख्यानि चिन्तितेन प्रदास्यति ॥ २८ ॥

'यह चिन्तन करनेमात्रसे संतान नामक दिव्य वृक्षके फूलोंका हार, माला, फूल, कभी नष्ट न होनेवाले वस्त्र आदि तथा अच्छे-अच्छे फूलोंके मण्डप प्रदान करेगा ॥ २८ ॥

बुभुक्षा वा पिपासा वा ग्लानिर्वाप्यथवा जरा ।
देववद्धारयन्त्यास्ते स्वच्छन्देन भविष्यति ॥ २९ ॥

'देवताओंके समान इसको धारण करते समय तुम्हें भूख-प्यास, ग्लानि अथवा वृद्धावस्था नहीं प्राप्त होगी । ये सारी वस्तुएँ तुम्हारी इच्छाके अधीन हो जायँगी ॥ २९ ॥

अनुगीतानि गीतानि दास्यत्यपि च चिन्तिते ।
सुवादित्रान् सुमधुरांस्तथैव तव सम्मतान् ॥ ३० ॥

'इतना ही नहीं, यह चिन्तन करनेपर तुम्हें प्रिय लगनेवाले सुन्दर वाद्यों तथा संगीत-शास्त्रके अनुकूल गीतोंका भी आनन्द प्रदान करेगा ॥ ३० ॥

पूर्णे संवत्सरे देवि पुष्पमेतत् तवान्तिकात् ।
निर्वर्त्स्यते तरुवरं समयेन प्रयास्यति ॥ ३१ ॥

'देवि ! वर्ष पूर्ण होनेपर यह फूल तुम्हारे पाससे समयानुसार चला जायगा और वृक्षप्रवर पारिजातसे जुड़ जायगा ॥ ३१ ॥

कृतिरेषा हि भद्रं ते पारिजातस्य सुप्रभे ।
निसर्गतः सर्गकृता सत्कारार्थेऽसुरद्विषाम् ॥ ३२ ॥

'सुप्रभे ! तुम्हारा कल्याण हो । सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीने असुरद्रोही देवताओंके सत्कारके लिये स्वभावतः पारिजातकी ऐसी सामर्थ्य रच दी है ॥ ३२ ॥

उमा देववरस्येष्टा हिमालयसुता सती ।
धारयन्तीश्वरी नित्यं पुष्पाण्येतानि सुप्रभे ॥ ३३ ॥

'उत्तम प्रभासे प्रकाशित होनेवाली देवि ! देवेश्वर शिवकी प्रियतमा हिमालयपुत्री सती-साध्वी सुरेश्वरी उमा नित्य इन फूलोंको धारण करती हैं ॥ ३३ ॥

अदितिश्च सपौलोमी महेन्द्रसुरतारणी ।
सावित्री देवमाता च श्रीश्च सर्वगुणोचिता ॥ ३४ ॥
देवपत्न्यस्तथैवान्या देवाश्च वसुदेवताः ।
संवत्सरपरः कालः सर्वेषां न तु संशयः ॥ ३५ ॥

'देवराज इन्द्रकी माता अदिति, देवेन्द्रपत्नी शची, देवमाता सावित्री, सर्वगुणसम्पन्ना लक्ष्मी तथा अन्य देवपत्नियाँ, देवगण और वसु देवता—ये सब इस पुष्पको धारण करते हैं। उन सबके लिये भी इस पुष्पके धारणका अधिक-से-अधिक समय एक वर्षतक ही है। इसमें संशय नहीं है॥

षोडशस्त्रीसहस्राणां मध्ये त्वं खलु वर्तसे।
अद्येष्टां वासुदेवस्य वेद्मि त्वां भोजनन्दिनि॥ ३६॥

'भोजनन्दिनि! आज मुझे मालूम हो गया कि इन सोलह हजार स्त्रियोंके बीच भगवान् वासुदेवको तुम्हीं सबसे अधिक प्रिय हो॥ ३६॥

सपत्न्यस्ते गुणोपेते सर्वाः सर्वेश्वरप्रिये।
अवमानावसेकेन त्वया सिक्ताद्य भामिनि॥ ३७॥

'सर्वेश्वरप्रिये! सद्गुणवती भामिनि! आज तुमने अपनी सारी सौतोंको अपमानके जलसे सींच दिया॥ ३७॥

प्रकाशमद्य सौभाग्यमनिवार्यं यशश्च ते।
मन्दारकुसुमं दत्तं यत् ते मधुनिघातिना॥ ३८॥

'आज तुम्हारा अनिवार्य सौभाग्य और यश प्रकाशमें आ गया, क्योंकि भगवान् मधुसूदनने यह मन्दार-पुष्प केवल तुम्हारे हाथमें दिया है॥ ३८॥

अद्य सात्राजिती देवी श्वास्यते वरवर्णिनी।
सौभाग्याढ्यं सदा वेत्ति याऽऽत्मानं सुभगं सती॥ ३९॥

'आज सत्राजित्‌की पुत्री परम सुन्दरी सती सत्यभामा देवी, जो अपने-आपको सदा सबसे अधिक सौभाग्यशालिनी एवं सुभगा समझती रही हैं, जान लेंगी कि किसका सौभाग्य अधिक है॥ ३९॥

साम्बमाता च गान्धारी भार्याश्चान्या महात्मनः।
सौभाग्यार्थोद्यताकाङ्क्षामद्य मोक्ष्यन्ति निःस्पृहाः॥४०॥

'साम्बमाता जाम्बवती तथा गान्धारी आदि, जो महात्मा श्रीकृष्णकी अन्य पत्नियाँ हैं, वे आज निःस्पृह होकर सौभाग्यके लिये उठी हुई आकाङ्क्षाका परित्याग कर देंगी॥ ४०॥

सौभाग्यैकरथो जैत्रस्तव देव्यद्य निःसृतः।
मनोरथरथानां यः सहस्रैरपि दुर्जयः॥ ४१॥

'देवि! आज तुम्हारे सौभाग्यका एकमात्र विजयशील रथ बाहर निकला है, जो सहस्रों मनोरथरूपी रथोंके लिये दुर्जय है॥ ४१॥

अद्याहमवगच्छामि सर्वथा सर्वशोभने।
आत्मा द्वितीयः कृष्णस्य भोजे त्वमिति भामिनि॥ ४२॥

'सर्वाङ्गसुन्दरी भामिनि! भोजराजकन्ये! आज मैं सर्वथा इस बातको समझ गया कि श्रीकृष्णकी दूसरी आत्मा तुम्हीं हो॥ ४२॥

त्रैलोक्यरत्नसर्वस्वमददाद् यत् तवाच्युतः।
जीवितातिशयस्तेन त्वया प्राप्तो हरिप्रिये॥ ४३॥

'हरिप्रिये! तीनों लोकोंके रत्नोंका सर्वस्वरूप यह पारिजात पुष्प भगवान् श्रीकृष्णने जो तुम्हें ही दिया है, इससे तुमने आज प्राणोंसे भी अधिक उत्कृष्ट वस्तु प्राप्त कर ली है (अथवा तुम्हें आज समस्त सौभाग्यवती स्त्रियोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट जीवन प्राप्त हुआ है।)'॥ ४३॥

नारदेनैवमुक्तं तु तथ्यं वाक्यं नराधिप।
तत्रस्थाः शुश्रुवुः प्रेष्याः प्रेषिताः सत्यभामया॥ ४४॥

'नरेश्वर! सत्यभामाकी भेजी हुई दासियाँ वहाँ खड़ी थीं। उन्होंने नारदजीके द्वारा इस प्रकार कहे गये यथार्थ वचनोंको सुना॥ ४४॥

देवीनां च तथान्यासां पत्नीनां च विशाम्पते।
दृष्ट्वा ताः सविशेषं च नारदेनाभ्युदाहृतम्॥ ४५॥

प्रजानाथ! अन्य देवियों तथा पत्नियोंकी दासियाँ भी वहाँ खड़ी थीं। उन सबको देखकर नारदजीने उपर्युक्त बातें और भी बढ़ा-चढ़ाकर कही थीं॥ ४५॥

तच्च श्रुत्वा सुनिखिलं प्रेष्याभिः स्त्रीस्वभावतः।
प्रकाशीकृतमेवासीद् विष्णोरन्तःपुरे तदा॥ ४६॥

उस समय वे सारी बातें सुनकर उन दूतियोंने स्त्री-स्वभावके कारण भगवान् श्रीकृष्णके अन्तःपुरमें उन्हें प्रकट कर ही दिया॥ ४६॥

कर्णाकर्णि ततो देव्यः कौलीनमिव संघशः।
मन्त्रयाञ्चक्रिरे दृष्टा रुक्मिण्यतिगुणोदयम्॥ ४७॥

कानोंकान वह सब जानकर श्रीकृष्णकी अन्य पत्नियाँ झुंड-की-झुंड एकत्र हो हर्षमें भरकर रुक्मिणीके अत्यन्त गुणयुक्त सौभाग्योदयकी चर्चा करने लगीं, मानो कुलके किसी गूढ़ रहस्यपर गुप्त मन्त्रणा कर रही हों॥४७॥

अर्हेति पुत्रमातेति ज्येष्ठेति च समागताः।
प्रायेण प्रवदन्ति स्म हृष्टा दामोदरस्त्रियः॥ ४८॥

हर्षसे उत्फुल्ल हुई भगवान् दामोदरकी वे स्त्रियाँ एकत्र होकर प्रायः इस प्रकार कहने लगीं कि वे (रुक्मिणी) हम सब लोगोंकी पूजनीया हैं, ज्येष्ठ पुत्रकी माता हैं और स्वयं भी ज्येष्ठा हैं॥ ४८॥

ममृषे न सपत्न्यास्तु तत् सौभाग्यगुणोदयम्।
सत्यभामा प्रिया नित्यं विष्णोरतुलतेजसः॥ ४९॥

परंतु अतुल तेजस्वी श्रीकृष्णकी नित्य प्रिया सत्यभामा अपनी सौतके उस सौभाग्य-गुणका उदय नहीं सहन कर सकीं॥ ४९॥

रूपयौवनसम्पन्ना स्वसौभाग्येन गर्विता।
अभिमानवती देवी श्रुत्वैवेर्ष्यावशं गता॥ ५०॥

वे रूप और यौवनसे सम्पन्न थीं। उन्हें अपने सौभाग्य-पर गर्व था; अतः अभिमानिनी देवी सत्यभामा सौतके अभ्युदयका समाचार सुनते ही ईर्ष्याके वशीभूत हो गयीं॥५०॥

समुत्सृजन्ती वसनं सकुंकुमं
शुचिस्मिता शुक्लतमेकमंशुकम्।
जग्राह रोषाकुलितेन चेतसा
वह्नेस्तदा श्रीरिव वर्द्धितेन्धना॥५१॥

पवित्र मुसकानवाली सत्यभामाने कुंकुममें रँगी हुई साड़ी उतारकर रोषाकुल चित्तसे एकमात्र श्वेत वस्त्र धारण कर लिया। वे उस समय अधिक ईंधन डाल देनेसे बढ़ी हुई अग्निकी दीप्तिमती शिखाके समान प्रतीत होती थीं॥५१॥

दन्दह्यमाना ज्वलनेन वर्द्धता
ईर्ष्यासमुत्थेन गतप्रभेव।
क्रोधान्विता क्रोधगृहं विविक्तं
विवेश तारेव घनं सतोयम्॥५२॥

उनके मनमें ईर्ष्याजनित आग बढ़ती जा रही थी, जिससे अत्यन्त दग्ध होनेके कारण वे श्रीहीन-सी हो गयी थीं। जैसे तारा सजल जलधरकी ओटमें चली जाय, उसी प्रकार रोषभरी सत्यभामाने वहाँ एकान्त कोपभवनमें प्रवेश किया॥५२॥

बद्ध्वा ललाटे हिमचन्द्रशुक्लं
दुकूलपट्टं प्रियरोषचिह्नम्।
पर्यन्तदेशं सरसेन देवी
विलिप्य सा लोहितचन्दनेन॥५३॥

देवी सत्यभामाने ललाटमें प्रियतमके प्रति रोषसूचक चिह्नके तौरपर हिम और चन्द्रमाके समान श्वेत दुकूलपट्ट बाँध लिया और उस ललाटके किनारे-किनारे सरस (गीला) लाल चन्दन पोत लिया॥५३॥

संस्मृत्य संस्मृत्य शिरः सरोषं
प्रकम्पमाना समुपोपविष्टा।
दीर्घोपधाने शयनेऽपनीय
विभूषणान्येव नियद्धवेणी॥५४॥

उन बातोंको याद कर-करके वहाँ बड़े तकियेवाले पलंगपर बैठी हुई वह देवी रोषपूर्वक सिर हिला रही थी और सारे आभूषणोंको उतारकर उसने अपने केशोंको एक वेणीके रूपमें बाँध लिया था॥५४॥

अकारणार्थेन विकृष्यमाणा
प्रेष्याजनस्याभिजनान्वितापि।
विचूर्णयामास कुशेशयं सा
निःश्वस्य निःश्वस्य नखैर्नतभ्रूः॥५५॥

'आपको अकारण ही क्रोध हुआ है' ऐसा कहकर जब दासियोंने उन्हें कोप-भवनसे बाहर चलनेके लिये खींचा, उस समय उत्तम कुलमें उत्पन्न (अथवा परिजनोंसे युक्त) होनेपर भी झुकी भौंहोंवाली सत्यभामाने रोषवश बारंबार लंबी साँस खींचकर हस्तगत क्रीडाकमलको नखोंसे नोंच-नोंचकर चूर्ण-सा कर दिया॥५५॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः॥६५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥६५॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका सत्यभामाको मनाना और सत्यभामाका मानसिक खेद प्रकट करके उनसे तपस्याके लिये अनुमति माँगना

वैशम्पायन उवाच

उपविष्टं मुनिं ज्ञात्वा रुक्मिण्या सह केशवः।
निश्चक्रामाप्रमेयात्मा व्यपदेशेन सर्ववित्॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सब कुछ जाननेवाले अप्रमेयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण नारदजीको रुक्मिणीके साथ बैठा जान किसी दूसरे कार्यके बहाने वहाँसे निकल गये॥१॥

जगाम त्वरितश्चैव सत्यभामागृहं महत्।
रम्ये रैवतकोद्देशे निर्मितं विश्वकर्मणा॥२॥

वहाँसे निकलकर वे बड़ी उतावलीके साथ सत्यभामाके विशाल भवनमें गये, जिसे रैवतक पर्वतके रमणीय शिखरपर साक्षात् विश्वकर्माने बनाया था॥२॥

अभिमानवतीमिष्टां प्राणैरपि गरीयसीम्।
जानन् सात्राजितीं विष्णुर्विवेश शनकैरिव॥३॥

सत्राजित्‌की पुत्री सत्यभामा उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय एवं आदरणीय थीं, परंतु वे स्वभावसे मानिनी थीं; इस बातको जानकर श्रीकृष्ण धीरे-धीरे उनके भवनमें घुसे॥३॥

रुषितामिव तां देवीं स्नेहात् संकल्पयन्निव।
भीतभीतः स शनकैर्विवेश मधुसूदनः॥४॥

मधुसूदन स्नेहवश देवी सत्यभामाके रूठी होनेका विचार करते हुए भयभीत-से होकर धीरे-धीरे उनके महलमें गये ॥ ४ ॥

सेवकं द्वारदेशे तु तिष्ठेत्युक्त्वा विवेश ह ।
नारदस्योपचारार्थं प्रद्युम्नं विनियुज्य सः ॥ ५ ॥

अपने साथ आये हुए सेवकको दरवाजेपर खड़े रहनेका आदेश दे और नारदजीके सत्कारके लिये प्रद्युम्नको नियुक्त करके वे उस महलके भीतर प्रविष्ट हुए ॥ ५ ॥

स ददर्श प्रियां दूरात् क्रोधागारगतां तदा ।
प्रेष्यामिव स्थितां कोपान्निःश्वसन्तीं मुहुर्मुहुः ॥ ६ ॥

उन्होंने दूरसे ही अपनी प्रिया सत्यभामाको कोपभवनके भीतर गयी हुई देखा । वे क्रोधवश बारंबार लंबी साँस खींच रही थीं और दासीकी भाँति वहाँ पड़ी थीं ॥ ६ ॥

करजाग्रावलीढं तु पङ्कजं मुखपङ्कजे ।
संश्लेषयित्वा निःश्वस्य विहसन्तीं पुनः पुनः ॥ ७ ॥

अपने मुखारविन्दपर नखोंसे कुचला हुआ एक कमल सटाये वे बारंबार उच्छ्‌वास लेती और कभी-कभी हँस पड़ती थीं ॥ ७ ॥

किंचिदाकुलिताग्रेण चरणेन वसुन्धराम् ।
कृत्वा पृष्ठेऽथ वदनं विहरन्तीं पुनः पुनः ॥ ८ ॥

उनके चरणका अग्रभाग कुछ आकुल एवं चञ्चल-सा हो रहा था । उस चरणके द्वारा वे पृथ्वीपर रेखा-सी खींचती और पीछेकी ओर मुँह मोड़कर बारंबार घूमती थीं ॥ ८ ॥

करपद्मे पुनः सव्ये मुखपद्मं निवेश्य च ।
वनितां चारुसर्वाङ्गीं ध्यायन्तीं कमलेक्षणाम् ॥ ९ ॥

फिर बायें करकमलपर अपने मुखारविन्दको रखकर वे किसी चिन्तामें डूब जाती थीं । उनके सारे अङ्ग अत्यन्त मनोहर थे । नेत्र कमलोंकी शोभाको छीने लेते थे । वे एक सुन्दरी वनिता थीं ॥ ९ ॥

सरसं चन्दनं गृह्य प्रेष्याहस्तादनिन्दिताम् ।
प्रह्लादयित्वा हृदयं क्षिपन्तीं निर्दयं पुनः ॥ १० ॥

दासीके हाथसे सरस चन्दन लेकर वे सती साध्वी सत्यभामा पहले तो उस चन्दनकी प्रशंसा करके उस दासीके हृदयको आह्लादित कर देतीं; परंतु पुनः निर्दयतापूर्वक उसको झिड़कने और फटकारने लगती थीं ॥ १० ॥

पुनरुत्थाय शयनात् पतन्तीं च पुनः पुनः ।
तास्ताश्चेष्टाः प्रियायाश्च तथान्या ददृशे हरिः ॥ ११ ॥

शय्यासे बार-बार उठकर फिर वहीं गिर पड़ती थीं । श्रीहरिने अपनी प्रियतमाकी वे तथा और भी बहुत-सी चेष्टाएँ देखीं ॥ ११ ॥

अवगुण्ठ्य यदा वक्त्रमुपधाने न्यवेशयत् ।
इदमन्तरमित्येवं तदा गत्वा जनार्दनः ॥ १२ ॥

जब उन्होंने अपने मुँहको वस्त्रसे ढककर तकियेपर रखा, तब यही उपयुक्त अवसर है—ऐसा सोचकर श्रीकृष्ण उनके पास चले गये ॥ १२ ॥

प्रेष्याजनं स संज्ञाय अनाख्येयोऽस्मि संज्ञया ।
स शङ्कितप्रचारश्च वारितोऽन्वगमत् स ताम् ॥ १३ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने संकेतसे दासियोंको समझा दिया कि मेरे आनेकी बात इन्हें बताना मत । दासियोंका शंकित होकर इधर-उधर जाना भी रोक दिया । उस दशामें उन्होंने सत्यभामाका अनुसरण किया (अर्थात् वे उनके पीछे जाकर खड़े हो गये)॥ १३ ॥

प्रगृह्य व्यजनं चैव स्थित्वा स परिपार्श्वतः ।
शनैरिवासृजद् वातं जहास शनकैरिव ॥ १४ ॥

बगलमें खड़े हो हाथमें व्यजन लेकर धीरे-धीरे हवा करने और मुसकराने लगे ॥ १४ ॥

स पारिजातपुष्पस्य संसर्गादनुवासितः ।
बभार भगवान् गन्धं दिव्यं मानुषदुर्लभम् ॥ १५ ॥

उस समय पारिजात-पुष्पके संसर्गसे सुवासित हुए भगवान् श्रीकृष्ण एक ऐसी दिव्य सुगन्ध धारण करते थे, जो मनुष्यमें दुर्लभ है ॥ १५ ॥

अत्यद्भुतं सुगन्धं च जिघ्रित्वा विस्मयान्विता ।
अपावृणोन्मुखं सत्या किमेतदिति चाब्रवीत् ॥ १६ ॥

उस अत्यन्त अद्भुत सुगन्धको सूँघकर सत्यभामाको बड़ा विस्मय हुआ । उन्होंने मुँहपरसे कपड़ा हटाया और पूछा, 'यह क्या है ?' ॥ १६ ॥

सोत्थिता पृष्ठतो देवमपश्यन्ती शुचिस्मिता ।
पर्यपृच्छदथो प्रेष्या गन्धस्य प्रभवे तदा ॥ १७ ॥

पवित्र मुसकानवाली सत्यभामा उठकर बैठ गयीं और अपने पीछे खड़े हुए भगवान् श्रीकृष्णको न देखकर दासियोंसे पूछने लगीं, 'यह सुगन्ध कहाँसे प्रकट हुई है ?' ॥ १७ ॥

ताः पृष्टास्त्वप्रभाषन्त्यो जानुभ्यां धरणीं गताः ।
अधोमुख्यस्ततस्तस्थुः कृताञ्जलिपुटास्तदा ॥ १८ ॥

स्वामिनीके इस प्रकार पूछनेपर वे कुछ न बोलीं । धरतीपर घुटने टेककर सिर नीचे किये हाथ जोड़कर बैठी रहीं ॥ १८ ॥

तदपूर्वमदस्त्वेव गन्धं मुञ्चति मेदिनी ।
कथमेकतरस्तस्या गन्धोऽयमिति तत् खलु ॥ १९ ॥

गन्धके आश्रयभूत भगवान्‌को न देखकर वे अनुमान करने लगीं कि पृथ्वी ही उस गन्धको प्रकट कर रही है;

परंतु उसकी ऐसी उत्कृष्ट गन्ध कैसे हो गयी; यह बात समझमें नहीं आती ॥ १९ ॥

किं न्विदं स्यादिति च सा विवेक्षन्ती समन्ततः ।
ददृशे केशवं देवी सहसा लोकभावनम् ॥ २० ॥

तो फिर यह क्या है ? ऐसा कहकर जब देवी सत्यभामाने चारों ओर दृष्टिपात किया, तब उन्हें सहसा विश्वभावन भगवान् श्रीकृष्ण दिखायी दिये ॥ २० ॥

युज्यतीति ततोवाच सहसास्राविलेक्षणा ।
अवतिक्तेव रोषेण बभूव प्रणयान्विता ॥ २१ ॥

तब सहसा उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वे गद्गद कण्ठसे उतना ही कह सकीं कि आपके शरीरसे ऐसी सुगन्धका प्रकट होना उचित ही है। भगवान्के प्रति प्रेमभावसे युक्त होनेपर भी वे उस समय रोषसे कुछ तिक्त-सी हो उठी थीं ॥ २१ ॥

सा प्रस्फुरितचार्वोष्ठी निःश्वस्याधोमुखी तदा ।
मुहूर्तमसितापाङ्गी तस्थावन्यमुखी शुभा ॥ २२ ॥

उनके मनोहर ओठ फड़कने लगे। उन्होंने लंबी साँस खींचकर मुँह नीचे कर लिया; फिर कजरारे नेत्रोंवाली वे शुभलक्षणा देवी दो घड़ीतक दूसरी ओर मुँह करके बैठी रहीं ॥ २२ ॥

निबध्य भ्रुकुटिं वामां सम्यग् विक्षिप्य लोचने ।
निवेश्य वदनं हस्ते शोभसीत्यब्रवीद्धरिम् ॥ २३ ॥

फिर अपने मुखको हाथपर रखकर बायीं भौंह चढ़ाये भलीभाँति दृष्टिपात करके वे श्रीहरिसे बोलीं, 'बड़ी शोभा पा रहे हैं आप !' ॥ २३ ॥

तस्याः सुस्राव नेत्राभ्यां वारि प्रणयकोपजम् ।
कुशेशयपलाशाभ्यामवश्यायजलं यथा ॥ २४ ॥

इतना कहकर उनके नेत्रोंसे प्रणयकोपजनित जलकी धारा बहने लगी, मानो कमलके दलोंसे तुषारका जल गिर रहा हो ॥ २४ ॥

समुत्पत्य जलं तत्र पतितं वदनाम्बुजात् ।
प्रतिजग्राह पद्माक्षः कराभ्यामतिसत्वरः ॥ २५ ॥

तब कमलनयन श्रीकृष्ण अत्यन्त उतावले हो उछलकर पलंगपर आ गये और प्रियतमाके मुखारविन्दसे गिरते हुए अश्रुजलको उन्होंने दोनों हाथोंमें ले लिया ॥ २५ ॥

अथोरसि पतत्तोयं श्रीवत्साङ्कोऽम्बुजेक्षणः ।
प्रियानयनजं देवः परिमृज्येदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित कमलनयन भगवान् गोविन्दने प्रियाके नेत्रोंसे गिरते हुए उस जलको लेकर अपनी छातीमें लगा लिया और इस प्रकार कहा—॥ २६ ॥

स्रवत्यसितपत्राक्षि किमर्थं तव भामिनि ।
तोयं सुन्दरि नेत्राभ्यां पुष्कराभ्यामिवोदकम् ॥ २७ ॥

'नील कमलदलके समान नेत्रोंवाली भामिनि ! सुन्दरि ! जैसे कमलोंसे जल टपक रहा हो, उसी तरह तुम्हारे युगल नेत्रोंसे यह अश्रुजल कैसे गिर रहा है ? ॥ २७ ॥

प्रभाते पूर्णचन्द्रस्य मध्याह्ने पङ्कजस्य च ।
बिभर्ति तव किं वक्त्रं वपुस्तव मनोहरे ॥ २८ ॥

'मनोहारिणी प्रिये ! तुम्हारा मुख प्रभातकालके शोभाहीन पूर्ण चन्द्रमा तथा मध्याह्नकालके मुरझाये हुए कमलका स्वरूप क्यों धारण करता है ? ॥ २८ ॥

किमर्थं कौङ्कुमं वासो महारजतमेव च ।
नानुगृह्णासि सुश्रोणि शुक्लं वासोऽनुगृह्यते ॥ २९ ॥

'सुश्रोणि ! कुंकुम और कुसुम्भ रंगकी साड़ी क्यों नहीं धारण करती हो ? श्वेत वस्त्रपर ही आज इतना अनुग्रह क्यों है ? ॥ २९ ॥

वाससी एते तवाभीष्टे महारजतकौङ्कुमे ।
देवाभिगमनादूर्ध्वं शुक्लं नेष्टं हि तत्स्त्रियाः ॥ ३० ॥

'ये कुसुम्भ और कुंकुमके रंगमें रँगे हुए युगल वस्त्र हैं, जो तुम्हें बहुत प्रिय हैं। देवपूजा करके देवताओंका विसर्जन कर देनेके बाद स्त्रीके लिये श्वेत वस्त्र धारण करना अभीष्ट नहीं है ॥ ३० ॥

किञ्चानाभरणं गात्रं सुगात्रि तव कथ्यताम् ।
चित्रकस्थानमाक्रान्तं कस्माद्वरवर्णिनि ॥ ३१ ॥

'सुन्दर अङ्गोंवाली देवि ! बताओ, आज तुम्हारा शरीर आभूषणोंसे भूषित क्यों नहीं है ? धूसर कान्तिवाली सत्ये ! जो चित्रक—पत्रभङ्ग-रचनाका स्थान है, वह तुम्हारा मुख-मण्डल आज आँसुओंसे लिप्त क्यों हो रहा है ? ॥ ३१ ॥

श्वेतेन तव पट्टेन वाससा प्रियदर्शने ।
ललाटं सेव्यते कस्माच्चन्दनेन सुगन्धिना ॥ ३२ ॥
सरसेनायतापाङ्गि कान्तेन हृदयप्रिये ।

'प्रियदर्शने ! विशाल नयनप्रान्तवाली हृदयवल्लभे ! आज तुम्हारा ललाट श्वेत पट्टवस्त्र और सरस सुगन्धित एवं कमनीय चन्दनद्वारा कैसे सेवित हो रहा है ? ॥ ३२½ ॥

प्रभोपमर्दं केनापि कारणेनाननस्य च ।
करोषि मम चात्यर्थं मनो ग्लापयसि प्रिये ॥ ३३ ॥

'प्रिये ! किस कारणसे तुम अपने मुखकी प्रभाका उपमर्दन (शोभाका निवारण) कर रही हो अथवा यह सब करके क्यों मेरे मनको अत्यन्त ग्लानि पहुँचा रही हो ? ॥ ३३ ॥

प्रसृतश्चन्दनरसः कपोलप्रणयी तव ।
पत्रलेखासपत्नत्वं प्राप्तो नातिविराजते ॥ ३४ ॥

'यह फैला हुआ चन्दन-रस तुम्हारे कपोलोंका प्रेमी बनकर पत्र-रचनाका शत्रु बन बैठा है (अर्थात् जहाँ पत्र-रचना होनी चाहिये, वहाँ यह चन्दनका बेढंगा रस फैल रहा है); अतः अधिक शोभा नहीं पा रहा है ॥ ३४ ॥

रत्नैश्चाभरणैर्मुक्ता तव ग्रीवा न शोभते ।
ग्रहनक्षत्ररहिता द्यौरिवाव्यक्तशारदी ॥ ३५ ॥

'रत्नमय आभूषणोंसे सूनी हुई तुम्हारी यह ग्रीवा, जहाँ शरद् ऋतुकी शोभा प्रकट नहीं हुई है, उस ग्रह-नक्षत्रोंके दर्शनसे रहित वर्षाकालके आकाशकी भाँति शोभा नहीं पा रही है ॥ ३५ ॥

पूर्णचन्द्रसपत्नेन स्मेरेणाबहुभाषिणा ।
किमु नो भाषसे माद्य मुखेनोत्पलगन्धिना ॥ ३६ ॥

'तुम्हारा मुसकराता हुआ मुख पूर्ण चन्द्रमाका प्रतिद्वन्द्वी बना रहता है । यह बहुत कम बोलता और कमलकी-सी सुगन्ध बिखेरता रहता है । ऐसे मनोहर मुखके द्वारा आज तुम मुझसे बात क्यों नहीं करती हो ? ॥ ३६ ॥

अर्द्धाक्ष्णापि हि तावन्मां किमर्थं न निरीक्षसे ।
मुञ्चस्येव सनिश्वासं तोयमञ्जनदुर्दिनम् ॥ ३७ ॥

'पूरी नहीं तो आधी आँखसे भी मेरी ओर क्यों नहीं देखती हो ? लंबी साँस खींचकर अञ्जनसे मलिन हुआ अश्रुजल बहाती ही जा रही हो ॥ ३७ ॥

अलमिन्दीवरश्यामे रुदितेन मनस्विनि ।
जलमञ्जनकल्माषं मा मोक्षीराननद्विषम् ॥ ३८ ॥

'नील कमलके समान श्याम कान्तिवाली मनस्विनि ! यह रोना-धोना व्यर्थ है । इसे बंद करो । यह अञ्जनमिश्रित अश्रुजल तुम्हारे मुखकी शोभाका वैरी है । इसे अब न बहाओ ॥ ३८ ॥

त्वदीयोऽहं यदा देवि ख्यातो जगति किङ्करः ।
नाज्ञापयसि किं मां त्वं पुरेव वरवर्णिनि ॥ ३९ ॥

'देवि ! जब सारे संसारमें यह प्रसिद्ध है कि मैं तुम्हारा किङ्कर हूँ, तब वरवर्णिनि ! तुम मुझे पहलेकी ही भाँति अभीष्ट सेवाके लिये आज्ञा क्यों नहीं देती हो ? ॥ ३९ ॥

किमकार्षमहं देवि विप्रियं तव भामिनि ।
येनातिमात्रमात्मानमायासयसि सुन्दरि ॥ ४० ॥

'देवि ! भामिनि ! सुन्दरि ! मैंने तुम्हारा कौन सा ऐसा अप्रिय कार्य (अपराध) किया है, जिससे तुम अपने-आपको अत्यन्त कष्ट दे रही हो ॥ ४० ॥

मनसा कर्मणा वाचा न त्वामतिचराम्यहम् ।
सर्वथा सर्वचार्वङ्गि सत्यमेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ ४१ ॥

'सर्वाङ्गसुन्दरी ! मैं तुमसे यह सर्वथा सत्य कहता हूँ कि मैं मन, वाणी और क्रियाद्वारा भी कभी तुम्हारी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करता हूँ ॥ ४१ ॥

बहुमानोपमान्यासु स्त्रीषु सर्वासु शोभने ।
स्नेहश्च बहुमानश्च त्वामृतेऽन्यासु नास्ति मे ॥ ४२ ॥

'शोभने ! यों तो मेरी सभी स्त्रियाँ मेरे द्वारा बहुत सम्मान और आदर पानेकी अधिकारिणी हैं, तथापि मेरा विशेष आदर और स्नेह तुम्हारे सिवा अन्य सब स्त्रियोंमें नहीं है ॥ ४२ ॥

नैव त्वां मदनो जह्यान्मृतेऽपि मयि मामकः ।
इति मे निश्चितं विद्धि चेतः सुरसुतोपमे ॥ ४३ ॥

'देवकन्याओंके समान सुन्दरी सत्यभामे ! मेरा जो तुम्हारे प्रति कामभाव अथवा प्रगाढ़ प्रेम है, वह मेरे मर जानेपर भी तुम्हें नहीं छोड़ सकता—यह मेरी निश्चित धारणा है । इस बातको अच्छी तरह समझ लो ॥ ४३ ॥

क्षमाद्यश्च मेदिन्यां शब्दाद्याश्चाम्बरे गुणाः ।
ध्रुवं पङ्कजगर्भाभे त्वयि स्नेहस्तथा मम ॥ ४४ ॥

'कमलके भीतरी भागकी सी आभावाली प्राणवल्लभे ! जैसे पृथ्वीमें क्षमा आदि और आकाशमें शब्द आदि गुण नित्य हैं, उसी प्रकार तुम्हारे प्रति मेरा स्नेह भी अटल है ।४४।

रुचिरग्नौ यथा दिव्या प्रभा चैव दिवाकरे ।
कान्तिश्च शाश्वती चन्द्रे स्नेहस्त्वयि तथा मम ॥ ४५ ॥

'जैसे अग्निमें दीप्ति, दिवाकर सूर्यमें दिव्य प्रभा और चन्द्रमामें कान्ति सदा बनी रहती है, उसी प्रकार तुम्हारे प्रति मेरा स्नेह सदा अविचल है' ॥ ४५ ॥

एवंवादिनमात्मेष्टं सत्यभामा जनार्दनम् ।
शनैरुवाच नेत्राभ्यां प्रमृज्य सुभगा जलम् ॥ ४६ ॥

जब श्रीकृष्ण इस प्रकार अपनेको प्रिय लगनेवाली बात कह रहे थे, उस समय सौभाग्यशालिनी सत्यभामाने अपने नेत्रोंसे बहते हुए आँसुओंको पोंछकर उनसे धीरेसे इस प्रकार कहा—॥ ४६ ॥

मदीयस्त्वमिति ह्यासीन्मम नित्यं मनः प्रभो ।
अद्य साधारणं स्नेहं त्वयि तावद् गतास्म्यहम् ॥ ४७ ॥

'प्रभो ! मेरे मनमें सदा यही विश्वास बना हुआ था कि तुम मेरे हो; परंतु आज यह बात मेरी समझमें आ गयी कि तुम्हारे भीतर मेरे लिये भी साधारण ही स्नेह है (विशेष नहीं) ॥ ४७ ॥

नाज्ञासिषमहं पूर्वमनित्यं कालपर्ययम् ।
अद्य लोकगतिं कृत्स्नामवगच्छामि न ध्रुवाम् ॥ ४८ ॥

'मैं पहले यह नहीं जानती थी कि यहाँका सब कुछ अनित्य है और समय सभी बातोंमें उलट-फेर कर देता है;

परंतु अब सम्पूर्ण लोकगतिको ही मैं अस्थिर (क्षणभङ्गुर) समझने लगी हूँ ॥ ४८ ॥

अमृताया द्वितीयोऽपि जन्मौहि मम सर्वथा।
किमत्र बहुनोक्तेन हृदयं वेद्मि तेऽच्युत ॥ ४९ ॥

'अच्युत! मैं जबतक जीवित हूँ, तबतक तुम्हीं मेरे लिये द्वितीय (आत्मा, जीवन-सङ्गी, सहायक एवं प्रियतम पति) हो। इसी प्रकार तुम्हारे लिये मैं ही द्वितीया (आत्मा, जीवनसङ्गिनी, सहायिका एवं प्राणवल्लभा पत्नी) हूँ। ऐसा मानकर मैंने अपने जन्म और जीवनको सर्वथा सफल समझा था; परंतु अब यहाँ बहुत कहनेसे क्या लाभ? तुम्हारा हृदय कैसा है, यह मैं अच्छी तरह जान गयी ॥ ४९ ॥

वाङ्मात्रमेव पश्यामि माधुर्यं सम्प्रयुज्यते।
मयि स्नेहश्च कृतकस्तवान्यत्र न कृत्रिमः ॥ ५० ॥

'देखती हूँ कि तुम मेरे पास (केवल मीठी-मीठी बातें ही बनाया करते हो) वाणीमात्रके ही माधुर्यका प्रयोग करते हो। मेरे प्रति तुम्हारा स्नेह कृत्रिम (बनावटी) है; परंतु दूसरी जगह कृत्रिम नहीं स्वाभाविक है ॥ ५० ॥

ऋजुस्वभावां भक्तां च सर्वथा पुरुषोत्तम।
अवजानासि जानन् मां कैतवीं वृत्तिमास्थितः ॥ ५१ ॥

'पुरुषोत्तम! मेरा स्वभाव सरल है और सर्वथा तुम्हारे प्रति भक्तिभाव रखती हूँ—इस बातको जानते हुए तुम छल-कपटका आश्रय लेकर मेरी अवहेलना करते हो ॥ ५१ ॥

एतावत् खलु पर्याप्तं दृष्टं द्रष्टव्यमव्ययम्।
श्रुतं चाप्यथ यच्छ्राव्यं दृष्टः स्नेहफलोदयः ॥ ५२ ॥

'अस्तु, इतना ही बहुत है। जो कुछ अपरिवर्तनीय दृश्य देखना था, वह मैंने देख लिया। जो सुनने योग्य बात थी, वह मैंने सुन ली। तुम्हारे स्नेहके फलका उदय कहाँ किस प्रकार होता है, यह भी प्रत्यक्ष हो गया ॥ ५२ ॥

यदि त्वहमनुग्राह्या मामनुज्ञातुमर्हसि।
तपस्येऽहं परं कृत्वा निश्चयं पुरुषोत्तम ॥ ५३ ॥

'पुरुषोत्तम! यदि मैं तुम्हारे अनुग्रहका पात्र होऊँ तो मुझे आज्ञा दे दो। मैं उत्तम निश्चय लेकर तपस्या करूँगी ॥ ५३ ॥

भर्तुश्छन्देन नारीणां तपो वा व्रतकानि वा।
निष्फलं खलु यद् भर्तुरच्छन्देन क्रियेत हि ॥ ५४ ॥

'क्योंकि पतिकी इच्छासे ही किये गये नारियोंके तप अथवा व्रत सफल होते हैं। स्वामीकी इच्छाके बिना जो कुछ भी किया जाय, वह निश्चय ही निष्फल हो जाता है' ॥ ५४ ॥

इतीदमुक्त्वा पुनरेव शोभना
मुमोच तोयं नयनोद्भवं सती।
प्रहाय पीतं हरिवाससः शुभा
पटान्तमाधाय मुखे शुचिस्मिता ॥ ५५ ॥

ऐसा कहकर पवित्र मुसकानवाली सुन्दरी शुभलक्षणा सती सत्यभामा भगवान् श्रीकृष्णके पीत-वस्त्रका अञ्चल ले उसीसे अपने मुँहको ढककर पुनः नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके पूछनेपर सत्यभामाका उन्हें अपने रोष एवं खेदका कारण बताना, श्रीकृष्णका उनके लिये पारिजात वृक्ष लानेका विश्वास दिलाकर उन्हें संतुष्ट करना, सत्यभामा और श्रीकृष्णद्वारा नारदजीका सत्कार तथा नारदजीके द्वारा पारिजातकी उत्पत्ति और महिमाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

नारायणः सत्यभामां पुनरेवैष भारत।
प्रोवाच प्रणयात् क्रुद्धामभिमानवतीं सतीम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! नारायणस्वरूप श्रीकृष्णने प्रेमवश कुपित हुई अपनी अभिमानिनी पत्नी सती सत्यभामासे पुनः इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

दहतीव ममाङ्गानि शोकः कमललोचने।
किमु तत् कारणं येन त्वमेवमतिविक्लवा ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कमललोचने! तुम्हारा दुःख देखकर मुझे जो शोक हुआ है, वह मेरे सारे अङ्गोंको दग्ध-सा कर रहा है। वह कौन-सा ऐसा कारण है, जिससे तुम इस तरह अत्यन्त व्याकुल हो उठी हो ॥ २ ॥

शापितासि मम प्राणैराचक्ष्वानत्ययो यदि।
श्रोतव्यं यदि भक्तेन भर्त्रा सर्वाङ्गशोभने ॥ ३ ॥

सर्वाङ्गशोभने! मैं अपने प्राणोंकी शपथ दिलाकर

मन्युरेव प्रमृष्टो हि भवेद् बहुगुणं मम।
सीमन्तिनीनां सर्वासामधिका स्यामधोक्षज ॥ ३४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर हरिवल्लभा सत्यभामा बोलीं—'अच्युत ! यदि इस प्रकार उस वृक्षको यहाँ लाया जा सके तो मैंने यह रोष त्याग दिया और मेरा सुख कई गुना बढ़ सकता है। अधोक्षज ! उस दशामें मैं समस्त भाग्यवती स्त्रियोंमें सबसे अधिक गौरवशालिनी हो जाऊँगी' ॥ ३३-३४ ॥

तथास्तु प्रथमः कल्प इति तां मधुसूदनः।
प्रोवाचाप्रतिमो देवो जगतः प्रभवाप्ययः ॥ ३५ ॥

तब जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलयके कारणभूत अनुपम देवता भगवान् मधुसूदनने उनसे कहा 'अच्छा तो तुम्हारा रोष शान्त करनेके लिये यही सर्वोत्तम उपाय हो' ॥ ३५ ॥

तथेत्युक्तेति कृष्णेन तुतोष समितिंजय।
सत्यभामा सतामिष्टा कंसनाशनवल्लभा ॥ ३६ ॥

युद्धमें विजय पानेवाले जनमेजय ! जब श्रीकृष्णने 'तथास्तु' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, तब सत्पुरुषोंकी इष्टदेवी और कंसनाशन श्रीकृष्णकी वल्लभा सत्यभामा बहुत संतुष्ट हुईं ॥ ३६ ॥

ततः स्नातो जगन्नाथः सर्वेशः सर्वभावनः।
चकारावश्यकं सर्वं सर्वकामप्रदः सताम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर सबकी उत्पत्ति करनेवाले सर्वेश्वर जगन्नाथ श्रीकृष्णने, जो सत्पुरुषोंकी सम्पूर्ण कामनाओंके दाता हैं, स्नान और अन्य सब आवश्यक कार्य किया ॥ ३७ ॥

दध्यौ च नारदं देवः स्नातो देवमुनिर्नृप।
अभ्याजगाम स्नानान्ते मुनिश्रेष्ठो महोदधौ ॥ ३८ ॥

नरेश्वर ! तत्पश्चात् भगवान्‌ने देवर्षि नारदका चिन्तन किया। नारदजी उस समय महासागरमें स्नान कर रहे थे। स्नानके पश्चात् वे मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णके पास आये ॥ ३८ ॥

तमागतं नरपते सतां गतिरधोक्षजः।
सत्यया सह धर्मात्मा यथाविधि अपूजयत् ॥ ३९ ॥

राजन् ! उन्हें आया देख सत्पुरुषोंके आश्रयदाता धर्मात्मा अधोक्षज श्रीकृष्णने सत्याके साथ उनका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ ३९ ॥

पादौ प्रक्षालयाञ्चक्रे मुनेः सात्राजिती स्वयम्।
जलं देवः स्वयं कृष्णो भृङ्गारेण ददौ तदा ॥ ४० ॥

उस समय सत्राजित्‌की पुत्रीने स्वयं ही नारदजीके दोनों पैर धोये और भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही झारीसे जल गिराया ॥ ४० ॥

अथोपकल्पयामास सुखासीनाय केशवः।
परमान्नं स मुनये प्रयतात्मा जगद्गुरुः ॥ ४१ ॥

जब वे सुखपूर्वक बैठ गये, तब अपने मनको वशमें रखनेवाले जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णने मुनिके लिये उत्तम अन्न परोसा ॥ ४१ ॥

तल्लोककर्त्रा सत्कृत्य दत्तं मुनिरुदारधीः।
बुभुजे वदतां श्रेष्ठः श्रद्धया परया युतः ॥ ४२ ॥

लोकस्रष्टा भगवान् श्रीहरिके सत्कारपूर्वक दिये हुए उस अन्नको वक्ताओंमें श्रेष्ठ उदारबुद्धि नारद मुनिने बड़ी श्रद्धाके साथ भोजन किया ॥ ४२ ॥

उपस्पृश्य ततस्तृप्तः प्रददौ चाशिषः प्रभो।
ताश्च प्रीतेन मनसा प्रतिजग्राह केशवः ॥ ४३ ॥

प्रभो ! तदनन्तर हाथ-मुँह धो आचमन करके तृप्त हुए मुनिने भगवान्‌को बहुत-से आशीर्वाद दिये और भगवान् केशवने प्रसन्न चित्तसे उन आशीर्वादोंको ग्रहण किया ॥ ४३ ॥

ततः सात्राजितीं देवीं प्रणतां नारदोऽब्रवीत्।
प्रसार्य दक्षिणं हस्तं सजलं जलजेक्षणाम् ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् नारदजी अपने चरणोंमें प्रणाम करनेवाली कमलनयनी सत्राजित्-पुत्री सत्यभामा देवीसे भीगे हुए दाहिने हाथको फैलाकर बोले— ॥ ४४ ॥

यथेदानीं तथैव त्वं भव देवि पतिव्रता।
सविशेषं च सुभगा भव मत्तपसो बलात् ॥ ४५ ॥

'देवि ! तुम इस समय जैसी हो, वैसी ही पतिव्रता सदा बनी रहो तथा मेरे तपके बलसे तुम विशेष सौभाग्यशालिनी होओ' ॥ ४५ ॥

इत्युक्ता मुनिमुख्येन सत्यभामा हरिप्रिया।
उत्तस्थौ महता युक्ता हर्षेण तु नराधिप ॥ ४६ ॥

नरेश्वर ! मुनिप्रवर नारदजीके ऐसा कहनेपर हरिप्रिया सत्यभामा महान् हर्षसे उत्फुल्ल होकर उठीं ॥ ४६ ॥

स कृष्णोऽप्यभ्यनुज्ञां तु लब्ध्वा मुनिवरात् तदा।
बुभुजे विघसं धीमानप्रमेयपराक्रमः ॥ ४७ ॥

उस समय मुनिवर नारदजीसे आज्ञा लेकर अप्रमेय पराक्रमी बुद्धिमान् श्रीकृष्णने भी यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन किया ॥

ततस्त्वावश्यकं कृत्वा सत्यभामापि भारत।
अनुज्ञया तदा भर्तुर्विवेशान्तर्गृहं मुदा ॥ ४८ ॥

भरतनन्दन ! तदनन्तर आवश्यक कृत्य करके सत्यभामा-ने भी पतिकी आज्ञासे अपने घरके भीतर प्रसन्नतापूर्वक प्रवेश किया ॥ ४८ ॥

ततो विनिर्गता देवी कृष्णस्यैवाभ्यनुज्ञया।
स्थिता पार्श्वे च कृष्णस्य नमस्कृत्वा महात्मने ॥ ४९ ॥

इसके बाद पुनः श्रीकृष्णकी ही आज्ञासे सत्यादेवी भीतर-

से निकलीं और महात्मा नारदजीको नमस्कार करके श्रीकृष्णके पार्श्वभागमें बैठ गयीं ॥ ४९ ॥

ततो मुहूर्तमासित्वा नारदः कृष्णमब्रवीत्।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि शक्रलोकमधोक्षज ॥ ५० ॥

दो घड़ीतक बैठनेके पश्चात् नारदजीने श्रीकृष्णसे कहा—'अधोक्षज ! अब मैं इन्द्रलोकको जाऊँगा; अतः जानेकी अनुमति चाहता हूँ ॥ ५० ॥

तत्राद्यं देवमीशानं नमस्कृत्य महेश्वरम्।
गास्यन्ति देवगन्धर्वास्तथैवाप्सरसां गणाः ॥ ५१ ॥

'वहाँ देवगन्धर्व और अप्सराएँ आदिदेव ईशान भगवान् महेश्वरको नमस्कार करके उनकी प्रसन्नताके लिये नृत्य एवं गान करेंगी ॥ ५१ ॥

मासि मास्युचितं ह्येतन्महेन्द्रसदने प्रभो।
पूजार्थं देवदेवस्य गान्धर्वं नृत्यमेव च ॥ ५२ ॥

'प्रभो ! देवाधिदेव महादेवजीकी पूजाके लिये महेन्द्र-भवनमें प्रतिमास इस नृत्य और गानका समुचित आयोजन होता है ॥ ५२ ॥

अन्तर्हितो देवदेवः सोमः सप्रवरो विभुः।
पश्यत्यमरमुख्येन कृतं भक्त्याद्रिघातिना ॥ ५३ ॥

'पर्वतोंका विघात करनेवाले देवश्रेष्ठ इन्द्रद्वारा भक्तिभावसे किये गये उस आयोजनको अपने श्रेष्ठ पार्षदों तथा भगवती उमासहित देवाधिदेव भगवान् महादेव अदृश्य रहकर देखते हैं ॥ ५३ ॥

निमन्त्रितोऽहं पूर्वेद्युः पुष्पं दत्त्वा महाद्युते।
पारिजातस्य भद्रं ते तरुराज्ञो महात्मनः ॥ ५४ ॥

'महाद्युते ! आपका भला हो । इन्द्रने विशालकाय वृक्षराज पारिजातका फूल देकर पहले ही दिन मुझे वहाँ आनेके लिये निमन्त्रित किया था ॥ ५४ ॥

यदेतदाहृतं स्वर्गात् त्वदर्थं तु मया विभो।
देवोपभोग्यमेतद्धि तरुराजसमुद्भवम् ॥ ५५ ॥

'प्रभो ! तरुराज पारिजातका यह फूल, जिसे मैं स्वर्गसे आपके लिये ही लाया था, देवताओंके उपभोगकी वस्तु है ॥

इष्टः स वृक्षः सततं शच्याः पुष्करलोचन।
सौभाग्यमावहत्येव पूज्यमानोऽपि नित्यशः ॥ ५६ ॥

'कमलनयन ! वह वृक्ष इन्द्रपत्नी शचीको सदा ही प्रिय है । प्रतिदिन पूजित होनेपर वह अवश्य ही सौभाग्यकी प्राप्ति कराता है ॥ ५६ ॥

पुण्यं कर्तुं तदा सृष्टः पारिजातो महाद्रुमः।
अदित्या धर्मनित्येन कश्यपेन महात्मना ॥ ५७ ॥

'धर्मपरायण महात्मा कश्यपने अदिति देवीके पुण्यकर्मके लिये उस समय पारिजातनामक महावृक्षकी सृष्टि की थी ॥

पुरादित्या महातेजास्तोषितः किल कश्यपः।
वरेण च्छन्दयामास मारीचस्तपसो निधिः ॥ ५८ ॥

'कहते हैं, पूर्वकालमें अदितिदेवीने महातेजस्वी कश्यप मुनिको अपनी सेवासे संतुष्ट किया । तब तपोनिधि मरीचिनन्दन कश्यपने उन्हे इच्छानुसार वर माँगनेके लिये कहा ॥

सोवाच सुभगा येन भवेयं मुनिसत्तम।
स्वलंकृता कामतश्च सर्वैरेव विभूषणैः ॥ ५९ ॥
ईप्सितं गीतनृत्यं च भवेन्मम तपोधन।
कुमारी नित्यदा चैव भवेयं तपसो निधे ॥ ६० ॥
विरजा शोकरहिता भवेयमिति नित्यदा।
पतिभक्तिमती चैव धर्मशीला तथैव च ॥ ६१ ॥

'उस समय उन्होंने उनसे कहा—'मुनिश्रेष्ठ ! मुझे कोई ऐसी वस्तु दीजिये, जिससे मैं सदा सौभाग्यशालिनी बनी रहूँ; इच्छा होते ही समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो जाऊँ । तपोधन ! मुझे मनोवाञ्छित गीत और नृत्य प्राप्त होता रहे । तपोनिधे ! मैं सदा कुमारी-सी ही बनी रहूँ और निर्मल, शोकरहित, पतिभक्तिमती एवं धर्मशीला होऊँ' ॥५९-६१॥

पारिजातं ततोऽस्राक्षीददित्याः प्रियकाम्यया।
सर्वकामप्रदैः पुष्पैरावृतं नित्यगन्धदैः ॥ ६२ ॥

'तब मुनिवर कश्यपने अदितिका प्रिय करनेकी इच्छासे पारिजातकी सृष्टि की; जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुओंको देनेमें समर्थ और नित्य सुगन्धप्रद फूलोंसे भरा रहता है ॥

त्रिशाखं सर्वदा दृश्यं सर्वभूतमनोहरम्।
सर्वपुष्पाणि दृश्यन्ते तस्मिन्नेव महाद्रुमे ॥ ६३ ॥

'वह सदा तीन शाखाओंसे ही युक्त दिखायी देता है और अपनी शोभासे सम्पूर्ण प्राणियोंका मन हर लेता है । उसी महान् वृक्षमे सभी तरहके फूल दिखायी देते हैं ॥६३॥

ईदृशान्यपि पुष्पाणि बिभर्त्येकापि रूपिणी।
बहुरूपाणि चाप्यन्या पद्मानि च ततोऽपरा ॥ ६४ ॥

'देवताओंकी कोई रूपवती स्त्री तो ऐसे फूल भी धारण करती है (जैसे मै यहाँ लाया था), दूसरी उसके अनेक रूपवाले फूलोंको ग्रहण करती है तथा तीसरी उस वृक्षसे केवल कमल-जैसे फूलोंको ही चुनती है ॥ ६४ ॥

मन्दारादपि वृक्षाच्च सारमुद्धृत्य कश्यपः।
तस्मादेष तरुश्रेष्ठः सर्वेषां श्रेष्ठतां गतः ॥ ६५ ॥

'कश्यपजीने मन्दार-वृक्षसे भी सार निकालकर इस वृक्षका निर्माण किया था; इसलिये यह तरुश्रेष्ठ पारिजात समस्त देववृक्षोंमे उत्कृष्ट माना गया है ॥ ६५ ॥

ततस्तत्र निबध्याथ कश्यपं प्रददौ शुभा।
अदितिर्मम पुण्यार्थं सौभाग्यार्थं तथैव च ॥ ६६ ॥

'तदनन्तर शुभलक्षणा देवी अदितिने पुण्य और सौभाग्यकी वृद्धिके लिये उस वृक्षके पास कश्यपजीको बाँधकर मुझे दान कर दिया था ॥ ६६ ॥

अदित्या कश्यपो दत्तः पुण्यार्थं च तथा मम।
पुष्पदाम्ना वेष्टयित्वा कण्ठे पुण्यार्थमात्मवान् ॥ ६७ ॥

'अदितिने पुण्यके लिये कश्यपजीके गलेमें फूलोंकी माला लपेटकर उन मनस्वी मुनिको मेरे हाथमें दानके रूपमें दे दिया था। उस दानका एकमात्र उद्देश्य था पुण्यकी प्राप्ति एवं वृद्धि ॥ ६७ ॥

निष्क्रयेण मया मुक्तः कश्यपस्तु तपोधनः।
इन्द्रो दत्तस्तथेन्द्राण्या सौभाग्यार्थं ततो मम ॥ ६८ ॥

'उस समय मैंने निष्क्रय (मूल्य) लेकर तपोधन कश्यपको मुक्त कर दिया था। इसी प्रकार इन्द्राणीने भी सौभाग्यकी वृद्धिके लिये मुझे इन्द्रका दान कर दिया था ॥ ६८ ॥

सोमश्चाप्यथ रोहिण्या ऋद्ध्या च धनदस्तथा।
एवं सौभाग्यदो वृक्षः पारिजातो न संशयः ॥ ६९ ॥

'रोहिणीने सोमका तथा ऋद्धिने धनाध्यक्ष कुबेरका दान भी इसी उद्देश्यसे किया था। इस प्रकार वह पारिजात वृक्ष सौभाग्य प्रदान करनेवाला है, इसमें संशय नहीं है ॥

परि जातो विष्णुपद्याः पारिजातेतिशब्दितः।
मन्दारपुष्पैर्युक्तो मन्दारस्तेन कथ्यते ॥ ७० ॥

'यह वृक्ष विष्णुपदी गङ्गाके ऊपर प्रकट हुआ था, इसलिये इसका नाम पारिजात हुआ। मन्दारके फूलोंसे भी संयुक्त होनेके कारण यह मन्दार कहलाता है ॥ ७० ॥

कोऽप्ययं दारुरित्याहुरजानन्तो यतो जनाः।
कोविदार इति ख्यातस्ततः स सुमहातरुः ॥ ७१ ॥

'जो लोग इसे नहीं जानते थे, वे इसे देखकर कहने लगे—'कोऽप्ययं दारुः' (यह कोई दारु है); इसलिये वह महान् वृक्ष कोविदार नामसे विख्यात हो गया ॥ ७१ ॥

मन्दारः कोविदारश्च पारिजातश्च नामभिः।
स वृक्षो ज्ञायते दिव्यो यस्यैतत् कुसुमोत्तमम् ॥ ७२ ॥

'इस प्रकार वह दिव्य वृक्ष मन्दार, कोविदार और पारिजात—इन तीन नामोंसे जाना जाता है, जिसका यह उत्तम पुष्प मैं लाया था' ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका पारिजात वृक्ष माँगनेके लिये नारदजीके द्वारा इन्द्रके पास संदेश भेजना और न देनेपर उन्हें गदा मारनेकी धमकी देना

वैशम्पायन उवाच

ततो जिगमिषुं तत्र नारदं मुनिसत्तमम्।
प्रोवाच भगवान् विष्णुरप्रमेयपराक्रमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अनन्त पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रलोकको जानेकी इच्छावाले मुनिश्रेष्ठ नारदसे वहाँ इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

महर्षे धर्मतत्त्वज्ञ स्वर्गं गत्वा त्वयानघ।
दृष्ट्वा सदस्यान् देवस्य त्रिपुरघ्नस्य धीमतः ॥ २ ॥
अनाज्ञया मद्वचनाद् विज्ञाप्यः पाकशासनः।
सम्भावयित्वा भ्रातृत्वं पौराणं वेत्सि यन्मुने ॥ ३ ॥

'धर्मके तत्त्वको जाननेवाले निष्पाप महर्षे! आप स्वर्गमें जाकर (वहाँ उत्सव देखनेके लिये पधारे हुए) बुद्धिमान् त्रिपुरविनाशक देव रुद्रके सदस्यों (पार्षद गणों) का दर्शन करके मेरे शब्दोंमें पाकशासन इन्द्रसे मेरी एक प्रार्थना सुनाइयेगा। मुने! मुझमें और इन्द्रमें जो पुराना (वामनावतारके समयका) भ्रातृभाव है, उसे तो आप जानते ही हैं। उसीको सादर सामने रखते हुए उनसे इस तरह बात कीजियेगा, जिससे मेरी ओरसे आज्ञा देनेका भाव प्रकट न हो ॥ २-३ ॥

यमत्राक्षीन्मुनिश्रेष्ठो भगवान् कश्यपस्तरुम्।
पारिजातं पुरादित्याः सुखार्थं धर्मसत्तमः ॥ ४ ॥
स पुण्यमतिसौभाग्यं ददाति तरुसत्तमः।

(नारदजीसे ऐसा कहकर श्रीकृष्णने अपना संदेश इस प्रकार उपस्थित किया—) 'देवराज! पूर्वकालमें धर्मात्माओंमें उत्तम मुनिश्रेष्ठ भगवान् कश्यपने देवमाता अदितिको सुख पहुँचानेके लिये जिस पारिजात वृक्षकी सृष्टि की थी, वह सब वृक्षोंमें श्रेष्ठ है और दानमें दिये जानेपर अत्यन्त सौभाग्य तथा पुण्य प्रदान करता है ॥ ४½ ॥

तव दत्तं पुरा दानं व्रतेन तरुमुत्तमम् ॥ ५ ॥
देवीभिर्धर्मनित्याभिर्धर्मार्थममरोत्तम।
दत्तं श्रुत्वाभिकाङ्क्षन्ति दातुं पत्न्यो मम प्रभो ॥ ६ ॥
पुण्यार्थं दानधर्मार्थं मम प्रीत्यर्थमेव च।

'अमरश्रेष्ठ! सुननेमें आया है कि पहले सदा धर्ममें

तत्पर रहनेवाली अदिति आदि देवियोंने धर्मके लिये ही आपके उस उत्तम वृक्षको व्रतपालनपूर्वक (पतिसहित) दान कर दिया था (और उसे नारदजीने पुनः आपको लौटाया था) । प्रभो ! इस बातको सुनकर मेरी पत्नियाँ भी पुण्य, दानधर्म तथा मेरी प्रसन्नताकी प्राप्तिके लिये उसका दान करना चाहती हैं ॥ ५-६½ ॥

आनाययद् द्वारवतीं पारिजात महाद्रुमम् ॥ ७ ॥
दत्ते दाने पुनः स्वर्गं तरुं त्वं नेतुमर्हसि ।

'इसीलिये आपके इस भाईने उस पारिजातनामक महान् वृक्षको द्वारकापुरीमें मँगवाया है । यहाँ दानका कार्य सम्पन्न हो जानेपर आप पुनः उस वृक्षको स्वर्गलोकमें ले जा सकते हैं॥

स वाच्य एवं भगवान् वलभिद् भगवंस्त्वया ॥ ८ ॥
तथा तथा प्रयत्नश्च कार्योऽस्मिन् मुनिसत्तम ।
यथा तरुवरं दद्यात् पारिजातं सुरेश्वरः ॥ ९ ॥

(अब वे नारदजीको सम्बोधित करके बोले—) 'भगवन् ! मुनिश्रेष्ठ ! बलासुरका भेदन करनेवाले ऐश्वर्यशाली इन्द्रको आप मेरा संदेश इसी रूपमे सुनाइयेगा । इस विषयमें आपको वैसा-ही वैसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे देवेश्वर इन्द्र वह तरुश्रेष्ठ पारिजात मुझे दे दें ॥ ८-९ ॥

तत्र दूतगुणं तावत् पश्यामस्ते तपोधन ।
सम्भाव्या सर्वकृत्यानां सम्पद्धि त्वयि मे मता ॥ १० ॥

'तपोधन ! दूतमे जितने गुण होने चाहिये, वे सब मुझे आपके भीतर दिखायी देते हैं । मेरे मनमें आपको सौंपे गये सभी कार्योंकी सम्यक्‌रूपसे सिद्धिके लिये निश्चित सम्भावना बनी हुई है' ॥ १० ॥

एवं नारायणेनोक्तो नारदो भगवानृषिः ।
प्रहस्योवाच केशिघ्नमिदं वाक्यं तपोधनः ॥ ११ ॥

नारायणस्वरूप श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर तपोधन भगवान् नारद मुनिने हँसकर केशिनाशन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥ ११ ॥

बाढमेवं प्रवक्ष्यामि यदुमुख्य सुरेश्वरम् ।
न तु दास्यति देवेन्द्रः पारिजातं कथंचन ॥ १२ ॥

'यदुश्रेष्ठ ! मैं स्वीकार करता हूँ । मैं देवराज इन्द्रसे ऐसी ही बात कहूँगा; परंतु मुझे मालूम है कि देवराज इन्द्र उस पारिजात वृक्षको किसी तरह भी नहीं देंगे ॥ १२ ॥

मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं दानवैस्त्रिदशैस्तथा ।
निक्षिप्य तोयधौ पूर्वं पारिजातः समाहृतः ॥ १३ ॥
मन्दरात् पर्वतश्रेष्ठान्नयितुं प्रेषितः पुरा ।
पारिजातं हरेणापि लोककर्त्रा जनार्दन ॥ १४ ॥

'जनार्दन ! पहलेकी बात है, दानवों और देवताओंने पर्वतश्रेष्ठ मन्दरको क्षीरसागरमे डालकर उसका मन्थन करके पारिजात वृक्षको वहाँसे निकाला था । तत्पश्चात् पूर्वकालमें गिरिश्रेष्ठ मन्दराचलसे लोककर्ता भगवान् शङ्करने उसी पारिजातको लेनेके लिये मुझे इन्द्रके पास भेजा था ॥ १३-१४॥

स्वयं विज्ञापितो गत्वा ततः शक्रेण शङ्करः ।
आक्रीडद्रुम उद्याने शच्याः स्यादिति याचितः ॥ १५॥

'उस समय इन्द्रने स्वयं ही जाकर भगवान् शङ्करसे प्रार्थना की और नम्रतापूर्वक यह निवेदन किया कि वह वृक्ष शचीके उद्यानमें क्रीडावृक्षके रूपमें रहे ॥ १५ ॥

तथास्त्विति वरो दत्तो महादेवेन चानघ ।
न च नीतः पारिजातो मन्दरं चित्रकन्दरम् ॥ १६ ॥

'अनघ ! तब महादेवजीने 'तथास्तु' कहकर इन्द्रको उसे रखनेके लिये वरदान दे दिया । फिर वे विचित्र कन्दराओंसे सुशोभित मन्दराचलपर उस पारिजात वृक्षको नहीं ले गये ॥

क्रीडावृक्षः स शच्येति व्यपदेशेन मोक्षितः ।
महेन्द्रेण महाबाहो पारिजातस्ततः पुरा ॥ १७ ॥

'महाबाहो ! इस तरह प्राचीनकालमें महेन्द्रने 'वह शचीका क्रीड़ा-वृक्ष है' ऐसा बहाना बनाकर पारिजातको शङ्करजीके अधिकारसे छुड़ा लिया ॥ १७ ॥

प्रियार्थमुमया साक्षात् पारिजातवनं हरः ।
गव्यूतिशतविस्तीर्णं मन्दरस्यैव कन्दरम् ॥ १८ ॥

'तब उमादेवीका प्रिय करनेके लिये साक्षात् भगवान् शिवने मन्दराचलकी दो सौ कोस विस्तृत कन्दराको ही पारिजातके वनसे परिपूर्ण कर दिया ॥ १८ ॥

न तत्र सूर्यभाः कृष्ण प्रविशन्ति नगोत्तमे ।
न च चन्द्रप्रभा शीता नैव कृष्ण सदागतिः ॥ १९ ॥

'श्रीकृष्ण ! उस श्रेष्ठ पर्वतपर वहाँ न तो सूर्यकी प्रभा पहुँच पाती है, न चन्द्रमाकी शीतल किरणोंका प्रवेश होता है और न वायुकी ही पहुँच हो पाती है ॥ १९ ॥

शीतोष्णे छन्दतस्तत्र शैलपुत्र्या भवन्ति हि ।
स्वयंप्रभं वनं तद्धि महादेवस्य तेजसा ॥ २० ॥

'वहाँ गिरिराजनन्दिनी उमाकी इच्छाके अनुसार सर्दी और गर्मी होती है । महादेवजीके तेजसे वह वन स्वयं ही प्रकाशित होता रहता है ॥ २० ॥

वर्जयित्वा महादेवौ सगणौ यदुनन्दन ।
मां चान्यस्तद्वनं दिव्यं न प्रयाति कथंचन ॥ २१ ॥

'यदुनन्दन ! महादेवी पार्वती, महादेव शिव, उन दोनोंके गण तथा मुझको छोडकर दूसरा कोई उस दिव्य वनमें किसी तरह नहीं जाने पाता है ॥ २१ ॥

स्रवन्ति तत्र वार्ष्णेय पारिजाताः समन्ततः ।
सर्वरत्नानि मुख्यानि मनसा काङ्क्षितानि वै ॥ २२ ॥

'वृष्णिनन्दन ! वहाँके पारिजात सब ओरसे सम्पूर्ण मनोवाञ्छित श्रेष्ठ रत्न टपकाते रहते हैं ॥ २२ ॥

गणास्तान्युपभुञ्जन्ति प्रवराणां महात्मनाम् ।
आज्ञया देवदेवस्य लोकनाथस्य केशव ॥ २३ ॥

'केशव ! वहाँ देवाधिदेव विश्वनाथकी आज्ञासे महात्मा प्रमथोंके समूह उन रत्नोंका उपभोग करते हैं ॥ २३ ॥

पारिजाताद् बहुगुणं फलं तेषां तथा वनम् ।
अभिमानं प्रभाश्चैव गुणा भूरिगुणास्तथा ॥ २४ ॥
मूर्तिमन्तश्च ते वृक्षाः सोमं देवं वृषध्वजम् ।
उपतिष्ठन्ति सततं प्रवरैः सह केशव ॥ २५ ॥

'स्वर्गीय पारिजातकी अपेक्षा उन मन्दराचलवर्ती पारिजातोंका फल और वन कई गुना अच्छा है। उनमें अभिमान, प्रभा और गुण सभी स्वर्गीय पारिजातसे बढ़कर है। केशव ! वहाँके प्रचुर गुणशाली वृक्ष मूर्तिमान् होकर उमासहित भगवान् शङ्करकी प्रमथगणोंके साथ सदा उपासना करते हैं ॥

रौद्रेण तेजसा जुष्टा दुःखैर्हीनाः सुखान्विताः ।
तरवो मन्दरे ते हि दयिताः शैलकन्यया ॥ २६ ॥

'मन्दराचलपर जो ये पारिजातके वृक्ष हैं, वे भगवान् रुद्रके तेजसे युक्त, दुःखरहित और सुखसे सम्पन्न हैं; अतः गिरिराजकुमारी उमाको वे विशेष प्रिय हैं ॥ २६ ॥

प्रविवेशान्धको नाम घोरस्तत्र महाबलः ।
दैतेयो वरदानेन दर्पितः पापनिश्चयः ॥ २७ ॥

'एक समयकी बात है, अन्धक नामसे प्रसिद्ध घोर महाबली और पापपूर्ण निश्चय रखनेवाला दैत्य, जो वरदानसे मदमत्त रहता था, उस पारिजात-वनमें घुस गया ॥ २७ ॥

स हतो देवदेवेन हरेणामित्रघातिना ।
अवध्यः सर्वभूतानां वृत्राद् दशगुणं बली ॥ २८ ॥

'वह वृत्रासुरसे दस गुना बलवान् और समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य था तो भी वहाँ शत्रुघाती देवाधिदेव महादेवने उसे मार डाला ॥ २८ ॥

एवं दुःखं न ते देव पारिजातं प्रदास्यति ।
पुष्कराक्ष सहस्राक्षः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २९ ॥

'देव ! कमलनयन ! इस प्रकार दुःखके साथ कहना पड़ता है कि सहस्र नेत्रधारी इन्द्र आपको पारिजात नहीं देंगे। यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ ॥ २९ ॥

सततं सहितो देव्या शच्या स हि वरद्रुमः ।
सर्वकामप्रदः कृष्ण तथेन्द्राय महौजसे ॥ ३० ॥

'श्रीकृष्ण ! यह श्रेष्ठ वृक्ष हित-साधनकी शक्तिसे युक्त है। वह शचीदेवी तथा महापराक्रमी इन्द्रको सम्पूर्ण मनोवाञ्छित पदार्थ देता रहता है' ॥ ३० ॥

श्रीभगवानुवाच

मुने तद् युज्यते साधु महादेवेन धीमता ।
यच्छचीकारणं कृत्वा न नीतः स तरुः पुरा ॥ ३१ ॥

श्रीभगवान् बोले—मुने ! पूर्वकालमें बुद्धिमान् महादेवजी शचीके कारण उस वृक्षको जो मन्दराचलपर नहीं ले गये, वह उनका कार्य ठीक जँचता है ॥ ३१ ॥

स ज्येष्ठः सर्वभूतानां लोककृत् प्रभवोऽव्ययः ।
पारावर्यस्य सदृशं कृतवानिति मे मतिः ॥ ३२ ॥

वे समस्त भूतोंके लिये ज्येष्ठ, लोकस्रष्टा, जगत्की उत्पत्तिके कारण और अविनाशी परमात्मा हैं। उन्होंने बड़े-छोटेकी जो लोकमर्यादा है, उसके अनुरूप ही कार्य किया। ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ३२ ॥

अहं यवीयान् देवस्य सर्वथा बलघातिनः ।
लालनीयश्च भगवञ्जयन्त इव सत्तम ॥ ३३ ॥

परंतु भगवन् ! मुनिश्रेष्ठ ! मैं तो बलासुर-विनाशन देवेन्द्रका छोटा भाई हूँ; अतः जयन्तकी भाँति उनके द्वारा सर्वथा लाड़-प्यार पाने योग्य हूँ ॥ ३३ ॥

सर्वथा भगवांस्तावदुपायैर्बहुविस्तरैः ।
करोतु यत्नं प्रीत्यर्थं शक्तो ह्यसि तपोधन ॥ ३४ ॥

तपोधन ! आप बहुतेरे उपाय करके ऐसा यत्न करें, जिससे हमलोगोंमें प्रेम बना रहे; क्योंकि आप ऐसा करनेमें समर्थ हैं ॥ ३४ ॥

मया मुने प्रतिज्ञातं पुण्यार्थं सत्यभामया ।
स्वर्गादिहानयिष्यामि पारिजातमिति प्रभो ॥ ३५ ॥

मुने ! प्रभो ! मैंने सत्यभामाके पुण्यकार्यका सम्पादन करनेके लिये यह प्रतिज्ञा की है कि मैं पारिजात वृक्षको स्वर्गसे यहाँ ले आऊँगा ॥ ३५ ॥

मया तदनृतं कर्तुं कथं शक्यं तपोधन ।
नानृतं हि वचो विप्र प्रोक्तं पूर्वं मयानघ ॥ ३६ ॥

निष्पाप तपोधन ! मैं अपने उस वचनको मिथ्या कैसे कर सकता हूँ। विप्रवर ! मैंने पहले भी कोई मिथ्या बात नहीं कही है ॥ ३६ ॥

मयि भग्नप्रतिज्ञे वै लोकानां विप्लवो भवेत् ।
यन्मया हि मुनिश्रेष्ठ लोकधर्मा गुणान्विताः ।
परिधार्याः स्थितौ सर्वे स कथं ह्यनृतं वदेत् ॥ ३७ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! मेरी प्रतिज्ञा भङ्ग हो जानेपर समस्त लोकोंमें विप्लव मच जायगा (सब लोग झूठ बोलने लगेंगे)। मुझे तो जगत्की स्थितिके लिये उत्तम गुणसे युक्त समस्त लोकधर्मोंको धारण करना चाहिये; जिसपर ऐसा उत्तरदायित्व हो, वह झूठ कैसे बोल सकता है ? ॥ ३७ ॥

न देवगन्धर्वगणा न राक्षसा
न चासुरा नैव च यक्षपन्नगाः।
मम प्रतिज्ञामपहन्तुमुद्यता
मुने समर्थाः खलु भद्रमस्तु ते ॥ ३८ ॥

मुने ! आपका कल्याण हो। यदि समस्त देवता, गन्धर्व, राक्षस, असुर, यक्ष और नाग भी उद्यत होकर आ जायँ तो वे मेरी प्रतिज्ञाको नष्ट करनेमें समर्थ नहीं हो सकते, नहीं हो सकते ॥ ३८ ॥

स पारिजातं यदि न प्रदास्यति
प्रयाच्यमानो भवतामरेश्वरः।
ततः शचीव्यामृदितानुलेपने
गदां विमोक्ष्यामि पुरंदरोरसि ॥ ३९ ॥

यदि आपके याचना करनेपर अमरेश्वर इन्द्र पारिजात नहीं देंगे तो मैं उनके उस वक्षःस्थलपर, जहाँका अनुलेपन शचीके आलिङ्गनसे मिट गया है, अपनी गदाका प्रहार करूँगा ॥

इति प्रयाच्यो यदि सामपूर्वकं
प्रयाच्यमानो न तरुं प्रयच्छति।
सुनिश्चयं मद्गमनाय सर्वथा
त्वयापि कार्यः खलु तत्र निश्चयः ॥ ४० ॥

यदि वे शान्तिपूर्वक माँगनेसे पारिजात वृक्ष नहीं देते हैं तो मेरा इन्द्रलोकपर आक्रमण करनेका उत्तम निश्चय सर्वथा अटल है, यह उन्हें बता दीजियेगा तथा उस दशामें आपको भी वहाँ अवश्य यही निश्चय करना चाहिये ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे नारदकृष्णभाषणे अष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणके प्रसङ्गमें नारद और श्रीकृष्णका वार्तालापविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

स्वर्गमें महादेवजीकी परिचर्याके लिये नृत्य-गीत आदि उत्सव, नारदजीका इन्द्रको श्रीकृष्णका पारिजातके लिये प्रार्थनाविषयक संदेश सुनाना और इन्द्रका अनेक कारण बताकर पारिजातको न देनेका विचार प्रकट करना

वैशम्पायन उवाच

नारदोऽथ मुनिर्गत्वा महेन्द्रसदनं प्रति।
तां रात्रिमवसत् तत्र ददृशे च महोत्सवम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर नारद मुनिने महेन्द्रभवनमें जाकर उस रातमें वहीं निवास किया और पूर्वोक्त महोत्सवको भी देखा ॥ १ ॥

तत्रादित्या महात्मानो वसवश्च सुरोत्तमाः।
राजर्षयश्च विद्वांसः स्वर्गताः कर्मभिः शुभैः ॥ २ ॥
नागा यक्षाश्च सिद्धाश्च चारणाश्च तपोधनाः।
ब्रह्मर्षयश्च शतशो देवर्षिमनवस्तथा ॥ ३ ॥
सुपर्णाश्च महात्मानो मरुतश्च महाबलाः।
दिवौकसां निकायाश्च शतशोऽन्ये समागताः ॥ ४ ॥

वहाँ महात्मा आदित्यगण, सुरश्रेष्ठ वसुगण, अपने शुभ कर्मोंसे स्वर्गमें गये हुए विद्वान् राजर्षिगण, नाग, यक्ष, सिद्ध, चारण, तपोधन ब्रह्मर्षि, सैकड़ों देवर्षि और मनु, महामना गरुड़ पक्षी, महाबली मरुद्गण तथा देवताओंके जो अन्य सैकड़ों समुदाय हैं, वे सब उस उत्सवमें पधारे थे ॥ २–४ ॥

उपर्युपरि सर्वेषां सोमो देवो महेश्वरः।
तस्थावमितविक्रान्तः स्वैर्गणैः परिवारितः ॥ ५ ॥
देवर्षिभिर्मुनिश्रेष्ठैः संवृतः सर्वभावनः।
कल्पान्तरसहस्रेषु क्षयो येषां न विद्यते ॥ ६ ॥

सबके ऊपर उमासहित अमित पराक्रमी भगवान् महेश्वर अपने प्रमथगणोंसे घिरे हुए खड़े थे। वे सर्वभावन भगवान् शिव उन मुनिश्रेष्ठ देवर्षियोंसे घिरे हुए थे, जिनका सहस्रों कल्पान्तरोंमें भी विनाश नहीं होता है ॥ ५-६ ॥

यानर्चयन्ति सततं देवा देवेश्वरोपमाः।
आत्मज्ञा नावलेपान्धा ये च धर्मपथि स्थिताः ॥ ७ ॥

जो अभिमानसे अन्धे नहीं हुए हैं तथा जो धर्मके मार्गपर स्थित रहनेवाले हैं, वे देवेश्वरोंके समान प्रभावशाली आत्मज्ञानी देवता भी उन देवर्षियोंकी सतत आराधना करते हैं ॥ ७ ॥

रुद्राश्च काश्यपा देवमभ्युपासन्त भारत।
स्कन्दश्च भगवानग्निर्गङ्गा च सरितां वरा ॥ ८ ॥
अर्चिष्मांस्तुम्बुरुश्चैव भारिश्च वदतां वरः।

भरतनन्दन ! रुद्रगण, कश्यपजीके पुत्र (देवगण), भगवान् स्कन्द, अग्निदेव, सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गा तथा अर्चिष्मान्, तुम्बुरु और वक्ताओंमें श्रेष्ठ भारि (ये तीनों गन्धर्व) वहाँ महादेवजीकी सेवामें उनके पास ही खड़े थे ॥

नेतारो देवदेवानामेते हि तपसान्विताः ॥ ९ ॥

एतानमुविधीयन्ते सर्वे देवगणा नृप।
धर्मनित्यास्तपोनित्याः सतां मार्गमुपाश्रिताः ॥ १० ॥

ये सब-के-सब तपोबलसे सम्पन्न होनेके कारण देवाधिदेवोंके भी नेता हैं (उनका नेतृत्व करनेमें समर्थ हैं)। नरेश्वर ! जो नित्य-निरन्तर धर्म और तपमें संलग्न रहकर सत्पुरुषोंके मार्गका आश्रय ले चुके हैं, वे समस्त देवगण इन रुद्र आदिका अनुसरण करते हैं ॥ ९-१० ॥

ये त्विमे मानुषा देवानर्चयन्ति शुभार्थिनः।
तानर्चयन्ति ह्यमरास्तथा राजञ्छुभार्थिनः ॥ ११ ॥

राजन् ! जो ये मनुष्य मङ्गलकी कामना रखकर उन देवताओंकी पूजा करते हैं, वे देवता भी उन शुभार्थी मनुष्योंको अभीष्ट फल देकर उनका सत्कार करते हैं ॥ ११ ॥

पितृकृत्येषु देवानां संन्यासं ये त्वनुष्ठिताः।
स्वाध्यायवन्तः कौरव्य सदा नियमचारिणः ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! जो देवताओं और पितरोंके कृत्योंमें लगे रहते हैं, जिन्होंने संन्यासधर्मका अनुष्ठान किया है, जो सदा स्वाध्यायशील तथा नियमोंके पालनमें तत्पर रहते हैं (उन मनुष्योंको भी अभीष्ट फल देकर ये देवता उनका सत्कार करते हैं) ॥ १२ ॥

गन्धर्वाधिपतिः श्रीमांस्तत्र चित्ररथो नृप।
सपुत्रो वादयामास देववाद्यानि हृष्टवत् ॥ १३ ॥

नरेश्वर ! उस उत्सवके समय वहाँ श्रीमान् गन्धर्वराज चित्ररथ पुत्रसहित प्रसन्नतापूर्वक देवसम्बन्धी वाद्य बजा रहे थे ॥ १३ ॥

ऊर्णायुश्चित्रसेनश्च हाहा हूहूस्तथैव च।
डुम्बरस्तुम्बुरुश्चैव जगुरन्ये च षड्गुणान् ॥ १४ ॥

ऊर्णायु, चित्रसेन, हाहा, हूहू, डुम्बर, तुम्बुरु तथा अन्य गन्धर्व छः[1] गुणोंसे युक्त गीत गा रहे थे ॥ १४ ॥

उर्वशी विप्रचित्तिश्च हेमा रम्भा च भारत।
हेमदन्ता घृताची च सहजन्या तथैव च ॥ १५ ॥

भारत ! उर्वशी, विप्रचित्ति, हेमा, रम्भा, हेमदन्ता, घृताची और सहजन्या—ये अप्सराएँ भी अपने नृत्य और गीत-कलाका प्रदर्शन करती थीं ॥ १५ ॥

जुजोष भगवान् देवस्तदुपस्थानमात्मवान्।
वृत्तेन तुष्टः शक्रस्य जगाम जगतो गतिः ॥ १६ ॥

आत्मसंयमशील जगदाधार भगवान् महादेव अपनी आराधनासे सम्बन्ध रखनेवाले उस नृत्य-गीत आदिको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करते—उसका आनन्द लेते थे। इन्द्रके उस बर्ताव एवं व्यवहारसे संतुष्ट हो वे भगवान् शिव पुनः अपने स्थानको चले गये ॥ १६ ॥

गते भूतपतौ सर्वे नृपा जग्मुर्यथागतम्।
महेन्द्रेणार्चिता देवाः स्वानेव निलयान् गताः ॥ १७ ॥

भगवान् भूतनाथके चले जानेपर समस्त राजर्षि (जो अपने पुण्यफलसे स्वर्गमें आये थे,) वहाँसे अपने-अपने स्थानको लौट गये तथा देवता भी देवराज इन्द्रसे सम्मानित हो अपने भवनोंको ही चले गये ॥ १७ ॥

ततः सर्वेषु यातेषु सुखासीनं पुरंदरम्।
सदस्यैः स्वैः सहासीनं नारदोऽभिययौ मुनिः ॥ १८ ॥

जब सब लोग विदा हो गये और देवराज इन्द्र सुखपूर्वक सिंहासनपर बैठ गये, उस समय अपने सदस्योंके साथ बैठे हुए इन्द्रके पास नारद मुनि गये ॥ १८ ॥

तमिन्द्रः पूजयामास समुत्थाय तपोधनम्।
दिदेश कुशगर्भं च पीठमात्मासनोपमम् ॥ १९ ॥

इन्द्रने उठकर उन तपोधनका पूजन किया और अपने आसनके समान ही एक पीठ उन्हें बैठनेके लिये दिया, जिसके भीतर कुश बिछा हुआ था ॥ १९ ॥

नारदोऽथ महातेजा महेन्द्रमिदमब्रवीत्।
दूतोऽहममरश्रेष्ठ विष्णोरतुलतेजसः ॥ २० ॥

किंतु महातेजस्वी नारदने (खड़े-खड़े ही) महेन्द्रसे कहा—'अमरश्रेष्ठ ! मैं इस समय अनुपम तेजस्वी भगवान् विष्णुका दूत हूँ ॥ २० ॥

किञ्चित्कार्यं पुरस्कृत्य प्रेषितोऽस्मि महात्मना।
आनर्तादार्तिहरणं तस्यैवानघतेजसः ॥ २१ ॥

'उन महात्मा श्रीकृष्णने कुछ कार्य सामने रखकर मुझे आनर्तदेश (द्वारकापुरी) से यहाँ भेजा है। उन निर्मल तेजस्वी श्रीकृष्णका ही कष्ट दूर करना आजका मुख्य कार्य है (जिसके लिये मैं यहाँ आया हूँ)' ॥ २१ ॥

प्रीतिवाक्यानि हृद्यानि प्रयुज्य मुनये तदा।
ततः प्रहृष्टो भगवानब्रवीत् पाकशासनः ॥ २२ ॥

तब हर्षमें भरे हुए भगवान् इन्द्रने देवर्षि नारदके प्रति मनको प्रिय लगनेवाले प्रेमपूर्ण वचनोंका प्रयोग करके इस प्रकार पूछा— ॥ २२ ॥

किमाह पुरुषश्रेष्ठः शीघ्रमाचक्ष्व मे मुने।
चिरस्य खलु कृष्णेन संस्मृतोऽस्मि महात्मना ॥ २३ ॥

'मुने ! पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका कौन-सा संदेश है, यह मुझे शीघ्र बताइये। निश्चय ही महात्मा श्रीकृष्णने चिरकालके पश्चात् मेरा स्मरण किया है' ॥ २३ ॥

नारद उवाच

महेन्द्रेन्द्रानुजं द्रष्टुं गतोऽहं भ्रातरं तव।
कथञ्चिद् द्वारकां तत्र काश्यपानां यशस्करम् ॥ २४ ॥

---

१. वक्रिम, स्निग्ध, मधुर, लास्य, विभक्त तथा अवबद्ध—ये गीतके छः गुण हैं। (नीलकण्ठीसे)

नारदजीने कहा—महेन्द्र ! मैं तुम्हारे छोटे भाई श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये किसी तरह द्वारका जा पहुँचा था, जो वहाँ रहकर कश्यपकी संतानों (देवताओं) के यशका विस्तार करते हैं ॥ २४ ॥

तं तु रैवतकेऽद्राक्षं तदासीनमरिंदमम् ।
रुक्मिण्या सहितं वीरमुमयेव वृषध्वजम् ॥ २५ ॥

वे शत्रुदमन वीर उस समय (द्वारकापुरीके निकटवर्ती) रैवतक पर्वतपर रुक्मिणी देवीके साथ उसी तरह विराजमान थे, जैसे भगवान् शङ्कर उमा देवीके साथ (कैलास या मन्दराचलपर) विराज रहे हों ॥ २५ ॥

पारिजाततरोः पुष्पं तस्य दत्तं मयानघ ।
विस्मापनार्थं देवेश पत्नीनामुरुतेजसः ॥ २६ ॥

निष्पाप देवेश्वर ! वहाँ मैंने उन महातेजस्वी श्रीकृष्णके हाथमें उनकी पत्नियोंको विस्मयमें डालनेके लिये पारिजात वृक्षका एक फूल दिया ॥ २६ ॥

तद् दृष्ट्वा तस्य पत्न्यस्तु विस्मयं परमं ययुः ।
बहुकामप्रदं पुष्पं वृक्षराजसमुद्भवम् ॥ २७ ॥

वृक्षराज पारिजातके उस पुष्पको, जो बहुत-सी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है, देखकर उनकी पत्नियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २७ ॥

गुणास्तासां मया ख्यातास्तस्य पुष्पस्य मानद ।
सृष्टिश्च पारिजातस्य कश्यपेन महात्मना ॥ २८ ॥

मानद ! वहाँ मैंने उनकी पत्नियोंको उस फूलके गुण भी बताये और यह भी कहा कि महात्मा कश्यपने पारिजातकी सृष्टि की है ॥ २८ ॥

अदित्या कश्यपो दत्तः पुण्यार्थं च यथा मम ।
पुष्पदाम्ना वेष्टयित्वा कण्ठे पुण्यार्थमात्मवान् ॥ २९ ॥
त्वं च दत्तो यथा शच्या देवाश्चान्ये सुरेश्वर ।
निष्क्रयश्च यथा दत्तः कश्यपाद्यैर्महर्षिभिः ॥ ३० ॥

सुरेश्वर ! फिर अदितिने पुण्यकी प्राप्तिके लिये आत्मसंयमी महर्षि कश्यपके गलेमें फूलोंकी माला लपेटकर जिस तरह मेरे हाथमें उनका दान कर दिया था तथा शचीने जिस प्रकार तुम्हारा दान किया था और अन्य देवता भी जिस प्रकार अपनी पत्नियोंद्वारा दानमें दिये गये थे एवं कश्यप आदि महर्षियोंने जिस प्रकार मुझे अपना निष्क्रय (मूल्य) दिया था, (वह सारा प्रसङ्ग मैंने वहाँ सुनाया) ॥ २९-३० ॥

तच्छ्रुत्वा तस्य पत्न्येका सत्यभामेति विश्रुता ।
पुण्यकार्ये मनश्चक्रे दयिता ते यवीयसः ॥ ३१ ॥

वह सुनकर उनकी एक पत्नीने, जिसका नाम सत्यभामा है तथा जो तुम्हारे छोटे भाईकी बहुत ही प्रिय है, अपने मनमें वह दानरूप पुण्यकार्य करनेका विचार किया ॥ ३१ ॥

तया चाभ्यर्थितो भर्ता देव देव्या गणेश्वरः ।
प्रतिजज्ञे स धर्मार्थं यवीयांस्तव मानद ॥ ३२ ॥

दूसरोंको मान देनेवाले देव ! जैसे देवी पार्वती प्रमथगणोंके स्वामी भगवान् शिवसे कोई बात कहती हैं, उसी प्रकार सत्यभामाने अपने पतिसे पारिजात वृक्षके लिये प्रार्थना की और तुम्हारे छोटे भाईने उसके धर्मकार्यकी सिद्धिके लिये उस वृक्षको ला देनेकी प्रतिज्ञा कर दी ॥ ३२ ॥

ततो मामुक्तवान् वीरो विष्णुर्बलवतां वरः ।
यथावत् सुरमुख्येश ब्रुवतः शृणु भावतः ॥ ३३ ॥

देवप्रमुख ! देवेश्वर ! तदनन्तर बलवानोंमें श्रेष्ठ वीर श्रीकृष्णने तुमसे कहनेके लिये मुझसे जो बात कही थी, उसे ज्यों-की त्यों सुना रहा हूँ; तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ३३ ॥

लालनीयो यवीयांस्तु प्रणिपत्याच्युतोऽब्रवीत् ।
आनयेयं सुरश्रेष्ठ पारिजातं वरद्रुमम् ॥ ३४ ॥

तुम्हारे छोटे भाई अच्युतने, जो तुमसे लाड़-प्यार पानेके योग्य हैं, तुम्हे प्रणाम करके इस प्रकार कहा है—'सुरश्रेष्ठ ! मै उत्तम वृक्ष पारिजातको यहाँ लाना चाहता हूँ ॥ ३४ ॥

मनोरथोऽस्तु सफलो वध्वास्तेऽसुरसूदन ।
धर्मकृत्ये विशेषेण वध्वास्ते सुरसत्तम ॥ ३५ ॥

'असुरसूदन ! सुरश्रेष्ठ ! आपकी बहू सत्यभामाका यह मनोरथ, जो विशेषतः धर्मकार्यसे सम्बन्ध रखता है, सफल होना चाहिये ॥ ३५ ॥

अयं दर्शितकल्याणो लोको लोकगणेश्वर ।
पश्यन्त्वमरकल्याणं मत्प्रभावाच्च मानवाः ॥ ३६ ॥

'लोकगणेश्वर ! यह मनुष्यलोक भी उस कल्याणमय वृक्षका दर्शन कर सके (ऐसी कृपा कीजिये) । मेरे प्रभावसे मनुष्य भी देवताओंके लिये कल्याणकारी वृक्ष पारिजातका दर्शन कर लें (ऐसा अवसर दीजिये)' ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

वासुदेववचः श्रुत्वा महेन्द्रः कुरुनन्दन ।
नारदं वदतां श्रेष्ठमिदं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! भगवान् वासुदेवका वह संदेश सुनकर देवराज इन्द्रने वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारदजीसे इस प्रकार कहा— ॥ ३७ ॥

भजासनं द्विजश्रेष्ठ युक्तमुक्तं त्वया द्विज ।
संदेशं प्रतिदास्यामि विष्णोरतुलतेजसः ॥ ३८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! पहले आसन तो ग्रहण कीजिये । ब्रह्मन् ! आपने उचित बात कही है । मै अनुपम तेजस्वी विष्णुके लिये संदेशका उत्तर दूँगा' ॥ ३८ ॥

आसीने नारदे शक्रो लब्धानुज्ञोऽथ नारदात् ।
समासनं ततो भेजे तस्यैव सदृशं प्रभो ॥ ३९ ॥

प्रभो ! जब नारदजी बैठ गये, तब उन्हींसे आज्ञा लेकर इन्द्र अपने सिंहासनपर बैठे, जो उन्हींके अनुरूप था ॥ ३९ ॥

उपविष्टः सुरपतिरथोवाच तपोधनम् ।
निरीक्ष्य स्वबलं वीर्यं हर्षदं वृत्रनाशनः ॥ ४० ॥

सिंहासनपर बैठकर वृत्रासुरका विनाश करनेवाले देवराज इन्द्रने अपने हर्षदायक बल और पराक्रमकी ओर दृष्टिपात करके तपोधन नारदजीसे कहा ॥ ४० ॥

शक्र उवाच

महर्षे कुशलं पृष्ट्वा वक्तव्यस्ते जनार्दनः ।
वचनान्मम धर्मज्ञ सर्वभूतसुखावहः ॥ ४१ ॥

इन्द्र बोले—धर्मज्ञ महर्षे ! आप मेरी ओरसे कुशल पूछकर समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाले जनार्दनसे मेरे ही शब्दोंमें इस प्रकार कहियेगा—॥ ४१ ॥

मदनन्तरमीशस्त्वं जगतो नात्र संशयः ।
त्वदीयः पारिजातश्च रत्नान्यन्यानि चाच्युत ॥ ४२ ॥

'अच्युत ! मेरे बाद तुम्हीं इस जगत्के ईश्वर हो, इसमें संशय नहीं है। इस दृष्टिसे पारिजात तथा दूसरे-दूसरे रत्न भी तुम्हारे ही हैं ॥ ४२ ॥

त्वं तु भारावतरणं कर्तुं देव महीं गतः ।
मानुष्यं सर्ववृत्तानां स्थितः कार्यस्य सिद्धये ॥ ४३ ॥

'परंतु देव ! तुम पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भूतलपर गये हो और अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये सभी बर्तावों और व्यवहारोंमे मानवीय मर्यादाका ही आश्रय लेते हो ॥ ४३ ॥

त्वयि तीर्णप्रतिज्ञे हि पुनः प्राप्ते त्रिविष्टपम् ।
पूरयिष्यामि वध्वास्ते इष्टान् कामानधोक्षज ॥ ४४ ॥

'अधोक्षज ! जब तुम भूभारहरणकी प्रतिज्ञा पूरी करके पुनः स्वर्गलोकमें आओगे, उस समय मैं तुम्हारी पत्नी सत्यभामाके सभी अभीष्ट मनोरथोंको पूर्ण करूँगा ॥ ४४ ॥

स्वर्गीयानि च रत्नानि न नेतव्यानि केशव ।
स्वल्पार्थे मानुषं लोकमिति पूर्वकृता स्थितिः ॥ ४५ ॥

'केशव ! किसी छोटे-मोटे कार्यके लिये स्वर्गीय रत्नोंको मनुष्यलोकमें नहीं ले जाना चाहिये। यह पूर्वकालकी ही बाँधी गयी मर्यादा है ॥ ४५ ॥

उत्क्रम्य हि स्थितिं देवीं प्रवर्तामि महाबल ।
यद्यहं किं प्रवक्ष्यन्ति प्रजापतिगणाः प्रभो ॥ ४६ ॥

'महान् बलशाली प्रभो ! यदि मैं देवलोककी मर्यादाका उल्लङ्घन करके कोई नया बर्ताव करूँ तो प्रजापतिगण मुझे क्या कहेंगे ॥ ४६ ॥

ब्रह्मणा सह पुत्रेण सपौत्रेण महात्मना ।
नियमाः सर्वकृत्यानां स्थापिता जगतो ध्रुवाः ॥ ४७ ॥

'पुत्र और पौत्रोंसहित महात्मा ब्रह्माजीने जगत्के समस्त कार्योंके लिये कुछ अटल नियम निश्चित कर दिये हैं ॥ ४७ ॥

प्रजापतिकृतं मार्गमपास्य व्रजतो मम ।
श्रुत्वा प्रजापतिर्धीमाञ्छापमप्युत्सृजेत् प्रभुः ॥ ४८ ॥

'यदि मैं प्रजापति ब्रह्माद्वारा नियत किये गये मार्गको छोड़कर चलूँ तो इसे सुनकर बुद्धिमान् भगवान् प्रजापति मुझे शाप भी दे सकते हैं ॥ ४८ ॥

अस्माभिर्भिद्यमानं हि मर्यादासेतुबन्धनम् ।
भेत्स्यन्त्यशङ्किता दैत्या दैत्यपक्षास्तथापरे ॥ ४९ ॥

'यदि हमलोग ही प्राचीन मर्यादारूपी सेतुका बन्धन तोड़ दें तब तो दैत्य तथा दैत्यपक्षके दूसरे लोग निःशङ्क होकर उन मर्यादाओंका भेदन करने लगेंगे ॥ ४९ ॥

स्त्रीनिमित्तमितो नीते पारिजाते द्रुमेश्वरे ।
स्वर्गौकसो भविष्यन्ति विमनस्काश्च मानद ॥ ५० ॥

'मानद ! यदि केवल एक स्त्रीको संतुष्ट करनेके लिये स्वर्गसे वृक्षराज पारिजातको भूतलपर पहुँचा दिया जाय तो स्वर्गलोकके निवासियोंका मन उदास हो जायगा ॥ ५० ॥

उपभोगा मनुष्याणां विहिता ये स्वयंभुवा ।
तैस्तु तुष्यतु मे भ्राता सम्पश्यन् कालपर्ययम् ॥ ५१ ॥

'स्वयम्भू ब्रह्माने मनुष्योंके लिये जो उपभोगकी वस्तुएँ बनायी हैं, समयके परिवर्तनको देखते हुए मेरे भाईको उन्हींसे संतोष करना चाहिये ॥ ५१ ॥

इहापि तात त्रिदिवे मम यः स्यात् परिग्रहः ।
त्रिदिवस्थोऽपि तं कृष्णः सर्वं भोक्तुमिहार्हति ॥ ५२ ॥

'तात ! इस स्वर्गलोकमें मेरे पास जो भोग-सामग्रियोंका संग्रह है, वह सब श्रीकृष्ण यहाँ रहकर भी तो भोग सकते हैं॥

हृष्टो ह्यामिषभोज्यानामभिमानाज्जनार्दनः ।
ततो धर्मं समुत्सृज्य पापमेवानुवर्तते ॥ ५३ ॥

'मर्त्यलोककी भोग्य वस्तुओंसे हृष्ट-पुष्ट होनेके कारण जनार्दन श्रीकृष्णको कुछ अभिमान हो गया है। उस अभिमानके कारण ही वे धर्मका परित्याग करके पापका ही अनुसरण कर रहे हैं ॥ ५३ ॥

स्त्रीवश्यता ख्याप्यमाना कृष्णस्य हि महात्मनः ।
जगत्ययशसा योगं जनयेदिति मे मतिः ॥ ५४ ॥

महात्मा श्रीकृष्ण स्त्रीके वशीभूत रहते हैं, इस बातकी प्रसिद्धि तो उनके लिये संसारमें अयश या कलङ्ककी ही प्राप्ति करायेगी; ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ५४ ॥

मानुष्यं मानुषे प्राप्तो यद्येतन्मधुसूदनः।
कुर्यान्निर्बन्धनीयं यद् भ्रात्रा ज्येष्ठेन नारद॥ ५५॥

नारद! मनुष्यलोकमें मानवशरीरको प्राप्त हुए मधुसूदन यदि मुझ बड़े भाईके साथ दुराग्रहपूर्ण बर्ताव करें तो यह उनके लिये उचित नहीं है॥ ५५॥

स्वर्ग्यरत्नविलोपेन धर्षणा स्यान्ममानघ।
ज्ञातितो धर्षणा चैव विशेषेणैव गर्हिता॥ ५६॥

निष्पाप देवर्षे! स्वर्गीय रत्नके विलोप होने—उसके लूटे जानेसे मेरा तिरस्कार होगा और अपने भाई-बन्धुसे तिरस्कार पाना तो बहुत ही निन्दित है॥ ५६॥

धर्ममर्थं च कामं च क्रमेण मधुसूदनः।
सेवत्वेष सतां धर्मान् स्थापितान् पद्मयोनिना॥ ५७॥

ये मधुसूदन क्रमशः धर्म, अर्थ और कामका सेवन करें। ब्रह्माजीके द्वारा स्थापित किये हुए सत्पुरुषोंके धर्मोंका आश्रय लें॥ ५७॥

महीतलं पारिजातमर्पयिष्याम्यहं यदि।
पौलोमीमादितः कृत्वा को नु मां बहु मंस्यते॥ ५८॥

यदि मैं पारिजातको भूतलपर भेज दूँगा तो शचीसे लेकर कौन ऐसा स्वर्गवासी होगा, जो मुझे अधिक आदरकी दृष्टिसे देखेगा॥ ५८॥

पारिजातं महीपृष्ठे दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च मानुषाः।
स्वर्गार्थं नोद्यमिष्यन्ति दृष्ट्वा स्वर्गफलं क्षितौ॥ ५९॥

भूतलपर पारिजातका दर्शन और स्पर्श करके मनुष्य पृथ्वीपर ही स्वर्गका फल उपलब्ध हुआ देख स्वर्गकी प्राप्तिके लिये उद्यम ही नहीं करेंगे॥ ५९॥

पारिजातगुणान् मर्त्या जुषन्ति यदि नारद।
देवतानां मनुष्याणां न विशेषो भविष्यति॥ ६०॥

नारद! यदि मनुष्य पारिजातके गुणो (और उससे मिलनेवाले लाभों)का सेवन करने लगेंगे तो देवताओं और मनुष्योंमें कोई अन्तर ही नहीं रह जायगा॥ ६०॥

तत्र यत् क्रियते कर्म इह तद् भुज्यते नरैः।
स्वर्गार्थं न यतिष्यन्ति पारिजातगुणान्विताः॥ ६१॥

मर्त्यलोकमें जो शुभकर्म किया जाता है, उसका फल मनुष्य यहाँ स्वर्गमें आकर भोगते हैं। जब उन्हे भूतलपर ही पारिजातके गुण (लाभ) प्राप्त होने लगेंगे, तब वे स्वर्गके लिये यत्न नहीं करेंगे॥ ६१॥

सर्वरत्नवरः स्वर्गे पारिजातस्तपोधन।
तुल्यं देवसमैर्मर्त्यैः सर्वदैव जगद् भवेत्॥ ६२॥

तपोधन! पारिजात स्वर्गके सब रत्नोमे श्रेष्ठ है। यदि यह भूतलपर चला गया तो मनुष्य देवताओके समान हो जायँगे और (उनसे भरा हुआ) सारा जगत् सदा ही (स्वर्गके) तुल्य हो जायगा॥

यज्ञैर्मर्त्या न यक्ष्यन्ति लब्धस्वर्गफला भुवि।
न पूर्तानि प्रदास्यन्ति तुल्यत्वममरैर्गताः॥ ६३॥

पृथ्वीपर स्वर्गका फल पाकर देवताओंकी समानताको प्राप्त हुए मनुष्य न तो यज्ञोंद्वारा देवताओंका यजन करेंगे और न पूर्तकर्मोंमें ही धन लगायेंगे॥ ६३॥

यज्ञैर्जप्याह्निकैश्चैव नित्यमाप्याययन्ति नः।
मानुषाः स्वर्गमिच्छन्तः श्रद्दधानास्तपोधन॥ ६४॥

तपोधन! श्रद्धालु मनुष्य स्वर्गकी अभिलाषा रखकर यज्ञ, जप तथा नित्य कर्मोंके द्वारा सदा हमलोगोंको तृप्त एवं पुष्ट करते हैं॥ ६४॥

तत् सर्वं न करिष्यन्ति पारिजातगुणान्विताः।
निस्तेजसो भविष्याम ते गतास्तद्विहीनताम्॥ ६५॥

परंतु पारिजातका लाभ मिल जानेपर मनुष्य वह सब कुछ नहीं करेंगे; फिर तो उन यज्ञ आदिसे वञ्चित होकर हम सब देवता निस्तेज हो जायँगे॥ ६५॥

इतः सुवृष्ट्या सस्यैस्ते जीवन्ति पुरुषा भुवि।
आप्याययन्तस्तेऽप्यस्मान् दानैर्यज्ञैस्तथैव च॥ ६६॥

स्वर्गकी ओरसे जब अच्छी वर्षा की जाती है, तब उससे पैदा होनेवाले सस्यों (अनाजों) द्वारा भूतलके मनुष्य जीवन-निर्वाह करते हैं और वे भी दान एवं यज्ञोंद्वारा हम देवताओं-का पोषण करते हैं॥ ६६॥

न बुभुक्षा पिपासा वा बाधते यदि मानुषान्।
रोगो जरा वा मृत्युर्वा धर्मज्ञारतिरेव च॥ ६७॥
दौर्गन्ध्यं वा सुघोरा वा ईतयः कर्मसम्भवाः।
किमुद्योगं करिष्यन्ति पारिजातगुणान्विताः॥ ६८॥

धर्मज्ञ नारद! पारिजातका लाभ मिल जानेपर यदि मनुष्योंको भूख-प्यास नहीं सतायेगी, रोग, बुढ़ापा, अरति (असंतोष या दुःख-शोक) अथवा मृत्युकी प्राप्ति नहीं होगी, उनमे दुर्गन्ध नहीं रहेगा और कर्मजनित भयंकर ईतियाँ[1] उन्हे बाधा नहीं देंगी तो वे स्वर्गके लिये क्यों उद्योग करेंगे॥

सर्वथा नयनं तत्र पारिजातस्य न क्षमम्।
इति वाच्यस्त्वया विप्र विष्णुरक्लिष्टकर्मकृत्॥ ६९॥

विप्रवर! पारिजातका मर्त्यलोकमें ले जाया जाना सर्वथा अनुचित है। यह बात आप अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण) से कह दीजियेगा॥ ६९॥

यथा यथा च मे भ्राता तुष्यत्येतद् विचारयन्।
तथा तथा त्वया कार्यं कार्यं मत्प्रीतिमिच्छता॥ ७०॥

१. खेतीको हानि पहुँचानेवाले उपद्रव ईति कहलाते हैं। ये छः प्रकारके हैं—१ अतिवृष्टि, २ अनावृष्टि, ३ टिड्डी पड़ना, ४ चूहे लगना, ५ पक्षियोंकी अधिकता और ६ दूसरे राजाकी चढ़ाई।

मुने ! मेरी प्रसन्नताकी इच्छा रखकर आपको वहाँ वैसा ही कार्य या प्रयत्न करना चाहिये, जिससे मेरे इस कथनपर विचार करके मेरे भाई श्रीकृष्ण संतुष्ट हो जायँ ॥ ७० ॥

हाराश्च मणयश्चैव चन्दनान्यगुरूणि च ।
वस्त्राणि च विचित्राणि वध्वास्त्वं द्वारकां नय ॥ ७१ ॥

देवर्षे ! आप बहू सत्यभामाके लिये यहाँसे हार, मणि, चन्दन, अगुरु और विचित्र वस्त्र द्वारकाको ले जाइये ॥

योग्यानि यानि मर्त्यानां यावदिच्छति केशवः ।
न स्वर्गपरिमोषं तु कर्तुमर्हति साम्प्रतम् ॥ ७२ ॥

जो-जो वस्तुएँ मनुष्योंके योग्य हैं, उन्हें श्रीकृष्ण जितना चाहें ले सकते हैं; परंतु उन्हें इस समय स्वर्गलोकको लूटकर इसे कंगाल बना देना उचित नहीं है ॥ ७२ ॥

ददामि रत्नानि यथेप्सितान्यहं
बहूनि चित्राणि विभूषणानि च ।
न पारिजातं च कथंचन द्रुमं
मुने प्रदास्यामि दिवौकसां प्रियम् ॥ ७३ ॥

मुने ! मैं श्रीकृष्णकी इच्छाके अनुसार बहुत-से रत्न और विचित्र आभूषण दे रहा हूँ, परंतु पारिजात वृक्षको मैं किसी प्रकार नहीं दूँगा; क्योंकि यह स्वर्गवासियोंको बहुत प्रिय है (इसे वे अन्यत्र जाने देना नहीं चाहते) ॥ ७३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे इन्द्रवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणके प्रसंगमें इन्द्रका वाक्यविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा गदाप्रहारकी धमकी सुनकर कुपित हुए इन्द्रका नारदजीसे उनके बर्तावकी कटु आलोचना करना और युद्ध किये बिना पारिजात वृक्षको न देनेका ही निश्चय करना

वैशम्पायन उवाच

देवराजवचः श्रुत्वा नारदः कुरुनन्दन ।
प्रोवाच वाक्यं वाक्यज्ञो धर्मात्मा धर्मवित्तमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! देवराज इन्द्रकी बात सुनकर धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ तथा बातचीत करनेकी कला जाननेवाले धर्मात्मा नारदजीने यह बात कही—॥ १ ॥

अवश्यमेव वक्तव्यं हितं बलनिषूदन ।
मया तव महाबाहो बहुमानोऽस्ति मे त्वयि ॥ २ ॥

'महाबाहु बलसूदन ! मेरे मनमें तुम्हारे प्रति बहुत आदर है, इसलिये मुझे तुम्हारे हितकी बात अवश्य बतानी चाहिये ॥ २ ॥

उक्तो मया वासुदेवो जानता भवतो मतम् ।
न दत्तः पारिजातोऽयं हरस्यापि त्वया पुरा ॥ ३ ॥

'मैं तुम्हारे इस विचारको जानता था; क्योंकि तुमने पहले महादेवजीके माँगनेपर भी यह पारिजात वृक्ष उन्हें नहीं दिया था; इसलिये मैंने तुम्हारी ओरसे श्रीकृष्णको सब कुछ बताया था ॥ ३ ॥

हेतवश्च मया तस्य दर्शितास्ते समासतः ।
न चावगतवान् देवः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ४ ॥

'तुमने पारिजात न देनेके विषयमें जो कारण बताये हैं, उन्हें भी मैंने संक्षेपसे उनको दर्शाया था; परंतु भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें स्वीकार नहीं किया, यह मैं तुमसे सच्ची बात बता रहा हूँ ॥ ४ ॥

उपेन्द्रोऽहं महेन्द्रेण लालनीयः सदेति माम् ।
उवाच पुण्डरीकाक्षो दत्तमुत्तरमेव च ॥ ५ ॥

'मेरी बातका उत्तर देते हुए कमलनयन श्रीकृष्ण कहने लगे, 'मैं उपेन्द्र (इन्द्रका छोटा भाई) हूँ; अतः महेन्द्रको सदा ही मेरा लाड़-प्यार करना चाहिये' ॥ ५ ॥

पुनः पुनर्मया चास्य हेतवो देव दर्शिताः ।
ततो न बुद्धिर्व्यावृत्ता वृत्रनाशन तस्य वै ॥ ६ ॥

'वृत्रासुरविनाशन देव ! मैंने बारंबार उन्हें कारण दिखाये; परंतु उनका विचार नहीं बदला ॥ ६ ॥

अपि चाप्युक्तवान् देवो वाक्यान्ते मधुसूदनः ।
प्रत्याह पुरुषश्रेष्ठः सरोषमिव वासव ॥ ७ ॥

'इन्द्र ! मेरी बातके अन्तमें पुरुषश्रेष्ठ भगवान् मधुसूदनने कुछ रुष्ट-से होकर उत्तर देते हुए कहा—॥ ७ ॥

न देवगन्धर्वगणा न राक्षसा
न चासुरा नैव च यक्षपन्नगाः ।
मम प्रतिज्ञामपहन्तुमुद्यता
मुने समर्थाः खलु भद्रमस्तु ते ॥ ८ ॥

'मुने ! आपका कल्याण हो । यदि समस्त देवता, गन्धर्व, राक्षस, असुर, यक्ष और नाग भी उद्यत होकर आ जायँ तो वे मेरी प्रतिज्ञाको नष्ट करनेमें समर्थ नहीं हो सकते, नहीं हो सकते ॥ ८ ॥

स पारिजातं यदि न प्रदास्यति
प्रयाच्यमानो भवतामरेश्वरः ।

ततः शचीन्यामृदितानुलेपने
गदां विमोक्ष्यामि पुरंदरोरसि ॥ ९ ॥

'यदि आपके याचना करनेपर अमरेश्वर इन्द्र पारिजात नहीं देंगे तो मैं उनके उस वक्षःस्थलपर, जहाँका अनुलेपन शचीके आलिङ्गनसे मिट गया है, अपनी गदाका प्रहार करूँगा' ॥ ९ ॥

उपेन्द्रस्य महेन्द्रायं भ्रातुस्ते निश्चयः परः ।
यदत्र मन्यसे न्याय्यं सम्प्रधार्य कुरुष्व तत् ॥ १० ॥

'महेन्द्र ! तुम्हारे भाई उपेन्द्रका यही अन्तिम निश्चय है। अब यहाँ तुम जो न्यायोचित कार्य समझो, उसका विचार करके वही करो ॥ १० ॥

तत्त्वं हितं च देवेश श्रूयतां वदतो मम ।
नयनं पारिजातस्य द्वारकां मम रोचते ॥ ११ ॥

'देवेश्वर ! मैं तुम्हें तत्त्व और हितकी बात बताता हूँ, सुनो; मुझे पारिजातका द्वारकामें ले जाया जाना ही ठीक जँचता है' ॥ ११ ॥

नारदेनैवमुक्तस्तु सुव्यक्तं वलदेहभित् ।
रोषाविष्टः सहस्राक्षोऽब्रवीदेतन्नराधिप ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! जब नारदजीने इस प्रकार सुस्पष्ट बात कह दी, तब वलासुरका विनाश करनेवाले सहस्र नेत्रधारी इन्द्र रोषके आवेशमें आकर बोले—॥ १२ ॥

अनागसि मयि ज्येष्ठे सोदरे यदि केशवः ।
एवं प्रवृत्तः किं शक्यं कर्तुमद्य तपोधन ॥ १३ ॥

'तपोधन ! यदि श्रीकृष्ण अपने निरपराध एवं ज्येष्ठ सहोदर भाईके प्रति ऐसा अनुचित बर्ताव करनेके लिये उद्यत हैं तो अब क्या किया जा सकता है ? ॥ १३ ॥

बहूनि प्रतिलोमानि पुरा स कृतवान् मयि ।
कृष्णो नारद सोढानि भ्रातेति स मया सदा ॥ १४ ॥

'नारद ! श्रीकृष्णने पहले भी मेरे प्रतिकूल बहुत-से कार्य किये हैं; परंतु यह मेरा छोटा भाई है, ऐसा समझकर मैंने सदा उन बातोंको सहन किया है ॥ १४ ॥

खाण्डवे चार्जुनरथं पुरा वाहयता सता ।
मदीया वारिता मेघाः शमयन्तोऽग्निमुद्धतम् ॥ १५ ॥

'पहलेकी बात है, ये खाण्डव वनमें अर्जुनका रथ हाँक रहे थे, उस समय उस वनमें लगी हुई प्रचण्ड आगको बुझानेके लिये मैंने जो मेघ नियुक्त किये थे, मेरे उन सभी मेघोंका इन्होंने निवारण कर दिया था ॥ १५ ॥

गोवर्धनं धारयता विप्रियं च कृतं मम ।
तथा वृत्रवधे प्राप्ते साहाय्यार्थं वृतो मया ॥ १६ ॥
समोऽहमिति सर्वेषां भूतानामिति चोक्तवान् ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य वृत्रश्च निहतो मया ॥ १७ ॥

'इसी तरह गोवर्धन पर्वतको धारण करके इन्होंने मेरा अप्रिय किया था । जब वृत्रासुरके वधका अवसर प्राप्त हुआ, उस समय मैंने इनसे सहायताके लिये प्रार्थना की थी; परंतु इन्होंने यह कहकर मुझे कोरा जवाब दे दिया कि मैं तो समस्त प्राणियोंके लिये सम हूँ (मेरा किसीसे राग या द्वेष नहीं है) । तब मैंने अपने ही बाहुबलका आश्रय लेकर वृत्रासुरका वध किया था ॥ १६-१७ ॥

देवासुरेषु प्राप्तेषु संग्रामेषु च नारद ।
युध्यत्यात्मेच्छया कृष्णो मुने सुविदितं तव ॥ १८ ॥

'मुने ! नारद ! जब-जब देवासुर-संग्रामके अवसर आते हैं, तब-तब विष्णु अपनी इच्छासे ही युद्ध करते हैं (जीमें आया तो करते हैं और नहीं तो चल देते हैं) । यह बात आपको अच्छी तरह ज्ञात है ॥ १८ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन तस्माद् दिष्ट्या प्रवर्तताम् ।
ज्ञातिभेदो न नः कार्यः साक्षी त्वं मम नारद ॥ १९ ॥

'इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ (बात बढ़ानेसे कुछ होने-जानेवाला नहीं है); अतः यदि प्रारब्धवश युद्ध ही होना है तो हो; परंतु नारदजी ! आप मेरी ओरसे इस बातके साक्षी हैं कि हमलोगोंको अपने भाईसे कलह करना अभीष्ट नहीं है ॥ १९ ॥

ममोरसि गदां मोक्तुमुद्यतो यदि केशवः ।
अनुशब्दाथ पौलोमीं गुणः क इह दृश्यते ॥ २० ॥

'यदि केशव मेरी छातीमें गदा मारनेको ही उद्यत हैं तो पुलोमकुमारी शचीका नामोल्लेख करके ऐसी बात कहनेमें यहाँ कौन-सा लाभ दिखायी देता है ? ॥ २० ॥

उदवासगतो धीमान् पिता नः कश्यपः प्रभुः ।
अदित्या सह मे मात्रा तयोर्वाक्यमिदं भवेत् ॥ २१ ॥

'मेरे बुद्धिमान् पिता भगवान् कश्यप मेरी माता अदितिके साथ क्षीरसागरमें जलवास करनेके लिये गये हैं । वे दोनों मेरे प्रति ऐसी बात कह सकते थे (क्योंकि माता-पिताको यह अधिकार है कि वह पुत्रको राहपर लानेके लिये उसे ताड़ना दे) ॥ २१ ॥

अजितात्मा मम भ्राता रजसा तमसा वृतः ।
कामेन च स्त्रियो वाक्यादेवं मामुक्तवान् गुरुम् ॥ २२ ॥

'परंतु मेरे भाई श्रीकृष्ण अजितात्मा हैं, अपने मनपर काबू नहीं पा सके हैं; साथ ही रजोगुण और तमोगुणसे घिरे हुए हैं; अतः कामवश एक स्त्रीके कहनेमात्रसे मुझ अपने गुरुजनके प्रति उन्होंने ऐसी बात कह डाली है ॥ २२ ॥

धिक्स्त्रियः सर्वथा विप्र धिग् राजसमिति तथा ।
यत्राधिक्षिप्तवान् विष्णुरेवं मां स्त्रीजितो द्विज ॥ २३ ॥

'विप्रवर ! स्त्रियोंको सर्वथा धिक्कार है तथा उस राज-

सभाको भी धिक्कार है, जहाँ स्त्रीके वशीभूत हुए श्रीकृष्णने मुझपर इस प्रकार आक्षेप किया है ॥ २३ ॥

न दृष्टं कश्यपकुले व्यपदेश्यं महामुने ।
नैव दक्षकुले दृष्टं मातुर्मे यत्र सम्भवः ॥ २४ ॥

'महामुने ! महर्षि कश्यपके कुलमें अबतक कोई निन्दनीय बात नहीं देखी गयी है तथा जहाँ मेरी माताका जन्म हुआ है, उस दक्षकुलमें भी ऐसी कोई बात देखनेमें नहीं आयी है ॥ २४ ॥

न ज्येष्ठता न राजत्वं देवानां प्रतिमानितम् ।
कामरागाभिभूतेन कृष्णेन खलु नारद ॥ २५ ॥

'नारद ! काम और रागसे आक्रान्त हुए श्रीकृष्णने न तो मेरे बड़प्पनका आदर किया है और न मेरे देवराज पदका ही सम्मान किया है ॥ २५ ॥

पुत्रदारसहस्रैर्हि भ्रातानघ विशिष्यते ।
सद्वृत्तो ज्ञानसम्पन्न इति ब्रह्मा पुराब्रवीत् ॥ २६ ॥

'निष्पाप देवर्षे ! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने ऐसा कहा था कि सदाचारी और ज्ञानसम्पन्न भाई हजारों स्त्रियों और पुत्रोंसे बढ़कर है ॥ २६ ॥

नास्ति भ्रातृसमो बन्धुराहार्य इतरो जनः ।
इति मामब्रवीन्माता पिता चैव प्रजापतिः ॥ २७ ॥

'मेरी माता तथा मेरे पिता प्रजापति कश्यपजीने मुझसे कहा था कि भाईके समान दूसरा कोई बन्धु नहीं है; क्योंकि वह स्वाभाविक बन्धु है और दूसरे लोग भोजन आदि देकर बनाये हुए हैं ॥ २७ ॥

सोदरे तु विशेषं तु पिता मे कश्यपोऽब्रवीत् ।
दत्ता मया विरुद्ध्यन्ते दानवाः पापनिश्चयाः ॥ २८ ॥

'मेरे पिता कश्यपने सहोदर भाईमें विशेष बन्धुत्व बताया है । यद्यपि दानव भी हमारे भाई ही हैं, तथापि वे घमंडी और पापपूर्ण विचार रखनेवाले हो गये हैं; इसलिये मैं उनका विरोध करता हूँ ॥ २८ ॥

काममेतन्न वक्तव्यं स्वयमात्मस्तवान्वितम् ।
प्राप्तस्त्ववसरो विप्र यदिहाद्योच्यते मया ॥ २९ ॥

'विप्रवर ! जो बात अपनी प्रशंसासे युक्त हो, उसे स्वयं ही नहीं कहना चाहिये, इसमें संशय नहीं है तथापि इस समय यहाँ मेरे द्वारा जो बात कही जाती है, उसके कहनेका अवसर आ गया है ॥ २९ ॥

धनुर्ज्यायां मुनिश्रेष्ठ छिन्नायां हि पुरानघ ।
धन्वीभिरमराणां च वरदानान्महामते ॥ ३० ॥
उत्कृत्तशिरसो विष्णोः पुरा देहो धृतो मया ।
सन्धितं च शिरो यत्नाच्छिन्नं रौद्रेण तेजसा ॥ ३१ ॥

'मुनिश्रेष्ठ ! महामते ! पूर्वकालमें (दक्षयज्ञ-विध्वंसके समय) जब भगवान् शंकरके धनुर्धर पार्षदोंने वरदानके प्रभावसे देवताओंके धनुषोंकी प्रत्यञ्चा काट डाली और यज्ञरूपी विष्णुका सिर काट लिया गया था, उस समय मैंने ही उनके धड़को धारण किया था तथा रुद्रके तेजसे कटे हुए उनके सिरको यत्नपूर्वक धड़से जोड़ा था ॥ ३०-३१ ॥

अहं विशिष्टो देवानामित्युक्त्वा पुनरच्युतः ।
धनुरारोप्य दर्पेण स्थितो नारद केशवः ॥ ३२ ॥

नारदजी ! जब उनका मस्तक जुड़ गया, तब वे अच्युतस्वरूप केशव पुनः धनुष चढ़ाकर बड़े घमंडके साथ यह कहते हुए खड़े हो गये कि मैं इन देवताओंमें सबसे बढ़कर हूँ ॥ ३२ ॥

किं मां पिता वा माता वा वक्ष्यतीति मया मुने ।
स्नेहेन च स्थितं विष्णोः शरीरं मुनिसत्तम ॥ ३३ ॥

मुने ! ऋषिश्रेष्ठ ! मैंने उस समय यह सोचकर कि यदि मैं नहीं बचाता हूँ तो मेरे पिता-माता मुझे क्या कहेंगे, बड़े स्नेहके साथ विष्णुके शरीरको थाम लिया था ॥ ३३ ॥

ऐन्द्रं वैष्णवमस्यैव मुने भागमहं ददौ ।
यवीयांसमहं प्रेम्णा कृष्णं पश्यामि नारद ॥ ३४ ॥

'नारद मुने ! (वर्षा ऋतुमें जो सत्कर्म या पूजन किया जाता है, उसपर (मुझ) इन्द्रका ही आधिपत्य है; क्योंकि उस समय श्रीविष्णु शयन करते हैं) उस ऐन्द्रभागको ही वैष्णव भाग बनाकर मैंने इन्हें अर्पित किया है* । इस प्रकार मैं अपने छोटे भाई कृष्णको सदा प्रेमपूर्ण दृष्टिसे ही देखता हूँ ॥ ३४ ॥

संग्रामेषु प्रहर्तव्यं तेन पूर्वं तपोधन ।
राजा किलाहं समरे प्रहराम्यग्रतो ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

'तपोधन ! संग्रामके अवसरोंपर (यदि कृष्ण मेरे विरोधमें खड़े हों तो) पहले उन्हींको मुझपर प्रहार करना चाहिये । अन्यत्र युद्धमें मैं अवश्य ही पहले प्रहार करता हूँ; क्योंकि मैं राजा हूँ ॥ ३५ ॥

प्रादुर्भावेषु सर्वेषु स्वशरीरमिवानघ ।
यत्नाद् रक्षामि धर्मज्ञ केशवं भक्तिमाश्रितम् ॥ ३६ ॥

'पापरहित धर्मज्ञ नारदजी ! सभी अवतारोंके समय मुझमें भक्ति रखनेवाले केशवकी मैं अपने शरीरके समान यत्नपूर्वक रक्षा करता आया हूँ ॥ ३६ ॥

इदं भङ्क्त्वा मदीयं च भुवनं विष्णुना कृतम् ।
उपर्युपरि लोकानामधिकं भुवनं मुने ॥ ३७ ॥

---

* हरिवंशपर्वके पचपनवें अध्यायके श्लोक २६ से भी इस बातका समर्थन होता है । देखिये पृष्ठ १८९ ।

'मुने ! विष्णुने मेरे इस भुवन (स्वर्गलोक) की मर्यादा भंग करके सब लोकोंसे ऊपर-ऊपर अपने भुवन (वैकुण्ठ-धाम) को प्रतिष्ठित किया और उसे अन्य लोकोंसे बढ़कर महत्त्व दिया ॥ ३७ ॥

अवमानः स च मया पृष्ठतः क्रियते मुने ।
लालनीयो मया बाल इत्येवं भ्रातृगौरवात् ॥ ३८ ॥

'मुने ! वह अपमान मैंने पीछे कर दिया (भुला दिया)। बड़े भाईका जो गौरव है, उसपर ध्यान देकर मैंने सदा यही सोचा है कि यह बालक है। अतः मेरे द्वारा लाड़-प्यार पानेके योग्य है ॥ ३८ ॥

बालोऽयं मम पुत्रेति यवीयानिति नारद ।
पित्रा मात्रा च गोविन्दो मानी च परिभावितः ॥ ३९ ॥

'नारद ! श्रीकृष्णके विषयमें मेरा सदा यही भाव रहा है कि यह बालक है, मेरा छोटा भाई है; अतः मेरे द्वारा पुत्रके समान लाड़ लड़ानेके योग्य है, किंतु उनके विषयमें मेरे माता-पिताने भी अपना यही विचार व्यक्त किया है कि गोविन्द मानी है ॥ ३९ ॥

इष्टस्तत्र जनानां च केशवः सुविशेषतः ।
वयं द्वेष्या न संदेहस्तत्र स्नेहोऽतिरिच्यते ॥ ४० ॥

'वहाँ (मनुष्यलोक) के लोगोंको श्रीकृष्ण विशेष प्रिय हैं और हमलोग उनके द्वेषके पात्र हो गये हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसका कारण यही है कि श्रीकृष्णका उन मनुष्योंके प्रति स्नेह बढ़ता जा रहा है ॥ ४० ॥

सर्वज्ञो बलवाञ्छूरः पात्रं मानयिता तथा ।
केशवेत्येव च ध्यानं यत्तद्वितथतां गतम् ॥ ४१ ॥

'अबतक जो मेरा यह खयाल था कि केशव सर्वज्ञ, बलवान्, शूरवीर, सुपात्र तथा दूसरोंको मान देनेवाले हैं, वह सब निष्फल हो गया ॥ ४१ ॥

गच्छ नारद वक्तव्यः केशवो वचनान्मम ।
आहूतो न निवर्तेयं समरं प्रति शत्रुभिः ॥ ४२ ॥

'नारदजी ! जाइये और मेरे शब्दोंमें श्रीकृष्णसे कह दीजिये कि 'मैं शत्रुओंके आह्वान करने या ललकारनेपर युद्ध-से पीछे नहीं हट सकता ॥ ४२ ॥

यदीच्छसि तदागच्छ सह्यं ते यत्त्वमिच्छसि ।
प्रहरस्व च पूर्वं त्वं भार्याजित यथेच्छसि ॥ ४३ ॥

'पत्नीके वशमें रहनेवाले श्रीकृष्ण ! यदि तुम मुझपर गदाका प्रहार करना चाहते हो तो आ जाओ। तुम जो चाहते हो, तुम्हारे उस प्रहारको सहन किया जायगा। जैसे तुम्हारी इच्छा है, उसके अनुसार पहले तुम्हीं प्रहार करो ॥

रथाङ्गेनाथ शार्ङ्गेण गदया नन्दकेन च ।
प्रहरारुह्य गरुडं दृढो भूत्वा जनार्दन ॥ ४४ ॥
प्रहृते प्रहरिष्यामि यथाशक्त्या च केशव ।
अहो धिग् यदि मां स्नेहो विक्लवं न करिष्यति ॥ ४५ ॥

'जनार्दन ! तुम गरुड़पर चढ़कर सुदृढ़ होकर मेरे ऊपर सुदर्शन चक्र, शार्ङ्ग धनुष, कौमोदकी गदा और नन्दकनामक खड्गके द्वारा प्रहार करो। केशव ! यदि भ्रातृस्नेह मुझे व्याकुल नहीं कर देगा तो तुम्हारे प्रहार करनेपर मैं भी यथाशक्ति तुमपर प्रहार करूँगा। अहो, ऐसी परिस्थितिको धिक्कार है ! ॥ ४४-४५ ॥

यावन्न संग्रामगतो जितोऽहं चक्रपाणिना ।
पारिजातं न दास्यामि तावद् भो मुनिसत्तम ॥ ४६ ॥

'मुनिश्रेष्ठ ! जबतक मैं संग्रामभूमिमें उपस्थित होकर चक्रपाणि श्रीकृष्णके द्वारा पराजित नहीं हो जाऊँगा, तबतक उन्हें पारिजात नहीं दूँगा ॥ ४६ ॥

मां समाह्वयते ज्येष्ठं यवीयान् स तपोधन ।
अहो तं मर्षयिष्यामि किमर्थं स्त्रीजितं हरिम् ॥ ४७ ॥

'अहो तपोधन ! जब श्रीकृष्ण छोटे होकर मुझ बड़े भाईको युद्धके लिये ललकार रहे हैं, तब पत्नीके गुलाम बने हुए उन केशवके इस बर्तावको मैं किस लिये सहन करूँ ॥

अद्यैव गच्छ भगवन् द्वारकां कृष्णपालिताम् ।
विवादे संस्थितः सोऽज्ञ इति वाच्यस्त्वयाच्युतः ॥४८॥

'भगवन् ! आप आज ही श्रीकृष्णद्वारा सुरक्षित द्वारका-पुरीको चले जाइये और विवादके लिये तैयार खड़े हुए उस अज्ञानी अच्युतसे इस प्रकार मेरा उत्तर सुना दीजिये ॥४८॥

पलाशपत्रार्द्धमपि त्वयाजितो
न पारिजातस्य तव प्रदास्यति ।
इति प्रवाच्यो मधुसूदनस्त्वया
वचो मदीयं स्मरता तपोधन ॥ ४९ ॥

'जबतक तुम पराजित नहीं कर दोगे, तबतक पारिजात वृक्षकी तो बात ही क्या है, उसकी आधी पत्ती भी इन्द्र तुम्हें नहीं देगा। तपोधन ! मेरी इस बातको याद रखते हुए आपको मधुसूदन श्रीकृष्णसे इन्हीं शब्दोंमें यह बात कहनी चाहिये ॥ ४९ ॥

पुनः प्रवाच्यो भगवंस्त्वयाच्युतो
मम प्रियार्थं खलु निर्विशङ्कितम् ।
न मायया हर्तुमिहार्हसि द्रुमं
सुयुद्धमेवास्तु धिगस्तु जिह्मताम् ॥ ५० ॥

'भगवन् ! आपको मेरा प्रिय करनेके लिये अच्युतसे

पुनः निःशङ्क होकर यह बात कह देनी चाहिये कि माया (छल-कपट) के द्वारा पारिजात वृक्षका अपहरण करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। विशुद्ध युद्ध ही होना चाहिये। कुटिलतापूर्ण बर्तावको धिक्कार है' ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे इन्द्रवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजात-हरणके प्रसंगमें इन्द्रका वाक्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

नारदजीके द्वारा श्रीकृष्णकी महत्ताका प्रतिपादन सुनकर भी इन्द्रका उन्हें पारिजात देनेको उद्यत न होना

वैशम्पायन उवाच

महेन्द्रवचनं श्रुत्वा नारदो वदतां वरः।
विविक्ते देवराजानमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवराज इन्द्रका यह वचन सुनकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारदजीने एकान्तमें उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

कामं प्रियाणि राजानो वक्तव्या नात्र संशयः।
प्राप्तकालं तु वक्तव्यं हितमप्रियमप्युत ॥ २ ॥

'देवेश्वर ! अवश्य ही राजाओंसे वे ही बात कहनी चाहिये, जो उन्हें प्रिय लगें; इसमें संशय नहीं है तथापि जिसका अवसर प्राप्त हुआ हो, ऐसा हितकारक वचन तो अप्रिय होनेपर भी उनसे कह देना ही उचित है ॥ २ ॥

अनियुक्तपुरोभागो न स्यादिति वदन्ति हि।
सुलोकगतितत्त्वज्ञो नयविज्ञानकोविदः ॥ ३ ॥

'जो उत्तम लोकगतिके तत्त्वका ज्ञाता है और नीतिके विज्ञानमें भी कुशल है, ऐसा पुरुष बिना कहे-सुने कहीं अगुआ न बने' यह बुद्धिमान् पुरुषोंका कथन है ॥ ३ ॥

कार्याकार्ये समुत्पन्ने परिपृच्छति मां भवान्।
यतस्ततः प्रवक्ष्यामि गृह्यतां यदि रोचते ॥ ४ ॥

'कर्तव्याकर्तव्यकी समस्या खड़ी होनेपर प्रायः तुम मुझसे पूछते और सलाह लेते हो, इसलिये इस समय भी मैं तुमसे कुछ कहूँगा। यदि अच्छा लगे तो इसे काममें लाना ॥४॥

अनुक्तेनापि सुहृदा वक्तव्यं जानता हितम्।
न्याय्यं च प्राप्तकालं च पराभवमनिच्छता ॥ ५ ॥

'जो राजाकी पराजय नहीं चाहता और किस बातमें उसका हित है, यह अच्छी तरह जानता है,—ऐसे सुहृद्‌को बिना कहे भी न्यायसंगत और समयोचित हितकर वचन अवश्य कहना चाहिये ॥ ५ ॥

वक्तव्यं सर्वथा सद्भिरप्रिय चापि यद्धितम्।
आनृण्यमेतत् स्नेहस्य सद्भिरेवाहृतं पुरा ॥ ६ ॥

'सत्पुरुषोंको उचित है कि वे सर्वथा हितकी ही बात बतावें, भले ही वह सुननेमें अप्रिय हो। यही स्नेहसे उऋण होनेका उपाय है, जिसका श्रेष्ठ पुरुषोंने ही प्राचीन कालसे आदर किया है ॥ ६ ॥

अनृते धर्मभग्ने च न शुश्रूषति चाप्रिये।
न प्रियं न हितं वाच्यं सद्भिरेवेति निन्दिताः ॥ ७ ॥

'जो असत्यवादी, धर्म-मर्यादाको भंग करनेवाले, किसीका उपदेश सुननेकी इच्छा न रखनेवाले और सबके अप्रिय (द्वेषपात्र) हैं, ऐसे लोगोंसे न तो प्रिय बात कहनी चाहिये और न हितकी ही। ऐसा कहकर सत्पुरुषोंने इन सबकी निन्दा की है ॥ ७ ॥

सर्वथा देव वक्तव्यं श्रूयतां शृण्वतां वर।
श्रुत्वा च कुरु सर्वज्ञ मम श्रेयस्करं वचः ॥ ८ ॥

'श्रोताओंमें श्रेष्ठ सर्वज्ञ देव ! मुझे तुमको सर्वथा हितकी बात बतानी है, सुनो और सुनकर मेरे कल्याणकारी वचनका पालन करो ॥ ८ ॥

अन्योन्यभेदो भ्रातॄणां सुहृदां वा बलान्तक।
भवत्यानन्दकृद् देव द्विषतां नात्र संशयः ॥ ९ ॥

'बलासुरका विनाश करनेवाले देव ! भाइयों अथवा सुहृदोंमें यदि परस्पर भेद (वैरभाव) हो जाय तो वह शत्रुओंको आनन्द देनेवाला होता है, इसमें संशय नहीं है ॥९॥

हितानुबन्धसहितं कार्यं ज्ञेयं सुरेश्वर।
विपरीतं च तद् बुद्ध्वा नित्यं बुद्धिमतां वर ॥ १० ॥
यत् स्यात् तापकरं पश्चादारब्धं कार्यमीदृशम्।
आरभेन्नैव तद् विद्वानेष बुद्धिमतां नयः ॥ ११ ॥

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ सुरेश्वर ! अपने कल्याणसे सम्बन्ध रखनेवाले कार्यको जानना चाहिये तथा जो इसके विपरीत हो, उसको भी सदा समझ लेना चाहिये। समझ लेनेके बाद जो कार्य आरम्भ करनेपर पीछे संताप देनेवाला हो, ऐसे कार्यको विद्वान् पुरुष कदापि आरम्भ न करे— यही बुद्धिमानोंकी नीति है ॥ १०-११ ॥

विपाकमस्य कार्यस्य नानुपश्यामि शोभनम्।
यदत्र कारणं देव निबोध विबुधाधिप ॥ १२ ॥

'देव ! विबुधेश्वर ! मैं इस कार्यका परिणाम अच्छा नहीं देखता हूँ। इसमें जो कारण है, उसे ध्यान देकर सुनो ॥ १२ ॥

य एको विश्वमध्यास्ते प्रधानं जगतो हरिः।
प्रकृत्या यं परं सर्वे क्षेत्रज्ञं वै विदुर्बुधाः ॥ १३ ॥

'जो अकेले ही कार्यभूत जगत् और उसके कारणभूत प्रधानके भी अधिष्ठाता (संचालक) हैं, वे श्रीहरि ही श्रीकृष्ण हैं। जिन्हें समस्त विद्वान् प्रकृतिसे परे विराजमान क्षेत्रज्ञके रूपमें जानते हैं ॥ १३ ॥

तस्याव्यक्तस्य यो व्यक्तो भागः सर्वभवोद्भवः।
तस्यात्मा परमो देवो विष्णुः सर्वस्य धीमतः ॥ १४ ॥

'उस अव्यक्त प्रकृतिके जो व्यक्तभाग (महत्तत्त्व या समष्टिबुद्धिके अभिमानी चेतन) ब्रह्मा हैं, वे ही समस्त संसारकी उत्पत्तिके कारण हैं। उनके तथा सम्पूर्ण चेतन जीवमात्रके आत्मा वे परमदेव श्रीविष्णु ही हैं ॥ १४ ॥

प्रकृत्याः प्रथमो भाग उमा देवी यशस्विनी।
व्यक्तः सर्वमयो विश्वः स्त्रीसंज्ञो लोकभावनः ॥ १५ ॥

यशस्विनी उमादेवी प्रकृतिका मुख्य भाग (व्यक्त जगत्स्वरूप) हैं। अतः सर्वमय व्यक्त विश्व स्त्रीसंज्ञक (सम्पूर्ण भोग्य वस्तुरूप) है, जो चेतनमात्रको तृप्त करनेवाला है ॥ १५ ॥

रुक्मिण्याद्याः स्त्रियस्तस्या व्यक्तत्वं प्रथमो गुणः।
अव्यया प्रकृतिर्देवी गुणी देवो महेश्वरः ॥ १६ ॥

'रुक्मिणी आदि स्त्रियाँ भी प्रकृतिका मुख्य गुण (भाग) अर्थात् व्यक्तरूप हैं। अविनाशिनी प्रकृति उमादेवी है, जो गुणरूपा है और उनसे युक्त गुणी पुरुष भगवान् महेश्वर हैं।१६।

न विशेषोऽस्य रुद्रस्य विष्णोश्चामरसत्तम।
गुणिनश्चाव्ययः शास्ता सदा च प्रथमोऽगुणः ॥ १७ ॥
नारायणो महातेजाः सर्वकृल्लोकभावनः।

'देवश्रेष्ठ ! (इसी प्रकार लक्ष्मी या रुक्मिणी गुणमयी अविनाशिनी प्रकृति हैं और विष्णु या श्रीकृष्ण गुणी पुरुष हैं) इन गुणवान् मायावी रुद्र और विष्णुमें कोई अन्तर नहीं है। त्रिगुणात्मक जगत्के जो प्रथम अविनाशी शासक निर्गुण परमात्मा हैं, वे ही महातेजस्वी नारायण हैं। वे सबके स्रष्टा और समस्त जगत्के उत्पादक हैं ॥ १७½ ॥

भोक्ता महेश्वरो देवः कर्ता विष्णुरधोक्षजः ॥ १८ ॥
ब्रह्मा देवगणाश्चान्ये पश्चात् सृष्टा महात्मना।
महादेवेन देवेश प्रजापतिगणास्तथा ॥ १९ ॥

'देवेश्वर ! इन परमात्मा परमदेव नारायणके द्वारा ही भोक्ता महेश्वरदेव, कर्ता अधोक्षज विष्णु, ब्रह्मा, अन्य देव-समुदाय तथा प्रजापतिगण—इन सबकी पीछे सृष्टि हुई है ॥ १८-१९ ॥

एवं पुराणपुरुषो विष्णुर्देवेषु पठ्यते।
अचिन्त्यश्चाप्रमेयश्च गुणेभ्यश्च परस्तथा ॥ २० ॥

'इस प्रकार पुराणपुरुष भगवान् विष्णु देवताओंमें अचिन्त्य, अप्रमेय और गुणातीत कहे जाते हैं ॥ २० ॥

अदित्या तपसा विष्णुर्महात्माऽऽराधितः पुरा।
वरेण च्छन्दिता तेन परितुष्टेन चादितिः ॥ २१ ॥

'पूर्वकालमें देवमाता अदितिने तपस्याद्वारा परमात्मा विष्णुकी आराधना की। उससे संतुष्ट हो भगवान् विष्णुने भी अदितिको इच्छानुसार वर माँगनेके लिये आज्ञा दी ॥ २१ ॥

तयोक्तस्त्वत्समं पुत्रमिच्छामीति सुरोत्तम।
प्रणिपत्य च विज्ञाय नारायणमधोक्षजम् ॥ २२ ॥

'सुरश्रेष्ठ ! उस समय अदितिने अधोक्षज (इन्द्रियातीत) भगवान् नारायणको पहचानकर उन्हें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'प्रभो ! मैं आपके समान पुत्र चाहती हूँ'।२२।

तेनोक्तं भुवने नास्ति मत्समः पुरुषोऽपरः।
अंशेन तु भविष्यामि पुत्रः खल्वहमेव ते ॥ २३ ॥

'तब उन्होंने कहा—'देवि ! समस्त भुवनोंमें मेरे समान दूसरा कोई पुरुष नहीं है। अतः मैं ही अपने अंशसे तुम्हारा पुत्र होऊँगा ॥ २३ ॥

स जातः सर्वकृद् देवो भ्राता तव सुरेश्वर।
नारायणो महातेजा यमुपेन्द्रं प्रचक्षते ॥ २४ ॥

'सुरेश्वर ! (इस निश्चयके अनुसार) वे सबकी सृष्टि करनेवाले महातेजस्वी भगवान् नारायण तुम्हारे भाईके रूपमें अवतीर्ण हुए, जिन्हें उपेन्द्र कहते है ॥ २४ ॥

इच्छन्नेव हरिर्देव काश्यपत्वमुपागतः।
तैस्तैर्भावैर्विकुरुते भूतभव्यभवाप्ययः ॥ २५ ॥

'देव ! भूत और भविष्यकी उत्पत्ति एवं संहारके अधिष्ठानभूत श्रीहरि स्वेच्छासे ही कश्यपजीके पुत्ररूपमें प्रकट हुए थे तथा अपनी इच्छाके अनुसार ही वे विभिन्न रूपोंमे अवतीर्ण होते रहते हैं ॥ २५ ॥

प्रादुर्भावं गतो देवो जगतो हितकाम्यया।
माथुरं जगतो नाथः कर्ता हर्ता च केशवः ॥ २६ ॥

'जगत्के संरक्षक, स्रष्टा और संहारक भगवान् केशव जगत्के हितकी कामनासे ही मथुरामे अवतीर्ण हुए हैं ॥२६॥

यथा पललपिण्डः स्याद् व्याप्तः स्नेहेन मानद।
तथा जगदिदं व्याप्तं विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ २७ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले देवेन्द्र ! जैसे मांसपिण्ड स्नेह (चर्बी या चिकनाई) से व्याप्त होता है, उसी प्रकार यह सारा जगत् प्रभावशाली भगवान् विष्णुसे व्याप्त है ॥ २७ ॥

ब्रह्मण्यदेवः सर्वात्मा तैस्तैर्भावैर्विकुर्वति ।
जगत्यतिगुणो देवो वैकुण्ठः सर्वभावनः ॥ २८ ॥

'वे भगवान् ब्राह्मणोंके हितैषी हैं, सबके आत्मा हैं और जगत्में जैसा शरीर धारण करते हैं, उसके अनुसार ही विभिन्न भावों (सुख-दुःखादि धर्मों) द्वारा विकारको प्राप्त होते-से प्रतीत होते हैं। वास्तवमें तो सबकी उत्पत्ति करनेवाले वे भगवान् वैकुण्ठ गुणातीत हैं ॥ २८ ॥

अतः समस्तदेवानां पूज्य एव च केशवः ।
पद्मनाभश्च भगवान् प्रजासर्गकरो विभुः ॥ २९ ॥

'अतः प्रजाकी सृष्टि करनेवाले सर्वव्यापी भगवान् पद्मनाभ-स्वरूप श्रीकृष्ण समस्त देवताओंके लिये भी पूज्य ही हैं ॥२९॥

अनन्तो धारणार्थं च बिभर्ति च महद्यशः ।
यज्ञ इत्यपि सद्भिश्च कथ्यते वेदवादिभिः ॥ ३० ॥

'वे ही पृथ्वीको अपने मस्तकपर धारण करनेके लिये अनन्त (शेषनाग) के रूपमें प्रकट हुए हैं। वे महान् यश धारण करते हैं। वेदवादी साधु पुरुष उन्हींका 'यज्ञ' नामसे भी प्रतिपादन करते हैं ॥ ३० ॥

श्वेतः कृतयुगे देवो रक्तस्त्रेतायुगे तथा ।
द्वापरे च तथा पीतः कृष्णः कलियुगे विभुः ॥ ३१ ॥

'वे सर्वव्यापी भगवान् सत्ययुगमें श्वेत, त्रेतामें रक्त, द्वापरमें पीत तथा कलियुगमें कृष्ण वर्णका स्वरूप धारण करते हैं * ॥ ३१ ॥

* श्रुतिमें कहा है—
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥

इस श्रुतिके साथ उपर्युक्त श्लोककी सङ्गति लगाते हुए आचार्य नीलकण्ठ कहते हैं कि जो अविद्यारूपी निद्रामें सो रहा है अर्थात् जो अत्यन्त मूढ़ पुरुष है, वही कलि है। उसपर अनुग्रह करनेके लिये इस जगत्में भगवान् श्रीहरि कृष्ण होते हैं (अर्थात् श्रीकृष्णका अवतार ग्रहण करते हैं)। जो कुछ-कुछ कल्याणकी बातोंको देखता और समझता है, जो उस अज्ञान-निद्रासे आधा जग गया है, उस पुरुषको द्वापर कहते हैं। उसके लिये भगवान् पीतवर्ण होते हैं अर्थात् सुवर्णके समान मनोहर कान्ति धारण करते हैं। वह मनुष्य उनके उस दिव्यरूपपर आकृष्ट होकर कुछ भक्तिकी ओर उन्मुख होता है। जो कल्याणकी प्राप्तिके लिये सदा सजग रहकर प्रयत्न करता है, वह साधक त्रेता कहलाता है। उसपर अनुग्रह करनेके लिये भगवान् रक्त माताकी भाँति-अनुरक्त (वात्सल्यभावसे युक्त) होते हैं। जो युधिष्ठिर आदिकी भाँति भगवान्का अत्यन्त भक्त है, सदा भक्तिके पथपर ही चलता है, वह कृतकृत्य होनेके कारण कृतयुग अथवा सत्ययुग कहा गया है; उसके प्रति भगवान् शुक्लवर्ण होते हैं अथवा उसके समक्ष वे सदा अपने शुद्ध रूपको ही प्रकाशित करते हैं।

अवधीत् स हिरण्याक्षं दिव्यरूपधरो हरिः ।
दधाराप्सु निमज्जन्तीमेष देवो वसुन्धराम् ॥ ३२ ॥
वाराहं वपुराश्रित्य जगतो हितकाम्यया ।

'उन श्रीहरिने अपने दिव्यरूप धारण करके हिरण्याक्ष नामक दैत्यका वध किया था। उन्होंने जगत्के हितकी कामनासे वाराहरूप धारण करके जलमें डूबती हुई पृथ्वीका उद्धार एवं जलके ऊपर इसका संस्थापन किया था ॥ ३२½ ॥

जघ्ने हिरण्यकशिपुं नारसिंहवपुर्हरिः ॥ ३३ ॥
जिगाय जगतीं चैव विष्णुर्वामनरूपधृक् ।
बबन्ध च बलिं देवः श्रीमान् पन्नगबन्धनैः ॥ ३४ ॥

'उन्हीं श्रीहरिने नरसिंह रूप धारण करके हिरण्यकशिपुका संहार किया था और उन्हीं वामनरूपधारी श्रीमान् भगवान् विष्णुने इस पृथ्वीको जीता और बलिको नागपाशमें बाँध लिया ॥ ३३-३४ ॥

देवदानवसम्भूतानाक्रामयदपि श्रियम् ।
त्वय्यनन्तः पुरा विष्णुरुदारोऽमितविक्रमः ॥ ३५ ॥

'यद्यपि देवताओं और दानवोंके सम्मिलित प्रयत्नसे प्रकट हुई राजलक्ष्मी दोनोंके लिये साधारण थी, तो भी पूर्वकालमें अमितपराक्रमी, उदार हृदय, अनन्तस्वरूप भगवान् विष्णुने तुम्हारे लिये उसपर आक्रमण किया अर्थात् विराटरूपसे तीनों लोकोंको आक्रान्त करके त्रिलोकलक्ष्मी तुम्हें समर्पित कर दी ॥ ३५ ॥

सावशेषं तपो यस्य तन्निहन्ति जनार्दनः ।
अलीकेष्वपि वर्तन्तं व्रतमेतन्महात्मनः ॥ ३६ ॥

'जिसकी तपस्या शेष है, वह भी यदि अलीक—मायामय अर्थात् छल-कपट एवं अन्यायपूर्ण बर्ताव करता है तो भगवान् श्रीकृष्ण उसे मार डालते हैं; क्योंकि दुराचारियोंका यह विनाश इन महात्मा श्रीकृष्णका व्रत है ॥ ३६ ॥

जघ्ने च दानवान् मुख्यान् देवानां ये च शत्रवः ।
तव प्रियार्थं गोविन्दो धर्मनित्यः सतां गतिः ॥ ३७ ॥

'सदा धर्मकी रक्षामें तत्पर रहनेवाले सत्पुरुषोंके आश्रय-भूत भगवान् गोविन्दने तुम्हारा प्रिय करनेके लिये मुख्य-मुख्य दानवोंका तथा जो लोग देवताओंके शत्रु हुए हैं, उनका भी वध कर डाला है ॥ ३७ ॥

रामत्वमपि चावाप्य जघ्ने रावणमात्मवान् ।
भूत्वा कामगुणांश्चैव जघान द्विरदं हरिः ॥ ३८ ॥

'इन मनस्वी प्रभुने ही श्रीरामचन्द्रका रूप धारण करके रावणको मारा था तथा दूसरे-दूसरे अवतार धारण करके इन श्रीहरिने इच्छानुसार शौर्य आदि गुणोंसे युक्त असुरोंका उसी तरह संहार कर डाला था, जैसे सिंह हाथीको नष्ट कर देता है ॥ ३८ ॥

हिताय जगतोऽद्यापि लोके वसति मानुषे।
उपेन्द्रो जगतां नाथः सर्वभूतोत्तमोत्तमः ॥ ३९ ॥

'समस्त भूतोंमें जो उत्तम हैं, उनसे भी उत्तम वे जगदीश्वर उपेन्द्र इस समय भी जगत्के हितके लिये मनुष्यके रूपमें निवास करते हैं ॥ ३९ ॥

जटी कृष्णाजिनी दण्डी दृष्टपूर्वो मया हरिः।
दैतेयेषु चरन् देवस्तृणेष्वग्निरिवोद्धतः ॥ ४० ॥

'जैसे तिनकोंमें प्रज्वलित हुई आग फैल रही हो, उसी प्रकार मैंने पूर्वकालमें दैत्य-समूहोंके बीच श्रीहरिको जटा, काला मृगचर्म एवं पलाश-दण्ड धारण किये वामन ब्रह्मचारीके रूपमें विचरते देखा है ॥ ४० ॥

अद्राक्षमपि गोविन्दं दानवैकार्णवं जगत्।
कुर्वाणं दानवैर्हीनं जगतो हितकाम्यया ॥ ४१ ॥

'जब सारा संसार दानवरूपी एकार्णवमें मग्न था, उस समय भी जगत्के हितकी कामनासे इस विश्वको दानवहीन करते हुए श्रीगोविन्दका मैंने दर्शन किया है ॥ ४१ ॥

अवश्यं पारिजातं ते नयिष्यति जनार्दनः।
द्वारकाममरश्रेष्ठ नानृतं च ब्रवीम्यहम् ॥ ४२ ॥

'अमरश्रेष्ठ ! मैं झूठ नहीं बोलता हूँ, जनार्दन श्रीकृष्ण तुम्हारे इस पारिजातको अवश्य द्वारकापुरीमें ले जायँगे।'

भ्रातृस्नेहाभिभूतस्त्वं न कृष्णे प्रहरिष्यसि।
नापि कृष्णस्त्वयि ज्येष्ठे प्रहरिष्यति वासव ॥ ४३ ॥

'वासव ! तुम भ्रातृ-स्नेहसे अभिभूत होकर श्रीकृष्णपर प्रहार नहीं करोगे और श्रीकृष्ण भी तुमपर बड़े भाईके नाते प्रहार नहीं करेंगे ॥ ४३ ॥

नैव चेच्छ्रोष्यति प्रोक्तं मया देव कथञ्चन।
पृच्छ त्वं नयधर्मज्ञान् ये हितास्तव मन्त्रिणः ॥ ४४ ॥

'देव ! यदि मेरी कही हुई बात तुम किसी तरह नहीं सुनोगे तो नीति-धर्मके जाननेवाले जो तुम्हारे हितैषी मन्त्री हों, उनसे जाकर पूछो' ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच

नारदेनैवमुक्तस्तु महेन्द्रो जनमेजय।
इदमुत्तरमीशोऽथ प्रत्युवाच जगद्गुरुम् ॥ ४५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नारदजीके ऐसा कहनेपर देवेश्वर इन्द्रने उन जगद्गुरु मुनिको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ४५ ॥

एवंविधप्रभावं त्वं कृष्णं वदसि यद् द्विज।
एवमेतत् सुबहुशः श्रुतं खलु मया मुने ॥ ४६ ॥

'ब्रह्मन् ! आप श्रीकृष्णको जो ऐसे प्रभावशाली बता रहे हैं, वह ठीक है। मुने ! उनके ऐसे प्रभावकी चर्चा मैंने बहुत बार सुनी है ॥ ४६ ॥

यतश्चैवंविधः कृष्णस्ततोऽहं तस्य वै तरुम्।
न प्रदास्यामि दातव्यं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ४७ ॥

'जब श्रीकृष्ण ऐसे महान् हैं, तब मैं सत्पुरुषोंके धर्मका स्मरण करते हुए निश्चय ही उन्हें देने योग्य होनेपर भी पारिजात वृक्ष नहीं दूँगा ॥ ४७ ॥

महाप्रभावो नाल्पार्थे रुष्येदिति विचिन्तयन्।
व्यवस्थितोऽहं भद्रं ते मुने सर्वगुणादिति ॥ ४८ ॥

'मुने ! आपका कल्याण हो। जो महान् प्रभावशाली पुरुष हैं, वे इस छोटी-सी वस्तुके लिये मुझपर रुष्ट नहीं होंगे, ऐसा सोचकर उन सर्वगुणसम्पन्न श्रीकृष्णसे निर्भय होकर स्थित हूँ ॥ ४८ ॥

महाप्रभावाः सततं भवन्ति हि सहिष्णवः।
श्रोतारश्चैव सततं वृद्धानां ज्ञानचक्षुषाम् ॥ ४९ ॥

'महान् प्रभावशाली महापुरुष सदा सहिष्णु होते हैं और ज्ञानदृष्टि रखनेवाले बड़े-बूढ़ोंकी बातें सुनते हैं ॥ ४९ ॥

महात्मा कारणे नाल्पे कृष्णो धर्मभृतां वरः।
भ्रात्रा ज्येष्ठेन सर्वज्ञो विरोधं गन्तुमर्हति ॥ ५० ॥

'धर्मात्माओंमे श्रेष्ठ सर्वज्ञ महात्मा श्रीकृष्ण इस छोटे-से कारणपर अपने बड़े भाईके साथ विरोध नहीं करेंगे ॥ ५० ॥

यथैवं मम मातुः स वरं प्रादादधोक्षजः।
तथैव तस्याः पुत्राणां ज्येष्ठानां सोढुमर्हति ॥ ५१ ॥

'जैसे अधोक्षज भगवान् विष्णुने मेरी माताको इस प्रकार वरदान दिया है, वैसे ही उन्हें उसके ज्येष्ठ पुत्रोंके अपराधको भी सहन करना चाहिये ॥ ५१ ॥

यथैवोपेन्द्रतां यातः स्वयमिच्छञ्जनार्दनः।
तथैव भ्रातुरिन्द्रस्य सम्मानं कर्तुमर्हति ॥ ५२ ॥

'जैसे स्वयं अपनी ही इच्छासे भगवान् विष्णु उपेन्द्रभावको प्राप्त हुए (मेरे छोटे भाईके रूपमे अवतीर्ण हुए), उसी प्रकार उन्हे अपने बड़े भाई मुझ इन्द्रका सम्मान भी करना चाहिये ॥ ५२ ॥

ज्यैष्ठ्यमेतेन देवेन नारब्धं किं पुरातने।
अथेदानीमपीच्छेत् स ज्येष्ठोऽस्तु मधुसूदनः ॥ ५३ ॥

'क्या पूर्वकालमें (वामन-अवतारके समय) इन विष्णुदेवने मेरी ज्येष्ठता नहीं स्वीकार की थी, उसी तरह इस समय भी यदि मधुसूदन चाहें तो स्वयं ही ज्येष्ठ हो जायँ' ॥ ५३ ॥

सुनिश्चितं बलरिपुमीक्ष्य नारदो
विसर्जितस्त्रिदशवरेण धर्मभृत्।
ययौ पुरीं यदुनृपभाभिरक्षितां
कुशस्थलीं धृतिमतिमांस्तपोधनः ॥ ५४ ॥

धृति और बुद्धिसे युक्त धर्मात्मा तपोधन नारद बल विनाशन इन्द्रको अपने निश्चयपर अटल देख उन देवेश्वरसे विदा ले यदुपति श्रीकृष्णसे सुरक्षित कुशस्थली (द्वारका) पुरीको चले गये ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे नारदस्य स्वर्गात्पुनरागमने एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणके प्रसंगमें नारदजीका स्वर्गलोकसे पुनरागमनविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका नारदजीको अमरावतीपर आक्रमण करनेका निश्चय बताकर इन्द्रके पास संदेश भेजना, इन्द्र और बृहस्पतिकी बातचीत, बृहस्पतिका कश्यपजीको यह समाचार बताना और कश्यपजीका युद्धकी शान्तिके लिये भगवान् शंकरकी स्तुति करना

वैशम्पायन उवाच

अथैत्य द्वारकां रम्यां नारदो मुनिसत्तमः।
ददर्श पुरुषश्रेष्ठं नारायणमरिंदमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर रमणीय द्वारकापुरीमें जाकर मुनिवर नारदने शत्रुओंका दमन करनेवाले पुरुषप्रवर नारायण (भगवान् श्रीकृष्ण) का दर्शन किया ॥ १ ॥

स्ववेश्मनि सुखासीनं सहितं सत्यभामया।
विराजमानं वपुषा सर्वतेजोऽतिगामिना ॥ २ ॥

वे अपने भवनमें सत्यभामाके साथ सुखपूर्वक बैठे थे और सम्पूर्ण तेजोंका अतिक्रमण करनेवाले अपने दिव्य विग्रहसे विराजमान हो रहे थे ॥ २ ॥

तमेवार्थं महात्मानं चिन्तयन्तं दृढव्रतम्।
केवलं योजयन्तं च वाक्यमात्रेण भाविनीम् ॥ ३ ॥

दृढतापूर्वक अपने व्रतका पालन करनेवाले महात्मा श्रीकृष्ण उसी (पारिजात) के विषयमें सोच रहे थे और भामिनी सत्यभामाको केवल वाणीमात्रसे सान्त्वना दे रहे थे ॥

दृष्ट्वैव नारदं देवः प्रत्युत्थाय अधोक्षजः।
पूजयामास च तथा विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ४ ॥

नारदजीको देखते ही भगवान् अधोक्षज उठकर खड़े हो गये तथा उन्होंने शास्त्रोक्त विधिसे उनका पूजन किया ॥

सुखोपविष्टं विश्रान्तं प्रहस्य मधुसूदनः।
वृत्तान्तं परिपप्रच्छ पारिजाततरुं प्रति ॥ ५ ॥

जब वे सुखपूर्वक आसनपर बैठ गये और विश्राम कर चुके; तब मधुसूदन श्रीकृष्णने हँसकर उनसे पारिजात-वृक्षके विषयमें समाचार पूछा ॥ ५ ॥

अथाचष्ट मुनिः सर्वं विस्तरेण तपोधनः।
इन्द्रानुजायेन्द्रवाक्यं निखिलं जनमेजय ॥ ६ ॥

जनमेजय ! तब तपोधन मुनि नारदजीने सारा समाचार विस्तारपूर्वक बतलाया और इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णके लिये इन्द्रकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं ॥ ६ ॥

श्रुत्वा कृष्णस्तु तत् सर्वं नारदं वाक्यमब्रवीत्।
अमरावतीं पुरीं यास्ये श्वोऽहं धर्मभृतां वर ॥ ७ ॥

यह सब सुनकर श्रीकृष्णने नारदजीसे कहा—'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ मुनीश्वर ! मैं कल अमरावतीपुरीकी यात्रा करूँगा' ॥ ७ ॥

इत्युक्त्वा नारदेनैव सहितः सागरं ययौ।
संदिदेश ततस्तत्र विविक्ते नारदं हरिः ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर श्रीहरि नारदजीके साथ ही समुद्र-तटपर गये और वहाँ एकान्तमें उन्होंने उन देवर्षिको यह संदेश दिया— ॥ ८ ॥

महेन्द्रभवनं गत्वा अद्य ब्रूहि तपोधन।
अभिवाद्य महात्मानं मद्वाक्यममरोत्तमम् ॥ ९ ॥
न युद्धे प्रमुखे शक्र स्थातुमर्हसि मे प्रभो।
पारिजातस्य नयने निश्चितं त्वमवेहि माम् ॥ १० ॥

'तपोधन ! आप आज ही इन्द्र-भवनमें जाकर मेरी ओरसे अमरश्रेष्ठ महात्मा इन्द्रको प्रणाम करके उनसे मेरी यह बात बता दीजिये कि इन्द्र ! प्रभो ! आप युद्धमें मेरे सामने नहीं ठहर सकेंगे। आपको यह ज्ञात हो जाना चाहिये कि मैं पारिजातको वहाँसे ले आनेका दृढ़ निश्चय कर चुका हूँ' ॥

एवमुक्तस्तु कृष्णेन नारदस्त्रिदिवं गतः।
आचचक्षेऽथ कृष्णोक्तं देवेन्द्रस्यामितौजसः ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर नारदजी स्वर्गलोकको चले गये। वहाँ उन्होंने अमिततेजस्वी देवराज इन्द्रको श्रीकृष्णकी कही हुई सारी बात बता दी ॥ ११ ॥

ततो बृहस्पतेः शक्रः शशंस बलनाशनः।
श्रुत्वा बृहस्पतिर्देवमुवाच कुरुनन्दन ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! तब बलासुरका विनाश करनेवाले इन्द्रने बृहस्पतिसे यह सब प्रसंग कह सुनाया। उसे सुनकर बृहस्पतिने देवेन्द्रसे कहा—॥ १२ ॥

अहो धिग् ब्रह्मसदनं मयि याते शतक्रतो।
दुर्नीतमिदमारब्धमत्र भेदो हि दारुणः ॥ १३ ॥

'अहो, धिक्कार है ! शतक्रतो ! मैं वहाँसे ब्रह्मलोकको चला गया था। इसी बीचमें तुमने यह दुर्नीति आरम्भ कर दी; क्योंकि तुम्हारे इस बर्तावके कारण यहाँ भयंकर भेद (कलह) का अवसर उपस्थित हो गया है ॥ १३ ॥

अनाख्यात्वा कथं नाम भवता भुवनेश्वर।
ममैतत् कृत्यमारब्धं देव केनापि हेतुना ॥ १४ ॥

'भुवनेश्वर ! देव ! क्या कारण था कि तुमने मुझसे बताये बिना ही यह दुष्कृत्य आरम्भ कर दिया ॥ १४ ॥

अथवा भवितव्येन कर्मजेन प्रयुज्यते।
जगद् वृत्रघ्न न विधिः शक्यः समतिवर्तितुम् ॥ १५ ॥

'अथवा वृत्रासुर-विनाशन इन्द्र ! यह सम्पूर्ण जगत् भावी कर्मफलसे प्रेरित होता रहता है। विधिके विधानका उल्लङ्घन करना असम्भव है ॥ १५ ॥

सहसैव तु कार्याणामारम्भो न प्रशस्यते।
तदेतत् सहसाऽऽरब्धं कार्यं दास्यति लाघवम् ॥ १६ ॥

'सहसा किया हुआ कार्योंका आरम्भ अच्छा नहीं माना गया है। तुमने जो सहसा यह कार्य आरम्भ कर दिया है, यह अवश्य तुम्हें लघुता (पराजय) प्रदान करेगा' ॥ १६ ॥

बृहस्पतिं महात्मानं महेन्द्रस्त्वब्रवीद् वचः।
एवं गतेऽद्य यत् कार्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १७ ॥

तब महेन्द्रने महात्मा बृहस्पतिसे कहा—'गुरुदेव ! ऐसी परिस्थितिमें आज जो मेरा कर्तव्य हो, उसे आप बतानेकी कृपा करें' ॥ १७ ॥

तमुवाचाथ धर्मात्मा गतानागततत्त्ववित्।
अधोमुखश्चिन्तयित्वा बृहस्पतिरुदारधीः ॥ १८ ॥

यह सुनकर भूत और भविष्यके तत्त्वको जाननेवाले उदारबुद्धि धर्मात्मा बृहस्पतिने नीचे मुँह करके कुछ देरतक सोच-विचारकर उनसे कहा—॥ १८ ॥

यतस्व सह पुत्रेण योधयस्व जनार्दनम्।
तथा शक्र करिष्यामि यथा न्याय्यं भविष्यति ॥ १९ ॥

'देवेन्द्र ! अब तुम अपने पुत्र जयन्तके साथ युद्धभूमिमें उपस्थित हो श्रीकृष्णके साथ युद्ध और उसमें विजय पानेका प्रयत्न करो। तबतक मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे न्यायसंगत परिणाम प्रकट होगा' ॥ १९ ॥

बृहस्पतिस्त्वेवमुक्त्वा क्षीरोदं सागरं गतः।
आचष्ट मुनये सर्वं कश्यपाय महात्मने ॥ २० ॥

ऐसा कहकर बृहस्पतिजी क्षीरसागरके तटपर गये। वहाँ उन्होंने महात्मा कश्यप मुनिसे सब बातें कह सुनायीं ॥ २० ॥

तच्छ्रुत्वा कश्यपः क्रुद्धो बृहस्पतिमभाषत।
अवश्यं भाव्यमेतद् भोः सर्वथा नात्र संशयः ॥ २१ ॥

वह सुनकर कश्यपजीने कुपित हो बृहस्पतिजीसे कहा—'अजी, यह युद्ध अवश्य होगा। सर्वथा होकर रहेगा—इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

इच्छतः सदृशीं भार्यां महर्षेर्देवशर्मणः।
अपध्यानकृतो दोषः पतत्येष शतक्रतोः ॥ २२ ॥

'महर्षि देवशर्माकी पत्नी रुचि सर्वथा उन्हींके समान शुद्ध आचार-विचारवाली थी; परंतु इन्द्रने उसे प्राप्त करनेकी इच्छा की। इससे मुनिने इन्द्रका अनिष्ट-चिन्तन किया। वही यह दोष इस समय इन्द्रपर पड़ रहा है* ॥ २२ ॥

तस्य दोषस्य शान्त्यर्थमारब्धश्च मुने मया।
उदवासः स दोषश्च प्राप्त एव सुदारुणः ॥ २३ ॥

'मुने ! उस दोषकी शान्तिके लिये ही मैंने यह जलवास-रूप तप आरम्भ किया था तथापि वह अत्यन्त दारुण दोष प्राप्त हो ही गया ॥ २३ ॥

तद् गमिष्यामि मध्येऽस्य सहादित्या तपोधन।
उभौ तौ वारयिष्यामि दैवं संवदते यदि ॥ २४ ॥

'तपोधन ! अतः अब मैं अदितिके साथ इस युद्धके अवसरपर मध्यस्थ होकर जाऊँगा और यदि दैव अनुकूल रहा तो दोनोंको युद्धसे रोकूँगा' ॥ २४ ॥

बृहस्पतिस्तु धर्मात्मा मारीचमिदमब्रवीत्।
प्राप्तकालं त्वया तत्र भवितव्यं तपोधन ॥ २५ ॥

तब धर्मात्मा बृहस्पतिने मरीचिनन्दन कश्यपसे इस प्रकार कहा—'तपोधन ! अब युद्धका अवसर प्राप्त हो गया। अतः आपको वहाँ अवश्य उपस्थित होना चाहिये' ॥ २५ ॥

तथेति कश्यपश्चोक्त्वा सम्प्रस्थाप्य बृहस्पतिम्।
जगामार्चयितुं देवं रुद्रं भूतगणेश्वरम् ॥ २६ ॥

कश्यपजीने 'बहुत अच्छा' कहकर बृहस्पतिको वहाँसे भेज दिया और स्वयं वे भूतगणोंके स्वामी रुद्रदेवकी आराधना करनेके लिये चले गये ॥ २६ ॥

तत्र सौम्यं महात्मानमानर्च वृषभध्वजम्।
वरार्थी कश्यपो धीमानदित्या सहितः प्रभुः ॥ २७ ॥

वहाँ अदितिके साथ बुद्धिमान् भगवान् कश्यपने वर-प्राप्तिकी इच्छा रखकर सौम्यरूपधारी परमात्मा वृषभध्वज शिवकी पूजा की ॥ २७ ॥

* यह प्रसङ्ग महाभारत अनुशासनपर्वके चालीसवें अध्यायमें देख लेना चाहिये।

तुष्टाव च तमीशानं मारीचः कश्यपस्तदा।
वेदोक्तैः स्वकृतैश्चैव स्तवैः स्तुत्यं जगद्गुरुम् ॥ २८ ॥

उस समय मरीचिनन्दन कश्यपने स्तुति करनेके योग्य जगद्गुरु भगवान् शंकरका वेदोक्त मन्त्रों तथा स्वरचित स्तोत्रोंद्वारा स्तवन किया ॥ २८ ॥

कश्यप उवाच

उरुक्रमं विश्वकर्माणमीशं
जगत्स्रष्टारं धर्मदृश्यं वरेशम्।
सं सर्वं त्वां धृतिमद्धाम दिव्यं
विश्वेश्वरं भगवन्तं नमस्ये ॥ २९ ॥

कश्यपजी बोले—जो विष्णुरूपसे वामन-अवतारके समय महान् पग बढ़ाकर त्रिलोकीको नाप लेनेमें समर्थ हुए हैं, यह सम्पूर्ण विश्व जिनका कर्म है, जो सबके ईश्वर हैं, जगत्‌की सृष्टि करनेवाले हैं, धर्मके द्वारा जिनका साक्षात्कार होता है, जो अभीष्ट मनोरथोंके स्वामी तथा उनकी पूर्ति करनेवाले हैं, जो सर्वस्वरूप, सात्त्विकी धृतिवाले योगियोंके जो ये चिन्मय धामस्वरूप हैं, उन दिव्यस्वरूप आप भगवान् विश्वेश्वरको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २९ ॥

यो देवानामधिपः पापहर्ता
ततं विश्वं येन जगन्मयत्वात्।
आपो गर्भं यस्य शुभा धरिड्यो
विश्वेश्वरं तं शरणं प्रपद्ये ॥ ३० ॥

जो देवताओंके अधिपति और पापहर्ता हैं, जो जगत्-स्वरूप होनेके कारण सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हैं, शुभ जल (जलात्मक वीर्यसे प्रकट होनेवाले शरीर) जिनके गर्भ (अंशभूत चैतन्य) को धारण करते हैं, उन भगवान् विश्वेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ३० ॥

शालावृकान् यो यतिरूपो निजघ्ने
दत्तानिन्द्रेण प्रणुदो हितानाम्।
विरूपाक्षं सुदर्शनं पुण्ययोनिं
विश्वेश्वरं शरणं यामि मूर्ध्ना ॥ ३१ ॥

जिन्होंने यतिरूप होकर—जितेन्द्रिय बनकर इन्द्रके भेजे हुए इन्द्रियरूपी भेड़ियोंको, जो शम-दम आदि हितैषी मित्रों-को दबा देनेवाले हैं, नष्ट कर दिया, जिनके नेत्र विरूप हैं, जो देखनेमें बड़े सुन्दर तथा पुण्यकी योनि हैं, उन भगवान् विश्वेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ और उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ ॥ ३१ ॥

भुङ्क्ते य एको विभुर्जगतो विश्वमग्र्यं
धाम्नां धाम सुकृतित्वान्न धृष्यः।
पुष्यात् स मां महसा शाश्वतेन
सोमपानां मरीचिपानां वरिष्ठः ॥ ३२ ॥

जो एकमात्र इस जगत्‌के स्वामी हैं तथा श्रेष्ठ विश्वका पालन करते (अथवा इसे अपने उपभोगमें लाते) हैं, जो धाम (नेत्र एवं सूर्य आदि) के भी धाम (आश्रय अथवा प्रकाश) हैं तथा सुकृति (पुण्यरूप अथवा सुकृतनामधारी ब्रह्मरूप) होनेके कारण सबके लिये अजेय हैं, सोमपान करनेवाले कर्मठों और चन्द्ररश्मियोंका पान करनेवाले महा-मुनियोंमें जिनका सबसे ऊँचा और गौरवपूर्ण स्थान है, वे भगवान् विश्वेश्वर अपने सनातन तेजसे मेरा पोषण करें ॥

अथर्वाणं सुशिरसं भूतयोनिं
कृतिनं वीरं दानवानां च बाधम्।
यज्ञे हुतिं यज्ञियं संस्कृतं वै
विश्वेश्वरं शरणं यामि देवम् ॥ ३३ ॥

जिनका अथर्ववेदके द्वारा प्रतिपादन किया गया है, जिनके पञ्चकोशरूप पाँच सुन्दर मस्तक हैं, जो सम्पूर्ण भूतोंकी योनि अर्थात् समस्त जगत्‌के कारण हैं, जो विद्वान्, वीर तथा दानवोंके बाधक हैं, यज्ञमें जिनके लिये आहुति दी जाती है, यज्ञसम्बन्धी संस्कारयुक्त हविष्य जिनका स्वरूप है, उन विश्वेश्वरदेवकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ३३ ॥

जगज्जालं विततं यत्र विश्वं
विश्वात्मानं प्रीतिदेवं गतानाम्।
य ऊर्ध्वगं रथमास्थाय याति
विश्वेश्वरः स सुमना मेऽस्तु नित्यम् ॥ ३४ ॥

जिनके ऊपर यह सारा जगत्‌रूपी इन्द्रजाल फैला हुआ है, जो सम्पूर्ण विश्वके आत्मा हैं, शरणागतोंके लिये प्रीति एवं सुखको प्रकाशित करनेवाले हैं तथा जो ऊर्ध्वगामी (आकाशचारी) रथपर आरूढ़ हो यात्रा करते हैं, वे भगवान् विश्वेश्वर मुझपर सदा प्रसन्नचित्त रहें ॥ ३४ ॥

अन्तश्चरं रोचनं चारुशाखं
महाबलं धर्मनेतारमीड्यम्।
सहस्रनेत्रं शतवर्त्मानमुग्रं
महादेवं विश्वसृजं नमस्ये ॥ ३५ ॥

जो अन्तर्यामी आत्मारूपसे सबके भीतर विचरते हैं, प्रकाशमान (चिन्मय) हैं, वेदमयी मनोहर शाखाएँ जिनसे प्रकट हुई हैं, जो महान् बलशाली, धर्मके प्रवर्तक तथा स्तवन करने योग्य हैं। जिनके सहस्रों नेत्र हैं और जिन्हें पानेके लिये सैकड़ों मार्ग हैं (अथवा जो शतपथविहित कर्मफलके दाता हैं) उन उग्रस्वरूप विश्वस्रष्टा महादेवजीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३५ ॥

१. 'तस्मात्तत् सुकृतमुच्यते।' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्मका नाम 'सुकृत' है।

शुचिं योगं शंसनं शान्तपापं
शर्वं शम्भुं शंकरं भूतनाथम्।
धुरंधरं गोपतिं चन्द्रचिह्नं
हृषीकाणामयनं यामि मूर्ध्ना॥ ३६॥

जो शुचि (पवित्र एवं असङ्ग), योगसे प्राप्त होनेवाले, विभिन्न योगोंके प्रतिपादक, पापशून्य, संहारक, सुखके उत्पत्तिस्थान, कल्याणकारी और सम्पूर्ण भूतोंके अधिपति हैं, जो अकेले ही सम्पूर्ण विश्वका भार वहन करते हैं, इन्द्रियोंके नियन्ता हैं तथा चन्द्रमाको चिह्नके रूपमें अपने मस्तकपर धारण करते हैं, ज्ञानेन्द्रियोंके आश्रयरूप उन भगवान् शिवको मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम करता और उनकी शरणमें जाता हूँ॥ ३६॥

आशुःशिशानं वृषभं रोरुवाणं
कृतं धर्मं वितथं चाशुशेषम्।
वसुंधरं समृजीकं समं त्वां
धृतव्रतं शूलधरं प्रपद्ये॥ ३७॥

जो शीघ्र फल देनेवाला, राग आदि दोषोंको शान्त करनेवाला, अभीष्ट मनोरथोंका वर्षक (पूरक), प्रातः सवन आदिके क्रमसे शब्दायमान और अनुष्ठानमें लाया हुआ जो यज्ञादिरूप धर्म है, वह यदि सकामभावसे किया जाय तो नश्वर फल देनेके कारण व्यर्थ हो जाता है और फलभोगके द्वारा उसकी शीघ्र ही समाप्ति हो जाती है; किंतु वही धर्म यदि निष्काम भावसे किया जाय तो वह आत्मशुद्धि-सम्पादनके साथ ही पुण्यरूपी धनको सुस्थिर रखनेवाला होता है—यह दोनों प्रकारका धर्म आपका ही स्वरूप है। आप सभी अवस्थाओंमें सम हैं। उत्तम व्रतको धारण करनेवाले आप त्रिशूलधारी रुद्रदेवकी मैं शरण लेता हूँ॥ ३७॥

अनन्तवीर्यं धृतकर्माणमाद्यं
यज्ञाशेषं यजतां चाभियाज्यम्।
हविर्भुजं भुवनानां सदैव
ज्येष्ठं द्विजं धर्मभृतां प्रपद्ये॥ ३८॥

आपके बल-पराक्रमका कहीं अन्त नहीं है, आप ही समस्त कर्मोंको धारण करनेवाले आधार हैं अर्थात् आप ही समस्त कर्मों और उनके फलोंके साक्षी हैं। अन्य देवताओंकी भाँति आप यज्ञके अङ्ग नहीं हैं। आप ही सबके आदि कारण हैं। यजमान अपने यज्ञोंद्वारा जिन यज्ञपुरुषकी आराधना करते हैं, उनके वे आराध्यदेव आप ही हैं। आप ही सदा समस्त जगत्के हविष्यभोक्ता अग्निरूप हैं और आप ही धर्मात्माओंमें ज्येष्ठ द्विज (ब्राह्मण) हैं, मैं आपकी शरण लेता हूँ॥ ३८॥

परं गुणेभ्यः पृश्निगर्भस्वरूपं
यशः शृङ्गं व्यूहनं कान्तरूपम्।
शुद्धात्मानं पुरुषं सत्यधामं
सम्मोहनं दुष्कृतिनां नमस्ये॥ ३९॥

आप गुणोंसे परे तथा विष्णुस्वरूप हैं। आप यशके समान व्यापक हैं। सारे प्रपञ्चको व्याप्त करके भी सींगके समान उससे ऊपर उठे हुए हैं। आप ही समस्त प्राणियोंके अङ्ग-प्रत्यङ्गको सुगठित करनेवाले हैं। आपका रूप अत्यन्त कमनीय (मनोहर) है। आप विशुद्ध आत्मस्वरूप अन्तर्यामी तथा सत्यधाम (अबाधित चैतन्यस्वरूप अथवा वैकुण्ठादि नित्यधामस्वरूप) हैं। आप दुराचारियोंको मोह (महान् दुःख) मे डालनेवाले हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।३९।

युक्तोङ्कारं स्वशिरसं चारुकर्म
दृढव्रतं दृढधन्वानमाजम्।
शूरं वेत्तारं धनुषोऽस्त्रातिरेकं
पतिं पशूनां शमनं नमस्ये॥ ४०॥

आप योगियोंके लिये प्रणवरूप हैं। अपने स्वरूपभूत ओंकारके सिर अर्थात् उसकी अर्द्धमात्रा आप ही हैं। आपका कर्म हिंसाशून्य होनेके कारण बड़ा ही मनोहर है। आप दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले हैं। आपका धनुष अत्यन्त सुदृढ़ है। आप बाणोंको दूरतक फेंकनेवाले, शूरवीर, धनुर्वेदके ज्ञाता और अस्त्र-विज्ञानमें सबसे बढ़े-चढ़े हैं। समस्त पशुओं (जीवों) के पति (पालक) तथा जगत्का संहार करनेवाले आप भगवान् शंकरको मैं नमस्कार करता हूँ॥ ४०॥

एको रातिश्चैव भूतं भविष्यं
सर्वातिथिर्यो हि जुषत्यरिघ्नः।
अरिंतुदोऽनुत्तमः संविभागी
विभाजको मां भगवान् पातु देवः॥ ४१॥

जो सबके एकमात्र मित्र हैं, भूत और भविष्य जिनका ही स्वरूप है, जो सबके अतिथि (अग्नि) रूपसे हविष्यका सेवन करते हैं, काम आदि शत्रुओंका नाश करनेवाले हैं तथा शत्रुभाव रखनेवाले राक्षसोंको पीड़ा देते हैं, जिनसे उत्तम दूसरा कोई नहीं है, जो यज्ञमें भाग पाते और स्वयं भी भागोंका विभाजन करते हैं, वे भगवान् महादेव मेरी रक्षा करें॥ ४१॥

य एको याति जगतां विश्वमीशो
य एकोऽदान्मरुतां प्राणमग्र्यम्।
येनानृशंस्याच्छाश्वतं साम जुष्टं
स मां जुष्यात् सुकृतिश्रेयसेऽद्य॥ ४२॥

जो जगदीश्वर एक होकर भी सम्पूर्ण विश्वमें प्रविष्ट हैं तथा जिन अद्वितीय परमात्माने प्राणस्वरूप मरुद्गणोंको भी उत्तम प्राण प्रदान किया है अर्थात् जो प्राणके भी प्राण हैं, जिन्होंने दयालु होनेके कारण सबके साथ सनातन मैत्री जोड़

रक्खी है, वे भगवान् शिव आज उत्तम कार्य और कल्याणके लिये मुझपर कृपादृष्टि करें ॥ ४२ ॥

ब्रह्मासृजद् यो भुवनोत्तमोत्तमं
तस्मो विद्वान् ब्राह्मणः षड्गुणस्य ।
सृष्ट्वा रसं व्याहृतिस्थं समग्रं
स मां पायादिह बहुरूपोऽरिहाङ्गैः॥ ४३ ॥

जिन्होंने ब्रह्मा होकर समस्त भुवनोंमें उत्तमोत्तम दिव्यलोककी रचना की है, जो विद्वान् ब्रह्मवेत्ता होनेके कारण छः गुणों (ऐश्वर्य, ज्ञान, यश, श्री, वैराग्य और धर्म) से परिपूर्ण हैं, व्याहृतियोंमें स्थित रस तथा उसकी तीन मात्राओंसे उपलक्षित समस्त प्रपञ्चकी सृष्टि करके जो इसके भीतर व्याप्त हैं, वे अनेक रूपधारी, कामादि शत्रुके नाशक, अपने अङ्गोंद्वारा मेरी रक्षा करें ॥ ४३ ॥

व्यञ्जनोऽजनोऽथ विद्वान् समग्रः
स्पृशिः शम्भुः प्राणदः कृत्तिवासाः ।
रसो ध्रुवः पवमानस्य भर्ता
सपत्नीशः शङ्करः सारधाता ॥ ४४ ॥

जो अतीन्द्रिय विषयोंका भी ज्ञान करानेवाले, अजन्मा, विद्वान् तथा सर्वस्वरूप हैं, व्यापक होनेके कारण जो सबका स्पर्श करनेवाले, कल्याणकारी तथा प्राणदाता हैं, जो अपने शरीरपर वस्त्रके स्थानमें गजचर्म धारण करते हैं, ध्रुव रस—अक्षय परमानन्द जिनका स्वरूप है, जो वायुके भी भरण-पोषण करनेवाले हैं, पत्नी और पति (यजमान और उसकी पत्नी)के साथ रहकर अर्थात् आत्मारूपसे उनके प्रेरक होकर यज्ञादि कर्मोंका सम्पादन करते हैं तथा सार तत्त्वको धारण करनेवाले हैं, वे भगवान् शंकर मेरी रक्षा करें ॥ ४४ ॥

त्र्यम्बकं पुष्टिदं विब्रुवाणं
धर्मं विप्राणां वरदं यज्वनां च ।
वराद् वरं रणजेतारमीशं
देवं देवानां शरणं यामि रुद्रम् ॥ ४५ ॥

जो त्रिनेत्रधारी तथा सबको पुष्टि प्रदान करनेवाले हैं, विप्रों—विद्वानोंको भी धर्मका उपदेश करते हैं और यज्ञ करनेवाले यजमानोंको अभीष्ट वर देते हैं, जो श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ, संग्रामविजयी, ईश्वर तथा देवताओंके भी देवता हैं, उन भगवान् रुद्रकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ४५ ॥

आस्यं देवानामन्तकं दुष्कृतीनां
त्रिवृत्स्तोमं वृक्षहं कर्मसाक्ष्यम् ।
भूतायनं भूतपतिं गुणज्ञं
गुणाकारं शरणं यामि रुद्रम् ॥ ४६ ॥

जो अग्निरूपसे देवताओंके मुख, दुराचारियोंका अन्त करनेवाले, त्रिवृत आदि स्तोत्रोंसे युक्त सोमयागस्वरूप, संसारवृक्षका उच्छेद करनेवाले, कर्मोंके साक्षी, भूतोंके लयस्थान, भूतनाथ, गुणज्ञ और गुणस्वरूप हैं, उन रुद्रदेवकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ४६ ॥

अनुद्धृतं यज्ञकर्तारमन्तं
मध्यं चाद्यं यज्ञकृतां साम्यरूपम् ।
वेदव्रतेषु बहुधा गीतमीरा-
मभित्रिविष्टपं शरणं यामि रुद्रम् ॥ ४७ ॥

जिन्हें कोई प्रबलसे भी प्रबल शत्रु उखाड़ नहीं सकता, जो यज्ञका सम्पादन करनेवाले तथा यजमानोंके आदि, मध्य और अन्त हैं, प्रकृतिकी साम्यावस्था जिनका स्वरूप है, वेदोक्त व्रतों (यज्ञों) में अनेकानेक देवताओंके रूपमें जिनका गान किया गया है तथा जो भूतलसे लेकर स्वर्गतक तीनों लोकोंके ईश्वर हैं, उन भगवान् रुद्रकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ४७ ॥

महाजिनं व्रतिनं मेखलालं
सुतोषणं क्रोधधवं विपापम् ।
भूतं क्षेत्रज्ञं गुणिनं वा कपर्दिनं
नतोऽस्मीशं वन्द्यं वन्दनानाम् ॥ ४८ ॥

जो महान् गजचर्म धारण करनेवाले, उत्तम व्रतधारी, मेखलासे अलंकृत, अनायास ही संतुष्ट होनेवाले, क्रोधके स्वामी, पाप-तापसे रहित, नित्य सिद्ध, क्षेत्रज्ञ, गुणवान्, जटाजूटधारी तथा वन्दनीयोंके भी वन्दनीय हैं, उन भगवान् शंकरको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४८ ॥

देवं देवानां पावनं पावनानां
कृतिं कृतीनां महतो महान्तम् ।
शतात्मानं संस्तुतं गोपतीनां
पतिं देवं शरणं यामि रुद्रम् ॥ ४९ ॥

जो देवताओंके भी देवता, पावनोंके भी पावन, कृतियोंकी भी कृति, यज्ञोंके भी यज्ञ—अर्थात् यजनीयोंके भी यजनीय हैं, जो महान्से भी महान् शान्तस्वरूप तथा इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके लिये भी स्तवनीय हैं, उन सबके पालक रुद्रदेवकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ४९ ॥

अन्तश्चरं पुरुषं गुह्यसंज्ञं
प्रभास्वन्तं प्रण॒ [illegible] विप्रदीपम् ।
हेतुं परं परमस्याक्षरस्य
शुभं देवं गुणिनं संनतोऽस्मि ॥ ५० ॥

जो सबके अन्तःकरणमें विचरनेवाले अन्तर्यामी पुरुष, जिन्हें गुह्य कहा गया है, जो दूसरे प्रकाशसे रहित स्वयं प्रकाशरूप हैं, प्रणव (ॐकार) जिनका नाम है, जो परम अक्षर (जीव) के भी परम कारण हैं, उन मङ्गलकारी गुणवान् देवता भगवान् शिवको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ५० ॥

प्रसूतिरुभयोर्न प्रसूतश्च सूक्ष्मः
पृथग्भूतेभ्यो न पृथक्त्वैकभूतः।
स्वयं भूतः पातु मां सर्वसादः
प्रदः स्वादः सम्मदः पातु रत्नम्॥ ५१॥

जो जगत् और जीव दोनोंकी योनि हैं, फिर भी समस्त कारणोंसे अतीत होनेके कारण जो उनकी योनि नहीं हैं, अतएव सूक्ष्म (कठिनतासे समझमें आनेवाले) हैं; सम्पूर्ण भूतोंसे पृथक् हैं और उन सबसे एकभूत अभिन्न होनेके कारण पृथक् नहीं भी हैं, जो स्वयं ही समस्त जगत्के रूपमें प्रकट हुए हैं और सबके लयस्थान भी हैं तथा जो उत्तम दाता, स्वाद (रुचि), हर्ष तथा रमणीय रत्नरूप हैं, वे भगवान् शंकर मेरी रक्षा करें ॥ ५१ ॥

आसन्नः संनतरः साधनानां
श्रद्धावतां श्राद्धवृत्तिप्रणेता।
पतिर्गणानां महतां सत्कृतीनां
पायान्मेषः पूरणः षड्गुणानाम्॥ ५२॥

जो अन्तर्यामी होनेके कारण सबके निकट हैं तथा साधनशील पुरुषोंके लिये सन्नतर—अनावृत अर्थात् अपरोक्ष हैं, श्रद्धालु मनुष्योंको उनकी श्रद्धाके अनुरूप वृत्ति (ज्ञान एवं भक्ति) प्रदान करनेवाले हैं तथा जो महान् पुण्यात्मा प्रमथगणोंके अधिपति और अभीष्ट मनोरथों एवं सर्वज्ञता आदि छः गुणोंकी पूर्ति करनेवाले हैं, वे भगवान् शिव मेरी रक्षा करें ॥ ५२ ॥

अन्तर्बहिर्वृजिनानां निहन्ता
स्वयं कर्ता भूतभावी विकुर्वन्।
धृतायुधः सुकृतिनामुत्तमौजाः
प्रणुद्यान्मे वृजिनं देवदेवः॥ ५३॥

जो बाहर-भीतरके पाप-तापोंका नाश करनेवाले तथा स्वयं ही जगत्के कर्ता (निमित्त कारण) हैं, पञ्च भूतोंके आकारमें अपने-आपको प्रकट करना जिनका स्वभाव है अर्थात् जो स्वयं ही जगत्का उपादान कारण बनते हैं और आयुध धारण करके क्रोधादि विकारोंको प्रकट करते हैं, जिनका ओज (बल-पराक्रम) सबसे उत्तम है तथा जो देवताओंके भी देवता हैं, वे परमेश्वर शिव पुण्यात्मा पुरुषोंका तथा मेरा भी पाप-ताप दूर करें ॥ ५३ ॥

येनोद्धतास्त्रैः पुरा मायिनो वै
दग्धा घोरेण वितथान्ताः शरेण।
महत्कुर्वन्तो वृजिनं देवतानां
ज्यायानीशः पातु विश्वोदधाता॥ ५४॥

जो देवताओंका महान् अपराध किया करते थे, उन मायावी असुरोंको जिन्होंने पूर्वकालमें अपने अस्त्रोंद्वारा काँटोंकी भाँति उखाड़ फेंका था, अपने भयानक बाणसे उनके तीनों पुरोंको जलाकर उन्हें भी भस्म कर दिया और इस प्रकार शस्त्रोंद्वारा न मारे जानेके कारण उन असुरोंकी मृत्यु व्यर्थ हो गयी थी—यह सब जिनके प्रभावसे सम्भव हुआ तथा जो सबके कारणभूत प्रकृति या प्रधानके भी आश्रय हैं, वे सबसे ज्येष्ठ परमेश्वर शिव मेरी रक्षा करें ॥ ५४ ॥

भागीयसां भागमतोऽन्तमिच्छन्
मखो दाक्षो येन कृत्तोऽन्वधावत्।
विद्वान् यज्ञस्यादिरथान्तः स देवः
पायादीशो मां दक्षयज्ञान्तहेतुः॥ ५५॥

दक्षके यज्ञमें अधिक भाग ग्रहण करनेवाले देवताओंके भागको जिन्होंने नष्ट करनेकी इच्छा की थी, जिनके द्वारा विच्छिन्न हुआ दक्षका यज्ञ वहीं यज्ञेश्वरकी शरणमें गया था, जो यज्ञके ज्ञाता, आदि और अन्त हैं तथा दक्षयज्ञके विनाशमें हेतु बने हुए हैं, वे सर्वेश्वर महादेवजी मेरी रक्षा करें ॥ ५५ ॥

अन्यो धन्यः संस्कृतश्चोत्तमश्च
जगत् सृष्ट्वा योऽत्ति सर्वातिगुह्यः।
स मां मुखप्रमुखे पातु नित्यं
विचिन्वानः प्रथमः षड्गुणानाम्॥ ५६॥

जो ब्रह्मारूपसे जगत्की सृष्टि करके रुद्ररूपसे उसका संहार करते हैं, जो सबकी अपेक्षा अत्यन्त गोपनीय हैं, जड जगत्से भिन्न (विलक्षण) हैं, शम आदि संस्कारोंसे सम्पन्न होनेके कारण धन्य हैं, सबसे उत्तम हैं, जो इन्द्र और अग्निकी प्रधानतावाले यज्ञमें सदा यजमानोंकी पुण्यराशिका संचय करते हैं और ऐश्वर्य आदि छः गुणोंके मुख्य आश्रय हैं, वे परमेश्वर मेरी तथा मेरी संततिकी प्रतिदिन रक्षा करें ॥

गुणत्रैकाल्यं यस्य देवस्य नित्यं
सत्त्वोद्रेको यस्य भावात् प्रसूतः।
गोप्ता गोप्तॄणां सम्मदो दुष्कृतीना-
माद्यो विश्वस्य बाधमानस्य क्रुद्धः॥ ५७॥

जिन परमात्माके गुण भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें सदा बने रहते हैं अथवा जिनमें सृष्टि, पालन और संहार कालसम्बन्धी गुण प्रवाहरूपसे नित्य बने रहते हैं; जिनमें सत्त्वगुणकी अधिकता है अर्थात् जो विष्णुरूपसे स्थित हैं, जिनके स्वरूपसे प्रकट हुए श्रीकृष्ण, इन्द्र आदि रक्षकोंके भी रक्षक हैं, जो काल रुद्र बनकर दुराचारियोंको विनाशका कष्ट प्रदान करनेवाले हैं और विश्वके आदिकारण (एवं माता-पिताके समान पालक) होकर भी जो इस जगत्को पीड़ा देनेवाले लोगोंपर कुपित हो उनका विनाश कर डालते हैं, वे परमात्मा मेरी रक्षा करें ॥ ५७ ॥

धाम्नो यस्य हरिरग्रोऽथ विश्वो
ब्रह्मा पुत्रैः सहितश्च द्विजाश्च।
पराभूता भवने यस्य सोमो
जुषत्वेष श्रेयसे साधुगोप्ता ॥ ५८ ॥

भगवान् विष्णु जिनके तेजःपुञ्जके प्रमुख भाग हैं तथा विश्व (विराट्) रूप ब्रह्मा, साथ ही उनके पुत्र सनकादि और मरीचि आदि अन्य ब्रह्मर्षि जिनसे प्रकट हुए हैं तथापि वे जिनके भवनमें पराभूत होकर प्रवेश नहीं करने पाते हैं, वे सत्पुरुषोंके रक्षक उमासहित महादेवजी हमारा कल्याण करनेके लिये हमपर प्रसन्न हों ॥ ५८ ॥

यस्माद् भूतानां भूतिरन्तोऽथ मध्यं
धृतिर्भूतिर्यश्च गुहाश्रुतिश्च।
गुहाभिभूतस्य पुरुषेश्वरस्य
महात्मनः सम्मृडवेद्यस्य तस्य ॥ ५९ ॥

जिनसे आकाश आदि पाँचों भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और अन्त होते हैं (वे भगवान् शिव हमपर प्रसन्न हों)। जो किसीके द्वारा हार्दिक तिरस्कारसे पीड़ित हो एकमात्र सुखदायक भगवान् शिवको ही महान् आश्रय जानकर उनकी शरण लेता है, वह पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं महात्मा है, उसे उन्हीं भगवान् शङ्करसे धृति (धैर्य) और भूति (ऐश्वर्य) आदि अनुग्रहकी उपलब्धि होती है तथा उसे उन्हींसे गुह्य वस्तुका श्रवण (उपदेश) प्राप्त होता है। (*अतः संकटके समयमें अपनी शरणमें आये हुए मुझ सेवकका कष्ट वे अवश्य दूर करेंगे—ऐसा मेरा विश्वास है*) ॥ ५९ ॥

यल्लिङ्गाङ्कं त्र्यम्बकः सर्वमीशो
भगलिङ्गाङ्कं यद्धयुमा सर्वधात्री।
नान्यत् तृतीयं जगतीहास्ति किंचि-
न्महादेवात् सर्वसर्वेश्वरोऽसौ ॥ ६० ॥

संसारमें लिङ्ग (पुरुषत्वसूचक चिह्न) से अङ्कित जो भी शरीर-समुदाय है, वह सब त्रिनेत्रधारी भगवान् शङ्करका स्वरूप है और भग (स्त्रीत्वसूचक) चिह्नसे चिह्नित जो शरीर-समूह है, वह सब सर्वजननी भगवती उमाका प्रतीक है। इस जगत्में इन दोके सिवा तीसरी कोई वस्तु नहीं है। महादेवजी (और उमा) से भिन्न कुछ नहीं है; वे ही सर्वसर्वेश्वर हैं। (वे हमारी रक्षा करें) ॥ ६० ॥

इति संस्तूयमानस्तु भगवान् वृषभध्वजः।
दर्शयामास धर्मात्मा कश्यपं धर्मधृग्वरम् ॥ ६१ ॥

इस प्रकार जिनकी स्तुति की जा रही थी, उन धर्मात्मा भगवान् वृषभध्वज (शिव) ने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महर्षि कश्यपको दर्शन दिया ॥ ६१ ॥

उवाच चैनं देवेशः प्रसन्नेनान्तरात्मना।
येन संस्तौषि कार्येण त्वं तज्जाने प्रजापते ॥ ६२ ॥

दर्शन देकर देवेश्वर महादेवजीने उनसे प्रसन्न-चित्तसे कहा—'प्रजापते! तुम जिस कार्यसे मेरी स्तुति कर रहे हो, उसे मैं जानता हूँ ॥ ६२ ॥

इन्द्रोपेन्द्रौ महात्मानौ देवौ प्रकृतिमेष्यतः।
पारिजातं तु धर्मात्मा नयिष्यति जनार्दनः ॥ ६३ ॥

'इन्द्र और उपेन्द्र दोनों महामनस्वी देवता स्वाभाविक स्थितिमें आ जायँगे; परंतु धर्मात्मा जनार्दन पारिजात वृक्षको अवश्य ले जायँगे ॥ ६३ ॥

अपध्यातो महेन्द्रो हि मुनिना देवशर्मणा।
अस्याकाङ्क्षत् पुरा भार्यां तपोदीप्तस्य कश्यप ॥ ६४ ॥

'कश्यप! पूर्वकालमें मुनिवर देवशर्माने महेन्द्रका अनिष्ट-चिन्तन किया था; क्योंकि तपस्यासे उद्दीप्त तेजवाले उन महर्षिकी पत्नीको इन्द्रने प्राप्त करनेकी अभिलाषा की थी। यही उनकी वर्तमान पराजयका कारण है ॥ ६४ ॥

गम्यतां तत्र धर्मज्ञ दाक्षायण्या सह त्वया।
अदित्या शक्रसदनं श्रेयस्ते पुत्रयोर्ध्रुवम् ॥ ६५ ॥

'धर्मज्ञ! तुम दक्षकन्या अदितिके साथ वहाँ इन्द्रभवनमें जाओ। तुम्हारे दोनों पुत्रोंका अवश्य कल्याण होगा' ॥ ६५ ॥

इति हरवचनं निशम्य विद्वान्
कमलभवात्मजसूनुरप्रमेयः।
त्रिदशगणगुरुं प्रणम्य रुद्रं
मुदितमनाः सुमनौकसं जगाम ॥ ६६ ॥

इस प्रकार भगवान् शङ्करका कथन सुनकर ब्रह्मकुमार मरीचिके पुत्र अप्रतिम शक्तिशाली विद्वान् महर्षि कश्यप उन देवगुरु भगवान् रुद्रको प्रणाम करके प्रसन्न-चित्त हो देव-लोकको चले गये ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे कश्यपकृतरुद्रस्तोत्रे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥७२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणके प्रसङ्गमें कश्यपकृत रुद्रस्तोत्रविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

इन्द्र और श्रीकृष्ण, जयन्त और प्रद्युम्न, प्रवर और सात्यकि तथा ऐरावत और गरुड़का युद्ध

वैशम्पायन उवाच

अथ विष्णुर्महातेजा मुहूर्ताभ्युदिते रवौ।
मृगयाव्यपदेशेन ययौ रैवतकं गिरिम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सूर्योदयके बाद दो घड़ी बीत जानेपर महातेजस्वी श्रीकृष्ण हिंसक जन्तुओंका शिकार खेलनेके बहाने रैवतक पर्वतपर गये॥

आरोप्यैकरथे देवः सात्यकिं नरपुङ्गवम्।
प्रद्युम्नमनुगच्छेति प्रोक्त्वा कुरुकुलोद्वह॥ २॥
रैवतं च गिरिं देवो गत्वा दारुकमब्रवीत्।

कुरुकुलभूषण! भगवान् श्रीकृष्णने एक रथपर नरश्रेष्ठ सात्यकिको चढ़ाकर और प्रद्युम्नको भी अपने पीछे आनेकी आज्ञा देकर जब रैवतक पर्वतपर पहुँचे, तब अपने सारथि दारुकसे बोले—॥ २½॥

मदीयं रथमेनं त्वं ग्रहायेहैव दारुक॥ ३॥
प्रतिपालय मां सौम्य दिनार्द्धं वारयन् हरीन्।
रथेनैव प्रवेक्ष्यामि द्वारकां सूतसत्तम॥ ४॥

'सौम्य दारुक! तुम मेरे इस रथको लेकर यहीं आधे दिनतक इन घोड़ोंको काबूमें रखते हुए मेरी प्रतीक्षा करो। सूतशिरोमणे! मैं रथके द्वारा ही द्वारकापुरीमें प्रवेश करूँगा'॥

इति संदिश्य भगवानारुरोह जयोद्यतः।
तार्क्ष्यं ससात्यको धीमानप्रमेयपराक्रमः॥ ५॥

दारुकको यह संदेश देकर विजयके लिये उद्यत हुए अप्रमेय पराक्रमी बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण सात्यकिके साथ गरुड़पर आरूढ़ हुए॥ ५॥

पृथग् रथेन कौरव्य प्रद्युम्नः शत्रुसूदनः।
आकाशगामिना राजन् पृष्ठतः कृष्णमन्वयात्॥ ६॥

कुरुनन्दन! राजन्! शत्रुसूदन प्रद्युम्न भी एक पृथक् आकाशचारी रथके द्वारा श्रीकृष्णके पीछे-पीछे गये॥ ६॥

निमेषान्तरमात्रेण नन्दनं काननं हरिः।
देवोद्यानं ययौ धीमान् पारिजातजिहीर्षया॥ ७॥

बुद्धिमान् श्रीकृष्ण पारिजातको हर लेनेकी इच्छासे पलक मारते-मारते देवताओंके उद्यान नन्दनवनमें जा पहुँचे॥ ७॥

ददर्श तत्र भगवान् देवयोधान् दुरासदान्।
नानायुधधरान् वीरान् नन्दनस्थानधोक्षजः॥ ८॥
तेषां सम्पश्यतामेव पारिजातं महाबलः।
उत्पाट्यारोपयामास पारिजातं सतां गतिः॥ ९॥
गरुडं पक्षिराजानमयत्नेनैव भारत।

वहाँ भगवान् अधोक्षजने नन्दनवनमें स्थित हुए देवताओंके दुर्जय वीर योद्धाओंको देखा, जो नाना प्रकारके आयुध धारण किये हुए थे। भरतनन्दन! सत्पुरुषोंके आश्रयदाता महाबली श्रीकृष्णने उन योद्धाओंके देखते-देखते विशेष प्रयत्नके बिना ही पारिजातको उखाड़कर पक्षिराज गरुड़की पीठपर रख लिया॥ ८-९½॥

उपस्थितो विग्रहवान् पारिजातः स केशवम्॥ १०॥
सान्त्वितो वासुदेवेन पारिजातश्च भारत।
उक्तश्च वृक्ष मा भैस्त्वं केशवेन महात्मना॥ ११॥

पारिजात वृक्ष मूर्तिमान् होकर श्रीकृष्णकी सेवामें उपस्थित हुआ। भारत! उस समय वसुदेवनन्दन महात्मा केशवने पारिजातको सान्त्वना देते हुए कहा—'वृक्ष! तुम डरो मत'॥ १०-११॥

तं प्रस्थितं तरुं दृष्ट्वा पारिजातमधोक्षजः।
अमरावतीं पुरीं श्रेष्ठां ततश्चक्रे प्रदक्षिणाम्॥ १२॥

पारिजात वृक्षको अपने साथ प्रस्थान करते देख भगवान् अधोक्षजने श्रेष्ठ अमरावतीपुरीकी परिक्रमा की॥ १२॥

ते तु नन्दनगोप्तारः पारिजातो द्रुमोत्तमः।
ह्रियतीति महेन्द्राय गत्वा नृप शशंसिरे॥ १३॥

नरेश्वर! नन्दनवनके उन रक्षकोंने जाकर महेन्द्रसे कहा—'देवराज! वृक्षोंमें उत्तम पारिजातका अपहरण हो रहा है'॥

अथैरावतमारुह्य निर्ययौ पाकशासनः।
जयन्तेन रथस्थेन पृष्ठतोऽनुगतः प्रभुः॥ १४॥

यह सुनकर प्रभावशाली पाकशासन इन्द्र ऐरावतपर आरूढ़ हो निकले। उनके पीछे-पीछे रथपर बैठा हुआ जयन्त भी आया॥ १४॥

पूर्वमभ्यागतं द्वारं केशवं शत्रुनाशनम्।
दृष्ट्वोवाच प्रवृत्तं भोः किमिदं मधुसूदन॥ १५॥

जब शत्रुनाशन केशव इन्द्रपुरीके पूर्वद्वारपर आये, तब उन्हें देखकर इन्द्रने कहा—'हे मधुसूदन! यह तुमने क्या किया है?'॥ १५॥

प्रणम्य गरुडस्थोऽथ केशवः शक्रमब्रवीत्।
वध्वास्ते पुण्यकार्याय नीयतेऽयं वरद्रुमः॥ १६॥

तब गरुड़पर बैठे हुए केशव इन्द्रको प्रणाम करके बोले—'देवराज! आपकी बहूरानीके पुण्यकार्यका सम्पादन करनेके लिये यह श्रेष्ठ वृक्ष यहाँसे ले जाया जाता है'॥ १६॥

तमुवाच ततः शक्रो मा मैवं पुष्करेक्षण।
अयोधयित्वा न तरुर्नेयितव्यस्त्वयाच्युत॥ १७॥

तब इन्द्रने उनसे कहा—'कमलनयन अच्युत! नहीं,

ऐसा नहीं हो सकता। बिना युद्ध किये तुम्हें इस वृक्षको नहीं ले जाना चाहिये ॥ १७ ॥

प्रहरस्व महाबाहो प्रथमं मयि केशव।
प्रतिज्ञा सफला तेऽस्तु मुक्त्वा कौमोदकीं मयि ॥ १८ ॥

'महाबाहु केशव! पहले मुझपर प्रहार करो। मेरे ऊपर कौमोदकी गदा छोड़कर तुम्हारी प्रतिज्ञा सफल हो' ॥ १८ ॥

ततः कृष्णः शरैस्तीक्ष्णैर्देवराजगजोत्तमम्।
विभेदाशनिसंकाशैः प्रहसन्निव भारत ॥ १९ ॥

भरतनन्दन! तब श्रीकृष्णने हँसते हुए-से अपने वज्र-सदृश तीखे बाणोंद्वारा देवराजके गजश्रेष्ठ ऐरावतको बींधना आरम्भ किया ॥ १९ ॥

विव्याध गरुडं वज्री दिव्यैः शरवरैस्तथा।
बाणांश्चिच्छेद सहसा केशवस्य तरस्विनः ॥ २० ॥

फिर वज्रधारी इन्द्रने भी अपने दिव्य उत्तम बाणोंद्वारा गरुड़को घायल किया और वेगशाली केशवके बाणोंको सहसा काट डाला ॥ २० ॥

यान् यान् मुमोच देवेन्द्रस्तांस्तांश्चिच्छेद माधवः।
माधवेन प्रयुक्तांश्च चिच्छेद बलवृत्रहा ॥ २१ ॥

देवेन्द्रने जो-जो बाण छोड़े, उन्हें माधवने काट दिया और माधवके चलाये हुए बाणोंको बल-वृत्रविनाशक इन्द्रने खण्डित कर दिया ॥ २१ ॥

महेन्द्रस्य च शब्देन धनुषः कुरुनन्दन।
शार्ङ्गस्य च निनादेन मुमुहुः स्वर्गवासिनः ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन! इन्द्रधनुष तथा शार्ङ्गधनुषकी टङ्कारोंसे सारे स्वर्गवासी मोहित-से हो गये ॥ २२ ॥

तयोर्वर्तति संग्रामे गरुडस्थं महाबलः।
पारिजातं जयन्तोऽथ हर्तुमभ्युद्यतो बली ॥ २३ ॥

जब उन दोनोंका संग्राम चल रहा था, उसी समय महापराक्रमी एवं बलशाली जयन्त गरुड़की पीठपर रखे हुए पारिजातको हर ले जानेके लिये उद्यत हुआ ॥ २३ ॥

प्रद्युम्नमथ कंसघ्नो वारयेति तदाब्रवीत्।
ततस्तं वारयामास रौक्मिणेयः प्रतापवान् ॥ २४ ॥

तब कंसविनाशन श्रीकृष्णने प्रद्युम्नसे कहा—'रोको उसे।' आज्ञा पाकर प्रतापी रुक्मिणीकुमारने जयन्तको रोक दिया ॥

जयन्तो जयतां श्रेष्ठो रौक्मिणेयमथेषुभिः।
सर्वगात्रेषु विहसन्नाजघान रथे स्थितः ॥ २५ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ जयन्त उस समय रथपर बैठा था। उसने हँसते हुए बाण मारकर प्रद्युम्नके समस्त अङ्गोंमें चोट पहुँचायी ॥ २५ ॥

रथस्थ एव रथिनं कामस्तु कमलेक्षणः।
ऐन्द्रिमभ्यर्दयामास बाणैराशीविषोपमैः ॥ २६ ॥

कामावतार कमलनयन प्रद्युम्न भी रथपर ही बैठे थे। उन्होंने विषधर सर्पके समान भयंकर बाणोंद्वारा रथारूढ़ इन्द्रकुमार जयन्तको पीड़ित कर दिया ॥ २६ ॥

स संनिपातस्तुमुलो बभूव कुरुनन्दन।
जयन्तस्य च वीरस्य रौक्मिणेयस्य चोभयोः ॥ २७ ॥

कुरुनन्दन! जयन्त तथा वीर रुक्मिणीकुमार उन दोनोंका वह युद्ध बड़ा भयंकर हुआ ॥ २७ ॥

कृतप्रतिकृतं युद्धे चक्रतुस्तौ महाबलौ।
महेन्द्रोपेन्द्रतनयौ जगत्यस्त्रभृतां वरौ ॥ २८ ॥

एक महेन्द्रका बेटा था तो दूसरा उपेन्द्रका। दोनों ही संसारके अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ एवं महान् बलशाली थे। अतः दोनों एक-दूसरेके छोड़े हुए अस्त्र-शस्त्रोंका निवारण कर देते थे ॥ २८ ॥

देवाश्च मुनयश्चैव ददृशुर्विस्मयान्विताः।
तं संग्रामं महाघोरं सिद्धाश्चैव सचारणाः ॥ २९ ॥

देवता, मुनि, सिद्ध और चारण सभी आश्चर्यचकित होकर उस महाभयंकर संग्रामको देखने लगे ॥ २९ ॥

ततस्तु प्रवरो नाम देवदूतो महाबलः।
पारिजातं पुनर्हर्तुमियेष कुरुनन्दन ॥ ३० ॥

कुरुनन्दन! तब प्रवर नामक महाबली देवदूतने पुनः पारिजात वृक्षको हर ले जानेकी इच्छा की ॥ ३० ॥

सखा स देवराजस्य महास्त्रविदरिंदमः।
अवध्यो वरदानेन ब्रह्मणः कुरुनन्दन ॥ ३१ ॥

कुरुकुलनन्दन! शत्रुओंका दमन करनेवाला प्रवर महान् अस्त्रवेत्ता तथा देवराज इन्द्रका सखा था। वह ब्रह्माजीके वरदानसे अवध्य हो गया था ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणस्तपसा सिद्धो जम्बूद्वीपाद् दिवं गतः।
स्वशक्त्या नृप संयातः सखित्वं बलघातिना ॥ ३२ ॥

नरेश्वर! वह तपःसिद्ध ब्राह्मण जम्बूद्वीपसे स्वर्गमें गया था और अपनी शक्तिके प्रभावसे बलघाती इन्द्रका मित्र हो गया था ॥ ३२ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य कृष्णः सात्यकिमब्रवीत्।
अत्रस्थ एव प्रवरं शरैर्वारय सात्यके ॥ ३३ ॥

उसे आते देख श्रीकृष्णने सात्यकिसे कहा—'सात्यके! तुम यहीं बैठे-बैठे अपने बाणोंद्वारा इस प्रवरको रोको ॥ ३३ ॥

न त्वत्र निर्दयं बाणा मोक्तव्याः सात्यके त्वया।
अस्य ब्राह्मणचापल्यं सोढव्यं खलु सर्वथा ॥ ३४ ॥

'सात्यके! तुम्हें इसके ऊपर निर्दयतापूर्वक बाण नहीं छोड़ने चाहिये। इस ब्राह्मणकी चपलताको सर्वथा सह लेना ही उचित है' ॥ ३४ ॥

ततः षष्ट्या रथेषूणां गरुडस्थं द्विजस्तदा ।
आजघान महाबाहो सात्यकिं प्रवरो भृशम् ॥ ३५ ॥

महाबाहो ! तदनन्तर प्रवर नामक ब्राह्मणने साठ बाणोंद्वारा गरुड़पर बैठे हुए सात्यकिको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३५ ॥

शिनेर्नप्ता धनुस्तस्य क्षिपतः सायकान् नृप ।
चिच्छेद पुरुषव्याघ्रो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ३६ ॥

नरेश्वर ! तब पुरुषसिंह शिनि-पौत्र सात्यकिने बाण चलाते हुए ब्राह्मणके धनुष और बाणोंको भी काट डाला और इस प्रकार कहा—॥ ३६ ॥

ब्राह्मणो नाभिहन्तव्यस्तिष्ठ तिष्ठ स्ववर्त्मनि ।
अवध्या यादवानां हि स्वापराधेऽपि हि द्विजाः ॥ ३७ ॥

'प्रवर ! ब्राह्मण मेरे द्वारा मारे जाने योग्य नहीं है; अतः तुम अपने मार्गपर डटे रहो, डटे रहो। अपना अपराध करनेपर भी ब्राह्मणोंको यदुवंशी वीर अवध्य ही मानते हैं' ।३७।

प्रवरस्तु प्रहस्यैनमुवाच कुरुनन्दन ।
अलं क्षान्त्या नृणां शूर युद्धस्व सर्वात्मना रणे ॥ ३८ ॥

कुरुनन्दन ! तब प्रवरने हँसकर सात्यकिसे कहा—'मनुष्योंमें शूर सात्यके ! क्षमा करनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम रणभूमिमें सारी शक्ति लगाकर युद्ध करो ॥ ३८ ॥

जामदग्न्यस्य रामस्य शिष्योऽहमपि यादव ।
नामतः प्रवरो नाम सखा शक्रस्य धीमतः ॥ ३९ ॥

'यादववीर ! मैं भी जमदग्निनन्दन परशुरामका शिष्य हूँ। मेरा नाम प्रवर है और मैं बुद्धिमान् इन्द्रका सखा हूँ ॥३९॥

न देवा योद्धुमिच्छन्ति मन्यन्तो मधुसूदनम् ।
आनृण्यं सौहृदस्याहमधिगन्तास्मि माधव ॥ ४० ॥

'मधुवंशी वीर ! देवतालोग मधुसूदनका सम्मान करते हैं; अतः उनसे युद्ध करना नहीं चाहते हैं; इसलिये मैं आज इन्द्रके सौहार्दका ऋण चुकानेके लिये आया हूँ' ॥ ४० ॥

ततस्तयोस्तदा रौद्रः संग्रामो ववृधे नृप ।
अस्त्रैर्दिव्यैर्नरव्याघ्र शैनेयद्विजमुख्ययोः ॥ ४१ ॥

नरेश्वर ! पुरुषसिंह ! तदनन्तर सात्यकि और उस श्रेष्ठ ब्राह्मणमें उस समय दिव्य अस्त्रोंद्वारा बड़ा भयंकर संग्राम हुआ, जो बढ़ता ही चला गया ॥ ४१ ॥

द्यौश्चचाल तदा राजन् द्युचराश्च सहस्रशः ।
तस्मिन् वर्तति संग्रामे तेषामतिमहात्मनाम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! उन अत्यन्त महात्मा वीरोंका वह संग्राम चालू होनेपर उस समय स्वर्गलोक विचलित हो उठा। सहस्रों आकाशचारी प्राणी कम्पित हो उठे ॥ ४२ ॥

नातिशिष्ये रणे कार्ष्णिरैन्द्रिमस्त्रभृतां वरम् ।
ऐन्द्रिः कार्ष्णिं महात्मानं मायिनं शूरसत्तमम् ॥ ४३ ॥

रणभूमिमें श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्न अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ जयन्तसे आगे न बढ़ सके। इसी प्रकार इन्द्रकुमार जयन्त भी शूरशिरोमणि मायाविशारद श्रीकृष्णकुमार महात्मा प्रद्युम्नसे अधिक पराक्रम न दिखा सका ॥ ४३ ॥

हन्त गृह्ण प्रतीच्छेति तावुभौ योधसत्तमौ ।
युयुधाते नरश्रेष्ठ परस्परजयैषिणौ ॥ ४४ ॥

नरश्रेष्ठ ! परस्पर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छावाले वे दोनों श्रेष्ठ योद्धा 'अरे, यह लो, दो मेरे इस प्रहारका उत्तर' आदि बातें कहते हुए युद्ध करने लगे ॥ ४४ ॥

अथ शार्ङ्गायुधसुतं शचीपुत्रः प्रतापवान् ।
विभाष्याभ्यहनद् राजन् दिव्येनास्त्रेण सत्वरः ॥ ४५ ॥

राजन् ! तदनन्तर प्रतापी शचीपुत्र जयन्तने श्रीकृष्ण-कुमारको सम्बोधित करके उनपर बड़ी उतावलीके साथ दिव्यास्त्रद्वारा आघात किया ॥ ४५ ॥

सोऽस्त्रं तदभिदीप्यन्तमापतन्तं शितैः शरैः ।
तस्तम्भे बाणजालेन तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४६ ॥

अपनी ओर आते हुए उस तेजस्वी अस्त्रको पैने बाणोंका जाल-सा फैलाकर प्रद्युम्नने बीचमें ही रोक दिया। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ४६ ॥

ततस्तद् दीप्यमानं तु पपात रणमूर्द्धनि ।
रौक्मिणेयस्य कौरव्य घोरं दानवमर्दनम् ॥ ४७ ॥

कुरुनन्दन ! तदनन्तर युद्धके मुहानेपर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नके लिये भी दुस्सह प्रतीत होनेवाला वह दीप्तिमान् दानव-मर्दन दिव्यास्त्र उनके रथपर गिरा ॥ ४७ ॥

तेनास्त्रेण रथो दग्धः प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।
नादहत् तत् सुघोरं तं रौक्मिणेयं नराधिप ॥ ४८ ॥

नरेश्वर ! उस अस्त्रके द्वारा महात्मा प्रद्युम्नका रथ जलकर भस्म हो गया तो भी वह भयंकर अस्त्र रुक्मिणी-कुमार प्रद्युम्नको दग्ध न कर सका ॥ ४८ ॥

दहत्यग्निं न खल्वग्निरुद्धतोऽपि विशाम्पते ।
दग्धाद् रथान्महाबाहू रौक्मिणेयः प्रचक्रमे ॥ ४९ ॥

प्रजानाथ ! अग्नि कितना ही प्रचण्ड रूप क्यों न धारण करे, वह दूसरी अग्निको नहीं जला सकती (उसी तरह उस अस्त्रकी अग्निसे अग्नितुल्य तेजस्वी रुक्मिणीकुमार प्रद्युम्नके शरीरको कोई हानि नहीं पहुँची)। महाबाहु रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न उस जले हुए रथको छोड़कर अलग हो गये ॥ ४९ ॥

अथ नारायणसुतो विरथो रथिनां वरः ।
स्थितो धनुष्मानाकाशे जयन्तमिदमब्रवीत् ॥ ५० ॥

तदनन्तर रथहीन हुए रथियोंमें श्रेष्ठ नारायणकुमार

प्रद्युम्न आकाशमें धनुष लिये खड़े हो गये और जयन्तसे इस प्रकार बोले—॥ ५० ॥

महेन्द्रपुत्र दिव्यं त्वं यदस्त्रं मुक्तवानसि ।
नाहमीदृशरूपाणां शक्यो हन्तुं शतैरपि ॥ ५१ ॥

'महेन्द्रकुमार ! तुमने मेरे ऊपर जो दिव्यास्त्र छोड़ा है, ऐसे सैकड़ों दिव्यास्त्र मुझे मार नहीं सकते हैं ॥ ५१ ॥

प्रयत्नं कुरु शिक्षाणां यत्नं मेऽद्य प्रदर्शय ।
नास्ति मेऽतिशयं कर्ता संग्रामेऽमरनन्दन ॥ ५२ ॥

'अमरनन्दन ! तुम अपनी शिक्षाके अनुसार प्रयत्न करो और सारा यत्न आज मुझे दिखाओ । संग्राममें मुझसे बढ़कर पराक्रम प्रकट करनेवाला कोई वीर नहीं है ॥ ५२ ॥

आसीन्मे साध्वसं दृष्ट्वा रथस्थं त्वां धृतायुधम् ।
बिभेमि तव नेदानीं युद्धे दृष्टबलोऽबलम् ॥ ५३ ॥

'तुम रथपर बैठकर हाथमें आयुध लिये जब यहाँ आये थे, तब तुम्हें देखकर मुझे कुछ भय हुआ था; परंतु अब युद्धमें तुम्हारा सारा बल मैंने देख लिया है । तुममें बहुत थोड़ा बल है, अतः इस समय मैं तुमसे भय नहीं मानता हूँ ॥ ५३ ॥

मनसा स्मर्यतां सैष पारिजातस्त्वया तरुः ।
शक्यं न खलु हस्ताभ्यां स्प्रष्टव्यो यस्त्वया ह्यसौ ॥५४॥

'तुम इस पारिजात वृक्षका केवल मनसे स्मरण कर लो; क्योंकि इस समय दोनों हाथोंसे इसका स्पर्श करना तुम्हारे लिये निश्चय ही असम्भव है ॥ ५४ ॥

रथो मायामयो दग्धस्त्वया यो ह्यस्त्रतेजसा ।
ईदृशानां सहस्राणि स्रष्टुं शक्तोऽस्मि मायया ॥ ५५ ॥

'तुमने अपने अस्त्रके तेजसे मेरे जिस मायामय रथको जलाया है, ऐसे हजारों रथ मैं मायाद्वारा बना सकता हूँ' ॥

एवमुक्तो जयन्तश्च मुमोचास्त्रं महाबलः ।
तपसोपचितं तेन स्वयमेवातितेजसा ॥ ५६ ॥

प्रद्युम्नके ऐसा कहनेपर महाबली जयन्तने स्वयं ही अत्यन्त तेजस्वी तपसे पुष्ट हुए महान् अस्त्रको उनपर चलाया ॥

तत् प्रद्युम्नो महावेगं शरजालैरवारयत् ।
चत्वार्यस्त्राणि दिव्यानि मुमुचे चापराणि सः ॥ ५७ ॥

उस महान् वेगशाली अस्त्रको प्रद्युम्नने अपने बाण-समूहोंसे रोक दिया, तब जयन्तने चार दिव्यास्त्र और छोड़े ॥

दिक्षु सर्वासु रुरुधुस्तान्यस्त्राण्यथ भारत ।
रौक्मिणेयं महात्मानमन्तरिक्षे च पञ्चमम् ॥ ५८ ॥

भरतनन्दन ! उन अस्त्रोंने महात्मा रुक्मिणीकुमार प्रद्युम्नको सम्पूर्ण दिशाओंकी ओरसे घेर लिया तथा पीछे चलाये हुए एक पाँचवें बाणने आकाशमें भी उनकी गति रोक दी ॥ ५८ ॥

महोल्कासदृशान् बाणानस्त्राण्यमरसत्तमः ।
मुमोच यानि घोराणि प्रद्युम्नं प्रति सर्वतः ॥ ५९ ॥
तानि सर्वाणि बाणौघैः कार्ष्णिरस्त्राण्यवारयत् ।
जयन्तं चापरैर्बाणैर्विव्याध निशितैस्तदा ॥ ६० ॥

अमरश्रेष्ठ जयन्तने बड़ी भारी उल्काके समान जो बाण और भयंकर अस्त्र प्रद्युम्नपर सब ओरसे छोड़े थे, उन सबका श्रीकृष्णकुमारने अपने बाणसमूहोंद्वारा निवारण कर दिया तथा दूसरे-दूसरे तीखे बाणोंके द्वारा जयन्तको घायल कर दिया ॥

ततो नादः समुत्सृष्टो ह्यमरैः पुण्यकर्मभिः ।
दृष्ट्वा स्थैर्यं च शौर्यं च प्रद्युम्नस्य महात्मनः ॥ ६१ ॥

उस समय महात्मा प्रद्युम्नकी स्थिरता और फुर्ती देखकर पुण्यकर्मा देवताओंने बड़े जोरसे हर्षध्वनि की ॥ ६१ ॥

प्रवरस्यापि बाणेन शितेन शिनिपुङ्गवः ।
चिच्छेदेष्वासनं वीरो हस्तावापं च भारत ॥ ६२ ॥

भरतनन्दन ! शिनिवंशविभूषण वीर सात्यकिने एक पैने बाणसे प्रवरके भी धनुष और दस्तानेको काट दिया ॥ ६२ ॥

ततोऽन्यत् स तु जग्राह महत् तद्धनुरुत्तमम् ।
महेन्द्रदत्तं प्रवरो महाशनिसमस्वनम् ॥ ६३ ॥

तब प्रवरने महान् वज्रके समान टङ्कार ध्वनि करनेवाले एक दूसरे विशाल एवं उत्तम धनुषको हाथमें लिया, जिसे इन्द्रने दे रक्खा था ॥ ६३ ॥

स तेन वीरो महता धनुषा विप्रसत्तमः ।
शरान् मुमोच विविधानर्करश्मिनिभांस्तदा ॥ ६४ ॥

उस वीर ब्राह्मणशिरोमणिने उस विशाल धनुषके द्वारा उस समय ऐसे-ऐसे नाना प्रकारके बाण छोड़े, जो सूर्यकी किरणोंके समान तेजस्वी थे ॥ ६४ ॥

चकर्त च धनुश्चित्रं शैनेयस्यामितौजसः ।
विव्याध सर्वगात्रेषु बाणैरपि च सात्यकिम् ॥ ६५ ॥

उसने अमित तेजस्वी सात्यकिके विचित्र धनुषको काट डाला और उनके सारे अङ्गोंमें बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी॥

धनुरादाय शैनेयस्ततोऽन्यद् कुरुनन्दन ।
दृढं भारसहं धीमान् विव्याध प्रवरं रणे ॥ ६६ ॥

कुरुनन्दन ! तब बुद्धिमान् सात्यकिने दूसरा भार सहन करनेमें समर्थ सुदृढ़ धनुष हाथमें लेकर रणभूमिमें प्रवरको बींधना आरम्भ किया ॥ ६६ ॥

उच्चकर्ततुरन्योन्यवर्मणी तौ शितैः शरैः ।
गात्रेभ्यश्चैव मांसानि मर्मभिद्भिः शरोत्तमैः ॥ ६७ ॥

उन दोनोंने तीखे बाणोंद्वारा परस्परके कवच काट डाले तथा मर्मभेदी उत्तम बाणोंद्वारा प्रयत्नपूर्वक वे एक दूसरेके शरीरोंसे मांस काटने लगे ॥ ६७ ॥

अथाष्टधारबाणेन पुनरिष्वासनं द्विधा।
चिच्छेद प्रवरो वीरस्त्रिभिश्चैनमताडयत् ॥ ६८ ॥

इसी समय वीर प्रवरने एक आठ धारवाले बाणसे सात्यकिके धनुषके पुनः दो टुकड़े कर डाले तथा तीन बाणोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया ॥ ६८ ॥

अन्यदिष्वासनं तं तु ग्रहीतुमनसं द्विजः।
गदया ताडयामास क्षेप्यया लघुहस्तवान् ॥ ६९ ॥

सात्यकि दूसरी धनुष लेना ही चाहते थे कि फुर्तीले हाथवाले ब्राह्मण प्रवरने फेंकने योग्य गदाके द्वारा उनपर प्रहार किया ॥ ६९ ॥

सोऽसिं चर्म च जग्राह सात्यकिः प्रहसन्निव।
न जग्राह धनुर्धीमान् गदयाभिहतो भृशम् ॥ ७० ॥

तब सात्यकिने हँसते हुए-से ढाल और तलवार हाथमें ले ली। वे गदासे अधिक आहत हो चुके थे; अतः उन बुद्धिमान् वीरने धनुष नहीं उठाया ॥ ७० ॥

ततः शरशतान्येव मुमोच प्रवरस्तदा।
विहस्तमिव विज्ञाय सात्यकिं यदुनन्दनम् ॥ ७१ ॥

इसके बाद यदुनन्दन सात्यकिको निहत्था-सा जानकर प्रवरने उनपर सैकड़ों बाण छोड़े ॥ ७१ ॥

प्रद्युम्नोऽस्य ददौ खड्गं निर्मलाकाशसंनिभम्।
तस्य चिच्छेद भल्लेन निस्त्रिंशं प्रवरस्तदा ॥ ७२ ॥

उस समय प्रद्युम्नने उन्हें निर्मल आकाशके समान एक खड्ग दिया, परंतु प्रवरने तत्काल एक भल्ल मारकर उनके खड्गको काट डाला ॥ ७२ ॥

त्सरुदेशेऽपातयच्च प्रवरः प्रहसन्निव।
व्यधमच्च तथा चर्म शितैर्बाणैरजिह्मगैः ॥ ७३ ॥

प्रवरने हँसते हुए-से उस खड्गको मूठ पकड़नेकी जगहसे काटकर गिरा दिया और सीधे जानेवाले पैने बाणोंसे उनकी ढालकी भी धज्जियाँ उड़ा दीं ॥ ७३ ॥

आजघान च शक्त्यैनं हृदि विप्रो ननाद च।
तं विक्लवमिव ज्ञात्वा पारिजातजिहीर्षया।
तार्क्ष्याभ्याशे रथेनैव स तस्थौ प्रवरस्तदा ॥ ७४ ॥

फिर उस ब्राह्मणने शक्तिके द्वारा उनकी छातीपर आघात किया। इसके बाद वह सिंहके समान गर्जना करने लगा। उन्हें व्याकुल-सा जानकर प्रवर पारिजात हड़प लेनेकी इच्छासे रथके द्वारा ही गरुड़के निकट आकर खड़ा हो गया ॥ ७४ ॥

तं पक्षपुटवेगेन चिक्षेप गरुडस्तथा।
गव्यूतिमेकां सरथः स पपात मुमोह च ॥ ७५ ॥

उस समय गरुड़ने अपने पंखोंके वेगसे प्रवरको दो कोस दूर फेंक दिया। प्रवर रथसहित वहाँ गिरा और मूर्च्छित हो गया ॥ ७५ ॥

तं जयन्तो निपत्याथ पतितं ब्राह्मणं नृप।
समाश्वास्य रथं शीघ्रं समारोपितवांस्तदा ॥ ७६ ॥

नरेश्वर! तब जयन्त दौड़कर वहाँ जा पहुँचा और गिरे हुए ब्राह्मणको सान्त्वना देकर उसे शीघ्र ही रथपर चढ़ा दिया ॥

शैनेयमपि मुह्यन्तं पतन्तं च मुहुर्मुहुः।
आश्वासयानः प्रद्युम्नः पितृव्यं परिषस्वजे ॥ ७७ ॥

सात्यकि भी बारंबार मूर्च्छित हो-होकर गिरने लगे। उस समय प्रद्युम्नने चाचा सात्यकिको आश्वासन देते हुए उन्हें हृदयसे लगा लिया ॥ ७७ ॥

तं हि पस्पर्श हस्तेन सव्येन मधुसूदनः।
विरुजः स्पर्शमात्रेण सात्यकिः समपद्यत ॥ ७८ ॥

उस समय मधुसूदन श्रीकृष्णने बायें हाथसे उनका स्पर्श किया। उनके स्पर्शमात्रसे सात्यकिकी सारी पीड़ा दूर हो गयी ॥

प्रद्युम्नो दक्षिणे पार्श्वे वामे तु शिनिपुङ्गवः।
तस्थतुः पारिजातस्य युद्धशौण्डतरावुभौ ॥ ७९ ॥

तदनन्तर पारिजातके दाहिने भागमें प्रद्युम्न और बायें पार्श्वमें सात्यकि खड़े हो गये। ये दोनों ही युद्धमें अत्यन्त कुशल थे ॥ ७९ ॥

जयन्तः प्रवरश्चैव रथेनैकेन भारत।
सम्पतन्तौ महेन्द्रेण प्रहस्योक्तौ महात्मना ॥ ८० ॥

भरतनन्दन! इतनेमें ही जयन्त और प्रवर भी एक ही रथसे दौड़ते हुए वहाँ आ पहुँचे। उस समय महात्मा महेन्द्रने उन दोनोंसे हँसकर कहा— ॥ ८० ॥

नासन्नमभिगन्तव्यं गरुडस्य कथंचन।
बलवानेष पततां राजा च विनतासुतः ॥ ८१ ॥

'तुम दोनों किसी तरह गरुड़के निकट न जाना। यह पक्षियोंका राजा विनतानन्दन गरुड़ बड़ा बलवान् है ॥ ८१ ॥

दक्षिणे चैव सव्ये च पार्श्वे मम धृतायुधौ।
उभौ स्थितौ युद्ध्यमानं मामेव हि प्रपश्यतम् ॥ ८२ ॥

'तुम दोनों मेरे दायें और बायें भागमें धनुष धारण करके खड़े हो जाओ और युद्ध करते समय मेरी ही देख-भाल करो' ॥ ८२ ॥

एवमुक्तौ स्थितौ वीरौ ततः शक्रस्य पार्श्वयोः।
ददृशाते युद्ध्यमानौ देवराजजनार्दनौ ॥ ८३ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर वे दोनों वीर उनके दोनों बगलमें खड़े हो गये और देवराज इन्द्र तथा श्रीकृष्णका युद्ध देखने लगे ॥ ८३ ॥

अथेन्द्रो गरुडं बाणैर्महाशनिसमस्वनैः।
विव्याध सर्वगात्रेषु महास्त्रप्रवरैस्तथा ॥ ८४ ॥

तदनन्तर इन्द्र महान् वज्रके समान शब्द करनेवाले

बाणों तथा बड़े-बड़े अस्त्रोंद्वारा गरुड़के सारे अङ्गोंमें चोट पहुँचाने लगे ॥ ८४ ॥

स तान् बाणानगणयन् वैनतेयः प्रतापवान्।
ससाराभिमुखो वीरः शक्रनागमरिंदमः ॥ ८५ ॥

तब उनके उन बाणोंको कुछ भी न गिनते हुए शत्रुओंका दमन करनेवाले प्रतापी वीर विनतानन्दन गरुड़ इन्द्रके हाथी ऐरावतकी ओर बढ़े ॥ ८५ ॥

उभौ तौ सहसा राजन् बलिनौ गजपक्षिणौ।
प्रयुद्धौ वीर्यसम्पन्नौ महाप्राणौ दुरासदौ ॥ ८६ ॥

राजन्! वे बलवान् हाथी और पक्षी सहसा एक दूसरेके साथ जूझने लगे। वे दोनों ही बल-पराक्रमसे सम्पन्न, महान् प्राणशक्तिसे युक्त और दुर्जय थे ॥ ८६ ॥

रदनैः पन्नगरिपुं करेण शिरसा तथा।
ऐरावतो गजपतिराजघान नदंस्तथा ॥ ८७ ॥

उस समय गर्जते हुए गजराज ऐरावतने अपनी सूँड़, मस्तक और दाँतोंसे सर्पशत्रु गरुड़पर गहरा आघात किया ॥

तथा नखाङ्कुशैस्तीक्ष्णैर्वैनतेयो बलोत्कटः।
तथा पक्षनिपातैश्च शक्रनागं जघान ह ॥ ८८ ॥

इसी प्रकार उत्कट बलशाली विनतानन्दन गरुड़ने तीखे नखरूपी अंकुशों और पंखोंसे इन्द्रके हाथीपर चोट की ॥

मुहूर्तं सुमहानासीत् सम्पातो गजपक्षिणोः।
विस्मापनीयो जगतः प्रेक्षितॄणां भयावहः ॥ ८९ ॥

दो घड़ीतक हाथी और पक्षीमें महान् युद्ध होता रहा, जो जगत्‌के लिये आश्चर्यजनक और दर्शकोंके लिये भयावह था ॥

मूर्ध्न्यथैरावतं तार्क्ष्यस्ताडयामास भारत।
नखाङ्कुशकरालेन चरणेन महाबलः ॥ ९० ॥

भारत! महाबली गरुड़ने नखरूपी अंकुशोंके द्वारा विकराल प्रतीत होनेवाले अपने पैरसे ऐरावतके मस्तकपर प्रहार किया ॥ ९० ॥

सम्प्रहाराभिसंतप्तो निपपात त्रिविष्टपात्।
पारियात्रे गिरिश्रेष्ठे द्वीपेऽस्मिञ्जनमेजय ॥ ९१ ॥

जनमेजय! उस प्रहारसे पीड़ित हो ऐरावत स्वर्गसे नीचे इस जम्बूद्वीपमें पर्वतश्रेष्ठ पारियात्रपर गिर पड़ा ॥ ९१ ॥

पतन्तमपि तं शक्रो न मुमोच महाबलः।
कारुण्यादथ सौहार्दात् पूर्वाभ्युपगमादपि ॥ ९२ ॥

महाबली इन्द्र करुणा, सौहार्द तथा साथ न छोड़नेके लिये पहले की हुई प्रतिज्ञाके कारण भी उस गिरते हुए हाथीको छोड़ न सके ॥ ९२ ॥

कृष्णोऽप्यन्वगमच्चैनं पृष्ठतः प्रभवोऽव्ययः।
पारिजातवता धीमान् गरुडेन महाबलः ॥ ९३ ॥

जगत्‌की उत्पत्तिके कारणभूत अविनाशी महाबली बुद्धिमान् श्रीकृष्ण भी पारिजातयुक्त गरुड़के द्वारा इन्द्रके पीछे-पीछे वहाँतक गये ॥ ९३ ॥

स तस्थौ पर्वतश्रेष्ठे पारियात्रे तु वृत्रहा।
ऐरावते समाश्वस्ते संग्रामो ववृधे पुनः ॥ ९४ ॥
शरैराशीविषप्रख्यै रत्नयुक्तैः सुतेजितैः।
अन्योन्यं कुरुशार्दूल शक्रकेशवयोर्महान् ॥ ९५ ॥

वृत्रासुरविनाशक इन्द्र पर्वतश्रेष्ठ पारियात्रपर पहुँचकर खड़े हो गये। कुरुश्रेष्ठ! ऐरावतके सुस्ता लेनेपर इन्द्र और श्रीकृष्णका वह महान् युद्ध पुनः बढ़ चला। दोनों ओरसे एक-दूसरेपर तेज किये हुए, रत्नयुक्त एवं विषधर सर्पोंके तुल्य भयंकर बाणोंके प्रहार होने लगे ॥ ९४-९५ ॥

ततो वज्रायुधो वज्रमशनिं च पुनः पुनः।
मुमोच गरुडे राजन्नैरावतरिपौ नृप ॥ ९६ ॥

राजन्! नरेश्वर! तदनन्तर वज्रधारी इन्द्रने ऐरावतशत्रु गरुड़पर बारंबार वज्र तथा अशनिका प्रहार किया ॥ ९६ ॥

वज्राशनिनिपातांस्तान् सेहे शक्रस्य पक्षिराट्।
अवध्यो बलिनां श्रेष्ठो निसर्गेण तपोबलात् ॥ ९७ ॥

अवध्य एवं बलवानोंमें श्रेष्ठ पक्षिराज गरुड़ने इन्द्रके उन वज्र और अशनिद्वारा किये गये प्रहारोंको नैसर्गिक शक्ति तथा तपस्याके बलसे सह लिया ॥ ९७ ॥

मुमोच पक्षमेकैकं मानयन्नशनिं सदा।
वज्रं च देवराजोऽथ भ्रातुः कश्यपसम्भवः ॥ ९८ ॥

उन कश्यपकुमार गरुड़ने अपने भाई देवराज इन्द्रके वज्र और अशनिका मान रखते हुए प्रत्येक प्रहारपर अपनी एक-एक पाँख तोड़कर गिरा दी ॥ ९८ ॥

आक्रम्यमाणस्तार्क्ष्येण न्यमज्जन्नृपते गिरिः।
विवेश धरणीं राजञ्छीर्यमाणः समन्ततः ॥ ९९ ॥

राजन्! गरुड़के आक्रमण करनेपर वह पारियात्र पर्वत सब ओरसे बिखरकर धरतीमें धँस गया ॥ ९९ ॥

चुकूज बहुमानेन कृष्णस्य स तु पर्वतः।
तं चाद्राक्षीत् ततः कृष्णः किंचिच्छेषमधोक्षजः ॥ १०० ॥

श्रीकृष्णके भारी भारसे वह पर्वत आर्तनाद-सा करने लगा। तब अधोक्षज श्रीकृष्णने उसकी ओर देखा। उस पर्वतका कुछ ही भाग धरतीके ऊपर शेष रह गया था ॥

तं मुक्त्वा गरुडेनाथ तस्थौ देवो विहायसि।
प्रद्युम्नं च तदोवाच सर्वकृल्लोकभावनः ॥ १०१ ॥

यह देख सबके स्रष्टा लोकभावन भगवान् श्रीकृष्ण उस पर्वतको छोड़कर गरुड़के द्वारा आकाशमें खड़े हो गये और उस समय प्रद्युम्नसे बोले— ॥ १०१ ॥

इतो द्वारवतीं गत्वा रथमानय मा चिरम्।
सदारुकं महाबाहो मत्तेजोबलमाश्रितः ॥१०२॥

'महाबाहो! यहाँसे द्वारका जाकर मेरे तेज और बलका आश्रय ले दारुकसहित मेरे रथको शीघ्र यहाँ ले आओ ॥

वक्तव्यो बलभद्रश्च राजा च कुकुराधिपः।
श्वो जित्वेन्द्रं त्वागमिष्ये द्वारकामिति मानद ॥१०३॥

'मानद! वहाँ भैया बलभद्र तथा कुकुरवंशके अधिपति राजा उग्रसेनसे कह देना कि कल इन्द्रको जीतकर मैं द्वारकापुरीको आऊँगा' ॥ १०३ ॥

तथेत्युक्त्वा तु धर्मात्मा प्रद्युम्नः पितरं विभुः।
गत्वा यथोक्तमुक्त्वा च यादवेन्द्रबलावुभौ ॥१०४॥
नाडिकान्तरमात्रेण पुनस्तं देशमाययौ।
दारुकेण समायुक्तं रथमास्थाय भारत ॥१०५॥

भारत! तब अपने पितासे 'बहुत अच्छा' कहकर प्रभावशाली धर्मात्मा प्रद्युम्न द्वारकामें गये और यादवराज उग्रसेन तथा बलराम दोनोंसे उनका यथावत् संदेश कहकर वे दारुकके द्वारा जोते गये रथपर आरूढ़ हो घड़ीभरमें फिर उस स्थानपर लौट आये ॥ १०४-१०५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे श्रीकृष्णेन्द्रयुद्धे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणके प्रसंगमें श्रीकृष्ण और इन्द्रका युद्धविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

रात्रिमें युद्ध स्थगित करके श्रीकृष्णका पारियात्र पर्वतको वरदान देना, गङ्गाका स्मरण करना, बिल्व और गङ्गाजलपर महादेवजीका आवाहन करके उन बिल्वोदकेश्वरकी पूजा और स्तुति करना, महादेवजीका उन्हें अभीष्ट वर देकर दैत्योंको मारनेका आदेश देना तथा पारियात्र-पर्वतपर भगवान्‌का निवास एवं उनकी प्रतिमाके पूजनकी महिमा

वैशम्पायन उवाच

तमारुह्य रथं कृष्णः पारियात्रं गिरिं ययौ।
यत्रैरावतमास्थाय स्थितः सुरपतिः प्रभुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्ण उस रथपर आरूढ़ हो पारियात्र पर्वतकी ओर चले, जहाँ प्रभावशाली देवराज इन्द्र ऐरावतपर आरूढ़ होकर खड़े थे ॥ १ ॥

पारियात्रो गिरिश्रेष्ठो दृष्ट्वा यान्तं जनार्दनम्।
शाणपादसमो भूत्वा प्रविवेश वसुंधराम् ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्णको आते देख पर्वतश्रेष्ठ पारियात्र उड़दके ढेर या सनके बीजकी राशिके समान शिथिल होकर धरतीमें समा गया ॥ २ ॥

प्रियार्थं वासुदेवस्य प्रभावज्ञो महात्मनः।
तस्य प्रीतो हृषीकेशः पर्वतस्य जनाधिप ॥ ३ ॥

भगवान् वासुदेवकी प्रसन्नताके लिये ही उसने ऐसा किया था; क्योंकि वह महात्मा श्रीकृष्णके प्रभावको जानता था। नरेश्वर! उस पर्वतके इस व्यवहारसे इन्द्रियोंके स्वामी श्रीकृष्णको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३ ॥

ततः प्रयातं युद्धार्थमच्युतं कुरुनन्दन।
सपारिजातो गरुडः पृष्ठतोऽनुययौ तदा ॥ ४ ॥

कुरुनन्दन! तदनन्तर युद्धके लिये जाते हुए श्रीकृष्णके पीछे-पीछे पारिजातसहित गरुड भी गये ॥ ४ ॥

प्रद्युम्नः सात्यकिश्चापि गरुडस्थौ महाबली।
गतावुभौ रक्षणार्थं पारिजातमरिंदमौ ॥ ५ ॥

गरुड़पर बैठे हुए महाबली प्रद्युम्न और सात्यकि ये दोनों शत्रुदमन वीर भी पारिजातकी रक्षाके लिये वहाँ गये ॥५॥

ततस्त्वस्तं गतः सूर्यः प्रवृत्ता रजनी नृप।
उपस्थितं पुनर्युद्धं शक्रकेशवयोरिह ॥ ६ ॥

नरेश्वर! तत्पश्चात् सूर्यदेव अस्त हो गये और सब ओर रात फैल गयी तो भी वहाँ इन्द्र और श्रीकृष्णका युद्ध पुनः उपस्थित हुआ ॥ ६ ॥

सुप्रहाराहतं दृष्ट्वा विष्णुरैरावतं गजम्।
नातिकल्पं महातेजा देवराजानमब्रवीत् ॥ ७ ॥

महातेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णने ऐरावत हाथीको गरुड़के प्रहारोंसे अत्यन्त आहत और असमर्थ हुआ देख देवराज इन्द्रसे इस प्रकार कहा—॥ ७ ॥

गरुडाभिहतः पूर्वं नातिकल्पो गजोत्तमः।
ऐरावतो महाबाहो रात्रिश्च समुपोह्यते ॥ ८ ॥
श्वः प्रभाते यथाकामं प्रवर्तस्व यथेच्छसि।
एवमस्त्विति कृष्णं तु देवराजोऽब्रवीत् प्रभुः ॥ ९ ॥

'महाबाहो! गरुड़द्वारा पहलेसे ही आहत होकर आपका यह उत्तम हाथी ऐरावत इस समय कुछ असमर्थ हो गया है। इधर रात भी आ पहुँची है। अतः अब कल सबेरे

आपकी जैसी इच्छा हो, उस तरह युद्ध कीजियेगा।' तब प्रभावशाली देवराजने श्रीकृष्णसे कहा, 'एवमस्तु (ऐसा ही हो)' ॥ ८-९ ॥

उवास पुष्कराभ्याशे देवराजः पुरंदरः।
मञ्जं गिरिमयं कृत्वा धर्मात्मा नृपसत्तम ॥ १० ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसके बाद धर्मात्मा देवराज इन्द्र अपने लिये पर्वतमय आवरण बनाकर पुष्करके निकट ठहर गये ॥ १० ॥

ब्रह्मा ततो जगामाथ कश्यपश्च महानृषिः।
अदितिश्चैव सर्वे च देवा मुनय एव च ॥ ११ ॥
साध्या विश्वे च कौरव्य नासत्यावश्विनौ तथा।
आदित्याश्चैव रुद्राश्च वसवश्च जनेश्वर ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! जनेश्वर ! तदनन्तर ब्रह्मा, महर्षि कश्यप, अदितिदेवी, समस्त देवता, मुनि, साध्य, विश्वेदेव, नासत्य नामसे प्रसिद्ध अश्विनीकुमार, आदित्य, रुद्र तथा वसुगण उस स्थानपर गये ॥ ११-१२ ॥

नारायणश्च पुत्रेण सात्यकेन च भारत।
सहोवास गिरौ रम्ये पारियात्रे प्रहृष्टवत् ॥ १३ ॥

भारत ! इधर पुत्र प्रद्युम्न तथा भाई सात्यकिके साथ भगवान् श्रीकृष्ण उस रातमें सुरम्य गिरि पारियात्रपर बड़े हर्षके साथ रहे ॥ १३ ॥

यत् स शाणप्रमाणोऽस्य भक्त्या समभवन्नृप।
वरं प्रादात् ततस्तस्य पर्वतस्य महाद्युतिः ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! वह पर्वत भगवान्‌के प्रति भक्तिभावसे नम्र हो जो शाण (.उड़द या सनके बीजकी राशि) के बराबर हो गया था, इससे उस पर्वतपर प्रसन्न हो महातेजस्वी श्रीकृष्णने उस पर्वतको यह वर दिया—॥ १४ ॥

शाणपाद इति ख्यातो भविष्यसि महागिरे।
पुण्येनार्द्धेन तुल्यो हि पुण्यो हिमवतः शुभः ॥ १५ ॥

'महागिरे ! तुम शाणपादके नामसे विख्यात होओगे। जैसे हिमालय पर्वतके ऊपरी आधा भाग परम पवित्र होता है, उसीके समान तुम भी शुभ एवं पवित्र बने रहोगे ॥ १५ ॥

एवमेव च भूयिष्ठो भव पर्वतसत्तम।
मेरुणा स्पर्धमानो हि बहुचित्रमृगैर्युतः।
रमे त्वां पश्यमानोऽहं बहुचित्रनगायुतम् ॥ १६ ॥

'पर्वतश्रेष्ठ ! तुम इसी प्रकार बहुसंख्यक विचित्र मृगोंसे युक्त हो मेरुके साथ स्पर्धा रखते हुए बहुत बड़े हो जाओ। तुम्हें अनेक विचित्र वृक्षोंसे सम्पन्न देखकर मैं आनन्दमग्न हो जाता हूँ' ॥ १६ ॥

तथा दत्त्वा वरं तस्य पर्वतस्य तु केशवः।
दध्यौ गङ्गां सरिच्छ्रेष्ठां नमस्कृत्वा वृषध्वजम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार उस पर्वतको वर देकर भगवान् श्रीकृष्णने महादेवजीको नमस्कार करके सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजीका चिन्तन किया ॥ १७ ॥

अथाययौ विष्णुपदी स्मृता कृष्णेन भारत।
सम्पूज्य तां ततः कृष्णः कृत्वा स्नानमधोक्षजः ॥ १८ ॥

भारत ! श्रीकृष्णके स्मरण करनेपर विष्णुपदी गङ्गा वहाँ आ गयीं। अधोक्षज श्रीकृष्णने उनकी पूजा करके उनके जलसे स्नान किया ॥ १८ ॥

उदकं च गृहीत्वाथ बिल्वं च हरिरव्ययः।
देवमावाहयामास रुद्रं सर्वेश्वरेश्वरम् ॥ १९ ॥

फिर अविनाशी श्रीहरिने गङ्गाजल और बेलका फल लेकर उसीपर सर्वेश्वरेश्वर रुद्रदेवका आवाहन किया ॥ १९ ॥

ततः प्राप्तो महादेवः सोमः सप्रवरो विभुः।
तस्यायुपरि बिल्वस्य तथा गङ्गोदकस्य च ॥ २० ॥

तब पार्वतीसहित भगवान् महादेव प्रमथगणोंके साथ वहाँ आये और गङ्गाजल तथा बेलके ऊपर खड़े हो गये ॥२०॥

तं पारिजातकुसुमैरर्चयामास केशवः।
तुष्टाव वाग्भिरीशेशं सर्वकर्तारमीश्वरम् ॥ २१ ॥

तब श्रीकृष्णने उनका पारिजातके फूलोंद्वारा पूजन किया और सबके कर्ता ईश्वरेश्वर भगवान् शिवका वाणीद्वारा स्तवन किया ॥ २१ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

रुद्रो देव त्वं रुदनाद् रावणाच्च
रोरूयमाणो द्रावणाच्चातिदेवः।
भक्तं भक्तानां वत्सलं वत्सलानां
कीर्त्या युङ्क्ष्वेशाद्य प्रपद्ये शरण्यम् ॥ २२ ॥

श्रीकृष्ण बोले—देव ! आप ही रोदन (रोना), रावण (रुलाना), अतिशय 'रव' तथा जन्म-मरणरूप संसारका द्रावण (निवारण) करनेके कारण 'रुद्र' कहे गये हैं। आप सब देवताओंसे बढ़कर हैं। ईश ! मैं आपके भक्तोंका भक्त तथा स्नेहियोंका स्नेही हूँ, आप मुझे विजय-कीर्तिका भागी बनाइये। मैं आज आप शरणागतवत्सल प्रभुकी शरण लेता हूँ ॥ २२ ॥

ग्राम्यारण्यानां त्वं पतिस्त्वं पशूनां
ख्यातो देवः पशुपतिः सर्वकर्मा।
नान्यस्त्वत्तः परमो देवदेव
जगत्पतिः सुरवीरारिहन्ता ॥ २३ ॥

देवदेव ! आप ही ग्रामीण और वन्य पशुओं (जीवों) के पति (पालक) हैं; इसीलिये आप भगवान् पशुपतिके रूपमें विख्यात हैं। यह सारा जगत् आपका ही कर्म है।

आपसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। आप ही जगदीश्वर तथा देववीरोंके शत्रुओंका हनन करनेवाले हैं ॥ २३ ॥

यस्मादीशो महतामीश्वराणां
भवानाद्यः प्रीतिदः प्राणदश्च ।
तस्माद्धि त्वामीश्वरं प्राहुरीशं
संतो विद्वांसः सर्वशास्त्रार्थतज्ज्ञाः ॥ २४ ॥

आप बड़े-बड़े ईश्वर-कोटिके पुरुषोंके भी ईश्वर हैं। आप ही आदिपुरुष, प्रीतिदाता तथा प्राणदाता हैं; इसीलिये सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थतत्त्वको जाननेवाले विद्वान् साधुपुरुष आपको ही ईश्वर तथा ईश कहते हैं ॥ २४ ॥

भूतं यस्माज्जगदत्यन्त धीर
त्वत्तोऽव्यक्तादक्षरादक्षरेश ।
तस्मात् त्वामाहुर्भव इत्येव भूतं
सर्वेश्वराणां महतामप्युदारम् ॥ २५ ॥

अत्यन्त[1] ! धीर[2] ! अक्षरेश्वर[3] ! अतः आप अव्यक्त अविनाशी परमेश्वरसे ही जगत् उत्पन्न हुआ है, अतः विद्वान् पुरुष आपको 'भव' कहते हैं। वास्तवमें तो आप 'भूत' (नित्यसिद्ध) हैं। महान् सर्वेश्वरोंके लिये भी अत्यन्त उदार हैं (फिर दीन-दुखियोंके लिये तो बात ही क्या है ?)॥२५॥

यस्माज्जितैरभिषिक्तोऽसि सर्वै-
र्देवासुरैः सर्वभूतैश्च देव ।
महेश्वरं विश्वकर्माणमाहु-
स्त्वां वै सर्वे तेन देवातिदेवम् ॥ २६ ॥

देव ! अतः पराजित हुए समस्त देवताओं, असुरों तथा सम्पूर्ण प्राणियोंने आपका 'महान् ईश्वर' के पदपर अभिषेक किया है; अतः सभी विद्वान् आप विश्वनिर्माता भगवान्‌को 'महेश्वर' तथा 'देवातिदेव' (देवताओंसे बढ़कर महादेव) कहते हैं ॥ २६ ॥

पूज्यो देवैः पूज्यसे नित्यदा वै
शश्वच्छ्रेयःकाङ्क्षिभिर्वरदामेयवीर्य ।
तस्माद् विख्यातो भगवान् देवदेवः
सतामिष्टः सर्वभूतात्मभावी ॥ २७ ॥

अमेय बल-पराक्रमसे सम्पन्न वरदायक महेश्वर ! अतः सदा कल्याण-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले देवता आप पूजनीय परमेश्वरकी नित्य पूजा करते हैं; अतः आप 'भगवान् देवदेव' (देवताओंके भी देवता) के रूपमें विख्यात हैं। सत्पुरुषोंके इष्टदेव आप ही हैं। आप समस्त भूतोंको अपने भीतर ही उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ २७ ॥

भूमित्रयाणां देव यस्मात् प्रतिष्ठा
पुनर्लोकानां भावनामेयकीर्तिः ।
त्र्यम्बकेति प्रथमं तेन नाम
तवाप्रमेय त्रिदशेशनाथ ॥ २८ ॥

ब्रह्मा आदि देवेश्वरोंके भी स्वामी अप्रमेयस्वरूप देव ! बारंबार लोकोंको उत्पन्न करनेवाले लोकभावन ! अतः आप भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक—इन तीनों लोकोंकी भूमियोंके आश्रय हैं, अतः आपका प्रथम (प्रमुख) नाम त्र्यम्बक (त्रिलोकीके आश्रय) है, आपकी कीर्ति अमेय है।२८।

शर्वः शत्रूणां शासनादप्रमेय-
स्तथा भूयः शासनाच्चेश्वरेण ।
सर्वव्यापित्वाच्छङ्करत्वाच्च सद्भिः
शब्दस्येशानः श्रीकरार्काग्र्यतेजाः ॥ २९ ॥

आप संहारकारी होनेके कारण शर्व कहलाते हैं, समस्त शत्रुओंका शासन करनेके कारण अप्रमेय शक्तिसे सम्पन्न हैं; फिर ईश्वररूपसे समस्त जगत्‌का शासन करनेके कारण भी आप अप्रमेय हैं, सर्वव्यापी तथा सत्पुरुषोंके लिये कल्याणकारी होनेसे भी आपको अप्रमेय कहा गया है, श्री (लक्ष्मी) की प्राप्ति करानेवाले परमेश्वर ! आप सम्पूर्ण शब्दोंके भी ईश्वर हैं अर्थात् समस्त शब्दोंद्वारा आपका ही प्रतिपादन होता है। आपका उत्तम तेज सूर्यसे भी बढ़कर है ॥ २९ ॥

संसक्तानां नित्यदा यत् करोषि
शर्म भ्रातृव्यान् यद्यनैषीः समस्तान् ।
तस्माद् देवः शङ्करोऽस्यप्रमेयः
सद्भिर्धर्मज्ञैः कथ्यसे सर्वनाथः ॥ ३० ॥

आप भक्तजनोंको जो सदा सुख और शान्ति प्रदान करते हैं तथा शत्रुभाव रखनेवाले समस्त असुरोंको जो दण्ड देते हैं, उसके कारण आप अप्रमेय शक्तिसे सम्पन्न कल्याणकारी देवता शङ्कर कहे जाते हैं। धर्मज्ञ संत आपको सर्वनाथ (सबके स्वामी या संरक्षक) कहते हैं ॥ ३० ॥

दत्तः प्रहारः कुलिशेन पूर्वं
तवेशान सुरराज्ञातिवीर्य ।
कण्ठे नैल्यं तेन ते यत् प्रवृत्तं
तस्मात् ख्यातस्त्वं नीलकण्ठेति कल्पः ॥ ३१ ॥

अत्यन्त पराक्रमी ईशान ! पूर्वकालमें देवराज इन्द्रने आपके कण्ठमें जो वज्रसे प्रहार किया था और उससे जो वहाँ नील चिह्न बन गया था, उसके कारण आप नीलकण्ठ नामसे विख्यात हुए। आप समर्थ होते हुए भी दयावश ऐसे अपराध सह लेते हैं ॥ ३१ ॥

यल्लिङ्गाङ्कं यच्च लोके भगाङ्कं
सर्वं सोम त्वं स्थावरं जङ्गमं च ।

१. अन्त अर्थात् मृत्युको लाघनेवाले । २. बुद्धिके प्रेरक। ३. अक्षरों—अविनाशी जीवोंके ईश्वर ।

प्राहुर्विप्रास्त्वां गुणिनं तत्त्वविज्ञा-
स्तथा ध्येयामम्बिकां लोकधात्रीम् ॥ ३२ ॥

उमासहित महेश्वर ! अतः संसारमें सब कुछ लिङ्ग और भगके चिह्नसे ही अङ्कित है, अतः यह समस्त चराचर जगत् आप दोनोंका ही स्वरूप है। तत्त्वज्ञ ब्राह्मण आपको गुणवान् और ध्येयस्वरूपा लोकजननी अम्बिकाको त्रिगुणरूपा कहते हैं ॥ ३२ ॥

वेदैर्गीता सा हि तत् त्वं प्रसूता
यज्ञो दीक्षाणां योगिनां चातिरूपः।
नात्यद्भुतं त्वत्समं देव भूतं
भूतं भव्यं भवदेवाथ नास्ति ॥ ३३ ॥

वे अम्बिका ही वेदोंमें 'अजा' (माया) नामसे वर्णित हैं, वे ही महत्तत्वकी जननी हैं। आप यज्ञकी दीक्षा लेनेवाले यजमानोंके द्रव्ययज्ञ तथा योगियोंके योगयज्ञ हैं। लौकिक रूपसे ऊपर उठे हुए दिव्य चिन्मय विग्रहधारी हैं। देव ! आपके समान अत्यन्त अद्भुत भूत (तत्त्व) भूत, वर्तमान और भविष्य कालमें भी दूसरा कोई नहीं है ॥ ३३ ॥

अहं ब्रह्मा कपिलो योऽप्यनन्तः
पुत्राः सर्वे ब्रह्मणश्चातिवीराः।
त्वत्तः सर्वे देवदेव प्रसूता
एवं सर्वेशः कारणात्मा त्वमीड्यः ॥३४ ॥

देवदेव ! मैं, ब्रह्मा, कपिल, शेषनाग और आन्तरिक शत्रुओंपर विजय पानेके कारण अत्यन्त वीर (सनक आदि) सभी ब्रह्मपुत्र—ये सब-के-सब आपसे ही उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार आप सबके ईश्वर और कारणरूप होनेके कारण स्तुतिके योग्य हैं ॥ ३४ ॥

इति संस्तूयमानस्तु भगवान् गोवृषध्वजः।
प्रसार्य दक्षिणं हस्तं नारायणमथाब्रवीत् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णने जब स्तुति की, तब भगवान् वृषभध्वज शिवने अपना दाहिना हाथ फैलाकर भगवान् नारायणदेवसे इस प्रकार कहा—॥ ३५ ॥

मनीषितानामर्थानां प्राप्तिस्ते सुरसत्तम।
पारिजातं च हर्तासि मा भूत् ते मनसो व्यथा ॥ ३६॥

'सुरश्रेष्ठ ! तुम्हें अभीष्ट मनोरथोंकी प्राप्ति होगी। तुम पारिजातको अवश्य ले जाओगे। इसके लिये तुम्हारे मनमें व्यथा नहीं होनी चाहिये ॥ ३६ ॥

यथा मैनाकमाश्रित्य तपस्त्वमकरोः प्रभो।
तथा मम वरं कृष्ण संस्मृत्य स्थैर्यमाप्नुहि ॥ ३७ ॥

'प्रभो ! श्रीकृष्ण ! जैसे मैनाकका आश्रय लेकर तुमने तप किया, उसी तरह मेरी ओरसे तुम्हें वर भी मिला। उस वरको याद करके तुम स्थिरता (धैर्य) धारण करो ॥ ३७॥

अवध्यस्त्वमजेयश्च मत्तः शूरतरस्तथा।
भवितासीत्यवोचं यत् तत् तथा न तदन्यथा ॥ ३८ ॥

'मैंने जो तुमसे कहा था कि तुम अवध्य, अजेय तथा मुझसे भी बढ़कर शूरवीर होओगे, वह बात उसी रूपमें सत्य होगी। उसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥

यश्च स्तवेन मां भक्त्या स्तोष्यतेऽमरसत्तम।
त्वया कृतेन धर्मज्ञ धर्मभाक् सम्भविष्यति।
समरे च जयं विष्णो प्राप्य पूजां तथोत्तमाम् ॥ ३९ ॥

'धर्मज्ञ ! अमरश्रेष्ठ ! विष्णो ! जो भक्तिभावसे तुम्हारे द्वारा की हुई इस स्तुतिके द्वारा मेरा स्तवन करेगा, वह समरभूमिमें विजय तथा उत्तम सम्मान पाकर धर्मका भागी होगा ॥ ३९ ॥

बिल्वोदकेश्वरो नाम भविताहमिहानघ।
देवेश्वर त्वयास्थापि देव सिद्धोपयाचनः ॥ ४० ॥

'अनघ ! देवेश्वर ! देव ! तुमने जो मेरी यहाँ स्थापना की है, उसके अनुसार मैं बिल्वोदकेश्वर नामसे विख्यात होऊँगा। यहाँ की हुई याचना मेरे द्वारा अवश्य सफल होगी॥४०॥

इहस्थोपोषितो विद्वान् भक्तिमान् मम केशव।
त्रिरात्रमीप्सिताँल्लोकान् गमिष्यति जनार्दन ॥ ४१ ॥

'केशव ! जनार्दन ! जो विद्वान् पुरुष यहाँ उपवासपूर्वक रहकर मुझमें भक्तिभाव रखते हुए तीन रात उपवास करेगा, वह मनोवाञ्छित लोकोंमें जायगा ॥ ४१ ॥

अविन्ध्या नाम देशेऽस्मिन् गङ्गा चैव भविष्यति।
गङ्गास्नानसमं स्नानं मन्त्रतो भविता तथा ॥ ४२ ॥

'इस प्रदेशमें अविन्ध्या नामसे प्रसिद्ध गङ्गा प्रवाहित होगी। उसमें गङ्गासम्बन्धी मन्त्रोच्चारणपूर्वक किया हुआ स्नान साक्षात् गङ्गा-स्नानके समान फलदायक होगा ॥४२॥

षट्पुरं नाम नगरं दानवानां जनार्दन।
अत्रान्तर्धरणीदेशे पराक्रम्य महाबलाः ॥ ४३ ॥

'जनार्दन ! यहाँ धरतीके भीतर दानवोंका 'षट्पुर' नामक नगर है, जहाँ पराक्रमपूर्वक महाबली दानव निवास करते हैं ॥ ४३ ॥

एते दैत्या दुरात्मानो जगतो देव कण्टकाः।
छन्ना वसन्ति गोविन्द सानावस्य महागिरेः ॥ ४४ ॥

'देव ! ये दुरात्मा दैत्य जगत्के लिये कण्टकरूप हैं। गोविन्द ! ये इस महापर्वतके शिखरपर छिपे रहते हैं ॥ ४४ ॥

अवध्या देवदेवानां वरेण ब्रह्मणोऽनघ।
मानुषान्तरितस्तस्मात् त्वमेताञ्जहि केशव ॥ ४५ ॥

'अनघ ! ब्रह्माजीके दिये हुए वरके प्रभावसे ये दैत्य देवदेवोंके लिये अवध्य हैं; अतः केशव ! तुम मानव-शरीरकी आड़ लेकर इन सब दैत्योंको मार डालो' ॥ ४५ ॥

एवमुक्त्वा महादेवस्तत्रैवान्तरधीयत ।
परिष्वज्य महात्मानं वासुदेवं जनाधिप ॥ ४६ ॥

जनेश्वर ! ऐसा कहकर महादेवजी महात्मा वासुदेवको हृदयसे लगाकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ४६ ॥

ततो याते महादेवे प्रभातायां नराधिप ।
तस्यां निशायां गोविन्दो भूयः पर्वतमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

नरेश्वर ! महादेवजीके चले जानेपर जब रात बीती और प्रभातकाल आया, तब भगवान् गोविन्दने पुनः उस पर्वतसे कहा—॥ ४७ ॥

तवाधः पर्वतश्रेष्ठ निवसन्ति महासुराः ।
अवध्या देवदेवानां वरेण ब्रह्मणः पुरा ॥ ४८ ॥

'पर्वतश्रेष्ठ ! तुम्हारे नीचे बड़े-बड़े असुर निवास करते हैं, जो पूर्वकालमें ब्रह्माजीका वर पानेके कारण देवाधिदेवोंके लिये भी अवध्य हैं ॥ ४८ ॥

निर्गमिष्यन्ति ते नैव मया रुद्धा महाबलाः ।
द्वारे निरुद्धे तत्रैव विनङ्क्ष्यन्ति ममाज्ञया ॥ ४९ ॥

'मैंने उन महाबली दैत्योंका द्वार बंद करके उन्हें अवरुद्ध कर दिया है। अब वे नहीं निकल सकेंगे। मेरी आज्ञासे द्वार अवरुद्ध हो जानेपर वहीं नष्ट हो जायँगे ॥ ४९ ॥

त्वयि संनिहितश्चाहं भविष्यामि महागिरे ।
अधिष्ठाय महाघोरान् निवत्स्यामि च पर्वत ॥ ५० ॥

'महागिरे ! मैं सदा तुमपर निवास करूँगा । पर्वत ! उन महाभयानक असुरोंको दबाकर मैं यहीं रहूँगा ॥ ५० ॥

आरुह्य मूर्ध्नि मद्रूपं दृष्ट्वा पर्वतसत्तम ।
गोसहस्रप्रदानस्य फलं प्राप्स्यति शाश्वतम् ॥ ५१ ॥

'पर्वतप्रवर ! जो इस पर्वतके शिखरपर आरूढ़ हो मेरे अर्चाविग्रहका दर्शन करेगा, वह सहस्र गोदानका शाश्वत (अक्षय) फल प्राप्त करेगा ॥ ५१ ॥

त्वत्तोऽश्मभिश्च प्रतिमां कारयित्वा हि भक्तितः ।
शुश्रूषयन्ति ये नित्यं मम यास्यन्ति ते गतिम् ॥ ५२ ॥

'जो लोग तुम्हारे प्रस्तरोंसे मेरी प्रतिमा बनवाकर प्रतिदिन भक्तिपूर्वक उसकी सेवा करेंगे, वे मेरी गतिको प्राप्त होंगे' ५२

इति तं पर्वतं कृष्णो वरदोऽनुगृहीतवान् ।
तदाप्रभृति देवेशस्तत्र संनिहितोऽच्युतः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार वरदायक श्रीकृष्णने उस पर्वतपर अनुग्रह किया और तभीसे देवेश्वर अच्युत वहाँ निवास करने लगे ॥

पाषाणैः प्रतिमां तात कारयित्वा च कौरव ।
शुश्रूषन्ति कृतात्मानो विष्णुलोकाभिकाङ्क्षिणः ॥५४॥

तात कुरुनन्दन ! शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष विष्णुलोककी इच्छा रखते हुए पारियात्रके पत्थरोंसे भगवान्‌की प्रतिमा बनवाकर सदा उसकी सेवा करते हैं ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे श्रीकृष्णकृतशिवस्तुतिर्नाम चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणके प्रसङ्गमें श्रीकृष्णकृत शिवस्तुतिविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

इन्द्र और उपेन्द्रका पुनर्युद्ध, उत्पातोंका प्राकट्य, ब्रह्माजीकी आज्ञासे कश्यप और अदितिका बीचमें आकर दोनोंका युद्ध बंद कराना, फिर सबका स्वर्गमें गमन, अदितिकी आज्ञासे शचीद्वारा उपहार पाकर पारिजातसहित द्वारकागमन, पारिजातसे द्वारकावासियोंकी प्रसन्नता, सत्यभामाके पुण्यक व्रतमें प्रतिग्रहके लिये श्रीकृष्णद्वारा नारदजीका स्मरण

वैशम्पायन उवाच

ततो रथवरं कृष्णः समारुह्य महामनाः ।
बिल्वोदकेश्वरं देवं नमस्कृत्य ययौ नृप ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरेश्वर ! तदनन्तर महामनस्वी श्रीकृष्ण बिल्वोदकेश्वरदेवको नमस्कार करके अपने श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो युद्धके लिये चले ॥ १ ॥

महेन्द्रमाह्वयामास रथस्थो मधुसूदनः ।
सत्कृतं पुष्कराभ्याशे सर्वैर्देवगणैः सह ॥ २ ॥

रथपर बैठे हुए मधुसूदनने पुष्करके निकट समस्त देवगणोंके साथ सत्कारपूर्वक खड़े हुए देवराज इन्द्रका युद्धके लिये आह्वान किया ॥ २ ॥

ततः शक्रो जयन्तोऽथ हरिभिर्युक्तमुत्तमम् ।
आरुरोह रथं देवः सर्वकामप्रदः सताम् ॥ ३ ॥

तब साधुओंको समस्त मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करनेवाले देवेन्द्र घोड़ोंसे जुते हुए उत्तम रथपर जयन्तसहित आरूढ़ हुए ॥ ३ ॥

ततो रथस्थयोर्युद्धमभवत् कुरुनन्दन ।
देवयोर्दैवयोगेन पारिजातकृते तदा ॥ ४ ॥

कुरुनन्दन ! तत्पश्चात् रथपर बैठे हुए उन दोनों देवताओंका दैववश पारिजातके लिये युद्ध आरम्भ हो गया ॥

ततोऽहनद् रणे विष्णुर्बाणैः शत्रुबलार्दनः।
सैन्यानि देवराजस्य बाणजालैरजिह्मगैः ॥ ५ ॥

उस रणभूमिमें शत्रुसेनाको पीड़ित करनेवाले श्रीकृष्णने अपने सीधे जानेवाले बाणसमूहोंद्वारा देवराज इन्द्रके सैनिकोंका संहार आरम्भ किया ॥ ५ ॥

उपेन्द्रं न महेन्द्रोऽथ नैव विष्णुः सुरेश्वरम्।
ताडयामासतुर्वीरौ शस्त्रैः शक्तावपि प्रभो ॥ ६ ॥

प्रभो ! वे दोनों वीर शक्तिशाली थे तो भी महेन्द्रने उपेन्द्रपर और उपेन्द्र विष्णुने देवेश्वर इन्द्रपर शस्त्रोंद्वारा प्रहार नहीं किया ॥ ६ ॥

एकैकमश्वं दशभिर्महेन्द्रस्य जनार्दनः।
विव्याध विशिखैस्तीक्ष्णैरस्त्रयुक्तैर्जनेश्वर ॥ ७ ॥

जनेश्वर ! जनार्दनने महेन्द्रके एक-एक अश्वको दिव्यास्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित दस-दस तीखे बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ७ ॥

शैब्याद्यानपि देवेन्द्रः शरैरमरसत्तमः।
छादयामास राजेन्द्र घोरैरस्त्राभिमन्त्रितैः ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! अमरश्रेष्ठ देवेन्द्रने भी दिव्यास्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित भयंकर बाणोंसे श्रीकृष्णके शैब्य आदि चारों घोड़ोंको आच्छादित कर दिया ॥ ८ ॥

स च बाणसहस्रैश्च कृष्णो गजमवाकिरत्।
गरुडं च महातेजा बलभिद्धरिवाहनम् ॥ ९ ॥

श्रीकृष्णने इन्द्रके ऐरावत हाथीपर सहस्रों बाण बरसाये तथा महातेजस्वी बलविनाशन इन्द्रने श्रीहरिके वाहन गरुड़पर हजारों बाणोंकी वर्षा की ॥ ९ ॥

भूयिष्ठाभ्यां रथाभ्यां तौ तदहः शत्रुदारणौ।
युयुधाते महात्मानौ नारायणसुराधिपौ ॥ १० ॥

शत्रुओंको विदीर्ण करनेवाले महात्मा नारायण और देवेन्द्र उस दिन बड़े-बड़े रथोंद्वारा युद्ध कर रहे थे ॥ १० ॥

चकम्पे वसुधा कृत्स्ना नौर्जलस्थेव भारत।
दिशां दाहेन दिग्देशाः संवृताश्च समन्ततः ॥ ११ ॥

भारत ! उस समय जलमें ठहरी हुई नौकाकी भाँति सारी पृथ्वी काँपने लगी। दिशाओंके प्रदेश सब ओरसे दिग्दाह-जनित आगकी लपटोंसे व्याप्त दिखायी देते थे ॥ ११ ॥

चेलुर्गिरिवराश्चैव पेतुश्च शतशो द्रुमाः।
पेतुश्च धरणीपृष्ठे मर्त्या धर्मगुणान्विताः ॥ १२ ॥

बड़े-बड़े पर्वत हिल गये। सैकड़ों वृक्ष गिर गये और धर्मात्मा मनुष्य भी धराशायी होने लगे ॥ १२ ॥

निर्घाताः शतशश्चैव पेतुस्तत्र नराधिप।
ऊहुश्च सरितः सर्वाः प्रतिस्रोतो विशाम्पते ॥ १३ ॥

नरेश्वर ! वहाँ सैकड़ों बार वज्रपात हुआ तथा प्रजानाथ ! समस्त सरिताएँ अपने प्रवाहके प्रतिकूल उलटी दिशामें बहने लगीं ॥ १३ ॥

विष्वग्वाता ववुश्चैव पेतुरुल्काश्च निष्प्रभाः।
मुहुर्मुहुर्भूतसंघा रथनादेन मोहिताः ॥ १४ ॥

चारों ओर आँधी चलने लगी, प्रभाशून्य उल्काएँ गिरने लगीं और प्राणियोंके समुदाय रथोंकी घर्घराहटसे बारंबार मोहित होने लगे ॥ १४ ॥

प्रजज्वाल जले चैव वह्निर्जनपदेश्वर।
युयुधुश्च ग्रहैः सार्द्धं ग्रहा नभसि सर्वतः ॥ १५ ॥

जनपदेश्वर ! पानीमें भी आग जलने लगी। आकाशमें सब ओर ग्रह दूसरे ग्रहोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ १५ ॥

ज्योतींषि शतशः पेतुः स्वर्गाच्च धरणीतले।
दिशां गजाः प्रकुपिता नागाश्च धरणीतले ॥ १६ ॥

सैकड़ों तारे टूटकर स्वर्गसे पृथ्वीपर गिर पड़े। दिग्गज और पातालनिवासी नाग अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ १६ ॥

गर्दभारुणसंस्थानैश्छिन्नाभ्रैश्चावृतं नभः।
विनदद्भिर्महारावैरुल्काशोणितवर्षिभिः ॥ १७ ॥

गदहोंकी भाँति धूसर और अरुण वर्णवाले बादलोंके टुकड़े बड़े जोर-जोरसे गर्जना करते हुए आकाशमें छा गये और उल्कापात तथा रक्तकी वर्षा करने लगे ॥ १७ ॥

न भूर्न द्यौर्न गगनं नरेन्द्रवृषभाभवन्।
स्वस्थानि सुरवीरौ तु दृष्ट्वा युद्धगतौ तदा ॥ १८ ॥

नरेन्द्रशिरोमणे ! उस समय उन दोनों देववीरोंको युद्धमें उपस्थित हुआ देख भूमि, अन्तरिक्ष तथा आकाशके प्राणी स्वस्थ न रह सके ॥ १८ ॥

जेपुर्मुनिगणा मन्त्राञ्जगतो हितकाम्यया।
ब्राह्मणाश्च महात्मानो ह्यतिष्ठंस्तेषु सत्वराः ॥ १९ ॥

मुनिगण जगत्के हितकी कामनासे मन्त्रोंका जप करने लगे और महात्मा ब्राह्मण भी बड़ी उतावलीके साथ उन्हीं मन्त्रोंके जपमें संलग्न हो गये ॥ १९ ॥

ततो ब्रह्मा महातेजाः कश्यपं वाक्यमब्रवीत्।
गच्छ वध्वा सहादित्या पुत्रौ वारय सुव्रत ॥ २० ॥

तब महातेजस्वी ब्रह्माने कश्यपसे कहा—'सुव्रत ! तुम बहू अदितिके साथ जाओ और दोनों पुत्रोंको मना करो' ॥

स तथेति तदा देवमुक्त्वा पद्मभवं मुनिः।
जगाम रथमास्थाय तस्थौ नरवरान्तिके ॥ २१ ॥

नरश्रेष्ठ ! तब ब्रह्माजीसे 'बहुत अच्छा' कहकर मुनिवर कश्यप रथपर बैठकर गये और दोनों पुत्रोंके निकट खड़े हो गये ॥ २१ ॥

स्थितं तु कश्यपं दृष्ट्वा सहादित्या तदन्तरा ।
उभौ रथाभ्यां धरणीमवतीर्णौ महाबलौ ॥ २२ ॥

बीचमें अदितिसहित कश्यपको खड़ा हुआ देख वे दोनों महाबली वीर रथोंसे पृथ्वीपर उतर गये ॥ २२ ॥

न्यस्तशस्त्रौ च तौ वीरौ ववन्दतुररिंदमौ ।
पितरौ धर्मतत्त्वज्ञौ सर्वभूतहिते रतौ ॥ २३ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले उन दोनों वीरोंने हथियार नीचे डालकर समस्त भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले धर्मतत्त्वके ज्ञाता माता-पिताको प्रणाम किया ॥ २३ ॥

उभौ गृहीत्वा हस्ताभ्यामदितिस्त्वब्रवीद् वचः ।
असोदराविवैवं किमन्योन्यं हन्तुमिच्छतः ॥ २४ ॥

उस समय अदितिने दोनोको हाथोंसे पकड़कर कहा— 'जो एक माताकी कोखसे पैदा न हुए हों, ऐसे दो व्यक्तियोंकी भाँति तुम दोनों एक-दूसरेको मारनेकी इच्छा क्यों करते हो?॥

स्वल्पमर्थं पुरस्कृत्य प्रवृत्तमतिदारुणम् ।
सदृशं नेति पश्यामि सर्वथा मम पुत्रयोः ॥ २५ ॥

'छोटी-सी वस्तुको सामने रखकर यह अत्यन्त दारुण कर्म आरम्भ हो गया । मैं सब प्रकारसे विचार करके देखती हूँ तो यह काम मुझे अपने पुत्रोंके योग्य नहीं दिखायी देता ॥

श्रोतव्यं यदि मातुश्च पितुश्चैव प्रजापतेः ।
न्यस्तशस्त्रौ स्थितौ भूत्वा कुरुतं वचनं मम ॥ २६ ॥

'यदि तुम दोनोंको माताकी बात सुननी है और अपने पिता प्रजापतिकी आज्ञाका पालन करना है तो तुम दोनों नीचे हथियार डालकर सामने खड़े हो जाओ और मैं जो कहूँ, उसे मानो' ॥ २६ ॥

तथेत्युक्त्वा च तौ देवौ स्नातुकामौ महाबलौ ।
गङ्गां जग्मतुरेवाथ प्रजल्पन्तौ परस्परम् ॥ २७ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर दोनो महाबली देवता स्नानकी इच्छासे परस्पर बात करते हुए गङ्गातटपर गये ॥ २७ ॥

शक्र उवाच

त्वं प्रभुर्लोककृत् कृत्स्नराज्येऽहं स्थापितस्त्वया ।
स्थापयित्वा कथं नाम पुनर्मामवमन्यसे ॥२८॥

इन्द्रने कहा—श्रीकृष्ण ! तुम समस्त संसारकी सृष्टि करनेवाले प्रभु हो ! तुमने ही सारी त्रिलोकीके राज्यपर मुझे स्थापित किया है । स्थापित करके फिर किसलिये मेरा अपमान करते हो ? ॥ २८ ॥

भ्रातृत्वमुपगम्यैव ज्येष्ठत्वं चाप्यपोह्य च ।
कथं कमलपत्राक्ष निर्वाणं कर्तुमिच्छसि ॥ २९ ॥

कमलनयन ! तुम मेरे भाई होकर भी मेरी ज्येष्ठताको दूर हटाकर उसका कुछ भी खयाल न करके कैसे मेरे जीवन-दीपको सदाके लिये बुझा देना चाहते हो ? ॥ २९ ॥

स्नातौ तु जाह्नवीतोये पुनरभ्यागतौ नृप ।
यत्रादितिः कश्यपश्च महात्मानौ दृढव्रतौ ॥ ३० ॥

नरेश्वर ! गङ्गाजीके जलमें नहाकर दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे दोनों महात्मा श्रीकृष्ण और इन्द्र जहाँ कश्यप और अदिति विद्यमान थे, वहाँ पुनः आ पहुँचे ॥

प्रियसंगमनं नाम तं देशं मुनयोऽवदन् ।
यत्र तौ संगतौ चोभौ पितृभ्यां कमलेक्षणौ ॥ ३१ ॥

मुनिलोग उस स्थानका नाम प्रियसङ्गमन बतलाते हैं, जहाँ वे दोनों कमललोचन बन्धु माता-पितासे मिले थे ॥३१॥

ततः शक्रस्य कौरव्य दत्त्वा वाचाभयं तदा ।
यत्र देवगणाः सर्वे समेता धर्मचारिणः ॥ ३२ ॥

कुरुनन्दन ! तदनन्तर श्रीकृष्णने इन्द्रको उस स्थानपर अपनी वाणीद्वारा अभयदान दिया, जहाँ समस्त धर्माचारी देवता एकत्र थे ॥ ३२ ॥

ततो ययुर्विमानैस्तु देवाः सर्वे त्रिविष्टपम् ।
ऋद्ध्या परमया युक्तास्तेषामेवानुरूपया ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् सब देवता उत्तम समृद्धिसे, जो उन्हींके अनुरूप थी, युक्त हो अपने-अपने विमानोंद्वारा स्वर्गलोकको गये ॥

कश्यपश्चादितिश्चैव तथा शक्रजनार्दनौ ।
विमानमेकमारुह्य गता राजंस्त्रिविष्टपम् ॥ ३४ ॥

राजन् ! कश्यप, अदिति, इन्द्र और श्रीकृष्ण—ये सब लोग एक विमानपर बैठकर स्वर्गलोकको गये ॥ ३४ ॥

ते शक्रसदनं प्राप्ता रम्यं सर्वगुणान्वितम् ।
ऊषुरेकत्र कौरव्य मुदिता धर्मचारिणः ॥ ३५ ॥

कुरुनन्दन ! सर्वसद्गुण-सम्पन्न रमणीय इन्द्रभवनमें पहुँचकर वे समस्त धर्माचारी महात्मा बड़े आनन्दके साथ एक ही जगह ठहरे ॥ ३५ ॥

शची तु कश्यपं पत्न्या सहितं धर्मवत्सला ।
उपाचरन्महात्मानं सर्वभूतहिते रतम् ॥ ३६ ॥

धर्मवत्सला शचीने समस्त भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले पत्नीसहित महात्मा कश्यपकी परिचर्या की ॥ ३६ ॥

ततस्तस्यां प्रभातायां रजन्यामब्रवीद्धरिम् ।
अदितिर्धर्मतत्त्वज्ञा सर्वभूतहितं वचः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब धर्मके तत्त्वको जाननेवाली अदितिने श्रीकृष्णसे यह समस्त प्राणियोंके लिये हितकर वचन कहा— ॥ ३७ ॥

उपेन्द्र द्वारकां गच्छ पारिजातं नयस्व च ।
वध्वा सम्प्रापयस्वेश पुण्यकं हृदये स्थितम् ॥ ३८ ॥

'उपेन्द्र ! द्वारकाको जाओ और पारिजात भी लेते जाओ । ईश ! वहू सत्यभामाके हृदयमें जो पुण्यक नामक व्रतका उत्सव करनेकी इच्छा है, उसे पूर्ण कराओ ॥ ३८ ॥

पुण्यके सत्यया प्राप्ते पुनरेष त्वया तरुः ।
नन्दने पुरुषश्रेष्ठ स्थाप्यः स्थाने यथोचिते ॥ ३९ ॥

'पुरुषश्रेष्ठ ! सत्यभामाद्वारा पुण्यक-व्रतका अनुष्ठान पूर्ण हो जानेपर फिर तुम्हीं इस वृक्षको नन्दनवनमें यथोचित स्थानपर स्थापित कर देना' ॥ ३९ ॥

एवमस्त्विति कृष्णेन देवमाता यशस्विनी ।
उक्ता धर्मगुणैर्युक्ता नारदेन महात्मना ॥ ४० ॥

तब श्रीकृष्णने यशस्विनी देवमाता अदितिसे, जिन्हें महात्मा नारदजीने धार्मिक गुणोंसे सम्पन्न बताया था, कहा—'ऐसा ही होगा' ॥ ४० ॥

ततोऽभिवाद्य पितरं मातरं च जनार्दनः ।
महेन्द्रं सह शच्याथ प्रतस्थे द्वारकां प्रति ॥ ४१ ॥

तदनन्तर पिता-माताको तथा शचीसहित महेन्द्रको प्रणाम करके श्रीकृष्ण द्वारकाकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ४१ ॥

ददौ कृष्णाय पौलोमी नियोगान् कुरुनन्दन ।
सर्वासामेव कृष्णस्य भार्याणां धर्मचारिणी ॥ ४२ ॥

कुरुनन्दन ! उस समय धर्मचारिणी शचीने श्रीकृष्णकी सभी पत्नियोंके लिये बहुत-से उपहार दिये ॥ ४२ ॥

दिव्यानां सर्वरत्नानां वाससां च मनस्विनी ।
नानारागविरक्तानां सदैवारजसामपि ॥ ४३ ॥
भार्याणां च सहस्राणि यानि षोडश माधवे ।
प्रतिगृह्य महातेजाः प्रययौ द्वारकां प्रति ॥ ४४ ॥

मनस्विनी शचीने उनकी सोलह हजार पत्नियोंके लिये सब प्रकारके दिव्य रत्न तथा भाँति-भाँतिके रंगोंमें रँगे हुए और कभी मलिन न होनेवाले बहुत-से वस्त्र श्रीकृष्णको अर्पित किये । महातेजस्वी श्रीकृष्ण वह सब उपहार लेकर द्वारकाको चले ॥ ४३-४४ ॥

सम्पूज्यमानो द्युतिमान् खेचरैः पुण्यकर्मभिः ।
ससात्यकिः सपुत्रश्च प्राप्तो रैवतकं गिरिम् ॥ ४५ ॥

पुण्यकर्मा आकाशचारी प्राणियोंसे पूजित होते हुए तेजस्वी श्रीकृष्ण सात्यकि और अपने पुत्र प्रद्युम्नसहित रैवतक पर्वतपर आ पहुँचे ॥ ४५ ॥

स तत्र स्थापयित्वा च पारिजातं वरद्रुमम् ।
सात्यकं प्रेषयामास द्वारकां द्वारशालिनीम् ॥ ४६ ॥

श्रेष्ठ वृक्ष पारिजातको वहीं स्थापित करके श्रीकृष्णने सात्यकिको द्वारशालिनी द्वारकापुरीको भेजा ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

पारिजातमिहानीतं महेन्द्रसदनान्मया ।
निवेदय महाबाहो भैमानां भैमवर्द्धन ॥ ४७ ॥

श्रीकृष्ण बोले—भीमवंशी यादवोंमें भीमकुलकी वृद्धि करनेवाले महाबाहो ! तुम द्वारकामें जाकर यह सूचना दे दो कि मैं इन्द्रभवनसे पारिजात वृक्षको यहाँ लाया हूँ ॥ ४७ ॥

अद्य द्वारवतीं चैव पारिजातमहं द्रुमम् ।
प्रवेशयिष्ये नगरे शोभा प्रक्रियतां शुभा ॥ ४८ ॥

आज मैं द्वारवतीपुरीमें पारिजात वृक्षका प्रवेश कराऊँगा; अतः नगरमें सुन्दर ढंगसे सजावट की जाय ॥ ४८ ॥

इत्युक्तः सात्यकी गत्वा तथोक्त्वा पुनरागतः ।
कुमारैर्नागरैः सार्द्धं साम्बप्रभृतिभिः प्रभो ॥ ४९ ॥

प्रभो ! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर सात्यकि नगरमें गये और उनका संदेश सुनाकर साम्ब आदि कुमारों तथा नागरिकोंके साथ फिर वहीं लौट आये ॥ ४९ ॥

ततोऽग्रतः पारिजातमारोप्य गरुडे तदा ।
प्रद्युम्नो द्वारकां रम्यां विवेश रथिनां वरः ॥ ५० ॥

तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नने पारिजातको अपने आगे गरुड़पर रखकर सबसे पहले रमणीय द्वारकापुरीमें प्रवेश किया॥

शैव्यादिहययुक्तेन रथेनानुययौ हरिः ।
तस्याथ रथमुख्येन सात्यकः साम्ब एव च ॥ ५१ ॥

फिर शैव्य आदि घोड़ोंसे जुते हुए रथके द्वारा श्रीकृष्णने पारिजातका अनुसरण किया । उन्हींके श्रेष्ठ रथद्वारा सात्यकि और साम्ब भी गये ॥ ५१ ॥

ये त्वन्ये नृप वार्ष्णेया यानैर्बहुविधैस्तथा ।
ययुः प्रहृष्टास्तत् कर्म पूजयन्तो महात्मनः ॥ ५२ ॥

नरेश्वर ! जो अन्य वृष्णिवंशी थे, वे अनेक प्रकारके वाहनोंद्वारा महात्मा श्रीकृष्णके उस कर्मकी प्रशंसा करते हुए बड़े हर्षके साथ पुरीमें प्रविष्ट हुए ॥ ५२ ॥

सात्यकाद् विस्तरं श्रुत्वा यादवा नागरास्तथा ।
विस्मयं परमं जग्मुरप्रमेयस्य कर्मणा ॥ ५३ ॥

सात्यकिसे पारिजात-हरणका विस्तृत समाचार सुनकर यादव तथा नागरिक अप्रमेयस्वरूप श्रीकृष्णके उस कर्मसे बड़े विस्मयको प्राप्त हुए ॥ ५३ ॥

तं दिव्यकुसुमं वृक्षं दृष्ट्वाऽऽनर्तनिवासिनः ।
राजन् न तृप्तिं ययुर्हृष्टाः पश्यमाना महोदयम् ॥ ५४ ॥

राजन् ! उस महान् अभ्युदयकारी दिव्य पुष्पवाले वृक्षको देखकर आनर्तनिवासी बड़े प्रसन्न हुए । वे बारंबार देखनेपर भी तृप्त नहीं होते थे ॥ ५४ ॥

तमद्भुतमचिन्त्यं च मदकेलिकलाण्डजम् ।
वृक्षोत्तमं पश्यतां वै वृद्धानामगमज्जरा ॥ ५५ ॥

उस वृक्षपर बहुत-से पक्षी मदमत्त होकर केलिकलामें आसक्त हो रहे थे। उस अद्भुत, अचिन्त्य एवं उत्तम वृक्षका दर्शन करनेवाले वृद्धोंकी वृद्धावस्था तत्काल दूर हो गयी॥

ये त्वन्धचक्षुषः सर्वे तेऽभवन् दिव्यचक्षुषः।
विरोगा रोगिणश्चासन् घ्रात्वा गन्धं वनस्पतेः॥ ५६॥

उस वनस्पतिकी गन्ध सूँघकर रोगी नीरोग हो गये और जिनकी आँखें पहले अंधी थीं, वे उस समय दिव्य दृष्टिसे सम्पन्न हो गये॥ ५६॥

लपन्तः कोकिलाञ्छ्वेताञ्छ्रुत्वाऽऽनर्तनिवासिनः।
बभूवुर्हृष्टमनसो ववन्दुश्च जनार्दनम्॥ ५७॥

पारिजात वृक्षपर सफेद कोकिलोंको मधुर बोली बोलते सुनकर आनर्त देशके निवासी मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और भगवान् जनार्दनकी वन्दना करने लगे॥ ५७॥

नानाविधानि तूर्याणि गेयानि मधुराणि च।
शुश्रुवुस्तस्य वृक्षस्य नातिदूरं गता नराः॥ ५८॥

उस वृक्षके समीप गये हुए मनुष्य नाना प्रकारके वाद्य और मीठे-मीठे गीत सुनते थे॥ ५८॥

योऽयं संकल्पयामास गन्धं हृद्यं नरस्तथा।
स तदेव तमाजघ्रे पारिजातसमुद्भवम्॥ ५९॥

मनुष्य अपने मनमें जिस-जिस मनोरम सुगन्धके लिये संकल्प करते थे, वही तत्काल पारिजात वृक्षसे उनकी घ्राणेन्द्रियमें प्रकट हो जाती थी॥ ५९॥

ततः प्रविश्य रम्यां तु द्वारकां यदुनन्दनः।
वसुदेवं महात्मानं ददर्श देवकीं तथा॥ ६०॥

तदनन्तर यदुनन्दन श्रीकृष्णने रमणीय द्वारकापुरीमें प्रवेश करके महात्मा वसुदेव तथा माता देवकीका दर्शन किया॥

कुकुराधिपतिं चैव बलं भ्रातरमेव च।
वृद्धाश्च यादवानां ये मानार्हानमरोपमान्॥ ६१॥

फिर क्रमशः कुकुरवंशके अधिपति उग्रसेन, भैया बलराम तथा यादवोंमें जो बड़े-बूढ़े माननीय देवोपम पुरुष थे, उन सबसे वे मिले॥ ६१॥

विसृज्य तान् वै भगवाननादिनिधनोऽच्युतः।
सम्पूज्य च यथान्यायं स्वमेव भवनं गतः॥ ६२॥

तत्पश्चात् उन सबका यथोचित पूजन करके उन्हें विदा करनेके पश्चात् आदि-अन्तसे रहित भगवान् अच्युत अपने ही भवनमें चले गये॥ ६२॥

स सत्यभामया वासं विवेश मधुसूदनः।
पारिजातं तरुश्रेष्ठं प्रहाय गदपूर्वजः॥ ६३॥

गदके बड़े भाई उन मधुसूदनने तरुश्रेष्ठ पारिजातको लेकर सत्यभामाके भवनमें प्रवेश किया॥ ६३॥

सा देवी पूजयामास प्रहृष्टा वासवानुजम्।
प्रतिजग्राह तं चापि पारिजातं महाद्रुमम्॥ ६४॥

देवी सत्यभामाने अत्यन्त प्रसन्न होकर इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णका पूजन किया और उस विशाल वृक्ष पारिजातको ले लिया॥ ६४॥

मनीषितेन स तरुरल्पो भवति भारत।
महांश्च वासुदेवस्य तदद्भुतमभून्महत्॥ ६५॥

भारत! वह वृक्ष वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी इच्छाके अनुसार कभी छोटा हो जाता था और कभी बहुत बड़ा। यह उसके विषयमें बड़ी ही अद्भुत बात थी॥ ६५॥

कदाचिद् द्वारकां सर्वां प्रच्छादयति भारत।
कदाचिद्धस्तधार्यस्तु भवत्यङ्गुष्ठसंनिभः॥ ६६॥

भरतनन्दन! कभी तो वह वृक्ष इतना अधिक बढ़ जाता कि सारी द्वारकाको आच्छादित कर लेता था और कभी हाथपर रख लेने योग्य अङ्गूठेके बराबर हो जाता था॥६६॥

ननन्द सत्या कौरव्य देवी प्राप्य मनोरथम्।
पुण्यकार्थे तु सम्भारान् सम्भर्तुमुपचक्रमे॥ ६७॥

कुरुनन्दन! देवी सत्या उस मनोवाञ्छित वृक्षको पाकर बहुत प्रसन्न हुई। उन्होंने पुण्य-व्रतके लिये सामान जुटाना आरम्भ किया॥ ६७॥

यानि द्रव्याणि कौरव्य जम्बूद्वीपे तु कानिचित्।
योग्यानि तानि कृष्णेन सम्भृतानि महात्मना॥ ६८॥

कुरुकुलभूषण! जम्बूद्वीपमें जो कोई भी उपयुक्त द्रव्य थे, उन सबका महात्मा श्रीकृष्णने संग्रह कर लिया॥ ६८॥

मुनिं तदा संस्मृतवान् स नारदं
जनार्दनः सर्वगुणोचितं वशी।
प्रतिग्रहार्थं व्रतकस्य सत्यया
यथोपदिष्टस्य पुरंदरानुजः॥ ६९॥

उस समय इन्द्रके छोटे भाई जितेन्द्रिय जनार्दनने सत्यभामाको बताये और उनके द्वारा आचरणमें लाये गये पुण्यकव्रतमें दिये जानेवाले दानको ग्रहण करनेके लिये सर्वगुणसम्पन्न नारद मुनिका स्मरण किया॥ ६९॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातानयने पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातका आनयनविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७५॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

सत्यभामाद्वारा पुण्यक-व्रतमें श्रीकृष्णका नारदजीको दान, नारदजीका निष्क्रय लेकर श्रीकृष्णको छोड़ना और उनसे वर पाना, श्रीकृष्णका सगे-सम्बन्धियोंको पारिजात दिखाकर पुनः उसे स्वर्गमें पहुँचाना

वैशम्पायन उवाच

अथ कृष्णस्य कौरव्य ध्यातमात्रस्तपोधनः।
आजगाम मुनिश्रेष्ठो नारदो वदतां वरः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन! श्रीकृष्णके चिन्तन करते ही तपस्याके धनी, वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनिवर नारदजी वहाँ आ पहुँचे॥ १॥

सम्पूजयित्वा विधिवद् वासुदेवो विशाम्पते।
प्रतिग्रहार्थं विधिवच्छ्रीमान् भक्त्या न्यमन्त्रयत्॥ २॥

प्रजानाथ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने विधिपूर्वक नारदजीकी पूजा करके भक्तिभावसे प्रतिग्रह लेनेके लिये तुम्हें सविधि निमन्त्रण दिया॥ २॥

ततः काले च सम्प्राप्ते स्नातं देवो महामुनिम्।
सम्पूज्य माल्यैर्गन्धैश्च भोजयामास भारत॥ ३॥
सार्वकामिकमन्नाद्यं सर्वभूतकृदन्वयः।
सत्यया प्रियया सार्द्धं प्रहृष्टेनान्तरात्मना॥ ४॥

भारत! तदनन्तर भोजनका समय प्राप्त होनेपर स्नान किये हुए महामुनि नारदका गन्ध और माल्य आदिके द्वारा पूजन करके सर्वभूतस्रष्टा सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्णने अपनी प्यारी पत्नी सत्याके साथ अत्यन्त प्रसन्न मनसे उन्हें सबकी रुचिके अनुकूल भोजन कराया॥ ३-४॥

पुष्पदामावसज्याथ कण्ठे कृष्णस्य भाविनी।
बबन्ध कृष्णं सुभगा पारिजाते वनस्पतौ॥ ५॥

सौभाग्यशालिनी भामिनी सत्यभामाने श्रीकृष्णके कण्ठमें फूलकी माला डालकर उन्हें पारिजात वृक्षमें बाँध दिया॥५॥

अद्भिर्ददौ नारदाय ततोऽनुज्ञाप्य केशवम्।
देवी धेनुसहस्रं च काञ्चनस्य च पर्वतम्॥ ६॥
हिरण्यरूप्यमिश्रं च मणिरत्नप्रभस्य च।
तिलमिश्रस्य च तथा धान्यैरन्यैर्युतस्य च॥ ७॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्णकी आज्ञा लेकर देवी सत्याने नारदजीको जलके द्वारा श्रीकृष्णका दान कर दिया। साथ ही एक सहस्र धेनु तथा सोनेका पर्वत भी दिया। वह पर्वत मणि एवं रत्नोंकी प्रभासे युक्त था। उसमें तिलका भी सम्मिश्रण किया गया था तथा अन्य प्रकारके धान्योंसे भी वह सम्पन्न था। उस काञ्चन पर्वतके साथ सोने और चाँदी-का भी संयोग था॥ ६-७॥

प्रतिगृह्य तु तत् सर्वं नारदो मुनिसत्तमः।
स सम्प्रहृष्टो भुक्त्वाथ भूयः केशवमब्रवीत्॥ ८॥

मुनिश्रेष्ठ नारद वह सारा दान ग्रहण करके बड़े प्रसन्न हुए और भोजन करके पुनः श्रीकृष्णसे बोले—॥ ८॥

भोः केशव मदीयस्त्वमद्भिर्दत्तोऽसि सत्यया।
स त्वं मामनुगच्छस्व कुरु यद्यद् ब्रवीम्यहम्॥ ९॥

'हे केशव! अब आप मेरे हो गये; क्योंकि सत्याने जलके साथ आपका दान कर दिया है; अतः आप मेरे पीछे-पीछे आइये और मैं जो आज्ञा दूँ, उसका पालन कीजिये'॥ ९॥

प्रथमः पक्ष इत्येवमब्रवीन्मधुसूदनः।
व्रजन्तमनुवव्राज नारदं च जनार्दनः॥ १०॥

तब जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'यही मुख्य पक्ष है।' ऐसा कहकर वे जाते हुए नारदजीके पीछे-पीछे चले॥ १०॥

परिहासं बहुविधं कृत्वा मुनिवरस्तदा।
तिष्ठस्व गच्छामीत्युक्त्वा परिहासविचक्षणः॥ ११॥
अपनीय ततः कण्ठात् पुष्पदामैनमब्रवीत्।
कपिलां गां सवत्सां भो निष्क्रयार्थं प्रयच्छ मे॥ १२॥

तब परिहासमें कुशल मुनिवर नारदजीने नाना प्रकारका परिहास करके कहा—'अच्छा, अब आप रहिये। मैं जाता हूँ।' ऐसा कहकर उनके कण्ठसे फूलकी माला हटाकर उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—'मुझे निष्क्रयके लिये बछड़े-सहित कपिला गौका दान कीजिये॥ ११-१२॥

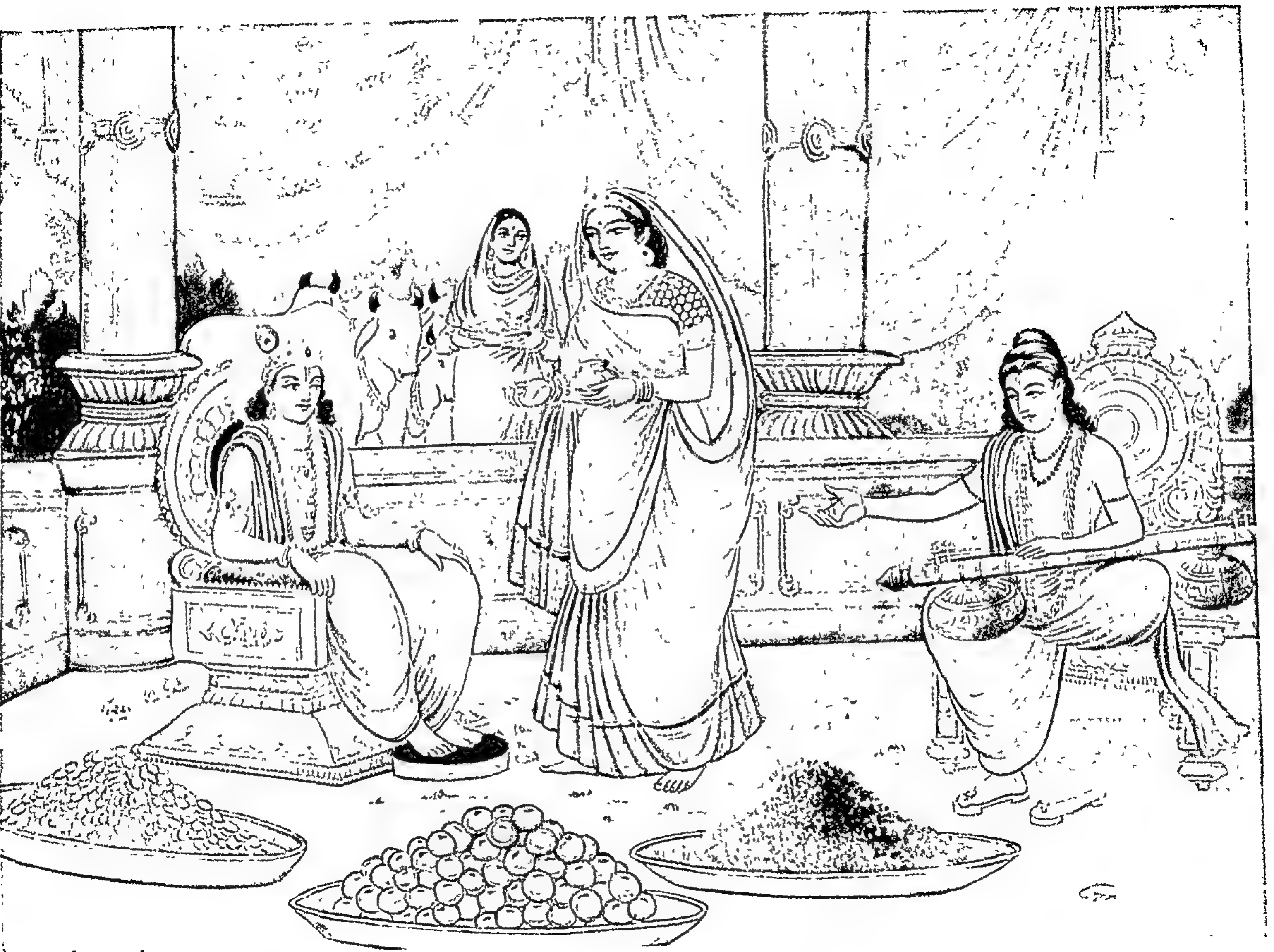
कृष्णाजिनं तिलैः पूर्णं प्रयच्छ च सकाञ्चनम्।
एषोऽत्र निष्क्रयः कृष्ण विहितो वृषकेतुना॥ १३॥

'श्रीकृष्ण! तिलके साथ काला मृगचर्म और सुवर्ण भी दीजिये। भगवान् शङ्करने यहाँ यही निष्क्रय नियत किया है'॥ १३॥

तथेत्युक्त्वा हृषीकेशस्तथा चक्रे जनाधिप।
स उवाच मुनिश्रेष्ठं हसित्वा मधुसूदनः॥ १४॥

जनेश्वर! तब 'तथास्तु' कहकर हृषीकेश मधुसूदनने वैसा ही किया। फिर हँसकर वे मुनिश्रेष्ठ नारदसे बोले—॥१४॥

वरं वरय धर्मज्ञ यस्ते नारद काङ्क्षितः।
तत्ते दातास्मि धर्मज्ञ परा प्रीतिर्हि मे त्वयि॥ १५॥



सत्यभामाजीके द्वारा नारदजीको श्रीकृष्णका दान (पृष्ठ-संख्या ५२०)

'धर्मज्ञ नारद ! तुम्हें जो अभीष्ट हो, वह वर मुझसे माँगो। मैं तुम्हें वह वर अवश्य दूँगा; क्योंकि तुम्हारे ऊपर मेरा बहुत प्रेम है' ॥ १५ ॥

नारद उवाच

नित्यमेवास्तु मे प्रीतो भवान् विष्णो सनातन।
त्वत्प्रसादात्तु सालोक्यं व्रजेयं ते महामते ॥ १६ ॥

नारदजीने कहा—सनातन विष्णो ! महामते ! आप मुझपर सदा ही प्रसन्न रहें और आपकी कृपासे मुझे आपही-का सालोक्य प्राप्त हो ॥ १६ ॥

अयोनिजो भवेयं ते नारायण सतां गते।
भवेयं ब्राह्मणश्चैव पुनर्जात्यन्तरेष्वपि ॥ १७ ॥

सत्पुरुषोंके आश्रयभूत नारायण ! मैं आपकी कृपासे अयोनिज होऊँ और जन्मान्तरोंमें भी पुनः ब्राह्मण ही होऊँ ॥ १७ ॥

एवमस्त्विति तं देवो विष्णुः प्रोवाच भारत।
तुतोष च ततो धीमान् नारदो मुनिसत्तमः ॥ १८ ॥

भारत ! तब भगवान् विष्णुने उनसे कहा—'एवमस्तु (ऐसा ही हो)।' यह वरदान पाकर बुद्धिमान् मुनिश्रेष्ठ नारद बहुत संतुष्ट हुए ॥ १८ ॥

षोडश स्त्रीसहस्राणि विष्णोरतुलतेजसः।
निमन्त्रितानि कौरव्य सत्यया हरिकान्तया ॥ १९ ॥

कुरुकुलनन्दन ! श्रीकृष्णप्रिया सत्याने अतुल तेजस्वी श्रीहरिकी सोलह हजार स्त्रियोंको अपने भवनमें निमन्त्रित किया ॥ १९ ॥

तासां ददौ संनियोगमेकैकं हरिवल्लभा।
शच्या यो वासुदेवस्य पुरा दत्तो नराधिप ॥ २० ॥

नरेश्वर ! पहले शचीने भगवान् वासुदेवको जो भेंट-सामग्री दी थी, श्रीकृष्णवल्लभा सत्यभामाने उसमेंसे एक-एक वस्तुको लेकर उन सबको दिया ॥ २० ॥

पारिजातो वसंस्तत्र ततः प्रववृते तदा।
आज्ञया वासुदेवस्य नारदेन महात्मना ॥ २१ ॥
निमन्त्रिता गणाः सर्वे केशवेन महात्मना।
विभूतिं पारिजातस्य ददृशुः कुरुनन्दन ॥ २२ ॥

पारिजात वृक्ष वहाँ रहकर अपने गुणोंको प्रसिद्ध करने लगा। तत्पश्चात् श्रीकृष्णकी आज्ञासे महात्मा नारदने उनके समस्त सुहृदोंको निमन्त्रित किया। कुरुनन्दन ! महात्मा केशवद्वारा निमन्त्रित हुए उन सब लोगोंने अपनी आँखोंसे पारिजात वृक्षका वैभव देखा ॥ २१-२२ ॥

पाण्डवांश्चानयामास सहैव पृथया हरिः।
द्रौपद्या च महातेजास्तथैव च सुभद्रया ॥ २३ ॥

महातेजस्वी श्रीहरिने कुन्ती, द्रौपदी और सुभद्राके साथ पाण्डवोंको भी द्वारकामें बुलवाया ॥ २३ ॥

श्रुतश्रवां च ससुतां भीष्मकं ससुतं तदा।
अन्यानपि च कौरव्य मित्रसम्बन्धिबान्धवान् ॥ २४ ॥

कुरुनन्दन ! श्रुतश्रवा और उसके पुत्र शिशुपालको, भीष्मक और उसके पुत्र रुक्मीको तथा अन्यान्य मित्रों, सम्बन्धियों एवं बन्धु-बान्धवोंको श्रीकृष्णने वहाँ बुलवाया था २४

रेमे च सह पार्थेन फाल्गुनेन जनार्दनः।
सान्तःपुरो महातेजाः परमर्द्ध्यावसन्नृप ॥ २५ ॥

नरेश्वर ! महातेजस्वी जनार्दन कुन्तीपुत्र अर्जुनके साथ रनवाससहित वहाँ क्रीडाविनोदपूर्वक बड़े आनन्दसे रहे। वे उच्चकोटिकी समृद्धिसे सम्पन्न होकर द्वारकामें निवास करते थे ॥ २५ ॥

संवत्सरे ततो याते केशिहामरसत्तमः।
पारिजातं पुनः स्वर्गमानयत् सर्वभावनः ॥ २६ ॥

एक वर्ष बीत जानेपर सबको उत्पन्न करनेवाले अमर-शिरोमणि केशिहन्ता श्रीकृष्णने पारिजात वृक्षको पुनः स्वर्गलोकमें पहुँचा दिया ॥ २६ ॥

तत्रादितिं कश्यपं च दृष्ट्वा स्वजननीं प्रभुः।
शक्रेण सहितो धीमानप्रमेयपराक्रमः ॥ २७ ॥

अप्रमेय पराक्रमशाली बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ इन्द्रसहित जाकर पिता कश्यप तथा अपनी माता अदितिका दर्शन किया ॥ २७ ॥

तमुवाचादितिर्माता प्रणतं मधुसूदनम्।
सौभ्रात्रमस्तु वामेवं नित्यं चामरसत्तम ॥ २८ ॥
मनोरथं मम त्वं च पूरयस्व जनार्दन।

उस समय अपने चरणोंमें पड़े हुए मधुसूदनसे माता अदितिने कहा—'अमरश्रेष्ठ ! तुम दोनोंमें सदा ही अच्छा भ्रातृभाव बना रहे। जनार्दन ! तुम मेरे इसी मनोरथको पूर्ण करो' ॥ २८½ ॥

तथेत्येवाब्रवीत् कृष्णस्ततो मातरमात्मवान् ॥ २९ ॥
आमन्त्रयित्वा पितरौ देवराजानमब्रवीत्।
वासुदेवो महातेजाः कालप्राप्तमिदं वचः ॥ ३० ॥

तब मनस्वी श्रीकृष्णने माता अदितिसे कहा—'बहुत अच्छा, ऐसा ही करूँगा।' तत्पश्चात् पिता-मातासे विदा ले महातेजस्वी वासुदेवने देवराज इन्द्रसे यह समयोचित बात कही—॥ २९-३० ॥

महादेवेन देवेश संदिष्टोऽस्मि महात्मना।
अन्तर्भूमितलेऽवध्यानसुरान् प्रति मानद ॥ ३१ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले देवेन्द्र ! महात्मा महादेवजीने भूमिके भीतर निवास करनेवाले अवध्य असुरोंका वध करनेके लिये मुझे आदेश दिया है ॥ ३१ ॥

तदितो दशरात्रेण हन्ताहमसुरोत्तमान् ।
तत्रोपविष्टान् स्थातव्यं प्रवरेण महात्मना ॥ ३२ ॥
जयन्तेन च वीरेण दानवानां जिघांसया ।

'अतः मैं आजसे लेकर दस रातके भीतर भूमिके भीतर बैठे हुए उन बड़े-बड़े असुरोंका वध कर डालूँगा। वहाँ दानवोंके वधकी इच्छासे महात्मा प्रवर तथा वीर जयन्तको भी मेरे साथ रहना चाहिये ॥ ३२½ ॥

एकोऽत्र मानुषो देवो देवपुत्रस्तथा परः ॥ ३३ ॥
अवध्याः किल ते देवैर्ब्रह्मणो वरदर्पिताः ।
अस्माभिः किल हन्तव्या मानुषत्वमुपागतैः ॥ ३४ ॥

'इनमेंसे एक (प्रवर) तो मनुष्य देव है और दूसरा (जयन्त) देवपुत्र। ब्रह्माजीके वरसे मदमत्त हुए वे दैत्य देवताओंके लिये अवध्य हैं; परंतु मनुष्य-भावको प्राप्त हुए हमलोग उन्हें अवश्य मार डालेंगे' ॥ ३३-३४ ॥

तथेति कृष्णं स हरिः प्रीतरूपस्तथाब्रवीत् ।
सस्वजाते ततो देवावन्योन्यं जनमेजय ॥ ३५ ॥

जनमेजय ! तब इन्द्रने प्रसन्न होकर श्रीकृष्णसे कहा—'ऐसा ही होगा।' फिर वे दोनों देवता एक-दूसरेसे गले मिले ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे स्वर्गे पारिजातस्थापने षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणके प्रसङ्गमें पारिजातकी पुनः स्वर्गलोकमें स्थापनाविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

पुण्यक-विधिके वर्णनका उपक्रम

जनमेजय उवाच

पुण्यकानां ममोत्पत्तिं कथयस्व द्विजोत्तम ।
द्वैपायनप्रसादेन सर्वं हि विदितं तव ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! पुण्यकोंकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है, यह मुझे बताइये; क्योंकि द्वैपायन व्यासकी कृपासे आपको सब कुछ विदित है ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

उमया पुण्यकविधिर्नरेन्द्रोत्पादितः पुरा ।
शृणु येन विधानेन लोके धर्मभृतां वर ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेन्द्र ! पूर्वकालमें भगवती उमाने पुण्यकव्रतकी विधिका प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार लोकमें जिस विधानसे व्रत किया जाता है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

स्वर्गान्नीते पारिजाते कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा ।
ययौ द्वारवतीं धीमान् नारदो मुनिसत्तमः ॥ ३ ॥

जब अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्ण स्वर्गसे पारिजात वृक्षको द्वारकामें ले गये, उस समय बुद्धिमान् मुनिश्रेष्ठ नारदजी भी वहाँ पधारे ॥ ३ ॥

देवासुरे नृपश्रेष्ठ संग्रामे समुपस्थिते ।
षट्पुरस्य वधे घोरे महादेवाज्ञयानघ ॥ ४ ॥

निष्पाप नृपश्रेष्ठ ! जब महादेवजीकी आज्ञासे देवासुर-संग्रामका अवसर उपस्थित था और षट्पुरवासी दानवोंका घोर वध होनेवाला था, उसी समयकी बात है ॥ ४ ॥

कृष्णेन सहितं विप्रं नारदं धर्मवित्तमम् ।
आसीनं परिपप्रच्छ रुक्मिणी भैष्मिकी नृप ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ विप्रवर नारदजी श्रीकृष्णके साथ बैठे थे। उस समय भीष्मककुमारी रुक्मिणीने उनसे पूछा ॥ ५ ॥

तत्र जाम्बवती देवी सत्यभामा च भामिनी ।
गान्धारराजपुत्री च योगयुक्ता नराधिप ॥ ६ ॥
देव्यश्च नृप कृष्णस्य बह्व्योऽन्या वै समागताः ।
कुलशीलगुणोपेता धर्मशीलाः पतिव्रताः ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! वहाँ रुक्मिणीके साथ जाम्बवती देवी, भामिनी सत्यभामा, गान्धारराजकुमारी योगयुक्ता शैब्या तथा श्रीकृष्णकी अन्य बहुत-सी कुलवती, सुशीला, गुणवती, धर्मशीला एवं पतिव्रता पत्नियाँ भी आयी हुई थीं ॥ ६-७ ॥

रुक्मिण्युवाच

मुने धर्मभृतां श्रेष्ठ धर्मज्ञानभृतां वर ।
उत्पत्तिं पुण्यकानां त्वं वक्तुमर्हस्यशेषतः ॥ ८ ॥

रुक्मिणीने कहा—धर्मात्माओं और ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ मुने ! आप मुझे पुण्यकोंकी उत्पत्तिका वृत्तान्त पूर्णरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ ८ ॥

विधिं च फलयोगं च दानकालं तथैव च ।
कौतूहलं नस्तत्सिद्धिं वदस्व वदतां वर ॥ ९ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ देवर्षे ! उस पुण्यकव्रतकी विधि, फलयोग और दानकाल क्या है ? उसकी सिद्धि कैसे होती है ? यह सब बताइये । हमें उसके विषयमें सुननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ९ ॥

नारद उवाच

शृणु वैदर्भि धर्मज्ञे सपत्नीभिः सहानघे ।
पुण्यकानां विधिः प्रोक्तो यथा देवि पुरोमया ॥ १० ॥

नारदजीने कहा—धर्मको जाननेवाली निष्पाप विदर्भनन्दिनी ! देवि ! पूर्वकालमें उमादेवीने पुण्यकोंकी जैसी विधि बतायी थी, उसे तुम अपनी सौतोंके साथ सुनो ॥ १० ॥

चचारोमा व्रतं देवी पुण्यकानां शुचिव्रता ।
व्रतावसानेऽथ तया सख्यो देवि निमन्त्रिताः ॥ ११ ॥

देवि ! पवित्र व्रत धारण करनेवाली उमादेवीने जब पुण्यकोंका व्रत किया था, उस समय व्रतके अन्तमें उन्होंने अपनी सखियोंको निमन्त्रित किया ॥ ११ ॥

अदित्याद्याः सुताः सर्वा दक्षस्याक्लिष्टकर्मणः ।
पौलोमी च शची देवी ख्याता लोके पतिव्रता ॥ १२ ॥
रोहिणी च महाभागा सोमस्य दयिता सती ।
फाल्गुनी च तथा पूर्वा रेवती च विशाम्पते ॥ १३ ॥
तथा शतभिषा चैव मघा च कुरुनन्दन ।
एताभिर्हि महादेवी पूर्वमाराधिता सती ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! कुरुनन्दन ! अनायास ही सृष्टिसम्बन्धी महान् कर्म करनेवाले प्रजापति दक्षकी अदिति आदि समस्त पुत्रियाँ, लोकविख्यात पतिव्रता पुलोमकुमारी शची देवी, सोमकी प्यारी पत्नी सती साध्वी महाभागा रोहिणी, पूर्वा फाल्गुनी, रेवती, शतभिषा और मघा—ये सब-की-सब निमन्त्रित होकर वहाँ आयी थीं । इन सबने पूर्वकालमें सती महादेवी उमाकी आराधना की थी ॥ १२—१४ ॥

गङ्गा सरस्वती चैव वेणी गोदा च निम्नगा ।
तथा वैतरणी चैव गण्डकी या च भारत ॥ १५ ॥
अन्याश्च सरितो रम्या लोपामुद्रा च भारत ।
सत्यश्चान्या जगद् देव्यो धारयन्ति हिताः शुभाः ॥ १६ ॥

भारत ! गङ्गा, सरस्वती, वेणी, गोदावरी, वैतरणी और गण्डकी—ये तथा और भी बहुत सी रमणीय सरिताएँ वहाँ आयी थीं । लोपामुद्रा और अन्य शुभलक्षणा सती देवियाँ, जो अपने धर्मसे इस जगत्‌को धारण करती हैं, वहाँ उपस्थित थीं ॥ १५-१६ ॥

शुभाश्च गिरिनन्दिन्यो वह्निकन्याश्च सुव्रताः ।
स्वाहा वह्निप्रिया देवी सावित्री च यशस्विनी ॥ १७ ॥
ऋद्धिः कुबेरकान्ता च जलेशमहिषी तथा ।
भार्या पितृपतेश्चैव वसुपत्न्यस्तथा च याः ॥ १८ ॥

सुन्दरी गिरिकन्याएँ, उत्तम व्रतका पालन करनेवाली अग्नि-कन्याएँ, अग्निदेवकी प्यारी पत्नी स्वाहा देवी, यशस्विनी सावित्री देवी, कुबेरकान्ता ऋद्धि, जलके स्वामी वरुणकी रानी, यमराजकी भार्या तथा वसुओंकी पत्नियाँ भी वहाँ उपस्थित हुई थीं ॥ १७-१८ ॥

ह्रीः श्रीर्धृतिस्तथा कीर्तिराशा मेधा च सुव्रताः ।
प्रीतिर्मतिश्च ख्यातिश्च सन्नीतिश्च तपोधनाः ॥ १९ ॥

ह्री, श्री, धृति, कीर्ति, आशा, मेधा, प्रीति, मति, ख्याति और संनीति—ये सब उत्तम व्रतका पालन करनेवाली तपोधना नारियाँ भी वहाँ एकत्र हुई थीं ॥ १९ ॥

देव्यः सत्यस्तथैवान्याः सर्वभूतहिते रताः ।
तासां व्रतावसाने च पूजां चक्रेऽम्बिका तदा ॥ २० ॥

इनके सिवा और भी समस्त भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाली सती देवियाँ उपस्थित थीं । अम्बिकाने व्रतके अन्तमें उन सबका पूजन किया ॥ २० ॥

तिलरत्नमयं दत्त्वा पर्वतं सर्वधान्यवत् ।
वासोभिर्भूषणैर्मुख्यैर्नानारागैः सुमध्यमे ॥ २१ ॥

सुमध्यमे ! तिल और रत्नोंद्वारा निर्मित हुए सम्पूर्ण धान्योंसे युक्त पर्वतका दान करके उमाने अनेक रंगोंके अच्छे-अच्छे वस्त्रों और श्रेष्ठ आभूषणोंसे उनकी पूजा की ॥ २१ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां दत्तां देव्या तपोधनाः ।
उपविष्टाः कथाश्चित्राः कुर्वन्त्यो भर्तृदेवताः ॥ २२ ॥

उमादेवीद्वारा दी गयी उस पूजाको ग्रहण करके वे तपोधना एवं पतिव्रता देवियाँ वहाँ बैठकर आपसमें विचित्र कथावार्ता करने लगीं ॥ २२ ॥

पुण्यकार्थं कथास्तासामासन् देवी शशंस याः ।
विधिं च पुण्यकस्याथ सतीनां भर्तृदेवते ॥ २३ ॥

पतिदेवते ! उन सब देवियोंकी चर्चाका विषय था पुण्यकव्रत—वे उसके विषयमें जिज्ञासा करती थीं । उस समय देवी उमाने उन सतियोंको पुण्यकव्रत और उसकी विधिका उपदेश दिया था ॥ २३ ॥

तासां मतेन साध्वीनां सर्वासां सोमनन्दिनी ।
पर्यपृच्छदुमां देवीं पुण्यकानां विधिं वरा ॥ २४ ॥

वहाँ जुटी हुई उन सभी साध्वी देवियोंके मतसे श्रेष्ठ पतिव्रता सोमनन्दिनी अरुन्धतीने उमादेवीसे पुण्यकोंकी विधि पूछी ॥ २४ ॥

उमा तासां प्रियार्थं तु पुण्यकान्यब्रवीत् तदा ।
समक्षं मम वैदर्भि सर्वभूतहिते रता ॥ २५ ॥

विदर्भराजकुमारी ! समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाली उमादेवीने उन सतियोंका प्रिय करनेके लिये मेरे सामने ही उस समय उन्हें पुण्यकोंका उपदेश दिया ॥२५॥

ममैव चोमया दत्तः स तदा रत्नपर्वतः ।
प्रतिगृह्य मया चैव कृतो ब्राह्मणसाच्छुभे ॥ २६ ॥

शुभे ! उमादेवीने उस दिन मुझे ही उस रत्नमय पर्वतका दान दिया था । वह दान लेकर मैंने ब्राह्मणोंके अधीन कर दिया था ॥ २६ ॥

उमा त्वरुन्धतीं साध्वीमामन्त्र्य यदभाषत ।
शृणु कल्याणि वक्ष्यामि सर्वाभिः सहिता शुभे ॥ २७ ॥

शुभे ! कल्याणी ! उमादेवीने साध्वी अरुन्धतीको सम्बोधित करके जो भाषण दिया था, उसे मैं बता रहा हूँ । तुम इन सभी रानियोंके साथ उसे सुनो ॥ २७ ॥

पुण्यकानां विधिं कृत्स्नं यथावदनुपूर्वशः ।
यथा चैव मया दृष्टस्तत एव विधिः शुभे ॥ २८ ॥

शुभे ! पुण्यकोंकी सम्पूर्ण विधिका जैसा मैंने वर्णन सुना है और जिस रूपमें उसे देखा है, उसी रूपमें मैं क्रमशः इसका यथावत् वर्णन करता हूँ, तुम सुनो ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पुण्यकविधिकथने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पुण्यकविधिका कथनविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

उमाद्वारा सती स्त्रीके महत्त्वका वर्णन करते हुए पुण्यक-व्रतकी विधिका उपदेश

उमोवाच

सर्वज्ञाहं यदा भर्तुः प्रसादेन शुचिस्मिते ।
तदा पुरा ममादिष्टो दृष्टः पुण्यविधिः शुभः ॥ १ ॥

उमा बोलीं—पवित्र मुसकानवाली देवि ! मैं अपने पतिदेवकी कृपासे सर्वज्ञ हूँ तो भी पूर्वकालमें पतिदेवने मुझे इसका उपदेश दिया था । तभी मुझे इस शुभ पुण्यक-विधिका साक्षात्कार हुआ ॥ १ ॥

सनातनः पुण्यविधिरिति बुद्ध्यावगम्यताम् ।
महादेवप्रसादेन मया दृष्टस्त्वरुन्धति ॥ २ ॥

अरुन्धती ! तुम्हें अपनी बुद्धिसे इस बातको निश्चित रूपसे समझ लेना चाहिये कि पुण्यक-व्रतकी विधि सनातन है । मुझे महादेवजीकी कृपासे उसका दर्शन (ज्ञान) हुआ है॥

पुण्यकानि च सर्वाणि चीर्णवत्यस्म्यनिन्दिते ।
अनुज्ञया भगवतो भर्तुः शर्वस्य धीमतः ॥ ३ ॥

अनिन्दिते ! मैंने अपने पति बुद्धिमान् भगवान् शिवकी आज्ञासे समस्त पुण्यकोंका आचरण किया है ॥ ३ ॥

सतीत्वं धर्मचरणं यस्या नित्यमखण्डितम् ।
पुण्यकानां विधिस्तस्याः पुराणैः परिकीर्तितः ॥ ४ ॥

जिस नारीको सतीत्व और धर्माचरणका अखण्डित रूपसे निर्वाह सदा अभीष्ट होता है, उसीके लिये पुरातन महर्षियोंने पुण्यकोंकी विधिका प्रतिपादन किया है ॥ ४ ॥

दानोपवासपुण्यानि , सुकृतान्यप्यरुन्धति ।
निष्फलान्यसतीनां हि पुण्यकानि तथा शुभे ॥ ५ ॥

शुभे ! अरुन्धति ! असती नारियोंके द्वारा भलीभाँति किये जानेपर भी दान और उपवासके पुण्य तथा पुण्यक निष्फल हो जाते हैं ॥ ५ ॥

या वञ्चयन्ति भर्तारं योनिदुष्टाश्च याः स्त्रियः ।
योनिदोषात् पुण्यफलं नाश्नन्ति निरयङ्गमाः ॥ ६ ॥

जो स्त्रियाँ अपने पतिको ठगती हैं, उन्हें धोखा देती हैं, जिनकी योनि जारसङ्गसे दूषित हो गयी है, वे उस योनि-दोषके कारण पुण्यका फल नहीं भोगने पातीं; नरकमें ही गिरती हैं ॥ ६ ॥

साध्व्यो जगद् धारयन्ति सुशीलाः पतिदेवताः ।
अनन्या धर्मनित्याश्च सतीपन्थानमाश्रिताः ॥ ७ ॥

जिनके आचार-विचार शुद्ध हैं, जो पतिको ही आराध्यदेव मानती हैं, उनमें अनन्य भावसे अनुरक्त होती हैं, सदा धर्मके अनुष्ठानमें लगी रहती हैं और सतियोंके पथपर ही चलती हैं, वे साध्वी स्त्रियाँ ही इस जगत्को धारण करती हैं ॥ ७ ॥

अवाग्दुष्टाः शौचयुक्ता धृतिमत्यः शुभव्रताः ।
सततं साधुवादिन्यो धारयन्ति जगत् खलु ॥ ८ ॥

जिनकी वाणी परनिन्दा और असत्य आदि दोषसे दूषित नहीं है, जो बाहर-भीतरसे शुद्ध रहनेवाली हैं, जो धैर्यशालिनी तथा शुभ व्रतका पालन करनेवाली हैं, जो सदा अच्छी ही बातें बोला करती हैं, वे साध्वी स्त्रियाँ इस जगत्को धारण करती हैं ॥ ८ ॥

व्याधितः पतितो वापि दीनो वापि कथञ्चन ।
न त्यक्तव्यः स्त्रिया भर्ता धर्म एष सनातनः ॥ ९ ॥

अपना पति रोगी हो, पतित हो अथवा दीन हो, नारीको

किसी तरह भी उसका त्याग नहीं करना चाहिये । यह सनातन धर्म है ॥ ९ ॥

अकार्यकारिणं वापि पतितं वापि निर्गुणम् ।
स्त्री पतिं तारयत्येव तथाऽऽत्मानं शुभानने ॥ १० ॥

शुभानने ! पतिव्रता स्त्री अपना तथा न करनेयोग्य काम करनेवाले पतित और गुणहीन पतिका भी उद्धार कर ही देती है ॥ १० ॥

योनिदुष्टस्त्रियो नास्ति प्रायश्चित्तं हतैव सा ।
वाग्दुष्टे विहितं सद्भिः प्रायश्चित्तं पुरातने ॥ ११ ॥

जिस स्त्रीकी योनि दूषित है, उसकी शुद्धिके लिये कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है । वह तो अपने पापके द्वारा मारी ही गयी । जो केवल वाणीके दोषसे दूषित है, उसकी शुद्धिके लिये सत्पुरुषोंने वेदमें प्रायश्चित्त बताया है ॥ ११ ॥

भर्तुश्छन्देन कर्तव्यं व्रतकं सर्वदा स्त्रिया ।
उपवासोऽपि वा सत्ये काङ्क्षन्त्या सुकृतां गतिम् ॥ १२ ॥

सत्यपरायणा अरुन्धती ! जो पुण्यात्माओंको प्राप्त होनेवाली गतिकी अभिलाषा रखती हो, उस स्त्रीको अपने पतिकी आज्ञाके अधीन होकर ही सदा व्रतका पालन अथवा उपवास करना चाहिये ॥ १२ ॥

कल्पान्तरसहस्रेषु न स्त्री सा लभते गतिम् ।
तिर्यग्योनिसहस्रेषु पच्यते योनिविप्लवात् ॥ १३ ॥

योनि दूषित करनेसे नारी पशु-पक्षी आदिकी सहस्रों योनियोंमें जन्म लेकर कष्ट भोगती है । वह स्त्री सहस्रों कल्पोंमें भी सद्गति नहीं पाती ॥ १३ ॥

यदि सा नाम मानुष्यं स्त्री लभेदसती सती ।
चण्डालयोनौ दुर्मेधा जायते कुक्कुराशना ॥ १४ ॥

यदि असती होकर रहनेवाली नारी मरनेके बाद कभी मनुष्य-योनिमें जन्म लेती है तो चाण्डाल-योनिमें ही उसकी उत्पत्ति होती है और वह खोटी बुद्धिवाली स्त्री कुत्तोंका मांस खानेवाली चाण्डाली होती है ॥ १४ ॥

भर्ता देवः सदा स्त्रीणां सद्भिर्दृष्टस्तपोधने ।
यस्या हि तुष्यते भर्ता सा सती धर्मचारिणी ॥ १५ ॥

तपोधने ! स्त्रियोंके लिये सदा पति ही देवता है । सत्पुरुषोंने इस सत्यका साक्षात्कार किया है । जिस स्त्रीपर उसका पति संतुष्ट रहता है, वह सती एवं धर्मचारिणी है ॥

कौतूहलहतानां तु स्त्रीणां लोको न शोभनः ।
भर्तर्येव मनो यासां सद्भावेन व्यवस्थितम् ॥ १६ ॥

जो कौतूहलवश परपुरुषोंका सङ्ग करके मारी गयी है, उन स्त्रियोंको कभी उत्तम लोककी प्राप्ति नहीं होती । जिनका मन सद्भावपूर्वक केवल पतिमें ही लगा रहता है, उन्हींको सती समझना चाहिये ॥ १६ ॥

कर्मणा मनसा वाचा पतिं नातिचरन्ति याः ।
तासां पुण्यफलं सौम्ये पुण्यकैः समुदाहृतम् ॥ १७ ॥

सौम्य स्वभाववाली अरुन्धती ! जो नारियाँ मन, वाणी और क्रियाद्वारा पतिका उल्लङ्घन नहीं करती हैं, उन्हींको पुण्यक-व्रतोंद्वारा पुण्यफलकी प्राप्ति बतायी गयी है ॥ १७ ॥

पुण्यकानां विधिं कृत्स्नं स्वर्लोकप्रतिशोभने ।
निबोध सह सर्वाभिर्दृष्टो यस्तपसा मया ॥ १८ ॥

स्वर्गलोककी शोभा बढ़ानेवाली देवि ! मैंने तपस्याद्वारा जिसका साक्षात्कार किया है, पुण्यकोंकी वह सम्पूर्ण विधि बतायी जाती है । तुम इन सारी स्त्रियोंके साथ उसे ध्यान देकर सुनो ॥ १८ ॥

स्नात्वा स्त्री प्रातरुत्थाय पतिं विज्ञापयेत् सती ।
उपवासार्थमथ वा व्रतकार्थं धृतव्रते ॥ १९ ॥

व्रत धारण करनेवाली देवि ! साध्वी स्त्रीको चाहिये कि वह प्रातःकाल उठकर स्नान करनेके पश्चात् पतिको यह सूचित करे कि आज मुझे उपवास अथवा व्रत करना है ॥ १९ ॥

श्वशुराभ्यां च चरणौ सततं सत्तमस्य च ।
प्रहायौदुम्बरं पात्रं सकुशं साक्षतं तथा ॥ २० ॥
गोशृङ्गं दक्षिणं सिच्य प्रतिगृह्णीत तज्जलम् ।
ततो भर्तुः सती दद्यात् स्नातस्य प्रयतस्य च ॥ २१ ॥
आत्मनोऽपि निषेक्तव्यं ततः शिरसि तज्जलम् ।
त्रैलोक्यसर्वतीर्थेषु स्नानमेतदुदाहृतम् ॥ २२ ॥

वह सास-ससुर तथा साधु-महात्माके चरणोंमें सदा प्रणाम करे; फिर कुश और अक्षतसे युक्त ताम्रपात्र लेकर गायके दाहिने सींगको नहलाकर उस जलको ग्रहण कर ले । इसके बाद सती स्त्री स्नान करके एकाग्र चित्त हुए पतिके मस्तकपर उस जलको छिड़के । तदनन्तर अपने मस्तकपर भी उस जलके छींटे डाले । यह त्रिलोकीके सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान बताया गया है ॥

उपवासेषु कर्तव्यमेतद्धि व्रतकेषु च ।
स्नानमेतद्धि सामान्यं स्त्रीणां पुंसां च भामिनि ॥ २३ ॥

भामिनि ! उपवास और व्रतके अवसरोंपर यह स्नान अवश्य करना चाहिये । यह स्त्रियों और पुरुषोंके लिये सामान्य स्नान है ॥ २३ ॥

अरुन्धति मया दृष्टं तपसा हरतेजसा ।
अशल्यविद्धं शयनमासनं च तथाविधम् ॥ २४ ॥

अरुन्धती ! मैंने महादेवजीके तेज और अपनी तपस्यासे देखा है कि इस व्रतमें नारीके लिये ऐसी शय्या होनी चाहिये, जो कण्टकविद्ध न हो । आसन भी वैसा ही होना चाहिये ॥

स्वयं प्रक्षालनं चापि पादयोरनुशब्दितम् ।
अश्रुप्रपातो रोषश्च कलहश्च कृतः सति ।
उपवासाद् व्रताद् वापि सद्यो भ्रंशयति स्त्रियः ॥ २५ ॥

उसके लिये अपने पैरोंको स्वयं ही धोनेका विधान है। साध्वी अरुन्धती ! यदि आँसू गिराया गया, रोष और कलह किया गया तो वह स्त्रियोंको तत्काल ही उपवास और व्रतके पुण्यसे भ्रष्ट कर देता है ॥ २५ ॥

शुक्लमेव सदा वासः प्रशस्तं चन्द्रसम्भवे।
अन्तर्वासोऽपरं चैव उपवासे व्रते तथा ॥ २६ ॥

चन्द्रकुमारी ! उपवास तथा व्रतमें सदा श्वेत वस्त्र धारण करना ही उत्तम माना गया है। साड़ीके भीतर एक दूसरा वस्त्र (पेटीकोट आदि) भी डाल लेना चाहिये ॥ २६ ॥

पादुकार्थं तृणैः कार्यं सर्वदा व्रतके सति।
उपवासेऽपि च विधिरेष एव प्रवर्तितः ॥ २७ ॥

साध्वी अरुन्धती ! व्रतके अवसरपर उपयोगमें लानेके लिये सदा बेंत आदि तृणोंकी ही पादुका बनवा लेनी चाहिये (चमड़ेकी पादुका नहीं धारण करनी चाहिये)। उपवासमें भी यही विधि चलायी गयी है ॥ २७ ॥

अञ्जनं रोचनं चापि गन्धान् सुमनसस्तथा।
व्रतके चोपवासे च नित्यमेव विवर्जयेत् ॥ २८ ॥

सती नारीको चाहिये कि वह व्रत तथा उपवासके अवसरपर अञ्जन, गोरोचन, भाँति-भाँतिके गन्ध और फूलोंका सदा ही परित्याग करे ॥ २८ ॥

दन्तकाष्ठं शिरःस्नानमुद्वर्तनमथापि वा।
विवर्जितं मृदा सर्वं शौचार्थं तु विधीयते ॥ २९ ॥

इस व्रतमें नारीके लिये काठका दातौन करना, सिरके ऊपरसे नहाना अथवा अङ्गोंमें उबटन लगवाना वर्जित है। सब प्रकारकी शुद्धिके लिये मृत्तिकाके ही उपयोगका विधान है ॥

बिल्वामृतफलैर्नित्यं श्रीफलैश्च समाचरेत्।
प्रक्षालनं वै शिरसः सदामृन्मिश्रितैर्जलैः ॥ ३० ॥

बेल, हर्रे या आँवला तथा श्रीफलसे जिसमें मिट्टी न मिली हुई हो, संयुक्त जलके द्वारा सदा ही अपने सिरको धोना चाहिये ॥ ३० ॥

शिरसोऽभ्यञ्जनं सौम्ये नैव तावत् प्रशस्यते।
न पादयोर्न गात्रस्य स्नेहेनेति स्थितिः स्मृता ॥ ३१ ॥

सौम्ये ! इस व्रतमें सिरका अभ्यङ्ग अर्थात् उबटन या बेसनका चूर्ण लगाकर नहाना नहीं अच्छा माना गया है। पैरों अथवा समूचे शरीरमें भी तेल न मले। यही मर्यादा मानी गयी है ॥ ३१ ॥

गोयानमुष्ट्रयानं च खरयानं च वर्जितम्।
नग्नस्नानं च सततं व्रते चाप्युपवासके ॥ ३२ ॥

प्रत्येक व्रत और उपवासमें बैल, ऊँट और गदहोंसे जुते हुए वाहनका उपयोग वर्जित है। उसमें कभी नग्न स्नान नहीं करना चाहिये ॥ ३२ ॥

नदीजलं प्रस्रवजं प्रशस्तं सोमनन्दिनि।
शुभे तडागे वाप्यादौ विस्तीर्णे जलजायुते ॥ ३३ ॥
गत्वा स्नानं प्रशस्तं तु सदैव खलु सर्वथा।

सोमनन्दिनि ! नदी और झरनेका जल उत्तम माना गया है। कमलोंसे मण्डित, सुन्दर एवं विस्तृत पोखरे या बावड़ी आदिमें जाकर स्नान करना सदा ही सब प्रकारसे प्रशस्त है ॥

अलाभे त्ववरुद्धा स्त्री घटस्नानं समाचरेत् ॥ ३४ ॥
नवैश्च कुम्भैः स्नातव्यं विधिरेष पुरातनः।
स्नानं च कार्यं शिरसा तपःफलमवाप्नुयात् ॥ ३५ ॥

जिसके लिये बाहर जानेपर रोक है, वह परदेके भीतर रहनेवाली नववधू नारी तड़ाग आदिमें स्नानका सुयोग न मिलनेपर घड़ोंके जलसे स्नान करे। वह नये घड़ोंके जलसे स्नान करे—यही प्राचीन विधि है। (व्रतके सिवा अन्य अवसरोंपर) सिरके ऊपरसे स्नान करना चाहिये। इससे तपस्याका फल प्राप्त होता है ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे पुण्यकविधौ अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणके प्रसङ्गमें पुण्यकविधिविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

पुण्यक-व्रतसम्बन्धी नियम एवं दानका वर्णन तथा पुत्र आदिके निमित्त किये जानेवाले दूसरे व्रत एवं दानका प्रतिपादन

उमोवाच

विधिनैतेन कृत्स्नेन स्त्री सदा भर्तृदेवता।
चरेत् संवत्सरं दान्ता षण्मासान् मासमेव च ॥ १ ॥

उमा कहती हैं—देवि ! पतिव्रता स्त्री इस सम्पूर्ण विधिके साथ एक वर्ष या छः मास अथवा एक मासतक सदा इन्द्रिय-संयमपूर्वक व्रतका आचरण करे ॥ १ ॥

स्त्रियो ह्यावाहयेत् साध्वीरेकादश समाधिना ।
स्वयं चैव विधिर्दृष्टो व्रतकानां मया शुभः ॥ २ ॥

इसमें ग्यारह साध्वी स्त्रियोंको बुलाना चाहिये । मैंने स्वयं ही समाधिके द्वारा व्रतोंके इस शुभ विधानका साक्षात्कार किया है ॥ २ ॥

अद्भिर्दद्यात् सतीः सर्वा या मूलव्रतिनी भवेत् ।
तासां तु निष्क्रयो देयः कालदेशानुरूपतः ॥ ३ ॥

मूल व्रतका अनुष्ठान करनेवाली प्रधान स्त्री अपने यहाँ आमन्त्रित की गयी उन समस्त ग्यारह सतियोंका दान करे और देश-कालके अनुसार उनका निष्क्रय दे दे* ॥ ३ ॥

ततो मासान्तशुक्लस्य तिथौ च नवमी तथा ।
आराधयित्वा कर्तव्यं व्रतकस्यापवर्जनम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर मासके अन्तमें शुक्ल-पक्षकी नवमी तिथिको देवाराधना करके व्रतको समाप्त करना चाहिये ॥ ४ ॥

उपवासमहोरात्रं व्रतकं चापि निश्चितम् ।
आदौ चान्ते च कुर्वीत व्रतकस्यापि सिद्धये ॥ ५ ॥

व्रतके उद्देश्यसे उसकी सिद्धिके लिये आदि और अन्तमें निश्चितरूपसे एक दिन और रातका उपवास करना चाहिये॥

क्षुरकर्म ततो भर्तुरात्मनश्चैव कारयेत् ।
उत्सादनं च स्नानं च तस्मिन्नहनि संस्मृतम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर अपने पतिकी हजामत बनवावे और अपना भी नखमात्र कटा ले । उसी दिन व्रतान्त स्नान तथा व्रतके उद्यापन या उत्सर्गका विधान है ॥ ६ ॥

ततो विवाहवत् स्नानं विहितं पुण्यके शुभे ।
मण्डनं चैव विहितं माल्यधारणमेव च ॥ ७ ॥

शुभे ! पुण्यक-व्रतमें भी विवाहके समान ही विधिपूर्वक स्नान करनेकी आज्ञा है । उसमें शृङ्गार और माला धारण करनेका विधान है ॥ ७ ॥

कुम्भैस्तु स्नाप्यमानेमं साध्वी मन्त्रमुदीरयेत् ।
भर्तुः पादौ नमस्कृत्य मनसा वाथ वा गिरा ॥ ८ ॥

घड़ोंके जलसे नहलायी जाती हुई व्रतपरायणा साध्वी स्त्री अपने पतिके दोनों चरणोंको मन अथवा वाणीद्वारा नमस्कार करके निम्नाङ्कित मन्त्रका उच्चारण करे—॥ ८ ॥

आपो देव्य ऋषीणां हि विश्वधाय्यो
दिव्या मदन्त्यो याः शङ्करा धर्मधान्यः ।
हिरण्यवर्णाः पावकाः शिवतमेन
रसेन श्रेयसो मां जुषन्तु ॥ ९ ॥

'जलकी अधिष्ठात्री देवी ऋषियोंकी जननी, सम्पूर्ण विश्वकी माता, आकाशसे प्रकट होनेवाली, हर्ष प्रदान करनेवाली, कल्याणकारिणी, धर्मके पोषणमें तत्पर, सुवर्णके समान वर्णवाली, निर्मल तथा सबको पावन बनानेवाली है । वह अपने परम कल्याणमय रसके द्वारा मुझे श्रेयका भागी बनावे' ॥

अपामेष स्मृतो मन्त्रः सर्वत्रान्यत्र मे शृणु ।
मन्त्राः पुराणविहिताः स्त्रीणां सर्वाङ्गशोभने ॥ १० ॥

सर्वाङ्गशोभने देवि ! यह जलसम्बन्धी मन्त्र सर्वत्र उपयोगमें लाया जाता है । अन्यत्र स्त्रियोंके स्नानके लिये पुराणविहित मन्त्र उपलब्ध होते हैं । उन्हें मुझसे सुनो ॥

शुभान्वया गुणिनी युक्तधर्मा
भर्त्रा साकं मम दास्या वरेण ।
मा कर्मणा मनसा वापि वाचा
भर्तुर्भवेयं रुषती स्यां वशाङ्गा ॥ ११ ॥

मैं पतिके लिये कल्याणकारिणी होऊँ । धन आदिसे कभी क्षीण न होऊँ । सद्गुणवती होऊँ । सदा पतिके साथ धर्ममें संलग्न रहूँ । मैं अपने स्वामीके साथ दासीके समान रहकर उनकी छोटी-से-छोटी भी सेवा-टहल स्वयं ही करूँ । सदा पतिके अधीन रहूँ और मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा भी कभी उनसे रुष्ट न होऊँ ॥ ११ ॥

सपत्नीनामधि नित्यं भवेयं
सपुत्रा स्यां सुभगा चारुरूपा ।
सम्पन्नहस्ता गुणवादिनी च
सर्वात्मना स्यां मा दरिद्रा भवेयम् ॥ १२ ॥

सपत्नियोंमें मेरा स्थान सदा सबसे ऊपर हो । मैं पुत्रवती, सौभाग्यवती और मनोहर रूपवाली होऊँ । मेरा हाथ सदा सम्पन्न रहे अर्थात् मैं मुक्तहस्त होकर दान कर सकूँ । मैं सम्पूर्ण हृदयसे सदा दूसरोंके गुणोंका ही बखान करूँ और कभी दरिद्र न होऊँ ॥ १२ ॥

पतिश्च मे स्यात् सुमुखो मत्प्रतीक्षो
नित्यं मद्भक्तः स्यान्मन्मतिर्मद्गतिश्च ।
प्रीतिश्च नौ स्याच्चक्रवाकानुरूपा
मनोविरागो न भवेत् साधुवत् स्यात् ॥ १३ ॥

मेरे पति भी सदा प्रसन्नमुख रहकर मेरी प्रतीक्षा करनेवाले हों, उनका सदा मुझमें अनुराग बना रहे । उनकी मति और गति मेरी ही ओर रहे । हम दोनोंमें चकवा और चकवीके समान प्रेम बना रहे । हमारे मनमें कभी-एक दूसरेके प्रति

---

* इन पंक्तियोंको देखकर यह अनुमान होता है कि पहले जिन ग्यारह सती स्त्रियोंका उनके पतियोंकी अनुमतिसे आवाहन किया जाता है, उनका व्रतचारिणी स्त्री पुनः उनके पतियोंको ही दान कर देती है । देश कालके अनुरूप निष्क्रय देकर पहले उन्हे अपनी बनाती है और फिर उनको उनके पतियोंको ही संकल्पपूर्वक सौंपकर दानजनित पुण्यकी भागिनी होती है ।

विरक्ति न हो और हमारा व्यवहार सदा श्रेष्ठ पुरुषोंके समान हो ॥ १३ ॥

लोकान् साध्वीनामुत्तमानां व्रजेयं
याभिः सर्वं धार्यते विश्वरूपम् ।
उभे कुले याः शुभाः पावयन्ति
पितुर्भर्तुश्च पतिभक्त्योर्जिताश्च ॥ १४ ॥

जो शुभलक्षणा देवियाँ पतिभक्तिके प्रभावसे शक्तिशालिनी होकर पिता और पति दोनोंके कुलोंको पावन बनाती हैं तथा जो अपने धर्मसे इस सम्पूर्ण विश्वको धारण करती हैं, उन्हीं उत्तम पतिव्रता देवियोंके लोकोंमें मैं जाऊँ ॥ १४ ॥

भूमिर्वायुर्जलमाकाशमग्नि-
रन्तःक्षेत्रज्ञः प्रकृतिर्यो महांश्च ।
अहंकारश्च मम साक्ष्ये नियुक्ताः
स्मरेयुर्मे निश्चयं च व्रतं च ॥ १५ ॥

पृथ्वी, वायु, जल, आकाश, अग्नि, अन्तर्यामी क्षेत्रज्ञ, प्रकृति, महत्तत्त्व और अहङ्कार—इन सबको मैंने अपना साक्षी बनाया है । ये मेरे इस निश्चय और व्रतको स्मरण रखें ॥

यैरारब्धो देहिनां भौतिकोऽयं
विधिः सत्त्वाद्यैर्भूतयुक्तैः सबीजैः ।
सन्त्वेते मे साक्षिणः सर्वसंस्था
व्रते चास्मिन् निश्चये चापि नित्यम् ॥ १६ ॥

जिन सत्त्व आदि गुणोंने भूतों और उनके कर्मबीजोंसे युक्त हो देहधारियोंके इस भौतिक शरीरका निर्माण किया है, वे और उनके अभिमानी देवता जो सबमें स्थित हैं, मेरे इस व्रत और निश्चयमें सदा साक्षी बने रहें ॥ १६ ॥

चन्द्रादित्यौ पुण्यसाक्षी यमश्च
दिशः सर्वा दश चात्मा च मेऽयम् ।
सन्त्वेते वै साक्षिणः सर्वसंस्था
व्रते चास्मिन् निश्चये चापि नित्यम् ॥ १७ ॥

चन्द्रमा, सूर्य, पुण्यके साक्षी यम, सम्पूर्ण दसों दिशाएँ और मेरा यह आत्मा—ये सबमें स्थित रहनेवाले देवता मेरे इस व्रत एवं निश्चयमें सदा साक्षी बने रहें ॥ १७ ॥

मन्त्रैरेतैः पुराणोक्तैः सर्वद्रव्याभिमन्त्रणम् ।
व्रतचर्यात् प्रभृति वै पुराणे समुदाहृतम् ॥ १८ ॥

व्रतके आरम्भसे लेकर प्रतिदिन इन पुराणोक्त मन्त्रों-द्वारा समस्त द्रव्योंको अभिमन्त्रित करना चाहिये । यह पुराणमें कहा गया है ॥ १८ ॥

स्नात्वाथ वाससी दद्याद् भर्तुः कर्त्यं स्वयं शुभे ।
अथात्मकर्तितं न स्याच्छुभे विघ्नेन केनचित् ॥ १९ ॥
वासोऽन्यदेव दद्याच्च श्वेतं मुख्यं नवं शुचि ।
स्वकर्तितं च सूत्रं तु वाससा तेन मिश्रयेत् ॥ २० ॥

शुभे ! स्नान करके अपने पतिको स्वयं ही सूत कातकर बनाये हुए दो वस्त्र भेंट करे । यदि किसी विघ्न विशेषके कारण अपने ही काते हुए सूतका वस्त्र न हो तो दूसरा ही वस्त्र दे दे । वह वस्त्र शुद्ध, नवीन, उत्तम और श्वेत वर्णका होना चाहिये । उस वस्त्रके साथ अपना काता हुआ सूत भी मिला दे ॥ १९-२० ॥

ततो द्विजं शुचिं दान्तं ज्ञानविज्ञानकोविदम् ।
भोजयेच्च यथाशक्त्या सह भर्त्रा सुमध्यमे ॥ २१ ॥

सुमध्यमे ! तदनन्तर ज्ञान-विज्ञानकोविद, पवित्र, जितेन्द्रिय ब्राह्मणको अपने पतिके साथ बिठाकर यथाशक्ति भोजन कराये ॥ २१ ॥

ब्राह्मणस्यापि दातव्यं वासोयुग्मं महातपे ।
शय्यासनं गृहं धान्यं दासं दासीं तथैव च ॥ २२ ॥
अलंकारः शक्तितश्च रत्नपर्वत एव च ।
सर्वधान्यसमुन्मिश्रस्तिलैश्च सविशेषतः ॥ २३ ॥
वासोभिश्च प्रतिच्छन्नो नानावर्णैररुन्धति ।
हस्त्यश्वावचयश्चैव देया गौरेव च ध्रुवम् ॥ २४ ॥

महान् तप करनेवाली देवि ! अरुन्धति ! ब्राह्मणको भी यथासम्भव जोड़ा वस्त्र, शय्या, आसन, गृह, धान्य, दास-दासी, आभूषण, सब प्रकारके धान्यों और विशेषतः तिलोंसे मिश्रित रत्नमय पर्वत, जो नाना रंगके वस्त्रोंसे आच्छादित हो, यथाशक्ति दान करना चाहिये । सम्भव हो तो हाथी-घोड़ोंका समूह दिया जाय अन्यथा एक गौका ही दान कर दिया जाय । यथाशक्ति दान देना आवश्यक है ॥ २२—२४ ॥

लवणप्रतिमां दद्यान्नवनीतस्य चापराम् ।
गुडस्य मधुनश्चैव सुवर्णस्य च शोभनाम् ॥ २५ ॥

नमक, माखन, गुड़, मधु और सुवर्णकी बनी हुई पृथक्-पृथक् उमा-महेश्वरकी सुन्दर प्रतिमाका भी दान करना चाहिये ॥ २५ ॥

तथैव सर्वगन्धानां रसानां पृथगेव च ।
तथा सुमनसां दद्याद् रौप्यस्यौदुम्बरस्य च ॥ २६ ॥
फलानां चैव सर्वेषां वाससामपि नन्दिनि ।
चित्रप्रतिकृतिं चैव काष्ठस्य प्रतिमां तथा ॥ २७ ॥

नन्दिनि ! उसी तरह सब प्रकारके सुगन्धित पदार्थों, रसों, फूलों, चाँदी, सम्पूर्ण फल, वस्त्र, चित्र और काष्ठकी प्रतिमाका भी यथासम्भव दान करना चाहिये ॥ २६-२७ ॥

शिलां प्रतिकृतिं चैव दध्नोऽथ पयसस्तथा ।
सर्पिषा दूर्वया चैव या चान्यामप्यभीप्सति ॥ २८ ॥

प्रस्तर, दूध, दही, घी और दूर्वाकी प्रतिमाको तथा और तरहकी प्रतिमाको भी, जिसे तुम देना चाहो, दे सकती हो ॥ २८ ॥

कालदेशानुरूपं च देयं विभवतः सति।
अल्पं वा बहुलं वापि भर्तुश्छन्देन सर्वदा ॥ २९ ॥

पतिव्रते! अगर घरमें वैभव हो तो स्वामीकी आज्ञाके अनुसार सदा देश-कालके अनुरूप थोड़ा-बहुत दान अवश्य देना चाहिये ॥ २९ ॥

तिलपात्रं प्रदातव्यं न देयं ननु शोभने।
गौस्त्ववश्यं प्रदातव्या कपिला कांस्यमेव च ॥ ३० ॥

शोभने! तिलसे भरा हुआ पात्र भी देना चाहिये; परंतु स्वामीकी आज्ञाके बिना कोई वस्तु नहीं देनी चाहिये। उनकी आज्ञा मिल जानेपर कपिला गौ तथा काँस्यपात्रका दान अवश्य करना चाहिये ॥ ३० ॥

कृष्णाजिनं च सुभगे सतिलं वाससान्वितम्।
आदर्शश्चैव कूर्चश्च तथाजिनमनिन्दिते ॥ ३१ ॥
एतद् दत्त्वा सर्वकामानाप्नोति वरवर्णिनि।
पुरोऽधिका पुत्रवती सुभगा रूपभागिनी ॥ ३२ ॥
मृष्टहस्ता धनाढ्या च स्त्री भवत्यमलेक्षणा।
इच्छया लभते चैव कन्या रूपगुणान्विताः ॥ ३३ ॥
भवन्ति सुभगाश्चर्यास्तथैव च पुरोऽधिकाः।
पुत्रवत्यो धनाढ्याश्च शीलवत्यश्च नित्यदा ॥ ३४ ॥

सुभगे! अनिन्दिते! काला मृगचर्म, तिल, वस्त्र, दर्पण, कुशासन और मृगचर्मका भी दान करना चाहिये। वरवर्णिनि! इन सब वस्तुओंका दान करके नारी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेती है और नारियोंमें अग्रगण्य, पुत्रवती, सौभाग्यवती, रूपवती, शुद्ध हाथवाली, धनाढ्य तथा निर्मल नेत्रवाली होती है। वह इच्छामात्रसे ऐसी कन्याएँ प्राप्त कर लेती है, जो रूप-गुणसे सम्पन्न, सुभगा, आश्चर्ययुक्त गुणवाली, अग्रगण्य, पुत्रवती, धनाढ्य तथा सदा सुशील होती हैं ॥

अरुन्धति कृतं ह्येतन्मयैव प्रथमं यतः।
उमाव्रतकमित्येव ख्यातमत्र महीतले ॥ ३५ ॥

अरुन्धति! मैंने ही पहले इस व्रतका आचरण किया है, इसलिये इस पृथ्वीपर यह उमाव्रतके नामसे विख्यात होगा ॥

एतदेवोत्तमं स्त्रीणां व्रतं तस्मात् समाचरेत्।
सर्वकामानवाप्नोति दत्त्वैवैतदनिन्दिते ॥ ३६ ॥

स्त्रियोंके लिये यही सबसे उत्तम व्रत है, अतः इसका आचरण अवश्य करे। अनिन्दिते! इस व्रतके लिये विहित यह दान देकर नारी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेती है ॥

एतद्व्रतकरो ह्येव देवदेवो वृषध्वजः।
पुराभिषिक्तवान् सौम्ये प्रियार्थं मम सर्वकृत् ॥ ३७ ॥

सौम्ये! इसी व्रतके पुण्यसे मैंने देवाधिदेव भगवान् वृषध्वज शिवको खरीद-सा लिया है। उन सर्वस्रष्टा महादेवजीने मेरा प्रिय करनेके लिये पूर्वकालमें मुझे पट्टमहिषीके पद-पर अभिषिक्त किया था ॥ ३७ ॥

व्रतकस्यावसानेऽथ देयं भोज्यं च नित्यदा।
स्त्रीणां कामाः प्रदेयाश्च सदृशाः कालदेशयोः ॥ ३८ ॥

व्रतके अन्तमें सदा भोज्य-पदार्थोंका दान करना चाहिये। स्त्रियोंकी अभीष्ट वस्तुओंका भी, जो देश-कालके अनुरूप हों, दान करना उचित है ॥ ३८ ॥

एकैकस्य प्रदातव्यं व्रतकं वरवर्णिनि।
छन्दतो ब्राह्मणानां तु देयमन्नं सदक्षिणम् ॥ ३९ ॥

वरवर्णिनि! व्रतके जो उपकरण द्रव्य हैं, उनका बराबर विभाग करके प्रत्येक ब्राह्मणको उसे देना चाहिये तथा ब्राह्मणोंकी इच्छाके अनुसार उन्हें दक्षिणासहित अन्नका दान करना चाहिये ॥ ३९ ॥

पायसं तत्र दातव्यं व्रतके नान्यदिष्यते।
नात्र प्राणिवधः कार्यः पुराणे नियता श्रुतिः ॥ ४० ॥

उस व्रतमें खीरका दान करना चाहिये। दूसरा कोई अन्न अभीष्ट नहीं है। इसमें प्राणियोंकी हिंसा कदापि नहीं करनी चाहिये। यह पुराणमें निश्चितरूपसे कहा गया श्रुतिका सिद्धान्त है ॥ ४० ॥

अथ द्वितीयं वक्ष्यामि व्रतं सोमसमुद्भवे।
महादेवप्रसादेन दृष्टवत्यस्मि यच्छुभे ॥ ४१ ॥

चन्द्रकुमारी! शुभे! अब मैं दूसरे व्रतका वर्णन करूँगी, जिसका महादेवजीकी कृपासे मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है ॥

सर्वाः पुत्रफला नार्यः सद्भिरेतदुदाहृतम्।
तस्मादन्विष्यती दद्यात् सपुत्रकरकाञ्छुभे ॥ ४२ ॥

शुभे! सत्पुरुषोंका कथन है कि सारी स्त्रियाँ पुत्ररूप फलवाली होती हैं अर्थात् पुत्रको जन्म देनेसे ही उनका नारीत्व सफल होता है; अतः पुत्रकी इच्छा रखनेवाली स्त्री पुत्रार्थिनी नारियोंद्वारा देनेयोग्य करकों (कमण्डलुओं) का दान करे ॥

ज्येष्ठाषाढौ शुभौ मासौ पुरोक्तं विधिमाचरेत्।
अथवा ज्येष्ठमेवैकमाषाढं वा समाचरेत् ॥ ४३ ॥

पहले जो विधि बतलायी गयी है, उसका पुत्रार्थिनी स्त्री ज्येष्ठ और आषाढ़ इन दो शुभ मासोंतक पालन करे अथवा केवल ज्येष्ठ या आषाढ़ एक ही महीनेतक उसका आचरण करे ॥ ४३ ॥

ततो मासद्वये पूर्णे मासे वा वरवर्णिनि।
सपुत्रकरकान् दद्यात् फाणितप्रतिपूरितान् ॥ ४४ ॥

वरवर्णिनि! फिर व्रतके दो मास अथवा एक ही मास पूर्ण होनेपर पुत्रार्थिनी स्त्रियोंद्वारा देनेयोग्य करकों (कमण्डलुओं) का दान करे। उन सबमें शीरे अथवा चीनी-के शरबत भरे होने चाहिये ॥ ४४ ॥

सर्पिषः पयसश्चैव दध्नोऽथ मधुनोऽनघे।
जलस्य च तथा दद्यात् पूरयित्वा शशिप्रभे ॥ ४५ ॥

चन्द्रमाके समान कान्तिवाली निष्पाप अरुन्धती ! घी, दूध, दही तथा जलसे भी कमण्डलुओंको भरकर उनका दान करे ॥ ४५ ॥

एकस्मै ज्ञानवृद्धाय सुव्रताय जितात्मने।
सपुत्रकरकान् दद्याद् यावन्तो मनसः प्रियाः ॥ ४६ ॥

नारीको चाहिये कि वह उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा मनको वशमें रखनेवाले एक ही ज्ञानवृद्ध ब्राह्मणको पुत्रार्थिनी स्त्रियोंद्वारा देनेयोग्य उतने कमण्डलु प्रदान करे, जितने उसके मनको अभीष्ट हों ॥ ४६ ॥

इच्छेत स्त्री दुहितरं स्त्रीणां कामकरं ततः।
किंचिद् द्रव्यं सुताकामात् सुतां प्राप्नोत्यसंशयः॥ ४७॥

जो नारी पुत्री प्राप्त करना चाहती हो, वह पुत्रीकी कामनासे ब्राह्मणी स्त्रियोंको कोई ऐसा द्रव्य दे, जो उनकी इच्छा पूर्ण करनेवाला हो, ऐसा करनेसे उसे पुत्रीकी प्राप्ति होती है। इसमें संशय नहीं है ॥ ४७ ॥

गौर्वाथ काञ्चनं वापि दक्षिणार्थं प्रशस्यते।
विप्रस्याच्छादनं देयमवश्यं तु शुचिस्मिते ॥ ४८ ॥

दक्षिणाके लिये गौ अथवा सुवर्णको अच्छा बताया जाता है। पवित्र मुसकानवाली देवि ! इस व्रतमें ब्राह्मणको ओढ़नेके लिये वस्त्र अवश्य देना चाहिये ॥ ४८ ॥

यज्ञोपवीतं व्रतके दद्यान्नारी शुचिव्रता।
सपुत्रकरकाणां तु विधिरुक्तो विपश्चिता ॥ ४९ ॥

पवित्रतापूर्वक व्रतका पालन करनेवाली नारी व्रतमें यज्ञोपवीतका दान करे। विद्वान् पुरुष इसमें पुत्रार्थिनी स्त्रियोंके लिये नियत करवोंके दानका विधान बताते हैं ॥

अपत्याख्यानयोगेन ब्राह्मणेभ्यः शुचिव्रता।
संवत्सरं सुसम्पूर्णं व्रतधर्मानुपालिनी ॥ ५० ॥
करकानपि दद्याच्च पूर्णे संवत्सरे शुभे।
अनुज्ञया सदा भर्तुः सत्यवादिन्यरुन्धति ॥ ५१ ॥
सुवर्णसूत्रं विप्राय कौमुद्यां दातुमर्हति।
यज्ञोपवीतं विप्रस्य व्रतं संस्थाप्य कामिकम् ॥ ५२ ॥
यज्ञोपवीतं करकं दक्षिणां च स्वशक्तितः।
प्रयच्छती सती स्त्रीभ्यः सर्वान् कामान् समश्नुते॥ ५३॥

शुभे ! व्रत-धर्मका निरन्तर पालन करनेवाली पवित्र व्रतधारिणी स्त्री अपत्याख्यान योगसे अर्थात् पुँल्लिङ्ग संतान (पुत्र) की कामना होनेपर पुँल्लिङ्ग नक्षत्र (पुष्य, हस्त और श्रवण) के योगमें और स्त्रीलिङ्ग संतान (पुत्री) की इच्छा होनेपर (रोहिणी आदि) स्त्रीलिङ्ग नक्षत्रके योगमें पूरे सालभरतक सदा पतिकी आज्ञासे करकों (करवों) का दान करे। सत्यवादिनी अरुन्धती ! वर्ष पूर्ण होनेपर कार्तिककी पूर्णिमाके दिन ब्राह्मणको सुवर्णसूत्र (यज्ञोपवीत) का दान करना चाहिये। कामनापूर्वक किये जानेवाले इस व्रतको समाप्त करके ब्राह्मणको यज्ञोपवीत, कमण्डलु और यथाशक्ति दक्षिणा देनी चाहिये। जो सती-साध्वी ब्राह्मणी स्त्रियोंको उनकी रुचिके अनुकूल वस्तुओंका दान करती है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेती है ॥ ५०—५३ ॥

नवं न भक्षयेत् किंचिन्नारी धान्यमथो फलम्।
पुष्पाणि नोपयुञ्जीत यावदेवं समाचरेत् ॥ ५४ ॥

नारी जबतक इस प्रकार व्रतका आचरण करे, तबतक कोई नया अन्न अथवा फल न खाय और नये फूलोंका भी उपयोग न करे ॥ ५४ ॥

एकभक्तेन धर्मज्ञे पुण्यकं कर्तुमर्हति।
ब्राह्मणाय तथा देयं भर्तुश्च तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

धर्मज्ञे ! एक समय भोजन करके पुण्यक-व्रत करना चाहिये तथा पहले ब्राह्मणको भोजन देना चाहिये, उसके बाद पतिको ॥ ५५ ॥

एवं संवत्सरं कृत्वा सुभगा रूपशालिनी।
भवत्यविधवा चैव स्त्री धनस्य तथेश्वरी ॥ ५६ ॥

एक वर्षतक ऐसा करके नारी सौभाग्यवती, रूप-सौन्दर्यशालिनी, अविधवा और धनकी स्वामिनी होती है ॥ ५६ ॥

वार्ताकानि न खादेद् या स्त्री पूर्णं परिवत्सरम्।
न सा पुत्रविनाशं हि पश्यतीत्यवगम्यताम् ॥ ५७ ॥

जो स्त्री पूरे एक वर्षतक बैंगन नहीं खाती है, वह अपने पुत्रका विनाश नहीं देखती है, यह निश्चित रूपसे जान लो ॥

शशकं मृगमांसं वा नित्यमेव विवर्जयेत्।
नाप्नोति मरणं नारी प्राप्नोति पतिदेवताम् ॥ ५८ ॥

स्त्रीको चाहिये कि वह खरगोश, हिरन अथवा अन्य प्राणियोंका मांस सदाके लिये त्याग दे। ऐसा करनेवाली स्त्री (अकाल) मृत्यु या अल्पायुको नहीं प्राप्त होती और पातिव्रत्य धर्मके पालनका फल पाती है ॥ ५८ ॥

अलाबुं वर्जयेन्नारी तथैवोत्पादिकामपि।
कलम्बीं काञ्चनं नाद्याद् या भर्तुः सुखमिच्छति॥ ५९ ॥

जो स्त्री पतिका सुख चाहती है, वह लौकी और पोईको त्याग दे। सागका डंठल और गूलर भी न खाय ॥ ५९ ॥

पूर्णे संवत्सरे दद्यादेकैकं शाकमादृता।
सदक्षिणं पुत्रवती भवत्येका पुरोऽधिका ॥ ६० ॥

इस प्रकार एक वर्ष पूर्ण होनेपर प्रत्येक शाकका दक्षिणासहित आदरपूर्वक दान करे। ऐसा करनेवाली स्त्री एक (सपत्नीरहित), पुत्रवती तथा अग्रगण्या होती है ॥ ६० ॥

स्वयं प्रक्षालयाना स्त्री स्वपादावेवमादितः।
प्रतिष्ठां लभते नित्यमुद्वेगं नाधिगच्छति ॥ ६१ ॥

जो इस प्रकार व्रतमे स्थित हो आरम्भसे ही अपने पैरोंको स्वयं ही धोती है, उसे सदा प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और वह कभी उद्वेगमें नहीं पड़ती ॥ ६१ ॥

दिवा या सूर्यपूतेन वर्तयेत् स्त्री पतिव्रता।
एकं संवत्सरं पूर्णं रात्रावन्नं विवर्जयेत् ॥ ६२ ॥
सा जीवपुत्रा सुभगा भवत्यमरवर्णिनि।
अधितिष्ठति सर्वाश्च सपत्न्यो नात्र संशयः ॥ ६३ ॥

देवोपम कान्तिवाली देवि! जो पतिव्रता नारी पूरे एक वर्षतक दिनमें सूर्यसे पवित्र हुए अन्नके द्वारा निर्वाह करती है और रातमें भोजन त्याग देती है, वह चिरंजीवी पुत्रोंसे युक्त और सौभाग्यशालिनी होती है तथा सारी सौतोंपर अधिकार रखती है; इसमें संशय नहीं है ॥ ६२-६३ ॥

पूर्णे संवत्सरे दद्यात् सौवर्णं सूर्यमुत्तमम्।
ब्राह्मणायाभिरूपाय दरिद्राय यशस्विने ॥ ६४ ॥

एक वर्ष पूर्ण होनेपर वह रूपवान्, दरिद्र और यशस्वी ब्राह्मणको सूर्यकी सुवर्णमयी उत्तम प्रतिमाका दान करे ॥

फलानि वाथ पुष्पाणि भक्ष्याण्यपि च सुव्रता।
दद्यादनस्तमितके चरितव्रतका तथा ॥ ६५ ॥

अथवा उस व्रतका आचरण करनेवाली वह सुव्रता नारी सूर्यके अस्त होनेसे पूर्व ही फल-फूल और भक्ष्य पदार्थोंका दान करे ॥ ६५ ॥

या तथास्तमिते सूर्ये भुङ्क्ते स्त्री नियता सती।
चन्द्रनक्षत्रपूतानि भोज्यानि वरवर्णिनि ॥ ६६ ॥
सा दद्यात् काञ्चनं चन्द्रं नक्षत्राणि ग्रहानपि।
अभिरूपाय विप्राय वासश्च लवणान्वितम् ॥ ६७ ॥

वरवर्णिनि! जो सती स्त्री पूर्वोक्त रूपसे व्रत लेकर सूर्यास्त होनेपर ही चन्द्रमा और नक्षत्रोंसे पवित्र हुए भोज्य पदार्थोंका आहार करती है, वह वर्ष पूर्ण होनेपर सुयोग्य एवं रूपवान् ब्राह्मणको सुवर्णमय चन्द्र, नक्षत्र और ग्रहोंकी प्रतिमाका दान करे; साथ ही उत्तम लक्षणसे युक्त वस्त्र भी दे ॥

चन्द्रशीतलगात्री सा भवत्यमरवर्णिनी।
सुभगा दर्शनीया च पुत्रवत्यपि भाविनी ॥ ६८ ॥

वह नारी चन्द्रमाके समान शीतल गात्रवाली, देवोपम कान्तिसे सुशोभित, सौभाग्यवती, दर्शनीया, पुत्रवती तथा पतिके प्रति अनुरक्त होती है ॥ ६८ ॥

पौर्णमास्यां तु सततं प्राप्ते सोमोदयेऽङ्गना।
अर्घ्यं दद्यात् सुमनसां साक्षतं सकुशं तथा ॥ ६९ ॥
यावकं च बलिं दद्याद् दध्ना च सह संयुतम्।
एवं या कुरुते नित्यं सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥ ७० ॥

वह कल्याणमयी स्त्री सदा पूर्णिमाको चन्द्रोदय होनेपर अक्षत और कुशके साथ देवताओंको अर्घ्य प्रदान करे तथा दहीके साथ यावक (पूआ) का नैवेद्य अर्पण करे। जो स्त्री नित्य नियमपूर्वक ऐसा करती है, वह समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेती है ॥ ६९-७० ॥

अदृष्ट्वा या तु नाश्नाति सूर्यं नारी पतिव्रता।
दुर्दिने वाथवा व्यभ्रे सेष्टान् कामानवाप्नुयात् ॥ ७१ ॥

जो पतिव्रता नारी आकाशमें मेघोंकी घटा छायी हो, अथवा बादलोंसे रहित स्वच्छ आकाश हो, सूर्यका दर्शन किये बिना भोजन नहीं करती है, वह अभीष्ट कामनाओंको प्राप्त कर लेती है ॥ ७१ ॥

काञ्चनं शक्तितो दद्यात् सा विप्राय मनस्विनी।
सुभगा दर्शनीया च भवत्यमरवर्णिनी ॥ ७२ ॥

वह मनस्विनी सती अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणको सुवर्ण दान करे, ऐसा करके वह सौभाग्यवती, दर्शनीया और देवोपम कान्तिसे सुशोभित होती है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे व्रतकथने एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणके प्रसङ्गमें व्रतकथनविषयक उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

नाना प्रकारके व्रतोंका विधान

भगवत्युवाच

निर्वेष्टव्यं शरीरं यैर्व्रतकैः पुण्यकैरपि।
अरुन्धति प्रवक्ष्यामि सहैताभिर्वरेण तु ॥ १ ॥

भगवती उमा कहती हैं—अरुन्धती! जिन व्रतों और पुण्योंके द्वारा इस शरीरको परम सुखकी प्राप्तिके योग्य बनाया जा सकता है, उन्हे इन तिथियो और श्रेष्ठ फलके साथ बताती हूँ, सुनो ॥ १ ॥

कृष्णाष्टमीं या क्षिपति स्याद् वा मूलफलाशिनी।
ब्राह्मणायैकमशनं स्वं दत्त्वा भर्तृदेवता ॥ २ ॥
शुक्लवस्त्रा शुभाचारा गुरुदैवतपूजका।

एवं संवत्सरं कृत्वा ततो दद्याद् द्विजातये ॥ ३ ॥
गोवालरज्जुसुकृतं चामरं च ध्वजं तथा ।
दक्षिणापूर्णमिष्टान्नं शक्त्या वापि शुचिव्रते ॥ ४ ॥
ऊर्मिमन्तः खरालाग्राः श्रोणिदेशावलम्बिनः ।
तस्या भवन्ति केशास्तु भक्तिमत्या हि भर्तरि ॥ ५ ॥

पवित्र व्रतका पालन करनेवाली देवि ! जो पतिव्रता नारी कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथिको अपना एक समयका भोजन ब्राह्मणको देकर स्वयं उपवासपूर्वक व्यतीत करती है अथवा उस दिन फल-मूल खाकर रहती है, श्वेत वस्त्र धारण करके सदाचारके पालनपूर्वक गुरुजनों तथा देवताओंकी पूजा करती है और इस प्रकार एक वर्षतक इसी नियमका पालन करके वह अन्तमें सुरही गायके बालकी रस्सीसे अच्छी तरह बनाया हुआ चवँर, ध्वज तथा दक्षिणा-सहित मिष्टान्न यथाशक्ति ब्राह्मणको देती है, उस पतिभक्ता नारीके केश कटि-प्रदेशके नीचे तक लटककर लहराया करते हैं और उनके अग्रभाग घुँघराले हो जाते हैं ॥ २-५ ॥

शिरो निर्वेष्टुकामा तु गोमयेन शिरः सती ।
प्रक्षालयेन्मलं धात्र्या बिल्वेन श्रीफलेन च ॥ ६ ॥
गोमूत्रं च सदा प्राश्येच्छिरःस्नानं च मिश्रयेत् ।
कृष्णां चतुर्दशीं त्वेतत् कर्तव्यं वरवर्णिनि ॥ ७ ॥
भवत्यविधवा चैव सुभगा विज्वरा तथा ।
शिरोरोगैर्नैव चास्याः शरीरमभितप्यते ॥ ८ ॥

वरवर्णिनि ! जो सिरको सुख पहुँचाना चाहती हो, वह सती-साध्वी स्त्री गोबर, आँवला, कच्चा बेल और श्रीफल (पक्का बेल)—इन सबको सम मात्रामें मिलाकर उसके द्वारा सिरको धोये । उसकी मैल दूर करे । सदा गोमूत्रका पान करे और सिरके ऊपरसे स्नान करते समय उस जलमें गोमूत्रको भी मिला ले । प्रत्येक कृष्णा चतुर्दशीको इस नियमका पालन करना चाहिये । ऐसा करनेवाली स्त्री विधवा नहीं होती; सौभाग्यवती बनी रहती है । उसे ज्वर आदि रोग नहीं सताते तथा उसके शरीरमें सिर-सम्बन्धी रोगोंसे कष्ट नहीं होता ॥ ६-८ ॥

दर्शनीयं ललाटं या काङ्क्षति स्त्री शुचिस्मिते ।
तिथिं प्रतिपदं नित्यं सा क्षिपेदेकभोजना ॥ ९ ॥
पयसा च तथाश्नीयाद् यावत्संवत्सरो गतः ।
ब्राह्मणाय ततो दद्यात् पट्टं रूप्यमयं शुभम् ॥ १० ॥
ललाटं रूपसम्पन्नमाप्नोति स्त्री सुमध्यमा ।

पवित्र मुसकानवाली अरुन्धती ! जो स्त्री अपने ललाटको दर्शनीय (शोभासे सम्पन्न) बनाये रखना चाहती है, वह प्रत्येक प्रतिपदा तिथिको एक समय भोजन करके बिताये एवं दूधके साथ भात खाकर रहे । जबतक एक वर्ष पूरा न हो, तबतक ऐसा करती रहे । तदनन्तर ब्राह्मणको सुन्दर सुवर्णमय पट्ट[1] दान करे । ऐसा करनेवाली सुन्दर कटि-प्रदेशवाली स्त्री मनोहर रूप-सौन्दर्यसे युक्त ललाट पाती है ॥ ९-१०½ ॥

सततं स्त्री द्वितीयायां भ्रुवोरिच्छेत् सुरूपताम् ॥ ११ ॥
अनन्तरोपवासेन शाकभक्ताशना सती ।
ततः संवत्सरे पूर्णे ब्राह्मणं स्वस्ति वाचयेत् ॥ १२ ॥
फलैः परिणतैः सौम्यैर्माषाणां दक्षिणान्वितैः ।
लवणेन च भद्रं ते घृतपात्रेण चानघे ॥ १३ ॥

निष्पाप अरुन्धती ! तुम्हारा भला हो, जो भौंहोंका सौन्दर्य चाहती हो, वह सती-साध्वी स्त्री सदा द्वितीया तिथिको एक समय उपवास करके साग-भात खाकर रहे । इस तरह एक वर्ष पूर्ण होनेपर सुन्दर पके हुए फल, एक माशा सुवर्णकी दक्षिणा, नमक और घीसे भरा हुआ पात्र देकर ब्राह्मणसे स्वस्तिवाचन करावे ॥ ११-१३ ॥

आत्मनः शोभनौ कर्णाविच्छन्ती स्त्री सुमध्यमा ।
नक्षत्रे श्रवणे प्राप्ते ध्रुवं भुञ्जीत यावकम् ॥ १४ ॥
ततः संवत्सरे पूर्णे कर्णौ दद्याद्धिरण्मयौ ।
घृते प्रक्षिप्य विप्राय पयसा सहिते शुभे ॥ १५ ॥

जो सुन्दर कटिप्रदेशवाली स्त्री अपने कानोंको सुन्दर एवं शोभासम्पन्न बनाये रखना चाहती हो, वह श्रवण नक्षत्र प्राप्त होनेपर अवश्य यावक (जौके आटेका हलवा या पूआ) भोजन करे । इस तरह एक वर्ष पूरा होनेपर दो सुवर्णमय कान बनवाकर उन्हें दुग्धमिश्रित घीमें रखकर ब्राह्मणको दान कर दे ॥ १४-१५ ॥

नासामिच्छेल्ललाटान्तामव्यङ्गां व्याधिवर्जिताम् ।
तिलगुल्मं सदा सिंचेद् यावत् पुष्प्येद्धि रक्षितः ॥ १६ ॥
अनन्तरोपवासेन सेक्तव्यः सलिलैः सदा ।
तस्मादवाप्य पुष्पाणि घृते प्रक्षिप्य दापयेत् ॥ १७ ॥

जो स्त्री यह चाहती हो कि मेरी नासिका ललाटसे संलग्न हो, उसमें किसी तरहकी विकृति न आये और वह सदा रोग-व्याधिसे रहित एवं सुन्दर बनी रहे तो वह सदा तिलके पौधोंको सींचे और तबतक सींचती रहे, जबतक कि उसके द्वारा सुरक्षित हुए उन पौधोंमें फूल तथा फल न लग जायँ । जिस दिनसे सींचना आरम्भ करे, उसके एक दिन पहले उपवास कर ले; फिर, निरन्तर जलसे सींचती रहे । जब उन पौधोंमें फूल लग जायँ तो उनसे फूल ले घीमें डालकर उस घीका दान कर दे ॥ १६-१७ ॥

सख्यीभवेयमिति या स्त्री काङ्क्षत्यमृतोद्भवे ।
अनन्तरं वै भुञ्जाना पयसाथ घृतेन वा ॥ १८ ॥

---

[1] एक आभूषण, जिसे स्त्रियाँ अपने पट्टीकी तरह सिरमें बाँधती हैं ।

ततः संवत्सरे पूर्णे पद्मपत्राणि मण्डिता ।
तथैवोत्पलपत्राणि न्यसेत् क्षीरे शुचिस्मिते ॥ १९ ॥
प्लवमानानि विप्राय ततो दद्यात् सती सति ।
कृष्णसारसमानाक्षी तद् दत्त्वा भवति स्म वै ॥ २० ॥

अमृतमय चन्द्रमासे उत्पन्न हुई अरुन्धती ! जो स्त्री यह चाहती हो कि मेरे नेत्र सुन्दर हों, वह निरन्तर दूध अथवा घीसे ही भोजन करे । पवित्र मुसकानवाली देवि ! इस तरह एक वर्ष पूर्ण होनेपर वह वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित हो कमल और कुमुदके पत्तोंको दूधमें डाले और जब वे उसमें तैरने लगें, तब वह सती उन पत्तोंसहित उस दूधका ब्राह्मणको दान कर दे । पतिव्रते ! वह दान देकर नारी कृष्णसार मृगके समान नेत्रवाली हो जाती है ॥ १८–२० ॥

इच्छेदोष्ठौ चारुरूपौ या स्त्री धर्मगुणान्विता ।
सा मृन्मयेन तु पिबेदुदकं वत्सरं सती ॥ २१ ॥
अयाचितेन भुञ्जीत नवम्यां धर्मभागिनी ।
ततः संवत्सरे पूर्णे विद्रुमं दातुमर्हति ॥ २२ ॥

जो धर्मरूपी गुणसे युक्त सती-साध्वी स्त्री यह चाहती हो कि मेरे ओठ बड़े सुन्दर हों, वह एक वर्षतक मिट्टीके बर्तनसे पानी पीये और धर्मकी भागिनी होकर प्रत्येक नवमी तिथिको बिना माँगे मिले हुए अन्नका भोजन करे । इस प्रकार एक वर्ष पूर्ण हो जानेपर उसे मूँगा दान करना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

तेन बिम्बफलाभौष्ठी स्त्री भवत्येव शोभने ।
सुभगाथ वपुःपुत्रधनाढ्या गोमती तथा ॥ २३ ॥

शोभने ! ऐसा करनेसे उस स्त्रीके ओठ अवश्य ही बिम्बफलके समान लाल हो जाते हैं तथा वह सौभाग्यवती, रूपवती, पुत्रवती, धनाढ्य और गौओंसे युक्त होती है ॥ २३ ॥

या चारुरूपानिच्छेत दन्तानमरवर्णिनि ।
शुक्लाष्टमीं न साश्नीयाद् भक्तद्वयमनिन्दिता ॥ २४ ॥

अमरवर्णिनि ! जो चाहती हो कि मेरे दाँत बहुत ही सुन्दर और स्वच्छ हों, वह साध्वी स्त्री शुक्ल पक्षकी अष्टमी तिथिको दोनों समय भोजन त्याग दे ॥ २४ ॥

ततः संवत्सरे पूर्णे दद्याद् रौप्यमयान् सती ।
दन्तान् प्रक्षिप्य धर्मज्ञे पयस्यतिगुणोदिते ॥ २५ ॥

धर्मज्ञे ! इस तरह एक वर्ष पूर्ण होनेपर वह सती नारी चाँदीके दाँत बनवाकर उन्हें अत्यन्त उत्तम गुणवाले दूधमें डाल दे और दाँतोंसहित उस दुग्धका ब्राह्मणको दान कर दे ॥ २५ ॥

तेन सा जातिपुष्पाभान् दन्तान् प्राप्नोति सा सती ।
सौभाग्यमपि चाप्नोति सपुत्रत्वं तथानघे ॥ २६ ॥

अनघे ! ऐसा करनेसे वह सती-साध्वी स्त्री चमेलीके फूल-जैसे श्वेत दाँत पाती है और सौभाग्य तथा पुत्र लाभ करती है ॥ २६ ॥

सर्वमेव मुखं कान्तमिच्छेद् या रुचिरानने ।
सा पूर्णमास्यां स्नात्वा तु प्राप्य चन्द्रोदये शुभे ॥ २७ ॥
यावकं पयसा सिद्धं दत्त्वा विप्राय भामिनी ।
ततः संवत्सरे पूर्णे चन्द्रं रूप्यमयं शुभम् ॥ २८ ॥
पद्मे फुल्ले तु विन्यस्य ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत् ।
पूर्णचन्द्रमुखी तेन दानेन स्त्री शुभा भवेत् ॥ २९ ॥

रुचिरानने ! जो स्त्री सम्पूर्ण मुख-मण्डलको ही कमनीय कान्तिसे युक्त देखना चाहे, वह भामिनी पूर्णिमाको स्नान करके शुभ चन्द्रोदय होनेपर दूधमें तैयार किये गये यावकका ब्राह्मणको दान दे । इस तरह एक वर्ष पूर्ण होनेपर सोने या चाँदीकी चन्द्रमाकी सुन्दर प्रतिमा बनवाकर उसे कमलके फूलपर रखे और ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराये और उसका दान कर दे । वह शुभलक्षणा स्त्री उस दानके द्वारा पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली हो जाती है ॥ २७–२९ ॥

स्तनाविच्छति या नारी तृणराजफलोपमौ ।
अयाचितं दशम्यां सा नित्यमश्नीत वाग्यता ॥ ३० ॥
संवत्सरे ततः पूर्णे द्वे बिल्वे काञ्चने शुभे ।
सदक्षिणे ब्राह्मणाय प्रयच्छति धृतात्मने ॥ ३१ ॥
सौभाग्यं परमाप्नोति बहुपुत्रांस्तथैव च ।
सदोन्नतौ स्तनौ सा स्त्री बिभर्त्यमरवर्णिनि ॥ ३२ ॥

जो नारी यह चाहती है कि मेरे दोनों स्तन ताड़के फलोंके समान पीन हों, वह प्रत्येक दशमी तिथिको सदा मौन रहकर बिना माँगे मिले हुए अन्नका भोजन करे । इस प्रकार एक वर्ष पूर्ण होनेपर जो सोनेके बने हुए दो सुन्दर बेल जितात्मा ब्राह्मणको दक्षिणासहित दानमें देती है, वह परम सौभाग्य एवं बहुत-से पुत्र प्राप्त करती है । देवोपम कान्तिवाली देवि ! वह स्त्री सदा ऊँचे स्तन धारण करती है ॥ ३०–३२ ॥

शातोदरत्वमिच्छन्ती क्षिपेदेकान्तभोजिनी ।
पञ्चम्यां तत्र भोक्तव्यमन्नं तोयेन नित्यदा ॥ ३३ ॥

जो कृशोदरी होना चाहती है (अर्थात् जिसकी यह इच्छा है कि मेरा पेट उभड़ने या बढ़ने न पाये, भीतरको दबा रहे), वह एकान्तमें भोजन करे और पञ्चमीको सदा केवल जलसे अन्न ग्रहण करे ॥ ३३ ॥

ततः संवत्सरे पूर्णे दद्याज्जातिलतां शुभे ।
फुल्लां सदक्षिणां धन्ये ब्राह्मणाय धृतात्मने ॥ ३४ ॥

शुभे ! धन्ये ! इस तरह एक वर्ष पूर्ण होनेपर जितात्मा ब्राह्मणको खिली हुई चमेलीकी लताका दक्षिणासहित दान करे ॥ ३४ ॥

हस्ताविच्छति या नारी रूपयुक्तौ सुमध्यमे ।
द्वादशीं सा क्षिपत्येवं शाकैः सर्वैरनिन्दितैः ॥ ३५ ॥

संवत्सरे ततः प्राप्ते रौक्मे पद्मे ददातु सा।
ब्राह्मणायाभिरूपाय तथा पद्मद्वयं शुभम् ॥ ३६ ॥

सुमध्यमे ! जो नारी अपने दोनों हाथोंको सुन्दर रूपसे युक्त देखना चाहती है, वह द्वादशी तिथिको सब प्रकारके अनिन्दित (उत्तम) शाकोंद्वारा आहार करके व्यतीत करे। इस तरह एक वर्ष व्यतीत होनेपर वह सुवर्णमय कमलपर दो खिले हुए कमलके फूल रखकर उन सबका सुन्दर एवं सुयोग्य ब्राह्मणको दान करे ॥ ३५-३६ ॥

श्रोणीं विशालामन्विच्छेत् स्त्री क्षिपत्वेव सुव्रते।
त्रयोदशीमेकभक्तमश्नात्वेवमयाचितम् ॥ ३७ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाली देवि ! जो नारी विशाल नितम्ब चाहती हो, वह त्रयोदशी तिथिको केवल एक बार अयाचित अन्न भोजन करे और इसी तरह प्रत्येक त्रयोदशी-को व्यतीत करे ॥ ३७ ॥

ततः संवत्सरे पूर्णे लवणं सम्प्रयच्छतु।
प्रजापतिमुखाकारं कृत्वा तत्र वरानने ॥ ३८ ॥

वरानने ! इस तरह एक वर्ष पूर्ण होनेपर प्रजापति ब्रह्माजीके मुखकी-सी आकृतिवाली नमककी राशिका दान करे ॥ ३८ ॥

काञ्चनं चैव दातव्यं तदाकारस्य सर्वदा।
अञ्जनेन च धर्मज्ञा शनकैरवचूर्णयेत् ॥ ३९ ॥

इसी प्रकार प्रजापतिके मुखके आकारका ही सुवर्ण भी सदा दान करना चाहिये। धर्मज्ञ नारी धीरे-धीरे अञ्जनसे किसी ब्राह्मणीके नेत्रोंमें काजल लगावे ॥ ३९ ॥

रत्नानि चैव पूर्णानि वासो रक्तं च दापयेत्।
तेन श्रोणीमभिमतां स्त्री सौम्ये प्रतिपद्यते ॥ ४० ॥

सौम्ये ! पूर्ण रत्न और लाल रंगका वस्त्र भी दे। इससे वह स्त्री अपने मनके अनुकूल नितम्ब पाती है ॥ ४० ॥

मधुरां वाचमिच्छन्ती वर्जयेल्लवणं सती।
संवत्सरं वा मासं वा प्रयच्छेल्लवणं ततः ॥ ४१ ॥
सदक्षिणं ब्राह्मणाय परं माधुर्यमिच्छती।
शुकवाक्याच्छतगुणं भवत्यमरवर्णिनि ॥ ४२ ॥

मधुर वाणीकी इच्छा रखनेवाली सती नारी एक वर्ष या एक मासतक नमक खाना छोड़ दे और वाणीके अतिशय माधुर्यकी इच्छा रखकर ब्राह्मणको दक्षिणासहित नमक दान करे। अमरवर्णिनि ! ऐसा करनेसे उसकी वाणीकी मिठास तोतेकी वाणीसे सौ गुनी अधिक हो जाती है ॥ ४१-४२ ॥

गूढगुल्फशिरौ पादाविच्छन्त्या सोमनन्दिनि।
षष्ठ्यां षष्ठ्यां वरारोहे भोक्तव्यं सलिलौदनम् ॥ ४३ ॥

सोमनन्दिनि ! वरारोहे ! जो स्त्री यह चाहती हो कि मेरे पैरोंके गुल्फ (घुट्टियाँ या गट्टे) और नस-नाड़ियाँ ढकी रहें, वह प्रत्येक षष्ठी तिथिको केवल पानीके साथ भात खाय ॥ ४३ ॥

अग्निर्वा ब्राह्मणो वापि न स्प्रष्टव्यः पदा सदा।
यदा पदा स्पृशेत् तं च वन्देत तपसान्विते ॥ ४४ ॥

तपस्विनि ! यह व्रत लेनेवाली स्त्रीको सदा ही उचित है कि वह अग्नि अथवा ब्राह्मणका पैरसे स्पर्श न करे। यदि कभी स्पर्श हो जाय तो उसको प्रणाम करे ॥ ४४ ॥

पादेन न च वै पादं प्रक्षालयितुमर्हति।
एतैर्नित्यव्रतैर्युक्ता धर्मज्ञा पतिदेवता ॥ ४५ ॥
कूर्मौ रूप्यमयौ दद्याद् ब्राह्मणाय पतिव्रते।
तौ वराय ब्राह्मणाय स्थापयित्वा घृतेऽनघे ॥ ४६ ॥
पद्मे चाधोमुखे कृत्वा दद्याद् विप्राय नन्दिनि।
रक्तैर्द्रव्यैर्मिश्रयित्वा काञ्चनेनाभ्यलंकृते ॥ ४७ ॥

उसे पैरसे पैरको नहीं धोना (रगड़ना) चाहिये। इन नित्य व्रतोंसे युक्त हुई धर्मज्ञ पतिव्रता नारी सोने या चाँदीके दो कछुए बनवावे। निष्पाप पतिव्रते ! फिर उन दोनों कछुओंको घीमें रखकर श्रेष्ठ ब्राह्मणको दान कर दे। नन्दिनि ! इसके सिवा दो कमलोंको उनके मुख नीचेकी ओर करके रखे, उन्हें लाल रंगके गन्धादि द्रव्योंसे संयुक्त करके सुवर्णसे अलंकृत करे; तत्पश्चात् उसका ब्राह्मणको दान कर दे ॥ ४५–४७ ॥

सर्वमेव तु या गात्रमिच्छत्यतिमनोहरम्।
त्रिरात्रं पुष्पकाले सा करोतु पतिदेवता ॥ ४८ ॥

जो पतिदेवता नारी अपने सम्पूर्ण शरीरको ही अत्यन्त मनोहर बनाना चाहती हो, वह रजोदर्शनके अवसरपर तीन रात उपवास करे ॥ ४८ ॥

कौमुद्यामथवाषाढ्यां माघ्यां चाश्वयुजे तथा।
मातरं पितरं चैव मन्यतेऽतिथिदैवतम् ॥ ४९ ॥

वह कार्तिक, आषाढ़, माघ तथा आश्विनकी पूर्णिमाको माता, पिता, अतिथि और देवताका आदर-सत्कार एवं पूजन करे ॥ ४९ ॥

घृतं च नित्यं विप्रेभ्यो ददातु लवणं तथा।
सम्मार्जनं गृहे चैव करोतु पतिदेवता ॥ ५० ॥

वह पतिव्रता ब्राह्मणोंको प्रतिदिन नमक और घी दान करे। नित्य घरमें झाड़ू लगावे ॥ ५० ॥

उपलेपनं च धर्मज्ञे बलिकर्म च मानिनि।
वाग्दुष्टा चैव मा शुभ्रे भक्त्वात्मार्थपण्डिता ॥ ५१ ॥

धर्मज्ञे ! मानिनि ! शुभ्रे ! अपने स्वार्थको समझनेमें कुशल नारी घरमें लीपने-पोतने तथा देवताओंको बलि (उपहार-सामग्री) अर्पण करनेका कर्म भी करे। वह कभी दुर्वचनका प्रयोग न करे ॥ ५१ ॥

पर्यश्नातु च सा कञ्चिदपि शाकं यशस्विनि।

बलिं सृजत्वतथ्यं च परित्यजतु भामिनि ॥ ५२ ॥

यशस्विनि ! वह किसी एक शाकका ही भक्षण करे। भामिनि ! वह देवताओंके लिये उपहार दे और असत्य भाषणका त्याग करे ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे व्रतकविधानेऽशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणके प्रसङ्गमें व्रतोंका विधानविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

उमाके द्वारा व्रतकथनका उपसंहार, श्रीनारदजीका देवियोंद्वारा किये गये व्रतोंका वर्णन करना तथा श्रीकृष्ण-पत्नियोंद्वारा व्रतका अनुष्ठान एवं दान

उमोवाच

बान्धवान् सगुणानिच्छेदेकभक्तेन नित्यदा।
सप्तमीं सप्तमीं नित्यं क्षपेत् स्त्री पतिदेवता ॥ १ ॥

उमादेवी कहती हैं—जो पतिव्रता स्त्री गुणवान् बान्धवोंकी इच्छा रखती है, वह प्रत्येक सप्तमीको सदा एक समय भोजन करके व्यतीत करे ॥ १ ॥

ततः संवत्सरे पूर्णे वृक्षं दद्याद्धिरण्मयम्।
सदक्षिणं ब्राह्मणाय शुभबन्धुमती भवेत् ॥ २ ॥

तत्पश्चात् वर्ष पूर्ण होनेपर ब्राह्मणको दक्षिणासहित एक सुवर्णमय वृक्षका दान करे। इससे वह शुभ गुणसम्पन्न बन्धु-बान्धवोंसे युक्त होती है ॥ २ ॥

करञ्जे दीपकं दद्यात् सदा या प्रमदा वरे।
पूर्णे संवत्सरे दद्यात् सौवर्णं दीपकं ततः ॥ ३ ॥

जो नारी सदा उत्तम करंज (कंजा या करज) वृक्षके नीचे दीप दान करती है, उसे वर्ष पूर्ण होनेपर सुवर्णमय दीपकका दान करना चाहिये ॥ ३ ॥

रुच्या सा स्त्री भवेद् भर्तुरिष्टा पुत्रवती तथा।
सपत्नीनामधि तथा दीपवज्ज्वलते शुभे ॥ ४ ॥

शुभे ! वह स्त्री अपनी सुन्दर कान्तिसे पतिकी प्राण-वल्लभा बन जाती है और पुत्रवती होती है। वह सपत्नियोंमें सबसे ऊँचा स्थान बना लेती है और दीपककी भाँति प्रकाशित होती रहती है ॥ ४ ॥

या शेषभोजिनी नित्यं नैव च स्यादरुन्तुदा।
न च स्याद् व्यशना सौम्ये नित्यं च पतिदेवता ॥ ५ ॥
शौचान्विता च सततं न च रूक्षाभिभाषिणी।
श्वश्रूश्वशुरयोर्नित्यं शुश्रूषाभिरता सती ॥ ६ ॥
किं तस्या व्रतकैः कार्यं किं वा स्यादुपवासकैः।
या भर्तृदेवता नित्यं सत्यधर्मगुणान्विता ॥ ७ ॥

सौम्ये ! जो स्त्री प्रतिदिन सबके भोजनके पश्चात् शेष अन्नका आहार करती है, किसीके हृदयको चोट नहीं पहुँचाती, बिना खाये नहीं रहती और सदा पातिव्रत्यमें स्थित रहती है, सदा शौचाचारका पालन करती है, कभी रूखी बात नहीं बोलती, प्रतिदिन सास-ससुरकी सेवामें तत्पर रहती है, उस सती स्त्रीको व्रतोंसे क्या करना है ? अथवा उपवासोंसे क्या प्रयोजन है ? जो सदा पतिको ही देवताकी भाँति पूजती है और सत्यधर्म तथा सद्गुणोंसे सम्पन्न है (उसका जीवन सफल है) ॥ ५–७ ॥

विधवा स्त्री तु या हि स्याद् दैवयोगात् सती सति।
तस्या वक्ष्यामि यो धर्मः पुराणोक्तः सुमध्यमे ॥ ८ ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली पतिव्रते ! जो सती-साध्वी नारी कभी दैवयोगसे विधवा हो जाय, उसके लिये पुराणोंमें जो धर्म बताया गया है, उसका वर्णन करती हूँ ॥ ८ ॥

पतिं संकल्पयित्वा सा चित्रस्थं वाथ मृन्मयम्।
तस्य पूजां सदा कुर्यात् सतां धर्ममनुस्मरेत् ॥ ९ ॥

वह पतिके चित्रमें अथवा उसकी मिट्टीकी प्रतिमामें पतिकी भावना करके सदा उसीकी पूजा करे और सत्पुरुषोंके धर्मका निरन्तर स्मरण रखे ॥ ९ ॥

तत एवाभ्यनुज्ञां सा नित्यं याचेत सुव्रता।
व्रतके चोपवासे च भोजने च विशेषतः ॥ १० ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाली वह स्त्री प्रतिदिन उसी (चित्रगत या प्रतिमागत) पतिसे व्रत, उपवास और विशेषतः भोजनके लिये आज्ञा माँगे ॥ १० ॥

भर्तृलोकान् व्रजत्येव न चेद् व्युच्चरते पतिम्।
शाण्डिली सूर्यवद् भाति सततं पतिदेवता ॥ ११ ॥

यदि वह अपने पतिका उल्लङ्घन नहीं करती तो पति-लोकमें ही जाती है और स्वर्गमें पतिव्रता शाण्डिलीकी भाँति सदा सूर्यके समान प्रकाशित होती रहती है ॥ ११ ॥

अद्यप्रभृति सर्वेषां देवानां चैव योषितः।
प्रक्ष्यन्ति पुण्यकविधिं पौराणो यः सनातनः ॥ १२ ॥

आजसे समस्त देवताओंकी पत्नियाँ जो पुराणप्रतिपादित सनातन पुण्यकविधि है, उसका दर्शन करेंगी ॥ १२ ॥

मुनिश्च नारदः कृत्स्नं पौराणं ज्ञास्यते विधिम् ।
उपवासस्य धर्मात्मा व्रतकानां तथैव च ॥ १३ ॥

धर्मात्मा नारद मुनि भी व्रत-उपवासकी सम्पूर्ण पौराणिक विधिके ज्ञाता होंगे ॥ १३ ॥

अदितिस्तपसेन्द्राणी त्वं च सोमसुते वरे ।
प्रवर्तने पुण्यकानां व्रतकानां च सर्वदा ॥ १४ ॥
कीर्तनीयाः सतीनां हि भविष्यथ गुणान्विताः ।

श्रेष्ठ सोमकुमारी ! अदिति देवी, इन्द्राणी और तुम भी अपनी तपस्यासे उस विधिको जानोगी । पुण्यकों और व्रतोंके प्रवर्तन (आरम्भ) में सदा तुम सद्गुणवती देवियोंका सती नारियोंद्वारा कीर्तन होगा ॥ १४½ ॥

उपवासव्रतविधिं यथावदिह कृत्स्नशः ॥ १५ ॥
प्रादुर्भावेषु सर्वेषु भार्या विष्णोर्महात्मनः ।
ज्ञास्यन्ति पुण्यकविधिं नित्यमेव सनातनम् ॥ १६ ॥

महात्मा विष्णुके सभी अवतारोंमें जो उनकी पत्नियाँ होंगी, वे उपवास-व्रत एवं पुण्यकोंकी सम्पूर्ण सनातन विधिको यहाँ सदा ही यथावत् रूपसे जानेंगी ॥ १५-१६ ॥

सविशेषं च धर्माणां स्त्रीधर्मेषु प्रशस्यते ।
पतिभक्तिरदुष्टत्वमवाग्दुष्टत्वमेव च ॥ १७ ॥

सभी धर्मों अथवा स्त्रीधर्मोंमें पतिभक्ति, दुराचारका अभाव और दुर्वचनका प्रयोग न करना—इन तीनकी विशेष-रूपसे प्रशंसा की जाती है ॥ १७ ॥

नारद उवाच

एवमुक्तास्तु ताः साध्व्यो महादेव्या तपोधनाः ।
जग्मुर्हृष्टा महादेवीं प्रणिपत्य हरप्रियाम् ॥ १८ ॥

नारदजी कहते हैं—देवि ! महादेवी पार्वतीके ऐसा कहनेपर वे साध्वी तपोधना देवियाँ हर्षमें भरकर उन हरप्रिया पार्वतीको प्रणाम करके अपने-अपने स्थानको चली गयीं ॥

अदितिर्व्रतकं चक्रे शृणु यद् धर्मचारिणी ।
उमाव्रतविधिः सर्वः पूर्वोद्दिष्टस्तया कृतः ॥ १९ ॥

धर्मचारिणी अदितिने जो व्रत किया, उसे सुनो—उमाने पहले जो व्रतकी विधि बतायी थी, उस सबका पालन अदिति देवीने किया ॥ १९ ॥

पारिजाते निबध्याथ मम दत्तस्तु कश्यपः ।
अदितिव्रतकं नाम तद् दत्तं सत्यभामया ॥ २० ॥

उन्होंने महर्षि कश्यपको पारिजातमें बाँधकर मेरे हाथमें दे दिया । इसीका नाम 'अदितिव्रतक' है । अदितिने जिस तरह व्रतक (व्रतसम्बन्धी दान) दिया था, उसी प्रकार सत्यभामाने भी दिया ॥ २० ॥

तदेव व्रतकं दत्तं सावित्र्या धर्मनित्यया ।
तैरेव युक्तैः संयुक्तमिदं त्वभ्यधिकं कृतम् ॥ २१ ॥

नित्य धर्मपरायणा सावित्रीने भी वही व्रत किया और उसी तरह दान दिया था । उन्हीं समुचित साधनोंसे संयुक्त होनेके कारण यह संध्याकाल अत्यन्त उत्कृष्ट माना गया है ॥

संध्याकाले तु सम्प्राप्ते स्थाने स्थाने तथैव च ।
पूजनं वा नमस्कारो जपश्च द्विगुणः स्मृतः ॥ २२ ॥

संध्याकाल आनेपर जगह-जगह किया गया पूजन, नमस्कार और जप द्विगुण माना गया है ॥ २२ ॥

सावित्रीव्रतकं कृत्वा तथादित्या व्रतं सती ।
भर्तुः कुलं पितृकुलमात्मानं चैव तारयेत् ॥ २३ ॥

सती नारी सावित्री-व्रत और अदिति व्रतका अनुष्ठान करके पतिकुल, पितृकुल तथा अपने-आपका भी उद्धार कर देती है ॥ २३ ॥

इन्द्राणी व्रतकं चक्रे तदेवौमं यथाविधि ।
रक्तमभ्यधिकं वासो भोजनं चैव सामिषम् ॥ २४ ॥

इन्द्राणीने भी उसी उमाके बताये हुए व्रतका विधि-पूर्वक पालन किया । उनमें अधिक या विशेष बात इतनी ही थी कि उन्होंने लाल रंगका वस्त्र और योग्य पदार्थोंसे युक्त उत्तम भोजन दिया ॥ २४ ॥

चतुर्थे दिवसे वापि पुण्यकार्थे विधिः पुनः ।
अहोरात्रोपवासश्च देयं कुम्भशतं तथा ॥ २५ ॥

चौथे दिन फिर पुण्यकव्रतके लिये दानकी विधि है । एक दिन-रातका उपवास करके सौ घड़ोंका दान करना चाहिये॥

गङ्गया व्रतकं दत्तं तदेवौमं यशस्करि ।
स्नानमभ्यधिकं त्वत्र प्रत्यूषस्यात्मनो जले ॥ २६ ॥
अन्यस्मिन् वा जले माघशुक्लपक्षे हरिप्रिये ।
एतद् गङ्गाव्रतं नाम सर्वकामप्रदं स्मृतम् ॥ २७ ॥

यशका विस्तार करनेवाली हरिप्रिये रुक्मिणी ! गङ्गाजीने भी उसी उमाके बताये हुए व्रतका अनुष्ठान और दान किया। उसमें अधिक बात इतनी ही थी कि वे प्रतिदिन प्रातःकाल माघ शुक्ल पक्षमें अपने ही जलमें अथवा दूसरे जलमें भी स्नान किया करती थीं । यह गङ्गा-व्रत समस्त मनोवाञ्छित कामनाओंको देनेवाला माना गया है ॥ २६-२७ ॥

सप्त सप्त च सप्ताथ कुलानि हरिवल्लभे ।
स्त्री तारयति धर्मज्ञा गङ्गाव्रतकचारिणी ॥ २८ ॥

हरिवल्लभे ! गङ्गा-व्रतका पालन करनेवाली धर्मज्ञ नारी पितृकुल, मातामहकुल और पतिकुलकी सात-सात पीढ़ियोंका उद्धार कर देती है ॥ २८ ॥

देयं कुम्भसहस्रं तु गङ्गाया व्रतके शुभे ।
तारणं पारणं चैव तद् व्रतं सार्वकामिकम् ॥ २९ ॥

शुभे ! गङ्गाव्रतमें एक सहस्र घड़ोंका दान करना चाहिये। वह समस्त कामनाओंका पूरक व्रत दुःखसे तारने और मनोरथोंकी पूर्ति करनेवाला है ॥ २९ ॥

यमभार्या चकाराथ व्रतं यामरथं शुभम्।
हेमन्ते तत् तु कर्तव्यमाकाशे हरिवल्लभे ॥ ३० ॥

हरिवल्लभे ! यमराजकी पत्नीने यामरथ नामक शुभ व्रतका अनुष्ठान किया था। वह व्रत हेमन्त ऋतुमें खुले आकाशके नीचे करना चाहिये ॥ ३० ॥

इमानि चैव वाक्यानि ब्रूयादाकाशमास्थिता।
स्नात्वा शुचिसमाचारा नमस्कृत्य पतिं शुभे ॥ ३१ ॥

शुभे ! पवित्र आचरणवाली स्त्री स्नानके पश्चात् पतिको नमस्कार करके खुले मैदानमें खड़ी ये निम्नाङ्कित वाक्य कहे-॥

चराम्यहं यामरथं हिमं पृष्ठेन धारये।
पतिव्रता जीवपुत्रा भवेयं च पुरोऽधिका ॥ ३२ ॥

'मैं अपनी पीठपर हिम (बर्फ या पाला) का आघात सहती हुई यामरथ व्रतका आचरण कर रही हूँ। मेरी यह कामना है कि मैं पतिव्रता, चिरंजीवी पुत्रोंकी माता और नारियोंमें अग्रगण्या होऊँ ॥ ३२ ॥

सपत्नीरधितिष्ठेयं पश्येयं चैव मा यमम्।
सभर्तृपुत्रा जीवेयं चिरं च सुखमेव च ॥ ३३ ॥

'सौतोंपर मेरा प्रभुत्व स्थापित हो, मैं कभी यमका दर्शन न करूँ और अपने पति एवं पुत्रोंके साथ चिरकालतक सुखपूर्वक जीवित रहूँ ॥ ३३ ॥

पतिलोकं च गच्छेयं भवेयं नन्दिनी तथा।
सुचैला मृग्रहस्ता च स्वजनेष्टा गुणान्विता ॥ ३४ ॥

'अन्तमें पतिलोकको प्राप्त होऊँ, अपने कुल-परिवारका आनन्द बढ़ानेवाली होऊँ। मेरे वस्त्र स्वच्छ रहें, मेरा हाथ शुद्ध हो, मैं स्वजनोंकी प्यारी एवं सद्गुणवती होऊँ'॥३४॥

एवं कृत्वा ततो विप्रं मधुना स्वस्ति वाचयेत्।
तिलैरपि तथा कृष्णैः पायसेन तु भोजयेत् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार व्रतको पूर्ण करके ब्राह्मणसे स्वस्तिवाचन कराये तथा उसे मधु और काला तिलसे मिश्रित खीर खिलाये॥

एवं व्रतानि देवीभिः कृतान्यमरवर्णिनि।
महादेव्या पुरोक्तानि रुद्रपत्न्या हरिप्रिये ॥ ३६ ॥

देवोपम कान्तिवाली देवि ! हरिप्रिये ! इस प्रकार रुद्र-पत्नी महादेवी उमाद्वारा पूर्वकालमें बताये गये व्रतोंका अनुष्ठान पहलेकी देवियोंने किया है ॥ ३६ ॥

अहं ब्रवीमि तपसा मदीयेन समन्विताः।
सर्वा द्रक्ष्यथ गुण्यानि व्रतकानि तथैव च ॥ ३७ ॥
पौराणान्युमया देव्या यानि दृष्टानि वै पुरा।
कल्याणगुणयुक्तानि पावनानि शुभानि च ॥ ३८ ॥

मैं कहता हूँ, देवियो ! प्राचीन कालमें देवी उमाने जिन कल्याणमय गुणोंसे युक्त, पावन, गुणकारक एवं शुभ पुरातन व्रतोंका साक्षात्कार किया था, उन सबको तुम सब लोग मेरे तपोबलसे सम्पन्न होकर देखोगी ॥ ३७-३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

रुक्मिणी व्रतकं चक्रे दृष्ट्वा व्रतकविस्तरम्।
उमाया वरदानेन दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! रुक्मिणीने उमाके वरदानके अनुसार दिव्यदृष्टिसे व्रतोंका विस्तार देखकर स्वयं भी एक 'व्रत' का अनुष्ठान किया ॥ ३९ ॥

उमाव्रतकवत् सर्वं वृषदानं तथाधिकम्।
रत्नमालाप्रदानं च तथान्नं सार्वकामिकम् ॥ ४० ॥

उन्होंने सब कुछ उमाके व्रतके ही समान किया, किंतु वृषभदान, रत्नमाला-दान और सम्पूर्ण कामनाओंका पूरक अन्नदान—उनसे अधिक किया ॥ ४० ॥

तथा जाम्बवती चक्रे पुरोमाव्रतकं तथा।
ददावभ्यधिकं सा तु रत्नवृक्षं मनोहरम् ॥ ४१ ॥

जाम्बवतीने भी वैसा ही किया, जैसा पहले उमाने किया था; किंतु उन्होंने मनोहर रत्नमय वृक्षका दान उनकी अपेक्षा अधिक किया ॥ ४१ ॥

सत्या ददौ तथैवाथ पुरोमाव्रतकं तथा।
पीतमभ्यधिकं वासस्तया दत्तमुमाव्रते ॥ ४२ ॥

सत्याने भी पूर्वकालमें उमाद्वारा किये गये व्रतके समान ही दान किया; परंतु उस उमाव्रतमें उन्होंने पीतवस्त्रका दान अधिक किया ॥ ४२ ॥

रोहिण्याथ च फाल्गुन्या मघया च पुरातने।
व्रतानि खलु दत्तानि बहूनि कुलवर्धन ॥ ४३ ॥

कुलकी वृद्धि करनेवाले नरेश ! पुरातन कालमें रोहिणी, फाल्गुनी और मघाने भी बहुत-से व्रत-दान किये थे ॥ ४३ ॥

ददौ शतभिषा चैव व्रतकं पुण्यलक्षणम्।
येन नक्षत्रमुख्यत्वं जगाम कुरुनन्दन ॥ ४४ ॥

कुरुनन्दन ! शतभिषाने भी पुण्यको लक्षित करानेवाले व्रतकका दान किया था, जिससे उसने नक्षत्रोंमें मुख्यता प्राप्त कर ली ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि पारिजातहरणे उमाव्रतकथनसमाप्तौ पारिजातहरणकथनसमाप्तौ चैकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें पारिजातहरणके प्रसंगमें उमा-व्रतकथन-समाप्तिविषयक इक्यासीवाँ* अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

* कुछ लोग यहाँ हरिवंश ग्रन्थके पूर्वार्ध भागकी समाप्ति मानते हैं और आगेके ग्रन्थको उत्तरार्धके अन्तर्गत बताते हैं।

द्व्यशीतितमोऽध्यायः*

षट्पुरवासी असुरोंका संक्षिप्त परिचय, उन्हें ब्रह्मा और भगवान् शिवका वरदान

जनमेजय उवाच

वैशम्पायन धर्मज्ञ व्यासशिष्य तपोधन।
पारिजातस्य हरणे षट्पुरं परिकीर्तितम्॥ १॥

जनमेजयने कहा—धर्मज्ञ! व्यासशिष्य! तपोधन! वैशम्पायनजी! आपने पारिजातहरणके प्रसंगमें 'षट्पुर' की चर्चा की थी॥ १॥

निवासोऽसुरमुख्यानां दारुणानां तपोधन।
तेषां वधं मुनिश्रेष्ठ कीर्तयस्वान्धकस्य च॥ २॥

तपोधन! आपने कहा था कि वह नगर बड़े-बड़े भयंकर असुरोंका स्थान था। मुनिश्रेष्ठ! आप उन षट्पुरनिवासी दैत्यों तथा अन्धकासुरके वधका वर्णन कीजिये॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

त्रिपुरे निहते वीर रुद्रेणाक्लिष्टकर्मणा।
तत्र प्रधाना बहवो बभूवुरसुरोत्तमाः॥ ३॥
शराग्निना न दग्धास्ते रुद्रेण त्रिपुरालयाः।
षष्टिः शतसहस्राणि न न्यूनान्यधिकानि च॥ ४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वीर! अनायास ही समस्त कर्म करनेवाले रुद्रदेवके द्वारा जब दैत्योंके तीनों पुरोंका विनाश किया गया, उस समय वहाँ बहुत-से प्रधान-प्रधान असुर-शिरोमणि शेष रह गये। वे त्रिपुरनिवासी होनेपर भी रुद्रदेवके बाणोंकी आगसे दग्ध न हो सके। उनकी संख्या लगभग साठ लाख थी॥ ३-४॥

ते ज्ञातिवधसंतप्ताश्चक्रुर्वीराः पुरा तपः।
जम्बूमार्गे सतामिष्टे महर्षिगणसेविते॥ ५॥

उन असुर वीरोंने पूर्वकालमें अपने बन्धु-बान्धवोंके वधसे संतप्त होकर महर्षिगणोंसे सेवित तथा सत्पुरुषोंके प्रिय जम्बूमार्गमें जाकर तपस्या आरम्भ की॥ ५॥

आदित्याभिमुखा वीराः सहस्राणां शतं समाः।
वायुभक्षा नृपश्रेष्ठ स्तुवन्तः पद्मसम्भवम्॥ ६॥

नृपश्रेष्ठ! वे वीर दैत्य सूर्यकी ओर मुँह करके वायुके आहारपर रहकर एक लाख वर्षोंतक कमलयोनि ब्रह्माजीकी स्तुति करते रहे॥ ६॥

तेषामुदुम्बरं राजन् गण एकः समाश्रितः।
वृक्षं तत्रावसन् वीरास्ते कुर्वन्तो महत् तपः॥ ७॥

राजन्! उन दैत्योंमें एक दल ऐसा था, जो गूलरके वृक्षका आश्रय लेकर रहता था। वे वीर दैत्य वहाँ महान् तप करते हुए निवास करते थे॥ ७॥

कपित्थवृक्षमाश्रित्य केचित् तत्रोषिताः पुरा।
सृगालवाटीस्त्वपरे चेरुरुग्रं तथा तपः॥ ८॥

पूर्वकालमें उन दैत्योंमेंसे कुछ लोग कपित्थ (कैथ) वृक्षका आश्रय लेकर वहाँ रहते थे और दूसरे सियारोंकी माँदोंमें रहकर वहाँ उग्र तपस्या करते थे (अथवा सृगालनामक वृक्ष-विशेषकी वाटिकाओंमें रहकर तपस्या करते थे)॥ ८॥

वटमूले तथा चेरुस्तपः कौरवनन्दन।
अधीयन्तो परं ब्रह्म वटं गत्वासुरात्मजाः॥ ९॥

कौरवनन्दन! कुछ असुरकुमार वट-वृक्षकी जड़में रहते और उस वृक्षपर चढ़कर परब्रह्मका चिन्तन करते हुए तपस्या करते थे॥ ९॥

तेषां तुष्टः प्रजाकर्ता नरदेव पितामहः।
वरं दातुं सुरश्रेष्ठः प्राप्तो धर्मभृतां वरः॥ १०॥

नरदेव! कुछ कालके अनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ प्रजास्रष्टा देवशिरोमणि पितामह ब्रह्माजी उनपर संतुष्ट हो उन्हें वर देनेके लिये वहाँ आये॥ १०॥

वरं वरयतेत्युक्तास्ते राजन् पद्मयोनिना।
नेषुस्तद्वरदानं तु द्विषन्तस्त्र्यम्बकं विभुम्॥ ११॥

राजन्! कमलयोनि ब्रह्माने उनसे कहा—'वर माँगो'। तब उन्होंने भगवान् त्रिनेत्रधारी रुद्रसे द्वेष रखनेके कारण वरदान लेनेकी इच्छा नहीं की॥ ११॥

इच्छन्तोऽपचितिं गन्तुं ज्ञातीनां कुरुनन्दन।
तानुवाच ततो ब्रह्मा सर्वज्ञः कुरुनन्दन॥ १२॥

कुरुकुलको आनन्द प्रदान करनेवाले कुरुनन्दन! वे रुद्रदेवसे बदला लेकर उनके द्वारा मारे गये अपने भाई-बन्धुओंके ऋणसे उऋण होना चाहते थे। तब सर्वज्ञ ब्रह्माजीने उनसे कहा—॥ १२॥

विश्वस्य जगतः कर्तुः संहर्तुश्च महात्मनः।
कः शक्तोऽपचितिं गन्तुं मास्तु वोऽत्र वृथा श्रमः॥ १३॥

जो सम्पूर्ण जगत्के कर्ता और संहर्ता हैं, उन महात्मा भगवान् शङ्करसे बदला लेनेमें कौन समर्थ है? इस विषयमें तुम्हें व्यर्थ श्रम नहीं उठाना चाहिये॥ १३॥

अनादिमध्यनिधनः सोमो देवो महेश्वरः।
तमासृत्य सुखं स्वर्गे वस्तुमिच्छन्ति येऽसुराः॥ १४॥

* पूनावाली प्रतिकी मान्यताके अनुसार यहाँसे हरिवंशका उत्तरार्ध भाग आरम्भ होता है।

ते नेषुस्तत्र केचित् तु दुरात्मानो महासुराः ।
अथेषुरपरे राजन्नसुरा भव्यभावनाः ॥ १५ ॥

उमासहित महेश्वर देव आदि, मध्य और अन्तसे रहित हैं। उनसे द्रोह रखकर जो असुर स्वर्गमें सुखपूर्वक रहना चाहते थे, उन दुरात्मा महान् असुरोंने तो वर लेनेकी इच्छा नहीं की; परंतु राजन्! जो दूसरे असुर भव्य भावनासे सम्पन्न (दूरदर्शी) अथवा भगवान् शिवकी महिमाके ज्ञाता थे, उन्होंने वर लेनेकी अभिलाषा व्यक्त की ॥ १४-१५ ॥

नेषुर्ये सुदुरात्मानस्तानुवाच पितामहः ।
वरयध्वं वरं वीरा रुद्रक्रोधमृतेऽसुराः ॥ १६ ॥

जिन दुरात्माओंने वर लेनेकी इच्छा नहीं की, उनसे पितामह ब्रह्माने फिर कहा—'वीर असुरो! तुम भगवान् रुद्रपर क्रोध प्रकट करनेके सिवा दूसरा कोई भी वर माँग लो'॥

ते ऊचुः सर्वदेवानामवध्याः स्याम हे विभो ।
पुराणि षट् च नो देव भवन्त्वन्तर्महीतले ॥ १७ ॥
सर्वकामसमृद्धार्थं षट्पुरं चास्तु नः प्रभो ।
वयं च षट्पुरं गत्वा वसेम च सुखं विभो ॥ १८ ॥

तब उन्होंने कहा—'विभो! हम सब देवताओंके लिये अवध्य हों। देव! पृथ्वीके भीतर हमारे छः पुर हों। प्रभो! हमारे वे छहों पुर सम्पूर्ण मनोवाञ्छित पदार्थोंकी समृद्धिसे सम्पन्न हों। भगवन्! हम षट्पुरमें जाकर सुखपूर्वक निवास करें ॥ १७-१८ ॥

रुद्रादुग्रं भयं न स्याद् येन नो ज्ञातयो हताः ।
निहतं त्रिपुरं दृष्ट्वा भीताः स्म तपसां निधे ॥ १९ ॥

'तपोनिधे! जिन्होंने हमारे बन्धु-बान्धवोंको मार डाला है, उन रुद्रदेवसे हमें उग्र भय प्राप्त न हो; क्योंकि त्रिपुरोंका विनाश देखकर हम भयभीत हो गये हैं'॥ १९ ॥

पितामह उवाच

असुरा भवतावध्या देवानां शङ्करस्य च ।
न बाधिष्यथ चेद् विप्रान् सत्पथस्थान् सतां प्रियान् ॥ २० ॥

पितामह बोले—असुरो! तुम देवताओं तथा भगवान् शङ्करके लिये अवध्य हो जाओगे। परंतु ऐसा तभी होगा, जब तुम सन्मार्गपर सुस्थिर रहनेवाले सत्पुरुषोंके प्रिय ब्राह्मणोंको बाधा नहीं पहुँचाओगे ॥ २० ॥

विप्रोपघातं मोहाच्चेत् करिष्यथ कथंचन ।
नाशं यास्यथ विप्रा हि जगतः परमा गतिः ॥ २१ ॥

यदि मोहवश किसी तरह ब्राह्मणोंकी हत्या करोगे तो नष्ट हो जाओगे; क्योंकि ब्राह्मण जगत्के परम आश्रय हैं ॥

नारायणाद् विभेतव्यं कुर्वद्भिर्ब्राह्मणाहितम् ।
सर्वभूतेषु भगवान् हितं धत्ते जनार्दनः ॥ २२ ॥

ब्राह्मणोंका अहित करनेवाले पुरुषोंको भगवान् नारायणसे डरना चाहिये। क्योंकि वे भगवान् जनार्दन समस्त भूतोंके प्रति हित-बुद्धि रखते हैं ॥ २२ ॥

ते गता असुरा राजन् ब्रह्मणाथ विसर्जिताः ।
येऽपि भक्ता महादेवमसुरा धर्मचारिणः ॥ २३ ॥
स्वयं हि दर्शनं तेषां ददौ त्रिपुरनाशनः ।
श्वेतं वृषभमारुह्य सोमः सप्रवरः प्रभुः ।
उवाचेदं च भगवानसुरान् स सतां गतिः ॥ २४ ॥

राजन्! ऐसा कहकर ब्रह्माजीके विदा देनेपर वे असुर चले गये तथा जो दूसरे असुर धर्माचरणमें तत्पर रहनेवाले और महादेवजीके भक्त थे, उन्हें त्रिपुरविनाशन भगवान् महादेवजीने उमासहित श्वेत वृषभपर आरूढ़ होकर अपने पार्षदोंके साथ आ स्वयं ही दर्शन दिया तथा सत्पुरुषोंके आश्रयभूत उन भगवान् शिवने उन असुरोंसे इस प्रकार कहा—॥ २३-२४ ॥

वैरमुत्सृज्य दम्भं च हिंसां चासुरसत्तमाः ।
मामेव चाश्रितास्तस्माद् वरं साधु ददामि वः ॥ २५ ॥

'असुरशिरोमणियो! तुमने वैर, दम्भ और हिंसाका परित्याग करके जो केवल मेरा ही आश्रय लिया है, इससे मैं तुम्हारे लिये श्रेष्ठ वर प्रदान करता हूँ ॥ २५ ॥

यैर्दीक्षिताः स्थ मुनिभिः सत्क्रियापरमैर्द्विजैः ।
सह तैर्गम्यतां स्वर्गः प्रीतोऽहं वः सुकर्मणा ॥ २६ ॥

'जिन सत्कर्मपरायण ब्रह्मर्षियोंने तुम्हें मेरी भक्तिकी दीक्षा दी है, उनके साथ ही तुम सब लोग स्वर्गलोकमें चले जाओ। मैं तुम्हारे सत्कर्मसे बहुत प्रसन्न हूँ ॥ २६ ॥

इह ये चैव वत्स्यन्ति तापसा ब्रह्मवादिनः ।
अपि कापित्थिका वृक्षे तेषां लोको यथा मम ॥ २७ ॥

'जो ब्रह्मवादी तापस इस कपित्थ वृक्षके पास निवास करेंगे, वे कापित्थिक कहलायेंगे और उन्हें मेरे समान लोक प्राप्त होगा ॥ २७ ॥

इह मासान्तपक्षान्तौ यः करिष्यति मानवः ।
वानप्रस्थेन विधिना पूजयन् मां तपोधनाः ॥ २८ ॥
वर्षाणां स सहस्रं तु तपसां प्राप्स्यते फलम् ।
कृत्वा त्रिरात्रं विधिवल्लप्स्यते चेप्सितां गतिम् ॥ २९ ॥

'तपोधनो! जो मनुष्य अमावास्या और पूर्णिमाके दिन वानप्रस्थ विधिसे मेरी पूजा करता हुआ यहाँ निवास करेगा, वह सहस्र वर्षोंतक तपस्या करनेका फल पा लेगा तथा विधिपूर्वक तीन राततक निवास करनेसे उसको मनोवाञ्छित गतिकी प्राप्ति होगी ॥ २८-२९ ॥

अर्कद्वीपे निवसतो द्विगुणं तद् भविष्यति ।
न विदेशे च भद्रं वो वरमेतद् ददाम्यहम् ॥ ३० ॥

'अर्कद्वीपमें निवास करनेवालेको उससे दूना फल

मिलेगा। परंतु दूर देशमें निवास करनेपर तुम्हारा भला नहीं होगा। यह वर मैं दे रहा हूँ ॥ ३० ॥

श्वेतवाहननामानं यश्च मां पूजयिष्यति।
सर्वतो भयचित्तोऽपि गतिं स मम यास्यति ॥ ३१ ॥

'जो श्वेतवाहन नामसे मेरी पूजा करेगा, वह सब ओरसे भयभीत-चित्त होनेपर भी मेरी ही गतिको प्राप्त होगा ॥

औदुम्बरान् वाटमूलान् द्विजान् कापित्थिकानपि।
तथा सृगालवाटीयान् धर्मात्मानो दृढव्रतान् ॥ ३२ ॥
मुनींश्च ब्रह्मवादीयान् सविशेषेण ये नराः।
पूजयिष्यन्ति सततं ते यास्यन्तीप्सितां गतिम् ॥३३॥

'जो मनुष्य औदुम्बर[1], वाटमूल[2], कापित्थिक[3], सृगालवाँटीय[4], धर्मात्मा दृढव्रत एवं ब्रह्मवादी मुनियोंका सदा विशेषरूपसे पूजन करेंगे, वे मनोवाञ्छित गतिको प्राप्त होंगे'॥

इत्युक्त्वाथ महादेवो भगवाञ्छ्वेतवाहनः।
तैरेव सहितः सर्वैं रुद्रलोकं जगाम वै ॥ ३४ ॥

ऐसा कहकर भगवान् श्वेतवाहन महादेव उन सबके साथ रुद्रलोकमें चले गये ॥ ३४ ॥

जम्बूमार्गं गमिष्यामि जम्बूमार्गे वसाम्यहम्।
एवं संकल्पमानोऽपि रुद्रलोके महीयते ॥ ३५ ॥

'मैं जम्बू-मार्गको जाऊँगा, मैं जम्बू-मार्गपर निवास करूँगा' इस तरह मनमें संकल्प करनेवाला मनुष्य भी रुद्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि षट्पुरवधे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें षट्पुरवधविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

ब्रह्मदत्तके यज्ञमें वसुदेव-देवकीका आगमन, दैत्योंद्वारा ब्रह्मदत्तकी कन्याओंका अपहरण और प्रद्युम्नद्वारा उनकी रक्षा, नारदजीके कहनेसे दैत्योंका क्षत्रियनरेशोंको अपने पक्षमें मिलाना तथा श्रीकृष्णका षट्पुरमें आगमन

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु चतुर्वेदषडङ्गवित्।
ब्राह्मणो याज्ञवल्क्यस्य शिष्यो धर्मगुणान्वितः ॥ १ ॥
ब्रह्मदत्तेति विख्यातो विप्रो वाजसनेयिवान्।
अश्वमेधः कृतस्तेन वसुदेवस्य धीमतः ॥ २ ॥
स संवत्सरदीक्षायां दीक्षितः षट्पुरालयः।
आवर्तायाः शुभे तीरे सुनद्या मुनिजुष्टया ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय चारों वेदों और छहों अङ्गोंके ज्ञाता एक ब्राह्मण, जिनका नाम ब्रह्मदत्त था, एक वर्षतक चालू रहनेवाले यज्ञकी दीक्षामें दीक्षित हुए। ब्रह्मदत्त याज्ञवल्क्यके शिष्य, धर्मसम्बन्धी गुणोंसे सम्पन्न तथा शुक्ल यजुर्वेद—वाजसनेय संहिताके अध्येता थे। उनका घर भी षट्पुरमे ही था। उन्होंने कभी बुद्धिमान् वसुदेवजीका अश्वमेध यज्ञ कराया था ! वे मुनिसेवित श्रेष्ठ नदी आवर्ताके पवित्र तटपर यज्ञ करते थे ॥ १—३ ॥

सखा च वसुदेवस्य सहाध्यायी द्विजोत्तमः।
उपाध्यायश्च कौरव्य क्षीरहोता महात्मनः ॥ ४ ॥

कुरुनन्दन ! द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मदत्त महात्मा वसुदेवजीके सहपाठी, सखा, उपाध्याय और अध्वर्यु भी थे ॥ ४ ॥

वसुदेवस्तत्र यातो देवक्या सहितः प्रभो।
यजमानं षट्पुरस्थं यथा शक्रो बृहस्पतिम् ॥ ५ ॥

प्रभो ! इसीलिये जैसे इन्द्र बृहस्पतिके यहाँ जाते हैं, उसी प्रकार देवकीसहित वसुदेवजी वहाँ षट्पुरमें रहकर यज्ञ करनेवाले ब्रह्मदत्तके यहाँ निमन्त्रित होकर गये थे ॥ ५ ॥

तत् सत्रं ब्रह्मदत्तस्य बह्वन्नं बहुदक्षिणम्।
उपासन्ति मुनिश्रेष्ठा महात्मानो दृढव्रताः ॥ ६ ॥

ब्रह्मदत्तका वह यज्ञ बहुत-से अन्न और प्रचुर दक्षिणासे सम्पन्न था। दृढतापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनिश्रेष्ठ महात्मा उस यज्ञका सेवन करते थे ॥ ६ ॥

व्यासोऽहं याज्ञवल्क्यश्च सुमन्तुर्जैमिनिस्तथा।
धृतिमाञ्जावलिश्चैव देवलाद्याश्च भारत ॥ ७ ॥
ऋद्ध्यानुरूपया युक्तं वसुदेवस्य धीमतः।
यत्रेप्सितान् ददौ कामान् देवकी धर्मचारिणी ॥ ८ ॥
वासुदेवप्रभावेण जगत्स्रष्टुर्महीतले।

१. उदुम्बर (गूलर) वृक्षका आश्रय लेकर रहनेवाले मुनिकी औदुम्बर संज्ञा है। २. वटवृक्षकी जड़में निवास करनेवालोंको वाटमूल कहा गया है। ३. कपित्थ वृक्षका आश्रय लेनेवाले कापित्थिक कहलाते हैं। ४. सृगाल नामक वृक्षकी वाटिकामें वास करनेवालेको सृगालवाटीय कहा गया है।

भरतनन्दन ! वह यज्ञ बुद्धिमान् वसुदेवजीकी अनुरूप समृद्धिसे युक्त था । उसमें मैं, मेरे गुरु व्यासजी, याज्ञवल्क्य मुनि, सुमन्तु, जैमिनि, धैर्यशील जाबलि (या जाबालि) तथा देवल आदि महर्षि भी उपस्थित थे । उस यज्ञमें धर्मपरायणा देवकी देवी जगत्स्रष्टा भगवान् वासुदेवके प्रभावसे इस पृथ्वीपर सबको मनोवाञ्छित पदार्थ दान करती थीं ॥ ७-८½ ॥

तस्मिन् सत्त्रे वर्तमाने दैत्याः षट्पुरवासिनः ॥ ९ ॥
निकुम्भाद्याः समागम्य तमूचुर्वरदर्पिताः ।

जब वह यज्ञ चलने लगा, उस समय षट्पुरमें रहनेवाले निकुम्भ आदि दैत्य, जो वर पाकर घमंडमें भरे रहते थे, वहाँ आकर ब्रह्मदत्तसे बोले—॥ ९½ ॥

कार्यतां यज्ञभागो नः सोमं पास्यामहे वयम् ।
कन्याश्च ब्रह्मदत्तो नो यजमानः प्रयच्छतु ॥ १० ॥

'हमारे लिये भी यज्ञका भाग निकाला जाय, हमलोग इस यज्ञमें सोमरसका पान करेंगे । यजमान ब्रह्मदत्त हमें अपनी कन्याएँ दें ॥ १० ॥

यद्धयः सन्त्यस्य कन्याश्च रूपवत्यो महात्मनः ।
आहूय ताः प्रदातव्याः सर्वथैव हि नः श्रुतम् ॥ ११ ॥
रत्नानि च ब्रह्मदत्तो विशिष्टानि ददातु नः ।
अन्यथा तु न यष्टव्यं वयमाज्ञापयामहे ॥ १२ ॥

'हमने सुना है कि इन महात्माके बहुत-सी रूपवती कन्याएँ हैं। उन सबको बुलाकर सब प्रकारसे हमारे लिये दान कर देना चाहिये । ब्रह्मदत्तजी हमें उत्तमोत्तम रत्न प्रदान करें । (तभी ये यहाँ यज्ञ कर सकते हैं) अन्यथा इन्हें यज्ञ नहीं करना चाहिये । यह हम आज्ञा देते हैं' ॥ ११-१२ ॥

एतच्छ्रुत्वा ब्रह्मदत्तस्तानुवाच महासुरान् ।
यज्ञभागो न विहितः पुराणेऽसुरसत्तमाः ॥ १३ ॥
कथं सत्त्रे सोमपानं शक्यं दातुं मया हि वः ।
पृच्छतेह मुनिश्रेष्ठान् वेदभाष्यार्थकोविदान् ॥ १४ ॥

यह सुनकर ब्रह्मदत्तने उन बड़े-बड़े असुरोंसे कहा—'असुरशिरोमणियो ! पुरातन वेदमें असुरोंके लिये यज्ञभाग देनेका विधान नहीं है; फिर मैं यज्ञमें आपलोगोंको सोमरस कैसे दे सकता हूँ ? यहाँ वेदके विस्तृत अर्थको जाननेवाले श्रेष्ठ मुनि बैठे है, इनसे पूछ लीजिये ॥ १३-१४ ॥

कन्या हि मम या देयास्ताश्च संकल्पिता मया ।
अन्तर्वेद्यां प्रदातव्याः सदृशानामसंशयम् ॥ १५ ॥

'मुझे अपनी जिन कन्याओंका दान करना था, उनका मानसिक संकल्प मैंने कर दिया (वे दूसरोंको दी जा चुकी हैं), अब उन्हें अन्तर्वेदीमें योग्य वरोंके हाथमें सौंप देना है । इसमें संशय नहीं है ॥ १५ ॥

रत्नानि तु प्रयच्छामि सान्त्वेनाहं विचिन्त्यताम् ।
बलान्नैव प्रदास्यामि देवकीपुत्रमाश्रितः ॥ १६ ॥

'अब रही रत्नोंकी बात, उन्हें मैं आपलोगोंको तभी दूँगा, जब आप सान्त्वनापूर्वक बात करें, इस बातको आप अच्छी तरह सोच-समझ लें । बलपूर्वक माँगनेपर मैं कुछ नहीं दूँगा; क्योंकि भगवान् देवकीनन्दनकी शरण ले चुका हूँ (वे ही मेरी रक्षा करेंगे)' ॥ १६ ॥

निकुम्भाद्यास्तु रुषिताः पापाः षट्पुरवासिनः ।
यज्ञवाटं विलुलुडुर्जह्रुः कन्याश्च तास्तथा ॥ १७ ॥

यह उत्तर सुनकर षट्पुरमे निवास करनेवाले निकुम्भ आदि पापी असुर रोषमे भर गये । उन्होंने यज्ञमण्डपको तहस-नहस कर दिया और ब्रह्मदत्तकी कन्याओंको हर लिया ॥

तद् दृष्ट्वा सम्प्रवृत्तं तु दध्यावानकदुन्दुभिः ।
वासुदेवं महात्मानं बलभद्रं गदं तथा ॥ १८ ॥

यज्ञमण्डपमें वह लूट मची हुई देख वसुदेवने महात्मा श्रीकृष्ण, बलदेव और गदका चिन्तन किया ॥ १८ ॥

विदितार्थस्ततः कृष्णः प्रद्युम्नमिदमब्रवीत् ।
गच्छ कन्यापरित्राणं कुरु पुत्राशु मायया ॥ १९ ॥
यावद् यादवसैन्येन षट्पुरं याम्यहं प्रभो ।

श्रीकृष्णको तो सब बात ज्ञात ही थी । उन्होंने प्रद्युम्नसे कहा—'बेटा ! जाओ और मायाद्वारा ब्रह्मदत्तकी कन्याओंकी शीघ्र रक्षा करो । प्रभो ! तबतक मैं यादव वीरोंकी सेनाके साथ षटपुरको चल रहा हूँ' ॥ १९½ ॥

स ययौ षट्पुरं वीरः पितुराज्ञाकरस्तदा ॥ २० ॥
निमेषान्तरमात्रेण गत्वा कामो महाबलः ।
कन्यास्ता मायया धीमानपजह्रे महाबलः ॥ २१ ॥

महाबली कामस्वरूप वीर प्रद्युम्न पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले थे । वे तत्काल षट्पुरकी ओर चल दिये और पलक मारते-मारते वहाँ पहुँचकर उन महाबली बुद्धिमान् वीरने उन कन्याओंका मायाद्वारा अपहरण कर लिया ॥ २०-२१ ॥

मायामयीश्च कृत्वाऽन्या न्यस्तवान् रुक्मिणीसुतः ।
मा भैरिति च धर्मात्मा देवकीमुक्तवांस्तदा ॥ २२ ॥

रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नने मायामयी दूसरी कन्याओंका निर्माण करके उन्हें असुरोंके पास छोड़ दिया था । फिर उन धर्मात्माने अपनी पितामही देवकीसे कहा—'दादीजी ! आप भय न करें' ॥ २२ ॥

मायामयीस्ततो हृत्वा सुता ह्यस्य दुरासदाः ।
षट्पुरं विविशुर्दैत्याः परितुष्टा नराधिप ॥ २३ ॥

नरेश्वर ! ब्रह्मदत्तकी पुत्रियाँ दैत्योंके लिये दुष्प्राप्य थीं । वे मायामयी कन्याओंका ही अपहरण करके षट्पुरमें जा घुसे और अपनी सफलतापर संतुष्ट हुए ॥ २३ ॥

कर्म चासार्यते तत्र विधिदृष्टेन कर्मणा ।
यद् विशिष्टं बहुगुणं तदभूच्च नराधिप ॥ २४ ॥

राजन् ! इधर शास्त्रीय विधिके अनुसार वहाँ यज्ञकर्मका सम्पादन होने लगा । जो विशिष्ट एवं बहुगुण सम्पन्न कार्य था, वह सब सम्पन्न हुआ ॥ २४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ता राजानस्तत्र भारत ।
सत्रे निमन्त्रिताः पूर्वं ब्रह्मदत्तेन धीमता ॥ २५ ॥

भारत ! इसी बीचमें वहाँ बहुत-से राजा आये, जिन्हें बुद्धिमान् ब्रह्मदत्तने पहलेसे ही यज्ञमें पधारनेके लिये निमन्त्रण दे रखा था ॥ २५ ॥

जरासंधो दन्तवक्त्रः शिशुपालस्तथैव च ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च मालवाः सगणास्तथा ॥ २६ ॥
रुक्मी चैवाहृतिश्चैव नीलो वा धर्म एव च ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ शल्यः शकुनिरेव च ॥ २७ ॥
राजानश्चापरे वीरा महात्मानो दृढायुधाः ।
आवासिता नातिदूरे षट्पुरस्य च भारत ॥ २८ ॥

जरासंध, दन्तवक्त्र, शिशुपाल, पाण्डव, धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, अपने गणोंसहित मालवनरेश, रुक्मी, आहृति, नील, धर्म, अवन्तीके विन्द और अनुविन्द, शल्य, शकुनि, दूसरे वीर नरेश, सुदृढ़ आयुध धारण करनेवाले दूसरे महामनस्वी वीर नरेश वहाँ पधारे थे । भरतनन्दन ! उन्हें षट्पुरसे थोड़ी ही दूरपर ठहराया गया ॥ २६—२८ ॥

तान् दृष्ट्वा नारदः श्रीमानचिन्तयदनिन्दितः ।
क्षत्त्रस्य यादवानां च भविष्यति समागमः ॥ २९ ॥

उन सबको वहाँ उपस्थित देख साधु-महात्मा श्रीमान् नारदजीने सोचा, यहाँ यादवों तथा दूसरे क्षत्रियोंमें संघर्ष होगा ॥ २९ ॥

अत्र हेतुरहं युद्धे तस्मात् तत् प्रयताम्यहम् ।
एवं संचिन्तयित्वाथ निकुम्भभवनं गतः ॥ ३० ॥

इस युद्धमें मैं ही कारण बनूँगा; अतः उसके लिये अभीसे प्रयत्न आरम्भ करता हूँ । ऐसा सोचकर वे निकुम्भके घरमें गये ॥ ३० ॥

पूजितः स निकुम्भेन दानवैश्च तथापरैः ।
उपविष्टः स धर्मात्मा निकुम्भमिदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

निकुम्भ तथा दूसरे-दूसरे दानवोंने वहाँ इनकी बड़ी आवभगत की । धर्मात्मा नारदजी वहाँ एक आसनपर बैठकर निकुम्भसे इस प्रकार बोले—॥ ३१ ॥

कथं विरोधं यदुभिः कृत्वा स्वस्थैरिहास्यते ।
यो ब्रह्मदत्तः स हरिः स हि तस्य पितुः सखा ॥ ३२ ॥

'तुमलोग यादवोंके साथ विरोध करके यहाँ कैसे निश्चिन्त बैठे हुए हो । अरे भाई ! जो ब्रह्मदत्त हैं, वे ही श्रीकृष्ण हैं । क्योंकि वे ब्रह्मदत्त उन श्रीकृष्णके पिता वसुदेवके मित्र हैं ॥

शतानि पञ्च भार्याणां ब्रह्मदत्तस्य धीमतः ।
आनीता वसुदेवस्य सुतस्य प्रियकाम्यया ॥ ३३ ॥

'बुद्धिमान् ब्रह्मदत्तके पाँच सौ भार्याएँ हैं, जिन्हें वे वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये उनकी आराधना करके प्राप्त कर सके थे ॥ ३३ ॥

शतद्वयं ब्राह्मणीनां राजन्यानां शतं तथा ।
वैश्यानां शतमेकं च शूद्राणां शतमेव च ॥ ३४ ॥

'उनकी स्त्रियोंमें दो सौ तो ब्राह्मणियाँ थीं, एक सौ क्षत्रिय-कन्याएँ, एक सौ वैश्य-कन्याएँ और एक सौ शूद्रोंकी कन्याएँ थीं ॥ ३४ ॥

ताभिः शुश्रूषितो धीमान् दुर्वासा धर्मवित्तमः ।
तेन तासां वरो दत्तो मुनिना पुण्यकर्मणा ॥ ३५ ॥

'उन सबने धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् दुर्वासाकी सेवा की थी । उससे प्रसन्न होकर उन पुण्यकर्मा मुनिने उन्हें वर दिया ॥

एकैकस्तनयो राजन्नेकैका दुहिता तथा ।
रूपेणानुपमाः सर्वा वरदानेन धीमतः ॥ ३६ ॥

'राजन् ! उन बुद्धिमान् मुनिके वरदानसे ब्रह्मदत्तकी प्रत्येक स्त्रीके एक-एक पुत्र और एक-एक कन्या हुई । उनकी वे सारी कन्याएँ अनुपम रूपवती हैं ॥ ३६ ॥

कन्या भवन्ति तनयास्तस्यासुर पुनः पुनः ।
सङ्गमे सङ्गमे वीर भर्तृभिः शयने सह ॥ ३७ ॥

'वीर असुर ! उनकी वे कन्याएँ पतियोंके साथ शयन करते समय प्रत्येक संगमके अवसरपर कुमारी कन्याओंके समान कमनीय हो जाती हैं ॥ ३७ ॥

सर्वपुष्पमयं गन्धं प्रस्रवन्ति वराङ्गनाः ।
सर्वदा यौवने न्यस्ताः सर्वाश्चैव पतिव्रताः ॥ ३८ ॥

'वे परम सुन्दरी कन्याएँ अपने शरीरसे सब प्रकारके फूलोंकी सुगन्ध प्रकट करती हैं; सदा युवावस्थामें ही स्थित रहती हैं और सब-की-सब पतिव्रताएँ हैं ॥ ३८ ॥

सर्वा गुणैरप्सरसां गीतनृत्यगुणोदयम् ।
जानन्ति सर्वा दैतेय वरदानेन धीमतः ॥ ३९ ॥

'दैत्यकुमार ! वे सब अप्सराओंके समान गुणवती हैं और बुद्धिमान् दुर्वासाके वरदानसे संगीत और नृत्यके गुणोंको प्रकट करना जानती हैं ॥ ३९ ॥

पुत्राश्च रूपसम्पन्नाः शास्त्रार्थकुशलास्तथा ।
स्वे स्वे स्थिता वर्णधर्मे यथावदनुपूर्वशः ॥ ४० ॥

'उनके सभी पुत्र रूप-सौन्दर्यसे सम्पन्न तथा शास्त्रार्थमें कुशल हैं और क्रमशः सभी यथावत्‌रूपसे अपने-अपने वर्णधर्ममें स्थित रहते हैं ॥ ४० ॥

ताः कन्या भैमसुख्यानां दत्ताः प्रायेण धीमता ।
अवशेषं शतं त्वेकं यदानीतं किल त्वया ॥ ४१ ॥

'बुद्धिमान् ब्रह्मदत्तने प्रायः उन सब कन्याओंका विवाह मुख्य-मुख्य यदुवंशियोंके साथ कर दिया है। केवल एक सौ शेष रह गयी थीं, जिन्हें तुम हर लाये हो ॥ ४१ ॥

तदर्थे यादवान् वीर योधयिष्यसि सर्वथा ।
सहायार्थं तु राजानो भ्रियन्तां हेतुपूर्वकम् ॥ ४२ ॥

'वीर ! उनके लिये भी तुम्हे सर्वथा यादवोंके साथ युद्ध करना होगा । अतः तुम अपनी सहायताके लिये युक्तिपूर्वक यहाँ आये हुए राजाओंको अपने पक्षमे कर लो ॥ ४२ ॥

ब्रह्मदत्तसुतार्थं च रत्नानि विविधानि च ।
दीयन्तां भूमिपालानां सहायार्थं महात्मनाम् ॥ ४३ ॥
आतिथ्यं क्रियतां चैव ये समेष्यन्ति वै नृपाः ।

'ब्रह्मदत्तकी पुत्रियोंके लिये उन महामनस्वी नरेशोंकी सहायता प्राप्त करनेके उद्देश्यसे तुम उन्हें नाना प्रकारके रत्न भेंट करो । जो राजा यहाँ आवें, उन सबका आतिथ्य-सत्कार करो' ॥ ४३½ ॥

एवमुक्ते तथा चक्रुरसुरास्तेऽतिहृष्टवत् ॥ ४४ ॥
लब्ध्वा पञ्चशतं कन्या रत्नानि विविधानि च ।
यथार्हेण नरेन्द्रैस्ता विभक्ता भक्तवत्सलैः ॥ ४५ ॥

नारदजीके ऐसा कहनेपर असुरोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर वैसा ही किया । उन भक्तवत्सल नरेशोंने पाँच सौ कन्याएँ और नाना प्रकारके रत्न पाकर उन्हे यथोचित रीतिसे आपसमें बाँट लिया ॥ ४४-४५ ॥

ऋते पाण्डुसुतान् वीरान् वारिता नारदेन ते ।
निमेषान्तरमात्रेण तत्र गत्वा महात्मना ॥ ४६ ॥

केवल पाँचों पाण्डवोंको छोड़कर और सबने कन्याओं और रत्नोंका भाग ग्रहण किया था । महात्मा नारदजीने पलक मारते-मारते वहाँ पहुँचकर वीर पाण्डवोंको उनका भाग लेनेसे रोक लिया था ॥ ४६ ॥

तुष्टैस्तैरसुरा ह्युक्ता राजन् भूमिपसत्तमैः ।
सर्वकामसमृद्धार्थैर्भवद्भिः खगमैः स्वयम् ॥ ४७ ॥
अर्चिताः स्म यथान्यायं क्षत्रं किं वः प्रयच्छतु ।
क्षत्रं चार्चितपूर्वं हि दिव्यैर्वीरैर्भवद्विधैः ॥ ४८ ॥

राजन् ! रत्न और कन्या पाकर वे भूपालशिरोमणि बहुत संतुष्ट हुए । उन्होंने असुरोंसे कहा—'आपलोग समस्त मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न तथा स्वयं आकाशमें विचरनेवाले हैं तो भी आपने न्यायोचित रीतिसे हमारा सत्कार किया है; अतः बताइये, यह क्षत्रियसमूह आपलोगोंको क्या दे ! आप-जैसे दिव्य वीरोंने पहले-पहल क्षत्रिय-समाजका पूजन किया है' ॥ ४७-४८ ॥

निकुम्भोऽथाब्रवीद् धृष्टः क्षत्रं सुररिपुस्तदा ।
अनुवर्णयित्वा क्षत्रस्य माहात्म्यं सत्यमेव च ॥ ४९ ॥

यह सुनकर हर्षमें भरे हुए देववैरी निकुम्भने क्षत्रियोंके यथार्थ माहात्म्यका बारंबार वर्णन करके उस समय उनसे इस प्रकार कहा—॥ ४९ ॥

युद्धं नो रिपुभिः सार्द्धं भविष्यति नृपोत्तमाः ।
साहाय्यं दातुमिच्छामो भवद्भिस्तत्र सर्वथा ॥ ५० ॥

'श्रेष्ठ नरेशो ! हमारा अपने शत्रुओंके साथ युद्ध होनेवाला है । उसमें आपलोग सब प्रकारसे हमें सहायता प्रदान करें, यह हमारी इच्छा है' ॥ ५० ॥

एवमस्त्विति तानूचुः क्षत्रियाः क्षीणकिल्बिषाः ।
पाण्डवेयानृते वीराञ्छ्रुतार्थान्नारदाद् विभो ॥ ५१ ॥

प्रभो ! जिनके पाप क्षीण हो गये थे, उन क्षत्रियोंमेंसे वीर पाण्डवोंको छोड़कर अन्य सबने 'एवमस्तु' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली । पाण्डव नारदजीसे सारी बात सुन चुके थे, इसलिये वे उनसे अलग रहे ॥ ५१ ॥

क्षत्रियाः संनिविष्टास्ते युद्धार्थं कुरुनन्दन ।
पत्न्यस्तु ब्रह्मदत्तस्य यज्ञवाटं गता अपि ॥ ५२ ॥
कृष्णोऽपि सेनया सार्द्धं प्रययौ षट्पुरं विभुः ।

कुरुनन्दन ! वे सब क्षत्रिय युद्धके लिये उद्यत हो वहीं डेरा डालकर डटे रहे । इधर ब्रह्मदत्तकी पत्नियाँ यज्ञशालामें प्रविष्ट हुईं और उधरसे सेनासहित भगवान् श्रीकृष्ण भी षट्पुरमें आ पहुँचे ॥ ५२½ ॥

महादेवस्य वचनमुद्वहन् मनसा नृप ॥ ५३ ॥
स्थापयित्वा द्वारवत्यामाहुकं पार्थिवं तदा ।

नरेश्वर ! महादेवजीके वचनको मन-ही-मन स्मरण करके द्वारकामें राजा उग्रसेनको बिठाकर भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ आये थे ॥ ५३½ ॥

स तया सेनया सार्द्धं पौराणां हितकाम्यया ॥ ५४ ॥
यज्ञवाटस्याविदूरे देवो निविविशे विभुः ।
देशे प्रवरकल्याणे वसुदेवप्रचोदितः ॥ ५५ ॥

भगवान् जनार्दनदेव उस सेनाके साथ आकर षट्पुरवासियोंके हितकी कामनासे यज्ञमण्डपसे थोड़ी ही दूरपर उत्तम कल्याणमय प्रदेशमें वसुदेवकी आज्ञासे छावनी डालकर ठहर गये ॥ ५४-५५ ॥

दत्तगुल्मप्रतिसरं कृत्वा तं विधिवत् प्रभुः ।
प्रद्युम्नमदने श्रीमान् रक्षार्थं विनियुज्य च ॥ ५६ ॥

श्रीमान् भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ विधिपूर्वक रक्षक सैनिकोंके दल तैनात कर दिये, जिसके कारण किसी अवा-

ञ्छनीय व्यक्तिको उधरसे आनेके लिये मार्ग नहीं मिल पाता था। साथ ही उन्होंने अपने पुत्र प्रद्युम्नको सब ओर घूम-फिरकर सेनाकी देखभाल करनेके लिये नियुक्त कर दिया था ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि षट्पुरवधे कृष्णस्य षट्पुरगमने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें षट्पुरवधके प्रसङ्गमें श्रीकृष्णका षट्पुरगमनविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा यादव-सेनाकी युद्धके लिये नियुक्ति, दानवोंका निष्क्रमण, निकुम्भद्वारा कुछ यादव वीरोंका गुफामें बंदी होना, श्रीकृष्णके द्वारा दानव-सैनिकोंका संहार, प्रद्युम्नद्वारा राजसैनिकोंका गुफामें अवरोध तथा ब्रह्मदत्तको सान्त्वना

वैशम्पायन उवाच

मुहूर्ताभ्युदिते सूर्ये जनचक्षुषि निर्मले।
बलः कृष्णः सात्यकिश्च तार्क्ष्यमारुरुहुस्तदा ॥ १ ॥
बद्धगोधाङ्गुलित्राणा दंशिता युद्धकाङ्क्षिणः।
बिल्वोदकेश्वरं देवं नमस्कृत्य सुरोत्तमम् ॥ २ ॥
आवर्तया जले स्नात्वा रुद्रेण वरदत्तया।
गङ्गायाः कुरुशार्दूल रुद्रवाक्येन पुण्यया ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुरुश्रेष्ठ ! जब सूर्योदय हुए दो ही घड़ी बीती थी और लोगोंके नेत्र निर्मल हो गये थे, उस समय बलभद्र, श्रीकृष्ण और सात्यकि—ये तीनों गरुड़पर सवार हुए। उन सबने अपने हाथोंमें गोधाचर्मके बने हुए दस्ताने बाँध रक्खे थे और कवच धारण करके युद्धके लिये इच्छुक थे। उन्होंने सबसे पहले, जिसे रुद्रदेवने वर दिया था और जो उन्हींके वचनसे पुण्यमयी हो गयी थी, उस आवर्ता नामवाली गङ्गामें स्नान करके सुरश्रेष्ठ बिल्वोदकेश्वरदेवको नमस्कार किया था (इसके बाद वे युद्धकी व्यवस्थामें लगे थे।) ॥ १–३ ॥

प्रद्युम्नमग्रे सैन्यस्य वियति स्थाप्य मानदः।
रक्षार्थं यज्ञवाटस्य पाण्डवान् विनियुज्य च ॥ ४ ॥
शेषां सेनां गुहाद्वारि भगवान् विनियुज्य च।
जयन्तमथ सस्मार प्रवरं च सतां गतिः ॥ ५ ॥

सबको मान देनेवाले, सत्पुरुषोंके आश्रयभूत श्रीकृष्णने सबसे आगे प्रद्युम्नको सेनाकी रक्षाके लिये उसके ऊपरी भाग आकाशमें स्थापित किया। यज्ञमण्डपकी रक्षाके लिये पाण्डवोंको नियुक्त किया तथा शेष सेनाको गुफाके द्वारपर नियुक्त करके भगवान् श्रीहरिने जयन्त और प्रवरको स्मरण किया ॥४-५॥

तावापेततुरेवाथ स्वयं चापश्यतां तथा।
वियत्येव नियुक्तौ तौ प्रद्युम्न इव भारत ॥ ६ ॥

भरतनन्दन ! वे दोनों वहाँ आ पहुँचे और स्वयं ही आकर उन्होंने भगवान्‌का दर्शन किया। तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने उन दोनोंको प्रद्युम्नकी भाँति आकाशमें ही (ऊपरकी ओरसे सेनाकी रक्षाके लिये) नियुक्त कर दिया ॥६॥

ततः कृष्णस्य वचनादाहतो रणदुन्दुभिः।
जलजा मुरजाश्चैव वाद्यान्येवापराणि च ॥ ७ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णके कहनेसे युद्धका डंका बजाया गया। शङ्ख, मुरज तथा अन्य बाजे भी बज उठे ॥ ७ ॥

मकरो रचितो व्यूहः साम्बेन च गदेन च।
सारणश्चोद्धवश्चैव भोजो वैतरणस्तथा ॥ ८ ॥
अनाधृष्टिश्च धर्मात्मा पृथुर्विपृथुरेव च।
कृतवर्मा च दंष्ट्रश्च निचक्षुररिमर्दनः ॥ ९ ॥

साम्ब और गदने यादव सेनाका मकरव्यूह बनाया। सारण, उद्धव, भोज, वैतरण, धर्मात्मा अनाधृष्टि, पृथु, विपृथु, कृतवर्मा, दंष्ट्र तथा शत्रुमर्दन निचक्षु—ये सब उस व्यूहके अग्रभागमें खड़े थे ॥ ८-९ ॥

सनत्कुमारो धर्मात्मा चारुदेष्णश्च भारत।
अनिरुद्धसहायौ तौ पृष्ठानीकं ररक्षतुः ॥ १० ॥
शेषा यादवसेना तु व्यूहमध्ये व्यवस्थिता।
रथैरश्वैर्नरैर्नागैराकुला कुलवर्धन ॥ ११ ॥

धर्मात्मा सनत्कुमार और चारुदेष्ण ये—दोनों अनिरुद्धके साथ रहकर सेनाके पृष्ठभागकी रक्षा करने लगे। अपने कुलकी वृद्धि करनेवाले नरेश ! रथों, घोड़ों, मनुष्यों और हाथियोंसे भरी हुई शेष यादवसेना व्यूहके मध्यभागमें खड़ी थी ॥ १०-११ ॥

षट्पुरादपि निष्क्रान्ता दानवा युद्धदुर्मदाः।
आरुह्य मेघनादांश्च गर्दभानपि हस्तिनः ॥ १२ ॥

तदनन्तर षट्पुरसे भी रणदुर्मद दानव निकले। उनमेंसे कुछ मेघके समान गम्भीर शब्द करनेवाले गदहों और हाथियोंपर आरूढ़ थे ॥ १२ ॥

मकराञ्छिशुमारांश्च द्रुतानपि च भारत।
महिषानपि खड्गांश्च उष्ट्रानपि च कच्छपान् ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! कितने ही दैत्य वेगशाली मगरों, शिशुमारों (सूँसों), भैंसों, गैंडों, ऊँटों और कछुओंपर भी सवार थे ।१३।

एतैरेव रथैर्युक्ता विविधायुधपाणयः ।
किरीटापीडमुकुटैरङ्गदैरपि मण्डिताः ॥ १४ ॥

कितनोंके पास इन्हीं वाहनोंसे जुते हुए रथ थे । उन रथोंसे सम्पन्न हुए वे दैत्य अपने हाथोंमें नाना प्रकारके आयुध लिये हुए थे । वे किरीट, मुकुट या पगड़ी तथा अङ्गदों (भुजबंदों) से अलंकृत थे ॥ १४ ॥

नानर्दमानैर्विविधैस्तूर्यैर्नेमिस्वनाकुलैः ।
प्रध्मायमानैः शङ्खैश्च महाम्बुदसमस्वनैः ॥ १५ ॥

उनके साथ बारंबार नाना प्रकारके बाजे बज रहे थे । उन बाजोंकी आवाजमें रथके नेमियों (पहियों) की घर्घराहट भी मिली हुई थी । वहाँ जोर-जोरसे शङ्ख बजाये जाते थे, जो महान् मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि प्रकट करते थे १५

तासामसुरसेनानामुद्यतानां जनेश्वर ।
निकुम्भो निर्ययावग्रे देवानामिव वासवः ॥ १६ ॥

जनेश्वर ! युद्धके लिये उद्यत हुई उन असुर-सेनाओंमें सबसे आगे निकुम्भ निकला, मानो देवताओंके आगे इन्द्र चल रहे हों ॥ १६ ॥

भूमिं द्यां च वव्रुधिरे दानवास्ते बलोत्कटाः ।
नदन्तो विविधान् नादान् क्ष्वेडन्तश्च पुनः पुनः ॥ १७ ॥

वे उत्कट बलशाली दानव नाना प्रकारसे सिंहनाद करते, बारंबार गर्जते तथा आकाश और पृथ्वीको गुँजाते हुए बढ़ने लगे ॥ १७ ॥

राजसेनापि संयत्ता चेदिराजपुरोगमा ।
असुराणां सहायार्थे निश्चिता जनमेजय ॥ १८ ॥

जनमेजय ! राजाओंकी सेना भी असुरोंकी सहायताके लिये निश्चय करके चेदिराज शिशुपालके नेतृत्वमें युद्धके लिये तैयार हो गयी ॥ १८ ॥

दुर्योधनभ्रातृशतं चेदिराजानुजाग्रगम् ।
स्थितं रथैर्नरव्याघ्र गन्धर्वनगरोपमैः ॥ १९ ॥

पुरुषसिंह ! दुर्योधन आदि सौ भाई चेदिराज शिशुपालके छोटे भाइयोंसे आगे चल रहे थे । ये सब-के-सब गन्धर्वनगराकार रथोंद्वारा युद्धके लिये खड़े थे ॥ १९ ॥

कठिनानादिनो वीर द्रुपदस्यन्दनास्तथा ।
रुक्मी चैवाहृतिश्चैव तस्थतुर्निश्चितौ रणे ।
तालवृक्षप्रतीकाशे धुन्वानौ धनुषी शुभे ॥ २० ॥

वीर ! राजा द्रुपदके रथ बड़े कठोर (दुःसह) घर-घराहटका शब्द करते थे । रुक्मी और आहृति—ये दोनों युद्धके लिये निश्चय करके वहाँ डट गये । वे ताड़-वृक्षके समान अपने सुन्दर धनुष हिलाने लगे ॥ २० ॥

शल्यश्च शकुनिश्चोभौ भगदत्तश्च पार्थिवः ।
जरासंधस्त्रिगर्तश्च विराटश्च सहोत्तरः ॥ २१ ॥
युद्धार्थमुद्यता वीरा निकुम्भाद्या जयैषिणः ।
युयुत्समाना यदुभिर्देवैरिव महासुराः ॥ २२ ॥

शल्य, शकुनि, राजा भगदत्त, जरासंध, त्रिगर्तराज सुशर्मा और उत्तरसहित राजा विराट—ये वीर नरेश विजयकी अभिलाषा रखकर निकुम्भकी प्रधानतामें युद्धके लिये उद्यत हुए थे । जैसे महान् असुर देवताओंके साथ जूझना चाहते हैं, उसी प्रकार ये सब नरेश यादवोंके साथ युद्ध करनेकी इच्छा रखते थे ॥ २१-२२ ॥

ततो निकुम्भः समरे शरैराशीविषोपमैः ।
ममर्द समरे सेनां भैमानां भीमदर्शनाम् ॥ २३ ॥

तब निकुम्भ समराङ्गणमें विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाणोंद्वारा भैमों (यादवों) की भयानक दिखायी देनेवाली सेनाका मर्दन करना आरम्भ किया ॥ २३ ॥

सेनापतिरनाधृष्टिर्नमम्॒ष्ये तत्र यादवः ।
ममर्द घोरैर्बाणौघैश्चित्रपुङ्खैः शिलाशितैः ॥ २४ ॥

यादव-सेनापति अनाधृष्टि निकुम्भके इस पराक्रमको नहीं सहन कर सके । उन्होंने शिला या शानपर तेज किये हुए विचित्र पंखवाले घोर बाणसमूहोंद्वारा उस असुरको कुचल डाला ॥ २४ ॥

न रथोऽसुरमुख्यस्य ददृशे न च वाजिनः ।
न ध्वजो न निकुम्भस्तु सर्वे बाणाभिसंवृताः ॥ २५ ॥

उस असुर-सेनापतिका न तो रथ दिखायी देता था न घोड़े, न ध्वज और न स्वयं निकुम्भ ही । वे सब-के-सब बाणोंसे ढक गये थे ॥ २५ ॥

स परीत्य ततो वीरो निकुम्भो मायिनां वरः ।
अस्तम्भयदनाधृष्टिं मायया भैमसत्तमम् ॥ २६ ॥

तब मायावी असुरोंमें श्रेष्ठ वीर निकुम्भने सब ओर चक्कर लगाकर अपनी मायाद्वारा भैमशिरोमणि (यादवश्रेष्ठ) अनाधृष्टिको स्तम्भित कर दिया ॥ २६ ॥

स्तम्भयित्वानयद् वीरं गुहां षट्पुरसंश्रिताम् ।
रुद्ध्वा चाभ्यगमद् वीरो मायाबलमुपाश्रितः ॥ २७ ॥

स्तम्भित करके वह वीर अनाधृष्टिको षट्पुर नामवाली गुफामें उठा ले गया और वहाँ बंद करके मायाबलका आश्रय लेनेवाला वीर निकुम्भ पुनः युद्धभूमिमें लौट आया २७

पुनरेव निकुम्भस्तु कृतवर्माणमाहवे ।
अनयच्चारुदेष्णं च भोजं वैतरणं तथा ॥ २८ ॥
सनत्कुमारमृक्षं च तथैव निशठोल्मुकौ ।
बहूंश्चैवापरान् भोजान् मायाबलसमाश्रितः ॥ २९ ॥

अबकी बार युद्धस्थलमें पुनः मायाबलका आश्रय लेनेवाला

निकुम्भ, कृतवर्मा, चारुदेष्ण, भोज, वैतरण, सनत्कुमार, जाम्बवतीपुत्र ऋक्ष, निशठ, उल्मुक तथा दूसरे-दूसरे बहुत से भोजवंशियोंको उठा ले गया ॥ २८-२९ ॥

न तस्य ददृशे देहो मायाच्छन्नो जनेश्वर।
नयतो यादवान् घोरान् गुहां षट्पुरसंज्ञिताम् ॥ ३०॥

जनेश्वर ! घोर यादव वीरोंको षट्पुर नामवाली गुफामें ले जाते समय उस असुरकी देह दिखायी नहीं देती थी; क्योंकि वह उसकी मायासे आच्छादित थी ॥ ३० ॥

तद् दृष्ट्वा कदनं घोरं भैमानां भयवर्धनः।
चुकोप भगवान् कृष्णो बलः सत्यक एव च ॥ ३१ ॥

भीमवंशियोंका वह घोर संहार देखकर शत्रुओंका भय बढ़ानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम और सात्यकि कुपित हो उठे ॥ ३१ ॥

सविशेषं तथा कामः साम्बश्च परवीरहा।
अनिरुद्धश्च दुर्धर्षो भैमाश्च बहवोऽपरे ॥ ३२ ॥

कामावतार प्रद्युम्नको विशेष क्रोध हुआ। शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले साम्ब, दुर्धर्ष वीर अनिरुद्ध तथा दूसरे बहुत-से भीमवंशी यादव भी रोषमें भर गये ॥ ३२ ॥

ततः शार्ङ्गायुधः शार्ङ्गं कृत्वा सज्यं नरेश्वर।
दानवेषु प्रवृत्तेषु तृणेष्विव हुताशनः ॥ ३३ ॥

नरेश्वर ! शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्णने अपने उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और जैसे अग्नि तिनकोंमें प्रवेश करती हो, उसी प्रकार वे दानवोंपर धनुषसे बाण बरसाने लगे ॥ ३३ ॥

तं दृष्ट्वा दानवा देवमभिदुद्रुवुरीश्वरम्।
शलभाः कालपाशार्ताः प्रदीप्तमिव पावकम् ॥ ३४ ॥

उन भगवान् गोविन्ददेवको वहाँ देखकर सब दानव उन्हींपर टूट पड़े; ठीक वैसे ही, जैसे कालपाशसे पीड़ित हुए पतिंगे जलती हुई आगमें कूद पड़ते हैं ॥ ३४ ॥

समुत्सृज्य शतघ्नीश्च परिघांश्च सहस्रशः।
शूलानि चाग्नितुल्यानि प्रदीप्तांश्च परश्वधान् ॥ ३५ ॥

वे सहस्रों शतघ्नी, परिघ, अग्नितुल्य त्रिशूल तथा प्रज्वलित हुए फरसे चलाने लगे ॥ ३५ ॥

पर्वताग्राणि वृक्षांश्च घोराश्च विपुलाः शिलाः।
उत्क्षिप्य च गजान् मत्तान् रथानपि हयानपि ॥३६ ॥

पर्वतोंके शिखर, वृक्ष, भयंकर बड़ी-बड़ी शिलाएँ, मतवाले हाथी, रथ और घोड़े—इन सबको उठा-उठाकर भगवान् श्रीकृष्णपर फेंकने लगे ॥ ३६ ॥

नारायणाग्निस्तान् सर्वान् ददाह प्रहसन्निव।
बाणार्चिषा महातेजा जगद्धितकरो हरिः ॥ ३७ ॥

परंतु जगत्का हित करनेवाले महातेजस्वी भगवान् नारायण हरिने हँसते हुए-से अग्निरूप होकर अपनी बाणमयी लपटोंसे उन सबको जलाकर भस्म कर दिया ॥ ३७ ॥

शारदं वर्षणं यद्वत् सेहे धीरो गवां पतिः।
तद्वद् यदुवृषः सेहे बाणवर्षमरिंदमः ॥ ३८॥

जैसे धीर साँड़ शरद्ऋतुकी वर्षाको चुपचाप सहन करता है, उसी प्रकार शत्रुओंका दमन करनेवाले यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण दैत्योंकी बाणवर्षाको धैर्यपूर्वक सहन करते रहे ॥३८॥

न सेहिरेऽसुरा बाणान् नारायणधनुश्च्युतान्।
वर्षं पर्जन्यविहितं वालुकासेतवो यथा ॥ ३९ ॥

परंतु जैसे बालूके बने हुए सेतु (पुल) मेघोंद्वारा की गयी वर्षाका वेग नहीं सह सकते, उसी प्रकार वे असुर नारायण (श्रीकृष्ण) के धनुषसे छूटे हुए बाणोंको नहीं सह सके ॥ ३९ ॥

न शेकुः प्रमुखे स्थातुं कृष्णस्यासुरसत्तमाः।
व्यादितास्यस्य सिंहस्य वृषभा इव भारत ॥ ४० ॥

भारत ! जैसे मुँह बाये हुए सिंहके सामने बैल नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार वे बड़े-बड़े असुर श्रीकृष्णके सम्मुख खड़े नहीं रह सके ॥ ४० ॥

ते वध्यमानाः कृष्णेन दिवमाचक्रमुस्तदा।
जीविताशां वहन्तस्तु नारायणभयार्दिताः ॥ ४१ ॥

नारायणके भयसे पीड़ित हो उनके द्वारा मारे जाते हुए वे असुर जीवनकी आशाका भार वहन करते हुए आकाशमें उड़ चले ॥ ४१ ॥

तानाकाशगतानिन्द्रिर्जयन्तः प्रवरस्तथा।
निजघ्नतुः शरैर्घोरैर्ज्वलितार्चिसमैः प्रभो ॥ ४२ ॥

प्रभो ! आकाशमें गये हुए उन असुरोंको जयन्त और प्रवर प्रज्वलित अग्नि-शिखाके समान भयंकर बाणोंद्वारा मार गिराते थे ॥ ४२ ॥

निपेतुरसुराणां तु शिरांसि धरणीतले।
तृणराजफलानीव मुक्तानि शिखरात् तरोः ॥ ४३ ॥

उन असुरोंके कटे हुए सिर वृक्ष-शिखरसे टूटकर गिरे हुए तालफलोंके समान पृथ्वीपर गिरने लगे ॥ ४३ ॥

निपेतुर्बाहवश्छिन्ना दैत्यानां वसुधातले।
कालेनोपहता वीर पञ्चवक्त्रा इवोरगाः ॥ ४४ ॥

वीर ! दैत्योंकी कटी हुई भुजाएँ पृथ्वीपर कालके मारे हुए पाँच मुखवाले सर्पोंके समान गिर रही थीं ॥ ४४ ॥

रौक्मिणेयस्ततः सृष्ट्वा घोरां मायामयीं गुहाम्।
अदृश्यनिष्क्रमं वीरः क्षत्रं प्रक्षेप्तुमुद्यतः ॥ ४५ ॥
गदेन सह धर्मात्मा सारणेन सुतेन च।
साम्बेन चापरैश्चापि पूर्वं ये न प्रवेशिताः ॥ ४६ ॥

तदनन्तर गद, सारण, अनिरुद्ध, साम्ब तथा अन्य वीरोंके साथ, जिन्हें निकुम्भने पहले अपनी गुफामें नहीं घुसाया था, वीर धर्मात्मा रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न घोर मायामयी गुफाकी सृष्टि करके समस्त क्षत्रिय नरेशोंके समुदायको,

जो उस गुफासे निकलनेके मार्गको नहीं देख पाता था, उसमें फेंक देनेके लिये उद्यत हो गये ॥ ४५-४६ ॥

प्रमथ्य तरसा कर्णं यतन्तं रणमूर्धनि।
जग्राह बलवान् कार्ष्णिः प्रस्फुरन्तं ततस्ततः ॥ ४७ ॥
विनद्य च गुहां वीरो घोरां मायामयीं नृप।

नरेश्वर ! बलवान् वीर श्रीकृष्णकुमारने युद्धके मुहानेपर विजयके लिये प्रयत्न करते हुए कर्णको वेगपूर्वक पटककर उसके उछल कूद मचाने या छटपटानेपर भी पकड़ लिया और गरजकर उसे घोर मायामयी गुफामें (फेंकनेका विचार किया) ॥ ४७½ ॥

दुर्योधनं च राजानं विराटद्रुपदावपि ॥ ४८ ॥
शकुनिं चैव शल्यं च नीलं चापि नदीसुतम्।
विन्दानुविन्दौ राजानौ जरासंधं च भारत ॥ ४९ ॥
त्रिगर्तान् मालवांश्चैव वासन्त्यांश्च महाबलान्।
धृष्टद्युम्नादिकांश्चैव पञ्चालानस्त्रकोविदान् ॥ ५० ॥
तथाहृतिमुवाचेदं मातुलं रुक्मिमेव च।
शिशुपालं च राजानं भगदत्तं च भारत ॥ ५१ ॥

भारत ! इसी तरह उन्होंने राजा दुर्योधन, विराट, द्रुपद, शकुनि, शल्य, नील, भीष्म, राजा विन्द और अनुविन्द तथा जरासंधको, त्रिगर्त, मालव एवं महाबली वासन्त्यगणोंको और अस्त्रज्ञानमें निपुण धृष्टद्युम्न आदि पाञ्चाल वीरोंको भी पकड़ लिया। फिर अपने मामा आहृति और रुक्मीको एवं राजा शिशुपाल और भगदत्तको सम्बोधित करके कहा—॥ ४८—५१ ॥

सम्बन्धं च गुरुत्वं च मानयामि नराधिपाः।
गुहामिमां घोररूपां यत्र प्रक्षेपयामि वः ॥ ५२ ॥
बिल्वोदकेश्वरेणाहमाज्ञप्तः शूलपाणिना।
प्रक्षेप्तव्या नरेन्द्रास्ते गुहायामिति धीमता ॥ ५३ ॥

'नरेश्वरो ! हमारे साथ आपलोगोंका जो सम्बन्ध और गुरुत्व है, उसका मैं आदर करता हूँ तो भी आपलोगोंको इस भयंकर गुफामें जहाँ फेंक रहा हूँ, वहाँ फेंकनेके लिये बुद्धिमान् शूलपाणि भगवान् बिल्वोदकेश्वरने मुझे आज्ञा दी है। उन्होंने कहा है कि तुम सब राजाओंको गुफामें फेंक दो ॥

आश्रित्य शाम्बरीं मायां निकुम्भेन महात्मना।
प्रक्षिप्तान् यादवांश्चैव मोक्षयिष्यामि सर्वथा ॥ ५४ ॥

'महामनस्वी निकुम्भने शाम्बरी मायाका आश्रय लेकर जिन यादवोंको गुफामें डाल रक्खा है, उन्हें मैं सर्वथा छुड़ा लूँगा' ॥ ५४ ॥

इत्युक्तो शिशुपालस्तु राजा सेनापतिस्तथा।
शरैस्ततर्द तान् भैमान् प्रद्युम्नं च विशेषतः ॥ ५५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर सेनापति राजा शिशुपालने अपने बाणोंद्वारा उन भैमों (यादवों) तथा विशेषतः प्रद्युम्नको पीडित कर दिया ॥ ५५ ॥

बिल्वोदकेश्वरं देवं रौक्मिणेयो नमस्य च।
आरभन्नृपतिं बद्धुं शिशुपालं महाबलम् ॥ ५६ ॥

तब रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नने बिल्वोदकेश्वरको नमस्कार करके महाबली राजा शिशुपालको बाँधना आरम्भ किया ॥

ततः पाशसहस्राणि गृह्य प्रवरोत्तमः।
शैलादिरब्रवीद् वीरं रौक्मिणेयं महाबलम् ॥ ५७ ॥

तत्पश्चात् रुद्रदेवके पार्षदोंमें श्रेष्ठ नन्दीने एक सहस्र पाश लेकर महाबली रुक्मिणीकुमार वीर प्रद्युम्नसे कहा—॥

बिल्वोदकेश्वरो देवः प्राह त्वां यदुनन्दन।
सर्वं कुरु तथा रात्र्यां चोक्तस्त्वं भो यथा मया॥ ५८ ॥

'यदुनन्दन ! बिल्वोदकेश्वरने तुम्हें यह संदेश दिया है कि मैंने जैसा तुमसे कहा है, उसके अनुसार तुम रातमें सब कार्य करो ॥ ५८ ॥

कन्यार्थं रत्नलुब्धांस्तु बद्ध्वा चेमान् नराधिपान्।
पाशैस्त्वमेव मोक्तुं च प्रमाणं यदुनन्दन ॥ ५९ ॥

'यदुनन्दन ! कन्याओं और रत्नोंपर लुभाये हुए इन राजाओंको पाशोंसे बाँधकर फिर इन्हें मुक्त करनेमें तुम्हीं प्रमाण हो—तुम्हीं चाहो तो उन्हें छोड़ सकते हो ॥ ५९ ॥

असुरांस्तु महाबाहो निःशेषान् कर्तुमर्हसि।
एवमेव च वक्तव्यस्त्वया वीर जनार्दनः ॥ ६० ॥

'वीर महाबाहो ! तुम इन असुरोंको निःशेष कर डालो—इनमेंसे एकको भी जीवित न छोड़ो। तुम्हें जनार्दनसे भी ऐसा ही कहना चाहिये' ॥ ६० ॥

ततः स भगदत्तं च शिशुपालं च भूमिप।
आहृतिं चैव रुक्मिं च शेषांश्चान्यान् नराधिपान् ॥ ६१ ॥
बबन्ध हरदत्तैस्तैः पाशैरुत्तमवीर्यधृक्।
मायामयीं गुहां चैवमानयत् कुरुनन्दन ॥ ६२ ॥

पृथ्वीपते ! कुरुनन्दन ! तदनन्तर उत्तम बल धारण करनेवाले प्रद्युम्नने भगवान् शङ्करके दिये हुए पाशोंसे राजा भगदत्त, शिशुपाल, आहृति, रुक्मी तथा शेष अन्य नरेशोंको भी बाँधा और उन सबको मायामयी गुफामें ले आये ॥

बद्ध्वा च रौक्मिणेयोऽथ निःश्वसन्त इवोरगान्।
अनिरुद्धं चकाराथ रक्षितारं स्वमात्मजम् ॥ ६३ ॥

रुक्मिणीकुमारने फुफकारते हुए सर्पोंके समान लंबी साँस खींचते हुए राजाओंको बाँधकर डाल दिया और अपने पुत्र अनिरुद्धको उनका रक्षक नियुक्त कर दिया ॥ ६३ ॥

तेषां निरवशेषेण बबन्ध यदुनन्दनः।
सेनापतीन् क्षत्रियांश्च कोशाध्यक्षांश्च भारत ॥ ६४ ॥
हस्त्यश्वरथवृन्दांश्च चकार च तथाऽऽत्मसात्।

भारत ! यदुनन्दन प्रद्युम्नने उनमेंसे किसीको भी विना बाँधे नहीं छोड़ा । फिर उनके क्षत्रिय-सेनापतियों, कोषाध्यक्षों तथा हाथी, घोड़ों और रथके समूहोंको भी अपने अधीन कर लिया ॥ ६४½ ॥

अव्यग्रस्तु ततो हन्तुमसुरानुद्यतः प्रभो ॥ ६५ ॥
संनद्ध एव चोवाच ब्रह्मदत्तं द्विजोत्तमम् ।
विस्रब्धं वर्ततां कर्म मा भैः पश्य धनंजयम् ॥ ६६ ॥

प्रभो ! तत्पश्चात् अव्यग्र (शान्त) भावसे स्थित हो वे असुरोंको मार डालनेके लिये उद्यत हो गये और संनद्ध रहकर द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मदत्तसे बोले—'ब्रह्मन् ! आप निर्भय हो अपना यज्ञकर्म चालू रखें । देखिये, अर्जुन आपकी रक्षामें खड़े हैं ॥

न देवेभ्यो नासुरेभ्यो नागेभ्यो द्विजसत्तम ।
भयं हि विद्यते तस्य गोप्तारो यस्य पाण्डवाः ॥ ६७ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! पाण्डव जिसके रक्षक हों, उसे न तो देवताओंसे, न असुरोंसे और न नागोंसे ही भय प्राप्त हो सकता है ॥ ६७ ॥

न चासुरैस्तव सुताः स्पृष्टाः खल्वपि चेतसा ।
यज्ञवाटे निरीक्ष्यन्तां मायया निहिता मया ॥ ६८ ॥

'असुरोंने आपकी पुत्रियोंका मनसे भी स्पर्श नहीं किया है । आप यज्ञमण्डपमें देखिये, मैंने मायाद्वारा उन्हें छिपाकर वहाँ रख छोड़ा है' ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि षट्पुरवधे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें षट्पुरवधविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

निकुम्भका जयन्तसे पराजित होकर भगवान् श्रीकृष्णके साथ युद्ध करना, श्रीकृष्णका अर्जुनको निकुम्भका चरित्र बताना, आकाशवाणीकी प्रेरणासे सुदर्शन चक्रद्वारा निकुम्भका वध करना और ब्रह्मदत्तको षट्पुरनगर देकर द्वारकाको प्रस्थान करना

वैशम्पायन उवाच

रुद्धेषु भूमिपालेषु सानुगेषु विशाम्पते ।
आविवेशासुरांश्चाथ कश्मलं जनमेजय ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—प्रजानाथ ! जनमेजय ! जब अनुचरोंसहित सब भूपाल गुफामें बंद कर दिये गये, तब असुरोंपर मोह छा गया ॥ १ ॥

दिशः प्रतस्थुस्ते वीरा वध्यमानाः समन्ततः ।
कृष्णानन्तप्रभृतिभिर्यदुभिर्युद्धदुर्मदैः ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण, बलराम आदि रणदुर्मद यादवोंद्वारा सब ओरसे मारे जाते हुए वीर असुर सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर पलायन करने लगे ॥ २ ॥

निकुम्भस्तानथोवाच रुषितो दानवोत्तमः ।
भित्त्वा प्रतिज्ञां किं मोहाद् भयार्ता यात विह्वलाः ॥ ३ ॥

यह देख दानवश्रेष्ठ निकुम्भ रोषमें भरकर उनसे बोला—'अरे ! तुमलोग मोहवश अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर भयसे पीड़ित और विह्वल होकर क्यों भागे जा रहे हो ? ॥ ३ ॥

हीनप्रतिज्ञाः काँल्लोकान् प्रयास्यथ पलायिताः ।
अगत्वापचितिं युद्धे ज्ञातीनां कृतनिश्चयाः ॥ ४ ॥

'प्रतिज्ञाहीन होकर भाग जानेवाले तथा पहले बदला लेनेका निश्चय करके भी युद्धमें अपने भाई-बन्धुओंका ऋण उतारे बिना पीठ दिखानेवाले तुमलोग किन लोकोंमें जाओगे ? ॥ ४ ॥

फलं जित्वेह भोक्तव्यं रिपून् समरकर्कशान् ।
हतेन चापि शूरेण वस्तव्यं त्रिदिवे सुखम् ॥ ५ ॥

'समराङ्गणमें निर्दयतापूर्वक जूझनेवाले शत्रुओंको जीतकर इस लोकमें उत्तम फल (राज्य आदि) का उपभोग प्राप्त होगा अथवा रणमें मारे जानेपर शूरवीरको स्वर्गलोकमें सुखदायक निवास सुलभ होगा ॥ ५ ॥

पलायित्वा गृहं गत्वा कस्य द्रक्ष्यथ हे मुखम् ।
दारान् वक्ष्यथ किं चापि धिग् धिक् किं किं न लज्जथ ॥ ६ ॥

'हे दैत्यो ! भागकर घर जाकर किसका मुँह देखोगे (अथवा किसे मुँह दिखाओगे) ? अपनी पत्नियोंसे क्या कहोगे ? धिक्कार है, धिक्कार है । क्यों ? क्यों तुम्हें लज्जा नहीं आती ?' ॥ ६ ॥

एवमुक्ता निवृत्तास्ते लज्जमाना नृपासुराः ।
द्विगुणेन च वेगेन युयुधुर्यदुभिः सह ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! निकुम्भके ऐसा कहनेपर वे असुर लज्जित होकर लौट पड़े और दुगुने वेगसे यादवोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ७ ॥

उत्सवे युद्धशौण्डानां नानाप्रहरणैर्नृप ।
ये यान्ति यज्ञवाटं तं तान् निहन्ति धनंजयः ॥ ८ ॥
यमौ भीमश्च राजा च धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यां प्रयातास्त्वयानेन्द्रिः प्रवरश्च द्विजोत्तमः ॥ ९ ॥

राजन् ! नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा युद्धकुशल

योद्धाओंके उस समरोत्सवमें जो दैत्य यज्ञमण्डपकी ओर जाते थे, उन्हें अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव तथा धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर मार डालते थे। जो लोग आकाशमें जाते थे, उन्हें इन्द्रकुमार जयन्त और द्विजश्रेष्ठ प्रवर कालके गालमें भेज देते थे॥ ८-९॥

अथासुरासृक्तोयाढ्या केशशैवलशाद्वला।
चक्रकूर्मरथावर्ता गजशैलानुशोभिनी॥ १०॥
ध्वजकुन्ततरुच्छन्ना स्तनितोत्कुष्टनादिनी।
गोविन्दशैलप्रभवा भीरुचित्तप्रमाथिनी॥ ११॥
असृग्बुद्बुदफेनाढ्या असिमत्स्यतरङ्गिणी।
सुस्राव शोणितनदी नदीव जलदागमे॥ १२॥

फिर तो वहाँ वर्षामें बढ़ी हुई नदीके समान एक खूनकी नदी बह चली। असुरोंके रक्त ही उसके जल थे। उनके सिरके केश ही उसमें सेवार और घासके समान प्रतीत होते थे। रथके पहिये उसमें कछुए-जैसे लगते थे और रथ भँवरके समान प्रतीत होता था। हाथियोंकी लाशें पर्वतोंकी चट्टानोंके समान उसकी शोभा बढ़ाती थीं। ध्वज और भाले तटवर्ती वृक्षोंके समान उसे आच्छादित किये हुए थे। योद्धाओंका गर्जना और चीखना ही उसका कलकल नाद था। वह नदी श्रीकृष्णरूपी पर्वतसे प्रकट हुई थी और भीरु पुरुषोंके हृदयमें भय उत्पन्न करती थी। रक्तके बुलबुले ही उसमें फेन थे और तलवारें ही मछलियों और तरंगोंके समान प्रतीत होती थीं॥ १०—१२॥

तान् दृष्ट्वैव निकुम्भस्तु वर्द्धमानांश्च शात्रवान्।
हतान् सर्वान् सहायांश्च वीर्यादेवोत्पपात ह॥ १३॥

निकुम्भ अपने उन शत्रुओंको बढ़ता हुआ और समस्त सहायकोंको मारा गया देख अपने बलसे ही ऊपरको उछला॥ १३॥

स वारितो जयन्तेन प्रवरेण च भारत।
शरैः कुलिशसंकाशैर्निकुम्भो रणकर्कशः॥ १४॥
संनिवृत्याथ दष्टोष्ठः परिघेण दुरासदः।
प्रवरं ताडयामास स पपात महीतले॥ १५॥

भारत! ऊपर गये हुए रणकर्कश निकुम्भको जयन्त और प्रवरने अपने वज्रतुल्य बाणोंद्वारा रोका। तब दुर्जय वीर निकुम्भ दाँतोंसे ओठ दबाकर लौटा। उसने प्रवरपर परिघसे प्रहार किया। इससे वह पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ १४-१५॥

ऐन्द्रिस्तं पतितं भूमौ बाहुभ्यां परिषस्वजे।
विदित्वा चैव सप्राणं हित्वासुरमभिद्रुतः॥ १६॥

पृथ्वीपर गिरे हुए इन प्रवरको इन्द्रकुमार जयन्तने अपनी दोनों भुजाओंसे उठाकर हृदयसे लगा लिया और जब उन्हें मालूम हुआ कि प्रवर जीवित हैं, तब वे उन्हें छोड़कर उस असुरकी ओर दौड़े॥ १६॥

अभिद्रुत्य निकुम्भं च निस्त्रिंशेन जघान ह।
परिघेणापि दैतेयो जयन्तं समताडयत्॥ १७॥

निकुम्भपर धावा करके जयन्तने उसे खड्गसे मारा। तब उस दैत्यने भी जयन्तपर परिघसे प्रहार किया॥ १७॥

ततश्च बहुलं गात्रं निकुम्भस्यैन्द्रिराहवे।
स चिन्तयामास तदा वध्यमानो महासुरः॥ १८॥
कृष्णेन सह योद्धव्यं वैरिणा ज्ञातिघातिना।
श्रावयामि किमात्मानमाहवे शक्रसूनुना॥ १९॥

इन्द्रकुमारने युद्धस्थलमें निकुम्भके शरीरको प्रायः क्षत-विक्षत कर दिया। उनके द्वारा मारे जाते हुए उस महान् असुरने उस समय मन-ही-मन सोचा कि मुझे श्रीकृष्णके साथ युद्ध करना चाहिये, क्योंकि वे मेरे बन्धु-बान्धवोंके घातक एवं वैरी हैं। मैं युद्धमें इन्द्रकुमारके साथ लड़कर अपने लिये कौन-सी ख्याति प्राप्त करूँगा॥ १८-१९॥

एवं स निश्चयं कृत्वा तत्रैवान्तरधीयत।
जगाम चैव युद्धार्थं यत्र कृष्णो महाबलः॥ २०॥

ऐसा निश्चय करके वह महाबली असुर वहीं अन्तर्धान हो गया और युद्धके लिये उस स्थानपर गया, जहाँ महाबली श्रीकृष्ण विराजमान थे॥ २०॥

तं दृष्ट्वैरावतस्कन्धमास्थितो बलनाशनः।
द्रष्टुमभ्यागतो युद्धं जहृषे सह दैवतैः॥ २१॥

उसे वहाँ गया हुआ देख बलनाशन इन्द्र ऐरावतकी पीठपर बैठकर वह युद्ध देखनेके लिये आये। उस समय वे देवताओंके साथ बहुत प्रसन्न थे॥ २१॥

साधु साध्विति पुत्रं च परितुष्टः स सस्वजे।
प्रवरं चापि धर्मात्मा सस्वजे मोहवर्जितम्॥ २२॥

धर्मात्मा इन्द्रने 'साधु साधु (वाह-वाह)' कहकर संतुष्ट हो अपने पुत्र जयन्तको हृदयसे लगा लिया और मूर्च्छा दूर हो जानेपर प्रवरसे भी गले मिले॥ २२॥

देवदुन्दुभयश्चापि प्रणेदुर्वासवाज्ञया।
जयमानं रणे दृष्ट्वा जयन्तं रणदुर्जयम्॥ २३॥

उस समय रणदुर्जय जयन्तकी युद्धमें विजय देखकर इन्द्रकी आज्ञासे देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं॥ २३॥

ददर्शाथ निकुम्भस्तु केशवं रणदुर्जयम्।
अर्जुनेन स्थितं सार्धं यज्ञवाटाविदूरतः॥ २४॥

निकुम्भने देखा, युद्धमें जिनपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है, वे श्रीकृष्ण यज्ञमण्डपसे थोड़ी ही दूरपर अर्जुनके साथ खड़े हैं॥ २४॥

स नादं सुमहान् कृत्वा पक्षिराजमताडयत्।
परिघेण सुघोरेण बलं सत्यकमेव च॥ २५॥

फिर तो उसने बड़े जोरसे सिंहनाद करके अत्यन्त भयंकर परिघद्वारा पक्षिराज गरुड़, बलराम और सात्यकिपर प्रहार किया ॥ २५ ॥

नारायणं चार्जुनं च भीमं चाथ युधिष्ठिरम् ।
यमौ च वासुदेवं च साम्बं कामं च वीर्यवान् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् उस पराक्रमी असुरने श्रीकृष्ण, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा श्रीकृष्णकुमार साम्ब और प्रद्युम्नपर भी प्रहार किया ॥ २६ ॥

युयुधे मायया दैत्यः शीघ्रकारी च भारत ।
न चैनं ददृशुः सर्वे सर्वशस्त्रविशारदाः ॥ २७ ॥

भरतनन्दन ! वह शीघ्रकारी दैत्य मायाद्वारा युद्ध कर रहा था; इसलिये सम्पूर्ण शस्त्रोंके ज्ञानमें कुशल वे समस्त वीर उसे देख नहीं पाते थे ॥ २७ ॥

यदा तु नैवापश्यंस्तं तदा बिल्वोदकेश्वरम् ।
दध्यौ देवं हृषीकेशः प्रमथानां गणेश्वरम् ॥ २८ ॥

जब वे उस असुरको नहीं देख सके, तब भगवान् श्रीकृष्णने प्रमथगणोंके स्वामी बिल्वोदकेश्वर देवका स्मरण किया॥

ततस्ते ददृशुः सर्वे प्रभावाद्‌तितेजसः ।
बिल्वोदकेश्वरस्याशु निकुम्भं मायिनां वरम् ॥ २९ ॥

फिर तुरंत ही अत्यन्त तेजस्वी बिल्वोदकेश्वरके प्रभावसे उन सबने मायावियोंमें श्रेष्ठ निकुम्भको देखा ॥ २९ ॥

कैलासशिखराकारं ग्रसन्तमिव धिष्ठितम् ।
आह्वयन्तं रणे कृष्णं वैरिणं ज्ञातिनाशनम् ॥ ३० ॥
सज्यगाण्डीव एवाथ पार्थस्तस्य रथेषुभिः ।
परिघं चैव गात्रेषु विव्याधैनमथासकृत् ॥ ३१ ॥

उसका शरीर कैलास शिखरके समान विशाल था । वह इसप्रकार खड़ा था, मानो सबको ग्रस लेगा । वह अपने बन्धु-बान्धवोंका नाश करनेवाले वैरी श्रीकृष्णको युद्धके लिये ललकार रहा था । उस समय जिनके गाण्डीव धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ी हुई थी, उन अर्जुनने रथका भेदन करनेवाले बाणोंद्वारा उसके परिघ और अङ्गोंपर बारंबार प्रहार किया ॥

ते बाणास्तस्य गात्रेषु परिघे च जनाधिप ।
भग्नाः शिलाशिताः सर्वे निपेतुः कुञ्चिताः क्षितौ ॥३२॥

नरेश्वर ! अर्जुनके वे सभी बाण जो शिलापर तेज किये गये थे, उसके परिघ और अङ्गोंसे टकराकर टूटकर अथवा मुड़कर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३२ ॥

विफलानस्त्रयुक्तांस्तान् दृष्ट्वा बाणान् धनंजयः ।
पप्रच्छ केशवं वीरः किमेतदिति भारत ॥ ३३ ॥

भरतनन्दन ! उन दिव्यास्त्रयुक्त बाणोंको निष्फल हुआ देख वीर अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा, 'यह क्या हुआ ? ॥३३॥

पर्वतानपि भिन्दन्ति मम वज्रोपमाः शराः ।
किमिदं देवकीपुत्र विस्मयोऽत्र महान् मम ॥ ३४ ॥

'देवकीनन्दन ! मेरे वज्रतुल्य बाण पर्वतोंको भी विदीर्ण कर डालते हैं (परंतु यहाँ निष्फल हो गये) । यह क्या बात है ? इस विषयमें मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है' ॥ ३४ ॥

तमुवाच ततः कृष्णः प्रहसन्निव भारत ।
महद्भूतं निकुम्भोऽयं कौन्तेय शृणु विस्तरात् ॥ ३५ ॥

भारत ! तब श्रीकृष्णने हँसते हुए-से कहा—'कुन्तीनन्दन ! यह निकुम्भ एक महान् भूत है । इसका परिचय विस्तारपूर्वक सुनो ॥ ३५ ॥

पुरा गत्वोत्तरकुरूंस्तपश्चक्रे महासुरः ।
शतं वर्षसहस्राणां देवशत्रुर्दुरासदः ॥ ३६ ॥

'पूर्वकालमें इस दुर्जय देवद्रोही महान् असुरने उत्तरकुरुमें जाकर एक लाख वर्षोंतक तपस्या की थी ॥ ३६ ॥

अथैनं छन्दयामास वरेण भगवान् हरः ।
स वव्रे त्रीणि रूपाणि न वध्यानि सुरासुरैः ॥ ३७ ॥

'तब भगवान् शिवने इसे इच्छानुसार वर माँगनेके लिये आज्ञा दी । उस समय इसने महादेवजीसे तीन रूप माँगे, जो देवताओं और असुरोंके लिये अवध्य हों ॥ ३७ ॥

तमुवाच महादेवो भगवान् वृषभध्वजः ।
मम वा ब्राह्मणानां वा विष्णोर्वाप्रियमाचरन् ॥ ३८ ॥
भविष्यसि हरेर्वध्यो न त्वन्यस्य महासुर ।
ब्रह्मण्योऽहं च विष्णुश्च विप्राणां परमा गतिः ॥ ३९ ॥

'तब महान् देव भगवान् वृषभध्वजने इससे कहा—महान् असुर ! यदि तुम मेरा, ब्राह्मणोंका अथवा भगवान् विष्णुका अप्रिय करोगे तो श्रीहरिके हाथसे मारे जाओगे, दूसरे किसीके द्वारा नहीं; क्योंकि मैं और विष्णु दोनों ब्राह्मणोंके हितैषी हैं । उनके परम आश्रय हैं ॥ ३८-३९ ॥

स एष सर्वशस्त्राणामवध्यः पाण्डुनन्दन ।
त्रिदेहोऽतिप्रमाथी च वरमत्तश्च दानवः ॥ ४० ॥

'पाण्डुनन्दन ! वही यह तीन शरीर धारण करनेवाला अत्यन्त प्रमथनशील दानव है, जो वरदान पाकर मदमत्त हो उठा है । यह सम्पूर्ण शस्त्रोंद्वारा अवध्य है ॥ ४० ॥

भानुमत्यापहरणे देहोऽस्यैको हतो मया ।
अवध्यं षट्पुरं देहमिदमस्य दुरात्मनः ॥ ४१ ॥

'भानुमतीके अपहरणके समय मैंने इसके एक शरीरको नष्ट कर दिया था । यह अवध्य षट्पुर इस दुरात्माका दूसरा शरीर है ॥ ४१ ॥

दितिं शुश्रूषति त्वेको देहोऽस्य तपसान्वितः ।
अन्यस्तु देहो घोरोऽस्य येनावसति षट्पुरम् ॥ ४२ ॥

'तथा इसका एक तपस्वी शरीर दिति देवीकी सेवामें

संलग्न रहता है। जिससे यह षट्पुरमें निवास करता है, वह इसका घोर शरीर दूसरा ही है ॥ ४२ ॥

एतत् तु सर्वमाख्यातं निकुम्भचरितं मया।
त्वरयास्य वधे वीर कथा पश्चाद् भविष्यति ॥ ४३ ॥

'वीर! यह सब निकुम्भका चरित्र मैंने कह सुनाया। अब तुम इसके वधके लिये जल्दी करो। यह कथा पीछे होती रहेगी' ॥ ४३ ॥

तयोः कथयतोरेवं कृष्णयोरसुरस्तदा।
गुहां षट्पुरसंज्ञां तां विवेश रणदुर्जयः ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि वह रणदुर्जय असुर उस षट्पुर नामवाली गुफामें जा घुसा ॥

अन्विष्य तस्य भगवान् विवेश मधुसूदनः।
तां षट्पुरगुहां घोरां दुर्धर्षो कुरुनन्दन ॥ ४५ ॥

कुरुनन्दन! उसके जानेके मार्गका अनुसंधान करके भगवान् मधुसूदन भी उस घोर, दुर्जय षट्पुर नामवाली गुफामें घुस गये ॥ ४५ ॥

चन्द्रसूर्यप्रभाहीनां ज्वलन्तीं स्वेन तेजसा।
सुखदुःखोष्णशीतानि प्रयच्छन्तीं यथेप्सितम् ॥ ४६ ॥

वहाँ चन्द्रमा और सूर्यका प्रकाश नहीं था। वह गुफा अपने ही तेजसे प्रकाशित होती और वहाँके निवासियोंको सुख-दुःख, गर्मी-सर्दी आदि प्रदान करती थी ॥ ४६ ॥

तत्र प्रविश्य भगवानपश्यत जनाधिपान्।
युयुधे सह घोरेण निकुम्भेन जनाधिप ॥ ४७ ॥

नरेश्वर! उस गुफामें प्रवेश करके भगवान् श्रीकृष्णने निकुम्भद्वारा बंदी बनाये गये यादवनरेशोंको देखा; फिर वे उस घोर असुर निकुम्भके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४७ ॥

कृष्णस्यानुप्रविष्टास्तु बलाद्या यादवास्तदा।
प्रविष्टाश्च तथा सर्वे पाण्डवास्ते महात्मनः ॥ ४८ ॥
समेतास्तु प्रविष्टास्ते कृष्णस्यानुमतेन वै।

महात्मा श्रीकृष्णकी अनुमतिसे बलराम आदि समस्त यादववीर भी उस समय उनके पीछे-पीछे उस गुफामें जा घुसे तथा समस्त पाण्डव भी एक साथ ही उसमें घुस आये॥४८½॥

युयुधे स तु कृष्णेन रौक्मिणेयः प्रचोदितः।
आनयद् यादवान् सर्वान् यानयं बद्धवान् पुरा ॥ ४९ ॥

निकुम्भ तो श्रीकृष्णके साथ युद्ध करने लगा। इधर श्रीकृष्णकी आज्ञासे रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न उन सब यादवोंको छुड़ा लाये, जिन्हें निकुम्भने पहले बंदी बना लिया था ॥

ते मुक्ता रौक्मिणेयेन प्राप्ता यत्र जनार्दनः।
प्रहृष्टमनसः सर्वे निकुम्भवधकाङ्क्षिणः ॥ ५० ॥

प्रद्युम्नद्वारा छुड़ाये गये वे समस्त वीर प्रसन्नचित्त हो निकुम्भका वध करनेकी इच्छासे उस स्थानपर गये, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण युद्ध कर रहे थे ॥ ५० ॥

राजानो वीर मुञ्चेति पुनः कामं यथाब्रुवन्।
मुमोच चाथ तान् वीरो रौक्मिणेयः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥

तब वे राजा जो प्रद्युम्नद्वारा कैद किये गये थे, उन कामस्वरूप प्रद्युम्नसे बार-बार कहने लगे—'वीर! हमें मुक्त कर दो।' तब प्रतापी वीर रुक्मिणीकुमारने उन सबको छोड़ दिया ॥ ५१ ॥

अधोमुखमुखाः सर्वे बद्धमौना नराधिपाः।
लज्जयाभिप्लुता वीरास्तस्थुर्नष्टश्रियस्तदा ॥ ५२ ॥

वे समस्त वीर नरेश अपना मुँह नीचे किये चुपचाप खड़े थे। उनकी श्री नष्ट हो गयी थी। वे उस समय लज्जामें डूबे हुए थे ॥ ५२ ॥

निकुम्भमपि गोविन्दः प्रयतन्तं जयं प्रति।
योधयामास भगवान् घोरमात्मरिपुं हरिः ॥ ५३ ॥

पापहारी भगवान् गोविन्द विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले अपने घोर शत्रु निकुम्भके साथ युद्ध कर रहे थे ॥५३॥

परिघेनाहतः कृष्णो निकुम्भेन भृशं विभो।
गदया चापि कृष्णेन निकुम्भस्ताडितो भृशम् ॥ ५४ ॥

प्रभो! निकुम्भने परिघद्वारा भगवान् श्रीकृष्णपर बड़े जोरका आघात किया तथा श्रीकृष्णने भी गदाद्वारा निकुम्भको बारंबार गहरी चोट पहुँचायी ॥ ५४ ॥

तावुभौ मोहमापन्नौ सुप्रहारहतौ तदा।
ततः प्रव्यथितान् दृष्ट्वा पाण्डवांश्चाथ यादवान् ॥ ५५ ॥
जेपुर्मुनिगणास्तत्र कृष्णस्य हितकाम्यया।
तुष्टुवुश्च महात्मानं वेदप्रोक्तैस्तथा स्तवैः ॥ ५६ ॥

तब एक दूसरेके द्वारा अच्छी तरह किये गये प्रहारोंसे आहत होकर वे दोनों ही मूर्च्छित हो गये। इससे पाण्डवों और यादवोंको अत्यन्त व्यथित हुआ देख वहाँ खड़े हुए मुनिगण श्रीकृष्णके हितकी कामनासे 'जप' करने लगे तथा उन्होंने वेदोक्त स्तुतियोंद्वारा परमात्मा श्रीकृष्णका स्तवन किया ॥

ततः प्रत्यागतप्राणो भगवान् केशवस्तदा।
दानवश्च पुनर्वीरावुद्यतौ समरं प्रति ॥ ५७ ॥

तब भगवान् केशव सजग हो उठे, मानो उनमें पुनः प्राण लौट आये हों। तदनन्तर वह दानव भी होशमें आ गया। फिर वे दोनों वीर युद्धके लिये उद्यत हो गये ॥ ५७ ॥

वृषभाविव नर्दन्तौ गजाविव च भारत।
शालावृकाविव क्रुद्धौ प्रहरन्तौ रणोत्कटौ ॥ ५८ ॥

भारत! वे दोनों रणोन्मत्त वीर साँड़ोंके समान हुँकड़ते, हाथियोंके समान चिग्घाड़ते और भेड़ियोंके समान दहाड़ते हुए क्रोधपूर्वक परस्पर प्रहार करने लगे ॥ ५८ ॥

अथ कृष्णं तदोवाच नृप वागशरीरिणी।
चक्रेण शमयस्वैनं देवब्राह्मणकण्टकम् ॥ ५९ ॥

नरेश्वर ! उस समय आकाशवाणीने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'जनार्दन ! यह देवताओं और ब्राह्मणोंके लिये कण्टकरूप है। तुम अपने चक्रद्वारा इसको नष्ट कर दो' ॥

इति होवाच भगवान् देवो बिल्वोदकेश्वरः।
धर्मं यशश्च विपुलं प्राप्नुहि त्वं महाबल ॥ ६० ॥

यह बात स्वयं भगवान् बिल्वोदकेश्वरदेवने कही थी। फिर उन्होंने इस प्रकार कहा—'महाबली श्रीकृष्ण ! तुम (इस दैत्यको मारकर) महान् धर्म और विशाल यश प्राप्त करो' ॥ ६० ॥

तथेत्युक्त्वा नमस्कृत्वा लोकनाथः सतां गतिः।
सुदर्शनं मुमोचाथ चक्रं दैत्यकुलान्तकम् ॥ ६१ ॥

तब 'जो आज्ञा' कहकर सत्पुरुषोंके आश्रयदाता जगदीश्वर श्रीकृष्णने भगवान् बिल्वोदकेश्वरको नमस्कार किया और दैत्यकुलका विनाश करनेवाले सुदर्शन चक्रको निकुम्भपर छोड़ दिया ॥ ६१ ॥

तन्निकुम्भस्य चिच्छेद शिरः प्रवरकुण्डलम्।
नारायणभुजोत्सृष्टं सूर्यमण्डलवर्चसम् ॥ ६२ ॥

श्रीकृष्णके हाथसे छूटे हुए सूर्यमण्डलके समान तेजस्वी चक्रने उत्तम कुण्डलोंसे अलंकृत निकुम्भका मस्तक काट डाला ॥

उत्पपात शिरस्तस्य भूमौ ज्वलितकुण्डलम्।
मेघमत्तो गिरेः शृङ्गान्मयूर इव भूतले ॥ ६३ ॥

कान्तिमान् कुण्डलोंसे अलंकृत उसका वह मस्तक पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो मेघके दर्शनसे उन्मत्त हुआ कोई मोर पर्वतके शिखरसे धरतीपर आ गिरा हो ॥ ६३ ॥

निकुम्भे निहते तस्मिन् देवो बिल्वोदकेश्वरः।
तुतोष च नरव्याघ्र जगत्त्रासकरे विभुः ॥ ६४ ॥

नरव्याघ्र ! जगत्‌को त्रास देनेवाले उस निकुम्भके मारे जानेपर सर्वव्यापी देव बिल्वोदकेश्वर बहुत संतुष्ट हुए ॥६४॥

पपात पुष्पवृष्टिश्च शक्रसृष्टा नभस्तलात्।
देवदुन्दुभयश्चैव प्रणेदुररिनाशने ॥ ६५ ॥

आकाशसे इन्द्रकी बरसायी हुई फूलोंकी वृष्टि होने लगी। उस देवशत्रुका नाश हो जानेपर देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं ॥ ६५ ॥

ननन्द च जगत् कृत्स्नं मुनयश्च विशेषतः।
दैत्यकन्याश्च भगवान् यदुभ्यः शतशो ददौ ॥ ६६ ॥

सम्पूर्ण जगत् आनन्दमग्न हो गया। ऋषि-मुनियोंको विशेष प्रसन्नता हुई ! भगवान् श्रीकृष्णने यादववीरोंको सैकड़ों दैत्य-कन्याएँ दे दीं ॥ ६६ ॥

क्षत्रियाणां च भगवान् सान्त्वयित्वा पुनः पुनः।
रत्नानि च विचित्राणि वासांसि प्रवराणि च ॥ ६७ ॥

अन्य क्षत्रिय राजाओंको भी बारंबार सान्त्वना देकर भगवान्‌ने विचित्र रत्न और श्रेष्ठ वस्त्र प्रदान किये ॥ ६७ ॥

रथानां वाजियुक्तानां षट् सहस्राणि केशवः।
अददात् पाण्डवेभ्यश्च प्रीतात्मा गदपूर्वजः ॥ ६८ ॥

गदके बड़े भाई श्रीकृष्णने प्रसन्नचित्त होकर पाण्डवोंको छः हजार अश्वयुक्त रथ भेंट किये ॥ ६८ ॥

तदेव चाथ प्रवरं षट्पुरं पुरवर्द्धनः।
द्विजाय ब्रह्मदत्ताय ददौ तार्क्ष्यवरध्वजः ॥ ६९ ॥

नगरकी वृद्धि करनेवाले भगवान् गरुड़ध्वजने वह षट्पुर नामक श्रेष्ठ नगर ब्रह्मदत्त नामक ब्राह्मणको दे दिया॥

सत्रे समाप्ते च तदा शङ्खचक्रगदाधरः।
विसर्जयित्वा तत् क्षत्रं पाण्डवांश्च महाबलः ॥ ७० ॥
बिल्वोदकेश्वरस्याथ समाजमकरोत् प्रभुः।
मांससूपसमाकीर्णं यद्धन्नं व्यञ्जनाकुलम् ॥ ७१ ॥

यज्ञ समाप्त होनेपर शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महाबली भगवान् श्रीकृष्णने उन क्षत्रियों और पाण्डवोंको विदा करके श्रीबिल्वोदकेश्वरके लिये एक सामूहिक उत्सव किया, जिसमें फलोंके गूदे, दाल तथा अन्यान्य व्यञ्जनोंसे युक्त बहुत-सा अन्न लोगोंको खिलाया गया ॥ ७०-७१ ॥

नियुद्धकुशलान् मल्लान् देवो मल्लप्रियस्तदा।
योधयित्वा ददौ भूरि वित्तं वस्त्राणि चात्मवान् ॥७२॥

अपने मनको वशमें रखनेवाले मल्लप्रिय भगवान् श्रीकृष्णने युद्धकुशल मल्लोंको लड़वाकर उन्हें बहुत-सा धन और वस्त्र दिये ॥ ७२ ॥

मातापितृभ्यां सहितो यदुभिश्च महाबलः।
अभिवाद्य ब्रह्मदत्तं ययौ द्वारवतीं पुरीम् ॥ ७३ ॥

तदनन्तर महाबली श्रीकृष्ण अपने माता-पिता तथा अन्य यादवोंके साथ ब्रह्मदत्तको प्रणाम करके द्वारकापुरीको चले गये ॥ ७३ ॥

स विवेश पुरीं रम्यां हृष्टपुष्टजनाकुलाम्।
पुष्पचित्रपथां वीरो वन्द्यमानो नरैः पथि ॥ ७४ ॥

मार्गमें दूसरे लोगोंका प्रणाम स्वीकार करते हुए वीर श्रीकृष्णने हृष्ट पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई तथा पुष्पोंके बिछाये जानेसे विचित्र पथवाली रमणीय पुरी द्वारकामें प्रवेश किया ॥

इमं यः षट्पुरवधं विजयं चक्रपाणिनः।
शृणुयाद् वा पठेद् वापि युद्धे जयमवाप्नुयात् ॥ ७५ ॥

जो चक्रपाणि भगवान् श्रीकृष्णके इस षट्पुर-वधरूप विजयसूचक चरित्रको सुनता अथवा पढ़ता है, वह युद्धमें विजय पाता है ॥ ७५ ॥

अपुत्रो लभते पुत्रमधनो लभते धनम्।
व्याधितो मुच्यते रोगी बद्धश्चाप्यथ बन्धनात्॥ ७६॥

(इसके श्रवण अथवा पढ़नेसे) पुत्रहीनको पुत्र और निर्धनको धन मिलता है । रोगी रोगसे और बंदी बन्धनसे छुटकारा पाता है॥ ७६॥

इदं पुंसवनं प्रोक्तं गर्भाधानं च भारत।
श्राद्धेषु पठितं सम्यगक्षय्यकरणं स्मृतम्॥ ७७॥

भारत! यह प्रसंग पुंसवन और गर्भाधानमें सहायक कहा गया है (अर्थात् इसके श्रवणसे पत्नीके गर्भाधान होता और उस गर्भसे पुत्रकी उत्पत्ति होती है)। यदि श्राद्धोंमें इसका सम्यक्रूपसे पाठ किया जाय तो यह उसके फलको अक्षय बनानेवाला माना गया है॥ ७७॥

इदममरवरस्य भारते
प्रथितबलस्य जयं महात्मनः।
सततमिह हि यः पठेन्नरः
सुगतिमितो व्रजते गतज्वरः॥ ७८॥

भारतमें जिनका बल विख्यात है तथा जो देवताओंसे भी श्रेष्ठ हैं; उन महात्मा श्रीकृष्णकी इस विजयगाथाका जो मनुष्य यहाँ सदा पाठ करता है, वह रोग-शोकसे मुक्त हो यहाँसे परम गतिको प्राप्त होता है॥ ७८॥

मणिकनकविचित्रपाणिपादो
निरतिशयार्कगुणोऽरिहादिनाथः।
चतुरुदधिशयश्चतुर्विधात्मा
जयति जगत्पुरुषः सहस्रनामा॥ ७९॥

मणि तथा सुवर्णके आभूषण धारण करनेसे जिनके हाथ-पैरोंकी विचित्र शोभा होती है, जिनमें सूर्यके तेज आदि गुण उनसे भी बहुत अधिक मात्रामें विद्यमान हैं, जो शत्रुओंके नाशक तथा सबके आदिरक्षक हैं, चारों समुद्र जिनके शयनागार हैं तथा जो वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार व्यूहोंके रूपमें विद्यमान हैं, वे जगत्के अन्तर्यामी पुरुष सहस्रों नामोंवाले श्रीकृष्ण नित्य विजयशील हैं॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि षट्पुरवधे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः॥ ८५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें षट्पुरवधके प्रसंगमें पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८५॥

षडशीतितमोऽध्यायः

अन्धकासुरकी उत्पत्ति और अनाचार, उसके वधके लिये ऋषियोंका विचार, नारदजीका मन्दार-पुष्पोंकी माला धारण करके अन्धकके यहाँ जाना और उससे मन्दारवनके महत्त्व बताना

जनमेजय उवाच

श्रुतोऽयं षट्पुरवधो रम्यो मुनिवरोत्तम।
पुरोक्तमन्धकवधं वैशम्पायन कीर्तय॥ १॥

जनमेजयने कहा—मुनिवरोंमें उत्तम वैशम्पायनजी! षट्पुरवधका यह रमणीय प्रसंग मैंने सुन लिया। अब पहले जिसकी चर्चा हुई थी, उस अन्धक-वधका वृत्तान्त मुझे बताइये॥ १॥

भानुमत्याश्च हरणं निकुम्भस्य वधं तथा।
प्रब्रूहि वदतां श्रेष्ठ परं कौतूहलं हि मे॥ २॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ! भानुमतीके हरणका तथा उस अवसरपर किये गये निकुम्भ-वधका प्रसंग भी सुनाइये; क्योंकि वह सब सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

दितिर्हतेषु पुत्रेषु विष्णुना प्रभविष्णुना।
तपसाऽऽराधयामास मारीचं कश्यपं पुरा॥ ३॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! पहलेकी बात है, प्रभावशाली भगवान् विष्णुके द्वारा जब सभी पुत्र मारे गये, तब देवी दितिने तपस्याके द्वारा मरीचिनन्दन कश्यपजीकी आराधना की॥ ३॥

तपसा कालयुक्तेन तथा शुश्रूषया मुनेः।
आनुकूल्येन च तथा माधुर्येण च भारत॥ ४॥
परितुष्टः कश्यपस्तु तामुवाच तपोधनः।

भरतनन्दन! उनकी समयोचित तपस्या, सेवा, अनुकूल बर्ताव तथा माधुर्यसे तपोधन कश्यपजी बहुत संतुष्ट हुए और उनसे बोले—॥ ४½॥

परितुष्टोऽस्मि ते भद्रे वरं वरय सुव्रते॥ ५॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाली कल्याणी! मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ, तुम कोई वर माँगो'॥ ५॥

दितिरुवाच

हतपुत्रास्मि भगवन् देवैर्धर्मभृतां वर।
अवध्यं पुत्रमिच्छामि देवैरमितविक्रमम्॥ ६॥

दिति बोली—भगवन्! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ! देवताओंने मेरे सभी पुत्रोंको मार डाला है; अतः मैं एक ऐसा अमित पराक्रमी पुत्र चाहती हूँ, जो देवताओंके लिये अवध्य हो॥ ६॥

कश्यप उवाच

अवध्यस्ते सुतो देवि दाक्षायणि भवेदिति।
देवानां संशयो नात्र कश्चित् कमललोचने॥ ७॥

कश्यपजीने कहा—देवि ! दाक्षायणि ! कमललोचने ! तुम्हारा पुत्र देवताओंके लिये अवध्य होगा, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ७ ॥

देवदेवमृते रुद्रं तस्य न प्रभवाम्यहम् ।
आत्मा ततस्ते पुत्रेण रक्षितव्यो हि सर्वथा ॥ ८ ॥

किंतु देवाधिदेव रुद्रको छोड़कर (उनके सिवा दूसरा कोई देवता उसे नहीं मार सकेगा); क्योंकि उनपर मेरा प्रभुत्व नहीं चल सकता । अतः तुम्हारे पुत्रको सर्वथा उनसे अपने शरीरकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ८ ॥

अन्वालभत तां देवीं कश्यपः सत्यवागथ ।
अङ्गुल्योदरदेशे तु सा पुत्रं सुषुवे ततः ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर सत्यवादी कश्यपजीने अपनी अङ्गुलिसे देवी दितिके उदरका स्पर्श किया; इससे उन्होंने एक पुत्रको जन्म दिया ॥ ९ ॥

सहस्रबाहुं कौरव्य सहस्रशिरसं तथा ।
द्विसहस्रेक्षणं चैव तावच्चरणमेव च ॥ १० ॥

कुरुनन्दन ! उसके एक हजार भुजाएँ, उतने ही मस्तक, दो सहस्र नेत्र तथा उतने ही चरण थे ॥ १० ॥

स व्रजत्यन्धवद् यस्मादनन्धोऽपि हि भारत ।
तमन्धकोऽयं नाम्नेति प्रोचुस्तत्र निवासिनः ॥ ११ ॥

भारत ! वह अन्धा नहीं था तो भी अन्धेके समान चलता था; अतः वहाँके निवासी उसे अन्धक नामसे पुकारने लगे ॥ ११ ॥

अवध्योऽस्मीति लोकान् स सर्वान् बाधति भारत ।
हरत्यपि च रत्नानि सर्वाण्यात्मबलाश्रयात् ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! मैं अवध्य हूँ, ऐसा समझकर वह सब लोगोंको सताने लगा । अपने बलके भरोसे वह (सब जगहसे) सभी रत्नोंको हर लाता था ॥ १२ ॥

वासयत्यात्मवीर्येण निगृह्याप्सरसां गणान् ।
स वेश्मन्यूर्जितोऽत्यर्थं सर्वलोकभयंकरः ॥ १३ ॥

समस्त लोकोंको भय देनेवाला वह दैत्य अत्यन्त शक्तिशाली होनेके कारण अपने बलसे अप्सराओंको पकड़कर अपने घरमें रखता था ॥ १३ ॥

परदारापहरणं पररत्नविलोपनम् ।
चकार सततं मोहादन्धकः पापनिश्चयः ॥ १४ ॥

पापपूर्ण विचार रखनेवाले अन्धकने मोहवश परस्त्रियोंके अपहरण करने और पराये धनको लूट लानेका धंधा सदाके लिये अपना लिया ॥ १४ ॥

त्रैलोक्यविजयं कर्तुमुद्यतः स तु भारत ।
सहायैरसुरैः सार्धं बहुभिः सर्वधर्षिभिः ॥ १५ ॥

भारत ! एक बार अन्धक सबका तिरस्कार करनेवाले बहुत-से सहायक असुरोंके साथ तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करनेको उद्यत हुआ ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवाञ्छक्रः कश्यपं पितरं ब्रवीत् ।
अन्धकेनेदमारब्धमीदृशं मुनिसत्तम ॥ १६ ॥

यह समाचार सुनकर ऐश्वर्यशाली इन्द्रने अपने पिता कश्यपसे कहा—'मुनिश्रेष्ठ ! अन्धकासुरने ऐसा कार्य आरम्भ किया है ॥ १६ ॥

आज्ञापय विभो कार्यमस्माकं समनन्तरम् ।
यवीयसः कथं नाम सोढव्यं स्यान्मुने मया ॥ १७ ॥

'प्रभो ! हम लोगोंका क्या कर्तव्य है, उसके लिये आज्ञा दीजिये । मुने ! छोटे भाईका यह दुराचार मुझसे कैसे सहा जायगा ? ॥ १७ ॥

इष्टपुत्रे प्रहर्तव्यं कथं नाम मया विभो ।
इहात्रभवती कुर्यान्मन्युं मयि हते सुते ॥ १८ ॥

'प्रभो ! यह मौसीजीका प्रिय पुत्र है । इसपर मैं कैसे प्रहार कर सकता हूँ ? अपने पुत्रके मेरे द्वारा मारे जानेपर पूजनीया मौसी यहाँ मुझपर क्रोध करेंगी' ॥ १८ ॥

देवेन्द्रवचनं श्रुत्वा कश्यपोऽथाब्रवीन्मुनिः ।
वारयिष्यामि देवेन्द्र सर्वथा भद्रमस्तु ते ॥ १९ ॥

देवराजकी यह बात सुनकर कश्यप मुनिने कहा—'देवेन्द्र ! मैं अन्धकको सर्वथा रोक दूँगा । तुम्हारा कल्याण हो' ॥

अन्धकं वारयामास दित्या सह तु कश्यपः ।
त्रैलोक्यविजयाद् वीरं कृच्छ्रकृच्छ्रेण भारत ॥ २० ॥

भरतनन्दन ! तदनन्तर कश्यपजीने दितिके साथ जाकर वीर अन्धकको बड़ी कठिनाईसे त्रिभुवनविजयके उद्योगसे रोका ॥ २० ॥

वारितोऽपि स दुष्टात्मा बाधत्येव दिवौकसः ।
तैस्तैरुपायैर्दुष्टात्मा प्रमथ्य च तथामरान् ॥ २१ ॥

उनके मना करनेपर भी वह दुष्टात्मा उन-उन उपायोंसे स्वर्गवासी देवताओंको मथकर सताता ही रहा ॥ २१ ॥

बभञ्ज कानने वृक्षानुद्यानानि च दुर्मतिः ।
उच्चैःश्रवःसुतानश्वान् बलादप्यानयद् दिवः ॥ २२ ॥

उस दुर्बुद्धिने नन्दनवनके वृक्षों और उद्यानोंको उजाड़ डाला । उच्चैःश्रवाके वंशज अश्वोंको वह स्वर्गसे बलपूर्वक हाँक लाया ॥ २२ ॥

नागान् दिशागजसुतान् दिव्यानपि च भारत ।
बलाद्धरति देवानां पश्यतां वरदर्पितः ॥ २३ ॥

भारत ! वरके घमंडमें भरा हुआ वह दैत्य देवताओंके देखते-देखते दिग्गजकी संतानभूत दिव्य हाथियोंको बलपूर्वक हर लाता था ॥ २३ ॥

देवानाप्याययन्ते तु ये यज्ञैस्तपसा तथा।
तेषां चकार विघ्नं स दुष्टात्मा देवकण्टकः ॥ २४ ॥

देवताओंके लिये कण्टकरूप वह दुष्टात्मा दैत्य जो लोग यज्ञ और तपस्याद्वारा देवताओंको पुष्ट करते थे, उनके उस अनुष्ठानमें विघ्न डाल देता था ॥ २४ ॥

नेजुर्यज्ञैस्त्रयो वर्णास्तेपुश्च न तपांस्यपि।
अन्धकस्य भयाद् राजन् यज्ञविघ्नानि कुर्वतः ॥ २५ ॥

राजन्! तीनों वर्णोंके लोग यज्ञोंमें विघ्न डालनेवाले अन्धकासुरके भयसे न तो यज्ञ कर पाते थे और न तपस्या ही॥

तस्येच्छया वाति वायुरादित्यश्च तपत्युत।
चन्द्रमा वा सनक्षत्रो दृश्यते नैव वा पुनः ॥ २६ ॥

वायु उसकी इच्छाके अनुसार चलती थी। सूर्य भी उसकी रुचिके अनुसार ही तपते थे तथा नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा भी उसकी इच्छासे ही दीखते अथवा नहीं दीखते थे॥

न व्रजन्ति विमानानि विहायसि भयात् प्रभो।
अन्धकस्यातिघोरस्य बलदृप्तस्य दुर्मतेः ॥ २७ ॥

प्रभो! बलके घमंडमें भरे हुए खोटी बुद्धिवाले अत्यन्त घोर अन्धकासुरके भयसे आकाशमें विमान नहीं चलने पाते थे ॥ २७ ॥

निरोङ्कारवषट्कारं जगद् वीर तथाभवत्।
अन्धकस्यातिघोरस्य भयात् कुरुकुलोद्वह ॥ २८ ॥

कुरुकुल-धुरन्धर वीर! अत्यन्त भयानक अन्धकासुरके भयसे सारा जगत् ॐकार और वषट्कारकी ध्वनिसे शून्य हो गया ॥ २८ ॥

कुरूंस्तथोत्तरान् पापो द्रावयामास भारत।
भद्राश्वान् केतुमालांश्च जम्बूद्वीपांस्तथैव च ॥ २९ ॥

भारत! वह पापी उत्तरकुरु, भद्राश्व, केतुमाल तथा जम्बूद्वीपके अन्य प्रदेशोंपर भी धावा बोला करता था ॥२९॥

मानयन्ति च तं देवा दानवाश्च दुरासदाः।
भूतानि च तथान्यानि समर्थान्यपि सर्वथा ॥ ३० ॥

दुर्जय देवता और दानव भी उसका सम्मान करते थे तथा अन्यान्य भूत सर्वथा समर्थ होनेपर भी उसका आदर करते थे ॥ ३० ॥

ऋषयो वध्यमानास्तु समेता ब्रह्मवादिनः।
अचिन्तयन्नन्धकस्य वधं धर्मभृतां वर ॥ ३१ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश! उसके द्वारा मारे और सताये जानेवाले ब्रह्मवादी ऋषि एकत्र हो अन्धकासुरके वधका उपाय सोचने लगे ॥ ३१ ॥

तेषां बृहस्पतिर्मध्ये धीमानिदमथाब्रवीत्।
नास्य रुद्रादृते मृत्युर्विद्यते च कथंचन ॥ ३२ ॥

तथा वरे दीयमाने कश्यपेनापि शङ्कितः।
नाहं रुद्रात् परित्रातुं शक्त इत्येव धीमतः ॥ ३३ ॥

उन ऋषियोंमें बुद्धिमान् बृहस्पति भी थे। उन्होंने इस प्रकार कहा—'इस असुरकी मृत्यु रुद्रदेवके सिवा दूसरेके हाथसे किसी तरह नहीं हो सकती। दितिको वर देते समय महर्षि कश्यपने भी यह बात कह दी थी। मैं भगवान् रुद्रसे इसकी रक्षा नहीं कर सकता। यही बुद्धिमान् कश्यपजीका वचन है ॥ ३२-३३ ॥

तमुपायं चिन्तयामः शर्वो येन सनातनः।
जानीयात् सर्वभूतानि पीड्यमानानि शङ्करः ॥ ३४ ॥

'अतः हमलोग उस उपायपर विचार करें, जिससे दुष्टों-का संहार करनेवाले सनातन देव भगवान् शङ्करको यह पता लग जाय कि अन्धकासुरके अत्याचारसे समस्त प्राणी पीडित हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

विदितार्थो हि भगवानवश्यं जगतः प्रभुः।
अश्रुप्रमार्जनं देवः करिष्यति सतां गतिः ॥ ३५ ॥

'भगवान् रुद्रदेव इस जगत्के स्वामी और सत्पुरुषोंके आश्रय हैं। जब उन्हें इस बातका पता चल जायगा, तब वे अवश्य सबके आँसू पोंछेंगे (अन्धकासुरको मारकर जगत्का दुःख दूर कर देंगे) ॥ ३५ ॥

व्रतं हि देवदेवस्य भवस्य जगतो गुरोः।
सन्तोऽसद्भ्यो रक्षितव्या ब्राह्मणास्तु विशेषतः॥३६॥

'उन देवाधिदेव जगद्गुरु भगवान् शिवका यह व्रत है कि दुष्टोंसे साधु पुरुषोंकी, विशेषतः ब्राह्मणोंकी अवश्य रक्षा करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

ते वयं नारदं सर्वे प्रयाम शरणं द्विजम्।
उपायं वेत्स्यते तत्र वयस्यो हि भवस्य सः ॥ ३७ ॥

'अतः हम सब लोग नारद बाबाकी शरणमें चलें। वे ही इसका उपाय जानते होंगे; क्योंकि वे भगवान् शङ्करके मित्र हैं' ॥ ३७ ॥

बृहस्पतिवचः श्रुत्वा सर्वेऽप्यथ तपोधनाः।
तावद् ददृशुराकाशे प्राप्तं देवर्षिसत्तमम् ॥ ३८ ॥

बृहस्पतिजीकी बात सुनकर उन सभी तपोधनोंने जब आकाशमे दृष्टि डाली तो देखा देवर्षिशिरोमणि नारद स्वयं आ पहुँचे हैं ॥ ३८ ॥

पूजयित्वा यथान्याय सत्कृत्य विधिवन्मुनिम्।
देवर्षे भगवन् साधो कैलासं व्रज सत्वरम् ॥ ३९ ॥
विज्ञप्तुमर्हसे देवमन्धकस्य वधे हरम्।

उन्होंने नारद मुनिका यथोचित रीतिसे पूजन और विधिवत् सत्कार करके कहा—'देवर्षे! भगवन्! साधो! आप शीघ्र कैलास पर्वतको चले जाइये और अन्धकासुरका वध

करनेके लिये भगवान् शङ्करको आवश्यक सूचना दीजिये। आप ही इस कार्यके योग्य हैं' ॥ ३९½ ॥

त्राणार्थं नारदं प्रोचुस्तांस्तथेति स चोक्तवान् ॥ ४० ॥
ऋषिष्वथ प्रयातेषु तत्कार्यं नारदो मुनिः।
विचार्य मनसा विद्वानिति कार्यं स दृष्टवान् ॥ ४१ ॥

उन ऋषियोंने नारदजीसे कहा—'आप जगत्‌की रक्षाके लिये प्रयत्नशील हों।' तब नारद मुनिने 'तथास्तु' कहकर उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। ऋषियोंके चले जानेपर उन विद्वान् मुनिने उस कार्यके विषयमें मन-ही-मन विचार करके यह देख और समझ लिया कि इस विषयमें अपनेको क्या करना है ? ॥ ४०-४१ ॥

स देवदेवं भगवान् द्रष्टुं मुनिरथाययौ।
मन्दारवनमध्यस्थो यत्र नित्यो वृषध्वजः ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् भगवान् नारद मुनि देवाधिदेव महादेवजीका दर्शन करनेके लिये उस स्थानपर आये, जहाँ नित्य भगवान् वृषध्वज मन्दारवनमें विराजमान होते हैं ॥ ४२ ॥

स तत्र रजनीमेकामुषित्वा मुनिसत्तमः।
मन्दाराणां वने रम्ये दयितः शूलपाणिनः ॥ ४३ ॥
आजगाम पुनः स्वर्गं लब्ध्वानुज्ञां वृषध्वजात्।

भगवान् शूलपाणिके प्रिय-सखा मुनिश्रेष्ठ नारद वहाँ मन्दारोंके उस रमणीय वनमें एक रात रहकर भगवान् शिवसे आज्ञा ले पुनः स्वर्गलोकको लौट आये ॥ ४३½ ॥

मन्दारपुष्पैः सुकृतां मालामाबध्य भारत ॥ ४४ ॥
ग्रथितां सविशेषां तां सर्वगन्धोत्तमोत्तमाम्।

भरतनन्दन ! उन्होंने अपने गलेमें मन्दार-पुष्पोंद्वारा अच्छी तरह बनायी गयी और विशेष कलाके साथ गूँथी गयी माला धारण कर रक्खी थी, जिसकी सुगन्ध सभी श्रेष्ठ सुगन्धोंसे परम उत्तम थी ॥ ४४½ ॥

संतानमाल्यदामाथ तैरेव कुसुमैः कृतम् ॥ ४५ ॥
तच्च कण्ठे समासज्य महागन्धं नराधिप।
आययावन्धको यत्र दुरात्मा बलदर्पितः ॥ ४६ ॥

नरेश्वर ! उन्होंने संतान-मालाकी लड़ियाँ भी गलेमें डाल रक्खी थीं, जो उन्हीं संतान-कुसुमोंसे बनी हुई थीं। उससे भी बड़ी सुगन्ध फैल रही थी। उन मालाओंको धारण करके वे उस स्थानपर आये, जहाँ बलके घमण्डमें भरा हुआ दुरात्मा अन्धकासुर रहता था ॥ ४५-४६ ॥

अन्धकस्त्वथ तं दृष्ट्वा गन्धमाघ्राय चोत्तमम्।
संतानकानां स्रङ्मालां महागन्धां महामुने।
कुत्रायं पुष्पजातिर्वा कमनीया तपोधन ॥ ४७ ॥

अन्धकासुरने नारदजीको देखकर उस उत्तम सुगन्धका अनुभव करके महान् गन्धसे भरी हुई संतान-पुष्पोंकी माला-पर भी दृष्टि डाली और पूछा—'महामुने ! तपोधन ! यह कमनीय पुष्पोंकी जाति कहाँ उपलब्ध होती है ? ॥ ४७ ॥

गन्धान् वर्णाञ्छुभांस्तान् हि भोः पुष्यति मुहुर्मुहुः।
स्वर्गे संतानकुसुमान्यतिवर्तति सर्वथा ॥ ४८ ॥

'अजी ! यह तो बारंबार अपने सुन्दर वर्णों और मनोहर गन्धोंकी पुष्टि कर रही है। स्वर्गमें जो संतानपुष्प उपलब्ध होते हैं, उनसे तो ये पुष्प सर्वथा बढ़-चढ़कर हैं ॥ ४८ ॥

कः प्रभुस्तस्य वृक्षस्य शक्यं चाऽऽनयितुं मुने।
आचक्ष्व यद्यनुग्राह्या वयं ते देवतातिथे ॥ ४९ ॥

'मुने ! देवताओंके अतिथि नारद ! उस वृक्षका स्वामी कौन है ? क्या यह पुष्प वहाँसे लाया जा सकता है ? यदि मैं आपका कृपापात्र होऊँ तो आप मुझे इसका पता बताइये' ४९

तमुवाच मुनिश्रेष्ठः प्रहसन्निव भारत।
आदाय दक्षिणे हस्ते महतस्तपसो निधिः ॥ ५० ॥

भरतनन्दन ! तब महान् तपकी निधि मुनिश्रेष्ठ नारदने अन्धकासुरका दाहिना हाथ पकड़कर हँसते हुए-से कहा—॥५०॥

मन्दरे पर्वतश्रेष्ठे वीर कामगमं वनम्।
तत्र चैवंविधं पुष्पं भोः सृष्टिः शूलपाणिनः ॥ ५१ ॥

'वीर ! पर्वतप्रवर मन्दराचलपर एक इच्छानुसार चलनेवाला वन है। उसीमें इस तरहके फूल हैं। अजी ! वह वन साक्षात् शूलपाणि भगवान् शङ्करकी सृष्टि है ॥ ५१ ॥

न तु तत्र वनं कश्चिद्दृच्छन्देन महात्मनः।
प्रवेष्टुं लभते तद्धि रक्षन्ति प्रवरोत्तमाः ॥ ५२ ॥

'वहाँ उस वनमें महात्मा शिवजीकी इच्छाके बिना कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता; क्योंकि उनके श्रेष्ठ पार्षद उसकी रक्षा करते हैं ॥ ५२ ॥

नानाप्रहरणा घोरा नानावेषा दुरासदाः।
अवध्याः सर्वभूतानां महादेवाभिरक्षिताः ॥ ५३ ॥

'वे नाना प्रकारके वेष धारण किये भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र लिये रहते हैं। उनका स्वरूप बड़ा भयंकर है तथा उनपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। महादेवजीसे सुरक्षित होनेके कारण वे सभी प्राणियोंके लिये अवध्य हैं ॥ ५३ ॥

नित्यं प्रक्रीडते तत्र सोमः सप्रवरो हरः।
मन्दारद्रुमखण्डेषु सर्वात्मा सर्वभावनः ॥ ५४ ॥

'वहाँ मन्दार-वृक्षोंके बगीचोंमें उमासहित सर्वात्मा सर्व-भावन महादेवजी नित्य क्रीड़ा करते और अपने पार्षदोंके साथ रहते हैं ॥ ५४ ॥

तपोविशेषैराराध्य हरं त्रिभुवनेश्वरम्।
शक्यं मन्दारपुष्पाणि प्राप्तुं कश्यपवंशज ॥ ५५ ॥

'कश्यपकुमार ! विशेष तपस्याके द्वारा तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् शिवकी आराधना करके ही ये मन्दारपुष्प प्राप्त किये जा सकते हैं ॥ ५५ ॥

स्त्रीरत्नमणिरत्नानि यानि चान्यानि चाप्यथ ।
काङ्क्षितानि फलन्ति स्म ते द्रुमा हरवल्लभाः ॥ ५६ ॥

'वे सभी वृक्ष भगवान् शङ्करके प्रिय हैं और स्त्रीरत्न, मणिरत्न तथा अन्य जो-जो अभिलषित पदार्थ है, उन सबको वे फलरूपसे प्रस्तुत करते हैं ॥ ५६ ॥

न तत्र सूर्यः सोमोऽथ तपत्यतुलविक्रम ।
स्वयंप्रभं तरुवनं तद् भो दुःखविवर्जितम् ॥ ५७ ॥

'अतुल पराक्रमी दैत्य ! वहाँ मन्दारवनमें न तो सूर्य तपते हैं और न चन्द्रमा ही प्रकाश करते हैं । मन्दार-वृक्षोंसे भरा हुआ वह वन स्वयं अपनी ही प्रभासे प्रकाशित होता है । वहाँ दुःख-शोकका प्रवेश नहीं है ॥ ५७ ॥

तत्र गन्धान् स्रवन्त्यन्ये नीराण्यन्ये महाद्रुमाः ।
वासांसि विविधान्यन्ये सुगन्धीनि महाबल ॥ ५८ ॥

'महाबली अन्धक ! वहाँ कुछ वृक्ष ऐसे हैं, जो उत्तम सुगन्ध उत्पन्न करते हैं, दूसरे विशाल वृक्ष जल प्रकट करते हैं तथा अन्य वृक्ष नाना प्रकारके सुगन्धित वस्त्र प्रदान करते हैं ॥ ५८ ॥

भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च चोष्यं लेह्यं तथैव च ।
तरुभ्यः स्रवते तेभ्यो विविधं मनसेप्सितम् ॥ ५९ ॥

'इतना ही नहीं, उन वृक्षोंसे भाँति-भाँतिके मनोवाञ्छित भक्ष्य, भोज्य, पेय, चोष्य और लेह्य आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं ॥

पिपासा वा बुभुक्षा वा ग्लानिश्चिन्तापि वानघ ।
न मन्दारवने वीर भवतीत्युपधार्यताम् ॥ ६० ॥

'निष्पाप वीर ! तुम यह समझ लो कि उस मन्दारवनमें भूख-प्यास, ग्लानि अथवा चिन्ता भी नहीं फटकने पाती है ६०

न ते वर्णयितुं शक्या गुणा वर्षशतैरपि ।
गुणा ये तत्र वर्द्धन्ते स्वर्गाद् बहुगुणोत्तराः ॥ ६१ ॥
अतीव हि जयेल्लोकान् समहेन्द्रान् न संशयः ।
एकाहमपि यस्तत्र वसेच्च दितिजोत्तम ॥ ६२ ॥

'वहाँ स्वर्गसे कई गुने उत्तम जो गुण दिनोंदिन बढ़ते हैं, उनका सैकड़ों वर्षोंमें भी वर्णन नहीं किया जा सकता । दैत्यप्रवर ! जो वहाँ एक दिन भी निवास कर लेगा, वह महेन्द्रसहित सम्पूर्ण लोकोंपर अतिशय विजय प्राप्त कर लेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ६१-६२ ॥

स्वर्गस्यापि हि तत् स्वर्गं सुखानामपि तत् सुखम् ।
बभूव जगतः सर्वमिति मे धीयते मनः ॥ ६३ ॥

'वह स्वर्गका भी स्वर्ग और समस्त सुखोंका भी सुख है । मेरे मनका तो ऐसा विश्वास है कि वही सम्पूर्ण जगत्‌का सर्वस्व-सार है' ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि अन्धकवधे षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें अन्धकविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

मन्दराचलपर गये हुए अन्धकासुरका महादेवजीद्वारा वध

वैशम्पायन उवाच

अन्धको नारदवचः श्रुत्वा तत्त्वेन भारत ।
मन्दरं पर्वतं गन्तुं मनो दध्रे महासुरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! नारदजीकी बातको ठीकसे सुनकर महान् असुर अन्धकने मन्दराचलपर जानेका विचार किया ॥ १ ॥

सोऽसुरान् सुमहातेजाः समानीय महाबलः ।
जगाम मन्दरं क्रुद्धो महादेवालयं तदा ॥ २ ॥

वह महातेजस्वी, महाबली दैत्य बहुत से असुरोंको एकत्र करके कुपित हो उस समय महादेवजीके निवासस्थान मन्दर-पर्वतपर गया ॥ २ ॥

तं महाभ्रप्रतिच्छन्नं महौषधिसमाकुलम् ।
नानासिद्धसमाकीर्णं महर्षिगणसेवितम् ॥ ३ ॥

वह पर्वत बड़े-बड़े मेघोंसे आच्छादित, महौषधियोंसे सम्पन्न, नाना प्रकारके सिद्धोंसे भरा हुआ और महर्षियोंके समुदायसे सेवित था ॥ ३ ॥

चन्दनागुरुवृक्षाढ्यं सरलद्रुमसंकुलम् ।
किन्नरोद्गीतरम्यं च बहुनागकुलाकुलम् ॥ ४ ॥

वहाँ सब ओर चन्दन और अगुरुके वृक्ष शोभा पाते थे । सरल (चीड़) के वृक्ष सर्वत्र फैले हुए थे । किन्नरोंके उच्चस्वरसे गाये जानेवाले मधुर गीतोंसे उसकी रमणीयता बढ़ गयी थी । वह बहुत-से नागकुलों (हाथियों अथवा सर्पों) से व्याप्त था ॥ ४ ॥

वातोद्धतैर्वनैः फुल्लैर्नृत्यन्तमिव च क्वचित् ।
प्रस्रुतैर्धातुभिश्चित्रैर्विलिप्तमिव च क्वचित् ॥ ५ ॥

कहीं वायुके वेगसे कम्पित हुए प्रफुल्ल काननोंद्वारा वह नृत्य करता-सा जान पड़ता था । कहीं पिघलकर बहे हुए विचित्र धातुओंके कारण वह चन्दन आदिसे चर्चित हुआ-सा प्रतीत होता था ॥ ५ ॥

पक्षिस्वनैः सुमधुरैर्नदन्तमिव च क्वचित् ।
हंसैः शुचिपदैः कीर्णं सम्पतद्भिरितस्ततः ॥ ६ ॥

कहीं पक्षियोंके अत्यन्त मधुर शब्दोंसे वह पर्वत गरजता

या कोलाहल करता-सा जान पड़ता था। पवित्र स्थानोंपर बैठनेवाले हंस वहाँ इधर-उधर उड़ते-फिरते थे; जिनसे सारा पर्वत व्याप्त प्रतीत होता था ॥ ६ ॥

महाबलैश्च महिषैश्चरद्भिर्दैत्यनाशनैः ।
चन्द्रांशुविमलैः सिंहैर्भूषितं हेमसंचयम् ॥ ७ ॥

वहाँ दैत्योंका विनाश करनेमें समर्थ महाबली भैंसे विचरण करते थे । चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल कान्तिवाले सिंह उस पर्वतकी शोभा बढ़ाते थे। वह समस्त शैल सुवर्णकी राशिरूप था ॥ ७ ॥

मृगराजसमाकीर्णं मृगवृन्दनिषेवितम् ।
स मन्दरं गिरिं प्राह रूपिणं बलदर्पितः ॥ ८ ॥

वहाँ बहुत-से मृगराज (सिंह) सब ओर बिखरे हुए थे। झुंड-के-झुंड मृग उस पर्वतका सेवन करते थे। वह मन्दरपर्वत देवतारूपमें मूर्तिमान् होकर अन्धकासुरके सामने प्रकट हुआ। उसे देखकर बलके घमंडमें भरे हुए अन्धकासुरने कहा—॥ ८ ॥

वेत्सि त्वं हि यथावध्यो वरदानादहं पितुः ।
मम चैव वशे सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ९ ॥
प्रतियोद्धुं न मां कश्चिदिच्छत्यपि गिरे भयात् ।
पारिजातवनं चास्ति तव सानौ महागिरे ।
सर्वकामप्रदैः पुष्पैर्भूषितं रत्नमुत्तमम् ॥ १० ॥

'महागिरे ! यह तो तुम जानते ही होगे कि मैं किस प्रकार अपने पिताके वरदानसे सबके लिये अवध्य हूँ। चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकी इस समय मेरे वशमें है। कोई भी भयके कारण मुझसे युद्ध करना नहीं चाहता। मुझे पता लगा है कि तुम्हारे शिखरपर सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले पुष्पोंसे विभूषित एक पारिजात वन है, जो यहाँका उत्तम रत्न है ॥ ९-१० ॥

तदाचक्ष्वोपभोक्ष्यामि तद् वनं तव सानुजम् ।
किं करिष्यसि क्रुद्धस्त्वं मनो हि त्वरते मम ॥ ११ ॥
त्रातारं नानुपश्यामि मया खल्वर्दितस्य ते ।
इत्युक्तो मन्दरस्तेन तत्रैवान्तरधीयत ॥ १२ ॥

'वह कहाँ है, उसे बताओ ! मैं तुम्हारे शिखरपर उत्पन्न हुए उस वनका उपभोग करूँगा। मेरा मन उसमें जानेके लिये उतावला हो उठा है। तुम कुपित होकर मेरा क्या कर लोगे ? मुझे ऐसा कोई पुरुष नहीं दिखायी देता, जो मेरे द्वारा पीड़ित होनेपर तुम्हारी निश्चित रूपसे रक्षा कर सके।' उसके ऐसा कहनेपर मन्दराचलका वह अधिष्ठाता देव वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ ११-१२ ॥

ततोऽन्धकोऽतिकुपितो वरदानेन दर्पितः ।
मुमोच नादं सुमहदिदं वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥
मया वै त्वं याच्यमानो यस्मान्न बहु मन्यसे ।
अहं चूर्णीकरोमि त्वां बलं पर्वत पश्य मे ॥ १४ ॥

तब वरदानसे घमंडमें भरा हुआ अन्धक अत्यन्त रुष्ट हो बड़े जोरसे सिंहनाद करने लगा और इस प्रकार बोला— 'अरे पर्वत ! मेरे याचना करनेपर भी जो तू मुझे अधिक सम्मान नहीं दे रहा है, इससे कुपित होकर मैं तुझे अभी चूर्ण किये देता हूँ। देख ले मेरा बल' ॥ १३-१४ ॥

एवमुक्त्वा गिरेः शृङ्गमुत्पाट्य बहुयोजनम् ।
निष्पिपेष गिरेस्तस्य शृङ्गेष्वन्यत्र वीर्यवान् ॥ १५ ॥
सह तैरसुरैः सर्वैर्वरदानेन दर्पितः ।

ऐसा कहकर वरदानसे दर्पमें भरे हुए उस पराक्रमी दैत्यने उन सब असुरोंके साथ मन्दराचलके एक शिखरको, जो अनेक योजन विस्तृत था, उखाड़ लिया और उसे उसी पर्वतके दूसरे शिखरोंपर पटककर पीस डाला ॥ १५½ ॥

तं प्रच्छन्ननदीजालं मन्यमानं महागिरिम् ॥ १६ ॥
विदित्वा भगवान् रुद्रश्चकारानुग्रहं गिरेः ।

उस महान् पर्वतने अपनी नदियोंके समुदायको भी छिपा लिया। उसकी परिस्थितिको समझकर भगवान् रुद्रने उस पर्वतपर अनुग्रह किया ॥ १६½ ॥

सविशेषतरं वीर मत्तद्विपमृगायुतम् ॥ १७ ॥
नदीजालैर्बहुतरैराचितं चित्रकाननम् ।
नभश्च्युतैः पुरा यद्वत् तद्वदेव विराजते ॥ १८ ॥

वीर ! भगवान्‌के अनुग्रहसे पारिजात आदि विशेषतर वनोंसे युक्त, मतवाले हाथियों और मृगोंसे सम्पन्न तथा आकाशसे गिरे हुए बहुसंख्यक नदीसमूहोंसे व्याप्त वह विचित्र काननोंवाला पर्वत जैसा पहले था, उसी रूपमें प्रकाशित होने लगा ॥ १७-१८ ॥

अथ देवप्रभावेण शृङ्गाण्युत्पाटितानि तु ।
क्षिप्तानि चासुरानेव घ्नन्ति घोराणि भारत ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! उन महादेवजीके प्रभावसे असुरोंद्वारा उखाड़कर फेंके गये उसके घोर शिखर उन असुरोंको ही मार डालते थे ॥

क्षिप्त्वा ये प्रपलायन्ते शृङ्गाणि तु महासुराः ।
शृङ्गैस्तैस्तैः स्म वध्यन्ति पर्वतस्य जनाधिप ॥ २० ॥

जनेश्वर ! जो महान् असुर मन्दराचलके शिखरोंको फेंककर भागते थे, वे उन्हीं शिखरोंद्वारा मारे जाते थे ॥ २० ॥

ये स्वस्थास्त्वसुरास्तत्र तिष्ठन्ति गिरिसानुषु ।
शृङ्गैस्ते न स्म वध्यन्ते मन्दरस्य महागिरेः ॥ २१ ॥

जो असुर वहाँ पर्वत-शिखरोंपर स्वस्थ-भावसे खड़े थे, वे महागिरि मन्दरके उन शिखरोंद्वारा नहीं मारे जाते थे ।२१।

ततोऽन्धकस्तदा दृष्ट्वा सेनां तां मर्दितां तथा ।
कुपितः सुमहानादं नर्दित्वैवं तदाब्रवीत् ॥ २२ ॥

तब अन्धकने अपनी उस सेनाको कुचली गयी देख उस समय रोषपूर्वक महान् सिंहनाद करके इस प्रकार कहा—॥ २२ ॥

आह्वये तं वनं यस्य युद्धार्थमुपतिष्ठतु ।
किं त्वयाचल युद्धेन हताः स्म च्छद्मना रणे ॥ २३ ॥

'अचल ! तेरे साथ युद्ध करनेसे क्या लाभ ? तूने रणभूमिमें दैत्योंको छलसे मारा है। अब मैं उस पुरुषको ललकारता हूँ, जिसका यह वन है। वह युद्धके लिये मेरे सामने उपस्थित हो' ॥ २३ ॥

एवमुक्ते त्वन्धकेन वृषभेण महेश्वरः ।
सम्प्राप्तः शूलमुद्यम्य देवोऽन्धकजिघांसया ॥ २४ ॥

अन्धकासुरके ऐसा कहनेपर उसे मार डालनेकी इच्छासे भगवान् महेश्वरदेव त्रिशूल उठाये अपने वृषभके द्वारा वहाँ आ पहुँचे ॥ २४ ॥

प्रमथानां गणैर्धीमान् वृतो वै बहुलोचनः ।
तथा भूतगणैश्चैव धीमान् भूतगणेश्वरः ॥ २५ ॥

भूतगणोंके स्वामी बुद्धिमान् भगवान् त्रिलोचन प्रमथगणों तथा भूतसमूहोंसे घिरे हुए थे ॥ २५ ॥

प्रचकम्पे ततः कृत्स्नं त्रैलोक्यं रुषिते हरे ।
सिन्धवश्च प्रतिस्रोतमूहुः प्रज्वलितोदकाः ॥ २६ ॥

भगवान् शङ्करके रुष्ट होनेपर सारी त्रिलोकी काँप उठी। नदियाँ अपने प्रवाहके विपरीत उद्गमस्थानकी ओर बहने लगीं। उनका जल खौल उठा ॥ २६ ॥

जग्मुर्दिशोऽग्निदाहाश्च सर्वे ते हरतेजसा ।
युयुधुश्च ग्रहाः सर्वे विपरीता जनाधिप ॥ २७ ॥

जनेश्वर ! महादेवजीके तेजसे सम्पूर्ण दिशाओंमें अग्निदाह फैल गये और समस्त ग्रह विपरीत होकर परस्पर जूझने लगे ।२७।

चेलुश्च गिरयस्तत्र काले कुरुकुलोद्वह ।
प्रववर्षाथ पर्जन्यः सधूमाङ्गारवृष्टयः ॥ २८ ॥

कुरुकुलधुरंधर वीर ! उस समय सारे पर्वत हिलने लगे और उनके ऊपर मेघ धूमयुक्त अङ्गारोंकी वर्षा करने लगे ।२८।

उष्णभाश्चन्द्रमाश्चासीत् सूर्यः शीतप्रभस्तथा ।
न ब्रह्म विविदुस्तत्र मुनयो ब्रह्मवादिनः ॥ २९ ॥

चन्द्रमाकी शीतल किरणें गरम हो गयीं। सूर्यकी प्रभा ठंडी पड़ गयी। ब्रह्मवादी मुनियोंका सारा ब्रह्मज्ञान भूल गया ॥ २९ ॥

वडवाः सुषुवुर्गाश्च गावोऽश्वानपि चानघ ।
पेतुर्वृक्षाश्च मेदिन्यामच्छिन्ना भस्मसात्कृताः ॥ ३० ॥

निष्पाप नरेश्वर ! घोड़ियोंके पेटसे गायके बछड़े पैदा होने लगे और गौएँ घोड़ोंको जन्म देने लगीं। पृथ्वीपर बिना काटे ही बहुत-से वृक्ष भस्म होकर गिर पड़े ॥ ३० ॥

बाधन्ते वृषभा गाश्च गावश्चारुरुहुर्वृषान् ।
राक्षसा यातुधानाश्च पिशाचाश्चापि सर्वशः ॥ ३१ ॥

साँड़ गौओंको सताने लगे। गौएँ भी साँड़ोंपर चढ़ जाती थीं। राक्षस, यातुधान और पिशाच—ये सब-के-सब (प्राणियोंको कष्ट देने लगे) ॥ ३१ ॥

विपरीतं जगद् दृष्ट्वा महादेवस्तथागतम् ।
मुमोच भगवाञ्छूलं प्रदीप्ताग्निसमप्रभम् ॥ ३२ ॥

संसारकी इस प्रकार विपरीत अवस्था देख भगवान् शङ्करने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी अपना त्रिशूल छोड़ा॥

तत् पपात हरोत्सृष्टमन्धकोरसि दुर्धरम् ।
भस्मसाच्चाकरोद् रौद्रमन्धकं साधुकण्टकम् ॥ ३३ ॥

भगवान् शङ्करका छोड़ा हुआ वह दुःसह अस्त्र अन्धकासुरकी छातीपर गिरा। उसने साधुओंके लिये कण्टकरूप भयंकर अन्धकासुरको जलाकर भस्म कर दिया ॥ ३३ ॥

ततो देवगणाः सर्वे मुनयश्च तपोधनाः ।
शंकरं तुष्टुवुश्चैव जगच्छत्रौ निबर्हिते ॥ ३४ ॥

तदनन्तर समस्त देवगण और तपोधन मुनि जगत्के शत्रु अन्धकासुरके मारे जानेपर भगवान् शङ्करकी स्तुति करने लगे ॥ ३४ ॥

देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिः पपात ह ।
त्रैलोक्यं निर्वृतं चासीन्नरेन्द्र विगतज्वरम् ॥ ३५ ॥

नरेन्द्र ! देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं। आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी और तीनों लोकोंके प्राणियोंने निश्चिन्त होकर संतोषकी साँस ली ॥ ३५ ॥

प्रजगुर्देवगन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
जेपुश्च ब्राह्मणा वेदानीजुश्च क्रतुभिस्तदा ॥ ३६ ॥

उस समय देवगन्धर्व गाने और अप्सराएँ नाचने लगीं। ब्राह्मणलोग वेदोंका जप, स्वाध्याय तथा यज्ञोंका अनुष्ठान करने लगे ॥ ३६ ॥

ग्रहाः प्रकृतिमापेदुरूहुर्नद्यो यथा पुरा ।
न जज्वाल जले वह्निराशाः सर्वाः प्रसेदिरे ॥ ३७ ॥

ग्रह स्वाभाविक स्थितिमें आ गये। नदियाँ पहलेके समान बहने लगीं। जलमें आगका जलना बंद हो गया और सारी दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं ॥ ३७ ॥

मन्दरः पर्वतश्रेष्ठः पुनरेव रराज ह ।
श्रिया परमया जुष्टः सर्वतेजःसमुच्छ्रयात् ॥ ३८ ॥

पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचल अपने सम्पूर्ण तेजकी वृद्धि होनेके कारण परम शोभासे सम्पन्न हो पुनः पूर्ववत् प्रकाशित होने लगा॥ ३८ ॥

रेमे सोमश्च भगवान् पारिजातवने हरः ।

सुप्रचारान् सुरान् कृत्वा शक्रादीन् धर्मतः प्रभुः ॥ ३९॥

मखके प्रभु उमासहित भगवान् शङ्कर इन्द्र आदि देवताओंको धर्मतः सर्वत्र घूमने-फिरने योग्य बनाकर पारिजात-वनमें विहार करने लगे ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि अन्धकवधे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें अन्धकवधविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

पिण्डारकतीर्थके अन्तर्गत समुद्रमें श्रीकृष्ण तथा अन्य यादवोंका जलविहार

जनमेजय उवाच

मुनेऽन्धकवधः श्राव्यः श्रुतोऽयं खलु भो मया।
शान्तिस्त्रयाणां लोकानां कृता देवेन धीमता ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—मुने ! अन्धकवधका प्रसंग अवश्य सुनने योग्य है। मैंने उसे अच्छी तरह सुना है। अन्धकासुरका वध करके बुद्धिमान् महादेवजीने तीनों लोकोंमें शान्ति फैला दी ॥ १ ॥

निकुम्भस्य हतं देहं द्वितीयं चक्रपाणिना।
यदर्थं च यथा चैव तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ २ ॥

अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि चक्रपाणि भगवान् श्रीकृष्णने निकुम्भके दूसरे शरीरका किस लिये और किस प्रकार वध किया था। आप उसे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रद्दधानस्य राजेन्द्र वक्तव्यं भवतोऽनघ।
चरितं लोकनाथस्य हरेरमिततेजसः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—निष्पाप राजेन्द्र ! तुम श्रद्धालु हो; इसलिये तुमसे अमित तेजस्वी जगन्नाथ श्रीहरिके चरित्रका वर्णन करना उचित है ॥ ३ ॥

द्वारवत्यां निवसतो विष्णोरतुलतेजसः।
समुद्रयात्रा सम्प्राप्ता तीर्थे पिण्डारके नृप ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! एक समयकी बात है, द्वारकामें रहते समय अतुल तेजस्वी श्रीकृष्णको पिण्डारकतीर्थमें समुद्रयात्राका अवसर प्राप्त हुआ ॥ ४ ॥

उग्रसेनो नरपतिर्वसुदेवश्च भारत।
निक्षिप्तौ नगराध्यक्षौ शेषाः सर्वे विनिर्गताः ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! राजा उग्रसेन तथा वसुदेव—इन दोनोंको नगरका अध्यक्ष बनाकर द्वारकापुरीमें ही छोड़ दिया गया। शेष सब लोग यात्राके लिये निकले ॥ ५ ॥

पृथग्बलः पृथग्धीमाँल्लोकनाथो जनार्दनः।
गोष्ठयः पृथक्कुमाराणां नृदेवामिततेजसाम् ॥ ६ ॥

नरदेव ! बलरामजी अपने परिवारके साथ अलग थे, सम्पूर्ण जगत्के स्वामी बुद्धिमान् भगवान् जनार्दनका दल अलग था तथा अमित तेजस्वी कुमारोंकी मण्डलियाँ भी अलग-अलग थीं ॥ ६ ॥

गणिकानां सहस्राणि निःसृतानि नराधिप।
कुमारैः सह वार्ष्णेयै रूपवद्भिः स्वलंकृतैः ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत तथा रूप-सौन्दर्यसे सम्पन्न वृष्णिवंशी कुमारोंके साथ सहस्रों गणिकाएँ भी यात्राके लिये निकलीं ॥ ७ ॥

दैत्याधिवासं निर्जित्य यदुभिर्दृढविक्रमैः।
वेश्या निवेशिता वीर द्वारवत्यां सहस्रशः ॥ ८ ॥

वीर ! सुदृढ़ पराक्रमी यादव वीरोंने दैत्योंके निवासस्थान समुद्रको जीतकर वहाँ द्वारकापुरीमें सहस्रों वेश्याओंको बसा दिया था ॥ ८ ॥

सामान्यास्ताः कुमाराणां क्रीडानार्यो महात्मनाम्।
इच्छाभोग्या गुणैरेव राजन्या वेषयोषितः ॥ ९ ॥

विविध वेश धारण करनेवाली वे युवतियाँ महामनस्वी यादवकुमारोंके लिये सामान्य क्रीडानारियाँ थीं। वे अपने गुणोंद्वारा सभी कुमारोंकी इच्छाके अनुसार उनके उपभोगमें आनेवाली थीं। राजकुमारोंकी उपभोग्या होनेके कारण वे राजन्या कहलाती थीं ॥ ९ ॥

स्थितिरेषा हि भैमानां कृता कृष्णेन धीमता।
स्त्रीनिमित्तं भवेद् वैरं मा यदूनामिति प्रभो ॥ १० ॥

प्रभो ! बुद्धिमान् श्रीकृष्णने भीमवंशी यादवोंके लिये ऐसी व्यवस्था कर दी थी, जिससे यादवोंमें स्त्रीके कारण परस्पर वैर न हो ॥ १० ॥

रेवत्या चैकया सार्धं बलो रेमेऽनुकूलया।
चक्रवाकानुरागेण यदुश्रेष्ठः प्रतापवान् ॥ ११ ॥

प्रतापी यदुश्रेष्ठ बलरामजी सदा अपने अनुकूल रहनेवाली एकमात्र रेवती देवीके साथ चकवा-चकवीके समान परस्पर अनुरागपूर्वक रमण करते थे ॥ ११ ॥

कादम्बरीपानकलो भूषितो वनमालया।
चिक्रीड सागरजले रेवत्या सहितो बलः ॥ १२ ॥

वे कादम्बरी (मधु) का पान करके मस्त रहते थे। वनमालासे विभूषित हुए बलराम वहाँ रेवतीके साथ समुद्र-जलमें क्रीडा करने लगे ॥ १२ ॥

षोडश स्त्रीसहस्राणि जले जलजलोचनः।
रमयामास गोविन्दो विश्वरूपेण सर्वदृक्॥ १३॥

सबके द्रष्टा कमलनयन गोविन्द सर्वरूपसे अर्थात् जितनी स्त्रियाँ थीं, उतने ही रूप धारण करके जलमें अपनी सोलह हजार स्त्रियोंको रमाते थे॥ १३॥

अहमिष्टा मया सार्द्धं जले वसति केशवः।
इति ता मेनिरे सर्वा रात्रौ नारायणस्त्रियः॥ १४॥

उस रातमें नारायणस्वरूप श्रीकृष्णकी वे सारी रानियाँ यही मानती थीं कि मैं ही इन्हें अधिक प्रिय हूँ; अतः केशव मेरे ही साथ जलमें विहार कर रहे हैं॥ १४॥

सर्वाः सुरतचिह्नाङ्ग्यः सर्वाः सुरततर्पिताः।
मानमूहुश्च ताः सर्वा गोविन्दे बहुमानजम्॥ १५॥

सभीके अङ्गोंमें सुरतके चिह्न थे। सभी सुरत-सुखका अनुभव करके तृप्त हो गयी थीं; अतः वे सब-की-सब गोविन्दके प्रति बहुमानजनित सम्मानका भाव धारण करती थीं॥१५॥

अहमिष्टाहमिष्टेति स्निग्धे परिजने तदा।
नारायणस्त्रियः सर्वा मुदा शश्लाघिरे शुभाः॥ १६॥

श्रीकृष्णकी वे सभी सुन्दरी रानियाँ अपने स्नेही परिजनों-के समीप प्रसन्नतापूर्वक अपने भाग्यकी सराहना करती हुई कहती थीं कि मैं ही अपने प्राणनाथको अधिक प्रिय हूँ। मैं ही उन्हें अधिक प्यारी हूँ॥ १६॥

करजद्विजचिह्नानि कुचाधरगतानि ताः।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा जहृषिरे दर्पणे कमलेक्षणाः॥ १७॥

वे कमलनयनी सुन्दरियाँ दर्पणमें अपने कुचोंपर श्रीकृष्ण-के नखक्षत और अधरोंपर दन्तक्षतके चिह्न देख-देखकर हर्षमें भर जाती थीं॥ १७॥

गोत्रमुद्दिश्य कृष्णस्य जगिरे कृष्णयोषितः।
पिबन्त्य इव कृष्णस्य नयनैर्वदनाम्बुजम्॥ १८॥

श्रीकृष्णकी वे सुन्दरी पत्नियाँ उनके नाम ले-लेकर गीत गातीं और अपने नेत्रपुटोंसे उनके मुखारविन्दका रस पान करती थीं॥ १८॥

कृष्णार्पितमनोदृष्ट्यः कान्ता नारायणस्त्रियः।
मनोहरतरा राजन्नभवन्नेकनिश्चयाः॥ १९॥

राजन्! उनके मन और नेत्र श्रीकृष्णमें ही लगे रहते थे। नारायणकी वे कमनीय भार्याएँ अत्यन्त मनोहारिणी और एक निश्चयपर अटल रहनेवाली थीं॥ १९॥

एकार्पितमनोदृष्ट्यो नेर्ष्यां ताश्चक्रिरेऽङ्गनाः।
नारायणेन देवेन तर्प्यमाणमनोरथाः॥ २०॥

नारायणदेव उनके सारे मनोरथ पूर्ण करके उन्हें तृप्त रखते थे; अतः वे अङ्गनाएँ एकको ही अपना हृदय और दृष्टि अर्पित करके भी आपसमें कभी ईर्ष्या नहीं करती थीं॥ २०॥

शिरांसि गर्वितान्यूहुः सर्वा निरवशेषतः।
वाल्लभ्यं केशवमयं वहन्त्यश्चारुदर्शनाः॥ २१॥

वे सारी-की-सारी मनोहर दृष्टिवाली (अथवा मनोहर दिखायी देनेवाली) सुन्दरियाँ केशवकी वल्लभा होनेका अथवा केशवको प्राणवल्लभके रूपमें प्राप्त करनेका सौभाग्य वहन करती हुई अपने सिरको बड़े गर्वसे ऊँचा किये रहती थीं॥ २१॥

ताभिस्तु सह चिक्रीड सर्वाभिर्हरिरात्मवान्।
विश्वरूपेण विधिना समुद्रे विमले जले॥ २२॥

अपने मनको वशमें रखनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण समुद्रके निर्मल जलमें पूर्वोक्त विश्वरूप विधिसे उन सबके साथ क्रीड़ा करते थे॥ २२॥

उवाह सर्वगन्धाढ्यं स्वच्छं वारि महोदधिः।
तोयं विलवणं मृष्टं वासुदेवस्य शासनात्॥ २३॥

भगवान् वासुदेवके शासनसे उस समय महासागर समस्त सुगन्धोंसे युक्त, स्वच्छ, लवणरहित और शुद्ध स्वादिष्ट जल धारण करता था॥ २३॥

गुल्फदघ्नं जानुदघ्नमूरुदघ्नमथापि वा।
नार्यस्ताः स्तनदघ्नं वा जलं समभिकाङ्क्षितम्॥ २४॥
सिषिचुः केशवं पत्न्यो धारा इव महोदधिम्।
सिषेच ताश्च गोविन्दो मेघः फुल्लता इव॥ २५॥

समुद्रका वह जल कहीं घुट्ठीभर था तो कहीं घुटनोंतक, कहीं जाँघोंतक था तो कहीं स्तनोंतक। उन नारियोंको इतना ही जल अभीष्ट था। श्रीकृष्णकी वे रानियाँ उनपर सब ओरसे जल उलीचने लगीं, जैसे नदियोंकी अनेक धाराएँ महा-सागरको सींचती हैं। भगवान् गोविन्द भी उनपर जल छिड़कने लगे, मानो मेघ खिली हुई लताओंपर जल बरसा रहा हो॥ २४-२५॥

अवलम्ब्य पराः कण्ठे हरिं हरिणलोचनाः।
उपगूहस्व मां वीर पतामीत्यब्रुवन् स्त्रियः॥ २६॥

कितनी ही मृगनयनी नारियाँ श्रीहरिके कण्ठमें अपनी बाँहें डालकर कहने लगीं—'वीर! मुझे हृदयसे लगा लो, अपनी भुजाओंमें कस लो; अन्यथा मैं जलमें गिरी जाती हूँ' ॥ २६ ॥

काश्चित् काष्ठमयैस्तेरुः प्लवैः सर्वाङ्गशोभनाः।
क्रौञ्चबर्हिणनागानामाकारसदृशैः स्त्रियः ॥ २७ ॥

कितनी ही सर्वाङ्गसुन्दरी स्त्रियाँ क्रौञ्च, मोर तथा नागोंके आकारमें बनी हुई काठकी नौकाओंद्वारा जलपर तैरने लगीं ॥ २७ ॥

मकराकृतिभिश्चान्या मीनाभैरपि चापराः।
बहुरूपाकृतिधरैः पुप्लुवुश्चापराः स्त्रियः ॥ २८ ॥
स्तनकुम्भैस्तथा तेरुः कुम्भैरिव तथापराः।
समुद्रसलिले रम्ये हर्षयन्त्यो जनार्दनम् ॥ २९ ॥

दूसरी-दूसरी स्त्रियाँ मगर, मत्स्य तथा अन्यान्य विविध प्राणियोंकी आकृति धारण करनेवाली नौकाओंद्वारा तैरने लगीं। कितनी ही रानियाँ समुद्रके रमणीय जलमें श्रीकृष्णको हर्ष प्रदान करती हुई घटोंके समान अपने स्तनकुम्भोंद्वारा तैर रही थीं ॥ २८-२९ ॥

रराम सह रुक्मिण्या जले तस्मिन् मुदा युतः।
येनैव कार्ययोगेन रमतेऽमरसत्तमः ॥ ३० ॥
तत् तदेव हि ताश्चक्रुर्मुदा नारायणस्त्रियः।

अमरशिरोमणि श्रीकृष्ण उस जलमें आनन्दपूर्वक महारानी रुक्मिणीके साथ रमण करते थे। वे जिस-जिस कार्य या उपायसे आनन्द मानते, उनकी वे सुन्दरी स्त्रियाँ प्रशंसापूर्वक वही-वही कार्य या उपाय करती थीं ॥ ३०½ ॥

तनुवस्त्रावृतास्तन्व्यो लीलयन्त्यस्तथापराः।
चिक्रीडुर्वासुदेवस्य जले जलजलोचनाः ॥ ३१ ॥

महीन वस्त्रोंसे ढकी हुई दूसरी तन्वङ्गी एवं कमलनयनी स्त्रियाँ भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करती हुई जलमें भगवान् श्रीकृष्णके साथ क्रीड़ा करती थीं ॥ ३१ ॥

यस्या यस्यास्तु यो भावस्तां तां तेनैव केशवः।
अनुप्रविश्य भावज्ञो निनायात्मवशं वशी ॥ ३२ ॥

जिस-जिस रानीके मनमें जो-जो भाव था, सबके भावोंको जानने और मनको वशमें रखनेवाले श्रीकृष्ण उसी-उसी भावसे उस स्त्रीके अन्तरमें प्रवेश करके उसे अपने वशमें कर लेते थे ॥ ३२ ॥

हृषीकेशोऽपि भगवान् हृषीकेशः सनातनः।
बभूव देशकालेन कान्तावशगतः प्रभुः ॥ ३३ ॥

इन्द्रियोंके प्रेरक और सबके स्वामी होकर भी सनातन भगवान् हृषीकेश देश-कालके अनुसार अपनी प्रेयसी पत्नियोंके वशमें हो गये थे ॥ ३३ ॥

कुलशीलसमोऽस्माकं योग्योऽयमिति मेनिरे।
वंशरूपेण वर्तन्तमङ्गनास्ता जनार्दनम् ॥ ३४ ॥

वे समस्त वनिताएँ अपने कुलके अनुरूप बर्ताव करनेवाले जनार्दनको ऐसा समझती थीं कि ये कुल और शीलमें समान होनेके कारण हमारे ही योग्य हैं ॥ ३४ ॥

तदा दाक्षिण्ययुक्तं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम्।
कृष्णं भार्याश्चकमिरे भक्त्या च बहु मेनिरे ॥ ३५ ॥

मुसकराकर बात करनेवाले तथा औदार्य-गुणसे सम्पन्न उन प्राणवल्लभ श्रीकृष्णको उस समय उनकी वे पत्नियाँ हृदयसे चाहने लगीं तथा भक्ति एवं अनुरागके कारण उनका बहुत सम्मान करने लगीं ॥ ३५ ॥

पृथग्गोष्ठ्यः कुमाराणां प्रकाशं स्त्रीगणैः सह।
अलंचक्रुर्जलं वीराः सागरस्य गुणाकराः ॥ ३६ ॥

यादवकुमारोंकी गोष्ठियाँ अलग थीं। वे वीर यादवकुमार उत्तम गुणोंकी खान थे और प्रकाशरूपसे स्त्रीसमुदायोंके साथ समुद्रके जलकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ३६ ॥

गीतनृत्यविधिज्ञानां तासां स्त्रीणां जनेश्वर।
तेजसाप्याहृतानां ते दाक्षिण्यात् तस्थिरे वशे ॥ ३७ ॥

जनेश्वर! वे स्त्रियाँ गीत और नृत्यकी क्रियाको जाननेवाली थीं तथा उन कुमारोंके तेजसे स्वयं ही उनकी ओर आकृष्ट हुई थीं तो भी वे कुमार उदारताके कारण उनके वशमें स्थित थे ॥ ३७ ॥

शृण्वन्तश्चारुगीतानि तथा स्वभिनयान्यपि।
तूर्याण्युत्तमनारीणां मुमुहुर्यदुपुङ्गवाः ॥ ३८ ॥

उन उत्तम नारियोंके मनोहर गीत और वाद्य सुनते तथा उनके सुन्दर अभिनय देखते हुए वे यदुपुङ्गववीर उनपर लट्टू हो रहे थे ॥ ३८ ॥

पञ्चचूडां ततः कृष्णः कौबेर्यश्च वराप्सराः।
माहेन्द्रीश्चानयामास विश्वरूपेण हेतुना ॥ ३९ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णने विश्वरूप होनेके कारण स्वयं ही प्रेरणा देकर पञ्चचूड़ा नामवाली अप्सराको तथा कुबेरभवन

और इन्द्रभवनकी भी सुन्दरी अप्सराओंको वहाँ बुला मँगाया ॥ ३९ ॥

ताः प्रोवाचाप्रमेयात्मा सान्त्वयित्वा जगत्प्रभुः।
उत्थापयित्वा प्रणताः कृताञ्जलिपुटास्तथा ॥ ४० ॥

अप्रमेयस्वरूप जगदीश्वर श्रीकृष्णने हाथ जोड़कर चरणोंमें पड़ी हुई उन अप्सराओंको उठाया और सान्त्वना देकर कहा—॥ ४० ॥

क्रीडायुवत्यो भैमानां प्रविशध्वमशङ्किताः।
मत्प्रियार्थं वरारोहा रमयध्वं च यादवान् ॥ ४१ ॥

'सुन्दरियो ! तुम निःशङ्क होकर भीमवंशी यादवकुमारोंकी क्रीडायुवतियोंमें प्रविष्ट हो जाओ और मेरा प्रिय करनेके लिये इन यादवोंको सुख पहुँचाओ ॥ ४१ ॥

दर्शयध्वं गुणान् सर्वान् नृत्यगीते रहःसु च।
तथाभिनययोगेषु वाद्येषु विविधेषु च ॥ ४२ ॥

'नाच, गान, एकान्त-परिचर्या, अभिनय-योग तथा नाना प्रकारके बाजे बजानेकी कलामें तुमलोगोंके पास जितने गुण हों, उन सबको दिखाओ ॥ ४२ ॥

एवं कृते विधास्यामि श्रेयो वो मनसेप्सितम्।
मच्छरीरसमा ह्येते सर्वे निरवशेषतः ॥ ४३ ॥

'ऐसा करनेपर मैं तुम्हें मनोवाञ्छित कल्याण प्रदान करूँगा; क्योंकि ये सब-के-सब यादव मेरे शरीरके ही समान हैं' ॥ ४३ ॥

शिरसाज्ञां तु ताः सर्वाः प्रतिगृह्य हरेस्तदा।
क्रीडायुवत्यो विविशुर्भैमानामप्सरोवराः ॥ ४४ ॥

उस समय श्रीहरिकी उस आज्ञाको शिरोधार्य करके वे सब श्रेष्ठ अप्सराएँ यादवकुमारोंकी क्रीडा-युवतियोंमें सम्मिलित हो गयीं ॥ ४४ ॥

ताभिः प्रविष्टमात्राभिर्द्योतितः स महार्णवः।
सौदामिनीभिर्नभसि घनवृन्दमिवानघ ॥ ४५ ॥

निष्पाप नरेश ! उनके प्रवेश करते ही वह महासागर दिव्य प्रभासे उद्दीप्त हो उठा। ठीक उसी तरह, जैसे आकाशमें मेघोंका समुदाय बिजलियोंके चमकनेसे प्रकाशित हो उठता है ॥ ४५ ॥

ता जले स्थलवत् स्थित्वा जगुश्चाप्यथ वादयन्।
चक्रुश्चाभिनयं सम्यक्स्वर्गावास इवाङ्गनाः ॥ ४६ ॥

वे दिव्य अङ्गनाएँ जलमें भी स्थलकी ही भाँति खड़ी हो स्वर्गलोककी ही भाँति गीत गाने, बाजे बजाने तथा सुन्दर अभिनय करने लगीं ॥ ४६ ॥

गन्धैर्माल्यैश्च ता दिव्यैर्वस्त्रैश्चायतलोचनाः।
हेलाभिर्हास्यभावैश्च जहुर्भैममनांसि ताः ॥ ४७ ॥

वे विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरियाँ दिव्य गन्ध, माल्य तथा वस्त्रोंसे सुशोभित हो अपनी विविध लीलाओं तथा हास्ययुक्त हाव-भावोंसे यादवकुमारोंके चित्त चुराने लगीं ॥ ४७ ॥

कटाक्षैरिङ्गितैर्हास्यैः केलिरोषैः प्रसादितैः।
मनोऽनुकूलैर्भैमानां समाजह्रुर्मनांसि ताः ॥ ४८ ॥

कटाक्षों, संकेतों, हास्यों, क्रीडाजनित रोषों तथा प्रसन्नता-सूचक मनोऽनुकूल भावोंके द्वारा वे भीमवंशियोंके मन मोहने लगीं ॥ ४८ ॥

उत्क्षिप्योत्क्षिप्य चाकाशं वातस्कन्धान् वहंश्च तान्।
मदिरावशगा भैमा मानयन्ति वराप्सराः ॥ ४९ ॥

वे अप्सराएँ उन यादवकुमारोंको ऊपर-ऊपर आकाशमें प्रवह आदि वायुके मार्गोंमें ले जाकर उनके साथ विहार करती थीं, अतः वे मदमत्त हुए भीमवंशीकुमार उन सुन्दरी अप्सराओंका बड़ा सम्मान करते थे ॥ ४९ ॥

कृष्णोऽपि तेषां प्रीत्यर्थं विजह्रे वियति प्रभुः।
सर्वैः षोडशभिः सार्द्धं स्त्रीसहस्रैर्मुदान्वितः ॥ ५० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण भी उन यादवोंकी प्रसन्नताके लिये आकाशमें स्थित हो अपनी सोलह हजार स्त्रियोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक विहार करते थे ॥ ५० ॥

प्रभावज्ञास्तु ते वीराः कृष्णस्यामिततेजसः।
न जग्मुर्विस्मयं भैमा गाम्भीर्यं परमास्थिताः ॥ ५१ ॥

वे वीर यादव अमित तेजस्वी श्रीकृष्णका प्रभाव जानते थे; अतः आकाशमें क्रीडा करनेके कारण उन्हें कोई आश्चर्य नहीं हुआ। वे उस दशामें भी अत्यन्त गम्भीर बने रहे ॥ ५१ ॥

केचिद् रैवतकं गत्वा पुनरायान्ति भारत।
गृहान्यन्ये वनान्यन्ये काङ्क्षितान्यरिमर्दन ॥ ५२ ॥

शत्रुमर्दन ! भरतनन्दन ! कुछ यादव रैवतक पर्वतपर जाकर फिर लौट आते थे। दूसरे घरोंमें जाकर आ जाते तथा अन्य लोग अभिलषित वनोंमें घूम फिरकर लौटते थे ॥ ५२ ॥

अपेयः पेयसलिलः सागरश्चाभवत् तदा।
आज्ञया लोकनाथस्य विष्णोरतुलतेजसः ॥ ५३ ॥

उस समय अतुल-तेजस्वी लोकनाथ भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण) की आज्ञासे अपेय समुद्रका जल भी पीनेयोग्य हो गया था ॥ ५३ ॥

अधावन् स्थलवच्चापि जले जलजलोचनाः ।
गृह्य हस्ते तथा नार्यो युक्तामज्जंस्तथापि च ॥ ५४ ॥

वे कमलनयनी नारियाँ जब इच्छा होती, तब जलमें भी स्थलकी भाँति दौड़ती थीं और जब चाहतीं परस्पर हाथ पकड़कर एक साथ ही गोता लगा लेती थीं ॥ ५४ ॥

भक्ष्यभोज्यानि पेयानि चोष्यं लेह्यं तथैव च ।
वहुप्रकारं मनसा ध्याते तेषां भवत्युत ॥ ५५ ॥

यादवोंके मनसे चिन्तन करते ही उनके लिये नाना प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, पेय, चोष्य और लेह्य पदार्थ प्रस्तुत हो जाते थे ॥ ५५ ॥

अम्लानमाल्यधारिण्यस्ताः स्त्रियस्ताननिन्दितान् ।
रहःसु रमयांचक्रुः स्वर्गे देवरतानुगाः ॥ ५६ ॥

जो कभी कुम्हलाती नहीं थी, ऐसी माला धारण करनेवाली वे दिव्य अप्सराएँ स्वर्गमें देवताओंके साथ की गयी रतिक्रीडाका अनुसरण करती हुई उन श्रेष्ठ यादवकुमारोंको एकान्तमें रमणका अवसर देती थीं ॥ ५६ ॥

नौभिर्गृहप्रकाराभिश्चिक्रीडुरपराजिताः ।
स्नातानुलिप्तमुदिताः सायाह्नेऽन्धकवृष्णयः ॥ ५७ ॥

किसीसे पराजित न होनेवाले अन्धक और वृष्णिवंशके वीर सायंकालमें स्नानके पश्चात् अनुलेपन धारण करके आनन्दमग्न हो गृहाकार बनी हुई नौकाओंद्वारा क्रीडा करने लगे ॥ ५७ ॥

आयताश्चतुरस्राश्च वृत्ताश्च स्वस्तिकास्तथा ।
प्रासादा नौषु कौरव्य विहिता विश्वकर्मणा ॥ ५८ ॥

कुरुनन्दन ! विश्वकर्माने नौकाओंमें अनेक प्रकारके महल बनाये थे, जिनमेंसे कुछ लंबे थे और कुछ चौकोर। कुछ गोलाकार थे और कुछ स्वस्तिकाकार ॥ ५८ ॥

कैलासमन्दरच्छन्दा मेरुच्छन्दास्तथैव च ।
तथा नानावयश्छन्दास्तथेहामृगरूपिणः ॥ ५९ ॥

वे महल कैलास, मन्दराचल और मेरुपर्वतकी भाँति इच्छानुसार रूप धारण कर लेते थे। कई नाना प्रकारके पक्षियों और ईहामृगों (भेड़ियों) के समान रूप धारण करनेवाले थे ॥ ५९ ॥

वैडूर्यतोरणैश्चित्राश्चित्राभिर्मणिभक्तिभिः ।
मसारगल्वर्कमयैश्चित्रभक्तिशतैरपि ॥ ६० ॥

उनमें वैदूर्यमणिके तोरण लगे थे, जिनसे उन महलोंकी विचित्र शोभा होती थी। वे विचित्र मणिमय शय्याओंसे सुसज्जित थे। मरकत, चन्द्रकान्त और सूर्यकान्तमणिमय विचित्र रागोंसे वे रंजित थे तथा नाना प्रकारके सैकड़ों आस्तरण (बिस्तर) उनकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ६० ॥

आक्रीडगरुडच्छन्दाश्चित्राः कनकरीतिभिः ।
क्रौञ्चच्छन्दाः शुकच्छन्दा गजच्छन्दास्तथापरे ॥ ६१ ॥

खेलके लिये बनाये गये गरुड़के समान भी उन भवनोंकी आकृति थी। वे विचित्र भवन सुवर्णकी धाराओंसे शोभा पाते थे। कोई क्रौञ्चके समान, कोई तोतेके तुल्य और कितने ही भवन हाथियोंकी-सी आकृति धारण करते थे ॥ ६१ ॥

कर्णधारैर्गृहीतास्ता नावः कार्तस्वरोज्ज्वलाः ।
सलिलं शोभयामासुः सागरस्य महोर्मिमत् ॥ ६२ ॥

सुवर्णसे प्रकाशित होनेवाली वे नौकाएँ कर्णधारोंके नियन्त्रणमें रहकर उत्ताल तरंगोंसे युक्त सागरकी जलराशिको सुशोभित कर रही थीं ॥ ६२ ॥

समुच्छ्रितः सितैः पोतैर्यानपात्रैस्तथैव च ।
नौभिश्च क्षिल्लिकाभिश्च शुशुभे वरुणालयः ॥ ६३ ॥

सफेद जलपोतों, यात्रोपयोगी बड़ी-बड़ी नावों, वेगवती नौकाओं और महल आदिसे युक्त विशाल जहाजोंसे उस वरुणालय (समुद्र) की बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ६३ ॥

पुराण्याकाशगानीव गन्धर्वाणामितस्ततः ।
बभ्रमुः सागरजले भैमयानानि सर्वतः ॥ ६४ ॥

यादवोंके वे जलयान समुद्रके जलमें सब ओर चक्कर लगा रहे थे। वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो गन्धर्वोंके नगर आकाशमें विचर रहे हों ॥ ६४ ॥

नन्दनच्छन्दयुक्तेषु यानपात्रेषु भारत ।
नन्दनप्रतिमं सर्वं विहितं विश्वकर्मणा ॥ ६५ ॥

भारत ! नन्दनवनकी आकृति और समृद्धियोंसे युक्त यानपात्रोंमें विश्वकर्माने सब कुछ नन्दन-जैसा ही बना दिया था ॥ ६५ ॥

उद्यानानि सभावृक्षा दीर्घिकाः स्यन्दनानि च ।
निवेशितानि शिल्पानि तादृशान्येव सर्वथा ॥ ६६ ॥

उद्यान, सभा, वृक्ष, झील और झरने (या फौवारे)

आदि शिल्प सर्वथा वैसे ही उनमें समाविष्ट किये गये थे ॥ ६६ ॥

स्वर्गच्छन्देषु चान्येषु समासात् स्वर्गसंनिभाः।
नारायणाज्ञया वीर विहिता विश्वकर्मणा ॥ ६७॥

वीर ! स्वर्ग-जैसे बने हुए दूसरे जलयानोंमें विश्वकर्माने भगवान् नारायणकी आज्ञासे स्वर्गकी-सी सारी वस्तुएँ संक्षेपसे रच दी थीं ॥ ६७ ॥

वनेषु रुरुवुर्हृद्यं मधुरं चैव पक्षिणः।
मनोहरतरं चैव भैमानामतितेजसाम् ॥ ६८॥

वहाँके वनोंमें पक्षी हृदयको प्रिय लगनेवाली मधुर बोली बोलते थे। उनकी वह बोली उन अत्यन्त तेजस्वी यादवोंको बहुत ही मनोहर प्रतीत होती थी ॥ ६८ ॥

देवलोकोद्भवाः श्वेता विलेपुः कोकिलास्तदा।
मधुराणि विचित्राणि यदूनां काङ्क्षितानि च ॥ ६९॥

देवलोकमें उत्पन्न हुए सफेद कोकिल उस समय यादव-वीरोंकी इच्छाके अनुसार विचित्र एवं मधुर आलाप छेड़ रहे थे ॥ ६९ ॥

चन्द्रांशुसमरूपेषु हर्म्यपृष्ठेषु बर्हिणः।
ननृतुर्मधुरारावाः शिखण्डिगणसंवृताः ॥ ७० ॥

चन्द्रमाकी किरणोंके समान रूपवाली श्वेत अट्टालिकाओंपर मीठी बोली बोलनेवाले मोर दूसरे मोरोंसे घिरकर नृत्य करते थे ॥ ७० ॥

पताका यानपात्राणां सर्वाः पक्षिगणायुताः।
भ्रमरैरुपगीताश्च स्रग्दामासक्तवासिभिः ॥ ७१ ॥

विशाल जलयानोंपर लगी हुई सारी पताकाओंपर पक्षियोंके समुदाय बैठे थे। उनमें जो पुष्पमालाओंकी लड़ियाँ बँधी थीं, उनपर आसक्त होकर रहनेवाले भ्रमर वहाँ गुञ्जारव फैला रहे थे ॥ ७१ ॥

नारायणाज्ञया वृक्षाः पुष्पाणि मुमुचुर्भृशम्।
ऋतवश्चारुरूपाणि विहायसि गतास्तथा ॥ ७२ ॥

नारायण (श्रीकृष्ण) की आज्ञासे वृक्ष तथा ऋतुएँ आकाशमें स्थित हो मनोहर रूपवाले पुष्पोंकी अधिक वर्षा करने लगीं ॥ ७२ ॥

ववौ मनोहरो वातो रतिखेदहरः सुखः।
रजोभिः सर्वपुष्पाणां पृक्तश्चन्दनशैत्यभृत् ॥ ७३ ॥

रतिजनित खेद अथवा श्रमको हर लेनेवाली मनोहर एवं सुखदायिनी हवा चलने लगी, जो सब प्रकारके फूलोंके परागसे संयुक्त तथा चन्दनकी शीतलताको धारण करनेवाली थी ॥ ७३ ॥

शीतोष्णमिच्छतां तत्र बभूव वसुधापते।
वासुदेवप्रसादेन भैमानां क्रीडतां तदा ॥ ७४ ॥

पृथ्वीपते ! क्रीड़ामें तत्पर होकर सर्दी-गर्मीकी इच्छा रखनेवाले यादवोंको उस समय वहाँ भगवान् वासुदेवकी कृपासे वह सब उनकी रुचिके अनुकूल प्राप्त होती थी ॥ ७४ ॥

न क्षुत्पिपासा न ग्लानिर्न चिन्ता शोक एव च।
आविवेश तदा भैमान् प्रभावाच्चक्रपाणिनः ॥ ७५ ॥

भगवान् चक्रपाणिके प्रभावसे उस समय उन भीम-वंशियोंके भीतर न तो भूख-प्यास, न ग्लानि, न चिन्ता और न शोकका ही प्रवेश होता था ॥ ७५ ॥

अप्रशान्तमहातूर्या गीतनृत्योपशोभिताः।
बभूवुः सागरक्रीडा भैमानामतितेजसाम् ॥ ७६ ॥

अत्यन्त तेजस्वी यादवोंकी समुद्रके जलमें होनेवाली वे क्रीड़ाएँ निरन्तर चल रही थीं। उनमें बड़े-बड़े बाजोंकी ध्वनि शान्त नहीं होती थी तथा गीत और नृत्य उनकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ७६ ॥

बहुयोजनविस्तीर्णं समुद्रं सलिलाशयम्।
रुद्ध्वा चिक्रीडुरिन्द्राभा भैमाः कृष्णाभिरक्षिताः ॥ ७७ ॥

श्रीकृष्णद्वारा सुरक्षित वे इन्द्रतुल्य तेजस्वी यादव अनेक योजन विस्तृत समुद्रके जलाशयको रोककर क्रीड़ा कर रहे थे ॥ ७७ ॥

परिच्छदस्यानुरूपं यानपात्रं महात्मनः।
नारायणस्य देवस्य विहितं विश्वकर्मणा ॥ ७८ ॥

विश्वकर्माने महात्मा भगवान् नारायणदेवके लिये उनके विशाल परिवार (सोलह हजार रानियोंके समुदाय) के अनुरूप ही जहाज बना रक्खा था ॥ ७८ ॥

रत्नानि यानि त्रैलोक्ये विशिष्टानि विशाम्पते।
कृष्णस्य तानि सर्वाणि यानपात्रेऽतितेजसः ॥ ७९ ॥

प्रजानाथ ! तीनों लोकोंमें जो विशिष्ट रत्न थे, वे सभी अत्यन्त तेजस्वी श्रीकृष्णके उस यानपात्रमें लगे थे ॥ ७९ ॥

पृथक्पृथङ्निवासाश्च स्त्रीणां कृष्णस्य भारत।
मणिवैडूर्यचित्रास्ताः कार्तस्वरविभूषिताः ॥ ८० ॥

भारत ! श्रीकृष्णकी स्त्रियोंके लिये उसमें पृथक्-पृथक्

निवासस्थान बने थे, जो मणि और वैदूर्यसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभासे सम्पन्न तथा सुवर्णसे विभूषित थे ॥८०॥

सर्वर्तुकुसुमाकीर्णाः सर्वगन्धाधिवासिताः ।
यदुसिंहैः शुभैर्जुष्टाः शकुनैः स्वर्गवासिभिः ॥ ८१ ॥

उन गृहोंमें सभी ऋतुओंमें खिलनेवाले फूल लगाये गये थे । वहाँ सभी तरहके उत्तम सुगन्ध फैलकर उन भवनोंको सुवासित कर रहे थे । श्रेष्ठ यादव वीर तथा स्वर्गवासी पक्षी उन निवासस्थानोंका सेवन करते थे ॥ ८१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि भानुमतीहरणे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें भानुमतीहरणविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

बलराम और श्रीकृष्ण आदि यादवोंकी जलक्रीड़ा एवं गान आदिका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

रेमे बलश्चन्दनपङ्कदिग्धः
कादम्बरीपानकलः पृथुश्रीः ।
रक्तेक्षणो रेवतिमाश्रयित्वा
प्रलम्बबाहुर्ललितप्रयातः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बलरामजी अपने अङ्गोंमें चन्दनसे चर्चित थे । मधु पीकर वे बड़े मनोहर लग रहे थे । उनकी शोभा बहुत बढ़ी हुई थी । नेत्र कुछ-कुछ लाल थे तथा भुजाएँ बहुत बड़ी थीं । वे रेवती देवीका सहारा लेकर सुललित गतिसे चल रहे थे ॥१॥

नीलाम्बुदाभे वसने वसान-
श्चन्द्रांशुगौरो मदिराविलाक्षः ।
रराज रामोऽम्बुदमध्यमेत्य
सम्पूर्णबिम्बो भगवानिवेन्दुः ॥ २ ॥

उन्होंने श्याम मेघके समान कान्तिवाले दो नील वस्त्र धारण कर रक्खे थे । उनकी अङ्गकान्ति चन्द्रमाकी किरणोंके समान गौर थी और मधुमाती आँखें अलसायी-सी जान पड़ती थीं । समुद्रके बीचमें आकर भगवान् बलरामजी सम्पूर्ण बिम्बवाले चन्द्रमाके समान शोभा पा रहे थे ॥ २ ॥

वामैककर्णामलकुण्डलश्रीः
स्मेरं मनोज्ञाब्जकृतावतंसः ।
तिर्यक्कटाक्षं प्रियया मुमोद
रामः सुखं चार्वभिवीक्ष्यमाणः ॥ ३ ॥

उनके एकमात्र बायें कानमें निर्मल कुण्डलकी शोभा फैल रही थी । उन्होंने दूसरे कानमें मनोहर कमलको ही कर्णभूषणके रूपमें धारण कर रक्खा था । उनकी प्रिया रेवती मन्द मुसकान और बाँकी चितवनके साथ उनकी ओर सुखपूर्वक निहार रही थीं तथा बलरामजी उनके साथ आनन्दमग्न हो रहे थे ॥ ३ ॥

अथाज्ञया कंसनिकुम्भशत्रो-
रुदाररूपोऽप्सरसां गणः सः ।
द्रष्टुं मुदा रेवतिमाजगाम
वेलालयं स्वर्गसमानमृद्ध्या ॥ ४ ॥

तदनन्तर कंस और निकुम्भके शत्रु श्रीकृष्णकी आज्ञासे अप्सराओंका उदार एवं सुन्दर रूपवाला समुदाय स्वर्गके समान समृद्धिशाली समुद्रमें रेवतीका दर्शन करनेके लिये प्रसन्नतापूर्वक उनके पास आया ॥ ४ ॥

तां रेवतीं चाप्यथ वापि रामं
सर्वा नमस्कृत्य वराङ्गयष्ट्यः ।
वाद्यानुरूपं ननृतुः सुगात्र्यः
समन्ततोऽन्या जगिरे च सम्यक् ॥ ५ ॥

उन सबके अङ्ग छड़ीके समान पतले और मनोहर थे । उन समस्त सुन्दरियोंने उन रेवती देवी और बलरामजीको नमस्कार करके बाजेके लयपर नाचना आरम्भ किया । दूसरी अप्सराएँ उन्हें सब ओरसे घेरकर उत्तम रीतिसे गीत गाने लगीं ॥ ५ ॥

चक्रुस्तथैवाभिनयेन रङ्गं
यथावदेषां प्रियमर्थयुक्तम् ।
हृद्यानुकूलं च बलस्य तस्य
तथाज्ञया रेवतराजपुत्र्याः ॥ ६ ॥

वे अप्सराएँ बलराम तथा रेवतराजकुमारी रेवतीकी

आज्ञासे अभिनयपूर्वक ऐसा खेल खेलने लगीं, जो इन यादवोंको प्रिय, सार्थक, मनोरम और अनुकूल प्रतीत हो ॥ ६ ॥

चक्रुर्हसन्त्यश्च तथैव रासं
तद्देशभाषाकृतिवेषयुक्ताः ।
सहस्ततालं ललितं सलीलं
वराङ्गना मङ्गलसम्भृताङ्ग्यः ॥ ७ ॥

अपने अङ्गोंमें मङ्गलसूचक शृङ्गार धारण करनेवाली वे सुन्दरी अप्सराएँ उस देशकी भाषा, आकृति और वेशसे युक्त हो हँसती और हाथोंपर ताल देती हुई लीलापूर्वक ललित रास (नृत्य-गान) करने लगीं ॥ ७ ॥

संकर्षणाधोक्षजनन्दनानि
संकीर्तयन्त्योऽथ च मङ्गलानि ।
कंसप्रलम्बादिवधं च रम्यं
चाणूरघातं च तथैव रङ्गे ॥ ८ ॥
यशोदया च प्रथितं यशोऽथ
दामोदरत्वं च जनार्दनस्य ।
वधं तथारिष्टकधेनुकाभ्यां
व्रजे च वासं शकुनीवधं च ॥ ९ ॥
तथा च भग्नौ यमलार्जुनौ तौ
सृष्टिं वृकाणामपि वत्सयुक्ताम् ।
स कालियो नागपतिर्ह्रदे च
कृष्णेन दान्तश्च यथा दुरात्मा ॥ १० ॥
शङ्खह्रदादुद्धरणं च वीर
पद्मोत्पलानां मधुसूदनेन ।
गोवर्द्धनोऽर्थे च गवां धृतोऽभूद्
यथा च कृष्णेन जनार्दनेन ॥ ११ ॥
कुब्जां यथा गन्धकपीषिकां च
कुब्जत्वहीनां कृतवांश्च कृष्णः ।

वीर ! उस रासमें वे श्रीकृष्ण और बलरामको आनन्द देनेवाली उनकी मङ्गलमयी लीलाओंका संकीर्तन करती थीं । कंस और प्रलम्ब आदिके वधका रमणीय प्रसङ्ग, रङ्गशालामें चाणूर आदिका घात, जिसके कारण यशोदाने जनार्दनका दामोदर नाम और यश फैलाया, वह ऊलूखलबन्धनकी लीला, अरिष्टासुर और धेनुकासुरका वध, व्रजमें निवास, पूतनाका वध, यमलार्जुन-भङ्ग, भेड़ियेकी सृष्टि, वत्सासुरका वध, यमुनाके ह्रदमें श्रीकृष्णद्वारा दुरात्मा नागराज कालियका दमन, शङ्खनिधिसे युक्त उस यमुनाह्रदसे मधुसूदन श्रीकृष्णद्वारा कमलों और उत्पलोंका उखाड़ा जाना, गौओंकी रक्षाके लिये जनार्दन श्रीकृष्णद्वारा गोवर्धन-धारण, सुगन्धयुक्त अनुलेपन पीसनेवाली कुब्जाके कुब्जत्वका उनके द्वारा निवारण आदि लीला-प्रसङ्ग जैसे-जैसे हुए थे, उन सबका वे अप्सराएँ गान करती थीं ॥ ८–११½ ॥

अवामनं वामनकं च चक्रे
कृष्णो यथाऽऽत्मानमजोऽप्यनिन्द्यः॥१२॥
सौभप्रमाथं च हलायुधत्वं
वधं मुरस्याप्यथ देवशत्रोः ।
गान्धारकन्यावहने नृपाणां
रथे तथा योजनमूर्जितानाम् ॥ १३ ॥
ततः सुभद्राहरणे जयं च
युद्धे च वालाहकजम्बुमाले ।
रत्नप्रवेकं च युधाजितैर्यत्
समाहृतं शक्रसमक्षमासीत् ॥ १४ ॥
एतानि चान्यानि च चारुरूपा
जगुः स्त्रियः प्रीतिकराणि राजन् ।
सङ्कर्षणाधोक्षजहर्षणानि
चित्राणि चानेककथाश्रयाणि ॥ १५ ॥

राजन् ! अनवद्य (स्तुत्य) और अजन्मा श्रीकृष्णने अपने अवामन (विराट्) स्वरूपको भी जिस प्रकार वामन बना लिया, जिस प्रकार सौभविमानको मथ डाला तथा बलरामने जिस तरह हलरूप आयुध ग्रहण किया, श्रीकृष्णद्वारा जिस प्रकार देवशत्रु मुरका वध किया गया, गान्धारराज-कन्या शैव्याके विवाहमें जिस प्रकार बलशाली राजाओंको रथमें जोता या बाँधा गया, सुभद्राहरणके समय जिस प्रकार अर्जुनकी विजय हुई, बालाहक और जम्बुमालीके साथ होनेवाले युद्धमें जिस प्रकार श्रीकृष्ण आदिको विजय प्राप्त हुई, युद्धमें जीते गये राक्षसोंद्वारा इन्द्रके सामने ही जो रत्नराशि द्वारका पहुँचायी गयी; इनको तथा अन्य चरित्रोंको, जो यादवोंको प्रसन्न करनेवाले थे, उन मनोहररूपवाली अप्सराओंने गाया । श्रीकृष्ण और बलरामको हर्ष प्रदान करनेवाले जो उनकी अनेक लीलाकथाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले विचित्र गीत थे, उन सबका उन्होंने गान किया ॥ १२–१५ ॥

कादम्बरीपानमदोत्कटस्तु
बलः पृथुश्रीः स चुकूर्द रामः ।

सहस्ततालं मधुरं समं च
स भार्यया रेवतराजपुत्र्या ॥ १६ ॥

तदनन्तर मधुपानसे मत्त हुए परम शोभायमान बलराम अपनी पत्नी रेवतराजकुमारी रेवतीके साथ हाथपर ताल देते हुए मधुर स्वरमें सम[1] स्थानके प्रदर्शनपूर्वक गीत गाने लगे ॥

तं कूर्दमानं मधुसूदनश्च
दृष्ट्वा महात्मा च मुदान्वितोऽभूत्।
चुकूर्द सत्यासहितो महात्मा
हर्षागमार्थं च बलस्य धीमान् ॥ १७ ॥

उन्हें गाते देख महात्मा मधुसूदनको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर तो उन बुद्धिमान् महात्मा श्रीकृष्णने भी बलरामजीका हर्ष बढ़ानेके लिये सत्यभामाके साथ गान आरम्भ कर दिया॥

समुद्रयात्रार्थमथागतश्च
चुकूर्द पार्थो नरलोकवीरः।
कृष्णेन सार्द्धं मुदितश्चुकूर्द
सुभद्रया चैव वराङ्गयष्ट्या ॥ १८ ॥

नरलोकके प्रमुख वीर कुन्तीनन्दन अर्जुन भी समुद्र-यात्राके लिये वहाँ आये थे। वे भी आनन्दमें मग्न होकर श्रीकृष्ण और सुन्दराङ्गी सुभद्राके साथ गीत अलापने लगे ॥ १८ ॥

गदश्च धीमानथ सारणश्च
प्रद्युम्नसाम्बौ नृप सात्यकिश्च।
सात्राजितीसूनुरुदारवीर्यः
सुचारुदेष्णश्च सुचारुरूपः ॥ १९ ॥
वीरौ कुमारौ निशठोल्मुकौ च
रामात्मजौ वीरतमौ चुकूर्दतुः।

नरेश्वर! फिर तो बुद्धिमान् गद, सारण, प्रद्युम्न, साम्ब, सात्यकि, उदार पराक्रमी सत्यभामाकुमार भानु[2] और अत्यन्त मनोहर रूपवाले सुचारुदेष्ण, बलरामजीके पुत्र दोनों वीर कुमार निशठ और उल्मुक जो अत्यन्त वीर थे, गाने लगे ॥ १९½ ॥

अक्रूरसेनापतिशंकवश्च
तथापरे भैमकुलप्रधानाः ॥ २० ॥
तद् यानपात्रं ववृधे तदानीं
कृष्णप्रभावेण जनेन्द्रपुत्र।
आपूर्णमापूर्णमुदारकीर्ते
चुकूर्दयद्भिर्नृप भैममुख्यैः ॥ २१ ॥

अक्रूर, यादव-सेनापति अनाधृष्टि, शङ्कु तथा भीमकुलके अन्य प्रधान पुरुष भी वहाँ गान करने लगे। उदार कीर्तिवाले नरेन्द्रकुमार! उस समय वह यानपात्र (जहाज) गाते हुए प्रमुख यादव वीरोंसे ज्यों-ज्यों भरता गया त्यों-ही-त्यों श्रीकृष्णके प्रभावसे बढ़ता चला गया ॥ २०-२१ ॥

तै रासससक्तैरतिकूर्दमानै-
र्यदुप्रवीरैरमरप्रकाशैः ।
हर्षान्वितं वीर जगत् तथाभू-
च्छेमुश्च पापानि जनेन्द्रसूनो ॥ २२ ॥

वीर राजकुमार! रासमें संलग्न हो अत्यन्त गीत गानेवाले उन देवोपम यादववीरोंके साथ सारा जगत् हर्षोल्लाससे परिपूर्ण हो गया। सबके पाप-ताप शान्त हो गये ॥ २२ ॥

देवातिथिस्तत्र च नारदोऽथ
विप्रः प्रियार्थं मुरकेशिशत्रोः।
चुकूर्द मध्ये यदुसत्तमानां
जटाकलापागलितैकदेशः ॥ २३ ॥

तदनन्तर मुर और केशीके शत्रु श्रीकृष्णका प्रिय करनेके लिये देवताओंके अतिथि विप्रवर नारदजी उन यादव-शिरोमणियोंके बीचमें आकर गान करने लगे। उनके शरीरका एक देश उनके जटा-कलापसे आच्छादित था ॥ २३ ॥

रासप्रणेता मुनि राजपुत्र
स एव तत्राभवदप्रमेयः।

---

[1] संगीतमें वह स्थान, जहाँ गाने-बजानेवालोंका सिर या हाथ आप-से-आप हिल जाता है। वह स्थान तालके अनुसार निश्चित होता है। जैसे तितालेमें दूसरे तालपर और चौतालेमें पहले तालपर सम होता है। इसी प्रकार भिन्न तालोंमें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर सम होता है। वाद्योंका आरम्भ तथा गीतों और वाद्योंका अन्त इसी समपर होता है। परंतु गाने-बजानेके बीच-बीचमें भी सम बराबर आता रहता है।

[2] श्रीमद्भागवतके अनुसार सत्यभामाके बड़े बेटेका नाम भानु था। इनसे छोटे नौ भाइयोंके नाम इस प्रकार हैं—सुभानु, स्वर्भानु, प्रभानु, भानुमान्, चन्द्रभानु, बृहद्भानु, अतिभानु, श्रीभानु और प्रतिभानु।

मध्ये च गत्वा च चुकूर्द भूयो
हेलाविकारैः सविडम्बिताङ्गैः ॥ २४ ॥

राजपुत्र ! वे अप्रमेयस्वरूप नारदमुनि ही वहाँ रास-नृत्यके प्रणेता (संचालक या सूत्रधार) हो गये । वे अपने अनुकरणशील अङ्गोंद्वारा लीलाका अनुकरण करते हुए यादव-मण्डलीके मध्यमें पहुँचकर गीत गाने लगे ॥ २४ ॥

स सत्यभामामथ केशवं च
पार्थं सुभद्रां च बलं च देवम् ।
देवीं तथा रेवतराजपुत्रीं
संदृश्य संदृश्य जहास धीमान् ॥ २५ ॥

वे बुद्धिमान् मुनि सत्यभामा, श्रीकृष्ण, अर्जुन, सुभद्रा, बलदेव तथा रेवतराजकुमारी रेवती देवीकी ओर देख-देखकर हँस रहे थे ॥ २५ ॥

ता हासयामास सुधैर्ययुक्ता-
स्तैस्तैरुपायैः परिहासशीलः ।
चेष्टानुकारैर्हसितानुकारै-
र्लीलानुकारैरपरैश्च धीमान् ॥ २६ ॥

परिहासशील बुद्धिमान् नारदजी किसीकी चेष्टाओंका, किसीकी हँसीका और किसीकी लीलाओंका अनुकरण करके तथा अन्य प्रकारके दूसरे-दूसरे उपायोंद्वारा उन अत्यन्त धैर्य-शालिनी देवियोंको भी हँसा देते थे ॥ २६ ॥

आभाषितं किंचिदिवोपलक्ष्य
नादातिनादान् भगवान् मुमोच ।
हसन् विहासांश्च जहास हर्षा-
द्धास्यागमे कृष्णविनोदनार्थम् ॥ २७ ॥

जब कोई कुछ मन्दस्वरमें बहुत थोड़ा और धीरे-धीरे बोलता तो ऐश्वर्यशाली नारदजी उसके उत्तरमें बहुत ही ऊँचे स्वरमें सिंहनाद-सा करते हुए जोर-जोरसे बोलने लगते थे और हास्यके अवसरपर हँसते-हँसते हर्षातिरेकसे अट्टहास करने लगते थे । यह सब कुछ वे श्रीकृष्णके मनोरञ्जनके लिये करते थे ॥ २७ ॥

कृष्णाज्ञया सातिशयानि तत्र
यथानुरूपाणि ददुर्युवत्यः ।
रत्नानि वस्त्राणि च रूपवन्ति
जगत्प्रधानानि नृदेवसूनो ॥ २८ ॥

नरदेवकुमार ! श्रीकृष्णकी आज्ञासे वहाँ बैठी हुई युवतियोंने जगत्के प्रधान-प्रधान रत्न, सुन्दर वस्त्र जो मुनिके अनुरूप थे, उन्हें अधिक मात्रामें दिये ॥ २८ ॥

माल्यानि च स्वर्गसमुद्भवानि
संतानदामान्यतिमुक्तकानि ।
सर्वर्तुकान्यप्यनयंस्तदानीं
ददुर्हरेरिङ्गितकालतज्ज्ञाः ॥ २९ ॥

श्रीकृष्णके संकेत तथा समयकी आवश्यकताको समझने-वाली उन रानियोंने उस समय स्वर्गीय पुष्पहार, संतान (पारिजात) पुष्पोंकी लड़ियाँ, अतिमुक्तक तथा सभी ऋतुओंमें खिलनेवाले फूल उन्हें अर्पित किये ॥ २९ ॥

रासावसाने त्वथ गृह्य हस्ते
महामुनिं नारदमप्रमेयः ।
पपात कृष्णो भगवान् समुद्रे
सात्राजितीं चार्जुनमेव चाथ ॥ ३० ॥

रासके अन्तमें अप्रमेयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण नारद मुनिका हाथ पकड़कर तथा सत्यभामा और अर्जुनको भी साथमें लेकर समुद्रके जलमें कूद पड़े ॥ ३० ॥

उवाच चामेयपराक्रमोऽथ
शैनेयमीषत्प्रहसन् पृथुश्रीः ।
द्विधा कृतास्मिन् पतताशु भूत्वा
क्रीडाजले नोऽस्तु सहाङ्गनाभिः ॥ ३१ ॥

तदनन्तर अप्रमेय पराक्रमी तथा प्रचुर शोभासे सम्पन्न श्रीकृष्णने किञ्चित् मुसकराकर सात्यकिसे कहा—'तुम सब लोग दो भागोंमें बँटकर अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ ही इस क्रीड़ाजलमें कूद पड़ो ॥ ३१ ॥

सरेवतीकोऽस्तु बलोऽर्द्धनेता
पुत्रा मदीयाश्च सहार्द्धभैमाः ।
भैमार्द्धमेवाथ बलात्मजाश्च
मत्पक्षिणः सन्तु समुद्रतोये ॥ ३२ ॥

'मेरे सारे पुत्र और आधे यदुवंशी इन सबको मिलाकर जो आधे द्वारकावासियोंका दल होगा, उसके नेता रेवती-

सहित बलभद्रजी हों और आधे भीमवंशियोंके साथ बलराम-जीके सभी पुत्र ये मेरे पक्षमें रहें। इस प्रकार समुद्रके जलमें (दो दलोंमें बँटकर हमलोग क्रीड़ा करें)' ॥ ३२ ॥

आज्ञापयामास ततः समुद्रं
कृष्णः स्मितं प्राञ्जलिर्न प्रतीतः।
सुगन्धतोयो भव मृष्टतोय-
स्तथा भव ग्राहविवर्जितश्च ॥ ३३ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णने पूर्ण विश्वस्त होकर वहाँ हाथ जोड़कर मुसकराते हुए समुद्रको आज्ञा दी—'तुम अपने जलको सुगन्धित और शुद्ध एवं स्वादिष्ट बना लो तथा ग्राहोंसे रहित हो जाओ ॥ ३३ ॥

दृश्या च ते रत्नविभूषिता तु
सा वेलिका भूरथ पत्सुखा च।
मनोऽनुकूलं च जनस्य तत्तत्
प्रयच्छ विश्वास्यसि मत्प्रभावात् ॥३४॥

'तुम्हारी तटभूमि रत्नोंसे विभूषित दिखायी दे, पैरोंके लिये सुखदायिनी हो तथा लोगोंके लिये जो मनोऽनुकूल वस्तुएँ हों, वे सब उन्हें अर्पण करो। मेरे प्रभावसे तुम्हें सबकी अभीष्ट वस्तुओंका ज्ञान हो जायगा ॥ ३४ ॥

भवस्यपेयोऽप्यथ चेष्टपेयो
जनस्य सर्वस्य मनोऽनुकूलः।
वैडूर्यमुक्तामणिहेमचित्रा
भवन्तु मत्स्यास्त्वयि सौम्यरूपाः ॥ ३५ ॥

'यद्यपि तुम्हारा जल अपेय है तो भी वह प्रिय एवं पीने योग्य हो जायगा। तुम सब लोगोंके मनोऽनुकूल हो जाओगे। तुम्हारे भीतर जो मत्स्य हैं, वे वैदूर्य, मोती, मणि और सुवर्णसे चित्रित तथा सौम्य रूपवाले हो जायँगे ॥ ३५ ॥

बिभृष्व च त्वं कमलोत्पलानि
सुगन्धसुस्पर्शरसक्षमाणि ।
षट्पादजुष्टानि मनोहराणि
कीलालवर्णैश्च समन्वितानि ॥ ३६ ॥

'तुम लाल रंगके कमल और उत्पल धारण करो, जो उत्तम गन्ध, सुखद स्पर्श तथा रुधिर रसको प्रकट करनेमें समर्थ हों। वे भ्रमरोंसे सेवित तथा देखनेमें मनोहर हों ॥ ३६ ॥

मैरेयमाध्वीकसुरासवानां
कुम्भांश्च पूर्णान् स्थपयस्व तोये।
जाम्बूनदं पाननिमित्तमेषां
पात्रं प्रयुर्येषु ददस्व भैमाः ॥ ३७ ॥

'तुम अपने जलके ऊपर मैरेय, माध्वीक, सुरा और आसव नामक मधुसे भरे हुए कलश स्थापित करो। साथ ही इनके पीनेके लिये सोनेके पानपात्र दो, जिनमें ये यादव मधुपान कर सकें ॥ ३७ ॥

पुष्पोच्चयैर्वासितशीततोयो
भवाप्रमत्तः खलु तोयराशे।
यथा व्यलीकं न भवेद् यदूनां
सस्त्रीजनानां कुरु तत् प्रयत्नम् ॥ ३८ ॥

'जलनिधे! तुम निश्चय ही ऐसे बन जाओ, जिससे तुम्हारा शीतल जल फूलोंकी राशिसे वासित हो जाय। इसके लिये सतत सावधान रहो और ऐसा प्रयत्न करो, जिससे स्त्री-पुरुषोंसहित यादवोंके प्रति कोई विपरीत बर्ताव न हो जाय' ॥ ३८ ॥

इतीदमुक्त्वा भगवान् समुद्रं
ततः प्रचिक्रीड सहार्जुनेन।
सिषेच पूर्वं नृप नारदं तु
सात्राजिती कृष्णमुखेङ्गितज्ञा ॥ ३९ ॥

समुद्रसे ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ क्रीड़ा करने लगे। नरेश्वर! श्रीकृष्णके मुखके संकेतोंको समझनेवाली सत्यभामाने पहले देवर्षि नारदपर जल उछाल-कर उन्हें भिगो दिया ॥ ३९ ॥

ततो मदावर्जितचारुदेहः
पपात रामः सलिले सलीलम्।
साकारमालम्ब्य करं करेण
मनोहरां रेवतराजपुत्रीम् ॥ ४० ॥

तदनन्तर मदके आवेशसे रहित मनोहर शरीरवाले बलरामजी अपने हाथसे मनोहारिणी रेवतराजकुमारी रेवतीका हाथ पकड़कर इच्छानुसार गीत गाते हुए लीलापूर्वक जलमें कूद पड़े ॥ ४० ॥

कृष्णात्मजा ये त्वथ भैममुख्या
रामस्य पश्चात् पतिताः समुद्रे।

विरागवस्त्राभरणाः प्रहृष्टाः
क्रीडाभिरामा मदिराविलाक्षाः ॥ ४१ ॥

बलरामजीके कूदनेके पश्चात् श्रीकृष्णके पुत्र तथा भीम-वंशियोंके प्रधान-प्रधान व्यक्ति नाना प्रकारके रंगवाले वस्त्र और आभूषण धारण किये हर्षमें भरकर समुद्रमें कूद पड़े। उस समय वे जलक्रीड़ामें अभिरत थे और उनकी आँखें मधुसे मतवाली हो रही थीं ॥ ४१ ॥

शेषास्तु भैमा हरिमभ्युपेताः
क्रीडाभिरामा निशठोल्मुकाद्याः।
विचित्रवस्त्राभरणाश्च मत्ताः
संतानमाल्यावृतकण्ठदेशाः ॥ ४२ ॥

शेष यादव तथा निशठ और उल्मुक आदि बलरामपुत्र क्रीड़ामें अभिरत होकर श्रीकृष्णके निकट गये। वे विचित्र वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और मदमत्त थे तथा उनके कण्ठदेश संतान-पुष्पोंकी मालाओंसे अलंकृत थे ॥ ४२ ॥

वीर्योपपन्नाः कृतचारुचिह्ना
विलिप्तगात्रा जलपात्रहस्ताः।
गीतानि तद्वेषमनोहराणि
स्वरोपपन्नान्यथ गायमानाः ॥ ४३ ॥

वे सब-के-सब बल-पराक्रमसे सम्पन्न तथा मनोहर वेषभूषा-से युक्त थे। उनके अङ्गोंमें चन्दनका लेप लगा था। वे हाथोंमें जलपात्र लिये हुए थे और उस वेषके अनुरूप स्वर-सम्पन्न मनोहर गीत गा रहे थे ॥ ४३ ॥

ततः प्रचक्रुर्जलवादितानि
नानास्वराणि प्रियवाद्यघोषाः।
सहाप्सरोभिस्त्रिदिवालयाभिः
कृष्णाज्ञया वेशवधूशतानि ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्णकी आज्ञासे स्वर्गवासिनी अप्सराओंके साथ सैकड़ों वेषवधुओंने, जिन्हें वाद्यघोष बहुत ही प्रिय था, नाना स्वरोंमे जल-तरंग आदि बाजे बजाने आरम्भ किये ॥ ४४ ॥

आकाशगङ्गाजलवादनज्ञाः
सदा युवत्यो मदनैकचित्ताः।
अवादयंस्ता जलदर्दुरांश्च
वाद्यानुरूपं जगिरे च हृष्टाः ॥ ४५ ॥

अप्सराएँ नित्य युवती, एकमात्र काममें ही मनको लगानेवाली तथा आकाशगङ्गाके जलसे बाजा बजानेकी कलाका ज्ञान रखनेवाली थीं। उन्होंने जलदर्दुर[1] बजाये और हर्षमें भरकर उस वाद्यके अनुरूप गीत भी गाये ॥ ४५ ॥

कुशेशयाकोशविशालनेत्राः
कुशेशयापीडविभूषिताश्च।
कुशेशयानां रविबोधितानां
जह्रुः श्रियं ताः सुरचारुमुख्यः ॥ ४६ ॥

स्वर्गीय अप्सराओंके नेत्र कमलकलिकाओंके समान विशाल थे। वे कमलोंके ही मुकुटोंसे विभूषित थीं तथा सूर्यकी किरणोंद्वारा खिले हुए कमलोंकी शोभाको चुराये लेती थीं। उन सबके मुख देवताओंके समान मनोहर थे।४६।

स्त्रीवक्त्रचन्द्रैः सकलेन्दुकल्पै
रराज राजञ्छतशः समुद्रः।
यदृच्छया दैवविधानतो वा
नभो यथा चन्द्रसहस्रकीर्णम् ॥ ४७ ॥

राजन्! सम्पूर्ण चन्द्रमण्डलके समान मनोहर नारियोंके सैकड़ों मुख-चन्द्रोंसे अलंकृत हुआ समुद्र उस आकाशके समान शोभा पा रहा था, जो अकस्मात् या दैवके विधानके अनुसार सहस्रों चन्द्रमाओंसे व्याप्त हो गया हो ॥ ४७ ॥

समुद्रमेघः स रराज राज-
ञ्छतह्रदास्त्रीप्रभयाभिरामः।
सौदामिनीभिन्न इवाम्बुनाथो
देदीप्यमानो नभसीव मेघः ॥ ४८ ॥

नरेश्वर! विद्युत्के समान कान्तिमती स्त्रियोंकी प्रभासे अत्यन्त मनोहर दिखायी देनेवाला वह समुद्ररूपी मेघ उसी तरह सुशोभित हो रहा था, जैसे जलका स्वामी मेघ आकाशमें बिजलियोंसे संयुक्त होकर अत्यन्त उद्भासित हो उठता है।४८।

नारायणश्चैव सनारदश्च
सिषेच पक्षे कृतचारुचिह्नः।
बलं सपक्षं कृतचारुचिह्नं
स चैव पक्षं मधुसूदनस्य ॥ ४९ ॥

सुन्दर एवं मनोहर वेश-भूषा धारण किये भगवान् श्रीकृष्ण और नारद अपने दलके लोगोंके साथ स्थित हो सुन्दर वेश-भूषावाले बलराम तथा उनके पक्षके लोगोंपर पानी उछालने लगे और बलराम-पक्षके लोग भी श्रीकृष्णके पक्षवालोंको जलसे भिगोने लगे ॥ ४९ ॥

१. प्राचीन कालका एक बाजा, जिसपर चमड़ा मढ़ा होता था।

हस्तप्रमुक्तैर्जलयन्त्रकैश्च
प्रहृष्टरूपाः सिषिचुस्तदानीम्।
रागोद्धता वारुणिपानमत्ताः
संकर्षणाधोक्षजदेवपत्न्यः ॥ ५० ॥

उस समय जिनका सारा शरीर हर्षोल्लाससे परिपूर्ण हो रहा था, वे मधुपानसे मत्त और रागसे उद्धत हुई बलराम और श्रीकृष्णकी पत्नियाँ अपने हाथों तथा जलयन्त्रों (पिचकारियों) से दूसरोंको भिगोने लगीं ॥ ५० ॥

आरक्तनेत्रा जलमुक्तिसक्ताः
स्त्रीणां समक्षं पुरुषायमाणाः।
ते नोपरेमुः सुचिरं च भैमा
मानं वहन्तो मदनं मदं च ॥ ५१ ॥

वे भीमवंशी यादव अपने हृदयमें मान, मदन और मदको धारण किये कुछ-कुछ लाल नेत्रोंसे युक्त हो पानी उछालनेमें लगे थे और स्त्रियोंके समक्ष पुरुषार्थ दिखा रहे थे। वे बहुत देरतक उस जलक्रीड़ासे विरत नहीं हुए ॥५१॥

अतिप्रसङ्गं तु विचिन्त्य कृष्ण-
स्तान् वारयामास रथाङ्गपाणिः।
स्वयं निवृत्तो जलवाद्यशब्दैः
सनारदः पार्थसहायवांश्च ॥ ५२ ॥

उनकी अत्यन्त बढ़ती हुई आसक्तिका विचार करके चक्रपाणि भगवान् विष्णुने उन सबको रोक दिया और जलवाद्यके मधुर शब्दोंको सुनते हुए वे देवर्षि नारद और अर्जुनके साथ स्वयं भी जल-विहारसे निवृत्त हो गये ॥ ५२ ॥

कृष्णेङ्गितज्ञा जलयुद्धसङ्गाद्
भैमा निवृत्ता दृढमानिनोऽपि।
नित्यं तथाऽऽनन्दकराः प्रियाणां
प्रियाश्च तेषां ननृतुः प्रतीताः ॥ ५३ ॥

श्रीकृष्णके संकेतोंको समझनेवाले भीमवंशी यादव सुदृढ़ अभिमानसे युक्त होनेपर भी उस जलयुद्धके प्रसंगसे निवृत्त हो गये। तदनन्तर उन प्रिय पुरुषोंको नित्य आनन्द देनेवाली उनकी प्यारी वारवनिताएँ विश्वस्त होकर नृत्य करने लगीं ॥

नृत्यावसाने भगवानुपेन्द्र-
स्तत्याज धीमानथ तोयसङ्गान्।
उत्तीर्य तोयादनुकूललेपं
जग्राह दत्त्वा मुनिसत्तमाय ॥ ५४ ॥

नृत्यके अन्तमें बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णने जलक्रीड़ाके प्रसंग त्याग दिये। उन्होंने जलसे ऊपर आकर मुनिवर नारदजीको अनुकूल चन्दनका लेप देकर फिर स्वयं भी उसे ग्रहण किया ॥ ५४ ॥

उपेन्द्रमुत्तीर्णमथाशु दृष्ट्वा
भैमा हि ते तत्यजुरेव तोयम्।
विविक्तगात्रास्त्वथ पानभूमिं
कृष्णाज्ञया ते ययुरप्रमेयाः ॥ ५५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णको जलसे बाहर निकला देख अन्य यादवोंने भी जलक्रीड़ा त्याग दी। फिर वे अप्रमेय शक्तिशाली यादव शुद्ध शरीर हो श्रीकृष्णकी आज्ञासे पानभूमि (रसोईका स्थान) में गये ॥ ५५ ॥

यथानुपूर्व्या च यथावयश्च
यत्सन्नियोगाश्च तदोपविष्टाः।
अन्नानि वीरा बुभुजुः प्रतीताः
पपुश्च पेयानि यथानुकूलम् ॥ ५६ ॥

वहाँ वे क्रमशः अवस्था और सम्बन्धके अनुसार उस समय भोजनके लिये बैठे। तदनन्तर उन प्रख्यात वीरोंने अपनी रुचिके अनुकूल अन्न खाये और पेय रसोंका पान किया ॥ ५६ ॥

मांसानि पक्वानि फलाम्लकानि
चुक्रोत्तरेणाथ च दाडिमेन।
निष्टप्तशूलाञ्छकलान् पशूंश्च
तत्रोपजह्रुः शुचयोऽथ सूदाः ॥ ५७ ॥

पके फलोंके गूदे, खट्टे फल, अधिक खट्टे अनारके साथ शूलमें गूँथकर सेंके गये कन्द या फलोंके टुकड़े, पोषक तत्त्व (अन्न)—ये सब पदार्थ पवित्र रसोइयोंने उनके लिये परोसे ॥ ५७ ॥

सुखिन्नशूल्यान् महिषांश्च बाला-
ञ्छूल्यान् सुनिष्टप्तघृतावसिक्तान्।

१. (प्रश्न—) कतमः प्रजापतिः ? प्रजापति अर्थात् प्रजाका पालन करनेवाला कौन है ? (उत्तर—) पशुरिति, पशु ही प्रजा-पालक है। शतपथ ब्राह्मणके इस प्रश्नोत्तरसे यह सूचित होता है कि जो पदार्थ या शक्तियाँ प्रजाका पोषण करनेवाली हैं, उन्हें पशु कहा गया है। 'नृणां व्रीहिमयः पशुः'—इस उक्तिके अनुसार मनुष्योंके लिये पोषक तत्त्व अन्न ही है।

वृक्षाम्लसौवर्चलचुक्रपूर्णान्
पौरोगवोक्त्या उपजह्रुरेषाम् ॥ ५८ ॥

शूलमें गूँथकर पकाये गये भैंसाकन्द तथा अन्यान्य कन्द या मूल-फल, नारियल, तपे हुए घीमें तले गये अन्यान्य खाद्यपदार्थ, अमलवेंत, कालानमक और चूकके मेलसे बने हुए लेह्यपदार्थ (चटनी)—ये सब वस्तुएँ पाकशालाध्यक्षके कहनेसे रसोइयोंने इन यादवोंके लिये प्रस्तुत कीं ॥ ५८ ॥

पौरोगवोक्त्या विधिना मृगाणां
मांसानि सिद्धानि च पीवराणि ।
नानाप्रकाराण्युपजह्रुरेषां
मृष्टानि पक्वानि च चुक्रचूतैः ॥ ५९ ॥

पाकशालाध्यक्षके बताये अनुसार विधिवत् तैयार किये गये मृगनामक कन्दविशेषके मोटे-मोटे गूदे, आमकी खटाई डालकर बनाये गये नाना प्रकारके विशुद्ध व्यञ्जन भी इनके लिये परोसे गये ॥ ५९ ॥

पार्श्वानि चान्ये शकलानि तत्र
ददुः पशूनां घृतमृक्षितानि ।
सामुद्रचूर्णैरवचूर्णितानि
चूर्णेन मृष्टेन समारिचेन ॥ ६० ॥

दूसरे रसोइयोंने पास रखे हुए पोषक शाकोंके टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें घीमें तल दिये और उनमें नमक तथा मिर्चके चूर्ण मिलाकर खानेवालोंको परोस दिये ॥ ६० ॥

समूलकैर्दाडिममातुलिङ्गैः
पर्णासहिङ्ग्वार्द्रकभूस्तृणैश्च ।
तदोपदंशैः सुमुखोत्तरैस्ते
पानानि हृष्टाः पपुरप्रमेयाः ॥ ६१ ॥

मूली, अनार, बिजौरा नीबू, तुलसी, हींग और भूतृण-नामक शाकविशेषके साथ सुन्दर मुखवाले पानपात्र लेकर उन अप्रमेय शक्तिशाली यादवोंने बड़े हर्षके साथ पेय-रसका पान किया ॥ ६१ ॥

कट्वाङ्कशूलैरपि पक्षिभिश्च
घृताम्लसौवर्चलतैलसिक्तैः ।
मैरेयमाध्वीकसुरासवांस्ते
पपुः प्रियाभिः परिवार्यमाणाः ॥ ६२ ॥

कट्वाङ्क अर्थात् कटुक—परवल, शूलहर (हींग) तथा नमक-खटाई मिलाकर घी और तेलमे सेंके गये लकुच या बड़हरके[1] साथ मैरेय, माध्वीक, सुरासव नामक मधुका उन यादवोंने अपनी प्रियतमाओंसे घिरे रहकर पान किया ॥

श्वेतेन युक्तानपि शोणितेन
भक्ष्यान् सुगन्धांल्लवणान्वितांश्च ।
आर्द्रान् किलादान् घृतपूर्णकांश्च
नानाप्रकारानपि खण्डखाद्यान् ॥ ६३ ॥

नरेश्वर ! श्वेत रंगके खाद्य-पदार्थ मिश्री आदि तथा लाल रंगके फलके साथ नाना प्रकारके सुगन्धित एवं नमकीन भोजन एवं आर्द्र (रसदार साग), किलाद (भैंसके दूधमें पकाये गये खीर आदि), घीसे भरे हुए पदार्थ (पूआ-हलुआ आदि) तथा भाँति-भाँतिके खण्ड-खाद्य (खाँड़ आदि) उन्होंने खाये ॥ ६३ ॥

अपानपाश्चोद्धवभोजमिश्राः
शाकैश्च सूपैश्च बहुप्रकारैः ।
पेयैश्च दध्ना पयसा च वीराः
स्वन्नानि राजन् बुभुजुः प्रहृष्टाः ॥ ६४ ॥

राजन् ! उद्धव, भोज आदि श्रेष्ठ यादव वीरोंने जो मादक रसोंका पान नहीं करते थे, बड़े हर्षके साथ नाना प्रकारके साग, दाल, पेय-पदार्थ तथा दही-दूध आदिके साथ उत्तम अन्नका भोजन किया ॥ ६४ ॥

तथारनालांश्च बहुप्रकारान्
पपुः सुगन्धानपि पालवीषु ।
शृतं पयः शर्करया च युक्तं
फलप्रकारांश्च बहूंश्च खादन् ॥ ६५ ॥

उन्होंने प्यालोंमें अनेक प्रकारके सुगन्धित आरनाल (कांजीरस) का पान किया। चीनी मिलाये हुए गरम-गरम दूध पीया और भाँति-भाँतिके फल भी खाये ॥ ६५ ॥

तृप्ताः प्रवृत्ताः पुनरेव वीरा-
स्ते भैममुख्या वनितासहायाः ।
गीतानि रम्याणि जगुः प्रहृष्टाः
कान्ताभिनीतानि मनोहराणि ॥ ६६ ॥

खा-पीकर तृप्त होनेके पश्चात् वे मुख्य-मुख्य यदुवंशी वीर पुनः स्त्रियोंको साथ लेकर बड़े हर्षके साथ रमणीय एवं मनोहर गीत गाने लगे। उनकी प्रेयसी कामिनियाँ अपने हावभावद्वारा उन गीतोंके अर्थका अभिनय करती जाती हैं ॥

[1] यहाँ पक्षीका अर्थ खर्गवक्त्र है, जो लकुच या बड़हरका बोधक है।

आज्ञापयामास ततः स तस्यां
निशि प्रहृष्टो भगवानुपेन्द्रः ।
छालिक्यगेयं बहुसंनिधानं
यदेव गान्धर्वमुदाहरन्ति ॥ ६७ ॥

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए भगवान् उपेन्द्रने उस रातमें बहुसंख्यक मनुष्योंद्वारा सम्पन्न होनेवाले उस छालिक्य गानके लिये आज्ञा दी, जिसे गान्धर्व कहते हैं ॥ ६७ ॥

जग्राह वीणामथ नारदस्तु
षड्ग्रामरागादिसमाधियुक्ताम् ।
हल्लीसकं तु स्वयमेव कृष्णः
सवंशघोषं नरदेव पार्थः ॥ ६८ ॥
मृदङ्गवाद्यानपरांश्च वाद्यान्
वराप्सरस्ता जगृहुः प्रतीताः ।
आसारितान्ते च ततः प्रतीता
रम्भोत्थिता साभिनयार्थतज्ज्ञा ॥ ६९ ॥

उस समय नारदजीने अपनी वीणा सँभाली, जो छः ग्रामोंपर[1] आधारित राग आदिके द्वारा चित्तको एकाग्र कर देनेवाली थी । नरदेव ! साक्षात् श्रीकृष्णने वंशी बजाकर हल्लीसक[2] (रास) नामक नृत्यका आयोजन किया । कुन्तीपुत्र अर्जुनने मृदङ्ग वाद्य ग्रहण किया । अन्य वाद्योंको श्रेष्ठ अप्सराओंने ग्रहण किया, जो उनके वादन-कलामें प्रख्यात थीं । आसारित[3] (प्रथम आसारनर्तकी-प्रवेश) के बाद अभिनयके अर्थतत्त्वका ज्ञान रखनेवाली रम्भा नामक अप्सरा उठी, जो अपनी अभिनयकलाके लिये विख्यात थी ॥ ६८-६९ ॥

तयाभिनीते वरगात्रयष्ट्या
तुतोष रामश्च जनार्दनश्च ।
अथोर्वशी चारुविशालनेत्रा
हेमा च राजन्नथ मिश्रकेशी ॥ ७० ॥
तिलोत्तमा चाप्यथ मेनका च
एतास्तथान्याश्च हरिप्रियार्थम् ।
जगुस्तथैवाभिनयं च चक्रु-
रिष्टैश्च कामैर्मनसोऽनुकूलैः ॥ ७१ ॥

उसकी अङ्गयष्टि बड़ी सुन्दर थी । उसके द्वारा अभिनय किये जानेपर बलराम और श्रीकृष्णको बड़ा संतोष हुआ । राजन् ! तदनन्तर मनोहर एवं विशाल नेत्रोंवाली उर्वशी, हेमा, मिश्रकेशी, तिलोत्तमा और मेनका—ये तथा और भी बहुत-सी अप्सराएँ श्रीकृष्णका प्रिय करनेके लिये मनके अनुकूल प्रिय कामनाओंको प्रस्तुत करती हुई गाने और अभिनय करने लगीं ॥ ७०-७१ ॥

ता वासुदेवेऽप्यनुरक्तचित्ताः
स्वगीतनृत्याभिनयैरुदारैः ।
नरेन्द्रसूनो परितोषितेन
ताम्बूलयोगाश्च वराप्सरोभिः ॥ ७२ ॥
तदागताभिर्नृवराहृतास्तु
कृष्णेप्सया मानमयास्तथैव ।

नरेन्द्रकुमार ! वे रम्भा आदि अप्सराएँ मन-ही-मन

---

१. क्रमशः सात स्वरोंका समूह ग्राम कहलाता है । संगीतमें सुभीतेके लिये षड्ज, मध्यम और पञ्चम तथा किसी-किसीके मतसे षड्ज, मध्यम और गान्धार नामक तीन ग्राम निश्चित कर लिये गये हैं । जिन्हें क्रमशः नन्द्यावर्त, सुभद्र और जीमूत भी कहते हैं तथा जिनके देवता क्रमसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं । प्रत्येक ग्राममें सात-सात मूर्च्छनाएँ होती हैं । सा (षड्ज) से आरम्भ करके (सा रे ग म प ध नि) जो सात स्वर हों, उनके समूहको षड्ज ग्राम, म (मध्यम) से आरम्भ करके (म प ध नि सा रे ग) जो सात स्वर हों, उनके समूहको मध्यम ग्राम और इसी प्रकार गा (गांधार) या प (पञ्चम) से आरम्भ करके जो स्वर हों, उनके समूहको गांधार अथवा पञ्चम (जैसी अवस्था हो) ग्राम मानते हैं । इनमेंसे पहले दो ग्रामोंका व्यवहार तो इसी लोकमें मनुष्यों-द्वारा होता है, पर तीसरे ग्रामका व्यवहार स्वर्गलोकमें नारद करते हैं । यहाँ रागोंके छः स्थानोंको छः ग्राम कहा गया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—मध्य, शुद्ध, भिन्न, गौड, मिश्र और गीत ।

२. बहुत-सी स्त्रियोंके साथ किया जानेवाला नृत्य हल्लीसक या रास कहलाता है ।

३. भरत मुनिने नृत्य-विधिमें चार प्रकारके आसार (चिह्न) या आसारितका उपदेश किया है, जो क्रमशः इस प्रकार है—पहले नर्तकीका प्रवेश होता है, यह प्रथम आसार है । तदनन्तर आसारित अर्थका अभिनय होता है, जिसे नाट्य कहते हैं, यही उसका दूसरा भेद है । तत्पश्चात् तालका अनुसरण करते हुए जो अङ्गाहरण अङ्गविक्षेप (चमकना, मटकना और हाथ-पैर हिलाना) होता है, यही तीसरा आसार है । तदनन्तर देवताके चिह्न रूपसे जो नृत्य किया जाता है, वह चौथा आसार है । यहाँ नर्तकीप्रवेश नामक प्रथम आसारके अन्तमें नाट्यके लिये अभिनयकुशल रम्भा खड़ी हुई । उसके द्वारा द्वितीय आसार अर्थात् अभिनय सम्पन्न हो जाने-पर शेष दो आसारोंकी पूर्तिके लिये उर्वशी आदिका उत्थान हुआ ।

वसुदेवनन्दन भगवान् कृष्णमें अनुरक्त थीं। उन्होंने अपने गीत, नृत्य एवं उदार अभिनयोंद्वारा सबको संतोष प्रदान करके प्रसन्न कर लिया। नरेश्वर! उस समय श्रीकृष्णकी इच्छासे जलक्रीड़ामें आयी हुई उन श्रेष्ठ अप्सराओंने उनकी ओरसे पानके बीड़े प्राप्त किये, जो उनके लिये सम्मान-स्वरूप थे॥ ७२½॥

फलानि गन्धोत्तमवन्ति वीरा-
श्छालिक्यगान्धर्वमथाहृतं च॥ ७३॥
कृष्णेच्छया च त्रिदिवान्नृदेव
अनुग्रहार्थं भुवि मानुषाणाम्।

नरदेव! श्रीकृष्णकी इच्छासे मनुष्योंपर अनुग्रह करनेके लिये स्वर्गसे वह छालिक्य गान्धर्व (दिव्य संगीत एवं नृत्य-विशेष) भूतलपर लाया गया था; साथ ही उत्तम गन्धोंसे युक्त देवयोग्य फल भी यहाँ लाये गये थे। वीर यादवोंने इन सबका रसास्वादन किया॥ ७३½॥

स्थितं च रम्यं हरितेजसैव
प्रयोजयामास स रौक्मिणेयः॥ ७४॥
छालिक्यगान्धर्वमुदारबुद्धि-
स्तेनैव ताम्बूलमथ प्रयुक्तम्।

वह रमणीय छालिक्य गान्धर्व भगवान् श्रीकृष्णके ही प्रभावसे इस पृथ्वीपर प्रद्युम्न आदिमें प्रतिष्ठित हुआ। उदारबुद्धि रुक्मिणीकुमार प्रद्युम्नने उक्त गान्धर्व-कलाको प्रयोगमें लाकर दिखाया भी था। उन्होंने ही ताम्बूलका प्रयोग किया॥ ७४½॥

प्रयोजितं पञ्चभिरिन्द्रतुल्यै-
श्छालिक्यमिष्टं सततं नराणाम्॥ ७५॥
शुभावहं वृद्धिकरं प्रशस्तं
मङ्गल्यमेवाथ तथा यशस्यम्।
पुण्यं च पुष्ट्यभ्युदयावहं च
नारायणस्येष्टमुदारकीर्तेः॥ ७६॥

इन्द्रतुल्य पराक्रमी पाँच वीरों (श्रीकृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और साम्ब) ने यहाँ छालिक्य गान्धर्व-का आयोजन किया था, जो मनुष्योंको सदा ही अभीष्ट है। वह शुभकारक, वृद्धि करनेवाला, प्रशस्त, मङ्गलकारी, यशोवर्द्धक, पुण्यदायक, पुष्टि और अभ्युदयको देनेवाला है। उदारकीर्तिवाले भगवान् नारायणको वह परम प्रिय है॥ ७५-७६॥

जयावहं धर्मभरावहं च
दुःस्वप्ननाशं परिकीर्त्यमानम्।
करोति पापं च तथा विहन्ति
शृण्वन् सुरावासगतो नरेन्द्रः॥ ७७॥
छालिक्यगान्धर्वमुदारकीर्ति-
र्मेने किलैकं दिवसं सहस्रम्।
चतुर्युगानां नृप रेवतोऽथ
ततः प्रवृत्ता च कुमारजातिः॥ ७८॥
गान्धर्वजातिश्च तथापरापि
दीपाद् यथा दीपशतानि राजन्।

उसकी चर्चा करने मात्रसे वह विजयकी प्राप्ति और धर्मका लाभ कराता है। दुःस्वप्नका नाश और पापका निवारण कर देता है। किसी समय देवलोकमें गये हुए उदारकीर्ति राजा रेवतने छालिक्य गान्धर्वको इतनी तन्मयता-के साथ सुना था कि उन्हें चार हजार युगोंका समय भी एक दिनके समान ही प्रतीत हुआ। राजन्! उसी छालिक्य गान्धर्वसे कुमारजाति तथा अन्य गान्धर्व जातिकी प्रवृत्ति हुई है। ठीक उसी तरह, जैसे एक दीपकसे सैकड़ों दीपक जल जाते हैं॥ ७७-७८½॥

विवेद कृष्णश्च स नारदश्च
प्रद्युम्नमुख्यैर्नृप भैममुख्यैः॥ ७९॥
विज्ञानमेतद्धि परे यथाव-
दुद्देशमात्राद्य जनास्तु लोके।
जानन्ति छालिक्यगुणोदयानां
तोयं नदीनामथवा समुद्रः॥ ८०॥
ज्ञातुं समर्थो हि महागिरिर्वा
फलाग्रतो वा गुणतोऽथ वापि।
शक्यं न छालिक्यमृते तपोभिः
स्थाने विधानान्यथ मूर्च्छनासु॥ ८१॥

नरेश्वर! प्रद्युम्न आदि मुख्य-मुख्य यादवोंके साथ भगवान् श्रीकृष्ण और नारदजी ही छालिक्य गुणोदयके इस विज्ञानको यथावत् रूपसे जानते हैं। संसारके दूसरे मनुष्योंको तो इसकी नाम मात्रकी ही जानकारी है। जैसे नदियोंके जलको समुद्र अथवा कोई विशाल पर्वत ही यथार्थ रूपसे जान सकता है, उसी प्रकार भगवान् ही छालिक्यके श्रेष्ठ फल अथवा गुणोंको ठीक-ठीक जानते हैं। तपस्या किये बिना छालिक्य गान्धर्वको तथा उसकी

मूर्च्छनाविषयक विधानको नहीं जाना जा सकता । यह कथन सर्वथा उचित ही है ॥ ७९—८१ ॥

षड्ग्रामरागेषु च तत्तु कार्यं
तस्यैकदेशावयवेन राजन् ।
लेशाभिधानां सुकुमारजातिं
निष्ठां सुदुःखेन नराः प्रयान्ति ॥ ८२ ॥

राजन् ! छः ग्रामोंवाले जो राग हैं, उनमें भी छालिक्य-का उसके एकदेशीय अवयवके द्वारा गान करना चाहिये। लेश नामक जो छालिक्यकी सुकुमार जाति है, उसका गान करनेवाले मनुष्य भी बड़े दुःखसे (कठिनाईसे) उसकी समाप्ति कर पाते हैं (फिर सम्पूर्ण छालिक्यके गानकी तो बात ही क्या है ?) ॥ ८२ ॥

छालिक्यगान्धर्वगुणोदयेषु
ये देवगन्धर्वमहर्षिसंघाः ।
निष्ठां प्रयान्तीत्यवगच्छ बुद्ध्या
छालिक्यमेवं मधुसूदनेन ॥ ८३ ॥
भैमोत्तमानां नरदेव दत्तं
लोकस्य चानुग्रहकाम्ययैव ।
गतं प्रतिष्ठाममरोपगेयं
बाला युवानश्च तथैव वृद्धाः ॥ ८४ ॥
क्रीडन्ति भैमाः प्रसवोत्सवेषु
पूर्वं तु बालाः समुदावहन्ति ।
वृद्धाश्च पश्चात् प्रतिमानयन्ति
स्थानेषु नित्यं प्रतिमानयन्ति ॥ ८५ ॥

नरदेव ! जो देवता, गन्धर्व और महर्षियोंके समुदाय हैं, वे ही छालिक्य गान्धर्वके गुणोंके प्रकट करनेकी कलामें पारंगत होते हैं। इस बातको तुम अपनी बुद्धिद्वारा अच्छी तरह जान लो। ऐसा समझकर ही भगवान् मधुसूदनने सम्पूर्ण जगत्पर अनुग्रह करनेकी इच्छासे मुख्य यादवोंको छालिक्य गान्धर्वका ज्ञान प्रदान किया था। वह देवताओं-द्वारा गाये जाने योग्य छालिक्य इस प्रकार मनुष्यलोकमें प्रतिष्ठित हुआ है। बालक, युवक और वृद्ध यदुवंशी जन्मोत्सवोंमें उक्त गान्धर्वद्वारा क्रीड़ा या मनोरञ्जन करते थे। पहले बालक उस कलाको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करने लगे। तत्पश्चात् वृद्धलोग भी उसके प्रति आदरका भाव दिखाने लगे; फिर तो सब लोग सदा सभी स्थानोंमें उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ८३—८५ ॥

मर्त्येषु मर्त्यान् यदवोऽतिवीराः
स्ववंशधर्मं समनुस्मरन्तः ।
पुरातनं धर्मविधानतज्ज्ञाः
प्रीतिः प्रमाणं न वयः प्रमाणम् ॥ ८६ ॥

धर्मके विधानको जाननेवाले अत्यन्त वीर यादव अपने पुरातन वंश-धर्मका स्मरण करते हुए मर्त्यलोकमें मनुष्योंको जो सदा सम्मान देते थे, वह इस बातका सूचक है कि प्रेम ही प्रधान एवं महत्त्वकी वस्तु है। अवस्थाका महत्त्व नहीं है ॥ ८६ ॥

प्रीतिप्रमाणानि हि सौहृदानि
प्रीतिं पुरस्कृत्य हि ते दशार्हाः ।
वृष्ण्यन्धकाः पुत्रसखा बभूवु-
र्विसर्जिताः केशिविनाशनेन ॥ ८७ ॥

सौहार्दका मूल आधार है प्रेम। अतः वे दशार्ह, वृष्णि और अन्धक-वंशी यादव पुत्रोंके साथ भी मित्रवत् बर्ताव करते थे। उस उत्सवके बाद भगवान् केशिविनाशन श्री-कृष्णने उन सबको विदा कर दिया ॥ ८७ ॥

स्वर्गं गताश्चाप्सरसां समूहाः
कृत्वा प्रणामं मधुकंसशत्रोः ।
प्रहृष्टरूपस्य सुहृष्टरूपा
बभूव हृष्टः सुरलोकसङ्घः ॥ ८८ ॥

तत्पश्चात् वे अप्सराएँ भी मधु और कंसके शत्रु आनन्द-मूर्ति श्रीकृष्णको प्रणाम करके स्वयं भी अत्यन्त हर्षमें मग्न हो स्वर्गलोकको चली गयीं। उस समय देवताओंके समुदाय-में हर्ष छा गया ॥ ८८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि भानुमतीहरणे छालिक्यक्रीडा-वर्णने एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें भानुमतीहरणके प्रसङ्गमें छालिक्य-क्रीडाका वर्णनविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥



नवतितमोऽध्यायः

निकुम्भद्वारा भानुमतीका अपहरण, श्रीकृष्ण, अर्जुन और प्रद्युम्नके साथ उसका युद्ध, गोकर्णतीर्थमें उसका पतन, प्रद्युम्नका भानुमतीको लेकर द्वारका पहुँचाना, फिर तीनोंका निकुम्भके साथ युद्ध, उसकी अद्भुत मायाका वर्णन और श्रीकृष्णद्वारा निकुम्भका वध

वैशम्पायन उवाच

तेषां क्रीडावसक्तानां यदूनां पुण्यकर्मणाम्।
छिद्रमासाद्य दुर्बुद्धिर्देवशत्रुर्दुरासदः॥ १॥
कन्यां भानुमतीं नाम भानोर्दुहितरं नृप।
जहारात्मवधाकाङ्क्षी निकुम्भो नाम दानवः॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब पुण्यकर्मा यदुवंशी जलक्रीड़ामें आसक्त हो रहे थे, उसी समय मौका पाकर दुर्जय देवद्रोही दुर्बुद्धि दानव निकुम्भने मानो अपने ही वधकी इच्छासे भानु नामक यादवकी पुत्री भानुमतीका अपहरण कर लिया॥ १-२॥

अन्तर्हितो मोहयित्वा यदूनां प्रमदाजनम्।
मायावी मायया राजन् पूर्ववैरमनुस्मरन्॥ ३॥

राजन्! अदृश्यरूपसे अन्तःपुरमें पहुँचकर मायाद्वारा यादवोंकी स्त्रियोंको मोहित करके उस मायावी दानवने पहलेके वैरको याद रखते हुए ही भानुमतीका अपहरण किया था॥ ३॥

भ्रातुर्हि वज्रनाभस्य तस्य कन्या प्रभावती।
प्रद्युम्नेन हृता वीर वज्रनाभस्तथा हतः॥ ४॥

वीर नरेश! उसके भाई वज्रनाभकी एक कन्या थी, जो प्रभावतीके नामसे विख्यात थी। प्रद्युम्नने उसे हर लिया और वज्रनाभको भी मार डाला॥ ४॥

भानोरेव तथारण्ये वसत्यवसरेण हि।
अस्वाधीने दुराधर्षे छिद्रज्ञो दानवाधमः॥ ५॥

तबसे वह नीच दानव अवसरकी खोजके लिये भानुके ही उपवनमें रहा करता था। भानुका कन्यापुर यद्यपि बड़ा ही दुर्धर्ष था, तथापि उस समय किसी रक्षकके अधीन नहीं था। उसकी इस दुर्बलताको दानवाधम निकुम्भ जानता था; (इसलिये उसे कन्याको हर लेनेका अवसर मिल गया)॥ ५॥

कन्यापुरे महानादः सहसा समुपस्थितः।
तस्यां ह्रियन्त्यां कन्यायां रुदन्त्यां समितिंजय॥ ६॥

शत्रुविजयी नरेश! जब उस भानुकुमारीका अपहरण होने लगा और वह रोने-चिल्लाने लगी, उस समय सहसा कन्यापुरमें बड़े जोरसे कोलाहल मच गया॥ ६॥

वसुदेवाहुकौ वीरौ दंशितौ निर्गतावुभौ।
आर्तनादमुपश्रुत्य भानोः कन्यापुरे तदा॥ ७॥

भानुके कन्यापुरमें होनेवाले आर्तनादको सुनकर वीर वसुदेव और उग्रसेन दोनों कवच धारण करके तत्काल बाहर निकले॥ ७॥

न दृष्टिगोचरे तौ तु ददृशातेऽपकारिणम्।
तथैव दंशितौ यातौ यत्र कृष्णो महाबलः॥ ८॥

परंतु जहाँतक उनकी दृष्टि गयी, वहाँतक किसी अपराधीको उन्होंने नहीं देखा; फिर वे दोनों उसी तरह कवच बाँधे उस स्थानपर गये, जहाँ महाबली श्रीकृष्ण विराजमान थे॥ ८॥

श्रुतार्थः स्वं विमानं तदारुरोह जनार्दनः।
पार्थेन सहितस्तार्क्ष्यं नागशत्रुमरिंदमः॥ ९॥

उनके मुखसे द्वारकापुरका सब समाचार सुनकर शत्रुओंका दमन करनेवाले श्रीकृष्ण उस समय अर्जुनके साथ अपने वाहन सर्पशत्रु गरुड़पर आरूढ़ हुए॥ ९॥

रथी त्वमनुगच्छेति संदिश्य मकरध्वजम्।
त्वरेति गरुडं वीरः संदिदेश च काश्यपम्॥ १०॥

फिर वे वीर श्रीकृष्ण प्रद्युम्नको यह आदेश देकर कि तुम रथपर बैठकर मेरे साथ आओ, कश्यपनन्दन गरुड़से बोले, शीघ्रता करो॥ १०॥

वज्रं नगरमायान्तं निकुम्भं रणदुर्जयम्।
पार्थकृष्णौ महात्मानावासेदतुररिंदमौ॥ ११॥

वज्र नामक नगरकी ओर जाते हुए रणदुर्जय निकुम्भको शत्रुओंका दमन करनेवाले महात्मा अर्जुन और श्रीकृष्णने रास्तेमें ही पा लिया॥ ११॥

प्रद्युम्नश्च महातेजा मायिनां प्रवरो नृप।
निकुम्भश्चाथ तान् दृष्ट्वा त्रिधाऽऽत्मानमथाकरोत्॥ १२॥

नरेश्वर! मायावियोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी प्रद्युम्न भी उसके पास जा पहुँचे। निकुम्भने उन तीनोंको देखकर अपने तीन रूप बना लिये॥ १२॥

तान् सर्वान् योधयामास निकुम्भः प्रहसन्निव।
बहुकण्टकगुर्वीभिर्गदाभिरमरोपमः॥ १३॥

तत्पश्चात् देवोपम वीर निकुम्भ अनेक काँटोंसे भरी हुई भारी गदाके द्वारा उन सबके साथ हँसता हुआ-सा युद्ध करने लगा॥ १३॥

सव्येनालम्ब्य हस्तेन कन्यां भानुमतीं नृप।
दक्षिणेनाथ हस्तेन गदया प्राहरत् पुनः॥ १४॥

नरेश्वर! बायें हाथसे यादवकन्या भानुमतीको पकड़कर

(उसे ढालकी भाँति सामने रखकर) वह दाहिने हाथसे बारंबार गदाका प्रहार करता था ॥ १४ ॥

कन्यार्थं न च कृष्णौ वा कामो वा नृपसत्तम।
निर्दयं प्रहरन्ति स्म निकुम्भे च महासुरे ॥ १५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! कन्याकी रक्षाके लिये ही श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा प्रद्युम्न उस निकुम्भ नामक महान् असुरपर निर्दयतापूर्वक प्रहार नहीं करते थे ॥ १५ ॥

समर्थास्ते महात्मानः शत्रुं हन्तुं दुरासदाः ।
निशश्वसुर्नरपते दयाभारावपीडिताः ॥ १६ ॥

महाराज ! वे दुर्जय महात्मा उस शत्रुका वध करनेमें सर्वथा समर्थ थे तो भी दयाके भारसे दबे होनेके कारण वे निःश्वास लेकर रह जाते थे ॥ १६ ॥

श्रेष्ठो धनुष्मतां पार्थः सर्वथा कुशलो युधि ।
नागोष्ट्रविधिना दैत्यं शरपङ्क्त्या जघान ह ॥ १७ ॥

धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन युद्धमें सर्वथा कुशल थे; अतः वे नागोष्ट्र-विधिसे अपने बाणसमूहद्वारा उस दैत्यको घायल करने लगे ॥ १७ ॥

ते तु वैतस्तिकैर्बाणैर्विविधान् दानवान् युधि ।
न कन्यां कलया युक्त्या शिक्षया च महीपते ॥ १८ ॥

पृथ्वीनाथ ! वे श्रीकृष्ण आदि वीर अपनी कला, युक्ति और शिक्षाके प्रभावसे एक-एक वित्तेके बाणोंद्वारा नाना प्रकारके दानवोंको उस युद्धमें घायल करते थे; किंतु राजकन्याको चोट नहीं लगने देते थे ॥ १८ ॥

ततः स कन्यया सार्द्धं तत्रैवान्तरधीयत ।
आसुरीमाश्रितो मायां न च तां वेत्ति कश्चन ॥ १९ ॥

तब वह आसुरी मायाका आश्रय लेकर कन्याके साथ वहीं अन्तर्धान हो गया । उस मायाको उन तीनोंमेंसे कोई नहीं जानता था ॥ १९ ॥

तं कृष्णौ रौक्मिणेयश्च पृष्ठतोऽनुययुस्तदा ।
हारितः शकुनो भूत्वा तस्थावथ महासुरः ॥ २० ॥

श्रीकृष्ण, अर्जुन और प्रद्युम्न तीनोंने ही तत्काल उस दानवका पीछा किया । आगे जाकर वह महान् असुर हारित पक्षी होकर बैठ गया ॥ २० ॥

तं बाणैः पुनरेवाथ वीरो भूयो धनंजयः ।
वैतस्तिकैर्मर्मभिद्भिः कन्यां रक्षन्नताडयत् ॥ २१ ॥

तब वीर धनंजयने पुनः कन्याकी रक्षा करते हुए वैतस्तिक नामक मर्मभेदी बाणोंद्वारा उस दैत्यपर प्रहार किया॥

स इमां पृथिवीं कृत्स्नां सप्तद्वीपां महासुरः ।
बभ्रामानुगतश्चैव तैर्वीरैररिमर्दनः ॥ २२ ॥

तब वह शत्रुमर्दन महान् असुर इस सात द्वीपोंसे युक्त सारी पृथ्वीपर चक्कर लगाने लगा और वे तीनों वीर निरन्तर उसका पीछा करते रहे ॥ २२ ॥

गोकर्णस्योपरिष्टात्तु पर्वतस्य महासुरः ।
पपात वेलां गङ्गायाः पुलिने सह कन्यया ॥ २३ ॥

वह महान् असुर जब गोकर्ण पर्वतके ऊपरसे होकर निकलने लगा, उस समय कन्यासहित गङ्गातटपर समुद्रके किनारे गिर पड़ा ॥ २३ ॥

न देवा नासुराश्चापि लङ्घयन्ति तपोधनाः ।
गोकर्णं तेजसा गुप्तं महादेवस्य भारत ॥ २४ ॥

भरतनन्दन ! गोकर्ण पर्वत महादेवजीके तेजसे सुरक्षित है । उसे देवता, असुर तथा तपोधन महर्षि भी नहीं लाँघ सकते हैं ॥ २४ ॥

एतदन्तरमासाद्य प्रद्युम्नः शीघ्रविक्रमः ।
कन्यां भानुमतीं भैमो जग्राह रणदुर्जयः ॥ २५ ॥

यह अवसर पाकर भीमकुलभूषण शीघ्रपराक्रमी रणदुर्जय वीर प्रद्युम्नने उस कन्या भानुमतीको अपने साथ ले लिया २५

असुरः सोऽर्दितो राजन् कृष्णाभ्यां निशितैः शरैः ।
त्यक्त्वाथोत्तरगोकर्णं निकुम्भो दक्षिणां दिशम् ।
जगाम पृष्ठतो यातौ कृष्णौ तार्क्ष्यगतौ तदा ॥ २६ ॥

राजन् ! श्रीकृष्ण और अर्जुनद्वारा तीखे बाणोंसे पीड़ित किया गया असुर निकुम्भ उत्तर गोकर्णको त्यागकर दक्षिण दिशाकी ओर चल दिया । गरुड़पर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन भी उस समय उसके पीछे-पीछे गये ॥ २६ ॥

विवेश षट्पुरं चैव ज्ञातीनामालयं तदा ।
तत्र वीरौ गुहाद्वारि कृष्णौ रात्रौ तदोषतुः ॥ २७ ॥

निकुम्भ अपने सजातीय बन्धुओंके निवासस्थान षट्पुरमें जा घुसा । श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों वीर रातमें वहाँ गुफाके द्वारपर बैठे रहे ॥ २७ ॥

रौक्मिणेयोऽपि कृष्णेन संदिष्टो द्वारकां पुरीम् ।
अनयद् भानुतनयां प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ २८ ॥

श्रीकृष्णकी आज्ञा पाकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नने प्रसन्नमनसे भानुकुमारी भानुमतीको द्वारकापुरीमें पहुँचा दिया २८

नयित्वा चाययौ वीरः षट्पुरं दानवाकुलम् ।
ददर्श च गुहाद्वारि कृष्णौ भीमपराक्रमौ ॥ २९ ॥

उसे पहुँचाकर वीर प्रद्युम्न पुनः दानवोंसे भरे हुए षट्पुरमें आये और वहाँ गुफाके द्वारपर भयंकर पराक्रमी श्रीकृष्ण और अर्जुनसे मिले ॥ २९ ॥

---

१. नागोष्ट्रका अर्थ है सर्प और ऊँट । किसी वनमें एक ऊँटके शरीरपर अजगर सर्प लिपट गया था । यह देख किसी धनुर्धर वीरने अपना अस्त्र-लाघव दिखाते हुए ऐसा बाण मारा, जिससे अजगर तो मारा गया, किंतु ऊँट बाल-बाल बच गया । यही नागोष्ट्र-विधि है । ये अर्जुन आदि वीर अपने बाणोंसे दैत्यको घायल करते थे, किंतु कन्याके शरीरपर आँच नहीं आने देते थे ।

ऊषतुर्द्वारमाक्रम्य षट्पुरस्य महाबलौ ।
कृष्णौ प्रद्युम्नसहितौ निकुम्भवधकाङ्क्षिणौ ॥ ३० ॥

निकुम्भके वधकी इच्छा रखनेवाले महाबली श्रीकृष्ण और अर्जुन प्रद्युम्नके साथ षट्पुरका दरवाजा घेरकर बैठे थे ॥

ततोऽनन्तरमेतस्माद् विलादतिवलस्तदा ।
निर्जगाम बली योद्धुं निकुम्भो भीमविक्रमः ॥ ३१ ॥

तदनन्तर भयंकर पराक्रमी अत्यन्त बलशाली बली निकुम्भ युद्धके लिये उस बिलसे बाहर निकला ॥ ३१ ॥

तस्य निर्गच्छतस्तस्माद् बिलात् पार्थो विशाम्पते ।
रुरोध सर्वतो मार्गं शरैर्गाण्डीवनिःसृतैः ॥ ३२ ॥

प्रजानाथ ! उस बिलसे निकलते समय निकुम्भके मार्गको अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा चारों ओरसे अवरुद्ध कर दिया ॥ ३२ ॥

सोऽभिसृत्य गदां घोरामुद्यम्य बहुकण्टकाम् ।
शिरस्यताडयत् पार्थं निकुम्भो बलिनां वरः ॥ ३३ ॥

तब बलवानोंमें श्रेष्ठ निकुम्भने निकट आकर बहुतेरे कण्टकोंसे भरी हुई अपनी भयानक गदाको उठाकर अर्जुनके मस्तकपर दे मारा ॥ ३३ ॥

अदृष्टेनाहतो वीरः शिरस्यथ मुमोह सः ।
गदयाभिहते पार्थे रक्तं वमति मुह्यति ॥ ३४ ॥
हसित्वा सोऽसुरो दृप्तो रौक्मिणेयमताडयत् ।
तं प्राङ्मुखमुखं वीरं मायावी मायिनां वरम् ।
अदृष्टेनाहतो वीरः शिरस्यथ मुमोह सः ॥ ३५ ॥

उसने अदृश्य रहकर यह आघात किया था । सिरपर गदाकी चोट पड़नेसे वीर अर्जुन मूर्च्छित हो गये । वे रक्त वमन करते हुए जब अचेत हो गये, तब उस घमंडी एवं मायावी असुरने हँसकर मायावियोंमें श्रेष्ठ वीर रुक्मिणी-कुमारको चोट पहुँचायी । वे पूर्वाभिमुख होकर खड़े थे; अतः उस असुरको उन्होंने देखा नहीं था । उस अदृश्य असुरके द्वारा सिरपर आघात होनेसे वीर प्रद्युम्नको भी मूर्च्छा आ गयी ॥ ३४-३५ ॥

तथागतौ तु दृष्ट्वा तौ मुह्यमानौ सुताडितौ ।
अभिदुद्राव गोविन्दो निकुम्भं क्रोधमूर्छितः ॥ ३६ ॥
कौमोदकीं समुद्यम्य गदपूर्वोद्भवो गदाम् ।

भारी आघातसे पीड़ित हो अचेत पड़े हुए उन दोनों वीरोंको देखकर भगवान् श्रीकृष्णका क्रोध बहुत बढ़ गया और वे गदके बड़े भाई गोविन्द कौमोदकी गदा उठाकर निकुम्भकी ओर दौड़े ॥ ३६½ ॥

तावन्योन्यं दुराधर्षौ गर्जन्तावभिपेततुः ॥ ३७ ॥
ऐरावतगतः शक्रः सर्वैर्देवगणैः सह ।
ददर्श तन्महायुद्धं घोरं देवासुरं तदा ॥ ३८ ॥

वे दोनों दुर्धर्ष वीर गर्जना करते हुए एक-दूसरेपर टूट पड़े । ऐरावतपर बैठे हुए इन्द्र समस्त देवताओंके साथ आकर उस समय देवताओं और असुरोंके उस घोर महायुद्धको देखने लगे ॥ ३७-३८ ॥

दृष्ट्वा देवान् हृषीकेशश्चित्रैर्युद्धैररिंदमः ।
इयेष दानवं हन्तुं देवानां हितकाम्यया ॥ ३९ ॥

देवताओंको देखकर शत्रुओंका दमन करनेवाले श्रीकृष्णने उनके हितकी कामनासे विचित्र युद्धोंद्वारा उस दानवको मार डालनेकी इच्छा की ॥ ३९ ॥

स मण्डलानि चित्राणि दर्शयामास केशवः ।
कौमोदकीं महाबाहुर्लालयन् युद्धकोविदः ॥ ४० ॥

युद्धकलाकोविद महाबाहु श्रीकृष्ण अपनी कौमोदकी गदाका लालन करते हुए विचित्र मण्डल (पैंतरे) दिखाने लगे ॥ ४० ॥

तथैवासुरमुख्योऽपि गदां तां बहुकण्टकाम् ।
शिक्षया भ्रामयाणोऽथ मण्डलानि चचार ह ॥ ४१ ॥

इसी प्रकार असुरोंमें श्रेष्ठ निकुम्भ भी अपनी बहुत-से कण्टकोंवाली गदाको शिक्षाके अनुसार घुमाता हुआ पैंतरे दिखाने लगा ॥ ४१ ॥

वृषभाविव गर्जन्तौ बृहन्ताविव कुञ्जरौ ।
इषितान्तरमासाद्य क्रुद्धौ शालावृकाविव ॥ ४२ ॥

जैसे वासिता—मैथुनकी इच्छावाली गायको अपने बीचमें पाकर दो साँड़ हँकड़ते हुए आपसमें लड़ते हैं; जैसे वासिता हथिनीके लिये दो हाथी चिग्घाड़ते हुए परस्पर युद्ध करते हैं तथा जैसे दो भेड़िये किसी माँदा भेड़ियाके लिये परस्पर जूझते हैं, उसी प्रकार वे श्रीकृष्ण और निकुम्भ क्रोधमें भरकर एक दूसरेसे भिड़े हुए थे ॥ ४२ ॥

आजघान निकुम्भस्तु गदया गदपूर्वजम् ।
स्पष्टाष्टघंटया वीर नादं मुक्त्वातिदारुणम् ॥ ४३ ॥

वीर नरेश ! निकुम्भने अत्यन्त भयंकर सिंहनाद करके जिसमें आठ घण्टियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं, ऐसी गदाके द्वारा भगवान् गदाग्रजपर आघात किया ॥ ४३ ॥

तत्कालमेव कृष्णोऽपि भ्रामयित्वा महागदाम् ।
निकुम्भमूर्द्धनि तदा पातयामास भारत ॥ ४४ ॥

भरतनन्दन ! भगवान् श्रीकृष्णने तत्काल ही अपनी विशाल गदा घुमाकर उस समय निकुम्भके मस्तकपर दे मारी ॥ ४४ ॥

अवष्टभ्य मुहूर्तं तु हरिः कौमोदकीं गदाम् ।
तस्थौ जगद्गुरुर्धीमान् मुमोह पतितः क्षितौ ॥ ४५ ॥

उस समय बुद्धिमान् जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण दो घड़ी-तक कौमोदकी गदाको थामे हुए खड़े रहे । तत्पश्चात् (अपनी ही इच्छासे) मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥४५॥

हाहाभूतं जगत् सर्वं तत्कालमभवत् तदा ।
तथागते वासुदेवे नरदेव महात्मनि ॥ ४६ ॥

नरदेव ! उस समय महात्मा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी वैसी अवस्था हो जानेपर तत्काल सारे जगत्में हाहाकार मच गया ॥ ४६ ॥

आकाशगङ्गातोयेन शीतेन च सुगन्धिना ।
सिषेचामृतमिश्रेण कृष्णं देवेश्वरः स्वयम् ॥ ४७ ॥

स्वयं देवेश्वर इन्द्रने अमृतमिश्रित आकाशगङ्गाके शीतल एवं सुगन्धित जलसे श्रीकृष्णका अभिषेक किया ॥ ४७ ॥

नूनमात्मेच्छया कृष्णस्तथा चक्रे सुरोत्तमः ।
को हि शक्तो महात्मानं युद्धे मोहयितुं हरिम् ॥ ४८ ॥

निश्चय ही सुरश्रेष्ठ श्रीकृष्णने अपनी इच्छासे ही ऐसा (मूर्च्छाका अभिनय) किया था; अन्यथा युद्धमें उन महात्मा श्रीहरिको मूर्च्छित कर देनेकी शक्ति किसमें है ? ॥ ४८ ॥

कृष्णः प्रत्यागतप्राणश्चक्रमुद्यम्य भारत ।
प्रतीच्छेति दुरात्मानमुवाच रिपुनाशनः ॥ ४९ ॥

भारत ! सचेत होनेपर शत्रुनाशन श्रीकृष्णने चक्र उठाकर उस दुरात्मासे कहा—'अरे ! अब इस चक्रकी चोट सहन कर' ॥ ४९ ॥

निकुम्भोऽप्यतिमायावी उत्पपात दुरासदः ।
शरीरं तत् परित्यज्य न तु तं वेत्ति केशवः ॥ ५० ॥

उनकी यह बात सुनकर अत्यन्त मायावी दुर्जय वीर निकुम्भ भी अपने उस शरीरको वहीं त्यागकर ऊपरकी ओर उड़ गया । श्रीकृष्णको उसकी इस चालका पता न लगा ॥ ५० ॥

मुमूर्षति मृतो वायमिति मत्वा जनार्दनः ।
ररक्ष स्मरमाणोऽथ वीरो वीरव्रतं विभो ॥ ५१ ॥

प्रभो ! यह मरना चाहता है अथवा मर गया है—ऐसा समझकर वीर-व्रतका स्मरण रखते हुए वीर जनार्दनने उसकी रक्षा की (गिरे हुए उस दानवके शरीरपर अपना अस्त्र नहीं चलाया) ॥ ५१ ॥

अथ प्रद्युम्नकौन्तेयावागतौ लब्धचेतनौ ।
स्थितौ नारायणाभ्याशे निकुम्भवधनिश्चितौ ॥ ५२ ॥

तदनन्तर प्रद्युम्न और अर्जुन दोनों सचेत हो श्रीकृष्णके निकट आकर खड़े हो गये । उन दोनोंने निकुम्भके वधका निश्चय कर लिया था ॥ ५२ ॥

प्रद्युम्नोऽप्यथ मायावी विदितः कृष्णमब्रवीत् ।
निकुम्भस्तात नास्त्यत्र गतः क्वापि सुदुर्मतिः ॥ ५३ ॥

प्रद्युम्न भी मायावी थे; अतः उन्होंने निकुम्भकी मायाको पहचान लिया और श्रीकृष्णसे कहा—'तात ! निकुम्भ यहाँ नहीं है । वह दुर्बुद्धि कहीं चला गया' ॥ ५३ ॥

प्रद्युम्नेनैवमुक्ते तु तन्ननाश कलेवरम् ।
प्रजहासाथ भगवानर्जुनेन सह प्रभुः ॥ ५४ ॥

प्रद्युम्नके इतना कहते ही निकुम्भका वह कलेवर अदृश्य हो गया । यह देख अर्जुनके साथ भगवान् श्रीकृष्ण जोर-जोरसे हँसने लगे ॥ ५४ ॥

तदायुतसहस्राणि निकुम्भानां जनाधिप ।
ददृशुस्ते ततो वीराः क्षितौ दिवि च सर्वतः ॥ ५५ ॥

नरेश्वर ! इतनेहीमें उन वीरोंने पृथ्वीपर, आकाशमें तथा सब ओर सहस्रों अयुत (एक करोड़) निकुम्भके शरीर देखे ॥ ५५ ॥

सहस्राण्येव कृष्णं तु तथा पार्थमरिंदम ।
रौक्मिणेयं तथा वीरं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ५६ ॥

शत्रुदमन नरेश ! श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा रुक्मिणीकुमार वीर प्रद्युम्नके भी सहस्रों शरीर दिखायी दिये । वह अद्भुत-सा दृश्य प्रकट हुआ ॥ ५६ ॥

पाण्डवस्य धनुः केचित्केचिदस्य महाशरान् ।
अन्येऽस्य जगृहुर्हस्तावन्ये पादौ महासुराः ॥ ५७ ॥

किन्हीं महान् असुरोंने अर्जुनका धनुष ले लिया, किन्हींने उनके बड़े-बड़े बाण छीन लिये, दूसरोंने उनके दोनों हाथ पकड़ लिये और अन्य असुरोंने उनके दोनों पैर ॥

एवं प्रगृह्य तं वीरमगमंस्ते विहायसि ।
पार्थानामपि कोट्यस्तु गृहीतानां तदाभवन् ॥ ५८ ॥

इस तरह वीर अर्जुनको पकड़कर वे सब आकाशमें ले गये; फिर उन असुरोंद्वारा पकड़े गये अर्जुनके करोड़ों रूप हो गये ॥ ५८ ॥

नान्तं ददर्श कृष्णश्च कार्ष्णिश्च रिपुनाशनौ ।
विच्छिद्य तौ शरैर्वीरौ निकुम्भं पार्थवर्जितौ ॥ ५९ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले श्रीकृष्ण और प्रद्युम्न दोनों वीरोंने पार्थसे रहित हो अपने बाणोंसे निकुम्भको काट डाला तो भी उसका अन्त होता नहीं देखा ॥ ५९ ॥

एकैकस्तु द्विधा छिन्नो द्वेधा भवति भारत ।
दिव्यज्ञानस्तदा कृष्णो भगवाननुदृष्टवान् ॥ ६० ॥

भारत ! एक-एक निकुम्भके दो टुकड़े कर देनेपर वह एकसे दो रूप धारण कर लेता था । उस समय दिव्य-ज्ञानसम्पन्न भगवान् श्रीकृष्णने बारंबार उसके विषयमें विचार किया ॥ ६० ॥

निकुम्भं तत्त्वतश्चापि ददर्श मधुसूदनः ।
स्रष्टारं सर्वमायानां हर्तारं फाल्गुनस्य च ॥ ६१ ॥

तब भगवान् मधुसूदनने सम्पूर्ण मायाओंके स्रष्टा तथा अर्जुनका अपहरण करनेवाले निकुम्भको यथार्थ रूपसे देखा ॥

स चक्रेण शिरस्तस्य चकर्तासुरसूदनः ।
पश्यतां सर्वभूतानां भूतभव्यभवो हरिः ॥ ६२ ॥

भूत, वर्तमान और भविष्यको उत्पन्न करनेवाले असुरसूदन श्रीहरिने समस्त प्राणियोंके देखते-देखते अपने चक्रसे निकुम्भका सिर काट लिया ॥ ६२ ॥

स मुक्त्वा फाल्गुनं राजञ्छिन्ने शिरसि भारत ।
पपातासुरमुख्योऽथ च्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ ६३ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! सिर कट जानेपर वह मुख्य असुर अर्जुनको छोड़कर जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६३ ॥

अथाकाशगतं पार्थं पतमानं विहायसः ।
कृष्णवाक्येन जग्राह कार्ष्णिर्वियति मानद ॥ ६४ ॥

मानद ! उस समय श्रीकृष्णकी आज्ञासे प्रद्युम्नने आकाशमें पहुँचकर वहाँसे गिरते हुए अर्जुनको पकड़ लिया ॥

निकुम्भे पतिते भूमौ समाश्वास्य धनंजयम् ।
जगाम द्वारकां देवः पार्थकामसमन्वितः ॥ ६५ ॥

निकुम्भके धराशायी हो जानेपर अर्जुनको आश्वासन दे उनके और प्रद्युम्नके साथ भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाको चले गये ॥ ६५ ॥

समियाय दशार्होऽथ द्वारकां मुदितो विभुः ।
नारदं च महात्मानं ववन्दे यदुनन्दनः ॥ ६६ ॥

दशार्हवंशी यदुकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने बड़ी प्रसन्नताके साथ द्वारकामें पदार्पण किया और वहाँ महात्मा नारदजीको मस्तक झुकाया ॥ ६६ ॥

नारदोऽथ महातेजा भानुं यादवमब्रवीत् ।
भानो मा कार्षीर्मन्युं त्वं श्रूयतां भैमनन्दन ॥ ६७ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी नारदजीने भानु नामक यादवसे कहा—"भैमनन्दन ! भानो ! कन्याका अपहरण होनेके कारण मनमें खेद न करो । मेरी बात सुनो ॥ ६७ ॥

क्रीडन्त्या रैवतोद्याने दुर्वासाः कोपितोऽनया ।
स शशाप ततो रोषान्मुनिर्दुहितरं तव ॥ ६८ ॥

"यह भानुमती किसी दिन रैवतवनके उद्यानमें खेल रही थी । वहाँ इसने दुर्वासा मुनिको क्रोध दिला दिया । तब मुनिने क्रोधवश आपकी पुत्रीको शाप दे दिया—॥ ६८ ॥

अतिदुर्ललितैः कन्या शत्रुहस्तं गमिष्यति ।
सुतार्थे ते मया सार्द्धं मुनिभिः स प्रसादितः ॥ ६९ ॥
बालां व्रतवतीं कन्यामनागसमिमां मुने ।
शप्तवानसि धर्मज्ञ कथं धर्मभृतां वर ।
अनुग्रहं विधत्स्वात्र वयं विज्ञापयामहे ॥ ७० ॥

"यह कन्या अपनी दुर्ललित चेष्टाओंसे शत्रुके हाथमें पड़ जायगी ।' उस समय मैंने तथा दूसरे मुनियोंने आपकी इस पुत्रीके लिये दुर्वासाको प्रसन्न किया और कहा—'मुने ! यह बाला ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाली कन्या है । इसने आपका कोई अपराध भी नहीं किया है; फिर आपने इसे कैसे शाप दे दिया ? धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मज्ञ महर्षे ! इस कन्यापर अनुग्रह कीजिये । इसके लिये हमलोग यहाँ प्रार्थना करते हैं' ॥ ६९-७० ॥

अस्माभिरेवमुक्तस्तु दुर्वासा भैमनन्दन ।
उवाचाधोमुखो भूत्वा मुहूर्तं कृपयान्वितः ॥ ७१ ॥

"भैमनन्दन ! हमारे ऐसा कहनेपर दुर्वासाजी नीचे मुँह किये दो घड़ीतक मौन रहे; फिर दयापूर्वक बोले—॥ ७१ ॥

यदवोचमहं वाक्यं तत् तथा न तदन्यथा ।
रिपुहस्तमवश्यं हि गमिष्यति न संशयः ॥ ७२ ॥
अदूषिता नु धर्मेण भर्तारमुपलप्स्यति ।
बहुपुत्रा बहुधना सुभगा च भविष्यति ॥ ७३ ॥

"'महर्षियो ! मैंने जो बात कही है, वह उसी तरह होगी । उसे कोई बदल नहीं सकता । यह शत्रुके हाथमें अवश्य पड़ेगी, इसमें संशय नहीं है; परंतु यह भी निश्चय है कि यह दूषित नहीं होने पायगी और धर्मके अनुसार पतिको प्राप्त करेगी । इसके बहुत-से पुत्र होंगे । यह बहुत धनसे सम्पन्न और सौभाग्यवती होगी ॥ ७२-७३ ॥

सुगन्धगन्धा च सदा कुमारी च पुनः पुनः ।
न च शोकमिमं घोरं तन्वङ्गी धारयिष्यति ॥ ७४ ॥

"'इसके शरीरकी गन्ध सदा सुगन्धित होगी । यह पति-समागमके पश्चात् बारंबार कुमारी ही बनी रहेगी । इस कृशाङ्गी कन्याको अपने अपहरणजनित घोर शोकका स्मरण नहीं रहेगा' ॥ ७४ ॥

एवं भानुमती वीर सहदेवाय दीयताम् ।
श्रद्धधानः स शूरश्च धर्मशीलश्च पाण्डवः ॥ ७५ ॥

"वीर भानो ! तुम मेरी बात मानकर भानुमतीका सहदेवके साथ ब्याह कर दो; क्योंकि पाण्डुपुत्र सहदेव श्रद्धालु, शूरवीर तथा धर्मशील हैं" ॥ ७५ ॥

ततो भानुमतीं भानुर्ददौ माद्रीसुताय वै ।
सहदेवाय धर्मात्मा नारदस्य वचः स्मरन् ॥ ७६ ॥

तदनन्तर नारदजीके वचनोंको याद रखते हुए धर्मात्मा भानुने अपनी कन्या भानुमती माद्रीकुमार सहदेवको दे दी ॥

आनीतः सहदेवश्च प्रेषितश्चक्रपाणिना ।
विवाहे च तदा वृत्ते सभार्यः स पुरीं गतः ॥ ७७ ॥

चक्रपाणि भगवान् श्रीकृष्णने सहदेवको बुलवाया और उस समय विवाह-कार्य सम्पन्न हो जानेपर उन्हें पत्नीसहित विदा कर दिया, फिर वे अपनी पुरीको चले गये ॥ ७७ ॥

इमं कृष्णस्य विजयं यः पठेच्छृणुयादथ ।

विजयं सर्वकृत्येषु श्रद्दधानो लभेन्नरः ॥ ७८ ॥

जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक भगवान् श्रीकृष्णकी इस विजय-वार्ताको पढ़ेगा या सुनेगा; वह सभी कार्योंमें विजय प्राप्त करेगा ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि भानुमतीहरणे निकुम्भवधो नाम नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें भानुमतीहरणके प्रसङ्गमें निकुम्भका वधविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

वज्रनाभकी तपस्या और वरप्राप्ति, उसका त्रिभुवन-विजयके लिये उद्योग, इन्द्रकी श्रीकृष्णसे वार्ता, भद्रनामा नटको मुनियोंका वरदान, इन्द्रका हंसोंको आवश्यक कर्तव्य बताकर वज्रनाभपुरमें भेजना

जनमेजय उवाच

भानुमत्यापहरणं विजयं केशवस्य च।
छालिक्यनयनं चैव देवलोकान्महामुने ॥ १ ॥
क्रीडां च सागरे दिव्यां वृष्णीनाममितौजसाम्।
अश्रौषं परमाश्चर्यं मुने धर्मभृतां वर ॥ २ ॥

जनमेजयने कहा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महामुने! भानुमतीका अपहरण, श्रीकृष्णकी विजय, देवलोकसे छालिक्य गान्धर्वका आनयन और अत्यन्त तेजस्वी वृष्णिवंशियोंकी समुद्रमें होनेवाली दिव्यक्रीड़ा—इन सबका अत्यन्त आश्चर्य-युक्त वर्णन मैंने सुना है ॥ १-२ ॥

वज्रनाभवधो ह्युक्तो निकुम्भवधकीर्तने।
तन्मे कौतूहलं श्रोतुं प्रसादाद् भवतो मुने ॥ ३ ॥

मुने! निकुम्भ-वधका वर्णन करते समय आपने वज्रनाभके वधकी भी चर्चा की है। आपकी कृपासे उसे सुननेके लिये मेरे मनमें कौतूहल हो रहा है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते वर्तयिष्यामि वज्रनाभवधं नृप।
विजयं चैव कामस्य साम्बस्यैव च भारत ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—नरेश्वर! भरतनन्दन! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें वज्रनाभके वधका वृत्तान्त बताऊँगा। साथ ही प्रद्युम्न और साम्बकी विजयका भी वर्णन करूँगा॥

मेरोः सानौ नरपते तपश्चक्रे महासुरः।
वज्रनाभ इति ख्यातो निश्चितः समितिंजयः ॥ ५ ॥

नरेन्द्र! वज्रनाभ नामसे विख्यात महान् असुर निश्चय ही युद्धमें विजय पानेवाला था। एक समय उसने मेरुपर्वतके शिखरपर बड़ी भारी तपस्या की ॥ ५ ॥

तस्य तुष्टो महातेजा ब्रह्मा लोकपितामहः।
वरेण च्छन्दयामास तपसा परितोषितः ॥ ६ ॥

उसकी तपस्यासे महातेजस्वी लोकपितामह ब्रह्माजी बहुत संतुष्ट हुए। उन्होंने प्रसन्न होकर उससे इच्छानुसार वर माँगनेके लिये कहा ॥ ६ ॥

अवध्यत्वं स देवेभ्यो वव्रे दानवसत्तमः।
पुरं वज्रपुरं चापि सर्वरत्नमयं शुभम् ॥ ७ ॥

तब उस श्रेष्ठ दानवने देवताओंसे अवध्य होनेका वर माँगा; साथ ही सम्पूर्ण रत्नोंके बने हुए सुन्दर वज्रपुर नामक नगरकी भी याचना की ॥ ७ ॥

स्वच्छन्देन प्रवेशश्च न वायोरपि भारत।
अचिन्तितेन कामानामुपपत्तिर्नराधिप ॥ ८ ॥

भारत! उस नगरमें स्वच्छन्दतापूर्वक वायुका भी प्रवेश नहीं होता था। नरेश्वर! बिना चिन्तन किये ही वहाँ सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंकी प्राप्ति होती रहती थी ॥ ८ ॥

शाखानगरमुख्यानां संवाहानां शतानि च।
नगरस्याप्रमेयस्य समन्ताज्जनमेजय ॥ ९ ॥

जनमेजय! उस अप्रमेय नगरके चारों ओर शाखा-नगरोंके मुख्य-मुख्य सैकड़ों उद्यान शोभा पाते थे, जो चहारदीवारियोंसे घिरे हुए थे ॥ ९ ॥

तथा तदभवत् तस्य वरदानेन भारत।
उवास वज्रनगरे वज्रनाभो महासुरः ॥ १० ॥

भारत! उसको मिले हुए वरदानसे ही वह नगर उस रूपमें प्रतिष्ठित हुआ था। महान् असुर वज्रनाभ उस वज्र-नगरमें निवास करता था ॥ १० ॥

कोटिशो वरलब्धं तमसुराः परिवार्य ते।
ऊषुर्वज्रपुरे राजन् संवाहेषु तथैव च ॥ ११ ॥
शाखानगरमुख्येषु रम्येषु च नराधिप।
हृष्टपुष्टप्रमुदिता नृप देवस्य शात्रवः ॥ १२ ॥

राजन्! वर पाये हुए वज्रनाभको सब ओरसे घेरकर करोड़ों देवद्रोही असुर हृष्ट, पुष्ट और आनन्दित हो वज्रपुरमें तथा उसके शाखानगरोंके मुख्य-मुख्य घिरे हुए उद्यानोंमें निवास करते थे ॥ ११-१२ ॥

वज्रनाभोऽथ दुष्टात्मा वरदानेन दर्पितः ।
पुरस्य चात्मनश्चैव जगद् बाधितुमुद्यतः ॥ १३ ॥

अपनेको तथा अपने नगरको प्राप्त हुए वरदानसे घमंडमें भरा हुआ दुष्टात्मा वज्रनाभ सम्पूर्ण जगत्को कष्ट देनेके लिये उद्यत हो गया ॥ १३ ॥

महेन्द्रमब्रवीद् गत्वा देवलोकं विशाम्पते ।
अहमीशितुमिच्छामि त्रैलोक्यं पाकशासन ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! वह देवलोकमें जाकर महेन्द्रसे बोला—'पाकशासन ! मैं तीनों लोकोंपर शासन करना चाहता हूँ १४

अथवा मे प्रयच्छस्व युद्धं देवगणेश्वर ।
सामान्यं हि जगत्कृत्स्नं काश्यपानां महात्मनाम् ॥ १५ ॥

'देवगणेश्वर ! (या तो मेरे लिये देवलोक खाली कर दो) अथवा मुझे युद्ध प्रदान करो; क्योंकि सम्पूर्ण जगत्पर सभी महामनस्वी कश्यपपुत्रोंका समान अधिकार है' ॥ १५ ॥

स बृहस्पतिना सार्द्धं मन्त्रयित्वा महेश्वरः ।
वज्रनाभं सुरश्रेष्ठः प्रोवाच कुरुवंशज ॥ १६ ॥

कुरुनन्दन ! तब सुरश्रेष्ठ महेश्वर इन्द्रने बृहस्पतिजीके साथ सलाह करके वज्रनाभसे कहा—॥ १६ ॥

सत्रेषु दीक्षितः सौम्य कश्यपो नः पिता मुनिः ।
तस्मिन् वृत्ते यथा न्याय्यं तथा स हि करिष्यति ॥ १७ ॥

'सौम्य ! हम सबके पिता कश्यप मुनि यज्ञकी दीक्षा ले चुके हैं । उनका वह यज्ञ पूर्ण हो जानेपर वे जैसा उचित समझेंगे, वैसा हमलोगोंके लिये निर्णय कर देंगे' ॥ १७ ॥

ततः स पितरं गत्वा कश्यपं दानवोऽब्रवीत् ।
यथोक्तं देवराजेन तमुवाचाथ कश्यपः ॥ १८ ॥

तब उस दानवने अपने पिता कश्यपके पास जाकर देवराज इन्द्रने जो कुछ कहा था, सब कह सुनाया । उसकी बात सुनकर कश्यपजीने कहा—॥ १८ ॥

सत्रे वृत्ते करिष्यामि यथा न्याय्यं भविष्यति ।
त्वं तु वज्रपुरे पुत्र वस गच्छ समाहितः ॥ १९ ॥

'वत्स ! यज्ञ समाप्त हो जानेपर जैसा उचित होगा, वैसा करूँगा । तबतक तुम वज्रपुरमें चलकर सावधान होकर रहो' ॥ १९ ॥

एवमुक्तो वज्रनाभः स्वमेव नगरं गतः ।
महेन्द्रोऽपि ययौ देवो द्वारकां द्वारशालिनीम् ॥ २० ॥

पिताके ऐसा कहनेपर वज्रनाभ अपने ही नगरको चला गया । उधर महेन्द्रदेव भी सुन्दर द्वारसे सुशोभित होनेवाली द्वारकापुरीको गये ॥ २० ॥

गत्वा चान्तर्हितो देवो वासुदेवमथाब्रवीत् ।
वज्रनाभस्य वृत्तान्तं तमुवाच जनार्दनः ॥ २१ ॥

वहाँ जाकर अदृश्य होकर ही इन्द्रदेवने भगवान् श्रीकृष्णसे वज्रनाभका सारा वृत्तान्त कह सुनाया । तब श्रीकृष्ण उनसे बोले—॥ २१ ॥

शौरेरुपस्थितो देव वाजिमेधो महाक्रतुः ।
तस्मिन् वृत्ते वज्रनाभं पातयिष्यामि वासव ॥ २२ ॥

'देव ! वासव ! मेरे पिताजीका अश्वमेध नामक महान् यज्ञ उपस्थित है । उसके पूर्ण हो जानेपर मैं वज्रनाभको अवश्य मार गिराऊँगा ॥ २२ ॥

तत्रोपायं प्रवेशे तु चिन्तयावः सतां गते ।
नानिच्छया प्रवेशोऽस्ति तत्र वायोरपि प्रभो ॥ २३ ॥

सत्पुरुषोंके आश्रयदाता प्रभो ! उसके नगरमें प्रवेश करनेका क्या उपाय है—यह हम दोनों सोचें; क्योंकि वज्रनाभकी इच्छाके बिना वहाँ वायुका भी प्रवेश नहीं हो सकता' ॥ २३ ॥

ततो गतो देवराजो वासुदेवेन सत्कृतः ।
वाजिमेधे च सम्प्राप्ते वसुदेवस्य भारत ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्णके द्वारा सत्कार पाकर देवराज इन्द्र चले गये । भारत ! जब वसुदेवजीका अश्वमेध यज्ञ प्राप्त हुआ (तब उसमें देवराज इन्द्र भी पधारे ।) ॥ २४ ॥

तस्मिन् यज्ञे वर्तमाने प्रवेशार्थं सुरोत्तमौ ।
चिन्तयामासतुर्वीरौ देवराजाच्युतावुभौ ॥ २५ ॥

जब वह यज्ञ चालू हुआ, उस समय सुरश्रेष्ठ वीर देवराज इन्द्र और श्रीकृष्ण दोनों वज्रपुरमें प्रवेश करनेके लिये कोई उपाय सोचने लगे ॥ २५ ॥

तत्र यज्ञे वर्तमाने सुनाट्येन नटस्तदा ।
महर्षींस्तोषयामास भद्रनामेति नामतः ॥ २६ ॥

उस यज्ञमें भद्रनामा नामक एक नटने अपने उत्तम नाट्यके द्वारा महर्षियोंको संतुष्ट किया ॥ २६ ॥

तं वरेण मुनिश्रेष्ठाश्छन्दयामासुरात्मवत् ।
स वव्रे तु नटो भद्रो वरं देवेश्वरोपमः ॥ २७ ॥
देवेन्द्रकृष्णच्छन्देन सरस्वत्या प्रचोदितः ।
प्रणिपत्य मुनिश्रेष्ठानश्वमेधे समागतान् ॥ २८ ॥

तब उन श्रेष्ठ मुनियोंने उसे अपने योग्य वर माँगनेके लिये कहा । तब देवेन्द्र तथा श्रीकृष्णकी इच्छाके अनुसार सरस्वतीसे प्रेरित हो अश्वमेध यज्ञमें पधारे हुए मुनिवरोंको प्रणाम करके देवेन्द्रतुल्य भद्रनामक नटने इस प्रकार वर माँगा ॥ २७-२८ ॥

नट उवाच

भोज्यो द्विजानां सर्वेषां भवेयं मुनिसत्तमाः ।
सप्तद्वीपां च पृथिवीं विचरेयमिमामहम् ॥ २९ ॥

प्रसिद्धाकाशगमनः शक्नुवंश्च विशेषतः।
अवध्यः सर्वभूतानां स्थावरा ये च जङ्गमाः॥ ३०॥

नट बोला—मुनिवरो! मैं समस्त द्विजोंके लिये भोजनीय होऊँ अर्थात् सब द्विज मुझे सादर भोजन करावें। अथवा समस्त ब्राह्मण मेरा अन्न भोजन करें। सातों द्वीपोंसे युक्त इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर मैं विचरण कर सकूँ। आकाशमें चलने-फिरनेकी उत्कृष्ट शक्ति मुझे प्राप्त हो। मैं विशेष शक्तिशाली रहकर स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंके लिये अवध्य होऊँ॥ २९-३०॥

यस्य यस्य च वेषेण प्रविशेयमहं खलु।
मृतस्य जीवतो वापि भाव्येनोत्पादितस्य वा॥ ३१॥
सतूर्यस्तादृशः स्यां वै जरारोगविवर्जितः।
तुष्येयुर्मुनयो नित्यमन्ये च मम सर्वदा॥ ३२॥

जो मर गया है, जीवित है, अथवा जो भविष्यरूपसे मेरे द्वारा तत्काल उत्पन्न किया गया है, ऐसे लोगोंमेंसे जिस-जिसके वेषसे मैं कहीं प्रवेश करना चाहूँ, मैं वाद्योंसहित ठीक वैसा ही हो जाऊँ। जरा और रोग मुझे छू न सकें। मुझपर ऋषि-मुनि तथा अन्य लोग भी नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहें॥ ३१-३२॥

एवमस्त्विति सम्प्रोक्तो ब्राह्मणैर्नृपते नटः।
सप्तद्वीपां वसुमतीं पर्यटत्यमरोपमः॥ ३३॥

नरेश्वर! तब ब्राह्मणोंने 'एवमस्तु' कहकर उस नटको अभीष्ट वरदान दे दिया। तबसे वह देवोपम शक्तिशाली नट सातों द्वीपोंवाली पृथ्वीपर विचरण करता रहता है॥ ३३॥

पुराणि दानवेन्द्राणामुत्तरांश्च कुरूंस्तथा।
भद्राश्वान् केतुमालांश्च कालाम्रद्वीपमेव च॥ ३४॥

वह दानवेन्द्रोंके नगरोंमें तथा उत्तर-कुरु, भद्राश्व, केतुमाल तथा कालाम्र द्वीपोंमें घूमा करता था॥ ३४॥

पर्वणीषु तु सर्वासु द्वारकां यदुमण्डिताम्।
आयाति वरदत्तः स लोकवीरो महानटः॥ ३५॥

वह वर पाया हुआ लोकवीर महानट सभी पर्वोंपर यादवोंसे अलंकृत द्वारकापुरीमें आया करता था॥ ३५॥

ततो हंसान् धार्तराष्ट्रान् देवलोकनिवासिनः।
उवाच भगवाञ्छक्रः सान्त्वयित्वा सुरेश्वरः॥ ३६॥

तदनन्तर देवलोकमें निवास करनेवाले हंसोंको, जो धृतराष्ट्री एवं कश्यपके वंशज थे, देवराज इन्द्रने बुलवाया और उन्हें सान्त्वना देकर कहा—॥ ३६॥

भवन्तो भ्रातरोऽस्माकं काश्यपा देवपक्षिणः।
विमानवाहा देवानां सुकृतीनां तथैव च॥ ३७॥

'हंसो! तुम लोकपिता कश्यपजीकी संतति होनेके कारण हमारे भाई हो, देवपक्षी हो तथा देवताओं और पुण्यात्माओंके विमानवाहक हो॥ ३७॥

देवानामस्ति कर्तव्यं कार्यं शत्रुवधान्वितम्।
तत् कर्तव्यं न मन्त्रश्च भेत्तव्यो वः कथंचन॥ ३८॥

'इस समय देवताओंके सामने शत्रुवध-सम्बन्धी कार्य उपस्थित है, जो हम सबके लिये आवश्यक कर्तव्य है। उस कार्यको तुम्हें पूरा करना है और इस गुप्त मन्त्रको किसी तरह फूटने नहीं देना है॥ ३८॥

न कुर्वतां देवताज्ञामुग्रो दण्डः पतेदपि।
सर्वत्राप्रतिषिद्धं वो गमनं हंससत्तमाः॥ ३९॥

'देवताओंकी इस आज्ञाका पालन न करनेपर तुम्हारे ऊपर भयानक दण्ड भी पड़ सकता है। श्रेष्ठ हंसो! तुम्हारी सर्वत्र अप्रतिहत गति है॥ ३९॥

गत्वाप्रवेश्यमन्येषां वज्रनाभपुरोत्तमम्।
इतोऽन्तःपुरवापीषु चरध्वमुचितं हि वः॥ ४०॥

'वज्रनाभके श्रेष्ठ नगरमें प्रवेश करना दूसरोंके लिये असम्भव है। तुम वहाँ जाकर अन्तःपुरकी बावड़ियोंमें विचरो, क्योंकि यह कार्य तुम्हारे ही योग्य है॥ ४०॥

तस्यास्ति कन्यारत्नं हि त्रैलोक्यातिशयं शुभम्।
नाम्ना प्रभावती नाम चन्द्राभेव प्रभावती॥ ४१॥

'वज्रनाभके एक रत्नस्वरूपा कन्या है, जो त्रिलोकीमें अतिशय सुन्दरी है। उसका नाम प्रभावती है। वह ऐसी प्रतीत होती है मानो चन्द्रमाकी आभा ही उसकी प्रभा बनकर प्रकाशित हो रही हो॥ ४१॥

वरदानेन सा लब्धा मात्रा किल वरानना।
हैमवत्या महादेव्याः सकाशादिति नः श्रुतम्॥ ४२॥

'उसकी माताने गिरिराज हिमवान्‌की पुत्री महादेवी उमासे मिले हुए वरदानके प्रभावसे उस सुन्दर मुखवाली कन्याको प्राप्त किया है, ऐसा हमारे सुननेमें आया है॥४२॥

स्वयंवरा च सा कन्या बन्धुभिः स्थापिता सती।
आत्मेच्छया पतिं हंसा वरयिष्यति शोभना॥ ४३॥

'हंसो! अपने बन्धुओंद्वारा सुरक्षित हुई वह सुन्दरी कन्या प्रभावती स्वयंवरा है। स्वयंवरमें अपनी इच्छाके अनुसार पतिका वरण करेगी॥ ४३॥

तद्भवद्भिर्गुणा वाच्याः प्रद्युम्नस्य महात्मनः।
सद्भूताः कुलरूपस्य शीलस्य वयसस्तथा॥ ४४॥

'अतः तुमलोग प्रभावतीके सम्मुख महात्मा प्रद्युम्नके उत्तम कुल, सुन्दर रूप, अच्छे शील-स्वभाव तथा नयी अवस्थाके श्रेष्ठ गुणोंका बखान करो॥ ४४॥

यदा सा रक्तभावा च वज्रनाभसुता सती।
तस्याः सकाशात् संदेशो नयितव्यः समाधिना॥४५॥
प्रद्युम्नस्य पुनस्तस्मादानयध्वं तथैव च।
स्वबुद्ध्या प्राप्तकालं च संविधेयं हितं मम॥ ४६॥

'वज्रनाभकी वह सती साध्वी पुत्री जब प्रद्युम्नके प्रति हृदयसे अनुरक्त हो जाय, तब एकाग्रचित्त होकर उसका संदेश तुम्हें प्रद्युम्नके पास पहुँचाना चाहिये; फिर वहाँसे तुम लोग उस संदेशका उत्तर लाया करो। साथ ही, अपनी बुद्धिसे भी सोच-विचारकर अवसरके अनुरूप कार्य करके मेरा हित-साधन करो ॥ ४५-४६ ॥

नेत्रवक्त्रप्रसादश्च कर्तव्यस्तत्र सर्वथा ॥ ४७ ॥
तथा तथा गुणा वाच्याः प्रद्युम्नस्य महात्मनः।
यथा यथा प्रभावत्या मनस्तत्र भवेत् स्थितम् ॥ ४८ ॥

'तुम्हें वहाँ अपने नेत्रों और मुखके द्वारा सब प्रकारसे प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिये। महात्मा प्रद्युम्नके गुणोंको उसी-उसी प्रकारसे बताना चाहिये, जिससे प्रभावतीका मन उनमें पूर्णतः अनुरक्त हो जाय ॥ ४७-४८ ॥

वृत्तान्तश्चानुदिवसं प्रदेयो मम सर्वथा।
द्वारवत्यां च कृष्णस्य भ्रातुर्मम यवीयसः ॥ ४९ ॥

'इन सब बातोंका समाचार तुम्हें प्रतिदिन मुझे और द्वारकामें मेरे छोटे भाई श्रीकृष्णको भी बताना चाहिये ॥४९॥

तावद्यत्नश्च कर्तव्यः प्रद्युम्नो यावदात्मवित्।
पर्यावर्तेद् वरारोहां वज्रनाभसुतां विभुः ॥ ५० ॥

'जबतक आत्मज्ञानी वैभवशाली प्रद्युम्न वज्रनाभकी सुन्दरी पुत्री प्रभावतीको अपनी न बना लें तबतक तुम्हारा प्रयत्न चालू रहना चाहिये ॥ ५० ॥

अवध्यास्ते तु देवानां ब्रह्मणो वरदर्पिताः।
देवपुत्रैर्हि हन्तव्याः प्रद्युम्नप्रमुखैर्युधि ॥ ५१ ॥

'ब्रह्माजीके वरदानसे घमंडमें भरे रहनेवाले वज्रनाभ आदि सारे दैत्य देवताओंके लिये अवध्य हैं। वे युद्धमें प्रद्युम्न आदि देवकुमारोंद्वारा ही मारे जा सकते हैं ॥ ५१ ॥

नटो दत्तवरस्तस्य वेषमास्थाय यादवाः।
प्रद्युम्नाद्या गमिष्यन्ति वज्रनाभविनाशनाः ॥ ५२ ॥

'मुनियोंका वर प्राप्त करनेवाला जो भद्रनामा नट है, उसीका वेष धारण करके प्रद्युम्न आदि यादव वज्रनाभका विनाश करनेके लिये उसके नगरमें जायँगे ॥ ५२ ॥

एतच्च सर्वं कर्तव्यमन्यच्च सर्वमेव हि।
प्राप्तकालं विधातव्यमस्माकं प्रियकाम्यया ॥ ५३ ॥

'ये तथा और भी जो समयोचित कर्तव्य प्राप्त हों, उन सबको हमारा प्रिय करनेकी इच्छासे तुमलोगोंको पूर्ण करना चाहिये ॥ ५३ ॥

प्रवेशस्तत्र देवानां नास्ति हंसाः कथंचन।
वज्रनाभेप्सिते तत्र प्रदेशे खलु सर्वथा ॥ ५४ ॥

'हंसो! वहाँ वज्रनाभके अभीष्ट प्रदेशमें देवताओंका किसी तरह भी प्रवेश नहीं हो सकता। यह सर्वथा निश्चित है' ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि वज्रनाभवधे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें वज्रनाभवधके प्रसंगमें इक्यानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

हंसोंका वज्रपुरमें निवास, हंसीका प्रभावतीको प्रद्युम्नके प्रति अनुरक्त कराना, प्रभावतीका हंसीसे प्रद्युम्नकी प्राप्ति करानेका अनुरोध, हंसी और वज्रनाभका संवाद, हंसोंके मुँहसे सब समाचार सुनकर श्रीकृष्णका नटवेषमें प्रद्युम्न आदि यादवोंको वज्रपुरमें भेजना

वैशम्पायन उवाच

ते वासववचः श्रुत्वा हंसा वज्रपुरं ययुः।
पूर्वोचितं हि गमनं तेषां तत्र जनाधिप ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजा जनमेजय! इन्द्रकी यह बात सुनकर वे हंस वज्रपुरमें गये। वहाँका मार्ग उनके लिये पूर्व-परिचित था ॥ १ ॥

ते दीर्घिकासु रम्यासु निपेतुर्वीर पक्षिणः।
पद्मोत्पलैरावृतासु काञ्चनैः स्पर्शनक्षमैः ॥ २ ॥

वीर! वे पक्षी वहाँके रमणीय सरोवरोंमें, जो स्पर्शके योग्य सुवर्णमय कमलोंसे आवृत थे, जाकर बैठे ॥ २ ॥

ते वै नदन्तो मधुरं संस्कृतापूर्वभाषिणः।
पूर्वमप्यागतास्ते तु विस्मयं जनयन्ति हि ॥ ३ ॥

वे हंस अपूर्व संस्कृत भाषा बोलते और मधुर कलरव करते थे। यद्यपि वे उस नगरमें पहले भी आ चुके थे, तथापि नये आये हुएके समान वहाँके निवासियोंको आश्चर्यमें डाल रहे थे ॥ ३ ॥

अन्तःपुरोपभोग्यासु चेरुर्वापीषु ते नृप।
दृष्टास्ते वज्रनाभस्य त्रिविष्टपनिवासिनः ॥ ४ ॥

नरेश्वर! वे अन्तःपुरके उपभोगमें आनेवाली बावड़ियोंमें चरने लगे। उन स्वर्गवासी हंसोंपर वज्रनाभकी भी दृष्टि पड़ी ॥

आलपन्तः सुमधुरं धार्तराष्ट्रा जनेश्वर।
स तानुवाच दैतेयो धार्तराष्ट्रानिदं वचः ॥ ५ ॥

जनेश्वर! वे हंस अत्यन्त मधुर बोली बोल रहे थे। उन्हें देखकर उस दैत्यने उनसे इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

त्रिविष्टपे नित्यरता भवन्तश्चारुभाषिणः।
यदैवेहोत्सवोऽस्माकं भवद्भिरवगम्यते ॥ ६ ॥
आगन्तव्यं जालपादाः स्वमिदं भवतां गृहम्।
विस्रब्धं च प्रवेष्टव्यं त्रिविष्टपनिवासिभिः ॥ ७ ॥

'हंसो ! तुमलोग सदा स्वर्गलोकमें रमते और मनोहर बोली बोलते हो। जब कभी यहाँ हमलोगोंके घर उत्सव हो और तुम्हें इसका पता लग जाय, तब तुम अवश्य यहाँ पधारना। यह तुम्हारा अपना ही घर है। स्वर्गनिवासी हंसोंको यहाँ निर्भय होकर प्रवेश करना चाहिये' ॥ ६-७ ॥

ते तथोक्ताः शकुनयो वज्रनाभेन भारत।
तथेत्युक्त्वा हि विविशुर्दानवेन्द्रनिवेशनम् ॥ ८ ॥

भारत ! वज्रनाभके ऐसा कहनेपर उन पक्षियोंने 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली और उस दानवराजके महलमें प्रवेश किया ॥ ८ ॥

चक्रुः परिचयं ते च देवकार्यव्यपेक्षया।
मानुषालापिनस्ते तु कथाश्चक्रुः पृथग्विधाः ॥ ९ ॥

उन्होंने देवताओंके कार्यको सिद्ध करनेकी इच्छासे वहाँ सबसे परिचय प्राप्त किया। वे मनुष्योंकी-सी बोली बोलते और भाँति-भाँतिकी कथाएँ कहते थे ॥ ९ ॥

वंशबद्धाः काश्यपानां सर्वकल्याणभागिनाम्।
स्त्रियो रेमुर्विशेषेण शृण्वन्त्यः सङ्गताः कथाः ॥ १० ॥

समस्त कल्याणमय पदार्थोंका उपभोग करनेवाले कश्यपवंशी दानवोंकी स्त्रियाँ अपने वंशसे सम्बन्ध रखनेवाली सुसङ्गत कथाएँ सुनती हुई उनमें विशेषरूपसे रम जाती थीं ॥

विचरन्तस्ततो हंसा ददृशुश्चारुहासिनीम्।
प्रभावतीं वरारोहां वज्रनाभसुतां तदा ॥ ११ ॥

तदनन्तर वहाँ विचरते हुए हंसोंने उस समय वज्रनाभकी पुत्री मनोहर मुसकानवाली सुन्दरी प्रभावतीको देखा ॥ ११ ॥

हंसाः परिचितां चक्रुस्तां ततश्चारुहासिनीम्।
सखीं शुचिमुखीं चक्रे हंसीं राजसुता तदा ॥ १२ ॥

फिर उन सभी हंसोंने उस चारुहासिनी राजकुमारीसे परिचय कर लिया। राजकुमारी प्रभावतीने उस समय शुचिमुखी नामवाली हंसीको अपनी सखी बना लिया ॥ १२ ॥

सा तां कदाचित् पप्रच्छ वज्रनाभसुतां सखीम्।
विश्रम्भितां पृथक्सूक्तैराख्यानकशतैर्वराम् ॥ १३ ॥

एक दिनकी बात है, शुचिमुखीने सैकड़ों कथाएँ तथा भाँति-भाँतिकी सुन्दर उक्तियाँ सुनाकर अपनी श्रेष्ठ सखी वज्रनाभकुमारी प्रभावतीके मनमें पूर्ण विश्वास पैदा कर लिया। तत्पश्चात् उससे पूछा— ॥ १३ ॥

त्रैलोक्यसुन्दरीं वेद्मि त्वामहं हि प्रभावति।
रूपशीलगुणैर्देवि किंचित् त्वां वक्तुमुत्सहे ॥ १४ ॥

'प्रभावती ! मैं तुम्हें त्रिभुवनकी अद्वितीय सुन्दरी मानती हूँ। देवि ! तुम रूप, शील और गुणोंमें श्रेष्ठ हो, इसलिये मैं तुमसे कुछ कहना चाहती हूँ ॥ १४ ॥

व्यतिक्रामति ते भीरु यौवनं चारुहासिनि।
यदतीतं पुनर्नैति गतं स्रोत इवाम्भसः ॥ १५ ॥

'भीरु ! चारुहासिनि ! तुम्हारी जवानी व्यर्थ बीती जा रही है। जैसे जलका बहता हुआ स्रोत फिर पीछे नहीं लौटता, उसी प्रकार जो अवस्था बीत गयी, वह फिर वापिस नहीं आती है ॥ १५ ॥

कामोपभोगतुल्या हि रतिर्देवि न विद्यते।
स्त्रीणां जगति कल्याणि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १६ ॥

'देवि ! कल्याणि ! संसारमें स्त्रियोंके लिये कामोपभोगके समान दूसरा कोई सुख नहीं है; यह मैं तुमसे सत्य कहती हूँ ॥

स्वयंवरे च न्यस्ता त्वं पित्रा सर्वाङ्गशोभने।
न च कांश्चिद् वरयसे देवासुरकुलोद्भवान् ॥ १७ ॥

'सर्वाङ्गशोभने ! तुम्हारे पिताने तुम्हें स्वयंवरमें उपस्थित किया, परंतु तुम देवताओं तथा असुरोंके कुलमें उत्पन्न हुए किन्हीं योग्य पुरुषका वरण ही नहीं करती हो (इसका क्या कारण है ?) ॥ १७ ॥

व्रीडिता यान्ति सुश्रोणि प्रत्याख्यातास्त्वया शुभे।
रूपशौर्यगुणैर्युक्तान् सदृशांस्त्वं कुलस्य हि ॥ १८ ॥
आगतान् नेच्छसे देवि सदृशान् कुलरूपयोः।

'शुभे ! सुश्रोणि ! तुम्हारे इनकार कर देनेपर ब्याहके लिये आये हुए पुरुष लज्जित होकर लौट जाते हैं। देवि ! जो रूप और शौर्य आदि गुणोंसे युक्त हैं तथा तुम्हारे कुलके सर्वथा अनुरूप हैं, ऐसे कुल और रूपमें अपने ही समान पुरुषोंके आनेपर भी तुम उन्हें वरण करना नहीं चाहती (ऐसा क्यों करती हो ?) ॥ १८½ ॥

इहैष्यति किमर्थं त्वां प्रद्युम्नो रुक्मिणीसुतः ॥ १९ ॥
त्रैलोक्ये यस्य रूपेण सदृशो न कुलेन वा।
गुणैर्वा चारुसर्वाङ्गि शौर्येणाप्यति वा शुभे ॥ २० ॥

'भला रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न यहाँ किसलिये आयेंगे ? जिनके रूप और कुलकी समानता करनेवाला त्रिलोकीमें दूसरा कोई नहीं है। शुभे ! सर्वाङ्गसुन्दरी ! वे गुणों अथवा शौर्यमें भी सबसे बढ़कर हैं ॥ १९-२० ॥

देवेषु देवः सुश्रोणि दानवेषु च दानवः।
मानुषेष्वपि धर्मात्मा मनुष्यः स महाबलः ॥ २१ ॥

'सुश्रोणि ! वे महाबली प्रद्युम्न देवताओंमें देवता, दानवोंमें दानव और मनुष्योंमें भी धर्मात्मा मनुष्य हैं ॥ २१ ॥

यं सदा देवि दृष्ट्वा हि स्रवन्ति जघनानि हि।
आपीनानीव धेनूनां स्रोतांसि सरितामिव ॥ २२ ॥

'देवि ! जैसे दूध देनेवाली गौओंके थन और सरिताओंके स्रोत टपकते हैं, उसी तरह उन प्रद्युम्नको देखकर सदा ही स्त्रियोंके जघनप्रदेश आर्द्र हो जाते हैं ॥ २२ ॥

न पूर्णचन्द्रेण मुखं नयने वा कुशेशयैः ।
उत्सहे नोपमातुं हि मृगेन्द्रेणाथ वा गतिम् ॥ २३ ॥

'उनके मुखकी पूर्ण चन्द्रसे, नयनोंकी नीलकमलसे अथवा गति (चाल) की सिंहसे मै उपमा नहीं दे सकती (क्योंकि ये सब हीन प्रतीत होते हैं) ॥ २३ ॥

जगतः सारमुद्धृत्य पुत्रः स विहितः शुभे ।
कृत्वानङ्गं वरे साङ्गं विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ २४ ॥

'शुभे ! सुन्दरी ! प्रभावशाली भगवान् विष्णुने सारे जगत्का सार निकालकर अनङ्गको साङ्ग करके अपने उस पुत्रका निर्माण किया है ॥ २४ ॥

हृतेन शम्बरो बाल्ये येन पापो निवर्हितः ।
मायाश्च सर्वाः सम्प्राप्ता न च शीलं विनाशितम् ॥ २५ ॥

'बाल्यावस्थामें उन्हें शम्बरासुरने हर लिया था; परंतु उन्होंने बड़े होनेपर उस पापीको मार डाला ! उसकी सारी मायाएँ प्राप्त कर लीं; फिर भी किसीके शीलका विनाश नहीं किया ॥ २५ ॥

यान् यान् गुणान् पृथुश्रोणि मनसा कल्पयिष्यसि ।
पश्यल्याख्रिपु लोकेपु प्रद्युम्ने सर्व एव ते ॥ २६ ॥

'पृथुश्रोणि ! तुम मनसे जिन-जिन उत्तम गुणोंकी कल्पना करोगी अथवा तीनों लोकोंमें जो-जो श्रेष्ठ गुण वाञ्छनीय हैं, वे सब-के-सब प्रद्युम्नमें वर्तमान हैं ॥ २६ ॥

रुच्या वह्निप्रतीकाशः क्षमया पृथिवीसमः ।
तेजसा सूर्यसदृशो गाम्भीर्येण ह्रदोपमः ।
प्रभावती शुचिमुखीं त्वितीहोवाच भामिनी ॥ २७ ॥

'वे कान्तिमें अग्निके समान, क्षमामें पृथ्वीके तुल्य, तेजमें सूर्यके सदृश तथा गम्भीरतामें सागरके समान हैं' यह सुनकर भामिनी प्रभावतीने शुचिमुखीसे इस प्रकार कहा ॥

प्रभावत्युवाच

विष्णुर्मानुषलोकस्थः श्रुतः सुबहुशो मया ।
पितुः कथयतः सौम्ये नारदस्य च धीमतः ॥ २८ ॥

प्रभावती बोली—सौम्ये ! मैंने बुद्धिमान् नारदजी तथा अपने पिताके मुखसे कई बार सुना है कि भगवान् विष्णु इस समय मनुष्यलोकमे अवतीर्ण होकर विराज रहे हैं ॥

शत्रुः किल स दैत्यानां वर्जनीयः सदानघे ।
कुलानि किल दैत्यानां तेन दग्धानि मानिनि ॥ २९ ॥
प्रदीप्तेन रथाङ्गेन शार्ङ्गेण गदया तथा ।
शाखानगरदेशेषु वसन्ति किल येऽसुराः ॥ ३० ॥
इत्येते दानवेन्द्रेण संदिश्यन्ते हि तं प्रति ।

पापरहित मानिनि ! शाखानगरके प्रदेशोंमें जो असुर निवास करते हैं, उन्हें मेरे पिता दानवराज वज्रनाभ भगवान् विष्णुके विषयमें इस प्रकार संदेश दिया करते हैं—'विष्णु दैत्योंके शत्रुके रूपमें प्रसिद्ध हैं, अतः उन्हें सदाके लिये त्याग देना चाहिये । उन्होंने अपने तेजस्वी चक्र, शार्ङ्ग-धनुष तथा कौमोदकी गदाके द्वारा दैत्योंके बहुत-से कुल दग्ध कर डाले हैं' ॥ २९-३०½ ॥

मनोरथो हि सर्वासां स्त्रीणामेव शुचिस्मिते ॥ ३१ ॥
भवेद्धि मे पतिकुलं श्रेष्ठं पितृकुलादिति ।

पवित्र मुसकानवाली हंसी ! प्रायः सभी स्त्रियोंका ऐसा ही मनोरथ होता है कि मेरा पतिकुल पितृकुलसे श्रेष्ठ हो ॥

यदि नामाभ्युपायः स्यात् तस्येहागमनं प्रति ॥ ३२ ॥
महाननुग्रहो मे स्यात् कुलं स्यात् पावितं च मे ।

यदि प्रद्युम्नके यहाँ आनेके लिये कोई उपाय हो सके तो यह मुझपर तुम्हारा महान् अनुग्रह होगा और मेरा कुल पवित्र हो जायगा ॥ ३२½ ॥

समर्थनां मे पृष्टा त्वं प्रयच्छ शुचिलापिनि ॥ ३३ ॥
प्रद्युम्नः स्याद् यथा भर्ता स मे वृष्णिकुलोद्भवः ।

पवित्र वार्ता करनेवाली हंसी ! मैंने तुमसे कार्यसिद्धिका उपाय पूछा है । वह उपाय तुम मुझे प्रदान करो । वृष्णिवंशावतंस प्रद्युम्न जिस प्रकार मेरे पति हो सकें, वैसा यत्न करो ॥

अत्यन्तवैरी दैत्यानामुद्वेजनकरो हरिः ॥ ३४ ॥
असुराणां स्त्रियो वृद्धाः कथयन्त्यो मया श्रुताः ।

मैंने असुरोंकी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंके मुखसे यह बात सुनी है कि भगवान् विष्णु दैत्योंके अत्यन्त वैरी और उन्हे उद्वेगमे डालनेवाले हैं ॥ ३४½ ॥

प्रद्युम्नस्य तथा जन्म पुरस्तादपि मे श्रुतम् ॥ ३५ ॥
यथा च तेन निहतो बलवान् कालशम्बरः ।

प्रद्युम्नके जन्मका वृत्तान्त मैंने पहले भी सुना है । जिस प्रकार उनके द्वारा बलवान् कालशम्बर मारा गया था, वह प्रसङ्ग भी मेरे सुननेमें आया है ॥ ३५½ ॥

हृदि मे वर्तते नित्यं प्रद्युम्नः खलु सत्तमे ॥ ३६ ॥
हेतुः स नास्ति स्यात् तेन यथा मम समागमः ।

साध्वीशिरोमणे ! प्रद्युम्न सदा मेरे हृदयमें विद्यमान रहते हैं; परंतु ऐसी कोई युक्ति या साधन नहीं है, जिससे उनके साथ मेरा समागम हो सके ॥ ३६½ ॥

दासी तवाहं सख्यर्हे दूत्ये त्वां च विसर्जये ॥ ३७ ॥
पण्डितासि वदोपायं मम तस्य च संगमे ।

आदरणीया सखी ! मैं तुम्हारी दासी हूँ और तुम्हें दूतीके कामपर नियुक्त करती हूँ । तुम विदुषी हो । मेरे और प्रद्युम्नके मिलनका कोई उपाय बताओ ॥ ३७½ ॥

ततस्तां सान्त्वयित्वा सा प्रहसन्तीदमब्रवीत् ॥ ३८ ॥

तब हंसीने उसे सान्त्वना देकर हँसते हुए कहा ॥ ३८ ॥

शुचिमुख्युवाच

तत्र दूती गमिष्यामि तवाहं चारुहासिनि ।
इमां भक्तिं तवोदारां प्रवक्ष्यामि शुचिस्मिते ॥ ३९ ॥

शुचिमुखी बोली—चारुहासिनि ! शुचिस्मिते ! मैं वहाँ तुम्हारी दूती बनकर जाऊँगी और प्रद्युम्नसे तुम्हारी इस उदार भक्तिका वर्णन करूँगी ॥ ३९ ॥

तथा चैव करिष्यामि यथैष्यति तवान्तिकम् ।
साक्षात्कामेन सुश्रोणि भविष्यति सकामिनी ॥ ४० ॥

सुश्रोणि ! मैं ऐसा प्रयत्न भी करूँगी, जिससे वे तुम्हारे निकट पधारेंगे और तुम साक्षात् कामसे मिलकर अपनी कामना सफल करोगी ॥ ४० ॥

इति मे भाषितं नित्यं स्मरेथाः शुचिलोचने ।
कथाकुशलतां पित्रे कथयस्वायतेक्षणे ॥ ४१ ॥
मम त्वं तत्र मे देवि हितं सम्यक् प्रपत्स्यसे ।

पवित्र नेत्रोंवाली राजकुमारी ! विशाललोचने ! मेरी इस बातको तुम सदा याद रखना । अपने पिताके सामने बराबर मेरे कथा-कौशलकी चर्चा करती हुई यह कहना कि शुचिमुखी कथा कहनेमें बहुत ही कुशल है । देवि ! वहाँ पिताके निकट तुम सदा मेरे हित-साधनका ध्यान रखना ॥

इत्युक्ता सा तथा चक्रे यत्तत् सा तामथाब्रवीत् ॥ ४२ ॥
दानवेन्द्रश्च तां हंसीं पप्रच्छान्तःपुरे तदा ।
प्रभावत्या समाख्याता कथाकुशलता तव ॥ ४३ ॥
तत्त्वं शुचिमुखि ब्रूहि कथां योग्यतया वरे ।
किं त्वया दृष्टमाश्चर्यं जगत्युत्तमपक्षिणि ॥ ४४ ॥
अदृष्टपूर्वमन्यैर्वा योग्यायोग्यमनिन्दिते ।

शुचिमुखीके ऐसा कहनेपर प्रभावतीने वैसा ही किया, जैसा कि उस (हंसी) ने उससे कहा था। उस समय दानवराज वज्रनाभने अन्तःपुरमें उस हंसीसे पूछा—'शुचिमुखि ! प्रभावतीने बताया है कि तुम कथा कहनेमें बड़ी चतुर हो । अतः उत्तम पक्षिणि ! तुम कोई कथा कहो, क्योंकि योग्यतामें बड़ी हो। बताओ, संसारमें तुमने कौन-सी आश्चर्यकी बात देखी है ? अनिन्दिते ! जिसे दूसरोंने पहले कभी नहीं देखा हो, ऐसी कोई योग्य या अयोग्य आश्चर्यकी बात तुमने देखी हो तो बताओ' ॥ ४२—४४½ ॥

सोवाच वज्रनाभं तु हंसी नरवरोत्तम ॥ ४५ ॥
श्रूयतामित्यथामन्त्र्य दानवेन्द्रं महाद्युतिम् ।

नरेशशिरोमणे ! तब हंसीने महातेजस्वी दानवराज वज्रनाभको सम्बोधित करके कहा—सुनिये—॥ ४५½ ॥

दृष्टा मे शाण्डिली नाम साध्वी दानवसत्तम ।
आश्चर्यं कर्म कुर्वन्ती मेरुपार्श्वे मनस्विनी ॥ ४६ ॥

'दानवश्रेष्ठ ! मैंने मेरुगिरिके पार्श्वभागमें साध्वी मनस्विनी शाण्डिलीको देखा है; जो वहाँ आश्चर्यजनक कार्य करती हैं ॥ ४६ ॥

सुमनाश्चैव कौशल्या सर्वभूतहिते रता ।
कथंचिद् वरशाण्डिल्याः शैलपुत्र्याः शुभा सखी ॥ ४७ ॥

'समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाली कौशल्या सुमनाका भी किसी प्रकार दर्शन किया है, जो शैलपुत्री श्रेष्ठ शाण्डिलीकी शुभ सखी हैं ॥ ४७ ॥

नटश्चैव मया दृष्टो मुनिदत्तवरः शुभः ।
कामरूपी च भोज्यश्च त्रैलोक्ये नित्यसम्मतः ॥ ४८ ॥

'एक नटको भी मैंने देखा है, जिसे मुनियोंने अभीष्ट वर दे रक्खा है । वह शुभलक्षण नट इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला, भोजनीय तथा त्रिभुवनमें सबको सदा ही प्रिय है ॥ ४८ ॥

कुरून् यात्युत्तरान् वीर कालाम्रद्वीपमेव च ।
भद्राश्वान् केतुमालांश्च द्वीपानन्यांस्तथानघ ॥ ४९ ॥

'वीर ! वह उत्तर कुरुमें जाता तथा कालाम्रद्वीपकी भी यात्रा करता है । अनघ ! वह भद्राश्व, केतुमाल तथा अन्य द्वीपोंमें भी जाया करता है ॥ ४९ ॥

देवगन्धर्वगेयानि नृत्यानि विविधानि च ।
स वेत्ति देवान् नृत्येन विस्मापयति सर्वथा ॥ ५० ॥

'देवता और गन्धर्व ही जिन्हें गाते हैं, उन गीतोंको भी वह गाता है तथा भाँति-भाँतिके नृत्योंको भी जानता है । वह अपने नृत्योंसे देवताओंको भी सर्वथा आश्चर्यचकित कर देता है' ॥ ५० ॥

वज्रनाभ उवाच

श्रुतमेतन्मया हंसि न चिरादिव विस्तरम् ।
चारणानां कथयतां सिद्धानां च महात्मनाम् ॥ ५१ ॥

वज्रनाभ बोला—हंसी ! थोड़े ही दिन हुए मैंने भी महात्मा, सिद्धों और चारणोंके मुखसे यह नटविषयक समाचार विस्तारपूर्वक सुना है ॥ ५१ ॥

कुतूहलं ममाप्यस्ति सर्वथा पक्षिनन्दिनि ।
नटे दत्तवरे तस्मिन् संस्तवस्तु न विद्यते ॥ ५२ ॥

पक्षिनन्दिनि ! मुझे भी उस वरप्राप्त नटको देखनेके लिये सर्वथा उत्कण्ठा हो रही है; परंतु मालूम होता है, मेरी प्रसिद्धि उसके कानोंतक नहीं गयी है (इसलिये वह अबतक यहाँ नहीं आ सका है) ॥ ५२ ॥

हंस्युवाच

सप्तद्वीपान् विचरति नटः स दितिजोत्तम ।
गुणवन्तं जनं श्रुत्वा गुणकार्यः स सर्वथा ॥ ५३ ॥
तव चेच्छृणुयाद् वीर सद्वृत्तं गुणविस्तरम् ।
नटं तदागतं विद्धि पुरं तव महासुर ॥ ५४ ॥

हंसीने कहा—दैत्यप्रवर ! वह नट सातों द्वीपोंमें विचरता है और गुणवान् पुरुषका नाम सुनकर उसके पास जाता है। उसके कार्य सर्वथा गुणयुक्त होते हैं। वीर महासुर ! यदि वह तुम्हारे श्रेष्ठ एवं विस्तृत गुणोंको सुन ले तो उसे अपने नगरमें आया हुआ ही समझो ॥ ५३-५४ ॥

वज्रनाभ उवाच

उपायः सृजतां हंसि येनेह स नटः शुभे।
आगच्छेन्मम भद्रं ते विषयं पद्मिनन्दिनि ॥ ५५ ॥

वज्रनाभ बोला—शुभे ! पद्मिनन्दिनी हंसी ! तुम्हारा भला हो। तुम ऐसा कोई उपाय करो, जिससे वह नट मेरे राज्यमें आ जाय ॥ ५५ ॥

ते हंसा वज्रनाभेन कार्यहेतोर्विसर्जिताः।
देवेन्द्रायाथ कृष्णाय शशंसुः सर्वमेव तत् ॥ ५६ ॥

वज्रनाभद्वारा अपने कार्यकी सिद्धिके लिये भेजे गये उन हंसोंने देवराज इन्द्र तथा भगवान् श्रीकृष्णसे वह सब समाचार कह सुनाया ॥ ५६ ॥

अधोक्षजेन प्रद्युम्नो नियुक्तस्तत्र कर्मणि।
प्रभावत्याश्च संसर्गे वज्रनाभवधे तथा ॥ ५७ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने प्रद्युम्नको उस कार्यमें नियुक्त किया। उनका काम था प्रभावतीसे मेल-जोल बढ़ाना और वज्रनाभका वध करना ॥ ५७ ॥

दैवीं मायां समाश्रित्य संविधाय हरिर्नटम्।
नटवेषेण भैमानां प्रेषयामास भारत ॥ ५८ ॥

श्रीहरिने दैवी मायाका आश्रय लेकर प्रद्युम्नको नट बनाकर भेजा। भारत ! उन्होंने नटके वेषमें ही मुख्य-मुख्य यादवोंको वहाँ भेज दिया ॥ ५८ ॥

प्रद्युम्नं नायकं कृत्वा साम्बं कृत्वा विदूषकम्।
पारिपार्श्वे गदं वीरमन्यान् भैमांस्तथैव च ॥ ५९ ॥

उन्होंने प्रद्युम्नको नायक, साम्बको विदूषक और वीरवर गदको पारिपार्श्विक बनाकर अन्यान्य यादवोंको भी उसी तरह विभिन्न भूमिकाओंमें सजाकर भेजा ॥ ५९ ॥

वारमुख्या नटीः कृत्वा तत्तूर्यसदृशास्तदा।
तथैव भद्रं भद्रस्य सहायांश्च तथाविधान् ॥ ६० ॥

मुख्य-मुख्य वाराङ्गनाओंको नटी बनाकर, जो उस नृत्य, गीत एवं वाद्यके अनुरूप थीं, भेजा। उसी तरह भद्र और उसके सहायकोंको भी तदनुरूप वेषोंमें भेज दिया ॥ ६० ॥

प्रद्युम्नविहितं रम्यं विमानं ते महारथाः।
जग्मुरारुह्य कार्यार्थं देवानाममितौजसाम् ॥ ६१ ॥

वे महारथी वीर प्रद्युम्नके बनाये हुए रमणीय विमानपर आरूढ़ हो महातेजस्वी देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये वहाँ गये ॥ ६१ ॥

एकैकस्य समा रूपे पुरुषाः पुरुषस्य ते।
स्त्रीणां च सदृशाः सर्वे ते स्वरूपैर्नराधिपाः ॥ ६२ ॥

वे सभी पुरुष रूपमें एक-एक पुरुषके अनुरूप थे तथा वे सभी राजकुमार अपने रूप-सौन्दर्यद्वारा स्त्रियोंकी भी समानता करते थे ॥ ६२ ॥

ते वज्रनगरस्याथ शाखानगरमुत्तमम्।
जग्मुर्दानवसंकीर्णं सुपुरं नाम नामतः ॥ ६३ ॥

वे सब-के-सब वज्रपुरके उत्तम शाखानगर सुपुरमें, जो दानवोंसे भरा-पूरा था, गये ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि वज्रनाभप्रद्युम्नोत्तरे प्रद्युम्नादिगमने द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें वज्रनाभ और प्रद्युम्नकी प्रधानतामें होनेवाले युद्धके प्रसङ्गमें प्रद्युम्न आदिका वज्रपुरको गमनविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

नटवेशधारी यादवोंका सुपुर और वज्रपुरमें सफल अभिनय करके दानवोंको रिझाकर उनसे उपहार पाना तथा प्रद्युम्नका प्रभावतीके घरमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

ततः सुपुरवासीनामसुराणां नराधिप।
ददावाज्ञां वज्रनाभो दीयतां गृहमुत्तमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरेश्वर ! तदनन्तर वज्रनाभने सुपुरवासी असुरोंको आज्ञा दी कि 'इन नटोंके लिये उत्तम गृह प्रदान करो ॥ १ ॥

आतिथ्यं क्रियतामेषां बहुरत्नमुपायनम्।
वासांसि सुविचित्राणि सुखाय जनरञ्जनम् ॥ २ ॥

'इन सबका आतिथ्य-सत्कार करो। इन्हें उपहारमें बहुत-से रत्न तथा सुन्दर एवं विचित्र वस्त्र प्रदान करो। साथ ही इन्हें सुख पहुँचानेके लिये ऐसी सामग्री भेंट करो, जो मनुष्यमात्रके मनको प्रसन्न करनेवाली हो' ॥ २ ॥

भर्तुराज्ञां समालभ्य तथा चक्रुश्च सर्वशः।
पूर्वश्रुतो नटः प्राप्तः कौतूहलमजीजनत् ॥ ३ ॥

स्वामीकी आज्ञा पाकर उन असुरोंने सब कुछ वैसा ही किया। पहले जिसके विषयमें सुना गया था, वही नट आया

है; इस भावनाने सबके मनमे नयी उत्कण्ठा उत्पन्न कर दी थी ॥ ३ ॥

नटस्याथ ददुर्दैत्याः सत्कारं परया मुदा।
पर्यायार्थे ददुश्चापि रत्नानि सुबहून्यथ ॥ ४ ॥

दैत्योंने भद्र नामक नटको बड़ी प्रसन्नताके साथ उत्तम सत्कार प्रदान किया। उन्होंने वेश-धारणके लिये उसे बहुत-से रत्न दिये ॥ ४ ॥

ततः स ननृते तत्र वरदत्तो नटस्तथा।
सुपुरे पुरवासीनां परं हर्षं समादधत् ॥ ५ ॥

तदनन्तर वर प्राप्त किये हुए उस नटने वहाँ सुपुरमें नृत्य किया और पुरवासियोंके मनमें महान् हर्ष भर दिया ॥ ५ ॥

रामायणं महाकाव्यमुद्दिश्य नाटकं कृतम्।
जन्म विष्णोरमेयस्य राक्षसेन्द्रवधेप्सया ॥ ६ ॥

उसने रामायण नामक महाकाव्यकी कथावस्तुको लेकर वहाँ एक नाटक किया। उसमें यह दिखाया गया कि राक्षसराज रावणके वधकी इच्छासे अप्रमेयस्वरूप भगवान् विष्णुका भूतलपर अवतार हुआ ॥ ६ ॥

लोमपादो दशरथ ऋष्यशृङ्गं महामुनिम्।
शान्तामप्यानयामास गणिकाभिः सहानघ ॥ ७ ॥

अनघ ! लोमपादने महामुनि ऋष्यशृङ्गको गणिकाओंके साथ अपने यहाँ बुलवाया; फिर महाराज दशरथने ऋष्यशृङ्गके साथ उनकी पत्नी शान्ताको भी अपने यहाँ निमन्त्रित किया ॥ ७ ॥

रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना भरतश्चैव भारत।
ऋष्यशृङ्गश्च शान्ता च तथारूपैर्नटैः कृताः ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! राम, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत, ऋष्यशृङ्ग तथा शान्ताका वेश उन्हींके जैसे रूपवाले नटोंने धारण किया था ॥ ८ ॥

तत्कालजीविनो वृद्धा दानवा विस्मयं गताः।
आचचक्षुश्च तेषां वै रूपतुल्यत्वमच्युत ॥ ९ ॥

राजन् ! जो रामके समयमे जीवित थे, वे बूढ़े दानव भी उन्हे देखकर आश्चर्यचकित हो गये और कहने लगे, इनका रूप तो ठीक उन्हीं व्यक्तियोंके तुल्य है ॥ ९ ॥

संस्काराभिनयौ तेषां प्रस्तावानां च धारणम्।
दृष्ट्वा सर्वे प्रवेशं च दानवा विस्मयं गताः ॥ १० ॥

उनके संस्कार (वेश-धारण), अभिनय, प्रस्तावों (क्रिया-प्रसङ्गों) का धारण तथा प्रवेश (पात्रोंका प्रथम दर्शन) देखकर सभी दानव बड़े विस्मयमे पड़ गये थे ॥ १० ॥

ते रक्ता विस्मयं नेदुरसुराः परया मुदा।
उत्थायोत्थाय नाट्यस्य विषयेषु पुनः पुनः ॥ ११ ॥
ददुर्वस्त्राणि तुष्टाश्च ग्रैवेयवलयानि च।
हारान् मनोहरांश्चैव हेमवैडूर्यभूषितान् ॥ १२ ॥

उस नाटकमे अनुरक्त हुए वे असुरगण नाट्य विषयोंमें बारंबार उठ-उठकर बड़ी प्रसन्नताके साथ आश्चर्ययुक्त कोलाहल करते और संतुष्ट हो नटोंको वस्त्र, गलेका भूषण, कङ्कण, मनोहर हेमवैदूर्यभूषित हार देते थे ॥ ११-१२ ॥

पृथगर्थेषु दत्तेषु लोकैस्ते तुष्टुवुर्नटाः।
असुरांश्च मुनींश्चैव गोत्रैरभिजनैरपि ॥ १३ ॥

लोगोंके इस प्रकार पृथक्-पृथक् वस्तुओंकी भेंट देनेपर वे नट बहुत संतुष्ट हुए। उन्होंने उनके गोत्रों और पूर्वजोंका उल्लेख करके उन असुरों और ऋषि-मुनियोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ १३ ॥

प्रेषितं वज्रनाभस्य शाखानगरवासिभिः।
नटस्य दिव्यरूपस्य नरेन्द्रागमनं तदा ॥ १४ ॥

नरेन्द्र ! उस समय शाखा-नगरनिवासी असुरोंने वज्रनामके पास उस दिव्य रूपधारी नटके पधारनेका शुभ समाचार भेजा ॥

पुरा श्रुतार्थो दैत्येन्द्रः प्रेषयामास भारत।
आनीयतां वज्रपुरं नटोऽसाविति हर्षितः ॥ १५ ॥

भारत ! दैत्यराजने पहले ही यह समाचार सुन लिया था। अतः उसने अत्यन्त हर्षित होकर यह संदेश भेजा कि उस नटको वज्रपुरमें ले आया जाय ॥ १५ ॥

दानवेन्द्रवचः श्रुत्वा शाखानगरवासिभिः।
नीता वज्रपुरं रम्यं नटवेषेण यादवाः ॥ १६ ॥

दानवराजका वह आदेश सुनकर शाखानगरनिवासी असुर नटवेशधारी यादवोंको रमणीय वज्रपुरमें ले गये ॥ १६ ॥

आवासश्च ततो दत्तः सुकृतो विश्वकर्मणा।
यद्यन्यं यच्च तत् सर्वं दत्तं शतगुणोत्तरम् ॥ १७ ॥

दैत्यराजने उन्हें ठहरनेके लिये विश्वकर्माका बनाया हुआ सुन्दर भवन प्रदान किया और जिन-जिन वस्तुओंकी इच्छा या आवश्यकता होती है, उन सबको उन्होंने सौ गुना अधिक करके दे दिया ॥ १७ ॥

अथ कालोत्सवं चक्रे वज्रनाभो महासुरः।
कारयामास रम्यं च चमूवाटं प्रहृष्टवान् ॥ १८ ॥

तदनन्तर महान् असुर वज्रनाभने महाकाल नामक रुद्रदेवका उत्सव आरम्भ किया। उसमे उसने बड़े हर्षमें भरकर रमणीय चमूवाट (सैनिकोंके मनोरञ्जनका स्थान) बनवाया ॥ १८ ॥

ततस्तान् परिविश्रान्तान् प्रेक्षार्थाय प्रचोदयत्।
दत्त्वा रत्नानि भूरीणि वज्रनाभो महाबलः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् जब वे नट पूर्ण विश्राम कर चुके, तब महाबली वज्रनाभने उन्हे बहुत-से रत्न देकर नाट्यकलाका प्रदर्शन करनेके लिये आज्ञा दी ॥ १९ ॥

उपविष्टश्च तान् द्रष्टुं सह ज्ञातिभिरात्मवान्।
छन्ने चान्तःपुरं स्थाप्य चक्षुर्दश्ये नराधिप ॥ २० ॥

नरेश्वर ! अन्तःपुरकी स्त्रियोंको पर्देकी ओटमें जहाँसे वे अपने नेत्रोंद्वारा सब कुछ देख सकती थीं, बिठाकर मनस्वी वज्रनाभ स्वयं भी जाति-भाइयोंके साथ उन नटोंका अभिनय देखनेके लिये बैठा ॥ २० ॥

भैमापि वद्धनेपथ्या नटवेषधरास्तथा ।
कार्यार्थं भीमकर्माणो नृत्यार्थमुपचक्रमुः ॥ २१ ॥

भयंकर कर्म करनेवाले वे यादवकुमार भी उपयुक्त शृङ्गार करके नट-वेश धारण किये नृत्यका उपक्रम करने लगे ॥ २१ ॥

ततो घनं ससुषिरं मुरजानकभूषितम् ।
तन्त्रीस्वरगणैर्विद्धानातोद्यानन्वचादयन् ॥ २२ ॥

फिर तो घन (झाँझ और करताल आदि), सुषिर (मुरली आदि), मुरज (मृदङ्ग), आनक (ढोल या नगाड़ा) तथा वीणाके स्वरोंसे मिश्रित दूसरे-दूसरे बाजे उन नटोंद्वारा बजाये जाने लगे ॥ २२ ॥

ततस्तु देवगान्धारं छालिक्यं श्रवणामृतम् ।
भैमस्त्रियः प्रजगिरे मनःश्रोत्रसुखावहम् ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् यादवकुमारोंके साथ आयी हुई वाराङ्गनाएँ देवगान्धार नामक छालिक्य गान्धर्वका गान करने लगीं, जो कानोंको अमृतके समान मधुर प्रतीत होता था । वह श्रोताके मन और कान दोनोंको सुख देनेवाला था ॥ २३ ॥

आगान्धारग्रामरागं गङ्गावतरणं तथा ।
विद्धमासारितं रम्यं जगिरे स्वरसम्पदा ॥ २४ ॥

गान्धार आदि सातों स्वरोंको व्याप्त करके स्थित होनेवाले जो त्रिविध[1] ग्राम (कतिपय स्वरोंके समूह), वसन्त आदि राग तथा गङ्गावतरण नामक गीतविशेष हैं, उन्हें रागान्तरसे मिश्रित, व्याप्त तथा रमणीय बनाकर वे अपनी मधुर स्वर-सम्पत्तिके द्वारा गाने लगीं ॥ २४ ॥

लयतालसमं श्रुत्वा गङ्गावतरणं शुभम् ।
असुरांस्तोषयामासुरुत्थायोत्थाय भारत ॥ २५ ॥

भारत ! लय और तालके अनुरूप सुन्दर गङ्गावतरणको सुनकर (प्रद्युम्न, गद और साम्ब—ये तीनों बीच-बीचमें) खड़े हो-होकर असुरोंको संतोष प्रदान करते थे ॥ २५ ॥

नान्दिं[2] च वादयामासुः प्रद्युम्नो गद एव च ।
साम्बश्च वीर्यसम्पन्नः कार्यार्थं नटतां गतः ॥ २६ ॥

कार्यवश नटभावको प्राप्त हुए पराक्रमसम्पन्न प्रद्युम्न, गद और साम्ब नान्दी बजाने लगे ॥ २६ ॥

नान्द्यन्ते च तदा श्लोकं गङ्गावतरणाश्रितम् ।
रौक्मिणेयस्तदोवाच सम्यक् स्वभिनयान्वितम् ॥ २७ ॥

उस समय नान्दी (माङ्गलिक पद्यपाठ) के अन्तमें रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नने गङ्गावतरणसे सम्बन्ध रखनेवाले श्लोकका उत्तम अभिनयके साथ पाठ किया ॥ २७ ॥

रम्भाभिसारं कौबेरं नाटकं ननृतुस्ततः ।
शूरो रावणरूपेण रम्भावेषा मनोवती ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् कुबेरलोकसम्बन्धी रम्भाभिसार नामक नाटकका वे सब लोग अभिनय करने लगे । शूर नामक यादव रावण रूपसे उपस्थित हुए । मनोवती नामक वाराङ्गनाने रम्भाका वेष धारण किया ॥ २८ ॥

नलकूवरस्तु प्रद्युम्नः साम्बस्तस्य विदूषकः ।
कैलासो रूपितश्चापि मायया यदुनन्दनैः ॥ २९ ॥

प्रद्युम्न ही नलकूबर बने । साम्ब उनके विदूषक बनकर तदनुरूप कार्य करने लगे । यादवकुमारोंने मायासे वहाँ कैलासको ही मूर्तिमान् कर दिया ॥ २९ ॥

शापश्च दत्तः क्रुद्धेन रावणस्य दुरात्मनः ।
नलकूबरेण च यथा रम्भा चाप्यथ सान्त्विता ॥ ३० ॥
एतत् प्रकरणं वीरा ननृतुर्यदुनन्दनाः ।
नारदस्य मुनेः कीर्तिं सर्वज्ञस्य महात्मनः ॥ ३१ ॥

क्रोधमें भरे हुए नलकूबरने जिस प्रकार दुरात्मा रावणको शाप दिया और जिस तरह रम्भाको सान्त्वना प्रदान की, इस प्रकरणका, जिसके द्वारा सर्वज्ञ महात्मा नारद मुनिकी कीर्तिपर प्रकाश पड़ता है, उन वीर यादवकुमारोंने नाटकद्वारा प्रदर्शन किया ॥ ३०-३१ ॥

पादोद्धारेण नृत्येन तथैवाभिनयेन च ।
तुष्टुवुर्दानवा वीरा भैमानाममितितेजसाम् ॥ ३२ ॥

अत्यन्त तेजस्वी भीमवंशियोंके पाद-विक्षेपपूर्वक किये गये नृत्य और अभिनयसे संतुष्ट हुए दानववीर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ३२ ॥

ते ददुर्वस्त्रमुख्यानि रत्नान्याभरणानि च ।
हारांस्तरलविद्धांश्च वैडूर्यमणिभूषितान् ॥ ३३ ॥

उन्होंने अच्छे-अच्छे वस्त्र, रत्नमय आभूषण तथा वर्तुलाकार मणिसे विद्ध एवं वैदूर्यमणिसे विभूषित हार दिये ॥

---

१. षट्ज, मध्यम और गान्धार—ये तीन ग्राम हैं ।

२. यहाँ नान्दि शब्द एक वाद्यविशेषका वाचक है । यह चमड़ेके थैलेके समान होता है और उसके मुखपर शिववाहन नन्दीके मुखकी आकृति बनी रहती है, इसीलिये उसे नान्दी कहते हैं । कुछ लोगोंके मतमें बारह पटहों (नगाड़ों) की ध्वनिको ही नान्दि कहते हैं । कहीं-कहीं नान्दिकी जगह नान्दी पाठ है । देवताओं और द्विजों आदिकी शुभाशंसा करनेवाली जो पद्य अथवा गीतमयी वाक्यावली है, जो नाटकके पूर्व रंगमें प्रार्थनाके रूपमें पढ़ी जाती है, उसका नाम नान्दी है । उस नान्दीके अन्तमें सूत्रधार नाटककी प्रस्तावना करता है ।

विमानानि विचित्राणि रथांश्चाकाशगामिनः ।
गजानाकाशगांश्चैव दिव्यनागकुलोद्भवान् ॥ ३४ ॥

विचित्र विमान, आकाशगामी रथ और दिव्य नागोंके कुलमें उत्पन्न हुए आकाशचारी हाथी भी प्रदान किये ॥३४॥

चन्दनानि च दिव्यानि शीतानि रसवन्ति च ।
गुरूण्यगुरुमुख्यानि गन्धाढ्यानि च भारत ॥ ३५ ॥
चिन्तामणीनुदारांश्च चिन्तिते सर्वकामदान् ।

भरतनन्दन ! उन दानवोंने यादवकुमारोंको दिव्य, शीतल एवं सरस चन्दन, अगुरु आदि श्रेष्ठ सुगन्धित पदार्थ तथा चिन्तन करनेमात्रसे सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले उदार चिन्तामणि नामक रत्न भी दिये ॥ ३५½ ॥

प्रेक्षासु तासु बह्वीषु ददन्तो दानवास्तथा ॥ ३६ ॥
धनरत्नैर्विरहिताः कृताः पुरुषसत्तम ।
स्त्रियो दानवमुख्यानां तथैव च जनेश्वर ॥ ३७ ॥

पुरुषप्रवर ! नरेश्वर ! वहाँ बहुत बार नाटक देखनेको अवसर मिले। उन सभी अवसरोंपर दानवों तथा प्रधान-प्रधान दानवोंकी स्त्रियोंने इतने उपहार दिये कि वे सब-के-सब धन तथा रत्नोंसे रहित हो गये ॥ ३६-३७ ॥

ततो हंसी प्रभावत्याः सखी प्राह प्रभावतीम् ।
गतास्मि द्वारकां रम्यां भैमगुप्तामनिन्दिते ॥ ३८ ॥

तब प्रभावतीकी सखी हंसीने प्रभावतीसे कहा—'अनिन्दिते ! मैं यादवोंद्वारा सुरक्षित रमणीय द्वारकापुरीमें गयी थी ॥ ३८ ॥

प्रद्युम्नश्च मया दृष्टो विविक्ते चारुलोचने ।
भक्तिश्च कथिता तस्य मया तव शुचिस्मिते ॥ ३९ ॥

'चारुलोचने ! वहाँ एकान्तमें मैंने प्रद्युम्नसे भेंट की। शुचिस्मिते ! तुम्हारी प्रद्युम्नके प्रति जो भक्ति है, उसकी भी मैंने उनसे चर्चा की ॥ ३९ ॥

तेन हृष्टेन कालश्च कृतः कमललोचने ।
अद्य प्रदोषसमये त्वया सह समागमे ॥ ४० ॥

'कमललोचने ! मेरी बात सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने आज ही प्रदोषकालमें तुमसे मिलनेका समय निश्चित किया है ॥ ४० ॥

तदद्य रुचिरश्रोणि तव प्रियसमागमः ।
न ह्यात्मवति भाषन्ति मिथ्या भैमकुलोद्भवाः ॥ ४१ ॥

'अतः सुश्रोणि ! आज ही तुम्हारी अपने प्राणवल्लभसे भेंट होगी; क्योंकि यदुकुलमें उत्पन्न हुए पुरुष अपने प्रेमी-जनोंके प्रति कोई मिथ्या संदेश नहीं देते हैं' ॥ ४१ ॥

ततः प्रभावती हृष्टा हंसीं तामिदमब्रवीत् ।
उषितासि ममावासे स्वप्तुमर्हसि सुन्दरि ॥ ४२ ॥

यह सुनकर प्रभावतीको बड़ा हर्ष हुआ। वह उस हंसीसे इस प्रकार बोली—'सुन्दरि ! तुम पहले भी मेरे घरमें रह चुकी हो। उसी तरह आज भी मेरे ही महलमें शयन करो ॥ ४२ ॥

त्वयाहं सहिताऽऽवासे द्रष्टुमिच्छामि केशविम् ।
निःसाध्वसा भविष्यामि त्वया सह विहङ्गमे ॥ ४३ ॥

'विहङ्गमे ! आज इस घरमें तुम्हारे साथ रहकर ही मैं केशवकुमार प्रद्युम्नका दर्शन करना चाहती हूँ। तुम्हारे साथ होनेसे मैं निर्भय रहूँगी' ॥ ४३ ॥

हंसी तथेति चोवाच सखीं कमललोचनाम् ।
आरुरोह च तद्धर्म्यं प्रभावत्या विहङ्गमा ॥ ४४ ॥

तब आकाशचारिणी हंसीने अपनी कमललोचना सखी प्रभावतीसे कहा—'बहुत अच्छा, आज यहीं सोऊँगी।' फिर वह प्रभावतीकी अट्टालिकापर आरूढ़ हुई ॥ ४४ ॥

विश्वकर्मकृते तत्र हर्म्यपृष्ठे प्रभावती ।
संविधानं चकाराशु प्रद्युम्नागमनक्षमम् ॥ ४५ ॥

विश्वकर्माके बनाये हुए प्रासादपृष्ठमें प्रभावतीने शीघ्र ही प्रद्युम्नके आगमनके योग्य सजावट कर दी ॥ ४५ ॥

तस्मिन् कृते संविधाने काममानयितुं ययौ ।
प्रभावतीमनुज्ञाप्य हंसी वायुसमा गतौ ॥ ४६ ॥

वह सजावट हो जानेपर वायुके समान तीव्र वेगसे चलनेवाली हंसी प्रभावतीसे पूछकर प्रद्युम्नको ले आनेके लिये गयी ॥ ४६ ॥

नटवेषधरं कामं गत्वोवाच शुचिस्मिता ।
अद्य भूतः स भगवन् समयो वर्तते निशि ॥ ४७ ॥

पवित्र मुसकानवाली वह हंसी नटवेषधारी प्रद्युम्नके पास जाकर बोली—'भगवन् ! आपने पहलेसे जो समय निश्चित कर रक्खा है, वह आजकी ही रातमें आ रहा है' ॥ ४७ ॥

तथेति प्राह तां कामः सा निवृत्ताथ पक्षिणी ।
अभ्यागता च सा हंसी प्रभावतिमथाब्रवीत् ।
अभ्येति रौक्मिणेयोऽसावाश्वसायतलोचने ॥ ४८ ॥

तब प्रद्युम्नने उससे कहा—'बहुत अच्छा' उनका यह उत्तर सुनकर पक्षिणी लौट गयी। महलमें लौटकर हंसीने प्रभावतीसे कहा—'विशाललोचने ! धीरज धारण करो ! वे रुक्मिणीनन्दन तुम्हारे पास आ रहे हैं' ॥ ४८ ॥

प्रद्युम्नो नीयमानं तु ददर्श माल्यमात्मवान् ।
भ्रमरैरावृतं वीरः सुगन्धमरिमर्दनः ॥ ४९ ॥

उधर शत्रुमर्दन मनस्वी वीर प्रद्युम्नने देखा कि प्रभावतीके यहाँ सुगन्धित पुष्पमाला ले जायी जा रही है, जिसपर बहुत-से भ्रमर आ बैठे हैं ॥ ४९ ॥

निलिल्ये तत्र माल्ये तु भूत्वा मधुकरस्तदा ।
प्रभावत्या नीयमाने विदितार्थः प्रतापवान् ॥ ५० ॥

फिर तो सर्वज्ञ एवं प्रतापी वीर प्रद्युम्न प्रभावतीके यहाँ ले जायी जानेवाली मालामें भ्रमर होकर छिप गये ॥ ५० ॥

प्रवेशितं च तन्माल्यं स्त्रीभिर्मधुकरायुतम्।
उपनीतं प्रभावत्यै स्त्रीभिस्तद् भ्रमरावृतम् ॥ ५१ ॥

स्त्रियोंने भ्रमरोंसे आवृत हुई उस मालाको प्रभावतीके महलमें पहुँचा दिया। फिर दूसरी स्त्रियोंने वह भ्रमरावृत माला प्रभावतीके हाथमें दे दी ॥ ५१ ॥

अविदूरे च विन्यस्तं प्रभावत्या जनाधिप।
भ्रमरास्ते ययुः सौम्य संध्याकाले ह्युपस्थिते ॥ ५२ ॥

नरेश्वर! प्रभावतीने उसे पास ही रख लिया। सौम्य! संध्याकाल उपस्थित होनेपर वे भ्रमर चले गये ॥ ५२ ॥

स भैमप्रवरो वीरस्तैः सहायैर्विहीनतः।
कर्णोत्पले प्रभावत्या निलिल्ये शनकैरिव ॥ ५३ ॥

उन अपने सहायकोंसे बिछुड़कर वीर यदुश्रेष्ठ प्रद्युम्न धीरेसे प्रभावतीके कानमें पहने गये कमलमें छिप गये ॥५३॥

ततः प्रभावती हंसीमुवाच वदतां वरा।
उद्यतं पूर्णचन्द्रं सा समीक्ष्यातिमनोहरम् ॥ ५४ ॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ प्रभावतीने अत्यन्त मनोहर पूर्ण चन्द्रको उदित हुआ देख हंसीसे कहा— ॥ ५४ ॥

सखि दह्यन्ति मेऽङ्गानि मुखं च परिशुष्यति।
औत्सुक्यं हृदि चातीव कोऽयं व्याधिरनौषधः ॥ ५५ ॥

'सखी! मेरे तो सारे अङ्ग जले जा रहे हैं। मुँह सूख रहा है। हृदयमें अत्यन्त उत्कण्ठा बढ़ गयी है। यह कौन-सा रोग लग गया, जिसकी कोई दवा ही नहीं है? ॥ ५५ ॥

दधद् द्विगुणमौत्सुक्यमसौ पूर्णनिशाकरः।
नवोदितः शीतरश्मिः सख्यं हरति च प्रियः ॥ ५६ ॥

'वह शीतल किरणोंवाला नवोदित पूर्ण चन्द्र दूनी उत्सुकता बढ़ा रहा है। वह देखनेमे प्रिय लगता है; परंतु मित्रभावका अपहरण कर रहा है—अप्रियवत् बर्ताव करने लगा है ॥ ५६ ॥

न दृष्टपूर्वो हि मया श्रुतमात्रेण काङ्क्षितः।
अहो धूमयतेऽङ्गानि स्त्रीस्वभावस्य धिक् खलु ॥ ५७ ॥

'अहो! जिसे मैंने पहले कभी देखा नहीं है, केवल नाम सुनकर उसे चाहने लगी हूँ तो भी वह मेरे सारे अङ्गोंमें आग सुलगा रहा है। मुझे धूमाच्छन्न किये देता है। नारीके इस स्वभावको धिक्कार है ॥ ५७ ॥

कल्पयामि यथाबुद्ध्या यदि नाभ्येति मे प्रियः।
कुमुद्वतीगतं मार्गं हा गमिष्याम्यकिंचना ॥ ५८ ॥

'जैसा कि मैं बुद्धिसे सोच रही हूँ, यदि मेरे प्रियतम नहीं आये तो मैं अकिञ्चन नारी उसी मार्गको अपनाऊँगी, जिसपर कुमुद्वती चल चुकी है। अर्थात् प्रियतम पतिके जीते जी ही युवावस्थामें मुझे अपने प्राणोंका परित्याग करना पड़ेगा। हा! यह कितने कष्टकी बात है? ॥ ५८ ॥

मदनाशीविषेणास्मि हा हा दष्टा मनस्विनी।
शीतवीर्याः प्रकृत्यैव जगतो ह्लादनाः सुखाः।
दहन्ति मम गात्राणि किं नु चन्द्रगभस्तयः ॥ ५९ ॥

'हाय! हाय!! मुझ मनस्विनी नारीको कामदेवरूपी विषधर सर्पने डँस लिया है, अन्यथा शीतलता ही जिनकी शक्ति है, जो स्वभावसे ही जगत्‌को आह्लाद एवं सुख प्रदान करनेवाली हैं, वे चन्द्रमाकी किरणें मेरे अङ्गोंको क्यों जला रही हैं? ॥ ५९ ॥

प्रकृत्या शीतलो वायुर्नानापुष्परजोवहः।
दावाग्निसदृशो मेऽद्य दन्दहीति शुभां तनुम् ॥ ६० ॥

'जो स्वभावसे ही शीतल है और नाना प्रकारके पुष्पोंकी सुगन्धित रज लेकर बहती है, वही वायु आज मेरे लिये दावानलके समान होकर मेरे सुन्दर शरीरको अत्यन्त दग्ध किये देती है ॥ ६० ॥

ततः संकल्पये एव स्थैर्यं कार्यमिहात्मनः।
नावतिष्ठति निर्वीर्यं मनः संकल्पधर्षितम् ॥ ६१ ॥

'मैं बारंबार संकल्प कर रही हूँ कि मुझे अपने मनको स्थिर कर लेना चाहिये; परंतु मेरा मन कामसे मथित होकर अत्यन्त निर्बल हो गया है; अतः स्थिर नहीं हो पाता है ॥ ६१ ॥

विमनस्कास्मि मुह्यामि वेपथुर्मे महान् हृदि।
बम्भ्रमीति च मे दृष्टिर्हा हा यामि ध्रुवं क्षयम् ॥ ६२ ॥

'उन्मनी हुई जा रही हूँ, मुझपर मोह छा रहा है। मेरे हृदयमें महान् कम्पन हो रहा है और मेरी दृष्टि बारंबार घूम रही है। हाय! हाय! अब निश्चय ही मैं नष्ट हो जाऊँगी' ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि वज्रनाभपुरे प्रद्युम्नगमने त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें वज्रनाभपुरमें प्रद्युम्नका गमनविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

प्रद्युम्न और प्रभावतीका गान्धर्वविवाह एवं समागम; फिर गद और चन्द्रवतीका तथा साम्ब और गुणवतीका गान्धर्वविवाह

वैशम्पायन उवाच

आविष्टेयं मया बाला सर्वथेत्यवगम्य तु।
कार्ष्णिर्हृष्टेन मनसा हंसीमिदमुवाच ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्नने जब यह समझ लिया कि असुरबाला प्रभावतीपर सर्वथा मेरा (कामका) आवेश हो गया है, तब वे प्रसन्न मनसे हंसीसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

दैत्येन्द्रतनयां प्राप्तमवगच्छस्व मामिह।
षट्पदैः सह षट्पादो भूत्वा माल्ये निलीय हि ॥ २ ॥
विधेयोऽस्मि प्रभावत्या यथेष्टं मयि वर्तताम्।

'विहङ्गमे! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि मैं भ्रमरोंके साथ भ्रमर बनकर इसी मालामें छुक-छिपकर यहाँ दैत्यराज-कुमारी प्रभावतीके पास आ गया हूँ (तुम इसे मेरे आगमनकी सूचना दो)। मैं प्रभावतीका आज्ञापालक हूँ। वह मेरे प्रति जैसा चाहे बर्ताव कर सकती है' ॥ २½ ॥

इत्युक्त्वा दर्शयामास सुरूपो रूपमात्मनः ॥ ३ ॥
तद्धर्म्यपृष्ठं प्रभया द्योतितं तस्य धीमतः।
अभिभूता प्रभा चैव राजंश्चन्द्रोद्भवा शुभा ॥ ४ ॥

राजन्! ऐसा कहकर सुन्दर रूपवाले प्रद्युम्नने उसे अपने रूपका दर्शन कराया। वह प्रासादपृष्ठ प्रज्ञावान् प्रद्युम्नकी प्रभासे प्रकाशित हो उठा। उनकी कान्तिसे चन्द्रमाकी सुन्दर कान्ति भी तिरस्कृत हो गयी ॥ ३-४ ॥

प्रभावत्यास्तु तं दृष्ट्वा ववृधे कामसागरः।
चन्द्रस्येवोदये प्राप्ते पर्वण्यां सरितां पतिः ॥ ५ ॥

प्रद्युम्नको देखते ही प्रभावतीके कामरूपी समुद्रमें ज्वार आ गया; ठीक उसी तरह, जैसे पूर्ण चन्द्रोदयका पर्व प्राप्त होनेपर सरिताओंके स्वामी समुद्रमें बाढ़ आ जाती है ॥ ५ ॥

सलज्जाधोमुखी किंचित् किंचित् तिर्यगवेक्षिणी।
प्रभावती तदा तस्थौ निश्चलं कमलेक्षणा ॥ ६ ॥

प्रभावतीका मुख लज्जासे कुछ नीचेको झुक गया तो भी वह कुछ-कुछ तिरछी चितवनसे अपने प्राणवल्लभकी ओर देख लेती थी। उस समय कमलनयनी प्रभावती स्थिरभावसे खड़ी थी ॥ ६ ॥

करेणाधःप्रदेशे तां चारुभूषणभूषिताम्।
स्पृष्ट्वोवाच वरारोहां रोमाञ्चिततनुस्ततः ॥ ७ ॥

मनोहर आभूषणोंसे विभूषित हुई सुन्दराङ्गी प्रभावतीके मुखके नीचेके भाग (ठोढ़ी) का हाथसे स्पर्श करके प्रद्युम्नका शरीर पुलकित हो गया। वे उससे इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

मनोरथशतैर्लब्धं किं पूर्णेन्दुसमप्रभम्।
अधोमुखं मुखं कृत्वा न मां किंचित् प्रभाषसे ॥ ८ ॥
प्रभोपमर्दं मा कार्षीर्वदनस्य वरानने।
साध्वसं त्यज्यतां भीरु दासः साध्वनुगृह्यताम् ॥ ९ ॥

'सुमुखि! तुम्हारा यह पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमान् मुख मुझे सैकड़ों मनोरथोंके द्वारा आज प्राप्त हुआ है। तुम इसे नीचेकी ओर करके मुझसे कुछ बोलती क्यों नहीं हो? तुम अपने मुखचन्द्रकी प्रभाका इस तरह तिरस्कार या लोप न करो। भीरु! भय छोड़ो और इस दासपर भलीभाँति अनुग्रह करो ॥ ८-९ ॥

न कालमिव पश्यामि भीरु भीरुत्वमुत्सृज।
याचाम्येषोऽञ्जलिं कृत्वा प्राप्तकालं निबोध मे ॥ १० ॥

'भीरु! तुम्हारा यह सलज्ज मौनभाव मुझे इस समयके लिये उपयुक्त-सा नहीं दिखायी देता। भय त्याग दो। इसके लिये मैं यह हाथ जोड़कर याचना करता हूँ। समयोचित कर्तव्य क्या है—यह मुझसे सुनो ॥ १० ॥

गान्धर्वेण विवाहेन कुरुष्वानुग्रहं मम।
देशकालानुरूपेण रूपेणाप्रतिमा सती ॥ ११ ॥

'संसारमें तुम्हारे रूपकी कहीं तुलना नहीं है। तुम देश-कालके अनुरूप गान्धर्व-विवाह करके मुझपर अनुग्रह करो' ॥

उपस्पृश्य ततो भैमो मणिस्थं जातवेदसम्।
जुहाव समये वीरः पुष्पैर्मन्त्रानुदीरयन् ॥ १२ ॥

तदनन्तर वीर यादव प्रद्युम्नने आचमन करके सूर्यकान्त-मणिमें स्थित अग्निदेवको प्रकट किया और उस समय मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए पुष्पोंद्वारा आहुति दी ॥ १२ ॥

जग्राहाथ करं तस्या वराभरणभूषितम्।
चक्रे प्रदक्षिणं चैव तं मणिस्थं हुताशनम् ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने प्रभावतीके सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित हाथको अपने हाथमें लिया और सूर्यकान्तमणिमें विराजमान अग्निदेवकी परिक्रमा की ॥ १३ ॥

प्रजज्वाल स तेजस्वी मानयन्नच्युतात्मजम्।
भगवाञ्जगतः साक्षी शुभस्याथाशुभस्य च ॥ १४ ॥

उस समय सम्पूर्ण जगत्के शुभाशुभके साक्षी तेजस्वी भगवान् अग्निदेव अच्युतकुमार प्रद्युम्नका आदर करते हुए वहाँ प्रज्वलित हो उठे ॥ १४ ॥

उद्दिश्य दक्षिणां वीरो विप्राणां यदुनन्दनः।
उवाच हंसीं द्वारस्थां तिष्ठावां रक्ष पक्षिणि ॥ १५ ॥

इसके बाद वीर यदुनन्दनने ब्राह्मणोंके उद्देश्यसे दक्षिणा संकल्प करके द्वारपर खड़ी हुई हंसीसे कहा—'पक्षिणि ! तुम इस भवनके बाहरी द्वारपर खड़ी रहो और हम दोनोंको दूसरोंकी दृष्टि पड़नेसे बचाओ' ॥ १५ ॥

तस्यां प्रणम्य यातायां कामस्तां चारुलोचनाम्।
प्रहाय दक्षिणे हस्ते निनाय शयनोत्तमम् ॥ १६ ॥

यह सुनकर हंसी उन्हें प्रणाम करके चली गयी। तब प्रद्युम्न मनोहर नेत्रोंवाली प्रभावतीका दाहिना हाथ पकड़कर उसे सुन्दर शय्यापर ले गये ॥ १६ ॥

ऊरावेवोपवेश्यैनां सान्त्वयित्वा पुनः पुनः।
चुचुम्ब शनकैर्गण्डं वासयन् मुखमारुतैः ॥ १७ ॥

वहाँ उसे अपनी जाँघपर ही बिठाकर उन्होंने बारंबार सान्त्वना दी और अपने मुखकी सुगन्धित वायुसे उसके कपोलको सुवासित करते हुए धीरेसे उसको चूम लिया ॥१७॥

ततोऽस्याश्च पपौ वक्त्रपद्मं मधुकरो यथा।
आलिलिङ्गे च सुश्रोणीं क्रमेण रतिकोविदः ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् जैसे भ्रमर प्रफुल्ल कमलके मकरन्दका पान करता है, उसी प्रकार वे उसके मुखारविन्दका—उसके अधरोंका रस पीने लगे। फिर क्रमशः रति-कला-कुशल प्रद्युम्नने मनोहर नितम्बवाली प्रभावतीका पूर्णरूपसे आलिङ्गन किया ॥ १८ ॥

अरीरमद् रहस्येनां न चोद्वेजितवांस्तदा।
अपकृष्टं चरत्यर्थं रतिकार्यविशारदः।
उवास स तया सार्द्धं रमन् कृष्णसुतः प्रभुः ॥ १९ ॥

रतिकला-कोविद एवं सामर्थ्यशाली श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्न उसके साथ एकान्तमें रमण करने लगे। वे उसे उद्विग्न नहीं करते थे। कोई क्षुद्र बर्ताव (बलात्कार आदि) भी नहीं करते थे। उसके साथ रमण करते हुए वे रातभर वहीं रहे ॥ १९ ॥

अरुणोदयकाले च ययौ यत्र नटालयम्।
अकामया प्रभावत्या कथञ्चित् स विसर्जितः ॥ २० ॥

अरुणोदय-कालमें वे वहीं चले गये, जहाँ नटोंका स्थान था। प्रभावती नहीं चाहती थी कि वे एक क्षणके लिये भी उससे अलग हों तथापि किसी तरह उसने उस समय उन्हें विदा किया ॥ २० ॥

तामेव मनसा कान्तां कान्तरूपां समुद्वहन्।
त ऊषुर्नटवेषेण कार्यार्थं भैमवंशजाः ॥ २१ ॥
प्रतीक्षन्तस्तदा वाक्यमिन्द्रकेशवयोस्तदा।

प्रद्युम्न कमनीय रूपवाली उस प्राणवल्लभा प्रभावतीका ही मन-ही-मन चिन्तन करते रहे। वे भीमवंशी यादवकुमार उस समय देवराज इन्द्र और भगवान् श्रीकृष्णके आदेशकी प्रतीक्षा करते हुए अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये वहाँ नट-वेशमें रहने लगे ॥ २१½ ॥

उद्योगं वज्रनाभस्य त्रैलोक्यविजयं प्रति ॥ २२ ॥
प्रतीक्षन्तो महात्मानो गुह्यसंरक्षणे रताः।

वे महामनस्वी वीर अपने गूढ़ उद्देश्यको सर्वथा छिपाये रखनेके लिये तत्पर होकर वज्रनाभके त्रिलोकविजय-सम्बन्धी उद्योगकी राह देखते थे ॥ २२½ ॥

कश्यपस्य मुनेः सत्रं यावत् तावन्नराधिप ॥ २३ ॥
देवासुराणां सर्वेषामविरोधो महात्मनाम्।
त्रैलोक्यविजयार्थाय यततां धर्मचारिणाम् ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! जबतक कश्यप मुनिका यज्ञ होता रहा, तबतक त्रैलोक्य-विजयके लिये प्रयत्नशील रहनेवाले समस्त महामनस्वी धर्मपरायण देवताओं और असुरोंमें परस्पर कोई विरोध नहीं हुआ ॥ २३-२४ ॥

एवं कालं प्रतीक्षाणां वसतां तत्र धीमताम्।
सम्प्राप्तः प्रावृषो रम्यः सर्वभूतमनोहरः ॥ २५ ॥

इस तरह समयकी प्रतीक्षा करते हुए वहाँ निवास करनेवाले बुद्धिमान् यादववीरोंके समक्ष वर्षा ऋतु प्राप्त हुई, जो समस्त प्राणियोंके लिये रमणीय एवं मनोहर है ॥ २५ ॥

अहर्निशं च वृत्तान्तं प्रयच्छन्ति मनोजवाः।
शक्रकेशवयोर्हंसाः कुमाराणां महात्मनाम् ॥ २६ ॥

मनके समान वेगशाली हंस उन महामनस्वी यादवकुमारोंको प्रतिदिन इन्द्र और श्रीकृष्णका समाचार दिया करते थे ॥ २६ ॥

रेमे सह प्रभावत्या प्रद्युम्नश्चानुरूपया।
रात्रौ रात्रौ महातेजा धार्तराष्ट्राभिरक्षितः ॥ २७ ॥

प्रत्येक रात्रिको हंसोंसे सुरक्षित हुए महातेजस्वी प्रद्युम्न अपनी मनोऽनुरूप भार्या प्रभावतीके साथ रमण करते थे ॥

तैर्हि वज्रपुरं हंसैर्वसद्भिर्वासवाज्ञया।
व्याप्तं नृप नटांस्तांश्च न विदुः कालमोहिताः ॥ २८ ॥

नरेश्वर ! इन्द्रकी आज्ञासे वज्रपुरमें निवास करनेवाले हंसोंसे वह सारा नगर व्याप्त हो रहा था; परंतु कालसे मोहित हुए दानव यह नहीं जानते थे कि वास्तवमें वे हंस और वे नट कौन हैं ? ॥ २८ ॥

दिवापि रौक्मिणेयस्तु प्रभावत्या नृपालये।
तिष्ठत्यन्तर्हितो वीरो हंससंघाभिरक्षितः ॥ २९ ॥

राजन् ! वीर रुक्मिणीकुमार दिनमें भी हंससमुदायसे सुरक्षित हो छिपे रूपसे प्रभावतीके घरमें रहते थे ॥ २९ ॥

माययास्य प्रतिच्छाया दृश्यते हि नटालये।

देहार्धेन तु कौरव्य सिषेवेऽसौ प्रभावतीम् ॥ ३० ॥

कुरुनन्दन ! मायासे उनकी छायामात्र नटोंके स्थानमें दिखायी देती थी। वे अपने आधे शरीरसे प्रभावतीका ही सेवन करते थे ॥ ३० ॥

संनतिं विनयं शीलं लीलां दाक्ष्यमथार्जवम्।
स्पृहयन्त्यसुरा दृष्ट्वा विद्वत्तां च महात्मनाम् ॥ ३१ ॥

उन महामनस्वी नटोंकी विनय, प्रणति, शील, लीला, चातुरी, सरलता और विद्वत्ता देखकर असुर सदा ही उन्हें चाहते रहते थे ॥ ३१ ॥

रूपं विलासं गन्धं च मञ्जुभाषामथार्यताम्।
तासां यादवनारीणां स्पृहयन्त्यसुरस्त्रियः ॥ ३२ ॥

उन असुरोंकी स्त्रियाँ भी यादवकुमारोंके साथ आयी हुई सुन्दरियोंके रूप, विलास, सुगन्ध, मनोहर बोली और श्रेष्ठ स्वभावकी सदा ही अभिलाषा करती थीं ॥ ३२ ॥

वज्रनाभस्य तु भ्राता सुनाभो नाम विश्रुतः।
दुहितृद्वयं च नृपते तस्य रूपगुणान्वितम् ॥ ३३ ॥

वज्रनाभके एक भाई था, जो सुनाभ नामसे विख्यात था। नरेश्वर ! उसके दो पुत्रियाँ थीं, जो सुन्दर रूप और उत्तम गुणोंसे युक्त थीं ॥ ३३ ॥

एका चन्द्रवती नाम्ना गुणवत्यथ चापरा।
प्रभावत्यालयं ते तु व्रजतः खलु नित्यदा ॥ ३४ ॥

उनमेंसे एकका नाम चन्द्रवती और दूसरीका नाम गुणवती था। वे प्रतिदिन प्रभावतीके महलमें जाया करती थीं ॥ ३४ ॥

ददृशाते तु ते तत्र रतिसक्तां प्रभावतीम्।
परिपप्रच्छतुश्चैव विस्रम्भोपगतां सतीम् ॥ ३५ ॥

उन दोनोंने वहाँ प्रभावतीको रतिमें आसक्त देखा। सती-साध्वी प्रभावतीका अपनी इन दोनों बहिनोंपर बड़ा विश्वास था; अतः इन दोनोंने उससे पूछा—('बहिन ! तुम किसके साथ क्रीड़ा करती हो ?') ॥ ३५ ॥

सोवाच मम विद्यास्ति याधीता काङ्क्षितं पतिम्।
रत्यर्थं साऽऽनयत्याशु सौभाग्यं च प्रयच्छति ॥ ३६ ॥
देवं वा दानवं वापि विवशं सद्य एव हि।

प्रभावती बोली—'मेरे पास एक विद्या है, जिसका अध्ययन कर लेनेपर वह रतिके लिये शीघ्र ही मनोवाञ्छित पतिको ला देती है और सौभाग्य प्रदान करती है। अभिलषित पुरुष देवता हो या दानव, यह विद्या उसे तत्काल विवश करके अपने पास उसे ला देती है ॥ ३६½ ॥

साहं रमामि कान्तेन देवपुत्रेण धीमता ॥ ३७ ॥
दृश्यतां मत्प्रभावेण प्रद्युम्नः सुप्रियो मम।

'अतः मैं उसी विद्याके प्रभावसे परम बुद्धिमान् देवकुमारको अपना प्राणवल्लभ बनाकर उनके साथ रमण करती हूँ। देखो, मेरे या मेरी विद्याके प्रभावसे प्रद्युम्न मेरे अत्यंत प्रिय हो गये हैं' ॥ ३७½ ॥

ते दृष्ट्वा विस्मयं याते रूपयौवनसम्पदम् ॥ ३८ ॥
पुनरेवाब्रवीत् ते तु भगिन्यौ चारुहासिनी।
प्रभावती वरारोहा कालप्राप्तमिदं वचः ॥ ३९ ॥

उनके रूप और यौवनकी सम्पत्ति देखकर उन दोनों बहनोंको बड़ा विस्मय हुआ। फिर मनोहर हास्यवाली सुन्दरी प्रभावतीने उन दोनों बहनोंसे यह समयोचित बात कही—॥ ३८-३९ ॥

देवा धर्मरता नित्यं दम्भशीला महासुराः।
देवास्तपसि रक्ता हि सुखे रक्ता महासुराः ॥ ४० ॥

'देवता सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं और महान् असुर दम्भी होते हैं। देवता तपस्यामें अनुरक्त होते हैं और महान् असुर सुखमें आसक्त ॥ ४० ॥

देवाः सत्ये रता नित्यमनृते तु महासुराः।
धर्मस्तपश्च सत्यं च यत्र तत्र जयो ध्रुवम् ॥ ४१ ॥

'देवता सदा सत्यमें तत्पर रहते हैं तो महान् असुर असत्यमें। जहाँ धर्म, तप और सत्य होता है, उसी पक्षको युद्धमें निश्चितरूपसे विजय प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

देवपुत्रौ वरयतां पतिविद्यां ददाम्यहम्।
उचितौ मत्प्रभावेण सद्य एवोपलप्स्यथः ॥ ४२ ॥

'अतः तुम दोनों भी दो सुयोग्य देवकुमारोंका वरण कर लो। पतिकी प्राप्ति करानेवाली यह विद्या मैं तुम्हें देती हूँ। तुम मेरे प्रभावसे तत्काल ही अभीष्ट पति प्राप्त कर लोगी' ॥

तां तथेत्यूचतुर्हृष्टे भगिन्यौ चारुलोचनाम्।
परिपप्रच्छ भैमं च कार्यं तत् पतिमानिनी ॥ ४३ ॥

तब वे दोनों बहनें अत्यन्त हर्षमें भरकर चारुलोचना प्रभावतीसे बोलीं, 'बहुत अच्छा।' तदनन्तर पतिको आदर देनेवाली प्रभावतीने प्रद्युम्नसे उस कार्यके विषयमें पूछा ।४३।

स पितृव्यं गदं वीरं साम्बं चाथाब्रवीत् तदा।
रूपान्वितौ सुशीलौ च शूरौ च रणकर्मणि ॥ ४४ ॥

प्रद्युम्नने उस समय अपने चाचा वीरवर गद और भाई साम्बका नाम बताया और कहा—'वे दोनों सुन्दर रूपवाले, सुशील तथा युद्धकर्ममें शूरवीर हैं' ॥ ४४ ॥

प्रभावत्युवाच

परितुष्टेन दत्ता मे विद्या दुर्वाससा पुरा।
परितुष्टेन सौभाग्यं सदा कन्यात्वमेव च ॥ ४५ ॥

तब प्रभावती अपनी दोनों बहनोंसे बोली—पूर्वकालमें सेवासे संतुष्ट हुए दुर्वासा मुनिने मुझे यह विद्या

दी; साथ ही अखण्ड सौभाग्य तथा सदा कन्या-जैसी बनी रहनेका वरदान दिया ॥ ४५ ॥

देवदानवयक्षाणां यं ध्यास्यति स ते पतिः ।
भवितेति मया चैव वीरोऽयमभिकाङ्क्षितः ॥ ४६ ॥

उन्होंने यह भी कहा था कि तुम देवता, दानव तथा यक्षोंमेंसे जिसका चिन्तन करोगी, वही तुम्हारा पति होगा । उनके इस वरदानके अनुसार मैंने उन्हीं वीर प्रद्युम्नको अपना पति बनानेकी इच्छा की ॥ ४६ ॥

गृहीतं तदिमां विद्यां सद्यो वां प्रियसङ्गमः ।
ततो जगृहतुर्हृष्टे तां विद्यां भगिनीमुखात् ॥ ४७ ॥

अतः तुम दोनों ही इस विद्याको ग्रहण करो । इससे तुम्हें तत्काल ही प्रियतमका समागम प्राप्त होगा । यह सुनकर हर्षमें भरी हुई उन दोनों बहनोंने बहन प्रभावतीके मुखसे वह विद्या ग्रहण की ॥ ४७ ॥

दध्यतुर्गदसाम्बौ च विद्यामभ्यस्य ते शुभे ।
तौ प्रद्युम्नेन सहितौ प्रविष्टौ भैमनन्दनौ ॥ ४८ ॥

उन शुभलक्षणा कन्याओंने विद्याका अभ्यास करके गद और साम्बका ध्यान किया; फिर तो वे दोनों यादवकुमार गद और साम्ब प्रद्युम्नके साथ ही उस महलमें प्रविष्ट हुए ॥

प्रच्छन्नौ मायया वीरौ कार्ष्णिना मायिना नृप ।
गान्धर्वेण विवाहेन तावप्यरिबलार्दनौ ॥ ४९ ॥
पाणिं जगृहतुर्वीरौ मन्त्रपूर्वं सतां प्रियौ ।
चन्द्रवत्या गदः साम्बो गुणवत्या च कैशविः ॥ ५० ॥

नरेश्वर ! मायावी प्रद्युम्नने अपनी मायासे उन दोनों वीरोंको छिपाकर वहाँ उपस्थित किया था । शत्रुसेनाका संहार करनेवाले उन दोनों वीरोंने भी गान्धर्व विवाहकी विधिसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक उन कन्याओंका पाणिग्रहण किया । वे दोनों ही सत्पुरुषोंके प्रिय थे । चन्द्रवतीके साथ गद और गुणवतीके साथ केशवकुमार साम्बका विवाह हुआ ।४९-५०।

रेमिरेऽसुरकन्याभिर्वीरास्ते यदुपुङ्गवाः ।
मार्गमाणास्त्वनुज्ञां ते शक्रकेशवयोस्तदा ॥ ५१ ॥

इस तरह वे तीनों यदुपुङ्गव वीर उन दिनों इन्द्र और श्रीकृष्णके आदेशकी प्रतीक्षा करते हुए उन असुरकन्याओंके साथ रमण करने लगे ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि प्रभावतीपाणिग्रहणे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें प्रभावतीका पाणिग्रहणविषयक चौरानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

प्रद्युम्नका प्रभावतीसे वर्षाका वर्णन करते हुए उसे अपने कुलका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

नभो नभस्येऽथ निरीक्ष्य मासि
कामस्तदा तोयदवृन्दकीर्णम् ।
प्रभावतीं चारुविशालनेत्रा-
मुवाच पूर्णेन्दुनिकाशवक्त्रः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले प्रद्युम्नने भाद्रपद मासमें आकाशको मेघोंकी घटासे आच्छन्न हुआ देख उस समय मनोहर एवं विशाल नेत्रोंवाली प्रभावतीसे कहा—॥ १ ॥

तवाननाभो वरगात्रि चन्द्रो
न दृश्यते सुन्दरि चारुबिम्बः ।
त्वत्केशपाशप्रतिमैर्निरुद्धो
बलाहकैश्चारुनिरन्तरोरु ॥ २ ॥

'मनोहर एवं परस्पर सटी हुई जाँघोंवाली वराङ्गी ! सुन्दरि ! इस समय सुन्दर बिम्बवाला चन्द्रमा, जो तुम्हारे मुखके समान मनोरम जान पड़ता था, नहीं दिखायी देता है । तुम्हारे इन केशपाशोंके समान काले बादलोंने उसे छिपा दिया है ॥ २ ॥

संदृश्यते सुभ्रु तडिद् घनस्था
त्वं हेमचार्वाभरणान्वितेव ।
मुञ्चन्ति धाराश्च घना नदन्त-
स्त्वद्धारयष्टेः सदृशा वराङ्गि ॥ ३ ॥

'सुन्दर भौंहोंवाली सुन्दरी ! यह जो मेघोंके अङ्कमें विद्युत् दिखायी देती है, वह सोनेके मनोहर आभूषणोंसे भूषित हुई तुम-जैसी ही प्रतीत होती है और ये गरजते हुए मेघ तुम्हारे मौक्तिक हारोंके समान जलकी स्वच्छ धाराएँ गिरा रहे हैं ॥ ३ ॥

घनप्रदेशेषु बलाकपङ्क्तय-
स्त्वद्दन्तपङ्क्तिप्रतिमा विभान्ति ।
निमग्नपद्मानि सरित्सु सुभ्रु
न भान्ति तोयानि रयाकुलानि ॥ ४ ॥

'सुभ्रु ! आकाशमें जहाँ बादल घिरे हुए हैं, उन प्रदेशोंमें बगुलोंकी पंक्तियाँ तुम्हारे दाँतोंकी श्रेणियोंके समान सुशोभित हो रही हैं । सरिताओंके जलोंमें कमलोंके समूह डूब गये हैं और वे जल महान् वेगसे व्याप्त हैं; अतः उनकी विशेष शोभा नहीं हो रही है ॥ ४ ॥

अमी घना वायुवशोपयाता
बलाकमालामलचारुदन्ताः ।
अन्योन्यमभ्याहनितुं प्रवृत्ता
वनेषु नागा इव शुक्लदन्ताः ॥ ५ ॥

'ये बादल वायुके अधीन हो रहे हैं। बगुलोंकी पंक्तियाँ उनके निर्मल एवं मनोहर दाँतोंके समान शोभा पाती हैं। ये वनोंमें सफेद दाँतवाले हाथियोंके समान एक-दूसरेसे टक्कर लेनेके लिये उद्यत हैं ॥ ५ ॥

धनुस्त्रिवर्णं वरगात्रि पश्य
कृतं तवापाङ्गमिवाननस्थम् ।
विभूषयन्तं गगनं घनांश्च
प्रहर्षणं कामिजनस्य कान्ते ॥ ६ ॥

'सुन्दर अङ्गोंवाली प्राणवल्लभे! वह इन्द्र-धनुष देखो, जो तुम्हारे मुखमण्डलमें स्थित नेत्रोंके कोणभाग-सा तिरंगा बना हुआ है। वह आकाश और बादलोंकी शोभा बढ़ाता हुआ कामीजनोंको महान् हर्ष प्रदान करता है ॥ ६ ॥

घनान् नदन्तः प्रतिनर्दमानान्
निरीक्ष्य सुश्रोणि शिखीन् प्रहृष्टान् ।
समादृतानुद्धतपिच्छभारान्
प्रियाभिरामानुपनृत्यमानान् ॥ ७ ॥

'अपनी बोली बोलते हुए मोर बादलोंको गरजते देख अत्यन्त हर्षमें भरकर नृत्य-कलाके प्रति आदर-भाव रखते हुए पंखोंके भारोंको ऊपर उठाकर आस-पास ही नृत्य कर रहे हैं; इस अवस्थामें ये बहुत ही प्रिय एवं मनोहर प्रतीत होते हैं। तुम इनकी ओर दृष्टिपात करो ॥ ७ ॥

हर्म्येषु चान्ये शशिपाण्डुरेषु
ज्वलन्ति सुश्रोणि मयूरसंघाः ।
मुहूर्तशोभाम चारुरूपां
दत्त्वा पतन्तो वलभीपुटेषु ॥ ८ ॥

'सुश्रोणि! चन्द्रमाके समान श्वेत वर्णवाली अट्टालिकाओंपर बैठे हुए दूसरे मयूर-समुदाय वहाँ दो घड़ीके लिये अत्यन्त मनोहर शोभा प्रदान करके छज्जोंपर उड़ते हुए बड़ी शोभा पा रहे हैं ॥ ८ ॥

प्रक्लिन्नपक्षास्तरुमस्तकेषु
मुहूर्तचूडामणितां विधाय ।
प्रयान्ति भूमिं नवशाद्वलाना-
माशङ्कमाना धृतचारुदेहाः ॥ ९ ॥

'मनोहर देह धारण करनेवाले मोर वृक्षोंकी सर्वोच्च शिखाओंपर बैठे हैं। उनकी पाँखें भींग गयी हैं और वे दो घड़ीके लिये उन वृक्षोंके सिरोंपर चूड़ामणिकी-सी शोभाकी सृष्टि करके नयी-नयी घासोंसे ढकी हुई भूमिपर जा रहे हैं। उनके मनमें यह शङ्का है कि ये घासें भूमिसे भिन्न हैं या अभिन्न ॥ ९ ॥

प्रवाति धारान्तरनिःसृतश्च
सुखोऽनिलश्चन्दनपङ्कशीतः ।
कदम्बसर्जार्जुनपुष्पभूतं
समावहन् गन्धमनङ्गबन्धुम् ॥ १० ॥

'जलकी धाराओंके बीचसे निकलकर सुखदायिनी हवा चल रही है, जो चन्दनपङ्कके समान शीतल प्रतीत होती है। यह कदम्ब, सर्ज और अर्जुनके फूलोंकी सुगन्ध लिये आ रही है। वह सुगन्ध कामोद्दीपनमें सहायक हो रही है ॥ १० ॥

रतिश्रमस्वेदविनाशहेतु-
र्नवोदभारानयने च हेतुः ।
न मारुतः स्याद् यदि चारुगात्रि
न मेघकालो मम वल्लभः स्यात् ॥ ११ ॥

'मनोहर अङ्गोंवाली प्रिये! यदि इस समय रतिके श्रमसे प्रकट होनेवाले पसीनोंको मिटाने और नूतन जलके भारको खींच लानेमें सहायक यह वायु न चलती होती तो यह वर्षाकाल मुझे अधिक प्यारा न लगता ॥ ११ ॥

एवंविधेषु प्रियसङ्गमेषु
रतावसाने यदुपैति वायुः ।
रतिश्रमस्वेदहरः सुगन्धी
ततः परं किं सुखमस्ति लोके ॥ १२ ॥

'जब इस प्रकार प्रियजनोंके समागम प्राप्त हों, उस अवसरपर रतिक्रीड़ाके अन्तमें जो रतिश्रमजनित स्वेदबिन्दुओंको हर लेनेवाली सुगन्धित वायु अपने पास आती है, उससे बढ़कर सुख इस संसारमें दूसरा कौन है ? ॥ १२ ॥

जलाप्लुतानीक्ष्य महानदीनां
सुगात्रि हंसाः पुलिनानि हृष्टाः ।
गताः श्रमं मानसवासलुब्धाः
ससारसाः क्रौञ्चगणानुविद्धाः ॥ १३ ॥

'सुन्दर अङ्गवाली प्राणवल्लभे! बड़ी-बड़ी नदियोंके तटोंको जलमें निमग्न देख सारस और क्रौञ्चोंसहित हंस मानसरोवरमें निवासके लिये लुब्ध हो बड़े हर्षके साथ वहाँतक जानेका परिश्रम स्वीकार करते हैं ॥ १३ ॥

न भान्ति नद्यो न सरांसि चैव
हृतत्विषीवायतचारुनेत्रे ।
गतेषु हंसेष्वथ सारसेषु
रथाङ्गतुल्याह्वयनेषु चैव ॥ १४ ॥

'विशाल एवं मनोहर नेत्रवाली प्रिये! हंसों, सारसों और चक्रवाकोंके चले जानेपर नदी और तालाब श्रीहीन-से प्रतीत होते हैं। उनके बिना न तो नदियाँ अच्छी लगती हैं और न सरोवर ही ॥ १४ ॥

भोगैकदेशेन शुभं शयानं
ध्रुवं जगन्नाथमुपेन्द्रमीशम्।
निद्राभ्युपेता वरकालतज्ज्ञा
श्रियं प्रणम्योत्तरचारुरूपाम्॥ १५॥

'श्रेष्ठ वर्षाकाल और उसमें शयन करनेवाले भगवान् विष्णुको जाननेवाली योग-निद्रा निश्चय ही लोकोत्तर मनोहर रूप धारण करनेवाली श्रीदेवीको प्रणाम करके शेषके शरीरके एक देशमें सोये हुए मङ्गलमय ईश्वर जगन्नाथ उपेन्द्रके निकट आयी है॥ १५॥

निद्रायमाणे भगवत्युपेन्द्रे
मेघाम्बराक्रान्तनिशाकरोऽद्य।
पद्मामलाभः कमलायताक्षि
कृष्णस्य वक्त्रानुकृतिं करोति॥ १६॥

'प्रफुल्ल कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली प्रियतमे! भगवान् उपेन्द्रके योगनिद्राको स्वीकार कर लेनेपर श्वेत कमलके समान अमल कान्तिवाले चन्द्रमा अब मेघरूपी अम्बर (वस्त्र) से आच्छादित हो भगवान् श्रीकृष्णके मुखका अनुकरण कर रहे हैं॥ १६॥

कदम्बनीपार्जुनकेतकानां
स्रजो ध्रुवं कृष्णमुपानयन्ति।
पुष्पाणि चान्यान्यृतवः समस्ताः
कृष्णात् प्रसादानभिकाङ्क्षमाणाः॥१७॥

'सारी ऋतुएँ भगवान् श्रीकृष्णसे कृपाप्रसाद पानेकी अभिलाषा रखकर निश्चय ही उनकी सेवामें कदम्ब, नीप, अर्जुन और केवड़ोंके गजरे तथा दूसरे-दूसरे पुष्प ले आती हैं॥ १७॥

नागाश्चरन्तो विषदिग्धवक्त्राः
स्पृशन्ति पुष्पाण्यपि पादपान्यान्।
पेपीयमानान् भ्रमरैर्जनानां
कौतूहलं ते जनयन्त्यतीव॥ १८॥

'जिन सुकुमारतर वृक्षों एवं फूलोंके रस भ्रमर बारंबार पीते हैं, उन्हें विषपूर्ण मुखवाले सर्प स्वच्छन्द विचरते हुए जब छू देते हैं, तब उनके स्पर्शमात्रसे वे कुम्हला जाते हैं। इस प्रकार वे लोगोंको अत्यन्त आश्चर्यमें डाल रहे हैं॥१८॥

तोयातिभाराम्बुदवृन्दनद्धं
नभः पतिष्यन्तमिवाभिवीक्ष्य।
निपानगम्भीरमभिन्नवृष्टं
मनोहरं चारुमुखस्तनोरु॥ १९॥

'निपान-सदृश गम्भीर आकाशको जलके भारी भारसे युक्त मेघोंकी घटाद्वारा बँधकर गिरता हुआ-सा देख तुम्हारे मनोहर एवं सुन्दर मुख, स्तन और ऊरु कामोद्रेकवश पसीनेसे भर गये हैं॥ १९॥

बलाकमालाकुलमाल्यदाम्ना
निरीक्ष रम्यं घनवृन्दमेतत्।
सस्यानि भूमावभिवर्षमाणं
जगद्धितार्थं विमलाङ्गयष्टे॥ २०॥

'निर्बल अङ्गयष्टिवाली सुन्दरी! जो बगुलोंकी पाँतसे परिपूर्ण होकर मानो श्वेत पुष्पहारसे अलंकृत हुआ है, उस रमणीय मेघसमूहकी ओर तो देखो; यह जगत्के हितके लिये पृथ्वीपर मानो अन्नकी वर्षा करता है॥ २०॥

जलावलम्बाम्बुदवृन्दकर्षी
घनैर्घनान् योधयतीव वायुः।
प्रवृत्तचक्रो नृपतिर्वनस्थान्
गजान् गजैः स्वैरिव वीर्यदृप्तान्॥ २१॥

'पानीके आधारभूत मेघसमूहोंको अपने साथ खींच लानेवाला पावससमीर बादलोंसे बादलोंको लड़ाता-सा जान पड़ता है; मानो कोई चक्रवर्ती नरेश बलके मदसे उन्मत्त हुए जंगली हाथियोंको अपने गजराजोंके साथ लड़ा रहा हो॥२१॥

अभौममम्भो विसृजन्ति मेघाः
पूतं पवित्रं पवनैः सुगन्धि।
हर्षावहं चातकबर्हिणानां
वराण्डजानां जलदप्रियाणाम्॥ २२॥

'ये मेघ शुद्ध, पवित्र और सुगन्धित वायुसे सुवासित उस दिव्य जलकी वर्षा करते हैं, जो मेघोंके प्रेमी चातक और मोर आदि श्रेष्ठ पक्षियोंको हर्ष प्रदान करता है॥२२॥

प्लवंगमः षोडशपक्षशायी
विरौति गोष्ठः सह कामिनीभिः।
ऋचो द्विजातिः प्रियसत्यधर्मा
यथा सुशिष्यैः परिवार्यमाणः॥ २३॥

'जो बरसातके पहले सोलह पक्षों (आठ महीनों) तक कहीं बिलमें शयन करता रहता है, वही मेढक बरसातके आठ पक्षोंमें गोष्ठ (गोसमुदाय) की भाँति अपनी स्त्रियोंके साथ आर्तनाद-सा करता है; मानो सत्य और धर्मसे प्रेम रखनेवाला कोई विद्वान् ब्राह्मण अपने अच्छे शिष्योंसे घिरकर वेदकी ऋचाओंका पाठ कर रहा हो॥ २३॥

गुणो महांस्तोयदकालजोऽय-
मबुद्धमेघस्वनभीपितानाम्।
परिष्वजन्तः परिवर्द्धयन्ति
विनापि शय्यास्समयं प्रियाणाम्॥ २४॥

'वर्षाकालका यह एक महान् गुण है कि अज्ञात मेघ-

---

१. कुएँके आसपास पशुओंकेपानी पीनेके लिये जो छोटा-सा जलकुण्ड बनाया जाता है, उसे 'निपान' कहते हैं।

गर्जनाको सहसा सुनकर भयभीत हुई प्रियतमाओंको प्रेमी पुरुष हृदयसे लगाकर शयनकालके बिना भी उनकी काम-वासनाओंको बढ़ा देते हैं ॥ २४ ॥

दोषोऽयमेकः सलिलागमस्य
मां प्रत्युदारान्वयवर्णशीले ।
न दृश्यते यत् तव वक्त्रतुल्यो
घनग्रहग्रस्ततनुः शशाङ्कः ॥ २५ ॥

'उत्तम वंश, सुन्दर वर्ण और अच्छे स्वभाववाली प्रिये ! मुझे अपने लिये वर्षाकालका यही एक दोष प्रतीत होता है कि तुम्हारे मुखके समान शोभा पानेवाला चन्द्रमा मेघरूपी ग्रहसे ग्रस्त होकर (मेघोंकी घटाओंमें छिपकर) दिखायी नहीं देता है ॥ २५ ॥

प्रदृश्यते भीरु यदा शशाङ्को
घनान्तरस्थो जगतः प्रदीपः ।
तदानुपश्यन्ति जनाः प्रहृष्टा
बन्धुं प्रवासादिव संनिवृत्तम् ॥ २६ ॥

'भीरु ! जब जगत्को प्रकाशित करनेवाला चन्द्रमा मेघोंके भीतर दीख जाता है, तब सब लोग परदेशसे लौटे हुए प्रेमी बन्धुकी भाँति उसे बड़े हर्षमें भरकर बारंबार देखने लगते हैं ॥ २६ ॥

विलापसाक्षी प्रियहीनितानां
संदृश्यते भीरु यदा शशाङ्कः ।
नेत्रोत्सवः प्रोषितकामुकानां
दृष्ट्वैव कान्तं भवतीत्यवैमि ॥ २७ ॥

'भीरु ! प्रियवियोगिनी वनिताओंके विलापका साक्षी-भूत चन्द्रमा जब दृष्टिगोचर होता है, तब जिनके पति परदेशमें रहकर लौटे हैं, उन कामिनियोंके नेत्रोंमें अपने प्रियतमका दर्शन करके ही आनन्दोत्सव प्रतीत होता है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ २७ ॥

नेत्रोत्सवः कान्तसमागतानां
दावाग्नितुल्यः प्रियहीनितानाम् ।
तेनैव देहेन वराङ्गनानां
चन्द्रोऽपि तावत्प्रियविप्रियश्च ॥ २८ ॥

'यह नेत्रोत्सव उन्हींको प्रतीत होता है, जिन्हें अपने प्रियतमका संयोग प्राप्त है; प्रियवियोगिनी अबलाओंके लिये तो यह चन्द्रमा दावाग्निके तुल्य दाहक प्रतीत होता है । इस प्रकार चन्द्रमा आह्लादक होनेपर भी संयोग और वियोग-अवस्थाके भेदसे अपने उसी शरीरद्वारा श्रेष्ठ नारियोंको प्रिय और अप्रिय प्रतीत होता है ॥ २८ ॥

विनापि चन्द्रेण पुरे पितुस्ते
यतः प्रभा चन्द्रगभस्तिगौरी ।
गुणागुणांश्चन्द्रमसा न वेद्मि
यतस्ततोऽहं प्रशशंसयिष्ये ॥ २९ ॥

'प्रिये ! तुम्हारे पिताके इस नगरमें तो चन्द्रमाके बिना भी चन्द्रकिरणोंके समान गौर प्रकाश छाया रहता है । अतः मुझे यहाँ चन्द्रमाके होने और न होनेके गुण-अवगुणका पता नहीं लगता; इसलिये मैं बारंबार इस बातकी चर्चा करूँगा ॥ २९ ॥

अवाप यो ब्राह्मणराज्यमीड्यो
दुरापमन्यैः सुकृतैस्तपोभिः ।
गायन्ति विप्राः पवमानसंज्ञं
समागताः पर्वणि चाप्युदारम् ॥ ३० ॥
पिता बुधस्योत्तरवीर्यकर्मा
पुरूरवा यस्य सुतो नृदेवः ।
प्राणाग्निरीड्योऽग्निमजीजनद् यो
नष्टं शमीगर्भभवं भवात्मा ॥ ३१ ॥

'जो दूसरे लोगोंके लिये पुण्य और तपस्यासे भी दुर्लभ है, उस ब्राह्मणराज्यको जिन्होंने अनायास ही प्राप्त कर लिया, जो स्तवन करनेके योग्य हैं, यज्ञमें एकत्र हुए ब्राह्मण पवमान नामवाले जिन उदार सोमदेवके गुण गाते हैं, वे उन बुधके पिता हैं, जिनके पुत्र लोकोत्तर बल और पराक्रमसे सम्पन्न राजा पुरूरवा हैं । वे प्राणाग्निस्वरूप और स्तुति करनेके योग्य हैं, (ओषधियों और वनस्पतियोंके स्वामी होनेके कारण) उन्होंने नष्ट हुई अग्निको अश्वत्थके उत्पादनद्वारा शमीके गर्भसे प्रकट किया । वे रुद्रस्वरूप हैं ॥ ३०-३१ ॥

तथैव पश्चाच्चकमे महात्मा
पुरोर्वशीमप्सरसां वरिष्ठाम् ।
पीतः पुरा योऽमृतसर्वदेहो
मुनिप्रवीरैर्वरगात्रि घोरैः ॥ ३२ ॥

'सुन्दर अङ्गोंवाली प्रिये ! तत्पश्चात् इन महात्मा चन्द्र-देवने पूर्वकालमें अप्सराओंमें श्रेष्ठ उर्वशीकी (पुरूरवारूपसे) कामना की थी । उनका सारा शरीर ही अमृतमय है । पहले कभी घोर स्वभाववाले श्रेष्ठ मुनियोंने उन अमृतमय चन्द्रमाको पी लिया था ॥ ३२ ॥

नृपः कुशाग्रैः पुनरेव यश्च
धीमानतोऽग्निर्दिवि पूज्यते च ।
आयुश्च वंशे नहुषश्च यस्य
यो देवराजत्वमवाप वीरः ॥ ३३ ॥

'उन्हींके वंशज बुद्धिमान् राजा पुरूरवा हुए, जो कुशाग्रोंद्वारा आरम्भ करके अनेकानेक यज्ञोंका सम्पादन कर स्वर्गमें अग्नितुल्य तेजस्वी रूपसे प्रतिष्ठित हो पूजित होते हैं । पुरूरवाके वंशमें आयु हुए, जिनके पुत्र नहुष थे । उन वीर नहुषने देवराजपद प्राप्त कर लिया था ॥ ३३ ॥

देवातिदेवो भगवान् प्रसूतो
वंशे हरिर्यत्र जगत्प्रणेता ।
भैमः प्रवीरः सुरकार्यहेतो-
र्यः सुभ्रु दक्षस्य वृतः सुताभिः ॥ ३४ ॥

'देवताओंके लिये भी उत्कृष्ट देवता, जगत्स्रष्टा भगवान् श्रीहरि देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये चन्द्रमाके ही वंशमें प्रमुख भीमवंशी वीरके रूपमें प्रकट हुए हैं। सुभ्रु! उन चन्द्रमाको नक्षत्रस्वरूपा दक्षकी कन्याओंने पतिरूपसे वरण किया है ॥ ३४ ॥

बभूव राजाथ वसुश्च यस्य
वंशे महात्मा शशिवंशदीपः ।
यश्चक्रवर्तित्वमवाप वीरः
स्वैः कर्मभिः शक्रसमप्रभावः ॥ ३५ ॥

'चन्द्रमाके ही वंशमें शशिकुल-दीपक वीर एवं महात्मा राजा उपरिचर वसु हुए हैं, जो अपने कर्मोंसे चक्रवर्तीपदको प्राप्त हुए। उनका प्रभाव इन्द्रके समान था ॥ ३५ ॥

यदुश्च राजा शशिवंशमुख्यो
गोऽवाप महामधिराजभावम् ।
भोजाः कुले यस्य नराधिपस्य
वीराः प्रसूताः सुरराजतुल्याः ॥ ३६ ॥

'चन्द्रवंशके प्रधान पुरुष राजा यदु हो गये हैं, जो इस पृथ्वीपर राजाधिराज पदको प्राप्त हुए थे। उन्हीं महाराजके कुलमें देवराज इन्द्रके तुल्य पराक्रमी भोजवंशी वीर प्रकट हुए हैं ॥ ३६ ॥

न कूटकृद् यस्य नृपोऽस्ति वंशे
न नास्तिको नैष्कृतिकोऽपि वाथ ।
अश्रद्दधानोऽप्यथवा कदर्यः
शौर्येण वा वारिरुहाक्षि हीनः ॥ ३७ ॥

'कमललोचने! यदुकुलमें कोई राजा ऐसा नहीं हुआ है, जो छल-कपटसे काम लेनेवाला हो। उस कुलमें न तो कोई नास्तिक हुआ है न शठ, न श्रद्धाहीन हुआ है न कदर्य अथवा शौर्यहीन ही ॥ ३७ ॥

वंशे वधूस्त्वं कमलायताक्षि
श्लाघ्या गुणानामतिपात्रभूता ।
कुरु प्रणामं शिखराग्रदन्ति
तस्य त्वमीशस्य सतां प्रियस्य ॥ ३८ ॥

'कमलके समान विशाल नेत्र और शिखरमणिके तुल्य सुन्दर दाँतोंवाली सुन्दरी! तुम उसी चन्द्रवंश एवं यदुवंशकी वधू हो। तुम सद्गुणोंका अत्यन्त पात्र एवं स्पृहणीय हो। तुम सत्पुरुषोंके प्रिय जगदीश्वर श्रीहरिको प्रणाम करो ॥ ३८ ॥

नारायणायात्मभवायनाय
लोकायनाय त्रिदशायनाय ।
खगेन्द्रकेतोः पुरुषोत्तमाय
कुरु प्रणामं श्वशुराय देवि ॥ ३९ ॥

'देवि! जो स्वयम्भू ब्रह्माजीके आश्रयस्थान हैं, सम्पूर्ण जगत् तथा देवताओंके भी आधार हैं, वे गरुडध्वज पुरुषोत्तम भगवान् नारायण तुम्हारे श्वशुर हैं। तुम उन्हें प्रणाम करो' ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि प्रद्युम्नभाषणे पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें प्रद्युम्नका भाषणविषयक पञ्चानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

कश्यपके मना करनेपर भी वज्रनाभका त्रिलोकविजयके लिये प्रस्थान, श्रीकृष्ण और इन्द्रका प्रद्युम्नको संदेश देना और उनकी संततिके प्रभावका उल्लेख करना, दैत्योंका प्रद्युम्न आदिके पुत्रोंको बंदी बनाना, प्रभावती आदिका पतियोंको तलवार देकर युद्धके लिये भेजना, इन्द्रके द्वारा उनकी सहायता तथा प्रद्युम्नका अद्भुत पराक्रम

वैशम्पायन उवाच

सत्रावसाने च मुनेः कश्यपस्यातितेजसः ।
जग्मुर्देवासुराः स्वानि स्थानान्यमितविक्रमाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अत्यन्त तेजस्वी कश्यप मुनिका यज्ञ समाप्त होनेपर अमित पराक्रमी देवता और असुर अपने-अपने स्थानको गये ॥ १ ॥

वज्रनाभोऽपि निर्वृत्ते सत्रे कश्यपमभ्यगात् ।
त्रैलोक्यविजयाकाङ्क्षी तमुवाचाथ कश्यपः ॥ २ ॥

यज्ञ पूर्ण होनेपर वज्रनाभ भी त्रिभुवन-विजयकी अभिलाषा लेकर कश्यपजीके पास गया। तब कश्यपजीने उससे कहा—॥ २ ॥

वज्रनाभ निबोध त्वं श्रोतव्यं यदि चेन्मम ।
वस वज्रपुरे पुत्र स्वजनेन समावृतः ॥ ३ ॥

'बेटा वज्रनाभ ! यदि मेरी बात सुनने और माननेयोग्य हो तो ध्यान देकर सुनो। तुम अपने स्वजनोंसे घिरे रहकर वज्रपुरमें ही निवास करो ॥ ३ ॥

तपसाभ्यधिकः शक्रः शक्तश्चैव स्वभावतः।
ब्रह्मण्यश्च कृतज्ञश्च ज्येष्ठः श्रेष्ठतमो गुणैः ॥ ४ ॥

'इन्द्र तपस्यामें तुमसे बढ़े-चढ़े हैं। स्वभावसे ही शक्तिशाली हैं। ब्राह्मणभक्त, कृतज्ञ, भाइयोंमें ज्येष्ठ और उत्तम गुणोंकी दृष्टिसे श्रेष्ठतम हैं ॥ ४ ॥

राजा कृत्स्नस्य जगतः पात्रभूतः सतां गतिः।
सम्प्राप्तो लोकराज्यं स सर्वभूतहिते रतः ॥ ५ ॥

'वे सम्पूर्ण जगत्के राजा, सुपात्र और सत्पुरुषोंके आश्रय हैं तथा तीनों लोकोंका राज्य पाकर समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हैं ॥ ५ ॥

नैव शक्यस्त्वया जेतुं वज्रनाभ विहन्यसे।
अहिं पदा व्युत्क्रमन् वै नचिराद् विनशिष्यसि ॥ ६ ॥

'वज्रनाभ ! तुम उन्हें जीत नहीं सकते। जीतनेके प्रयत्नमें स्वयं ही मारे जाओगे। साँपको पैरोंसे ठुकरानेवालेकी भाँति शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे' ॥ ६ ॥

वज्रनाभश्च तद्वाक्यं नाभिनन्दति भारत।
कालपाशपरीताङ्गो मर्तुकाम इवौषधम् ॥ ७ ॥

भारत ! वज्रनाभका सारा शरीर कालके पाशसे बँधा हुआ था। जैसे मरनेवाले रोगीको दवा अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार उसे कश्यपजीकी बात पसंद नहीं आयी ॥ ७ ॥

अभिवाद्य स दुर्बुद्धिः कश्यपं लोकभावनम्।
त्रैलोक्यविजयारम्भे मतिं चक्रे दुरासदः ॥ ८ ॥

अत्यन्त खोटी बुद्धिवाले उस दुर्जय असुरने लोकस्रष्टा कश्यपजीको प्रणाम करके त्रिभुवन-विजयका कार्य आरम्भ करनेका विचार किया ॥ ८ ॥

ज्ञातियोधान् समानीय मित्राणि सुबहूनि च।
प्रतस्थे स्वर्गमेवाग्रे विजिगीषन् विशाम्पते ॥ ९ ॥

प्रजानाथ ! सजातीय बन्धुओं तथा बहुत-से मित्रोंको ही योद्धाओंके रूपमें साथ लेकर उसने विजयकी इच्छासे पहले स्वर्गलोकको प्रस्थान किया ॥ ९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवौ कृष्णेन्द्रौ च महाबलौ।
प्रेषयामासतुर्हंसान् वज्रनाभवधं प्रति ॥ १० ॥

इसी बीचमें महाबली श्रीकृष्ण और इन्द्र दोनों देवताओंने वज्रनाभ-वधके लिये संदेश देकर हंसोंको भेजा ॥ १० ॥

समागतास्तु तच्छ्रुत्वा यदुमुख्या महाबलाः।
मन्त्रयित्वा महात्मानश्चिन्तामापेदिरे तथा ॥ ११ ॥

वज्रपुरमें एकत्र हुए महाबली महामनस्वी प्रमुख यादव वीर हंसोंके मुखसे वह संदेश सुनकर आपसमें सलाह करके इस प्रकार विचार करने लगे ॥ ११ ॥

वज्रनाभोऽद्य हन्तव्यः प्रद्युम्नेनेत्यसंशयम्।
तयोर्दुहितरो भार्या भक्त्या ताः सर्वभावनाः ॥ १२ ॥
सर्वाः सगर्भास्ताश्चैव किं नु कार्यमनन्तरम्।
प्राप्तः प्रसवकालश्च तासां नातिचिरादिव ॥ १३ ॥

इसमें संदेह नहीं कि आज प्रद्युम्नके द्वारा वज्रनाभका वध अवश्य होना चाहिये। परंतु वज्रनाभ और उसके भाई दोनोंकी कन्याएँ भक्तिपूर्वक हमलोगोंकी भार्याएँ हो गयी हैं। वे सब-की-सब हर तरहसे हमारा शुभचिन्तन करती हैं। इस समय वे तीनों दानव-कन्याएँ गर्भवती हैं; अतः अब हमें क्या करना चाहिये ? उन तीनोंका प्रसव-काल शीघ्र ही आनेवाला है ॥ १२-१३ ॥

सम्मन्त्रयित्वैतदर्थे हंसानूचुर्महाबलाः।
आख्येयमर्थवत् कृत्स्नं शक्रकेशवयोस्तदा ॥ १४ ॥

इस विषयमें भलीभाँति परस्पर विचार करके उन महाबली यादवोंने उस समय हंसोंसे कहा—'तुम्हें भगवान् श्रीकृष्ण और इन्द्रके पास जाकर यहाँकी प्रयोजनयुक्त सारी बातें कहनी चाहिये' ॥ १४ ॥

हंसैर्गत्वा तदाख्यातं देवयोस्तद् यथातथम्।
ताभ्यां हंसास्तु संदिष्टा न भेतव्यमिति प्रभो ॥ १५ ॥
उत्पत्स्यन्ति गुणैः श्लाघ्याः पुत्रा वः कामरूपिणः।
गर्भस्थाः सर्ववेदांश्च साङ्गान् वेत्स्यन्त्यनिन्दिताः॥१६ ॥

प्रभो ! तब हंसोंने वहाँ जाकर उन दोनों देवताओंसे वहाँकी सारी बातें यथार्थरूपसे कह सुनायीं। फिर उन दोनोंने हंसोंको यह संदेश दिया कि 'यादवो ! तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये। तुम्हारे उन स्त्रियोंके गर्भसे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले पुत्र उत्पन्न होंगे; जो अपने उत्तम गुणोंके कारण स्पृहणीय होंगे। वे उत्तम पुत्र गर्भमें रहते समय ही अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर लेंगे ॥

तथा चानागतं सर्वमस्त्राणि विविधानि च।
सद्य एव युवानश्च भविष्यन्ति सुपण्डिताः ॥ १७ ॥

'इसी प्रकार उन्हें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रों तथा भविष्यमें होनेवाली सारी बातोंका स्वतः ज्ञान हो जायगा। वे जन्म लेनेपर तत्काल ही तरुण एवं अच्छे पण्डित हो जायँगे' ॥ १७ ॥

एवमुक्ता गता हंसाः पुनर्वज्रपुरं विभो।
शशंसुश्चैव भैमानां शक्रकेशवभाषितम् ॥ १८ ॥

प्रभो ! उनके ऐसा कहनेपर वे हंस पुनः वज्रपुरको गये। वहाँ उन्होंने यादवकुमारोंसे देवराज इन्द्र और श्रीकृष्णका संदेश कह सुनाया ॥ १८ ॥

प्रभावती तदा पुत्रं सुषुवे सदृशं पितुः।
सद्यो यौवनसम्प्राप्तं सर्वज्ञत्वं च भारत॥ १९॥

उस समय प्रभावतीने एक पुत्रको जन्म दिया, जो अपने पिताके समान ही सर्वगुणसम्पन्न था। भारत! वह तत्काल युवावस्थाको प्राप्त हो गया तथा उसमे सर्वज्ञता भी थी॥

मासमात्रेण सुषुवे देवी चन्द्रवती नृप।
चन्द्रप्रभमिति ख्यातं तनयं सदृशं पितुः॥ २०॥

नरेश्वर! उसके एक मासके बाद चन्द्रवती देवीने भी एक पुत्र उत्पन्न किया, जो अपने पिताके समान ही सुन्दर एवं शक्तिशाली था। उसका नाम चन्द्रप्रभ था॥ २०॥

सद्यश्च यौवनं प्राप्तं सर्वज्ञत्वं च भारत।
गुणवत्यपि पुत्रं च गुणवन्तमनिन्दिता॥ २१॥
युवानावथ सद्यस्तौ सर्वशास्त्रार्थकोविदौ।
इन्द्रोपेन्द्रप्रसादेन संवृत्तौ युद्धवर्द्धनौ॥ २२॥

भारत! वह भी तत्काल युवावस्थाको प्राप्त हो गया और उसमें भी सर्वज्ञता थी। तत्पश्चात् साध्वी गुणवतीने भी एक गुणवान् पुत्रको जन्म दिया। वे दोनों बालक तत्काल युवावस्थासे सम्पन्न और सम्पूर्ण शास्त्रोंके मर्मज्ञ हो गये। वे दोनों युद्धमें आगे बढ़नेवाले थे। इन्द्र और उपेन्द्रके प्रसादसे उन बालकोंमें ये सद्गुण आये थे॥ २१-२२॥

हर्म्यपृष्ठे वर्द्धमाना दृष्टास्ते यदुनन्दनाः।
इन्द्रोपेन्द्रेच्छया वीर नान्यथेत्यवधार्यताम्॥ २३॥

वीर! एक दिन अट्टालिकाकी छतपर घूमते हुए उन वृद्धिशील यादवकुमारोंको दानवोंने देख लिया। इन्द्र और उपेन्द्रकी इच्छासे ही ऐसा हुआ था, अन्यथा नहीं। इस बातको तुम निश्चितरूपसे जान लो॥ २३॥

निवेदिताश्च सम्भ्रान्तैर्दैत्यैराकाशरक्षिभिः।
वज्रनाभाय वीराय त्रिविष्टपजयैषिणे॥ २४॥

उस समय आकाशकी ओरसे नगरकी रक्षा करनेवाले दैत्योंने बड़ी घबराहटमे पड़कर स्वर्गविजयकी इच्छा रखनेवाले वीर वज्रनाभसे उन बालकोंके विषयमे निवेदन किया॥

वधाय सर्वे गृह्यन्तां ममैते गृहधर्षकाः।
इत्युवाचासुरपतिर्वज्रनाभो महासुरः॥ २५॥

यह सुनकर असुरोंके स्वामी महान् असुर वज्रनाभने कहा—'ये बालक मेरे घरको कलङ्कित करनेवाले हैं। इन सबको मार डालनेके लिये कैद कर लो'॥ २५॥

ततः सैन्यं समाज्ञप्तमसुरेन्द्रेण धीमता।
आवारयामास दिशः सर्वाः कुरुकुलोद्वह॥ २६॥
गृह्यन्तामाशु वध्यन्तामिति वाचस्ततस्ततः।
उच्चैरुरसुरेन्द्रस्य शासनादरिशासिनः॥ २७॥

कुरुकुलतिलक जनमेजय! तदनन्तर बुद्धिमान् असुरराजकी आज्ञासे असुरोंकी सेनाने सम्पूर्ण दिशाओंकी ओरसे आकर उस नगरको घेर लिया। सब ओर इधर-उधर यही बात सुनायी देने लगी—'पकड़ लो, शीघ्र मार डालो।' शत्रुओंको दण्ड देनेवाले असुरराजके आदेशसे समस्त सैनिक ऐसी ही बातें बोल रहे थे॥ २६-२७॥

तच्छ्रुत्वा व्यथितास्तेषां मातरः पुत्रवत्सलाः।
रुरुदुस्ता रुदन्तीश्च प्रद्युम्नः प्रहसन् ब्रवीत्॥ २८॥

ये बातें सुनकर उन बालकोंकी पुत्रवत्सला माताएँ शोकसे व्यथित होकर रोने लगीं। उस समय उन रोती हुई देवियोंसे प्रद्युम्नने हँसते हुए कहा—॥ २८॥

मा भैष्ट जीवमानेषु स्थितेष्वस्मासु सर्वथा।
किं नो दैत्याः करिष्यन्ति सर्वथा भद्रमस्तु वः॥ २९॥

'दानवकन्याओ! तुम डरो मत। तुम्हारा सर्वथा भला हो। जब हम सब प्रकारसे जीते-जागते यहाँ खड़े हैं, तब ये दैत्य हमारा क्या कर लेंगे'॥ २९॥

प्रभावतीमथोवाच प्रद्युम्नो विप्लवां स्थिताम्।
पिता तव गदापाणिः पितृव्याश्च स्थितास्तत्र॥ ३०॥
भ्रातरश्चैव ते देवि ज्ञातयश्च तथापरे।
एते पूज्याश्च मान्याश्च तवार्थे खलु सर्वथा॥ ३१॥

इसके बाद प्रद्युम्नने व्याकुल होकर खड़ी हुई प्रभावतीसे कहा—'देवि! तुम्हारे पिता और चाचा हाथमें गदा लेकर खड़े हैं। तुम्हारे भाई और दूसरे कुटुम्बीजन भी युद्धके लिये उपस्थित हैं। ये सब-के-सब तुम्हारे नाते सर्वथा मेरे पूजनीय एवं आदरणीय हैं॥ ३०-३१॥

भगिन्यौ पृच्छ भद्रं ते कालोऽयं खलु दारुणः।
मरणं सहमानानां युद्ध्यतां विजयो ध्रुवम्॥ ३२॥

'तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपनी दोनों बहनोंसे भी पूछ लो। यह समय बड़ा भयंकर है। जो मरणका कष्ट सहकर युद्ध करते हैं, उनकी विजय अवश्य होती है॥ ३२॥

दानवेन्द्रादयो ह्येते योत्स्यन्तेऽस्मद्वधैषिणः।
किमत्र कार्यमस्माभिः सर्वैश्चैकान्तरस्थितैः॥ ३३॥

'ये दानवराज वज्रनाभ आदि हमारे वधकी इच्छासे युद्ध करेंगे। ऐसी दशामे हमलोगोंको क्या करना चाहिये? हम सब लोग तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं'॥ ३३॥

प्रभावती रुदन्ती तु प्रद्युम्नमिदमब्रवीत्।
शिरस्यञ्जलिमाधाय जानुभ्यां पतिता क्षितौ॥ ३४॥

उस समय प्रभावती रोती हुई घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़ी और मस्तकपर अञ्जलि बाँधकर प्रद्युम्नसे इस प्रकार बोली—॥ ३४॥

गृहाण शस्त्रमात्मानं रक्ष शत्रुनिबर्हण।
जीवन् पुत्रांश्च दारांश्च द्रक्ष्यसि यदुनन्दन॥ ३५॥

आर्यां नृवर वैदर्भीमनिरुद्धं च मानद ।
स्मृत्वैतन्मोक्षयात्मानं व्यसनादरिमर्दन ॥ ३६ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले यदुनन्दन ! शस्त्र उठाओ और अपनी रक्षा करो । नरश्रेष्ठ ! मानद ! यदि जीवित रहोगे तो पुत्रों और पत्नियोंको देखोगे। आर्या रुक्मिणी तथा पुत्र अनिरुद्धसे भी मिल सकोगे। शत्रुमर्दन ! यह सब सोचकर अपने आपको संकटसे मुक्त करो ॥ ३५-३६ ॥

दुर्वाससा वरो दत्तो मुनिना मम धीमता ।
वैधव्यरहिता हृष्टा जीवपुत्रा भविष्यसि ॥ ३७ ॥

'बुद्धिमान् दुर्वासा मुनिने मुझे वर दिया है कि तू वैधव्यरहित, प्रसन्न एवं जीवित पुत्रोंकी माता होगी ॥ ३७ ॥

एष मे हृदयाश्वासो भविता न तदन्यथा ।
सूर्याग्नितेजसो वाक्यं मुनेरिन्द्रानुजात्मज ॥ ३८ ॥

'इन्द्रानुजकुमार ! यह वर मेरे हृदयको आश्वासन देनेवाला है। यह सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी दुर्वासा मुनिका वचन सत्य होगा, मिथ्या कभी नहीं होगा' ॥ ३८ ॥

इत्युक्त्वाथासिमादाय सूपस्पृष्टं मनस्विनी ।
प्रददौ रौक्मिणेयाय जयस्वेति वरं वरा ॥ ३९ ॥

ऐसा कहकर श्रेष्ठ मनस्विनी नारी प्रभावतीने एक तलवार लेकर उसे अच्छी तरह साफ किया और रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नके हाथमें दे दिया। साथ ही यह वर दिया कि तुम विजयी होओ ॥ ३९ ॥

स तं जग्राह धर्मात्मा प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
प्रणम्य शिरसा दत्तं प्रियया भक्तियुक्तया ॥ ४० ॥

अपने प्रति भक्ति रखनेवाली प्रियतमा प्रभावतीके दिये हुए उस खड्गको धर्मात्मा प्रद्युम्नने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और प्रसन्न चित्तसे उसको हाथमें ले लिया ॥ ४० ॥

चन्द्रवत्यपि निस्त्रिंशं गदाय प्रददौ मुदा ।
तदा गुणवती चैव साम्बायासिं महात्मने ॥ ४१ ॥

इसी प्रकार चन्द्रवतीने भी उस समय गदको प्रसन्नतापूर्वक खड्ग दिया। तदनन्तर गुणवतीने भी महात्मा साम्बको तलवार भेंट की ॥ ४१ ॥

हंसकेतुमथोवाच प्रद्युम्नः प्रणतं प्रभुः ।
इहैव साम्बसहितो युध्यस्व सह यादवैः ॥ ४२ ॥

तदनन्तर प्रभावशाली प्रद्युम्नने विनीतभावसे खड़े हुए (अपने सारथि) हंसकेतुसे कहा—'तुम यहीं यादवों तथा साम्बके साथ रहकर असुरोंके साथ युद्ध करो ॥ ४२ ॥

आकाशे दिक्षु सर्वासु योत्स्याम्यहमरिंदम ।
इत्युक्त्वाथ रथं चक्रे मायया मायिनां वरः ॥ ४३ ॥

'शत्रुदमन ! मैं आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें युद्ध करूँगा ।' ऐसा कहकर मायावियोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नने मायासे एक रथका निर्माण किया ॥ ४३ ॥

सहस्रशिरसं नागं कृत्वा सारथिमात्मवान् ।
अनन्तभोगं कौरव्य सर्वनागोत्तमोत्तमम् ॥ ४४ ॥
स तेन रथमुख्येन हर्षयन् वै प्रभावतीम् ।
चचारासुरसैन्येषु तृणेष्विव हुताशनः ॥ ४५ ॥

कुरुनन्दन ! मनस्वी प्रद्युम्न अनन्त शरीरवाले, सहस्र मस्तकोंसे युक्त एक नागको, जो समस्त उत्तम नागोंसे भी उत्तम था, अपना सारथि बनाकर उस मुख्य रथके द्वारा प्रभावतीका हर्ष बढ़ाते हुए असुर-सेनाओंमें उसी तरह विचरने लगे, जैसे तिनकोंमें आग फैलती है ॥ ४४-४५ ॥

शरैराशीविषप्रख्यैरर्धचन्द्रानुकारिभिः ।
भेदनैर्गाधनैश्चैव ततर्द दितिसम्भवान् ॥ ४६ ॥

प्रद्युम्न विषधर सर्पोंके समान भयंकर, अर्धचन्द्राकार, भेदन (पतली नोकवाले) तथा गाधन (मोटे अग्रभागवाले) बाणोंद्वारा दैत्योंको पीड़ित करने लगे ॥ ४६ ॥

असुराश्च रणे मत्ताः कार्ष्णिं शस्त्रैरितस्ततः ।
जघ्नुः कमलपत्राक्षं परं निश्चयमास्थिताः ॥ ४७ ॥

असुर भी उत्तम निश्चयका आश्रय ले रणभूमिमें मतवाले होकर इधर-उधरसे शस्त्रोंद्वारा कमलनयन प्रद्युम्नपर प्रहार करने लगे ॥ ४७ ॥

चिच्छेद बाहून् केषांचित् केयूरवलयोज्ज्वलान् ।
सकुण्डलानि केषांचिच्छिरांस्यपि च चिच्छिदे ॥ ४८ ॥

प्रद्युम्नने कितने ही असुरोंकी भुजाएँ काट डालीं, जो केयूर और कङ्कणकी कान्तिसे प्रकाशित हो रही थीं एवं कितनोंके कुण्डलयुक्त मस्तक भी धड़से अलग कर दिये ॥ ४८ ॥

क्षुरच्छिन्नैः शिरोभिश्च कायैश्च शकलैरपि ।
असुराणां मही कीर्णा प्रद्युम्नेनातितेजसा ॥ ४९ ॥

अत्यन्त तेजस्वी प्रद्युम्नने क्षुरोंद्वारा कटे हुए असुरोंके मस्तकों, शरीरों और उनके टुकड़ोंसे वहाँकी सारी धरती पाट दी ॥ ४९ ॥

देवेश्वरो देवगणैः सहितः समितिंजयः ।
ददर्श मुदितो युद्धं भैमानां दितिजैः सह ॥ ५० ॥

युद्धमें विजय पानेवाले देवराज इन्द्र देवताओंके साथ आकाशमें खड़े होकर बड़ी प्रसन्नताके साथ दैत्यों और यादवोंका युद्ध देख रहे थे ॥ ५० ॥

ये गदं चैव साम्बं च दैत्याः समभिदुद्रुवुः ।
ते ययुर्निधनं सर्वे यादांसीव महोदधौ ॥ ५१ ॥

जिन दैत्योंने गद और साम्बपर आक्रमण किया, वे सब-के-सब कालके गालमें चले गये; मानो अगणित जलजन्तु महासागरमें निमग्न हो गये हों ॥ ५१ ॥

विषमं तु तदा युद्धं दृष्ट्वा देवपतिर्हरिः।
गदाय प्रेषयामास स्वं रथं हरिवाहनः ॥ ५२ ॥
दिदेश मातलिसुतं यन्तारं च सुवर्चसम्।
साम्बायैरावणं नागं प्रेषयामास चेश्वरः ॥ ५३ ॥

उस समय उस युद्धको विषम स्थितिमें देखकर हरिवाहन[1] देवराज इन्द्रने गदके लिये अपना रथ भेज दिया; साथ ही मातलिके पुत्र सुवर्चाको सारथिके रूपमें दिया। इसके सिवा देवेश्वरने साम्बकी सवारीके लिये अपना ऐरावत हाथी भेज दिया ॥ ५२-५३ ॥

जयन्तं रौक्मिणेयस्य सहायमददाद् विभुः।
ऐरावणमधिष्ठातुं प्रवरं स नियुक्तवान् ॥ ५४ ॥

इतना ही नहीं, भगवान् इन्द्रने जयन्तको प्रद्युम्नका सहायक बनाकर उन्हें दे दिया और ऐरावतका सञ्चालन करनेके लिये प्रवर नामक ब्राह्मणको नियुक्त किया ॥ ५४ ॥

देवपुत्रद्विजौ वीरावप्रमेयपराक्रमौ ।
अनुज्ञाप्य सुराध्यक्षं ब्रह्माणं लोकभावनम् ॥ ५५ ॥
तं मातलिसुतं चैव गजमैरावणं तदा।
देवः प्रेषितवाञ्छक्रो विधिज्ञो चरकर्मसु ॥ ५६ ॥

देवकुमार जयन्त और ब्राह्मणकुमार प्रवर—ये दोनों वीर अप्रमेय पराक्रमी थे। श्रेष्ठ कर्मोंमें उसके आवश्यक विधानको जाननेवाले देवेन्द्रने सुराध्यक्ष लोकभावन ब्रह्माजीकी आज्ञा लेकर जयन्त, प्रवर, मातलिपुत्र सुवर्चा और अपने ऐरावत हाथीको उस समय वहाँ भेजा था ॥५५-५६॥

क्षीणमस्य तपो वध्यो यदूनामेष दुर्मतिः।
प्रवदन्ति तु भूतानि सर्वत्र तु यथेप्सितम् ॥ ५७ ॥

सब प्राणी सर्वत्र अपने इच्छानुसार यही कहते थे कि 'इस वज्रनाभकी तपस्या क्षीण हो चली है। यह दुर्बुद्धि दैत्य अब यादवोंके हाथसे मारा जायगा' ॥ ५७ ॥

प्रद्युम्नश्च जयन्तश्च प्राप्तौ हर्म्यं महाबलौ।
असुराञ्छरजालौघैर्विक्रामयन्तौ प्रणश्यतुः ॥ ५८ ॥

प्रद्युम्न और जयन्त—ये दोनो महाबली वीर महलकी छतपर आ गये और पराक्रम प्रकट करते हुए अपने बाण-समूहोंद्वारा असुरोंको नष्ट करने लगे ॥ ५८ ॥

गदं कार्ष्णिस्तदोवाच दुर्वार्यरणदुर्जयः।
उपेन्द्रानुज शक्रेण रथोऽयं प्रेषितस्तव ॥ ५९ ॥

उस समय किसीसे भी रोके न जा सकनेवाले रणदुर्जय वीर श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्नने गदसे कहा—'उपेन्द्रके छोटे भैया! देवराज इन्द्रने आपके लिये यह रथ भेजा है ॥५९॥

हरियुङ्मातलिसुतो यन्ता चायं महाबलः।
प्रवराधिष्ठितश्चायं साम्बस्यैरावणो गजः ॥ ६० ॥

'इसमें हरे रंगके घोड़े जुते हैं और ये मातलिके महाबली पुत्र सुवर्चा इस रथके सारथि हैं तथा यह ऐरावत हाथी, जिसके अधिष्ठाता प्रवर हैं, साम्बकी सवारीमे आया है ॥६०॥

अद्योपहारो रुद्रस्य द्वारकायां महाबलः।
श्व एष्यति हृषीकेशस्तस्मिन् वृत्तेऽच्युतानुज ॥ ६१ ॥

'चाचाजी! आज द्वारकामें महादेवजीकी महापूजा है। उसके पूर्ण हो जानेपर मेरे पूज्य पिता महाबली श्रीकृष्ण कल यहाँ पधारेंगे ॥ ६१ ॥

तस्याज्ञया वधिष्यामो वज्रनाभं सबान्धवम्।
अभ्युत्थानकृतं पापं त्रिविष्टपजयं प्रति ॥ ६२ ॥

'उन्हींकी आज्ञासे स्वर्गलोकको जीतनेके लिये उठे हुए पापी वज्रनाभको उसके बन्धु-बान्धवोंसहित हमलोग मार डालेंगे ॥ ६२ ॥

करिष्यामि विधानं तु नैष शक्रं सुतान्वितम्।
विजेष्यत्यप्रमादस्तु कर्तव्य इति मे मतिः ॥ ६३ ॥

'मैं ऐसा उपाय करूँगा, जिससे यह दैत्य पुत्रसहित देवराज इन्द्रको पराजित न कर सके; परंतु हमें तनिक भी प्रमाद नहीं करना चाहिये—सावधान रहना चाहिये; ऐसा मेरा विचार है ॥ ६३ ॥

कलत्ररक्षणं कार्यं सर्वोपायैर्नरैर्बुधैः।
कलत्रधर्षणं लोके मरणादतिरिच्यते ॥ ६४ ॥

'विद्वान् पुरुषोंको सभी उपायोंद्वारा अपनी पत्नियोंकी रक्षा करनी चाहिये। यदि पत्नीका पर-पुरुषके द्वारा तिरस्कार हो जाय तो वह संसारमें मृत्युसे भी बढ़कर (कष्टदायक होता) है' ॥ ६४ ॥

एवं संदिश्य भैमः स गदसाम्बौ महाबलः।
प्रद्युम्नकोट्यः ससृजे मायया दिव्यरूपया ॥ ६५ ॥

गद और साम्बसे ऐसा कहकर महाबली प्रद्युम्नने अपनी दिव्य मायासे करोड़ों प्रद्युम्नोंकी सृष्टि कर डाली ॥ ६५ ॥

तमश्च नाशयामास दैत्यसृष्टं दुरासदम्।
जहर्ष देवराजश्च तं दृष्ट्वा रिपुमर्दनम् ॥ ६६ ॥

तथा दैत्योंने जो दुर्निवार्य अन्धकार उत्पन्न किया था, उसे नष्ट कर दिया। शत्रुमर्दन प्रद्युम्नको ऐसा पराक्रम करते देख देवराज इन्द्रको बड़ा हर्ष हुआ ॥ ६६ ॥

ददृशुः सर्वभूतानि कार्ष्णिं सर्वेषु शत्रुषु।
अन्तरात्मनि वर्तन्तं क्षेत्रज्ञमिव तं विदुः ॥ ६७ ॥

समस्त प्राणियोने सभी शत्रुओंके बीचमें श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्नको देखा और उन्हे प्रत्येक अन्तरात्मामें विद्यमान क्षेत्रज्ञके समान समझा ॥ ६७ ॥

---

१. हरे रंगके घोडे इन्द्रके रथको वहन करते हैं, इसलिये उन्हें हरिवाहन कहा गया है।

एवं व्यतीता रजनी रौक्मिणेयस्य युध्यतः।
असुराणां त्रिभागश्च निहतश्चातितेजसा ॥ ६८ ॥

इस प्रकार युद्ध करते हुए रुक्मिणीकुमार प्रद्युम्नकी वह सारी रात बीत गयी। उन्होंने अपने अत्यन्त तेजसे असुरोंके तीन हिस्सोंको नष्ट कर दिया ॥ ६८ ॥

यावद् वियोधयामास कार्ष्णिर्दैत्यान् रणाजिरे।
संध्योपास्ता जयन्तेन तावद् विष्णुपदीजले ॥ ६९ ॥

अयोधयज्जयन्तश्च यावद् दैत्यान् महाबलः।
तावदाकाशगङ्गायां भैमः संध्यामुपास्तवान् ॥ ७० ॥

श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्न समराङ्गणमें जबतक दैत्योंके साथ जूझते रहे, तबतक जयन्तने गङ्गाजीके जलमें संध्योपासना कर ली। फिर महाबली जयन्त आकर जबतक युद्ध करते रहे, तबतक प्रद्युम्नने भी आकाशगङ्गाके जलमें संध्योपासना-का कार्य पूर्ण कर लिया ॥ ६९-७० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि प्रद्युम्नदैत्ययुद्धे षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें प्रद्युम्न और दैत्यका युद्धविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमोऽध्यायः

प्रद्युम्नद्वारा वज्रनाभका वध तथा प्रद्युम्न आदिके पुत्रोंका राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

जगतश्चक्षुषि ततो मुहूर्ताभ्युदिते रवौ।
प्रादुरासीद्धरिर्दिवस्ताक्ष्र्येणोरगशत्रुणा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर जब जगत्‌के नेत्ररूप भगवान् सूर्यके उदित हुए दो घड़ी बीत गयी, तब सर्पशत्रु गरुड़के द्वारा भगवान् श्रीहरि वहाँ प्रकट हुए ॥ १ ॥

हंसवायुमनोभिश्च सुशीघ्रतरगः खगः।
तस्थौ वियति शक्रस्य समीपे कुरुनन्दन ॥ २ ॥

कुरुनन्दन! हंस, वायु और मनसे भी अत्यन्त शीघ्रतर गतिसे गमन करनेवाले पक्षी गरुड़ आकाशमें इन्द्रके समीप खड़े हो गये ॥ २ ॥

समेत्य च यथान्यायं कृष्णो वासवसंनिधौ।
पाञ्चजन्यं हरिर्दध्मौ दैत्यानां भयवर्धनम् ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णने देवराज इन्द्रके समीप जाकर उनके साथ यथोचित रीतिसे मिलकर अपना पाञ्चजन्य नामक शङ्ख बजाया, जो दैत्योंका भय बढ़ानेवाला था ॥ ३ ॥

तं श्रुत्वाभ्यागतस्तत्र प्रद्युम्नो परवीरहा।
वज्रनाभं जहीत्युक्तः केशवेन त्वरेति च ॥ ४ ॥

शत्रु-वीरोंका संहार करनेवाले प्रद्युम्न वह शङ्खध्वनि सुनकर तुरंत वहाँ आये। उस समय श्रीकृष्णने उनसे कहा—'बेटा! वज्रनाभको मार डालो और इस कार्यमें शीघ्रता करो'॥

ताक्ष्र्यमारुह्य गच्छेति पुनरेव प्रणोदितः।
चकार स तथा वीरः प्रणिपत्य सुरोत्तमौ ॥ ५ ॥

उन्होंने पुनः प्रेरित करते हुए कहा—'गरुड़पर चढ़कर जाओ।' वीर प्रद्युम्नने उन दोनों श्रेष्ठ देवताओंको नमस्कार करके वैसा ही किया ॥ ५ ॥

स मनोरंहसा वीर ताक्ष्र्येणाशु ययौ नृप।
अभ्याशं वज्रनाभस्य महाद्वन्द्वस्य भारत ॥ ६ ॥

वीर! भरतनन्दन! नरेश्वर! तब वे मनके समान वेगशाली गरुड़के द्वारा तुरंत ही महान् द्वन्द्वयुद्ध करनेवाले वज्रनाभके निकट जा पहुँचे ॥ ६ ॥

ततस्ताक्ष्र्यगतो वीरस्ततर्द रणमूर्द्धनि।
वज्रनाभं स्थिरो भूत्वा सर्वास्त्रविदनिन्दितः ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता तथा निन्दारहित वीर प्रद्युम्न गरुड़पर स्थिर भावसे बैठकर युद्धके मुहानेपर वज्रनाभको पीड़ा देने लगे ॥ ७ ॥

तेन ताक्ष्र्यगतेनैव गदया कृष्णसूनुना।
उरस्यभ्याहतो वीरो वज्रनाभो महात्मना ॥ ८ ॥

गरुड़पर बैठे हुए ही महामना श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्नने वज्रनाभकी छातीमें गदाद्वारा प्रहार किया ॥ ८ ॥

स तेनाभिहतो वीरो दैत्यो मोहवशं गतः।
चक्षार च भृशं रक्तं बभ्रामैव गतासुवत् ॥ ९ ॥

उनसे आहत होकर वह वीर दैत्य मूर्च्छित हो गया। उसने मुँहसे बहुत-सा रक्त वमन किया। उसे चक्कर आने लगा और वह मृतकतुल्य हो गया ॥ ९ ॥

आश्वसेत्यथ तं कार्ष्णिरुवाच रणदुर्जयः।
लब्धसंज्ञः स वीरस्तु प्रद्युम्नमिदमब्रवीत् ॥ १० ॥

तब रणदुर्जय श्रीकृष्णकुमारने उससे कहा—'तुम आश्वस्त हो जाओ।' इससे सचेत होकर उस वीरने प्रद्युम्नसे इस प्रकार कहा— ॥ १० ॥

साधु यादव वीर्येण श्लाघ्यो मम रिपुर्भवान्।
प्रतिप्रहारकालोऽयं स्थिरो भव महाबल ॥ ११ ॥

'बहुत अच्छा, यादव! तुम शत्रु होते हुए भी पराक्रम-

के द्वारा मेरे लिये स्पृहणीय हो। अब यह मेरी ओरसे तुम्हारे प्रहारका उत्तर देनेका अवसर आया है। अतः महाबली वीर! तुम स्थिर हो जाओ' ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा महानादं मुक्त्वा मेघशतोपमम्।
गदां मुमोच वेगेन सघण्टां बहुकण्टकाम् ॥ १२ ॥

ऐसा कहकर सैकड़ो मेघोंकी गर्जनाओंके समान महान् सिंहनाद करके बहुत से कण्टकों तथा घण्टोंवाली गदाको उसने वेगपूर्वक चलाया ॥ १२ ॥

तया ललाटेऽभिहतः प्रद्युम्नो गदया नृप।
उद्वमन् रुधिरं भूरि मुमोह यदुनन्दनः ॥ १३ ॥

नरेश्वर! उस गदाने प्रद्युम्नके ललाटपर गहरा आघात किया। अतः यदुनन्दन प्रद्युम्न अधिक रक्त वमन करते हुए मूर्च्छित हो गये ॥ १३ ॥

तं दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः पाञ्चजन्यं जलोद्भवम्।
दध्मावाश्वासनकरं पुत्रस्य रिपुनाशनः ॥ १४ ॥

उन्हें अचेत हुआ देख शत्रुनाशन भगवान् श्रीकृष्णने पुत्रको आश्वासन देनेके लिये समुद्रजलसे प्रकट हुए अपने पाञ्चजन्य नामक शङ्खको बजाया ॥ १४ ॥

तं पाञ्चजन्यशब्देन प्रत्याश्वस्तं महाबलम्।
दृष्ट्वा प्रमुदिता लोका विशेषेणेन्द्रकेशवौ ॥ १५ ॥

पाञ्चजन्यके शब्दसे महाबली प्रद्युम्नको आश्वस्त हुआ देख सब लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। विशेषतः इन्द्र और श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥

तस्य चक्रं करे यातं कृष्णच्छन्देन भारत।
क्षुरनेमिसहस्रारं दैत्यसंघकुलान्तकम् ॥ १६ ॥

भारत! श्रीकृष्णकी इच्छासे उनका चक्र प्रद्युम्नके हाथमें चला गया। उसमें सहस्रों अरे थे और उसके नेमि या प्रान्तभागमे छुरे लगे हुए थे। वह चक्र दैत्यसमूहोंके वंशका विनाश करनेवाला था ॥ १६ ॥

तन्मुमोचाच्युतसुतस्तस्य नाशाय भारत।
नमस्कृत्वा सुरेन्द्राय कृष्णाय च महात्मने ॥ १७ ॥

भारत! श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नने देवराज इन्द्र और महात्मा श्रीकृष्णको प्रणाम करके उस दैत्यके विनाशके लिये वह चक्र चला दिया ॥ १७ ॥

वज्रनाभस्य तत्कायादुच्चकर्त शिरस्तदा।
नारायणसुतोन्मुक्तं दैत्यानामनुपश्यताम् ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्नके हाथसे छोड़े गये उस चक्रने उस समय समस्त दैत्योंके देखते-देखते वज्रनाभके मस्तकको उसके धड़से काट गिराया ॥ १८ ॥

गदः सुनाभमवधीद् यतमानं रणाजिरे।
हर्म्यपृष्ठे जिघांसन्तं रणदृप्तं भयानकम् ॥ १९ ॥

महलकी छतपर खड़े हुए गदने अपनेको मार डालनेकी इच्छावाले युद्धोन्मत्त भयानक दैत्य सुनाभका, जो समराङ्गणमें विजयके लिये प्रयत्नशील था, वध कर डाला ॥ १९ ॥

साम्बः समरमध्यस्थानसुरानरिमर्दनः।
निनाय निशितैर्बाणैः प्रेताधिपपरिग्रहम् ॥ २० ॥

शत्रुमर्दन साम्बने भी समरके मध्यभागमें खड़े हुए असुरोंको अपने पैने बाणोंद्वारा यमराजके घर भेज दिया ॥

निकुम्भोऽपि हते वीरे वज्रनाभे महासुरे।
जगाम षट्पुरं वीरो नारायणभयार्दितः ॥ २१ ॥

महान् असुर वीर वज्रनाभके मारे जानेपर नारायण (श्रीकृष्ण) के भयसे पीड़ित हुआ वीर निकुम्भ भी षट्पुरको चला गया ॥ २१ ॥

निबर्हिते देवरिपौ वज्रनाभे महासुरे।
अवतीर्णौ महात्मानौ हरी वज्रपुरं तदा ॥ २२ ॥

जब देवद्रोही महान् असुर वज्रनाभका संहार हो गया, तब महात्मा श्रीकृष्ण और इन्द्र दोनों वज्रपुरमें उतरे ॥२२॥

लब्धप्रशमनं चैव चक्रतुः सुरसत्तमौ।
सान्त्वयामासतुश्चैव बालवृद्धं भयार्दितम् ॥ २३ ॥

उस समय उन दोनों श्रेष्ठ देवताओंने वहाँ प्राप्त हुए दुःख और शोकका शमन किया। वहाँ बालकोंसे लेकर बूढ़े-तक सभी भयसे पीड़ित थे। उन सबको उन्होंने सान्त्वना दी॥

इन्द्रोपेन्द्रौ महात्मानौ मन्त्रयित्वा महाबलौ।
आयत्यां च तदात्वे च बृहस्पतिमतानुगौ ॥ २४ ॥
वज्रनाभस्य तद् राज्यं चतुर्धा चक्रतुर्नृप।

नरेश्वर! उस समय महाबली महात्मा इन्द्र और उपेन्द्रने भविष्य और वर्तमानके विषयमें परस्पर सलाह करके बृहस्पति-के मतका अनुसरण करते हुए वज्रनाभके उस राज्यको चार भागोंमें बाँट दिया ॥ २४½ ॥

विजयस्य चतुर्भागं जयन्ततनयस्य वै ॥ २५ ॥
प्रद्युम्नस्य चतुर्भागं रौक्मिणेयसुतस्य च।
चन्द्रप्रभस्य ददतुश्चतुर्भागं जनेश्वर ॥ २६ ॥

जनेश्वर! उन्होंने एक चौथाई भाग तो जयन्तके पुत्र विजयको दे दिया, दूसरा प्रद्युम्नके पुत्रको, तीसरा साम्बके पुत्रको दिया और शेष चौथा भाग गदके पुत्र चन्द्रप्रभको अर्पित कर दिया ॥ २५-२६ ॥

कोट्यश्चतस्रो ग्रामाणामधिकास्ता विशाम्पते।
शाखापुरसहस्रं च स्फीतं वज्रपुरोपमम्।
चतुर्धा चक्रतुस्तत्र संहृष्टौ शक्रकेशवौ ॥ २७ ॥

प्रजानाथ! वज्रनाभके अधिकारमें चार करोड़से कुछ अधिक ग्राम थे तथा एक हजार शाखानगर थे, जो वज्रपुरके

समान ही वैभवशाली थे। हर्षमें भरे हुए इन्द्र और श्रीकृष्ण-ने वहाँकी सभी वस्तुओंके चार भाग कर लिये थे ॥ २७ ॥

कम्बलाजिनवासांसि रत्नानि विविधानि च ।
चतुर्द्धा चक्रतुर्वीरौ वीर वासवकेशवौ ॥ २८ ॥

वीर जनमेजय ! वीर इन्द्र और केशवने वहाँ प्राप्त हुए कम्बल (कालीन), मृगचर्म, वस्त्र तथा भाँति-भाँतिके रत्नों-को भी चार भागोंमें बाँट दिया ॥ २८ ॥

ततोऽभिषिक्तास्ते वीरा राजानो वासवाज्ञया ।
देवदुन्दुभिवाद्येन नृप विष्णुपदीजलैः ॥ २९ ॥
स्वयं शक्रेण देवेन केशवेन च धीमता ।
ऋषिवंशे महात्मानः शक्रमाधवनन्दनाः ॥ ३० ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर इन्द्रकी आज्ञासे वे चारों वीर देव-दुन्दुभियोंकी ध्वनिके साथ गङ्गाजीके जलसे राजाके पदपर अभिषिक्त हुए। इन्द्र और श्रीकृष्णको आनन्दित करनेवाले उन चारों महात्मा राजकुमारोंको स्वयं इन्द्रदेव तथा बुद्धिमान् श्रीकृष्णने ऋषिसमुदायके निकट अभिषिक्त किया ॥२९-३०॥

विजयस्य प्रसिद्धेव गतिर्वियति धीमतः ।
मातृजेन गुणेनापि माधवानां महात्मनाम् ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान् विजयकी आकाशमें चलने-फिरनेकी शक्ति तो प्रसिद्ध ही थी; महामनस्वी यादवकुमार भी अपनी माताओंके गुणसे नियुक्त हो आकाशमें चल-फिर सकते थे ॥ ३१ ॥

अभिषिच्य जयन्तं तु वासवो भगवान् ब्रवीत् ।
त्वयैते वीर संरक्ष्या राजानः समितिंजयाः ॥ ३२ ॥

ऐश्वर्यशाली इन्द्रने उन चारोंका अभिषेक करके जयन्तसे कहा—'वीर ! तुम्हें इन युद्धविजयी राजाओंकी भी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

मम वंशकरोऽत्रैकः केशवस्य त्रयोऽनघ ।
अवध्याः सर्वभूतानां भविष्यन्ति ममाज्ञया ॥ ३३ ॥

'अनघ ! इनमें एक तो मेरे वंशका प्रवर्तक है और तीन श्रीकृष्णके वंशका विस्तार करनेवाले हैं। ये सब मेरी आज्ञासे समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य होंगे ॥ ३३ ॥

गमनागमनं चैव दिवि सिद्धं भविष्यति ।
त्रिविष्टपं द्वारकां च रम्यां भैमाभिरक्षिताम् ॥ ३४ ॥

'इनका आकाशमें गमनागमन स्वतः सिद्ध होगा। स्वर्गमें तथा यादवोंद्वारा सुरक्षित रमणीय द्वारकापुरीमें भी ये आते-जाते रहेंगे ॥ ३४ ॥

दिशागजसुतान् नागान् हयांश्चोच्चैःश्रवोऽन्वयान् ।
इच्छयैषां प्रयच्छस्व रथांस्त्वष्टृकृतानपि ॥ ३५ ॥

'दिग्गजोंके पुत्र जो हाथी हैं, उच्चैःश्रवाके कुलमें उत्पन्न जो घोड़े हैं तथा विश्वकर्माके बनाये जो रथ हैं, उन सबको इन्हें इच्छानुसार प्रदान करो ॥ ३५ ॥

गजावैरावणसुतौ शत्रुञ्जयरिपुञ्जयौ ।
प्रयच्छाकाशगौ वीर साम्बस्य च गदस्य च ॥ ३६ ॥
आकाशेन पुरीं यातु द्वारकां भैमरक्षिताम् ।
आयातु च सुतौ द्रष्टुं यथेष्टं भैमनन्दनौ ॥ ३७ ॥

'वीर ! ऐरावतके पुत्र जो शत्रुञ्जय और रिपुञ्जय नामक आकाशगामी हाथी हैं, उन्हें साम्ब और गदको दे दो; जिससे ये दोनों भीमकुलनन्दन वीर यादवोंद्वारा सुरक्षित रमणीय द्वारकापुरीमें आकाशमार्गसे जा सकें तथा अपने दोनों पुत्रोंको देखनेके लिये यहाँ भी, जब इच्छा हो आ सकें' ॥ ३६-३७ ॥

इति संदिश्य भगवान् देवराजः पुरन्दरः ।
जगाम भगवान् स्वर्गं द्वारकामपि केशवः ॥ ३८ ॥

ऐसा संदेश देकर ऐश्वर्यशाली देवराज इन्द्र स्वर्गको तथा भगवान् केशव द्वारकापुरीको चले गये ॥ ३८ ॥

षण्मासानुषितस्तत्र गदः प्रद्युम्न एव च ।
साम्बश्च द्वारकां याता रूढे राज्ये महाबलाः ॥ ३९ ॥

गद, प्रद्युम्न और साम्ब—ये तीनों महाबली वीर वहाँ छः महीने और रह गये। जब वहाँका राज्य सुदृढ़ हो गया, तब वे द्वारकाको गये ॥ ३९ ॥

अद्यापि तानि राज्यानि मेरोः पार्श्वे तथोत्तरे ।
तिष्ठन्ति च जगद् यावत् स्थास्यन्त्यमरसंनिभ ॥ ४० ॥

देवोपम वीर जनमेजय ! आज भी मेरुपर्वतके उत्तर पार्श्वमें वे राज्य विद्यमान हैं और जबतक यह संसार रहेगा, तबतक वे बने रहेंगे ॥ ४० ॥

निवृत्ते मौसले युद्धे स्वर्गं यातेषु वृष्णिषु ।
गदप्रद्युम्नसाम्बास्ते गता वज्रपुरं विभो ॥ ४१ ॥

विभो ! मौसलयुद्ध समाप्त होनेपर जब समस्त वृष्णिवंशी स्वर्गलोकको चले गये, तब गद, प्रद्युम्न और साम्ब वज्रपुरमें गये थे ॥ ४१ ॥

ततः प्रोष्य पुनर्यान्ति स्वर्गं स्वैः कर्मभिः शुभैः ।
प्रसादेन च कृष्णस्य लोककर्तुर्जनेश्वर ॥ ४२ ॥

जनेश्वर ! वहाँ रहकर लोग लोककर्ता भगवान् श्रीकृष्णके प्रसादसे अपने शुभ कर्मोंद्वारा पुनः स्वर्गलोकमें चले जाते हैं॥

प्रद्युम्नोत्तरमेतत् ते नृदेव कथितं मया ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं शत्रुनाशनमेव च ॥ ४३ ॥
पुत्रपौत्रा विवर्धन्ते आरोग्यधनसम्पदः ।
यशो विपुलमाप्नोति द्वैपायनवचो यथा ॥ ४४ ॥

नरदेव ! यह मैंने तुमसे प्रद्युम्नके उत्कर्षका वर्णन किया है। यह धन, यश तथा आयु प्रदान करनेवाला है। इसके पाठसे काम, क्रोध आदि शत्रुओंका नाश भी होता है। पुत्रों और पौत्रोंकी वृद्धि होती है। आरोग्य तथा धन-सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है एवं मनुष्य महान् यशका भागी होता है। जैसा कि द्वैपायन व्यासका कथन है ॥ ४३-४४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि वज्रनाभवधो नाम सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें वज्रनाभका वध नामक सत्तानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमोऽध्यायः

इन्द्रकी आज्ञासे विश्वकर्माद्वारा पुनः परिष्कृत की गयी द्वारकापुरीका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

**ददर्शाथ पुरीं कृष्णो द्वारकां गरुडे स्थितः।
देवसद्मप्रतीकाशां समन्तात् प्रतिनादिताम्॥ १॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! गरुड़पर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकापुरीको देखा, जो देवलोकके समान शोभा पा रही थी। वहाँ चारों ओर समुद्र-गर्जनाकी प्रतिध्वनि व्याप्त हो रही थी॥ १॥

**मणिपर्वतयन्त्राणि तथा क्रीडागृहाणि च।
उद्यानवनमुख्यानि वलभीचत्वराणि च॥ २॥**

उस पुरीमें जहाँ-तहाँ मणिमय पर्वत तथा यन्त्र सुशोभित थे। बहुत-से क्रीड़ागृह बने हुए थे। अनेकानेक उद्यान, श्रेष्ठ वन, छज्जे और चबूतरे शोभा दे रहे थे। श्रीकृष्णने इन सबको देखा॥ २॥

**सम्प्राप्ते तु तदा कृष्णे पुरीं देवकिनन्दने।
विश्वकर्माणमाहूय देवराजोऽब्रवीदिदम्॥ ३॥**

देवकीनन्दन श्रीकृष्ण जब द्वारकापुरीके समीप पहुँचे, तब देवराज इन्द्रने विश्वकर्माको बुलाकर इस प्रकार कहा—॥ ३॥

**प्रियमिच्छसि चेत् कर्तुं मह्यं शिल्पवतां वर।
कृष्णप्रियार्थं भूयस्त्वं प्रकुरुष्व मनोहराम्॥ ४॥**

'शिल्पियोंमें श्रेष्ठ विश्वकर्मन् ! यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये पुनः द्वारकापुरीको पहलेसे भी अधिक मनोहर बना दो॥ ४॥

**उद्यानशतसम्बाधां द्वारकां स्वर्गसम्मिताम्।
कुरुष्व विबुधश्रेष्ठ यथा मम पुरी तथा॥ ५॥**

'विबुधश्रेष्ठ ! जैसी यह मेरी पुरी है, उसी प्रकार तुम द्वारकाको सैकड़ों उद्यानोंसे हरी-भरी तथा स्वर्गतुल्य मनोहारिणी बना दो॥ ५॥

**यत्किंचित् त्रिषु लोकेषु रत्नभूतं प्रपश्यसि।
तेन संयुज्यतां क्षिप्रं पुरी द्वारवती त्वया॥ ६॥**

'तीनों लोकोंमें जो कुछ भी तुम्हें रत्नरूप दिखायी दे, उससे द्वारकापुरीको शीघ्र ही संयुक्त कर दो॥ ६॥

**कृष्णो हि सुरकार्येषु सर्वेषु सततोत्थितः।
संग्रामान् घोररूपांश्च विगाहति महाबलः॥ ७॥**

'क्योंकि महाबली श्रीकृष्ण समस्त देवकार्योंके लिये सदा तैयार रहते हैं और घोर-से-घोर संग्रामोंमें भी प्रवेश कर जाते हैं'॥ ७॥

**तामिन्द्रवचनाद् गत्वा विश्वकर्मा पुरीं ततः।
अलंचक्रे समन्ताद् वै यथेन्द्रस्यामरावती॥ ८॥**

विश्वकर्माने इन्द्रके आदेशसे उस पुरीमें जाकर उसे सब ओरसे उसी प्रकार अलंकृत किया, जैसे देवराजकी अमरावतीपुरी सुसज्जित रहती है॥ ८॥

**तां ददर्श दशार्हाणामीश्वरः पक्षिवाहनः।
विश्वकर्मकृतैर्दिव्यैरभिप्रायैरलंकृताम्॥ ९॥**

यादवोंके स्वामी गरुड़वाहन श्रीकृष्णने अपनी उस पुरीको विश्वकर्माद्वारा निर्मित दिव्य भावोंसे अलंकृत देखा॥ ९॥

**तां तदा द्वारकां दृष्ट्वा प्रभुर्नारायणो विभुः।
हृष्टः सर्वार्थसम्पन्नः प्रवेष्टुमुपचक्रमे॥ १०॥**

उस समय उस तरह सजी हुई द्वारकाको देखकर सम्पूर्ण अर्थोंसे सम्पन्न सर्वव्यापी भगवान् नारायणने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसमें प्रवेश आरम्भ किया॥ १०॥

**सोऽपश्यद् वृक्षखण्डांश्च रम्यान् दृष्टिमनोहरान्।
द्वारकां प्रति दाशार्हश्चित्रितां विश्वकर्मणा॥ ११॥**

विश्वकर्माद्वारा विचित्र शोभासे सम्पन्न की हुई द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णने बहुत-से रमणीय वृक्षखण्ड देखे, जो दृष्टि और मनको आकृष्ट कर लेते थे॥ ११॥

**पद्मखण्डाकुलाभिश्च हंससेवितवारिभिः।
गङ्गासिन्धुप्रकाशाभिः परिखाभिर्वृतां पुरीम्॥ १२॥**

वह पुरी गङ्गा और सिन्धुके समान सुशोभित होनेवाली चौड़ी खाइयोंसे घिरी हुई थी। उनमें कमलोंके समूह भरे हुए थे तथा हंस उनके जलका सेवन करते थे॥ १२॥

**प्राकारेणार्कवर्णेन शातकौम्भेन राजता।
चयमूर्ध्नि निविष्टेन द्यां यथैवाभ्रमालया॥ १३॥**

ऊँचे टीलेपर बने हुए सुन्दर सुवर्णमय प्राकार (परकोटे) से, जो सूर्यके सदृश प्रभापुञ्जसे परिपूर्ण था, घिरी हुई द्वारकापुरी घनमालासे घिरे हुए आकाशके समान शोभा पाती थी॥ १३॥

**काननैर्नन्दनप्रख्यैस्तथा चैत्ररथोपमैः।
बभौ चारुपरिक्षिप्ता द्वारका द्यौरिवाम्बुदैः॥ १४॥**

नन्दन और चैत्ररथ नामक वनोंके समान मनोहर काननोंसे भलीभाँति घिरी हुई द्वारकापुरी मेघोंसे घिरे हुए द्युलोककी भाँति सुशोभित हो रही थी॥ १४॥

बभौ रैवतकः शैलो रम्यसानुगुहाजिरः ।
पूर्वस्यां दिशि लक्ष्मीवान् मणिकाञ्चनतोरणः ॥ १५ ॥

द्वारकापुरीकी पूर्व दिशामें शोभासम्पन्न रैवतक पर्वत बड़ा ही मनोहर प्रतीत होता था । उसके शिखर, गुफा और आँगन सभी रमणीय थे । उसके बाहरी फाटक मणि एवं सुवर्णके बने हुए थे ॥ १५ ॥

दक्षिणस्यां लतावेष्टः पञ्चवर्णो विराजते ।
इन्द्रकेतुप्रतीकाशः पश्चिमां दिशमाश्रितः ।
सुकक्षो राजतः शैलश्चित्रपुष्पमहावनः ॥ १६ ॥

पुरीके दक्षिण भागमें लतावेष्ट नामक पर्वत शोभा पा रहा था, जो पाँच रंगका होनेके कारण इन्द्रध्वज-सा प्रतीत होता था । पश्चिम दिशामें सुकक्ष नामक रजत पर्वत था, जिसके ऊपर विचित्र पुष्पोंसे अलंकृत महान् वन सुशोभित हो रहा था ॥ १६ ॥

उत्तरां दिशमत्यर्थं विभूषयति वेणुमान् ।
मन्दराद्रिप्रतीकाशः पाण्डुरः पार्थिवर्षभ ॥ १७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! मन्दराचलके समान श्वेत वर्णवाला वेणुमान् पर्वत द्वारकाकी उत्तर दिशाको अत्यन्त शोभासम्पन्न बना रहा था ॥ १७ ॥

चित्रकं पञ्चवर्णं च पाञ्चजन्यं वनं महत् ।
सर्वर्तुकवनं चैव भाति रैवतकं प्रति ॥ १८ ॥

रैवतक पर्वतके चारों ओर चित्रक, पञ्चवर्ण, विशाल पाञ्चजन्य तथा सर्वर्तुक नामक वन शोभा पा रहे थे ॥१८॥

लतावेष्टितपर्यन्तं मेरुप्रभवनं महद् ।
भाति भानुवनं चैव पुष्पकं च महद् वनम् ॥ १९ ॥

लतावेष्ट पर्वतके चारों ओर मेरुप्रभ नामक महान् वन, भानुवन तथा पुष्पक नामक विशाल वन शोभा पा रहे थे ॥ १९ ॥

अक्षकैर्बीजकैश्चैव मन्दारैश्चोपशोभितम् ।
शतावर्तवनं चैव करवीराकरं तथा ॥ २० ॥
भाति चैत्ररथं चैव नन्दनं च वनं महत् ।
रमणं भावनं चैवं वेणुमन्तं समन्ततः ॥ २१ ॥

सुकक्ष पर्वतके चारों ओर रुद्राक्षोंसे सुशोभित वन, बीजकवन, मन्दार वृक्षोंसे सुशोभित मन्दारवन, शतावर्तवन तथा करवीराकर नामक वन सुशोभित होते थे । वेणुमान् पर्वतके सब ओर चैत्ररथवन, नन्दन नामक महान् वन, रमणवन तथा भावन नामक वन शोभा पाते थे ॥ २०-२१ ॥

वैडूर्यपत्रैर्जलजैस्तदा मन्दाकिनी नदी ।
भाति पुष्करिणी रम्या पूर्वस्यां दिशि भारत ॥ २२ ॥

भारत ! वहाँ वैदूर्यमणिमय पत्रवाले कमलोंसे सुशोभित मन्दाकिनी नदी पुरीकी पूर्वदिशामें एक रमणीय पुष्करिणीके रूपमें शोभा पाती थी ॥ २२ ॥

सानवो भूषितास्तत्र केशवस्य प्रियैषिभिः ।
बहुभिर्देवगन्धर्वैश्चोदितैर्विश्वकर्मणा ॥ २३ ॥

विश्वकर्मासे प्रेरित होकर भगवान् केशवका प्रिय चाहनेवाले बहुत-से देवगन्धर्व वहाँके पर्वतीय शिखरोंकी शोभा बढ़ाते थे ॥ २३ ॥

महानदी द्वारवतीं पञ्चाशद्भिर्महामुखैः ।
प्रविष्टा पुण्यसलिला भावयन्ती समन्ततः ॥ २४ ॥

पुण्यसलिला महानदी मन्दाकिनी पचास बड़े-बड़े स्रोतों द्वारा द्वारकावासियोंको प्रसन्न करती हुई सब ओरसे उस पुरीमें प्रविष्ट हुई थी ॥ २४ ॥

अप्रमेयां महोत्सेधामगाधपरिखायुताम् ।
प्राकारवरसम्पन्नां सुधापाण्डुरलेपनाम् ॥ २५ ॥

द्वारकापुरी कितनी बड़ी है, इसका कोई माप नहीं था । उसकी ऊँचाई भी बहुत अधिक थी । वह अगाध खाइयोंसे घिरी हुई थी । सुन्दर परकोटे उसे शोभासम्पन्न कर रहे थे । उस पुरीकी दीवारोंको चूनेसे लीपकर श्वेत बनाया गया था॥

तीक्ष्णयन्त्रशतघ्नीभिर्हेमजालैश्च भूषिताम् ।
आयसैश्च महाचक्रैर्ददर्श द्वारकां पुरीम् ॥ २६ ॥

भगवान्ने द्वारकापुरीको तीखे यन्त्र, शतघ्नी और सोनेकी जालियोंसे विभूषित देखा । वह लोहेके बड़े-बड़े चक्रोंसे सुरक्षित थी ॥ २६ ॥

अष्टौ रथसहस्राणि नगरे किङ्किणीकिनाम् ।
समुच्छ्रितपताकानि यथा देवपुरे तथा ॥ २७ ॥

देवताओंके नगरकी भाँति द्वारकापुरीमें क्षुद्रघण्टिकाओंसे युक्त आठ हजार रथ शोभा पाते थे, जिनमें ऊँची उठी हुई पताकाएँ फहरा रही थीं ॥ २७ ॥

अष्टयोजनविस्तीर्णामचलां द्वादशायताम् ।
द्विगुणोपनिवेशां च ददर्श द्वारकां पुरीम् ॥ २८ ॥

द्वारकापुरीकी चौड़ाई आठ योजन थी और लंबाई बारह योजन अर्थात् उसका सम्पूर्ण विस्तार छानवे योजन था । उसका उपनिवेश (समीपस्थ प्रदेश) उससे दुगुना अर्थात् एक सौ बानवे योजन विस्तृत था । श्रीकृष्णने उस अविचल द्वारकापुरीका दर्शन किया ॥ २८ ॥

अष्टमार्गमहारथ्यां महाषोडशचत्वराम् ।
एवंमार्गपरिक्षिप्तां साक्षादुशनसा कृताम् ॥ २९ ॥

उसमें जानेके लिये आठ महामार्ग थे और सोलह बड़े-बड़े चौराहे बने थे । इस प्रकार विभिन्न मार्गोंसे परिष्कृत द्वारकापुरी साक्षात् शुक्राचार्यकी नीतिके अनुसार बनायी गयी थी ॥ २९ ॥

स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येरन् किमु वृष्णिमहारथाः ।
व्यूहानामुत्तमा मार्गाः सप्त चैव महापथाः ॥ ३० ॥

उस पुरीमें रहकर स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकती थीं; फिर साक्षात् वृष्णिवंशी महारथियोंकी तो बात ही क्या ! उसमें व्यूहोंके उत्तम मार्ग हैं। सात बड़ी-बड़ी सड़कें हैं ॥ ३० ॥

तत्र वै विहिताः साक्षाद् विविधा विश्वकर्मणा ।
तस्मिन् पुरवरश्रेष्ठे दाशार्हाणां यशस्विनाम् ॥ ३१ ॥
वेश्मानि जहृषे दृष्ट्वा ततो देवकिनन्दनः ।
काञ्चनैर्मणिसोपानैरुपेतानि नृहर्षणैः ॥ ३२ ॥

वहाँ साक्षात् विश्वकर्माने उन विविध मार्गोंका निर्माण किया था। नगरोंमें श्रेष्ठ उस द्वारकापुरीमें यशस्वी दशार्ह-वंशियोंके महल देखकर देवकीनन्दन भगवान् कृष्णको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे महल मनुष्योंको हर्ष प्रदान करनेवाली सोने और मणियोंकी सीढ़ियोंसे अलंकृत थे ॥ ३१-३२ ॥

भीमघोषमहाघोषैः प्रासादवरचत्वरैः ।
समुच्छ्रितपताकानि पारिप्लववनानि च ॥ ३३ ॥

महान् एवं भयंकर घोषों, महलों तथा सुन्दर आँगनोंसे शोभा पानेवाले उन महलोंके ऊपर ऊँची-ऊँची पताकाएँ फहरा रही थीं। उन महलोंके भीतर लगे हुए उद्यानोंके वृक्ष हवासे झूमते रहते थे ॥ ३३ ॥

काञ्चनाग्राणि भास्वन्ति प्रासादशिखराणि च ।
गृहाणि रमणीयानि मेरुकूटनिभानि च ॥ ३४ ॥

उन महलोंके शिखर सोनेके कंगूरों या कलशोंसे सुशोभित हो उद्भासित होते रहते थे। वे गगनचुम्बी रमणीय भवन मेरुपर्वतके शिखरोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ३४ ॥

पाण्डुपाण्डुरशृङ्गैश्च शातकुम्भपरिष्कृतैः ।
रत्नसानुगुहाशृङ्गैर्विचित्रैरिव पर्वतैः ॥ ३५ ॥

उन महलोंके शिखर श्वेतसे भी अधिक श्वेत थे। उनमें सोने मढ़े गये थे। वे रत्नमय शिखर, गुफा और चोटियोंवाले विचित्र पर्वतोंके समान शोभा पाते थे ॥३५॥

पञ्चवर्णैः सुवर्णैश्च पुष्पवृष्टिसमप्रभैः ।
पर्जन्यतुल्यनिर्घोषैर्नानारूपैरिवाद्रिभिः ॥ ३६ ॥

वे गृह पाँच प्रकारके रंगोंसे रँगे गये थे। कितने ही सुनहरे रंगसे सुशोभित थे। कुछ गृहोंकी कान्ति ऐसी जान पड़ती थी, मानो वहाँ फूलोंकी वर्षा हो रही हो। उन महलों-से मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान शब्द प्रकट होते रहते थे। वे बहुरंगे भवन अनेक रूपवाले पर्वतोंके समान जान पड़ते थे ॥ ३६ ॥

दावाग्निज्वलितप्रख्यैर्निर्मितैर्विश्वकर्मणा ।
आलिखद्भिरिवाकाशमतिचन्द्रार्कभास्वरैः ॥ ३७ ॥

विश्वकर्माके बनाये हुए वे तेजस्वी भवन दावानलकी ज्वालाके समान देदीप्यमान होते थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वे आकाशमें सुनहरी रेखा खींच रहे हों। उनका प्रकाश चन्द्रमा और सूर्यसे भी बढ़कर था ॥ ३७ ॥

तैर्दाशार्हैर्महाभागैर्बभासे तद्वनद्रुमैः ।
वासुदेवेन्द्रपर्जन्यैर्गृहमेघैरलंकृता ॥ ३८ ॥
ददृशे द्वारका चारुमेघैर्द्यौरिव संवृता ।

उन चित्रक आदि वनोंके वृक्षों तथा दशार्हवंशी महाभाग वीरों एवं गृहरूपी मेघोंसे अलंकृत द्वारकापुरी अत्यन्त शोभा पाती थी और मनोहर घनमालाओंसे घिरे हुए आकाशकी भाँति दिखायी देती थी। भगवान् श्रीकृष्ण ही वहाँ इन्द्र एवं पर्जन्यके रूपमें शोभा पाते थे ॥ ३८½ ॥

साक्षाद् भगवतो वेश्म विहितं विश्वकर्मणा ॥ ३९ ॥
ददृशे वासुदेवस्य चतुर्योजनमायतम् ।
तावदेव च विस्तीर्णमप्रमेयमहाधनम् ॥ ४० ॥

विश्वकर्माका बनाया हुआ साक्षात् भगवान् वासुदेवका भवन चार योजन लंबा और उतना ही चौड़ा दिखायी देता था। उसमें कितना महान् धन लगा था, इसका अनुमान लगाना असम्भव है ॥ ३९-४० ॥

प्रासादवरसम्पन्नं युक्तं जगति पर्वतैः ।
यच्चकार महाभागस्त्वष्टा वासवनोदितः ॥ ४१ ॥

उस विशाल भवनके भीतर अनेकानेक सुन्दर महल और अट्टालिकाएँ बनी थीं। वह प्रासाद जगत्के सभी पर्वतीय दृश्योंसे युक्त था। अथवा उसमें जगत्के सुप्रसिद्ध पर्वत क्रीड़ाके लिये कृत्रिम रूपसे बनाये गये थे। महाभाग विश्वकर्मा-ने इन्द्रसे प्रेरित होकर उसका निर्माण किया था ॥ ४१ ॥

प्रासादं चैव हेमाभं सर्वभूतमनोहरम् ॥ ४२ ॥
मेरोरिव गिरेः शृङ्गमुच्छ्रितं काञ्चनं महत् ।
रुक्मिण्याः प्रवरं वासं विहितं विश्वकर्मणा ॥ ४३ ॥

वह सुवर्णमय प्रासाद समस्त प्राणियोंके लिये मनोहर था। उसके ऊँचे शिखरपर सुवर्ण मढ़ा गया था; जिससे वह मेरु पर्वतके उत्तुङ्ग शृङ्गकी शोभा धारण करता था। विश्व-कर्माने उस श्रेष्ठ प्रासादको महारानी रुक्मिणीके रहनेके लिये बनाया था ॥ ४२-४३ ॥

सत्यभामा पुनर्वेश्म यदावसत पाण्डुरम् ।
विचित्रमणिसोपानं तद् विदुर्भोगवानिति ॥ ४४ ॥
विमलादित्यवर्णाभिः पताकाभिरलंकृतम् ।

सत्यभामा जिस भवनमें निवास करती थीं, वह श्वेत वर्णका था। उसमें विचित्र मणियोंके सोपान बनाये गये थे। उसे सब प्रकारके भोगोंसे सम्पन्न समझा जाता था। निर्मल सूर्यके समान तेजस्विनी पताकाएँ उस मनोरम प्रासादकी शोभा बढ़ाती थीं ॥ ४४½ ॥

व्यक्तसंजवनोद्देशो यश्चतुर्दिङ्महाध्वजः ॥ ४५ ॥
स च प्रासादमुख्योऽथ जाम्बवत्या विभूषितः ।
प्रभयाभ्यभवत् सर्वांस्तानन्यो भास्करो यथा ॥ ४६ ॥

जिसके बाहर-भीतरका प्रदेश प्रतिक्षण अभिनव रूप-सौन्दर्यसे युक्त प्रतीत होता था और जिसमें चारों ओर बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ फहरा रही थीं। उस मुख्य प्रासादको जाम्बवतीदेवी सुशोभित करती थीं, वह दूसरे सूर्यकी भाँति अन्य सब प्रासादोंको अपनी प्रभासे तिरस्कृत कर रहा था ॥ ४५-४६ ॥

उद्यद्भास्करवर्णाभस्तयोरन्तरमाश्रितः ।
विश्वकर्मकृतो दिव्यः कैलासशिखरोपमः ॥ ४७ ॥

उसकी कान्ति उदयकालके सूर्यकी प्रभाके समान थी। वह रुक्मिणी और सत्यभामाके प्रासादोंके बीचमें बना था। विश्वकर्माद्वारा बनाया गया वह दिव्य प्रासाद कैलास-शिखरके समान शोभा पाता था ॥ ४७ ॥

जाम्बूनद इवादीप्तः प्रदीप्तज्वलनो यथा ।
सागरप्रतिमोऽतिष्ठन्मेरुरित्यभिविश्रुतः ॥ ४८ ॥
तस्मिन् गान्धारराजस्य दुहिता कुलशालिनी ।
गान्धारी भरतश्रेष्ठ केशवेन निवेशिता ॥ ४९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो जाम्बूनद सुवर्ण तथा प्रज्वलित अग्निके समान देदीप्यमान था, विशालतामें जिसकी समुद्रसे उपमा दी जाती थी, जो मेरुके नामसे विख्यात होकर खड़ा था, उस महान् प्रासादमें गान्धार-राजकी कुलीन कन्या नाग्नजिती सत्या अथवा गान्धारीको भगवान् श्रीकृष्णने ठहराया था ॥ ४८-४९ ॥

पद्मकूल इति ख्यातं पद्मवर्णं महाप्रभम् ।
सुभीमाया महाकूटं वेश्मातिरुचिरप्रभम् ॥ ५० ॥

पद्मकूल नामसे विख्यात, पद्मके समान वर्णवाला, अत्यन्त प्रकाशमान, महान् शिखरके समान ऊँचा और अत्यन्त रुचिर प्रभासे प्रकाशित जो भवन था, वह सुभीमा देवीका निवास-स्थान बना था ॥ ५० ॥

सूर्यप्रभस्तु प्रासादः सर्वकामगुणैर्युतः ।
लक्ष्मणाया नृपश्रेष्ठ निर्दिष्टः शार्ङ्गधन्वना ॥ ५१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! जो प्रासाद समस्त मनोवाञ्छित गुणोंसे युक्त तथा सूर्यके समान प्रकाशमान था, उसे शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णने लक्ष्मणाका आवास निश्चित किया था ॥ ५१ ॥

वैडूर्यमणिवर्णाभः प्रासादो हरितप्रभः ।
यं विदुः सर्वभूतानि परमित्येव भारत ॥ ५२ ॥
वासं तं मित्रविन्दाया देवर्षिगणपूजितम् ।
महिष्या वासुदेवस्य भूषणं तेषु वेश्मसु ॥ ५३ ॥

भारत ! जो हरितकान्तिसे प्रकाशित तथा वैदूर्यमणिकी-सी आभासे उद्भासित था, जिसे समस्त प्राणी सबसे उत्तम समझते थे, वह प्रासाद वासुदेवकी पटरानी मित्रविन्दाका निवास था। देवता तथा ऋषियोंके समुदाय भी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। वह उन सभी भवनोंमें भूषण-रूप था ॥ ५२-५३ ॥

यस्तु प्रासादमुख्योऽत्र विहितो विश्वकर्मणा ।
अतीव रम्यरम्योऽसौ धिष्ठितः पर्वतो यथा ॥ ५४ ॥
सुदत्ताया निवासः स प्रशस्तः सर्वदैवतैः ।
महिष्या वासुदेवस्य केतुमानिति विश्रुतः ॥ ५५ ॥

द्वारकामें विश्वकर्माद्वारा बनाया गया जो प्रमुख प्रासाद था, जो अत्यन्त रमणीयसे भी रमणीय प्रतीत होता था और पर्वतके समान खड़ा था, वह श्रीकृष्णमहिषी सुदत्ताका निवास भवन था। सम्पूर्ण देवता उसकी प्रशंसा करते थे। वह केतुमान् नामसे विख्यात था ॥ ५४-५५ ॥

यस्तु प्रासादमुख्यो वै यं त्वष्टा विदधे स्वयम् ।
योजनायतविष्कम्भः सर्वरत्नमयः शुभः ॥ ५६ ॥
स श्रीमान् विरजा नाम व्यराजत् तत्र सुप्रभः ।
उपस्थानगृहं यत्र केशवस्य महात्मनः ॥ ५७ ॥

जो सभी प्रासादोंमें श्रेष्ठ था, जिसे साक्षात् विश्वकर्माने बनाया था, जिसकी लंबाई-चौड़ाई एक-एक योजन थी, जो सभी रत्नोंद्वारा निर्मित एवं शुभ-स्वरूप था, वह उत्तम प्रभासे युक्त कान्तिमान् प्रासाद वहाँ 'विरजा' नामसे विख्यात होकर बड़ी शोभा पा रहा था। उसीमें महात्मा केशवका उपस्थान-गृह था ॥ ५६-५७ ॥

तस्मिन् सुविहिताः सर्वे रुक्मदण्डाः पताकिनः ।
सदने वासुदेवस्य मार्गसंजवनध्वजाः ॥ ५८ ॥
रत्नजालानि दिव्यानि तत्रैव च निवेशिताः ।
आहृत्य यदुसिंहेन वैजयन्तोऽचलो महान् ॥ ५९ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके उस सुन्दर सदनमें जो मार्गका ज्ञान करानेवाले ध्वज लगे थे, उन सबके दण्ड सुवर्णमय बनाये गये थे तथा उनपर पताकाएँ फहराती रहती थीं। यदुसिंह श्रीकृष्णने वहाँ दिव्य रत्नोंके समूह संचित किये थे तथा वैजयन्त नामक महान् पर्वत वहाँ लाकर स्थापित किया था ॥

हंसकूटस्य यच्छृङ्गमिन्द्रद्युम्नसरः प्रति ।
षष्टितालसमुत्सेधमर्धयोजनमायतम् ॥ ६० ॥

इन्द्रद्युम्न सरोवरके पास हंसकूट पर्वतका जो शिखर था, वह साठ ताड़के बराबर ऊँचा और आधा योजन चौड़ा था ॥

सकिन्नरमहानागं तदप्यमिततेजसा ।
पश्यतां सर्वभूतानामानीतं लोकविश्रुतम् ॥ ६१ ॥

अमित तेजस्वी विश्वकर्मा समस्त प्राणियोंके देखते-देखते उस विश्वविख्यात पर्वतशिखरको किन्नर और बड़े-बड़े नागों-सहित वहाँ ले आये थे ॥ ६१ ॥

आदित्यपथगं यत् तु मेरोः शिखरमुत्तमम् ।
जाम्बूनदमयं दिव्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ६२ ॥
तदप्युत्पाट्य कृष्णार्थमानीतं विश्वकर्मणा ।
भ्राजमानमतीवाग्र्यं सर्वौषधिसमन्वितम् ॥ ६३ ॥

मेरुपर्वतका उत्तम शिखर जो सूर्यके मार्गतक पहुँचा हुआ है तथा स्वरूपसे जाम्बूनदमय, दिव्य एवं त्रिभुवन-विख्यात है, उसे भी श्रीकृष्णके लिये विश्वकर्मा उखाड़ लाये थे । वह सब प्रकारकी ओषधियोंसे अलंकृत, प्रकाशमान तथा अत्यन्त उत्तम था ॥ ६२-६३ ॥

तदिन्द्रवचनात् त्वष्टा कार्यहेतोः समानयत् ।
पारिजातश्च तत्रैव केशवेनाहृतः स्वयम् ॥ ६४ ॥

विश्वकर्मा इन्द्रके कहनेसे कार्यवश उसे वहाँ ले आये थे । वहीं साक्षात् श्रीकृष्ण पारिजातका वृक्ष भी ले आये थे ॥

नीयमाने तु तत्रासीद् युद्धमद्भुतकर्मणः ।
कृष्णस्य येऽभ्यरक्षंस्तु देवाः पादपमुत्तमम् ॥ ६५ ॥

पारिजातके लाये जाते समय अद्भुतकर्मा श्रीकृष्णका उन देवताओंके साथ घोर युद्ध हुआ, जो उस उत्तम वृक्षकी रक्षा कर रहे थे ॥ ६५ ॥

पुण्डरीकशतैर्जुष्टं विमानैश्च हिरण्मयैः ।
विहिता वासुदेवार्थं रत्नपुष्पफलद्रुमाः ॥ ६६ ॥

वह वृक्ष सैकड़ों कमलोंसे पूजित तथा सुवर्णमय विमानोंसे सेवित एवं सुरक्षित था । विश्वकर्माने श्रीकृष्णके लिये रत्नमय फूल और फल देनेवाले वृक्षोंका निर्माण किया था ॥ ६६ ॥

पद्मखण्डजलोपेता रत्नसौगन्धिकोत्पलाः ।
मणिहेमप्लवाकीर्णाः पुष्करिण्यः सरांसि च ॥ ६७ ॥

उन्होंने बहुत-सी पोखरियाँ और सरोवर भी बनाये थे, जिनके जल कमलसमूहोंसे सुशोभित थे, उनमें रत्नमय सौगन्धिक कमल खिले हुए थे । मणि एवं सुवर्णसे जटित नौकाएँ उनमें सब ओर व्याप्त थीं ॥ ६७ ॥

तासां परमकूलानि शोभयन्ति महाद्रुमाः ।
शालास्तालाः कदम्बाश्च शतशाखाश्च रौहिणाः ॥ ६८ ॥
ये च हैमवता वृक्षा ये च मेरुरुहास्तथा ।
आहृत्य यदुसिंहार्थं विहिता विश्वकर्मणा ॥ ६९ ॥

उन पुष्करिणियोंके उत्तम तटोंको बड़े-बड़े वृक्ष सुशोभित करते थे । शाल, ताल, कदम्ब, सैकड़ों शाखाओंवाले वटवृक्ष तथा जो हिमालय और मेरुपर्वतपर होनेवाले वृक्ष हैं, उन सबको विश्वकर्माने वहाँसे लाकर यदुसिंह श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये द्वारकामें स्थापित कर दिया था ॥ ६८-६९ ॥

रक्तपीतारुणश्यामाः श्वेतपुष्पाश्च पादपाः ।
सर्वर्तुफलसम्पन्नास्तेषु काननसन्धिषु ॥ ७० ॥

वे वृक्ष लाल, पीले, अरुण और श्याम रंगके थे, उनके फूल श्वेत वर्णके थे । वहाँ वन-उपवनोंकी संधियोंमें जो वृक्ष लगे थे, वे सभी ऋतुओंके फलोंसे सम्पन्न थे ॥ ७० ॥

समकूलजलोपेताः शान्तशर्करवालुकाः ।
तस्मिन् पुरवरे नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदाः ॥ ७१ ॥

उस श्रेष्ठ नगरमें जो नदियाँ थीं, वे समान तट और जलसे सुशोभित थीं, उनके कंकड़ और बालू नीचे बैठ गये थे, वहाँ जो ह्रद (कुण्ड या जलाशय) थे, उनका जल बहुत स्वच्छ था ॥ ७१ ॥

पुष्पाकुलजलोपेता नानाद्रुमलताकुलाः ।
अपराश्चाभवन् नद्यो हेमशर्करवालुकाः ॥ ७२ ॥

वहाँ जो दूसरी नदियाँ थीं, उनके बालू और कंकड़ सुवर्णमय थे तथा वे पुष्पवासित जलसे भरी हुई थीं । उनके तटोंपर नाना प्रकारके वृक्ष और लताएँ फैली हुई थीं ॥७२॥

मत्तबर्हिणसंघैश्च कोकिलैश्च सदामदैः ।
बभूवुः परमोपेतास्तस्यां पुर्यां च पादपाः ॥ ७३ ॥

उस पुरीमें जो जो वृक्ष थे, वे मदमत्त मयूरों तथा सदा मतवाले बने रहनेवाले कोकिलोंसे परम शोभायमान थे ॥७३॥

तत्रैव गजयूथानि पुरे गोमहिषास्तथा ।
निवासश्च कृतस्तत्र वराहमृगपक्षिभिः ॥ ७४ ॥

उस द्वारकापुरीमें ही हाथियोंके यूथ और गाय-भैंसोंके झुंड भी रहते थे । वराहों, मृगों और पक्षियोंने भी वहाँ अपना निवास बना रक्खा था ॥ ७४ ॥

पुर्यां तस्यां तु रम्यायां प्राकारो वै हिरण्मयः ।
व्यक्तः किष्कुशतोत्सेधो विहितो विश्वकर्मणा ॥ ७५ ॥

उस रमणीय पुरीका परकोटा स्पष्ट ही सोनेका बना हुआ था । विश्वकर्माने उसे सौ हाथ ऊँचा बनाया था ॥ ७५ ॥

अतीव रम्यः सोऽथासीद् वेष्टितः पर्वतो यथा ।
ते च ते च महाशैलाः सरितश्च सरांसि च ।
परिक्षिप्तानि भौमेन वनान्युपवनानि च ॥ ७६ ॥

वह परकोटा बहुत ही सुन्दर एवं रमणीय था और घेरा बने हुए पर्वतके समान जान पड़ता था । विश्वकर्माने उस परकोटेके द्वारा पूर्वोक्त बड़े-बड़े पर्वतों, सरिताओं, सरोवरों, वनों और उपवनोंको भी घेर रखा था ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि द्वारकाविशेषनिर्माणं नामाष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें द्वारकाका विशेषरूपसे निर्माण-विषयक अट्ठानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

नवनवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका द्वारका तथा अन्तःपुरमें प्रवेश और मणिपर्वत एवं पारिजातको यथोचित स्थानमें स्थापित करना

वैशम्पायन उवाच

एवमालोकयानः स द्वारकां वृषभेक्षणः ।
अपश्यत् स्वगृहं कृष्णः प्रासादशतशोभितम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्णने इस प्रकार द्वारकाका निरीक्षण करते हुए अपने आवास-स्थानको देखा, जो सैकड़ों प्रासादोंसे सुशोभित था ॥ १ ॥

मणिस्तम्भसहस्राणामयुतैर्विवृतं शतैः ।
तोरणैर्ज्वलनप्रख्यैर्मणिविद्रुमराजतैः ॥ २ ॥

उसमें मणियोंके बने हुए लाखों-करोड़ों खंभे लगे थे, जिनकी प्रभासे वहाँका सब कुछ सुस्पष्ट दिखायी देता था। वहाँके बाहरी फाटक मणि-मूँगे एवं चाँदीके बने हुए थे और प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित होते थे ॥ २ ॥

तत्र तत्र प्रभासद्भिश्चित्रकाञ्चनवेदिकैः ।
प्रासादस्तत्र सुमहान् कृष्णोपस्थानिकोऽभवत् ॥ ३ ॥

जहाँ-तहाँ प्रकाशित होनेवाले उन फाटकोंमें सोनेकी विचित्र वेदिकाएँ बनी हुई थीं। उन सबसे उद्दीप्त दिखायी देनेवाला श्रीकृष्णका वह महान् प्रासाद उनका उपस्थान-गृह था ॥ ३ ॥

स्फाटिकस्तम्भविवृतो विस्तीर्णः सर्वकाञ्चनः ।
पद्माकुलजलोपेता रक्तसौगन्धिकोत्पलाः ॥ ४ ॥

उसमें स्फटिकमणिके खंभे लगे हुए थे, जिनसे वह प्रासाद प्रकाशित होता था। उसका विस्तार बहुत बड़ा था। वहाँकी सभी वस्तुएँ सोनेकी बनी हुई थीं, वहाँकी बावड़ियोंका जल कमलोंसे आच्छादित था, उनमें लाल रंगके सौगन्धिक कमल खिले हुए थे ॥ ४ ॥

मणिहेमनिभाश्चित्रा रत्नसोपानभूषिताः ।
मत्तबर्हिणजुष्टाश्च कोकिलैश्च सदामदैः ॥ ५ ॥
बभूवुः परमोपेता वाप्यश्च विकचोत्पलाः ।

वे बावड़ियाँ मणि और सुवर्णके समान विचित्र शोभासे सम्पन्न दिखायी देती थीं, रत्नमयी सीढ़ियोंसे अलंकृत थीं, मतवाले मोर और सदा मदमत्त रहनेवाले कोकिल उनका सेवन करते थे, विकसित कमलोंसे आच्छादित होनेके कारण वे उत्तम शोभासे सम्पन्न हो रही थीं ॥ ५½ ॥

विश्वकर्मकृतः शैलः प्राकारस्तस्य वेश्मनः ॥ ६ ॥
व्यक्तकिष्कुशतोत्सेधः परिखापरिवेष्टितः ।
तद् गृहं वृष्णिसिंहस्य निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ ७ ॥

श्रीकृष्णके उस भवनका परकोटा विश्वकर्माने प्रस्तरसे बनाया था। उसकी ऊँचाई सौ हाथकी थी और वह खाइयोंसे घिरा हुआ था। वृष्णिवंशके सिंह श्रीकृष्णके उस भवनका निर्माण साक्षात् विश्वकर्माने किया था ॥ ६-७ ॥

महेन्द्रसदृशं वेश्म समन्तादर्धयोजनम् ।
ततस्तं पाण्डुरं शौरिर्मूर्ध्नि तिष्ठन् गरुत्मतः ॥ ८ ॥
प्रीतः शङ्खमुपाध्मासीद् द्विषतां रोमहर्षणम् ।
तस्य शङ्खस्य शब्देन सागरश्चुक्षुभे भृशम् ।
ररास च नभः कृत्स्नं तच्चित्रमभवत् तदा ॥ ९ ॥

सब ओरसे आधा योजन विस्तृत वह श्रीकृष्णका महल देवराज इन्द्रके भवन-सा मनोहर था। तदनन्तर गरुड़के ऊपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने मन-ही-मन प्रसन्न होकर श्वेतवर्णवाले अपने उस पाञ्चजन्य शङ्खको बजाया, जो शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। उस शङ्खके शब्दसे समुद्र विक्षुब्ध हो उठा तथा सम्पूर्ण आकाश-मण्डल गूँजने लगा, उस समय वहाँ यह अद्भुत बात हुई ॥ ८-९ ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं संश्रुत्य कुकुरान्धकाः ।
विशोकाः समपद्यन्त गरुडस्य च दर्शनात् ॥ १० ॥

पाञ्चजन्यका गम्भीर घोष सुनकर और गरुड़का दर्शन पाकर कुकुर तथा अन्धकवंशी यादव शोकरहित हो गये ॥

शङ्खचक्रगदापाणिं गरुडस्योपरि स्थितम् ।
दृष्ट्वा जहृषिरे पौरा भास्करोऽमतेजसम् ॥ ११ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि आयुध सुशोभित थे। वे गरुड़के ऊपर बैठे थे। उनका तेज भगवान् भास्करके समान था। उन्हें देखकर समस्त पुरवासियोंको बड़ा हर्ष हुआ ॥ ११ ॥

ततस्तूर्यप्रणादश्च भेरीणां च महास्वनाः ।
जज्ञिरे सिंहनादाश्च सर्वेषां पुरवासिनाम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर तुरही और भेरियाँ बज उठीं, उनकी आवाज बहुत दूरतक फैल गयी, फिर समस्त पुरवासी भी सिंह-नाद कर उठे ॥ १२ ॥

ततस्ते सर्वदाशार्हाः सर्वे च कुकुरान्धकाः ।
प्रीयमाणाः समाजग्मुरालोक्य मधुसूदनम् ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् सभी दशार्हवंशी यादव तथा कुकुर और अन्धकवंशके सब लोग भगवान् मधुसूदनका दर्शन करके बड़े प्रसन्न हुए और सभी उनकी अगवानीके लिये आ गये ॥ १३ ॥

वासुदेवं पुरस्कृत्य शङ्खतूर्यरवैः सह।
उग्रसेनो ययौ राजा वसुदेवनिवेशनम् ॥ १४ ॥

राजा उग्रसेन भगवान् वासुदेवको आगे करके शङ्ख और तूर्य आदि वाद्योंकी ध्वनिके साथ वसुदेवके महलतक उन्हें पहुँचानेके लिये गये ॥ १४ ॥

आनन्दिनी पर्यचरत् स्वेषु वेश्मसु देवकी।
रोहिणी च यशोदा च आहुकस्य च याः स्त्रियः ॥ १५ ॥

वहाँ आनन्दमें डूबी हुई देवकी, रोहिणी, यशोदा तथा उग्रसेनकी रानियोंने अपने-अपने भवनोंमें भगवान् श्रीकृष्ण-का विशेष सत्कार किया ॥ १५ ॥

ततः कृष्णः सुपर्णेन स्वं निवेशनमभ्यगात्।
चचार च यथोद्देशमीश्वरानुचरो हरिः ॥ १६ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण गरुड़के द्वारा अपने महलमें गये। इन्द्र आदि ऐश्वर्यशाली देवता जिनके अनुचर हैं, वे श्रीहरि अपने अभीष्ट स्थानपर जा पहुँचे ॥ १६ ॥

अवतीर्य गृहद्वारि कृष्णस्तु यदुनन्दनः।
यथार्हं पूजयामास यादवान् यादवर्षभः ॥ १७ ॥

घरके मुख्य द्वारपर उतरकर यादवशिरोमणि यदुनन्दन श्रीकृष्णने उन यादवोंका यथायोग्य सत्कार किया ॥ १७ ॥

रामाहुकगदाक्रूरप्रद्युम्नादिभिरर्चितः।
प्रविवेश गृहं शौरिरादाय मणिपर्वतम् ॥ १८ ॥
तं च शक्रस्य दयितं पारिजातं महाद्रुमम्।
प्रवेशयामास गृहं प्रद्युम्नो रुक्मिणीसुतः ॥ १९ ॥

बलराम, उग्रसेन, गद, अक्रूर और प्रद्युम्न आदिसे सम्मानित हो श्रीकृष्णने अपने गृहमें प्रवेश किया। उस समय रुक्मिणी-नन्दन प्रद्युम्नने मणिपर्वत तथा इन्द्रके प्रिय महान् वृक्ष पारिजातको लेकर भगवान्‌के महलमें पहुँचा दिया ॥ १८-१९ ॥

तेऽन्योन्यं ददृशुर्वीरा देहबन्धानमानुषान्।
पारिजातप्रभावेण ततो मुमुदिरे जनाः ॥ २० ॥

द्वारकावासी वीरोंने वहाँ पारिजात वृक्षके प्रभावसे एक दूसरेके देह-सम्बन्धको अमानुष (दिव्य) देखा, इससे उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ॥ २० ॥

तैः स्तूयमानो गोविन्दः प्रहृष्टैर्यादवर्षभैः।
प्रविवेश गृहं श्रीमान् विहितं विश्वकर्मणा ॥ २१ ॥

हर्षमें भरे हुए वे यादवशिरोमणि वीर उन भगवान् गोविन्दकी स्तुति करने लगे। उनकी स्तुति सुनते हुए वे श्रीमान् भगवान् विश्वकर्माके बनाये हुए उस गृहमें प्रविष्ट हुए ॥ २१ ॥

ततोऽन्तःपुरमध्ये तं सश्रृङ्गमणिपर्वतम्।
न्यवेशयदमेयात्मा वृष्णिभिः सहितोऽच्युतः ॥ २२ ॥
तं च दिव्यं द्रुमश्रेष्ठं पारिजातममित्रजित्।
अर्च्यमर्चितमभ्यग्रमिष्टे देशे न्यवेशयत् ॥ २३ ॥

तदनन्तर अमेय आत्मबलसे सम्पन्न शत्रुविजयी भगवान् अच्युतने वृष्णिवंशियोंको साथ लेकर शिखरसहित मणिपर्वत-को अन्तःपुरमें रक्खा तथा उस दिव्य, पूज्य एवं पूजित वृक्ष-प्रवर पारिजातको भी शान्तभावसे अभीष्ट स्थानमें स्थापित कर दिया ॥ २२-२३ ॥

अनुज्ञाप्य ततो ज्ञातीन् केशवः परवीरहा।
ताः स्त्रियः पूजयामास संहृता नरकेण याः ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले केशवने समस्त भाई-बन्धुओंकी आज्ञा ले उन सब स्त्रियोंका समादर किया, जो नरकासुरद्वारा हरकर लायी गयी थीं ॥ २४ ॥

वस्त्रैराभरणैर्दिव्यैर्दासीभिर्धनसंचयैः।
हारैश्चन्द्रांशुसंकाशैर्मणिभिश्च महाप्रभैः ॥ २५ ॥

दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण, दासीगण, धनकी राशि, चन्द्रकिरणोंके समान श्वेत हीरकहार तथा महान् प्रभा-पुञ्जसे प्रकाशित मणियोंद्वारा श्रीहरिने उनका सत्कार किया ॥ २५ ॥

पूर्वमभ्यर्चिताश्चैव वसुदेवेन ताः स्त्रियः।
देवक्या सह रोहिण्यां रेवत्या चाहुकेन च ॥ २६ ॥

उनसे भी पहले वसुदेवजी, देवकी, रोहिणी, रेवती तथा उग्रसेनने भी उन सबका समादर किया था ॥ २६ ॥

सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां सौभाग्येनाभवत् तदा।
कुटुम्बस्येश्वरी त्वासीद् रुक्मिणी भीष्मकात्मजा॥२७॥

उस समय सौभाग्यकी दृष्टिसे सत्यभामा सभी स्त्रियोंमें श्रेष्ठ मानी गयी; परंतु कुटुम्बकी स्वामिनी तो भीष्मक-नन्दिनी महारानी रुक्मिणी ही थीं ॥ २७ ॥

तासां यथार्हहर्म्याणि प्रासादशिखराणि च।
आदिदेश गृहान् कृष्णः परिबर्हांश्च पुष्कलान् ॥ २८ ॥

श्रीकृष्णने उन सब रानियोंको यथायोग्य महल, अटारी, प्रासादशिखर, गृह तथा बहुत-से उपहार अर्पित किये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि द्वारकाप्रवेशनं नाम नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें द्वारकाप्रवेशविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

शततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका समस्त यादवोंसे मिलकर उन्हें सम्मानित करनेके लिये सभामें बुलाना

वैशम्पायन उवाच

ततः सम्पूज्य गरुडं वासुदेवोऽनुमान्य च।
सखिवच्चोपगृह्यैनमनुजज्ञे गृहं प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भगवान् वासुदेवने गरुड़की पूजा और समादर करके उन्हें एक मित्रकी भाँति अपनाकर घर लौटनेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

सोऽनुज्ञातो हि सत्कृत्य प्रणम्य च जनार्दनम्।
ऊर्ध्वमाचक्रमे पक्षी यथेष्टं गगनेचरः ॥ २ ॥

आकाशचारी पक्षी गरुड़ सत्कारपूर्वक जानेकी आज्ञा पाकर भगवान् जनार्दनको प्रणाम करके अपनी इच्छाके अनुसार ऊपरको उड़े ॥ २ ॥

स पक्षवातसंक्षुब्धं समुद्रं मकरालयम्।
कृत्वा वेगेन महता ययौ पूर्वमहोदधिम् ॥ ३ ॥

वे अपने पंखोंकी हवासे मकरालय समुद्रको विक्षुब्ध करके बड़े वेगसे पूर्ववर्ती महासागरकी ओर चले ॥ ३ ॥

कृत्यकाले उपस्थास्य इत्युक्त्वा गरुडे गते।
कृष्णो ददर्श पितरं वृद्धमानकदुन्दुभिम् ॥ ४ ॥

'आवश्यकताके समय मैं पुनः उपस्थित हो जाऊँगा' ऐसा कहकर जब गरुड़ चले गये, तब श्रीकृष्णने अपने बूढ़े पिता आनकदुन्दुभि (वसुदेव) का दर्शन किया ॥ ४ ॥

उग्रसेनं च राजानं बलदेवं च सात्यकिम्।
काश्यं सान्दीपनिं चैव ब्रह्मगार्ग्यं तथैव च ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् वे राजा उग्रसेन, भाई बलदेव, सात्यकि, काश्यदेशमें उत्पन्न हुए गुरु सान्दीपनि तथा ब्रह्मगार्ग्यसे भी मिले ॥ ५ ॥

अन्यांश्च वृद्धान् वृष्णीनां तांश्च भोजान्धकांस्तथा।
रत्नप्रवेकैर्दाशार्हान् वीर्यलब्धैस्तथार्चयत् ॥ ६ ॥

फिर दूसरे-दूसरे बड़े-बूढ़े वृष्णिवंशियों,भोजों और अन्धकोंसे भी उन्होंने भेंट की। तत्पश्चात् अपने पराक्रमद्वारा प्राप्त हुए रत्नसमूहोंसे उन्होंने समस्त यादवोंका सत्कार किया ॥ ६ ॥

हता ब्रह्मद्विषः सर्वे जयन्त्यन्धकवृष्णयः।
रणात् प्रतिनिवृत्तोऽयमक्षतो मधुसूदनः ॥ ७ ॥

समस्त ब्रह्मद्रोही असुर मारे गये। अन्धक और वृष्णिवंशके वीरोंकी विजय हुई तथा ये भगवान् मधुसूदन युद्धसे सकुशल लौट आये, इनके शरीरपर कहीं कोई चोट नहीं आयी है ॥ ७ ॥

इति चत्वररथ्यासु द्वारवत्यां सुपूजितः।
चाक्रिको घोषयामास पुरुषो मृष्टकुण्डलः ॥ ८ ॥

इस प्रकार विशुद्ध सोनेके कुण्डलोंसे अलंकृत तथा राजाज्ञा घोषित करनेवाला चाक्रिक पुरुष भलीभाँति सम्मानित हो द्वारकाके चौराहों और सड़कोंपर राजघोषणा सुनाने लगा ॥

ततः सान्दीपनिं पूर्वमभिगम्य जनार्दनः।
ववन्दे वृष्णिनृपतिमाहुकं विनयान्वितः ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् विनयशील जनार्दनने पहले गुरु सान्दीपनिके पास जा उनके चरण छूकर फिर वृष्णिवंशी नरेश राजा उग्रसेनको प्रणाम किया ॥ ९ ॥

तथाश्रुपरिपूर्णाक्षमानन्दागतचेतसम्।
ववन्दे सह रामेण पितरं वासवानुजः ॥ १० ॥

इसके बाद इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णने बलरामजीके साथ जाकर पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। उस समय पिता वसुदेवके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू भर आये और उनका हृदय आनन्दके समुद्रमें निमग्न हो गया ॥ १० ॥

उपगम्य तथा शेषान् सत्कृत्य च यथार्हतः।
सर्वेषां नाम जग्राह दाशार्हाणामधोक्षजः ॥ ११ ॥

फिर शेष यादवोंके पास जाकर उनका यथायोग्य सत्कार करके भगवान् श्रीकृष्णने सभी दशार्हवंशियोंके नाम लेकर उन्हें बुलाया ॥ ११ ॥

ततः सर्वाणि दिव्यानि सर्वरत्नमयानि च।
आसनाग्र्याणि विविशुरुपेन्द्रप्रमुखास्तदा ॥ १२ ॥

तब श्रीकृष्ण आदि सब यादव उस समय उन सभी सर्वरत्नमय दिव्य एवं श्रेष्ठ आसनोंपर बैठे ॥ १२ ॥

ततस्तद्धनमक्षय्यं किङ्करैर्यत्समाहृतम्।
तत्सभामानयामासुः पुरुषाः कृष्णशासनात् ॥ १३ ॥

तदनन्तर किङ्कर नामक राक्षस जिसे ले आये थे, उस अक्षय धनको श्रीकृष्णकी आज्ञासे सेवकगण सभामें ले आये ॥

ततः सम्मानयामास दाशार्हांश्च यदूत्तमः।
सर्वान् दुन्दुभिशब्देन पूजयिष्यञ्जनार्दनः ॥ १४ ॥

इसके बाद यदुकुलतिलक जनार्दनने समस्त दाशार्हांका दुन्दुभिनादके द्वारा पूजन करते हुए उन सबका सम्मान किया ॥ १४ ॥

तामासनवतीं रम्यां मणिविद्रुमतोरणाम्।
सभां सर्वदशार्हास्ते विविशुः कृष्णशासनात् ॥ १५ ॥

श्रीकृष्णकी आज्ञासे वे समस्त यादव उस रमणीय सभामें प्रविष्ट हुए, जिसमें सदस्योंके बैठनेके लिये आसन सजाये गये

थे तथा जिसके बाहरी दरवाजे मणि और मूँगोंके बने हुए थे ॥ १५ ॥

ततः पुरुषसिंहैर्यो यदुभिः सर्वतो वृता।
सर्वार्थगुणसम्पन्ना सा सभा भरतर्षभ।
शुशुभेऽभ्यधिकं शुभ्रा सिंहैर्गिरिगुहा यथा ॥ १६ ॥

भरतभूषण ! वह शुभ सभा सब ओरसे पुरुषसिंह यादवोंद्वारा भरी हुई एवं सभी पदार्थों और गुणोंसे सम्पन्न थी। जैसे सिंहोंसे पर्वतकी गुफा सुशोभित होती है, उसी प्रकार उन यादवोंसे उस सभाकी अधिकाधिक शोभा हो रही थी ॥ १६ ॥

रामेण सह गोविन्दः काञ्चनं महदासनम्।
उग्रसेनं पुरस्कृत्य भोजवृष्णिपुरस्कृतः ॥ १७ ॥

राजा उग्रसेन तथा भोज और वृष्णिवंशके श्रेष्ठ पुरुषोंको अपने आगे रखकर बलरामसहित भगवान् श्रीकृष्ण सुवर्णके बने हुए विशाल सिंहासनपर आसीन थे ॥ १७ ॥

तत्रोपविष्टांस्तान् वीरान् यथाप्रीति यथावयः।
समाभाष्य यदुश्रेष्ठानुवाच पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

वहाँ बैठे हुए उन यदुश्रेष्ठ वीरोंको उनकी अवस्था और प्रीतिके अनुसार सम्बोधित करके पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण उनसे इस प्रकार बोले ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि सभाप्रवेशनं नाम शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें सभाप्रवेशविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०० ॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा यादवोंका सत्कार तथा नारदजीका यादवोंकी सभामें श्रीकृष्णके प्रभावका वर्णन करना

श्रीकृष्ण उवाच

भवतां पुण्यकीर्तीनां तपोबलसमाधिभिः।
अपध्यानाच्च पापात्मा भौमः स नरको हतः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णने कहा—यादवो ! आप सब लोग पवित्र कीर्तिवाले हैं, आपकी तपस्या, बल और एकाग्रतासे तथा आपके द्वारा किये गये अनिष्टचिन्तनसे भूमिपुत्र पापात्मा नरकासुर मारा गया ॥ १ ॥

मोक्षितं बन्धनाद् गुप्तं कन्यान्तःपुरमुत्तमम्।
मणिपर्वतमुत्पाट्य शिखरं चैतदाहृतम् ॥ २ ॥

उसके यहाँ जो सुरक्षित कन्याओंका उत्तम अन्तःपुर था, उसे मैंने बन्धनसे मुक्त किया तथा मणिपर्वतके इस शिखरको उखाड़कर भी मैं यहाँ साथ लेता आया हूँ ॥२॥

अयं धनौघः सुमहान् किङ्करैराहृतो मम।
ईशा भवन्तो द्रव्यस्य तानुक्त्वा विरराम ह ॥ ३ ॥

किङ्कर नामक राक्षसोंने जिसे मेरे यहाँ पहुँचाया है, वही यह महान् धनराशि आपलोगोंके समक्ष है। आप सभी इस धनके स्वामी हैं। उनसे ऐसा कहकर भगवान् चुप हो गये ॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य भोजवृष्ण्यन्धका वचः।
जहृषुर्हृष्टरोमाणः पूजयन्तो जनार्दनम् ॥ ४ ॥
ऊचुश्चैनं नृवीरास्ते कृताञ्जलिपुटास्ततः।

भगवान् वासुदेवका यह वचन सुनकर भोज, वृष्णि और अन्धक-वंशके लोग हर्षमें भर गये। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वे नरवीर भगवान् श्रीकृष्णकी प्रशंसा करते हुए उनसे हाथ जोड़कर बोले—॥ ४½ ॥

नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दने ॥ ५ ॥
यत्कृत्वा दुष्करं कर्म देवैरपि दुरासदम्।
लालयेः स्वजनान् भोगै रत्नैश्च स्वयमर्जितैः ॥ ६ ॥

'महाबाहो ! आप देवकीनन्दनमें ऐसी उदारताका होना आश्चर्यकी बात नहीं है, जो देवताओंके लिये भी दुर्लभ है ऐसा दुष्कर कर्म करके आप अपने ही द्वारा उपार्जित रत्नों और भोगोंसे हम स्वजनोंका लालन करते हैं' ॥ ५-६ ॥

ततः सर्वदशार्हाणामाहुकस्य च याः स्त्रियः।
प्रीयमाणाः समाजग्मुर्वासुदेवदिदृक्षया ॥ ७ ॥

तदनन्तर सब दशार्हकुलकी स्त्रियाँ तथा राजा उग्रसेनकी रानियाँ बड़ी प्रसन्नताके साथ भगवान् वासुदेवको देखनेके लिये आयीं ॥ ७ ॥

देवकीसप्तमा देव्यो रोहिणी च शुभानना।
ददृशुः कृष्णमासीनं रामं चैव महाभुजम् ॥ ८ ॥

वसुदेवकी सहदेवा[1] आदि सात देवियाँ, जिनमें सातवीं देवकी थीं और सुन्दर मुखवाली रोहिणी देवी इन सबने वहाँ सिंहासनपर बैठे हुए श्रीकृष्ण तथा महाबाहु बलरामका दर्शन किया ॥ ८ ॥

तौ तु पूर्वमतिक्रम्य रोहिणीमभिवाद्य च।
अभिवादयतां देवीं देवकीं रामकेशवौ ॥ ९ ॥

बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भाइयोंने पहले औरोंको छोड़कर रोहिणीको प्रणाम करनेके अनन्तर देवी देवकीका अभिवादन किया ॥ ९ ॥

---

१. सहदेवा, शान्तिदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, वृकदेवी, उपदेवी और देवकी—ये सात देवककी पुत्रियाँ थीं, जो क्रमशः वसुदेवको ही विवाही गयी थीं।

सा ताभ्यामृषभाक्षाभ्यां पुत्राभ्यां शुशुभेऽम्बिका।
अदितिर्देवमातेव मित्रेण वरुणेन च ॥ १० ॥

माता देवकी वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले उन दोनों पुत्रोंके साथ उसी प्रकार शोभा पाने लगीं, जैसे मित्र और वरुणके साथ देवमाता अदिति सुशोभित होती हैं ॥ १० ॥

ततः प्राप्ता नराग्र्यौ तु तस्याः सा दुहिता तदा।
एकानंशेति यामाहुर्नरा वै कामरूपिणीम् ॥ ११ ॥

उसी समय उन दोनों श्रेष्ठ पुरुषोंके पास यशोदाजीकी वह पुत्री आ पहुँची, जिसे लोग इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली एकानंशा कहते हैं ॥ ११ ॥

तथा क्षणमुहूर्ताभ्यां यथा जज्ञे सुरेश्वरः।
यत्कृते सगणं कंसं जघान पुरुषोत्तमः ॥ १२ ॥

जिसके दिये हुए संकेत और मुहूर्तके अनुसार देवेश्वर श्रीहरिका प्रादुर्भाव हुआ था और जिसके ही कारण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने सेवकोंसहित कंसका वध कर डाला था ॥

सा कन्या ववृधे तत्र वृष्णिसद्मनि पूजिता।
पुत्रवत् पाल्यमाना वै वासुदेवाज्ञया तदा ॥ १३ ॥

वह कन्या वृष्णिवंशियोंके घरमें बड़े आदर-सत्कारके साथ पल रही थी। भगवान् वासुदेवकी आज्ञासे उस समय उसका पुत्रकी भाँति पालन किया जाता था ॥ १३ ॥

एकानंशेति यामाहुरुत्पन्नां मानवा भुवि।
योगकन्यां दुराधर्षां रक्षार्थं केशवस्य ह ॥ १४ ॥

श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये भूतलपर उत्पन्न हुई उस दुर्धर्ष योगकन्याको मनुष्य एकानंशा कहते हैं ॥ १४ ॥

यां वै सर्वे सुमनसः पूजयन्ति स्म यादवाः।
देववद् दिव्यपुरुषः कृष्णः संरक्षितो यया ॥ १५ ॥

समस्त यादव प्रसन्न चित्तसे उस देवीकी पूजा करते हैं, जिसने देवतुल्य दिव्य पुरुष श्रीकृष्णकी रक्षा की थी ॥१५॥

तां च तत्रोपसंगम्य प्रियामिव सखीं स्वसाम्।
दक्षिणेन कराग्रेण परिजग्राह माधवः ॥ १६ ॥

वहाँ अपनी प्रिय सखीकी भाँति उस बहिनसे मिलकर श्रीकृष्णने दाहिने हाथसे उसका हाथ अपने हाथमें ले लिया ॥

तथैव रामोऽतिबलः सम्परिष्वज्य भाविनीम्।
मूर्ध्न्युपाघ्राय सव्येन प्रतिजग्राह पाणिना ॥ १७ ॥

उसी प्रकार अत्यन्त बलशाली बलरामजीने उस भामिनी बहिनको हृदयसे लगाकर उसका मस्तक सूँघा और बायें हाथसे उसका हाथ पकड़ लिया ॥ १७ ॥

ददृशुस्ताः स्त्रियो मध्ये भगिनीं रामकृष्णयोः।
रुक्मपद्मव्यग्रकरां श्रियं पद्मालयामिव ॥ १८ ॥

बलराम और श्रीकृष्णके बीचमें खड़ी हुई उनकी उस बहिनको सभी स्त्रियोंने देखा। वह सुवर्णमय कमल हाथमें लिये हुए कमलालया लक्ष्मीकी भाँति सुशोभित होती थी ॥

तथाक्षतमहावृष्ट्या पुष्पैश्च विविधैः शुभैः।
अवकीर्य च लाजैस्ताः स्त्रियो जग्मुर्यथालयम् ॥ १९ ॥

वे स्त्रियाँ अक्षतोंकी बड़ी भारी वर्षा करके नाना प्रकारके माङ्गलिक पुष्प और खील बिखेर कर अपने अपने घरको चली गयीं ॥ १९ ॥

ततस्ते यादवाः सर्वे पूजयन्तो जनार्दनम्।
उपोपविविशुः प्रीताः प्रशंसन्तोऽद्भुतं कृतम् ॥ २० ॥

तदनन्तर वे समस्त यादव श्रीकृष्णकी पूजा तथा उनके अद्भुत कर्मकी प्रशंसा करते हुए प्रसन्नतापूर्वक उनके पास बैठ गये ॥ २० ॥

पूज्यमानो महाबाहुः पौराणां रतिवर्धनः।
विरराज महाकीर्तिर्देवैरिव स तैः सह ॥ २१ ॥

महान् कीर्तिशाली महाबाहु श्रीकृष्ण पुरवासियोंका प्रेम बढ़ाते हुए उनसे पूजित हो देवताओंके साथ इन्द्रकी भाँति उन सबके साथ विशेष शोभा पाने लगे ॥ २१ ॥

समासीनेषु सर्वेषु यादवेषु जनार्दनम्।
नियोगात् त्रिदशेन्द्रस्य नारदोऽभ्यागमत् सभाम्॥२२॥

जब समस्त यादव बैठ गये, उस समय इन्द्रकी आज्ञासे देवर्षि नारदजी उस सभामें श्रीकृष्णके पास आये ॥ २२ ॥

सोऽथ सम्पूजितः पूज्यः शूरैस्तैर्यदुपुङ्गवैः।
करं संस्पृश्य स हरेर्विवेश परमासने ॥ २३ ॥

पूज्य देवर्षि नारद उन यादवशिरोमणि शूरवीरोंसे भलीभाँति पूजित हो भगवान् श्रीकृष्णका हाथ पकड़कर उत्तम आसनपर विराजमान हुए ॥ २३ ॥

सुखोपविष्टस्तान् वृष्णीनुपविष्टानुवाच ह।
सम्प्राप्तं शक्रवचनाज्जानीध्वं मां नरर्षभाः ॥ २४ ॥

स्वयं सुखपूर्वक बैठ जानेपर वहाँ बैठे हुए उन वृष्णिवंशियोंसे वे इस प्रकार बोले—'नरश्रेष्ठ यादवो! तुम यह समझ लो, मैं इन्द्रकी आज्ञासे यहाँ आया हूँ ॥ २४ ॥

शृणुध्वं राजशार्दूलाः कृष्णस्यास्य पराक्रमम्।
यानि कर्माणि कृतवान् बाल्यात्प्रभृति केशवः ॥२५॥

'राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी वीरो! श्रीकृष्णने बचपनसे लेकर अबतक जो-जो कर्म किये हैं, उनके उस पराक्रमका वर्णन सुनो ॥ २५ ॥

उग्रसेनसुतः कंसः सर्वान् निर्मथ्य यादवान्।
राज्यं जग्राह दुर्बुद्धिर्बद्ध्वा पितरमाहुकम् ॥ २६ ॥

'उग्रसेनके दुर्बुद्धि पुत्र कंसने अपने पिताको कैद करके

समस्त यादवोंको रौंदकर मथुराका राज्य अपने अधिकारमें कर लिया था ॥ २६ ॥

समाश्रित्य जरासंधं श्वशुरं कुलपांसनः ।
भोजवृष्ण्यन्धकान् सर्वानवमन्यत दुर्मतिः ॥ २७ ॥

'खोटी बुद्धिवाला वह कुलाङ्गार अपने श्वशुर जरासंधका आश्रय ले भोज, वृष्णि और अन्धक वंशके सब लोगोंका अपमान करता था ॥ २७ ॥

ज्ञातिकार्यं चिकीर्षुस्तु वसुदेवः प्रतापवान् ।
उग्रसेनस्य रक्षार्थं स्वपुत्रं पर्यरक्षत ॥ २८ ॥

'उस समय भाई-बन्धुओंका कार्य सिद्ध करनेकी इच्छासे और उग्रसेनकी रक्षा करनेके लिये प्रतापी वसुदेवने अपने पुत्र श्रीकृष्णकी कंससे रक्षा की ॥ २८ ॥

स गोपैः सह धर्मात्मा मथुरोपवने स्थितः ।
अत्यद्भुतानि कर्माणि कृतवान् मधुसूदनः ॥ २९ ॥

'वसुदेवका वह पुत्र यह धर्मात्मा मधुसूदन ही हैं, जो मथुराके निकटवर्ती वनमे गोपोंके साथ रहे हैं और वहाँ इन्होंने बड़े अद्भुत कर्म किये हैं ॥ २९ ॥

प्रत्यक्षं शूरसेनानां श्रूयते महदद्भुतम् ।
उत्तानेन शयानेन शकटान्तरचारिणा ॥ ३० ॥
राक्षसी निहता रौद्रा शकुनीवेषधारिणी ।
पूतना नाम घोरा सा महाकाया महाबला ॥ ३१ ॥

'वहाँ इनके विषयमें एक बड़ी अद्भुत बात सुनी जाती है, जिसे शूरसेनवासियोंने प्रत्यक्ष देखा है । ये बाल्यावस्थामें छकड़ेके नीचे एक खाटपर उतान सोये थे । उस समय वहाँ पक्षीका वेश धारण करके रहनेवाली एक महाबलशालिनी विशालकाया घोर एवं भयानक राक्षसी पूतना इनके द्वारा मारी गयी ॥ ३०-३१ ॥

विषदिग्धं स्तनं रौद्रं प्रयच्छन्ती जनार्दने ।
ददृशुर्निहतां तां ते राक्षसीं वनगोचराः ॥ ३२ ॥

'वह जनार्दन श्रीकृष्णको अपना विषसे लिप्त भयानक स्तन पिलाना चाहती थी । वहाँ इनके द्वारा मारी गयी उस राक्षसीको वनवासी गोपोंने प्रत्यक्ष देखा था ॥ ३२ ॥

पुनर्जातोऽयमित्याहुरुक्तस्तस्मादधोक्षजः ।
अत्यद्भुतमिदं चासीद् यच्छिशुः पुरुषोत्तमः ॥ ३३ ॥
पादाङ्गुष्ठेन शकटं क्रीडमानो व्यलोडयत् ।

'उस समय वे कहने लगे, इस बालकका पुनर्जन्म हुआ है—इसने अक्ष (गाड़ी) के अधः (नीचे) फिर जन्म पाया है । उनके ऐसा कहनेसे ये बालकृष्ण अधोक्षज नामसे प्रसिद्ध हुए । यह भी बड़ी अद्भुत बात हुई कि शैशवावस्थामे खेलते हुए इन पुरुषोत्तमने पैरके अँगूठेसे धक्का देकर छकड़ेको उलट दिया ॥ ३३½ ॥

दाम्ना चोलूखले बद्धो विप्रकुर्वन् कुमारकम् ॥ ३४ ॥
बभञ्जार्जुनवृक्षौ द्वौ ख्यातो दामोदरस्तदा ।

'कुमारावस्थाकी लीला करते हुए इन्हें एक दिन मैयाने रस्सीसे ओखलीमें बाँध दिया । उसी अवस्थामें उस ओखलीको घसीटते हुए इन्होंने दो अर्जुन वृक्षोंको तोड़ डाला, उस समय दाम (रस्सी) से उदरमे बँधनेके कारण यह दामोदर नामसे विख्यात हुए ॥ ३४½ ॥

कालियश्च महानागो दुराधर्षो महाबलः ॥ ३५ ॥
क्रीडता वासुदेवेन निर्जितो यमुनाह्रदे ।

'यमुनाजीके कुण्डमें निवास करनेवाले दुर्धर्ष एवं महाबली महानाग कालियको इन भगवान् वासुदेवने खेल-खेलमें ही पराजित कर दिया ॥ ३५½ ॥

अक्रूरस्य समक्षं च यन्नागभवने विभुः ॥ ३६ ॥
पूज्यमानं तदा नागैर्दिव्यं वपुरधारयत् ।

'इन भगवान् श्रीहरिने उस दिन अक्रूरकी आँखोंके सामने नागभवनमें नागोंद्वारा पूजित होनेवाले अपने दिव्य रूपको धारण किया था ॥ ३६½ ॥

शीतवातार्दिता गाश्च दृष्ट्वा कृष्णेन धीमता ॥ ३७ ॥
धृतो गोवर्धनः शैलः सप्तरात्रं महात्मना ।
शिशुना वासुदेवेन गवां त्राणार्थमिच्छताम् ॥ ३८ ॥

'बुद्धिमान् वसुदेवपुत्र महात्मा श्रीकृष्ण सरदी और हवासे गौओंको कष्ट पाते देख अपनी रक्षा चाहनेवाली उन गौओंके प्राण बचानेके लिये बाल्यावस्थामें ही लगातार सात रातोंतक गोवर्धन पर्वतको हाथपर उठाये रहे ॥ ३७-३८ ॥

तथोक्षदुष्टोऽतिबलो महाकायो नरान्तकृत् ।
गोपतिर्वासुदेवेन हतोऽरिष्टो महासुरः ॥ ३९ ॥

'उसी प्रकार मनुष्योंका अन्त करनेवाला एक अत्यन्त बलशाली, महाकाय, महान् असुर अरिष्ट, जो साँड़के रूपमें रहता था और साँड़ोंमे सबसे अधिक दुष्ट था, भगवान् वासुदेवके हाथसे मारा गया ॥ ३९ ॥

धेनुकः स महाकायो दानवः सुमहाबलः ।
निहतो वासुदेवेन गवां त्राणाय दुर्मतिः ॥ ४० ॥

'वह महाबली और विशालकाय दानव दुर्बुद्धि धेनुक भी गौओंकी रक्षाके लिये ही वसुदेवनन्दन बलरामके हाथसे मारा गया ॥ ४० ॥

सुनामानममित्रघ्नः सर्वसैन्यपुरस्कृतम् ।
वृकैर्विद्रावयामास ग्रहीतुं समुपस्थितम् ॥ ४१ ॥

'शत्रुओंका नाश करनेवाले श्रीकृष्णने समस्त सेनाओंके साथ आये हुए सुनामाको, जो इन्हें कैद करनेके लिये उपस्थित हुआ था, भेड़ियोंद्वारा मार भगाया ॥ ४१ ॥

रौहिणेयेन संगम्य वने विचरता पुनः ।
गोपवेषधरेणैव कंसस्य भयमाहितम् ॥ ४२ ॥

'एक समय रोहिणीनन्दन बलरामजीके साथ मिलकर वनमें विचरते हुए गोपवेशधारी श्रीकृष्णने पुनः एक महाबली दैत्यका वध करके कंसको भयभीत कर दिया ॥ ४२ ॥

तथा व्रजगतः शौरिर्दृष्ट्वा युद्धबलं हयम् ।
प्रग्रहं भोजराजस्य जघान पुरुषोत्तमः ॥ ४३ ॥

'व्रजमें रहते हुए वसुदेवनन्दन पुरुषोत्तम श्रीहरिने भोजराज कंसके परिचारक अश्वरूपधारी दैत्यको, जिसका युद्ध ही बल था, अपने सामने उपस्थित देख मार डाला ॥४३॥

प्रलम्बश्च महाकायो रौहिणेयेन धीमता ।
दानवो मुष्टिनैकेन कंसामात्यो निपातितः ॥ ४४ ॥

'बुद्धिमान् रोहिणीनन्दन बलरामने कंसके मन्त्री महाकाय दानव प्रलम्बको एक-ही मुक्केसे मार गिराया ॥४४॥

एतौ हि वसुदेवस्य पुत्रौ सुरसुतोपमौ ।
ववृधाते महावीर्यौ ब्रह्मगार्ग्येण संस्कृतौ ॥ ४५ ॥

'व्रजमें वसुदेवके ये दोनों महापराक्रमी पुत्र जो देवकुमारोंके समान तेजस्वी थे, ब्रह्मगार्ग्यके द्वारा क्षत्रियोचित संस्कारोंसे सम्पन्न हो दिनोंदिन बढ़ते रहे ॥ ४५ ॥

जन्मप्रभृति चाप्येतौ गार्ग्येण परमर्षिणा ।
याथातथ्येन विज्ञाप्य संस्कारं प्रतिपादितौ ॥ ४६ ॥

'महर्षि गार्ग्यने जन्मसे ही लेकर इन दोनोंके सभी संस्कार समय-समयपर स्वयं ही सूचित करके यथार्थरूपसे सम्पन्न किये हैं ॥ ४६ ॥

यदा त्विमौ नरश्रेष्ठौ स्थितौ यौवनसम्मुखे ।
सिंहशावाविवोदीर्णौ मत्तौ हैमवतौ यथा ॥ ४७ ॥

'जब ये नरश्रेष्ठ यौवनके सामने उपस्थित हुए, तब दो उद्धत सिंहशावकों तथा हिमालयके दो मतवाले हाथियोंके समान सुशोभित होने लगे ॥ ४७ ॥

ततो मनांसि गोपीनां हरमाणौ महाबलौ ।
आस्तां गोष्ठवरौ वीरौ देवपुत्रोपमद्युती ॥ ४८ ॥

'फिर तो देवपुत्रोंके समान कान्तिमान् ये दोनों महाबली वीर गोपियोंके चित्त चुराते हुए व्रजके प्रमुख व्यक्ति हो गये ॥ ४८ ॥

एतौ जये वा युद्धे वा क्रीडासु विविधासु च ।
नन्दगोपस्य गोपाला न शेकुः प्रसमीक्षितुम् ॥ ४९ ॥

'विजयमें, युद्धमें अथवा भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाओंमें व्रजके दूसरे-दूसरे ग्वाले नन्दगोपके इन दोनों पुत्रोंकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकते थे (समता करना तो दूरकी बात है) ॥ ४९ ॥

व्यूढोरस्कौ महाबाहू शालस्कन्धाविवोद्गतौ ।
श्रुत्वासौ व्यथितः कंसो मन्त्रिभिः सहितोऽभवत् ५०

'इनकी छाती चौड़ी है, भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं तथा ये साखूके तनेकी भाँति मोटे और ऊँचे कदके हैं; यह सुनकर कंस अपने मन्त्रियोंसहित व्यथित हो उठा था ॥ ५० ॥

नाशकच्च यदा कंसो ग्रहीतुं बलकेशवौ ।
निजग्राह ततः क्रोधाद् वसुदेवं सबान्धवम् ॥ ५१ ॥
सहोग्रसेनेन तदा चोरवद् गाढबन्धनम् ।
कालं महान्तमनयत् कृच्छ्रमानकदुन्दुभिः ॥ ५२ ॥

'जब बलराम और श्रीकृष्णको कंस किसी तरह पकड़ न सका, तब क्रोधमें आकर उसने उग्रसेन और बन्धु-बान्धवोंसहित वसुदेवको कैद कर लिया और चोरकी भाँति उन्हें सुदृढ़ बन्धनमें डाल दिया । उन दिनों वसुदेवजीने दीर्घकालतक बड़े भारी कष्टका सामना किया ॥ ५१-५२ ॥

कंसस्तु पितरं बद्ध्वा शूरसेनाञ्शशास ह ।
जरासंधं समाश्रित्य तथैवाहृतिर्भीष्मकौ ॥ ५३ ॥

'पिताको कैद करके कंस जरासंध, आहृति और भीष्मकका सहारा ले शूरसेन देशका शासन करने लगा ॥५३॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य मथुरायां महोत्सवम् ।
पिनाकिनं समुद्दिश्य चक्रे कंसो नराधिपः ॥ ५४ ॥

'किसी समय मथुरामें राजा कंसने पिनाकधारी भगवान् शङ्करकी प्रसन्नताके लिये एक बड़ा भारी उत्सव किया ॥५४॥

तत्र मल्लाः समाजग्मुर्नानादेश्या विशाम्पते ।
नर्तना गायनाश्चैव कुशला नृत्यकर्मसु ॥ ५५ ॥

'प्रजानाथ उग्रसेन ! उस उत्सवमें अनेक देशोंके मल्ल तथा नृत्यकर्ममें कुशल बहुत-से नर्तक और गायक आये थे ॥५५॥

ततः कंसो महातेजा रङ्गवाटं महाधनम् ।
कुशलैः कारयामास शिल्पिभिः साधुनिष्ठितैः ॥ ५६ ॥

'उस समय महातेजस्वी कंसने शिल्पकर्ममें कुशल अच्छे-अच्छे शिल्पियोंद्वारा एक रङ्गशाला बनवायी, जिसमें बहुत धन खर्च किया गया था ॥ ५६ ॥

तत्र मञ्चसहस्राणि पौरजानपदैर्जनैः ।
समाकीर्णानि दृश्यन्ते ज्योतींषि गगने यथा ॥ ५७ ॥

'वहाँ हजारों मञ्च रखे गये थे, जो नगर और जनपदके लोगोंसे भरे-पूरे दिखायी देते थे । वे आकाशमें फैले हुए नक्षत्रोंके समान दृष्टिगोचर होते थे ॥ ५७ ॥

भोजराजः श्रिया जुष्टं रङ्गवाटं महर्द्धिमत् ।
आरुरोह ततः कंसो विमानं सुकृती यथा ॥ ५८ ॥

'तदनन्तर भोजराज कंस अनुपम शोभासे युक्त बहुमूल्य रङ्गमञ्चपर आरूढ़ हुआ, मानो कोई पुण्यात्मा पुरुष विमानपर चढ़ा हो ॥ ५८ ॥

रङ्गवाटे गजं मत्तं प्रभूतायुधकल्पितम्।
शूरैरधिष्ठितं कंसः स्थापयामास वीर्यवान् ॥ ५९ ॥

'पराक्रमी कंसने रङ्गशालाके द्वारपर शूरवीर महावतोंसे युक्त एक मतवाले हाथीको खड़ा करा रखा था, जो बहु-संख्यक अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित था ॥ ५९ ॥

यदा हि स महातेजा रामकृष्णौ समागतौ।
शुश्राव पुरुषव्याघ्रौ सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ ६० ॥
तदाप्रभृति यत्नोऽभूद् रक्षां प्रति नराधिप।
न च शिश्ये सुखं रात्रौ रामकृष्णौ विचिन्तयन् ॥ ६१ ॥

'नरेश्वर! महातेजस्वी कंसने जब सुना कि सूर्य और चन्द्रमाके समान दोनों भाई पुरुषसिंह बलराम और श्रीकृष्ण मथुरामें आ गये हैं, तबसे वह अपनी रक्षाके लिये विशेष प्रयत्नशील हो गया। बलराम और श्रीकृष्णका ही चिन्तन करता हुआ वह रातमे सुखकी नींद सो न सका ॥ ६०-६१ ॥

श्रुत्वा तु रामः कृष्णश्च तं समाजमनुत्तमम्।
उभौ विविशतुर्वीरौ शार्दूलौ गोव्रजं यथा ॥ ६२ ॥

'बलराम और श्रीकृष्ण दोनों वीर उस परम उत्तम समाज (उत्सव) का समाचार सुनकर उस रङ्गशालामें उसी प्रकार प्रवेश करने लगे, जैसे दो व्याघ्र गौओंके व्रजमें घुस रहे हों ॥ ६२ ॥

ततः प्रवेशे संरुद्धौ रक्षिभिः पुरुषर्षभौ।
हत्वा कुवलयापीडं ससादिनमरिंदमौ।
अवमृद्य दुराधर्षौ रङ्गं विविशतुस्तदा ॥ ६३ ॥

'उसमें प्रवेश करते समय रक्षकोंने उन दोनों पुरुषप्रवर बन्धुओंको रोक दिया, तब उन दोनों दुर्जय शत्रुदमन बन्धुओंने सवारोंसहित कुवलयापीड हाथीको मारकर मिट्टीमें मिला दिया, फिर वे रङ्गशालामें घुस गये ॥ ६३ ॥

चाणूरान्ध्रौ विनिष्पिष्य केशवेन बलेन च।
औग्रसेनिः सुदुष्टात्मा सानुजो विनिपातितः ॥ ६४ ॥

'श्रीकृष्ण और बलरामने चाणूर तथा आन्ध्रका कचूमर निकालकर उग्रसेनके दुष्टात्मा पुत्र कंसको भाइयोंसहित मार गिराया ॥ ६४ ॥

यत् कृतं यदुसिंहेन देवैरपि सुदुष्करम्।
कर्म तत् केशवादन्यः कर्तुमर्हति कः पुमान् ॥ ६५ ॥

'जो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुष्कर है, ऐसा जो-जो कर्म यदुकुलसिंह श्रीकृष्णने किया, उसे इनके सिवा दूसरा कौन पुरुष कर सकता है ॥ ६५ ॥

यद्धि नाधिगतं पूर्वैः प्रह्लादबलिशम्बरैः।
तदिदं प्रापितं वित्तं शौरिणा भवतां कृते ॥ ६६ ॥

'पहलेके प्रह्लाद, बलि और शम्बर आदि नरेशोंने जिसे नहीं पाया था, वही यह अनन्त धन श्रीकृष्णने तुमलोगोंके लिये यहाँ ला दिया है ॥ ६६ ॥

एतेन मुरुमाक्रम्य दैत्यं पञ्चजनं तथा।
निष्क्रम्य शैलसंघातान्निसुन्दः सगणो हतः ॥ ६७ ॥

'इन्होंने मुरु तथा पञ्चजन नामक दैत्यपर आक्रमण करके शैलसमूहोंको पारकर निसुन्द नामक दैत्यको उसके गणोंसहित मार डाला ॥ ६७ ॥

नरकश्च हतो भौमः कुण्डले चाहृते शुभे।
प्राप्तं च दिवि देवेषु केशवेन महद्यशः ॥ ६८ ॥

'भूमिपुत्र नरकको भी मौतके घाट उतार दिया। उसके यहाँ अदितिके जो दोनों सुन्दर कुण्डल थे, उनको वापिस ले लिया। इस प्रकार केशवने देवलोक तथा देवताओंमें महान् यश प्राप्त किया ॥ ६८ ॥

वीतशोकभयाबाधाः कृष्णबाहुबलाश्रयाः।
यजध्वं विविधैर्यज्ञैर्यादवा वीतमत्सराः ॥ ६९ ॥

'यादवो! अब तुमलोग श्रीकृष्णके बाहुबलका आश्रय ले शोक, भय और बाधाओंसे रहित हो ईर्ष्या-द्वेषका त्याग करके नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करो ॥ ६९ ॥

देवानां सुमहत् कार्यं कृतं कृष्णेन धीमता।
प्रियमावेदयास्येष भवतां भद्रमस्तु वः ॥ ७० ॥

'बुद्धिमान् श्रीकृष्णने देवताओंका बहुत बड़ा कार्य सिद्ध किया है। मैं तुमलोगोंको यह प्रिय निवेदन करता हूँ, तुम सब लोगोंका भला हो ॥ ७० ॥

यदिष्टं वो यदुश्रेष्ठाः कर्तास्मि तदतन्द्रितः।
भवतामस्मि यूयं च मम युष्मास्वहं स्थितः ॥ ७१ ॥

'यदुवरो! तुम्हें जो अभीष्ट हो, वह कार्य मैं आलस्य-रहित होकर करूँगा। मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे। मैं तुममें ही स्थित हूँ ॥ ७१ ॥

इति सम्बोधयन् कृष्णमब्रवीत् पाकशासनः।
स मां प्रैषीत् सुरश्रेष्ठः प्रीतस्तुष्टास्तथा वयम् ॥ ७२ ॥

'इस प्रकार तुम सबको श्रीकृष्णकी महिमा समझाते हुए पाकशासन इन्द्रने उपर्युक्त बातें कही हैं। उन्हीं सुरश्रेष्ठने प्रसन्न होकर मुझे यहाँ भेजा है। इससे हम भी संतुष्ट हुए हैं ॥ ७२ ॥

यत्र धीः श्रीः स्थिता तत्र यत्र श्रीस्तत्र संनतिः।
संनतिर्धीस्तथा श्रीश्च नित्यं कृष्णे महात्मनि ॥ ७३ ॥

'जहाँ बुद्धि है, वहाँ श्री विद्यमान है। जहाँ श्री है, वहाँ संनति (विनय) है। महात्मा श्रीकृष्णमें विनय, बुद्धि और श्री—ये तीनों नित्य विद्यमान हैं' ॥ ७३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि नारदवाक्यं नामैकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें नारदजीका वाक्यविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके अद्भुत कर्मोंका वर्णन

नारद उवाच

सादिता मौरवाः पाशा निसुन्दनरकौ हतौ।
कृतः क्षेम्यः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—यादवो ! भगवान् श्रीकृष्णने मुर दैत्यके पाश काट डाले, निसुन्द और नरकासुरको मार डाला तथा प्राग्ज्योतिषपुरका मार्ग सब लोगोंके लिये क्षेममय—निष्कण्टक बना दिया ॥ १ ॥

शौरिणा पृथिवीपालास्त्रासिताः स्पर्द्धिनो रणे।
धनुषश्च निनादेन पाञ्चजन्यस्वनेन च॥ २ ॥

शूरनन्दन श्रीकृष्णने अपने धनुषकी टंकार और पाञ्चजन्य शङ्खके हुंकारसे उन समस्त भूपालोंको आतङ्कित कर दिया, जो युद्धमें उनके साथ स्पर्धा रखते थे ॥ २ ॥

मेघप्रख्यै रथानीकैर्दाक्षिणात्यैः सुरक्षितम्।
रुक्मिणं युधि निर्जित्य महाबलपराक्रमम्।
रुक्मिणीमाजहाराशु केशवो वृष्णिपुङ्गवः॥ ३ ॥
ततः पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा।
उवाह महिषीं भोज्यां शङ्खचक्रगदासिभृत्॥ ४ ॥

मेघोंकी घटाके समान छायी हुई दक्षिणदेशीय रथसेनाओंसे सुरक्षित तथा महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न रुक्मीको युद्धमें पराजित करके इन वृष्णिकुलतिलक केशवने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले एवं सूर्यतुल्य तेजस्वी रथके द्वारा रुक्मिणीको शीघ्र हर लिया। इस प्रकार शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले श्रीकृष्णने भोजकुलनन्दिनी रुक्मिणीके साथ विवाह किया और उन्हें अपनी पटरानी बनाया ॥ ३-४ ॥

जारूथ्यामाहृतिः क्राथः शिशुपालश्च निर्जितः।
वक्रश्च सह सैन्येन शतधन्वाथ निर्जितः॥ ५ ॥

जारूथी नगरीमें आहृति, क्राथ एवं शिशुपालको परास्त किया, सेनासहित दन्तवक्त्र और शतधन्वाको भी हरा दिया ॥ ५ ॥

इन्द्रद्युम्नो हतः कोपाद् यवनश्च कशेरुमान्।
हतः सौभपतिः श्रीमाञ्छाल्वश्च दृढधन्वना॥ ६ ॥

इन्होंने इन्द्रद्युम्न, कालयवन एवं कशेरुमान्‌का भी क्रोधपूर्वक वध किया है तथा हाथमें सुदृढ़ धनुष धारण करके सौभविमानके स्वामी श्रीमान् राजा शाल्वको भी मार डाला है ॥ ६ ॥

पर्वतानां सहस्रं च चक्रेण पुरुषोत्तमः।
विकीर्य पुण्डरीकाक्षो द्युमत्सेनं व्यपोथयत्॥ ७ ॥

इन कमलनयन पुरुषोत्तमने चक्रद्वारा सहस्रों पर्वतोंको टूक-टूक करके बिखेर दिया और द्युमत्सेनको मार गिराया ॥ ७ ॥

महेन्द्रशिखरे चैव निमेषान्तरचारिणौ।
जग्राह पुरुषव्याघ्रो वरुणस्याभितश्चरौ॥ ८ ॥
इरावत्यां महाभोजावग्निसूर्यसमौ युधि।
गोपतिस्तालकेतुश्च निहतौ शार्ङ्गधन्वना॥ ९ ॥

जो युद्धमें अग्नि और सूर्यके समान पराक्रमी थे और वरुण देवताके उभय-पार्श्वमें विचरण करते थे, जिनमें पलक मारते-मारते एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँच जानेकी शक्ति थी, वे गोपति और तालकेतु नामक महाभोज महेन्द्र पर्वतके शिखरपर पुरुषसिंह श्रीकृष्णद्वारा पकड़े गये और उन शार्ङ्गधन्वाके हाथसे इरावती नदीके तटपर मारे गये ॥ ८-९ ॥

अक्षप्रपतने चैव डिम्भो हंसश्च दानवौ।
उभौ तावपि कृष्णेन सानुगौ विनिपातितौ॥ १० ॥

इन्हीं श्रीकृष्णने डिम्भ और हंस नामक दोनों दानवोंको अक्षप्रपतन नामक स्थानमें सेवकोंसहित मार गिराया ॥१०॥

दग्धा वाराणसी चैव केशवेन महात्मना।
सराष्ट्रः सानुबन्धश्च काशीनामधिपो हतः॥ ११ ॥

महात्मा केशवने वाराणसी नगरी जला दी तथा राष्ट्रके लोगों और सगे-सम्बन्धियोंसहित काशिराजको कालके गालमें भेज दिया ॥ ११ ॥

विजित्य च यमं संख्ये शरैः संनतपर्वभिः।
अथैन्द्रसेनिरानीतः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा॥ १२ ॥

इन अद्भुतकर्मा श्रीकृष्णने युद्धमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा यमराजको जीतकर वहाँसे इन्द्रसेनके पुत्रको वापस लौटाया था ॥ १२ ॥

सहितः सर्वयादोभिः सागरेषु महाबलः।
प्राप्य लोहितकूटं च कृष्णेन वरुणो जितः॥ १३ ॥

इन्हीं श्रीकृष्णने समुद्रोंमें तथा लोहित शिखरपर जाकर समस्त जलजन्तुओंसहित महाबली वरुणको भी जीता था ॥ १३ ॥

महेन्द्रभवने जातो देवैर्गुप्तो महात्मभिः।
अचिन्तयित्वा देवेन्द्रं पारिजातद्रुमो हृतः॥ १४ ॥

जो महेन्द्रभवनमें उत्पन्न होकर सदा महामनस्वी देवताओंद्वारा सुरक्षित रखा गया था, उस पारिजात नामक वृक्षको इन श्रीकृष्णने देवराजकी परवा न करके हर लिया ॥ १४ ॥

पाण्ड्यं पौण्ड्रं कलिङ्गं च मात्स्यं चैव जनार्दनः।
जघान सहितान् सर्वान् वङ्गराजं तथैव च ॥ १५ ॥

इन जनार्दनने एक साथ आये हुए पाण्ड्य, पौण्ड्र, कलिङ्ग, मत्स्य तथा वङ्ग देशके समस्त राजाओंको युद्धमे मार डाला था ॥ १५ ॥

एष चैकशतं हत्वा रणे राज्ञां महात्मनाम्।
गान्धारीमावहद् वीरो महिषीं प्रियदर्शनाम् ॥१६॥

इन वीर श्रीकृष्णने रणभूमिमे एक सौ महामना नरेशोंका वध करके अपनी परम सुन्दरी पटरानी गान्धारीसे विवाह किया था ॥ १६ ॥

तथा गाण्डीवधन्वानं क्रीडन्तं मधुसूदनः।
जिगाय भरतश्रेष्ठं कुन्त्याः प्रमुखतो विभुः ॥ १७ ॥

गाण्डीव धनुष लेकर युद्धकी क्रीडा करते हुए भरतश्रेष्ठ अर्जुनको इन भगवान् मधुसूदनने कुन्तीके सामने ही जीत लिया (अथवा सहायता देकर उन्हें विजयी बना दिया) ॥ १७ ॥

द्रोणं-द्रौणिं कृपं कर्णं भीष्मं चैव सुयोधनम्।
चक्रानुयानैः प्रह्वणे जिगाय पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

इन पुरुषोत्तमने (अर्जुनद्वारा) रथयुद्धमे द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, भीष्म और दुर्योधनको परास्त कर दिया॥ १८ ॥

बभ्रोश्च प्रियमन्विच्छञ्छङ्खचक्रगदासिभृत्।
सौवीरराजस्य सुतां प्रसह्य हृतवान् प्रभुः ॥ १९ ॥

बभ्रुका प्रिय चाहते हुए शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले भगवान् केशवने सौवीरराजकी पुत्रीको बलपूर्वक हर लिया था ॥ १९ ॥

पर्यस्तां पृथिवीं कृत्स्नां साश्वां सरथकुञ्जराम्।
वैणुदारिकृते यत्नाज्जिगाय पुरुषोत्तमः ॥ २० ॥

इन पुरुषोत्तमने वैणुदारिके लिये घोड़े, रथ और हाथियोंसहित सारी पृथ्वीको, जो अस्त-व्यस्त हो गयी थी, यत्नपूर्वक जीत लिया ॥ २० ॥

अवाप्य तपसो वीर्यं बलमोजश्च माधवः।
पूर्वदेहे जहारायं बलेस्त्रिभुवनं हरिः ॥ २१ ॥

इन भगवान् माधवने पूर्व शरीरमे वामनरूप होकर तपस्याका बल, वीर्य और ओज पाकर राजा बलिसे त्रिलोकीका राज्य छीन लिया था ॥ २१ ॥

वज्राशनिगदाखड्गैस्त्रासयद्भिश्च दानवैः।
यस्य नाधिगतो मृत्युः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥ २२ ॥

वज्र, अशनि, गदा और खड्गके प्रहारसे त्रास देते हुए दानव प्राग्ज्योतिषपुरमें प्रयत्न करनेपर भी इन्हें मार न सके ॥ २२ ॥

अभिभूतश्च कृष्णेन सगणः सुमहाबलः।
बलेः पुत्रो महावीर्यो बाणो द्रविणवत्तरः ॥ २३ ॥

महाबली महापराक्रमी तथा अत्यन्त वैभवशाली बलिपुत्र बाणासुरको भी श्रीकृष्णने पराजित कर दिया था ॥ २३ ॥

पीठं तथा महाबाहुः कंसामात्यं जनार्दनः।
पैठिकं चासिलोमानं निजघान महाबलः ॥ २४ ॥

इन महाबली महाबाहु जनार्दनने कंसके मन्त्री पीठ, पैठिक और असिलोमाको भी मौतके घाट उतार दिया॥२४॥

जम्भमैरावणं चापि विरूपं च महायशाः।
जघान पुरुषव्याघ्रो दैत्यं मानुषरूपिणम् ॥ २५ ॥

महायशस्वी पुरुषसिंह श्रीकृष्णने मानवरूपधारी जृम्भ, अहिरावण और विरूप नामक दैत्यको कालके गालमें भेज दिया ॥ २५ ॥

तथा नागपतिं तोये कालीयं च महौजसम्।
निर्जित्य पुण्डरीकाक्षः प्रेषयामास सागरम् ॥ २६ ॥

इसी तरह कमलनयन केशवने यमुनाजीके जलमें रहनेवाले महाबली नागराज कालियको जीतकर समुद्रमें भेज दिया ॥ २६ ॥

संजीवयामास मृतं पुत्रं सान्दीपनेस्तथा।
निर्जित्य पुरुषव्याघ्रो यमं वैवस्वतं हरिः ॥ २७ ॥

इन्हीं पुरुषसिंह श्रीहरिने वैवस्वत यमको जीतकर सान्दीपनिके मरे हुए पुत्रको पुनः जीवनदान दिया था ॥ २७ ॥

एवमेष महाबाहुः शास्ता तेषां दुरात्मनाम्।
देवांश्च ब्राह्मणांश्चैव ये द्विषन्ति सदा नृप ॥ २८ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार यह महाबाहु श्रीकृष्ण उन दुरात्माओंको दण्ड देनेवाले हैं, जो देवताओं और ब्राह्मणोंसे सदा द्वेष रखते हैं ॥ २८ ॥

निहत्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले।
देवमातुर्ददौ चैव प्रीत्यर्थं वज्रपाणिनः ॥ २९ ॥

इन्होंने वज्रपाणि इन्द्रकी प्रसन्नताके लिये भूमिपुत्र नरकासुरको मारकर देवमाता अदितिको उनके दोनों मणिमय कुण्डल लाकर दे दिये ॥ २९ ॥

एवं सदैव दैत्यानां सुराणां च महायशाः।
भयाभयकरः कृष्णः सर्वलोककरो विभुः ॥ ३० ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा, सर्वव्यापी, महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्ण सदा ही दुराचारी दैत्योंको भय और धर्मात्मा देवताओंको अभय प्रदान करते हैं ॥ ३० ॥

संस्थाप्य धर्मान् मर्त्येषु यज्ञैरिष्ट्वाऽऽप्तदक्षिणैः।
कृत्वा देवार्थममितं स्वस्थानं प्रतिपत्स्यते ॥ ३१ ॥

ये मनुष्योंमें धर्मकी स्थापना करके पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करते हुए देवताओंके असंख्य कार्य सिद्ध करनेके अनन्तर अपने परमधामको पधारेंगे ॥ ३१ ॥

कृष्णो भोगवतीं रम्यामृषिकान्तां महायशाः ।
द्वारकामात्मसात्कृत्वा समुद्रं गमयिष्यति ॥ ३२ ॥

महायशस्वी श्रीकृष्ण भोग-वैभवसे सम्पन्न रमणीय तथा ऋषियोंके लिये कमनीय द्वारकापुरीको अपने अधीन करके अन्ततोगत्वा इसे समुद्रमें डुबो देंगे ॥ ३२ ॥

बहुरत्नसमाकीर्णां चैत्ययूपशताङ्किताम् ।
द्वारकां वरुणावासं प्रवेक्ष्यति सकाननाम् ॥ ३३ ॥

जो बहुसंख्यक रत्नोंसे व्याप्त तथा सैकड़ों चैत्यों और यूपोंसे चिह्नित है, वन-उपवनसहित उस द्वारकापुरीको वरुणालयमें निमग्न कर देंगे ॥ ३३ ॥

तां सूर्यसदनप्रख्यां मतज्ञः शार्ङ्गधन्वनः ।
विसृष्टां वासुदेवेन सागरः प्लावयिष्यति ॥ ३४ ॥

शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णके मतको जाननेवाला समुद्र इन भगवान् वासुदेवके द्वारा छोड़ी हुई सूर्यलोक-तुल्य तेजस्विनी द्वारकाको अपने जलमें विलीन कर लेगा ॥ ३४ ॥

सुरासुरमनुष्येषु नासीन्न भविता क्वचित् ।
य इमामावसेत् कश्चिदन्यो वै मधुसूदनात् ॥ ३५ ॥

देवताओं, असुरों और मनुष्योंमें इन भगवान् मधुसूदनके सिवा दूसरा कोई ऐसा न तो हुआ है और न कभी होगा ही, जो इनके द्वारा छोड़ी गयी इस द्वारकापुरीमें निवास कर सके ॥ ३५ ॥

एवमेष दशार्हाणां विधाय विधिमुत्तमम् ।
विष्णुर्नारायणः सोमः सूर्यश्च भविता स्वयम् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार दशार्हवंशी यादवोंके लिये उत्तम विधिका विधान करके ये सर्वव्यापी नारायण देव स्वयं ही चन्द्रमा और सूर्यरूपसे प्रकाशित होंगे ॥ ३६ ॥

अप्रमेयस्त्वचिन्त्यश्च यथा कामचरो वशी ।
मोदत्येष सदा भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ॥ ३७ ॥

ये अप्रमेय, अचिन्त्य, इच्छानुसार विचरनेवाले और सबको वशमें रखनेवाले हैं । जैसे बालक खिलौनोंसे प्रसन्न होता है, उसी प्रकार ये समस्त प्राणियोंके साथ क्रीडा करते हुए आनन्दमग्न होते हैं ॥ ३७ ॥

न प्रमातुं महाबाहुः शक्योऽयं मधुसूदनः ।
परं ह्यपरमेतस्माद् विश्वरूपान्न विद्यते ॥ ३८ ॥

इन महाबाहु मधुसूदनको सीमित प्रमाणोंद्वारा मापा नहीं जा सकता । यह पर और अपररूप जगत् इन विश्वरूप परमेश्वरसे भिन्न नहीं है ॥ ३८ ॥

श्रुतोऽयमेव शतशस्तथा शतसहस्रशः ।
अन्तो हि कर्मणामस्य दृष्टपूर्वो न केनचित् ॥ ३९ ॥

ये ही सैकड़ों और लाखों बार सुने गये हैं । किसीने पहले कभी इनके कर्मोंका अन्त नहीं देखा है ॥ ३९ ॥

एवमेतानि कर्माणि शिशुमध्यगतस्तदा ।
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः संकर्षणसहायवान् ॥ ४० ॥

इस तरह बालकोंके बीचमें रहकर संकर्षणसहित कमलनयन श्रीकृष्णने ये पूर्वोक्त कर्म किये थे ॥ ४० ॥

इत्युवाच पुरा व्यासस्तपोवीर्येण चक्षुषा ।
महायोगी महाबुद्धिः सर्वप्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ ४१ ॥

पूर्वकल्पके महायोगी, महाबुद्धिमान् और सब कुछ प्रत्यक्ष देखनेवाले व्यासने अपनी तपोबलसे सम्पन्न दृष्टिद्वारा देखकर यह सब कुछ बताया था ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति संस्तूय गोविन्दं महेन्द्रवचनान्मुनिः ।
यदुभिः पूजितः सर्वैर्नारदस्त्रिदिवं ययौ ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार देवराज इन्द्रके आदेशसे भगवान् गोविन्दकी स्तुति करके नारद मुनि समस्त यादवोंसे पूजित हो स्वर्गलोकको चले गये ॥ ४२ ॥

ततस्तद् वसु गोविन्दो दिदेशान्धकवृष्णिषु ।
यथार्हं पुण्डरीकाक्षो विधिवन्मधुसूदनः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर कमलनयन मधुसूदन भगवान् गोविन्दने समस्त अन्धक और वृष्णिवंशके लोगोंको विधिपूर्वक वह सारा धन यथोचितरूपसे बाँट दिया ॥ ४३ ॥

यादवाश्च धनं प्राप्य विधिवद् भूरिदक्षिणैः ।
यज्ञैरिष्ट्वा महात्मानो द्वारकामावसन् पुरीम् ॥ ४४ ॥

उस धनको पाकर महामनस्वी यादव प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान करते हुए द्वारकापुरीमें निवास करने लगे ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि नारदवाक्यं नाम
द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें नारदजीका वाक्यविषयक
एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी संततिका वर्णन तथा वृष्णिवंशका उपसंहार

जनमेजय उवाच

बह्वीनां स्त्रीसहस्राणामष्टौ भार्याः प्रकीर्तिताः।
तासामपत्यान्यष्टानां भगवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! भगवान् श्रीकृष्णकी कई हजार रानियोंमेंसे आठको प्रमुख बताया गया है। उन आठोंकी संतानें कौन-कौन-सी थीं ? यह आप मुझे बताइये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

अष्टौ महिष्यः पुत्रिण्य इति प्राधान्यतः स्मृताः।
सर्वा वीरप्रजाश्चैव तास्वपत्यानि मे शृणु ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! प्रधानतः आठों पटरानियाँ पुत्रवती थीं, ऐसा माना गया है। उनकी सभी संतानें वीर थीं। उन रानियोंके जो-जो संतानें हुईं, मैं बताता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

रुक्मिणी सत्यभामा च देवी नाग्नजिती तथा।
सुदत्ता च तथा शैब्या लक्ष्मणा चारुहासिनी ॥ ३ ॥
मित्रविन्दा च कालिन्दी जाम्बवत्यथ पौरवी।
सुभीमा च तथा माद्री रुक्मिणीतनयाञ्छृणु ॥ ४ ॥

रुक्मिणी, सत्यभामा, देवी नाग्नजिती (सत्या), शिबिदेशकी राजकुमारी सुदत्ता, मनोहर हासवाली लक्ष्मणा, मित्रविन्दा, कालिन्दी, जाम्बवती, पौरवी और मद्रदेशकी राजकुमारी सुभीमा—ये श्रीकृष्णकी मुख्य रानियाँ थीं। इनमेंसे रुक्मिणीके पुत्रोंका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ३-४ ॥

प्रद्युम्नः प्रथमं जज्ञे शम्बरान्तकरः शुभः।
द्वितीयश्चारुदेष्णश्च वृष्णिसिंहो महारथः ॥ ५ ॥

रुक्मिणीके गर्भसे पहले शुभलक्षणसम्पन्न प्रद्युम्नका जन्म हुआ, जिन्होंने आगे चलकर शम्बरासुरका वध किया था। उनके दूसरे पुत्र चारुदेष्ण थे, जो वृष्णिवंशमें सिंहके समान पराक्रमी और महारथी वीर थे ॥ ५ ॥

चारुभद्रश्चारुगर्भः सुदेष्णो द्रुम एव च।
सुषेणश्चारुगुप्तश्च चारुविन्दश्च वीर्यवान् ॥ ६ ॥
चारुबाहुः कनीयांश्च कन्या चारुमती तथा।

तीसरे चारुभद्र, चौथे चारुगर्भ, पाँचवें सुदेष्ण और छठे द्रुम थे, सातवें सुषेण, आठवें चारुगुप्त, नवें पराक्रमी चारुविन्द और दसवें चारुबाहु थे। चारुबाहु सबसे छोटे थे। इनके सिवा रुक्मिणीके एक कन्या भी उत्पन्न हुई थी, जिसका नाम चारुमती था ॥ ६½ ॥

जज्ञिरे सत्यभामायां भानुर्भीमरथः क्षुपः ॥ ७ ॥
रोहितो दीप्तिमांश्चैव ताम्रजाक्षो जलान्तकः।
भानुर्भीमलिका चैव ताम्रपर्णी जलन्धमा ॥ ८ ॥
चतस्रो जज्ञिरे तेषां स्वसारो गरुडध्वजात्।

सत्यभामाके गर्भसे भानु, भीमरथ, क्षुप, रोहित, दीप्तिमान्, ताम्रजाक्ष और जलान्तक—ये आठ पुत्र उत्पन्न हुए। भगवान् गरुड्ध्वजसे इनकी चार बहिनें उत्पन्न हुई थीं, जिनके नाम थे—भानु, भीमलिका, ताम्रपर्णी और जलन्धमा ॥ ७-८½ ॥

जाम्बवत्याः सुतो जज्ञे साम्बः समितिशोभनः ॥ ९ ॥
मित्रवान् मित्रविन्दश्च मित्रवत्यपि चाङ्गना।
मित्रबाहुः सुनीथश्च नाग्नजित्याः प्रजाः शृणु ॥ १० ॥

जाम्बवतीके ज्येष्ठ पुत्र साम्ब उत्पन्न हुए, जो युद्धमें बड़ी शोभा पाते थे। इनके सिवा मित्रवान्, मित्रविन्द, मित्रबाहु और सुनीथ—ये चार पुत्र और थे। जाम्बवतीके मित्रवती नामवाली एक कन्या भी उत्पन्न हुई थी। अब नाग्नजितीकी संतानोंका वर्णन सुनो ॥ ९-१० ॥

भद्रकारो भद्रविन्दः कन्या भद्रवती तथा।
सुदत्तायां तु शैब्यायां संग्रामजिदजायत ॥ ११ ॥
सत्यजित् सेनजिच्चैव तथा शूरः सपत्नजित्।

नाग्नजितीके भद्रकार और भद्रविन्द नामक दो पुत्र हुए थे तथा भद्रवती नामवाली एक कन्या भी उत्पन्न हुई थी। शिबिदेशकी राजकुमारी सुदत्ताके गर्भसे संग्रामजित्, सत्यजित्, सेनजित् और शूरवीर सपत्नजित्—इन चार पुत्रोंका जन्म हुआ था ॥ ११½ ॥

सुभीमायाः सुतो माद्र्या वृकाश्वो वृकनिर्वृतिः ॥ १२ ॥
कुमारो वृकदीप्तिश्च लक्ष्मणायाः प्रजाः शृणु।

माद्री सुभीमाके वृकाश्व, वृकनिर्वृति तथा कुमार वृकदीप्ति—ये तीन पुत्र थे। अब लक्ष्मणाकी संतानोंका परिचय सुनो ॥ १२½ ॥

गात्रवान् गात्रगुप्तश्च गात्रविन्दश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
जज्ञिरे गात्रवत्या च भगिन्याऽनुजया सह।

गात्रवान्, गात्रगुप्त तथा पराक्रमी गात्रविन्द—ये तीन पुत्र लक्ष्मणाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे, साथ ही इनकी छोटी बहिन गात्रवतीका भी जन्म हुआ था ॥ १३½ ॥

अश्रुतश्च सुतो जज्ञे कालिन्द्याः श्रुतसम्मितः ॥ १४ ॥
अश्रुतं श्रुतसेनायै प्रददौ मधुसूदनः।

कालिन्दीके दो पुत्र हुए—अश्रुत और श्रुतसम्मित। मधुसूदनने अश्रुत नामक पुत्रको श्रुतसेना नामवाली पत्नीकी गोदमें दे दिया ॥ १४½ ॥

तं प्रदाय हृषीकेशस्तां भार्यां मुदितोऽब्रवीत् ॥ १५ ॥
एष वामुभयोरस्तु दायादः शाश्वतीः समाः ।

उसे देकर भगवान् श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए और अपनी उस पत्नीसे बोले—'यह सदाके लिये तुम दोनोंका पुत्र रहे' ॥ १५½ ॥

बृहत्यां तु गदं प्राहुः शैव्यायामङ्गदं सुतम् ॥ १६ ॥
उत्पन्नं कुमुदं चैव श्वेतं श्वेता तथाङ्गना ।

श्रीकृष्णकी बृहती नामवाली पत्नीके गर्भसे गदकी उत्पत्ति बतायी जाती है। शैव्याके गर्भसे अङ्गद, कुमुद और श्वेत नामक पुत्रकी उत्पत्ति कही गयी है। शैव्याके श्वेता नामवाली एक कन्या भी थी ॥ १६½ ॥

अगावहः सुमित्रश्च शुचिश्चित्ररथस्तथा ॥ १७ ॥
चित्रसेनः सुदेवायाश्चित्रा चित्रवती तथा ।

सुदेवाके गर्भसे अगावह, सुमित्र, शुचि, चित्ररथ तथा चित्रसेन ये—पाँच पुत्र और चित्रा तथा चित्रवती—ये दो कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं ॥ १७½ ॥

वनस्तम्बश्च जज्ञाते सुतः स्तम्बवनश्च ह ॥ १८ ॥
निवासनोऽवनस्तम्बः कन्या स्तम्बवती तथा ।
उपसन्नश्च शङ्कुश्च वज्रांशुः क्षिप्र एव च ॥ १९ ॥
कौशिक्यां सुतसोमायां यौधिष्ठिर्यां युधिष्ठिरः ।
कपाली गरुडश्चैव जज्ञाते चित्रयोधिनौ ॥ २० ॥

वनस्तम्ब, स्तम्बवन, निवासन तथा अवनस्तम्ब—ये चार पुत्र और स्तम्बवती नामवाली कन्या—इन सबकी उत्पत्ति कौशिकीके गर्भसे हुई थी। उपसन्न, शङ्कु, वज्रांशु और क्षिप्र—ये चार पुत्र सुतसोमाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। यौधिष्ठिरीके गर्भसे युधिष्ठिर नामक पुत्रका जन्म हुआ था। इसके सिवा दो पुत्र और उत्पन्न हुए थे—कपाली तथा गरुड। ये दोनों ही विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले थे ॥ १८–२० ॥

एवमादीनि पुत्राणां सहस्राणि निबोध मे ।
दशायुतं समाख्याता वासुदेवस्य ते सुताः ॥ २१ ॥
अयुतानि तथा चाष्टौ शूरा रणविशारदाः ।
जनार्दनस्य प्रसवः कीर्तितोऽयं तथा मया ॥ २२ ॥

ये तथा इसी तरह और भी सहस्रों पुत्र श्रीकृष्णसे उत्पन्न हुए थे। इस बातको तुम मेरे द्वारा जान लो। भगवान् वासुदेवके वे पुत्र एक लाख अस्सी हजार बताये गये हैं। वे सब-के-सब रण-कर्म-विशारद तथा शूरवीर थे। इस प्रकार मैंने तुमसे भगवान् जनार्दनकी संततिका वर्णन किया है ॥ २१-२२ ॥

प्रद्युम्नस्य सुतो जज्ञे वैदर्भ्यां राजसत्तम ।
अनिरुद्धो रणेऽरुद्धो जज्ञे स मृगकेतनः ॥ २३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! प्रद्युम्नके विदर्भराजकुमारी रुक्मवतीके गर्भसे अनिरुद्ध नामक पुत्रका जन्म हुआ, जिसकी गतिको युद्धमें कोई रोक नहीं सकता था। अनिरुद्धकी ध्वजापर मृगका चिह्न था ॥ २३ ॥

रेवत्यां बलदेवस्य जज्ञाते निशठोल्मुकौ ।
भ्रातरौ देवसंकाशावुभौ पुरुषसत्तमौ ॥ २४ ॥

बलदेवजीके रेवतीके गर्भसे दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम थे निशठ और उल्मुक। ये दोनों भाई देवताओंके समान तेजस्वी तथा पुरुषोंमें श्रेष्ठ थे ॥ २४ ॥

सुतनुश्च सुतारा च शौरेरास्तां परिग्रहः ।
पौण्ड्रकः कपिलश्चैव वसुदेवस्य तौ सुतौ ॥ २५ ॥

वसुदेवके दो पत्नियाँ और थीं—सुतनु तथा सुतारा। इन दोनोंके गर्भसे वसुदेवके दो पुत्र हुए—पौण्ड्रक तथा कपिल ॥ २५ ॥

तारायां कपिलो जज्ञे पौण्ड्रश्च सुतनोः सुतः ।
तयोर्नृपोऽभवत् पौण्ड्रः कपिलश्च वनं ययौ ॥ २६ ॥

इनमेंसे कपिल तो सुताराके गर्भसे उत्पन्न हुआ था और पौण्ड्रक सुतनुका पुत्र था। उन दोनों भाइयोंमेंसे पौण्ड्रक तो राजा हुआ और कपिल वनको चला गया ॥२६॥

तुर्यां समभवद् वीरो वसुदेवान्महाबलः ।
जरा नाम निषादानां प्रभुः सर्वधनुष्मताम् ॥ २७ ॥

वसुदेवसे उनकी चतुर्थ वर्णवाली भार्यासे एक महाबली वीरका जन्म हुआ था, जिसका नाम था जरा। वह समस्त धनुर्धर निषादोंका स्वामी था ॥ २७ ॥

काश्या सुपार्श्वं तनयं लेभे साम्बात् तरस्विनम्।
सानुर्जज्ञेऽनिरुद्धस्य वज्रः सानोरजायत ॥ २८ ॥

काश्याने साम्बसे सुपार्श्व नामक पुत्र प्राप्त किया, जो महान् वेगशाली था। अनिरुद्धके सानु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सानुसे वज्रका जन्म हुआ ॥ २८ ॥

वज्राज्जज्ञे प्रतिरथः सुचारुस्तस्य चात्मजः ।
अनमित्राच्छिनिर्जज्ञे कनिष्ठाद् वृष्णिनन्दनात् ॥ २९ ॥

वज्रसे प्रतिरथ उत्पन्न हुआ। प्रतिरथके पुत्रका नाम सुचारु था। वृष्णिके छोटे पुत्र अनमित्रसे शिनिका जन्म हुआ ॥ २९ ॥

शिनेस्तु सत्यवाग् जज्ञे सत्यकश्च महारथः ।
सत्यकस्यात्मजः शूरो युयुधानस्त्वजायत ॥ ३० ॥

शिनिसे महारथी सत्यवादी सत्यक उत्पन्न हुए। सत्यकसे उनके शूरवीर पुत्र युयुधान (सात्यकि) का जन्म हुआ ॥ ३० ॥

असङ्गो युयुधानस्य मणिस्तस्याभवत् सुतः ।

मणेर्युगन्धरः पुत्र इति वंशः समाप्यते ॥ ३१ ॥

युयुधानका पुत्र असङ्ग और असङ्गका पुत्र मणि हुआ। मणिके पुत्रका नाम युगन्धर था। इस प्रकार यहाँ वंशका वर्णन समाप्त किया जाता है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि वृष्णिवंशानुकीर्तने त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें वृष्णिवंशका वर्णनविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

प्रद्युम्नका जन्म, शम्बरासुरद्वारा प्रद्युम्नका सूतिकागृहसे अपहरण, प्रद्युम्न-मायावती-संवाद और प्रद्युम्नका शम्बरासुरके सौ पुत्रोंके साथ युद्ध

जनमेजय उवाच

य एष भवता पूर्वं शम्बरघ्नेत्युदाहृतः।
प्रद्युम्नः स कथं जघ्ने शम्बरं तद् ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने! आपने पहले जो यह बताया है कि प्रद्युम्नने शम्बरासुरका वध किया था, उसके विषयमें मैं यह जानना चाहता हूँ कि प्रद्युम्नने किस प्रकार शम्बरासुरका वध किया था, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

रुक्मिण्यां वासुदेवस्य लक्ष्म्यां कामो धृतव्रतः।
शम्बरान्तकरो जज्ञे प्रद्युम्नः कामदर्शनः।
सनत्कुमार इति यः पुराणे परिगीयते ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! भगवान् वासुदेवके लक्ष्मीस्वरूपा रुक्मिणीके गर्भसे उत्तम व्रतधारी कामदेव ही प्रद्युम्नरूपसे उत्पन्न हुए, जो कामदेवके समान ही मनोहर दिखायी देते थे। उन्होंने ही शम्बरासुरका विनाश किया था। किन्हीं-किन्हींके मतमें जो पुराणमें सनत्कुमार कहे जाते हैं, वे ही प्रद्युम्नरूपसे प्रकट हुए थे ॥ २ ॥

तं सप्तरात्रे सम्पूर्णे निशीथे सूतिकागृहात्।
जहार कृष्णस्य सुतं शिशुं वै कालशम्बरः ॥ ३ ॥

प्रद्युम्नके जन्मके पश्चात् सात रात पूर्ण हो जानेपर कालरूपी शम्बरासुरने श्रीकृष्णके उस शिशु पुत्रको आधी रातके समय सूतिकागृहसे हर लिया ॥ ३ ॥

विदितं तस्य कृष्णस्य देवमायानुवर्तिनः।
ततो न निगृहीतः स दानवो युद्धदुर्मदः ॥ ४ ॥

देवमायाका अनुसरण करनेवाले श्रीकृष्णको भविष्यमें होनेवाली सारी बातें विदित थीं, इसलिये उन्होंने उस रणदुर्मद दानवको उस समय बंदी नहीं बनाया ॥ ४ ॥

स मृत्युना परीतायुर्मायया संजहार तम्।
दोर्भ्यामुत्क्षिप्य नगरं स्वं निनाय महासुरः ॥ ५ ॥

मृत्युने उसकी आयुपर अधिकार कर लिया था, इस लिये उस महान् असुरने मायासे उस बालकको हर लिया और उसे दोनों हाथोंसे ऊपर उठाये हुए वह अपने नगरमें ले गया ॥ ५ ॥

अनपत्या तु तस्यासीद् भार्या रूपगुणान्विता।
नाम्ना मायावती नाम मायेव शुभदर्शना ॥ ६ ॥

उसकी रूप और गुणसे युक्त एक भार्या थी, जिसके कोई संतान नहीं थी। उसका नाम था मायावती, जो मायाके समान ही सुन्दर दिखायी देती थी ॥ ६ ॥

ददौ तं वासुदेवस्य पुत्रं पुत्रमिवात्मजम्।
तस्या महिष्या मायिन्या दानवः कालचोदितः ॥ ७ ॥

उस कालप्रेरित दानवने भगवान् श्रीकृष्णके उस पुत्रको अपने पुत्रके समान मानकर अपनी उस मायावती भार्याके हाथमें दे दिया ॥ ७ ॥

मायावती तु तं दृष्ट्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहा।
हर्षेण महता युक्ता पुनः पुनरुदैक्षत ॥ ८ ॥

उस बालकको देखते ही मायावतीके शरीरमें हर्षजनित रोमाञ्च हो आया। वह बड़े हर्षके साथ बारंबार उसकी ओर देखने लगी ॥ ८ ॥

अथ तस्या निरीक्षन्त्याः स्मृतिः प्रादुर्बभूव ह।
अयं स मम कान्तोऽभूत् स्मृत्वैवं चान्वचिन्तयत् ॥ ९ ॥

बालकका निरीक्षण करती हुई मायावतीके हृदयमें पूर्वकालकी स्मृति जाग उठी। 'यही तो पूर्वकालमें मेरे प्रियतम पति थे' यह स्मरण करके वह इस प्रकार सोचने लगी—॥ ९ ॥

अयं स नाथो भर्ता मे यस्यार्थेऽहं दिवानिशम्।
चिन्ताशोकार्णवे मग्ना न विन्दामि रतिं क्वचित् ॥ १० ॥

'ये वे ही मेरे स्वामी एवं भर्ता हैं, जिनके लिये मैं दिन-रात चिन्ता और शोकके समुद्रमें डूबी रहकर कभी कहीं भी चैन नहीं पाती हूँ ॥ १० ॥

अयं भगवता पूर्वं देवदेवेन शूलिना।
क्रोधितेन कृतोऽनङ्गो दृष्टो जात्यन्तरे मया ॥ ११ ॥

'प्राचीन कालमे इनके द्वारा खेदमें डाले जानेपर देवाधिदेव त्रिशूलधारी भगवान् शङ्करने इन्हें अनङ्ग बना दिया था (इनके शरीरको जलाकर भस्म कर दिया था)। आज दूसरे जन्ममें इनका मुझे दर्शन हुआ है ॥ ११ ॥

कथमस्य स्तनं दास्ये मातृभावेन जानती ।
भर्तुर्भार्या त्वहं भूत्वा वक्ष्ये वा पुत्र इत्युत ॥ १२ ॥

'जब मैं इस रहस्यको जानती हूँ, तब मातृभावसे इनके मुखमें अपना स्तन कैसे दूँगी। ये मेरे पति है, मै इनकी पत्नी होकर इन्हें पुत्र कैसे कहूँगी' ॥ १२ ॥

एवं संचिन्त्य मनसा धाज्यास्तं सा समर्पयत् ।
रसायनप्रयोगैश्च शीघ्रमेव व्यवर्धयत् ॥ १३ ॥

मन-ही-मन ऐसा सोचकर मायावतीने बालक प्रद्युम्नको एक धायके हाथमें सौंप दिया तथा रसायनके प्रयोगोंसे उन्हें शीघ्र ही बड़ा कर दिया ॥ १३ ॥

धाज्याः सकाशात् स च तां शृण्वन् रुक्मिणिनन्दनः ।
मायावतीमविज्ञानान्मेने स्वामेव मातरम् ॥ १४ ॥

रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न धायसे मायावतीकी प्रशंसा सुनकर उसे अनजानमें अपनी ही माता मानने लगे ॥ १४ ॥

सा च तं वर्द्धयामास कार्ष्णि कमललोचनम् ।
मायाश्चास्मै ददौ सर्वा दानवीः काममोहिता ॥ १५ ॥

मायावतीने कमलनयन श्रीकृष्ण-कुमारको जब बड़ा कर लिया, तब उनके प्रति कामभावसे मोहित होकर उन्हें समस्त दानवी मायाओंकी शिक्षा दे दी ॥ १५ ॥

स यदा यौवनस्थस्तु प्रद्युम्नः कामदर्शनः ।
चिकीर्षितज्ञो नारीणां सर्वास्त्रविधिपारगः ॥ १६ ॥

प्रद्युम्न जब युवावस्थामें स्थित हुए, तब साक्षात् कामदेवके समान दिखायी देने लगे। वे स्त्रियोंके मनोभावोंके ज्ञाता और सम्पूर्ण अस्त्रोंके प्रयोगमें पारंगत थे ॥ १६ ॥

तं सा मायावती कान्तं कामयामास कामिनी ।
इङ्गितैश्चापि वीक्षन्ती प्रालोभयत सस्मिता ।
प्रसज्जन्तीं तु तां देवीं बभाषे चारुहासिनीम् ॥ १७ ॥

उस समय मायावतीने कामवती नारीकी भाँति अपने उस प्रियतम पतिकी कामना की। वह मुसकराती हुई देखने और अपने हाव-भावोंसे उन्हें लुभाने लगी। उस मनोहर हासवाली देवी मायावतीको अपने प्रति आसक्त होती देख वे इस प्रकार बोले ॥ १७ ॥

प्रद्युम्न उवाच

मातृभावं व्यतिक्रम्य किमेवं वर्तसेऽन्यथा ।
अहो दुष्टस्वभावासि स्त्रीत्वे चपलमानसा ॥ १८ ॥

प्रद्युम्नने कहा—अरी ! तू मातृ-भावका उल्लङ्घन करके इस तरह विपरीत बर्ताव कैसे कर रही है ? अहो ! तू दुःशीला जान पड़ती है । तेरा चित्त अपने स्त्रीत्वको लेकर चञ्चल हो उठा है ॥ १८ ॥

या पुत्रभावमुत्सृज्य मयि लोभात् प्रवर्तसे ।
न तु तेऽहं सुतः सौम्ये कोऽयं शीलविपर्ययः ॥ १९ ॥

तभी तो तू मेरे प्रति पुत्रभावका परित्याग करके कामलोभसे प्रेरित हो विपरीत बर्ताव कर रही है। इससे तो जान पड़ता है, मैं तेरा पुत्र नहीं हूँ। सौम्ये ! तेरे शील-स्वभावमें यह उलट-फेर कैसा ? ॥ १९ ॥

तत्त्वमिच्छाम्यहं देवि कथितं को न्वयं विधिः ।
विद्युत्सम्पातचपलः स्वभावः खलु योषिताम् ॥ २० ॥
या नरेषु प्रसज्जन्ते नगाग्रेषु घना इव ।

देवि ! मैं यथार्थ बात जानना चाहता हूँ, तू ठीक-ठीक बता दे कि तेरा यह व्यवहार कैसा है ? निश्चय ही नारियोंका स्वभाव विद्युत्पातके समान चपल होता है। जैसे बादल पर्वत-शिखरोंसे सम्बद्ध होते हैं, उसी तरह काममोहित स्त्रियाँ सभी पुरुषोंपर आसक्त हो जाती हैं ॥ २०½ ॥

यदि तेऽहं सुतः सौम्ये यदि वा नात्मजः शुभे ॥ २१ ॥
कथितं तत्त्वमिच्छामि किमिदं ते चिकीर्षितम् ।

सौम्ये ! शुभे ! यदि मैं तेरा पुत्र होऊँ तो वह बता दे, अथवा यदि तेरा पुत्र न भी होऊँ तो वह भी बता दे। मैं तेरे मुखसे यथार्थ बात सुनना चाहता हूँ। तू यह क्या करना चाहती है ॥ २१½ ॥

एवमुक्ता तु सा भीरुः कामेन व्यथितेन्द्रिया ॥ २२ ॥
प्रियं प्रोवाच वचनं विविक्ते केशवात्मजम् ।
न त्वं मम सुतः कान्त नापि ते शम्बरः पिता ॥ २३ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर भीरुहृदया मायावती, जिसकी सारी इन्द्रियाँ कामसे व्यथित हो उठी थीं, एकान्तमें अपने प्रियतम केशवकुमारसे इस प्रकार बोली—'प्राणवल्लभ ! तुम मेरे पुत्र नहीं हो और शम्बरासुर भी तुम्हारा पिता नहीं है ॥ २२-२३ ॥

रूपवानसि विक्रान्तस्त्वं जात्या वृष्णिनन्दन ।
पुत्रस्त्वं वासुदेवस्य रुक्मिण्यानन्दवर्धनः ॥ २४ ॥

'वृष्णिकुलनन्दन ! तुम जन्मसे ही रूपवान् और पराक्रमी हो। वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके पुत्र हो और माता रुक्मिणीका आनन्द बढ़ानेवाले उनके लाड़ले लाल हो ॥ २४ ॥

दिवसे सप्तमे बालो जातमात्रोऽपवाहितः ।
सूतिकागारमध्यात् त्वं शिशुरुत्तानशायितः ॥ २५ ॥
मम भर्त्रा हृतोऽसि त्वं बलवीर्यप्रवर्तिना ।
पितुस्ते वासुदेवस्य धर्षयित्वा गृहं महत् ॥ २६ ॥

'तुम्हारे जन्मके सातवें दिन जब कि तुम बालशिशुके रूपमें शय्यापर उतान सुलाये गये थे, मेरा भरण-पोषण करने-

वाले तथा बल और पराक्रमपूर्वक किसी कार्यमें प्रवृत्त होनेवाले शम्बरासुरने तुम्हारे पिता भगवान् वासुदेवके विशाल गृहको तिरस्कृत करके सूतिकागारके भीतरसे तुम्हारा अपहरण कर लिया ॥ २५-२६ ॥

पाकशासनकल्पस्य हृतस्त्वं शम्बरेण ह ।
सा च ते करुणं माता त्वां बालमनुशोचती ॥ २७ ॥
अत्यर्थं तप्यते वीर विवत्सा सौरभी यथा ।

'तुम इन्द्रके समान तेजस्वी पिताके पुत्र हो, तो भी शम्बरासुरने तुम्हें हर लिया । वीर ! तुम्हारी माता रुक्मिणी भी तुम-जैसे बालकके लिये निरन्तर शोकमग्न रहकर करुण विलाप करती और अत्यन्त संतप्त होती हैं, ठीक उसी तरह जैसे अपने बछड़ेसे बिछुड़ी हुई गाय उसके लिये क्रन्दन करती रहती है ॥ २७½ ॥

सोऽपि शक्रादपि महान् पिता ते गरुडध्वजः ॥ २८ ॥
इह त्वां नाभिजानाति बालमेवापवाहितम् ।

'तुम्हारे पिता भगवान् गरुडध्वज इन्द्रसे भी महान् हैं, किंतु उन्हें भी इस बातका पता नहीं है कि तुम बाल्यावस्थामें ही यहाँ हर लाये गये हो ॥ २८½ ॥

कान्त वृष्णिकुमारस्त्वं न हि त्वं शम्बरात्मजः ॥ २९ ॥
वीर नैवंविधान् पुत्रान् दानवा जनयन्ति हि ।

'प्रियतम ! तुम वृष्णिकुलके कुमार हो, शम्बरके पुत्र नहीं । वीर ! दानव तुम-जैसे पुत्रोंको जन्म नहीं देते ॥ २९½ ॥

अतोऽहं कामयामि त्वां न हि त्वं जनितो मया ॥ ३० ॥
रूपं ते सौम्य पश्यन्ती सीदामि हृदि दुर्बला ।

'सौम्य ! इसीलिये मै तुम्हें चाहती हूँ, क्योंकि मैंने तुम्हें उत्पन्न नहीं किया है । मैं दुर्बल अबला तुम्हारे मनोहर रूपका दर्शन करके मन-ही-मन कामसे सतत हो रही हूँ ॥ ३०½ ॥

यन्मे व्यवसितं कान्त यत् तु मे हृदि वर्तते ॥ ३१ ॥
तन्मे मनसि वार्ष्णेय प्रतिसंधातुमर्हसि ।

'प्राणवल्लभ ! वृष्णिनन्दन ! मैंने जो कुछ करनेका निश्चय किया है, मेरे हृदयमें जो भाव है, उसे तुम मेरे मनोमन्दिरमें निवास करके पूर्ण करो ॥ ३१½ ॥

एष ते कथितः सर्वः सद्भावस्त्वयि यो मम ॥ ३२ ॥
यथा न मम पुत्रस्त्वं न पुत्रः शम्बरस्य च ।

'तुम्हारे प्रति मेरे हृदयमे जो सद्भाव था, वह सब मैंने तुम्हे बता दिया, न तो तुम मेरे पुत्र हो और न शम्बरासुरके ही' ॥ ३२½ ॥

श्रुत्वैवमखिलं सर्वं मायावत्या प्रभाषितम् ॥ ३३ ॥
चक्रायुधात्मजः क्रुद्धः शम्बरं स समाह्वयत् ।
सर्वमायाविभिज्ञोऽसौ नाम विश्राव्य चात्मनः ॥ ३४ ॥

मायावतीकी कही हुई यह सारी बात सुनकर भगवान् चक्रपाणिके पुत्र प्रद्युम्न कुपित हो उठे । वे समस्त मायाओंके ज्ञाता थे, उन्होंने अपना नाम सुनाकर शम्बरासुरको युद्धके लिये ललकारनेका निश्चय किया ॥ ३३-३४ ॥

अहो दानवदुष्टात्मा केशवस्यात्मजं शिशुम् ।
हरते निर्भयश्चैव भयमद्य करोम्यहम् ॥ ३५ ॥

वे मन-ही-मन कहने लगे, 'अहो ! इस दुष्टात्मा दानवने केशवके शिशु पुत्रका अपहरण किया है, तो भी यह निर्भय बना बैठा है और मैं आज इससे भय मान रहा हूँ ॥ ३५ ॥

कथं वै क्रोधमागच्छेद् वध्यते वा कथं मया ।
प्रथमं किं करिष्यामि येन कुप्यति मन्दधीः ॥ ३६ ॥

'अब यह किस प्रकार मेरे ऊपर कुपित होगा और कैसे मेरे द्वारा इसका वध किया जायगा ? मैं पहले क्या करूँ, जिससे यह मन्दबुद्धि दानव मुझपर कुपित हो ? ॥ ३६ ॥

अस्ति चास्य ध्वजं चित्रं सिंहकेतुविभूषितम् ।
तोरणं गृहमासाद्य उच्छ्रितं मेरुशृङ्गवत् ॥ ३७ ॥

'इसके यहाँ एक विचित्र ध्वज है, जो सिंहके चिह्नसे युक्त पताकाद्वारा विभूषित है । वह ध्वज बाहरी फाटकपर लगा है और मेरुपर्वतके शिखरके समान ऊँचा जान पड़ता है ॥ ३७ ॥

एतदुन्मथ्य पातिष्ये भल्लेन निशितेन वै ।
ध्वजच्छेदं विदित्वाथ शम्बरो निष्क्रमिष्यति ॥ ३८ ॥

'आज मैं अपने तीखे भल्लसे इसको काट गिराऊँगा । अपने ध्वजको खण्डित हुआ जानकर शम्बरासुर युद्धके लिये निकलेगा ॥ ३८ ॥

ततो युद्धेन हत्वाऽऽजौ गन्तास्मि द्वारकां प्रति ।
इत्युक्त्वा सज्यमाचक्रे सशरं चापमोजसा ॥ ३९ ॥

'तब मैं युद्धके द्वारा समराङ्गणमे इसका वध करके द्वारकापुरीको जाऊँगा ।' मन-ही-मन ऐसा कहकर प्रद्युम्नने बलपूर्वक धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और उसपर बाणका संधान किया ॥

चिच्छेद ध्वजरत्नं तु शम्बरस्य महाभुजः ।
तच्छ्रुत्वा तु ध्वजच्छेदं प्रद्युम्नेन महात्मना ॥ ४० ॥
क्रुद्धस्त्वाज्ञापयामास पुत्रान् वै कालशम्बरः ।
जिघांसध्वं महावीरा रौक्मिणेयं त्वरान्विताः ॥ ४१ ॥
नैवं वै द्रष्टुमिच्छामि मम विप्रियकारकम् ।

उस बाणके द्वारा महाबाहु प्रद्युम्नने शम्बरासुरके ध्वज-रत्नको काट डाला । महात्मा प्रद्युम्नके द्वारा ध्वजके खण्डित होनेका समाचार सुनकर कुपित हुए कालशम्बरने अपने पुत्रोंको आज्ञा दी, 'महावीरो ! इस रुक्मिणीपुत्रको तुरंत

मार डालनेकी चेष्टा करो । इसने मेरा अप्रिय किया है, अब मैं इस तरह इसे जीवित देखना नहीं चाहता' ॥ ४०-४१½ ॥

श्रुत्वा तु शम्बराद् वाक्यं सुतास्ते शम्बरस्य ह ॥४२॥
संनद्धा निर्ययुर्हृष्टाः प्रद्युम्नवधकाङ्क्षया ।

शम्बरका यह आदेश सुनकर उसके पुत्र कवच आदिसे सुसज्जित हो प्रद्युम्नके वधकी इच्छासे हर्षपूर्वक निकले ॥४२½॥

चित्रसेनोऽतिसेनश्च विष्वक्सेनो गदस्तथा ॥ ४३ ॥
श्रुतसेनः सुषेणस्तु सोमसेनो मनस्तथा ।
सेनानी सैन्यहन्ता च सेनाहा सैनिकस्तथा ॥ ४४ ॥
सेनस्कन्धोऽतिसेनश्च सेनको जनकः सुतः ।
सकालो विकलः शान्तः स शातान्तकरोऽशुचिः॥४५॥
कुम्भकेतुः सुदंष्ट्रश्च केशिरित्येवमादयः ।

चित्रसेन, अतिसेन, विष्वक्सेन, गद, श्रुतसेन, सुषेण, सोमसेन, मन, सेनानी, सैन्यहन्ता, सेनाहा, सैनिक, सेनस्कन्ध, अतिसेन, सेनक, जनक, सुत, सकाल, विकल, शान्त, शातान्तकर, अशुचि, कुम्भकेतु, सुदंष्ट्र और केशि आदि उनके नाम थे ॥ ४३-४५½ ॥

चक्रतोमरशूलानि पट्टिशानि परश्वधान् ॥ ४६ ॥
गृहीत्वा निर्ययुर्हृष्टा मन्युना परमाप्लुताः ।
आह्वयंस्तममित्रं वै तस्थुः संग्राममूर्धनि ॥ ४७ ॥

वे सब-के-सब हर्ष और उत्साहसे परिपूर्ण हो प्रद्युम्नके प्रति क्रोधसे भरकर चक्र, तोमर, शूल, पट्टिश और फरसे लिये निकले और अपने उस शत्रुको ललकारते हुए युद्धके मुहानेपर खड़े हो गये ॥ ४६-४७ ॥

प्रद्युम्नस्तु महाबाहू रथमारुह्य सत्वरम् ।
निर्ययौ चापमादाय संग्रामाभिमुखस्तदा ॥ ४८ ॥

उस समय महाबाहु प्रद्युम्न तुरंत ही रथपर आरूढ़ हो धनुष लेकर युद्धक्षेत्रकी ओर चल दिये ॥ ४८ ॥

ततः प्रवृत्तं युद्धं तु तुमुलं लोमहर्षणम् ।
शम्बरस्य तु पुत्राणां केशवस्य च सूनुना ॥ ४९ ॥

तदनन्तर शम्बरासुरके पुत्रोंका केशवकुमारके साथ भयंकर एवं रोमाञ्चकारी युद्ध आरम्भ हो गया ॥ ४९ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः समहोरगचारणाः ।
देवराजं पुरस्कृत्य विमानाग्रेषु धिष्ठिताः ॥ ५० ॥

फिर तो सब देवता, गन्धर्व, बड़े-बड़े नाग और चारण देवराज इन्द्रको आगे करके विमानोंके अग्रभागोंमें स्थित हुए ॥

नारदस्तुम्बुरुश्चैव हाहाहूहूश्च गायनाः ।
अप्सरोभिः परिवृताः सर्वे तत्रावतस्थिरे ॥ ५१ ॥

नारद, तुम्बुरु, हाहा और हूहू—ये गान करनेवाले गन्धर्व अप्सराओंसे घिरकर सभी उन विमानोंमें स्थित थे ॥ ५१ ॥

देवराजप्रतीहारो गन्धर्वश्चित्रमद्भुतम् ।
शशंस देवराजाय वज्रिणे तद्विचेष्टितम् ॥ ५२ ॥

देवराज इन्द्रका प्रतीहार गन्धर्व वज्रधारी इन्द्रको प्रद्युम्नकी विचित्र एवं अद्भुत चेष्टाएँ सुनाने लगा—॥५२॥

शम्बरस्य शतं पुत्रा एकः कृष्णस्य चात्मजः ।
बहूनां युध्यतामेष कथं विजयमाप्नुयात् ॥ ५३ ॥

'एक ओर तो शम्बरासुरके सौ पुत्र हैं और दूसरी ओर श्रीकृष्णके एकमात्र पुत्र प्रद्युम्न हैं, बहुत-से योद्धाओंके सामने ये अकेले ही कैसे विजय पा सकते हैं' ॥ ५३ ॥

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्य प्रहस्य बलसूदनः ।
उवाच वचनं चेदं शृणु योऽस्य पराक्रमः ॥ ५४ ॥

उसका वह कथन सुनकर बलसूदन इन्द्र जोर-जोरसे हँस पड़े और बोले—'प्रद्युम्नका जो पराक्रम है, उसका वर्णन सुनो ॥

कामोऽयं पूर्वदेहे तु हरक्रोधाग्निना हतः ।
रत्या प्रसादितो देवः कामपत्न्या त्रिलोचनः ।
परितुष्टेन देवेन वरमस्याः प्रदीयते ॥ ५५ ॥

'ये कामदेव हैं, जो पूर्वशरीरमें रहते समय भगवान् शङ्करकी क्रोधाग्निसे भस्म हो गये थे, फिर कामपत्नी रतिने महादेवजीको प्रसन्न किया । प्रसन्न हुए महादेवजीने उसे वर दिया ॥ ५५ ॥

विष्णुर्मानुषदेहस्तु द्वारकायां भविष्यति ।
तस्य पुत्रत्वमस्यैव भविष्यति न संशयः ॥ ५६ ॥

'भगवान् विष्णु मानव-शरीर धारण करके जब द्वारकामें निवास करेंगे, उस समय तुम्हारे स्वामी कामदेव उनके पुत्र होंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ५६ ॥

अनङ्ग इति विख्यातस्त्रैलोक्ये तु महायशाः ।
तत्रोत्पन्नो महातेजाः शम्बरं घातयिष्यति ॥ ५७ ॥

'इस समय ये महायशस्वी कामदेव तीनों लोकोंमें अनङ्ग नामसे विख्यात होंगे और द्वारकामें उत्पन्न होनेपर महान् तेजसे सम्पन्न हो शम्बरासुरका वध करेंगे ॥ ५७ ॥

सप्ताहे जातमात्रं तु रुक्मिण्याः क्रोडसंस्थितम् ।
आस्थाय शम्बरो मायां प्रद्युम्नमपनेष्यति ॥ ५८ ॥

'उनके जन्मसे केवल सात दिनका समय व्यतीत होनेपर रुक्मिणीकी गोदमें स्थित हुए प्रद्युम्नको मायाका आश्रय ले शम्बरासुर हर ले जायगा ॥ ५८ ॥

तद् गच्छ शम्बरगृहं भार्या मायावती भव ।
मायारूपप्रतिच्छन्ना शम्बरं मोहयिष्यसि ॥ ५९ ॥

'अतः तू शम्बरासुरके घर जा और उसकी मायामयी भार्या बन जा । मायासे अपने यथार्थ रूपको छिपाकर तू शम्बरासुरको मोहमें डाले रहेगी ॥ ५९ ॥

तत्र त्वमात्मनः कान्तं बालरूपं विवर्धय ।
प्राप्तयौवनदेहस्तु शम्बरं निहनिष्यति ॥ ६० ॥

'वहीं तुम्हें अपने प्रियतम कामदेव बालरूपमें प्राप्त होंगे। धायद्वारा उनका पालन-पोषण करके तुम उन्हें बड़ा बनाना। जब वे तरुण शरीर प्राप्त कर लेंगे, उस समय शम्बरासुरका वध करेंगे ॥ ६० ॥

ततस्त्वया सहानङ्गो द्वारकां वै गमिष्यति ।
रमिष्यति त्वया सार्द्धं शैलपुत्र्या यथा ह्यहम् ॥ ६१ ॥

'तदनन्तर कामदेव तुम्हारे साथ द्वारकामें जायँगे और जैसे पार्वतीके साथ मैं रहता हूँ, उसी प्रकार तुम्हारे साथ वे आनन्दपूर्वक रहेंगे' ॥ ६१ ॥

एवमादिश्य देवेशो जगाम पुरुषोत्तमः ।
कैलासं मेरुसंकाशं सिद्धचारणसेवितम् ॥ ६२ ॥

'ऐसा आदेश देकर देवेश्वर पुरुषोत्तम शिव सिद्ध-चारण-सेवित कैलासपर्वतको, जो मेरुगिरिके समान है, चले गये ॥

कामपत्नी प्रणम्याथ देवदेवमुमापतिम् ।
जगाम शम्बरगृहं कालस्यान्तं प्रतीक्षती ॥ ६३ ॥

'इसके बाद कामपत्नी रति देवाधिदेव उमापतिको प्रणाम करके कालके अन्तकी प्रतीक्षा करती हुई शम्बरासुरके घरको चली गयी ॥ ६३ ॥

एवमेष महाबाहुः शम्बरं निहनिष्यति ।
सह पुत्रेण प्रद्युम्नो हन्ता तस्य दुरात्मनः ॥ ६४ ॥

'इस प्रकार ये महाबाहु प्रद्युम्न पुत्रोंसहित शम्बरासुरका संहार कर डालेंगे; क्योंकि वे ही इस दुरात्माका अन्त करनेवाले हैं' ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शम्बरवधे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें शम्बरासुरका वधविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

प्रद्युम्नद्वारा शम्बरासुरकी सेना और मन्त्रियोंका संहार

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रवृद्धं युद्धं तु तुमुलं लोमहर्षणम् ।
शम्बरस्य तु पुत्राणां रुक्मिण्या नन्दनस्य च ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् शम्बरासुरके पुत्रों तथा रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नका घोर रोमाञ्चकारी युद्ध आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

ततः क्रुद्धा महादैत्याः शरशक्तिपरश्वधान् ।
चक्रतोमरकुन्तानि भुशुण्डीर्मुसलानि च ॥ २ ॥
युगपत् पातयन्ति स्म प्रद्युम्नोपरि वेगिताः ।

उस समय क्रोधमें भरे हुए बड़े-बड़े वेगशाली दैत्य एक ही साथ प्रद्युम्नपर बाण, शक्ति, फरसे, चक्र, तोमर, कुन्त, भुशुण्डी और मुसलोंकी वर्षा करने लगे ॥ २½ ॥

कार्ष्णायनिस्तु संक्रुद्धः सर्वास्त्रधनुषश्च्युतैः ॥ ३ ॥
एकैकं पञ्चभिः क्रुद्धश्चिच्छेद रणमूर्धनि ।

यह देख श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्न अत्यन्त कुपित हो उठे और अपने सर्वास्त्रवर्षी धनुषसे छूटे हुए पाँच-पाँच बाणोंद्वारा उन्होंने युद्धके मुहानेपर शत्रुओंके प्रत्येक अस्त्रको क्रोधपूर्वक काट डाला ॥ ३½ ॥

पुनरेवासुराः क्रुद्धाः सर्वे ते कृतनिश्चयाः ॥ ४ ॥
ववृषुः शरजालानि प्रद्युम्नवधकाङ्क्षया ।

तब वे सभी असुर पुनः कुपित हो युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके प्रद्युम्नके वधकी इच्छासे बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे ॥ ४½ ॥

ततः प्रकुपितोऽनङ्गो धनुरादाय सत्वरः ॥ ५ ॥
शम्बरस्य जघानाशु दश पुत्रान् महौजसः ।

इससे अनङ्गस्वरूप प्रद्युम्नका क्रोध बहुत बढ़ गया। उन्होंने तुरंत ही धनुष हाथमें लेकर अपने बाणोंद्वारा शम्बरासुरके दस महाबली पुत्रोंको तत्काल कालके गालमें भेज दिया ॥ ५½ ॥

ततोऽपरेण भल्लेन कुपितः केशवात्मजः ॥ ६ ॥
चिच्छेदाशु शिरस्तस्य चित्रसेनस्य वीर्यवान् ।

तत्पश्चात् कुपित हुए पराक्रमी केशवकुमारने दूसरे भल्लसे बड़ी शीघ्रताके साथ चित्रसेनका मस्तक काट डाला ॥ ६½ ॥

ततस्ते हतशेषास्तु समेत्य समयुद्ध्यत ॥ ७ ॥
शरवर्षं विमुञ्चन्तो ह्यभ्यधावञ्जिघांसितुम् ।
ततः संधाय बाणांस्ते विमुञ्चन्तो रणोत्सुकाः ॥ ८ ॥

तदनन्तर जो मरनेसे बच गये, वे सब एक साथ संगठित होकर युद्ध करने लगे। बाणोंकी वर्षा करते हुए उन्होंने प्रद्युम्नको मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया। वे बाणोंको धनुषपर रखकर युद्धके लिये उत्सुक हो उन्हें छोड़ने लगे ॥ ७-८ ॥

क्रीडन्निव महातेजाः शिरांस्येषामपातयत् ।

निहत्य समरे सर्वाञ्छतमुत्तमधन्विनाम् ॥ ९ ॥
प्रद्युम्नः समराकाङ्क्षी तस्थौ संग्राममूर्धनि ।

महातेजस्वी प्रद्युम्न खेल-सा करते हुए इनके मस्तक काट-काटकर गिराने लगे । समराङ्गणमें जो सौ उत्तम धनुर्धर वीर थे, उन सबका संहार करके वे मनमें और भी युद्धकी अभिलाषा लिये संग्रामके मुहानेपर खड़े हो गये ॥९½॥

हतं पुत्रशतं श्रुत्वा शम्बरः क्रोधमादधे ॥ १० ॥
सूतं संचोदयामास रथं मे सम्प्रयोजय ।

अपने सौ पुत्रोंका वध हुआ सुनकर शम्बरासुरको बड़ा क्रोध हुआ । उसने सारथिको आदेश दिया कि मेरे रथको जोतो ॥ १०½ ॥

राज्ञो वाक्यं निशम्याथ प्रणम्य शिरसा भुवि ॥ ११ ॥
ससैन्यं नोदयामास रथं स सुसमाहितम् ।

राजाकी यह बात सुनकर सारथिने पृथ्वीपर मस्तक टेककर प्रणाम किया और सेनासहित रथको पूरी सावधानीके साथ युद्धके लिये प्रेरित किया ॥ ११½ ॥

युक्तमृष्यसहस्रेण सर्पयोक्त्रेण योजितम् ॥ १२ ॥
शार्दूलचर्मसंविष्टं किङ्किणीजालमालिनम् ।
ईहामृगगणाकीर्णं पङ्क्तिभक्तिविराजितम् ॥ १३ ॥

उस रथमें एक सहस्र मृग जुते हुए थे । वह सर्पोंकी रस्सियोंसे जोता गया था । वह रथ व्याघ्रचर्मसे ढका हुआ था, उसमें घुँघुरुओंकी माला शोभा दे रही थी, वह कृत्रिम पशु-पक्षियोंसे व्याप्त तथा दस चित्रभागोंसे विभूषित था ॥

ताराचित्रपिनद्धाङ्गं स्वर्णकूबरभूषितम् ।
सुपताकमहोच्छ्रायं मृगराजोग्रकेतनम् ॥ १४ ॥

उसके सारे अङ्ग तारिकाओंके चित्रसे व्याप्त थे । सोनेका कूबर उस रथकी शोभा बढ़ा रहा था । उसका बहुत ही ऊँचा भाग सुन्दर पताकाओंसे सुशोभित था । उसमें सिंहके चिह्नवाली उग्र ध्वजा फहरा रही थी ॥ १४ ॥

सुविभक्तवरूथं च लोहेषावज्रकूबरम् ।
मन्दरोदग्रशिखरं चारुचामरभूषितम् ॥ १५ ॥

उस रथका आवरण सुन्दर विभागपूर्वक बना हुआ था । उसमें लोहेके हरसे और वज्रमणिजटित कूबर शोभा पाते थे । उसका शिखर मन्दराचलके समान ऊँचा था । वह सुन्दर चँवरसे विभूषित था ॥ १५ ॥

नक्षत्रमालापिहितं हेमदण्डसमाहितम् ।
विराजमानं श्रीमन्तमारोहच्छम्बरो रथम् ॥ १६ ॥

नक्षत्रोंकी मालाओंसे आवृत तथा सुवर्णमय दण्डसे सुस्थिर बने हुए उस शोभाशाली कान्तिमान् रथपर शम्बरासुर आरूढ़ हुआ ॥ १६ ॥

काञ्चनं चित्रसंनाहं धनुर्गृह्य शरांस्तथा ।
प्रस्थितः समराकाङ्क्षी मृत्युना परिचोदितः ॥ १७ ॥

सोनेका विचित्र कवच, धनुष और बाण धारण करके कालसे प्रेरित हो युद्धकी इच्छासे वह प्रस्थित हुआ ॥ १७ ॥

चतुर्भिः सचिवैः सार्द्धं सैन्येन महता वृतः ।
दुर्धरः केतुमाली च शत्रुहन्ता प्रमर्दनः ॥ १८ ॥
एतैः परिवृतोऽमात्यैर्युयुत्सुः प्रस्थितो रणे ।

उसके साथ चार मन्त्री थे और वह विशाल सेनासे घिरा हुआ था । दुर्धर, केतुमाली, शत्रुहन्ता और प्रमर्दन—इन मन्त्रियोंसे घिरा हुआ वह युद्धकी इच्छासे रणभूमिकी ओर प्रस्थित हुआ ॥ १८½ ॥

दशनागसहस्राणि रथानां द्वे शते तथा ॥ १९ ॥
हयानां चाष्टसाहस्रैः प्रयुतैश्च पदातिनाम् ।
एतैः परिवृतो योधैः शम्बरः प्रययौ तदा ॥ २० ॥

दस हजार हाथी, दो सौ रथ, आठ हजार घोड़े और दस लाख पैदल इतने योद्धाओंसे घिरे हुए शम्बरासुरने उस समय युद्धके लिये प्रस्थान किया ॥ १९-२० ॥

प्रयातस्य तु संग्रामे उत्पाता बहवोऽभवन् ।
गृध्रचक्राकुलं व्योम संध्याकाराभ्रनादितम् ॥ २१ ॥

युद्धके लिये जाते समय उसके सामने बहुत-से उत्पात प्रकट हुए । आकाशमें गृध्रोंका मण्डल मँडराने लगा । संध्याकालके समान लाल रङ्गके बादल गड़गड़ाने लगे ॥ २१ ॥

गर्जन्ति परुषं मेघा निर्घातश्चाम्बरात् पतत् ।
शिवा विनेदुरशिवं सैन्यं संकालयन्महत् ॥ २२ ॥

मेघ बड़े कठोर शब्दमें गर्जना करने लगे, आकाशसे बिजली गिरने लगी, गीदड़ियाँ अमङ्गलसूचक बोली बोलने लगीं, जिससे सेनाके महान् संहारकी सूचना मिलती थी ॥

ध्वजशीर्षेऽपतद् गृध्रः काङ्क्षन् वै दानवासृजम् ।
रथाग्रे पतितश्चास्य कबन्धो भुवि दृश्यते ॥ २३ ॥

गीध दानवोंके रक्तका पान करनेकी इच्छा रखकर उसकी ध्वजाके अग्रभागपर जा बैठा । उसके रथके सामने पृथ्वीपर कबन्ध पड़ा हुआ दिखायी देने लगा ॥ २३ ॥

चीचीकूचीति वाशन्ति शम्बरस्य रथोपरि ।
स्वर्भानुग्रस्त आदित्यः परिघैः परिवेष्टितः ॥ २४ ॥

शम्बरासुरके रथके ऊपर बहुत-से पक्षी 'चीची कूची' ऐसी बोली बोलने लगे । सूर्यको राहुने ग्रस लिया और उनपर अनेक घेरे पड़ गये ॥ २४ ॥

स्फुरते नयनं चास्य सव्यं भयनिवेदनम् ।
बाहुः प्रकम्पते सव्यः प्रास्खलन् रथवाजिनः ॥ २५ ॥

उसका बायाँ नेत्र फड़कने लगा, जो भयकी सूचना दे रहा था । बायीं भुजा काँपने लगी और रथके घोड़े लड़खड़ाकर गिरने लगे ॥ २५ ॥

ध्वाङ्क्षो मूर्ध्नि निपतितः शम्बरस्य सुरारिणः।
ववर्ष रुधिरं देवः शर्कराङ्गारमिश्रितम् ॥ २६ ॥

देवद्रोही शम्बरासुरके मस्तकपर कौआ जा बैठा, पर्जन्य-देव कंकड़ और अङ्गारोंसे मिश्रित रक्तकी वर्षा करने लगे ॥

उल्कापातसहस्राणि निपेतू रणमूर्धनि।
प्रतोदो न्यपतद्धस्तात् सारथेर्हययायिनः ॥ २७ ॥

संग्रामके मुहानेपर सहस्रों उल्कापात होने लगे, घोड़े हाँकनेवाले सारथिके हाथसे चाबुक गिर पड़ा ॥ २७ ॥

एतानचिन्तयित्वा तु उत्पातान् समुपस्थितान्।
प्रययौ शम्बरः क्रुद्धः प्रद्युम्नवधकाङ्क्षया ॥ २८ ॥

इन उपस्थित हुए उत्पातोंकी कोई परवा न करके क्रोधमें भरा हुआ शम्बरासुर प्रद्युम्नको मार डालनेकी इच्छासे आगे बढ़ा ॥ २८ ॥

भेरीमृदङ्गशङ्खानां पणवानकदुन्दुभेः।
युगपन्नाद्यमानानां पृथिवी समकम्पत ॥ २९ ॥

उस समय एक ही साथ भेरी, मृदङ्ग, शङ्ख, पणव, आनक और दुन्दुभि आदि बाजे बज उठे। उनकी तुमुल ध्वनिसे यह पृथ्वी काँपने लगी ॥ २९ ॥

तेन शब्देन महता संत्रस्ता मृगपक्षिणः।
समन्ताद् दुद्रुवुस्तस्माद् भयविक्लवचेतसः ॥ ३० ॥

उस महान् शब्दसे सारे पशु-पक्षी संत्रस्त हो गये और भयसे व्याकुलचित्त होकर सब ओर भागने लगे ॥ ३० ॥

रणमध्ये स्थितः कार्ष्णिश्चिन्तयन् निधनं रिपोः।
सैन्यैः परिवृतोऽसंख्यैर्युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३१ ॥

उस समय रणभूमिके मध्यभागमें शत्रुके वधका चिन्तन करते हुए श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्न असंख्य सेनाओंसे घिरे हुए युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके खड़े हुए थे ॥ ३१ ॥

क्रुद्धः शरसहस्रेण प्रद्युम्नं समताडयत्।
सम्प्राप्तांश्चैव तान् बाणांश्चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ ३२ ॥

शम्बरासुरने कुपित होकर प्रद्युम्नपर एक हजार बाणोंका प्रहार किया, उन बाणोंको अपने पास आते ही प्रद्युम्नने एक सिद्धहस्त योद्धाकी भाँति काट डाला ॥ ३२ ॥

प्रद्युम्नो धनुरादाय शरवर्षं मुमोच ह।
तस्मिन् सैन्ये न कोऽप्यस्ति यो न विद्धः शरेण वै ॥ ३३ ॥

अब प्रद्युम्न धनुष लेकर बाणोंकी वर्षा करने लगे। उस समय उस सेनामें ऐसा कोई भी सैनिक नहीं था, जो उनके बाणोंसे विद्ध न हुआ हो ॥ ३३ ॥

प्रद्युम्नशरपातेन तत् सैन्यं विमुखीकृतम्।
शम्बरस्य तथाभ्याशे स्थितं संहृत्य भीतवत् ॥ ३४ ॥

प्रद्युम्नके बाणोंके प्रहारसे वह सारी सेना युद्धसे विमुख हो गयी तथा भयभीतकी भाँति शम्बरासुरके समीप सिमटकर खड़ी हो गयी ॥ ३४ ॥

स्वबलं विद्रुतं दृष्ट्वा शम्बरः क्रोधमूर्च्छितः।
आज्ञापयामास तदा सचिवान् दानवेश्वरः ॥ ३५ ॥

अपनी सेनाको भागती देख दानवराज शम्बर क्रोधसे अचेत-सा हो गया। उस समय उसने अपने मन्त्रियोंको आज्ञा दी—॥ ३५ ॥

गच्छध्वं मन्नियोगेन प्रहरध्वं रिपोः सुतम्।
नोपेक्षणीयः शत्रुर्वै वध्यतां क्षिप्रमेष वै ॥ ३६ ॥

'तुम सब लोग जाओ और मेरे आदेशसे शत्रुके उस पुत्र-पर प्रहार करो। तुम्हें इस शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इसे शीघ्र ही मार डालो ॥ ३६ ॥

उपेक्षित इव व्याधिः शरीरं नाशयेद् ध्रुवम्।
तदेष दुर्मतिः पापो वध्यतां मत्प्रियेप्सया ॥ ३७ ॥

'यदि इसकी उपेक्षा की गयी तो यह उपेक्षित रोगकी भाँति निश्चय ही शरीरका नाश कर डालेगा, अतः मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे इस दुर्बुद्धि पापीका वध कर डालो' ॥ ३७ ॥

ततस्ते सचिवाः क्रुद्धाः शिरसा गृह्य शासनम्।
शरवर्षं विमुञ्चन्तस्त्वरिता नोदयन् रथान् ॥ ३८ ॥

तब उन मन्त्रियोंने स्वामीकी आज्ञाको शिरोधार्य करके क्रोधपूर्वक बाणवर्षा करते हुए बड़ी उतावलीके साथ रथोंको हाँका ॥ ३८ ॥

तान् दृष्ट्वा धावतः संख्ये क्रुद्धो मकरकेतनः।
चापमुद्यम्य सम्भ्रान्तस्तस्थौ प्रमुखतो बली ॥ ३९ ॥

युद्धमें उन्हें धावा करते देख बलवान् मकरध्वज प्रद्युम्न भी कुपित हो उठे और बड़े वेगसे धनुष उठाकर शत्रुओंके सामने खड़े हो गये ॥ ३९ ॥

दुर्धरं पञ्चविंशत्या शरैः संनतपर्वभिः।
विभेद सुमहातेजाः केतुमालिं त्रिषष्टिभिः ॥ ४० ॥
सप्तत्या शत्रुहन्तारं द्व्यशीत्या तु प्रमर्दनम्।
विभेद परमामर्षी रुक्मिण्या नन्दिवर्धनः ॥ ४१ ॥

रुक्मिणीका आनन्द बढ़ानेवाले महातेजस्वी प्रद्युम्नने अत्यन्त अमर्षमें भरकर झुकी हुई गाँठवाले पचीस बाणोंसे दुर्धरको, तिरसठ बाणोंसे केतुमालीको, सत्तर बाणोंसे शत्रुहन्ताको और बयासी बाणोंसे प्रमर्दनको घायल कर दिया॥

ततस्ते सचिवाः क्रुद्धाः प्रद्युम्नं शरवृष्टिभिः।
एकैकशो विभेदाजौ षष्टिभिः षष्टिभिः शरैः ॥ ४२ ॥

तदनन्तर वे कुपित हुए मन्त्री भी प्रद्युम्नको बाण-वर्षाका निशाना बनाने लगे। उनमेंसे एक-एकने प्रद्युम्नको साठ-साठ बाण मारे ॥ ४२ ॥

तानप्राप्ताञ्छरान् बाणैश्चिच्छेद मकरध्वजः।
ततोऽर्धचन्द्रमादाय दुर्धरस्य स सारथिम् ॥ ४३ ॥

जघान पश्यतां राज्ञां सर्वेषां सैनिकस्य वै ।

उन बाणोंको अपने पास आनेसे पहले ही प्रद्युम्नने तीखे सायकोंसे काट डाला । तत्पश्चात् एक अर्धचन्द्राकार बाण लेकर समस्त राजाओं और उनके सैनिकोंके देखते-देखते दुर्धरके सारथिको मार डाला ॥ ४३½ ॥

चतुर्भिरथ नाराचैः सुपर्वैः कङ्कवाजितैः ॥ ४४ ॥
जघान चतुरः सोऽश्वान् दुर्धरस्य रथं प्रति ।

फिर उत्तम गाँठवाले, कङ्कपत्रयुक्त चार तीखे नाराचों-द्वारा दुर्धरके रथसम्बन्धी चार घोड़ोंको कालके गालमें भेज दिया ॥ ४४½ ॥

एकेन योक्त्रं छत्रं च ध्वजमेकेन बन्धुरम् ॥ ४५ ॥
षष्ट्या च युगचक्राक्षं चिच्छेद मकरध्वजः ।

इसके बाद एक बाणसे रथको जोड़नेवाली रस्सी, छत्र और ध्वज तथा एक बाणसे बन्धुरके टुकड़े-टुकड़े कर डाले । फिर साठ बाणोंसे प्रद्युम्नने रथके जुए, धुरे और पहियोंको भी काट डाला ॥ ४५½ ॥

अथापरं शरं गृह्य कङ्कपत्रं सुतेजितम् ॥ ४६ ॥
मुमोच हृदये तस्य दुर्धरस्यान्यजीविनः ।

तदनन्तर प्रद्युम्नने कङ्कपक्षीके पर लगे हुए और अत्यन्त तेज किये हुए एक बाणको लेकर दूसरेके आश्रय-पर जीनेवाले दुर्धरके हृदयपर छोड़ा ॥ ४६½ ॥

स गतासुर्गतश्रीको गतसत्त्वो गतप्रभः ॥ ४७ ॥
निपपात रथोपस्थात् क्षीणपुण्य इव ग्रहः ।

तब वह दुर्धर निष्प्राण हो शोभा और सत्त्वसे रहित हो गया । उसकी कान्ति फीकी पड़ गयी । वह रथकी बैठकमेंसे नीचे गिर पड़ा । उस समय वह, जिसका पुण्य क्षीण हो गया हो ऐसे ग्रहके समान दीखने लगा ॥ ४७½ ॥

दुर्धरे निहते शूरे दानवे दानवेश्वरः ॥ ४८ ॥
केतुमाली शरव्रातैरभिदुद्राव कृष्णजम् ।

दुर्धर शूर दानव था, उसके मारे जानेपर दानवेश्वर केतुमाली भी कृष्णकुमार प्रद्युम्नपर बाणोंके समूहोंको छोड़ता हुआ चढ़ आया ॥ ४८½ ॥

प्रद्युम्नमथ संक्रुद्धो भ्रुकुटीभीषणाननः ॥ ४९ ॥
कृत्वाभ्यधावत् सहसा तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

तदनन्तर क्रोधमें भरा हुआ केतुमाली भ्रुकुटी चढ़ाकर मुखको भीषण बना प्रद्युम्नपर सहसा दौड़ पड़ा और उनसे कहने लगा 'खड़ा रह ! खड़ा रह !!' ॥ ४९½ ॥

संक्रुद्धः कृष्णसूनुस्तु शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ५० ॥
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव यथा घनः ।

यह सुनकर श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्नको बड़ा क्रोध हुआ, उन्होंने बाणोंकी वर्षा करके केतुमालीको ढक दिया, ठीक उसी तरह जैसे वर्षा ऋतुमें बादल जलकी धाराओंसे पर्वतको आच्छादित कर देता है ॥ ५०½ ॥

स विद्धो दानवामात्यः प्रद्युम्नेन धनुष्मता ॥ ५१ ॥
चक्रमादाय चिक्षेप प्रद्युम्नवधकाङ्क्षया ।

धनुर्धर प्रद्युम्नके द्वारा घायल हुए दानवमन्त्री केतुमालीने प्रद्युम्नका वध करनेकी इच्छासे चक्र लेकर उनके ऊपर चलाया ॥ ५१½ ॥

तं तु प्राप्तं सहस्रारं कृष्णचक्रसमद्युतिम् ॥ ५२ ॥
निपत्योत्पत्य सहसा सर्वेषामेव पश्यताम् ।
तेनैव तस्य चिच्छेद केतुमालेः शिरस्तदा ॥ ५३ ॥

श्रीकृष्णके चक्रके समान तेजस्वी उस सहस्रार चक्रको पास आया देख प्रद्युम्नने सहसा उछलकर उसे पकड़ लिया और सबके देखते-देखते उस समय उसी चक्रसे केतुमालीका सिर काट लिया ॥ ५२-५३ ॥

तद् दृष्ट्वा कर्म विपुलं रौक्मिणेयस्य देवराट् ।
विस्मयं परमं प्राप्तः सर्वैर्देवगणैः सह ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव पुष्पवर्षैरवाकिरन् ॥ ५४ ॥

रुक्मिणीकुमारका वह महान् कर्म देखकर समस्त देवताओंसहित देवराज इन्द्रको बड़ा विस्मय हुआ । उस समय गन्धर्वों और अप्सराओंने उनके ऊपर फूलोंकी वर्षा की ॥ ५४ ॥

केतुमालिं हतं दृष्ट्वा शत्रुहन्ता प्रमर्दनः ।
महाबलसमूहेन प्रद्युम्नमथ दुद्रुवे ॥ ५५ ॥

केतुमालीको मारा गया देख शत्रुहन्ता और प्रमर्दन विशाल सैन्यसमूहके साथ प्रद्युम्नपर टूट पड़े ॥ ५५ ॥

ते गदां मुसलं चक्रं प्रासतोमरसायकान् ।
भिन्दिपालान् कुठारांश्च भास्वरान् कूटमुद्गरान् ॥ ५६ ॥
युगपत् संक्षिपन्ति स्म वधार्थं कृष्णनन्दने ।

वे गदा, मुसल, चक्र, प्रास, तोमर, सायक, भिन्दिपाल, कुठार और चमकीले कूटमुद्गरोंको एक साथ ही श्रीकृष्ण-कुमारके वधके लिये उनके ऊपर फेंकने लगे ॥ ५६½ ॥

सोऽपि तान्यस्त्रजालानि शस्त्रजालैरनेकधा ॥ ५७ ॥
चिच्छेद बहुधा वीरो दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

वीर प्रद्युम्नने भी अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए शस्त्रसमूहोंद्वारा शत्रुओंके अस्त्र-जालके बारंबार बहुतेरे टुकड़े कर डाले ॥ ५७½ ॥

गजान् सोऽभ्यहनत् क्रुद्धो गजारोहान् सहस्रशः ॥ ५८ ॥
रथान् सारथिभिः सार्धं हयांश्चैव ममर्द ह ।
पातयंस्ताञ्छरव्रातैर्नाविद्धः कश्चिदीक्ष्यते ॥ ५९ ॥

उन्होंने कुपित होकर सहस्रों हाथियों और हाथीसवारोंको मार डाला । सारथियोंसहित रथों और घोड़ोंको भी रौंद-

कर मिट्टीमें मिला दिया। उन सबको धराशायी करते हुए प्रद्युम्नने अपने बाण-समूहोंद्वारा समस्त सैनिकोंको बींध डाला। कोई भी ऐसा नहीं दिखायी देता था, जो उनके बाणोंसे विद्ध न हुआ हो ॥ ५८-५९ ॥

एवं सर्वाणि सैन्यानि ममन्थ मकरध्वजः।
नदीं प्रावर्तयद् घोरां शोणिताम्बुतरङ्गिणीम् ॥ ६० ॥

इस प्रकार मकरध्वजने शत्रुकी सारी सेनाओंको मथ डाला और एक भयानक नदी बहा दी, जो रक्तमय जलकी तरङ्गोंसे सुशोभित होती थी ॥ ६० ॥

मुक्ताहारोर्मिबहुलां मांसमेदःसपङ्किनीम्।
छत्रद्वीपां शरावर्तां रथैः पुलिनमण्डिताम् ॥ ६१ ॥

मोतियोंके हार उसमें उठती हुई बहुसंख्यक लहरोंके समान प्रतीत होते थे। वसा और मेद कीचके समान जान पड़ते थे। छत्र द्वीप और बाण आवर्त (भँवर) के समान थे। रथ ही उस नदीके तट बनकर उसकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ६१ ॥

केयूरकुण्डलाकूर्मां ध्वजमत्स्यविभूषिताम्।
नागग्राहवतीं रौद्रामसिनक्रविभूषिताम् ॥ ६२ ॥

केयूर और कुण्डल उसमें कछुएका भ्रम उत्पन्न करते थे। ध्वजरूपी मत्स्य उसकी शोभा बढ़ाते थे। हाथीरूपी ग्राहोंसे युक्त होनेके कारण वह बड़ी भयङ्कर जान पड़ती थी। खड्गरूपी नाकें उसके आभूषण थे ॥ ६२ ॥

केशशैवलसंछन्नां श्रोणिसूत्रमृणालिकाम्।
नराननसुपद्मां च हंसचामरवीजिताम् ॥ ६३ ॥

वह केशरूपी सेवारसे ढकी हुई थी, कटिसूत्र कमल-नालके समान प्रतीत होते थे, सुन्दर मुख ही उसमें खिले हुए मनोहर कमल थे, हिलते हुए चँवर हंसोंके पङ्ख-सञ्चालन-की भाँति प्रतीत होते थे, मानो उनके द्वारा उस नदीको हवा की जा रही थी ॥ ६३ ॥

शिरस्तिमिसमाकीर्णां शोणितौघप्रवर्तिनीम्।
नदीं दुस्तरणीं भीमामनङ्गेन प्रवर्तिताम् ॥ ६४ ॥
दुष्प्रेक्षां दुर्गमां रौद्रां हीनतेजःसुदुस्तराम्।
शस्त्रग्राहवतीं घोरां यमराष्ट्रविवर्द्धनीम् ॥ ६५ ॥

(हाथी आदि पशुओंके कटे हुए) मस्तक उसमें तिमि नामक मत्स्यके समान सब ओर व्याप्त थे। वह शोणितकी वेगयुक्त धारा बहा रही थी। अनङ्गस्वरूप प्रद्युम्नके द्वारा बहायी गयी वह रक्तनदी अत्यन्त दुस्तर, दुर्लक्ष्य, दुर्गम एवं भयंकर थी। तेजोहीन पुरुषोंके लिये उसे पार करना अत्यन्त कठिन था। शस्त्ररूपी ग्राहोंसे युक्त वह घोर नदी यमराजके राज्यकी वृद्धि कर रही थी ॥ ६४-६५ ॥

तत्र रुक्मिसुतः श्रीमान् विलोडयति धन्विनः।
शत्रुहन्तारमाभित्य शरानभ्यकिरद् बहून् ॥ ६६ ॥

उस युद्धमें श्रीमान् रुक्मिणीकुमार प्रद्युम्नने बहुत-से धनुर्धरोंको मथ डाला और शत्रुहन्तापर अनेक बाणोंकी वर्षा की ॥ ६६ ॥

शत्रुहन्ता पुनः क्रुद्धो मुमोच शरमुत्तमम्।
प्रद्युम्नस्य समासाद्य हृदये निपपात ह ॥ ६७ ॥

तब पुनः क्रोधमें भरे हुए शत्रुहन्ताने एक उत्तम बाण छोड़ा, जो प्रद्युम्नकी छातीपर जाकर लगा ॥ ६७ ॥

स विद्धस्तेन बाणेन प्रद्युम्नो न व्यकम्पत।
शक्तिं जग्राह बलवाञ्छत्रुहन्त्रे मुमूर्षवे ॥ ६८ ॥

उस बाणसे घायल होकर बलवान् प्रद्युम्न तनिक भी विचलित नहीं हुए, उन्होंने मरणासन्न शत्रुहन्ताके लिये एक शक्ति उठायी ॥ ६८ ॥

सा क्षिप्ता रौक्मिणेयेन शक्तिर्ज्वालाकुला रणे।
पपात हृदयं भित्त्वा शक्राशनिसमस्वना ॥ ६९ ॥

रणभूमिमें रुक्मिणीकुमारने वह अग्निकी ज्वालासे युक्त शक्ति चला दी। इन्द्रके वज्रकी भाँति गड़गड़ाहट पैदा करती हुई वह शक्ति शत्रुहन्ताका हृदय विदीर्ण करके पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ६९ ॥

स भिन्नहृच्च स्रस्ताङ्गो मुक्तमर्मास्थिबन्धनः।
पपात रुधिरोद्गारी शत्रुहन्ता महाबलः ॥ ७० ॥

हृदय विदीर्ण हो जानेसे उसके सारे अङ्ग शिथिल हो गये, मर्मस्थानों और अस्थियोंके बन्धन खुल गये, उस दशामें महाबली शत्रुहन्ता रक्त वमन करता हुआ धरतीपर गिर पड़ा ॥ ७० ॥

पतितं शत्रुहन्तारं दृष्ट्वा तस्थौ प्रमर्दनः।
जग्राह मुसलं सोऽथ वचनं चेदमाददे ॥ ७१ ॥

शत्रुहन्ताको धराशायी हुआ देख प्रमर्दन युद्धके लिये डट गया। उसने मुसल हाथमें ले लिया और यह बात कही— ॥ ७१ ॥

तिष्ठ किं प्राकृतैरेभिः करिष्यसि रणप्रियः।
मां योधयस्व दुर्बुद्धे ततस्त्वं न भविष्यसि ॥ ७२ ॥

'अरे! खड़ा रह! तुझे युद्ध बड़ा प्रिय है न? इन प्राकृत सैनिकोंके मारनेसे तू क्या लाभ उठायेगा। दुर्बुद्धे! तू मेरे साथ युद्ध कर, फिर तो तू नहीं हो जायगा ॥ ७२ ॥

वृष्णिवंशकुले जातः शत्रुरस्मत्पिता तव।
पुत्रं हन्तास्म्यहं तस्य ततोऽसौ निहतो भवेत् ॥ ७३ ॥

'तू वृष्णिकुलमें उत्पन्न हुआ है, तेरा पिता हमलोगोंका शत्रु है, मैं उसके पुत्रको मार डालूँगा, फिर वह स्वयं ही मर जायगा ॥ ७३ ॥

मृतेन तेन दुर्बुद्धे सर्वे देवक्षयो भवेत्।
दैतेया दानवाः सर्वे मोदन्तां हतशात्रवः ॥ ७४ ॥

'दुर्बुद्धे ! उसके मरनेसे समस्त देवताओंका क्षय हो जायगा; इस प्रकार अपने शत्रुओंके मर जानेपर समस्त दैत्य और दानव आनन्दके भागी होंगे ॥ ७४ ॥

हते त्वयि ममास्त्रेण त्वत्समुत्थैश्च शोणितैः ।
शम्बरस्य तु पुत्राणां करोम्युदकसत्क्रियाम् ॥ ७५ ॥

'मेरे अस्त्रसे तेरा वध हो जानेपर तेरे ही रक्तसे मैं शम्बरासुरके पुत्रोंका तर्पण करूँगा ॥ ७५ ॥

अद्य सा भीष्मकसुता करुणं विलपिष्यति ।
निहतं त्वां च श्रुत्वैव यौवनस्थं गतायुषम् ॥ ७६ ॥

'आज वह भीष्मककी पुत्री रुक्मिणी तो तुझ-जैसे नौजवान बेटेको मारा गया और गतायु हुआ सुनकर निश्चय ही करुण विलाप करेगी ॥ ७६ ॥

स ते पिता चक्रधरो निष्फलाशो भविष्यति ।
हतं त्वां स विदित्वाथ प्राणांस्त्यक्ष्यति मन्दधीः ॥ ७७ ॥

'तेरे उस पिता चक्रधारी कृष्णकी आशा अब निष्फल हो जायगी। तुझे मारा गया जानकर वह मन्दबुद्धि मानव अपने प्राणोंका परित्याग कर देगा' ॥ ७७ ॥

इत्युक्त्वा परिघेणाशु ताडयद् रुक्मिणीसुतम् ।
ताडितो हि महातेजा रौक्मिणेयः प्रतापवान् ॥ ७८ ॥
दोर्भ्यामुत्क्षिप्य तस्यैव रथं मह्यां व्यचूर्णयत् ।

ऐसा कहकर उसने तुरंत ही रुक्मिणीकुमार प्रद्युम्नपर परिघसे प्रहार किया। उससे ताड़ित हुए महान् तेजस्वी और प्रतापी प्रद्युम्नने अपनी दोनों भुजाओंसे उसके रथको ही ऊपरको उछाल दिया और पृथ्वीपर गिराकर चूर-चूर कर डाला ॥ ७८½ ॥

सोऽवप्लुत्य रथात् तस्मात् पदातिरवतस्थिवान् ॥ ७९ ॥
तां गदां गृह्य सहसा रौक्मिणेयमुपाद्रवत् ।
तयैव गदया कामः प्रमर्दनमपोथयत् ॥ ८० ॥

प्रमर्दन उस रथसे कूदकर पैदल ही युद्धके लिये खड़ा हो गया और अपनी उस प्रसिद्ध गदाको हाथमें लेकर उसने सहसा रुक्मिणीकुमारपर आक्रमण किया, परंतु प्रद्युम्नने उसकी फेंकी हुई उस गदासे ही प्रमर्दनको मार गिराया ॥

हते प्रमर्दने दैत्ये दृष्ट्वा सर्वे प्रदुद्रुवुः ।
न शक्ताः प्रमुखे स्थातुं सिंहत्रासाद् गजा इव ॥ ८१ ॥

दैत्य प्रमर्दनके मारे जानेपर समस्त असुर सैनिक भाग खड़े हुए। सिंहके भयसे भागे हुए हाथियोंके समान वे प्रद्युम्नके सामने ठहर न सके ॥ ८१ ॥

सारमेयं यथा दृष्ट्वाविगणो वै पलायते ।
तथा सेना विषीदन्ती प्रद्युम्नस्य भयार्दिता ॥ ८२ ॥

जैसे शिकारी कुत्तेको देखकर भेड़ोंका समूह पलायन करने लगता है, उसी प्रकार प्रद्युम्नके भयसे पीड़ित हुई दैत्यसेना विषादग्रस्त होकर भागने लगी ॥ ८२ ॥

क्षतजादिग्धवस्त्रा वै मुक्तकेशा विशोभना ।
रजस्वलेव युवतिः सेना समवगूहते ॥ ८३ ॥

उन सब सैनिकोंके वस्त्र खूनसे रँग गये थे, केश खुले हुए थे। वे शोभाहीन हो गये थे। इस अवस्थामें वह दैत्यसेना रजस्वला युवतीकी भाँति कहीं छिप जानेका प्रयत्न करने लगी ॥ ८३ ॥

मदनशरविभिन्ना सैनिकानभ्ययायाद्
युवतिसदृशवेषा साध्वसैः पीड्यमाना ।
रतिसमरमशक्ता वीक्षितुं सोच्छ्वसन्ती
स्वगृहगमनकामा नेच्छते स्थातुमत्र ॥ ८४ ॥

युवतीके समान वेष धारण करनेवाली वह दैत्यसेना कामदेव (प्रद्युम्न) के बाणोंसे घायल हो सैनिकोंकी ओर चली। उस समय वह भय आदिसे पीड़ित हो रही थी। समररूपी सुरतको तो देखनेमें भी असमर्थ थी, केवल उच्छ्वास लेती हुई अपने घरको जाना चाहने लगी, वहाँ ठहरना नहीं ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शम्बरसैन्यभङ्गो नाम पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें शम्बरासुरकी सेनाका पलायनविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

शम्बरासुर और प्रद्युम्नका मायामय युद्ध, शम्बरकी चिन्ता, देवराज इन्द्रकी आज्ञासे नारदजीका प्रद्युम्नको उनके पूर्वस्वरूपका स्मरण दिलाना और आवश्यक कर्तव्य सुझाना

वैशम्पायन उवाच

शम्बरस्तु ततः क्रुद्धः सूतमाह विशाम्पते ।
शत्रुप्रमुखतो वीर रथं मे वाहय द्रुतम् ॥ १ ॥
यावदेनं शरैर्हन्मि मम विप्रियकारकम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—प्रजानाथ ! तब शम्बरासुरने कुपित होकर अपने सारथिसे कहा—'वीर ! तुम शीघ्र

ही मेरे रथको शत्रुके सामने ले चलो, जिससे अपना अप्रिय करनेवाले इस प्रद्युम्नको मैं अपने बाणोंसे मार डालूँ' ॥१½॥

ततो भर्तृवचः श्रुत्वा सूतस्तत्प्रियकारकः ॥ २ ॥
रथं संचोदयामास चामीकरविभूषितम् ।
तं दृष्ट्वा रथमायान्तं प्रद्युम्नः फुल्ललोचनः ॥ ३ ॥

तब स्वामीका यह वचन सुनकर उनका प्रिय करनेवाले सूतने उस सुवर्णभूषित रथको आगे बढ़ाया। उस रथको आते देख प्रद्युम्नके नेत्र हर्षसे खिल उठे ॥ २-३ ॥

संदधे चापमादाय शरं कनकभूषितम् ।
तेनाहनत् सुसंक्रुद्धः कोपयञ्शम्बरं रणे ॥ ४ ॥

उन्होंने अत्यन्त कुपित हो धनुष लेकर उसपर एक सुवर्णभूषित बाण रखा और उस बाणसे शम्बरासुरका क्रोध बढ़ाते हुए उसे रणभूमिमें घायल कर दिया ॥ ४ ॥

हृदये ताडितस्तेन देवशत्रुः सुविक्लवः ।
रथशक्तिं समाश्रित्य तस्थौ सोऽथ विचेतनः ॥ ५ ॥

उस बाणने उसकी छातीमें चोट पहुँचायी थी, इससे वह देवशत्रु शम्बर अत्यन्त व्याकुल हो अचेत हो गया और रथशक्तिका सहारा लेकर टिका रहा ॥ ५ ॥

स चेतनां पुनः प्राप्य धनुरादाय शम्बरः ।
विव्याध कार्ष्णिं कुपितः सप्तभिर्निशितैः शरैः ॥ ६ ॥

फिर होशमें आनेपर कुपित हुए शम्बरासुरने धनुष हाथमें ले सात पैने बाणोंद्वारा श्रीकृष्णकुमारपर प्रहार किया ॥ ६ ॥

तानप्राप्ताञ्शरान् सोऽथ सप्तभिः सप्तधाच्छिनत् ।
शम्बरं च जघानाथ सप्तत्या निशितैः शरैः ॥ ७ ॥

उन बाणोंको अपने पास पहुँचनेसे पहले ही प्रद्युम्नने सात सायकोंसे मारकर सात बार खण्डित किया, साथ ही सत्तर तीखे बाणोंसे शम्बरासुरको घायल कर दिया ॥ ७ ॥

पुनः शरसहस्रेण कङ्कबर्हिणवाससा ।
अहनच्छम्बरं क्रोधाद् धाराभिरिव पर्वतम् ॥ ८ ॥

इसके बाद गीध और मोरकी पाँख लगे हुए एक हजार बाणोंकी क्रोधपूर्वक वर्षा करके उन्होंने पुनः शम्बरासुरको आहत कर दिया, ठीक उसी तरह जैसे मेघ जलकी धाराओंसे पर्वतको आप्लावित कर देता है ॥ ८ ॥

प्रदिशो विदिशश्चैव शरधारासमावृताः ॥ ९ ॥
अन्धकारीकृतं व्योम दिनकर्ता न दृश्यते ।

समस्त दिशाएँ और विदिशाएँ बाणधारासे आवृत हो गयीं। आकाशमें अन्धकार छा गया। दिनकर सूर्यका दीखना बंद हो गया ॥ ९½ ॥

ततोऽन्धकारमुत्सार्य वैद्युतास्त्रेण शम्बरः ॥ १० ॥
प्रद्युम्नस्य रथोपस्थे शरवर्षं मुमोच ह ।

तब शम्बरासुरने वैद्युतास्त्रका प्रयोग करके अन्धकारका निवारण कर दिया और प्रद्युम्नके रथकी बैठकमें बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १०½ ॥

तदस्त्रजालं प्रद्युम्नः शरेणानतपर्वणा ॥ ११ ॥
चिच्छेद बहुधा राजन् दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

राजन्! प्रद्युम्नने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए झुकी हुई गाँठवाले बाणसे शत्रुके उस अस्त्रजालको अनेक टुकड़ोंमें छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ ११½ ॥

हते तस्मिन् महावर्षे शराणां कार्ष्णिना तदा ॥ १२ ॥
द्रुमवर्षं मुमोचाथ मायया कालशम्बरः ।

श्रीकृष्णकुमारद्वारा जब बाणोंकी वह महावृष्टि शान्त कर दी गयी, तब कालशम्बरने मायाद्वारा वृक्षोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ १२½ ॥

द्रुमवर्षोच्छ्रितं दृष्ट्वा प्रद्युम्नः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १३ ॥
आग्नेयास्त्रं मुमोचाथ तेन वृक्षाननाशयत् ।

वृक्षोंकी उस वर्षाको बढ़ती देख प्रद्युम्न क्रोधसे मूर्च्छित-से हो गये, फिर तो उन्होंने आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया और उसके द्वारा समस्त वृक्षोंका नाश कर डाला ॥

भस्मीभूते वृक्षवर्षे शिलासंघातमुत्सृजत् ॥ १४ ॥
प्रद्युम्नस्तं तु वायव्यैः प्रोत्सारयत संयुगे ।

वृक्षोंकी वर्षा नष्ट हो जानेपर उसने शिलासमूह बरसाना आरम्भ किया, परंतु प्रद्युम्नने युद्धस्थलमें वायव्यास्त्रका प्रयोग करके उन शिलाओंको दूर हटा दिया ॥ १४½ ॥

ततो मायां परां चक्रे देवशत्रुः प्रतापवान् ॥ १५ ॥
सिंहान् व्याघ्रान् वराहांश्च तरक्षूनृक्षवानरान् ।
वारणान् वारिदप्रख्यान् हयानुष्ट्रान् विशाम्पते॥ १६ ॥
मुमोच धनुरायम्य प्रद्युम्नस्य रथोपरि ।

प्रजानाथ ! तब प्रतापी देवशत्रु शम्बरने दूसरी माया प्रकट की। उसने धनुष तानकर प्रद्युम्नके रथपर सिंह, व्याघ्र, वराह, तरक्षु (सेई), रीछ, वानर, मेघोंके समान काले-काले हाथी, घोड़े और ऊँटके रूपोंमें बाणोंका प्रहार किया ॥ १५-१६½ ॥

गान्धर्वास्त्रेण चिच्छेद सर्वांस्तान् खण्डशस्तदा ॥१७॥

प्रद्युम्नने गान्धर्वास्त्रका प्रयोग करके उन सबके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ १७ ॥

प्रद्युम्नेन तु सा माया हता तां वीक्ष्य शम्बरः ।
अन्यां मायां मुमोचाथ शम्बरः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १८ ॥

प्रद्युम्नने वह माया नष्ट कर दी, यह देखकर क्रोधसे मूर्च्छित हुए शम्बरासुरने दूसरी मायाका प्रयोग किया ॥

गजेन्द्रान् भिन्नवदनान् षष्टिहायनयौवनान् ।
महामात्रोत्तमारूढान् कल्पितान् रणकोविदान्॥ १९ ॥

उसने साठ वर्षोंकी अवस्थावाले नवयौवनसम्पन्न बहुत-से गजराज प्रकट किये, जिनके मस्तकसे मदकी धारा फूट रही थी। उनके ऊपर अच्छे-अच्छे महावत बैठे थे। उन्हें युद्धकी सज्जासे सजाया गया था। वे सब-के-सब युद्धकी कलामें चतुर जान पड़ते थे ॥ १९ ॥

तामापतन्तीं मायां तु कार्ष्णिः कमललोचनः।
सैंहीं मायां समुत्स्रष्टुं चक्रे बुद्धिं महामनाः ॥ २० ॥

उस गजाकार मायाको अपनी ओर आती देख कमलनयन महामना श्रीकृष्णकुमारने सिंहरूपिणी मायाके प्रयोगका विचार किया ॥ २० ॥

सा सृष्टा सिंहमाया तु रौक्मिणेयेन धीमता।
माया नागवती नष्टा आदित्येनेव शर्वरी ॥ २१ ॥

बुद्धिमान् रुक्मिणीनन्दनके द्वारा जब वह सिंहमयी माया रची गयी, तब जैसे सूर्योदयसे रात्रिका अन्धकार नष्ट होता है, उसी प्रकार वह हाथियोंसे युक्त माया विलीन हो गयी ॥ २१ ॥

निहतां हस्तिमायां तु तां समीक्ष्य महासुरः।
अन्यां सम्मोहिनीं मायां सोऽसृजद् दानवोत्तमः॥२२ ॥

उस हस्तिमयी मायाका नाश हुआ देख महान् असुर दानवराज शम्बरने दूसरी सम्मोहिनी नामक मायाका प्रयोग किया ॥ २२ ॥

तां दृष्ट्वा मोहिनीं नाम मायां मयविनिर्मिताम्।
संज्ञास्त्रेण तु प्रद्युम्नो नाशयामास वीर्यवान् ॥ २३ ॥

मयद्वारा निर्मित उस मोहिनी मायाको देखकर पराक्रमी प्रद्युम्नने संज्ञास्त्रके द्वारा उसका नाश कर डाला ॥ २३ ॥

शम्बरस्तु ततः क्रुद्धो हतया मायया तदा।
सैंहीं मायां महातेजाः सोऽसृजद् दानवेश्वरः॥ २४ ॥

जब वह माया भी नष्ट हो गयी, तब कुपित हुए महातेजस्वी दानवराज शम्बरने सिंहमयी मायाकी सृष्टि की ॥२४॥

सिंहानापततो दृष्ट्वा रौक्मिणेयः प्रतापवान्।
अस्त्रं गान्धर्वमादाय शरभानसृजत् तदा ॥ २५ ॥

सिंहको अपने ऊपर आते देख प्रतापी रुक्मिणीकुमारने गान्धर्वास्त्र लेकर शरभोंकी सृष्टि की ॥ २५ ॥

तेऽष्टापदा बलोदग्रा नखदंष्ट्रायुधा रणे।
सिंहान् विद्रावयामासुर्वायुर्जलधरानिव ॥ २६ ॥

वे आठ पैरोंवाले तथा प्रचण्ड बलशाली थे। नख और दाढ़ें ही उनके आयुध थीं। जैसे वायु बादलोंको उड़ा देती है, उसी प्रकार उन शरभोंने शत्रुके उन सिंहोंको मार भगाया ॥ २६ ॥

सिंहान् विद्रवतो दृष्ट्वा माययाष्टापदेन वै।
शम्बरश्चिन्तयामास कथमेनं निहन्मि वै।
अहो मूर्खस्वभावोऽहं यन्मया न हतः शिशुः ॥ २७ ॥

शरभमयी मायासे सिंहोंको भागते देख शम्बरासुर इस चिन्तामें पड़ा कि मैं किस प्रकार प्रद्युम्नका वध करूँ। अहो! मैं बड़े मूर्खस्वभावका हूँ, क्योंकि मैंने बाल्यावस्थामें ही इसका वध नहीं कर डाला ॥ २७ ॥

प्राप्तयौवनदेहस्तु कृतास्त्रश्चापि दुर्मतिः।
तत् कथं निहनिष्यामि शत्रुं रणशिरःस्थितम् ॥ २८ ॥

अब तो जवानीका शरीर पाकर यह दुर्बुद्धि शत्रु सम्पूर्ण अस्त्रोंका ज्ञाता भी हो चुका है। अतः युद्धके मुहानेपर खड़े हुए इस शत्रुका मैं किस प्रकार वध करूँगा ॥ २८ ॥

माया सा तिष्ठते तीव्रा पन्नगी नाम भीषणा।
दत्ता मे देवदेवेन हरेणासुरघातिना ॥ २९ ॥

अच्छा, वह पन्नगी नामक अत्यन्त दुःसह एवं भीषण माया अभी मेरे पास मौजूद है, जिसे असुरघाती देवाधिदेव महादेवजीने मुझे दिया था ॥ २९ ॥

तां सृजामि महामायामाशीविषसमाकुलाम्।
तया दह्येत दुष्टात्मा ह्येष मायामयो बली ॥ ३० ॥

विषधर सर्पोंसे युक्त उस महामायाकी मैं सृष्टि करता हूँ, उससे यह बलवान् मायामय दुष्टात्मा शत्रु अवश्य दग्ध हो जायगा ॥ ३० ॥

सा सृष्टा पन्नगी माया विषज्वालासमाकुला।
तया पन्नगमय्या तु सरथं सहवाजिनम् ॥ ३१ ॥
ससूत स हि प्रद्युम्नं बबन्ध शरबन्धनैः।

ऐसा सोचकर उस असुरने पन्नगी मायाकी सृष्टि की, जो विषकी ज्वालाओंसे व्याप्त थी। उस सर्पमयी मायासे शम्बरने रथ, घोड़े और सारथिसहित प्रद्युम्नको सर्पाकार बाणोंके बन्धनोंद्वारा बाँध लिया ॥ ३१½ ॥

बध्यमानं तदा दृष्ट्वा आत्मानं वृष्णिवंशजः ॥ ३२ ॥
मायां संचिन्तयामास सौपर्णीं सर्पनाशिनीम्।

अपनेको सर्पोंसे बद्ध होते देख वृष्णिवंशी प्रद्युम्नने सर्पोंको नाश करनेवाली सौपर्णी (गरुड़सम्बन्धिनी) मायाका चिन्तन किया ॥ ३२½ ॥

सा चिन्तिता महामाया प्रद्युम्नेन महात्मना ॥ ३३ ॥
सुपर्णा विचरन्ति स्म सर्पा नष्टा महाविषाः।

महात्मा प्रद्युम्नने ज्यों ही उस महामायाका चिन्तन किया, त्यों ही वहाँ बहुत-से गरुड़ पक्षी आकर विचरने लगे और वे महाविषधर सर्प नष्ट हो गये ॥ ३३½ ॥

भग्नायां सर्पमायायां प्रशंसन्ति सुरासुराः ॥ ३४ ॥

साधु वीर महाबाहो रुक्मिण्यानन्दवर्धन।
यत् त्वया धर्षिता माया तेन स्म परितोषिताः॥ ३५॥

उस सर्पमयी मायाके नष्ट होनेपर देवता और असुर सभी प्रद्युम्नकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे, 'रुक्मिणीका आनन्द बढ़ानेवाले महाबाहु वीर! तुमने बहुत अच्छा किया। तुम्हारे द्वारा जो इस मायाकी पराजय हुई है, इससे हम बहुत संतुष्ट हैं'॥ ३४-३५॥

हतायां सर्पमायायां शम्बरोऽचिन्तयत् पुनः।
अस्ति मे कालदण्डाभो मुद्गरो हेमभूषितः॥ ३६॥

उस सर्पमयी मायाके नष्ट होनेपर शम्बरासुरने पुनः सोचा, 'अभी मेरे पास सुवर्णभूषित मुद्गर है, जो कालदण्डके समान भयंकर है॥ ३६॥

तमप्रतिहतं युद्धे देवदानवमानवैः।
पुरा यो मम पार्वत्या दत्तः परमतुष्टया॥ ३७॥

'वह युद्धमे देवता, दानवों और मानवोंके द्वारा भी प्रतिहत होनेवाला नहीं है, मैं उसीका प्रयोग करूँगा। पूर्वकालमें परम संतुष्ट हुई पार्वती देवीने मुझे वह मुद्गर दिया और इस प्रकार कहा—॥ ३७॥

गृहाण शम्बरेमं त्वं मुद्गरं हेमभूषितम्।
मया सृष्टं स्वदेहे वै तपः परमदुश्चरम्॥ ३८॥

'शम्बर! तू यह सुवर्णभूषित मुद्गर ग्रहण कर। मैंने अपने शरीरसे अत्यन्त दुष्कर तपस्या करके इसकी सृष्टि की है॥ ३८॥

मायान्तकरणं नाम सर्वासुरविनाशनम्।
अनेन दानवौ रौद्रौ बलिनौ कामरूपिणौ॥ ३९॥
शुम्भश्चैव निशुम्भश्च सगणौ सूदितौ मया।
प्राणसंशयमापन्ने त्वया मोक्ष्यः स शत्रवे॥ ४०॥

'यह मायाओंका अन्त करनेवाला तथा समस्त असुरोंका विनाशक है। इसके द्वारा मैंने इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले दो बलवान् एवं भयंकर दानव शुम्भ और निशुम्भका उनके सैनिकगणोंसहित संहार किया है। प्राणसंकटकी स्थिति आनेपर ही तुझे अपने शत्रुपर इस मुद्गरका प्रयोग करना चाहिये'॥ ३९-४०॥

इत्युक्त्वा पार्वती देवी तत्रैवान्तरधीयत।
तदहं मुद्गरं श्रेष्ठं मोचयिष्यामि शत्रवे॥ ४१॥

'ऐसा कहकर पार्वती देवी वहीं अन्तर्धान हो गयी थीं, अतः मैं उसी श्रेष्ठ मुद्गरका अपने शत्रुपर प्रहार करूँगा'॥

तस्य विज्ञाय चित्तं तु देवराजोऽभ्यभाषत।
गच्छ नारद शीघ्रं त्वं प्रद्युम्नस्य रथं प्रति॥ ४२॥
सम्बोधय महाबाहुं पूर्वजातिं च मोक्षय।
वैष्णवास्त्रं प्रयच्छास्मै वधार्थं शम्बरस्य च॥ ४३॥
अभेद्यं कवचं चास्य प्रयच्छासुरसूदने।

उस समय उसके मनोभावको जानकर देवराज इन्द्रने नारदजीसे कहा—'नारदजी! आप शीघ्र ही प्रद्युम्नके रथके पास चले जाइये और उन महाबाहु वीरको समझाइये तथा उन्हें उनके पूर्वजन्मका स्मरण दिलाइये। साथ ही शम्बरासुरके वधके लिये उन्हे वैष्णवास्त्र प्रदान कीजिये। असुरसंहारके कर्ममें लगे हुए इन्हें अभेद्य कवच भी दीजिये'॥ ४२-४३½॥

एवमुक्तो मघवता नारदः प्रययौ त्वरम्॥ ४४॥
आकाशेऽधिष्ठितोऽवोचन्मकरध्वजकेतनम्।

इन्द्रके ऐसा कहनेपर नारदजी बड़ी उतावलीके साथ वहाँ गये और आकाशमें खड़े होकर मकरध्वज कामसे इस प्रकार बोले—॥ ४४½॥

कुमार पश्य मां प्राप्तं देवगन्धर्वनारदम्।
प्रेषितं देवराजेन तव सम्बोधनाय वै॥ ४५॥

'कुमार! देखो, मैं देवगन्धर्व नारद यहाँ आया हूँ। देवराज इन्द्रने मुझे तुमको समझानेके लिये यहाँ भेजा है॥

स्मर त्वं पूर्वकं भावं कामदेवोऽसि मानद।
हरकोपानलाद् दग्धस्तेनानङ्ग इहोच्यसे॥ ४६॥

'मानद! तुम अपने पूर्वजन्मका स्मरण करो। तुम साक्षात् कामदेव हो। भगवान् शङ्करकी क्रोधाग्निसे दग्ध हो गये थे, इसलिये इस जगत्‌में अनङ्ग कहलाते हो॥४६॥

त्वं वृष्णिवंशजातोऽसि रुक्मिण्या गर्भसम्भवः।
जातोऽसि केशवेन त्वं प्रद्युम्न इति कीर्त्यसे॥ ४७॥

'तुम्हारा वर्तमान जन्म वृष्णिवंशमें हुआ है। तुम रुक्मिणीदेवीके गर्भसे उत्पन्न हुए हो। साक्षात् भगवान् केशवने तुम्हें जन्म दिया है। तुम प्रद्युम्न नामसे पुकारे जाते हो॥ ४७॥

आहृत्य शम्बरेण त्वमिहानीतोऽसि मानद।
सप्तरात्रे त्वसम्पूर्णे सूतिकागारमध्यतः॥ ४८॥

'मानद! तुम्हारे जन्मकी सातवीं रात अभी पूरी भी नहीं हुई थी कि शम्बरासुर तुम्हे सूतिकागारसे हरकर यहाँ उठा लाया॥ ४८॥

वधार्थं शम्बरस्य त्वं ह्रियमाणो ह्युपेक्षितः।
केशवेन महाबाहो देवकार्यार्थसिद्धये॥ ४९॥

'महाबाहो! देवताओंका कार्य सिद्ध करने और शम्बरासुरको मारनेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णने तुम्हारे अपहरणकी उपेक्षा की॥ ४९॥

यैषा मायावती नाम भार्या वै शम्बरस्य तु।
रतिं तां विद्धि कल्याणीं तव भार्यां पुरातनीम्॥ ५०॥

'यह जो मायावती नामसे प्रसिद्ध शम्बरासुरकी भार्या बनी बैठी है, इसे तुम अपनी कल्याणमयी पुरातन पत्नी रति समझो॥ ५०॥

तव संरक्षणार्थाय शम्बरस्य गृहेऽवसत्।
मायां शरीरजां तस्य मोहनार्थं दुरात्मनः ॥ ५१ ॥
रतेः सम्पादनार्थाय प्रेषयत्यनिशं तदा।

'तुम्हारे शरीरकी रक्षा करनेके लिये ही इसने शम्बरासुरके घरमें निवास किया है। उस दुरात्मा दैत्यको मोहनेके लिये यह अपने शरीरसे एक मायामयी स्त्री प्रकट करके उसकी प्रसन्नताके लिये सदा भेजा करती है ॥ ५१½ ॥

एवं प्रद्युम्न बुद्ध्वा वै तत्र भार्या प्रतिष्ठिता ॥ ५२ ॥
हत्वा तं शम्बरं वीर वैष्णवास्त्रेण संयुगे।
गृह्य मायावतीं भार्यां द्वारकां गन्तुमर्हसि ॥ ५३ ॥

'प्रद्युम्न! यह सब जानकर ही तुम्हारी पत्नी वहाँ स्थिरतापूर्वक रहती है। वीर! तुम वैष्णवास्त्रके द्वारा युद्धमें शम्बरासुरका वध करके अपनी भार्या मायावतीको साथ ले द्वारकाको जानेयोग्य हो ॥ ५२-५३ ॥

गृहाण वैष्णवं चास्त्रं कवचं च महाप्रभम्।
शक्रेण तव संगृह्य प्रेषितं शत्रुसूदन ॥ ५४ ॥

'शत्रुसूदन! यह वैष्णव अस्त्र तथा अत्यन्त कान्तिमान् कवच संग्रह करके इन्द्रने तुम्हारे लिये भेजा है। तुम इन्हें ग्रहण करो ॥

शृणु मे ह्यपरं वाक्यं क्रियतामविशङ्कया।
अस्य देवरिपोस्तात मुद्गरो नित्यमूर्जितः ॥ ५५ ॥
पार्वत्यां परितुष्टायां दत्तः शत्रुनिबर्हणः।
अमोघश्चैव संग्रामे देवदानवमानवैः ॥ ५६ ॥

'अब तुम मेरी दूसरी बात सुनो और निःशङ्क होकर उसका पालन करो। तात! इस देवद्रोहीका मुद्गर नित्य शक्तिशाली है। पार्वती देवीने प्रसन्न होकर वह शत्रुनाशक मुद्गर इसे प्रदान किया था। यह संग्राममें देवताओं, दानवों और मानवोंके लिये भी अमोघ है ॥ ५५-५६ ॥

तदस्त्रप्रविघातार्थं देवीं त्वं स्मर्तुमर्हसि।
स्तव्या चैव नमस्या च महादेवी रणोत्सुकैः ॥ ५७ ॥

'उस अस्त्रका निवारण करनेके लिये तुम्हें पार्वती देवीका स्मरण करना चाहिये। युद्धके लिये उत्सुक रहनेवाले वीरोंको महादेवी पार्वतीकी स्तुति और वन्दना अवश्य करनी चाहिये॥

तत्र वै क्रियतां यत्नः संग्रामे रिपुणा सह।
इत्युक्त्वा नारदो वाक्यं प्रययौ यत्र वासवः ॥ ५८ ॥

'शत्रुके साथ संग्राम करते समय तुम्हें पार्वती देवीकी स्तुतिके लिये भी अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।' ऐसा कहकर नारदजी जहाँ इन्द्र थे, वहीं चले गये ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शम्बरवधे नारदवाक्ये षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें शम्बरवधके प्रसङ्गमें नारदजीका वाक्यविषयक एक सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

प्रद्युम्नके द्वारा शम्बरासुरका वध

वैशम्पायन उवाच

शम्बरस्तु ततः क्रुद्धो मुद्गरं तं समाददे।
मुद्गरे गृह्यमाणे तु द्वादशार्काः समुत्थिताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब क्रोधमें भरे हुए शम्बरासुरने वह मुद्गर हाथमें ले लिया। उसे लेते समय सहसा बारह सूर्य प्रकट हो गये ॥ १ ॥

पर्वताश्चलिताः सर्वे तथैव वसुधातलम्।
उन्मार्गाः सागरा याताः संक्षुब्धाश्चापि देवताः ॥ २ ॥

समस्त पर्वत हिलने लगे, पृथ्वी काँप उठी, सब समुद्र ऊपरको उछलने लगे, इसी प्रकार समस्त देवताओंमें भी क्षोभ फैल गया ॥ २ ॥

गृध्रचक्राकुलं व्योम उल्कापातो बभूव ह।
ववर्ष रुधिरं देवः परुषं पवनो ववौ ॥ ३ ॥

आकाशमें गीधोंके समूह मँडराने लगे, उल्कापात होने लगा, बादल रुधिर बरसाने लगे और अत्यन्त रूखी वायु चलने लगी ॥ ३ ॥

एवं दृष्ट्वा महोत्पातान् प्रद्युम्नः स त्वरान्वितः।
अवतीर्य रथाद् वीरः कृताञ्जलिपुटः स्थितः ॥ ४ ॥

वीर प्रद्युम्न इस प्रकारके महान् उत्पातोंको देखकर फुर्तीके साथ रथसे नीचे उतर दोनों हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥

देवीं सस्मार मनसा पार्वतीं शङ्करप्रियाम्।
प्रणम्य शिरसा देवीं स्तोतुं समुपचक्रमे ॥ ५ ॥

वे मन ही-मन भगवान् शङ्करकी प्रिया देवी पार्वतीका स्मरण करने लगे। उन्होंने सिर झुकाकर देवीको प्रणाम करके उनकी स्तुति आरम्भ की ॥ ५ ॥

प्रद्युम्न उवाच

ॐ नमः कात्यायन्यै गिरीशायै नमो नमः।
नमस्त्रैलोक्यमायायै कात्यायन्यै नमो नमः ॥ ६ ॥

प्रद्युम्नने कहा—सच्चिदानन्दमयी कात्यायनी देवीको प्रणाम है। पर्वतोंकी स्वामिनी पार्वती देवीको बारंबार नमस्कार है। तीनों लोकोंकी मायास्वरूपा कात्यायनी देवीको मेरा बारंबार अभिवादन है ॥ ६ ॥

नमः शत्रुविनाशिन्यै नमो गौर्यै शिवप्रिये।
नमस्ये शुम्भमथनीं निशुम्भमथनीमपि॥ ७॥

शत्रुओंको नष्ट करनेवाली गौरीदेवीको बारंबार प्रणाम है। शिवप्रिये! शुम्भ दैत्यको मथ डालनेवाली और निशुम्भको भी रौंदनेवाली आपको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ७॥

कालरात्रि नमस्तुभ्यं कौमार्यै च नमो नमः।
कान्तारवासिनीं देवीं नमस्यामि कृताञ्जलिः॥ ८॥

कालरात्रि! आपको प्रणाम है। कौमारी शक्तिरूपा आपको बारंबार नमस्कार है। मैं कान्तारवासिनी देवीको हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ॥ ८॥

विन्ध्यवासिनीं दुर्गघ्नां रणदुर्गां रणप्रियाम्।
नमस्यामि महादेवीं जयां च विजयां तथा॥ ९॥

मैं विन्ध्याचलमें निवास करनेवाली, विपत्तियोंको नष्ट करनेवाली, रणचण्डी, रणप्रिया, जया और विजया नामवाली महादेवीको प्रणाम करता हूँ॥ ९॥

अपराजितां नमस्येऽहमजितां शत्रुनाशिनीम्।
घण्टाहस्तां नमस्यामि घण्टामालाकुलां तथा॥ १०॥

मैं किसीसे पराजित न होनेवाली, शत्रुओंकी विनाशकारिणी अपराजिता देवीको प्रणाम करता हूँ। घण्टाओंकी मालाओंसे व्याप्त और हाथमें घण्टा धारण करनेवाली देवीको मैं प्रणाम करता हूँ॥ १०॥

त्रिशूलिनीं नमस्यामि महिषासुरघातिनीम्।
सिंहवाहां नमस्यामि सिंहप्रवरकेतनाम्॥ ११॥

मैं महिषासुरका संहार करनेवाली त्रिशूलधारिणी देवीको नमस्कार करता हूँ। सिंहपर सवार होनेवाली और सिंहके चिह्नसे अलंकृत श्रेष्ठ ध्वजावाली देवीको मैं प्रणाम करता हूँ॥

एकानंशां नमस्यामि गायत्रीं यज्ञसत्कृताम्।
सावित्रीं चापि विप्राणां नमस्येऽहं कृताञ्जलिः॥ १२॥
रक्ष मां देवि सततं संग्रामे विजयं कुरु।

मैं एकानंशा देवीको प्रणाम करता हूँ, यज्ञोंमें पूजित गायत्री देवीको नमस्कार करता हूँ और विप्रोंकी सावित्री (रूपसे उपास्य) देवीको भी मैं हाथ जोड़कर अभिवादन करता हूँ। देवि! आप सर्वदा मेरी रक्षा कीजिये और संग्राममें मुझे विजय प्रदान कीजिये॥ १२½॥

इति कामवचस्तुष्टा दुर्गा सम्प्रीतमानसा॥ १३॥
उवाच वचनं देवी सुप्रीतेनान्तरात्मना।

कामस्वरूप प्रद्युम्नके ऐसे प्रार्थनापूर्ण वचनोंसे दुर्गा देवी संतुष्ट हो गयीं। उनका मन प्रसन्न हो गया। तदनन्तर दुर्गादेवी हृदयमें अत्यन्त आह्लादित हो यह वचन कहने लगीं—॥

पश्य पश्य महाबाहो रुक्मिण्यानन्दवर्द्धन॥ १४॥
वरं वरय वत्स त्वममोघं दर्शनं मम।

'रुक्मिणीके आनन्दको बढ़ानेवाले महाबाहु प्रद्युम्न! (मेरी ओर) देख! देख!! मेरा दर्शन अमोघ है, अतः वत्स! तू मनोवाञ्छित वर माँग ले'॥ १४½॥

देव्यास्तु वचनं श्रुत्वा रोमाञ्चोद्गतमानसः॥ १५॥
प्रणम्य शिरसा देवीं विज्ञप्तुमुपचक्रमे।
यदि त्वं देवि तुष्टासि दीयतां मे यदीप्सितम्॥ १६॥

देवीके इस वचनको सुनकर प्रद्युम्न रोमाञ्चित हो गये, हर्षसे उनका हृदय उछलने लगा। तब उन्होंने सिर झुकाकर देवीको प्रणाम करके उनसे इस प्रकार निवेदन किया—'देवि! यदि आप प्रसन्न हैं तो मैं जो चाहता हूँ, वह मुझे दीजिये॥ १५-१६॥

वरं च वरदे याचे सर्वामित्रेषु मे जयः।
यस्त्वया मुद्गरो दत्तः शम्बरस्यात्मसम्भवः॥ १७॥
एष मे गात्रमासाद्य माला पद्मवती भवेत्।
तथास्त्विति च साप्युक्त्वा तत्रैवान्तरधीयत॥ १८॥

'वरदे! मैं यह वर माँगता हूँ कि सब शत्रुओंपर मुझे विजय प्राप्त हो और अपने शरीरसे प्रकट किया हुआ जो मुद्गर आपने शम्बरासुरको दिया है, वह मेरे शरीरपर प्राप्त होकर कमलोंकी माला बन जाय।' तब वे देवी 'ऐसा ही होगा' यह कहकर वहाँ ही अन्तर्धान हो गयीं॥ १७-१८॥

प्रद्युम्नस्तु महातेजास्तुष्टो रथमथारुहत्।
मुद्गरं तं गृहीत्वा च शम्बरः क्रोधमूर्च्छितः॥ १९॥
भ्रामयित्वा स चिक्षेप प्रद्युम्नोरसि वीर्यवान्।

तब महातेजस्वी प्रद्युम्न संतुष्ट होकर रथपर आरूढ़ हुए। उधर क्रोधसे अचेत हुए पराक्रमी शम्बरने उस मुद्गरको हाथमें लेकर घुमाया और प्रद्युम्नकी छातीपर दे मारा॥

स गत्वा मदनाभ्याशं माला भूत्वा तु पौष्करी॥ २०॥
प्रद्युम्नस्य च कण्ठे तु समासक्ता व्यराजत।
नक्षत्राणां तु मालायां यथा परिवृतो विधुः॥ २१॥

प्रद्युम्नके निकट जाकर वह मुद्गर कमल-पुष्पोंकी माला बन गया। वह माला प्रद्युम्नके कण्ठमें आसक्त होकर अतिशय शोभा पाने लगी। उस समय वे नक्षत्रोंकी मालासे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित हुए॥ २०-२१॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
साधु साध्विति वाचोचुः पूजयन् केशवात्मजम्॥ २२॥
मुद्गरं पुष्पभूतं तु दृष्ट्वा प्रद्युम्नसंनिधौ।
वैष्णवं परमास्त्रं तु नारदेन यथाहृतम्॥ २३॥
संदधे चापमानम्य इदं वचनमब्रवीत्।

तत्पश्चात् देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि 'साधु! साधु!' कहकर केशवकुमारकी प्रशंसा करने लगे। प्रद्युम्नके निकट जब वह मुद्गर कमलपुष्प बन गया, तब प्रद्युम्नने

नारदजीके दिये हुए वैष्णव नामक दिव्यास्त्रका संधान किया और अपने धनुषको झुकाकर इस प्रकार कहा—॥२२-२३½॥

यद्यहं रुक्मिणीपुत्रः केशवस्यात्मजो ह्यहम् ॥ २४ ॥
तेन सत्येन बाणेन जहि त्वं शम्बरं रणे ।

'वैष्णवास्त्र ! यदि मैं रुक्मिणीदेवी और भगवान् श्रीकृष्णका पुत्र हूँ, तो इस सत्यके प्रभावसे तुम अपने बाणद्वारा रणभूमिमें शम्बरासुरको मार डालो' ॥ २४½ ॥

इत्युक्त्वा चापमाकृष्य संधाय च महामनाः ॥ २५ ॥
चिक्षेप शम्बरस्याथ दहँल्लोकत्रयं यथा ।

ऐसा कहकर महामनस्वी प्रद्युम्नने धनुष खींचकर उसपर बाण रखा और तीनों लोकोंको जलाते हुए उसको शम्बरासुरके ऊपर छोड़ दिया ॥ २५½ ॥

स क्षिप्तो वृष्णिसिंहेन शरः क्रव्यादमोहनः ॥ २६ ॥
हृदयं शम्बरस्याथ भित्त्वा धरणिमागतः ।
न चास्य मांसं न स्नायुर्नास्थि न त्वङ् न शोणितम् ॥२७॥
सर्वं त्वद् भस्मसाद्भूतं वैष्णवास्त्रस्य तेजसा ।

वृष्णिवंशके सिंह प्रद्युम्नके द्वारा चलाया गया वह बाण राक्षसोंको मोहमें डालनेवाला था । वह शम्बरासुरके हृदयको विदीर्ण करके पृथ्वीपर आ गया, इससे उस दैत्यका न तो मांस, न स्नायुजाल, न हड्डी, न त्वचा और न रक्त ही शेष बचा । वैष्णवास्त्रके तेजसे वह सब कुछ भस्म हो गया ॥ २६-२७½ ॥

हते दैत्ये महाकाये दानवे शम्बरेऽधमे ॥ २८ ॥
जहृषुर्देवगन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
उर्वशी मेनका रम्भा विप्रचित्तिस्तिलोत्तमा ॥ २९ ॥

उस महाकाय अधम दानव शम्बर दैत्यके मारे जानेपर देवता और गन्धर्व हर्षसे खिल उठे तथा उर्वशी, मेनका, रम्भा, विप्रचित्ति और तिलोत्तमा आदि अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ॥

ननृतुर्हृष्टमनसो जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
देवराजस्तु सुप्रीतः सर्वदेवगणैः सह ।
प्रद्युम्नं पुष्पवर्षेण तमभ्यर्च्य प्रहृष्टवत् ॥ ३० ॥

उपर्युक्त अप्सराएँ जब प्रसन्नचित्त होकर नाचने लगीं, उस समय यह चराचर जगत् भी हर्षसे झूम उठा । समस्त देवताओंसहित देवराज इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हो फूलोंकी वर्षासे प्रद्युम्नका सत्कार करके हर्ष विभोर हो गये ॥ ३० ॥

अथ समरहते तु दैत्यराजे
मधुमथनस्य सुतेन वैष्णवास्त्रैः ।
विगतरिपुभयाः सुराश्च जग्मु-
र्मकरविभूषणकेतनं स्तुवन्तः ॥ ३१ ॥

मधुसूदन श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नद्वारा समरभूमिमें वैष्णवास्त्रसे दैत्यराज शम्बरके मारे जानेपर समस्त देवताओंका शत्रुसम्बन्धी भय दूर हो गया और वे मकरध्वज प्रद्युम्नकी स्तुति करते हुए अपने स्थानको चले गये ॥ ३१ ॥

स च समरपरिश्रमं वहन् वै
नगरमुखं प्रविवेश रौक्मिणेयः ।
प्रियतम इव कान्तया प्रहृष्ट-
स्त्वरितपदं रतिदर्शनं चकार ॥ ३२ ॥

अपने शरीरद्वारा युद्धजनित थकावटका भार वहन करते हुए रुक्मिणीकुमार प्रद्युम्नने नगरद्वारमें प्रवेश किया । जैसे प्रेयसीसे मिलकर प्रियतमको प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार अत्यन्त हर्षमें भरे हुए प्रद्युम्नने तुरंत ही अपनी पत्नी रतिसे साक्षात्कार किया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि शम्बरवधे सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें शम्बरासुरका वधविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

मायावतीसहित प्रद्युम्नका द्वारकामें आगमन और रुक्मिणीके भवनमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

समाप्तमायो मायाज्ञो विक्रान्तः समरेऽव्ययः ।
अष्टम्यां निहतो युद्धे मायावी कालशम्बरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शम्बरासुर मायाओंका ज्ञाता था, किंतु उसकी सारी माया समाप्त हो गयी । मायावी कालशम्बर रणभूमिमें पराक्रम प्रकट करनेवाला और अविनाशी था, तो भी अष्टमीको युद्धमे प्रद्युम्नद्वारा मार डाला गया ॥ १ ॥

तमृक्षवन्ते नगरे निहत्यासुरसत्तमम् ।
गृह्य मायावतीं देवीमागच्छन्नगरं पितुः ॥ २ ॥

ऋक्षवन्त नामक नगरमें असुरशिरोमणि शम्बरका वध करके देवी मायावतीको साथ ले प्रद्युम्न अपने पिताके नगरमें आये ॥ २ ॥

सोऽन्तरिक्षगतो भूत्वा मायावी शीघ्रविक्रमः ।
आजगाम पुरीं रम्यां रक्षितां तेजसा पितुः ॥ ३ ॥

शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले मायावी प्रद्युम्न

आकाशमें स्थित हो अपने पिताके तेजसे सुरक्षित रमणीय पुरी द्वारकामें आये ॥ ३ ॥

सोऽन्तरिक्षान्निपतितः केशवान्तःपुरे शिशुः ।
मायावत्या सह तया रूपवानिव मन्मथः ॥ ४ ॥

वे आकाशसे भगवान् श्रीकृष्णके अन्तःपुरमें उतर पड़े। उस समय उस मायावती (रति) के साथ मूर्तिमान् कामदेवके समान प्रतीत होते थे ॥ ४ ॥

तस्मिंस्तत्रावपतिते महिष्यः केशवस्य याः ।
विस्मिताश्चैव हृष्टाश्च भीताश्चैवाभवंस्ततः ॥ ५ ॥

उस समय वहाँ उनके उतरनेपर भगवान् श्रीकृष्णकी जो रानियाँ थीं, उनमेंसे कुछ तो आश्चर्यसे चकित हो उठीं, कितनी स्त्रियोंको महान् हर्ष हुआ और बहुत-सी भयभीत हो गयीं ॥ ५ ॥

ततस्तं कामसंकाशं कान्तया सह सङ्गतम् ।
प्रेक्षन्त्यो हृष्टवदनाः पिबन्त्यो नयनोत्सवम् ॥ ६ ॥

प्रद्युम्न अपनी प्रियतमाके साथ मिलकर कामदेवके समान शोभा पा रहे थे। उनकी ओर निहारती हुई रानियोंके मुखपर हर्ष छा रहा था। वे नेत्रोंसे उनकी रूपमाधुरीका पान कर रही थीं, प्रद्युम्न उनके नयनोंके लिये उत्सवरूप हो गये थे ॥ ६ ॥

तं विनीतमुखं दृष्ट्वा लज्जमानं पदे पदे ।
अभवन् स्निग्धसंकल्पाः सर्वास्ताः कृष्णयोषितः ॥ ७ ॥

उनका मुख विनयसे झुका हुआ था। वे पग-पगपर संकोचका अनुभव कर रहे थे। उन्हे देखकर श्रीकृष्णकी सभी रानियोंके हृदयमे वात्सल्य-स्नेहका संचार हो आया था ॥ ७ ॥

रुक्मिणी चैव तं दृष्ट्वा शोकार्ता पुत्रगर्द्धिनी ।
सपत्नीशतसंकीर्णा सबाष्पा वाक्यमब्रवीत् ॥ ८ ॥

पुत्रकी इच्छा रखनेवाली रुक्मिणी उन्हे देखकर शोकसे कातर हो उठीं। वे सैकड़ो सौतोंसे घिरकर ऑसू बहाती हुई इस प्रकार बोलीं—॥ ८ ॥

यादृक् स्वप्नो मया दृष्टो निशायां यौवने गते ।
कंसारिणा ममानीय दत्तं साहारपल्लवम् ॥ ९ ॥

'मैंने रातमें निशाकालकी युवावस्था बीत जानेपर अर्थात् पिछले पहरमे जैसा स्वप्न देखा है, (वह इस प्रकार है—) 'मेरे प्राणनाथ कंसनिषूदनने मेरे हाथमें फलयुक्त आम्रपल्लव लाकर दिया है ॥ ९ ॥

शशिरश्मिप्रतीकाशं मुक्तादाम च शोभनम् ।
केशवेनाङ्कमारोप्य मम कण्ठे न्यवध्यत ॥ १० ॥

'फिर श्रीकेशवने मुझे अपने अङ्कमें बिठाकर मोतियोंकी एक बहुत सुन्दर माला मेरे कण्ठमें बॉध दी। वह माला चन्द्रमाकी किरणोंके समान प्रकाशमान थी ॥ १० ॥

श्यामा सुचारुकेशा स्त्री शुक्लाम्बरविभूषिता ।
पद्महस्ता निरीक्षन्ती प्रविष्टा मम वेश्मनि ॥ ११ ॥

'फिर एक श्यामा (सोलह वर्षकी अवस्थावाली अथवा श्यामवर्णा) स्त्री मेरे महलमे प्रविष्ट हुई, जिसके केश बड़े ही मनोहर थे। श्वेत वस्त्र उसके अङ्गोंकी शोभा बढ़ा रहे थे। उसके हाथमें कमल था। वह मेरी ओर देखती हुई घरके भीतर घुसी थी ॥ ११ ॥

तया पुनरहं गृह्य स्नापिता रुचिराम्बुना ।
कुशेशयमयीं मालां स्त्री संगृह्याथ पाणिना ॥ १२ ॥
मम मूर्धन्युपाघ्राय दत्ता स्वच्छा तया मम ।

'वह स्त्री मेरा हाथ पकड़कर मुझे स्नानागारमें ले गयी और स्वच्छ जलसे उसने मुझे नहलाया। तत्पश्चात् मेरा मस्तक सूँघकर उसने अपने हाथसे एक निर्मल कमलपुष्पोंकी माला लेकर मुझे पहना दी' ॥ १२½ ॥

एवं स्वप्नान् कीर्तयन्ती रुक्मिणी हृष्टमानसा ॥ १३ ॥
सखीजनवृता देवी कुमारं वीक्ष्य तं मुहुः ।

इस प्रकार स्वप्नोंका वर्णन करती हुई रुक्मिणीका हृदय हर्षसे खिल उठा। सखियोंसे घिरी हुई उन महारानीने कुमार प्रद्युम्नकी ओर वारंबार देखकर कहा—॥ १३½ ॥

धन्यायाः खल्वयं पुत्रो दीर्घायुः प्रियदर्शनः ॥ १४ ॥
ईदृशः कामसंकाशो यौवने प्रथमे स्थितः ।

'निश्चय ही यह किसी बड़भागिनी माताका दीर्घायु पुत्र है, जो देखनेमें बहुत ही प्रिय है। इस तरह कामदेव जैसा सुन्दर यह बालक अभी पहले-पहल युवावस्थामें प्रविष्ट हुआ है' ॥ १४½ ॥

जीवपुत्रा त्वया पुत्र कासौ भाग्यसमन्विता ॥ १५ ॥
किमर्थं चाम्बुदश्यामः सभार्यस्त्वमिहागतः ।

(फिर वे प्रद्युम्नसे बोलीं—) 'बेटा ! वह कौन-सी सौभाग्यशालिनी माता है, जो तुम जैसे चिरंजीवी पुत्रसे पुत्रवती हुई है ? मेघके समान श्यामसुन्दर शरीरवाले तुम अपनी पत्नीके साथ किसलिये यहाँ पधारे हो ? ॥ १५½ ॥

अस्मिन् वयसि सुव्यक्तं प्रद्युम्नो मम पुत्रकः ॥ १६ ॥
भवेद् यदि न नीतः स्यात् कृतान्तेन बलीयसा ।

'यदि बलवान् काल न उठा ले गया होता तो मेरा बेटा प्रद्युम्न भी अवश्य ही इसी (तरुण) अवस्थामें स्थित होता ॥ १६½ ॥

व्यक्तं कृष्णकुमारस्त्वं न मिथ्या मम तर्कितम् ॥ १७ ॥
विज्ञातोऽसि मया चिह्नैर्विना चक्रं जनार्दनः ।

'अथवा मेरा तर्क करना—सोचना व्यर्थ नहीं है। तुम अवश्य ही श्रीकृष्णके पुत्र हो। मैंने लक्षणोंसे तुम्हें पहचान लिया। तुम बिना चक्रके जनार्दन हो (यदि तुम्हारे हाथमें

चक्र हो तो तुममें और श्रीकृष्णमें कोई अन्तर नहीं रह जायगा।) ॥ १७½ ॥

मुखं नारायणस्येव केशाः केशान्त एव च ॥ १८ ॥
ऊरू वक्षो भुजौ तुल्यौ हलिनः श्वशुरस्य मे ।

'तुम्हारा मुख नारायण (श्रीकृष्ण) के समान है। तुम्हारे केश और केशान्तभाग उन्हींके सदृश हैं। तुम्हारी दोनों जाँघें, वक्षःस्थल और दोनों भुजाएँ मेरे श्वशुर हलधरके सदृश हैं ॥ १८½ ॥

कस्त्वं वृष्णिकुलं सर्वं द्योतयन् वपुषा स्थितः ॥ १९ ॥
अहो नारायणस्येव दिव्या ते परमा तनुः ।

'तुम कौन हो, जो यहाँ अपने शरीरकी कान्तिसे समस्त वृष्णिकुलको प्रकाशित करते हुए खड़े हो ? अहो ! भगवान् नारायणके समान तुम्हारा शरीर परम दिव्य है' ॥ १९½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे कृष्णः सहसा प्रविवेश ह ।
नारदस्य वचः श्रुत्वा शम्बरस्य वधं प्रति ॥ २० ॥

इसी बीचमें शम्बर-वधके विषयमें नारदजीका वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण सहसा अन्तःपुरमें आये ॥ २० ॥

सोऽपश्यत् तं सुतं ज्येष्ठं सिद्धं मन्मथलक्षणैः ।
स्नुषां मायावतीं चैव हृष्टचेता जनार्दनः ॥ २१ ॥

उन्होंने कामदेवके लक्षणोंसे सम्पन्न अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्नको तथा पुत्रवधू मायावतीको भी देखा । इससे जनार्दनके चित्तमें बड़ा हर्ष हुआ ॥ २१ ॥

सोऽब्रवीत् सहसा देवीं रुक्मिणीं देवतामिव ।
अयं स देवि सम्प्राप्तः सुतश्चापधरस्तव ॥ २२ ॥

वे सहसा देवताके समान दीप्तिमती देवी रुक्मिणीसे बोले—'देवि ! यह वही तुम्हारा पुत्र है, जो इस समय धनुष धारण करके तुम्हारे पास आया है ॥ २२ ॥

अनेन शम्बरं हत्वा मायायुद्धविशारदम् ।
हृता मायाश्च ताः सर्वा याभिर्देवानबाधयत् ॥ २३ ॥

'इसने मायायुद्धविशारद शम्बरासुरका वध करके उसकी ये सारी मायाएँ भी हर ली हैं, जिनके बलपर वह देवताओंको सताया करता था ॥ २३ ॥

सती चेयं शुभा साध्वी भार्या वै तनयस्य ते ।
मायावतीति विख्याता शम्बरस्य गृहोषिता ॥ २४ ॥

'यह तुम्हारे पुत्रकी सती साध्वी शुभलक्षणा पत्नी है । इसका नाम मायावती है । यह शम्बरासुरके घरमें चिरकाल-तक रही है ॥ २४ ॥

मा च ते शम्बरस्येयं पत्नीति भवतु व्यथा ।
मन्मथे तु गते नाशं गते चानङ्गतां पुरा ॥ २५ ॥
कामपत्नी न कान्तैषा शम्बरस्य रतिः प्रिया ।

'यह कहीं शम्बरासुरकी स्त्री न हो, ऐसी बात सोचकर तुम मनमें व्यथित न होना । पूर्वकालमें जब कामदेवका शरीर नष्ट हो गया और वे अनङ्ग हो गये, उस समय उनकी प्यारी पत्नी जो रति थी, वही यह मायावती है । यह शम्बरासुरकी वल्लभा कभी नहीं रही है ॥ २५½ ॥

मायारूपेण तं दैत्यं मोहयत्यसकृच्छुभा ॥ २६ ॥
न चैषा तस्य कौमारे वशे तिष्ठति शोभना ।
आत्ममायामयं कृत्वा रूपं शम्बरमाविशत् ॥ २७ ॥

'यह शुभलक्षणा सुन्दरी सदा मायामयरूपसे ही उस दैत्यको मोहमें डाले रखती थी । यह कुमारावस्थामें कभी उसके वशमें नहीं हुई । अपनी मायासे ही एक मनोहर नारीका रूप रचकर उसीको शम्बरासुरके शयनागारमें प्रविष्ट करती थी ॥ २६-२७ ॥

पत्न्येषा मम पुत्रस्य स्नुषा तव वराङ्गना ।
लोककान्तस्य साहाय्यं करिष्यति मनोमयम् ॥ २८ ॥

'यह सुन्दरी मेरे पुत्रकी पत्नी तथा तुम्हारी बहू है । यह लोककमनीय रूपवाले प्रद्युम्नकी मनोमय (संकल्पमय) सहायता करेगी ॥ २८ ॥

प्रवेशयैनां भवनं पूज्यां ज्येष्ठां स्नुषां मम ।
चिरं प्रणष्टं च सुतं भजस्व पुनरागतम् ॥ २९ ॥

'यह मेरी आदरणीया ज्येष्ठ बहू है, इसे घरके भीतर ले चलो । चिरकालसे नष्ट हुआ तुम्हारा पुत्र फिर आ गया । इसे अपनाओ' ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु वचनं देवी कृष्णेनोदाहृतं तदा ।
प्रहर्षमतुलं लब्ध्वा रुक्मिणी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर उस समय देवी रुक्मिणीको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ । वे बोलीं—॥ ३० ॥

अहो धन्यतरास्मीति वीरपुत्रसमागमात् ।
अद्य मे सफलः कामः पूर्णो मेऽद्य मनोरथः ॥ ३१ ॥

'अहो ! आज अपने वीर पुत्रके मिल जानेसे मैं परम धन्य हो गयी । अब मेरी कामना सफल हो गयी । सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो गया ॥ ३१ ॥

चिरप्रणष्टपुत्रस्य दर्शनं प्रियया सह ।
आगच्छ पुत्र भवनं सभार्यः प्रविशेह च ॥ ३२ ॥

'चिरकालसे खोये हुए पुत्रका आज मुझे उसकी पत्नीके साथ दर्शन हुआ । बेटा ! आओ, अपनी पत्नीके साथ इस घरके भीतर प्रवेश करो' ॥ ३२ ॥

ततोऽभिवाद्य चरणौ गोविन्दं मातरं च ताम् ।
प्रद्युम्नः पूजयामास हलिनं च महाबलम् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर प्रद्युम्नने अपने पिता श्रीकृष्ण और माता रुक्मिणीके चरणोंमें प्रणाम करके अपने ताऊ महाबली हलधरका भी पूजन किया ॥ ३३ ॥

उत्थाप्य तं परिष्वज्य मूर्ध्न्युपाघ्राय वीर्यवान्।
प्रद्युम्नं बलिनां श्रेष्ठं केशवः परवीरहा ॥ ३४ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्णने बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नको उठाकर हृदयसे लगाया और मस्तक सूँघकर अपना स्नेह प्रदान किया ॥ ३४ ॥

स्नुषां चोत्थाप्य तां देवी रुक्मिणी रुक्मभूषणा।
परिष्वज्योपसंगृह्य स्नेहाद् गद्गदभाषिणी ॥ ३५ ॥

सोनेके आभूषणोंसे विभूषित हुई देवी रुक्मिणीने अपनी उस पुत्रवधूको उठाकर हृदयसे लगा लिया और उसे सर्वतोभावेन अपनाकर स्नेहसे गद्गद वाणीद्वारा उसका स्वागत किया ॥ ३५ ॥

समेत्य भवनं पत्न्या शचीन्द्रमदितिर्यथा।
प्रवेशयामास तदा रुक्मिणी सुतमागतम् ॥ ३६ ॥

जैसे देवमाता अदितिने शची और इन्द्रको देवभवनमें प्रविष्ट किया था, उसी प्रकार रुक्मिणीने पत्नीके साथ आये हुए पुत्रसे मिलकर उसका भवनके भीतर प्रवेश कराया ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि प्रद्युम्नागमने अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें प्रद्युम्नका आगमनविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

नवाधिकशततमोऽध्यायः

बलदेवजीके द्वारा प्रद्युम्नको आह्निकस्तोत्रका उपदेश

वैशम्पायन उवाच

अत्राश्चर्यात्मकं स्तोत्रमाह्निकं जयतां वर।
प्रद्युम्ने द्वारकां प्राप्ते हत्वा तं कालशम्बरम् ॥ १ ॥
बलदेवेन रक्षार्थं प्रोक्तमाह्निकमुच्यते।
यज्जप्त्वा तु नृपश्रेष्ठ सायं पूतात्मतां व्रजेत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ जनमेजय ! जब प्रद्युम्न कालशम्बरका वध करके द्वारकापुरीमें आये, उस समय बलदेवजीने उनकी रक्षाके लिये उन्हें एक स्तोत्रका उपदेश दिया; जिसे आह्निक कहते हैं। नृपश्रेष्ठ ! उसी आश्चर्यमय आह्निक स्तोत्रका यहाँ वर्णन किया जाता है, जिसका सायंकालमें जप करनेसे मनुष्य पूतात्मा (पवित्र अन्तःकरणवाला) हो जाता है ॥ १-२ ॥

कीर्तितं बलदेवेन विष्णुना चैव कीर्तितम्।
धर्मकामैश्च मुनिभिर्ऋषिभिश्चापि कीर्तितम् ॥ ३ ॥

इस स्तोत्रका बलदेवजीने, भगवान् विष्णुने तथा धर्माभिलाषी ऋषि-मुनियोंने भी कीर्तन किया है ॥ ३ ॥

कर्हिचिद् रुक्मिणीपुत्रो हलिना संयुतो गृहे।
उपविष्टः प्रणम्याथ तमुवाच कृताञ्जलिः ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, रुक्मिणीपुत्र प्रद्युम्न घरमें बलरामजीके साथ बैठे हुए थे। उन्होंने हाथ जोड़कर बलरामजीको प्रणाम किया और इस प्रकार पूछा ॥ ४ ॥

प्रद्युम्न उवाच

कृष्णानुज महाभाग रोहिणीतनय प्रभो।
किंचित् स्तोत्रं मम ब्रूहि यज्जप्त्वा निर्भयोऽभवम् ॥ ५ ॥

प्रद्युम्न बोले—भगवान् श्रीकृष्णके बड़े भाई महाभाग रोहिणीनन्दन ! प्रभो ! मुझे किसी ऐसे स्तोत्रका उपदेश दीजिये, जिसका जप करके मैं निर्भय हो जाऊँ ॥ ५ ॥

श्रीबलदेव उवाच

सुरासुरगुरुर्ब्रह्मा पातु मां जगतः पतिः।
अथोङ्कारवषट्कारौ सावित्री विधयस्त्रयः ॥ ६ ॥
ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांस्याथर्वणानि च।
चत्वारस्त्वखिला वेदाः सरहस्याः सविस्तराः ॥ ७ ॥
पुराणमितिहासश्चाखिलान्युपखिलानि च।
अङ्गान्युपाङ्गानि तथा व्याख्यातानि च पान्तु माम् ॥ ८ ॥

श्रीबलदेवजीने कहा—देवताओं और असुरोंके गुरु जगत्पति ब्रह्माजी मेरी रक्षा करें। ओङ्कार, वषट्कार, सावित्री, तीन प्रकारकी[1] विधियाँ, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, रहस्य और विस्तारसहित सम्पूर्णरूपसे चारों वेद, इतिहास, पुराण, खिल, उपखिल, अङ्ग, उपाङ्ग तथा व्याख्याग्रन्थ—इन सबके अभिमानी देवता मेरी रक्षा करें ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिस्तथा सत्त्वं रजस्तमः ॥ ९ ॥
व्यानोदानौ समानश्च प्राणोऽपानश्च पञ्चमः।
वायवः सप्त चैवान्ये येष्वायत्तमिदं जगत् ॥ १० ॥
मरीचिरङ्गिरात्रिश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठो भगवान् पान्तु ते मां महर्षयः ॥ ११ ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, पाँचवाँ तेज, इन्द्रियाँ,

१. अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसंख्याविधि।

मन, बुद्धि, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, व्यान, उदान, समान, प्राण और पाँचवाँ अपान, जिनके अधीन यह सारा जगत् है, वे प्रवह आदि अन्य सात वायु, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु और भगवान् वसिष्ठ—ये महर्षि तथा पूर्वोक्त पृथ्वी आदिके अभिमानी देवता मेरी रक्षा करें ॥ ९–११ ॥

कश्यपाद्याश्च मुनयश्चतुर्दश दिशो दश।
नरनारायणौ देवौ सगणौ पान्तु मां सदा ॥ १२ ॥

कश्यप-आदि चौदह मुनि, दस दिशाएँ तथा अपने गणोंसहित देव नर और नारायण—ये सदा मेरा संरक्षण करें ॥ १२ ॥

रुद्राश्चैकादश प्रोक्ता आदित्या द्वादशैव तु।
अष्टौ च वसवो देवा अश्विनौ द्वौ प्रकीर्तितौ ॥ १३ ॥

ग्यारह रुद्र कहे गये हैं और बारह आदित्य, आठ वसुदेवता बताये गये हैं और दो अश्विनीकुमार—ये सब मेरी रक्षा करें ॥ १३ ॥

ह्रीः श्रीर्लक्ष्मीः स्वधा पुष्टिर्मेधा तुष्टिः स्मृतिर्धृतिः।
अदितिर्दितिर्दनुश्चैव सिंहिका दैत्यमातरः ॥ १४ ॥

ह्री, श्री, लक्ष्मी, स्वधा, पुष्टि, मेधा, तुष्टि, स्मृति, धृति, देवमाता अदिति तथा दैत्योंकी माताएँ दिति, दनु और सिंहिका आदि मेरी रक्षा करें ॥ १४ ॥

हिमवान् हेमकूटश्च निषधः श्वेतपर्वतः।
ऋषभः पारियात्रश्च विन्ध्यो वैडूर्यपर्वतः ॥ १५ ॥
सह्योदयश्च मलयो मेरुमन्दरदर्दुराः।
क्रौञ्चकैलासमैनाकाः पान्तु मां धरणीधराः ॥ १६ ॥

हिमवान्, हेमकूट, निषध, श्वेतपर्वत, ऋषभ, पारियात्र, विन्ध्य, वैदूर्यपर्वत, सह्य, उदयगिरि, मलय, मेरु, मन्दर, दर्दुर, क्रौञ्च, कैलास और मैनाक आदि पर्वत मेरी रक्षा करें॥

शेषश्च वासुकिश्चैव विशालाक्षश्च तक्षकः।
एलापत्रः शुक्लवर्णः कम्बलाश्वतरावुभौ ॥ १७ ॥
हस्तिभद्रः पिटरकः कर्कोटकधनंजयौ।
तथा पूरणकश्चैव नागश्च करवीरकः ॥ १८ ॥
सुमनास्यो दधिमुखस्तथा शृङ्गारपिण्डकः।
मणिनागश्च भगवांस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ १९ ॥
नागराडधिकर्णश्च तथा हारिद्रकोऽपरः।
एते चान्ये च बहवो ये चान्ये नानुकीर्तिताः ॥ २० ॥
भूधराः सत्यधर्माणः पान्तु मां भुजगेश्वराः।

शेष, वासुकि, विशालाक्ष और तक्षक, एलापत्र, शुक्लवर्ण, कम्बल, अश्वतर, हस्तिभद्र, पिटरक, कर्कोटक, धनंजय, पूरणक, करवीरक नाग, सुमनास्य, दधिमुख, शृङ्गारपिण्डक, तीनों लोकोंमें विख्यात भगवान् मणिनाग, नागराज अधिकर्ण तथा हारिद्रक—ये तथा दूसरे भी बहुत-से नाग, जिनके नाम यहाँ नहीं लिये गये हैं, वे सभी सत्यधर्मा एवं पृथ्वीका भार धारण करनेवाले नागराज मेरी रक्षा करें ॥ १७–२०½ ॥

समुद्राः पान्तु चत्वारो गङ्गा च सरितां वरा ॥ २१ ॥
सरस्वती चन्द्रभागा शतद्रुर्देविका शिवा।
द्वारावती विपाशा च सरयूर्यमुना तथा ॥ २२ ॥
कल्माषी च रथोष्मा च बाहुदा च हिरण्यदा।
प्लक्षा चेक्षुमती चैव स्रवन्ती च बृहद्रथा ॥ २३ ॥
ख्याता चर्मण्वती चैव पुण्या चैव वधूसरा।
एताश्चान्याश्च सरितो याश्चान्या नानुकीर्तिताः॥ २४ ॥
उत्तरापथगामिन्यः सलिलैः स्नपयन्तु माम्।

चारों समुद्र मेरी रक्षा करें। सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गा, सरस्वती, चन्द्रभागा, शतद्रु, देविका, शिवा, द्वारावती, विपाशा, सरयू, यमुना, कल्माषी, रथोष्मा, बाहुदा, हिरण्यदा, प्लक्षा, इक्षुमती, स्रवन्ती, बृहद्रथा, सुविख्यात चर्मण्वती तथा पुण्य-सलिला वधूसरा—ये और दूसरी बहुत-सी नदियाँ जिनके नाम यहाँ नहीं लिये गये हैं तथा जो उत्तरभारतमें बहनेवाली हैं, वे सब-की-सब अपने जलसे मुझे नहलायें ॥ २१–२४½ ॥

वेणी गोदावरी सीता कावेरी कौङ्कणावती ॥ २५ ॥
कृष्णा वेणा शुक्तिमती तमसा पुष्पवाहिनी।
ताम्रपर्णी ज्योतिरथा उत्फलोदुम्बरावती ॥ २६ ॥
नदी वैतरणी पुण्या विदर्भा नर्मदा शुभा।
वितस्ता भीमरथ्या च ऐला चैव महानदी ॥ २७ ॥
कालिन्दी गोमती पुण्या नदः शोणश्च विश्रुतः।
एताश्चान्याश्च वै नद्यो याश्चान्या न तु कीर्तिताः॥ २८ ॥
दक्षिणापथवाहिन्यः सलिलैः स्नपयन्तु माम्।

वेणी, गोदावरी, सीता, कावेरी, कौङ्कणावती, कृष्णा, वेणा, शुक्तिमती, तमसा, पुष्पवाहिनी, ताम्रपर्णी, ज्योतिरथा, उत्फला, उदुम्बरावती, वैतरणी नदी, पुण्यसलिला विदर्भा, शुभस्वरूपा नर्मदा, वितस्ता, भीमरथ्या, महानदी ऐला, कालिन्दी, पुण्यसलिला गोमती, सुविख्यात नद शोणभद्र—ये तथा दूसरी नदियाँ जिनके नाम यहाँ नहीं लिये गये हैं और जो दक्षिण भारतमें बहनेवाली हैं, वे सब-की-सब अपने जलसे मुझे नहलायें ॥ २५–२८½ ॥

क्षिप्रा चर्मण्वती पुण्या मही शुभ्रवती तथा ॥ २९ ॥
सिन्धुर्वेत्रवती चैव भोजान्ता वनमालिका।
पूर्वभद्रा पराभद्रा ऊर्मिला च परद्रुमा ॥ ३० ॥
ख्याता वेत्रवती चैव चापदासीति विश्रुता।
प्रस्थावती कुण्डनदी नदी पुण्या सरस्वती ॥ ३१ ॥
चित्रघ्नी चेन्दुमाला च तथा मधुमती नदी।
उमा गुरुनदी चैव तापी च विमलोदका ॥ ३२ ॥
विमला विमलोदा च मत्तगङ्गा पयस्विनी।

एताश्चान्याश्च वै नद्यो याश्चान्या नानुकीर्तिताः ॥ ३३ ॥
ता मां समभिषिञ्चन्तु पश्चिमामाश्रिता दिशम् ।

क्षिप्रा, चर्मण्वती, पुण्यसलिला मही, शुभ्रवती, सिन्धु, वेत्रवती, भोजान्ता, वनमालिका, पूर्वभद्रा, पराभद्रा, ऊर्मिला, परद्रुमा, विख्यात वेत्रवती, चापदासी, प्रस्थावती, कुण्डनदी, पुण्यसलिला सरस्वती, चित्रघ्नी, इन्दुमाला, मधुमती नदी, उमा, गुरुनदी, तापी, विमलोदका, विमला, विमलोदा, मत्तगङ्गा, पयस्विनी—ये तथा दूसरी नदियाँ जिनके नाम यहाँ नहीं लिये गये हैं तथा जो पश्चिम दिशाका आश्रय लेकर बहती हैं, वे सब नदियाँ अपने जलसे मेरा अभिषेक करें ॥

भागीरथी पुण्यजला प्राच्यां दिशि समाश्रिता ॥३४॥
सा तु दहतु मे पापं कीर्तिता शम्भुना धृता ।

पुण्यसलिला भागीरथी जो पूर्वदिशाका आश्रय लेकर बहती हैं और जिन्हें भगवान् शङ्करने अपने मस्तकपर धारण कर रखा है, वे अपना नाम कीर्तन करनेपर मेरे पापको दग्ध कर दें ॥ ३४½ ॥

प्रभासं च प्रयागं च नैमिषं पुष्कराणि च ॥ ३५ ॥
गङ्गातीर्थं कुरुक्षेत्रं श्रीकण्ठं गौतमाश्रमम् ।
रामह्रदं विनशनं रामतीर्थं तथैव च ॥ ३६ ॥
गङ्गाद्वारं कनखलं सोमो वै यत्र चोत्थितः ।
कपालमोचनं तीर्थं जम्बूमार्गं च विश्रुतम् ॥ ३७ ॥
सुवर्णविन्दुं विख्यातं तथा कनकपिङ्गलम् ।
दशाश्वमेधिकं चैव पुण्याश्रमविभूषितम् ॥ ३८ ॥
बदरी चैव विख्याता नरनारायणाश्रमः ।
विख्यातं फल्गुतीर्थं च तीर्थं चन्द्रवटं तथा ॥ ३९ ॥
कोकामुखं पुण्यतमं गङ्गासागरमेव च ।
मगधेषु तपोदश्च गङ्गोद्भेदश्च विश्रुतः ॥ ४० ॥
तीर्थान्येतानि पुण्यानि सेवितानि महर्षिभिः ।
मां प्लावयन्तु सलिलैः यानि मे कीर्तितानि वै ॥ ४१ ॥

प्रभास, प्रयाग, नैमिष, पुष्कर, गङ्गातीर्थ, कुरुक्षेत्र श्रीकण्ठ, गौतमाश्रम, परशुरामकुण्ड, विनशनतीर्थ, रामतीर्थ, गङ्गाद्वार, कनखलतीर्थ, जहाँ सोमका उत्थान हुआ था, वह सोमोत्थानतीर्थ, कपालमोचनतीर्थ, सुविख्यात जम्बूमार्ग, सुवर्णविन्दु नामसे विख्यात तीर्थ, कनकपिङ्गलतीर्थ, पवित्र आश्रमोंसे विभूषित दशाश्वमेधिक तीर्थ, सुविख्यात बदरीतीर्थ, नर-नारायणका आश्रम, फल्गुतीर्थ, चन्द्रवटतीर्थ, परम पवित्र कोकामुखतीर्थ, गङ्गासागर, मगधदेशीय तपोद तथा गङ्गोद्भेद नामसे विख्यात तीर्थ—ये महर्षियोंद्वारा सेवित सभी पुण्यतीर्थ, जिनका मैंने यहाँ कीर्तन किया है, निश्चय ही मुझे अपने जलसे आप्लावित करें ॥ ३५-४१ ॥

सूकरं योगमार्गं च श्वेतद्वीपं तथैव च ।
ब्रह्मतीर्थं रामतीर्थं वाजिमेधशतोपमम् ॥ ४२ ॥
धारासम्पातसंयुक्ता गङ्गा किल्बिषनाशिनी ।
गङ्गा वैकुण्ठकेदारं सूकरोद्भेदनं परम् ।
तच्छापमोचनं तीर्थं पुनन्त्वेतानि किल्बिषात् ॥ ४३ ॥

सूकरतीर्थ, योगमार्ग, श्वेतद्वीप, ब्रह्मतीर्थ, सौ अश्वमेध यज्ञोंके समान फल देनेवाला रामतीर्थ, धाराके रूपमें गिरती हुई गङ्गा, पापनाशिनी गङ्गा, वैकुण्ठकेदार, उत्तम सूकरोद्भेदनतीर्थ तथा सुप्रसिद्ध शापमोचनतीर्थ—ये सारे तीर्थ मुझे पापसे रहित एवं पवित्र करें ॥ ४२-४३ ॥

धर्मार्थकामविषयो यशःप्राप्तिः शमो दमः ।
वरुणेशोऽथ धनदो यमो नियम एव च ॥ ४४ ॥
कालो नयः संनतिश्च क्रोधो मोहः क्षमा धृतिः ।
विद्युतोऽभ्राण्यथौषध्यः प्रमादोन्मादविग्रहाः ॥४५॥
यक्षाः पिशाचा गन्धर्वाः किन्नराः सिद्धचारणाः ।
नक्तंचराः खेचरिणो दंष्ट्रिणः प्रियविग्रहाः ॥४६॥
लम्बोदराश्च बलिनः पिङ्गाक्षा विश्वरूपिणः ।
मरुतः सहपर्जन्याः कलात्रुटिलवाः क्षणाः ॥ ४७ ॥
नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव ऋतवः शिशिरादयः ।
मासाहोरात्रयश्चैव सूर्याचन्द्रमसौ तथा ॥ ४८ ॥
आमोदश्च प्रमोदश्च प्रहर्षः शोक एव च ।
रजस्तमस्तपः सत्यं शुद्धिर्बुद्धिर्धृतिः श्रुतिः ॥ ४९ ॥
रुद्राणी भद्रकाली च भद्रा ज्येष्ठा तु वारुणी ।
भासी च कालिका चैव शाण्डिली चेति विश्रुताः ॥५०॥
आर्या कुहूः सिनीवाली भीमा चित्ररथी रतिः ।
एकानंशा च कूष्माण्डी देवी कात्यायनी च या ॥५१॥
लोहित्या जनमाता च देवकन्यास्तु याः स्मृताः ।
गोनन्दा देवपत्नी च मां रक्षन्तु सबान्धवम् ॥५२॥

धर्म, अर्थ और कामविषयक शास्त्र, यशकी प्राप्ति, शम, दम, वरुण, ईश, धनद, यम, नियम, काल, नय, संनति, क्रोध, मोह, क्षमा, धृति, विद्युत्, मेघ, ओषधियाँ, प्रमाद, उन्माद, विग्रह, यक्ष, पिशाच, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, चारण, निशाचर, खेचर, बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले हिंसक जीव, जिन्हें विग्रह प्रिय है, बलवान्, लम्बोदर, पीले नेत्रवाले तथा विश्वरूपधारी गण, मरुद्गण, मेघ, कला, त्रुटि, लव, क्षण, नक्षत्र, ग्रह, शिशिर आदि ऋतु, मास, दिन, रात, सूर्य, चन्द्रमा, आमोद, प्रमोद, हर्ष, शोक, रज, तम, तप, सत्य, शुद्धि, बुद्धि, धृति, श्रुति, रुद्राणी, भद्रकाली, भद्रा, ज्येष्ठा, वारुणी, भासी, कालिका, शाण्डिली, आर्या, कुहू, सिनीवाली, भीमा, चित्ररथी, रति, एकानंशा, कूष्माण्डी, कात्यायनी देवी, लोहित्या, जनमाता, देवकन्याएँ, गोनन्दा तथा देवपत्नी—ये बन्धु-बान्धवोंसहित मेरी रक्षा करें ॥

नानाभरणवेशाश्च नानारूपाङ्कितानना: ।
नानादेशविचारिण्यो नानाशस्त्रोपशोभिताः ॥ ५३ ॥

मेद्रोमज्जाप्रियाश्चैव मद्यमांसवसाप्रियाः ।
मार्जारद्वीपिवक्त्राश्च गजसिंहनिभाननाः ॥ ५४ ॥
कङ्कवायसगृध्राणां क्रौञ्चतुल्याननास्तथा ।
व्यालयज्ञोपवीताश्च चर्मप्रावरणास्तथा ॥ ५५ ॥
क्षतजोक्षितवक्त्राश्च खरभेरीसमस्वनाः ।
मत्सराः क्रोधनाश्चैव प्रासादा रुचिरालयाः ॥ ५६ ॥
मत्तोन्मत्तप्रमत्ताश्च प्रहरन्त्यश्च धिष्ठिताः ।
पिङ्गाक्षाः पिङ्गकेशाश्च ततोऽन्या लूनमूर्धजाः ॥ ५७ ॥
ऊर्ध्वकेश्यः कृष्णकेश्यः श्वेतकेश्यस्तथावराः ।
नागायुतबलाश्चैव वायुवेगास्तथापराः ॥ ५८ ॥
एकहस्ता एकपादा एकाक्षाः पिङ्गला मताः ।
बहुपुत्राल्पपुत्राश्च द्विपुत्राः पुत्रमण्डिकाः ॥ ५९ ॥
मुखमण्डी बिडाली च पूतना गन्धपूतना ।
शीतवातोष्णवेताली रेवती ग्रहसंज्ञिताः ॥ ६० ॥
प्रियहास्याः प्रियक्रोधाः प्रियवासाः प्रियंवदाः ।
सुखप्रदाश्चासुखदाः सदा द्विजजनप्रियाः ॥ ६१ ॥
नक्तंचराः सुखोदर्काः सदा पर्वणि दारुणाः ।
मातरो मातृवत्पुत्रं रक्षन्तु मम नित्यशः ॥ ६२ ॥

जो नाना प्रकारके आभूषण और वेष धारण करती हैं, जिनके मुखपर अनेक प्रकारके चिन्ह अङ्कित होते हैं, जो विभिन्न देशोंमें विचरनेवाली तथा अनेक शस्त्रोंसे सुशोभित हैं, जिन्हें मेदा, मज्जा, मद्य, मांस और वसा प्रिय है, जिनके मुख बिल्ली, बाघ, हाथी, सिंह, कंक, कौआ, गीध अथवा क्रौञ्चके समान हैं, जो सर्पमय यज्ञोपवीत धारण करनेवाली तथा चर्ममय वस्त्रसे अपने अङ्गोंको ढकनेवाली हैं, जिनके मुख रक्तसे अभिषिक्त हैं तथा जिनकी वाणी नगाड़ोंकी प्रखर ध्वनिकी भाँति गम्भीर है, जो ईर्ष्यालु और क्रोधी हैं, महल जिनके सुन्दर निवास हैं, जो मत्त, उन्मत्त और प्रमत्त रहकर प्रहार करती हुई घरोंमें स्थित रहती हैं, जिनके नेत्र और केश पिङ्गलवर्णके दिखायी देते हैं, इनके अतिरिक्त जिनके केश कटे हुए हैं, जिनके सिरके बाल ऊपरकी ओर उठे हैं, जो काले अथवा सफेद केश धारण करती हैं, जो छोटे कदकी हैं, जिनमें दस हजार हाथियोंके समान बल है तथा जो वायुके तुल्य वेगवाली हैं, जिनके एक पैर, एक हाथ और एक आँख है, जो देखनेमें पिङ्गल वर्णकी प्रतीत होती हैं, जो अधिक या थोड़े पुत्रवाली हैं, जिनके दो ही पुत्र हैं, जो पुत्रोंका शृङ्गार करनेवाली हैं, मुखमण्डी, बिडाली, पूतना, गन्धपूतना, शीतवातोष्णवेताली तथा रेवती आदि नामोंसे जिनकी प्रसिद्धि है, जिन्हें बालग्रह कहते हैं, जिन्हें हास्य और क्रोध प्रिय है, जो वस्त्र एवं वासस्थानसे प्रेम करती हैं, सदा प्रिय वचन बोलती हैं, जो सुख और दुःख भी देती हैं तथा जो द्विजातियोंको सदा प्रिय हैं, जो रातमें विचरनेवाली तथा उपासकको भविष्यमें सुख देनेवाली हैं तथा जो पर्वकालमें सदा अपने दारुण स्वभावका परिचय देती हैं, वे मातृकाएँ मेरी प्रतिदिन रक्षा करें, जैसे माता अपने पुत्रकी रक्षा करती है ॥

पितामहमुखोद्भूता रौद्रा रुद्राङ्गसम्भवाः ।
कुमारस्वेदजाश्चैव ज्वरा वै वैष्णवादयः ॥ ६३ ॥
महाभीमा महावीर्या दर्पोद्भूता महाबलाः ।
क्रोधनाक्रोधनाः क्रूराः सुरविग्रहकारिणः ॥ ६४ ॥
नक्तंचराः केसरिणो दंष्ट्रिणः प्रियविग्रहाः ।
लम्बोदरा जघनिनः पिङ्गाक्षा विश्वरूपिणः ॥ ६५ ॥
शक्त्यृष्टिशूलपरिघप्रासचर्मासिपाणयः ।
पिनाकवज्रमुसलब्रह्मदण्डायुधप्रियाः ॥ ६६ ॥
दण्डिनः कुण्डिनः शूरा जटामुकुटधारिणः ।
वेदवेदाङ्गकुशला नित्ययज्ञोपवीतिनः ॥ ६७ ॥
व्यालापीडाः कुण्डलिनो वीराः केयूरधारिणः ।
नानावसनसंवीताश्चित्रमाल्यानुलेपनाः ॥ ६८ ॥
गजाश्वोष्ट्रर्क्षमार्जारसिंहव्याघ्रनिभाननाः ।
वराहोलूकगोमायुमृगाखुमहिषाननाः ॥ ६९ ॥
वामना विकटाः कुब्जाः कराला लूनमूर्धजाः ।
सहस्रशतशश्चान्ये सहस्रजटधारिणः ॥ ७० ॥
श्वेताः कैलाससंकाशाः केचिद् दिनकरप्रभाः ।
केचिज्जलदवर्णाभा नीलाञ्जनचयोपमाः ॥ ७१ ॥
एकपादा द्विपादाश्च तथा त्रिशिरसोऽपरे ।
निर्मांसाः स्थूलजंघाश्च व्यादितास्या भयङ्कराः ॥ ७२ ॥
वापीतडागकूपेषु समुद्रेषु सरित्सु च ।
श्मशानशैलवृक्षेषु शून्यागारनिवासिनः ॥ ७३ ॥
एते ग्रहाश्च सततं रक्षन्तु मम सर्वतः ।

जो पितामह ब्रह्माजीके मुखसे प्रकट हुए हैं, रौद्र हैं, रुद्रदेवके अङ्गोंसे उत्पन्न हुए हैं, कुमार कार्तिकेयके स्वेदसे प्रकट हुए हैं तथा जो वैष्णव आदि ज्वर हैं, जो महाभयंकर, महापराक्रमी, दर्पयुक्त तथा महाबली हैं, क्रोधयुक्त अथवा क्रोधरहित हैं, जिनका स्वभाव क्रूर है, जो देवताओंके समान स्वरूप धारण करनेवाले हैं, जिनके गलेमें अयाल हैं, जो रात्रिमें विचरनेवाले हैं, जिनकी बड़ी-बड़ी दाढ़ें हैं, जिन्हें विग्रह प्रिय है, जिनके पेट लंबे, कूल्हे मोटे और आँखें पिङ्गलवर्णकी हैं, जो विश्वरूपधारी हैं, जिनके हाथोंमें शक्ति, ऋष्टि, शूल, परिघ, प्रास, ढाल और तलवार आदि अस्त्र-शस्त्र शोभा पाते हैं, पिनाक, वज्र, मुसल और ब्रह्मदण्डनामक आयुध जिन्हें प्रिय हैं, जो दण्ड और कुण्ड धारण करते हैं, शूरवीर हैं, मस्तकपर जटा और मुकुट धारण किये रहते हैं, वेद और वेदाङ्गमें कुशल हैं, नित्य यज्ञोपवीतधारी हैं, माथेपर सर्पका मुकुट धारण करते हैं, जिनके कानोंमें कुण्डल और भुजाओंमें भुजबन्द शोभा पाते हैं, जो वीर हैं, नाना प्रकारके वस्त्र पहनते हैं, विचित्र माला और अनुलेप धारण करते हैं, जिनके मुख हाथी, घोड़े, ऊँट, रीछ, बिलाव, सिंह, व्याघ्र, सूअर, उल्लू,

गीदड़, मृग, चूहों और भैंसोंके समान हैं, जो बौने, विकट आकारवाले, कुबड़े, विकराल तथा कटे हुए केशवाले हैं, इनके सिवा जो लाखोंकी संख्यामें सहस्रों जटाएँ धारण करनेवाले हैं, जिनमेंसे कोई कैलास पर्वतके समान श्वेत, कोई दिनकरके समान दीप्तिमान्, कोई मेघोंके समान काले तथा कोई अञ्जनराशिके समान नील हैं, जो एक अथवा दो पैरोंसे युक्त हैं, जिनके दो-दो सिर हैं, जो मांसरहित कङ्काल-से दिखायी देते हैं, जिनकी पिण्डलियाँ बहुत मोटी हैं, जो मुँह बाये रहनेके कारण बड़े भयङ्कर प्रतीत होते हैं, बावड़ी, पोखरे, कुएँ, समुद्र, नदी, श्मशानभूमि, पर्वत, वृक्ष तथा सूने घरोंमें निवास करनेवाले हैं, ये ग्रह सदा सब ओरसे मेरी रक्षा करें ॥

महागणपतिर्नन्दी महाकालो महाबलः ।
माहेश्वरो वैष्णवश्च ज्वरौ लोकभयावहौ ॥ ७४ ॥
ग्रामणीश्चैव गोपालो भृङ्गरीटिर्गणेश्वरः ।
देवश्च वामदेवश्च घण्टाकर्णः करंधमः ॥ ७५ ॥
श्वेतमोदः कपाली च जम्भकः शत्रुतापनः ।
मज्जनोन्मज्जनौ चोभौ संतापनविलापनौ ॥ ७६ ॥
निजघासोऽघसश्चैव स्थूणाकर्णः प्रशोषणः ।
उल्कामाली धमधमो ज्वालामाली प्रमर्दनः ॥ ७७ ॥
संघट्टनः संकुटनः काष्ठभूतः शिवंकरः ।
कूष्माण्डः कुम्भमूर्धा च रोचनो वैकृतो ग्रहः ॥ ७८ ॥
अनिकेतः सुरारिघ्नः शिवश्चाशिव एव च ।
क्षेमकः पिशिताशी च सुरारिर्हरिलोचनः ॥ ७९ ॥
भीमको ग्राहकश्चैव तथैवाग्रमयो ग्रहः ।
उपग्रहोऽर्यकश्चैव तथा स्कन्दग्रहोऽपरः ॥ ८० ॥
चपलोऽसमवेतालस्तामसः सुमहाकपिः ।
हृदयोद्वर्तनश्चैडः कुण्डाशी कङ्कणप्रियः ॥ ८१ ॥
हरिश्मश्रुर्गरुत्मन्तो मनोमारुतरंहसः ।
पार्वत्या रोषसम्भूताः सहस्राणि शतानि च ॥ ८२ ॥
शक्तिमन्तो धृतिमन्तो ब्रह्मण्याः सत्यसङ्गराः ।
सर्वकामापहन्तारो द्विषतां च मृधेमृधे ॥ ८३ ॥
रात्र्यावहनि दुर्गेषु कीर्तिताः सकलैर्गुणैः ।
तेषां गणानां पतयः सगणाः पान्तु मां सदा ॥ ८४ ॥

महागणपति, नन्दी, महाबली महाकाल, लोकभयङ्कर माहेश्वर तथा वैष्णव ज्वर, ग्रामणी, गोपाल, भृङ्गरिटि, गणेश्वर, देव, वामदेव, घण्टाकर्ण, करंधम, श्वेतमोद, कपाली, जम्भक, शत्रुतापन, मज्जन, उन्मज्जन, संतापन, विलापन, निजघास, अघस, स्थूणाकर्ण, प्रशोषण, उल्कामाली, धमधम, ज्वालामाली, प्रमर्दन, संघट्टन, संकुटन, काष्ठभूत, शिवङ्कर, कूष्माण्ड, कुम्भमूर्धा, रोचन, वैकृत ग्रह, अनिकेत, सुरारिघ्न, शिव, अशिव, क्षेमक, पिशिताशी, सुरारि, हरिलोचन, भीमक, ग्राहक, अग्रमय ग्रह, उपग्रह, अर्यक, स्कन्द-ग्रह, चपल, असमवेताल, तामस, सुमहाकपि, हृदयोद्वर्तन, ऐड, कुण्डाशी, कङ्कणप्रिय, हरिश्मश्रु तथा मन और वायुके समान वेगशाली गरुत्मान्, पार्वतीके रोषसे उत्पन्न हुए सैकड़ों और हजारों गण, जो शक्तिमान्, धैर्यवान्, ब्राह्मणभक्त और सत्यप्रतिज्ञ हैं तथा प्रत्येक युद्धमें शत्रुओंकी सम्पूर्ण कामनाओंका विनाश करनेवाले हैं; इन सबका रात और दिनमें दुर्गम संकटके अवसरोंपर जब-जब कीर्तन किया जाय, तब-तब वे समस्त गणपति अपने सारे गुणों और सम्पूर्ण गणोंके साथ सदा मेरी रक्षा करें ॥ ७४–८४ ॥

नारदः पर्वतश्चैव गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
पितरः कारणं कार्यमाधयो व्याधयस्तथा ॥ ८५ ॥
अगस्त्यो गालवो गार्ग्यः शक्तिर्धौम्यः पराशरः ।
कृष्णात्रेयश्च भगवानसितो देवलो बलः ॥ ८६ ॥
बृहस्पतिरुतथ्यश्च मार्कण्डेयः श्रुतश्रवाः ।
द्वैपायनो विदर्भश्च जैमिनिर्माठरः कठः ॥ ८७ ॥
विश्वामित्रो वसिष्ठश्च लोमशश्च महामुनिः ।
उत्तङ्कश्चैव रैभ्यश्च पौलोमश्च द्वितस्त्रितः ॥ ८८ ॥
ऋषिर्वै कालवृक्षीयो मुनिर्मेधातिथिस्तथा ।
सारस्वतो यवक्रीतिः कुशिको गौतमस्तथा ॥ ८९ ॥
संवर्त ऋष्यशृङ्गश्च स्वस्त्यात्रेयो विभाण्डकः ।
ऋचीको जमदग्निश्च तथौर्वस्तपसां निधिः ॥ ९० ॥
भरद्वाजः स्थूलशिराः कश्यपः पुलहः क्रतुः ।
बृहदग्निर्हरिश्मश्रुर्विजयः कण्व एव च ॥ ९१ ॥
वैतण्डी दीर्घतापश्च वेदगाथोऽशुमाञ्छिवः ।
अष्टावक्रो दधीचिश्च श्वेतकेतुस्तथैव च ॥ ९२ ॥
उद्दालकः क्षीरपाणिः शृङ्गी गौरमुखस्तथा ।
अग्निवेश्यः शमीकश्च प्रमुचुर्मुमुचुस्तथा ॥ ९३ ॥
एते चान्ये च ऋषयो बहवः शंसितव्रताः ।
मुनयः शंसितात्मानो ये चान्ये नानुकीर्तिताः ॥ ९४ ॥
क्रतवः श्लाघिनः शान्ताः शान्तिं कुर्वन्तु मे सदा ।

नारद, पर्वत, गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदाय, पितर, कारण, कार्य, आधि-व्याधि, अगस्त्य, गालव, गार्ग्य, शक्ति, धौम्य, पराशर, कृष्णात्रेय, ऐश्वर्यशाली असित-देवल, बल, बृहस्पति, उतथ्य, मार्कण्डेय, श्रुतश्रवा, द्वैपायन, विदर्भ, जैमिनि, माठर, कठ, विश्वामित्र, वसिष्ठ, महामुनि लोमश, उत्तङ्क, रैभ्य, पौलोम, द्वित, त्रित, कालकवृक्षीय ऋषि, मुनि मेधातिथि, सारस्वत, यवक्रीति, कुशिक, गौतम, संवर्त, ऋष्यशृङ्ग, स्वस्त्यात्रेय, विभाण्डक, ऋचीक, जमदग्नि, तपोनिधि और्व, भरद्वाज, स्थूलशिरा, कश्यप, पुलह, क्रतु, बृहदग्नि, हरिश्मश्रु, विजय, कण्व, वैतण्डी, दीर्घताप, वेदगाथ, अंशुमान्, शिव, अष्टावक्र, दधीचि, श्वेतकेतु, उद्दालक, क्षीरपाणि, शृङ्गी, गौरमुख, अग्निवेश्य, शमीक, प्रमुचु तथा मुमुचु और दूसरे बहुत-से उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ऋषि

एवं शुद्धात्मा मुनि तथा दूसरे यज्ञपरायण स्पृहणीय तथा शान्त महर्षि जिनका यहाँ कीर्तन नहीं किया गया है, सदा मेरे लिये शान्ति प्रदान करें ॥ ८५–९४½ ॥

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रैविद्याः कौस्तुभो मणिः ॥९५॥
उच्चैःश्रवा हयः श्रीमान् वैद्यो धन्वन्तरिर्हरिः ।
अमृतं गौः सुपर्णश्च दधि गौराश्च सर्षपाः ॥ ९६ ॥
शुक्लाः सुमनसः कन्याः श्वेतच्छत्रं यवाक्षताः ।
दूर्वा हिरण्यं गन्धाश्च वालव्यजनमेव च ॥ ९७ ॥
तथाप्रतिहतं चक्रं महोक्षश्चन्दनं विषम् ।
श्वेतो वृषः करी मत्तः सिंहो व्याघ्रो हयो गिरिः॥९८॥
पृथिवी चोद्धृता लाजा ब्राह्मणा मधु पायसम् ।
स्वस्तिको वर्द्धमानश्च नन्द्यावर्तः प्रियङ्गवः ॥ ९९ ॥
श्रीफलं गोमयं मत्स्यो दुन्दुभिः पटहस्वनः ।
ऋषिपत्न्यश्च कन्याश्च श्रीमद् भद्रासनं धनुः ।
रोचना रुचकश्चैव नदीनां संगमोदकम् ॥१००॥
सुपर्णाः शतपत्राश्च चकोरा जीवजीवकाः ।
नन्दीमुखो मयूरश्च बद्धमुक्तामणिध्वजाः ॥१०१॥
आयुधानि प्रशस्तानि कार्यसिद्धिकराणि च ।

तीन अग्नि, तीन वेद, तीनों विद्याओंके ज्ञाता, कौस्तुभ-मणि, उच्चैःश्रवा अश्व, श्रीमान् धन्वन्तरि वैद्य, हरि, अमृत, गौ, सुपर्ण (गरुड़), दही, श्वेत सरसों, सफेद फूल, कुमारी कन्या, श्वेत छत्र, जौ, अक्षत, दूर्वादल, सुवर्ण, गन्ध, व्यालव्यजन (चँवर), कहीं भी प्रतिहत न होनेवाला सुदर्शनचक्र, साँड, चन्दन, विष, श्वेत वृषभ, मदमत्त हाथी, सिंह, व्याघ्र, घोड़ा, पर्वत खोदकर निकाली हुई मिट्टी, लाजा, ब्राह्मण, मधु, खीर, स्वस्तिक, वर्धमान, नन्द्यावर्त, प्रियङ्गु, श्रीफल, गोमय, मत्स्य, दुन्दुभि और पटहकी ध्वनि, ऋषिपत्नियाँ, कन्याएँ, शोभाशाली भद्रासन, धनुष, गोरोचन, रुचक, नदियोंके सङ्गमका जल, सुपर्ण, शतपत्र, चकोर, जीवजीवक, नन्दीमुख, मयूर, जिनमें मोती और मणि बँधे हुए हों ऐसे ध्वज, कार्य-सिद्धि करनेवाले उत्तम आयुध—ये सब सदा ही मेरी रक्षा करें ॥ ९५–१०१½ ॥

पुण्यं वै विगतक्लेशं श्रीमद् वै मङ्गलान्वितम् ॥१०२॥
रामेणोदाहृतं पूर्वमायुःश्रीजयकाङ्क्षिणा ।

पूर्वकालमें आयु, लक्ष्मी तथा विजयकी अभिलाषा रखनेवाले बलरामजीने इस पवित्र क्लेशहारी और उनकी प्राप्ति-करानेवाले मङ्गलयुक्त स्तोत्रका वर्णन किया था ॥ १०२½ ॥

य इदं श्रावयेद् विद्वांस्तथैव शृणुयान्नरः ॥१०३॥
मङ्गलाष्टशतं स्नातो जपन् पर्वणि पर्वणि ।
वधबन्धपरिक्लेशं व्याधिशोकपराभवम् ॥१०४॥
न च प्राप्नोति वैकल्यं परत्रेह च शर्मदम् ।

जो विद्वान् मनुष्य प्रत्येक पर्वमें स्नान करके जपपरायण हो, इस आठ सौ माङ्गलिक नामोंसे युक्त स्तोत्रका श्रवण करता अथवा कराता है, वह वध और बन्धनके क्लेश, व्याधि एवं शोकसे प्राप्त होनेवाले पराभव और व्याकुलताको नहीं पाता है । यह स्तोत्र इहलोक और परलोकमें भी कल्याण प्रदान करनेवाला है ॥ १०३-१०४½ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं पवित्रं वेदसम्मितम् ॥१०५॥
श्रीमत्स्वर्ग्यं सदा पुण्यमपत्यजननं शिवम् ।
शुभं क्षेमकरं नृणां मेधाजननमुत्तमम् ।
सर्वरोगप्रशमनं स्वकीर्तिकुलवर्धनम् ॥१०६॥

इससे धन, यश और आयुकी प्राप्ति होती है । यह पवित्र तथा वेदके तुल्य आदरणीय है । यह श्रीसम्पन्न, स्वर्गदायक, सदा पुण्यकारक, कल्याणमय तथा संतानकी प्राप्ति करानेवाला है; इस शुभ, उत्तम एवं बुद्धिवर्धक स्तोत्रके सेवनसे मनुष्योंको क्षेमकी प्राप्ति होती है । इतना ही नहीं; यह समस्त रोगोंको शान्त करनेवाला तथा अपनी कीर्ति और कुलको बढ़ानेवाला है ॥ १०५-१०६ ॥

श्रद्दधानो दयोपेतो यः पठेदात्मवान्नरः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा लभते च शुभां गतिम् ॥१०७॥

जो श्रद्धालु, दयालु और आत्मसंयमी मनुष्य इसका पाठ करता है, वह सब पापोंसे शुद्धचित्त हो शुभ गतिका भागी होता है ॥ १०७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि बलदेवाह्निकं नाम नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें बलदेवाह्निक नामक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमोऽध्यायः

साम्बकी उत्पत्ति और अस्त्रशिक्षा तथा द्वारकामें पधारे हुए राजाओंके बीच नारदजीके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी परम धन्यताका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

हृतो यदैव प्रद्युम्नः शम्बरेणात्मघातिना ।
मासेऽस्मिन्नेव साम्बस्तु जाम्बवत्यामजायत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! आत्मघाती शम्बरासुरने जब प्रद्युम्नका अपहरण किया था, उसी महीनेमें जाम्बवतीके गर्भसे साम्बका जन्म हुआ ॥ १ ॥

बाल्यात्प्रभृति रामेण शस्त्रेषु विनियोजितः।
रामादनन्तरश्चैव मानितः सर्ववृष्णिभिः॥ २॥

बलरामजीने साम्बको बचपनसे ही अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यासमें लगा रखा था। बलरामजीके बाद साम्ब ही उनके-जैसे अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता थे, इसलिये समस्त वृष्णिवंशी वीर उनका बड़ा सम्मान करते थे॥ २॥

जातमात्रे ततः कृष्णः शुभां तामवसत् पुरीम्।
निहतामित्रसामन्तः शक्रोद्यानं यथामरः॥ ३॥

साम्बके जन्म लेनेके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण अपने शत्रुभूत सामन्तोंका संहार करके शुभस्वरूपा द्वारकापुरीमें रहने लगे; जैसे कोई देवता इन्द्रके उद्यान नन्दनवनमें निवास करता हो॥ ३॥

यादवीं च श्रियं दृष्ट्वा स्वां श्रियं द्वेष्टि वासवः।
जनार्दनभयाच्चैव न शान्तिं लेभिरे नृपाः॥ ४॥

यदुवंशियोंकी सम्पत्ति देखकर देवराज इन्द्र अपनी राज्यलक्ष्मीसे द्वेष करने लगे थे। भगवान् श्रीकृष्णके भयसे राजाओंको कभी शान्ति नहीं मिलती थी॥ ४॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य पुरे वारणसाह्वये।
दुर्योधनस्य यज्ञे वै समीयुः सर्वपार्थिवाः॥ ५॥

किसी समय हस्तिनापुरमें दुर्योधनके यज्ञमें भूमण्डलके समस्त राजा एकत्र हुए॥ ५॥

तां श्रुत्वा माधवीं लक्ष्मीं सपुत्रं च जनार्दनम्।
पुरीं द्वारावतीं चैव निविष्टां सागरान्तरे॥ ६॥
दूतैस्तैः कृतसंधानाः पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः।
श्रियं द्रष्टुं हृषीकेशमाजग्मुः कृष्णमन्दिरम्॥ ७॥

वहाँ यदुवंशियोंकी राज्यलक्ष्मी, पुत्रसहित भगवान् श्रीकृष्ण तथा समुद्रके भीतर बसी हुई द्वारकापुरीकी विशेष चर्चा सुनकर अपने दूतोंद्वारा भगवान् श्रीकृष्णके साथ संधि स्थापित करके, पृथ्वीके समस्त भूपाल यादवोंकी राजलक्ष्मीका दर्शन करनेके लिये द्वारकामें भगवान् हृषीकेशके पास उनके निवास-मन्दिरमें आये॥ ६-७॥

दुर्योधनमुखाः सर्वे धृतराष्ट्रवशानुगाः।
पाण्डवप्रमुखाश्चैव धृष्टद्युम्नादयो नृपाः॥ ८॥
पाण्ड्यश्चोलकलिङ्गेशा वाह्लीका द्राविडाः खशाः।
अक्षौहिणीःप्रकर्षन्तो दश चाष्टौ च भूमिपाः॥ ९॥
आजग्मुर्यादवपुरीं गोविन्दभुजपालिताम्।

धृतराष्ट्रकी आज्ञाके अधीन रहनेवाले दुर्योधन आदि सब भाई, पाण्डवोंको अगुआ बनाकर चलनेवाले धृष्टद्युम्न आदि नरेश, पाण्ड्य, चोल और कलिङ्ग देशके भूपाल, वाह्लीक, द्राविड और खश देशोंके राजा अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ साथ लिये श्रीकृष्णकी भुजाओंसे सुरक्षित यादव-पुरीमें आये॥ ८-९½॥

ते पर्वतं रैवतकं परिवार्यावनीश्वराः॥ १०॥
विविशुर्योजनाख्यासु स्वासु स्वासु च भूमिषु।

वे भूमिपाल रैवतक पर्वतको चारों ओरसे घेरकर अपने-अपने लिये निश्चित की हुई एक-एक योजनकी भूमिमें डेरा डालकर बस गये॥ १०½॥

ततः श्रीमान् हृषीकेशः सह यादवपुङ्गवैः॥ ११॥
समीपं मानवेन्द्राणां निर्ययौ कमलेक्षणः।

तदनन्तर कमलनयन श्रीमान् हृषीकेश यादव-शिरोमणियोंके साथ पुरीसे निकलकर उन नरेन्द्रोंके समीप गये॥ ११½॥

स तेषां नरदेवानां मध्यस्थो मधुसूदनः॥ १२॥
व्यराजत यदुश्रेष्ठः शरदीव दिवाकरः।

उन नरदेवोंके बीचमें बैठे हुए यदुश्रेष्ठ मधुसूदन शरत्कालके सूर्यकी भाँति शोभा पाने लगे॥ १२½॥

स तत्र समुदाचारं यथास्थानं यथावयः॥ १३॥
कृत्वा सिंहासने कृष्णः काञ्चने निषसाद ह।

वहाँ स्थान और अवस्थाके अनुसार शिष्टाचारका निर्वाह करके भगवान् श्रीकृष्ण सोनेके सिंहासनपर विराजमान हुए॥

राजानोऽपि यथास्थानं निषेदुर्विविधेष्वथ॥ १४॥
सिंहासनेषु चित्रेषु पीठेषु च नराधिपाः।

फिर वे नरेश भी नाना प्रकारके सिंहासनों और विचित्र पीठोंपर यथास्थान बैठे॥ १४½॥

स यादवनरेन्द्राणां समाजः शुशुभे तदा॥ १५॥
सुराणामसुराणां च सदसि ब्रह्मणो यथा।

वहाँ उस समय यादव नरेशोंका समाज ब्रह्माजीकी सभामें एकत्र हुए देवताओं और असुरोंके समाजकी भाँति शोभा पाने लगा॥ १५½॥

तेषां चित्राः कथास्तत्र प्रवृत्तास्तत्समागमे।
यदूनां पार्थिवानां च केशवस्योपशृण्वतः॥ १६॥

उस राजसमाजमें वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके सुनते हुए उन यादवों और भूपालोंमें विचित्र बातें होने लगीं॥ १६॥

एतस्मिन्नन्तरे वायुर्ववौ मेघरवोपमः।
तुमुलं दुर्दिनं चासीत् सविद्युत्स्तनयित्नुमत्॥ १७॥

इसी बीचमें मेघोंकी गर्जनाके समान सनसनाहट पैदा करती हुई प्रचण्ड वायु चलने लगी। घोर दुर्दिन छा गया। बिजली चमकने और गड़गड़ाहट पैदा करने लगी॥ १७॥

तद् दुर्दिनतलं भित्त्वा नारदः प्रत्यदृश्यत।
संवेष्टितजटाभारो वीणासक्तेन बाहुना॥ १८॥

उस दुर्दिनतल अर्थात् मेघोंके आवरणको भेदकर नारदजी दिखायी दिये, उन्होंने अपने सिरपर बढ़े हुए जटा-भारको लपेट रखा था, उनकी एक भुजामें वीणा थी॥ १८॥

स पपात नरेन्द्राणां मध्ये सागरसंनिभः।
नारदोऽग्निशिखाकारः श्रीमाञ्छक्रसखो मुनिः॥ १९॥

वे समुद्रके समान गम्भीर और अग्नि-शिखाके समान तेजस्वी नारद मुनि जो देवराज इन्द्रके मित्र हैं, उन नरेशोंके बीचमें उतरे॥ १९॥

तस्मिन् निपतिते भूमौ नारदे मुनिपुङ्गवे।
तदद्भुतं महामेघं व्यपाकृष्यत दुर्दिनम्॥ २०॥

मुनिवर नारदजीके भूमिपर उतर आनेपर महान् मेघोंकी घटासे छाया हुआ वह अद्भुत दुर्दिन तत्काल दूर हो गया॥

सोऽवगाह्य नरेन्द्राणां मध्ये सागरसंनिभः।
आसनस्थं यदुश्रेष्ठमुवाच मुनिरव्ययम्॥ २१॥

सागरसदृश गम्भीर स्वभाववाले नारद मुनिने उन नरेशोंके मध्यभागमें प्रवेश करके सिंहासनपर बैठे हुए अविनाशी यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥ २१॥

आश्चर्यं खलु देवानामेकस्त्वं पुरुषोत्तमः।
धन्यश्चासि महाबाहो लोके नान्योऽस्ति कश्चन॥ २२॥

'महाबाहो! बड़े आश्चर्यकी बात है, अवश्य ही देवताओंमें एकमात्र आप ही पुरुषोत्तम हैं और आप ही धन्य हैं, संसारमें दूसरा कोई ऐसा नहीं है'॥ २२॥

एवमुक्तः स्मितं कृत्वा प्रत्युवाच मुनिं प्रभुः।
आश्चर्यश्चैव धन्यश्च दक्षिणाभिः सहेत्यहम्॥ २३॥

उनके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्ण मुसकराकर नारद मुनिसे बोले—'मैं दक्षिणाओंके साथ आश्चर्य एवं धन्य हूँ'॥

एवमुक्तो मुनिश्रेष्ठः प्राह मध्ये महीभृताम्।
कृष्ण पर्याप्तवाक्योऽसि गमिष्यामि यथागतम्॥ २४॥

भगवान्‌के ऐसा कहनेपर मुनिश्रेष्ठ नारद उन राजाओंके बीचमें इस प्रकार बोले—'श्रीकृष्ण! मुझे अपनी बातका पूरा उत्तर मिल गया, अब मैं जैसे आया था वैसे ही लौट जाऊँगा'॥ २४॥

तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य पार्थिवाः प्राहुरीश्वरम्।
गुह्यं मन्त्रमजानन्तो वचनं नारदेरितम्॥ २५॥

उन्हें जाते देख उन नारदजीके कहे हुए गूढ़ मन्त्ररूपी वाक्यका तात्पर्य न जाननेवाले भूपालोंने भगवान्‌से कहा—॥

आश्चर्यमित्यभिहितं धन्योऽसीति च माधव।
दक्षिणाभिः सहेत्येवं प्रत्युक्तेऽपि च नारदे॥ २६॥
किमेतन्नाभिजानीमो दिव्यं मन्त्रपदं महत्।
यदि श्राव्यमिदं कृष्ण श्रोतुमिच्छाम तत्त्वतः॥ २७॥

'माधव! नारदजीने आपके विषयमें आश्चर्य और धन्य कहा है और आपने 'दक्षिणाओंके साथ' ऐसा कहकर नारदजीको उनकी बातका उत्तर दे दिया है; यह सब हो जानेपर भी हम यह नहीं समझ सके कि 'यह क्या है?' इस दिव्य एवं महान् मन्त्रपदका तात्पर्य क्या है? श्रीकृष्ण! यदि यह सुनानेयोग्य हो तो हमलोग यथार्थरूपसे इसका रहस्य सुनना चाहते हैं'॥ २६-२७॥

तानुवाच ततः कृष्णः सर्वान् पार्थिवपुङ्गवान्।
श्रोतव्यं नारदस्त्वेष द्विजो वः कथयिष्यति॥ २८॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने उन समस्त भूपाल-शिरोमणियोंसे कहा—'राजाओ! यदि तुम्हें इसका तात्पर्य सुनना है तो ये विप्रवर नारदजी ही आपके समक्ष पूर्वोक्त वचनोंकी व्याख्या करेंगे'॥ २८॥

ब्रूहि नारद तत्त्वार्थं श्रोतुकामा महीभुजः।
यत् त्वयाभिहितं वाक्यं मया नु प्रतिभाषितम्॥ २९॥

ऐसा कहकर वे नारदजीसे बोले—'नारदजी! तुमने जो बात कही और मैंने जो उसका उत्तर दिया, उसका यथार्थ रहस्य ये राजालोग सुनना चाहते हैं; अतः आप इन्हें बताइये'॥

स पीठे काञ्चने शुभ्रे सूपविष्टः स्वलंकृतः।
प्रभावं तस्य वन्द्यस्य प्रवक्तुमुपचक्रमे॥ ३०॥

तब वे सुन्दर सुवर्णमय पीठपर जमकर बैठ गये। वे सुन्दर अलंकारोंसे अलंकृत भी थे, उन्होंने उन वन्दनीय प्रभुके प्रभावका वर्णन इस प्रकार आरम्भ किया॥ ३०॥

नारद उवाच

श्रूयतां भो नृपश्रेष्ठा यावन्तः स्थ समागताः।
अस्य कृष्णस्य महतो यथा पारमहं गतः॥ ३१॥

नारदजी बोले—नृपवरो! आपलोग जितनी संख्यामें यहाँ पधारे हैं, वे सुनें, मैं इन परम महान् श्रीकृष्णकी महिमाके पार कैसे पहुँचा, यह बता रहा हूँ॥ ३१॥

अहं कदाचिद् गङ्गायास्तीरे त्रिषवणातिथिः।
चराम्येकः क्षपापाये दृश्यमाने दिवाकरे॥ ३२॥
अपश्यं गिरिकूटाभं कपालद्वयदेहिनम्।
क्रोशमण्डलविस्तारं तावद् द्विगुणमायतम्॥ ३३॥
चतुश्चरणसुश्लिष्टं क्लिन्नं चैव सपङ्किलम्।
मम वीणाकृतिं कूर्मं गजचर्मचयोपमम्॥ ३४॥

किसी समय मैं गङ्गाजीके तटपर तीनों समय स्नान करनेवाले अतिथिके रूपमें अकेला ही विचरता था। एक दिन जब रात बीत चुकी थी और सूर्यदेव दिखायी देने लगे थे, मैंने एक कछुआ देखा, जो पर्वतके शिखरके समान प्रतीत होता था। उसका शरीर दो कपालोंके संयोगसे बना था। उसका मण्डलाकार विस्तार एक कोसका था, लंबाई इससे दूनी थी। उसके चार पैर थे। वह पानीसे भीगा और कीचड़में सना हुआ था। उसकी आकृति मेरी वीणाके समान थी। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो हाथीके चमड़ेका ढेर लगा हो॥ ३२—३४॥

सोऽहं तं पाणिना स्पृष्ट्वा प्रोक्तवाञ्जलचारिणम्।
त्वमाश्चर्यशरीरोऽसि कूर्म धन्योऽसि मे मतः॥ ३५॥

मैंने उस जलचर जन्तुको हाथसे छूकर उससे कहा—'कूर्म ! तुम्हारा शरीर आश्चर्यजनक है। मेरे मतमें तुम धन्य हो॥ ३५॥

यस्त्वमेवमभेद्याभ्यां कपालाभ्यां समावृतः।
तोये चरसि निःशङ्कः कंचिदन्यमचिन्तयन्॥ ३६॥

'क्योंकि तुम दो अभेद्य कपालोंसे आवृत रहकर दूसरे किसीकी परवा न रखते हुए पानीमें निःशङ्क विचरते हो'॥३६॥

स मामुवाचाम्बुचरः कूर्मो मानुषवत्स्वयम्।
किमाश्चर्यं मयि मुने धन्यश्चाहं कथं विभो॥ ३७॥

तब उस जलचर कछुएने स्वयं ही मनुष्यकी-सी बोलीमें मुझसे कहा—'मुने ! मुझमें क्या आश्चर्य है ? प्रभो ! मैं कैसे धन्य हूँ ?॥ ३७॥

गङ्गेयं निम्नगा धन्या किमाश्चर्यमतः परम्।
यत्राहमिव सत्त्वानि चरन्त्ययुतशो द्विज॥ ३८॥

ब्रह्मन् ! धन्य तो ये गङ्गा नदी हैं। इनसे बढ़कर आश्चर्यकी वस्तु और क्या है ? जिनके भीतर मुझ-जैसे हजारों जलजन्तु विचरते हैं'॥ ३८॥

सोऽहं कुतूहलाविष्टो नदीं गङ्गामुपस्थितः।
धन्यासि त्वं सरिच्छ्रेष्ठे नित्यमाश्चर्यभूषिता॥ ३९॥
या त्वमेवं महादेहैः श्वापदैरुपशोभिता।
ह्रदिनी सागरं यासि रक्षन्ती तापसालयान्॥ ४०॥

तब मैं कौतूहलवश गङ्गा नदीके निकट गया और बोला—'सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गे ! तुम धन्य हो और सदा आश्चर्यसे विभूषित रहती हो, क्योंकि ऐसे-ऐसे विशालकाय हिंसक जन्तु तुम्हारी शोभा बढ़ाते हैं; तुम अनेकानेक कुण्डोंसे युक्त हो और कितने ही तापसोंके आश्रमोंकी रक्षा करती हुई समुद्रतक जाती हो'॥ ३९-४०॥

एवमुक्ता ततो गङ्गा रूपिणी प्रत्यभाषत।
नारदं देवगन्धर्वं शक्रस्य दयितं द्विजम्॥ ४१॥

मेरे इस तरह कहनेपर गङ्गाजी अपने दिव्यरूपसे प्रकट होकर मुझ देवगन्धर्वजातीय तथा इन्द्रके प्रिय मित्र नारद नामक ब्राह्मणसे यों बोलीं—॥ ४१॥

मा मैवं देवगन्धर्व संग्रामकलहप्रिय।
नाहं धन्या द्विजश्रेष्ठ नैवाश्चर्योपशोभिता॥ ४२॥

'देवगन्धर्व ! ऐसा न कहो, न कहो। युद्ध और कलहके प्रेमी द्विजश्रेष्ठ ! मैं न तो धन्य हूँ और न आश्चर्यजनक जन्तुओंसे सुशोभित ही॥ ४२॥

तव सत्ये निविष्टस्य वाक्यं मां प्रतिबाधते।
सर्वाश्चर्यकरो लोके धन्यश्चैवार्णवो द्विज॥ ४३॥
यत्राहमिव विस्तीर्णाः शतशो यान्ति निम्नगाः।

'आप सत्यपरायण महर्षिका यह वचन मेरे प्रति बाधित हो रहा है। ब्रह्मन् ! संसारमें पूर्णतः आश्चर्यकारक और धन्य तो एकमात्र समुद्र ही है, जिसमे मुझ-जैसी सैकड़ों विस्तृत नदियाँ जाकर मिलती हैं'॥ ४३½॥

सोऽहं त्रिपथगावाक्यं श्रुत्वार्णवमुपस्थितः॥ ४४॥
आश्चर्यं खलु लोकानां धन्यश्चासि महार्णव।
येन खल्वसि योनिस्त्वमम्भसां सलिलेश्वरः॥ ४५॥

गङ्गाजीका उक्त वचन सुनकर मैं महासागरके तटपर गया और बोला—'महार्णव ! तुम समस्त लोकोंमें आश्चर्यमय और धन्य हो, क्योंकि तुम जलकी योनि और स्वामी हो।४४-४५।

स्थाने त्वां वारिवाहिन्यः सरितो लोकपावनाः।
इमाः समभिगच्छन्ति पत्न्यो लोकनमस्कृताः॥ ४६॥

'जल बहानेवाली जो ये लोकपावन और विश्ववन्दित नदियाँ पत्नीभावसे तुम्हारे समीप जाती हैं, यह सब उचित ही है'॥ ४६॥

समुद्रस्त्वेवमुक्तस्तु ततो मामवदद्-वचः।
स्वं जलौघतलं भित्त्वा व्युत्थितः पवनेरितः॥ ४७॥

मेरे ऐसा कहनेपर पवनप्रेरित समुद्र अपनी अगाध जलराशिका भेदन करके उठ खड़ा हुआ और मुझसे इस प्रकार बोला—॥ ४७॥

मा मैवं देवगन्धर्व नास्म्याश्चर्यो द्विजर्षभ।
वसुधेयं मुने धन्या यत्राहमुपरि स्थितः॥ ४८॥
ऋते तु पृथिवीं लोके किमाश्चर्यमतः परम्।

'देवगन्धर्व ! आप ऐसा न कहें ! न कहें !! द्विजश्रेष्ठ ! मैं ऐसा आश्चर्यरूप नहीं हूँ। मुने ! धन्य तो यह वसुधा है, जिसके उपर मैं स्थित हूँ। संसारमे पृथ्वीके सिवा उससे बढ़कर आश्चर्यकी वस्तु दूसरी कौन है ?'॥ ४८½॥

सोऽहं सागरवाक्येन क्षितिं क्षितितले स्थितः॥ ४९॥
कौतूहलसमाविष्टो ह्यब्रुवं जगतो गतिम्।

समुद्रके कहनेसे मैं पृथ्वीपर खड़ा हुआ और कौतूहल-युक्त होकर जगत्की आधारस्वरूपा पृथ्वीसे बोला—॥४९½॥

धरित्रि देहिनां योने धन्या खल्वसि शोभने॥ ५०॥
आश्चर्यं चापि भूतेषु महत्या क्षमया युते।

'धरित्रि ! तू समस्त देहधारियोंकी योनि है, अतः शोभने ! तू निश्चय ही धन्य है। महती क्षमासे संयुक्त होनेके कारण तू सम्पूर्ण भूतोंमें आश्चर्यरूप है॥ ५०½॥

तेन खल्वसि भूतानां धरणी मनुजारणिः॥ ५१॥
क्षमा त्वत्तः प्रभूता च कर्म चाम्बरगामिनाम्।

'अतः निश्चय ही तू समस्त प्राणियोंको धारण करनेवाली और मनुष्योंका उत्पत्ति-स्थान है। तुझसे ही क्षमाभाव प्रकट हुआ है। आकाशचारियोंका कर्म भी तुझसे ही सिद्ध होता है'॥ ५१½॥

ततो भूः स्तुतिवाक्येन सा मयोक्तेन तेजिता ॥ ५२ ॥
विहाय सहजं धैर्यं प्रत्यक्षा मामभाषत ।

मेरे द्वारा कहे गये प्रशंसासूचक वचनसे पृथ्वी उत्तेजित-सी हो उठी। उसने अपनी सहज धीरता छोड़ दी और प्रत्यक्ष होकर मुझसे कहा—॥ ५२½ ॥

देवगन्धर्व मा मैवं संग्रामकलहप्रिय ॥ ५३ ॥
नास्मि धन्या न चाश्चर्यं पारक्येयं धृतिर्मम ।

'युद्ध और कलहसे प्रेम रखनेवाले देवगन्धर्व! ऐसी बात न कहो! न कहो!! न तो मैं धन्य हूँ और न आश्चर्यरूप ही हूँ। मुझमें जो धीरता दिखायी देती है, यह मेरी नहीं दूसरोंकी है ॥ ५३½ ॥

एते धन्या द्विजश्रेष्ठ पर्वता धारयन्ति माम् ॥ ५४ ॥
आश्चर्याणि च दृश्यन्ते एते लोकस्य हेतवः ।

'द्विजश्रेष्ठ! ये पर्वत धन्य हैं, जो मुझे धारण करते हैं। ये ही आश्चर्यरूप देखे जाते हैं तथा ये ही इस जगत्की स्थिति-के हेतु हैं' ॥ ५४½ ॥

सोऽहं धरणिवाक्येन पर्वतान् समुपस्थितः ॥ ५५ ॥
धन्या भवन्तो दृश्यन्ते बह्वाश्चर्याश्च भूधराः ।

पृथ्वीके इस कथनसे प्रभावित होकर मैं पर्वतोंके यहाँ उपस्थित हुआ और बोला—'भूधरो! तुम धन्य हो। तुममें बहुत-सी आश्चर्यकी बातें दिखायी देती हैं ॥ ५५½ ॥

काञ्चनस्याग्र्यरत्नस्य धातूनां च विशेषतः ॥ ५६ ॥
तेन खल्वाकराः सर्वे भवन्तो भुवि शाश्वताः ।

'सुवर्ण, श्रेष्ठ रत्न और विशेषतः धातुओंके उत्पत्तिस्थान होनेके कारण तुम सब लोग आकर कहलाते हो। इस भूतल-पर तुम सब ही सदा बने रहते हो' ॥ ५६½ ॥

ते ममैतद् वचः श्रुत्वा पर्वतास्तस्थुषां वराः ॥ ५७ ॥
ऊचुर्मां सान्त्वयुक्तानि वचांसि वनशोभिताः ।

मेरी यह बात सुनकर स्थावर पदार्थोंमें श्रेष्ठ पर्वत, जो वनोंसे सुशोभित होते हैं, मुझसे सान्त्वनायुक्त वचन बोले—॥ ५७½ ॥

ब्रह्मर्षे न वयं धन्या नाप्याश्चर्याणि सन्ति नः ।
ब्रह्मा प्रजापतिर्धन्यः सर्वाश्चर्यः सुरेष्वपि ॥ ५८ ॥

'ब्रह्मर्षे! न तो हम धन्य हैं और न हमारे पास आश्चर्य-जनक वस्तुएँ ही हैं। प्रजापति ब्रह्माजी धन्य हैं, देवताओंमें भी वे ही सम्पूर्ण आश्चर्योंसे युक्त हैं' ॥ ५८ ॥

सोऽहं प्रजापतिं गत्वा सर्वप्रभवमव्ययम् ।
तस्य वाक्यस्य पर्यायपर्याप्तमिव लक्षये ॥ ५९ ॥

तब मैंने सबके उत्पत्तिस्थान अविनाशी प्रजापतिके पास जाकर उनमें पर्वतोंके कहे हुए वचनोंकी पर्याप्त सार्थ-कता देखी ॥ ५९ ॥

सोऽहं पितामहं देवं लोकयोनिं चतुर्मुखम् ।
स्तोतुं पश्चादुपगतः प्रणतोऽवनताननः ॥ ६० ॥

इसके बाद मैंने सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्तिके स्थानभूत, चार मुखवाले पितामह देवको नतमस्तक होकर प्रणाम किया और फिर स्तवन करनेके लिये मैं उनके पास खड़ा हुआ ॥ ६० ॥

सोऽहं वाक्यसमाप्त्यर्थं श्रावये पद्मयोनिजम् ।
आश्चर्यं भगवानेको धन्योऽसि जगतो गुरुः ॥ ६१ ॥

स्तुतिके बाद अपनी बात समाप्त करनेके लिये मैंने पद्मयोनि ब्रह्माजीको सुनाते हुए कहा—'भगवन्! एकमात्र आप ही आश्चर्यमय हैं, आप ही सम्पूर्ण जगत्के गुरु एवं धन्य हैं ॥ ६१ ॥

न किंचिदन्यत् पश्यामि भूतं यद् भवता समम् ।
त्वत्तः सर्वमिदं जातं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥ ६२ ॥

'मैं दूसरे किसी भूतको ऐसा नहीं देखता, जो आपके समान हो। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् आपसे ही उत्पन्न हुआ है ॥ ६२ ॥

सदेवदानवा मर्त्या लोके भूतेन्द्रियात्मकाः ।
भवन्ति सर्वदेवेश दृष्ट्वा सर्वमिदं जगत् ॥ ६३ ॥

'सर्वदेवेश्वर! संसारमें भूत और इन्द्रियमय जो देवता, दानव और मनुष्य आदि प्राणी देखे जाते हैं, वे सब आपसे ही उत्पन्न होते हैं, इस सम्पूर्ण जगत्को देखकर यही निश्चय होता है ॥ ६३ ॥

तेन खल्वसि देवानां देवदेवः सनातनः ।
तेषामेवासि यत्स्रष्टा लोकानामादिसम्भवः ॥ ६४ ॥

'इसलिये आप अवश्य ही देवताओंके सनातन देवाधि-देव हैं; क्योंकि आप ही उनके स्रष्टा हैं और आप ही समस्त लोकोंके आदिकारण हैं' ॥ ६४ ॥

ततो मां प्राह भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः ।
धन्याश्चर्याश्रितैर्वाक्यैः किं मां नारद भाषसे ॥ ६५ ॥

तब लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने मुझसे कहा—'नारद! धन्य और आश्चर्यके विवेचनसे सम्बन्ध रखनेवाले वचनोंद्वारा मेरे विषयमें क्या कहते हो? ॥ ६५ ॥

आश्चर्यं परमं वेदा धन्या वेदाश्च नारद ।
ये लोकान् धारयन्ति स्म वेदास्तत्त्वार्थदर्शिनः ॥ ६६ ॥

'नारद! सबसे महान् आश्चर्य तो वेद हैं, वे ही धन्य भी हैं; क्योंकि वे तत्त्वार्थदर्शी वेद सम्पूर्ण लोकोंको धारण करते हैं ॥ ६६ ॥

ऋक्सामयजुषां सत्यमथर्वणि च यन्मतम् ।
तन्मयं विद्धि मां विप्र धृतोऽहं तैर्मया च ते ॥ ६७ ॥

'विप्रवर ! ऋक्, साम और यजुर्वेदका जो सत्य है तथा अथर्ववेदमे जो सत्य माना गया है, उसीको मेरा स्वरूप समझो । वेदोंने मुझे धारण कर रखा है और मैंने वेदोंको' ॥

पारमेष्ठ्येन वाक्येन नोदितोऽहं स्वयम्भुवा ।
वेदोपस्थानिकां चक्रे मतिं संस्थानविस्तरात् ॥ ६८ ॥

तब स्वयम्भू ब्रह्माजीके कहे हुए उनके स्वरूपके अनुरूप वचनसे प्रेरित हो मैंने लक्षणविस्तारके अनुसार वेदोंके उपस्थानका विचार किया ॥ ६८ ॥

सोऽहं स्वयम्भूवचनाद् वेदान् वै समुपस्थितः ।
अवोचं तांश्च चतुरो मन्त्रप्रवचनान्वितान् ॥ ६९ ॥

स्वयम्भू ब्रह्माजीके वचनसे मैंने मन्त्र और व्याख्यासे युक्त पूर्वोक्त चारों वेदोंकी सेवामें उपस्थित हो उनसे कहा—॥

धन्या भवन्तः पुण्याश्च नित्यमाश्चर्यभूषिताः ।
आधाराश्चैव विप्राणामेवमाह प्रजापतिः ॥ ७० ॥

'आपलोग धन्य हैं, पवित्र हैं और सदा आश्चर्यसे विभूषित रहते हैं। ब्राह्मणोंके आधार भी आप ही हैं, ऐसा प्रजापतिका कथन है ॥ ७० ॥

स्वयम्भुवोऽपीह परं भवत्सु प्रश्नमागतम् ।
युष्मत्परतरं नास्ति श्रुत्या वा तपसापि वा ॥ ७१ ॥

'आपलोगोंके विषयमे स्वयम्भू ब्रह्माजीका भी यही निर्णय है कि आपलोग सबसे श्रेष्ठ हैं। श्रुति अथवा तपस्याके द्वारा भी आपलोगोंसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है' ॥ ७१ ॥

प्रत्यूचुस्ते ततो वाक्यं वेदा मामभितः स्थिताः ।
आश्चर्याश्चैव धन्याश्च यज्ञाश्चात्मपरायणाः ॥ ७२ ॥

तब चारों वेदोंने मेरे सब ओर खड़े होकर इस प्रकार उत्तर दिया—'नारद ! परमात्माके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ ही आश्चर्य और धन्य हैं ॥ ७२ ॥

यज्ञार्थे न वयं सृष्टा धात्रा येन स नारद ।
तदस्माकं परो यज्ञो न वयं स्ववशे स्थिताः ॥ ७३ ॥
स्वयम्भुवः परा वेदा वेदानां क्रतवः पराः ।

'नारद ! परमात्माने यज्ञके लिये ही हमें प्रकट किया है, अतः यज्ञ ही हमसे उत्कृष्ट है। हम अपने वशमें नहीं हैं, स्वयम्भू ब्रह्मासे उत्कृष्ट वेद हैं और वेदोसे उत्कृष्ट यज्ञ हैं ॥'

ततोऽहमब्रवं यज्ञान् बृहद्वाग्भिः पुरस्कृतान् ॥७४॥
भो यज्ञाः परमं तेजो युष्मासु खलु लक्ष्यते ।

तब मैंने वेदोंकी वाणीसे पुरस्कृत हुए यज्ञोंसे कहा—'यज्ञो ! तुमलोगोंमें सबसे उत्कृष्ट तेज दिखायी देता है ॥ ७४½ ॥

ब्रह्मणाभिहितं वाक्यं यच्च वेदैरुदीरितम् ॥ ७५ ॥
आश्चर्यमन्यल्लोकेऽस्मिन् भवद्भ्यो नाभिगम्यते ।

'ब्रह्माजीने जो बात कही है और वेदोंने जिस प्रकार प्रतिपादन किया है, उसके अनुसार इस जगत्में आपलोगोंके सिवा दूसरी कोई आश्चर्यकी वस्तु नहीं ज्ञात होती है ॥ ७५½ ॥

धन्याः खलु भवन्तो ये द्विजातीनां स्ववंशजाः ॥ ७६ ॥
तेऽपि खल्वग्नयस्तृप्तिं युष्माभिर्यान्ति तर्पिताः ।
भागैश्च त्रिदशाः सर्वे मन्त्रैश्चैव महर्षयः ॥ ७७ ॥

'आपलोग धन्य हैं, जो द्विजातियोंके वंशज हैं। आपलोगोंसे तर्पित होनेपर त्रिविध अग्नियोंको तृप्ति प्राप्त होती है। यज्ञोंमें ही सब देवता अपने भागोंसे और महर्षिगण मन्त्रोंसे तृप्त होते हैं' ॥ ७६-७७ ॥

अग्निष्टोमाद्यो यज्ञा मम वाक्यादनन्तरम् ।
प्रत्यूचुर्मां ततो वाक्यं सर्वे यूपध्वजाः स्थिताः ॥ ७८ ॥

मेरे ऐसा कहनेके बाद यूपरूपी ध्वजसे सुशोभित समस्त अग्निष्टोम आदि यज्ञ खड़े होकर मुझसे बोले—॥ ७८ ॥

आश्चर्यशब्दो नास्मासु धन्यशब्दोऽपि वा मुने ।
आश्चर्यं परमं विष्णुः स ह्यस्माकं परा गतिः ॥ ७९ ॥

'मुने ! यह आश्चर्य अथवा धन्य शब्द हमलोगोंके लिये उपयुक्त नहीं है। भगवान् विष्णु ही परम आश्चर्यरूप हैं; क्योंकि वे ही हमारी परम गति हैं ॥ ७९ ॥

यदाज्यं वयमश्नीमो हुतमग्निषु पावनम् ।
तत् सर्वं पुण्डरीकाक्षो लोकमूर्तिः प्रयच्छति ॥ ८० ॥

'अग्निमें होमे गये जिस पावन आज्य-भागका हमलोग आस्वादन करते हैं, वह सब विश्वरूप कमलनयन भगवान् विष्णु हमें प्रदान करते हैं' ॥ ८० ॥

सोऽहं विष्णोर्गतिं प्रेप्सुरिह सम्पतितो भुवि ।
दृष्टश्चायं मया कृष्णो भवद्भिरिह संवृतः ॥ ८१ ॥

वेदोंके इस कथनके अनुसार मैं भगवान् विष्णुकी गति प्राप्त करनेके लिये यहाँ इस पृथ्वीपर आया हूँ। यहाँ आप राजाओंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्णका मैंने दर्शन किया है ॥

यन्मयाभिहितो ह्येष त्वमाश्चर्यं जनार्दन ।
धन्यश्चासीति भवतां मध्यस्थो ह्यत्र पार्थिवाः ॥ ८२ ॥

राजाओ ! मैंने जो श्रीकृष्णके विषयमें यह कहा है कि 'जनार्दन ! तुम आश्चर्यरूप और धन्य हो,' वे ही यहाँ आपलोगोंके बीचमें विराजमान हैं ॥ ८२ ॥

प्रत्युक्तोऽहमनेनाद्य वाक्यस्यास्य यदुत्तरम् ।
दक्षिणाभिः सहेत्येवं पर्याप्तं वचनं मम ॥ ८३ ॥

इन्होंने आज मेरी इस बातका जो उत्तर दिया है कि 'दक्षिणाओंके सहित (मैं धन्य हूँ),' यह मेरे प्रश्नका पर्याप्त उत्तर प्राप्त हो गया ॥ ८३ ॥

यज्ञानां हि गतिर्विष्णुः सर्वेषां सहदक्षिणः ।
दक्षिणाभिः सहेत्येवं प्रश्नो मम समाप्तवान् ॥ ८४ ॥

क्योंकि दक्षिणाओंसहित विष्णु ही सब यज्ञोंके आश्रय हैं, इसलिये 'दक्षिणाओंसहित' इतना कह देनेपर मेरा प्रश्न समाप्त हो गया ॥ ८४ ॥

कूर्मेणाभिहितं पूर्वं पारम्पर्यादिहागतम्।
सदक्षिणेऽस्मिन् पुरुषे तद्वाक्यं प्रतिपादितम् ॥ ८५ ॥

पहले कच्छपने धन्यताका प्रतिपादन आरम्भ किया था, फिर परम्परासे यहाँ इन दक्षिणासहित परमपुरुष श्रीकृष्णमें उसका उपसंहार हुआ है; अतः कौन धन्य है इस बातका उत्तर प्राप्त हो गया ॥ ८५ ॥

यन्मां भवन्तः पृच्छन्ति वाक्यस्यास्य विनिर्णयम्।
तदेतत् सर्वमाख्यातं साधयामि यथागतम् ॥ ८६ ॥

आपलोग जो मेरे पूर्वोक्त कथनका निश्चित तात्पर्य पूछ रहे थे, उसके विषयमें यह सब कुछ मैंने बता दिया। अब मैं जैसे आया था, वैसे जा रहा हूँ ॥ ८६ ॥

नारदे तु गते स्वर्गं सर्वे ते पृथिवीभुजः।
विस्मिताः स्वानि राष्ट्राणि जग्मुः सबलवाहनाः ॥ ८७ ॥

नारदजीके स्वर्गलोकको चले जानेपर वे समस्त भूपाल विस्मित होकर सेना और सवारियोंसहित अपने राष्ट्रोंको चले गये ॥ ८७ ॥

जनार्दनोऽपि सहितो यदुभिः पावकोपमैः।
स्वमेव भवनं वीरो विवेश यदुनन्दनः ॥ ८८ ॥

तत्पश्चात् यदुकुलको आनन्दित करनेवाले वीर जनार्दन भी अग्निके समान तेजस्वी यदुवंशी वीरोंके साथ अपने ही भवनमें पधारे ॥ ८८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि धन्योपाख्यानं नाम दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें धन्योपाख्यानविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११०॥

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी महिमा—अर्जुनका श्रीकृष्णसे आज्ञा लेकर ब्राह्मण-बालककी रक्षाके लिये जाना

जनमेजय उवाच

भूय एव महाबाहो कृष्णस्य जगतां पतेः।
माहात्म्यं श्रोतुमिच्छामि परमं द्विजसत्तम ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—महाबाहो ! द्विजश्रेष्ठ ! मैं पुनः जगदीश्वर श्रीकृष्णका उत्तम माहात्म्य सुनना चाहता हूँ॥१॥

न हि मे तृप्तिरस्तीह शृण्वतस्तस्य धीमतः।
कर्मणामनुसंतानं पुराणस्य महात्मनः ॥ २ ॥

उन परम बुद्धिमान् महात्मा पुराणपुरुष श्रीकृष्णके कर्मोंकी परम्पराका श्रवण करनेसे मुझे यहाँ तृप्ति नहीं हो रही है ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

नान्तः शक्यः प्रभावस्य वक्तुं वर्षशतैरपि।
गोविन्दस्य महाराज श्रूयतामिदमद्भुतम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी बोले—महाराज जनमेजय ! भगवान् गोविन्दके प्रभावका पूरा-पूरा वर्णन करना—उसका अन्त बता देना तो सैकड़ों वर्षोंमें भी सम्भव नहीं है। अतः उनके इस अद्भुत माहात्म्यका वर्णन सुनो ॥ ३ ॥

शरतल्पे शयानेन भीष्मेण परिचोदितः।
गाण्डीवधन्वा बीभत्सुर्माहात्म्यं केशवस्य यत् ॥ ४ ॥
राज्ञां मध्ये महाराज ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत्।
युधिष्ठिरं जितामित्रमिति तच्छृणु कौरव ॥ ५ ॥

महाराज कुरुनन्दन ! बाणशय्यापर सोये हुए पितामह भीष्मकी आज्ञा पाकर गाण्डीवधन्वा अर्जुनने समस्त राजाओंके बीच अपने शत्रुविजयी ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिरसे भगवान् केशवका जो माहात्म्य बताया था, उसीका वर्णन करता हूँ- सुनो ॥ ४-५ ॥

अर्जुन उवाच

पुराहं द्वारकां यातः सम्बन्धीनवलोककः।
न्यवसं पूजितस्तत्र भोजवृष्ण्यन्धकोत्तमैः ॥ ६ ॥

अर्जुन बोले—पहलेकी बात है, मैं अपने सगे-सम्बन्धियोंसे मिलने-जुलनेके लिये द्वारकापुरीमें गया था। वहाँ उत्तम भोज, वृष्णि और अन्धक वीरोंसे सम्मानित हो कई दिनोंतक रहा ॥ ६ ॥

ततः कदाचिद् धर्मात्मा दीक्षितो मधुसूदनः।
एकाहेन महाबाहुः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ७ ॥

एक दिन धर्मात्मा महाबाहु मधुसूदनने शास्त्रोक्त-विधिसे एकाह सोमयागकी दीक्षा ली ॥ ७ ॥

ततो दीक्षितमासीनमभिगम्य द्विजोत्तमः।
कृष्णं विज्ञापयामास त्राहि त्राहीति चाब्रवीत् ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ज्यों ही दीक्षा लेकर बैठे त्यों ही एक श्रेष्ठ ब्राह्मणने उनके पास पहुँचकर अपना संकट निवेदन किया और कहा—'प्रभो ! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये'॥८॥

ब्राह्मण उवाच

रक्षाधिकारो भवतः परित्रायस्व मां विभो।
चतुर्थांशं हि धर्मस्य रक्षिता लभते फलम् ॥ ९ ॥

ब्राह्मणने फिर कहा—प्रभो ! रक्षा करना आपके अधिकारकी बात है, आप मेरी रक्षा कीजिये; क्योंकि जो रक्षा करता है, वह रक्षित पुरुषके धर्मका चतुर्थांश फल प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

वासुदेव उवाच

न भेतव्यं द्विजश्रेष्ठ रक्षामि त्वां कुतो भयम् ।
ब्रूहि तत्त्वेन भद्रं ते यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हें डरना नहीं चाहिये । मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा । तुम्हारा भला हो, ठीक-ठीक बताओ तुम्हें किससे भय है ? यदि अत्यन्त दुष्कर कार्य हो तो भी उसे कहनेमें संकोच न करो ॥ १० ॥

ब्राह्मण उवाच

जातो जातो महाबाहो पुत्रो मे ह्रियतेऽनघ ।
त्रयो हृताश्चतुर्थं त्वं कृष्ण रक्षितुमर्हसि ॥ ११ ॥

ब्राह्मणने कहा— महाबाहो ! निष्पाप श्रीकृष्ण ! जब मेरे पुत्र पैदा होता है, तब-तब काल उसे हर ले जाता है । इस प्रकार मेरे तीन पुत्र हर लिये गये। अब चौथा पुत्र होनेवाला है, अतः आप ही उसकी रक्षा करनेयोग्य हैं ॥ ११ ॥

ब्राह्मण्याः सूतिकालोऽद्य तत्र रक्षा विधीयताम् ।
यथा ध्रियेदपत्यं मे तथा कुरु जनार्दन ॥ १२ ॥

जनार्दन ! आज ब्राह्मणी (मेरी पत्नी) के प्रसवका समय है, अतः वहाँ रक्षा कीजिये। यह मेरी संतान जिस तरह भी जीवित बच जाय, वह उपाय कीजिये ॥ १२ ॥

अर्जुन उवाच

ततो मामाह गोविन्दो दीक्षितोऽहं क्रताविति ।
रक्षा च ब्राह्मणे कार्या सर्वावस्थागतैरपि ॥ १३ ॥

अर्जुन कहते हैं—तब भगवान् गोविन्दने मुझसे कहा— पार्थ ! मैं तो यज्ञकी दीक्षा ले चुका, परंतु सभी अवस्थाओंमें भी ब्राह्मणकी रक्षा तो करनी ही चाहिये' ॥ १३ ॥

श्रुत्वाहमेवं कृष्णस्य वचोऽवोचं नराधिप ।
मां नियोजय गोविन्द रक्षिष्येऽहं द्विजं भयात् ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! श्रीकृष्णका ऐसा वचन सुनकर मैंने उनसे कहा—'गोविन्द ! आप मुझे इस कार्यमें नियुक्त कीजिये । मैं इस ब्राह्मणकी भयसे रक्षा करूँगा' ॥ १४ ॥

इत्युक्तः स स्मितं कृत्वा मामुवाच जनार्दनः ।
रक्षसीत्येवमुक्तस्तु व्रीडितोऽस्मि नराधिप ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! मेरे ऐसा कहनेपर जनार्दन मुसकराकर मुझसे बोले—'क्या तुम रक्षा कर लोगे ?' उनकी यह बात सुनकर मैं लज्जित हो गया ॥ १५ ॥

ततो मां व्रीडितं मत्वा पुनराह जनार्दनः ।
गम्यतां कौरवश्रेष्ठ शक्यते यदि रक्षितुम् ॥ १६ ॥

तब मुझे लज्जित जानकर जनार्दनने फिर कहा—'कौरव-श्रेष्ठ ! यदि तुम रक्षा कर सको तो जाओ ॥ १६ ॥

त्वत्पुरोगाश्च रक्षन्तु वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
ऋते रामं महाबाहुं प्रद्युम्नं च महाबलम् ॥ १७ ॥

'महाबाहु बलराम तथा महाबली प्रद्युम्नको छोड़कर अन्य वृष्णि और अन्धकवंशी महारथी तुम्हें अगुआ बनाकर जायँ और इस ब्राह्मणकी रक्षा करें' ॥ १७ ॥

ततोऽहं वृष्णिसैन्येन महता परिवारितः ।
तमग्रतो द्विजं कृत्वा प्रयातः सह सेनया ॥ १८ ॥

तब मैं वृष्णिवीरोंकी विशाल सेनासे घिरकर उस ब्राह्मण-को आगे करके सेनाके साथ आगे बढ़ा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि वासुदेवमाहात्म्ये एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें वासुदेवका माहात्म्यविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणबालककी रक्षा न होनेपर ब्राह्मणद्वारा अर्जुनका तिरस्कार और श्रीकृष्णके साथ उनका उत्तर दिशाको गमन

अर्जुन उवाच

मुहूर्तेन वयं ग्रामं तं प्राप्य भरतर्षभ ।
विश्रान्तवाहनाः सर्वे निवासायोपसंस्थिताः ॥ १ ॥

अर्जुन कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर दो ही घड़ीमें हम सब लोग उस ब्राह्मणके गाँवमें पहुँचकर वहाँ ठहरनेकी व्यवस्थामें लग गये और हमारे वाहन विश्राम करने लगे ॥ १ ॥

ततो ग्रामस्य मध्येऽहं निविष्टः कुरुनन्दन ।
समन्ताद् वृष्णिसैन्येन महता परिवारितः ॥ २ ॥

कुरुनन्दन ! इसके बाद चारों ओरसे विशाल वृष्णिसेना-से घिरा हुआ मैं उस गाँवके भीतर प्रविष्ट हुआ ॥ २ ॥

ततः शकुनयो दीप्ता मृगाश्च क्रूरभाषिणः ।
दीप्तायां दिशि वाशन्तो भयमावेदयन्ति मे ॥ ३ ॥

उस समय मुखसे आग उगलनेवाले बहुत-से पक्षी तथा क्रूरतापूर्ण बोली बोलनेवाले मृग सामने आ गये और दाहयुक्त दिशामें अव्यक्त शब्द करते हुए मुझे भयकी सूचना देने लगे ॥

संध्यारागो जपावर्णो भानुमांश्चैव निष्प्रभः।
पपात महती चोल्का पृथिवी चाप्यकम्पत ॥ ४ ॥

संध्याका रंग जपा-कुसुमके समान दिखायी दिया। सूर्यदेव प्रभाहीन प्रतीत हुए। आकाशसे उल्कापात हुआ और पृथ्वी काँपने लगी ॥ ४ ॥

तान् समीक्ष्य महोत्पातान् दारुणाँल्लोमहर्षणान्।
योगमाज्ञापयंस्तत्र जनस्योत्सुकचेतसः ॥ ५ ॥
युयुधानपुरोगाश्च वृष्ण्यन्धकमहारथाः।
सर्वे युक्तरथाः सज्जाः स्वयं चाहं तथाभवम् ॥ ६ ॥

उन भयंकर एवं रोमाञ्चकारी बड़े-बड़े दारुण उत्पातोंको देखकर सात्यकि आदि वृष्णि और अन्धकवंशके महारथियोंने उत्सुक चित्तवाले लोगोंको तैयार हो जानेकी आज्ञा दे दी। सबके रथ जोत दिये गये; सभी सुसज्जित हो गये। स्वयं मैं भी सब प्रकारसे तैयार हो गया ॥ ५-६ ॥

गतेऽर्धरात्रसमये ब्राह्मणो भयविक्लवः।
उपागम्य भयादस्मानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

जब आधी रातका समय बीत गया, तब ब्राह्मण भयसे व्याकुल होकर हमलोगोंके पास आया और भयभीत होकर इस प्रकार बोला—॥ ७ ॥

कालोऽयं समनुप्राप्तो ब्राह्मण्याः प्रसवस्य मे।
तथा भवन्तस्तिष्ठन्तु न भवेद् वञ्चनं यथा ॥ ८ ॥

'मेरी ब्राह्मणीके प्रसवका यह समय आ पहुँचा है, अब आपलोग इस तरह तैयार रहें, जिससे फिर धोखा न हो' ॥

मुहूर्तादेव चाश्रौषं कृपणं रुदितस्वनम्।
तस्य विप्रस्य भवने ह्रियतेऽह्रियतेति च ॥ ९ ॥

फिर तो दो ही घड़ीमें ब्राह्मणके घरके भीतर दीनतापूर्वक रोदनकी ध्वनि मुझे सुनायी दी। लोग कह रहे थे—'हाय! बालकको हर ले जाता है, हर ले गया' ॥ ९ ॥

अथाकाशे पुनर्वाचमश्रौषं बालकस्य वै।
ऊँहेति ह्रियमाणस्य न च पश्यामि राक्षसम् ॥ १० ॥

फिर आकाशमें मैंने अपहृत बालकका 'ऊँह' यह शब्द सुना; परंतु उसका अपहरण करनेवाले राक्षसको मैं नहीं देख पाता था ॥ १० ॥

ततोऽस्माभिस्तदा तात शरवर्षैः समन्ततः।
विष्टम्भिता दिशः सर्वा हृत एव स बालकः ॥ ११ ॥

तात! तब हमलोगोंने बाण-वर्षा करके चारों ओरसे सम्पूर्ण दिशाओंको रूँध डाला, तो भी उस बालकका अपहरण तो हो ही गया ॥ ११ ॥

ब्राह्मणोऽऽर्तस्वरं कृत्वा हृते तस्मिन् कुमारके।
वाचः स परुषास्तीव्राः श्रावयामास मां तदा ॥ १२ ॥

उस कुमारका अपहरण हो जानेपर ब्राह्मणने आर्तनाद करके उस समय मुझे अत्यन्त कड़वी खरी-खोटी बातें सुनानी आरम्भ कीं ॥ १२ ॥

वृष्णयो हतसंकल्पास्तथाहं नष्टचेतनः।
मामेवं हि विशेषेण ब्राह्मणः प्रत्यभाषत ॥ १३ ॥

वृष्णिवंशी वीरोंका सारा मनसूबा चौपट हो गया, मेरी तो चेतना ही नष्ट-सी हो गयी। वह ब्राह्मण विशेषतः मुझसे इस प्रकार कहने लगा—॥ १३ ॥

रक्षिष्यामीति चोक्तं ते न च रक्षितवानसि।
शृणु वाक्यमिदं शेषं यत् त्वमर्हसि दुर्मते ॥ १४ ॥

'दुर्मते! तूने कहा था कि रक्षा करूँगा, किंतु रक्षा नहीं की। अतः अन्तमें मेरी यह बात सुन, तू इसीका पात्र है! ॥ १४ ॥

वृथा त्वं स्पर्धसे नित्यं कृष्णेनामितबुद्धिना।
यदि स्यादिह गोविन्दो नैतदत्याहितं भवेत् ॥ १५ ॥

'तू अमित बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णके साथ सदा व्यर्थ ही स्पर्धा रखता है। यदि वे भगवान् गोविन्द स्वयं यहाँ होते तो यह दुर्घटना नहीं होने पाती ॥ १५ ॥

यथा चतुर्थं धर्मस्य रक्षिता लभते फलम्।
पापस्यापि तथा मूढ भागं प्राप्नोत्यरक्षिता ॥ १६ ॥

'मूढ़! जैसे रक्षा करनेवाला क्षत्रिय रक्षित पुरुषके धर्मका चतुर्थांश फल पाता है, उसी प्रकार रक्षा न करनेवाला पुरुष उस अरक्षितके पापका भी भागी होता है ॥१६॥

रक्षिष्यामीति चोक्तं ते न च शक्तोऽसि रक्षितुम्।
मोघं गाण्डीवमेतत्ते मोघं वीर्यं यशश्च ते ॥ १७ ॥

'तूने घोषणा तो की थी कि 'मैं रक्षा करूँगा,' परंतु तू रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है। तेरा यह गाण्डीव धनुष व्यर्थ है! तेरा पराक्रम और यश भी व्यर्थ ही है' ॥ १७ ॥

अकिञ्चिदुक्त्वा तं विप्रं ततोऽहं प्रस्थितस्तथा।
सह वृष्ण्यन्धकसुतैर्यत्र कृष्णो महाद्युतिः ॥ १८ ॥

उस ब्राह्मणसे कुछ न कहकर मैं वृष्णि और अन्धकवंशके उन राजकुमारोंके साथ प्रस्थित हो उस स्थानपर आया, जहाँ महातेजस्वी श्रीकृष्ण विराजमान थे ॥ १८ ॥

ततो द्वारवतीं गत्वा दृष्ट्वा मधुनिघातिनम्।
व्रीडितः शोकसंतप्तो गोविन्देनोपलक्षितः ॥ १९ ॥

द्वारकामें पहुँचकर मधुसूदनका दर्शन करके मैं लज्जित एवं शोकसे संतप्त हो उठा। गोविन्दने मेरी इस अवस्थाको लक्ष्य किया ॥ १९ ॥

स तु मां व्रीडितं दृष्ट्वा विनिन्दन् कृष्णसंनिधौ।
मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम्॥ २०॥

इसी बीचमें उस ब्राह्मणने आकर मुझे लज्जित देख भगवान् श्रीकृष्णके समीप ही इस तरह निन्दित वचन कहना आरम्भ किया—'अहो! मेरी मूर्खता तो देखो। मैंने इस कायर या नपुंसककी बातपर विश्वास कर लिया॥ २०॥

न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः।
यत्र शक्ताः परित्रातुं कोऽन्यस्तदवनेश्वरः॥ २१॥

'जहाँ प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, बलराम और श्रीकृष्ण भी रक्षा करनेमें असमर्थ हों, वहाँ दूसरा कौन रक्षा कर सकता है?॥ २१॥

धिगर्जुनं वृथावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः।
दैवोपसृष्टो यो मौर्ख्यादागच्छति च दुर्मतिः॥ २२॥

'व्यर्थ बातें बनानेवाले इस अर्जुनको धिक्कार है! झूठी आत्मप्रशंसा करनेवाले इस अर्जुनके धनुषको भी धिक्कार है! क्योंकि यह खोटी बुद्धिवाला पुरुष स्वयं ही दैवका मारा हुआ है तो भी मूर्खतावश मेरी रक्षा करने आया था'॥ २२॥

एवं शपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय वैष्णवीम्।
ययौ संयमिनीं वीरो यत्रास्ते भगवान् यमः॥ २३॥

(वैशम्पायनजी कहते हैं—) वे ब्रह्मर्षि जब इस प्रकार आक्षेप करने लगे, तब वीर अर्जुन वैष्णवी विद्याका आश्रय ले संयमनी पुरीमें गये, जहाँ भगवान् यम विराजमान हैं॥ २३॥

विप्रापत्यमचक्षाणस्तत ऐन्द्रीमगात् पुरीम्।
आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यामुदीचीं वारुणीं तथा॥ २४॥

वहाँ ब्राह्मणके बालकको न देखकर वे क्रमशः इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, सोमकी उदीची तथा वरुण—इन सबकी पुरीमें गये॥ २४॥

रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः।
ततोऽलब्ध्वा द्विजसुतमनिस्तीर्णप्रतिश्रवः॥ २५॥

अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रद्युम्नेन निषेधितः।
दर्शये द्विजसूनुं ते मावज्ञात्मानमात्मना॥ २६॥
कीर्तिं त एते विपुलां स्थापयिष्यन्ति मानवाः।

फिर वे अपना अस्त्र-शस्त्र लिये रसातल तथा स्वर्गमें भी गये। इतनेपर भी ब्राह्मण-बालकको न पाकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण न कर सके; अतः उन्होंने जलती आगमें प्रवेश करनेका विचार किया। उस समय श्रीकृष्ण और प्रद्युम्नने आकर उन्हें ऐसा करनेसे रोका और कहा—'मैं उन ब्राह्मण-बालकोंको तुम्हें दिखा दूँगा, तुम स्वयं ही अपनी अवज्ञा न करो। ये संसारके मनुष्य तुम्हारी सुविस्तृत कीर्तिकी स्थापना करेंगे'॥ २५—२६½॥

इति सम्भाष्य मां स्नेहात् समाश्वास्य च माधवः॥ २७॥
सान्त्वयित्वा तु तं विप्रमिदं वचनमब्रवीत्।

(अर्जुन कहते हैं—) इस प्रकार स्नेहपूर्वक बात करके माधवने मुझे आश्वासन दिया और उन ब्राह्मणको सान्त्वना देकर सारथिसे यह बात कही—॥ २७½॥

सुग्रीवं चैव शैब्यं च मेघपुष्पबलाहकौ॥ २८॥
योजयाश्वानिति तदा दारुकं प्रत्यभाषत।

'दारुक! तुम सुग्रीव, शैब्य, मेघपुष्प और बलाहक नामक घोड़ोंको रथमें जोतो।' इस प्रकार उस समय उन्होंने दारुकसे कहा॥ २८½॥

आरोप्य ब्राह्मणं कृष्णो ह्यवरोप्य च दारुकम्॥ २९॥
मामुवाच ततः शौरिः सारथ्यं क्रियतामिति।

तदनन्तर रथ जुत जानेपर शूरनन्दन श्रीकृष्णने ब्राह्मणको रथपर चढ़ा लिया और दारुकको उतारकर मुझसे कहा—'तुम सारथिका काम करो'॥ २९½॥

ततः समास्थाय रथं कृष्णोऽहं ब्राह्मणः स च।
प्रायाताः स्म दिशं सौम्यामुदीचीं कौरवर्षभ॥ ३०॥

कौरवश्रेष्ठ! तत्पश्चात् श्रीकृष्ण, मैं और वह ब्राह्मण तीनों उस रथपर बैठकर सोमपालित उत्तर दिशाकी ओर चल दिये॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि वासुदेवमाहात्म्ये श्रीकृष्णस्योदीचीगमने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें वासुदेव-माहात्म्यके प्रसंगमें श्रीकृष्णका उत्तर दिशाको गमनविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११२॥

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा ब्राह्मणपुत्रोंका आनयन

अर्जुन उवाच

ततः पर्वतजालानि सरितश्च वनानि च।
अपश्यं समतिक्रम्य सागरं वरुणालयम्॥ १॥

अर्जुन कहते हैं—तदनन्तर बहुत-से पर्वत-समूहों, सरिताओं और वनोंको लाँघकर मैंने वरुणालय समुद्रको देखा॥ १॥

ततोऽर्घ्यमुदधिः साक्षादुपनीय जनार्दनम्।
स प्राञ्जलिः समुत्थाय किं करोमीति चाब्रवीत्॥ २ ॥

उस समय साक्षात् समुद्रने भगवान् जनार्दनको अर्घ्य निवेदन किया और हाथ जोड़ खड़ा होकर कहा, 'प्रभो! मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' ॥ २ ॥

प्रतिगृह्य स तां पूजां तमुवाच जनार्दनः।
रथपन्थानमिच्छामि त्वया दत्तं नदीपते॥ ३ ॥

समुद्रद्वारा अर्पित की हुई पूजाको ग्रहण करके भगवान् जनार्दनने कहा—'नदीपते! मैं चाहता हूँ कि तुम मुझे मेरे रथके लिये मार्ग दे दो' ॥ ३ ॥

अथाब्रवीत् समुद्रस्तु प्राञ्जलिर्गरुडध्वजम्।
प्रसीद भगवन् नैवमन्योऽप्येवं गमिष्यति॥ ४ ॥

तब समुद्रने हाथ जोड़कर गरुड़ध्वज श्रीकृष्णसे कहा—'भगवन्! प्रसन्न होइये। इस तरह मेरे भीतर मार्ग न बनाइये, नहीं तो दूसरे लोग भी इसी तरह आया-जाया करेंगे ॥ ४ ॥

त्वयैव स्थापितः पूर्वमगाधोऽस्मि जनार्दन।
त्वया प्रवर्तिते मार्गे यास्यामि गमनायताम्॥ ५ ॥

'जनार्दन! पहले आपने ही मुझे इस रूपमें प्रतिष्ठित किया है। मैं अगाध हूँ। जब आप मेरे भीतर मार्ग बना देंगे, तब मैं सबके लिये गमनीय (लाँघ जानेके योग्य) हो जाऊँगा ॥ ५ ॥

अन्येऽप्येवं गमिष्यन्ति राजानो दर्पमोहिताः।
एवं संचिन्त्य गोविन्द यत् क्षमं तत् समाचर॥ ६ ॥

फिर तो अभिमानसे मोहित हुए दूसरे राजा भी मुझे इसी तरह लाँघ जाया करेंगे। गोविन्द! इस बातका विचार करके जो उचित हो वह कीजिये' ॥ ६ ॥

वासुदेव उवाच

ब्राह्मणार्थे मदर्थे च कुरु सागर मद्वचः।
मदृते न पुमान् कश्चिदन्यस्त्वां धर्षयिष्यति॥ ७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—सागर! तुम इस ब्राह्मणके लिये और मेरे लिये भी मेरी इस बातको मान लो, मेरे सिवा दूसरा कोई पुरुष तुम्हें नहीं लाँघ सकेगा ॥ ७ ॥

अथाब्रवीत् समुद्रस्तु पुनरेव जनार्दनम्।
अभिशापभयाद् भीतो बाढमेवं भविष्यति॥ ८ ॥

तब शापके भयसे डरे हुए समुद्रने पुनः जनार्दनसे कहा—'बहुत अच्छा ऐसा ही होगा' ॥ ८ ॥

शोषयाम्येष मार्गं ते येन त्वं कृष्ण यास्यसि।
रथेन सह सूतेन सध्वजेन तु केशव॥ ९ ॥

'श्रीकृष्ण! केशव! यह लीजिये, मैं आपके मार्गको सुखाये देता हूँ, जिससे कि आप सारथि और ध्वजसहित रथके द्वारा यात्रा करेंगे' ॥ ९ ॥

वासुदेव उवाच

मया दत्तो वरः पूर्वं न शोषं यास्यसीति ह।
मानुषास्ते न जानीयुर्विविधान् रत्नसंचयान्॥ १० ॥
जलं स्तम्भय साधो त्वं ततो यास्याम्यहं रथी।
न च कश्चित् प्रमाणं ते रत्नानां वेत्स्यते नरः॥ ११ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—सरित्पते! मैंने पूर्वकालमें तुम्हें वर दिया है कि तुम कभी सूखोगे नहीं। मनुष्य तुम्हारे भीतर रखे हुए नाना प्रकारके रत्नोंके ढेरोंको न जान सकें, इसके लिये तुम केवल अपने जलको स्तम्भित कर लो। साधो! ऐसा करनेसे मैं रथपर बैठा हुआ तुम्हारे ऊपरसे चला जाऊँगा और कोई मनुष्य तुम्हारे रत्नोंका प्रमाण नहीं जान सकेगा ॥ १०-११ ॥

सागरेण तथेत्युक्ते प्रस्थिताः स्मो जलेन वै।
स्तम्भितेन पथा भूमौ मणिवर्णेन भास्वता॥ १२ ॥

तब समुद्रने 'तथास्तु' कहकर उनकी बात स्वीकार कर ली। फिर हम सब लोग स्तम्भित हुए जलके मार्गसे चले। वह मार्ग भूमिपर स्थित प्रकाशमान मणियोंकी प्रभासे उद्भासित हो रहा था ॥ १२ ॥

ततोऽर्णवं समुत्तीर्य कुरूनप्युत्तरान् वयम्।
क्षणेन समतिक्रान्ता गन्धमादनमेव च॥ १३ ॥

तत्पश्चात् समुद्रको पार करके हम उत्तर कुरुमें जा पहुँचे। फिर एक ही क्षणमें गन्धमादन पर्वतको भी लाँघ गये ॥ १३ ॥

ततस्तु पर्वताः सप्त केशवं समुपस्थिताः।
जयन्तो वैजयन्तश्च नीलो रजतपर्वतः॥ १४ ॥
महामेरुः सकैलास इन्द्रकूटश्च नामतः।
बिभ्राणा वर्णरूपाणि विविधान्यद्भुतानि च॥ १५ ॥

तदनन्तर जयन्त, वैजयन्त, नील, रजतपर्वत, महामेरु, कैलास और इन्द्रकूट नामवाले सात पर्वत भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें उपस्थित हुए। उन्होंने नाना प्रकारके अद्भुत रूप-रङ्ग धारण किये थे ॥ १४-१५ ॥

उपस्थाय च गोविन्दं किं कुर्मेत्यब्रुवंस्तदा।
तांश्चैव प्रतिजग्राह विधिवन्मधुसूदनः॥ १६ ॥

उस समय गोविन्दकी सेवामें उपस्थित हो वे सब-के-सब कहने लगे—'भगवन्! हम आपकी क्या सेवा करें?' तब मधुसूदनने विधिपूर्वक उन सबका सत्कार ग्रहण किया ॥ १६ ॥

तानुवाच हृषीकेशः प्रणामावनतान् स्थितान्।
विवरं गच्छतो मेऽद्य रथमार्गः प्रदीयताम्॥ १७ ॥

प्रणाम करके विनीत भावसे खड़े हुए उन पर्वतोंसे हृषीकेशने इस प्रकार कहा—'पर्वतो! मैं एक गूढ़-स्थानमें

जा रहा हूँ। वहाँ जानेके लिये आज मेरे रथको मार्ग प्रदान करो' ॥ १७ ॥

ते कृष्णस्य वचः श्रुत्वा प्रतिगृह्य च पर्वताः ।
प्रददुः कामतो मार्गं गच्छतो भरतर्षभ ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके उन पर्वतोंने जाते समय उन्हें इच्छानुसार मार्ग दे दिया ॥ १८ ॥

तत्रैवान्तर्हिताः सर्वे तदाश्चर्यतरं मम ।
असक्तं च रथो याति मेघजालेष्विवांशुमान् ॥ १९ ॥

फिर वे सब-के-सब वहीं अन्तर्धान हो गये। वह मेरे लिये परम आश्चर्यकी बात थी। रथ बिना किसी अटक या रुकावटके आगे बढ़ता जा रहा था, मानो अंशुमाली सूर्य मेघोंकी घटाओंमें अनासक्त भावसे चले जा रहे हों ॥ १९ ॥

सप्त द्वीपान् ससिन्धुश्च सप्त सप्त गिरीनथ ।
लोकालोकं तथातीत्य विवेश सुमहत्तमः ॥ २० ॥

सात द्वीपों, सातों समुद्रों तथा प्रत्येक द्वीपके सात-सात कुलपर्वतोंको लाँघकर लोकालोक पर्वतको भी पार करके वह रथ बड़े भारी अन्धकारमें प्रविष्ट हुआ ॥ २० ॥

ततः कथंचिद् दुःखेन रथमूहुस्तुरङ्गमाः ।
पङ्कभूतं हि तिमिरं स्पर्शाद् विज्ञायते नृप ॥ २१ ॥

तब घोड़े कभी-कभी बड़े कष्टसे रथ खींचते थे। नरेश्वर ! वह अन्धकार कीचड़के रूपमें उपलब्ध हुआ, जो स्पर्श करनेसे ज्ञात होता था ॥ २१ ॥

अथ पर्वतभूतं तत् तिमिरं समपद्यत ।
तदासाद्य महाराज निष्प्रयत्ना हयाः स्थिताः ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् वह अन्धकार पर्वतके रूपमें प्राप्त हुआ। महाराज ! उसके पास पहुँचकर रथके घोड़े निश्चेष्ट होकर खड़े हो गये ॥ २२ ॥

ततश्चक्रेण गोविन्दः पाटयित्वा तमस्तदा ।
आकाशं दर्शयामास रथपन्थानमुत्तमम् ॥ २३ ॥

तब गोविन्दने अपने चक्रसे उस अन्धकारको विदीर्ण करके अवकाश दिखाया, जो रथके लिये उत्तम मार्ग था ॥ २३ ॥

निष्क्रम्य तमसस्तस्मादाकाशे दर्शिते तदा ।
भविष्यामीति संज्ञा मे भयं च विगतं मम ॥ २४ ॥

उस अन्धकारसे निकलकर आकाशका दर्शन करनेपर मुझे यह ज्ञान हुआ कि अब मैं जी जाऊँगा, फिर तो मेरा सारा भय दूर हो गया ॥ २४ ॥

ततस्तेजः प्रज्वलितमपश्यं तत् तदाम्बरे ।
सर्वलोकं समाविश्य स्थितं पुरुषविग्रहम् ॥ २५ ॥

इसके बाद मैंने आकाशमे एक प्रज्वलित तेजका दर्शन किया, जो पुरुषके आकारमें स्थित था। वह सम्पूर्ण लोकोंमें व्याप्त जान पड़ता था ॥ २५ ॥

तं प्रविष्टो हृषीकेशो दीप्तं तेजोनिधिं तदा ।
रथ एव स्थितश्चाहं स च ब्राह्मणसत्तमः ॥ २६ ॥

उस समय भगवान् हृषीकेश उस प्रज्वलित तेजकी राशिमें समा गये, किंतु मैं और वह श्रेष्ठ ब्राह्मण रथपर ही बैठे रहे ॥ २६ ॥

स मुहूर्तात् ततः कृष्णो निश्चक्राम तदा प्रभुः ।
चतुरो बालकान् गृह्य ब्राह्मणस्यात्मजांस्तदा ॥ २७ ॥

फिर दो ही घड़ीमें भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्मणके चारों बालकोंको साथमें लेकर वहाँसे निकले ॥ २७ ॥

प्रददौ ब्राह्मणायाथ पुत्रान् सर्वाञ्जनार्दनः ।
त्रयः पूर्वं हृता ये च सद्योजातश्च बालकः ॥ २८ ॥

तीन तो वे बालक थे, जिनका पहले अपहरण हुआ था और चौथा वह नवजात बालक था। भगवान् जनार्दनने वे सब पुत्र ब्राह्मणको दे दिये ॥ २८ ॥

प्रहृष्टो ब्राह्मणस्तत्र पुत्रान् दृष्ट्वा पुनः प्रभो ।
अहं च परमप्रीतो विस्मितश्चाभवं तदा ॥ २९ ॥

प्रभो ! वहाँ अपने पुत्रोंको पुनः देखकर ब्राह्मणको बड़ा हर्ष हुआ। मुझे भी बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं तो उस समय आश्चर्यचकित हो गया था ॥ २९ ॥

ततो वयं पुनः सर्वे ब्राह्मणस्य च ते सुताः ।
यथा गता निवृत्ताः स्म तथैव भरतर्षभ ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर हम सब लोग और वे ब्राह्मण-बालक पुनः जैसे गये थे, वैसे ही लौट आये ॥ ३० ॥

ततः स्म द्वारकां प्राप्ताः क्षणेन नृपसत्तम ।
असम्प्राप्तेऽर्धदिवसे विस्मितोऽहं पुनः पुनः ॥ ३१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अभी दोपहरी भी नहीं हुई थी तभी हमलोग एक ही क्षणमें द्वारका आ पहुँचे। मैं तो बारंबार विस्मित हो रहा था ॥ ३१ ॥

सपुत्रं भोजयित्वा तु द्विजं कृष्णो महायशाः ।
धनेन तर्पयित्वा च गृहं प्रास्थापयत् तदा ॥ ३२ ॥

इसके बाद महायशस्वी श्रीकृष्णने पुत्रोंसहित ब्राह्मणको भोजन कराकर उसके लिये धनकी वर्षा करके उसे तत्काल घर भेज दिया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि वासुदेवमाहात्म्ये ब्राह्मणपुत्रानयने त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें वासुदेवमाहात्म्यके प्रसङ्गमें ब्राह्मणपुत्रोंका-आनयनविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनको अपने यथार्थ स्वरूपका परिचय देना

अर्जुन उवाच

ततः कृष्णो भोजयित्वा शतानि सुबहूनि च।
विप्राणामृषिकल्पानां कृतकृत्योऽभवत् तदा॥ १॥

अर्जुन कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण कई सौ ऋषितुल्य ब्राह्मणोंको भोजन कराकर कृतकृत्य हुए॥

ततः सह मया भुक्त्वा वृष्णिभोजैश्च सर्वशः।
विचित्राश्च कथा दिव्याः कथयामास भारत॥ २॥

भारत! तत्पश्चात् मेरे और वृष्णि तथा भोजवंशी वीरोंके साथ स्वयं भी भोजन करके वे सर्वथा दिव्य एवं विचित्र कथाएँ सुनाने लगे॥ २॥

ततः कथान्ते तत्राहमभिगम्य जनार्दनम्।
अपृच्छं तद् यथावृत्तं कृष्णं यद् दृष्टवानहम्॥ ३॥

फिर कथाके अन्तमें जनार्दन श्रीकृष्णके पास जाकर मैंने जो कुछ देखा था, उसका यथावत् वृत्तान्त पूछा—॥३॥

कथं समुद्रः स्तब्धोदः कृतस्तु कमलेक्षण।
पर्वतानां च विवरं कृतं तत् कथमच्युत॥ ४॥

'कमलनयन अच्युत! आपने समुद्रके जलको स्तम्भित कैसे कर दिया? तथा पर्वतोंमें छेद या अवकाश किस तरह बना दिया?॥ ४॥

तमस्तच्च कथं घोरं घनं चक्रेण पाटितम्।
तच्च यत् परमं तेजः प्रविष्टोऽसि कथं च तत्॥ ५॥

'उस घोर एवं घने अन्धकारको किस प्रकार चक्रसे विदीर्ण किया और वह जो परम उत्कृष्ट तेज था, उसमें आप किस प्रकार प्रविष्ट हुए?॥ ५॥

किमर्थं तेन ते बालास्तदा चापहृताः प्रभो।
यच्च ते दीर्घमध्वानं संक्षिप्तं तत् कथं पुनः॥ ६॥

'प्रभो! उस परम तेजःस्वरूप पुरुषने उस समय ब्राह्मण-बालकोंका अपहरण किस लिये किया था? और वह जो विशाल मार्ग था, उसे आपने इतना संक्षिप्त कैसे कर दिया?॥

कथं चाल्पेन कालेन नस्तद्गतागतम्।
एतत् सर्वं यथावृत्तमाचक्ष्व मम केशव॥ ७॥

'केशव! इतने थोड़े समयमें हमलोगोंका वहाँतक जाना-आना कैसे सम्भव हुआ? यह सब वृत्तान्त मुझे यथार्थ-रूपसे बताइये'॥ ७॥

वासुदेव उवाच

मद्दर्शनार्थं ते बाला हृतास्तेन महात्मना।
विप्रार्थमेष्यते कृष्णो नागच्छेदन्यथेति ह॥ ८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! उन महात्मा तेजस्वी पुरुषने मुझे देखनेके लिये ही उन बालकोंका अपहरण किया था। वे जानते थे कि ब्राह्मणके कार्यके लिये ही श्रीकृष्ण आयेंगे, अन्यथा नहीं॥ ८॥

ब्रह्म तेजोमयं दिव्यं महद् यद् दृष्टवानसि।
अहं स भरतश्रेष्ठ मत्तेजस्तत् सनातनम्॥ ९॥

भरतश्रेष्ठ! तुमने जिस दिव्य तेजोमय महद्-ब्रह्मका दर्शन किया था, वह मैं ही हूँ। वह मेरा सनातन तेज है॥९॥

प्रकृतिः सा मम परा व्यक्ताव्यक्ता सनातनी।
यां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता योगविदुत्तमाः॥ १०॥

वह मेरी व्यक्ताव्यक्तस्वरूपा सनातन परा प्रकृति है, जिसमें प्रवेश करके योगवेत्ताओंमें उत्तम पुरुष मुक्त हो जाते हैं॥ १०॥

सा सांख्यानां गतिः पार्थ योगिनां च तपस्विनाम्।
तत् पदं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्॥ ११॥

पार्थ! वही सांख्ययोगियों, कर्मयोगियों तथा तपस्वी पुरुषोंकी गति है। वही परब्रह्मपद है, जो सम्पूर्ण जगत्का विभाजन करता है—चेतनसे जडको पृथक् करता है॥११॥

मामेव तद् घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत।
समुद्रः स्तब्धतोयोऽहमहं स्तम्भयिता जलम्॥ १२॥

भारत! वह जो घनीभूत तेज था, उसे मेरा ही स्वरूप समझो। जिसके जलका स्तम्भन किया गया था, वह समुद्र मैं ही हूँ और जलका स्तम्भन करनेवाला भी मैं ही हूँ॥ १२॥

अहं ते पर्वताः सप्त ये दृष्टा विविधास्त्वया।
पङ्कभूतं हि तिमिरं दृष्टवानसि यद्धि तत्॥ १३॥

वे सात पर्वत जिन्हें तुमने नाना रूपोंमें देखा था, मैं ही हूँ और कीचड़के रूपमें जो अन्धकार दृष्टिगोचर हुआ था, वह भी मैं ही हूँ॥ १३॥

अहं तमो घनीभूतमहमेव च पाटकः।
अहं च कालो भूतानां धर्मश्चाहं सनातनः॥ १४॥

मैं ही घनीभूत अन्धकार और मैं ही उसे विदीर्ण करनेवाला हूँ। मैं ही समस्त भूतोंका काल और मैं ही उनका सनातन धर्म हूँ॥ १४॥

चन्द्रादित्यौ महाशैलाः सरितश्च सरांसि च।
चतस्रश्च दिशः सर्वा ममैवात्मा चतुर्विधः॥ १५॥

चन्द्रमा, सूर्य, बड़े-बड़े पर्वत, सरिताएँ और सरोवर भी मैं ही हूँ। ये जो चारों दिशाएँ हैं, वे सब की-सब मेरा ही चतुर्विध रूप हैं॥ १५॥

चातुर्वर्ण्यं मत्प्रसूतं चातुराश्रम्यमेव च ।
चातुर्विध्यस्य कर्ताहमिति बुध्यस्व भारत ॥ १६ ॥

भारत ! चारों वर्ण तथा चारों आश्रम मुझसे ही प्रकट हुए हैं । जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चार प्रकारके प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाला मैं ही हूँ; इस बातको तुम अच्छी तरह जान लो ॥ १६ ॥

अर्जुन उवाच

भगवन् सर्वभूतेश वेत्तुमिच्छामि ते प्रभो ।
पृच्छामि त्वां प्रपन्नोऽहं नमस्ते पुरुषोत्तम ॥ १७ ॥

तब मैं (अर्जुन) ने कहा—भगवन् ! सर्वभूतेश्वर ! प्रभो ! पुरुषोत्तम ! आपको नमस्कार है । मैं आपके स्वरूपोंको भली-भाँति जानना चाहता हूँ; इसीलिये उसके विषयमें आपसे जिज्ञासा करता हूँ और आपकी शरणमें आया हूँ ॥ १७ ॥

वासुदेव उवाच

ब्रह्म च ब्राह्मणाश्चैव तपः सत्यं च भारत ।
उग्रं बृहत्तमं चैव मत्तस्तद् विद्धि पाण्डव ॥ १८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पाण्डुनन्दन भारत ! ब्रह्म, ब्राह्मण, तप, सत्य, उग्र (संसारबन्धन) और बृहत्तम (कैवल्य)—ये सब मुझसे ही प्रकट होते हैं, ऐसा समझो ॥ १८ ॥

प्रियस्तेऽहं महाबाहो प्रियो मेऽसि धनंजय ।
तेन ते कथयिष्यामि नान्यथा वक्तुमुत्सहे ॥ १९ ॥

महाबाहु धनंजय ! मैं तुम्हें प्रिय हूँ और तुम मुझे । इसीलिये मैं तुमसे इस रहस्यका वर्णन करता हूँ, अन्यथा कदापि नहीं कह सकता ॥ १९ ॥

अहं यजूंषि सामानि ऋचश्चाथर्वणानि च ।
ऋषयो देवता यज्ञा मत्तेजो भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! मैं ही यजुर्वेद, सामवेद, ऋग्वेद और अथर्ववेद हूँ । ऋषि, देवता और यज्ञ मेरे ही तेज हैं ॥ २० ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
चन्द्रादित्यावहोरात्रं पक्षा मासास्तथर्तवः ।
मुहूर्ताश्च कलाश्चैव क्षणाः संवत्सरास्तथा ॥ २१ ॥

मन्त्राश्च विविधाः पार्थ यानि शास्त्राणि कानिचित् ।
विद्याश्च वेदितव्यं च मत्तः प्रादुर्भवन्ति हि ॥ २२ ॥

पार्थ ! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, चन्द्रमा, सूर्य, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, मुहूर्त, कला, क्षण, संवत्सर, नाना प्रकारके मन्त्र, जो कोई भी शास्त्र, विद्या और वेदितव्य—ये सब मुझसे ही प्रकट होते हैं ॥ २१-२२ ॥

मन्मयं विद्धि कौन्तेय क्षयं सृष्टिं च भारत ।
सदसच्च ममैवात्मा सदसच्चैव यत्परम् ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन भारत ! सृष्टि और संहारको भी मेरा ही स्वरूप समझो । सत्, असत्, सदसत् तथा उससे भी विलक्षण जो तत्त्व है, वह सब मेरा ही आत्मा है ॥ २३ ॥

अर्जुन उवाच

एवमुक्तोऽस्मि कृष्णेन प्रीयमाणेन वै तदा ।
तथैव च मनो नित्यमभवन्मे जनार्दने ॥ २४ ॥
एतच्छ्रुतं च दृष्टं च माहात्म्यं केशवस्य मे ।
यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र भूयांश्चातो जनार्दनः ॥ २५ ॥

अर्जुन कहते हैं—राजेन्द्र ! उस समय प्रसन्न हुए श्रीकृष्णने जब मुझे इस प्रकार उपदेश दिया, तबसे मेरा मन सदा उन्हीं जनार्दनमें संलग्न रहने लगा । इस प्रकार मैंने केशवका माहात्म्य प्रत्यक्ष देखा और सुना है, जिसके विषयमें आप मुझसे पूछ रहे थे । मैंने जो कुछ देखा और जाना है, भगवान् जनार्दन उससे भी महान् हैं ॥ २४-२५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा कुरुश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
पूजयामास धर्मात्मा गोविन्दं पुरुषोत्तमम् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर धर्मात्मा कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्दका पूजन किया ॥ २६ ॥

विस्मितश्चाभवद् राजा सह सर्वैः सहोदरैः ।
राजभिश्च समासीनैर्ये तत्रासन् समागताः ॥ २७ ॥

उस समय जो-जो राजा वहाँ पधारे और बैठे हुए थे, उनके तथा अपने समस्त भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिरको बड़ा आश्चर्य हुआ था ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि वासुदेवमाहात्म्ये कृष्णार्जुनभाषणे चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें वासुदेव-माहात्म्यके प्रसङ्गमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवादविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके पराक्रमोंका संक्षेपसे वर्णन

जनमेजय उवाच

भूय एव द्विजश्रेष्ठ यदुसिंहस्य धीमतः।
कर्माण्यपरिमेयाणि श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ १॥

जनमेजयने कहा—द्विजश्रेष्ठ! मैं परम बुद्धिमान् यदुसिंह श्रीकृष्णके अपरिमेय कर्मोंका तात्त्विक वर्णन पुनः सुनना चाहता हूँ॥ १॥

श्रूयन्ते विविधानि स्म अद्भुतानि महाद्युतेः।
असंख्येयानि दिव्यानि प्रकृतान्यपि सर्वशः॥ २॥

महातेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णके अनेक प्रकारके अद्भुत, असंख्य एवं दिव्य चरित्र सुने जाते हैं, जो सर्वथा उनके द्वारा उत्कृष्ट रूपसे किये गये हैं॥ २॥

यान्यहं विविधान्यस्य श्रुत्वा प्रीये महामुने।
प्रब्रूयाः सर्वशस्तात तानि मे शृण्वतोऽनघ॥ ३॥

निष्पाप महामुने! तात! मैं भगवान्‌के जिन-जिन विविध चरित्रोंको सुनकर प्रसन्न होता हूँ, उनका सम्पूर्ण रूपसे वर्णन कीजिये। मैं उन्हें ध्यानसे सुनूँगा॥ ३॥

वैशम्पायन उवाच

बह्वन्याश्चर्यभूतानि केशवस्य महात्मनः।
कथितानि महाबाहो नान्तं शक्यं हि कर्मणाम्॥ ४॥
गन्तुं हि भरतश्रेष्ठ विस्तरेण समन्ततः।
अवश्यं हि मया वाच्यं लेशमात्रेण भारत॥ ५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! महाबाहो! महात्मा केशवके बहुत-से आश्चर्यजनक चरित्र बताये गये। सब ओरसे विस्तारके साथ वर्णन करनेपर उनके कर्मोंका पार पाना असम्भव है। अतः भारत! मैं संक्षेपसे ही उनके उन कर्मोंका अवश्य वर्णन करूँगा॥ ४-५॥

विष्णोरमितवीर्यस्य प्रथितोदारकर्मणः।
आनुपूर्व्या प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमना नृप॥ ६॥

नरेश्वर! अपरिमित पराक्रमी तथा सुविख्यात उदार कर्मवाले भगवान् विष्णुके चरित्रोंका मैं क्रमशः वर्णन करूँगा, एकाग्रचित्त होकर सुनो॥ ६॥

द्वारवत्यां निवसता यदुसिंहेन धीमता।
राष्ट्राणि नृपमुख्यानां क्षोभितानि महात्मनाम्॥ ७॥

द्वारकामें निवास करते हुए यदुकुलसिंह बुद्धिमान् श्रीकृष्णने मुख्य-मुख्य महामनस्वी नरेशोंके राष्ट्रोंमें हलचल मचा दिया था॥ ७॥

यदूनामन्तरप्रेप्सुर्विचक्रो दानवो हतः।
पुरं प्राग्ज्योतिषं गत्वा पुनस्तेन महात्मना॥ ८॥
समुद्रमध्ये दुष्टात्मा नरको दानवो हतः।

उन दिनों एक विचक्र नामक दानव था, जो यादवोंके छिद्र ही ढूँढ़ा करता था। श्रीकृष्णने उसका वध कर डाला। फिर उन महात्माने प्राग्ज्योतिषपुरमें जाकर समुद्रके भीतर रहनेवाले दुष्टात्मा नरक नामक दानवका संहार किया॥ ८½॥

वासवं च रणे जित्वा पारिजातो हृतो बलात्॥ ९॥
वरुणश्चैव भगवान् निर्जितो लोहिते ह्रदे।

एक बार श्रीकृष्णने इन्द्रको भी युद्धमें हराकर बलपूर्वक पारिजात वृक्षका अपहरण कर लिया था। इसी प्रकार लोहितह्रदमें भगवान् वरुणको पराजित किया था॥ ९½॥

दन्तवक्त्रश्च कारूपो निहतो दक्षिणापथे॥ १०॥
शिशुपालश्च सम्पूर्णे किल्बिषैकशते हतः।

करूषदेशका राजा दन्तवक्त्र दक्षिणापथमें उनके द्वारा मारा गया। एक सौ अपराध पूर्ण होनेपर शिशुपालको भी उन्होंने कालके गालमें भेज दिया॥ १०½॥

गत्वा च शोणितपुरं शंकरेणाभिरक्षितः॥ ११॥
बलेः सुतो महावीर्यो बाणो बाहुसहस्रभृत्।
महामृधे महाराज जित्वा जीवन् विसर्जितः॥ १२॥

महाराज! बलिका महापराक्रमी पुत्र बाण एक सहस्र भुजाएँ धारण करता था और भगवान् शङ्करके द्वारा वह सर्वथा सुरक्षित था; किंतु भगवान् श्रीकृष्णने शोणितपुरमें जाकर महासमरमें उसे पराजित किया और जीवित छोड़ दिया॥

निर्जितः पावकश्चैव गिरिमध्ये महात्मना।
शाल्वश्च विजितः संख्ये सौभश्च विनिपातितः॥ १३॥

उन महात्माने मेरु गिरिमें अग्निदेवपर विजय पायी तथा युद्धमें सौभ विमानके अधिपति राजा शाल्वको जीता और मार गिराया॥ १३॥

विक्षोभ्य सागरं चैव पाञ्चजन्यो वशीकृतः।
हयग्रीवश्च निहतो नृपाश्चान्ये महाबलाः॥ १४॥

फिर सागरमें क्षोभ पैदा करके पञ्चजनको मारकर पाञ्चजन्य शङ्खपर अधिकार किया। हयग्रीवका वध किया और अन्य महाबली नरेशोंको भी कालके गालमें डाल दिया॥

जरासंधस्य निधने मोक्षिताः सर्वपार्थिवाः।
रथेन जित्वा नृपतीन् गान्धारतनया हृता॥ १५॥

जरासंधकी मृत्यु करवाकर सब राजाओंको उसके बन्धनसे मुक्त किया। एकमात्र रथके द्वारा राजाओंको जीतकर गान्धार-राजकुमारीका अपहरण किया ॥ १५ ॥

भ्रष्टराज्याश्च शोकार्ताः पाण्डवाः परिरक्षिताः।
दाहितं च वनं घोरं पुरुहूतस्य खाण्डवम् ॥ १६ ॥

पाण्डव अपने राज्यसे भ्रष्ट हो चुके थे और शोकसे आतुर थे, उस अवस्थामें भगवान् श्रीकृष्णने उन सबकी रक्षा की। इन्द्रके घोर खाण्डववनको अर्जुनद्वारा दग्ध करा दिया ॥

गाण्डीवं चाग्निना दत्तमर्जुनायोपपादितम्।
दौत्यं च तत्कृतं घोरे विग्रहे जनमेजय ॥ १७ ॥

जनमेजय ! फिर अग्निका दिया हुआ गाण्डीव धनुष अर्जुनको अर्पित किया तथा कौरव-पाण्डवके घोर विग्रहके समय पाण्डवोंका दूतत्व किया ॥ १७ ॥

अनेन यदुमुख्येन यदुवंशो विवर्धितः।
कुन्त्याश्च प्रमुखे प्रोक्ता प्रतिज्ञा पाण्डवान् प्रति॥ १८ ॥
निवृत्ते भारते युद्धे प्रतिदास्यामि तत्सुतान्।

इन्हीं यादव-शिरोमणिने यदुवंशकी वृद्धि की और कुन्तीके सामने पाण्डवोंके विषयमें यह प्रतिज्ञा की कि 'महाभारत युद्ध समाप्त होनेपर मैं तुम्हें तुम्हारे पुत्रोंको वापस दे दूँगा' ॥

मोक्षितश्च महातेजा नृगः शापात् सुदारुणात् ॥ १९ ॥
यवनश्च हतः संख्ये काल इत्यभिविश्रुतः।

इन्होंने महातेजस्वी राजा नृगको अत्यन्त भयंकर शापसे मुक्त किया। कालयवनको युद्धमें मारा (मुचुकुन्दद्वारा उसका नाश करा दिया) ॥ १९½ ॥

वानरौ च महावीर्यौ मैन्दो द्विविद एव च ॥ २० ॥
विजितौ युधि दुर्धर्षौ जाम्बवांश्च पराजितः।

दो महापराक्रमी दुर्धर्ष वानर मैन्द और द्विविदको तथा ऋक्षराज जाम्बवान्‌को भी युद्धमें पराजित किया ॥ २०½ ॥

सान्दीपनेस्तथा पुत्रस्तव चैव पिता तथा ॥ २१ ॥
गतौ वैवस्वतवशं जीवितौ तस्य तेजसा।

सान्दीपनिका पुत्र तथा तुम्हारे पिता परीक्षित्—ये दोनों यमराजके वशमें हो गये थे; परंतु उन श्रीकृष्णके तेजसे जीवित हो गये ॥ २१½ ॥

संग्रामा बहवः प्राप्ता घोरा नरवरक्षयाः ॥ २२ ॥
निहताश्च नृपाः सर्वे कृत्वा तज्जयमद्भुतम्।
जनमेजयास्य युद्धेषु यथा ते वर्णिता मया ॥ २३ ॥

जनमेजय ! बड़े-बड़े राजाओंका विनाश करनेवाले बहुत-से घोर संग्राम प्राप्त हुए, परंतु उन युद्धोंमें अद्भुत विजय पाकर भगवान् श्रीकृष्णने जिस प्रकार समस्त नरेशोंको मार गिराया, उसका वर्णन मैं कर चुका हूँ ॥ २२–२३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि वासुदेवमाहात्म्ये पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें वासुदेव-माहात्म्यविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् शङ्करका बाणासुरको अपने और देवी पार्वतीके पुत्रके रूपमें स्वीकार करना, बाणासुरका उनसे युद्धके लिये वर माँगना और पाना तथा इससे बाण-मन्त्री कुम्भाण्डका चिन्तित होना

जनमेजय उवाच

भूय एव महाबाहोर्यदुसिंहस्य धीमतः।
कर्माण्यपरिमेयाणि श्रुतानि द्विजसत्तम ॥ १ ॥
त्वत्तः श्रुतवतां श्रेष्ठ वासुदेवस्य धीमतः।

जनमेजयने कहा—विद्वानोंमें उत्तम द्विजश्रेष्ठ ! मैंने आपके मुखसे बुद्धिमान् महाबाहु यदुकुलसिंह वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके अपरिमेय कर्मोंको फिरसे सुना ॥ १½ ॥

यत् त्वया कथितं पूर्वं बाणं प्रति महासुरम् ॥ २ ॥
तदहं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण तपोधन।

तपोधन ! आपने पहले महान् असुर बाणके विषयमें जो चर्चा की है, उसको मैं विस्तारसे सुनना चाहता हूँ ॥ २½ ॥

कथं च देवदेवस्य पुत्रत्वमसुरो गतः ॥ ३ ॥
योऽभिगुप्तः स्वयं ब्रह्मञ्छङ्करेण महात्मना।
सहवासं गतेनैव सगणेन गुहेन तु ॥ ४ ॥

ब्रह्मन् ! वह असुर देवाधिदेव महादेवजीके पुत्रभावको कैसे प्राप्त हुआ ? जिससे महात्मा भगवान् शङ्करने स्वयं उसकी रक्षा की तथा उसके सहवासमें रहनेवाले गणोंसहित भगवान् स्कन्दने भी उसका संरक्षण किया ॥ ३-४ ॥

बलेर्बलवतः पुत्रो ज्येष्ठो भ्रातृशतस्य यः।
वृतो बाहुसहस्रेण दिव्यास्त्रशतधारिणा ॥ ५ ॥

बलवान् बलिका पुत्र अपने सौ भाइयोंमें ज्येष्ठ था। वह सैकड़ों दिव्यास्त्र धारण करनेवाली सहस्र भुजाओंसे युक्त था ॥ ५ ॥

असंख्यैश्च महाकायैर्महाबलशतैर्वृतः ।
वासुदेवेन स कथं बाणः संख्ये पराजितः ॥ ६ ॥
संरब्धश्चैव युद्धार्थी जीवन्मुक्तः कथं च सः ।

वह असंख्य विशालकाय तथा सैकड़ों महाबली असुरोंसे घिरा रहता था तो भी जब वह युद्धकी इच्छासे रोष और आवेशमें भरकर आया, तब भगवान् वासुदेवने युद्धमें उसे पराजित कैसे कर दिया ? तथा किस प्रकार उन्होंने उसे जीवित छोड़ा था ? ॥ ६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् कृष्णस्यामिततेजसः ॥ ७ ॥
मनुष्यलोके बाणेन यथाभूद् विग्रहो महान् ।

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! मानवलोकमें अमित-तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णका बाणासुरके साथ जिस तरह महान् संग्राम हुआ था, उसे ध्यान देकर सुनो ॥ ७½ ॥

वासुदेवेन यत्रासौ रुद्रस्कन्दसहायवान् ॥ ८ ॥
बलिपुत्रो रणश्लाघी जित्वा जीवन् विसर्जितः ।

जहाँ रुद्र और स्कन्दकी सहायतासे सम्पन्न हुए युद्ध-श्लाघी बलिपुत्र बाणासुरको भगवान् श्रीकृष्णने जीतकर भी जीवित छोड़ दिया ॥ ८½ ॥

यथा चास्य वरो दत्तः शंकरेण महात्मना ॥ ९ ॥
नित्यं सांनिध्यतां चैव गाणपत्यं तथाक्षयम् ।
यथा बाणस्य तद् युद्धं जीवन्मुक्तो यथा च सः ॥ १० ॥
यथा च देवदेवस्य पुत्रत्वं सोऽसुरो गतः ।
यदर्थं च महद् युद्धं तत् सर्वमखिलं शृणु ॥ ११ ॥

महात्मा शङ्करने जिस प्रकार बाणासुरको सदा अपने समीप रहने और अक्षयभावसे गणपति-पदपर प्रतिष्ठित होनेका वरदान दिया था । जिस प्रकार बाणासुरका वह युद्ध हुआ, जिस प्रकार श्रीकृष्णने उसे जीवित छोड़ा, जिस तरह वह असुर देवाधिदेव महादेवजीके पुत्रभावको प्राप्त हुआ तथा जिस निमित्तसे उस महान् युद्धकी घटना घटित हुई, वह सारा वृत्तान्त सम्पूर्ण रूपसे सुनो ॥ ९–११ ॥

दृष्ट्वा वपुः कुमारस्य क्रीडतश्च महात्मनः ।
बलिपुत्रो महावीर्यो विस्मयं परमं गतः ॥ १२ ॥

एक समय क्रीडामें लगे हुए महामनस्वी कुमार स्कन्दके सुन्दर शरीरको देखकर महापराक्रमी बलिपुत्र बाणासुरको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १२ ॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना तपश्चर्तुं सुदुष्करम् ।
रुद्रस्याराधनार्थाय देवस्य स्यां यथा सुतः ॥ १३ ॥

उस समय उसके मनमें रुद्रदेवकी आराधनाके लिये अत्यन्त दुष्कर तपस्या करनेका विचार उत्पन्न हुआ । उस तपका उद्देश्य यही था कि मैं किसी प्रकार महादेवजीका पुत्र हो जाऊँ ॥ १३ ॥

ततोऽग्लपयदात्मानं तपसा श्लाघते च सः ।
देवश्च परमं तोषं जगाम च सहोमया ॥ १४ ॥

तदनन्तर उसने तपस्याके द्वारा अपने शरीरको गलाना आरम्भ किया । उसे अपनी तपस्यापर गर्व भी होता था अर्थात् वह यह समझता था कि मैं ही महान् तपस्वी हूँ तथा पार्वतीसहित महादेवजी उसपर बहुत संतुष्ट हुए ॥ १४ ॥

नीलकण्ठः परां प्रीतिं गत्वा चासुरमब्रवीत् ।
वरं वरय भद्रं ते यत् ते मनसि वर्तते ॥ १५ ॥

परम प्रसन्नताको प्राप्त होकर भगवान् नीलकण्ठने उस असुरसे कहा—'बाण ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसके अनुसार वर माँगो' ॥ १५ ॥

अथ बाणोऽब्रवीद् वाक्यं देवदेवं महेश्वरम् ।
देव्याः पुत्रत्वमिच्छामि त्वया दत्तं त्रिलोचन ॥ १६ ॥

तब बाणने देवाधिदेव महेश्वरसे कहा—'त्रिलोचन ! मैं आपका दिया हुआ देवी पार्वतीका पुत्रत्व चाहता हूँ' ॥ १६ ॥

शंकरस्तु तथेत्युक्त्वा रुद्राणीमिदमब्रवीत् ।
कनीयान् कार्तिकेयस्य पुत्रोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥ १७ ॥

तब भगवान् शङ्करने 'तथास्तु' कहकर देवी रुद्राणीसे इस प्रकार कहा—'देवि ! तुम इसे पुत्रके रूपमें स्वीकार करो । यह कार्तिकेयका छोटा भाई होगा ॥ १७ ॥

यत्रोत्थितो महासेनः सोऽग्निजो रुधिरे पुरे ।
तत्रोद्देशे पुरं चास्य भविष्यति न संशयः ॥ १८ ॥

'जहाँ रुधिरपुरमें अग्निकुमार महासेनका प्रादुर्भाव हुआ था, उस स्थानपर इसकी राजधानी होगी । इसमें संशय नहीं है ॥ १८ ॥

नाम्ना तच्छोणितपुरं भविष्यति पुरोत्तमम् ।
मयाभिगुप्तं श्रीमन्तं न कश्चित् प्रसहिष्यति ॥ १९ ॥

'वह उत्तम नगर शोणितपुरके नामसे विख्यात होगा । मेरे द्वारा सुरक्षित हुए इस तेजस्वी बाणासुरका वेग कोई नहीं सह सकेगा' ॥ १९ ॥

ततः स निवसन् बाणः पुरे शोणितसाह्वये ।
राज्यं प्रशासते नित्यं क्षोभयन् सर्वदेवताः ॥ २० ॥

तदनन्तर शोणितपुरमें निवास करता हुआ बाण सदा अपने राज्यका शासन करने लगा । वह सम्पूर्ण देवताओंको क्षोभमें डाले रहता था ॥ २० ॥

अथ वीर्यमदोत्सिक्तो बाणो बाहुसहस्रवान् ।
अचिन्तयन् देवगणान् युद्धमाकाङ्क्षते सदा ॥ २१ ॥

इसके बाद सहस्रबाहु बाणासुर अपने बल-पराक्रमके मदसे उन्मत्त हो देवताओंको कुछ भी न समझकर सदा सबके साथ युद्धकी आकाङ्क्षा रखने लगा ॥ २१ ॥

ध्वजं चास्य ददौ प्रीतः कुमारो ह्यग्नितेजसम् ।
वाहनं चैव बाणस्य मयूरं दीप्ततेजसम् ॥ २२ ॥

बाणासुरपर प्रसन्न हुए कुमार कार्तिकेयने उसे अग्निके तुल्य तेजस्वी ध्वज तथा तेजसे प्रकाशित मयूर वाहनरूपमें प्रदान किया ॥ २२ ॥

न देवा न च गन्धर्वा न यक्षा नापि पन्नगाः ।
तस्य युद्धे व्यतिष्ठन्त देवदेवस्य तेजसा ॥ २३ ॥

देवाधिदेव महादेवजीके तेजसे सुरक्षित हुए बाणासुरके सामने युद्धमें न तो देवता ठहर पाते थे, न गन्धर्व, न यक्ष टिक पाते थे, न नाग ॥ २३ ॥

त्र्यम्बकेणाभिगुप्तश्च दर्पोत्सिक्तो महासुरः ।
भूयो मृगयते युद्धं शूलिनं सोऽभ्यगच्छत ॥ २४ ॥

त्रिनेत्रधारी शिवके द्वारा सुरक्षित हुआ वह महान् असुर बलके घमंडमें भर गया और बारंबार युद्धका ही अवसर ढूँढ़ने लगा । एक दिन वह त्रिशूलधारी भगवान् शङ्करके पास गया ॥ २४ ॥

स रुद्रमभिगम्याथ प्रणिपत्याभिवाद्य च ।
बलिसूनुरिदं वाक्यं पप्रच्छ वृषभध्वजम् ॥ २५ ॥

वृषभध्वज रुद्रदेवके पास जाकर उन्हें प्रणाम और अभिवादन करनेके पश्चात् बलिपुत्र बाणने उनसे यह बात पूछी—॥ २५ ॥

असकृन्निर्जिता देवाःससाध्याः समरुद्गणाः ।
मया मद्बलोत्सेकात् ससैन्येन तवाश्रयात् ॥ २६ ॥

'प्रभो ! आपका सहारा पाकर सेनासहित मैंने बलके मद और अभिमानपूर्वक साध्यों और मरुद्गणोंसहित देवताओंको अनेक बार परास्त किया है ॥ २६ ॥

इमं देशं समागम्य वसन्ति स्म पुरे सुखम् ।
ते पराजयसंत्रस्ता निराशा मत्पराजये ॥ २७ ॥

'वे मुझे पराजित करनेकी ओरसे तो निराश हैं; परंतु मेरे द्वारा पुनः पराजित होनेके भयसे डरे हुए हैं, अतः इस देशमें आकर इसी नगरमें सुखपूर्वक निवास करते हैं ॥२७॥

नाकपृष्ठमुपागम्य निवसन्ति यथासुखम् ।
सोऽहं निराशो युद्धस्य जीवितं नाद्य कामये ॥ २८ ॥

'साथ ही मेरी आज्ञा ले स्वर्गमें भी जाकर वहाँ सुखपूर्वक रहते हैं, अतः मैं युद्धसे निराश हो गया हूँ । अब युद्ध न मिलनेसे मुझे जीवित रहनेकी इच्छा नहीं होती ॥२८॥

अयुध्यतो वृथा ह्येषां बाहूनां धारणं मम ।
तद् ब्रूहि मम युद्धस्य कच्चिदागमनं भवेत् ।
न मे युद्धं विना देव रतिरस्ति प्रसीद मे ॥ २९ ॥

'यदि युद्धका सुयोग न मिला तो मेरे लिये इन सहस्र भुजाओंका बोझ ढोना व्यर्थ है; अतः बताइये, क्या मुझे युद्धका अवसर प्राप्त हो सकता है ? देव ! युद्धके बिना मेरा मन कहीं नहीं लग रहा है । अतः इसके लिये मुझपर कृपा कीजिये' ॥ २९ ॥

ततः प्रहस्य भगवानब्रवीद् वृषभध्वजः ।
भविता बाण युद्धं वै यथा तच्छृणु दानव ॥ ३० ॥

यह सुनकर भगवान् वृषभध्वज ठठाकर हँस पड़े और इस प्रकार बोले—'बाणासुर ! जिस प्रकार तुम्हें युद्धका अवसर प्राप्त होगा, वह सुनो ॥ ३० ॥

ध्वजस्यास्य यदा भङ्गस्तव तात भविष्यति ।
स्वस्थाने स्थापितस्याथ तदा युद्धं भविष्यति ॥ ३१ ॥

'तात ! अपने स्थानपर स्थापित हुआ तुम्हारा यह ध्वज जब खण्डित होकर गिर जायगा, तब तुम्हें युद्ध प्राप्त होगा' ॥ ३१ ॥

इत्येवमुक्तः प्रहसन् बाणस्तु बहुशो मुदा ।
प्रसन्नवदनो भूत्वा पादयोः पतितोऽब्रवीत् ॥ ३२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर बाणासुरका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा । वह आनन्दमें मग्न हो बारंबार जोर-जोरसे हँसने लगा और भगवान् शिवके चरणोंमें गिरकर इस प्रकार बोला—॥

दिष्ट्या बाहुसहस्रस्य न वृथा धारणं मम ।
दिष्ट्या सहस्राक्षमहं विजेता पुनराहवे ॥ ३३ ॥

'प्रभो ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि मेरे लिये इन सहस्र भुजाओंको धारण करना व्यर्थ नहीं होगा । सौभाग्यसे मैं पुनः युद्धमें सहस्रलोचन इन्द्रको परास्त करूँगा' ॥ ३३ ॥

आनन्देनाश्रुपूर्णाभ्यां नेत्राभ्यामरिमर्दनः ।
पञ्चाञ्जलिशतैर्देवं पूजयन् पतितो भुवि ॥ ३४ ॥

ऐसा कहकर शत्रुमर्दन बाण आनन्दाश्रुओंसे परिपूर्ण नेत्रों तथा पाँच सौ अञ्जलियोंद्वारा महादेवजीकी पूजा करता हुआ पुनः पृथ्वीपर उनके चरणोंमें पड़ गया ॥ ३४ ॥

ईश्वर उवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ बाहूनामात्मनः स्वकुलस्य तु ।
सदृशं प्राप्स्यसे वीर युद्धमप्रतिमं महत् ॥ ३५ ॥

तब महादेवजी बोले—वीर ! उठो, उठो ! तुम अपनी इन भुजाओं तथा कुलके अनुरूप ऐसा महान् युद्ध प्राप्त करोगे, जिसकी कहीं तुलना नहीं है ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो बाणस्त्र्यम्बकेण महात्मना ।
हर्षेणात्युच्छ्रितः शीघ्रं ननाम वृषभध्वजम् ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— राजन् ! महात्मा त्र्यम्बकके ऐसा कहनेपर हर्षसे उत्फुल्ल हुए बाणासुरने भगवान् वृषभध्वजको शीघ्र नमस्कार किया ॥ ३६ ॥

शितिकण्ठविसृष्टस्तु बाणः परपुरंजयः।
ययौ स्वभवनं तत्र यत्र ध्वजगृहं महत् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर भगवान् नीलकण्ठसे विदा लेकर शत्रुनगरीपर विजय पानेवाला बाणासुर अपने घरको गया, जहाँ विशाल ध्वजगृह बना हुआ था ॥ ३७ ॥

तत्रोपविष्टः प्रहसन् कुम्भाण्डमिदमब्रवीत्।
प्रियमावेदयिष्यामि भवतो यन्मनोगतम् ॥ ३८ ॥

वहाँ बैठकर हँसते हुए बाणने अपने मन्त्री कुम्भाण्डसे इस प्रकार कहा—'मन्त्रिप्रवर! मैं तुम्हें प्रिय समाचार निवेदन करूँगा, जो तुम्हारे मनको अभीष्ट है' ॥ ३८ ॥

इत्येवमुक्तः प्रहसन् बाणमप्रतिमं रणे।
प्रोवाच राजन् किं त्वेतद् वक्तुकामोऽसि मत्प्रियम्॥३९॥

उसका ऐसा कथन सुनकर हँसते हुए कुम्भाण्डने युद्धमें अनुपम वीरता प्रकट करनेवाले बाणासुरसे कहा—'राजन्! यह क्या बात है? आप मेरे किस प्रिय समाचारको बताना चाहते हैं? ॥ ३९ ॥

विस्मयोत्फुल्लनयनः प्रहर्षादिव भाषसे।
त्वत्तः श्रोतुमिहेच्छामि वरं किं लब्धवानसि ॥ ४० ॥
देवदेवप्रसादेन स्कन्दस्य च महात्मनः।

'आपके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे हैं। आप अत्यन्त हर्षसे प्रेरित होकर बोल रहे हैं। मैं यहाँ आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ कि आपने देवाधिदेव महादेवजीकी कृपा और महात्मा स्कन्दके प्रसादसे कौन-सा वर प्राप्त किया है? ॥ ४०½ ॥

ईप्सितं किं त्वया प्राप्तं तन्मे ब्रूहि महासुर ॥ ४१ ॥
शितिकण्ठप्रसादेन स्कन्दगोपायनेन च।

'महान् असुर! आपने भगवान् नीलकण्ठके कृपा-प्रसाद और स्वामी स्कन्दके संरक्षणद्वारा कौन-सा अभीष्ट वर प्राप्त किया है, यह मुझे बताइये ॥ ४१½ ॥

कच्चित्त्रैलोक्यराज्यं ते व्यादिष्टं शूलपाणिना ॥ ४२ ॥
कच्चिदिन्द्रस्तव भयात् पातालमुपयास्यति।

'क्या भगवान् शूलपाणिने आपको तीनों लोकोंका राज्य दे दिया? क्या देवराज इन्द्र आपके भयसे पाताललोकको चले जायँगे? ॥ ४२½ ॥

कच्चिद् विष्णुपरित्रासं विमोक्ष्यन्ति दितेः सुताः॥ ४३ ॥
पातालवासमुत्सृज्य कच्चित् तव बलाश्रयात्।
विबुधावासनिरता भविष्यन्ति महासुराः ॥ ४४ ॥

'क्या दितिके पुत्र अब भगवान् विष्णुका भय त्याग देंगे? क्या आपके बलका सहारा लेकर बड़े-बड़े असुर पातालका निवास छोड़कर स्वर्गलोकमें वास करेंगे ॥ ४३-४४ ॥

बलिर्विष्णुपराक्रान्तो बद्धस्तव पिता नृप।
सलिलौघाद् विनिष्क्रम्य कच्चिद् राज्यमवाप्स्यति॥४५॥

'राजन्! क्या आपके पिता राजा बलि, जो विष्णुके पराक्रमसे अभिभूत हो पातालमें बँधे हुए हैं, समुद्रकी जलराशिसे बाहर निकलकर पुनः त्रिलोकीका राज्य प्राप्त करेंगे ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यस्रग्गन्धलेपनम्।
कच्चिद् वैरोचनिं तात द्रक्ष्यामः पितरं तव ॥ ४६ ॥

'तात! क्या हमलोग तुम्हारे पिता विरोचनकुमार बलिको पुनः दिव्यमाला, दिव्यवस्त्र, दिव्यपुष्पोंके हार, दिव्य गन्ध तथा दिव्य अनुलेपन धारण किये देखेंगे? ॥ ४६ ॥

कच्चित् त्रिभिः क्रमैः पूर्वं हृताँल्लोकानिमान् प्रभो।
पुनः प्रत्यानयिष्यामो जित्वा सर्वान् दिवौकसः ॥ ४७ ॥

'प्रभो! पहले विष्णुके तीन पगोंद्वारा जो हर लिये गये थे, उन्हीं इन तीनों लोकोंको क्या हम पुनः समस्त देवताओंको पराजित करके लौटा लायेंगे? ॥ ४७ ॥

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषं शङ्खस्वनपुरोजवम्।
कच्चिन्नारायणं देवं जेष्यामः समितिंजयम् ॥ ४८ ॥

'जिनकी वाणीका घोष मेघगर्जनाके समान स्निग्ध एवं गम्भीर है तथा जिनके आगे उनका शङ्खनाद वेगपूर्वक चलता है, उन युद्धविजयी नारायणदेवको क्या हमलोग जीत सकेंगे? ॥ ४८ ॥

कच्चिद् वृषध्वजस्तात प्रसादसुमुखस्तव।
यथा ते हृदयोत्कम्पः साश्रुबिन्दुः प्रवर्तते ॥ ४९ ॥

'तात! क्या भगवान् वृषभध्वज आपके प्रति कृपा करनेके लिये प्रसन्नमुख हुए हैं? आपके हृदयमें जैसा कम्प हो रहा है और नेत्रोंसे जिस प्रकार आनन्दके आँसू झर रहे हैं, उनको देखते हुए पूर्वोक्त बातोंका ही अनुमान होता है ॥

कच्चिदीश्वरतोषेण कार्तिकेयमतेन च।
प्राप्तवानसि सर्वेषामस्माकं राज्यसम्पदम् ॥ ५० ॥

'क्या भगवान् शिवके संतोष और कार्तिकेयकी सम्मतिसे आपने हम सब लोगोंके लिये राज्य-सम्पत्ति प्राप्त की है?' ॥

इति कुम्भाण्डवचनैश्चोदितः सोऽसुरोत्तमः।
बाणो वाणीमसंसक्तां प्रोवाच वदतां वरः ॥ ५१ ॥

तब कुम्भाण्डकी ऐसी बातोंसे प्रेरित होकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ असुरप्रवर बाणने अस्खलित वाणीमें कहा ॥ ५१ ॥

बाण उवाच

चिरात्प्रभृति कुम्भाण्ड न युद्धं प्राप्यते मया।
ततो मया मुदा पृष्टः शितिकण्ठः प्रतापवान् ॥ ५२ ॥

बाणासुर बोला—कुम्भाण्ड! चिरकालसे मुझे युद्ध नहीं प्राप्त हो रहा था, इसलिये मैंने प्रतापी भगवान् नीलकण्ठसे प्रसन्नतापूर्वक पूछा—॥ ५२ ॥

युद्धाभिलाषः सुमहान् देव संजायते मम।
अभिप्राप्स्याम्यहं युद्धं मनसस्तुष्टिवर्धनम् ॥ ५३ ॥

देव ! मेरे मनमें युद्धकी बड़ी अभिलाषा हो रही है ! क्या मैं कभी ऐसा युद्ध प्राप्त करूँगा, जो मेरे मनके संतोषको बढ़ानेवाला हो' ॥ ५३ ॥

ततोऽहं देवदेवेन हरेण त्रिपुरघातिना ।
प्रहस्य सुचिरं कालमुक्तोऽस्मि वचनं प्रियम् ।
प्राप्स्यसे सुमहद् युद्धं त्वं बाणाप्रतिमं महत् ॥ ५४ ॥

मेरी यह बात सुनकर त्रिपुरघाती देवाधिदेव महादेवने देर तक हँसकर मुझसे यह प्रिय वचन कहा—'बाणासुर ! तुम्हें ऐसा महान् युद्ध प्राप्त होगा, जिसकी कहीं तुलना नहीं है ॥

मयूरध्वजभङ्गस्ते भविष्यति यदासुर ।
तदा त्वं प्राप्स्यसे युद्धं सुमहद् दितिनन्दन ॥ ५५ ॥

'दितिनन्दन असुर ! जब तुम्हारा मयूरध्वज टूटकर गिर जायगा, तब तुम्हें महान् युद्धका अवसर प्राप्त होगा' ॥५५॥

ततोऽहं परमप्रीतो भगवन्तं वृषध्वजम् ।
प्रणम्य शिरसा देवं तवान्तिकमुपागतः ॥ ५६ ॥

तब मैं अत्यन्त प्रसन्न हो भगवान् वृषभध्वज देवको सिर झुकाकर प्रणाम करके तुम्हारे पास आया हूँ ॥ ५६ ॥

इत्येवमुक्तः कुम्भाण्डः प्रोवाच नृपतिं तदा ।
अहो न शोभनं राजन् यदेवं भाषसे वचः ॥ ५७ ॥

बाणासुरके ऐसा कहनेपर कुम्भाण्डने उस असुरराजसे कहा—'अहो राजन् ! आप जो ऐसी बात कह रहे हैं, इसका परिणाम अच्छा नहीं है' ॥ ५७ ॥

एवं कथयतोस्तत्र तयोरन्योन्यमुच्छ्रितः ।
ध्वजः पपात वेगेन शक्राशनिसमाहतः ॥ ५८ ॥

वे दोनों वहाँ आपसमें ऐसी बातें कर रहे थे कि इतनेमें ही बाणासुरका ऊँचा ध्वज इन्द्रके वज्रसे आहत हो बड़े वेगसे गिर पड़ा ॥ ५८ ॥

तं तथा पतितं दृष्ट्वा सोऽसुरो ध्वजमुत्तमम् ।
प्रहर्षमतुलं लेभे मेने चाहवमागमम् ॥ ५९ ॥

अपने उस उत्तम ध्वजको टूटकर गिरा हुआ देख बाणासुरको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ और उसे यह विश्वास हो गया कि अब युद्धका अवसर आना ही चाहता है ॥ ५९ ॥

ततश्चकम्पे वसुधा शक्राशनिसमाहता ।
ननादान्तर्हितो भूमौ वृषदंशो जगर्ज च ॥ ६० ॥

तदनन्तर इन्द्रके वज्रके आघातसे पीड़ित हो पृथ्वी काँपने लगी । भूमिमें छिपा हुआ बिलाव आर्तनाद एवं गर्जना करने लगा ॥ ६० ॥

देवानामपि यो देवः सोऽप्यवर्षत वासवः ।
शोणितं शोणितपुरे सर्वतः परमं ततः ॥ ६१ ॥

जो देवताओंके भी देवता हैं, वे इन्द्र शोणितपुरमें सब ओर बहुत रक्तकी वर्षा करने लगे ॥ ६१ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ६२ ॥

[illegible] सूर्यमण्डलका स्पर्श करके बहुत बड़ी [illegible] प्रज्वलित हुई । अपने [illegible] समस्त [illegible] पीड़ा देने लगी ॥ ६२ ॥

चैत्यवृक्षेषु सहसा धाराः शतसहस्रशः ।
शोणितस्य स्रवन् घोरा निपेतुस्तारका भृशम् ॥ ६३ ॥

चैत्य-वृक्षोंपर सहसा शोणितकी सैकड़ों हजारों धाराएँ गिरने लगीं, जो बड़ी भयंकर प्रतीत होती थीं । आकाशसे बारंबार तारे टूटकर गिरने लगे ॥ ६३ ॥

राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशाम्पते ।
लोकक्षयकरे काले निर्घातश्चापतन्महान् ॥ ६४ ॥

प्रजानाथ ! राहुने बिना पर्वके ही सूर्यको ग्रस लिया । वह लोकविनाशक समय प्राप्त होनेपर भारी गड़गड़ाहटके साथ वज्रपात होने लगा ॥ ६४ ॥

दक्षिणां दिशमास्थाय धूमकेतुः स्थितोऽभवत् ।
अनिशं चाप्यविच्छिन्ना ववुर्वाताः सुदारुणाः ॥ ६५ ॥

धूमकेतु दक्षिण दिशामें आकर स्थित हो गया । निरन्तर अविच्छिन्नभावसे अत्यन्त दारुण वायु चलने लगी ॥६५॥

श्वेतलोहितपर्यन्तः कृष्णग्रीवस्तडिद्द्युतिः ।
त्रिवर्णपरिघो भानुः संध्यारागमथावृणोत् ॥ ६६ ॥

सूर्यपर तीन रंगके घेरे पड़ गये । किनारे-किनारे तो सफेद और लाल रंगके घेरे थे, बीचमें कण्ठभागमें काले रंगका घेरा था । उसमें सूर्यकी कान्ति विद्युत्के समान प्रतीत होती थी । उन्होंने अपनी उस दीप्तिसे संध्याकालकी लालीको ढक दिया ॥ ६६ ॥

वक्रमङ्गारकश्चक्रे कृत्तिकासु भयंकरः ।
बाणस्य जन्मनक्षत्रं भर्त्सयन्निव दानवम् ॥ ६७ ॥

मङ्गल वक्रगतिसे कृत्तिकामें आकर स्थित हो गये, जो भयकी सूचना दे रहे थे । वे सब प्रकारसे बाणासुरके जन्मनक्षत्र रोहिणीको भर्त्सना-सी कर रहे थे ॥ ६७ ॥

अनेकशाखश्चैत्यश्च निपपात महीतले ।
अर्चितः सर्वकन्याभिर्दानवानां महात्मनाम् ॥ ६८ ॥

बहुत-सी शाखाओंसे युक्त चैत्यवृक्ष, जो महामनस्वी दानवोंकी समस्त कन्याओंद्वारा पूजित होता था, सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६८ ॥

एवं विविधरूपाणि निमित्तानि निशामयन् ।
बाणो बलमदोन्मत्तो [illegible] ॥ ६९ ॥

इस प्रकार भाँति-भाँतिके उत्पातोंको देखता हुआ [illegible] बाणासुर किसी निश्चयपर नहीं [illegible]

विचेतास्त्वभवत् प्राज्ञः कुम्भाण्डस्तत्त्वदर्शिवान्।
बाणस्य सचिवस्तत्र कीर्तयन् बहु किल्बिषम् ॥ ७० ॥

परंतु बाणासुरके विद्वान् मन्त्री तत्त्वदर्शी कुम्भाण्ड नाना प्रकारके दुष्परिणामोंका वर्णन करते हुए अचेत-से हो गये ॥ ७० ॥

उत्पाता ह्यत्र दृश्यन्ते कथयन्तो न शोभनम्।
तव राज्यविनाशाय भविष्यन्ति न संशयः ॥ ७१ ॥

वे बोले–'असुरराज! यहाँ बहुत-से उत्पात दिखायी देते हैं, जो शुभ परिणामके सूचक नहीं हैं। वे आपके राज्यका विनाश करनेमें सहायक होंगे, इसमें संदेह नहीं है ॥ ७१ ॥

वयं चान्ये च सचिवा भृत्यास्ते च तवानुगाः।
क्षयं यास्यन्ति नचिरात् सर्वे पार्थिव दुर्नयात ॥ ७२ ॥

'पृथ्वीनाथ! आपकी दुर्नीतिसे हम तथा दूसरे मन्त्री और आपके अनुगामी सेवक—ये सब-के-सब शीघ्र ही नष्ट हो जायँगे ॥ ७२ ॥

यथा शक्रध्वजतरोः स्वदर्पात् पतनं भवेत्।
बलमाकाङ्क्षतो मोहात् तथा बाणस्य नर्दतः ॥ ७३ ॥

'आपके अपने ही दर्पसे जिस तरह पूर्वोक्त चैत्यवृक्षका जो अपनी ऊँचाईसे इन्द्रध्वजको छू लेता था, पतन हो गया, उसी प्रकार बलकी आकाङ्क्षा रखकर गर्जना करनेवाले आप बाणासुरका भी अपने ही मोहवश अभिमानसे पतन हो जायगा ॥ ७३ ॥

देवदेवप्रसादात् तु त्रैलोक्यविजयं गतः।
उत्सेकाद् दृश्यते नाशो युद्धाकाङ्क्षी ननर्द ह ॥ ७४ ॥

'देवाधिदेव महादेवजीके प्रमादसे जिन्होंने तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त कर ली, उन्हीं असुरराजका अब अभिमानवश विनाश दिखायी देता है, तभी तो आप युद्धकी अभिलाषा लेकर गर्जना करने लगे हैं' ॥ ७४ ॥

बाणः प्रीतमनास्त्वेवं पपौ पानमनुत्तमम्।
दैत्यदानवनारीभिः सार्धमुत्तमविक्रमः ॥ ७५ ॥

परंतु बाणासुरको इसकी परवा नहीं थी, वह उत्तम पराक्रमी असुर प्रसन्नचित्त होकर दैत्यों और दानवोंकी स्त्रियोंके साथ उत्तम मधुपान करने लगा ॥ ७५ ॥

कुम्भाण्डश्चिन्तयाविष्टो राजवेश्माभ्ययात् तदा।
अचिन्तयच्च तत्त्वार्थं तैस्तैरुत्पातदर्शनैः ॥ ७६ ॥

मन्त्री कुम्भाण्ड उस समय चिन्तित होकर राजभवनको चले गये तथा भिन्न-भिन्न उत्पातोंको देखकर तात्त्विक अर्थका चिन्तन करने लगे ॥ ७६ ॥

राजा प्रमादी दुर्बुद्धिर्जितकाशी महासुरः।
युद्धमेवाभिलषते न दोषान्मन्यते मदात् ॥ ७७ ॥

वे मन-ही-मन सोचने लगे, यह असुरोंका राजा महान् असुर बाण प्रमादी हो गया है। इसकी बुद्धि बिगड़ गयी है। यह विजयश्रीसे उल्लसित हो बारंबार युद्धकी ही अभिलाषा रखने लगा है। बलके मदसे उन्मत्त होकर इसमें दोष नहीं मान रहा है ॥ ७७ ॥

महोत्पातभयं चैव न तन्मिथ्या भविष्यति।
अपीदानीं भवेन्मिथ्या सर्वमुत्पातदर्शनम् ॥ ७८ ॥

महान् उत्पातोंसे जिस भयकी सूचना मिल रही है। वह मिथ्या नहीं होगा। क्या कोई ऐसा उपाय है, जिससे इस समय यह सारा उत्पात-दर्शन मिथ्या हो जाय? ॥७८॥

इह त्वास्ते त्रिनयनः कार्तिकेयश्च वीर्यवान्।
तेनोत्पन्नोऽपि दोषो नः कच्चिद् गच्छेत् पराभवम् ॥७९॥

यहाँ साक्षात् त्रिनेत्रधारी भगवान् शिव रहते हैं। पराक्रमी कार्तिकेय भी यहीं विराजमान हैं, इससे हमारे लिये उत्पन्न हुआ यह दोष भी क्या शान्त हो जायगा? ॥७९॥

उत्पन्नदोषप्रभवः क्षयोऽयं भविता महान्।
दोषाणां न भवेन्नाश इति मे धीयते मतिः ॥ ८० ॥

इन उत्पन्न हुए उत्पातरूपी दोषोंसे यह सूचित होता है कि यहाँ महान् संहार होनेवाला है। मेरा तो यही निश्चय है कि अब इन दोषोंका नाश नहीं हो सकता ॥८०॥

नियतो दोष एवायं भविष्यति न संशयः।
दौरात्म्यान्नृपतेरस्य दोषभूता हि दानवाः ॥ ८१ ॥

इस राजाका जो यह दुरात्मभाव है, यही हमारे लिये नियत दोष होगा, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि समस्त दानव ही इस दोषसे युक्त हैं ॥ ८१ ॥

देवदानवसंघानां यः कर्ता भुवनप्रभुः।
भगवान् कार्तिकेयश्च कृतवाँल्लोहिते पुरे ॥ ८२ ॥

जो देवताओं और दानवोंके समुदायोंकी सृष्टि करनेवाले तथा समस्त भुवनोंके प्रभु हैं, उन भगवान् शिव तथा कार्तिकेयने बाणासुरको शोणितपुरमें बसा दिया था ॥ ८२ ॥

प्राणैः प्रियतरो नित्यं भविष्यति गुहः सदा।
तद्विशिष्टश्च बाणोऽपि शिवस्य सततं प्रियः ॥ ८३ ॥

स्कन्द तो सदा भगवान् शिवके लिये प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होंगे और उनके साथ रहकर बाणासुर भी निरन्तर उनका प्रिय बना रहेगा ॥ ८३ ॥

दर्पोत्सेकात् तु नाशाय वरं याचितवान् भवम्।
युद्धहेतोः स लुब्धस्तु सर्वथा न भविष्यति ॥ ८४ ॥

परंतु इसने बलके घमंडमें आकर अपने ही विनाशके लिये भगवान् शङ्करसे युद्धके लिये वर माँग लिया। युद्धलोलुप होनेके कारण यह सर्वथा अपना अस्तित्व खो देगा ॥ ८४ ॥

यदि विष्णुपुरोगानामिन्द्रादीनां दिवौकसाम्।
भविष्यी घलवत् प्राप्तिर्भवहस्तात् कृता भवेत् ॥ ८५ ॥

यदि भगवान् विष्णुको आगे करके इन्द्र आदि देवता मेघोंकी घटाके समान यहाँ छा जायँ तो भी भगवान् शङ्करके हाथसे उनके उस आक्रमणका प्रतीकार हो सकता है ॥८५॥

एतयोश्च हि को युद्धं कुमारभवयोरिह।
शक्तो दातुं समागम्य बाणसाहाय्यकाङ्क्षिणोः ॥ ८६ ॥

बाणासुरकी सहायताकी इच्छा रखनेवाले इन भगवान् शङ्कर और कुमार कार्तिकेयके सामने आकर कौन इन्हें युद्धका अवसर दे सकता है ? ॥ ८६ ॥

न च देववचो मिथ्या भविष्यति कदाचन।
भविष्यति महद् युद्धं सर्वदैत्यविनाशनम् ॥

परंतु महादेवजीका वचन कभी मिथ्या नहीं होगा। (जब उन्होंने महान् युद्ध होनेकी बात कही है, तब) समस्त दैत्योंका विनाश करनेवाला महायुद्ध होकर ही रहेगा ॥ ८७ ॥

स एवं चिन्तयाविष्टः कुम्भाण्डस्तत्त्वदर्शिवान्।
स्वस्तिप्रणिहितां बुद्धिं चकार स महासुरः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार चिन्तामग्न होकर महान् असुर तत्त्वदर्शी कुम्भाण्डने अपनी बुद्धिको कल्याणचिन्तनमें लगाया ॥८८॥

ये हि देवैर्विरुध्यन्ते पुण्यकर्मभिराहवे।
यथा बलिर्नियमितस्तथा ते यान्ति संक्षयम् ॥ ८९ ॥

जो युद्धमें पुण्यकर्मा देवताओंके साथ विरोध रखते हैं अथवा वे देवता ही जिनके विरोधमें खड़े हो जाते हैं, वे जिस प्रकार राजा बलि बाँधे गये थे, उसी प्रकार बन्धनमें पड़कर नष्ट हो जाते हैं ॥ ८९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि बाणयुद्धे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें बाणासुरका युद्धविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

शिव-पार्वतीका क्रीड़ाविहार, पार्वतीका उषाको पतिसमागमके लिये वर देना तथा उषाकी विरह-व्यथाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

क्रीडाविहारोपगतः कदाचिद्भवद् भवः।
देव्या सह नदीतीरे रम्ये श्रीमति स प्रभुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! किसी समय प्रभावशाली भगवान् शङ्कर गङ्गा नदीके शोभासम्पन्न रमणीय तटपर देवी पार्वतीके साथ क्रीड़ा-विहारके लिये गये ॥ १ ॥

शतानि तत्राप्सरसां चिक्रीडुश्च समन्ततः।
सर्वर्तुकवने रम्ये गन्धर्वपतयस्तथा ॥ २ ॥

वहाँ सभी ऋतुओंकी शोभासे सुशोभित सर्वर्तुक वनमें सब ओर सैकड़ों अप्सराएँ तथा गन्धर्वराज क्रीडा कर रहे थे ॥ २ ॥

कुसुमैः पारिजातस्य पुष्पैः संतानकस्य च।
गन्धोद्दाममिवाकाशं नदीतीरं तु सर्वशः ॥ ३ ॥

पारिजात और संतानक नामक कल्पवृक्षके पुष्पोंद्वारा उस नदी-तटका सारा आकाश उद्दाम सुगन्धसे व्याप्त हो रहा था ॥ ३ ॥

वेणुवीणामृदङ्गैश्च पणवैश्च सहस्रशः।
वाद्यमानैः स शुश्राव गीतमप्सरसां तदा ॥ ४ ॥

वेणु, वीणा, मृदङ्ग और पणव आदि सहस्रों वाद्योंकी मधुर ध्वनिके साथ अप्सराओंका मनोहर गीत उन्होंने सुना ॥ ४ ॥

सूतमागधकल्पैश्चास्तुवन्नप्सरसां गणाः।
देवदेवं सुवपुषं स्रग्विणं रक्तवाससम् ॥ ५ ॥
श्रीमहेशं देवदेवमर्चयन्ति मनोरमम्।

अप्सराओंके समुदाय सूत और मागधोंके-से वचनोंद्वारा भगवान् शिवकी स्तुति करते थे। सुन्दर शरीरधारी देवाधिदेव महादेव फूलोंके हार धारण किये लाल रङ्गके वस्त्रसे सुशोभित थे। उन श्रीमहेश्वरका रूप बड़ा ही मनोरम था। सब अप्सराएँ वहाँ उन देवाधिदेवकी पूजा करती थीं ॥५½॥

ततस्तु देव्या रूपेण चित्रलेखा वराप्सराः ॥ ६ ॥
भवं प्रसादयामास देवी च प्राहसत् तदा।
प्रसादयन्तीमीशानं प्रहसन्त्यप्सरोगणाः ॥ ७ ॥

इसी समय चित्रलेखा नामवाली श्रेष्ठ अप्सरा देवी पार्वतीका रूप धारण करके महादेवजीको रिझाने लगी। यह देख देवी पार्वती उस समय जोर-जोरसे हँसने लगीं। महादेवजीको रिझानेमें लगी हुई उस चित्रलेखाको लक्ष्य करके दूसरी अप्सराएँ भी हँसने लगीं ॥ ६-७ ॥

भवस्य पार्षदा दिव्या नानारूपा महौजसः।
देव्या ह्यनुज्ञया सर्वे क्रीडन्ते तत्र तत्र ह ॥ ८ ॥

भगवान् शङ्करके जो नाना रूपधारी दिव्य एवं महाबली पार्षद थे, वे सब देवी पार्वतीकी आज्ञासे विभिन्न स्थानोंमें क्रीडा कर रहे थे ॥ ८ ॥

अथ ते पार्षदास्तत्र रहस्ये सुविपश्चितः।
महादेवस्य रूपेण तच्चिह्नं रूपमास्थिताः ॥ ९ ॥
ततो देव्याः सुरूपेण लीलया वदनेन च।

तदनन्तर वे विद्वान् पार्षद एकान्तमें जाकर महादेवजीके रूपसे उन्हींके समान ध्वज आदि चिह्न तथा आकार धारण करके खड़े हो गये। फिर तो अप्सराएँ भी महादेवीके समान सुन्दर रूप, लीला और मुख एवं वार्तालापसे युक्त हो उनके साथ क्रीडा करने लगीं ॥ ९½ ॥

देवी प्रहासं मुमुचे ताश्चैवाप्सरसस्तदा।
ततः किलकिलाशब्दः प्रादुर्भूतः समन्ततः ॥ १० ॥

यह देख उस समय देवी पार्वती तथा वे अप्सराएँ जोर-जोरसे ठहाका मारकर हँसने लगीं। इससे वहाँ चारों ओर किलकिलाहटका शब्द गूँज उठा ॥ १० ॥

प्रहर्षमतुलं लेभे भवः प्रीतमनास्तदा।
बाणस्य दुहिता कन्या तत्रोषा नाम भामिनी ॥ ११ ॥

उस समय भगवान् शङ्करको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ। उनका मन प्रसन्न हो गया। उस अवसरपर बाणासुरकी पुत्री भामिनी उषा भी वहीं थी ॥ ११ ॥

वेषं संक्रीडितं दृष्ट्वा देव्या सह नदीगतम्।
दीप्यमानं महादेवं द्वादशादित्यतेजसम् ॥ १२ ॥

उसने देखा, बारह सूर्योंके समान तेजस्वी महादेवजी अपनी दीप्तिसे देदीप्यमान हैं और नदीके तटपर देवी पार्वतीके साथ मधुर क्रीडामें आसक्त हो रहे हैं ॥ १२ ॥

नानारूपं वपुः कृत्वा देव्याः प्रियचिकीर्षया।
उषा मनोरथं चक्रे पार्वत्याः संनिधौ तथा ॥ १३ ॥

वे देवीका प्रिय करनेकी इच्छासे नाना रूप धारण करके क्रीड़ा कर रहे हैं। यह देख उषाने देवी पार्वतीके समीप ही मनमें यह संकल्प किया ॥ १३ ॥

धन्या हि भर्तृसहिता रमत्येवं समागता।
मनसा त्वथ संकल्पमुषया भावितं तथा ॥ १४ ॥

'वह नारी धन्य है, जो पतिके साथ इस तरह मिलकर रमण करती है।' अपने इस मानसिक संकल्पको उषाने मन-ही-मन दुहराया ॥ १४ ॥

विज्ञाय तमभिप्रायमुषायाः पर्वतात्मजा।
प्राह देवी ततो वाक्यमुषां हर्षयती शनैः ॥ १५ ॥

उषाके उस अभिप्रायको जानकर पार्वती देवी उसे हर्ष प्रदान करती हुई धीरेसे बोलीं—॥ १५ ॥

उषे त्वं शीघ्रमप्येवं भर्त्रा सह रमिष्यसि।
यथा देवो मया सार्धं शङ्करः शत्रुनाशनः ॥ १६ ॥

'उषे! तुम भी शीघ्र ही पतिके साथ इसी तरह रमण करोगी, जैसे शत्रुनाशन भगवान् शङ्कर मेरे साथ रमण करते हैं' ॥ १६ ॥

एवमुक्ते तदा देव्या वाक्ये चिन्ताविलेक्षणा।
उषा भावं तदा चक्रे भर्त्रा रंस्ये कदा सह ॥ १७ ॥

देवीके ऐसा कहनेपर उषाकी आँखें इस चिन्तासे मुँद गयीं कि पता नहीं, यह सौभाग्य कब प्राप्त होगा? उस समय उसने मन-ही-मन यह अभिलाषा की कि मैं पतिके साथ कब रमण करूँगी ॥ १७ ॥

तदा हैमवती वाक्यं सम्प्रहस्येदमब्रवीत्।
उषे शृणुष्व वाक्यं मे यदा संयोगमेष्यसि ॥ १८ ॥

तब हिमवान्-कुमारीने हँसकर उससे यह बात कही—'उषे! मेरी बात सुनो, तुम्हें पतिका संयोग कब प्राप्त होगा, यह बताती हूँ ॥ १८ ॥

वैशाखे मासि हर्म्यस्थां द्वादश्यां त्वां दिनक्षये।
रमयिष्यति यः स्वप्ने स ते भर्ता भविष्यति ॥ १९ ॥

'वैशाख मासकी द्वादशी तिथिको प्रदोषकालमें अट्टालिकापर सोयी हुई तुम्हारे साथ जो पुरुष स्वप्नमें आकर रमण करेगा, वही तुम्हारा पति होगा' ॥ १९ ॥

एवमुक्ता दैत्यसुता कन्यागणसमावृता।
अपाक्रामत हर्षेण रममाणा यथासुखम् ॥ २० ॥

देवीने जब ऐसी बात कही, तब कन्याओंके समुदायसे घिरी हुई दैत्यराजकुमारी उषा बड़े हर्षमें भरकर वहाँसे हट गयी और सुखपूर्वक इधर-उधर विचरने लगी ॥ २० ॥

ततः सखीभिर्हास्यन्ती हर्षेणोत्फुल्ललोचना।
तालिकासंनिपातैश्च ह्यन्योन्यं जघ्नुरूर्जिताः ॥ २१ ॥

फिर तो सखियाँ उसके साथ परिहास करने लगीं। उषाके नेत्र हर्षसे खिल उठे। वे सब उत्साहमें भरकर एक दूसरीके हाथपर तालियाँ देने लगीं ॥ २१ ॥

किन्नर्यो यक्षकन्याश्च नानादैतेयकन्यकाः।
अप्सरोगणकन्याश्च उषायाः सखितां गताः ॥ २२ ॥

किन्नरियाँ, यक्षकन्याएँ, अनेकानेक दैत्योंकी कुमारियाँ तथा अप्सराओंकी पुत्रियाँ भी उषाकी सखी हो गयी थीं ॥ २२ ॥

उक्ता च तत्र ताभिश्च भर्ता तव वरानने।
भविष्यत्यचिरेणैव देव्या वचनकल्पितः ॥ २३ ॥

उन सबने उषासे कहा—'सुमुखि! अब तो पार्वती देवीके कथनानुसार शीघ्र ही तुम्हें पतिकी प्राप्ति होगी ॥२३॥

न हि देव्या वचो मिथ्या भविष्यति कदाचन।
रूपाभिजनसम्पन्नः पतिस्ते कल्पितस्तया॥ २४॥

'देवीका वचन कभी मिथ्या नहीं होगा। उन्होंने तुम्हारे लिये मनोहर रूप और उत्तम कुलसे सम्पन्न पतिका निर्माण किया है'॥ २४॥

उषा सखीनां तद् वाक्यं प्रतिपूज्य यथाविधि।
दत्तं मनोरथं देव्या भावयन्ती व्यवस्थिता॥ २५॥

उषा सखियोंके उस कथनका विधिवत् आदर करके देवीके दिये हुए मनोरथका चिन्तन करती हुई खड़ी रही॥ २५॥

ततः क्रीडाविहारं तमनुभूय सहोमया।
गतेऽहनि ततः सर्वा नार्यस्ताः परमाद्भुताः॥ २६॥
ययुः स्वानालयान् सर्वा देवी चादर्शनं गता।

तत्पश्चात् पार्वतीजीके साथ उस क्रीडाविहारके सुखका अनुभव करके दिन व्यतीत होनेपर वे सब परम अद्भुत रूपवाली नारियाँ अपने-अपने घरोंको चली गयीं तथा देवी पार्वती भी अदृश्य हो गयीं॥ २६½॥

काश्चिदश्वैस्तथा यानैर्गजैरन्यास्तथा रथैः॥ २७॥
पुरं प्रविविशुर्हृष्टाः काश्चिदाकाशमास्थिताः।

उनमेंसे कुछ तो घोड़ोंपर, कुछ पालकियोंपर, कुछ हाथियोंपर और कुछ नारियाँ रथोंपर आरूढ़ होकर बड़े हर्षके साथ नगरमे प्रविष्ट हुईं। कुछ अप्सराकोटिकी स्त्रियाँ आकाशमार्गसे अभीष्ट स्थानको चली गयीं॥ २७½॥

ततः प्रभृति सा देवी काममोहं गता विभो॥ २८॥
देव्यास्तु वचनं स्मृत्वा संस्मरन्ती पतिं तदा।
निद्रां न भजते रात्रौ न दिवा भोजनं तथा॥ २९॥

विभो! तभीसे वह देवी उषा कामजनित मोहके वशीभूत हो गयी। पार्वतीजीके वचनको याद करके पतिका चिन्तन करती हुई उषा उन दिनो न तो रातमें नींद लेती और न दिनमे भोजन करती थी॥ २८-२९॥

स्मरन्ती पतिभावं सा विललाप नृपात्मजा।
निन्दन्ती शशिनं नाके सेवती न च चन्दनम्॥ ३०॥

वह राजकुमारी पतिभावका स्मरण करती हुई एकान्तमे विलाप किया करती थी। आकाशमे उदित हुए चन्द्रमाकी निन्दा करती और चन्दनका भी सेवन नहीं करती थी (विरहाग्नि बढ़ जानेके कारण उसे चन्द्रमा और चन्दन भी तापदायक प्रतीत होते थे।)॥ ३०॥

सा बाला मोहिता राजन् कामेन परिपीडिता।
उपचर्यन्ति तां सख्यो विज्वरामपि सज्वराम्॥ ३१॥

राजन्! कामसे अत्यन्त पीड़ित हुई वह बाला अपनी सुध-बुध खो चुकी थी। यद्यपि उसे ज्वर आदि रोग नहीं लगे थे, तो भी उसे ज्वरग्रस्त मानकर सखियाँ उसके लिये तदनुरूप उपचार करती थीं॥ ३१॥

तप्यते हृदयं तस्या लेपितं चन्दनेन च।
कपोले पाण्डिमाचिह्नं नेत्रे जलसमन्विते॥ ३२॥

चन्दनसे लिप्त होनेपर भी उसका हृदय तप्त होता रहता था। उसके गुलाबी गालमें सफेदी और पीलेपनका चिह्न प्रकट होने लगा तथा दोनों नेत्र आँसुओंसे भरे रहते थे॥ ३२॥

जृम्भणं च तथा स्वापो देहे तस्या व्यवर्धत।
पद्मिनीकन्दचूर्णानि शीतलानि मुहुर्मुहुः॥ ३३॥
क्षिपन्ति सख्यो हृदये पीडिते मन्मथाग्निना।
व्यजनानि प्रकुर्वन्ति पृच्छन्ति च पुनः पुनः॥ ३४॥

उसके शरीरमें अँगड़ाई और तन्द्राकी वृद्धि होने लगी। सखियाँ कामाग्निसे पीड़ित हुए उसके वक्षःस्थलपर बारंबार कमलिनीकन्दके शीतल चूर्ण बिखेरा करती थीं। वे बारंबार व्यजन डुलाती और इस प्रकार पूछती थीं—॥ ३३-३४॥

का व्यथा किं शरीरं ते किमिदं तव भामिनि।
किं तुभ्यं रोचते देवि तदाख्याहि वरानने॥ ३५॥

'भामिनि! तुम्हे कौन-सी व्यथा है? तुम्हारा शरीर कैसा हो गया? यह तुम्हें क्या हुआ है? देवि! वरानने! तुम्हे क्या अच्छा लगता है? यह सब बताओ॥ ३५॥

कस्मादिदं समुत्पन्नं दुःखसाध्यं मनोरमे।
त्वन्मनोऽनुगतं वाक्यं वदन्त्येतास्तु सारिकाः॥ ३६॥
शुका नीलतमाः सुभ्रु पठन्ति हि पुमानिव।
प्रह्लादजननं वाक्यं किमर्थं नाद्य भाषसे॥ ३७॥

'मनोरमे! यह दुःसाध्य रोग तुम्हें कहाँसे उत्पन्न हुआ है? देखो! ये सारिकाएँ तुम्हारे मनके अनुकूल बोली बोलती है। सुभ्रु! ये अत्यन्त नीले तोते पुरुषके समान पढ़ रहे हैं। आज तुम इनके प्रति आह्लादजनक वचन क्यों नहीं बोल रही हो॥ ३६-३७॥

तव तातो महावीरो देवानामपि दुर्जयः।
तस्याग्रे तिष्ठते कोऽपि न भूमौ वरवर्णिनि॥ ३८॥

'वरवर्णिनि! तुम्हारे पिता महान् वीर हैं, देवताओंके लिये भी दुर्जय है। इस पृथ्वीपर उनके सामने कोई ठहर नहीं सकता॥ ३८॥

बलेः पुत्रो महावीरो बाणो हि दुरतिक्रमः।
जितामरावतीकं च नगरं शोणिताह्वयम्।
यत्र संतिष्ठते देवः शूलहस्तो महेश्वरः॥ ३९॥

'बलिके पुत्र महावीर बाण सर्वथा दुर्जय हैं। यह शोणितपुर नगर अपने वैभवसे अमरावतीको भी पराजित

कर चुका है, जहाँ साक्षात् भगवान् महेश्वर हाथमें त्रिशूल धारण किये नित्य निवास करते हैं ॥ ३९ ॥

पुत्रोऽयमिति जानीहि गिरिजां योऽब्रवीद्धरः।
बाणं प्रति महादेवस्तव तातमुषे शृणु ॥ ४० ॥

'उषे! सुनो! तुम्हारे पिता बाणासुरके लिये महान् देवता भगवान् हरने पार्वती देवीसे कहा था कि 'तुम इसे अपना पुत्र जानो' ॥ ४० ॥

का व्यथा ते मुखे स्वेदो नासाग्रे च विराजते।
नीहारबिन्दवः पद्मे राजन्ते शरदागमे ॥ ४१ ॥

'तुम्हें क्या पीड़ा है? तुम्हारे मुख और नासाग्र-भागमें पसीनेकी बूँदें सुशोभित हो रही हैं, ठीक उसी तरह जैसे शरत्काल आनेपर कमलके ऊपर ओसके कण शोभा पाते हैं ॥ ४१ ॥

सम्पूर्णचन्द्रप्रतिमं मुखं चन्द्रो यथा घने।
न शोभते तु विच्छायं किमर्थं कारणं वद ॥ ४२ ॥

'पूर्ण चन्द्रमाके समान तुम्हारा मुख आज बादलमें छिपे हुए चन्द्रमाकी भाँति कान्तिहीन दिखायी देनेके कारण शोभा नहीं पा रहा है। ऐसा किस लिये हो रहा है, कारण बताओ ? ॥ ४२ ॥

श्वासान् मुञ्चसि बाले त्वं न रतिं यासि भावतः।
गृहाण भोजनं दिव्यं यत् ते मनसि वर्तते ॥ ४३ ॥

'बाले! तुम लंबी साँस छोड़ रही हो, मनसे प्रसन्न नहीं हो रही हो, इसका क्या कारण है? तुम्हारे मनमें जैसी रुचि हो, उसके अनुकूल दिव्य भोजन ग्रहण करो ॥ ४३ ॥

ताम्बूलं रोचते पूर्वं तत् किमर्थं न गृह्यते।
मिष्टानि यानि वस्तूनि दुर्लभानीतरैर्जनैः ॥ ४४ ॥
गृहाण देवि उत्तिष्ठ वद पीडां शरीरजाम्।

'पहले तो तुम्हें पान बहुत अच्छा लगता था, अब उसे ग्रहण क्यों नहीं करती हो? देवि! उठो और जो दूसरे लोगोंके लिये दुर्लभ हैं ऐसी मीठी वस्तुएँ ग्रहण करो। बताओ, कैसी पीड़ा हो रही है' ॥ ४४½ ॥

इति कोलाहलं श्रुत्वा उषावेश्मसमुद्भवम् ॥ ४५ ॥
दासीभिः कीर्तितं तत्र मातुरग्रे पृथक् पृथक्।

उषाके महलमें होनेवाले इस कोलाहलको सुनकर दासियोंने उसकी माताके आगे पृथक्-पृथक् इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ४५½ ॥

राजपुत्री यदा देवि समायाता गृहे सती ॥ ४६ ॥
जलक्रीडाविहाराच्च मूकेव परिलक्ष्यते।

'देवि! सती-साध्वी राजकुमारी उषा जलक्रीड़ा और विहारसे जब घर लौटी हैं, तभीसे मौन-सी दिखायी देती हैं ॥

अतो दासीजना देवि वदामस्त्वां वयं जनाः ॥ ४७ ॥
को मोहः किमिदं मौनं कः स्वापो म्लानता कथम्।
विचार्य भिषजो देवि दिश्यन्तां कष्टशान्तये ॥ ४८ ॥

'अतः महारानी! हम दासियाँ आपको यह बात बता रही हैं—राजकुमारीपर यह कैसा मोह छा रहा है? उनका यह मौन किसलिये है? क्या कारण है कि वे निरन्तर सोयी पड़ी रहती हैं? उनमें मलिनता कैसे आ गयी है? देवि! इन सब बातोंपर विचार करके उनके इस कष्टकी शान्तिके लिये वैद्योंको नियुक्त कीजिये ॥ ४७-४८ ॥

शिरीषपुष्पसदृशं यच्छरीरं सुकोमलम्।
तत् कथं सहते देवि व्याधिभारं वरानने ॥ ४९ ॥

'देवि! वरानने! जो शरीर शिरीषपुष्पके समान अत्यन्त कोमल है, वह रोगका भार कैसे सहन करता है'? ॥

इति श्रुत्वा तदा देवी सत्वरा हंसगामिनी।
प्राप्य देशमुषा यत्र किमिदं कष्टलक्षणम् ॥ ५० ॥

यह सुनकर वे हंसगामिनी देवी उस समय बड़ी उतावली-के साथ उठीं और जहाँ उषा सोयी थी, उस स्थानमें पहुँचकर पूछने लगीं कि 'यह कैसा कष्टदायक लक्षण प्रकट हुआ है' ? ॥

पल्लवाकृतिहस्तेन कोमलं तत्करं तदा।
स्पृष्ट्वाङ्गुलीरनायासं स्फोटयामास भाविनी ॥ ५१ ॥

उस साध्वी महारानीने अपने पल्लवाकार हाथसे उषाके कोमल हाथका स्पर्श करके अनायास ही उसकी अङ्गुलियोंको चटकाया ॥ ५१ ॥

किमस्ति तव कल्याणि का व्यथा तव वर्तते।
एते वैद्याः समागत्य पृच्छन्ति भवतीं हि तत् ॥ ५२ ॥

फिर उन्होंने पूछा—'कल्याणि! तुम्हें कैसा कष्ट है? ये वैद्यलोग आकर तुमसे इस विषयमें जिज्ञासा करते हैं ॥५२॥

वैद्या ऊचुः

जलक्रीडां गता तत्र राजपुत्री सखीगणैः।
पार्वत्याः क्रीडितं तत्र जानीमः श्रमसम्भवम् ॥ ५३ ॥

वैद्य बोले—महारानी! हम जानते हैं, राजकुमारी अपनी सखियोंके साथ जलक्रीड़ाके लिये उस स्थानपर गयी थी, जहाँ पार्वतीदेवीका क्रीडा-विहार चल रहा था। वहाँ जो परिश्रम हुआ, उसीसे यह कष्ट बढ़ गया ॥ ५३ ॥

श्रमाद् ग्लानिः समुत्पन्ना जृम्भणं च पुनः पुनः।
स्वापश्च जायते तेन मा भयं कर्तुमर्हसि ॥ ५४ ॥

श्रमसे ग्लानि उत्पन्न हुई है, उसीसे बारंबार अँगड़ाई आ रही है तथा परिश्रमके ही कारण सारे अङ्गोंमें शिथिलता आ गयी है, जिससे यह सो रही हैं, अतः आपको इसके लिये भय नहीं करना चाहिये ॥ ५४ ॥

देव्युवाच

हृदये निहितं वैद्याश्चन्दनं हिमसंयुतम्।
अमात्याः किमिदं शीघ्रं किमिदं बुद्बुदायते ॥ ५५ ॥

महारानीने कहा—वैद्यो और मन्त्रियो! राजकुमारीके वक्षःस्थलपर बरफमिला चन्दन रखा गया है, किंतु शीघ्र ही इसमें इस प्रकार बुद-बुद होने लगा है, मानो यह खौल रहा हो, यह क्या बात है? ऐसा क्यों हुआ? ॥ ५५ ॥

अतिदाहो महान् स्वेदः पिपासा न बुभुक्षते।
प्रलाप एष किं तस्यां शास्त्रतो ब्रूत निश्चितम् ॥ ५६ ॥

इसके शरीरमें अत्यन्त दाह हो रहा है, बहुत अधिक पसीने निकलने लगे हैं। इसे प्यास भी बहुत लगती है, परंतु कुछ खानेकी रुचि नहीं होती। यह अधिकाधिक प्रलाप ही कर रही है, ये सब लक्षण इसमें क्यों प्रकट हुए हैं? आपलोग शास्त्रके अनुसार निश्चित करके बताइये ॥ ५६ ॥

वैद्या ऊचुः

क्रीडाविहारे मिलिताः स्त्रीजना देवसंनिधौ।
रूपेणाप्रतिमा देवी राजपुत्री च भाविनी ॥ ५७ ॥
दृष्टिपातः कृतस्ताभिस्तेन पुत्र्यां व्यथाभवत्।
रक्षामन्त्रैस्तथा पीतैः सर्षपैस्तां कुमारिकाम् ॥ ५८ ॥
पानीयैरभिषेकेण परां शान्तिर्भविष्यति।

वैद्य बोले—क्रीडा-विहारमें महादेवजीके समीप बहुत-सी स्त्रियाँ एकत्र हुई थीं। हमारी सती-साध्वी राजकुमारी उषा-देवी अनुपम रूपवती हैं। अतः उन सब स्त्रियोंने इनपर दृष्टि-पात किया है, जिससे इन्हें नजर लग गयी है। इसीसे आपकी पुत्रीको यह पीड़ा हुई है। अतः रक्षासम्बन्धी मन्त्रों और पीली सरसोंसे राजकुमारीकी रक्षा की जाय (इन्हें झाड़ा-फूँका जाय), अभिमन्त्रित जलसे अभिषेक करनेपर इन्हें बड़ी शान्ति मिलेगी ॥ ५७-५८½ ॥

इत्युक्त्वा भिषजः सर्वे निवृत्ता नृपवेश्मतः ॥ ५९ ॥
सूचयन्तः पुनः सर्वे कामाभिप्रायजां व्यथाम्।

ऐसा कहकर सभी वैद्यराज महलसे लौट गये। जाते-जाते उन सबने यह भी सूचना दे दी कि सम्भव है यह काम-जनित वेदना हो ॥ ५९½ ॥

मातृपृष्टा वरारोहा चिरकालमुवाच सा ॥ ६० ॥
लज्जावती महाभागा मातरं रुदती भृशम्।
मातर्न रोचते नित्यं भाषणं न च भोजनम् ॥ ६१ ॥
न चाप्युत्सवकं मातः सदाहं हृदयं शृणु।
इत्युक्त्वा विरराभाथ ह्युषा नारी वरानना ॥ ६२ ॥

तदनन्तर माताने जब बारंबार पूछा, तब सुन्दर अङ्ग-वाली उस लज्जाशीला महाभागा उषाने बहुत देरके बाद माताशे जोर-जोरसे रोते हुए कहा—'माँ! सुनो! न तो मुझे कभी बोलना अच्छा लगता है और न भोजन करना, कोई उत्सव भी नहीं सुहाता है। हृदयमें निरन्तर जलन होती रहती है।' ऐसा कहकर सुन्दरी नारी उषा चुप हो गयी ॥ ६०—६२ ॥

सर्वाभिः स्त्रीभिरारब्धमन्योन्यं मुखवीक्षणम्।
लज्जानुकारि नारीणां यौवनं हि भवेदिति ॥ ६३ ॥
इयं च राजकन्या हि भर्तृयोग्या किमुच्यते।
पितुः प्रसादान्मातुश्च प्राप्नुयात् सदृशं वरम् ॥ ६४ ॥

उस समय सभी स्त्रियाँ एक दूसरीका मुख देखने लगीं और आपसमें कहने लगीं कि युवावस्था नारियोंके लिये प्रायः लज्जाजनक हुआ करती है। यह राजकन्या भी पतिसमागमके योग्य हो गयी है, अतः इसके लिये और क्या कहा जाय? यह माता और पिताके प्रसादसे अपने अनुरूप पति प्राप्त करे' ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि बाणयुद्धे उषाविरहो नाम सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें बाणासुरके युद्धके प्रसङ्गमें उषाविरहविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

उषाका स्वप्नमें प्रियतमके साथ समागम, इससे उषाकी चिन्ता, सखियोंका उसे समझाना, कुम्भाण्डकुमारीके कहनेसे उषाका चित्रलेखाको बुलाकर उसे अपना कष्ट बताना, चित्रलेखाके बनाये हुए चित्रोंसे उषाका अनिरुद्धको पहचानना और उन्हें लानेके लिये चित्रलेखाका द्वारकाको जाना

वैशम्पायन उवाच

तत्रस्थाः परमा नार्यश्चित्रेण परमाद्भुताः।
ततो हर्म्ये शयानां तु वैशाखे मासि भामिनीम् ॥ १ ॥
द्वादश्यां शुक्लपक्षस्य सखीगणवृतां तदा।
कश्चोक्तः पुरुषः स्वप्ने रमयामास तां शुभाम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शोणितपुरमें निवास करनेवाली परम सुन्दरी स्त्रियाँ चित्र-निर्माण-कलाकी दृष्टिसे बड़ी अद्भुत योग्यतावाली थीं। तदनन्तर वैशाखमास-के शुक्लपक्षकी द्वादशी तिथिको, जब सखियोंसे घिरी हुई मानिनी उषा अपनी अट्टालिकामें सो रही थी, उसी समय

स्वप्नावस्थामें पार्वतीजीके बताये अनुसार एक पुरुषने आकर उस शुभलक्षणा असुरराजकुमारीके साथ रमण किया ॥ १-२॥

विचेष्टमाना रुदती देव्या वचनचोदिता।
सा स्वप्ने रमिता तेन स्त्रीभावं चापि लम्भिता ॥ ३ ॥

यद्यपि वह रो-रोकर उस पुरुषके स्पर्शसे बचनेकी विशेष चेष्टा करती रही, परंतु पार्वती देवीके वचनसे प्रेरित थी, इस कारण उसके साथ स्वप्नमें उस पुरुषने बलपूर्वक रमण किया और उसे अपनी स्त्री बना लिया ॥ ३ ॥

शोणिताक्ता प्ररुदती सहसैवोत्थिता निशि।
तां तथा रुदतीं दृष्ट्वा सखी भयसमन्विता ॥ ४ ॥
चित्रलेखा वचः स्निग्धमुवाच परमाद्भुतम्।

उस समय उस राजकन्याकी योनि रक्तसे भीग गयी। वह रातमें सहसा रोती हुई उठ बैठी। उसे इस प्रकार रोती देख उसकी सखी चित्रलेखा भयभीत हो परम अद्भुत स्निग्ध वाणीमें बोली—॥ ४½ ॥

उषे मा भैः किमेवं त्वं रुदती परितप्यसे।
बलेः सुतसुता च त्वं प्रख्याता किं भयान्विता॥ ५ ॥

'उषे! भयभीत न होओ। तुम क्यों इस प्रकार रोती और संतप्त होती हो? तुम तो महाराज बलिके पुत्रकी पुत्री हो, अपनी निर्भीकताके लिये विख्यात हो, फिर भी क्यों भयभीत होती हो? ॥ ५ ॥

न भयं विद्यते लोके तव सुभ्रु विशेषतः।
अभयं तव वामोरु पिता देवान्तको रणे ॥ ६ ॥

'सुभ्रु! हम सबके लिये विशेषतः तुम्हारे लिये तो संसारमें भय है ही नहीं। वामोरु! तुम्हें किसीसे भय नहीं है। तुम्हारे पिता बाण समराङ्गणमें देवताओंके भी काल हैं॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते विषादं मा कृथाः शुभे।
नैवंविधेषु वासेषु भयमस्ति वरानने ॥ ७ ॥

'शुभे! उठो, उठो, तुम्हारा कल्याण हो, तुम विषाद न करो। वरानने! ऐसे निवासस्थानोंमें भय नहीं होता है॥

असकृद् देवसहितः शचीभर्ता सुरेश्वरः।
अप्राप्त एव नगरं पित्रा ते मृदितो रणे ॥ ८ ॥

'देवताओंके स्वामी शचीपति इन्द्रने देवताओंकी सेना साथ लेकर अनेक बार आक्रमण किया, परंतु इस नगरतक वे पहुँचने भी नहीं पाये कि तुम्हारे पिताने रणभूमिमें उन्हें रौंद डाला ॥ ८ ॥

अयं देवसमूहस्य भयदश्च पिता तव।
महासुरवरः श्रीमान् बलेः पुत्रो महाबलः ॥ ९ ॥

'तुम्हारे ये पिता देवसमुदायको भय देनेवाले हैं, महान् असुरोंमें श्रेष्ठ हैं तथा राजा बलिके महाबली एवं कान्तिमान् पुत्र हैं' ॥ ९ ॥

एवं साभिहिता सख्या बाणपुत्री यशस्विनी।
स्वप्ने रूपं यथा दृष्टं न्यवेदयदनिन्दिता ॥ १० ॥

सखीके ऐसा कहनेपर निन्दारहित यशस्विनी बाणपुत्री उषाने स्वप्नमें जैसा रूप देखा था, वह सब उससे निवेदन किया॥

उषोवाच

एवं संधर्षिता साध्वी कथं जीवितुमुत्सहे।
पितरं किं नु वक्ष्यामि देवशत्रुमरिंदमम् ॥ ११ ॥

फिर उषा बोली—मैं सती-साध्वी कुमारी थी, जब इस प्रकार मेरा सतीत्व नष्ट कर दिया गया, तब मैं कैसे जीवित रह सकती हूँ। शत्रुओंका दमन करनेवाले अपने देववैरी पितासे क्या कहूँगी? ॥ ११ ॥

एवं संदूषणकरी वंशस्यास्य महौजसः।
श्रेयो हि मरणं मह्यं न मे श्रेयोऽद्य जीवितम् ॥ १२ ॥

इस महातेजस्वी कुलको मैं इस तरह कलङ्कित करनेवाली हूँ। मेरा मर जाना ही अच्छा है। अब जीवित रहना मेरे लिये श्रेयस्कर नहीं है ॥ १२ ॥

ईप्सितो वा यथा कोऽपि पुरुषोऽधिगतो हि मे।
जाग्रतीव यथा चाहमवस्थैवं कृता मम ॥ १३ ॥

मुझे स्वप्नमें ऐसा कोई पुरुष प्राप्त हुआ था, जिसे मानो मैं बहुत चाहती थी—वह मुझे अभीष्ट था। उसने स्वप्नमें भी जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति मेरी ऐसी दशा कर डाली है ॥ १३ ॥

निशायां जाग्रतीवाहं नीता केन दशामिमाम्।
कथमेवं कृता नाम कन्या जीवितुमुत्सहे ॥ १४ ॥

रातमें जागती हुई-सी मुझे किसने इस अवस्थाको पहुँचा दिया? जब कन्या होकर भी मेरी ऐसी दशा कर दी गयी, तब मैं कैसे जीवित रह सकती हूँ? ॥ १४ ॥

कुलोपक्रोशनकरी कुलाङ्गारी निराश्रया।
जीवितुं न स्पृहेन्नारी साध्वीनामग्रतः स्थिता ॥ १५ ॥

जो नारी कभी सती-साध्वी स्त्रियोंमें आगे रही हो, वह यदि कुलकलङ्किनी, कुलाङ्गारी और निराश्रया हो जाय तो उसे जीवनकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये ॥ १५ ॥

इत्येवं बाष्पपूर्णाक्षी सखीजनवृता तदा।
विललाप चिरं कालमुषा कमललोचना ॥ १६ ॥

इस प्रकार सखियोंसे घिरी हुई कमललोचना उषा उस समय नेत्रोंमें आँसू भरकर बहुत देरतक विलाप करती रही ॥

अनाथवत् तां रुदतीं सख्यः सर्वा विचेतसः।
ऊचुरश्रुपरीताक्षीमुषां सर्वाः समागताः ॥ १७ ॥

उसे अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे अनाथकी भाँति रोती देख सारी सखियाँ घबरायी हुई-सी वहाँ आ गयीं और इस प्रकार कहने लगीं—॥ १७ ॥

दुष्टेन मनसा देवि शुभं वा यदि वाशुभम् ।
क्रियते न च ते सुभ्रु किंचिद् दुष्टं मनः शुभे ॥ १८ ॥

'देवि ! दुष्ट हृदयसे यदि शुभ या अशुभ कर्म किया जाता है तो उसका कोई अनिष्टकारी फल होता है, परंतु सुभ्रु ! शुभे ! तुम्हारे मनमें तो कभी कोई दोष आया नहीं है ॥ १८ ॥

प्रसभं दैवसंयोगाद् यदि भुक्तासि भामिनि ।
स्वप्नयोगेन कल्याणि व्रतलोपो न विद्यते ॥ १९ ॥

'भामिनि ! कल्याणि ! यदि दैव-संयोगसे स्वप्नमें किसी पुरुषने बलात्कारपूर्वक तुम्हारा उपभोग कर लिया है तो इससे तुम्हारे कौमार-व्रतका लोप नहीं हुआ है ॥ १९ ॥

व्यभिचारेण ते देवि नास्ति कश्चिद् व्यतिक्रमः ।
न च स्वप्नकृतो दोषो मर्त्यलोकेऽस्ति सुन्दरि ॥ २० ॥

'देवि ! तुम्हारे इस व्यभिचारसे कोई अपराध नहीं बना है । सुन्दरि ! मर्त्यलोकमे स्वप्नावस्थामे किये गये किसी अशुभ कर्मका दोष नहीं लगता है ॥ २० ॥

एवं विप्रर्षयो देवि धर्मज्ञाः कथयन्ति वै ।
मनसा चैव वाचा च कर्मणा च विशेषतः ।
दुष्टा या त्रिभिरेतैस्तु पापा सा प्रोच्यते बुधैः ॥ २१ ॥

'देवि ! धर्मज्ञ ब्रह्मर्षि प्रायः ऐसा ही कहते हैं । जो नारी मन, वाणी तथा विशेषतः क्रिया—इन तीनोंसे दूषित है, उसीको विद्वान् पुरुष 'पापिनी' कहते हैं ॥ २१ ॥

न च ते दृश्यते भीरु मनः प्रचलितं सदा ।
कथं त्वं दोषसंदुष्टा नियता ब्रह्मचारिणी ॥ २२ ॥

'भीरु ! तुम्हारा मन तो सदा ही स्थिर है, वह कभी चञ्चल होता नहीं देखा जाता है । तुम नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य-पालनमें तत्पर रहकर भी दोषोंसे दूषित कैसे हो सकती हो ॥

यदि सुप्ता सती साध्वी शुद्धभावा मनस्विनी ।
इमामवस्थां प्राप्ता त्वं नैव धर्मो विलुप्यते ॥ २३ ॥

'तुम्हारा भाव शुद्ध है, तुम मनको वशमें रखनेवाली हो, सती-साध्वी हो । फिर भी यदि सुप्तावस्थामें तुम इस दशाको पहुँच गयी तो इससे तुम्हारे धर्मका लोप नहीं होता है ॥ २३ ॥

यस्या दुष्टं मनः पूर्वं कर्मणा चोपपादितम् ।
तामाहुरसती नाम सती त्वमसि भामिनि ॥ २४ ॥

'जिस स्त्रीका पहले मन दूषित होता है, फिर वह क्रिया-द्वारा दोषका सम्पादन करती है, उसीको असती (कुलटा) कहते हैं; भामिनि ! तुम तो सती हो ॥ २४ ॥

कुलजा रूपसम्पन्ना नियता ब्रह्मचारिणी ।
इमामवस्थां नीतासि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ २५ ॥

'तुम उत्तम कुलमें उत्पन्न, मनोहर रूपसे सम्पन्न, संतोष आदि नियमोंका पालन करनेवाली तथा ब्रह्मचारिणी होकर भी इस दशाको पहुँचा दी गयीं; यह देखकर यही कहना पड़ता है कि काल दुर्लङ्घ्य है (वह जिसको जिस अवस्थामें चाहे डाल सकता है)' ॥ २५ ॥

इत्येवमुक्तां रुदतीं बाष्पेणावृतलोचनाम् ।
कुम्भाण्डदुहिता वाक्यं परमं त्विदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

सखियोंके ऐसा कहनेपर भी उषा रोती ही रही । उसके नेत्र आँसुओंसे भरे ही रहे । तब कुम्भाण्डकी पुत्री चित्रलेखा-ने यह उत्तम बात कही—॥ २६ ॥

त्यज शोकं विशालाक्षि अपापा त्वं वरानने ।
श्रुतं मे यदिदं वाक्यं याथातथ्येन तच्छृणु ॥ २७ ॥

'विशाललोचने ! यह शोक छोड़ो । वरानने ! तुम सर्वथा पापरहित हो । मैंने जो यह बात सुन रखी है, उसे यथार्थ-रूपसे बताती हूँ, सुनो ॥ २७ ॥

उषे यदुक्ता देव्यासि भर्तारं ध्यायती तदा ।
समीपे देवदेवस्य स्मर भामिनि तद् वचः ॥ २८ ॥

'उषे ! भामिनि ! देवाधिदेव महादेवजीके समीप उस दिन जब तुम पतिका चिन्तन कर रही थीं, उस समय देवी पार्वतीने तुमसे जो बात कही थी, उसे याद करो ॥ २८ ॥

द्वादश्यां शुक्लपक्षस्य वैशाखे मासि यो निशि ।
हर्म्ये शयानां रुदतीं स्त्रीत्वं समुपनेष्यति ॥ २९ ॥
भविता स हि ते भर्ता शूरः शत्रुनिबर्हणः ।

'वैशाख मासके शुक्ल पक्षकी द्वादशी तिथिको रात्रिके समय अट्टालिकापर सोयी हुई तुझे तेरे रोते रहनेपर भी जो पुरुष स्वप्नमें अपनी स्त्री बना लेगा, वह शत्रुसूदन शूरवीर पुरुष ही तेरा पति होगा ॥ २९½ ॥

इत्युवाच वचो हृष्टा देवी तव मनोगतम् ॥ ३० ॥
न हि तद् वचनं मिथ्या पार्वत्या यदुदाहृतम् ।
सा त्वं किमिदमत्यर्थं रोदिषीन्दुनिभानने ॥ ३१ ॥

'हर्षमें भरी हुई पार्वती देवीने यह तुम्हारे मनके अनुरूप बात कही थी । पार्वतीजीने जो कह दिया, वह वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता । अतः चन्द्रमुखि ! तुम इस घटनाके लिये यह अत्यन्त रोदन क्यों कर रही हो' ॥ ३०-३१ ॥

एवमुक्ता तया बाला स्मृत्वा देवीवचस्ततः ।
अभवन्नष्टशोका सा बाणपुत्री शुभेक्षणा ॥ ३२ ॥

चित्रलेखाके ऐसा कहनेपर पार्वती देवीके वचनका स्मरण करके वह असुरबाला शुभलोचना बाणपुत्री उषा शोकरहित हो गयी ॥ ३२ ॥

उषोवाच

स्मरामि भामिनि वचो देव्याः क्रीडागते भवे।
यथोक्तं सर्वमखिलं प्राप्तं हर्म्यतले मया॥ ३३॥

उषा बोली—भामिनि! जब महादेवजी क्रीडामें तत्पर थे, उस समय देवी पार्वतीजीने जो बात कही थी, वह मुझे याद आ रही है। उन्होंने जो कुछ कहा था, वह सब पूर्णरूपसे इस अट्टालिकाके भीतर मैंने अनुभव किया है॥

भर्ता तु मम यद्येष लोकनाथस्य भार्यया।
व्यादिष्टः स कथं ज्ञेयस्तत्र कार्यं विधीयताम्॥ ३४॥

यदि भगवान् विश्वनाथकी भार्या पार्वती देवीने इसी पुरुषको मुझे पतिरूपमें प्रदान किया है तो उसका पता कैसे लगेगा? इसके लिये कोई उपाय करो॥ ३४॥

इत्येवमुक्ते वचने कुम्भाण्डदुहिता पुनः।
व्याजहार यथान्यायमर्थतत्त्वविशारदा॥ ३५॥

उषाके ऐसा कहनेपर अर्थतत्त्वके ज्ञानमें कुशल कुम्भाण्ड-कुमारी चित्रलेखाने पुनः यह न्यायोचित बात कही—॥

न हि तस्य कुलं देवि न कीर्तिं नापि पौरुषम्।
कश्चिज्जानाति तत्त्वेन किमिदं त्वं विमुह्यसे॥ ३६॥

'देवि! उस पुरुषका न तो कोई कुल जानता है, न उसकी कीर्ति और पुरुषार्थका ही किसीको ठीक-ठीक पता है; फिर इस विषयको लेकर तुम क्यों मोहित हो रही हो॥३६॥

अदृष्टश्चाश्रुतश्चैव दृष्टः स्वप्ने च यः शुभे।
कथं ज्ञेयो भवेद् भीरु सोऽस्माभी रतितस्करः॥ ३७॥

'शुभे! भीरु! जिसको तुमने सपनेमें देखा है, उसे दूसरे किसीने न तो कभी देखा है और न उसके विषयमें कुछ सुना ही है, फिर हम तुम्हारे उस रति तस्करका पता कैसे लगा सकती हैं?॥ ३७॥

येन त्वमसितापाङ्गि मत्तकाशिनि विक्रमात्।
रुदती प्रसभं भुक्ता प्रविश्यान्तःपुरं सखि॥ ३८॥
न ह्यसौ प्राकृतः कश्चिद् यः प्रविष्टः प्रसह्य ते।
नगरं लोकविख्यातमेकः शत्रुनिबर्हणः॥ ३९॥

'मतवाली सी प्रतीत होनेवाली और कजरारे नेत्रोंवाली सखि! जिसने अन्तःपुरमें घुसकर तुम्हारे रोते रहनेपर भी यत्नपूर्वक तुम्हारा उपभोग किया है, वह कोई साधारण मनुष्य नहीं है। जो तुम्हारे इस लोकविख्यात नगरमें बलपूर्वक अकेला ही घुस आया, वह कोई शत्रुमर्दन शूरवीर ही हो सकता है॥ ३८-३९॥

आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च महौजसौ।
न शक्ताः शोणितपुरं प्रवेष्टुं भीमविक्रमाः॥ ४०॥

'बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दोनों महाबली अश्विनीकुमार—ये भयानक पराक्रमी देवता भी शोणितपुरमें प्रवेश नहीं कर सकते॥ ४०॥

सोऽयमेतैः शतगुणैर्विशिष्टश्चारिसूदनः।
प्रविष्टः शोणितपुरं बाणमाक्रम्य मूर्धनि॥ ४१॥

'उपर्युक्त देवता यदि सौगुने होकर आ जायँ तो उनसे विशिष्ट यह शत्रुसूदन वीर होगा, जिसने बाणासुरके मस्तकपर पैर रखकर शोणितपुरमें प्रवेश किया है॥ ४१॥

यस्या नैवंविधो भर्ता भवेद् युद्धविशारदः।
कस्तस्या जीवितेनार्थो भोगैर्वास्त्यम्बुजेक्षणे॥ ४२॥

'कमललोचने! जिस नारीका पति ऐसा युद्धविशारद वीर न हो, उसके जीवन अथवा भोगोंसे क्या लाभ?॥४२॥

धन्यास्यनुगृहीतासि यस्यास्ते पतिरीदृशः।
प्राप्तो देव्याः प्रसादेन कन्दर्पसमविक्रमः॥ ४३॥

'तुम धन्य हो, तुमपर देवीका महान् अनुग्रह है; क्योंकि तुम्हें पार्वती देवीके प्रसादसे ऐसा कामदेव-तुल्य पराक्रमी पति प्राप्त हुआ है॥ ४३॥

इदं तु यत् कार्यतमं शृणु त्वं तन्मयेरितम्।
विज्ञेयो यस्य पुत्रो वै यन्नामा यत्कुलश्च सः॥ ४४॥

'इस समय जो यह सबसे महान् कार्य है, वह मेरे मुखसे सुनो। पहले तुम्हें इस बातको जान लेना चाहिये कि वह किसका पुत्र है? उसका क्या नाम है? और वह किस कुलमें उत्पन्न हुआ है?'॥ ४४॥

इत्येवमुक्ते वचने तत्रोषा काममोहिता।
उवाच कुम्भाण्डसुतां कथं ज्ञास्याम्यहं सखि॥ ४५॥

उसके ऐसा कहनेपर वहाँ काममोहित उषा कुम्भाण्ड-कुमारीसे बोली—'सखि! यह सब मैं कैसे जानूँगी॥ ४५॥

त्वमेव चिन्तय सखि नोत्तरं प्रतिभाति मे।
स्वकार्ये मुह्यते लोको यथा जीवं लभाम्यहम्॥ ४६॥

'सखि! तुम्हीं कोई उपाय सोचो, मुझे तो कोई उत्तर नहीं सूझता। अपने कार्यमें प्रायः सब लोग मोहित हो जाते हैं। अतः तुम्हीं कोई ऐसा उपाय करो, जिससे मुझे नूतन जीवन प्राप्त हो'॥ ४६॥

उषाया वचनं श्रुत्वा रामा वाक्यमिदं पुनः।
उवाच रुदतीं चोषां कुम्भाण्डदुहिता सखी॥ ४७॥

उषाकी यह बात सुनकर उसकी सखी कुम्भाण्डकुमारी रामा (जो चित्रलेखा अप्सराके अंशसे उत्पन्न होनेके कारण चित्रलेखा भी कही जाती थी) रोती हुई उषासे पुनः इस प्रकार बोली—॥ ४७॥

कुशला ते विशालाक्षि सर्वथा संधिविग्रहे।
अप्सरा चित्रलेखा वै क्षिप्रं विज्ञाप्यतां सखि॥ ४८॥

'विशाल नेत्रोंवाली सखि ! तुम यह बात शीघ्र ही चित्रलेखा अप्सराको सूचित कर दो; वह तुम्हारे संधि-विग्रह (मन्त्रणा देने) के कार्यमें सर्वथा कुशल है ॥ ४८ ॥

अस्याः सर्वमशेषेण त्रैलोक्यं विदितं सदा।
एवमुक्ता तदैवोषा हर्षेणागतविस्मया ॥ ४९ ॥

'उसे समस्त त्रिलोकीकी सारी बातें सदा ज्ञात रहती हैं।' उसके ऐसा कहनेपर उषाको तत्काल बड़ा हर्ष और विस्मय हुआ ॥ ४९ ॥

तामप्सरसमानाय्य चित्रलेखां सखीं प्रियाम्।
कृताञ्जलिपुटा दीना उषा वचनमब्रवीत् ॥ ५० ॥

उसने अपनी प्यारी सखी चित्रलेखा नामक अप्सराको बुलवाकर दोनों हाथ जोड़ दीनभावसे अपना हार्दिक दुःख निवेदन किया ॥ ५० ॥

सा तच्छ्रुत्वा तु वचनमुषायाः परिकीर्तितम्।
आश्वासयामास सखी बाणपुत्रीं यशस्विनीम् ॥ ५१ ॥

उषाकी कही हुई बात सुनकर सखी चित्रलेखाने उस यशस्विनी बाणपुत्रीको आश्वासन दिया ॥ ५१ ॥

ततः सा विस्मयाविष्टा वचनं प्राह दुर्वचम्।
चित्रलेखामप्सरसं प्रणयात् तां सखीमिदम् ॥ ५२ ॥

तब आश्चर्यचकित हुई उषाने अपनी सखी चित्रलेखा नामक अप्सराको सम्बोधित करके बड़े प्यारसे यह कठिनाईसे कहनेयोग्य बात कही—॥ ५२ ॥

परमं शृणु मे वाक्यं यत् त्वां वक्ष्यामि भामिनि।
भर्तारं यदि मेऽद्य त्वं नानयिष्यसि मत्प्रियम्॥ ५३ ॥
कान्तं पद्मपलाशाक्षं मत्तमातङ्गगामिनम्।
त्यक्ष्याम्यहं ततः प्राणानचिरात् तनुमध्यमे ॥ ५४ ॥

'भामिनि ! मैं तुमसे जो उत्तम बात कहती हूँ, उसे सुनो। मेरे प्रियतम पति बड़े ही कमनीय हैं, उनके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान सुन्दर हैं, वे मतवाले हाथीके समान मन्दगतिसे चलते हैं, पतली कमरवाली सखि ! यदि तुम आज मेरे उन प्राणनाथको यहाँ नहीं ले आओगी तो मैं शीघ्र ही अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगी' ॥ ५३-५४ ॥

चित्रलेखाब्रवीद् वाक्यमुषां हर्षयती शनैः।
नैषोऽर्थः शक्यतेऽस्माभिर्वेत्तुं भामिनि सुव्रते ॥५५॥

यह सुनकर चित्रलेखा उषाका हर्ष बढ़ाती हुई धीरे-धीरे यों बोली—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाली भामिनि ! तुम्हारे इस मनोरथको मैं किसी तरह जान नहीं सकती हूँ ॥

न कुलेन न वर्णेन न शीलेन न रूपतः।
न देशतश्च विज्ञातः स हि चारो मया सखि ॥ ५६ ॥

सखि ! तुम्हारे उस चित्तचोरका कुल, वर्ण, शील, रूप और देश कुछ भी तो मुझे ज्ञात नहीं है ॥ ५६ ॥

किं तु कर्तुं यथा शक्यं बुद्धिपूर्वं मया सखि।
प्राप्तं च शृणु मे वाक्यं यथा काममवाप्स्यसि ॥ ५७ ॥

'सखि ! फिर भी मैं बुद्धिपूर्वक जैसा जो कुछ कर सकती हूँ, करूँगी; इस समय जो कर्तव्य प्राप्त है, उसके विषयमें मेरी बात सुनो, जिससे तुम अपना मनोरथ पा लोगी ॥

देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
ये विशिष्टाः प्रभावेण रूपेणाभिजनेन च ॥ ५८ ॥
यथाप्रभावं तान् सर्वानालिखिष्याम्यहं सखि।
मनुष्यलोके ये चापि प्रवरा लोकविश्रुताः ॥ ५९ ॥

'देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस—इनमें जो-जो प्रभाव, रूप और कुलकी दृष्टिसे बढ़े-चढ़े हैं, उन सबका उनके प्रभावके अनुसार ही मैं चित्र बनाऊँगी। सखि ! मनुष्य-लोकमें भी जो विश्वविख्यात श्रेष्ठ पुरुष हैं, उनका भी चित्र अङ्कित करूँगी ॥ ५८-५९ ॥

सप्तरात्रेण ते भीरु दर्शयिष्यामि तानहम्।
ततो विज्ञाय पादस्थं भर्तारं प्रतिपत्स्यसे ॥ ६० ॥

'भीरु ! सात रातमें उन सबके चित्र बनाकर मैं तुम्हें उन सबका दर्शन कराऊँगी। तदनन्तर पहचान लेनेपर तुम मनोनीत पतिको अपने पैरोंपर पड़ा हुआ पाओगी' ॥६०॥

सा चित्रलेखया प्रोक्ता उषा हितचिकीर्षया।
क्रियतामेवमित्याह चित्रलेखां सखीं प्रियाम् ॥ ६१ ॥

चित्रलेखाने हित-साधन करनेकी इच्छासे जब पूर्वोक्त बात कही, तब उषा अपनी प्यारी सखी चित्रलेखासे बोली, 'अच्छा, ऐसा ही करो' ॥ ६१ ॥

ततः कुशलहस्तत्वाद् यथालेख्यं समन्ततः।
इत्युक्त्वा सप्तरात्रेण कृत्वा लेख्यगतांस्तु तान्॥ ६२ ॥
चित्रपट्टगतान् मुख्यानानयामास शोभना।

तब 'तथास्तु' कहकर चित्रलेखाने सब ओरसे यथायोग्य चित्र तैयार किये; क्योंकि इस कलामें उसके हाथ सधे हुए थे। उसने सात रातोंमें सब प्रमुख पुरुषोंके चित्र अङ्कित कर लिये। फिर वह सुन्दरी चित्रपट्टमें स्थापित हुए उन सब लोगोंको वहाँ ले आयी ॥ ६२½ ॥

ततः प्रास्तीर्य पट्टं सा चित्रलेखा स्वयंकृतम् ॥ ६३ ॥
उषायै दर्शयामास सखीनां तु विशेषतः।

तदनन्तर चित्रलेखाने अपने बनाये हुए उस चित्रपट्टको फैलाकर उषाको तथा विशेषतः उसकी सब सखियोंको भी दिखाया ॥ ६३½ ॥

एते देवेषु ये मुख्यास्तथा दानववंशजाः ॥ ६४ ॥
किन्नरोरगयक्षाणां राक्षसानां समन्ततः।
गन्धर्वासुरदैत्यानां ये चान्ये भोगिनः स्मृताः ॥ ६५ ॥

वह बोली—'ये देवताओंमें जो मुख्य-मुख्य पुरुष हैं, उनके चित्र हैं तथा इस ओर दानववंशी वीर अङ्कित किये गये हैं। इनके चारों ओर किन्नर, नाग, यक्ष और राक्षसोंके चित्र हैं; गन्धर्व, असुर, दैत्य तथा अन्यान्य सर्पोंके भी चित्र हैं ॥ ६४-६५ ॥

मनुष्याणां च सर्वेषां ये विशिष्टतमा नराः।
तानेतान् पश्य सर्वांस्त्वं यथैव लिखितान् मया ६६॥

'समस्त मनुष्योंमें जो विशिष्टतम पुरुष हैं, वे इधर हैं। इन सबको जैसा मैंने अङ्कित किया है, देखो ॥ ६६ ॥

यस्ते भर्ता यथारूपः स मया लिखितः सखि।
तं त्वं प्रत्यभिजानीहि स्वप्ने यं दृष्टवत्यसि ॥ ६७ ॥

'सखि! जो तुम्हारा पति है और उसका जैसा रूप है, वह सब मैंने अङ्कित किया है। तुमने स्वप्नमें जिसे देखा है, उसे इस चित्रपट्टमें पहचानो' ॥ ६७ ॥

ततः क्रमेण सर्वांस्तान् दृष्ट्वा सा मत्तकाशिनी।
देवदानवगन्धर्वविद्याधरगणानथ ।
अतीत्य च यदून् सर्वान् ददर्श यदुनन्दनम् ॥ ६८ ॥

तब मतवाली सी प्रतीत होनेवाली उषाने क्रमशः उन सबको देखकर देवता, दानव, गन्धर्व और विद्याधरगणोंको लाँघकर समस्त यदुवंशियों तथा यदुनन्दन श्रीकृष्णको देखा ॥

तत्रानिरुद्धं दृष्ट्वा सा विस्मयोत्फुल्ललोचना।
उवाच चित्रलेखां तामयं चौरः स वै सखि ॥ ६९ ॥
येनाहं दूषिता पूर्वं स्वप्ने हर्म्यगता सती।
सोऽयं विज्ञातरूपो मे कुतोऽयं रतितस्करः ॥ ७० ॥

वहीं अनिरुद्धका चित्र देखकर उसके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे और वह चित्रलेखासे बोली—'सखि! यही वह चोर है, जिसने अट्टालिकापर सोते समय पहले स्वप्नमें आकर मुझे दूषित किया था। इसके रूपको तो मैं खूब पहचानती हूँ, परंतु यह रतिचोर कहाँसे आया था, यह नहीं जान सकी ॥

चित्रलेखे वदस्वैनं तत्त्वतो मम शोभने।
कुलशीलाभिजनतो नाम किं चास्य भामिनि।
ततः पश्चाद् विधास्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम्॥७१॥

'शोभने! चित्रलेखे! मुझे इसका ठीक-ठीक परिचय दो। भामिनि! इन चोर-महोदयका कुल, शील, अभिजन और नाम क्या है? यह सब जान लेनेके पश्चात् मैं अपने इस कर्तव्यका निश्चय करूँगी' ॥ ७१ ॥

चित्रलेखोवाच

अयं त्रैलोक्यनाथस्य नप्ता कृष्णस्य धीमतः।
भर्ता तव विशालाक्षि प्राद्युम्निर्भीमविक्रमः ॥ ७२ ॥

चित्रलेखा बोली—विशाललोचने! ये तुम्हारे पति साक्षात् त्रिलोकीनाथ बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णके पोते हैं और प्रद्युम्नके पुत्र हैं। इनका पराक्रम बड़ा भयङ्कर है ॥७२॥

न ह्यस्ति त्रिषु लोकेषु सदृशोऽस्य पराक्रमे।
उत्पाट्य पर्वतानेव पर्वतैरेष शातयेत् ॥ ७३ ॥

पराक्रममें इनकी समानता करनेवाला तीनों लोकोंमें कोई नहीं है। ये पर्वतोंको ही उखाड़कर उन पर्वतोंद्वारा ही शत्रुओंका संहार कर सकते हैं ॥ ७३ ॥

धन्यास्यनुगृहीतासि यस्यास्ते यदुपुङ्गवः।
त्र्यक्षपत्न्या समादिष्टः सदृशः सज्जनः पतिः ॥ ७४ ॥

तुम धन्य हो, तुमपर देवीका बड़ा अनुग्रह है, जिससे तुम्हारे लिये पार्वतीजीने परम योग्य यदुकुलतिलक अनिरुद्धको पतिरूपमें प्रदान किया है। इनके पूर्वज श्रेष्ठतम पुरुष हैं ॥

उपोवाच

त्वमेवात्र विशालाक्षि योग्या भव वरानने।
न शक्या हि गतिश्चान्या अगत्या मे गतिर्भव ॥ ७५ ॥

उषा बोली—वरानने! विशाललोचने! तुम ही इस कार्यको करने योग्य हो। मुझे तुम्हारे सिवा दूसरा कोई सहारा नहीं मिल सकता। तुम मुझ अशरणको शरण देनेवाली बनो ॥

अन्तरिक्षचरा च त्वं योगिनी कामरूपिणी।
उपायस्यास्य कुशला क्षिप्रमानय मे प्रियम् ॥ ७६ ॥

तुम आकाशमें विचरनेवाली और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली योगिनी हो, इस उपायके ज्ञानमें भी कुशल हो, अतः मेरे प्रियतमको शीघ्र ले आओ ॥ ७६ ॥

उपायश्चिन्त्यतां भीरु सम्प्रतर्क्य प्रिये सुखम्।
सिद्धार्था संनिवर्तस्व येनोपायेन सुन्दरि ॥ ७७ ॥

भीरु! सुन्दरी! मुझे प्रियसमागमका सुख कैसे मिले, इसपर भलीभाँति तर्क-वितर्क करके कोई ऐसा उपाय सोचो, जिससे सफलमनोरथ होकर लौटो ॥ ७७ ॥

भवेदापत्सु यन्मित्रं तन्मित्रं शस्यते बुधैः।
कामार्ता चास्मि सुश्रोणि भव मे प्राणधारिणी ॥ ७८ ॥

जो आपत्तिकालमें मित्र हो, उसी मित्रकी विद्वान् पुरुष प्रशंसा करते हैं। सुश्रोणि! मैं कामसे पीड़ित हो रही हूँ, तुम मेरे प्राणोंकी रक्षा करनेवाली बनो ॥ ७८ ॥

यद्येनं मे विशालाक्षि भर्तारममरोपमम्।
अद्य नानयसि क्षिप्रं प्राणांस्त्यक्ष्याम्यहं शुभे ॥ ७९ ॥

शुभे! विशाललोचने! यदि तुम मेरे इन देवोपम पतिको आज यहाँ नहीं ले आओगी तो मैं शीघ्र ही अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगी ॥ ७९ ॥

उषाया वचनं श्रुत्वा चित्रलेखाब्रवीद् वचः।
श्रोतुमर्हसि कल्याणि वचनं मे शुचिस्मिते ॥ ८० ॥

उषाकी यह बात सुनकर चित्रलेखा बोली—'कल्याणि ! पवित्र मुसकानवाली उषे ! पहले मेरी बात तो सुनो ! ॥८०॥

यथा बाणस्य नगरी रक्ष्यते देवि सर्वशः ।
द्वारकापि तथा भीरु दुराधर्षा सुरैरपि ॥ ८१ ॥

'देवि ! जैसे बाणासुरकी नगरी सब ओरसे सुरक्षित है, भीरु ! उसी प्रकार द्वारकापुरी भी है । देवता भी उसका पराभव नहीं कर सकते ॥ ८१ ॥

अयस्मयप्रतिच्छन्ना गुप्तद्वारा च सा पुरी ।
गुप्ता वृष्णिकुमारैश्च तथा द्वारकवासिभिः ॥ ८२ ॥

'वह लोहेके किवाड़ोंसे ढकी हुई है । उस पुरीका प्रवेश-द्वार पूर्णतः गुप्त (सुरक्षित) है । वृष्णिवंशीकुमार तथा अन्य द्वारकावासी उस नगरीकी रक्षा करते हैं ॥ ८२ ॥

प्रान्ते सलिलसंयुक्ता विहिता विश्वकर्मणा ।
रक्ष्यते पुरुषैर्घोरैः पद्मनाभस्य शासनात् ॥ ८३ ॥

'विश्वकर्माने उस पुरीका निर्माण किया है । उसके प्रान्त-भागमें समुद्रकी जलराशि ही खाईके रूपमें विद्यमान है । पद्मनाभ श्रीकृष्णके आदेशसे बड़े भयंकर पुरुष उसकी रक्षा करते हैं ॥ ८३ ॥

शैलप्राकारपरिखादुर्गमार्गप्रवेशिनी ।
सप्तप्राकाररचिता पर्वतैर्धातुमण्डितैः ॥ ८४ ॥

'पर्वत ही उसके परकोटे हैं । समुद्र ही खाई है । दुर्गके मार्गसे ही उसमें प्रवेश होता है । धातुमण्डित पर्वतोंके बने हुए सात परकोटोंसे वह पुरी घिरी हुई है ॥ ८४ ॥

न च शक्यमविज्ञातैः प्रवेष्टुं द्वारकां पुरीम् ।
आत्मानं मां च रक्षस्व पितरं च विशेषतः ॥ ८५ ॥

'अपरिचित व्यक्ति द्वारकापुरीमें कभी प्रवेश नहीं कर सकते, अतः अनिरुद्धको लानेका हठ छोड़कर तुम अपनी, मेरी और विशेषतः अपने पिताकी रक्षा करो' ॥ ८५ ॥

उषोवाच

तव योगप्रभावेण शक्यं तत्र प्रवेशनम् ।
बहुना किं प्रलापेन प्रतिज्ञा श्रूयतां मम ॥ ८६ ॥

उषा बोली—सखि ! योगशक्तिके प्रभावसे तुम्हारा द्वारकापुरीमें प्रवेश हो सकता है । अधिक प्रलाप करनेसे क्या लाभ ? मेरी प्रतिज्ञा सुन लो ॥ ८६ ॥

अनिरुद्धस्य वदनं पूर्णचन्द्रसमप्रभम् ।
यद्यहं तन्न पश्यामि यास्यामि यमसादनम् ॥ ८७ ॥

यदि मैं अनिरुद्धका पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमान् वह मनोहर मुख नहीं देखूँगी तो यमलोकको चली जाऊँगी ॥ ८७ ॥

दूतमासाद्य कार्याणां सिद्धिर्भवति भामिनि ।
तस्माद् दौत्येन मे गच्छ जीवन्तीं मां यदीच्छसि॥ ८८ ॥

भामिनि ! अच्छे दूतको पाकर कार्योंकी सिद्धि हो जाती है; अतः यदि तुम मुझे जीवित रखना चाहती हो तो मेरी दूती बनकर द्वारकाको चली जाओ ॥ ८८ ॥

यदि त्वं मे विजानासि सख्यं प्रेम्णा च भाषितम् ।
क्षिप्रमानय मे कान्तं तवास्मि शरणं गता ॥ ८९ ॥

यदि तुम मेरे सखित्वको जानती हो और प्रेमपूर्वक कही हुई मेरी बातपर विश्वास करती हो तो मेरे प्रियतम-को शीघ्र यहाँ ले आओ । मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ ॥८९॥

जीवितस्य हि संदेहं क्षयं चैव कुलस्य च ।
कामार्ता हि न पश्यन्ति कामिन्यो मदविक्लवाः ॥ ९० ॥

प्राणोंके लिये संशय उपस्थित हो और कुलका भी संहार हो जाय, किंतु कामपीड़ित मदमत्त कामिनियाँ इन बातोंकी ओर नहीं देखती हैं ॥ ९० ॥

प्रयत्नो युज्यते कार्येष्विति शास्त्रनिदर्शनम् ।
त्वं च शक्ता विशालाक्षि द्वारकायां प्रवेशने ॥ ९१ ॥
संस्तुतासि मया भीरु कुरु मे प्रियदर्शनम् ।

सभी कार्योंके लिये प्रयत्न करना उचित है, यह शास्त्र-की आज्ञा है । विशाललोचने ! तुम द्वारकापुरीमें प्रवेश करनेमें समर्थ हो । भीरु ! मैंने तुम्हारी बड़ी स्तुति की है । तुम मुझे मेरे प्रियतमका दर्शन करा दो ॥ ९१½ ॥

चित्रलेखोवाच

सर्वथा संस्तुता तेऽहं वाक्यैरमृतसोदरैः ॥ ९२ ॥
कारिता च समुद्योगं प्रियैः कान्तैश्च भाषितैः ।
एषा गच्छाम्यहं भीरु क्षिप्रं वै द्वारकां पुरीम् ॥ ९३ ॥

चित्रलेखा बोली—सखि ! तुम्हारे अमृतोपम वचनों-द्वारा मेरी सब प्रकारसे स्तुति ही की गयी है । तुम्हारे इन प्रिय एवं मनोरम वचनोंने मुझे इस कार्यके लिये उद्योग करनेको विवश कर दिया है । भीरु ! यह देखो, अब मैं शीघ्र ही द्वारकापुरीको जाती हूँ ॥ ९२-९३ ॥

भर्तारमानयाम्यद्य तव वृष्णिकुलोद्भवम् ।
अनिरुद्धं महाबाहुं प्रविश्य द्वारकां पुरीम् ॥ ९४ ॥

आज तुम्हारे पति वृष्णिवंशावतंस महाबाहु अनिरुद्धको मैं द्वारकापुरीमें प्रवेश करके ले आऊँगी ॥ ९४ ॥

सा वचस्तथ्यमशिवं दानवानां भयावहम् ।
उक्त्वा चान्तर्हिता क्षिप्रं चित्रलेखा मनोजवा ॥ ९५ ॥

यह वचन यथार्थ होनेके साथ ही दानवोंके लिये अमङ्गलकारक और भयावह था । इसे कहकर मनके समान वेगशालिनी चित्रलेखा तत्काल अन्तर्धान हो गयी ॥ ९५ ॥

सखीभिः सहिता ह्युषा चिन्तयन्ती तु सा स्थिता ।
तृतीये तु मुहूर्ते सा नष्टा बाणपुरात् तदा ॥ ९६ ॥

उषा अपनी सखियोंके साथ अभीष्ट कार्यका चिन्तन

करती हुई वहीं खड़ी रही; किंतु चित्रलेखा उस समय तृतीय मुहूर्तमें बाणपुरसे अदृश्य हुई थी ॥ ९६ ॥

सखीप्रियं चिकीर्षन्ती पूजयन्ती तपोधनान्।
क्षणेन समनुप्राप्ता द्वारकां कृष्णपालिताम् ॥ ९७ ॥

सखीका प्रिय करनेकी इच्छा लिये तपस्वी मुनियोंका पूजन करती हुई चित्रलेखा एक ही क्षणमें श्रीकृष्ण-द्वारा सुरक्षित द्वारकापुरीमें जा पहुँची ॥ ९७ ॥

कैलासशिखराकारैः प्रासादैरुपशोभिताम्।
ददर्श द्वारकां रम्यां दिवि तारामिव स्थिताम् ॥ ९८ ॥

कैलासशिखरके समान ऊँचे-ऊँचे महलोंसे सुशोभित रमणीय द्वारकापुरीको उसने आकाशमें प्रकाशित होती हुई ताराके समान देखा ॥ ९८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि उषाहरणे चित्रलेखाया द्वारकागमने अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें उषाहरणके प्रसङ्गमें चित्रलेखाका द्वारकागमनविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

चित्रलेखा और नारदजीका संवाद, चित्रलेखाका नारदजीसे तामसी विद्या ग्रहणकर अनिरुद्धको शोणितपुर ले जाना, उषा और अनिरुद्धका गान्धर्व-विवाह, अनिरुद्धका बाणासुरके सैनिकों तथा बाणासुरके साथ युद्ध, उनका नागपाशमें बँधकर बंदी होना तथा नारदजीका द्वारका जाना

वैशम्पायन उवाच

अथ द्वारवतीं प्राप्य स्थिता सा भवनान्तिके।
प्रवृत्तिहरणार्थाय चित्रलेखा व्यचिन्तयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर द्वारकापुरीके पास पहुँचकर चित्रलेखा एक घरके पास खड़ी हो गयी और अनिरुद्धके पास संदेश भेजनेके लिये कोई युक्ति सोचने लगी ॥ १ ॥

अथ चिन्तयती सा तु बुद्धिबुद्ध्यर्थनिश्चयम्।
अपश्यन्नारदं तत्र ध्यायन्तमुदके मुनिम् ॥ २ ॥

बुद्धिसे बोद्धव्य विषयका जो निश्चय होता है, उसीका विचार करती हुई चित्रलेखाने वहाँ नारदमुनिको देखा, जो समुद्रके जलमें ध्यान लगाये बैठे थे ॥ २ ॥

तं दृष्ट्वा चित्रलेखा तु हर्षेणोत्फुल्ललोचना।
उपसृत्याभिवाद्याथ तत्रैवाधोमुखी स्थिता ॥ ३ ॥

उन्हें देखकर चित्रलेखाके नेत्र हर्षसे खिल उठे। वह उनके पास गयी और उन्हें प्रणाम करके वहीं नीचे मुँह किये खड़ी हो गयी ॥ ३ ॥

नारदस्त्वाशिषं दत्त्वा चित्रलेखामथाब्रवीत्।
किमर्थमिह सम्प्राप्ता श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ४ ॥

नारदजीने आशीर्वाद देकर चित्रलेखासे कहा—'यहाँ किसलिये आयी हो, यह मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ' ॥४॥

देवर्षिमथ तं दिव्यं नारदं लोकपूजितम्।
कृताञ्जलिपुटा भूत्वा चित्रलेखा त्वथाब्रवीत् ॥ ५ ॥

तब चित्रलेखा दोनों हाथ जोड़कर लोकपूजित दिव्य देवर्षि नारदसे इस प्रकार बोली—॥ ५ ॥

भगवञ्छ्रूयतां वाक्यं दौत्येनाहमिहागता।
अनिरुद्धं मुने नेतुं यदर्थं च शृणुष्व मे ॥ ६ ॥

'भगवन्! मेरी बात सुनिये। मैं दूती होकर यहाँ आयी हूँ। मुने! मैं अनिरुद्धको यहाँसे ले जाना चाहती हूँ, किस लिये, यह मुझसे सुनिये ॥ ६ ॥

नगरे शोणितपुरे बाणो नाम महासुरः।
तस्य कन्या वरारोहा नाम्नोषेति च विश्रुता ॥ ७ ॥

'शोणितपुर नगरमें जो बाण नामसे प्रसिद्ध महान् असुर है, उसके एक सुन्दर अङ्गवाली कन्या है, जो उषाके नामसे विख्यात है ॥ ७ ॥

भगवन् सानुरक्ता च प्राद्युम्निं पुरुषोत्तमम्।
देव्या वरविसर्गेण तस्या भर्ता विनिर्मितः ॥ ८ ॥

'भगवन्! वह प्रद्युम्नकुमार पुरुषोत्तम अनिरुद्धके प्रति अनुरक्त है। देवी पार्वतीके वरदानके अनुसार अनिरुद्ध ही उसके पति नियत हुए हैं ॥ ८ ॥

तं च नेतुं समायाता तत्र सिद्धिं विधत्स्व मे।
मया नीतेऽनिरुद्धे तु नगरं शोणिताह्वयम् ॥ ९ ॥
प्रवृत्तिः पुण्डरीकाक्षे त्वयाऽऽख्येया महामुने।

'मैं उन्हींको ले जानेके लिये आयी हूँ। मेरे उद्देश्यकी सिद्धिका कोई उपाय कीजिये। महामुने! जब मैं अनिरुद्धको शोणितपुर नगरमें पहुँचा दूँ, तब आप कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको यह समाचार बतावें ॥ ९½ ॥

अवश्यं भविता चैव कृष्णेन सह विग्रहः।
बाणस्य सुमहान् संख्ये दिव्यो हि स महासुरः॥ १०॥

'अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्णके साथ बाणासुरका महान् युद्ध होगा। वह महान् असुर समराङ्गणमें दिव्य शक्तिसे सम्पन्न होता है॥ १०॥

न च शक्तोऽनिरुद्धस्तं युद्धे जेतुं महासुरम्।
सहस्रबाहुमायान्तं जयेत् कृष्णो महाभुजः॥ ११॥

'वह महान् असुर जब सहस्र भुजाओंसे युक्त होकर युद्धभूमिमें पदार्पण करेगा, उस समय अनिरुद्ध उसे नहीं जीत सकते; महाबाहु श्रीकृष्ण ही उसपर विजय पा सकते हैं॥ ११॥

भगवन् संनिकर्षे ते यदर्थमहमागता।
कथं हि पुण्डरीकाक्षो ज्ञापितस्तदिदं भवेत्॥ १२॥

'भगवन्! मैं आपके निकट जिस अभिप्रायसे आयी हूँ, वह यह है कि कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको यह बात कैसे बतायी जाय?॥ १२॥

त्वत्प्रसादाच्च भगवन् न मे कृष्णाद् भयं भवेत्।
स हि तत्त्वार्थदृष्टिस्तु अनिरुद्धः कथं ह्रियेत्॥ १३॥

'भगवन्! आपकी कृपासे मुझे भगवान् श्रीकृष्णसे कोई भय नहीं है; क्योंकि वे तत्त्वार्थदर्शी हैं। परंतु अनिरुद्धका अपहरण कैसे किया जाय?॥ १३॥

क्रुद्धो हि स महाबाहुस्त्रैलोक्यमपि निर्दहेत्।
पौत्रशोकाभिसंतप्तः शापेन स दहेत माम्॥ १४॥

'महाबाहु श्रीकृष्ण यदि क्रुद्ध हो जायँ तो समस्त त्रिलोकीको भी दग्ध कर सकते हैं। पौत्रशोकसे संतप्त होकर अपने शापसे मुझे जला सकते हैं॥ १४॥

तत्रोपायं च भगवंश्चिन्तितुं वै त्वमर्हसि।
यथा ह्युषा लभेत् कान्तं मम चैवाभयं भवेत्॥ १५॥

'अतः भगवन्! इस विषयमें आप ही कोई ऐसा उपाय सोचिये, जिससे उषा अपने प्रियतमको प्राप्त कर ले और मुझे भी कोई भय न हो'॥ १५॥

इत्येवमुक्तो भगवांश्चित्रलेखां स नारदः।
उवाच स शुभं वाक्यं मा भैस्त्वमभयं शृणु॥ १६॥

उसके ऐसा कहनेपर ऐश्वर्यशाली नारद मुनिने चित्रलेखासे यह शुभ वचन कहा—'चित्रलेखे! तुम डरो मत! मैं भयके निवारणका उपाय बताता हूँ, सुनो॥ १६॥

त्वया नीतेऽनिरुद्धे तु कन्यावेश्मप्रवेशिते।
यदि युद्धं भवेत् तत्र स्मर्तव्योऽहं शुचिस्मिते॥ १७॥

'शुचिस्मिते! तुम जब अनिरुद्धको ले जाओ और उनका कन्याके महलमें प्रवेश हो जाय, तब यदि युद्ध होनेकी सम्भावना हो तो मुझे भी स्मरण करना॥ १७॥

ममैष परमः कामो युद्धं द्रष्टुं मनोरमे।
तद् दृष्ट्वा च महाप्रीतिः प्रवृत्तिश्च दृढा भवेत्॥ १८॥

'मनोरमे! युद्ध देखनेके लिये मुझे बड़ी अभिलाषा रहती है और उसे देखकर बहुत प्रसन्नता होती है। साथ ही युद्ध करानेकी मेरी प्रवृत्ति और दृढ़ होती है॥ १८॥

गृह्यतां तामसी विद्या सर्वलोकप्रमोहिनी।
कृतकृत्यस्तु ते देवि एष विद्यां ददाम्यहम्॥ १९॥

'तुम मुझसे तामसी विद्या ग्रहण कर लो, जो सब लोगोंको मोहमें डालनेवाली है। देवि! इस विद्याकी सिद्धिके लिये जो पुरश्चरण आदि कार्य करने पड़ते हैं, वे सब मैंने ही कर दिये हैं। इस प्रकार यह सिद्ध की हुई विद्या मैं तुम्हें दे रहा हूँ'॥ १९॥

एवमुक्ते तु वचने नारदेन महर्षिणा।
तथेति वचनं प्राह चित्रलेखा मनोजवा॥ २०॥

महर्षि नारदके ऐसा कहनेपर मनके समान वेगवाली चित्रलेखाने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली॥ २०॥

अभिवाद्य महात्मानमृषीणां नारदं वरम्।
सा जगामानिरुद्धस्य गृहं चैवान्तरिक्षगा॥ २१॥

इसके बाद ऋषियोंमें श्रेष्ठ महात्मा नारदको प्रणाम करके वह आकाशमार्गसे अनिरुद्धके घरकी ओर चली॥२१॥

ततो द्वारवतीमध्ये कामस्य भवनं शुभम्।
तत्समीपेऽनिरुद्धस्य भवनं सा विवेश ह॥ २२॥

द्वारकाके मध्यभागमें कामावतार प्रद्युम्नका सुन्दर भवन था और उसीके समीप अनिरुद्धका महल था, जिसमें चित्रलेखाने प्रवेश किया॥ २२॥

सौवर्णवेदिकास्तम्भं रुक्मवैडूर्यतोरणम्।
माल्यदामावसक्तं च पूर्णकुम्भोपशोभितम्॥ २३॥
बर्हिकण्ठनिभग्रीवं प्रासादैरेकसंचयैः।
मणिप्रवालविस्तीर्णं देवगन्धर्वनादितम्॥ २४॥

उस भवनमें सोनेकी वेदियाँ बनी थीं और सोनेके ही खम्भ लगे थे। उसके फाटक सोने और वैदूर्यमणिसे बनाये गये थे। वहाँ फूल-मालाओंकी वंदनवारें लगी थीं। भरे हुए कलश उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। एक ही विशालकाष्ठ या पाषाणपर बिना खंभेके बने हुए प्रासादोंके कारण वह भवन मोरके कण्ठभागकी भाँति शोभा पाता था। उस भवनमें मणि और मूँगे इस प्रकार जड़े गये थे, मानो उन्हींके बने हुए बिछौने बिछे हुए हों। वहाँ देवगन्धर्वोंके संगीतकी ध्वनि गूँज रही थी॥ २३-२४॥

ददर्श भवनं यत्र प्राद्युम्निरवसत् सुखम्।
ततः प्रविश्य सहसा भवनं तस्य तन्महत् ॥ २५ ॥
तत्रानिरुद्धं सापश्यच्चित्रलेखा वराप्सराः।
मध्ये परमनारीणां तारापतिमिवोदितम् ॥ २६ ॥

चित्रलेखाने उस भवनको देखा, जहाँ प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध सुखपूर्वक निवास करते थे। उनके उस विशाल भवनमें सहसा प्रवेश करके श्रेष्ठ अप्सरा चित्रलेखाने सुन्दरी नारियोंके मध्यभागमें अनिरुद्धको देखा, मानो ताराओंके बीच तारापति चन्द्रमा उदित हुए हों ॥ २५-२६ ॥

क्रीडाविहारे नारीभिः सेव्यमानमितस्ततः।
पिबन्तं मधु माध्वीकं श्रिया परमया युतम् ॥ २७ ॥

क्रीड़ाविहारके स्थानमें इधर-उधर बहुत-सी सुन्दरियाँ उनकी सेवामें लगी थीं। वे मधुर मधुका पान करते हुए उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७ ॥

वरासनगतं तत्र यथा चैडविलं तथा।
वाद्यते समतालं च गीयते मधुरं तथा ॥ २८ ॥

धनाध्यक्ष कुबेरके समान वे एक श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान थे। उनके सामने समतालमें वाद्य बज रहा था और मधुर स्वरमें गान हो रहा था ॥ २८ ॥

न च तस्य मनस्तत्र तमेवार्थमचिन्तयत्।
स्त्रियः सर्वगुणोपेता नृत्यन्ते तत्र तत्र वै ॥ २९ ॥

किंतु उस वाद्य और गानमें उनका मन नहीं लगता था। वे उसी विषयका (उषाके समागमका) चिन्तन कर रहे थे। सर्वगुणसम्पन्न सुन्दरी स्त्रियाँ जहाँ-तहाँ नृत्य कर रही थीं ॥

न चास्य मनसस्तुष्टिं चित्रलेखा प्रपश्यति।
न चाभिरमते भोगैर्न चापि मधु सेवते ॥ ३० ॥

परंतु चित्रलेखाने देखा, अनिरुद्धके मनको कहीं भी संतोष नहीं प्राप्त होता है। ये न तो भोगोंके साथ रमते हैं और न मधुका ही सेवन करते हैं ॥ ३० ॥

व्यक्तमस्य हि तत्स्वप्नो हृदये परिवर्तते।
इति तत्रैव बुद्ध्या च निश्चिता गतसाध्वसा ॥ ३१ ॥

निश्चय ही इनके हृदयमें भी वही स्वप्न चक्कर लगा रहा है। वह अपनी बुद्धिसे वहीं इस निश्चयपर पहुँच गयी और उसका भय दूर हो गया ॥ ३१ ॥

सा दृष्ट्वा परमस्त्रीणां मध्ये शक्रध्वजोपमम्।
चिन्तयाविग्रहृदया चित्रलेखा मनस्विनी ॥ ३२ ॥

श्रेष्ठ एवं सुन्दरी स्त्रियोंके बीचमें इन्द्रध्वजके समान शोभा पानेवाले अनिरुद्धको देखकर मनस्विनी चित्रलेखा मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता करने लगी ॥ ३२ ॥

कथं कार्यमिदं कार्यं कथं स्वस्ति भवेदिति।
सान्तर्हिता चिन्तयित्वा चित्रलेखा यशस्विनी ॥ ३३ ॥
तामस्या च्छादयामास विद्यया शुभलोचना।

'यह कार्य कैसे करना चाहिये, किस तरह करनेसे कल्याण प्राप्त होगा' इस तरह विचार करके सुन्दर नेत्रोंवाली यशस्विनी चित्रलेखाने अदृश्य होकर तामसी विद्याके द्वारा अनिरुद्धके सिवा अन्य सबको आच्छादित कर दिया ॥

ततोऽन्तरिक्षादेवाशु प्रासादोपर्यधिष्ठिता ॥ ३४ ॥
प्राद्युम्निं वचनं प्राह श्लक्ष्णं मधुरया गिरा।

फिर आकाशसे ही शीघ्र आकर वह महलकी छतपर खड़ी हो गयी और प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धसे मधुर वाणीमें यह स्नेहयुक्त वचन बोली ॥ ३४½ ॥

चक्षुर्दत्त्वा तु सा तस्मै कृत्वा चात्मनिदर्शनम् ॥ ३५ ॥
विविक्ते सा च वै देशे तं वाक्यमिदमब्रवीत्।

पहले दिव्यदृष्टि देकर उसने उन्हें अपने स्वरूपका दर्शन कराया, फिर एकान्त प्रदेशमें उनसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ३५½ ॥

अपि ते कुशलं वीर सर्वत्र यदुनन्दन ॥ ३६ ॥
अहस्तावत् प्रदोषो वा कच्चिद् गच्छति ते सुखम्।
शृणुष्व त्वं महाबाहो विज्ञप्तिं मे रतीसुत ॥ ३७ ॥

'वीर यदुनन्दन! आपके लिये सर्वत्र कुशल तो है न? आपका दिन और प्रदोषकाल सुखसे बीतता है न? महाबाहु रतिकुमार! मैं तुम्हारे लिये एक सूचना लायी हूँ, तुम इसे सुनो ॥ ३६-३७ ॥

उषाया मम सख्यास्तु वाक्यं वक्ष्यामि तत्त्वतः।
स्वप्ने तु या त्वया दृष्टा स्त्रीभावं चापि भाविता ॥ ३८ ॥

'मैं अपनी सखी उषाकी बात ठीक-ठीक बताऊँगी, जिसको आपने सपनेमें देखा और अपनी पत्नी बना लिया ॥

बिभर्ति हृदये या त्वामुषया प्रेषिता त्वहम्।
रुदन्ती जृम्भती चैव निःश्वसन्ती मुहुर्मुहुः ॥ ३९ ॥

'वह आपको ही अपने हृदयमें धारण करती है। उषाके भेजनेपर ही मैं यहाँ आयी हूँ। वह बेचारी बार-बार रोती, अँगड़ाई लेती और लंबी साँस खींचती है ॥ ३९ ॥

त्वद्दर्शनपरा सौम्य कामिनी परितप्यते।
यदि त्वं यास्यसे वीर धारयिष्यति जीवितम् ॥ ४० ॥

'सौम्य! वह आपके दर्शनकी बाट जोहती हुई कामके अधीन हो बड़ा कष्ट पा रही है। वीर! यदि आप उसके पास जायँ और मिलें, तभी वह जीवन धारण कर सकेगी ॥ ४० ॥

अदर्शनेन मरणं तस्या नास्त्यत्र संशयः।
यदि नारीसहस्रं ते हृदिस्थं यदुनन्दन ॥ ४१ ॥
स्त्रियाः कामयमानायाः कर्तव्या हस्तधारणा।

'यदि आपका दर्शन उसे नहीं मिला तो उसकी मृत्यु निश्चित है, इसमें कोई संशय नहीं है। यदुनन्दन! यदि आपके हृदयमें सहस्रों नारियोंने स्थान बना लिया हो तो भी आपको चाहनेवाली एक अनुरक्त स्त्रीका हाथ आपको अवश्य पकड़ना चाहिये ॥ ४१½ ॥

त्वं च तस्या वरोत्सर्गे दत्तो देव्या मनोरथः ॥ ४२ ॥
चित्रपट्टं मया दत्तं त्वच्चिह्नं दृश्य जीवति।

'देवी पार्वतीने वरदान देते समय आपहीको उसका मनोवाञ्छित पति प्रदान किया है; मैंने उसे आपका चित्रपट दिया है। उसीमें आपके चिह्नका अवलोकन करके वह जी रही है ॥

सानुक्रोशो यदुश्रेष्ठ भव तस्या मनोरथे ॥ ४३ ॥
उषा ते पतते मूर्ध्ना वयं च यदुनन्दन।

'यदुश्रेष्ठ! आप उसका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये दयालु बनें। यदुनन्दन! उषा आपके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम करती है। हम सखियाँ भी आपको माथ नवाती हैं ॥४३½॥

श्रूयतां चोद्भवस्तस्याः कुलशीलं च यादृशम्॥ ४४ ॥
संस्थानं प्रकृतिं चास्याः पितरं च ब्रवीमि ते।

'आप उषाकी उत्पत्ति सुन लें। उसका कुल और शील जैसा है, उसे भी जान लें; उसकी आकृति, स्वभाव और पिताका भी परिचय आपको देती हूँ ॥ ४४½ ॥

वैरोचनिसुतो वीरो बाणो नाम महासुरः ॥ ४५ ॥
स राजा शोणितपुरे तस्य त्वामिच्छते सुता।
त्वद्भावगतचित्ता सा त्वन्मयं चापि जीवितम् ॥ ४६ ॥

'विरोचनकुमार बलिका वीर पुत्र बाण नामक महान् असुर शोणितपुरका राजा है। उसकी पुत्री उषा आपको पति बनाना चाहती है। उसका चित्त सदा आपके ही चिन्तनमें लगा रहता है, उसका जीवन भी आप ही हैं ॥ ४५-४६ ॥

मनोरथकृतो भर्ता देव्या दत्तो न संशयः।
त्वत्संगमात् सा सुश्रोणी प्राणान् धारयते शुभा॥४७॥

'देवी पार्वतीने आपको ही उसके लिये मनके अनुरूप पति दिया है, इसमें संशय नहीं। सुन्दर कटिप्रदेशवाली शुभलक्षणा उषा आपके समागमकी आशा लेकर ही प्राणोंको धारण करती है' ॥ ४७ ॥

चित्रलेखावचः श्रुत्वा सोऽनिरुद्धोऽब्रवीदिदम्।
दृष्टा स्वप्ने मया सा हि तन्मत्तः शृणु शोभने ॥ ४८ ॥
रूपं कान्तिं मतिं चैव संयोगं रुदितं तथा।
एवं सर्वमहोरात्रं मुह्यामि परिचिन्तयन् ॥ ४९ ॥

चित्रलेखाकी बात सुनकर अनिरुद्धने उससे इस प्रकार कहा—'शोभने! मैंने उसे सपनेमें देखा है। उसका परिणाम क्या हुआ? यह मुझसे सुनो। मैं दिन-रात उसके रूप, कान्ति, मति, संयोगसुख तथा रोदन आदि सभी बातोंका इसी तरह चिन्तन करता हुआ मोहमें पड़ा रहता हूँ ॥ ४८-४९ ॥

यद्यहं समनुग्राह्यो यदि सख्यं त्वमिच्छसि।
नयस्व चित्रलेखे मां द्रष्टुमिच्छाम्यहं प्रियाम्॥ ५० ॥

'चित्रलेखे! यदि मैं तुम्हारे अनुग्रहका पात्र हूँ और यदि तुम मुझसे मैत्री चाहती हो तो मुझे अपने साथ ले चलो। मैं प्राणप्यारी उषाको देखना चाहता हूँ ॥ ५० ॥

कामसंतापसंतप्तः प्रियासङ्गमकामतः।
एषोऽञ्जलिर्मया बद्धः सत्यं स्वप्नं कुरुष्व मे ॥ ५१ ॥

'मैं कामजनित तापसे संतप्त हूँ; अतः प्रियतमाके सङ्गमकी कामनासे मैंने तुम्हारे सामने यह अञ्जलि बाँध रखी है, मेरे स्वप्नको सत्य कर दिखाओ' ॥ ५१ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा चित्रलेखा वराप्सराः।
सफलोऽद्य मम क्लेशः सख्या मे यत् प्रयाचितम्॥५२॥

अनिरुद्धकी यह बात सुनकर श्रेष्ठ अप्सरा चित्रलेखा मन-ही-मन यह कहने लगी कि आज मेरा क्लेश उठाना सफल हो गया। मेरी सखीने जो वस्तु माँगी थी, वह मुझे मिल गयी ॥

वैशम्पायन उवाच

ईप्सितं तस्य विज्ञाय अनिरुद्धस्य भामिनी।
चित्रलेखा ततस्तुष्टा तथेति च तमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अनिरुद्धका मनोरथ जानकर भामिनी चित्रलेखा बहुत प्रसन्न हुई और बोली, 'अच्छा ऐसा ही करूँगी' ॥ ५३ ॥

हर्म्ये स्त्रीगणमध्यस्थं कृत्वा चान्तर्हितं तदा।
उत्पपात गृहीत्वा सा प्राद्युम्निं युद्धदुर्मदम् ॥ ५४ ॥

अट्टालिकामें स्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए रणदुर्मद प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धको अदृश्य करके उन्हें साथ ले चित्रलेखा आकाशमें उड़ चली ॥ ५४ ॥

सा तमध्वानमागम्य सिद्धचारणसेवितम्।
सहसा शोणितपुरं प्रविवेश मनोजवा ॥ ५५ ॥

वह मनके समान वेगशालिनी थी। उसने सिद्धों और चारणोंसे सेवित आकाशमार्गमे आकर सहसा शोणितपुरमें प्रवेश किया ॥ ५५ ॥

अदर्शनं तमानीय मायया कामरूपिणी।
अनिरुद्धं महाभागा यत्रोषा तत्र गच्छति ॥ ५६ ॥

वह कामरूपिणी अप्सरा अनिरुद्धको मायासे अदृश्य करके जहाँ महाभागा उषा थी, वहाँ गयी ॥ ५६ ॥

उषाया दर्शयच्चैनं चित्राभरणभूषितम्।
चित्राम्बरधरं वीरं रहस्यमररूपिणम् ॥ ५७ ॥

वहाँ उसने उषाको एकान्तमें विचित्र आभूषणोंसे विभूषित तथा विचित्र वस्त्रधारी देवतुल्य रूपवाले वीर अनिरुद्धका दर्शन कराया ॥ ५७ ॥

तत्रोषा विस्मिता दृष्ट्वा हर्म्यस्था सखिसंनिधौ।
प्रवेशयामास च तं तदा सा स्वगृहं ततः ॥ ५८ ॥

वहाँ अट्टालिकामें सखियोंके समीप बैठी हुई उषा अनिरुद्धको देखकर चकित हो उठी। उसने तत्काल उन्हें अपने महलके भीतर प्रवेश कराया ॥ ५८ ॥

प्रहर्षोत्फुल्लनयना प्रियं दृष्ट्वार्थकोविदा।
सा हर्म्यस्था तमर्घ्येण यादवं समपूजयत् ॥ ५९ ॥

प्रियतमका दर्शन करके उषाके नेत्र हर्षसे खिल उठे। स्वार्थसाधनमें कुशल उषाने अट्टालिकामें ही स्थित हो अर्घ्य निवेदन करके यदुकुलनन्दन अनिरुद्धका पूजन किया ॥

चित्रलेखां परिष्वज्य प्रियाख्यानैरतोषयत्।
त्वरिता कामिनी प्राह चित्रलेखां भयातुरा ॥ ६० ॥

फिर चित्रलेखाको हृदयसे लगाकर प्रिय वचनोंके द्वारा उसे संतुष्ट किया। इसके बाद कामिनी उषा भयसे व्याकुल हो तुरंत ही चित्रलेखासे बोली—॥ ६० ॥

सखीदं वै कथं कार्यं गुह्यकार्यविशारदे।
गुह्ये कृते भवेत् स्वस्ति प्रकाशे जीवितक्षयः ॥ ६१ ॥

'कार्यसाधनमें कुशल सखि ! इस कार्यको गुप्त कैसे रखा जाय ? गुप्त रखनेपर ही कल्याण हो सकता है। इसे प्रकाशित कर देनेपर प्राणोंपर संकट आ सकता है' ॥ ६१ ॥

चित्रलेखाब्रवीद् वाक्यं शृणु त्वं निश्चयं सखि।
कृतं पुरुषकारेण दैवं नाशयते क्षणात् ॥ ६२ ॥

तब चित्रलेखा बोली—'सखि ! मेरा निश्चय सुनो ! पुरुषार्थद्वारा किये गये कार्यको दैव क्षणभरमें नष्ट कर देता है ॥ ६२ ॥

यदि देव्याः प्रसादस्ते ह्यनुकूलो भविष्यति।
अद्य मायाकृतं गुह्यं न कश्चिज्ज्ञास्यते नरः ॥ ६३ ॥

'यदि पार्वतीदेवीका कृपाप्रसाद तुम्हारे अनुकूल होगा तो आज मायाद्वारा छिपाकर किये गये इस गुप्त कार्यको कोई नहीं जान सकेगा' ॥ ६३ ॥

सख्या वै एवमुक्ता सा पर्यवस्थितचेतना।
एवमेतदिति प्राह सानिरुद्धमिदं वचः ॥ ६४ ॥

सखीके ऐसा कहनेपर उषाकी चित्तवृत्ति स्थिर हुई। वह बोली, 'तुम्हारा कहना ठीक है', फिर उसने अनिरुद्धसे कहा—॥ ६४ ॥

दिष्ट्या स्वप्नगतश्चौरो दृश्यते सुभगः पतिः।
यत्कृते तु वयं खिन्ना दुर्लभप्रियकाङ्क्षया ॥ ६५ ॥

'सौभाग्यकी बात है कि सपनेमें आया हुआ वह चोर आज सुन्दर पतिके रूपमें प्रत्यक्ष दिखायी देता है; जिसके लिये हम सब लोग खिन्न हो रही थीं, दुर्लभ प्रियतमकी आकाङ्क्षा रखनेके कारण भारी चिन्तामें पड़ गयी थीं ॥६५॥

कच्चित् तव महाबाहो कुशलं सर्वतोगतम्।
हृदयं हि मृदु स्त्रीणां तेन पृच्छाम्यहं तव ॥ ६६ ॥

'महाबाहो ! आपके लिये सर्वत्र कुशल तो है न ? स्त्रियोंका हृदय कोमल होता है, इसलिये मैं आपका कुशल-समाचार पूछ रही हूँ' ॥ ६६ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा उषायाः श्लक्ष्णमर्थवत्।
सोऽप्याह यदुशार्दूलः शुभाक्षरतरं वचः ॥ ६७ ॥

उषाका वह अर्थभरा स्नेहयुक्त वचन सुनकर यदुकुल-सिंह अनिरुद्ध भी सुन्दर अक्षरोंसे युक्त बात बोले ॥ ६७ ॥

हर्षविप्लुतनेत्रायाः पाणिनाश्रु' प्रमृज्य च।
प्रहस्य सस्मितं प्राह हृदयग्राहकं वचः ॥ ६८ ॥

पहले उन्होंने अपने हाथसे आनन्दके आँसुओंसे भरे हुए नेत्रवाली उषाके आँसू पोंछे, फिर हँसकर मुसकराते हुए वे ऐसी बात बोले, जो चित्तको चुराये लेती थी—॥६८॥

कुशलं मे वरारोहे सर्वत्र मितभाषिणि।
त्वत्प्रसादेन मे देवि प्रियमावेदयामि ते ॥ ६९ ॥

'वरारोहे ! तुम्हारे प्रसादसे मेरे लिये सर्वत्र कुशल है। बहुत कम बोलनेवाली देवि ! मैं तुम्हें यह प्रिय सवाद निवेदन करता हूँ ॥ ६९ ॥

अदृष्टपूर्वश्च मया देशोऽयं शुभदर्शने।
निशि स्वप्ने यथा दृष्टः सकृत्कन्यापुरे तथा ॥ ७० ॥

'शुभदर्शने ! यह देश मेरे लिये पहलेका देखा हुआ नहीं था, केवल एक बार रातको सपनेमें कन्याओंके अन्तःपुरमें इसे जैसा देखा था, वैसा ही आज भी यह दिखायी देता है ॥ ७० ॥

एवमेवमहं भीरु त्वत्प्रसादादिहागतः।
न च तद् रुद्रपत्न्या वै मिथ्या वाक्यं भविष्यति ॥ ७१ ॥

'भीरु ! तुम्हारे प्रसादसे ही मेरा इस प्रकार यहाँ आगमन हुआ है। रुद्रपत्नी उमा देवीकी बात कभी मिथ्या नहीं होगी ॥ ७१ ॥

देव्यास्ते प्रीतिमाज्ञाय त्वत्प्रियार्थं च भामिनि।
अनुप्राप्तोऽस्मि चाद्यैव प्रसीद शरणं गतः ॥ ७२ ॥

'भामिनि ! पार्वतीदेवीका तुमपर बड़ा प्रेम है—यह जानकर तुम्हारा प्रिय करनेके लिये ही मैं आज यहाँ आया हूँ। मुझपर प्रसन्न होओ, मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ' ॥ ७२ ॥

इत्युक्ता त्वरमाणा सा गुह्यदेशे स्वलंकृता।
कान्तेन सह संयुक्ता स्थिता वै भीतभीतवत् ॥ ७३ ॥

अनिरुद्धके ऐसा कहनेपर सुन्दर अलंकारोंसे अलंकृत हुई उषा अपने प्रियतमके साथ संयुक्त हो तुरंत ही गुप्त-स्थानमें जा पहुँची। उस समय वह भयभीत-सी जान पड़ती थी ॥ ७३ ॥

ततश्चोद्वाहधर्मेण गान्धर्वेण समीयतुः।
अन्योन्यं रमतुस्तौ तु चक्रवाकौ यथा दिवा ॥ ७४ ॥

तदनन्तर वे दोनों गान्धर्व विवाहके नियमसे परस्पर दाम्पत्यभाव स्वीकार करके एक दूसरेसे मिले, जैसे चकवे दिनमें समागम करते हैं, उसी प्रकार उन दोनोंने परस्पर रमण किया ॥ ७४ ॥

पतिना सानिरुद्धेन मुमुदे तु वराङ्गना।
कान्तेन सह संयुक्ता दिव्यवस्त्रानुलेपना ॥ ७५ ॥

दिव्य वस्त्र और अनुलेपन धारण करनेवाली श्रेष्ठ नारी उषा अपने प्रियतम पति अनिरुद्धसे मिलकर बहुत ही प्रसन्न हुई ॥ ७५ ॥

रममाणानिरुद्धेन अविज्ञाता सुता तदा।
तस्मिन्नेव क्षणे प्राप्ते यदूनामृषभो हि सः ॥ ७६ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यस्रगनुलेपनः।
उषया सह संयुक्तो विज्ञातो बाणरक्षिभिः ॥ ७७ ॥

अनिरुद्धके साथ रमण करती हुई अपनी पुत्रीके विषयमें उस समय बाणासुरको कोई समाचार ज्ञात नहीं हुआ। परंतु बाणासुरके द्वारा नियुक्त हुए जो गुप्त पहरेदार थे, उन्होंने उसी क्षण यह जान लिया कि दिव्य माल्य, दिव्य वस्त्र, दिव्य हार और दिव्य अनुलेपन धारण करनेवाले यदुकुलतिलक अनिरुद्धने उषाके साथ समागम किया है ॥ ७६-७७ ॥

ततस्तैश्चारपुरुषैर्बाणस्यावेदितं द्रुतम्।
यथा दृष्टमशेषेण कन्यायास्तदतिक्रमम् ॥ ७८ ॥

तब उन गुप्तचरोंने कन्याका अपराध जिस तरह देखा था, वह सब शीघ्र ही बाणासुरको निवेदन कर दिया ॥ ७८ ॥

ततः किङ्करसैन्यं तु व्यादिष्टं भीमकर्मणा।
बलेः पुत्रेण वीरेण बाणेनामित्रघातिना ॥ ७९ ॥

तब भयानक कर्म करनेवाले शत्रुघाती बलिपुत्र वीर बाणासुरने किङ्करोंकी सेनाको आदेश दिया— ॥ ७९ ॥

गच्छध्वं सहिताः सर्वे हन्यतामेव दुर्मतिः।
येन नः कुलचारित्रं दूषितं दूषितात्मना ॥ ८० ॥

'सैनिको! तुम सब लोग एक साथ जाओ और उस दुर्बुद्धि मनुष्यको मार डालो, जिसने अपने हृदयको तो दूषित कर ही लिया था, हमारे कुलके सदाचारको भी कलङ्कित कर दिया ॥ ८० ॥

उषायां धर्षितायां हि कुलं नो धर्षितं महत्।
असम्प्रदत्तां योऽस्माभिः स्वयंग्राहमधर्षयत् ॥ ८१ ॥

'उषाके कलङ्कित हो जानेसे हमारा महान् कुल कलङ्कित हो गया। इस दुष्ट मनुष्यने हमारे दिये बिना ही स्वयं उषाको ग्रहण कर लिया और उसकी पवित्रता नष्ट कर दी ॥ ८१ ॥

अहो वीर्यमहो धैर्यमहो धार्ष्ट्यं च दुर्मतेः।
यः पुरं भवनं चेदं प्रविष्टो नः स बालिशः ॥ ८२ ॥

'अहो! इस दुष्ट बुद्धिवाले पुरुषका पराक्रम अद्भुत है, धैर्य और धृष्टता भी अद्भुत है, जिससे यह नादान न केवल हमारे नगरमें अपितु हमारे इस घरमें भी घुस आया' ॥

एवमुक्त्वा पुनस्तांस्तु किङ्करांश्चोदयद् भृशम्।
ते तस्याज्ञामथो गृह्य सुसंनद्धा विनिर्ययुः ॥ ८३ ॥
यत्रानिरुद्धो ह्यभवत् तत्रागच्छन् महाबलाः ॥ ८४ ॥

ऐसा कहकर बाणासुरने पुनः किंकरोंको विशेषरूपसे प्रेरित किया। उसकी आज्ञा पाकर वे कवच आदिसे सुसज्जित हो युद्धके लिये निकल पड़े। वे सब-के-सब बड़े बलवान् थे; अतः जहाँ अनिरुद्ध थे, वहाँ बेखटके जा पहुँचे ॥

नानाशस्त्रोद्यतकरा नानारूपा भयंकराः।
दानवाः समभिक्रुद्धाः प्राद्युम्निवधकाङ्क्षिणः ॥ ८५ ॥

उनके हाथोंमें नाना प्रकारके शस्त्र उठे हुए थे, उनके रूप अनेक प्रकारके थे, वे भय उत्पन्न करनेवाले दानव अनिरुद्धके वधकी इच्छासे अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ८५ ॥

रुरोद तद्बलं दृष्ट्वा बाष्पेणावृतलोचना।
प्राद्युम्निवधभीता सा बाणपुत्री यशस्विनी ॥ ८६ ॥

किङ्करोंकी उस सेनाको देखकर यशस्विनी बाणपुत्री उषाके नेत्रोंमें आँसू भर आये। वह अनिरुद्धके मारे जानेके भयसे भीत हो रोने लगी ॥ ८६ ॥

ततस्तु रुदतीं दृष्ट्वा तामूषां मृगलोचनाम्।
हा हा कान्तेति वेपन्तीमनिरुद्धोऽभ्यभाषत ॥ ८७ ॥

वह 'हा प्रियतम! हा प्राणनाथ!' कहकर काँप रही थी। मृगनयनी उषाको रोती देख अनिरुद्धने उससे कहा— ॥ ८७ ॥

अभयं तेऽस्तु सुश्रोणि मा भैस्त्वं हि मयि स्थिते।
सम्प्राप्तो हर्षकालस्ते नेहास्ति भयकारणम् ॥ ८८ ॥

'सुश्रोणि! तुम्हें भय नहीं होना चाहिये। मेरे रहते हुए तुम डरो मत। यह तो तुम्हारे लिये हर्षका समय आया है। इसमें भयका कोई कारण नहीं है ॥ ८८ ॥

कृत्स्नोऽयं यदि बाणस्य भृत्यवर्गो यशस्विनि।
आगच्छति न मे चिन्ता भीरु पश्याद्य विक्रमम् ॥ ८९ ॥

'यशस्विनि! यदि बाणासुरका सारा सेवकसमुदाय आ

जाय तो भी मेरे लिये चिन्ताकी बात नहीं है। भीरु ! तुम आज मेरा पराक्रम देखो' ॥ ८९ ॥

तस्य सैन्यस्य निनदं श्रुत्वाभ्यागच्छतस्ततः।
सहसैवोत्थितः श्रीमान् प्राद्युम्निः किमिति ब्रुवन् ॥९०॥

अपनी ओर आती हुई उस सेनाका कोलाहल सुनकर प्रद्युम्नकुमार श्रीमान् अनिरुद्ध 'यह क्या है?' ऐसा कहते हुए सहसा उठकर खड़े हो गये ॥ ९० ॥

अथ सोऽपश्यत बलं नानाप्रहरणोद्यतम्।
स्थितं समन्ततस्तत्र परिवार्य गृहं महत् ॥ ९१ ॥

तदनन्तर उन्होंने देखा कि उस विशाल गृहको चारों ओरसे घेरकर नाना प्रकारके आयुधोंसे सुसज्जित हुई सेना खड़ी है ॥ ९१ ॥

ततोऽभ्यगच्छत् त्वरितो यत्र तद्वेष्टितं बलम्।
क्रुद्धः स्वबलमास्थाय अदशद् दशनच्छदम् ॥ ९२ ॥

तब वे तुरंत ही कुपित हो अपने बलका भरोसा करके उस स्थानकी ओर चल दिये, जहाँ वह सेना घेरा डालकर खड़ी थी। उस समय उन्होंने अपने ओठको दाँतों तले दबा लिया था ॥ ९२ ॥

ततो योद्धुमपोढानां बाणेयानां निशम्य तु।
सा चित्रलेखास्मरत नारदं देवदर्शनम् ॥ ९३ ॥

इतनेमें ही बाणासुरके सैनिकोंको युद्धके लिये उपस्थित देख चित्रलेखाने देवदर्शी नारदजीका स्मरण किया ॥ ९३ ॥

ततो निमेषमात्रेण सम्प्राप्तो मुनिपुङ्गवः।
स्मृतोऽथ चित्रलेखायाः पुरं शोणितसाह्वयम् ॥ ९४ ॥

फिर तो चित्रलेखाके स्मरण करनेपर मुनिवर नारदजी पलक मारते-मारते शोणितपुरमें आ पहुँचे ॥ ९४ ॥

अन्तरिक्षे स्थितस्तत्र सोऽनिरुद्धमथाब्रवीत्।
मा भयं स्वस्ति ते वीर प्राप्तोऽस्म्यद्य पुरं तव ॥ ९५ ॥

वहाँ आकाशमें स्थित होकर उन्होंने अनिरुद्धसे कहा— 'वीर ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम डरना मत। मैं भी अब तुम्हारे नगरमें आ पहुँचा हूँ' ॥ ९५ ॥

ततश्च नारदं दृष्ट्वा सोऽभिवाद्य महाबलः।
प्रहृष्टमानसो भूत्वा युद्धार्थमभिवर्तत ॥ ९६ ॥

नारदजीको उपस्थित देख महाबली अनिरुद्धने उन्हें प्रणाम किया और प्रसन्नचित्त होकर वे युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ ९६ ॥

ततस्तेषां स्वनं श्रुत्वा सर्वेषामेव गर्जताम्।
सहसैवोत्थितः शूरस्तोत्रार्दित इव द्विपः ॥ ९७ ॥

उस समय गर्जना करते हुए उन सभी सैनिकोंका कोलाहल सुनकर शूरवीर अनिरुद्ध अङ्कुशसे पीड़ित हुए हाथीकी भाँति सहसा उठकर चल दिये ॥ ९७ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संदष्टौष्ठं महाभुजम्।
प्रासादाद्यावरोहन्तं भयार्ता विप्रदुद्रुवुः ॥ ९८ ॥

ओठको दाँतोंसे दबाकर महलसे उतरते और अपनी ओर आते हुए महाबाहु अनिरुद्धको देखकर कितने ही सैनिक भयसे व्याकुल होकर भाग खड़े हुए ॥ ९८ ॥

अन्तःपुरद्वारगतं परिघं गृह्य चातुलम्।
वधाय तेषां चिक्षेप नानायुद्धविशारदः ॥ ९९ ॥

अन्तःपुरके द्वारपर रखे हुए अनुपम परिघको हाथमें लेकर नाना प्रकारके युद्धोंमें कुशल अनिरुद्धने उन सैनिकोंके वधके लिये उसे चलाया ॥ ९९ ॥

ते सर्वे बाणवर्षैश्च गदाभिर्मुशलैस्तथा।
असिभिः शक्तिभिः शूलैर्निजघ्नू रणगोचरे ॥१००॥

तब वे समस्त सैनिक रणभूमिमें दिखायी देनेवाले अनिरुद्धपर बाण, गदा, मुसल, खड्ग, शक्ति और शूलोंद्वारा प्रहार करने लगे ॥ १०० ॥

स हन्यमानो नाराचैः परिघैश्च समन्ततः।
दानवैः समभिक्रुद्धैः प्राद्युम्निः शस्त्रकोविदैः ॥१०१॥
नाक्षुभ्यत् सर्वभूतात्मा नदन् मेघ इवोष्णगे।
आविध्य परिघं घोरं तेषां मध्ये व्यतिष्ठत।
सूर्यो दिवि चरन् मध्ये मेघानामिव सर्वशः ॥१०२॥

क्रोधमें भरे हुए शस्त्रकुशल दानवोंद्वारा चारों ओरसे नाराचों और परिघोंका प्रहार होनेपर भी प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध क्षुब्ध नहीं हुए; क्योंकि वे सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं। वे वर्षाकालके मेघकी भाँति गर्जना करते और भयंकर परिघ घुमाते हुए उन शत्रुओंके बीचमें खड़े हो गये। मानो आकाशमें मेघमण्डलीके भीतर सब ओर विचरते हुए सूर्य शोभा पा रहे हों ॥ १०१-१०२ ॥

दण्डकृष्णाजिनधरो नारदो हृष्टमानसः।
साधु साध्विति वै तत्र सोऽनिरुद्धमभाषत ॥१०३॥

उस समय दण्ड और काला मृगचर्म धारण करनेवाले नारदजी मनमें हर्ष भरकर अनिरुद्धसे बोले—'वीर ! बहुत अच्छा ! बहुत अच्छा !!' ॥ १०३ ॥

ते हन्यमाना रौद्रेण परिघेणामितौजसा।
प्राद्रवन्त भयात् सर्वे मेघा वातेरिता यथा ॥१०४॥

उस अमित ओजवाले भयंकर परिघकी मार खाकर वे समस्त सैनिक भयसे भाग खड़े हुए। मानो हवाके वेगसे बादल छिन्न-भिन्न हो गये हों ॥ १०४ ॥

विद्राव्य दानवान् वीरः परिघेण सुविक्रमः।
अनिरुद्धो रणे हृष्टः सिंहनादं ननाद च ॥१०५॥

उत्तम पराक्रमी वीर अनिरुद्ध अपने परिघकी मारसे दानवोंको भगाकर रणभूमिमें बड़े हर्षके साथ सिंहनाद करने लगे ॥ १०५ ॥

घर्मान्ते तोयदो व्योम्नि नदन्निव महास्वनः ।
तिष्ठध्वमिति चुक्रोश दानवान् युद्धदुर्मदान् ॥१०६॥
प्राद्युम्निर्व्यहनच्चापि सर्वाञ्छत्रुनिवर्हणः ।

जैसे वर्षाकालमें आकाशके भीतर छाये हुए मेघ बड़े जोर-जोरसे गर्जना करते हैं, उसी प्रकार शत्रुसूदन प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धने गर्जना करके उन रणदुर्मद दानवोंसे चिल्लाकर कहा—'अरे ! खड़े रहो !' साथ ही उन्होंने सबका संहार आरम्भ कर दिया ॥ १०६½ ॥

तेन ते समरे सर्वे हन्यमाना महात्मना ॥१०७॥
यतो वाणस्ततो भीता ययुर्युद्धपराङ्मुखाः ।

उन महामनस्वी वीरके द्वारा समराङ्गणमें मारे जाते हुए वे समस्त सैनिक युद्धसे विमुख हो गये और भयभीत होकर उस स्थानपर गये, जहाँ बाणासुर विद्यमान था ॥ १०७½ ॥

ततो वाणसमीपस्थाः श्वसन्तो रुधिरोक्षिताः ॥१०८॥
न शर्म लेभिरे दैत्या भयविक्लवचेतसः ।

बाणासुरके समीप खड़े होकर वे सभी दानव लंबी साँस खींचने लगे; उन सबके शरीर रक्तसे रँग गये थे; भयके कारण उनका चित्त व्याकुल हो गया था, अतः उन दैत्योंको चैन नहीं मिलता था ॥ १०८½ ॥

मा भैष्ट मा भैष्ट इति राज्ञा ते तेन चोदिताः॥१०९॥
त्रासमुत्सृज्य चैकस्था युध्यध्वं दानवर्षभाः ।

तब राजा बाणासुरने उन्हें आदेश देते हुए कहा—'दानवशिरोमणियो ! डरो मत ! डरो मत !! त्रास छोड़ एक साथ खड़े होकर युद्ध करो' ॥ १०९½ ॥

तानुवाच पुनर्वाणो भयविक्लवलोचनान् ॥११०॥
किमिदं लोकविख्यातं यश उत्सृज्य दूरतः ।
भवन्तो यान्ति वैक्लव्यं क्लीवा इव विचेतसः॥१११॥

उसके इतना कहनेपर भी उनकी आँखें भयसे व्याकुल ही बनी रहीं यह देख बाणासुरने पुनः उनसे कहा—'यह क्या बात है कि तुमलोग अपने विश्वविख्यात यशको दूरसे ही त्यागकर कायरोंके समान व्याकुल और अचेत हो रहे हो ? ॥

कोऽयं यस्य भयत्रस्ता भवन्तो यान्त्यनेकशः ।
कुलापदेशिनः सर्वे नानायुद्धविशारदाः ॥११२॥

'यह कौन है, जिसके भयसे डरकर, तुमलोग झुंड-के-झुंड भागे जा रहे हो । तुम सब लोगोंका कुल विख्यात है तथा तुम नाना प्रकारके युद्धोंकी कलामें निपुण हो (तो भी तुममें यह कायरता कैसे आयी ?) ॥ ११२ ॥

भवद्भिर्न हि मे कार्यं युद्धसाहाय्यमद्य वै ।
अब्रवीद् ध्वंसतेत्येवं मत्समीपाच्च नश्यत ॥११३॥

'अच्छा, भाग जाओ ! अब तुमलोगोंसे मुझे युद्धविषयक सहायता नहीं लेनी है, मेरे पाससे दूर हो जाओ' ॥ ११३ ॥

अथ तान् वाग्भिरुग्राभिस्त्रासयन् बहुधा बली ।
व्यादिदेश रणे शूरानन्यानयुतशः पुनः ॥११४॥

इस प्रकार बलवान् बाणासुरने अपने कठोर वचनोंद्वारा उनको बारंबार त्रास देते हुए दूसरे रणवीर योद्धाओंको, जिनकी संख्या दस हजारके लगभग थी, पुनः युद्धके लिये आज्ञा दी ॥ ११४ ॥

प्रमाथगणभूयिष्ठं व्यादिष्टं तस्य निग्रहे ।
अनीकं सुमहारौद्रं नानाप्रहरणोद्यतम् ॥११५॥

तत्पश्चात् उसने अनिरुद्धको बंदी बनानेके लिये एक महाभयंकर सेनाको आदेश दिया, जिसमें अधिकांश प्रमथगण थे । वह सेना नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित थी॥

अथान्तरिक्षं बहुधा विद्युत्वद्भिरिवाम्बुदैः ।
वाणानीकैः समभवद् व्याप्तं संदीप्तलोचनैः ॥११६॥

फिर तो बिजलीवाले मेघोंकी भाँति चमकीले नेत्रोंवाले बाणासुरके सैनिकोंसे आकाशका बहुत बड़ा भाग व्याप्त हो गया ॥ ११६ ॥

केचित् क्षितिस्थाः प्राक्रोशन् गजा इव समन्ततः ।
अन्तरिक्षे व्यराजन्त घर्मान्त इव तोयदाः ॥११७॥

कुछ सैनिक पृथ्वीपर ही खड़े हो सब ओर हाथियोंकी भाँति चिग्घाड़ रहे थे तथा कुछ लोग वर्षाकालके बादलोंकी भाँति आकाशमें ही शोभा पाते थे ॥ ११७ ॥

ततस्तत् सुमहत् सैन्यं समेतमभवत् पुनः ।
तिष्ठ तिष्ठेति च तदा वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥११८॥

तदनन्तर वह विशाल सेना फिर एकत्र हो गयी । उस समय उसमें सब ओर 'ठहरो, खड़े रहो' ये ही बातें सुनायी देती थीं ॥ ११८ ॥

अनिरुद्धो रणे वीरः स च तानभ्यवर्तत ।
तदाश्चर्यं समभवद् यदेकस्तु समागतः ॥११९॥

वीर अनिरुद्ध अकेले ही उन सबका सामना कर रहे थे । एकने ही जो उस विशाल सेनाका सामना किया, यह उस समय एक महान् आश्चर्यकी बात हुई ॥ ११९ ॥

अयुध्यत महावीर्यैर्दानवैः सह संयुगे ।
तेषामेव च जग्राह परिघांस्तोमरानपि ॥१२०॥

वे रणभूमिमें उन महापराक्रमी दानवोंके साथ युद्ध करने लगे । उन्होंने शत्रुओंके ही परिघों तथा तोमरोंको ले लिया ॥ १२० ॥

तैरेव च तदा युद्धे ताञ्जघान महाबलः।
पुनः परिघमुत्सृज्य प्रगृह्य रणमूर्धनि ॥१२१॥

उन महाबली वीरने उन्हीं परिघोंद्वारा उस समय युद्धमें उन शत्रुओंका संहार किया। वे युद्धके मुहानेपर बारंबार परिघको छोड़ते और ग्रहण करते थे ॥ १२१ ॥

स तेन विचरन् मार्गानेकः शत्रुनिबर्हणः।
भ्रान्तमुद्भ्रान्तमाविद्धमाप्लुतं विप्लुतं प्लुतम्॥१२२॥
इति प्रकाराद् द्वात्रिंशद् विचरन्नाभ्यदृश्यत।

शत्रुसूदन अनिरुद्ध उस परिघसे अनेक पैंतरे दिखाते हुए युद्धमें अकेले ही विचरते थे। वे भ्रान्त[1], उद्भ्रान्त[2], आविद्ध[3], आप्लुत[4], विप्लुत[5] और प्लुत[6] आदि बत्तीस[7] प्रकारके पैंतरोंसे विचरते हुए दिखायी दिये ॥ १२२½ ॥

एकं सहस्रशश्चात्र ददृशू रणमूर्धनि ॥१२३॥
क्रीडन्तं बहुधा युद्धे व्यादितास्यमिवान्तकम्।

रणभूमिमें युद्धके मुहानेपर मुँह बाये हुए कालके समान अनेक प्रकारसे परिघ चलानेकी क्रीडा करते हुए एक ही अनिरुद्धको शत्रुओंने सहस्रोंकी संख्यामें देखा ॥ १२३½ ॥

ततस्तेनाभिसंतप्ता रुधिरौघपरिप्लुताः ॥१२४॥
पुनर्भग्नाः प्राद्रवन्त यत्र बाणो व्यवस्थितः।

उस समय उनसे संतप्त हो रक्तके प्रवाहमें डूबे हुए दानव फिर अपना व्यूह भङ्ग करके भाग खड़े हुए और जहाँ बाणासुर खड़ा था, वहाँ जा पहुँचे ॥ १२४½ ॥

गजवाजिरथौघैस्ते चोह्यमानाः समन्ततः ॥१२५॥
कृत्वा चार्तस्वरं घोरं दिशो जग्मुर्हतौजसः।

हाथी, घोड़े तथा रथसमूह उन्हें चारों ओर लिये जा रहे थे। वे हतोत्साह दानव घोर आर्त्तनाद करके सम्पूर्ण दिशाओंमें भागे जा रहे थे ॥ १२५½ ॥

एकैकस्योपरि तदा तेऽन्योन्यं भयपीडिताः ॥१२६॥
वमन्तः शोणितं जग्मुर्विषादाद् विमुखा रणे।

वे उस समय भयसे पीड़ित हो भागते समय परस्पर एक-एकके ऊपर चढ़ जाते थे तथा अधिक खेदके कारण युद्धसे विमुख हो रक्त वमन करते हुए पलायन कर रहे थे ॥

न बभूव पुरा देवैर्युध्यतां तादृशं भयम् ॥१२७॥
यादृशं युध्यमानानामनिरुद्धेन संयुगे।

पूर्वकालमें देवताओंके साथ युद्ध करते समय भी उन दानवोंको वैसा भय नहीं हुआ था, जैसा समराङ्गणमें अनिरुद्धके साथ युद्ध करते समय हुआ था १२७½ ॥

केचिद् वमन्तो रुधिरं ह्यपतन् वसुधातले ॥१२८॥
दानवा गिरिशृङ्गाभा गदाशूलासिपाणयः।

कितने ही पर्वत-शिखरके समान विशालकाय दानव हाथोंमें गदा, शूल और तलवार लिये रक्त वमन करते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १२८½ ॥

ते बाणमुत्सृज्य रणे जग्मुर्भयसमाकुलाः ॥१२९॥
विशालमाकाशतलं दानवा निर्जितास्तदा।

उस समय रणभूमिमें पराजित हुए दानव भयसे व्याकुल हो बाणासुरको वहीं छोड़कर विशाल आकाशमें भाग गये ॥

निःशेषभग्नां महतीं दृष्ट्वा तां वाहिनीं तदा ॥१३०॥
बाणः क्रोधात् प्रजज्वाल समिद्धोऽग्निरिवाध्वरे।

जैसे यज्ञमें समिधा पाकर अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार उस समय अपनी विशाल सेनाको पूर्णरूपसे भग्न हुई देख बाणासुर क्रोधसे जल उठा ॥ १३०½ ॥

अन्तरिक्षचरो भूत्वा साधुवादी समन्ततः ॥१३१॥
नारदो नृत्यति प्रीतो ह्यनिरुद्धस्य संयुगे।

इधर युद्धमें अनिरुद्धके पराक्रमसे प्रसन्न हुए नारदजी आकाशमें सब ओर विचरते और उन्हें साधुवाद देते हुए नृत्य करने लगे ॥ १३१½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चैव बाणः परमकोपनः ॥१३२॥
कुम्भाण्डसंगृहीतं तु रथमास्थाय वीर्यवान्।
ययौ यत्रानिरुद्धो वै उद्यतासी रथे स्थितः ॥१३३॥

इसी बीचमें अत्यन्त क्रोधी और बलवान् बाणासुर कुम्भाण्डद्वारा नियन्त्रित रथपर आरूढ़ हो उसी रथपर

---

१. तलवार या परिघको गोलाकार घुमाना भ्रान्त कहलाता है, इससे शत्रुके प्रहारको निष्फल किया जाता है।

२. तलवार या परिघ चलानेका दूसरा पैंतरा—जिसमें हाथको ऊँचा करके उसे घुमाया जाता है।

३. तलवार या परिघ चलानेके बत्तीस हाथोंमेंसे एक, जिसमें तलवार या परिघको अपने चारों ओर घुमाकर दूसरेके चलाये हुए वारको व्यर्थ या खाली करते हैं।

४. सब ओर घूम-घूमकर उछलते हुए परिघ या तलवारको चलाना।

५. विशिष्ट रूपसे परिघका सञ्चालन करके शत्रु-सेनामें विप्लव मचा देना।

६. सामान्यतः कूद-कूदकर शत्रुके सम्मुख परिघ या तलवारको चलाना।

७. तलवार या परिघ चलानेके बत्तीस हाथ गिनाये गये हैं, जिनके नाम ये हैं—भ्रान्त, उद्भ्रान्त, आविद्ध, आप्लुत, विप्लुत, प्लुत, सृत, संपात, समुदीर्ण, निग्रह, प्रग्रह, पदावकर्षण, संधान, मस्तकभ्रामण, भुजभ्रामण, पाश, पाद, विबन्ध, भूमि, उद्भ्रमण, गति, प्रत्यागति, आक्षेप, पातन, उत्थानकप्लुति, लघुता, सौष्ठव, शोभा, स्थैर्य, दृढमुष्टिता, तिर्यक्प्रचार और ऊर्ध्वप्रचार।

बैठा हुआ उस स्थानपर गया, जहाँ अनिरुद्ध तलवार हाथमें लिये खड़े थे ॥ १३२-१३३ ॥

पट्टिशासिगदाशूलमुद्यम्य च परश्वधान् ।
बभौ बाहुसहस्रेण शक्रो ध्वजशतैरिव ॥१३४॥
बद्धगोधाङ्गुलित्रैश्च बाहुभिः स महाभुजः ।
नानाप्रहरणोपेतः शुशुभे दानवोत्तमः ॥१३५॥

बाणासुर अपनी सहस्र भुजाओंसे पट्टिश, खड्ग, गदा, शूल और फरसे उठा सैकड़ों ध्वजोंसे युक्त देवराज इन्द्रके समान शोभा पाता था। जिनकी अँगुलियोंमें गोधाचर्मके दस्ताने बँधे हुए थे, उन भुजाओंसे नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये वह महाबाहु दानवराज बड़ी शोभा पा रहा था ॥

सिंहनादं नदन् क्रुद्धो विस्फारितमहाधनुः ।
अब्रवीत् तिष्ठ तिष्ठेति क्रोधसंरक्तलोचनः ॥१३६॥

उसके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे; वह क्रोधमें भरकर सिंहके समान दहाड़ता और अपने विशाल धनुषको खींचता हुआ बोला—'अरे खड़ा रह ! खड़ा रह !!' ॥ १३६ ॥

वचनं तस्य संश्रुत्य प्राद्युम्निरपराजितः ।
बाणस्य वदनं संख्ये समुद्वीक्ष्य ततोऽहसत् ॥१३७॥

बाणासुरकी बात सुनकर और युद्धस्थलमें उसके मुखपर दृष्टि डालकर अपराजित वीर प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध हँसने लगे ॥ १३७ ॥

किङ्किणीशतनिर्घोषं रक्तध्वजपताकिनम् ।
ऋष्यचर्मावनद्धाङ्गं दशनल्वं महारथम् ॥१३८॥

बाणासुरका विशाल रथ दस नल्व (चार हजार हाथ) के बराबर था; उसमें सैकड़ों छोटी-छोटी घंटियाँ लगी थीं; जिनकी ध्वनि सब ओर गूँजती रहती थी; उस रथकी ध्वजा-पताकाएँ लाल रङ्गकी थीं तथा उस रथके प्रत्येक अवयवपर ऋष्यनामक मृगविशेषका चमड़ा मढ़ा हुआ था ॥ १३८ ॥

तस्य वाजिसहस्रं तु रथे युक्तं महात्मनः ।
पुरा देवासुरे युद्धे हिरण्यकशिपोरिव ॥१३९॥

उस महाकाय दानवके रथमें एक सहस्र घोड़े जुते हुए थे; ठीक उसी तरह जैसे पूर्वकालमें देवासुर संग्रामके अवसर-पर हिरण्यकशिपुके रथमें जोते गये थे ॥ १३९ ॥

तमापतन्तं ददृशे दानवं यदुपुङ्गवः ।
सम्प्रहृष्टस्ततो युद्धे तेजसा चाप्यपूर्यत ॥१४०॥

यदुकुलतिलक अनिरुद्धने जब उस दानवको आक्रमण करते देखा; तब वे युद्धके लिये हर्ष और उत्साहसे भर गये तथा महान् तेजसे सम्पन्न हो गये ॥ १४० ॥

असिचर्मधरो वीरः स्वस्थः संग्रामलालसः ।
नरसिंहो यथा पूर्वमादिदैत्यवधोद्यतः ॥१४१॥

जैसे पूर्वकालमें आदिदैत्य हिरण्यकशिपुका वध करनेके लिये उद्यत हुए भगवान् नरसिंह शोभा पाते थे, उसी प्रकार संग्रामकी लालसासे ढाल और तलवार धारण किये स्वस्थ-भावसे खड़े हुए वीर अनिरुद्ध सुशोभित होते थे ॥ १४१ ॥

आपतन्तं ददर्शाथ खड्गचर्मधरं तदा ।
खड्गचर्मधरं तं तु दृष्ट्वा बाणः पदातिनम् ॥१४२॥
प्रहर्षमतुलं लेभे प्राद्युम्निवधकाङ्क्षया ।

उस समय बाणासुरने अनिरुद्धको ढाल और तलवार लिये अपने सामने आते देखा। उन्हें केवल ढाल और तलवार धारण किये पैदल आते देख उन्हें मार डालनेकी इच्छासे बाणासुरको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ ॥ १४२½ ॥

तनुत्रेण विहीनश्च खड्गपाणिश्च यादवः ॥१४३॥
अजेय इति तं मत्वा युद्धायाभिमुखः स्थितः ।

कवचसे रहित तथा केवल खड्ग हाथमें लिये होनेपर भी यादववीर अनिरुद्ध बाणासुरको 'यह अजेय है' ऐसा मानते हुए भी निःशङ्क हो उसके सामने युद्धके लिये खड़े हुए ॥ १४३½ ॥

अनिरुद्धं रणे बाणो जितकाशी महाबलः ॥१४४॥
वाचं चोवाच संक्रुद्धो गृह्यतां हन्यतामिति ।

विजयसे सुशोभित होनेवाला महाबली बाणासुर कुपित हो रणभूमिमें अनिरुद्धसे बोला—'इसे पकड़ो, मारो' ॥

वाचं च ब्रुवतस्तस्य श्रुत्वा प्राद्युम्निराहवे ॥१४५॥
बाणस्य ब्रुवतः क्रोधाद्धसमानोऽभ्युदैक्षत ।

उस समराङ्गणमें इस तरह बोलते हुए बाणासुरकी बात सुनकर हँसते हुए प्रद्युम्नकुमारने क्रोधपूर्वक उसकी ओर देखा॥

उषां भयपरित्रस्तां रुदतीं तत्र भामिनीम् ॥१४६॥
अनिरुद्धः प्रहस्याथ समाश्वास्य च तां स्थितः ।

वहाँ भयसे संत्रस्त हो रोती हुई भामिनी उषाको सान्त्वना देकर अनिरुद्ध हँसते हुए युद्धके लिये खड़े हो गये॥

अथ बाणः शरौघाणां क्षुद्रकाणां समन्ततः ॥१४७॥
चिक्षेप समरे क्रुद्धो ह्यनिरुद्धवधेप्सया ।
अनिरुद्धस्तु चिच्छेद काङ्क्षंस्तस्य पराजयम् ॥१४८॥

तदनन्तर समरभूमिमें कुपित हुए बाणासुरने अनिरुद्धके वधकी इच्छासे उनपर चारों ओरसे क्षुद्रक नामक बाणसमूहोंका प्रहार आरम्भ किया। किंतु अनिरुद्धने उसे पराजित करनेकी इच्छा रखकर उसके सारे बाणोंको तलवारसे ही काट डाला॥

ववर्ष शरजालानि क्षुद्रकाणां समन्ततः ।
बाणोऽनिरुद्धशिरसि काङ्क्षंस्तस्य रणे वधम् ॥१४९॥

तब बाणासुरने पुनः रणभूमिमें अनिरुद्धके वधकी

अभिलाषासे उनके सिरपर सब ओरसे क्षुद्रक नामवाले बाण-समूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १४९ ॥

ततो बाणसहस्राणि चर्मणा व्यवधूय सः ।
बभौ प्रमुखतस्तस्य स्थितः सूर्य इवोदये ॥१५०॥

उस समय उसके हजारों बाणोंको ढालसे ही इधर-उधर करके अनिरुद्ध उसके सामने खड़े हो उदयकालके सूर्यकी भाँति शोभा पाने लगे ॥ १५० ॥

सोऽभिभूय रणे बाणमास्थितो यदुनन्दनः ।
सिंहः प्रमुखतो दृष्ट्वा गजमेकं यथा वने ॥१५१॥

रणभूमिमें बाणासुरका तिरस्कार करके यदुनन्दन अनिरुद्ध उसी तरह निर्भय खड़े रहे, जैसे वनमें सिंह अपने सामने एक हाथीको देखकर निर्भय खड़ा रहता है ॥ १५१॥

ततो बाणः स बाणौघैर्मर्मभेदिभिराशुगैः ।
विव्याध निशितैस्तीक्ष्णैः प्राद्युम्निमपराजितम् ॥१५२॥

तदनन्तर बाणासुरने अपराजित वीर प्रद्युम्नकुमारको मर्मभेदी, शीघ्रगामी, तेज किये हुए, पैने बाणसमूहोंद्वारा घायल कर दिया ॥ १५२ ॥

समाहतस्ततो बाणैः खड्गचर्मधरोऽपतत् ।
तमापतन्तं निशितैरभ्यहन् सायकैस्तथा ॥१५३॥

उन बाणोंसे घायल होनेपर अनिरुद्ध ढाल और तलवार लिये बाणासुरपर टूट पड़े। उन्हें आक्रमण करते देख उस असुरने तीखे सायकोंसे उनपर और भी चोट की ॥ १५३ ॥

सोऽतिविद्धो महाबाहुर्बाणैः संनतपर्वभिः ।
क्रोधेनाभिप्रजज्वाल चिकीर्षुः कर्म दुष्करम् ॥१५४॥

झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे अत्यन्त घायल होनेपर महाबाहु अनिरुद्ध क्रोधसे जल उठे और दुष्कर कर्म करनेकी इच्छा करने लगे ॥ १५४ ॥

रुधिरौघप्लुतैर्गात्रैर्बाणवर्षैः समाहितः ।
अभिभूतः सुसंक्रुद्धो ययौ बाणरथं प्रति ॥१५५॥
असिभिर्मुसलैः शूलैः पट्टिशैस्तोमरैस्तथा ।
सोऽतिविद्धः शरैश्चैव प्राद्युम्निर्न व्यकम्पत ॥१५६॥

बाणोंकी वर्षासे आच्छादित हो अनिरुद्धके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो गये, इस तरह पराभव प्राप्त होनेसे अनिरुद्धका क्रोध बहुत बढ़ गया और वे बाणासुरके रथकी ओर चल दिये। उस समय तलवारों, मुसलों, शूलों, पट्टिशों, तोमरों और बाणसमूहोंसे अत्यन्त घायल होनेपर भी प्रद्युम्न-कुमार कम्पित नहीं हुए ॥ १५५-१५६ ॥

आप्लुत्य सहसा क्रुद्धो रथेषां तस्य सोऽच्छिनत्।
जघान चाश्वान् खड्गेन बाणस्य रणमूर्धनि ॥१५७॥

सहसा क्रोधपूर्वक उछलकर उन्होंने बाणासुरके रथके हरसेको काट दिया और युद्धके मुहानेपर तलवारसे ही उसके घोड़ोंको मार डाला ॥ १५७ ॥

तं पुनः शरवर्षेण पट्टिशैस्तोमरैरपि ।
चकारान्तर्हितं बाणो युद्धमार्गविशारदः ॥१५८॥

तब युद्धमार्गके ज्ञानमें निपुण बाणासुरने पुनः पट्टिशों, तोमरों और बाणोंकी वर्षा करके अनिरुद्धको ढँक दिया ॥

हतोऽयमिति विज्ञाय प्राणदन् नैर्ऋता गणाः ।
ततोऽवप्लुत्य सहसा रथपार्श्वे व्यवस्थितः ॥१५९॥

अब यह मारा गया ऐसा-जानकर वे दैत्य गर्जना करने लगे; इतनेमें ही अनिरुद्ध सहसा कूदकर रथके पार्श्वभागमें खड़े हो गये ॥ १५९ ॥

शक्तिं बाणस्ततः क्रुद्धो घोररूपां भयानकाम् ।
जग्राह ज्वलितां घोरां घण्टामालाकुलां रणे ॥१६०॥
ज्वलनादित्यसंकाशां यमदण्डोग्रदर्शनाम् ।
प्राहिणोत् तामसङ्गेन महोल्कां ज्वलितामिव ॥१६१॥

तब कुपित हुए बाणासुरने रणभूमिमें एक घोर एवं भयानक शक्ति हाथमें ली, जो अग्निके समान प्रज्वलित हो रही थी; वह घोर शक्ति घंटाओंकी मालाओंसे व्याप्त थी। उसका तेज अग्नि और सूर्यके समान जान पड़ता था तथा वह यमदण्डके समान भयानक दिखायी देती थी; उस दैत्यने निर्भय होकर जलती हुई उल्काके समान वह शक्ति अनिरुद्ध-पर चला दी ॥ १६०-१६१ ॥

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य जीवितान्तकरीं तदा ।
सोऽभिप्लुत्य तदा शक्तिं जग्राह पुरुषोत्तमः ॥१६२॥
निर्बिभेद ततो बाणं तया शक्त्या महाबलः ।
सा भित्त्वा तस्य देहं वै प्राविशद् धरणीतलम् ॥१६३॥

उस समय जीवनका अन्त कर देनेवाली उस शक्तिको अपने ऊपर आती देख पुरुषप्रवर महाबली अनिरुद्धने उछलकर तत्काल उसे हाथसे पकड़ लिया और उसी शक्तिसे बाणासुरको विदीर्ण कर डाला; वह शक्ति उसके शरीरको विदीर्ण करती हुई पृथ्वीमें समा गयी ॥ १६२-१६३ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो ध्वजयष्टिं समाश्रितः ।
ततो मूर्च्छाभिभूतं तं कुम्भाण्डो वाक्यमब्रवीत्॥१६४॥

उस शक्तिकी गहरी चोटसे पीड़ित हो बाणासुरने ध्वज-दण्डका सहारा ले लिया। उसे मूर्च्छित हुआ देख कुम्भाण्डने उससे कहा—॥ १६४ ॥

उपेक्षसे दानवेन्द्र किमेवं शत्रुमुद्यतम् ।
लब्धलक्षो ह्ययं वीरो निर्विकारोऽद्य दृश्यते ॥१६५॥

'दानवराज ! इस प्रकार उद्यत हुए शत्रुकी उपेक्षा किस लिये करते हो। इस वीरने अपना लक्ष्य पा लिया है, अतः आज निर्विकार दिखायी देता है ॥ १६५ ॥

मायामाश्रित्य युध्यस्व नायं वध्योऽन्यथा भवेत्।
आत्मानं मां च रक्षस्व प्रमादात् किमुपेक्षसे ॥१६६॥

'मायाका आश्रय लेकर युद्ध करो; अन्यथा यह मारा नहीं जा सकेगा। तुम अपनी और मेरी भी रक्षा करो। प्रमादवश उपेक्षा क्यों करते हो ॥ १६६ ॥

वध्यतामयमद्यैव न नः सर्वान् विनाशयेत्।
अन्यांश्च शतशो हत्वा उषां नीत्वा व्रजिष्यति ॥१६७॥

'इसको अभी मार डालो; कहीं ऐसा न हो यह हम सब लोगोंका नाश कर डाले; यदि तुम सावधान नहीं हुए तो यह अन्य सैकड़ों वीरोंको मारकर उषाको भी लेकर चला जायगा' ॥ १६७ ॥

कुम्भाण्डवचनैरेवं दानवेन्द्रः प्रणोदितः।
वाचं रूक्षामभिक्रुद्धः प्रोवाच वदतां वरः ॥१६८॥

कुम्भाण्डके वचनोंसे इस प्रकार प्रेरित हुआ वक्ताओंमें श्रेष्ठ दानवराज बाण अत्यन्त कुपित हो यह रूखी बात बोला—॥

एषोऽहमस्य विदधे मृत्युं प्राणहरं रणे।
आदास्याम्यहमेतं वै गरुत्मानिव पन्नगम् ॥१६९॥

'यह लो! मैं अभी रणभूमिमें इसे मौतके हवाले कर देता हूँ, जो इसके प्राण हर लेगी। जैसे गरुड़ सर्पको दबोच लेता है, उसी प्रकार मैं भी इसे अपने काबूमें कर लूँगा' ॥

इत्येवमुक्त्वा सरथः सध्वजः साश्वसारथिः।
गन्धर्वनगराकारस्तत्रैवान्तरधीयत ॥१७०॥

ऐसा कहकर रथ, ध्वज, घोड़े और सारथिसहित बाणासुर गन्धर्वनगरके समान वहीं अन्तर्धान हो गया ॥१७०॥

मुमोच निशितान् बाणांश्छन्नो मायाधरो बली।
विज्ञायान्तर्हितं बाणं प्राद्युम्निरपराजितः ॥१७१॥
पौरुषेण समायुक्तः सम्प्रैक्षत दिशो दश।

वह मायाधारी बलवान् दानव स्वयं छिपकर अनिरुद्धपर पैने बाणोंकी वर्षा करने लगा। बाणासुरको अदृश्य हुआ जान अपराजित वीर अनिरुद्ध पुरुषार्थसे युक्त हो दसों दिशाओंकी ओर देखने लगे ॥ १७१½ ॥

आस्थाय तामसीं विद्यां तदा क्रुद्धो बलेः सुतः ॥१७२॥
मुमोच विशिखांस्तीक्ष्णांश्छन्नो मायाधरो बली।

तब क्रोधमें भरे हुए मायाधारी बलिपुत्र बलवान् बाणासुरने तामसी विद्याका आश्रय ले छिपे रहकर तीखे बाणोंका प्रहार आरम्भ किया ॥ १७२½ ॥

प्राद्युम्निर्विशिखैर्बद्धः सर्पभूतैः समन्ततः ॥१७३॥
वेष्टितो बहुधा तस्य देहः पन्नगराशिभिः।

उस समय प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध सर्पाकार बाणोंद्वारा चारों ओरसे बँध गये। उनका शरीर सर्पसमूहोंसे बारंबार आवेष्टित हो गया ॥ १७३½ ॥

स तु वेष्टितसर्वाङ्गो बद्धः प्राद्युम्निराहवे ॥१७४॥
निष्प्रयत्नः कृतस्तस्थौ मैनाक इव पर्वतः।

युद्धमें सारे अङ्ग सर्पोंसे वेष्टित एवं बद्ध हो जानेके कारण प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध निश्चेष्ट कर दिये गये और वे मैनाक पर्वतकी भाँति अचलभावसे खड़े हो गये ॥ १७४½ ॥

ज्वालावलीढवदनैः सर्पभोगैर्विचेष्टितः ॥१७५॥
अभितः पर्वताकारः प्राद्युम्निरभवद् रणे।

मुखसे आग उगलनेवाले सर्पोंके शरीरोंद्वारा सब ओरसे आवेष्टित एवं चेष्टाहीन हुए अनिरुद्ध उस रणभूमिमें पर्वतके समान प्रतीत होते थे ॥ १७५½ ॥

निष्प्रयत्नगतिश्चापि सर्पवक्त्रमयैः शरैः ॥१७६॥
न विव्यथे स भूतात्मा सर्वतः परिवेष्टितः।

सर्पमुख बाणोंद्वारा सब ओरसे परिवेष्टित हो अपना प्रयत्न और गति अवरुद्ध हो जानेपर भी सर्वभूतात्मा अनिरुद्ध मनमें व्यथित नहीं हुए ॥ १७६½ ॥

ततस्तं वाग्भिरुग्राभिः संरब्धः समतर्जयत् ॥१७७॥
बाणो ध्वजं समाश्रित्य प्रोवाचामर्षितो वचः।

तब रोषमें भरे हुए बाणासुरने कठोर वचनोंद्वारा अनिरुद्धको फटकारा; फिर उसने ध्वजका सहारा लेकर अमर्षयुक्त हो यह बात कही—॥ १७७½ ॥

कुम्भाण्ड वध्यतां शीघ्रमयं वै कुलपांसनः ॥१७८॥
चारित्रं येन मे लोके दूषितं दूषितात्मना।

'कुम्भाण्ड! इस कुलाङ्गारका शीघ्र वध कर डालो, जिस दूषित हृदयवाले दुष्टने संसारमें मेरे यशको कलङ्कित कर दिया' ॥

इत्येवमुक्ते वचने कुम्भाण्डो वाक्यमब्रवीत् ॥१७९॥
राजन् वक्ष्याम्यहं किंचित् तन्मे शृणु यदिच्छसि।

बाणासुरके ऐसा कहनेपर मन्त्री कुम्भाण्डने कहा—'राजन्! इस विषयमें मैं कुछ कहना चाहता हूँ। यदि आपकी इच्छा हो तो मेरी उस बातको सुन लें ॥ १७९½ ॥

अयं विज्ञायतां कस्य कुतो वायमिहागतः ॥१८०॥
केन वायमिहानीतः शक्रतुल्यपराक्रमः।

'पहले इस बातको जान लीजिये, यह किसका पुत्र है और कहाँसे यहाँ आया है अथवा इस इन्द्रतुल्य पराक्रमी वीरको कौन यहाँ ले आया है? ॥ १८०½ ॥

मयायं बहुशो राजन् दृष्टो युध्यन् महारणे ॥१८१॥
क्रीडन्निव च युद्धेषु दृश्यते देवसूनुवत्।

'राजन्! मैंने इस महासमरमें युद्ध करते समय इसकी ओर बारंबार देखा है। यह युद्धभूमिमें देवकुमारके समान क्रीड़ा करता-सा दिखायी देता था ॥ १८१½ ॥

बलवान् सत्त्वसम्पन्नः सर्वशस्त्रविशारदः ॥१८२॥
नायं वधकृतं दोषमर्हते दैत्यसत्तम ।

'दैत्यप्रवर ! यह बलवान्, धैर्यसम्पन्न तथा सम्पूर्ण शस्त्रविद्यामें प्रवीण है । अतः वधरूप दोषका पात्र नहीं है ॥

गान्धर्वेण विवाहेन कन्येयं तव संगता ॥१८३॥
अदेया ह्यप्रतिग्राह्या अतश्चिन्त्य वधं कुरु ।

'आपकी कन्याने गान्धर्व विवाहके द्वारा इसके साथ समागम किया है । अतः न तो अब वह दूसरेको देने योग्य रह गयी है और न दूसरेके द्वारा ग्रहण करने योग्य ही; अतः खूब सोच-विचारकर इसका वध कीजिये ॥ १८३½ ॥

विज्ञाय च वधं वास्य पूजां वास्य करिष्यसि ॥१८४॥
वधे ह्यस्य महान् दोषो रक्षणे सुमहान् गुणः ।

'पहले इसका परिचय प्राप्त करके फिर वध अथवा पूजन कीजियेगा । इसका वध करनेमें महान् दोष है और रक्षा करनेमें महान् गुण ॥ १८४½ ॥

अयं हि पुरुषोत्कृष्टः सर्वथा मानमर्हति ॥१८५॥
सर्वतो वेष्टिततनुर्न व्यथत्येष भोगिभिः ।
कुलशौण्डीर्यवीर्यैश्च सत्त्वेन च समन्वितः ॥१८६॥

'यह पुरुषोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण सर्वथा सम्मानके योग्य है। देखिये ! सर्पोंने सब ओरसे इसके शरीरको जकड़ लिया है तो भी यह व्यथित नहीं होता है । अपने कुलके अभिमान, बल-पराक्रम तथा धैर्यसे सम्पन्न है ॥ १८५-१८६ ॥

पश्य राजन् महावीर्यैरन्वितः पुरुषोत्तमः ।
न नो गणयते सर्वान् वधं प्राप्तोऽप्ययं बली ॥१८७॥

'राजन् ! देखिये तो सही ! महाबली सर्पोंसे बद्ध होकर वधावस्थाको प्राप्त होनेपर भी यह बलवान् पुरुषोत्तम वीर हम सब लोगोंको कुछ भी नहीं गिनता है ॥ १८७ ॥

यदि मायाप्रभावेण नात्र बद्धो भवेदयम् ।
सर्वान् सुरगणान् संख्ये योधयेन्नात्र संशयः ॥१८८॥

'यदि यह मायाके प्रभावसे बाँधा न गया होता तो रणभूमिमें केवल असुरोंसे ही नहीं, समस्त देवताओंसे भी युद्ध कर सकता था, इसमें संशय नहीं है ॥ १८८ ॥

सर्वसंग्राममार्गज्ञो भवेद् वीर्याधिकस्तव ।
शोणितौघप्लुतैर्गात्रैर्नागभोगैश्च वेष्टितः ॥१८९॥
त्रिशिखां भ्रुकुटिं कृत्वा न चिन्तयति नः स्थितान् ।

'यह युद्धके सभी मार्गोंका ज्ञाता तथा बल-पराक्रममें आपसे भी बढ़कर है । इसके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो गये हैं । इसे सर्पके शरीरोंसे जकड़ दिया गया है तो भी यह भौंहोंको तीन जगहसे टेढ़ी करके यहाँ खड़े हुए हमलोगोंको कुछ भी नहीं समझता है ॥ १८९½ ॥

इमामवस्थां नीतोऽपि स्वबाहुबलमाश्रितः ॥१९०॥
न चिन्तयति राजंस्त्वां वीर्यवान् कोऽप्यसौ युवा ।

'राजन् ! इस अवस्थाको पहुँच जानेपर भी यह अपने बाहुबलका भरोसा करके आपकी कोई परवा नहीं करता है । वास्तवमें यह युवक कोई अद्भुत पराक्रमी वीर है ॥१९०½॥

सहस्रबाहोः समरे द्विबाहुः समवस्थितः ।
न चिन्तयति ते वीर्यमयं वीर्यमदान्वितः ॥१९१॥
उचितं यदि ते राजन् ज्ञेयो वीर्यबलान्वितः ।

'सहस्रबाहुके साथ समरभूमिमें यह दो ही बाँहोंका वीर खड़ा है, किंतु अपने बल-पराक्रमके मदसे उन्मत्त हो आपके बल-वीर्यको कुछ नहीं समझता ॥ १९१½ ॥

कन्या चेयं न चान्यस्य निर्यात्ये तेन संगता ॥१९२॥
यदि चेष्टतमः कश्चिदयं वंशे महात्मनाम् ।
ततः पूजामयं वीरः प्राप्स्यते चासुरोत्तम ॥१९३॥

'असुरप्रवर ! आपकी यह कन्या इसके साथ सम्बन्ध स्थापित कर चुकी है, अतः अब दूसरेको नहीं दी जा सकती । यदि यह किन्हीं महात्मा पुरुषोंके कुलमें उत्पन्न हो तो हमारे लिये परम अभीष्ट है । उस दशामें यह वीर हमसे पूजा प्राप्त करेगा ॥ १९२-१९३ ॥

रक्ष्यतामिति चोक्त्वैव तथास्त्विति च तस्थिवान् ।
एवमुक्ते तु वचने कुम्भाण्डेन महात्मना ॥१९४॥
तथेत्याह च कुम्भाण्डं बाणः शत्रुनिषूदनः ।

'अतः आप इसकी रक्षा कीजिये ।' इतना कहकर ही कुम्भाण्ड चुप हो गये । महात्मा कुम्भाण्डके ऐसी बात कहनेपर शत्रुसूदन बाणासुर भी उनसे 'तथास्तु' कहकर चुपचाप बैठा रहा ॥ १९४½ ॥

संरक्षिणस्ततो दत्त्वा अनिरुद्धस्य धीमतः ॥१९५॥
ययौ स्वमेव भवनं बलेः पुत्रो महायशाः ।

तदनन्तर ! बुद्धिमान् अनिरुद्धके लिये पहरेदार देकर महायशस्वी बलिपुत्र बाणासुर अपने घरको ही चला गया ॥

संयतं मायया दृष्ट्वा अनिरुद्धं महाबलम् ॥१९६॥
ऋषीणां नारदः श्रेष्ठोऽव्रजद् द्वारवतीं प्रति ।
ततो ह्याकाशमार्गेण मुनिर्द्वारवतीं गतः ॥१९७॥

महाबली अनिरुद्धको मायाद्वारा बँधा हुआ देख मुनिश्रेष्ठ नारद आकाशमार्गसे द्वारकापुरीकी ओर चल दिये॥१९६-१९७॥

गते ऋषीणां प्रवरे सोऽनिरुद्धो व्यचिन्तयत् ।
नष्टोऽयं दानवः क्रूरो युद्धमेष्यत्यसंशयः ॥१९८॥

मुनिप्रवर नारदजीके चले जानेपर अनिरुद्ध मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगे—यह क्रूर दानव कहीं छिप गया है । पुनः युद्धके लिये आयेगा, इसमें संशय नहीं है ॥१९८॥

स गत्वा नारदस्तत्र शङ्खचक्रगदाधरम्।
ज्ञापयिष्यति तत्त्वेन इममर्थं न संशयः॥१९९॥

नारदजी वहाँ जाकर शङ्ख-चक्र-गदाधर भगवान् श्रीकृष्णसे यह सब समाचार ठीक-ठीक बतायेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है॥ १९९॥

नागैर्विचेष्टितं दृष्ट्वा उषा प्राद्युम्निमातुरा।
रुरोद बाष्परुद्धाक्षी तामाह रुदतीं पुनः॥२००॥

साँपोंसे बँधकर अनिरुद्ध चेष्टाहीन हो गये हैं, यह देख व्याकुल हुई उषा फूट-फूटकर रोने लगी। उसके नेत्र आँसुओंसे भर गये, तब उस रोती हुई उषासे अनिरुद्धने कहा—॥

किमिदं रुद्यते भीरु मा भैस्त्वं मृगलोचने।
पश्य सुश्रोणि सम्प्राप्तं मत्कृते मधुसूदनम्॥२०१॥
यस्य शङ्खध्वनिं श्रुत्वा बाहुशब्दं बलस्य च।
दानवा नाशमेष्यन्ति गर्भाश्चासुरयोषिताम्॥२०२॥

'भीरु! तुम इस तरह रोती क्यों हो? मृगलोचने! भयभीत न हो। सुश्रोणि! देखो, भगवान् मधुसूदन मेरे लिये यहाँ आना ही चाहते हैं। जिनके शङ्खनादको, भुजाओंके शब्दको और बलकी चर्चाको सुनकर दानव नष्ट हो जायँगे और असुरोंकी स्त्रियोंके गर्भ गिर जायँगे'॥ २०१-२०२॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तानिरुद्धेन उषा विश्रम्भमागता।
नृशंसं पितरं चैव शोचते सा सुमध्यमा॥२०३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अनिरुद्धके ऐसा कहनेपर उषाको विश्वास हो गया। वह सुन्दर कटिप्रदेशवाली सुन्दरी अब अपने निर्दय पिताके लिये शोक करने लगी॥ २०३॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि बाणानिरुद्धयुद्धे एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ ११९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें बाणासुर और अनिरुद्धका युद्धविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११९॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अनिरुद्धके द्वारा आर्यादेवीकी स्तुति और देवीका प्रसन्न होकर उन्हें बन्धनके कष्टसे मुक्त करना

वैशम्पायन उवाच

यदा बाणपुरे वीरः सोऽनिरुद्धः सहोषया।
संनिरुद्धो नरेन्द्रेण बाणेन बलिसूनुना॥ १॥
तदा देवीं कोटवतीं रक्षार्थं शरणं गतः।
यद् गीतमनिरुद्धेन देव्याः स्तोत्रमिदं शृणु॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब उषाके साथ वीर अनिरुद्ध बलिकुमार राजा बाणासुरके द्वारा बाणनगरमें बंदी बना लिये गये, तब वे अपनी रक्षाके लिये कोटवती देवीकी शरणमें गये। उस समय अनिरुद्धने जिस स्तोत्रका गान किया था, वह इस प्रकार है; सुनो॥ १-२॥

अनन्तमक्षयं दिव्यमादिदेवं सनातनम्।
नारायणं नमस्कृत्य प्रवरं जगतां प्रभुम्॥ ३॥
चण्डीं कात्यायनीं देवीमार्यां लोकनमस्कृताम्।
वरदां कीर्तयिष्यामि नामभिर्हरिसंस्तुतैः॥ ४॥

जो अनन्त, अक्षय, दिव्य, आदिदेव और सनातन हैं, उन सर्वश्रेष्ठ जगदीश्वर नारायणदेवको नमस्कार करके विश्ववन्दित वरदायिनी चण्डी कात्यायनी आर्या देवीका मैं श्रीहरिके द्वारा प्रशंसित नामोंसे कीर्तन करूँगा॥ ३-४॥

ऋषिभिर्दैवतैश्चैव वाक्पुष्पैरर्चितां शुभाम्।
तां देवीं सर्वदेहस्थां सर्वदेवनमस्कृताम्॥ ५॥

ऋषियों और देवताओंने वाणीरूपी पुष्पोंद्वारा जिन मङ्गलमयी देवीकी पूजा की है, जो सबके शरीरमें विराजमान हैं तथा सम्पूर्ण देवता जिन्हें नमस्कार करते हैं, उन आर्या देवीका मैं गुणगान करूँगा॥ ५॥

अनिरुद्ध उवाच

महेन्द्रविष्णुभगिनीं नमस्यामि हिताय वै।
मनसा भावशुद्धेन शुचिः स्तोष्ये कृताञ्जलिः॥ ६॥

अनिरुद्धने कहा—जो देवराज इन्द्र और भगवान् विष्णुकी बहिन हैं, उन देवीको मैं अपने हितके लिये नमस्कार करता हूँ तथा हाथ जोड़कर पवित्र हो भावशुद्ध हृदयसे उनकी स्तुति करना चाहता हूँ॥ ६॥

गौतमीं कंसभयदां यशोदानन्दवर्द्धिनीम्।
मेध्यां गोकुलसम्भूतां नन्दगोपस्य नन्दिनीम्॥ ७॥

जो गौतमी ('गोदावरी') स्वरूपा, कंसको भय देनेवाली, यशोदाका आनन्द बढ़ानेवाली, पवित्र, गोकुलमें आविर्भूत तथा नन्दगोपकी नन्दिनी हैं, उन आर्यादेवीको मैं नमस्कार करता हूँ॥ ७॥

प्राज्ञां दक्षां शिवां सौम्यां दनुपुत्रविमर्दिनीम्।
तां देवीं सर्वदेहस्थां सर्वभूतनमस्कृताम् ॥ ८ ॥

जो प्राज्ञा (बुद्धिमती एवं विदुषी), दक्षा, कल्याणस्वरूपा, सौम्या, दानवमर्दिनी, सबके शरीरमें विद्यमान तथा सम्पूर्ण भूत द्वारा वन्दित है, उन आर्यादेवीको मेरा प्रणाम है॥

दर्शनीं पूरणीं मायां वह्निसूर्यशशिप्रभाम्।
शान्तिं ध्रुवां च जननीं मोहनीं शोषणीं तथा ॥ ९ ॥
सेव्यां देवैः सर्षिगणैः सर्वदेवनमस्कृताम्।
कालीं कात्यायनीं देवीं भयदां भयनाशिनीम् ॥१०॥

जो दर्शनी (दृष्टिशक्ति), पूरणी (मनोरथोंकी पूर्ति करनेवाली), मायास्वरूपा, अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाके समान कान्तिवाली, शान्तिमयी, ध्रुवा (अविनाशिनी), सबकी जननी, मोहिनी तथा शोषणी हैं, ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देवता जिनकी सेवा करते हैं, समस्त देवता जिनके चरणोंमें शीश झुकाते हैं, जो काली, कात्यायनी देवी, भयदायिनी तथा भयनाशिनी हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ९-१० ॥

कालरात्रिं कामगमां त्रिनेत्रां ब्रह्मचारिणीम्।
सौदामिनीं मेघरवां वेतालीं विपुलाननाम् ॥ ११ ॥

जो कालरात्रि, इच्छानुसार सर्वत्र जा सकनेवाली, त्रिनेत्रधारिणी और ब्रह्मचारिणी हैं, जो विद्युत्स्वरूपा, मेघके समान गर्जना करनेवाली, वेताली और विशाल मुखवाली हैं, उन देवीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ११ ॥

यूथस्याद्यां महाभागां शकुनीं रेवतीं तथा।
तिथीनां पञ्चमीं षष्ठीं पूर्णमासीं चतुर्दशीम् ॥ १२ ॥

जो यूथकी प्रधान अध्यक्षा, महासौभाग्यशालिनी, शकुनि, रेवती आदि ग्रहस्वरूपा तथा तिथियोंमें पञ्चमी, षष्ठी, पूर्णमासी और चतुर्दशीस्वरूपा हैं, उन देवीको नमस्कार है ॥

सप्तविंशतिऋक्षाणि नद्यः सर्वा दिशो दश।
नगरोपवनोद्यानद्वाराट्टालकवासिनीम् ॥ १३ ॥

सत्ताईस नक्षत्र, सम्पूर्ण नदियाँ और दसों दिशाएँ—ये जिनके स्वरूप हैं, जो नगरों, उपवनों, उद्यानों और अट्टालिकाओंमें उनकी अधिष्ठात्री देवीके रूपमें निवास करती हैं, उन आर्यादेवीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १३ ॥

ह्रीं श्रीं गङ्गां च गन्धर्वीं योगिनीं योगदां सताम्।
कीर्तिमाशां दिशं स्पर्शां नमस्यामि सरस्वतीम् ॥१४॥

जो ह्री (लज्जा), श्री (लक्ष्मी या सम्पत्ति), गङ्गा, गन्धर्वी (श्रीराधा), योगिनी तथा सत्पुरुषोंको योग प्रदान करनेवाली हैं, उन कीर्ति, आशा दिशा, स्पर्शा एवं सरस्वती नामवाली देवीको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १४ ॥

वेदानां मातरं चैव सावित्रीं भक्तवत्सलाम्।
तपस्विनीं शान्तिकरीमेकानंशां सनातनीम् ॥ १५ ॥

जो वेदोंकी माता, भक्तवत्सला सावित्री, तपस्विनी, शान्तिकरी, एकानंशा एवं सनातनस्वरूपा हैं, उन आर्या देवीको नमस्कार है ॥ १५ ॥

कौटीर्यां मदिरां चण्डामिलां मलयवासिनीम्।
भूतधात्रीं भयकरीं कूष्माण्डीं कुसुमप्रियाम् ॥ १६ ॥

जो कुटीरवासिनी, मत्त बना देनेवाली, अत्यन्त कोपना, इला, मलयवासिनी, सम्पूर्ण भूतोंको धारण करनेवाली, भयङ्करी, कूष्माण्डी और कुसुमप्रिया हैं, उन देवीको मेरा नमस्कार है ॥

दारुणीं मदिरावासां विन्ध्यकैलासवासिनीम्।
वराङ्गनां सिंहरथीं बहुरूपां वृषध्वजाम् ॥ १७ ॥

जिनका स्वभाव दारुण है, आवासस्थान भी मत्त बना देनेवाला है, जो विन्ध्य और कैलास पर्वतपर निवास करती हैं, श्रेष्ठ अङ्गना हैं, सिंह जिनका रथ या वाहन है, जो बहुत से रूप धारण करनेवाली तथा वृषभ-चिह्नसे चिह्नित ध्वजवाली हैं, उन देवीको नमस्कार है ॥ १७ ॥

दुर्लभां दुर्जयां दुर्गां निशुम्भभयदर्शिनीम्।
सुरप्रियां सुरां देवीं वज्रपाण्यनुजां शिवाम् ॥ १८ ॥

जो दुर्लभ, दुर्जय, दुर्गम, निशुम्भासुरको भय दिखानेवाली, देवप्रिया, सुरस्वरूपा तथा वज्रपाणि इन्द्रकी अनुजा हैं, उन कल्याणमयी देवीको नमस्कार है ॥ १८ ॥

किरातीं चीरवसनां चौरसेनानमस्कृताम्।
आज्यपां सोमपां सौम्यां सर्वपर्वतवासिनीम् ॥ १९ ॥

जो किरात-वेष धारण करनेवाली, चीर-वस्त्रधारिणी तथा चोरोंकी सेनासे नमस्कृत हैं तथा जो घृत पीनेवाली, सोमरसका पान करनेवाली, सौम्यस्वरूपा तथा समस्त पर्वतोंमें निवास करनेवाली हैं, उन देवीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥

निशुम्भशुम्भमथनीं गजकुम्भोपमस्तनीम्।
जननीं सिद्धसेनस्य सिद्धचारणसेविताम् ॥ २० ॥
चरां कुमारप्रभवां पार्वतीं पर्वतात्मजाम्।

जो निशुम्भ और शुम्भका संहार करनेवाली हैं, जिनके स्तन हाथीके कुम्भस्थलके समान जान पड़ते हैं तथा सिद्ध और चारण जिनकी सेवामें लगे रहते हैं, जो कार्तिकेयकी जननी हैं, जिनसे कुमारकी उत्पत्ति हुई है तथा जो पर्वतकी पुत्री होनेपर भी सर्वत्र विचरनेवाली हैं, उन पार्वती देवीको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २०½ ॥

पञ्चाशद्देवकन्यानां पत्न्यो देवगणस्य च ॥ २१ ॥
कद्रुपुत्रसहस्रस्य पुत्रपौत्रवरस्त्रियः।
माता पिता जगन्मान्या दिवि देवाप्सरोगणैः ॥ २२ ॥
ऋषिपत्नीगणानां च यक्षगन्धर्वयोषिताम्।
विद्याधराणां नारीषु साध्वीषु मनुजासु च ॥ २३ ॥

एवमेतासु नारीषु सर्वभूताश्रया ह्यसि ।
नमस्कृतासि त्रैलोक्ये किन्नरोद्गीतसेविते ॥ २४ ॥

पचास देवकन्याओंमें, जो देवताओंकी पत्नियाँ हैं उनमें, कद्रूके जो हजारों पुत्र हैं—उनके पुत्रों और पौत्रोंकी जो सुन्दरी स्त्रियाँ हैं—उनमें, माता और पितामें, स्वर्गके देवताओं और अप्सराओंसहित ऋषिपत्नियोंमें, यक्षों और गन्धर्वोंकी स्त्रियोंमें, विद्याधरोंकी नारियोंमें और सती-साध्वी मानवी स्त्रियोंमें, इस प्रकार इन उपर्युक्त महिलाओंमें आप जगन्माता देवीका निवास है; क्योंकि आप सम्पूर्ण भूतोंका आश्रय हैं। तीनों लोकोंमें सर्वत्र आपके चरणोंमें मस्तक झुकाया जाता है। किन्नरलोग उच्च स्वरसे गीत गाकर आपकी सेवा करते हैं ॥ २१–२४ ॥

अचिन्त्या ह्यप्रमेयासि यासि सासि नमोऽस्तु ते ।
एभिर्नामभिरन्यैश्च कीर्तिता ह्यसि गौतमि ॥ २५ ॥

आप अचिन्त्य और अप्रमेय हैं, जो हैं सो हैं, आपको नमस्कार है। गौतमनन्दिनी ! इन पूर्वोक्त नामोंसे और दूसरे नामोंसे भी आपका ही कीर्तन होता है ॥ २५ ॥

त्वत्प्रसादादविघ्नेन क्षिप्रं मुच्येय बन्धनात् ।
अवेक्षस्व विशालाक्षि पादौ ते शरणं व्रजे ॥ २६ ॥
सर्वेषामेव बन्धानां मोक्षणं कर्तुमर्हसि ।

विशाललोचने ! मैं आपकी कृपासे बिना किसी विघ्न-बाधाके शीघ्र बन्धनमुक्त हो जाऊँ। आप मेरे ऊपर कृपादृष्टि करें; मैं आपके चरणोंकी शरण लेता हूँ। आप मुझे सभी बन्धनोंसे छुड़ाने योग्य हैं ॥ २६½ ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च चन्द्रसूर्याग्निमारुताः ॥ २७ ॥
अश्विनौ वसवश्चैव विश्वेसाध्यास्तथैव च ।
मरुता सह पर्जन्यो धाता भूमिर्दिशो दश ॥ २८ ॥
गावो नक्षत्रवंशाश्च ग्रहा नद्यो ह्रदास्तथा ।
सरितः सागराश्चैव नानाविद्याधरोरगाः ॥ २९ ॥
तथा नागा[1] सुपर्णाणो गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
कृत्स्नं जगदिदं प्रोक्तं देव्या नामानुकीर्तनात् ॥ ३० ॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, वायु, अश्विनीकुमार, वसु, विश्वेदेव, साध्यगण, मरुद्गण, पर्जन्य, धाता, भूमि, दसों दिशाएँ, गौ, नक्षत्रसमूह, ग्रहगण, नदियाँ, सरोवर, सरिताएँ, समुद्र, नाना विद्याधर, सर्प, नाग, गरुड, गन्धर्व और अप्सराओंके समूह—इस प्रकार देवीके नामोंका बारंबार कीर्तन करनेसे इस सम्पूर्ण जगत्का कीर्तन हो जाता है ॥ २७–३० ॥

देव्याः स्तवमिमं पुण्यं यः पठेत् सुसमाहितः ।
सा तस्मै सप्तमे मासि वरमग्र्यं प्रयच्छति ॥ ३१ ॥

जो एकाग्रचित्त होकर देवीके इस पवित्र स्तोत्रका पाठ करता है, देवी उसे सातवें महीनेमें उत्तम वर प्रदान करती हैं॥

अष्टादशभुजा देवी दिव्याभरणभूषिता ।
हारशोभितसर्वाङ्गी मुकुटोज्ज्वलभूषणा ॥ ३२ ॥

देवीकी अठारह भुजाएँ हैं। वे दिव्य आभरणोंसे विभूषित हैं। हारसे उनके सारे अङ्ग सुशोभित हैं। मुकुटकी आभासे उनके आभूषण चमक उठे हैं ॥ ३२ ॥

कात्यायनि स्तूयसे त्वं वरमग्र्यं प्रयच्छसि ।
अतः स्तवीमि त्वां देवीं वरदे वामलोचने ॥ ३३ ॥

कात्यायनि ! जब आपकी स्तुति की जाती है, तब आप उत्तम वर प्रदान करती हैं। अतः वरदायिनि वामलोचने ! मैं आप देवीकी स्तुति करता हूँ ॥ ३३ ॥

नमोऽस्तु ते महादेवि सुप्रीता मे सदा भव ।
प्रयच्छ त्वं वरं ह्यायुः पुष्टिं चैव क्षमां धृतिम् ॥ ३४ ॥
बन्धनस्थो विमुच्येयं सत्यमेतद् भवेदिति ।

महादेवि ! आपको नमस्कार है। आप सदा मुझपर सुप्रसन्न रहें और मुझे श्रेष्ठ आयु, पुष्टि, क्षमा और धैर्य प्रदान करें। मैं बन्धनमें पड़ा हुआ हूँ, किंतु इससे मुक्त हो जाऊँ—मेरा यह संकल्प सत्य हो ॥ ३४½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स्तुता महादेवी दुर्गा दुर्गपराक्रमा ॥ ३५ ॥
सांनिध्यं कल्पयामास अनिरुद्धस्य बन्धने ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार स्तुति की जानेपर दुर्गम पराक्रम प्रकट करनेवाली महादेवी दुर्गाने बन्धनागारमें अनिरुद्धके पास आकर उन्हें दर्शन दिया ॥ ३५½ ॥

अनिरुद्धहितार्थाय देवी शरणवत्सला ॥ ३६ ॥
बद्धं बाणपुरे वीरमनिरुद्धं व्यमोक्षयत् ।
सान्त्वयामास तं वीरमनिरुद्धममर्षणम् ॥ ३७ ॥

उस शरणागतवत्सला देवीने बाणनगरमें बँधे हुए वीर अनिरुद्धको उनका हित-साधन करनेके लिये बन्धनसे मुक्त कर दिया। साथ ही उन अमर्षशील वीर अनिरुद्धको सान्त्वना प्रदान की ॥ ३६-३७ ॥

पूजयामास तां वीरः सोऽनिरुद्धः प्रतापवान् ।
प्रसादं दर्शयामास अनिरुद्धस्य बन्धने ॥ ३८ ॥

उस समय प्रतापी वीर अनिरुद्धने देवीका पूजन किया। देवीने बन्धनागारमें अनिरुद्धको अपनी कृपाका प्रत्यक्ष दर्शन कराया ॥ ३८ ॥

---

1. पचास देवकन्याएँ यहाँ दक्ष प्रजापतिकी पुत्रियाँ हैं। इनमेंसे २७ सोमको, १३ कश्यपको और १० धर्मको ब्याही गयी थीं। इस प्रकार इनकी संख्या पचास है।

नागपाशेन बद्धस्य तस्योपाहृतचेतसः।
स्फोटयित्वा कराग्रेण पञ्जरं वज्रसंनिभम् ॥ ३९ ॥
रुद्धं बाणपुरे वीरं सानिरुद्धमभाषत ।
सान्त्वयन्ती वचो देवी प्रसादाभिमुखी तदा ॥ ४० ॥

जो नागपाशमें बँधे हुए थे और उषाने जिनके चित्तको चुरा लिया था, उन अनिरुद्धके वज्रतुल्य पिंजरेको अपने हाथके अग्रभागसे तोड़-फोड़कर देवीने बाणपुरमें अवरुद्ध हुए वीर अनिरुद्धको मुक्त कर दिया और कृपा करनेके लिये उद्यत हो उन्हें सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा ॥ ३९-४० ॥

श्रीदेव्युवाच

चक्रायुधो मोक्षयितानिरुद्ध
त्वां बन्धनादाशु सहस्व कालम्।
छित्वा स बाणस्य सहस्रबाहुं
पुरीं निजां नेष्यति दैत्यसूदनः ॥ ४१ ॥

श्रीदेवीने कहा—अनिरुद्ध ! चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण शीघ्र आकर तुम्हें पूर्णतः इस बन्धनसे छुड़ायेंगे, तबतक कुछ कालतक इस कष्टको सहन करो। वे दैत्य-सूदन श्रीहरि बाणासुरकी सहस्र भुजाओंका छेदन करके तुम्हें अपनी पुरीको ले जायँगे ॥ ४१ ॥

ततोऽनिरुद्धः पुनरेव देवीं
तुष्टाव हृष्टः शशिकान्तवक्त्रः।

तदनन्तर चन्द्रमाके समान कमनीय मुखवाले अनिरुद्धने प्रसन्न होकर पुनः देवीका स्तवन किया ॥ ४१½ ॥

अनिरुद्ध उवाच

नमोऽस्तु ते देवि वरप्रदे शिवे
नमोऽस्तु ते देवि सुरारिनाशिनि ॥ ४२ ॥

अनिरुद्ध बोले—कल्याणस्वरूपे ! वरदायिनि देवि ! आपको नमस्कार है। देवशत्रुओंका नाश करनेवाली देवि ! आपको प्रणाम है ॥ ४२ ॥

नमोऽस्तु ते कामचरे सदाशिवे
नमोऽस्तु ते सर्वहितैषिणि प्रिये।
नमोऽस्तु ते भीतिकरि द्विषां सदा
नमोऽस्तु ते बन्धनमोक्षकारिणि ॥ ४३ ॥

इच्छानुसार विचरनेवाली सदाशिवे ! आपको नमस्कार है। सबका हित चाहनेवाली सर्वप्रिये ! आपको नमस्कार है। शत्रुओंको सदा भय देनेवाली देवि ! आपको प्रणाम है तथा बन्धनसे छुड़ानेवाली देवि ! आपको नमस्कार है ॥ ४३ ॥

ब्रह्माणीन्द्राणि रुद्राणि भूतभव्यभवे शिवे।
त्राहि मां सर्वभीतिभ्यो नारायणि नमोऽस्तु ते ॥ ४४ ॥

ब्रह्माणि ! इन्द्राणि ! रुद्राणि ! भूत, वर्तमान और भविष्य-स्वरूपे शिवे ! सब प्रकारके भयोंसे मेरी रक्षा करें। नारायणि ! आपको नमस्कार है ॥ ४४ ॥

नमोऽस्तु ते जगन्नाथे प्रिये दान्ते महाव्रते।
भक्तिप्रिये जगन्मातः शैलपुत्रि वसुन्धरे ॥ ४५ ॥
त्राहि मां त्वं विशालाक्षि नारायणि नमोऽस्तु ते।
त्रायस्व सर्वदुःखेभ्यो दानवानां भयंकरि ॥ ४६ ॥

जगत्‌की रक्षा करनेवाली प्रिय देवि ! आपको नमस्कार है। मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाली महाव्रतधारिणी भक्तिप्रिये ! जगन्मातः ! गिरिराजनन्दिनि ! वसुन्धरे ! विशाल नेत्रोंवाली नारायणि ! आप मेरी रक्षा कीजिये ! आपको नमस्कार है। दानवोंको भय देनेवाली देवि ! सब प्रकारके दुःखोंसे मेरा परित्राण कीजिये ॥ ४५-४६ ॥

रुद्रप्रिये महाभागे भक्तानामार्तिनाशिनि।
नमामि शिरसा देवीं बन्धनस्थो विमोक्षितः ॥ ४७ ॥

रुद्रप्रिये ! भक्तोंकी पीड़ा दूर करनेवाली महाभागे ! मैं चरणोंमें मस्तक झुकाकर आप देवीको नमस्कार करता हूँ। आपने मुझे बन्धनमें रहते हुए भी मुक्त कर दिया ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच

आर्यास्तवमिदं पुण्यं यः पठेत् सुसमाहितः।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति।
बन्धनस्थो विमुच्येत सत्यं व्यासवचो यथा ॥ ४८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जो एकाग्रचित्त होकर इस पवित्र आर्यास्तोत्रका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर विष्णुलोकमें जाता है और यदि बन्धनमें पड़ा हो तो उससे मुक्त हो जाता है। जैसा कि व्यासजीका सत्य वचन है ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि अनिरुद्धकृत आर्यास्तवो नाम विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें आर्यास्तवविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अनिरुद्धके अपहरणसे रनवासमें शोक, श्रीकृष्ण और यादवोंकी चिन्ता, गुप्तचरोंकी नियुक्ति और उनकी विफलता, नारदजीका आगमन और अनिरुद्धका समाचार-निवेदन, श्रीकृष्णके द्वारा गरुड़का आवाहन और स्तवन, गरुड़द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति और श्रीकृष्णका शोणितपुरको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततोऽनिरुद्धस्य गृहे रुरुदुः सर्वयोषितः।
प्रियं नाथमपश्यन्त्यः कुरर्य इव संघशः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अनिरुद्धके महलमें रहनेवाली समस्त सुन्दरियाँ अपने प्रिय स्वामीको न देखकर झुंड-की-झुंड एकत्र हो कुररियोंकी भाँति विलाप करने लगीं—॥ १॥

अहो धिक्किमिदं नाथनाथे कृष्णे व्यवस्थिते।
अनाथा इव संत्रस्ता रुदिमो भयपीडिताः॥ २॥

'अहो! धिक्कार है, यह क्या हुआ? नाथोंके भी नाथ श्रीकृष्णके रहते हुए हमलोग अनाथकी भाँति संत्रस्त और भयसे पीड़ित हो रोदन करती हैं॥ २॥

यस्येन्द्रप्रमुखा देवाः सादित्याः समरुद्गणाः।
बाहुच्छायामुपाश्रित्य वसन्ति दिवि निर्वृताः॥ ३॥
तस्योत्पन्नमिदं लोके भयदस्य महाभयम्।
तस्यानिरुद्धः पौत्रस्तु वीरः केनापि नो हृतः॥ ४॥

'जिनकी भुजाओंकी छायाका आश्रय ले आदित्यों और मरुद्गणोंसहित इन्द्र आदि सभी देवता स्वर्गमें सुखपूर्वक निवास करते हैं। लोकमें भय देनेवाले (या दूसरोंके भयका निवारण करनेवाले) उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके समक्ष आज यह महान् भय उत्पन्न हो गया। उनके वीर पौत्र हमारे स्वामी अनिरुद्धको आज किसीने हर लिया॥ ३-४॥

अहो नास्ति भयं नूनं तस्य लोके सुदुर्मतेः।
वासुदेवस्य यः क्रोधमुत्पादयति दुःसहम्॥ ५॥

'अहो! उस दुर्बुद्धिको निश्चय ही संसारमें कोई भय नहीं है, जो भगवान् वासुदेवके हृदयमें दुःसह क्रोध उत्पन्न कर रहा है॥ ५॥

व्यादितास्यस्य यो मृत्योर्दंष्ट्राग्रे परिवर्तते।
स वासुदेवं समरे मोहादभ्युदियाद् रिपुः॥ ६॥

'जो मुँह बाकर खड़ी हुई मौतकी दाढ़ोंके सामने चक्कर लगाता है, वही मोहवश समराङ्गणमें शत्रुभावसे भगवान् वासुदेवके सामने जा सकता है॥ ६॥

इदमेवंविधं कृत्वा विप्रियं यदुपुङ्गवे।
कथं जीवन् विमुच्येत साक्षादपि शचीपतिः॥ ७॥

'यदुकुलतिलक श्रीकृष्णके प्रति यह ऐसा अप्रिय बर्ताव करके साक्षात् शचीपति इन्द्र भी कैसे जीवित छूट सकता है?॥

हृतनाथाः स्म शोच्याः स्म वयं नाथं विना कृताः।
विप्रयोगेण नाथस्य कृतान्तवशगाः कृताः॥ ८॥

'हाय! हमारे नाथका अपहरण हो जानेसे हम सब-की-सब अनाथ एवं शोचनीय हो गयीं। अपने स्वामीके वियोगसे हम कालके अधीन कर दी गयीं'॥ ८॥

इत्येवं ता वदन्त्यश्च रुदन्त्यश्च पुनः पुनः।
नेत्रजं वारि मुमुचुरशिवं परमाङ्गनाः॥ ९॥

वे सुन्दरी अङ्गनाएँ इस प्रकार बारंबार विलाप करती और रोती हुई अपने नेत्रोंसे अमङ्गलसूचक आँसू बहाने लगीं॥

तासां बाष्पाम्बुपूर्णानि नयनानि चकाशिरे।
सलिलेनाप्लुतानीव पङ्कजानि जलागमे॥ १०॥

उनके अश्रुजलसे भरे हुए नेत्र वर्षाकालमें जलसे भीगे हुए कमलोंके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ १०॥

तासामरालपक्ष्माणि राजयन्ति शुभानि च।
रुधिरेणाप्लुतानीव नयनानि चकाशिरे॥ ११॥

उनके कुटिल बरौनियोंसे युक्त सुन्दर एवं लाल नेत्र खूनमें डूबे हुए-से प्रतीत होते थे॥ ११॥

तासां हर्म्यतलस्थानां पूर्ण आसीन्महास्वनः।
कुररीणामिवाकाशे रुदतीनां सहस्रशः॥ १२॥

अट्टालिकाओंमें बैठकर रोती हुई उन सुन्दरियोंका सब ओर फैला हुआ वह आर्तनाद आकाशमें सहस्रों कुररियोंके करुण-क्रन्दनके समान जान पड़ता था॥ १२॥

ते श्रुत्वा निनदं घोरमपूर्वं भयमागतम्।
उत्पेतुः सहसा स्वेभ्यो गृहेभ्यः पुरुषर्षभाः॥ १३॥

उस भयंकर आर्तनादको सुनकर किसी अपूर्व भयके आगमनका अनुमान करके वे पुरुषप्रवर यादव अपने-अपने घरोंसे सहसा उछल पड़े॥ १३॥

कस्मादेषोऽनिरुद्धस्य श्रूयते सुमहास्वनः।
गृहे कृष्णाभिगुप्तानां कुतो नो भयमागतम्॥ १४॥

वे सोचने लगे 'अनिरुद्धके महलमें यह महान् कोलाहल क्यों सुनायी देता है? श्रीकृष्णके संरक्षणमें रहनेवाले हमलोगोंके घरमें यह भय कहाँसे आ गया?'॥ १४॥

इत्येवमूचुस्तेऽन्योन्यं स्नेहविक्लवगद्गदाः।
अधर्षिता यथा सिंहा गुहाभ्य इव निःसृताः॥ १५॥

इस प्रकार वे एक-दूसरेसे कहने लगे। उस समय उनकी वाणी स्नेहजनित विकलताके कारण गद्गद हो रही थी। जिन्हें कभी किसीका तिरस्कार नहीं सहना पड़ा हो ऐसे सिंह जैसे गुफासे निकले हों, उसी प्रकार वे यादव भी अपने घरोंसे निकल पड़े॥ १५॥

सन्नाहभेरी कृष्णस्य आहता महती तदा।
यस्याः शब्देन ते सर्वे समागम्य च धिष्ठिताः॥ १६॥

भगवान् श्रीकृष्णके यहाँ युद्धकी तैयारीके लिये सूचना देनेवाला विशाल डंका तत्काल बज उठा, जिसके शब्दसे समस्त यादव वहाँ एकत्र होकर खड़े हो गये॥ १६॥

किमेतदिति तेऽन्योन्यं समपृच्छन्त यादवाः।
अन्योन्यस्य हि ते सर्वे यथावृत्तमवेदयन्॥ १७॥

वे यदुवंशी परस्पर पूछने लगे कि 'क्या बात है?' फिर जो जानकार थे, उन सबने एक दूसरेको यथार्थ बात बता दी॥ १७॥

ततस्ते बाष्पपूर्णाक्षाः क्रोधसंरक्तलोचनाः।
निःश्वसन्तो व्यतिष्ठन्त यादवा युद्धदुर्मदाः॥ १८॥

तब वे रणदुर्मद यादव नेत्रोंमें आँसू भरकर क्रोधसे लाल आँखें किये लंबी साँस खींचते हुए खड़े हो गये॥१८॥

तूष्णींभूतेषु सर्वेषु विपृथुर्वाक्यमब्रवीत्।
कृष्णं प्रहरतां श्रेष्ठं निःश्वसन्तं मुहुर्मुहुः॥ १९॥

समस्त यादव वहाँ आकर चुपचाप खड़े हो गये। तब विपृथुने बारंबार दीर्घ निःश्वास लेते हुए योद्धाओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥ १९॥

किमिदं चिन्तयाविष्टः पुरुषेन्द्र भवानिह।
तव बाहुबलप्राणाः स्वास्थिताः सर्वयादवाः॥ २०॥

'पुरुषोत्तम! आप यहाँ इस प्रकार चिन्तामग्न क्यों हैं! समस्त यादव आपके ही बाहुबलके भरोसे जीवन धारण करके यहाँ सुखपूर्वक रहते हैं॥ २०॥

भवन्तमाश्रिताः कृष्ण संविभक्ताश्च सर्वशः।
तथैव बलवाञ्शक्रस्त्वय्यावेश्य जयाजयौ॥ २१॥
सुखं स्वपिति निःशङ्कः कथं त्वं चिन्तयान्वितः।
शोकसागरमक्षोभ्यं सर्वे ते ज्ञातयो गताः॥ २२॥

'श्रीकृष्ण! ये सब आपकी शरणमें हैं और आपने सबको पृथक्-पृथक् सुख-सुविधा प्रदान की है। इसी प्रकार बलवान् इन्द्र भी आपपर ही जय-पराजयका भार रखकर बिना किसी डर-भयके सुखपूर्वक सोते हैं। फिर आप कैसे चिन्तामें डूबे हुए हैं। आपके ये समस्त बन्धु-बान्धव आपकी यह दशा देखकर शोकके अक्षोभ्य समुद्रमें मग्न हो गये हैं॥२१-२२॥

तान् मज्जमानानेकस्त्व समुद्धर महाभुज।
किमेवं चिन्तयाविष्टो न किंचिदपि भाषसे॥ २३॥
चिन्तां कर्तुं वृथा देव न त्वमर्हसि माधव।

'महाबाहो! आप अकेले ही इन डूबते हुए कुटुम्बीजनोंका उद्धार कीजिये। इस तरह चिन्तामग्न होकर आप क्यों कुछ भी नहीं बोल रहे हैं? देव! माधव! आपको व्यर्थ चिन्ता नहीं करनी चाहिये'॥ २३½॥

इत्येवमुक्तः कृष्णस्तु निःश्वस्य सुचिरं बहु॥ २४॥
प्राह वाक्यं स वाक्यज्ञो बृहस्पतिरिव स्वयम्।

विपृथुके ऐसा कहनेपर बातचीतके मर्मको समझनेवाले श्रीकृष्णने बहुत देरतक लंबी साँस खींचकर साक्षात् बृहस्पतिके समान यह बात कही॥ २४½॥

श्रीकृष्ण उवाच

विपृथो चिन्तयाविष्टो ह्येतत्कार्यमचिन्तयम्॥ २५॥
विचिन्तयंस्त्वहं चास्य कार्यस्य न लभे गतिम्।

श्रीकृष्ण बोले—विपृथो! मैं चिन्तामग्न होकर इसी कार्यके विषयमें विचार कर रहा था; किंतु बहुत सोचनेपर भी मैं इस कार्यका कोई निश्चित आधार न पा सका॥२५½॥

तथाहं भवताप्युक्तो नोत्तरं विदधे क्वचित्॥ २६॥

इसीलिये तुम्हारे पूछनेपर भी मैंने कोई उत्तर नहीं दिया॥ २६॥

दाशार्हगणमध्येऽहं वदाम्यर्थवतीं गिरम्।
शृणुध्वं यादवाः सर्वे यथा चिन्तान्वितो ह्यहम्॥ २७॥

आज समस्त दाशार्हगणोंके बीच मैं यह अभिप्रायपूर्ण बात कह रहा हूँ। यादवो! तुम सब लोग सुन लो कि मैं क्यों चिन्तित हो उठा हूँ॥ २७॥

अनिरुद्धे हृते वीरे पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः।
अशक्ता इति मंस्यन्ते सर्वानस्मान् सबान्धवान्॥ २८॥

वीर अनिरुद्धका इस तरह अपहरण हो जानेपर भूमण्डलके समस्त भूपाल बन्धु-बान्धवोंसहित हम सब लोगोंको शक्तिहीन समझेंगे॥ २८॥

आहुकश्चैव नो राजा हृतः शाल्वेन वै पुरा।
प्रत्यानीतः स चास्माभिर्युद्धं कृत्वा सुदारुणम्॥ २९॥

पूर्वकालमें शाल्वने हमारे राजा उग्रसेनको हर लिया था; तब हमने अत्यन्त दारुण युद्ध करके उन्हें वापस लौटाया था॥ २९॥

प्रद्युम्नश्चापि नो बालः शम्बरेण हृतो ह्यभूत्।
स तं निहत्य समरे प्राप्तो रुक्मिणिनन्दनः॥ ३०॥

हमारे प्रद्युम्नको भी बाल्यावस्थामें शम्बरासुरने चुरा

लिया था, परंतु रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न समराङ्गणमें उस असुरका वध करके स्वयं चले आये ॥ ३० ॥

इदं तु सुमहत् कष्टं प्राद्युम्निः क्व प्रवासितः।
एवंविधमहं दोषं न स्मरे मनुजर्षभाः ॥ ३१ ॥

किंतु यह तो सबसे बढ़कर महान् कष्टकी बात है कि प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध कहीं परदेशमें पहुँचा दिये गये और हमें पतातक नहीं चला। नरश्रेष्ठ यादवो ! ऐसा दोष कभी प्राप्त हुआ हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है ॥ ३१ ॥

भस्मना गुण्ठितः पादो येन मे मूर्ध्नि पातितः।
तस्याहं सानुबन्धस्य हरिष्ये जीवितं रणे ॥ ३२ ॥

जिसने मेरे मस्तकपर अपना राखसे लिपटा हुआ पैर रखा है, सगे-सम्बन्धियोंसहित उस दुरात्माके प्राणोंको मैं रणभूमिमें अवश्य हर लूँगा ॥ ३२ ॥

इत्येवमुक्ते कृष्णेन सात्यकिर्वाक्यमब्रवीत्।
चाराः कृष्ण प्रणीयन्तामनिरुद्धस्य मार्गणे।
सपर्वतवनोद्देशां मार्गन्तु वसुधामिमाम् ॥ ३३ ॥

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर सात्यकि बोले—'श्रीकृष्ण ! अनिरुद्धकी खोजके लिये गुप्तचर भेजे जायँ तथा वे पर्वत और वनस्थलीसहित इस सारी पृथ्वीमें उनका अनुसंधान करें'॥

आहुकं प्राह कृष्णस्तु स्मितं कृत्वा वचस्तदा।
आभ्यन्तराश्च बाह्याश्च व्यादिश्यन्तां चरा नृप॥ ३४ ॥

तब श्रीकृष्णने मुसकराकर राजा उग्रसेनसे कहा—'नरेश्वर ! आप बाह्य और आभ्यन्तर (प्रकट और गुप्त) चरोंको इस कार्यके लिये नियुक्त कीजिये' ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

केशवस्य वचः श्रुत्वा आहुकस्त्वरितोऽभवत्।
अन्वेषणेऽनिरुद्धस्य स चारान् दिष्टवांस्तदा ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर राजा उग्रसेन बड़ी उतावलीके साथ उठे। उन्होंने अनिरुद्धकी खोजके लिये तत्काल प्रकट एवं गुप्त चर नियुक्त कर दिये ॥ ३५ ॥

ततश्चारास्तु व्यादिष्टाः पार्थिवेन यशस्विना।
हया रथाश्च व्यादिष्टाः पार्थिवेन महात्मना।
अभ्यन्तरं च मार्गध्वं बाह्यतश्च समन्ततः ॥ ३६ ॥

यशस्वी भूपाल महामना उग्रसेनने चरोंको नियुक्त करके उनके लिये घोड़े और रथ भी दे दिये और यह आज्ञा दी—'तुमलोग भीतर-बाहर सब ओर अनिरुद्धको ढूँढ़ो ॥ ३६ ॥

वेणुमन्तं लताविष्टं तथा रैवतकं गिरिम्।
ऋक्षवन्तं गिरिं चैव मार्गध्वं त्वरिता हयैः ॥ ३७ ॥

'घोड़ोंपर सवार हो शीघ्रतापूर्वक जाकर वेणुमान्, लताविष्ट, रैवतक तथा ऋक्षवान् पर्वतपर उनकी खोज करो ॥

एकैकं तत्र चोद्यानं मार्गध्वं काननानि च।
यातव्यं चापि निःशङ्कमुद्यानानि समन्ततः ॥ ३८ ॥
हयानां च सहस्राणि रथानां चाप्यनेकशः।
आरुह्य त्वरिताः सर्वे मार्गध्वं यदुनन्दनम् ॥ ३९ ॥

'वहाँका एक-एक उद्यान और जंगल-झाड़ी छान डालो, उद्यानोंमें सब ओर बेखटके चले जाना, हजारों घोड़ों और बहुसंख्यक रथोंपर आरूढ हो तुम सब लोग बड़ी उतावलीके साथ यदुनन्दन अनिरुद्धका पता लगाओ' ॥ ३८-३९ ॥

सेनापतिरनाधृष्टिरिदं वचनमब्रवीत्।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणमच्युतं भीतभीतवत् ॥ ४० ॥

तदनन्तर सेनापति अनाधृष्टिने अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अच्युत श्रीकृष्णसे डरते-डरते-से इस प्रकार कहा—॥

शृणु कृष्ण वचो मह्यं रोचते यदि ते प्रभो।
चिरात् प्रभृति मे वक्तुं भवन्तं जायते मतिः ॥ ४१ ॥

'प्रभो ! श्रीकृष्ण ! यदि आपको जँचे तो मेरी बात भी सुनें। बड़ी देरसे मेरे मनमें यह बात आ रही थी कि मैं आपसे कुछ कहूँ ॥ ४१ ॥

असिलोमा पुलोमा च निसुन्दनरकौ हतौ।
सौभः शाल्वश्च निहतौ मैन्दो द्विविद एव च ॥ ४२ ॥

'आपके द्वारा असिलोमा और पुलोमा मारे गये। निसुन्द और नरक कालके गालमें डाल दिये गये। सौभ विमान और उसके स्वामी राजा शाल्व भी नष्ट कर दिये गये। मैन्द और द्विविद भी मारे गये ॥ ४२ ॥

हयग्रीवश्च सुमहान् सानुबन्धस्त्वया हतः।
तादृशे विग्रहे वृत्ते देवहेतोः सुदारुणे ॥ ४३ ॥
सर्वाण्येतानि कर्माणि निःशेषाणि रणे रणे।
कृतवानसि गोविन्द पार्ष्णिग्राहश्च नास्ति ते ॥ ४४ ॥

'महान् असुर हयग्रीव सगे-सम्बन्धियोंसहित आपके हाथसे मारा गया। देवताओंके लिये वैसे-वैसे अत्यन्त भयङ्कर युद्ध आपने किये हैं। गोविन्द ! प्रत्येक रणक्षेत्रमें आपने ये सारे कर्म पूर्णरूपसे सम्पन्न किये हैं, किंतु आपका साथ देनेवाला कोई नहीं है ॥ ४३-४४ ॥

इदं कर्म त्वया कृष्ण सानुबन्धं महत् कृतम्।
पारिजातस्य हरणे यत् कृतं कर्म दुष्करम् ॥ ४५ ॥

'श्रीकृष्ण ! पारिजातका हरण करते समय आपने जो दुष्कर कर्म किया था, वह सबसे महान् था। आपके द्वारा किया गया यह पारिजात-हरणरूपी कर्म परिणामसहित सबसे उत्कृष्ट है ॥ ४५ ॥

तत्र शक्रस्त्वया कृष्ण ऐरावतशिरोगतः।
निर्जितो बाहुवीर्येण त्वया युद्धविशारदः ॥ ४६ ॥

'श्रीकृष्ण! उस समय आपने अपने बाहुबलसे ऐरावतकी पीठपर बैठे हुए युद्धविशारद इन्द्रको भी पराजित कर दिया॥

तेन वैरं त्वया सार्धं कर्तव्यं नात्र संशयः।
वैरानुबन्धश्च महांस्तेन कार्यस्त्वया सह ॥ ४७ ॥

'अतः इसमें कोई संशय नहीं कि देवराज इन्द्र आपके साथ वैर कर सकते हैं। उनका आपके साथ महान् वैर बाँधना अवश्य सम्भव है ॥ ४७ ॥

तत्रानिरुद्धहरणं कृतं मघवता स्वयम्।
न ह्यन्यस्य भवेच्छक्तिर्वैरनिर्यातनं प्रति ॥ ४८ ॥

'अतः अनिरुद्धका अपहरण स्वतः इन्द्रने ही किया है। दूसरे किसीमें इस तरह वैरका बदला लेनेकी शक्ति नहीं हो सकती' ॥ ४८ ॥

इत्येवमुक्ते वचने कृष्णो नाग इव श्वसन्।
उवाच वचनं धीमाननाधृष्टिं महाबलम् ॥ ४९ ॥

उनके ऐसी बात कहनेपर बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णने हाथीके समान उच्छ्वास लेकर महाबली अनाधृष्टिसे इस प्रकार कहा—॥ ४९ ॥

सेनानीस्तात मा मैवं न देवाः क्षुद्रकर्मिणः।
नाकृतज्ञा न च क्लीबा नावलिप्ता न बालिशाः ॥ ५० ॥

'तात! सेनापते! ऐसी बात न कहो, न कहो, देवता ऐसा नीच कर्म करनेवाले नहीं होते। वे न तो अकृतज्ञ होते हैं, न कायर। न घमंडी होते हैं, न मूर्ख ॥ ५० ॥

देवतार्थे च मे यत्नो महान् दानवसंक्षये।
तेषां प्रियार्थं च रणे हन्मि दृप्तान् महाबलान् ॥ ५१ ॥

'देवताओंके लिये ही मेरा दानव-संहारके निमित्त महान् प्रयत्न होता रहता है। उन्हींका प्रिय करनेके लिये मैं रणमें अभिमानी और महाबली असुरोंका वध करता हूँ ॥ ५१ ॥

तत्परस्तन्मनाश्चास्मि तद्भक्तस्तत्प्रिये रतः।
कथं पापं करिष्यन्ति विज्ञायैवंविधं हि माम् ॥ ५२ ॥

'मैं शरीरसे उन देवताओंके हितमें तत्पर रहता हूँ, मनसे उन्हींका हित-चिन्तन करता हूँ, उनमें भक्तिभाव रखता हूँ और उन्हींका प्रिय करनेमें लगा रहता हूँ। मुझे ऐसा जानकर भी वे मेरे साथ दुर्व्यवहार क्यों करेंगे ॥ ५२ ॥

अक्षुद्राः सत्यवन्तश्च नित्यं भक्तानुकम्पिनः।
तेभ्यो न विद्यते पापं बालिशत्वात् प्रभाषसे ॥ ५३ ॥

'देवता क्षुद्रतासे रहित, सत्यवादी तथा भक्तजनोंपर सदा कृपा करनेवाले होते हैं। उनसे पाप नहीं हो सकता। तुम विवेकशून्य होनेके कारण उनके सम्बन्धमें उपर्युक्त बात कह रहे हो ॥ ५३ ॥

कदाचिदिह पुंश्चल्या अनिरुद्धो हृतो भवेत्।
देवेषु समहेन्द्रेषु नैतत् कर्म विधीयते ॥ ५४ ॥

'कदाचित् यह सम्भव हो सकता है कि किसी पुंश्चली स्त्रीने यहाँ आकर अनिरुद्धका अपहरण किया हो। इन्द्रसहित देवताओंमेंसे किसीके द्वारा ऐसा कर्म नहीं बन सकता' ॥ ५४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं चिन्तयमानस्य कृष्णस्याद्भुतकर्मणः।
कृष्णस्य वचनं श्रुत्वा ततोऽक्रूरोऽब्रवीद् वचः ॥ ५५ ॥
मधुरं श्लक्ष्णया वाचा अर्थवाक्यविशारदः।
यच्छक्रस्य प्रभो कार्यं तदस्माकं विनिश्चितम् ॥ ५६ ॥
अस्माकं चापि यत्कार्यं तद्धि कार्यं शचीपतेः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा विचार करते हुए अद्भुतकर्मा श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर अर्थयुक्त वचन बोलनेमें चतुर अक्रूरने स्नेहयुक्त वाणीमें मधुर स्वरसे कहा—'प्रभो! इन्द्रका जो कार्य है, वह निश्चय ही हमलोगोंका भी है। इसी प्रकार जो हमारा कार्य है, वह शचीपति इन्द्रका भी है ॥ ५५-५६½ ॥

संरक्ष्याश्च वयं देवैरस्माभिश्चापि देवताः।
देवतार्थे वयं चापि मानुषत्वमुपागताः ॥ ५७ ॥

'देवताओंको हमारी रक्षा करनी चाहिये और हमें देवताओंकी; क्योंकि हमलोग भी देवताओंके लिये ही मानव-शरीरमें आये हैं' ॥ ५७ ॥

एवमक्रूरवचनैश्चोदितो मधुसूदनः।
स्निग्धगम्भीरया वाचा पुनः कृष्णोऽभ्यभाषत ॥ ५८ ॥

अक्रूरके इन वचनोंसे प्रेरित होकर मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्णने पुनः स्निग्ध गम्भीर वाणीमें कहा—॥ ५८ ॥

नायं देवैर्न गन्धर्वैर्न यक्षैर्न च राक्षसैः।
प्रद्युम्नपुत्रोऽपहृतः पुंश्चल्या नु महायशः ॥ ५९ ॥

'महायशस्वी अक्रूरजी! प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्धका अपहरण देवताओं, गन्धर्वों, यक्षों और राक्षसोंने नहीं किया है। निश्चय ही यह किसी पुंश्चली (व्यभिचारिणी) स्त्रीका काम है ॥ ५९ ॥

मायाविदग्धाः पुंश्चल्यो दैत्यदानवयोषितः।
ताभिर्हृतो न संदेहो नान्यतो विद्यते भयम् ॥ ६० ॥

'दैत्यों और दानवोंकी जो पुंश्चली स्त्रियाँ हैं, वे मायामें निपुण होती हैं। उन्हींके द्वारा अनिरुद्धका अपहरण हुआ है, इसमें संदेह नहीं है। दूसरे किसीसे यह भय नहीं प्राप्त हुआ है' ॥ ६० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते वचने कृष्णेन तु महात्मना।
अथावगम्य तत्त्वेन यद् भूतं यदुमण्डले।
उदतिष्ठन्महानादस्तदा कृष्णं प्रशंसयन्॥ ६१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! महात्मा श्रीकृष्णके ऐसी बात कहनेपर यदुमण्डलमें जो कुछ हुआ था, उसको ठीकसे जान लेनेपर वहाँ श्रीकृष्णकी प्रशंसासे भरा हुआ महान् शब्द प्रकट हुआ॥ ६१॥

हर्षयन् स तु सर्वेषां सूतमागधवन्दिनाम्।
मधुरः श्रूयते घोषो यादवस्य निवेशने॥ ६२॥

यदुपति श्रीकृष्णके महलमें सबके हर्षको बढ़ाता हुआ सूतों, मागधों और वन्दियोंका वह मधुर घोष सबको सुनायी देने लगा॥ ६२॥

ते चाराः सर्वतः सर्वे सभाद्वारमुपागताः।
शनैर्गद्गदया वाचा इदं वचनमब्रुवन्॥ ६३॥

इतनेमें ही वे सब गुप्तचर सब ओरसे खोज करके सभाद्वारपर लौट आये और धीरे-धीरे गद्गद वाणीमें इस प्रकार बोले—॥ ६३॥

उद्यानानि गुहाः शैलाः सभा नद्यः सरांसि च।
एकैकं शतशो राजन् मार्गितं न च दृश्यते॥ ६४॥

'राजन्! सारे उद्यान, गुफाएँ, पर्वत, धर्मशाले, नदियाँ और सरोवर छान डाले गये। एक-एक स्थानपर सौ-सौ बार खोज की गयी; परंतु कहीं अनिरुद्धका दर्शन नहीं हुआ'॥

अन्ये कृष्णं चरा राजन्नुपागम्य तदाब्रुवन्।
सर्वे नो विदिता देशाः प्राद्युम्निर्न च दृश्यते॥ ६५॥

राजन्! दूसरे चर भी भगवान् श्रीकृष्णके पास आकर कहने लगे—'प्रभो! हमें सब देशोंका पता है, सर्वत्र खोज की गयी, किंतु कहीं भी प्रद्युम्नकुमारका पता नहीं लग रहा है॥

यदन्यत् संविधातव्यं विधानं यदुनन्दन।
तदाज्ञापय नः क्षिप्रमनिरुद्धस्य मार्गणे॥ ६६॥

'यदुनन्दन! अनिरुद्धके अन्वेषणके लिये अब और जो कुछ कार्य करना हो, उसके लिये हमें शीघ्र आज्ञा दीजिये'॥

ततस्ते दीनमनसः सर्वे बाष्पाकुलेक्षणाः।
अन्योन्यमभ्यभाषन्त किमतः कार्यमुत्तमम्॥ ६७॥

चरोंकी ये बातें सुनकर सबका मन उदास हो गया। सबके नेत्रोंमें आँसू भर आये और सब एक-दूसरेसे कहने लगे—'इससे उत्तम कार्य अब और क्या करना चाहिये?'॥ ६७॥

संदष्टौष्ठपुटाः केचित् केचिद् बाष्पाकुलेक्षणाः।
केचिद् भ्रुकुटिमास्थाय चिन्तयन्त्यर्थसिद्धये॥ ६८॥

किसीने क्रोधवश दाँतोंसे ओठ दबा लिये, किन्हींके नेत्रोंमें आँसू भर आये और कोई भौंहें टेढ़ी करके कार्यसिद्धिके उपायपर विचार करने लगे॥ ६८॥

एवं चिन्तयतां तेषां बह्वर्थमभिभाषितम्।
अनिरुद्धः कुतश्चेति सम्भ्रमः सुमहानभूत्॥ ६९॥

इस प्रकार चिन्तन करते हुए उन यादवोंके मुखसे अनेक तरहकी बातें निकलीं। 'अनिरुद्ध कहाँ गये?' इस प्रश्नको लेकर सबके हृदयमें महान् सम्भ्रम उत्पन्न हो गया॥

अन्योन्यमभिवीक्षन्ते यादवा जातमन्यवः।
तां निशां विमनस्कास्ते गमयेयुः कथंचन।
अनिरुद्धो हृतश्चेति पुनः पुनररिंदम॥ ७०॥

शत्रुदमन नरेश! उस समय कुपित और खिन्न हुए यादव एक दूसरेका मुँह देखने लगे। अनिरुद्धके अपहरणकी बारंबार चर्चा करते हुए उन्होंने उदास मनसे किसी तरह वह रात बितायी॥ ७०॥

एवं च ब्रुवतां तेषां प्रभाता रजनी तदा।
ततस्तूर्यनिनादैश्च शङ्खानां च महास्वनैः।
प्रबोधनं महाबाहोः कृष्णस्याक्रियतालये॥ ७१॥

इस तरह आपसमें बात करते हुए ही उनकी रात बीत गयी और प्रातःकाल आ गया। तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णके भवनमें सबको जगानेके लिये बड़े जोर जोरसे भाँति-भाँतिके बाजे बजने लगे और शङ्खोंकी भी गम्भीर ध्वनि होने लगी॥ ७१॥

ततः प्रभाते विमले प्रादुर्भूते दिवाकरे।
प्रविवेश सभामेको नारदः प्रहसन्निव॥ ७२॥

तत्पश्चात् निर्मल प्रभातमें जब सूर्यदेवका उदय हुआ, उस समय अकेले नारदजीने हँसते हुए-से वहाँ यादवोंकी सभामें प्रवेश किया॥ ७२॥

दृष्ट्वा तु यादवान् सर्वान् कृष्णेन सह संगतान्।
ततः स जयशब्देन माधवं प्रत्यपूजयत्॥ ७३॥

श्रीकृष्णके साथ एकत्र हुए समस्त यादवोंकी ओर देखकर उन्होंने 'जय हो, जय हो' कहकर माधव (श्रीकृष्ण) का समादर किया॥ ७३॥

उग्रसेनादयस्ते च तमृषिं प्रत्यपूजयन्।
अथाभ्युत्थाय विमनाः कृष्णः समितिदुर्जयः।
मधुपर्कं च गां चैव नारदाय ददौ प्रभुः॥ ७४॥

फिर उग्रसेन आदिने नारदजीका पूजन किया। इसके बाद रणदुर्जय भगवान् श्रीकृष्णने उदास मनसे उठकर नारदजीको मधुपर्क तथा एक गौ समर्पित की॥ ७४॥

सोपविश्यासने शुभ्रे सर्वास्तरणसंवृते।
सुखासीनो यथान्यायमुवाचेदं वचोऽर्थवत्॥ ७५॥

स्वागत-सत्कारके पश्चात् जब नारदजी सब प्रकारके बिछौनोंसे ढके हुए शुभ्र आसनपर सुखपूर्वक बैठ गये, तब वे यथोचित रीतिसे यह अर्थयुक्त वचन बोले ॥ ७५ ॥

नारद उवाच

किमेवं चिन्तयाविष्टा निःसङ्गा गतमानसाः ।
उत्साहहीनाः सर्वे वै क्लीवा इव समासते ॥ ७६ ॥

नारदजीने कहा—आज क्या बात है कि समस्त यादव इस तरह चिन्तामग्न, असंग, अनमने और उत्साहहीन होकर क्लीवों (कायरों)के समान चुपचाप बैठे हैं ? ॥ ७६ ॥

इत्येवमुक्ते वचने नारदेन महात्मना ।
वासुदेवोऽब्रवीद् वाक्यं श्रूयतां भगवन्निदम् ॥ ७७ ॥

महात्मा नारदके इस तरह पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'भगवन् ! इसका कारण सुनिये—॥ ७७ ॥

अनिरुद्धो हृतो ब्रह्मन् केनापि निशि सुव्रत ।
यस्यार्थे सर्व एवास्म चिन्तयाविष्टचेतसः ॥ ७८ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मन् ! यहाँ रात्रिके समय किसीने अनिरुद्धका अपहरण कर लिया है । उन्हींके लिये हम सब लोग यहाँ चिन्तित-चित्त होकर बैठे हैं ॥ ७८ ॥

एष ते यदि वृत्तान्तः श्रुतो दृष्टोऽपि वा मुने ।
भगवन् कथ्यतां साधु प्रियमेतन्ममानघ ॥ ७९ ॥

'निष्पाप मुने ! भगवन् ! यदि यह वृत्तान्त आपने कहीं सुना या देखा हो तो अच्छी तरह बताइये, यह मेरा प्रिय विषय है' ॥ ७९ ॥

इत्येवमुक्ते वचने केशवेन महात्मना ।
प्रहस्यैतद् वचः प्राह श्रूयतां मधुसूदन ॥ ८० ॥

महात्मा केशवके ऐसी बात कहनेपर नारदजी ठठाकर हँस पड़े और इस प्रकार बोले—'मधुसूदन ! सुनिये—॥

निर्वृत्तं सुमहद् युद्धं देवासुरसमं महत् ।
अनिरुद्धस्य चैकस्य बाणस्यापि महामृधे ॥ ८१ ॥

'एक महासमरमें एक ओर अकेले अनिरुद्ध थे और दूसरी ओर सेनासहित बाणासुर था । इन दोनोंमें महान् देवासुर-संग्रामके समान बड़ा भारी युद्ध हुआ है ॥ ८१ ॥

उषा नाम सुता तस्य बाणस्याप्रतिमौजसः ।
तस्यार्थे चित्रलेखा वै जहाराशु तमप्सराः ॥ ८२ ॥

'अप्रतिम बलशाली बाणासुरकी एक पुत्री है, जिसका नाम उषा है । उसीके लिये चित्रलेखा अप्सरा शीघ्रतापूर्वक अनिरुद्धको हर ले गयी ॥ ८२ ॥

उभयोरपि तत्रासीी महायुद्धं सुदारुणम् ।
प्राद्युम्निबाणयोः संख्ये बलिवासवयोरिव ॥ ८३ ॥

'वहाँ अनिरुद्ध और बाणासुर दोनोंमें अत्यन्त भयंकर महान् युद्ध हुआ । ठीक उसी तरह, जैसे देवासुर-संग्राममें बलि और इन्द्रका युद्ध हुआ था ॥ ८३ ॥

अस्माभिश्चापि तद् युद्धं दृष्टं सुमहदद्भुतम् ।
अनिरुद्धो भयात् तेन संयुगेष्वनिवर्तिना ॥ ८४ ॥
बाणेन मायामास्थाय बद्धो नागैर्महाबलः ।

'मैंने भी उस महान् एवं अद्भुत युद्धको अपनी आँखों देखा है । युद्धसे पीछे न हटनेवाले बाणासुरने भयभीत होकर मायाका सहारा लिया और नागपाशसे महाबली अनिरुद्धको बाँध लिया ॥ ८४½ ॥

व्यादिष्टस्तु वधस्तस्य बाणेन गरुडध्वज ॥ ८५ ॥
तं निवारितवान् मन्त्री कुम्भाण्डो नाम तस्य ह ।

'गरुडध्वज ! उस समय उसने अनिरुद्धके वधकी आज्ञा दे दी, परंतु उसके मन्त्री कुम्भाण्डने उसे वैसा करनेसे रोक दिया ॥ ८५½ ॥

कुमारस्यानिरुद्धस्य तेनासक्तेन संयुगे ॥ ८६ ॥
बाणेन मायामास्थाय सर्पैर्नियमनं कृतम् ।
उत्तिष्ठतु भवाञ्छीघ्रं यशसे विजयाय च ॥ ८७ ॥

'युद्धमें आसक्त हुए बाणासुरने मायाका सहारा लेकर सर्पमय बाणोंद्वारा कुमार अनिरुद्धको बाँधा है; अतः अब आप यश और विजयके लिये शीघ्र उठिये ॥ ८६-८७ ॥

नायं संरक्षितुं कालः प्राणांस्तात जयैषिणाम् ।
प्राणैः किंचिद्गतैर्वीरो धैर्यमालम्ब्य तिष्ठति ॥ ८८ ॥

'तात ! विजयकी अभिलाषा रखनेवाले वीरोंके लिये यह अपने प्राणोंको बचाकर बैठनेका समय नहीं है । वीर पुरुष प्राणोंके कुछ संकटमें पड़ जानेपर धैर्यका सहारा लेकर शत्रुके सामने डटा रहता है' ॥ ८८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते वचने वासुदेवः प्रतापवान् ।
प्रायात्रिकान् वै सम्भारानाज्ञापयत वीर्यवान् ॥ ८९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उनके ऐसा कहनेपर पराक्रमी एवं प्रतापी वीर वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने रणयात्राके लिये उपयुक्त सामग्री तैयार करनेकी आज्ञा दे दी ॥ ८९ ॥

ततश्चन्दनचूर्णैश्च लाजैश्चैव समन्ततः ।
निर्ययौ स महाबाहुः कीर्यमाणो जनार्दनः ॥ ९० ॥

तदनन्तर महाबाहु जनार्दन यात्राके लिये घरसे बाहर निकले । उस समय उनके ऊपर चारों ओरसे चन्दनचूर्ण और लावा बिखेरे जा रहे थे ॥ ९० ॥

नारद उवाच

स्मरणं वैनतेयस्य कर्तुमर्हसि माधव।
न ह्यन्येन तदध्वानं शक्यं गन्तुं महाभुज ॥ ९१ ॥

(इतनेमें ही) नारदजी बोले—माधव ! विनतानन्दन गरुड़का स्मरण कीजिये। महाबाहो ! उनके सिवा दूसरा कोई उस मार्गपर नहीं जा सकता ॥ ९१ ॥

आकर्णय तमध्वानं गन्तव्यमतिदुर्जयम्।
एकादश सहस्राणि योजनानां जनार्दन ॥ ९२ ॥
तदितः शोणितपुरं प्राद्युम्निर्यत्र साम्प्रतम्।

जनार्दन ! मेरी बात सुनिये। जिस मार्गपर आपको चलना है, वह अत्यन्त दुर्गम है। प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध इस समय जहाँ विद्यमान हैं, वह शोणितपुर यहाँसे ग्यारह हजार योजनकी दूरीपर है ॥ ९२½ ॥

मनोजवो महावीर्यो वैनतेयः प्रतापवान् ॥ ९३ ॥
समाह्वयस्व गोविन्द स हि त्वां तत्र नेष्यति।
एकेन सुमुहूर्तेन बाणं संदर्शयिष्यति ॥ ९४ ॥

गोविन्द ! महापराक्रमी और प्रतापी विनतानन्दन गरुड़ मनके समान वेगशाली हैं। आप उन्हींका आवाहन कीजिये। वे ही आपको वहाँ पहुँचायेंगे। वे एक ही मुहूर्तमें आपको बाणासुरके सामने उपस्थित कर देंगे ॥ ९३-९४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सस्मार गरुडं तदा।
स कृष्णपार्श्वमागम्य प्राञ्जलिर्गरुडः स्थितः ॥ ९५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नारदजीका यह वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने उस समय गरुड़का स्मरण किया। स्मरण करते ही वे श्रीकृष्णके पास आकर हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ९५ ॥

प्रणम्याथ वचः प्राह वैनतेयो महाबलः।
वासुदेवं महात्मानं श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ॥ ९६ ॥

महात्मा वासुदेवको प्रणाम करके महाबली गरुड उनसे स्नेहयुक्त मधुर वाणीमे बोले ॥ ९६ ॥

गरुड उवाच

पद्मनाभ महाबाहो किमर्थं संस्मृतो ह्यहम्।
कृत्यं ते यदिहात्रास्ति श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ९७ ॥

गरुडने कहा—पद्मनाभ ! महाबाहो ! आपने किस लिये मेरा स्मरण किया है। यहाँ आपको मुझसे जो काम है, उसे मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ ॥ ९७ ॥

कस्य पक्षपरिक्षेपैर्नाशयामि पुरीं प्रभो।
प्रभावात्तव गोविन्द को न विद्याद् बलं मम ॥ ९८ ॥

प्रभो ! आज्ञा दीजिये, मैं अपने पंखोंके प्रहारसे किसकी पुरीका नाश कर डालूँ ? गोविन्द ! आपके प्रभावसे मेरे बलको कौन नहीं जानता है ? ॥ ९८ ॥

गदावेगं च ते वीर चक्राग्निं च महाभुज।
नावबुध्यति मूढात्मा को दर्पान्नाशमेष्यति ॥ ९९ ॥

वीर ! महाबाहो ! कौन मूढ़चित्त पुरुष आपकी गदाके वेग और सुदर्शन चक्रके तेजको नहीं जानता है ? वह अपने घमंडके कारण नष्ट हो जायगा ॥ ९९ ॥

हलं सिंहमुखं कस्य वनमाली नियोक्ष्यति।
कस्य देहस्तु निर्भिन्नो मेदिनीं यास्यति प्रभो ॥ १०० ॥

प्रभो ! वनमालाधारी बलरामजी सिंहके-से मुखवाले अपने हलका प्रहार आज किसपर करनेवाले हैं ? किसका शरीर आज छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीपर गिरनेवाला है ? ॥

कस्य शङ्खरवैः प्राणान् मोहयिष्यसि माधव।
कोऽयं सपरिवारोऽद्य यास्यते यमसादनम् ॥ १०१ ॥

माधव ! आप अपनी शङ्खध्वनिसे किसके प्राणोंको मोहित करनेवाले हैं। यह कौन है, जो आज परिवारसहित यमलोकमें जाना चाहता है ॥ १०१ ॥

एवमुक्ते तु वचने वैनतेयेन धीमता।
वासुदेवो वचः प्राह शृणु त्वं वदतां वर ॥ १०२ ॥

बुद्धिमान् विनतानन्दन गरुड़के ऐसा कहनेपर वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'वक्ताओंमें श्रेष्ठ गरुड़ ! सुनो ॥

बलेः पुत्रेण बाणेन प्राद्युम्निरपराजितः।
उषायाः कारणे बद्धो नगरे शोणिताह्वये।
अनिरुद्धस्तु कामार्तो बद्धो नागैर्विषोल्बणैः ॥ १०३ ॥

'बलिके पुत्र बाणासुरने अपराजित वीर प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धको उषाके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेके कारण शोणितपुरमें बंदी बना लिया है। कामपीड़ित अनिरुद्धको उसने प्रचण्ड विषवाले सर्पोंके द्वारा बाँध रखा है ॥ १०३ ॥

तस्य मोक्षार्थमाहूतो मया त्वं पतगेश्वर।
तव वेगसमो नास्ति पक्षिणां प्रवरो भवान्।
अशक्यं च तदध्वानं गन्तुमन्येन काश्यप ॥ १०४ ॥

'पक्षिराज ! उन्हीं अनिरुद्धको बन्धनसे छुड़ानेके लिये मैंने तुम्हारा आवाहन किया है। वेगमें तुम्हारी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। तुम पक्षियोंमें सबसे श्रेष्ठ हो। कश्यपनन्दन ! तुम्हारे सिवा दूसरे किसीके लिये उस मार्गपर चलना असम्भव है ॥ १०४ ॥

तत्र प्रापय मां शीघ्रं यत्र प्राद्युम्निरावसत्।
वैदर्भी ते स्नुषा वीर रुदती पुत्रगृद्धिनी ॥ १०५ ॥
त्वत्प्रसादाद् भवत्येषा पुत्रेण सह भामिनी।

'जहाँ प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध निवास करते हैं, वहाँ

शीघ्र मुझे पहुँचा दो। वीर! विदर्भराज रुक्मीकी पुत्री शुभाङ्गी, जो तुम्हारी पुत्रवधू लगती है, अपने पुत्रसे मिलनेकी इच्छा रखकर रो रही है। तुम्हारी कृपासे यह भामिनी अपने पुत्रसे मिल सके—ऐसा प्रयत्न करो ॥ १०५½ ॥

अमृतं तु हृतं पूर्वं त्वया पन्नगनाशन ॥१०६॥
मया सह समागम्य तस्मिन् काले महाभुज ।
अभवन्मे ध्वजश्चैव त्वद्भक्ताः सर्ववृष्णयः ।
सखित्वं मानयस्वाद्य भक्तिं च पतगेश्वर ॥१०७॥

'सर्पशत्रो! तुमने पूर्वकालमें (देवताओंको पराजित करके) अमृतका अपहरण किया था। महाबाहो! वह समय तुम्हें याद होगा जब कि तुम मेरे साथ मिलकर मेरे ध्वजरूप हुए थे। ये समस्त वृष्णिवंशी तुम्हारे भक्त हैं। पक्षिराज! आज तुम हमारी मैत्री तथा भक्तिका आदर करो।१०६-१०७।

तव वेगसमो नास्ति पक्षिणो न च ते समाः ।
सुपर्ण सुकृतेन त्वां शपे पन्नगनाशन ॥१०८॥

'तुम्हारे वेगकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। दूसरे पक्षी भी तुम्हारे समान नहीं हैं। सर्पनाशन गरुड! मैं पुण्यकी शपथ खाकर तुमसे यह बात कह रहा हूँ ॥१०८॥

दासीभावं गता माता मोक्षितैकाकिना पुरा ।
पक्षविक्षेपमात्रेण हता योधास्त्वया पुरा ॥१०९॥

'पूर्वकालमें जब माता विनता दासीभावको प्राप्त हुई थीं। उस समय तुमने अकेले ही उनका उद्धार किया था। अपने पंखोंके प्रहारमात्रसे पहले तुमने बहुत-से योद्धाओंका संहार कर डाला है ॥ १०९ ॥

भवान् सुरगणान् सर्वान् पृष्ठमारोप्य विक्रमात् ।
गच्छ मे ह्यगमान् देशान् विजयश्च तवाश्रयात् ॥११०॥

'तुम इन समस्त यादववीरोंको, जो देवगणोंके अंशसे उत्पन्न हैं, अपनी पीठपर बिठाकर पराक्रमपूर्वक मेरे साथ उन अगम्य देशोंमें चलो। तुम्हारे भरोसे ही आज हमारी विजय है ॥ ११० ॥

गुरुत्वान्मेरुतुल्यस्त्वं लघुत्वात् पवनोपमः ।
भूते भव्ये भविष्ये च न ते तुल्योऽस्ति विक्रमे ॥१११॥

'तुम गुरुतामें मेरुके समान और शीघ्रतापूर्वक चलनेमें वायुके तुल्य हो। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें तुम्हारे समान विक्रमशाली दूसरा कोई नहीं है ॥ १११ ॥

सत्यसंध महाभाग वैनतेय महाद्युते ।
अनिरुद्धेक्षणेनाद्य साहाय्यमुपकल्प्यताम् ॥११२॥

'महातेजस्वी, महाभाग, सत्यप्रतिज्ञ, विनतानन्दन! आज अनिरुद्धसे मिला देनेमें तुम हमारी सहायता करो' ॥

गरुड उवाच

अत्यद्भुतमिदं वाक्यं तव कृष्ण महाभुज ।
त्वत्प्रसादाच्च विजयः सर्वत्रैव महाभुज ॥११३॥

गरुड बोले—महाबाहो! श्रीकृष्ण! आपकी यह बात तो बड़ी अद्भुत है। बड़ी बाँहवाले प्रभो! आपकी कृपासे ही सर्वत्र विजय होती है ॥ ११३ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि संस्तवान्मधुसूदन ।
स्तोतव्यस्त्वं मया कृष्ण स्तौषि मां त्वं महाभुज ॥

मधुसूदन! आपने जो मेरी स्तुति-प्रशंसा की है, इससे मैं धन्य हो गया। यह आपने मुझपर महान् अनुग्रह किया। महाबाहु श्रीकृष्ण! मुझे आपकी स्तुति करनी चाहिये, किंतु आप उलटे मेरी ही स्तुति कर रहे हैं ॥ ११४ ॥

वेदाध्यक्षः सुराध्यक्षः सर्वकामप्रदो भवान् ।
अमोघदर्शनस्त्वं हि वरार्थिषु वरप्रदः ॥११५॥

आप सम्पूर्ण वेदोंके अध्यक्ष (उनके द्वारा प्रतिपादित सर्वसाक्षी चेतन परमात्मा) हैं। देवताओंके भी स्वामी तथा सम्पूर्ण कामनाओंके दाता हैं। आपका दर्शन अमोघ है। आप वरार्थी पुरुषोंको वर देनेवाले हैं ॥ ११५ ॥

चतुर्भुजश्चतुर्मूर्तिश्चातुर्होत्रप्रवर्तकः ।
चातुराश्रम्यहोता च चतुर्नेता महाकविः ॥११६॥

आपकी चार भुजाएँ हैं। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चार आपकी मूर्तियाँ हैं। आप चातुर्होत्र यज्ञके प्रवर्तक हैं। चारों आश्रमोंमें होता हैं। चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति करानेवाले तथा महाज्ञानी हैं ॥ ११६ ॥

धनुर्धरश्चक्रधरो भवाञ्छङ्खधरो महान् ।
भवान् पूर्वेषु देहेषु ख्यातो भूमिधरः प्रभो ॥११७॥

आप शार्ङ्ग धनुष, सुदर्शन चक्र और पाञ्चजन्य शङ्ख धारण करनेवाले महान् विष्णु हैं। प्रभो! आप अपने पूर्व-विग्रहों (कूर्म, वराह आदि अवतारों) में धरणीधरके रूपमें विख्यात हैं ॥ ११७ ॥

लाङ्गली मुसली चक्री देवकीतनयो भवान् ।
चाणूरमथनश्चैव गोप्रियः कंसहा भवान् ॥११८॥

आप ही हलधर, मुसलधारी और चक्र धारण करनेवाले हैं। आप देवकीके पुत्र, चाणूरका संहार करनेवाले, गौओंके प्रिय तथा कंसका वध करनेवाले हैं ॥ ११८ ॥

गोवर्धनधरश्चैव मल्लारिर्मल्लभावनः ।
मल्लप्रियो महामल्लो महापुरुष इत्यपि ॥११९॥

आप ही गोवर्धनधारी हैं। आप मल्लोंके शत्रु, मल्लोंके पोषक, मल्लोंके प्रेमी, महामल्लस्वरूप तथा महापुरुष हैं ॥

विप्रप्रियो विप्रहितो विप्रज्ञो विप्रभावनः ।

ब्रह्मण्यश्च वरेण्यश्च भवान् दामोदरः स्मृतः ।
प्रलम्बमथनश्चैव केशिहा दानवान्तकः ॥१२०॥

आप ब्राह्मणोंके प्रिय, ब्राह्मणोंके हितैषी, ब्राह्मणोंके ज्ञाता, ब्राह्मणोंके पालक तथा ब्राह्मणभक्त हैं । आप ही सर्वश्रेष्ठ दामोदर कहे गये हैं । आपने ही बलभद्ररूपसे प्रलम्बासुरका संहार किया है । आप केशीके हन्ता तथा दानवोंके काल हैं ॥१२०॥

असिलोम्नश्च हन्ता च तथा रावणनाशनः ।
विभीषणस्य भगवान् राज्यदो वालिनाशनः ॥१२१॥

आपने ही असिलोमाका वध किया है । आप ही वाली तथा रावणका विनाश करनेवाले और विभीषणको राज्य देनेवाले भगवान् श्रीराम हैं ॥ १२१ ॥

सुग्रीवराज्यदाता त्वं बलिराज्यापहारकः ।
रत्नहर्ता महारत्नं समुद्रोदरसम्भवम् ॥१२२॥

सुग्रीवको राज्य प्रदान करनेवाले भी आप ही हैं । आपने ही (वामनरूप धारण करके) बलिके राज्यका अपहरण किया है । आप कौस्तुभ और लक्ष्मी नामक रत्नोंको ग्रहण करनेवाले हैं । आप ही समुद्रके गर्भसे उत्पन्न धन्वन्तरि नामक महारत्न हैं ॥ १२२ ॥

वरुणश्च भवान् ख्यातो भवांश्च सरिदुद्भवः ।
भवान् खड्गधरो धन्वी धनुर्धरवरो महान् ॥१२३॥

आप ही वरुण नामसे विख्यात हैं । आप ही सरिताओंकी उत्पत्तिके स्थान मेरु हैं । आप नन्दक नामक खड्ग धारण करनेवाले, धन्वी एवं धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ महान् वीर हैं ॥१२३॥

दाशार्ह इति विख्यातो महाधन्वा धनुःप्रियः ।
गोविन्द इति विख्यात उदधिस्त्वं च सुव्रत ॥१२४॥

आप दाशार्ह नामसे विख्यात हैं । आपका धनुष विशाल है । आप धनुषके प्रेमी हैं । उत्तमव्रतधारी श्रीकृष्ण ! आप ही गोविन्द नामसे प्रसिद्ध तथा आप ही समुद्र हैं ॥ १२४ ॥

आकाशश्च तपश्चैव समुद्रमथनो भवान् ।
भवान् स्वर्गो बहुफलो भवान् स्वर्गचरो महान् ॥१२५॥

आप आकाश और तप हैं । आप ही समुद्रका मन्थन करनेवाले हैं । अनेक फलोंसे युक्त स्वर्ग आपका ही स्वरूप है । आप ही स्वर्गमे विचरनेवाले महान् पुरुष हैं ॥ १२५ ॥

त्वमेव च महामेघो बीजनिष्पत्तिरेव च ।
त्रैलोक्यमथनस्त्वं च क्रोधलोभमनोरथः ॥१२६॥

आप ही महान् मेघ हैं । आपसे ही बीजोंकी सिद्धि होती है । आप ही क्रोध आदिके रूपसे तीनों लोकोंको मथते रहते हैं । आप क्रोध, लोभ और मनोरथरूप हैं ॥ १२६ ॥

भवान् कामप्रदश्चैव कामः सर्वधनुर्धरः ।
संवर्तो वर्तनश्चैव प्रलयो निलयो महान् ॥१२७॥

आप महान् परमेश्वर ही कामनाओंके दाता तथा समस्त धनुर्षोको धारण करनेमें समर्थ कामदेव हैं । आप ही संहारक और उत्पादक हैं तथा आप ही प्रलय एवं रक्षाके स्थान हैं ॥

हिरण्यगर्भो रूपज्ञो रूपवान् मधुसूदनः ।
ईशस्त्वं च महादेव असंख्येयगुणान्वितः ॥१२८॥
स्तोतुमिच्छसि मां देव स्तोतव्यस्त्वं यदूत्तम ।

महादेव ! आप ही सब रूपोंके ज्ञाता हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) हैं । आप ही रूपवान् मधुसूदन (विष्णु) हैं तथा आप ही असंख्य गुणोंसे सम्पन्न ईश्वर (शिव) हैं । यदुवर ! देव ! आप स्वयं ही स्तुतिके योग्य हैं तो भी मेरी स्तुति करना चाहते हैं (यह कितने आश्चर्यकी बात है) ॥ १२८½ ॥

चक्षुषा ये त्वया घोराः प्राणिनो हि निरीक्षिताः ॥१२९॥
हतास्ते यमदण्डेन तिर्यङ्निरयगामिनः ।

जिन घोर प्राणियोंको आपने रोषपूर्ण दृष्टिसे देखा है, वे यमदण्डसे मारे गये हैं तथा पशु-पक्षियोंकी योनियों एवं नरकमें गिरनेवाले हैं ॥ १२९½ ॥

ये त्वया परमप्रीत्या प्राणिनो वै निरीक्षिताः ॥१३०॥
इह च प्रेत्य ते सर्वे सर्वथा स्वर्गगामिनः ।
एष तेऽहं महाबाहो वशगः शासने स्थितः ॥१३१॥

परंतु जिन प्राणियोंको आपने बड़े प्यारसे देखा है, वे सब इह लोकमें हों या परलोकमें सर्वथा स्वर्गलोकमें ही जानेके अधिकारी हैं । महाबाहो ! यह मैं आपकी आज्ञाके अधीन होकर सब प्रकारसे आपके शासनमें स्थित हूँ ॥१३०-१३१॥

जयस्थानं ततः कृत्वा गरुडः प्राह केशवम् ।
अयमस्मि स्थितो वीर आरुहस्व महाबल ॥१३२॥

तदनन्तर गरुड़ने जयस्थान (प्रस्थानकी मुद्रा) बनाकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'महाबली वीर ! यह मैं आपकी सेवामें खड़ा हूँ । आप मेरी पीठपर आरूढ़ होइये' ॥१३२॥

ततः कण्ठे परिष्वज्य माधवो गरुडं ततः ।
सखे शत्रुविनाशाय अर्घ्योऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥१३३॥

यह सुनकर माधवने गरुड़को कण्ठसे लगाकर कहा—'सखे ! शत्रुओंके विनाशके लिये यह अर्घ्य ग्रहण करो' ॥

दत्त्वार्घ्यं परया प्रीत्या शङ्खचक्रगदासिभृत् ।
आरुरोह महाबाहुः सुपर्णं पुरुषोत्तमः ॥१३४॥

इस प्रकार परम प्रसन्नतापूर्वक अर्घ्य देकर शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले महाबाहु पुरुषोत्तम श्रीहरि गरुड़पर आरूढ़ हुए ॥ १३४ ॥

कृष्णस्य पार्श्वमागम्य हर्षादेवास्थितोऽभवत् ।
कृष्णकेशः प्रबलयो विष्णुः कृष्णश्च वर्णतः ॥१३५॥

तत्पश्चात् काले केशोंवाले बलरामजी श्रीकृष्णके पास

आकर हर्षपूर्वक बैठ गये; विष्णुस्वरूप श्रीकृष्ण वर्णसे भी कृष्ण ही थे। उन्होंने अपने हाथोंमें उत्तम वलय (कड़े) धारण कर रखे थे ॥ १३५ ॥

चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्बाहुश्चतुर्वेदषडङ्गवित् ।
श्रीवत्साङ्कोऽरविन्दाक्ष ऊर्ध्वरोमा मृदुत्वचः ॥१३६॥

उनके मुखमें चार दाढ़ें सुशोभित थीं। वे चार भुजाएँ धारण किये हुए थे, छहों अङ्गोंसहित चारों वेदोंके ज्ञाता थे। उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न शोभा पाता था। उनके नेत्र प्रफुल्ल कमलके समान सुशोभित थे। रोमावलियाँ ऊपरकी ओर उठी हुई थीं और त्वचा बहुत ही कोमल थी ॥ १३६ ॥

समाङ्गुलिः समनखो रक्ताङ्गुलिनखान्तरः ।
स्निग्धगम्भीरनिर्घोषो वृत्तबाहुर्महाभुजः ॥१३७॥

उनकी सभी अँगुलियाँ समानरूपसे सुन्दर और सुडौल थीं। नख भी बराबर थे, अङ्गुलियों और नखोंके भीतरका भाग लाल था। उनकी वाणीका घोष स्निग्ध एवं गम्भीर था। भुजाएँ गोलाकार एवं विशाल थीं ॥ १३७ ॥

आजानुबाहुस्ताम्रास्यः सिंहविस्पष्टविक्रमः ।
सहस्रमिव सूर्याणां दीप्यमानः प्रकाशते ॥१३८॥

उनकी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी थीं। मुखका रंग लाल था। उनका चलना-फिरना और पराक्रम सुस्पष्टतः सिंहके समान था। वे सहस्रों सूर्योंके समान देदीप्यमान होकर प्रकाशित होते थे ॥ १३८ ॥

यः प्रभुर्भाति विश्वात्मा भूतानां भावनो विभुः ।
यस्याष्टगुणमैश्वर्यं ददौ प्रीतः प्रजापतिः ॥१३९॥
प्रजापतीनां साध्यानां त्रिदशानां च शाश्वतः ।
स्तूयमानः स्तवैर्दिव्यैः सूतमागधवन्दिभिः ।
ऋषिभिश्च महाभागैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥१४०॥
संविधानमथाज्ञाप्य द्वारकायां महाबलः ।
गमनाय मतिं चक्रे वासुदेवः प्रतापवान् ॥१४१॥

जो सर्वव्यापी भूतभावन प्रभु सम्पूर्ण विश्वके आत्मारूपसे प्रकाशित होते हैं। जिन्हें वामनावतारके समय प्रजापति कश्यपने प्रसन्न होकर अणिमा आदि आठ गुणोंसे युक्त ऐश्वर्य प्रदान किया है। जो प्रजापतियों, साध्यों और देवताओंमें सनातन पुरुष माने जाते हैं, उन महाबली एवं प्रतापी वासुदेव भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकामें यात्राकी तैयारीके लिये आज्ञा देकर शोणितपुरको जानेका विचार किया। उस समय सूत, मागध, वन्दीजन तथा वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् महाभाग महर्षिगण दिव्य स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति कर रहे थे ॥

आस्थितो गरुडं देवस्तस्य चानु हलायुधः ।
पृष्ठतोऽनु बलस्यापि प्रद्युम्नः शत्रुकर्शनः ॥१४२॥

पहले भगवान् श्रीकृष्ण गरुड़पर आरूढ़ हुए थे। उनके पीछे हलधर बलरामजी और बलरामजीके भी पीछे शत्रुसूदन प्रद्युम्न गरुड़पर बैठे थे ॥ १४२ ॥

जय बाणं महाबाहो ये चास्यानुगता रणे ।
न हि ते प्रमुखे स्थातुं कश्चिच्छक्तो महामृधे ॥१४३॥

(भगवान्‌की यात्राके समय अन्तरिक्षमें यह वाणी सुनायी दी–) 'महाबाहो! आप बाणासुरको तथा उसके जो अनुयायी हों, उनको भी रणभूमिमें पराजित कीजिये। महासमरमें कोई भी आपके सामने ठहर नहीं सकता ॥ १४३ ॥

प्रसादे ते ध्रुवा लक्ष्मीर्विजयश्च पराक्रमे ।
विजेष्यसि रणे शत्रुं दैत्येन्द्रं सहसैनिकम् ॥१४४॥

'आपके प्रसादमें लक्ष्मीका अटल निवास है और पराक्रममें विजय प्रतिष्ठित है। आप रणभूमिमें अपने शत्रु दैत्यराज बाणको उसके सैनिकोंसहित परास्त कर देंगे' ॥ १४४ ॥

सिद्धचारणसंघानां महर्षीणां च सर्वशः ।
शृण्वन् वाचोऽन्तरिक्षे वै प्रययौ केशवो रणे ॥१४५॥

इस प्रकार अन्तरिक्षमें सिद्धों और चारणोंके समुदायों तथा सम्पूर्ण महर्षियोंकी कही हुई बातें सुनते हुए भगवान् केशव युद्धके लिये प्रस्थित हुए ॥ १४५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि कृष्णप्रयाणे एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीकृष्णका प्रस्थानविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण, बलभद्र और प्रद्युम्नका शोणितपुरके लिये प्रस्थान, गरुड़का आहवनीय अग्निको शान्त करना, श्रीकृष्णद्वारा अग्निगणोंकी पराजय, बाणासुरके सैनिकोंके साथ श्रीकृष्ण आदिका युद्ध, त्रिशिरा ज्वरका आक्रमण और श्रीकृष्णके साथ उसका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

ततस्तूर्यनिनादैश्च शङ्खानां च महास्वनैः ।
बन्दिमागधसूतानां स्तवैश्चापि सहस्रशः ॥ १ ॥
स तूर्मुखैर्जयाशीर्भिः स्तूयमानो हि मानवैः ।
बभार रूपं सोमार्कशुक्राणां प्रतिमं तदा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर नाना

प्रकारके वाद्योंकी ध्वनियों तथा शङ्खोंके गम्भीर घोषोंके साथ सूत, मागध और वन्दीजन उत्तम स्तोत्रोंद्वारा भगवान्‌की स्तुति करने लगे। ऊपरको मुख किये खड़े हुए मनुष्य उन्हें विजयसूचक आशीर्वाद देने लगे। उस समय भगवान्‌ने सोम, सूर्य और शुक्रके समान तेजस्वी रूप धारण कर लिया था ॥ १-२ ॥

अतीव शुशुभे रूपं व्योम्नि तस्योत्पतिष्यतः।
वैनतेयस्य भद्रं ते बृंहितं हरितेजसा ॥ ३ ॥

राजन्! तुम्हारा भला हो! आकाशमें उड़ते हुए विनतानन्दन गरुडका रूप भगवान् श्रीहरिके तेजसे व्याप्त होकर अधिक शोभा पाने लगा ॥ ३ ॥

अथाष्टबाहुः कृष्णस्तु पर्वताकारसंनिभः।
विबभौ पुण्डरीकाक्षो विकाङ्क्षन् बाणसंक्षयम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर कमलनयन श्रीकृष्ण आठ भुजाएँ धारण करके बाणासुरका विनाश चाहते हुए पर्वतके समान विशालकाय हो अधिक शोभा पाने लगे ॥ ४ ॥

असिचक्रगदाबाणा दक्षिणं पार्श्वमास्थिताः।
चर्म शार्ङ्गं तथा वज्रं शङ्खं चैवास्य वामतः ॥ ५ ॥

खड्ग, चक्र, गदा और बाण—ये चार आयुध उनके दाहिने पार्श्वमें खड़े थे; ढाल, धनुष, वज्र और शङ्ख—ये वामपार्श्वमें स्थित थे ॥ ५ ॥

शीर्षाणां वै सहस्रं तु विहितं शार्ङ्गधन्वना।
सहस्रं चैव कायानां वहन् संकर्षणस्तदा ॥ ६ ॥

उस समय शार्ङ्गधन्वा भगवान् श्रीकृष्णने अपने सहस्रों सिर बना लिये और संकर्षण सहस्रों शरीर धारण करने लगे॥

श्वेतप्रहरणोऽधृष्यः कैलास इव शृङ्गवान्।
प्रस्थितो गरुडेनाथ उद्यन्निव निशाकरः ॥ ७ ॥

श्वेत आयुधसे युक्त अजेय वीर बलराम शिखरयुक्त कैलासके समान शोभा पाते थे। वे गरुड़के द्वारा यात्रा करते समय उदयकालके चन्द्रमाकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे॥

सनत्कुमारस्य वपुः प्रादुरासीन्महात्मनः।
प्रद्युम्नस्य महाबाहोः संग्रामे विक्रमिष्यतः ॥ ८ ॥

संग्राममें पराक्रम करनेको उद्यत हुए महाबाहु प्रद्युम्नके शरीरमें महात्मा सनत्कुमारका स्वरूप प्रकट हो गया ॥ ८ ॥

स पक्षबलविक्षेपैर्विधुन्वन् पर्वतान् बहून्।
जगाम मार्गं बलवान् वातस्य प्रतिषेधयन् ॥ ९ ॥

बलवान् गरुड अपने पङ्खोंके बलपूर्वक संचालनसे बहुसंख्यक पर्वतोंको कम्पित करते और वायुका मार्ग रोकते हुए चले ॥ ९ ॥

अथ वायोरतिगतिमास्थाय गरुडस्तदा।
सिद्धचारणसंघानां शुभं मार्गमवातरत् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् वायुसे भी बढ़कर तीव्र गतिका आश्रय ले गरुड़ तत्काल ही सिद्धों और चारणसमूहोंके शुभ मार्गपर जा पहुँचे ॥ १० ॥

अथ रामोऽब्रवीद् वाक्यं कृष्णमप्रतिमं रणे।
स्वाभिः प्रभाभिर्हीनाः स्म कृष्ण कस्मादपूर्ववत् ॥ ११ ॥

उस समय बलरामजीने रणभूमिमें अनुपम शक्तिशाली श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—'कृष्ण! हमलोग अपनी स्वाभाविक कान्तिसे रहित हो अपूर्ववत् कैसे हो गये? ॥११॥

सर्वे कनकवर्णाभाः संवृत्ताः स्म न संशयः।
किमिदं ब्रूहि नस्तत्त्वं किं मेरोः पार्श्वगा वयम् ॥ १२ ॥

'हम सब लोगोंकी अङ्गकान्ति सुवर्णके समान हो गयी है, इसमें संशय नहीं है; ऐसा क्यों हुआ? यह हमें ठीक ठीक बताओ, क्या हम मेरुपर्वतके आसपास चल रहे हैं?' ॥१२॥

श्रीभगवानुवाच

मन्ये बाणस्य नगरमभ्यासस्थमरिंदम।
रक्षार्थं तस्य निर्यातो वह्निरेष स्थितो ज्वलन् ॥ १३ ॥

श्रीभगवान् बोले—शत्रुदमन! मैं समझता हूँ बाणासुरका नगर अब निकट ही है। उसकी रक्षाके लिये बाहर निकलकर यह अग्निदेव प्रज्वलित होते हुए खड़े हैं ॥ १३ ॥

अग्नेराहवनीयस्य प्रभया स्म समाहताः।
तेन नो वर्णवैरूप्यमिदं जातं हलायुध ॥ १४ ॥

भैया हलायुध! हमलोग आहवनीय अग्निकी प्रभासे आहत हैं; इसीसे हमारी अङ्गकान्तिमे यह परिवर्तन आ गया है ॥ १४ ॥

श्रीराम उवाच

यदि स्म संनिकर्षस्था यदि निष्प्रभतां गताः।
तद् विधत्स्व स्वयं बुद्ध्या यदत्रानन्तरं हितम् ॥ १५ ॥

बलरामजीने पूछा—श्रीकृष्ण! यदि हमलोग शोणितपुरके निकट हैं और यदि इस अग्निकी प्रभासे आहत होकर हमलोग निष्प्रभ हो गये हैं तो अब तुम स्वयं ही बुद्धिसे सोचकर बताओ कि अब यहाँ क्या करनेसे हमारा हित होगा॥

श्रीभगवानुवाच

कुरुष्व वैनतेय त्वं यच्च कार्यमनन्तरम्।
त्वया विधाने विहिते करिष्याम्यहमुत्तमम् ॥ १६ ॥

श्रीभगवान् बोले—विनतानन्दन! अब यहाँ जो आवश्यक कर्तव्य हो, वह तुम्हीं करो। तुम्हारे द्वारा इस अग्निके निवारणका उपाय कर लिये जानेपर मैं उत्तम पराक्रम प्रकट करूँगा ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु गरुडो वासुदेवस्य भाषितम्।
चक्रे मुखसहस्रं हि कामरूपी महाबलः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले महाबली गरुडने अपने हजारों मुख बना लिये ॥ १७ ॥

गङ्गामुपागमत् तूर्णं वैनतेयो महाबलः।
आप्लुत्याकाशगङ्गायामापीय सलिलं बहु ॥ १८ ॥
प्रववर्षोपरि गतो वैनतेयः प्रतापवान्।
तेनाग्निं शमयामास बुद्धिमान् विनतात्मजः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् वे महाबली विनतानन्दन तुरंत ही गङ्गाजीके तटपर गये। वहाँ आकाशगङ्गामें उतरकर प्रतापी गरुडने बहुत-सा जल पी लिया और अग्निदेवके ऊपर जाकर वर्षा की। उस उपायसे बुद्धिमान् विनताकुमारने पूर्वोक्त अग्निको बुझा दिया ॥ १८-१९ ॥

अग्निराहवनीयस्तु ततः शान्तिमुपागमत्।
तं दृष्ट्वाहवनीयं तु शान्तमाकाशगङ्गया।
परमं विस्मयं गत्वा सुपर्णो वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

फिर तो आहवनीय अग्निदेव शान्त हो गये। आकाशगङ्गाके जलसे आहवनीय अग्निको शान्त हुआ देख गरुड महान् आश्चर्यमें पड़कर बोले—॥ २० ॥

अहो वीर्यमथाग्नेस्तु यो दहेद् युगसंक्षये।
यथेह वर्णवैरूप्यं चक्रे कृष्णस्य धीमतः ॥ २१ ॥

'अहो! अग्निका बल तो अद्भुत है, क्योंकि वे महाप्रलयके समय तीनों लोकोंको दग्ध कर सकते हैं; जैसे कि यहाँ इन्होंने बुद्धिमान् श्रीकृष्णके रूप-रंगमें परिवर्तन ला दिया था॥

त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः।
कृष्णः संकर्षणश्चैव प्रद्युम्नश्च महाबलः ॥ २२ ॥

'(तथापि श्रीकृष्णके प्रभावसे आकाश-गङ्गाद्वारा यह बुझ गये) मेरा तो यह विश्वास है कि श्रीकृष्ण, संकर्षण और महाबली प्रद्युम्न—ये तीन वीर तीनों लोकोंका सामना करनेके लिये पर्याप्त हैं' ॥ २२ ॥

ततः प्रशान्ते दहने सम्प्रतस्थे स पक्षिराट्।
स्वपक्षबलविक्षेपं कुर्वन् घोरं महास्वनम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर आग बुझ जानेपर पक्षिराज गरुड अपने पंखोंके बलपूर्वक संचालनसे भयंकर एवं महान् कोलाहल करते हुए आगे बढ़े ॥ २३ ॥

तं दृष्ट्वा विस्मयं तत्र रुद्रस्यानुचराग्नयः।
आस्थिता गरुडं ह्येते नानारूपा भयावहाः ॥ २४ ॥
किमर्थमिह सम्प्राप्ताः के वापीमे जनास्त्रयः।

वहाँ उन्हें देखकर रुद्रके अनुचर अग्निगणोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे सोचने लगे, 'ये नाना रूपधारी भयंकर वीर गरुडपर चढ़कर किस लिये यहाँ आये हैं तथा ये तीनों पुरुष कौन हैं ?' ॥ २४½ ॥

निश्चयं नाधिगच्छन्ति ते गिरिव्रजवह्नयः ॥ २५ ॥
प्रावर्तयंश्च संग्रामं तैस्त्रिभिः सह यादवैः।

इस प्रकार पर्वतोंपर विचरनेवाले वे अग्निगण किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके; अतः उन्होंने उन तीनों यादव-वीरोंके साथ युद्ध छेड़ दिया ॥ २५½ ॥

तेषां युद्धप्रसक्तानां संनादः सुमहानभूत् ॥ २६ ॥
तं च श्रुत्वा महानादं सिंहानामिव गर्जताम्।
अथाङ्गिराः स्वपुरुषं प्रेषयामास बुद्धिमान् ॥ २७ ॥

युद्धमें आसक्त हुए उन अग्नियोंका महान् सिंहनाद प्रकट होने लगा। दहाड़ते हुए सिंहोंके समान उनके उस महानादको सुनकर बुद्धिमान् अङ्गिराने अपने एक पुरुषको वहाँ भेजा ॥ २६-२७ ॥

यत्र तद् वर्तते युद्धं तत्र गच्छस्व मा चिरम्।
दृष्ट्वा तत् सर्वमागच्छ इत्युक्तः प्रहितस्त्वरन् ॥ २८ ॥

उन्होंने उससे कहा—'जहाँ वह युद्ध हो रहा है वहाँ शीघ्र जाओ और वह सब कुछ देखकर शीघ्र लौट आओ।' ऐसा कहकर उन्होंने उसे बड़ी उतावलीके साथ भेजा ॥२८॥

तथेत्युक्त्वा स तद् युद्धं वर्तमानमवैक्षत।
अग्नीनां वासुदेवेन संसक्तानां महामृधे ॥ २९ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर उस पुरुषने महासमरमें भगवान् वासुदेवके साथ उलझे हुए अग्निगणोंके उस वर्तमान युद्धको देखा ॥ २९ ॥

ते जातवेदसः सर्वे कल्माषः कुसुमस्तथा।
दहनः शोषणश्चैव तपनश्च महाबलः ॥ ३० ॥
स्वाहाकारस्य विषये प्रख्याताः पञ्च वह्नयः।

वे सबके सब जातवेदा अग्नि थे; उनके नाम इस प्रकार थे—कल्माष, कुसुम, दहन, शोषण और महाबली तपन। ये स्वाहाकारविषयक पाँच प्रख्यात अग्नि कहे गये हैं ॥ ३०½ ॥

अथापरे महाभागाः स्वैरनीकैर्व्यवस्थिताः ॥ ३१ ॥
पिठरः पतगः स्वर्णः श्वागाधो भ्राज एव च।
स्वधाकाराश्रयाः पञ्च अयुध्यंस्तेऽपि चाग्नयः ॥ ३२ ॥

इनके सिवा दूसरे महाभाग अग्नि भी अपने सैनिकोंके साथ खड़े थे, जिनके नाम थे—पिठर, पतग, स्वर्ण, श्वागाध और भ्राज। ये पाँच स्वधाकारका आश्रय लेकर रहनेवाले अग्नि कहे गये हैं; ये अग्नि भी वहाँ युद्ध कर रहे थे॥

ज्योतिष्टोमविभागौ च वषट्काराश्रयौ पुनः।
द्वावग्नी सम्प्रयुध्येते महात्मानौ महाद्युती ॥ ३३ ॥

इनके सिवा वषट्कारके आश्रयमें रहनेवाले दो महातेजस्वी और महामनस्वी अग्नि, जिनका नाम ज्योतिष्टोम और विभाग था, वहाँ युद्ध कर रहे थे ॥ ३३ ॥

आग्नेयं रथमास्थाय शरमुद्यम्य भास्वरम्।
तयोर्मध्येऽङ्गिराश्चैव महर्षिर्विबभौ रणे ॥ ३४ ॥

इन दोनोंके बीचमें प्रमुख अग्नि महर्षि अङ्गिरा आग्नेय रथपर आरूढ़ हो एक तेजस्वी बाण हाथमें लिये रणभूमिमें प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३४ ॥

स्थितमङ्गिरसं दृष्ट्वा विमुञ्चन्तं शिताञ्छरान्।
कृष्णः प्रोवाच संक्रुद्धः स्मयन्निव पुनः पुनः ॥ ३५ ॥

महर्षि अङ्गिराको पैने बाण छोड़ते हुए वहाँ स्थित देख क्रोधमें भरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण बारंबार मुसकराते हुए-से बोले—॥ ३५ ॥

तिष्ठध्वमग्नयः सर्वे एष वो विदधे भयम् ।
ममास्त्रतेजसा दग्धा दिशो यास्यथ विद्रुताः ।
अथाङ्गिरास्त्रिशूलेन दीप्तेन समधावत ॥ ३६ ॥
आददान इव क्रोधात् कृष्णप्राणान् महामृधे ।

'अग्नियो ! तुम सब लोग खड़े रहो ! मैं अभी तुम्हारे लिये भयकी सृष्टि करता हूँ । मेरे अस्त्रके तेजसे दग्ध होकर तुम स्वयं ही सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग जाओगे ।' यह सुनकर अङ्गिराने उस महासमरमे क्रोधपूर्वक चमकता हुआ त्रिशूल हाथमें लेकर श्रीकृष्णपर धावा किया, मानो वे उनके प्राण ले लेनेको उद्यत हों ॥ ३६½ ॥

त्रिशूलं तस्य दीप्तं तु चिच्छेद परमेषुभिः ।
अर्धचन्द्रैस्तथा तीक्ष्णैर्यमान्तकनिभोपमैः ॥ ३७ ॥

श्रीकृष्णने अपने तीखे अर्द्धचन्द्राकार उत्तम बाणोंसे, जो यमराजके समान क्रूर और अन्तकके समान प्राणहारी थे, उनके चमकते हुए त्रिशूलको काट डाला ॥ ३७ ॥

स्थूणाकर्णेन बाणेन दीप्तेन स महामनाः ।
विव्याधान्तकतुल्येन वक्षस्यङ्गिरसं ततः ॥ ३८ ॥

इसके बाद उन महामना श्रीहरिने स्थूणाकर्ण नामक कालसदृश तेजस्वी बाणद्वारा अङ्गिराकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३८ ॥

रुधिरौघप्लुतैर्गात्रैरङ्गिरा विह्वलन्निव ।
विस्रब्धगात्रः सहसा पपात धरणीतले ॥ ३९ ॥

अङ्गिराका सारा शरीर लहूलुहान हो गया । उनकी देह अकड़ गयी और वे विह्वल होकर सहसा पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

शेषास्ततोऽग्नयः सर्वे चत्वारो ब्रह्मणः सुताः ।
आवाहयंस्तदा शीघ्रं बाणस्य पुरमन्तिकात् ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् शेष सब अग्नि जो ब्रह्माजीके चार पुत्र हैं, उस समय उन्हें शीघ्र ही बाणासुरके नगरके निकट उठा ले गये ॥ ४० ॥

अथागमत् ततः कृष्णो यत्र बाणपुरं ततः ।
अथ बाणपुरं दृष्ट्वा दूरात् प्रोवाच नारदः ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण जहाँ बाणासुरका नगर निकट था, वहाँ गये । बाणपुरको दूरसे ही देखकर नारदजीने कहा—॥४१॥

एतत् तच्छोणितपुरं कृष्ण पश्य महाभुज ।
अत्र रुद्रो महातेजा रुद्राण्या सहितोऽवसत् ॥ ४२ ॥
गुहश्च बाणगुप्त्यर्थं सततं क्षेमकारणात् ।

'महाबाहु श्रीकृष्ण ! देखिये, यही शोणितपुर है । यहाँ महातेजस्वी रुद्रने देवी रुद्राणीके साथ निवास किया है । बाणासुरकी रक्षा तथा उसके क्षेमके लिये कार्तिकेय भी यहाँ सदा निवास करते हैं' ॥ ४२½ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा कृष्णः सम्प्रहसन् ब्रवीत् ॥ ४३ ॥
क्षणं चिन्तयतामत्र श्रूयतां च महामुने ।
यदि चावतरेद् रुद्रो बाणसंरक्षणं प्रति ॥ ४४ ॥
शक्तितो वयमप्यत्र सह योत्स्याम तेन वै ।

नारदजीकी यह बात सुनकर श्रीकृष्ण हँसते हुए बोले—'महामुने ! आप यहाँ मेरी बात सुनिये और क्षणभर उसपर विचार कीजिये । यदि बाणासुरकी रक्षाके लिये भगवान् रुद्र उतर आयेंगे तो हमलोग भी अपनी शक्तिके अनुसार उनके साथ युद्ध अवश्य करेंगे' ॥ ४३–४४½ ॥

एवं विवदतोस्तत्र कृष्णनारदयोस्तदा ॥ ४५ ॥
प्राप्ता निमेषमात्रेण शीघ्रगा गरुडेन ते ।

इस प्रकार वहाँ नारद और श्रीकृष्णमें बातचीत हो रही थी कि गरुड़के द्वारा शीघ्र चलकर वे सब लोग निमेषमात्रमें जा पहुँचे ॥ ४५½ ॥

ततः शङ्खं समाधाय वदने पुष्करेक्षणः ॥ ४६ ॥
वायुवेगसमुद्भूतो मेघश्चन्द्रमिवोद्गिरन् ।

तब कमलनयन श्रीकृष्णने शङ्खको अपने मुँहसे लगाकर बजाया । उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो कोई मेघ वायुके वेगसे प्रेरित होकर चन्द्रमाको उगल रहा हो ॥४६½॥

ततः प्रध्माप्य तं शङ्खं भयमुत्पाद्य वीर्यवान् ॥ ४७ ॥
प्रविवेश पुरं कृष्णो बाणस्याद्भुतकर्मणः ।

इस प्रकार उस शङ्खको बजाकर असुरोंके मनमें भय उत्पन्न करके पराक्रमी श्रीकृष्णने अद्भुत कर्म करनेवाले बाणासुरके पुरमें प्रवेश किया ॥ ४७½ ॥

ततः शङ्खप्रणादैश्च भेरीणां च महास्वनैः ॥ ४८ ॥
बाणानीकानि सहसा संनह्यन्त समन्ततः ।

तदनन्तर शङ्खोंके शब्दों और भेरियोंके गम्भीर घोषोंसे प्रेरित हो बाणासुरकी सारी सेनाएँ सहसा सब ओरसे कवच आदि पहनकर युद्धके लिये तैयार हो गयीं ॥ ४८½ ॥

ततः किंकरसैन्यं तु व्यादिष्टं समरे भयात् ॥ ४९ ॥
कोटिशश्चापि बहुशो दीप्तप्रहरणास्तदा ।

तत्पश्चात् बाणासुरने भयके कारण युद्धके लिये अपने किङ्कर नामक सैनिकोंको आज्ञा दी । उनकी संख्या कई करोड़की थी । उन सबके पास चमकीले अस्त्र-शस्त्र थे ॥

तदसंख्येयमेकस्थं महाभ्रघनसंनिभम् ॥ ५० ॥
नीलाञ्जनचयप्रख्यमप्रमेयमथाक्षयम् ।

एक स्थानपर खड़ी हुई वह असंख्य सेना महान् मेघोंकी घटाके समान जान पड़ती थी । उसकी कान्ति नीली अञ्जनराशिके समान दिखायी देती थी । वह अप्रमेय और अक्षय थी ॥ ५०½ ॥

दीप्तप्रहरणाः सर्वे दैत्यदानवराक्षसाः ॥ ५१ ॥
प्रमाथगणमुख्याश्च अयुध्यन् कृष्णमव्ययम् ।

उस सेनामें जो दैत्य, दानव और राक्षस थे, उन सबके

हाथोंमें चमकीले अस्त्र-शस्त्र शोभा पा रहे थे। भगवान् शिवके प्रमथगणोंमें जो मुख्य-मुख्य वीर थे, वे भी वहाँ आकर अविनाशी भगवान् शिवके साथ युद्ध करने लगे ॥ ५१½ ॥

सर्वतस्तैः प्रदीप्तास्त्रैः सार्चिष्मद्भिरिवाग्निभिः ॥ ५२ ॥
अभ्युपेत्य तदात्युग्रैर्यक्षराक्षसकिंनरैः ।
पीयते रुधिरं तेषां चतुर्णामपि संयुगे ॥ ५३ ॥

चमकीले अस्त्र-शस्त्र धारण करनेके कारण जो लपटोंसे युक्त अग्नियोंके समान प्रतीत होते थे, वे भयंकर यक्ष, राक्षस और किन्नर सब ओरसे निकट आकर युद्धस्थलमें श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और गरुड़—इन चारोंका रक्त पीनेकी चेष्टा करने लगे ॥ ५२-५३ ॥

तद् बलं तु समासाद्य बलभद्रो महाबलः ।
प्रोवाच वचनं तत्र परस्य बलनाशनः ॥ ५४ ॥

शत्रुओंकी सेनाका नाश करनेवाले महाबली बलभद्र बाणासुरकी उस सेनाको निकट पाकर श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले— ॥ ५४ ॥

कृष्ण कृष्ण महाबाहो विधत्स्वैषां महद् भयम् ।
इति संचोदितः कृष्णो बलभद्रेण धीमता ॥ ५५ ॥
तेषां वधार्थमाग्नेयं जग्राह पुरुषोत्तमः ।
अस्त्रमस्त्रविदां श्रेष्ठो यमान्तकसमप्रभः ।

'कृष्ण ! कृष्ण ! महाबाहो ! इनके लिये महान् भय उपस्थित करो ।' बुद्धिमान् बलभद्रके द्वारा इस प्रकार प्रेरित हो अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने उन शत्रुओंके वधके लिये आग्नेयास्त्र हाथमें लिया । उस समय वे यम और अन्तकके समान भयंकर जान पड़ते थे ॥ ५५½ ॥

प्रविधूयासुरगणान् क्रव्यादानस्त्रतेजसा ॥ ५६ ॥
प्रययौ त्वरया युक्तो यत्र दृश्येत तद् बलम् ।

अपने अस्त्रके तेजसे उन मांसभक्षी असुरोंको नष्ट करके श्रीकृष्ण बड़ी उतावलीके साथ उस स्थानपर गये, जहाँ वह शत्रुसेना दिखायी दे रही थी ॥ ५६½ ॥

शूलपट्टिशशक्त्यृष्टिपिनाकपरिघायुधम् ॥ ५७ ॥
प्रमाथगणभूयिष्ठं बलं तदभवत् क्षितौ ।

शूल, पट्टिश, शक्ति, ऋष्टि, पिनाक और परिघ आदि आयुधोंसे युक्त वह सेना, जिसमें प्रमथगणोंकी अधिकता थी, भूतलपर खड़ी थी ॥ ५७½ ॥

शैलमेघप्रतीकाशैर्नानारूपैर्भयानकैः ।
वाहनैः संघशः सर्वे योधास्तत्रावतस्थिरे ॥ ५८ ॥

पर्वत और मेघोंके समान दिखायी देनेवाले नाना रूपधारी भयानक वाहनोंपर आरूढ़ हो वे समस्त योद्धा वहाँ संघबद्ध होकर खड़े थे ॥ ५८ ॥

वातोद्भूतैरिव घनैर्विप्रकीर्णैरिवाचलैः ।
शुशुभे तत्र बहुलैरनीकैर्दृढधन्विभिः ॥ ५९ ॥

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले बहुसंख्यक सैनिकोंसे, जो वायुद्वारा उड़ाये गये छिन्न-भिन्न बादलों तथा बिखरे हुए पर्वतोंके समान दूरतक फैले हुए थे, उस स्थानकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ५९ ॥

मुसलैरसिभिः शूलैर्गदाभिः परिघैस्तथा ।
अगाधं तदसंख्येयं शुशुभे सर्वतो बलम् ॥ ६० ॥

वह असंख्य एवं अगाध सेना सब ओरसे मुसल, खड्ग, शूल, गदा और परिघ आदिके द्वारा सुशोभित हो रही थी ॥

ततः संकर्षणो देवमुवाच मधुसूदनम् ।
कृष्ण कृष्ण महाबाहो यदेतद् दृश्यते बलम् ।
एतैः सह रणे योद्धुमिच्छामि पुरुषोत्तम ॥ ६१ ॥

तब संकर्षणने भगवान् मधुसूदनसे कहा—'कृष्ण ! कृष्ण ! महाबाहो ! पुरुषोत्तम ! यह जो सेना दिखायी देती है, रणभूमिमें इसके सैनिकोंके साथ मैं युद्ध करना चाहता हूँ' ॥

श्रीकृष्ण उवाच

ममाप्येषैव संजाता बुद्धिरित्यब्रवीच्च तम् ।
एभिः सह रणे योद्धुमिच्छेयं योधसत्तमैः ॥ ६२ ॥
युद्ध्यतः प्राङ्मुखस्यास्तु सुपर्णो वै ममाग्रतः ।
सव्यपार्श्वे तु प्रद्युम्नस्तथा मे दक्षिणे भवान् ।
रक्षितव्यमथान्योन्यमस्मिन् घोरे महामृधे ॥ ६३ ॥

श्रीकृष्ण बोले—'मेरे मनमें भी ऐसा विचार उत्पन्न हुआ है ।' ऐसा कहकर वे पुनः उनसे बोले, भैया ! रणभूमिमें इन श्रेष्ठ योद्धाओंके साथ मैं युद्ध करना चाहता हूँ । पूर्वाभिमुख होकर युद्ध करते समय मेरे आगे-आगे तो गरुड़ रहें, बायीं ओर प्रद्युम्न रहें और दाहिनी ओर आप रहें । इस घोर महायुद्धमें हमें एक दूसरेकी रक्षा करनी चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवन्तस्तेऽन्योन्यमधिरूढाः खगोत्तमम् ।
गिरिशृङ्गनिभैर्घोरैर्गदामुसललाङ्गलैः ॥ ६४ ॥
युध्यतो रौहिणेयस्य रौद्रं रूपमभूत् तदा ।
युगान्ते सर्वभूतानां कालस्येव दिधक्षतः ॥ ६५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परस्पर ऐसी बात-चीत करके पक्षिप्रवर गरुड़पर चढ़े हुए वे तीनों वीर युद्ध करने लगे । पर्वतके शिखरोंकी भाँति भयंकर गदा, मुसल और हलसे युद्ध करते हुए रोहिणीकुमार बलभद्रका रूप उस समय वैसा ही भयंकर हो उठा, जैसा कि प्रलय-कालमें सम्पूर्ण भूतोंको दग्ध कर देनेकी इच्छावाले कालका रूप होता है ॥ ६४-६५ ॥

आकृष्य लाङ्गलाग्रेण मुसलेनावपोथयत् ।
चचारातिबलो रामो युद्धमार्गविशारदः ॥ ६६ ॥

युद्धमार्गोंके विशेषज्ञ अत्यन्त बलशाली बलराम रणभूमिमें सब ओर विचरने लगे । वे हलके अग्रभागसे शत्रुओंको खींचकर उन्हें मुसलसे मार गिराते थे ॥ ६६ ॥

प्रद्युम्नः शरजालैस्तान् समन्तात् पर्यवारयत् ।
दानवान् पुरुषव्याघ्रो युद्ध्यमानान् महाबलः ॥ ६७ ॥

पुरुषसिंह महाबली प्रद्युम्नने बाणोंका जाल-सा बिछाकर वहाँ जूझते हुए दानवोंको सब ओरसे ढक दिया ॥ ६७ ॥

स्निग्धाञ्जनचयप्रख्यः शङ्खचक्रगदाधरः ।
प्रध्माय बहुशः शङ्खमयुध्यत जनार्दनः ॥ ६८ ॥

चिकनी अञ्जनराशिके समान कान्तिमान् जनार्दन अपने हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा लिये हुए थे। वे बारंबार शङ्ख बजाकर युद्ध करने लगे ॥ ६८ ॥

पक्षप्रहारनिहता नखतुण्डाग्रदारिताः ।
नीता वैवस्वतपुरं वैनतेयेन धीमता ॥ ६९ ॥

बुद्धिमान् विनतानन्दन गरुड़ने बहुत-से दानवोंको पंजों और चोंचके अग्रभागसे विदीर्ण करके तथा कितनोंको पंखोंके प्रहारसे हताहत करके यमलोक पहुँचा दिया ॥६९॥

तैर्हन्यमानं दैत्यानामनीकं भीमविक्रमम् ।
अभज्यत तदा संख्ये बाणवर्षसमाहतम् ॥ ७० ॥

उन चारोंके द्वारा मारी जाती हुई भयानक पराक्रम-वाली दैत्य-सेनाके पाँव उखड़ गये। वह युद्धस्थलमें बाणोंकी वर्षासे क्षत विक्षत हो गयी थी ॥ ७० ॥

भज्यमानेष्वनीकेषु त्रातुकामः समभ्ययात् ।
ज्वरस्त्रिपादस्त्रिशिराः षड्भुजो नवलोचनः ॥ ७१ ॥
भस्मप्रहरणो रौद्रः कालान्तकयमोपमः ।
नदन् मेघसहस्रेण तुल्यो निर्घातनिःस्वनः ॥ ७२ ॥

जब इस प्रकार सारी सेनाएँ भागने लगीं, तब उनकी रक्षा करनेके लिये त्रिशिरा नामक ज्वर सामने आया। उसके तीन पैर, तीन सिर, छः बाँहें और नौ आँखें थीं। भस्म ही उसका आयुध था। वह काल, अन्तक और यमके समान भयंकर दिखायी देता था। वह जब सिंहनाद करता, तब गर्जते हुए हजारों मेघोंके समान प्रतीत होता था। उसकी आवाज वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी ॥

निःश्वसञ्जृम्भमाणश्च निद्रान्विततनुर्भृशम् ।
नेत्राभ्यामाकुलं वक्त्रं मुहुः कुर्वन् भ्रमन् मुहुः॥७३ ॥

वह बारंबार लंबी साँस खींचता और जँभाई लेता था। उसका शरीर निद्रासे अत्यन्त आकुल प्रतीत होता था। वह बारंबार घूमता और अपने दोनों नेत्रोंसे युक्त मुखको व्यथासे व्याकुल बना लेता था ॥ ७३ ॥

संहृष्टरोमा ग्लानाक्षो भग्नचित्त इव श्वसन् ।
हलायुधमभिक्रुद्धः साक्षेपमिदमब्रवीत् ॥ ७४ ॥

उसके रोंगटे खड़े हो रहे थे। नेत्र आदि इन्द्रियाँ गली जा रही थीं। वह भग्नचित्त (हतोत्साह) सा होकर साँस लेता था। उसने क्रोधमें भरकर हलधरसे यह आक्षेपयुक्त बात कही—॥ ७४ ॥

किमेवं बलमत्तोऽसि न मां पश्यसि संयुगे ।
तिष्ठ तिष्ठ न मे जीवन् मोक्ष्यसे रणमूर्धनि ॥ ७५ ॥

'तुम क्यों इस प्रकार बलसे उन्मत्त हो रहे हो ? क्या इस युद्धस्थलमें तुम मुझे नहीं देखते हो ? खड़े रहो, खड़े रहो ! आज इस युद्धके मुहानेपर तुम मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकोगे' ॥ ७५ ॥

इत्येवमुक्त्वा प्रहसन् हलायुधमुपाद्रवत् ।
युगान्ताग्निनिभैर्घोरैर्मुष्टिभिर्जनयन् भयम् ॥ ७६ ॥

ऐसा कहकर जोर-जोरसे हँसते हुए त्रिशिराने हल नामक आयुध धारण करनेवाले बलरामजीपर आक्रमण किया। वह प्रलयाग्निके समान अपने भयानक मुक्कोंसे भय उत्पन्न कर रहा था ॥ ७६ ॥

चरतस्तत्र संग्रामे मण्डलानि सहस्रशः ।
रौहिणेयस्य शीघ्रेण नावस्थानमदृश्यत ॥ ७७ ॥

रोहिणीकुमार बलभद्र वहाँ संग्राममें सहस्रों पैंतरे बदलते हुए शीघ्रतापूर्वक विचर रहे थे। अतः कहीं उनका ठहरना उसे नहीं दिखायी दिया ॥ ७७ ॥

तस्य भस्म तदा क्षिप्तं ज्वरेणाप्रतिमौजसा ।
शैघ्र्याद् वक्षो निपतितं शरीरे पर्वतोपमे ॥ ७८ ॥

तब उस अप्रतिम बलशाली ज्वरने बड़ी फुर्तीसे उनके ऊपर भस्म फेंका, जो उनके पर्वताकार शरीरमें छातीपर जाकर गिरा ॥ ७८ ॥

तद् भस्म वक्षसस्तस्य मेरोः शिखरमागमत् ।
प्रदीप्तं पतितं तत्र गिरिशृङ्गं व्यदारयत् ॥ ७९ ॥

वह भस्म उनकी छातीसे मेरुपर्वतके शिखरपर आ गिरा। वहाँ गिरते ही वह प्रज्वलित हो उठा और उसने उस पर्वत शिखरको विदीर्ण कर डाला ॥ ७९ ॥

शेषेण चापि जज्वाल भस्मना कृष्णपूर्वजः ।
निःश्वसञ्जृम्भमाणश्च निद्रान्विततनुर्भृशम् ॥ ८० ॥

जो भस्म उनके वक्षःस्थलपर शेष रह गया, उतनेहीसे श्रीकृष्णके बड़े भैया जलने लगे। वे बारंबार साँस और जँभाई लेने लगे। उनका शरीर निद्रासे अत्यन्त अभिभूत हो गया ॥ ८० ॥

नेत्रयोराकुलत्वं च मुहुः कुर्वन् भ्रमंस्तथा ।
संहृष्टरोमा ग्लानाक्षः क्षिप्तचित्त इव श्वसन् ॥ ८१ ॥

वे बारंबार नेत्रोंसे व्याकुलता प्रकट करने और चक्कर काटने लगे। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उनकी नेत्र आदि इन्द्रियाँ गलने लगीं। वे विक्षिप्तचित्त-से होकर लंबी साँस खींचने लगे ॥ ८१ ॥

ततो हलधरो भग्नः कृष्णमाह विचेतनः ।
कृष्ण कृष्ण महाबाहो प्रदीप्तोऽस्म्यभयं कुरु ॥ ८२ ॥
दह्यामि सर्वतस्तात कथं शान्तिर्भवेन्मम ।

उस समय हलधरने हतोत्साह एवं अचेत होकर श्रीकृष्ण-से कहा—'कृष्ण ! कृष्ण ! महाबाहो ! मैं जल रहा हूँ। मेरा भय दूर करो। तात ! मेरे शरीरमें सब ओरसे जलन हो रही है। मुझे किस तरह शान्ति प्राप्त हो' ॥ ८२½ ॥

इत्येवमुक्ते वचने बलेनामिततेजसा ॥ ८३ ॥
प्रहस्य वचनं प्राह कृष्णः प्रहरतां वरः ।
न भेतव्यमितीत्युक्त्वा परिष्वक्तो हलायुधः ॥ ८४ ॥
कृष्णेन परमस्नेहात् ततो दाहात् प्रमुच्यत ।

अमिततेजस्वी बलदेवने जब ऐसी बात कही, तब प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णने उनसे हँसकर कहा—'भैया !

हाथोंमें चमकीले अस्त्र-शस्त्र शोभा पा रहे थे। भगवान् शिवके प्रमथगणोंमें जो मुख्य-मुख्य वीर थे, वे भी वहाँ आकर अविनाशी भगवान् शिवके साथ युद्ध करने लगे ॥ ५१½ ॥

सर्वतस्तैः प्रदीप्तास्त्रैः सार्चिष्मद्भिरिवाग्निभिः ॥ ५२ ॥
अभ्युपेत्य तदात्युग्रैर्यक्षराक्षसकिंनरैः।
पीयते रुधिरं तेषां चतुर्णामपि संयुगे ॥ ५३ ॥

चमकीले अस्त्र-शस्त्र धारण करनेके कारण जो लपटोंसे युक्त अग्नियोंके समान प्रतीत होते थे, वे भयंकर यक्ष, राक्षस और किन्नर सब ओरसे निकट आकर युद्धस्थलमें श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और गरुड़—इन चारोंका रक्त पीनेकी चेष्टा करने लगे ॥ ५२-५३ ॥

तद् बलं तु समासाद्य बलभद्रो महाबलः।
प्रोवाच वचनं तत्र परस्य बलनाशनः ॥ ५४ ॥

शत्रुओंकी सेनाका नाश करनेवाले महाबली बलभद्र बाणासुरकी उस सेनाको निकट पाकर श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले— ॥ ५४ ॥

कृष्ण कृष्ण महाबाहो विधत्स्वैषां महद् भयम्।
इति संचोदितः कृष्णो बलभद्रेण धीमता ॥ ५५ ॥
तेषां वधार्थमाग्नेयं जग्राह पुरुषोत्तमः।
अस्त्रमस्त्रविदां श्रेष्ठो यमान्तकसमप्रभः।

'कृष्ण! कृष्ण! महाबाहो! इनके लिये महान् भय उपस्थित करो।' बुद्धिमान् बलभद्रके द्वारा इस प्रकार प्रेरित हो अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने उन शत्रुओंके वधके लिये आग्नेयास्त्र हाथमें लिया। उस समय वे यम और अन्तकके समान भयंकर जान पड़ते थे ॥ ५५½ ॥

प्रविधूयासुरगणान् क्रव्यादानस्त्रतेजसा ॥ ५६ ॥
प्रययौ त्वरया युक्तो यत्र दृश्येत तद् बलम्।

अपने अस्त्रके तेजसे उन मांसभक्षी असुरोंको नष्ट करके श्रीकृष्ण बड़ी उतावलीके साथ उस स्थानपर गये, जहाँ वह शत्रुसेना दिखायी दे रही थी ॥ ५६½ ॥

शूलपट्टिशशक्त्यृष्टिपिनाकपरिघायुधम् ॥ ५७ ॥
प्रमाथगणभूयिष्ठं बलं तदभवत् क्षितौ।

शूल, पट्टिश, शक्ति, ऋष्टि, पिनाक और परिघ आदि आयुधोंसे युक्त वह सेना, जिसमें प्रमथगणोंकी अधिकता थी, भूतलपर खड़ी थी ॥ ५७½ ॥

शैलमेघप्रतीकाशैर्नानारूपैर्भयानकैः ।
वाहनैः संघशः सर्वे योधास्तत्रावतस्थिरे ॥ ५८ ॥

पर्वत और मेघोंके समान दिखायी देनेवाले नाना रूपधारी भयानक वाहनोंपर आरूढ़ हो वे समस्त योद्धा वहाँ संघबद्ध होकर खड़े थे ॥ ५८ ॥

वातोद्भूतैरिव घनैर्विप्रकीर्णैरिवाचलैः।
शुशुभे तत्र बहुलैरनीकैर्दृढधन्विभिः ॥ ५९ ॥

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले बहुसंख्यक सैनिकोंसे, जो वायुद्वारा उड़ाये गये छिन्न-भिन्न बादलों तथा बिखरे हुए पर्वतोंके समान दूरतक फैले हुए थे, उस स्थानकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ५९ ॥

मुसलैरसिभिः शूलैर्गदाभिः परिघैस्तथा।
अगाधं तदसंख्येयं शुशुभे सर्वतो बलम् ॥ ६० ॥

वह असंख्य एवं अगाध सेना सब ओरसे मुसल, खड्ग, शूल, गदा और परिघ आदिके द्वारा सुशोभित हो रही थी ॥

ततः संकर्षणो देवमुवाच मधुसूदनम्।
कृष्ण कृष्ण महाबाहो यदेतद् दृश्यते बलम्।
एतैः सह रणे योद्धुमिच्छामि पुरुषोत्तम ॥ ६१ ॥

तब संकर्षणने भगवान् मधुसूदनसे कहा—'कृष्ण! कृष्ण! महाबाहो! पुरुषोत्तम! यह जो सेना दिखायी देती है, रणभूमिमें इसके सैनिकोंके साथ मैं युद्ध करना चाहता हूँ'॥

श्रीकृष्ण उवाच

ममाप्येषैव संजाता बुद्धिरित्यब्रवीच्च तम्।
एभिः सह रणे योद्धुमिच्छेयं योधसत्तमैः ॥ ६२ ॥
युद्ध्यतः प्राङ्मुखस्यास्तु सुपर्णो वै ममाग्रतः।
सव्यपार्श्वे तु प्रद्युम्नस्तथा मे दक्षिणे भवान्।
रक्षितव्यमथान्योन्यमस्मिन् घोरे महामृधे ॥ ६३ ॥

श्रीकृष्ण बोले—'मेरे मनमें भी ऐसा विचार उत्पन्न हुआ है।' ऐसा कहकर वे पुनः उनसे बोले, भैया! रणभूमिमें इन श्रेष्ठ योद्धाओंके साथ मैं युद्ध करना चाहता हूँ। पूर्वाभिमुख होकर युद्ध करते समय मेरे आगे-आगे तो गरुड़ रहें, बायीं ओर प्रद्युम्न हों और दाहिनी ओर आप रहें। इस घोर महायुद्धमें हमें एक दूसरेकी रक्षा करनी चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवन्तस्तेऽन्योन्यमधिरूढाः खगोत्तमम्।
गिरिशृङ्गनिभैर्घोरैर्गदामुसललाङ्गलैः ॥ ६४ ॥
युध्यतो रौहिणेयस्य रौद्रं रूपमभूत् तदा।
युगान्ते सर्वभूतानां कालस्येव दिधक्षतः ॥ ६५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! परस्पर ऐसी बात-चीत करके पक्षिप्रवर गरुड़पर चढ़े हुए वे तीनों वीर युद्ध करने लगे। पर्वतके शिखरोंकी भाँति भयंकर गदा, मुसल और हलसे युद्ध करते हुए रोहिणीकुमार बलभद्रका रूप उस समय वैसा ही भयंकर हो उठा, जैसा कि प्रलय-कालमें सम्पूर्ण भूतोंको दग्ध कर देनेकी इच्छावाले कालका रूप होता है ॥ ६४-६५ ॥

आकृष्य लाङ्गलाग्रेण मुसलेनावपोथयत्।
चचारातिबलो रामो युद्धमार्गविशारदः ॥ ६६ ॥

युद्धमार्गोंके विशेषज्ञ अत्यन्त बलशाली बलराम रणभूमिमें सब ओर विचरने लगे। वे हलके अग्रभागसे शत्रुओंको खींचकर उन्हें मुसलसे मार गिराते थे ॥ ६६ ॥

प्रद्युम्नः शरजालैस्तान् समन्तात् पर्यवारयत्।
दानवान् पुरुषव्याघ्रो युद्ध्यमानान् महाबलः ॥ ६७ ॥

पुरुषसिंह महाबली प्रद्युम्नने बाणोंका जाल-सा बिछाकर वहाँ जूझते हुए दानवोंको सब ओरसे ढक दिया ॥ ६७ ॥

स्निग्धाञ्जनचयप्रख्यः शङ्खचक्रगदाधरः।
प्रध्माय बहुशः शङ्खमयुध्यत जनार्दनः॥ ६८॥

चिकनी अञ्जनराशिके समान कान्तिमान् जनार्दन अपने हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा लिये हुए थे। वे बारंबार शङ्ख बजाकर युद्ध करने लगे॥ ६८॥

पक्षप्रहारनिहता नखतुण्डाग्रदारिताः।
नीता वैवस्वतपुरं वैनतेयेन धीमता॥ ६९॥

बुद्धिमान् विनतानन्दन गरुड़ने बहुत-से दानवोंको पंजों और चोंचके अग्रभागसे विदीर्ण करके तथा कितनोंको पंखोंके प्रहारसे हताहत करके यमलोक पहुँचा दिया॥६९॥

तैर्हन्यमानं दैत्यानामनीकं भीमविक्रमम्।
अभज्यत तदा संख्ये बाणवर्षसमाहतम्॥ ७०॥

उन चारोंके द्वारा मारी जाती हुई भयानक पराक्रमवाली दैत्य-सेनाके पाँव उखड़ गये। वह युद्धस्थलमें बाणोंकी वर्षासे क्षत विक्षत हो गयी थी॥ ७०॥

भज्यमानेष्वनीकेषु त्रातुकामः समभ्ययात्।
ज्वरस्त्रिपादस्त्रिशिराः षड्भुजो नवलोचनः॥ ७१॥
भस्मप्रहरणो रौद्रः कालान्तकयमोपमः।
नदन् मेघसहस्रेण तुल्यो निर्घातनिःस्वनः॥ ७२॥

जब इस प्रकार सारी सेनाएँ भागने लगीं, तब उनकी रक्षा करनेके लिये त्रिशिरा नामक ज्वर सामने आया। उसके तीन पैर, तीन सिर, छः बाँहें और नौ आँखें थीं। भस्म ही उसका आयुध था। वह काल, अन्तक और यमके समान भयंकर दिखायी देता था। वह जब सिंहनाद करता, तब गर्जते हुए हजारों मेघोंके समान प्रतीत होता था। उसकी आवाज वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी॥

निःश्वसञ्जृम्भमाणश्च निद्रान्विततनुर्भृशम्।
नेत्राभ्यामाकुलं वक्त्रं मुहुः कुर्वन् भ्रमन् मुहुः॥७३॥

वह बारंबार लंबी साँस खींचता और जँभाई लेता था। उसका शरीर निद्रासे अत्यन्त आकुल प्रतीत होता था। वह बारंबार घूमता और अपने दोनों नेत्रोंसे युक्त मुखको व्यथासे व्याकुल बना लेता था॥ ७३॥

संहृष्टरोमा ग्लानाक्षो भग्नचित्त इव श्वसन्।
हलायुधमभिक्रुद्धः साक्षेपमिदमब्रवीत्॥ ७४॥

उसके रोंगटे खड़े हो रहे थे। नेत्र आदि इन्द्रियाँ गली जा रही थीं। वह भग्नचित्त (हतोत्साह) सा होकर साँस लेता था। उसने क्रोधमें भरकर हलधरसे यह आक्षेपयुक्त बात कही—॥ ७४॥

किमेवं बलमत्तोऽसि न मां पश्यसि संयुगे।
तिष्ठ तिष्ठ न मे जीवन् मोक्ष्यसे रणमूर्धनि॥ ७५॥

'तुम क्यों इस प्रकार बलसे उन्मत्त हो रहे हो? क्या इस युद्धस्थलमें तुम मुझे नहीं देखते हो? खड़े रहो, खड़े रहो! आज इस युद्धके मुहानेपर तुम मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकोगे'॥ ७५॥

इत्येवमुक्त्वा प्रहसन् हलायुधमुपाद्रवत्।
युगान्ताग्निनिभैर्घोरैर्मुष्टिभिर्जनयन् भयम्॥ ७६॥

ऐसा कहकर जोर-जोरसे हँसते हुए त्रिशिराने हल नामक आयुध धारण करनेवाले बलरामजीपर आक्रमण किया। वह प्रलयाग्निके समान अपने भयानक मुक्कोंसे भय उत्पन्न कर रहा था॥ ७६॥

चरतस्तत्र संग्रामे मण्डलानि सहस्रशः।
रौहिणेयस्य शीघ्रेण नावस्थानमदृश्यत॥ ७७॥

रोहिणीकुमार बलभद्र वहाँ संग्राममें सहस्रों पैंतरे बदलते हुए शीघ्रतापूर्वक विचर रहे थे। अतः कहीं उनका ठहरना उसे नहीं दिखायी दिया॥ ७७॥

तस्य भस्म तदा क्षिप्तं ज्वरेणाप्रतिमौजसा।
शैघ्र्याद् वक्षो निपतितं शरीरे पर्वतोपमे॥ ७८॥

तब उस अप्रतिम बलशाली ज्वरने बड़ी फुर्तीसे उनके ऊपर भस्म फेंका, जो उनके पर्वताकार शरीरमें छातीपर जाकर गिरा॥ ७८॥

तद् भस्म वक्षसस्तस्य मेरोः शिखरमागमत्।
प्रदीप्तं पतितं तत्र गिरिशृङ्गं व्यदारयत्॥ ७९॥

वह भस्म उनकी छातीसे मेरुपर्वतके शिखरपर आ गिरा। वहाँ गिरते ही वह प्रज्वलित हो उठा और उसने उस पर्वत शिखरको विदीर्ण कर डाला॥ ७९॥

शेषेण चापि जज्वाल भस्मना कृष्णपूर्वजः।
निःश्वसञ्जृम्भमाणश्च निद्रान्विततनुर्भृशम्॥ ८०॥

जो भस्म उनके वक्षःस्थलपर शेष रह गया, उतनेहीसे श्रीकृष्णके बड़े भैया जलने लगे। वे बारंबार साँस और जँभाई लेने लगे। उनका शरीर निद्रासे अत्यन्त अभिभूत हो गया॥ ८०॥

नेत्रयोराकुलत्वं च मुहुः कुर्वन् भ्रमंस्तथा।
संहृष्टरोमा ग्लानाक्षः क्षिप्तचित्त इव श्वसन्॥ ८१॥

वे बारंबार नेत्रोंसे व्याकुलता प्रकट करने और चक्कर काटने लगे। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उनकी नेत्र आदि इन्द्रियाँ गलने लगीं। वे विक्षिप्तचित्त-से होकर लंबी साँस खींचने लगे॥ ८१॥

ततो हलधरो भग्नः कृष्णमाह विचेतनः।
कृष्ण कृष्ण महाबाहो प्रदीप्तोऽस्म्यभयं कुरु॥ ८२॥
दह्यामि सर्वतस्तात कथं शान्तिर्भवेन्मम।

उस समय हलधरने हतोत्साह एवं अचेत होकर श्रीकृष्णसे कहा—'कृष्ण! कृष्ण! महाबाहो! मैं जल रहा हूँ। मेरा भय दूर करो। तात! मेरे शरीरमें सब ओरसे जलन हो रही है। मुझे किस तरह शान्ति प्राप्त हो'॥ ८२½॥

इत्येवमुक्ते वचने बलेनामिततेजसा॥ ८३॥
प्रहस्य वचनं प्राह कृष्णः प्रहरतां वरः।
न भेतव्यमितीत्युक्त्वा परिष्वक्तो हलायुधः॥ ८४॥
कृष्णेन परमस्नेहात् ततो दाहात् प्रमुच्यत।

अमिततेजस्वी बलदेवने जब ऐसी बात कही, तब प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णने उनसे हँसकर कहा—'भैया!

डरो मत ।' ऐसा कहकर श्रीकृष्णने बड़े स्नेहके साथ हलधरको हृदयसे लगाया। फिर तो वे तत्काल ही उस दाहसे मुक्त हो गये ॥ ८३-८४½ ॥

मोक्षयित्वा बलं तत्र दाहात् तु मधुसूदनः ॥ ८५ ॥
प्रोवाच परमक्रुद्धो वासुदेवो ज्वरं तदा ।

बलरामजीको वहाँ ज्वरजनित दाहसे मुक्त करके अत्यन्त कुपित हुए वसुदेवनन्दन मधुसूदनने उस समय उस ज्वरसे कहा ॥ ८५½ ॥

श्रीभगवानुवाच

एह्येहि ज्वर युध्यस्व या ते शक्तिर्महामृधे ॥ ८६ ॥
यच्च ते पौरुषं सर्वं तद् दर्शयतु नो भवान् ।

श्रीभगवान् बोले—ज्वर ! आओ, आओ, युद्ध करो। तुम्हारी जो शक्ति है और तुममें जो पुरुषार्थ है, वह सब हमें इस महासमरमें दिखाओ ॥ ८६½ ॥

सव्येतराभ्यां बाहुभ्यामेवमुक्तो ज्वरस्तदा ॥ ८७ ॥
चिक्षेपैनं महद् भस्म ज्वालागर्भ महाबलः ।

उनके ऐसा कहनेपर उस महाबली ज्वरने अपनी दोनों दाहिनी भुजाओंसे उनके ऊपर वह महान् भस्म फेंका, जिसके भीतर ज्वाला छिपी हुई थी ॥ ८७½ ॥

ततः प्रदीप्तगात्रस्तु मुहूर्तमभवत् प्रभुः ॥ ८८ ॥
कृष्णः प्रहरतां श्रेष्ठः शमं चाग्निर्गतस्ततः ।

उस भस्मसे दो घड़ीके लिये प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णका सारा शरीर जल उठा; परंतु फिर वह आग अपने-आप बुझ गयी ॥ ८८½ ॥

ततस्तैर्भुजगाकारैर्बाहुभिस्तु त्रिभिस्तदा ॥ ८९ ॥
जघान कृष्णं ग्रीवायां मुष्टिनैकेन चोरसि ।

तब उस त्रिशिराने अपनी तीन सर्पाकार भुजाओंसे श्रीकृष्णके कण्ठमें प्रहार किया और एक मुक्केसे उनकी छातीपर चोट की ॥ ८९½ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलस्तयोः पुरुषसिंहयोः ॥ ९० ॥
ज्वरस्य तु महायुद्धे कृष्णस्य तु महौजसः ।
पर्वतेषु पतन्तीनामशनीनामिव स्वनः ॥ ९१ ॥

(फिर श्रीकृष्ण भी उस ज्वरको पीटने लगे ।) उस महायुद्धमें ज्वर और महातेजस्वी श्रीकृष्ण दोनों पुरुषसिंहोंमें भयंकर मुष्टिका प्रहार होने लगा । उसका शब्द पर्वतोंपर गिरती हुई बिजलियोंकी गड़गड़ाहटके समान प्रतीत होता था ॥

कृष्णज्वरभुजाघातैर्युद्धमासीत् सुदारुणम् ।
नैवमेवं प्रहर्तव्यमिति तत्र महास्वनः ।
मुहूर्तमभवद् युद्धमन्योन्यं तु महात्मनोः ॥ ९२ ॥

श्रीकृष्ण और ज्वर दोनोंमें भुजाओंके आघातसे अत्यन्त भयंकर युद्ध हो रहा था। 'ऐसे नहीं, ऐसे प्रहार करना चाहिये' यह शब्द वहाँ बड़े जोर-जोरसे सुनायी देता था। इस प्रकार उन दोनों महात्माओंमें दो घड़ीतक परस्पर युद्ध चलता रहा ॥

ततो ज्वरं कनकविचित्रभूषणं
न्यपीडयद् भुजयुगलेन संयुगे ।
जगत्क्षयं समुपनयञ्जगत्पतिः
शरीरधृग् गगनचरं महामृधे ॥ ९३ ॥

तदनन्तर मानवशरीर धारण करके प्रकट हुए जगदीश्वर श्रीहरिने उस महासमरमें सोनेके विचित्र आभूषणोंसे विभूषित उस आकाशचारी ज्वरको अपनी दोनों भुजाओंसे धर दबाया। उस समय ऐसा जान पड़ता था कि वे जगदीश्वर सारे संसारका संहार कर डालेंगे ॥ ९३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि कृष्णज्वरयुद्धे द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीकृष्ण और ज्वरका युद्धविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णसे पराजित हुए ज्वरका उनकी शरणमें जाना, उनसे वर पाना और उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर रणभूमिसे हट जाना

वैशम्पायन उवाच

मृतमित्यभिविज्ञाय ज्वरं शत्रुनिषूदनः ।
कृष्णो भुजबलाभ्यां तु चिक्षेपाथ महीतले ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस ज्वरको मरा हुआ जानकर शत्रुसूदन श्रीकृष्णने अपनी बलिष्ठ भुजाओंसे उठाकर उसे पृथ्वीपर फेंक दिया ॥ १ ॥

मुक्तमात्रः स बाहुभ्यां कृष्णदेहं विवेश ह ।
अमुक्त्वा विग्रहं तस्य कृष्णस्याप्रतिमौजसः ॥ २ ॥

श्रीकृष्णकी भुजाओंसे छूटते ही वह उनके शरीरके भीतर घुस गया; वह अमिततेजस्वी श्रीकृष्णके श्रीविग्रहको छोड़कर न जा सका ॥ २ ॥

स ह्याविष्टस्तथा तेन ज्वरेणाप्रतिमौजसा ।
कृष्णः स्खलन्निव मुहुः क्षितौ गाढं व्यवर्तत ॥ ३ ॥

उस अप्रतिम बलशाली ज्वरसे आविष्ट होकर श्रीकृष्ण बारंबार लड़खड़ाते हुए-से पृथ्वीपर बैठ गये और जोर-जोरसे लोटने लगे ॥ ३ ॥

जृम्भते श्वसते चैव वल्गते च पुनः पुनः ।
रोमाञ्चोत्थितगात्रश्च निद्रया चाभिभूयते ॥ ४ ॥

वे बारंबार जँभाई लेते, लंबी साँस खींचते और उछलते-कूदते थे; उनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें रोमाञ्च हो आया और वे निद्रासे अभिभूत होने लगे ॥ ४ ॥

ततः स्थैर्यं समालम्ब्य कृष्णः परपुरंजयः ।
विकुर्वति महायोगी जम्भमाणः पुनः पुनः ॥ ५ ॥

तदनन्तर किसी तरह स्थिरता धारण करके शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले महायोगी श्रीकृष्ण वारंवार जँभाई लेते हुए विकारको प्राप्त होने लगे ॥ ५ ॥

ज्वराभिभूतमात्मानं विज्ञाय पुरुषोत्तमः ।
सोऽसृजज्ज्वरमन्यं तु पूर्वज्वरविनाशनम् ॥ ६ ॥

अपने आपको ज्वरसे आक्रान्त हुआ जान पुरुषोत्तम श्रीहरिने दूसरे ज्वरकी सृष्टि की, जो पूर्व ज्वरका विनाश करनेवाला था ॥ ६ ॥

घोरं वैष्णवमत्युग्रं सर्वप्राणिभयंकरम् ।
संसृष्टवान् स तेजस्वी तं ज्वरं भीमविक्रमम् ॥ ७ ॥

तेजस्वी श्रीकृष्णने जिस भयानक पराक्रमी ज्वरकी सृष्टि की थी, वह घोर वैष्णव ज्वर अत्यन्त उग्र तथा समस्त प्राणियोंके लिये भयङ्कर था ॥ ७ ॥

ज्वरः कृष्णविसृष्टस्तु गृहीत्वा तं ज्वरं बलात् ।
कृष्णाय हृष्टः प्रायच्छत् तं जग्राह ततो हरिः ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णद्वारा रचे गये उस ज्वरने पूर्वोक्त त्रिशिरा ज्वरको बलपूर्वक पकड़कर बड़े हर्षके साथ उसे श्रीकृष्णको समर्पित कर दिया । तब श्रीहरिने पुनः उस ज्वरको पकड़ लिया ॥ ८ ॥

ततस्तं परमक्रुद्धो वासुदेवो महाबलः ।
स्वगात्रात् स्वज्वरेणैव निष्कासयत वीर्यवान् ॥ ९ ॥

तब अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए महाबली पराक्रमी भगवान् वासुदेवने अपने ज्वरके द्वारा ही त्रिशिरा ज्वरको अपने शरीरसे निकलवा दिया ॥ ९ ॥

आविध्य भूतले चैनं शतधा कर्तुमुद्यतः ।
व्याघोषत ज्वरस्तत्र भोः परित्रातुमर्हसि ॥ १० ॥

तत्पश्चात् वे उसे पृथ्वीपर घुमाकर उसके सौ टुकड़े कर देनेको उद्यत हो गये, तब वहाँ उस ज्वरने यह पुकार की, 'प्रभो ! आप मेरी रक्षा करें' ॥ १० ॥

आविध्यमाने तस्मिंस्तु कृष्णेनामिततेजसा ।
अशरीरा ततो वाणी ह्यन्तरिक्षादभाषत ॥ ११ ॥

अमिततेजस्वी श्रीकृष्णके द्वारा उस ज्वरके घुमाये जाते समय आकाशसे शरीररहित वाणीने इस प्रकार कहा—॥ ११ ॥

कृष्ण कृष्ण महाबाहो यदूनां नन्दिवर्धन ।
मा वधीर्ज्वरमेनं तु रक्षणीयस्त्वयानघ ॥ १२ ॥

'कृष्ण ! कृष्ण !! महाबाहो !!! यदुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले निष्पाप श्रीकृष्ण ! आप इस ज्वरका वध न कीजिये, यह आपके द्वारा रक्षणीय है' ॥ १२ ॥

इत्येवमुक्ते वचने तं मुमोच हरिः स्वयम् ।
भूतभव्यभविष्यस्य जगतः परमो गुरुः ॥ १३ ॥

आकाशवाणीके ऐसा कहनेपर भूत, भविष्य और वर्तमान जगत्के परम गुरु साक्षात् श्रीहरिने उसे छोड़ दिया ॥ १३ ॥

कृष्णस्य पादयोर्मूर्ध्ना शरणं सोऽगमज्ज्वरः ।
एवं मुक्तो हृषीकेशं ज्वरो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ १४ ॥

उनके हाथसे इस प्रकार मुक्त होकर वह ज्वर श्रीकृष्णके दोनों चरणोंमें मस्तक रखकर उन्हींकी शरणमें गया और उन भगवान् हृषीकेशसे इस प्रकार बोला—॥ १४ ॥

शृणुष्व मम गोविन्द विज्ञाप्यं यदुनन्दन ।
यो मे मनोरथो देव तं त्वं कुरु महाभुज ॥ १५ ॥

'गोविन्द ! यदुनन्दन ! मेरा निवेदन सुनिये । देव ! महाबाहो ! मेरा जो मनोरथ है, उसे पूर्ण कीजिये ॥ १५ ॥

अहमेको ज्वरस्तात नान्यो लोके ज्वरो भवेत् ।
त्वत्प्रसादाद्धि देवेश वरमेनं वृणोम्यहम् ॥ १६ ॥

'तात ! देवेश्वर ! संसारमें मैं एक ज्वर हूँ, अब मेरे सिवा दूसरा कोई ज्वर न हो । आपकी कृपासे मैं इस वरको माँगता हूँ' ॥ १६ ॥

देव उवाच

एवं भवतु भद्रं ते यथा त्वं ज्वर काङ्क्षसे ।
वरार्थिनां वरो देयो भवांश्च शरणं गतः ॥ १७ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—ज्वर ! तुम्हारा भला हो, तुम जैसा चाहते हो, ऐसा ही हो ।' मेरे लिये सभी वरार्थियोंको वर देना उचित है, तुम तो वरार्थी होकर मेरी शरणमें आये हो (अतः तुम विशेष कृपाके पात्र हो) ॥ १७ ॥

एक एव ज्वरो लोके भवानस्तु यथा पुरा ।
योऽयं मया ज्वरः सृष्टो मय्येवैष प्रलीयताम् ॥ १८ ॥

तुम पहलेकी ही भाँति संसारमें एक ही ज्वरके रूपमें रहो । मैंने जो इस ज्वरकी सृष्टि की है, यह फिर मुझमें ही लीन हो जाय ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने ज्वरं प्रति महायशाः ।
कृष्णः प्रहरतां श्रेष्ठः पुनर्वाक्यमुवाच ह ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस ज्वरके प्रति ऐसी बात कहकर प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ महायशस्वी श्रीकृष्ण पुनः इस प्रकार बोले ॥ १९ ॥

वासुदेव उवाच

शृणुष्व ज्वर संदेशं यथा लोके चरिष्यसि ।
सर्वजातिषु विश्रब्धं यथा स्थावरजङ्गमे ॥ २० ॥

वासुदेवने कहा—ज्वर ! मेरा संदेश सुनो, जिसके अनुसार तुम चराचर जगत्में सभी जातिके प्राणियोंके भीतर बेखटके विचरण करोगे ॥ २० ॥

त्रिधा विभज्य चात्मानं मत्प्रियं यदि काङ्क्षसे।
चतुष्पादान् भजैकेन द्वितीयेन च स्थावरान् ॥ २१ ॥
तृतीयो यश्च ते भागो मानुषेषूपपत्स्यते।
त्रिधाभूतं वपुः कृत्वा पक्षिषु त्वं भव ज्वर ॥ २२ ॥
चतुर्थो यस्तृतीयस्य भविष्यति स ते ध्रुवम्।
एकान्तरस्तृतीयस्तु स वै चातुर्थिको ज्वरः ॥ २३ ॥

यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो अपने आपको तीन भागोंमें विभक्त करके एक भागसे चौपायोंका आश्रय लो, द्वितीय भागसे वृक्ष, पर्वत आदि स्थावर वस्तुओंका सेवन करो तथा तुम्हारा जो तीसरा भाग है, वह मनुष्योंमें रहने योग्य होगा। ज्वर ! इस प्रकार तुम अपने स्वरूपको तीन भागोंमें बाँटकर उपर्युक्त स्थानोंमें रहो तथा तुम्हारे तीसरे भागका जो एक चौथाई अंश है, वह पक्षियोंमें अटल भावसे स्थित होगा। यह तीसरी श्रेणीका जो ज्वर है, वह एक दिनका अन्तर देकर आनेपर एकान्तर या अँतारया कहलायेगा, दो दिनका अन्तर देनेपर तिजरा और तीन दिनका अन्तर देकर आनेपर वही चातुर्थिक (चौथिया ज्वर) कहलायेगा ॥ २१–२३ ॥

मानुषेष्वभिभेदेन वस त्वं प्रविभज्य वै।
जातिष्वथावशेषासु निवस त्वं शृणुष्व मे ॥ २४ ॥

इन भेद-उपभेदोंके साथ अपने रूपका विभाजन करके तुम मनुष्योंमें निवास करो। साथ ही, जो शेष जातियाँ हैं, उनमें भी तुम वास करो। किस तरह ? यह मुझसे सुनो–॥

वृक्षेषु कीटरूपेण तथा संकोचपत्रकः।
पाण्डुपत्रश्च विख्यातः फलेष्वातुर्यमेव च ॥ २५ ॥

वृक्षोंमें तुम कीटरूपसे निवास करो, इसके सिवा वहाँ तुम संकोचपत्रक और पाण्डुपत्रक नामसे विख्यात होगे (वृक्षोंके जो पत्ते सिकुड़ने लगते हैं, यह उनमें संकोचपत्रक नामक ज्वर है और जो उनके पत्ते पीले पड़ने लगते हैं, यह उनमें पाण्डुपत्रक नामक ज्वर है) तथा वृक्षोंके फलोंमें आतुर्यनामसे तुम्हारी ख्याति होगी (फलोंके एक देशमें जाली पड़ जानेसे जो वे फल सिकुड़ने या सूखने लगते हैं, यह उनमें आतुर्यनामक ज्वरका लक्षण है) ॥ २५ ॥

अपां तु नीलिकां विद्याच्छिखोद्भेदेन बर्हिणाम्।
पद्मिन्यादौ हिमो भूत्वा पृथिव्यामपि चोपरः ॥ २६ ॥
गैरिकः पर्वतेष्वेव मत्प्रसादाद् भविष्यसि।

जलोंमें नीलिकाको ज्वर समझना चाहिये। मोरोंके सिरपर जो शिखा फूट निकलती है, उसीके रूपमें उनके भीतर तुम्हारा वास होगा। तुम कमलिनी आदिपर हिम (पाला), पृथ्वीमें ऊपर तथा पर्वतोंपर गेरू होकर मेरी कृपासे वहाँ निवास करोगे ॥ २६½ ॥

गोष्वपस्मारको भूत्वा खोरकश्च भविष्यसि ॥ २७ ॥
एवं त्वं बहुरूपेण भविष्यसि महीतले।

गौओंमें अपस्मारक (कम्पन) और खोरक (खुर-रोग) होकर रहोगे। इस प्रकार तुम पृथ्वीपर बहुत-से रूपोंमें प्रकट होओगे ॥ २७½ ॥

दर्शनात् स्पर्शनाच्चापि प्राणिनां वधमेष्यसि ॥ २८ ॥
ऋते देवमनुष्याणां नान्यस्त्वां विसहिष्यति।

तुम अपने दृष्टिगत और स्पर्शसे भी प्राणियोंका वध कर डालोगे। देवता और मनुष्योंके सिवा दूसरा कोई तुम्हारा वेग नहीं सह सकेगा ॥ २८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

कृष्णस्य वचनं श्रुत्वा ज्वरो हृष्टमना ह्यभूत् ॥ २९ ॥
प्रोवाच वचनं किंचित् प्रणमित्वा कृताञ्जलिः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर ज्वरका मन प्रसन्न हो गया। उसने हाथ जोड़कर प्रणाम करके कुछ बात कही ॥ २९½ ॥

ज्वर उवाच

सर्वजातिप्रभुत्वेन कृतो धन्योऽस्मि माधव ॥ ३० ॥
भूयश्च ते वचः कर्तुमिच्छामि पुरुषर्षभ।
तदाज्ञापय गोविन्द किं करोमि महाभुज ॥ ३१ ॥

ज्वर बोला—पुरुषप्रवर माधव ! आपने सभी जातिके प्राणियोंपर मेरी प्रभुता स्थापित करके मुझे धन्य कर दिया। महाबाहु गोविन्द ! अब मैं पुनः आपकी आज्ञाका पालन करना चाहता हूँ। अतः आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ॥ ३०-३१ ॥

अहमसुरकुलप्रमाथिना
त्रिपुरहरेण हरेण निर्मितः।
रणशिरसि विनिर्जितस्त्वया
प्रभुरसि देव तवास्मि किंकरः ॥ ३२ ॥

देव ! असुरकुलनाशक और त्रिपुरसंहारक भगवान् हरने मेरी सृष्टि की है, आज युद्धके मुहानेपर आपने मुझे पराजित कर दिया। अतः आप मेरे प्रभु हैं और मैं आपका किङ्कर हूँ ॥ ३२ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यत् त्वया मत्प्रियं कृतम्।
आज्ञापय प्रियं किं ते चक्रायुध करोम्यहम् ॥ ३३ ॥

चक्रधारी श्रीकृष्ण ! आपने जो मेरा प्रिय किया, इससे मैं धन्य हो गया। आपके अनुग्रहका पात्र बन गया, अब आज्ञा दीजिये, मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य सम्पन्न करूँ ?॥

वैशम्पायन उवाच

ज्वरस्य वचनं श्रुत्वा वासुदेवोऽब्रवीद् वचः।
अभिसंधिं शृणुष्वाद्य यत् त्वां वक्ष्यामि निश्चयात् ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ज्वरका यह वचन सुनकर वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने कहा—'ज्वर ! मैं क्या चाहता हूँ, यह सुनो। मैं निश्चित रूपसे तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसपर ध्यान दो' ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

महाहवे तव मम च द्वयोरिमं
पराक्रमं भुजबलकेवलाश्रयोः।

प्रणम्य मामेकमनाः पठेत् तु यः
स वै भवेज्ज्वर विगतज्ज्वरो नरः ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान् बोले—ज्वर ! इस महासमरमें केवल बाहुबल ही हमारा-तुम्हारा अस्त्र रहा है; जो मुझे प्रणाम करके एकचित्त होकर हम दोनोंके इस पराक्रमका पाठ करे, वह मनुष्य अवश्य ज्वररहित हो जाय ॥ ३५ ॥

त्रिपाद् भस्मप्रहरणस्त्रिशिरा नवलोचनः ।
स मे प्रीतः सुखं दद्यात् सर्वामयपतिर्ज्वरः ॥ ३६ ॥

जिसके तीन पैर हैं, भस्म ही आयुध है, तीन सिर हैं और नौ नेत्र हैं, वह समस्त रोगोंका अधिपति ज्वर प्रसन्न होकर मुझे सुख प्रदान करे ॥ ३६ ॥

आद्यन्तवन्तः कवयः पुराणाः
सूक्ष्मा बृहन्तोऽप्यनुशासितारः ।
सर्वाञ्ज्वरान् घ्नन्तु ममानिरुद्ध-
प्रद्युम्नसंकर्षणवासुदेवाः ॥ ३७ ॥

जगत्के आदि और अन्त जिनके हाथोंमें हैं, जो ज्ञानी, पुराणपुरुष, सूक्ष्मस्वरूप, परम महान् और सबके अनुशासक हैं, वे अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और भगवान् वासुदेव सम्पूर्ण ज्वरोंका नाश करें (इस प्रकार प्रार्थना करनेवालोंका ज्वर दूर हो जाय) ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कृष्णेन ज्वरः साक्षान्महात्मना ।
प्रोवाच यदुशार्दूलमेवमेतद् भविष्यति ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! साक्षात् महात्मा श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर ज्वरने उन यदुश्रेष्ठसे कहा—'यह ऐसा ही होगा' ॥

वरं लब्ध्वा ज्वरो हृष्टः कृष्णाच्च समयं पुनः ।
प्रणम्य शिरसा कृष्णमपक्रान्तस्ततो रणात् ॥ ३९ ॥

श्रीकृष्णसे वर पाकर और उनकी शर्तको स्वीकार करके ज्वरको बड़ा हर्ष हुआ । वह मस्तक झुकाकर श्रीकृष्णको प्रणाम करनेके अनन्तर उस रणक्षेत्रसे दूर चला गया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि ज्वरकृष्णसंवादे त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें ज्वर और श्रीकृष्णका संवादविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

बाणासुरकी सेनाका पलायन, भगवान् शङ्करका अपने गणोंके साथ युद्धके लिये आगमन, भगवान् श्रीकृष्ण और रुद्रका युद्ध तथा बाणासुरका युद्धभूमिमें पदार्पण

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते त्वरिताः सर्वे त्रयस्त्रय इवाग्नयः ।
वैनतेयमथारुह्य युध्यमाना रणे स्थिताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर तीन अग्नियोंके समान वे सब तीनों वीर बड़ी उतावलीके साथ गरुड़पर आरूढ़ हो शत्रुओंके साथ युद्ध करते हुए रणभूमिमें डटे रहे ॥ १ ॥

ततः सर्वाण्यनीकानि बाणवर्षैरवाकिरन् ।
अर्दयन् वैनतेयस्था नदन्तोऽतिबलाद् रणे ॥ २ ॥

गरुडपर चढ़े हुए उन वीरोंने सिंहनाद करके बाणासुर-की समस्त सेनाओंको अपनी बाणवर्षासे ढक दिया और अत्यन्त बलपूर्वक उन्हें पीड़ा देना आरम्भ किया ॥ २ ॥

चक्रलाङ्गलपातैश्च बाणवर्षैश्च पीडितम् ।
संचुकोप महानीकं दानवानां दुरासदम् ॥ ३ ॥

चक्र और हलकी मारसे तथा बाणोंकी वर्षासे पीड़ित होकर दानवोंकी वह दुर्जय विशाल सेना अत्यन्त कुपित हो उठी ॥

कक्षेऽग्निरिव संवृद्धः शुष्केन्धनसमीरितः ।
कृष्णबाणाग्निरुद्भूतो विवृद्धिं परमां गतः ॥ ४ ॥

जैसे तिनकोंके बोझमें आग लग जाय और सूखे ईंधनका सहारा पाकर वह और भी बढ़ जाय उसी प्रकार श्रीकृष्णके बाणोंसे जो अग्नि प्रकट हुई, वह अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त होने लगी ॥ ४ ॥

दानवानां सहस्राणि तस्मिन् समरमूर्धनि ।
युगान्ताग्निरिवार्चिष्मान् दहमानो व्यराजत ॥ ५ ॥

वह उस युद्धके मुहानेपर सहस्रों दानवोंको दग्ध करती हुई ज्वाला-मालाओंसे मण्डित प्रलयाग्निके समान प्रकाशित हो रही थी ॥ ५ ॥

तां दीर्यमाणां महतीं नानाप्रहरणार्दिताम् ।
सेनां बाणः समासाद्य वारयन् वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे पीड़ित हो भागती हुई उस विशाल सेनाके पास पहुँचकर बाणासुर उसे रोकता हुआ इस प्रकार बोला—॥ ६ ॥

लाघवं समुपागम्य किमर्थं भयविक्लवाः ।
दैत्यवंशसमुत्पन्नाः पलायध्वं महाहवात् ॥ ७ ॥

'वीरो ! तुम दैत्यवंशमें उत्पन्न होकर भी किसलिये लघुता (कायरता) का आश्रय ले भयसे व्याकुल हो इस महासमरसे पलायन कर रहे हो ॥ ७ ॥

कवचासिगदाप्रासखड्गचर्मपरश्वधान् ।
उत्सृज्योत्सृज्य गच्छन्ति किं भवन्तोऽन्तरिक्षगाः ॥ ८ ॥

'कवच, खड्ग, गदा, प्रास, ढाल, तलवार और फरसे फेंक-फेंककर तुम आकाशमार्गसे क्यों भागे जा रहे हो ॥ ८ ॥

स्वजातिं चैव भावं च हरसंसर्गमेव च ।
मानयद्भिर्न गन्तव्यमेषो ह्यहमवस्थितः ॥ ९ ॥

'अपनी जातिका, अपने वीरभावका तथा भगवान् शङ्करके साथ हमारा जो सम्पर्क है उसका सम्मान करते हुए तुमलोगोंको यहाँसे हटना नहीं चाहिये; देखो! यह मैं युद्ध-भूमिमें डटा हुआ हूँ' ॥ ९ ॥

एवमुच्चरितं वाक्यं शृण्वन्तस्तदचिन्तयन्।
अपाक्रामन्त ते सर्वे दानवा भयमोहिताः ॥ १० ॥

इस प्रकार कहे गये उत्साहवर्धक वाक्यको सुनते हुए भी उसकी परवा न करके वे समस्त दानव भयसे मोहित होकर भाग चले ॥ १० ॥

प्रमाथगणशेषं तु तदनीकमतिष्ठत।
भग्नावशेषं युद्धाय पुनश्चक्रे मनस्तदा ॥ ११ ॥

अब उस सेनामें केवल प्रमथगण शेष रह गये; उन्हींको लेकर वह सेना वहाँ खड़ी थी। उस समय भागनेसे बचे-खुचे सैनिकोंने पुनः युद्धमें मन लगाया ॥ ११ ॥

कुम्भाण्डो नाम बाणस्य सखामात्यश्च वीर्यवान्।
भग्नं स्वबलमालोक्य इदं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

बाणासुरके मन्त्री और सखा पराक्रमी कुम्भाण्डने अपनी सेनामें भगदड़ मची देख यह बात कही—॥ १२ ॥

एष बाणः स्थितो युद्धे शंकरोऽयं गुहस्तथा।
किमर्थं बलमुत्सृज्य भवन्तो यान्ति मोहिताः ॥ १३ ॥

'वीरो! ये राजा बाणासुर युद्धमें स्थित हैं। ये भगवान् शङ्कर और कार्तिकेयजी भी यहाँ विराजमान हैं। फिर तुम लोग मोहग्रस्त हो अपनी सेनाको छोड़कर किसलिये भाग रहे हो' ॥

प्राणांस्त्यक्त्वा पलायन्ते सर्वे दानवपुङ्गवाः।
एवं कुम्भाण्डवाक्यं ते शृण्वन्तो भयविह्वलाः।
चक्राग्निभयवित्रस्ताः सर्वे यान्ति दिशो दश ॥ १४ ॥

कुम्भाण्डका ऐसा वचन सुनते हुए भी वे समस्त दानवशिरोमणि भयसे व्याकुल हो प्राणोंका मोह छोड़कर पलायन करने लगे। वे सब-के-सब श्रीकृष्णकी चक्राग्निके भयसे थर्रा उठे थे; अतः दसों दिशाओंकी ओर भागे चले जा रहे थे॥

भग्नं बलं ततो दृष्ट्वा कृष्णेनामिततेजसा।
संरक्तनयनः स्थाणुर्युद्धाय पर्यवर्तत ॥ १५ ॥

तदनन्तर अमित तेजस्वी श्रीकृष्णके द्वारा दानवसेनामें भगदड़ पड़ी देख भगवान् शङ्कर क्रोधसे लाल आँखें किये स्वयं युद्धके लिये उपस्थित हुए ॥ १५ ॥

बाणसंरक्षणं कर्तुं रथमास्थाय सुप्रभम्।
देवः कुमारश्च तथा रथेनाग्निसमेन वै ॥ १६ ॥

वे बाणासुरकी रक्षा करनेके लिये उत्तम प्रभासे युक्त रथपर आरूढ़ होकर आये थे; साथ ही कुमार स्कन्ददेव भी अग्निके समान तेजस्वी रथके द्वारा वहाँ उपस्थित हुए थे॥१६॥

नन्दीश्वरसमायुक्तं रथमास्थाय वीर्यवान्।
संदष्टौष्ठपुटो रुद्रः प्राधावत यतो हरिः ॥ १७ ॥

नन्दीश्वरसे संयुक्त रथपर आरूढ़ हो पराक्रमी भगवान् रुद्र अपने ओष्ठको दाँतोंसे दबाकर उसी ओर दौड़े; जहाँ श्रीहरि विद्यमान थे ॥ १७ ॥

पिबन्निव तदाकाशं सिंहयुक्तो महास्वनः।
रथो भाति घनोन्मुक्तः पौर्णमास्यां यथा शशी ॥ १८ ॥

सिंहोंसे जुता हुआ उनका रथ ऐसी तीव्रगतिसे दौड़ रहा था, मानो आकाशको पिये लेता हो। उससे बड़ी भारी घरघराहट हो रही थी। वह रथ ऐसा जान पड़ता था, मानो मेघोंके आवरणसे मुक्त हुआ पूर्णमासीका चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा हो ॥ १८ ॥

ततो गणसहस्रैस्तु नानारूपैर्भयावहैः।
नदद्भिर्विविधान् नादान् रथो देवस्य शोभयन् ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् नाना प्रकारके सिंहनाद करते हुए नाना रूप-धारी सहस्रों भयंकर गणोंके साथ महादेवजीका रथ रणभूमिकी शोभा बढ़ाने लगा ॥ १९ ॥

केचित् सिंहमुखास्तत्र तथा व्याघ्रमुखाः परे।
नागाश्वोष्ट्रमुखास्तत्र प्रवेपुरतिपीडिताः ॥ २० ॥

भगवान् शिवके गणोंमें कोई सिंहके समान मुखवाले थे तो कोई व्याघ्रके समान; कितनोंके मुख हाथी, घोड़े और ऊँटके समान थे; ये सब श्रीकृष्णके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर थर थर काँपने लगे ॥ २० ॥

व्यालयज्ञोपवीताश्च केचित् तत्र महाबलाः।
खरोष्ट्रगजवक्त्राश्च अश्वग्रीवाश्च संस्थिताः ॥ २१ ॥

उनमेंसे कितने ही महाबली प्रमथगणोंने सर्पमय यज्ञोपवीत धारण कर रखे थे; कितनोंके मुख गधे, ऊँट और हाथियोंके समान थे, कितने ही घोड़ोंकी-सी गर्दन लिये खड़े थे ॥ २१ ॥

छागमार्जारवक्त्राश्च मेषवक्त्रास्तथा परे।
चीरिणः शिखिनश्चान्ये जटिलोर्ध्वशिरोरुहाः ॥ २२ ॥
भग्नाः परिपतन्ति स्म शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः।

अन्य शिवगणोंके मुख भेड़, बकरे और बिलावोंके समान थे; कितने ही चीर वस्त्र धारण किये हुए थे, कितनोंके मस्तकपर शिखा सुशोभित हो रही थी; बहुतोंने जटाएँ बढ़ा रखी थीं और कितनोंके सिरके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए थे। श्रीकृष्णके बाणोंसे घायल हो इन सबके पाँव उखड़ गये। ये शङ्ख एवं दुन्दुभियोंके शब्द सुनकर ही रणभूमिमें गिर पड़ते थे ॥ २२½ ॥

केचित् सौम्यमुखास्तत्र दिव्यैः शस्त्रैरलंकृताः ॥ २३ ॥
नानापुष्पकृतापीडा नानाप्रहरणायुधाः।

कितने ही शिवगणोंके मुख सौम्य थे, वे वहाँ दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे सुशोभित होते थे। उन्होंने भाँति-भाँतिके फूलोंके मुकुट धारण किये थे और उनके आयुध भी अनेक प्रकारके थे ॥ २३½ ॥

वामना विकटाश्चैव सिंहव्याघ्रपरिच्छदाः ॥ २४ ॥
रुधिरार्द्रैर्महावक्त्रैर्महादंष्ट्रा बलिप्रियाः।

कितने ही गण बौने और विकट आकारवाले थे; उन्होंने सिंहों और व्याघ्रोंकी खालोंसे अपने शरीरको ढक रखा था। कितनोंकी दाढ़ें बहुत बड़ी थीं और वे खूनसे

भीगे हुए विशाल मुखोंसे युक्त थे। उन्हें बलि अधिक प्रिय थी ॥ २४½ ॥

देवं सम्परिवार्याथ महाशत्रुप्रमर्दनम् ॥ २५ ॥
लीलायमानास्तिष्ठन्ति संग्रामाभिमुखोन्मुखाः ।

ये सब-के-सब बड़े-बड़े शत्रुओंका मर्दन करनेवाले महादेवजीको चारों ओरसे घेरकर लीलापूर्वक संग्रामके लिये उत्सुक हो मुँह ऊपर किये खड़े थे ॥ २५½ ॥

ततो दिव्यं रथं दृष्ट्वा रुद्रस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ २६ ॥
कृष्णो गरुडमास्थाय ययौ रुद्राय संयुगे ।

तदनन्तर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले रुद्रदेवके दिव्य रथको देखकर गरुड़पर बैठे हुए श्रीकृष्ण भी भगवान् रुद्रके साथ युद्ध करनेके लिये गये ॥ २६½ ॥

वैनतेयस्थमास्यन्तमायान्तमग्रणीं हरिम् ॥ २७ ॥
विव्याध कुपितो बाणैर्नाराचानां शतेन सः ।

गरुड़की पीठपर बैठकर आते हुए यादवकुलके अग्रणी श्रीहरिको क्रोधमें भरे हुए भगवान् शिवने सौ नाराचोंसे घायल कर दिया ॥ २७½ ॥

स शरैरर्दितस्तेन हरेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ २८ ॥
हरिर्जग्राह कुपितो ह्यस्त्रं पार्जन्यमुत्तमम् ।

बिना क्लेशके ही बड़े-बड़े कर्म करनेवाले महादेवजीके द्वारा बाणोंसे पीड़ित किये जानेपर क्रोधमें भरे हुए श्रीहरिने उत्तम पार्जन्यास्त्र हाथमें लिया ॥ २८½ ॥

प्रचचाल ततो भूमिर्विष्णुरुद्रप्रपीडिता ॥ २९ ॥
नागाश्चोर्ध्वमुखास्तत्र विचेलुरभिपीडिताः ।

उस समय भगवान् विष्णु और रुद्रके भारसे अत्यन्त पीड़ित हुई भूमि काँपने लगी। आठों दिग्गज ऊपर मुँह किये पीड़ा पाकर विचलित हो उठे ॥ २९½ ॥

पर्वताः पतितास्तत्र जलधाराभिराप्लुताः ॥ ३० ॥
केचिन्मुमुचिरे तत्र शिखराणि समन्ततः ।

बहुत-से पर्वत जलकी धाराओंसे आप्लावित हो वहाँ धराशायी हो गये। कितने ही सब ओरसे अपने शिखरोंका परित्याग करने लगे ॥ ३०½ ॥

दिशश्च प्रदिशश्चैव भूमिराकाशमेव च ॥ ३१ ॥
प्रदीप्तानीव दृश्यन्ते स्थाणुकृष्णसमागमे ।
समन्ततश्च निर्घाताः पतन्ति धरणीतले ॥ ३२ ॥

भगवान् शिव और कृष्णके संघर्षके समय दिशाएँ, विदिशाएँ, पृथ्वी और आकाश—ये सभी प्रज्वलित-से दिखायी देते थे। भूतलपर सब ओरसे वज्रपात होने लगा ॥ ३१-३२ ॥

शिवाश्चैवाशिवान् नादान् नदन्ते भीमदर्शनाः ।
वासवश्चानदन् घोरं रुधिरं चाप्यवर्षत ॥ ३३ ॥

भयानक दिखायी देनेवाली गीदड़ियाँ अमङ्गलसूचक बोली बोलने लगीं। इन्द्र घोर गर्जना करते हुए रक्तकी वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥

उल्का च बाणसैन्यस्य पुच्छेनावृत्य तिष्ठति ।
प्रववौ मारुतश्चापि ज्योतींष्याकुलतां ययुः ॥ ३४ ॥
प्रभाहीनास्तथौषध्यो न चरन्त्यन्तरिक्षगाः ।

उल्का बाणासुरकी सेनाके पुच्छभागको आवृत करके स्थित हुई थी। वायु प्रचण्ड गतिसे बह रही थी और तारे व्याकुलताको प्राप्त हो रहे थे। ओषधियाँ निस्तेज हो गयीं और आकाशचारी प्राणी आकाशमें विचरण नहीं करते थे ॥

एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मा सर्वदेवगणैर्वृतः ॥ ३५ ॥
त्रिपुरान्तकमुद्यन्तं ज्ञात्वा रुद्रमुपागमत् ।

इसी बीचमें समस्त देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्माजी त्रिपुरनाशक रुद्रको युद्धके लिये उद्यत जानकर वहाँ आये ॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव यक्षा विद्याधरास्तथा ॥ ३६ ॥
सिद्धचारणसंघाश्च पश्यन्तोऽथ दिवि स्थिताः ।

गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, विद्याधर, सिद्ध और चारणोंके समुदाय भी वह युद्ध देखनेके लिये आकाशमें खड़े हो गये ॥ ३६½ ॥

ततः पार्जन्यमस्त्रं तत् क्षिप्तं रुद्राय विष्णुना ॥ ३७ ॥
ययौ ज्वलन्नथ तदा यतो रुद्रो रथस्थितः ।

इसी समय भगवान् श्रीकृष्णने रुद्रदेवपर पार्जन्यास्त्रका प्रहार किया। वह अस्त्र प्रज्वलित होकर उसी ओर चला, जहाँ रुद्रदेव रथपर विराजमान थे ॥ ३७½ ॥

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ॥ ३८ ॥
निपेतुः सर्वतो दिग्भ्यो यतो हररथः स्थितः ।

फिर तो जहाँ भगवान् शङ्करका रथ खड़ा था, वहाँ सभी दिशाओंसे झुकी हुई गाँठवाले लाखों बाण गिरने लगे ॥

अथाग्नेयं महारौद्रमस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥ ३९ ॥
मुमोच रुषितो रुद्रस्तदद्भुतमिवाभवत् ।

तब रोषमें भरे हुए अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ रुद्रदेवने वहाँ महारौद्र आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया। वह अद्भुत-सा प्रतीत हुआ ॥

ततो विशीर्णदेहास्ते चत्वारोऽपि समन्ततः ॥ ४० ॥
नादृश्यन्त शरैश्छन्ना दह्यमानाश्च वह्निना ।
सिंहनादं ततश्चक्रुः सर्व एवासुरोत्तमाः ॥ ४१ ॥

उससे उन चारोंके शरीर सब ओरसे क्षत विक्षत हो गये। वे बाणोंसे आच्छादित हो आगसे जलते हुए अदृश्य हो गये। यह देख सभी असुरप्रवर वीर वहाँ सिंहनाद करने लगे ॥

हतोऽयमिति विज्ञाय आग्नेयास्त्रेण वै तदा ।
ततस्तद् विसहित्वाऽऽजौ ह्यस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥ ४२ ॥
जग्राह वारुणं सोऽस्त्रं वासुदेवः प्रतापवान् ।

उन्होंने यह समझ लिया था कि श्रीकृष्ण आग्नेयास्त्रसे मारे गये। तदनन्तर युद्धस्थानमें उस अस्त्रकी चोट सहकर अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ प्रतापी वासुदेवने वारुणास्त्र उठाया ॥

प्रयुक्ते वासुदेवेन वारुणास्त्रेऽतितेजसि ॥ ४३ ॥
आग्नेयं प्रशमं यातमस्त्रं वारुणतेजसा ।

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णद्वारा अत्यन्त तेजस्वी वारुणास्त्रका प्रयोग होनेपर उसके तेजसे भगवान् शङ्करका आग्नेयास्त्र शान्त हो गया ॥ ४३½ ॥

तस्मिन् प्रतिहते त्वस्त्रे वासुदेवेन संयुगे ॥ ४४ ॥
पैशाचं राक्षसं रौद्रं तथैवाङ्गिरसं भवः ।
मुमोचास्त्राणि चत्वारि युगान्ताग्निनिभानि वै ॥ ४५ ॥

उस युद्धस्थलमें भगवान् वासुदेवद्वारा उस आग्नेयास्त्रके प्रतिहत हो जानेपर भगवान् शिवने पैशाच, राक्षस, रौद्र तथा आङ्गिरस नामक चार अस्त्र छोड़े,जो प्रलयाग्निके समान तेजस्वी थे ॥ ४४-४५ ॥

वायव्यमथ सावित्रं वासवं मोहनं तथा।
अस्त्राणां वारणार्थाय वासुदेवो व्यमुञ्चत ॥ ४६ ॥

तब भगवान् वासुदेवने उक्त चारों अस्त्रोंका निवारण करनेके लिये क्रमशः वायव्यास्त्र, सावित्रास्त्र, ऐन्द्रास्त्र तथा मोहनास्त्रका प्रयोग किया ॥ ४६ ॥

अस्त्रैश्चतुर्भिश्चत्वारि वारयित्वाशु माधवः।
मुमोच वैष्णवं सोऽस्त्रं व्यादितास्यान्तकोपमम् ॥४७॥

उन चारों अस्त्रोंसे उनके चारों अस्त्रोंका तत्काल निवारण करके लक्ष्मापति श्रीकृष्णने वैष्णवास्त्रका प्रयोग किया जो मुँह बाये हुए कालके समान प्रतीत होता था ॥ ४७ ॥

वैष्णवास्त्रे प्रयुक्ते तु सर्वे एवासुरोत्तमाः।
भूतयक्षगणश्चैव बाणानीकं च सर्वशः ॥ ४८ ॥
दिशः सर्वाः प्राद्रवन्त भयमोहेन विक्लवाः।

वैष्णवास्त्रका प्रयोग होनेपर सभी असुरशिरोमणि वीर भूत, यक्षगण एवं बाणकी सारी सेना—ये सभी भय और मोहसे व्याकुल हो सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भाग गये ॥ ४८½ ॥

प्रमाथगणभूयिष्ठे दीर्णे सैन्ये महासुरः ॥ ४९ ॥
निर्जगाम ततो बाणो युद्धायाभिमुखस्त्वरन्।

जिसमें प्रमथगणोंकी अधिकता थी, उस सेनाके भी पलायन कर जानेपर महान् असुर बाण युद्धके लिये उत्सुक हो बड़ी उतावलीके साथ निकला ॥ ४९½ ॥

भीमप्रहरणैर्घोरैर्दैत्यैश्च सुमहाबलैः।
वृतो महारथैर्वीरैर्वज्रीव सुरसत्तमैः ॥ ५० ॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र श्रेष्ठ देवताओंसे घिरे होते हैं, उसी प्रकार वह भयकर अस्त्र-शस्त्रवाले महाबली एवं वीर महारथी घोर दैत्योंसे घिरा हुआ था ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच

जपैश्च मन्त्रैश्च तथौषधीभि-
र्महात्मनः स्वस्त्ययनं प्रचक्रुः।
स तत्र वस्त्राणि शुभाश्च गावः
फलानि पुष्पाणि तथैव निष्कान् ॥ ५१ ॥
बलेः सुतो ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छन्
विराजते तेन यथा धनेशः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय ब्राह्मण-लोग जप, मन्त्र और ओषधियोंद्वारा महामनस्वी बाणासुरके लिये स्वस्तिवाचन कर रहे थे और बलिकुमार बाण उन ब्राह्मणोंके लिये बहुत-से वस्त्र, शुभलक्षणा गौएँ, फल, फूल तथा स्वर्ण-मुद्राएँ देता हुआ धनाध्यक्ष कुबेरके समान शोभा पाता था ॥

सहस्रसूर्यो बहुकिङ्किणीकः
परार्ध्यजाम्बूनदरत्नचित्रः ॥ ५२ ॥
सहस्रचन्द्रायुततारकश्च
रथो महानग्निरिवावभाति।
तमास्थितो दानवसंगृहीतं
महाध्वजं कार्मुकधृक् स बाणः ॥ ५३ ॥

उसके विशाल रथमें सहस्रों सूर्योंके चिह्न बने थे, बहुत-सी छोटी-छोटी घंटियाँ लगी थीं। वह बहुमूल्य सुवर्ण तथा रत्नोंसे सुसज्जित होकर विचित्र शोभा धारण करता था। उसमें सहस्रों चन्द्रमा तथा दस हजार तारोंके चिह्न बने थे। वह महान् रथ अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था। दानव कुम्भाण्डने उस रथकी रास अपने हाथमें ले रक्खी थी। उसपर विशाल ध्वजा फहरा रही थी और उसपर बैठे हुए बाणासुरने हाथमें धनुष ले रक्खा था ॥ ५२-५३ ॥

उद्वर्तयिष्यन् यदुपुङ्गवाना-
मतीव रौद्रं स बिभर्ति रूपम्।
स मन्युमान् वीररथौघसंकुलो
विनिर्ययौ तान् प्रति दैत्यसागरः ॥ ५४ ॥
वातप्रवृद्धस्तु तरङ्गसंकुलो
यथार्णवो लोकविनाशनाय।

वह उन यदुपुङ्गव वीरोंका संहार कर डालनेके लिये उद्यत हो अत्यन्त भयंकर रूप धारण किये हुए था, क्रोधमें भरा था और वीर रथियोंके समुदायसे घिरा हुआ था। वह दैत्यसागर उन यादववीरोंकी ओर बढ़ चला। ठीक उसी तरह, जैसे वायुके वेगसे बढ़ा हुआ उत्ताल तरंगोंसे व्याप्त महासागर समस्त लोकोंका विनाश करनेके लिये अग्रसर हो रहा हो ॥

भीमानि संत्रासकरैर्वपुर्भि-
स्तान्यग्रतो भान्ति बलानि तस्य ॥ ५५ ॥
महारथान्युच्छ्रितकार्मुकाणि
सपर्वतानीव वनानि राजन्।
विनिःसृतः सागरतोयवासा-
दत्यद्भुतश्चाहवद्रष्टुकामः ॥ ५६ ॥

लोगोंके मनमें त्रास उत्पन्न करनेवाले शरीरोंके द्वारा भयंकर प्रतीत होनेवाली बहुत-सी सेनाएँ उसके आगे-आगे चल रही थीं। राजन् ! विशाल रथों और उठे हुए धनुषोंसे युक्त वे सेनाएँ पर्वतसहित वनोंके समान प्रतीत होती थीं। अत्यन्त अद्भुत रूपवाला बाणासुर वह युद्ध देखनेके लिये समुद्रके निकटवर्ती वासस्थानसे निकलकर चला ॥ ५५-५६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि रुद्रकृष्णयुद्धे चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें भगवान् रुद्र और श्रीकृष्णका युद्धविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके जृम्भास्त्रसे भगवान् शङ्करका जँभाईके वशीभूत होना, ब्रह्माजीके द्वारा शिवजीको विष्णुके साथ उनकी एकताका स्मरण दिलाना तथा ब्रह्माजीके पूछनेपर मार्कण्डेयजीका हरिहरकी एकता स्थापित करते हुए माहात्म्यसहित हरिहरात्मक स्तोत्रका वर्णन करना

वैशम्पायन उवाच

अन्धकारीकृते लोके प्रदीप्ते त्र्यम्बके तथा।
न नन्दी नापि च रथो न रुद्रः प्रत्यदृश्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वैष्णवास्त्रका प्रयोग होनेपर जब सम्पूर्ण जगत्‌में अन्धकार छा गया और भगवान् शङ्कर उसके तेजसे जलने-से लगे, उस समय उस अस्त्रसे आच्छादित होनेके कारण न नन्दी, न रथ और न रुद्रदेव ही दिखायी देते थे ॥ १ ॥

द्विगुणं दीप्तदेहस्तु रोषेण च बलेन च।
त्रिपुरान्तकरो बाणं जग्राह स चतुर्मुखम् ॥ २ ॥

तब रोष और बलसे त्रिपुरान्तकारी भगवान् शिवका शरीर दुगुना दमक उठा। उन्होंने चार फलवाला बाण अपने हाथमें लिया ॥ २ ॥

संदधत् कार्मुकं चैव क्षेप्तुकामस्त्रिलोचनः।
विज्ञातो वासुदेवेन चित्तज्ञेन महात्मना ॥ ३ ॥

वे भगवान् त्रिलोचन उस बाणको धनुषपर रखकर छोड़ना ही चाहते थे कि सबके मनकी बात जाननेवाले महात्मा वासुदेवने उनके मनोभावको समझ लिया ॥ ३ ॥

जृम्भणं नाम सोऽप्यस्त्रं जग्राह पुरुषोत्तमः।
हरं संजृम्भयामास क्षिप्रकारी महाबलः ॥ ४ ॥

फिर तो शीघ्रकारी महाबली पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने जृम्भणास्त्र उठाया और उसके द्वारा महादेवजीको जृम्भासे अभिभूत कर दिया ॥ ४ ॥

सशरः सधनुश्चैव हरस्तेनाशु जृम्भितः।
संज्ञां न लेभे भगवान् विजेतासुररक्षसाम् ॥ ५ ॥

इससे भगवान् शिव शीघ्र ही धनुष और बाण लिये जँभाई लेने लगे; असुरों और राक्षसोंपर विजय पानेवाले भगवान् शिवको उस समय सुध-बुध न रही ॥ ५ ॥

सशरं सधनुष्कं च दृष्ट्वाऽऽत्मानं विजृम्भितम्।
बलोन्मत्तोऽथ बाणोऽसौ शर्वं चोदयतेऽसकृत् ॥ ६ ॥

धनुष और बाणसहित आत्मस्वरूप शिवको जँभाईके वशीभूत हुआ देख बलोन्मत्त बाणासुर बारंबार उन्हे युद्धके लिये प्रेरित करने लगा ॥ ६ ॥

ततो ननाद भूतात्मा स्निग्धगम्भीरया गिरा।
प्रध्मापयामास तदा कृष्णः शङ्खं महाबलः ॥ ७ ॥

तब सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा महाबली भगवान् श्रीकृष्णने स्निग्ध गम्भीर वाणीमें सिंहनाद किया और जोर-जोरसे शङ्ख बजाया ॥ ७ ॥

पाञ्चजन्यस्य घोषेण शार्ङ्गविस्फूर्जितेन च।
देवं विजृम्भितं दृष्ट्वा सर्वभूतानि तत्रसुः ॥ ८ ॥

पाञ्चजन्य शङ्खके गम्भीर घोषसे, शार्ङ्ग-धनुषकी टङ्कारसे तथा महादेवजीको जृम्भाके वशीभूत देखकर समस्त प्राणी थर्रा उठे ॥ ८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तत्र रुद्रस्य पार्षदा रणे।
मायायुद्धं समाश्रित्य प्रद्युम्नं पर्यवारयन् ॥ ९ ॥

इसी बीचमें रुद्रदेवके पार्षदोंने मायायुद्धका आश्रय ले रणभूमिमें प्रद्युम्नको घेर लिया ॥ ९॥

सर्वांस्तु निद्रावशगान् कृत्वा मकरकेतुमान्।
दानवान् नाशयत् तत्र शरजालेन वीर्यवान्।
प्रमाथगणभूयिष्ठांस्तत्र तत्र महाबलान् ॥ १० ॥

परंतु पराक्रमी मकरध्वज प्रद्युम्नने उन सबको निद्राके वशीभूत करके वहाँ बाणसमूहोंद्वारा महाबली दानवोंका—जिनमें प्रमथगणोंकी संख्या अधिक थी—विनाश कर डाला॥

ततस्तु जृम्भमाणस्य देवस्याक्लिष्टकर्मणः।
ज्वाला प्रादुरभूद् वक्त्राद् दहन्तीव दिशो दश ॥ ११॥

तदनन्तर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले तथा जृम्भाके वशीभूत हुए महादेवजीके मुखसे एक आगकी ज्वाला प्रकट हुई, जो सम्पूर्ण दिशाओंको दग्ध करती हुई-सी प्रतीत होती थी ॥ ११ ॥

ततस्तु धरणीदेवी पीड्यमाना महात्मभिः।
ब्रह्माणं विश्वधातारं वेपमानाभ्युपागमत् ॥ १२ ॥

उस समय उन महात्माओंसे पीड़ित हुई पृथ्वीदेवी काँपती हुई विश्व-स्रष्टा ब्रह्माजीकी शरणमें गयी ॥ १२ ॥

पृथिव्युवाच

देवदेव महाबाहो पीड्यामि परमौजसा।
कृष्णरुद्रभराक्रान्ता भविष्यैकार्णवा पुनः ॥ १३ ॥

पृथ्वी बोली—देवाधिदेव! महाबाहो! मैं महान् ओज (बल-पराक्रम) से पीड़ित हूँ। भगवान् श्रीकृष्ण और महादेवजीके भारसे आक्रान्त हो पुनः एकार्णवके जलमें निमग्न हो जाऊँगी—ऐसा जान पड़ता है ॥ १३ ॥

अविषह्यमिमं भारं चिन्तयस्व पितामह।
लघ्वीभूता यथा देव धारयेयं चराचरम्॥ १४॥

पितामह! मैं इस भारको अपने लिये असह्य मानती हूँ, आप इसपर विचार कीजिये। देव! ऐसा कोई उपाय कीजिये, जिससे मैं हलकी होकर चराचर जगत्को धारण कर सकूँ॥ १४॥

ततस्तु काश्यपीं देवीं प्रत्युवाच पितामहः।
मुहूर्तं धारयात्मानमाशु लघ्वी भविष्यसि॥ १५॥

तब पितामह ब्रह्माजीने काश्यपीदेवी (पृथ्वी) से इस प्रकार कहा—'तू दो घड़ीतक किसी प्रकार अपने आपको रोके रह; फिर शीघ्र ही हलकी हो जायगी'॥ १५॥

वैशम्पायन उवाच

दृष्ट्वा तु भगवान् ब्रह्मा रुद्रं वचनमब्रवीत्।
सृष्टो महासुरवधः किं भूयः परिरक्ष्यते॥ १६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब भगवान् ब्रह्माने रुद्रदेवसे मिलकर यह बात कही—'(आपकी सम्मतिसे ही तो) बड़े-बड़े असुरोंका वध आरम्भ किया गया है, फिर आप स्वयं ही असुरवृन्दकी रक्षा क्यों करते हैं?॥१६॥

न च युद्धं महाबाहो तव कृष्णेन रोचते।
न च बुध्यसि कृष्णं त्वमात्मानं तु द्विधा कृतम्॥ १७॥

'महाबाहो! श्रीकृष्णके साथ आपका युद्ध मुझे अच्छा नहीं लगता। आप श्रीकृष्णको समझ नहीं रहे हैं, आपका आत्मा ही (श्रीकृष्ण बनकर) दो रूपोंमें विभक्त हो गया है'॥ १७॥

ततः शरीरयोगाद्धि भगवानव्ययः प्रभुः।
प्रविश्य पश्यते कृत्स्नांस्त्रींल्लोकान् सचराचरान्॥ १८॥

ब्रह्माजीके इस प्रकार कहनेपर अविनाशी प्रभु भगवान् शिव शरीरके भीतर अन्तःकरणमें ध्यान लगाकर हृदयस्थित ब्रह्ममें प्रविष्ट हो, तीनों लोकोंके समस्त चराचर प्राणियोंका साक्षात्कार करने लगे॥ १८॥

प्रविश्य योगं योगात्मा वरांस्ताननुचिन्तयन्।
द्वारवत्यां यदुक्तं च तदनुस्मृत्य सर्वशः।
जगाद नोत्तरं किंचिन्निवृत्तो ह्यभवत् तदा॥ १९॥

योगस्वरूप भगवान् शङ्कर योगमें प्रवेश करके (समाधि लगाकर) पहलेके दिये हुए उन वरोंका चिन्तन करने लगे तथा द्वारकामें जो कुछ कहा था, उन सब बातोंका बारंबार स्मरण करके उन्होंने ब्रह्माजीको कोई उत्तर नहीं दिया; वे उस समय युद्धसे निवृत्त हो गये॥ १९॥

आत्मानं कृष्णयोनिस्थं पश्यत ह्येकयोनिजम्।
ततो निःसृत्य रुद्रस्तु न्यस्तवादोऽभवन्मृधे॥ २०॥

उन्होंने अपने-आपको सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्णमय योनि (परब्रह्म) में स्थित देखा और अपनेको एक-अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप योनिसे प्रकट हुआ जाना। तत्पश्चात् रुद्रदेव वहाँसे निकलकर युद्धसे अलग हो गये। उन्होंने उस रणक्षेत्रमें श्रीकृष्णके साथ वाद-विवाद या युद्धकी भावनाका परित्याग कर दिया॥ २०॥

ब्रह्माणं चाब्रवीद् रुद्रो न योत्स्ये भगवन्निति।
कृष्णेन सह संग्रामे लघ्वी भवतु मेदिनी॥ २१॥

तत्पश्चात् रुद्रने ब्रह्माजीसे कहा—'भगवन्! अब मैं संग्रामभूमिमें श्रीकृष्णके साथ युद्ध नहीं करूँगा, अब यह पृथ्वी हलकी हो जाय'॥ २१॥

ततः कृष्णोऽथ रुद्रश्च परिष्वज्य परस्परम्।
परां प्रीतिमुपागम्य संग्रामादपजग्मतुः॥ २२॥

इसके बाद श्रीकृष्ण और रुद्र एक दूसरेसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए और आपसके संग्रामसे हट गये॥२२॥

न च तौ पश्यते कश्चिद् योगिनौ योगमागतौ।
एको ब्रह्मा तथा कृत्वा पश्यँल्लोकान् पितामहः॥ २३॥
उवाचैतत् समुद्दिश्य मार्कण्डेयं सनारदम्।
पार्श्वस्थं परिपप्रच्छ ज्ञात्वा वै दीर्घदर्शिनम्॥ २४॥

श्रीकृष्ण और रुद्र दोनों योगी हैं तथा दोनों एक दूसरेसे अभेद-सम्बन्धको प्राप्त हैं, इस बातको वहाँ दूसरे किसीने नहीं समझा; एकमात्र पितामह ब्रह्माने उन दोनोंका अभेद सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें उसी भावसे देखा और सब लोगोंकी ओर देखते हुए इसी विषयको लेकर अपने बगलमें खड़े हुए नारद तथा मार्कण्डेयको दीर्घदर्शी जानकर इस प्रकार पूछा॥ २३-२४॥

पितामह उवाच

मन्दरस्य गिरेः पार्श्वे नलिन्यां भवकेशवौ।
रात्रौ स्वप्नान्तरे ब्रह्मन् मया दृष्टौ हराच्युतौ॥ २५॥

पितामह बोले—ब्रह्मन्! मैंने मन्दराचल पर्वतके पार्श्वभागमें रातको सोते समय सपनेमें एक सरोवरके तटपर श्रीकृष्ण और भगवान् शङ्करको देखा; जो तत्काल ही एक दूसरेके रूपमें बदल गये थे (अर्थात् श्रीकृष्णकी जगह शिव और शिवकी जगह श्रीकृष्ण हो गये थे)॥ २५॥

हरं च हरिरूपेण हरिं च हररूपिणम्।
शङ्खचक्रगदापाणिं पीताम्बरधरं हरम्॥ २६॥

मैंने हरको हरिरूपमें देखा और हरिको हररूपमें; भगवान् हरने हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा ले रखी थी और उनके अङ्गोंपर पीताम्बर शोभा पा रहा था॥ २६॥

त्रिशूलपट्टिशधरं व्याघ्रचर्मधरं हरिम्।
गरुडस्थं चापि हरं हरिं च वृषभध्वजम्॥ २७॥

उधर श्रीहरि त्रिशूल और पट्टिश धारण किये बाघम्बर पहने हुए थे; भगवान् शङ्कर गरुडपर बैठे थे और श्रीहरिने

वृषभवाहन होकर अपनी ध्वजामें वृषभका चिह्न धारण किया था ॥ २७ ॥

विस्मयो मे महान् ब्रह्मन् दृष्ट्वा तत् परमाद्भुतम् ।
एतदाचक्ष्व भगवन् याथातथ्येन सुव्रत ॥ २८ ॥

ब्रह्मन् ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! वह अद्भुत दृश्य देखकर मुझे महान् विस्मय हुआ । भगवन् ! आप इसके रहस्यका यथार्थरूपसे विवेचन करें ॥ २८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे ।
यथान्तरं न पश्यामि तेन तौ दिशतः शिवम् ॥ २९ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—विष्णुरूपधारी शिव और शिवरूपधारी विष्णुको नमस्कार है । मैं इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं देखता, मेरे इस भावसे संतुष्ट होकर वे दोनों मुझे कल्याण प्रदान करें ॥ २९ ॥

अनादिमध्यनिधनमेतदक्षरमव्ययम् ।
तदेव ते प्रवक्ष्यामि रूपं हरिहरात्मकम् ॥ ३० ॥

आदि, मध्य और अन्तसे रहित जो यह अविनाशी अक्षर ब्रह्म है, उसका स्वरूप हरिहरात्मक है, ब्रह्मन् ! मैं आपके समक्ष उसी हरिहरात्मक ब्रह्मका वर्णन करूँगा ॥३०॥

यो विष्णुः स तु वै रुद्रो यो रुद्रः स पितामहः ।
एका मूर्तिस्त्रयो देवा रुद्रविष्णुपितामहाः ॥ ३१ ॥

जो विष्णु हैं, वे ही रुद्र हैं और जो रुद्र हैं, वे ही ब्रह्मा हैं; इनका मूलस्वरूप तो एक ही है, परंतु ये कार्यभेदसे रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा तीन देवता कहलाते हैं ॥ ३१ ॥

वरदा लोककर्तारो लोकनाथाः स्वयम्भुवः ।
अर्धनारीश्वरास्ते तु व्रतं तीव्रं समास्थिताः ॥ ३२ ॥

ये सब-के-सब लोकस्रष्टा, वरदायक, जगन्नाथ, स्वयम्भू, अर्धनारीश्वर तथा तीव्र व्रतका आश्रय लेनेवाले हैं ॥ ३२ ॥

यथा जले जलं क्षिप्तं जलमेव तु तद् भवेत् ।
रुद्रं विष्णुः प्रविष्टस्तु तथा रुद्रमयो भवेत् ॥ ३३ ॥

जैसे जलमें डाला हुआ जल जलरूप ही हो जाता है, उसी प्रकार रुद्रदेवमें प्रविष्ट हुए भगवान् विष्णु रुद्रमय हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

अग्निमग्निः प्रविष्टस्तु अग्निरेव यथा भवेत् ।
तथा विष्णुं प्रविष्टस्तु रुद्रो विष्णुमयो भवेत् ॥ ३४ ॥

जैसे अग्निमे प्रविष्ट हुई अग्नि अग्निरूप ही होती है, उसी प्रकार विष्णुमे प्रविष्ट हुए रुद्रदेव विष्णुरूप ही होते हैं ॥ ३४ ॥

रुद्रमग्निमयं विद्याद् विष्णुः सोमात्मकः स्मृतः ।
अग्नीषोमात्मकं चैव जगत् स्थावरजंगमम् ॥ ३५ ॥

रुद्रको अग्निस्वरूप जाने और भगवान् विष्णु सोमस्वरूप माने गये हैं । इसीलिये यह समस्त चराचर जगत् अग्नीषोमात्मक कहलाता है ॥ ३५ ॥

कर्तारौ चापहर्तारौ स्थावरस्य चरस्य तु ।
जगतः शुभकर्तारौ प्रभविष्णू महेश्वरौ ॥ ३६ ॥

यह हरि और हर ही समस्त चराचर जगत्के कर्ता, संहारक, शुभकारक तथा प्रभावशाली महेश्वर हैं ॥ ३६ ॥

कर्तृकारणकर्तारौ कर्तृकारणकारकौ ।
भूतभव्यभवौ देवौ नारायणमहेश्वरौ ॥ ३७ ॥

ये नारायण और महेश्वरदेव कर्ता और कारणके भी आदि कर्ता हैं तथा कर्ता और कारणसे भी काम करानेवाले हैं । ये ही दोनों भूत, भविष्य और वर्तमानरूप हैं ॥ ३७ ॥

जगतः पालकावेतावेतौ सृष्टिकरौ स्मृतौ ।
एते चैव प्रवर्षन्ति भान्ति वान्ति सृजन्ति च ।
एतत् परतरं गुह्यं कथितं ते पितामह ॥ ३८ ॥

ये ही जगत्के पालक और ये ही इसकी सृष्टि करनेवाले माने गये हैं । ये ब्रह्मा, विष्णु और शिव (मेघरूपसे जलकी) वर्षा करते हैं । (सूर्यरूपसे) प्रकाशित होते हैं और (वायुरूपसे) सर्वत्र गतिशील होते हैं । ये ही सृष्टि करते हैं । पितामह ! यह मैंने आपसे परम गुह्य रहस्यका वर्णन किया है ॥ ३८ ॥

यश्चैनं पठते नित्यं यश्चैनं शृणुयान्नरः ।
प्राप्नोति परमं स्थानं विष्णुरुद्रप्रसादजम् ॥ ३९ ॥

जो प्रतिदिन इस स्तोत्रका पाठ करता और जो इसे सुनता है, वह मनुष्य भगवान् विष्णु और रुद्रकी कृपासे परम पदको प्राप्त कर लेता है ॥ ३९ ॥

देवौ हरिहरौ स्तोष्ये ब्रह्मणा सह संगतौ ।
एतौ च परमौ देवौ जगतः प्रभवाप्ययौ ॥ ४० ॥

मैं ब्रह्माजीके साथ मिले हुए हरि और हर दोनों देवताओंकी स्तुति करूँगा । ये ही दोनों परम देव हैं और ये ही जगत्की सृष्टि तथा संहारके कारण हैं ॥ ४० ॥

रुद्रस्य परमो विष्णुर्विष्णोश्च परमः शिवः ।
एक एव द्विधाभूतो लोके चरति नित्यशः ॥ ४१ ॥

रुद्रके परमदेव विष्णु हैं और विष्णुके परमदेव शिव हैं । एक ही परमेश्वर दो रूपोंमे व्यक्त होकर सदा समस्त जगत्में विचरते रहते है ॥ ४१ ॥

न विना शंकरं विष्णुर्न विना केशवं शिवः ।
तस्मादेकत्वमायातौ रुद्रोपेन्द्रौ तु तौ पुरा ।
नमो रुद्राय कृष्णाय नमः संहतचारिणे ॥ ४२ ॥

भगवान् शङ्करके बिना बिष्णु नहीं हैं और विष्णुके

बिना शिव नहीं हैं। अतः वे दोनों रुद्र और विष्णु पूर्वकालसे ही एकत्वको प्राप्त हैं। संयुक्त अथवा एकरूप होकर विचरनेवाले भगवान् रुद्र एवं श्रीकृष्णको नमस्कार है॥

नमः षडर्धनेत्राय द्विनेत्राय वै नमः।
नमः पिङ्गलनेत्राय पद्मनेत्राय वै नमः॥ ४३॥

त्रिनेत्रधारी शिवको नमस्कार है, साथ ही द्विनेत्रधारी श्रीकृष्णको नमस्कार है; पिङ्गलनेत्रवाले शिवको नमस्कार है और प्रफुल्ल कमलके समान नेत्रवाले श्रीकृष्णको नमस्कार है॥ ४३॥

नमः कुमारगुरवे प्रद्युम्नगुरवे नमः।
नमो धरणीधराय गङ्गाधराय वै नमः॥ ४४॥

कुमार कार्तिकेयके पिता भगवान् शिवको नमस्कार है, प्रद्युम्नके पिता भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है; शेषरूपसे पृथ्वीको धारण करनेवाले श्रीहरिको प्रणाम है तथा सिरपर गङ्गाजीको धारण करनेवाले शिवको नमस्कार है॥ ४४॥

नमो मयूरपिच्छाय नमः केयूरधारिणे।
नमः कपालमालाय वनमालाय वै नमः॥ ४५॥

मस्तकपर मोरपङ्ख धारण करनेवाले श्रीकृष्णको नमस्कार है। सर्पोंका बाजूबंद धारण करनेवाले शिवको नमस्कार है। वनमालाधारी श्रीकृष्ण तथा कपालमालाधारी शिवको प्रणाम है॥ ४५॥

नमस्त्रिशूलहस्ताय चक्रहस्ताय वै नमः।
नमः कनकदण्डाय नमस्ते ब्रह्मदण्डिने॥ ४६॥

हाथमें त्रिशूल धारण करनेवाले श्रीशिवको नमस्कार है; एक हाथमें सुदर्शन चक्र धारण करनेवाले श्रीहरिको नमस्कार है। सोनेका दण्ड धारण करनेवाले श्रीहरिको और ब्रह्मदण्डधारी शिवको नमस्कार है॥ ४६॥

नमश्चर्मनिवासाय नमस्ते पीतवाससे।
नमोऽस्तु लक्ष्मीपतये उमायाः पतये नमः॥ ४७॥

वस्त्रकी जगह व्याघ्रचर्म धारण करनेवाले शिवको प्रणाम है। पीताम्बरधारी श्रीकृष्णको नमस्कार है, लक्ष्मीपति श्रीहरिको प्रणाम है और उमापति महादेवजीको नमस्कार है॥ ४७॥

नमः खट्वाङ्गधाराय नमो मुसलधारिणे।
नमो भस्माङ्गरागाय नमः कृष्णाङ्गधारिणे॥ ४८॥

खट्वाङ्गधारी शिवको प्रणाम है और मुसलधारी बलभद्रस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है, भस्ममय अङ्गराग धारण करनेवाले शिवको नमस्कार है तथा श्यामसुन्दर शरीरधारी श्रीहरिको प्रणाम है॥ ४८॥

नमः श्मशानवासाय नमः सागरवासिने।
नमो वृषभवाहाय नमो गरुडवाहिने॥ ४९॥

श्मशानवासी हर और समुद्रनिवासी हरिको वारंबार नमस्कार है। वृषभवाहन हर और गरुडवाहन हरिको नमस्कार है॥ ४९॥

नमस्त्वनेकरूपाय बहुरूपाय वै नमः।
नमः प्रलयकर्त्रे च नमस्त्रैलोक्यधारिणे॥ ५०॥

अनेक अवतार धारण करनेवाले हरि और बहुत-से रूप धारण करनेवाले हरको नमस्कार है। प्रलयंकर रुद्र और त्रैलोक्यरक्षक विष्णुको नमस्कार है॥ ५०॥

नमोऽस्तु सौम्यरूपाय नमो भैरवरूपिणे।
विरूपाक्षाय देवाय नमः सौम्येक्षणाय च॥ ५१॥

सौम्यरूपधारी श्रीहरि और भैरवरूपधारी रुद्रदेवको नमस्कार है। विरूप नेत्रवाले महादेवजी तथा सौम्य दृष्टिवाले श्रीहरिको प्रणाम है॥ ५१॥

दक्षयज्ञविनाशाय बलेर्नियमनाय च।
नमः पर्वतवासाय नमः सागरवासिने॥ ५२॥

दक्षयज्ञका ध्वंस करनेवाले रुद्र तथा बलिको बाँधनेवाले वामनरूपधारी श्रीहरिको नमस्कार है। पर्वत-निवासी शिव और समुद्रवासी विष्णुको नमस्कार है॥ ५२॥

नमः सुररिपुघ्नाय त्रिपुरघ्नाय वै नमः।
नमोऽस्तु नरकघ्नाय नमः कामाङ्गनाशिने॥ ५३॥

देवद्रोहियोंका नाश करनेवाले श्रीहरिको प्रणाम है, त्रिपुरासुरके विनाशक रुद्रदेवको नमस्कार है; नरकासुरका विनाश करनेवाले विष्णुको नमस्कार है और कामदेवके शरीरको दग्ध कर डालनेवाले भगवान् शिवको नमस्कार है॥ ५३॥

नमस्त्वन्धकनाशाय नमः कैटभनाशिने।
नमः सहस्रहस्ताय नमोऽसंख्येयबाहवे॥ ५४॥

अन्धकासुरका नाश करनेवाले रुद्रको नमस्कार है, कैटभका वध करनेवाले विष्णुको नमस्कार है। सहस्रों हाथोंवाले विष्णु और असंख्य भुजाओंवाले शिवको नमस्कार है॥ ५४॥

नमः सहस्रशीर्षाय बहुशीर्षाय वै नमः।
दामोदराय देवाय मुञ्जमेखलिने नमः॥ ५५॥

सहस्रों मस्तकवाले श्रीहरि और बहुत-से मस्तकवाले भगवान् शिवको नमस्कार है। जिनके उदरमें यशोदा माताके द्वारा रस्सी बाँधी गयी, उन दामोदरदेवको नमस्कार है तथा कटिप्रदेशमें मूँजकी मेखला धारण करनेवाले भगवान् शिवको प्रणाम है॥ ५५॥

नमस्ते भगवन् विष्णो नमस्ते भगवञ्छिव।
नमस्ते भगवन् देव नमस्ते देवपूजित॥ ५६॥

भगवन्! विष्णो! आपको नमस्कार है। भगवन्!

शिव ! आपको प्रणाम है । भगवन् ! महादेव ! आपको नमस्कार है । देवपूजित परमेश्वर ! आपको प्रणाम है ॥ ५६ ॥

नमस्ते सामभिर्गीत नमस्ते यजुभिः सह ।
नमस्ते सुरशत्रुघ्न नमस्ते सुरपूजित ॥ ५७ ॥
नमस्ते कर्मिणां कर्म नमोऽमितपराक्रम ।
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु स्वर्णकेश नमोऽस्तु ते ॥ ५८ ॥

सामवेदके मन्त्रोंद्वारा गाये जानेवाले परमात्मन् ! आपको नमस्कार है । यजुर्वेदके साथ सम्बन्ध रखनेवाले देवता ! आपको प्रणाम है । आप ही कर्मपरायण पुरुषोंके कर्म हैं, आपको नमस्कार है । आपके पराक्रमकी कोई सीमा नहीं है—आपको नमस्कार है । देवद्रोहियोंका नाश करनेवाले श्रीकृष्ण ! आपको नमस्कार है । देवपूजित महादेव ! आपको प्रणाम है । हृषीकेश ! आपको नमस्कार है । सुनहरे केशवाले शिव ! आपको प्रणाम है ॥ ५७-५८ ॥

इमं स्तवं यो रुद्रस्य विष्णोश्चैव महात्मनः ।
समेत्य ऋषिभिः सर्वैः स्तुतौ स्तौति महर्षिभिः ॥ ५९ ॥
व्यासेन वेदविदुषा नारदेन च धीमता ।
भारद्वाजेन गर्गेण विश्वामित्रेण वै तथा ॥ ६० ॥
अगस्त्येन पुलस्त्येन धौम्येन तु महात्मना ।
य इदं पठते नित्यं स्तोत्रं हरिहरात्मकम् ॥ ६१ ॥
अरोगो बलवांश्चैव जायते नात्र संशयः ।
श्रियं च लभते नित्यं न च स्वर्गान्निवर्तते ॥ ६२ ॥

वेदवेत्ता व्यास, बुद्धिमान् नारद, भारद्वाज, गर्ग, विश्वामित्र, अगस्त्य, पुलस्त्य और महात्मा धौम्य आदि समस्त ऋषि-महर्षियोंने एकत्र होकर जिनकी स्तुति की थी, उन्हीं भगवान् रुद्र और महात्मा विष्णुके इस स्तोत्रको पढ़कर जो उनकी स्तुति करता है तथा जो प्रतिदिन इस हरिहरात्मक स्तोत्रका पाठ करता है, वह इस जगत्में नीरोग और बलवान् होता है, इसमें संशय नहीं है । वह सदा लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) पाता है और स्वर्गसे कभी पीछे नहीं लौटता है ॥ ५९—६२ ॥

अपुत्रो लभते पुत्रं कन्या विन्दति सत्पतिम् ।
गुर्विणी शृणुते या तु वरं पुत्रं प्रसूयते ॥ ६३ ॥

पुत्रहीन पुरुष इसके पाठसे पुत्र पाता है, कुमारी कन्या श्रेष्ठ पति प्राप्त कर लेती है तथा जो गर्भवती स्त्री इसका श्रवण करती है, वह उत्तम पुत्रको जन्म देती है ॥ ६३ ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च विघ्नानि च विनायकः ।
भयं तत्र न कुर्वन्ति यत्रायं पठ्यते स्तवः ॥ ६४ ॥

जहाँ प्रतिदिन इस स्तोत्रका पाठ किया जाता है, वहाँ राक्षस, पिशाच, विघ्न और विनायक भय नहीं उपस्थित करते हैं ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि हरिहरात्मकस्तवो नाम पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें 'हरिहरात्मकस्तोत्र' विषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२५ ॥

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

स्वामी कार्तिकेय और श्रीकृष्णके युद्धमें स्वामी कार्तिकेयकी पराजय, कोटवीदेवीका कार्तिकेयकी रक्षा करना, बाणासुर और श्रीकृष्णका युद्ध, श्रीकृष्णका बाणासुरकी हजार भुजाओंको काटना, महादेवजीका बाणासुरको महाकाल होनेका वरदान देना

जनमेजय उवाच

अपयाते ततो देवे कृष्णे चैव महात्मनि ।
पुनश्चासीत् कथं युद्धं परेषां लोमहर्षणम् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! जब महादेवजी तथा महात्मा श्रीकृष्ण युद्धसे हट गये, तब पुनः शत्रुओंका रोमाञ्चकारी युद्ध किस प्रकार हुआ ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

कुम्भाण्डसंगृहीते तु रथे तिष्ठन् गुहस्तदा ।
अभिदुद्राव कृष्णं च बलं प्रद्युम्नमेव च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तब कुम्भाण्डद्वारा नियन्त्रित रथपर बैठे हुए कार्तिकेयजीने श्रीकृष्ण, बलराम तथा प्रद्युम्नपर एक साथ ही धावा किया ॥ २ ॥

ततः शरशतैरुग्रैस्तान् विव्याध रणे गुहः ।
अमर्षरोषसंक्रुद्धः कुमारः प्रवरो नदन् ॥ ३ ॥

अमर्ष और रोषसे अत्यन्त कुपित हुए सर्वश्रेष्ठ देवता कुमार कार्तिकेयने उस समय सिंहनाद करके सैकड़ों उग्र बाणोंद्वारा उन सबको रणभूमिमें घायल कर दिया ॥ ३ ॥

शरसंवृतगात्रास्ते त्रयस्त्रय इवाग्नयः ।
शोणितौघप्लुतैर्गात्रैः प्रायुध्यन्त गुहं ततः ॥ ४ ॥

उन तीनोंके सारे अङ्ग बाणोंसे आवृत हो गये । वे तीनों त्रिविध अग्नियोंके समान रक्तरञ्जित अङ्गोंद्वारा ही कुमार कार्तिकेयके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४ ॥

ततस्ते युद्धमार्गज्ञास्त्रयस्त्रिभिरनुत्तमैः ।
वायव्याग्नेयपार्जन्यैर्बिभिदुर्दीप्ततेजसः ॥ ५ ॥

युद्धके मार्गोंका ज्ञान रखनेवाले उन तीनों उद्दीप्त तेजस्वी वीरोंने क्रमशः वायव्य, आग्नेय और पार्जन्यास्त्रोंका प्रयोग करके कुमारको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ५ ॥

तानस्त्रांस्त्रिभिरेवास्त्रैर्विनिवार्य स पावकिः ।
शैलवारुणसावित्रैस्तान् स विव्याध कोपवान् ॥ ६ ॥

परंतु क्रोधमें भरे हुए अग्निनन्दन कार्तिकेयने पार्वत, वारुण और सावित्र नामक तीन अस्त्रोंद्वारा उक्त तीनों अस्त्रोंको निवारण करके पुनः उन तीनों वीरोंको घायल कर दिया ॥ ६ ॥

तस्य दीप्तशरौघस्य दीप्तचापधरस्य च ।
शरौघानस्त्रमायाभिर्ग्रसन्ति स्म महात्मनः ।
यदा तदा गुहः क्रुद्धः प्रज्वलन्निव तेजसा ॥ ७ ॥

स्कन्दके बाणसमूह बड़े तेजस्वी थे। उन्होंने दीप्तिमान् धनुष धारण कर रक्खा था तो भी जब उन महात्माके चलाये हुए शर-समूहोंको वे तीनों वीर अपने अस्त्रोंकी मायासे नष्ट करने लगे, तब कार्तिकेयको बड़ा क्रोध हुआ । वे तेजसे प्रज्वलित-से हो उठे ॥ ७ ॥

अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम कालकल्पं दुरासदम् ।
संदष्टौष्ठपुटः संख्ये जगृहे पावकिः प्रभुः ॥ ८ ॥

प्रभावशाली पावकनन्दन स्कन्दने युद्धस्थलमें अपने ओठको दाँतोंसे दबा लिया और ब्रह्मशिर नामक अस्त्र उठाया, जो कालके समान दुर्जय था ॥ ८ ॥

प्रयुक्ते ब्रह्मशिरसि सहस्रांशुसमप्रभे ।
उग्रे परमदुर्धर्षे लोकक्षयकरे तथा ॥ ९ ॥
हाहाभूतेषु सर्वेषु प्रधावत्सु समन्ततः ।
अस्त्रतेजःप्रमूढे तु विषण्णे जगति प्रभुः ।
केशवः केशिमथनश्चक्रं जग्राह वीर्यवान् ॥ १० ॥
सर्वेषामस्त्रवीर्याणां वारणं घातनं तथा ।
चक्रमप्रतिचक्रस्य लोके ख्यातं महात्मनः ॥ ११ ॥

सूर्यदेवके तुल्य तेजस्वी ब्रह्मशिर नामक परम दुर्जय लोकसंहारकारी उग्र अस्त्रका प्रयोग होनेपर सब ओर हाहाकार मच गया । सब लोग इधर-उधर भागने लगे और उस अस्त्रके तेजसे मोहित हुए सारे जगत्में विषाद छा गया । तब परम पराक्रमी केशिहन्ता भगवान् केशवने चक्र हाथमें लिया, जो सभी अस्त्रोंके बलका निवारण तथा नाश करनेवाला है, जिनके सामने विरोधियोंका मण्डल ठहर नहीं सकता है, उन महात्मा श्रीकृष्णका चक्र सारे संसारमें विख्यात है ॥९–११॥

अस्त्रं ब्रह्मशिरस्तेन निष्प्रभं कृतमोजसा ।
घनैरिवातपापाये सवितुर्मण्डलं यथा ॥ १२ ॥

उस चक्रने अपने बलसे उस ब्रह्मशिरनामक अस्त्रको उसी प्रकार निस्तेज कर दिया, जैसे वर्षाकालमें मेघोंके छा जानेसे सूर्यमण्डल प्रभाहीन प्रतीत होता है ॥ १२ ॥

ततो निष्प्रभतां याते नष्टवीर्ये महौजसि ।
तस्मिन् ब्रह्मशिरस्यस्त्रे क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ १३ ॥
गुहः प्रजज्वाल रणे हविषेवाग्निरुल्बणः ।

तदनन्तर उस महान् शक्तिशाली ब्रह्मशिर अस्त्रके निस्तेज और निर्बल हो जानेपर कार्तिकेयके नेत्र क्रोधसे लाल हो उठे। जैसे घीकी आहुति पाकर अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार वे रणभूमिमें रोषसे जल उठे ॥ १३½ ॥

शत्रुघ्नीं ज्वलितां दिव्यां शक्तिं जग्राह काञ्चनीम् १४
अमोघां दयितां घोरां सर्वलोकभयावहाम् ।
तां प्रदीप्तां महोल्काभां युगान्ताग्निसमप्रभाम् ।
घण्टामालाकुलां दिव्यां चिक्षेप रुषितो गुहः ॥ १५ ॥
ननाद बलवच्चापि नादं शत्रुभयंकरम् ।

फिर तो उन्होंने सम्पूर्ण लोकोंको भय देनेवाली अपनी प्रिय शक्ति हाथमें ली, जो दिव्य सुवर्णमयी, अमोघ, भयङ्कर, सब ओरसे प्रज्वलित तथा शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ थी, वह दिव्य शक्ति आकाशमें बड़ी भारी उल्काके समान प्रज्वलित हो उठती थी, प्रलयकालके संवर्तक अग्निकी भाँति प्रकाशित होती थी तथा वह घण्टाओंकी मालाओंसे अलंकृत थी, रोषमें भरे हुए कार्तिकेयने उस शक्तिको चला दिया और बड़े जोरसे सिंहनाद किया, जो शत्रुओंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाला था ॥ १४-१५½ ॥

सा च क्षिप्ता तदा तेन ब्रह्मण्येन महात्मना ॥ १६ ॥
जृम्भमाणेव गगने सम्प्रदीप्तमुखी तदा ।
आधावत महाशक्तिः कृष्णस्य वधकाङ्क्षिणी ॥ १७ ॥

उन ब्राह्मणभक्त महात्मा कार्तिकेयके द्वारा चलायी गयी वह शक्ति आकाशमें बढ़ने-सी लगी, उसका मुखभाग प्रज्वलित हो उठा, वह महाशक्ति श्रीकृष्णका वध करनेकी इच्छासे उनकी ओर दौड़ी ॥ १६-१७ ॥

भृशं विषण्णः शक्रोऽपि सर्वामरगणैर्वृतः ।
शक्तिं प्रज्वलितां दृष्ट्वा दग्धः कृष्णेति चाब्रवीत् ॥ १८ ॥

उस समय प्रज्वलित होती हुई उस शक्तिको देखकर समस्त देवगणोंसे घिरे हुए इन्द्र भी अत्यन्त खिन्न हो गये और बोले—'हाय ! श्रीकृष्ण दग्ध हो गये' ॥ १८ ॥

तां समीपमनुप्राप्तां महाशक्तिं महामृधे ।
हुङ्कारेणैव निर्भर्त्स्य पातयामास भूतले ॥ १९ ॥

परंतु श्रीकृष्णने उस महासमरमें अपने पास आयी हुई उस महाशक्तिको हुङ्कारसे ही तिरस्कृत करके पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ १९ ॥

पतितायां महाशक्त्यां साधुसाध्विति सर्वशः ।
सिंहनादं ततश्चक्रुः सर्वे देवाः सवासवाः ॥ २० ॥

उस महाशक्तिके धराशायिनी हो जानेपर सब ओर साधु ! साधु !! (वाह ! वाह !!) की ध्वनि होने लगी। उस समय इन्द्रसहित समस्त देवता सिंहनाद करने लगे ॥

ततो देवेषु नर्दत्सु वासुदेवः प्रतापवान् ।
पुनश्चक्रं स जग्राह दैत्यान्तकरणं रणे ॥ २१ ॥

तदनन्तर जब देवता सिंहनाद कर रहे थे, उसी समय प्रतापी वासुदेवने पुनः चक्र हाथमें लिया, जो रणभूमिमें दैत्योंका विनाश करनेवाला है ॥ २१ ॥

व्याविध्यमाने चक्रे तु कृष्णेनाप्रतिमौजसा ।
कुमाररक्षणार्थाय बिभ्रती सुतनुं तदा ॥ २२ ॥
दिग्वासा देववचनात् प्रविष्टा तत्र कोटवी ।
लम्बमाना महाभागा भागो देव्यास्तथाष्टमः ।
चित्रा कनकशक्तिस्तु सा च नग्ना स्थितान्तरे ॥ २३ ॥

परंतु अप्रतिम बलशाली श्रीकृष्ण ज्यों ही चक्र घुमाने लगे, त्यों ही कुमारकी रक्षाके लिये महादेवजीकी आज्ञासे महाभागा कोटवी, जो देवी पार्वतीका आठवाँ भाग थी, सुन्दर शरीर धारण किये श्रीकृष्ण और कुमारके बीचमें आकर नंगी खड़ी हो गयी। वह आकाशमें निराधार लटक रही थी। वह विचित्र सुवर्णमयी शक्ति तथा वह देवी कोटवी दोनों ही (श्रीकृष्ण और कुमारके) बीचमें विद्यमान थीं ॥२२-२३॥

अथान्तरात् कुमारस्य देवीं दृष्ट्वा महाभुजः ।
पराङ्मुखस्ततो वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ २४ ॥

अपने और कुमारके बीचमें देवीको खडी हुई देख महाबाहु मधुसूदनने अपना मुख दूसरी ओर फेर लिया और कहा ॥२४॥

श्रीभगवानुवाच

अपगच्छापगच्छ त्वं धिक् त्वामिति वचोऽब्रवीत्।
किमेवं कुरुषे विघ्नं निश्चितस्य वधं प्रति ॥ २५ ॥

श्रीभगवान् बोले—अरी ! हटो ! हटो !! तुम्हें धिक्कार है। शत्रुका वध करनेके लिये दृढ़ निश्चय किये हुए मेरे उद्देश्यकी सिद्धिमें तुम इस प्रकार विघ्न क्यों डाल रही हो॥२५॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैवं वचनं तस्य कोटवी तु तदा विभोः ।
नैव वासः समाधत्ते कुमारपरिरक्षणात् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भगवान्‌की यह बात सुनकर भी कोटवीने उस समय कुमारकी रक्षाके लिये अपने अङ्गोंपर वस्त्र नहीं धारण किया ॥ २६ ॥

श्रीभगवानुवाच

अपवाह्य गुहं शीघ्रमपयाहि रणाजिरात् ।
स्वस्ति ह्येवं भवेदद्य योत्स्यतो योत्स्यता मया ॥ २७ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—अरी ! तुम कार्तिकेयको शीघ्र हटाकर स्वयं भी समराङ्गणसे दूर चली जाओ, ऐसा करनेपर ही आज मेरे साथ युद्ध करते हुए कार्तिकेयका कल्याण होगा ॥ २७ ॥

तां च दृष्ट्वा स्थितां देवो हरिः संग्राममूर्धनि ।
संजहार ततश्चक्रं भगवान् वासवानुजः ॥ २८ ॥

कोटवीको युद्धके मुहानेपर खड़ी देख इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीहरिने अपने चक्रको पीछे लौटा लिया ॥ २८ ॥

एवं कृते तु कृष्णेन देवदेवेन धीमता ।
अपवाह्य गुहं देवी हरसांनिध्यमागता ॥ २९ ॥

देवाधिदेव बुद्धिमान् श्रीकृष्णके ऐसा करनेपर देवी कोटवी कार्तिकेयको वहाँसे हटाकर स्वयं भगवान् शङ्करके समीप चली गयी ॥ २९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चैव वर्तमाने महाभये ।
कुमारे रक्षिते देव्या बाणस्तं देशमाययौ ॥ ३० ॥

इसी बीचमें जब वह महान् भय उपस्थित हुआ और देवीने कुमारकी रक्षा कर ली, तब बाणासुर उस स्थानपर आया ॥

अपयान्तं गुहं दृष्ट्वा मुक्तं कृष्णेन संयुगात् ।
बाणश्चिन्तयते तत्र स्वयं योत्स्यामि माधवम् ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्णके हाथोंसे जीवित छूटकर कुमार कार्तिकेय युद्धस्थलसे दूर हटे जा रहे हैं, यह देखकर बाणासुरने वहाँ यह निश्चय किया कि मैं स्वयं ही माधवके साथ युद्ध करूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

भूतयक्षगणाश्चैव बाणानीकं च सर्वशः ।
दिशं प्रदुद्रुवुः सर्वे भयमोहितलोचनाः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय भूतों और यक्षोंके समुदाय तथा बाणासुरके समस्त सैनिक भयसे कातर नेत्र होकर सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भागने लगे ॥

प्रमथगणभूयिष्ठे सैन्ये दीर्णे महासुरः ।
निर्जगाम ततो बाणो युद्धायाभिमुखस्त्वरन् ॥ ३३ ॥

जिसमें प्रमथगणोंकी अधिकता थी, उस सेनामें भी दरार पड़ जानेपर बाणासुर युद्धके लिये उत्सुक हो बड़ी उतावलीके साथ निकला ॥ ३३ ॥

भीमप्रहरणैर्घोरैर्दैत्येन्द्रैः सुमहारथैः ।
महाबलैर्महावीरैर्वज्रीव सुरसत्तमैः ॥ ३४ ॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र श्रेष्ठ देवताओंसे घिरे होते हैं, उसी प्रकार वह भयंकर आयुध धारण करनेवाले, घोर, महाबली, महावीर एवं महारथी दैत्यपतियोंसे घिरा हुआ था ॥ ३४ ॥

पुरोहिताः शत्रुवधं वदन्त-
स्तथैव चान्ये श्रुतशीलवृद्धाः।
जपैश्च मन्त्रैश्च तथौषधीभि-
र्महात्मनः स्वस्त्ययनं प्रचक्रुः ॥ ३५ ॥

उस समय शास्त्रज्ञान और शीलमें बढ़े-चढ़े पुरोहित तथा दूसरे ब्राह्मणोंने उसके लिये शत्रुवधका आशीर्वाद देते हुए जप, मन्त्र और ओषधियोंद्वारा उस महामना दैत्यराजके लिये स्वस्तिवाचन किया ॥ ३५ ॥

ततस्तूर्यप्रणादैश्च भेरीणां तु महास्वनैः।
सिंहनादैश्च दैत्यानां बाणः कृष्णमभिद्रवत् ॥ ३६ ॥

तदनन्तर वाद्योंकी ध्वनि, रणभेरियोंकी बड़ी भारी आवाज तथा दैत्योंके सिंहनादके साथ बाणासुरने श्रीकृष्णपर आक्रमण किया ॥ ३६ ॥

दृष्ट्वा बाणं तु निर्यातं युद्धायैव व्यवस्थितम्।
आरुह्य गरुडं कृष्णो बाणायाभिमुखो ययौ ॥ ३७ ॥

बाणासुरको युद्धका ही निश्चय करके घरसे निकला देख गरुडपर आरूढ़ हुए श्रीकृष्ण उसके सामने गये ॥ ३७ ॥

आयान्तमथ तं दृष्ट्वा यदूनामृषभं रणे।
वैनतेयमथारूढं कृष्णमप्रतिमौजसम् ॥ ३८ ॥
अथ बाणस्तु तं दृष्ट्वा प्रमुखे प्रत्युपस्थितम्।
उवाच वचनं क्रुद्धो वासुदेवं तरस्विनम् ॥ ३९ ॥

उस रणभूमिमें अप्रतिम बलशाली यदुकुलतिलक श्रीकृष्णको गरुडपर आरूढ़ होकर आते देख बाणासुरने अपने सामने उपस्थित हुए उन वेगशाली भगवान् वासुदेवसे कुपित होकर कहा ॥ ३८-३९ ॥

बाण उवाच

तिष्ठ तिष्ठ न मेऽद्य त्वं जीवन् प्रतिगमिष्यसि।
द्वारकां द्वारकास्थांश्च सुहृदो द्रक्ष्यसे न च ॥ ४० ॥

बाणासुर बोला—अरे ! खड़े रहो ! खड़े रहो ! आज तुम जीवित नहीं लौट सकोगे और न द्वारका तथा द्वारकावासी सुहृदोंको ही देख सकोगे ॥ ४० ॥

सुवर्णवर्णान् वृक्षाग्रानद्य द्रक्ष्यसि माधव।
मयाभिभूतः समरे मुमूर्षुः कालनोदितः ॥ ४१ ॥

माधव ! आज समरभूमिमें मेरे द्वारा पराजित हो तुम कालसे प्रेरित एवं मरणासन्न होकर वृक्षोंके अग्रभागको सुनहरे रंगका देखोगे ॥ ४१ ॥

अद्य बाहुसहस्रेण कथमष्टभुजो रणे।
मया सह समागम्य योत्स्यसे गरुडध्वज ॥ ४२ ॥

गरुड़ध्वज ! तुम्हारे तो आठ ही भुजाएँ हैं, रणभूमिमें तुम मुझ सहस्रबाहुके साथ भिड़कर कैसे युद्ध करोगे ॥४२॥

अद्य त्वं वै मया युद्धे निर्जितः सहबान्धवः।
द्वारकां शोणितपुरे निहतः संस्मरिष्यसि ॥ ४३ ॥

आज युद्धमें भाई-बन्धुओंसहित तुम मेरे द्वारा पराजित हो शोणितपुरमें मारे जाकर द्वारकाका स्मरण करोगे ॥ ४३ ॥

नानाप्रहरणोपेतं नानाङ्गदविभूषितम्।
अद्य बाहुसहस्रं मे कोटिभूतं निशामय ॥ ४४ ॥

देखना, भाँति-भाँतिके आयुधोंसे युक्त और नाना प्रकारके बाजूबंदोंसे विभूषित ये मेरी सहस्र भुजाएँ आज किस तरह करोड़ों भुजाओंके समान हो जाती हैं ॥ ४४ ॥

गर्जतस्तस्य वाक्यौघा जलौघा इव सिन्धुतः।
निश्चरन्ति महाघोरा वातोद्धूता इवोर्मयः ॥ ४५ ॥

गर्जना करते हुए उस दैत्यराजके मुखसे वे प्रवाहपूर्ण महाभयंकर वाक्यसमूह उसी तरह निकल रहे थे, जैसे प्रचण्ड पवनकी प्रेरणा पाकर समुद्रसे जलके प्रवाह और उत्ताल तरङ्गें उठती रहती हैं ॥ ४५ ॥

रोषपर्याकुले चैव नेत्रे तस्य बभूवतुः।
जगद्दिधक्षन्निव खे महासूर्य इवोदितः ॥ ४६ ॥

उसके दोनों नेत्र रोषसे व्याप्त हो उठे। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशमें सम्पूर्ण जगत्‌को दग्ध कर डालनेकी इच्छा लेकर महान् सूर्य उदित हुआ हो ॥ ४६ ॥

तच्छ्रुत्वा नारदस्तस्य बाणस्यात्यूर्जितं वचः।
जहास सुमहाहासं भिन्दन्निव नभस्तलम् ॥ ४७ ॥

बाणासुरका वह अत्यन्त ओजस्वी वचन सुनकर देवर्षि नारद आकाशको विदीर्ण करते हुए-से बड़े जोर-जोरसे अट्टहास करने लगे ॥ ४७ ॥

योगपट्टमुपाश्रित्य तस्थौ युद्धदिदृक्षया।
कौतूहलोत्फुल्लदृशः कुर्वन् पर्यटते मुनिः ॥ ४८ ॥

वे मुनि योगपट्टका आश्रय लेकर युद्ध देखनेकी इच्छासे आकाशमें ठहरे हुए थे। वे अपने नेत्रोंको कौतूहलसे उत्फुल्ल (चकित) करते हुए वहाँ सब ओर घूमते थे ॥ ४८ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

बाण किं गर्जसे मोहाच्छूराणां नास्ति गर्जितम्।
एह्येहि युध्यस्व रणे किं वृथा गर्जितेन ते ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्ण बोले—बाण ! तू मोहवश क्यों गर्जना कर रहा है ? शूरवीर इस तरह गर्जते नहीं हैं। आ ! आ !! रणभूमिमें युद्ध कर। तेरी इस व्यर्थ गर्जनासे क्या लाभ है ? ॥

यदि युद्धानि वचनैः सिद्ध्येयुर्दितिनन्दन।
भवानेव जयेन्नित्यं बह्वबद्धं प्रजल्पति ॥ ५० ॥

दितिनन्दन ! यदि बातोंसे ही युद्धोंमें सफलता मिल जाय तो सदा तू ही विजयी हुआ करे; क्योंकि तू बहुत अंट संट बातें बक रहा है ॥ ५० ॥

एह्येहि जय मां बाण जितो वा वसुधातले।
चिरायावाङ्मुखो दीनः पतितः शेष्यसेऽसुरैः ॥ ५१ ॥

बाण ! आ ! आ !! मुझे युद्धमें जीत ले अथवा मेरे द्वारा पराजित हो तू ही पृथ्वीपर नीचे मुँह किये दीन-हीन हो चिरकालके लिये गिरकर असुरोंके साथ सो जायगा ॥ ५१ ॥

इत्येवमुक्त्वा बाणं तु मर्मभेदिभिराशुगैः।
निर्बिभेद तदा कृष्णस्तममोघैर्महाशरैः ॥ ५२ ॥

ऐसा कहकर श्रीकृष्णने उस समय मर्मस्थानोंका भेदन करनेवाले शीघ्रगामी अमोघ महाबाणोंद्वारा बाणासुरको घायल कर दिया ॥ ५२ ॥

विनिर्भिन्नस्तु कृष्णेन मार्गणैर्मर्मभेदिभिः।
स्मयन् बाणस्ततः कृष्णं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ५३ ॥

श्रीकृष्णके मर्मभेदी बाणोंद्वारा क्षत विक्षत हुए बाणासुरने मुसकराकर उन्हें भी बाणोंकी वर्षासे ढक दिया ॥ ५३ ॥

ज्वलद्भिरिव संयुक्तं तस्मिन् युद्धे सुदारुणे।
ततः परिघनिस्त्रिंशैर्गदातोमरशक्तिभिः ॥ ५४ ॥
मुसलैः पट्टिशैश्चैव च्छादयामास केशवम्।

उस अत्यन्त भयानक युद्धमें उन प्रज्वलित बाणोंसे बिंधे हुए श्रीकृष्णको बाणासुरने फिर परिघ, खड्ग, गदा, तोमर, शक्ति, मूसल और पट्टिशोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ५४½ ॥

स तु बाहुसहस्रेण गर्वितो दैत्यसत्तमः ॥ ५५ ॥
योधयामास समरे द्विबाहुमथ लीलया।

अपनी सहस्र भुजाओंसे घमंडमें भरा हुआ दैत्यप्रवर बाणासुर लीलापूर्वक द्विबाहु बने हुए श्रीकृष्णके साथ समराङ्गणमें युद्ध करने लगा ॥ ५५½ ॥

लाघवात् तस्य कृष्णस्य बलिसूनू रुषान्वितः ॥ ५६ ॥
ततोऽस्त्रं परमं दिव्यं तपसा निर्मितं महत्।
यदप्रतिहतं युद्धे सर्वामित्रविनाशनम् ॥ ५७ ॥
ब्रह्मणा विहितं दिव्यं तन्मुमोच दितेः सुतः।

श्रीकृष्णकी फुर्तीसे बलिपुत्र बाणासुरको बड़ा रोष हुआ। उस दैत्यने तपस्याद्वारा निर्मित एक परम दिव्य एवं महान् अस्त्रको, जो ब्रह्माजीके द्वारा रचा गया था, युद्धमे कभी प्रतिहत नहीं होता था और समस्त शत्रुओंका विनाश करनेमें समर्थ था, श्रीकृष्णपर छोड़ दिया ॥ ५६-५७½ ॥

तस्मिन् मुक्ते दिशः सर्वास्तमःपिहितमण्डलाः॥ ५८ ॥
प्रादुरासन् सहस्राणि सुघोराणि च सर्वशः।

उस अस्त्रके छूटते ही सम्पूर्ण दिशाओंका मण्डल अन्धकारसे आच्छन्न हो गया। सब ओर अत्यन्त भयंकर सहस्रों (अपशकुन) प्रकट होने लगे ॥ ५८½ ॥

तमसा संवृते लोके न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५९ ॥
साधु साध्विति बाणं तु पूजयन्ति स्म दानवाः।
हा हा धिगिति देवानां श्रूयते वागुदीरिता ॥ ६० ॥

वहाँका सारा जगत् अन्धकारसे ढक जानेके कारण कुछ भी ज्ञात नहीं होता था। उस समय समस्त दानव 'साधु ! साधु !!' कहकर बाणासुरकी प्रशंसा करने लगे और देवताओं-के मुखसे निकली हुई वाणी—'हाय ! हाय !! धिक्कार है।' इत्यादि रूपसे सुनायी देने लगी ॥ ५९-६० ॥

ततोऽस्त्रबलवेगेन सार्चिष्मत्यः सुदारुणाः।
घोररूपा महावेगा निपेतुर्बाणवृष्टयः ॥ ६१ ॥

तत्पश्चात् उस अस्त्रके बल और वेगसे आगकी लपटोंसे युक्त परम दारुण बाणोंकी अत्यन्त वेगपूर्वक घोर वर्षा होने लगी ॥ ६१ ॥

नैव वाताः प्रवायन्ति न मेघाः संचरन्ति च।
अस्त्रे विसृष्टे बाणेन दह्यमाने च केशवे ॥ ६२ ॥

बाणासुरके उस अस्त्रके छूटते ही भगवान् केशव दग्ध-से होने लगे। उस समय आकाशमें न तो हवा चलती थी और न मेघोंका ही संचार होता था ॥ ६२ ॥

ततोऽस्त्रं सुमहावेगं जग्राह मधुसूदनः।
पार्जन्यं नाम भगवान् कालान्तकनिभं रणे ॥ ६३ ॥

तब भगवान् मधुसूदनने उस रणभूमिमें काल और अन्तकके समान भयंकर तथा महान् वेगशाली पार्जन्यनामक अस्त्र उठाया और चला दिया ॥ ६३ ॥

ततो वितिमिरे लोके शराग्निः प्रशमं गतः।
दानवा मोघसंकल्पाः सर्वेऽभूवंस्तदा भृशम् ॥ ६४ ॥

फिर तो जगत्का अन्धकार दूर हो गया, बाणासुरके बाणोंकी आग बुझ गयी और समस्त दानवोंके मनसूबे उस समय व्यर्थ हो गये ॥ ६४ ॥

दानवास्त्रं प्रशान्तं तु पर्जन्यास्त्रेऽभिमन्त्रिते।
ततो देवगणाः सर्वे नदन्ति च हसन्ति च ॥ ६५ ॥

पार्जन्यास्त्रके अभिमन्त्रित होनेपर उस दानवास्त्रको शान्त हुआ देख समस्त देवता सिंहनाद करने और हँसने लगे॥

हते शस्त्रे महाराज दैतेयः क्रोधमूर्च्छितः।
भूयः स छादयामास केशवं गरुडे स्थितम् ॥ ६६ ॥
मुसलैः पट्टिशैश्चैव च्छादयामास केशवम्।

महाराज ! अपने अस्त्रके नष्ट हो जानेपर वह दैत्य क्रोधसे अचेत-सा हो गया। उसने गरुड़पर बैठे हुए श्रीकृष्णको पुनः मुसलों और पट्टिशोंकी वर्षासे ढक दिया ॥ ६६½ ॥

तस्य तां तरसा सर्वां बाणवृष्टिं समुद्यताम् ॥ ६७ ॥
प्रहसन् वारयामास केशवः शत्रुसूदनः।

शत्रुसूदन केशवने उसके द्वारा वेगपूर्वक की हुई उस सारी बाणवर्षाका हँसते-हँसते निवारण कर दिया ॥ ६७½ ॥

केशवस्य तु बाणेन वर्तमाने महाहवे ॥ ६८ ॥
तस्य शार्ङ्गविनिर्मुक्तैः शरैरशनिसंनिभैः ।
तिलशस्तद्रथं चक्रे सोऽश्वध्वजपताकिनम् ॥ ६९ ॥

श्रीकृष्णका जब बाणासुरके साथ महान् युद्ध होने लगा, उस समय उन्होंने अपने शार्ङ्गधनुषसे छूटे हुए वज्रतुल्य बाणोंद्वारा उसके अश्व, ध्वज और पताकासहित रथको तिल-तिल करके काट डाला ॥ ६८-६९ ॥

चिच्छेद कवचं कायान्मुकुटं च महाप्रभम् ।
कार्मुकं च महातेजा हस्तावापं च केशवः ॥ ७० ॥
विव्याध चैनमुरसि नाराचेन स्मयन्निव ।

तत्पश्चात् महातेजस्वी केशवने उसके शरीरसे कवचको, मस्तकसे महातेजस्वी मुकुटको तथा हाथसे धनुष और दस्तानेको काट गिराया; साथ ही हँसते हुए-से उन्होंने एक नाराचद्वारा उसकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ७०½ ॥

स मर्माभिहतः संख्ये प्रमुमोहाल्पचेतनः ॥ ७१ ॥
तं दृष्ट्वा मूर्च्छितं बाणं प्रहारपरिपीडितम् ।
प्रासादवरशृंगस्थो नारदो मुनिपुङ्गवः ॥ ७२ ॥
उत्थायापश्यत तदा कक्ष्यास्फोटनतत्परः ।
वादयानो नखांश्चैव दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रवीत् ॥ ७३ ॥

युद्धस्थलमें वह मर्मभेदी आघात लगनेपर उसकी चेतना क्षीण हो चली और वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। बाणासुरको श्रीकृष्णके प्रहारसे अत्यन्त पीड़ित एवं मूर्च्छित हुआ देख उसके महलके ऊँचे शिखरपर खड़े हुए मुनिवर नारद बार बार उठकर उसकी ओर देखने लगे। उस समय वे अपनी भुजाओंपर ताल ठोंकते और नख बजाते हुए इस प्रकार कहने लगे—'अहोभाग्य! अहोभाग्य!' ॥७१–७३॥

अहो मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् ।
दृष्टं मे यदिदं चित्रं दामोदरपराक्रमम् ॥ ७४ ॥

'अहो! आज मेरा जन्म सफल है! यह जीवन उत्तम जीवन है; क्योंकि मैंने श्रीकृष्णका यह अद्भुत पराक्रम अपनी आँखों देख लिया ॥ ७४ ॥

जय बाणं महाबाहो दैतेयं देवकिल्बिषम् ।
यदर्थमवतीर्णोऽसि तत् कर्म सफलीकुरु ॥ ७५ ॥

'महाबाहो! आप इस देवद्रोही दैत्य बाणासुरको पराजित कीजिये और जिसके लिये आपका अवतार हुआ है, उस कर्मको सफल बनाइये' ॥ ७५ ॥

एवं स्तुत्वा तदा देवं बाणैः खं द्योतयञ्छितैः ।
इतस्ततः सम्पतद्भिर्नारदो व्यचरद् रणे ॥ ७६ ॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करके उस समय आकाशको प्रकाशित करते हुए नारदजी इधर-उधर पड़ते हुए तीखे बाणोंके साथ रणक्षेत्रमें विचरने लगे ॥ ७६ ॥

केशवस्य तु बाणेन वर्तमाने महाभये ।
प्रयुध्येतां ध्वजौ तत्र तावन्योन्यमभिद्रुतौ ।
युद्धं त्वभूद् वाहनयोरुभयोर्देवदैत्ययोः ॥ ७७ ॥

जब श्रीकृष्णका बाणासुरके साथ वह महाभयंकर संग्राम चल रहा था, उस समय वहाँ उन दोनोंके ध्वजचिह्न-वाहन एक दूसरेपर टूट पड़े और युद्ध करने लगे। भगवान् तथा दैत्य दोनोंके उन वाहनोंमें गहरी भिड़न्त हुई ॥ ७७ ॥

गरुडस्य च संग्रामो मयूरस्य च धीमतः ।
पक्षतुण्डप्रहारैस्तु चरणास्यनखैस्तथा ॥ ७८ ॥

बुद्धिमान् गरुड़ और मयूरमें पंख, चोंच, पंजे, मुख और नखोंके प्रहारद्वारा युद्ध होने लगा ॥ ७८ ॥

अन्योन्यं जघ्नतुः क्रुद्धौ मयूरगरुडावुभौ ।
वैनतेयस्ततः क्रुद्धो मयूरं दीप्ततेजसम् ॥ ७९ ॥
जग्राह शिरसि क्षिप्रं तुण्डेनाभिपतंस्तदा ।
उत्क्षिप्य चैव पक्षाभ्यां निजघान महाबलः ॥ ८० ॥

मयूर और गरुड़ दोनों एक दूसरेपर क्रोधपूर्वक आघात करने लगे। तदनन्तर कुपित हुए महाबली गरुड़ने उड़कर अपनी चोंचसे उद्दीप्त तेजवाले मोरका मस्तक शीघ्रतापूर्वक पकड़ लिया और उसे उछाल-उछालकर दोनों पाँखोंसे मारना आरम्भ किया ॥ ७९-८० ॥

पद्भ्यां पार्श्वाभिघाताभ्यां कृत्वा घातान्यनेकशः ।
आकृष्य चैनं तरसा विकृष्य च महाबलः ॥ ८१
निःसंज्ञं पातयामास गगनादिव भास्करम् ।

दोनों पैरोंसे अगल-बगलमें आघात करके महाबली गरुड़ने उसपर बारंबार प्रहार किये। वे उसे कभी वेगपूर्वक अपनी ओर खींचते और कभी पीछे ढकेलते थे, इस तरह उसे मूर्छित करके उन्होंने नीचे गिरा दिया, मानो आकाशसे सूर्यको धराशायी कर दिया गया हो ॥ ८१½ ॥

मयूरे पतिते तस्मिन् पपातातिबलो भुवि ॥ ८२ ॥
बाणः समरसंविग्नश्चिन्तयन् कार्यमात्मनः ।

मोरके गिर जानेपर अत्यन्त बलशाली बाणासुर भी उस युद्धसे घबराकर अपने कर्तव्यका विचार करता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ८२½ ॥

मयातिबलमत्तेन न कृतं सुहृदां वचः ॥ ८३ ॥
पश्यतां देवदैत्यानां प्राप्तोऽस्म्यापदमुत्तमाम् ।

(वह सोचने लगा—) 'अहो! मैंने अत्यन्त बलके घमंडमें आकर अपने हितैषी सुहृदोंकी बात नहीं मानी, इसलिये आज देवताओं और दैत्योंके देखते-देखते मैं इस भारी विपत्तिमें फँस गया हूँ' ॥ ८३½ ॥

तं दीनमनसं ज्ञात्वा रणे बाणं सुविक्लवम् ॥ ८४ ॥
चिन्तयद् भगवान् रुद्रो बाणरक्षणमातुरः ।

रणभूमिमें बाणासुरको अत्यन्त व्याकुल और दीन-चित्त हुआ जान भगवान् रुद्र आतुर हो उसकी रक्षाका उपाय सोचने लगे ॥ ८४½ ॥

ततो नन्दी महादेवः प्राह गम्भीरया गिरा ॥ ८५ ॥
नन्दिकेश्वर याहि त्वं यतो बाणो रणे स्थितः ।
रथेनानेन दिव्येन सिंहयुक्तेन भास्वता ॥ ८६ ॥
बाणं संयोजयाशु त्वमलं युद्धाय वानघ ।

तत्पश्चात् महादेवजीने गम्भीर वाणीद्वारा नन्दीसे कहा— 'नन्दिकेश्वर ! जहाँ बाणासुर रणभूमिमें स्थित है, वहाँ जाओ और उसे सिंहोंद्वारा जुते हुए इस तेजस्वी दिव्य रथसे शीघ्र संयुक्त करो। निष्पाप नन्दिकेश्वर ! यह रथ युद्धके लिये पर्याप्त है ॥ ८५-८६½ ॥

प्रमाथगणमध्येऽहं स्थास्यामि न हि मे मनः ॥ ८७ ॥
योद्धुं प्रभवते ह्यद्य बाणं संरक्ष गम्यताम् ।

'मैं यहाँ प्रमथगणोंके बीचमें रहूँगा। अब मेरा मन युद्ध करनेके लिये उत्साहित नहीं हो रहा है। तुम जाओ, बाणासुरकी रक्षा करो' ॥ ८७½ ॥

तथेत्युक्त्वा ततो नन्दी रथेन रथिनां वरः ॥ ८८ ॥
यतो बाणस्ततो गत्वा बाणमाह शनैरिदम् ।
दैत्याशु रथमातिष्ठ शीघ्रमेहि महाबल ॥ ८९ ॥
ततो युध्यस्व कृष्णं वै दानवान्तकरं रणे ।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर रथियोंमें श्रेष्ठ नन्दी रथके द्वारा उस स्थानपर गये जहाँ बाणासुर विद्यमान था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने बाणासुरसे धीरे-धीरे इस प्रकार कहा, 'महाबली दैत्य ! तुम शीघ्र आओ और इस रथपर आरूढ़ हो जाओ । तदनन्तर दानवोंका विनाश करनेवाले श्रीकृष्णके साथ समराङ्गणमे युद्ध करो' ॥ ८८-८९½ ॥

आरुरोह रथं बाणो महादेवस्य धीमतः ॥ ९० ॥
आरूढः स तु बाणश्च तं रथं ब्रह्मनिर्मितम् ।
तं स्यन्दनमधिष्ठाय भवस्यामिततेजसः ॥ ९१ ॥
प्रादुश्चक्रे महारौद्रमस्त्रं सर्वास्त्रघातनम् ।
दीप्तं ब्रह्मशिरो नाम बाणः क्रुद्धोऽतिवीर्यवान् ॥ ९२ ॥

नन्दीकी यह बात सुनकर बाणासुर बुद्धिमान् महादेवजीके रथपर आरूढ़ हुआ । उन तेजस्वी महादेवजीके उस रथका निर्माण साक्षात् ब्रह्माजीने किया था; उसपर बैठे हुए अत्यन्त पराक्रमी बाणासुरने कुपित हो ब्रह्मशिर नामक महाभयंकर प्रज्वलित अस्त्रका प्रयोग किया, जो सम्पूर्ण अस्त्रोंका विनाश करनेवाला था ॥ ९०–९२ ॥

प्रदीप्ते ब्रह्मशिरसि लोकः क्षोभमुपागमत् ।
लोकसंरक्षणार्थं वै तत् सृष्टं ब्रह्मयोनिना ॥ ९३ ॥
तच्चक्रेण निहत्यास्त्रं प्राह कृष्णस्तरस्विनम् ।
लोके प्रख्यातयशसं बाणमप्रतिमं रणे ॥ ९४ ॥

उस ब्रह्मशिर अस्त्रके प्रज्वलित होते ही यह सम्पूर्ण जगत् क्षुब्ध हो उठा। ब्रह्मयोनि ब्रह्माने जगत्की रक्षाके लिये ही उस अस्त्रकी सृष्टि की थी । श्रीकृष्णने अपने चक्रद्वारा उस अस्त्रका विनाश करके वेगशाली विश्वविख्यात यशस्वी तथा रणक्षेत्रमें अनुपम शक्तिशाली बाणासुरसे इस प्रकार कहा—॥

कत्थितानि क्व ते तात बाण किं न विकत्थसे ।
अयमस्मि स्थितो युद्धे युद्ध्यस्व पुरुषो भव ॥ ९५ ॥

'तात ! तुम्हारी वे बहकी-बहकी बातें कहाँ गयीं ? बाणासुर ! अब तुम बढ़-चढ़कर बातें क्यों नहीं बनाते हो ? देखो, यह मैं युद्धके लिये खड़ा हूँ, तुम मेरे साथ युद्ध करो और मर्द बनो ॥ ९५ ॥

कार्तवीर्यार्जुनो नाम पूर्वं बाहुसहस्रवान् ।
महाबलः स रामेण द्विबाहुः समरे कृतः ॥ ९६ ॥

'पूर्वकालमें कृतवीर्यका पुत्र अर्जुन सहस्र भुजाओंसे सम्पन्न था, किंतु परशुरामजीने समराङ्गणमें उस महाबली वीरको दो बाँहवाला बना दिया था ॥ ९६ ॥

तथा तवापि दर्पोऽयं बाहूनां वीर्यसम्भवः ।
एष ते दर्पशमनं करोमि रणमूर्द्धनि ॥ ९७ ॥

'उसी प्रकार तुम्हारा भी जो यह घमंड है, यह तुम्हारी सहस्र भुजाओंके बल-पराक्रमसे ही उत्पन्न हुआ है, अतः यह मैं युद्धके मुहानेपर तुम्हारा सारा घमंड चूर किये देता हूँ ॥

यावत् ते दर्पशमनं करोम्यद्य स्वबाहुना ।
तिष्ठेदानीं न मेऽद्य त्वं मोक्ष्यसे रणमूर्द्धनि ॥ ९८ ॥

'आज मैं अपनी एक बाँहसे जबतक तुम्हारा घमंड दूर न कर दूँ, तबतक इस समय तुम यहीं ठहरे रहो । आज युद्धके मुहानेपर तुम मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकोगे' ॥

अथ तद् दुर्लभं दृष्ट्वा युद्धं परमदारुणम् ।
तत्र देवासुरसमे युद्धे नृत्यति नारदः ॥ ९९ ॥

तदनन्तर देवासुर-संग्रामके समान उस समराङ्गणमें वह अत्यन्त भयंकर और दुर्लभ युद्ध देखकर देवर्षि नारदजी नृत्य करने लगे ॥ ९९ ॥

निर्जिताश्च गणाः सर्वे प्रद्युम्नेन महात्मना ।
निक्षिप्तवादा युद्धस्य देवदेवं गताः पुनः ॥१००॥

महात्मा प्रद्युम्नने वहाँ समस्त रुद्रगणोंको पराजित कर दिया, वे युद्धकी बातचीत करना छोड़कर पुनः देवाधिदेव महादेवजीके पास चले गये ॥ १०० ॥

स तच्चक्रं सहस्रारं नदन् मेघ इवोष्णगे।
जग्राह कृष्णस्त्वरितो बाणान्तकरणं रणे ॥१०१॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्णने तुरंत ही वर्षाकालके मेघकी भाँति गर्जना करके अपना वह सहस्रार चक्र हाथमें ले लिया, जो रणभूमिमें बाणासुरका अन्त करनेमें समर्थ था ॥ १०१ ॥

तेजो यज्ज्योतिषां चैव तेजो वज्राशनेस्तथा।
सुरेशस्य च यत् तेजस्तच्चक्रे पर्यवस्थितम् ॥१०२॥

उस समय जो ग्रहों और नक्षत्रोंका तेज था, जो वज्र और अशनिका प्रभाव था तथा जो देवेश्वर इन्द्रका तेज था, वह सब उस चक्रमें स्थापित हो गया ॥ १०२ ॥

त्रेताग्नेश्चैव यत् तेजो यच्च वै ब्रह्मचारिणाम्।
ऋषीणां च ततो ज्ञानं तच्चक्रे समवस्थितम् ॥१०३॥

तीनों अग्नियों और ब्रह्मचारियोंका जो तेज है तथा ऋषियोंका जो ज्ञान है, वह सब उस चक्रमें स्थित हो गया ॥

पतिव्रतानां यत् तेजः प्राणाश्च मृगपक्षिणाम्।
यच्च चक्रधरेष्वस्ति तच्चक्रे संनिवेशितम् ॥१०४॥

पतिव्रताओंका जो तेज है, पशुओं और पक्षियोंके जो प्राण हैं तथा चक्रधारियोंमें जो बल है, वह सब उस चक्रमें समाविष्ट हो गया ॥ १०४ ॥

नागराक्षसयक्षाणां गन्धर्वाप्सरसामपि।
त्रैलोक्यस्य च यत् प्राणं सर्वं चक्रे व्यवस्थितम् ॥१०५॥

नाग, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व और अप्सराओंकी तथा त्रिलोकीकी जो प्राणशक्ति है, वह सब उस चक्रमें प्रतिष्ठित हुई ॥ १०५ ॥

तेजसा तेन संयुक्तं ज्वलन्निव च भास्करः।
वपुषा तेज आदत्ते बाणस्य प्रमुखे स्थितम् ॥१०६॥

उस तेजसे संयुक्त होकर वह चक्र जाज्वल्यमान सूर्यके समान उद्दीप्त हो उठा और सामने स्थित होकर अपने शरीरसे बाणासुरके तेजको ग्रहण करने लगा ॥ १०६ ॥

ज्ञात्वातितेजसा चक्रं कृष्णेनाभ्युदितं रणे।
अप्रमेयं ह्यविहतं रुद्राणी चाब्रवीच्छिवम् ॥१०७॥

रणक्षेत्रमें अति तेजस्वी श्रीकृष्णने अप्रमेय एवं अमोघ चक्र उठा लिया है, यह जानकर रुद्राणीने शिवजीसे कहा—॥

अजेयमेतत् त्रैलोक्ये चक्रं कृष्णेन धार्यते।
बाणं त्रायस्व देव त्वं यावच्चक्रं न मुञ्चति ॥१०८॥

'देव ! श्रीकृष्ण जिस चक्रको धारण करते हैं, वह तीनों लोकोंमें अजेय है, अतः जबतक वे उस चक्रको छोड़ नहीं देते हैं, तबतक ही यत्न करके बाणासुरकी रक्षा कीजिये' ॥१०८॥

ततस्त्र्यक्षो वचः श्रुत्वा देवीं लम्बामथाब्रवीत्।
गच्छैहि लम्बे शीघ्रं त्वं बाणसंरक्षणं प्रति ॥१०९॥

पार्वतीजीका यह वचन सुनकर भगवान् त्रिलोचनने देवी लम्बासे कहा—'लम्बे ! तुम बाणासुरकी रक्षाके लिये शीघ्र जाओ' ॥ १०९ ॥

ततो योगं समाधाय अदृश्या हिमवत्सुता।
कृष्णस्यैकस्य तद्रूपं दर्शन्ती पार्श्वमागता ॥११०॥

तब हिमवान्‌की पुत्री उमा योगका आश्रय ले अदृश्य हो श्रीकृष्णके पास गयीं, वे अपने उस स्वरूपका दर्शन एकमात्र श्रीकृष्णको ही करा रही थीं ॥ ११० ॥

चक्रोद्यतकरं दृष्ट्वा भगवन्तं रणाजिरे ॥
अन्तर्धानमुपागम्य त्यज्य सा वाससी पुनः ॥१११॥
परित्राणाय बाणस्य विजयाधिष्ठिता ततः।
प्रमुखे वासुदेवस्य दिग्वासाः कोटवी स्थिता ॥११२॥

समराङ्गणमें भगवान् श्रीकृष्णको हाथमें चक्र उठाये देख वे पुनः अदृश्य हो अपने वस्त्रका परित्याग करके बाणासुरकी रक्षाके लिये विजयाधिष्ठित हो कोटवी या लम्बाके रूपमें वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके समक्ष नंगी खड़ी हो गयीं ॥

तां दृष्ट्वाथ पुनः प्राप्तां देवीं रुद्रस्य सम्मताम्।
लम्बाद्वितीयां तिष्ठन्तीं कृष्णो वचनमब्रवीत् ॥११३॥
भूयः सामर्षताम्राक्षी दिग्वस्त्रावस्थिता रणे।
बाणसंरक्षणपरा हन्मि बाणं न संशयः ॥११४॥

रुद्रप्रिया पार्वती देवीको पुनः लम्बाके साथ आकर सामने खड़ी हुई देख श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा—'फिर तुम अमर्षसे लाल आँखें किये रणभूमिमें आकर नंगी खड़ी हो गयीं और बाणासुरकी रक्षाके प्रयत्नमें लग गयीं, परंतु मैं बाणासुरको मारूँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥११३-११४॥

एवमुक्ता तु कृष्णेन भूयो देव्यब्रवीदिदम्।
जाने त्वां सर्वभूतानां स्रष्टारं पुरुषोत्तमम्।
महाभागं महादेवमनन्तं नीलमव्ययम् ॥११५॥
पद्मनाभं हृषीकेशं लोकानामादिसम्भवम्।
नार्हसे देव हन्तुं वै बाणमप्रतिमं रणे ॥११६॥

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर देवीने फिर इस प्रकार कहा—'प्रभो ! मैं आपको जानती हूँ, आप समस्त प्राणियोंके स्रष्टा, पुरुषोत्तम, महान् सौभाग्यशाली, महादेव, अनन्त, श्यामवर्णवाले तथा अविनाशी पुरुष हैं, आपकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है, आप समस्त इन्द्रियोंके नियन्ता हैं तथा सम्पूर्ण जगत्‌के आदि कारण हैं। देव ! यह बाणासुर रणभूमिमें अप्रतिम वीरता दिखानेवाला है, अतः आपको इसका वध नहीं करना चाहिये ॥ ११५-११६ ॥

प्रयच्छ ह्यभयं बाणे जीवपुत्रीत्वमेव च।
मया दत्तवरो ह्येष भूयश्च परिरक्ष्यते ॥११७॥
न मे मिथ्या समुद्योगं कर्तुमर्हसि माधव।

'भगवन्! बाणासुरको अभयदान दीजिये और मुझे जीवित पुत्रकी जननी बनाइये। मैंने इसे वर दे रखा है, इसीलिये पुनः मेरे द्वारा इसकी रक्षा की जा रही है। माधव! आप मेरे उद्योगको मिथ्या न कीजिये' ॥ ११७½ ॥

एवमुक्ते तु वचने देव्या परपुरंजयः ॥११८॥
कृष्णः प्रभाषते वाक्यं शृणु सत्यं तु भामिनि।

देवीके ऐसी बात कहनेपर शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले श्रीकृष्ण इस प्रकार बोले—'भामिनि! तुम मेरी सच्ची बात सुनो ॥ ११८½ ॥

बाणो बाहुसहस्रेण नर्दते दर्पमाश्रितः ॥११९॥
एतेषां छेदनं त्वद्य कर्तव्यं नात्र संशयः।
द्विबाहुना च बाणेन जीवपुत्री भविष्यसि ॥१२०॥
आसुरं दर्पमाश्रित्य न च मां संश्रयिष्यति।

'बाणासुर अपनी सहस्र भुजाओंके कारण घमंडमें भरकर गर्जता रहता है, अतः आज इन भुजाओंका छेदन करना कर्तव्य है, इसमें संशय नहीं है। देवि! तुम दो बाँहवाले बाणासुरके द्वारा ही जीवित पुत्रवाली बनोगी। यह बाणासुर आसुर अभिमानका आश्रय लेनेके कारण कभी मेरी शरणमें नहीं आयेगा' ॥ ११९-१२०½ ॥

एवमुक्ते तु वचने कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा ॥१२१॥
प्रोवाच देवी बाणोऽयं देवदत्तो भवेदिति।

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्णके इस तरह कहनेपर देवी बोली—'प्रभो! यह बाणासुर महादेवजीका दिया हुआ मेरा दत्तक पुत्र हो' ॥ १२१½ ॥

अथ तां कार्तिकेयस्य मातरं सोऽभिभाष्य वै।
ततः क्रुद्धो महाबाहुः कृष्णः प्रवदतां वरः ॥१२२॥
प्रोवाच बाणं समरे वदतां प्रवरः प्रभुः।

कार्तिकेयकी मातासे इस प्रकार बातचीत करके वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण समराङ्गणमें कुपित हो बाणासुरसे यों बोले—॥ १२२½ ॥

युध्यतां युध्यतां संख्ये भवतां कोटवी स्थिता ॥१२३॥
अशक्तानामिव रणे धिग् बाण तव पौरुषम्।

'बाण! संग्रामभूमिमें युद्ध करो। युद्ध करो!! असमर्थ पुरुषोंकी भाँति तुम्हारी रक्षाके लिये माता कोटवी इस रणक्षेत्रमें खड़ी है, तुम्हारे पुरुषार्थको धिक्कार है' ॥ १२३½ ॥

एवमुक्त्वा ततः कृष्णस्तच्चक्रं परमात्मवान् ॥१२४॥
निमीलिताक्षो व्यसृजद् बाणं प्रति महाबलः।

ऐसा कहकर अपने मनको वशमें रखनेवाले महाबली श्रीकृष्णने बाणासुरपर वह उत्तम चक्र छोड़ दिया; उस समय (नग्न खड़ी हुई देवीपर दृष्टि न पड़े, इसके लिये) उन्होंने अपने दोनों नेत्र बंद कर लिये थे ॥ १२४½ ॥

क्षेपणाद् यस्य मुह्यन्ति लोकाः सस्थाणुजङ्गमाः ॥१२५॥
क्रव्यादानि च भूतानि तृप्तिं यान्ति महामृधे।
तमप्रतिमकर्माणं समानं सूर्यवर्चसा ॥१२६॥
चक्रमुद्यम्य समरे कोपदीप्तो गदाधरः।
स मुष्णन् दानवं तेजः समरे स्वेन तेजसा ॥ १२७ ॥
चिच्छेद बाहूंश्चक्रेण श्रीधरः परमौजसा।

महासमरमें जिसके प्रयोगसे चराचर प्राणियोंसहित समस्त लोक मोहित हो जाते हैं और मांसभक्षी प्राणियोंको तृप्ति प्राप्त होती है, उस अनुपम कर्म करनेवाले सूर्यतुल्य तेजस्वी चक्रको उठाकर क्रोधसे बढ़े हुए तेजवाले गदाधारी भगवान् श्रीधरने समराङ्गणमें अपने उत्कृष्ट तेज और बलसे दानव बाणासुरके तेजका अपहरण करते हुए उसकी भुजाओंको चक्रसे काट डाला ॥ १२५–१२७½ ॥

अलातचक्रवत् तूर्णं भ्राम्यमाणं रणाजिरे ॥१२८॥
क्षिप्तं तु वासुदेवेन बाणस्य रणमूर्द्धनि।
विष्णुचक्रं भ्रमत्याशु शैघ्र्याद् रूपं न दृश्यते ॥१२९॥

रणक्षेत्रमें युद्धके मुहानेपर बाणासुरको लक्ष्य करके भगवान् वासुदेवके द्वारा चलाया गया वह चक्र वहाँ तुरंत ही अलातचक्रके समान घूमने लगा। वह इतनी शीघ्रतासे घूम रहा था कि उसका रूप दिखायी नहीं देता था ॥ १२८-१२९ ॥

तस्य बाहुसहस्रस्य पर्यायेण पुनः पुनः।
बाणस्य च्छेदनं चक्रे तच्चक्रं रणमूर्द्धनि ॥१३०॥

संग्रामके शिरोभागमें उस चक्रने बारी बारीसे बाणासुरकी सहस्र भुजाओंको काटना आरम्भ किया ॥ १३० ॥

कृत्वा द्विबाहुं तं बाणं छिन्नशाखमिव द्रुमम्।
पुनः कराग्रे कृष्णस्य चक्रं प्राप्तं सुदर्शनम् ॥१३१॥

कटी हुई शाखावाले वृक्षकी भाँति बाणासुरको दो ही बाँहोंसे युक्त बनाकर वह सुदर्शन चक्र पुनः श्रीकृष्णके कराग्रभागमें आ पहुँचा ॥ १३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

कृतकृत्ये तु सम्प्राप्ते चक्रे दैत्यनिपातने।
स्रवता तेन कायेन शोणितौघपरिप्लुतः ॥ १३२ ॥
अभवत् पर्वताकारश्छिन्नबाहुर्महासुरः।
असृङ्मत्तश्च विविधान् नादान् मुञ्चन् घनो यथा ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दैत्योंको मार गिरानेवाला वह चक्र जब अपना काम पूरा करके श्रीकृष्णके हाथमें आ गया, तब बाणासुरके उस शरीरसे रक्तकी धारा

बहने लगी; कटी हुई बाँहवाला वह महान् असुर खूनसे लथपथ होकर पर्वताकार हो गया और रक्तसे मतवाला हो मेघके समान नाना प्रकारसे गर्जना करने लगा ॥ १३२-१३३ ॥

तस्य नादेन महता केशवो रिपुसूदनः ।
चक्रं भूयः क्षेप्तुकामो बाणनाशार्थमुद्यतः ।
तमुपेत्य महादेवः कुमारसहितोऽब्रवीत् ॥१३४॥

उसके उस महान् सिंहनादसे कुपित हुए शत्रुसूदन केशव बाणासुरका विनाश कर डालनेके लिये उद्यत हो गये। वे पुनः अपना चक्र छोड़ना ही चाहते थे कि कुमार कार्तिकेयसहित महादेवजी उनके पास आ गये और इस प्रकार बोले ॥ १३४ ॥

ईश्वर उवाच

कृष्ण कृष्ण महाबाहो जाने त्वां पुरुषोत्तमम् ।
मधुकैटभहन्तारं देवदेवं सनातनम् ॥१३५॥

महादेवजी बोले—कृष्ण ! कृष्ण !! महाबाहो ! मैं आपको जानता हूँ, आप मधु और कैटभका वध करनेवाले सनातन देवाधिदेव पुरुषोत्तम श्रीहरि हैं ॥ १३५ ॥

लोकानां त्वं गतिर्देव त्वत्प्रसूतमिदं जगत् ।
अजेयस्त्वं त्रिभिर्लोकैः ससुरासुरपन्नगैः ॥१३६॥

देव ! आप सम्पूर्ण लोकोंकी गति हैं; आपसे ही इस जगत्की उत्पत्ति हुई है; देवता, असुर तथा नागोंसहित तीनों लोकोंके लिये आप अजेय हैं ॥ १३६ ॥

तस्मात् संहर दिव्यं त्वमिदं चक्रं समुद्यतम् ।
अनिवार्यमसंहार्यं रणे शत्रुभयंकरम् ॥१३७॥

अतः आप ऊपर उठे हुए अपने इस दिव्य चक्रको पुनः समेट लीजिये। रणभूमिमें इसका निवारण अथवा संहार करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, यह शत्रुओंके लिये अत्यन्त भयंकर है ॥ १३७ ॥

बाणस्यास्याभयं दत्तं मया केशिनिषूदन ।
तन्मे न स्याद् वृथा वाक्यमतस्त्वां क्षामयाम्यहम् ॥१३८॥

केशिनिषूदन ! मैंने इस बाणासुरको अभयदान दे रखा है; मेरा वह वचन व्यर्थ न हो जाय इसके लिये मैं आपसे क्षमा करनेकी प्रार्थना करता हूँ ॥ १३८ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

जीवतां देव बाणोऽयमेतच्चक्रं निवर्तितम् ।
मान्यस्त्वं देवदेवानामसुराणां च सर्वशः ॥१३९॥

श्रीकृष्ण बोले—देव ! यह चक्र मैंने लौटा लिया, अब यह बाणासुर चिरजीवी हो; आप देवताओंके भी देवता तथा सम्पूर्ण असुरोंके लिये माननीय हैं ॥ १३९ ॥

नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि यत्कार्यं तन्महेश्वर ।
न तावत् क्रियते तस्मान्मामनुज्ञातुमर्हसि ॥१४०॥

महेश्वर ! आपको नमस्कार है। अब मैं लौट जाऊँगा; बाणासुरका वधरूपी जो कार्य मुझे करना था, वह आपके अनुरोधसे अब मेरे द्वारा नहीं किया जा रहा है; इसलिये आप मुझे लौटनेकी आज्ञा प्रदान करें ॥ १४० ॥

एवमुक्त्वा महादेवं कृष्णस्तूर्णं महामनाः ।
जगाम तत्र यत्रास्ते प्राद्युम्निः सायकैश्चितः ॥१४१॥

महादेवजीसे ऐसा कहकर महामनस्वी भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत उस स्थानपर गये, जहाँ प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध सायकोंसे बँधे हुए थे ॥ १४१ ॥

गते कृष्णे ततो नन्दी बाणमाह वचः शुभम् ।
गच्छ बाण प्रसन्नस्य देवदेवस्य चाग्रतः ॥१४२॥

श्रीकृष्णके चले जानेपर नन्दीने बाणासुरसे यह मङ्गलमय बात कही—'बाण ! तुम प्रसन्न हुए देवाधिदेव महादेवजीके सामने चलो' ॥ १४२ ॥

तच्छ्रुत्वा नन्दिवाक्यं तु बाणोऽगच्छत शीघ्रगः ।
छिन्नबाहुं ततो बाणं दृष्ट्वा नन्दी प्रतापवान् ॥१४३॥
अपवाह्य रथेनैनं यतो देवस्ततो ययौ ।

नन्दीका यह वचन सुनकर बाणासुर शीघ्रतापूर्वक चल पड़ा। उसकी भुजाएँ कटी हुई देख प्रतापी नन्दी उसे रथपर बिठाकर जहाँ महादेवजी थे, वहाँ ले गये ॥ १४३½ ॥

ततो नन्दी पुनर्बाणं प्रागुवाचोत्तरं वचः ॥१४४॥
बाण बाण प्रनृत्यस्व श्रेयस्तव भविष्यति ।
एष देवो महादेवः प्रसादसुमुखस्तव ॥१४५॥

तत्पश्चात् नन्दीने पुनः बाणासुरसे पहले ही यह उत्कृष्ट बात कही—'बाण ! बाण !! तुम भगवान् शङ्करके सामने नृत्य करो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा; यह भगवान् महादेवजी तुम्हारे ऊपर कृपा करनेके लिये प्रसन्न मुख हो रहे हैं' ॥ १४४-१४५ ॥

शोणितौघप्लुतैर्गात्रैर्नन्दिवाक्यप्रचोदितः ।
जीवितार्थी ततो बाणः प्रमुखे शंकरस्य वै ॥१४६॥
अनृत्यद् भयसंविग्नो दानवः स विचेतनः ।

नन्दीके वाक्यसे प्रेरित हो जीवनकी इच्छा रखनेवाला बाणासुर भयसे व्याकुल और अचेत होकर रक्तसे लथपथ हुए शरीरसे भगवान् शङ्करके सम्मुख नृत्य करने लगा ॥ १४६½ ॥

तं दृष्ट्वा च प्रनृत्यन्तं भयोद्विग्नं पुनः पुनः ॥१४७॥
नन्दिवाक्यप्रजवितं भक्तानुग्रहकृद् भवः ।
करुणावशमापन्नो महादेवोऽब्रवीद् वचः ॥१४८॥

नन्दीके कहनेसे भयके कारण उद्विग्न होकर वेगपूर्वक

बारंबार नृत्य करते हुए उस दानवकी ओर देखकर भक्त-वत्सल भगवान् शिव करुणाके वशीभूत हो इस प्रकार बोले ॥ १४७-१४८ ॥

ईश्वर उवाच

वरं वृणीष्व बाण त्वं मनसा यदभीप्ससि ।
प्रसादसुमुखस्तेऽहं प्रियोऽसि मम दानव ॥१४९॥

श्रीमहादेवजीने कहा—बाण ! तुम अपने मनसे जो चाहते हो, वह वर मुझसे माँगो । मैं तुमपर कृपा करनेके लिये प्रसन्न हुआ हूँ । दानव ! तुम मेरे प्रिय हो ॥ १४९ ॥

बाण उवाच

अजरश्चामरश्चैव भवेयं सततं विभो ।
एष मे प्रथमो देव वरोऽस्तु यदि मन्यसे ॥१५०॥

बाणासुर बोला—सर्वव्यापी देव ! मैं सदा अजर और अमर रहूँ, यदि आप स्वीकार करें तो मेरे लिये यही प्रथम वर हो ॥ १५० ॥

देव उवाच

तुल्योऽसि दैवतैर्बाण न मृत्युस्तव विद्यते ।
अथापरं वृणीष्वाद्य अनुग्राह्योऽसि मे सदा ॥१५१॥

श्रीमहादेवजीने कहा—बाणासुर ! तुम देवताओंकि तुल्य हो, तुम्हारे लिये मृत्यु नहीं है । अब कोई दूसरा वर माँगो; क्योंकि तुम सदा मेरे कृपापात्र हो ॥ १५१ ॥

बाण उवाच

यथाहं शोणितैर्दिग्धो भृशार्तो व्रणपीडितः ।
भक्तानां नृत्यतां देव पुत्रजन्म भवेद् भव ॥१५२॥

बाणासुर बोला—भगवन् ! मैं अत्यन्त आर्त, घावसे पीड़ित और खूनसे लथपथ हूँ । तथापि जिस प्रकार नृत्य कर रहा हूँ, इस तरह नृत्य करनेवाले भक्तोंके यहाँ पुत्रजन्म-का उत्सव हो ॥ १५२ ॥

श्रीहर उवाच

निराहाराः क्षमावन्तः सत्यार्जवसमाहिताः ।
मद्भक्ता येऽपि नृत्यन्ति तेषामेवं भविष्यति ॥१५३॥

श्रीमहादेवजीने कहा—जो मेरे भक्तजन निराहार, क्षमाशील तथा सत्य और सरलतासे संयुक्त रहकर एकाग्र-चित्त हो मेरी प्रसन्नताके लिये नृत्य करेंगे, उन्हें ऐसा ही फल प्राप्त होगा ॥ १५३ ॥

तृतीयं त्वमथो बाण वरं वर मनोगतम् ।
तद् विधास्यामि ते पुत्र सफलोऽस्तु भवानिह॥१५४॥

बेटा बाणासुर ! अब तुम कोई तीसरा मनोवाञ्छित वर माँगो, मैं उसे पूर्ण करूँगा; मेरी कृपासे तुम यहाँ सफलमनोरथ होओ ॥ १५४ ॥

बाण उवाच

चक्रताडनजा घोरा रुजा तीव्रा हि मेऽनघ ।
वरेणासौ तृतीयेन शान्तिं गच्छतु मे भव ॥१५५॥

बाणासुर बोला—निष्पाप महादेव ! चक्रके आघातसे मुझे बड़ी भयंकर एवं तीव्र वेदना हो रही है, आपके दिये हुए तीसरे वरसे मेरी वह पीड़ा शान्त हो जाय ॥ १५५ ॥

श्रीरुद्र उवाच

एवं भवतु भद्रं ते न रुजा प्रभविष्यति ।
अक्षतं तव गात्रं तु स्वस्थावस्थं भविष्यति ॥१५६॥

श्रीमहादेवजी बोले—वत्स ! ऐसा ही हो । तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम्हें पीड़ा नहीं होगी। तुम्हारा शरीर घाव-से रहित और स्वस्थ हो जायगा ॥ १५६ ॥

चतुर्थं ते वरं दद्मि वृणीष्व यदि काङ्क्षसि ।
न तेऽहं विमुखस्तात प्रसादसुमुखो ह्यहम् ॥१५७॥

तात ! अब मैं तुम्हें चौथा वर देता हूँ; यदि चाहो तो माँग लो। मैं तुमसे विमुख नहीं हूँ । तुमपर कृपा करनेके लिये सदा ही प्रसन्नमुख हूँ ॥ १५७ ॥

बाण उवाच

प्रमाथगणवंश्यस्य प्रथमः स्यामहं विभो ।
महाकाल इति ख्यातिं गच्छेयं शाश्वतीः समाः ॥१५८॥

बाणासुर बोला—प्रभो ! मैं आपके प्रमथगणोंके समुदायका प्रमुख व्यक्ति होऊँ और महाकालके नामसे मेरी नित्य निरन्तर ख्याति बनी रहे ॥ १५८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं भविष्यतीत्याह बाणं देवो महेश्वरः ।
दिव्यरूपोऽक्षतो गात्रैर्नीरुजस्तु ममाश्रयात् ॥१५९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तब महेश्वरदेवने बाणासुर-से कहा—'बाण ! ऐसा ही होगा, तुम मेरा आश्रय ग्रहण करनेके कारण शरीरसे अक्षत और नीरोग रहोगे । तुम्हारा रूप दिव्य हो जायगा ॥ १५९ ॥

ममातिसर्गाद् बाण त्वं भव चैवाकुतोभयः ।
भूयस्ते पञ्चमं दद्मि प्रख्यातबलपौरुष ।
पुनर्वरय भद्रं ते यत् ते मनसि वर्तते ॥१६०॥

'विख्यात बल और पौरुषसे युक्त बाणासुर ! तुम मेरे दिये हुए वरके प्रभावसे निर्भय हो जाओ; तुम्हें कहींसे कोई भय न रहे । अब मैं तुम्हें पुनः पाँचवाँ वर देता हूँ, तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारे मनमें जैसी इच्छा हो, उसके अनुसार फिर कोई वर माँगो' ॥ १६० ॥

बाण उवाच

वैरूप्यमङ्गजं यन्मे मा भूद् देव कदाचन।
द्विबाहुरपि मे देहो न विरूपो भवेद् भव ॥१६१॥

बाणासुर बोला—देव! शङ्कर! मेरे शरीरमें कभी कुरूपता न रहे; दो बाँहोंसे युक्त होनेपर भी मेरी देह कुरूप न प्रतीत हो ॥ १६१ ॥

श्रीहर उवाच

भविता सर्वमेतत् ते यथेच्छसि महासुर।
भवत्येवं न चादेयं भक्तानां विद्यते मम ॥१६२॥

श्रीमहादेवजी बोले—महासुर! तुम जैसा चाहते हो, यह सब तुम्हारे लिये सुलभ होगा। मेरे पास भक्तोंके लिये कुछ भी अदेय नहीं है ॥ १६२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीन्महादेवो बाणं स्थितमथान्तिके।
एवं भविष्यते सर्वं यत् त्वया समुदाहृतम् ॥१६३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब महादेवजीने अपने पास खड़े हुए बाणासुरसे कहा—'वत्स! तुमने जो कुछ कहा या माँगा है, वह सब इसी रूपमें पूर्ण होगा' ॥ १६३ ॥

एतावदुक्त्वा भगवांस्त्रिनेत्रो गणसंवृतः।
पश्यतां सर्वभूतानां तत्रैवान्तरधीयत ॥१६४॥

ऐसा कहकर अपने गणोंसे घिरे हुए त्रिनेत्रधारी भगवान् शिव समस्त प्राणियोंके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १६४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि उषाहरणे बाणासुरवरप्रदाने षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें उषाहरणके प्रसंगमें बाणासुरको भगवान् शिवका वरदानविषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अनिरुद्धका नागपाशसे छुटकारा और उनके द्वारा श्रीकृष्ण आदिकी वन्दना, नारदजीके कहनेसे उनका वीर्य-विवाह, उषाकी विदाई, सबका द्वारकाको प्रस्थान, मार्गमें श्रीकृष्णद्वारा वरुण देवतापर विजय, वरुणद्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति और पूजा, श्रीकृष्णके आगमनसे द्वारकावासियोंका हर्ष, भगवान्‌के आदेशसे पुरवासियोंद्वारा देवताओंकी वन्दना, इन्द्रद्वारा श्रीकृष्णकी प्रशंसा और सब देवताओं तथा ऋषियों आदिका अपने-अपने स्थानको जाना

वैशम्पायन उवाच

एवं वरान् बहून् प्राप्य बाणः प्रीतमनाऽभवत्।
जगाम सह रुद्रेण महाकालत्वमागतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार बहुत-से वर पाकर बाणासुरका मन प्रसन्न हो गया। वह महाकालत्वको प्राप्त होकर भगवान् शिवके साथ चला गया ॥ १ ॥

वासुदेवोऽपि बहुधा नारदं पर्यपृच्छत।
क्वानिरुद्धोऽस्ति भगवन् संयतो नागबन्धनैः ॥ २ ॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन स्नेहक्लिन्नं हि मे मनः।
अनिरुद्धे हृते वीरे क्षुभिता द्वारका पुरी ॥ ३ ॥

इधर भगवान् श्रीकृष्णने नारदजीसे बारंबार पूछा—'भगवन्! अनिरुद्ध कहाँ नागपाशमें बँधे हुए हैं, मैं इसे ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ। मेरा हृदय स्नेहसे आकुल हो रहा है। वीर अनिरुद्धका अपहरण होनेसे सारी द्वारकापुरी क्षुब्ध हो उठी है ॥ २-३ ॥

शीघ्रं तं मोक्षयिष्यामो यदर्थं वयमागताः।
अद्य तं नष्टशत्रुं वै द्रष्टुमिच्छामहे वयम् ॥ ४ ॥
स प्रदेशस्तु भगवन् विदितस्तव सुव्रत।

'अतः हमलोग शीघ्र उन्हें बन्धनसे छुड़ायेंगे, जिसके लिये कि हमारा यहाँ आगमन हुआ है। अनिरुद्धका शत्रु नष्ट हो गया, अब हम उन्हें देखना और उनसे मिलना चाहते हैं। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले भगवान् नारद! जहाँ अनिरुद्ध हैं, वह स्थान आपको विदित है' ॥ ४½ ॥

एवमुक्तस्तु कृष्णेन नारदः प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥
कन्यापुरे कुमारोऽसौ बद्धो नागैश्च माधव।

श्रीकृष्णके इस प्रकार पूछनेपर नारदजीने उत्तर दिया—'माधव! कुमार अनिरुद्ध कन्याके अन्तःपुरमें नागपाशसे बँधे हुए हैं' ॥ ५½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे शीघ्रं चित्रलेखा ह्युपस्थिता ॥ ६ ॥
बाणस्योत्तमशर्वस्य दैत्येन्द्रस्य महात्मनः।
इदमन्तःपुरं देव प्रविशस्व यथासुखम् ॥ ७ ॥

इसी बीचमें चित्रलेखा शीघ्रतापूर्वक वहाँ उपस्थित हुई और बोली—'देव ! जिसने भगवान् शङ्करको ही सर्वोपरि मानकर उनकी आराधना की है, उस दैत्यराज महात्मा बाणासुरका अन्तःपुर यही है । आप इसमें सुखपूर्वक प्रवेश कीजिये' ॥ ६-७ ॥

ततः प्रविष्टास्ते सर्वे ह्यनिरुद्धस्य मोक्षणे ।
बलः सुपर्णः कृष्णस्तु प्रद्युम्नो नारदस्तथा ॥ ८ ॥

तब बलराम, गरुड, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न और नारद—ये सब लोग अनिरुद्धको बन्धनसे मुक्त करनेके लिये बाणासुरके अन्तःपुरमें प्रविष्ट हुए ॥ ८ ॥

ततो दृष्ट्वैव गरुडं येऽनिरुद्धशरीरगाः ।
शररूपा महासर्पा वेष्टयित्वा तनुं स्थिताः ॥ ९ ॥
ते सर्वे सहसा देहात् तस्य निःसृत्य भोगिनः ।
क्षितिं समभिवर्तित्वा प्रकृत्यावस्थिताः शराः ॥ १० ॥

फिर तो गरुडको देखते ही अनिरुद्धके शरीरमें जो बाण-रूपी महासर्प उनके सारे अङ्गोंको आवेष्टित करके स्थित थे, वे सब सहसा उनकी देहसे निकलकर पृथ्वीपर गिर पड़े और साधारण बाणोंके रूपमें परिणत हो गये ॥ ९-१० ॥

दृष्टः स्पृष्टश्च कृष्णेन सोऽनिरुद्धो महायशाः ।
स्थितः प्रीतमना भूत्वा प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णका दर्शन और स्पर्श पाकर महायशस्वी अनिरुद्ध मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और खड़े हो हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले ॥ ११ ॥

अनिरुद्ध उवाच

देवदेव सदा युद्धे जेता त्वमसि केशव ।
न शक्तः प्रमुखे स्थातुं साक्षादपि शतक्रतुः ॥ १२ ॥

अनिरुद्धने कहा—देवाधिदेव केशव ! आप सदा ही युद्धमें विजयी हैं । प्रभो ! आपके सामने साक्षात् इन्द्र भी ठहर नहीं सकते ॥ १२ ॥

ततो महाबलं देवं बलभद्रं यशस्विनम् ।
अभिवादयते हृष्टः सोऽनिरुद्धो महामनाः ॥ १३ ॥

तदनन्तर महामनस्वी अनिरुद्धने बड़े हर्षके साथ महान् बलशाली यशस्वी बलभद्रदेवको प्रणाम किया ॥ १३ ॥

माधवं च महात्मानमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
खगोत्तमं महावीर्यं सुपर्णमभिवाद्य च ॥ १४ ॥
ततो मकरकेतुं च चित्रबाणधरं प्रभुम् ।
पितरं सोऽभ्युपागम्य प्रद्युम्नमभिवादयत् ॥ १५ ॥

फिर हाथ जोड़कर महात्मा माधव तथा महापराक्रमी पक्षिप्रवर गरुड़का पृथक्-पृथक् अभिवादन करके उन्होंने अपने पिता विचित्र बाणधारी सर्वसमर्थ मकरध्वज प्रद्युम्नके पास जाकर उन्हे भी प्रणाम किया ॥ १४ १५ ॥

सखीगणवृता चैव सा चोषा भवने स्थिता ।
बलं चातिबलं चैव वासुदेवं सुदुर्जयम् ॥ १६ ॥
असंख्यातगतिं चैव सुपर्णमभिवाद्य च ।
पुष्पबाणधरं चैव लज्जमानाभ्यवादयत् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् उस भवनमें रहनेवाली सखियोंसहित उषाने आकर अत्यन्त बलशाली बलराम, परम दुर्जय वासुदेव और अप्रमेय गतिशाली गरुड़को प्रणाम करके पुष्पबाणधारी प्रद्युम्नको भी लज्जापूर्वक नमस्कार किया ॥ १६-१७ ॥

ततः शक्रस्य वचनान्नारदः परमद्युतिः ।
वासुदेवसमीपं स प्रहसन् पुनरागतः ॥ १८ ॥

तब इन्द्रके कहनेसे परमतेजस्वी नारदजी पुनः भगवान् श्रीकृष्णके समीप हँसते हुए आये ॥ १८ ॥

वर्द्धापयति तं देवं गोविन्दं शत्रुसूदनम् ।
दिष्ट्या वर्द्धसि गोविन्द अनिरुद्धसमागमात् ॥ १९ ॥

वे शत्रुसूदन गोविन्ददेवको बधाई देते हुए बोले—'गोविन्द ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज आप अनिरुद्ध-से मिलकर अभ्युदयको प्राप्त हुए हैं' ॥ १९ ॥

ततोऽनिरुद्धसहिता नारदं प्रणताः स्थिताः ।
आशीर्भिर्वर्द्धयित्वा च देवर्षिः कृष्णमब्रवीत् ॥ २० ॥

तब अनिरुद्धसहित वे सब लोग नारदजीके चरणोंमें प्रणाम करके खड़े हो गये; तब देवर्षिने आशीर्वादसे उन सबके अभ्युदयकी कामना करके श्रीकृष्णसे कहा—॥ २० ॥

अनिरुद्धस्य वीर्याख्यो विवाहः क्रियतां विभो ।
जम्बूलमालिकां द्रष्टुं श्रद्धा हि मम जायते ॥ २१ ॥

'प्रभो ! आप यहाँ अनिरुद्धका 'वीर्य'[1] नामक विवाह कीजिये; मुझे जम्बूलमालिका[2] देखने और सुननेके लिये बड़ी श्रद्धा (इच्छा) हो रही है' ॥ २१ ॥

ततः प्रहसिताः सर्वे नारदस्य वचःश्रवात् ।
कृष्णः प्रोवाच भगवन् क्रियतामाशु मा चिरम् ॥ २२ ॥

नारदजीकी यह बात सुनकर सब लोग हँस पड़े । फिर श्रीकृष्णने कहा—'भगवन् ! शीघ्र ही अनिरुद्ध और उषाका विवाह कीजिये; विलम्ब न हो' ॥ २२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तात कुम्भाण्डः समुपस्थितः ।
वैवाहिकांस्तु सम्भारान् गृह्य कृष्णं नमस्य तु ॥ २३ ॥

---

१. बल-पराक्रमद्वारा जीती गयी कन्याका विवाह 'वीर्यविवाह' कहलाता है ।

२. वर-वधूके विवाहके समय कन्या-पक्षकी स्त्रियोंद्वारा वरपक्षकी स्त्रियोंको जो प्रेमपूर्ण परिहासके रूपमें गाली दी जाती है, उसका नाम जम्बूल है । उसकी परम्पराको जम्बूलमालिका कहा गया है । (नीलकण्ठ)

तात! इसी बीचमें वैवाहिक सामग्रीका संग्रह करके मन्त्री कुम्भाण्ड उपस्थित हुए और श्रीकृष्णको नमस्कार करके बोले ॥ २३ ॥

कुम्भाण्ड उवाच

कृष्ण कृष्ण महाबाहो भव त्वमभयप्रदः।
शरणागतोऽस्मि देवेश प्रसीदेषोऽञ्जलिस्तव ॥ २४ ॥

कुम्भाण्डने कहा—कृष्ण! कृष्ण! महाबाहो! आप मुझे अभय प्रदान करें। देवेश्वर! मैं आपकी शरणमें आया हूँ, प्रसन्न होइये! आपके सामने ये मेरे दोनों हाथ जुड़े हुए हैं ॥ २४ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा सर्वं प्रागेव चाच्युतः।
अभयं यच्छते तस्मै कुम्भाण्डाय महात्मने ॥ २५ ॥
कुम्भाण्ड मन्त्रिणां श्रेष्ठ प्रीतोऽस्मि तव सुव्रत।
सुकृतं ते विजानामि राष्ट्रिकोऽस्तु भवानिह ॥ २६ ॥
सज्ञातिपक्षः सुसुखी निर्वृतोऽस्तु भवानिह।
राज्यं च ते मया दत्तं चिरं जीव ममाश्रयात् ॥ २७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण नारदजीसे कुम्भाण्डके विषयमें सब कुछ सुन चुके थे; उनकी उस बातका स्मरण करके वे महात्मा कुम्भाण्डको अभय देते हुए बोले—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मन्त्रिप्रवर कुम्भाण्ड! तुमने जो सत्कर्म किया है, उसे मैं जानता हूँ। अब तुम्हीं यहाँके राष्ट्रपति बनो और अपने बन्धु-बान्धवोंसहित यहाँ परम सुखी तथा संतुष्ट रहो। मैंने तुम्हें यह राज्य अर्पित कर दिया, अब तुम मेरा आश्रय लेकर चिरजीवी बने रहो'॥ २५—२७ ॥

एवं दत्त्वा राज्यमस्मै कुम्भाण्डाय महात्मने।
विवाहमकरोत् तस्यानिरुद्धस्य जनार्दनः।
ततस्तु भगवान् वह्निस्तत्र स्वयमुपस्थितः ॥ २८ ॥

इस प्रकार महात्मा कुम्भाण्डको राज्य देकर श्रीकृष्णने वहाँ अनिरुद्धका विवाहसंस्कार सम्पन्न किया। उस समय भगवान् अग्निदेव वहाँ स्वयं उपस्थित हुए थे ॥ २८॥

स विवाहोऽनिरुद्धस्य नक्षत्रे च शुभेऽभवत्।
ततोऽप्सरोगणश्चैव कौतुकं कर्तुमुद्यतः ॥ २९ ॥

अनिरुद्धका वह विवाह शुभ नक्षत्रमें सम्पन्न हुआ। उसमें माङ्गलिक कृत्य करनेके लिये अप्सराएँ उपस्थित हुई थीं ॥ २९ ॥

स्नातस्त्वलंकृतस्तत्र सोऽनिरुद्धः सभार्यया।
ततः स्निग्धैः शुभैर्वाक्यैर्गन्धर्वाश्च जगुस्तदा ॥ ३० ॥
नृत्यन्त्यप्सरसश्चैव विवाहमुपशोभयन्।

वहाँ अपनी पत्नीके साथ अनिरुद्धने स्नान करके अलङ्कार धारण किया। तत्पश्चात् मङ्गलसूचक स्निग्ध वचनोंद्वारा गन्धर्वगण गान करने लगे और अप्सराएँ उस विवाहकी शोभा बढ़ाती हुई नाचने लगीं ॥ ३०½ ॥

ततो निर्वर्तयित्वा तु विवाहं शत्रुसूदनः ॥ ३१ ॥
अनिरुद्धस्य सुप्रज्ञः सर्वैर्देवगणैर्वृतः।
आमन्त्र्य वरदं तत्र रुद्रं देवनमस्कृतम् ॥ ३२ ॥
चकार गमने बुद्धिं कृष्णः परपुरंजयः।

तदनन्तर अनिरुद्धका विवाहसंस्कार सम्पन्न कराकर समस्त देवताओंसे घिरे हुए परम बुद्धिमान् शत्रुसूदन एवं परपुरंजय भगवान् श्रीकृष्णने देववन्दित वरदायक रुद्रदेवकी आज्ञा ले वहाँसे द्वारका जानेका विचार किया॥ ३१-३२½ ॥

द्वारकाभिमुखं कृष्णं ज्ञात्वा शत्रुनिषूदनम् ॥ ३३ ॥
कुम्भाण्डो वचनं प्राह प्राञ्जलिर्मधुसूदनम्।

शत्रुसूदन श्रीकृष्णको द्वारका जानेके लिये उद्यत जान कुम्भाण्डने हाथ जोड़कर उन मधुसूदनसे कहा—॥ ३३½॥

बाणस्य गावस्तिष्ठन्ति हस्ते तु वरुणस्य वै ॥ ३४ ॥
यासाममृतकल्पं वै क्षीरं क्षरति माधव।
तत् पीत्वातिबलश्चैव नरो भवति दुर्जयः ॥ ३५ ॥

'माधव! बाणासुरकी गौएँ वरुणके हाथमें हैं। जिनके थनोंसे अमृतके समान गुणकारक दूध बहता रहता है। उस दूधको पीकर मनुष्य अत्यन्त बलशाली और दुर्जय हो जाता है' ॥ ३४-३५ ॥

कुम्भाण्डेनैवमाख्याते हरिः प्रीतमनास्तदा।
गमनाय मतिं चक्रे गन्तव्यमिति निश्चयम् ॥ ३६ ॥

कुम्भाण्डके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीहरिको उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने जानेका विचार एवं दृढ़ निश्चय कर लिया ॥ ३६ ॥

ततस्तु भगवान् ब्रह्मा वर्धाप्य स तु केशवम्।
जगाम ब्रह्मलोकं स वृतः स्वभवनालयैः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णको बधाई देकर ब्रह्मलोकवासियोंसे घिरे हुए भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मलोकको चले गये ॥ ३७ ॥

इन्द्रो मरुद्गणयुतो द्वारकाभिमुखो ययौ।
ततः कृष्णस्ततः सर्वे गच्छन्ति जयकाङ्क्षिणः ॥ ३८ ॥

मरुद्गणोंके साथ इन्द्र द्वारकापुरीकी ओर चल दिये। जिस ओर श्रीकृष्ण जा रहे थे, उधर ही वे सब लोग उनकी विजय चाहते हुए यात्रा करने लगे ॥ ३८ ॥

वाहनेन मयूरेण सखीभिः परिवारिता।
द्वारकाभिमुखी ह्यूषा देव्या प्रस्थापिता ययौ ॥ ३९ ॥

साक्षात् पार्वती देवीने उषाको विदा किया। सखियोंसे घिरी हुई उषा मयूर जुते हुए रथसे द्वारकाकी ओर चली ॥

ततो बलश्च कृष्णश्च प्रद्युम्नश्च महाबलः।

आरूढवन्तो गरुडमनिरुद्धश्च वीर्यवान् ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् बलभद्र, श्रीकृष्ण, महाबली प्रद्युम्न और पराक्रमी अनिरुद्ध—ये चारों गरुड़पर आरूढ़ हुए ॥ ४० ॥

प्रस्थितश्च स तेजस्वी गरुडः पततां वरः।
उन्मूलयंस्तरुगणान् कम्पयंश्चापि मेदिनीम् ॥ ४१ ॥

पक्षियोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी गरुड़ वृक्षगणोंको उखाड़ते और पृथ्वीको कम्पित करते हुए वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ४१ ॥

आकुलाश्च दिशः सर्वा रेणुध्वस्तमिवाम्बरम्।
गरुडे सम्प्रयातेऽभून्मन्दरश्मिर्दिवाकरः ॥ ४२ ॥

गरुड़के प्रस्थान करनेपर सम्पूर्ण दिशाएँ व्याकुल हो गयीं, आकाश धूलसे आच्छन्न-सा हो गया और सूर्यदेवकी किरणें मन्द पड़ गयीं ॥ ४२ ॥

ततस्ते दीर्घमध्वानं प्रययुः पुरुषर्षभाः।
आरुह्य गरुडं सर्वे जित्वा बाणं महौजसम् ॥ ४३ ॥

तत्पश्चात् वे सभी पुरुषप्रवर वीर अपने विशाल मार्गपर बढ़ने लगे। वे सब महाबली बाणासुरको परास्त करके गरुड़पर आरूढ़ हो द्वारकाकी ओर जा रहे थे ॥ ४३ ॥

ततोऽम्बरतलस्थास्ते वारुणीं दिशमास्थिताः।
अपश्यन्त महात्मानो गावो दिव्यपयःप्रदाः।
वेलावनविचारिण्यो नानावर्णाः सहस्रशः ॥ ४४ ॥

आकाशमें पहुँचकर वे सब लोग पश्चिम दिशाकी ओर बढ़ने लगे। उस समय उन महात्माओंने अनेक प्रकारके रूप-रंगवाली सहस्रों दिव्य गौओंको देखा, जो दिव्य दुग्ध प्रदान करनेवाली थीं। वे सब-की-सब समुद्रतटवर्ती वनमें विचर रही थीं ॥ ४४ ॥

अवज्ञाय तदा रूपं कुम्भाण्डवचनाश्रयात्।
कृष्णः प्रहरतां श्रेष्ठस्तत्त्वतोऽर्थविशारदः ॥ ४५ ॥
निशाम्य बाणगावस्तु तासु चक्रे मनस्तदा।
आस्थितो गरुडं प्राह स तु लोकादिरव्ययः ॥ ४६ ॥

कुम्भाण्डके वचनोंका स्मरण करके तत्काल उन गौओंके स्वरूपको पहचानकर प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ तथा तात्त्विक अर्थनीतिमें विशारद भगवान् श्रीकृष्णने बाणासुरकी उन गौओंको देखा और मन-ही-मन उन्हें ले लेनेका विचार किया। फिर सम्पूर्ण जगत्के आदिकारण वे अविनाशी प्रभु गरुड़पर बैठे-बैठे ही बोले ॥ ४५-४६ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

वैनतेय प्रयाहि त्वं यत्र बाणस्य गोधनम्।
यासां पीत्वा किल क्षीरममृतत्वमवाप्नुयात् ॥ ४७ ॥

श्रीकृष्णने कहा—विनतानन्दन! जहाँ बाणासुरकी गौएँ हैं, वहीं चलो। कहते हैं, उन गौओंका दूध पीकर मनुष्य अमरत्वको प्राप्त कर लेता है ॥ ४७ ॥

आह मां सत्यभामा च बाणगावो ममानय।
यासां पीत्वा किल क्षीरं न जीर्यन्ति महासुराः ॥ ४८ ॥

सत्यभामाने मुझसे कहा था 'कि मेरे लिये बाणासुरकी गौएँ ले आइयेगा, जिनका दूध पीकर वे महान् असुर कभी बूढ़े नहीं होते हैं ॥ ४८ ॥

विजराश्च जरां त्यक्त्वा भवन्ति किल जन्तवः।
ता आनयस्व भद्रं ते यदि धर्मो न लुप्यते ॥ ४९ ॥
अथवा कार्यलोपो वै मैव तासु मनः कृथाः।
इति मामब्रवीत् सत्या ताश्चैता विदिता मम ॥ ५० ॥

'तथा बूढ़े प्राणी भी वृद्धावस्थाको त्यागकर अजर हो जाते हैं। नाथ! आपका कल्याण हो, यदि धर्मका लोप न होता हो तो उन गौओंको ले आइयेगा अथवा यदि कार्यमें बाधा पड़ती हो तो उन गौओंकी ओर ध्यान न दीजियेगा' इस प्रकार सत्यभामाने मुझसे कहा था। वे बाणासुरकी गौएँ ये ही हैं, इन्हें मैंने पहचान लिया ॥ ४९-५० ॥

गरुड उवाच

दृश्यन्ते गाव एतास्ता दृष्ट्वा मां वरुणालयम्।
विशन्ति सहसा सर्वाः कार्यमत्र विधीयताम् ॥ ५१ ॥

गरुड़ बोले—प्रभो! ये ही तो वे गौएँ दिखायी दे रही हैं, परंतु मुझे देखकर सहसा सब-की-सब समुद्रमें समायी जा रही हैं; अतः यहाँ जो कार्य करना उचित हो, वह कीजिये ॥ ५१ ॥

इत्युक्त्वा चैव गरुडः पक्षवातेन सागरम्।
सहसा क्षोभयित्वा च विवेश वरुणालयम् ॥ ५२ ॥

ऐसा कहकर गरुड़ने अपने पंखोंकी हवासे सहसा समुद्रको विक्षुब्ध करते हुए वरुणके निवासस्थानमें प्रवेश किया ॥

दृष्ट्वा जवेन गरुडं प्राप्तं वै वरुणालयम्।
वारुणाश्च गणाः सर्वे विभ्रान्ताः प्राचलंस्तदा ॥ ५३ ॥

गरुड़को वेगपूर्वक वरुणालयमें आया हुआ देख वरुणके समस्त सैनिकगण तत्काल विभ्रान्त एवं विचलित हो उठे ॥

ततस्तु वारुणं सैन्यमभियातं सुदुर्जयम्।
प्रमुखे वासुदेवस्य नानाप्रहरणोद्यतम्।
तद् युद्धमभवद् घोरं वारुणैः पन्नगारिणा ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् वरुणकी अत्यन्त दुर्जय सेना नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो भगवान् श्रीकृष्णके सामने चढ़ आयी। उस समय वरुणके उन सैनिकोंके साथ गरुड़का बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥ ५४ ॥

तेषामापततां संख्ये वारुणानां सहस्रशः।
भग्नं बलमनाधृष्यं केशवेन महात्मना ॥ ५५ ॥

युद्धमें आक्रमण करनेवाले उन सहस्रों वरुणसैनिकोंकी उस अजेय सेनाको महात्मा केशवने मार भगाया ॥ ५५ ॥

ततस्ते प्रद्रुता यान्ति तमेव वरुणालयम्।
षष्टिं रथसहस्राणि षष्टिं रथशतानि च ॥ ५६ ॥
वारुणानि च युद्धानि दीप्तशस्त्राणि संयुगे।

तब वे भागे हुए सैनिक उस वरुणालयमें ही जा घुसे, इसके बाद वरुणके छाछठ हजार रथी सैनिक चमकीले अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो रणक्षेत्रमें आकर युद्ध करने लगे ॥

तद् वलं वलिभिः शूरैर्वलदेवजनार्दनैः ॥ ५७ ॥
प्रद्युम्नेनानिरुद्धेन गरुडेन च सर्वशः।
शरौघैर्विविधैस्तीक्ष्णैर्वध्यमानं समन्ततः ॥ ५८ ॥

वलदेव, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और गरुड़—इन सभी वलवान् शूरवीरोंने नाना प्रकारके तीखे वाणसमूहोंद्वारा वरुणकी उस रथसेनाको सब ओरसे मार भगाया ॥५७-५८॥

ततो भग्नं वलं दृष्ट्वा कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा।
वरुणस्त्वथ संक्रुद्धो निर्ययौ यत्र केशवः ॥ ५९ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्णके द्वारा अपनी सेनाको भगायी गयी देख वरुण देवता अत्यन्त कुपित हो उठे और घरसे निकलकर उस स्थानपर आये जहाँ श्रीकृष्ण विराजमान थे ॥ ५९ ॥

ऋषिभिर्देवगन्धर्वैस्तथैवाप्सरसां गणैः।
संस्तूयमानो वहुधा वरुणः प्रत्यदृश्यत ॥ ६० ॥

उस समय वहुत-से ऋषि, देवता, गन्धर्व तथा अप्सराओंके समुदाय अनेक प्रकारसे उनकी स्तुति कर रहे थे। इस रूपमें वरुणदेवका वहाँ दर्शन हुआ ॥ ६० ॥

छत्रेण ध्रियमाणेन पाण्डुरेण वपुष्मता।
सलिलस्राविणा श्रेष्ठं चापमुद्यम्य धिष्ठितः ॥ ६१ ॥

उनके मस्तकपर सुन्दर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे जलकी बूँदें झर रही थीं। वे एक श्रेष्ठ धनुष हाथमें लेकर खड़े थे ॥ ६१ ॥

अपां पतिरतिक्रुद्धः पुत्रपौत्रवलान्वितः।
आह्वयन्निव युद्धाय विस्फारितमहाधनुः ॥ ६२ ॥

जलके स्वामी वरुण अत्यन्त क्रोधमें भरकर अपने पुत्रों-पौत्रों तथा सैनिकोंके साथ आकर अपने विशाल धनुषको फैलाये हुए इस तरह खड़े थे, मानो युद्धके लिये ललकार रहे हों ॥ ६२ ॥

स तु प्राध्मापयच्छङ्खं वरुणः समधावत।
हरिं हर इव क्रुद्धो वाणजालैः समावृणोत् ॥ ६३ ॥

वरुणने पहले तो शङ्ख बजाया, फिर क्रोधमें भरकर श्रीकृष्णपर उसी तरह धावा किया, जैसे रुद्रदेवने भगवान् विष्णुपर आक्रमण किया हो। उन्होंने कुपित हो अपने वाणोंके जालसे श्रीकृष्णको ढक दिया ॥ ६३ ॥

ततः प्रध्माय जलजं पाञ्चजन्यं जनार्दनः।
वाणजालैर्दिशः सर्वास्ततश्चक्रे महावलः ॥ ६४ ॥

तब महावली जनार्दनने पाञ्चजन्य शङ्ख बजाकर अपने वाणसमूहोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥६४॥

ततः शरौघैर्विमलैर्वरुणः पीडितो रणे।
स्मयन्निव ततः कृष्णं वरुणः प्रत्ययुध्यत ॥ ६५ ॥

रणभूमिमें उन निर्मल वाणसमूहोंसे पीड़ित होनेपर भी मुसकराते हुए-से वरुण श्रीकृष्णके साथ युद्ध करने लगे ॥

ततोऽस्त्रं वैष्णवं घोरमभिमन्त्र्याहवे स्थितः।
वासुदेवोऽव्रवीद् वाक्यं प्रमुखे तस्य धीमतः ॥ ६६ ॥

तब घोर वैष्णवास्त्रको अभिमन्त्रित करके युद्धस्थलमें वुद्धिमान् वरुणके सामने खड़े हुए भगवान् वासुदेव उनसे इस प्रकार वोले—॥ ६६ ॥

इदमस्त्रं महाघोरं वैष्णवं शत्रुसूदनम्।
मयोद्यतं वधार्थं ते तिष्ठेदानीं स्थिरो भव ॥ ६७ ॥

'वरुणदेव ! मैंने तुम्हारे वधके लिये शत्रुओंका संहार करनेवाले इस महाघोर वैष्णवास्त्रको उठा रखा है, अव तुम स्थिरतापूर्वक खड़े रहो' ॥ ६७ ॥

ततोऽस्त्रं वरुणो देवो ह्यस्त्रं वैष्णवमुद्यतः।
वारुणास्त्रेण संयोज्य विननाद महावलः ॥ ६८ ॥

यह सुनकर महावली वरुणदेव वैष्णवास्त्रका सामना करनेके लिये उद्यत हो उसे वारुणास्त्रसे संयुक्त करके जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ ६८ ॥

तस्यास्त्रे वितता ह्यापो वरुणस्य विनिःसृताः।
वैष्णवास्त्रस्य शमने वर्तते समितिंजयः ॥ ६९ ॥

वरुणके अस्त्रमें राशि-राशि जल व्याप्त था, जो तत्काल प्रकट होने लगा। युद्धविजयी वरुण उसीसे वैष्णवास्त्रको बुझा देनेके लिये उद्यत थे ॥ ६९ ॥

आपस्तु वारुणास्तत्र क्षिप्ताः क्षिप्ता ज्वलन्ति वै।
दह्यन्ते वारुणास्तत्र ततोऽस्त्रे ज्वलिते पुनः ॥ ७० ॥
वैष्णवे तु महावीर्ये दिशो भीता विदुद्रुवुः।

परंतु वारुणास्त्रके द्वारा फेंकी गयी जलधाराएँ जब-जब वैष्णवास्त्रपर पड़ती थीं, तब तब अग्निके समान प्रज्वलित हो उठती थीं और उनके द्वारा वहाँ वरुणके सैनिक ही दग्ध होने लगते थे। इस प्रकार महान् शक्तिशाली वैष्णवास्त्रके प्रज्वलित होनेपर वरुणके सैनिक पुनः भयभीत हो सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगे ॥ ७०½ ॥

तद् वलं ज्वलितं दृष्ट्वा वरुणः कृष्णमब्रवीत् ॥ ७१ ॥
स्मर स्वप्रकृतिं पूर्वामव्यक्तां व्यक्तलक्षणाम् ।
तमो जहि महाभाग तमसा मुह्यसे कथम् ॥ ७२ ॥

अपनी उस सेनाको जलती हुई देख वरुणने श्रीकृष्णसे कहा—'महाभाग ! आप अपनी उस पूर्व प्रकृतिका स्मरण कीजिये, जो व्यक्ताव्यक्त स्वरूप है। तमोगुणका नाश कीजिये, आप स्वयं तमोगुणसे क्यों मोहित हो रहे हैं ? ॥ ७१-७२ ॥

सत्त्वस्थो नित्यमासीस्त्वं योगीश्वर महामते ।
पञ्चभूताश्रयान् दोषानहंकारं च वर्जय ॥ ७३ ॥

'योगीश्वर ! महामते ! आप सदा ही सत्त्वगुणमें स्थित रहे हैं, अतः पञ्चभूतोंके आश्रित रहनेवाले अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पाँच दोषों तथा अहंकारको त्याग दीजिये ॥ ७३ ॥

या या ते वैष्णवी मूर्तिस्तस्या ज्येष्ठो ह्यहं तव ।
ज्येष्ठभावेन मान्यं तु किं मां त्वं दग्धुमिच्छसि ॥ ७४ ॥

'आपकी जो-जो वैष्णवी मूर्ति है, उससे मैं ज्येष्ठ हूँ। * ज्येष्ठ होनेके नाते आपके आदरका पात्र हूँ, तो भी आप क्यों मुझे दग्ध करना चाहते हैं ? ॥ ७४ ॥

नाग्निर्विक्रमते ह्यग्नौ त्यज कोपं युधां वर ।
त्वयि न प्रभविष्यामि जगतः प्रभवो ह्यसि ॥ ७५ ॥

'योद्धाओंमे श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! आग आगपर अपना पराक्रम प्रकट नहीं करती है, अतः क्रोधको त्याग दीजिये। आपपर मेरी प्रभुता नहीं चल सकेगी, क्योंकि आप जगत्के आदि कारण हैं ॥ ७५ ॥

पूर्वं हि या त्वया सृष्टा प्रकृतिर्विकृतात्मिका ।
धर्मिणी बीजभावेन पूर्वं धर्मं समाश्रिता ॥ ७६ ॥

'पूर्वकालमें आपने जिस प्रकृति (माया) की सृष्टि की थी,-वह महत्तत्त्व आदि विकारोंके रूपमें परिणत होनेवाली है, इसलिये परिणामधर्मिणी है। वह आपसे पूर्वधर्म (जन्म-भाव)† का आश्रय लेकर अर्थात् आपसे ही उत्पन्न होकर जगत्के कारणरूपसे विद्यमान है ॥ ७६ ॥

आग्नेयं वैष्णवं सौम्यं प्रकृत्यैवेदमादितः ।
त्वया सृष्टं जगदिदं स कथं मयि वर्तसे ॥ ७७ ॥

'उक्त प्रकृतिके द्वारा आपने ही पहले इस आग्नेय, वैष्णव एवं सौम्य अस्त्रकी सृष्टि की है और आपसे ही इस सम्पूर्ण जगत्की रचना हुई है, वे जगत्स्रष्टा परमात्मा होकर आप मेरे प्रति कैसा वर्ताव करते हैं ॥ ७७ ॥

अजेयः शाश्वतो देवः स्वयम्भूर्भूतभावनः ।
अक्षरं च क्षरं चैव भावाभावौ महाद्युते ॥ ७८ ॥

'महाद्युते ! आप अजेय, सनातन देवता, स्वयम्भू और भूतभावन हैं, अक्षर और क्षर तथा भाव और अभाव आप-हीके स्वरूप हैं ॥ ७८ ॥

रक्ष मां रक्षणीयोऽहं त्वयानघ नमोऽस्तु ते ।
आदिकर्तासि लोकानां त्वयैतद् बहुलीकृतम् ॥ ७९ ॥

'निष्पाप श्रीकृष्ण ! आप मेरी रक्षा कीजिये ! मैं आपके द्वारा संरक्षण पानेके योग्य हूँ, आपको नमस्कार है। आप समस्त लोकोंके आदिकर्ता हैं। आपने ही इस दृश्य जगत्का विस्तार किया है ॥ ७९ ॥

विक्रीडसि महादेव बालः क्रीडनकैरिव ।
न ह्यहं प्रकृतिद्वेषी नाहं प्रकृतिदूषकः ॥ ८० ॥

'महादेव ! जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, उसी प्रकार आप इस जगत्के द्वारा क्रीड़ा करते हैं, आप ही इस जगत्की प्रकृति अर्थात् कारण हैं, न तो मैं आपसे द्वेष रखता हूँ और न आपपर दोषारोपण ही करता हूँ ॥ ८० ॥

प्रकृतिर्या विकारेषु वर्तते पुरुषर्षभ ।
तस्या विकारशमने वर्तसे त्वं महाद्युते ॥ ८१ ॥

'महातेजस्वी पुरुषोत्तम ! अहङ्कार आदि विकारोंमें जो प्रकृति (लोभ, द्वेषादि रूप पूर्ववासना) है, उसके विकारों (चोरी, हिंसा आदि दोषों) की शान्तिके लिये आप दुष्टोंका दमन आदि कार्य करते हैं ॥ ८१ ॥

विकारो वा विकाराणां विकाराय न तेऽनघ ।
तानधर्मविदो मन्दान् भवान् विकुरुते सदा ॥ ८२ ॥

'अनघ ! अथवा वे क्रोध आदि विकार विकारों (दुष्टों) के विकार (विनाश) के लिये ही होते हैं, आपको विकृत करनेके लिये नहीं। आप सदा उन अधर्मवेत्ता मूढ पुरुषोंका ही विनाश किया करते हैं (सत्पुरुषोंका नहीं) ॥ ८२ ॥

इदं प्रकृतिजैर्दोषैस्तमसा मुह्यते यदा ।
रजसा वापि संस्पृष्टं तदा मोहः प्रवर्तते ॥ ८३ ॥

'यह जगत् जब प्राकृत दोषों तथा तमोगुणसे ग्रस्त होकर अपना विवेक खो बैठता है अथवा रजोगुणसे संयुक्त होकर संग्रह-परिग्रहमें व्यग्र हो जाता है, तब उसपर मोह छा जाता है ॥ ८३ ॥

---

* भगवान् विष्णुके जितने अवतार हैं, उन सबमें मत्स्यावतार प्रथम माना गया है। यह अवतार जलमें हुआ था और जलके अधिष्ठाता वरुणदेव इसके पहलेसे विद्यमान थे, अतः ये सभी अवतारोंसे ज्येष्ठ सिद्ध होते हैं। वामन-अवतारके समय भगवान् इन्द्र-वरुण आदि देवताओंके छोटे भाई बने, इसलिये भी वरुणकी ज्येष्ठता सिद्ध होती है।

† जन्म, सत्ता, परिणाम, वृद्धि, क्षय और नाश—ये छः भावविकार प्राकृत शरीरके धर्म हैं। इनमें पहला भाव या धर्म 'जन्म' है, इसलिये यहाँ 'पूर्वधर्म' का अर्थ 'जन्म' किया गया है। नीलकण्ठने ऐसा ही माना है।

परावरज्ञः सर्वज्ञ ऐश्वर्यविधिमास्थितः।
किं मोहयसि नः सर्वान् प्रजापतिरिव स्वयम्॥ ८४॥

'आप स्वयं प्रजापतिके समान कार्य और कारणके ज्ञाता, सर्वज्ञ तथा ऐश्वर्यविधिका आश्रय लेकर स्थित हैं, फिर भी हम सब लोगोंको मोहमें क्यों डाल रहे हैं?' ॥ ८४ ॥

वरुणेनैवमुक्तस्तु कृष्णो लोकपरायणः।
भावज्ञः सर्वकृद् धीरस्ततः प्रीतमना ह्यभूत्॥ ८५॥
इत्येवमुक्तः कृष्णस्तु प्रहसन् वाक्यमब्रवीत्।

वरुणदेवके ऐसा कहनेपर सम्पूर्ण जगत्के आश्रय, हार्दिक भावके ज्ञाता, सर्वस्रष्टा एवं धीर स्वभाववाले भगवान् श्रीकृष्ण मन-ही-मन उनपर बहुत प्रसन्न हुए, उनकी पूर्वोक्त बात सुनकर वे हँसते हुए उनसे इस प्रकार बोले ॥ ८५½ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

गावः प्रयच्छ मे वीर शान्त्यर्थं भीमविक्रम॥ ८६॥
इत्येवमुक्ते कृष्णेन वाक्यं वाक्यविशारदः।
वरुणो ह्यब्रवीद् भूयः शृणु मे मधुसूदन॥ ८७॥

श्रीकृष्णने कहा—भयानक पराक्रमी वीर! तुम इस विवादकी शान्तिके लिये ये गौएँ मुझे दे दो। श्रीकृष्णके ऐसी बात कहनेपर बातचीत करनेमें कुशल वरुणदेव पुनः इस प्रकार बोले—'मधुसूदन! पहले मेरी बात सुन लीजिये' ॥

वरुण उवाच

बाणेन सार्धं समयो मया देव कृतः पुरा।
कथं च समयं कृत्वा कुर्यां विफलमन्यथा॥ ८८॥

वरुणने कहा—देव! मैंने पूर्वकालमें बाणासुरके साथ एक प्रतिज्ञा की है, वह प्रतिज्ञा करके उसके विपरीत आचरण-द्वारा मैं उसे निष्फल कैसे कर सकता हूँ॥ ८८ ॥

त्वमेव वेद सर्वस्य यथा समयभेदकः।
चारित्रं दुष्यते तेन न च सद्भिः प्रशस्यते॥ ८९॥

प्रतिज्ञा तोड़नेवाला कैसा होता है, इन सब बातोंको आप ही सबसे अधिक जानते हैं। प्रतिज्ञा तोड़नेसे चरित्र कलङ्कित होता है और साधु पुरुष उसकी प्रशंसा नहीं करते ॥ ८९ ॥

धर्मभाग्भिर्नरो नित्यं वर्ज्यते मधुसूदन।
न च लोकानवाप्नोति पापः समयभेदकः॥ ९०॥

मधुसूदन! धर्मात्मा पुरुष प्रतिज्ञा भङ्ग करनेवाले मनुष्यको सदाके लिये त्याग देते हैं, वह पापी उत्तम लोकोंको नहीं पाता है ॥ ९० ॥

प्रसीद धर्मलोपश्च मा भून्मे मधुसूदन।
न मां समयभेदेन योक्तुमर्हसि माधव॥ ९१॥

मधुसूदन! प्रसन्न होइये! मेरे धर्मका लोप न हो! माधव! मुझे प्रतिज्ञा-भङ्गके पापसे संयुक्त न कीजिये ॥ ९१ ॥

जीवन्नाहं प्रदास्यामि गावो वै वृषभेक्षण।
हत्वा नयस्व मां गाव एष मे समयः पुरा॥ ९२॥

वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले गोविन्द! मैं जीते-जी इन गौओंको नहीं दूँगा। आप मेरा वध करके इन्हें ले जाइये। पूर्वकालमें मैंने यही प्रतिज्ञा की है ॥ ९२ ॥

एतच्च मे समाख्यातं समयं मधुसूदन।
सत्यमेव महाबाहो न मिथ्या तु सुरेश्वर॥ ९३॥

मधुसूदन! महाबाहो! यह मैंने अपनी प्रतिज्ञा कह सुनायी। सुरेश्वर! यह सर्वथा सत्य ही है, मिथ्या नहीं है॥

यद्येवाहमनुग्राह्यो रक्ष मां मधुसूदन।
अथवा गोषु निर्बन्धो हत्वा नय महाभुज॥ ९४॥

महाबाहु मधुसूदन! यदि मैं आपके अनुग्रहका पात्र हूँ, तो आप मेरी रक्षा कीजिये अथवा गौओंके लिये ही आग्रह हो, तो मुझे मारकर इन्हें ले जाइये ॥ ९४॥

वैशम्पायन उवाच

वरुणेनैवमुक्तस्तु यदूनां वंशवर्धनः।
अभेद्यं समयं मत्वा न्यस्तवादो गवां प्रति॥ ९५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वरुणदेवके ऐसा कहनेपर यदुवंशकी वृद्धि करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने उनकी प्रतिज्ञाको अभेद्य मानकर गौओंके लिये विवाद त्याग दिया ॥ ९५ ॥

स प्रहस्य ततो वाक्यं व्याजहारार्थकोविदः।
तस्मान्मुक्तोऽसि यद्येवं बाणेन समयः कृतः॥ ९६॥

व्यवहारकुशल श्रीकृष्ण उस समय हँसकर बोले—'यदि आपने बाणासुरके साथ ऐसी प्रतिज्ञा कर ली है तो अब आप इस कलहसे मुक्त हैं' ॥ ९६ ॥

प्रश्रितैर्मधुरैर्वाक्यैस्तत्त्वार्थमधुभाषितैः।
कथं पापं करिष्यामि वरुण त्वय्यहं प्रभो॥ ९७॥

फिर वे विनययुक्त मधुर वचनों तथा तात्त्विक अर्थसे युक्त मीठी बातोंद्वारा उन्हें प्रसन्न करते हुए बोले—'प्रभो! वरुणदेव! मैं आपके प्रति दुर्व्यवहार कैसे करूँगा ॥ ९७ ॥

गच्छ मुक्तोऽसि वरुण सत्यसंधोऽसि नो भवान्।
त्वत्प्रियार्थं मया मुक्ता बाणगावो न संशयः॥ ९८॥

'वरुणदेव! जाइये, अब आप मुक्त हैं। सत्यप्रतिज्ञ होनेके साथ ही हमारे सम्बन्धी हैं, आपका प्रिय करनेके लिये मैंने बाणासुरकी गौओंको छोड़ दिया, इसमें संशय नहीं है ॥ ९८ ॥

ततस्तूर्यनिनादैश्च भेरीणां च महास्वनैः।
अर्घ्यमादाय वरुणः केशवं प्रत्यपूजयत्।

केशवोऽर्घ्यं तदा गृह्य वरुणाद् यदुनन्दनः ॥ ९९ ॥

तदनन्तर वाद्योंकी ध्वनि और डंकोंकी बड़ी भारी आवाजके साथ वरुणदेवने अर्घ्य लेकर श्रीकृष्णका पूजन किया। यदुनन्दन श्रीकृष्णने वरुणसे वह अर्घ्य लेकर उनकी पूजा स्वीकार की ॥ ९९ ॥

बलं चापूजयद् देवः कुशलीव समाहितः।
वरुणायाभयं दत्त्वा वासुदेवः प्रतापवान् ॥१००॥
द्वारकां प्रस्थितः शौरिः शचीपतिसहायवान्।

तत्पश्चात् वरुणदेवने सकुशल पुरुषकी भाँति एकाग्रचित्त हो बलभद्रजीका भी पूजन किया। फिर प्रतापी शूरनन्दन श्रीकृष्ण वरुणदेवको अभयदान देकर शचीपति इन्द्रके साथ द्वारकाको प्रस्थित हुए ॥ १००½ ॥

तत्र देवाः समरुतः ससाध्याः सिद्धचारणाः ॥१०१॥
गन्धर्वाप्सरसश्चैव किंनराश्चान्तरिक्षगाः।
अनुगच्छन्ति भूतेशं सर्वभूतादिमव्ययम् ॥१०२॥

वहाँ सम्पूर्ण भूतोंके आदिकारण, अविनाशी, भूतनाथ श्रीकृष्णके पीछे-पीछे देवता, मरुद्गण, साध्यगण, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा तथा किंनर भी आकाशमार्गसे चल रहे थे ॥ १०१-१०२ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ यक्षराक्षसाः।
विद्याधरगणाश्चैव ये चान्ये सिद्धचारणाः।
गच्छन्तमनुगच्छन्ति यशसा विजयेन च ॥१०३॥

आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार, यक्ष, राक्षस, विद्याधर तथा जो अन्य सिद्ध-चारण थे, वे सब यश और विजयके साथ यात्रा करते हुए श्रीकृष्णका अनुसरण कर रहे थे ॥ १०३ ॥

नारदश्च महाभागः प्रस्थितो द्वारकां प्रति।
तुष्टो बाणजयं दृष्ट्वा वरुणं च कृतप्रियम् ॥१०४॥

महाभाग नारद भी द्वारकाको ही प्रस्थान कर रहे थे। वे श्रीकृष्णके द्वारा बाणासुरपर विजय और वरुणके प्रिय कार्यका सम्पादन देखकर बहुत संतुष्ट थे ॥ १०४ ॥

कैलासशिखरप्रख्यैः प्रासादैः कन्दरैः शुभैः।
दूरान्निशम्य मधुहा द्वारकां द्वारमालिनीम् ॥१०५॥
पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं चक्रे चक्रगदाधरः।
संज्ञां प्रयच्छते देवो द्वारकापुरवासिनाम् ॥१०६॥

तदनन्तर चक्र और गदा धारण करनेवाले मधुसूदनने द्वारमालाओंसे अलंकृत तथा कैलासशिखरके समान कान्तिमान् प्रासादों और सुन्दर कन्दराओंसे सुशोभित द्वारकापुरीको दूरसे ही देखकर पाञ्चजन्य शङ्खका गम्भीर घोष किया। इस प्रकार भगवान् वासुदेवने द्वारकावासियोंको अपने आगमनकी सूचना प्रदान की ॥ १०५-१०६ ॥

देवानुयाननिर्घोषं पाञ्चजन्यस्य निस्वनम्।
श्रुत्वा द्वारवती सर्वा प्रहर्षमतुलं गता ॥१०७॥

पीछे-पीछे आनेवाले देवताओंके विमानोंका गम्भीर घोष और पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनि सुनकर सारी द्वारकापुरी अनुपम प्रसन्नतासे फूल उठी ॥ १०७ ॥

पूर्णकुम्भैश्च लाजैश्च बहुविन्यस्तविस्तरैः।
द्वारोपशोभितां कृत्वा सर्वां द्वारवतीं पुरीम् ॥१०८॥

नगरनिवासियोंने द्वारकापुरीके सभी द्वारोंपर जलसे भरे हुए कलश रखे, खील बिखेरे तथा बड़े विस्तारके साथ अनेक प्रकारकी सजावटें कीं। यह सब करके उन्होंने सम्पूर्ण नगरीको अभिनव शोभासे सम्पन्न कर दिया ॥ १०८ ॥

सुश्लिष्टरथ्यां सश्रीकां बहुरत्नोपशोभिताम्।
विप्राश्चार्घ्यं समादाय तथैव कुलनैगमाः ॥१०९॥
जयशब्दैश्च विविधैः पूजयन्ति स्म माधवम्।
वैनतेये तमासीनं नीलाञ्जनचयोपमम् ॥११०॥

गलियाँ और सड़कें खूब झाड़-बुहारकर स्वच्छ एवं सुसज्जित कर दी गयीं, सारी पुरीकी शोभा बढ़ा दी गयी तथा उसे अनेक प्रकारके रत्नोंसे सजा दिया गया, ब्राह्मण तथा कुलाचारके ज्ञाता पुरोहित आदि अर्घ्य लेकर नाना प्रकारसे जय-जयकार करते हुए नीली अञ्जनराशिके समान श्यामसुन्दर माधवकी, जो गरुड़पर विराजमान थे, पूजा करने लगे ॥

ववन्दिरे तदा कृष्णं श्रिया परमया युतम्।
तमानुपूर्व्या वर्णाश्च पूजयन्ति महाबलम् ॥१११॥
अनन्तं केशिहन्तारं श्रेष्ठिपूर्वाश्च श्रेणयः।

उस समय सबने उत्कृष्ट शोभासे सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्णकी वन्दना की। सभी वर्णोंके लोग, महाबली अनन्त (बलराम) एवं केशिहन्ता श्रीकृष्णकी क्रमशः पूजा करने लगे, सेठ आदि व्यापारियोंने भी उनका पूजन किया ॥

ऋषिभिर्देवगन्धर्वैश्चारणैश्च समन्ततः ॥११२॥
स्तूयते पुण्डरीकाक्षो द्वारकोपवने स्थितः।

उस अवसरपर द्वारकाके उपवनमें ठहरे हुए कमलनयन श्रीकृष्णकी ऋषि, देवता, गन्धर्व और चारण आदि सब ओरसे स्तुति कर रहे थे ॥ ११२½ ॥

तदाश्चर्यमपश्यन्त दाशार्हगणसत्तमाः ॥११३॥
प्रहर्षमतुलं प्राप्ता दृष्ट्वा कृष्णं महाभुजम्।
बाणं जित्वा महादेवमायान्तं पुरुषोत्तमम् ॥११४॥

यदुकुलके श्रेष्ठ पुरुषोंने उस आश्चर्यको अपनी आँखों देखा था। बाणासुरको जीतकर लौटे हुए महान् देवता महाबाहु पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको देखकर उन्हें अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ था ॥ ११३-११४ ॥

द्वारकावासिनां वाचश्चरन्ति बहुधा तदा।
प्राप्ते कृष्णे महाभागे यादवानां महारथे ॥११५॥

यादव-महारथी महाभाग श्रीकृष्णके लौट आनेपर द्वारकावासियोंके मुखसे उस समय नाना प्रकारकी बातें निकलने लगीं—॥ ११५ ॥

गत्वा च दूरमध्वानं सुपर्णो द्रुतमागतः।
धन्याः स्मोऽनुगृहीताःस्मो येषां वै जगतः पिता ॥११६॥
रक्षिता चैव गोप्ता च दीर्घबाहुर्महाभुजः।
वैनतेयं समारुह्य जित्वा बाणं सुदुर्जयम् ॥११७॥
प्राप्तोऽयं पुण्डरीकाक्षो मनांस्याह्लादयन्निव।

'ये गरुड़ बहुत दूरके मार्गपर जाकर शीघ्र ही लौट आये। हम धन्य हैं और भगवान्‌के द्वारा अनुगृहीत हैं, जिनके रक्षक और पालक लंबी भुजावाले जगत्पिता महाबाहु श्रीकृष्ण हैं। गरुड़पर आरूढ़ हो अत्यन्त दुर्जय बाणासुरको जीतकर ये कमलनयन श्रीकृष्ण हमारे मनको आह्लादित करते हुए-से यहाँ आ पहुँचे हैं' ॥ ११६-११७½ ॥

एवं कथयतामेव द्वारकावासिनां तदा ॥११८॥
वासुदेवगृहं देवा विविशुस्ते महारथाः।

जब द्वारकावासी इस प्रकारकी बातें कह रहे थे, उस समय वे महारथी देवगण भगवान् श्रीकृष्णके भवनमें प्रविष्ट हुए ॥ ११८½ ॥

अवतीर्य सुपर्णात् तु वासुदेवो बलस्तदा ॥११९॥
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च गृहान् प्रविविशुस्तदा।

वहाँ पहुँचनेपर बलराम, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी तत्काल गरुड़से उतरकर अपने-अपने घरोंमें गये ॥११९½॥

ततो देवविमानानि संचरन्ति तदा दिवम् ॥१२०॥
अवस्थितानि दृश्यन्ते नानारूपाणि सर्वशः।

तदनन्तर देवताओंके विमान, जो आकाशमें विचरते थे, उस समय वहाँ स्थिर दिखायी देने लगे, उन सबके स्वरूप नाना प्रकारके थे ॥ ॥ १२०½ ॥

हंसर्षभमृगैर्नागैर्वाजिसारसबर्हिणैः ॥१२१॥
भास्वन्ति तानि दृश्यन्ते विमानानि सहस्रशः।

हंस, वृषभ, मृग, हाथी, घोड़े, सारस और मोर आदिसे युक्त वे सहस्रों तेजस्वी विमान वहाँ दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ १२१½ ॥

अथ कृष्णोऽब्रवीद् वाक्यं कुमारांस्तान् सहस्रशः।
प्रद्युम्नादीन् समस्तांस्तु श्लक्ष्णं मधुरया गिरा॥१२२॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने सहस्रोंकी संख्यामें उपस्थित हुए प्रद्युम्न आदि समस्त यादवकुमारोंसे स्निग्ध एवं मधुर वाणीमें कहा—॥ १२२ ॥

एते रुद्रास्तथाऽऽदित्या वसवोऽथाश्विनावपि।
साध्या देवास्तथान्ये च वन्दध्वं च यथाक्रमम् ॥१२३॥

'बच्चो! ये रुद्र, आदित्य, वसु, अश्विनीकुमार, साध्यगण तथा अन्य देवता यहाँ पधारे हैं, तुमलोग क्रमशः इन सबकी वन्दना करो ॥ १२३ ॥

सहस्राक्षं महाभागं दानवानां भयंकरम्।
वन्दध्वं सहिताः शक्रं सगणं नागवाहनम् ॥१२४॥

'दानवोंको भय देनेवाले सहस्र नेत्रधारी महाभाग इन्द्र ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हो अपने सेवकगणोंके साथ पधारे हैं, तुम एक साथ होकर इनकी भी वन्दना करो ॥ १२४ ॥

सप्तर्षयो महाभागा भृग्वाङ्गिरसमाश्रिताः।
ऋषयश्च महात्मानो वन्दध्वं च यथाक्रमम् ॥१२५॥

'ये महाभाग सप्तर्षि भृगु और बृहस्पतिके पास खड़े हैं, अन्यान्य महात्मा ऋषि भी पधारे हैं, तुमलोग क्रमशः इन सबकी वन्दना करो ॥ १२५ ॥

एते चक्रधराश्चैव तान् वन्दध्वं च सर्वशः।
सागराश्च ह्रदाश्चैव मत्प्रियार्थमिहागताः ॥१२६॥
दिशश्च विदिशश्चैव वन्दध्वं च यथाक्रमम्।

'ये समस्त चक्रधारी (लोकपाल) खड़े हैं, इन सबको प्रणाम करो। सागर, सरोवर, दिशा और विदिशाएँ—ये सब मेरा प्रिय करनेके लिये यहाँ पधारे हैं, तुमलोग क्रमशः इनकी वन्दना करो ॥ १२६½ ॥

वासुकिप्रमुखाश्चैव नागा वै सुमहाबलाः ॥१२७॥
गावश्च मत्प्रियार्थं वै वन्दध्वं च यथाक्रमम्।

'वासुकि आदि महाबली नाग तथा गौएँ मेरा प्रिय करनेके लिये आयी हैं, तुमलोग क्रमशः इन्हें प्रणाम करो ॥

ज्योतींषि सह नक्षत्रैर्यक्षराक्षसकिंनरैः ॥१२८॥
आगता मत्प्रियार्थं वै वन्दध्वं च यथाक्रमम्।

'नक्षत्रोंसहित ग्रह और तारे, यक्ष, राक्षस और किन्नर—ये सभी मेरा प्रिय करनेके लिये यहाँ आये हैं, तुम क्रमशः इनकी वन्दना करो' ॥ १२८½ ॥

वासुदेववचः श्रुत्वा कुमाराः प्रणताः स्थिताः ॥१२९॥
यथाक्रमेण सर्वेषां देवतानां महात्मनाम्।

भगवान् वासुदेवका यह वचन सुनकर वे समस्त यादवकुमार क्रमशः सभी देवताओं और महात्माओंको प्रणाम करके खड़े हो गये ॥ १२९½ ॥

सर्वान् दिवौकसो दृष्ट्वा पौरा विस्मयमागताः ॥१३०॥
पूजार्थमथ समरान् प्रगृह्य द्रुतमागताः।

समस्त देवताओंको वहाँ उपस्थित देख पुरवासियोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे पूजाकी सामग्री लेकर शीघ्रतापूर्वक वहाँ आये ॥ १३०½ ॥

अहो सुमहदाश्चर्यं वासुदेवस्य संश्रयात् ॥१३१॥
प्राप्यते यदिहास्माभिरिति वाचश्चरन्त्युत।

उस समय उनके मुखसे निम्नाङ्कित बातें निकल रही थीं—'अहो ! भगवान् वासुदेवका आश्रय लेनेसे हमें महान् आश्चर्यकी वस्तु देखनेको मिल रही है' ॥ १३१½ ॥

ततश्चन्दनचूर्णैश्च गन्धपुष्पैश्च सर्वशः ॥१३२॥
किरन्ति पौराः सर्वांस्तान् पूजयन्तो दिवौकसः ।

तदनन्तर समस्त देवताओंकी पूजा करते हुए पुरवासी वहाँ सब ओर चन्दनके चूर्ण और सुगन्धित पुष्प बिखेरने लगे ॥

लाजैः प्रणामैर्धूपैश्च वाद्यध्वनियमैस्तथा ॥१३३॥
द्वारकावासिनः सर्वे पूजयन्ति दिवौकसः ।

उन्होंने खील चढ़ाये, बारंबार प्रणाम किये, धूप-दीप आदि निवेदन किये; भाँति-भाँतिके वाद्योंकी ध्वनि की और अहिंसा आदि यमोंका पालन किया, इस प्रकार समस्त द्वारका-वासियोंने देवताओंकी पूजा की ॥ १३३½ ॥

आहुकं वासुदेवं च साम्बं च यदुनन्दनम् ॥१३४॥
सात्यकिं चोल्मुकं चैव विपृथुं च महाबलम् ।
अक्रूरं च महाभागं तथा निशठमेव च ॥१३५॥
एतान् परिष्वज्य तदा मूर्ध्नि चाघ्राय वासवः ।
अथ शक्रो महाभागः समक्षं यदुमण्डले ॥१३६॥
स्तुवन्तं केशिहन्तारं तत्रोवाचोत्तरं वचः ।

इसके बाद देवराज इन्द्रने राजा उग्रसेन, भगवान् वासुदेव, यदुनन्दन साम्ब, सात्यकि, उल्मुक, महाबली विपृथु, महाभाग अक्रूर तथा निशठ—इन सबको हृदयसे लगाकर मस्तक सूँघा, फिर उन महाभाग इन्द्रने सारी यदु-मण्डलीके समक्ष अपनी (इन्द्रकी) स्तुति करते हुए केशि-हन्ता भगवान् श्रीकृष्णको उत्तर देते हुए उनके विषयमें वहाँ इस प्रकार उत्कृष्ट बात कही—॥ १३४–१३६½ ॥

सात्वतः सात्वतामेष सर्वेषां यदुनन्दनम् ॥१३७॥
मोक्षयित्वा रणे चैव यशसा पौरुषेण च ।
महादेवस्य मिषतो गुहस्य च महात्मनः ॥१३८॥
एष बाणं रणे जित्वा द्वारकां पुनरागतः ।

'ये श्रीकृष्ण समस्त सात्वतवंशी यादवोंमें सर्वश्रेष्ठ सात्वत हैं। इन्होंने रणभूमिमे अपने यश और पुरुषार्थके द्वारा यदु-नन्दन अनिरुद्धको बन्धनमुक्त कराकर महादेवजी तथा महामना कार्तिकेयके देखते-देखते संग्राममे बाणासुरको परास्त करके पुनः द्वारकामे पदार्पण किया है ॥ १३७-१३८½ ॥

सहस्रबाहोर्बाहूनां कृत्वा द्वयमनुत्तमम् ॥ ३९॥
स्थापयित्वा द्विबाहुत्वे प्राप्तोऽयं स्वपुरं हरिः ।

'सहस्र भुजाओसे युक्त बाणासुरके लिये इन्होंने दो ही परम उत्तम भुजाएँ शेष छोड़ दीं और उसे द्विबाहुके पदपर प्रतिष्ठित करके ये श्रीहरि अपनी पुरीमें पधारे हैं ॥ १३९½ ॥

यदर्थं जन्म कृष्णस्य मानुषेषु महात्मनः ॥१४०॥
तदप्यवसितं कार्यं नष्टशोका वयं कृताः ।

'जिसके लिये मनुष्योंमे महात्मा श्रीकृष्णका अवतार हुआ था, वह कार्य भी अब पूरा हो गया; इन्होने हम देवताओंके सारे शोक नष्ट कर दिये ॥ १४०½ ॥

पिबतां मधु माध्वीकं भवतां प्रीतिपूर्वकम् ॥१४१॥
कालो यास्यत्यविरतं विषयेष्वेव सज्जताम् ।

'यादवो ! अब मधुर मधुपान करते और निरन्तर मनो-वाञ्छित विषयोंका ही सुख भोगते हुए तुमलोगोंका समय बड़ी प्रसन्नताके साथ बीतेगा ॥ १४१½ ॥

बाहूनां संश्रयात् सर्वे वयमस्य महात्मनः ॥१४२॥
प्रणष्टशोका रंस्यामः सर्वे एव यथासुखम् ।

'हम सब देवता इन महात्मा श्रीकृष्णकी भुजाओंका आश्रय लेनेसे सर्वथा शोकहीन हो गये। अब हम सभी सुख-पूर्वक स्वर्गलोकमें रमण करेंगे' ॥ १४२½ ॥

एवं स्तुत्वा सहस्राक्षः केशवं दानवान्तकम् ॥१४३॥
आपृच्छ्य तं महाभागः सर्वदेवगणैर्वृतः ।
ततः पुनः परिष्वज्य कृष्णं लोकनमस्कृतम् ।
पुरंदरो दिवं यातः सह देवमरुद्गणैः ॥१४४॥

इस प्रकार दानवविनाशक भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करके सम्पूर्ण देवताओसे घिरे हुए महाभाग इन्द्रने उनसे जानेके लिये आज्ञा माँगी, तत्पश्चात् विश्ववन्दित श्रीकृष्णको पुनः हृदयसे लगाकर इन्द्र देवताओं और मरुद्गणोंके साथ स्वर्गलोकको चले गये ॥ १४३-१४४ ॥

ऋषयश्च महात्मानो जयाशीर्भिर्महौजसम् ।
यथागतं पुनर्याता यक्षराक्षसकिंनराः ॥१४५॥

महात्मा ऋषि भी विजयसूचक आशीर्वादोंसे महाबली श्रीकृष्णका अभिनन्दन करके जैसे आये थे, वैसे फिर चले गये। इसी तरह यक्ष, राक्षस और किन्नर भी अपने-अपने स्थानको लौट गये ॥ १४५ ॥

पुरंदरे दिवं याते पद्मनाभो महाबलः ।
अपृच्छत महाभागः सर्वान् कुशलमव्ययम् ॥१४६॥

देवराज इन्द्रके स्वर्गलोकको चले जानेपर महाबली, महाभाग, पद्मनाभ श्रीकृष्णने समस्त यादवोंका कुशल-मङ्गल पूछा ॥ १४६ ॥

ततः किलकिलाशब्दं निर्वमन्तः सहस्रशः ।
गच्छन्ति कौमुदीं द्रष्टुं सोऽनघः प्रीयते सदा ॥१४७॥

तदनन्तर सहस्रों पुरवासी किलकारियाँ भरते और आश्चर्य प्रकट करते हुए श्रीकृष्णके मुखचन्द्रकी चन्द्रिकाका दर्शन करनेके लिये आने-जाने लगे। निष्पाप श्रीकृष्ण उनकी

उस प्रेमभक्तिसे सदा प्रसन्न रहते थे ॥ १४७ ॥

द्वारकां प्राप्य कृष्णस्तु रेमे यदुगणैः सह ।
विविधान् सर्वकामार्थाञ्छ्रिया परमया युतः ॥१४८॥

द्वारकामें आकर उत्तम लक्ष्मीसे संयुक्त हुए भगवान् श्रीकृष्ण नाना प्रकारके सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुओंका सदुपयोग करते हुए यादवोंके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि द्वारकाप्रत्यागमने सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें श्रीकृष्णका द्वारकामें पुनरागमनविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्वारकामें उत्सव, उषाका अन्तःपुरमें प्रवेश और सत्कार, श्रीकृष्ण और विष्णुपर्वकी महिमा तथा पर्वका उपसंहार

वैशम्पायन उवाच

अथाहुको महाबाहुः कृष्णं प्राह महाद्युतिः ।
हर्षोदुत्फुल्लनयनः श्रूयतां यदुनन्दन ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाबाहु महातेजस्वी उग्रसेनने, जिनके नेत्र हर्षसे खिल उठे थे, भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'यदुनन्दन ! सुनिये ॥ १ ॥

एवं गतेऽनिरुद्धस्य क्रियतां महदुत्सवः ।
क्षेमात् प्रत्यागतं दृष्ट्वा सेव्यमाना महामते ॥ २ ॥
उषापि च महाभागा सखीभिः परिवारिता ।
रमते परया प्रीत्या चानिरुद्धेन संगता ॥ ३ ॥

'महामते ! जब अनिरुद्ध कुशलपूर्वक द्वारका लौट आये और उन्हें देख लिया गया, ऐसी दशामें उनके लिये कोई महान् उत्सव रचाया जाय—ऐसा मेरा विचार है। महाभागा उषा भी सखियोंसे सेवित हो उनसे घिरी रहती है और अनिरुद्धसे मिलकर बड़ी प्रसन्नताके साथ आनन्दपूर्वक समय बिताती है ॥ २-३ ॥

कुम्भाण्डदुहिता रामा उषायाः सखिमण्डले ।
प्रवेश्यतां महाभागा वैदर्भी वर्द्धयेत् पुनः ॥ ४ ॥

'उषाकी सखियोंके समुदायमें जो कुम्भाण्डकी पुत्री रामा है, उसका अन्तःपुरमें प्रवेश कराया जाय और महाभागा विदर्भनन्दिनी रुक्मिणी पुनः अपनी पुत्रवधूके रूपमें उसका अभिनन्दन करें ॥ ४ ॥

साम्बाय दीयतां रामा कुम्भाण्डदुहिता शुभा ।
शेषाश्च कन्या न्यस्यन्तां कुमाराणां यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

'कुम्भाण्डकी शुभलक्षणा कन्या रामा साम्बको विवाह दी जाय और शेष कन्याएँ भी क्रमशः अन्यान्य कुमारोंको सौंप दी जायँ' ॥ ५ ॥

वर्तते सोत्सवस्तत्र अनिरुद्धस्य वेश्मनि ।
गृहे श्रीधन्वनश्चैव शुभस्तत्र प्रवर्तते ॥ ६ ॥

(उग्रसेनके ऐसा कहनेपर) अनिरुद्ध और श्रीधन्वाके भवनमें उस शुभ उत्सवका आरम्भ हुआ ॥ ६ ॥

वादयन्ति पुरे तत्र नार्यो मदवशं गताः ।
नृत्यन्ते चाप्सरास्तत्र गायन्ति च तथापराः ॥ ७ ॥

वहाँ नगरकी नारियाँ मदमत्त होकर बाजे बजाने लगीं, कुछ अप्सराएँ नृत्य करने लगीं और दूसरी गीत गाने लगीं ॥ ७ ॥

काश्चित् प्रमुदितास्तत्र काश्चिदन्योन्यमब्रुवन् ।
नानावर्णाम्बरधराः क्रीडमानास्ततस्ततः ॥ ८ ॥

कुछ स्त्रियाँ वहाँ आनन्द-विनोदमें मग्न थीं, कुछ आपसमें बातें कर रही थीं तथा बहुत-सी स्त्रियाँ नाना प्रकारके वस्त्र धारण किये इधर-उधर भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करती थीं ॥ ८ ॥

अभियान्ति ततोऽन्योन्यं काश्चिन्मदवशात् स्वयम् ।
क्रीडन्ति काश्चिदक्षैस्तु हर्षोदुत्फुल्ललोचनाः ॥ ९ ॥

कितनी ही स्त्रियाँ यौवनमदके वशीभूत हो स्वयं ही परस्पर आलिङ्गन करती थीं और कितनी द्यूतक्रीड़ामें लगी हुई थीं, उन सबके नेत्र हर्षसे खिल उठे थे ॥ ९ ॥

मायूरं रथमारुह्य सखीभिः परिवारिता ।
उषा सम्प्रेषिता देव्या रुद्राण्या प्रतिगृह्यताम् ॥ १० ॥
इयं चैव कुलश्लाघ्या नाम्नोषा सुन्दरी वरा ।
बाणपुत्री तव वधूः प्रतिगृह्णीष्व भामिनीम् ॥ ११ ॥

(जब पहले-पहल उषाका रथ द्वारपर आया । उस समय भगवान् श्रीकृष्णने रुक्मिणीसे कहा—) 'देवि ! रुद्रपत्नी पार्वतीदेवीने सखियोंसे घिरी हुई उषाको मयूरयुक्त रथपर चढ़ाकर यहाँ भेजा है । तुम इसे ग्रहण करो । उत्तम कुलकी दृष्टिसे यह हमारे लिये स्पृहणीय है । इस श्रेष्ठ एवं सुन्दरी कन्याका नाम उषा है । यह बाणासुरकी पुत्री और तुम्हारी बहू है, तुम इस भामिनीको सादर ग्रहण करो' ॥ १०-११ ॥

ततः प्रतिगृहीता सा स्त्रीभिराचारमङ्गलैः ।
प्रवेशिता च सा वेश्म अनिरुद्धस्य शोभना ॥ १२ ॥

तब अन्तःपुरकी स्त्रियोंने मङ्गलाचारपूर्वक उस सुन्दरी

बहूको ग्रहण किया और उसे अनिरुद्धके महलमें पहुँचाया ॥ १२ ॥

देवकी रोहिणी चैव रुक्मिण्यथ विदर्भजा।
दृष्ट्वानिरुद्धं रोदन्त्यः स्नेहहर्षसमन्विताः ॥ १३ ॥

देवकी, रोहिणी, रुक्मिणी और शुभाङ्गी आदि स्त्रियाँ अनिरुद्धको देखकर स्नेह और हर्षसे विह्वल हो रोने लगीं ॥ १३ ॥

रेवती रुक्मिणी चैव गृहमुख्यं प्रवेशयत्।
वधूर्वर्धसि दिष्ट्या त्वमनिरुद्धस्य दर्शनात् ॥ १४ ॥

रेवती और रुक्मिणीने अनिरुद्धको उनके श्रेष्ठ भवनमें पहुँचाया और प्रद्युम्नपत्नी शुभाङ्गीसे कहा—'बहू! आज तुम अपने पुत्र अनिरुद्धको देखकर अभ्युदयशालिनी हुई हो। यह बड़े सौभाग्यकी बात है' ॥ १४ ॥

ततस्तूर्यप्रणादैस्ता वरनार्यः शुभाननाः।
क्रियामारेभिरे कर्तुमुषा च गृहसंस्थिता ॥ १५ ॥

तदनन्तर सुन्दर मुखवाली वे सुन्दरी स्त्रियाँ नाना प्रकारके वाद्योंकी ध्वनिके साथ कुलाचारका सम्पादन करने लगीं और उषा घरके भीतर विराजमान हुई ॥ १५ ॥

ततो हर्म्यतलस्था सा वृष्णिपुङ्गवसंस्थिता।
रमते सर्वसदृशैरुपभोगैर्वरानना ॥ १६ ॥

सुमुखी उषा अट्टालिकामें वृष्णिपुङ्गव अनिरुद्धके साथ रहकर अपने योग्य समस्त उपभोगोंके द्वारा आनन्दपूर्वक समय बिताने लगी ॥ १६ ॥

चित्रलेखा च सुश्रोणी अप्सरारूपधारिणी।
आपृच्छ्य च सखीवर्गमुषां च त्रिदिवं गता ॥ १७ ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली अप्सरारूपधारिणी चित्रलेखा उषा तथा अन्य सखियोंसे विदा ले स्वर्गलोकको चली गयी ॥ १७ ॥

गतासु तासु सर्वासु सखीष्वसुरसुन्दरी।
मायावत्या गृहं नीता प्रथमं सा निमन्त्रिता ॥ १८ ॥

उन सब सखियोंके चले जानेपर असुरसुन्दरी उषाको सबसे पहले मायावतीने निमन्त्रित किया और वह उसे अपने घरमें ले गयी ॥ १८ ॥

सा तु प्रद्युम्नगृहिणी स्नुषां दृष्ट्वा सुमध्यमा।
वासोभिरन्नपानैश्च पूजयामास सुन्दरीम् ॥ १९ ॥

प्रद्युम्नपत्नी सुमध्यमा मायावतीने उस सुन्दरी पुत्रवधूको देखकर अन्न, पान और वस्त्र आदिके द्वारा उसका सत्कार किया ॥ १९ ॥

ततः क्रमेण सर्वास्ता वधूमूषां यदुस्त्रियः।
आचारमनुपश्यन्त्यः स्वधर्ममुपचक्रिरे ॥ २० ॥

तदनन्तर यदुकुलकी सभी स्त्रियोंने अपने कुलाचारपर दृष्टि रखकर क्रमशः बहू उषाको बुलाया और स्वधर्मका पालन किया ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतत् ते सर्वमाख्यातं मया कुरुकुलोद्वह।
यथा बाणो जितः संख्ये जीवन्मुक्तश्च विष्णुना ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुकुलधुरन्धर जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णने युद्धमें जिस प्रकार बाणासुरको जीता और जीवित छोड़ दिया, यह सब प्रसंग मैंने तुमसे कह सुनाया ॥ २१ ॥

द्वारकायां ततः कृष्णो रेमे यदुगणैर्वृतः।
अन्वशासन्महीं कृत्स्नां परया संयुतो मुदा ॥ २२ ॥

तदनन्तर यादवोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकामें सुखपूर्वक रहने लगे। वे परमानन्दसे सम्पन्न होकर समस्त भूमण्डलका अनुशासन करते थे ॥ २२ ॥

एवमेषोऽवतीर्णो वै पृथिवीं पृथिवीपते।
विष्णुर्यदुकुलश्रेष्ठो वासुदेवेति विश्रुतः ॥ २३ ॥

पृथ्वीनाथ! इस प्रकार ये भगवान् विष्णु पृथ्वीपर अवतीर्ण होकर यदुकुलशिरोमणि वासुदेवके नामसे विख्यात हुए थे ॥ २३ ॥

एतैश्च कारणैः श्रीमान् वसुदेवकुले प्रभुः।
जातो वृष्णिषु देवक्यां यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २४ ॥

इन्हीं सब कारणोंसे श्रीमान् भगवान् विष्णु वृष्णिवंशके अन्तर्गत वसुदेवकुलमें देवकीदेवीके गर्भसे प्रकट हुए। जिसके विषयमें तुमने मुझसे प्रश्न किया था ॥ २४ ॥

निवृत्ते नारदप्रश्ने यन्मयोक्तं समासतः।
श्रुतास्ते विस्तराः सर्वे ये पूर्वं जनमेजय ॥ २५ ॥

जनमेजय! नारदजीके प्रश्नका उत्तर मिल जानेसे जब वह प्रश्न निवृत्त हो गया, उस समय मैंने उसके विषयमें संक्षेपसे जो कुछ कहा था, वे सारी बातें तुम पहले विस्तारपूर्वक सुन चुके हो* ॥ २५ ॥

विष्णोस्तु माथुरे कल्पे यत्र ते संशयो महान्।
वासुदेवगतिश्चैव सा मया समुदाहृता ॥ २६ ॥

भगवान् विष्णुके मथुरामें होनेवाले अवतारके विषयमें तुम्हें महान् संदेह था, उसके समाधानके लिये मैंने वासुदेवके स्वरूपका एवं वासुदेव ही सबकी परम गति (आश्रय) हैं, इस सिद्धान्तका भलीभाँति प्रतिपादन कर दिया ॥ २६ ॥

आश्चर्यं चैव नान्यद् वै कृष्णश्चाश्चर्यसंनिधिः।
सर्वेष्वाश्चर्यकल्पेषु नास्त्याश्चर्यमवैष्णवम् ॥ २७ ॥

श्रीकृष्णके सिवा दूसरी कोई आश्चर्यकी वस्तु नहीं है। श्रीकृष्ण ही आश्चर्यके अधिष्ठान या समुद्र हैं। समस्त आश्चर्य-

* विष्णुपर्वके एक सौ दसवें अध्यायमें धन्योपाख्यान आया है, उसमें सबसे बढ़कर धन्य कौन है ? यह नारदजीकी जिज्ञासा निवृत्त हुई है, उसीकी ओर यहाँ संकेत किया गया है।

मय वस्तुओंमें ऐसा कोई आश्चर्य नहीं है, जो भगवान् विष्णुके अंशसे शून्य हो ॥ २७ ॥

एष धन्यो हि धन्यानां धन्यकृद् धन्यभावनः ।
देवेषु तु सदैत्येषु नास्ति धन्यतरोऽच्युतात् ॥ २८ ॥

ये श्रीकृष्ण धन्य हैं, ये ही धन्योंको धन्य बनानेवाले और धन्यभावन हैं, देवताओं तथा दैत्योंमें इन भगवान् अच्युतसे बढ़कर धन्य दूसरा कोई नहीं है ॥ २८ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ मरुतस्तथा ।
गगनं भूर्दिशश्चैव सलिलं ज्योतिरेव च ॥ २९ ॥

ये ही आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, आकाश, भूमि, दिशा, जल और तेज हैं ॥ २९ ॥

एष धाता विधाता च संहर्ता चैव नित्यशः ।
सत्यं धर्मस्तपश्चैव ब्रह्मा चैव पितामहः ॥ ३० ॥

ये ही धाता, विधाता और नित्यसंहर्ता हैं, सत्य, धर्म, तपस्या तथा पितामह ब्रह्मा भी ये ही हैं ॥ ३० ॥

अनन्तश्चैव नागानां रुद्राणां शंकरः स्मृतः ।
जङ्गमाजङ्गमं चैव जगन्नारायणोद्भवम् ॥ ३१ ॥

ये नागोंमें अनन्त और रुद्रोंमें शङ्कर माने गये हैं । यह समस्त चराचर जगत् इन नारायणदेवसे ही प्रकट हुआ है ॥ ३१ ॥

एतस्माच्च जगत् सर्वं प्रसूयेत जनार्दनात् ।
जगच्च सर्वं देवेशे तं नमस्कुरु भारत ॥ ३२ ॥

इन जनार्दनसे ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति होती है । भारत ! देवेश्वर श्रीकृष्णमें ही सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है । तुम उन्हें नमस्कार करो ॥ ३२ ॥

पूज्यश्च सततं सर्वैर्देवैरेष सनातनः ।
इत्युक्तं बाणयुद्धं ते माहात्म्यं केशवस्य तु ॥ ३३ ॥

ये सनातन पुरुष श्रीकृष्ण ही सदा सम्पूर्ण देवताओंके लिये पूजनीय हैं। इस प्रकार मैंने तुमसे बाणासुरके युद्ध और केशवके माहात्म्यका वर्णन किया ॥ ३३ ॥

वंशप्रतिष्ठामतुलां श्रवणादेव लप्स्यसे ।
ये चेदं धारयिष्यन्ति बाणयुद्धमनुत्तमम् ॥ ३४ ॥
केशवस्य च माहात्म्यं नाधर्मस्तान् भजिष्यति ।

तुम इसके श्रवणमात्रसे अनुपम वंशप्रतिष्ठा प्राप्त करोगे । जो लोग बाणासुरके इस परम उत्तम युद्धप्रसंग और केशवके माहात्म्यको अपने मनमें धारण करेंगे, उनके पास अधर्मका प्रवेश नहीं होगा ॥ ३४½ ॥

एषा तु वैष्णवी चर्या मया कार्त्स्न्येन कीर्तिता ॥ ३५ ॥
पृच्छतस्तात यज्ञेऽस्मिन् निवृत्ते जनमेजय ।

तात जनमेजय ! इस यज्ञकी समाप्तिपर तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने भगवान् विष्णुकी इस सम्पूर्ण लीलाका वर्णन किया है ॥ ३५½ ॥

आश्चर्यपर्व निखिलं यो हीदं धारयेन्नृप ॥ ३६ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ।

नरेश्वर ! जो इस सम्पूर्ण आश्चर्यमय पर्वको धारण करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त होकर भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है ॥ ३६½ ॥

कल्य उत्थाय यो नित्यं कीर्तयेत् सुसमाहितः ॥ ३७ ॥
न तस्य दुर्लभं किंचिदिह लोके परत्र च ।

जो प्रतिदिन सबेरे उठकर एकाग्रचित्त हो इसका कीर्तन करता है, उसके लिये इहलोक और परलोकमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ ३७½ ॥

ब्राह्मणः सर्ववेदी स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत् ॥ ३८ ॥
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः कामानवाप्नुयात् ।
नाशुभं प्राप्नुयात् किंचिद् दीर्घमायुर्लभेत सः ॥ ३९ ॥

इस प्रसंगका अपने अधिकारके अनुसार पाठ या श्रवण करनेसे ब्राह्मण सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञाता होता है, क्षत्रियको युद्धमें विजय प्राप्त होती है, वैश्य धनसे सम्पन्न होता है और शूद्र अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ प्राप्त कर लेता है। उसे किसी भी अशुभ या अमङ्गलकी प्राप्ति नहीं होती तथा वह दीर्घायु होता है ॥ ३८-३९ ॥

सौतिरुवाच

इति पारीक्षितो राजा वैशम्पायनभाषितम् ।
श्रुतवानचलो भूत्वा हरिवंशं द्विजोत्तमाः ॥ ४० ॥

विप्रवरो ! इस प्रकार परीक्षित्के पुत्र राजा जनमेजयने स्थिरचित्त होकर वैशम्पायनके द्वारा कहे गये हरिवंशका श्रवण किया ॥ ४० ॥

एवं शौनक संक्षेपाद् विस्तरेण तथैव च ।
प्रोक्ता वै सर्ववंशास्ते किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ४१ ॥

शौनक ! इस प्रकार मैंने संक्षेप और विस्तारके साथ सभी वंशोंका वर्णन किया है, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे विष्णुपर्वणि उपाहरणसमाप्तौ अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत विष्णुपर्वमें उपाहरणके प्रसंगकी समाप्तिविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२८ ॥

विष्णुपर्व सम्पूर्ण ॥ २ ॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

तस्य खिलभागो हरिवंशः

(तत्र भविष्यपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

जनमेजयकी संतति एवं पौरव तथा पाण्डववंशकी प्रतिष्ठाका वर्णन

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

बदरिकाश्रमनिवासी प्रसिद्ध ऋषि श्रीनारायण (अथवा अन्तर्यामी नारायण), नर (नारायणसखा अर्जुन अथवा आदिजीव हिरण्यगर्भ) तथा नरोत्तम (इन हिरण्यगर्भ एवं अन्तर्यामीसे भी श्रेष्ठ शुद्ध सच्चिदानन्दघन पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण) को और (इन नरनारायण तथा नरोत्तमके तत्त्वको प्रकट करनेवाली) देवी सरस्वतीको एवं (देवी सरस्वतीने संसारपर अनुग्रह करनेके लिये जिनके शरीरमें प्रवेश किया है, उन) व्यासजीको प्रणाम करके अविद्यारूपी अज्ञानान्धकारको जीतनेवाले इतिहास-पुराण आदि ग्रन्थोंका पाठ आरम्भ करे॥

शौनक उवाच

जनमेजयस्य के पुत्राः पठ्यन्ते लौमहर्षणे।
कस्मिन् प्रतिष्ठितो वंशः पाण्डवानां महात्मनाम्॥ १ ॥

शौनकजीने पूछा—लोमहर्षणकुमार ! जनमेजयके पुत्र कौन और कितने कहे जाते हैं ? महात्मा पाण्डवोंका वंश किसपर प्रतिष्ठित हुआ ? ॥ १॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।
त्वत्तः कथयतः सर्वं वेदम्यहं तत् परिस्फुटम्॥ २ ॥

मैं इसे सुनना चाहता हूँ, इसके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है। आपके बतानेसे मैं इन सब बातोंको स्पष्टरूपसे जान लूँगा॥ २ ॥

सौतिरुवाच

पारीक्षितस्य काश्यायां द्वौ पुत्रौ सम्बभूवतुः।
चन्द्रापीडश्च नृपतिः सूर्यापीडश्च मोक्षवित्॥ ३ ॥

सौतिने कहा—शौनकजी ! परीक्षित्कुमार जनमेजयकी पत्नी काशिराजकन्या वपुष्टमाके गर्भसे दो पुत्र हुए। उनमेंसे एक थे चन्द्रापीड, जो राजा हुए और दूसरेका नाम था सूर्यापीड, जो मोक्षधर्मके ज्ञाता थे॥ ३ ॥

चन्द्रापीडस्य पुत्राणां शतमुत्तमधन्विनाम्।
जनमेजय इत्येवं क्षात्रं भुवि परिश्रुतम्॥ ४ ॥

चन्द्रापीडके सौ पुत्र हुए, जो उत्तम धनुर्धर थे। क्षत्रियोंका वह समुदाय जनमेजय (अथवा जानमेजय) के नामसे भूमण्डलमें विख्यात हुआ॥ ४ ॥

तेषां श्रेष्ठस्तु राजासीत् पुरे वारणसाह्वये।
सत्यकर्णो महाबाहुर्यज्वा विपुलदक्षिणः॥ ५ ॥

उनमें सबसे बड़ा महाबाहु सत्यकर्ण था, जो हस्तिनापुरमें राजा हुआ। वह यज्ञ करनेवाला और उन यज्ञोंमें प्रचुर दक्षिणा देनेवाला था॥ ५ ॥

सत्यकर्णस्य दायादः श्वेतकर्णः प्रतापवान्।
अपुत्रः स तु धर्मात्मा प्रविवेश तपोवनम्॥ ६ ॥

सत्यकर्णका पुत्र प्रतापी श्वेतकर्ण था, वह धर्मात्मा राजा श्वेतकर्ण पुत्रहीन होनेके कारण तपोवनमें चला गया॥ ६ ॥

तस्माद् वनगताद् गर्भं यादवी प्रत्यपद्यत।
सुचारोर्दुहिता सुभ्रूर्मानिनी भ्रातृमालिनी॥ ७ ॥

वनमें जानेपर उनसे उनकी पत्नी मानिनीने, जो यदुकुलकी कन्या, सुचारुकी पुत्री, सुन्दर भौंहोंवाली तथा अनेक भ्राताओंकी बहिन थी, गर्भ धारण किया॥ ७ ॥

स तु जन्मनि गर्भस्य श्वेतकर्णः प्रजेश्वरः।
अन्वगच्छद् गतं पूर्वैर्महाप्रस्थानमच्युतम्॥ ८ ॥

उस गर्भके जन्मकालमें राजा श्वेतकर्णने उस अच्युत महाप्रस्थानकी यात्रा की, जहाँ उनके पूर्वज पाण्डव जा चुके थे॥ ८ ॥

सा दृष्ट्वा सम्प्रयातं तं मानिनी पृष्ठतोऽन्वयात्।
पथि सा सुषुवे सुभ्रूर्वने राजीवलोचनम्॥ ९ ॥

उन्हें जाते देख मानिनी भी गर्भिणी अवस्थामें ही उनके पीछे-पीछे चल दी। उस सुन्दर भौंहोंवाली रानीने मार्गमें ही एक वनके भीतर बालकको जन्म दिया, जिसके नेत्र कमलके समान सुन्दर थे ॥ ९ ॥

कुमारं तं परित्यज्य भर्तारं चान्वगच्छत।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदीव पुरा पतीन् ॥ १० ॥

जैसे पूर्वकालमें पतिव्रता महाभागा द्रौपदीने सब कुछ छोड़कर महाप्रस्थानके पथपर पाँचों पतियोंका अनुसरण किया था, उसी प्रकार मानिनी उस नवजात शिशुको छोड़कर पतिके पीछे चली गयी ॥ १०॥

स तु राजकुमारोऽसौ गिरिकुञ्जे रुरोद ह।
छायार्थं तस्य मेघास्तु प्रादुरासन् समन्ततः ॥ ११ ॥

वह राजकुमार पर्वतके कुञ्जमें पड़ा-पड़ा रोने लगा। उस समय उसपर छाया करनेके लिये चारों ओर मेघ प्रकट हो गये ॥ ११॥

श्रविष्ठायाश्च पुत्रौ द्वौ पिप्पलादश्च कौशिकः।
दृष्ट्वा कृपान्वितौ गृह्य तं प्रक्षालयतां जलैः।
निघृष्टौ तस्य तौ पार्श्वौ शिलायां रुधिरप्लुतौ ॥ १२ ॥

भविष्ठाके दो पुत्र पिप्पलाद और कौशिकने उसे देखकर दयासे द्रवित हो उठा लिया और जलसे नहलाया। उस समय उस बालकके दोनों पार्श्वभाग पत्थरपर घिस जानेसे लहूलुहान हो रहे थे ॥ १२ ॥

अजश्यामौ तु पार्श्वौ तावुभावपि समाहितौ।
तथैव तु समारूढौ अजपार्श्वस्ततोऽभवत् ॥ १३ ॥

उस बालकके वे दोनों पार्श्व बकरेके समान काले हो गये थे और उसी रूपमें वे हृष्टपुष्ट हो गये, इसलिये वह बालक अजपार्श्व नामसे विख्यात हुआ ॥ १३ ॥

ततोऽजपार्श्व इति तौ चक्राते तस्य नाम ह।
स तु वेमकशालायां द्विजाभ्यामभिवर्धितः ॥ १४ ॥

इसीलिये पिप्पलाद और कौशिकने उसका नाम अजपार्श्व रखा और वेमकमुनिके घरमें उन दोनों ब्राह्मणोंने उसका पालन-पोषण किया ॥ १४ ॥

वेमकस्य तु भार्या तमुद्वहत् पुत्रकारणात्।
वेमक्याः स तु पुत्रोऽभूद् ब्राह्मणौ सचिवौ च तौ॥१५॥

वेमककी पत्नी वेमकीने पुत्रके लिये उस बालकका विवाह कर दिया। वह बालक तथा उसके सहायक वे दोनों ब्राह्मण वेमकीके पुत्ररूपमें प्रसिद्ध हुए ॥ १५ ॥

तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च युगपत्तुल्यजीविनः।
स एष पौरवो वंशः पाण्डवानां प्रतिष्ठितः ॥ १६ ॥

उन तीनोंके पुत्र और पौत्र एक ही कालमें हुए और समान कालतक जीवित रहे, इस प्रकार यह पौरव तथा पाण्डववंश भूतलमें प्रतिष्ठित हुआ ॥ १६ ॥

श्लोकोऽपि चात्र गीतोऽयं नाहुषेण ययातिना।
जरासंक्रमणे पूर्वं भृशं प्रीतेन धीमता ॥ १७ ॥

पूर्वकालमें पुरुके शरीरमें अपनी वृद्धावस्थाका संचार करते समय अत्यन्त प्रसन्न हुए बुद्धिमान् नहुषकुमार ययातिने इस पौरववंशके विषयमें यह श्लोक भी गाया था—॥१७ ॥

अचन्द्रार्कग्रहा भूमिर्भवेदपि न संशयः।
अपौरवा न तु मही भविष्यति कदाचन ॥ १८ ॥

'यह सम्भव है कि कभी भूमि चन्द्रमा, सूर्य और ग्रहोंके प्रकाश एवं प्रभावसे रहित हो जाय, परंतु वह पौरववंशसे शून्य कभी नहीं होगी; इसमें संशय नहीं है' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पाण्डववंशप्रतिष्ठाकीर्तने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पाण्डववंशकी प्रतिष्ठाके कथनविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥



द्वितीयोऽध्यायः

राजा जनमेजयका अश्वमेध यज्ञ करनेका विचार, व्यासजीका आगमन और राजाद्वारा उनका सत्कार, आपने पाण्डवोंको राजसूय यज्ञ करनेसे क्यों नहीं रोका—यह जनमेजयका प्रश्न और उसके उत्तरमें व्यासजीद्वारा कालकी प्रबलताका प्रतिपादन

शौनक उवाच

उक्तोऽयं हरिवंशस्ते पर्वाणि निखिलानि च।
यथा पुरोक्तानि तथा व्यासशिष्येण धीमता ॥ १ ॥

शौनकने पूछा—सूतनन्दन! पूर्वकालमें व्यासजीके बुद्धिमान् शिष्य वैशम्पायनजीने जैसा वर्णन किया था, उसके अनुसार आपने यह हरिवंश और इसके सारे पर्व कह सुनाये ॥ १ ॥

तत् कथ्यमानममितमितिहाससमन्वितम्।
प्रीणात्यस्मानमृतवत् सर्वपापविनाशनम् ॥ २ ॥

आपके मुखसे कहा जाता हुआ यह अनुपम ग्रन्थ, जो इतिहाससे युक्त और समस्त पापोंका नाश करनेवाला है, हम लोगोंको अमृतके समान तृप्ति प्रदान करता है ॥ २ ॥

सुश्रव्यतया धीर मनो ह्लादयतीव नः।
जनमेजयस्तु नृपतिः श्रुत्वा चाख्यानमुत्तमम्।

सौते किमकरोत् पश्चात् सर्पसत्रादनन्तरम् ॥ ३ ॥

धीर सूतकुमार ! सुखपूर्वक सुनने-सुनानेके योग्य होनेके कारण यह कथा हमारे मनको परम आह्लाद प्रदान करती है। इस उत्तम आख्यानको सुनकर राजा जनमेजयने सर्पसत्रके पश्चात् कौन-सा कार्य किया ? ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

जनमेजयस्तु स नृपः श्रुत्वा चाख्यानमुत्तमम्।
यदारभत् तदाख्यास्ये सर्पसत्रादनन्तरम् ॥ ४ ॥

सूतपुत्र उग्रश्रवाने कहा—शौनकजी ! यह उत्तम कथा सुनकर राजा जनमेजयने सर्पसत्रके पश्चात् जो कार्य आरम्भ किया, उसका वर्णन करता हूँ ॥ ४ ॥

तस्मिन् सत्रे समाप्तेऽथ राजा पारीक्षितस्तदा।
यष्टुं स वाजिमेधेन सम्भारानुपचक्रमे ॥ ५ ॥

सर्पसत्र समाप्त होनेपर राजा जनमेजयने अश्वमेध यज्ञ करनेके लिये आवश्यक सामग्री जुटानी आरम्भ की ॥ ५ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यानाहूयेदमुवाच ह।
यक्ष्येऽहं वाजिमेधेन हय उत्सृज्यतामिति ॥ ६ ॥

फिर उन्होंने ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्यको बुलाकर इस प्रकार कहा—'मैं अश्वमेध यज्ञ करूँगा, आपलोग अश्व छोड़िये' ॥ ६ ॥

ततोऽस्य विज्ञाय चिकीर्षितं तदा
कृष्णो महात्मा सहसाऽऽजगाम।
पारीक्षितं द्रष्टुमदीनसत्त्वं
द्वैपायनः सर्वपरावरज्ञः ॥ ७ ॥

जनमेजय क्या करना चाहते हैं, इस बातको जानकर उस समय सबके भूत और भविष्यको जाननेवाले महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, उदारचेता परीक्षित्‌कुमार जनमेजयसे मिलनेके लिये सहसा वहाँ आये ॥ ७ ॥

पारीक्षितस्तु नृपतिर्दृष्ट्वा तमृषिमागतम्।
अर्घ्यपाद्यासनं दत्त्वा पूजयामास शास्त्रतः ॥ ८ ॥

उन महर्षिको आया देख राजा जनमेजयने अर्घ्य, पाद्य और आसन देकर शास्त्रविधिके अनुसार उनका पूजन किया॥

तौ चोपविष्टावभितः सदस्यास्तस्य शौनक।
कथा बहुविधाश्चित्राश्चक्राते वेदसंहिताः ॥ ९ ॥

शौनक ! फिर वे दोनों यथायोग्य आसनोंपर बैठे। उनके आस-पास राजाके दूसरे सदस्य भी बैठ गये। तत्पश्चात् उन दोनोंने नाना प्रकारकी विचित्र कथाएँ एक दूसरेके प्रति कहीं, जो वेदोंमें वर्णित हैं ॥ ९ ॥

ततः कथान्ते नृपतिर्नोदयामास तं मुनिम्।
पितामहं पाण्डवानामात्मनः प्रपितामहम् ॥ १० ॥

कथा वार्ताके अन्तमें राजा जनमेजयने पाण्डवोंके पितामह और अपने प्रपितामह मुनिवर व्याससे कहा—॥ १० ॥

महाभारतमाख्यानं बह्वर्थं श्रुतिविस्तरम्।
निमेषमात्रमपि मे सुखश्राव्यतया गतम् ॥ ११ ॥

'महर्षे ! महाभारत नामक इतिहास अनेक अर्थोंसे भरा हुआ है; इसमें श्रुतियोंके अर्थका विस्तार है, फिर भी यह सुनने-सुनानेमें इतना सुखद है कि मेरा कई दिनोंका समय एक निमेषके समान बीत गया है॥ ११ ॥

विभूतिविस्तारकरं सर्वेषां वै यशस्करम्।
त्वया सुविहितं ब्रह्मञ्शङ्खे क्षीरमिवाहितम् ॥ १२ ॥

'ब्रह्मन् ! यह इतिहास सबके लिये ऐश्वर्यका विस्तार करनेवाला और यशस्कर है, आपने इसकी इतनी सुन्दर रचना की है, मानो क्षीरसमुद्रको शङ्खमें भर दिया हो ॥१२॥

अमृतेन तु तृप्तिः स्याद् यथा स्वर्गसुखेन च।
तथा तृप्तिं न गच्छामि श्रुत्वेमां भारतीं कथाम् ॥ १३ ॥

'जैसे अमृत पीनेसे तृप्ति नहीं होती तथा जैसे स्वर्गीय सुखसे जी नहीं भरता है, उसी प्रकार इस भारती कथाको सुनकर मुझे तृप्ति नहीं हो रही है (अधिकाधिक सुननेकी इच्छा बढ़ रही है) ॥ १३ ॥

अनुमान्य तु सर्वज्ञं पृच्छामि भगवन्नहम्।
हेतुः कुरूणां नाशस्य राजसूयो मतो मम ॥ १४ ॥

'भगवन् ! आप सर्वज्ञ हैं, मैं आपकी अनुमति लेकर कुछ पूछ रहा हूँ, मुझे ऐसा मालूम होता है कि-राजसूय यज्ञ ही कौरवोंके विनाशका कारण हुआ है ॥ १४ ॥

दुःसहानां यथा ध्वंसो राजन्यानामुपप्लवे।
राजसूयं तथा मन्ये युद्धार्थमुपकल्पितम् ॥ १५ ॥

'महाभारतयुद्धमे जिस प्रकार दुःसह (अजेय) राजाओंका विनाश हुआ है, उसे देखते हुए मैं यही मानता हूँ, राजसूयकी कल्पना युद्धके लिये ही हुई है ॥ १५ ॥

राजसूयस्तु सोमेन श्रूयते पूर्वमाहृतः।
तस्यान्ते सुमहद् युद्धमभवत् तारकामयम् ॥ १६ ॥

'सुना जाता है कि पूर्वकालमे सोमने राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया था, उनके उस यज्ञके अन्तमें तारकामय नामक महान् युद्ध हुआ था ॥ १६ ॥

आहृतो वरुणेनाथ तस्यान्ते सुमहाक्रतोः।
देवासुरं महायुद्धं सर्वभूतक्षयावहम् ॥ १७ ॥

'तदनन्तर वरुणने वह यज्ञ किया, उनके उस महायज्ञके अन्तमें देवताओं और असुरोंके बीच बड़ा भारी संग्राम हुआ, जो सम्पूर्ण भूतोंका विनाश करनेवाला था ॥ १७ ॥

हरिश्चन्द्रश्च राजर्षिः क्रतुमेनमुपाहरत्।
तत्राप्याडीबकं नाम युद्धं क्षत्रियनाशनम् ॥ १८ ॥

'इसके बाद राजर्षि हरिश्चन्द्रने इस यज्ञका अनुष्ठान किया, उनके यज्ञके अन्तमें आडीबक-नामक महान् युद्ध हुआ, जो क्षत्रियोंका विनाश करनेवाला था ॥

ततोऽनन्तरमार्येण पाण्डवेनातिदुस्तरः ।
महाभारत आरम्भः सम्भृतोऽग्निरिव क्रतुः ॥ १९ ॥

'उसके बाद श्रेष्ठ पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने उस अत्यन्त दुस्तर और अग्निके समान भयंकर यज्ञका आयोजन किया, जिसका आरम्भ महाभारत-युद्धको उपस्थित करनेमें कारण हुआ ॥ १९ ॥

तदस्य मूलं युद्धस्य लोकक्षयकरस्य तु ।
राजसूयो महायज्ञः किमर्थं न निवारितः ॥ २० ॥

'अतः इस लोकविनाशकारी युद्धका जो मूल कारण था, उस राजसूय नामक महायज्ञका अनुष्ठान आपने क्यों नहीं रोक दिया था ? ॥ २० ॥

राजसूयो ह्यसंहार्यो यज्ञाङ्गैश्च दुरत्ययैः ।
मिथ्या प्रणीते यज्ञाङ्गे प्रजनां संक्षयो ध्रुवः ॥ २१ ॥

'राजसूय यज्ञको सर्वाङ्गपूर्णरूपसे सम्पन्न करना असम्भव है, क्योंकि उस यज्ञके अङ्गभूत साधन दुर्लभ हैं। यदि यज्ञाङ्ग-का सम्यक् रूपसे सम्पादन न होनेके कारण उसमें वैगुण्य आ गया तो प्रजाजनोंका नाश अवश्यंभावी है ॥२१॥

भवानपि च सर्वेषां पूर्वेषां नः पितामहः ।
अतीतानागतज्ञश्च नाथश्चादिकरश्च नः ॥ २२ ॥

'आप भी हमारे समस्त पूर्वजोंके पितामह हैं, आपको भूत और भविष्यकालका ज्ञान है, आप हमारे कुलके रक्षक और हमारे पूर्वजोंके जन्मदाता हैं ॥ २२॥

ते कथं भवता नेत्रा बुद्धिमन्तश्च्युता नयात् ।
अनाथा ह्यपराध्यन्ते कुनेतारश्च मानवाः ॥ २३ ॥

'आप-जैसे नेताके रहते हुए बुद्धिमान् पाण्डव नीतिमार्गसे भ्रष्ट कैसे हो गये ? क्योंकि जो मनुष्य अनाथ हैं और जिनके नेता अच्छे नहीं हैं, वे ही अपराध कर बैठते हैं (पाण्डवोंको तो आप-जैसा श्रेष्ठ नेता मिला था और वे आपको पाकर सनाथ थे, तो भी उनसे यह भूल क्यों हुई ?)' ॥ २३ ॥

व्यास उवाच

कालेन विपरीतास्ते तव पूर्वपितामहाः ।
न मां भविष्यं पृच्छन्ति न चापृष्टो ब्रवीम्यहम् ॥ २४ ॥

व्यासजी बोले—जनमेजय ! तुम्हारे पूर्वपितामह पाण्डव कालकी प्रेरणासे विपरीत अवस्थाको प्राप्त हो गये थे, वे मुझसे भविष्य नहीं पूछते थे और मैं बिना पूछे किसीको कोई बात बताता नहीं हूँ ॥ २४ ॥

सामर्थ्यं च न पश्यामि भविष्यस्य निवर्तने ।
परिहर्तुं न शक्या हि कालेन विहिता गतिः ॥ २५ ॥

भविष्यको पलट देनेकी शक्ति मैं किसीमें नहीं देखता हूँ; क्योंकि कालने जिस गतिका विधान किया है, उसका परिहार असम्भव है ॥ २५ ॥

त्वया त्विदमहं पृष्टो वक्ष्याम्यागन्तु भावि यत् ।
अतश्च बलवान् कालः श्रुत्वापि न करिष्यसि॥ २६ ॥

तुमने इस विषयको मुझसे पूछा है, इसलिये मैं तुम्हारे लिये आनेवाले भविष्यका वर्णन करूँगा, परंतु काल इससे भी बलवान् है, तुम मेरे मुखसे भविष्यके कर्तव्यको सुनकर भी उसका पालन नहीं करोगे ॥ २६ ॥

न संरम्भान्न चारम्भान्न वै स्थास्यसि पौरुषे ।
लेखा हि काललिखिताः सर्वथा दुरतिक्रमाः ॥ २७ ॥

संरम्भ (उत्तेजना) और आरम्भ (उद्योग) के कारण तुम पौरुषमें स्थिर नहीं रह सकोगे; क्योंकि कालके लिखे हुए लेखको लाँघ जाना सर्वथा कठिन है ॥ २७ ॥

अश्वमेधः क्रतुः श्रेष्ठः क्षत्रियाणां परिश्रुतः ।
तेन भावेन ते यज्ञं वासवो धर्षयिष्यति ॥ २८ ॥

क्षत्रियोंके लिये अश्वमेध यज्ञ सबसे श्रेष्ठ सुना गया है, उसके इस महत्त्वके कारण इन्द्र द्वेषवश तुम्हारे उस यज्ञको भ्रष्ट कर देंगे ॥ २८ ॥

यदि तच्छक्यते राजन् परिहर्तुं कथंचन ।
दैवं पुरुषकारेण मा यजेथाश्च तं क्रतुम् ॥ २९ ॥

राजन् ! यदि तुम पुरुषार्थसे किसी प्रकार दैवके विधानका निवारण कर सको तो तुम कदापि इस यज्ञका अनुष्ठान न करना ॥ २९ ॥

न चापराधः शक्रस्य नोपाध्यायगणस्य ते ।
तव वा यजमानस्य कालोऽत्र दुरतिक्रमः ॥ ३० ॥

इसमें न इन्द्रका अपराध है, न तुम्हारे उपाध्यायगणका और न तुम-जैसे यजमानका ही; यहाँ काल ही दुर्लङ्घ्य है ॥ ३० ॥

तस्य संस्थाकृतमिदं कालस्य परमेष्ठिनः ।
यथा दृष्टं प्रजासर्गं गमिष्यति युगक्षये ॥ ३१ ॥

यह जो भावी कलंक है, वह कालस्वरूप ब्रह्माजीकी इच्छासे अश्वमेध यज्ञको भविष्यमें बंद करा देनेके लिये संघटित किया जानेवाला है, फिर तो कलियुगमें सारी प्रजा प्रायः असर्ग अर्थात् विनाशको ही प्राप्त होगी (यज्ञ आदि-के अनुष्ठानसे प्रजामें जो दीर्घजीवित्व आता था, उसका धीरे-धीरे अभाव हो जायगा)। यह बात ज्ञानदृष्टिसे देखी गयी है ॥ ३१ ॥

तथा यज्ञफलानां च विक्रेतारो द्विजातयः ।
तत्प्रणेयं निबोधस्व त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ३२ ॥

इसके सिवा ब्राह्मणलोग यज्ञोंके फल बेचने लगेंगे, अतः तुम यह जान लो कि चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकी कालके ही अधीन है ॥ ३२ ॥

जनमेजय उवाच

निवृत्तावश्वमेधस्य किं निमित्तं भविष्यति।
श्रुत्वा परिहरिष्यामि भगवन् यदि मन्यसे ॥ ३३ ॥

जनमेजयने कहा—भगवन्! अश्वमेध यज्ञकी निवृत्तिमें कौन-सा कारण उपस्थित होगा। यदि आप ठीक समझें तो मैं उसे सुनकर उसका परिहार करूँगा ॥ ३३ ॥

व्यास उवाच

निमित्तं भविता तत्र ब्रह्मकोपकृतं प्रभो।
यतेथाः परिहर्तुं त्वमित्येतद् भद्रमस्तु ते ॥ ३४ ॥

व्यासजीने कहा—प्रभो! ब्राह्मणोंके प्रति तुम्हारे मनमें क्रोध होगा, जिससे उस यज्ञको बंद करनेका निमित्त स्वयं बन जायगा। तुम इसके परिहारके लिये प्रयत्न करना, यही मुझे कहना है, तुम्हारा कल्याण हो ॥ ३४ ॥

त्वया वृत्तं क्रतुं चैव वाजिमेधं परंतप।
क्षत्रिया नाहरिष्यन्ति यावद् भूमिर्धरिष्यति ॥ ३५ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! तुम्हारे द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञको जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक भावी पीढ़ीके क्षत्रिय नहीं करेंगे ॥ ३५ ॥

जनमेजय उवाच

निवृत्तावश्वमेधस्य ब्रह्मशापाग्नितेजसा।
अहं निमित्तमिति मे भयं तीव्रं तु जायते ॥ ३६ ॥

जनमेजय बोले—भगवन्! ब्राह्मणकी शापाग्निके तेजसे अश्वमेधयज्ञकी निवृत्ति होगी और मैं उसमें निमित्त बनूँगा, यह जानकर मुझे बड़ा भारी भय हो रहा है ॥

कथं ह्यकीर्त्या युज्येत सुकृती मद्विधो जनः।
लोकानुन्रुहते गन्तुं खं सपाश इव द्विजः ॥ ३७ ॥

मेरे-जैसा पुण्यात्मा पुरुष कैसे अपयशसे युक्त होगा और जैसे जालमें बँधा हुआ पक्षी आकाशमें नहीं उड़ सकता उसी प्रकार अपयशसे कलङ्कित हुआ मुझ जैसा पुरुष लोगोंके सामने जानेका साहस कैसे कर सकेगा? ॥ ३७ ॥

यथा ह्यनागतमिदं दृष्टमत्र प्रणाशनम्।
यद्यस्ति पुनरावृत्तिर्यज्ञस्याश्वासयस्व माम् ॥ ३८ ॥

जिस तरह आपने यहाँ इस यज्ञके भावी विनाशको देखा है, उसी प्रकार यदि इसकी पुनरावृत्ति भी सम्भव हो तो उसे बताकर मुझे आश्वासन दीजिये ॥ ३८ ॥

व्यास उवाच

उपात्तयज्ञो देवेषु ब्राह्मणेषूपपत्स्यते।
तेजसा ह्याहृतं तेजस्तेजस्येवावतिष्ठते ॥ ३९ ॥

व्यासजीने कहा—राजन्! अश्वमेध यज्ञका उपसंहार हो जानेपर वह देवताओं और ब्राह्मणोंमें ज्ञानरूपसे स्थित रहेगा, क्योंकि तेजसे अभिभूत हुआ तेज तेजमें ही स्थित होता है ॥ ३९ ॥

औद्भिज्जो भविता कश्चित् सेनानीः काश्यपो द्विजः।
अश्वमेधं कलियुगे पुनः प्रत्याहरिष्यति ॥ ४० ॥

भूमिको खोदनेसे कोई सेनानी नामक कश्यपवंशी ब्राह्मण प्रकट होगा, जो कलियुगमें पुनः अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करेगा ॥ ४० ॥

तदन्ते तत्कुलीनश्च राजसूयमपि क्रतुम्।
आहरिष्यति राजेन्द्र श्वेतग्रहमिवान्तकः ॥ ४१ ॥

राजेन्द्र! उस यज्ञके अन्तमें उसी कुलमें उत्पन्न हुआ दूसरा पुरुष राजसूययज्ञका भी अनुष्ठान करेगा; ठीक उसी तरह जैसे प्रलयकाल श्वेतग्रह (उत्पातग्रह) की सृष्टि करता है ॥ ४१ ॥

यथाबलं मनुष्याणां कर्तॄणां दास्यते फलम्।
युगान्तद्वारमृषिभिः संवृतं विचरिष्यति ॥ ४२ ॥

यज्ञ करनेवाले मनुष्योंको श्रद्धादि रूप बलके अनुसार ही वह यज्ञ फल देगा, फिर ऋषियोंद्वारा सुरक्षित युगान्तकालके द्वारपर लोग विचरण करेंगे ॥ ४२ ॥

तदा प्रभृति ह्रास्यन्ति नृणां प्राणाः पुराकृतीः।
न निवर्तिष्यते लोके वृत्तान्तावर्तनेष्विह ॥ ४३ ॥

तभीसे मनुष्योंकी इन्द्रियाँ पुरातन कृत्यों शिष्टाचारोंका परित्याग कर देंगी। जगत्के भीतर लोगोंके वर्तावोंमें पहिले-जैसा वृत्तान्त (आचार-विचार) सर्वथा नहीं रहेगा ॥ ४३ ॥

तदा सूक्ष्मो महोदर्को दुस्तरो दानमूलवान्।
चातुराश्रम्यशिथिलो धर्मः प्रविचलिष्यति ॥ ४४ ॥

उस समय सूक्ष्म धर्म भी महान् फल देनेवाला होगा, परंतु अधिक विघ्नोंके कारण उस धर्मको पूरा करना कठिन होगा। उस धर्मका मूल दान होगा। उन चारों आश्रमोंके शिथिल हो जानेसे धर्म भी अपने स्वरूपसे विचलित हो जायगा ॥ ४४ ॥

तदा ह्यल्पेन तपसा सिद्धिं प्राप्स्यन्ति मानवाः।
धन्या धर्मं चरिष्यन्ति युगान्ते जनमेजय ॥ ४५ ॥

जनमेजय! उस युगान्त अर्थात् कलियुगमें मनुष्य थोड़ी-सी तपस्यासे भी सिद्धि प्राप्त कर लेंगे। उस समय कुछ धन्य पुरुष ही धर्मका आचरण करेंगे ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि जनमेजयप्रश्ने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें जनमेजयका प्रश्नविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

व्यासजीद्वारा कलियुगकी स्थितिका वर्णन

जनमेजय उवाच

आसन्नं विप्रकृष्टं वा यदि कालं न विद्महे।
तस्माद् द्वापरसंविद्धं युगान्तं स्पृहयाम्यहम्॥ १॥

जनमेजयने कहा—महर्षे! हमारे मोक्षका काल निकट है या दूर, यह हमलोग नहीं जानते; अतः जिसने द्वापरको अधर्मकी अधिकतासे दूषित कर दिया है, उस युगान्त अर्थात् कलियुगका वर्णन मैं सुनना चाहता हूँ॥ १॥

प्राप्ता वयं तु तत् कालमनया धर्मतृष्णया।
आदद्यात् परमं धर्मं सुखमल्पेन कर्मणा॥ २॥

कलियुगमें मनुष्य थोड़े-से आयाससे किये जानेवाले सत्कर्मद्वारा सुखपूर्वक महान् धर्मके फलकी प्राप्ति कर सकता है, इस प्रकार इस धर्मविषयक लोभसे हमलोगोंने उस कलिकालमें जन्म ग्रहण किया है॥ २॥

शौनक उवाच

प्रजासमुद्वेगकरं युगान्तं समुपस्थितम्।
प्रणष्टधर्मं धर्मज्ञ निमित्तैर्वक्तुमर्हसि॥ ३॥

शौनकजीने कहा—धर्मज्ञ सूतनन्दन! प्रजाको उद्वेगमें डालनेवाला और धर्मको नष्ट कर देनेवाला कलियुग उपस्थित हो गया है, आप इसके भावी लक्षण बताते हुए इसका वर्णन कीजिये॥ ३॥

सौतिरुवाच

पृष्ट एवं भविष्यस्य गतिं तत्त्वेन चिन्तयन्।
युगान्ते सर्वभूतानां भगवानब्रवीत् तदा॥ ४॥

सौतिने कहा—शौनक! राजा जनमेजयने भी ऐसा ही प्रश्न किया था। उसके उत्तरमें कलियुगमें समस्त प्राणियोंके भविष्यकी गतिका तत्त्वतः विचार करके भगवान् व्यासने उस समय इस प्रकार कहा॥ ४॥

व्यास उवाच

अरक्षितारो हर्तारो बलिभागस्य पार्थिवाः।
युगान्ते प्रभविष्यन्ति स्वरक्षणपरायणाः॥ ५॥

व्यासजी बोले—राजन्! कलियुगमें प्रजाओंकी रक्षा न करते हुए उनसे कर लेनेवाले राजा उत्पन्न होंगे, जो सदा अपने शरीरमात्रकी रक्षामें संलग्न रहेंगे॥ ५॥

अक्षत्रियाश्च राजानो विप्राः शूद्रोपजीविनः।
शूद्राश्च ब्राह्मणाचारा भविष्यन्ति युगक्षये॥ ६॥

कलियुगमें जो क्षत्रिय नहीं हैं, ऐसे लोग भी राजा होंगे। ब्राह्मणलोग शूद्रोंके आश्रित होकर जीविका चलायेंगे और शूद्र ब्राह्मणोंके-से आचारका पालन करनेवाले होंगे॥ ६॥

काण्डे स्पृष्टाः श्रोत्रियाश्च निष्क्रियाणि हवींष्यथ।
एकपङ्क्त्यामशिष्यन्ति युगान्ते जनमेजय॥ ७॥

जनमेजय! कलियुगमें धनुष-बाण धारण करनेवाले (क्षत्रियवृत्तिसे जीनेवाले) ब्राह्मण और श्रोत्रिय ब्राह्मण दोनों एक पंक्तिमें बैठकर पञ्चयज्ञोंसे रहित हविष्य भोजन करेंगे॥ ७॥

शिल्पवन्तोऽनृतपरा नरा मद्यामिषप्रियाः।
मित्रभार्या भविष्यन्ति युगान्ते जनमेजय॥ ८॥

जनमेजय! कलियुगमें मनुष्य शिल्प कर्म करनेवाले, असत्यवादी, मदिरा और मांसके प्रेमी तथा पत्नीको ही मित्र माननेवाले होंगे॥ ८॥

राजवृत्तिस्थिताश्चौरा राजानश्चौरशीलिनः।
भृत्याश्चानिर्दिष्टभुजो भविष्यन्ति युगक्षये॥ ९॥

युगान्तकाल (कलियुग) में चोर राजोचितवृत्तिसे रहेंगे और राजाओंका स्वभाव चोरोंके समान हो जायगा तथा सेवक उन वस्तुओंका भी उपभोग करेंगे, जिन्हें भोगनेके लिये उन्हें स्वामीकी ओरसे आज्ञा नहीं मिली है॥ ९॥

धनानि श्लाघनीयानि सतां वृत्तमपूजितम्।
अकुत्सना च पतिते भविष्यन्ति युगक्षये॥ १०॥

कलियुगमे धन ही सबके लिये स्पृहणीय होंगे, सत्पुरुषोंके आचार-व्यवहारका आदर नहीं होगा और धर्मसे पतित हुए मनुष्यके प्रति निन्दाका भाव रखनेवाले कोई न होंगे॥ १०॥

प्रणष्टचेतना मर्त्या मुक्तकेशा विचूलिनः।
ऊनषोडशवर्षाश्च प्रजास्यन्ति नराः सदा॥ ११॥

मनुष्य धर्म और अधर्मके विवेकसे रहित होंगे, विधवाएँ तथा संन्यासी परस्पर समागम करके बच्चे पैदा करेंगे। सोलह वर्षसे कम अवस्थावाले मनुष्य भी सदा संतानोत्पादन करेंगे॥ ११॥

अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः।
प्रमदाः केशशूलाश्च भविष्यन्ति युगक्षये॥ १२॥

कलियुगमें जनपदके लोग अन्न बेचेंगे, चौराहोंपर द्विज लोग वेदोंका विक्रय करेंगे और युवती स्त्रियाँ मूल्य लेकर व्यभिचार करनेवाली होंगी॥ १२॥

सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति सर्वे वाजसनेयिनः।
शूद्रा भोवादिनश्चैव भविष्यन्ति युगक्षये॥ १३॥

उस समय सब लोग ब्रह्मवादी हो जायँगे (ब्रह्मवादकी आड़ लेकर कर्म-भ्रष्ट हो जायँगे), दूसरी शाखाओंका लोप हो जानेके कारण सभी अपनेको वाजसनेयी शाखाका बतलायँगे और शूद्र अपनेसे बड़ोंके सम्मानमें केवल भो (अजी) कहनेवाले होंगे ॥ १३ ॥

तपोयज्ञफलानां च विक्रेतारो द्विजातयः।
ऋतवश्च भविष्यन्ति विपरीता युगक्षये ॥ १४ ॥

युगान्तकालमें ब्राह्मणलोग तप और यज्ञके फल बेचनेवाले होंगे। उस समय सभी ऋतुएँ विपरीत स्वभावकी हो जायँगी ॥ १४ ॥

शुक्लदन्ताऽञ्जिताक्षाश्च मुण्डाः काषायवाससः।
शूद्रा धर्मं चरिष्यन्ति शाक्यबुद्धोपजीविनः ॥ १५ ॥

शूद्रलोग शाक्यवंशी बुद्धके मतका आश्रय लेकर (अर्थात् वेददूषक नास्तिक बनकर) वेद-विरोधी धर्मका आचरण करेंगे। वे दाँत सफेद किये रहेंगे, आँखोंमें अञ्जन लगायेंगे और मूँड मुड़ाकर गेरुए वस्त्र धारण कर लेंगे ॥ १५ ॥

श्वापदप्रचुरत्वं च गवां चैव परिक्षयः।
स्वादूनां विनिवृत्तिश्च विद्यादन्तगते युगे ॥ १६ ॥

अन्तिम युग अर्थात् कलियुगमें कुत्ते, भेड़िये आदि हिंसक प्राणियोंकी अधिकता होगी; गौओंका ह्रास होता चला जायगा और उत्तम रसोंका अभाव हो जायगा ॥ १६ ॥

अन्त्या मध्ये निवत्स्यन्ति मध्याश्चान्तनिवासिनः।
तथा निम्नं प्रजाः सर्वा गमिष्यन्ति युगक्षये ॥ १७ ॥

कलियुगमें अन्त्यज या म्लेच्छ मध्यदेशमें निवास करेंगे और मध्यदेशके निवासी म्लेच्छ देशमें रहने लगेंगे तथा सारी प्रजा नीच मार्गका अनुसरण करने लगेगी ॥ १७ ॥

तथा द्विहायना दम्यास्तथा पल्वलकर्षकाः।
चित्रवर्षी च पर्जन्यो युगे क्षीणे भविष्यति ॥ १८ ॥

युगकी समाप्तिके समय दो वर्षके बछड़े गाड़ी और हलमें जोते जानेके योग्य समझे जायँगे तथा वे ही गड्ढों और तलैयोंकी भूमि जोतेंगे और मेघ विचित्र वर्षा करनेवाला होगा (अर्थात् ऐसी वर्षा होगी कि हलमें जोते हुए बैलका एक सींग भीगेगा और दूसरा सूखा रह जायगा) ॥ १८ ॥

सर्वे चौरकुले जाताश्चोरयानाः परस्परम्।
स्वल्पेनाढ्या भविष्यन्ति यत् किंचित् प्राप्य दुर्गताः ॥

सभी चोरकुलमें पैदा होंगे और आपसमें एक दूसरेको लूटेंगे। थोड़े धनसे ही धनी हो जायँगे और थोड़ा-सा ही कष्ट पाकर दुर्गतिमें पड़ जायँगे ॥ १९ ॥

न ते धर्मं करिष्यन्ति मानवा निर्गते युगे।
ऊषार्कबहुला भूमिः पन्थानस्तस्करावृताः ॥ २० ॥

युगकी समाप्तिके समय मनुष्य धर्माचरण नहीं करेंगे, भूमि प्रायः ऊसर हो जायगी और राह-बाट बटमारोंसे घिरे रहेंगे ॥ २० ॥

सर्वे वाणिज्यकाश्चैव भविष्यन्ति कलौ युगे।
पितृदत्तानि देयानि विभजन्ते सुतास्तदा।
हरणाय प्रपत्स्यन्ते लोभानृतविरोधिताः ॥ २१ ॥

कलियुगमें सभी व्यापार करनेवाले होंगे, पिताकी दी हुई देय-वस्तुओं (आभूषणादि) को भी (जो शास्त्रके अनुसार बाँटने योग्य नहीं हैं) पुत्र उस समय आपसमें बाँट लेंगे तथा लोभ और असत्यसे प्रेरित हो विरोधी बनकर लोग दूसरोंकी सम्पत्ति हर लेनेका भी प्रयत्न करेंगे ॥ २१ ॥

सौकुमार्ये तथा रूपे रत्ने चोपक्षयं गते।
भविष्यन्ति युगान्ते च नार्यः केशैरलंकृताः ॥ २२ ॥

कलियुगमें सुकुमारता, रूप तथा सुवर्ण आदि रत्नोंके क्षीण हो जानेके कारण नारियाँ भाँति-भाँतिके सँवारे हुए केशोंसे ही अलंकृत होंगी ॥ २२ ॥

निर्विहारस्य भूतस्य गृहस्थस्य भविष्यति।
युगान्ते समनुप्राप्ते नान्या भार्यासमा गतिः ॥ २३ ॥

युगान्तकाल आनेपर हार, चन्दन, दिव्य आस्तरण आदि भोग-सामग्रीसे रहित हुए गृहस्थके लिये भार्याके समान दूसरी कोई गति नहीं होगी ॥ २३ ॥

कुशीलानार्यभूयिष्ठं वृथारूपसमन्वितम्।
पुरुषाल्पं बहुस्त्रीकं तद् युगान्तस्य लक्षणम् ॥ २४ ॥

जब प्रजावर्गमें नीच दुराचारियोंकी संख्या अधिक हो, सब लोग व्यर्थ रूप बनाने लगें, पुरुष थोड़े हों और स्त्रियोंकी संख्या बहुत अधिक हो जाय, तब वही युगान्तकालका लक्षण है ॥ २४ ॥

बहुयाचनको लोको न दास्यति परस्परम्।
अविचार्य ग्रहीष्यन्ति दानं वर्णान्तरात् तथा ॥ २५ ॥

उस समय लोकमें याचकोंकी संख्या बढ़ जायगी, सभी लोग आपसमें किसीको कुछ नहीं देंगे और लोग बिना विचारे ही दूसरे वर्णोंसे दान ग्रहण करेंगे ॥ २५ ॥

राजचौराग्निदण्डार्तो जनः क्षयमुपैष्यति।
सस्यनिष्पत्तिरफला तरुणा वृद्धशीलिनः।
ईहयासुखिनो लोका भविष्यन्ति युगक्षये ॥ २६ ॥

राजा, चोर और अग्निके दण्डसे पीड़ित हुई प्रजा धीरे-धीरे नष्ट हो जायगी, खेती निष्फल होगी और नौजवानोंका स्वभाव बूढ़ोंके समान हो जायगा (अर्थात् वे उत्साह, बल

और पुरुषार्थसे रहित हो जायँगे), कलियुगमें प्रायः सभी लोग तृष्णाके कारण सुखसे वञ्चित रहेंगे ॥ २६ ॥

वर्षासु वाताः परुषा नीचाः शर्करवर्षिणः ।
संदिग्धः परलोकश्च भविष्यति युगक्षये ॥ २७ ॥

युगान्तकाल आनेपर वर्षा ऋतुमें वायु रूखी, नीच (दुःखदायक) तथा रेत एवं कंकड़ बरसानेवाली होगी। परलोकके विषयमें सबको संशय बना रहेगा ॥ २७ ॥

आत्मनश्च दुराचारा ब्रह्मदूषणतत्पराः ।
आत्मानं बहु मन्यन्ते मन्युरेवाभ्ययाद् द्विजान्॥ २८ ॥

उस समयके दुराचारी मनुष्य आत्मा और ब्रह्मकी निन्दा करनेमें तत्पर होंगे, वे अपने आपको ही सबसे बढ़कर मानेंगे और ब्राह्मणोंमें क्रोधका ही आवेश होगा ॥ २८ ॥

वैश्याचाराश्च राजन्या धनधान्योपजीविनः ।
युगापक्रमणे सर्वे भविष्यन्ति द्विजातयः ॥ २९ ॥

क्षत्रिय वैश्योंके आचारका पालन करनेवाले तथा धन-धान्यके व्यवसायसे जीविका चलानेवाले होंगे । कलियुगमें धर्ममर्यादाके भङ्ग होनेसे सब लोग द्विज बन जायँगे ॥२९॥

अप्रवृत्ताः प्रपत्स्यन्ते समयाः शपथास्तथा ।
ऋणं सविनयभ्रंशं युगे क्षीणे भविष्यति ॥ ३० ॥

युगान्तकालमें परस्पर की हुई प्रतिज्ञाओं और शपथोंका पालन नहीं होगा, वे यों ही समाप्त हो जायँगी तथा विनयशील सज्जन पुरुष भी ऋण नहीं चुकाना चाहेंगे, फिर दुर्जनोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३० ॥

भविष्यत्यफलो हर्षः क्रोधश्च सफलो नृणाम् ।
अजाश्चैवोपरोत्स्यन्ते पयसोऽर्थे युगक्षये ॥ ३१ ॥

कलियुगमें मनुष्योंका हर्ष निष्फल और क्रोध सफल होगा। दूधके लिये घरोंमें गौएँ नहीं, बकरियाँ बाँधी जायँगी ॥

अशास्त्रविदुषां पुंसामेवमेव स्वभावतः ।
अप्रमाणं वदिष्यन्ति नीतिं पण्डितमानिनः ॥ ३२ ॥

शास्त्रोंका ज्ञान न रखनेवाले मूढ़ मनुष्योंका यों ही अपनी इच्छाके अनुसार निर्णय होगा (वे अपनी इच्छासे जो कुछ कहेंगे, उसीको शास्त्रसम्मत बतायँगे), अपनेको पण्डित माननेवाले वे मूर्ख मानव अप्रामाणिक बात कहेंगे और उसे नीतिके अनुकूल बतायेंगे ॥ ३२ ॥

शास्त्रोक्तस्याप्रवक्तारो भविष्यन्ति युगक्षये ।
सर्वे सर्वं हि जानन्ति वृद्धाननुपसेव्य वै ॥ ३३ ॥

युगान्तकालमें शास्त्रोक्त बातको बतानेवाले नहीं रहेंगे, बड़े-बूढ़ोंका सेवन किये बिना ही सब लोग सब कुछ जाननेका दावा करेंगे ॥ ३३ ॥

न कश्चिदकविर्नाम युगान्ते समुपस्थिते ।
न क्षत्राणि नियोक्ष्यन्ति विकर्मस्था द्विजातयः ।
चौरप्रायाश्च राजानो युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ३४ ॥

युगान्त उपस्थित होनेपर कोई भी ऐसा न होगा जो अपनेको कवि (सर्वज्ञ) न मानता हो । ब्राह्मणलोग शास्त्र-विपरीत कर्ममें स्थित होनेके कारण क्षत्रियोंको धर्ममें नहीं नियुक्त करेंगे । उस समयके राजा प्रायः चोर होंगे ॥ ३४ ॥

कुण्डावृषा नैकृतिकाः सुरापा ब्रह्मवादिनः ।
अश्वमेधेन यक्ष्यन्ति युगान्ते जनमेजय ॥ ३५ ॥

जनमेजय ! युगान्तकालमें कुण्डा (पतिके जीते-जी जार पुरुषके संयोगसे उत्पन्न की गयी कन्या) में गर्भाधान करनेवाले, कपटी और शराबी मनुष्य ब्रह्मवादी बनकर अश्वमेध यज्ञ करेंगे ॥ ३५ ॥

अयाज्यान् याजयिष्यन्ति तथाभक्ष्यस्य भक्षिणः ।
ब्राह्मणा धनतृष्णार्ता युगान्ते समुपस्थिते ॥ ३६ ॥

युगान्तकाल उपस्थित होनेपर धनकी तृष्णासे पीड़ित हुए ब्राह्मण यज्ञके अनधिकारियोंसे भी यज्ञ करायँगे और अभक्ष्य वस्तु (मांस आदि) का भक्षण करेंगे ॥ ३६ ॥

भोशब्दमभिधास्यन्ति न च कश्चित् पठिष्यति ।
एकशङ्खास्तदा नार्यो गवेधुकपिनद्धकाः ॥ ३७ ॥

सब लोग सबके लिये भो (ऐ ! अरे ! अजी ! इत्यादि) का ही उच्चारण करेंगे, कोई भी पढ़ेगा नहीं, उस समय स्त्रियोंके पास एकमात्र शंखके ही आभूषण होंगे, वे अपनेको गवेधुक नामक तृणविशेषसे अलंकृत करेंगी ॥ ३७ ॥

नक्षत्राणि वियोगीनि विपरीता दिशस्तथा ।
संध्यारागोऽथ दिग्दाहो भविष्यत्यवरे युगे ॥ ३८ ॥

अन्तिम युगमें नक्षत्र शास्त्रोक्त ग्रहसंयोग आदिसे रहित होंगे, दिशाएँ विपरीत प्रतीत होंगी, उनमें संध्याकालके समान लाली छायी रहेगी और वहाँ निरन्तर दाह (जलन या तपन) बना रहेगा ॥ ३८ ॥

पितॄन् पुत्रा नियोक्ष्यन्ति वध्वः श्वश्रूश्च कर्मसु ।
वियोनिषु चरिष्यन्ति प्रमदासु नरास्तथा ॥ ३९ ॥

पुत्र पिताओंको और बहुएँ सासोंको आज्ञा देकर काममें लगायँगी । मनुष्य पशुयोनि या दूसरे वर्णकी स्त्रियोंके साथ भी समागम करेंगे ॥ ३९ ॥

वाक्शरैस्तर्जयिष्यन्ति गुरूञ्छिष्यास्तथैव च ।
मुखेषु च प्रयोक्ष्यन्ति प्रमत्ताश्च नरास्तदा ॥ ४० ॥

शिष्य गुरुजनोंको वाग्बाणोंसे छेदते हुए उन्हें डाँट बतायँगे तथा कामोन्मत्त पुरुष मुखोंमें भी मैथुन करेंगे ॥

अकृताग्राणि भोक्ष्यन्ति नराश्चैवाग्निहोत्रिणः ।
भिक्षां बलिमदत्त्वा च भोक्ष्यन्ति पुरुषाः स्वयम्॥ ४१ ॥

अग्निहोत्री मनुष्य भी अग्रग्रास निकाले विना ही भोजन करेंगे, यति आदिको भिक्षा और देवता आदिके लिये बलि (भोजनका ग्रास या उपहारसामग्री) दिये विना ही लोग स्वयं भोजन कर लेंगे ॥ ४१ ॥

पतीन् सुप्तान् वञ्चयित्वा गमिष्यन्ति स्त्रियोऽन्यतः।
पुरुषाश्च प्रसुप्तासु भार्यासु च परस्त्रियम् ॥ ४२ ॥

सोये हुए पतियोंको धोखा देकर स्त्रियाँ दूसरोंके पास चली जायँगी, इसी तरह पुरुष भी अपनी स्त्रियोंके सो जानेपर परायी स्त्रियोंके साथ समागम करेंगे ॥ ४२ ॥

नाऽव्याधितो नाप्यरुजो जनः सर्वोऽभ्यसूयकः।
न कृतप्रतिकर्ता च युगे क्षीणे भविष्यति ॥ ४३ ॥

उस समय कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं होगा, जो शारीरिक रोग और मानसिक पीड़ासे ग्रस्त न हो, सब लोग दूसरोंके दोष देखनेवाले होंगे। युगान्तकालमें कोई भी उपकारका बदला देनेवाला नहीं होगा ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कलियुगवर्णने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें कलियुगका वर्णनविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

कलियुगका वर्णन

जनमेजय उवाच

एवं विलुलिते लोके मनुष्याः केन पालिताः।
निवत्स्यन्ति किमाचाराः किमाहारविहारिणः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने! इस प्रकार अनाचारसे कलङ्कित हुए जगत्‌में मनुष्य किससे सुरक्षित हो निवास करेंगे? उनके आचार तथा आहार-विहार कैसे होंगे? ॥ १ ॥

किंकर्माणः किमीहन्तः किंप्रमाणाः किमायुषः।
कां च काष्ठां समासाद्य प्रपत्स्यन्ति कृतं युगम् ॥ २ ॥

उनका कर्म क्या होगा? वे कैसी चेष्टा करेंगे? उनके शरीरकी लंबाई या ऊँचाई कितनी होगी? उनकी आयु कितने वर्षोंकी होगी? तथा वे किस सीमातक पहुँचकर सत्ययुग प्राप्त करेंगे? ॥ २ ॥

व्यास उवाच

अत ऊर्ध्वं च्युते धर्मे गुणहीनाः प्रजास्ततः।
शीलव्यसनमासाद्य प्राप्स्यन्ते ह्रासमायुषः ॥ ३ ॥

व्यासजीने कहा—जनमेजय! इसके बाद धर्मके नष्ट हो जानेपर गुणहीन हुई सारी प्रजा अपना शील खोकर अल्पायु हो जायगी ॥ ३ ॥

आयुर्हान्या बलग्लानिर्बलग्लान्या विवर्णता।
वैवर्ण्याद् व्याधिसम्पीडा निर्वेदो व्याधिपीडनात् ॥ ४ ॥

आयुकी हानि होनेसे उनका बल क्षीण हो जायगा, बलके क्षीण होनेसे उनकी अङ्गकान्ति फीकी पड़ जायगी, कान्तिमें विकार आनेसे उनके शरीरमें रोगजनित पीड़ा होगी तथा रोगजनित पीड़ासे उनके मनमें निर्वेद (वैराग्यपूर्ण खेद) होगा ॥ ४ ॥

निर्वेदादात्मसम्बोधः सम्बोधाद् धर्मशीलता।
एवं गत्वा परां काष्ठां प्रपत्स्यन्ति कृतं युगम् ॥ ५ ॥

निर्वेदसे उन्हें आत्मबोध प्राप्त होगा, उस बोधसे उनमें धर्मशीलता आयेगी और इस प्रकार धर्मशीलताकी चरम सीमाको पहुँचकर वे सत्ययुग प्राप्त कर लेंगे ॥ ५ ॥

उद्देशतो धर्मशीलाः केचिन्मध्यस्थतां गताः।
विमर्शशीलाः केचित् तु हेतुवादकुतूहलाः ॥ ६ ॥

(कलियुगमें) कुछ लोग लेशमात्र धर्मका पालन करनेवाले होंगे, कुछ लोग धर्मकी ओरसे तटस्थ या उदासीन रहेंगे और कुछ लोग विवेकशील होनेपर भी धर्मके समर्थनमें अच्छी-अच्छी युक्ति देनेके लिये ही उत्सुक रहेंगे, स्वयं उस धर्मका आचरण नहीं करेंगे ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं चेति निश्चिताः।
प्रमाणैकं करिष्यन्ति नेति पण्डितमानिनः ॥ ७ ॥

कुछ लोग दृढ़ निश्चयके साथ केवल प्रत्यक्ष और अनुमानको ही प्रमाण मानेंगे (वेद अथवा शब्दको प्रमाण नहीं मानेंगे), कुछ पण्डितमानी पुरुष एकमात्र प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानेंगे, दूसरे किसी प्रमाणको नहीं स्वीकार करेंगे ॥

अप्रमाणं करिष्यन्ति वेदोक्तमपरे जनाः।
तदा मुखभगाश्चैव भविष्यन्ति स्त्रियोऽपराः ॥ ८ ॥

दूसरे लोग वेदोक्त मतको प्रामाणिक नहीं मानेंगे। कलियुगमें कितनी ही स्त्रियाँ मुखसे ही भगका काम लेनेवाली होंगी ॥ ८ ॥

नास्तिक्यपरमाश्चापि केचिद् धर्मविलोपकाः।
भविष्यन्ति नरा मूढा मन्दाः पण्डितमानिनः ॥ ९ ॥

कितने ही पण्डितमानी मन्दबुद्धि मूढ़ मानव नास्तिकतामें प्रवृत्त होकर धर्मका लोप करनेवाले होंगे ॥ ९ ॥

तदात्वमात्रे श्रद्धेयाः शास्त्रज्ञानबहिष्कृताः।
दाम्भिकास्ते भविष्यन्ति वादशीलकुतूहलाः ॥ १० ॥

वे वर्तमान कालकी प्रत्यक्ष बातोंपर ही श्रद्धा या विश्वास करनेवाले, शास्त्रज्ञानसे रहित और पाखण्डी होंगे, धर्मकी चर्चा और आचरण दोनों ही उनके लिये आश्चर्यकी वस्तु होंगे (अर्थात् वे धर्मकी चर्चा भी नहीं करेंगे, फिर आचरण-की तो बात ही क्या है ?) ॥ १० ॥

तदा विचलिते धर्मे जनाः शेषपुरस्कृताः ।
शुभान्येवाचरिष्यन्ति दानसत्यसमन्विताः ॥ ११ ॥

उस समय धर्मके विचलित हो जानेपर लोग भगवत्-स्मरण आदि अवशिष्ट धर्मको सामने रखते हुए दान और सत्यसे संयुक्त हो दया आदि शुभकर्मोंका ही आचरण करेंगे ॥

सर्वभक्षो ह्यसंगुप्तो निर्गुणो निरपत्रपः ।
भविष्यति तदा लोकस्तत् कषायस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

उस समयके लोग सर्वभक्षी, अजितेन्द्रिय, गुणहीन और निर्लज्ज होंगे, यही कलिकालजनित कलुषका लक्षण है ॥१२॥

विप्राणां शाश्वतीं वृत्तिं यदा वर्णावरा जनाः ।
प्रतिपत्स्यन्ति वृत्त्यर्थं तत् कषायस्य लक्षणम् ॥ १३ ॥

जब क्षत्रिय आदि वर्णोंके लोग जीविकाके लिये ब्राह्मणों-की सनातन वृत्तिको अपना लेंगे, तब वही कलिके कालुष्यका सूचक होगा ॥ १३ ॥

कषायोपप्लवे लोके ज्ञानविद्याप्रणाशने ।
सिद्धिं स्वल्पेन कालेन यास्यन्ति निरुपस्कृताः ॥ १४ ॥

संसारमें कलिकालके कलुषका उपद्रव बढ़ जानेपर जब ज्ञान (शास्त्रीय बोध) और विद्या (आत्मदर्शन) का लोप हो जायगा; तब परिग्रहशून्य हुए मनुष्य केवल त्याग-मात्रसे थोड़े ही समयमें सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर लेंगे ॥१४॥

महायुद्धं महावातं महावर्षं महाभयम् ।
भविष्यति युगे क्षीणे तत् कषायस्य लक्षणम् ॥ १५ ॥

युगान्तकालमें महान् युद्ध, प्रचण्ड आँधी, बड़ी भारी वर्षा और महान् भय उपस्थित होगा, वह कलिकालके कलुष-का लक्षण है ॥ १५ ॥

विप्ररूपाणि रक्षांसि राजानः कर्णवेदिनः ।
पृथिवीमुपभोक्ष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते ॥ १६ ॥

युगान्तकाल उपस्थित होनेपर यहाँ ब्राह्मणोंके रूपमें राक्षस निवास करेंगे, राजालोग कानोंसे सुनी हुई बातको ही ठीक मानेंगे और चुगलखोरोंके साथ रहकर ही पृथ्वीका उपभोग करेंगे ॥ १६ ॥

निःस्वाध्यायवषट्कारा अनयाश्चाभिमानिनः ।
विप्राः क्रव्यादरूपेण सर्वभक्षा वृथाव्रताः ॥ १७ ॥

ब्राह्मण स्वाध्याय और वषट्कारसे दूर हो नीतिशून्य और अभिमानी होकर राक्षसोंके समान सब कुछ भक्षण करेंगे और व्यर्थ (पाखण्डपूर्ण) व्रतका पालन करनेवाले होंगे ॥

मूर्खाः स्वार्थपरा लुब्धाः क्षुद्राः क्षुद्रपरिच्छदाः ।
व्यवहारोपवृत्ताश्च च्युता धर्माच्च शाश्वतात् ॥ १८ ॥

वे मूर्ख, स्वार्थपरायण, लोभी और नीच विचारके होंगे; उनके आश्रित रहनेवाले लोग भी वैसे ही होंगे, वे सनातन धर्मसे भ्रष्ट होकर केवल भोजनाच्छादनादि व्यवहारमें ही तत्पर रहेंगे ॥ १८ ॥

हर्तारः पररत्नानां परदारापहारकाः ।
कामात्मानो दुरात्मानः सोपधाः प्रियसाहसाः ॥ १९ ॥

उस समयके मनुष्य पराये रत्नों और परायी स्त्रियोंका अपहरण करनेवाले होंगे, उन सबके चित्त कामसे कलुषित होंगे, वे दुरात्मा, कपटी और दुःसाहसको पसंद करनेवाले होंगे ॥१९॥

तेषु प्रभवमाणेषु तुल्यशीलेषु सर्वतः ।
अभाविनो भविष्यन्ति मुनयो बहुरूपिणः ॥ २० ॥

एक समान शीलवाले और प्रभुतासे सम्पन्न वे दुष्ट मनुष्य जब सब ओर फैल जायँगे, तब अनेक रूपधारी एवं आत्माके अभावका प्रतिपादन करनेवाले बहुत-से (वैनाशिक मतावलम्बी) मुनि प्रकट हो जायँगे ॥ २० ॥

उत्पन्ना ये कृतयुगे प्रधानपुरुषाश्रयाः ।
कथायोगेन तान् सर्वान् पूजयिष्यन्ति मानवाः ॥ २१ ॥

सत्ययुगमें ईश्वरका आश्रय लेनेवाले जो भक्त पैदा हो गये हैं, उन सबकी कलियुगके मनुष्य कथावार्ताके प्रसङ्गमें पूजा करेंगे (उनके प्रति आदरका भाव प्रकट करेंगे, परंतु स्वयं उनके-जैसा आचरण नहीं करेंगे) ॥ २१ ॥

सस्यचौरा भविष्यन्ति तथा चैलापहारिणः ।
भक्ष्यभोज्यापहाराश्च करण्डानां च हारिणः ॥ २२ ॥

कलिकालके मनुष्य खेतोंमें लगी हुई खेतीकी चोरी करेंगे, दूसरोंके वस्त्र चुरा लेंगे, खाने-पीनेकी वस्तुएँ हड़प लेंगे, कंडों अथवा बाँसकी पिटारियोंको भी उड़ा ले जायँगे ॥ २२॥

चौराश्चौरस्य हर्तारो हन्ता हन्तुर्भविष्यति ।
चौरैश्चौरक्षये चापि कृते क्षेमं भविष्यति ॥ २३ ॥

उस समयके चोर चोरके घरमें भी चोरी करेंगे, हत्यारेकी भी हत्या करनेवाले पैदा हो जायँगे, इस प्रकार जब चोरोंके द्वारा चोरोंको विनाश कर दिया जायगा, तब जगत्का कल्याण होगा ॥ २३ ॥

निःसारे क्षुभिते लोके निष्क्रिये व्यन्तरे स्थिते ।
नराः श्रयिष्यन्ति वनं करभारप्रपीडिताः ॥ २४ ॥

जब सारा संसार निर्धन, संध्यावन्दन आदि सत्कर्मोंसे रहित तथा वर्णभेदसे शून्य हो जायगा, उस समय करोंके भारसे अत्यन्त पीड़ित हुए मनुष्य वनका आश्रय लेंगे ॥२४॥

पितृनाज्ञापयिष्यन्ति पुत्राः कर्मणि सर्वशः ।
स्नुषा श्वश्रूस्तथा चैव युगान्ते प्रत्युपस्थिते ॥ २५ ॥

युगान्तकाल उपस्थित होनेपर पुत्र पिताओंको सभी कर्म करनेके लिये आदेश दिया करेंगे; इसी तरह बहुएँ अपनी सासोंपर हुकम चलाया करेंगी ॥ २५ ॥

वाक्छरैरर्दयिष्यन्ति गुरूञ्छिष्याः समन्ततः ।
यज्ञकर्मण्युपरते रक्षांसि श्वापदानि च ।
कीटमूषकसर्पाश्च धर्षयिष्यन्ति मानवान् ॥ २६ ॥

सब ओर शिष्य गुरुजनोंको वाग्बाणोंसे पीड़ित करेंगे । यज्ञकर्म बंद हो जानेपर राक्षस, हिंसक जन्तु तथा कीड़े, चूहे और सर्प मनुष्योंपर आक्रमण करेंगे ॥ २६ ॥

क्षेमं सुभिक्षमारोग्यं सामग्र्यं वापि बन्धुषु ।
उद्देशतो नरश्रेष्ठ भविष्यन्ति युगक्षये ॥ २७ ॥

नरश्रेष्ठ ! कलियुगमें क्षेम, सुभिक्ष, आरोग्य और भाई-बन्धुओंमें मेल-मिलाप या बन्धु-बान्धवोंकी पूर्णता आदि बातें बहुत कम हो जायँगी ॥ २७ ॥

स्वयंपालाः स्वयंचौरा युगसम्भारसम्भृताः ।
मण्डलैः प्रचलिष्यन्ति देशे देशे पृथक्पृथक् ॥ २८ ॥

उस समयके लोग स्वयं ही रक्षक और स्वयं ही चोर होंगे और युगकी आवश्यकताके अनुरूप उपकरणोंसे सम्पन्न हो पृथक् पृथक् झुंड बनाकर देश-देशमें घूमते फिरेंगे ॥२८॥

स्वदेशेभ्यः परिभ्रष्टा निःसाराः सह बन्धुभिः ।
नराः सर्वे भविष्यन्ति तदा कालपरिक्षयात् ॥ २९ ॥

उस समय कालवश अपनी अवनति होनेके कारण सब मनुष्य अपने-अपने देशोंसे निर्वासित होकर बन्धुओंसहित निःसार (निर्धन) हो जायँगे ॥ २९ ॥

तदा स्कन्धे समाधाय कुमारान् विद्रुता भयात् ।
कौशिकीं प्रतरिष्यन्ति नराः क्षुद्भयपीडिताः ॥ ३० ॥

उन दिनों भूखके भयसे पीड़ित हुए मनुष्य बच्चोंको कंधेपर रखकर आतङ्कवश भागकर कोसी नदीको पार कर जायँगे ॥ ३० ॥

अङ्गान् वङ्गान् कलिङ्गांश्च काश्मीरानथ मेकलान् ।
ऋषिकान्तगिरिद्रोणीः संश्रयिष्यन्ति मानवाः ॥ ३१ ॥

लोग जीविकाके लिये अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, काश्मीर, मेकल तथा ऋषिक आदि देशोंके भीतर चले जायँगे और पर्वतकी घाटियोंका आश्रय लेंगे ॥ ३१ ॥

कृत्स्नं वा हिमवत्पार्श्वं कूलं च लवणाम्भसः ।
अरण्येषु च वत्स्यन्ति नरा म्लेच्छगणैः सह ॥ ३२ ॥

उस समयके मनुष्य म्लेच्छोंके साथ समूचे हिमालयके पार्श्वभागमें, लवणसमुद्रके तटपर तथा वनोंमें निवास करेंगे॥

नैव शून्या न चाशून्या भविष्यति वसुंधरा ।
गोप्तारश्चाप्यगोप्तारः प्रभविष्यन्ति शस्त्रिणः ॥ ३३ ॥

पृथ्वी न तो मनुष्योंसे सूनी होगी और न भरी ही रहेगी । हाथमें शस्त्र लेकर रक्षाके कार्यमें नियुक्त हुए पुरुष भी किसीकी रक्षा नहीं कर सकेंगे ॥ ३३ ॥

मृगैर्मत्स्यैर्विहंगैश्च श्वापदैः सर्पकीटकैः ।
मधुशाकफलैर्मूलैर्वर्तयिष्यन्ति मानवाः ॥ ३४ ॥

कलियुगके धर्मभ्रष्ट मनुष्य मृग, मत्स्य, पक्षी, हिंसक जन्तु, सर्प, कीट, मधु, शाक, फल और मूलसे जीवन-निर्वाह करेंगे ॥ ३४ ॥

चीरं पर्णं च बहुलं वल्कलान्यजिनानि च ।
स्वयंकृतानि वत्स्यन्ति यथा मुनिजनास्तथा ॥ ३५ ॥

लोग ऋषि-मुनियोंकी भाँति चिथड़ों, पत्तों, वल्कलों, हिरनके चमड़ों तथा अपने बनाये हुए अन्य वस्त्रोंको धारण करेंगे ॥ ३५ ॥

बीजानामाकृतिं निम्नेष्वीहन्तः काष्ठशङ्कुभिः ।
अजैडकं खरोष्ट्रं च पालयिष्यन्ति यत्नतः ॥ ३६ ॥

कितने ही मनुष्य पर्वतकी कन्दरा आदि निम्न स्थानोंमें रहकर ग्रामीण और जङ्गली बीजों (अनाजों) की प्राप्तिके लिये चेष्टा करते हुए काठके खूटोंमें बकरों और भेड़ोंको तथा काश्मीर आदि अन्य स्थानोंके लोग गधों और ऊँटोंको बाँधकर उनका यत्नपूर्वक पालन करेंगे ॥ ३६ ॥

नदीस्रोतांसि रोत्स्यन्ति तोयार्थे कूलमाश्रिताः ।
पक्वान्नव्यवहारेण विपणन्तः परस्परम् ॥ ३७ ॥
तनूरुहैर्यथा जातैः समूलान्तरसंवृतैः ।

कलियुगके मनुष्य जलके लिये तटपर थाकर नदीके प्रवाहको रोकेंगे । वे आपसमें पके-पकाये अन्नके लेन-देनका व्यवसाय करेंगे । जैसे अपने शरीरसे उत्पन्न हुई संतानोंके निमित्तसे लोग आपसमें लड़ते हैं, उसी प्रकार मूलधनके सहित सूदको छिपानेके कारण आपसमें विवाद करते हुए लोग परस्पर लेन-देनका व्यवहार करेंगे ॥ ३७½ ॥

बह्वपत्याः प्रजाहीनाः कुललक्षणवर्जिताः ॥ ३८ ॥
एवं भविष्यन्ति तदा मनुष्याः कालकारिताः ।

उन दिनों कालसे प्रेरित हुए कुछ मनुष्य तो अधिक संतानवाले होंगे और कुछ लोगोंको एक भी संतान नहीं होगी । इसी तरह प्रायः सब लोग कुलोचित शुभ लक्षणोंसे हीन होंगे ॥ ३८½ ॥

हीनाद्धीनं तदा धर्मं प्रजाः समनुवर्त्स्यति ॥ ३९ ॥
आयुस्तत्र च मर्त्यानां परं त्रिंशद् भविष्यति ।

उस समयकी प्रजा हीन-से-हीन धर्मका अनुसरण करेगी तथा उन दिनों मनुष्योंकी आयु अधिक-से-अधिक तीस वर्षकी होगी ॥ ३९½ ॥

दुर्बला विषयग्लाना रजसा समभिप्लुताः ॥ ४० ॥

भविष्यति तदा तेषां रोगैरिन्द्रियसंक्षयः।
आयुःप्रक्षयसंरोधाद् विषादः प्रभविष्यति ॥ ४१ ॥

सब लोग दुर्बल, विषयसेवनके कारण कृश तथा रजोगुणसे अभिव्याप्त होंगे। उस समय रोगोंके कारण उनकी इन्द्रियाँ क्षीण हो जायँगी, आयुके क्षय एवं निरोधसे उनके मनमें विषाद होगा ॥ ४०-४१ ॥

शुश्रूषवो भविष्यन्ति साधूनां दर्शने रताः।
सत्यं च प्रतिपत्स्यन्ति व्यवहारोपसंक्षयात् ॥ ४२ ॥

फिर वे धर्मोपदेश सुननेकी इच्छा रखकर साधु पुरुषोंके दर्शनमें मन लगानेवाले होंगे; व्यवहार या व्यवसाय क्षीण हो जानेके कारण वे सत्यको अपनायेंगे ॥ ४२ ॥

भविष्यन्ति च कामानामलाभाद् धर्मशीलिनः।
करिष्यन्ति च संकोचं स्वपक्षक्षयपीडिताः ॥ ४३ ॥

कामनाओंकी प्राप्ति न होनेसे धर्मशील बनेंगे और अपने पक्षके विनाशसे पीड़ित हो दुराचारको संकुचित कर देंगे ॥४३॥

एवं शुश्रूषणे दाने सत्ये प्राणाभिरक्षणे।
चतुष्पादः प्रवृत्तश्च धर्मः श्रेयोऽभिपत्स्यते ॥ ४४ ॥

इस प्रकार शुश्रूषा, दान, सत्य और प्राणरक्षामें प्रवृत्त हुआ चार चरणोंवाला धर्म श्रेयकी प्राप्ति करायेगा ॥ ४४ ॥

तेषां लब्धानुमानानां गुणेषु परिवर्तताम्।
स्वादु किं न्विति विज्ञाय धर्म एवं वदिष्यति ॥ ४५ ॥

इस प्रकार जो श्रेयको प्राप्त हुए पुरुष अनुमानसे धर्म और अधर्मके फलको जान गये हैं और शब्दादि विषयोंमें रम रहे हैं, उनके लिये कौन-सी वस्तु स्वादिष्ट या सुखद है— विषयोंमें रमण या धर्मके मार्गपर संचरण, यह संदेह उठाकर तत्त्वका निश्चय करके लोग इस प्रकार कहेंगे ॥ ४५ ॥

यथा हानिः क्रमात् प्राप्ता तथा वृद्धिः क्रमाद् गता।
प्रगृहीते यतो धर्मे प्रवत्स्यन्ति कृतं युगम् ॥ ४६ ॥

जैसे क्रमशः धर्मकी हानि प्राप्त हुई थी, उसी प्रकार क्रमशः उसकी वृद्धि होगी; क्योंकि धर्मको पूर्णतः अपना लेनेपर मनुष्य सत्ययुगको प्राप्त कर लेंगे ॥ ४६ ॥

साधु वृत्तं कृतयुगे कषाये हानिरुच्यते।
एक एव तु कालः स हीनवर्णो यथा शशी ॥ ४७ ॥

सत्ययुगमें सबका बर्ताव उत्तम होता है और कलियुगमें सदाचारकी हानि बतायी जाती है, जैसे एक ही चन्द्रमा कभी कान्तिसे हीन और कभी कान्तिसे पूर्ण होता है, उसी प्रकार एक ही काल कभी कृतयुग और कभी कलियुगके रूपमें दृष्टिगोचर होता है ॥ ४७ ॥

छन्नो हि तमसा सोमो यथा कलियुगे तथा।
पूर्णश्च तमसा हीनो यथा कृतयुगे तथा ॥ ४८ ॥

जैसे चन्द्रमा अमावास्याको अन्धकारसे आच्छन्न होता है, उसी प्रकार कलियुगमें धर्म आच्छादित हो जाता है और जैसे पूर्णिमाको परिपूर्ण चन्द्रमा अन्धकारसे हीन होता है, उसी प्रकार सत्ययुगमें चारों चरणोंसे युक्त परिपूर्ण धर्म सर्वथा प्रकाशित होता है ॥ ४८ ॥

अर्थवादः परं ब्रह्म वेदार्थ इति तं विदुः।
अनिर्णिक्तमविज्ञातं दायाद्यमिव धार्यते ॥ ४९ ॥

जो परब्रह्म परमात्मा है, वह भूतार्थवाद है (परब्रह्मके रूपमें वेदके सत्य अर्थका ही प्रतिपादन हुआ) और विद्वान् पुरुष उसीको वेदका मुख्य अर्थ भी मानते हैं। (यदि ऐसी बात है तो वह सर्वव्यापी नित्यसिद्ध परमात्मा सबको प्राप्त क्यों नहीं होता ? इसके उत्तरमें कहते हैं—) जैसे पैतृक सम्पत्तिके रूपमें मिला हुआ मलिन सुवर्णखण्ड जबतक उसका मल दूर न हो, तबतक अज्ञात दशामें ही धारण किया जाता है और उसे धारण करके भी मनुष्य अपनेको दरिद्र ही मानता है, उसी प्रकार अन्तःकरणके मलिन होनेसे परमात्मा अज्ञातरूपमें ही धारण किया जाता है; जब अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब वह अपने आत्मासे अभिन्न रूपमें प्रकाशित हो उठता है और उसकी अप्राप्तिका भ्रम दूर हो जाता है ॥ ४९ ॥

इष्टवादस्तपो नाम तपो हि स्थावरं कृतम्।
गुणैः कर्माभिनिर्वृत्तिर्गुणास्तथ्येन कर्मणा ॥ ५० ॥

तप (वर्णाश्रमोचित धर्म) स्वर्गादि अभीष्ट फलोंका प्रतिपादक है, तप स्थावर-अनादि अर्थात् अमोघ फलका साधक है, ऐसा शास्त्रमें निश्चय किया गया है। गुणों (देह-इन्द्रियादि) से कर्मकी सिद्धि होती है और यथार्थ कर्मसे गुणों (देह-इन्द्रियादि) की प्राप्ति होती है (अतः इस शरीर और कर्म आदिके बन्धनोंसे छुटकारा पानेके लिये परमात्माका आश्रय लेना चाहिये) ॥ ५० ॥

आशीस्तु पुरुषं दृष्ट्वा देशकालानुवर्तिनी।
युगे युगे यथाकालमृषिभिः समुदाहृता ॥ ५१ ॥

ऋषियोंने पुरुषकी योग्यताको सामने रखकर प्रत्येक युगमें यथासमय आशिष (कर्मफलकी प्राप्ति) का प्रतिपादन किया है, क्योंकि वह देश-कालका अनुसरण करनेवाली होती है ॥ ५१ ॥

इह धर्मार्थकामानां देवतानां प्रतिक्रिया।
आशिषश्च शुभाः पुण्यास्तथैवायुर्युगे युगे ॥ ५२ ॥

इस मर्त्यलोकमें धर्म, अर्थ और कामसम्बन्धी फल, देवाराधनके फल, शुभ एवं पुण्य आशिष तथा आयु प्रत्येक युगमें मनुष्योंकी श्रद्धाके तारतम्यके अनुसार होती हैं ॥ ५२ ॥

यथा युगानां परिवर्तनानि
चिरं प्रवृत्तानि विधिस्वभावात्।
क्षणं न संतिष्ठति जीवलोकः
क्षयोदयाभ्यां परिवर्तमानः ॥ ५३ ॥

जैसे विधाताद्वारा नियत किये हुए स्वभावके अनुसार चिरकालसे युगोंके परिवर्तन होते रहते हैं, उसी प्रकार यह जीव जगत् ह्रास और वृद्धिके साथ निरन्तर चक्कर लगाता हुआ कभी क्षण भरके लिये भी स्थिर नहीं रहता ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कलियुगवर्णने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें कलियुगका वर्णनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

व्यासजी आदिका गमन, जनमेजयके अश्वमेध यज्ञमें इन्द्रका विघ्न डालना, जनमेजयद्वारा इन्द्रको शाप, ब्राह्मणोंका निर्वासन तथा अपनी पत्नीकी भर्त्सना, विश्वावसुका जनमेजयको समझाना

सूत उवाच

इत्येवमाश्वासयतो राजानं जनमेजयम्।
अतीतानागतं वाक्यमृषेः परिषदा श्रुतम् ॥ १ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनक ! इस प्रकार राजा जनमेजयको आश्वासन देते हुए महर्षि वेदव्यासका वह भूत, भविष्य-सम्बन्धी वचन उस राजसभाके सभी सदस्योंने सुना ॥ १ ॥

अमृतस्येव संवाहः प्रभा चन्द्रमसो यथा।
अतर्पयत तच्छ्रोत्रं महर्षेर्वाङ्मयो रसः ॥ २ ॥

महर्षिका वह वाङ्मय रस मानो अमृतका प्रवाह था, चन्द्रमाकी प्रभाके समान मनको आह्लादित करनेवाला था। उसने सबके कानोंको तृप्त कर दिया ॥ २ ॥

धर्मकामार्थसंयुक्तं करुणं वीरहर्षणम्।
रमणीयं तदाख्यानं कृत्स्नं परिषदा श्रुतम् ॥ ३ ॥

धर्म, काम और अर्थसे युक्त, करुणासे भरी हुई तथा वीरोचित हर्षोत्साहको बढ़ानेवाली वह सम्पूर्ण रमणीय वार्ता वहाँ सारी सभाने सुनी ॥ ३ ॥

केचिदश्रूणि मुमुचुः श्रुत्वा दध्युस्तथापरे।
इतिहासं तमृषिणा पाणाविव निदर्शितम् ॥ ४ ॥

कुछ लोग आँसू बहाने लगे, कितने ही मनुष्य उस वार्ताको सुनकर ध्यानमग्न हो गये, महर्षि व्यासने उस भावी इतिहासको मानो हाथपर रखकर दिखा दिया था ॥

सदस्यान् सोऽभ्यनुज्ञाय कृत्वा चापि प्रदक्षिणाम्।
पुनर्द्रक्ष्याम इत्युक्त्वा जगाम भगवानृषिः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् वे महर्षि भगवान् व्यास सदस्योंकी अनुमति ले उन सबकी परिक्रमा करके 'हम फिर मिलेंगे' ऐसा कहकर वहाँसे चल दिये ॥ ५ ॥

अनुजग्मुस्तदा सर्वे प्रयान्तमृषिसत्तमम्।
लोके प्रवदतां श्रेष्ठं ये विशिष्टास्तपोधनाः ॥ ६ ॥

उस समय वहाँ जो-जो श्रेष्ठ तपोधन मुनि थे, वे सब जगत्के सभी वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनिवर व्यासको जाते देख उनके पीछे हो लिये ॥ ६ ॥

याते भगवति व्यासे तदा ब्रह्मर्षिभिः सह।
ऋत्विजः पार्थिवाश्चैव प्रतिजग्मुर्यथागतम् ॥ ७ ॥

ब्रह्मर्षियोंसहित भगवान् व्यासके चले जानेपर उस समय जो अन्य ऋत्विज और राजा थे, वे भी जैसे आये थे उसी तरह लौट गये ॥ ७ ॥

पन्नगानां सुघोराणां कृत्वा तां वैरयातनाम्।
जगाम रोषमुत्सृज्य राजा विषमिवोरगः ॥ ८ ॥

अत्यन्त भयानक सर्पोंके वैरका वह बदला चुकाकर राजा जनमेजय विषको त्याग कर जानेवाले सर्पकी भाँति रोषको छोड़कर वहाँसे अपने नगरको चले गये ॥ ८ ॥

होत्राग्निदीप्तशिरसं परित्राय च तक्षकम्।
आस्तीकोऽथाश्रमपदं जगाम स महामुनिः ॥ ९ ॥

हवनकी आगसे जिसका सिर तप गया था, उस तक्षकके प्राण बचाकर महामुनि आस्तीक भी अपने आश्रमको चले गये ॥ ९ ॥

राजापि हास्तिनपुरं जगाम स्वजनावृतः।
अन्वशासच्च मुदितस्तदा प्रमुदिताः प्रजाः ॥ १० ॥

राजा जनमेजय भी स्वजनोंसे घिरे हुए वहाँसे हस्तिनापुरको गये और आनन्दपूर्वक रहकर सदा प्रसन्न रहनेवाली प्रजाका शासन एवं संरक्षण करने लगे ॥ १० ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य स राजा जनमेजयः।
दीक्षितो वाजिमेधेन विधिवद् भूरिदक्षिणः ॥ ११ ॥

कुछ कालके बाद यज्ञोंमें बहुत-सी दक्षिणा देनेवाले राजा जनमेजयने विधिपूर्वक अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा ली ॥ ११ ॥

संज्ञप्तमश्वं तत्रास्य देवी काश्या वपुष्टमा।
संविवेशोपगम्याथ विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १२ ॥

उस यज्ञमें जो अश्व मारा गया था, उसके पास जाकर काशिराजकन्या महारानी वपुष्टमाने शास्त्रीय विधिके अनुसार शयन किया ॥ १२ ॥

तां तु सर्वानवद्याङ्गीं चकमे वासवस्तदा ।
संज्ञप्तमश्वमाविश्य तया मिश्रीबभूव सः ॥ १३ ॥

उन दिनों उन सर्वाङ्गसुन्दरी रानीको देवराज इन्द्र प्राप्त करना चाहते थे । वे उस मारे गये अश्वमें आविष्ट हो रानीके साथ संयुक्त हो गये ॥ १३ ॥

तस्मिन् विकारे जनिते विदित्वा तत्त्वतश्च तत् ।
असंज्ञप्तोऽयमश्वस्ते ध्वंसेत्यध्वर्युमब्रवीत् ॥ १४ ॥

उस अश्वमें विकार उत्पन्न हो जानेपर यथार्थरूपसे इस बातको जानकर राजाने अध्वर्युसे कहा—'अहो ! तुम्हारा नाश हो; देखो, तुम्हारा यह अश्व अभी मरा नहीं है' ॥१४॥

अध्वर्युर्ज्ञानसम्पन्नस्तदिन्द्रस्य विचेष्टितम् ।
कथयामास राजर्षेः शशाप स पुरंदरम् ॥ १५ ॥

अध्वर्यु ज्ञानसे सम्पन्न थे, उन्होंने राजर्षि जनमेजयसे इन्द्रकी वह काली करतूत कह सुनायी, तब राजाने इन्द्रको शाप देते हुए कहा ॥ १५ ॥

जनमेजय उवाच

यद्यस्ति मे यज्ञफलं तपो वा रक्षतः प्रजाः ।
फलेनानेन सर्वेण ब्रवीमि श्रूयतामिदम् ॥ १६ ॥

जनमेजय बोले—यदि मेरे यज्ञोंका कुछ फल है अथवा प्रजाकी रक्षा करनेसे मुझमें कुछ तपोबल संचित हुआ है तो उन सबके फलसे मेरी कही हुई बात सत्य हो, मैं उस बातको बता रहा हूँ, आपलोग सुनें ॥ १६ ॥

अद्यप्रभृति देवेन्द्रमजितेन्द्रियमस्थिरम् ।
क्षत्रिया वाजिमेधेन न यक्ष्यन्तीति शौनक ॥ १७ ॥

'आजसे क्षत्रियलोग इस अजितेन्द्रिय और चञ्चल देवराज इन्द्रका अश्वमेध यज्ञके द्वारा यजन नहीं करेंगे' शौनक ! इस प्रकार उन्होंने इन्द्रको शाप दे दिया ॥ १७ ॥

ऋत्विजश्चाब्रवीत् क्रुद्धः स राजा जनमेजयः ।
दौर्बल्यं भवतामेतद् यदयं धर्षितः क्रतुः ॥ १८ ॥

तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए राजा जनमेजयने ऋत्विजोंसे कहा—'यह आपलोगोंकी दुर्बलता है, जिससे मेरा यह यज्ञ चौपट कर दिया गया ॥ १८ ॥

विषये मे न वस्तव्यं गच्छध्वं सह बान्धवैः ।
इत्युक्तास्तत्यजुर्विप्रास्तं नृपं जातमन्यवः ॥ १९ ॥

'अब आपलोग मेरे राज्यमें न रहें, अपने बन्धु-बान्धवों-के साथ निकल जायँ ।' उनके ऐसा कहनेपर वे ब्राह्मण कुपित हो गये और राजाको छोड़कर चल दिये ॥ १९ ॥

अमर्षादन्त्रशास्तच्च पत्नीशालागताः स्त्रियः ।
राजा परमधर्मज्ञस्तामसौ जनमेजयः ॥ २० ॥

यद्यपि वे राजा जनमेजय बड़े धर्मज्ञ थे, तो भी अमर्ष-वश उन्होंने वपुष्टमाके लिये पत्नीशालामें बैठी हुई स्त्रियोंको इस प्रकार आदेश दिया—॥ २० ॥

असतीं वपुष्टमामेतां निर्यातयत मे गृहात् ।
यया मे चरणौ मूर्ध्नि पातितौ रेणुगुण्ठितौ ॥ २१ ॥

'यह वपुष्टमा असती (कुलटा) है, इसे मेरे घरसे निकाल दो । इसने इस कुकृत्यद्वारा मेरे मस्तकपर अपने धूलि-धूसर पैर रख दिये ॥ २१ ॥

शौण्डीर्यं मेऽनया भग्नं यशो मानश्च दूषितः ।
न चैनां द्रष्टुमिच्छामि परिक्लिष्टामिव स्रजम् ॥ २२ ॥

'इस पापिनीने मेरा महत्त्व नष्ट कर दिया, मेरे यश और मानमें धब्बा लगा दिया; मसली हुई फूलकी मालाकी तरह इस अपवित्र हुई नारीको अब मैं देखना भी नहीं चाहता ॥ २२ ॥

न स्वादु सोऽश्नाति नरः सुखं स्वपिति वा रहः ।
अन्वास्ते यः प्रियां भार्यां परेण मृदितामिह ।
पुनर्नैवोपभुञ्जीत श्वावलीढं हविर्यथा ॥ २३ ॥

'जो पर-पुरुषके द्वारा मर्दित हुई अपनी प्यारी भार्याके साथ रहता है, वह न तो स्वादिष्ट अन्न खाता है और न एकान्तमें सुखसे सो ही पाता है । उसे चाहिये कि कुत्तेके चाटे हुए हविष्यकी भाँति पर-पुरुषके समागमसे कलङ्कित हुई भार्याका फिर कभी उपभोग न करे' ॥ २३ ॥

एवमुच्चैः प्रभाषन्तं क्रुद्धं पारीक्षितं नृपम् ।
गन्धर्वराजः प्रोवाच विश्वावसुरिदं वचः ॥ २४ ॥

इस प्रकार क्रोधपूर्वक उच्चस्वरसे बोलते हुए राजा जनमेजयसे गन्धर्वराज विश्वावसुने यह बात कही ॥ २४ ॥

विश्वावसुरुवाच

त्रियज्ञशतयज्वानं वासवस्त्वां न मृष्यते ।
अप्सरास्तेन पत्नी ते विहितेयं वपुष्टमा ॥ २५ ॥

विश्वावसु बोले—राजन् ! आपने तीन सौ यज्ञोंका अनुष्ठान कर लिया है, इसलिये इन्द्र आपके इस उत्कर्षको सहन नहीं कर पाते हैं । इसीलिये उन्होंने एक अप्सराको आपकी इस पत्नी वपुष्टमाके रूपमें परिणत कर दिया था ॥

रम्भानामाप्सरा देवी काशिराजसुता मता ।
सैषा योषिद्वरा राजन् रत्नभूतानुभूयताम् ॥ २६ ॥

जिसे आप काशिराजकी पुत्री रानी वपुष्टमा मानते थे, वह रम्भा नामक अप्सरा थी; अतः राजन् ! यह नारियोंमें श्रेष्ठ वपुष्टमा रमणीरत्न है, आप इसका उपभोग करें ॥२६॥

यज्ञे विवरमासाद्य विघ्नमिन्द्रेण ते कृतम्।
यज्वा ह्यसि कुरुश्रेष्ठ समृद्ध्या वासवोपमः॥ २७॥
बिभेत्यभिभवाच्छक्रस्तव क्रतुफलैर्नृप।
तस्मादावर्तितश्चैव क्रतुरिन्द्रेण ते विभो॥ २८॥

इस यज्ञमें कोई छिद्र पाकर इन्द्रने तुम्हारे लिये यह विघ्न उपस्थित किया था। कुरुश्रेष्ठ! तुम यज्ञकर्ता हो, समृद्धिमें देवराज इन्द्रके समान हो। नरेश्वर! तुम्हारे यज्ञोंके फलोंसे इन्द्रका पराभव न हो जाय, यही सोचकर वे तुमसे डरते हैं। प्रभो! इसीलिये इन्द्रने तुम्हारे इस यज्ञमें विघ्न डाला है॥ २७-२८॥

मायैषा वासवेनेह प्रयुक्ता विघ्नमिच्छता।
क्रतोर्विवरमासाद्य संज्ञप्तं दृश्य वाजिनम्॥ २९॥
रतिमिन्द्रेण रम्भायां मन्यसे यां वपुष्टमाम्।

यज्ञमें कोई त्रुटि अथवा छिद्र मिल जानेसे विघ्न डालनेकी इच्छावाले इन्द्रने यह मायाका प्रयोग किया था। उन्होंने घोड़ेको मारा गया देख उसके भीतर प्रवेश करके रम्भाके साथ रमण किया था, जिसे तुम वपुष्टमा समझने लगे थे॥ २९½॥

अथ ते गुरवः शप्तास्त्रियज्ञशतयाजिनः॥ ३०॥
भ्रंशितस्त्वं च विप्राश्च बलादिन्द्रसमादिह।

इधर तुमने अपने उन गुरुजनोंको शाप दे दिया, जिन्होंने तुम्हारे तीन सौ यज्ञ कराये थे। तुम और तुम्हारे ब्राह्मण यहाँ इन्द्रके समान बलसे भ्रष्ट कर दिये गये॥३०½॥

त्वत्तश्चैव सुदुर्धर्षात् त्रियज्ञशतयाजिनः॥ ३१॥
बिभेति हि सदा त्वत्तो ब्राह्मणेभ्योऽपि वासवः।
एकेन वै तदुभयं तीर्णं शक्रेण मायया॥ ३२॥

तुम तीन सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले अत्यन्त दुर्धर्ष वीर थे, तुमसे और उन ब्राह्मणोंसे भी इन्द्र सदा डरते रहते थे; अतः उन्होंने अकेले ही मायाके प्रयोगद्वारा उन दोनों प्रकारके भयोंको पार कर लिया॥ ३१-३२॥

स एष सुमहातेजा विजिगीषुः पुरंदरः।
कथमन्यैरनाचीर्णं नप्तुर्दारानतिक्रमेत्॥ ३३॥

विजयकी इच्छा रखनेवाले वे महातेजस्वी इन्द्र जिसे दूसरोंने कभी नहीं किया, वह पापकर्म कैसे कर सकते हैं? अपने पोतेकी पत्नीपर बलात्कार उनके द्वारा कैसे सम्भव हो सकता है?॥ ३३॥

यथैव हि परा बुद्धिः परो धर्मः परो दमः।
यथैव परमैश्वर्यं कीर्तितं हरिवाहने।
तथैव त्वयि दुर्धर्षे त्रियज्ञशतयाजिनि॥ ३४॥

हरिवाहन इन्द्रमें जिस प्रकार उत्तम बुद्धि, उत्कृष्ट धर्म, श्रेष्ठ इन्द्रिय-संयम और परम ऐश्वर्य बतलाया गया है, उसी प्रकार तीन सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले तुझ दुर्धर्ष वीरमें वे सभी बातें हैं॥ ३४॥

मा वासवं मा च गुरूनात्मानं मा वपुष्टमाम्।
गच्छ दोषेण कालो हि सर्वथा दुरतिक्रमः॥ ३५॥

अतः तुम इन्द्रमें, गुरु एवं पुरोहितमें, अपनेमें तथा रानी वपुष्टमामें दोषदृष्टि न करो; क्योंकि काल सर्वथा दुर्लङ्घ्य है॥ ३५॥

ऐश्वर्येणाश्वमाविश्य देवेन्द्रेणासि रोषितः।
आनुकूल्येन देवस्य वर्तितव्यं सुखार्थिना॥ ३६॥

देवेन्द्रने अपनी ऐश्वर्यशक्तिसे अश्वमें प्रवेश करके तुम्हारे हृदयमें रोष उत्पन्न कर दिया था, अतः सुखार्थी मनुष्यको सदा देवताके अनुकूल बर्ताव करना चाहिये॥३६॥

दुस्तरं प्रतिकूलं हि प्रतिस्रोत इवाम्भसः।
स्त्रीरत्नमुपभुङ्क्ष्वेमामपापां विगतज्वरः॥ ३७॥

जैसे जलके प्रवाहके प्रतिकूल तैरना कठिन होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल देवतासे पार पाना बहुत कठिन है। तुम्हारी रानी निष्पाप हैं, ये रमणियोंमें रत्न हैं, तुम निश्चिन्त होकर इनका उपभोग करो॥ ३७॥

अपापास्त्यज्यमाना वै त्यजेयुरपि योषितः।
अदुष्टास्तु स्त्रियो राजन् दिव्यास्तु सविशेषतः॥ ३८॥

राजन्! यदि निरपराध स्त्रियोंका त्याग किया जाय तो वे भी निष्पाप पतियोंका परित्याग करने लगेंगी। स्त्रियाँ प्रायः अल्प दोषवाली होती हैं, वे विशेषतः दिव्यभावसे सम्पन्न होती हैं॥ ३८॥

भानोः प्रभा शिखा वह्नेर्वेदी होत्रे तथाहुतिः।
परामृष्टाप्यसंसक्ता नोपदुष्यन्ति योषितः॥ ३९॥

जैसे सूर्यकी प्रभा, अग्निकी शिखा, यज्ञकी वेदी और होमकी आहुति दूसरेके स्पर्शसे दूषित नहीं होती, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी यदि पर-पुरुषोंमें आसक्त न हों तो वे उनके बलपूर्वक किये गये स्पर्शसे कलङ्कित नहीं होती हैं॥ ३९॥

ग्राह्या लालयितव्याश्च पूज्याश्च सततं बुधैः।
शीलवत्यो नमस्कार्याः पूज्याः श्रिय इव स्त्रियः॥ ४०॥

शीलवती स्त्रियाँ विद्वान् पुरुषोंके लिये लक्ष्मीके समान ग्राह्य, लाड़-प्यारके योग्य, सतत आदरणीय, वन्दनीय तथा पूजनीय होती हैं॥ ४०॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि विश्वावसुवाक्ये पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें विश्वावसुका प्रवचनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५॥

षष्ठोऽध्यायः

जनमेजयका संतुष्ट होकर राज्यशासन करना तथा इस ग्रन्थके पाठ और श्रवणकी महिमा

सौतिरुवाच

एवं स विश्वावसुनानुनीतः
प्रसादमागम्य वपुष्टमायाः ।
चकार मिथ्या व्यतिशङ्कितात्मा
शान्तिं परां मानवधर्महृष्टाम् ॥ १ ॥

सौति कहते हैं—अकारण ही जिनके मनमें संदेह उत्पन्न हो गया था, उन राजा जनमेजयको जब विश्वावसुने अनुनयपूर्वक समझाया, तब वे रानी वपुष्टमापर प्रसन्न हो गये और उन्होंने मानवधर्मके आचरणसे हृष्ट-पुष्ट शान्ति धारण की ॥ १ ॥

श्रममभिविनिवर्त्य मानसं स
समभिलषञ्जनमेजयो यशः स्वम् ।
विषयमनुशशास धर्मबुद्धि-
र्मुदितमना रमयन् वपुष्टमां ताम्॥ २ ॥

वे राजा जनमेजय मानसिक श्रमको दूर करके अपने लिये उत्तम यशकी अभिलाषा रखते हुए धर्मबुद्धिसे राज्यका शासन तथा प्रसन्नचित्त होकर वपुष्टमाके साथ रमण करने लगे ॥ २ ॥

न हि विरमति विप्रपूजना-
न्न च विनिवर्तति यज्ञदानशीलात् ।
न विषयपरिरक्षणाच्च्युतोऽभू-
न्न च परिगर्हति तां वपुष्टमां च ॥ ३ ॥

वे ब्राह्मणोंके पूजन, आदर-सत्कारसे कभी विरत नहीं होते थे, यज्ञ और दानरूप शीलसे कभी पीछे नहीं हटते थे, राज्यकी रक्षारूप कर्मसे च्युत नहीं होते थे और अपनी रानी वपुष्टमाकी कभी निन्दा नहीं करते थे ॥ ३ ॥

विधिविहितमशक्यमन्यथा हि कर्तुं
यदपिरचिन्त्यतपाः पुराब्रवीत् सः ।
इति स नृपतिरात्मवांस्तदासौ
तदनु विचिन्त्य बभूव वीतमन्युः॥ ४ ॥

'विधाताके विधानको उलट देना सर्वथा असम्भव है' यह बात जो अचिन्त्य तपस्वी महर्षि व्यासने पहले कही थी, उनके इस कथनपर उन मनस्वी नरेशने बारंबार विचार किया, इससे उनका रोष और खेद जाता रहा ॥ ४ ॥

इदं महाकाव्यमृषेर्महात्मनः
पठन् नृणां पूज्यतमो भवेन्नरः ।
प्रकृष्टमायुः समवाप्य दुर्लभं
लभेच्च सर्वज्ञफलं च केशवम् ॥ ५ ॥

महात्मा महर्षि व्यासजीके इस महाकाव्यका पाठ करनेवाला मानव मनुष्योंमें परम पूजनीय हो जाता है । वह परम उत्तम दुर्लभ आयु पाकर सर्वज्ञतारूप फल और भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त कर लेता है ॥ ५ ॥

शतक्रतोः कल्मषविप्रमोक्षणं
पठन्निदं मुच्यति कल्मषान्नरः ।
तथैव कामान् विविधान् समश्नुते
ह्यवाप्तकामश्च चिराय नन्दति ॥ ६ ॥

इन्द्रके पापको छुड़ानेवाले इस काव्यका पाठ करनेवाला पुरुष स्वयं भी पापसे मुक्त हो जाता है । साथ ही नाना प्रकारकी मनोवाञ्छित कामनाओंका उपभोग करता और आप्तकाम होकर चिरकालतक आनन्दमें मग्न रहता है ॥ ६ ॥

यथा हि पुष्पप्रभवं फलं द्रुमाः
फलात् प्रजायन्ति पुनश्च पादपाः ।
तथा महर्षिप्रभवा इमा गिरः
प्रवर्धयन्ते तमृषिं प्रवर्धिताः ॥ ७ ॥

जैसे बढ़े हुए वृक्ष अपने फूलोंसे फलको प्रकट करते हैं और फलसे पुनः वृक्ष उत्पन्न होते एवं बढ़ते हैं, उसी प्रकार महर्षि व्याससे प्रकट हुई उनकी यह वाणी वक्ताओं-द्वारा बढ़ायी—प्रचारमें लायी जानेपर उन महर्षिके ही महत्त्वको बढ़ाती है ॥ ७ ॥

पुत्रानपुत्रो लभते सुवर्चस-
श्च्युतः पुनर्विन्दति चात्मनः स्थितिम् ।
व्याधिं न चाप्नोति चिरं स बन्धनं
क्रियां च पुण्यां लभते गुणान्वितः॥ ८ ॥

इस ग्रन्थका पाठ अथवा श्रवण करनेवाला गुणवान् पुरुष यदि पुत्रहीन है तो उसे परम तेजस्वी पुत्र प्राप्त होते हैं, यदि वह धन, धर्म अथवा महत्त्वसे भ्रष्ट हुआ है तो पुनः अपनी उसी स्थितिको प्राप्त कर लेता है, उसे रोग नहीं होता, वह चिरकालतक बन्धनमें नहीं रहता तथा पुण्यकर्मका फल पाता है ॥ ८ ॥

पतिमभिलभते च सत्सु कन्या
श्रवणमुपेत्य शुभा मुनेस्तु वाचः ।
जनयति च सुतान् गुणैरुपेतान्
रिपुजनमर्दनवीर्यशालिनश्च ॥ ९ ॥

महर्षि व्यासकी इस मङ्गलमयी वाणीको सुनकर कुमारी कन्या श्रेष्ठ पुरुषोंमेंसे किसी अभीष्ट पतिको पाती है तथा वह उत्तम गुणोंसे सम्पन्न एवं शत्रुओंका मर्दन करनेवाले पराक्रमसे सुशोभित अनेक पुत्रोंको जन्म देती है ॥ ९ ॥

विजयति वसुधां च राजवृत्ति-
धनमतुलं लभते द्विषज्जयं च।
विपुलमपि धनं लभेच्च वैश्यः
सुगतिमियाच्छ्रवणाच्च शूद्रजातिः॥१०॥

क्षत्रियवृत्तिसे रहनेवाला पुरुष इस ग्रन्थके पाठ और श्रवणसे भूमण्डलपर विजय पाता, अनुपम धनका भागी होता और शत्रुओंको परास्त कर देता है। वैश्य प्रचुर धन प्राप्त करता है और शूद्र जातिका पुरुष इसके श्रवणसे उत्तम गति पा लेता है॥ १०॥

पुराणमेतच्चरितं महात्मना-
मधीत्य बुद्धिं लभते च नैष्ठिकीम्।
विहाय दुःखानि विमुक्तसङ्गः
स वीतरागो विचरेद् वसुंधराम्॥ ११॥

महात्माओंके चरित्रसे युक्त इस पुराणका अध्ययन करके मनुष्य नैष्ठिकी बुद्धि प्राप्त कर लेता है तथा वह दुःखोंका परित्याग करके आसक्तिशून्य एवं वीतराग होकर भूमण्डलपर विचरता रहता है॥ ११॥

इत्येतदाख्यानमुदाहृतं वै
प्रतिस्मरन्तो द्विजमण्डलेषु।
स्थैर्येण धैर्येण पुनः स्मरन्तः
सुखं भवन्तोऽनुचरन्तु लोकम्॥ १२॥

मेरेद्वारा कहे गये इस आख्यानका ब्राह्मणोंके समाजमें चिन्तन एवं प्रवचन करते हुए आपलोग स्थिरता और धीरतापूर्वक इसका बारंबार स्मरण करें और संसारमें सुखपूर्वक विचरें॥ १२॥

इति चरितमिदं महात्मना-
मृषिकृतमद्भुतवीर्यकर्मणाम्।
कथितमिदं हि समासविस्तरैः
किमपरमिच्छसि किं ब्रवीमि ते॥ १३॥

अद्भुत बल-पराक्रमवाले महात्माओंका यह चरित्र, जिसे महर्षि व्यासने ग्रन्थका रूप दिया है, मैंने संक्षेप और विस्तारके साथ कह सुनाया। शौनकजी! अब आप और क्या सुनना चाहते हैं? मैं आपसे क्या कहूँ?॥ १३॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि भविष्यान्तग्रन्थार्थप्रकाशो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें भविष्यान्तग्रन्थके अर्थका प्रकाशविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

पुष्कर-प्रादुर्भावके विषयमें जनमेजयका प्रश्न और वैशम्पायनजीका उत्तर—भगवान् नारायणकी महिमाका प्रतिपादन

जनमेजय उवाच

प्रभावं पद्मनाभस्य स्वपतः सागराम्भसि।
पुष्करे वै यथोद्भूता देवाः सर्षिगणाः पुरा॥ १॥
एतदाख्याहि निखिलं योगं योगविदां पते।
शृण्वतस्तस्य मे कीर्तिं न तृप्तिरभिजायते॥ २॥

जनमेजयने पूछा—योगवेत्ताओंके स्वामी वैशम्पायनजी! आप समुद्रके जलमें शयन करनेवाले भगवान् पद्मनाभके प्रभावका वर्णन कीजिये। साथ ही यह भी बताइये कि पुष्करमें—भगवान्‌के नाभिकमलमें पहले देवताओं और ऋषियोंकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस सम्पूर्ण रहस्यपर प्रकाश डालिये; क्योंकि भगवान् श्रीहरिकी कीर्तिका श्रवण करनेसे मुझे तृप्ति नहीं होती है (अधिकाधिक सुननेकी इच्छा बढ़ती है)॥

कियन्तं चैव कालं वै शयिता पुरुषोत्तमः।
किमर्थं च तथा शेते कश्च कालस्य सम्भवः॥ ३॥

भगवान् पुरुषोत्तम कितने समयतक और किसलिये एकार्णवके जलमें शयन करते हैं तथा कालकी उत्पत्तिका कारण क्या है?॥ ३॥

कियता चैव कालेन प्रबुध्यति सुराधिपः।
कथमुत्थाय भगवानसृजन्निखिलं जगत्॥ ४॥

सुरेश्वर विष्णु कितने समयमें जागते हैं और उस योगनिद्रासे उठकर वे भगवान् किस प्रकार सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करते हैं?॥ ४॥

के प्रजापतयस्तात आसन् पूर्वं महामुने।
कथं निर्मितवांश्चैव चित्रं लोकं सनातनः॥ ५॥

तात! महामुने! पूर्वकालमें कौन-कौन-से प्रजापति थे और सनातन श्रीहरिने इस विचित्र जगत्‌की सृष्टि किस प्रकार की थी?॥ ५॥

कथमेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे।
नष्टे देवासुरगणे प्रणष्टोरगराक्षसे॥ ६॥
नष्टानलानिले लोके नष्टाकाशमहीतले।
केवलं गह्वरीभूते महाभूतविपर्यये॥ ७॥
प्रभुर्महाभूतपतिर्महातेजा महाकृतिः।
आस्ते सुरगुरुश्रेष्ठो विधिमादाय कं मुने॥ ८॥

मुने! उस भयानक एकार्णवमें जब कि समस्त चराचर प्राणी नष्ट हो जाते हैं, देवताओं और असुरोंका भी पता नहीं

रहता, नाग और राक्षस भी कालके गालमें चले जाते हैं, अग्नि, वायु, आकाश और भूतलका भी कुछ पता नहीं चलता, महाभूतोंमें भारी उलट-फेर हो जाता है और संसार एक गहन गुफाके समान प्रतीत होता है, महाभूतोंके अधिपति महान् कर्म करनेवाले और महातेजस्वी सुरगुरुश्रेष्ठ भगवान् नारायण कैसे और किस विधिका आश्रय लेकर रहते हैं ?॥

तन्मे त्वमुपपन्नाय ब्रह्मन्नेतदसंशयम्।
वक्तुमर्हसि धर्मिष्ठ यशो नारायणात्मकम्॥ ९ ॥

ब्रह्मन् ! धर्मिष्ठ महर्षे ! मैं शिष्यभावसे आपकी शरणमें आया हूँ, आप मुझसे भगवान् नारायणके यशका इस प्रकार वर्णन कीजिये कि मेरा सारा संशय दूर हो जाय ॥ ९ ॥

प्रादुर्भावं पुरस्कृत्य भूतं भव्यं महात्मनः।
श्रद्दधानामुपविष्टानां भगवन् वक्तुमर्हसि॥ १० ॥

भगवन् ! हमलोग श्रद्धापूर्वक आपकी बातें सुननेके लिये बैठे हैं, आप हमारे समक्ष महात्मा श्रीहरिके भूत और भविष्य अवतारोंको दृष्टिमें रखकर उनके सुयशका वर्णन कीजिये ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

नारायणयशोज्ञाने या भवेद् भवतः स्पृहा।
त्वद्वंशानघ पूतस्य कार्यं कुरुकुलर्षभ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—निष्पाप कुरुकुलश्रेष्ठ जनमेजय ! भगवान् नारायणके यशका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जो तुम्हें स्पृहा हो रही है, वह तुम्हारे कुलके अनुरूप ही है, ऐसी इच्छाका उदय होना पुण्यकर्मका फल है ॥ ११ ॥

शृणुष्वादिपुराणेभ्यो देवताभ्यो यथाश्रुति।
ब्राह्मणानां च वदतां श्रुतोऽस्माभिर्महात्मनाम्॥ १२ ॥

हमने पूर्वकालके पुरातन देवताओं तथा प्रवचन करनेवाले महात्मा ब्राह्मणोंके मुखसे श्रुतिके अनुसार भगवान् पद्मनाभके प्रभावका जैसा वर्णन सुना है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ १२ ॥

यथा च तपसा दृष्टो बृहस्पतिसमद्युतिः।
पाराशर्यस्ततः श्रीमान् गुरुर्द्वैपायनोऽब्रवीत्॥ १३ ॥
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम्।
न विज्ञातुं मया शक्यमृषिमात्रेण भारत॥ १४ ॥

भारत ! जिनका तपस्याके प्रभावसे दर्शन हुआ है, उन बृहस्पतिके समान तेजस्वी श्रीमान् गुरुदेव पराशरनन्दन द्वैपायन व्यासने इस विषयमें जैसा मुझे उपदेश दिया है और जैसा मैंने सुना है, उसका मैं अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन करता हूँ। केवल ऋषि होनेमात्रसे उनकी कही हुई बातोंको उन्हींकी भाँति ठीक-ठीक समझ लेना मेरे लिये भी सम्भव नहीं है ॥ १३-१४ ॥

कः समुत्सहते ज्ञातुं परं नारायणात्मकम्।
विश्वात्मनो यं ब्रह्मापि न वेदयति तत्त्वतः॥ १५ ॥

जिन्हें ब्रह्मा भी ठीक-ठीक नहीं जानते, उन विश्वात्माके नारायणनामक परमतत्त्वको कौन जान सकता है ॥ १५ ॥

श्रुतं मे विश्वदेवानां यद् रहस्यं महर्षिणाम्।
तदिदं सर्वदेवानां तत्त्वतस्तत्त्ववादिनाम्॥ १६ ॥

जिनकी दृष्टिमें सब कुछ नारायणदेव ही हैं तथा जो स्वभावसे ही परमतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले हैं, उन विश्वेदेवों और महर्षियोंके मुखसे मैंने जो गोपनीय रहस्य सुना है, वह वास्तवमें यह नारायणका यश ही है ॥ १६ ॥

तदध्यात्मविदां चिन्त्यं कारणं चैव कर्मिणाम्।
अधिदैवं च यद् दैवं तद् दैवमिति संज्ञितम्॥ १७ ॥

वह नारायण-तत्त्व ही अध्यात्मवेत्ता पुरुषोंके लिये चिन्तनीय वस्तु है, वही कर्मपरायण पुरुषोंका कारणतत्त्व है, वही अधिदैव और दैव है तथा उसीको प्रारब्ध या भाग्य नाम दिया गया है ॥ १७ ॥

यद् भूतमधिभूतं च यत्परं च महर्षिणाम्।
यत् सत्यं वेददृष्टं च यत् तद् वेदविदो विदुः॥ १८ ॥

जो भूत और अधिभूत है, जो महर्षियोंका परम ज्ञेय तत्त्व है, जो सत्य है तथा जिसे वेदोंद्वारा देखा या जाना गया है, उस परमात्मतत्त्वको जो जानते हैं, वे ही वेदवेत्ता हैं॥

यः कर्ता कारको बुद्धिर्मनः क्षेत्रज्ञ एव च।
प्रधानं पुरुषः शास्ता एकस्तदभिशब्द्यते॥ १९ ॥

जो कर्ता, कारक, बुद्धि, मन, क्षेत्रज्ञ, प्रधान पुरुष और शास्ता है, जो अकेला ही इन शब्दोंद्वारा प्रतिपादित होता है, वह एकमात्र परमात्मा ही जानने योग्य है ॥ १९ ॥

कालः कालं स्वपयति द्रष्टा स्वाधीन एव च।
प्राणः पञ्चविधश्चैव ध्रुवमक्षरमेव च॥ २० ॥

वही काल बनकर कालको भी सुलाता है अर्थात् वही कालका भी काल है, वही सबका द्रष्टा तथा सर्वथा स्वतन्त्र है, पाँच प्रकारका प्राण भी वही है, वही ध्रुव एवं अक्षर ब्रह्म है ॥ २० ॥

उच्यते विविधैर्भावैस्तस्यैवानघ तत्परैः।
स एव भगवान् सर्वं करोति विकरोति च॥ २१ ॥

अनघ ! उनकी उपासनामें तत्पर रहनेवाले पुरुषोंद्वारा विविध भावोंसे उन्हींका प्रतिपादन किया जाता है। वे ही भगवान् सबको बनाते और बिगाड़ते हैं ॥ २१ ॥

योऽस्मान् कारयते कर्म तेनास्म व्याकुलीकृताः।
यजामहे तमेवेशं तमेवेच्छाम निर्वृताः॥ २२ ॥

जो हमसे कर्म कराता है, उसीने हमें विधि-निषेधके बन्धनमें बाँधकर व्याकुल कर रखा है। हम उसी ईश्वरका

यज्ञोंद्वारा यजन करते हैं और शान्तभावसे उन्हींको पाना चाहते हैं ॥ २२ ॥

यो वक्ता यश्च वक्तव्यो यश्चाहं तद् ब्रवीमि वः ।
इदं शृणुत यच्छ्रेयो यच्चान्यत् परिजल्पथ ॥ २३ ॥
याः कथाश्चैव वर्तन्ते श्रुतयो वाथ गह्वराः ।
विश्वं विश्वपतिर्देवाः सर्वं नारायणात्मकम् ॥ २४ ॥

जो वक्ता (वाणीका प्रवर्तक) है, जो वक्तव्य विषय है तथा जो वक्तापनका अभिमान रखनेवाले मुझ जीवात्माके रूपमें भी विद्यमान है, उसके स्वरूपका मैं तुम्हारे समक्ष प्रतिपादन करता हूँ, तुम इसे सुनो । जो मुख्य श्रेय (मोक्ष) है तथा तुमलोग जिस स्वर्ग आदि दूसरे श्रेयकी चर्चा करते हो, जो भाँति-भाँतिकी कथाएँ हैं तथा जो गहन श्रुतियाँ हैं, वह सब भगवान् नारायणका स्वरूप ही है । यह विश्व, इस विश्वके पालक तथा देवता सब-के-सब नारायणरूप ही हैं ॥ २३-२४ ॥

यत् सत्यं यदनृतमादिमक्षरं वै
यद् भूतं भवति मिथश्च यद् भविष्यम् ।
यत् किंचिच्चरमचराव्ययं त्रिलोके
तत्सर्वं पुरुषवरः प्रभुर्वरिष्ठः ॥ २५ ॥

जो लौकिक सत्य और असत्य है, जो कारण और कार्य है, जो भूत है, जो परस्पर एक-दूसरेके जनक बीज-वृक्ष आदि हैं, जो भविष्य है तथा तीनों लोकोंमे जो कुछ भी चर-अचर और कूटस्थ वस्तु है, वह सब कुछ सर्वश्रेष्ठ पुरुषप्रवर भगवान् नारायण ही हैं ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पुष्करप्रादुर्भावे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

सत्ययुग आदिके परिमाणका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् ।
तस्य तावच्छती संध्या द्विगुणा जनमेजय ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विद्वान् पुरुष सत्ययुगकी आयुका प्रमाण चार हजार दिव्य वर्ष बताते हैं । उससे दूने सौ अर्थात् आठ सौ वर्षोंकी उसकी संध्या होती है ॥ १ ॥

तत्र धर्मश्चतुष्पादो ह्यधर्मः पादविग्रहः ।
स्वधर्मनिरताः सन्तो यजन्ते चैव मानवाः ॥ २ ॥

उस युगमे धर्म अपने चारो चरणोंसे[1] सम्पन्न होता है तथा अधर्मका सारा शरीर एक ही पैरपर स्थित होता है । उस समय अपने धर्ममे तत्पर रहनेवाले साधु पुरुष प्रायः यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का भजन किया करते हैं ॥ २ ॥

स्थिता धर्मपरा विप्रा राजवृत्तौ स्थिता नृपाः ।
कृष्यामभिरता वैश्याः शूद्राः शुश्रूषवस्तथा ॥ ३ ॥

ब्राह्मण स्वधर्मपालनमें तत्पर रहते हैं, राजालोग राजोचित वृत्तिमें स्थित होते हैं, वैश्य कृषि-कर्ममे लगे रहते हैं और शूद्र तीनो वर्णोंकी सेवा करते हैं ॥ ३ ॥

सदा सत्यं तपश्चैव धर्मश्चैव विवर्धते ।
सद्भिराचरितं यच्च क्रियते ख्यायते च यत् ॥ ४ ॥

उस युगमे सत्य, तप और धर्मकी सदा ही वृद्धि होती है । साधु पुरुष जिसका आचरण करते हैं, उसीका दूसरोंको उपदेश देते हैं ॥ ४ ॥

एतत् कृतयुगे वृत्तं सर्वेषामेव भारत ।
प्राणिनां धर्मबुद्धीनामपि चेन्नीचयोनिनाम् ॥ ५ ॥

भारत ! सत्ययुगमें सभी धर्मबुद्धि प्राणियोंका, वे नीच योनि या नीच कुलमे क्यों न उत्पन्न हुए हों, ऐसा ही बर्ताव होता है ॥ ५ ॥

त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगमिहोच्यते ।
तस्य तावच्छती संध्या द्विगुणा परिकीर्तिता ॥ ६ ॥

यहाँ तीन हजार दिव्य वर्षोंका त्रेतायुग बताया जाता है । उसकी संध्या उससे दुगुने सौ (अर्थात् छः सौ) वर्षोंकी बतायी गयी है ॥ ६ ॥

द्वाभ्यामधर्मः पादाभ्यां त्रिभिर्धर्मो व्यवस्थितः ।
तत्र सत्यं च सत्त्वं च कृते सर्वं प्रवर्तते ॥ ७ ॥

उस युगमें धर्म तीन पैरोसे और अधर्म दो पैरोंसे स्थित होता है । सत्ययुगमे सत्य और सत्त्वगुण सब अविकलरूपसे विद्यमान रहते हैं ॥ ७ ॥

त्रेतायां विकृतिं यान्ति वर्णा लौल्येन संयुताः ।
चातुर्वर्ण्यस्य वैकृत्याद् यान्ति दौर्बल्यमाश्रिताः॥ ८ ॥

परंतु त्रेतामे लोलुपता (कर्मफलकी स्पृहा)से युक्त होनेके कारण सभी वर्ण विकारको प्राप्त होते हैं और चारों वर्णोंमे विकृति आनेसे सब लोग दुर्बल हो जाते हैं ॥ ८ ॥

एष त्रेतायुगविधिर्विहितो देवनिर्मितः ।
द्वापरस्यापि या चेष्टा तामपि श्रोतुमर्हसि ॥ ९ ॥

[1] तप, शौच, दया और सत्य ये धर्मके चार चरण हैं।

यह त्रेतायुगकी स्थिति बतायी गयी, जिसका निर्माण साक्षात् भगवान्‌ने ही किया है। अब द्वापरकी जो चेष्टा है, उसको भी तुम्हें सुन लेना चाहिये ॥ ९ ॥

द्वापरं द्वे सहस्रे तु वर्षाणां कुरुसत्तम।
तस्य तावच्छती संध्या द्विगुणा परिकीर्तिता ॥ १० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! द्वापर युग दो हजार दिव्य वर्षोंका होता है और उसकी संध्या चार सौ वर्षोंकी बतायी गयी है ॥ १० ॥

तत्राप्यर्थपरा विप्रा ज्ञानिनो रजसाऽऽवृताः।
शठा नैष्कृतिकाः क्षुद्रा जायन्ते कुरुपुङ्गव ॥ ११ ॥

कुरुपुङ्गव ! उस युगमें भी अर्थपरायण, ज्ञानी, रजोगुणसे आच्छन्न, शठ, दुष्टता करनेवाले और क्षुद्र ब्राह्मण आदि पैदा होते हैं ॥ ११ ॥

द्वाभ्यां धर्मः स्थितः पद्भ्यामधर्मस्त्रिभिरुत्थितः।
विपर्ययं शनैर्यान्ति कृते ये धर्मसेतवः ॥ १२ ॥

उस समय धर्म दो ही पैरोंसे स्थित होता है, किंतु अधर्म तीन पैरोंसे खड़ा होकर क्रमशः उत्थान करने लगता है। सत्ययुगमें जो धर्मकी मर्यादाएँ बँधी होती है, वे धीरे-धीरे इस युगमें आकर उलट जाती हैं ॥ १२ ॥

ब्राह्मण्यभावा नश्यन्ति तथास्तिक्यं विशीर्यते।
व्रतोपवासास्त्यज्यन्ते द्वापरे युगपर्यये ॥ १३ ॥

ब्राह्मणत्वके भाव नष्ट हो जाते हैं, आस्तिकताकी दीवार ढह जाती है, द्वापरयुगके अन्तमें कलि-धर्मका सम्मिश्रण हो जानेके कारण लोग व्रत और उपवास छोड़ देते है ॥ १३ ॥

तथा वर्षसहस्रं तु वर्षाणां द्वे शते तथा।
संध्यया सह संख्यातं क्रूरं कलियुगं स्मृतम् ॥ १४ ॥

क्रूर कलियुग अपनी दो सौ वर्षोंकी संध्याके साथ एक हजार दिव्यवर्षोंका बताया गया है ॥ १४ ॥

तत्राधर्मश्चतुष्पादः स्याद् धर्मः पादविग्रहः।
कामनिष्ठास्तमश्छन्ना जायन्ते तत्र मानवाः ॥ १५ ॥

उस युगमें अधर्म अपने चारों पैरोंसे सम्पन्न होता है, किंतु धर्मका शरीर एक ही पैरसे टिका रहता है। उस युगके मनुष्य प्रायः कामपरायण और तमोगुणसे आच्छन्न होते हैं ॥ १५ ॥

नैवोपवासकृत् कश्चिन्न च साधुर्न सत्यवाक्।
आस्तिको ब्रह्मवक्ता वा नरो भवति वै तदा ॥ १६ ॥

कलिकालमें प्रायः कोई मनुष्य उपवास करनेवाला, साधु, सत्यवादी, आस्तिक तथा ब्रह्मज्ञानका उपदेश करनेवाला नहीं होता है ॥ १६ ॥

अहंकारगृहीताश्च प्रक्षीणस्नेहबन्धनाः।
विप्राः शूद्रसमाचाराः शूद्रास्त्वाचारलक्षणाः ॥ १७ ॥

कलियुगके ब्राह्मण अहंकारके वशीभूत तथा स्नेहबन्धनसे शून्य हो शूद्रोंके समान आचारवाले हो जायँगे और शूद्र सदाचारका पालन करेंगे ॥ १७ ॥

दूषकास्त्वाश्रमाणां च वर्णानां चैव संकराः।
अगम्यास्त्वभिरंस्यन्ते वर्तन्त्येवं कलौ युगे ॥ १८ ॥

लोग आश्रमोंको कलङ्कित करेंगे, वर्णसङ्कर उत्पन्न होकर अगम्या स्त्रियोंके साथ रमण करेंगे, कलियुगमें प्रायः लोगोंका ऐसा ही बर्ताव होता है ॥ १८ ॥

एवं द्वादशसाहस्रं तदेकं युगमुच्यते।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ १९ ॥

इस प्रकार बारह हजार दिव्य वर्षोंका एक चतुर्युग कहलाता है। यहाँ इकहत्तर चतुर्युगोंका एक मन्वन्तर कहा जाता है (इतने समयके बाद एक मनु नष्ट हो जाते हैं) ॥

त्रय्यां चैव न संदेहो युगान्ते जनमेजय।
दिव्यं द्वादशसाहस्रं युगं तु कवयो विदुः।
एतत्सहस्रपर्यन्तं तदह्नो ब्राह्ममुच्यते ॥ २० ॥

जनमेजय ! युगान्त (प्रलय) कालमे समस्त चराचर जगत्‌का नाश हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है। तीनों वेदोंमें भी इसका वर्णन मिलता है। ज्ञानी पुरुष बारह हजार दिव्य वर्षोंका एक चतुर्युग मानते हैं। इस चतुर्युगकी जब एक सहस्र आवृत्ति हो जाती है, तब उसे ब्रह्माका एक दिन कहते हैं ॥ २० ॥

ततोऽहनि गते तस्मिन् सर्वेषामेव देहिनाम्।
शरीरनिर्वृतिं दृष्ट्वा रुद्रः संहारबुद्धिमान् ॥ २१ ॥
देवतानां च सर्वेषां ब्राह्मणानां महीपते।
दैत्यानां मानवानां च यक्षगन्धर्वरक्षसाम् ॥ २२ ॥
देवर्षीणां ब्रह्मर्षीणां तथा राजर्षिणामपि।
किंनराणामप्सरसां भुजङ्गानां तथैव च ॥ २३ ॥
पर्वतानां नदीनां च पशूनां चैव भारत।
तिर्यग्योनिगतानां च सत्त्वानां मृगपक्षिणाम् ॥ २४ ॥
महाभूतपतिर्देवः पञ्चभूतानि भूतकृत्।
जगत्संहरणार्थाय कुरुते वैशसं महत् ॥ २५ ॥

पृथ्वीनाथ ! तदनन्तर ब्रह्माजीका वह दिन बीतनेपर समस्त देहधारियोंकी शारीरिक सुखमे आसक्ति देखकर संहारकुशल रुद्रदेव समस्त देवताओं, ब्राह्मणो, दैत्यों, मनुष्यो, यक्षों, गन्धर्वों, राक्षसों, देवर्षियों, ब्रह्मर्षियों, राजर्षियों, किंनरों, अप्सराओं, सर्पों, पर्वतों, नदियों, पशुओं, तिर्यक्‌योनिमें पड़े हुए जीवों, मृगों तथा पक्षियोंका भी महान् संहार करते हैं, महाभूतोंके पति वे भूतस्रष्टा भगवान् सारे भूतों एवं जगत्‌का संहार करनेके लिये ही उनकी सृष्टि करते हैं ॥ २१–२५ ॥

भूत्वा सूर्यश्चक्षुषी चाददानो
भूत्वा वायुः संहरन् प्राणिजातम्।
भूत्वा वह्निर्दह्यते सर्वलोकान्
मेघो भूत्वा भूय एवाभ्यवर्षत् ॥ २६ ॥

अपने दिनके अन्तमें रुद्रस्वरूप भगवान् ब्रह्मा सूर्य होकर समस्त लोकोंके नेत्र छीन लेते हैं, वायु होकर समस्त प्राणियोंके प्राण हर लेते हैं, अग्नि होकर समस्त लोकोंको दग्ध कर देते और मेघ बनकर पुनः बड़ी भारी वर्षा करते हैं (जिससे सब कुछ एकार्णवमें निमग्न हो जाता है) ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पुष्करप्रादुर्भावे कृतादियुगपरिमाणवर्णने अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्करप्रादुर्भावके प्रसङ्गमें युग आदिके प्रमाणका वर्णनविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

प्रलयके पश्चात् एकार्णवके जलमें भगवान् नारायणका शयन

वैशम्पायन उवाच

भूत्वा नारायणो योगी सप्तमूर्तिर्विभावसुः ।
गभस्तिभिः प्रदीप्ताभिः संशोषयति सागरान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! योगेश्वर भगवान् नारायण सात मूर्ति (शिखा) वाले अग्निदेवका रूप धारण करके अपनी प्रज्वलित किरणोंद्वारा समुद्रोंका जल सोख लेते हैं ॥ १ ॥

पीत्वार्णवांश्च सर्वान् स नदीः कूपांश्च सर्वशः ।
पर्वतानां च सलिलं सर्वं पीत्वा च रश्मिभिः ॥ २ ॥
भित्त्वा सहस्रशश्चैव महीं नीत्वा रसातलम् ।
रसातलगतं कृत्स्नं पिबते रसमुत्तमम् ॥ ३ ॥

सारे समुद्रों, नदियों, कूपों और पर्वतोंका सम्पूर्ण जल अपनी किरणोंद्वारा पीकर पृथ्वीके सहस्रों टुकड़े करके उसे रसातलमें ले जाकर वे रसातलका भी सारा उत्तम रस पी लेते हैं ॥ २-३ ॥

अप्सु सृजन् क्लेदमन्यद् ददाति प्राणिनां ध्रुवम् ।
तत् सर्वमरविन्दाक्ष आदत्ते पुरुषोत्तमः ॥ ४ ॥

जलमें क्लेद (गीलापन) की सृष्टि करते हुए वे प्राणियोंको निश्चितरूपसे और जो कुछ देते हैं, वह सब प्रलयकालमें वे ही कमलनयन पुरुषोत्तम उनसे ले लेते हैं ॥

वायुश्च बलवान् भूत्वा स विधूयाखिलं जगत् ।
प्राणोदयं सुराणां च वायुना कुरुते हरिः ॥ ५ ॥

वे श्रीहरि बलवान् वायु होकर सम्पूर्ण जगत्को कम्पित करते हुए उस वायुके द्वारा ही देवताओंमें प्राणसंचार करते हैं ॥ ५ ॥

ततो देवगणानां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
ये चेन्द्रियगणाः सर्वे ये चान्ये च यतोद्भवाः ।
घ्रूयं घ्राणं शरीरं च पृथिवीमाश्रिता गुणाः ॥ ६ ॥

तदनन्तर देवताओं तथा समस्त देहधारियोंकी जो सारी इन्द्रियाँ हैं तथा जो अन्य विषय आदि हैं, उनकी जहाँसे उत्पत्ति हुई है, वे उसी कारणतत्त्वमें लीन हो जाते हैं। गन्ध घ्राणेन्द्रिय और शरीर—ये तीनों गुण पृथ्वीके आश्रित हैं ॥

जिह्वा रसश्च क्लेदश्च संश्रिताः सलिलं गुणाः ।
रूपं चक्षुर्विपाकश्च ज्योतिरेवाश्रिता गुणाः ॥ ७ ॥

जिह्वा, रस और क्लेद—ये जलके आश्रित रहनेवाले गुण हैं। रूप, नेत्र और पाक—ये अग्निके आश्रित रहनेवाले गुण हैं ॥ ७ ॥

स्पर्शः प्राणश्च चेष्टा च पवनं संश्रिता गुणाः ।
परमेष्ठिनं वरेण्यं च हृषीकेशं समाश्रिताः ॥ ८ ॥

स्पर्श, प्राण और चेष्टा—ये वायुके आश्रित रहनेवाले गुण हैं। (शब्द, श्रवणेन्द्रिय और आकाश—ये शब्दके आश्रित रहनेवाले गुण हैं।) ये सब-के-सब परमेष्ठी, एवं वरणीय भगवान् हृषीकेशके आश्रित होते हैं ॥ ८ ॥

ततो भगवता तत्र रश्मिभिः परिवारिताः ।
वायुना कृष्यमाणाश्च रूपान्योन्यसमाश्रयात् ॥ ९ ॥

फिर भगवान्की प्रेरणासे उनकी किरणोंसे आवेष्टित हो वे देवगण, इन्द्रिय-समुदाय आदि वायुसे आकर्षित हो एक दूसरेके आश्रित होनेसे परस्पर संघर्ष करने लगे ॥ ९ ॥

तेषां संघर्षजोद्भूतः पावकः शतधा ज्वलन् ।
अदहन्निखिलाँल्लोकानुग्रः संवर्तकोऽनलः ॥ १० ॥

उनके संघर्षसे प्रकट हुई अग्नि सौ-सौ स्थानोंमें जल उठी और महाभयंकर संवर्तक अग्निके रूपमें उद्भासित होने लगी। उसने सम्पूर्ण लोकोंको जलाकर भस्म कर दिया ॥ १० ॥

सपर्वतांस्तरून् गुल्मांल्लँतावल्लीस्तृणानि च ।
विमानानि च दिव्यानि पुराणि विविधानि च ॥ ११ ॥
आश्रमांश्च तथा पुण्यान् दिव्यान्यायतनानि च ।
यानि चाश्रयणीयानि तानि सर्वाणि सोऽदहत् ॥ १२ ॥

उस संवर्तक अग्निने पर्वत, वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली,

तृण, दिव्य विमान, नाना प्रकारके नगर, पुण्य आश्रम, दिव्य शोभासे सम्पन्न मन्दिर तथा अन्य जो-जो आश्रय लेने योग्य स्थान थे—उन सबको दग्ध कर डाला ॥११-१२॥

भस्मीभूतांस्ततः सर्वांल्लोकाँल्लोकगुरुर्हरिः।
भूयो निर्वापयामास जलयुक्तेन कर्मणा ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् लोकगुरु श्रीहरिने भस्मीभूत हुए उन समस्त लोकोंको पुनः जलका संयोग करानेवाले उपायसे बुझा दिया ॥

सहस्रदृङ्महातेजा भूत्वा कृष्णो महाघनः।
दिव्यतोयेन हविषा तर्पयामास मेदिनीम् ॥ १४ ॥

सहस्रों नेत्रोंवाले उन महातेजस्वी श्रीकृष्णने महान् मेघ बनकर दिव्य जलरूपी हविष्यसे पृथ्वीको तृप्त किया ॥ १४ ॥

ततः क्षीरनिकाशेन स्वादुना परमाम्भसा।
शिवेन पुण्येन मही निर्वाणमगमत् परम् ॥ १५ ॥

दूधके समान स्वादिष्ट उत्तम कल्याणकारी एवं पवित्र उस जलसे वह जलती हुई पृथ्वी पूर्णतः शान्त हो गयी १५

ते नगा जलसंछन्नाः पयसः सर्वतोधराः।
एकार्णवजला भूत्वा सर्वसत्त्वविवर्जिताः ॥ १६ ॥

वे पर्वत और वृक्ष आदि जलसे आच्छादित हो सब ओरसे जल-ही-जल धारण किये रहे और एकार्णवके जलमें विलीन होकर सब प्रकारके प्राणियोंसे शून्य हो गये ॥१६॥

महाभूतान्यपि च तं प्रविष्टान्यमितौजसम्।
नष्टार्कपवनाकाशे सूक्ष्मे जनविवर्जिते ॥ १७ ॥
संशोषयित्वा पीत्वा च वसत्येकः सनातनः।
पौराणं रूपमास्थाय किमप्यमितबुद्धिमान् ॥ १८ ॥

पाँचों महाभूत भी उन अमित बलशाली भगवान् विष्णुमें प्रविष्ट हो गये। जब सूर्य, वायु और आकाशका भी सूक्ष्म परमात्मतत्त्वमें लय हो गया, जीव-जन्तुओंका सर्वथा अभाव हो गया, तब वे एकमात्र अमित बुद्धिमान् सनातन पुरुष श्रीहरि अपने किसी अनिर्वचनीय पुरातन रूपका आश्रय ले पहलेके जलका शोषण और पान करके उस दिव्य एकार्णवके जलमें निवास करने लगे ॥ १७-१८ ॥

एकार्णवजले ह्यासीद् योगी योगमुपागतः।
अयुतानां सहस्राणि गतान्येकार्णवेऽम्भसि।
न चैनं कश्चिदव्यक्तं व्यक्तं वेदितुमर्हति ॥ १९ ॥

वे योगी श्रीहरि योगका आश्रय ले एकार्णवके जलमें रहने लगे; वहाँ रहते हुए उनके सहस्रों अयुतवर्ष व्यतीत हो गये। इन अव्यक्त परमेश्वरको कोई भी व्यक्तरूपसे नहीं जान सकता ॥ १९ ॥

जनमेजय उवाच

एकार्णवविधिः कोऽयं यश्चैव परिकीर्तितः।
क एष पुरुषो नाम किंयोगः कश्च योगवान् ॥ २० ॥

जनमेजयने पूछा—जिसका यहाँ वर्णन किया है, इस एकार्णवकी विधि(अवधि)क्या है ? अर्थात् भगवान् उसमें कबतक निवास करते हैं ? यह पुरुष कौन है ? इसके योगका स्वरूप क्या है ? और योगवान् (योगेश्वर) कौन है ?॥२०॥

वैशम्पायन उवाच

एतावन्तमसौ कालमेकार्णवविधिं प्रति।
करिष्यतीमं भगवानिति कश्चिन्न बुध्यते ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—वे भगवान् इतने समयतक एकार्णव-विधिका पालन करेंगे अर्थात् इतने समयतक ही एकार्णवके जलमें रहेंगे, यह कोई नहीं जानता ॥ २१ ॥

न वै माता न च द्रष्टा न ज्ञाता नैव पार्श्वगः।
न स्मावगच्छते कश्चिदृते तं देवमीश्वरम् ॥ २२ ॥

(यह पुरुष अनिर्वचनीय है) न तो वह प्रमाता है, न द्रष्टा है, न ज्ञाता है और न तटस्थ ही है; इन सबसे सर्वथा विलक्षण है। उसे उस परमेश्वरदेवके सिवा दूसरा कोई नहीं जान सकता (इसलिये उसका योग भी अनिर्वचनीय है) ॥ २२ ॥

नभः क्षितिं पवनमथ प्रकाशयन्
प्रजापतिं भुवनचरं सुरेश्वरम्।
पितामहं श्रुतिनिलयं महामुनिं
शशास भूः शयनमरोचयत् प्रभुः॥ २३ ॥

जिन्होंने आकाश, पृथ्वी और वायुको प्रकाशित करते हुए समस्त भुवनोंमें विचरनेवाले, सुरेश्वर, प्रजापति वेदनिष्ठ महामुनि पितामह ब्रह्माको भी ज्ञानका उपदेश दिया, वे सबकी उत्पत्तिके कारणभूत भगवान् योगवान् (योगेश्वर) हैं; उन्होंने ही एकार्णवके जलमें शयन करना पसंद किया ॥२३॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पुष्करप्रादुर्भावे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्करप्रादुर्भावविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥९॥

दशमोऽध्यायः

एकार्णवमें भगवान् और मार्कण्डेयजीका संवाद

वैशम्पायन उवाच

एवमेकार्णवीभूते शेते लोके महाद्युतिः।
प्रच्छाद्य सलिलं सर्वं हरिर्नारायणः प्रभुः ॥ १ ॥
महतो रजसो मध्ये महार्णवसमस्य वै।
विरजस्को महाबाहुरक्षरं ब्रह्म यं विदुः ॥ २ ॥
आत्मरूपप्रकाशेन तपसा संवृतः प्रभुः।
त्रिकमास्थाय कालं तु ततः सुष्वाप सोऽव्ययः॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! आत्मस्वरूपको प्रकाशित करनेवाले तपसे सम्पन्न, सर्वसमर्थ, रजोगुणरहित महातेजस्वी, महाबाहु, अविनाशी, भगवान् नारायण हरिने इस प्रकार सम्पूर्ण जगत्के एकार्णवमय हो जानेपर सम्पूर्ण जलको आच्छादित करके उसमें शयन किया। ये वे ही भगवान् हैं, जिन्हें विद्वान् पुरुष अविनाशी ब्रह्मके रूपमें जानते हैं। वे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालका आश्रय लेकर वहाँ सोये थे ॥ १-३ ॥

पुरुषो यज्ञ इत्येवं यत्परं परिकीर्तितम्।
यच्चान्यत् पुरुषाख्यं स्यात् सर्वं तत् पुरुषोत्तमः॥ ४ ॥

जिस परम तत्त्वको यज्ञपुरुषके नामसे कहा गया है तथा पुरुष नामसे प्रसिद्ध जो अन्य वस्तुएँ हैं, वे सब पुरुषोत्तम श्रीहरि ही हैं ॥ ४ ॥

ये च यज्ञपरा विप्रा ऋत्विजा इति संज्ञिताः।
आत्मदेहात् पुरा भूता यज्ञेभ्यः श्रूयतां तदा ॥ ५ ॥

यज्ञमें तत्पर रहनेवाले जो ब्राह्मण ऋत्विज कहलाते हैं, वे उन्हीं परमात्मा श्रीहरिके श्रीविग्रहसे पूर्वकालमें प्रकट हुए थे। उस समय उन्होंने उनको किस तरह प्रकट किया, यह बताता हूँ; सुनो ॥ ५ ॥

ब्रह्माणं परमं वक्त्रादुद्गातारं च सामगम्।
होतारमथ चाध्वर्युं बाहुभ्यामसृजत् प्रभुः ॥ ६ ॥

उन भगवान्ने सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मा और सामगान करनेवाले उद्गाताको अपने मुखसे उत्पन्न किया, होता और अध्वर्युकी सृष्टि अपनी दोनों भुजाओंसे की ॥ ६ ॥

ब्राह्मणो ब्राह्मणत्वाच्च सम्प्रस्तारं च सर्वशः।
तन्मित्रं वरुणं सृष्ट्वा प्रतिष्ठातारमेव च ॥ ७ ॥

वेदाध्ययन करनेके कारण ब्राह्मणाच्छंसी नामवाला ब्राह्मण उन्हींसे प्रकट हुआ। उन्होंने प्रस्तोता और मैत्रावरुण नामक प्रशास्ताकी सृष्टि करके प्रतिप्रस्थाताको उत्पन्न किया ॥

उदरात् प्रतिहर्तारं पोतारं चैव भारत।
अच्छावाकं मनोरूभ्यां नेष्टारं चैव भारत ॥ ८ ॥

भारत! उन्हीं भगवान्ने उदरसे प्रतिहर्ता और पोताकी सृष्टि की। भरतनन्दन! उन्होंने मन और ऊरुसे अच्छावाक् और नेष्टाको उत्पन्न किया ॥ ८ ॥

पाणिभ्यामथ चाग्नीध्रं सुब्रह्मण्यं च यज्ञियम्।
ग्रावाणमथ बाहुभ्यामुन्नेतारं च यज्ञियम् ॥ ९ ॥

दोनों हाथोंमे आग्नीध्र और यज्ञसम्बन्धी सुब्रह्मण्यको उत्पन्न किया। भुजाओंसे ग्रावस्तोता और यज्ञसम्बन्धी उन्नेताकी सृष्टि की ॥ ९ ॥

एवमेवैष भगवान् षोडशैताञ्जगत्पतिः।
प्रवक्तॄन् सर्वयज्ञानामृत्विजोऽसृजदुत्तमान् ॥ १० ॥

इस प्रकार इन जगदीश्वर भगवान् श्रीहरिने सम्पूर्ण यज्ञकर्मोंका उपदेश देनेवाले सोलह उत्तम ऋत्विजोंकी सृष्टि की ॥ १० ॥

तदेष वै वेदमयः पुरुषो यज्ञसम्मितः।
वेदाश्च तन्मयाः सर्वे साङ्गोपनिषदक्रियाः ॥ ११ ॥

ये ही वेदमय और यज्ञसम्मित पुरुष हैं। छहों अङ्गों, उपनिषदों और कर्मकाण्डसहित सम्पूर्ण वेद भी इन्हींके स्वरूप हैं ॥ ११ ॥

स्वपित्येकार्णवे चैव यदाश्चर्यमभूत्तदा।
श्रूयते तद् यथावृत्तं मार्कण्डेयो यदन्वभूत् ॥ १२ ॥

जब वे एकार्णवके जलमें शयन करते थे, उस समय जो आश्चर्यजनक घटना घटित हुई थी, उसे मुनिवर मार्कण्डेयजीने ठीक-ठीक अनुभव किया था—ऐसा सुना जाता है ॥

जीर्णो भगवतस्तस्य कुक्षावेव महामुनिः।
बहुवर्षसहस्रायुस्तस्यैव वरतेजसा ॥ १३ ॥

महामुनि मार्कण्डेय उन भगवान् श्रीहरिके उदरमें ही जवानसे बूढ़े हो गये थे। उन भगवान्के ही उत्तम तेजसे मार्कण्डेयजीको अनेक सहस्र वर्षोंकी आयु प्राप्त हुई थी ॥

इति तीर्थप्रसङ्गेन पृथ्वीतीर्थगोचरः।
आश्रमानपि पुण्यांश्च तीर्थान्यायतनानि च ॥ १४ ॥
देशान् राष्ट्राणि चित्राणि पुराणि विविधानि च।
जपहोमरतः क्षान्तस्तपो घोरं समाश्रितः ॥ १५ ॥

इस तरह वे तीर्थयात्राके प्रसंगसे भगवान्के उदरमें ही भूमण्डलके तीर्थोंमें विचरते रहे। उन्होंने वहाँ पवित्र आश्रमों, तीर्थों, देवालयों, देशों, विचित्र राष्ट्रों और नाना प्रकारके नगरोंका दर्शन किया। तत्पश्चात् वे घोर तपस्याका आश्रय ले जप और होममें संलग्न होकर अत्यन्त दुर्बल हो गये ॥

मार्कण्डेयस्ततस्तस्य शनैर्वक्त्राद् विनिःसृतः।
निष्क्रामन्तं न चात्मानं जानीते देवमायया ॥ १६ ॥

इसके बाद एक दिन मार्कण्डेयजी धीरे-से भगवान्के मुखसे बाहर निकल आये। देवमायासे मोहित होकर वे अपना निकलना नहीं जान सके ॥ १६ ॥

निष्क्रान्तस्तस्य वदनादेकार्णवमथो गतः।
सर्वतस्तमसाच्छन्नं मार्कण्डेयो निरीक्षते ॥ १७ ॥

भगवान्के मुखसे निकलकर मार्कण्डेयजी एकार्णवके जलमें आ गये, फिर तो उन्होंने अपने-आपको सब ओरसे अन्धकारसे आच्छन्न देखा ॥ १७ ॥

तस्योत्पन्नं भयं तीव्रं संशयश्चात्मजीविते।
देवदर्शनसंहृष्टो विस्मयं चागमत् परम् ॥ १८ ॥

अब उनके मनमें बड़ा भारी भय हुआ। अपने जीवनके लिये भी संशय उत्पन्न हो गया, परंतु भगवान्के दर्शनसे उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। वे बड़े विस्मयमें पड़ गये थे ॥ १८ ॥

संचिन्तयति मध्यस्थो मार्कण्डेयोऽतिशङ्कितः ।
किंस्विद्भवेदियं चिन्ता मोहः स्वप्नोऽनुभूयते ॥ १९ ॥

वे मार्कण्डेय मुनि अत्यन्त शङ्कित हो मध्यस्थकी भाँति इस प्रकार विचार करने लगे—'मेरी यह चिन्ता क्या है ? मुझे मोह हो गया है या स्वप्नका अनुभव हो रहा है ? ।१९।

व्यक्तमन्यतमो भावो ह्येतेषां भविता मम ।
न हीदृशमसंश्लिष्टमयुक्तं सत्यमर्हति ॥ २० ॥

'निश्चय ही मेरा यह भाव चिन्ता, मोह और स्वप्नमेंसे ही कोई हो सकता है; क्योंकि ऐसी असम्बद्ध और अयुक्त बात कभी सत्य नहीं हो सकती ॥ २० ॥

नष्टचन्द्रार्कपवने छन्नपर्वतभूतले ।
कतमः स्यादयं लोक इति चिन्ताव्यवस्थितः ॥ २१ ॥

'जहाँ चन्द्रमा, सूर्य और वायुका दर्शन नहीं होता, पर्वत और भूतल आच्छन्न हो गये हैं, ऐसा यह कौन-सा लोक है ?' इसी चिन्तामें डूबे हुए मार्कण्डेयजी खड़े रहे ॥ २१ ॥

अपश्यच्चापि पुरुषं शयानं पर्वतोपमम् ।
तोयाढ्यमिव जीमूतं मध्ये मग्नं महार्णवे ॥ २२ ॥

वहाँ उन्होंने महासागरके मध्यमें मग्न होकर सोये हुए एक पर्वताकार पुरुषको भी देखा, जो सजल जलधरके समान जान पड़ता था ॥ २२ ॥

तपन्तमिव तेजोभिर्भासन्तमिव वर्चसा ।
जाग्रन्तमिव गाम्भीर्यादुच्छ्वसन्तमिव पन्नगम् ॥ २३ ॥

वह पुरुष अपने तेजसे तप-सा रहा था । अपनी दीप्तिसे उद्भाषित-सा होता था । गम्भीरताके कारण जागता-सा जान पड़ता था और सर्पके समान उच्छ्वास ले रहा था ॥ २३ ॥

स देवं प्रष्टुमायाति को भवानिति विस्मयात् ।
तथैव च शनैर्भूयो मुनिः कुक्षिं प्रवेशितः ॥ २४ ॥

वे मुनि आश्चर्यसे चकित होकर ज्यों ही भगवान्‌के पास यह पूछनेके लिये आये कि आप कौन हैं ? त्यों ही फिर धीरेसे भगवान्‌के उदरमें पहुँचा दिये गये ॥ २४ ॥

स प्रविष्टः पुनः कुक्षौ मार्कण्डेयः सुनिश्चितः ।
तथैव चरते भूयो विजानन् स्वप्नदर्शनम् ॥ २५ ॥

पुनः उनकी कुक्षिमें प्रवेश करनेपर मार्कण्डेयजी सुस्थिर हुए । वे एकार्णवकी घटनाको स्वप्नदर्शन समझते हुए फिर इधर-उधर विचरने लगे ॥ २५ ॥

स तथैव यथापूर्वं पृथिवीमटते पुनः ।
पुण्यतीर्थानि पूतानि निरैक्षद् दिवि भूतले ॥ २६ ॥

वे पहलेकी ही भाँति पृथ्वीपर घूमने और भूतल तथा स्वर्गके पवित्र पुण्यतीर्थोंका दर्शन करने लगे ॥२६ ॥

क्रतुभिर्यजमानांश्च समाप्तवरदक्षिणैः ।
पश्यते देवकुक्षिस्थान् यज्ञियाञ्छतशो द्विजान्॥ २७ ॥

उन्होंने भगवान्‌के उदरमें स्थित हुए सैकड़ों यज्ञ-सम्बन्धी ब्राह्मणों और उत्तम दक्षिणाके साथ समाप्त होनेवाले यज्ञोंके अनुष्ठानमें लगे हुए यजमानोंको देखा ॥ २७ ॥

सद्वृत्तमाश्रिताः सर्वे वर्णा ब्राह्मणपूर्वकाः ।
चत्वारश्चाश्रमाः सम्यग् यथोद्दिष्टपदानुगाः ॥ २८ ॥

ब्राह्मण आदि सभी वर्णोंके लोग सदाचारका पालन करते थे । ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम उत्तम रीतिसे शास्त्रोक्त मर्यादाका अनुसरण करते थे ॥ २८ ॥

वर्षाणां शतसाहस्रं मार्कण्डेयो महामुनिः ।
विचरन् पृथिवीं कृत्स्नां न च कुक्ष्यन्तमैक्षत॥ २९ ॥

महामुनि मार्कण्डेय एक लाख वर्षोंतक सारी पृथ्वीपर विचरते रहे, परंतु कहीं भी उन्हें भगवान्‌के उदरका अन्त नहीं दिखायी दिया ॥ २९ ॥

ततः कदाचिदथ वै पुनर्वक्त्राद् विनिःसृतः ।
सुप्तं न्यग्रोधशाखायां बालमेकं निरीक्षते ॥ ३० ॥
यथा चैकार्णवजले नीहारेण वृतान्तरे ।
अव्यक्तभीषणे लोके सर्वभूतविवर्जिते ॥ ३१ ॥

तदनन्तर किसी दिन वे फिर भगवान्‌के मुखसे बाहर निकल गये । वहाँ अव्यक्त एवं भीषण जगत्‌में जहाँ समस्त प्राणियोंका अभाव था, उन्होंने एकार्णवके जलमें, जिसका भीतरी भाग कुहरेसे घिरा हुआ था, बरगदकी शाखापर एक बालकको सोते देखा ॥ ३०-३१ ॥

स भूयो विस्मयाविष्टः कौतूहलसमन्वितः ।
बालमादित्यसंकाशं न शक्नोत्युपसर्पितुम् ॥ ३२ ॥

फिर वे आश्चर्यचकित और कौतूहलयुक्त होकर खड़े रह गये । उस सूर्यके समान तेजस्वी बालकके पास न जा सके ॥ ३२ ॥

सोऽचिन्तयदथैकान्ते स्थित्वा सलिलसंनिधौ ।
पूर्वदृष्टमिदं नेति शङ्कितो देवमायया ॥ ३३ ॥

उन्होंने जलके समीप एकान्तमें खड़े होकर सोचा कि—मैंने पहले कभी ऐसा आश्चर्य नहीं देखा था; यह विचार आते ही वे देवमायाके प्रभावसे शङ्कित हो गये ॥ ३३ ॥

अगाधे सलिले स्तब्धे मार्कण्डेयः प्लवन् मुनिः ।
न शान्तिं लभते तत्र श्रमात् संत्रस्तविक्लवः ॥ ३४ ॥

अगाध एवं सुस्थिर जलवाले एकार्णवमें तैरते हुए मार्कण्डेय मुनि श्रमसे भयभीत हो रहे थे, उन्हें वहाँ तनिक भी शान्ति नहीं मिलती थी ॥ ३४ ॥

तथैव भगवान् हंसो गतो योगेन बालताम् ।
बभाषे मेघतुल्येन स्वरेण पुरुषोत्तमः ॥ ३५ ॥

इतनेहीमें योगसे बालकरूप हुए हंसस्वरूप भगवान् पुरुषोत्तमने मेघके समान गम्भीर स्वरमें कहा ॥ ३५ ॥

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्वत्स न भेतव्यमिहैवायाहि चान्तिकम् ।
मार्कण्डेय मुने धीर बालस्त्वं श्रमपीडितः ॥ ३६ ॥

श्रीभगवान् बोले—बेटा ! डरो मत ! डरनेकी आवश्यकता नहीं है; यहीं मेरे निकट चले आओ ! धीर मुनि मार्कण्डेय ! तुम बालक हो, अतः श्रमसे पीड़ित हो रहे हो ॥ ३६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

को मां नाम्ना कीर्तयते तपः परिभवन् मम ।
बहुवर्षसहस्राख्यं धर्षयंश्चैव मे वयः ॥ ३७ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—कौन मेरी तपस्या तथा अनेक सहस्र वर्षोंकी आयुवाली अवस्थाका तिरस्कार करता हुआ मुझे नाम लेकर पुकार रहा है ॥ ३७ ॥

न ह्येष समुदाचारो देवेष्वपि समाहितः ।
मां ब्रह्मापि स विश्वेशो दीर्घायुरिति भाषते ॥ ३८ ॥

देवताओंके यहाँ भी यह आचार प्रचलित नहीं है, साक्षात् लोकनाथ ब्रह्माजी भी मुझे दीर्घायु कहते हैं (मेरा नाम नहीं लेते हैं) ॥ ३८ ॥

कस्तपो घोरशिरसो ममाद्य त्यक्तजीवितः ।
मार्कण्डेयेति मां प्रोक्त्वा मृत्युमीक्षितुमिच्छति॥ ३९ ॥

किसने अपने जीवनका मोह त्याग दिया है, जो आज मुझ घोरशिराके तपका तिरस्कार करता हुआ मुझे मार्कण्डेय कहकर अपनी मौत देखना चाहता है ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाभाषते क्रोधान्मार्कण्डेयो महामुनिः ।
अथैनं भगवान् भूयो बभाषे तत्परायणम् ॥ ४० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब महामुनि मार्कण्डेय क्रोधपूर्वक इस प्रकार बोल रहे थे, उस समय भगवान्ने पुनः अपने शरणागत भक्त इन महर्षिसे यों कहा ॥ ४० ॥

श्रीभगवानुवाच

अहं ते जनको वत्स हृषीकेशः पिता गुरुः ।
आयुःप्रदाता पौराणः किमर्थं नोपसर्पसि ॥ ४१ ॥

श्रीभगवान् बोले—वत्स ! मैं तुम्हें जन्म देनेवाला तुम्हारा पिता और गुरु हृषीकेश हूँ । तुम्हे दीर्घायु प्रदान करनेवाला पुरातन पुरुष मैं ही हूँ । तुम मेरे पास क्यों नहीं आते हो ॥ ४१ ॥

मां पुत्रकामः प्रथमं पिता ते ह्यङ्गिरा मुनिः ।
पूर्वमाराधयामास तपस्तीव्रमुपाश्रितः ॥ ४२ ॥

पूर्वकालमें पुत्रकी इच्छावाले तुम्हारे पिता अङ्गिरा मुनिने तीव्र तपस्याका आश्रय लेकर सर्वप्रथम मेरी ही आराधना की थी ॥ ४२ ॥

ततस्त्वां घोरशिरसं दहनोपमतेजसम् ।
दत्तवानहमात्मेष्टं महर्षिममितायुषम् ॥ ४३ ॥

तब मैंने अग्नि-तुल्य तेजस्वी अपरिमित आयुवाले, अपने परम प्रिय, महर्षि तुझ घोरशिराको उन्हें पुत्ररूपमें प्रदान किया ॥ ४३ ॥

तत्र नोत्सहते चान्यो यो न भूतो ममात्मकः ।
द्रष्टुमेकार्णवगतं क्रीडन्तं योगधर्मिणम् ॥ ४४ ॥

ऐसी स्थितिमें जो मुझसे अभिन्न नहीं हुआ है, वह दूसरा कोई भूत अचेतन होनेके कारण एकार्णवमें रहकर क्रीडा करनेवाले मुझ योगधर्मी परमात्माका दर्शन करनेका साहस नहीं कर सकता ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रसन्नवदनो विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिपुटो मार्कण्डेयो महातपाः ॥ ४५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर महातपस्वी मार्कण्डेयके मुखपर प्रसन्नता छा गयी, उनके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे, उन्होंने मस्तकपर दोनों हाथ जोड़ लिये ॥ ४५ ॥

नामगोत्रं ततः श्रुत्वा दीर्घायुर्लोकपूजितः ।
अथाकरोन्नमस्कारं प्रणतः शिरसा प्रभुम् ॥ ४६ ॥

उन लोकपूजित दीर्घायु महर्षिने भगवान्के मुखसे अपने नाम-और गोत्रको सुनकर उनके चरणोंमें सिर झुका दिया और प्रणतभावसे नमस्कार किया ॥ ४६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इच्छेऽहं तत्त्वतो मायामिमां ज्ञातुं तवानघ ।
यदेकार्णवमध्यस्थः शेषे त्वं बालरूपवान् ॥ ४७ ॥

मार्कण्डेय बोले—अनघ ! आप इस एकार्णवके मध्यमें जो बालकरूप धारण करके शयन कर रहे हैं, आपकी इस मायाको मैं ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ ॥ ४७ ॥

किंसंज्ञः कश्च भगवाँल्लोके विज्ञायसेऽनघ ।
तर्कये त्वां महाभूतं न भूतमिह तिष्ठति ॥ ४८ ॥

निष्पाप परमेश्वर ! सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश और श्रीसे सम्पन्न आप कौन हैं ? और किस नामसे लोकमें जाने जाते हैं ? मैं अनुमान करता हूँ कि आप कोई महान् भूत हैं, क्योंकि कोई साधारण भूत यहाँ नहीं ठहर सकता ॥ ४८ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहं नारायणो ब्रह्मा सम्भवः सर्वदेहिनाम् ।
सर्वभूतोद्भवकरः सर्वभूतविनाशनः ॥ ४९ ॥

श्रीभगवान् बोले—मुने ! मैं नारायण, समस्त देहधारियोंकी उत्पत्तिका कारणभूत ब्रह्मा, सम्पूर्ण भूतोंका उद्भव करनेवाला तथा समस्त भूतोंका संहार करनेमें समर्थ (रुद्र) हूँ ॥ ४९ ॥

अहमैन्द्रे पदे शक्र ऋतूनामपि वत्सरः।
अहं युगे युगाक्षश्च युगस्यावर्त एव च ॥ ५० ॥

मैं ही शक्र नामसे प्रसिद्ध होकर इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित हुआ हूँ। मैं ही ऋतुओंका स्वामी संवत्सर हूँ। मैं ही प्रत्येक युगमें युगाक्ष और युगावर्त कहलाता हूँ ॥ ५० ॥

अहं सर्वाणि सत्त्वानि दैवतान्यखिलानि च।
भुजगानामहं शेषस्तार्क्ष्योऽहं सर्वपक्षिणाम् ॥ ५१ ॥

मैं ही सम्पूर्ण प्राणी और समस्त देवता, सर्पोंमें शेष तथा सारे पक्षियोंमें गरुड़ भी मैं ही हूँ ॥ ५१ ॥

अहं सहस्रशीर्षो द्यौर्यः पदैरभिसंवृतः।
आदित्यो यज्ञपुरुषो देवो यज्ञमयो मखः।
अहमग्निर्हव्यवाहे यादसां पतिरव्ययः ॥ ५२ ॥

मैं सहस्रों मस्तकोंसे युक्त विराट् पुरुष हूँ। मैं ही वह आकाश या स्वर्ग हूँ, जो मेरे चरणचिह्नोंसे व्याप्त है। मैं ही सूर्यदेव, यज्ञपुरुष तथा तपोयज्ञ, योगयज्ञ आदि अनेक प्रकारके यज्ञोंसे सम्पन्न होनेवाला मख (महायज्ञ) भी मैं ही हूँ। मैं ही देवताओंको हविष्य पहुँचानेवाला अग्निदेव हूँ। जलजन्तुओंका पालक अविनाशी वरुण भी मैं ही हूँ ॥ ५२ ॥

यत्पृथिव्यां द्विजेन्द्राणां तपसा भावितात्मनाम्।
बहुजन्मनिरुद्धात्मा ब्राह्मणो यतिरुच्यते ॥ ५३ ॥

भूमण्डलमें स्वधर्मानुष्ठानरूप तपसे विशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषोंमेंसे जो अनेक जन्मोंतक चित्तवृत्तियोंका निरोधरूप योग साधनेवाला ब्रह्मवेत्ता संन्यासी है, वह जिस ब्रह्मका स्वरूप बताया जाता है, वह ब्रह्म मैं ही हूँ ॥ ५३ ॥

ज्ञानवान् दृष्टविश्वात्मा योगिनां योगवित्तमः।
कृतान्तः सर्वभूतानां विश्वेषां कालसंज्ञितः ॥ ५४ ॥

जिसने विश्वात्माका साक्षात्कार कर लिया है, वह ज्ञानी मैं ही हूँ। मैं ही योगियोंमें परम योगवेत्ता हूँ। मैं ही समस्त प्राणियोंका अन्त करनेवाला कृतान्त एवं समस्त लोकोंका काल हूँ ॥ ५४ ॥

अहं कर्म क्रिया जीवः सर्वेषां धर्मदर्शनः।
निष्क्रियः सर्वभूतेषु स्वात्मज्योतिः सनातनः ॥ ५५ ॥

मैं ही कर्म, क्रिया, जीव और सबको धर्मके स्वरूप या फलका दर्शन करानेवाला हूँ। मैं ही समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित, निष्क्रिय (साक्षी) आत्मज्योतिसे प्रकाशित सनातन परमात्मा हूँ ॥ ५५ ॥

प्रधानं पुरुषो देवोऽहमाद्यस्त्वक्षयोऽव्ययः।
अहं धर्मस्तपश्चाहं सर्वाश्रमनिवासिनाम् ॥ ५६ ॥

मैं ही प्रकृति, पुरुष और देवता हूँ। मैं ही सबका आदिकारण, अक्षय एवं अव्यय परमेश्वर हूँ। मैं ही सम्पूर्ण आश्रमोंमें निवास करनेवाले पुरुषोंका धर्म और तप हूँ ॥

अहं हयशिरो देवः क्षीरोदे यो महार्णवे।
ऋतं सत्यं च परममहमेकः प्रजापतिः ॥ ५७ ॥

मैं ही भगवान् हयग्रीव हूँ। जिन्होंने महान् क्षीरसागरमें प्रकट हो वेदोंकी रक्षा की थी। ऋत और परम सत्य भी मैं ही हूँ। एकमात्र मैं ही प्रजापति हूँ ॥ ५७ ॥

अहं सांख्यमहं योगमहं तत्परमं पदम्।
अहमिज्यो भवश्चाहमहं विद्याधिपः स्मृतः ॥ ५८ ॥

मैं ही सांख्य, मैं ही योग और मैं ही परमपद हूँ। मैं ही पूजनीय, मैं ही भव (शिव) और मैं ही विद्याओंका अधिपति हूँ ॥ ५८ ॥

अहं ज्योतिरहं वायुरहं भूमिरहं नभः।
अहमापः समुद्राश्च नक्षत्राणि दिशो दश।
अहं वर्षमहं सोमः पर्जन्योऽहमहं रविः ॥ ५९ ॥

मैं ही अग्नि, मैं ही वायु, मैं ही भूमि और मैं ही आकाश हूँ। जल, समुद्र, नक्षत्र और दसों दिशाएँ भी मैं ही हूँ। मैं ही वर्षा, मैं ही सोम, मैं ही मेघ और मैं ही सूर्य हूँ ॥ ५९ ॥

क्षीरोदः सागरश्चाहं समुद्रो वडवामुखः।
वह्निः संवर्तको भूत्वा पिबंस्तोयमयं हविः ॥ ६० ॥

मैं ही क्षीरसागर समुद्र और वड़वामुख अग्नि हूँ। मैं ही संवर्तक अग्नि होकर जगत्के जलरूपी हविष्यको पी लेता हूँ ॥ ६० ॥

अहं पुराणं परमं तथैवेह परायणम्।
अहं भूतस्य भव्यस्य वर्तमानस्य सम्भवः ॥ ६१ ॥

मैं ही परम पुरातन ब्रह्म हूँ। मैं ही यहाँ सबका परम आश्रय हूँ। मैं ही भूत, भविष्य और वर्तमान जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ ॥ ६१ ॥

यत्किंचित् पश्यसे चैव यच्छृणोषि च किंचन।
यच्चानुभवसे लोके तत् सर्वं मामकं स्मृतम् ॥ ६२ ॥

तुम इस लोकमें जो कुछ देखते, जो कुछ सुनते और जो कुछ अनुभव करते हो, वह सब मेरा ही स्वरूप माना गया है ॥ ६२ ॥

विश्वं सृष्टं मया पूर्वं सृजेयं चाद्य पश्य माम्।
युगे युगे च स्रक्ष्यामि मार्कण्डेयाखिलं जगत् ॥ ६३ ॥

पूर्वकालमें मैंने ही विश्वकी सृष्टि की थी और आज भी

मैं ही सृष्टि करूँगा। तुम मुझे देखो। मार्कण्डेय! प्रत्येक युग (कल्प) में सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि मैं ही करूँगा॥

तदेतदखिलं सर्वं मार्कण्डेयावधारय।
शुश्रूषुर्मम धर्मेप्सुः कुक्षौ चर सुखी भव॥ ६४॥

मार्कण्डेय! यह सारा जगत् सम्पूर्णरूपसे मेरा ही स्वरूप है—ऐसा समझो। अब तुम धर्मोपदेश सुननेकी इच्छा रखकर मेरे धर्मकी प्राप्तिके लिये उत्सुक हो मेरे उदरमें विचरण करो और सुखी हो जाओ॥ ६४॥

मम ब्रह्मा शरीरस्थो देवाश्च ऋषिभिः सह।
व्यक्तमव्यक्तयोगं मामवगच्छापराजितम्॥ ६५॥

ब्रह्माजी मेरे ही शरीरमें स्थित हैं। ऋषियोंसहित देवता भी मेरी देहमें ही हैं। तुम मुझे व्यक्त जगत्स्वरूप, अव्यक्त योगरूप परमात्मा तथा किसीसे भी पराजित न होनेवाला विष्णु समझो॥ ६५॥

अहमेकाक्षरो मन्त्रस्त्र्यक्षरश्चैव सर्वशः।
त्रिपदश्चैव परमस्त्रिवर्गार्थनिदर्शनः॥ ६६॥

मैं एकाक्षर मन्त्र अकार, त्र्यक्षर मन्त्र प्रणव तथा त्रिपद मन्त्र गायत्री हूँ। तथा मैं ही धर्म, अर्थ एवं कामरूप त्रिवर्गकी प्राप्ति करानेवाला (और मोक्षकी भी) प्राप्ति करानेवाला परमात्मा हूँ॥ ६६॥

वैशम्पायन उवाच

एवमेतत् पुराणेषु वेदान्ते च महामुनिः।
वक्त्रे व्याहृतवानाशु मार्कण्डेयं महामुनिम्।
प्रवेशयामास ततो जठरं विश्वरूपधृक्॥ ६७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार महामुनि व्यासने इस वेदान्तप्रसिद्ध परमतत्वका पुराणोंमें वर्णन किया है। विश्वरूपधारी भगवान् बालमुकुन्दने महामुनि मार्कण्डेयको अपने मुखमें डालनेके लिये उन्हें शीघ्र ही अपने पास बुलाया और उन्हे अपने उदरमें घुसा दिया॥ ६७॥

ततो भगवतः कुक्षिं प्रविष्टो मुनिसत्तमः।
रराम सुखमासाद्य शुश्रूषुर्हंसमव्ययम्॥ ६८॥

तत्पश्चात् भगवान्‌के उदरमें प्रविष्ट हुए मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय हंसस्वरूप अविनाशी परमात्माकी आराधनाके लिये उत्सुक हो सुखपूर्वक विचरने लगे॥ ६८॥

तदक्षरं विविधमथाश्रितो वपु-
र्महार्णवे व्यपगतचन्द्रभास्करे।
शनैश्चरन्प्रभुरपि हंससंज्ञितो-
ऽसृजज्जगद्विसृजति कालपर्यये॥ ६९॥

चन्द्रमा और सूर्यसे रहित उस एकार्णवमें अनेक प्रकारके स्वरूपका आश्रय लेनेवाले हंस-नामधारी भगवान्, जो अक्षरब्रह्मरूप हैं, धीरे-धीरे विचरने लगे। फिर सृष्टिकाल आनेपर उन्होंने ही जगत्‌की सृष्टि की तथा सदा ही विविध भौतिक वस्तुओंकी वे सृष्टि करते रहते हैं॥ ६९॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे मार्कण्डेयकर्तृकभगवद्दर्शने दशमोऽध्यायः॥ १०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावके प्रसंगमें मार्कण्डेयजीको भगवान्‌का दर्शनविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०॥

एकादशोऽध्यायः

परमात्माके द्वारा भूतोंकी सृष्टि तथा ब्रह्माजीको प्रकट करनेके लिये उनकी नाभिसे एक महान् पद्मका प्रादुर्भाव

वैशम्पायन उवाच

आपवः स विभुर्भूत्वा कारयामास वै तपः।
छादयित्वाऽऽत्मनो देहमात्मना कुम्भसम्भवः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वे हंससंज्ञक परमात्मा कुम्भयोनि ब्रह्मर्षि वसिष्ठ होकर अपनी कुम्भजनित देहको अपने आत्मा (समष्टिके अभिमानी चेतन) से आच्छादित करके तपस्या करने लगे॥ १॥

ततो महात्मातिबलो मतिं लोकस्य सर्जने।
महतां पञ्चभूतानां विश्वभूतो व्यचिन्तयत्॥ २॥

उस समय उन अत्यन्त शक्तिशाली विश्वरूप महात्माने भौतिक जगत् तथा उसके उपादानभूत पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टिका विचार किया॥ २॥

तस्य चिन्तयतस्तत्र तपसा भावितात्मनः।
निराकाशे तोयमये सूक्ष्मे जगति गह्वरे॥ ३॥
ईषत्संक्षोभयामास सोऽर्णवं सलिले स्थितः।
सोऽनन्तरोर्मिणा सूक्ष्ममथ च्छिद्रमभूत् तदा॥ ४॥

आकाशरहित जलस्वरूप सूक्ष्म गुफामें जगत्‌के लीन हो जानेपर वहाँ उस समय तपस्यासे भावित अन्तःकरणवाले वे परमेश्वर जब इस प्रकार चिन्तन कर रहे थे, तब सलिल-राशिमें स्थित हुए उन्होंने उस एकार्णवमें कुछ क्षोभ (हलचल) उत्पन्न कर दिया। तदनन्तर उनके मनमें जो सृष्टि-विषयक संकल्पकी दूसरी तरंग उठी, उससे उस जलमें सूक्ष्म छिद्र (आकाश या अवकाश) प्रकट हो गया ३—४

तत्र शब्दगतिर्भूत्वा मारुतच्छिद्रसम्भवः।
स लब्ध्वाऽऽन्तरमक्षोभ्यो व्यवर्धत समीरणः॥ ५॥

तदनन्तर जो संकल्पकी पुनः तीसरी तरंग उठी, उससे उस आकाशमें शब्दकी गति हुई अर्थात् वे ईश्वर ही वहाँ शब्दरूपसे गतिशील हुए । उनके इस प्रकार गतिशील होनेमें वायुका वेग ही कारण था । यदि कहें उस समय वहाँ वायु कहाँ थी तो इसका उत्तर सुनो—वे ईश्वर वह छिद्र या अवकाश पाते ही अक्षोभ्य होकर भी स्वयं वायुरूपमें प्रकट हो वहाँ बढ़ने लगे (तात्पर्य यह है कि आकाशके अनन्तर उत्पन्न हुई वायु शब्द और गतिकी अभिव्यक्तिमें कारण हुई)॥ ५॥

विवर्धता बलवता तेन संक्षोभितोऽर्णवः ।
अन्योन्यवेगाभिहता ममन्थुश्चोर्मयो भृशम् ॥ ६ ॥

उस बढ़ती हुई प्रबल वायुसे वह एकार्णवका जल सब ओरसे क्षुब्ध हो उठा । उसमें बहुत-सी तरंगें उठकर परस्पर वेगसे टकराती हुई उस महासागरको मथने लगीं ॥ ६ ॥

महार्णवस्य क्षुब्धस्य तस्मिन् नभसि मथ्यति ।
कृष्णवर्त्मा समभवत् प्रभुर्वैश्वानरोऽर्चिमान् ॥ ७ ॥

उस क्षुब्ध महासागरका जल जब इस प्रकार मथा जाने लगा, तब उससे ज्वालामालाओंसे युक्त शक्तिशाली कृष्णवर्त्मा अग्निका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ७ ॥

तत्र संशोषयामास पावकः सलिलं बहु ।
क्षयाज्जलनिधेश्छिद्रमभवन्निःसृतं नभः ॥ ८ ॥

उस अग्निने वहाँ फैली हुई अगाध जलराशिको सोख लिया । उस जलराशिके क्षीण हो जानेसे वहाँका स्थान खाली हो गया और आकाश निकल आया ॥ ८ ॥

आत्मतेजोद्भवाः पुण्या आपोऽमृतरसोपमाः ।
आकाशं छिद्रसम्भूतं वायुराकाशसम्भवः ॥ ९ ॥

अमृतरसके समान मधुर एवं पवित्र जल परमात्माके तेजसे प्रकट हुआ है । उस जलमें जो छिद्र प्रकट हुआ, उससे आकाशका आविर्भाव हुआ और आकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई ॥ ९ ॥

आज्यसंघर्षणोद्भूतं पावकं चाज्यसम्भवम् ।
दृष्ट्वा प्रीतियुतो देवो महाभूतादिभावनः ॥ १० ॥

घीके समान द्रवस्वरूप जो जल है, उसके पारस्परिक संघर्षसे पृथ्वीका प्रादुर्भाव हुआ । उस पृथ्वी या पार्थिव शरीरमें जठरानलका प्राकट्य हुआ, जो परम्परया जलसे ही उत्पन्न है । उसे देखकर महाभूतोंके आदिस्रष्टा परमात्मदेव बहुत प्रसन्न हुए ॥ १० ॥

दृष्ट्वा भूतानि भगवाँल्लोकसृष्ट्यर्थतत्त्ववित् ।
ब्रह्मणो जन्म स हितं बहुरूपो विचिन्वति ॥ ११ ॥

लोकसृष्टिके प्रयोजन और तत्त्वको जाननेवाले अनेक रूपधारी वे भगवान् प्रत्येक कल्पमें इस प्रकार भूतोंका प्राकट्य देखकर सृष्टि-विस्तारके लिये हितकर ब्रह्माजीके जन्मका चिन्तन करते हैं (अर्थात् मानसिक संकल्पसे ब्रह्माजीको उत्पन्न करते हैं)॥ ११ ॥

चतुर्युगादिसंख्यान्ते सहस्रयुगपर्यये ।
यत्पृथिव्यां द्विजेन्द्राणां तपसा भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥
बहुजन्मनिरुद्धात्मा ब्राह्मणो यतिरुत्तमः ।
ज्ञानवान् दृष्टविश्वात्मा योगिनां योगवित्तमः ॥ १३ ॥

एक सहस्र चतुर्युग बीतनेपर ब्रह्माजीका एक दिन होता है (और इसी दिनसे वे सौ वर्षोंतक जीवित रहते हैं) । वे ब्रह्मा पूर्वकल्पमें इस पृथ्वीपर तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले द्विजराजोंमें श्रेष्ठ, ब्रह्मके उपासक, यत्नशील, अनेक जन्मोंतक चित्त-वृत्तियोंका निरोध करनेवाले, ज्ञानवान्, विश्वात्माका साक्षात्कार करनेवाले और योगियोंमें सर्वश्रेष्ठ योगवेत्ता रहे होते हैं ॥ १२-१३ ॥

तं योगवन्तं विज्ञेयं सम्पूर्णैश्वर्यविक्रमम् ।
देवो ब्रह्मणि विश्वे च नियोजयति योगवित् ॥ १४ ॥

योगवेत्ता विश्वेश्वरदेव उन योगवान्, सबके लिये उपास्य तथा सम्पूर्ण ऐश्वर्य और विक्रमसे सम्पन्न ब्रह्माजीको वेद और जगत्‌की परम्परा बनाये रखनेके कार्यमें नियुक्त करते हैं ॥

ततस्तस्मिन् महातोये हविषो हरिरच्युतः ।
स्वपन् क्रीडंश्च विविधं मोदते चैष पावकिः ॥ १५ ॥

ब्रह्माजीको नियुक्त करनेके अनन्तर भगवान् श्रीहरि अपने स्वरूपभूत उस महान् जलमें अच्युतरूपसे स्थित होते हैं और ये नियुक्त हुए तैजस ब्रह्मा प्राणियोंके कर्मवश उनके कर्मोंसे उपरत होनेपर सोते तथा सबके कर्मोंके उद्भव होनेपर नाना प्रकारसे क्रीडाएँ करते हुए आनन्दमग्न होते हैं ॥१५॥

पद्मं नाभ्युद्भवं चैकं समुत्पादितवांस्तदा ।
सहस्रपत्रं विरजो भास्कराभं हिरण्मयम् ॥ १६ ॥

उस समय जब कि ब्रह्माके जन्मका समय उपस्थित हुआ था, भगवान् श्रीहरिने अपनी नाभिसे एक सहस्रदल कमल प्रकट किया, जो रजोगुण या रजसे रहित सूर्यके समान तेजस्वी तथा सुवर्णमय था ॥ १६ ॥

हुताशनज्वलितशिखोज्ज्वलप्रभं
सुगन्धिनं शरदमलार्कतेजसम् ।
विराजते कमलमुदारवर्चसं
महात्मनस्तनुरुहचारुदर्शनम् ॥ १७ ॥

महात्मा श्रीहरिके शरीरसे प्रकट हो अत्यन्त मनोहर

दिखायी देनेवाला वह अतिशय कान्तिमान् सुगन्धित कमल बड़ी शोभा पा रहा था। वह आगकी प्रज्वलित शिखाके समान अपनी उज्ज्वल प्रभासे प्रकाशित हो रहा था। उसका तेज शरत्कालके निर्मल सूर्यकी भाँति उद्भासित होता था॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे महापद्मोत्पत्तौ एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्करप्रादुर्भावके प्रसङ्गमें महापद्मकी उत्पत्तिविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११॥

द्वादशोऽध्यायः

नारायणके नाभिकमलके दलोंमें समस्त लोकोंकी कल्पना

वैशम्पायन उवाच

अथ योगविदां श्रेष्ठं सर्वभूतमनोमयम्।
स्रष्टारं सर्वभूतानां ब्रह्माणं सर्वतोमुखम्॥ १॥
तस्मिन् हिरण्मये पद्मे बहुयोजनविस्तृते।
सर्वतेजोगुणमये पार्थिवैर्लक्षणैर्युते॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर आपवस्वरूप परमात्माने अनेक योजन विस्तृत, सम्पूर्ण तेजोमय गुणोंसे सम्पन्न और पार्थिव लक्षणोंसे युक्त उस हिरण्मय कमलमें योगवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, सम्पूर्ण भूतोंके मनमें स्थित, सब ओर मुखवाले तथा समस्त प्राणियोंके स्रष्टा ब्रह्माजीको स्थापित कर दिया॥ १-२॥

तच्च पद्मं पुराणज्ञाः पृथिवीरूहमुत्तमम्।
नारायणाङ्गसम्भूतं प्रवदन्ति महर्षयः॥ ३॥

पुराणोंके ज्ञाता महर्षिगण पृथ्वी (शरीर) से उत्पन्न होनेवाले उस उत्तम कमलको नारायणके अङ्गसे प्रकट हुआ बताते हैं॥ ३॥

या तु पद्मासना देवी पृथिवीं तां प्रचक्षते।
ये गर्भसाराङ्कुरतस्तान् दिव्यान् पर्वतान् विदुः॥ ४॥

वह पद्म जिस देवीका आसन है, उसे पृथ्वी कहते हैं तथा उस कमलके भीतरी भागमें जो पाषाणमय होनेके कारण सुदृढ़ और अङ्कुरकी भाँति ऊँचे उठे हुए भाग हैं, उन्हें दिव्य पर्वत माना गया है॥ ४॥

हिमवन्तं च मेरुं च नीलं निषधमेव च।
कैलासं मुञ्जवन्तं च तथाद्रिं गन्धमादनम्॥ ५॥
पुण्यं त्रिशिखरं चैव कान्तं मन्दरमेव च।
उदयं कन्दरं चैव विन्ध्यमस्तं च पर्वतम्॥ ६॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—हिमवान्, मेरु, नील, निषध, कैलास, मुञ्जवान्, गन्धमादन, पवित्र त्रिकूट, कमनीय मन्दराचल, उदयाचल, कन्दराचल, विन्ध्याचल और अस्ताचल॥ ५-६॥

एते देवगणानां च सिद्धानां च महात्मनाम्।
आश्रमाः पुण्यशीलानां सर्वकामयुताद्रयः॥ ७॥

ये सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न पर्वत, देवताओं, सिद्धों और पुण्यशील महात्माओंके आश्रम हैं॥ ७॥

एतेषामन्तरो देशो जम्बूद्वीप इति स्मृतः।
जम्बूद्वीपस्य संख्यानं याज्ञिया यत्र चक्रिरे॥ ८॥

इनके बीचका देश जम्बूद्वीप माना गया है। जहाँ याज्ञिकोंने यज्ञ किया है, उसी प्रदेशको जम्बूद्वीपकी संज्ञा वा ख्याति प्राप्त हुई है॥ ८॥

गर्भाद् यद् स्रवते तोयं देवामृतरसोपमम्।
दिव्यतीर्थशतापाङ्गयस्ता दिव्याः सरितः स्मृताः॥ ९॥

उस कमलके गर्भसे जो देवताओंके अमृतरसके समान जल झरता है, उस जलको बहानेवाली दिव्य सरिताएँ मानी गयी हैं। सैकड़ों दिव्य तीर्थ उनके अपाङ्ग हैं॥ ९॥

यान्येतानि तु पद्मस्य केसराणि समन्ततः।
असंख्याताः पृथिव्यां तु विश्वे ते धातुपर्वताः॥ १०॥

उस पद्मके चारों ओर जो ये केसर हैं, वे ही भूमण्डलके सारे धातुपर्वत हैं, जिनकी गणना असम्भव है॥ १०॥

यानि पद्मस्य पत्राणि भूरीण्यूर्ध्वं नराधिप।
ते दुर्गमाः शैलचिता म्लेच्छदेशा विकल्पिताः॥ ११॥

नरेश्वर! उस कमलके जो बहुत-से ऊपरी दल हैं, वे ही पर्वतोंसे भरे हुए दुर्गम म्लेच्छ देश कहे गये हैं॥ ११॥

यान्यधः पद्मपत्राणि वासार्थं तानि भागशः।
दैत्यानामुरगाणां च पातालं तन्महात्मनाम्॥ १२॥

उक्त कमलके जो नीचेके पत्र हैं, वे पृथक्-पृथक् निवासके लिये चुन लिये गये हैं। उन्हींको महामना दैत्यों और सर्पोंका वासस्थान पाताल कहा गया है॥ १२॥

तेषामधोगतं यत्तदुदकेत्यभिसंज्ञितम्।
महापातककर्माणो मज्जन्ते यत्र मानवाः॥ १३[1]॥

उन पद्मपत्रोंके नीचे जो उदक नामक स्थान है, उसमें महापातकयुक्त कर्म करनेवाले मनुष्य डूबते हैं॥ १३॥

---

१. उद् उत्कृष्टं अकं दुःखं यत्र तद् उदकम् (जहाँ उत्कृष्ट अर्थात् महान् अक—दुःख है, वह स्थान उदक है)—इस व्युत्पत्तिके अनुसार नरकको ही यहाँ उदक कहा गया है।

पद्मस्यान्ते कुशं यत्तदेकार्णवजलं महत् ।
प्रोक्तास्ते दिक्षु संघाताश्चत्वारो जलसागराः ॥ १४ ॥

उस कमलके अन्तमें चारों ओर जो कुश अर्थात् जल है, वही एकार्णवकी अनन्त जलराशि है । उसके चार भाग चारों दिशाओंमें संचित हैं, जो जलके समुद्र कहे गये हैं ॥१४॥

ऋषेर्नारायणस्यायं महापुष्करसम्भवः ।
प्रादुर्भावोऽप्ययं तस्मान्नाम्ना पुष्करसम्भवः ॥ १५ ॥

नारायण ऋषिकी नाभिसे यह महान् पद्मका प्राकट्य हुआ है, इसीलिये उसके इस प्रादुर्भावको पुष्करसम्भव (पुष्करप्रादुर्भाव) नामसे कहा गया है ॥ १५ ॥

एतस्मात् कारणात् तज्ज्ञैः पुराणैः परमर्षिभिः ।
यज्ञियैर्वेददृष्टार्थैर्यज्ञे पद्मचितो कृतः ॥ १६ ॥

इसी कारणसे उस पद्मको जाननेवाले पुरातन महर्षियोंने, जो यज्ञपरायण तथा वेदार्थके ज्ञाता हैं, यज्ञमें कमलके आकारका कुण्ड निर्माण किया है ॥ १६ ॥

एवं भगवता पद्मे विश्वस्य परमो विधिः ।
पर्वतानां नदीनां च देशानां च विनिर्मितः ॥ १७ ॥

इस प्रकार भगवान्ने उस कमलमें ही विश्वकी व्यावहारिक सृष्टि की है, पर्वतों, नदियों तथा विभिन्न देशोंकी भी रचना की है ॥ १७ ॥

विभुस्तथैवाप्रतिमप्रभावः
प्रभाकरो वै भगवान् महात्मा ।
स्वयं स्वयंभूः शयनेऽसृजत् तदा
जगन्मयं पद्मनिधिं महार्णवे ॥ १८ ॥

अप्रतिम प्रभावशाली, सर्वव्यापी, प्रभापुञ्ज, ऐश्वर्यसम्पन्न, महामना, स्वयम्भू भगवान् नारायणने उस महार्णवके भीतर शयन करते समय स्वयं ही उस जगन्मय पद्मनिधिकी सृष्टि की थी ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे सर्वभूतोत्पत्तौ द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पौष्करप्रादुर्भावके प्रसङ्गमें सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

मधु और कैटभका ब्रह्माजीके साथ संवाद तथा भगवान् विष्णुके द्वारा वध

वैशम्पायन उवाच

चतुर्युगादिसम्भूतौ सहस्रयुगपर्यये ।
विघ्नस्तमसि सम्भूतो मधुर्नाम महासुरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सहस्र युगोंकी ब्रह्माजीकी रात्रि व्यतीत होनेपर चारों युगोंमें जो आदि सत्ययुग आया, उसमें आरम्भ होनेवाली सृष्टिके कार्यमें विघ्नस्वरूप एक महान् असुर उत्पन्न हुआ, जिसका नाम मधु था । वह तमोगुणसे प्रकट हुआ था ॥ १ ॥

तस्यैव च सहायोऽन्यो भूतो रजसि कैटभः ।
तौ रजस्तमसाविष्टौ सम्भूतौ कामरूपिणौ ॥ २ ॥

उसीका सहायक एक दूसरा असुर उत्पन्न हुआ था, जो रजोगुणसे प्रकट हुआ था; उसका नाम कैटभ था । वे दोनों इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे और रजोगुण तथा तमोगुणसे आविष्ट रहते थे ॥ २ ॥

एकार्णवजलं सर्वं क्षोभयन्तौ महासुरौ ।
कृष्णरक्ताम्बरधरौ श्वेतदीप्तोग्रदंष्ट्रिणौ ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण एकार्णवके जलमें क्षोभ उत्पन्न करते हुए वे दोनों महान् असुर क्रमशः काले और लाल रंगके वस्त्र धारण करते थे । उनकी भयंकर दाढ़ें सफेद और चमकीली थीं ॥ ३ ॥

उभौ मदकटोदग्रौ केयूरवलयोज्ज्वलौ ।
महाविवृतताम्राक्षौ पीनोरस्कौ महाभुजौ ॥ ४ ॥

वे दोनों उत्कट मदसे उद्दण्ड हो रहे थे । बाजूबंद और कड़े धारण करके उनकी दीप्तिसे दमक रहे थे । उनकी लाल-लाल आँखें बड़ी विकराल थीं । वक्षःस्थल मांससे भरे हुए थे और भुजाएँ लंबी थीं ॥ ४ ॥

महच्छिरःसंहननौ जङ्गमाविव पर्वतौ ।
नीलमेघाभ्रसंकाशावादित्यप्रतिमाननौ ॥ ५ ॥

उनके सिर और शरीर विशाल थे । वे दोनों दो चलते-फिरते पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे । मेघोंकी काली घटाके समान काले दिखायी देते थे । उनके मुख सूर्यके समान तेजस्वी थे ॥ ५ ॥

विद्युदम्भोदताम्राभ्यां कराभ्यामतिभीषणौ ।
पादसंचारवेगाभ्यामुत्क्षिपन्ताविवार्णवम् ॥ ६ ॥

बिजलीसहित मेघोंके समान ताम्रवर्णवाले दोनों हाथोंसे वे अत्यन्त भीषण दिखायी देते थे । अपने पैरोंके चलनेके वेगसे उस महासागरको उछालते हुए-से जान पड़ते थे ॥६॥

कम्पयन्ताविव हरिं शयानमरिसूदनम् ।
तौ तत्र विहरन्तौ स्म पुष्करे विश्वतोमुखम् ॥ ७ ॥



मधु-कैटभ दानवद्वारा एकार्णवमें हलचल (पृष्ठ-संख्या ७७८)

पश्यतां दीप्तवपुषं योगिनां श्रेष्ठमुत्तमम् ।
नारायणसमाज्ञप्तं सृजन्तमखिलाः प्रजाः ।
दैवतानि च विश्वानि मानसांश्च सुतानृषीन् ॥ ८ ॥

जलमें सोते हुए शत्रुसूदन श्रीहरिको कम्पित करते हुए-से वे दोनों असुर वहाँ विचर रहे थे । उन्होंने पूर्वोक्त कमलपर सब ओर मुखवाले, तेजस्वी शरीरसे युक्त और योगियोंमें श्रेष्ठ सर्वोत्तम ब्रह्माजीको देखा, जो भगवान् नारायणकी आज्ञासे समस्त प्रजाओंकी, सम्पूर्ण देवताओंकी तथा अपने मानस पुत्र महर्षियोंकी सृष्टि कर रहे थे ॥ ७–८ ॥

तावूचतुस्तत्र ब्रह्माणमसुरोत्तमौ ।
तौ युयुत्सुकौ क्रुद्धौ रोषसंरक्तलोचनौ ॥ ९ ॥

तदनन्तर वे दोनों असुरशिरोमणि बलके घमंडमें भरकर युद्धके लिये उत्सुक हो रोषसे लाल आँखें किये वहाँ ब्रह्माजीसे क्रोधपूर्वक बोले—॥ ९ ॥

कस्त्वं पुष्करमध्यस्थः सितोष्णीषश्चतुर्मुखः ।
आवामगणयन् मोहादास्से त्वं विगतज्वरः ॥ १० ॥

'अरे ! तू कौन है, जो मोहवश हम दोनोंको कुछ भी न गिनता हुआ श्वेत पगड़ी और चार मुँह धारण किये इस कमलके मध्यभागमें निश्चिन्त होकर बैठा है ? ॥ १० ॥

एह्यावयोर्बाहुयुद्धं प्रयच्छ कमलोद्भव ।
आवाभ्यामतिवीराभ्यां न शक्यं स्थातुमाहवे ॥ ११ ॥

'कमलोद्भव पुरुष ! आ । हमें बाहुयुद्धका अवसर दे । हम दोनों अत्यन्त वीर हैं । हमारे साथ तू युद्धमें नहीं टिक सकता है ॥ ११ ॥

कस्त्वं कश्चोद्भवस्तुभ्यं केन वासीह चोदितः ।
कः स्रष्टा कश्च वै गोप्ता केन नाम्नाभिधीयसे ॥ १२ ॥

'बता ! तू कौन है ? तुझे उत्पन्न करनेवाला कौन है ? किसने तुझे यहाँ सृष्टिके कार्यमें लगाया है ? तेरा स्रष्टा और संरक्षक कौन है ? तू किस नामसे पुकारा जाता है' ? ॥ १२ ॥

ब्रह्मोवाच

यः क इत्युच्यते लोके ह्यविज्ञातः सहस्रशः ।
तत्सम्भवं योगवन्तं किं मां नाभ्यवगच्छथः ॥ १३ ॥

ब्रह्माजीने कहा—जो लोकमें 'क' नामसे कहे जाते हैं । जिन्हें सहस्रों प्रयत्न करके भी किसीने पूर्णरूपसे नहीं जाना है । मैं उन्हीं परमात्मासे उत्पन्न और योगशक्तिसे सम्पन्न हूँ । क्या तुम दोनों मुझे नहीं जानते ? ॥ १३ ॥

मधुकैटभावूचतुः

नावयोः परमं लोके किंचिदस्ति महामते ।
आवाभ्यां छाद्यते विश्वं तमसा रजसा तथा ॥ १४ ॥

मधु और कैटभ बोले—महामते ! संसारमें हम दोनोंसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है । (इस विश्वको आच्छादित करनेवाले रजोगुण और तमोगुणसे हम दोनों प्रकट हुए हैं; अतः) हम दोनों अपने स्वरूपभूत तमोगुण और रजोगुणके द्वारा इस विश्वको आच्छादित करते हैं ॥ १४ ॥

रजस्तमोमयावावां यतीनां दुःखलक्षणौ ।
छलकौ धर्मशीलानां दुस्तरौ सर्वदेहिनाम् ॥ १५ ॥

हम दोनों क्रमशः रजोमय और तमोमय हैं । यत्नशील साधकोंको दुःख देना हमारा काम है । हम धर्मशील पुरुषोंको छलते हैं । हमें लाँघ जाना सभी देहधारियोंके लिये अत्यन्त कठिन है ॥ १५ ॥

आवाभ्यां मुह्यते लोक उच्छ्रिताभ्यां युगे युगे ।
आवामर्थश्च कामश्च यज्ञाः सर्वपरिग्रहाः ॥ १६ ॥

हम प्रत्येक युगमें उन्नत हो सारे संसारको मोहमें डाल देते हैं । अर्थ, काम, यज्ञ और समस्त परिग्रह हम दोनों ही हैं ॥ १६ ॥

सुखं यत्र मुदो यत्र यत्र श्रीः सन्नतिर्नयः ।
एषां यत्काङ्क्षितं चैव तत्तदावां विचिन्तय ॥ १७ ॥

जहाँ सुख है, आनन्द है । जहाँ श्री, सन्नति और नय है तथा इन सबके द्वारा जो-जो अभिलषित वस्तु है, वह-वह हम दोनों ही हैं । ऐसा चिन्तन कर ॥ १७ ॥

ब्रह्मोवाच

यत् तद् योगवतां श्रेष्ठं यश्च पूर्वं मयार्चितम् ।
तत् समाधाय गुणवान् सत्त्वे चास्मि प्रतिष्ठितः ॥ १८ ॥

ब्रह्माजी बोले—जो योगयुक्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं और जिनकी पहले मैंने आराधना की है, उन्हीं परमात्माको हृदयमें धारण करके मैं सत्त्वमें प्रतिष्ठित हूँ । गुणवान् हूँ—सृष्टिके साधनभूत त्रिगुणात्मक वस्तुओंका मेरे पास संग्रह है ॥ १८ ॥

यत्परं योगयुक्तानामक्षरं सत्त्वमेव च ।
रजसस्तमसश्चैव यत्स्रष्टा जीवसम्भवः ॥ १९ ॥
यतो भूतानि जायन्ते सात्त्विकानीतराणि च ।
स एव युद्ध्वा समरे वशी वां शमयिष्यति ॥ २० ॥

जो योगियोंके परम तत्त्व हैं, अविनाशी सत्त्व हैं, रजोगुण और तमोगुणके स्रष्टा हैं तथा जीवोंकी उत्पत्तिके कारण हैं, जिनसे सात्त्विक और असात्त्विक सभी भूत उत्पन्न होते हैं, सबको वशमें रखनेवाले वे ही परमात्मा समरभूमिमें युद्ध करके तुम दोनोंको शान्त कर देंगे ॥ १९-२० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शयानं श्रीमन्तं बहुयोजनविस्तृतम् ।
पद्मनाभं हृषीकेशं प्रणम्यावोचतामुभौ ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वहाँ अनेक योजन विस्तृत शरीर धारण करके सोये हुए सबकी इन्द्रियोंके प्रेरक श्रीमान् भगवान् पद्मनाभको प्रणाम करके वे दोनों मधु और कैटभ उनसे इस प्रकार बोले—॥ २१ ॥

जानीवस्त्वां विश्वयोनिमेकं पुरुषसत्तमम् ।
तवोपासनहेत्वर्थमिदं नौ विद्धि कारणम् ॥ २२ ॥

'प्रभो ! हम आपको जानते हैं; आप समस्त विश्वकी उत्पत्तिके एकमात्र स्थान और पुरुषोत्तम हैं । हम दोनोंकी जो यह सृष्टि हुई है, इसे आप अपनी उपासनाके लिये ही समझें ॥ २२ ॥

अमोघदर्शनं सत्यं यतस्त्वां विदुरीश्वरम् ।
ततस्त्वामभितो देव काङ्क्षावः प्रतिवीक्षितुम् ॥ २३ ॥

'देव ! ज्ञानी पुरुष आपका दर्शन अमोघ बताते हैं, आपको सत्यस्वरूप ईश्वर समझते हैं, इसलिये हम दोनों समीप आकर आपका दर्शन करना चाहते हैं ॥ २३ ॥

तदिच्छावो वरं दत्तं त्वया ह्यावामरिंदम ।
अमोघं दर्शनं देव नमस्तेऽस्त्वजितंजय ॥ २४ ॥

'शत्रुदमन ! हम दोनों आपके दिये हुए वरकी अभिलाषा रखते हैं । जो किसीसे भी हारा नहीं है, उसपर भी विजय पानेवाले देव ! आपका दर्शन अमोघ है, आपको नमस्कार है' ॥२४ ॥

श्रीभगवानुवाच

तानिच्छथो द्रुतं ब्रूतं वरानसुरसत्तमौ ।
दत्तायुषौ मया भूयस्त्वहो जीवितुमिच्छथः ॥ २५ ॥

श्रीभगवान् बोले—असुरशिरोमणियो ! जल्दी बोलो, तुम कौन-कौनसे वर लेना चाहते हो ? अहो ! मैंने तुम्हें जितनी आयु दी थी, उससे भी अधिक कालतक जीवित रहना चाहते हो ? आश्चर्य है ! ॥ २५ ॥

तस्माद् यदेष वां यत्नस्तत् प्राप्नुतं महाबलौ ।
वध्यौ भवन्तौ तु स्यातां तावित्येवाब्रवीद्धरिः ।
उभावपि महात्मानावूर्जितौ क्षतवर्जितौ ॥ २६ ॥

अतः तुमलोगोंने जो यह प्रयत्न किया है, तुम दोनों महाबली असुर इसका फल प्राप्त करो । तुम दोनों मेरे वध्य हो जाओ । इस प्रकार श्रीहरिने उन दोनोंसे कहा । तब वे दोनों आघातरहित महान् बलशाली महाकाय असुर उनसे यों बोले ॥ २६ ॥

मधुकैटभावूचतुः

यस्मिन् न कश्चिन्मृतवांस्तस्मिन् देशे विभो वधम् ।
इच्छावः पुत्रतां यातुं तव चैव सुराधिप ॥ २७ ॥

मधु और कैटभने कहा—प्रभो ! सुरेश्वर ! जिस देशमें अबतक कोई मरा न हो, उसीमें आप हमारा वध करें, यह हम दोनोंकी इच्छा है । साथ ही हम आपका पुत्र होना चाहते हैं ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

बाढं सुतौ मे प्रवरौ भविष्ये कल्पसम्भवे ।
भविष्यथो न संदेहः सत्यमेतद् ब्रवीमि वाम् ॥ २८ ॥

श्रीभगवान् बोले—बहुत अच्छा, तुम दोनों भविष्य कल्पमें मेरे श्रेष्ठ पुत्र होओगे, इसमें संदेह नहीं है । यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

वरं प्रदायाथ महासुराभ्यां
सनातनो विश्ववरोत्तमो विभुः ।
रजस्तमोभ्यां भवभावनोपमौ
ममन्थ तावूरुतले सुरारिहा ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देव-द्रोहियोंका दमन करनेवाले एवं विश्वमें सबसे श्रेष्ठ सर्वव्यापी सनातन पुरुष नारायणदेवने रजोगुण और तमोगुणके मूर्तिमान् स्वरूप उन दोनों महान् असुरोंको ऐसा वर देनेके अनन्तर उन्हें अपनी जाँघोंपर रखकर मथ डाला। वे दोनों विश्वविधाता ब्रह्माजीके समान ही शक्तिशाली थे ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि मधुकैटभवरप्रदाने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें मधु और कैटभको वरदानविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

ब्रह्माजीके तीन पुत्रोंको परम पदकी प्राप्ति, फिर उनके द्वारा मैथुनी सृष्टिका विस्तार, दक्ष-कन्याओंकी संततिका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

स्थित्वा तस्मिंस्तु कमले ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ।
ऊर्ध्वबाहुर्महाबाहुस्तपो घोरं समाश्रितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उस समय ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महाबाहु ब्रह्माजी उस कमलपर खड़े हो दोनों बाँहें ऊपर उठाकर घोर तपस्यामें लग गये ॥ १ ॥

ज्वलन्निव च तेजस्वी भाभिः स्वाभिस्तमोनुदः ।
बभासे सर्वधर्मज्ञः सहस्रांशुरिवांशुमान् ॥ २ ॥

ये तेजसे प्रज्वलित-से हो रहे थे और अपनी प्रभाओंसे अन्धकारका निवारण करते थे। सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता ब्रह्माजी उस समय सहस्र किरणोंवाले अंशुमाली सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २ ॥

अथान्यद्रूपमास्थाय शम्भुर्नारायणोऽव्ययः।
द्विधा कृत्वाऽऽत्मनाऽऽत्मानमचिन्त्यात्मा सनातनः॥३॥
आजगाम महातेजा योगाचार्यो महायशाः।
सांख्याचार्यश्च मतिमान् कपिलो ब्राह्मणो वरः ॥ ४ ॥
देवर्षिभिस्तु तावेतौ ब्रह्म ब्रह्मविदां वरौ।
उभावपि महात्मानावूर्जितौ क्षेत्रतत्परौ ॥ ५ ॥
तौ प्राप्तावूचतुस्तत्र ब्रह्माणममितौजसम्।
पराधरविशेषज्ञौ पूजितौ परमर्षिभिः ॥ ६ ॥

तदनन्तर कल्याणकारी एवं अविनाशी अचिन्त्यस्वरूप सनातनदेव भगवान् नारायण दूसरा रूप धारण कर अपने आपको ही दो स्वरूपोंमें व्यक्त करके महातेजस्वी, महायशस्वी योगाचार्य नारायण तथा परम बुद्धिमान् श्रेष्ठ ब्राह्मण सांख्याचार्य कपिलके रूपमें वहाँ पधारे। ये दोनों महात्मा ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, शक्तिशाली तथा क्षेत्र (शरीर या अध्यात्मतत्त्व) के चिन्तनमें तत्पर थे। देवर्षियोंद्वारा इनकी स्तुति की जा रही थी। वहाँ आकर उन दोनोंने अमिततेजस्वी ब्रह्माजीको ब्रह्मका उपदेश दिया। वे दोनों ही पर और अवर, पुरुष और प्रकृति अथवा कारण तथा कार्यकी विशेषता (अन्तर) को जाननेवाले थे। बड़े-बड़े ऋषियोंने उनका वहाँ पूजन किया ॥ ३–६ ॥

बहुत्वाद् दृढपादश्च विश्वात्मा जगतः स्थितिः।
ग्रामणीः सर्वलोकानां ब्रह्मा लोकगुरुर्वरः ॥ ७ ॥

उन्होंने इस प्रकार कहा—लोक बहुत हैं, अतः उन समस्त लोकोंके नेता और गुरु ब्रह्माजी सबसे श्रेष्ठ हैं। वे ही सम्पूर्ण विश्वके आत्मा तथा जगत्‌की प्रतिष्ठा हैं। उनके विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय नामक पाद सुदृढ़ हैं ॥ ७ ॥

तयोस्तद् वचनं श्रुत्वा तिस्रो व्याहृतयो जपन्।
श्रीनिमान् कृतवाँल्लोकान् यथाह ब्राह्मणी श्रुतिः॥ ८ ॥

उन दोनोंकी यह बात सुनकर भूः भुवः स्वः—इन तीनों व्याहृतियोंका जप करते हुए ब्रह्माजीने इन तीनों लोकोंकी सृष्टि की, जैसा कि ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति कहती है ॥ ८ ॥

पुत्रं भूसंज्ञकं चैव समुत्पादितवान् प्रभुः।
ततोऽग्रे तद्गतस्नेहो ब्रह्मा मानसमव्ययम् ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् भगवान् ब्रह्माने पहले भूनामक मानस पुत्रको उत्पन्न किया, जो अव्यय (विकाररहित) था। उनके मनमें उस पुत्रके प्रति बड़ा स्नेह था ॥ ९ ॥

सोत्पन्नस्त्वग्रे ब्रह्माणमुवाच मानसः सुतः।
करोमि किं ते साहाय्यं ब्रवीतु भगवानिति ॥ १० ॥

पहले उत्पन्न हुए उस मानसिक पुत्रने ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! बताइये! मैं आपकी क्या सहायता करूँ?' ॥ १० ॥

ब्रह्मोवाच

य एष कपिलो नाम ब्रह्मा नारायणस्तथा।
वदते वरदस्त्वां तु तत्कुरुष्व महामते ॥ ११ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महामते! ये जो कपिल नामक ब्रह्मा तथा वरदायक नारायण हैं, ये तुमसे जो कुछ कहें, वही करो ॥

वैशम्पायन उवाच

ब्रह्मणोक्तस्तदा भूयः संशयं समुपस्थितः।
शुश्रूषुरस्मि युवयोः किं कुर्मीति कृताञ्जलिः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय ब्रह्माजीके इस प्रकार कहनेपर भूनामक पुत्रको यह संशय हुआ कि मेरे पिताजीसे भी बढ़कर कौन है? तथापि उन दोनोंके पास गया और हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला, 'मैं आप दोनोंका सेवक हूँ, कहिये! क्या सेवा करूँ?' ॥ १२ ॥

परमेश्वरावूचतुः

यत् सत्यमक्षरं ब्रह्म ह्यष्टादशनिधं स्मृतम्।
यत् सत्यममृतं चैव परं तत् समनुस्मर ॥ १३ ॥

वे दोनों परमेश्वर बोले—जो सत्य एवं अविनाशी ब्रह्म है, उसके अठारह पाश माने गये हैं।[1] (इन पाशोंसे मुक्त होनेके लिये) जो सत् एवं अमृत परम तत्त्व है, उसका तुम निरन्तर चिन्तन करते रहो ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतद् वचो निशम्याथ स ययौ दिशमुत्तराम्।
गत्वा च तत्र ब्रह्मत्वमगमज्ज्ञानचक्षुषा ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उनकी यह बात सुनकर वह ब्रह्माजीका भूनामक मानस पुत्र उत्तर दिशाको चला गया, वहाँ जाकर वह ज्ञानदृष्टिसे विचार करके ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया ॥ १४ ॥

ततो ब्रह्मा भुवर्नाम द्वितीयमसृजत् प्रभुः।
संकल्पयित्वा च पुनर्मनसैव महामनाः ॥ १५ ॥

---

१. यहाँ सांख्य और योगमतके आचार्योंने अपने-अपने मतमें माने गये आठ और दस पाशोंको एकत्र करके उनकी अठारह संख्या बतायी है। सांख्यमतमें आठ प्रकारके पाश यों हैं, १—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, २—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, ३—अन्तःकरणचतुष्टय, ४—पञ्चविध प्राण, ५—आकाश आदि पञ्च महाभूत, ६—काम, ७—कर्म और ८ वीं अविद्या। ये पुर्यष्टक कहलाते हैं। इनमेंसे अविद्याको छोड़कर और प्रकृति, पुरुष तथा ईश्वरको जोड़कर दस पाश योगमतमें स्वीकार किये गये हैं।

तब महामनस्वी भगवान् ब्रह्माने पुनः मनसे ही संकल्प करके भुवर् नामक दूसरे पुत्रकी सृष्टि की ॥ १५ ॥

ततः सोऽप्यब्रवीद् वाक्यं किं कुर्मीति पितामहम्।
पितामहसमाज्ञप्तो ब्रह्माणौ समुपस्थितः ॥ १६ ॥

तब उसने भी पितामह ब्रह्माजीसे वही बात कही कि 'मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' फिर ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर वह पूर्वोक्त दोनों ब्रह्माओं (कपिल और नारायण) की सेवामें उपस्थित हुआ ॥ १६ ॥

ब्रह्मभ्यां सहितः सोऽथ भूयो भागवतीं गतः।
प्राप्तश्च परमं स्थानं स तयोः पार्श्वमागतः ॥ १७ ॥

उन दोनोंके पास आकर वह पुनः उनके साथ ही भागवती गति परम पदको प्राप्त हो गया ॥ १७ ॥

तस्मिन्नपि गते पुत्रं तृतीयमसृजत् प्रभुः।
मोक्षोपायेति कुशलं भूर्भुवर्नाम तं विभुः ॥ १८ ॥

उसके भी चले जानेपर वैभवशाली भगवान् ब्रह्माने 'भूर्भुवर्' नामक तीसरे पुत्रको उत्पन्न किया, जो मोक्षसाधनमें अत्यन्त कुशल था ॥ १८ ॥

आससाद स तद्धर्मं तयोरेवागमद् गतिम्।
एवं पुत्रास्त्रयोऽप्येते उक्ताः शम्भोर्महात्मनः ॥ १९ ॥

वह भी अपने पूर्वजोंके ही धर्मको प्राप्त हुआ और उसने भी उन्हींकी गति प्राप्त की। इस प्रकार ब्रह्माजीके इन तीनों पुत्रोंको उन कल्याणकारी महात्मा कपिल एवं नारायणने उपदेश दिया (और मुक्त किया) था ॥ १९ ॥

तान् गृहीत्वा सुतांस्तस्य प्रययौ स्वां गतिं तथा।
नारायणोऽथ भगवान् कपिलश्च यतीश्वरः ॥ २० ॥

ब्रह्माजीके उन तीनों मानस पुत्रोंको साथ लेकर वे भगवान् नारायण और यतीश्वर कपिल अपने स्वरूपको प्राप्त हुए ॥ २० ॥

यं कालं तौ गतौ मुक्तौ ब्रह्मा तत्कालमेव तु।
तेपे घोरतरं भूयः स तपः संशितव्रतः ॥ २१ ॥

जिस समय वे कपिल और नारायण अपने स्वरूपको प्राप्त एवं मुक्त हुए, उसी समय कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्माजीने पुनः घोरतर तपस्या प्रारम्भ की ॥ २१ ॥

न रराम ततो ब्रह्मा प्रभुरेकस्तपश्चरन्।
शरीरार्द्धमयो भार्यां समुत्पादितवाञ्छुभाम् ॥ २२ ॥

उस समय अकेले तपस्या करते हुए भगवान् ब्रह्माजी जब उसमें रम न सके, तब उन्होंने एक शुभलक्षणा भार्या उत्पन्न की, जो उनके शरीरका आधा भाग थी ॥ २२ ॥

तपसा तेजसा चैव वर्चसा नियमेन च।
सदृशीमात्मनो भार्यां समर्थां लोकसर्जने ॥ २३ ॥

तप, तेज, कान्ति और नियमकी दृष्टिसे उन्होंने सर्वथा अपने अनुरूप भार्याकी सृष्टि की थी, जो लोकोंकी सृष्टि करनेमें समर्थ थी ॥ २३ ॥

तया सह ततस्तत्र रेमे ब्रह्मा तपोमयः।
सृजन् प्रजापतीन् सर्वान् सागरान् सरितस्तथा ॥ २४ ॥

तब तपोमय जीवन व्यतीत करनेवाले ब्रह्माजी वहाँ उसके साथ रमण करने लगे। उस समय उन्होंने समस्त प्रजापतियों, सागरों और सरिताओंजी सृष्टि की थी ॥ २४ ॥

ततोऽसृजद् वै त्रिपदां गायत्रीं वेदमातरम्।
अकरोच्चैव चत्वारो वेदान् गायत्रिसम्भवान् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजीने वेदमाता त्रिपदा गायत्रीकी सृष्टि की, फिर गायत्रीसे प्रकट हुए चारों वेदोंका संकलन किया ॥

आत्मार्थं चासृजत् पुत्राँल्लोककर्तॄन् पितामहः।
विश्वे प्रजानां पतयो येभ्यो लोका विनिःसृताः ॥ २६ ॥

इसके बाद पितामह ब्रह्माने अपने लिये भी अनेक लोकस्रष्टा पुत्र उत्पन्न किये। वे सब-के-सब प्रजापति थे, जिनसे समस्त लोकोंका प्रादुर्भाव हुआ है ॥ २६ ॥

विश्वेशं प्रथमं नाम महातपसमात्मजम्।
सर्वाश्रमतमं पुण्यं नाम्ना धर्मं स सृष्टवान् ॥ २७ ॥

उनके प्रथम पुत्रका नाम विश्वेश था, वह महातपस्वी हुआ। फिर उन्होंने धर्म नामक दूसरे पुत्रकी सृष्टि की, जो सभी आश्रमोंमें श्रेष्ठ और पवित्र माना गया है ॥ २७ ॥

दक्षं मरीचिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
वसिष्ठं गौतमं चैव भृगुमङ्गिरसं मनुम् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजीने दक्ष, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, गौतम, भृगु, अङ्गिरा और मनुको उत्पन्न किया ॥ २८ ॥

अथर्वभूता इत्येते ख्याता ब्रह्ममहर्षयः।
त्रयोदशसुतानां तु ये वंशा वै महर्षिणाम् ॥ २९ ॥

ये विख्यात ब्रह्मर्षि अथर्वस्वरूप कहे गये हैं। ब्रह्माजीके ये तेरह पुत्र महर्षि हैं। इनके जो वंश हैं (उनका वर्णन किया जाता है) ॥ २९ ॥

अदितिर्दितिर्दनुः काला दनायुः सिंहिका मुनिः।
प्रबोधा सुरसा क्रोधा विनता कद्रुरेव च ॥ ३० ॥
दक्षस्यैता दुहितरः कन्या द्वादश भारत।
नक्षत्राणि च भद्रं ते सप्तविंशतिरूर्जिताः ॥ ३१ ॥

भारत! तुम्हारा कल्याण हो। अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, मुनि, प्रबोधा, सुरसा, क्रोधा, विनता और कद्रू —ये दक्षप्रजापतिकी बारह कन्याएँ हैं। जो सत्ताईस तेजस्वी नक्षत्र हैं।' वे भी दक्षकी ही कन्याएँ हैं ॥ ३०-३१ ॥

मरीचेः कश्यपः पुत्रस्तपसा निर्मितः प्रभुः ।
तस्मै कन्या द्वादशेमा दक्षस्ता अन्वमन्यत ॥ ३२ ॥

मरीचिके पुत्र प्रभावशाली कश्यप हुए, जिनकी तपस्या-द्वारा सृष्टि की गयी थी। दक्षने अपनी ये बारह कन्याएँ उन्हींको व्याह दीं ॥ ३२ ॥

नक्षत्राख्यानि सोमाय वसवे दत्तवानृषिः ।
रोहिण्यादीनि सर्वाणि पुण्यानि जनमेजय ॥ ३३ ॥

जनमेजय ! रोहिणी आदि जो सारी पुण्यनक्षत्रस्वरूपा कन्याएँ थीं, उन्हें महर्षि दक्षने सोम नामक वसुको व्याह दिया ॥ ३३ ॥

लक्ष्मीः कीर्तिस्तथा साध्या विश्वा कामानुगा शुभा ।
देवी मरुत्वती चैव ब्रह्मणा निर्मिता पुरा ॥ ३४ ॥

लक्ष्मी, कीर्ति, साध्या, इच्छानुसार विचरनेवाली शुभ लक्षणा विश्वा और देवी मरुत्वती—इन पाँच कन्याओंको पूर्वकालमें ब्रह्माजी (दक्ष प्रजापति) ने उत्पन्न किया था ॥

एताः पञ्च वरिष्ठा वै सुरश्रेष्ठाय भारत ।
दत्ता धर्माय भद्रं ते ब्रह्मणा दृष्टधर्मणा ॥ ३५ ॥

भारत ! तुम्हारा कल्याण हो, धर्मदर्शी ब्रह्मा (दक्ष) ने ये पाँच श्रेष्ठ कन्याएँ सुरश्रेष्ठ धर्मको दे दीं ॥ ३५ ॥

या रूपार्द्धमयी पत्नी ब्रह्मणः कामरूपिणी ।
सुरभिः सा तु गौर्भूत्वा ब्रह्माणं समुपस्थिता ॥ ३६ ॥

ब्रह्माजीकी जो इच्छाके अनुसार रूप धारण करनेवाली अर्द्धाङ्गस्वरूपा पत्नी थी, उसका नाम सुरभि था। वह गायका रूप धारण करके ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुई ॥ ३६ ॥

ततस्तामगमद् ब्रह्मा मैथुने लोकपूजितः ।
लोकसर्जनहेतुज्ञो गवामर्थाय भारत ॥ ३७ ॥

भारत ! तब लोकसृष्टिके हेतुको जाननेवाले लोकपूजित ब्रह्माजीने गौओंकी उत्पत्तिके लिये सुरभिके साथ मैथुन किया ॥ ३७ ॥

जज्ञे चैकादश सुतान् विपुलान् धर्मसंहितान् ।
रक्तसंध्याभ्रसदृशान् दहनोपमतेजसः ॥ ३८ ॥

उसके गर्भसे उन्होंने ग्यारह पुत्र उत्पन्न किये, जो हृष्ट-पुष्ट, धर्मपरायण, संध्याकालके लाल बादलोंके समान कान्तिमान् तथा अग्निके तुल्य तेजस्वी थे ॥ ३८ ॥

ते रुदन्तो द्रवन्तश्च भगवन्तं पितामहम् ।
रोदनाद् रावणाच्चैव ततो रुद्रा इति स्मृताः ॥ ३९ ॥

वे रोते और दौड़ते हुए भगवान् ब्रह्माजीके पास गये। रोदन करने और दौड़नेके कारण वे रुद्र कहलाये ॥ ३९ ॥

निर्ऋतिश्चैव सर्पश्च तृतीयो ह्यज एकपात् ।
मृगव्याधः पिनाकी च दहनोऽथेश्वरश्च वै ॥ ४० ॥

अहिर्बुध्न्यश्च भगवान् कपाली चापराजितः ।
सेनानीश्च महातेजा रुद्रा एकादश स्मृताः ॥ ४१ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—निर्ऋति, सर्प, तीसरे अजैकपात्, मृगव्याध, पिनाकी, दहन, ईश्वर, अहिर्बुध्न्य, भगवान् कपाली, अपराजित तथा महातेजस्वी सेनानी। ये ग्यारह रुद्र माने गये हैं ॥ ४०-४१ ॥

तस्यामेव सुरभ्यां तु जज्ञे गोवृषभस्तथा ।
अकृष्टाश्च तथा माषाः सिकताः प्रश्नयोऽक्षताः ॥ ४२ ॥
अजाश्चैव तु वत्साश्च तथैवामृतमुत्तमम् ।
ओषध्यः प्रवरा याश्च सुरभ्यां ताः समुत्थिताः ॥ ४३ ॥

उसी सुरभिके गर्भसे साँड़का जन्म हुआ। बिना जोते-बोये होनेवाले अनाज, उड़द, सिकता (लोणी शाक), प्रश्नि, अक्षत(धान,जौ आदि);बकरे, बछड़े, उत्तम अमृत तथा श्रेष्ठ ओषधियाँ—इन सबका प्राकट्य सुरभिसे ही हुआ है ॥ ४२-४३ ॥

धर्माल्लक्ष्म्युद्भवः कामः साध्या साध्यान् व्यजायत ।
भवं च प्रभवं चैवमीशानं सुरभी तथा ॥ ४४ ॥
अरुन्धत्यारुणी चैव विश्वावसुबलध्रुवौ ।
महिषश्च तनूजश्च विज्ञातमनसावपि ॥ ४५ ॥
मत्सरश्च विभूतिश्च सर्वाः सुरभिसूनवः ।

धर्मसे लक्ष्मीके गर्भसे कामकी उत्पत्ति हुई। साध्याने साध्य देवताओंको जन्म दिया। ब्रह्माजीकी पत्नी सुरभीने भव, प्रभव और ईशानको उत्पन्न किया। अरुन्धती, आरुणी, विश्वावसु, बलध्रुव, विज्ञात हृदयवाले, महिष और तनूज, मत्सर और विभूति—ये सब सुरभिकी संतानें हैं ॥ ४४-४५½ ॥

सुपर्वतं विपं नागं साध्या लोकनमस्कृता ॥ ४६ ॥
वासवानुगता देवी जनयामास वै सुतान् ।

विश्ववन्दिता देवी साध्याने इन्द्रका अनुसरण करके सुपर्वत, विप और नाग नामक पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥

धरं वै प्रथमं देवं द्वितीयं ध्रुवमव्ययम् ॥ ४७ ॥
विश्वावसुं तृतीयं च चतुर्थं सोममीश्वरम् ।
पञ्चमं पर्वतं चैव योगेन्द्रं तदनन्तरम् ॥ ४८ ॥
सप्तमं च ततो वायुमष्टमं निर्ऋतिं वसुम् ।
धर्मस्यापत्यमित्येवं सुरभ्यां समजायत ॥ ४९ ॥

(धर्मकी एक पत्नीका नाम सुरभि भी था।) उस सुरभिने प्रथम धर्म, द्वितीय अविनाशी ध्रुव, तृतीय विश्वावसु, चतुर्थ सोमेश्वर, पञ्चम पर्वत, छठे योगेन्द्र, सातवें वायु और आठवें निर्ऋति नामक वसुको उत्पन्न किया। इस प्रकार सुरभीसे धर्मकी संतानें उत्पन्न हुईं ॥ ४७-४९ ॥

विश्वेदेवास्तु विश्वायां धर्माज्जाता इति श्रुतिः ।
सुधर्मा च महाबाहुः शङ्खपाच्च महाबलः ॥ ५० ॥

दक्षश्चैव महाबाहुर्वपुष्मांश्च तथैव च।
चाक्षुषस्य मनोरेते तथानन्तमहीरणौ ॥ ५१ ॥

सुना जाता है कि धर्मसे विश्वाके गर्भसे विश्वेदेवोंकी उत्पत्ति हुई है। महाबाहु सुधर्मा, महाबली शङ्खपात्, महाबाहु दक्ष, वपुष्मान्, अनन्त तथा महीरण—ये चाक्षुष मनुके पुत्र हैं (जो विश्वेदेव बनकर उत्पन्न हुए थे)५०-५१

विश्वावसुसुपर्वाणौ विष्टरश्च महायशाः।
रुरुश्च ऋषिपुत्रो वै भास्करप्रतिमद्युतिः ॥ ५२ ॥

इनके सिवा विश्वावसु, सुपर्वा, महायशस्वी विष्टर तथा सूर्यके समान तेजस्वी ऋषिपुत्र रुरु भी (विश्वेदेव हुए थे) ॥ ५२ ॥

विश्वेदेवान् देवमाता विश्वेशाजनयत् सुतान्।
मरुत्वती मरुत्वन्तो देवानजनयच्छुभान् ॥ ५३ ॥

इन सामर्थ्यशाली विश्वेदेवोंको देवमाता विश्वाने पुत्र-रूपमें उत्पन्न किया था। मरुत्वतीने मरुत्वान् नामवाले शुभलक्षण देवताओंको जन्म दिया ॥ ५३॥

अग्निं चक्षुर्हविर्ज्योतिः सावित्रं मित्रमेव च।
अमरं शरवृष्टिं च संक्षयं च महाभुजम् ॥ ५४ ॥
विरजं चैव शुक्रं च विश्वावसुविभावसू।
अश्मन्तं चित्ररश्मिं च तथा निष्कुपितं नृपम् ॥ ५५ ॥
हूयमानं च हूतिं च चारित्रं बहुपन्नगम्।
बृहन्तं च बृहद्रूपं तथैव परतापनम् ॥ ५६ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—अग्नि, चक्षु, हवि, ज्योति, सावित्र, मित्र, अमर, शरवृष्टि, महाबाहु संक्षय, विरज, शुक्र, विश्वावसु, विभावसु, अश्मन्त, चित्ररश्मि, राजा निष्कुपित, हूयमान, हूति, चारित्र, बहुपन्नग, बृहन्त, बृहद्रूप तथा परतापन ॥ ५४–५६ ॥

मरुत्वत्यां पुरा धर्माज्जज्ञे पुत्रद्वयं शुभम्।
अदित्यां जज्ञिरे राजन्नादित्याः कश्यपादथ।
इन्द्रो विष्णुर्भगस्त्वष्टा वरुणोऽशोऽर्यमा रविः॥ ५७ ॥
पूषा मित्रश्च वरदो मनुः पर्जन्य एव च।
इत्येते द्वादशादित्या वरिष्ठास्त्रिदिवौकसः ॥ ५८ ॥

पूर्वकालमें धर्मसे मरुत्वतीके गर्भसे दो शुभलक्षण पुत्र और उत्पन्न हुए थे। राजन्! कश्यपसे अदितिके गर्भसे बारह आदित्य उत्पन्न हुए, जिनके नाम यों हैं—इन्द्र, विष्णु, भग, त्वष्टा, वरुण, अंश, अर्यमा, रवि, पूषा, मित्र, वरदायक मनु और पर्जन्य—ये बारह आदित्य श्रेष्ठ देवता हैं ॥ ५७-५८ ॥

आदित्यस्य सरस्वत्यां जज्ञे पुत्रद्वयं शुभम्।
रूपश्रेष्ठं बलश्रेष्ठं त्रिदिवे रूपिणां वरम् ॥ ५९ ॥

आदित्यके सरस्वतीके गर्भसे दो शुभलक्षण पुत्र उत्पन्न हुए, जो रूप और बलमें श्रेष्ठ थे। वे स्वर्गके रूपवान् पुरुषोंमें सबसे उत्तम थे ॥ ५९ ॥

दनुस्तु दानवाञ्जज्ञे दितिर्दैत्यान् व्यजायत।
काला नु कालकेयांश्च ह्यसुरान् राक्षसांस्तथा ॥ ६० ॥

दनुने दानवोंको जन्म दिया। दितिने दैत्योंको उत्पन्न किया। कालाने कालकेयों, असुरों तथा राक्षसोंको पैदा किया ॥ ६० ॥

दनायुपायास्तनया व्याधयश्चाधयस्तथा।
सिंहिका ग्रहमाता च गन्धर्वजननी मुनिः ॥ ६१ ॥

दनायुषाके पुत्र आधि और व्याधि हुए; सिंहिका राहुग्रहकी माता और मुनि गन्धर्वोंकी जननी हुई ॥ ६१ ॥

प्रवोधाप्सरसां माता सुरसायां सरीसृपाः।
क्रोधायाः सर्वभूतानि पिशाचाश्चैव भारत ॥ ६२ ॥

भारत! प्रवोधा अप्सराओंकी माता हुई। सुरसाके गर्भसे सर्प हुए। क्रोधासे सम्पूर्ण भूतों और पिशाचोंका जन्म हुआ ॥ ६२ ॥

तथा यक्षगणाश्चैव गुह्यकाश्च विशाम्पते।
चतुष्पदानि सर्वाणि ऋते गावस्तु सौरभाः ॥ ६३ ॥

प्रजानाथ! यक्षगण, गुह्यक तथा समस्त चौपाये भी क्रोधाके ही पुत्र हैं। परंतु सुरभिकी संतानभूत गौओंको क्रोधाके पुत्रोंमें नहीं गिनना चाहिये ॥ ६३ ॥

अरुणो गरुडश्चैव विनतायां व्यजायत।
महीधरान् सर्पनागान् देवी कद्रूर्व्यजायत ॥ ६४ ॥

अरुण और गरुड़ विनताके गर्भसे उत्पन्न हुए। देवी कद्रूने पृथ्वीको धारण करनेवाले सर्पों और नागोंको जन्म दिया ॥

एवं विवृद्धिमगमन् विश्वेलोकाः परस्परम्।
तदा पौष्करके राजन् प्रादुर्भावे महात्मनः ॥ ६५ ॥

राजन्! महात्मा श्रीहरिके उस पुष्कर-प्रादुर्भावके समय इस प्रकार समस्त लोक एक दूसरेके सहयोगसे वृद्धिको प्राप्त हुए ॥ ६५ ॥

पुराणे पौष्करं चैव मया द्वैपायनाच्छ्रुतम्।
कथितं तेन पूर्वेण यत् कृतं परमर्षिभिः ॥ ६६ ॥

मैंने गुरुदेव द्वैपायनके मुखसे पुराणमें यह पुष्कर-प्रादुर्भावका प्रसङ्ग सुना है। पहले महर्षियोंने जो कुछ किया था, वह सब उन्होंने मुझसे कहा था ॥ ६६ ॥

यश्चेदमग्र्यं प्रथमं पुराणं
सदाप्रमत्तः पठते महात्मा।
अवाप्य कामानिह वीतशोकः
परत्र स स्वर्गफलानि भुङ्क्ते ॥ ६७ ॥

जो महात्मा पुरुष सावधान होकर इस श्रेष्ठ एवं प्रथम पुराणका सदा पाठ करता है, वह इस जगत्में सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त करके शोकरहित हो परलोकमें स्वर्गीय फलोंका उपभोग करता है ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे सर्वभूतोत्पत्तौ चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावके प्रसंगमें सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

जनमेजयके द्वारा महाभारत-वर्णित चरित्रकी प्रशंसा

जनमेजय उवाच

श्रुतं नः परमं ब्रह्मन् स्ववंशचरितं महत् ।
दिव्यमन्योन्यसम्भूतं मानितं बहुभिर्गुणैः ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने अपने वंशके उत्तम, महान् एवं दिव्य चरित्रका वर्णन सुना, जो हमारे पूर्वजोंके परस्पर सहयोगसे सम्भव हुआ था। वह चरित्र अनेक गुणोंसे सम्मानित है ॥ १ ॥

छन्दोभिर्वृत्तसंजातैः समासैश्च सविस्तरैः ।
लघुभिर्मधुराभाषैर्ग्रथितं पदविग्रहैः ॥ २ ॥

वह छन्दःशास्त्रोक्त छन्दों, संक्षेप और विस्तारयुक्त छोटे-छोटे पदों तथा मधुर भाषामें ग्रथित किया गया है॥२॥

त्रिवर्गेणाभिसम्पन्नं धर्मेणार्थेन भोगिनाम् ।
कामेन बहुरूपेण शरीरान्तर्गतेन च ॥ ३ ॥

उसमें धर्म, अर्थ और भोगी पुरुषोंके शरीरके भीतर अनेक रूपसे निवास करनेवाले काम नामक त्रिवर्गका भी वर्णन है ॥ ३ ॥

ब्राह्मणानां प्रभावैश्च योधानां च पराक्रमैः ।
वैरनिर्यातनैश्चैव प्रतिज्ञानां च पारगैः ॥ ४ ॥

इस चरित्रमें ब्राह्मणोंके प्रभावों, योद्धाओंके पराक्रमों, वैरका बदला लेनेकी घटनाओं तथा प्रतिज्ञाके पारगामी पुरुषोंके तदनुरूप प्रयत्नोंका भी उल्लेख है ॥ ४ ॥

रिपुस्तवसुसम्पन्नैर्नानुबन्धः प्रचोदितः ।
वंशयोर्निर्विनाशाय नृपेण द्विज विग्रहात् ॥ ५ ॥

ब्रह्मन् ! जिन लोगोंकी शत्रु भी स्तुति करते थे ऐसे वीर पुरुषोंके चरित्रोंका भी इसमें वर्णन है। राजा (दुर्योधन) ने पाण्डवोंके साथ जो विग्रह छोड़कर प्रेमपूर्ण सम्बन्ध नहीं स्थापित होने दिया, वही दोनों कुलोंके विनाशका कारण हुआ ॥ ५ ॥

ये च तस्मिन् महारौद्रे संग्रामे निहता नृपाः ।
तेषां सर्वाणि राष्ट्राणि पुत्राः सर्वे प्रपेदिरे ॥ ६ ॥

उस महाभयंकर संग्राममें जो-जो राजा मारे गये थे, उनके समस्त राष्ट्रोंको उन्हींके सभी पुत्रोंने प्राप्त किया ॥ ६ ॥

कौरवः प्रथितो राजा भगवच्छासनानुगः ।
धर्मश्च बहुधा प्रोक्तस्त्रयाणां वर्णसम्पदाम् ।
शूराणामपि विख्यातः स्वर्गहेतुर्द्विजर्षभ ॥ ७ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! कुरुवंशके सुविख्यात राजा युधिष्ठिर भगवान्की आज्ञाके अनुकूल चलते थे। उन्होंने तीनों वर्णोंके लिये धर्मका बारंबार वर्णन किया है। वे शूरवीरोंको स्वर्गकी प्राप्ति करानेके प्रधान हेतुके रूपमें विख्यात हैं ॥ ७ ॥

अनुग्रहार्थं भूतानां नोत्सेकाय कथंचन ।
चतुर्णां वर्णसंज्ञानां पृथक्पृथगनेकधा ॥ ८ ॥

उन्होंने किसी तरह अहंकार प्रकट करनेके लिये नहीं, समस्त प्राणियोंपर कृपा करनेके लिये ही चारों वर्णोंके पृथक्-पृथक् अनेक धर्म बताये हैं ॥ ८ ॥

गर्भवासं पतन्तश्च भूतानां सम्प्रबोधिताः ।
पृच्छन्तो देवसंचारं क्षीणे पुण्ये च कर्मणि ॥ ९ ॥

प्राणियोंमेंसे जो लोग गर्भवासमें गिर रहे थे और पुण्यकर्मके क्षीण हो जानेपर पुनः देवलोकमें प्रवेशका उपाय पूछते थे (उन सबके लिये वे पृथक्-पृथक् धर्मका उपदेश देते थे) ॥ ९ ॥

दाने यश्चापि संयोगः स चापि बहुधा कृतः ।
द्वयोः संयोगविहितं मधु वाग्वचनं तयोः ॥ १० ॥

दानमें जो स्वयं लगने और दूसरे लोगोंको भी लगानेका कार्य है, वह भी उन्होंने बहुत बार किया है। जब पाण्डव और श्रीकृष्ण दोनोंका संयोग प्राप्त होता था, तब उनमें बड़ा मधुर वार्तालाप (सत्संग) आरम्भ हो जाता था ॥ १० ॥

न तच्छक्यं मयाऽऽख्यातुं भारताध्ययनं महत् ।
एकाहेन महान् ब्रह्मन्नपि दिव्येन चक्षुषा ॥ ११ ॥

महान् ब्राह्मणदेव ! महाभारतका जो विशाल अध्ययन है, उसका एक दिनमें दिव्य-दृष्टिसे भी महत्त्व बताना मेरे लिये असम्भव है ॥ ११ ॥

ब्रह्मणोऽह्नस्तु विस्तारं संक्षेपं च सुसंग्रहम् ।

श्रोतुमिच्छामि भगवन् महत् कौतूहलं हि मे ॥ १२ ॥

भगवन्! मैं ब्रह्माजीके दिन (या यज्ञ) का विस्तार, संक्षेप और उत्तम संग्रह सुनना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे हृदयमें बड़ा कौतूहल है ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे जनमेजयवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावके प्रसंगमें जनमेजयका वाक्यविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

सृष्टिविषयक वर्णनके प्रसङ्गमें ज्ञान और योगका विचार

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वैकमना राजन् पञ्चेन्द्रियसमाहितः।
कथां कथयतो राजन् निर्विकारेण चेतसा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--राजन्! तुम पाँचों इन्द्रियों तथा मनको एकाग्र करके निर्विकार चित्तसे मेरी कही हुई कथा सुनो ॥ १ ॥

ब्रह्मसम्बन्धसम्बद्धमबद्धं कर्मभिर्नृप।
पुरस्ताद् ब्रह्म सम्पन्नं ब्रह्मणो यद्दक्षिणम् ॥ २ ॥
अव्यक्तं कारणं यत् तन्नित्यं सदसदात्मकम्।
निष्कलः पुरुषस्तस्मात् सम्बभूवात्मयोनिजः ॥ ३ ॥

नरेश्वर! जो वेदके सम्बन्धसे अर्थात् वेदमूलक होनेके कारण सबसे सम्बन्ध रखता है, तथापि जो किसीके कर्मोंसे बँधा हुआ नहीं है, ब्रह्मा या ब्रह्मवेत्तासे पहलेसे ही जो सबमें अनुगत, नित्यसिद्ध है, दक्षिणाप्रधान यज्ञ आदिसे ऊपर उठा हुआ है और जो अव्यक्त, सबका कारण, नित्य तथा सदसत्स्वरूप है, वह परब्रह्म परमात्मा ही निष्कल पुरुष है, उसीसे स्वयम्भू ब्रह्माजी प्रकट हुए ॥ २-३ ॥

दिव्यो दिव्येन वपुषा सर्वभूतपतिर्विभुः।
अचिन्त्यश्चाव्ययश्चैव युगानां प्रभवोऽव्ययः ॥ ४ ॥

वे ब्रह्माजी स्वयं तो दिव्य हैं ही, दिव्य शरीरसे भी संयुक्त हैं। वे समस्त प्राणियोंके पालक, प्रभु, अचिन्त्य, निर्विकार, युगोंकी उत्पत्तिके कारण और अविनाशी हैं ॥४॥

अभूतश्चाप्यजातश्च सर्वत्र समतां गतः।
अव्यक्तात् परमं यत् तन्नारायणविदो विदुः ॥ ५ ॥

वे अभूत अर्थात् स्वयम्भू हैं, उनका किसी दूसरेसे जन्म नहीं हुआ है--इसलिये अजन्मा हैं, उनका सर्वत्र समान भाव है। जो अव्यक्तसे परे परमात्मतत्त्व है, उसे नारायणके स्वरूपको जाननेवाले उनके उपासक ही जानते हैं ॥ ५ ॥

सर्वतःपाणिपादं तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ६ ॥

उसके सब ओर हाथ और पैर हैं, सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं तथा उसके सब ओर कान हैं, वह लोकमें सबको व्याप्त करके स्थित है ॥ ६ ॥

असतश्च सतश्चैव विज्ञेयं तत्र कारणम्।
अव्यक्तो व्यक्तरूपस्थश्चरन्नपि न दृश्यते ॥ ७ ॥

उसीको असत् और सत्का कारण जानना चाहिये, वह अव्यक्त है; व्यक्त रूपोंमें स्थित होकर विचर रहा है, तो भी किसीको दिखायी नहीं देता है ॥ ७ ॥

विकारपुरुषोऽव्यक्तो ह्यरूपी रूपमाश्रितः।
चरत्यचिन्त्यः सर्वेषु गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥ ८ ॥

विकारयुक्त अर्थात् क्षर पुरुष रूपवान् है, जिसका अव्यक्त एवं रूपहीन चिन्मय पुरुष परमात्माने आश्रय ले रखा है। जैसे लकड़ियोंमें आग गूढ़रूपसे छिपी हुई है, उसी प्रकार वे अचिन्त्य परमात्मा समस्त भूतोंमें गूढ़रूपसे स्थित होकर विचरते हैं ॥ ८ ॥

भूतभव्योद्भवो नाथः परमेष्ठी प्रजापतिः।
प्रभुः सर्वस्य लोकस्य नाम चास्येति तत्त्वतः ॥ ९ ॥

वे ही भूत, भविष्य और वर्तमानकी उत्पत्तिके कारण हैं, सबके स्वामी एवं संरक्षक हैं, परमेष्ठी प्रजापति तथा सर्वलोकप्रभु आदि इनके यथार्थ नाम हैं ॥ ९ ॥

अपदात्तु पदो जातस्तस्मान्नारायणोऽभवत्।
अव्यक्तो व्यक्तिमापन्नो ब्रह्मयोगेन कामतः ॥ १० ॥

अपद अर्थात् निर्गुण निराकारसे पद अर्थात् सगुण साकार रूपमें प्रकट हुए वे परमात्मा नार अर्थात् जलको अयन अर्थात् निवासस्थान बनानेके कारण नारायण नामसे प्रसिद्ध हुए। वे पहले अव्यक्त थे, फिर ब्रह्मयोगसे इच्छानुसार संकल्प करके व्यक्तभावको प्राप्त हुए ॥ १० ॥

ब्रह्मभावे च तं विद्धि स शब्दं लब्धवान् प्रभुः।
प्रभुः सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्येतरस्य च ॥ ११ ॥

उन्हींको ब्रह्मारूपमें स्थित हुआ समझो। उन्हीं प्रभुने ब्रह्मा नाम प्राप्त किया। वे स्थावर-जङ्गमरूप सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं ॥ ११ ॥

अहं त्विति स होवाच प्रजाः स्रक्ष्यामि भारत ।
प्रभवः सर्वभूतानां यस्य तन्तुरिमाः प्रजाः ॥ १२ ॥

भारत ! उन्होंने पहले-पहल यह संकल्प प्रकट करते हुए कहा कि मैं प्रजाकी सृष्टि करूँगा; अतः वे ही सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिके कारण हैं। यह सारी प्रजा उन्हींकी संतान है ॥१२॥

स्वभावाज्जायते सर्वं स्वभावाच्च तथाभवत् ।
अहंकारः स्वभावाच्च तथा सर्वमिदं जगत् ॥ १३ ॥

स्वभावसे ही सबकी उत्पत्ति होती है, स्वभावसे ही परमात्मा पूर्वोक्तरूपमें प्रकट हुआ, स्वभावसे ही अहंकार तथा यह सारा जगत् प्रकट हुआ है ॥ १३ ॥

सर्वव्यापी निरालम्बो ह्यग्राह्योऽथ जयो ध्रुवः ।
एष ब्रह्ममयो ज्योतिर्ब्रह्मशब्देन शब्दितः ॥ १४ ॥

यह सर्वव्यापी, आश्रयरहित, इन्द्रियातीत, जयस्वरूप, अविनाशी ज्योतिर्मय ब्रह्मरूप परमात्मा ही ब्रह्मा नामसे प्रतिपादित होता है ॥ १४ ॥

अव्यक्तो व्यक्तिमापन्नः पञ्चभिः क्रतुलक्षणैः ।
धारयन् ब्रह्मणो व्यक्तं विविधं चिन्तितं त्वरन् ॥ १५ ॥

वह स्वरूपसे अव्यक्त होनेपर भी संकल्पसे प्रकट हुए पाँच सूक्ष्मभूतरूप उपाधियोंसे व्यक्तभाव (पुरुषशरीर) को प्राप्त हुआ और वेदसे ज्ञात हुए विविध संकल्पित जगत्को हृदयमें धारण करके उसकी सृष्टिके लिये उतावला हो उठा ॥ १५ ॥

अथ मूर्तिं समाधाय स्वभावाद् ब्रह्मचोदितः ।
ससर्ज सलिलं ब्रह्म येन सर्वमिदं ततम् ॥ १६ ॥

जिसने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है, उस ब्रह्म तथा स्वभावसे प्रेरित हो शरीर धारण करके ब्रह्माने जलकी सृष्टि की ॥ १६ ॥

वायुं पूर्वमथो दृष्ट्वा यो धातुर्धातृसत्तमः ।
धरणाद् धातृशब्दं च लभते लोकसंज्ञितम् ॥ १७ ॥

जलकी सृष्टिसे पहले वायुको स्थित देख जगद्धाता परमेश्वरके अधीन रहनेवाले जो मरीचि आदि धाता हैं, उनमें सबसे श्रेष्ठ ब्रह्माने सबको धारण करनेके कारण लोकप्रसिद्ध धाता नाम प्राप्त किया ॥ १७ ॥

तदेतद् वायुसम्भूतं कृत्स्नं जगदभूत् पुरा ।
एतद् देवैरतिक्रान्तं पूर्वमेव सरस्वति ॥ १८ ॥

इस प्रकार यह सारा जगत् पहले वायुसे ही प्रकट हुआ और पहलेसे ही समुद्रमें स्थित है, देवता इसे लाँघकर ऊपरको उठ चुके हैं ॥ १८ ॥

पृथक्त्वं गमितं तोयं पृथिवीशब्दमिच्छता ।
घनत्वाच्च द्रवत्वाच्च निखिलेनोपलभ्यते ॥ १९ ॥

पृथ्वी शब्दके वाच्यार्थ भूमिकी (उसपर सम्पूर्ण जगत्की स्थितिके लिये) अभिलाषा करनेवाले ब्रह्माजीने जलको उससे भिन्न अवस्थामें पहुँचा दिया। एक (जल) के द्रवपदार्थ होनेसे और दूसरी (पृथ्वी) के घनीभूत होनेसे दोनोंका भेद स्पष्ट है। पृथ्वी और जलके इस अन्तरको प्रत्यक्ष देखते हैं ॥ १९ ॥

फलत्वात् सीदमाना च सलिले सलिलोद्भवा ।
व्याजहार शुभां वाणीं समन्तात् पूरयन्निव ॥ २० ॥

जलसे प्रकट हुई पृथ्वी उसका फल या कार्यरूप होनेके कारण अपने कारणभूत जलमें जब डूबने और गलने लगी, तब उसकी अधिष्ठात्रीदेवीने सब ओरके आकाशको गुँजाते हुए-से यह शुभ वाणी कही—॥ २० ॥

ऊर्ध्वेऽहं स्थातुमिच्छामि संसीदाम्युद्धरस्व माम् ।
गम्भीरे तोयविवरे मूर्तिविक्षोभितान्तरम् ॥ २१ ॥

'अहो ! जलकी इस गहरी गुफामें मैं डूबती और गलती जा रही हूँ। अपने शरीरकी कठोरता या घनीभूततासे मेरा अन्तःकरण अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा है, अतः मैं जलके ऊपर स्थित होना चाहती हूँ, कोई आकर मेरा उद्धार करो' ॥२१॥

ततो मूर्तिधरा देवी सर्वभूतप्ररोहिणी ।
यथायोगेन सम्भूता सर्वत्र विषयैषिणी ॥ २२ ॥

तदनन्तर समस्त भूतोंको अङ्कुरित करनेवाली पृथ्वीदेवी मूर्तिमती होकर प्रकट हुई और अपने ठहरनेके लिये स्थान चाहती हुई पूर्वोक्त कारणसे सब ओर मुँह करके अपनी रक्षाके लिये पुकारने लगी ॥ २२ ॥

श्रुत्वा च गदितं तस्या गिरं तां च सुभाषिताम् ।
वराहरूपमास्थाय निपपात महार्णवे ॥ २३ ॥

उसके मुखसे निकली हुई उस सुभाषित वाणीको सुनकर भगवान् श्रीहरि वाराहरूप धारण करके उस महासागरमें कूद पड़े ॥ २३ ॥

उद्धृत्य सोऽवनिं तोयात् कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
समाधौ प्रलयं गत्वा प्रलीनो न च दृश्यते ॥ २४ ॥

जलसे पृथ्वीको ऊपर उठाकर वह अत्यन्त दुष्कर कर्म करके वे भगवान् समाधिमें लयको प्राप्त अथवा लीन हो अदृश्य हो गये, अपने मूलस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो गये ॥ २४ ॥

यत्तद् ब्रह्ममयं ज्योतिराकाशमिति संज्ञितम् ।
तत्र ब्रह्मा समुद्भूतः सर्वभूतपितामहः ॥ २५ ॥

श्रीहरिका वह स्वरूप परब्रह्म एवं चिन्मय प्रकाशरूप है, श्रुतिमें उसे आकाश नाम दिया गया है, उसीसे सम्पूर्ण भूतोंके पितामह ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ है ॥ २५ ॥

अद्यापि मनसा धात्रा धार्यते सर्वयोनिना ।
ज्ञानयोगेन सूक्ष्मेण प्रजानां हितकाम्यया ॥ २६ ॥

आज भी सबकी उत्पत्तिके स्थानभूत वे जगदाधार परमेश्वर प्रजाजनोंके हितकी कामनासे सूक्ष्म ज्ञानयोगद्वारा मनसे (शेष, कूर्म आदि रूपसे) इस पृथ्वीको धारण करते हैं ॥ २६ ॥

भित्त्वा तु पृथिवीमध्यमुपयाति समुद्भवम् ।
तपनस्तूर्ध्वमातिष्ठन् रश्मिभिः स हसन्निव ॥ २७ ॥

ऊपर रहकर सबको ताप देनेवाले सूर्यदेव अपनी सब ओर फैली हुई किरणोंद्वारा हँसते हुए-से पृथ्वीके मध्यभागका भेदन करके उसके उत्पादक जलके पासतक पहुँच जाते हैं ॥ २७ ॥

तस्य मण्डलमध्यात् तु निःसृतं सोममण्डलम् ।
स सनातनजो ब्रह्मा सौम्यं सोमत्वमन्वगात् ॥ २८ ॥

इस प्रकार अत्यन्त तापके कारण सूर्यमण्डलके मध्यभागसे सोममण्डलका प्रादुर्भाव हुआ । सनातन परमात्मासे प्रकट हुआ वह सोममण्डलका अभिमानी चेतन ब्राह्मण है और सौम्यभाव एवं सोमत्वको प्राप्त है ॥ २८ ॥

सोममण्डलपर्यन्तात् पवनः समजायत ।
तदक्षरमयं ज्योतिस्तेजोभिरभिवर्द्धयन् ॥ २९ ॥

उक्त सोममण्डलके मुखसे जो निःश्वास वायु प्रकट हुई वही अक्षरमय वेदरूप ज्योति है, जो अपने ज्ञानमय प्रकाशसे समस्त जगत्‌की वृद्धि अथवा विस्तार करता हुआ सब अर्थोंका प्रकाशक है ॥ २९ ॥

स तु योगमयाज्ज्ञानात् स्वभावाद् ब्रह्मसम्भवात् ।
सृजते पुरुषं दिव्यं ब्रह्मयोनिं सनातनम् ॥ ३० ॥

वह स्रष्टा पुरुष योगमय ज्ञान एवं ब्रह्मजनित स्वभावसे सनातन ब्रह्मयोनिरूप दिव्य पुरुषकी सृष्टि करता है ॥ ३० ॥

द्रवं यत् सलिलं तस्य घनं यत् पृथिवी भवत् ।
छिद्रं यच्च तदाकाशं ज्योतिर्यच्चक्षुरेव तत् ॥ ३१ ॥

उस पुरुषका जो द्रव है, वही जल है । उसका घनीभाव ही पृथ्वीरूपमें परिणत होता है । उसका जो छिद्र है, वही आकाश है तथा जो नेत्र है; वही तेज है ॥ ३१ ॥

वायुना स्पन्दते चैनं संघाताज्ज्योतिसम्भवः ।
पुरुषात् पुरुषो भावः पञ्चभूतमयो महान् ॥ ३२ ॥
भूतात्मा वै समे तस्मिंस्तस्मिन् देहे सनातनः ।
गुहायां निहितं ज्ञानं योगाद् यज्ज्ञः सनातनः ॥ ३३ ॥

पुरुष अर्थात् ईश्वरसे प्राप्त हुआ जो पुरुषभाव (चैतन्य) है, वही वायुके सहयोगसे इस शरीरको चेष्टाशील बनाता है । इस प्रकार पाँच भूतोंके संघातरूप शरीरको प्राप्त होकर जब चेतन उसमें निवास करता है, तब वहाँ इन्द्रियरूपी ज्योतियों और जठरानलका प्राकट्य होता है । पाँचों भूतोंसे निर्मित जो विराट् शरीर है, उसमें भी वही अन्तर्यामी भूतात्मा निवास करता है । विभिन्न प्रकारके जो शरीर हैं, वे सभी उसके लिये सम हैं, अतः वह सनातन परमात्मा उन सबमें अनादि कालसे विराजमान है । वह ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सबकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित है तथा वह सनातन परमेश्वर ही योगबलसे अपने स्वरूपभूत उस ज्ञानका साक्षात्कार करनेवाला है ॥ ३२-३३ ॥

तपनस्यैव तद्रूपं योऽग्निर्वसति देहिनाम् ।
शरीरे नित्यशो युक्तं धातुभिः सह संगतः ॥ ३४ ॥

देहधारियोंके शरीरमें जो अग्निका वास है, वह अग्नि सूर्यका ही स्वरूप है । इसी प्रकार पाँचों भूतोंसे सदा संयुक्त रहनेवाले शरीरमें उन भूतोंसे मिला हुआ जो जीवात्मा है, वह उस सनातन परमात्माका ही अंश है ॥ ३४ ॥

स्वभावात् क्षयमायाति स्वभावाद् भयमेति च ।
स्वभावाद् विन्दते शान्तिं स्वभावाच्च न विन्दति ॥ ३५ ॥

वह जीवात्मा क्षयशील धातुओंके साथ संगत है, अतः अपने स्वरूपको भूलकर उस मोहयुक्त स्वभावसे ही क्षयको प्राप्त होता है (वह नित्य अक्षय होनेपर भी अज्ञानवश देहके क्षयसे अपनेको क्षयशील मानता है) । उस स्वभावसे ही उसे अपने स्वरूप और ऐश्वर्यके नाशका भय प्राप्त होता है । स्वभावसे ही वह शरीरकी स्वस्थतासे शान्तिका अनुभव करता है और उसके अस्वस्थ हो जानेपर स्वभावतः उसे शान्ति नहीं मिलती है ॥ ३५ ॥

इन्द्रियैरतिमूढात्मा मोहितो ब्रह्मणः पदे ।
सम्भवं निधनं चैव कर्मभिः प्रतिपद्यते ॥ ३६ ॥

इन्द्रियोंके वेगसे अत्यन्त मूढचित्त हुआ मानव ब्रह्मपद (परमात्माके स्वरूप) की ओरसे मोहित (ज्ञानशून्य) हो जाता है और कर्मोंसे बँधा रहकर जन्म-मरणको प्राप्त होता रहता है ॥ ३६ ॥

यावत् तद् ब्रह्मविषयं नोपयाति ह तत्त्वतः ।
तावत् संसारमाप्नोति सम्भवांश्च पुनः पुनः ॥ ३७ ॥

जबतक तत्त्वज्ञानके द्वारा वह ब्रह्मानन्दके साम्राज्यमें नहीं पहुँच जाता, तबतक उसे संसार तथा उसमें बारंबार जन्म-मरणकी प्राप्ति होती रहती है ॥ ३७ ॥

इन्द्रियैर्व्यतिरिक्तो वै यदा भवति योगवित् ।
तदा ब्रह्मत्वमापन्नः प्रलयाग्रे प्रतिष्ठति ॥ ३८ ॥

जब योगवेत्ता पुरुष योगबलसे अपनेको इन्द्रियोंसे पृथक् उनका नियन्ता समझ लेता है, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त होकर अपने स्वरूपभूत आनन्दमें प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ३८ ॥

प्रतिषिद्धममुं लोकं ब्रह्मवान् स भवत्युत ।
न च रागव्ययैर्याति न च सज्जति कर्हिचित् ॥ ३९ ॥

वह पुरुष परलोकके भी सुखका परित्याग करके ब्रह्मानन्दसे सम्पन्न होता है; फिर तो वह राग-द्वेषादिके कारण हीनावस्थाको नहीं प्राप्त होता और न कहीं उसकी आसक्ति ही होती है ॥ ३९ ॥

आगतिं च गतिं चैव निधनं सम्भवं तथा।
भूतेभ्यो वेत्ति सर्वज्ञः परां सिद्धिमुपागतः ॥ ४० ॥

वह सर्वज्ञ एवं परम सिद्धिको प्राप्त होकर समस्त प्राणियोंको प्राप्त होनेवाले आवागमन और जन्म-मरणको जानता है, परंतु स्वयं उनके चक्करमें नहीं पड़ता है ॥ ४० ॥

आत्मनो गतयश्चैव तथा विषयगोचरम्।
पुरस्तात् कर्मनिर्वृत्तेः पदे ब्रह्म प्रतिष्ठितः ॥ ४१ ॥

ब्रह्मवेत्ता पुरुष अपनी गतियों (मुक्तिके उपायों) को तथा भूत, वर्तमान और भविष्यके विषयोंको भी जानता है और कर्मोंके भावी फलभोगोंकी निवृत्ति हो जानेसे परमपदमें प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ४१ ॥

चित्तग्रन्थींश्च मनसा रुन्ध्यात् पूर्वांश्च यातनाः।
भिद्यमानाः प्रलोभेन वायुभिन्नमिवार्णवम् ॥ ४२ ॥

अतः विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह चित्तको बाँधनेवाले काम आदि दोषों तथा प्रबल लोभसे अनेक शाखाओंमें विभक्त होनेवाली उन पूर्ववासनाओंका भी निरोध करे, जो वायुसे विक्षुब्ध होनेवाले समुद्रकी भाँति मनुष्यको क्षोभमें डाल देती हैं ॥ ४२ ॥

पच्यते हृदयं नीलं परेभ्यो ज्ञानचक्षुषा।
ब्रह्मप्रोक्तमिवात्मा वै विमुक्तो देहबन्धनात् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार वासनाओंका निरोध करनेवाले पुरुषकी काम आदि दोषोंसे मलिन हुई बुद्धि ज्ञानाग्निसे तपकर शुद्ध हो जाती है। वह ज्ञान वेदोंमें बताया गया है। जिससे जीवात्मा इस शरीरमें रहते हुए ही उसके बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

सृजेदपि परं लोकं संहरेदपि विद्यया।
तेजोमूर्तिरिवाविद्धमिह लोकं च संसृजेत् ॥ ४४ ॥

तेजोमूर्ति योगी स्वाभिमानी पुरुषकी भाँति योगविद्याके प्रभावसे दूसरे लोककी सृष्टि और संहार भी कर सकता है। वह विश्वामित्र आदिकी भाँति इस लोकका भी पूर्णरूपसे निर्माण कर सकता है ॥ ४४ ॥

तिर्यग्योनौ गतांश्चैव कर्मभिर्नियमोपमैः।
तान्यपि प्रतिमुच्येत ब्रह्मयुक्तेन चेतसा ॥ ४५ ॥

वह योगी बेड़ीके समान बाँधनेवाले कर्मोंके कारण पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें पड़े हुए जीवोंको भी ब्रह्ममें लगाये हुए अपने चित्तके संकल्पमात्रसे मुक्त कर सकता है तथा उन कर्मोंका बन्धन भी खोल सकता है ॥ ४५ ॥

अक्षरं च क्षरं चैव योगकर्माभिविद्यते।
न क्षरं विद्यते तत्र यद् ब्रह्म कर्मभिर्ध्रुवम् ॥ ४६ ॥

योगनामक साधना क्षर और अक्षर (भोग और मोक्ष) दोनोंको व्याप्त करके स्थित होती है, अर्थात् योगीको भोग और मोक्ष दोनों सुलभ होते हैं। परंतु जो अविनाशी ब्रह्म है, उसमें कर्मोंद्वारा उपलक्षित क्षर (क्षणभङ्गुर जगत् एवं उसके भोग) की सत्ता नहीं है ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

मैनाककी स्थिति, मेरुपृष्ठपर परमात्मासे ब्रह्माजीका प्राकट्य, मेरुकी विशालता, ब्रह्माजीके द्वारा सृष्टि, ब्रह्म और ब्रह्माके स्वरूपका वर्णन, गङ्गाका प्रादुर्भाव, सोमकी उत्पत्ति, धर्मके पाद, योग-साधना, ऐश्वर्यसे हानि, वेदोंका प्राकट्य, यज्ञपुरुषका वर्णन, योगवेत्ताकी महिमा, चित्तकी उपलब्धिमें कारण, मोक्षसम्बन्धी कर्म करनेका विधान और कर्मफलके त्यागसे मुक्ति

वैशम्पायन उवाच

पृथिव्यां यत् कृतं छिद्रं तपनेन विवर्धता।
तस्मिन् न्यस्तोऽथ मैनाकः स्वभावविहितोऽचलः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बढ़ते हुए सूर्यने पृथ्वीमें जो छिद्र कर दिया था, उसमें स्वभावतः रचे गये मैनाकपर्वतको स्थापित किया गया ॥ १ ॥

पर्वभिः पर्वतत्वं च लभते नाम संज्ञितम्।
अचलादचलत्वं च स्वभावान्मेरुरेव सः ॥ २ ॥

उसपर बहुत-से पर्व (कामनापूरक चिन्तामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनु आदि) हैं, इसलिये उसे 'पर्वत' संज्ञा प्राप्त हुई है। वह अविचल होनेके कारण 'अचल' कहलाता है तथा स्वभावसे ही मेरुके समान स्थित है ॥ २ ॥

तस्य पृष्ठे सुविस्तीर्णे नगस्य सुमहर्द्धिमान् ।
तस्मिंस्तु पुरुषो व्यक्तो वसति ज्योतिसम्भवः ।
विहितश्च स्वभावेन तेनैव परमात्मना ॥ ३ ॥

उस पर्वतके सुविस्तृत पृष्ठभागपर एक महान् समृद्धिशाली, व्यक्तरूपधारी पुरुष निवास करता है, जो ज्योतिर्मय परमेश्वरसे प्रकट हुआ है । उस परमात्माने स्वभावसे ही इस पुरुषकी सृष्टि की है ॥ ३ ॥

यत् तद् ब्रह्ममयं तेजो निहितं शिरसोऽन्तरे ।
तस्य ज्योतिर्मयं रूपं दीप्तं पुरुषविग्रहम् ॥ ४ ॥

मस्तकवर्ती सहस्रारचक्रमें जो ब्रह्ममय तेज विराजमान है अथवा वेदान्तमें जिस ब्रह्ममय तेजका प्रतिपादन हुआ है, उसीका ज्योतिर्मय स्वरूप इस पुरुषके रूपमें प्रकट होकर प्रकाशित होता है ॥ ४

वदनादभिनिष्क्रान्तं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
चतुर्भिर्वदनैर्युक्तं चतुर्भिश्च द्विजोत्तमैः ॥ ५ ॥

उसी पुरुषके मुखसे चार मुखों और चार श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ ब्रह्माजीका प्राकट्य हुआ, जो अपने तेजसे प्रज्वलित-से हो रहे थे ॥ ५ ॥

वक्त्रं ब्रह्म समुद्भूतं ब्रह्मा ब्राह्मणपुङ्गवः ।
तदेवं तन्महद्भूतं पुनर्भावत्वमागतम् ॥ ६ ॥

उनका मुख वेद है, जो परमात्माके निःश्वासरूपसे प्रकट हुआ है । ब्रह्माजी उस वेदके धारण करनेवाले ब्राह्मण-शिरोमणि हैं । इस प्रकार वह महान् भूत पुनः पूज्यतमभावको प्राप्त हुआ ॥ ६ ॥

उद्धता पृथिवी देवी पुरस्तात् सलिलाशयात् ।
ब्रह्मत्वं ब्रह्मणः स्थानादलोको लोकतां गतः ॥ ७ ॥

जिसने पहले महासागरके भीतरसे पृथ्वीदेवीका उद्धार किया था, वही वह महान् भूत है, वही ब्रह्माजीके स्थान मेरुपृष्ठपर जाकर चतुर्मुख ब्रह्माके रूपमें प्रतिष्ठित हुआ, जो वाराहरूपसे पृथ्वीका उद्धार करके अदृश्य हो गये थे, वे ही भगवान् फिर ब्रह्माजीके रूपमें दृष्टिगोचर होने लगे ॥ ७ ॥

पदसंधौ ब्रह्मलोकं शृङ्गं मेरोस्तदाभवत् ।
उच्छ्रितं योजनशतं सहस्रशतमेव च ॥ ८ ॥
एवमेव च विस्तारं चतुर्भिर्गुणितं गुणैः ।

उस समय उन भगवान्‌के दोनों चरणोंकी संधिमें जो मेरुपर्वतका शिखर था, वही ब्रह्मलोक हुआ । उसकी ऊँचाई एक लाख एक सौ योजनकी है । इसी प्रकार उसका विस्तार भी इससे चौगुना है ॥ ८½ ॥

अथवा नैव संख्यातुं शक्यं भूतेन केनचित् ।
समाः सहस्रैर्बहुभिरपि दिव्येन तेजसा ॥ ९ ॥

अथवा कोई भी प्राणी कई सहस्र वर्षोंमें दिव्य ज्ञानके द्वारा भी उसके विस्तारकी गणना नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

चतुर्भिः पार्श्वविस्तारैः शिलाभिरभिसंवृतैः ।
नगस्य यस्य राजेन्द्र विस्तारैः शतयोजनैः ॥ १० ॥
कोटिकोटीशतगुणैर्गुणितं ब्रह्मवादिभिः ।
योगयुक्तैः सदा सिद्धैर्नित्यं ब्रह्मपरायणैः ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! उसके चारों किनारोंमें चार बड़ी-बड़ी शिलाएँ हैं, जिनसे उसके विस्तृत पार्श्वभाग घिरे हुए हैं । उन सबके विस्तार सौ-सौ योजन हैं । मेरुपर्वतका विस्तार उन सबसे कोटि-कोटि शतगुना अधिक है—ऐसा नित्यसिद्ध, नित्य-ब्रह्मपरायण, योगयुक्त ब्रह्मवादी पुरुषोंने निश्चय किया है ॥ १०-११ ॥

मरुद्भिः सह देवेन्द्रै रुद्रैर्वसुभिरेव च ।
आदित्यैर्विश्वसहितै ररक्ष वसुधाधिपान् ॥ १२ ॥
ररक्ष पृथिवीं चैव भगवान् विष्णुना सह ।
विवस्वद्वरुणाभ्यां च संघातं गमितं नृप ॥ १३ ॥
तेन ब्राह्मेण वपुषा ब्रह्मप्राप्तेन भारत ।

नरेश्वर ! भरतनन्दन ! श्रीविष्णु तथा मरुद्गणों, देवेन्द्रों, रुद्रों, वसुओं, आदित्यों, विश्वेदेवों एवं विवस्वान् और वरुणके साथ रहकर भगवान् ब्रह्मा उसी ब्रह्म-प्राप्त ब्राह्म शरीरसे भूमि और भूमिपालोंकी रक्षा करते हैं ॥१२–१३½॥

यत् तद् विष्णुमयं तेजः सर्वत्र समतां गतम् ॥ १४ ॥
यत्तद् ब्रह्मेति वै प्रोक्तं ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
नियमैर्बहुभिः प्राप्तैः सत्यव्रतपरायणैः ॥ १५ ॥

ब्रह्माजी जिस ब्रह्मको प्राप्त थे, वह ब्रह्म सर्वत्र समभावसे स्थित है, विष्णुमय तेजके रूपमें प्रकाशमान है । बहुत-से नियमोंने जिन्हें अपना अनुगत बना लिया है तथा जो सत्यभाषण एवं ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनमें तत्पर रहते हैं, उन वेदके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंने जिसे ब्रह्मके नामसे बताया और जाना है, वही वह ब्रह्म है ॥ १४-१५ ॥

एवमेते त्रयो लोका ब्राह्मेऽहनि समाहिताः ।
अहनि ब्रह्म चाव्यक्तं व्यक्तं प्राणे प्रतिष्ठितम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार ये तीनों लोक ब्रह्माके दिनमें स्थित रहते हैं। अव्यक्त ब्रह्म भी ब्रह्माके उस दिनमें प्राणयुक्त शरीरके भीतर जीवात्मारूपसे व्यक्त एवं प्रतिष्ठित होता है ॥ १६ ॥

ब्रह्मणो नियतं कर्म प्रभावेण प्रचोदितम् ।
प्रवर्तमानं भावेन शश्वदच्छलवादिनाम् ॥ १७ ॥

परब्रह्म परमात्माके प्रभाव (निःश्वासरूप वेद) से प्रतिपादित जो नियत (नित्य) कर्म है, वह जिनकी वाणीमें भी कपट नहीं है, ऐसे पुरुषोंद्वारा यदि निरन्तर शुद्धभावसे किया जाय तो हितकारक होता है ॥ १७ ॥

एतद्धितमिति प्रोक्तं ब्राह्मणैर्वेदपारगैः।
यदेकं ब्रह्मणः पादं दिष्टत्वं गमितं पदम् ॥ १८ ॥

वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंने इस तरह निष्काम-भावसे किये गये कर्मको ही हितकारक बताया है। जिस पदको दिष्ट—प्रारब्ध या पूर्वकृत कर्मका फल बताया गया है, वह विश्व ब्रह्म (परमात्मा) का एक पाद (लेशमात्र अंश) है* ॥ १८ ॥

बहुत्वाद् विप्रभावानां विश्वशब्दः प्रयुज्यते।
ब्राह्मणैर्ब्रह्म भूतात्मा सत्यव्रतपरायणैः ॥ १९ ॥

विश्वको जिसका एक पाद बताया गया है, वह ब्रह्म सम्पूर्ण भूतोंका नित्यसिद्ध आत्मा है (उसे सकाम कर्मोंद्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता) तो भी वेदाभ्यासी विप्रोंके भावोंकी विविधताके कारण सत्यव्रतमें तत्पर रहनेवाले ब्राह्मण इन्द्र, मित्र, वरुण आदि सारे शब्द जिसमें वाचकरूपसे प्रतिष्ठित हैं, उस विश्व शब्दका यज्ञोंमें विनियोग करते हैं। (उन सकाम यज्ञोंद्वारा इन्द्रादि देवोंके ही लोकोंकी प्राप्ति होती है, जो मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके सामने नितान्त तुच्छ है। अतः मुमुक्षु पुरुषोंको निष्काम कर्मोंद्वारा ही परमात्माकी आराधना करनी चाहिये।) ॥ १९ ॥

विश्वरूपं मनोरूपं बुद्धिरूपं च मानयन्।
एवं द्वन्द्वं स भगवान् प्रथमं मिथुनं सृजत् ॥ २० ॥

विश्वरूप (स्थूल) और मनोरूप (सूक्ष्म)—ये दोनों केवल बुद्धिमात्ररूप हैं । ऐसा जानते हुए उन भगवान् ब्रह्माने पहले स्त्री-पुरुषरूप जोड़ेकी सृष्टि की ॥ २० ॥

स एव भगवान् विश्वो देव्या सह सनातनः।
विधाय विपुलान् भोगान् ब्रह्मा चरति सानुगः॥ २१ ॥

वे ही विश्वरूप सनातन भगवान् ब्रह्मा अपनी शक्ति-स्वरूपा देवीके साथ विपुल भोगोंकी रचना करके अपने अनुगामी कश्यप आदिके साथ उन्हें आचरण (उपयोग) में लाते हैं ॥ २१ ॥

स एष भगवान् ब्रह्मा नित्यं ब्रह्मविदां वरः।
निर्वाणपदगन्तॄणामकिंचनपथैषिणाम् ॥ २२ ॥

अकिंचनपथ (संन्यासमार्ग) पर जानेकी इच्छावाले जो मोक्षरूपी गन्तव्यपदके यात्री हैं, उन ब्रह्मवेत्ताओंके लिये जो सदा वरणीय परमात्मा हैं, वे यह भगवान् ब्रह्मा ही हैं ॥ २२ ॥

सोमात् सोमः समुत्पन्नो धारासलिलविग्रहात्।
यथाभिषिक्तो भूतानामाधिपत्ये महेश्वरः ॥ २३ ॥

अलुप्त ज्ञानशक्तिसे सम्पन्न परमेश्वरसे ओषधियोंके स्वामी सोम उत्पन्न हुए। उस समय इस सोमके उत्पादक उस परमेश्वरका स्वरूप ऊर्ध्वलोकसे गिरती हुई जलधारा ही थी, जिसने भगवान् महेश्वरको भूतनाथके पदपर अभिषिक्त किया ॥ २३ ॥

अभिषिच्य च भूतेशं कृत्वा कर्म स्वभावतः।
नदति स तदा नादं तेन सा ह्युच्यते नदी ॥ २४ ॥

वह जलधारा उस समय स्वाभाविकरूपसे भूतनाथ महेश्वरका अभिषेक करके इस महान् कर्मका सम्पादन करनेके पश्चात् कलकलनाद करने लगी। उसके कारण वह नदी कहलाती है ॥ २४ ॥

सा ब्रह्मलोकं सम्भाव्य अभिभूय सहस्रधा।
गां गता गगनाद् देवी सप्तधा प्रससार च ॥ २५ ॥

ब्रह्मलोकका महत्त्व बढ़ाकर मार्ग रोकनेवाले पर्वतोंके सहस्रों टुकड़े करके वह देवी गगनसे भूतलपर अवतीर्ण हुई। अतः 'गां गता' इस व्युत्पत्तिके अनुसार उसका नाम गङ्गा हुआ। वह सात[1] धाराओंमें विभक्त होकर सब ओर फैली ॥ २५ ॥

सहस्रधा च राजेन्द्र बहुधा च पुनः पुनः।
इमं लोकममुं चैव भावयन् क्षरसम्भवम् ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! वह भगवती गङ्गा अनेकानेक नदियों और तीर्थोंके रूपमें सहस्रोंकी संख्यामें विभक्त हुई हैं और बारंबार विभूतिभेदसे अनेकानेक रूप धारण करती हैं। उन गङ्गासे प्रकट हुए सोमदेव अन्न आदिके पौधोंको बढ़ाकर इस भौतिक लोककी और अपनी सुधामयी किरणोंसे परलोककी भी पुष्टि एवं रक्षा करते हैं ॥ २६ ॥

ततो भूतानि रोहन्ति महाभूतफलानि च।
ततः सर्वे क्रियारम्भाः प्रवर्तन्ते मनीषिणाम् ॥ २७ ॥

इस लोककी वृद्धि होनेसे जरायुज आदि प्राणी बढ़ते हैं। पृथ्वी, जल और तेज—इन तीनों महाभूतोंके जो व्रीहि आदि फल हैं, उनकी भी वृद्धि होती है। फिर उन व्रीहि आदि फलों और मनुष्य आदि प्राणियोंसे मनीषी पुरुषोंकी समस्त क्रियाओंका यथायोग्य आरम्भ होता है ॥ २७ ॥

चतुर्भिर्वदनैस्तस्य मुखपद्माद् विनिःसृता।
तदाक्षरमयी सिद्धिर्दिशत्वं समुपागता ॥ २८ ॥

उन परमेश्वरके मुखारविन्दसे जो चारों वेदोंके रूपोंमें अक्षर ब्रह्ममयी सिद्धि प्रकट हुई, वही उपदेश-भावको प्राप्त हुई है ॥ २८ ॥

---

* श्रुति भी कहती है कि 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि' इत्यादि। अर्थात् सम्पूर्ण भूत या समस्त भौतिक जगत् इस परमात्माका एक पाद (लघुतम अंश) है।

1. गङ्गा, यमुना, सरस्वती, रथस्था, सरयू, गोमती और गण्डकी—ये ही उसकी सात धाराएँ हैं। (वन० ८५। ८८)

तस्य ज्ञानमयं पुण्यं चतुष्पादं सनातनम् ।
पतित्वेनाभवद् देवो ब्रह्मा चात्र पितामहः ॥ २९ ॥

उन परमात्माका जो चिन्मय, पुण्यजनक, (ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु—इन) चार पादोंसे युक्त तथा सनातन (अनादि) रूप यज्ञ है, उसके अधिपतिरूपसे यहाँ पितामह ब्रह्माजी ही प्रतिष्ठित हुए हैं ॥ २९ ॥

पादा धर्मस्य चत्वारो यैरिदं धार्यते जगत् ।
ब्रह्मचर्येण व्यक्तेन गृहस्थेन च पावने ॥ ३० ॥

चारों आश्रम धर्मके चार पाद हैं, जिनके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है । स्वाध्यायरूपसे व्यक्त हुए ब्रह्मचर्य आश्रमके द्वारा धर्मका एक पैर पुष्ट होता है । पवित्र गृहका आश्रय लेकर पालित होनेवाले गृहस्थाश्रमके द्वारा धर्मका दूसरा चरण परिपुष्ट होता है ॥ ३० ॥

गुरुभावेन वाक्येन गुह्यगामिनगामिना ।
इत्येते धर्मपादाः स्युः स्वर्गहेतोः प्रचोदिताः ॥ ३१ ॥

तपस्याके भारसे गौरवान्वित हुए वानप्रस्थाश्रमके द्वारा धर्मके तीसरे चरणकी पुष्टि होती है तथा आत्मतत्त्वके प्रतिपादक और कूटस्थ ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाले 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यके विचारसे युक्त संन्यास आश्रमके द्वारा धर्मका चौथा पाद सुदृढ़ होता है । ये ही धर्मके चार चरण हैं, जो स्वर्ग (दिव्य सुख एवं मोक्ष) की प्राप्तिके लिये शास्त्रोंद्वारा प्रतिपादित हुए हैं ॥ ३१ ॥

न्यायाद् धर्मेण गुह्येन सोमो वर्धति मण्डले ।
ब्रह्मणो ब्रह्मचरणाद् वेदा वर्तन्ति शाश्वताः ॥ ३२ ॥

न्यायपूर्वक गुह्यधर्मके पालनसे सोम (सोमाधिष्ठित मन) ब्रह्माण्डमण्डलमें वृद्धिको प्राप्त होता है (अर्थात् व्यष्टिके अभिमानको छोड़कर समष्टिके अभिमानसे सम्पन्न होता है) । वेदके अनुसार ब्रह्मचर्य-व्रतके पालन और स्वाध्यायसे सनातन वेद सदा बने रहते हैं ॥ ३२ ॥

गृहस्थानभि वाक्येन तृप्यन्ति पितरस्तथा ।
ऋषयोऽपि च धर्मेण नगस्य शिरसि स्थिताः ॥ ३३ ॥

वेदोक्त धर्मसे युक्त गृहस्थोंको भी देखकर मेरुपर्वतके शिखरपर स्थित हुए पितर तथा ऋषि भी उनके धर्मसे तृप्त होते हैं ॥ ३३ ॥

नगस्य तस्य सम्पश्य मेरोः शिखरमुत्तमम् ।
पद्भ्यां सम्पीड्य वृषणावृषिभिस्तैर्विचार्यते ॥ ३४ ॥

उस मेरुपर्वतके उत्तम शिखरको (जिसे ब्रह्मलोक कहा गया है) देखो—उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करो । (किस तरह सो बताते हैं) ऋषिगण दोनों पैरोंसे अण्डकोषोंको दबाकर सिद्धासनसे[1] स्थित हो उसका विचार (चिन्तन) करते हैं ॥ ३४ ॥

ग्रीवां निगृह्य पृष्ठं च विनाम्य प्रहसन्निव ।
नाभिदेशे करौ न्यस्य सर्वशोऽङ्गानि संक्षिपन् ॥ ३५ ॥

ग्रीवाको मोड़कर दोनों हँसलियोंकी सन्धिमें अपनी ठोढ़ीको सटा दे और पीठको इस तरह भीतरकी ओर झुका दे कि छातीका भाग कुछ ऊँचा हो जाय । फिर हँसते हुए पुरुषके समान मुद्रामें स्थित हो दाँतोंको परस्पर सटने न दे । दोनों हाथोंको नाभिदेशमें रखकर अञ्जलिकी मुद्रामें कर दे अर्थात् बायें हाथके ऊपर दाहिना हाथ रख ले । फिर सब ओरसे अपने अङ्गोंको काबूमें रखता हुआ ध्यान लगावे ॥ ३५ ॥

मूर्ध्नि ब्रह्म समुत्क्षिप्य मनसापि पितामहः ।
असृजन्मनसा विष्णुं योगाद् योगेश्वरस्य च ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ध्यान लगाते हुए अधिकारी पितामहने मनः-प्रधान प्राणके द्वारा ब्रह्म अर्थात् अपने जीवात्माको मूर्धा (भौंहों और नासिकाके मध्यभाग) में ले जाकर मानसिक संकल्पके द्वारा विष्णु-अर्थात् विश्वरूपकी सृष्टि की । ऐसा उन्होंने योगेश्वरके योगसे किया (चित्तवृत्तियोंके निरोधको योग कहते हैं । वह प्राणरोध या प्राणायामके अधीन है । अतः वही योगेश्वर है) उसी प्राणायामके योग अर्थात् अभ्याससे उन्होंने पूर्वोक्त रीतिसे जीवको मूर्धामें स्थापित करके ऐश्वर्य प्राप्त किया । जिससे वे सम्पूर्ण जगत्की रचनामें सफल हुए ॥ ३६ ॥

व्यतिरिक्तेन्द्रियो विष्णुर्बिम्बाद् बिम्बमिवोद्धृतः ।
तेजोमूर्तिधरो देवो नभसीन्दुरिवोदितः ॥ ३७ ॥

प्रत्याहारकी साधनासे जिनकी इन्द्रियाँ विषयोंसे पृथक् हो गयी थीं, वे योगी पितामह परिच्छिन्नताके घेरेसे मुक्त एवं व्यापक विष्णुरूप हो बिम्बसे प्रकट हुए बिम्बकी भाँति अपने स्वरूपसे ही तेजोमूर्तिधारी नारायणदेवके रूपमें प्रकट हो गये और आकाशमें उदित हुए चन्द्रमाकी भाँति प्रकाशित होने लगे ॥ ३७ ॥

रराज ब्रह्मयोगेन सहस्रांशुरिवापरः ।
विराजन्नभसो मध्ये प्रभाभिरतुलं प्रभुः ॥ ३८ ॥

वे आकाशके मध्यभागमें अपनी प्रभाओंसे अनुपम शोभा पानेवाले दूसरे भगवान् सूर्यकी भाँति ब्रह्मयोग (चैतन्यज्योतिके संयोग) से उद्भासित होने लगे ॥ ३८ ॥

---

१. अन्यत्र सिद्धासनका लक्षण इस प्रकार मिलता है—

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ।
गुल्फान्तरं च विन्यस्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥

अर्थात् बायें गुल्फको लिङ्गके ऊपरी भागमें रखकर उसके ऊपर दूसरा गुल्फ रखकर बैठे । यह सिद्धासन है ।

नोपलभ्यति मूढात्मा प्रत्यक्षं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ललाटमध्ये तिष्ठन्तं द्विधाभूतं क्रियां प्रति ॥ ३९ ॥

मूढ़चित्त पुरुष प्रत्येक क्रियाके प्रति नियम्य और नियामकरूपसे दो स्वरूपोंमें स्थित हुए और ललाटके मध्यभाग (भौंहों और नासिकाके संधिस्थान) में विराजमान सनातन ब्रह्म (विष्णु) का साक्षात्कार नहीं कर पाता है ॥ ३९ ॥

ज्योतिश्चक्षुषि सम्बद्धं बिम्बं भास्करसोमयोः ।
बुद्ध्या पूर्वं तु पश्यन्ति अध्यात्मविषये रताः ॥ ४० ॥
ब्राह्मणा वेदविद्वांसः सत्यव्रतपरायणाः ।
नेतरे जातु पश्यन्ति अध्यात्मं नावबुध्यते ॥ ४१ ॥

सूर्य और चन्द्रमा जिनके देवता हैं, उन इड़ा और पिङ्गला नामक नाड़ियोंमें बिम्बभूत जो चैतन्य ज्योति है, उसीकी धारणा करनी चाहिये। वह नेत्रेन्द्रियमें प्रतिबिम्बित होती है (उसीके द्वारा नेत्रमें रूपको प्रकाशित करनेकी शक्ति प्राप्त हुई है) । पहलेसे अध्यात्मविषयके चिन्तनमें तत्पर रहनेवाले सत्यव्रतपरायण वेदवेत्ता ब्राह्मण विशुद्ध बुद्धिके द्वारा उसका साक्षात्कार करते हैं । दूसरे लोग कदापि उसका दर्शन नहीं कर पाते हैं। दूसरोंको तो अध्यात्मशास्त्रका भी ज्ञान नहीं होता, स्वरूपबोध तो दूरकी बात है ॥ ४०-४१ ॥

हिंसायोगैर्योगात्मा सर्वप्राणचरैर्नृप ।
भूतयो भुवि भूतेशो मोहप्राप्तेन चेतसा ॥ ४२ ॥

नरेश्वर ! जो भूतलपर योगजनित ऐश्वर्यसे समस्त प्राणियोंका निग्रह और अनुग्रह करनेमें समर्थ है, वह योगी यदि अपने चित्तको मोहवश योगमें लगाये न रहे तो वे ऐश्वर्य उसे समस्त प्राणियोंका संहार करनेवाले हिंसायोगमें लगाकर उसका पराभव कर देते हैं ॥ ४२ ॥

कर्मभिः कुत्सितैरन्यैः सर्वप्राणिवधैषिणाम् ।
नराणां योगमाधाय स्वेषु मात्रेषु भारत ॥ ४३ ॥

भरतनन्दन ! वे विभूतियाँ समस्त प्राणियोंके वधकी इच्छावाले मनुष्योंको अपने भोग्य विषयोंके लिये अन्य कुत्सित कर्मोंमें लगाकर उन्हें विनाशके गर्तमें गिरा देती हैं ॥ ४३ ॥

समाहितमना ब्रह्मन् मोक्षप्राप्तेन हेतुना ।
चन्द्रमण्डलसंस्थानाज्ज्योतिश्चान्द्रं महत् तदा ॥ ४४ ॥
प्रविश्य हृदयं क्षिप्रं गायत्र्या नयनान्तरे ।
गर्भस्य सम्भवो यश्च चतुर्धा पुरुषात्मकः ॥ ४५ ॥

इसलिये मोक्षकी प्राप्तिके हेतु परब्रह्म परमात्माके चिन्तनमें चित्तको पूर्णरूपसे लगा दे । चन्द्रमण्डल अर्थात् मनके संस्थान (ईशादिरूप) का परित्याग करके महान् चान्द्र-ज्योति (चैतन्यमय तेज) में, जिसका स्थान हृदय है, प्रवेश करे । शीघ्र विघ्न आनेकी आशङ्कासे गायत्री अर्थात् सगुण ब्रह्मके नेत्रकी भाँति प्रकाशक विशुद्ध तेजके भीतर स्थित हो जाय, जो कि अव्यक्तकी उत्पत्तिका स्थान है । वह अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रारूपसे अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तुरीयरूपसे चार भेदोंमें विभक्त पुरुषरूप है ॥

ब्रह्मतेजोमयोऽव्यक्तः शाश्वतोऽथ ध्रुवोऽव्ययः।
न चेन्द्रियगुणैर्युक्तो युक्तस्तेजोगुणेन च ॥ ४६ ॥
चन्द्रांशुविमलप्रख्यो भ्राजिष्णुर्वर्णसंस्थितः ।

वह पुरुष ब्रह्मचैतन्यमय है । अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिका अविषय है । नित्य, कूटस्थ और अव्यय (विकाररहित) है । इन्द्रियोंद्वारा गृहीत होनेवाले रूप आदि गुणोंसे रहित तथा तेजोगुणसे युक्त है । उसकी कान्ति चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल है । वह सदा सत्स्वरूपसे प्रकाशमान है तथा शरीरके आकारमें परिणत हुए लोहित शुक्ल आदि वर्णोंमें आविर्भूत होकर स्थित है ॥ ४६½ ॥

नेत्राभ्यां जनयद् देवो ऋग्वेदं यजुषा सह ॥ ४७ ॥
सामवेदं च जिह्वाग्रादथर्वाणं च मूर्धतः ।

उस प्रकाशमान देवताने अपने नेत्रोंसे ऋग्वेद और यजुर्वेदको प्रकट किया । जिह्वाके अग्रभागसे सामवेदको और मूर्धा (ललाटप्रान्त) से अथर्ववेदको प्रकट किया है ॥ ४७½ ॥

जातमात्रास्तु ते वेदाः क्षेत्रं विन्दन्ति तत्त्वतः॥ ४८ ॥
तेन वेदत्वमापन्ना यस्माद् विन्दन्ति तत्पदम् ।

वे वेद प्रकट होते ही अपने-अपने क्षेत्रका तत्त्वतः वेदन (उपलब्धि) करते हैं, इसलिये उन्हें 'वेद' संज्ञा प्राप्त हुई है । वे उस ब्रह्मपदका वेदन (लाभ) करते हैं, इसलिये भी 'वेद' कहलाते हैं ॥ ४८½ ॥

ते सृजन्ति तदा वेदा ब्रह्म पूर्वं सनातनम् ॥ ४९ ॥
पुरुषं दिव्यरूपाभं स्वैः स्वैर्भावैर्मनोभवैः ।

उस समय वे वेद पहले उस सनातन ब्रह्मको ही अपने-अपने मानसिक भावोंके अनुसार दिव्य रूप और आभासे युक्त विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तुरीय पुरुष अथवा यज्ञपुरुषके रूपमें प्रकट करते हैं ॥ ४९½ ॥

अथर्वणस्तु यो योगः शीर्षं यज्ञस्य तत् स्मृतम् ॥ ५० ॥
ग्रीवाबाह्वन्तरं चैव ऋग्भागः स भवेत् ततः ।
हृदयं चैव पार्श्वं च सामभागस्तु निर्मितः ॥ ५१ ॥
बस्तिशीर्षं कटीदेशं जङ्घोरुचरणैः सह ।
एवमेष यजुर्भागः संघातो यज्ञकल्पितः ।
पुरुषो दिव्यरूपाभः सम्भूतो ह्यमरात् पदात् ॥ ५२ ॥

अथर्ववेदका जो योग है, वह यज्ञपुरुषका सिर माना गया है। जो ऋग्वेदका भाग है, वह उसकी ग्रीवा और भुजाओंके बीचका अङ्ग है । सामवेदके भागसे उस यज्ञपुरुषके हृदय और पार्श्वभागका निर्माण हुआ है । इसी तरह जो यह यजुर्वेदका भाग है, उसके द्वारा यज्ञपुरुषके पेड़ू और उसके ऊपरके

भाग, कटिप्रदेश, ऊरु, जंघा और चरणोंके साथ शेष शरीरकी कल्पना हुई है। वह दिव्य रूप और मायासे युक्त पुरुष अमर—अविनाशी तुरीय पदसे प्रकट हुआ है ॥ ५०—५२॥

स हि वेदमयो यज्ञः सर्वभूतसुखावहः।
उभयोर्लोकयोस्तात हिंसावर्ज्यः सनातनः ॥ ५३ ॥

तात ! वह हिंसारहित सनातन वेदमय यज्ञ इहलोक और परलोकमें समस्त प्राणियोंके लिये सुखदायक होता है ॥ ५३ ॥

योगारम्भं कर्मसाध्यं ब्रह्मचर्यं सनातनम्।
प्रभवः सर्वभूतानां यो विन्दति स वेदवित् ॥ ५४ ॥

योगका आरम्भ मनःसंयमरूपी कर्मसे सिद्ध होनेवाला है। यही सनातन ब्रह्मचर्य है। जो इसे जानता है, वह समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका कारण एवं वेदवेत्ता है ॥ ५४ ॥

स सिद्धः प्रोच्यते लोके सिद्धिरेव न संशयः।
निर्मुक्तैः सर्वकर्मभ्यो मुनिभिर्वेदपारगैः ॥ ५५ ॥

समस्त कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हुए वेदपारङ्गत मुनियोंने लोकमें उसे सिद्ध बताया है। उसको सिद्धि ही प्राप्त होती है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५५ ॥

वैष्णवं यज्ञमित्येवं ब्रुवते वेदपारगाः।
ब्राह्मणा नियमश्रान्ता वेदोपनिषदे पदे ॥ ५६ ॥

वेदोंके पारङ्गत ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, जो मनोनिग्रहका अभ्यास करते-करते थक गये हैं, वेदोपनिषद् (ब्रह्मविद्या) द्वारा अधिगत होनेवाले स्वाराज्य पदकी प्राप्तिके लिये इस प्रकार वैष्णव यज्ञ (योग) की आवश्यकता बताते हैं॥५६॥

जनमेजय उवाच

चेतसस्तूपलम्भे हि मनोग्राह्यस्य कामतः।
कारणं श्रोतुमिच्छामि यथा त्वं मन्यसे मुने ॥ ५७ ॥

जनमेजयने कहा—मुने ! जो इच्छानुसार मनके द्वारा ग्राह्य है अर्थात् ईंधन जल जानेपर आगकी तरह जो स्वयं अपने-आप ही शान्त हो जानेके योग्य है, उस चित्तकी उपलब्धिमें क्या कारण है, यह मैं सुनना चाहता हूँ; इस विषयमें आपकी जैसी मान्यता हो, वैसा बताइये ॥ ५७ ॥

वैशम्पायन उवाच

न ह्यस्य कारणं किंचिद् बाह्यं भवति भारत।
अन्तर्गतं कारणं तु शारीरं मानसं नृप ॥ ५८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भारत ! नरेश्वर ! इसका कोई बाह्य कारण नहीं है। अपने भीतर ही इसका कारण मौजूद है। शरीरके द्वारा किया गया जो कर्म है, वही मनमें संस्कार-रूपसे स्थित हो उसका उद्बोधक होता है (उस चित्तकी उपलब्धिमें कारण बनता है) ॥ ५८ ॥

येन वेद्यं विदुर्मर्त्या ब्राह्मणाः संशितव्रताः।
अवेद्यमपि वेद्यं च शक्यं वेत्तुं न कर्मणा ॥ ५९ ॥

कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मवेत्ता मनुष्य जिस चैतन्यसे समस्त ज्ञेय वस्तुओंको जानते हैं, वह आत्मा होनेके कारण अवेद्य है तो भी शास्त्र और आचार्यके उपदेशके पश्चात् लक्षणाद्वारा उसका ज्ञान होता है; परंतु कर्मसे तो उसको किसी तरह नहीं जाना जा सकता ॥ ५९ ॥

ब्राह्मणेन विनीतेन सदा ब्रह्मनिषेविणा।
सदा विदिततत्त्वेन सिद्धिहेतोर्महीपते ॥ ६० ॥

पृथ्वीनाथ ! वेदोंका अध्ययन करनेवाले ब्राह्मण आदिको चाहिये कि वह मोक्षकी प्राप्तिके लिये विद्याके अहङ्कारका त्याग करके विनीतभावसे रहे, सदा ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय) का सेवन करे, प्रतिदिन शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे आत्मा और अनात्माके तत्त्वको जाननेका प्रयत्न करे ॥ ६० ॥

सदा चैव शुचिर्भूत्वा नियतो ब्रह्मकर्मणा।
उपतिष्ठेत स गुरुं बद्धाञ्जलिपुटो द्विजः ॥ ६१ ॥

सदा पवित्र रहकर ब्रह्मार्पणभावसे कर्म करते हुए नियमपूर्वक शम आदिके साधनमें लगा रहे। इस प्रकार द्विज दोनों हाथ जोड़कर गुरुकी सेवामें उपस्थित होवे ॥ ६१ ॥

सायं प्रातश्च तत्त्वज्ञो मोक्षकर्माणि कारयेत्।
विनीतो ब्रह्मभावेन समाहितमतिर्मुनिः ॥ ६२ ॥

गुरुतत्त्वका ज्ञाता होकर प्रतिदिन सायं और प्रातःकाल मोक्षसम्बन्धी कर्म (आसन, प्राणायाम,प्रत्याहार, ध्यान और धारणा) करे, मनमें योगप्राप्तिके कारण गर्व न आने देकर विनयशील रहे, निरंतर ब्रह्मकी भावना करते हुए मनको एकाग्र रखे और मौन रहे ॥ ६२ ॥

सम्प्रपद्येत मनसा वैष्णवं पदमुत्तमम्।
ध्यायन्नेव प्रसीदेत समाहितमतिर्द्विजः ॥ ६३ ॥

वह मनसे उत्तम वैष्णवपद (शुद्ध ब्रह्म)का चिन्तन करे। इस तरह एकाग्रचित्त हुआ द्विज ध्यानपरायण होकर ही प्रसन्न रहे ॥ ६३ ॥

गच्छते परमं ब्रह्म निर्विकारेण चेतसा।
अपुनर्भवभावज्ञो निर्ममो भावबन्धनात् ॥ ६४ ॥

मोक्षके स्वरूपको जाननेवाला ममतारहित वह पुरुष चित्तवृत्तियोंका निरोध करके विकाररहित चित्तसे परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ६४ ॥

तदेवाक्षरमित्याहुर्यत् तद् ब्रह्म सनातनम्।
तर्हि तत्कर्मयोगेन विद्यायोगेन दर्शितम् ॥ ६५ ॥

वह जो सनातन ब्रह्म है, उसीको अक्षर कहते हैं। उसीका शास्त्रोंमें निष्काम कर्मयोग और ज्ञानयोगके द्वारा साक्षात्कार कराया गया है ॥ ६५ ॥

ब्राह्मणानां विनीतानां वैष्णवे पदसंचये।
सर्वद्रव्यातिरिक्तानां कामयोगविगर्हिणाम् ॥ ६६ ॥

जो वैष्णव-पदकी प्राप्तिके लिये सर्वस्वका परित्याग करके कामयोग (स्त्री-पुत्र आदिके सङ्ग) की निन्दा करते हैं, उन विनयशील ब्राह्मणोंको उस अक्षर ब्रह्मका ज्ञान होता है ॥ ६६ ॥

अपुनर्भाविनां लोकाः कर्मयोगप्रतिष्ठिताः।
अनादानेन मनसा राजन् कर्मणि कर्मणि ॥ ६७ ॥

राजन् ! जो प्रत्येक कर्ममें मनसे उसके फलको ग्रहण न करके पुनर्जन्मके बन्धनसे ऊपर उठ गये हैं, उनके लोक निष्काम कर्मयोगमें प्रतिष्ठित हैं ॥ ६७ ॥

आदानाद् बध्यते जन्तुर्निरादानात् प्रमुच्यते।
ब्राह्मणेभ्यः क्रियावाप्तिर्जन्तोः पूर्वोज्जनाधिप ॥ ६८ ॥

नरेश्वर ! फलको ग्रहण करनेसे जीव बँधता है और उसका त्याग करनेसे मुक्त होता है। जीवको पूर्वजन्मके संस्कारवश ब्राह्मणादि श्रेष्ठ पुरुषोंसे क्रियाओंकी प्राप्ति होती है ॥ ६८ ॥

मुक्तश्चेन्द्रियबन्धेन प्राप्तश्च परमं पदम्।
न भूयः पुनरायाति मानुषं देहविग्रहम् ॥ ६९ ॥

फलका परित्याग करनेवाला पुरुष इन्द्रियोंके बन्धनसे मुक्त हो परमपदको प्राप्त होता है। वह पुनः इस मानव-शरीरमें नहीं आता है ॥ ६९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

योगके उपसर्ग (विघ्न), योगीकी विष्णुरूपसे स्थिति, कर्मलयसे मुक्ति, सकाम कर्मियोंकी धूममार्गसे गति और पुनरावृत्ति, ज्ञानी एवं योगीको तत्त्वका साक्षात्कार तथा ब्रह्मयुगका वर्णन

जनमेजय उवाच

उपसर्गं च योगं च ध्यातव्यं चैव यत्पदम्।
न भूयः पुनरायाति मानुषं देहविग्रहम्।
सिद्धिं सिद्धिगुणांश्चैव श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! योगके विघ्न कौन-कौनसे हैं ? योगका स्वरूप क्या है ? उसमें ध्येय वस्तु क्या है ? किस तरह योग साधन करनेसे मनुष्यको फिर शरीर धारण करना नहीं पड़ता ? सिद्धि क्या है ? और उसके गुण कौन-कौनसे हैं ? मैं इन सब बातोंको यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु विस्तरतः सर्वं यथा पृच्छसि मेधया।
उपपन्नेन मनसा ब्रह्मादीनामनेकधा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! ब्रह्मा आदि योगियोंको अनेक बार जिनका सामना करना पड़ता है, योगके उन विघ्नों तथा स्वरूप आदिके विषयमें तुम जैसा पूछते हो, वह सब बुद्धियुक्त मनसे विस्तारपूर्वक सुनो ॥ २ ॥

पञ्चसिद्धिगुणांस्त्यक्त्वा पश्यतो ब्रह्मणो नृप।
योगयुक्तेन मनसा पञ्चेन्द्रियनिवासिनः ॥ ३ ॥
ब्रह्मणश्चिन्तयानस्य ब्रह्मयज्ञं सनातनम्।
बहुरूपमनैश्वर्यात् प्रवर्तेत निरोधनम् ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! दूरश्रवण आदि जो पाँच सिद्धियाँ हैं, उनके जो पाँचों इन्द्रियोंमें निवास करनेवाले शब्द आदि विषय हैं, उनका परित्याग करके ब्रह्मदर्शी ब्राह्मण जब योगयुक्त मनसे सनातन ब्रह्मरूप यज्ञका चिन्तन करने लगता है, उस समय उसके भीतर पर-वैराग्यके बलका अभाव होनेसे उसके समक्ष अनेक रूपोंमें विघ्न उपस्थित होने लगते हैं ॥ ३-४ ॥

पञ्चेन्द्रियस्य ग्रामस्य नवद्वारस्य भारत।
कामक्रोधस्य लोभस्य संनिरुद्धस्य मेधया ॥ ५ ॥
तेजसा मूर्ध्नि चाधाय धूमो दोधूयते महान्।

भरतनन्दन ! जिसमें पाँचों इन्द्रियोंकी प्रधानता है, उस नौ द्वारवाले देहेन्द्रियप्राण-सङ्घातरूपी ग्रामका तथा काम, क्रोध और लोभका बुद्धिके द्वारा निरोध हो जानेपर भी जब योगी भौंहों और नासिकाके मध्य-भागमें स्थापित हुए तेज अर्थात् नेत्र-प्रणिधानके द्वारा चित्तको किसी आधारसे संयुक्त करके स्थित होता है, उस समय उसके समक्ष बड़ा भारी धुआँ उठने लगता है ॥ ५½ ॥

नीललोहितवर्णाभैः पीतैः श्वेतैश्च धातुभिः ॥ ६ ॥
माञ्जिष्ठरागवर्णाभैः कपोतसदृशैस्तथा।
शुद्धवैदूर्यवर्णाभैः पद्मरागसमप्रभैः ॥ ७ ॥
स्फाटिकैर्मणिवर्णाभैर्नागेन्द्रसदृशैस्तथा।
इन्द्रगोपकवर्णाभैश्चन्द्रांशुसलिलप्रभैः ॥ ८ ॥
बहुवर्णैः सुधूमैर्घैरिन्द्रायुधसमप्रभैः।
सम्पतद्भिश्च युगपन्मेघैरिव समागतः।
निरुध्यत इवाकाशं पक्षवद्भिरिवाद्रिभिः ॥ ९ ॥

नीले, लाल, पीले, सफेद धातुओंके समान रंगवाले, मजीठके रंगकी-सी कान्तिवाले, कबूतरोंके समान वर्णवाले,

शुद्ध वैदूर्यमणिकी-सी प्रभावाले, पद्मराग मणिके समान आभावाले, स्फटिकमणिके तुल्य उज्ज्वल, गजराजके सदृश काले, वीरबहूटियोंके समान लाल, चन्द्रमाकी किरणों और जलके समान श्वेतवर्णवाले, बहुरंगे धूमसमूह, जो इन्द्रधनुषके समान प्रतीत होते हैं, एक ही समय बादलोंके समान एकत्र होकर सब ओर उड़ने लगते हैं, उस समय सारा आकाश पङ्खधारी पर्वतोंके समान उन धूमसमूहोंसे अवरुद्ध-सा हो जाता है ॥ ६–९ ॥

ते धूमवर्णाः संघाता घनाः सलिलधारिणः ।
निर्वेमुश्चैव तोयौघान् विविशुर्वसुधातले ॥ १० ॥

तदनन्तर वे धुएँके समान वर्णवाले समुदाय जल धारण करनेवाले मेघोंके रूपमें परिणात हो जलकी धाराएँ बरसाने लगते हैं और वसुधातल (योगीके शरीर) में ही विलीन हो जाते हैं ॥ १० ॥

मूर्ध्नि चैव महानग्निर्मानसो धूयते प्रभुः ।
युक्तः परमयोगेन शतशोऽर्चिभिरावृतः ॥ ११ ॥

उसके मस्तकपर भी मनसे प्रकट हुई बड़ी भारी आग धू-धू करके जलने लगती है, वह जलानेमें समर्थ, उत्तम योगशक्तिसे सम्पन्न तथा सैकड़ों लपटोंसे घिरी हुई होती है ॥ ११ ॥

तस्यार्चिर्विस्फुलिङ्गानां सहस्राणि शतानि च ।
विसस्रुः सर्वगात्रेभ्यो ज्वलन्निव युगाग्नयः ॥ १२ ॥

उसकी लपटसे सैकड़ों, हजारों चिनगारियाँ निकलती रहती हैं । उस योगीके सभी अङ्गोंसे प्रलयाग्नियोंके समान जलती हुई-सी अग्नियाँ प्रकट होती हैं ॥ १२ ॥

यावत्यो वर्षधारास्तु तावत्योऽर्च्योऽनलस्य च ।
समेयुर्वारिधाराभिर्विपुले वसुधातले ॥ १३ ॥

वर्षा होते समय जलकी जितनी धाराएँ गिरती प्रतीत होती हैं, उस आगकी लपटें भी उतनी ही होती हैं। वे विस्तृत भूतलपर उन जलकी धाराओंके साथ मिल जाती हैं ॥ १३ ॥

वर्णाभ्यां युज्यमानस्य वायुर्दोधूयते महान् ।
दिव्यसिद्धगुणोद्भूतः सूक्ष्मप्राणविवर्धनः ॥ १४ ॥

जल और अग्निके वर्ण श्वेत और लोहित रंगोंसे संयुक्त हुए चित्तमें जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, तब उसमें रूपरहित वायुरूप आकाश प्रकट होता है । वह दिव्य एवं अनादि गुणों—शब्दतन्मात्रा आदिसे उत्पन्न हुई विशाल वायु (जो स्थूल वायुसे भिन्न है) बहने लगती है, वह सूक्ष्म प्राण (सूत्रात्मा) को प्रकाशित करनेवाली है ॥ १४ ॥

वेगवान् भीमनिर्घोषो बलवान् प्राणगोचरः ।
तैरेव चाग्निसंघातैर्धातुभिः सह संगतः ॥ १५ ॥

अग्निसे मिले हुए उन पृथ्वी और जल नामक धातुओंसे संयुक्त होकर वह वायु प्राणगोचर (प्राणशब्दवाच्य) सूत्रात्मा हो जाती है । वह प्राण या सूत्रात्मा बड़ा ही वेगवान् है; क्योंकि वह मनको भी उत्पन्न करनेवाला है । उससे बड़ी भयंकर ध्वनि प्रकट होती है; क्योंकि वह स्थूल आकाशका भी जनक है तथा वह अत्यन्त बलवान् है; क्योंकि उसमें ब्रह्माण्डका भी भेदन करनेकी शक्ति है ॥ १५ ॥

सहस्रशोऽथ शतशो मूर्तिं कृत्वा पृथग्विधाम् ।
अग्निर्वायुर्जलं भूमिर्धातवो ब्रह्मचोदिताः ॥ १६ ॥

तदनन्तर ब्रह्मा (योगी) से प्रेरित हो अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी नामक धातु पृथक्-पृथक् सैकड़ों और हजारों मूर्तियोंका निर्माण करके स्थित होते हैं ॥ १६ ॥

समवायत्वमापन्ना बीजभूता महीपते ।
संघातं ब्रह्मवेगेन धातवो गमिता नृप ॥ १७ ॥

पृथ्वीनाथ ! नरेश्वर ! ब्रह्मके वेगसे अर्थात् चैतन्यशक्तिके अनुप्रवेशसे संघात (मूर्तिभाव) को प्राप्त हुए पृथ्वी-जल आदि धातु एक दूसरेसे मिलकर बीजभूत हो जाते हैं अर्थात् भावी सृष्टिरूप कार्यके कारण बनते हैं ॥ १७ ॥

यद् ब्रह्म चक्षुषोर्मध्ये स सूक्ष्मः पुरुषो विराट् ।
तयोरन्यान् बहून् सूक्ष्मान् ससृजे पुरुषोत्तमः॥ १८ ॥

दोनों नेत्रोंके मध्यभागमें धारणाका विषयभूत जो ब्रह्म है, वही सूक्ष्म और वही विराट् पुरुष है। वह ब्रह्मीभूत हुआ पुरुषोत्तम योगी उन सूक्ष्म और विराट्से भिन्न एवं उन्हींके समान बहुत-से सूक्ष्म पुरुषोंकी सृष्टि करता है ॥१८॥

स एव भगवान् विष्णुर्व्यक्ताव्यक्तः सनातनः ।
आधारः सर्वविद्यानां प्रलये प्रलयान्तकृत् ॥ १९ ॥

वही ब्रह्मीभूत हुआ योगी भगवान् विष्णुके रूपमें प्रतिष्ठित होता है। वे विष्णु ही व्यक्ताव्यक्तस्वरूप सनातन पुरुष हैं । वे ही समस्त विद्याओंके आधार हैं । प्रलयकालमें उन्हींके द्वारा सबका प्रलय एवं विनाशकार्य सम्पन्न होता है ॥ १९ ॥

तं मूर्ध्नि धातुभिर्नद्धं विशन्ति ब्रह्मचोदिताः ।
तेऽन्तराः पुरुषाः सर्वे ज्ञातारः सुखदुःखयोः ॥ २० ॥

मस्तक अर्थात् भौंहों और नासिकाके मध्यभागमें सूत्रात्मारूपसे स्थित हुए उस योगीमें परमेश्वरकी प्रेरणासे सुख और दुःखका अनुभव करनेवाले अन्य सब जीव प्रवेश करते हैं ॥ २० ॥

अथ चेष्टितुमारब्धा मूर्तयो ब्रह्मसम्मिताः ।
भित्त्वा च धरणीं देवीं प्राप्स्यन्त दिशो दश ॥ २१ ॥

तदनन्तर स्थूल देहका त्याग करके परमेश्वरकी समताको

प्राप्त हुई वे मूर्तियाँ जब चेष्टा करना आरम्भ करती हैं, तब वे दसों दिशाओंको प्राप्त होती हैं ॥ २१ ॥

इत्येते पार्थवाः सर्वे ऋषयो ब्रह्मनिर्मिताः ।
तत्रैव प्रलयं याता भूमित्वमुपयान्ति च ॥ २२ ॥

इस प्रकार स्थूल भूतोंसे उत्पन्न हुए समस्त ऋषि (व्यावहारिक पदार्थ) जिनका निर्माण उस योगीके द्वारा ही हुआ होता है, उसीमें लीन होकर अपने उपादान-कारणमें स्थित हो जाते हैं; ठीक उसी तरह जैसे मिट्टीका घड़ा फूटनेपर अपने उपादानकारण मिट्टीमें ही मिल जाता है ॥

कर्मक्षयाद् विमुच्यन्ते धातुभिः कर्मबन्धनैः ।
कर्मक्षयाद् विमुक्तत्वादिन्द्रियाणां च बन्धनात्॥ २३ ॥

कर्मोंका क्षय होनेसे जीव कर्मबन्धनरूप धातुओंसे मुक्त हो जाते हैं। कर्मोंके क्षयसे धातुबन्धनसे मुक्ति मिल जानेके कारण वे इन्द्रियोंके बन्धनसे भी छूट जाते हैं ॥ २३ ॥

तामेव प्रकृतिं यान्ति अज्ञातां कर्मगोचरैः ।
क्षराद् धूमक्षयं चैव अग्निगर्भास्तपोमयाः ॥ २४ ॥

कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हुए जीव अपनी उसी प्रकृति (मूलस्थान परब्रह्मभाव) को प्राप्त होते हैं, जो कर्मबन्धनमें बँधे पुरुषोंके अनुभवसे परेकी वस्तु है। जो सकाम कर्मोंमें तत्पर रहते हैं, वे नाशवान् कर्म करनेके कारण धूमादि मार्गसे गन्तव्यस्थानको प्राप्त होते हैं (जहाँसे पुनरावृत्ति अवश्यम्भावी है)। उन सकामकर्मियोंमें भी वे ही उस धूममार्गको प्राप्त होते हैं, जिन्होंने प्रधानतः अग्निहोत्र तथा कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तपका अनुष्ठान किया है ॥ २४ ॥

येन तन्तुरिवाच्छिन्नो भावाभावः प्रवर्तते ।
धूमादभ्रास्तु सम्भूता अभ्रात् तोयं सुनिर्मलम्॥ २५ ॥

जिस कर्मसे अविच्छिन्न तन्तुकी भाँति सदसद्रूप संसारकी प्राप्ति होती है, उस सकाम कर्मका अनुष्ठान करनेवाले लोग धूममार्गको ही प्राप्त होते हैं। धूमादिमार्गसे पितृलोकको गये हुए जीव कर्मक्षयके पश्चात् वहाँसे भ्रष्ट होनेपर आकाश आदि-के क्रमसे धूमभावको प्राप्त होकर, धूमसे मेघ होते हैं और मेघसे अत्यन्त निर्मल जलधाराके रूपमें पृथ्वीपर आकर अन्न एवं वीर्यके रूपमें परिणत हो पुनर्जन्म धारण करते हैं ॥२५॥

जगती जलात् तु सम्भूता जगत्येव च यत्फलम्।
फलाद् रसस्तु संजज्ञे रसात् प्राणस्तु देहिनाम्॥ २६ ॥

पृथ्वी जलको पाकर फलसे संयुक्त होती है, उसका व्रीहि आदि फल पृथ्वीरूप ही है। फलसे रस उत्पन्न होता है और रससे देहधारियोंके प्राणकी पुष्टि होती है ॥ २६ ॥

रसश्च तन्मयो जज्ञे यत् तद् ब्रह्म सनातनम् ।
प्रधानं ब्रह्म चोद्दिष्टं बहुभिः कारणान्तरैः ।
ब्राह्मणैस्तपसि श्रान्तैः सत्यव्रतपरायणैः ॥ २७ ॥

रस रेतःस्वरूप है, जो चैतन्ययुक्त प्रकट हुआ है; जिसे सनातन ब्रह्म कहते हैं, वही वह चैतन्य है। तपस्यामें संलग्न होकर कष्ट सहन करनेवाले सत्यव्रतपरायण ब्राह्मणोंने बहुतेरे अन्य कारणों (युक्तियों) से एकमात्र ब्रह्मको ही प्रधान बताया है (ब्रह्मद्वारा ही देहादिमें चैतन्यभाव आता है) ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तिमापन्नं स्वेन भावेन भारत ।
अन्तःस्थं सर्वभूतेषु चरन्तं विद्यया सह ॥ २८ ॥

भारत ! वह ब्रह्म अपने सत्स्वरूपसे ही अव्यक्तसे व्यक्त भावको प्राप्त होता है। वही समस्त प्राणियोंके भीतर अन्तर्यामी-रूपसे विद्यमान है और विद्याके द्वारा प्रकाशित होता है, ऐसा जाने ॥ २८ ॥

कर्म कर्तेति राजेन्द्र विषयस्थमनेकधा ।
नोपलभ्येत चक्षुर्भ्यां तपसा दग्धकिल्बिषैः ॥ २९ ॥
उपलभ्येत चक्षुर्भ्यां ज्ञानिभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
निःसृतस्तु भ्रुवोर्मध्यान्मेघमुक्त इवांशुमान् ॥ ३० ॥

राजेन्द्र ! कर्म (दृश्य) और कर्ता (साभास अहङ्कार)— ये दोनों विषयकोटिमें ही हैं (विषयातीत चिदात्मामें नहीं)। दृश्य अनेक रूपोंमें भासमान होनेपर भी मायानगरकी भाँति वास्तवमें नेत्रोंद्वारा उपलब्ध नहीं होता, तपस्याद्वारा जिनके पाप दग्ध हो गये हैं, उन ब्रह्मवादी ज्ञानी पुरुषोंको उसके वास्तविक स्वरूपकी उपलब्धि होती है (वे यह जान लेते हैं, कि जैसे सुवर्ण ही कुण्डल आदिके रूपमें प्रतीत होता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही कर्ता-कर्म आदि विविध रूपोंमें प्रकाशित होता है), जैसे मेघोंके आवरणसे मुक्त हुआ सूर्य प्रकाशित होता है, उसी प्रकार नेत्रोंको भौंहोंके मध्यभागमें संयोजित करके ध्यान लगानेपर वह ब्रह्म वहाँ आविर्भूत हुआ दिखायी देता है ॥ २९-३० ॥

चरद्भिः पक्षिवल्लोके निर्द्वन्द्वैर्निष्परिग्रहैः ।
योगधर्मेण कौरव्य ध्रुवमासाद्यते फलम् ॥ ३१ ॥

कुरुनन्दन ! जो लोग जगत्में पक्षीकी भाँति असङ्ग, निर्द्वन्द्व एवं परिग्रहशून्य होकर विचरते हैं, वे ही योगधर्मके द्वारा (ब्रह्मदर्शनरूप) अविनाशी फलको प्राप्त करते हैं ॥

प्रादुर्भावं क्षयं चैव भूतस्य निधनं तथा ।
विधत्ते शतशो ब्रह्मा संक्षये च भवेत् तदा ॥ ३२ ॥

वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष सृष्टि और संहारके समय सैकड़ों बार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, उन्हें ऐश्वर्य प्रदान तथा उनका संहार करता है ॥ ३२ ॥

कर्मणः कर्म योगज्ञो भूतेभ्यो नात्र संशयः ।
अविनाशाय लोकस्य धर्मस्याप्यायनेन च ॥ ३३ ॥

योगवेत्ता पुरुष प्राणियोंको योगादि कर्मका फल (सुख) वितरण करता है, इसमें संदेह नहीं है। वह धर्मका पोषण

करके जगत्‌की रक्षाके लिये ही ऐसा करता है (तात्पर्य यह है कि उस ब्रह्मीभूत योगीकी प्रीतिके लिये ही धर्म किया जाता है और वही प्रसन्न होकर जगत्‌की रक्षा करता है) ॥

युगं द्वादशसाहस्रं सहस्रयुगसंहितम्।
एतद् ब्रह्मयुगं नाम युगानां प्रथमं युगम्॥ ३४॥

बारह हजार दिव्य वर्षोंका एक चतुर्युग होता है। सहस्र चतुर्युगका जो समय है, इसीका नाम ब्रह्मयुग है, जो युगोंमें प्रधान युग (कल्प) कहा गया है॥ ३४॥

सहस्रयुगयोरन्ते संहारः प्रलयान्तकृत्।
सूक्ष्मं भवति लोकानां निर्विकारमचेतनम्॥ ३५॥

एक सहस्रयुगके अन्तमें ब्रह्माके दिनकी समाप्ति होती है, जिसमें संहार (कल्पका अन्त) होता है और दूसरे सहस्र युगके अन्तमें उनकी रात्रिका अवसान होता है, जो प्रलयका अन्त अर्थात् कल्पका आरम्भ करनेवाला है। संहारकालमें लोकोंका स्वरूप सूक्ष्म, निर्विकार एवं अचेतन होता है॥

तथा प्रलयमापन्नं जगत् सर्वं सनातनम्।
ब्रह्म सम्पद्यते सूक्ष्मं निर्मितं कारणैर्गुणैः॥ ३६॥

कारणभूत सत्त्वादि गुणोंसे निर्मित हुआ यह जगत् प्रलयको प्राप्त होनेपर सूक्ष्मरूप होकर ब्रह्ममें स्थित हो जाता है॥ ३६॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

योगीकी स्थिति तथा उसके समक्ष आनेवाले विघ्नरूप ऐश्वर्योंका वर्णन

जनमेजय उवाच

प्राग्वंशं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण महामुने।
आद्ययोर्युगयोर्ब्रह्मन् ब्रह्मप्राप्तस्य सर्वशः॥ १॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन्! महामुने! दोनों आदि युगोंमें ब्रह्मभावको प्राप्त हुए योगी ब्रह्माकी पहले जो कार्य-संतति रही है, उसका मैं पूर्णतः विस्तारके साथ वर्णन सुनना चाहता हूँ॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु विस्तरशः सर्वं यन्मां पृच्छसि मेधया।
उपपन्नेन मनसा दैवप्रत्ययसाधिना॥ २॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! तुम बुद्धिके द्वारा मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, वह सब दिव्य ज्ञानकी प्राप्तिके साधनमें लगे हुए अपने योगयुक्त मनके द्वारा विस्तार-पूर्वक सुनो॥ २॥

ऋद्धिं प्राप्तस्तु भगवान् योगात्मा ब्रह्मसम्भवः।
भूतानां बहुलत्वं च चकारेहेश्वरः प्रभुः॥ ३॥
स्थितो ब्रह्मासने ब्रह्मा विक्षिप्तः सहसा प्रभुः।
अचलेनैव भावेन स्थाणुभूतेन भारत॥ ४॥

भारत! जिनका मन योगमें लगा हुआ था, जो साक्षात् परब्रह्म परमात्मासे उत्पन्न हुए थे, जिनमें करने, न करने और अन्यथा करनेकी शक्ति है तथा जो अत्यन्त प्रभावशाली हैं, वे भगवान् ब्रह्मा जब समृद्धिको प्राप्त होकर ठूँठकी भाँति अविचल भावसे ब्रह्मासनपर विराजमान हुए, उस समय सहसा रजोगुणने उन्हें विक्षिप्त कर दिया। अतः उन्होंने सृष्टि-रचनाद्वारा यहाँ भूतोंका बाहुल्य (विस्तार) किया॥ ३-४॥

रक्तश्च मोक्षविषये स च ज्ञानमये पदे।
यस्मात् पदसहस्राणि प्रभवन्ति भवन्ति च॥ ५॥

वे मोक्ष ही जिसका लक्ष्य है, उस ज्ञानमय पदमें अनुरक्त थे, जिससे सहस्रों सामर्थ्यशाली पद प्रकट होते हैं (जैसे सौभरि अथवा कर्दम ऋषिने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे अनेकानेक वस्तुओंकी रचना की थी।)॥ ५॥

ब्रह्मयज्ञं तु यजते योगाद् वेदात्मकं सदा।
ब्रह्मणो विपुलं ज्ञानमैश्वर्यं च प्रवर्तते॥ ६॥

ब्रह्माजी योगयुक्त हो सदा वेदात्मक ब्रह्मयज्ञका अनुष्ठान करते हैं (अथवा वेदप्रतिपाद्य ब्रह्मरूप यज्ञ–विष्णुका यजन करते हैं), इसलिये उस योग एवं यजनके प्रभावसे उन्हें विपुल ज्ञान और ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है॥ ६॥

ततः प्रथममैश्वर्यं युञ्जानेन प्रवर्तितम्।
ब्रह्मणा ब्रह्मभूतेन भूतानां हितमिच्छता॥ ७॥

फिर योगयुक्त एवं ब्रह्मभूत हुए ब्रह्माने समस्त प्राणियोंके हितकी इच्छा रखकर उस प्रथम प्राप्त हुए ऐश्वर्यका उन्हींकी भलाईके लिये उपयोग किया॥ ७॥

तदा त्वाकाशमैश्वर्यं युञ्जानस्य प्रवर्तते।
ब्रह्मणो ब्रह्मभूतस्य निर्विकारेण कर्मणा॥ ८॥

उस निर्विकार (परम शुद्ध) कर्मद्वारा योगपरायण ब्रह्मीभूत ब्रह्माको उस समय आकाशस्वरूप (अव्याकृत) ऐश्वर्य प्राप्त हुआ॥ ८॥

तदान्तरिक्षं सम्प्राप्तं निर्मलं ब्रह्म चाव्ययम्।
संहारः सर्वभूतानां नराणां ब्रह्मवादिनाम्।
ध्रुवमैश्वर्ययोगानां प्रतिपद्यन्ति देहिनः॥ ९॥

उस समय उनकी दृष्टिमें सारा आकाश निर्मल एवं अविनाशी ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया। उस अवस्थामें समस्त ज्ञानवान् मनुष्य यह जान लेते हैं कि समस्त प्राणियों, मनुष्यों तथा ऐश्वर्ययुक्त ब्रह्मवादी योगियोंका भी लयस्थान कूटस्थ ब्रह्म ही है ॥ ९ ॥

आकाशैश्वर्यभूतेन संयुगे ब्रह्मवादिना।
प्रवर्तमानमैश्वर्यं वायुभूतं करोति च।
विकारैर्बहुभिः प्राप्तैः सम्पतद्भिर्महाबलैः ॥ १० ॥

उस योगयज्ञमें संलग्न हो आकाशरूप अथवा अव्याकृत ऐश्वर्यको प्राप्त हुए ब्रह्मवादी ब्रह्माके रूपमें प्रवृत्तिपरायण हुआ ब्रह्म सब ओरसे आकर प्राप्त होनेवाले बहुसंख्यक महाबली विकारोंके साथ वायुरूप अथवा व्याकृत ऐश्वर्यको प्रकट करता है ॥ १० ॥

एतैर्विकारैः संवृत्तैर्निरुद्धैश्च समन्ततः।
ध्रुवमैश्वर्यमापन्नः सिद्धो भवति ब्राह्मणः ॥ ११ ॥

इन प्राप्त होनेवाले समस्त विकारोंके सब ओरसे अवरुद्ध हो जानेपर सिद्ध हुआ ब्रह्मवेत्ता योगी ध्रुव ऐश्वर्य (कूटस्थ-ब्रह्म) को प्राप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

शरीरादभिनिष्क्रम्य आकाशेन प्रधावति।
निरालम्बो निरालम्बान्नालम्ब्य मनसा ततः ॥ १२ ॥
ऐश्वर्यभूतो भूतात्मा चरन् दिवि न दृश्यते।
चक्षुर्भिर्बहुभिर्लोकैः पुरंदरसमैरपि ॥ १३ ॥

वह सिद्ध योगी शरीरसे निकलकर बिना किसी अवलम्बके आकाशमें दौड़ता है, स्वप्नसदृश मनःकल्पित निरालम्ब भावोंका आश्रय लेकर वहाँ विचरता है। ब्रह्मैश्वर्यसे सम्पन्न हुए उस भूतात्मा योगीको आकाशमें विचरते समय इन्द्र-जैसे लोग भी अपने बहुसंख्यक नेत्रोंद्वारा भी नहीं देख पाते हैं ॥ १२-१३ ॥

ओंकारं ये त्वधीयन्ते मनसा ब्रह्मसत्तमाः।
विमुक्ताः सर्वकर्मभ्यस्ते तं पश्यन्ति साधवः ॥ १४ ॥

जो ब्राह्मणशिरोमणि साधु मनके द्वारा ॐकारका चिन्तन करते हैं, वे ही समस्त कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो उस (ब्रह्मीभूत आकाशचारी) योगीका दर्शन कर पाते हैं ॥

एतद्धि परमं ब्रह्म ब्राह्मणानां मनीषिणाम्।
अन्तश्चरति भूतानां विद्धि चेतनया सह ॥ १५ ॥

राजन्! यह ॐकार प्रणवसंज्ञक परब्रह्म है, जो मनीषी ब्राह्मणोंके चिन्तनका विषय है। वह प्रणववाच्य परब्रह्म परमात्मा समस्त प्राणियोंके भीतर उनकी चेतनाके साथ विचरता है, ऐसा जानो ॥ १५ ॥

एष शब्दो महानादः पुराणो ब्रह्मसम्भवः।
वायुभूतोऽक्षरं प्राप्तो वदन्त्येवं द्विजातयः ॥ १६ ॥

यह ॐकार समस्त वर्णोंका अभिव्यञ्जक होनेसे महानाद है, पुराण अर्थात् नित्य है, इसका अवलम्बन करनेसे साधककी ब्रह्मके साथ एकता हो जाती है। यह वायुभूत होकर अक्षरभावको प्राप्त हुआ है—ऐसा द्विजाति (ब्राह्मण) कहते हैं ॥ १६ ॥

अरूपी रूपसम्पन्नो धातुभिः सह संगतः।
अन्तश्चरति भूतेषु कामकारकरो वशी ॥ १७ ॥

यह प्रणव रूपरहित होकर भी तेज, जल और अन्न—इन तीन धातुओंसे संयुक्त हो* रूपसे सम्पन्न (अर्थात् वैखरी वाणीके रूपमें प्रकट) होता है। यही जीवात्मारूपसे समस्त प्राणियोंके भीतर विचरता, इच्छानुसार काम करता और समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें रखता है ॥ १७ ॥

एतत् पूर्वमनुध्याय मनसाऽऽपूरयन्निव।
वेदात्मकं तदा यज्ञं चिन्तयन्तो मनीषिणः ॥ १८ ॥

पूर्वकालमें इस प्रणवका शास्त्र और आचार्यसे उपदेश पाकर इसके निरन्तर चिन्तनपूर्वक वेदात्मक यज्ञ (योग) की भावना करते हुए मनीषी पुरुषोंने अपने मनके द्वारा सबको व्याप्त कर लिया था ॥ १८ ॥

ब्राह्मणाः शुचयो दान्ता यज्ञोयुक्तास्तदन्वयाः।
ब्रह्मलोकं काङ्क्षमाणा वैष्णवं पदमुत्तमम् ॥ १९ ॥
पदहेतोः क्रियाः सर्वाः कुर्वन्ति विगतज्वराः।
न ह्येते प्रसवाधाने भवमिच्छन्ति भारत ॥ २० ॥

यज्ञःस्वरूप ब्रह्मसे युक्त तथा उस ब्रह्मसे ही प्रकट हुए पवित्र जितेन्द्रिय ब्राह्मण ब्रह्मलोक एवं उत्तम वैष्णवपदकी इच्छा रखकर उस पदकी प्राप्तिके लिये ही निश्चिन्तभावसे सारी क्रियाएँ करते हैं। भारत! ये पुनर्जन्म ग्रहण करनेके लिये नहीं संसारमें आना चाहते हैं, अपितु ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ही यहाँ जन्म पानेकी इच्छा करते हैं ॥ १९-२० ॥

त्रिभिर्माल्योपहारैश्च प्रतिभावैश्च वै द्विजाः।
यजन्ति परमात्मानं विष्णुं सत्यपराक्रमम् ॥ २१ ॥

वे द्विजगण (प्रातः, मध्याह्न और सायंकालमें) तीन बार माल्योपहार समर्पण तथा प्रतिभाव (ध्यान) के द्वारा उन सत्यपराक्रमी परमात्मा श्रीविष्णुका यजन करते हैं ॥ २१ ॥

यजनं विक्रमं चैव ब्रह्मपूर्वाः प्रचक्रिरे।
ब्रह्मापि वैष्णवं तेजो वेदोक्तैर्वचनैर्नृप ॥ २२ ॥

---

* श्रुति कहती है—अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक् (मन अन्नमय, प्राण जलमय तथा वाक् तेजोमयी है)। इसके सिवा 'मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्' इत्यादि शिक्षाके वचनसे शब्दकी उत्पत्तिमें मन और प्राणका भी सहयोग अपेक्षित है। अतः तेज, जल और अन्न—इन तीन धातुओंके सहयोगसे ही शब्द प्रकट होता है।

नरेश्वर ! वेदको ही प्रमुख प्रमाण मानते हुए उन ब्रह्मवेत्ता योगियोंने यजन (योगाभ्यास) और विक्रम (योगैश्वर्यलाभ) किया। वेदोक्त[1] वचनोंके अनुसार ब्रह्मवेत्ता योगी भी वैष्णवतेज (ब्रह्म) ही है ॥ २२ ॥

ब्राह्मणैर्ब्रह्मविद्भिश्च ब्रह्मज्ञैर्ब्रह्मवादिभिः।
शुचिभिः कर्मनिर्मुक्तैः सत्यव्रतपरायणैः ॥ २३ ॥
धातुभिर्मोक्षकाले च महात्मा सम्प्रदृश्यते।

जो ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मज्ञ, ब्रह्मवादी, कर्मोंके बन्धनसे मुक्त, पवित्र एवं सत्यव्रतपरायण ब्राह्मण हैं, वे ही तेज, जल और अन्नरूप धातुओंसे मोक्षकालमें उस परमात्मस्वरूप महात्माका दर्शन करते हैं ॥ २३½ ॥

तदेव परमं ब्रह्म वैष्णवं परमाद्भुतम् ॥ २४ ॥
रसात्मकं तदैश्वर्यं विकारान्ते प्रदृश्यते।

वह परमात्मा ही परब्रह्म है, वही परम अद्भुत वैष्णव तेज है तथा वही रसात्मक (परमानन्दस्वरूप) ऐश्वर्य है। पूर्वोक्त विकारोंका विलय हो जानेपर ही उसका दर्शन होता है ॥ २४½ ॥

घोररूपा विकारास्ते व्यथयन्ति महात्मनः ॥ २५ ॥
संछाद्यातीव तोयेन क्षुभ्यमाणो विचेतनः।
ऊर्मिभिश्छाद्यते चैव शीतोष्णाभिर्विकारतः ॥ २६ ॥

भयंकर रूपवाले जो तामस विकार हैं, वे उस महात्मा योगीको व्यथित करते हैं। वे विकार उसे अत्यन्त जलसे आच्छादित करके घबराहटमें डाल देते हैं। वह क्षुब्ध एवं अचेत हो जाता है। बहुत-सी लहरें उसे आच्छादित कर लेती हैं, उनमेंसे कुछ तो शीतल होती हैं और कुछ उष्ण; इस प्रकार वह विकारग्रस्त हो जाता है ॥ २५-२६ ॥

महार्णवगतश्चैव दह्यते न च मज्जते।
मग्नश्चैव महानद्याः सलिले नैव सीदति ॥ २७ ॥
सीदमानश्च सलिले स शीते पात्यते बलात्।
आसनाच्छादनाच्चैव मुच्यमानो विचेतनः ॥ २८ ॥

वह महासागरमें पड़कर दग्ध होने लगता है, किंतु उसमें डूबता नहीं है। कभी-कभी महानदीके जलमें डूब जाता है, परंतु जलके भीतर वह अधिक कष्ट नहीं पाता है और कभी-कभी जब वह जलमें कष्ट पाता है, तब उसे बलपूर्वक अधिक शीतल जलमें गिरा दिया जाता है। आसन और आच्छादनसे भी वञ्चित होकर वह अचेत-सा हो जाता है ॥ २७-२८ ॥

श्वभ्रे प्रपद्यमानश्च तोयेन परिषिच्यते।
शुक्लवर्णेन बहुना स्रोतसा मूर्ध्नि सर्वशः ॥ २९ ॥

कभी गड्ढेमें गिरकर जलसे भीग जाता है। उसके मस्तकपर चारों ओरसे जलके बहुत-से श्वेत प्रवाह गिरने लगते हैं ॥ २९ ॥

ऊर्ध्वं ज्योतिरवेक्षंश्च शुक्लैः पीतैश्च बाध्यते।
वारिपूर्णैः सुगम्भीरैर्विद्युद्भिरिव भासितैः ॥ ३० ॥

वह ऊपर ज्योतिका दर्शन करता है और जलसे भरे हुए अत्यन्त गम्भीर श्वेत और पीत रंगके बादल जो बिजलियोंसे उद्भासितसे होते रहते हैं, उसे पग-पगपर बाधा देने लगते हैं ॥ ३० ॥

एतैर्विकारैः संवृत्तैर्निरुद्धैश्चैव सर्वशः।
ध्रुवमैश्वर्यमासाद्य सिद्धो भवति ब्राह्मणः ॥ ३१ ॥

इन विकारोंके प्राप्त होने और सब प्रकारसे इनका निरोध हो जानेपर अटल ब्रह्मैश्वर्यको पाकर वह ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता योगी) सिद्ध हो जाता है ॥ ३१ ॥

रसात्मकं तदैश्वर्यं जिह्वाग्रादभिनिःसृतम्।
सहस्रधारं विततं मेघत्वं समुपागतम् ॥ ३२ ॥

उसके रसास्वादसे अनेक प्रकारका रसात्मक ऐश्वर्य प्रकट होता है, जो सहस्र धाराओंमें फैलकर मेघरूपमें परिणत हो जाता है ॥ ३२ ॥

रसांश्च विविधान् योगात् संसिद्धः सृजते प्रभुः।
धात्वर्थं सर्वभूतानां योगप्राप्तेन हेतुना ॥ ३३ ॥

वह सामर्थ्यशाली सिद्ध योगी योगसे नाना प्रकारके रसोंकी सृष्टि करता है तथा योगप्राप्त हेतुसे समस्त प्राणियोंके शरीरके उपयोगके लिये विविध ऐश्वर्यको प्रकट करता है ॥

तेजसो रूपमैश्वर्यं विकारैः सह वर्धते।
आत्मनो विघ्नजननं स्वस्थो ब्राह्मणकारणे ॥ ३४ ॥

ब्रह्मवेत्ता योगीके मोक्षसाधन योगमें उसके स्वस्थ आत्माके समक्ष विघ्न उपस्थित करनेके लिये तैजस रूपैश्वर्य प्रकट होकर अपने विकारोंके साथ वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

उग्ररूपैर्विरूपैश्च हन्यते दण्डपाणिभिः।
घोररूपैः सुगम्भीरैः पिङ्गाक्षैर्नरविग्रहैः ॥ ३५ ॥

उग्र, घोर एवं विकराल रूपवाले, गम्भीर एवं पिङ्गल-नेत्रोंसे युक्त नराकार प्राणी हाथमें डंडे लेकर उस योगीको पीटने लगते हैं ॥ ३५ ॥

नेत्रं समुद्धरन् भीमो जिह्वाग्रं चास्य विन्दति।
नदन्ति युगपन्नादं जृम्भमाणाः पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

कोई भयानक पुरुष उसके नेत्र उखाड़ने लगता है, कोई उसकी जिह्वाके टुकड़े-टुकड़े कर डालता है तथा बहुत-

---

1. 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति (ब्रह्मवेत्ता योगी ब्रह्म होता हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त होता है।)' इत्यादि वचन ही ब्रह्मवेत्ताके ब्रह्मरूप होनेमें प्रमाण हैं।

से विघ्नकारी पुरुष बारंबार जँभाई लेते हुए एक साथ जोर-जोरसे कोलाहल करने लगते हैं ॥ ३६ ॥

पुनरेव तदा भूत्वा बहुरूपास्तदाभवन्।
नृत्यमानाः प्रगायन्ति तर्पयन्तो विशेषतः ॥ ३७ ॥

फिर वे तत्काल ही बहुत-से रूप धारण कर लेते हैं और उस योगी पुरुषको विशेष संतुष्ट करनेके लिये नाचने-गाने लगते हैं ॥ ३७ ॥

स्त्रीभूताश्च ततः सर्वे युञ्जानाश्चावलम्बिरे।
कण्ठेऽस्य बहुरूपत्वाद् विघ्नैश्चैव प्रलोभयन् ॥ ३८ ॥

तत्पश्चात् वे सब-के-सब स्त्रियोंके रूप धारणकर योगीसे संयुक्त हो जाते और उसके गलेमें लिपटने या लटकने लगते हैं। वे अनेक रूप धारण करनेके कारण उसे नाना विघ्नोंद्वारा ही प्रलोभनमें डालते हैं ॥ ३८ ॥

मधुरैरभिधानैश्च व्याहरन्ति न भीतवत्।
पतन्ति युगपत् सर्वे पादयोर्मूर्धभिर्युताः ॥ ३९ ॥

वे स्त्रीरूपधारी विघ्न निडर-से होकर मधुरवाणीमें नाम ले-लेकर उसे पुकारते हैं और सभी एक साथ योगीके चरणोंमें मस्तक रखकर उसे प्रणाम करते हैं ॥ ३९ ॥

प्रसादं काङ्क्षमाणाश्च योगस्यान्तरविघ्नतः।
बहुप्रकारं कथयन् नृत्यन्ति च तरन्ति च ॥ ४० ॥

वे योगमें विघ्न उपस्थित करनेके लिये ही उस योगीका कृपाप्रसाद चाहते हैं। उससे अनेक प्रकारकी बातें करते और नाचते हैं। ऐसा करके वे कभी-कभी योगीको जीत भी लेते हैं ॥ ४० ॥

एतैर्विकारैः संवृत्तैर्निरुद्धैश्चैव सर्वशः।
ध्रुवमैश्वर्यमासाद्य सिद्धो भवति ब्राह्मणः ॥ ४१ ॥

इन विकारोंके प्राप्त होने और इन सबका पूर्णरूपसे निरोध हो जानेपर अटल ऐश्वर्यको पाकर वह ब्रह्मवेत्ता योगी सिद्ध हो जाता है ॥ ४१ ॥

तदर्चिष इवाग्नेया आदित्यस्येव रश्मयः।
तेजोरूपकमैश्वर्यं जनितास्तेजविन्दवः ॥ ४२ ॥

तदनन्तर अग्निकी लपटों और सूर्यकी किरणोंके समान उसे तेजोरूप ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है। फिर तो उसके शरीरसे तेजोविन्दु प्रकट होने लगती हैं ॥ ४२ ॥

ज्योतींषि चैव संवृत्ता आकाशे गुणसंवृताः।
चरन्ति लोके सततं सूर्याचन्द्रमसोर्गतिम् ॥ ४३ ॥

सत्त्वादि गुणोंसे घिरे हुए वे योगी आकाशमें ज्योतिःस्वरूप होकर लोकमें सदा ही चन्द्रमा और सूर्यके मार्गपर विचरते हैं ॥ ४३ ॥

चन्द्रसूर्यात्मकं दिव्यं ज्योतिः सघनमुत्तमम्।
एतद् विभ्राजते लोके कालचक्रं ध्रुवं वरम् ॥ ४४ ॥

चन्द्रसूर्य-स्वरूप होकर मेघमण्डलसहित उत्तम दिव्य ज्योति कालचक्र एवं श्रेष्ठ ध्रुवस्थानमें विचरता हुआ वह वही-वही रूप धारण करके इस लोकमें प्रकाशित होता है ॥ ४४ ॥

अर्धमासाश्च मासाश्च ऋतुसंवत्सराण्यथ।
क्षणा लवा मुहूर्ताश्च कलाः काष्ठास्तथैव च ॥ ४५ ॥
अहोरात्रप्रमाणं च निमिषोन्मेषणं तथा।
ताराणां गतयश्चैव ग्रहाणां च विशेषतः ॥ ४६ ॥

वह योगी ही पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर, क्षण, लव, मुहूर्त, कला, काष्ठा, दिन-रात्रिका प्रमाण, निमेष, उन्मेष, ताराओं तथा विशेषतः ग्रहोंकी गति इत्यादि सब कुछ हो जाता है ॥ ४५-४६ ॥

अथ पार्थिवमैश्वर्यं विकारग्रहसम्भवम्।
योगयुक्तास्त्वभिग्रस्ताः पात्यन्ते ह्यचलासनात् ॥ ४७ ॥

तदनन्तर विकारोंको स्वीकार करनेके कारण योगीको पार्थिव ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है, उससे ग्रस्त हुए योगी सिद्धिके अविचल सिंहासनसे नीचे गिरा दिये जाते हैं ॥ ४७ ॥

अलोभाच्छिद्यते सद्यो वेपमानोऽनुकीर्त्यते।
सीदते वसुधामध्ये भिद्यमानः पुनः पुनः ॥ ४८ ॥

लोभका त्याग करनेसे वह विघ्नस्वरूप ऐश्वर्य तत्काल छिन्न-भिन्न हो जाता है; विघ्नसे काँपने और डरनेवाला योगी जगत्‌में निन्दनीय होता है। वह भूमण्डलमें बारंबार विघ्नोंसे आहत होकर कष्ट पाता रहता है ॥ ४८ ॥

भूतानां बहुरूपैश्च अन्यैश्च तलवासिभिः।
विपर्ययैर्युज्यते क्षिप्रं संक्षेपात् समवरुद्ध्यते ॥ ४९ ॥

प्राणियोंके बहुत-से रूपों तथा भूतलवासी अन्य विषयोंसे वह शीघ्र ही सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तथा उनके द्वारा विक्षेपमें पड़कर उसकी प्रगति रुक जाती है ॥ ४९ ॥

ततः पार्थिवमैश्वर्यं सेवमानश्च सर्वतः।
मूर्तिमद्भिश्च बहुधा धातुभिः स च हन्यते ॥ ५० ॥

तदनन्तर पार्थिव ऐश्वर्यका सेवन करता हुआ वह योगी पुरुष सब ओरसे मूर्तिमान् पार्थिव धातुओंद्वारा बारंबार मारा जाता है ॥ ५० ॥

शक्तितोमरनिस्त्रिंशैर्गदाभिश्चाप्यनेकधा।
असिभिः पात्यते चैव क्षुरधारैः सहस्रशः ॥ ५१ ॥

शक्ति, तोमर, तलवार, गदा तथा छुरेकी-सी धारवाले सहस्रों खड्गोंद्वारा वह अनेकों बार धराशायी किया जाता है ॥ ५१ ॥

भिद्यते चैव बाणाग्रैः सुतीक्ष्णैर्मर्मभेदिभिः ।
एभिर्विकारैर्निर्वृत्तैर्निरुद्धैश्चैव सर्वशः ॥ ५२ ॥
ध्रुवमैश्वर्यमापन्नः सिद्धो भवति ब्राह्मणः ।

अत्यन्त तीखे मर्मभेदी बाणोंके अग्रभागसे विदीर्ण होनेका भी उसे अवसर प्राप्त होता है । इन विकारोंके प्राप्त होने तथा उनका पूर्णतः निरोध हो जानेपर अटल ऐश्वर्य (ब्रह्मभाव) को प्राप्त हुआ योगी सिद्ध हो जाता है ॥ ५२½ ॥

ततः पार्थिवमैश्वर्यं निर्मुक्तस्य विकारतः ॥ ५३ ॥
प्रादुर्भवति संजाते समाधौ प्रलयं गते ।
दिव्यं गन्धं समाघ्राय दिव्यार्थांस्ताञ्छृणोति च ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् विकारसे मुक्त हुए योगीके समक्ष पार्थिव ऐश्वर्य प्रकट होता है, जब समाधि लग जाती है और विकार लीन हो जाते हैं, तब वह दिव्य गन्धको सूँघकर दिव्य लोकोंकी बातें भी सुनता है ॥ ५३-५४ ॥

दिव्यरूपैश्च पुरुषैश्छिद्यते न च भिद्यते ।
गच्छन् सुकृतिनां चान्तः प्रधानात्मा क्षरन्निव ॥ ५५ ॥

वह शरीर रहनेतक दिव्य पुरुषोंसे भिन्न रहता है और देहपात होनेपर सर्वात्मभावको प्राप्त हो जानेसे वह उन सबसे अभिन्न हो जाता है । अन्तर्जगत्‌में जाता हुआ वह योगी परिणामको प्राप्त होनेवाले प्रधानकी भाँति पुण्यात्माओंके अन्तःकरणमें भी प्रवेश करता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीके द्वारा योगधारणपूर्वक की गयी मानसिक सृष्टिका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततोऽन्यां धारणां गत्वा मनसा स पितामहः ।
ब्रह्मकर्मसमारम्भं निर्मुक्तेनान्तरात्मना ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर योगयुक्त पितामह ब्रह्माने मनके द्वारा दूसरी धारणाको प्राप्त होकर विकारमुक्त अन्तःकरणके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाले कर्मका आरम्भ किया ॥ १ ॥

सर्वाङ्गधारणां कृत्वा मनसा प्रहसन्निव ।
ब्रह्मयोगेन च ब्रह्मा सृजते मनसा प्रजाः ॥ २ ॥

ब्रह्माजीने मनसे सर्वाङ्ग-धारणा करके हँसते हुए-से ब्रह्मयोगसे युक्त हो मानसिक संकल्पके द्वारा प्रजाओंकी सृष्टि की ॥

चक्षुषो रूपसम्पन्ना ह्यप्सराः सृजते प्रभुः ।
नासिकाग्राच्च गन्धर्वान् सुचित्राम्बरवाससः ॥ ३ ॥

उन भगवान्‌ने नेत्रसे रूपवती अप्सराओंको उत्पन्न किया और नासिकाके अग्रभागसे विचित्र वस्त्रधारी गन्धर्वोंकी सृष्टि की ॥ ३ ॥

तुम्बुरुप्रमुखान् सर्वाञ्छतशोऽथ सहस्रशः ।
नृत्यवादित्रकुशलान् कुशलान् सामगीतिषु ॥ ४ ॥

वे सैकड़ों और सहस्रों गन्धर्व, जिनमें तुम्बुरु आदि प्रधान थे, सब-के सब नृत्य और वाद्यमें निपुण तथा सामगानमें कुशल थे ॥ ४ ॥

ब्रह्मयोगेन योगज्ञः स्वयम्भूर्भगवान् प्रभुः ।
चारुनेत्रां सुकेशान्तां सुभ्रूं चारुनिभाननाम् ॥ ५ ॥
पद्मेन शतपत्रेण चारुणा सुविराजिताम् ।
स्वक्षां शुचिगिरं सेव्यां ब्राह्मीं मूर्तिमतीं श्रियम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर योगके ज्ञाता एवं सर्वसमर्थ स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माने ब्रह्मयोगके द्वारा दिव्य नेत्रवाली, पवित्र, (द्विजोंके द्वारा) सेवनीय, मूर्तिमती, वेदवाणीस्वरूपा लक्ष्मीको प्रकट किया, जिनके नेत्र बड़े मनोहर थे, केशान्त भाग बहुत ही सुन्दर था, भौंहें भी मनोहर थीं, मुखकी प्रभा कमनीय कान्तिसे प्रकाशित हो रही थी और वे हाथमें परम सुन्दर शतदल कमल लेकर उससे बड़ी शोभा पा रही थीं ॥ ५-६ ॥

ससृजे मनसा ब्रह्मा सम्यक्प्रोक्तेन चेतसा ।
भावयोगेन भूतात्मा सर्वप्राणभृतां नृप ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! भूतात्मा ब्रह्माने समस्त प्राणियोंके भावयोग (अन्तःकरणकी वासना) के अनुसार ईश्वरप्रेरित चित्तके द्वारा मानसिक संकल्पसे ही उनकी रचना की ॥ ७ ॥

चक्षुषो रूपसम्पन्नाः सृजन् सोऽप्सरसः प्रभुः ।
नासिकाग्राच्च गन्धर्वान् सुवासः सुप्रवादितान् ॥ ८ ॥

उन प्रभुने नेत्रसे सौन्दर्यशालिनी अप्सराओंकी तथा नासिकाके अग्रभागसे सुन्दर वस्त्रधारी एवं वाद्यकुशल गन्धर्वोंकी सृष्टि की ॥ ८ ॥

गानप्रभावं संचक्रे गन्धर्वाणामशेषतः ।
अन्येषां चैव विप्राणां गानं ब्रह्मप्रभाषितम् ॥ ९ ॥

उन्होंने समस्त गन्धर्वोंके लिये गान्धर्वशास्त्र और अन्यान्य ब्राह्मणोंके लिये सामगानके विधानकी रचना की ॥ ९ ॥

पद्भ्यां सृजति भूतानि गतिमन्ति ध्रुवाणि च ।
नरकिंनरयक्षांश्च पिशाचोरगराक्षसान् ॥ १० ॥
गजान् सिंहांश्च व्याघ्रांश्च मृगांश्चैव सहस्रशः ।
तृणजातीश्च बहुधा भावहेतोश्चतुष्पदान् ॥ ११ ॥

स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंको उन्होंने अपने पैरोंसे उत्पन्न किया, जिनके नाम इस प्रकार हैं—मनुष्य, किन्नर, यक्ष, पिशाच, नाग, राक्षस, हाथी, सिंह, व्याघ्र, सहस्रों प्रकारके मृग (पशु); नाना प्रकारकी तृण-जाति तथा बहुत-से चौपाये—इन सबको उन्होंने उनके पूर्वजन्मकी आन्तरिक वासनाओंके अनुसार उत्पन्न किया ॥ १०-११ ॥

ये तु हस्तान्निखादन्ति कर्मप्रासेन हेतुना ।
हस्तेभ्यः कर्म ससृजे मन्तव्यं मनसा तथा ॥ १२ ॥

प्राणियोंके पूर्वजन्मके कर्मानुसार प्राप्त हुए कारण (अदृष्ट) को विचार करके ब्रह्माने पूर्वोक्त चराचर जीवोंकी सृष्टि की तथा ऐसे जीवोंको भी उत्पन्न किया, जो हाथमें लेकर खाते हैं; विधाताने हाथोंसे कर्मकी और मनसे मन्तव्यकी सृष्टि की ॥ १२ ॥

वायुना स विसर्गं च भूतानां सुखमिच्छता ।
उपतस्थे तदानन्दं पञ्चेन्द्रियसमाधिना ॥ १३ ॥

प्राणियोंका सुख चाहते हुए ब्रह्माजीने प्राण आदि रूपसे उनके लिये प्राणन आदि विविध कार्यकी सृष्टि की तथा पाँचों इन्द्रियोंके निरोधद्वारा परमानन्दमय परमेश्वरका साक्षात्कार करके उनका सामीप्य प्राप्त किया ॥ १३ ॥

हृदयादसृजद् गावो बाहुभ्यां पक्षिणस्तथा ।
अन्यानि चैव सत्त्वानि तैस्तैर्वेषैः पृथग्विधैः ॥ १४ ॥

उन्होंने हृदयसे गौओंकी, भुजाओंसे पक्षियोंकी तथा भिन्न-भिन्न वेशोंसे दूसरे-दूसरे जन्तुओंकी रचना की ॥ १४ ॥

ऋषिं त्वङ्गिरसं चैव मुनिं ज्वलिततेजसम् ।
ब्रह्मवंशकरं दिव्यं व्यतिषिक्तषडिन्द्रियम् ॥ १५ ॥
भ्रुवोऽन्तरादजनयद् योगाद् योगेश्वरः प्रभुः ।

प्रज्वलित तेजवाले, मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको अपने अधीन रखनेवाले, ब्रह्मवंशप्रवर्तक, दिव्य ऋषि-मुनिवर अङ्गिराको योगेश्वर भगवान् ब्रह्माने योगबलके द्वारा अपनी दोनों भौंहोंके बीचसे प्रकट किया ॥ १५½ ॥

ब्रह्मवंशकरं दिव्यं भृगुं परमधार्मिकम् ॥ १६ ॥
ललाटमध्यादसृजन्नारदं प्रियविग्रहम् ।
सनत्कुमारं मूर्ध्नश्च महायोगी पितामहः ॥ १७ ॥

ब्राह्मणवंशको चलानेवाले परम धर्मात्मा दिव्य-ऋषि भृगुको ललाटके मध्यभागसे प्रकट किया तथा उन महायोगी पितामहने कलहप्रिय नारद एवं सुन्दर शरीरवाले सनत्कुमारको अपने मस्तकसे प्रकट किया ॥ १६-१७ ॥

अभिषिक्तं तु सोमं च यौवराज्ये पितामहः ।
ब्राह्मणानां च राजानं शाश्वतं रजनीश्वरम् ॥ १८ ॥

पितामहने उस सोमकी भी सृष्टि की, जो युवराज-पदपर अभिषिक्त हुए। वे रजनीपति चन्द्रमा ब्राह्मणोंके सनातन राजा हैं ॥ १८ ॥

तपसा महता युक्तो ग्रहैः सह निशाकरः ।
चचार नभसो मध्ये प्रभाभिर्भासयन् जगत् ॥ १९ ॥

महान् तपसे युक्त चन्द्रमा अपनी प्रभाओंसे जगत्को प्रकाशित करते हुए दूसरे ग्रहोंके साथ आकाशमण्डलमें विचरते हैं ॥ १९ ॥

स गात्रैर्भगवान् योगान्मनसा सिद्धिमागतः ।
ससृजे सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ २० ॥

योगसे सिद्धिको प्राप्त हुए भगवान् ब्रह्माने मानसिक संकल्पपूर्वक अपने भिन्न-भिन्न अङ्गोंद्वारा समस्त चराचर प्राणियोंकी सृष्टि की ॥ २० ॥

तत्र स्थानानि भूतानां योगांश्चैव पृथग्विधान् ।
व्यधत्त शतशो ब्रह्मा सर्वभूतपितामहः ॥ २१ ॥

समस्त भूतोंके पितामह ब्रह्माजीने उन भूतोंके लिये बहुत-से स्थानों तथा उनके योगक्षेमके लिये विभिन्न प्रकारके सैकड़ों उपायोंका निर्माण किया है ॥ २१ ॥

एष ब्रह्ममयो यज्ञो योगः सांख्यश्च तत्त्वतः ।
विज्ञानं च स्वभावश्च क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च ॥ २२ ॥
एकत्वं च पृथक्त्वं च सम्भवो निधनं तथा ।
कालः कालक्षयश्चैव ज्ञेयो विज्ञानमेव च ॥ २३ ॥

यह ब्रह्ममय यज्ञ (ज्ञानयज्ञ) कहा गया; यही योग और वास्तविक सांख्य है। विज्ञान, स्वभाव, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, एकत्व, नानात्व, जन्म और मृत्यु, काल, जहाँ कालका भी क्षय हो जाता है वह ज्ञान तथा विज्ञान (आत्मानुभव) भी यही जानने योग्य है ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

क्षत्रयुगके प्रसंगमें ज्ञानसिद्ध ब्राह्मणोंका वर्णन, प्रजापति दक्षद्वारा प्राणियों एवं चारों वर्णोंकी सृष्टि तथा उनका अपने पुत्रोंको धात्रीका अन्त जाननेके लिये आदेश

जनमेजय उवाच

श्रुतं ब्रह्मयुगं ब्रह्मन् युगानां प्रथमं युगम् ।
क्षत्रस्यापि युगं ब्रह्मञ्छ्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥ १ ॥
ससंक्षेपं सविस्तारं नियमैर्बहुभिश्चितम् ।
उपायैश्च कथितं क्रतुभिश्चैव शोभितम् ॥ २ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन्! मैंने युगोंमें प्रथम युगका,

जिसे ब्रह्मयुग (या ब्राह्मणयुग) कहते हैं, वर्णन सुन लिया। प्रभो! अब मैं उपाय जाननेवाले पुरुषोंद्वारा कथित, यज्ञोंसे सुशोभित तथा बहुसंख्यक नियमोंसे सम्पन्न क्षत्रयुगका वर्णन संक्षेप और विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतत्ते कथयिष्यामि यज्ञकर्मभिरर्चितम्।
दानधर्मैश्च विविधैः प्रजाभिरुपशोभितम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! इस क्षत्रिय-युगका मैं तुमसे वर्णन करूँगा। यह युग यज्ञकर्मोंसे पूजित, भाँति-भाँतिके दानधर्मोंसे सम्मानित तथा बहुसंख्यक प्रजाओंसे सुशोभित होता है ॥ ३ ॥

तेऽङ्गुष्ठमात्रा मुनय आदत्ताः सूर्यरश्मिभिः।
मोक्षप्राप्तेन विधिना निराबाधेन कर्मणा ॥ ४ ॥
प्रवृत्ते चाप्रवृत्ते च नित्यं ब्रह्मपरायणाः।
परायणस्य संगम्य ब्रह्मणस्तु महीपते ॥ ५ ॥
श्रीवृताः पावनाश्चैव ब्राह्मणाश्च महीपते।
चरितब्रह्मचर्याश्च ब्रह्मज्ञानावबोधिताः ॥ ६ ॥
पूर्णे युगसहस्रान्ते प्रभावे प्रलयं गताः।
ब्राह्मणा वृत्तसम्पन्ना ज्ञानसिद्धाः समाहिताः ॥ ७ ॥

जो अङ्गुष्ठमात्र मुनि हैं अर्थात् जिनका कद बहुत छोटा है, जो मोक्षके निकट पहुँचानेवाली विधि एवं निर्विघ्न कर्मके प्रभावसे सूर्यकी किरणोंद्वारा गृहीत हुए हैं अर्थात् सूर्यमण्डलका भेदन करके ब्रह्मलोकमें पहुँच गये हैं। यज्ञ आदि प्रवृत्ति एवं शम आदि निवृत्ति कर्ममें तत्पर रहते हुए नित्य ब्रह्मपरायण रहे हैं तथा पृथ्वीनाथ! जो सबके परम आश्रयभूत ब्रह्मसे मिलकर—परमात्माकी प्रसन्नताका उद्देश्य लेकर वेदोक्त कर्ममें सदा तत्पर रहते आये हैं, जिन्होंने ब्रह्मचर्यका पालन किया है, जो ब्रह्मज्ञानमयी ज्योतिसे प्रकाशित हो श्रीसम्पन्न और पवित्र हो गये हैं तथा जो पूर्वकल्पमें सहस्र चतुर्युग पूर्ण होनेतक ब्रह्मलोकमें रहकर उसके अन्तमें वहाँ प्रलयको प्राप्त हुए होते हैं, वे ही भावी कल्पमें एकाग्रचित्त, सदाचारसम्पन्न तथा ज्ञानसिद्ध ब्राह्मण होते हैं ॥

व्यतिरिक्तेन्द्रियो विष्णुर्योगात्मा ब्रह्मसम्भवः।
दक्षः प्रजापतिर्भूत्वा सृजते विपुलाः प्रजाः ॥ ८ ॥

उन्हीं ब्राह्मणोंमेंसे एक ब्रह्मपुत्र प्रजापति दक्ष हुए, जो इन्द्रियों और उनके विषयोंसे असङ्ग रहकर योगयुक्त चित्तसे बहुसंख्यक प्रजाओंकी सृष्टि करने लगे। भगवान् विष्णुको अपना आत्मा माननेके कारण वे विष्णुस्वरूप कहे गये हैं ॥

अक्षराद् ब्राह्मणाः सौम्याः क्षरात् क्षत्रियबान्धवाः।
वैश्या विकारतश्चैव शूद्रा धूमविकारतः ॥ ९ ॥

अक्षर (शुद्ध सत्त्वमय निष्काम धर्म, जिसका वर्ण सुधाके समान श्वेत है) से सौम्य स्वभाववाले ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई। क्षर (सत्त्व-रजोमय-मिश्र धर्म, जिसका वर्ण लाल है) से क्षत्रिय बन्धु प्रकट हुए। विकार (रजोमय सकाम धर्म, जिसका वर्ण हल्दीके समान पीला है) से वैश्य उत्पन्न हुए तथा धूम-विकार (तमोमय धर्म, जो धूमके समान काला है) से शूद्रोंका जन्म हुआ ॥ ९ ॥

श्वेतलोहितकैर्वर्णैः पीतैर्नीलैश्च ब्राह्मणाः।
अभिनिर्वर्तिता वर्णाश्चिन्तयानेन विष्णुना ॥ १० ॥

इस प्रकार सृष्टिके विषयोंमें विचार करनेवाले विष्णुस्वरूप प्रजापतिने श्वेत, लाल, पीले और नील वर्णवाले विभिन्न धर्मोंसे ब्राह्मण आदि वर्णोंकी सृष्टि की ॥ १० ॥

ततो वर्णत्वमापन्नाः प्रजा लोके चतुर्विधाः।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव महीपते ॥ ११ ॥

इस तरह विभिन्न वर्णको प्राप्त हुई प्रजा इस लोकमें चार मार्गोंमें विभक्त हो गयी। पृथ्वीनाथ! वे चार वर्णोंके लोग क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाये ॥ ११ ॥

एकलिङ्गाः पृथग्धर्मा द्विपदाः परमाद्भुताः।
यातनायाभिसम्पन्ना गतिज्ञाः सर्वकर्मसु ॥ १२ ॥

इन सबकी आकृति तो एक-सी है, परंतु धर्म पृथक्-पृथक् हैं। ये दो पैरवाले जीव (मनुष्य) बड़े ही अद्भुत हैं। कर्मफलके भोगके लिये ये पृथक्-पृथक् वर्णसे सम्पन्न हुए हैं। इन्हें समस्त कर्मोंकी गतिका ज्ञान (उनके शुभाशुभ फलोंपर विश्वास) होता है ॥ १२ ॥

त्रयाणां वर्णजातानां वेदप्रोक्ताः क्रियाः स्मृताः।
तेन वो ब्रह्मयोगेन वैष्णवेन महीपते ॥ १३ ॥

राजन्! ब्राह्मण आदि तीन वर्णोंमें उत्पन्न हुए लोगोंकी ही सारी क्रियाएँ वेदोक्त विधिसे सम्पन्न होने योग्य बतायी गयी हैं। इस कारण तुम्हारे जो तीन वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं, उन्हींको भगवान् विष्णुकी कृपासे वेदाध्ययनका अधिकार सुलभ है ॥ १३ ॥

प्रज्ञया तेजसा योगात् तस्मात् प्राचेतसः प्रभुः।
विष्णुरेव महायोगी कर्मणामन्तरं गतः ॥ १४ ॥

प्रज्ञा और तेजके योगसे युक्त हुए वे सामर्थ्यशाली महायोगी प्राचेतस दक्ष नामक विष्णु ही 'प्रजापति' का अधिकार देनेवाले कर्मों (सृष्टि आदि) में तत्पर रहते हैं ॥

ततो निर्माणसम्भूताः शूद्राः कर्मविवर्जिताः।
तस्मान्नार्हन्ति संस्कारं न ह्यत्र ब्रह्म विद्यते ॥ १५ ॥

अतः शिल्पकर्म एवं त्रैवर्णिकोंकी सेवाके लिये उत्पन्न शूद्र वैदिक कर्मके अधिकारसे रहित हैं। इसीलिये वे उपनयन आदिके संस्कारोंके योग्य नहीं हैं; क्योंकि उन्हें वेदाध्ययनका अधिकार नहीं है ॥ १५ ॥

यथाग्नौ धूमसंघातो ह्यरण्या मथ्यमानया।
प्रादुर्भूतो विसर्पन् वै नोपयुञ्जन्ति कर्मणि ॥ १६ ॥

एवं शूद्रा विसर्पन्तो भुवि कात्स्न्र्येन जन्मना।
नासंस्कृतेन धर्मेण वेदप्रोक्तेन कर्मणा॥ १७॥

जैसे अरणीका मन्थन करनेसे प्रकट हुई अग्निमें धूमका समुदाय उत्पन्न होकर बहुत दूरतक फैल जाता है तो भी अग्निहोत्री (यज्ञ करनेवाले) द्विज यज्ञकर्ममें उस धूमका उपयोग नहीं करते हैं, इसी प्रकार पृथ्वीपर जन्म लेकर पूर्णतः सब ओर फैले हुए शूद्र संस्कारहीन होनेके कारण वेदोक्त धर्म-कर्मके उपयोगमें आने योग्य नहीं हैं॥ १६-१७॥

ततोऽन्ये दक्षपुत्राश्च सम्भूता ब्रह्मयोनयः।
बलवन्तो महोत्साहा महावीर्या महौजसः॥ १८॥

तदनन्तर दक्षके और भी बहुत-से पुत्र, जो वेदके स्थानभूत ब्राह्मण थे, वे बलवान्, महान् उत्साहसे सम्पन्न, महान् पराक्रमी तथा महान् तेजस्वी थे॥ १८॥

पित्रा प्रोक्ता महात्मानो दक्षिणा यज्ञकर्मणा।
अन्तमिच्छाम्यहं श्रोतुं धात्र्याः पुत्रा बली ह्यहम्॥ १९॥

उन सामर्थ्यशाली महात्मा पुत्रोंसे यज्ञकर्मपरायण पिता दक्षने कहा—'पुत्रो! मैं तुम्हारे मुखसे धात्री (पृथ्वी) का अन्त सुनना चाहता हूँ; क्योंकि मैं बलवान् हूँ (अतः धात्रीका अन्त जानता हूँ)॥ १९॥

ततो विधास्ये तत्त्वज्ञाः प्रजानां विपुलं बलम्।
विपुलत्वाद्धि क्षेत्राणां ममापि विपुलाः प्रजाः॥ २०॥

'तत्त्वज्ञ पुत्रो! तुमसे धात्रीका अन्त सुनकर तुम्हारे बलका ज्ञान हो जानेके पश्चात् मैं प्रजाओंके लिये विपुल बलकी सृष्टि करूँगा, क्योंकि क्षेत्रों (शरीरों) की विशालतासे ही मेरी प्रजा भी अधिक बलशालिनी हो सकती है'॥ २०॥

न तेषां दर्शयद् देवी चक्षुषा रूपमात्मनः।
प्रजापतिसुतानां वै विपुलासारमिच्छताम्॥ २१॥

विशाल पृथ्वीका अन्त जाननेकी इच्छावाले उन प्रजापतिपुत्रोंको पृथ्वीदेवीने अपने आधिदैविक रूपका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कराया॥ २१॥

आत्मनो भावनिर्वृत्ते भावे कृतयुगे तदा।
जनित्री सर्वभूतानामण्डजानुद्भिजांस्तथा॥ २२॥
संवेदजननी धात्री चेति मात्रा प्रचोदिता।
अणुतां तनुतां चैव जन्तूनां कर्मभोगिनाम्॥ २३॥

तदनन्तर जब स्वभावसिद्ध कृतयुग (विशुद्ध सत्त्वमय भाव) आया, तब (उन प्रजापति पुत्रोंके अपने अभिप्रायकी सिद्धि हो जानेपर) प्रमाता चेतन (परमात्मा विष्णु) से प्रेरित हो धात्री, जो अपने सच्चिदानन्दस्वरूपसे सम्यग् ज्ञानकी जननी है, समस्त प्राणियोंकी जन्मदायिनी हुई। उसीने अण्डजों और स्वेदजोंको भी उत्पन्न किया तथा उसीने कर्मफल-भोग करनेवाले प्राणियोंके शरीरोंको लघु, सूक्ष्म एवं विशाल रूप प्रदान किया॥ २२-२३॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

दक्षका अपने आधे अङ्गसे स्त्रीरूप होकर बहुत-सी कन्याओंको उत्पन्न करना और उनका धर्म, कश्यप एवं सोमको दान कर देना, कश्यप और दक्षकन्याओंकी संतानोंका वर्णन तथा देवलोकमें उत्पन्न होनेवालोंकी योग्यता

जनमेजय उवाच

साध्वहं श्रोतुमिच्छामि त्रेतायां ब्राह्मणोत्तम।
यज्ज्ञात्वा सर्वविद्यानां परं पश्येयमव्ययम्॥ १॥

जनमेजय बोले—ब्राह्मणशिरोमणे! त्रेतायुगके प्रवृत्तिरूप (यज्ञादि) धर्ममें जो समीचीन तत्त्व है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ, जिसे जानकर (आचरणमें लाकर) मैं समस्त विद्याओंके परम लक्ष्य अविनाशी ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकूँ॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

दक्षस्तु पुनरालम्ब्य स्त्रीभावं पुरुषोत्तमः।
योगाद् योगेश्वरात्मानं निषण्णो गिरिमूर्धनि॥ २॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पुरुषोत्तम दक्ष योगबलसे स्त्रीशरीरको प्राप्त हो गये। वह स्त्रीशरीर उन योगेश्वर दक्षका अपना ही स्वरूप था। उस स्वरूपका अवलम्बन करके वे एक पर्वतके शिखरपर बैठे थे॥ २॥

सुजानुः पीनजघना सुभ्रूः पद्मनिभानना।
रक्तान्तनयना कान्ता सर्वभूतमनोरमा॥ ३॥

उस स्त्रीके घुटने सुन्दर, जघनप्रदेश स्थूल, भौंहें मनोहर, मुख प्रफुल्ल कमलके समान कान्तिमान् तथा दोनों नेत्रोंके कोये लाल थे। वह समस्त भूतोंके मनको मोहनेवाली नारी कमनीय कान्तिसे युक्त थी॥ ३॥

दक्षः प्राचेतसस्तस्यां कन्यायां जनयत् प्रभुः।
देहार्धयोगविधिना कन्याः पद्मनिभाननाः ॥ ४ ॥

भगवान् प्राचेतस दक्षने देहार्ध-संयोगकी विधिसे उस अर्धाङ्गजनित नारीके गर्भसे प्रफुल्ल कमलके समान मनोहर मुखवाली बहुत-सी कन्याओंको उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

दक्षः पुरुषरूपेण स्त्रीरूपमपहाय वै।
दर्शने सर्वभूतानां कान्तः कान्ततरोऽभवत् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् उस स्त्रीरूपका परित्याग करके दक्ष पुनः पुरुष-रूपसे स्थित हो गये। उस समय वे समस्त प्राणियोंकी दृष्टिमें परम कान्तिमान् एवं कमनीय प्रतीत होते थे ॥ ५ ॥

ताः कन्याः प्रददौ दक्षः स्वयं प्राचेतसः प्रभुः।
ब्रह्मदेयेन विधिना ब्रह्मप्राप्तेन भारत ॥ ६ ॥

भारत! इसके बाद स्वयं प्राचेतस भगवान् दक्षने उन कन्याओंका वेदोक्त ब्राह्मविधिसे विवाह कर दिया ॥ ६ ॥

प्रददौ दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश।
सप्तविंशति सोमाय पत्नीहेतोः समाहितः ॥ ७ ॥

उन्होंने एकाग्रचित्त होकर धर्मको दस, कश्यपको तेरह और सोमको सत्ताईस कन्याएँ इसलिये दीं कि वे इन्हें अपनी धर्मपत्नी बना लें ॥ ७ ॥

दक्षो दत्त्वाथ ताः कन्या ब्रह्मक्षेत्रं प्रपद्य च।
ब्रह्मणाध्युषितं पुण्यं समाहितमना मुनिः ॥ ८ ॥

उन कन्याओंका दान करनेके पश्चात् दक्ष मुनि ब्रह्माजी-के क्षेत्र प्रयागमें आये, जहाँ ब्रह्माजी पहले निवास करते थे और इसीलिये जो परम पुण्यदायक तीर्थ हो गया था। वहाँ आकर वे मनको एकाग्र करके परमात्माका चिन्तन करने लगे ॥ ८ ॥

तप्यमानो मृगैः सार्धं चचार वसुधां नृप।
तृणमूलफलैर्वृद्धो वृद्धश्च तपसाऽसकृत् ॥ ९ ॥

नरेश्वर! तदनन्तर दक्ष तपस्यामें संलग्न हो मृगोंके साथ इस वसुधापर विचरने लगे। वे तृण और फल-मूलसे ही अपने शरीरका पोषण करते थे। उनके तपकी निरन्तर वृद्धि हो रही थी ॥ ९ ॥

मृगास्तु तस्य मोदन्ति फलं मोदन्ति ब्राह्मणाः।
दीक्षिताः पुण्यकर्माणस्तपसा दग्धकिल्बिषाः ॥ १० ॥

उनकी तपस्याके प्रभावसे मृग बड़े प्रसन्न थे (क्योंकि उस तपसे सर्वत्र अहिंसा-भावका प्रसार हो रहा था)। यज्ञमें दीक्षित हो पुण्य कर्म करनेवाले तथा तपस्यासे अपने पापोंको दग्ध कर देनेवाले ब्राह्मण दक्षके उस अहिंसाप्रधान तपका वैर-त्यागरूप फल प्रत्यक्ष देखकर आनन्दमग्न रहते थे ॥

संग्रामकाले कालज्ञः शरीरादिपतिर्मुनिः।
कर्मयज्ञकृतां तात सिद्धिं पश्यति लक्षणात् ॥ ११ ॥

योगीको अपने चित्तपर विजय प्राप्त करनेके लिये जो संग्राम (तत्परतापूर्ण साधन) करना पड़ता है, उसका अवसर आनेपर कालगतिके ज्ञाता तथा शरीर, इन्द्रिय आदिपर शासन करनेवाले मुनिवर दक्षको कर्मयज्ञजनित सिद्धि निकट दिखायी देने लगी; क्योंकि उस सिद्धिका सूचक लक्षण प्रकट हो रहा था ॥ ११ ॥

दानमानप्रवीराश्च निरुद्वेगा निरामिषाः।
मृगैः सह जरां यान्ति सपत्नीकाः सुपुत्रिणः ॥ १२ ॥

जो दूसरोंको दान और मान देनेमें प्रमुख वीर हैं, जिनका उद्वेग सर्वथा शान्त हो गया है, जो आमिष आदि भोगोंका परित्याग कर चुके हैं तथा जो श्रेष्ठ पुत्रोंके पिता हैं, ऐसे गृहस्थ द्विज अपनी पत्नीके साथ उस वनमें जाकर मृगोंके साथ वृद्धावस्थाको प्राप्त होते थे ॥ १२ ॥

ब्राह्मणाः स्तोत्रसंसिद्धा जनित्रे प्रथमे पदे।
ब्रह्मणाध्युषितत्वाच्च ब्रह्मक्षेत्रमिहोच्यते ॥ १३ ॥

वेदाध्ययनसे सिद्ध हुए ब्राह्मण वहाँ सबके उत्पादक प्रथम पद—परब्रह्म परमात्मामें प्रतिष्ठित होते थे और ब्रह्माजी भी उस स्थानमें निवास कर चुके थे; इसीलिये यहाँ प्रयागको ब्रह्मक्षेत्र कहते हैं (आध्यात्मिक दृष्टिसे ब्रह्मकी उपलब्धिका स्थान होनेके कारण यह शरीर ही ब्रह्मक्षेत्र है) ॥ १३ ॥

यतिभिः कर्मभिर्मुक्तैर्जितक्रोधैर्जितेन्द्रियैः।
चरद्भिर्वसुधां विप्रैरकिंचनपथैषिभिः ॥ १४ ॥

जो कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हैं, क्रोधपर विजय पा चुके हैं और इन्द्रियोंको वशमें कर चुके हैं, वे अकिंचन (परिग्रहशून्य) पथपर चलनेकी इच्छावाले और भूतलपर विचरते रहनेवाले संन्यासी ब्राह्मण इस क्षेत्र (प्रयाग अथवा शरीर) को ब्रह्मक्षेत्र कहते हैं ॥ १४ ॥

या प्रजा सर्वमारूढा मानसी ब्रह्मचारिणी।
सैवैषा व्यक्तिमापन्ना स्वभावदुरतिक्रमा ॥ १५ ॥

जो प्रजा हृदयाकाशमें स्थित सर्वस्वरूप ब्रह्ममें आरूढ़ थी, ब्रह्ममें ही विचरनेके कारण ब्रह्मचारिणी कहलाती थी और मानसिक संकल्पमें स्थित होनेसे मानसी कही जाती थी, वही यह स्वभाव (संस्कार या प्रारब्ध) से दुर्लङ्घ्य होकर अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्थाको प्राप्त हुई है ॥ १५ ॥

अव्यक्ता व्यक्तमापन्ना स्वभावाद् दुरतिक्रमा।
व्यक्ताव्यक्तगतिश्चैषा कालधर्मान्महीपते ॥ १६ ॥

जो अव्यक्त थी, वही स्वभावसे दुर्लङ्घ्य होकर व्यक्ता-वस्थाको प्राप्त हो गयी। राजन्! कालधर्मसे यह सारी प्रजा व्यक्त और अव्यक्त रूपमें परिणत होती रहती है ॥ १६ ॥

स्थावरा जङ्गमाश्चैव स्थूलसूक्ष्माश्च भारत।
कालयोगेन योगज्ञा भवन्ति न भवन्ति च ॥ १७ ॥

भारत! कालयोगसे स्थावर-जंगम, स्थूल और सूक्ष्म सभी प्राणी योगज्ञ होते हैं और नहीं भी होते हैं ॥ १७ ॥

एताश्चैताः प्रजाः सर्वा दक्षकन्यासु जज्ञिरे।
कश्यपेनाव्ययेनेह संयुक्ताः कालधर्मणा॥ १८॥

ये सारी प्रजाएँ महर्षि कश्यपके द्वारा दक्षकन्याओंके गर्भसे उत्पन्न हुई हैं। ये सब-की-सब कालरूप धर्मवाले अक्षय स्वभावसे संयुक्त हैं॥ १८॥

आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः।
नागाश्चानेकशिरसः साध्या वै पन्नगास्तथा॥ १९॥
गन्धर्वाः किन्नरा यक्षाः सुपर्णाश्च तथापरे।
गरुत्मान् सह यक्षैश्च किन्नराश्च सुवाससः॥ २०॥
गावः पशुगणैः सार्धं नराश्च वसुधाधिप।
चराचराश्च वसुधाधर्तारश्च धराधराः॥ २१॥
गजाः सिंहाश्च व्याघ्राश्च हयाः पक्षधरास्तथा।
खड्गा विषाणिनश्चैव वृषभाश्च मृगास्तथा॥ २२॥
चतुर्विषाणा नागेन्द्राः पद्माभा वर्णतः शुभाः।
सर्वलक्षणसम्पन्नाः प्राणिनः कामरूपिणः॥ २३॥

राजन्! आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, अनेक सिरवाले नाग, साध्य, सर्प, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, सुपर्ण, गरुड़, सुन्दर वस्त्रधारी किन्नर, अन्यान्य पशुगणोंके साथ गौएँ, मनुष्य, चराचर प्राणी, पृथ्वीको धारण करनेवाले पर्वत, हाथी, सिंह, व्याघ्र, पंखधारी घोड़े, गैंडे, सींगवाले बैल और मृग, चार दाँतवाले तथा कमलकी-सी कान्तिवाले शुभलक्षण गजराज, समस्त लक्षणोंसे सम्पन्न और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले अन्यान्य प्राणी—इन सबकी उत्पत्ति महर्षि कश्यप और उनकी पत्नी दक्षकन्याओंसे हुई है॥ १९—२३॥

तेषां रूपैस्तथा गात्रैस्तैः शीलैस्तैः पराक्रमैः।
मुनयः पुनरुद्भूता धर्मक्षेत्रे सनातने॥ २४॥

धर्मकी सनातन प्रसवभूमि भारतवर्षमें जो मुनि पुनः उत्पन्न हुए, वे पूर्व-कल्पके ऋषि-मुनियोंके रूप, शरीर, शील और पराक्रमसे सम्पन्न हुए॥ २४॥

क्षेत्रज्ञा मानसे लोके धर्मिणो वेदगोचराः।
यत्रोद्भूताः सुराः सर्वे दिवि लोके प्रतिष्ठिताः॥ २५॥

वेदोक्त मार्गपर चलनेवाले धर्मात्मा क्षेत्रज्ञ (आत्मनिष्ठ) पुरुष मानस लोक (मनःकल्पित, बाह्य या आभ्यन्तर जगत्) मे देवतारूपसे प्रकट हुए होते हैं और वे सब-के-सब दिव्यलोकमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं॥ २५॥

ये चान्ये तपसा सिद्धा गृहस्था मनुजाधिप।
ब्रह्मचर्येण संसिद्धाः परिचर्यां गता गुरोः॥ २६॥
ये च योगगतिं प्राप्ताः सिद्धिहेतोर्महीपते।
क्लेशाधिकैः कर्मजन्यैर्वृत्तिं लप्स्यन्ति वै द्विजाः॥ २७॥
शिलोञ्छवृत्तयः ख्याताः सपत्नीका दृढव्रताः।
सर्वे त्वेते दिविचरा भवन्ति चरितव्रताः॥ २८॥

नरेश्वर! जो दूसरे गृहस्थ तपस्यासे सिद्ध होते हैं अथवा जो ब्रह्मचारी गुरुकी सेवा करके ब्रह्मचर्य-पालनके द्वारा सिद्धिलाभ करते हैं और पृथ्वीनाथ! जो सिद्धिके लिये योग-मार्गको अपनाये हुए हैं, जो द्विज सत्कर्मके लिये अधिक क्लेश सहन करके जीविका पाते हैं, जो खेतोंमें बाल बीनकर या बाजार उठ जानेपर वहाँ गिरे हुए अन्नके दाने चुनकर जीवन-निर्वाह करनेके लिये विख्यात हैं और पत्नीके साथ रहकर दृढ़तापूर्वक धर्मके पालनमें लगे रहते हैं; इन सबने उत्तम व्रतका पालन किया है; अतः ये सब-के-सब आकाशचारी देवता होते हैं॥ २६—२८॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीके महायज्ञका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

पितामहं पुरस्कृत्य मेरुपृष्ठे समाहिताः।
जटाजिनधरा विप्रास्त्यक्तक्रोधा जितेन्द्रियाः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मेरुपर्वतकी घाटीपर पितामह ब्रह्माजीको आगे करके कुछ एकाग्रचित्त ब्राह्मण विराजमान हुए, जो जटा और मृगचर्म धारण किये हुए थे। उन्होंने क्रोधको त्याग दिया था और इन्द्रियोंपर विजय पा ली थी॥ १॥

पर्वतान्तरसंसिद्धे बहुपादपसंवृते।
धातुसंरञ्जितशिले समे निस्तृणकण्टके॥ २॥
त्रयाणां ब्रह्मवेदानां पञ्चस्वरविराजिते।
मन्त्रयज्ञपरा नित्यं नित्यं व्रतहिते रताः॥ ३॥

पर्वतकी वह घाटी दूसरे पर्वतोंसे घिरी हुई थी। वहाँ बहुत से वृक्ष शोभा दे रहे थे। वहाँकी शिलाएँ अनेक प्रकारकी धातुओंसे रँगी हुई थीं। उस समतल प्रदेशमें तृण और कण्टकोंका सर्वथा अभाव था। ब्रह्मका ज्ञान करानेवाले

तीनों वेदोंके पाँच स्वरोंसे उस पर्वतशिखरकी बड़ी शोभा हो रही थी। वहाँ बैठे हुए वे ब्राह्मण मन्त्रजपरूपी यज्ञमें सदा तत्पर रहनेवाले थे। व्रतके पालन और परहितके साधनमें उनकी सदा ही प्रवृत्ति थी ॥ २-३ ॥

एकमेवाग्निमाधाय सर्वे ब्राह्मणपुङ्गवाः।
बिभिदुर्मन्त्रविषयैः सुसमाहितमानसाः ॥ ४ ॥

वे समस्त ब्राह्मणशिरोमणि वहाँ एक ही अग्निकी स्थापना करके एकाग्रचित्त हो उसकी उपासना करते थे। उन्होंने मन्त्रप्रतिपाद्य विषयोंकी दृष्टिसे उस अग्निके अनेक भेद किये ॥ ४ ॥

त्रिधा प्रणीतो ज्वलनो मुनिभिर्वेदपारगैः।
अतस्ते तत्त्वमापन्ना यदेकस्त्रिविधः कृतः ॥ ५ ॥

वेदोंके पारङ्गत विद्वान् मुनियोंने उस अग्निको तीन भागोंमें विभक्त करके स्थापित किया (उन तीनों अग्नियोंके नाम ये हैं—आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि)। उनके द्वारा एक ही अग्निकी तीन स्वरूपोंमें अभिव्यक्ति हुई, इसलिये उन्हें तत्त्वका बोध प्राप्त हुआ ॥ ५ ॥

एक एव महानग्निर्हविषा सम्प्रवर्तते।
स्वधाकारेण धर्मज्ञ मन्त्राणां कार्यसिद्धये ॥ ६ ॥

धर्मज्ञ जनमेजय ! एक ही अग्नि मन्त्रोक्त कार्योंकी सिद्धिके लिये स्वधारूप हविष्यके सेवनसे महान् होकर सम्यक् रूपसे प्रज्वलित होता है ॥ ६ ॥

स्वयं च दक्षः सम्प्राप्तो भगवान् भूतसत्कृतः।
ब्रह्मा ब्राह्मणनिर्माता सर्वभूतपितामहः ॥ ७ ॥

वहाँ समस्त प्राणियोंद्वारा सम्मानित स्वयं भगवान् दक्ष पधारे, जो ब्रह्मा अर्थात् ब्राह्मण हैं। उन्होंने ब्राह्मणोंकी सृष्टि की है तथा वे सम्पूर्ण भूतोंके पितामह हैं ॥ ७ ॥

दण्डी चर्मी शरी खड्गी शिखी पद्मनिभाननः।
अभवन्न्यस्तसंतापो जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥

उनके हाथोंमें दण्ड, बाण, ढाल और तलवार—ये आयुध शोभा पाते थे। उन्होंने शिखा धारण कर रखी थी। उनका मुख कमलके समान कान्तिमान् था। वे संतापरहित, क्रोधको जीतनेवाले तथा जितेन्द्रिय थे ॥ ८ ॥

यजते पुष्करे ब्रह्मा मेधया सह संगतः।
इन्द्रप्रोक्तानि सामानि गीयन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥ ९ ॥

वहाँ पुष्करतीर्थमें ब्रह्माजी मेधाके साथ बैठकर यज्ञ करने लगे और बहुत-से ब्रह्मवादी मुनि इन्द्रकथित साममन्त्रोंका गान करने लगे ॥ ९ ॥

घृतं क्षीरं यवा व्रीहिः सर्वं परमकं हविः।
वेदप्रोक्तं मखे न्यस्तं कल्पितं ब्रह्मणः पदे ॥ १० ॥

उस यज्ञमें घृत, खीर, जौ, चावल आदि सब उत्तमोत्तम हविष्य, जिसका वेदमें वर्णन किया गया है, ब्रह्माजीके निकट सजाकर रखा गया था ॥ १० ॥

निर्मथ्यारणिमाग्नेयीं शमीगर्भसमुत्थिताम्।
स ब्रह्मा प्रथमं तस्मिन्नग्निमग्र्यं प्रवर्तयत् ॥ ११ ॥

शमीके गर्भसे उत्पन्न हुई अग्निसम्बन्धिनी अरणीका मन्थन करके ब्रह्माजीने उस यज्ञमें एक दूसरे ही प्रधान अग्निको प्रकट किया ॥ ११ ॥

न ह्यल्पं विहितं द्रव्यं यथाग्निर्यज्ञकर्मणि।
प्रवर्तयेद् विभागैर्वा हुतद्रव्यमयं बलम् ॥ १२ ॥

जैसे यज्ञकर्ममें मन्थनसे प्रकट हुए अग्निदेवको स्थापित करके उन्हें ही हवनीय पदार्थकी आहुति देनेका विधान है, उसी प्रकार वहाँ अल्प द्रव्य देनेकी विधि नहीं है। यज्ञ करनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह हुत द्रव्यमय बलको विभागपूर्वक प्रकट करे ॥ १२ ॥

फलानि तैः प्रयुक्तानि हवींषि विततेऽध्वरे।
प्रयुञ्जते प्रयोगज्ञा मुनयो ब्रह्मवादिनः ॥ १३ ॥

उस विशाल यज्ञमें जिन-जिन विहित हविष्योंका उपयोग किया गया उनके द्वारा उनके यथायोग्य फल भी प्रकट हुए। प्रयोगके ज्ञाता ब्रह्मवादी मुनि ही उन हविष्योंका प्रयोग करते थे ॥ १३ ॥

षण्मासांश्चतुरो वेदान् सम्बभाषे बृहस्पतिः।
ब्रह्मणो वितते यज्ञे परया ब्रह्मसम्पदा ॥ १४ ॥

उत्तम ब्रह्म-सम्पत्तिसे युक्त ब्रह्माजीके उस विस्तृत यज्ञमें देवगुरु बृहस्पतिने छः मासतक चारों वेदोंका प्रवचन किया ॥

शिक्षाक्षरसमेताया मधुरायाः समन्ततः।
सानुस्वरितरामायाः सरस्वत्याः प्रभाषते ॥ १५ ॥

वे उपनिषद् और कर्मकाण्डके द्वारा अत्यन्त रमणीय तथा शिक्षाके अक्षरोंसे युक्त मधुर वेदवाणीका सब ओर प्रवचन करते थे ॥ १५ ॥

तेन ब्राह्मणशब्देन ब्रह्मप्रोक्तेन भारत।
विभाति स मखो व्यक्तं ब्रह्मलोक इवापरः ॥ १६ ॥

भारत ! ब्राह्मण-मन्त्रोंके पाठ और वेदोंके उस प्रवचनसे वह विशाल यज्ञमण्डप निश्चय ही दूसरे ब्रह्मलोकके समान शोभा पाता था ॥ १६ ॥

मखो ब्रह्ममुखोत्तीर्णो ब्रह्मशब्दैरनामयैः।
प्रयोगैः सम्प्रयुक्तः स जल्पन्निव विवर्धते ॥ १७ ॥

ब्रह्माजीके मुखसे प्रकट (अथवा ब्रह्माजीकी प्रधानतामें सम्पादित) हुआ वह यज्ञ अनामय (अप्रामाणिकताकी

१. वेदमन्त्रोंके उच्चारणकी विधिमें स्वरप्रदर्शनके पाँच प्रकार ही यहाँ पाँच स्वर कहे गये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, एकश्रुति और प्रचय।

आशङ्कासे रहित) वेदके शब्दों और श्रुतिके अनुसार विनियुक्त (प्रयुक्त) हुए मन्त्रोंद्वारा सम्यक्‌रूपसे अनुष्ठानमें लाया जाकर बोलता हुआ-सा उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त हो रहा था ॥ १७ ॥

समिद्भिः सोमकलशैः पात्रैश्चैव वहिश्चरैः ।
यवैर्व्रीहिभिराज्यैश्च पूर्णैश्च जलभाजनैः ॥ १८ ॥

उस यज्ञमें समिधाएँ, सोमरस रखनेके लिये कलश, स्रुक्, स्रुवा आदि यज्ञपात्र, वाह्यपात्र, जौ, व्रीहि, घृत तथा जलसे भरे हुए पात्र रखे हुए थे, जिनसे उस यज्ञकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १८ ॥

कर्म प्राप्तैश्च वसुभिः कर्मभिश्च परान्वितैः ।
गोभिः पयस्विनीभिश्च परिवत्सैश्च कोमलैः ॥ १९ ॥

सब ओरसे प्राप्त हुए सुवर्ण आदि रत्नों, परमात्माको समर्पित करके किये गये इष्टि आदि कर्मों, दूधके लिये लायी गयी दुधारू गौओं और उनके कोमल बछड़ोंसे सुशोभित हुए उस यज्ञकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी ॥ १९ ॥

ब्रह्मवृद्धो वयोवृद्धस्तपोवृद्धश्च भारत ।
ब्रह्मज्ञानमयो देवो विद्यया सह संगतः ॥ २० ॥

भारत ! वेदमन्त्रोंकी ध्वनिसे, दक्षिणारूपी वयसे तथा तपस्या (ज्ञान) से बढ़े हुए वे ब्रह्मज्ञानमय यज्ञदेव विद्या (यज्ञकर्मकी अङ्गभूत उद्गीथ आदिकी उपासना) से संयुक्त हो उत्तरोत्तर बढ़ रहे थे ॥ २० ॥

मानसैश्च क्रियामूर्तिर्ये च भूताः स्वयं नृप ।
ब्रह्मा जुहोति तांस्तस्मान्मरुद्भिः सहितस्तदा ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! उस समय यज्ञात्मा ब्रह्मा मरुद्गणोंके साथ रहकर मनःकल्पित समिधा आदि उपकरणोंसे युक्त जो स्वयं उनसे प्रकट हुए घृत आदि हवनीय पदार्थ थे, उनकी अग्निमें आहुति देने लगे ॥ २१ ॥

तेजोमूर्तिधरै रूपैर्न च तत्कर्मणास्पृशत् ।
वेदप्रोक्तेन विधिना सर्वप्राणभृतां नृप ॥ २२ ॥

जनमेजय ! वेदोक्त विधिसे किया गया और तेजोमय (चिन्मय) मूर्ति धारण करनेवाले द्रव्य-देवता आदि याग-सम्बन्धी रूपोंसे युक्त हुआ ब्रह्माजीका वह यज्ञ समस्त प्राणियोंके कर्मसे अछूता रह गया (अर्थात् उनका यज्ञकर्म सबसे उत्कृष्ट था) ॥ २२ ॥

निर्मथ्यारणिमाग्नेयीं शमीगर्भसमुत्थिताम् ।
क्रतुना यजते पूर्णमग्निष्टोमेन स प्रभुः ॥ २३ ॥

वे भगवान् ब्रह्मा शमीगर्भ (अश्वत्थ) से उत्पन्न हुई अग्निसम्बन्धिनी अरणिका मन्थन करके (प्रकट की हुई अग्निमें ही) अग्निष्टोम यागद्वारा पूर्ण विधिके साथ यजन कर रहे थे ॥ २३ ॥

सदस्यैस्तत्सदो व्यक्तं शुशुभे यज्ञकर्मणि ।
जल्पन्ति मधुरा वाचः सानुसाराः क्रियास्तथा ॥ २४ ॥

उस यज्ञकर्मके सम्पादनकालमें सदस्योंसे भरा हुआ वह यज्ञसभाका मण्डप बड़ी शोभा पा रहा था । वहाँ सब लोग बड़ी मधुर वाणी बोलते थे तथा सहायकोंसहित सारी क्रियाएँ सम्पन्न हो रही थीं ॥ २४ ॥

कर्मभिश्च तपोयुक्तैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ।
सूर्येन्दुसदृशै राजन् विरराज महाक्रतुः ॥ २५ ॥

राजन् ! वह महायज्ञ वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् तथा सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी ब्राह्मणोंद्वारा किये गये तपोयुक्त कर्मोंद्वारा बड़ी शोभा पा रहा था ॥ २५ ॥

ब्रह्मघोषेण महता ब्रह्मावास इवापरः ।
वसुधामिव सम्प्राप्तैः सर्वैरेव दिवौकसैः ॥ २६ ॥

वेदोंके महान् घोषसे वह यज्ञशाला दूसरे ब्रह्मलोककी भाँति जान पड़ती थी । उस समय सारे देवता भूतलपर आये प्रतीत होते थे ॥ २६ ॥

वेदवेदाङ्गविद्भिश्च विनीतैर्ब्रह्मवादिभिः ।
गतागतैस्तपःश्रान्तैः स्वर्गलोके महीयते ॥ २७ ॥

वेदवेदाङ्गोंके ज्ञाता, विनयशील एवं ब्रह्मवादी ऋषि, जो तपस्या करते-करते दुर्बल हो गये थे, उस यज्ञमें आते-जाते दिखायी देते थे । उनके कारण वह यज्ञ ऐसी शोभा पाता था मानो स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हुआ हो ॥ २७ ॥

ज्वलद्भिरिव विप्रैस्तैस्त्रिभिरेवाध्वरेऽग्निभिः ।
ब्रह्मलोक इवाभाति ब्रह्मणः स महाक्रतुः ॥ २८ ॥

ब्रह्माका वह महान् यज्ञ तेजस्वी ब्राह्मणों और यज्ञस्थलमें प्रज्वलित होनेवाली त्रिविध अग्नियोंसे ब्रह्मलोककी भाँति प्रकाशित हो रहा था ॥ २८ ॥

इन्द्रप्रोक्तानि सामानि गायन्ति ब्रह्मवादिनः ।
वचनानि प्रयुक्तानि यजूंषि विततेऽध्वरे ॥ २९ ॥

उस विस्तृत यज्ञमें ब्रह्मवादी मुनि इन्द्रकथित साममन्त्रोंका गान और यजुर्वेदके वाक्योंका पाठ कर रहे थे ॥ २९ ॥

तपःशान्ता ब्रह्मपराः सत्यव्रतसमाहिताः ।
आययुर्मुनयः सर्वे मनोभिः श्रोत्रवादिभिः ॥ ३० ॥

वहाँ तपस्यासे शान्त, ब्रह्मपरायण तथा सत्यव्रतके पालनमें तत्पर रहनेवाले समस्त मुनि सुनी हुई बातोंका अनुसरण करनेवाले मानसिक संकल्पके द्वारा आ पहुँचे थे ॥ ३० ॥

होता चैवाभवद् राजन् ब्रह्मत्वे च बृहस्पतिः ।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठः पुराणो ब्रह्मसम्भवः ॥ ३१ ॥

राजन् ! उस यज्ञमें सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ तथा ब्रह्मपुत्र अङ्गिराके आत्मज पुरातन ऋषि बृहस्पति होता थे और वे ही ब्रह्माके पदपर भी प्रतिष्ठित थे ॥ ३१ ॥

यजमानश्च यज्ञान्ते विष्णोः पूजां प्रयुज्य च।
अदित्याः पश्चिमे गर्भे तपसा सम्भृते नृप॥ ३२॥

नरेश्वर! यज्ञके अन्तमें भगवान् विष्णुकी पूजा करके यजमान ब्रह्मा तपस्यासे पुष्ट हुए अदिति देवीके पिछले गर्भमें अवतीर्ण हुए॥ ३२॥

पदं विष्णुरजो ब्रह्मा निर्द्वन्द्वं निष्परिग्रहम्।
यतः पदसहस्राणि भविष्यन्त्युद्भवन्ति च॥ ३३॥

परम पद विष्णु हैं। अजन्मा ब्रह्मा उस विष्णुसंज्ञक निर्द्वन्द्व एवं परिग्रहशून्य पदको प्राप्त होते हैं, जहाँसे सहस्रों इन्द्रादि पद प्रकट होते हैं और होते रहेंगे॥ ३३॥

अवन्ध्यं चाप्रमेयं च व्यतिरिक्तं च कर्मभिः।
आत्मापि यस्य मुनयो भवन्ति निष्परिग्रहाः॥ ३४॥

वह विष्णुपद अवन्ध्य है, अर्थात् उसकी प्राप्तिसे समस्त कर्मोंका फल मिल जाता है। वह अप्रमेय (अनन्त) तथा कर्मोंसे असङ्ग है। परिग्रहशून्य मुनि उस विष्णुपदके आत्मा ही होते हैं॥ ३४॥

परिग्रहाश्च विषया दोषप्राप्ता महीपते।
दोषाश्च युगपत् सर्वे छादयन्ति मनो बलात्॥ ३५॥

पृथ्वीनाथ! सब ओरसे बाँधनेवाले रूप आदि विषय राग आदि दोषोंसे ही प्राप्त होते हैं। समस्त दोष पूर्व संस्कार-के बलसे मनको आच्छादित कर लेते हैं॥ ३५॥

इन्द्रियग्रामविषये चरन्तो निष्परिग्रहाः।
परिग्रहं शुभं धर्ममविद्यालक्षणं विदुः॥ ३६॥

मुनिगण इन्द्रिय-समूहोंके विषयोंमें विचरते हुए भी परिग्रहशून्य ही होते हैं (वे उनमें कभी आसक्त नहीं होते)। ज्ञानी पुरुष वेदबोधित धर्मको शुभ मानते हैं, किंतु परिग्रह को अविद्या (अज्ञान) का लक्षण समझते हैं॥ ३६॥

विद्यालक्षणसंयोगान्न मनश्छाद्यते नृप।
यदि चेन्मुनिशब्देन गृह्यते ब्रह्मवादिभिः॥ ३७॥

नरेश्वर! यदि ब्रह्मवादी पुरुष मुनित्वकी प्राप्ति करानेवाले शब्द (तत्त्वमसि आदि वाक्य अथवा प्रणवके उपदेश) से साधकको अनुगृहीत कर लेते हैं तो (वह उसके मननसे तत्त्वज्ञानी हो जाता है, उस दशामें) विद्याके लक्षणसे संयुक्त होनेके कारण उसके मनको राग आदि दोष नहीं आच्छादित करते हैं॥ ३७॥

वेदविद्याव्रतस्नातैर्नियतैः कुरुसत्तम।
दिवि लोकाः सतां स्थानं लोकानां लोक उच्यते॥ ३८॥

कुरुश्रेष्ठ! जो वेदविद्या एवं ब्रह्मचर्य-व्रतको पूर्ण करके उसमें निष्णात हो चुके हैं तथा शौच-संतोष आदि नियमोंके पालनमें तत्पर रहते हैं, वे कर्मठ पुरुष स्वर्गमें सत्पुरुषोंके रहनेके लिये जो लोक या स्थान हैं, उन्हींको-लोक कहते हैं॥

यत्र देवा हव्यपुष्टा न क्षयं यान्ति भारत।
यजमानश्च भोगैः स्वैः कर्मप्राप्तोदिते पदे।
मोदते सह पत्नीभिर्विज्वरो वसुधाधिप॥ ३९॥

भारत! उनकी दृष्टिमें लोक वही है, जहाँ हविष्यसे पुष्ट हुए देवता कभी नष्ट नहीं होते हैं। पृथ्वीनाथ! यज्ञ करनेवाला यजमान भी वहाँ कर्मानुसार प्राप्त और वहाँके अधिकारियोंद्वारा अनुमोदित पदपर प्रतिष्ठित हो अपने लिये नियत भोगों एवं पत्नियोंके साथ निश्चिन्त होकर सुख भोगता एवं आनन्दमग्न रहता है॥ ३९॥

यज्ञावसाने शैलेन्द्रं द्विजेभ्यः प्रददौ प्रभुः।
दयया सर्वभूतानां निर्मलेनान्तरात्मना॥ ४०॥

यज्ञके अन्तमें सामर्थ्यशाली भगवान् ब्रह्माने अपने निर्मल अन्तःकरणसे समस्त प्राणियोंपर दया करके वह श्रेष्ठ पर्वत द्विजोंको दे दिया॥ ४०॥

तं शैलं सर्वगात्राणि परस्परविशेषिणः।
न शेकुः प्रविभागार्थं भेत्तुं सर्वोद्यमैरपि॥ ४१॥

एक-दूसरेकी अपेक्षा विशिष्ट योग्यतावाले वे ब्राह्मण आपसमें बाँटनेके लिये उस पर्वतके सभी अङ्गोंका भेदन करनेको उद्यत हुए; परंतु सब प्रकारसे उद्योग करके भी उसे तोड़नेमें समर्थ न हो सके॥ ४१॥

ततस्ते ब्राह्मणगणा निषेदुर्वसुधातले।
श्रमेणाभिहताः सर्वे विवर्णवदना नृप॥ ४२॥

नरेश्वर! तब परिश्रमके मारे हुए वे समस्त ब्राह्मण थककर पृथ्वीपर बैठ गये। उस समय उनके मुख कान्तिहीन (उदास) हो गये थे॥ ४२॥

सुपार्श्वो गिरिमुख्यस्तु वाग्भिर्मधुरभाषिता।
अब्रवीत् प्रणतः सर्वाञ्छिरसा तान् द्विजोत्तमान्॥ ४३॥

तब पर्वतोंमें श्रेष्ठ सुपार्श्व, जो मीठे वचन बोलनेवाला था, उन समस्त ब्राह्मणशिरोमणियोंको मस्तक नवाकर प्रणाम करके बोला—॥ ४३॥

न हि शक्यो बलाद् भेत्तुं युष्माभिरसुसङ्गिभिः।
अपि वर्षशतैर्दिव्यैः परस्परविरोधिभिः॥ ४४॥

'ब्राह्मणो! आपलोग प्राणों (इन्द्रियों) में आसक्त हैं, अतएव एक दूसरेके विरोधी हो रहे हैं। आप-जैसे लोग सौ दिव्य वर्षोंतक प्रयत्न करते रहें तो भी इस पर्वतका बलपूर्वक भेदन नहीं कर सकते॥ ४४॥

एकीभूता यदा सर्वे भविष्यथ समाहिताः।
अविरोधेन युगपद् विभजिष्यथ निर्वृताः॥ ४५॥

'जब सब लोग एकीभूत एवं एकाग्रचित्त हो जायँगे और पारस्परिक विरोधको हटाकर एक साथ प्रयत्न करेंगे, तब सुखपूर्वक इस पर्वतका विभाजन कर सकेंगे॥ ४५॥

बलं हि रागद्वेषाभ्यां वर्धते ब्रह्मसत्तमाः ।
विमुक्तं रागदोषाभ्यां ब्रह्म वर्धति शाश्वतम् ॥ ४६ ॥

'ब्राह्मणशिरोमणियो ! राग और द्वेषसे बलका नाश होता है, परंतु यदि अपना चित्त राग और द्वेषसे मुक्त हो तो सनातन ब्रह्मके प्रति साधककी निष्ठा बढ़ती है ॥ ४६ ॥

यदाहं भेदयिष्यामि स्वर्गभिन्नैः शिलाशतैः ।
धातुभिश्च विसर्पद्भिः शिखरैश्चानुपातिभिः ॥ ४७ ॥
विशीर्णैः पार्श्वविवरैर्नागैश्च गलितैर्भुवि ।
बहुभिर्व्यालरूपैश्च चोद्यमानो गुहाशयैः ॥ ४८ ॥

'जब मैं इस पर्वतकी गुफामें शयन करनेवाले बहुसंख्यक हिंसक जन्तुओं—बाघ, सिंह और सर्प आदिसे प्रेरित होकर आपलोगोंको इस पर्वतके भेदनमें लगाऊँगा, तभी आपलोग इसके भेदनमें समर्थ हो सकेंगे। उस समय स्वर्गसे भिन्न इसकी सैकड़ों शिलाएँ बिखर जायँगी। लगातार गिरते हुए शिखरोंके साथ सरकती हुई धातुएँ भी छिन्न भिन्न हो जायँगी। जीर्ण-शीर्ण हुए पार्श्ववर्ती विवरोंके साथ उनमें रहनेवाले नाग भी पृथ्वीपर गिरते दिखायी देंगे। (आध्यात्मिक दृष्टिसे यहाँ सुपार्श्व पर्वत सद्गुरु है; जिसका भेदन करना है, वह पर्वत अभिमान है। वे ब्राह्मण ज्ञानयोगी साधक हैं तथा पर्वतकी गुफामें शयन करनेवाले हिंसक जन्तु अन्तःकरणमें संचित हुए नाना प्रकारके संस्कार हैं) ॥ ४७-४८ ॥

प्रतिगृह्य च तद् वाक्यं शैलेन्द्रस्य सुभाषितम् ।
तूष्णीं बभूवुस्ते सर्वे तदा ब्राह्मणसत्तमाः ॥ ४९ ॥

शैलराज सुपार्श्वका कहा हुआ वह उत्तम वचन ग्रहण करके वे समस्त ब्राह्मणशिरोमणि उस समय चुप हो गये ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

चारों आश्रमोंमें स्थित हुए ब्राह्मणोंकी ब्रह्माजीके यज्ञस्थलके पुण्य-प्रदेशमें निवासकी इच्छा

वैशम्पायन उवाच

बलिहोमाश्च वर्धन्ते अहन्यहनि भारत ।
द्विजानां तपसाढ्यानां गृहधर्मेषु तिष्ठताम् ॥ १ ॥
देवतार्चाश्च पूज्यन्ते तदा प्रभृति भारत ।
तेषां ब्रह्मविदां राजन् पृथिव्यां ब्रह्मवादिभिः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! तभीसे वे तपोधन ब्रह्मवेत्ता द्विज गृहस्थ-धर्ममें स्थित हो गये। उनके घरमें प्रतिदिन बलिवैश्वदेव और होम आदि कर्मोंका विस्तार होने लगा। राजन् ! तभीसे उन ब्रह्मवादियोंद्वारा भूतलपर देव-प्रतिमाओंकी पूजा भी की जाने लगी ॥ १-२ ॥

तत्रैव ब्रह्मसदने समे निस्तृणकण्टके ।
प्राज्येन्धनतृणे देशे पुण्ये पर्वतरोधसि ॥ ३ ॥
वासं तत्र प्रकुर्वन्ति दृष्ट्वा भगवतः क्रियाम् ।
तपोऽर्थिनो महाभागा ब्रह्मचर्यव्रते स्थिताः ॥ ४ ॥
गृहस्थधर्मनिरता दानप्राप्तेन चेतसा ।
यतयश्चापि काङ्क्षन्ति धर्मेणेह विकाङ्क्षिणः ॥ ५ ॥

ब्रह्माजीके निवासस्थानभूत उस पुण्य प्रदेशमें ही पूर्वोक्त पर्वतके समतल तटपर; जहाँ काँटेदार तृणोंका अभाव है तथा ईंधन और घास आदि प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होते हैं; भगवान् ब्रह्माका वह यज्ञकर्म देखकर वे तपस्याकी कामनावाले महाभाग ब्राह्मण ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनमें तत्पर रहकर निवास करने लगे। कुछ ब्राह्मण शुद्ध चित्तसे गृहस्थ-धर्मके अनुष्ठानमें संलग्न हो वहाँ वास करने लगे तथा आकाङ्क्षाका परित्याग करनेवाले यतियोंके मनमें भी वहाँ धर्मपूर्वक निवास करनेकी अभिलाषा जाग्रत् हो गयी ॥ ३-५ ॥

वन्यैः कर्मफलैश्चैव रता ब्राह्मणपुङ्गवाः ।
अग्निहोत्रव्रतस्नाता जितक्रोधाः समाहिताः ॥ ६ ॥

जो जंगली फल-मूलोंसे जीवन-निर्वाह करते हुए वानप्रस्थोचित कर्म करते थे, अग्निहोत्रके नियममें निष्णात थे, क्रोधको जीतकर चित्तको एकाग्र रखनेवाले थे, वे ब्राह्मणशिरोमणि भी वहीं रहनेकी इच्छा करने लगे ॥ ६ ॥

दैवयुक्तेन वा युक्ताः कर्मणा ब्रह्मसत्तमाः ।
चीरवल्कलसंवीता नियता नियतेन्द्रियाः ॥ ७ ॥
चरन्तो ब्रह्मचर्यं च व्रतमास्थाय दारुणम् ।

जो दैवात् प्राप्त हुए (बिना माँगे मिले हुए) अथवा याचनाकर्मसे उपलब्ध हुए अन्नसे जीवन-निर्वाह करते थे, चीर और वल्कल पहनते थे तथा नियमपरायण होकर इन्द्रियोंको संयममें रखते थे, वे श्रेष्ठ ब्राह्मण भी वहीं रहनेकी इच्छा करने लगे। जो कठोर व्रतका आश्रय ले ब्रह्मचर्यका पालन करते थे, उन्हें भी वहीं रहनेकी इच्छा हुई ॥

अनेन विधिना राजन् कर्मप्राप्तेन सर्वशः ॥ ८ ॥
क्रमाद्धि वेदसंस्कारं पुण्यं प्राप्ताः सनातनम् ।
पूर्वैराचरितं राजन् मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ ९ ॥

राजन् ! इस विधिसे क्रमशः प्राप्त आश्रमधर्मका पूर्णतः पालन करते हुए जिन लोगोंने प्राचीन ब्रह्मवादी मुनियोंद्वारा

आचरणमें लाये हुए पवित्र सनातन वेद-संस्कारको क्रमसे उपलब्ध किया था, वे भी वहीं रहनेकी इच्छा करने लगे ॥

नावेदविद्वानागच्छेन्नापि रौद्रं व्रतं चरेत्।
न च त्यागेन गच्छेत गृहधर्मं न च त्यजेत् ॥ १० ॥

सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्यको (ब्रह्मचर्याश्रमसे) गृहस्थाश्रममें नहीं आना चाहिये। वह कठोर व्रत (वानप्रस्थोचित तप) भी न करे। संन्यास-मार्गका भी अवलम्बन न करे और न गृहस्थधर्मका परित्याग ही करे (वेदोंका ज्ञान प्राप्त करके विवेकपूर्वक ही उसे एक आश्रमका त्याग और दूसरेका ग्रहण करना चाहिये) ॥ १० ॥

नैव गच्छेत दुःस्थानमप्राप्तो वेदसंचयम्।
ऋचश्च संचयः पूर्वः सामगानां च भारत ॥ ११ ॥

भारत ! वैदिक ज्ञानराशिको उपलब्ध किये बिना किसीको, जिसमें स्थिर रहना कठिन है, उस चतुर्थ आश्रममें भी नहीं जाना चाहिये। बह्वृचों, सामगों और यजुर्वेदियोंको भी पहले ऋचाओंके ही ज्ञानका संचय करना चाहिये ॥ ११ ॥

ये चापि पुत्रिणो न स्युः श्रुत्वापि प्राप्नुयुः फलम्।
ब्राह्मणास्तपसा श्रान्ता गुरोश्च परिचर्यया ॥ १२ ॥

जो लोग पुत्रवान् नहीं हुए हैं अर्थात् जिन्होंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश नहीं किया है, वे लोग वेदान्त श्रवण करके भी उसके फलस्वरूप ज्ञानको प्राप्त कर सकते हैं। तपस्या तथा गुरुकी सेवाका श्रम स्वीकार करनेवाले ब्राह्मण भी वेदान्त श्रवण करके उसके फलस्वरूप ज्ञानको पा सकते हैं ॥ १२ ॥

यस्य नैव श्रुतं ब्रह्म न गृहीतं विशाम्पते।
कामं तं धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत् ॥ १३ ॥

प्रजानाथ ! जिसने गुरुके मुखसे वेदका श्रवण और उसके ज्ञानको श्रवण नहीं किया, उस ब्राह्मणसे धर्मात्मा राजा अपनी इच्छाके अनुसार शूद्रोचित कर्म करावे ॥ १३ ॥

अथवा नैव विद्येत यद् ब्रह्म नाद्रियेद् द्विजः।
द्वाभ्यां तु श्रोत्रविषये मनः पूर्वं समाहितम् ॥ १४ ॥

अथवा यदि द्विज ब्राह्मण होकर भी वेदका आदर न करे तो उसमें ब्राह्मणत्व है ही नहीं। जिसने ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य दोनों अवस्थाओंमें श्रवण करने योग्य धर्म एवं ब्रह्ममें पहलेसे ही (अध्ययनाध्यापनके समयसे ही) मन एकाग्र किया है, वही ब्राह्मण है (अतः राजाको उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये) ॥ १४ ॥

एवं सर्वेन्द्रियारम्भान् वेदपूर्वान् समाचरेत्।
ब्राह्मणो भूतिसम्पन्नो य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ १५ ॥

अतः जो वैभवसम्पन्न ब्राह्मण अपना कल्याण चाहता हो, वह इस प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे आरम्भ होनेवाले कार्योंको वेदाध्ययनपूर्वक ही करे ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

नारद आदिके द्वारा ब्राह्मणों तथा ब्रह्माजीका सत्कार, ब्रह्माजीके द्वारा कश्यपको यज्ञका आदेश, देवता-दानव-युद्ध तथा विष्णुके द्वारा मधुकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ते तु गोब्राह्मणा नागाश्चन्द्रादित्यपुरस्कृताः।
ब्राह्मणान् पूजयन् देवान् वसुभिर्ब्रह्मसम्भवैः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! चन्द्रमा और सूर्यको आगे करके उपस्थित हुए नागों, गौओं और ब्राह्मणोंने ब्रह्मसम्पत्तिके द्वारा देवताओं तथा ब्राह्मणोंका पूजन किया ॥

नारदप्रमुखाश्चैव गन्धर्वा ऋषयो नृप।
कुर्वन्ति सततं यज्ञे क्रमप्राप्तं पितामहम् ॥ २ ॥

नरेश्वर ! उस यज्ञमें नारद आदि गन्धर्व एवं ऋषि सदा ब्राह्मणपूजाके क्रममें आये हुए ब्रह्माजीकी भी पूजा करते थे ॥

वचोभिर्मधुराभाषैः पञ्चेन्द्रियनिवासिभिः।
सर्वभूतप्रियकरैः सर्वभूतहितैषिभिः ॥ ३ ॥

स्तूयमानश्च यज्ञान्ते पञ्चेन्द्रियसमाहितैः।
प्रोवाच भगवान् ब्रह्मा दिष्ट्या दिष्ट्येति भारत ॥ ४ ॥

भारत ! यज्ञके अन्तमें पाँचों इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, समस्त प्राणियोंका प्रिय करनेवाले, सब भूतोंका हित चाहनेवाले तथा पाँचों इन्द्रियोंको एकाग्र करके योगयुक्त होनेवाले मधुरभाषी ब्राह्मणोंके वचनोंसे प्रशंसित हुए भगवान् ब्रह्मा कहने लगे-'अहो भाग्य ! अहो भाग्य !' ॥ ३-४ ॥

ततः कश्यपमाभाष्य प्रोवाच भगवान् प्रभुः।
भवानपि सुतैः सार्धं यक्ष्यते वसुधातले ॥ ५ ॥
क्रतुभिः परमप्राप्तैः सम्पूर्णवरदक्षिणैः।

तदनन्तर सामर्थ्यशाली भगवान् ब्रह्माने कश्यपजीको सम्बोधित करके कहा—'तुम भी अपने पुत्रोंके साथ भूतलपर पूर्ण एवं उत्तम दक्षिणावाले श्रेष्ठ यज्ञोंका अनुष्ठान करोगे' ॥

यक्षाः सुराश्च ते सर्वे यथा प्रतिगुणैः प्रभो ॥ ६ ॥
वयं यक्ष्यामहे पूर्वं पूर्वं यक्ष्यामहे वयम्।
एवमन्योन्यसंरम्भाद् विद्यन्ते बलदर्पिताः ॥ ७ ॥

प्रभो! उस समय यक्ष और समस्त देवता परस्पर विरोधी गुणोंद्वारा प्रेरित हो इस प्रकार कहने लगे, 'पहले हम यज्ञ करेंगे, पहले हम यज्ञ करेंगे।' इस तरह एक दूसरेके प्रति रोषमें भरकर वे बलके घमंडसे उन्मत्त हो गये थे ॥

दैतेयाश्चाप्यदैतेयाः परस्परजयैषिणः।
युद्धायैव प्रतिष्ठन्ति प्रगृह्य विपुलौ भुजौ ॥ ८ ॥

दैत्य और देवता एक दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अपनी विशाल भुजाओंको उठाकर युद्धके लिये ही प्रस्थान करने लगे ॥ ८ ॥

निवार्यमाणा ऋषिभिस्तपसा दग्धकिल्बिषैः।
अन्यैश्च विविधैर्विप्रैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥ ९ ॥
निवार्यमाणा युध्यन्ते वृषभा इव गोकुले।
प्रयुद्धा युद्धसंक्रान्ताः सर्वे प्राणजयैषिणः ॥ १० ॥

तपस्यासे जिनके पाप दग्ध हो गये थे, उन ऋषियों तथा वेद-वेदाङ्गोंके पारगामी विद्वान् अन्यान्य अनेकों ब्राह्मणोंके मना करनेपर भी वे गोशालामें परस्पर भिड़नेवाले साँड़ोंके समान एक-दूसरेसे युद्ध करने लगे। धीरे-धीरे उनके युद्धने जोर पकड़ लिया। वे सब-के-सब युद्धकी ज्वालासे आक्रान्त हो परस्पर प्राण लेनेके लिये उतारू हो गये ॥ ९-१० ॥

पश्यतां सर्वभूतानां मृत्योर्विषयमागताः।
ततः शब्देन महता परं कृत्वा महाबलाः ॥ ११ ॥
रुन्धन्ति बाहुभिः क्रुद्धाः सपक्षा इव पक्षिणः।

सब प्राणियोंके देखते-देखते वे मृत्युके राज्यमें आ गये। फिर तो महान् सिंहनाद करके वे महाबली देवता, दानव परस्पर कुपित हो पंखधारी पक्षियोंके समान अपनी भुजाओं-द्वारा एक दूसरेको रोकने लगे ॥ ११½ ॥

चचाल वसुधा चैव पादाक्रान्ता च रोषिभिः ॥ १२ ॥
नौर्यथा पुरुषाक्रान्ता निषीदति महाजले।

रोषमें भरे हुए उन योद्धाओंके पैरोंसे आक्रान्त हो सारी पृथ्वी विचलित हो उठी। जैसे बहुसंख्यक पुरुषोंके भारसे दबी हुई नौका गहरे जलमें डगमगाने लगती है, वही दशा पृथ्वीकी हुई ॥ १२½ ॥

पर्वताश्च विशीर्यन्ते नर्दमाना गजा इव ॥ १३ ॥
चुक्षुभुश्च महानद्यस्ताडिता मातरिश्वना।

चिग्घाड़ते हुए हाथियोंके समान भारी आवाजके साथ बड़े-बड़े पर्वत विदीर्ण होकर ढहने लगे। वायुके झोंके खाकर बड़ी-बड़ी नदियाँ विक्षुब्ध हो उठीं ॥ १३½ ॥

ततः समभवद् युद्धं मधोर्विष्णोश्च भारत ॥ १४ ॥
युगान्तकरणं घोरं सर्वप्राणिभयंकरम्।

भारत! तब मधु और विष्णुका युगान्तकारी घोर युद्ध होने लगा, जो समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर था ॥ १४½ ॥

प्रममाथ मधोर्विष्णुः समग्रं बलपौरुषम् ॥ १५ ॥
वह्नेरिव बलं दीप्तं शमयत्यम्बुना यथा।
तथा प्रशमितं तेन प्रभुणा ह्युपकारिणा ॥ १६ ॥

भगवान् विष्णुने मधुके समस्त बल-पौरुषको मथ डाला। जैसे अग्निका प्रज्वलित हुआ तेजरूपी बल जलसे बुझ जाता है, उसी प्रकार सबका उपकार करनेवाले भगवान् विष्णुने मधुके बल-पराक्रमको शान्त कर दिया ॥ १५-१६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

मधु और विष्णुका घोर युद्ध, देवताओं और ऋषियोंद्वारा श्रीविष्णुकी स्तुति, हयग्रीव-रूपधारी विष्णुद्वारा मधुका वध और पृथ्वीको मेदिनी नामकी प्राप्ति

वैशम्पायन उवाच

बलवान् स तु दैतेयो मधुर्भीमपराक्रमः।
बबन्ध पाशैर्निशितैर्महेन्द्रं पर्वतान्तरे ॥ १ ॥
तं वै प्रह्लादवचनाल्लक्षणज्ञश्च भारत।
ऐश्वर्यमैन्द्रमाकाङ्क्षन् भविष्यं बुद्धिसंक्षयात् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भयंकर पराक्रमी बलवान् मधु दैत्यने प्रह्लादके कहनेसे देवराज इन्द्रको पर्वतके भीतर तीखे पाशोंसे बाँध लिया। भारत! वह लक्षणों-का ज्ञाता था, परंतु उसकी बुद्धि मारी गयी थी; इसलिये उसने भविष्यमें इन्द्रके ऐश्वर्यकी अभिलाषा रखकर उन्हें बाँधा था ॥ १-२ ॥

बद्ध्वेन्द्रं सहसा मध्ये पाशैर्मर्मविवर्जितैः।
आयसैर्बहुभिश्चित्रैर्बलवद्भिर्विदारणैः ॥ ३ ॥
विष्णुमेवाग्रणी रुद्रमाह्वयद् युद्धकोविदः।
मध्ये गणानां सर्वेषां कालस्य वशमागतः ॥ ४ ॥

लोहेके बने हुए बहुसंख्यक विचित्र प्रबल और विदीर्ण

करनेवाले मर्मरहित पार्गोमें इन्द्रकी कमरको सहसा बाँधकर दैत्योंके अगुआ युद्धकुशल मधुने, जो कालके वशीभूत हो गया था, समस्त गणोंके बीच रुद्रस्वरूप भगवान् विष्णुको ही ललकारा ॥ ३-४ ॥

द्वैधीभूताः काश्यपेया मधोर्वशमुपागताः ।
युद्धार्थमभ्यधावन्त प्रगृह्य विपुला गदाः ॥ ५ ॥

कश्यपके पुत्र दो भागोंमें विभक्त हो मधुके वशमें आकर बड़ी-बड़ी गदाएँ हाथमें लिये देवताओंके साथ युद्ध करनेके लिये दौड़े ॥ ५ ॥

गन्धर्वाः किंनराश्चैव वाद्ये गीते च कोविदाः ।
प्रनृत्यन्ति प्रगायन्ति प्रहसन्ति च सर्वशः ॥ ६ ॥

वाद्य और गीतमें कुशल गन्धर्व और किन्नर सब प्रकारसे नाचते, गाते तथा हँसते थे ॥ ६ ॥

तन्त्रीभिः सुप्रयुक्ताभिर्मधुराभिः स्वभावतः ।
मनो मधोर्विधुन्वन्ति युध्यमानस्य रागिणः ॥ ७ ॥

स्वभावतः मधुर एवं सुन्दर ढंगसे बजायी गयी वीणाके तारोंसे मोहक ध्वनि उत्पन्न करके वे युद्धमें लगे हुए रागी मधुके मनको विचलित कर देते थे ॥ ७ ॥

मधोर्बलार्थं मधुनो नियोगात् पद्मयोनितः ।
एतान् विकारान् कुर्वन्ति गन्धर्वाः सत्यवादिनः॥ ८ ॥

तमःप्रधान मधुका बल क्षीण करनेके लिये पद्मयोनि ब्रह्माजीकी आज्ञासे सत्यवादी गन्धर्व ये विकार प्रकट करते थे ॥ ८ ॥

तत्र शक्तो हि गान्धर्वे तस्मिञ्छब्दे मधुर्मनः ।
दानवाश्चासुराश्चैव प्रत्यक्षं यान्ति प्राणदन् ॥ ९ ॥

शक्तिशाली मधुने उस संगीतके शब्दमें मन लगाया । दानव और असुर उसके सामने जाते और गर्जना करते थे ॥

मधोश्च मन आक्षिप्य पश्यन् योगेन चक्षुषा ।
मन्दरं प्रयते विष्णुर्गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥ १० ॥

इस प्रकार मधुके मनको विषयोंमें विक्षिप्त करके योग-दृष्टिसे देखनेवाले भगवान् विष्णु सहसा मन्दराचलकी ओर चल दिये, मानो अग्नि काष्ठोंमें छिप गयी हो ॥ १० ॥

ऋषयो दीप्तमनसं किंचिद् व्यथितमानसाः ।
पितामहं पुरस्कृत्य क्षणेनान्तरधीयत ॥ ११ ॥

उस समय ऋषियोंके मनमें कुछ व्यथा हुई । वे संतप्त-चित्त पितामहको आगे करके क्षणभरमें वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥ ११ ॥

विष्णुं सोऽभ्यहनत् क्रुद्धो मधुर्मधुनिभेक्षणः ।
भुजेन शङ्खदेशान्ते न चकम्पे पदात्पदम् ॥ १२ ॥

इधर क्रोधमें भरे हुए मधु जैसे पिङ्गल नेत्रवाले मधुने भगवान् विष्णुके पास पहुँचकर अपने हाथसे उनकी कनपटी-पर प्रहार किया; परंतु वे एक पग भी विचलित नहीं हुए ॥

विष्णुश्चाभ्यहनद् दैत्यं कराग्रेण स्तनान्तरे ।
स पपात महीं तूर्णं जानुभ्यां रुधिरं वमन् ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् भगवान् विष्णुने भी अपने हाथके अग्रभागसे उस दैत्यकी छातीमें चोट की; फिर तो वह रक्त वमन करता हुआ घुटनोंके बल तुरंत पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १३ ॥

न चैनं पतितं हन्ति विष्णुर्युद्धविशारदः ।
बाहुयुद्धे हि समयं मत्वाचिन्त्यपराक्रमः ॥ १४ ॥

अचिन्त्यपराक्रमी युद्धविशारद भगवान् विष्णुने बाहु-युद्धका अवसर उपस्थित जानकर पृथ्वीपर गिरे हुए उस दैत्यको नहीं मारा ॥ १४ ॥

इन्द्रध्वज इवोत्तिष्ठञ्जानुभ्यां स महीतलात् ।
मधू रोषपरीतात्मा निर्दहन्निव चक्षुषा ॥ १५ ॥

तदनन्तर मधुका हृदय रोषसे भर गया । वह घुटनोंके सहारे पृथ्वीतलसे उठकर खड़ा हो गया, मानो किसीने इन्द्रध्वज फहरा दिया हो । उस समय वह विष्णुकी ओर इस तरह देख रहा था, मानो अपने नेत्रसे उन्हें जला देगा ॥

परुषाभिस्ततो वाग्भिरन्योन्यमभिगर्जतुः ।
समीयतुर्बाहुयुद्धे परस्परवधैषिणौ ॥ १६ ॥
उभौ तौ बाहुबलिनावुभौ युद्धविशारदौ ।
उभौ च तपसा शान्तावुभौ सत्यपराक्रमौ ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् वे दोनों कठोर बातें कहते हुए एक-दूसरेके सामने गर्जने लगे; फिर दोनों दोनोंके वधकी इच्छासे बाहु-युद्धमें परस्पर गुँथ गये । वे दोनों ही बाहुबलसे युक्त और युद्धकला-के विशेषज्ञ थे । दोनों तपस्याके प्रभावसे शान्तचित्त हो गये थे और दोनों ही यथार्थरूपसे पराक्रम प्रकट कर रहे थे ॥

दृढप्रहारिणौ वीरावन्योन्यं विप्रकर्षतुः ।
शैलेन्द्राविव युद्ध्यन्तौ पक्षैः पाषाणसंनिभैः ॥ १८ ॥

दृढ़तापूर्वक प्रहार करनेवाले वे दोनों वीर एक-दूसरेको खींचने लगे, मानो पाषाण-सदृश पंखोंसे युक्त दो पर्वतराज परस्पर युद्ध कर रहे हों ॥ १८ ॥

विकर्षन्तौ वमन्तौ च अन्योन्यं वसुधातले ।
गजाविव विषाणाग्रैर्नखाग्रैश्च विचेरतुः ॥ १९ ॥

जैसे दो हाथी अपने दाँतों और नखोंके अग्रभागसे परस्पर प्रहार करते हुए युद्ध-स्थलमें विचरते हैं, उसी प्रकार वे दोनों वीर मधु और श्रीविष्णु एक-दूसरेको खींचते और रक्त-वमन करते हुए भूतलपर विचर रहे थे ॥ १९ ॥

ततो व्रणमुखैश्चैव सुस्राव रुधिरं बहु ।
ग्रीष्मान्ते धातुसंसृष्टं शैलेभ्य इव काञ्चनम् ॥ २० ॥

तदनन्तर एक-दूसरेके प्रहारसे जो घाव हो गये थे, उनके छिद्रोंसे बहुत रक्त बहने लगा। ठीक उसी तरह, जैसे वर्षाऋतुमें पर्वतोंसे गैरिक धातुमिश्रित काञ्चन-रस झरता हो॥ २०॥

संसिक्तौ रुधिरौघैश्च स्रवद्भिः समरंजितौ।
अथाद्यतैः पदाग्रैश्च तौ व्यदारयतां महीम्॥ २१॥

वे दोनों झरते हुए रक्तके प्रवाहोंसे भीगकर समानरूपसे रक्तरंजित हो गये। फिर उठते-गिरते हुए पैरोंके अग्रभागोंसे उन दोनोंने वहाँकी भूमि विदीर्ण कर डाली॥ २१॥

अभिहत्य तु तौ वीरौ परस्परमनेकधा।
पतङ्गाविव युध्येतां पक्षाभ्यां मांसगृद्धिनौ॥ २२॥

एक दूसरेपर बारंबार चोट करके वे दोनों वीर पंखोंसे लड़नेवाले दो मांस लोलुप पक्षियोंकी भाँति युद्ध करने लगे॥

शुश्रुवुश्चान्तरिक्षेऽथ सर्वभूतानि पुष्करे।
सिद्धानां वदनोन्मुक्ताः परया वर्णसम्पदा॥ २३॥
स्तुतयो विष्णुसंयुक्ताः सत्याः सत्यपराक्रमे।

इसी समय पुष्करके आकाशमें सम्पूर्ण भूतोंने भगवान् विष्णुसे सम्बन्ध रखनेवाली स्तुतियाँ सुनीं, जो उन सत्यपराक्रमी भगवान्‌में यथार्थ रूपसे घटित हो रही थीं। वे स्तुतियाँ सिद्धोंके मुखोंसे निकली थीं और उत्तमोत्तम वर्ण-सम्पत्तिसे सुशोभित थीं॥ २३½॥

शरीरं धातुसंयुक्तं संयुक्तं चेतनेन च॥ २४॥
तद् ब्रह्म इन्द्रियैर्युक्तं तेजोभूतं सनातनम्।

यह शरीर तेज, जल और अन्न—इन तीन धातुओंका अथवा रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र—इन सात धातुओंका संयोगरूप है। यह चेतनसे संयुक्त है। वह चेतन तेजोभूत सनातन ब्रह्म ही है। जो इन्द्रियोंसे युक्त होकर जीव कहलाता है॥ २४½॥

ध्रुवं तिष्ठन्ति भूतास्ते सूक्ष्मे प्रलयतां गते॥ २५॥
पुनश्चोद्भवते सूक्ष्मं बहुरूपमनेकधा।

शरीरका आरम्भ करनेवाले वे स्थूलभूत प्रलयके अधिष्ठानभावको प्राप्त हुए सूक्ष्म-कारणमें निश्चय ही स्थित होते हैं। फिर सूक्ष्म ही अनेक रूप धारण करके बारंबार प्रकट होता है॥ २५½॥

प्रबोध्य भावं भूतानां त्रिषु लोकेषु कामदः॥ २६॥
सुरूपो बहुरूपांस्ताँल्लोकान् संचरते वशी।

सबकी कामनाओंको देनेवाले तथा सबको वशमें रखनेवाले असङ्ग परमात्मा तीनों लोकोंमें भूतोंको उनके स्वरूपका बोध कराकर स्वयं सुन्दर रूप धारण करके उन अनेक रूपवाले लोकोंमें विचरते रहते हैं॥ २६½॥

मानसीं तनुमास्थाय बहुभिः कारणान्तरैः॥ २७॥
योगात्मा धारयन्नुर्वीं नागात्मानं दिवंधरः।
ब्रह्म भूतं परं चैव सूक्ष्मेणात्मानमीश्वरः॥ २८॥

योगात्मा ईश्वर, जो देवलोकको धारण करनेवाले हैं, सूक्ष्मरूपसे अपने आपको शेषनागके रूपसे प्रकट करके पृथ्वीको धारण करते हुए विचरते हैं। वे दुष्टनिग्रह और साधु-संरक्षण आदि अनेक कारणोंसे मानसशरीर—शेष, कूर्म आदि रूप धारण करके जगत्‌की रक्षा करते हैं। वे ही वेद, जरायुज आदि चार प्रकारके प्राणिसमुदाय तथा दूसरे जडभूतोंको धारण करते हैं॥ २७-२८॥

ब्राह्मेण विप्रान् वसति युद्धेनैव च क्षत्रियान्।
प्रदानकर्मणा वैश्याञ्छूद्रान् परिचरेण च॥ २९॥

वे भगवान् वेदमयरूपसे ब्राह्मणोंका आश्रय लेकर रहते हैं। युद्धरूपसे क्षत्रियोंमें स्थित होते हैं। दानकर्म अथवा वस्तुओंके आदान प्रदानवाले वाणिज्य कर्मके रूपमें वैश्योंमें निवास करते हैं तथा त्रैवर्णिकोंकी सेवाके रूपमें वे शूद्रोंका आश्रय लेकर रहते हैं॥ २९॥

गावः क्षीरप्रदानेन अश्वान् यज्ञेषु प्रोक्षणैः।
पितरश्चोष्मणैवेह हविर्भागेन देवताः॥ ३०॥

वे गौओंका आश्रय लेकर दुग्ध प्रदानके द्वारा तुम सबकी रक्षा करते हैं। यज्ञोंमें अश्वों (यज्ञसम्बन्धी उपकरणों) का आश्रय लेकर प्रोक्षण (फलरूप अमृतके अभिषेक) द्वारा तुमलोगोंकी रक्षा करते हैं। पकाये जानेवाले हविष्यके गर्म-गर्म भापसे पितरोंको तथा यज्ञोंमें हविष्यका भाग अर्पित करके देवताओंको तृप्त करते हैं॥ ३०॥

चतुर्भिर्व्यतिरिक्ताङ्गैस्त्रिभिरन्यैश्च धातुभिः।
सप्तभिः पितृभिर्नित्यैस्त्रीँल्लोकान् परिरक्षति॥ ३१॥

पृथक्-पृथक् अङ्गवाले चार धातुओं (दर्श, पौर्णमास, पितृयज्ञ तथा साधारण चार प्रकारके अन्नों) से तथा दूसरे तीन धातुओं (मन, वाक् और प्राण) से—इस तरह सात प्रकारके नित्य अर्पण करने योग्य अन्नोंद्वारा वे भगवान् विष्णु पितरोंसहित तीनों लोकोंकी रक्षा करते हैं (अथवा उक्त अन्नों तथा कव्यवाट् अनल, यम, सोम, अर्यमा, अग्निष्वात्त, सोमप तथा बर्हिषद्—इन सात प्रकारके नित्य तर्पणीय पितरोंद्वारा वे तीनों लोकोंकी रक्षा करते हैं)॥ ३१॥

चन्द्रसूर्यात्मकं नित्यं यथात्मनिहतात्मकम्।
प्रकाशं चाप्रकाशं च निगूढं स्वेन तेजसा॥ ३२॥

इन सातोंका समुदाय चन्द्रसूर्यात्मक है अर्थात् उनमेंसे तीन सूर्यस्वरूप और चार चन्द्रस्वरूप हैं। ये यथायोग्य प्रकाश (शुक्ल मार्ग) तथा अप्रकाश (धूम या कृष्ण मार्ग) रूप हैं, ये कष्टसाध्य होनेके कारण शरीरको संकटमें डाले

रहते हैं, ये सभी अपने तेज (चिन्मय प्रकाश) से व्याप्त हैं ॥ ३२ ॥

त्रयस्तु पितरो नित्यं वर्धयन्ति दिवाकरम् ।
चतुर्भिः पितृभिश्चैव चन्द्रो वर्धति मण्डले ॥ ३३ ॥

तीन पितर सदा सूर्यदेवकी वृद्धि करते हैं और चार पितरोंके साथ चन्द्रमा अपने मण्डलमें बढ़ते हैं ॥ ३३ ॥

त्रयः पितृगणा नित्यं पिण्डान् पश्चाददन्ति ते ।
चत्वारोऽन्ये पितृगणाः सिद्धाः पञ्च क आददे ॥ ३४ ॥

तीन पितृगण सदा फलभोगके पश्चात् पिण्डों (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों) का संहार करते हैं और चार अन्य पितृगण सिद्धरूप हो पञ्चविषय आदि हो जाते हैं, जिन्हें यजमान प्रजापतिने स्वीकार किया है ॥ ३४ ॥

त्वमेव पञ्च तान् धर्मांस्त्वमेवापञ्च तान् विभो ।
सनातनमयो दिव्यः शाश्वतो ब्रह्मसम्भवः ॥ ३५ ॥

प्रभो ! आप ही उन पाँच धर्मों (पञ्चीकृत भूतों) को और आप ही अपञ्चीकृत भूतोंको प्रकट करते हैं । आप सनातनमय, दिव्य, शाश्वत एवं वेदोंके आविर्भावके स्थान हैं ॥ ३५ ॥

यस्मात्त्वत्तेज आदत्ते अग्निर्वायुश्च सर्वशः ।
अतस्त्वं कर्मणा तेन आदित्यः समपद्यत ॥ ३६ ॥

अग्नि और वायु भी सब प्रकारसे आपके ही तेजका आदान (ग्रहण) करते हैं । इसलिये उस आदानरूप कर्मसे आप 'आदित्य' कहलाते हैं (आप ही सबके प्रकाशक स्वयं प्रकाशरूप हैं) ॥ ३६ ॥

यदादत्सि जगत् सर्वं रश्मिभिः प्रदहन्निव ।
युगान्तकाले सम्प्राप्ते परां सिद्धिमुपागतः ॥ ३७ ॥

आप युगान्तकाल आनेपर अपनी किरणोंसे सम्पूर्ण जगत्को दग्ध करते हुए-से उसका आदान (ग्रहण) करते हैं, इसलिये भी 'आदित्य' कहलाते हैं । आप सदा परम सिद्धिको प्राप्त हैं ॥ ३७ ॥

पक्षसंधावमावास्यां लोकं चरसि मानुषम् ।
ऋषिभिः सह गूढात्मा सूर्येन्दुवसुसम्भवैः ॥ ३८ ॥

आप अपने स्वरूपको छिपाकर सूर्य, चन्द्रमा और वसुओंसे उत्पन्न हुए ऋषियोंके साथ पूर्णिमा और अमावास्याको (पूर्णमास और दर्श नामक यागोंको ग्रहण करनेके लिये) मनुष्यलोकमें विचरते हैं ॥ ३८ ॥

सफलं कर्म कर्तॄणां यजतां पुष्टिवर्धनः ।
हेतूनामविकाराय मा भूत् कर्मविपर्ययः ॥ ३९ ॥

आप सकल कर्म करनेवाले यजमानोंकी पुष्टि (सुख-समृद्धि) को बढ़ानेवाले हैं । स्वर्ग आदिके साधनभूत जो कर्म हैं । उनमें विकृति न हो—वे व्यर्थ न होने पावें और काललोपसे धर्मसम्बन्धी कृत्योंका लोप न हो जाय, इसकी देख-भालके लिये भी आप मनुष्यलोकमें विचरते हैं ॥ ३९ ॥

वनस्पत्यौषधीश्चैव युगपत् प्रतिपद्यसे ।
बालभावाय वसुधां पक्षे पक्षे जनिस्तव ॥ ४० ॥

आप ही अमावास्याको चन्द्रमारूपसे एक ही साथ वनस्पतियों, ओषधियों और वसुधामें वास करते हैं । पुनः बालरूपसे उत्पन्न होनेके लिये ही आप ऐसा करते हैं । प्रत्येक शुक्लपक्षमें आपका नूतन जन्म होता है ॥ ४० ॥

भूतानां भुवि भूतेश भाव्यर्थं वसुधातले ।
वसु यद् भुवि किंचिच्च सर्वं तत्त्वन्मयं विभो ॥ ४१ ॥

भूतेश्वर ! विभो ! इस भूतलपर भूत और भविष्य प्राणियोंकी पुष्टिके लिये जो कुछ भी धन संचित है, वह सब आपका ही स्वरूप है ॥ ४१ ॥

त्वमेव विविधं धर्मं शाश्वतं वसुधातले ।
देवयज्ञं मन्त्रवाक्यमात्मयज्ञं समानुषम् ॥ ४२ ॥

आप ही भूतलपर नाना प्रकारके सनातनधर्म सम्बन्धी कर्म हैं और आप ही देवयज्ञ, मन्त्रवाक्य, आत्मयज्ञ तथा उसके अधिकारी मनुष्य हैं ॥ ४२ ॥

द्विविधः स्वर्गमार्गश्च सूर्यश्चन्द्रश्च निर्मलः ।
चन्द्रमाः पितृयानश्च देवयानश्च भास्करः ॥ ४३ ॥

आप ही स्वर्गलोकके द्विविध मार्ग निर्मल सूर्य और चन्द्रमा हैं । इनमें चन्द्रमा पितृयान (धूममार्ग) हैं और सूर्य देवयान (शुक्लमार्ग) हैं ॥ ४३ ॥

त्वमेव वसुधायुक्तो विश्वं चरसि सीमया ।
एकीकृत्य गणान् सर्वान् संक्षिप्यामुत्र सम्भवः ॥ ४४ ॥

आप ही इन्द्रिय आदि गणोंको एक करके—देहमात्ररूपसे संक्षिप्त करके भूमिवासी प्राणियोंके रूपमें वसुधासे संयुक्त होकर विश्वमें विचरते और मर्यादापूर्वक यहाँके विषयोंका सेवन करते हैं । परलोकमें भी आप ही विविध रूपोंमें प्रकट हैं ॥ ४४ ॥

एकस्त्वमसि सम्भूतः पुराणपुरुषो विराट् ।
अक्षयश्चाप्रमेयश्च कर्मकारकरो वशी ॥ ४५ ॥

एकमात्र आप पुराण-पुरुष ही विराट्रूपमें प्रकट हैं । आप अविनाशी, अप्रमेय, सबको वशमें रखनेवाले और नाना प्रकारकी लीलाएँ करनेवाले हैं ॥ ४५ ॥

मूर्तस्तेजसि सम्भूतो वायुः पर्येति खेचरः ।
सप्तभी रूपसंस्थानैर्नित्यमावृत्य तिष्ठति ॥ ४६ ॥

आप ही तेजस्तत्त्वमें 'रूप' होकर प्रकट हुए हैं, (इसीलिये तैजस नेत्रके द्वारा रूपका ग्रहण होता है), आप

ही वायु बनकर आकाशमें सब ओर विचरण करते हैं। महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्च तन्मात्रा—इन सात रूपसंस्थानोंके द्वारा आप सदा सबको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ ४६ ॥

साधने चापि निर्वाणे संहारे प्रलये तथा।
धाता धारणकाले च दिशश्चक्षुषि धारिणि ॥ ४७ ॥

साधनकालमें जीवरूपसे, निर्वाण (कैवल्य मोक्ष) की अवस्थामें शुद्धरूपसे, दैनिक और ब्राह्म प्रलयमें रुद्ररूपसे तथा धारण (पोषण) कालमें धाता (पालक) विष्णुरूपसे आप ही स्थित हैं। दिशाएँ—वर्णाश्रम-धर्मकी मर्यादाएँ आप ही विषयोंको धारण करनेवाली नेत्र आदि इन्द्रियोंमें इनके अधिष्ठाता चेतनके रूपमें विराजमान हैं ॥ ४७ ॥

सेव्यमानो मुनिगणैर्नित्यं विगतकिल्बिषैः।
कर्मभिः सत्यमापन्नैः समरागैर्जितेन्द्रियैः ॥ ४८ ॥
स्तूयमानश्च विबुधैः सिद्धैर्मुनिवरैस्तथा।
सस्मार विपुलं देहं हरिर्हयशिरो महान् ॥ ४९ ॥

इस प्रकार नित्य पापरहित, जितेन्द्रिय, शत्रु और मित्रमें समान भावसे स्नेह रखनेवाले तथा सत्कर्मोंद्वारा सत्यको प्राप्त हुए मुनिगण जब श्रीहरिकी सेवा कर रहे थे और देवता तथा सिद्ध महर्षि उनकी स्तुति कर रहे थे, उस समय महान् देव श्रीहरिने अपने हयग्रीव नामक विशाल शरीरका स्मरण किया ॥ ४८-४९ ॥

कृत्वा वेदमयं रूपं सर्वदेवमयं वपुः।
शिरोमध्ये महादेवो ब्रह्मा तु हृदये स्थितः ॥ ५० ॥

सर्वदेवमय वेदमय रूप धारण करके भगवान् श्रीहरि वहाँ शोभा पाने लगे। उनके मस्तकमें महादेव शिव और हृदयमें ब्रह्मा विराजमान थे ॥ ५० ॥

आदित्यरश्मयो बालाश्चक्षुषी शशिभास्करौ।
जङ्घे तु वसवः साध्याः सर्वसंधिषु देवताः ॥ ५१ ॥

सूर्यकी किरणें उनकी रोमावलियाँ थीं। चन्द्रमा और सूर्य उनके नेत्रके स्थानमें प्रकाशित हो रहे थे। उनकी दोनों पिण्डलियोंकी जगह वसु और साध्यगण विराज रहे थे तथा समस्त संधि-स्थानोंमें देवताओंका वास था ॥ ५१ ॥

जिह्वा वैश्वानरो देवः सत्या देवी सरस्वती।
मरुतो वरुणश्चैव जानुदेशे व्यवस्थिताः ॥ ५२ ॥

जिह्वाके स्थानमें अग्निदेव थे। सत्या (वेदवाणीस्वरूपा) देवी सरस्वती उनकी वाणी थी। मरुद्गण और वरुण देवता उनके जानुदेश (घुटनों) में स्थित थे ॥ ५२ ॥

एवं कृत्वा तथा रूपं सुराणामद्भुतं महत्।
असुरं पीडयामास क्रोधाद् रक्तान्तलोचनः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार सर्वदेवमय महान् एवं अद्भुत रूप धारण करके, जिनके नेत्रोंके कोये लाल थे, उन भगवान् हयग्रीवने क्रोधपूर्वक उस असुरको दबाया (इससे मधुका मेदा बाहर निकल आया) ॥ ५३ ॥

मधोर्मेदोऽम्बुपूर्णा च पृथिवी समदृश्यत।
प्रमदेव घना चैव शुक्लांशुकनिवासिनी ॥ ५४ ॥

उस समय मधुके मेदरूपी जलसे आच्छादित हुई यह सारी पृथ्वी ऐसी दिखायी देती थी, मानो श्वेत रंगकी साड़ी पहने हुए कोई हृष्ट-पुष्ट युवती शोभा पा रही हो ॥ ५४ ॥

मेदिनीत्येव शब्दश्च लब्धः पृथ्व्या नरोत्तम।
नामासुरसहस्रेण धरण्यां सम्प्रतिष्ठितम् ॥ ५५ ॥

नरश्रेष्ठ ! उस मेदके कारण ही पृथ्वीको 'मेदिनी' नाम प्राप्त हुआ। सहस्रों असुरोंके द्वारा यह नाम भूतलपर प्रतिष्ठित एवं प्रचारित हो गया ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्करप्रादुर्भावविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥



सप्तविंशोऽध्यायः

मधुके पतनसे समस्त प्राणियोंको हर्ष, वहाँ एकत्र हुए पर्वतों और वसन्त ऋतुका वर्णन, मधुवाहिनी नदीका प्राकट्य और गौरीसिद्धाका माहात्म्य

वैशम्पायन उवाच

मधोर्निपतनं दृष्ट्वा सर्वभूतानि पुष्करे।
प्रहृष्टानि प्रगायन्ति प्रनृत्यन्ति च सर्वशः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मधुका पतन हुआ देख पुष्करमें समस्त प्राणी अत्यन्त प्रसन्न हो उच्चस्वरसे गाने और नृत्य करने लगे ॥ १ ॥

सुपार्श्वो गिरिमुख्यस्तु काञ्चनैः शिखरोत्तमैः।
बहुधातुविचित्रैश्च खं लिखन्निव चाबभौ ॥ २ ॥

पर्वतोंमें प्रधान सुपार्श्व अपने सुवर्णमय श्रेष्ठ शिखरोंसे आकाशमें रेखा खींचता-सा प्रतीत होता था। उसके वे शिखर अनेक धातुओंके कारण बड़े विचित्र दिखायी देते थे ॥ २ ॥

गिरयश्चाभिशोभन्ते धातुभिः समरञ्जिताः।
प्रांशुभिः शिखराग्रैश्च सविद्युत इवाम्बुदाः ॥ ३ ॥

अन्य पर्वत भी नाना प्रकारकी धातुओंसे रञ्जित हो

अपने ऊँचे शिखरोंसे बिजलियोंसहित मेघोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ ३ ॥

पक्षवातोद्धतो रेणुश्चूर्णैः साञ्जनवालुकैः ।
छादयन् पर्वताग्राणि महामेघ इवाबभौ ॥ ४ ॥

पंखोंकी हवासे ऊपरको उठी हुई धूल अंजन (कोयले) और बालुकासहित चूर्णोंके साथ पर्वतोंके शिखरोंको ढकती हुई महान् मेघोंकी घटाके समान जान पड़ती थी ॥ ४ ॥

मेघसंश्लिष्टशिखराः पक्षविक्षिप्तपादपाः ।
काञ्चनोद्भेदबहुलाः खे तिष्ठन्तीव पर्वताः ॥ ५ ॥

उनके शिखर मेघोंसे आलिङ्गित हो रहे थे । वे अपने पंखोंकी वायुसे वृक्षोंको बिखेर रहे थे और उनमें सोनेकी बहुत-सी खानें प्रकट हुई थीं । इस प्रकार वे पर्वत आकाशमें खड़े हुए-से प्रतीत होते थे ॥ ५ ॥

पक्षवन्तः सशिखरा हेमधातुभिरञ्जिताः ।
पवनेन समुद्भूतास्त्रासयन्ति विहङ्गमान् ॥ ६ ॥

पंखों और शिखरोंसे सुशोभित, सुवर्णमय धातुओंसे अभिरञ्जित और वायुके वेगसे प्रताड़ित हुए वे पर्वत आकाशचारी पक्षियोंको भी भयभीत कर देते थे ॥ ६ ॥

काञ्चनाः पर्वताः सर्वे स्फाटिकैर्मणिभिश्चिताः ।
सूर्यकान्तैश्च बहुभिश्चन्द्रकान्तैश्च निर्मलाः ॥ ७ ॥

वहाँ सभी पर्वत सुवर्णमय थे । सबपर स्फटिकमणियोंकी राशि संचित थी और वे सभी बहुसंख्यक सूर्यकान्त तथा चन्द्रकान्त मणियोंके कारण निर्मल प्रभासे उद्भासित हो रहे थे ॥ ७ ॥

हिमवांश्च महाशैलः श्वेतैर्धातुभिराचितः ।
काञ्चनैः शिखराग्रैश्च सूर्यपादप्रकाशितैः ॥ ८ ॥
मणिभिश्च प्रकाशद्भिः पक्षान्तरविनिःसृतैः ।
ताम्रपुष्पैश्च शिखरैर्दीप्यमानैः स्वतेजसा ॥ ९ ॥

महापर्वत हिमवान् श्वेत धातुओंसे व्याप्त था । उसके शिखरोंके अग्रभाग सूर्यकी किरणोंसे प्रकाशित हो सुवर्णमय दिखायी देते थे । उसके पंखोंके भीतरसे प्रकट हुई प्रकाशमान मणियाँ उसके शिखरोंको प्रकाशित कर रही थीं । लाल रंगके फूलोंसे सुशोभित तथा अपने तेजसे देदीप्यमान शिखर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ८-९ ॥

मन्दरश्चोग्रशिखरः स्फाटिकैर्मणिभिश्चितः ।
वज्रगर्भो निरालम्बैः स्वर्गोपम इवाबभौ ॥ १० ॥

भयङ्कर शिखरोंवाला मन्दराचल स्फटिक मणियोंकी राशिसे सम्पन्न था । उसके भीतर वज्रमणि (हीरा) छिपी हुई थी । वह अपने निरवलम्ब शिखरोंसे स्वर्गके समान सुशोभित होता था ॥ १० ॥

सहस्रश‍ृङ्गः कैलासः शिलाधातुविभूषितः ।
तोरणैश्चैव निविडैः प्रांशुभिश्चैव पादपैः ॥ ११ ॥

शिलाओं और धातुओंसे विभूषित, सहस्र शिखरोंवाला कैलासपर्वत फाटकोंके समान ऊँचे और घने वृक्षोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ ११ ॥

प्रवादयद्भिर्गन्धर्वैः किन्नरैश्च प्रगायिभिः ।
देवकन्याङ्गरागैश्च प्रक्रीडाद्रिरिवाबभौ ॥ १२ ॥

भाँति-भाँतिके बाजे बजानेवाले गन्धर्वों, मधुर गीत गानेवाले किन्नरों तथा देवकन्याओंके अङ्गरागोंसे शोभा पानेवाला कैलास क्रीडापर्वतके समान प्रतीत होता था ॥ १२ ॥

मधुरैर्वाद्यगीतैश्च नृत्यैश्चाभिनयोद्धतैः ।
श‍ृङ्गारैः साङ्गहारैश्च कैलासो मदनायते ॥ १३ ॥

मधुर वाद्ययुक्त गीतों, अभिनयपूर्ण नृत्यों, श‍ृङ्गारमयी क्रीडाओं तथा नृत्यकालमें किये गये अङ्गविक्षेपों (चटकने-मटकने आदि) से कैलासपर्वत मूर्तिमान् कामदेवके समान रसका उद्दीपक हो रहा था ॥ १३ ॥

आदित्याभासिभिः श‍ृङ्गैर्भिन्नाञ्जनचयोपमैः ।
विन्ध्यो नीलाम्बुदश्यामो विभिन्न इव तोयदः ॥ १४ ॥

कटे हुए कोयलोंकी राशिके समान काले और सूर्यकी किरणोंसे प्रकाशित शिखरोंसे युक्त विन्ध्यपर्वत नील मेघके समान श्याम कान्ति धारण किये खण्डित हुए मेघके समान प्रतीत होता था ॥ १४ ॥

धात्वर्थं सर्वभूतानां मेरुपृष्ठे महाबले ।
निर्वमुर्विमलं तोयं मेघजालैरिवोत्तमैः ॥ १५ ॥

समस्त प्राणियोंके जीवन-धारणके लिये उन सभी पर्वतोंने महान् शक्तिशाली मेरुपृष्ठपर उत्तम मेघसमूहोंके समान निर्मल जलकी वर्षा की ॥ १५ ॥

शिलाभिर्बहुचित्राभिर्धातुभिर्बहुरूपिभिः ।
प्रस्रवद्भिर्गुहाद्वारैः सलिलं स्फटिकप्रभम् ॥ १६ ॥

बहुत-सी विचित्र शिलाओं, अनेक रूपवाली धातुओं तथा स्फटिकके समान निर्मल जलका स्रोत बहानेवाले गुफाद्वारोंसे उस पर्वतकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १६ ॥

ग्रीष्मान्ते वायुसंगूढा घना इव सविद्युतः ।
चित्रैः पुष्पैस्तरुगणाः शोभन्त इव भूषिताः ॥ १७ ॥
नागाः कनकसम्भूतैर्विचित्रैरिव भूषिताः ।

विचित्र पुष्पोंसे विभूषित हुए वृक्षगण वर्षा ऋतुमें वायुसे आच्छादित हुए बिजलीसहित मेघोंके समान शोभा पाते थे अथवा सोनेके विचित्र अलंकारोंसे अलंकृत हुए हाथियोंके समान सुशोभित होते थे ॥ १७½ ॥

विहंगमाभिलीनाश्च लतास्तरुसमाश्रिताः ॥ १८ ॥
विलम्बन्त्यः सपुष्पाश्च नृत्यन्ते वायुघट्टिताः ।

जिनमें पक्षी छिपे हुए थे, वे वृक्षोंके सहारे फैली और लटकी हुई पुष्पित लताएँ वायुके झोंके खाकर नृत्य सा कर रही थीं ॥ १८½ ॥

पवनेन समुद्धूता महता माधवेऽहनि ॥ १९ ॥
मुमुचुः पुष्पसंघातं तोयं वेलेव वर्षति ।

वैशाखके दिनोंमें महान् वायुसे कम्पित हुई वे लताएँ उसी प्रकार पुष्प-समूहोंकी वर्षा कर रही थीं, जैसे लहरोंसे टकरायी हुई समुद्रकी तटभूमि जलकी बूँदें बिखेरती है ॥

फलवद्भिश्च विपुलैः शाखास्कन्धावरोहिभिः ।
पादपैर्वर्णबहुलैर्भ्रियेत च वसुंधरा ॥ २० ॥

जिसमें बहुत-सी शाखाएँ, तने और बरोहें (जटाएँ) शोभा पाती हैं, ऐसे अनेक रंगवाले विशाल एवं फले हुए वृक्ष मानो वसुधाको सहारा दे रहे थे ॥ २० ॥

मधुप्रिया मधुकरा मधुमत्ता विहंगमाः ।
घोषयन्तीवं गायन्तः कामस्यागमसम्भवम् ॥ २१ ॥

जिन्हें मकरन्द प्रिय है, वे मधुमत्त मधुकर (भ्रमर) और कोकिल आदि पक्षी कलगान करते हुए कामदेवके आगमनकी घोषणा-सी कर रहे थे ॥ २१ ॥

विष्णुर्मधोर्निहन्ता च चकार मधुवाहिनीम् ।
नदीं प्रस्रवनिर्भेदां सुतीर्थां बहुलोदकाम् ॥ २२ ॥
अंगारवर्णसिकतां मधुतीर्थां मनोरमाम् ।
विमलैरम्बुभिः पूर्णां पुष्पसंचयवाहिनीम् ॥ २३ ॥

मधु दैत्यका नाश करनेवाले भगवान् विष्णुने वहाँ मधुवाहिनी नामक नदी प्रकट की, जिसका स्रोत फूटकर बह रहा था । वह उत्तम तीर्थवाली नदी प्रचुर जलसे भरी हुई थी । उसकी बालुका अङ्गारके समान वर्णवाली थी । वह मधुतीर्थस्वरूपा नदी मनको मोहे लेती थी । उसमें निर्मल जल भरा हुआ था और वह ढेर-के ढेर फूलोंको बहाये लिये जाती थी ॥ २२-२३ ॥

विवेश पुष्करं सा तु ब्रह्मणो वाक्यनोदिता ।
ऋषिभिश्चानुचरिता ब्रह्मतन्त्रनिषेविभिः ॥ २४ ॥

ब्रह्माजीके वाक्यसे प्रेरित हो उसने पुष्करमें प्रवेश किया । ब्रह्मतन्त्रसेवी ऋषि भी उसके पीछे-पीछे गये ॥ २४ ॥

धात्री कपिलरूपेण गौर्भूत्वा क्षरते पयः ।
मधुरं वितते यज्ञे ब्रह्मणा वाक्यचोदिता ॥ २५ ॥

तदनन्तर विशाल यज्ञ चालू होनेपर ब्रह्माजीके कहनेसे पृथ्वी गायका रूप धारण करके वहाँ मधुर दूधकी धारा बहाने लगी ॥ २५ ॥

सरश्च पृथिवीभूतं संधातुं प्रासवन्महीम् ।
शुद्धं च भजते लोकं शाश्वतं परमाद्भुतम् ॥ २६ ॥

उस दूधसे जो सरोवर परिपूर्ण हुआ, वह पृथिवीस्वरूप है । वही प्राणिसमुदायको धारण करनेके लिये भूतलपर आकर प्रतिष्ठित हुआ । वह अपने परम अद्भुत शुद्ध शाश्वतस्वरूपको भी धारण करता है ॥ २६ ॥

सरस्वत्याः समुद्भूतं ब्रह्मक्षेत्रे तमोनुदम् ।
मरुतीर्थमतिक्रम्य पुष्करेषु विसर्पति ॥ २७ ॥

सरस्वतीसे प्रकट हुआ वह दुःख एवं अन्धकारका नाश करनेवाला पुण्यतीर्थ मरुतीर्थको लाँघकर ब्रह्माजीके क्षेत्रभूत पुष्करतीर्थमें फैला हुआ है ॥ २७ ॥

सुचारुरूपा धर्मज्ञा अजा रूपेण छादयन् ।
रूपं कनकवर्णाभं तपोयुक्तेन चेतसा ॥ २८ ॥

परम मनोहर रूपवाली धर्मज्ञा अजन्मा सरस्वती माया-रूपसे उस तीर्थके सुवर्णोपम दिव्यरूपको ढके रहती है । आलोचनायुक्त चित्तसे ही उसके यथार्थस्वरूप चिन्मय ब्रह्म-का साक्षात्कार होता है ॥ २८ ॥

अजगन्धकृतोन्मुक्तः सम्भूतः पर्वतो महान् ।
गुरुद्वारगुणप्राणः शाश्वतः सिद्धसेवितः ॥ २९ ॥

वहाँ एक महान् पर्वत प्रकट हुआ, जो स्वाभाविक सुगन्धसे युक्त एवं उन्मुक्त है । उसका द्वार बहुत विशाल है तथा गुण ही उसके प्राण हैं । (अथवा गुरु ही उस अहंकाररूपी पर्वतपर चढ़नेके लिये द्वार है । गुरुके उपदेशसे ही उसके तत्त्वका ज्ञान होता है । तीनों गुण ही उसके जीवन हैं ।) वह अनादि होनेके कारण सनातन कहा गया है । सिद्ध पुरुष भी उसका सेवन करते हैं । फिर मूढ़ोंकी तो बात ही क्या है ॥ २९ ॥

वेदिकाभिः सुचित्राभिः काञ्चनाभिर्विराजितः ।
पुष्कराणि परीतानि त्वष्ट्रा विपुलदक्षिण ॥ ३० ॥

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले जनमेजय ! सुवर्णमयी विचित्र वेदिकाओंसे वह पर्वत सुशोभित होता है । पुष्करतीर्थ विचित्र जगत्का निर्माण करनेवाले शिल्पी ब्रह्माजी (अथवा परमेश्वर) से व्याप्त है ॥ ३० ॥

महामेरोर्यथा रूपं पञ्चभिर्धातुभिर्वृतः ।
चेतना याभिसम्पन्नो रूपेणाद्भुतदर्शनः ॥ ३१ ॥

जैसे महामेरुगिरिका स्वरूप पाँच धातुओंसे युक्त होता है, उसी प्रकार वह पर्वत पाँच धातुओं (भूतों) से घिरा हुआ है । रूपसे वह अद्भुत दिखायी देता है तथा जो सुप्र-सिद्ध चेतना है उससे वह सम्पन्न जान पड़ता है ॥ ३१ ॥

करिष्याम्यहमप्येतन्मनसा धर्मचारिणम् ।
रूपं बहुविधं लोके पार्थिवीं चेतनां तथा ॥ ३२ ॥

(अब अपनेको परमात्मासे अभिन्न मानकर

'मैं ही सब कुछ करता हूँ' इस भावसे तत्त्वका निरूपण कर रहे हैं ।) मैं ही धर्माचरण करनेवाले इस शरीरका मानसिक संकल्पसे निर्माण करता हूँ । लोकमें जो नाना प्रकारका रूप दिखायी देता है, उसकी भी मैं ही अपने मनसे सृष्टि करता हूँ । इस पार्थिव शरीरमें जो चेतना है, उसको भी मैं ही अभिव्यक्त करता हूँ ॥ ३२ ॥

त्रींश्च लोकान् प्रपद्येयं पञ्चभिर्धातुलक्षणैः ।
षष्ठेन च ससर्जेयं मनसा धर्मचारिणीम् ॥ ३३ ॥

मैं पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंसे तीनों लोकोंकी बातें जान सकता हूँ । छठी इन्द्रिय मनके द्वारा धर्मचारिणी वृत्तिकी रचना कर सकता हूँ ॥ ३३ ॥

सङ्गेषु भावमोहाभ्यां पश्यन्ति च समृद्धयः ।
विमुक्ताः सर्वसङ्गेभ्यो धारयन्ति परिग्रहान् ॥ ३४ ॥

जो समृद्धिशाली पुरुष समृद्धियोंका सङ्ग प्राप्त होनेपर भाव और मोहसे (संकल्पमात्र और भ्रमरूपसे) उन्हें देखते हैं तथा सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त हो विषय संग्रह करनेवाले मन, बुद्धि, इन्द्रिय और प्राणोंको काबूमें करते हैं, वे ही तत्त्वज्ञानके अधिकारी हैं ॥ ३४ ॥

न च विन्देत मां कश्चिन्मनसा कामरूपिणम् ।
पञ्चधातुनिबद्धश्च नानाभाषितचोदनः ॥ ३५ ॥

प्रायः सब लोग पाञ्चभौतिक शरीरमें बँधे रहकर नाना प्रकारके फलोंकी चर्चा करनेवाली वेदवाणीसे प्रेरित हो सकाम कर्मोंमें लगे रहते हैं, अतः कोई भी मनसे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले मुझ परमात्माको नहीं उपलब्ध कर पाता ॥

ये च विष्णुमधीयन्ते बहुधा कामविग्रहैः ।
ते मां पश्येयुरव्यक्तं तपसा दग्धकिल्बिषाः ॥ ३६ ॥

जो इच्छानुसार ग्रहण किये गये श्रीराम-कृष्ण आदि विग्रहोंसे उपलक्षित भगवान् विष्णुका नाम जप-कीर्तन आदिके द्वारा बारंबार स्मरण करते हैं, वे तपस्यासे अपने पापोंको दग्ध कर देनेवाले उपासक मुझ अव्यक्त परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं ॥ ३६ ॥

ये च मामभिरोहेयुर्नरा धर्मपथे स्थिताः ।
तेऽपि स्वर्गजितः सन्तः पश्येयुर्मां गतक्लमाः ॥ ३७ ॥

जो मनुष्य धर्मके मार्गपर स्थित हो उक्त साधनसोपानके द्वारा मुझ निर्गुण ब्रह्मरूपी प्रासादपर आरोहण करते हैं, वे साधुपुरुष भी पाप-तापसे रहित हो स्वर्गपर विजय पा जाते और मेरा साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ ३७ ॥

यश्चैव पर्वतः प्रांशुर्मेरुपृष्ठे व्यवस्थितः ।
एतमारुह्य युध्येयुः प्राणत्यागे सुनिर्मलाः ॥ ३८ ॥

मेरुपृष्ठपर जो ऊँचा पर्वत खड़ा है, उसपर आरूढ़ होकर निर्मल अन्तःकरणवाले पुरुष प्राणों (इन्द्रियों) की आसक्तिका त्याग करनेके लिये युद्ध—संघर्ष (उग्र साधना) करते हैं ॥ ३८ ॥

अप्सरोभिः समागम्य विचरेयुर्मनोजवाः ।
नन्दनं वनमारुह्य काम्यकं च महद्वनम् ॥ ३९ ॥

सिद्धिके पथपर बढ़नेवाले साधक मनके समान वेगशाली हो नन्दनवन और विशाल काम्यकवनमें पहुँचकर अप्सराओंसे मिलते और उनके साथ विहार करते हैं ॥ ३९ ॥

इमां विद्यां समास्थाय मद्भक्ताः पुष्करेष्विह ।
शरीरं क्षपयिष्यन्ति व्रतैर्बहुविधैः कृतैः ॥ ४० ॥

मेरे भक्त इस विद्याको पाकर पुष्करतीर्थमें नाना प्रकारके व्रतोंका अनुष्ठान करके अपने शरीरको क्षीण कर देंगे ॥

सिद्धिं प्राप्य क्रमेयुस्ते कामैर्बहुविधैर्नराः ।
इमं लोकममुं चैव सम्पतेयुर्यथासुखम् ॥ ४१ ॥

वे मनुष्य सिद्धि पाकर नाना प्रकारकी कामनाओंसे सम्पन्न हो क्रमशः ऊपर उठते और आनन्दपूर्वक इहलोक तथा परलोकमें घूमते-फिरते हैं ॥ ४१ ॥

गौरी सिद्धेतिव्याख्याता त्रिपु लोकेषु विद्यया ।
प्रभावं तपसा वृत्तं दर्शयन्ती समाहिताः ॥ ४२ ॥

जब एकाग्रचित्त योगी तपस्यासे प्राप्त हुए पूर्वोक्त प्रभावको दिखाते हैं, तब विद्या (शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे प्राप्त हुए ज्ञान) से सिद्ध हुई गौरीदेवी दर्शन देती हैं, जो तीनों लोकोंमें सिद्धाके नामसे विख्यात हैं ॥ ४२ ॥

षण्णां ज्ञानाभिसंधीनामभिज्ञानात् ससंग्रहाः ।
भवेयुस्ते निरारम्भा धातुनिर्मुक्तबन्धनाः ॥ ४३ ॥

कर्माङ्ग, बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे भगवन्मूर्तिके दो प्रतीक, विराट, सूत्रात्मा और अन्तर्यामी—ये सब मिलकर छः ज्ञानाभिसंधियाँ (संयमके स्थान) हैं । इनका जो सम्पूर्ण रूपसे अनुभव है, उससे कामनाका अभाव हो जानेके कारण साधकोंको अक्षीण योगैश्वर्य प्राप्त होते हैं । वे किसी भी कार्यका आरम्भ नहीं करते और पाञ्चभौतिक बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

सहस्रगुणमप्यत्र दत्त्वा दानफलादिव ।
अविमानेन विप्राणां मनःशुद्धेन कर्मणा ॥ ४४ ॥
सर्वत्रैवाप्रमेयेण अत्यन्तं फलमाप्नुयुः ।
अमुष्मिँल्लोके धर्मज्ञाः सह सर्वकुलोद्भवैः ॥ ४५ ॥

जैसे यहाँ कोई अपराधी राजाको सहस्रगुना कर देकर उस करदानके फलसे राजाकी प्रसन्नता पाकर उस अपराधसे मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार धर्मज्ञ पुरुष सर्वत्र ही असंकुचित भावसे ब्राह्मणोंका सम्मान और शुद्धभावसे निष्काम-कर्मका अनुष्ठान एवं दान करके अपने समस्त पूर्वजोंके साथ

ब्रह्मलोकमें जाकर आत्यन्तिक दुःखका निवारण करनेवाले अक्षय फलको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४४-४५ ॥

येषामिह च सांनिध्यं यज्ञे ब्राह्मणसंकुले।
ते भूयो यजमानाद्या अभिषिच्य पुनः पुनः ॥ ४६ ॥

जिन यजमानों और ऋत्विजोंका ब्राह्मणोंसे भरे हुए यज्ञमें सांनिध्य है (यज्ञाङ्ग देवता आदिमें चित्तको एकाग्रता है), वे यजमान आदि बारंबार बहुतसे यज्ञोंमें अवभृथस्नान करके पुनः पूर्वोक्त फल प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४६ ॥

तथा तां मन्यसे गौरीं मनसा धर्मचारिणीम्।
अनुग्रहाय भूतानां तन्ममाग्रे तपोधने ॥ ४७ ॥

राजन्! तुम दान और यज्ञकी सम्पत्तिको जैसे मेरे सामने स्थित समझते हो, उसी प्रकार पूर्वोक्त गौरी (ब्रह्म-विद्या) को भी यदि तुम मुझ तपोधनके समीप—मेरे सम्मुख उपस्थित मानते हो तो अबसे ऐसा न मानना; क्योंकि वे गौरीदेवी सम्पूर्ण प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये मनसे निरन्तर धर्मका आचरण करती हैं (यह बाह्य सम्पत्ति तो परिमित है, परंतु वे आन्तरिक ज्ञान सम्पत्ति होनेके कारण अनन्त हैं।) ॥ ४७ ॥

सत्य एष परोऽविद्ये भविता नात्र संशयः।
नाफलो विद्यते धर्मश्चरितो धर्मचारिणा ॥ ४८ ॥

यह आत्मा अबाधित सत्य है; परंतु विद्यारहित पुरुषसे बहुत दूर हो जाता है, इसमें संशय नहीं है। निष्काम धर्मका आचरण करनेवाले पुरुषके द्वारा आचरित हुआ धर्म कभी निष्फल नहीं होता (अतः धर्मसे भी चित्तशुद्धिके द्वारा आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो सकता है) ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

पुष्करमें श्रीविष्णु आदिकी तपस्या और उसके प्रभावका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

दिशं जिगमिषुर्दिव्यामुत्तरां सत्यसाधनः।
तथा स धातुनिचये पुण्ये पर्वतरोधसि ॥ १ ॥
विष्णुः परमधर्मात्मा एकपादेन तिष्ठति।
दशवर्षसहस्राणि पुष्करे पुष्करेक्षणः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सत्य ही जिनका साधन है, उन परम धर्मात्मा भगवान् विष्णुने उत्तर दिशा (सिद्धिकी पराकाष्ठा मोक्ष) को जानेकी इच्छा की। वे कमलनयन श्रीहरि पुष्करतीर्थमें धातुओंकी राशिसे परिपूर्ण एक पर्वतके पवित्र तटपर एक ही पैरसे दस हजार वर्षोंतक खड़े रहे ॥ १-२ ॥

आत्मन्यात्मानमाधाय तपसा ब्रह्मसम्भवः।
घटते कर्मणोग्रेण लोकमुत्थानकारणात् ॥ ३ ॥

ब्रह्माको भी जन्म देनेवाले वे भगवान् विष्णु अपने चित्तको विशुद्ध आत्मामें विचारद्वारा विलीन करके उत्थान (मोक्ष) के लिये उग्रकर्म (घोर तपस्या) करने लगे। साक्षात् परमेश्वर होकर भी उन्होंने जगत्‌को शिक्षा देनेके लिये ऐसा किया ॥ ३ ॥

भासुरो भस्मनाऽऽच्छाद्य गात्राणि स्वयमात्मनः।
अष्टौ वर्षसहस्राणि सहस्रं त्र तपोधनः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार प्रकाशमान सोम भी स्वयं ही अपने अङ्गोंको भस्मसे आच्छादित करके आठ हजार वर्षोंतक तपस्यारूपी धनके संचयमें लगे रहे ॥ ४ ॥

तेजसा तेन ज्योतींषि विभाव्य ब्राह्मणर्षभः।
तिष्ठते नभसो मध्ये योगात्मा भावयञ्जगत् ॥ ५ ॥

तपस्याद्वारा प्राप्त हुए उस प्रसिद्ध तेजसे समस्त ग्रह-नक्षत्रोंको तिरस्कृत करके योगात्मा ब्राह्मणशिरोमणि सोम सम्पूर्ण जगत्‌को आह्लाद प्रदान करते हुए आकाशके मध्य-भागमें प्रकाशित होते हैं ॥ ५ ॥

सोमो विषयमाक्षिप्य मनसा धारयन्मनः।
युक्तः परमधर्मात्मा ब्राह्मीं सिद्धिमुपागतः ॥ ६ ॥

परम धर्मात्मा सोमने बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके विषयोंपर अधिकार कर लिया और योगयुक्त होकर वे ब्राह्मी सिद्धिको प्राप्त हुए ॥ ६ ॥

सम्प्रदृश्यत सर्वत्र दिवि भुव्यन्तरे तथा।
ज्योतिष्णु कर्म कुर्वाणो बहुरूपः स सम्पदा ॥ ७ ॥

वे प्रकाश फैलानेका कार्य करते हुए स्वर्ग, पृथ्वी और दोनोंके मध्यभाग अन्तरिक्षमें सर्वत्र दिखायी देते हैं तथा अपनी योग-सम्पत्तिसे नाना प्रकारके रसरूप बहुत-से स्वरूप धारण कर लेते हैं ॥ ७ ॥

महेश्वरोऽतिगूढात्मा वृषरूपेण तिष्ठति।
उद्धृत्य दक्षिणं पादं वायुभक्षः समाहितः ॥ ८ ॥
अष्टौ वर्षसहस्राणि सहस्रं शतमेव च।
महायोगी महादेवो नियमाद् ब्रह्मसम्भवः ॥ ९ ॥

अपने स्वरूपको अत्यन्त गुप्त रखनेवाले भगवान् महेश्वर

वृषभरूपसे तपस्याके लिये अपना दाहिना पैर उठाकर नौ हजार एक सौ वर्षोंतक खड़े रहे। उन दिनों केवल वायु ही उनका आहार था। वे मनको ध्येय वस्तुमें निरन्तर एकाग्र रखते थे। ब्रह्माजीके उत्पत्तिस्थान महायोगी महादेवजी नियमपूर्वक तपस्यामें लगे रहे ॥ ८-९ ॥

अथ वायुर्घनीभूतो अन्ते चरति गोपतेः।
फेनीभूतं समुद्गारैः पवनं निर्गिरन्मुखात् ॥ १० ॥

तदनन्तर एक दिन इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाले भगवान् महेश्वरके निकट घनीभूत वायु विचरण करने लगी। उस समय वृषभरूपधारी महादेवजीने अपने उद्गारों (लार आदि) के द्वारा फेनके रूपमें परिणत हुई उस वायुको भीतर खींचकर फिर मुखसे बाहर निकाला ॥ १० ॥

स निष्क्रान्तस्ततो वक्त्रात् प्राणेन परमात्तवान्।
निर्यासभूतः पतितो नैवार्द्रो नैव पार्थिवः ॥ ११ ॥

उद्गारवायुके साथ उनके मुखसे निकली हुई वह वायु रूपान्तरको प्राप्त हो वृक्षोंकी गोंदके समान नीचे गिर पड़ी। उस समय वह न तो गीली थी और न पार्थिव—पाषाण आदिके समान सूखी ही ॥ ११ ॥

स फेनो वारिणाऽऽविश्य चचार वसुधातले।
नैवार्द्रो नैव शुष्काङ्गो वायुसंघातमागतः ॥ १२ ॥

वायुका वह रूप फेनके नामसे प्रसिद्ध हुआ। वह फेन जलसे आविष्ट हो भूतलके समीपवर्ती अन्तरिक्षमें विचरने लगा। वह न गीला था न सूखा। वायुके ही घनीभूत स्वरूपको प्राप्त हो गया था ॥ १२ ॥

तत्काले फेनमुत्क्षिप्य पवनः सह वारिणा।
निरालम्बे निरालम्बस्त्वभ्राणि समपद्यत ॥ १३ ॥

उस समय जलसहित फेनको ऊपर उछालकर निराधार आकाशमें निराधार रुकी हुई वह वायु मेघोंके रूपमें परिणत हो गयी ॥ १३ ॥

ते क्षिपन्ति पयो भूमावात्मानं स्वेन घट्टिताः।
नीलमेघारुणप्रख्या नैवार्द्रा नैव पार्थिवाः ॥ १४ ॥

वे ओलोंके समान अपने ही स्वरूपसे घनीभावको प्राप्त हो नील मेघ बनकर अपने आत्मा जलको ही इधर उधर बरसाते थे। सूर्यसारथि अरुणकी कान्ति पड़नेसे वे लाल रंगके भी दिखायी देते थे। वे भी न तो गीले थे और न मिट्टीके ढेलोंके समान सूखे ही ॥ १४ ॥

ब्राह्मीं मूर्तिं समाधाय वायुः सर्वत्रगो वशी।
समाः सहस्रं सम्पूर्णं चचार विपुलं तपः ॥ १५ ॥

तदनन्तर सर्वत्र विचरनेवाले वायुदेवने ब्राह्मणका शरीर धारण करके मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए पूरे एक सहस्र वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की ॥ १५ ॥

वह्निर्बहुजटी भूत्वा चीरवल्कलवासभृत्।
तपस्तप्यदनाहारो मौनमास्थाय पौष्करे ॥ १६ ॥
वर्षाणां च सहस्राणि त्रीणि चैकं च यत्नतः।

अग्निदेव भी बहुत-सी जटाएँ बढ़ाये चीर और वल्कल वस्त्र धारण किये बिना कुछ खाये-पीये मौन हो पुष्कर तीर्थमें चार हजार वर्षोंतक यत्नपूर्वक तपस्यामें लगे रहे ॥ १६½ ॥

तस्याग्नेस्तेजः सम्भूतो महानग्निः प्रवर्तते ॥ १७ ॥
स्वर्गप्रकाशं कृत्वा च स्वर्गवासी तमोनुदः।
दिवि भूतप्रकाशाख्यस्तपसा ब्रह्मसम्भवः ॥ १८ ॥

उस अग्निके तेजसे एक महान् अग्निका प्रादुर्भाव हुआ, जो स्वर्गमें प्रकाश फैलाकर वहीं रहने और वहाँके अन्धकारको दूर करने लगी। (वही सूर्य आदिके रूपमें प्रसिद्ध है।) वह ब्राह्मण अग्नि अपनी तपस्याके प्रभावसे स्वर्गमें 'भूतप्रकाश' नामसे प्रसिद्ध हुई ॥ १७-१८ ॥

तत्तमो भुवि राजेन्द्र मानुषेषु प्रतिष्ठितम्।
भास्करस्तेजसंहारस्ततो भवति सत्तमः ॥ १९ ॥

राजेन्द्र! वह अन्धकार भूतलपर मनुष्योंमें प्रतिष्ठित हुआ। (यहाँ अन्धकारका अर्थ धूम तथा उससे उपलक्षित धूम मार्ग है, जो वर्णाश्रमाभिमानी मनुष्योंमें प्रतिष्ठित है।) तेजःपुञ्ज सूर्य उस पूर्व अग्निकी अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट हैं ॥ १९ ॥

मर्त्यानां सर्वभूतानां तेज आक्षिप्य वर्तते।
न तु योगबले राजन् ब्राह्मणस्य विशेषतः।
तत् तमो नाशयेद् रात्रौ नाप्यहो भविताद्वयम् ॥२० ॥

राजन्! योगबलके होनेपर सूर्यदेव मर्त्यलोकके अन्य समस्त प्राणियोंके तेजको तिरस्कृत कर देते या छीन लेते हैं। परंतु ब्राह्मणके तेजका वे संहार नहीं करते हैं। उसपर विशेष ध्यान रखते हैं। जो सूर्यदेवका उपासक है, उसके तम (धूम मार्ग) का वे रातमें भी नाश कर देते हैं (अर्थात् सूर्योपासककी रातमें मृत्यु हो तो भी उसे अर्चि आदि मार्ग ही मिलता है)। परंतु जो सकाम कर्मोंमें लगा हुआ है, उसकी दिनमें मृत्यु हो तो भी वह दिन उसे अद्वय (मोक्ष) पदकी प्राप्ति करानेवाला नहीं होता ॥ २० ॥

पुष्पमित्रो महातेजा यक्षः सर्वत्रगो वशी।
तपश्चरति धर्मात्मा पुष्करेषु समाहितः ॥ २१ ॥

सर्वत्र जानेमें समर्थ और जितेन्द्रिय यक्ष महातेजस्वी धर्मात्मा पुष्पमित्र एकाग्रचित्त हो पुष्करमें तपस्या करते हैं ॥ २१ ॥

महेन्द्रशिखराद्धारा यावन्त्यो यान्ति मेदिनीम्।
तावत्स्वरूपमास्थाय तिष्ठते निखिलाः समाः ॥ २२ ॥

महेन्द्रपर्वतके शिखरसे जलकी जितनी धाराएँ पृथ्वीपर

जाती हैं, उतने स्वरूप धारण करके वे सारे वर्षोंतक तपस्यामें ही लगे रहते हैं ॥ २२ ॥

जानुभ्यां पतितो भूमौ ज्योतिर्नभसि पश्यति ।
समाः सहस्रं निखिलं नेत्रैरनिमिषैर्जगत् ॥ २३ ॥

वे पृथ्वीपर घुटने टेककर पड़ जाते हैं (अर्थात् सूर्यदेवको नमस्कार करते हैं) । इसका फल यह होता है कि सूर्यमण्डलके मध्यभागमें जो आकाश-सा प्रकाशित होता है, उसमें एकटक आँखें लगाकर वे सहस्रों वर्षोंतक सम्पूर्ण जगत्को देखते रहते हैं ॥ २३ ॥

नेत्राणि बहुधा तस्य नेत्रान्तैरभिनिःसृताः ।
मध्यन्दिनकरे प्राप्ते रश्मिवान् सपरिग्रहे ॥ २४ ॥
ते रश्मयः प्रभानेत्रैः शतशोऽथ सहस्रशः ।
रराज तेजःसंयोगाद् विद्वद्भिरिव पावकः ॥ २५ ॥

सूर्यमण्डलके मध्यभागमें दृष्टि डालनेपर अंशुमाली सूर्य परिवेष (घेरे) की भाँति प्रतीत होते हैं और मध्यभागमें गोल दर्पणके समान दिखायी देते हैं । जब पुष्पमित्रके नेत्र-प्रान्त सूर्यमण्डलमें पहुँचते, तब सूर्यकी प्रभासे मिले हुए नेत्रोंके साथ वे सुप्रसिद्ध सूर्यरश्मियाँ वहाँसे निकलकर ऊपर-नीचे इधर-उधर सब ओर फैल जातीं और सूर्यकी धारणा करनेवाले उन यक्षराजके लिये बहुसंख्यक—सैकड़ों और हजारों नेत्र बन जाती थीं । वे उन अनेक नेत्रोंके तेजसे संयुक्त होकर ऐसी शोभा पाते थे, जैसे विद्वान् ऋत्विजोंसे घिरे हुए अग्निदेव सुशोभित होते हैं ॥ २४-२५ ॥

स विस्फुलिङ्गैर्नेत्रान्तैरादित्यमनुवर्तते ।
कर्मणोऽन्ते युगान्ते वा जगतो बहुरूपिणः ॥ २६ ॥

जब देहारम्भके कर्मोंका क्षय हो जाता है अथवा अनेक रूपवाले जगत्का प्रलयकाल उपस्थित होता है, उस समय वे पुष्पमित्र अथवा भावी कुबेर आगकी चिनगारियोंके समान प्रकाशित होनेवाले अपने नेत्रकोणोंके द्वारा सूर्यदेवका अनुवर्तन करते हैं ॥ २६ ॥

बहुतापः पुनर्भूत्वा निषण्णो वसुधातले ।
समाः सहस्रं सम्पूर्णं तपस्तेपे सुदारुणम् ॥ २७ ॥
निगृहीतेन्द्रियो भूत्वा अप्सरोभिर्ललाम ह ।
मेरोः शिखरमासाद्य कामं कामेन निर्वमन् ॥ २८ ॥

अपनी तपस्याका प्रभाव बहुत अधिक बढ़ जानेपर वे पृथ्वीतलपर बैठ गये और इन्द्रियोंको काबूमें करके पूरे एक सहस्र वर्षोंतक पुनः अत्यन्त दारुण तपस्या करते रहे । तत्पश्चात् मेरुपर्वतके शिखरपर जाकर भोगके द्वारा ही कामका परित्याग करते हुए उन्होंने अप्सराओंके साथ रमण किया ॥ २७-२८ ॥

तपःकामः स यक्षस्तु कुबेरो नरवाहनः ।
विष्णुरेव तपोऽध्यक्षस्तेजसोऽन्ते विजृम्भति ॥ २९ ॥

तपस्याकी कामनावाला जो पुष्पमित्र नामक यक्ष था, वही नरवाहन कुबेर हुआ । उसके रूपमें तपस्याके अध्यक्ष भगवान् विष्णु ही थे, जो तपके अन्तमें तेजोवृद्धिको प्राप्त हुए ॥ २९ ॥

न हि कश्चित् पुमानस्ति य एवं तप आचरेत् ।
त्रिषु लोकेषु राजेन्द्र ऋते विष्णुं सनातनम् ॥ ३० ॥

राजेन्द्र ! तीनों लोकोंमें सनातन भगवान् विष्णुको छोड़कर दूसरा कोई पुरुष ऐसा नहीं है, जो ऐसी कठोर तपस्या कर सके ॥ ३० ॥

वासुकिर्बहुशीर्षस्तु नागेन्द्रो मौनमास्थितः ।
तप आचरते सम्यङ् निधाय मनसा मनः ॥ ३१ ॥

अनेक सिरवाले नागराज वासुकि भी मौन हो बुद्धिके द्वारा मनको सम्यकरूपसे ब्रह्ममें लगाकर तपस्या करते थे ॥ ३१ ॥

शेषः सत्यधृतिर्नागो बलवान् ब्रह्मसम्भवः ।
वृक्षमारुह्य धर्मात्मा अवाक्छीर्षोऽवलम्बते ॥ ३२ ॥
जिह्वाभिर्लेलिहानाभिर्गात्रजं विषमुत्सृजन् ।
समाः सहस्रं सम्पूर्णं निराहारस्तपोधनः ॥ ३३ ॥

सत्यको धारण करनेवाले ब्राह्मणपुत्र कश्यपनन्दन बलवान् नाग धर्मात्मा शेष एक वृक्षपर चढ़कर नीचेको सिर किये लटक रहे थे तथा लपलपाती हुई जिह्वाओंसे अपने शरीरका विष त्याग रहे थे । तपस्याके धनी शेषने पूरे एक सहस्र वर्ष निराहार रहकर बिताये ॥ ३२-३३ ॥

कालकूटं विषं तद्धि सुमहत् समपद्यत ।
येन लोको ह्यभिग्रस्तो न सुखं विन्दते नृप ॥ ३४ ॥

उनका छोड़ा हुआ वह विष ही महान् कालकूट नामक विष हो गया । नरेश्वर ! उस विषसे ग्रस्त हुआ लोक कभी सुख नहीं पाता है ॥ ३४ ॥

सर्वत्रानुगतं तीक्ष्णं भुजङ्गेषु महीपते ।
जङ्गमं स्थावरं चैव सर्वत्रानुगतं विषम् ॥ ३५ ॥

पृथ्वीनाथ ! वह तीक्ष्ण विष सर्पोंमें सर्वत्र व्याप्त है । स्थावर और जंगम सभी प्राणियोंमें अनुगत है ॥ ३५ ॥

परस्परविवृद्धेन हिंसायुक्तेन भारत ।
नाशयत्यात्मनोऽङ्गानि तेन तीक्ष्णेन भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! एक-दूसरेके प्रति बढ़े हुए हिंसाभावसे युक्त तीव्र क्रोधके रूपमें परिणत हुआ तप तामस होकर साधकके अपने ही अङ्गोंका नाश कर डालता है ॥ ३६ ॥

अथ ब्रह्मा महाभागो भूतानां हितकाम्यया ।
मन्त्रं विसृजते राजन् ब्रह्माक्षरमहिंसकम् ॥ ३७ ॥

राजन् ! हिंसक विषकी उत्पत्तिके अनन्तर महाभाग ब्रह्माने सम्पूर्ण भूतोंके हितकी कामनासे हिंसाका निवारण

करनेवाले—विषनाशक मन्त्रकी सृष्टि की, जो ब्रह्माक्षरमय (वेदाक्षरमय) है ॥ ३७ ॥

गरुत्मान् विततैः पक्षैर्नखाग्रैः सलिलं महीम्।
समाः सहस्रं सम्पूर्णं चूलाग्रेणावलम्बिना ॥ ३८ ॥

गरुड़ अपने फैले हुए पंखों, नखाग्रों (पञ्चाङ्गों) तथा लटकती हुई शिखाके अग्रभागसे जल (जीवन) और पृथ्वी (शरीर) की पूरे सहस्र वर्षोंतक रक्षा करें *॥ ३८ ॥

पर्णभारैश्च विकचैर्विस्तीर्णैर्वसुधातले।
रराज वसुधा चैव पर्णैर्बहुविचित्रितैः ॥ ३९ ॥

वे अपने फैले हुए विकसित पङ्खोंके भारसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त करके स्थित हैं, इस वसुधापर (तथा शरीरमें भी अन्तर्यामीरूपसे) विराजमान हैं; तथा उनके बहुसंख्यक एवं विचित्र पङ्खोंसे पृथ्वीतलकी बड़ी शोभा होती है। (यह गरुडजीका ध्यान है) ॥ ३९ ॥

येन वृत्तेन जीवेयुः सर्वभूतानि भारत।
इह लोके मनुष्येन्द्र देवलोके च भारत।
द्यौरिवाचितनक्षत्रा मही तलविसर्पिभिः ॥ ४० ॥

(अब मन्त्रका माहात्म्य बताते हैं—) भरतनन्दन! नरेन्द्र! गरुडमन्त्रके जपसे इहलोक तथा देवलोकके भी सभी प्राणी जीवित हो सकते हैं। नीचेकी ओर जानेवाले प्राणियों (तथा इन्द्रिय आदि) के साथ यह पृथ्वी (एवं देह) विषरहित हो नक्षत्रोंसे व्याप्त हुए आकाशकी भाँति शोभा पाती है ॥ ४० ॥

हिमवान् हिमसम्पाते भवत्येकचरो वशी।
पुष्कराम्भसि धर्मात्मा मत्स्योल्लिखितमूर्धजः ॥ ४१ ॥

धर्मात्मा हिमवान् भी हेमन्त और शिशिर ऋतुमें पुष्करके जलमें खड़े हो तपस्या करते थे, उस समय उस सरोवरके मत्स्य उनके सिरके बालोंमें उलझ जाते थे। वे मन और इन्द्रियोंको वशमें करके अकेले ही वहाँ विचरते और तप करते थे ॥ ४१ ॥

अथ स्वबलमाक्रम्य पृथिवीं प्रांशुद्धाहिनीम्।
तपश्चरति धर्मात्मा बाहुमुद्यम्य दक्षिणम् ॥ ४२ ॥

वे धर्मात्मा हिमवान् अपने बलसे ऊँचे शरीरवाली पृथ्वीको दबाकर दाहिनी बाँह ऊपर उठाये तपस्यामें संलग्न रहते थे ॥ ४२ ॥

---

* यहाँ मूलमें मन्त्रका विशेषण 'ब्रह्माक्षरमहिंसकम्' आया है। इसमें ब्रह्मसे प्रणव लिया गया है। 'अहिंसक अक्षर' से अमृत बीज 'व' को ग्रहण किया गया है। इस बीजको विततपक्ष अर्थात् दीर्घस्वरसे युक्त कहा गया है। इसके बाद 'गरुत्मान्' पद आता है। इसका उपयोग पञ्चाङ्गन्यासमें किया जाता है। यथा—'ॐ वाँ गरुत्मान् हृदयाय नमः अङ्गुष्ठयोः' (ऐसा कहकर दोनों हाथोंकी तर्जनी अङ्गुलियोंसे दोनों अंगूठोंका स्पर्श करे।) 'ॐ वीं गरुत्मान् शिरसे स्वाहा तर्जन्योः' (ऐसा कहकर दोनों हाथोंके अङ्गुष्ठोंसे दोनों तर्जनी अङ्गुलियोंका स्पर्श करे।) 'ॐ वूं गरुत्मान् शिखायै वषट् मध्यमयोः' (ऐसा कहकर दोनों हाथोंके अङ्गुष्ठोंसे दोनों मध्यमा अङ्गुलियोंका स्पर्श करे।) 'ॐ वैं गरुत्मान् कवचाय हुम् अनामिकयोः' (पूर्ववत् अङ्गुष्ठोंसे अनामिका अङ्गुलियोंका स्पर्श करे।) 'ॐ वौं गरुत्मान् नेत्रत्रयाय वौषट् कनिष्ठयोः' (अङ्गुष्ठोंसे कनिष्ठिका अङ्गुलियोंका स्पर्श।) 'ॐ वः गरुत्मान् अस्त्राय फट् करतलकरपृष्ठयोः' (ऐसा कहकर हथेलीका और उसके पृष्ठभागसे पृष्ठभागका स्पर्श करे।) यह करन्यास हुआ। अङ्गन्यास भी इन्हीं मन्त्रोंसे करना चाहिये। यहाँ करन्यास वाक्योंमेंसे अङ्गुलियोंके नाम हटा देनेपर वे ही अङ्गन्यास वाक्य हो जायँगे। अङ्गन्यासमें क्रमशः हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय—इन पाँच अङ्गोंमें न्यास किया जाता है। इसीमें छठा अस्त्रन्यास है। अंगूठेको अलग करके सीधी अङ्गुलियोंसे हृदय और सिरमें न्यास करना चाहिये। अंगूठेको अंदर करके मुट्ठी बाँधकर शिखाका स्पर्श करना चाहिये। कोई-कोई केवल अंगूठेसे शिखाका स्पर्श बताते हैं। कवचन्यासमें दायें हाथकी सभी अङ्गुलियोंसे बायीं भुजाका और बायें हाथकी सभी अङ्गुलियोंसे दाहिनी भुजाका स्पर्श करना चाहिये। दो नेत्रोंके अतिरिक्त तीसरा नेत्र ललाटमें होता है। इसका न्यास करते समय तर्जनी और अनामिकासे दोनों नेत्रोंका और मध्यमासे ललाटका एक साथ स्पर्श करना चाहिये। अस्त्रन्यासमें दाहिने हाथको बायीं ओरसे सिरके ऊपरसे ले आकर बायीं हथेलीपर ताली बजायी जाती है। कुछ लोगोंका मत है कि नाराचमुद्रासे दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर अंगूठे और तर्जनीके द्वारा मस्तकके चारों ओर करतल ध्वनि करनी चाहिये।

३८ वें श्लोकके 'सलिलं महीसे लेकर……वलम्बिना' तक तान्त्रिक पद्धतिसे मूलमन्त्रका वर्णन है। आचार्य नीलकण्ठने उसका उद्धार करके इस पञ्चाक्षर मन्त्रका स्वरूप यों निश्चित किया है—'वं ह्स्नः लं वषट्'। इस मन्त्रका विनियोग इस प्रकार है—ॐ अस्य श्रीगरुत्मन्मन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिर्गायत्री छन्दः गरुत्मान् देवता वं बीजं ह्स्नः शक्तिः लं कीलकं विघ्ननाशने विनियोगः। विनियोगके पश्चात् गरुडका निम्नाङ्कित रूपसे ध्यान करना चाहिये—

पर्णभारैश्च विकचैर्विस्तीर्णैर्वसुधातले।
रराज वसुधा चैव पर्णैर्बहुविचित्रितैः ॥

जो विस्तृत एवं विकसित पंखोंके भारसे सारी पृथ्वी और आकाशको व्याप्त करके स्थित हैं, जो भूतलपर (और शरीरके भीतर भी अन्तर्यामीरूपसे) विराजमान हैं तथा जिनके बहुत विचित्र पंखोंसे पृथ्वीकी बड़ी शोभा हो रही है (उन गरुडदेवका मैं चिन्तन करता हूँ)।

इस प्रकार ध्यान करके मन्त्रका ५ लाख जप करनेसे यह सिद्ध हो जाता है।

साग्रं वर्षसहस्रं च शतमेकं च सुव्रत।
तपश्चरति संयोगाद् वायुभक्षः समाहितः॥ ४३॥

सुव्रत! वायुका ही आहार करते हुए एकाग्रचित्त हो उत्तम योगका आश्रय ले हिमवान्‌ने ग्यारह सौ वर्षोंतक तपस्या की॥ ४३॥

समाधियोगात् सङ्गाद् वा ब्रह्मयोगस्य भारत।
येनेयं पृथिवी राजन् धार्यते ब्रह्मयोनिना॥ ४४॥
अनाद्यन्तेन नित्येन सर्वत्र विषयैषिणा।
योऽसौ विष्णुरगाधात्मा परमात्मा निराकृतिः॥ ४५॥

भरतनन्दन! राजन्! जो ब्रह्माजीके उत्पत्तिस्थान हैं, अनादि, अनन्त और नित्य हैं तथा जीवरूपसे सर्वत्र विषयका अनुसंधान करनेवाले हैं, जो समाधियोग अथवा प्रणवके जप एवं चिन्तनसे विशिष्ट हो यह सारी पृथ्वी धारण करते हैं, वे साक्षात् परमात्मा विष्णु हैं (वे ही कूर्म आदिरूपसे इस वसुधाको धारण करते हैं)। उनका स्वरूप अगाध है तथा वे निराकार ब्रह्म हैं॥ ४४-४५॥

दिने निषण्णो भवति रात्रौ भवति वै स्थिरः।
सत्यसंधः स धर्मात्मा कामकारकरो भवेत्॥ ४६॥

वे दिनमें बैठे होते हैं (अर्थात् विद्याके द्वारा प्राप्य हैं) और रातमें खड़े रहते हैं (अर्थात् अविद्यासे ऊपर उठे हुए हैं)। वे सत्यप्रतिज्ञ धर्मात्मा श्रीहरि इच्छानुसार (लीलापूर्वक) कार्य करते हैं॥ ४६॥

तस्य यः सोद्यतः पाणिः पृथिव्यां पृथिवीसमः।
रात्रौ स तपनो भवति मण्डलं विपुलं नभः॥ ४७॥

उन भगवान् विष्णुका जो हाथ भक्तोंका उद्धार करनेके लिये उठा हुआ है, वह इस भूतलपर धर्म कहा गया है। पृथ्वीकी भाँति वही सबको धारण करनेवाला है। वह रात्रि (अविद्या) में प्रकाश या विवेक प्रदान करनेवाला है तथा वही विशाल आकाशमण्डलमें व्याप्त ब्रह्म है॥ ४७॥

स चन्द्रविषयं राजन्रुन्धयामास रुन्धति।
ग्रहाणां गतयश्चैव ताराणां च विशेषतः॥ ४८॥

राजन्! वह धर्म चन्द्रमा अर्थात् मनको बाँधनेवाले राग आदि दोषोंको शान्त करता है तथा क्षुद्र ग्रहों एवं ताराओंके तुल्य जो नेत्र आदि इन्द्रियाँ हैं, उन्हें विषयोंकी ओर जानेसे रोकता है॥ ४८॥

तां छायामाक्षिपन् सोमात् स्रवद्भिर्मण्डलेन वै।
पृथिव्यां दक्षिणो हस्तो महायोगी महामनाः॥ ४९॥

पृथ्वीपर जो भगवान्‌का दाहिना हाथ धर्म है, वह चन्द्रमासे झरनेवाली गङ्गाकी धाराओं और चन्द्रमण्डलके द्वारा अविद्याका नाश करता हुआ साधकको महायोगी एवं महामना बना देता है। (तात्पर्य यह कि गङ्गाजीके सेवन और चन्द्रमामें की हुई धारणासे अविद्याका निवारण होता है तथा धर्मका आश्रय लेनेसे ज्ञान और योगकी प्राप्तिके साथ-साथ मोक्ष सुलभ हो जाता है।)॥ ४९॥

सैषा छाया शशीभूता शशिमण्डलमाविशत्।
अलिङ्गा पृथिवीलिङ्गाद्द्भुतादक्षया दिवि॥ ५०॥

यह अविद्यामयी रात्रिरूपा छाया लिङ्गरहित (प्रमाण-शून्य—मिथ्या) है। यह अद्भुत पृथ्वीरूप शरीर धारण करके वृत्तिकी एकाग्रतासे चन्द्रस्वरूप हो आकाशस्थ चन्द्रमण्डलमें प्रवेश कर जाती है। मिथ्या होनेके कारण ही यह अक्षय (मृगतृष्णाके सरोवरकी भाँति क्षयरहित) है॥ ५०॥

अङ्गाङ्गान्युपगृह्यैव तपश्चरति निश्चयात्।
प्रोक्ष्य पादौ तु सतलौ पृथिवी तपसि स्थिता॥ ५१॥

यह पृथ्वी तलुओंसहित दोनों पैरोंको धोकर (विविध तीर्थोंमें स्नान करके) सारे अङ्गोंको समेटकर (विषयोंकी ओरसे हटाकर) दृढ़ निश्चयके साथ तपस्या करने लगी और दीर्घकालतक उसमें स्थिर रही (इसी तपस्याके प्रभावसे जलके घनीभावरूप चन्द्रमाके आकारमें परिणत हुई पृथ्वी चन्द्रमण्डलमें प्रविष्ट हुई)॥ ५१॥

सूर्यार्चिभिः पीयमानादाक्षिप्यत मही तले।
महीमिवाम्बुवसनां युगान्ते विष्णुतेजसा॥ ५२॥

फिर सूर्यकी किरणोंद्वारा पिये जाते हुए जलके साथ पृथ्वी भी उनके समीप खींच ली गयी, जैसे युगान्तकालमें रसातलके भीतर डूबी हुई सलिलवसना पृथ्वीको वराहरूपधारी भगवान् विष्णुने अपने तेजसे ऊपरको खींच लिया था॥ ५२॥

रराज सूर्यरश्मिभिर्व्यतिषिक्ता महानदी।
स्फाटिकेव शुभा सैषा काञ्चनैर्धातुभिर्वृता॥ ५३॥

सूर्यकी किरणोंसे मिश्रित हुई पृथ्वी एक महानदीके रूपमें परिणत हो गयी। उस समय वह सुवर्णमय धातुओंसे घिरी हुई सुन्दर स्फटिकशिलाकी भाँति सुशोभित हो रही थी॥ ५३॥

आदित्येन समादत्ता रश्मितेजोऽभिसम्भवैः।
मण्डलान्तर्गता देवी चक्षुषा नोपलभ्यते॥ ५४॥

सूर्यके द्वारा गृहीत होनेपर किरणोंके तेजसे एकी-भावको प्राप्त हो सूर्यमण्डलके भीतर स्थित हुई पृथ्वीदेवी नेत्रोंसे अदृश्य हो गयी॥ ५४॥

रश्मिभिः पुनरुत्तीर्णा ततो योगेन धावति।
आकाशगङ्गा संवृत्ता विपुलैरम्बुविग्रहैः॥ ५५॥

सूर्यकिरणोंसे उत्तीर्ण हो अगाध जलमय विग्रह धारण करके वे आकाशगङ्गा बन गयीं और वहाँसे वेगपूर्वक दौड़ीं॥ ५५॥

शीतच्छायैश्च तरुभिर्लताभिश्च सुगन्धिभिः।
पद्मखण्डैश्च विविधैः शुशुभे दिव्यगन्धिभिः ॥ ५६ ॥

मार्गमें शीतल छायावाले वृक्षों, लताओं, सुगन्धित कुसुमों तथा भाँति-भाँतिके दिव्य गन्धवाले पद्मसमूहोंसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ५६ ॥

काञ्चनापीडजघना स्फाटिकान्तरमेखला।
पद्मरेणुसिता पीता चक्रवाकावतंसिका ॥ ५७ ॥
नीलगर्भसुकेशान्ता पुष्पसंचयसंकुला।
शोभते विप्रसर्पन्ति प्रमदेव विभूषिता ॥ ५८ ॥

वह महानदी आगे बढ़ती हुई वस्त्राभूषणोंसे विभूषित युवती स्त्रीकी भाँति शोभा पा रही थी। सुवर्णमय कमल मानो उसके कटिप्रदेशके आभूषण थे। स्फटिकमणिकी शिलाएँ मेखलाकी भाँति शोभा दे रही थीं। कमलोंके पराग-का अङ्गराग धारण करनेके कारण उसकी कान्ति श्वेत और पीत दिखायी देती थी। चक्रवाक उसके कानोंके आभूषण-से प्रतीत होते थे। जलके भीतर उगे हुए नीलकमल उसके सुन्दर केशकलापका भ्रम उत्पन्न कर देते थे। वह ढेर-के-ढेर पुष्पोंसे व्याप्त हो रही थी ॥ ५७-५८ ॥

सैषा गङ्गा फलं लेभे पुष्करेण समाहिता।
सुतपा चन्द्रविहिता लोकानां धारणे रता ॥ ५९ ॥

वही यह सम्पूर्ण लोकोंको धारण करनेवाली पृथ्वी सुन्दर तपस्या करके पहले चन्द्रमारूपमें परिणत हुई, फिर गङ्गा-भावको प्राप्त हुई। उसने पुष्करतीर्थके सम्पर्कसे परमात्माके ध्यानमें एकचित्त हो उत्कृष्ट तपस्याका फल प्राप्त किया ॥

सरस्वती स्वरैर्व्यक्तैरधीते ब्रह्मवादिनी।
पृष्ठात् प्रयाता शैलेन्द्रे मन्दरे मन्दगामिनी ॥ ६० ॥

लोकधात्री पृथ्वी गङ्गाभावको प्राप्त हो पुष्करमें सरस्वती होकर व्यक्त स्वरोंमें वेदका पाठ करती हुई स्वाध्यायमें तत्पर रहती है। वह सरस्वती मेरुपृष्ठसे मन्दगतिसे चलती हुई गिरिराज मन्दराचलपर जा पहुँची ॥ ६० ॥

ऋङ्मयांश्चतुरो वेदान् पादैश्चतुर्भिरावृतान्।
यजुर्भिः सामभिश्चैव ग्रथिताञ्छिक्षया तदा ॥ ६१ ॥

उस समय वह ऋषियोंके साथ शिक्षासे ग्रथित, चार पादोंसे युक्त, ऋक्प्रधान एवं यजुष् तथा साममन्त्रोंसे युक्त चारों वेदोंका स्पष्ट स्वरोंमें पाठ करने लगी ॥ ६१ ॥

ऋषिभिर्ज्वलनप्रख्यैस्तपसा दग्धकिल्बिषैः।
सुपार्श्वस्य गिरेः पादे परिदायैः सुपारणैः ॥ ६२ ॥

जिन ऋषियोंके साथ सरस्वती वेदपाठ करती थीं, वे अग्निके समान तेजस्वी थे। तपस्यासे उनके सारे पाप भस्म हो गये थे। वे सुपार्श्वगिरिके चरणप्रान्तमें बैठकर शिष्योंको ब्रह्मका उपदेश देते थे और दूसरोंका उद्धार करनेमें समर्थ थे ॥ ६२ ॥

निःस्वनं सर्वभूतानि नियमैश्च न शृण्वते।
मन्दराग्रे विसर्पन्तं जगत् कृत्स्नमतीन्द्रियम् ॥ ६३ ॥

सरस्वतीका यह ब्रह्मघोष समस्त प्राणी नियमपूर्वक (अथवा नियमोंद्वारा भी) नहीं सुन पाते, क्योंकि वह इन्द्रियोंसे अतीत है। मन्दराचलके आगे फैलता हुआ वह शब्द सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त हो रहा है (वह वैखरी शब्द ही है, किंतु सूक्ष्म होनेके कारण दुर्ग्राह्य है) ॥ ६३ ॥

विरामनियमे प्राप्ते तूष्णींभूता बभूव ह।
न वाचमीरयेद् देवी नियमात् सत्यवादिनी ॥ ६४ ॥

विरामका नियम प्राप्त होनेपर वाग्देवी चुप हो गयीं। उस अवस्थामें वे सत्यवादिनी देवी नियमतः वाणीका उच्चारण नहीं कर सकतीं (तुरीय ब्रह्मपदका निरूपण करते समय 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतिके अनुसार वाग्देवीका मौन होना उचित ही है) ॥ ६४ ॥

अथ भूतानि सर्वाणि तूष्णींभूतानि सर्वशः।
न शेकुरभिधानार्थं व्याहर्तुं वदनैर्बलात् ॥ ६५ ॥

तदनन्तर सभी प्राणी सर्वथा चुप हो गये। वे अपने मुखोंसे बलपूर्वक कुछ कहनेके लिये बोल न सके ॥ ६५ ॥

विभज्य योगं मनसा सर्वभूतेष्वनुग्रहम्।
सरस्वती तीरयुता व्याजहार महास्वनम् ॥ ६६ ॥

समस्त प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये मनके द्वारा योगका विभाजन करके तटपर खड़ी हुई सरस्वती देवीने पुनः महान् शब्दका उच्चारण किया (तात्पर्य यह कि ब्रह्मका साक्षात् प्रतिपादन करनेमें असमर्थ होनेपर भी वाग्देवी तटस्थ लक्षणद्वारा उनके तत्त्वका निरूपण कर सकती हैं) ॥ ६६ ॥

सरस्वत्या समायुक्तां शिक्षां गृह्णन्ति देहिनः।
तस्मिन्नेवाथ ते सर्वे गानं गायन्ति शिक्षया ॥ ६७ ॥

सरस्वतीद्वारा दी हुई शिक्षाको दूसरे देहधारी भी ग्रहण करते हैं। वे सब उसी पदमें स्थित होकर शिक्षाके अनुसार मन्त्रोंका गान करते हैं ॥ ६७ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाश्विभिः सह।
जटिलाश्चीरवसना मुञ्जमेखलधारिणः ॥ ६८ ॥

आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्गण और अश्विनीकुमार—ये सब जटा रखाये, चीरवस्त्र पहने और मूँजकी मेखला धारण किये उसी शिक्षाके अनुसार मन्त्रोंका गान करते हैं ॥ ६८ ॥

गन्धर्वाः किंनराश्चैव सनागाः सह चाम्भसः।
तपश्चरन्ति सहिताः पुष्करेषु मनीषिणः ॥ ६९ ॥

गन्धर्व, किंनर, नाग और वरुण भी उसी शिक्षाके

अनुसार गाते हैं। ये सभी मनीषी पुरुष एक साथ होकर पुष्करमें तपस्या करते हैं ॥ ६९ ॥

अपि कीटपतङ्गैश्च सह सर्वैः सरीसृपैः।
शोषयन्ति शरीराणि तपसोग्रेण यत्नतः ॥ ७० ॥

और उस उग्र तपस्याके द्वारा यत्नपूर्वक कीट-पतंगों तथा समस्त साँप-बिच्छुओंके साथ अपने शरीरोंको सुखाते हैं ॥७०॥

विष्णुर्विष्णुत्वमापन्नो देहान्तरविसृष्टवान्।
संरक्षति महायोगी सर्वांस्तान् सहचारिणः ॥ ७१ ॥

परमात्मा विष्णु व्यापक स्वरूपको प्राप्त होकर भी दूसरे चिन्मय विग्रह (चतुर्भुज स्वरूप) से युक्त होते हैं। उसी स्वरूपसे वे महायोगी विष्णु उन समस्त सहचारियों (आदित्य आदि देवों) का संरक्षण करते हैं ॥ ७१ ॥

पुष्करे रमते विष्णुर्विष्णुरेव द्विधा कृतः।
दीप्यमानः स्वतेजोभिर्विधूम इव पावकः ॥ ७२ ॥

पुष्कर अर्थात् सम्पूर्ण कार्यात्मक जगत्में व्याप्त हुए भगवान् विष्णु ही नर-नारायण आदिके रूपमें एक-से दो हो गये हैं और धूमरहित अग्निकी भाँति अपने तेजसे देदीप्यमान होकर तप आदिकी लीला करते हैं ॥ ७२ ॥

सोऽग्निर्मनःसमुद्भूतः पृथिवीं तापयन्निव।
प्रधावति समं तेन मण्डलं दशयोजनम् ॥ ७३ ॥

वे विष्णु ही मनःकल्पित गार्हपत्यादि अग्निरूप होकर पृथ्वीके अभिमानी देवताको ताप देते (तपाकर सुवर्णके समान शुद्ध करते) हुए उसके साथ दस योजन ब्रह्माण्ड-मण्डलमें दौड़ते हैं (अर्थात् उसके कर्मोंका फल देनेके लिये उसके साथ-साथ रहते हैं) ॥ ७३ ॥

विरराजार्चिभिर्दीप्तैः पृष्ठतश्चावलम्बिभिः।
विशीर्णपार्थिविभवैर्मयूखैरिव दीपितः ॥ ७४ ॥

जिन्होंने देहात्मवादीकी सामर्थ्यको नष्ट कर दिया है, उन आगे-पीछे सब ओर फैली हुई उद्दीप्त लपटों अथवा किरणोंसे प्रकाशित हुए अग्निदेव बड़ी ही शोभा पाते हैं ॥

तस्याग्नेर्विस्फुलिङ्गानां न शेकुर्लङ्घने रताः।
विप्रकीर्णस्य वसुधामर्यादामिव भास्करम् ॥ ७५ ॥

जैसे विषयासक्त मनुष्य पृथ्वीकी मर्यादा बने हुए—उसका परिच्छेद करनेवाले सूर्यदेवको लाँघ नहीं सकते, उसी प्रकार वे सब ओर फैले हुए अग्निस्वरूप विष्णुकी चिनगारियोंके समान जो ब्रह्मा आदि हैं, उनका भी लङ्घन नहीं कर सकते ॥ ७५ ॥

सोऽग्निर्दीप्य विभज्यांशून् विधूम इव पावकः।
ऋत्विग्भिर्ज्वलनप्रख्यैर्विक्रीयत इवाध्वरे ॥ ७६ ॥

वे अग्निदेव उद्दीप्त हो अपनी किरणोंको अनेक रूपोंमें विभक्त करके धूमरहित पावकके समान स्थित होकर अग्नि-तुल्य तेजस्वी ऋत्विजोंद्वारा यज्ञमें विविध रूपोंमें खरीदे जाते हैं (सोमरस खरीदनेवाले सोमके रूपमें उन्हींकी खरीद करते हैं) ॥ ७६ ॥

सोऽग्निर्धूमगतस्तत्र तिष्ठते विपुलं तदा।
यावद् विष्णुक्रमः प्राप्तो नियमस्य समापनात्॥ ७७ ॥

वे विष्णुरूप निर्धूम अग्निदेव उस यज्ञमें, जबतक उसकी समाप्ति नहीं हो जाती तबतक द्रव्य देवता आदि विपुल रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। फिर वे ही अग्नि देवता फलरूपसे वहाँतक पहुँचते हैं, जहाँतक (वामनसे विराट् रूप धारण करनेवाले) भगवान् विष्णुके तीनों पग पहुँचे थे ॥ ७७ ॥

रक्षां कृत्वा स्थितं विद्याद् विष्णुर्विष्णुपराक्रमः।
भूत्वा शतशरीरो वै नागो बालाहकोऽभवत् ॥ ७८ ॥

सबकी रक्षा करके स्थित हुए उन भगवान् विष्णुको जानना चाहिये। वे व्यापक पराक्रमी भगवान् विष्णु (ऐश्वर्ययोगसे) सैकड़ों शरीरोंमें प्रकट हो बालाहक नाग (मेघोंका भेदन करनेवाला ऐरावत हाथी) हुए ॥ ७८ ॥

तमग्निमात्मसंसृष्टं लेलिहानं महामतिम्।
प्रतिप्रवृत्तं तेजोभिर्भूतानां हितकाम्यया ॥ ७९ ॥
वारिणा सुखशीतेन प्राणिनां प्राणवर्धनः।
न्यषिञ्चद् दहनं तत्र नागो बालाहकस्तदा ॥ ८० ॥

शरीरके भीतर जठरानलरूपसे स्थित हुए उन विष्णु-स्वरूप अग्निदेवको, जो अपनी लपलपाती हुई लपटोंसे सबको चाट लेनेमें समर्थ, महामति (दिव्य ज्ञान देनेवाले) तथा समस्त भूतोंके हितकी कामनासे तेजस्वी रूप धारण करके कर्ममें प्रवृत्त हुए थे; प्राणियोंके प्राणोंकी पुष्टि करनेवाले बालाहक नागने उस समय वहाँ सुखद शीतलजलसे अभिषिक्त किया ॥ ७९-८० ॥

ततः सिद्धगणैर्जुष्टः पुष्करे तप्यते तपः।
संहृत्य मनसाऽऽत्मानं महायोगी महाबलः ॥ ८१ ॥

तदनन्तर सिद्धगणोंसे सेवित वे महायोगी, महावैराग्य-वान् अग्निदेव मन (बुद्धि) के द्वारा मनको अपनेमें विलीन करके पुष्करमें तपस्या करने लगे ॥ ८१ ॥

पादगात्राणि संहृत्य मनो मूर्ध्नि विधारयन्।
अचलं स्थानमासाद्य तूष्णींभूतो बभूव ह ॥ ८२ ॥

वे नीचेके अङ्गोंका ऊपरके अङ्गोंमें लय करते हुए मनको मूर्धा (सहस्रारचक्र) में स्थापित करके अविचल स्थान (ब्रह्मपद) को पाकर मौन हो गये ॥ ८२ ॥

एष धर्मो हि धर्माणां नोपधानविकल्पितः।
हितः सर्वेषु भूतेषु इह चामुत्र चोभयोः ॥ ८३ ॥

यही सब धर्मोंका धर्म है। इसमें उपाधिजनित विकल्प नहीं है। यह इहलोक और परलोक—दोनोंमें सभी प्राणियोंके लिये हितकर है ॥ ८३ ॥

अथ दैत्या हतास्तत्र समागम्योद्यतायुधाः।
मायाप्राप्तैर्बहुविधैर्नगरैरभिसंवृताः ॥ ८४ ॥

तदनन्तर वे दैत्य जो पहले मार खाकर पराजित हो गये थे, पुनः हाथोंमें आयुध लिये वहाँ आ गये। वे नाना प्रकारके मायामय नगरोंसे घिरे हुए थे ॥ ८४ ॥

अग्निं दैत्याः पर्वताग्रैरभिघ्नन्ति परंतप।
ज्वलन्तं ज्वलनप्रख्या महाकाया महाबलाः ॥ ८५ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले जनमेजय! वे अग्निके समान तेजस्वी महाकाय एवं महाबली दैत्य तेजसे प्रज्वलित होनेवाले अग्निदेवको पर्वतशिखरोंसे चोट पहुँचाने लगे ॥

मेघीभूताश्च मायाभिर्वर्षन्ति बलदर्पिताः।
तस्मिन्नेषामभिसंघाते ससंघातं महाबलम् ॥ ८६ ॥

वे उस संघर्षमें बलके घमंडमें भरकर मेघरूप धारण करके मायाद्वारा सेवकसमूहसहित महाबली अग्निपर प्रस्तरोंकी वर्षा करने लगे ॥ ८६ ॥

ते शैलास्त्वर्चिषा दग्धाः शतशोऽथ सहस्रशः।
युगान्ते प्रभुरादित्यः प्रजा इव दिधक्षति ॥ ८७ ॥

परंतु जैसे भगवान् सूर्य प्रलयकालमें समस्त प्रजाओंको दग्ध कर देना चाहते हैं, उसी प्रकार उन अग्निदेवके तेजसे उस समय दैत्योंद्वारा गिराये हुए वे सैकड़ों-हजारों पर्वत-खण्ड जलकर भस्म हो गये ॥ ८७ ॥

न शेकुरग्निं दैत्यास्ते मायाभिर्मुखमुद्यतम्।
आदित्यमिव दीप्यन्तं नभः सूर्योदये यथा ॥ ८८ ॥

देवताओंके मुखस्वरूप उद्दीप्त हुए अग्निदेवको वे दैत्य अपनी मायाओंद्वारा पराजित न कर सके। ठीक उसी तरह, जैसे मंदेह नामक राक्षस सूर्योदयकालमें आकाशको प्रकाशित करते हुए सूर्यदेवको दबा नहीं पाते हैं ॥ ८८ ॥

विहितैरुद्यमैः सर्वैर्दैत्या भग्नपराक्रमाः।
गन्धमादनमासाद्य निषण्णा नगमूर्धनि ॥ ८९ ॥

सारे उद्यम करके भी दैत्योंका पराक्रम भंग हो गया। वे हताश हो गन्धमादन पर्वतके शिखरपर जा बैठे ॥ ८९ ॥

स चाग्निर्वैष्णवैर्लोकैर्विद्युद्भिः सह संगतः।
अन्तरिक्षचरान् दैत्यान् निर्दहन् व्यचरद् दिवि ॥ ९० ॥

वे अग्निदेव वैष्णवजनों तथा बिजलियोंसे मिलकर अन्तरिक्षचारी दैत्योंको दग्ध करते हुए आकाशमें विचरने लगे ॥ ९० ॥

नागो बालाहकश्चैव मेघैः संघातमागतः।
मुमोच सलिलं भूमौ पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ ९१ ॥

उस समय मेघोंके साथ संघभावको प्राप्त हुए बालाहक नाग (ऐरावत) ने वर्षा करनेवाले मेघकी भाँति भूमिपर पानी बरसाया ॥ ९१ ॥

मन्त्रैः संचोदितो नागो द्विजेभ्यो वदनोद्गतैः।
मुमोच तोयसंघातं मानयन् विप्रजं जनम् ॥ ९२ ॥

ब्राह्मणोंके मुखोंसे उच्चारित हुए मन्त्रोंद्वारा प्रेरित हुए उस नागने ब्राह्मण संततिका समादर करते हुए वहाँ जल-समूहकी वर्षा की ॥ ९२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्करप्रादुर्भावविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

तपस्याके प्रभावसे देवताओंका उत्कर्ष

जनमेजय उवाच

संयुज्य तपसा देवाः किमकुर्वंस्ततः परम्।
न हि तद् विद्यते लोके तपसा यन्न लभ्यते ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने! तदनन्तर देवताओंने तपस्यासे संयुक्त होकर क्या किया? संसारमें ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो तपस्यासे सुलभ न हो ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ दीक्षां समास्थाय सर्वे विष्णुमया गणाः।
पुष्करादग्निमुद्धृत्य प्रणीय च यथाविधि ॥ २ ॥
जुहुवुर्मन्त्रविधिना ब्राह्मणा मन्त्रचोदिताः।
हविषा मन्त्रपूतेन यथा वै विधिरेव च ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! तदनन्तर सभी विष्णुस्वरूप ब्राह्मणगणोंने यज्ञकी दीक्षा ले पुष्करसे अग्निको उद्धृत करके उनकी विधिवत् स्थापना करनेके पश्चात् वेदाज्ञासे प्रेरित हो मन्त्रोक्त विधिसे मन्त्रपूत हविष्यद्वारा जैसा विधान है, उसी प्रकार हवन किया ॥ २-३ ॥

स चाग्निर्विधिवत्तत्र वर्धते ब्रह्मतेजसा।
तेजोभिर्बहुलीभूतः प्रभुः पुरुषविग्रहः ॥ ४ ॥

वे अग्निदेव वहाँ ब्रह्मतेजसे सम्पन्न हो विधिवत् बढ़ने लगे। महान् तेजकी राशिसे युक्त होकर वे प्रभु अग्निदेव पुरुषरूपमें प्रकट हो गये ॥ ४ ॥

ब्रह्मदण्ड इति ख्यातो वपुषा निर्दहन्निव।
दिव्यरूपप्रहरणो ह्यसिचर्मधनुर्धरः ॥ ५ ॥

उस समय उनका नाम 'ब्रह्मदण्ड' रखा गया। वे अपने तेजस्वी शरीरसे दूसरोंको दग्ध करते हुए-से जान पड़ते थे। उनका स्वरूप और आयुध सभी दिव्य थे। वे ढाल, तलवार धनुष तथा खड्ग और खेटक लिये हुए थे ॥ ५ ॥

सगदो लाङ्गली चक्री शरी चर्मी परश्वधी।
शूली वज्री खड्गपाणिः शक्तिमान् वरकार्मुकः॥ ६ ॥
विष्णुश्चक्रधरः शङ्खी मुसली लाङ्गलायुधः।
नरो लाङ्गलमालम्ब्य मुसलं च महाबलः॥ ७ ॥

गदा, हल, चक्र, बाण, चर्म, फरसा, शूल, वज्र, खड्ग, शक्ति, श्रेष्ठ धनुष, मुसल और लाङ्गल—इन सब अस्त्रोंको नारायणने धारण किया था। महाबली नर हल और मूसल लिये हुए थे ॥ ६-७ ॥

वज्रमिन्द्रस्तपोयोगाच्छतपर्वाणमक्षिपत्।
रुद्रः शूलं पिनाकं च मनसाधारयद् भुवि॥ ८ ॥

देवराज इन्द्रने तपस्याके प्रभावसे शतपर्वा वज्र प्राप्त किया था, जिसका वे प्रयोग किया करते हैं। रुद्रदेवने भूतल-पर केवल शूल तथा पिनाक धारण कर रखा था ॥ ८ ॥

मृत्युर्दण्डं पाशमापः कालः शक्तिमगृह्णत।
जग्राह परशुं त्वष्टा कुबेरश्च परश्वधम्॥ ९ ॥

मृत्युने दण्ड, वरुणने पाश तथा कालने शक्ति ले रखी थी। त्वष्टाने परशु और कुबेरने फरसा ग्रहण किया था ॥ ९ ॥

निर्विकारैः समायुक्ताः शतशोऽथ सहस्रशः।
विश्वकर्मा च त्वष्टा च चक्राते ह्यायुधं बहु॥ १० ॥

इस प्रकार सब देवता सैकड़ों और हजारों निर्विकार (निर्दोष) अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे। विश्वकर्मा तथा त्वष्टा—ये दोनों उनके लिये बहुत-से आयुधोंका निर्माण करते थे ॥ १० ॥

इन्द्रायाग्निरथं प्रादात् सूर्याय च प्रतापिने।
परमात्मा ददौ कृष्णो रुद्राय च महात्मने॥ ११ ॥

परमात्मा भगवान् विष्णुने इन्द्रको, प्रतापी सूर्यको तथा महात्मा रुद्रको अग्निमय रथ प्रदान किया ॥ ११ ॥

छन्दोभिरेव त्वष्टा च स चकाराथ वाहिनीम्।
विश्वकर्मा विमानानि चकार बहुभिः क्रमैः॥ १२ ॥

त्वष्टाने वेदोक्त सरणिसे ही वाहिनीका निर्माण किया। विश्वकर्माने अनेक क्रमोंद्वारा बहुत-से विमान बनाये ॥ १२ ॥

शरीरांशं समुद्धृत्य विष्णुः सत्यपराक्रमः।
पुष्करात् पर्वणि वनात् पृतनार्थे प्रवर्तयन्॥ १३ ॥

सत्यपराक्रमी भगवान् विष्णुने पर्वके दिन पुष्कर वनसे अपने शरीरका ही अंश निकालकर दिया और उसे सेना बनानेके लिये प्रेरणा दी ॥ १३ ॥

द्यां चैव सूर्यऋक्षाणां वाचा वै समकल्पयत्।
यथा स पूज्यः संग्रामे शत्रून् निर्बिभिदे रणे॥ १४ ॥

सूर्य तथा ग्रह-नक्षत्रोंकी स्थितिके लिये भगवान्‌ने वाणीद्वारा द्युलोककी रचना की। जिससे उस द्युलोकमें रहकर देव-पूज्य इन्द्रने संग्राममें अपने शत्रुओंको विदीर्ण किया था ॥ १४ ॥

स तं दण्डं समुचितं निर्विकारं समाहितम्।
ब्रह्मा जग्राह विधिना अन्तर्धानगतः प्रभुः॥ १५ ॥

'ब्रह्मा' रूपमें प्रकट हुए भगवान् विष्णुने इन्द्रद्वारा असुरोंपर गिराये गये उस दण्डको उचित और निर्विकार-अवस्थामें पाकर उसे विधिपूर्वक ग्रहण किया और उन सबकी दृष्टिसे वे अदृश्य हो गये ॥ १५ ॥

स्वैः प्रभावैश्च विधिना सोऽस्त्रग्रामं चतुर्विधम्।
ऐन्द्रमाग्नेयवायव्ये रौद्रं रौद्रेण वर्चसा॥ १६ ॥

उन्होंने अपने प्रभावसे चार प्रकारके अस्त्रसमुदाय—ऐन्द्र, आग्नेय, वायव्य तथा भयंकर तेजसे युक्त रौद्रकी रचना की ॥ १६ ॥

एभिर्विकारैः संयुक्ता दितेः पुत्रा महाबलाः।
तपसा शिक्षया चैव स्वास्त्रैः प्रहरणैरपि॥ १७ ॥

दितिके महाबली पुत्र भी तपस्या, शिक्षा और अपने आयुधोंसे युक्त होनेपर भी इन काम आदि विकारोंके वशी-भूत हो गये ॥ १७ ॥

बलेन चतुरङ्गेण वीर्येण सुसमाहिताः।
अप्रधृष्या रणे सर्वे समपद्यन्त वै तदा॥ १८ ॥

वे सब-के-सब उस समय चतुरङ्गिणी सेना और पराक्रमसे संयुक्त हो युद्धभूमिमें दुर्जय हो गये थे ॥ १८ ॥

ते विहाय गुहामध्यं सभाण्डोपस्करे रथे।
मन्दरस्य गिरेः पादे विचेरुर्वसुधातले॥ १९ ॥

वे गुहाओंके मध्यभागको त्यागकर सामानोंसे भरे हुए रथपर बैठकर मन्दराचलकी उपत्यकामें पृथ्वीपर ही विचरने लगे ॥ १९ ॥

चतुरङ्गं बलं सर्वं संहृत्य तमसः प्रभुः।
विष्णुरेव महायोगांश्चचार वसुधातले॥ २० ॥

तब तमोगुणके कार्यभूत असुरोंकी उस सारी चतुरङ्गिणी सेनाका संहार करके प्रभावशाली भगवान् विष्णुने ही भूतल-पर बड़े-बड़े योगोंका आचरण किया ॥ २० ॥

भूयोऽन्यत्तप आसेदुश्चरन्तो ब्राह्मणैः सह।

तैश्च सर्वैः सुरगणैर्धर्मचीरनिवासिभिः ॥ २१ ॥

फिर धर्ममय और चीरमय वस्त्र धारण करनेवाले ब्राह्मणों और समस्त देवताओंके साथ विचरते हुए असुर दूसरी तपस्या करने लगे ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्करप्रादुर्भावविषयक उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

पृथुका राज्याभिषेक तथा दैत्यों और देवताओंद्वारा मन्दराचलके मन्थनदण्डद्वारा समुद्रका मन्थन, समुद्रसे अन्य रत्नोंके साथ अमृतका प्राकट्य और राहुके सिरका छेदन

जनमेजय उवाच

ब्रह्मन् खिले वर्तमाने निर्मर्यादे महाग्रहे।
अविनाशे च भूतानां कथमासन् प्रजास्तदा ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! जब लोहेकी कीलके समान हृदयमें कसक पैदा करनेवाला, मर्यादाशून्य महान् ग्रह (अज्ञान) विद्यमान था और प्राणियोंके मोक्षकी कोई सम्भावना नहीं रह गयी थी, उस समय सारी प्रजाएँ कैसे रहती थीं? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

अभ्यषिञ्चत्पृथुं वैन्यं पुरा राज्ये प्रजापतिः।
राज्याय ऋषिभिः सार्धं प्रजाधर्मपरायणः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! पूर्वकालमें प्रजापालन-रूप धर्ममें तत्पर रहनेवाले प्रजापतिने ऋषियोंको साथ लेकर वेनकुमार पृथुका प्रजाजनोंके राज्यपर राजोचित कर्म करनेके लिये अभिषेक कर दिया ॥ २ ॥

एष नः परमो राजा सानुरागो व्यजायत।
त्रेतायां सम्प्रवृत्तायामन्योन्यमनुजल्पिरे ॥ ३ ॥
एष नो वृत्तिदाता च शिल्पानां च प्रवर्तिता।
निर्माता सर्वभूतानां सत्यप्राप्तेन कर्मणा ॥ ४ ॥

उस समय सत्ययुग समाप्त होकर त्रेताका आरम्भ हुआ था। ऐसे समयमें पृथुको अपना संरक्षक पाकर सारी प्रजा आपसमें कहने लगी—'ये हमारे सर्वोत्तम राजा हैं। हमपर अनुराग होनेसे ही ये हमलोगोंके राजा हुए हैं। हमें जीविकावृत्ति देनेवाले ये ही हैं। ये अनेक प्रकारके शिल्प-कर्मोंके प्रवर्तक होंगे। अपने सत्यप्राप्त (भगवदर्पित) कर्मसे ये समस्त प्राणियोंके जीवन-निर्माता होंगे ॥ ३-४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवा गन्धमादनसानुषु।
बहुभिर्नियमैः श्रान्ता निषण्णा गिरिसानुषु ॥ ५ ॥

इसी समय अनेक प्रकारके नियमोंके पालनसे थके हुए देवता गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर बैठे थे ॥ ५ ॥

अथ गन्धं समासाद्य समन्ताद् देवदानवाः।
माधवे समये प्राप्ते तेन गन्धेन दर्पिताः ॥ ६ ॥

वैशाख मास एवं वसन्त ऋतुका समय प्राप्त था, वहाँ बैठे हुए देवताओं और दैत्योंको सब ओरसे एक दिव्य सुगन्धका अनुभव हुआ। वे उस गन्धसे मदमत्त हो गये ॥ ६ ॥

पुष्पमात्रस्य यद् वीर्यं मारुतेन विसर्पितम्।
मनोग्राहि सुखं सर्वं पार्थिवं गन्धमुत्तमम् ॥ ७ ॥

वह किसी फूलमात्रकी प्रबल गन्ध थी, जो हवाने फैलायी थी। वह मनको बरबस खींचे लेती थी। पूर्णतः सुखदायिनी थी। पृथ्वीतलकी वह सबसे उत्कृष्ट गन्ध थी ॥ ७ ॥

ते दैत्यास्तेन गन्धेन किंचिद् विस्मयमागताः।
प्रसन्नमनसो भूत्वा परं सौख्यमुपागताः ॥ ८ ॥

उस सुगन्धसे दैत्योंको कुछ विस्मय हुआ। उनका मन प्रसन्न हो गया और उन्हें बड़ा सुख मिला ॥ ८ ॥

ऊचुश्च सहिताः सर्वे तेन गन्धेन दर्पिताः।
पुष्पमात्रस्य यद् वीर्यं किं तस्य फलतो भवेत् ॥ ९ ॥

उस गन्धसे उन्मत्त हो वे सब एक साथ होकर बोले—'जिसके फूलमात्रमें ऐसी शक्ति है, उसके फलसे न जाने क्या होगा? ॥ ९ ॥

अनुमानेन विज्ञेया विविधाः कर्मबुद्धयः।
शुभाश्चैवाशुभाश्चैव बुद्धिप्राणेन देहिनाम् ॥ १० ॥

'कर्मविषयक बुद्धियाँ नाना प्रकारकी होती हैं। उन्हें अनुमानसे जानना चाहिये। उनमेंसे कुछ तो शुभ (मोक्ष-साधक) होती हैं और कुछ अशुभ (भोगसाधक)। देह-धारियोंको बुद्धिके बलसे उनको समझना चाहिये ॥ १० ॥

तस्माद् वयं पयोमध्ये ओषध्यो निर्मथामहे।
मन्दरेण विशालेन बलिना कामरूपिणा ॥ ११ ॥

'अतः हमलोग समुद्रके जलके भीतर ओषधियोंको डालकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले विशाल एवं बलवान् मन्दराचलके द्वारा उसका मन्थन करें ॥ ११ ॥

समुद्रमभिसंरम्भान्मथ्नीमः सोमजं जलम्।
पीत्वा च सहिताः सर्वे प्रस्थिताः कामरूपिणः ॥१२॥

'हम सब एक साथ अमृतकी प्राप्तिके लिये उद्यमशील हों और उत्साहपूर्वक समुद्रका मन्थन करें। इससे हमें सोमज जल अर्थात् अमृत प्राप्त होगा, जिसे पीकर हम इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ (एवं अमर) हो जायँगे ॥ १२ ॥

विष्णुरेवाग्रणीस्तेषां भविष्यति महाबलः।
दिवं च वसुधां चैव भोक्ष्यामः सह शत्रुभिः ॥ १३ ॥

'महाबली विष्णु ही उन देवताओंकी ओरसे अगुआ होंगे। हम (अमृत पान करके अमर हो) अपने शत्रुओं (देवताओं) के साथ स्वर्ग तथा भूतलका सुख भोगेंगे ॥१३॥

समूलपत्रशाखाश्च सपुष्पाः फलशालिनः।
सर्वे ग्रहांश्च गृह्णीमः सुधां च वसुधातले ॥ १४ ॥

'मूल (पिता), पत्र (भार्या), शाखा (भाई) तथा पुष्प (संतान) आदि समस्त परिवारके साथ हम सब लोग अभीष्ट फलके भागी होंगे। इस वसुधापर ही हम सुधा पान करेंगे और ग्रहों (अपने भागों) को ग्रहण करेंगे' ॥ १४ ॥

उद्धृत्य गिरिपादेभ्यो गन्धमादनसानुजान्।
प्रभाष्य वचनं दैत्या मन्दरस्य प्रकम्पने ॥ १५ ॥
समुद्धर्तुं प्रधावन्तः कम्पयन्ति स्म मेदिनीम्।
निश्चयेन महावीर्या बाहुभिः परिणाहिभिः ॥ १६ ॥

इस प्रकार वे महापराक्रमी दैत्य मन्दराचलको हिलाने या उखाड़नेकी बातें करके पार्श्ववर्ती पर्वतोंसे तथा गन्धमादन-के शिखरोंपर पैदा हुए वृक्षोंको उखाड़कर अपनी विशाल भुजाओंद्वारा मन्दर पर्वतको निश्चितरूपसे उठानेके लिये दौड़े और पृथ्वीको कम्पित करने लगे ॥ १५-१६ ॥

न शक्नुवस्ते समुद्धर्तुं शैलेन्द्रं दनुवंशजाः।
निपेतुर्जानुभिर्घृष्टा विपुले पर्वतान्तरे ॥ १७ ॥

परंतु वे दानव गिरिराज मन्दरको किसी तरह भी उखाड़ न सके। उनके घुटने घिस गये और वे उस विशाल पर्वतके भीतर गिर पड़े ॥ १७ ॥

समाधायात्मनाऽऽत्मानं तपसा दग्धकिल्बिषाः।
पितामहं प्रपद्यन्ते शिरोभिः कामरूपिभिः ॥१८॥

तपस्याके द्वारा उनके पाप दग्ध हो गये थे। वे आप ही अपने मनको धीरज दे अपने दिव्य मस्तक ब्रह्माजीके चरणोंमें झुकाकर उनकी शरणमें गये ॥ १८ ॥

तेषां मनोऽभिलषितं ब्रह्मा सर्वत्रगो वशी।
ज्ञात्वा बहुविधैर्वाक्यैर्व्याजहार सरस्वतीम् ॥ १९ ॥
अशरीरां शरीरस्थः परया वर्णसम्पदा।
सर्वलोकमतिर्ब्रह्मा लोकानां हितकाम्यया ॥ २० ॥

ब्रह्माजी सर्वत्र गमन करनेवाले तथा सबको वशमें रखनेवाले हैं। उनकी बुद्धि सदा समस्त लोकोंके हितचिन्तनमें ही लगी रहती है। वे उन दैत्योंका मनोरथ जानकर लोक-हितकी कामनासे नाना प्रकारके वाक्यों तथा उत्तम वर्ण-सम्पत्तिसे युक्त वाणी बोले। सशरीर होकर भी उन्होंने अशरीर वाणीका प्रयोग किया ॥ १९-२० ॥

आदित्यैर्वसुभिश्चैव रुद्रैश्च समरुद्गणैः।
दैवैर्यक्षैः सगन्धर्वैः किंनरैश्च प्रगायिभिः ॥ २१ ॥
समेत्य सहितैः सर्वैः शक्य उद्धरितुं गिरिः।
अमृतार्थे महातेजा धातुभिः समरंजितः ॥ २२ ॥
सुरासुरगणाः सर्वे समुत्पाट्य महागिरिम्।
हस्तारूढाः प्रपश्यन्ति वीरुधो हिमवद्रसम् ॥ २३ ॥

(उन्होंने कहा—) 'आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्गण, देवता, यक्ष, गन्धर्व और गानपरायण किंनर—ये सब एक साथ मिलकर अमृतके लिये प्रयत्न करें तो विविध धातुओंसे रञ्जित इस महातेजस्वी पर्वतको उठा सकते हैं। समस्त देवता और असुर उस महापर्वतको उखाड़कर हिमवान् पर्वतके सारभूत रसको लता-बेलोंके रूपमें अपने हाथमें आया हुआ देखेंगे' ॥ २१—२३ ॥

एतच्छ्रुत्वा च वचनं सर्वेषामन्तिके तदा।
दैतेया बाहुबलिनो मनोभिर्वाग्भिरेव च ॥ २४ ॥
विक्रीडभूता बहुधा बभूवुर्लवणाम्भसः।
यत्र पुष्करविन्यस्तः सहितैर्देवदानवैः ॥ २५ ॥

उस समय सबके निकट खड़े हुए बाहुबलशाली दैत्य ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर मन और वाणी आदिके द्वारा उस कार्यके साधनमें प्रवृत्त हुए। जहाँ एक साथ हुए देवताओं और दानवोंद्वारा वह मन्थनदण्ड डाला गया था, उस लवण-समुद्रके वे खिलौने बन गये। उसके जलसे बारं-बार इधर-उधर आन्दोलित होने लगे ॥ २४-२५ ॥

सुरासुरगणाः सर्वे सहिता लवणाम्भसः।
मन्दरं पुष्करं कृत्वा नेत्रं वासुकिमेव च ॥ २६ ॥
समाः सहस्रं मथितं जलमोषधिभिः सह।
क्षीरभूतं समायोगादमृतं समपद्यत ॥ २७ ॥

समस्त देवता और असुरोंने एक साथ लवणसमुद्रके जलमें मन्दराचलको मथानीके रूपमें डालकर वासुकि नागको मथानी बनाया और ओषधियोंसहित समुद्रजलका एक सहस्र वर्षोंतक मन्थन किया। ओषधियोंके योगसे वहाँका जल दूध-रूप होकर अमृत बन गया ॥ २६-२७ ॥

तज्जहुरसुराः पूर्वमाक्रान्ता लोभमन्युना।
धन्वन्तरिस्तथा मद्यं श्रीर्देवी कौस्तुभो मणिः॥ २८ ॥
शशाङ्को विमलश्चापि समुत्तस्थुः समन्ततः।
उच्चैःश्रवा हयो रम्यः पीयूषं तदनन्तरम् ॥ २९ ॥

(कलशमें सञ्चित हुए) उस अमृतको पहले असुरोंने हर लिया, क्योंकि वे लोभ और क्रोधके वशीभूत हो रहे थे। पहले तो सब ओरसे उस समुद्रके जलसे धन्वन्तरि, मद्य,

श्रीदेवी, कौस्तुभमणि तथा निर्मल चन्द्रमा प्रकट हुए। इसके बाद परम सुन्दर उच्चैःश्रवा नामक अश्व निकला। तत्पश्चात् 'अमृत' का प्रादुर्भाव हुआ ॥ २८-२९ ॥

पश्चाद् देवास्तदादातुमुद्यता राहुमब्रुवन्।
न तु केचित् पिबन्ति स्म दैत्या नैव च दानवाः ॥ ३० ॥

(जब दैत्योंने उसे अपने अधिकारमें कर लिया) तब देवता उसे लेनेके लिये राहुके विषयमें इस प्रकार कहने लगे—'कोई भी दैत्य और दानव अभी अमृतका पान नहीं करते हैं (किंतु यह राहु उसे पीनेकी चेष्टा कर रहा है) ॥ ३० ॥

चिच्छेदाथ हरिः संख्ये राहोश्चक्रेण कं तदा।
अनिर्मुक्तं पितृगणैर्मुनिभिश्च सनातनैः ॥ ३१ ॥
तदिन्द्रहस्तादमृतं जहार पृथिवी स्वयम्।
जगामाङ्कगता देवी ब्रह्मवाक्यप्रचोदिता ॥ ३२ ॥

तब श्रीहरिने युद्धमें अपने चक्रसे तत्काल राहुका सिर काट लिया। सनातन मुनियों और पितृगणोंने उस अमृतको नहीं छोड़ा था। इसी बीचमें स्वयं पृथ्वीदेवीने ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर इन्द्रके हाथसे वह अमृत ले लिया। वे ब्रह्माजीके शिष्यभावको प्राप्त हुई थीं। अमृत लेनेके पश्चात् वे चली गयीं ॥ ३१-३२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्करप्रादुर्भावविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

बलिके यज्ञमें वामनद्वारा त्रिलोकीके राज्यका अपहरण तथा कालान्तरमें देवताओंद्वारा बलिका राज्याभिषेक

जनमेजय उवाच

निहते दैत्यसंघाते विष्णोश्चातिपराक्रमे।
दैतेया दानवेयाश्च किमिच्छन्ति पराक्रमात् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने! जब दैत्योंका समूह मारा गया (अपने प्रयासमें निष्फल हो गया) और भगवान् विष्णुका अतिशय पराक्रम विजयी (सफल) हो गया, तब दैत्य और दानव अब पराक्रमसे क्या पाना चाहते हैं? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

दानवा राज्यमिच्छन्ति पराक्रम्य महाबलाः।
तप इच्छन्ति सहिता देवाः सत्यपराक्रमाः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाबली दानव पराक्रम करके (तीनों लोकोंका) राज्य पाना चाहते हैं और सत्यपराक्रमी देवता एक साथ होकर तप करना चाहते हैं ॥ २ ॥

जनमेजय उवाच

कथं कालस्य महतो हिरण्यकशिपुस्तदा।
यजते ब्रह्मणः क्षेत्रे प्राप्तैश्वर्यः स कामदः ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! उस समय हिरण्यकशिपु (वंशी राजा बलि) को तो महान् ऐश्वर्य प्राप्त था, वह दूसरोंको अभीष्ट वस्तुएँ देनेकी शक्ति रखता था। ऐसी दशामें उसने ब्रह्माजीके क्षेत्र (प्रयाग) में दीर्घ कालतक यज्ञ कैसे किया? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ईजे बहुसुवर्णेन राजसूयेन पार्थिवः।
क्रतुना दानवश्रेष्ठो वसुधायां महाबलः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! महाबलशाली दानवश्रेष्ठ राजा बलिने पृथ्वीपर बहुत-सी सुवर्णराशिमयी दक्षिणासे युक्त राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ ४ ॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये यदभूद् विपुलं तपः।
समेयुस्तत्र सहिता यजमाने महासुरे ॥ ५ ॥
ब्राह्मणा वेदविद्वांसो महाव्रतपरायणाः।
यतयश्चापरे सिद्धा योगधर्मेण भारत ॥ ६ ॥

भारत! गङ्गा और यमुनाके मध्यभाग प्रयागमें, जहाँ की हुई तपस्या कई गुनी बढ़ जाती है, जब महान् असुर बलि यज्ञ करने लगा, उस समय वहाँ बहुत से वेदवेत्ता ब्राह्मण, महान् व्रतमें तत्पर रहनेवाले यति तथा योगधर्मसे सिद्ध हुए अन्य महात्मा एक साथ पधारे ॥ ५-६ ॥

मुनयो वालखिल्याश्च धन्या धर्मेण शोभिताः।
बहवो हि द्विजा मुख्या नित्यधर्मपरायणाः ॥ ७ ॥
ऋषयश्च महाभागा विप्रैः पूज्याः सहस्रशः।
विपुलैरत्र विभवैर्ह्रियमाणैस्ततस्ततः ॥ ८ ॥

धर्मसे सुशोभित होनेवाले धन्य वालखिल्य मुनि, सदा धर्मपरायण बहुत-से श्रेष्ठ द्विज तथा ब्राह्मणोंद्वारा पूजनीय सहस्रों महाभाग ऋषि भी उस यज्ञमें पधारे थे। वहाँ जहाँ-तहाँसे भेंटमें आया हुआ महान् वैभव एकत्र किया जा रहा था ॥

शुक्रस्तु सह पुत्रेण दैत्यं याजयते प्रभुः।
हिरण्यकशिपुं मध्ये गणानां ज्वलनप्रभः ॥ ९ ॥

पुत्रसहित प्रभावशाली महात्मा शुक्राचार्य, जो अग्निके समान तेजस्वी थे, नरेशगणोंके बीचमें उस दैत्यराज बलिका यज्ञ करा रहे थे ॥ ९ ॥

हिरण्यकशिपुश्चैव व्याजहार सरस्वतीम्।
कामाद् वरं ददातीति तद् वै सम्प्रतिपद्यताम् ॥ १० ॥

उस समय बलिने याचकसे यह बात कही—'यह यजमान आपको इच्छानुसार वर दे रहा है, आप इसे ग्रहण करें' ॥

विष्णुर्वामनरूपेण भिक्षां तां प्रतिगृह्णति।
हिरण्यकशिपोर्हस्ताद् द्वे पदे पदमेव च ॥ ११ ॥

तब साक्षात् भगवान् विष्णुने वामनरूपसे उपस्थित होकर राजा बलिके हाथसे वह तीन पग भूमिकी भिक्षा ग्रहण की ॥ ११ ॥

ततः क्रमितुमारेभे विष्णुः सत्यपराक्रमः।
त्रीँल्लोकान् मुनिभिः क्रान्तैर्दिव्यं वपुरधारयत्॥ १२ ॥

तब सत्यपराक्रमी भगवान् विष्णुने अपने विक्रमणों (डगों) से मुनियोंद्वारा प्रार्थनीय तीनों लोकोंको आक्रान्त करना (मापना) आरम्भ किया। उस समय उन्होंने दिव्य विराट्रूप धारण कर लिया था ॥ १२ ॥

हृतराज्याश्च दैतेयाः पातालविवरं ययुः।
ससैन्यगणसम्बद्धाः सप्रासाः सासितोमराः ॥ १३ ॥
सयन्त्रलगुडाश्चैव सपताकारथध्वजाः।
सचर्मवर्मकोशाश्च सायुधाः सपरश्वधाः ॥ १४ ॥

राज्यका अपहरण हो जानेपर दैत्य अपनी सेना, प्रास, खड्ग, तोमर, यन्त्र, लगुड, पताका, रथ, ध्वज, ढाल, कवच, कोश, आयुध और फरसे सब कुछ साथ लेकर पाताल-गुफाको लौट गये ॥ १३-१४ ॥

तथेन्द्रविष्णुसहिताः सद्यस्तेऽभ्युत्थिता गणाः।
अभ्यषिञ्चन् प्रमुदिता लोकानामधिपे सुराः ॥ १५ ॥

तदनन्तर (कुछ कालके बाद) इन्द्र तथा विष्णुके साथ दैत्यगण पुनः वहाँसे शीघ्र ही उठे। उस समय देवताओंने प्रसन्नतापूर्वक बलिको त्रिलोकेश्वरके पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ १५ ॥

स तान् स्वधामृतेनाशु पितृत्वे समतर्पयत्।
ब्रह्मा तदमृतं दिव्यं महेन्द्राय प्रयच्छति।
अक्षयं चाव्ययं चैव संवृतस्तेन कर्मणा ॥ १६ ॥

बलिने उन देवताओंको पितृपदपर प्रतिष्ठित करके उन्हें शीघ्र ही स्वधामय अमृतसे तृप्त किया। ब्रह्माजीने वह अक्षय एवं अविकारी अमृत महेन्द्रको दिया। बलिके उस कर्मसे देवेन्द्र सुरक्षित हो गये ॥ १६ ॥

ततः शङ्खमुपाध्मासीद् द्विषतां लोमहर्षणम्।
पितामहकरोद्भूतं जनितं प्रथमे पदे ॥ १७ ॥

तदनन्तर इन्द्रने ब्रह्माजीके हाथसे प्रकट हुए दिव्य शङ्खको, जो प्रमुख पदपर प्रतिष्ठित करनेवाला था, बजाया, वह शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ १७ ॥

तं श्रुत्वा शङ्खशब्दं तु त्रयो लोकाः समाहिताः।
निर्वृतिं परमां प्राप्ता इन्द्रं नाथमवाप्य च ॥ १८ ॥
सर्वैः प्रहरणैश्चैव संयुक्ता वह्निसम्भवैः।
मन्दराग्रेषु विहितैर्ज्वलद्भिरिव पावकैः ॥ १९ ॥

उस शङ्ख-ध्वनिको सुनकर तीनों लोकोंके प्राणियोंका मन एकाग्र हो गया। वे इन्द्रको अपना रक्षक पाकर परमानन्दमें निमग्न हो गये। अग्निसे प्रकट हुए और प्रज्वलित पावकके समान प्रकाशित होनेवाले जो समस्त आयुध मन्दराचलके शिखरोंपर विद्यमान थे, उनसे संयुक्त हुए तीनों लोक बहुत ही संतुष्ट हुए ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्करप्रादुर्भावविषयक एकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

दक्ष-यज्ञ-विध्वंस

वैशम्पायन उवाच

ततो महति वृत्तान्ते स्थिते राज्ये महोदये।
देवतानां मनुष्याणां सहवासोऽभवत् तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पूर्वोक्त महान् वृत्तान्त घटित होनेपर जब परम अभ्युदयकारी राज्यकी प्रतिष्ठा हो गयी, तब देवता और मनुष्य परस्पर साथ-साथ रहने लगे ॥ १ ॥

एकतः समधीयन्ति सहिताः प्ररुदन्ति च।
स्वयं च भागं गृह्णन्ति यज्ञकर्मणि भारत ॥ २ ॥

भारत! वे देवता और मनुष्य एक साथ स्वाध्याय करते, परस्पर प्रेमवश एक साथ रोते और यज्ञकर्ममें मनुष्योंद्वारा दिये गये भागको देवता स्वयं आकर ग्रहण करते थे ॥

प्राचेतसं ततो दक्षं दीक्षित्वा वै बृहस्पतिः।
वाजिमेधाय भगवानृषिभिः परिवारितः ॥ ३ ॥

उन्हीं दिनों प्राचेतस दक्षको अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा देकर भगवान् बृहस्पति ऋषियोंसे घिरे हुए वहाँ बैठे ॥ ३ ॥

तस्मिन् मातामहे यज्ञे दक्षस्य विदितात्मनः।
शामित्रमकरोद् रुद्रो भागार्थे सह नन्दिना ॥ ४ ॥

आत्मज्ञान शून्य मातामह दक्षके उस यज्ञमें नन्दीसहित भगवान् रुद्रने अपने भागके लिये शामित्र कर्म (पशुभूत दक्षकी हिंसाका कार्य) किया ॥ ४ ॥

रुद्रस्यैव हि तद् रूपं द्विधाभूतं तदीप्सया ।
जातः परमधर्मात्मा नन्दी पुरुषविग्रहः ॥ ५ ॥

नन्दी भगवान् रुद्रके ही दूसरे रूप हैं, जो उन्हींकी इच्छासे परम धर्मात्मा पुरुष-शरीरसे प्रकट हुए हैं ॥ ५ ॥

तेन योगेन राजेन्द्र यत्तद् ब्रह्म सनातनम् ।
विहितं सत्यवचनैस्तेनैव परमात्मना ॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! पूर्वोक्त योगके प्रभावसे वह जो प्रसिद्ध सनातन ब्रह्म है, उसीको उन परमात्मा रुद्रने ही वेदवाक्योंद्वारा उस रूपमें प्रकाशित किया था ॥ ६ ॥

सरूपैश्चाप्यरूपैश्च विरूपाक्षैर्घटोदरैः ।
ऊर्ध्वनेत्रैर्महाकायैर्विकटैर्वामनैस्तथा ॥ ७ ॥
शिखिभिर्जटिभिश्चैव त्र्यक्षैश्च शङ्कुकर्णिभिः ।
चीरिभिश्चर्मिभिश्चैव कूटमुद्गरपाणिभिः ॥ ८ ॥
सघण्टाधारिभिश्चैव मुञ्जमेखलधारिभिः ।
सहस्तकटकैश्चैव स्वर्णकुण्डलधारिभिः ॥ ९ ॥
सडिण्डिमैः सभेरीयैः समृदङ्गैः सवेणुभिः ।
एतैः परिवृतो देवो मखं तं समुपारुजत् ॥ १० ॥

भगवान् रुद्रके गणोंमेंसे कुछ रूपवान् थे, कुछ रूपहीन । कितनोंके नेत्र विकराल रूपवाले थे । कितने ही घटोदर (घड़े-जैसे पेटवाले) थे । कितने ही गणोंके नेत्र ऊपर (सिरपर) थे । कोई विशालकाय थे तो कोई वामन । बहुतेरे बड़े विकट दिखायी देते थे । कितनोंके सिरपर बड़ी-बड़ी चोटियाँ थीं और बहुत-से जटाएँ रखाये हुए थे । किन्हींके तीन आँखें थीं तो किन्हींके खूँटे-जैसे कान थे । कोई चीर (फटे-पुराने वस्त्र) पहने हुए थे तो कोई चमड़े लपेटे रहते थे । कितनोंके हाथोंमें कूट, मुद्गर शोभा पाते थे । कोई घण्टा धारण करते थे तो कोई मूँजकी मेखला पहने हुए थे । कितनोंके हाथोंमें कड़े और कानोंमें सोनेके कुण्डल शोभा पाते थे । कोई डिण्डिम (डंका) पीटते थे तो कोई भेरी (ढाक); कोई मृदङ्ग बजाते थे तो कोई वेणु । ऐसे गणोंसे घिरे हुए महादेवजीने दक्षके उस यज्ञका विध्वंस किया था ॥

सशङ्खमुरजैश्चापि सतालफलपाणिभिः ।
उग्रायुधधरो देवः सपिनाक इवान्तकः ॥ ११ ॥

कितने ही गण शङ्ख और मुरज बजाते थे । कितनोंके हाथोंमें ताड़के फल थे । उस समय भयंकर आयुध एवं पिनाक धारण करनेवाले महादेवजी यमराजके समान जान पड़ते थे ॥ ११ ॥

विरराजार्चिभिर्दीप्तैर्मखे मखवतां वरः ।
कालाग्निरिव दीप्तार्चिर्जगद्दग्धुमिवोद्यतः ॥ १२ ॥

आगकी लपटोंसे उद्दीप्त हुए उस यज्ञमण्डपमें यज्ञवानोंमें श्रेष्ठ भगवान् रुद्र सारे जगत्‌को जला डालनेके लिये उद्यत हुई प्रज्वलित शिखावाली प्रलयाग्निके समान शोभा पाते थे ॥ १२ ॥

नन्दी पिनाकपाणिश्च जघ्नतुर्मखमुत्तमम् ।
युगान्त इव कालाग्निः क्षिप्रं दग्धुमिवोद्यतः ॥ १३ ॥

नन्दी और पिनाकधारी महादेवजी दोनों ही उस उत्तम यज्ञका नाश कर रहे थे । भगवान् रुद्र प्रलयकालमें समस्त संसारको भस्म करनेके लिये उद्यत हुए अग्निदेवके समान जान पड़ते थे ॥ १३ ॥

यूपमुत्क्षिप्य धावन्ति निशाचरगणास्तथा ।
त्रासयन् मुनिसंघांश्च चीरचर्मनिवासिनः ॥ १४ ॥

चीर और चर्म धारण करनेवाले निशाचरगण मुनियोंके समुदायको त्रास देते और यूप उछालते हुए दौड़ रहे थे ॥ १४ ॥

हवींष्यन्ये पिबन्त्येव जिह्वाभिस्ताम्रलोचनाः ।
भक्षयन्ति पशूनन्ये रसनाग्रावलम्बिभिः ॥ १५ ॥

ताँबे-जैसे नेत्रवाले कितने ही रुद्रगण अपनी जिह्वाओंसे हविष्योंका पान कर रहे थे । कितने वहाँ पशुओंको चबा रहे थे और वे पशु उनकी जिह्वाके अग्रभागपर लटक रहे थे॥१५॥

मुमुचुश्चापरे यूपान् पशवः प्रहरन्ति च ।
वह्निमध्ये प्रसिञ्चन्ति वारिभिः प्रशमाय च ॥ १६ ॥

दूसरे रुद्रगण यूपोंको ऊपर फेंकते और पशुओंको पीटते थे । कितने ही यज्ञकुण्डमें पानी डालते थे, जिससे वहाँ प्रज्वलित हुई आग बुझ जाय ॥ १६ ॥

सोममन्ये जहुः केचिन्नेत्रैस्ताम्रजपोपमैः ।
दर्भान् केचिद् विलुम्पन्ति हस्तैः पद्मदलप्रभैः ॥ १७ ॥

कोई ताँबे और जपा-कुसुमके समान लाल नेत्रोंसे देखते हुए सोमरसको नष्ट करने लगे । कोई प्रफुल्ल कमलदलके समान कान्तिवाले हाथोंसे वहाँ बिछे हुए कुशोंको चौपट करने लगे ॥ १७ ॥

बभञ्जिरे च यूपाग्रान्
कलशांश्चापि चिक्षिपुः ।
चिच्छिदुः काञ्चनान् वृक्षा-
ञ्छोभार्थमुपकल्पितान् ॥ १८ ॥

किन्हींने यूप तोड डाले, किन्हींने कलश उठाकर फेंक दिये तथा कुछ गणोंने वहाँ शोभाके लिये बनाये गये सुवर्णमय वृक्षोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ १८ ॥

विभिदुश्चैव बाणैस्ते मुमुचुश्च हिरण्मयान् ।
लुलुपुश्चैव पात्राणि ममन्थुश्चारणीमपि ॥ १९ ॥

कुछ गणोंने बाणोंद्वारा सुवर्णमय वृक्षोंको विदीर्ण कर

दिया तथा उनपर सुनहरे बाण छोड़े। कितनोंने यज्ञपात्र तोड़ डाले और अरणीको भी मथ डाला ॥ १९ ॥

अरुजंश्चैव प्राग्वंशं लुलुपुश्च समाहिताः।
चखादिरे पुरोडाशान् नखाग्रैश्च चकर्तिरे ॥ २० ॥

कुछ गणोंने पत्नी-शाला उजाड़ दी और वहाँके सब सामान लूट लिये। यह सब कार्य वे बड़ी सावधानीसे कर रहे थे। उन्होंने पुरोडाश खा लिये और उनके रक्षकोंको अपने नखोंके अग्रभागसे बकोट लिया ॥ २० ॥

एवं दिवा च रात्रौ च भिद्यमानो महामखः।
चुक्रोश च महानादान् भिद्यमान इवार्णवः ॥ २१ ॥

इस प्रकार जब दिनमें और रातमें भी पीड़ा दी गयी, तब वह महान् यज्ञ मूर्तिमान् होकर मथे जाते हुए समुद्रके समान बड़े जोर-जोरसे आर्तनाद करने लगा ॥ २१ ॥

धनुः सशरमादाय पूर्वदत्तं स्वयंभुवा।
कृतं कीचकवेणुभ्यां समरे सुमहारथः ॥ २२ ॥
प्रतिगृह्य महादेवः स शरैः समयोजयत्।
धनुर्विगृह्य जानुभ्यां जघान स महाक्रतुम् ॥ २३ ॥

तब महारथी महादेवजी दोनों घुटनोंके बलपर खड़े हो गये और साक्षात् ब्रह्माजीने जिसे बाणसहित पहलेसे दे रखा था तथा जो 'कीचक और वेणु' नामक बाँसोंसे बनाया गया था, उस धनुषको हाथमें ले उसे झुकाकर उन्होंने उसपर बाण रक्खा तथा उस महायज्ञको उसका निशाना बनाया ॥ २२-२३ ॥

स विद्धस्तेन बाणेन खं समुत्पतितः क्रतुः।
मृगो भूत्वा नर्दमानो ब्रह्माणमुपधावति ॥ २४ ॥

उस बाणसे घायल होकर वह यज्ञ आकाशमें उछला और मृग होकर आर्तनाद करता हुआ ब्रह्माजीके पास दौड़ा गया ॥ २४ ॥

शरेणाभिहतस्त्राणं न लेभे प्रशमं भुवि।
शरणार्थी ह्ययं प्राप्तः शरेणान्तर्गतेन च ॥ २५ ॥

बाणसे आहत हो जानेके कारण उसे भूतलपर न तो कहीं रक्षाका आश्वासन मिला और न चित्तमें शान्ति ही प्राप्त हुई। अतः वह शरणार्थी होकर शरीरमे धँसे हुए बाणके साथ ही ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुआ ॥ २५ ॥

तमुवाच मृगं ब्रह्मा शुभं सानुनयं वचः।
स्वरेणोत्तमवीर्येण गम्भीरेण सुभाषिणा ॥ २६ ॥

ब्रह्माजीने उस मृगसे उत्तम बलसे युक्त, गम्भीर एवं सुन्दर भाषण करनेवाले स्वरसे यह शुभ एवं अनुनयपूर्ण बात कही—॥ २६ ॥

एवंरूपो नभसि त्वं भविष्यसि महामृगः।
विजितश्च त्रिपर्वेण शरेणानतपर्वणा ॥ २७ ॥

'महायश ! तुम झुकी हुई गाँठ और तीन पर्ववाले बाणसे पराजित हो इसी तरह महान् मृगके रूपमें आकाशमें स्थित रहोगे ॥ २७ ॥

तिष्ठन् नक्षत्रशिरसि सह रुद्रेण नित्यशः।
सोमेन सह संयुक्तो ह्यक्षयेणाव्ययेन च ॥ २८ ॥

'तुम नक्षत्रके सिरपर स्थित हो 'मृगशिरा' कहलाओगे और रुद्र (आर्द्रा) के साथ तुम्हारा सदा सांनिध्य बना रहेगा। तुम अक्षय अव्यय सोमके साथ संयुक्त रहोगे (सोम ही तुम्हारे देवता होंगे) ॥ २८ ॥

दिवि संचारभूतो वै ताराभिः सह संगतः।
ज्योतिर्भूतो ज्योतिषां त्वं ध्रुवश्चैव महाध्रुवः ॥ २९ ॥

'आकाशमें तुम्हें संचार प्राप्त होगा। तुम ताराओंके साथ मिले रहोगे। तुम ज्योतियोंके बीच ज्योतिर्मय होकर प्रकाशित होओगे तथा 'ध्रुव' एवं 'महाध्रुव' बने रहोगे ॥ २९ ॥

यच्चैतद् रुधिरं दिव्यं क्षतजादभिनिःसृतम्।
नभस्युत्पतितं चैव प्रवेगेन प्रधावतः ॥ ३० ॥
क्षतजं बहुवर्णं च क्षेत्रं मण्डलसंज्ञितम्।
निमित्तभूतं भूतानां वर्षे वर्षप्रदं तथा ॥ ३१ ॥

'तुम्हारे शरीरमें जो बाणके आघातसे घाव हो गया है और इससे जो यह दिव्य रुधिर निकला है, तुम्हारे वेगपूर्वक दौड़नेसे आकाशमें भी उछला है और अनेक रंगोंमें परिणत हो गया है; अतः यह मण्डल नामसे प्रसिद्ध क्षेत्र होगा और वर्षाऋतुमें प्राणियोंके लिये निमित्त (वर्षासूचक लक्षण) बनकर वृष्टि प्रदान करनेवाला होगा ॥३०-३१॥

सुखं दुःखं च भूतानां दर्शने सम्प्रवर्तते।
इन्द्रियश्रवणाच्चैव नभसीन्द्रायुधोऽभवत् ॥ ३२ ॥

इसके दर्शनसे प्राणियोंको सुख और दुःख होता है। यह नेत्रेन्द्रियका विषय सुना गया है। अतः लोकमें इन्द्रायुध (अथवा इन्द्रधनुष) के नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥३२॥

चक्षुषी मानुषे राजन् विस्मयात् समवैक्षत।
अद्भुतं बहुचित्रं च मनसा सम्प्रकल्पितम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! पहले-पहल जब यह प्रकट हुआ, तब मनुष्यों की आँखोंने बड़े विस्मयसे इसकी ओर देखा। यह अद्भुत, विचित्र तथा ब्रह्माजीके मनसे कल्पित है ॥ ३३ ॥

न तु रात्रौ प्रदृश्येत खे सब्रह्मणि संज्ञितम्।
दिनस्यैव सदा त्वग्रे महत्कार्यं प्रदृश्यते ॥ ३४ ॥
भूमावेव समुत्तिष्ठेदाकाशे तु विलीयते।

यह रातमे नहीं दिखायी देता। आकाशमें जबतक सूर्यकी ज्योति रहती है, तभीतक इसका भान होता है। यह महान् कार्य सदा दिनके आगे ही दृष्टिगोचर होता है। यह भूतलपर ही उठता है और आकाशमें विलीन होता है ॥ ३४½ ॥

शतशश्च समं सर्वे प्रधावन्ति प्रचेतसः।
भयाद् रुद्रस्य महतो धन्विनो बाणपाणयः ॥ ३५ ॥

उस यज्ञमण्डपमें जो परम उत्साही तथा बाणधारी वीर पुरुष सैकड़ोंकी संख्यामें मौजूद थे, वे सब-के-सब महाधनुर्धर रुद्रके भयसे सब ओर भागने लगे ॥ ३५ ॥

नन्दी रुद्रगणैः सार्द्धं पिनाकी समतिष्ठत।
युगान्तकाले ज्वलितो ब्रह्मदण्ड इवोद्यतः ॥ ३६ ॥

प्रलयकालमें प्रज्वलित ब्रह्मदण्डके समान उद्यत हुए पिनाकधारी नन्दी वहाँ रुद्रगणोंको साथ लेकर विपक्षियोंसे युद्ध करनेके लिये खड़े हो गये ॥ ३६ ॥

विष्णुः शृङ्गसमुद्भूतं प्रगृह्य विपुलं धनुः।
प्रातिष्ठत महाबाहुः पाणिना चक्रमादधत् ॥ ३७ ॥

उधर महाबाहु भगवान् विष्णु शृङ्गसे निर्मित हुए विशाल शार्ङ्गधनुष और चक्र हाथमें लेकर युद्धके लिये प्रस्थित हुए ॥ ३७ ॥

गदां सघण्टामन्येन खड्गमन्येन पाणिना।
प्रगृह्य सोऽग्रतोऽतिष्ठद् रुद्रायोद्यतपाणये ॥ ३८ ॥

वे एक हाथमें घण्टायुक्त गदा और दूसरे हाथमें नन्दक खड्ग लेकर उठे हुए हाथवाले रुद्रका सामना करनेके लिये युद्धके मुहानेपर खड़े थे ॥ ३८ ॥

ततः शृङ्गाग्रसम्भूतं प्रगृह्य विपुलं धनुः।
शङ्खं चाप्रतिमं लोके शरांश्चानतपर्वणः ॥ ३९ ॥
विष्णुरग्रस्थितो भाति सबलः संहताङ्गुलिः।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः सचन्द्र इव तोयदः ॥ ४० ॥

उस समय विशाल शार्ङ्गधनुष, जगत्‌की अनुपम वस्तु पाञ्चजन्य शङ्ख और झुकी हुई गाँठवाले बाण लेकर सटी हुई अङ्गुलियोंवाले शक्तिशाली भगवान् विष्णु हाथोंमें गोहके चर्मके बने हुए दस्ताने बाँधे संग्राममभूमिमें आगे खड़े होकर चन्द्रमासहित मेघके समान सुशोभित हो रहे थे ॥

आदित्या वसवश्चैव दिव्यैः प्रहरणैः सह।
विष्णुमेवाभितः सर्वे तिष्ठन्ति ज्वलनप्रभाः ॥ ४१ ॥

अग्निके समान तेजस्वी आदित्य और वसुगण सभी अपने दिव्य आयुधोंके साथ भगवान् विष्णुके ही आस-पास दोनों ओर खड़े हो गये ॥ ४१ ॥

मरुतश्चैव विश्वे च रुद्रमेवाभिपेदिरे।
गन्धर्वाः किंनराश्चैव नागा यक्षाः सपन्नगाः ॥ ४२ ॥
ऋषयो न्यस्तदण्डाश्च उभयोः पक्षयोर्हिताः।
जपन्ति शान्तये नित्यं लोकानां हितकाम्यया ॥ ४३ ॥

मरुद्गणों और विश्वेदेवोंने रुद्रदेवका ही साथ दिया। गन्धर्व, किंनर, नाग, यक्ष, पन्नग तथा दण्डका त्याग करनेवाले ऋषि—दोनों पक्षोंके हितैषी थे। वे प्रतिदिन शान्ति एवं लोकहितकी कामनासे मन्त्र-जप करते थे ॥ ४२-४३ ॥

रुद्रः शरेणाभ्यहनद् विष्णुमेवाग्रणी रणे।
हृदि सर्वाङ्गसन्धीषु तीक्ष्णाग्रेण सुयन्त्रिणा ॥ ४४ ॥

अग्रगामी रुद्रने रणभूमिमें अपने बाणसे पहले भगवान् विष्णुके ही वक्षःस्थल तथा समस्त अङ्गोंकी सन्धियोंमें आघात किया। उस बाणका अग्रभाग बहुत तीखा तथा उत्तम यन्त्रसे युक्त था ॥ ४४ ॥

न चकम्पे तदा विष्णुः सर्वात्मा ब्रह्मसम्भवः।
न च रोषमना नित्यं वृतः सर्वैः षडिन्द्रियैः ॥ ४५ ॥

परंतु ब्रह्माजीके उत्पादक तथा सबके आत्मा भगवान् विष्णु न तो उस आघातसे कम्पित हुए और न मनमें उन्होंने तनिक भी रोष ही आने दिया छहों इन्द्रियोंने उनका पतिरूपसे वरण किया है (अर्थात् सभी इन्द्रियाँ उनके वशमें रहती हैं) ॥ ४५ ॥

विष्णुश्च धनुरानम्य शरेण समयोजयत्।
जत्रुदेशे मुमोचाशु ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ॥ ४६ ॥

तत्पश्चात् भगवान् विष्णुने अपने धनुषको नवाकर उसपर बाणका संधान किया और उद्यत हुए ब्रह्मदण्डके समान उस बाणको भगवान् शिवकी गलेकी हँसलीपर शीघ्रतापूर्वक छोड़ दिया ॥ ४६ ॥

स विद्धस्तेन बाणेन महादेवो न कम्पते।
वज्रेण च महासन्धिर्मन्दरस्य न चाल्यते ॥ ४७ ॥

उस बाणसे बिंध जानेपर भी महादेवजी विचलित नहीं हुए। ठीक उसी तरह, जैसे वज्रके प्रहारसे मन्दराचलकी महासन्धि नहीं हिलती है ॥ ४७ ॥

ततः प्रसभमाप्लुत्य रुद्रं विष्णुः सनातनम्।
कण्ठे जग्राह भगवान् नीलकण्ठस्ततोऽभवत् ॥ ४८ ॥
अनादिनिधनो देवो क्षमतां हि भवान्मम।
सर्वभूतागमाचार्यमचलत्वाच्च कर्मणाम् ॥ ४९ ॥

तब नीलवर्ण भगवान् विष्णु हठात् उछलकर सनातनदेव रुद्रके गलेसे जा लगे, इससे महादेवजी 'नीलकण्ठ' नामसे प्रसिद्ध हुए। फिर विष्णु बोले—'अनादि अनन्त देवता रुद्र मेरा अपराध क्षमा करें; क्योंकि मैं यह जान गया कि आप सम्पूर्ण भूतों और आगमोंके आचार्य हैं। कर्म जड हैं, अतः वे आप चिन्मय परमात्माको प्रकाशित नहीं कर सकते' ॥ ४८-४९ ॥

कर्मणां चैव कर्ता च विकर्ता चैव भारत।
अशेषत्वाच्च भूतानां सर्वभूतेषु चोत्तमः ॥ ५० ॥

भारत! भगवान् शिव ही सर्वात्मा होनेके कारण कर्मोंके

कर्ता और विकर्ता हैं। वे भूतोंके शेष (अङ्ग) नहीं शेषी (अङ्गी) हैं, इसलिये समस्त प्राणियोंमें उत्तम हैं ॥ ५० ॥

स्वयमेव हि यत् कर्म विधत्ते कर्मयोनिषु।
तयोः शुभतमो राजन् स्वयमेव तथाकरोत् ॥ ५१ ॥

राजन्! जिन्हें कर्मोंद्वारा नाना प्रकारके शरीर प्राप्त हुए हैं, उनमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित होकर वे स्वयं ही कर्म करते हैं (उसके लिये प्रेरणा देते हैं)। कर्ता और प्रयोजक दोनोंसे भिन्न जो शुभतम (विशुद्ध) परमात्मा हैं, उन्होंने ही वैसा नियम बनाया है ॥ ५१ ॥

अन्तरिक्षाच्छुभा वाचः श्रूयन्ते परमाद्भुताः।
सिद्धानां वदनोन्मुक्ताः सनातन नमोऽस्तु ते ॥ ५२ ॥

तदनन्तर अन्तरिक्षसे सिद्धोंके मुखसे निकली हुई परम अद्भुत एवं शुभ वाणी सुनायी देने लगी—'सनातन परमेश्वर! आपको नमस्कार है' ॥ ५२ ॥

नन्दी पिनाकमुद्यम्य बलवान् रुद्रसम्भवः।
मूर्द्धन्यभिजघानाजौ विष्णुं क्रोधेन मूर्छितः ॥ ५३ ॥

इतनेहीमें क्रोधसे मूर्छित हुए रुद्रजनित बलवान् नन्दीने पिनाक उठाकर युद्धमें भगवान् विष्णुके मस्तकपर प्रहार किया ॥ ५३ ॥

ततः प्रहसितो विष्णुर्नन्दीं दृष्ट्वा सुरोत्तमः।
स्तम्भयामास भगवान् सर्वभूतपतिर्हरिः ॥ ५४ ॥

तब सम्पूर्ण भूतोंके प्रतिपालक सुरश्रेष्ठ भगवान् विष्णु हरि नन्दीकी ओर देखकर जोर-जोरसे हँसने लगे। फिर उन्होंने नन्दीको स्तम्भित कर दिया—वे हिल-डुल भी न सके ॥ ५४ ॥

विष्णुर्ब्रह्मसमो भूत्वा तेजसा प्रज्वलन्निव।
क्षमया च समायुक्तः स्थितः स्थाणुरिवाचलः॥ ५५ ॥

भगवान् विष्णु ब्रह्म-समान होकर तेजसे प्रज्वलित-से होने लगे। वे क्षमाभावसे युक्त हो ठूँठे काठकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे ॥ ५५ ॥

अचिन्त्यश्चाप्रमेयश्च ह्यजेयश्चाप्यरिंदमः।
युगान्ताग्निसमो भूत्वा शान्तात्मा हरिरव्ययः ॥ ५६ ॥

'अचिन्त्य, अप्रमेय, अजेय, शत्रुका दमन करनेमें समर्थ और प्रलयाग्निके समान महातेजस्वी होकर भी अविनाशी श्रीहरिने उस समय अपने चित्तको शान्त कर लिया ॥ ५६ ॥

प्रसन्नः कल्पयामास भागं रुद्राय धीमते।
विष्णुर्धर्मपरो नित्यं त्यक्तकामः सुरोत्तमः ॥ ५७ ॥

सदा ही कामनाओंका परित्याग करनेवाले धर्मपरायण सुरश्रेष्ठ भगवान् विष्णुने प्रसन्न होकर उस यज्ञमें बुद्धिमान् रुद्रदेवके लिये भागकी कल्पना (व्यवस्था) की ॥ ५७ ॥

विष्णुना चैव राजेन्द्र स यज्ञः संधितः पुनः।
यथापक्षं च ते सर्वे गणास्त्वासन् महीपते।
तस्मिन् युद्धे महाघोरे विष्णू रुद्रस्य चैव ह ॥ ५८ ॥

राजेन्द्र! जिसे रुद्रने भंग कर दिया था, उस यज्ञको भगवान् विष्णुने फिरसे जोड़ा—उसे विधिपूर्वक सम्पन्न किया। पृथ्वीनाथ! उस समय भगवान् विष्णु और रुद्रके घोर युद्धमें सभी गण यथायोग्य पक्षमें सम्मिलित हो गये थे ॥

यथापक्षं भवेद् युद्धं दक्षयज्ञविनाशने।
विनाशश्चैव यज्ञस्य तदा लोके प्रतिष्ठितः ॥ ५९ ॥

दक्षयज्ञके विध्वंसके समय जिसका जो पक्ष था, उसीका आश्रय लेकर उसने युद्ध किया। उस समय लोकमें यज्ञका नाश ही प्रतिष्ठित हुआ ॥ ५९ ॥

सर्वभूतेषु राजेन्द्र हितो यज्ञः सनातनः।
दक्षो यज्ञफलं चैव प्राप्तवान् स प्रजापतिः ॥ ६० ॥

परंतु राजेन्द्र! यज्ञ समस्त प्राणियोंके लिये हितकर एवं सनातन है। प्रजापति दक्षने यज्ञका पूरा-पूरा फल पाया ॥

इमां चोदाहृतां दिव्यां कथामिति स बुद्धिमान्।
श्रावयेद् यस्तु विप्रेभ्यः शुचिः प्रयतमानसः ॥ ६१ ॥
अधीत्य सर्वमध्यात्मं देवलोके महीयते।

जो पवित्र, संयतचित्त एवं बुद्धिमान् पुरुष यहाँ कही गयी इस दिव्य कथाका ब्राह्मणोंको श्रवण कराता है, वह समस्त अध्यात्मशास्त्रका अध्ययन करके देवलोकमें पूजित होता है ॥ ६१½ ॥

एष पौष्करको नाम प्रादुर्भावो महात्मनः ॥ ६२ ॥
पुराणे पौष्करे चैव मया द्वैपायनेरितः।
यथावदनुपूर्वेण, संस्कृतः परमर्षिभिः ॥ ६३ ॥

परमात्माका यह पुष्कर नामक प्रादुर्भाव, जिसे द्वैपायन व्यासजीने कहा था, मैंने इस पुराणमें पुष्कर-प्रादुर्भावके प्रसङ्गमें क्रमशः यथावत् रूपसे सुनाया है। महर्षियोंने इसका संस्कार किया है ॥ ६२-६३ ॥

यश्चैनमग्र्यं पुरुषः पुराणं
सदाप्रमत्तः शृणुयाद् यथोक्तम्।
अवाप्य कामानिह वीतशोकः
परत्र च स्वर्गफलानि भुङ्क्ते ॥ ६४ ॥

जो पुरुष सदा सावधान रहकर इस श्रेष्ठ पुराणका यथावत् रूपसे श्रवण करता है, वह इस लोकमें सम्पूर्ण कामनाओंको पाकर वीतशोक हो परलोकमें भी स्वर्गीय फलोंका उपभोग करता है ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौष्करे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पुष्कर-प्रादुर्भावविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

वाराहावतारका उपक्रम

जनमेजय उवाच

प्रादुर्भावः पुराणेषु विष्णोरमिततेजसः।
सतां कथयतां विप्र वाराह इति नः श्रुतः॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर ! मैंने सत्पुरुषोंके मुखसे पुराणोंमें अमिततेजस्वी भगवान् विष्णुके 'वाराह' नामक अवतारकी चर्चा सुनी है ॥ १ ॥

न जानतेऽस्य चरितं न विधिं नैव विस्तरम्।
न कर्म गुणवद्भावं न हेतुं न मनीषितम्॥ २ ॥

प्रायः लोग भगवान् वराहका चरित्र नहीं जानते हैं। उसकी विधि और विस्तारसे भी अपरिचित हैं। भगवान् वाराहके कर्म, उनकी गुणवत्ता, उनके उस अवतारका हेतु तथा उनके मनोगत विचार क्या हैं ? यह भी लोगोंको ज्ञात नहीं है ॥ २ ॥

किमात्मको वराहोऽसौ का मूर्तिः कास्य देवता।
किमाचारः किंप्रभावः किं वा तेन पुरा कृतम्॥ ३ ॥

उस वराहका स्वरूप क्या है ? उसकी मूर्ति कैसी है ? उसके देवता कौन हैं ? उसका आचार और प्रभाव क्या है? अथवा उसने पूर्वकालमें कौन-सा कार्य किया था ? ॥ ३ ॥

एतन्मे संशयत्वेन वाराहं श्रुतिविस्तरम्।
यज्ञार्थं च समेतानां द्विजातीनां महात्मनाम्॥ ४ ॥

यह मेरा संशयरूपसे प्रश्न है। यज्ञके लिये एकत्र हुए इन महात्मा ब्राह्मणोंके लिये भी वाराह-अवतारसम्बन्धी कथाका श्रवण विस्तारपूर्वक अपेक्षित है। (अतः आप इसका वर्णन करें) ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतत् ते कथयिष्यामि पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
नानाश्रुतिसमायुक्तं कृष्णद्वैपायनेरितम्।
महावराहचरितं कृष्णस्याद्भुतकर्मणः॥ ५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णुका यह महावराह-चरित पुराणकथित एवं वेदके तुल्य आदरणीय है, नाना श्रुतियोंसे युक्त (अनुमोदित) तथा साक्षात् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीके द्वारा प्रतिपादित है। मैं इसका तुम्हारे समक्ष वर्णन आरम्भ करता हूँ ॥ ५ ॥

यथा नारायणो राजन् वाराहं वपुरास्थितः।
दंष्ट्रया गां समुद्रस्थामुज्जहारारिसूदनः॥ ६ ॥
छान्दसीभिरुदाराभिः श्रुतिभिः समलङ्कृतः।
शुचिः प्रयत्नवान् भूत्वा निबोध जनमेजय॥ ७ ॥

राजा जनमेजय ! शत्रुसूदन भगवान् नारायणने वराहरूप धारणकर उदार वैदिक श्रुतियोंसे अलंकृत, पवित्र एवं प्रयत्नशील हो जिस प्रकार एकार्णवके जलमें डूबी हुई पृथ्वीका अपनी एक दाढ़के द्वारा उद्धार किया, वह सब चरित्र सुनो ॥६-७॥

इदं पुराणं परमं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्।
नानाश्रुतिसमायुक्तं नास्तिकाय न कीर्तयेत्॥ ८ ॥

इस परम पवित्र, पुरातन, वेदोंके तुल्य प्रामाणिक तथा नाना श्रुतियोंसे अनुमोदित चरित्रका वर्णन किसी नास्तिकके सामने नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥

पुराणमेतदखिलं सांख्यं योगं तथैव च।
कार्त्स्न्येन विधिना प्रोक्तं योऽस्यार्थं ज्ञास्यते पुमान्॥९॥

यह सारा पुराण सांख्य-योगमय है। जो विद्वान् पुरुष इसके अर्थको ठीक ठीक समझेगा, उसके लिये इसमें पूर्णतया विधिपूर्वक सांख्य-योगका वर्णन है ॥ ९ ॥

विश्वेदेवास्तथा साध्या रुद्रादित्यास्तथाश्विनौ।
प्रजानां पतयश्चैव सप्त चैव महर्षयः॥ १० ॥
मनःसंकल्पजाश्चैव पूर्वजाश्च महर्षयः।
वसवोऽप्सरसश्चैव गन्धर्वा यक्षराक्षसाः॥ ११ ॥
दैत्याः पिशाचा नागाश्च भूतानि विविधानि च।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा म्लेच्छादयो भुवि॥ १२ ॥
चतुष्पदानि सर्वाणि तिर्यग्योनिगतानि च।
जङ्गमानि च सत्त्वानि यच्चान्यज्जीवसंज्ञितम्॥ १३ ॥

विश्वेदेव, साध्य, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार, प्रजापति, सात महर्षि, ब्रह्माजीके मनःसंकल्पसे उत्पन्न हुए पूर्वज महर्षि, वसु, अप्सरा, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, दैत्य, पिशाच, नाग, नाना प्रकारके भूत, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, भूतलवासी म्लेच्छ आदि, समस्त चौपाये, तिर्यग् योनिके जीव, जङ्गममात्र जीव तथा दूसरे भी जीव नामधारी भूत—ये सभी भगवान् वराह (विष्णु) के स्वरूप हैं ॥ १०—१३ ॥

पूर्णे युगसहस्रान्ते ब्राह्मेऽह्नि तथागते।
निर्वाणे सर्वभूतानां सर्वोत्पातसमुद्भवे॥ १४ ॥
हिरण्यरेतास्त्रिशिखस्ततो भूत्वा वृषाकपिः।
शिखाभिर्विविधाँल्लोकान् संशोषयति देहिनः॥ १५ ॥

एक सहस्र चतुर्युग पूर्ण होनेपर अन्तमें जब ब्रह्माजीका दिन समाप्त हो जाता है और सब प्रकारके उत्पातोंसे सभी प्राणियोंका संहार होने लगता है, उस समय अग्नि, वायु और सूर्यरूप तीन शिखावाले प्रयंकर अग्निदेव प्रकट होते हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप हैं। वे अपनी शिखाओंद्वारा विविध लोकों तथा समस्त देहधारियोंका शोषण कर लेते हैं॥१४-१५॥

दह्यमानास्ततस्तस्य तेजोराशिभिरग्रतः ।
विवर्णवर्णा दग्धाङ्गा हतार्चिष्मद्भिराननैः ॥ १६ ॥
साङ्गोपनिषदा वेदा इतिहासपुरोगमाः ।
सर्वविद्याश्रयाश्चैव सत्यधर्मपरायणाः ॥ १७ ॥
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा छन्दतो विश्वतोमुखम् ।
सर्वे देवगणाश्चैव त्रयस्त्रिंशच्च कोटयः ॥ १८ ॥
तस्मिन्नहनि सम्प्राप्ते तं हंसं महदक्षरम् ।
प्रविशन्ति महायोगं हरिं नारायणं प्रभुम् ॥ १९ ॥

उस अग्निके ज्वालामय मुखों तथा तेजकी राशियोंसे अङ्ग दग्ध होनेके कारण श्रीहीन हुए छहों अङ्गोंसहित वेद, उपनिषद् और इतिहास आदि, जो सभी विद्याओंके आश्रय तथा सत्यधर्मपरायण हैं, ब्रह्माजीको आगे करके ईश्वरकी इच्छासे सब ओर मुखवाले परमात्मामें प्रविष्ट हो गये । वह दिन आनेपर तैंतीस कोटि संख्यावाले समस्त देवता भी महान्, अविनाशी, हंसस्वरूप, महायोगी, प्रभु श्रीनारायण हरिमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ १६—१९ ॥

तेषां भूयः प्रविष्टानां निधनोत्पत्तिरुच्यते ।
यथा सूर्यस्य सततमुदयास्तमयाविह ॥ २० ॥

जैसे इस जगत्में सदा ही सूर्यदेवके उदय और अस्त बने रहते हैं अर्थात् एक देशमें विद्यमान सूर्य जब दूसरे देशमे नहीं दिखायी देता, तब उस देशके लोग उसे अस्त हुआ कहते हैं और जब वह दिखायी देने लगता है, तब उसका उदय हुआ मानते हैं, उसी प्रकार भगवान् नारायण-में बारंबार प्रविष्ट होनेवाले जीवोंके संहार और प्रलय सदा ही होते रहते हैं । तात्पर्य यह कि ब्रह्माजीके दिनके अन्तमे जब सारा जगत् नारायणमे प्रविष्ट हो जाता है, तब उसका प्रलय हुआ कहा जाता है; क्योंकि प्रलयावस्थामें मार्कण्डेय-जीको नारायणके उदरमें पूर्ववत् जगत्का दर्शन हुआ था ॥ २० ॥

पूर्णे युगसहस्रान्ते कल्पो निःशेष उच्यते ।
तस्मिञ्जीवकृतं सर्वं निःशेषमवतिष्ठते ॥ २१ ॥

सहस्र चतुर्युग पूर्ण हो जानेपर एक कल्पका संहार हो जाता है । फिर उसमेसे कुछ भी शेष नहीं रह जाता । उस अवस्थामें जीवका किया हुआ सब कुछ नष्ट हो जाता है ॥ २१ ॥

संहृत्य लोकान् सर्वान् स सदेवासुरपन्नगान् ।
कृत्वाऽऽत्मगर्भे भगवानास्त एको जगद्गुरुः ॥ २२ ॥

देवता, असुर और नागोंसहित सम्पूर्ण लोकोंका संहार करके उन्हे अपने उदरमे स्थापित कर एकमात्र जगद्गुरु भगवान् श्रीहरि ही शेष रह जाते हैं ॥ २२ ॥

यः स्रष्टा सर्वभूतानां कल्पान्तेषु पुनः पुनः ।
अव्यक्तः शाश्वतो देवस्तस्य सर्वमिदं जगत् ॥ २३ ॥

जो कल्पान्तमें बारंबार समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करने-वाले अव्यक्त सनातनदेव श्रीहरि हैं, उन्हींका यह सम्पूर्ण जगत् है ॥ २३ ॥

नष्टार्ककिरणे लोके चन्द्ररश्मिविवर्जिते ।
त्यक्तभूताग्निपवने क्षीणयज्ञवषट्क्रिये ॥ २४ ॥
अपक्षिगणसंघाते सर्वप्राण्यचरे पथि ।
अमर्यादाकुले रौद्रे सर्वतस्तमसावृते ॥ २५ ॥
अदृश्ये सर्वलोकेऽस्मिन्नभावे सर्वकर्मणाम् ।
प्रशान्ते सर्वसम्पाते नष्टे वैरपरिग्रहे ॥ २६ ॥
गते स्वभावसंस्थानं लोके नारायणात्मके ।
परमेष्ठी हृषीकेशः शयनायोपचक्रमे ॥ २७ ॥

जब जगत्से सूर्यकी किरणोंका लोप हो गया है, चन्द्रमाकी रश्मियाँ भी नहीं रह गयीं, अग्नि और पवन भी परित्यक्त हो गये, यज्ञ और वषट्कारकी क्रियाएँ सर्वथा क्षीण हो गयीं, पक्षियोंका समूह नहीं रह गया, मार्गोंपर समस्त प्राणियोंका चलना-फिरना बंद हो गया, जब यह जगत् मर्यादारहित, भयंकर और सब ओरसे अन्धकारसे आच्छन्न हो गया, जब इसमें सभी लोक अदृश्य हो गये, सब कर्मोंका अभाव हो गया, सब ओरसे शान्ति छा गयी, सबका अन्त हो गया, वैर-विरोध नष्ट हो गये, सब लोग अपनी स्वाभाविक स्थितिको पहुँच गये और सारा विश्व नारायणस्वरूप हो गया, उस समय परमेष्ठी भगवान् हृषीकेश शयनकी तैयारी करने लगे ॥ २४—२७ ॥

पीतवासा लोहिताक्षः कृष्णो जीमूतसंनिभः ।
शिखासहस्रविकचं जटाभारं समुद्वहन् ॥ २८ ॥

उनके श्रीअङ्गोंपर पीताम्बर शोभा पा रहा था । नेत्र कुछ-कुछ लाल थे । अङ्गकान्ति मेघके समान श्याम थी । सिरपर सहस्रों शिखाओंसे विकसित जटाका भार वे वहन करते थे ॥ २८ ॥

श्रीवत्सकलिलं पुण्यं रक्तचन्दनभूषितम् ।
वक्षो बिभ्रन्महाबाहुः सविद्युदिव तोयदः ॥ २९ ॥

उनका रक्त-चन्दनसे विभूषित पवित्र वक्षःस्थल श्रीवत्स-की शोभासे संयुक्त था । उसे धारण किये महाबाहु श्रीहरि बिजलीसहित मेघके समान सुशोभित होते थे ॥ २९ ॥

पुण्डरीकसहस्रस्य मालास्य शुशुभे तदा ।
पत्नी चैव स्वयं लक्ष्मीर्देहमावृत्य तिष्ठति ॥ ३० ॥

उस समय उनके गलेमें सहस्र कमलोंकी माला शोभा पा रही थी । उनकी पत्नी साक्षात् लक्ष्मी उनके सम्पूर्ण शरीरको घेरकर खड़ी थीं ॥ ३० ॥

ततः स्वपिति धर्मात्मा सर्वलोकपितामहः ।
किमप्यमितविक्रान्तो निद्रायोगमुपागतः ॥ ३१ ॥

समस्त लोकोंके पितामह तथा अमितपराक्रमी वे धर्मात्मा नारायण निद्रायोगका आश्रय ले किसी अनिर्वचनीय ढंगसे सो गये ॥ ३१ ॥

ततो वर्षसहस्रे तु पूर्णे स पुरुषोत्तमः।
स्वयमेव विभुर्भूत्वा बुध्यते विबुधाधिपः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर सहस्रों वर्ष पूर्ण होनेपर वे सर्वव्यापी देवेश्वर पुरुषोत्तम स्वयं ही जाग्रत् हुए (प्रत्येक कल्पके अन्तमें वे इसी तरह सोते और जागते हैं) ॥ ३२ ॥

ततश्चिन्तयते भूयः सृष्टिं लोकस्य लोककृत्।
पितृदेवासुरनरान् पारमेष्ठ्येन कर्मणा ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् वे लोककर्ता भगवान् विष्णु पुनः लोकसृष्टिके विषयमें विचार करते हैं। ब्रह्मोचित कर्मद्वारा पितरों, देवताओं, असुरों और मनुष्योंकी उत्पत्तिके विषयमें सोचते हैं ॥ ३३ ॥

ततश्चिन्तयते कार्यं देवेषु समितिंजयः।
सम्भवं सर्वलोकस्य विदधाति स वाक्पतिः ॥ ३४ ॥

इसके बाद वे युद्धविजयी तथा वाणीके अधिपति भगवान् नारायण देवताओंके प्रयोजनका विचार करते हैं और सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करने लगते हैं ॥ ३४ ॥

कर्ता चैव विकर्ता च संहर्ता च प्रजापतिः।
धाता विधाता च तथा संयमो नियमो यमः ॥ ३५ ॥

वे ही भूतोंके स्रष्टा तथा भौतिक वस्तुओंको विविध रूपोंमें उत्पन्न करनेवाले हैं। वे ही संहार करनेवाले और प्रजाके पालक हैं। धाता, विधाता, संयम, नियम और यम वे ही हैं ॥ ३५ ॥

नारायणपरा देवा नारायणपराः क्रियाः।
नारायणपरो यज्ञो नारायणपरा श्रुतिः ॥ ३६ ॥

सब देवता नारायणके ही उपासक हैं। सम्पूर्ण क्रियाएँ नारायणको ही प्राप्त होती हैं। यज्ञके परम आश्रय नारायण ही हैं तथा श्रुतियोंके परम प्रतिपाद्य तत्त्व भी वे ही हैं ॥३६॥

नारायणपरो मोक्षो नारायणपरा गतिः।
नारायणपरो धर्मो नारायणपरः क्रतुः ॥ ३७ ॥

मोक्षकी पराकाष्ठा नारायण ही हैं। सर्वोत्तम गति श्रीनारायण ही हैं। धर्मके परम लक्ष्य नारायण ही हैं और यज्ञ भी नारायणकी ही प्रसन्नताके लिये किया जाता है ॥

नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरं तपः।
नारायणपरं सत्यं नारायणपरं पदम्।
नारायणपरो देवो न भूतो न भविष्यति ॥ ३८ ॥

ज्ञानके उत्कृष्ट रूप नारायण ही हैं, तपस्याद्वारा परम प्राप्य वस्तु नारायण ही हैं, सत्य भी नारायणकी ही प्राप्तिका साधन है तथा परमपद भी नारायण ही हैं। नारायणसे बढ़कर न तो कोई दूसरा देवता हुआ है न होगा ॥ ३८ ॥

स्वयंभूरिति विज्ञेयः स ब्रह्मा भुवनाधिपः।
स वायुरिति विज्ञेय एष यज्ञः सनातनः ॥ ३९ ॥

उन्हींको सम्पूर्ण भुवनोंके अधिपति स्वयम्भू ब्रह्मा समझना चाहिये। वे ही वायुके नामसे भी जाननेयोग्य हैं तथा वे ही सनातन यज्ञ हैं ॥ ३९ ॥

सदसच्च स विज्ञेयः स यज्ञः स प्रजाकरः।
यद् वेदितव्यं त्रिदशैस्तदेष परिविन्दति ॥ ४० ॥

उन्हींको सत् और असत् जानना चाहिये। वे ही यज्ञ और वे ही प्रजावर्गके स्रष्टा हैं। देवताओंद्वारा जो कुछ प्राप्तव्य वस्तु है, उसकी प्राप्ति ये ही कराते हैं ॥ ४० ॥

यच्च वेद्यं भगवतो देवा अपि न तद् विदुः।
प्रजानां पतयः सप्त ऋषयश्च सहामरैः ॥ ४१ ॥
नास्यान्तमधिगच्छन्ति ततोऽनन्त इति श्रुतिः।

भगवान्‌का जो वेद्य तत्त्व है, उसे देवता भी नहीं जानते। देवताओंसहित प्रजापति और सप्तर्षि भी उनका अन्त नहीं जानते, इसलिये 'अनन्त' नामसे उनकी प्रसिद्धि है ॥ ४१½ ॥

यदस्य परमं रूपं तत्र पश्यन्ति देवताः ॥ ४२ ॥
प्रादुर्भावेषु सम्भूतं यत् तदर्चन्ति देवताः।
यच्च दर्शितवान् देवः कस्तदन्वेष्टुमर्हति ॥ ४३ ॥

इनका जो परम उत्कृष्ट रूप है, उसका देवलोकमें देवता दर्शन करते हैं। अवतारोंमें उनका जो स्वरूप प्रकट होता है, उसकी भी देवता पूजा करते हैं। जिसे भगवान्‌ने स्वयं नहीं दिखा दिया, उसका अन्वेषण कौन कर सकता है ॥

ग्रामणीः सर्वभूतानामग्निमारुतयोर्गतिः।
तेजसस्तपसश्चैव निधानममृतस्य च ॥ ४४ ॥

वे समस्त प्राणियोंके नेता, जठरानल और प्राणकी गति तथा तप, तेज और अमृतकी निधि हैं ॥ ४४ ॥

चतुराश्रमवर्णेषु चातुर्होत्रफलाशनः।
चतुःसागरपर्यन्तश्चतुर्युगविवर्तकः ॥ ४५ ॥

चारों आश्रमों और वर्णोंमें चातुर्होत्र यज्ञका फल भोगनेवाले तथा उस फलकी प्राप्ति करानेवाले वे ही हैं। वे चारों समुद्रोंतक व्याप्त हैं तथा चारों युगोंकी आवृत्ति करानेवाले हैं ॥

तदेष संहृत्य जगत् कृत्वा गर्भस्थमात्मनः।
मुमोचाण्डं महायोगी धृतं वर्षसहस्रिकम् ॥ ४६ ॥

इन महायोगी श्रीहरिने सम्पूर्ण जगत्‌का संहार करके उसे अपने गर्भमें स्थापित कर सहस्रों वर्षोंतक धारण करनेके पश्चात् अण्ड (ब्रह्माण्ड) के रूपमें प्रकट किया ॥ ४६ ॥

सुरासुरद्विजभुजगाप्सरोगणै-
 र्महौषधिक्षितिधरयक्षगुह्यकैः ।
प्रजापतिः श्रुतिधर रक्षसां कुलं
 तदासृजज्जगदिदमात्मना प्रभुः ॥ ४७ ॥

वेदोंका धारण और पालन करनेवाले जनमेजय! उस समय इन भगवान् प्रजापतिने देवता, असुर, द्विज, नाग, अप्सरागण, महौषधि, पर्वत, यक्ष और गुह्यकोंसहित राक्षस-कुलकी भी अपने ही स्वरूपसे सृष्टि की ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वाराहे प्रादुर्भावे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वाराहावतारविषयक तैतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

भगवान् यज्ञवराहके द्वारा पृथ्वीका उद्धार

वैशम्पायन उवाच

जगदण्डमिदं पूर्वमासीत् सर्वं हिरण्मयम् ।
प्रजापतेर्मूर्तिमयमित्येवं वैदिकी श्रुतिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वैदिकी श्रुतिका कथन है कि प्रजापतिका स्वरूपभूत यह सारा जगत् पहले सुवर्णमय अण्डके रूपमें उत्पन्न हुआ था ॥ १ ॥

ततो वर्षसहस्रान्ते विभेदोर्ध्वमुखं विभुः ।
लोकसंजननार्थाय विभेदाण्डं पुनः पुनः ॥ २ ॥

उन सर्वव्यापी भगवान्ने उक्त अण्डको ऊपरकी ओरसे फोड़ दिया। फिर समस्त लोकोंकी उत्पत्तिके लिये उन्होंने उस अण्डमें (नीचेकी ओरसे) दूसरा छेद भी किया ॥ २ ॥

भूयोऽष्टधा विभेदाण्डं प्रभुर्वै लोकयोनिकृत् ।
चकार जगतश्चात्र विभागं सर्वभागवित् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् समस्त लोकोंको जन्म देनेवाले सामर्थ्यशाली भगवान्ने फिर उस अण्डमें आठ छिद्र किये। समस्त भागोंके ज्ञाता श्रीहरिने यहाँ जगत्‌का विभाग किया ॥ ३ ॥

यच्छिद्रमूर्ध्वमाकाशं परा सुकृतिनां गतिः ।
विहितं विश्वयोगेन यदधस्तद् रसातलम् ॥ ४ ॥

उस अण्डमें जो ऊपर छेद किया गया था, वही आकाश हुआ, जो पुण्यात्मा पुरुषोंकी परम गति है। फिर यह सम्पूर्ण विश्व जिनका योग है, उन परमात्माने जो इस ब्रह्माण्डमे नीचेकी ओर छेद किया, वही रसातल है ॥ ४ ॥

यदण्डमकरोत् पूर्वं देवलोकसिसृक्षया ।
समन्तादष्टधा यानि च्छिद्राणि कृतवांस्तु सः ॥ ५ ॥
विदिशस्ता दिशः सर्वा मनसैवाकरोद् द्विधा ।
नानारागविरागाणि यान्यण्डशकलानि वै ॥ ६ ॥
बहुवर्णधराश्चित्रा बभूवुस्ते वलाहकाः ।

देवलोककी सृष्टिकी इच्छासे भगवान्ने पहले जो अण्ड उत्पन्न किया और उसमें सब ओर जो उन्होंने आठ छिद्र किये, वे ही सम्पूर्ण दिशाएँ और विदिशाएँ हैं। उन्होंने मनसे ही उन सबके दो भाग किये। उस अण्डके जो रंग-बिरंगे टुकड़े थे, वे ही अनेक वर्ण धारण करनेवाले बहुत-से विचित्र मेघ हुए ॥ ५-६½ ॥

यदण्डमध्ये स्कन्नं तदृतमासीत् समाहितम् ॥ ७ ॥
जातरूपं तदभवत् तत् सर्वं पृथिवीतले ।

उस अण्डके मध्यभागमें जो स्खलित हुआ द्रवपदार्थ, जिसे ॠत कहते हैं, जगह-जगह स्थापित हो गया, वह सब इस पृथ्वीपर जातरूप (सुवर्ण) हो गया ॥ ७½ ॥

तस्य क्लेदार्णवौघेन प्राच्छाद्यत समन्ततः ॥ ८ ॥
पृथिवी निखिला राजन् युगान्ते सागरैरिव ॥ ९ ॥

राजन्! जैसे प्रलयकालमे सारी पृथ्वी समुद्रोंद्वारा सब ओरसे आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार उस क्लेदरूप जलके प्रवाहने भूतलको सब ओरसे आच्छादित कर लिया ॥

यच्चाण्डमकरोत् पूर्वं देवलोकचिकीर्षया ।
तत्र तत् सलिलं स्कन्नं सोऽभवत् काञ्चनो गिरिः ॥ १० ॥

भगवान्ने देवलोककी सृष्टिकी इच्छासे पहले जो अण्ड उत्पन्न किया था, उसमें जहाँ-जहाँ वह जल स्खलित होकर गिरा, वही सुवर्णमय पर्वत हो गया ॥ १० ॥

तेनाम्भसा प्लुताः सर्वा दिशश्चोपदिशस्तथा ।
अन्तरिक्षं च नाकं च यच्चान्यत् किंचिदन्तरम् ॥ ११ ॥
यत्र यत्र जलं स्कन्नं तत्र तत्र स्थितो गिरिः ।

उस जलने सारी दिशाओं और उपदिशाओंको आप्लावित कर दिया। अन्तरिक्ष, स्वर्ग तथा इनके बीचका और जो कुछ स्थान है, उसमें जहाँ-जहाँ वह जल गिरा, वहाँ-वहाँ एक पर्वत खड़ा हो गया ॥ ११½ ॥

शैलैः समस्तैर्गहना विषमा मेदिनी भवत् ॥ १२ ॥
तैः सपर्वतजालौघैर्बहुयोजनविस्तृतैः ।
पीडिता गुरुभिर्देवी पृथिवी व्यथिताभवत् ॥ १३ ॥

उन समस्त पर्वतोंसे अवरुद्ध हुई यह पृथ्वी गहन एवं विषम हो गयी। अनेक योजनोंतक फैले हुए उन भारी पर्वत-समूहोंसे दबी हुई पृथ्वीदेवी पीड़ासे व्यथित हो गयी ॥ १२-१३ ॥

महीतले भूरि जलं दिव्यं नारायणात्मकम् ।

हिरण्मयं समुद्दिष्टं तेजो विमलरूपितम् ॥ १४ ॥
अशक्ता वै धारयितुमधः सा प्रविवेश ह ।
पीड्यमाना भगवतस्तेजसा तेन सा क्षितिः ॥ १५ ॥

पृथ्वीपर निर्मल तेजस्स्वरूप सुवर्णमय जो नारायणात्मक दिव्य जल अधिक मात्रामें गिरा, उसे धारण करनेमें असमर्थ होकर वह नीचे रसातलसे भी नीचेके भागमें प्रवेश करने लगी, क्योंकि भगवान्‌के उस तेजसे वह पृथ्वी अत्यन्त पीड़ित हो रही थी ॥ १४-१५ ॥

पृथिवीं विशतीं दृष्ट्वा तामधो मधुसूदनः ।
उद्धारार्थं मनश्चक्रे लोकानां हितकाम्यया ॥ १६ ॥

पृथ्वीको नीचे जाती देख भगवान् मधुसूदनने समस्त लोकोंके हितकी कामनासे उसका उद्धार करनेका विचार किया ॥ १६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मत्तेज एव बलवत् समासाद्य तपस्विनी ।
रसातलं विशेद् देवी पङ्के गौरिव दुर्बला ॥ १७ ॥

श्रीभगवान् मन-ही-मन बोले—यह तपस्विनी देवी पृथ्वी मेरे प्रबल तेजका भार पाकर कीचड़में फँसी हुई दुबली गायकी भाँति रसातलके नीचे धँस जायगी, ऐसा जान पड़ता है ॥ १७ ॥

धरण्युवाच

त्रिविक्रमायामितविक्रमाय
महानृसिंहाय चतुर्भुजाय ।
श्रीशार्ङ्गचक्रासिगदाधराय
नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय ॥ १८ ॥

उस समय पृथ्वी भगवान्‌की स्तुति करती हुई बोली—जो तीनों लोकोंको अपने चरणोंसे आक्रान्त कर लेनेके कारण त्रिविक्रम कहलाते हैं, जिनके पराक्रमका कोई माप नहीं है तथा जो अपने हाथोंमें शार्ङ्ग धनुष, सुदर्शन चक्र, नन्दक खड्ग और कौमोदकी गदा धारण करते हैं, उन महानृसिंह, चार भुजाधारी पुरुषोत्तमको मेरा नमस्कार है ॥

त्वयाऽऽत्मना धार्यते वै त्वया संह्रियते जगत् ।
त्वं धारयसि भूतानां भुवनं त्वं बिभर्षि च ॥ १९ ॥

भगवन् ! आप ही अपनी शक्तिसे इस जगत्‌को धारण करते हैं और आपके द्वारा ही इसका संहार होता है । आप समस्त प्राणियोंके भुवनका धारण और पोषण करते हैं ॥ १९ ॥

यत् त्वया धार्यते किंचित् तेजसा च बलेन च ।
ततस्तव प्रसादेन मया पश्चात् तु धार्यते ॥ २० ॥

आप अपने तेज और बलसे जो कुछ धारण करते हैं, उसीको मैं पीछेसे आपकी ही कृपासे धारण करती हूँ ॥ २० ॥

त्वया धृतं धारयामि नाधृतं धारयाम्यहम् ।
न हि तद् विद्यते रूपं यत् त्वया न तु धार्यते ॥ २१ ॥

आपके धारण किये हुएको ही मैं धारण करती हूँ । जिसे आपने धारण न किया हो, ऐसी किसी वस्तुको मैं धारण नहीं करती । ऐसा कोई रूप नहीं है, जो आपके द्वारा धारण न किया जाता हो ॥ २१ ॥

त्वमेव कुरुषे वीर नारायण युगे युगे ।
मम भारावतरणं जगतो हितकाम्यया ॥ २२ ॥

वीर ! नारायण ! आप ही जगत्‌के हितकी कामनासे युग-युगमें (अवतार ग्रहण करके) मेरा भार उतारा करते हैं ॥ २२ ॥

तवैव तेजसाऽऽक्रान्तां रसातलतलं गताम् ।
त्रायस्व मां सुरश्रेष्ठ त्वामेव शरणं गताम् ॥ २३ ॥

सुरश्रेष्ठ ! मैं आपके ही तेजसे (प्रकट हुए पर्वतोंद्वारा) आक्रान्त हो रसातलसे भी नीचे चली आयी हूँ और आपकी ही शरण ले रही हूँ । आप मेरी रक्षा करें ॥ २३ ॥

दानवैः पीड्यमानाहं राक्षसैश्च दुरात्मभिः ।
त्वामेव शरणं नित्यमुपयामि सनातनम् ॥ २४ ॥

दुरात्मा दानवों और राक्षसोंसे पीड़ित होकर मैं सदा आप सनातन परमेश्वरकी ही शरणमें आती हूँ ॥ २४ ॥

तावन्मेऽस्ति भयं भूयो यावन्न त्वां ककुद्मिनम् ।
शरणं यामि मनसा शतशोऽप्युपलक्षये ॥ २५ ॥

मैं सैकड़ों बार यह देख चुकी हूँ कि जबतक मैं विशाल वृषभके समान पुष्ट कंधोंवाले आप भगवान्‌की शरण नहीं लेती हूँ, तभीतक मुझे अधिक भय प्राप्त होता रहता है ॥ २५ ॥

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्धरणि कल्याणि शान्तिं व्रज समाहिता ।
एष त्वामुचितं स्थानमानयामि मनीषितम् ॥ २६ ॥

श्रीभगवान् बोले—धरणि ! भयभीत न हो ! कल्याणि ! मनको एकाग्र करके शान्ति धारण कर । यह मैं तुझे अभी उचित एवं मनोवाञ्छित स्थानपर ले आता हूँ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो महात्मा मनसा दिव्यं रूपमचिन्तयत् ।
किं नु रूपमहं कृत्वा उद्धरामि वसुन्धराम् ॥ २७ ॥
जले निमग्नां धरणीं येनाहं वै समुद्धरे ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर महात्मा श्रीहरिने मन-ही-मन किसी दिव्यरूपके विषयमें चिन्तन किया । वे सोचने लगे, कौन-सा रूप धारण करके मैं इस पृथ्वीका उद्धार करूँ । वह रूप ऐसा होना चाहिये, जिसके द्वारा मैं जलमें डूबी हुई पृथ्वीको ऊपर उठा सकूँ ॥ २७½ ॥

इत्येवं चिन्तयित्वा तु देवस्तत्करणे मतिम् ॥ २८ ॥

जलक्रीडारुचिस्तस्माद् वाराहं रूपमस्मरत्।
हरिरुद्धरणे युक्तस्तदाभूदस्य भूमिभृत्॥ २९॥
अधृष्यं सर्वभूतानां वाङ्मयं ब्रह्मसम्मितम्।
दशयोजनविस्तारमुच्छ्रितं शतयोजनम्॥ ३०॥

ऐसा सोचते हुए भगवान्ने उस रूपको धारण करनेका विचार किया। उस समय जलमें क्रीड़ा करनेके लिये उनकी रुचि हुई; अतः उन्होंने वाराह रूपका स्मरण किया। पृथ्वीको धारण करनेवाले श्रीहरि उसका उद्धार करनेके लिये उद्यत हो गये। उस समय उनका रूप दस योजन विस्तृत और सौ योजन ऊँचा हो गया। वह वेदतुल्य सम्मानित भगवान्का वाङ्मयस्वरूप समस्त प्राणियोंके लिये अजेय था॥

नीलमेघप्रतीकाशं मेघस्तनितनिःस्वनम्।
महागिरेः संहननं श्वेतदीप्तोग्रदंष्ट्रिणम्॥ ३१॥

उसकी अङ्गकान्ति नील मेघके समान श्याम थी। उसका शब्द मेघकी गम्भीर गर्जनाको तिरस्कृत किये देता था। भगवान्का वह विग्रह महान् पर्वतकी आकृतिके समान प्रतीत होता था। उसकी दाढ़ें श्वेत, चमकीली और भयङ्कर थीं॥ ३१॥

विद्युदग्निप्रतीकाशमादित्यसमतेजसम्।
पीनवृत्तायतस्कन्धं दृप्तशार्दूलगामिनम्॥ ३२॥
पीनोन्नतकटीदेशं वृषलक्षणपूजितम्।
रूपमास्थाय विपुलं वाराहममितं हरिः॥ ३३॥
पृथिव्युद्धरणार्थाय प्रविवेश रसातलम्।

उसका तेज बिजली और अग्निके समान था। उसकी प्रभा सूर्यके सदृश थी। उसके कंधे मोटे, गोलाकार और चौड़े थे। वह बलके घमंडमें भरे हुए सिंहके समान चलता था। उसका कटिप्रदेश ऊँचा और मांसल था। वह वृषभके लक्षणोंसे सम्मानित था। ऐसे अमित और विशाल वाराहरूपको धारण कर श्रीहरिने पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये रसातलमें प्रवेश किया॥ ३२-३३½॥

वेदपादो यूपदंष्ट्रः क्रतुदन्तश्चितीमुखः॥ ३४॥
अग्निजिह्वो दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो महातपाः।
अहोरात्रेक्षणधरो वेदाङ्गश्रुतिभूषणः॥ ३५॥

उन भगवान् यज्ञवाराहके चारों पैर चारों वेद ही थे। यूप उनकी दाढ़ थे। क्रतु (यज्ञ) ही दाँत और चिति ही (इष्टिका चयन) मुख थे। अग्नि उनकी जिह्वा, कुश उनके रोम तथा ब्रह्म (प्रणव) उनका मस्तक था। वे महान् तपसे सम्पन्न थे। दिन और रातको ही वे दोनों नेत्रोंके रूपमें धारण करते थे। वेदके छहों अङ्ग उनके कानोंके कुण्डल थे॥

आज्यनासः स्रुवातुण्डः सामघोषस्वरो महान्।
सत्यधर्ममयः श्रीमान् क्रमविक्रमसत्कृतः॥ ३६॥

घी उनकी नासिका, स्रुवा उनकी थूथुन और सामवेदका स्वर ही उनकी भीषण गर्जना थी। उनका शरीर बहुत बड़ा था। उनका विग्रह सत्य-धर्ममय था। वे अलौकिक शोभासे सम्पन्न थे। वे क्रम (गति) और विक्रम (पराक्रम) दोनोंसे सम्मानित थे (अथवा वेदके क्रम-पाठ और व्युत्क्रम-पाठ ही यहाँ क्रम-विक्रम हैं, जिनसे भगवान् यज्ञवाराह सत्कृत थे)॥ ३६॥

क्रियासत्रमहाघोणः पशुजानुर्मखाकृतिः।
उद्गात्रान्त्रो होमलिङ्गो बीजौषधिमहाफलः॥ ३७॥

क्रियामय सत्र उनके बड़े-बड़े नथुने थे। पशु घुटने और यज्ञ ही उनकी आकृति थे। उद्गाता ही उनका आँत था। होमरूप कर्म उनका लिङ्ग था। बीज और ओषधियाँ उनसे प्राप्त होनेवाले महान् फल थीं॥ ३७॥

वाय्वन्तरात्मा मन्त्रस्फृग् विक्रमः सोमशोणितः।
वेदीस्कन्धो हविर्गन्धो हव्यकव्यातिवेगवान्॥ ३८॥

वायु उनकी अन्तरात्मा थी। मन्त्र नितम्ब था। वे विक्रमस्वरूप थे। सोमरस उनका रक्त था। यज्ञकी वेदी उनके कंधे, हविष्य सुगन्ध और हव्य-कव्य ही उनके अतिशय वेग थे॥ ३८॥

प्राग्वंशकायो द्युतिमान् नानादीक्षाभिरर्चितः।
दक्षिणाहृदयो योगी महासत्रमयो महान्॥ ३९॥

प्राग्वंश (पत्नीशाला या यजमान-गृह) उनका शरीर कहा गया है। वे तेजस्वी तथा नाना प्रकारकी दीक्षाओंसे पूजित थे। दक्षिणा उनके हृदयके स्थानमें थी। वे महान् योगी और महासत्रमय थे॥ ३९॥

उपाकर्मोष्ठरुचकः प्रवर्ग्यावर्तभूषणः।
नानाछन्दोगतिपथो गुह्योपनिषदासनः॥ ४०॥

उपाकर्म उनके ओष्ठका भूषण था और प्रवर्ग्यकर्म ही उनकी नाभिको विभूषित करनेवाले थे। नाना प्रकारके छन्द उनके चलनेके मार्ग थे और गूढ़ उपनिषद् उनके आसन थे॥ ४०॥

छायापत्नीसहायो वै मणिशृङ्ग इवोच्छ्रितः।
भूत्वा यज्ञवराहोऽसौ युगपत् प्राविशद् गुरुः॥ ४१॥

जलमें पड़नेवाली छाया (परछाईं) ही पत्नीकी भाँति उनकी सहायिका थी। वे मणिमय पर्वतशिखरके समान ऊँचे थे। इस प्रकार यज्ञमय वाराहरूप धारण करके उन जगद्गुरु भगवान्ने पृथ्वीके रसातलमें जानेके साथ ही स्वयं भी वहाँ प्रवेश किया॥ ४१॥

अद्भिः संछादितामुर्वी स तामार्च्छत् प्रजापतिः।
रसातलतले मग्नां पातालान्तरसंश्रयाम्॥ ४२॥

जलमें छिपी हुई तथा रसातलमें डूबकर दूसरे पातालमें पहुँची हुई उस पृथ्वीके पास वे भगवान् प्रजापति स्वयं भी जा पहुँचे॥ ४२॥

प्रभुर्लोकहितार्थाय दंष्ट्राग्रेणोज्जहार गाम्।
ततः स्वस्थानमानीय पृथिवीं पृथिवीधरः ॥ ४३ ॥

पृथ्वीको धारण करनेवाले उन प्रभुने लोकहितके लिये अपनी दाढ़के अग्रभागसे पृथ्वीको ऊपर उठाया और अपनी जगहपर लाकर रख दिया ॥ ४३ ॥

मुमोच पूर्वं सहसा धारयित्वा धराधरः।
ततो जगाम निर्वाणं मेदिनी तस्य धारणात् ॥ ४४ ॥
चकार च नमस्कारं तस्मै देवाय शम्भवे।

धराको धारण करनेवाले भगवान् वाराहने पहले स्वयं पृथ्वीको धारण करके उसे सहसा जलके ऊपर छोड़ दिया। उनके धारण करनेसे पृथ्वीको बड़ी शान्ति मिली। उसने उन कल्याणकारी देवता यज्ञ-वाराहको नमस्कार किया ॥ ४४½ ॥

एवं यज्ञवराहेण भूत्वा भूतहितार्थिना ॥ ४५ ॥
उद्धृता पृथिवी देवी लोकानां हितकाम्यया।

इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका हित चाहनेवाले भगवान्ने यज्ञवाराह होकर लोकहितकी कामनासे पृथ्वी देवीका उद्धार किया ॥ ४५½ ॥

अथोद्धृत्य क्षितिं देवो जगतः स्थापनेच्छया ॥ ४६ ॥
पृथिवीप्रविभागाय मनश्चक्रेऽम्बुजेक्षणः।
रसातलगतामेवं विचिन्त्य स सुरोत्तमः ॥ ४७ ॥

तदनन्तर कमलनयन सुरश्रेष्ठदेव श्रीहरिने इस तरह रसातल गयी हुई पृथ्वीके विषयमें विचार करके जगत्‌को स्थापित करनेकी इच्छासे उसे ऊपरको उठाया और उसके विभाग करनेके लिये मनमें विचार किया ॥ ४६-४७ ॥

ततो विभुः प्रवरवराहरूपधृग्
वृषाकपिः प्रसभमथैकदंष्ट्रया।
समुद्धरद् धरणिमतुल्यविक्रमो
महायशाः सकलहितार्थमच्युतः॥ ४८॥

राजन्! इस तरह उस समय श्रेष्ठ वराहरूप धारण करके सर्वव्यापी हरिहररूप अनुपम पराक्रमी महायशस्वी अच्युतने सबके हितके लिये पृथ्वीको बलपूर्वक एक दाँतसे ऊपरको उठाया था ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वाराहे पृथिव्युद्धरणे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वाराहावतारके प्रसङ्गमें पृथ्वीका उद्धारविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

भगवान् वाराहके द्वारा विभिन्न दिशाओंमें पर्वतों और नदियोंका निर्माण

वैशम्पायन उवाच

तस्योपरि जलौघस्य महती नौरिव स्थिता।
विततत्वात्तु देहस्य न ययौ सम्प्लवं मही ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उस जलराशिके ऊपर विशाल नौकाके समान पृथ्वी स्थित हो गयी। इसका आकार बहुत बड़ा है, इसलिये यह जलमें डूब न सकी ॥ १ ॥

ततः स चिन्तयामास प्रविभागं क्षितेर्विभुः।
समुच्छ्रयं च सर्वेषां पर्वतानां नदीषु च ॥ २ ॥
विलेखनं प्रमाणं च गतिं प्रस्रवमेव च।
माहात्म्यं च विशेषं च नदीनामन्वचिन्तयत् ॥ ३ ॥

तदनन्तर भगवान्ने पृथ्वीके विभागका चिन्तन किया। समस्त पर्वतोंकी ऊँचाई, नदियोंके मार्गको सूचित करनेवाली रेखा, वे कितने योजन दूरतक बहेंगी—इसके प्रमाण, उनकी गति पूर्वकी ओर होगी या दक्षिणकी ओर, इसके निश्चय, उनके प्रवाह तथा विशेषतः उन नदियोंके माहात्म्यके विषयमें उन्होंने बारंबार विचार किया ॥ २-३ ॥

चतुरन्तां धरां कृत्वा तथा चैव महार्णवम्।
मध्ये पृथिव्याः सौवर्णमकरोन्मेरुपर्वतम् ॥ ४ ॥

चार समुद्र जिसके अन्तमें हैं (अथवा जो चतुर्दलपद्मके आकारवाली है), उस पृथ्वीकी इस रूपमें स्थापना करके उन्होंने महासागरका भी निर्माण किया, फिर पृथ्वीके मध्य-भागमें सुवर्णमय मेरुपर्वतकी स्थापना की ॥ ४ ॥

प्राचीं दिशमथो गत्वा चकारोदयपर्वतम्।
शतयोजनविस्तारं सहस्रं च समुच्छ्रयम् ॥ ५ ॥

इसके बाद पूर्व-दिशामें जाकर उन्होंने उदयाचलकी सृष्टि की, जिसका विस्तार सौ योजन और ऊँचाई सहस्र योजन है ॥ ५ ॥

जातरूपमयैः शृङ्गैस्तरुणादित्यसंनिभैः।
आत्मतेजोगुणमयैर्वेदिकाभोगकल्पितम् ॥ ६ ॥

वह सुवर्णमय शिखरोंसे सुशोभित है। उसके वे शिखर प्रातःकालके सूर्यके समान तेजस्वी हैं। वे अपने ही तेजोमय गुणोंसे उद्भासित होते हैं। उस पर्वतका निर्माण इस प्रकार हुआ है, मानो कोई विशाल वेदी हो ॥ ६ ॥

विविधांश्च महास्कन्धान् काञ्चनान् पुष्करेक्षणः।

नित्यपुष्पफलान् वृक्षान् कृतवांस्तत्र पर्वते ॥ ७ ॥

कमलनयन श्रीहरिने उस पर्वतपर बड़े-बड़े तनेवाले नाना प्रकारके सुवर्णमय वृक्ष भी बनाये हैं, जो सदा फूल और फलोंसे सम्पन्न रहते हैं ॥ ७ ॥

शतयोजनविस्तारं ततस्त्रिगुणमायतम् ।
चकार स महादेवः पुनः सौमनसं गिरिम् ॥ ८ ॥

इसके बाद उन महान् देवता श्रीहरिने सौमनस गिरिका निर्माण किया, जिसकी चौड़ाई सौ योजन और लंबाई तीन सौ योजन है ॥ ८ ॥

नानारत्नसहस्राणां कृत्वा तत्र सुसंचयम् ।
वेदिकां बहुवर्णां च संध्याभ्राभामकल्पयत् ॥ ९ ॥

वहाँ नाना प्रकारके सहस्रों रत्नोंका संचय करके अनेक रंगकी वेदिका बनायी, जो संध्याकालके बादलोंकी भाँति प्रकाशित होती थी ॥ ९ ॥

सहस्रशृङ्गं च गिरिं नानामणिशिलातलम् ।
कृतवान् वृक्षगहनं षष्टियोजनमुच्छ्रितम् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् भगवान्‌ने सहस्रशृङ्ग नामक पर्वतका निर्माण किया, जो नाना प्रकारकी मणिमयी शिलाओंसे अलंकृत था। घने वृक्षोंका वन उसकी शोभा बढ़ाता था। वह पर्वत साठ योजन ऊँचा था ॥ १० ॥

आसनं तत्र परमं सर्वभूतनमस्कृतम् ।
कृतवानात्मनः स्थानं विश्वकर्मा प्रजापतिः ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण विश्व जिनका कर्म है, उन प्रजापालक श्रीहरिने वहाँ अपने लिये एक स्थान बनाया, जो उनका सम्पूर्ण भूतोंसे सम्मानित उत्तम आसन है ॥ ११ ॥

शिशिरं च महाशैलं तुषारचयसंनिभम् ।
चकार दुर्गगहनं कन्दरान्तरमण्डितम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर भगवान्‌ने हिमराशि-सदृश महापर्वत हिमालयका निर्माण किया, जो दुर्गम एवं गहन है। वह बहुत-सी कन्दराओंसे अलंकृत होता है ॥ १२ ॥

शिशिरप्रभवां चैव नदीं द्विजगणायुताम् ।
चकार पुलिनोपेतां वसुधारामिति श्रुतिः ॥ १३ ॥

उन्होंने हिमालयसे प्रकट होनेवाली एक दिव्य नदीकी भी सृष्टि की, जिसका नाम वसुधारा (गङ्गा) है। असंख्य द्विज उसका सेवन करते हैं। उसके तट विशाल हैं ॥ १३ ॥

सा नदी निखिलां प्राचीं पुण्यां मुखशतैश्रिताम्।
शोभयत्यमृतप्रख्यैर्मुक्ताशङ्खविभूषितैः ॥ १४ ॥

वह नदी सारी पुण्यमयी पूर्व दिशाको अपने सैकड़ों स्रोतोंसे व्याप्त करके उसकी शोभा बढ़ाती है। उसके वे स्रोत मोती और शङ्खके समान उज्ज्वल आभासे अलंकृत एवं अमृतके तुल्य मधुर जलसे परिपूर्ण हैं ॥ १४ ॥

नित्यपुष्पफलोपेतैश्छादयद्भिः सुसंवृतैः ।
भूषिताभ्यधिकैः कान्तैः सा नदी तीरजैर्द्रुमैः ॥ १५ ॥

वही नदी अपने तटपर उत्पन्न हुए अधिक कमनीय वृक्षोंसे विभूषित है। वे वृक्ष सदा फूल और फलोंसे सम्पन्न, सघन तथा दूरतक छाया करनेवाले हैं ॥ १५ ॥

कृत्वा प्राचीविभागं च दक्षिणायामथो दिशि ।
चकार पर्वतं दिव्यं सर्वकाञ्चनराजतम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार पूर्व दिशाका विभाग करके उन्होंने दक्षिण दिशामें एक दिव्य पर्वतकी सृष्टि की, जो सारा-का-सारा सुवर्णमय एवं रजतमय प्रतीत होता है ॥ १६ ॥

एकतः सूर्यसंकाशमेकतः शशिसंनिभम् ।
स बिभ्रच्छुशुभेऽतीव द्वौ वर्णौ पर्वतोत्तमः ॥ १७ ॥

वह एक ओरसे सूर्यके समान सुनहरी प्रभासे प्रकाशित होता है और दूसरी ओरसे चन्द्रमाके सदृश चाँदी-जैसी कान्तिसे सुशोभित होता है। इस प्रकार दो तरहके रंग धारण करनेवाले उस श्रेष्ठ पर्वतकी बड़ी शोभा होती है ॥ १७ ॥

तेजसा युगपद् व्याप्तं सूर्याचन्द्रमसाविव ।
वपुष्मन्तमथो तत्र भानुमन्तं महागिरिम् ॥ १८ ॥
सर्वकामफलैर्वृक्षैर्वृतं रम्यैर्मनोरमैः ।

वह एक ही साथ द्विविध तेजसे व्याप्त होकर एकत्र हुए सूर्य और चन्द्रमाके समान जान पड़ता है। वह महान् पर्वत मूर्तिमान् सूर्य-सा प्रतीत होता है। सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंसे सम्पन्न, रमणीय एवं मनोरम वृक्ष उसे सब ओरसे घेरे हुए हैं ॥ १८½ ॥

चकार कुञ्जरं चैव कुञ्जरप्रतिमाकृतिम् ॥ १९ ॥
सर्वतः काञ्चनगुहं बहुयोजनविस्तृतम् ।

इसके बाद भगवान्‌ने हाथीके समान आकारवाले एक पर्वतका निर्माण किया, जिसका विस्तार अनेक योजनका था। उसमें सब ओर सुवर्णमयी गुफाएँ शोभा पाती थीं ॥

ऋषभप्रतिमं चैव ऋषभं नाम पर्वतम् ॥ २० ॥
हेमकाञ्चनवृक्षाढ्यं पुष्पहासं स सृष्टवान् ।

तत्पश्चात् उन्होंने वृषभके समान आकृतिवाले ऋषभनामक पर्वतकी सृष्टि की, जो सुवर्ण एवं काञ्चनमय वृक्षोंसे सम्पन्न था। अपने फूलोंके कारण वह पर्वत हँसता हुआ सा जान पड़ता था ॥ २०½ ॥

महेन्द्रमथ शैलेन्द्रं शतयोजनमुच्छ्रितम् ॥ २१ ॥
जातरूपमयैः शृङ्गैः सपुष्पितमहाद्रुमम् ।
मेदिन्यां कृतवान् देवः प्रतिक्षोभमिवाचलम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर भगवान्‌ने गिरिराज महेन्द्रका निर्माण किया, जो सौ योजन ऊँचा और सुवर्णमय शिखरोंसे सुशोभित था। उसके विशाल वृक्ष सुन्दर फूलोंसे भरे रहते थे। वह पर्वत

पृथ्वीपर मूर्तिमान् प्रतिक्षोभ-सा प्रतीत होता था ॥ २१ २२ ॥

नानारत्नसमाकीर्णं सूर्येन्दुसदृशप्रभम् ।
चकार मलयं चाद्रिं चित्रपुष्पितपादपम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर श्रीहरिने नाना प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त और सूर्य-चन्द्रमाके समान कान्तिमान् मलयनामक पर्वतकी सृष्टि की, जहाँ विचित्र फूलोंसे भरे हुए वृक्ष लहलहा रहे थे ॥ २३ ॥

मैनाकं च महाशैलं शिलाजालसमावृतम् ।
दक्षिणस्यां दिशि शुभं चकाराचलमायतम् ॥ २४ ॥

इसके बाद उन्होंने दक्षिण दिशामें एक सुन्दर और विस्तृत पर्वत महाशैल मैनाककी रचना की, जो शिलासमूहोंसे व्याप्त था ॥ २४ ॥

सहस्रशिरसं विन्ध्यं नानाद्रुमलताकुलम् ।
नदीं च विपुलावर्तां पुलिनश्रोणिभूषिताम् ॥ २५ ॥
क्षीरसंकाशसलिलां पयोधारामिति श्रुतिः ।
सुरम्यां तोयकलिलां विहितां दक्षिणां दिशम् ॥ २६ ॥
दिव्यां तीर्थशतोपेतां प्लावयन्तीं शुभाम्भसा ।

तत्पश्चात् नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त सहस्र शिखरवाले विन्ध्यगिरिकी सृष्टि की, साथ ही वहाँसे प्रकट होनेवाली एक नदीका भी निर्माण किया, जो तटरूपी नितम्ब भागसे विभूषित थी । उसमें बड़ी भँवरें उठ रही थीं । उसका जल दूधके समान स्वच्छ था । वह पयोधारा (नर्मदा) के नामसे विख्यात हुई । जलसे भरी हुई वह दिव्य एवं रमणीय नदी सैकड़ों तीर्थोंसे सुशोभित थी और अपने मङ्गलकारी जलसे दक्षिण दिशाको पवित्र एवं आप्लावित कर रही थी ॥ २५-२६½ ॥

दिशं याम्यां प्रतिष्ठाप्य प्रतीचीं दिशमागमत् ॥ २७ ॥
अकरोत् तत्र शैलेन्द्रं शतयोजनमुच्छ्रितम् ।
शोभितं शिखरैश्चित्रैः सुप्रवृद्धैर्हिरण्मयैः ॥ २८ ॥

इस प्रकार दक्षिण दिशाको प्रतिष्ठित करके भगवान् पश्चिम दिशामें चले आये । वहाँ उन्होंने सौ योजन ऊँचे शैलराज अस्ताचलका निर्माण किया, जो बहुत बढ़े हुए विचित्र एवं सुवर्णमय शिखरोंसे सुशोभित था ॥ २७-२८ ॥

काञ्चनीभिः शिलाभिश्च गुहाभिश्च विभूषितम् ।
समाकुलं सूर्यनिभैः शालैस्तालैश्च भास्वरैः ॥ २९ ॥

सोनेकी शिलाएँ और गुफाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं । सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले साखू और ताड़के वृक्ष वहाँ सब ओर फैले हुए थे ॥ २९ ॥

शुशुभे जातरूपैश्च श्रीमद्भिश्चित्रवेदिकैः ।
षष्टिं गिरिसहस्राणि तत्रासौ संन्यवेशयत् ॥ ३० ॥
मेरुप्रतिमरूपाणि वपुषा प्रभया सह ।

शोभाशाली विचित्र वेदिकाओंसे युक्त सुवर्णमय शिखर उसकी श्रीवृद्धि कर रहे थे । वहाँ भगवान्ने साठ हजार पर्वत बसाये गये, जो अपने शरीर और कान्तिसे मेरुपर्वतकी समानता करते थे ॥ ३०½ ॥

सहस्रजलधारं च पर्वतं मेरुसंनिभम् ॥ ३१ ॥
पुण्यतीर्थगुणोपेतं भगवान् संन्यवेशयत् ।
षष्टियोजनविस्तारं तावदेव समुच्छ्रितम् ॥ ३२ ॥

तदनन्तर भगवान्ने जलकी सहस्रों धाराएँ बहानेवाले एक मेरु-सदृश पर्वतको स्थापित किया, जो पुण्यतीर्थके गुणोंसे सम्पन्न था, जिसका विस्तार साठ योजन था, उसकी ऊँचाई भी उतनी ही थी से ३१-३२ ॥

आत्मरूपोपमं तत्र वाराहं नाम नामतः ।
निवेशयामास गिरिं दिव्यं वैदूर्यपर्वतम् ॥ ३३ ॥

वहीं उन्होंने अपने रूपके समान वाराहनामक दिव्य पर्वतको बसाया, जो वैदूर्यमणिसे सम्पन्न था ॥ ३३ ॥

राजताः काञ्चनाश्चैव यत्र दिव्याः शिलोच्चयाः ।
तत्रैव चक्रसदृशं चक्रवन्तं महाबलम् ॥ ३४ ॥
सहस्रकूटं विपुलं भगवान् संन्यवेशयत् ।

उस पर्वतपर सोने और चाँदीके दिव्य शिलाखण्ड हैं, वहीं भगवान्ने चक्रसदृश महाबली चक्रवान् गिरिकी स्थापना की, जो सहस्रों शिखरोंसे सम्पन्न एवं विशाल था ॥ ३४½ ॥

शङ्खप्रतिमरूपं च राजतं पर्वतोत्तमम् ॥ ३५ ॥
सितद्रुमसमाकीर्णं शङ्खं नाम न्यवेशयत् ।

इसके सिवा उन्होंने वहाँ एक रजतमय श्रेष्ठ पर्वतको स्थापित किया, जिसका स्वरूप शङ्खके समान उज्ज्वल था; इसीलिये उसका नाम शङ्ख रखा गया । वह श्वेत वर्णके वृक्षोंसे व्याप्त था ॥ ३५½ ॥

सुवर्णं रत्नसम्भूतं पारिजातं महाद्रुमम् ॥ ३६ ॥
महतः पर्वतस्याग्रे पुष्पहासं न्यवेशयत् ।

उस महान् पर्वतके अग्रभागमें उन्होंने रत्नसम्भूत सुवर्ण तथा पुष्पमय हाससे सुशोभित पारिजात नामक विशाल वृक्षको स्थापित किया ॥ ३६½ ॥

शुभामतिरसां चैव घृतधारामिति श्रुतिः ॥ ३७ ॥
वराहः सरितं पुण्यां प्रतीच्यामकरोत् प्रभुः ।

पश्चिम दिशामें भगवान् वाराहने अत्यन्त जलसे भरी हुई एक शुभ एवं पुण्य नदीकी भी सृष्टि की, जो घृतधाराके नामसे विख्यात है ॥ ३७½ ॥

प्रतीच्यां संविधिं कृत्वा पर्वतान् काञ्चनोज्ज्वलान् ।३८।
गुणोत्तरानुत्तरस्यां संन्यवेशयदग्रतः ।

इस प्रकार पश्चिम दिशामें पर्वतोंके विभाग करके उन्होंने उत्तर दिशामें सुवर्णके समान कान्तिमान् पर्वत बसाये, जो गुणोंमें उत्कृष्ट थे ॥ ३८½ ॥

तत सौम्यगिरिं सौम्यमन्तरिक्षप्रमाणतः ॥ ३९ ॥
रुक्मधातुप्रतिच्छन्नमकरोद् भास्करोपमम् ।

तत्पश्चात् उन्होंने सूर्यके समान तेजस्वी तथा सुवर्णमय धातुओंसे ढँके हुए सौम्यगिरिकी सृष्टि की, जो आकाशके बराबर ऊँचा और सौम्य था ॥ ३९½ ॥

स तु देशो विसूर्योऽपि तस्य भासा प्रकाशते ॥ ४० ॥
तस्य लक्ष्म्यधिकं भाति तपसा रविणा यथा ।

वह देश सूर्यके प्रकाशित न रहनेपर भी उस पर्वतकी प्रभासे ही प्रकाशित होता रहता है। उस पर्वतकी शोभा तपते हुए सूर्यके द्वारा और अधिक उद्दीप्त हो उठती है ॥

सूक्ष्मलक्षणविज्ञेयस्तपतीव दिवाकरः ॥ ४१ ॥

जैसे मध्याह्न कालिक सूर्यके समीप श्रीहीन हुए चन्द्रमा सूक्ष्म दिखायी देते हैं, उसी प्रकार उस पर्वतके सामने तपते हुए सूर्य भी फीके पड़कर सूक्ष्म लक्षणोंसे लक्षित होते हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ ४१ ॥

सहस्रशिखरं चैव नानातीर्थसमाकुलम् ।
चकार रत्नसंकीर्णं भूयोऽस्तं नाम पर्वतम् ॥ ४२ ॥

इसके बाद उन्होंने सहस्रों शिखरोंसे सुशोभित तथा नाना प्रकारके तीर्थोंसे व्याप्त रत्नपूर्ण अस्तगिरिका पुनः निर्माण किया ॥ ४२ ॥

मनोहरगुणोपेतं मन्दरं चाचलोत्तमम् ।
उद्दामपुष्पगन्धं च पर्वतं गन्धमादनम् ॥ ४३ ॥

तदनन्तर मनोहर गुणोंसे सम्पन्न श्रेष्ठ मन्दराचलका तथा उद्दाम पुष्पगन्धसे भरे हुए गन्धमादन पर्वतका निर्माण किया ॥ ४३ ॥

चकार तस्य शृङ्गेषु सुवर्णरससम्भवम् ।
जम्बूं जाम्बूनदमयीमनन्ताद्भुतदर्शनाम् ॥ ४४ ॥

गन्धमादनके शिखरोंपर सुवर्णरसको प्रकट करनेवाले जम्बूवृक्षका निर्माण किया, जो जाम्बूनदमय (सुवर्णमय), अनन्त और अद्भुत दिखायी देता है ॥ ४४ ॥

गिरिं त्रिशिखरं चैव तथा पुष्करपर्वतम् ।
शुभ्रं पाण्डुरमेघाभं कैलासं च नगोत्तमम् ॥ ४५ ॥

इसके बाद तीन शिखरवाले त्रिकूट गिरि, पुष्कर पर्वत तथा श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल कान्तिवाले गिरिश्रेष्ठ कैलासका निर्माण किया ॥ ४५ ॥

हिमवन्तं च शैलेन्द्रं दिव्यधातुविभूषितम् ।
निवेशयामास हरिर्वाराहीं तनुमास्थितः ॥ ४६ ॥

तदनन्तर वाराहरूप धारण करनेवाले श्रीहरिने दिव्य धातुओंसे विभूषित गिरिराज हिमवान्को स्थापित किया ॥

नदीं सर्वगुणोपेतामुत्तरस्यां दिशि प्रभुः ।
मधुधारां स कृतवान् दिव्यामृषिशताकुलाम् ॥ ४७ ॥

इसके सिवा उन भगवान्ने उत्तर दिशामें सर्वगुण-सम्पन्न दिव्य नदी मधुधाराकी सृष्टि की, जो सैकड़ों ऋषियोंसे सेवित है ॥ ४७ ॥

सर्वे चैव क्षितिधराः सपक्षाः कामरूपिणः ।
तदा कृता भगवता विचित्राः परमेष्ठिना ॥ ४८ ॥

उस समय परमेष्ठी भगवान् श्रीहरिने सभी पर्वतोंको पंखयुक्त, इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न तथा विचित्र बनाया था ॥ ४८ ॥

स कृत्वा प्रविभागं तु पृथिव्या लोकभावनः ।
देवासुराणामुत्पत्तौ कृतवान् बुद्धिमक्षयाम् ॥ ४९ ॥

इस तरह लोकभावन भगवान्ने पृथ्वीका विभाग करके देवताओं और असुरोंकी उत्पत्तिके लिये अपनी अक्षय बुद्धिका प्रयोग किया ॥ ४९ ॥

सर्वासु दिक्षु क्षतजोपमाक्ष-
श्चकार शैलान् विविधाभिधानान् ।
हिताय लोकस्य स लोकनाथः
पुण्याश्च नद्यः सलिलोपगूढाः ॥ ५० ॥

रक्तके समान लाल नेत्रवाले उन लोकनाथ भगवान् नारायणने समस्त जगत्के हितके लिये सम्पूर्ण दिशाओंमें भाँति-भाँतिके नामवाले पर्वतों और जलसे भरी हुई पवित्र नदियोंकी सृष्टि की ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वाराहे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वाराहावतारविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

जगतकी सृष्टिका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

जगत्स्रष्टुमना देवश्चिन्तयामास पूर्वजः ।
तस्य चिन्तयतो वक्त्रान्निःसृतः पुरुषः किल ॥ १ ॥

ततः स पुरुषो देवं किं करोमीत्युपस्थितः ।
प्रत्युवाच स्मितं कृत्वा देवदेवो जगत्पतिः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर

सबके पूर्वज भगवान् नारायण जगत्‌की सृष्टिकी इच्छासे मन-ही-मन कुछ विचार करने लगे। कहते हैं—उसी समय उनके मुखसे एक पुरुष प्रकट हुआ। उस पुरुषने भगवान्‌के निकट खड़े होकर पूछा—'प्रभो! मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' तब देवाधिदेव जगदीश्वरने मुसकराकर उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १-२ ॥

विभजात्मानमित्युक्त्वा गतोऽन्तर्धानमीश्वरः।
अन्तर्हितस्य देवस्य सशरीरस्य भारत ॥ ३ ॥
प्रशान्तस्येव दीपस्य गतिस्तस्य न विद्यते।

'तुम अपने स्वरूपका विभाग करो।' ऐसा कहकर वे भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये। भारत! जैसे दीपक बुझ जाय, उसी प्रकार शरीरसहित अन्तर्हित हुए उन भगवान्‌की कहीं कोई गति नहीं है ॥ ३½ ॥

ततस्तेनेरितां वाणीं सोऽन्वचिन्तयत प्रभुः ॥ ४ ॥
हिरण्यगर्भो भगवान् य एष छन्दसि श्रुतः।

तदनन्तर भगवान्‌के मुखसे प्रकट हुए प्रभावशाली पुरुष भगवान् हिरण्यगर्भ, जिनका नाम वेदमन्त्रोंमें सुना गया है, भगवान्‌की कही हुई पूर्वोक्त वाणीपर बारंबार विचार करने लगे ॥ ४½ ॥

एष प्रजापतिः पूर्वमभवद् भुवनाधिपः ॥ ५ ॥
तदा प्रभृति तस्याद्यो यज्ञभागो विधीयते।

ये ही सम्पूर्ण भुवनोंके अधिपति प्रजापति सबसे पहले उत्पन्न हुए थे। अतः तभीसे यज्ञका प्रथम भाग उन्हींको दिया जाता है ॥ ५½ ॥

प्रजापतिरुवाच

विभजात्मानमित्युक्तस्तेनास्मि सुमहात्मना ॥ ६ ॥
कथमात्मा विभज्यः स्यात् संशयो ह्यत्र मे महान्।

प्रजापति मन-ही-मन बोले—उन परमात्माने मुझसे कहा है कि तुम अपने स्वरूपका विभाग करो; परंतु मुझे अपने स्वरूपका विभाग कैसे करना होगा, इस विषयमें मुझे महान् संदेह है ॥ ६½ ॥

इति चिन्तयतस्तस्य ओमित्येवोत्थितः स्वरः ॥ ७ ॥
स भूमावन्तरिक्षे च नाके च कृतवांस्ततः।

ऐसा सोचते हुए उन भगवान्‌के मुखसे 'ॐ' इस स्वरका उच्चारण हुआ। उन्होंने उस शब्दका पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग—तीनों लोकोंमें उच्चारण किया ॥ ७½ ॥

तं चैवाभ्यसतस्तस्य मनःसारमयः पुनः ॥ ८ ॥
हृदयाद् देवदेवस्य वषट्कारः समुत्थितः।

इस प्रकार 'ॐ' का जप करते हुए उन देवाधिदेव प्रजापतिके हृदयसे पुनः उनके मनका सारभूत वषट्कार प्रकट हुआ ॥ ८½ ॥

भूम्यन्तरिक्षकानां च भूर्भुवःसुवरात्मिकाः।
महास्मृतिमयाः पुण्या महाव्याहृतयोऽभवन् ॥ ९ ॥

इसके बाद भूमि, अन्तरिक्ष एवं स्वर्गकी सारभूता 'भूः, भुवः, स्वः'—ये तीन पवित्र महाव्याहृतियाँ प्रकट हुईं, जो महास्मृतिमयी हैं ॥ ९ ॥

छन्दसां प्रवरा देवी चतुर्विंशाक्षराभवत्।
तत्पदं संस्मरन् दिव्यां सावित्रीमकरोत् प्रभुः ॥ १० ॥

तदनन्तर वेदोंमें श्रेष्ठ देवी गायत्री प्रकट हुई, जो चौबीस अक्षरोंसे युक्त होती है। भगवान् ब्रह्माने उस पदका स्मरण करके दिव्य सावित्री-मन्त्रको प्रकट किया ॥ १० ॥

ऋक्सामाथर्वयजुषश्चतुरो भगवान् प्रभुः।
चकार निखिलान् वेदान् ब्रह्मयुक्तेन कर्मणा ॥ ११ ॥

फिर प्रभावशाली भगवान् प्रजापतिने ब्रह्मयुक्त कर्मके द्वारा ऋक्, साम, अथर्व और यजुनामक चारों वेदोंका पूर्णतः प्रादुर्भाव किया ॥ ११ ॥

ततस्तस्यैव मनसः सनः सनक एव च।
सनातनश्च भगवान् वरदश्च सनन्दनः ॥ १२ ॥
सनत्कुमारश्च विभुस्तत्र जज्ञे सनातनः।
मानसाश्चैव पूर्वाद्या इत्येते षण्महर्षयः ॥ १३ ॥

तदनन्तर उन्हींके मनसे सन, सनक, सनातन, वरदायक भगवान् सनन्दन, ऐश्वर्यशाली सनत्कुमार तथा सनातन (द्वितीय) प्रकट हुए। ये छः महर्षि सबसे पहले उत्पन्न हुए ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं ॥ १२-१३ ॥

ब्रह्माणं कपिलं चैव षडेतांश्चैव योगिनः।
यतयो योगतन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति द्विजातयः ॥ १४ ॥

योगी और यति ब्राह्मण योगतन्त्रोंमें ब्रह्मा और कपिलके साथ इन छः सन-सनक आदिकी स्तुति करते हैं ॥ १४ ॥

ततो मरीचिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
भृगुमङ्गिरसं चैव मनुं चैव प्रजापतिम् ॥ १५ ॥
पितॄंश्च सर्वभूतानां देवतासुररक्षसाम्।
महर्षीनसृजच्छम्भुरष्टावेतांश्च मानसान् ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् कल्याणकारी भगवान् ब्रह्माने मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, अङ्गिरा तथा प्रजापति मनु—इन आठ मानसपुत्र महर्षियोंकी सृष्टि की, जो सम्पूर्ण भूतों तथा देवताओं, असुरों और राक्षसोंके भी पिता थे ॥ १५-१६ ॥

एते युगसहस्रान्ते याश्चैषामभवन् प्रजाः।
कल्पे निःशेषमुक्ते तु ततो गच्छन्ति निर्वृतिम् ॥ १७ ॥

सहस्र युग व्यतीत होनेपर ये तथा इनकी जो प्रजाएँ होती हैं, वे सारा-का-सारा कल्प पूर्णतः समाप्त हो जानेपर निर्वृति (परमानन्दमय मोक्ष) को प्राप्त हो जाती हैं ॥ १७ ॥

भूयो वर्षसहस्रान्ते उत्पत्तिस्तु विधीयते।
एतेषामेव देवानां प्रजाकर्तृषु वै तदा ॥ १८ ॥

फिर सहस्रों वर्षोंके पश्चात् इन्हींकी देवसंतानोंकी सृष्टिके लिये उत्पत्ति होती है ॥ १८ ॥

किं तु कर्मविशेषेण देवतानां युगे युगे।
नामजन्मविशेषाश्च तथैव युगपर्यये ॥ १९ ॥

किंतु प्रत्येक कल्पमें युगका परिवर्तन होनेपर कर्म विशेषसे इन देवताओंके नाम और जन्ममें कुछ अन्तर आ जाता है ॥ १९ ॥

अङ्गुष्ठाद् दक्षिणाद् दक्ष उत्पन्नो भगवानृषिः।
तस्यैव तु पुनर्भार्या वामाङ्गुष्ठादजायत ॥ २० ॥

ब्रह्माजीके दाहिने अङ्गुष्ठसे भगवान् दक्ष ऋषि उत्पन्न हुए और बायेंसे फिर उन्हींकी पत्नीका प्रादुर्भाव हुआ॥२०॥

तस्य तत्राभवन् कन्या विश्रुता लोकमातरः।
याभिर्व्याप्तास्त्रयो लोकाः प्रजाभिर्मनुजाधिप ॥ २१ ॥

नरेश्वर! दक्षके उस धर्मपत्नीके गर्भसे बहुत-सी विख्यात कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जो सम्पूर्ण लोकोंकी जननी हैं। उनकी प्रजाओंसे तीनों लोक भरे हुए हैं ॥ २१ ॥

अदितिं च दितिं कालां दनायुं सिंहिकां मुनिम्।
प्राधां क्रोधां च सुरभिं विनतां सुरसां तथा ॥ २२ ॥
दनुं कद्रूं च दुहितॄः प्रददौ कश्यपाय तु।

दक्षने अपनी पुत्री अदिति, दिति, काला, दनायु, सिंहिका, मुनि, प्राधा, क्रोधा, सुरभि, विनता, सुरसा, दनु तथा कद्रू—इन तेरह कन्याओंका विवाह महर्षि कश्यपजीके साथ कर दिया ॥ २२½ ॥

प्रजां संचिन्त्य मनसा गतिज्ञेनान्तरात्मना ॥ २३ ॥
अरुन्धतीं वसुं यामीं लम्बां भानुं मरुत्वतीम्।
संकल्पां च मुहूर्तां च साध्यां विश्वां च भारत ॥ २४ ॥
मनवे ब्रह्मपुत्राय कन्या दक्षो ददौ दश।

भारत! कालकी भावी गतिको जाननेवाली अपनी अन्तरात्मा एवं मनके द्वारा प्रजावर्गका चिन्तन करके दक्षने अरुन्धती, वसु, यामी, लम्बा, भानु, मरुत्वती, संकल्पा, मुहूर्ता, साध्या और विश्वा—ये दस कन्याएँ ब्रह्मपुत्र मनुको अर्पित कर दीं ॥ २३-२४½ ॥

ततः सर्वानवद्याङ्ग्यः कन्याः कमललोचनाः ॥ २५ ॥
पूर्णचन्द्रानना दिव्या गन्धवत्यो मनोरमाः।
कीर्तिं लक्ष्मीं धृतिं पुष्टिं बुद्धिं मेधां क्षमां तथा॥ २६ ॥
मतिं लज्जां वसुं चैव दक्षो धर्माय वै ददौ।

तदनन्तर जिनके सारे अङ्ग निर्दोष, नेत्र कमलके समान प्रफुल्ल तथा मुख पूर्णचन्द्रके समान आह्लादजनक थे, वे दिव्य, मनोरम तथा उत्तम गन्धवाली कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, पुष्टि, बुद्धि, मेधा, क्षमा, मति, लज्जा और वसु—दस कन्याएँ दक्षने धर्मको दे दीं ॥ २५-२६½ ॥

अत्रेस्तु तनयो जातस्तस्य तोयात्मकः शशी ॥ २७ ॥
पुत्रो ग्रहाणामधिपः सहस्रांशुस्तमिस्रहा।

अत्रिके एक पुत्र हुआ, जिसका स्वरूप जलमय था। वही चन्द्रमा हुआ। चन्द्रमा ग्रहोंके स्वामी, सहस्रों किरणोंसे सुशोभित तथा अन्धकारका नाश करनेवाले हैं ॥ २७½ ॥

तस्मै नक्षत्रयोगिन्यः सप्तविंशतिरुत्तमाः ॥ २८ ॥
रोहिणीप्रमुखाः कन्या दक्षः प्राचेतसो ददौ।

प्राचेतस दक्षने उन्हें अश्विनी, रोहिणी आदि उत्तम सत्ताईस कन्याएँ ब्याह दीं, जो सब-की-सब नक्षत्रवाचक नामोंसे युक्त थीं ॥ २८½ ॥

एतासां पुत्रपौत्रं च प्रोच्यमानं मया शृणु ॥ २९ ॥
कश्यपस्य मनोश्चैव धर्मस्य शशिनस्तथा।

इनके गर्भसे कश्यप, मनु, धर्म और चन्द्रमाद्वारा होनेवाले पुत्र-पौत्रोंका मेरेद्वारा वर्णन किया जाता है, उसे सुनो ॥ २९½ ॥

अर्यमा वरुणो मित्रः पूषा धाता पुरंदरः ॥ ३० ॥
त्वष्टा भगोंऽशुः सविता पर्जन्यश्चेति विश्रुताः।
अदित्यां जज्ञिरे देवाः कश्यपाल्लोकभावनाः ॥ ३१ ॥

अर्यमा, वरुण, मित्र, पूषा, धाता, इन्द्र, त्वष्टा, भग, अंशु, सविता और पर्जन्य—ये बारह लोकभावन देवता कश्यपके अंश और अदितिके गर्भसे उत्पन्न हुए (ये ही बारह आदित्य कहलाते हैं) ॥ ३०-३१ ॥

दित्याः पुत्रद्वयं जज्ञे कश्यपादिति नः श्रुतम्।
हिरण्यकशिपुश्चैव हिरण्याक्षश्च वीर्यवान्।
द्वावप्यमितविक्रान्तौ तपसा कश्यपोपमौ ॥ ३२ ॥

हमारे सुननेमें आया है कि पहले कश्यपद्वारा दितिके गर्भसे दो पुत्र उत्पन्न हुए थे—हिरण्यकशिपु तथा पराक्रमी हिरण्याक्ष। ये दोनों ही अनन्त पराक्रमी थे और तपस्या-द्वारा कश्यपजीकी समानता करते थे ॥ ३२ ॥

हिरण्यकशिपोः पुत्राः पञ्चैव सुमहाबलाः।
प्रह्लादश्चैव संह्लादस्तथानुह्लाद एव च ॥ ३३ ॥
ह्रदश्चैव तु विक्रान्तः पञ्चमोऽनुह्रदस्तथा
प्रह्लादः पूर्वजस्तेषामनुह्लादस्तथा परः ॥ ३४ ॥

हिरण्यकशिपुके पाँच ही महाबली पुत्र थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं—प्रह्लाद, संह्लाद, अनुह्लाद, पराक्रमी ह्रद और पाँचवाँ अनुह्रद। इनमे प्रह्लाद बड़े थे और उनसे छोटे अनुह्लाद थे ॥ ३३-३४ ॥

प्रह्लादस्य त्रयः पुत्रा विक्रान्ताः सुमहाबलाः।
विरोचनश्च जम्भश्च सुजम्भश्चेति विश्रुताः ॥ ३५ ॥

प्रह्लादके विरोचन, जम्भ और सुजम्भ—ये तीन परम पराक्रमी महाबली और सुविख्यात पुत्र हुए ॥ ३५ ॥

बलिर्विरोचनसुतो बाण एको बलेः सुतः ।
बाणस्य चेन्द्रदमनः पुत्रः परपुरंजयः ॥ ३६ ॥

विरोचनके पुत्र बलि हुए और बलिका एकमात्र पुत्र बाणासुर हुआ । बाणके भी एक ही पुत्र हुआ, जिसका नाम था इन्द्रदमन । वह शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाला था ॥ ३६ ॥

दनोः पुत्रास्तु बहवो वंशे ख्याता महासुराः ।
विप्रचित्तिः प्रथमजस्तेषां राजा बभूव ह ॥ ३७ ॥

दनुके बहुत-से पुत्र हुए, जो अपने वंशके विख्यात महासुर थे । उन सबमें विप्रचित्ति बड़ा था; अतः वही उनका राजा हुआ ॥ ३७ ॥

गणः प्रजज्ञे क्रोधायाः पुत्रपौत्रमनन्तकम् ।
रौद्राः क्रोधवशा नाम क्रूरकर्माण एव च ॥ ३८ ॥

क्रोधासे एक समुदाय प्रकट हुआ, जिसके पुत्र-पौत्रोंकी संख्या अनन्त है । वह समुदाय या गण क्रोधवश नामसे प्रसिद्ध है । क्रोधवश नामवाले भयङ्कर असुर क्रूर कर्म करनेवाले होते हैं ॥ ३८ ॥

सिंहिका सुषुवे राहुं ग्रहं चन्द्रार्कमर्दनम् ।
ग्रस्तारं चैव चन्द्रस्य सूर्यस्य च विनाशनम् ॥ ३९ ॥

सिंहिकाने राहुनामक ग्रहको जन्म दिया, जो चन्द्रमा और सूर्यका मर्दन करनेवाला है । वही ग्रहणके द्वारा चन्द्रमाको ग्रस लेनेवाला और सूर्यको भी अदृश्य कर देनेवाला है ॥ ३९ ॥

कालायाः कालकल्पस्तु गणः परमदारुणः ।
अभवद् दीप्तसूर्याक्षो नीलमेघसमप्रभः ॥ ४० ॥

कालासे काल-सदृश अत्यन्त भयंकर गण प्रकट हुआ, जिसे कालेय कहते हैं । इस समुदायके नेत्र सूर्यके समान तेजस्वी होते हैं । इनकी अङ्गकान्ति नील मेघके समान काली है ॥ ४० ॥

सहस्रशीर्षा शेषश्च वासुकिस्तक्षकस्तथा ।
बहूनां कद्रुपुत्राणामेते प्राधान्यमागताः ॥ ४१ ॥

कद्रूके बहुत-से पुत्र हुए, जिनमें सहस्र फनवाले शेषनाग, वासुकि और तक्षक—ये प्रधान माने गये हैं ॥ ४१ ॥

धर्मात्मानो वेदविदः सदा प्राणिहिते रताः ।
लोकतन्त्रधराश्चैव वरदाः कामरूपिणः ॥ ४२ ॥

ये धर्मात्मा, वेदवेत्ता तथा सदा ही प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले हैं । लोकतन्त्रको धारण करनेवाले वरदायक तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हैं ॥ ४२ ॥

तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च गरुडश्च महाबलः ।
अरुणश्चारुणिश्चैव विनतायाः सुताः स्मृताः ॥ ४३ ॥

तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, महाबली गरुड, अरुण और आरुणि—ये विनताके पुत्र माने गये हैं ॥ ४३ ॥

इमाश्चाप्सरसः पुण्या विविधाः पुण्यलक्षणाः ।
सुषुवेऽष्टौ महाभागा प्राधा देवर्षिपूजिता ॥ ४४ ॥

देवर्षियोंद्वारा सम्मानित महाभागा प्राधाने पवित्र, नाना प्रकारके रूप-रंगवाली तथा पुण्यमय लक्षणोंसे युक्त निम्नाङ्कित आठ अप्सराओंको उत्पन्न किया ॥ ४४ ॥

अनवद्यां मनुं वंशामनूनामरुणप्रियाम् ।
अनुगां सुभगां भासीं स्त्रियः प्राधा व्यजायत ॥ ४५ ॥

अनवद्या, मनु, वंशा, अनूना, अरुणप्रिया, अनुगा, सुभगा और भासी—इन आठ कन्याओंको प्राधाने जन्म दिया ॥ ४५ ॥

अलम्बुषा मिश्रकेशी पुण्डरीका तिलोत्तमा ।
सुरूपा लक्षणा क्षेमा तथा रम्भा मनोरमा ॥ ४६ ॥
असिता च सुबाहुश्च सुवृत्ता सुमुखी तथा ।
सुप्रिया च सुगन्धा च सुरसा च प्रमाथिनी ॥ ४७ ॥
काश्या शारद्वती चैव मौनेयाप्सरसः स्मृताः ।
विश्वा वसुर्भरण्यश्च गन्धर्वाश्चैव विश्रुताः ॥ ४८ ॥

अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका, तिलोत्तमा, सुरूपा, लक्षणा, क्षेमा, रम्भा, मनोरमा, असिता, सुबाहु, सुवृत्ता, सुमुखी, सुप्रिया, सुगन्धा, सुरसा, प्रमाथिनी, काश्या और शारद्वती—ये अप्सराएँ मुनिकी संतानें बतायी गयी हैं । विश्वा, वसु, भरणी नामवाली कन्याएँ तथा सुविख्यात गन्धर्व भी मुनिकी ही संतति हैं ॥ ४६—४८ ॥

मेनका सहजन्या च पर्णिका पुञ्जिकस्थला ।
घृतस्थला घृताची च विश्वाची चोर्वशी तथा ॥ ४९ ॥
अनुम्लोचेत्यभिख्याता प्रम्लोचेति च ता दश ।
मनोवती चापि तथा वैदिक्योऽप्सरसस्तथा ॥ ५० ॥
प्रजापतेस्तु संकल्पात् सम्भूता भुवनप्रियाः ।

मेनका, सहजन्या, पर्णिका, पुञ्जिकस्थला, घृतस्थला, घृताची, विश्वाची, उर्वशी, अनुम्लोचा तथा प्रम्लोचा—ये दस अप्सराएँ मनोवती तथा अन्य वेदवर्णित अप्सराएँ प्रजापतिके संकल्पसे उत्पन्न हुई हैं । ये समस्त भुवनोंमें प्रिय मानी गयी हैं ॥ ४९-५०½ ॥

अमृतं ब्राह्मणा गावो रुद्राश्चेति चतुष्टयम् ॥ ५१ ॥
सुरभ्यपत्यमित्येतत् पुराणे निश्चयो महान् ।
एतद् वै कश्यपापत्यं मनोर्वंशं निबोध मे ॥ ५२ ॥

अमृत, ब्राह्मण, गौएँ तथा रुद्र—ये चार सुरभिकी संतानें हैं, यह पुराणका महत्त्वपूर्ण निश्चय है । यहाँतक

कश्यपकी संतानोंका वर्णन किया गया है, अब मुझसे मनुके वंशका वर्णन सुनो ॥ ५१-५२ ॥

संक्षेपेणैव तत् सर्वं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ ।
विश्वेदेवास्तु विश्वायाः साध्या साध्यान् व्यजायत ॥५३॥

निष्पाप नरेश ! वह सब मैं संक्षेपसे ही कहूँगा । विश्वेदेव विश्वाकी संतान हैं, साध्यादेवीने साध्य नामक देवोंको जन्म दिया ॥ ५३ ॥

मरुत्वत्यां मरुत्वन्तो वसोस्तु वसवः स्मृताः ।
भानोस्तु भानवस्तात मुहूर्ताश्च मुहूर्तजाः ॥ ५४ ॥

मरुत्वतीके गर्भसे मरुत्वान् उत्पन्न हुए, वसुके पुत्र वसुके नामसे ही प्रसिद्ध हैं । तात ! भानुके पुत्र भानु और मुहूर्ताके पुत्र मुहूर्त हैं ॥ ५४ ॥

लम्बा घोषं विजज्ञेऽथ नागवीथी च जामिजा ।
पृथिव्यां विषमं सर्वं मरुत्वत्यामजायत ॥ ५५ ॥

लम्बाने घोषको जन्म दिया, जामिसे नागवीथी उत्पन्न हुई, पृथ्वीमें जो कुछ विषम है, वह सब मरुत्वतीसे उत्पन्न हुआ ॥ ५५ ॥

संकल्पायास्तु कौरव्य जज्ञे संकल्प एव च ।
धर्मस्य पुत्रो लक्ष्म्यास्तु कामो जज्ञे जगत्प्रभुः ॥ ५६ ॥

कुरुनन्दन ! संकल्पाके गर्भसे संकल्प नामवाला ही पुत्र हुआ । धर्म और उनकी पत्नी लक्ष्मीसे काम नामक पुत्रका जन्म हुआ, जो सम्पूर्ण जगत्‌पर अपनी प्रभुता स्थापित किये हुए है ॥ ५६ ॥

यशो हर्षश्च कामस्य रत्यां पुत्रद्वयं स्मृतम् ।
सोमस्य पुत्रो रोहिण्यां जज्ञे वर्चा महाप्रभः ॥ ५७ ॥

काम और उसकी पत्नी रतिसे दो पुत्र उत्पन्न हुए—यश और हर्ष । सोमके रोहिणीके गर्भसे महान् कान्तिमान् वर्चा नामक पुत्रका जन्म हुआ ॥ ५७ ॥

उद्यन्नेव भगवान् वर्चस्वी येन जायते ।
पुरूरवाश्च भगवानुर्वशी येन युज्यते ॥ ५८ ॥

यह वर्चा वही है, जिससे उदय लेते ही भगवान् सोम वर्चस्वी (तेजःपुञ्जसे परिपूर्ण) हो जाते हैं । उस वर्चा या बुधसे ऐश्वर्यशाली पुरूरवाका जन्म हुआ, जिनके साथ उर्वशीने प्रेमसम्बन्ध स्थापित किया था ॥ ५८ ॥

एवं पुत्रसहस्राणि स्त्रीणां चैव परस्परम् ।
एतावत् तु जगन्मूलं यत्र लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार स्त्रियों और पुरुषोंके परस्पर संयोगसे सहस्रों पुत्र और कन्याएँ उत्पन्न हुईं । इतना ही जगत्‌का मूल है, जिसपर सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है ॥ ५९ ॥

प्रजापतिस्तु भगवान् गुणतः प्रेक्ष्य देहिनः ।
आधिपत्येषु युक्तेषु नियोजयति योगवित् ॥ ६० ॥

योगवेत्ता भगवान् प्रजापतिने गुणकी दृष्टिसे समस्त देहधारियोंपर दृष्टिपात करके उन सबको यथायोग्य प्रभुत्वपर प्रतिष्ठित किया ॥ ६० ॥

दिशो दश क्षितिमृषयोऽर्णवान् नगान्
द्रुमौषधीरुरगसरित्सुरासुरान् ।
प्रजापतिर्भुवनसृजो नभो भुवः
क्रियां मखानथ कृतवान् गिरींश्च सः ॥ ६१ ॥

उन प्रजापतिने दसों दिशा, पृथ्वी, ऋषि, समुद्र, पर्वत, वृक्ष, ओषधि, सर्प, नदी, देवता, असुर, लोकस्रष्टा मरीचि आदि, आकाश, भूर्लोक, क्रिया, यज्ञ तथा पर्वतमाला—इन सबकी सृष्टि की है ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वाराहे जगत्सर्गे षट्‌त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वाराहावतारके प्रसंगमें जगत्‌की सृष्टिविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीद्वारा विभिन्न वर्गके अधिपतियोंकी नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

त्रयाणामपि लोकानामादित्यानां च भारत ।
चकार शक्रं राजानमादित्यसमतेजसम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! ब्रह्माजीने इन्द्रको तीनों लोकों और आदित्योका राजा बनाया, जो सूर्यके तुल्य तेजस्वी हैं ॥ १ ॥

स वज्री कवची जिष्णुरदित्यामभिजज्ञिवान् ।
स्मृतेः सहायो द्युतिमान् यथा सोऽध्वर्युभिः स्तुतः ॥ २ ॥

वे विजयशील इन्द्र अदितिके गर्भसे उत्पन्न हुए । वे अपने हाथमें वज्र और अङ्गोंमें कवच धारण करते हैं । वे स्मृतिके सहायक और कान्तिमान् हैं, अध्वर्यु (यजुर्वेदका स्वाध्याय करनेवाले) ब्राह्मण उनकी स्तुति करते हैं ॥ २ ॥

जातमात्रोऽथ भगवान् स कुशैर्ब्राह्मणैर्धृतः।
तदाप्रभृति देवेशः कौशिकत्वमुपागतः॥ ३॥

वे भगवान् इन्द्र ज्यों ही उत्पन्न हुए, त्यों ही ब्राह्मणोंने उन्हें कुशोंद्वारा धारण किया था, तभीसे देवेश्वर इन्द्र 'कौशिक' कहलाने लगे॥ ३॥

अभिषिच्याधिराज्ये तु सहस्राक्षं पुरंदरम्।
ब्रह्मा क्रमेण राज्यानि व्यादेष्टुमुपचक्रमे॥ ४॥

सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्रको त्रिलोकीके सम्राट्-पदपर अभिषिक्त करके ब्रह्माजीने क्रमशः विभिन्न वर्गके राज्योंका विभाजन आरम्भ किया॥ ४॥

यज्ञानां तपसां चैव ग्रहनक्षत्रयोस्तथा।
द्विजानामौषधीनां तु सोमं राज्येऽभ्यषेचयत्॥ ५॥

उन्होंने यज्ञ, तप, ग्रह, नक्षत्र, द्विज और ओषधियोंके राज्यपर सोमका अभिषेक किया॥ ५॥

दक्षं प्रजापतीनां तु अम्भसां वरुणं पतिम्।
पितॄणां सर्वनिधनं कालं वैश्वानरप्रभम्॥ ६॥

दक्षको प्रजापतियोंका, वरुणको जलका तथा सबका अन्त करनेवाले, अग्निके समान तेजस्वी काल (यमराज) को पितरोंका अधिपति बनाया॥ ६॥

गन्धानां चैव सर्वेषां भूतानां च शरीरिणाम्।
शब्दाकाशबलानां च वायुरीशस्तदा कृतः॥ ७॥

उन दिनों सम्पूर्ण गन्ध, देहधारी भूत, शब्द, आकाश और बलके स्वामी वायुदेव बनाये गये॥ ७॥

सर्वभूतपिशाचानां मृत्यूनां च गवां तथा।
उत्पातग्रहरोगाणां व्याधीनामीतिनां तथा।
व्रतानां चैव सर्वेषां महादेवः कृतः प्रभुः॥ ८॥

समस्त भूतों, पिशाचों, मृत्युओं, गौओं, उत्पातों, ग्रहों, रोगों, व्याधियों, ईतियों तथा सारे व्रतोंके अधिपति महादेवजी बनाये गये॥ ८॥

यक्षाणां राक्षसानां च गुह्यकानां धनस्य च।
रत्नानां चैव सर्वेषां कृतो वैश्रवणः प्रभुः॥ ९॥

यक्षों, राक्षसों, गुह्यकों और धन तथा सम्पूर्ण रत्नोंका आधिपत्य विश्रवाके पुत्र कुबेरको दिया गया॥ ९॥

सर्वेषां दंष्ट्रिणां शेषो नागानामथ वासुकिः।
सरीसृपाणां सर्वेषां प्रभुर्वै तक्षकः कृतः॥ १०॥

बड़ी-बड़ी दाढ़वाले सर्पोंके शेष, नागोंके वासुकि और समस्त सरीसृपोंके तक्षक राजा बनाये गये॥ १०॥

सागराणां नदीनां च मेघानां वर्षणस्य च।
आदित्यानामवरजः पर्जन्योऽधिपतिः कृतः॥ ११॥

आदित्योंमें सबसे छोटे जो पर्जन्य हैं, उन्हें सागरों, नदियों और मेघोंका तथा वर्षाका भी अधिपति बनाया गया॥

गन्धर्वाणामधिपतिस्तथा चित्ररथः कृतः।
सर्वाप्सरोगणानां च कामदेवः प्रभुः कृतः॥ १२॥

ब्रह्माजीने चित्ररथको गन्धर्वोंका तथा कामदेवको सम्पूर्ण अप्सराओंका स्वामी बनाया॥ १२॥

चतुष्पदानां सर्वेषां वाहनानां च सर्वशः।
महेश्वरध्वजः श्रीमान् गोवृषोऽधिपतिः कृतः॥ १३॥

महादेवजीके ध्वजस्वरूप जो वृषभरूपधारी श्रीमान् नन्दी हैं, उन्हें समस्त चौपायों और वाहनोंका अधिपति नियत किया॥ १३॥

दैत्यानां च महातेजा हिरण्याक्षः प्रभुः कृतः।
हिरण्यकशिपुश्चैव यौवराज्येऽभिषेचितः॥ १४॥

महातेजस्वी हिरण्याक्षको दैत्योंका राजा बनाया और हिरण्यकशिपुका युवराजके पदपर अभिषेक किया॥ १४॥

गणानां कालकेयानां महाकालः प्रभुः कृतः।
दनायुषायाः पुत्राणां वृत्रो राजा तदा कृतः॥ १५॥

महाकालको कालकेयनामक गणोंका स्वामी बनाया, उसमें जो दनायुषाके पुत्र थे, उनका राजा उन्होंने वृत्रासुरको बनाया॥ १५॥

सिंहिकातनयो यस्तु राहुर्नाम महासुरः।
उत्पातानामनेकानामशुभानां प्रभुः कृतः॥ १६॥

सिंहिकाका पुत्र जो राहु नामक महान् असुर है, उसे अनेकानेक उत्पातों और अशुभोंका स्वामी बनाया॥ १६॥

ऋतूनामथ सर्वेषां युगानां चैव भारत।
पक्षाणां चैव मासानां तथैव तिथिपर्वणाम्॥ १७॥
कलाकाष्ठामुहूर्तानां गतेरयनयोस्तथा।
कृतः संवत्सरो राजा योगस्य गणितस्य च॥ १८॥

भरतनन्दन! समस्त ऋतुओं, युगों, पक्षों, मासों, तिथियों, पर्वों, कला, काष्ठा और मुहूर्तों तथा उत्तरायण-दक्षिणायनकी गतिका राजा संवत्सर बनाया गया, वही योग और गणितका भी स्वामी हुआ॥ १७-१८॥

पक्षिणां चैव सर्वेषां चक्षुषां च महाबलः।
सुपर्णो भोगिनां चैव गरुडोऽधिपतिः कृतः॥ १९॥

सुन्दर पंखोंवाले महाबली गरुड़ समस्त पक्षियों, दूरतक दृष्टिपात करनेमें समर्थ प्राणियों तथा विशालकाय सर्पोंके अधिपति बनाये गये॥ १९॥

अरुणो गरुडभ्राता जपापुष्पचयप्रभः।
योगानां चैव सर्वेषां साध्यानामधिपः कृतः॥ २०॥

जपाकुसुमकी राशिके समान लाल रंगवाले, गरुड़के भाई अरुण समस्त योगों तथा साध्योंके स्वामी बनाये गये॥

पुत्रोऽस्य विरथो नाम कश्यपस्य प्रजापतेः ।
राजा प्राच्यां दिशि तथा वासवेनाधिपः कृतः ॥ २१ ॥

प्रजापति कश्यपका जो विरथ नामक पुत्र था, उसे देवराज इन्द्रने पूर्व दिशाका राजा एवं अधिपति बना दिया ॥

आदित्यस्य विभोः पुत्रो धर्मराजो महायशाः ।
दक्षिणस्यां दिशि यमो महेन्द्रेणैव सत्कृतः ॥ २२ ॥

भगवान् आदित्यके पुत्र महायशस्वी धर्मराज यमको दक्षिण दिशामें यमलोकका राजा बनाकर रखा गया और महेन्द्रने ही उनका सत्कार किया ॥ २२ ॥

कश्यपस्यौरसः पुत्रः सलिलान्तर्गतः सदा ।
अम्बुराज इति ख्यातः प्रतीच्यां दिशि पार्थिवः ॥ २३ ॥

कश्यपके औरस पुत्र वरुण, जो सदा जलके ही भीतर रहते थे और अम्बुराज नामसे विख्यात थे, पश्चिम दिशाके राजा बनाये गये ॥ २३ ॥

पुलस्त्यपुत्रो द्युतिमान् महेन्द्रप्रतिमः प्रभुः ।
एकाक्षः पिङ्गलो नाम सौम्यायां दिशि पार्थिवः ॥ २४ ॥

पुलस्त्यमुनिके तेजस्वी पुत्र पिंगल, जो देवराज इन्द्रके समान प्रभावशाली और एक आँखवाले थे, उत्तर दिशाके स्वामी बनाये गये ॥ २४ ॥

एवं विभज्य राज्यानि स्वयम्भूर्लोकभावनः ।
लोकांश्च त्रिदिवे दिव्यानददत् स पृथक् पृथक् ॥ २५ ॥

इस प्रकार लोकस्रष्टा स्वयम्भू ब्रह्माने विभिन्न राज्योंका विभाजन करके उन राजाओंके लिये स्वर्गमें भी पृथक्-पृथक् दिव्य लोक दिया ॥ २५ ॥

कस्यचित् सूर्यसंकाशान् कस्यचिद् वह्निसंनिभान् ।
कस्यचित् सुष्ठुविद्योतान् कस्यचिच्चन्द्रनिर्मलान् ।२६।

किसीको सूर्यके समान और किसीको अग्निके तुल्य तेजस्वी लोक दिये । किसीको विद्युत्के समान भलीभाँति प्रकाशित होनेवाले और किसीको चन्द्रमाके समान निर्मल कान्तिमान् लोक प्रदान किये ॥ २६ ॥

नानावर्णान् कामगमाननेकशतशोजनान् ।
स तान् सुकृतिनां लोकान् पापदुष्कृतिदुर्लभान् ।२७।

वे सब लोक नाना प्रकारके वर्णवाले और इच्छानुसार चलनेवाले थे, वहाँ सैकड़ों लोग निवास करते थे, वे सब-के-सब सत्कर्म करनेवाले पुण्यात्माओंके लोक थे । पापियों और दुष्कर्मियोंके लिये वे अत्यन्त दुर्लभ थे ॥ २७ ॥

येषां भासो विभान्त्यग्रे सौम्यास्तारागणा इव ।
एते सुकृतिनां लोका ये जाताः पुण्यकर्मिणः ॥ २८ ॥

ये सामने जो तारागणोंके समान सौम्यप्रकाश दिखायी देते हैं, सब-के-सब पुण्यात्माओंके ही लोक हैं। पुण्यकर्मी पुरुषोंके लिये ही इनकी सृष्टि हुई है ॥ २८ ॥

ये यजन्ति मखैः पुण्यैः समाप्तवरदक्षिणैः ।
स्वदारनिरताः शान्ता ऋजवः सत्यवादिनः ॥ २९ ॥
दीनानुग्रहकर्तारो ब्रह्मण्या लोभवर्जिताः ।
संत्यक्तरजसः सन्तो यान्ति तत्र तपोऽमलाः ॥ ३० ॥

जो लोग पर्याप्त उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त पवित्र (निष्काम) यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की आराधना करते हैं, अपनी ही स्त्रीमें अनुराग रखते हैं तथा जो शान्त, सरल, सत्यवादी, दीन-दुखियोंपर अनुग्रह करनेवाले, ब्राह्मणभक्त, लोभहीन, रजोगुणरहित और निर्मल तपस्यासे युक्त हैं, वे साधुपुरुष ही उन लोकोंमें जाते हैं ॥ २९-३० ॥

एवं नियुज्य तनयान् स्वयं लोकपितामहः ।
पुष्करं ब्रह्मसदनमारुरोह प्रजापतिः ॥ ३१ ॥

साक्षात् लोकपितामह प्रजापति ब्रह्मा इस प्रकार अपने पुत्रोंको विभिन्न राज्योंमें नियुक्त करके पुष्कर नामक ब्रह्मधाममें चले गये ॥ ३१ ॥

सर्वे स्वयम्भुदत्तेषु पालनेषु दिवौकसः ।
रेमिरे स्वेषु लोकेषु महेन्द्रेणाभिपालिताः ॥ ३२ ॥

स्वयम्भू ब्रह्माजीके दिये हुए अपने-अपने पालनीय लोकोंमें स्थित रहकर देवेन्द्रसे सुरक्षित हुए समस्त देवता वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥ ३२ ॥

स्वयम्भुवा शक्रपुरःसराः सुराः
कृता यथार्हं प्रतिपालनेषु ते ।
यशो दिवं च प्रतिपेदिरे शुभं
मुदं च जग्मुर्मखभागभोजिनः ॥ ३३ ॥

यज्ञभागका भोजन करनेवाले इन्द्र आदि सब देवता स्वयम्भू ब्रह्माद्वारा यथायोग्य पालनकर्ममें नियुक्त किये जानेपर बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने अपने कर्तव्यका पालन करते हुए शुभ यश और स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वाराहेऽधिपतिस्थापने सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वाराहावतारके प्रसङ्गमें अधिपतियोंकी स्थापनाविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

देवासुर-संग्राम तथा हिरण्याक्षद्वारा देवराज इन्द्रका स्तम्भन

वैशम्पायन उवाच

कदाचित् तु सपक्षास्ते पर्वता धरणीधराः।
प्रस्थिता धरणीं त्यक्त्वा नूनं तस्यैव मायया ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! एक समयकी बात है, पृथ्वीको धारण करनेवाले वे पंखधारी पर्वत इस पृथ्वीको छोड़कर अन्यत्र चले गये । निश्चय ही भगवान्‌की मायासे ही उन्होंने ऐसा किया था ॥ १ ॥

तदासुराणां निलयं हिरण्याक्षेण पालितम्।
दिशं प्रतीचीमागत्य ह्रदेऽमज्जन् यथा गजाः ॥ २ ॥

उस समय हिरण्याक्षद्वारा पालित असुरोंके निवासस्थान पश्चिम दिशामें जाकर वहाँके विशाल सरोवरमें वे सभी पर्वत हाथियोंके समान गोते लगाने तथा नहाने लगे ॥

तत्रासुरेभ्यः शंसन्त आधिपत्यं सुराश्रयम्।
तच्छ्रुत्वाथासुराः सर्वे चक्रुरुद्योगमुत्तमम् ॥ ३ ॥

वहाँ उन पर्वतोंने असुरोंसे कहा—देवताओंको तीनों लोकोंका आधिपत्य प्राप्त हुआ है; (वे छोटे होकर राज्यके भागी हो गये और दैत्य बड़े होकर भी उसे न पा सके) यह सुनकर उन सभी असुरोंने युद्धके लिये बड़ा भारी उद्योग किया॥

क्रूरां च बुद्धिमतुलां पृथिवीहरणे रताः।
आयुधानि च सर्वाणि जगृहुर्भीमविक्रमाः ॥ ४ ॥

वे अपनी अनुपम क्रूर बुद्धिका सहारा ले पृथ्वीको हड़प लेनेके लिये प्रयत्नमें लग गये । उन भयंकर पराक्रमी असुरोंने सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका संग्रह किया ॥ ४ ॥

चक्राशनींस्तथा खड्गान् भुशुण्डीश्च धनूंषि च।
प्रासान् पाशांश्च शक्तीश्च मुसलानि गदास्तथा ॥ ५ ॥

चक्र, अशनि, खड्ग, भुशुण्डि, धनुष, प्रास, पाश, शक्ति, मूसल और गदा आदि आयुध ले लिये ॥ ५ ॥

केचित् कवचिनः सज्जा मत्तनागांस्तथा परे।
केचिदश्वरथान् युक्ता अपरेऽश्वान् महासुराः ॥ ६ ॥

कोई कवच धारण करके युद्धके लिये तैयार हो गये । कोई मतवाले हाथियोंपर जा बैठे । कोई युद्धके लिये उद्यत हो घोड़े जुते रथोंपर आरूढ़ हुए । दूसरे महान् असुर घोड़ोंपर सवार हो गये ॥ ६ ॥

केचिदुष्ट्रांस्तथा खड्गान् महिषान् गर्दभानपि।
स्वबाहुबलमास्थाय केचिच्चापि पदातयः ॥ ७ ॥

कितने ही असुर ऊँटों, गैंडों, भैंसों और गदहोंपर बैठे थे । कितने ही अपने बाहुबलका भरोसा करके पैदल ही युद्धके लिये उद्यत थे ॥ ७ ॥

परिवार्य हिरण्याक्षं तलवद्धाः कलापिनः।
इतश्चेतश्च निश्चेरुर्हृष्टाः सर्वे युयुत्सवः ॥ ८ ॥

वे सब-के-सब हाथोंमें दस्ताने बाँधे, कवच पहने हर्षमें भरकर युद्धके लिये उत्सुक हो इधर-उधरसे निकले और हिरण्याक्षको सब ओरसे घेरकर चलने लगे ॥ ८ ॥

ततो देवगणाः पश्चात् पुरंदरपुरोगमाः।
दैत्यानां विदितोद्योगाश्चक्रुरुद्योगमुत्तमम् ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् दैत्योंके उस युद्धविषयक उद्योगका पता पाकर इन्द्र आदि देवता भी युद्धके लिये बड़ी भारी तैयारी करने लगे ॥ ९ ॥

महता चतुरङ्गेण बलेन सुसमाहिताः।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणारतूणवन्तः समार्गणाः ॥ १० ॥
उग्रायुधधरा देवाः स्वेष्वनीकेष्ववस्थिताः।
ऐरावतगतं शक्रमन्वगच्छन्त पृष्ठतः ॥ ११ ॥

वे देवता पूरी सावधानी रखकर विशाल चतुरङ्गिणी सेनाके साथ गोधाचर्मके बने हुए दस्ताने पहने, बाणोंसे भरे तरकस बाँधे, भयंकर आयुध धारण किये अपने-अपने दलमें खड़े हो गये और ऐरावतपर आरूढ हुए देवराज इन्द्रके पीछे-पीछे चलने लगे ॥ १०-११ ॥

ततस्तूर्यनिनादेन भेरीणां च महास्वनैः।
अभ्यद्रवद्धिरण्याक्षो देवराजं पुरंदरम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर बाजोंके महान् शब्द और भेरियोंके गम्भीर घोषके साथ हिरण्याक्षने देवराज इन्द्रपर धावा किया ॥१२॥

तीक्ष्णैः परशुनिस्त्रिंशैर्गदातोमरशक्तिभिः।
मुसलैः पट्टिशैश्चैव छादयामास वासवम् ॥ १३ ॥

उसने तीखे फरसों, तलवारों, गदाओं, तोमरों, शक्तियों, मुसलों और पट्टिशोंसे देवराज इन्द्रको आच्छादित कर दिया ॥

ततोऽस्त्रबलवेगेन सार्चिष्मत्यः सुदारुणाः।
घोररूपा महावेगा निपेतुर्बाणवृष्टयः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् उसके अस्त्रके बल और वेगसे आगकी लपटोंसे युक्त, अत्यन्त दारुण, घोर और महान् वेगवाली बाण-वर्षाएँ इन्द्रके ऊपर पड़ने लगीं ॥ १४ ॥

शिताश्च दैत्या बलिनः सितधारैः परश्वधैः।
परिघैरायसैः खड्गैः क्षेपणीयैश्च मुद्गरैः ॥ १५ ॥

गण्डशैलैश्च विविधै रश्मिभिश्चाद्रिसंनिभैः ।
घातनीभिश्च गुर्वीभिः शतघ्नीभिस्तथैव च ॥ १६ ॥
युगैर्यन्त्रैश्च निर्मुक्तैरर्गलैश्च विदारणैः ।
सर्वान् देवगणान् दैत्याः संनिजघ्नुः सवासवान्॥ १७ ॥

शेष बलवान् दैत्य सफेद धारवाले फरसों, लोहेके परिघों, तलवारों, क्षेपणीयों, मुद्गरों, तेजोयुक्त एवं पर्वत-सदृश चट्टानों, महान् घात करनेवाली भारी शतघ्नियों (तोपों), जूएके समान आकारवाले अस्त्रों, निर्मुक्त यन्त्रों तथा विदीर्ण करनेवाले अर्गलोंसे इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंको मारने और घायल करने लगे ॥ १५—१७ ॥

धूम्रकेशं हरिश्मश्रुं नानाप्रहरणायुधम् ।
रक्तसंध्याभ्रसंकाशं किरीटोत्तमधारिणम् ॥ १८ ॥
नीलपीताम्बरधरं शितदंष्ट्रोर्ध्वधारिणम् ।
आजानुबाहुं हर्यक्षं वैडूर्याभरणोज्ज्वलम् ॥ १९ ॥
समुद्यतायुधं दृष्ट्वा सर्वे देवगणास्तदा ।

दैत्यराज हिरण्याक्षके केश धूम्रवर्णके थे । मूँछ-दाढ़ीका रंग हरा था । वह नाना प्रकारके प्रहरणशील आयुधोंसे युक्त था । उसकी अङ्गकान्ति संध्या-कालके बादलोंके समान लाल थी । उसने अपने मस्तकपर उत्तम किरीट धारण कर रखा था । उसके शरीरपर नीले और पीले रंगके वस्त्र थे, मुखमें ऊपरको उठी हुई तीखी दाढ़ें थीं और भुजाएँ घुटनोंतक लंबी थीं । वह वैदूर्यमणिके बने हुए आभूषणोंसे उद्भासित हो रहा था। ऐसे हिरण्याक्षको हाथोंमे अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्धके लिये उद्यत हुआ देख सब देवता तत्काल आतङ्कित हो गये ॥१८-१९½ ॥

ते हिरण्याक्षमसुरं दैत्यानामग्रतः स्थितम् ॥ २० ॥
युगान्तसमये भीमं स्थितं मृत्युमिवाग्रतः ।
प्रविव्यथुः सुराः सर्वे तदा शक्रपुरोगमाः ॥ २१ ॥

दैत्योंके आगे खड़ा हुआ असुर हिरण्याक्ष प्रलयकालमें सामने स्थित हुए भयंकर मृत्युदेवताके समान प्रतीत होता था । वे इन्द्रादि सब देवता उस समय उसको देखकर अत्यन्त व्यथित हो उठे ॥ २०-२१ ॥

दृष्ट्वाऽऽयान्तं हिरण्याक्षं महाद्रिमिव जङ्गमम् ।
देवाः संविग्नमनसः प्रगृहीतशरासनाः ।
सहस्राक्षं पुरस्कृत्य तस्थुः संग्राममूर्धनि ॥ २२ ॥

चलते-फिरते महान् पर्वतके समान दैत्यराज हिरण्याक्षको आते देख सब देवताओंका चित्त उद्विग्न हो गया, वे हाथमें धनुष ले सहस्रलोचन इन्द्रको आगे करके युद्धके मुहानेपर खड़े हो गये ॥ २२ ॥

सा च दैत्यचमू रेजे हिरण्यकवचोज्ज्वला ।
प्रवृद्धनक्षत्रगणा शारदी द्यौरिवामला ॥ २३ ॥

सोनेके कवचसे प्रकाशित होती हुई दैत्योंकी वह सेना नक्षत्रोंसे भरे हुए शरद्-ऋतुके निर्मल आकाशकी भाँति शोभा पाती थी ॥ २३ ॥

तेऽन्योन्यमपि सम्पेतुः पातयन्तः परस्परम् ।
बभञ्जुर्बाहुभिर्बाहुद्वन्द्वमन्ये युयुत्सवः ॥ २४ ॥

वे देवता और दैत्य एक दूसरेको गिराते हुए टूट पड़े । युद्धकी इच्छावाले अन्य वीरोंने अपनी भुजाओंद्वारा शत्रु-पक्षके सैनिकोंकी दोनों बाँहें तोड़ डालीं ॥ २४ ॥

गदानिपातैर्भग्नाङ्गा बाणैश्च व्यथितोरसः ।
विनिपेतुः पृथक् केचित् तथान्येऽपि विजघ्निरे ॥२५॥

कितनोंके अङ्ग गदाओंकी चोटसे भंग हो गये, बाणोंके प्रहारसे उनके वक्षःस्थलमें अत्यन्त पीड़ा होने लगी, कितने ही योद्धा युद्धस्थलसे पृथक् जा गिरते थे तथा दूसरे सैनिक भी मारे जाते थे ॥ २५ ॥

बभञ्जिरे रथान् केचित् केचित् सम्मर्दिता रथैः ।
सम्बाधमन्ये सम्प्राप्ता न शेकुश्चलितुं रथात् ॥ २६ ॥

किन्हींने रथ तोड़ डाले, कितने ही शत्रु-पक्षके रथोंसे स्वयं ही कुचल गये, दूसरे योद्धा चारों ओरसे इस तरह घिर गये कि रथसे हिल ही न सके ॥ २६ ॥

दानवेन्द्रबलं तत्र देवानां च महद् बलम् ।
अन्योन्यबाणवर्षेण युद्धदुर्दिनमाबभौ ॥ २७ ॥

वहाँ एक ओर दानवराज हिरण्याक्षकी सेना थी तो दूसरी ओर देवताओंकी विशाल वाहिनी खड़ी थी । दोनों ओरसे परस्पर बाणोंकी वर्षा हो रही थी । उस समय युद्धके बादल छाये हुए जान पड़ते थे ॥ २७ ॥

हिरण्याक्षस्तु बलवान् क्रुद्धः स दितिनन्दनः ।
व्यवर्धत महातेजाः समुद्र इव पर्वणि ॥ २८ ॥

दितिनन्दन हिरण्याक्ष महातेजस्वी और बलवान् था । वह कुपित होकर उसी तरह आगे बढ़ रहा था जैसे पूर्णिमाके दिन समुद्र बढ़ता है ॥ २८ ॥

तस्य क्रुद्धस्य सहसा मुखान्निश्चेरुरर्चिषः ।
साग्निधूमश्च पवनो ययौ तस्य समीपतः ॥ २९ ॥

क्रोधसे भरे हुए हिरण्याक्षके मुखसे सहसा आगकी लपटें निकलने लगीं । उसके निकटसे आग और धूम लिये हुए प्रचण्ड वायु चलने लगी ॥ २९ ॥

शस्त्रजालैर्बहुविधैर्धनुर्भिः परिघैरपि ।
सर्वमाकाशमावव्रे पर्वतैरुत्थितैरिव ॥ ३० ॥

१. गोफन नामक यन्त्रविशेष, जिसके द्वारा गोली या कंकड़ आदिको दूरतक फेंका जाता है ।

उसने नाना प्रकारके शस्त्र-समूहों, धनुषों और परिघोंसे सारे आकाशको ढक लिया, मानो उठे हुए पर्वतोंसे आकाश अवरुद्ध हो गया हो ॥ ३० ॥

बहुभिः शस्त्रनिस्त्रिंशैश्छिन्नभिन्नशिरोरसः ।
न शेकुश्चलितुं देवा हिरण्याक्षार्दिता युधि ॥ ३१ ॥

युद्धमें बहुत-से शस्त्रों और तलवारोंसे देवताओंके सिर और वक्षःस्थल छिन्न-भिन्न हो गये थे । वे हिरण्याक्षसे इतने पीड़ित किये गये थे कि उनमें चलने-फिरनेकी भी शक्ति नहीं रह गयी ॥ ३१ ॥

सर्वे वित्रासिता देवा हिरण्याक्षेण संयुगे ।
न शेकुर्यत्नवन्तोऽपि यत्नं कर्तुं विचेतसः ॥ ३२ ॥

उस युद्धस्थलमें हिरण्याक्षने समस्त देवताओंको इतना भयभीत कर दिया कि वे अचेत-से हो गये और यत्नशील होनेपर भी कोई यत्न न कर सके ॥ ३२ ॥

तेन शक्रः सहस्राक्षः स्तम्भितोऽस्त्रेण धीमता ।
ऐरावतगतः संख्ये नाशकच्चलितुं भयात् ॥ ३३ ॥

उस बुद्धिमान् दैत्यने अपने अस्त्रद्वारा युद्धस्थलमें ऐरावतकी पीठपर बैठे हुए सहस्रलोचन इन्द्रको स्तम्भित कर दिया, जिससे वे भयके कारण भागनेमें भी असमर्थ हो गये ॥ ३३ ॥

सर्वांश्च देवानखिलान् स पराजित्य दानवः ।
स्तम्भयित्वा च देवेशमात्मस्थं मन्यते जगत् ॥ ३४ ॥

समस्त देवताओंको पूर्णरूपसे पराजित करके देवेश्वर इन्द्रको भी हिलने-डुलनेमें असमर्थ बना देनेके कारण वह दानव सारे जगत्‌को अपने अधीन मानने लगा ॥ ३४ ॥

सतोयमेघप्रतिमोग्रनिःस्वनं
प्रभिन्नमातङ्गविलासविग्रहम् ।
धनुर्विधुन्वन्तमुदारवर्चसं
तदासुरेन्द्रं ददृशुः सुराः स्थिताः ॥ ३५ ॥

वह सजल जलधरके समान भयानक गर्जना करता था, उसका शरीर मदकी धारा बहानेवाले मतवाले हाथीके समान विलासयुक्त जान पड़ता था, उस समय वहाँ खड़े हुए देवताओंने उदार तेजस्वी असुरराज हिरण्याक्षको बारंबार धनुषको हिलाते और उसकी टंकार फैलाते देखा ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वाराहे शक्रस्तम्भने अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वाराहावतारके प्रसङ्गमें इन्द्रका स्तम्भनविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥



एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान् वाराहद्वारा हिरण्याक्षका वध

वैशम्पायन उवाच

निष्प्रयत्ने सुरपतौ धर्षितेषु सुरेषु च ।
हिरण्याक्षवधे बुद्धिं चक्रे चक्रगदाधरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब देवराज इन्द्र निश्चेष्ट और समस्त देवता पराजित हो गये, तब चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णुने स्वयं ही हिरण्याक्षके वधका विचार किया ॥ १ ॥

वाराहः पर्वतो नाम यः पूर्वं समुदाहृतः ।
स एष भूत्वा भगवानाजगामासुरान्तकृत् ॥ २ ॥

पहले जिन पर्वताकार यज्ञवाराहका वर्णन किया गया है, वे ही असुरोंका विनाश करनेवाले भगवान् श्रीहरि इस वाराहरूपमें प्रकट हो वहाँ आये ॥ २ ॥

ततश्चन्द्रप्रतीकाशमगृह्णाच्छङ्खमुत्तमम् ।
सहस्रारं च तच्चक्रं चक्रपर्वतसंनिभम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर उन्होंने चन्द्रमाके समान उज्ज्वल एवं उत्तम शङ्ख हाथमें ले लिया । फिर दूसरे हाथमें चक्र-पर्वतके सदृश विशाल तथा सहस्र अरोंसे युक्त सुप्रसिद्ध सुदर्शन चक्र धारण किया ॥ ३ ॥

महादेवो महाबुद्धिर्महायोगी महेश्वरः ।
पठ्यते योऽमरैः सर्वैर्गुह्यैर्नामभिरव्ययः ॥ ४ ॥

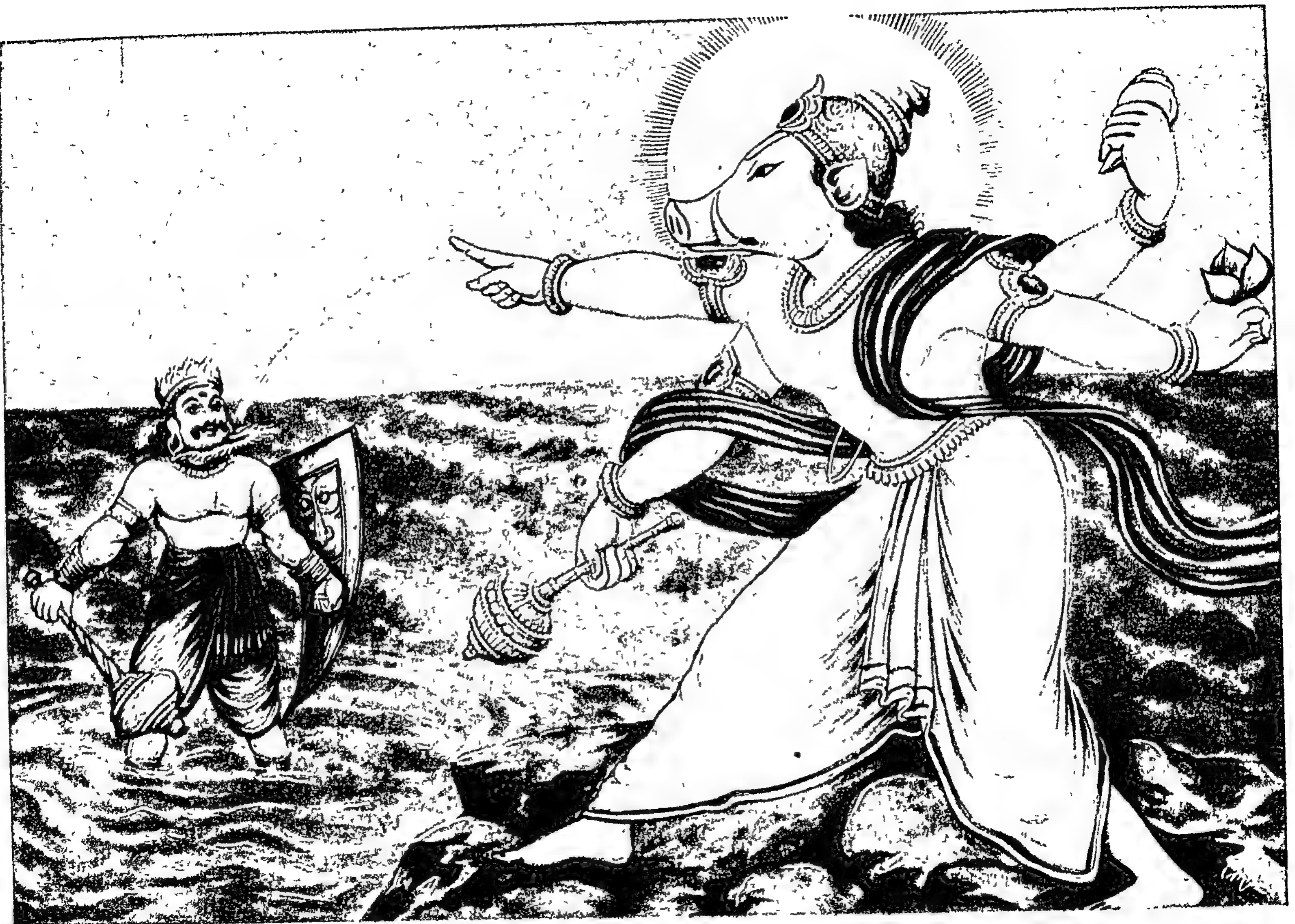
उन्हीं अविनाशी श्रीहरिका महादेव, महाबुद्धि, महायोगी और महेश्वर आदि गुह्य नामोंसे समस्त देवता कीर्तन करते हैं ॥ ४ ॥

सदसच्चात्मनि श्रेष्ठः सद्भिर्यः सेव्यते सदा ।
इज्यते यः पुराणश्च त्रिलोके लोकभावनः ॥ ५ ॥

साधु पुरुष सदा अपने हृदयमें जिन सदसत्स्वरूप श्रेष्ठ परमात्माका सेवन करते हैं, तीनों लोकोंमें जिन लोकभावन पुराण-पुरुषका पूजन किया जाता है ॥ ५ ॥

यो वैकुण्ठः सुरेन्द्राणामनन्तो भोगिनामपि ।
विष्णुर्यो योगविदुषां यो यज्ञो यज्ञकर्मणाम् ॥ ६ ॥

जो देवेश्वरोंके वैकुण्ठ, सर्पोंके अनन्त, योगवेत्ताओंके विष्णु तथा यज्ञकर्मियोंके यज्ञ हैं ॥ ६ ॥



हिरण्याक्ष-वध (पृष्ठ-संख्या ८५६)

मखे यस्य प्रसादेन भुवनस्था दिवौकसः।
आज्यं महर्षिभिर्दत्तमश्नुवन्ति त्रिधा हुतम्॥ ७॥

जिनके कृपा-प्रसादसे अपने-अपने भुवनोंमें बैठे हुए देवता यज्ञमें महर्षियोंद्वारा दिये गये तथा हुत, हूयमान और प्रहुत नामक तीन प्रकारोंसे होमे गये घृतको भोजन करते हैं॥ ७॥

यो गतिर्देवदैत्यानां यः सुराणां परा गतिः।
यः पवित्रं पवित्राणां स्वयम्भूरव्ययो विभुः॥ ८॥

जो देवताओं तथा दैत्योंके भी आश्रय हैं, देवगणोंके लिये परम गति हैं, जो पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले, स्वयम्भू, अविनाशी तथा व्यापक हैं॥ ८॥

यस्य चक्रप्रविष्टानि दानवानां युगे युगे।
कुलान्याकुलतां यान्ति यानि दृप्तानि वीर्यतः॥ ९॥

प्रत्येक युगमें अपने बलपर घमंड करनेवाले दानवोंके कितने ही कुल जिनकी चक्राग्निमें प्रविष्ट हो वहीं विलीन हो गये हैं (वे ही भगवान् वहाँ पधारे थे)॥ ९॥

ततो दैत्यद्रवकरं पौराणं शङ्खमुत्तमम्।
धमन् चक्रेण बलवानाक्षिपद् दैत्यजीवितम्॥ १०॥

तदनन्तर बलवान् भगवान् वाराहने दैत्योंको भयभीत करनेवाले अपने उत्तम एवं पुरातन शङ्खको मुखसे बजाते हुए बहुत-से दैत्योंके प्राण हर लिये॥ १०॥

श्रुत्वा शङ्खस्वनं घोरमसुराणां भयावहम्।
क्षुभिता दानवाः सर्वे दिशो दश व्यलोकयन्॥ ११॥

असुरोंको भय देनेवाले उस घोर शङ्खध्वनिको सुनकर समस्त दानव क्षुब्ध हो गये और दसों दिशाओंकी ओर देखने लगे॥ ११॥

ततः संरक्तनयनो हिरण्याक्षो महासुरः।
कोऽयमित्यब्रवीद् रोषान्नारायणमुदैक्षत॥ १२॥

तब क्रोधसे लाल आँखें किये महान् असुर हिरण्याक्षने पूछा 'यह कौन है?' साथ ही उसने रोषपूर्वक नारायणकी ओर देखा॥ १२॥

वाराहरूपिणं देवं संस्थितं पुरुषोत्तमम्।
शङ्खचक्रोद्यतकरं देवानामार्तिनाशनम्॥ १३॥

वे वाराहरूपधारी भगवान् पुरुषोत्तम देवताओंकी पीड़ाका नाश करनेवाले थे, अतः हाथोंमें शङ्ख और चक्र लिये वहाँ खड़े हुए॥ १३॥

रराज शङ्खचक्राभ्यां ताभ्यामसुरसूदनः।
सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये यथा नीलपयोधरः॥ १४॥

असुरसूदन श्रीहरि उन शङ्ख-चक्रोंसे ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो नील मेघ सूर्य और चन्द्रमाके बीचमें सुशोभित हो रहा हो॥ १४॥

ततोऽसुरगणाः सर्वे हिरण्याक्षपुरोगमाः।
उद्यतायुधनिस्त्रिंशा दृप्ता देवमुपाद्रवन्॥ १५॥

उस समय हिरण्याक्ष आदि सभी असुरोंने जो बलके घमंडमें भरे हुए थे, नाना प्रकारके आयुध और खड्ग लिये वहाँ भगवान् वाराहपर धावा किया॥ १५॥

पीड्यमानोऽतिबलिभिर्दैत्यैः सर्वायुधोद्यतैः।
न चचाल हरिर्युद्धेऽकम्प्यमान इवाचलः॥ १६॥

सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे उद्यत हुए अत्यन्त बलशाली दैत्योंद्वारा पीड़ा दी जानेपर भी भगवान् श्रीहरि उस युद्धमें विचलित नहीं हुए, वे पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े रहे॥ १६॥

ततः प्रज्वलितां शक्तिं वाराहोरसि दानवः।
हिरण्याक्षो महातेजाः पातयामास वीर्यवान्॥ १७॥

इतनेहीमें महातेजस्वी और पराक्रमी दानव हिरण्याक्षने भगवान् वाराहकी छातीपर एक अत्यन्त प्रज्वलित शक्तिका प्रहार किया॥ १७॥

तस्याः शक्त्याः प्रभावेण ब्रह्मा विस्मयमागतः।
समीपमागतां दृष्ट्वा महाशक्तिं महाबलः॥ १८॥
हुंकारेणैव निर्भर्त्स्य पातयामास भूतले।
तस्यां प्रतिहतायां तु ब्रह्मा साध्विति चाब्रवीत्॥ १९॥

उस शक्तिके प्रभावसे ब्रह्माजीको बड़ा विस्मय हुआ। उस महाशक्तिको पास आयी देख महाबली भगवान् वाराहने हुंकारसे ही उसे तिरस्कृत करके भूमिपर गिरा दिया। उस शक्तिके प्रतिहत हो जानेपर ब्रह्माजीने भगवान्‌को साधुवाद दिया॥ १८-१९॥

यः प्रभुः सर्वभूतानां वाराहस्तेन ताडितः।
ततो भगवता चक्रमाविध्यादित्यसंनिभम्॥ २०॥
पातितं दानवेन्द्रस्य शिरस्युत्तमकर्मणा।

जो समस्त प्राणियोंके प्रभु हैं, उन भगवान् वाराहको जब उस दैत्यने ताड़ित किया, तब उत्तम कर्म करनेवाले भगवान्‌ने भी अपना सूर्यके समान तेजस्वी चक्र घुमाकर दानवराज हिरण्याक्षके सिरपर दे मारा॥ २०½॥

ततः स्थितस्यैव शिरस्तस्य भूमौ पपात ह।
हिरण्मयं वज्रहतं मेरुशृङ्गमिवोत्तमम्॥ २१॥

तब वहाँ खड़े-खड़े ही उस दैत्यका सिर पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो मेरु पर्वतका सुन्दर एवं सुनहरा शिखर वज्रसे आहत हो धराशायी हो गया हो॥ २१॥

हिरण्याक्षे हते दैत्ये शेषा ये तत्र दानवाः।
सर्वे तस्य भयत्रस्ता जग्मुराशु दिशो दश॥ २२॥

दैत्य हिरण्याक्षके मारे जानेपर जो दानव वहाँ शेष रह

गये, थे वे सभी भगवान्‌के भयसे संत्रस्त हो तात्कालिक दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ २२ ॥

स सर्वलोकाप्रतिचक्रचक्रो
महाहवेष्वप्रतिमोग्रचक्रः ।
बभौ वराहो युधि चक्रपाणिः
कालो युगान्तेष्विव दण्डपाणिः ॥ २३ ॥

जिनके चक्रकी आज्ञा सम्पूर्ण लोकोंमें कहीं भी प्रतिहत नहीं होती थी, जिनका भयंकर चक्र बड़े-बड़े युद्धके अवसरपर अपना सानी नहीं रखता था, वे चक्रपाणि भगवान् वाराह उस युद्धस्थलमें हाथमें दण्ड लिये प्रलयकालके यमराजकी भाँति शोभा पाते थे ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वाराहे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वाराहावतारविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

देवताओंको अपने प्रभुत्वकी प्राप्ति, देवराज इन्द्रकी सम्पूर्ण लोकोंके आधिपत्यपर प्रतिष्ठा, सत्-असत् पुरुषोंकी यथोचित गतिके लिये आदेश देकर भगवान्‌का अन्तर्धान होना तथा देवेन्द्रद्वारा पर्वतोंके पंखका छेदन

वैशम्पायन उवाच

विद्राव्य तु रणे सर्वानसुरान् पुरुषोत्तमः ।
मुमोच तत्र बद्धांस्तान् पुरंदरमुखान् सुरान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रणभूमिमें उन समस्त असुरोंको भगाकर भगवान् पुरुषोत्तमने वहाँ बँधे हुए इन्द्र आदि देवताओंको उस बन्धनसे मुक्त किया ॥

ततः प्रकृतिमापन्नाः सर्वे देवगणास्तथा ।
पुरंदरं पुरस्कृत्य नारायणमुपस्थिताः ॥ २ ॥

तदनन्तर स्वस्थ हुए समस्त देवता देवराज इन्द्रको आगे करके भगवान् नारायणके निकट गये ॥ २ ॥

देवा ऊचुः

त्वत्प्रसादेन भगवंस्तव बाहुबलेन च ।
जीवामोऽद्य महाबाहो निष्क्रान्ताश्चान्तकाननात् ॥ ३ ॥

देवता बोले—भगवन् ! महाबाहो ! आपकी कृपा और बाहुबलसे आज हम मौतके मुखसे निकले हैं और जीवित बचे हैं ॥ ३ ॥

त्वच्छासनाद्धि भगवन् किं कुर्वन्त्वदितेः सुताः ।
इच्छामः पादशुश्रूषां तव कर्तुं सनातन ॥ ४ ॥

भगवन् ! आपकी आज्ञासे ये अदितिके पुत्र क्या करें ? सनातनदेव ! हमलोग आपके चरणोंकी सेवा करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं तेषां पुण्डरीकनिभेक्षणः ।
उवाच वचनं देवान् मुदायुक्तो हतद्विषः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवताओंकी यह बात सुनकर भगवान् कमलनयन श्रीहरिने जिनका शत्रु मारा गया था, उन देवताओंसे प्रसन्नतापूर्वक कहा ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

यो यस्य भावतो लोको मयैव विहितः पुरा ।
पाल्यतां स तु यत्नेन नियोगश्च क्वचित् क्वचित् ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् बोले—पूर्वकालमें मैंने ही भावके अनुसार जिसके लिये जो लोक नियत कर दिया है, वह उसीका पालन करे और कभी-कभी वेदकी आज्ञाके पालनपर भी ध्यान देना आवश्यक है ॥ ६ ॥

ऐश्वर्यं प्रतिपन्नाः स्वं क्रतुभागपुरस्कृतम् ।
मयैव पूर्वं निर्दिष्टो नियोगः प्रतिपाल्यताम् ॥ ७ ॥

अब तुम्हें यज्ञभागके साथ ही अपना ऐश्वर्य भी प्राप्त हो गया है; अतः अब तुम्हें उस वेदाज्ञाका भी पालन करना चाहिये, जिसका पूर्वकालमें मैंने ही निर्देश किया है ॥ ७ ॥

शक्रं चोवाच भगवान् वचनं दुन्दुभिस्वनः ।
इदं यथावत् कर्तव्यं सत्सु चासत्सु च त्वया ॥ ८ ॥

देवताओंसे ऐसा कहकर भगवान्‌ने दुन्दुभिके समान गम्भीर वाणीमें इन्द्रसे यह बात कही—'देवेन्द्र ! तुम्हें सज्जनों और असज्जनोंके प्रति यह आगे बताया जानेवाला वर्ताव अवश्य करना चाहिये ॥ ८ ॥

गच्छन्तु तपसा स्वर्गं मुनयः शंसितव्रताः ।
तव लोकं सुरश्रेष्ठ सर्वकामदुघं सदा ॥ ९ ॥

'सुरश्रेष्ठ ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि तपस्यासे तुम्हारे उस स्वर्गलोकमें जायँ, जो सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला है ॥ ९ ॥

यायजूकाश्च ये केचिद् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः।
तेषां कामदुघा लोकाः स्वर्गमादिमनोहराः।
यज्ञैरिष्ट्वा यायजूकाः फलं ते प्राप्नुवन्तु च ॥ १० ॥

'जो कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यज्ञ करनेवाले हों, उन्हे मनोवाञ्छित कामनाओंको देनेवाले स्वर्गादि मनोहर लोक प्राप्त हों, यज्ञपरायण पुरुष यज्ञानुष्ठान करके तुम्हारे द्वारा स्वर्गादि फल प्राप्त करें ॥ १० ॥

भावः सद्धर्मशीलानामभावः पापकर्मणाम्।
सन्तः स्वर्गजितः सन्तु सर्वाश्रमनिवासिनः ॥ ११ ॥

'सद्धर्मका आचरण जिनका स्वभाव बन गया है, ऐसे पुरुषोंकी संसारमें वृद्धि हो और पापकर्मियोंका अभाव हो जाय। सभी आश्रमोंमें निवास करनेवाले साधुपुरुष स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त करनेवाले हों ॥ ११ ॥

सत्यशूरा रणे शूरा दानशूराश्च ये नराः।
ते नराः स्वर्गमश्नन्तु सदा ये चानसूयवः ॥ १२ ॥

'जो सत्यको बोलने और निभानेमें शूरवीर हों, युद्धमें भी वीरता दिखाते हों, दानमें भी शौर्यका परिचय देते हों तथा दूसरोंके दोष कभी न देखते हों, ऐसे मनुष्य स्वर्गका सुख भोगें ॥ १२ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषाः कामिनोऽर्थपराः शठाः।
अब्रह्मण्या नास्तिकाश्च नरकं यान्तु मानवाः ॥ १३ ॥

'जो मनुष्य श्रद्धाहीन, कामी, स्वार्थपरायण, शठ, ब्राह्मणद्रोही और नास्तिक हों, वे नरकमें जायँ ॥ १३ ॥

एतावत् क्रियतां वाक्यं मयोक्तं त्रिदशेश्वराः।
ततो मयि स्थिते सर्वान् बाधिष्यन्ते न चारयः॥ १४ ॥

'देवेश्वरो! मेरी कही हुई इस बातका पालन करो, तब मेरे रहते हुए तुम सब लोगोंको शत्रुगण बाधा न दे सकेंगे' ॥

इत्युक्त्वान्तर्हितो देवः शङ्खचक्रगदाधरः।
देवतानां च सर्वेषामभवद् विस्मयो महान् ॥ १५ ॥
एतदत्यद्भुतं दृष्ट्वा वाराहचरितं सुराः।
नमस्कृत्य वराहाय नाकपृष्ठमितो गताः ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् नारायणदेव अन्तर्धान हो गये। भगवान् वाराहका यह अद्भुत चरित्र देखकर सम्पूर्ण देवताओंको महान् विस्मय हुआ, वे भगवान् वाराहको नमस्कार करके वहाँसे स्वर्गलोकको चले गये ॥ १५-१६ ॥

ततः स्वान्याधिपत्यानि प्रतिपन्नानि दैवतैः।
सर्वलोकाधिपत्ये च प्रतिष्ठां वासवो गतः ॥ १७ ॥

तदनन्तर देवताओंको अपना प्रभुत्व प्राप्त हुआ और सम्पूर्ण लोकोंके आधिपत्यपर देवराज इन्द्र प्रतिष्ठित हुए ॥१७॥

विमुक्ता दानवगणैः प्रकृतिं धरणी गता।
स्थैर्यहेतोर्धरण्यास्तु ज्ञात्वा चागस्कृतान् गिरीन् ॥ १८ ॥
स्वेषु स्थानेषु संस्थाप्य पर्वतानां पुरंदरः।
चिच्छेद भगवान् पक्षान् वज्रेण शतपर्वणा ॥ १९ ॥

दानवगणोंसे छुटकारा पाकर पृथ्वी प्रकृतावस्थाको प्राप्त (स्वस्थ) हुई। पृथ्वीको स्थिर रखनेके विषयमें पर्वतोंको अपराधी जानकर भगवान् देवराज इन्द्रने उन्हें अपनी जगहपर स्थापित करके सौ पर्ववाले वज्रसे उन सबकी पाँखें काट दीं ॥ १८-१९ ॥

सर्वेषामेव पक्षा वै छिन्नाः शक्रेण धीमता।
एकः सपक्षो मैनाकः सुरैस्तत्समयः कृतः ॥ २० ॥

बुद्धिमान् इन्द्रने समय सभी पर्वतोंके पंख काट दिये, एकमात्र मैनाक ही पंखधारी रह गया। देवताओंने उसके साथ यह शर्त कर ली थी कि समुद्रमें स्थित रहनेपर तुम्हारे पंख नहीं काटे जायँगे ॥ २० ॥

एष नारायणस्यायं प्रादुर्भावो महात्मनः।
वाराह इति विप्रेन्द्रैः पुराणे परिकीर्तितः ॥ २१ ॥

महात्मा नारायणका यह वाराह नामक प्रादुर्भाव (अवतार) श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा पुराणमें वर्णित है ॥ २१ ॥

कृष्णद्वैपायनमतं नानाश्रुतिसमाहितम्।
नाशुचेर्न कृतघ्नाय न नृशंसाय कीर्तयेत् ॥ २२ ॥

नाना श्रुतियोंसे अनुमोदित श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासके इस मतका उपदेश अपवित्र, कृतघ्न और नृशंस पुरुषको नहीं देना चाहिये ॥ २२ ॥

न क्षुद्राय न नीचाय न गुरुद्वेषकारिणे।
नाशिष्याय तथा राजन् न कृतघ्नाय चैव हि ॥ २३ ॥

राजन्! जो क्षुद्र हो, नीच हो, गुरुद्रोही हो, शिष्य न हो तथा कृतघ्न हो, ऐसे पुरुषको भी इसका उपदेश नहीं देना चाहिये ॥ २३ ॥

आयुष्कामैर्यशःकामैर्महीकामैश्च मानवैः।
जयैषिभिश्च श्रोतव्यो देवानामेष वै जयः ॥ २४ ॥

यह देवताओंकी विजयका प्रसंग है, जिन मनुष्योंको आयु, यश, भूमि और विजय पानेकी इच्छा हो, उन्हे इसको अवश्य सुनना चाहिये ॥ २४ ॥

पुराणवेदसम्बद्धः शिवः स्वस्त्ययनो महान्।
पावनः सर्वसत्त्वानां तत्कालविजयप्रदः ॥ २५ ॥

यह प्रसंग पुराणों और वेदोंसे सम्बन्ध रखता है। यह कल्याणप्रद तथा महान् मङ्गलकारी है, समस्त प्राणियोंको पवित्र करनेवाला तथा तत्काल विजय प्रदान करनेवाला है ॥

एष कौरव्य तत्त्वेन कथितस्त्वनुपूर्वशः।

वाराहस्य नृपश्रेष्ठ प्रादुर्भावो महात्मनः ॥ २६ ॥

नृपश्रेष्ठ ! कुरुनन्दन ! महात्मा वाराहके प्रादुर्भावकी यह कथा मैंने क्रमानुसार तथा यथार्थरूपसे कही है ॥ २६ ॥

ये यजन्ति मखैः पुण्यैर्दैवतानि पितॄनपि ।
आत्मानमात्मना नित्यं विष्णुमेव यजन्ति ते ॥ २७ ॥

जो लोग पवित्र यज्ञोंद्वारा देवताओं और पितरोंका यजन करते हैं तथा प्रतिदिन अपने मनसे आत्माका चिन्तन करते हैं, वे भगवान् विष्णुकी ही आराधना करते हैं ॥ २७ ॥

लोकायनाय त्रिदशायनाय
ब्रह्मायनायात्मभवायनाय ।
नारायणायात्महितायनाय
महावराहाय नमस्कुरुष्व ॥ २८ ॥

राजन् ! जो सम्पूर्ण लोकोंकी गति, देवताओंके सहारे, वेदोंके प्रादुर्भाव-स्थान, आत्मयोनि ब्रह्माके भी आश्रय तथा अपने हितके स्थान हैं, उन महावाराहरूपधारी भगवान्‌को तुम नमस्कार करो ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वाराहप्रादुर्भावे चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वाराहावतारविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुकी तपस्या, वरप्राप्ति, अत्याचार, देवताओंको ब्रह्माजीका आश्वासन, भगवान् विष्णुका नरसिंहरूप धारण करके हिरण्यकशिपुकी सभामें जाना तथा उस सभाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

वाराह एष कथितो नारसिंहमतः शृणु ।
यत्र भूत्वा मृगेन्द्रेण हिरण्यकशिपुर्हतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह मैंने वाराह-अवतारकी कथा कही है, अब नरसिंह-अवतारका चरित्र सुनो, जिसमें भगवान्‌ने (नर और) सिंहका रूप धारण करके हिरण्यकशिपुका वध किया था ॥ १ ॥

पुरा कृतयुगे राजन् हिरण्यकशिपुः प्रभुः ।
दैत्यानामादिपुरुषश्चकार सुमहत् तपः ॥ २ ॥

राजन् ! पूर्वकालके सत्ययुगकी बात है, दैत्योंके आदि-पुरुष प्रभावशाली हिरण्यकशिपुने बड़ी भारी तपस्या की ॥

दश वर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च ।
जलवासी समभवत् स्थानमौनव्रतस्थितः ॥ ३ ॥

उसने काष्ठमौनव्रतमें स्थित होकर ग्यारह हजार पाँच सौ वर्षोंतक जलमें निवास किया ॥ ३ ॥

ततः शमदमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चैव हि ।
ब्रह्मा प्रीतोऽभवत् तस्य तपसा नियमेन च ॥ ४ ॥

तदनन्तर उसके शम (मनोनिग्रह), दम (इन्द्रिय संयम), ब्रह्मचर्य, तप और नियमसे ब्रह्माजीको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ४ ॥

ततः स्वयम्भूर्भगवान् स्वयमागत्य तत्र ह ।
विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता ॥ ५ ॥
आदित्यैर्वसुभिः साध्यैर्मरुद्भिर्दैवतैः सह ।
रुद्रैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसकिंनरैः ॥ ६ ॥
दिग्भिश्चाथ विदिग्भिश्च नदीभिः सागरैस्तथा ।
नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च खेचरैश्च महाग्रहैः ॥ ७ ॥
देवैर्ब्रह्मर्षिभिः सार्धं सिद्धैः सप्तर्षिभिस्तथा ।
राजर्षिभिः पुण्यकृद्भिर्गन्धर्वैरप्सरोगणैः ॥ ८ ॥
चराचरगुरुः श्रीमान् वृतो देवगणैः सह ।
ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

समस्त चराचर प्राणियोंके गुरु, ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ एवं श्रीसम्पन्न, स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजी सूर्यके समान वर्णवाले हंसयुक्त तेजस्वी विमानद्वारा आदित्यों, वसुओं, साध्यों, मरुद्गणों, देवताओं, विश्वसहायक रुद्रों, यक्षों, राक्षसों, किन्नरों तथा दिशा, विदिशा, नदी, समुद्र, नक्षत्र एवं मुहूर्तके अधिष्ठाता देवगणों, आकाशचारी महाग्रहों, देवों, ब्रह्मर्षियों, सिद्धों, सप्तर्षियों, पुण्यकर्मा राजर्षियों, गन्धर्वों, अप्सराओं तथा अन्यान्य देवसमूहोंके साथ उनसे घिरे हुए वहाँ पधारे। पधारकर वे उस दैत्यसे इस प्रकार बोले—॥ ५–९ ॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्मि तव भक्तस्य तपसानेन सुव्रत ।
वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि ॥ १० ॥

ब्रह्माजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले दैत्यराज ! तुम मेरे भक्त हो, तुम्हारी इस तपस्यासे मैं बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारा भला हो, तुम कोई वर माँगो और मनोवाञ्छित पदार्थ प्राप्त करो ॥ १० ॥

ततो हिरण्यकशिपुः प्रीतात्मा दानवोत्तमः ।
कृताञ्जलिपुटः श्रीमान् वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

यह सुनकर दानवराज श्रीमान् हिरण्यकशिपुके दिलमें बड़ी प्रसन्नता हुई, उसने हाथ जोड़कर यह बात कही ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः ।
न मानुषाः पिशाचाश्च निहन्युर्मां कथंचन ॥ १२ ॥

हिरण्यकशिपु बोला—भगवन् ! देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग, राक्षस, मनुष्य तथा पिशाच—ये कोई भी मुझे किसी तरह मार न सकें ॥ १२ ॥

ऋषयो नैव मां क्रुद्धाः सर्वलोकपितामह ।
शपेयुस्तपसा युक्ता वर एष वृतो मया ॥ १३ ॥

सर्वलोकपितामह ! तपस्वी ऋषि कुपित होकर मुझे कभी शाप न दें, यही वर मैंने माँगा है ॥ १३ ॥

न शस्त्रेण न चास्त्रेण गिरिणा पादपेन च ।
न शुष्केण न चार्द्रेण स्यान्न चान्येन मे वधः ॥ १४ ॥

न अस्त्रसे न शस्त्रसे, न पर्वतसे न वृक्षसे, न सूखेसे न गीलेसे और न दूसरे ही किसी आयुधसे मेरा वध हो ॥१४॥

न स्वर्गेऽप्यथ पाताले नाकाशे नावनिस्थले ।
न चाभ्यन्तररात्र्यह्नोर्न चाप्यन्येन मे वधः ॥ १५ ॥

न स्वर्गमें न पातालमें, न आकाशमें न भूमिपर, न रातमें न दिनमें और न किसी दूसरे निमित्तसे मेरा वध हो ॥

पाणिप्रहारेणैकेन सभृत्यबलवाहनम् ।
यो मां नाशयितुं शक्तः स मे मृत्युर्भविष्यति ॥ १६ ॥

जो भृत्यों, सेनाओं और वाहनोंसहित मुझे एक ही थप्पड़से मारकर नष्ट कर देनेकी शक्ति रखता हो, वही मेरे लिये मृत्युरूप हो ॥ १६ ॥

भवेयमहमेवार्कः सोमो वायुर्हुताशनः ।
सलिलं चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि दिशो दश ॥ १७ ॥

मैं ही सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, जल, आकाश, नक्षत्र और दसों दिशाएँ हो जाऊँ ॥ १७ ॥

अहं क्रोधश्च कामश्च वरुणो वासवो यमः ।
धनदश्च धनाध्यक्षो यक्षः किंपुरुषाधिपः ॥ १८ ॥

मैं ही काम, क्रोध, वरुण, यम, इन्द्र, धनाध्यक्ष कुबेर, यक्ष और किम्पुरुषोंका स्वामी हो जाऊँ ॥ १८ ॥

मूर्तिमन्ति च दिव्यानि ममास्त्राणि महाहवे ।
उपतिष्ठन्तु देवेश सर्वलोकपितामह ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ! देवेश्वर ! महासमरमें दिव्य अस्त्र मूर्तिमान् होकर मेरे पास स्वयं आ जायँ ॥ १९ ॥

पितामह उवाच

एते दिव्या वरास्तात मया दत्तास्तवाद्भुताः ।
सर्वकामप्रदा वत्स दुर्लभास्त्वतिमानुषाः ।
सर्वान् कामानल्पभावात् प्राप्स्यसि त्वं न संशयः॥२०॥

ब्रह्माजीने कहा—तात ! ये दिव्य और अद्भुत वर मैंने तुमको दे दिये । वत्स ! सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले ये दुर्लभ वर मानव-लोकके लिये अलभ्य हैं (किंतु तुम्हें तपोबलसे प्राप्त हो गये) । थोड़ी-सी इच्छा होते ही तुम सब कामनाओंको प्राप्त कर लोगे, इसमें संशय नहीं है ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवाञ्जगामाकाशमेव च ।
वैराजं ब्रह्मसदनं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्मा आकाशमें ही उस वैराज नामक ब्रह्मधामको चले गये, जो ब्रह्मर्षियोंद्वारा सेवित है ॥ २१ ॥

ततो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा मुनिभिः सह ।
वरप्रदानं श्रुत्वैव पितामहमुपस्थिताः ॥ २२ ॥

हिरण्यकशिपुको वरदान मिलनेका समाचार सुनते ही देवता, नाग, गन्धर्व और मुनि ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ २२ ॥

देवा ऊचुः

वरेणानेन भगवन् वधिष्यति स नोऽसुरः ।
तत्प्रसीदस्व भगवन् वधोऽप्यस्य विचिन्त्यताम्॥ २३ ॥
भवान् हि सर्वभूतानामादिकर्ता स्वयं प्रभुः ।
स्रष्टा च हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्ध्रुवः ॥ २४ ॥

देवता बोले—भगवन् ! इस वरके प्रभावसे उन्मत्त हुआ असुर हमलोगोंको बहुत कष्ट देगा, अतः हमारे ऊपर प्रसन्न होइये और उसके वधका भी कोई उपाय सोचिये; क्योंकि आप ही सम्पूर्ण भूतोंके आदिस्रष्टा, स्वयं प्रभावशाली, हव्य-कव्यके निर्माता तथा अव्यक्त प्रकृति और ध्रुवस्वरूप हैं ॥२३-२४॥

वैशम्पायन उवाच

सर्वलोकहितं वाक्यं श्रुत्वा देवः प्रजापतिः ।
आश्वासयामास सुरान् सुशीतैर्वचनाम्बुभिः ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवताओंका वह लोकहितकारी वचन सुनकर भगवान् प्रजापतिने अपने सुशीतल अमृतवचनोंद्वारा उन सब देवताओंको आश्वासन देते हुए कहा—॥ २५ ॥

अवश्यं त्रिदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसः फलम् ।
तपसोऽन्तेऽस्य भगवान् वधं विष्णुः करिष्यति॥ २६ ॥

'देवताओ ! उस असुरको अपनी तपस्याका फल अवश्य प्राप्त होगा । फलभोगके द्वारा जब तपस्याकी समाप्ति हो जायगी, तब साक्षात् भगवान् विष्णु इस दैत्यका वध करेंगे' ॥ २६ ॥

एतच्छ्रुत्वा सुराः सर्वे वाक्यं पङ्कजजन्मनः ।
स्वानि स्थानानि दिव्यानि प्रतिजग्मुर्मुदान्विताः ॥ २७ ॥

भगवान् नारायणके नाभिकमलसे जन्म-ग्रहण करनेवाले ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर समस्त देवता प्रसन्न हो अपने-अपने दिव्य स्थानोंको लौट गये ॥ २७ ॥

लब्धमात्रे वरे तस्मिन् सर्वाः सोऽबाधत प्रजाः।
हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन दर्पितः ॥ २८ ॥

उस वरके प्राप्त होते ही दैत्य हिरण्यकशिपु सारी प्रजाको सताने लगा । ब्रह्माजीके वरदानसे उसका घमंड बहुत बढ़ गया ॥ २८ ॥

आश्रमेषु मुनीन् सर्वान् आहवनान् संशितव्रतान्।
सत्यधर्मपरान् दान्तान् धर्षयामास वीर्यवान् ॥ २९ ॥

उस पराक्रमी दैत्यने विभिन्न आश्रमोंमें जाकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले जितेन्द्रिय एवं सत्य-धर्मपरायण समस्त ऋषियों और महर्षियोंका घोर तिरस्कार किया ॥२९॥

देवांस्त्रिभुवनस्थांश्च पराजित्य महासुरः।
त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति दानवः ॥ ३० ॥

तीनों लोकोंमें निवास करनेवाले समस्त देवताओंको पराजित करके त्रिलोकीके राज्यको अपने अधिकारमें लाकर वह महान् असुर दानवराज हिरण्यकशिपु स्वर्गलोकमें निवास करने लगा ॥ ३० ॥

यदा वरमदोन्मत्तश्चोदितः कालधर्मणा।
यज्ञियानकरोद् दैत्यान् दैवतानप्ययज्ञियान् ॥ ३१ ॥
तदादित्याश्च साध्याश्च विश्वे च वसवस्तथा।
रुद्रा देवगणा यक्षा देवद्विजमहर्षयः ॥ ३२ ॥
शरण्यं शरणं विष्णुमुपतस्थुर्महाबलम्।
देवं वेदमयं यज्ञं ब्रह्मदेवं सनातनम् ॥ ३३ ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च प्रजालोकनमस्कृतम्।

जब वरके मदसे उन्मत्त हो कालधर्मसे प्रेरित हुए उस असुरने दैत्योंको यज्ञभागका अधिकारी बना दिया और देवताओंको उस अधिकारसे वञ्चित कर दिया, तब आदित्य, साध्य, विश्वदेव, वसु, रुद्र, देवगण, यक्ष, देवता, द्विज और महर्षि शरणागतवत्सल उन महाबली भगवान् विष्णुकी शरणमें गये। जो देव (प्रकाशमान दिव्यविग्रहधारी), वेदस्वरूप, यज्ञपुरुष, सनातन ब्रह्मदेव, भूत, वर्तमान और भविष्यरूप तथा प्रजाजनोंसे अभिवन्दित हैं ॥३१-३३½॥

देवा ऊचुः

नारायण महाभाग देव त्वां शरणं गताः ॥ ३४ ॥
त्वं हि नः परमो धाता त्वं हि नः परमो गुरुः।
त्वं हि नः परमो देवो ब्रह्मादीनां सुरोत्तम ॥ ३५ ॥

देवता बोले—महाभाग नारायणदेव ! हम आपकी शरणमें आये हैं। आप ही हमारे लिये परम उत्कृष्ट धाता (धारण-पोषण करनेवाले) हैं और आप ही हमारे परम गुरु हैं। सुरश्रेष्ठ ! आप ही हम ब्रह्मादि देवताओंके भी परम देवता हैं ॥ ३४-३५ ॥

त्वं पद्मदलपत्राक्ष शत्रुपक्षभयावह।
क्षयाय दितिवंशस्याश्रयाय भव नः प्रभो ॥ ३६ ॥
त्रायस्व जहि दैत्येन्द्रं हिरण्यकशिपुं प्रभो।

निर्मल कमलदलके समान नेत्रवाले नारायण ! आप शत्रुपक्षको भय देनेवाले हैं। प्रभो ! आप दैत्यवंशके विनाश और हमारी रक्षाके लिये सदा उद्यत रहें। भगवन् ! आप दैत्यराज हिरण्यकशिपुको मार डालिये और उसके अत्याचारसे हमारी रक्षा कीजिये ॥ ३६½ ॥

विष्णुरुवाच

भयं त्यजध्वममरा अभयं वो ददाम्यहम् ॥ ३७ ॥
तथैव त्रिदिवं देवाः प्रतिपत्स्यथ मा चिरम्।

भगवान् विष्णु बोले—अमरो ! भय छोड़ो, मैं तुम्हें अभयदान देता हूँ। देवताओ ! तुम पुनः शीघ्र ही पहलेकी भाँति स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त कर लोगे ॥ ३७½ ॥

एष तं सगणं दैत्यं वरदानेन दर्पितम् ॥ ३८ ॥
अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्म्यहम्।

मैं अभी वरदानसे घमंडमें भरे हुए इस दानवराज दितिकुमार हिरण्यकशिपुको, जो देवेश्वरोंके लिये अवध्य बना हुआ है, इसके सहायक गणोंसहित मार डालता हूँ ॥३८½॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् विसृज्य त्रिदिवौकसः ॥ ३९ ॥
वधं संकल्पयित्वा तु हिरण्यकशिपोः प्रभुः।
सोऽचिरेणैव कालेन हिमवत्पार्श्वमागतः ॥ ४० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भगवान् विष्णुने देवताओंको तो विदा कर दिया और स्वयं हिरण्यकशिपुके वधका संकल्प लेकर वे थोड़े ही समयमें हिमालय पर्वतके पास आ गये ॥ ३९-४० ॥

किं नु रूपं समास्थाय निहन्म्येनं महासुरम्।
यत् सिद्धिकरमाशु स्याद् वधाय विबुधद्विषः ॥ ४१ ॥

वहाँ आकर उन्होंने सोचा कि मैं कौन सा रूप धारण करके इस महान् असुरका वध करूँ, जो इस देवद्रोहीके वधके लिये सिद्धि—सफलता प्रदान करनेवाला हो ॥ ४१ ॥

अनुत्पन्नं ततश्चक्रे सोऽत्यन्तं रूपमास्थितः।
नारसिंहमनाधृष्यं दैत्यदानवरक्षसाम् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर उन्होंने जो पहले कभी उत्पन्न नहीं हुआ था ऐसा अत्यन्त विशाल नरसिंहरूप धारण किया। वह रूप दैत्य, दानव और राक्षसोंके लिये अजेय था ॥ ४२ ॥

सहायं तु महाबाहुर्जग्राहोङ्कारमेव च।
अथोङ्कारसहायोऽसौ भगवान् विष्णुरव्ययः ॥ ४३ ॥
हिरण्यकशिपोः स्थानं जगाम प्रभुरीश्वरः।
तेजसा भास्कराकारः कान्त्या चन्द्र इवापरः ॥ ४४ ॥

इसके बाद महाबाहु श्रीहरिने ओंकारको अपना सहायक बनाकर साथ ले लिया। ओंकारकी सहायतासे सम्पन्न हुए वे सर्वसमर्थ अविनाशी परमेश्वर भगवान् विष्णु हिरण्यकशिपुके स्थानपर गये, वे तेजसे सूर्यके समान और कान्तिसे दूसरे चन्द्रमाके समान जान पड़ते थे ॥ ४३-४४ ॥

नरस्य कृत्वार्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं विभुः।
नारसिंहेन वपुषा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ॥ ४५ ॥
ततोऽपश्यत विस्तीर्णां दिव्यां रम्यां मनोरमाम्।
सर्वकामयुतां शुभ्रां हिरण्यकशिपोः सभाम् ॥ ४६ ॥

उन सर्वव्यापी परमेश्वरने आधा शरीर मनुष्यका और आधा सिंहका-सा बनाकर एक हाथसे दूसरे हाथको रगड़ते हुए नरसिंह-शरीरसे युक्त हो हिरण्यकशिपुकी वह विस्तृत, रमणीय, मनोरम, समस्त मनोवाञ्छित भोगोंसे युक्त एवं परम उज्ज्वल दिव्य सभा देखी ॥ ४५-४६ ॥

विस्तीर्णां योजनशतं शतमध्यर्धमायताम्।
वैहायसीं कामगमां पञ्चयोजनमुच्छ्रिताम् ॥ ४७ ॥

उस सभा-भवनकी लंबाई डेढ़ सौ योजन और चौड़ाई सौ योजनकी थी। उसकी ऊँचाई पाँच योजनकी थी। वह आकाशमें ही स्थित रहनेवाली और सभासदोंके इच्छानुसार चलनेवाली थी ॥ ४७ ॥

जराशोकक्लमत्यक्तां निष्प्रकम्पां शिवां शुभाम्।
शुभासनवतीं रम्यां ज्वलन्तीमिव तेजसा ॥ ४८ ॥

उसमें बुढ़ापा, शोक और थकावट इन दोषोंका प्रवेश नहीं था। वह अविचल, शिव (सुखद) एवं सुन्दर थी। उसमें सुन्दर सिंहासन सजाकर रखे गये थे। वह रमणीय सभा अपने तेजसे अग्निके समान प्रज्वलित हो रही थी ॥ ४८ ॥

अन्तःसलिलसंयुक्तां विहितां विश्वकर्मणा।
दिव्यरत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युताम् ॥ ४९ ॥

उसके भीतर जलाशय बना हुआ था। साक्षात् विश्वकर्माने उसका निर्माण किया था। वह फल-फूल देनेवाले दिव्य रत्नमय वृक्षोंसे सुशोभित थी ॥ ४९ ॥

नीलपीतासितश्यामैः सितैर्लोहितकैरपि।
अवतानैस्तथा गुल्मैर्मञ्जरीशतधारिभिः ॥ ५० ॥

उसके भीतर तने हुए चँदोवोंमें नीले, पीले, काले, श्याम, श्वेत और लाल रंगकी झालरें लगी थीं और उन्हींमें गुच्छे लटकाये गये थे, साथ ही उसमें सैकड़ों मञ्जरियाँ जड़ी हुई थीं ॥ ५० ॥

सिताभ्रघनसंकाशा प्लवन्तीवाप्सु दृश्यते।
धन्यासनवती रम्या ज्वलन्ती इव तेजसा ॥ ५१ ॥

बहुमूल्य आसनोंसे युक्त तथा तेजसे प्रज्वलित होती हुई-सी वह रमणीय सभा आकाशमें श्वेत बादलोंके समान दिखायी देती थी और जलमें तैरती हुई विशाल नौका जान पड़ती थी ॥ ५१ ॥

प्रभावती भास्वरा च दिव्यगन्धमनोरमा।
न सुखा न च दुःखा सा न शीता न च घर्मदा ॥ ५२ ॥

वह विशेष सौन्दर्यसे सुशोभित तथा अतिशय दीप्तिसे प्रकाशित थी, अपनी दिव्य सुगन्धसे वह मनको मोह लेती थी। वहाँ न सुख था, न दुःख; न तो सर्दीका अनुभव होता था और न गर्मीका ही ॥ ५२ ॥

न क्षुत्पिपासे न ग्लानिं प्राप्य तां प्राप्नुवन्ति हि।
नानारूपैर्विरचिता विचित्रैरतिभास्वरैः ॥ ५३ ॥
स्तम्भैर्मणिमयैर्दिव्यैः शाश्वती चाक्षता च सा।
अतिचन्द्रं च सूर्यं च पावकं च स्वयम्प्रभा ॥ ५४ ॥

उस सभामें पहुँचकर सदस्यगण भूख, प्यास, ग्लानिका अनुभव नहीं करते थे, वह नाना रूपवाले विचित्र अत्यन्त प्रकाशमान एवं दिव्य मणिमय खंभोंसे निर्मित हुई थी, बहुत टिकाऊ और सुदृढ़ थी। चन्द्रमा, सूर्य और अग्निसे भी बढ़कर तेजोराशिसे युक्त तथा अपनी ही प्रभासे प्रकाशित होनेवाली थी ॥ ५३-५४ ॥

दीप्यते नाकपृष्ठस्था भर्त्सयन्तीव भास्करम्।
सर्वे च कामाः प्रचुरा ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ ५५ ॥

स्वर्गके पृष्ठभागपर स्थित हो वह सभा सूर्यदेवको तिरस्कृत करती हुई-सी अपनी दीप्तिसे प्रकाशित होती थी, दिव्य और मानव सभी तरहके भोग वहाँ प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होते थे ॥ ५५ ॥

रसवन्तः प्रभूताश्च भक्ष्यभोज्यं तथाक्षयम्।
पुण्यगन्धाः स्रजस्तत्र नित्यपुष्पफलद्रुमाः ॥ ५६ ॥

रसीले पदार्थ अधिक मात्रामें सुलभ होते थे। अक्षय भक्ष्य, भोज्य वहाँ सदा प्रस्तुत रहता था। पवित्र गन्धवाले पुष्पहार वहाँ बराबर बनते थे और नित्य फल-फूल देनेवाले वृक्ष उसमें सदा लहलहाते रहते थे ॥ ५६ ॥

उष्णे शीतानि तोयानि शीते चोष्णानि सन्ति वै।
पुष्पिताग्रान् महाशाखान् प्रवालाङ्कुरधारिणः ॥ ५७ ॥
लतावितानसंच्छन्नान् सरित्सु च सरःसु च।
मनोहरांश्च विविधान् ददर्श स तदा प्रभुः ॥ ५८ ॥
द्रुमान् बहुविधांस्तत्र मृगेन्द्रो ददृशे द्रुतम्।
गन्धवन्ति च पुष्पाणि रसवन्ति फलानि च ॥ ५९ ॥

वहाँ गर्मीमें शीतल जल और सर्दीमें गर्म जल सदा सुलभ होता था। उस समय भगवान् नृसिंहने देखा, वहाँ सरिताओं और सरोवरोंके तटपर विविध प्रकारके मनोहर वृक्ष शोभा पाते थे, उनकी डालियोंके अग्रभाग फूलोंके भारसे लदे हुए थे। वे वृक्ष विशाल शाखाओंसे सुशोभित थे। नये-नये पल्लवोंके अङ्कुर धारण करते थे और फैली हुई लता-बेलोंके विस्तारसे आच्छादित हो रहे थे। उनके फूलोंमें मनोहर गन्ध और फलोंमें स्वादिष्ट रस थे ॥५७-५९॥

तानि शीतानि तोयानि तत्र तत्र सरांसि च।
अपश्यत् सर्वतीर्थानि सभायां शतशो विभुः ॥ ६० ॥

उस सभामें भगवान्ने जहाँ-तहाँ शीतल जल, सरोवर तथा सम्पूर्ण तीर्थ देखे ॥ ६० ॥

नलिनैः पुण्डरीकैश्च शतपत्रैः सुगन्धिभिः।
रक्तैः कुवलयैर्नीलैः कुमुदैः संयुतानि च ॥ ६१ ॥

वे सरोवर नलिन, पुण्डरीक तथा शतदल नामवाले सुगन्धित कमलोंसे सुशोभित थे; लाल और नील कमल तथा कुमुद उनमें छा रहे थे ॥ ६१ ॥

सकान्तैर्धार्तराष्ट्रैश्च राजहंसैः सुरप्रियैः।
कादम्बैश्चक्रवाकैश्च सारसैः कुररैरपि ॥ ६२ ॥

उन सरोवरोंमें अपनी प्रियतमाओंको साथ लिये धार्तराष्ट्र नामक देवप्रिय हंस, कादम्ब (कलहंस), चक्रवाक, सारस और कुरर आदि पक्षी कलरव कर रहे थे ॥ ६२ ॥

विमलस्फटिकाभानि पाण्डुराष्टदलानि च।
कलहंसोपगीतानि सारिकाभिरुतानि च ॥ ६३ ॥

वे तालाब निर्मल स्फटिक मणिके समान जलसे भरे थे। उनमें श्वेत अष्टदल कमल शोभा पाते थे। कलहंसोंके गीत और सारिकाओंके कलरव वहाँ गूँजते रहते थे ॥ ६३ ॥

गन्धवत्यः शुभास्तत्र पुष्पमञ्जरिधारिणीः।
दृष्टवान् पादपाग्रेषु नानापुष्पधरा लताः ॥ ६४ ॥

वहाँ वृक्षोंकी शाखाओं तथा शिखाओंपर भगवान्‌ने नाना प्रकारके फूल और मञ्जरी धारण करनेवाली सुन्दर सुगन्धित लताएँ फैली हुई देखीं ॥ ६४ ॥

केतकाशोकसरलाः पुन्नागतिलकार्जुनाः।
चूता नीपा नागपुष्पाः कदम्बबकुला धवाः ॥ ६५ ॥
प्रियङ्गुपाटलीवृक्षाः शाल्मल्यः सहरिद्रकाः।
शालास्तालाः प्रियालाश्च चम्पकाश्च मनोरमाः ॥ ६६ ॥
तथा चान्ये व्यराजन्त सभायां पुष्पिता द्रुमाः।

उस सभा-भवनमें केवड़े, अशोक, सरल, पुंनाग (नागकेशर), तिलक, अर्जुन, आम, नीप, नागपुष्प, कदम्ब, वकुल, धव, प्रियङ्गु, पाटल, सेमल, हरिद्रक, साल, ताल, प्रियाल, चम्पा तथा अन्य मनोरम पुष्पित वृक्ष शोभा पा रहे थे ॥ ६५-६६½ ॥

वैद्रुमाश्च द्रुमानीका दावाग्निज्वलितप्रभाः ॥ ६७ ॥
स्कन्धवन्तः सुशाखाश्च बहुतालसमुच्छ्रयाः।
अञ्जनाशोकवर्णाभा भान्ति वञ्जुलका द्रुमाः ॥ ६८ ॥

मूँगेके वृक्षोंके समूह अपनी अरुण कान्तिसे ऐसे जान पड़ते थे, मानो दावानलकी लपटोंसे जल रहे हों। सुन्दर तने और शाखावाले वञ्जुल नामक वृक्ष (जो अशोककी ही जातिके हैं) वहाँ शोभा पाते थे, उनकी ऊँचाई कई ताड़के बराबर थी और आभा अञ्जन तथा अशोकके समान प्रतीत होती थी ॥ ६७-६८ ॥

वरणा वत्सनाभाश्च पनसाश्चन्दनैः सह।
नीलाः सुमनसश्चैव पीताम्लाश्वत्थतिन्दुकाः ॥ ६९ ॥
प्राचीनामलका लोध्रा मल्लिका भद्रदारवः।
आम्रातकास्तथा जम्बूलकुचाः शैलवालुकाः ॥ ७० ॥
सर्जार्जुनाः कन्दुरवाः पतङ्गाः कुटजास्तथा।
रक्ताः कुरवकाश्चैव नीपाश्चागरुभिः सह ॥ ७१ ॥
कदम्बाश्चैव भव्याश्च दाडिमीबीजपूरकाः।
कालीयका दुकूलाश्च हिङ्गवस्तैलपर्णिकाः ॥ ७२ ॥
खर्जूरा नालिकेराश्च पूगवृक्षा हरीतकी।
मधूकाः सप्तपर्णाश्च बिल्वाः पारावतास्तथा ॥ ७३ ॥
पनसाश्च तमालाश्च नानागुल्मलतावृताः।
लताश्च विविधाकाराः पत्रपुष्पफलोपगाः ॥ ७४ ॥
एते चान्ये च बहवस्तत्र काननजा द्रुमाः।
नानापुष्पफलोपेता व्यराजन्त समन्ततः ॥ ७५ ॥

वरण, वत्सनाभ, कटहल, चन्दन, नील, सुमना, पीत, अम्ल, पीपल, तेन्दूक, प्राचीन आँवले, लोध, मल्लिका, भद्रदारु, आम्रातक (अमला), जामुन, लकुच (बड़हर), शैल वालुक, सर्ज (राल), अर्जुन, कन्दुरव, पतंग, कुटज, लाल कुरवक, नीप, अगरु, कदम्ब, भव्य, अनार, बिजौरा नीबू, कालीयक, दुकूल, हिंगु, तैलपर्णिक, खजूर, नारियल, सुपारी, हर्रे, महुवा, छितवन, बेल, पारावत, पनस, नाना प्रकारकी झाड़ियों और लताओंसे घिरे हुए तमाल, पत्र-पुष्प और फलोंसे युक्त भाँति भाँतिकी वल्लरियाँ— ये तथा और भी बहुत-से जंगली वृक्ष, जो नाना प्रकारके फूलों और फलोंसे भरे हुए थे, वहाँ सब ओर शोभा पाते थे ॥ ६९—७५ ॥

चकोराः शतपत्राश्च मत्तकोकिलसारिकाः।
पुष्पितान् फलितांश्चैव सम्पतन्ति महाद्रुमान् ॥ ७६ ॥

वहाँके फूली-फली डालियोंवाले विशाल वृक्षोंपर चकोर, शतपत्र, मतवाले कोकिल तथा सारिका आदि पक्षी झुंड-के-झुंड आ-आकर बैठते थे ॥ ७६ ॥

रक्तपीतारुणास्तत्र पादपाग्रगता द्विजाः।
परस्परमवैक्षन्त प्रहृष्टा जीवजीवकाः ॥ ७७ ॥

वृक्षके अग्रभागपर बैठे हुए लाल-पीले और अरुण रंगके पक्षी और जीव-जीवक वहाँ हर समय एक दूसरेको देख रहे थे ॥ ७७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि नारसिंहे हिरण्यकशिपुसभावर्णने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें नरसिंहावतारके प्रसंगमें हिरण्यकशिपुकी सभाका वर्णनविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान् नरसिंहका देवता, गन्धर्व, अप्सराओं तथा दैत्योंसे सेवित हिरण्यकशिपुको देखना

वैशम्पायन उवाच

तस्यां सभायां दैत्येन्द्रो हिरण्यकशिपुः प्रभुः।
आसीन आसने दिव्ये नल्वमात्रे प्रमाणतः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस सभामें प्रभावशाली दैत्यराज हिरण्यकशिपु चार हाथ लंबे एक दिव्य सिंहासनपर बैठा हुआ था॥ १॥

दिवाकरनिभे रम्ये दिव्यास्तरणसम्भृते।
रराज सुचिरं राजन् ज्वलत्काञ्चनकुण्डलः॥ २॥

राजन्! वह सिंहासन सूर्यके समान प्रभापुञ्जसे परिपूर्ण, रमणीय तथा दिव्य बिछौनोंसे ढका हुआ था। उसपर देरसे बैठा हुआ हिरण्यकशिपु बड़ी शोभा पा रहा था। उसके कानोंमें सोनेके कुण्डल अपनी दिव्य दीप्तिसे दमक रहे थे॥ २॥

तस्य दैत्यपतेर्मन्दं विरजस्कं समन्ततः।
दिव्यगन्धवहस्तत्र मारुतः सुसुखो ववौ॥ ३॥

दिव्य सुगन्धका भार वहन करनेवाली वायु वहाँ सब ओरसे उस दैत्यराजके सम्मुख आकर मन्द गतिसे बहती थी। उसमें तनिक भी धूलका कण नहीं रहता था॥ ३॥

तत्र देवाः सगन्धर्वा गणैरप्सरसां वृताः।
दिव्यतालेन दिव्यानि जगुर्गीतानि गायनाः॥ ४॥

वहाँ देवता तथा अप्सराओंसे घिरे हुए गन्धर्व गायक बनकर दिव्य तालके साथ दिव्य गीत गाते थे॥ ४॥

विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचेत्यभिविश्रुता।
दिव्या च सौरभेयी च समीची पुञ्जिकस्थला॥ ५॥
मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रसेना शुचिस्मिता।
चारुनेत्रा घृताची च मेनका चोर्वशी तथा॥ ६॥
एताः सहस्रशश्चान्या नृत्यगीतविशारदाः।
उपतिष्ठन्ति राजानं हिरण्यकशिपुं तदा॥ ७॥

विश्वाची, सहजन्या, प्रम्लोचा, दिव्या, सौरभेयी, समीची, पुञ्जिकस्थला, मिश्रकेशी, रम्भा, चित्रसेना, शुचिस्मिता, चारुनेत्रा, घृताची, मेनका और उर्वशी—ये तथा अन्य सहस्रों अप्सराएँ, जो नृत्य-गीतमें कुशल थीं, उस समय राजा हिरण्यकशिपुकी सेवामें उपस्थित होती थीं॥ ५—७॥

हिरण्यकशिपुस्तत्र विचित्राभरणाम्बरः।
स्त्रीसहस्रैः परिवृतस्तस्थौ ज्वलितकुण्डलः॥ ८॥

उस सभामें विचित्र वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और जगमगाते हुए कुण्डलोंसे अलंकृत हिरण्यकशिपु सहस्रों स्त्रियोंसे घिरकर बैठा था॥ ८॥

तत्रासीनं महाबाहुं हिरण्यकशिपुं प्रभुम्।
उपासन्ति दितेः पुत्राः सर्वे लब्धवराः पुरा॥ ९॥

वहाँ बैठे हुए प्रभावशाली महाबाहु हिरण्यकशिपुकी सेवामें वे सारे दैत्य उपस्थित होते थे, जो पहले वर प्राप्त कर चुके थे॥ ९॥

बलिर्वैरोचनस्तत्र नरकः पृथिवीजयः।
प्रह्लादो विप्रचित्तिश्च गविष्ठश्च महासुरः॥ १०॥
चन्द्रहन्ता क्रोधहन्ता सुमनाः सुमतिः खरः।
घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा॥ ११॥
विश्वरूपश्च रूपश्च विरूपश्च महाद्युतिः।
दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा महारवः॥ १२॥
कटाभो विकटाभश्च संह्रादश्चेन्द्रतापनः।
दैत्यदानवसंघाश्च सर्वे ज्वलितकुण्डलाः॥ १३॥
स्रग्विणो वाग्मिनः सर्वे सर्वे सुचरितव्रताः।
सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगतमृत्यवः॥ १४॥
एते चान्ये च बहवो हिरण्यकशिपुं प्रभुम्।
उपासन्ते महात्मानं सर्वे दिव्यपरिच्छदाः॥ १५॥

विरोचनकुमार बलि, पृथ्वीविजयी नरक, प्रह्लाद, विप्रचित्ति, महान् असुर गविष्ठ, चन्द्रहन्ता, क्रोधहन्ता, सुमना, सुमति, खर, घटोदर, महापार्श्व, क्रथन, पिठर, विश्वरूप, रूप, महातेजस्वी विरूप, दशग्रीव, वाली, मेघवासा, महारव, कटाभ, विकटाभ, संह्राद तथा इन्द्रतापन आदि दैत्यों और दानवोंके समस्त समुदाय, जो प्रज्वलित कान्तिवाले कुण्डलोंसे अलंकृत, पुष्पमालाधारी तथा कुशल वक्ता थे और जो सब-के-सब भलीभाँति ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन कर चुके थे, वरदान पाये हुए थे, शूरवीर थे और मृत्युके भयका निवारण कर चुके थे; ये तथा दूसरे भी बहुत-से दैत्य वीर दिव्य उपकरणोंसे युक्त हो प्रभावशाली महामना हिरण्यकशिपुकी उपासना करते थे॥ १०—१५॥

विमानैर्विविधैरग्र्यैर्भ्राजमानैरिवार्चिभिः।
स्रग्विणो भूषणधरा यान्ति चायान्ति हेलया॥ १६॥

वे नाना प्रकारके श्रेष्ठ तथा किरणोंसे प्रकाशित विमानोंद्वारा लीलापूर्वक आते-जाते थे, पुष्पहार और आभूषण धारणकर सुशोभित होते थे॥ १६॥

विचित्राभरणोपेता विचित्रवसनास्तथा।
विचित्रशस्त्रकवचा विचित्रध्वजवाहनाः॥ १७॥

वे विचित्र आभूषण और विचित्र वस्त्र धारण करते थे और विचित्र शस्त्र, कवच, ध्वज और वाहनोंका उपयोग करते थे॥ १७॥

महेन्द्रचापसंकाशैर्विचित्रैरङ्गदैर्वरैः।
भूषिताङ्गा दितेः पुत्रास्तमुपासन्ति नित्यशः॥ १८॥

इन्द्र-धनुषके समान विचित्र रंगवाले श्रेष्ठ अंगदोंसे

अपनी भुजाओंको विभूषित करके आये हुए दैत्य प्रतिदिन हिरण्यकशिपुकी उपासना करते थे ॥ १८ ॥

तस्यां सभायां दिव्यायामसुराः पर्वतोपमाः ।
हिरण्यमुकुटाः सर्वे दिवाकरसमप्रभाः ॥ १९ ॥

उस दिव्य सभामें बैठे हुए वे सभी पर्वताकार असुर मस्तकपर सोनेके मुकुट धारण किये सूर्यके समान प्रकाशित होते थे ॥ १९ ॥

कनकमणिविचित्रवेदिकाया-
मुपचितरत्नसहस्रवीथिकायाम् ।
स ददर्श मृगाधिपः सभायां
सुरुचिरदन्तगवाक्षसंवृतायाम् ॥ २० ॥

कनकविमलहारभूषिताङ्गं
दितितनयं स मृगाधिपो ददर्श ।
दिनकरकरप्रभं ज्वलन्त-
मसुरसहस्रगणैर्निषेव्यमाणम् ॥ २१ ॥

जहाँ सोने और मणियोंकी विचित्र वेदिकाएँ बनी थीं, जिसकी गली-गलीमें सहस्रों रत्न संचित थे तथा जो रुचिर हाथीदाँतके बने झरोखोंसे आवृत थी, उस सभामें मृगराज भगवान् नरसिंहने दितिनन्दन हिरण्यकशिपुको देखा। उसका अङ्ग सोनेके निर्मल हारोंसे विभूषित था। उसकी प्रभा सूर्यकी किरणोंके समान उद्भासित होती थी, जिससे वह प्रज्वलित-सा जान पड़ता था और सहस्रों असुरोंके गण उसकी सेवामें लगे हुए थे ॥ २०-२१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि नारसिंहे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें नरसिंहावतारके प्रसङ्गमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

प्रह्लादको नरसिंह-विग्रहमें समस्त त्रिलोकीका दर्शन

वैशम्पायन उवाच

ततो दृष्ट्वा महाबाहुं कालचक्रमिवागतम् ।
नारसिंहवपुश्छन्नं भस्माच्छन्नमिवानलम् ॥ १ ॥
विकुञ्चितसटं तस्य नारसिंहस्य भारत ।
रूपौदार्यं बभौ तत्र सहस्रशशिसंनिभम् ॥ २ ॥
अहो रूपमिदं चित्रं शङ्खकुन्देन्दुसंनिभम् ।
अब्रुवन् दानवाः सर्वे हिरण्यकशिपुश्च सः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राखसे ढकी हुई आगकी भाँति नरसिंह-शरीरमें छिपे हुए महाबाहु भगवान् विष्णुको वहाँ कालचक्रके समान आया देख समस्त दानव और हिरण्यकशिपु आपसमें कहने लगे—'अहो ! यह शङ्ख, कुन्द और चन्द्रमाके समान विचित्र रूप दिखायी दे रहा है !' भारत ! भगवान् नरसिंहके मुख और गर्दनके बाल घुँघराले थे। उनका रूप-सौन्दर्य सहस्रों चन्द्रमाओंके समान प्रकाशित होता था ॥ १—३ ॥

एवं हि ब्रुवतां तेषां निर्दग्धानां महात्मनाम् ।
नारसिंहेन चक्षुर्भ्यां चोदिताः कालधर्मणा ॥ ४ ॥
हिरण्यकशिपोः पुत्रः प्रह्लादो नाम वीर्यवान् ।
दिव्येन चक्षुषा सिंहमपश्यद् देवमागतम् ॥ ५ ॥

भगवान् नरसिंहरूपी मृत्युसे प्रेरित और उनकी नेत्राग्निसे दग्ध होते हुए वे विशालकाय दानव जब आपसमें उपर्युक्त बातें कह रहे थे, उस समय हिरण्यकशिपुके पुत्र प्रह्लाद नामक पराक्रमी दैत्यने वहाँ पधारे हुए नरसिंह भगवान्को दिव्य दृष्टिसे देखा ॥ ४-५ ॥

तं दृष्ट्वा रुक्मशैलाभमपूर्वां तनुमास्थितम् ।
विस्मिता दानवाः सर्वे हिरण्यकशिपुश्च सः ॥ ६ ॥

सोनेके पर्वतकी भाँति अपूर्व शरीर धारण किये भगवान्को देखकर समस्त दानव और हिरण्यकशिपु आश्चर्यचकित हो रहे थे ॥ ६ ॥

प्रह्लाद उवाच

महाराज महाबाहो दैत्यानामादिसम्भव ।
न श्रुतं नैव दृष्टं च नारसिंहमिदं वपुः ॥ ७ ॥

उस समय प्रह्लादजी बोले—महाराज ! महाबाहो ! दैत्योंके आदिसम्भव (पूर्वपुरुष) ! मैंने ऐसा नरसिंह रूप न तो कभी देखा है और न सुना ही है ॥ ७ ॥

अव्यक्तप्रभवं दिव्यं किमिदं रूपमद्भुतम् ।
दैत्यान्तकरणं घोरं शंसन्तीव मनांसि नः ॥ ८ ॥

जिसकी उत्पत्तिका कारण अव्यक्त है, ऐसा यह दिव्य अद्भुत रूप क्या है ? हमारा मन तो ऐसा कहता है कि यह कोई दैत्योंका विनाश करनेवाला भयङ्कर भूत है ॥ ८ ॥

अस्य देवाः शरीरस्थाः सागराः सरितस्तथा ।
हिमवान् पारियात्रश्च ये चान्ये कुलपर्वताः ॥ ९ ॥

इसके शरीरमें समस्त देवता, समुद्र तथा सरिताएँ दिखायी देती हैं, हिमवान्, पारियात्र तथा अन्य जो कुल-पर्वत हैं, वे भी यहाँ दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ९ ॥

चन्द्रमाः सह नक्षत्रैरादित्याश्चाश्विनौ तथा ।
धनदो वरुणश्चैव यमः शक्रः शचीपतिः ॥ १० ॥
मरुतो देवगन्धर्वा मुनयश्च तपोधनाः ।
नागा यक्षाः पिशाचाश्च राक्षसा भीमविक्रमाः ॥ ११ ॥
ब्रह्मदेवः पशुपतिर्ललाटस्था विभान्ति वै ।

नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा, आदित्य, अश्विनीकुमार, कुबेर, वरुण, यम, शचीपति इन्द्र, मरुद्गण, देवता, गन्धर्व, तपो-

भन मुनि, नाग, यक्ष, पिशाच, भयङ्कर पराक्रमी राक्षस, ब्रह्माजी तथा भगवान् पशुपति (शिव) ये सब इसके ललाट-में स्थित जान पड़ते हैं ॥ १०-११½ ॥

स्थावराणि च भूतानि जङ्गमानि तथैव च ॥ १२ ॥
भवांश्च सहितोऽस्माभिः सर्वैर्दैत्यगणैर्वृतः ।
विमानशतसंकीर्णा तथाभ्यन्तरजा सभा ॥ १३ ॥
सर्वं त्रिभुवनं राजँल्लोकधर्मश्च शाश्वतः ।
दृश्यते नारसिंहेऽस्मिन् यथेन्दौ विमले जगत्॥ १४ ॥

स्थावर और जङ्गम भूत, सब दैत्यगणोंसे घिरे हुए हमारे साथ आप, सैकड़ों विमानोंसे भरी हुई हमारी यह आन्तरिक सभा, सारी त्रिलोकी तथा सनातन लोकधर्म-ये सब-के सब इस नरसिंह-विग्रहमें उसी तरह दिखायी देते हैं, जैसे महान् दर्पणके समान निर्मल चन्द्रमण्डलमें नेत्रोंकी धारणा करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् दृष्टिगोचर होता है । १२–१४ ।

प्रजापतिश्चात्र मनुर्महात्मा
ग्रहाश्च योगाश्च मही नभश्च ।
उत्पातकालश्च धृतिः स्मृतिश्च
रजश्च सत्त्वं च तपो दमश्च ॥ १५ ॥

इस नरसिंह-विग्रहमें प्रजापति, महात्मा मनु, ग्रह, योग, पृथ्वी, आकाश, उत्पातकाल, धृति, स्मृति, रजोगुण, सत्त्व-गुण, तप और इन्द्रियसंयम सभी दिखायी देते हैं ॥ १५ ॥

सनत्कुमारश्च महानुभावो
विश्वे च देवाप्सरसश्च सर्वाः ।
क्रोधश्च कामश्च तथैव हर्षो
दर्पश्च मोहः पितरश्च सर्वे ॥ १६ ॥

महानुभाव सनत्कुमार, विश्वेदेव, समस्त अप्सराएँ, काम, क्रोध, हर्ष, दर्प, मोह और सारे पितर भी इसमें दृष्टिगोचर होते हैं ॥ १६ ॥

इत्येवमुक्त्वा स च दैत्यराजं
हिरण्यनामानमविस्मयेन ।
दध्यौ च दैत्येश्वरपुत्र उग्रं
महामतिः किंचिदधोमुखः प्राक् ॥ १७ ॥

दैत्यराजके पुत्र परम बुद्धिमान् प्रह्लाद बिना किसी विस्मयके उस उग्र दैत्यपति हिरण्यकशिपुसे उपर्युक्त बात कहकर अपना मुँह कुछ नीचे करके पूर्व दिशाकी ओर ध्यान करने लगे ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि नारसिंहे प्रह्लादवाक्ये त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें नृसिंहावतारके प्रसङ्गमें प्रह्लादका वाक्यविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

दैत्यों तथा हिरण्यकशिपुद्वारा नृसिंहपर विभिन्न अस्त्रोंका प्रहार

वैशम्पायन उवाच

प्रह्लादस्य च तच्छ्रुत्वा हिरण्यकशिपुर्वचः ।
उवाच दानवान् सर्वान् सगणांश्च गणाधिपः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रह्लादकी यह बात सुनकर दैत्यगणोंके अधिपति हिरण्यकशिपुने गणोंसहित सम्पूर्ण दानवोंसे यह बात कही—॥ १ ॥

मृगेन्द्रो गृह्यतां शीघ्रमपूर्वां तनुमास्थितः ।
यदि वा संशयः कश्चिद् वध्यतां वनगोचरः ॥ २ ॥

'दैत्यो ! अपूर्व शरीर धारण करके आये हुए इस वनचारी मृगेन्द्र (सिंह) को शीघ्र ही पकड़ लो अथवा यदि कोई संशय (प्राण-संकट) उपस्थित हो तो इसका वध कर डालो' ॥

तच्छ्रुत्वा दानवाः सर्वे मृगेन्द्रं भीमविक्रमम् ।
परिक्षिपन्तो मुदितास्त्रासयामासुरोजसा ॥ ३ ॥

यह आदेश सुनकर वे समस्त दानव प्रसन्न हो उस भयङ्कर पराक्रमी सिंहपर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करते हुए उसे बलपूर्वक त्रास देने लगे ॥ ३ ॥

सिंहनादं नदित्वा तु पुनः सिंहो महाबलः ।
बभञ्ज तां सभां रम्यां व्यादितास्य इवान्तकः ॥ ४ ॥

तब उस महाबली सिंहने मुँह बाये हुए कालकी भाँति बारबार सिंहनाद करके उस रमणीय सभा-भवनको तोड़ डाला ॥ ४ ॥

सभायां भज्यमानायां हिरण्यकशिपुः स्वयम् ।
चिक्षेपास्त्राणि सिंहस्य रोषव्याकुललोचनः ॥ ५ ॥

सभा-भवनमें तोड़-फोड़ आरम्भ होनेपर हिरण्यकशिपुके नेत्र रोषसे व्याकुल हो गये, अतः उसने स्वयं भी उस अलौकिक सिंहपर नाना प्रकारके अस्त्र चलाये ॥ ५ ॥

सर्वास्त्राणामथ श्रेष्ठं दण्डमस्त्रं सुभैरवम् ।
कालचक्रं तथात्युग्रं विष्णुचक्रं तथैव च ॥ ६ ॥
धर्मचक्रं महच्चक्रमजितं नाम नामतः ।
चक्रमैन्द्रं तथा घोरमृषिचक्रं तथैव च ॥ ७ ॥
पैतामहं तथा चक्रं त्रैलोक्यमहितस्वनम् ।
विचित्रमशनीं चैव शुष्कार्द्रं चाशनिद्वयम् ॥ ८ ॥
रौद्रं तदुग्रं शूलं च कङ्कालं मुसलं तथा ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव ब्राह्ममस्त्रं तथैव च ॥ ९ ॥
ऐषीकमस्त्रमैन्द्रं च आग्नेयं शैशिरं तथा ।
वायव्यं मथनं नाम कापालमथ किंकरम् ॥ १० ॥

तथा चाप्रतिमां शक्तिं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च।
अस्त्रं हयशिरश्चैव सौम्यमस्त्रं तथैव च ॥ ११ ॥
पैशाचमस्त्रममितं सार्प्यमस्त्रं तथाद्भुतम्।
मोहनं शोषणं चैव संतापनविलापने ॥ १२ ॥
जृम्भणं प्रापणं चैव त्वाष्ट्रं चैव सुदारुणम्।
कालमुद्गरमक्षोभ्यं क्षोभणं तु महाबलम् ॥ १३ ॥
संवर्तनं मोहनं च तथा मायाधरं परम्।
गान्धर्वमस्त्रं दयितमसिरत्नं च नन्दकम् ॥ १४ ॥
प्रस्वापनं प्रमथनं वारुणं चास्त्रमुत्तमम्।
अस्त्रं पाशुपतं चैव यस्याप्रतिहता गतिः ॥ १५ ॥
एतान्यस्त्राणि सर्वाणि हिरण्यकशिपुस्तदा।
चिक्षेप नारसिंहस्य दीप्तस्याग्नेर्यथाहुतिः ॥ १६ ॥

सब अस्त्रोंमें श्रेष्ठ जो अत्यन्त भयङ्कर दण्डास्त्र था, उसको भी चलाया। उसके सिवा अत्यन्त उग्र कालचक्र, विष्णुचक्र, धर्मचक्र, महाचक्र, अजितचक्र, घोर ऐन्द्र चक्र, ऋषिचक्र, ब्रह्मचक्र, जिसकी गड़गड़ाहटकी तीनों लोकोंमें भूरि-भूरि प्रशंसा की जाती है, वह विचित्र अशनि, सूखी-गीली दो प्रकारकी अशनि, भयानक रौद्रास्त्र—शूल, कङ्काल, मूसल, ब्रह्मशिरनामक अस्त्र, ब्रह्मास्त्र, ऐषीकास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, आग्नेयास्त्र, शैशिरास्त्र, वायव्यास्त्र, मथनास्त्र, कपालास्त्र, किङ्करास्त्र, अप्रतिम शक्ति, क्रौञ्चास्त्र, हयग्रीवास्त्र, सौम्यास्त्र, अनुपम पैशाचास्त्र, अद्भुत सर्पास्त्र, मोहनास्त्र, शोषणास्त्र, संतापनास्त्र, विलापनास्त्र, जृम्भणास्त्र, प्रापणास्त्र, अत्यन्त दारुण त्वाष्ट्रास्त्र, अक्षोभ्य कालमुद्गर, महाबलवान् क्षोभणास्त्र, संवर्तनास्त्र, सम्मोहनास्त्र, मायाधरास्त्र तथा प्रिय गान्धर्वास्त्र, खड्गरत्न नन्दक, प्रस्वापनास्त्र, प्रमथनास्त्र, उत्तम वारुणास्त्र तथा जिसकी गति कहीं भी कुण्ठित नहीं होती वह पाशुपतास्त्र—इन सभी अस्त्रोंको उस समय हिरण्यकशिपुने भगवान् नरसिंहपर बारी-बारीसे चलाया, मानो वह प्रज्वलित अग्निको आहुति दे रहा हो ॥ ६—१६ ॥

अस्त्रैः प्रज्वलितैः सिंहमावृणोदसुराधिपः।
विवस्वान् घर्मसमये हिमवन्तमिवांशुभिः ॥ १७ ॥

असुरेश्वर हिरण्यकशिपुने तेजसे प्रज्वलित हुए अस्त्रोंद्वारा भगवान् नरसिंहको ढक दिया, ठीक वैसे ही, जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें भगवान् सूर्य हिमालयको अपनी किरणोंसे आच्छादित कर देते हैं ॥ १७ ॥

स ह्यमर्षानिलोद्धूतो दैत्यानां सैन्यसागरः।
क्षणेनाप्लावयत् सिंहं मैनाकमिव सागरः ॥ १८ ॥

दैत्योंके सैन्यरूपी समुद्रने रोषरूपी वायुके वेगसे उद्वेलित होकर क्षणभरमें भगवान् नरसिंहको उसी तरह आप्लावित-सा कर दिया, जैसे सागर मैनाकको अपने जलसे डुबो देता है ॥ १८ ॥

प्रासैः पाशैस्तथा शूलैर्गदाभिर्मुसलैस्तथा।
वज्रैरशनिकल्पैश्च शिलाभिश्च महाद्रुमैः ॥ १९ ॥
मुद्गरैः कूटपाशैश्च शूलोलूखलपर्वतैः।
शतघ्नीभिश्च दीप्ताभिर्दण्डैरपि सुदारुणैः ॥ २० ॥
परिवार्य समन्तात् तु निघ्नन्नस्त्रैर्हरिं तदा।
स्वल्पमप्यस्य न क्षुण्णमूर्जितस्य महात्मनः ॥ २१ ॥

प्रास, पाश, शूल, गदा, मूसल, वज्र, अशनि, शिला, बड़े-बड़े वृक्ष, मुद्गर, कूटपाश, शूल, ओखली, पर्वत, प्रज्वलित शतघ्नी तथा अत्यन्त भयङ्कर दण्ड आदि अस्त्रोंद्वारा दैत्य उन्हें सब ओरसे घेरकर मारने लगे। परंतु उस समय उन तेजस्वी महात्मा नरसिंहके शरीरका थोड़ा-सा भी भाग क्षत-विक्षत नहीं हुआ ॥ १९–२१ ॥

ते दानवाः पाशगृहीतहस्ता
महेन्द्रवज्राशनितुल्यवेगाः।
समन्ततोऽभ्युद्यतबाहुशस्त्राः
स्थितास्त्रिशीर्षा इव पन्नगेन्द्राः ॥ २२ ॥

उन दानवोंने अपने हाथोंमें पाश ले रखे थे। उनका वेग इन्द्रके वज्र और अशनिके समान था। वे सब ओर अस्त्र-शस्त्र लिये दोनों बाँहें ऊपर उठाये खड़े थे, इसलिये तीन फनवाले श्रेष्ठ सर्पोंके समान जान पड़ते थे ॥ २२ ॥

सुवर्णमालाकुलभूषिताङ्गा
नानाङ्गदाभोगपिनद्धगात्राः।
मुक्तावलीदामविभूषिताङ्गा
हंसा इवाभान्ति विशालपक्षाः ॥ २३ ॥

उनके अङ्ग स्वर्ण-मालाओंके समुदायसे विभूषित थे, नाना प्रकारके अङ्गद (बाजूबंद) आदि आभूषण उनके विभिन्न अङ्गोंसे जुड़े हुए थे और मोतियोंके हार उनके समस्त अङ्गोंकी शोभा बढ़ा रहे थे। उस अवस्थामें वे दैत्य विशाल पंखवाले हंसोंके समान सुशोभित होते थे ॥ २३ ॥

तेषां तु वायुप्रतिमौजसां वै
केयूरमालावलयोत्कटानि।
तान्युत्तमाङ्गान्यभितो विभान्ति
प्रभातसूर्यांशुसमप्रभाणि ॥ २४ ॥

उन वायुके समान बलशाली दैत्योंके उत्तम अङ्ग बाजूबंद, हार और वलय (कड़े) आदि आभूषणोंसे अलंकृत हो प्रभातकालके सूर्यकी किरणोंके समान कान्तिमान् एवं शोभासम्पन्न हो रहे थे ॥ २४ ॥

तैः क्षिपद्भिर्ज्वलितानलोपमै-
र्महास्त्रपूगैः स समावृतो बभौ।
गिरिर्यथा संततवर्षिभिर्घनैः
कृतान्धकारोऽद्भुतकन्दरद्रुमः ॥ २५ ॥

जैसे निरन्तर वर्षा करनेवाले घने बादलोंसे पर्वतपर अन्धकार छा जाता है तथा उसकी कन्दराएँ और वृक्ष अद्भुत

रूप धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार अपने ऊपर फेंके जानेवाले प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी बड़े-बड़े अस्त्रोंके समूहोंसे आच्छादित हुए भगवान् नरसिंह अन्धकाराच्छन्न एवं अद्भुत प्रतीत होते थे ॥ २५ ॥

तैर्हन्यमानोऽपि महास्त्रजालैः
सर्वैस्तदा दैत्यगणैः समेतैः ।
नाकम्पताजौ भगवान् प्रतापवान्
स्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥ २६ ॥

उस समय सब दैत्य एकत्र होकर बड़े-बड़े अस्त्रोंके समुदायसे उनपर आघात कर रहे थे, तो भी वे प्रतापी भगवान् नृसिंह उस युद्धस्थलमें कम्पित नहीं हुए। वे स्वभावसे ही हिमालय पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे ॥

संतापितास्ते नरसिंहरूपिणा
दितेः सुताः पावकदीप्ततेजसा ।
भयाद् विचेलुः पवनोद्धता यथा
महोर्मयः सागरवारिसम्भवाः ॥ २७ ॥

नृसिंहरूपधारी भगवान्का तेज अग्निके समान प्रज्वलित हो रहा था, उनसे संतापित हुए दैत्य भयसे विचलित हो उठे, मानो प्रचण्ड वायुके थपेड़े खाकर महासागरके जलमें बड़ी-बड़ी तरंगें उठने लगी हों ॥ २७ ॥

शतैर्धनुर्भिः सुमहातिवेगा
युगान्तकालप्रतिमाञ्छरौघान् ।
एकायनस्था मुमुचुर्नृसिंहे
महासुराः क्रोधविदीपिताङ्गाः ॥ २८ ॥

वे महान् असुर अत्यन्त वेगशाली थे, उनके सारे अङ्ग क्रोधसे जल रहे थे, अतः वे सौ धनुषोंकी दूरीपर एक स्थानमें खड़े हो उन नृसिंहदेवपर प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी बाणसमूहोंको छोड़ने लगे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि नारसिंहे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें नृसिंहावतारविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

दैत्योंद्वारा किये गये प्रहारों और रची गयी मायाओंकी निष्फलता

वैशम्पायन उवाच

खराः खरमुखाश्चैव मकराशीविषाननाः ।
ईहामृगमुखाश्चान्ये वराहसदृशाननाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन दानवोंमें कुछ तो मूर्तिमान् गधे ही थे और कुछ दानवोंके केवल मुख ही गधोंके समान थे। कितनोंके मुख मगरों और विषधर सर्पके समान थे। किन्हींके मुख भेड़ियोंके समान और किन्हींके सूअरोंके समान थे ॥ १ ॥

बालसूर्यमुखाश्चैव धूमकेतुमुखास्तथा ।
चन्द्रार्धचन्द्रवक्त्राश्च प्रदीप्ताग्निमुखास्तथा ॥ २ ॥

कितनोंके मुख प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण कान्तिसे सुशोभित थे। कई दानव धूमकेतुके-से मुखवाले थे। कुछ दैत्योंके मुख पूर्ण चन्द्र, अर्ध चन्द्र तथा प्रज्वलित अग्निके समान थे ॥ २ ॥

हंसकुक्कुटवक्त्राश्च व्यादितास्या भयावहाः ।
पञ्चास्या लेलिहानाश्च काकगृध्रमुखास्तथा ॥ ३ ॥

किन्हींके मुख हंसोंके समान थे तो किन्हींके मुर्गोंके समान। कितने ही दैत्य मुँह बाये रहते थे, अतः बड़े भयङ्कर जान पड़ते थे। किन्हीं-किन्हींके पाँच मुख थे। कोई-कोई लपलपाती जिह्वासे अपने जबड़े चाटते थे और कितने ही दैत्य कौओं तथा गीधोंके समान मुखवाले थे ॥ ३ ॥

विद्युज्जिह्वास्त्रिशीर्षाश्च तथोल्कासंनिभाननाः ।
महाग्राहनिभाश्चान्ये दानवा बलदर्पिताः ॥ ४ ॥

किन्हींकी जिह्वा बिजलीके समान चमकती रहती थी। किन्हींके तीन सिर थे। कोई-कोई उल्काके समान मुखवाले थे तथा बलके घमंडसे भरे हुए दूसरे बहुत-से दानव बड़े-बड़े ग्राहोंके समान मुख धारण करते थे ॥ ४ ॥

कैलासवपुषस्तस्य शरीरे शरवृष्टयः ।
अवध्यस्य मृगेन्द्रस्य न व्यथां चक्रुराहवे ॥ ५ ॥

भगवान् नरसिंहका श्रीविग्रह कैलास पर्वतके समान उज्ज्वल था। वे सर्वथा अवध्य थे। उनके शरीरमें दैत्योंद्वारा की गयी बाणोंकी वर्षाओंने तनिक भी पीड़ा उत्पन्न नहीं की ॥

एवं भूयोऽपरान् घोरानसृजन् दानवाः शरान् ।
मृगेन्द्रस्योरसि क्रुद्धा निःश्वसन्त इवोरगाः ॥ ६ ॥

इसी तरह फुफकारते हुए सर्पोंके समान उन कुपित हुए दानवोंने भगवान् नरसिंहकी छातीमें पुनः दूसरे-दूसरे घोर बाणोंका प्रहार किया ॥ ६ ॥

ते दानवशरा घोरा मृगेन्द्राय समीरिताः ।
विलयं जग्मुराकाशे खद्योता इव पर्वते ॥ ७ ॥

भगवान् नरसिंहपर चलाये गये दानवोंके वे घोर बाण पर्वतमें अदृश्य हो जानेवाले जुगनुओंके समान आकाशमें ही विलीन हो गये ॥ ७ ॥

ततश्चक्राणि दिव्यानि दैत्याः क्रोधसमन्विताः ।
मृगेन्द्रायाक्षिपन्त्याशु प्रज्वलन्तीव सर्वशः ॥ ८ ॥

तब क्रुद्ध हुए दैत्य उन नरसिंहदेवपर बड़ी शीघ्रताके

साथ दिव्य चक्र चलाने लगे, जो सब ओरसे प्रज्वलित-से हो रहे थे ॥ ८ ॥

तैरासीद् गगनं चक्रैः सम्पतद्भिः समावृतम्।
युगान्ते सम्प्रकाशद्भिश्चन्द्रसूर्यग्रहैरिव ॥ ९ ॥

चलाये जाते हुए उन चक्रोंसे घिरा हुआ आकाश प्रलय-कालमें प्रकाशित होनेवाले अनेकानेक चन्द्र, सूर्यादि ग्रहोंसे व्याप्त हुआ-सा प्रतीत होता था ॥ ९ ॥

तानि चक्राणि वदनं प्रविशन्ति विभान्ति वै।
मेघोदरदरीं घोरां चन्द्रसूर्यग्रहा इव ॥ १० ॥

वे चक्र भगवान् नरसिंहके मुखमें प्रवेश करते चले जा रहे थे। उस समय वे मेघोंकी भयङ्कर उदर-दरीमें घुसनेवाले चन्द्रमा और सूर्य आदि ग्रहोंके समान जान पड़ते थे ॥

तानि चक्राणि सर्वाणि मृगेन्द्रेण महात्मना।
निगीर्णानि प्रदीप्तानि पावकार्चिःसमानि वै ॥ ११ ॥

महात्मा नरसिंहने आगकी ज्वालाओंके समान प्रज्वलित होनेवाले वे सब चक्र निगल लिये ॥ ११ ॥

हिरण्यकशिपुर्दैत्यो भूयः प्रासृजदूर्जिताम्।
शक्तिं प्रज्वलितां घोरां हुताशनसमप्रभाम् ॥ १२ ॥

तब दैत्य हिरण्यकशिपुने पुनः प्रज्वलित अग्निके समान प्रभावाली एक प्रबल एवं भयङ्कर शक्ति छोड़ी ॥ १२ ॥

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य मृगेन्द्रः शक्तिमुत्तमाम्।
हुंकारेणैव रौद्रेण बभञ्ज भगवांस्तदा ॥ १३ ॥

उस उत्तम शक्तिको अपनी ओर आती देख भगवान् नरसिंहने भयङ्कर हुङ्कारमात्रसे ही तत्काल उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ १३ ॥

रराज भग्ना सा शक्तिर्मृगेन्द्रेण महीतले।
सविस्फुलिङ्गा ज्वलिता महोल्केव नभश्च्युता॥ १४ ॥

भगवान् नरसिंहद्वारा भग्न होकर पृथ्वीपर पड़ी हुई वह शक्ति आकाशसे गिरी हुई चिनगारियोंसहित प्रज्वलित विशाल उल्काके समान शोभा पाती थी ॥ १४ ॥

नाराचपङ्क्तिः सिंहस्य सृष्टा रेजे विदूरतः।
नीलोत्पलपलाशानां मालेवोज्ज्वलदर्शना ॥ १५ ॥

नरसिंहदेवको लक्ष्य करके दूरसे छोड़ी गयी बाणोंकी पंक्ति नील कमलदलोंकी उज्ज्वल मालाके समान सुशोभित हो रही थी ॥ १५ ॥

गर्जित्वा तु यथाकामं विक्रम्य च यथासुखम्।
तत् सैन्यमुत्सारितवांस्तृणाग्राणीव मारुतः ॥ १६ ॥

तब भगवान् नरसिंह इच्छानुसार गर्जना करके मौजसे इधर-उधर विचरण करके दैत्योंकी उस सेनाको उसी प्रकार उखाड़ फेंकने लगे जैसे वायु तिनकोंके अग्रभागको उड़ाती है ॥ १६ ॥

ततोऽश्मवर्षं दैत्येन्द्रा व्यसृजन्त नभोगताः।
नगमात्रैः शिलाखण्डैर्गिरिकूटैर्महाप्रभैः ॥ १७ ॥

तब आकाशमें स्थित हुए वे दैत्यराज पत्थरोंकी वर्षा करने लगे। उनके एक-एक शिलाखण्ड वृक्षोंके बराबर होते थे। वे महान् कान्तिमान् पर्वत शिखरोंका प्रहार करते थे ॥

तदश्मवर्षं सिंहस्य गात्रे निपतितं महत्।
दिशो दश प्रकीर्णं हि खद्योतप्रकरो यथा ॥ १८ ॥

भगवान् नरसिंहके शरीरपर पड़ती हुई प्रस्तरोंकी वह विशाल वर्षा खद्योत-समूहोंकी भाँति दसों दिशाओंमें बिखरने लगी ॥ १८ ॥

तदश्मौघैर्दितिसुतास्तदा सिंहमरिंदमम्।
प्राच्छादयन् यथा मेघा धाराभिरिव पर्वतम् ॥ १९ ॥

जैसे बादल अपनी धाराओंसे पर्वतको आच्छादित कर देते हैं, उसी प्रकार वे दैत्य उन प्रस्तरसमूहोंकी वर्षासे शत्रु-दमन नरसिंहदेवको ढकने लगे ॥ १९ ॥

न च तं चालयामासुर्दैत्यौघा देवमास्थितम्।
भीमवेगा बलश्रेष्ठं समुद्रा इव पर्वतम् ॥ २० ॥

जैसे भयंकर वेगवाले समुद्र जलमें बढ़े-चढ़े पर्वतको विचलित नहीं कर सकते, उसी प्रकार वे दैत्यसमूह वहाँ खड़े हुए नरसिंहदेवको पीछे न हटा सके ॥ २० ॥

ततोऽश्मवर्षे निहते जलवर्षमनन्तरम्।
धाराभिरक्षमात्राभिः प्रादुरासीत् समन्ततः ॥ २१ ॥

तदनन्तर प्रस्तरोंकी वर्षा बंद हो जानेपर जलकी वर्षा आरम्भ हुई, चारों ओर धुरोंके समान मोटी धाराओंके साथ घोर वर्षा होने लगी ॥ २१ ॥

नभसः प्रच्युता धारास्तिग्मवेगाः सहस्रशः।
आवृण्वन् सर्वतो व्योम दिशश्चोपदिशस्तथा ॥ २२ ॥

आकाशसे प्रचण्ड वेगवाली सहस्रों जलधाराएँ गिरने लगीं, उन्होंने आकाश, दिशा और विदिशाओंको भी सब ओरसे आवृत कर लिया ॥ २२ ॥

धाराणां संनिपातेन वायोर्विस्फूर्जितेन च।
वर्धता चैव वर्षेण न प्राज्ञायत किंचन ॥ २३ ॥

जलकी धाराओंके गिरने, प्रचण्ड वायुके वेगपूर्वक बहने और वर्षाकी उत्तरोत्तर वृद्धि होनेसे कुछ भी सुझायी नहीं देता था ॥ २३ ॥

धारा दिवि च संसक्ता वसुधायां च सर्वशः।
न स्पृशन्ति स्म तं तत्र निपतन्त्योऽनिशं भुवि ॥ २४ ॥

जलकी धारा आकाशसे वसुधातक लगी हुई थी और सब ओर फैल रही थी। भूतलपर निरन्तर गिरती रहनेपर भी वे धाराएँ वहाँ नृसिंहदेवका स्पर्श नहीं कर पाती थीं ॥ २४ ॥

बाह्यतो ववृषे वर्षं नोपरिष्टात् तु तोयदः।
मृगेन्द्रप्रतिरूपस्य स्थितस्य युधि मायया ॥ २५ ॥

वे मृगेन्द्ररूपधारी भगवान् विष्णु अपनी मायाके द्वारा

युद्धस्थलमे खड़े थे। उस समय बाहरकी ओर तो जलकी वर्षा होती थी, किंतु मेघ उनके ऊपर जल नहीं गिराते थे॥

हतेऽश्मवर्षे तुमुले जलवर्षे च शोषिते।
ससृजुर्दानवा मायामग्निं वायुं च सर्वशः॥ २६॥

जब भयंकर पत्थरोंकी वर्षा नष्ट हो गयी और जलकी वर्षा भी सोख ली गयी, तब दानवोंने सब ओर मायामय अग्नि और वायुकी सृष्टि की॥ २६॥

नभसः प्रच्युतश्चैव तिग्मवेगः समन्ततः।
ज्वालामाली महारौद्रो दीप्ततेजाः समन्ततः॥ २७॥

आकाशसे चारों ओर प्रचण्ड वेगशाली, ज्वालामालाओंसे अलंकृत महाभयंकर तथा प्रज्वलित तेजसे युक्त अग्निकी वर्षा होने लगी॥ २७॥

स सृष्टः पावकस्तेन दैत्येन्द्रेण महात्मना।
न शशाक महातेजा दग्धुमप्रतिमौजसम्॥ २८॥

उस महामनस्वी दैत्यराजके द्वारा उत्पादित हुआ वह महातेजस्वी पावक उन अनुपम शक्तिशाली नृसिंहदेवको दग्ध न कर सका॥ २८॥

तमिन्द्रस्तोयदैः सार्धं सहस्राक्षोऽमितद्युतिः।
महता तोयवर्षेण शमयामास पावकम्॥ २९॥

अमिततेजस्वी सहस्रलोचन इन्द्रने मेघोंके साथ आकर भारी जल-वर्षा करके उस अग्निको बुझा दिया॥ २९॥

तस्यां प्रतिहतायां तु मायायां युधि दानवाः।
ससृजुर्घोरसंकाशं तमस्तीव्रं समन्ततः॥ ३०॥

उस अग्निमयी मायाके नष्ट हो जानेपर दानवोंने युद्धस्थलमें सब ओर घोर एवं तीव्र अन्धकारकी सृष्टि की॥ ३०॥

तमसा संवृते लोके दैत्येष्वात्तायुधेषु वै।
स्वतेजसा परिवृतो दिवाकर इवाबभौ॥ ३१॥

जब सारा जगत् अन्धकारसे आच्छन्न हो गया और दैत्यलोग हाथमें हथियार लेकर युद्धके लिये उद्यत हो गये, उस समय भगवान् नृसिंह अपने तेजसे सूर्यदेवकी भाँति प्रकाशित हो उठे॥ ३१॥

त्रिशिखां भ्रुकुटीं चास्य ददृशुर्दानवा रणे।
ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गङ्गां त्रिपथगामिव॥ ३२॥

उस समय दानवोंने रणक्षेत्रमें भगवान्‌के ललाटमें तीन शिखाओंसे युक्त भ्रुकुटि देखी, जो त्रिकूट पर्वतपर स्थित हुई त्रिपथगा गङ्गाके समान सुशोभित होती थी॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि नारसिंहे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें नृसिंहावतारविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४५॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

दैत्योंके विनाशकी सूचना देनेवाले महान् उत्पात, हिरण्यकशिपुका गदा लेकर धावा करना तथा उसके पैरोंकी धमकसे पृथ्वी, पर्वत, नदी एवं देशोंका कम्पित होना

वैशम्पायन उवाच

ततः सर्वासु मायासु हतासु दितिनन्दनाः।
हिरण्यकशिपुं सर्वे विषण्णाः शरणं गताः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब दैत्योंकी सारी मायाएँ नष्ट हो गयीं, तब सब के-सब खिन्न होकर हिरण्यकशिपुकी शरणमें गये॥ १॥

ततः प्रज्वलितः क्रोधात् प्रदहन्निव तेजसा।
हिरण्यकशिपुर्दैत्यश्चालयामास मेदिनीम्॥ २॥

तब दैत्य हिरण्यकशिपुने क्रोधसे प्रज्वलित हो पृथ्वीको तेजसे दग्ध-सा करता हुआ उसे कम्पित कर दिया॥ २॥

ततः प्रक्षुभिताः सर्वे सागराः सलिलाकराः।
चलिता गिरयः सर्वे सकाननवनद्रुमाः॥ ३॥

फिर तो सारे समुद्र और जलाशय क्षुब्ध हो गये। वन, कानन और वृक्षोंसहित समस्त पर्वत हिलने लगे॥ ३॥

तस्मिन् क्रुद्धे तु दैत्येन्द्रे तमोभूतमभूज्जगत्।
तमसा समभूच्छन्नं न प्राज्ञायत किंचन॥ ४॥

दैत्यराज हिरण्यकशिपुके कुपित होनेपर सारा जगत् अन्धकारमय हो गया। अन्धकारसे आच्छादित हो जानेके कारण किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं होता था॥ ४॥

आवहः प्रवहश्चैव विवहश्च समीरणः।
परावहः संवहश्च उद्वहश्च महाबलः॥ ५॥
तथा परिवहः श्रीमान् मारुता भयशंसिनः।
इत्येते क्षुभिताः सप्त मारुता गगनेचराः॥ ६॥

आवह, प्रवह, विवह, परावह, सवह, महाबली उद्वह तथा श्रीमान् परिवह—ये सातों आकाशचारी समीर क्षुब्ध होकर भयकी सूचना देने लगे॥ ५-६॥

ये ग्रहाः सर्वलोकस्य क्षये प्रादुर्भवन्ति वै।
ते ग्रहा गगने हृष्टा विचरन्ति यथासुखम्॥ ७॥

जो ग्रह सम्पूर्ण जगत्‌का संहार होनेके समय प्रकट होते हैं, वे ही उस समय आकाशमें उदित हो बड़े हर्ष और सुखसे विचर रहे थे॥ ७॥

---

१. आवह आदि सात वायुओंका परिचय महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्मपर्व अध्याय ३२८ के श्लोक ३६ से ५२ तक विस्तारपूर्वक दिया गया है।

अयोगतश्चात्यचरद् योगं दिवि निशाकरः।
सग्रहं सहनक्षत्रं प्रजज्वाल नभो नृप ॥ ८ ॥

चन्द्रमा आकाशमें नियत योगके विना ही अतिचार-गतिसे दूरवर्ती नक्षत्रोंके साथ भी संयुक्त होने लगे। नरेश्वर! ग्रहों और नक्षत्रोंसे सारा आकाश जल उठा ॥ ८ ॥

विवर्णत्वं च भगवान् गतो दिवि दिवाकरः।
कृष्णः कबन्धश्च महाँल्लक्ष्यते च नभस्तले ॥ ९ ॥

सूर्यदेव आकाशमें श्रीहीन-से हो गये। व्योममण्डलमें काले रंगका महान् कबन्ध दृष्टिगोचर होने लगा ॥ ९ ॥

अमुञ्चच्चासितां सूर्यो धूमवर्तिं भयावहाम्।
गगनस्थश्च भगवानभीक्ष्णं परितप्यते ॥ १० ॥

सूर्यदेव काले रंगकी धूमकी भयंकर बत्ती छोड़ने लगे। आकाशमें स्थित हुए भगवान् सूर्य बहुत अधिक तपने और तपाने लगे ॥ १० ॥

सप्तधूमनिभा घोराः सूर्या दिवि समुत्थिताः।
सोमस्य गगनस्थस्य ग्रहास्तिष्ठन्ति शृङ्गगाः ॥ ११ ॥

धुएँके समान रंगवाले सात भयंकर सूर्य आकाशमें उदित हो गये और व्योममण्डलमें स्थित हुए सोमके शृङ्गपर सात ग्रह स्थित हो गये ॥ ११ ॥

वामे च दक्षिणे चैव स्थितौ शुक्रबृहस्पती।
शनैश्चरो लोहिताङ्गो लोहितार्कसमद्युतिः ॥ १२ ॥

सोमके बायें भागमें शुक्र और दायें भागमें बृहस्पति स्थित हुए। शनैश्चर और प्रातःकालके अरुण वर्णवाले सूर्यके समान कान्तिमान् मंगल भी क्रमशः बायें-दायें स्थित हो गये ॥

समं समभिरोहन्ति दुर्गाणि गगनेचराः।
शृङ्गाणि कनकैर्घोरा युगान्तावर्तका ग्रहाः ॥ १३ ॥

प्रलयकालकी आवृत्ति करनेवाले भयंकर आकाशचारी ग्रह मेरु पर्वतके सुवर्णनिर्मित दुर्गम शिखरोंपर एक साथ आरोहण करने लगे ॥ १३ ॥

चन्द्रमाः सह नक्षत्रैर्ग्रहैः सप्तभिरावृतः।
चराचरविनाशार्थं रोहिणीं नाभ्यनन्दत ॥ १४ ॥

नक्षत्रोंके साथ चन्द्रमा सात ग्रहोंसे आवृत हो चराचर प्राणियोंके विनाशके लिये रोहिणीका अभिनन्दन नहीं करते थे ॥ १४ ॥

गृहीतो राहुणा चन्द्र उल्काभिरभिहन्यते।
उल्काः प्रज्वलिताश्चन्द्रे प्रचेलुर्घोरदर्शनाः ॥ १५ ॥

राहुसे ग्रस्त हुए चन्द्रमा उल्काओंसे आहत होने लगे। भयंकर दिखायी देनेवाली प्रज्वलित उल्काएँ चन्द्रमण्डलकी ओर जाने लगीं ॥ १५ ॥

देवानामपि यो देवः सोऽभ्यवर्षत शोणितम्।
अपतन् गगनादुल्का विद्युद्रूपाः सनिःस्वनाः ॥ १६ ॥

जो देवताओंके भी देवता हैं, वे इन्द्र रक्तकी वर्षा करने लगे। आकाशसे भयंकर शब्दके साथ विद्युन्मयी उल्काएँ गिरने लगीं ॥ १६ ॥

अकाले पादपाः सर्वे पुष्यन्ति च फलन्ति च।
लताश्च सफलाः सर्वा याः प्राहुर्दैत्यनाशनम् ॥ १७ ॥

सभी वृक्ष असमयमें फूलने-फलने लगे, समस्त लताएँ फलोंसे लद गयीं, जो दैत्योंके विनाशकी सूचना दे रही थीं ॥

फले फलान्यजायन्त पुष्पे पुष्पं तथैव च।
उन्मीलन्ति निमीलन्ति हसन्ति च रुदन्ति च ॥ १८ ॥
विक्रोशन्ति च गम्भीरं धूमयन्ति ज्वलन्ति च।
प्रतिमाः सर्वदेवानां कथयन्ति युगक्षयम् ॥ १९ ॥

फलमें फल और फूलमें फूल उत्पन्न होने लगे। समस्त देवताओंकी प्रतिमाएँ आँखें खोलने-मीचने लगीं, हँसने-रोने लगीं, वे उच्च स्वरसे चीत्कार कर उठती थीं, कभी धुँआ छोड़ती, कभी प्रज्वलित होने लगती थीं, इस प्रकार वे प्रलयकी सूचना दे रही थीं ॥ १८-१९ ॥

आरण्यैः सह संसृष्टा ग्राम्याश्च मृगपक्षिणः।
चुक्रुशुर्भैरवं तत्र मृगेन्द्रे समुपस्थिते ॥ २० ॥

ग्रामीण पशु-पक्षी जंगली पशु-पक्षियोंके साथ संसर्ग (मैथुन) करने लगे। वहाँ भगवान् नरसिंहके उपस्थित होनेपर वे सभी पशु-पक्षी भैरव-रवमें आर्तनाद करने लगे ॥ २० ॥

नद्यश्च प्रतिलोमा हि वहन्ति कलुषोदकाः।
अपराह्णगते सूर्ये लोकानां क्षयकारके ॥ २१ ॥

नदियाँ उल्टी दिशाकी ओर बहने लगीं। उनके जल गँदले हो गये। उस समय सम्पूर्ण लोकोंके विनाशकी सूचना देते हुए सूर्यदेव अपराह्णकालमें आ पहुँचे थे ॥ २१ ॥

न प्रकाशन्ति च दिशो रक्तरेणुसमाकुलाः।
वानस्पत्या न पूज्यन्ते पूजनार्हाः कथंचन ॥ २२ ॥

दिशाएँ लाल रंगकी धूलसे भर रही थीं, अतः प्रकाशित नहीं होती थीं। पूजनीय चैत्य देवताओंकी किसी तरह पूजा नहीं होती थी ॥ २२ ॥

वायुवेगेन हन्यन्ते भिद्यन्ते प्रणुदन्ति च।
तदा च सर्वभूतानां छाया न परिवर्तते ॥ २३ ॥
अपराह्णगते सूर्ये लोकानां च युगक्षये।

वे चैत्य वृक्ष वायुके वेगसे छिन्न-भिन्न तथा कम्पित होते रहते थे। उस समय सूर्य अपराह्णकालमें स्थित थे और लोकोंका प्रलय-सा उपस्थित था। उस अवस्थामें सूर्यकी प्रभा हीन हो जानेसे किसी भी प्राणीकी छाया (परछाईं) नहीं पड़ रही थी ॥

तदा हिरण्यकशिपोर्दैत्यस्योपरिवेश्मनः ॥ २४ ॥
भाण्डागारायुधागारे निविष्टमभवन्मधु।

हिरण्यकशिपु दैत्यके महलके ऊपर तथा उसके भण्डार-गृह और शस्त्रागारमें मधुकी मक्खियोंने मधुका छाता लगा रखा था ॥ २४½ ॥

तथैव चायुधागारे धूमराजिरदृश्यत ॥ २५ ॥
स च दृष्ट्वा महोत्पातान् हिरण्यकशिपुस्तदा ।
पुरोहितं तदा शुक्रं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

इसी तरह उसके आयुधागारमें धूममाला उठती दिखायी दी। हिरण्यकशिपुने उस समय उन बड़े-बड़े उत्पातोंको देखकर अपने पुरोहित शुक्राचार्यसे कहा—॥ २५-२६ ॥

किमर्थं भगवन्नेते महोत्पाताः समुत्थिताः ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन परं कौतूहलं हि मे ॥ २७ ॥

'भगवन्! ये बड़े-बड़े उत्पात किसलिये प्रकट हो रहे हैं, मैं ठीक-ठीक इनका कारण सुनना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है'॥ २७ ॥

शुक्र उवाच

शृणु राजन्नवहितो वचनं मे महासुर ।
यदर्थमिह दृश्यन्ते महोत्पाता महाभयाः ॥ २८ ॥

शुक्र बोले—राजन्! महासुर! तुम ध्यान देकर मेरी बात सुनो। ये महान् भयदायक बड़े-बड़े उत्पात यहाँ जिस निमित्तसे दिखायी देते हैं, वह बताता हूँ, सुनो ॥ २८ ॥

यस्यैते सम्प्रदृश्यन्ते राज्ञो राष्ट्रे महासुर ।
देशो वा ह्रियते तस्य राजा वा वधमर्हति ॥ २९ ॥

महासुर! जिस राजाके राज्यमें ये उत्पात दृष्टिगोचर होते हैं, उसका राज्य छिन जाता है अथवा वह राजा ही मारा जाता है ॥ २९ ॥

अतो बुद्ध्या समीक्षस्व यथा सर्वं प्रणश्यति ।
बृहद्भयं हि नचिराद् भविष्यति न संशयः॥ ३० ॥

अतः तुम बुद्धिसे भलीभाँति विचार करो, जिससे सारा उत्पात नष्ट हो जाय, अन्यथा शीघ्र ही महान् भय प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ३० ॥

एतावदुक्त्वा शुक्रस्तु हिरण्यकशिपुं तदा ।
स्वस्तीत्युक्त्वा तु दैत्येन्द्रं जगाम स्वं निवेशनम्॥ ३१ ॥

उस समय दैत्यराज हिरण्यकशिपुसे इतना ही कहकर शुक्राचार्य 'तुम्हारा कल्याण हो' ऐसा कहते हुए अपने घरको चले गये ॥ ३१ ॥

तस्मिन् गते स दैत्येन्द्रो ध्यातवान् सुचिरं तदा।
आसांचक्रे सुदीनात्मा ब्रह्मवाक्यमनुस्मरन् ॥ ३२ ॥

उनके चले जानेपर वह दैत्यराज बहुत देरतक चिन्तामग्न बैठा रहा। उस ब्राह्मणके वाक्यका बारंबार स्मरण करके वह दैत्य मन-ही-मन बहुत दुखी हो गया था ॥ ३२ ॥

असुराणां विनाशाय सुराणां विजयाय च ।
दृश्यन्ते विविधोत्पाता घोरा घोरनिदर्शनाः ॥ ३३ ॥

असुरोंके विनाश और देवताओंकी विजयके लिये नाना प्रकारके भयंकर उत्पात दिखायी देते थे; जो देखनेमें भी बड़े भयानक थे ॥ ३३ ॥

एते चान्ये च बहवो घोरा ह्युत्पातदर्शनाः ।
दैत्येन्द्राणां विनाशाय दृश्यन्ते कालनिर्मिताः ॥ ३४ ॥

ये तथा और भी बहुत-से घोर उत्पात जो साक्षात् कालके द्वारा निर्मित थे, दैत्यराजाओंके विनाशके लिये दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ३४ ॥

ततो हिरण्यकशिपुर्गदामादाय सत्वरम् ।
अभ्यद्रवत वेगेन धरणीमनुकम्पयन् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर हिरण्यकशिपु तुरंत ही हाथमें गदा लेकर पृथ्वीको बारंबार कम्पित करता हुआ बड़े वेगसे दौड़ा ॥ ३५ ॥

हिरण्यकशिपुर्दैत्यो पदा सस्पृष्टवान् महीम् ।
संदष्टौष्ठपुटः क्रोधाद् वराह इव पूर्वजः ॥ ३६ ॥

दैत्य हिरण्यकशिपुने रोषसे ओठको दाँतो तले दबाकर भगवान् आदिवाराहकी भाँति अपने पैरसे पृथ्वीका स्पर्श किया ॥ ३६ ॥

मेदिन्यां कम्प्यमानायां दैत्येन्द्रेण महात्मना ।
महीधरेभ्यो नागेन्द्रा निपेतुर्भयविक्लवाः ॥ ३७ ॥

उस महाकाय दैत्यराजके द्वारा जब बारंबार पृथ्वी कँपायी जाने लगी, तब भयसे व्याकुल हुए बहुत-से नागराज पर्वतोंसे न चे गिरने लगे ॥ ३७ ॥

विषज्वालाकुलैर्वक्त्रैर्विमुञ्चन्तो हुताशनम् ।
चतुःशीर्षाः पञ्चशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च पन्नगाः ॥ ३८ ॥

वे विषकी ज्वालासे व्याप्त हुए मुखोंद्वारा आग उगल रहे थे। उनमेंसे किन्हींके चार, किन्हींके पाँच और किन्हींके सात फन थे ॥ ३८ ॥

वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनंजयौ ।
एलापत्रश्च कालीयो महापद्मश्च वीर्यवान् ।
सहस्रशीर्षधृङ्नागो हेमतालध्वजः प्रभुः ॥ ३९ ॥
शेषोऽनन्तो महीपालो दुष्प्रकम्पः प्रकम्पितः ।

वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, एलापत्र, कालिय, पराक्रमी महापद्म तथा सहस्र फन धारण करनेवाले, सुवर्णमय तालध्वजसे सुशोभित, सर्वसमर्थ पृथ्वीपालक भगवान् अनन्त शेषनाग भी, जिन्हें कँपाना बहुत ही कठिन था, कम्पित हो उठे ॥ ३९½ ॥

दीप्तान्यन्तर्जलस्थानि पृथिवीधरणानि च ॥ ४० ॥
तदा क्रुद्धेन दैत्येन कम्पितानि समन्ततः ।

जलके भीतर रहनेवाले जो तेजस्वी भूधर (दिग्गज आदि) थे, उन्हें भी उस समय कुपित हुए उस दैत्यने सब ओरसे कम्पित कर दिया ॥ ४०½ ॥

पातालतलचारिण्यो नागतेजोधराः शिवाः ॥ ४१ ॥
आपश्च सहसा क्रुद्धा दुष्प्रकम्प्यरसाः शुभाः ।

पातालतलमें विचरने और नागोंके तेजको धारण करनेवाले कल्याणकारी सुन्दर सुस्वादु जल, जिनके रसको विचलित करना बहुत ही कठिन था, सहसा क्षुब्ध हो गये ॥

नदी भागीरथी चैव सरयूः कौशिकी तथा ॥ ४२ ॥
यमुना चैव कावेरी कृष्णा वेणा तथैव च ।
सुवेणा च महाभागा नदी गोदावरी तथा ॥ ४३ ॥
चर्मण्वती च सिन्धुश्च तथा नदनदीपतिः ।
मेकलप्रभवश्चैव शोणो मणिनिभोदकः ॥ ४४ ॥
सुस्रोता नर्मदा चैव तथा वेत्रवती नदी ।
गोमती गोकुलाकीर्णा तथापूर्णा सरस्वती ॥ ४५ ॥
मही कालनदी चैव तमसा पुण्यवाहिनी ।
सीता चेक्षुमती चैव देविका च महानदी ॥ ४६ ॥

भागीरथी नदी, सरयू, कौशिकी (कोशी), यमुना, कावेरी, कृष्णा, वेणा, महाभागा सुवेणा, गोदावरी नदी, चर्मण्वती, सिन्धु, नदों और नदियोंका अधिपति समुद्र, मेकल पर्वतसे प्रकट हुआ और मणिके समान स्वच्छ जलवाला शोणभद्रनद, सुन्दर स्रोतवाली नर्मदा नदी, वेत्रवती नदी, गौओंके समुदायसे व्याप्त गोमती नदी, अपूर्ण जलवाली सरस्वती नदी, मही कालनदी, पवित्र जल बहानेवाली तमसा, सीता, इक्षुमती, देविका और महानदी—इन सबको उस दैत्यने विक्षुब्ध कर दिया।४२—४६।

जम्बूद्वीपं रत्नवन्तं सर्वरत्नोपशोभितम् ।
सुवर्णकूटकं चैव सुवर्णाकरमण्डितम् ॥ ४७ ॥

सम्पूर्ण रत्नोंसे सुशोभित रत्नवान् जम्बूद्वीपको और सोनेकी खानोंसे युक्त स्वर्णकूटक नामक देशको भी उसने कम्पित कर दिया ॥ ४७ ॥

महानदश्च लौहित्यः शैलकाननशोभितः ।
पत्तनं कौशिकारण्यं द्रविडं रजताकरम् ॥ ४८ ॥
मागधांश्च महाग्रामानङ्गान् वङ्गांस्तथैव च ।
सुह्मान् मल्लान् विदेहांश्च मालवान् काशिकोसलान्४९
भवनं वैनतेयस्य सुवर्णस्य च कम्पितम् ।
कैलासशिखराकारं यत् कृतं विश्वकर्मणा ॥ ५० ॥

पर्वतों और काननोंसे सुशोभित लोहित्य नामक महानद, कौशिकारण्य नामक पत्तन (नगर या प्रान्त), चाँदीकी खानोंसे युक्त द्रविड़ देश, बड़े-बड़े ग्रामवाले मगध, अङ्ग, वङ्ग, सुह्म, मल्ल, विदेह, मालव, काशी और कौशल देशोंको तथा जिसे विश्वकर्माने बनाया था और जो कैलास पर्वतके शिखरकी भाँति सुशोभित होता था, गरुड़के उस स्वर्णनिर्मित भवनको भी उस दैत्यने कम्पित कर दिया ॥ ४८—५० ॥

रक्ततोयो भीमवेगो लौहित्यो नाम सागरः ।
शुभः पाण्डुरमेघाभः क्षीरोदश्चैव सागरः ॥ ५१ ॥

जिसका जल लाल तथा वेग भयंकर है, उस लौहित्य नामक सागरको और श्वेत बादलोंके समान सुन्दर एवं स्वच्छ क्षीर-समुद्रको भी उसने विचलित कर दिये ॥ ५१ ॥

उदयश्चैव राजेन्द्र उच्छ्रितः शतयोजनम् ।
सुपर्णवेदिकः श्रीमान् नागपक्षिनिषेवितः ॥ ५२ ॥
भ्राजमानोऽर्कसदृशैर्जातरूपमयैर्द्रुमैः ।
शालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकाभिश्च पुष्पितैः ॥ ५३ ॥

राजेन्द्र ! उदयगिरि सौ योजन ऊँचा है, उसपर सोनेकी वेदियाँ बनी हुई हैं, वह शोभाशाली पर्वत नागों और पक्षियोंसे सेवित है। सूर्यके सदृश तेजस्वी स्वर्णमय वृक्ष साल, ताल, तमाल आदि जो फूलोंके भारसे लदे रहते हैं, उदयगिरिकी शोभा बढ़ाते हैं। कर्णिकाएँ भी उस पर्वतकी श्रीवृद्धि करती हैं (ऐसा उदयाचल भी उस दैत्यके पैरोंकी धमकसे कम्पित हो गया) ॥ ५२-५३ ॥

अयोमुखश्च विपुलः सर्वतो धातुमण्डितः ।
तमालवनगन्धश्च पर्वतो मलयः शुभः ॥ ५४ ॥

सब ओरसे धातुओंद्वारा अलंकृत विशाल अयोमुख पर्वत तथा तमाल वन और चन्दनकी सुगन्धसे भरा हुआ सुन्दर मलयगिरि भी उस समय विचलित हो उठा ॥ ५४ ॥

सुराष्ट्राश्च सुबाह्लीकाः शूराभीरास्तथैव च ।
भोजाः पाण्ड्याश्च वङ्गाश्च कलिङ्गास्ताम्रलिप्तकाः ॥५५॥
तथैवान्ध्राश्च पुण्ड्राश्च वामचूडाः सकेरलाः ।
क्षोभितास्तेन दैत्येन सदेवाः साप्सरोगणाः ॥ ५६ ॥

सुराष्ट्र, सुबाह्लीक, शूर, आभीर, भोज, पाण्ड्य, वङ्ग, कलिङ्ग, ताम्रलिप्त, आन्ध्र, पुण्ड्र, वामचूड और केरल नामक देशोंको तथा वहाँके देवताओं और अप्सराओंको भी उस दैत्यने क्षोभमें डाल दिया ॥ ५५-५६ ॥

अगस्तिभुवनं चैव यदगम्यं पुरा कृतम् ।
सिद्धचारणसङ्घैश्च सेवितं सुमनोहरम् ॥ ५७ ॥
विचित्रनागविहगं सुपुष्पितलताद्रुमम् ।
जातरूपमयैः शृङ्गैरप्सरोगणसेवितम् ॥ ५८ ॥

सिद्धों और चारणोंके समुदायोंसे सेवित महर्षि अगस्त्यका निवासभूत 'अगस्तिभुवन' नामक पर्वत, जिसे पूर्वकालमें दूसरोंके लिये अगम्य बना दिया गया था, बहुत ही मनोहर है। वहाँके नाग और पक्षी विचित्र हैं, लताएँ और वृक्ष फूलों-के भारसे लदे रहते हैं। वह स्वर्णमय शिखरोंसे सुशोभित तथा अप्सराओंके समूहसे सेवित है (किंतु उसे भी उस दैत्यने क्षुब्ध कर दिया) ॥ ५७ ५८ ॥

गिरिः पुष्पितकश्चैव लक्ष्मीवान् प्रियदर्शनः ।
उत्थितः सागरं भित्त्वा वयस्यश्चन्द्रसूर्ययोः ॥ ५९ ॥
रराज सुमहाशृङ्गैर्गगनं विलिखन्निव ।
सूर्यचन्द्रांशुसंकाशैः सागराम्बुसमावृतः ॥ ६० ॥

पुष्पितक नामक पर्वत उत्तम शोभासे सम्पन्न और देखनेमें प्रिय है। वह समुद्रका भेदन करके ऊपरको उठा हुआ है। वह अपने शिखरोंपर चन्द्रमा और सूर्यको विश्राम देता है, इसलिये उनका प्रिय सखा है। सूर्य और चन्द्रमाकी किरणोंके समान प्रकाशमान अपने बड़े-बड़े शृङ्गोंद्वारा वह आकाशमें रेखा खींचता हुआ-सा सुशोभित होता है। उसका

निम्नभाग सब ओरसे समुद्रके जलसे आच्छादित है (वह पर्वत भी उस दैत्यके पैरोंकी धमकसे कम्पित हो उठा था)॥ ५९-६० ॥

विद्युत्वान् पर्वतः श्रीमानायतः शतयोजनम् ।
विद्युतां यत्र सम्पाता निपात्यन्ते नगोत्तमे ॥ ६१ ॥
ऋषभः पर्वतश्चैव श्रीमानृषभसंस्थितः ।
कुञ्जरः पर्वतश्चैव यत्रागस्त्यगृहं महत् ॥ ६२ ॥
विशाखरथ्या दुर्धर्षा सर्पाणामालया पुरी ।
तथा भोगवती चापि दैत्येन्द्रेणाभिकम्पिता ॥ ६३ ॥

शोभाशाली विद्युत्वान् नामक पर्वत सौ योजन लंबा है। उस श्रेष्ठ पर्वतपर विद्युत्पात होते रहते हैं। उसके सिवा, वृषभके आकारमें स्थित ऋषभ पर्वत, जहाँ अगस्त्यजीका विशाल भवन है वह कुञ्जर पर्वत, सर्पोंका निवासस्थान दुर्जय विशाखरथ्या नामक पुरी तथा भोगवतीपुरीको भी उस दैत्यराजने कम्पित कर दिया ॥ ६१–६३ ॥

महामेघगिरिश्चैव पारियात्रश्च पर्वतः ।
चक्रवांस्तु गिरिः श्रेष्ठो वाराहश्चैव पर्वतः ॥ ६४ ॥
प्राग्ज्योतिषपुरं चैव जातरूपमयं शुभम् ।
यस्मिन् वसति दुष्टात्मा नरको नाम दानवः ॥ ६५ ॥
मेरुश्च पर्वतश्रेष्ठो मेघगम्भीरनिःस्वनः ।
षष्टिं तत्र सहस्राणि पर्वतानां विशाम्पते ॥ ६६ ॥

प्रजानाथ ! महामेघगिरि, पारियात्र पर्वत, श्रेष्ठ चक्रवान् गिरि, वाराह पर्वत, स्वर्णमय सुन्दर प्राग्ज्योतिषपुर जिसमें नरक नामक दुष्टात्मा दानव निवास करता था, मेघकी गम्भीर गर्जनासे युक्त पर्वतश्रेष्ठ मेरु, जहाँ साठ हजार पर्वतोका निवास है; इन सबको उस दैत्यने विचलित कर दिया ॥

तरुणादित्यसंकाशो महेन्द्रश्च महागिरिः ।
देवावासः शुभः पुण्यो गिरिराजो दिवं गतः ॥ ६७ ॥

बाल-सूर्यके समान अरुण कान्तिसे प्रकाशित महागिरि महेन्द्र जो देवताओंका सुन्दर निवास-स्थान है, वह पवित्र गिरिराज स्वर्गलोकतक पहुँचा हुआ है (वह भी उस दैत्यसे कम्पित हो गया ।) ॥ ६७ ॥

हेमशृङ्गो महाशैलस्तथा मेघसखो गिरिः ।
कैलासश्चापि दुष्कम्पो दानवेन्द्रेण कम्पितः ॥ ६८ ॥

महाशैल हेमशृङ्ग, मेघसख नामक पर्वत तथा जिसको कम्पित करना कठिन है वह कैलास भी उस दानवराजके पैरोंकी धमकसे काँप उठा ॥ ६८ ॥

यक्षराक्षसगन्धर्वैर्नित्यं सेवितकन्दरः ।
श्रीमान् मनोहरश्चैव नित्यं पुष्पितपादपः ॥ ६९ ॥

कैलास वह पर्वत है जिसकी कन्दराओंका यक्ष, राक्षस और गन्धर्व सदा ही सेवन करते हैं, उसके वृक्ष सदा खिले रहते हैं, वह सुन्दर शोभासे सम्पन्न और मनोहर है ॥६९॥

हेमपुष्करसंछन्नं तेन वैखानसं सरः ।
कम्पितं मानसं चैव राजहंसैर्निषेवितम् ॥ ७० ॥

स्वर्णमय कमलोंसे आच्छादित वैखानस सरोवर तथा राजहंसोंसे सेवित मानस सरोवरको भी उसने क्षुब्ध कर दिया था ॥ ७० ॥

त्रिशृङ्गः पर्वतश्चैव कुमारी च सरिद्वरा ।
तुषारचयसंकाशो मन्दरश्चैव पर्वतः ॥ ७१ ॥
उशीरबीजश्च गिरी रुद्रोपस्थस्तथाद्रिराट् ।
प्रजापतेश्च निलयस्तथा पुष्करपर्वतः ॥ ७२ ॥

त्रिशृङ्ग पर्वत, सरिताओंमें श्रेष्ठ कुमारी नदी, हिमकी राशि-सदृश मन्दराचल, उशीरबीज नामक पर्वत, गिरिराज रुद्रोपस्थ तथा प्रजापतिका निवासस्थान पुष्कर पर्वत—इन सबको उस दैत्यने कम्पित कर दिया था ॥ ७१-७२ ॥

देवावृत् पर्वतश्चैव तथा वै वालुको गिरिः ।
क्रौञ्चः सप्तर्षिशैलश्च धूमवर्णश्च पर्वतः ॥ ७३ ॥
एते चान्ये च गिरयो देशा जनपदास्तथा ।
नद्यश्च सागराश्चैव दानवेन्द्रेण कम्पिताः ॥ ७४ ॥

देवावृत् पर्वत, वालुकगिरि, क्रौञ्च गिरि, सप्तर्षिशैल तथा धूम्रवर्ण पर्वत—ये और दूसरे भी बहुत-से पर्वत, देश, जनपद, नदी और समुद्र उस दानवेन्द्रने कम्पित कर दिये ॥

कपिलश्च महीपुत्रो व्याघ्राक्षः क्षितिकम्पनः ।
खेचराश्च निशापुत्राः पातालतलवासिनः ॥ ७५ ॥
गणस्तथापरो रौद्रो मेघनादोऽङ्कुशायुधः ।
ऊर्ध्वगो भीमवेगश्च सर्व एवाभिकम्पिताः ॥ ७६ ॥

इतना ही नहीं, आकाशमें विचरनेकी शक्ति रखनेवाले जो पातालनिवासी निशाचरवंशज थे, वे महीपुत्र कपिल, व्याघ्राक्ष, क्षितिकम्पन तथा अन्य भयंकर असुरगण—मेघनाद, अङ्कुशायुध, ऊर्ध्वग और भीमवेग आदि भी—सब-के-सब कम्पित हो उठे ॥ ७५-७६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि नारसिंहे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें नृसिंहावतारविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

देवताओंके अनुरोधसे भगवान् नरसिंहद्वारा हिरण्यकशिपुका वध तथा देवताओं और ब्रह्माजीद्वारा उनकी स्तुति

वैशम्पायन उवाच

तत्रादित्याश्च साध्याश्च विश्वे च मरुतस्तथा।
रुद्रा देवा महात्मानो वसवश्च महाबलाः॥ १॥
आगम्य ते मृगेन्द्रस्य सकाशं सूर्यवर्चसः।
ऊचुः संत्रस्तमनसो देवा लोकक्षयार्दिताः॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! लोक-संहारकी आशङ्कासे पीड़ित और भयभीत चित्तवाले सूर्यतुल्य तेजस्वी देवता—आदित्य, साध्य, विश्वेदेव, मरुद्गण, महात्मा रुद्रगण तथा महाबली वसुगण वहाँ भगवान् नरसिंहके निकट आकर इस प्रकार बोले—॥ १-२॥

जहि देव दितेः पुत्रं दानवं लोकनाशनम्।
दुर्वृत्तमसदाचारं सह सर्वैर्महासुरैः॥ ३॥

'देव! आप सम्पूर्ण जगत्का विनाश करनेवाले, दुर्वृत्त, दुराचारी दानव दितिपुत्र हिरण्यकशिपुका समस्त बड़े-बड़े असुरोंसहित वध कर डालिये॥ ३॥

त्वं ह्येषामन्तकृन्नान्यो दैत्यानां दैत्यनाशन।
तन्नाशय हितार्थाय लोकानां स्वस्ति वै कुरु॥ ४॥

'दैत्यनाशन! आप ही इन दैत्योंका अन्त कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं। अतः आप संसारके हितके लिये इन दैत्योंका नाश और सब लोगोंका कल्याण कीजिये॥ ४॥

त्वं गुरुः सर्वलोकानां त्वमिन्द्रस्त्वं पितामहः।
ऋते त्वदन्यच्छरणं न भूतं न भविष्यति॥ ५॥

'आप ही समस्त लोकोंके गुरु, इन्द्र और पितामह हैं, आपके सिवा दूसरा कोई न तो इस जगत्के लिये शरणदाता हुआ है और न होगा ही'॥ ५॥

तच्छ्रुत्वा वचनं देवो देवानामादिसम्भवः।
ननाद सुमहानादमतिगम्भीरनिःस्वनम्॥ ६॥

देवताओंका यह वचन सुनकर सबके आदिकारण भगवान् नरसिंहने अत्यन्त गम्भीर स्वरमें बड़े जोरसे गर्जना की॥ ६॥

पाटितान्यसुरेन्द्राणां मृगेन्द्रेण महात्मना।
सिंहनादेन महता हृदयानि मनांसि च॥ ७॥

उन महात्मा मृगेन्द्रने अपने महान् सिंहनादसे समस्त असुरेन्द्रोंके हृदय विदीर्ण कर दिये। मनमें क्षोभ उत्पन्न कर दिये॥ ७॥

गणः क्रोधवशो नाम कालकेयस्तथा परः।
वेगश्च वैगलेयश्च सैंहिकेयश्च वीर्यवान्॥ ८॥
संह्रादीयो महानादो महावेगस्तथा परः।
कपिलश्च महीपुत्रो व्याघ्राक्षः क्षितिकम्पनः॥ ९॥
खेचराश्च निशापुत्राः पातालतलचारिणः।
गणस्तथापरो रौद्रो मेघनादोऽङ्कुशायुधः॥ १०॥
ऊर्ध्वगो भीमवेगश्च भीमकर्मार्कलोचनः।
वज्री शूली करालश्च हिरण्यकशिपुस्ततः॥ ११॥
जीमूतघनसंकाशो जीमूत इव वेगवान्।
जीमूतघनसंनादो जीमूतसदृशद्युतिः॥ १२॥
देवारिर्दितिजो दृप्तो नृसिंहं समुपाद्रवत्॥ १३॥

दैत्योंका क्रोधवश नामक गण, दूसरा कालकेय नामक गण, वेग, वैगलेय, पराक्रमी सैंहिकेय (सिंहिकापुत्र राहु), संह्रादीय, महानाद, महावेग, महीपुत्र कपिल, व्याघ्राक्ष, क्षितिकम्पन आदि आकाश और पातालमें विचरनेवाले निशाचरवंशज तथा अन्य भयंकर दैत्यगण—मेघनाद, अङ्कुशायुध, ऊर्ध्वग, भीमवेग, भीमकर्मा, अर्कलोचन, वज्री, शूली और कराल—इन सबके साथ मेघके समान रूपवान्, मेघतुल्य वेगवान्, मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाला तथा मेघके ही सदृश कान्तिमान् बलाभिमानी देवद्रोही दैत्य हिरण्यकशिपुने भगवान् नरसिंहपर धावा किया॥ ८—१३॥

समुत्पत्य ततस्तीक्ष्णैर्मृगेन्द्रेण महानखैः।
तथोङ्कारसहायेन विदार्य निहतो युधि॥ १४॥

तब युद्धस्थलमें ॐकारसहित भगवान् नरसिंहने उछलकर अपने तीखे और बड़े-बड़े नखोंद्वारा उस असुरका वक्षःस्थल विदीर्ण करके उसे मार डाला॥ १४॥

मही च लोकश्च शशी नभश्च
ग्रहाश्च सूर्यश्च दिशश्च सर्वाः।
नद्यश्च शैलाश्च महार्णवाश्च
गताः प्रकाशं दितिपुत्रनाशात्॥ १५॥

उस दैत्यके विनाशसे पृथ्वी, लोक, चन्द्रमा, आकाश, ग्रह, सूर्य, समस्त दिशाएँ, नदी, पर्वत और महासागर—इन सबमें प्रकाश (उल्लास) छा गया॥ १५॥

ततः प्रमुदिता देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
तुष्टुवुर्विविधैः स्तोत्रैरादिदेवं सनातनम्॥ १६॥

तब आनन्दमग्न हुए देवता तथा तपोधन ऋषि नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा सनातन आदिदेव भगवान् नरसिंहकी स्तुति करने लगे॥ १६॥

देवा ऊचुः

यत् त्वया विहितं देव नारसिंहमिदं वपुः।
एतदेवार्चयिष्यन्ति परावरविदो जनाः॥ १७॥

देवता बोले—देव! आपने जो यह नरसिंह रूप धारण किया है, कार्य और कारण अथवा भूत और वर्तमान-

को जाननेवाले विद्वान् पुरुष आपके इसी स्वरूपकी आराधना करेंगे ॥ १७ ॥

मृगेन्द्रत्वं च लोकेषु सर्वसत्त्वेषु वा विभो ।
गायन्ति त्वां च मुनयो मृगेन्द्र इति नित्यशः ।
त्वत्प्रसादात् स्वकं स्थानं प्रतिपन्नाः स्म वै विभो॥ १८ ॥

प्रभो ! सम्पूर्ण लोकों अथवा समस्त प्राणियोंमें आपका यह मृगेन्द्ररूप विख्यात होगा। मुनि भी सदा 'मृगेन्द्र' कहकर आपके गुणोंका गान करेंगे । प्रभो ! आपकी कृपासे हमें अपना खोया हुआ स्थान पुनः प्राप्त हो गया ॥ १८ ॥

एवमुक्तो देवसंघैर्नरसिंहो महामनाः ।
ब्रह्मा च परमप्रीतो विष्णोः स्तोत्रमुदैरयत् ॥ १९ ॥

देव-समुदायके ऐसा कहनेपर महामनस्वी भगवान् नरसिंह बड़े प्रसन्न हुए। तत्पश्चात् ब्रह्माजीने भी बड़े हर्षके साथ भगवान् विष्णुकी स्तुति की ॥ १९ ॥

ब्रह्मोवाच

भवानक्षरमव्यक्तमचिन्त्यं गुह्यमुत्तमम् ।
कूटस्थमकृतं कर्तृ सनातनमनामयम् ॥ २० ॥

ब्रह्मा बोले—भगवन् ! आप अविनाशी, अव्यक्त, अचिन्त्य, गोपनीय परमतत्त्व और कूटस्थ हैं। आपका कोई कर्त्ता नहीं है। आप स्वयं सबके कर्त्ता हैं, आप ही रोग-शोकसे रहित सनातन ब्रह्म हैं ॥ २० ॥

सांख्ययोगे च या बुद्धिस्तत्त्वार्थपरिनिष्ठिता ।
तां भवान् वेद विद्यात्मा पुरुषः शाश्वतो ध्रुवः॥ २१ ॥

सांख्ययोगमें जो तत्त्वार्थनिष्ठ बुद्धि है, उसे आप जानते हैं। आप ज्ञानस्वरूप अन्तर्यामी सनातन एवं ध्रुव परमात्मा हैं ॥

त्वं व्यक्तश्च तथाव्यक्तस्त्वत्तः सर्वमिदं जगत् ।
भवन्मया वयं देव भवानात्मा भवान् प्रभुः ॥ २२ ॥

आप ही व्यक्त जगत् और अव्यक्त कारण हैं। आपहीसे इस सम्पूर्ण जगत्का प्रादुर्भाव हुआ है। देव ! हम आपके ही स्वरूप हैं। आप ही हमारे आत्मा और आप ही प्रभु हैं ॥ २२ ॥

चतुर्विभक्तमूर्तिस्त्वं सर्वलोकविभुर्गुरुः ।
चतुर्युगसहस्रेण सर्वलोकान्तकान्तकः ॥ २३ ॥

आपकी मूर्ति विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय—इन चार भेदोंसे विभक्त है। आप समस्त जगत्में व्यापक एवं सबके गुरु हैं। एक सहस्र चतुर्युग व्यतीत होनेपर आप ही समस्त लोकोंका अन्त करनेवाले कल्पान्तकारी काल बन जाते हैं ॥

प्रतिष्ठा सर्वभूतानामनन्तबलपौरुषः ।
कपिलप्रभृतीनां च यतीनां परमा गतिः ॥ २४ ॥

आप ही सम्पूर्ण भूतोंकी प्रतिष्ठा (आधार) हैं। आपके बल और पौरुष अनन्त हैं। कपिल आदि यतियों (सांख्ययोगियों) की परम गति आप ही हैं ॥ २४ ॥

अनादिमध्यनिधनः सर्वात्मा पुरुषोत्तमः ।
स्रष्टा त्वं त्वं च संहर्ता त्वमेको लोकभावनः ॥ २५ ॥

आप आदि, मध्य और अन्तसे रहित सर्वात्मा पुरुषोत्तम हैं। एकमात्र आप ही सृष्टि, संहार तथा सम्पूर्ण जगत्का पालन करनेवाले हैं ॥ २५ ॥

भवान् ब्रह्मा च रुद्रश्च महेन्द्रो वरुणो यमः ।
भवान् कर्ता विकर्ता च लोकानां प्रभुरव्ययः ॥ २६ ॥

आप ही ब्रह्मा, रुद्र, महेन्द्र, वरुण और यम हैं, आप ही कर्त्ता तथा विकर्त्ता हैं। समस्त लोकोंके अविनाशी प्रभु भी आप ही हैं ॥ २६ ॥

परां च सिद्धिं परमं च देवं
परं च मन्त्रं परमं मनश्च ।
परं च धर्मं परमं यशश्च
त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥ २७ ॥

विद्वान् पुरुष आपको ही परम सिद्धि, परम देवता, परम मन्त्र, परम मन, परम धर्म, परम यश तथा सर्वश्रेष्ठ पुराण-पुरुष कहते हैं ॥ २७ ॥

परं च सत्यं परमं हविश्च
परं पवित्रं परमं च मार्गम् ।
परं च होत्रं परमं च यज्ञं
त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥ २८ ॥

ज्ञानीजन आपको ही परम सत्य, उत्कृष्ट हविष्य, परम पवित्र सर्वोत्तम मार्ग (गन्तव्यपद), उत्तम अग्निहोत्र, परम यज्ञ तथा सर्वश्रेष्ठ पुराण-पुरुष कहते हैं ॥ २८ ॥

परं शरीरं परमं च धाम
परं च योगं परमां च वाणीम् ।
परं रहस्यं परमां गतिं च
त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥ २९ ॥

विद्वानोंका कथन है कि आप ही उत्तम शरीर, परम धाम, परम योग, सर्वोत्तम वाणी, परम रहस्य, परम गति तथा सर्वश्रेष्ठ पुराण-पुरुष हैं ॥ २९ ॥

परं परस्यापि परं च यत् परं
परं परस्यापि परं च देवम् ।
परं परस्यापि परं प्रभुं च
त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥ ३० ॥

परसे भी पर जो परात्पर-तत्त्व है, परसे भी पर जो परम देवता है तथा परसे भी पर जो परम प्रभु है, वह आप ही हैं। आपहीको ज्ञानी पुरुष सर्वश्रेष्ठ पुराण-पुरुष कहते हैं ॥

परं परस्यापि परं प्रधानं
परं परस्यापि परं च तत्त्वम् ।
परं परस्यापि परं च धाता
त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥ ३१ ॥

परसे भी पर जो परम प्रधान है, परसे भी पर जो परम तत्त्व है तथा परसे भी पर जो परम धाता है, वह आप ही

हैं। विद्वान् पुरुष आपको ही सर्वश्रेष्ठ पुराणपुरुष कहते हैं ॥ ३१ ॥

परं परस्यापि परं रहस्यं
परं परस्यापि परं परं यत्।
परं परस्यापि परं तपो यत्
त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥ ३२ ॥

परसे भी पर जो परम रहस्य है, परसे भी पर जो परात्पर तत्त्व है तथा जो परसे भी पर परम तप है, वह आप ही हैं। आपको ही ऋषि-मुनि श्रेष्ठ पुराण-पुरुष कहते हैं ॥ ३२ ॥

परं परस्यापि परं परायणं
परं च गुह्यं च परं च धाम।
परं च योगं परमं प्रभुत्वं
त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥ ३३ ॥

परसे भी पर जो परम परायण (उत्कृष्ट आश्रयदाता) है, वह आप ही हैं। ज्ञानीजन आपको ही परम गुह्य, परम धाम, परम योग, परम प्रभुत्व तथा श्रेष्ठ पुराण-पुरुष कहते हैं ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् सर्वलोकपितामहः।
स्तुत्वा नारायणं देवं ब्रह्मलोकं गतः प्रभुः ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर तथा नारायणदेवकी स्तुति करके सर्वलोकपितामह सर्वसमर्थ भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मलोकको चले गये ॥ ३४ ॥

ततो नदत्सु तूर्येषु नृत्यन्तीष्वप्सरःसु च।
क्षीरोदस्योत्तरं कूलं जगाम प्रभुरीश्वरः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर बाजे बजने लगे और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। उस समय सबके स्वामी भगवान् श्रीहरि क्षीरसागरके उत्तर तटपर चले गये ॥ ३५ ॥

नारसिंहीं तनुं त्यक्त्वा स्थापयित्वा च तद्वपुः।
पौराणं रूपमास्थाय ययौ स गरुडध्वजः ॥ ३६ ॥

नरसिंहरूपको त्यागकर उसकी प्रतिमा स्थापित करके भगवान् गरुडध्वज पुराण-प्रसिद्ध चतुर्भुजरूपका आश्रय ले अपने धामको चले गये ॥ ३६ ॥

अष्टचक्रेण यानेन भूतियुक्तेन शोभिना।
अव्यक्तप्रकृतिर्देवः स्वस्थानमगमत् प्रभुः ॥ ३७ ॥

सर्वसमर्थ भगवान् श्रीहरि अव्यक्त प्रकृतिवाले हैं। वे पञ्चभूतनिर्मित अथवा ऐश्वर्ययुक्त आठ चक्रवाले शोभाशाली रथसे अपने स्थानको पधारे ॥ ३७ ॥

एवं महात्मना तेन नृसिंहवपुषा तथा।
देवेन निहतः पूर्वं हिरण्यकशिपुश्च सः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार उस समय नरसिंहरूपधारी उन परमात्मा भगवान् विष्णुने पूर्वकालमें हिरण्यकशिपुका वध किया था ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि नारसिंहप्रादुर्भावे हिरण्यकशिपुवधकथने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें नृसिंहावतारके प्रसङ्गमें हिरण्यकशिपुके वधका वर्णनविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

वामनावतारका उपक्रम, बलिका अभिषेक तथा दैत्योंका उनसे त्रैलोक्यविजयके लिये अनुरोध

वैशम्पायन उवाच

नृसिंह एष कथितो भूयोऽयं वामनोऽपरः।
यत्र वामनमास्थाय रूपं रूपविदां वरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह नृसिंहावतारकी कथा कही गयी। अब दूसरे वामन-अवतारका वर्णन किया जाता है। इस अवतारमें रूपवेत्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीहरिने वामन रूप धारण करके देवताओंका कार्य सिद्ध किया था ॥ १ ॥

बलेर्बलवतो यज्ञे बलिना विष्णुना पुरा।
विक्रमैस्त्रिभिराक्रम्य त्रैलोक्यमखिलं हृतम् ॥ २ ॥

पूर्वकालमें सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णु (वामनरूप धारण करके) बलवान् बलिके यज्ञमें गये। वहाँ उन्होंने अपने तीन ही पगोंसे नापकर सारी त्रिलोकीका राज्य हर लिया ॥ २ ॥

समुद्रवसना चोर्वी नानानगविभूषिता।
हृत्वा दत्ता सुरेन्द्राय शक्राय प्रभविष्णुना ॥ ३ ॥

प्रभावशाली श्रीहरिने नाना प्रकारके पर्वतोंसे विभूषित तथा समुद्ररूपी वस्त्रसे आच्छादित यह पृथ्वी बलिसे लेकर देवराज इन्द्रको दे दी ॥ ३ ॥

जनमेजय उवाच

अत्र मे संशयो ब्रह्मन्नत्र कौतूहलं महत्।
कथं नारायणो देवो वामनत्वमुपागतः ॥ ४ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! इस विषयमें मुझे संदेह है, साथ ही महान् कौतूहल भी है। भगवान् नारायणदेव वामन कैसे हो गये ? ॥ ४ ॥

यः पुराणे पुराणात्मा भूत्वा नारायणः प्रभुः।
पद्मनाभो महाबाहुर्लोकानां प्रकृतिर्ध्रुवः ॥ ५ ॥

अनादिमध्यनिधनस्त्रैलोक्यादिः सनातनः ।
देवदेवः सुराध्यक्षः कृष्णो लोकनमस्कृतः ॥ ६ ॥
हव्यकव्यवहः श्रीमान् हव्यकव्यभुगव्ययः ।
अदित्या देवमातुश्च कथं गर्भेऽभवत् प्रभुः ।
स्रष्टा यो वासवस्यापि स कथं वासवानुजः ॥ ७ ॥
प्रसूतो देवदेवेशो विष्णुत्वं प्राप्तवान् कथम् ।
एतदाचक्ष्व मे विप्र प्रादुर्भावं महात्मनः ॥ ८ ॥

जिन्हें पुराणमे पुराणात्मा (पुरातन पुरुष एवं अन्तर्यामी आत्मा) कहा गया है, जो सर्वसमर्थ होकर एकार्णवके जलमें नारायणके रूपमें शयन करते हैं, जिनकी नाभिसे ब्रह्माण्ड-कमल प्रकट हुआ, जो समस्त लोकोंकी प्रकृति (उपादानकारण) हैं, जिन्हें ध्रुव (नित्य) कहा गया है, जो आदि, मध्य और अन्तसे रहित हैं, तीनों लोकोंके आदिकारण हैं, सनातन, देवाधिदेव और सुराध्यक्ष हैं, सच्चिदानन्दस्वरूप और विश्ववन्दित हैं, हव्य और कव्यको वहन करनेवाले, श्रीसम्पन्न, यज्ञ और श्राद्धके भोक्ता तथा अविनाशी परमात्मा हैं, वे सर्वव्यापी भगवान् विष्णु देवमाता अदितिके गर्भमें कैसे आये ? तथा जो इन्द्रके भी स्रष्टा हैं, वे इन्द्रके छोटे भाई कैसे हुए ? यदि वे देवदेवेश्वर अदितिके गर्भसे उत्पन्न हो ही गये, तब उन वामनदेवको विष्णुत्व (व्यापकत्व) कैसे प्राप्त हुआ ? मेरे इस प्रश्नका उत्तर देते हुए आप परमात्मा नारायणदेवके वामनावतारकी कथा मुझसे कहिये ॥ ५—८ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् कथां दिव्यामर्चितामृषिपुङ्गवैः ।
पुराणैः कविभिः प्रोक्तां ब्रह्मोक्तां ब्राह्मणेरिताम् ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! यह दिव्य कथा बड़े-बड़े ऋषियोंद्वारा पूजित है । पुराणों तथा त्रिकालदर्शी विद्वानोंद्वारा वर्णित है । वेदमन्त्रोंद्वारा प्रतिपादित तथा ब्राह्मणोंद्वारा कथित है । तुम ध्यान देकर इसे सुनो ॥ ९ ॥

मारीचस्य सुरेशस्य कश्यपस्य प्रजापतेः ।
अदितिर्दितिर्द्वे भार्ये भगिन्यौ जनमेजय ॥ १० ॥

जनमेजय ! मरीचि-पुत्र देवेश्वर प्रजापति कश्यपकी भार्याओंमेसे दो प्रधान थीं—अदिति और दिति । वे दोनों आपसमें सगी बहनें थीं ॥ १० ॥

अदित्यां जज्ञिरे देवाः कश्यपस्य महात्मनः ।
धातार्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशो भगस्तथा ॥ ११ ॥
इन्द्रो विवस्वान् पूषा च पर्जन्यो दशमस्तथा ।
तथैकादशमस्त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते ॥ १२ ॥

अदितिके गर्भसे महात्मा कश्यपसे देवता उत्पन्न हुए । धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, दसवें पर्जन्य, ग्यारहवें त्वष्टा और बारहवें विष्णु कहे गये हैं ॥ ११-१२ ॥

दित्यां जातो हि बलवान् हिरण्यकशिपुः प्रभुः ।
तस्यानुजश्च दैत्येन्द्रो हिरण्याक्षः प्रतापवान् ॥ १३ ॥

दितिके गर्भसे बलवान् एवं सामर्थ्यशाली हिरण्यकशिपु तथा उसका छोटा भाई प्रतापी दैत्यराज हिरण्याक्ष—ये दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १३ ॥

हिरण्यकशिपोः पुत्राः पञ्च घोरपराक्रमाः ।
प्रह्रादश्चैव संह्रादस्तथानुह्राद एव च ।
ह्रदश्चैव तु विक्रान्तः पञ्चमोऽनुह्रदस्तथा ॥ १४ ॥

हिरण्यकशिपुके पाँच पुत्र हुए, जो भयंकर पराक्रमी थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—प्रह्राद, अनुह्राद, सह्राद, पराक्रमी ह्रद और पाँचवाँ अनुह्रद ॥ १४ ॥

विरोचनश्च प्राह्लादिस्तस्य पुत्रो बलिः स्मृतः ।
पुत्रपौत्रं च बलवत् तेषामक्षयमव्ययम् ॥ १५ ॥

प्रह्लादका पुत्र विरोचन और विरोचनका पुत्र बलि हुआ । उन सबके पुत्र-पौत्र बड़े बलवान्, अक्षय और अविनाशी परम्परावाले थे ॥ १५ ॥

तेजस्विनां सुरारीणां दैत्येन्द्राणां मनस्विनाम् ।
गणाः सुबहुशो राजन् देशे देशे सहस्रशः ॥ १६ ॥

राजन् ! उन तेजस्वी और मनस्वी देवद्रोही दैत्यराजोंके सहस्रों समुदाय देश-देशमें विद्यमान हैं ॥ १६ ॥

ते दृष्ट्वा नारसिंहेन हिरण्यकशिपुं हतम् ।
दैत्या देववधार्थाय बलिमिन्द्रं प्रचक्रिरे ॥ १७ ॥

भगवान् नृसिंहने हिरण्यकशिपुका वध कर दिया, यह देख दैत्योंने देवताओंका वध करनेके लिये राजा बलिको अपना इन्द्र बनाया ॥ १७ ॥

दृष्ट्वा धर्मपरं नित्यं सत्यवाक्यं जितेन्द्रियम् ।
शौर्याध्ययनसम्पन्नं सर्वज्ञानविशारदम् ॥ १८ ॥
परावरगृहीतार्थं तत्त्वदर्शिनमव्ययम् ।
तेजस्विनं सुररिपुं हिरण्यकशिपुं यथा ॥ १९ ॥
अभिषेकेण दिव्येन बलिं वैरोचनिं तथा ।
दैत्याधिपत्ये दितिजास्तदा सर्वेऽभ्यपूजयन् ॥ २० ॥

बलि सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, शौर्य और स्वाध्यायसे सम्पन्न, सर्वज्ञानविशारद, परावर-तत्त्वके ज्ञाता, तत्त्वदर्शी, अविनाशी, तेजस्वी तथा हिरण्यकशिपुके समान ही शक्तिशाली दैत्य थे, उनके इन गुणोंको देखकर उस समय समस्त दैत्योंने विरोचनकुमार बलिको दिव्य अभिषेकके द्वारा दैत्येन्द्रपदपर प्रतिष्ठित करके उनका पूजन किया ॥ १८-२० ॥

अभिषिक्तस्तदा दैत्यैर्बलिर्बलवतां वरः ।
ब्रह्मणा चैव तुष्टेन हिरण्यकशिपोः पदे ॥ २१ ॥
अभिषिक्तोऽसुरगणैर्बलिर्वैरोचनिस्तदा ।
काञ्चनैः कलशैः स्फीतैः सर्वतीर्थाम्बुसंवृतैः ॥ २२ ॥

दैत्योंद्वारा बलवानोंमें श्रेष्ठ बलिका अभिषेक हो जानेपर

संतुष्ट हुए ब्रह्माजीने भी असुरगणोंके साथ समस्त तीर्थोंके जलसे भरे हुए सोनेके बड़े-बड़े कलशोंद्वारा विरोचनकुमार बलिका हिरण्यकशिपुके राज्यपर अभिषेक कर दिया २१-२२

जयशब्दं ततश्चक्रुरभिषिक्तस्य दानवाः ।
बलेरतुलवीर्यस्य सिंहासनगतस्य वै ॥ २३ ॥

अभिषिक्त होकर जब अनुपम पराक्रमी बलि सिंहासनपर आसीन हुए, तब समस्त दानवोंने उनकी जय-जयकार की ॥

कृत्वेन्द्रं दानवाः सर्वे बलिं बलवतां वरम् ।
ततो विज्ञापयामासुः शिरोभिः पतिताः क्षितौ ॥ २४ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ बलिको इन्द्र बनाकर समस्त दानवोंने पृथ्वीपर मस्तक टेककर उन्हें प्रणाम किया और इस प्रकार अपना अभिप्राय निवेदन किया ॥ २४ ॥

दैत्या ऊचुः

विदितं तव दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपोर्यथा ।
त्रैलोक्यमासीदखिलं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ २५ ॥

दैत्य बोले—दैत्यराज ! आपको यह ज्ञात ही होगा कि पहले चराचर प्राणियोंसहित यह सारा त्रिभुवन हिरण्यकशिपुके अधिकारमें था ॥ २५ ॥

पितामहं तु हत्वा ते सुरेश्वरनिषूदन ।
हृतं तदैव त्रैलोक्यं शक्रश्चैवाभिषेचितः ॥ २६ ॥

सुरेश्वरनिषूदन ! देवताओंने आपके पितामहका वध करके तत्काल ही तीनों लोकोंका राज्य हर लिया और इन्द्रको उसपर अभिषिक्त कर दिया ॥ २६ ॥

तत् पितामहराज्यं त्वं प्रत्याहर्तुमिहार्हसि ।
अस्माभिः सहितो नाथ त्रैलोक्यमिदमव्ययम् ॥ २७ ॥
प्रत्यानयस्व भद्रं ते राज्यं पैतामहं प्रभो ॥ २८ ॥

अतः नाथ ! अब आप हमारे साथ चलकर अपने पितामहका राज्य—यह प्रवाहरूपसे सदा बना रहनेवाला त्रिभुवन वापस लौटाइये । प्रभो ! आपका कल्याण हो, आप अपने पितामहके राज्यपर पुनः अधिकार कर लीजिये २७ २८

असुरगणसहस्रसंवृतस्त्वं
जय दिवि देवगणान् महानुभावान् ।
अमितबलपराक्रमोऽसि राज-
न्नतिशयसे स्वगुणैः पितामहं स्वम् ॥ २९ ॥

राजन् ! आप अनन्त बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं तथा अपने गुणोंद्वारा पितामह हिरण्यकशिपुसे भी बढ़ गये हैं; अतः सहस्रों असुरगणोंसे घिरे हुए आप देवलोकमें चलकर महानुभाव देवताओंपर विजय प्राप्त कीजिये ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामने बलेरभिषेके अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसंगमें बलिका अभिषेकविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

देवताओंके साथ युद्धके लिये दैत्योंकी तैयारी

वैशम्पायन उवाच

निशम्य तेषां वचनं महामति-
र्बलिस्तदा प्रीतमना महाबलः ।
आज्ञापयामास स दैत्यकोटिं
त्रैलोक्यमद्यैव जयाम सर्वम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन दैत्योंकी बात सुनकर महाबली एवं महाबुद्धिमान् बलि मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने करोड़ों दैत्योंको आज्ञा दी कि सारी त्रिलोकीपर विजय प्राप्त करें ॥ १ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा बलेर्वैरोचनस्य तु ।
उद्योगं परमं चक्रुर्दानवा युद्धदुर्मदाः ॥ २ ॥

विरोचनकुमार बलिका वह उत्साहवर्धक वचन सुनकर रणदुर्मद दानवोंने युद्धके लिये बड़ी भारी तैयारी की ॥ २ ॥

महापद्मो निकुम्भश्च कुम्भकर्णश्च वीर्यवान् ।
काञ्चनाक्षः कपिस्कन्धो मैनाकः क्षितिकम्पनः ॥ ३ ॥
सितकेशोर्ध्ववक्त्रश्च वज्रनाभः शिखी जटी ।
सहस्रबाहुर्विकटो व्याघ्राक्षः प्रियदर्शनः ॥ ४ ॥
एकाक्ष एकपान्मुण्डो विद्युदक्षश्चतुर्भुजः ।
गजोदरो गजशिरा गजस्कन्धो गजेक्षणः ॥ ५ ॥
अष्टदंष्ट्रश्चतुर्वक्त्रो मेघनादी जलंधरः ।
करालो ज्वालजिह्वास्यः शताङ्गः शतलोचनः ॥ ६ ॥
सहस्रपादः सुमुखः कृष्णश्चैव महासुरः ।
रणोत्कटो दानपतिः शैलकम्पी कुलाकुलिः ॥ ७ ॥
समुद्रो रभसश्चण्डो धूम्रश्चैव महासुरः ।
गोत्रजो गोक्षुरो रौद्रो गोदन्तः स्वस्तिको ध्रुवः ॥ ८ ॥
मांसलो मांसभक्षश्च वेगवान् केतुमाञ्छिबिः ।
पङ्कदिग्घशरीरश्च बृहत्कीर्तिर्महाहनुः ॥ ९ ॥
समप्रभो विकुम्भाण्डो विरूपाक्षो महोदरः ।
श्वेतशीर्षश्चन्द्रहनुश्चन्द्रहा चन्द्रतापनः ॥ १० ॥
विक्षरो दीर्घबाहुश्च मद्यपो मारुताशनः ।
तालजङ्घो महाभागः शरभः शलभः क्रथः ॥ ११ ॥
समुद्रमथनो नादी विततश्च महाबलः ।
प्रलम्बो नरको व्याली धेनुकः काललोचनः ॥ १२ ॥

वरिष्ठश्च गरिष्ठश्च भूतलोमा तथा विधुः।
दुष्प्रसादः किरीटी च सूचीवक्त्रो महासुरः ॥ १३ ॥
सुबाहुः कञ्जबाहुश्च करणः कलशोदरः।
सोमपो देवयाजी च प्रवरो वीरमर्दनः ॥ १४ ॥
सुपथः खण्डमुक्तिश्च शिखिनेत्रः शिखिध्वजः।
यथास्मृति मया प्रोक्ता मरीचेः कीर्तिवर्धनाः ॥ १५ ॥
एते चान्ये च बहवो नानाभूषणभूषिताः।
रथौघैर्बहुसाहस्रैर्ययुर्योद्धुमरिंदमाः ॥ १६ ॥

महापद्म, निकुम्भ, पराक्रमी कुम्भकर्ण, काञ्चनाक्ष, कपिस्कन्ध, मैनाक, क्षितिकम्पन, शितकेश, ऊर्ध्ववक्त्र, पद्मनाभ, शिखी, जटी, सहस्रबाहु, विकट, व्याघ्राक्ष, प्रियदर्शन, एकाक्ष, एकपाद, मुण्ड, विद्युदक्ष, चतुर्भुज, गजोदर, गजशिरा, गजस्कन्ध, गजेक्षण, अग्रदंष्ट्र, चतुर्वक्त्र, मेघनादी, जलंधर, कराल, ज्वालजिह्वास्य, शताङ्ग, शतलोचन, सहस्रपाद, सुमुख, महासुर कृष्ण, रणोत्कट, दानपति, शैलकम्पी, कुलाकुलि, समुद्र, रभस, चण्ड, महासुर धूम्र, गोत्रज, गोक्षुर, रौद्र, गोदन्त, स्वस्तिक, ध्रुव, मांसल, मांसभक्ष, वेगवान्, केतुमान्, शिवि, पंकदिग्धशरीर, बृहत्कीर्ति, महाहनु, समप्रभ, विकुम्भाण्ड, विरूपाक्ष, महोदर, श्वेतशीर्ष, चन्द्रहनु, चन्द्रहा, चन्द्रतापन, विक्षर, दीर्घबाहु, मद्यप, मारुताशन, तालजंघ, महाभाग सरभ, शलभ, क्रथ, समुद्रमथन, नादी, महाबली वितत, प्रलम्ब, नरक, व्याली, धेनुक, काललोचन, वरिष्ठ, गरिष्ठ, भूतलोमा, विधु, दुष्प्रसाद, किरीटी, महासुर सूचीवक्त्र, सुबाहु, कञ्जबाहु, करण, कलशोदर, सोमप, देवयाजी, प्रवर, वीरमर्दन, सुपथ, खण्डमुक्ति, शिखिनेत्र और शिखिध्वज—ये मरीचिके कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले दैत्य अपनी स्मरणशक्तिके अनुसार मैंने बतलाये हैं। ये तथा और भी बहुत-से शत्रुदमन दैत्य वीर नाना प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो कई सहस्र रथ-समूहोंके साथ युद्धके लिये प्रस्थित हुए ॥ ३—१६ ॥

दिव्याम्बरधरा दैत्या दिव्यमाल्यानुलेपनाः।
दिव्यैश्च कवचैर्नद्धा दिव्यैश्चैवोच्छ्रितैर्ध्वजैः ॥ १७ ॥

समस्त दैत्योंने दिव्य वस्त्र धारण किये थे। वे दिव्य माला और अनुलेपनसे विभूषित थे। उनके अङ्गोंमें दिव्य कवच बँधे हुए थे। उनके दिव्य और ऊँचे ध्वज सदा फहराते रहते थे ॥ १७ ॥

दिव्यायुधधरा दैत्या गर्जमाना यथाम्बुदाः।
बृहद्भी रथघोषैश्च चालयन्तो वसुंधराम् ॥ १८ ॥

सभी दैत्य दिव्य आयुध धारण किये हुए थे, सभी मेघोंके समान गर्जना करते थे और रथोंके गम्भीर घोषोंसे पृथ्वीको कम्पित करते हुए चलते थे ॥ १८ ॥

महाबला दिव्यबलास्त्रधारिणो
भुजङ्गभोगप्रतिमैर्महाभुजैः।
सुदुर्जया दैत्यवृषाः सुरारयो
दितिप्रिया लोहितलोहितेक्षणाः ॥ १९ ॥

उनमें महान् बल था, वे दिव्य शक्तिसे सम्पन्न अस्त्र धारण करते थे और सर्पोंके शरीरकी भाँति मोटी एवं विशाल भुजाओंके द्वारा अत्यन्त दुर्जय थे। देवताओंसे शत्रुता रखनेवाले वे दैत्यशिरोमणि वीर दितिके लाड़ले थे, उन सबके नेत्र लाल-लाल हो रहे थे ॥ १९ ॥

ते जग्मुरर्कज्वलनेन्द्रवीर्या
महेन्द्रवज्राशनितुल्यवेगाः।
विवृत्तदंष्ट्रा हरिधूम्रकेशा
विवर्धमानाः शरदीव मेघाः ॥ २० ॥

वे सूर्य, अग्नि और इन्द्रके समान पराक्रमी थे। इन्द्रके वज्र और अशनिके समान उनका वेग था। वे अपनी दाढ़ें सदा खोले रखते थे। उनके केश हरित और धूम्रवर्णके थे। वे शरत्कालके मेघोंके समान निरन्तर बढ़ रहे थे ॥ २० ॥

सहस्रबाहुर्बाणश्च बलेः पुत्रो महाबलः।
रथातिरथकोट्या वै संनह्यत महाबलः ॥ २१ ॥

बलिका महाबली पुत्र सहस्रबाहु बाणासुर करोड़ों रथियों और अतिरथियोंकी विशाल सेना साथ ले युद्धके लिये कवच बाँधकर तैयार हो गया ॥ २१ ॥

सर्वे मायाधरा दैत्याः सर्वे दिव्यास्त्रयोधिनः।
सर्वे मदबलोत्सिक्ताः सर्वे लब्धवराः पुरा ॥ २२ ॥

सभी दैत्य माया धारण करनेवाले थे। सभी दिव्यास्त्रोंद्वारा युद्ध करनेमें समर्थ थे। सभी बलके मदसे उन्मत्त थे तथा सबने पहले देवताओंसे वरदान प्राप्त किया था ॥ २२ ॥

सर्वे काञ्चनशैलाभाः पीतकौशेयवाससः।
किरीटोष्णीषमुकुटा दिव्यभूषणभूषिताः ॥ २३ ॥

सबके शरीर सोनेके पर्वतके समान थे। सबने रेशमी पीताम्बर धारण कर रखे थे। सबके मस्तकपर किरीट, पगड़ी एवं मुकुट शोभा देते थे तथा सभी दिव्य आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ २३ ॥

हिरण्यकवचाः सर्वे हिरण्यध्वजकेतवः।
स्यन्दनस्था व्यराजन्त शारदा इव खे ग्रहाः ॥ २४ ॥

सबके कवच तथा ध्वजा-पताकाएँ स्वर्णमयी थीं। रथोंपर बैठकर वे दैत्य वीर शरत्कालके आकाशमें प्रकाशित होनेवाले ग्रहोंके समान सुशोभित होते थे ॥ २४ ॥

तापनीयैर्वरैर्निष्कैरनलज्वलितप्रभैः।
हेमपर्वतशृङ्गस्थाः पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ २५ ॥

उनके गलेमें सोनेके बने हुए सुन्दर पदक अग्निकी ज्वालाके समान प्रकाशित होते थे। उनसे भूषित हुए वे रथी वीर स्वर्णमय पर्वतके शिखरपर खिले हुए पलाश वृक्षोंके समान शोभा पाते थे ॥ २५ ॥

तेषां मध्यगतो बाणः प्रावृषीवोत्थितो घनः।
स्थितः शक्तिगदापाणिस्त्रिनल्वप्रतिमे रथे ॥ २६ ॥

उनके बीचमें बाणासुर वर्षाऋतुमें घिरी हुई मेघोंकी घटाके समान खड़ा हुआ था। वह बारह हाथ लंबे रथपर बैठा था और उसके हाथोंमें शक्ति एवं गदा शोभा पाती थीं ॥ २६ ॥

विचित्राश्वध्वजयुगे चित्रभक्तिविराजिते।
गदापरिघसम्पूर्णे हेमजालविभूषिते ॥ २७ ॥

उसके रथमें जो घोड़े, ध्वज एवं जुए थे, वे सब-के सब विचित्र शोभा धारण करते थे। वह रथ विभिन्न प्रकारके चित्रोंसे सुशोभित था, उसमें गदा और परिघ आदि अस्त्र भरे हुए थे तथा वह सोनेकी जालीसे विभूषित था ॥ २७ ॥

अन्वीयमानो दितिजैर्वालखिल्यैरिवांशुमान्।
नानाप्रहरणैर्घोरैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैरिवोरगैः ॥ २८ ॥

जैसे सूर्यदेवके पीछे बालखिल्य नामक ऋषि चलते हैं, उसी प्रकार सब दैत्य बाणासुरके पीछे-पीछे चल रहे थे। वे दैत्य नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न एवं भयंकर थे तथा तीखी दाढ़वाले सर्पोंके समान जान पड़ते थे ॥ २८ ॥

पञ्च तस्य महावीर्या दानवा युद्धदुर्मदाः।
ररक्षू रथमव्यग्रा व्यादितास्या भयावहाः ॥ २९ ॥

पाँच महापराक्रमी रणदुर्मद दानव स्वस्थचित्त होकर बाणासुरके रथकी रक्षा करते थे। वे पाँचों दानव मुँह बाये हुए होनेके कारण बड़े भयावह प्रतीत होते थे ॥ २९ ॥

सुबाहुर्मेघनादश्च भीमगर्भश्च वीर्यवान्।
तथा कनकमूर्धा च वेगवान् केतुमानिति ॥ ३० ॥

उन पाँचोंके नाम इस प्रकार थे—सुबाहु, मेघनाद, पराक्रमी भीमगर्भ, कनकमूर्धा तथा वेगशाली केतुमान् ॥३०॥

कनकरजतभक्तिचित्रपार्श्वे
पतगपतिप्रतिमे रथे स्थितोऽभूत्।
जलदनिनदतुल्यनेमिघोषे
सुरगणसैन्यवधाय दानवेन्द्रः ॥ ३१ ॥

देवसमुदायकी सेनाका वध करनेके लिये दानवराज बलि जिस रथपर बैठे थे, वह पक्षिराज गरुड़के समान प्रतीत होता था। उसके पार्श्वभागोंमें विभागपूर्वक सोने और चाँदीके चित्र लगे हुए थे तथा उसके पहियोंकी घरघराहट मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान सुनायी देती थी ॥ ३१ ॥

दनायुषायाः पुत्रस्तु बलो नाम महासुरः।
वृतः शतसहस्रेण रथानां भीमवर्चसाम् ॥ ३२ ॥

दनायुषाका पुत्र बल नामक महान् असुर भयंकर तेजवाले एक लाख रथोंसे घिरा हुआ था ॥ ३२ ॥

युक्तमृक्षसहस्रेण रथमारुह्य वीर्यवान्।
नीलायसमयं घोरं वायसाङ्कं सुदुर्जयम् ॥ ३३ ॥

वह पराक्रमी दैत्य एक सहस्र रीछोंसे जुते हुए रथपर आरूढ़ होकर युद्धके लिये निकला था। काले लोहेका बना हुआ उसका वह भयंकर रथ अत्यन्त दुर्जय था। उसपर कौएके चिह्नसे युक्त ध्वजा फहरा रही थी ॥ ३३ ॥

नीलाम्बरधरः श्रीमान् वैदूर्याचलसंनिभः।
महता रथवेगेन प्रययौ दानवस्तदा ॥ ३४ ॥

वह कान्तिमान् दानव नील वस्त्र धारण करके वैदूर्यमणिके पर्वत-सा प्रतीत होता था। उसके रथका वेग महान् था और उसीके द्वारा वह युद्धके लिये आगे बढ़ रहा था ॥३४॥

तत्रैकार्णवसंकाशे सैन्यमध्ये व्यराजत।
प्रभातसमये श्रीमान् समुद्रस्य इवांशुमान् ॥ ३५ ॥

उसकी सेनाका मध्य-भाग एकार्णवके समान जान पड़ता था, उसमें वह कान्तिमान् दानव प्रभातकालमें समुद्रके मध्यभागमें स्थित सूर्यदेवके समान शोभा पा रहा था ॥ ३५ ॥

सुतप्तजाम्बूनदतुल्यवर्चसा
निशाकराकारतडिद्गुणाकरः।
किरीटमुख्येन विभाति शोभिना
यथा गिरिः शृङ्गवरेण भास्वता ॥ ३६ ॥

उसका श्रेष्ठ किरीट तपाये हुए जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान तेजस्वी था, वह स्वयं चन्द्रमाके समान आकार तथा विद्युत्के समान प्रकाश आदि गुणोंसे सम्पन्न था। उस शोभाशाली किरीटसे उसकी वैसी ही शोभा हो रही थी जैसे कोई पर्वत अपने प्रकाशमान सुन्दर शिखरसे सुशोभित होता है ॥ ३६ ॥

षष्टी रथसहस्राणि नमुचेरसुरस्य वै।
खरयुक्तानि सर्वाणि मेघतुल्यरवाणि च ॥ ३७ ॥

नमुचि नामक असुरके अधिकारमें साठ हजार रथ थे, जिनमें गदहे जोते जाते थे। वे सब के सब मेघके तुल्य गम्भीर घोष करनेवाले थे ॥ ३७ ॥

नानाप्रहरणाः सर्वे सर्वे ते चित्रयोधिनः।
महाभ्रघनसंकाशा वेगवन्तो महाबलाः ॥ ३८ ॥

वे सभी रथ और रथी नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त तथा विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले थे। वे देखनेमें मेघोंकी भारी घटाके समान जान पड़ते थे। उनके वेग और बल महान् थे ॥ ३८ ॥

रथो व्याघ्रसहस्रेण युक्तः परमवेगवान्।
नमुचेरसुरेन्द्रस्य सर्वरत्नविभूषितः ॥ ३९ ॥

असुरराज नमुचिका रथ अत्यन्त वेगशाली था। उसमें एक सहस्र व्याघ्र जुते हुए थे। वह सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित था ॥ ३९ ॥

शार्दूलचिह्नः शुशुभे तस्य केतुर्हिरण्मयः।
रथमध्येऽसुरेशस्य मध्यंदिनरविर्यथा ॥ ४० ॥

उसकी ध्वजामें व्याघ्रका चिह्न बना हुआ था, इससे उस स्वर्णमय ध्वजकी बड़ी शोभा हो रही थी।

असुरेश्वर नमुचिके रथमें वह ध्वज मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होता था ॥ ४० ॥

स भीमवेगश्च महाबलश्च
प्रगृह्य चापं हिमवानिव स्थितः ।
नीलाम्बरः काञ्चनपट्टनद्धो
दिशागजो यद्वदुपेतकक्षः ॥ ४१ ॥

नमुचिका वेग बड़ा भयंकर था। वह नीलाम्बरधारी महाबली दैत्य स्वर्णमय कवच बाँधे और हाथमें धनुष लिये हिमवान्‌के समान अविचलभावसे खड़ा था मानो कोई दिग्गज रस्सोंसे कसा-कसाया खड़ा हो ॥ ४१ ॥

किङ्किणीजालनिर्घोषं तपनीयविभूषितम् ।
सपताकध्वजोपेतं ससंध्यमिव तोयदम् ॥ ४२ ॥

मयासुरका रथ स्वर्णसे विभूषित था। उसमें छोटी-छोटी घण्टिकाओंसे युक्त झालरें लगी थीं, जिनसे मधुर ध्वनि होती रहती थी। ध्वजा-पताकाओंसे युक्त वह रथ संध्याकालके मेघकी भाँति सुशोभित होता था ॥ ४२ ॥

चक्रैश्चतुर्भिः संयुक्तमष्टनल्वायतान्तरम् ।
हेमजालाकुलं दीप्तं कालचक्रमिवोदितम् ॥ ४३ ॥

उसमें चार पहिये लगे थे। उसके भीतरी भागकी लंबाई-चौड़ाई बत्तीस हाथकी थी। उस रथपर सोनेकी जाली लगी हुई थी। वह दीप्तिमान् रथ उदित हुए कालचक्रके समान शोभा पाता था ॥ ४३ ॥

नानायुधधरं घोरं व्याघ्रचर्मपरिष्कृतम् ।
ईहामृगगणाकीर्णं चित्रभक्तिविराजितम् ॥ ४४ ॥

नाना प्रकारके आयुधोंसे युक्त वह भयंकर रथ व्याघ्रचर्मसे मँढ़ा हुआ था। उसमें क्रीड़ाके लिये कृत्रिम मृगगण सजाकर रखे गये थे। विभिन्न प्रकारके चित्र उस रथकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ४४ ॥

तूणीरशरसम्पूर्णं शक्तितोमरसंकुलम् ।
गदामुद्गरसम्बाधं चापरत्नविभूषितम् ॥ ४५ ॥

वह बाणों और तरकसोंसे भरा हुआ था, शक्तियों और तोमरोंसे व्याप्त था, गदाओं और मुद्गरोंसे उसके स्थान संकीर्ण हो रहे थे तथा बहुत-से धनुष-रत्न उसे विभूषित किये हुए थे ॥ ४५ ॥

युक्तमृक्षसहस्रेण लंबकेसरवर्चसा ।
राजतेन विकीर्णेन शोभितं सिंहकेतुना ॥ ४६ ॥

लंबे केसरोंकी कान्तिसे युक्त एक सहस्र रीछ उस रथमें जुते हुए थे। सिंहके चिह्नसे युक्त एवं फहराते हुए रजतमय ध्वजसे उस रथकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४६ ॥

स तेन शुशुभे दैत्यो मयो मायाविसर्पिणा ।
रथरत्ने स्थितः श्रीमानुदयस्थ इवांशुमान् ॥ ४७ ॥

मायाको फैलानेवाले उस रथके द्वारा उस रत्नस्वरूप रथमें बैठा हुआ मय दैत्य उदयाचलके शिखरपर स्थित हुए तेजस्वी सूर्यदेवके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ४७ ॥

विमलरजतबिन्दुशोभिताङ्गं
मणिकनकोज्ज्वलचारुभक्तिचित्रम् ।
अयुतशतसहस्रमूर्जितानां
मयमनुयाति तदा महारथानाम् ॥ ४८ ॥

मयासुरका प्रत्येक अङ्ग निर्मल रजतबिन्दुओंसे सुशोभित था। उसमें मणि और स्वर्णके योगसे उज्ज्वल एवं मनोहर चित्रभङ्गीकी रचना की गयी थी। उस समय एक अरब तेजस्वी महारथी मय दानवके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे मयस्य युद्धाभिगमने एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें मयासुरका युद्धमें प्रस्थानविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पुलोमा, हयग्रीव, प्रह्लाद और शम्बरासुरका युद्धके लिये उद्योग

वैशम्पायन उवाच

पुलोमा तु महादैत्यस्तिमिराकारगह्वरम् ।
आरुरोहायसं घोरं रथं पररथारुजम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पुलोमा नामक महादैत्य घनीभूत अंधकारके समान रंगवाले लोहेके बने हुए भयंकर रथपर आरूढ़ हुआ। वह रथ शत्रुओंके रथोंको नष्ट करनेवाला था ॥ १ ॥

उत्कीर्णपर्वताकारं लोहजालान्तरान्तरम् ।
नेमिघोषेण महता क्षुभ्यन्तमिव सागरम् ॥ २ ॥

खण्डित होकर पृथ्वीपर गिरे हुए पर्वतके समान उसका विशाल आकार था, उसका भीतरी भाग लोहेकी जालसे आवृत था तथा अपने पहियोंके महान् घोषसे वह समुद्रमें भी क्षोभ-सा उत्पन्न कर देता था ॥ २ ॥

गदापरिघनिस्त्रिंशैः सतोमरपरश्वधैः ।
शक्तिमुद्गरसंकीर्णं सतोयमिव तोयदम् ॥ ३ ॥

गदा, परिघ, खड्ग, तोमर, फरसे, शक्ति और मुद्गर आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे भरा होनेके कारण वह रथ सजल जलधरके समान प्रतीत होता था ॥ ३ ॥

रथमुष्ट्रसहस्रेण संयुक्तं वायुवेगिना ।
पुलोमाऽऽरुह्य युद्धाय प्रस्थितो युद्धदुर्मदः ॥ ४ ॥

उनमें वायुके समान वेगशाली एक सहस्र ऊँट जुते हुए थे, रणदुर्मद पुलोमा उसी रथपर आरूढ़ हो युद्धके लिये प्रस्थित हुआ ॥ ४ ॥

षष्टी रथसहस्राणि पुलोमानं महारथम्।
अन्वयुः सूर्यवर्णानि प्रदीप्तानीव तेजसा ॥ ५ ॥

अपने तेजसे सूर्यके समान उद्भासित होनेवाले साठ हजार रथ महारथी पुलोमाके पीछे-पीछे चले ॥ ५ ॥

खड्गध्वजेन महता तप्तकाञ्चनवर्चसा।
भ्राजते रथमध्यस्थः पर्वतस्य इवांशुमान् ॥ ६ ॥

पुलोमाका रथ तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाले खड्गचिह्नित विशाल ध्वजसे सुशोभित होता था, रथके भीतर बैठा हुआ पुलोमा उदयगिरिपर विराजमान अंशुमाली सूर्यके समान जान पड़ता था ॥ ६ ॥

सुचारुचामीकरपट्टनद्धां
महागदां कालनिभां महाबलः।
प्रगृह्य बभ्राज स शत्रुमध्ये
कार्ष्णायसीं केतुरिवास्थितोर्व्याम् ॥ ७ ॥

वह महाबली योद्धा वहाँ शत्रुओंके बीच काले लोहेकी बनी हुई कालसदृश विशाल गदा हाथमें लेकर पृथ्वीपर खड़े किये गये ध्वजके समान शोभा पाता था, उसकी उस गदापर सुन्दर सुवर्णके पत्र मँढ़े हुए थे ॥ ७ ॥

हयग्रीवस्तु बलवान् हयग्रीवैर्महासुरैः।
वृतः शतसहस्रेण रथानां रथिसत्तमः ॥ ८ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ बलवान् हयग्रीव घोड़ेके समान गर्दनवाले बड़े-बड़े असुरोंके साथ एक लाख रथियोंसे घिरा हुआ युद्धके लिये आया ॥ ८ ॥

धराधरनिभाकारं सपत्नानीकमर्दनम्।
स्यन्दनं भीममास्थाय युद्धायाभिमुखः स्थितः ॥ ९ ॥

उसके रथका आकार मेघके समान भयंकर था, वह शत्रुओंकी सेनाका मर्दन करनेवाला था, उसीपर आरूढ़ होकर वह युद्धके लिये उद्यत होकर सामने खड़ा था ॥ ९ ॥

श्वेतशैलप्रतीकाशः श्वेतकुण्डलभूषणः।
शुशुभे रथमध्यस्थः श्वेतशृङ्ग इवाचलः ॥ १० ॥

वह श्वेत पर्वतके समान कान्तिमान् और श्वेत कुण्डलोंसे विभूषित हो रथके भीतर बैठकर श्वेत शिखरवाले शैलके समान शोभा पाता था ॥ १० ॥

महता सप्तशीर्षेण शोभितो नागकेतुना।
वैदूर्यमणिचित्रेण प्रवालाङ्कुरशोभिना ॥ ११ ॥

सात फनवाले सर्पसे चिह्नित विशाल ध्वज, जो वैदूर्य-मणिसे जटित होनेके कारण विचित्र जान पड़ता था तथा नये-नये पल्लवोंके अंकुरोंसे अलंकृत था, हयग्रीवके रथकी शोभा बढ़ा रहा था ॥ ११ ॥

अमितबलपराक्रमाकृतीनां
वररथिनामनुजग्मुरूर्जितानाम्।
असुरगणशतानि गच्छमानं
त्रिदशगणा इव वासवं प्रयान्तम् ॥ १२ ॥

जैसे यात्रा करते हुए इन्द्रके पीछे देवताओंके समुदाय चलते हैं, उसी प्रकार युद्धके लिये जाते हुए हयग्रीवके पीछे अनन्त बल-पराक्रमसे सम्पन्न शरीरवाले ओजस्वी श्रेष्ठ रथी असुर सैकड़ोंकी संख्यामें चले ॥ १२ ॥

प्रह्लादस्तु महाप्राज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।
सर्वमायाधरः श्रीमान् यष्टा क्रतुशतैरपि ॥ १३ ॥

महाज्ञानी तथा सम्पूर्ण शास्त्रोंमें निपुण विद्वान् श्रीमान् प्रह्लाद सम्पूर्ण मायाओंको धारण करनेवाले थे, वे सैकड़ों यज्ञोंका अनुष्ठान कर चुके थे ॥ १३ ॥

समनह्यत तेजस्वी पावकार्चिःसमप्रभः।
रथानीकेन महता दुर्दिनाम्भोदनादिना ॥ १४ ॥

उनकी कान्ति अग्निकी ज्वालाके समान प्रकाशित होती थी, वे बड़े तेजस्वी थे, वे भी वर्षाकालके मेघकी भाँति गम्भीर घोष करनेवाले विशाल रथ-सेनाको साथ लेकर युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ १४ ॥

शूरेणामितवीर्येण हेमकुण्डलधारिणा।
वृतो दैत्यसहस्रेण देवैरिव पितामहः ॥ १५ ॥

देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्माजीके समान प्रह्लाद सोनेके कुण्डल धारण करनेवाले सहस्रों अमित पराक्रमी शूरवीर दैत्योंसे घिरे हुए थे ॥ १५ ॥

स्ववीर्यादग्रणीर्दृप्तो मत्तवारणविक्रमः।
सुरसैन्यस्य सर्वस्य प्रतिक्षोभ इव स्थितः ॥ १६ ॥

अपने पराक्रमसे वे सबके अगुआ थे। उन्हें अपने बलपर गर्व था। वे मतवाले हाथीके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले थे और समस्त देवसेनाका सामना करनेके लिये मूर्तिमान् क्षोभके समान खड़े थे ॥ १६ ॥

स्ववीर्येणोदधेस्तुल्यः प्रदीप्ताग्निरिव ज्वलन्।
तेजसा भास्कराकारः क्षमया पृथिवीसमः ॥ १७ ॥

अपने अगाध बलसे वे समुद्रके समान थे, कान्तिसे प्रज्वलित अग्निकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे, तेजसे सूर्यके तुल्य और क्षमासे पृथ्वीके समान जान पड़ते थे ॥ १७ ॥

तालध्वजेन दीप्तेन रथेनातिविराजता।
तं यान्तमनुयान्ति स्म दानवाः शतसंघशः ॥ १८ ॥

दीप्तिमान् तालध्वजसे अत्यन्त सुशोभित होनेवाले रथके द्वारा युद्धकी ओर जाते हुए प्रह्लादके पीछे सैकड़ों दानवोंके समूह चलते थे ॥ १८ ॥

सर्वे हिरण्यकवचाः सर्वे रत्नविभूषिताः।
दिव्याङ्गरागाभरणाः समरेष्वनिवर्तिनः ॥ १९ ॥

वे सब-के सब सुवर्णमय कवचसे युक्त तथा रत्नोंके आभूषणोंसे विभूषित थे, उनके अङ्गराग और आभूषण दिव्य थे तथा वे युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते थे ॥ १९ ॥

जाम्बूनदविचित्राङ्गा वैदूर्यविकृताङ्गदाः ।
दिव्यस्यन्दनमध्यस्थाः खस्था इव महाग्रहाः ॥ २० ॥

जाम्बूनद नामक सुवर्णसे उनके अङ्गोंकी विचित्र शोभा होती थी । वे वैदूर्यमणिके बने हुए बाजूबंद धारण करते थे तथा दिव्य रथके अंदर बैठकर आकाशमें स्थित हुए महान् ग्रहोंके समान सुशोभित होते थे ॥ २० ॥

आचारवांश्चैव जितेन्द्रियश्च
धर्मे रतः सत्यपरोऽनसूयः ।
स्थितोऽग्नितोयाम्बुदवायुकल्पो
रूपी यथा सर्वहरः कृतान्तः ॥ २१ ॥

प्रह्लाद आचारवान्, जितेन्द्रिय, धर्मतत्पर, सत्यपरायण तथा दोषदृष्टिसे रहित थे । वे अग्नि, जल, मेघ और वायुके समान शक्तिशाली थे तथा मूर्तिमान् सर्वसंहारकारी कालके समान वहाँ युद्धके लिये खड़े थे ॥ २१ ॥

शम्बरस्तु महामायो रथयूथपयूथपः ।
आरुरोह रथं दिव्यं सर्वयुद्धविशारदः ॥ २२ ॥

महामायावी शम्बर रथ-यूथपतियोंका भी यूथपति था, सब प्रकारके युद्धकी कलामें कुशल था । वह भी दिव्य रथपर आरूढ़ हुआ ॥ २२ ॥

लोहिताक्षो महाबाहुः प्रतप्तोत्तमकुण्डलः ।
जीमूतघनसंकाशो दिव्यस्रगनुलेपनः ॥ २३ ॥

उसके नेत्र लाल थे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं, कानोंमें तपाये हुए सोनेके उत्तम कुण्डल शोभा पाते थे, उसकी कान्ति मेघके समान श्याम थी, वह दिव्य हार और दिव्य अनुलेपन धारण करता था ॥ २३ ॥

विद्युज्ज्योतिर्निकाशेन मुकुटेनार्कवर्चसा ।
मणिरत्नविचित्रेण वैदूर्यवरशोभिना ॥ २४ ॥
तपनीयेन महता कवचेन विराजता ।
संध्याभ्रेणेव संछन्नः श्रीमानस्तशिलोच्चयः ॥ २५ ॥

उसके मस्तकपर विद्युत्की ज्योति तथा सूर्यके तेजके समान प्रकाशमान मुकुट था, उससे तथा मणि और रत्नोंसे जटित सुन्दर वैदूर्यमणिसे सुशोभित, सुवर्णनिर्मित शोभाशाली विशाल कवचसे ढका हुआ शम्बरासुर संध्याकालके लाल बादलोंसे आच्छादित श्रीमान् अस्ताचलके समान जान पड़ता था ॥ २४-२५ ॥

त्रिंशच्छतसहस्राणि दैत्यानां चित्रयोधिनाम् ।
बलिनां कालकल्पानामन्वयुः शम्बरं तदा ॥ २६ ॥

उस समय विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले तथा कालके समान बलवान् तीस लाख दैत्य शम्बरासुरके पीछे-पीछे चलते थे ॥ २६ ॥

युक्तं हयसहस्रेण शुक्लवर्णेन राजता ।
क्रौञ्चध्वजेन दीप्तेन रथेनाहवशोभिना ॥ २७ ॥

उसके रथमें श्वेत रंगके एक सहस्र सुन्दर घोड़े जुते हुए थे । युद्धमें शोभा पानेवाला वह रथ क्रौञ्चके चिह्नसे युक्त विशाल ध्वजसे सुशोभित था (ऐसे रथके द्वारा वह युद्धके लिये आया था) ॥ २७ ॥

व्यासक्तवैदूर्यसुवर्णजालं
नानाविहङ्गैरपि भक्तिचित्रम् ।
विद्युत्प्रभं भीमरवं सुवेगं
रथं समारुह्य रराज दैत्यः ॥ २८ ॥

उस रथमें वैदूर्यमणि और सुवर्णकी जाली लगी हुई थी, नाना प्रकारके पक्षियोंके पृथक्-पृथक् चित्र बने हुए थे, वह रथ विद्युत्के समान कान्तिमान् था, उससे भयंकर शब्द होता रहता था । उस उत्तम वेगशाली रथपर आरूढ़ हो वह दैत्य बड़ी शोभा पा रहा था ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे शम्बरादिदैत्यसन्नहने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसंगमें शम्बर आदि दैत्योंकी युद्धकी तैयारीविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अनुह्राद, विरोचन, कुजम्भ, असिलोमा, वृत्र, एकचक्र, वृत्रभ्राता, राहु, विप्रचित्ति, केशी, वृषपर्वा तथा बलिका युद्धके लिये तैयार होकर आगे बढ़ना

वैशम्पायन उवाच

अनुह्रादश्च तत्रैव दैत्यः परमदुर्जयः ।
हिरण्यकशिपोः पुत्रः प्रययौ युद्धलालसः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! हिरण्यकशिपुका पुत्र अनुह्राद भी, जो परम दुर्जय दैत्य था, देवताओंके साथ युद्धकी लालसा रखकर वहीं गया ॥ १ ॥

चतुश्चक्रेण यानेन त्रिनल्वप्रतिमेन तु ।
युक्तेनाश्वैर्महावीर्यैः सिंहवक्त्रैरजिह्मगैः ॥ २ ॥

जिस रथसे वह गया था उसमें चार पहिये लगे थे, उसकी ऊँचाई बारह हाथकी थी, उसमें सिंहके समान मुखवाले और सीधे चलनेवाले महाबलशाली अश्व जुते हुए थे ॥ २ ॥

भीमगम्भीरनादेन नेमिघोषेण वीर्यवान्।
चालयन् वसुधां सर्वां सशैलवनकाननाम्॥ ३॥

उसके पहियोंकी घरघराहट बड़ा गम्भीर और भयंकर शब्द प्रकट करती थी। पराक्रमी अनुह्लाद उस रथके द्वारा पर्वत, वन और काननोंसहित सारी पृथ्वीको कम्पित करता हुआ चलता था॥ ३॥

विनर्दमाना दैत्यौघा अनुह्लादं ययुः शुभाः।
शतं शतसहस्राणां रथानां हेममालिनाम्॥ ४॥

अनुह्लादके पीछे बहुत-से सुन्दर दैत्यसमुदाय गर्जना करते हुए चले। सुवर्णमालाओंसे अलंकृत एक करोड़ रथी उसके साथ थे॥ ४॥

परिघैर्भिन्दिपालैश्च भल्लैः पाशैः परश्वधैः।
विविधायुधहस्तास्ते शूलमुद्गरपाणयः॥ ५॥

उनके हाथोंमें परिघ, भिन्दिपाल, भल्ल, पाश, फरसे आदि नाना प्रकारके आयुध थे। वे अपने हाथोंमें शूल और मुद्गर भी लिये हुए थे॥ ५॥

सुवर्णजालनिर्मुक्तैर्वज्रैश्च समलंकृताः।
रथैश्चित्रैश्च कवचैः सज्जमाना महासुराः॥ ६॥

वे महान् असुर सोनेकी जालियोंसे युक्त वज्र नामक मणियों (हीरों) से अलंकृत थे। विचित्र रथ और कवच उनकी शोभा बढ़ाते थे॥ ६॥

तदा विशालोच्छ्रितशैलरूपे
बभौ रथे काञ्चनचित्रिताङ्गे।
दैत्याधिपः सत्त्वबलानुरूपे
समास्थितस्त्वप्रतिमे सुरूपे॥ ७॥

उस समय जिसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुवर्णसे चित्रित था तथा जो विशाल एवं ऊँचे पर्वतके समान प्रतीत होता था, अपने सत्त्व और बलके अनुरूप, उस अनुपम एवं सुन्दर रथपर बैठकर वह दैत्यराज अनुह्लाद बड़ी शोभा पा रहा था॥

विरोचनश्च बलवान् वैश्वानरसमद्युतिः।
महता रथवंशेन सर्वास्त्रकुशलः शुचिः॥ ८॥

अग्निके समान तेजस्वी और बलवान् विरोचन भी युद्धके लिये उद्यत होकर वहाँ आया। उसके साथ रथियोंकी विशाल सेना थी। वह सब प्रकारके अस्त्रोंके प्रयोगमें कुशल एवं शुद्ध हृदयका था॥ ८॥

व्यूहानां विनियोगज्ञो ज्ञानविज्ञानतत्त्ववित्।
बलेः पितासुरवरः सुराणामिव वासवः॥ ९॥

किस व्यूहका कहाँ प्रयोग करना चाहिये, इसका उसे विशेष ज्ञान था। वह ज्ञान-विज्ञानके तत्त्वको जाननेवाला था। विरोचन बलिका पिता था। जैसे देवताओंमें इन्द्र श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार असुरोंमें विरोचन श्रेष्ठ था॥ ९॥

सर्वायुधसमोपेतं किङ्किणीजालभूषितम्।
युक्तानां वाजिमुख्यानां सहस्रेणाशुगामिनाम्॥ १०॥

उसका रथ छोटी-छोटी घंटियोंसे युक्त झालरोंसे सुशोभित था। उसमें सब प्रकारके आयुध रखे गये थे। वह रथ एक सहस्र शीघ्रगामी श्रेष्ठ अश्वोंसे जुता हुआ था॥ १०॥

रथमारुह्य दैत्येन्द्रो बभौ मेरुरिवापरः।
किङ्किणीजालपर्यन्तं गजेन्द्रध्वजशोभितम्।
संध्याभ्रसमवर्णाभिः पताकाभिरलंकृतम्॥ ११॥

उस रथपर आरूढ़ होकर दैत्यराज विरोचन दूसरे मेरुके समान शोभा पाता था। उसके किनारे-किनारे क्षुद्र घण्टिकाओंसे युक्त जाली लगी हुई थीं। वह गजराजके चिह्नसे युक्त ध्वजसे सुशोभित होता था और संध्याकालीन बादलोंके समान वर्णवाली पताकाओंसे अलंकृत था॥ ११॥

प्रवालजाम्बूनदभक्तिचित्रं
व्यालम्बिमुक्ताफलभूषितं च।
रथं समारुह्य किरीटमाली
ययौ स युद्धाय महासुरेन्द्रः॥ १२॥

वह महान् असुरेन्द्र मूँगे और सुवर्णकी चित्रमूर्तियोंसे सुशोभित तथा सब ओर लटकते हुए मोतियोंके दानोंसे विभूषित रथपर आरूढ़ हो मस्तकपर किरीट धारण करके युद्धके लिये चला॥ १२॥

विरोचनानुजश्चैव कुजंभो नाम दानवः।
स्यन्दनैर्बहुसाहस्रैर्मणिकाञ्चनभूषितैः॥ १३॥
वृतो मदबलात् सिक्तैर्देवारिभिररिंदमः।
प्रासपाशगदाहस्तैर्दानवैर्युद्धकाङ्क्षिभिः॥ १४॥

विरोचनका छोटा भाई कुजम्भ नामक दानव मणि और सुवर्णसे विभूषित कई सहस्र रथोंसे घिरा हुआ था। बलके अभिमानसे मत्त हुए देवद्रोही दैत्य उसे घेरकर खड़े थे। उन दैत्योंके हाथमें प्रास, पाश और गदा आदि अस्त्र शोभा पा रहे थे। वे सभी दानव युद्धकी अभिलाषा रखते थे, उनके साथ आया हुआ कुजम्भ शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ था॥

स पर्वतनिभाकारो भिन्नाञ्जनचयप्रभः।
महता भ्राजमानेन किरीटेन सुवर्चसा॥ १५॥
सर्वरत्नविचित्रेण कवचेन च संवृतः।
महता दीप्तवपुषा रथेनेन्दुरिवांशुमान्॥ १६॥

उसका आकार पर्वतके समान विशाल था, खानसे काटकर निकाले गये कोयलोंकी राशिके समान उसका काला रंग था, उसके मस्तकपर अत्यन्त तेजस्वी एवं कान्तिमान् महान् मुकुट शोभा पाता था, उस मुकुटसे तथा सर्वरत्नमय विचित्र कवचसे आच्छादित हुआ कुजम्भ अपने महान् तेजस्वी रथके द्वारा श्वेत रश्मियोंसे युक्त चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था॥ १५-१६॥

शातकौम्भेन महता तालवृक्षेण केतुना।
रराज रथमध्यस्थो मेरुस्थ इव भास्करः॥ १७॥

तालवृक्षके चिह्नवाले सोनेके बने हुए विशाल ध्वजसे

उपलक्षित रथके भीतर बैठा हुआ वह दैत्य मेरु पर्वतके शिखरपर विराजमान सूर्यके समान सुशोभित होता था ॥१७॥

रणपटुरतिवीर्यसत्त्वबुद्धिः
सुरसमराभिमुखः प्रयाति तूर्णम्।
असुरगणसमावृतः कुजम्भ-
स्त्रिदशगणैरिव वृत्रहामरेन्द्रः ॥ १८ ॥

जैसे वृत्रासुरका नाश करनेवाले देवराज इन्द्र देवताओंसे घिरे हुए चलते हैं, उसी प्रकार युद्धकुशल, अतिशय वीर्य, सत्त्व तथा बुद्धिसे युक्त कुजम्भ असुरोंसे घिरकर देवताओंसे युद्धके लिये उत्सुक हो तीव्र गतिसे आगे बढ़ रहा था ॥१८॥

असिलोमा च तत्रैव दानवः पर्वतायुधः।
दारुणं वपुरास्थाय दारुणो दारुणाननः ॥ १९ ॥

वहीं असिलोमा नामक दानव भी उपस्थित था, जो बड़े-बड़े पर्वतखण्डोंको ही आयुधके रूपमें धारण करता था। वह दारुण स्वभावका दानव दारुण शरीर धारण करके वहाँ आया था, उसका मुख बड़ा ही दारुण (निर्दय) प्रतीत होता था ॥ १९ ॥

रौद्रः शकटचक्राक्षो महाकायो महाबलः।
कृष्णवासा महादंष्ट्रः किरीटी लोहिताननः ॥ २० ॥

वह महाबली महाकाय दानव देखनेमें बड़ा भयंकर था। उसके नेत्र गाड़ीके पहियोंके समान जान पड़ते थे। वह काले रंगका वस्त्र धारण करता था। उसकी दाढ़ें बहुत बड़ी थीं। उसका मुँह लाल था और वह मस्तकपर मुकुटसे सुशोभित था ॥ २० ॥

वृतो दैत्यसहस्रौघैर्गिरिपादपयोधिभिः।
नानारूपधरैर्दृप्तैर्दैत्यैस्त्रिदशशत्रुभिः ॥ २१ ॥

पर्वतखण्डों और वृक्षोंद्वारा युद्ध करनेवाले नाना रूपधारी, बलाभिमानी और देवद्रोही सहस्रों दैत्य उसे घेरकर खड़े थे ॥ २१ ॥

ते शूलहस्ता गगने चरन्त
इतस्ततस्तोयदवृन्दतुल्याः ।
खं छादयन्तस्तपनीयनिष्का
यथोन्नताः प्रावृषि कालमेघाः ॥ २२ ॥

वे दैत्य हाथोंमें त्रिशूल लेकर मेघसमूहके समान व्योममण्डलमें इधर-उधर विचरते थे। उनके कण्ठमें सोनेके पदक प्रकाशित हो रहे थे, अतः वे वर्षाऋतुमें उमड़-घुमड़कर आये हुए (विद्युत्सहित) काले मेघोंके समान आकाशमें छा रहे थे ॥ २२ ॥

दनायुषायाः पुत्रस्तु वृत्रो नाम महासुरः।
देवशत्रुर्महाकायस्ताम्रास्यो निर्नतोदरः ॥ २३ ॥

दनायुषाका पुत्र वृत्र नामक महान् असुर भी वहाँ युद्धके लिये उपस्थित था, उस विशालकाय देवद्रोही दैत्यका मुख ताँबेके समान लाल था और पेट भीतरकी ओर दबा हुआ था ॥ २३ ॥

दीप्तजिह्वो हरिश्मश्रुरूर्ध्वरोमा महाहनुः।
नीलाङ्गो लोहितमुखः किरीटी लोहिताम्बरः ॥ २४ ॥
आजानुबाहुर्विकृतः श्वेतदंष्ट्रो विभीषणः।
महामायाधरो भीमो हेमकेयूरभूषणः ॥ २५ ॥

उसकी जीभ आगके समान चमक रही थी, दाढ़ी, मूँछ नीली थीं, रोएँ ऊपरकी ओर उठे हुए थे और ठोड़ी मांसल थी। नीला शरीर, लाल मुँह, लाल वस्त्र और मस्तकपर किरीट, बड़ी-बड़ी बाहें, विकृत रूप, सफेद दाढ़ें और भयानक आकृति—यही उसके रूप-रंगका परिचय है । वह बड़ी-बड़ी माया धारण करनेवाला भीमकाय दैत्य सोनेके बाजूबंदसे विभूषित था ॥ २४-२५ ॥

महता मणिचित्रेण कवचेन तु संवृतः।
हेममालाधरो रौद्रश्चक्रकेतुरमर्षणः ॥ २६ ॥

मणिजटित विचित्र एवं महान् कवचसे आच्छादित अङ्गवाला वह अमर्षशील भयंकर दैत्य गलेमें सोनेकी माला धारण करता था। उसके ध्वजमें चक्रका चिह्न बना हुआ था ॥२६॥

किंकिणीशतसंघुष्टं तपनीयविभूषितम्।
युक्तं हयसहस्रेण रक्तध्वजपताकिनम् ॥ २७ ॥

उसके रथमें सैकड़ों छोटी-छोटी घंटियाँ लगी थीं, जिनका मधुर घोष होता रहता था। वह रथ सुवर्णसे विभूषित तथा लाल रंगकी ध्वजा-पताकासे अलंकृत था, उसमें एक हजार घोड़े जुते हुए थे ॥ २७ ॥

रथानीकेन महता युद्धायाभिमुखो ययौ।
दिव्यं स्यन्दनमास्थाय दैत्यानां नन्दिवर्धनः ॥ २८ ॥

दैत्योंका आनन्द बढ़ानेवाला वृत्र उस दिव्य रथपर आरूढ़ होकर युद्धके लिये उत्सुक हो रथोंकी विशाल सेनाके साथ चला ॥ २८ ॥

तपितकनकबिन्दुपिङ्गलाक्षो
दितितनयोऽसुरसैन्ययुद्धनेता ।
विकसितकमलाभचारुचक्षुः
सितदशनः शुशुभे रथासनस्थः ॥ २९ ॥

उसकी आँखें तपाये हुए सुवर्णकी बूँदोंके समान पिंगल वर्णकी थीं। वह असुर-सेनाके युद्धका नेता था, उसके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान मनोहर थे । दाँत सफेद और चमकीले थे। रथके आसनपर बैठा हुआ वह दैत्य बड़ी शोभा पा रहा था ॥ २९ ॥

एकचक्रस्तु तत्रैव सूर्यचक्र इवोदितः।
कालचक्रसमो रौद्रश्चक्रायुध इवोद्यतः ॥ ३० ॥

एकचक्र नामक दैत्य भी वहीं था, जो सूर्यमण्डलके समान उदित हुआ था। वह कालचक्रके समान भयंकर था और चक्रधारी श्रीहरिके समान युद्धके लिये उद्यत था ॥३०॥

सर्वायसमयं दिव्यं रथमास्थाय भासुरम्।
वृतो दैत्यगणैर्दृप्तैः कालायसशिलायुधैः ॥ ३१ ॥

सम्पूर्णतः लोहेके बने हुए दिव्य एवं तेजस्वी रथपर आरूढ़ हो वह काले लोहे और शिलाखण्डोंके आयुध धारण करनेवाले बलाभिमानी दैत्यसमूहोंसे घिरा हुआ था ॥ ३१ ॥

तस्याशीतिसहस्राणि रथिनां चित्रयोधिनाम्।
सर्वे कालान्तकप्रख्या रुधिराक्षा महाबलाः।
आयसैः काञ्चनैश्चैव संनद्धा वरवर्णिनः ॥ ३२ ॥

उसके साथ विचित्र युद्ध करनेवाले अस्सी हजार रथी योद्धा थे। वे सब-के-सब काल और अन्तकके समान प्रभावशाली और महाबली थे। उनके नेत्र लाल थे, वे लोहे और सोनेके बने हुए कवचोंसे सुसज्जित तथा देखनेमें सुन्दर थे ॥

व्योमान्तरिक्षस्था नीला इव पयोधराः।
सर्वे कालान्तकप्रख्या धीराः समरदुर्जयाः ॥ ३३ ॥

आकाशमें स्थित हुए वे दैत्य नीले मेघोंके समान शोभा पाते थे। वे सभी काल और अन्तकके समान भयंकर, धीर तथा रणदुर्जय थे ॥ ३३ ॥

सागरोदरगम्भीरा नीलचक्रा दुरासदाः।
नेदुर्यान्तोऽसुरवरा वेलातीता इवार्णवाः ॥ ३४ ॥

वे समुद्रके उदरकी भाँति गम्भीर थे। उनके हाथमें नीले चक्र थे, उन्हें जीतना बहुत ही कठिन था। वे श्रेष्ठ असुर युद्धके लिये जाते समय अपनी तटभूमि या सीमाको लाँघकर आगे बढ़े हुए समुद्रोंके समान भीषण गर्जना करते थे ॥ ३४ ॥

ते भीममायाः सुसमृद्धकायाः
किरीटिनः काञ्चनभूषिताङ्गाः।
ययुस्तदा स्वायुधदीप्तहस्ता
नभः सपक्षा इव पर्वतेन्द्राः ॥ ३५ ॥

उनकी माया भयंकर थी और काया हृष्ट-पुष्ट। उनके मस्तकपर किरीट चमक रहे थे, उनके सारे अङ्ग सोनेके आभूषणोंसे विभूषित थे। उनके हाथ अपने-अपने आयुधोंसे उद्दीप्त दिखायी देते थे, वे सब दैत्य उस समय पंखधारी पर्वतराजोंके समान आकाशमें उड़े जा रहे थे ॥ ३५ ॥

संदिष्टो बलिपुत्रेण वृत्रभ्राता महासुरः।
वधाय सुरसैन्यस्य संनह्यस्वेति वीर्यवान् ॥ ३६ ॥
हेममाली महादंष्ट्रः स्रग्वी रुचिरकुण्डलः।
रक्तमाल्याम्बरधरश्चण्डः समरदुर्जयः ॥ ३७ ॥

बलिके पुत्र बाणासुरने वृत्रासुरके भाई एक महान् असुरको यह संदेश दिया कि तुम देवसेनाके वधके लिये कवच धारण करो। यह संदेश पाकर वह पराक्रमी दैत्य सुवर्णकी माला, फूलोंके हार और सोनेके कुण्डलोंसे विभूषित हो युद्धके लिये चला। उसकी दाढ़ें बहुत बड़ी थीं, वह लाल फूलोंकी माला और लाल वस्त्र धारण करता था। अत्यन्त क्रोधी होनेके साथ ही वह समरभूमिमें दुर्जय था (उसका नाम सम्भवतः वीर या विक्षर था) ॥ ३६-३७ ॥

सुमहावृत्तनयनः स किरीटी धनुर्धरः।
प्रभिन्न इव मातङ्गः शार्दूलसमविक्रमः ॥ ३८ ॥

उसके नेत्र बड़े-बड़े और गोलाकार थे। वह मस्तकपर मुकुट और हाथमें धनुष धारण किये हुए था, देखनेमें मदकी धारा बहानेवाले मतवाले हाथीके समान जान पड़ता था। उसका पराक्रम सिंहके समान था ॥ ३८ ॥

महातालनिभं चापं तथा रुचिरसायकम्।
विस्फारयन् महावेगं वज्रनिष्पेषनिःस्वनम् ॥ ३९ ॥

वह बहुत बड़े ताड़के समान विशाल तथा महान् वेगशाली सुन्दर सायकयुक्त धनुषको बारंबार खींच रहा था, ऐसा करनेसे ऐसी टङ्कारध्वनि होती थी मानो वज्रके टकरानेसे भयंकर शब्द प्रकट हुआ हो ॥ ३९ ॥

रथेन खरयुक्तेन ध्वजेन भुजगेन ह।
शुशुभे स्यन्दनस्थः स संध्यागत इवांशुमान् ॥ ४० ॥

उसके रथमें गधे जुते हुए थे तथा उसके ऊपर सर्पके चिह्नसे युक्त ध्वजा फहराती थी। उस रथपर बैठा हुआ वह दैत्य संध्याकालके सूर्यकी भाँति शोभा पा रहा था ॥ ४० ॥

रथैस्तु बहुसाहस्रैर्हेमपट्टविभूषितैः।
शूलमुद्गरसम्पूर्णैर्जलपूर्णैरिवाम्बुदैः।
स दैत्येन्द्रोऽभिचक्राम तस्मिन् युद्ध उपस्थिते ॥ ४१ ॥

उस युद्धके उपस्थित होनेपर वह दैत्यराज स्वर्णपट्टसे विभूषित तथा शूल और मुद्गरसे युक्त कई सहस्र रथोंके साथ आगे बढ़ने लगा। वे रथ जलसे भरे हुए मेघोंके समान जान पड़ते थे ॥ ४१ ॥

पवनसमगतिर्विशालवक्षा
विकसितपङ्कजचारुगर्भगौरः।
प्रवररथगतो ययौ स तूर्णं
त्रिदशगणैरभिलक्षितप्रभावः ॥ ४२ ॥

वायुके समान उसकी प्रखर गति थी, वक्षःस्थल विशाल था, प्रफुल्ल कमलके मनोहर भीतरी भागके समान उसकी गौर कान्ति थी, वह उस श्रेष्ठ रथपर बैठकर तुरंत युद्धके लिये चल दिया। देवताओंने उसके प्रभावको अनेक बार देखा था ॥ ४२ ॥

सिंहिकातनयश्चैव राहुर्नाम महासुरः।
विकटः पर्वताकारः शतशीर्षा शतोदरः ॥ ४३ ॥

सिंहिकाका पुत्र राहु नामक महान् असुर भी युद्धके लिये आया था। उसकी आकृति बड़ी विकट थी, डीलडौल पर्वतके समान जान पड़ता था। उसके सैकड़ों सिर और पेट थे ॥ ४३ ॥

पीतमाल्याम्बरधरो जाम्बूनदविभूषितः।
स्निग्धवैदूर्यसंकाशः पद्मपत्रनिभेक्षणः ॥ ४४ ॥

वह पीले रंगके फूलोंकी माला और पीला ही वस्त्र धारण करता था, जाम्बूनदके आभूषणोंसे विभूषित था। स्निग्ध वैदूर्यमणिके समान उसकी श्याम कान्ति थी तथा कमलदलके समान सुन्दर नेत्र थे ॥ ४४ ॥

सर्वकाञ्चनसंयुक्तं मणिजालपरिष्कृतम्।
पताकाशतसंकीर्णं युक्तं परमवाजिभिः ॥ ४५ ॥

उसका रथ पूर्णतः सुवर्णसे जड़ा हुआ था। मणिमय झालरोंसे उसको सजाया गया था। वह सैकड़ों पताकाओंसे व्याप्त था तथा उसमें उत्तम घोड़े जुते हुए थे ॥ ४५ ॥

आरुरोह रथं दिव्यं दैत्यः परमवीर्यवान्।
ननाद च महानादं कम्पयन् वसुधातलम् ॥ ४६ ॥

वह परम पराक्रमी दैत्य उस दिव्य रथपर आरूढ़ हुआ और पृथ्वीतलको कँपाता हुआ बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ ४६ ॥

मयेन विहितो दिव्यस्तस्य केतुर्हिरण्मयः।
मयूरपक्षसंकाशं कवचं चायसं महत् ॥ ४७ ॥

मयासुरने उसके लिये दिव्य सुवर्णमय ध्वजका निर्माण किया था, साथ ही मोरपंखके समान विशाल लौहमय कवच भी बनाया था ॥ ४७ ॥

भीमवेगरवैश्चान्यै रथैर्दिव्यैः सुभासुरैः।
नानाप्रहरणाकीर्णैः सेव्यमानो महाबलः ॥ ४८ ॥

उस महाबली दानवकी सेवामें भयंकर वेग और शब्दवाले दूसरे-दूसरे बहुत से दिव्य एवं तेजस्वी रथ भी उपस्थित थे, जो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे भरे हुए थे ॥ ४८ ॥

असुरगणपतिर्गजेन्द्रगामी
अतिरभसगतिर्महासुराणाम्।
अरिगणमभितो विभुः प्रयातो
गिरिवरमस्तमिवांशुमान् सुदीप्तः ॥ ४९ ॥

असुरगणोंका स्वामी राहु गजराजके समान मस्तीके साथ चलता था। उन महान् असुरोंमें उसकी चाल बहुत तेज थी। वह प्रभावशाली योद्धा शत्रुसमूहके पास उसी प्रकार बढ़ता चला गया, जैसे अत्यन्त दीप्तिमान् सूर्य अस्ताचलके समीप चले जा रहे हों ॥ ४९ ॥

विप्रचित्तिस्तु तत्रैव दनोर्वंशविवर्धनः।
कश्यपस्यात्मजः श्रीमान् ब्रह्मणस्तेजसा समः ॥ ५० ॥

दानववंशकी वृद्धि करनेवाला विप्रचित्ति भी वहीं आ पहुँचा था। वह कान्तिमान् दानव साक्षात् कश्यपजीका पुत्र तथा ब्रह्माजीके समान तेजस्वी था ॥ ५० ॥

यष्टा क्रतुसहस्राणां वेदवित् तपसान्वितः।
स्वयम्भुवा दत्तवरो वरदश्च स्वयम्भुवः।
ईशित्वं च महत्त्वं च वशित्वं च महाद्युतेः ॥ ५१ ॥

वह सहस्रों यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला, वेदवेत्ता और तपस्वी था। ब्रह्माजीने उसे वर दे रक्खा था और वह स्वयं भी ब्रह्माजीको वर देनेमें समर्थ हो गया था। उस महातेजस्वी विप्रचित्तिको ईशित्व, महत्त्व (महिमा) और वशित्व आदि सिद्धियाँ उपलब्ध थीं ॥ ५१ ॥

ऐश्वर्यगुणसम्पन्नो ब्रह्मेव स्वयमूर्जितः।
सार्धं पुत्रैश्च पौत्रैश्च संनह्यत महाबलः ॥ ५२ ॥

वह ब्रह्माजीके समान ऐश्वर्य-गुणसे सम्पन्न तथा ओजस्वी था। वह महाबली दानव अपने पुत्रों और पौत्रोंके साथ कवच बाँधकर युद्धके लिये तैयार हो गया ॥ ५२ ॥

सर्वे मायाधराः शूराः कृतास्त्रा रणदुर्जयाः।
सर्वे कमलवर्णाभा हेमकूटोच्छ्रयोच्छ्रयाः ॥ ५३ ॥

वे सब-के-सब माया धारण करनेवाले, शूर, अस्त्रवेत्ता तथा रणदुर्जय थे। उन सबकी कान्ति कमलके समान थी। वे हेमकूट पर्वतके शिखरके समान ऊँचे कदके थे ॥ ५३ ॥

सर्वे रजतसंकाशाः कैलासशिखरोपमाः।
मयेन निर्मितास्तेषां सर्वे मायामया रथाः ॥ ५४ ॥

वे सब-के-सब रूप-रंग और वेष-भूषासे रजत (चाँदी) के समान श्वेत प्रतीत होते थे। कैलास-शिखरके समान जान पड़ते थे। मयने उन सबके लिये मायामय रथका निर्माण किया था ॥ ५४ ॥

विचरन्तो व्यराजन्त शारदा इव तोयदाः।
सर्वे हंसध्वजाः श्वेताः श्वेतदण्डसमुच्छ्रयाः ॥ ५५ ॥

उन सभी रथोंपर हंसचिह्नित श्वेत ध्वज फहराते थे तथा उन उन्नत श्वेत दण्डोंके कारण उन रथोंकी ऊँचाई बहुत बढ़ गयी थी। वे रथ शरद् ऋतुके श्वेत बादलोंके समान आकाशमें विचरते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ५५ ॥

श्वेताम्बरधरा दैत्याः श्वेतमाल्यविभूषिताः।
श्वेतातपत्राः सर्वे ते श्वेतकुण्डलमण्डिताः ॥ ५६ ॥

वे दैत्य श्वेत वस्त्र धारण किये हुए थे और श्वेत पुष्पोंकी मालाओंसे अलंकृत थे। उन सबके छत्र भी श्वेत ही थे और उनके कानोंमें श्वेत कुण्डल शोभा दे रहे थे ॥ ५६ ॥

मुक्ताहारवृतोरस्का भान्ति नाकेश्वरा इव।
महाग्रहनिभाकाराः शत्रूणां लोमहर्षणाः ॥ ५७ ॥
रक्तचित्राम्बरधराश्चित्राभरणभूषिताः।

उनके वक्षःस्थल मोतियोंके हारोंसे अलंकृत थे। वे स्वर्गलोकके अधीश्वर-से जान पड़ते थे। उनके आकार महान् ग्रहोंके समान तेजस्वी थे और वे शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देते थे। उनमेंसे कितने ही दानव लाल और विचित्र वस्त्र धारण करनेवाले तथा विचित्र आभूषणोंसे विभूषित थे ॥

त्रैलोक्यविजयं नाम रथमास्थाय वीर्यवान्।
कैलासशिखराकारमघ्नलवायतान्तरम् ॥ ५८ ॥

पराक्रमी विप्रचित्ति 'त्रैलोक्यविजय' नामक रथपर आरूढ़ होकर आया था। उस रथका आकार कैलासशिखरके समान था। उसके भीतरी भागकी लंबाई बत्तीस हाथकी थी ॥

युक्तं वाजिसहस्रेण सितेन सितवर्चसा।
पताकाशतसंछन्नं नानायुद्धविकल्पितम् ॥ ५९ ॥

उसमें श्वेत कान्तिसे युक्त एक सहस्र श्वेत घोड़े जुते हुए थे। वह सैकड़ों पताकाओंसे आच्छादित था तथा उसके भीतर नाना प्रकारके आयुध सजाकर रखे गये थे ॥ ५९ ॥

हिमांशुकुन्दप्रतिमं विशालं
सितातपत्रं दनुजेश्वरस्य।
विभाति तस्योपरि धार्यमाणं
श्वेताद्रिमूर्धोपगतः शशाङ्कः ॥ ६० ॥

उस दानवराजके ऊपर तना हुआ इन्दु और कुन्दके समान वर्णवाला विशाल श्वेत छत्र श्वेताचलके शिखरपर उदित हुए चन्द्रदेवके समान शोभा पा रहा था ॥ ६० ॥

केशी दानवमुख्यस्तु जिह्मस्ताम्राक्षदर्शनः।
नीलमेघचयप्रख्यः कालः पुरुषविग्रहः ॥ ६१ ॥

दानवोंमें प्रधान केशी बड़ा कुटिल था। उसके नेत्र ताँबेके समान लाल दिखायी देते थे। उसकी कान्ति मेघोंकी काली घटाके समान थी। वह पुरुषके आकारमें काल था ॥

महाग्रहनिभाकारः शत्रूणां लोमहर्षणः।
चित्रमाल्याम्बरधरो रक्ताभरणभूषितः ॥ ६२ ॥

उसकी आकृति विशाल ग्रहके समान थी। वह शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। उसने विचित्र माला और वस्त्र धारण कर रखे थे तथा वह लाल रंगके आभूषणोंसे विभूषित था ॥ ६२ ॥

शताक्षः शतबाहुश्च हरिश्मश्रुर्महाबलः।
शङ्कुकर्णो महानादो वपुषा घोरदर्शनः ॥ ६३ ॥

सौ आँखें, सौ भुजाएँ, (पचास मुख) काली या नीली दाढ़ी-मूँछ, खूँटे-जैसे कान तथा शरीर देखनेमें भयंकर— यही उसकी रूपरेखा थी। वह महाबली दानव बड़े जोरसे गर्जना करता था ॥ ६३ ॥

युक्तं महिषकैर्दिव्यैर्घण्टाकोटिकृतस्वनम्।
महावारिधराकारमास्थाय रथमुत्तमम् ॥ ६४ ॥

उसके उत्तम रथका आकार महान् मेघके समान था। उसमें करोड़ों घण्टाओंकी ध्वनि होती रहती थी तथा उसमें दिव्य भैंसे जुते हुए थे। केशी उसी रथपर आरूढ़ होकर आया था ॥

ध्वजेनोष्ट्रेण महता नीलकेसरवर्चसा।
नानारागविचित्राभिः पताकाभिर्विभूषितम् ॥ ६५ ॥

वह रथ नील केसरकी-सी कान्ति और ऊँटके चिह्नवाले विशाल ध्वजसे तथा नाना रंगोंके कारण विचित्र दिखायी देनेवाली पताकाओंसे अलंकृत था ॥ ६५ ॥

द्विपञ्चाशत्सहस्राणि रथानामुग्रवर्चसाम्।
ययुस्तस्यासुरेन्द्रस्य प्रयातस्य सुरान् प्रति ॥ ६६ ॥

देवताओंकी ओर बढ़े जाते हुए उस असुरेश्वर केशीके साथ भयंकर तेजवाले बावन हजार रथी भी जा रहे थे ॥ ६६ ॥

भान्ति भिन्नाञ्जननिभाः प्रयातस्य महात्मनः।
दंष्ट्रार्धचन्द्रवदनाः सबलाका इवाम्बुदाः ॥ ६७ ॥

यात्रा करते समय कटे हुए कोयलेके समान काले और दाढ़ोंके कारण अर्धचन्द्राकार प्रतीत होनेवाले उस महाकाय दानवके मुख बगुलोंकी पंक्तियोंसे युक्त मेघोंके समान जान पड़ते थे ॥ ६७ ॥

तत् तस्य वैदूर्यसुवर्णचित्रं
विद्युत्प्रभं भास्कररश्मितुल्यम्।
किरीटमाभात्यसुरोत्तमस्य
दावाग्निदीप्तं शिखरं यथाद्रेः ॥ ६८ ॥

असुरशिरोमणि केशीका किरीट वैदूर्यमणि और सुवर्णके संयोगसे विचित्र शोभा पाता था, विद्युत्की-सी प्रभासे प्रकाशित हो रहा था तथा सूर्यकी रश्मियोंके समान उद्भासित होता था। उससे केशीका मस्तक दावानलसे उद्दीप्त हुए पर्वत-शिखरके समान प्रतीत होता था ॥ ६८ ॥

वृषपर्वासुरश्चैव श्रीमांश्च सुरसूदनः।
आरुरोह रथं दिव्यं मेरुशृङ्गमिवांशुमान् ॥ ६९ ॥

देवताओंका संहार करनेवाला तेजस्वी असुर वृषपर्वा अपने दिव्य रथपर उसी प्रकार आरूढ़ हुआ, जैसे अंशुमाली सूर्य मेरु पर्वतके शिखरपर आरूढ़ होते हैं ॥ ६९ ॥

प्रवालजाम्बूनदचित्रकूबरं
महारथं भारसहं महार्हम्।
स्वलंकृतं राजतनेमिमण्डलं
गभस्तिनक्षत्रतडिन्निकाशम् ॥ ७० ॥

उसके महान् रथका कूबर मूँगे और सुवर्णसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभा पाता था। वह बहुमूल्य रथ भार सहन करनेमें समर्थ था। उसके पहियोंका नेमि-भाग (किनारा) चाँदीसे मँढ़ा गया था। उस रथको अच्छी तरह सजाया गया था। वह सूर्यकी किरणों, नक्षत्रों तथा विद्युत्के समान प्रकाशित होता था ॥ ७० ॥

केयूरयुक्ताङ्गदनद्धबाहुः
सहस्रतारेण च चर्मणा सः।
सांग्रामिकैराभरणैश्च चित्रै-
र्मध्याह्नसूर्यप्रतिमो बभूव ॥ ७१ ॥

वृषपर्वाने अपनी भुजाओंमें केयूरयुक्त अङ्गद (बाजूबंद) पहन रखे थे। वह सहस्र तारिकाओंके चिह्नोंसे युक्त ढाल तथा युद्धोपयोगी विचित्र आभूषणोंसे सुशोभित हो मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति देदीप्यमान होता था ॥ ७१ ॥

महाबलो बद्धतलाङ्गुलित्रो
बलोत्कटः किंशुकलोहिताक्षः।
प्रगृह्य चामीकरचारुचित्रं
चापं स्थितो वृत्तविशालनेत्रः ॥ ७२ ॥

उसका बल महान् था। उसने अपने दोनों हाथोंमें

दस्ताने बाँध रखे थे। वह बलसे उन्मत्त हो रहा था। उसकी आँखें पलाशके फूलकी भाँति लाल थीं। वह सुवर्णसे जटित होनेके कारण मनोहर एवं विचित्र धनुष लेकर खड़ा था। उसके नेत्र गोल गोल और बड़े-बड़े थे ॥ ७२ ॥

महासुरेन्द्रश्च महासुरैर्वृतो
बलिस्तदा स्यन्दनमारुरोह ।
वैदूर्यहेमोपचितं विशालं
विद्युत्प्रभं षोडशनल्वमात्रम् ॥ ७३ ॥

तदनन्तर उस समय बड़े-बड़े असुरोंसे घिरे हुए महान् असुरराज बलि रथपर आरूढ़ हुए। उनका वह विशाल रथ वैदूर्यमणि और सुवर्णसे जटित था, विद्युत्के समान प्रकाशित होता था और उसकी लंबाई चौसठ हाथकी थी ॥ ७३ ॥

युक्तं सहस्रेण दितेः सुतानां
गजाननानां विकृताकृतीनाम् ।
चामीकरोरःस्थलभूषितानां
प्रनर्दतां प्रावृषि चाम्बुदानाम् ॥ ७४ ॥

उसमें हाथीके-से मुख और विकट आकारवाले एक सहस्र दैत्य जुते हुए थे। उन सबके वक्षःस्थल सुवर्णसे विभूषित थे तथा वे वर्षाकालके मेघोंके समान जोर-जोरसे गर्जना करते थे ॥ ७४ ॥

महारथं देवरथप्रकाशं
सहस्रमायेन मयेन सृष्टम् ।
ईहामृगाक्रीडितभक्तिचित्रं
दिव्यं रथं दिव्यरथानुयातम् ॥ ७५ ॥

वह महान् रथ देवताओंके रथ (विमान) की भाँति प्रकाशित होता था। सहस्रों मायाओंके ज्ञाता मयासुरने उसका निर्माण किया था। उसके भीतर क्रीडा-मृग और उनके क्रीडास्थलके विभिन्न चित्र बने हुए थे, जो उस दिव्य रथकी शोभा बढ़ाते थे। उस रथके पीछे और भी बहुत-से दिव्य रथ चलते थे ॥ ७५ ॥

सकिङ्किणीकं विमलं सुविस्तृतं
हिरण्मयैः पद्मशतैरलंकृतम् ।
अभ्याददे वैजयिकीं जयाय
स्रजं बलिर्हेमविचित्रपुष्पाम् ॥ ७६ ॥

उसमें छोटी-छोटी घण्टियाँ लगी थीं। वह निर्मल एवं सुविस्तृत रथ सैकड़ों सुवर्णमय कमलोंसे अलंकृत था। उसपर आरूढ़ होकर बलिने विजयके लिये वैजयन्तीकी माला ग्रहण की, जिसमें विचित्र सुवर्णमय पुष्प गुँथे हुए थे ॥ ७६ ॥

आवध्य मालां प्रभया विचित्रां
बलिस्तदा भाति भुजैर्विशालैः ।
रराज तैः सर्वसमृद्धियुक्तै-
र्महार्चिषा सूर्य इवाम्बरस्थः ॥ ७७ ॥

उस समय राजा बलि वह दिव्य प्रभासे युक्त विचित्र माला धारण करके सम्पूर्ण समृद्धियोंसे युक्त अपनी विशाल भुजाओंके द्वारा उसी तरह शोभा पा रहे थे, जैसे आकाशमें स्थित हुए सूर्य अपनी महाप्रभासे अत्यन्त उद्भासित होते रहते हैं ॥

स्रजं तदा वध्यति चास्य दुर्गा
सर्वासुराणामिव हारभूताम् ।
वैरोचनिः सर्वश्रियाभिजुष्टो
विभ्राजतेऽसौ शरदीव चन्द्रः ॥ ७८ ॥

उस समय साक्षात् दुर्गादेवीने समस्त असुरोंके लिये हारस्वरूप उस पुष्पमालाको बलिके गलेमें पहनाया था। उसे पहनकर सब प्रकारकी शोभा-सम्पत्तिसे सेवित विरोचन-कुमार बलि शरद्-ऋतुके चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित होने लगे ॥ ७८ ॥

मेरोस्तटे वा ज्वलनप्रकाशे
ह्यादित्यसंयुक्तमिवाभ्रजालम् ।
प्रासाश्च पाशाश्च हिरण्यबद्धा
वर्माणि खड्गाश्च परश्वधाश्च ॥ ७९ ॥
धनूंषि वज्रायुधसप्रभाणि
दिव्या गदा वज्रमुखाश्च शक्त्यः ।
दिव्याश्च खड्गा विशिखाश्च दीप्ता
नाराचपूर्णा विविधाश्च तूणाः ॥ ८० ॥
धृता रथे दैत्यवृषस्य तस्य
चकाशिरे प्रज्वलिता यथोल्काः ।

अथवा अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले मेरु पर्वतके तट-प्रान्तमें सूर्यसे संयुक्त हुए मेघसमूहकी जैसी शोभा होती है, वैसी ही शोभा उस समय राजा बलिकी हो रही थी। उन दैत्यप्रवर बलिके रथमें प्रास, सुवर्णजटित पाश, कवच, खड्ग, फरसे, वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले धनुष, दिव्य गदा, वज्रमुखी शक्तियाँ, दिव्य खड्ग, प्रज्वलित बाण तथा उन बाणोंसे भरे हुए नाना प्रकारके तरकस रखे गये थे, जो प्रज्वलित उल्काओंके समान प्रकाशित होते थे ॥७९-८०½॥

तं चामरापीडधराः सुदंष्ट्राः
सुवर्णमुक्तामणिहेमचित्राः ॥ ८१ ॥
वीजन्ति वालव्यजनैर्विनीता
महासुराः स्यन्दनवेदिकास्थाः ।

हाथमें चँवर और सिरपर पगड़ी धारण किये, सोना, मोती, मणि और हेमके विचित्र आभूषणोंसे अलंकृत, सुन्दर दाढ़ोंवाले और विनयशील महान् असुर उस रथकी वेदिका-पर खड़े हो वालव्यजनों (चँवरों) से राजा बलिको हवा करते थे ॥ ८१½ ॥

अयःशिरा अश्वशिरा दुरापः
शिबिर्मतङ्गो विशिराः शताक्षः ॥ ८२ ॥
अयो निकुम्भः क्रथनश्च दानवो
ररक्षिरे ते दश दानवाधिपम् ।

अयःशिरा, अश्वशिरा, दुराप, शिबि, मतङ्ग, विशिरा

शताक्ष, अयस्, निकुम्भ और क्रथन—ये दस दानव दानवराज बलिकी रक्षामें तत्पर रहते थे ॥ ८२½ ॥

पुरश्चराश्चैव सहस्रशोऽसुराः
पदातयो दानवराजरक्षिणः ॥ ८३ ॥
शतघ्निचक्राशनिशक्तिपाणयः
प्रजग्मुरग्रेऽनिलतुल्यवेगिनः ।

दानवराज बलिकी रक्षाके लिये हजारों पैदल असुर उनके आगे-आगे भी चलते थे । वे सब शतघ्नी, चक्र, अशनि और शक्ति हाथमें लेकर वायुके समान वेगसे आगे-आगे चल रहे थे ॥ ८३½ ॥

घण्टाः सुशब्दास्तपनीयबद्धा
आडम्बरा गर्गरडिण्डिमाश्च ॥ ८४ ॥
महास्वना दुन्दुभयश्च नेदू
रथप्रयाणे दितिजेश्वरस्य ।

दैत्यराज बलिका रथ जब प्रस्थित हुआ, उस समय सुवर्णजटित घण्टे सुन्दर शब्द करते हुए बजने लगे । तुरही या बिगुल, गर्गर (प्राचीन वाद्यविशेष), नगाड़े तथा महान् शब्द करनेवाली दुन्दुभियाँ—इन सबकी तुमुल ध्वनि होने लगी ॥ ८४½ ॥

तस्योत्थितः काञ्चनवेदिकाढ्यो
हिरण्मयो दिव्यमहापताकः ॥ ८५ ॥
महाध्वजो वै तपनीयनद्धो
रराज वीरस्य यथा विवस्वान् ।

वीर राजा बलिका सुवर्णजटित और विशेषतः सोनेका ही बना हुआ विशाल ध्वज ऊपरको उठा हुआ था, उसकी दिव्य पताका बहुत बड़ी थी तथा वह सुवर्णमयी वेदीसे संयुक्त था । वह विशाल ध्वज भगवान् सूर्यके समान प्रकाशित होता था ॥ ८५½ ॥

समुच्छ्रितं काञ्चनमातपत्रं
स्रक्काञ्चनी वक्षसि चास्य भाति ॥ ८६ ॥
समन्ततश्चाप्यसुराश्चरन्ति
दैत्यर्षयः प्राञ्जलयो जयन्ति ।

राजा बलिके ऊपर सोनेका ऊँचा छत्र तना हुआ था और उनके वक्षःस्थलपर सुवर्णमयी माला शोभा पा रही थी । उनके चारों ओर बहुत-से असुर विचरते थे और दैत्य, ऋषि हाथ जोड़कर जय-जयकार करते थे ॥ ८६½ ॥

पुरोहिताः शत्रुवधे समाहिता-
स्तथैव चान्ये श्रुतशीलवृद्धाः ॥ ८७ ॥
जपैश्च मन्त्रैश्च तथौषधीभि-
र्महात्मनः स्वस्त्ययनं प्रचक्रुः ।

राजा बलिके पुरोहित तथा वेद और शीलमें बढ़े-चढ़े दूसरे ब्राह्मण राजाके शत्रुओंके वधके उद्देश्यसे एकाग्रचित्त हो मन्त्रजप, वेदपाठ तथा ओषधियोंके प्रयोगद्वारा उन महात्मा नरेशके लिये स्वस्तिवाचन करते थे ॥ ८७½ ॥

स तत्र वस्त्राणि शुभाश्च गावः
फलानि पुष्पाणि तथैव निष्कान् ॥ ८८ ॥
बलिर्द्विजेभ्यः प्रयतः प्रयच्छन्
विराजतेऽतीव यथा धनेशः ।

राजा बलि अपने मनको संयममें रखकर वहाँ उन ब्राह्मणोंको वस्त्र, सुन्दर गौएँ, फल-फूल और पदक अधिक मात्रामें देते हुए धनाध्यक्ष कुबेरके समान अतिशय शोभा पा रहे थे ॥ ८८½ ॥

सहस्रसूर्यो बहुकिङ्किणीकः
परार्ध्यजाम्बूनदहेमचित्रः ॥ ८९ ॥
सहस्रचन्द्रायुततारकश्च
रथो बलेरग्निरिवावभाति ।

बलिका रथ सहस्र सूर्योंके चित्रसे शोभित था, उसमें बहुत-सी छोटी-छोटी घंटियाँ लटकायी गयी थीं । उसमें बहुमूल्य जाम्बूनद और सुवर्ण जड़े गये थे, जिनसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी । सहस्रों चन्द्रमाओं तथा दस हजार तारिकाओंसे युक्त बलिका वह रथ अग्निके समान उद्भासित हो रहा था ॥ ८९½ ॥

तमास्थितो दानवसंगृहीतं
महाबलः कार्मुकधृक् सबाणः ॥ ९० ॥
उद्वर्तयिष्यंस्त्रिदशेन्द्रसेना-
मतीव रौद्रं स बिभर्ति रूपम् ।

उस रथकी बागडोर एक दानवने ले रखी थी । महाबली बलि उसपर आरूढ़ हो धनुष और बाण लेकर अत्यन्त भयंकर रूप धारण किये हुए थे । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो वे देवेन्द्रकी सेनाका संहार कर डालेंगे ॥

स वेगवान् वीररथौघसंकुलः
प्रयाति देवान् प्रति दैत्यसागरः ॥ ९१ ॥
महार्णवो वीचितरङ्गसंकुलो
यथा जलौघैर्युगसंक्षये तथा ।

वीर रथियोंके प्रवाहसे व्याप्त हुआ वह वेगशाली दैत्य-सागर देवताओंकी ओर बढ़ा जा रहा था । ठीक उसी तरह जैसे प्रलयकालमें जलके प्रवाह और उत्ताल तरङ्गोंसे व्याप्त महासागर समस्त त्रिलोकीको डुबो देनेके लिये बढ़ने लगता है ॥

त्रैलोक्यवित्रासकरैर्वपुर्भि-
स्तान्यग्रतो यान्ति बले रथस्य ॥ ९२ ॥
महाबलान्युच्छ्रितकार्मुकाणि
सपर्वतानीव वनानि राजन् ॥ ९३ ॥

राजन्! बलिके रथके आगे उनके बड़े-बड़े सैनिक धनुष उठाये तीनों लोकोंको भयभीत कर देनेवाले शरीरोंसे बढ़े जा रहे थे, उस समय वे पर्वतोंसहित वनोंके समान जान पड़ते थे ॥ ९२-९३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामने बलेरुद्योगे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें बलिका उद्योगविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

इन्द्र आदि देवताओं और लोकपालोंका युद्धके लिये उद्योग और प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

श्रुतस्ते दैत्यसैन्यस्य विस्तरो जनमेजय।
भूयस्त्रिदशसैन्यस्य शृणु विस्तरमादितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तुमने दैत्योंकी सेनाका विस्तारपूर्वक वर्णन सुन लिया; अब पुनः देवताओंकी सेनाका विस्तार आरम्भसे ही बता रहा हूँ; सुनो ॥ १ ॥

सुराधिपस्तु भगवानाज्ञापयत वै सुरान्।
मरुद्गणांस्तथादित्यान् विश्वान् देवांश्च वासवः॥ २ ॥
वसूनष्टौ भृशं सर्वान् यक्षरक्षोमहोरगान्।
विद्याधरगणान् सर्वान् गन्धर्वांश्च महाबलान् ॥ ३ ॥
महार्णवांश्च शैलांश्च तथा रुद्रान् महौजसः।
यमवैश्रवणौ चोभौ वरुणं च जनाधिपम् ॥ ४ ॥

देवताओंके अधिपति भगवान् इन्द्रने देवता, मरुद्गण, आदित्य, विश्वेदेव, आठ वसु, यक्ष, राक्षस, बड़े-बड़े नाग, समस्त विद्याधर-गण, महाबली गन्धर्व, महासागर, पर्वत, महातेजस्वी रुद्र, यम, कुबेर तथा राजा वरुणको युद्धके लिये तैयार होनेकी आज्ञा दी ॥ २–४ ॥

ये तु सिद्धा महात्मानः पितरश्च मनस्विनः।
राजर्षयश्च शतशो योगसिद्धास्तथैव च ॥ ५ ॥
त्रिदशाज्ञापकः शक्र आज्ञापयति वीर्यवान्।
भवन्तो दैत्यनाशाय संनह्यन्तामिति प्रभुः ॥ ६ ॥

उनके आदेशकी घोषणा इस प्रकार हुई—'जो सिद्ध महात्मा हैं, जो मनस्वी पितर हैं तथा जो राजर्षि और सैकड़ों योग-सिद्ध पुरुष हैं, उन सबको सर्वसमर्थ, देवशासक, पराक्रमी इन्द्र आज्ञा देते हैं कि आपलोग दैत्योंका विनाश करनेके लिये कमर कसकर तैयार हो जायँ' ॥ ५-६ ॥

शक्रस्य वचनं श्रुत्वा ततः सर्वे दिवौकसः।
संनह्यन्त महात्मानः शक्रस्य समविक्रमाः ॥ ७ ॥

देवेन्द्रका यह वचन सुनकर उनके समान ही पराक्रम प्रकट करनेवाले समस्त महामनस्वी देवता युद्धके लिये तैयार होने लगे ॥ ७ ॥

नानाकवचिनः सर्वे विचित्रकवचध्वजाः।
नानायुधोद्यतकरा मत्ता इव महागजाः ॥ ८ ॥

उन सबने नाना प्रकारके कवच धारण किये। उनके कवच और ध्वज विचित्र थे। वे हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये हुए थे और मतवाले गजराजोंके समान युद्धके लिये उद्यत थे ॥ ८ ॥

केचिदारुरुहुर्व्याघ्रान् केचिदारुरुहुर्गजान्।
केचिदारुरुहुर्नागान् केचिदारुरुहुर्वृषान् ॥ ९ ॥

उनमेंसे कुछ लोग व्याघ्रोंपर सवार थे और कुछ लोग हाथियोंपर। कोई नागोंपर चढ़े थे और कोई बैलोंपर ॥ ९ ॥

हरिनेत्रो हरिश्मश्रुर्द्विरदैरावृतध्वजम्।
रथं हरिहयैर्युक्तं स प्रायात् समरं प्रति ॥ १० ॥

इन्द्रके नेत्र सिंहके समान चमकीले हैं, उनकी मूँछ नीले रंगकी है, उनका ध्वज ऐरावत हाथीसे चिह्नित है, उनके रथमें हरे रंगके घोड़े जुते हुए हैं। वे उसी रथपर आरूढ़ हो समरकी ओर चले ॥ १० ॥

आदित्यवर्णं विरजं सुधौतं
त्वष्ट्रा स्वयं निर्मितमीश्वरार्थम्।
जालैश्च जाम्बूनदभक्तिचित्रै-
रलंकृतं काञ्चनदामभिश्च ॥ ११ ॥

उस रथकी कान्ति सूर्यके समान थी। वह निर्मल तथा स्वच्छ धुला हुआ था। साक्षात् विश्वकर्माने इन्द्रके लिये उसका निर्माण किया था। वह सोनेकी जालियों, जाम्बूनदकी चित्रभङ्गी तथा सुवर्णकी लड़ियोंसे अलंकृत था ॥ ११ ॥

सकूबरोपस्करवन्धुरेषं
विद्युत्प्रभाभिः कृतमाभिताम्रम्।
कैलासशृङ्गोपममिन्द्रयानं
सुचारुचारु प्रतिचक्रचक्रम् ॥ १२ ॥

कूबर, अन्य उपकरण तथा मनोहर ईषादण्डसहित वह रथ विद्युत्की प्रभासे ताम्रवर्णका हो गया था। वह इन्द्र-यान कैलास-शिखरके समान दिखायी देता था और मनोहरसे भी मनोहर तथा शत्रुमण्डलीपर शासन करनेवाला था ॥ १२ ॥

तारासहस्रैः खचितं ज्वलद्भि-
र्दैवार्हमाल्यार्चितसर्वदेहम्।

समुच्छ्रितश्रीध्वजमक्षयाक्षं
प्रज्वाल्यमानं पुरुषोत्तमेन ॥ १३ ॥

उसमें सहस्रों प्रकाशमान तारे जड़े हुए थे। उस रथका सम्पूर्ण अङ्ग देवोचित मालाओंसे पूजित था। उसमें शोभाशाली ऊँचा ध्वज फहरा रहा था तथा उसका धुरा कभी क्षीण होनेवाला नहीं था। पुरुषोत्तम इन्द्रकी कान्तिसे वह रथ और भी उद्भासित हो रहा था ॥ १३ ॥

आस्थाय तं भास्करमाशुवेगं
शचीपतिर्लोकपतिः सुरेशः।
वज्रस्य धर्ता भुवनस्य गोप्ता
ययौ महात्मा भगवान् महेन्द्रः ॥ १४ ॥

तीव्र वेगसे चलनेवाले उस तेजस्वी रथपर आरूढ़ हो तीनों लोकोंके स्वामी देवताओंके ईश्वर वज्रधारी भुवनरक्षक शचीपति महात्मा भगवान् महेन्द्र युद्धके लिये चले ॥ १४ ॥

आमुच्य वर्माथ सहस्रतारं
हुताशनादित्यसमप्रभावम् ।
सूर्यप्रभं चामुमुचे किरीटं
मालां च जाम्बूनदवैजयन्तीम् ॥ १५ ॥

उन्होंने अग्नि और सूर्यके समान प्रभापुञ्जसे परिपूर्ण सहस्र तारिकावाले कवचको धारण करके मस्तकपर सूर्यके समान तेजस्वी मुकुटको रखा और गलेमें पैरोंतक लटकनेवाली जाम्बूनदमयी वैजयन्तीमाला धारण की ॥ १५ ॥

त्वष्ट्रा कृतं भास्कररश्मिदीप्तं
सुतीक्ष्णघोरामलतीव्रधारम् ।
महासुराणां रुधिरार्द्रमुग्रं
प्रगृह्य वज्रं शतपर्व भीमम् ॥ १६ ॥

इसके बाद सौ पर्वोंसे युक्त भयंकर वज्र हाथमें लिया, जो बड़े-बड़े असुरोंके रक्तसे भींगा हुआ था। सूर्यकी किरणोंके समान उद्दीप्त होनेवाले उस उग्र वज्रका निर्माण साक्षात् विश्वकर्माने किया था। उसकी धार अत्यन्त तीक्ष्ण, घोर, निर्मल और तीव्र थी ॥ १६ ॥

महाशनी द्वे च महाग्रहाभे
दीप्ताममोघां च सशक्तिमुग्राम् ।
चक्रं तथैन्द्रं सुमहत्प्रतापं
प्रगृह्य शक्रः प्रययौ रणाय ॥ १७ ॥

महान् ग्रहोंके समान प्रकाशित होनेवाली दो अशनियाँ, प्रज्वलित एवं अमोघ उग्र शक्ति तथा महाप्रतापी ऐन्द्र-चक्र हाथमें लेकर देवराज इन्द्र युद्धके लिये प्रस्थित हुए ॥१७॥

सहस्रदृग् भूतपतिः सनातनः
सनातनानामपि यः सनातनः।
खड्गं च देवाधिपतिर्महात्मा
वैयाघ्रमादाय च चर्म चित्रम् ॥ १८ ॥

उनके सहस्र नेत्र हैं। वे सम्पूर्ण भूतोंके सनातन पति हैं। सनातनोंके भी सनातन हैं। देवताओंके भी अधिपति और महामनस्वी हैं। वे उस समय व्याघ्रचर्मकी बनी हुई विचित्र ढाल और एक तलवार लेकर संग्रामभूमिकी ओर चले ॥१८॥

क्षीरोदधिक्षोभसमुच्छ्रितानि
पुरामृतादुत्तमभूषणानि ।
देवासुराणां श्रमनिर्जितानि
सोमार्कनक्षत्रतडित्प्रभाणि ॥ १९ ॥

दत्तान्यदित्या मणिकुण्डलानि
युद्धे प्रयातस्य सुरेश्वरस्य।
तैर्भूषितो भाति सहस्रचक्षु-
रुद्द्योतयन् वै विदिशो दिशश्च॥ २० ॥

पूर्वकालमें क्षीरसागरके मन्थनसे जिनका प्राकट्य हुआ था, जो अमृतसे निकले थे तथा देवता और असुर दोनोंके परिश्रमसे उपलब्ध हुए थे, जिनकी प्रभा चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र और विद्युत्के समान थी तथा जो सर्वोत्तम भूषण माने गये थे, उन मणिमय कुण्डलोंको अदितिने युद्धके लिये प्रस्थित हुए देवराज इन्द्रको दिया। उनसे भूषित होकर सहस्रलोचन इन्द्र दिशाओं और विदिशाओंको प्रकाशित करते हुए बड़ी शोभा पाने लगे ॥ १९-२० ॥

हरिः प्रभुर्नेत्रसहस्रचित्रो
विभाति युद्धाभिमुखः सुरेन्द्रः।
यथा सितं शारदमभ्रकल्पं
नभस्तलं ऋक्षसहस्रचित्रम् ॥ २१ ॥

सर्वसमर्थ देवराज इन्द्र युद्धके लिये उत्सुक हो सहस्र नेत्रोंकी विचित्र शोभा धारण किये ऐसे जान पड़ते थे मानो शरद् ऋतुका मेघहीन स्वच्छ आकाश सहस्रों नक्षत्रोंसे चितकबरा दिखायी देता हो ॥ २१ ॥

स्तुवन्ति यान्तं विपुलैर्वचोभि-
र्जयाशिषा चोर्जितसत्त्ववीर्यम्।
अत्रिर्वसिष्ठो जमदग्निरूर्वो
बृहस्पतिर्नारदपर्वतौ च ॥ २२ ॥

बढ़े हुए धर्म तथा बल पराक्रमसे सम्पन्न इन्द्र जब युद्धके लिये चले, तब अत्रि, वशिष्ठ, जमदग्नि, ऊर्व, बृहस्पति, नारद तथा पर्वत—ये ऋषि अपने विपुल वचनोंद्वारा उन्हें विजयके लिये आशीर्वाद देते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥ २२ ॥

तमन्वयुर्देवगणा महेन्द्रं
प्रयान्तमादित्यसमानवर्चसम् ।
विश्वे च देवा मरुतस्तथैव
साध्यास्तथाऽऽदित्यगणाश्च सर्वे ॥२३॥

सूर्यके समान तेजस्वी महेन्द्रको जाते देख उनके पीछे विश्वेदेव, मरुद्गण, साध्य, आदित्यगण तथा अन्य सब देवता भी चले ॥ २३ ॥

ते देवराजस्य पुरंदरस्य
हयाश्च ये मातलिसंगृहीताः ।
प्रयान्ति देवेश्वरमुद्वहन्तो
नभस्तलं पद्भिरिवाक्षिपन्तः ॥ २४ ॥

जिनकी रास मातलिने पकड़ रखी थी, वे देवराज इन्द्रके घोड़े देवेश्वरकी सवारी ढोते हुए आकाशको अपने पैरोंसे तिरस्कृत करते हुए-से तीव्र गतिसे आगे बढ़ने लगे ॥ २४ ॥

ब्रह्मर्षयश्चैव महर्षयश्च
राजर्षयश्चाक्षयपुण्यलोकाः ।
सर्वेऽनुजग्मुः सहसा ज्वलन्तं
तेजोऽन्वितं शक्रममित्रसाहम् ॥ २५ ॥

अक्षय पुण्य-लोकोंमें निवास करनेवाले ब्रह्मर्षि, महर्षि तथा राजर्षि—ये सब लोग सहसा तेजसे प्रज्वलित होने और शत्रुका सामना करनेवाले इन्द्रके पीछे-पीछे चल दिये ॥२५॥

प्रगृह्य शूलांश्च परश्वधांश्च
दीप्तानि चापान्यशनीर्विचित्राः ।
वर्माणि चामुच्य हिरण्मयानि
प्रयान्ति सूर्यांशुसमप्रभाणि ॥ २६ ॥

वे हाथोंमें शूल, फरसे, दमकते हुए धनुष और विचित्र अशनि लेकर सूर्यके समान तेजस्वी सुवर्णमय कवच धारण करके युद्धके लिये आगे बढ़ने लगे ॥ २६ ॥

तथा कुबेरोऽश्वसहस्रयुक्तं
श्रेष्ठं रथं सर्वसहं महार्हम् ।
दिव्यं समारुह्य रणाय यातो
धनेश्वरो दीप्तगदाग्रहस्तः ॥ २७ ॥

इसी प्रकार धनेश्वर कुबेर सहस्र अश्वोंसे जुते हुए सब कुछ सहनेमें समर्थ बहुमूल्य एवं दिव्य उत्तम रथपर आरूढ़ हो युद्धके लिये चले, उनके हाथके अग्रभागमें दमकती हुई गदा शोभा पा रही थी ॥ २७ ॥

निशाचराः पावकधूमकाया
रक्षोवृषा रुद्रसखस्य तस्य ।
विशालनानायुधदीप्तहस्ता
यान्त्यग्रतो वैश्रवणस्य राज्ञः ॥ २८ ॥

विश्रवाके पुत्र तथा रुद्रके सखा राजा कुबेरके आगे नाना प्रकारके विशाल आयुधोंसे चमकीले हाथवाले बहुत-से निशाचारी राक्षसप्रवर जा रहे थे । उनके शरीर अग्नि और धूमके समान वर्णवाले थे ॥ २८ ॥

ते लोहिताक्षाः परिवार्य देवं
व्रजन्ति भिन्नाञ्जनचूर्णवर्णाः ।
यक्षोत्तमा यक्षपतिं धनेशं
रक्षन्ति वै पाशगदासिहस्ताः ॥ २९ ॥

जिनके शरीरकी कान्ति कटे हुए कोयलोंके चूर्णकी भाँति काली है, वे लाल नेत्रोंवाले यक्षशिरोमणि वीर हाथोंमें पाश, गदा और तलवार लिये यक्षराज धनेश्वर देवको चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा करते हैं ॥ २९ ॥

पुण्यः प्रभुः प्राणपतिर्जितात्मा
वैवस्वतो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
तडिद्गणाभं शतवाजियुक्तं
रथं समारोहत सूर्यकल्पम् ॥ ३० ॥

अपने मनको वशमें रखनेवाले, प्राणिमात्रके प्राणोंके अधिपति तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पुण्यात्मा प्रभु सूर्यपुत्र यम सौ घोड़ोंसे जुते हुए, विद्युत्-गणोंसे प्रकाशित तथा सूर्यके समान तेजस्वी रथपर आरूढ़ हुए ॥ ३० ॥

तं लोकपालं पितरोऽनुजग्मु-
र्विविक्तपापा ज्वलितास्तपोभिः ।
सर्वे च भूता भुवनप्रधाना
नानायुधव्यग्रकराः सुभीमाः ॥ ३१ ॥

तपस्यासे प्रकाशित होनेवाले पापरहित पितृगणोंने उन लोकपाल यमका अनुसरण किया । तीनों लोकोंमें जो प्रधान-प्रधान भयंकर भूत थे, वे सब हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर उनके पीछे-पीछे चले ॥ ३१ ॥

दण्डं महास्त्रं परिगृह्य देवो
लोकाङ्कुशं निग्रहनिश्चितार्थम् ।
हिरण्मयानां कमलोत्पलानां
मालां मनोज्ञामवसज्य कण्ठे ॥ ३२ ॥

समस्त जगत्पर अङ्कुश (नियन्त्रण) रखनेवाले दण्ड नामक महान् अस्त्रको, जो शत्रुओंका निश्चितरूपसे निग्रह करनेवाला था, हाथमें लेकर यमराजने अपने कण्ठमें 'सुवर्णमय कमलों और उत्पलोंकी मनोहर माला पहन ली थी ॥३२॥

स्थितोऽस्थिमेदामिषलोहितार्द्रं
सर्वासुराणां निधनं विरूपम् ।
तेजोमयं मुद्गरमुग्ररूपं
विकर्षमाणोऽरुणधूम्रनेत्रः ॥ ३३ ॥

उनके नेत्र अरुण और धूम्रवर्णके थे । वे रथपर बैठकर अपने उस तेजोमय, भयंकर एवं विरूप मुद्गरको साथ लिये जा रहे थे, जो समस्त असुरोंके लिये कालरूप था और उनके मेद, मांस, अस्थि तथा रक्तसे भीगा हुआ था ॥ ३३ ॥

समन्वितो व्याधिशतैरनेकै-
र्ययौ हरिश्मश्रुरुदारसत्त्वः ।
महासुराणां निधनाय बुद्धिं
चक्रे तदा व्याधिपतिः कृतान्तः ॥ ३४ ॥

उनकी मूँछ काली या नीली थी । उनका अन्तःकरण उदार था । रोग-व्याधियोंके स्वामी उन यमराजने नाना प्रकारकी सैकड़ों व्याधियोंको साथ लेकर बड़े-बड़े असुरोंके विनाशका निश्चय कर लिया था ॥ ३४ ॥

ततस्त्रिशीर्षैर्भुजगैर्बृहद्भि-
र्युक्तं रथं हेमचितं महात्मा।
आस्थाय कुन्देन्दुनिभं जलेशो
ययौ रणायासुरदर्पहन्ता ॥ ३५ ॥

तदनन्तर असुरोंके दर्पका दमन करनेवाले जलके स्वामी महात्मा वरुण कुन्द और चन्द्रमाके समान उज्ज्वल तथा सुवर्णजटित रथपर, जिसमें तीन सिरवाले विशालकाय सर्प जुते हुए थे, आरूढ़ हो युद्धके लिये चले ॥ ३५ ॥

वैदूर्यमुक्तामणिभूषिताङ्ग-
स्तेजोमयः पाशगृहीतहस्तः।
महासुराणां निधनाय देवः
प्रयाति रूप्याङ्गदबद्धबाहुः ॥ ३६ ॥

उनके अङ्ग वैदूर्य, मुक्ता एवं मणियोंसे विभूषित थे, उनकी भुजाओंमें चाँदीके बाजूबंद बँधे हुए थे और उन्होंने अपने हाथमें पाश ले रखा था, इस प्रकार वे तेजस्वी देवता वरुण उन महान् असुरोंके विनाशके लिये समराङ्गणकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ३६ ॥

अन्वीयमानो जलदेवताभि-
र्निषेव्यमाणो जलजैश्च सत्त्वैः।
संस्तूयमानश्च महर्षिवृन्दैः
सम्पूज्यमानश्च महाभुजङ्गैः ॥ ३७ ॥

उस समय जलके अधिष्ठाता देवता उनका अनुसरण करते थे। जलमें उत्पन्न होनेवाले उनका अभिषेक कर रहे थे। महर्षियोंके समुदाय उनके गुण गा रहे थे और बड़े-बड़े भुजंग उनकी पूजामें लगे थे ॥ ३७ ॥

कैलासशृङ्गप्रतिमोऽप्रमेयः
समुद्रनाथोऽमृतपो महात्मा।
महोरगैः स्वैस्तनयैः सुगुप्तो
ययौ रथेनार्कसमप्रभेण ॥ ३८ ॥

समुद्रके स्वामी तथा अमृतपान करनेवाले महात्मा वरुण कैलास-शिखरके समान गौर-वर्णके थे। उनकी शक्ति अप्रमेय थी। उनके पुत्र और बड़े-बड़े नाग उनकी भलीभाँति रक्षा करते थे। वे सूर्यके समान तेजस्वी रथसे चले ॥ ३८ ॥

युद्धाय तं यान्तमदीनसत्त्वं
नभस्तले चन्द्रमिवातिकान्तम्।
पश्यन्ति भूतानि महानुभावं
संहृष्टरोमाणि कृताञ्जलीनि ॥ ३९ ॥

चन्द्रमाके समान अत्यन्त कान्तिमान् और उदार हृदयवाले महानुभाव वरुण जब युद्धके लिये जा रहे थे, । उस समय आकाशमें समस्त प्राणी पुलकित-शरीरसे हाथ जोड़कर उनकी ओर देख रहे थे ॥ ३९ ॥

धातार्यमांशोऽथ भगो विवस्वान्
पर्जन्यमित्रौ च शशी च देवः।
त्वष्टा तथैवोर्जितविश्वकर्मा
पूषा च साक्षाद् दिवि देवराजः ॥ ४० ॥
सोरश्छदैः सध्वजकिङ्किणीकै-
र्वैदूर्यनिष्कैश्चितहेमकण्ठैः ।
हयैर्वरैः शक्ररथप्रकाशै-
र्युक्तान् रथानारुरुहुः सुरास्ते ॥ ४१ ॥

धाता, अर्यमा, अंश, भग, विवस्वान्, पर्जन्य, मित्र, चन्द्रदेव, त्वष्टा, तेजस्वी विश्वकर्मा, पूषा तथा साक्षात् देवराज इन्द्र—ये सभी देवता आकाशमें अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए रथोंपर आरूढ़ थे। ये सभी घोड़े हृदयको आच्छादित करनेवाले कवचोंसे युक्त थे। उनके गलेमें वैदूर्यमणिके पदक और सोनेके हार शोभा पाते थे। वे अश्व ध्वज और छोटी-छोटी घंटिकाओंसे युक्त थे। उन सबका रंग वही था, जो इन्द्रके रथमें जुते हुए घोड़ोंका था (इन्द्रके रथमें हरे रंगके घोड़े जुते हुए थे) ॥ ४०-४१ ॥

दिवाकराकारनिभानि केचि-
द्धुताशनार्चिःप्रतिमानि केचित्।
निशाकरांशुप्रतिमानि केचित्
तडिद्गणोद्द्योतनिभानि केचित् ॥ ४२ ॥
नीलांशुमेघप्रतिमानि केचित्
कार्ष्णायसाकारनिभानि केचित्।
चर्माणि दिव्यानि महाप्रभाणि
त्वष्ट्रा कृतान्युत्तमभानुमन्ति ॥ ४३ ॥
आमुच्य मालाश्च सुवर्णपुष्पाः
प्रयान्ति तोयानिलतुल्यवेगाः।

कुछ देवता सूर्यमण्डलके समान, कोई अग्निकी ज्वालाके समान, कोई चन्द्रमाकी किरणोंके सदृश, कुछ देवता विद्युत्की प्रभाके समान, कुछ नील वर्णवाले मेघोंके सदृश और कोई काले लोहेके समान महान् प्रभापुञ्जसे युक्त तथा उत्तम किरणोंसे उद्भासित दिव्य कवच धारण किये हुए थे, जिन्हें साक्षात् विश्वकर्माने बनाया था। जिनमें सुवर्णमय पुष्प गूँथे गये थे, ऐसी मालाएँ पहनकर जल और वायुके समान तीव्र वेगवाले वे देवता रणभूमिकी ओर बढ़े जा रहे थे ॥४२-४३½॥

द्वावश्विनौ चैव महानुभावौ
रूपोत्तमौ धर्मभृतां वरिष्ठौ ॥ ४४ ॥
रथं समारुह्य सुवर्णचित्रं
रणं गतौ काञ्चनतुल्यवर्णौ।

रूपमें सबसे उत्तम तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ दोनों अश्विनीकुमार महानुभाव भी सुवर्णजटित रथपर आरूढ हो रणभूमिमें गये। उन दोनोंके शरीरकी कान्ति सुवर्णके तुल्य थी ॥ ४४½ ॥

मनोः सुता वै वसवश्च सर्वे
बलोत्कटा दैत्यवधाय देवाः ॥ ४५ ॥

रथांश्च नागांश्च महाप्रमाणा-
नास्थाय जग्मुः सुशुभास्त्रहस्ताः।

मनुके पुत्र तथा समस्त वसु देवता जो उत्कट बलशाली और हाथोंमें उत्तम अस्त्र धारण करनेवाले थे, बड़े-बड़े रथों और हाथियोंपर आरूढ़ हो दैत्योंका वध करनेके लिये चले॥

रुद्राश्च सर्वेऽरुणधूमवर्णाः
श्वेतैर्ययुर्गोपतिभिर्बृहद्भिः ॥ ४६॥
महौजसः सर्वगुणोपपन्ना
दीप्तात्मनो भाभिरिव ज्वलन्तः।
नानायुधव्यग्रकरैर्भुजैस्तै-
र्लोकान् समस्तानिव निर्दहन्तः॥ ४७॥

अरुण और धूमके समान वर्णवाले समस्त रुद्रगण, जो महाबली, सर्वगुणसम्पन्न और दीप्तिमान् शरीरवाले थे तथा अपनी प्रभाओंसे प्रज्वलित-से हो रहे थे; श्वेत वर्णवाले विशाल वृषभोंद्वारा युद्धभूमिमें गये। नाना प्रकारके आयुधोंसे युक्त हाथवाली भुजाओंसे वे समस्त लोकोंको दग्ध करते हुए-से जान पड़ते थे॥ ४६-४७॥

ययुः ससैन्यास्तपनीयनद्धाः
सविद्युतस्तोयधरा यथैव।
विश्वे च देवास्तपसा ज्वलन्तो
वीर्योत्तमाः सूर्यमरीचिवर्णाः॥ ४८॥
ययुः ससैन्या युधि दुर्निवार्या
बलोत्कटाः पद्मसहस्रमालाः।

सुवर्णमय कवच बाँधकर सेनाको साथ लिये जब वे आगे बढ़े, उस समय बिजलियोंसे युक्त मेघोंके समान शोभा पाने लगे। सूर्यकी किरणोंके समान कान्तिमान्, उत्तम बलशाली तथा तपस्याके तेजसे प्रकाशित होनेवाले विश्वेदेवगण भी सेना साथ लेकर युद्धके लिये चले। शत्रुओंके लिये उनके वेगको रोकना कठिन था। वे उत्कट बलशाली तथा सहस्र कमलोंकी मालाओंसे अलंकृत थे॥ ४८½॥

रथैः सुयुक्तैस्तपनीयवर्णै-
र्वैदूर्यमुक्तामणिदामचित्रैः॥ ४९॥
नानाविधाकारसमाकुलास्ते
पारिप्लवैश्चैव सितातपत्रैः।
तेजोमयैः काञ्चनचारुचित्रैः
सुनिर्मलैः पावकसंनिभास्ते॥ ५०॥

सोनेके समान कान्तिवाले तथा वैदूर्य, मुक्ता और मणियोंकी लड़ियोंसे विचित्र शोभा पानेवाले, भलीभाँति जुते हुए रथोंद्वारा वे सब लोग समरभूमिमें गये। वे नाना प्रकारकी आकृतियोंसे युक्त थे। उनके ऊपर सुवर्णनिर्मित, मनोहर, विचित्र, अत्यन्त निर्मल, तेजस्वी और सब ओर घूमनेवाले श्वेत छत्र तने हुए थे। जिनके कारण वे सब लोग प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ ४९-५०॥

सोरश्छदैः सध्वजकिङ्किणीकै-
र्हयैश्च वायोः समवेगवद्भिः।
दिशां गजैश्चैव महाबलैस्तैः
कैलासशृङ्गप्रतिमैर्महद्भिः॥ ५१॥
प्रजग्मुरुग्रायुधचापहस्ता-
श्चतुर्युगान्ते ज्वलिता इवोल्काः।

कवच, ध्वज और घुँघुरुओंसे युक्त वायुके समान वेगशाली घोड़ों तथा कैलासशिखरके समान उज्ज्वल, विशालकाय एवं महाबली दिग्गजोंद्वारा वे यात्रा कर रहे थे। उनके हाथोंमें भयंकर धनुष थे, जिनसे वे युगान्तकालमें प्रज्वलित होनेवाली उल्काओंके समान प्रतीत होते थे॥ ५१½॥

साध्याश्च देवाः सुमहाप्रभावाः
स्वाधीनचक्राः प्रतिदीप्तवक्त्राः॥ ५२॥
प्रयान्ति जाम्बूनदभूषिताङ्गा
गाङ्गौघमात्रैर्गगनैर्बलौघैः।
विद्योतयन्तो विदिशो दिशश्च
महाबलास्ते जयतां वरिष्ठाः॥ ५३॥

महान् प्रभावशाली साध्यदेवता सारी सेनाको अपने अधीन करके युद्धके लिये जा रहे थे। उनके मुख दिव्य दीप्तिसे उद्दीप्त हो रहे थे। उन्होंने अपने अङ्गोंको जाम्बूनदके आभूषणोंसे विभूषित कर रखा था। उनके साथ गङ्गाके जल-प्रवाह और आकाशके समान अनन्त एवं असंख्य सैनिक थे। विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ वे महाबली साध्यगण अपने तेजसे समस्त दिशाओं और विदिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे॥

वरिष्ठपुष्टाष्टभुजाः सुदृप्ता
वैश्वानरार्कप्रतिमप्रभावाः।
ते ब्रह्मविद्भिश्च नमस्यमानाः
सम्पूज्यमानाश्च सुरैः सशक्रैः॥ ५४॥
गन्धर्वसंघैरनुगम्यमाना
वधाय तेषामसुराधिपानाम्।

उनके आठ भुजाएँ थीं, जो श्रेष्ठ एवं पुष्ट थीं। उन्हें अपने बलपर गर्व था। वे अग्नि एवं सूर्यके समान प्रभावशाली थे। ब्रह्मवेत्ता पुरुष उन्हें नमस्कार करते थे। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता उनकी पूजा करते थे तथा दैत्येश्वरोंका वध करनेके लिये जाते हुए उन साध्यगणोंके पीछे गन्धर्वोंके समुदाय चलते थे॥ ५४½॥

वैदूर्यवज्रस्फटिकाग्रचित्रै-
र्ध्वजैः सुवर्णैश्च परिष्कृतानाम्॥ ५५॥
रूपं बभौ चोत्कटभूषणानां
दैत्येन्द्रनाशाय विभूषितानाम्।

वैदूर्य, हीरे और स्फटिकमणिसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभा पानेवाले ध्वजों और सुवर्णमय आभूषणोंसे जिनकी सुन्दर शोभा होती थी, जो उत्कट आभूषण पहने

हुए थे तथा दैत्येन्द्रोंके विनाशके लिये ही जिन्होंने अपनेको विभूषित किया था, उन साध्य देवताओंका रूप वहाँ अद्भुत शोभा पा रहा था ॥ ५५½ ॥

आत्मप्रभाभिश्च रणोत्कटाभि-
र्वर्मप्रभाभिश्च तमोनुदाभिः ॥ ५६ ॥
ध्वजोत्थभाभिः स्वशरोरुभाभि-
र्महाप्रभाभिश्च महोज्ज्वलाभिः ।
विभान्ति ते देववराः ससाध्याः
प्रध्मातशङ्खस्वनसिंहनादाः ॥ ५७ ॥
महारथस्थास्त्रिदिवौकसस्ते
महाबलाः शत्रुबलं प्रयान्ति ।
महास्त्रहस्ता ययुरुग्रकाया
महासुराणां निधनाय देवाः ॥ ५८ ॥

युद्धके लिये उत्कट प्रतीत होनेवाली अपने शरीरकी प्रभा, अन्धकारको दूर करनेवाली कवचोंकी प्रभा, ध्वजसे उत्पन्न होनेवाली आभा तथा अपने बाणसमूहोंसे उद्भूत हुई प्रचुर प्रभा—इन सबके योगसे प्रकाशित होनेवाली परम उज्ज्वल महाप्रभाओंसे वे साध्यगणोंसहित श्रेष्ठ देवता बड़ी शोभा पा रहे थे। वे महाबली देवता अपने विशाल रथोंपर बैठकर शङ्खध्वनि और सिंहनाद करते हुए शत्रु-सेनाकी ओर बढ़ने लगे। उनके हाथोंमें बड़े-बड़े अस्त्र थे। उनकी काया भयंकर थी; वे देवता उन महादैत्योंका संहार करनेके लिये चल दिये ॥ ५६—५८ ॥

तथैव सर्वे मरुतोऽतिवीर्या
बलोत्कटास्ते समरं प्रतीताः ।
ययुर्महामेघसमानवर्णा-
श्चक्रायुधास्तोयदनादनादाः ॥ ५९ ॥

इसी प्रकार अत्यन्त पराक्रमी और उत्कट बलशाली समस्त मरुद्गण, जो महान् मेघके समान श्याम वर्णवाले तथा चक्रधारी थे, मेघकी भाँति गर्जना करते हुए विजयका दृढ़ विश्वास लिये समरभूमिकी ओर चले ॥ ५९ ॥

महेन्द्रकेतुप्रतिमा महाबलाः
प्रगृह्य सर्वासुरसूदनां गदाम् ।
रणोत्कटा लोहितचन्दनाक्ताः
सहेममाल्याम्बरभूषिताङ्गाः ॥ ६० ॥

वे इन्द्रके ध्वजस्वरूप ऐरावतके समान महान् बलवान् थे। युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे। उनके सारे अङ्ग लाल चन्दनसे चर्चित तथा सोनेके हार और दिव्य वस्त्रोंसे विभूषित थे। उन्होंने समस्त असुरोंका संहार करनेवाली गदा लेकर युद्धके लिये यात्रा की थी ॥ ६० ॥

ते युद्धशौण्डाः सभुजास्त्रवीर्या
बलोत्कटाः क्रोधविलोहिताक्षाः ।
ययुः सजाम्बूनदपद्ममाला
यथेष्टनानाविधकामरूपाः ॥ ६१ ॥
खड्गप्रभाश्यामलितांसपीठाः
पुरंदरं वै परिवार्य देवाः ।

वे सब-के-सब युद्धमें कुशल थे। उनमें बाहुबल और अस्त्रबलकी पूर्णता थी। वे उत्कट बलशाली थे। उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। वे देवता सुवर्ण तथा कमलोंकी माला धारण करके इच्छानुसार नाना प्रकारके रूप धारण किये देवराज इन्द्रको चारों ओरसे घेरकर रणभूमिकी ओर जा रहे थे। उनके कंधे और पीठ खड्गोंकी प्रभासे साँवले दिखायी देते थे ॥ ६१½ ॥

वैदूर्यचामीकरचारुरूपा-
ण्याबध्य गात्रेषु महाप्रभाणि ॥ ६२ ॥
वर्माणि दैत्यास्त्रनिवारणानि
प्रयान्ति युद्धाय सपत्नसाहाः ।

शत्रुओंका वेग सहन करनेमें समर्थ वे देवता अपने अङ्गोंमें वैदूर्य और सुवर्णसे जटित होनेके कारण मनोहर रूपवाले परम कान्तिमान् कवचोंको, जो दैत्योंके अस्त्रोंका निवारण करनेवाले थे, बाँधकर युद्धके लिये जा रहे थे ॥

तैरुत्थितैः काञ्चनवेदिकाढ्यै-
र्वरध्वजैर्भास्कररश्मिवर्णैः ॥ ६३ ॥
ययौ सुराणां पृतनोग्रभासा
समुन्नदन्ती युधि सिंहनादान् ।

सोनेकी वेदिकाओंसे युक्त और सूर्यकी किरणोंके समान कान्तिमान् ऊँचे उठे हुए श्रेष्ठ ध्वजोंसे उपलक्षित होनेवाली देवताओंकी वह भयंकर सेना युद्धके लिये जोर-जोरसे सिंहनाद करती हुई जा रही थी ॥ ६३½ ॥

इत्येवमुक्तं त्रिदिवेश्वरस्य
सैन्यं तदासीत् सुमहत्प्रभावम् ॥ ६४ ॥
युद्धं प्रयातस्य जयावहस्य
वधाय तेषामसुराधिपानाम् ॥ ६५ ॥

इस प्रकार उन असुरेश्वरोंके वधके लिये युद्धस्थलकी ओर प्रस्थित हुए विजयशाली देवेश्वर इन्द्रकी वह सेना बड़ी प्रभावशालिनी थी। जिसका इस रूपमें वर्णन किया गया है ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

देवताओं और असुरोंका द्वन्द्वयुद्ध, भीषण उत्पात, ब्रह्माजी तथा सनकादि योगेश्वरोंका युद्ध देखनेके लिये आगमन

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रवृत्तोऽसुरदेवविग्रह-
स्तदद्भुतो भाति सुरासुराकुलः।
वेलामतिक्रम्य युगान्तकाले
महार्णवान्योन्यमिवाश्रयन्तः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर देवताओं और असुरोंका युद्ध आरम्भ हुआ। देवताओं और दैत्योंसे व्याप्त होनेके कारण उसकी अद्भुत शोभा हो रही थी। जैसे प्रलयकालमें चारों दिशाओंके महासागर अपनी सीमाको लाँघकर एक दूसरेसे मिल जाते हैं (उसी प्रकार देवता और दैत्य उस युद्धमें एक दूसरेसे मिश्रित हो गये)॥

नानायुधोद्द्योतविदीपिताङ्गा
महाबला व्यायतकार्मुकास्ते।
रणोत्सुका वारणहस्तहस्ताः
सुदुर्जयास्तोयदनादनादाः ॥ २ ॥

वे महाबली योद्धा बड़े-बड़े धनुष ताने हुए युद्धके लिये उत्सुक हो रहे थे। उनके अङ्ग नाना प्रकारके आयुधोंकी प्रभासे प्रकाशित होते थे। उनकी भुजाएँ हाथियोंकी सूँड़के समान मोटी थीं। उनपर विजय पाना बहुत ही कठिन था और उनका सिंहनाद मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान जान पड़ता था॥ २॥

विस्फारयन्तः सहसा धनूंषि
चक्राणि चादित्यसमप्रभाणि।
समुत्क्षिपन्तो ह्यशनीश्च घोरान्
खड्गांश्च ते वज्रमुखाश्च शक्तीः॥ ३ ॥

वे सहसा धनुषकी टंकार करने लगते थे तथा सूर्यके समान तेजस्वी चक्र, भयंकर अशनि, खड्ग तथा वज्रमुखी शक्तियोंका लगातार प्रहार करते थे॥ ३॥

महागदाः काञ्चनपट्टनद्धा-
स्तथायसान् कार्मुकमुद्गरांश्च।
शूलांश्च वृक्षांश्च विगृह्य दीप्तान्
नदन्ति शूराः शतशो रणस्थाः॥ ४ ॥

रणभूमिमें खड़े हुए सैकड़ों शूरवीर सुवर्णपत्रसे मढ़ी हुई विशाल गदाओं, लोहेके बने हुए धनुषों, मुद्गरों, चमकीले त्रिशूलों और वृक्षोंको हाथमें लेकर वहाँ गर्जना करते थे॥ ४॥

एतस्मिन्नन्तरे तेषामन्योन्यमभिनिघ्नताम्।
द्वन्द्वयुद्धान्यवर्तन्त देवानां दानवैः सह॥ ५ ॥

इसी बीचमें एक दूसरेपर चोट करते हुए उन सैनिकोंमेंसे देवताओंका दानवोंके साथ द्वन्द्वयुद्ध होने लगा॥ ५॥

मरुतां पञ्चमो यस्तु स बाणेनाभ्ययुध्यत।
महाबलः सुरवरः सावित्र इति यं विदुः॥ ६ ॥

मरुद्गणोंमें जो पाँचवें थे और जिनको लोग महाबली सुरश्रेष्ठ सावित्रके नामसे जानते हैं, वे बाणासुरके साथ युद्ध करने लगे॥ ६॥

दनायुषायाः पुत्रस्तु बलो नाम महासुरः।
सोऽयुध्यत रणेऽत्युग्रो ध्रुवेण वसुना सह॥ ७ ॥

दनायुषाका पुत्र अत्यन्त भयंकर महान् असुर बल उस रणभूमिमें ध्रुव नामक वसुके साथ युद्ध करने लगा॥ ७॥

नमुचिश्चासुरश्रेष्ठो धरेण सह युध्यत।
प्रवरौ विश्वकर्माणौ ख्यातौ देवासुरेश्वरौ॥ ८ ॥

असुरोंमें श्रेष्ठ नमुचि धर नामक वसुके साथ जूझने लगा। जो दोनों श्रेष्ठ विश्वकर्माके रूपमें विख्यात हैं, वे देवेश्वर त्वष्टा और असुरेश्वर मय परस्पर युद्ध करने लगे॥

पुलोमा तु महादैत्यो वायुना सह युध्यत।
ससैन्यः पर्वताकारो रणेऽयुध्यत दंशितः॥ ९ ॥

महादैत्य पुलोमाने वायु देवताके साथ युद्ध छेड़ दिया। वह पर्वताकार दैत्य कवच धारण करके अपनी सेनाको साथ लिये रणभूमिमें जूझ रहा था॥ ९॥

हयग्रीवस्तु दितिजः सह पूष्णा त्वयुध्यत।
शूरेणामितवीर्येण भास्कराकारवर्चसा॥ १० ॥

हयग्रीव नामक दैत्य सूर्यतुल्य तेजस्वी अमित पराक्रमी शूरवीर पूषाके साथ लड़ने लगा॥ १०॥

शम्बरस्तु महादैत्यो महामायो महासुरः।
भगेनायुध्यत तदा सहितो युद्धदुर्मदः॥ ११ ॥

महामायावी महान् असुर रणदुर्मद महादैत्य शम्बर भग देवताके साथ युद्ध करने लगा॥ ११॥

शरभः शलभश्चैव दैत्यानां चन्द्रभास्करौ।
प्रयुद्धौ सह सोमेन शैशिरास्त्रेण धीमता॥ १२ ॥

शरभ और शलभ ये दोनों वीर दैत्योंमें सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी थे। वे शैशिरास्त्रधारी बुद्धिमान् सोमके साथ जूझने लगे॥ १२॥

विरोचनस्तु बलवान् बलेर्बलवतः पिता।
विष्वक्सेनेन साध्येन देवेन च स युध्यत॥ १३ ॥

बलवान् बलिका पिता महाबली विरोचन विष्वक्सेन नामक साध्य देवताके साथ भिड़ गया॥ १३॥

कुजम्भस्तु महातेजा हिरण्यकशिपोः सुतः।
अंशेनायुध्यत तदा प्रासप्रहरणेन वै ॥ १४ ॥

महातेजस्वी कुजम्भ, जो हिरण्यकशिपुके पुत्रका पुत्र था, उस समय प्रासधारी अंशके साथ युद्ध करने लगा ॥

असिलोमा तु बलिना मारुतेन समं विभो।
तदायुध्यत दीप्तास्यो विकृतः पर्वतायुधः ॥ १५ ॥

प्रभो ! तेजस्वी मुखवाला विकृताङ्ग दैत्य असिलोमा पर्वतखण्डरूपी आयुध लेकर उस समय बलवान् मारुतके साथ संग्राम करने लगा ॥ १५ ॥

दनायुषायाः पुत्रस्तु वृत्रो नाम महासुरः।
अश्विभ्यां देववैद्याभ्यां सह युध्यत संयुगे ॥ १६ ॥

दनायुषाका पुत्र महान् असुर वृत्र युद्धस्थलमें देववैद्य अश्विनीकुमारोंके साथ जूझने लगा ॥ १६ ॥

एकचक्रस्तु दितिजश्चक्रहस्तो दुरासदः।
सहायुध्यत देवेन साध्येन दितिजारिणा ॥ १७ ॥

हाथमें चक्र लिये हुए एकचक्र नामक दुर्जय दैत्यने दैत्योंके शत्रु साध्यदेवके साथ युद्ध किया ॥ १७ ॥

बलस्तु मधुपिङ्गाक्षो वृत्रभ्राता महासुरः।
मृगव्याधेन रुद्रेण सहायुध्यत वीर्यवान् ॥ १८ ॥

वृत्रासुरके भाई, मधुके समान पिङ्गल नेत्रवाले, पराक्रमी महान् असुर बलने मृगव्याध नामक रुद्रके साथ युद्ध किया ॥

राहुस्तु विकृताकारः शतशीर्षा महोदरः।
अजैकपादेन रणे सहायुध्यत दंशितः ॥ १९ ॥

सैकड़ों सिर और बड़े पेटवाले विकृताकार दैत्य राहुने कवच धारण करके रणभूमिमें अजैकपाद नामक रुद्रके साथ संग्राम छेड़ दिया ॥ १९ ॥

केशी तु दानवश्रेष्ठः प्रावृट्कालाम्बुदप्रभः।
धनेश्वरेण भीमेन सहायुध्यत संयुगे ॥ २० ॥

वर्षाकालके मेघकी भाँति काले रंगवाले दानवशिरोमणि केशीने युद्धस्थलमें धनेश्वर भीमके साथ युद्ध ठाना ॥ २० ॥

वृषपर्वा तु बलिना पावनेन महारणे।
विश्वेदेवेन विश्वेशः सहायुध्यत वीर्यवान् ॥ २१ ॥

पराक्रमी और जगत्के शासक वृषपर्वाने उस महासमरमें पावन नामक बलवान् विश्वेदेवके साथ युद्ध किया ॥ २१ ॥

प्रह्लादस्तु महावीर्यो वीरैः स्वैस्तनयैर्वृतः।
युयुधे सह कालेन रणे काल इवापरः ॥ २२ ॥

अपने वीर पुत्रोंसे घिरे हुए महापराक्रमी प्रह्लाद रणभूमिमें दूसरे कालके समान होकर कालके ही साथ युद्ध करने लगे ॥ २२ ॥

अनुह्लादः कुबेरेण धनदेन महारणे।
गदाहस्तेन युयुधे क्षोभयन् रिपुवाहिनीम् ॥ २३ ॥

अनुह्लाद शत्रुसेनाको क्षोभमें डालता हुआ उस महासमरमें गदाधारी धनदाता कुबेरके साथ जूझने लगा ॥२३॥

विप्रचित्तिस्तु दैतेयो वरुणेन महात्मना।
प्रवृत्तो वै रणं कर्तुं दैत्यानां नन्दिवर्धनः ॥ २४ ॥

दैत्योंका आनन्द बढ़ानेवाले विप्रचित्ति नामक दैत्यने महात्मा वरुणके साथ युद्ध करना आरम्भ किया ॥ २४ ॥

बलिस्तु सह शक्रेण सुरेशेन महात्मना।
युयुधे देवराजेन बलिना बलवान् रणे ॥ २५ ॥

उस रणभूमिमें बलवान् दैत्यराज बलिने महाबली देवराज सुरेश्वर महात्मा इन्द्रके साथ संग्राम आरम्भ किया ॥

शेषा देवाश्च दैत्याश्च जघ्नुरन्योन्यमाहवे।
विनर्दन्तो महानादान् प्रासासिशरशक्तिभिः ॥ २६ ॥

शेष देवता और दैत्य युद्धस्थलमें जोर-जोरसे सिंहनाद करते हुए प्रास, खड्ग, बाण और शक्तियोंद्वारा एक दूसरेको चोट पहुँचाने लगे ॥ २६ ॥

अदृश्यन्त महोत्पाता ये प्रोक्ता जगतः क्षये।
मारुताः सप्त ते क्षुब्धा व्यशीर्यन्त महीधराः ॥ २७ ॥

उस समय ऐसे बड़े-बड़े उत्पात दिखायी देने लगे, जिन्हें प्रलयकालमें प्रकट होने योग्य बताया गया है। प्रवह आदि जो सात प्रकारके वायु हैं, वे क्षुब्ध हो उठे। पर्वत स्वयं ही बिखर-बिखरकर गिरने लगे ॥ २७ ॥

सप्त चैवोत्थिताः सूर्याः शोषयन्तो महार्णवान्।
बहुनाभिद्यत धरा वायुना मथिता यथा ॥ २८ ॥

महासागरोंको सोखते हुए सात सूर्य उदित हो गये। प्रचण्ड वायुने इस पृथ्वीको इस प्रकार विदीर्ण कर दिया, जैसे इसे मथ डाला हो ॥ २८ ॥

व्युत्थिताश्च महामेघाः शक्रचापाङ्कितोदराः।
प्रणेदुः सर्वभूतानि सर्वाः सतिमिरा दिशः ॥ २९ ॥

आकाशमें बड़े-बड़े मेघोंकी घटा घिर आयी। उसका मध्यभाग इन्द्रधनुषसे अङ्कित हो गया। समस्त प्राणी आर्तनाद करने लगे और सम्पूर्ण दिशाओंमें अन्धकार छा गया ॥ २९ ॥

देवानामजयो घोरो दृश्यते कालनिर्मितः।
घोरोत्पातः समुद्भूतो युगान्तसमये यथा ॥ ३० ॥

कालकी प्रेरणासे देवताओंकी घोर पराजय दिखायी देने लगी। जैसा प्रलयकालमें होता है, वैसा ही भयंकर उत्पात प्रकट होने लगा ॥ ३० ॥

न ह्यन्तरिक्षं न दिशो न भूमि-
र्न भास्करोऽदृश्यत रेणुजालैः।
ववुश्च वातास्तुमुलाः सधूमा
दिशश्च सर्वास्तिमिरोपगूढाः ॥ ३१ ॥

न तो अन्तरिक्ष, न दिशाएँ, न भूमि और न सूर्य ही दिखायी देते थे। सबपर धूलका जाल-सा बिछ गया था।

धूमयुक्त भयंकर वायु चलने लगी और सारी दिशाएँ अन्धकारसे आच्छन्न हो गयीं ॥ ३१ ॥

एते चान्ये च बहवो दृश्यन्ते देवनिर्मिताः।
भूमौ तथान्तरिक्षे च महोत्पाताः समन्ततः॥ ३२॥

ये तथा और भी बहुत-से देवनिर्मित बड़े-बड़े उत्पात पृथ्वी और आकाशमें सब ओर दिखायी देने लगे ॥ ३२ ॥

तद् युद्धं देवदैत्यानां भीमानां भीमदर्शनम्।
अपश्यत गुरुर्ब्रह्मा सर्वैरेव सुरैः सह॥ ३३॥

भीषण देवताओं और दैत्योंका वह युद्ध देखनेमें बड़ा भयंकर था। लोकगुरु ब्रह्माजीने समस्त देवताओंके साथ उस युद्धको देखा ॥ ३३ ॥

वेदैश्चतुर्भिः साङ्गैश्च विद्याभिश्च सनातनः।
पद्मयोनिर्वृतः श्रीमान् सिद्धैश्च परमर्षिभिः॥ ३४॥

छहों अङ्गोंसहित चारों वेदों तथा चारों विद्याओंसे घिरे हुए सनातन पद्मयोनि ब्रह्माजीको सिद्ध और महर्षिगण सब ओरसे घेरकर खड़े थे ॥ ३४ ॥

नानामणिस्तम्भसहस्रचित्र-
मारुह्य यानं ददृशे स्वयम्भूः।
सुभास्वरं भूतसहस्रयुक्तं
प्रदीप्यमानो वपुषा वरेण॥ ३५॥

नाना प्रकारके सहस्रों मणिमय खम्भोंसे विचित्र शोभा पानेवाले तथा सहस्रों भूतगणोंसे जुते हुए तेजस्वी विमानपर आरूढ़ हो स्वयंभू ब्रह्माजी अपने श्रेष्ठ शरीरसे देदीप्यमान दिखायी दे रहे थे ॥ ३५ ॥

सुतप्तजाम्बूनदभक्तिचित्र-
मानन्दभेरीशतसम्प्रणादम्।
नक्षत्रचण्डांशुभिरंशुमन्तं
वैदूर्यसोमार्कविभूषिताङ्गम्॥ ३६॥

उनका विमान तपाये हुए सुवर्णद्वारा निर्मित विभिन्न चित्र-मूर्तियोंसे सुशोभित था। उसमें सहस्रों भेरियोंका आनन्दमय शब्द गूँजता रहता था। नक्षत्रों तथा सूर्यकी तेजोमयी मूर्तियोंके कारण वह किरणोंकी प्रभासे परिपूर्ण था और वैदूर्यमणि तथा चन्द्रकान्त एवं सूर्यकान्त मणियोंसे (अथवा सूर्य एवं चन्द्रमाकी मूर्तियोंसे) उस विमानका प्रत्येक अङ्ग विभूषित था ॥ ३६ ॥

तमात्मजा वै पुलहः पुलस्त्य-
स्तथा मरीचिर्भृगुरङ्गिराश्च।
ऋक्सामभिः सम्यगभिष्टुवन्तः
सेवन्ति देवं वरदं विमाने॥ ३७॥

उस समय विमानपर बैठे हुए वरदायक देवता ब्रह्माजीकी, उन्हींके पुत्र पुलह, पुलस्त्य, मरीचि, भृगु तथा अङ्गिरा ऋषि ऋग्वेद एवं सामवेदके मन्त्रोंद्वारा सम्यक् रूपसे स्तुति करते हुए उनकी सेवामें तत्पर थे ॥ ३७ ॥

तं पावका लोकगुरुं स्वयंभुवं
साङ्गाश्च वेदा मखदेवताश्च।
सेवन्ति देवं भुवनेश्वरेशं
भूतानि चान्यानि महानुभावम्॥ ३८॥

उन लोकगुरु, महानुभाव, भुवनेश्वरेश्वर देवता स्वयम्भू ब्रह्माजीकी सेवामें अग्नि, साङ्ग वेद, यज्ञदेवता तथा अन्यान्य भूत (प्राणी) भी संलग्न थे ॥ ३८ ॥

एते बभूवुश्च महर्षिसंघा
वैश्वानराः पावकयोनयश्च।
सर्वे ययुर्देवपुरोहिताश्च
युद्धोत्सुकाः सर्वसुरासुराणाम्॥ ३९॥

महर्षियोंके समुदाय, वैश्वानरगण, अग्निसे जिनकी उत्पत्ति हुई है, वे ऋषि तथा देवताओंके समस्त पुरोहित— ये सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंके उस युद्धको देखनेके लिये उत्सुक हो वहाँ उपस्थित हुए थे ॥ ३९ ॥

योगेश्वराः षट् च दिवाकराभा
विभूषणैर्भूषितसर्वदेहाः।
अन्तर्हिता वै ददृशुर्नभःस्था
नारायणश्चैव नरश्च देवाः॥ ४०॥

छः योगेश्वर (सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, कपिल और जैगीषव्य), जो सूर्यके समान तेजस्वी थे और सारे अङ्गोंमें उत्तमोत्तम आभूषणोंसे विभूषित भी थे, अदृश्य भावसे आकाशमें खड़े हो उस युद्धका दृश्य देख रहे थे। भगवान् नारायण, नर तथा कतिपय देवता भी अदृश्य भावसे उस युद्धका अवलोकन करते थे ॥ ४० ॥

वक्त्रैश्चतुर्वेदधरैश्चतुर्भिः
सम्पूर्णचन्द्रप्रतिमैः सुकान्तैः।
सर्वा दिशो निस्तिमिराश्चकार
नवोदितोऽसौ शरदीव चन्द्रः॥ ४१॥

शरत्कालके नवोदित चन्द्रमाके समान ब्रह्माजी चार वेदोंको धारण करनेवाले अपने चारों मुखोंसे, जो पूर्ण चन्द्र-मण्डलके समान परम मनोहर कान्तिसे युक्त थे, सम्पूर्ण दिशाओंको अन्धकाररहित कर रहे थे ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि देवासुरयुद्धे सनकादिकागमनं नाम त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें देवताओं और असुरोंके युद्धमें सनकादिका आगमन नामक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

देवताओं और असुरोंके युद्धका यज्ञके रूपमें वर्णन, दोनों सेनाओंका तुमुल युद्ध तथा सावित्र और ध्रुवकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

उभयोः सेनयो राजन् भूयो युद्धमवर्तत।
नादेन संचालयतां त्रैलोक्यमिदमव्ययम्॥ १॥
गोमुखाडम्बराणां च भेरीणां मुरजैः सह।
झल्लरीडिण्डिमानां च व्यश्रूयन्त महास्वनाः॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पुनः दोनों सेनाओंमें घोर युद्ध होने लगा। गोमुख, बिगुल, भेरी, ढोल, झाँझ और नगाड़ोंके बड़े भारी शब्द सुनायी देने लगे। वे बाजे अपनी तुमुल ध्वनिसे तीनों लोकोंको विचलित कर रहे थे॥ १-२॥

प्रवृत्तो युद्धयज्ञस्तु तुमुलो लोमहर्षणः।
रणमध्ये महानादः स्वर्गीयः शूरसम्मतः॥ ३॥

वहाँ रोंगटे खड़े कर देनेवाला भयंकर युद्धयज्ञ होने लगा, जो स्वर्गरूपी फलकी प्राप्ति करानेवाला था। उस संग्राममें महान् सिंहनाद एवं आर्तनाद होता था, जो शूरवीरोंके लिये अभिमत है॥ ३॥

युद्धयज्ञस्य नेताभूत् प्रह्लादो दैत्यसत्तमः।
विरोचनस्तथाध्वर्युर्युद्धयज्ञप्रवर्तकः॥ ४॥

उस युद्धयज्ञके नेता हुए दैत्यप्रवर प्रह्लाद। उनका पुत्र विरोचन उस युद्धयज्ञका प्रवर्तक अध्वर्यु हुआ॥ ४॥

होता चैवात्र नमुचिर्वृत्रः स्तोत्रोपकल्पकः।
मन्त्रा दैत्याः समाख्याता यज्ञकर्मणि तत्र वै॥ ५॥

इसमें नमुचि होता और वृत्रासुर प्रस्तोता हुआ। उस यज्ञकर्ममें दैत्योंको ही मन्त्र कहा गया है॥ ५॥

अनुयातश्च पितरमधिको वा पराक्रमैः।
यष्टा तत्राभवद् बाणः संयुगे चोपतिष्ठते॥ ६॥

जो पराक्रमद्वारा अपने पिता बलिका अनुसरण करता था अथवा पितासे बढ़कर पराक्रमी था, वह बाणासुर उस युद्धयज्ञका यजमान बना और युद्धस्थलमें बराबर उपस्थित रहा॥ ६॥

ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं स्थूणाकर्णं सुदुर्जयम्।
मन्त्रास्तत्राभ्यवर्तन्त साध्वनुह्रादयोजिताः॥ ७॥

अनुह्रादके द्वारा भलीभाँति प्रयुक्त हुए ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म और अत्यन्त दुर्जय स्थूणाकर्ण नामक अस्त्र वहाँ मन्त्र थे॥ ७॥

उद्गाता च मयः श्रीमान् स्थितः शत्रुभयंकरः।
विनदन् दितिजश्रेष्ठो देवानीकं व्यदारयत्॥ ८॥

शत्रुओंके लिये भयंकर श्रीमान् मयासुर वहाँ उद्गाता बनकर खड़ा था। वह दैत्यशिरोमणि वीर सिंहनाद करके देवताओंकी सेनाको विदीर्ण करने लगा॥ ८॥

बलिस्तु राजा द्युतिमान् स्वयं तत्र महासुरः।
जाप्यैर्होमैश्च संयुक्तो ब्रह्मत्वमकरोत् प्रभुः॥ ९॥

सामर्थ्यशाली, तेजस्वी, महान् असुर राजा बलि स्वयं ही वहाँ जप-होम आदिसे युक्त हो ब्रह्माका कार्य करने लगे॥

रणाग्निर्ज्वलितो घोरो वैरेन्धनसमीरितः।
हूयते त्वसुरैस्तत्र देवो विष्णुः सुरैः सह॥ १०॥

वैरके ईंधनसे उद्दीप्त हो वहाँ युद्धकी घोर अग्नि प्रज्वलित हुई। असुरगण देवताओंके साथ आकर उस आगमें आहुति डालने लगे। वह आहुति भगवान् विष्णुकी तृप्तिके लिये की जा रही थी॥ १०॥

शङ्खशब्दैः सुतुमुलैर्भेरीणां च महास्वनैः।
उद्घुष्टं विमलं चैव सुब्रह्मण्यं प्रयुज्यते॥ ११॥

शङ्खोंकी तुमुल ध्वनि और भेरियोंके गम्भीर नादसे मानो वहाँ 'सुब्रह्मण्यम्' का विमल उद्घोष होता रहता था॥ ११॥

बलश्च बलकश्चैव पुलोमा च महासुरः।
प्रशस्तं च समं कृत्वा सत्रं सम्यक् प्रचक्रिरे॥ १२॥

बल, बलक और पुलोमा नामक महासुर इन तीनोंने वहाँ प्रशस्त एवं सम कर्म करके सम्यक्‌रूपसे सत्रका अनुष्ठान किया॥ १२॥

कल्माषदण्डा विमला विपुला रथपङ्क्तयः।
यूपाश्च समकल्पन्त युद्धयज्ञे महाफले॥ १३॥

उस महान् फलदायक युद्धयज्ञमें चितकबरे ईषादण्डवाली निर्मल एवं विशाल रथपंक्तियाँ यूपोंके रूपोंमें कल्पित हुईं॥ १३॥

कर्णिनालीकनाराचा वत्सदन्तोपबृंहिकाः।
तोमराः सोमकलशा विचित्राणि धनूंषि च॥ १४॥

कर्णि, नालीक, नाराच, वत्सदन्त, उपबृंहिका, तोमर और विचित्र धनुष—ये ही उस यज्ञमें सोमकलश थे॥ १४॥

अस्थीन्यत्र कपालानि पुरोडाशाः शिरांसि च।
आज्यं च रौद्रं रुधिरं तस्मिन् यज्ञेऽभिहूयते॥ १५॥

हड्डियाँ इसमें कपाल थीं, सिर पुरोडाश थे तथा भयंकर रुधिर ही घी था, जिसकी उस यज्ञमें आहुति दी जाती थी॥

इध्माः परिघयस्तत्र प्रस्तारा विपुला गदाः।
हयग्रीवोऽसिलोमा च राहुः केशी च दानवः॥ १६॥

विरोचनश्च जम्भश्च कुजम्भश्च महाबलः।
सदस्यास्तत्र तु मखे विप्रचित्तिस्तु वीर्यवान् ॥ १७ ॥

शरपंक्तियाँ, इध्म और विशाल गदाएँ परिधि थीं। हयग्रीव, असिलोमा, राहु, दानव केशी, विरोचन, जम्भ, महाबली कुजम्भ और पराक्रमी विप्रचित्ति—ये उस यज्ञमें सदस्य थे ॥ १६-१७ ॥

इषवस्तु स्रुवास्तत्र रथाक्षसदृशाः शुभाः।
धनुष्कोट्या धनुर्ज्याश्च स्रुवस्तत्र महामखे ॥ १८ ॥

रथके धुरेके समान मोटे और सुन्दर बाण उस यज्ञमें स्रुवा थे। धनुषकी कोटियाँ और प्रत्यञ्चाएँ उस महायज्ञमें स्रुवका काम देती थीं ॥ १८ ॥

प्रतिप्रास्थानिकं कर्म वृषपर्वाकरोदिह।
दीक्षितस्तत्र तु बलिस्तस्य पत्नी महाचमूः ॥ १९ ॥

वृषपर्वाने उस यज्ञमें प्रतिप्रस्थाताका कार्य किया, राजा बलि उसमें दीक्षा ग्रहण करनेवाले यजमान थे और उनकी विशाल सेना ही उनकी पत्नी थी ॥ १९ ॥

शम्बरस्तत्र शामित्रमकरोद् दितिनन्दनः।
अतिरात्रे महाबाहुर्वितते यज्ञकर्मणि ॥ २० ॥

महाबाहु दितिनन्दन शम्बरने वहाँ चालू हुए उस अतिरात्र नामक यज्ञकर्ममें शामित्र-कर्म किया ॥ २० ॥

दक्षिणास्तस्य यज्ञस्य कालनेमिर्महासुरः।
वैताने कर्मणि विभोर्यः ख्यातो हव्यवाडिव ॥ २१ ॥

उस यज्ञकी दक्षिणाओंके रूपमें महान् असुर कालनेमि उपस्थित था, जो अपने स्वामी बलिके यज्ञकर्ममें अग्निके समान विख्यात था ॥ २१ ॥

त्रिदशानां तु सैन्यस्य शरीरैर्गतजीवितैः।
तस्मिन् यज्ञे तु सवनं वर्धते दैत्यनिर्मितम् ॥ २२ ॥

देवताओंकी सेनाके निष्प्राण शरीरोंद्वारा उस यज्ञमें दैत्योंका किया हुआ सवनकर्म उत्तरोत्तर बढ़ रहा था ॥ २२ ॥

देवानां रुधिरं संख्ये पपुरुग्रा दितेः सुताः।
नर्दमानाः प्रमुदिताः सोमपानं रणाध्वरे ॥ २३ ॥

उस रणयज्ञमें भयंकर दैत्य जो देवताओंका रुधिर पान करते थे, वही मानो प्रसन्नतापूर्वक उनके द्वारा किया गया सोमपान था, वे कोलाहल करते हुए वहाँ वह सोमपान करते थे ॥ २३ ॥

यदा बलिर्महादैत्यो विजेता समरे सुरान्।
तदा ह्यवभृथो यज्ञे भविष्यति न संशयः ॥ २४ ॥

जब महादैत्य बलि समरमें देवताओंपर विजय पा लेंगे, तब उस यज्ञकी समाप्तिपर अवभृथस्नान होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २४ ॥

महासुरेन्द्रपतयो यज्वानो भूरिदक्षिणाः।
वेदवन्तो धृतवन्तः शूराः सर्वे तनुत्यजः ॥ २५ ॥

बड़े-बड़े असुरेश्वर जो प्रचुर दक्षिणा देनेवाले, यज्ञकर्ता, वेदज्ञ, सदाचारी और शूरवीर थे, सब-के-सब उस युद्धमें शरीरका मोह छोड़कर लगे थे ॥ २५ ॥

त्रैलोक्यहरणे सृष्टा युद्धयज्ञाय दीक्षिताः।
बद्धकृष्णाजिनाः सर्वे व्रतिनो मुञ्जधारिणः ॥ २६ ॥

वे सब त्रिलोकीका राज्य हर लेनेके लिये उद्यत हो उस युद्धरूपी यज्ञके लिये दीक्षा ले चुके थे। उन सबने अपने शरीरमें काले मृगचर्म बाँध रखे थे। वे सभी मुञ्जकी मेखला धारण करके व्रतके पालनमें तत्पर थे ॥ २६ ॥

एकनिश्चयकार्याश्च त्रैलोक्यजयकाङ्क्षिणः।
सुरदानवदैत्यानां शब्दः समभवन्महान् ॥ २७ ॥
नानायुधविहस्तानां त्वरितानां प्रधावताम्।

एक ही निश्चित उद्देश्यको लेकर वे सभी युद्धरूपी कार्यमें संलग्न थे। सबके मनमें यही इच्छा थी कि त्रिलोकीके राज्यपर विजय प्राप्त हो जाय। नाना प्रकारके आयुध हाथमें लेकर बड़ी उतावलीके साथ रणभूमिमें तीव्रगतिसे दौड़ते हुए देवताओं, दानवों और दैत्योंका महान् कोलाहल वहाँ होने लगा ॥ २७½ ॥

क्ष्वेडितोत्क्रुष्टनिनदैर्गजबृंहितनिःस्वनैः ॥ २८ ॥
रथनेमिस्वनैर्घोरैस्तुमुलः सर्वतोऽभवत्।

योद्धाओंके सिंहनाद, उच्चस्वरसे पुकार, गर्जना, हाथियोंके चिग्घाड़ने तथा रथके पहियोंकी घरघराहट आदिके घोर कोलाहलसे वहाँ सब ओर तुमुलनाद छा गया ॥ २८½ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्हयहेषितनिःस्वनैः ॥ २९ ॥
हयानां हेषमाणानां दानवानां च गर्जताम्।
क्ष्वेडितोत्क्रुष्टनिनदैः पाणिपादरवैस्तथा ॥ ३० ॥

शङ्ख और दुन्दुभियोंके गम्भीर घोषसे, घोड़ोंके हिनहिनानेकी आवाजसे, हींसते हुए अश्वों और गरजते हुए दानवोंके सिंहनादसे, उनके चीखने और चिल्लानेसे तथा उनके हाथ-पैर पटकनेसे भी वहाँ महान् कोलाहल छा रहा था ॥ २९-३० ॥

दानवानां परेषां च शस्त्रवन्ति महान्ति च।
समरे भीमकर्माणि सैन्यानि प्रचकाशिरे ॥ ३१ ॥

दानवों और देवताओंकी विशाल सेनाएँ अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो समराङ्गणमे भयंकर कर्म करती हुई प्रकाशित हो रही थीं ॥ ३१ ॥

ततो नागा रथाश्चैव जाम्बूनदविभूषिताः।
भ्राजमाना व्यराजन्त मेघा इव सविद्युतः ॥ ३२ ॥

उस समय वहाँ सुवर्णसे विभूषित हाथी और रथ, विद्युत्सहित मेघोंके समान उद्भासित होते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ३२ ॥

ऋष्टिखड्गगदास्तीक्ष्णाः शूलशक्तिपरश्वधाः।

चारु विभ्राजिरे तत्र तेष्वनीकेषु भागशः ॥ ३३ ॥

उन सेनाओंमें पृथक्-पृथक् ऋष्टि, खड्ग, गदा, तीखे शूल, शक्ति और फरसे चमक रहे थे, जो अत्यन्त मनोहर जान पड़ते थे ॥ ३३ ॥

रथा बहुविधाकाराः शतशोऽथ सहस्रशः ।
हेमप्रच्छन्नशिखरा ज्वलन्त इव पावकाः ॥ ३४ ॥

नाना प्रकारकी आकृतिवाले सैकड़ों और हजारों रथ जिनके ऊपरी भाग सोनेके पत्रसे ढके हुए थे, प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३४ ॥

दानवानां सुराणां च समालोक्यन्त सैनिकाः ।
काञ्चनैः कवचैः सर्वे ज्वलितार्कसमप्रभैः ॥ ३५ ॥
संनद्धाः समदृश्यन्त ज्योतींषि गगने यथा ।

दीप्तिमान् सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले सुवर्णमय कवचोंसे सुसज्जित हुए दानवों और देवताओंके समस्त सैनिक आकाशमें तारोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ३५½ ॥

उद्यतैरायुधैश्चित्रैस्तलवद्धाः कलापिनः ॥ ३६ ॥
ऋषभाक्षाः सुरगणाश्चमूमुखगता बभुः ।

हाथोंमें दस्ताने बाँधे और पीठपर तरकस लिये बैलोंके समान बड़े-बड़े नेत्रोंवाले देवता सेनाके मुहानेपर आकर ऊपर उठाये हुए विचित्र आयुधोंके द्वारा बड़ी शोभा पा रहे थे ॥

नानावर्णाः पताकाश्च ध्वजमालाश्च संयुगे ॥ ३७ ॥
युद्ध्यतां रणशौण्डानामीरयामास मारुतः ।

समरभूमिमें जूझते हुए रणकुशल योद्धाओंकी बहुरंगी पताकाओं और ध्वजपंक्तियोंको वायु कम्पित कर रही थी ॥

ध्वजालंकारवस्त्राणि कवचानि च रश्मिभिः ॥ ३८ ॥
भासयामास सर्वाणि रश्मिवर्णानि रश्मिवान् ।

सैनिकोंके ध्वज, आभूषण, वस्त्र और कवच—इन सभी वस्तुओंको सूर्यदेव अपनी किरणोंसे उन्हींके समान कान्तिमान् बनाकर प्रकाशित कर रहे थे ॥ ३८½ ॥

सर्वेषामप्रमेयाणां बलानां पादचारिणाम् ॥ ३९ ॥
रजः प्रच्छादयामास पत्रोर्णं पाण्डुरं दिशः ।

दोनों दलोंके समस्त पैदल सैनिकोंके, जो असंख्य थे, पैरोंसे उठी हुई धुले हुए रेशमी वस्त्रके समान श्वेत धूलने समस्त दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ३९½ ॥

दिव्यायुधधराः सर्वे दीप्तायुधपरिच्छदाः ॥ ४० ॥
प्रतितस्तम्भिरेऽन्योन्यमनीकं प्रत्यनीकतः ।

सबने दिव्य आयुध धारण कर रखे थे; सभीके अस्त्र-शस्त्र तथा वस्त्र-आभूषण आदि चमकीले थे। वे आपसमें एक सेनाके लोग दूसरी सेनाके लोगोंको स्तम्भित कर देते थे (आगे नहीं बढ़ने देते थे) ॥ ४०½ ॥

गिरिकूटोच्छ्रयाः सर्वे तदा ते देवदानवाः ॥ ४१ ॥
अन्योन्यमभिनिघ्नन्तो रणस्याश्चित्रयोधिनः ।

पर्वत-शिखरोंके समान ऊँचे शरीरवाले वे समस्त देवता और दानव उस समय रणभूमिमें खड़े हो एक दूसरेपर चोट करते हुए विचित्र रीतिसे युद्ध करने लगे ॥ ४१½ ॥

बाणैः सुरुचिरैस्तीक्ष्णैः पत्रवाजैर्दुरासदैः ॥ ४२ ॥
मुद्गरैर्मुसलैः शूलैरयस्तुण्डैरुलूखलैः ।
वज्रैरशनिकल्पैश्च खड्गवृक्षादिभिस्तथा ॥ ४३ ॥
तथा प्रवर्तिते तेषां विमर्देऽद्भुतविक्रमे ।
सावित्रस्य वधं प्रेप्सुर्बाणो जग्राह कार्मुकम् ॥ ४४ ॥

पंखोंसे वेगयुक्त हुए दुर्जय, तीक्ष्ण और परम सुन्दर बाण, मुद्गर, मूसल, शूल, अयस्तुण्ड, उलूखल, अशनितुल्य वज्र, खड्ग और वृक्ष आदिके द्वारा अद्भुत पराक्रम प्रकट करते हुए उन योद्धाओंमें जब इस प्रकार भीषण मारकाट हो रही थी, उसी समय सावित्रका वध करनेके लिये बाणासुरने धनुष उठाया ॥ ४२—४४ ॥

शरजालेन दिव्येन च्छादयानः सुरोत्तमम् ।
मन्त्रैर्हुत इवार्चिष्मान् सम्प्रजज्वाल तेजसा ॥ ४५ ॥

अपने दिव्य बाणोंके जालसे सुरश्रेष्ठ सावित्रको आच्छादित करता हुआ बाणासुर मन्त्रोंद्वारा घीकी आहुति पाये हुए अग्निदेवके समान तेजसे प्रज्वलित हो उठा ॥ ४५ ॥

सागराभां महासेनां देवानां दैत्यपुंगवः ।
संशोषयति बाणौघैरर्कोऽशुभिरिवार्णवम् ॥ ४६ ॥

देवताओंकी विशाल सेना समुद्रके समान थी। उसे दैत्यशिरोमणि बाणासुर अपने बाणसमूहोंद्वारा उसी प्रकार सुखाने लगा, जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा समुद्रको सुखाते रहते हैं ॥ ४६ ॥

मारुतः सुमहावेगः सावित्रः शक्तिमुत्तमाम् ।
चिक्षेप बलिपुत्राय शक्रोऽशनिमिवाद्रये ॥ ४७ ॥

तब महान् वेगशाली सावित्र नामक मारुतने बलिपुत्र बाणासुरपर उत्तम शक्ति चलायी, मानो इन्द्रने किसी पर्वत-पर वज्र फेंका हो ॥ ४७ ॥

आपतन्ती च सा शक्तिर्महोल्का ज्वलिता इव ।
द्विधा छिन्ना क्षुरप्रेण बाणेनाद्भुतकर्मणा ॥ ४८ ॥

परंतु अद्भुत कर्म करनेवाले बाणासुरने प्रज्वलित हुई विशाल उल्काके समान अपनी ओर आती हुई उस शक्तिके एक क्षुरप्रद्वारा दो टुकड़े कर डाले ॥ ४८ ॥

हतायामथ शक्त्यां तु सावित्रो देवसत्तमः ।
विश्वकर्मकृतं दिव्यं सुतीक्ष्णं दानवार्दनम् ॥ ४९ ॥
सुपीनधारं विमलं विपुलं चन्द्रवर्चसम् ।
अगृह्णान्निशितं खड्गमाशीविषमिवोरगम् ॥ ५० ॥

उस शक्तिके खण्डित हो जानेपर देवशिरोमणि सावित्रने विश्वकर्माके बनाये हुए एक दिव्य दानवदलन खड्गको हाथमें लिया, जो विषधर सर्पके समान भयंकर था। उसकी

धार बहुत ही तीखी और पुष्ट थी। वह निर्मल एवं विशाल खड्ग तेज होनेके साथ ही चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे प्रकाशित हो रहा था ॥ ४९-५० ॥

तं गृहीत्वा रणमुखे प्रज्वलन्तं महाप्रभम्।
बाणाभ्याशे महातेजाः खड्गपाणिरवस्थितः ॥ ५१ ॥

युद्धके मुहानेपर उस प्रज्वलित होनेवाले महान् कान्तिमान् खड्गको हाथमें लेकर महातेजस्वी सावित्र बाणासुरके निकट खड़े हो गये ॥ ५१ ॥

स तं स्थितमथालक्ष्य सावित्रं बलिनन्दनः।
लोहिताक्षं महाकायं चिक्षेप च ननाद च ॥ ५२ ॥

सावित्रकी आँखें लाल और काया विशाल थी। उन्हें इस प्रकार खड़ा हुआ देख बलिनन्दन बाणासुरने उनके प्रति आक्षेप और सिंहनाद किया ॥ ५२ ॥

ततोऽर्ककिरणाकारानशनिप्रतिमाञ्छितान् ।
संदधे चाशु बाणौघानाशीविषशिलीमुखान् ॥ ५३ ॥

तदनन्तर उसने सूर्यकी किरणोंके समान तेजस्वी, अशनिके सदृश तीखे और विषधर सर्पोंकी भाँति विषैले बाणसमूहोंका शीघ्र ही संधान किया ॥ ५३ ॥

रुक्मपुङ्खान् प्रदीप्ताग्रानुग्रवेगानलंकृतान् ।
आकर्णपूरांश्चिक्षेप शरानुग्रान् समन्ततः ॥ ५४ ॥

उनमें सोनेके पर लगे थे। उनका अग्रभाग उद्दीप्त हो रहा था। वे भयंकर वेगशाली तथा अलंकृत थे। बाणासुरने उन उग्र बाणोंको धनुषपर रखकर उन्हें कानतक खींचकर चारों ओर बरसाना आरम्भ किया ॥ ५४ ॥

दृढचापप्रयुक्तास्ते शरा वैश्वानरप्रभाः।
सावित्रं छादयामासुः कैलासमिव तोयदाः ॥ ५५ ॥

वे अग्निके समान तेजस्वी बाण सुदृढ़ धनुषद्वारा छोड़े गये थे। उन्होंने सावित्रको उसी तरह ढक लिया, जैसे बादल कैलास पर्वतको आच्छादित कर देते हैं ॥ ५५ ॥

संछाद्यमानः शस्त्रौघैर्बाणेन बलिसूनुना।
पराङ्मुखः सुरवरः प्रयातः सरथध्वजः ॥ ५६ ॥

बलिकुमार बाणासुरके शस्त्रसमूहोंद्वारा इस प्रकार आच्छादित होते हुए सुरश्रेष्ठ सावित्र युद्धसे विमुख हो रथ और ध्वजसहित वहाँसे चल दिये ॥ ५६ ॥

पराजित्य स सावित्रं बाणः परमहर्षितः।
प्रगृह्य कार्मुकं घोरं गतः शक्ररथं प्रति ॥ ५७ ॥

सावित्रको पराजित करके बाणासुर बहुत प्रसन्न हुआ। तत्पश्चात् वह भयंकर धनुष लेकर इन्द्रके रथकी ओर चला गया ॥ ५७ ॥

बलश्चाप्यसुरश्रेष्ठः प्रगृह्य महतीं गदाम्।
ध्रुवाय वसवे मूर्ध्नि रौद्रां चिक्षेप दानवः ॥ ५८ ॥

इधर असुरशिरोमणि बल नामक दानवने विशाल एवं भयंकर गदा हाथमें लेकर उसे ध्रुव नामक वसुके मस्तकपर दे मारा ॥ ५८ ॥

तस्य निर्मथितं त्वंसे हेमचित्रं च वर्म वै।
गदावेगेन भीमेन ध्रुवस्य समरे तदा ॥ ५९ ॥

उस समय समराङ्गणमें उस गदाके भयंकर वेगसे ध्रुवके कंधेपर स्थित सुवर्णजटित विचित्र कवच छिन्न भिन्न हो गया ॥

शेषाश्च वसवः सर्वे दिव्यास्त्रैर्घोरदर्शनैः।
प्राच्छादयन् रणे दैत्यमादित्यमिव तोयदाः ॥ ६० ॥

तब शेष सभी वसुओंने घोर दिव्यास्त्रोंद्वारा रणभूमिमें उस दैत्यको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे बादल सूर्यदेवको आच्छादित कर देते हैं ॥ ६० ॥

ततः सम्मर्दितो बाणैर्बलो दानवसत्तमः।
अवातरद् रथात् तस्माद् गदामुद्यम्य वेगवान् ॥ ६१ ॥

फिर तो उनके बाणोंसे रौंदा गया दानवशिरोमणि बल गदा उठाकर अपने उस रथसे वेगपूर्वक उतर पड़ा ॥ ६१ ॥

पातयामास शत्रूणां समाविध्य महासुरः।
दिशः प्राद्रावयत् सर्वांस्त्रिदशान् सा महागदा ॥ ६२ ॥

उस महान् असुरने गदाको घुमाकर उसे अपने शत्रुओंपर चला दिया। उस विशाल गदाने सम्पूर्ण देवताओंको उस समय विभिन्न दिशाओंमें भागनेको विवश कर दिया ॥

इन्द्राशनिरिवेन्द्रेण प्रवृद्धा सुमहास्वना।
तस्याः सविद्युद्घोषायास्तेन शब्देन वेपिताः ॥ ६३ ॥
व्यद्रवन्त परिभ्रष्टा रथेभ्यो रथिनस्तदा।

जैसे इन्द्रके द्वारा फेंकी गयी उनकी अशनि बड़े वेगसे आगे बढ़कर बड़ी भारी गड़गड़ाहट पैदा करती है, उसी तरह उस गदाने भी किया। बिजलीकी-सी कड़क पैदा करनेवाली उस गदाके शब्दसे कम्पित होकर उस समय देवसेनाके रथी अपने रथोंसे कूदकर भाग गये ॥ ६३½ ॥

तदुदीर्णं रथानीकं सूर्याभं मेघनिःस्वनम् ॥ ६४ ॥
देवानां शरधाराभिः समन्तादभ्यवर्षत।

तब सूर्यके समान तेजस्विनी और मेघोंके समान गर्जना करनेवाली देवताओंकी उस प्रचण्ड रथ-सेनापर बलने चारों ओरसे बाणधाराकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ६४½ ॥

क्षुरप्रैर्विशिखैर्भल्लैर्वत्सदन्तैः शिलीमुखैः ॥ ६५ ॥
मुहुर्मुहुर्महातेजाः प्रत्यविध्यन्महासुरः।

वह महातेजस्वी महान् असुर देवताओंको क्षुरप्र, विशिख, भल्ल, वत्सदन्त तथा शिलीमुख नामक बाणोंद्वारा बारंबार घायल करने लगा ॥ ६५½ ॥

बलाकस्तु गदापाणिर्व्यादितास्य इवान्तकः ॥ ६६ ॥
तडिद्वर्णार्कसदृशो वैश्वानर इवापरः।

बलाक नामक दैत्य हाथमें गदा लेकर मुँह बाये हुए कालके समान जान पड़ता था। वह विद्युत् और सूर्यके

समान तेजस्वी था । दूसरे वैश्वानर (अग्नि) के समान प्रकाशित हो रहा था ॥ ६६½ ॥

पिबन्निव शरौघांस्तान् देवचापसमुच्छ्रितान् ॥ ६७ ॥
अभ्यद्रवत दैत्येन्द्रो महार्णव इवापरः ।

वह दैत्यराज देवताओंके धनुषसे छूटे हुए बाणसमूहोंको पीता हुआ-सा उनकी ओर दौड़ा । वह दूसरे महासागरके समान वेगशाली प्रतीत होता था ॥ ६७½ ॥

अवस्फूर्जन् दिशः सर्वाः स्वेन वीर्येण दानवः॥ ६८ ॥
अरुणत् त्रिदशान् दैत्यः सिंधुवेगान् नगा इव ।

जैसे पर्वत समुद्रके वेगको भङ्ग कर देते हैं, उसी प्रकार उस दानव अथवा दैत्य बलाकने अपनी गर्जनासे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए अपने बल-पराक्रमसे समस्त देवताओंकी प्रगति भंग कर दी ॥ ६८½ ॥

समुद्रस्तरसा देवान् वायुर्वृक्षानिवौजसा ॥ ६९ ॥
दमयंश्च महेष्वासान् वसुभ्यां समसज्जत ।

समुद्र नामक दैत्य जैसे वायु अपने बलसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार अपने वेगसे महाधनुर्धर देवताओंका दमन करता हुआ आप और अनिल नामक दो वसुओंके साथ युद्ध करने लगा ॥ ६९½ ॥

आपश्चैवानिलश्चैव ववर्षतुररिंदमौ ॥ ७० ॥
शरवर्षाणि दीप्तानि मेघाविव परंतपौ ।
क्षिप्तांस्तान् विशिखान् दीप्तानन्तरिक्षे स चिच्छिदे॥७१॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले परंतप आप और अनिल दोनों वसुओंने दो मेघोंके समान तेजस्वी बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी; परंतु उस दैत्यने उनके चलाये हुए उन तेजस्वी बाणोंको आकाशमें ही काट गिराया ॥ ७०-७१ ॥

अमृष्यमाणस्तत्कर्म ध्रुवस्तमभिदुद्रुवे ।
तौ पृथक्छरवर्षाभ्यामन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ ७२ ॥

उसके उस कर्मको ध्रुव सहन न कर सके; अतः उन्होंने उसपर धावा कर दिया । फिर वे दोनों वीर पृथक् पृथक् बाण-वर्षा करके एक-दूसरेको घायल करने लगे ॥७२॥

उत्तमाभिजनौ शूरौ देवदैत्यौ यशस्करौ ।
तौ नखैरिव शार्दूलौ दन्तैरिव महाद्विपौ ॥ ७३ ॥
रथशक्तिभिरन्योन्यं विशिखैश्चाप्यकृन्तताम् ।
निर्भिन्दन्तौ च गात्राणि विलिखन्तौ च सायकैः॥ ७४ ॥

वे देवता और दैत्य दोनों शूरवीर, उत्तम कुलमें उत्पन्न तथा यशस्वी थे । जैसे दो बाघ नखोंसे और दो महान् गजराज दाँतोंसे एक दूसरेपर चोट करते हैं, उसी प्रकार वे दोनों वीर रथ-शक्तियों और बाणोंद्वारा एक दूसरेको क्षत विक्षत करने लगे । वे अपने अपने सायकोंद्वारा प्रतिपक्षीके अङ्गोंको विदीर्ण एवं घायल करने लगे ॥ ७३-७४ ॥

स्तम्भयन्तौ च बलिनौ प्रतुदन्तौ स्थितौ रणे ।
चरन्तौ विविधान् मार्गान् मण्डलानि च भागशः॥७५॥

दोनों बलवान् थे; अतः दोनों ही रणभूमिमें स्थित होकर एक दूसरेको आगे बढ़नेसे रोकते और पीड़ित करते हुए युद्धके विविध मार्गोंसे विचरते और पृथक् पृथक् पैंतरे दिखाते थे ॥ ७५ ॥

मुद्गरैर्जघ्नतुः क्रुद्धावन्योन्यमभिमानिनौ ।
असिभ्यां चर्मणी दिव्ये विपुले च शरासने ॥ ७६ ॥
निकृत्याचलसंकाशौ बाहुयुद्धं प्रचक्रतुः ।

इसके बाद वे दोनों अभिमानी वीर कुपित होकर परस्पर मुद्गरोंकी मार करने लगे । दोनों ही तलवारोंसे दोनोंके दिव्य ढाल और विशाल धनुष काटकर पर्वतके समान खड़े हो परस्पर बाहुयुद्ध करने लगे ॥ ७६½ ॥

व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ ॥ ७७ ॥
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ।

दोनोंकी ही छाती चौड़ी और भुजाएँ बड़ी बड़ी थीं । दोनों ही मल्लयुद्धमें कुशल थे, अतः लोहेके बने हुए परिघोंके समान अपनी मोटी एवं बलिष्ठ भुजाओंद्वारा वे एक दूसरेसे गुथ गये ॥ ७७½ ॥

तयोरासीद् भुजाघातैर्निग्रहः प्रग्रहस्तथा ॥ ७८ ॥
अतीव भीमः संह्रादो वज्रपर्वतयोरिव ।

उन दोनोंमें भुजाओंके आघातसे निग्रह और प्रग्रहके दाँव-पेंच चलने लगे । उस समय वज्र और पर्वतके टकरानेके समान अत्यन्त भयंकर शब्द होता था ॥ ७८½ ॥

द्विपाविव विषाणाग्रैः शृङ्गैरिव महावृषौ ॥ ७९ ॥
अन्योन्यमभिसंरब्धौ मुहूर्तं पर्यकर्षताम् ॥ ८० ॥

जैसे दो हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागसे तथा दो बड़े-बड़े साँड़ अपने सींगोंसे प्रहार करते हुए लड़ते हैं, उसी प्रकार वे दोनों वीर अत्यन्त क्रोधपूर्वक दो घड़ीतक एक दूसरेको खींचते और धक्के देते रहे ॥ ७९-८० ॥

ततः पराजितो देवो बलाकेन तथा ध्रुवः ।
रथं त्यक्त्वा भयात् तस्य प्रणष्टः प्राङ्मुखो वसुः॥ ८१ ॥

तदनन्तर वसुदेवता ध्रुव बलाक नामक दैत्यसे पराजित हो रथ छोड़कर भयके मारे पूर्व दिशाकी ओर भाग गये ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे देवासुरयुद्धे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें देवताओं और असुरोंका युद्धविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नमुचिद्वारा धर नामक वसुकी, मयासुरद्वारा त्वष्टाकी, वायुदेवद्वारा पुलोमाकी, हयग्रीवद्वारा पूषा देवताकी, शम्बरासुरद्वारा भगकी तथा चन्द्रदेवद्वारा समूची दैत्यसेनाकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

पुनरेव तु तत्रासीन्महायुद्धं सुदारुणम्।
क्रुद्धस्य नमुचेश्चैव धरस्य च महात्मनः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वहाँ पुनः क्रोधमें भरे हुए नमुचि और महात्मा धरका अत्यन्त भयंकर महान् युद्ध आरम्भ हुआ॥ १॥

संरब्धौ च महाबाहू महेष्वासावरिंदमौ।
परस्परमुदैक्षेतां दहन्ताविव लोचनैः॥ २॥

दोनों ही महाबाहु, महाधनुर्धर और शत्रुदमन वीर थे। वे दोनों क्रोधसे भरकर एक दूसरेको इस तरह देखने लगे, मानो नेत्रोंद्वारा दग्ध कर देंगे॥ २॥

विस्फार्य च महाचापं हेमपृष्ठं दुरासदम्।
संरम्भात् स वसुश्रेष्ठस्त्यक्त्वा प्राणानयुध्यत॥ ३॥

वसुश्रेष्ठ धर जिसके पृष्ठभागमें सोना जड़ा हुआ था, उस दुर्जय एवं विशाल धनुषको फैलाकर और प्राणोंका मोह छोड़कर क्रोधपूर्वक युद्ध करने लगे॥ ३॥

स सायकमयैर्जालैर्धरो दैत्यरथं प्रति।
भानुमद्भिः शिलाधौतैर्भानोः प्राच्छादयत् प्रभाम्॥ ४॥

धरने शिलापर तेज किये हुए तेजस्वी बाणोंका जाल-सा बिछाकर दैत्य नमुचिके रथको तथा सूर्यके प्रकाशको भी ढक दिया॥ ४॥

ततः प्रहस्य नमुचिर्धरस्य च शिलाशितान्।
असृजत् सायकान् दीप्तान् भीमवेगान् दुरासदान्॥५॥

तब नमुचिने हँसकर धरके ऊपर भी भयंकर वेगशाली दुर्जय बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी। वे सभी बाण सानपर चढ़ाकर तेज किये गये और तेजस्वी थे॥ ५॥

महातेजा महाबाहुर्महावेगो महारथः।
विव्याधातिबलो दैत्यो नवभिर्निशितैः शरैः॥ ६॥

महातेजस्वी, महान् वेगशाली, महारथी और अत्यन्त बलशाली महाबाहु दैत्य नमुचिने नौ पैने बाणोंसे धरको घायल कर दिया॥ ६॥

स तोत्रैरिव मातङ्गो वार्यमाणः पतत्रिभिः।
अभ्यधावच्च संक्रुद्धो नमुचिं वसुसत्तमः॥ ७॥

जैसे अंकुशोंसे हाथीको रोका जाय, उसी प्रकार बाणोंद्वारा रोके जाते हुए वसुशिरोमणि धरने अत्यन्त कुपित होकर नमुचिपर धावा किया॥ ७॥

तमापतन्तं वेगेन संरम्भान्नमुची रणे।
दैत्यः प्रत्यसरद् देवं मत्तो मत्तमिव द्विपम्॥ ८॥

उन्हें क्रोधपूर्वक वेगसे आते देख रणभूमिमें नमुचि नामक दैत्य उन वसु देवताका सामना करनेके लिये आगे बढ़ा, ठीक उसी तरह जैसे एक मतवाला हाथी दूसरे मतवाले हाथीके साथ भिड़नेके लिये आगे बढ़ता है॥ ८॥

ततः प्राध्मापयच्छङ्खं भेरीशतनिनादिनम्।
विक्षोभ्य तद्बलं हर्षादुद्धूतार्णवसप्रभम्॥ ९॥
अश्वानृक्षसवर्णाभान् हंसवर्णैः सुवाजिभिः।
मिश्रयन् समरे दैत्यो वसुं प्राच्छादयच्छरैः॥ १०॥

तदनन्तर दैत्यने शङ्ख बजाया, जो सौ भेरियोंके समान गम्भीर घोष करनेवाला था। उसने हर्षसे उमड़ते हुए समुद्रके समान देवताओंकी सेनाको क्षोभमें डालकर अपने रीछके समान रंगवाले घोड़ोंको धरके हंसकी-सी कान्तिवाले उत्तम घोड़ोंके साथ मिलाते हुए समराङ्गणमें बाणोंद्वारा वसुको आच्छादित कर दिया॥ ९-१०॥

समाश्लिष्टावथान्योन्यं वसुदानवयो रथौ।
दृष्ट्वा प्राकम्पत मुहुस्त्रिदशानां महद्बलम्॥ ११॥

वसु और दानवके रथोंको एक दूसरेसे सटा हुआ देख देवताओंकी विशाल सेना बारंबार काँपने लगी॥ ११॥

क्रोधसंरम्भताम्राक्षौ प्रेक्षमाणौ मुहुर्मुहुः।
गर्जन्ताविव शार्दूलौ प्रभिन्नाविव वारणौ॥ १२॥

उन दोनोंके नेत्र रोषावेशसे लाल हो रहे थे। वे दोनों दो बाघों और मदकी धारा बहानेवाले दो हाथियोंके समान एक दूसरेकी ओर देख-देखकर बारंबार गर्जना करते थे॥

यमराष्ट्रोपमं रौद्रमासीदायोधनं तयोः।
रथाश्वनरसम्बाधं मत्तवारणसंकुलम्॥ १३॥

उन दोनोंका भयंकर युद्ध यमराजके राज्यके समान प्रतीत होता था। वह युद्धस्थल रथ, घोड़े और मनुष्योंसे भरा हुआ तथा मतवाले हाथियोंसे व्याप्त था॥ १३॥

समाजमिव तं दृष्ट्वा प्रेक्षमाणा महारथाः।
आशंसन्तो जयं ताभ्यां योधा नैकत्रसंश्रयाः॥ १४॥

उन दोनोंका युद्ध समाज (रंगशालामें होनेवाली क्रीडा) के समान दर्शनीय हो गया था। उसे देखते हुए उभय-पक्षीय महारथी योद्धा उन दोनोंमेंसे एकको जय मनाते थे (देवता देवताकी और दैत्य दैत्यकी विजय चाहते थे)॥

तयोः प्रैक्षन्त संरम्भं संनिकृष्टं महास्त्रयोः।
सिद्धगन्धर्वमुनयो देवदानवयोस्तदा॥ १५॥

उन महान् अस्त्रधारी देवता और दानव दोनों वीरोंके निकटसे होनेवाले रोषपूर्ण संग्रामको सिद्ध, गन्धर्व और मुनि देख रहे थे॥ १५॥

तौ च्छादयन्तावन्योन्यं समरे निशितैः शरैः ।
शरजालावृतं व्योम चक्रतुश्च महाबलौ ॥ १६ ॥

उन दोनों महाबली योद्धाओंने समराङ्गणमें पैने बाणोंसे एक दूसरेको आच्छादित करते हुए आकाशको बाणोंके जालसे ढक दिया ॥ १६ ॥

तावन्योन्यं जिघांसन्तौ शरैस्तीक्ष्णैर्महारथौ ।
प्रेक्षणीयतमावास्तां वृष्टिमन्ताविवाम्बुदौ ॥ १७ ॥

तीखे बाणोंसे एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छावाले वे दोनों महारथी वीर वर्षा करनेवाले मेघोंके समान परम दर्शनीय हो रहे थे ॥ १७ ॥

सुवर्णविकृतान् बाणान् प्रमुञ्चन्तावरिंदमौ ।
भास्कराभं तदाकाशमुल्काभिरिव चक्रतुः ॥ १८ ॥

सुवर्णनिर्मित बाणोंकी वर्षा करते हुए उन दोनों शत्रुदमन वीरोंने उस समय आकाशको सूर्यके समान प्रकाशमान तथा उल्काओंसे व्याप्त-सा कर दिया ॥ १८ ॥

तयोः शराः प्रकाशन्ते देवदानवयोस्तदा ।
पङ्क्त्यः शरदि मत्तानां सारसानामिवाम्बरे ॥१९॥

देवता धर और दानव नमुचि दोनोंके बाण उस समय आकाशमें ऐसे प्रकाशित हो रहे थे, मानो शरद्-ऋतुमें मतवाले सारसोंकी पंक्तियाँ उड़ी जा रही हों ॥ १९ ॥

त्रिदशाश्वगजानां हि शरीरैर्गतजीवितैः ।
क्षणेन संवृता भूमिर्मेघैरिव नभस्तलम् ॥ २० ॥

जैसे बादल आकाशको ढक लेते हैं, उसी प्रकार देवताओंके घोड़े और हाथियोंके निर्जीव शरीरोंसे वहाँकी भूमि क्षणभरमें पट गयी ॥ २० ॥

ततः सुधारं ज्वलितं सूर्यमण्डलसन्निभम् ।
धराय वसवे मुक्तं चक्रं नमुचिना रणे ॥ २१ ॥

तदनन्तर रणभूमिमें नमुचिने सूर्यमण्डलके समान प्रज्वलित और तीखी धारवाला चक्र धर नामक वसुको लक्ष्य करके छोड़ दिया ॥ २१ ॥

पतता तेन चक्रेण धरस्य स्यन्दनोत्तमः ।
सध्वजः सायुधः साश्वो दग्धोऽर्ककिरणप्रभः॥ २२ ॥

गिरते हुए उस चक्रने धरके सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान उत्तम रथको ध्वज, आयुध और घोड़ोंसहित जलाकर भस्म कर दिया ॥ २२ ॥

स त्यक्त्वा स्यन्दनं देवः प्रदीप्तं चक्रतेजसा ।
भयात् तस्यासुरेन्द्रस्य गतः स्वगृहमुत्तमम् ॥ २३ ॥

चक्रके तेजसे जलते हुए उस रथको त्यागकर धर देवता असुरेश्वर नमुचिके भयसे अपने उत्तम घरको भाग गये ॥२३॥

पराजित्य सुरं दैत्यो नमुचिर्बलगर्वितः ।
प्रयातः स्वेन सैन्येन भूयः सुरचमूं प्रति ॥ २४ ॥

इस प्रकार वसु देवताको पराजित करके बलके घमंडसे भरा हुआ दैत्य नमुचि पुनः अपनी सेनाके साथ देवसेनाकी ओर बढ़ा ॥ २४ ॥

यौ तौ मयश्च त्वष्टा च देवदैत्येषु विश्रुतौ ।
प्रवरौ विश्वकर्माणौ मायाशतविशारदौ ॥ २५ ॥
घोरस्तयोः सम्प्रहारः प्रावर्तत सुदारुणः ।
अन्योन्यस्पर्द्धिनोस्तत्र चिरात्प्रभृति संयुगे ॥ २६ ॥

देवताओं और दैत्योंमें जो विख्यात मय और त्वष्टा हैं, वे दोनों श्रेष्ठ विश्वकर्मा कहे गये हैं। दोनों ही सैकड़ों मायाओंके विशेषज्ञ हैं। उन दोनोंमें वहाँ अत्यन्त दारुण और घोर युद्ध आरम्भ हो गया। वे चिरकालसे युद्धके लिये एक दूसरेके प्रति स्पर्धा रखते चले आ रहे थे ॥२५-२६॥

त्वष्टा तु निशितैर्बाणैर्दैत्यं तु बलदर्पितम् ।
पराक्रान्तं पराक्रम्य विव्याध त्रिशतैः शरैः ॥ २७ ॥

त्वष्टाने बलके घमंडमें भरे हुए पराक्रमी दैत्य मयको पराक्रमपूर्वक तीन सौ तीखे बाणोंसे घायल कर दिया ॥२७॥

मयस्तु प्रतिविव्याध त्वष्टारं निशितैः शरैः ।
सुघातैः सुप्रसन्नाग्रैः शातकुम्भविभूषितैः ।
ननाद दितिजश्रेष्ठो हतस्त्वष्टुः शरैर्मयः ॥ २८ ॥

तब मयने भी त्वष्टाको अपने पैने बाणोंका निशाना बनाया। मयासुरके वे बाण अच्छी तरह चोट करनेवाले तथा सुवर्णसे विभूषित थे। उनके अग्रभाग स्वच्छ एवं चमकीले थे। फिर त्वष्टाके बाणोंसे घायल हुए दैत्यप्रवर मयासुरने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ २८ ॥

संक्रुद्धो दैत्यसैन्यस्य विचिन्वन्निव जीवितम् ।
शक्तिं कनकवैदूर्यचित्रदण्डां महाप्रभाम् ॥ २९ ॥
देवो गृहीत्वा समरे दैत्येन्द्रं समपातयत् ।

यह देख त्वष्टा अत्यन्त कुपित हो उठे और दैत्यसेनाके प्राणोंका चयन-सा करने लगे। उन्होंने सुवर्ण और वैदूर्यमणिसे जटित विचित्र दण्डवाली, अत्यन्त प्रभासे परिपूर्ण शक्ति हाथमें लेकर उसे समराङ्गणमें उस दैत्यराजपर दे मारा॥

भीमां सर्वायसीं दृष्ट्वा पुरंदर इवाशनिम् ॥ ३० ॥
तां त्वष्टुर्भुजनिर्मुक्तामर्कवैश्वानरप्रभाम् ।
मयश्चिच्छेद तीक्ष्णाग्रैस्तूर्णं सप्तभिराशुगैः ॥ ३१ ॥

वह भयंकर शक्ति सम्पूर्णतः लोहेकी बनी हुई थी। जैसे देवराज इन्द्रने वज्र चलाया हो, उसी प्रकार त्वष्टाके हाथोंसे छूटी हुई सूर्य और अग्निके समान प्रभावाली उस शक्तिको आती देख मयासुरने तीखे अग्रभागवाले सात शीघ्रगामी बाणोंद्वारा तुरंत ही उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥

ततः क्षुण्वन्निव प्राणांस्त्वष्टुः कोपान्महासुरः ।
प्रेषयामास संरब्धः शरान् बर्हिणवाससः ॥ ३२ ॥

तब उस महान् असुरने कुपित हो मानो त्वष्टाके प्राण लेनेको उद्यत होकर उनके ऊपर रोषपूर्वक मोरपंख लगे बाणोंका प्रहार आरम्भ किया ॥ ३२ ॥

चिच्छेद बाणांस्त्वष्टा ताञ्ज्वलितैर्नतपर्वभिः।
दैत्यस्य सुमहावेगैः सुवर्णविकृतैः शरैः॥ ३३॥

परंतु त्वष्टाने सुवर्णनिर्मित, झुकी हुई गाँठवाले, प्रज्वलित तथा महान् वेगशाली सायकोंद्वारा दैत्यके उन बाणोंको काट डाला॥ ३३॥

तौ वृषाविव नर्दन्तौ बलिनौ वासितान्तरे।
शार्दूलाविव चान्योन्यं प्रसक्तावभिजघ्नतुः॥ ३४॥

वे दोनों बलवान् वीर मैथुनकी इच्छावाली गौके लिये आपसमें लड़ने और गर्जनेवाले दो साँड़ों तथा परस्पर उलझे हुए दो व्याघ्रोंके समान एक-दूसरेपर आघात करने लगे॥ ३४॥

अन्योन्यं प्रतियुध्यन्तावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ।
अन्योन्यमभिवीक्षन्तौ क्रुद्धावाशीविषाविव॥ ३५॥

वे एक दूसरेके वधकी इच्छासे परस्पर लड़ते थे और क्रोधमें भरे हुए दो विषधर सर्पोंके समान एक-दूसरेकी ओर देखते थे॥ ३५॥

महागजाविवासाद्य विषाणाग्रैः परस्परम्।
शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैरन्योन्यमभिजघ्नतुः॥ ३६॥

जैसे दो बड़े-बड़े हाथी परस्पर भिड़कर दाँतोंके अग्रभागोंसे एक-दूसरेपर चोट करते हैं, उसी प्रकार वे दोनों धनुषको पूरा-पूरा तानकर छोड़े गये बाणोंद्वारा परस्पर आघात कर रहे थे॥ ३६॥

ततः सुविपुलां दीप्तां मयो रुक्माङ्गदो गदाम्।
त्वष्टरि प्राहिणोत् क्रुद्धः सर्वप्राणहरां रणे॥ ३७॥

तब सोनेके बाजूबंद धारण करनेवाले मयासुरने कुपित हो रणभूमिमें सबके प्राण हर लेनेवाली एक विशाल एवं दीप्तिमती गदा त्वष्टापर चलायी॥ ३७॥

तया जघानातिरथस्त्वष्टुरुत्तमवाजिनः।
गदया दानवः क्रुद्धो वज्रेणेन्द्र इवाचलान्॥ ३८॥

क्रोधमें भरे हुए उस अतिरथी दानवने उस गदाके द्वारा त्वष्टाके उत्तम घोड़ोंको मार डाला; ठीक उसी तरह, जैसे इन्द्र वज्रसे पर्वतोंको धराशायी कर देते हैं॥ ३८॥

ततः क्रुद्धो महादैत्यः क्षुराभ्यामथ संयुगे।
पुनर्द्वाभ्यां शराभ्यां तु निशिताभ्यां महारणे॥ ३९॥
ध्वजं त्वष्टुरथ च्छित्त्वा सूतं निन्ये यमक्षयम्।
महाबलान् महावेगान् सदश्वान् गदया हनत्॥ ४०॥

इसके बाद कुपित हुए उस महादैत्यने महासमरमें पुनः दो पैने 'क्षुर' नामक बाणोंद्वारा त्वष्टाके ध्वजको काटकर उनके सारथिको यमलोक पहुँचा दिया। उनके महाबली और महावेगशाली उत्तम घोड़ोंको तो उसने पहले ही गदासे मार डाला था॥ ३९-४०॥

दृष्ट्वा त्वष्टा हतं सूतमश्वांश्च विनिपातितान्।
हताश्वं रथमुत्सृज्य सूतं च पतितं भुवि॥ ४१॥
विस्फारयन् महाचापं स्थितो भूमाविवाचलः।

त्वष्टाने जब देखा कि मेरा सारथि मारा गया और घोड़े भी धराशायी कर दिये गये, तब वे अश्वहीन रथ और धरतीपर पड़े हुए सारथिको वहीं छोड़कर अपने महान् धनुषको टंकारते हुए पृथ्वीपर अविचल भावसे खड़े हो गये॥ ४१½॥

हताश्वसूतं विरथं दृष्ट्वा रिपुमवस्थितम्॥ ४२॥
जयश्रिया सेव्यमानो दीप्यमान इवानलः।
मयः कालान्तकप्रख्यश्चापपाणिरदृश्यत॥ ४३॥

घोड़े और सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुए शत्रुको रणभूमिमें खड़ा देख विजय-लक्ष्मीसे सेवित और अग्निके समान दीप्तिमान् मयासुर हाथमें धनुष लेकर सामने आ गया। उस समय वह काल और अन्तकके समान दिखायी दे रहा था॥ ४२-४३॥

प्रादहद् देवसैन्यानि दावाग्निरिव काननम्।
त्वष्टुः सोऽक्षिपतात्युग्रान् नाराचांस्तिग्मतेजसः॥ ४४॥
चतुर्दश शिलाधौतान् सायकान् विविधाकृतीन्।

जैसे दावानल वनको जला देता है, उसी प्रकार वह देवताओंकी सेनाओंको दग्ध करने लगा। उसने त्वष्टापर प्रचण्ड तेजवाले अत्यन्त उग्र नाराच चलाये। साथ ही सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए विभिन्न रूप-रंगवाले चौदह सायकोंका प्रहार किया॥ ४४½॥

ते पपुस्तस्य सैन्यस्य शोणितं रुक्मभूषणाः॥ ४५॥
आशीविषा इव क्रुद्धा भुजङ्गाः कालचोदिताः।

जैसे कालसे प्रेरित हुए विषधर सर्प कुपित हो किसीका रक्त पीते हों, उसी प्रकार वे सुवर्णभूषित बाण उनकी सेनाका रक्त पान करने लगे॥ ४५½॥

ते क्षितिं समवर्तन्त शोभन्ते रुधिरोक्षिताः॥ ४६॥
अर्द्धप्रविष्टाः संरब्धा बिलानीव महोरगाः।

वे खूनसे भीगे हुए बाण पृथ्वीपर गिरकर उसमें धँस गये और बिलमें आधे घुसे हुए रोषभरे महान् सर्पोंके समान शोभा पाने लगे॥ ४६½॥

तं प्रत्यविध्यत् त्वष्टा तु जाम्बूनदविभूषितैः॥ ४७॥
चतुर्दशभिरत्युग्रैर्नाराचैरभिदारयन्।

तब त्वष्टाने सुवर्णभूषित अत्यन्त उग्र चौदह नाराचोंद्वारा मयासुरको विदीर्ण करते हुए घायल कर दिया॥ ४७½॥

ते तस्य दैत्यस्य भुजं सव्यं निर्भिद्य पत्रिणः॥ ४८॥
विशर्य विविशुर्भूमिं पन्नगा इव वेगतः।

वे पङ्खधारी बाण उस दैत्यकी बायीं भुजाको विदीर्ण करके सर्पोंके समान वेगपूर्वक पृथ्वीमें घुस गये॥ ४८½॥

ते प्रकाशन्त नाराचाः प्रविशन्तो वसुंधराम्॥ ४९॥
अस्तं गच्छन्तमादित्यं प्रविशन्त इवांशवः।

पृथ्वीमें प्रवेश करते हुए वे नाराच अस्ताचलको जाते

हुए सूर्यमें प्रविष्ट होनेवाली किरणोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४९½ ॥

मयस्त्रिभिरथानर्छत् त्वष्टारं तु पतत्रिभिः ॥ ५० ॥
सुपर्णवेगैर्विकृतैर्ज्वलद्भिः प्राणनाशनैः ।

तदनन्तर मयने पङ्खवाले तीन बाणोंद्वारा, जो गरुड़के समान वेगशाली, विकराल, प्रकाशमान और प्राणनाशक थे, त्वष्टाको घायल कर दिया ॥ ५०½ ॥

त्वष्टाथ मयनिर्मुक्तैः सायकैरर्दितः प्रभुः ॥ ५१ ॥
अपयातो रणं हित्वा व्रीडयाभिसमन्वितः ।

मयके छोड़े हुए सायकोंसे पीड़ित हो प्रभावशाली त्वष्टा लज्जित होकर युद्ध छोड़कर भाग गये ॥ ५१½ ॥

तं तत्र हतसूतं च भुजङ्गमिव निर्विषम् ॥ ५२ ॥
त्वष्टारं विरथं कृत्वा मुदितः स तु दानवः ।

त्वष्टाको सारथि और रथसे हीन तथा विषरहित सर्पके समान शक्तिशून्य करके वह दानव बहुत प्रसन्न हुआ ॥५२½॥

विस्फार्यमाणो रुचिरं चापं रुक्माङ्गदं दृढम् ॥ ५३ ॥
रणे व्यतिष्ठद् दैत्येन्द्रो ज्वलन्निव हुताशनः ।

सोनेके कड़ेसे विभूषित सुदृढ़ एवं सुन्दर धनुषकी टङ्कार करता हुआ वह दैत्यराज रणभूमिमें प्रज्वलित अग्निके समान खड़ा था ॥ ५३½ ॥

पुलोमा तु बलश्लाघी दृप्तो दानवसत्तमः ॥ ५४ ॥
रथे श्वेतहयेनेह सार्धं युद्ध्यति वायुना ।

अपने बलकी प्रशंसा करनेवाला अभिमानी दानव-शिरोमणि पुलोमा रथपर बैठकर श्वेत अश्ववाले वायुदेवके साथ युद्ध करने लगा ॥ ५४½ ॥

सर्वेषामेव भूतानां यः प्राणः कथ्यते द्विजैः ॥ ५५ ॥
बलिना कालकल्पेन वायुना सह संगतः ।

द्विजगण जिन्हें सभी प्राणियोंके प्राण कहते हैं, उन्हीं महाबली कालसदृश वायुदेवताके साथ वह जा भिड़ा ॥५५½॥

पुलोम्नस्तत्र पवनः श्रुत्वा ज्यातलनिःस्वनम् ॥ ५६ ॥
नामृष्यत यथा मत्तो गजः प्रतिगजस्वनम् ।

वायुदेव वहाँ पुलोमाके धनुषकी प्रत्यञ्चाकी टङ्कार सुनकर सहन न कर सके, जैसे मतवाला हाथी अपने विरोधी हाथीकी गर्जनाको नहीं सहन कर पाता है ॥ ५६½ ॥

दैत्यचापच्युतैर्बाणैः प्राच्छाद्यन्त दिशो दश ॥ ५७ ॥
रश्मिजालैरिवार्कस्य विततं साम्बरं जगत् ।

जैसे सूर्यके किरण-जालसे आकाशसहित विस्तृत जगत् आवृत हो जाता है, उसी प्रकार पुलोमा दैत्यके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा दसों दिशाएँ आच्छादित हो गयीं ॥ ५७½ ॥

स ताम्रनयनः क्रुद्धः श्वसन्निव महोरगः ॥ ५८ ॥
वृतो दैत्यशतैर्वायू रश्मिवानिव भास्करः ।

फुफकारते हुए महान् सर्पकी भाँति कुपित हुए वायुदेवके नेत्र ताँबेके समान लाल हो रहे थे । वे सैकड़ों दैत्योंसे घिर-कर अंशुमाली सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ५८½ ॥

दैत्यचापभुजोत्सृष्टाः शरा बर्हिणवाससः ॥ ५९ ॥
रुक्मपुङ्खाः प्रकाशन्ते हंसाः श्रेणीकृता इव ।

दैत्यके धनुष और बाहुबलसे छोड़े गये मोरपङ्खवाले बाण, जिनमें सोनेके पर लगे हुए थे, श्रेणीबद्ध हंसोंके समान प्रकाशित होते थे ॥ ५९½ ॥

चापध्वजपताकाभ्यः शस्त्रा दीप्तमुखाश्च्युताः ॥ ६० ॥
प्रपतन्तः स्म दृश्यन्ते दैत्यस्यापततः शराः ।

उस आक्रमणकारी दैत्यके धनुष, ध्वज और पताकाओंसे छूटे हुए प्रदीप्त मुखवाले शस्त्र एवं बाण सब ओर गिरते दिखायी देते थे ॥ ६०½ ॥

एवं सुतीक्ष्णान् खचराञ्छलभानिव पावके ॥ ६१ ॥
सुवर्णविकृतांश्चित्रान् मुमोच दितिजः शरान् ।

इस प्रकार दैत्यने आगमें गिरनेवाले शलभोंके समान बहुत-से तीखे, सुवर्णनिर्मित, विचित्र एवं आकाशमें विचरनेवाले बाण छोड़े ॥ ६१½ ॥

तमन्तकमिव क्रुद्धमापतन्तं स मारुतः ॥ ६२ ॥
त्यक्त्वा प्राणानतिक्रम्य विव्याध नवभिः शरैः ।

क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान उस दैत्यको अपनी ओर आते देख वायुने प्राणोंका मोह छोड़कर उसे नौ बाणोंसे बींध डाला ॥ ६२½ ॥

तस्य वेगमसंहार्यं दृष्ट्वा वायुः सनातनः ॥ ६३ ॥
उत्तमं जवमास्थाय व्यधमत् सायकव्रजान् ।

पुलोमाका वेग अनिवार्य देख सनातन वायुदेवने उत्तम वेगका आश्रय ले उसके समस्त सायकसमूहोंका विध्वंस कर डाला ॥ ६३½ ॥

तेजो विधम्य बलवाञ्छरजालानि मारुतः ॥ ६४ ॥
विव्याध दैत्यं विंशत्या विशिखैर्नतपर्वभिः ।

उसके तेज और बाणसमूहोंका नाश करके बलवान् वायुदेवने उस दैत्यको झुकी हुई गाँठवाले बीस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ६४½ ॥

मरुद्गणानां प्रवरा दश दिव्या महौजसः ॥ ६५ ॥
साधु साध्विति वेगेन सिंहनादं प्रचक्रिरे ।

यह देखकर मरुद्गणोंमें श्रेष्ठ जो दस दिव्य महातेजस्वी पुरुष थे, उन्होंने 'साधु'! साधु ! (वाह ! वाह !)' कहकर बड़े वेगसे सिंहनाद किया ॥ ६५½ ॥

तस्मिन् समुत्थिते शब्दे तुमुले लोमहर्षणे ॥ ६६ ॥
अभ्यधावन्त दितिजाः पौलोमाः क्रोधमूर्च्छिताः ।

उस रोमाञ्चकारी भयंकर सिंहनादके प्रकट होनेपर पौलोम नामवाले दैत्य क्रोधसे मूर्च्छित होकर दौड़े ॥६६½॥

ते समासाद्य पवनं समावृण्वञ्छरोत्तमैः ॥ ६७ ॥
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकाः ।

उन्होंने वायुके पास पहुँचकर उन्हें अपने उत्तम बाणोंसे

ढक दिया, ठीक वैसे ही, जैसे वर्षा-ऋतुमें बादल अपनी जलधाराओंसे पर्वतको आच्छादित कर देते हैं ॥ ६७½ ॥

ते पीडयन्तः पवनं क्रुद्धाः सप्त महारथाः ॥ ६८ ॥
प्रजासंहरणे घोराः सोमं सप्त ग्रहा इव ।

क्रोधमें भरे हुए वे सात पौलोम महारथी वायुदेवको उसी तरह पीडा देने लगे, जैसे प्रजाके संहार-कालमें सात घोर ग्रह सोमको पीड़ित करने लगते हैं ॥ ६८½ ॥

ततो दक्षिणमक्षोभ्यं नानारत्नविभूषितम् ॥ ६९ ॥
करं गजकराकारमुद्यम्य युधि मारुतः ।
तेषां मूर्धसु दैत्यानां पातयामास वीर्यवान् ॥ ७० ॥
निहता वायुवेगेन तेन सप्त महारथाः ।

तब बल-पराक्रमसे सम्पन्न वायु देवताने किसीसे भी क्षुब्ध न किये जाने योग्य, नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित तथा हाथीकी सूँड़के समान आकारवाले दाहिने हाथको ऊपर उठाकर उसीसे युद्धस्थलमे उन सातों पौलोमोंके मस्तकोंपर प्रहार किया। उस वायुतुल्य वेगशाली कर-प्रहारसे वे सातों महारथी मारे गये ॥ ६९—७०½ ॥

त्यक्त्वा प्राणान् पुलोमा तु विव्याध नवभिः शरैः ॥ ७१ ॥
प्रदर्पितमसंहार्यं दृष्ट्वा वायुं सनातनम् ।

तब पुलोमाने सनातन वायु देवताको दर्पयुक्त और अजेय देख प्राणोंका मोह छोड़कर नौ बाणोंसे उन्हे बींध डाला ॥ ७१½ ॥

असंचिन्त्य शरौघांस्ताञ्ज्वलितांश्च पुलोमतः ॥ ७२ ॥
तेषां विदार्य तेजांसि दानवानां महात्मनाम् ।
शोणितक्लिन्नमुकुटा गैरिकाक्ता इवाद्रयः ॥ ७३ ॥

पुलोमाकी ओरसे आये हुए उन प्रज्वलित बाणसमूहोंकी चिन्ता न करते हुए उन महाकाय दानवोंके तेज (मस्तक) को विदीर्ण करके वायु देवताने उनके मुकुटोंको रक्तसे भिगो दिया। उस समय वे दैत्य गेरुसे भीगे हुए पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ७२-७३ ॥

ते भिन्नवर्मास्थिभुजाः पतन्तो भान्ति दानवाः ।
मातङ्गयूथसम्भग्नाः पुष्पिता इव पादपाः ॥ ७४ ॥

कवच, हड्डी और भुजाओंके छिन्न-भिन्न हो जानेसे पृथ्वीपर गिरते हुए वे दानव हाथियोंके झुंडद्वारा तोड़े गये पुष्पयुक्त वृक्षोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ७४ ॥

तेषां विदारितैर्देहैर्दानवानां महात्मनाम् ।
ततः प्रावर्तत नदी रौद्ररूपा भयावहा ॥ ७५ ॥

उन महाकाय दानवोंके विदीर्ण किये हुए शरीरोंसे खूनकी एक भयंकर नदी बह चली, जिसका स्वरूप बड़ा ही रौद्र था ॥ ७५ ॥

प्रस्रवन्ती रणे रक्तं भीरूणां भयवर्धिनी ।
देवदैत्यगजाश्वानां रुधिरौघपरिप्लुता ।
रणभूमिरभूद् रौद्रा तत्र तत्र सहस्रशः ॥ ७६ ॥

वह रणभूमिमें रक्तका स्रोत बहाती हुई भीरु पुरुषोंके मनमें भयकी वृद्धि कर रही थी। देवताओं और दैत्योंके हाथी-घोड़ोंके रक्तके प्रवाहमें जहाँ-तहाँ सहस्रों स्थानोंमें डूबी हुई वह रणभूमि बड़ी भयंकर प्रतीत हो रही थी ॥ ७६ ॥

सम्भृता गतसत्त्वैश्च यक्षराक्षसखेचरैः ।
सानुगैः सपताकैश्च सोपासङ्गरथध्वजैः ॥ ७७ ॥

निर्जीव यक्ष, राक्षस तथा खेचरोंसे वह भूमि भरी हुई थी। उनके सेवक, ध्वजा, पताका, उपासङ्ग और रथ सभी वहाँ बिखरे पड़े थे ॥ ७७ ॥

शीर्णकुम्भैस्तथा नागैर्घण्टाभिस्तु विभूषितैः ।
सुवर्णपुङ्खैर्ज्वलितैर्नाराचैस्तिग्मतेजसैः ॥ ७८ ॥
देवदानवनिर्मुक्तैः सविषैरुरगैरिव ।

घण्टोंसे विभूषित गजराज धराशायी हो गये थे, उनके कुम्भस्थल फट गये थे। सोनेके पर लगे हुए प्रचण्ड तेजवाले प्रज्वलित बाण, जिन्हे देवताओं और दानवोंने छोड़ा था, विषैले सर्पोंके समान वहाँ पड़े हुए थे ॥ ७८½ ॥

प्रासतोमरनाराचैः शक्तिखड्गपरश्वधैः ॥ ७९ ॥
सुवर्णविकृतैश्चापि गदामुसलपट्टिशैः ।
कनकाङ्गदकेयूरैर्मणिभिश्च सकुण्डलैः ॥ ८० ॥
तनुत्रैः सतलत्रैश्च हारैर्निष्कैश्च शोभनैः ।
हतैश्च दितिजैस्तत्र शस्त्रस्यन्दनवर्जितैः ॥ ८१ ॥
पतितैरपि विद्धैश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।

प्रास, तोमर, नाराच, शक्ति, खड्ग, फरसे, सुवर्णनिर्मित गदा, मुसल, पट्टिश, सोनेके बाजूबंद, केयूर, मणि, कुण्डल, कवच, दस्ताने, हार, सुन्दर पदक, शस्त्र तथा रथसे रहित मरे हुए दैत्य तथा घायल होकर पड़े हुए सैकड़ों और हजारों सैनिकोंसे वह रणभूमि भर गयी थी ॥ ७९—८१½ ॥

निपातितध्वजरथो हतवाजिरथद्विपः ॥ ८२ ॥
विमर्दो देवदैत्यानां सदृशः कर्मणा बभौ ।

जहाँ बहुत-से ध्वज और रथ गिराये गये थे, घोड़े, हाथी और रथी मार डाले गये थे, वह देवताओं तथा दैत्योंका विमर्द (संग्राम) उनके कर्मके अनुरूप ही प्रतीत होता था ॥

अथ दैत्यसहस्रेण पौलोमेन महारथः ॥ ८३ ॥
संवृतः पवनः श्रीमान् गदामुसलपाणिना ॥ ८४ ॥

तदनन्तर हाथोंमें गदा और मुसल लिये हुए पौलोम नामवाले एक सहस्र दैत्योंने श्रीमान् महारथी पवनदेवको घेर लिया ॥ ८३-८४ ॥

ते जघ्नुः शतसाहस्राः पवनं दानवोत्तमाः ।
तैर्वध्यमानः स बभौ समन्तादर्पितैः शरैः ॥ ८५ ॥

फिर तो लाखों श्रेष्ठ दानवोंने पवनदेवको मारना आरम्भ किया। वे चारों ओरसे बाण मारकर उन्हें चोट पहुँचाने लगे। शरीरमें धँसे हुए उन बाणोंसे उनकी अद्भुत शोभा हो रही थी ॥ ८५ ॥

हत्वाष्टौ तत्र योधानां शतानि पवनः प्रभुः।
कृत्वा मार्गं सुरश्रेष्ठो ननाद सुमहारथः ॥ ८६ ॥

प्रभावशाली, महारथी, सुरश्रेष्ठ पवनदेवने वहाँ आठ सौ पौलोम योद्धाओंका वध करके अपने लिये मार्ग बना लिया और बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ८६ ॥

अद्यापि च सुविस्तीर्णः पन्थाः संदृश्यते दिवि।
नाम्ना वायुरथो नाम सिद्धाः पश्यन्ति तं दिवि ॥ ८७ ॥

आज भी आकाशमें वह सुविस्तृत मार्ग दिखायी देता है, जो वायुरथके नामसे प्रसिद्ध है। सिद्ध पुरुष द्युलोकमें उसका दर्शन करते हैं ॥ ८७ ॥

वैशम्पायन उवाच

हयग्रीवस्तु दितिजः पूषणं प्रति वीर्यवान्।
ननाद सुमहानादं सिंहनादं महारथः ॥ ८८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय! हयग्रीव नामक पराक्रमी एवं महारथी दैत्यने पूषापर आक्रमण करके बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ८८ ॥

विस्फार्य सुमहच्चापं हेमजालविभूषितम्।
पूषणं दितिजोऽपश्यत् क्रुद्धो घोरेण चक्षुषा ॥ ८९ ॥

क्रोधमें भरे हुए उस दैत्यने सोनेकी जालीसे विभूषित विशाल धनुषको तानकर पूषाकी ओर घोर दृष्टिसे देखा ॥

भुजाभ्यामाददानस्य संदधानस्य वै शरान्।
मुञ्चतः कर्षतो वापि ददृशुस्तत्र नान्तरम् ॥ ९० ॥

उस दैत्यके दोनों हाथोंसे बाणोंके लेने, धनुषपर रखने, प्रत्यञ्चाको खींचने और उन बाणोंको छोड़नेमें कितने क्षणका अन्तर होता है, यह कोई भी वहाँ देख नहीं पाते थे ॥ ९० ॥

अग्निचक्रोपमं दीप्तं मण्डलीकृतकार्मुकम्।
तदासीद् दानवेन्द्रस्य सव्यदक्षिणमस्यतः ॥ ९१ ॥

दायें-बायें दोनों ओर बाण छोड़ते हुए उस दानवराजका दीप्तिमान् धनुष मण्डलाकार होकर अलातचक्रके समान प्रतीत होता था ॥ ९१ ॥

रुक्मपुङ्खैस्ततस्तस्य चापमुक्तैः शितैः शरैः।
प्राच्छाद्यन्त शिलाधौतैर्दिशः सूर्यस्य च प्रभाः ॥ ९२ ॥

उसके धनुषसे छूटे हुए तीखे बाणोंसे, जिनमें सोनेके पर लगे थे और जिन्हें सानपर चढ़ाकर तेज किया गया था, सम्पूर्ण दिशाएँ और सूर्यकी प्रभाएँ भी आच्छादित हो गयीं ॥

ततः कनकपुङ्खानां शराणां नतपर्वणाम्।
नभश्चराणां नभसि दृश्यन्ते बहवो व्रजाः ॥ ९३ ॥

तदनन्तर झुकी हुई गाँठ और सुवर्णमय पंखवाले आकाशचारी बाणोंके बहुतसे समूह अन्तरिक्षमें दिखायी देने लगे ॥ ९३ ॥

गिरिकूटनिभाच्चापात् प्रभवन्तः शरोत्तमाः।
श्रेणीभूताः प्रकाशन्ते यान्तः श्येना इवाम्बरे ॥ ९४ ॥

पर्वतशिखरके समान उसके विशाल धनुषसे प्रकट होनेवाले उत्तम बाण आकाशमें श्रेणीबद्ध होकर उड़ते हुए बाजोंके समान सुशोभित होते थे ॥ ९४ ॥

गृध्रपत्राञ्छिलाधौतान् कार्तस्वरविभूषितान्।
महावेगान् प्रशस्ताग्रान् मुमोच दितिजः शरान् ॥ ९५ ॥

वह दैत्य गीधके पंख लगे हुए, शिलापर तेज किये गये, सुवर्णसे विभूषित, महान् वेगशाली तथा अच्छी नोकवाले बाणोंका प्रहार कर रहा था ॥ ९५ ॥

ततश्चापबलोद्धूताः शातकुम्भविभूषिताः।
देहे समवकीर्यन्त पूष्णः संनिहिताः शराः ॥ ९६ ॥

तदनन्तर धनुषसे बलपूर्वक उठे हुए सुवर्णभूषित बाण पूषाके शरीरमें गिरने और धँसने लगे ॥ ९६ ॥

ते व्योम्नि रुक्मविकृताः सम्प्रकाशन्त सर्वशः।
खद्योता इव घर्मान्ते खे चरन्तः समन्ततः ॥ ९७ ॥

जैसे वर्षा-ऋतुमें जुगनुओंके समुदाय आकाशमें सब ओर विचरते हैं, उसी प्रकार वे सुवर्णनिर्मित बाण व्योममण्डलमें सब ओर प्रकाशित हो रहे थे ॥ ९७ ॥

शिलाधौताः प्रसन्नाग्राः पूषणं सिषिचुः शराः।
पर्वतं वारिधाराभिर्यथा प्रावृषि तोयदाः ॥ ९८ ॥

जैसे वर्षाकालमें बादल अपनी जलधाराओंसे पर्वतको नहलाते हैं, उसी प्रकार शिलापर चढ़ाकर तेज किये गये स्वच्छ अग्रभागवाले वे बाण मानो पूषाको सींच रहे थे ॥ ९८ ॥

ततः प्रच्छादयामास पूषणं शरवृष्टिभिः।
पर्वतं वारिधाराभिश्छादयन्निव तोयदः ॥ ९९ ॥

तत्पश्चात् अपनी जलधाराओंसे पर्वतको आच्छादित करनेवाले मेघकी भाँति हयग्रीवने अपने बाणोंकी वर्षासे पूषाको ढक दिया ॥ ९९ ॥

ततः सपूष्णोऽदेवस्य बलं वीर्यं पराक्रमम्।
व्यवसायं च सत्त्वं च पश्यन्ति त्रिदशाद्भुतम् ॥ १०० ॥

उस समय सब देवता पूषासहित उस दैत्यके बल, वीर्य, पराक्रम, व्यवसाय और धैर्यको अद्भुतरूपसे देख रहे थे ॥

तां समुद्रादिवोद्भूतां शरवृष्टिं समुत्थिताम्।
नाचिन्तयत् तदा पूषा दैत्यं चाभ्यद्रवद् रणे ॥ १०१ ॥

तदनन्तर समुद्रसे उठी हुई जलवर्षाके समान उस बाणवर्षाकी पूषाने कोई परवा नहीं की। उन्होंने तत्काल ही रणभूमिमें उस दैत्यपर धावा किया ॥ १०१ ॥

हेमपृष्ठं महानादि पूष्ण आसीन्महाधनुः।
विकृतं मण्डलीभूतं शक्राशनिरिवापरा ॥ १०२ ॥

पूषाका विशाल धनुष बड़े जोरसे टङ्कार करनेवाला था। उसके पृष्ठभागमें सोना जड़ा हुआ था। वह खींचा जानेपर मण्डलाकार हो दूसरे इन्द्र-वज्रके समान जान पड़ता था ॥

ततः शराः प्रादुरासन् पूरयन्त इवाम्बरम् ॥ १०३ ॥
सुवर्णपुङ्खाः पूष्णस्ते प्रभवन्तः शरासनात्।
मालेव रुक्मपुङ्खानां वितता व्योम्नि पत्रिणाम् ॥ १०४ ॥

प्रादुरासीन्महाघोरा वृहती पूषकार्मुकात्।

तत्पश्चात् पूषाके धनुषसे सोनेके पर लगे हुए बाण आकाशको भरते हुए-से प्रकट होने लगे। उस समय पूषाके शरासनसे आकाशमें सुनहरे पंखवाले बाणोंकी महाघोर, विस्तृत एवं विशाल माला-सी प्रकट हो गयी ॥१०३-१०४½॥

ततो व्योम्नि विभक्तानि शरजालानि सर्वशः ॥१०५॥
आहतानि व्यशीर्यन्त शरैः संनतपर्वभिः।

फिर तो झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे आहत हो वे दैत्यके बाणजाल आकाशमें छिन्न-भिन्न हो सब ओर बिखरकर गिरने लगे ॥ १०५½ ॥

ततः कनकपुङ्खानां छिन्नानां कङ्कवाससाम् ॥१०६॥
पततां पात्यमानानां खमासीच्चावृतं रणे।

तदनन्तर सोनेके पंख और कङ्क पक्षीके परवाले बाण कटकर गिरने और गिराये जाने लगे, जिससे रणभूमिका सारा आकाश आच्छादित हो गया ॥ १०६½ ॥

पूषा प्रापूरयद् बाणैर्हयग्रीवं शिलाशितैः ॥१०७॥
नामाङ्कैरर्कसदृशैर्दिव्यहेमपरिष्कृतैः ।

पूषाने अपने नामसे चिह्नित, सूर्यतुल्य तेजस्वी तथा दिव्य सुवर्णसे भूषित हुए, शिलापर तेज किये गये बाणोंसे हयग्रीवको ढक दिया ॥ १०७½ ॥

ततो व्यसृजदुग्राणि शरजालानि दानवः ॥१०८॥
अमर्षी बलवान् क्रुद्धो दिधक्षन्निव पावकः।

तब वह अमर्षशील बलवान् कुपित तथा जलानेकी इच्छावाले अग्निदेवके समान तेजस्वी दानव वहाँ भयङ्कर बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगा ॥ १०८½ ॥

पूष्णस्त्वाजौ ध्वजं चैव पताकां धनुरेव च ॥१०९॥
रश्मीन् योक्त्राणि चाश्वानां हयग्रीवो रणेऽच्छिनत्।

हयग्रीवने रणभूमिमें पूषाके ध्वज, पताका, धनुष, बागडोर और घोड़ोंके जोते काट डाले ॥ १०९½ ॥

अथाप्यश्वान् पुनर्हत्वा चतुर्भिः सायकोत्तमैः ॥११०॥
सारथिं सुमहातेजा रथोपस्थादपातयत्।

तत्पश्चात् फिर चार उत्तम सायकोंसे उनके घोड़ोंको मारकर उस महातेजस्वी दैत्यने पूषाके सारथिको भी रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ॥ ११०½ ॥

कृतस्तु विरथः पूषा हयग्रीवेण संयुगे ॥१११॥
पूषा तस्य रथाभ्याशात् स ययौ तेन वै जितः।
गतः शक्ररथाभ्याशं मुक्तो मृत्युमुखादिव ॥११२॥

उस युद्धस्थलमें हयग्रीवके द्वारा रथहीन किये गये पूषा उससे पराजित हो उसके रथके पाससे दूर चले गये। वे मृत्युके मुखसे मुक्त हुएके समान उस दानवसे बचकर इन्द्रके रथके समीप चले गये ॥ १११-११२ ॥

तत्राद्भुतमिदं भूयो युद्धं वर्तत दारुणम्।
कृतप्रतिकृतं घोरं शम्बरस्य भगस्य च ॥११३॥

तदनन्तर वहाँ पुनः शम्बरासुर और भग देवताका यह अद्भुत, घोर और दारुण युद्ध आरम्भ हुआ, जिसमें दोनों ओरसे प्रहार और उसका प्रतीकार किया जा रहा था ॥११३॥

सप्तकिष्कुपरीणाहं द्वादशारत्निकार्मुकम्।
चापं चाशनिनिर्घोषं दृढज्यं भारसाधनम् ॥११४॥
विक्षिपन्नक्षसदृशान् व्यसृजत् सायकान् बहून्।
क्रोधसंरक्तनयनः शम्बरः सर्वयोगवित् ॥११५॥

सब प्रकारके योग (या प्रयोग) का ज्ञान रखनेवाले शम्बरासुरके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे । उसके धनुषकी लंबाई बारह अरत्नि थी और उसकी चौड़ाई सात किष्कु (साढ़े तीन हाथ) की थी । उससे वज्रकी गड़गड़ाहटके समान टंकारध्वनि प्रकट होती थी। उसकी प्रत्यञ्चा सुदृढ़ थी और वह धनुष भारी-से-भारी कार्यको सिद्ध कर सकता था। शम्बरासुर उस धनुषको खींचकर धुरेके समान मोटे-मोटे बहुसंख्यक सायकोंकी वृष्टि करने लगा ॥ ११४-११५ ॥

तेन वित्रास्यमानानि देवसैन्यानि सर्वशः।
समकम्पन्त भीतानि सिन्धोरिव महोर्मयः ॥११६॥

शम्बरासुरके द्वारा आतङ्कित की गयी सम्पूर्ण देवसेनाएँ भयभीत हो महासागरकी बड़ी-बड़ी तरङ्गोंके समान काँपने लगीं ॥ ११६ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य विरूपाक्षं विभीषणम्।
भगः प्रस्फुरमाणौष्ठस्त्वरमाणो व्यदारयत् ॥११७॥

विरूप नेत्रवाले उस भयंकर दैत्यको आते देख भग देवताके ओष्ठ फड़क उठे। उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ उसे अपने अस्त्रोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ११७ ॥

ततो भगो महेष्वासो दिव्यं विस्फारयन् धनुः।
अवाकिरद् दैत्यगणाञ्छरजालेन छादयन् ॥११८॥

तदनन्तर महाधनुर्धर भगने अपने दिव्य धनुषको तान-कर दैत्यगणोंको अपने बाणोंके जालसे आच्छादित करते हुए उनपर बाणोंकी बौछार आरम्भ कर दी ॥ ११८ ॥

तमभ्यगाद् भगो दैत्यं तूर्णमस्यन्तमन्तिकात्।
मातङ्गमिव मातङ्गो वृषं प्रति वृषो यथा ॥ ११९ ॥

लगातार बाण फेंकते हुए उस दैत्यके समीप भग देवता तुरंत जा पहुँचे। मानो एक हाथी दूसरे हाथीके और साँड़ दूसरे साँड़से भिड़नेके लिये उसके पास जा पहुँचा हो ॥११९॥

तौ प्रगृह्य महावेगौ धनुषी भारसाधने।
प्राच्छादयेतामन्योन्यं तक्षमाणौ रणे शरैः ॥१२०॥

वे दोनों महान् वेगशाली वीर भारसाधनमें समर्थ धनुष हाथमें लेकर रणभूमिमें बाणोंद्वारा एक दूसरेको क्षत-विक्षत करते हुए आच्छादित करने लगे ॥ १२० ॥

तयोः सुतुमुलं युद्धमासीद् घोरं महारणे।
भगशम्बरयोर्भीममप्रमेयं महात्मनोः ॥ १२१॥

उस महासमरमें महामनस्वी भग और शम्बरासुरमें

अनुपम, भीषण, तुमुल और घोर युद्ध होने लगा ॥ १२१ ॥

अथ पूर्णायतोत्सृष्टैः शरैः संनतपर्वभिः ।
व्यदारयेतामन्योन्यं कार्ष्णे निर्भिद्य चर्मणी ॥१२२॥

उन्होंने पूर्णतः कानोंतक खींचकर छोड़े गये झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा लोहेकी ढालोंको भी छिन्न-भिन्न करके एक दूसरेको विदीर्ण कर दिया ॥ १२२ ॥

तौ तु विकृतसर्वाङ्गौ रुधिरेण समुक्षितौ ।
सम्प्रेक्ष्यमाणौ रथिनावुभौ परमदुर्मदौ ।
तक्षमाणौ शितैर्बाणैर्न वीक्षितुमशक्नुताम् ॥१२३॥

उनके सारे अङ्ग विकृत तथा रक्तसे लथपथ हो गये थे तो भी वे दोनों रथी परमदुर्मद (युद्धके लिये उन्मत्त) दिखायी देते थे । वे तीखे बाणोंसे परस्पर गहरी चोट कर रहे थे और दूसरेकी ओर देख नहीं पाते थे ॥ १२३ ॥

अथ विव्याध समरे त्वरमाणोऽसुरो भगम् ।
नाराचैः क्रोधताम्राक्षः कालान्तकयमोपमः ॥१२४॥

तदनन्तर शम्बरासुरकी आँखें क्रोधसे लाल हो उठीं । वह काल, अन्तक और यमके समान विकराल हो गया । उसने तुरंत ही समरभूमिमें भगदेवताको घायल कर दिया ॥

गरुत्मानिव चाकाशे पोथयानो महोरगम् ।
नाराचा न्यपतन् देहे तूर्णं शम्बरचोदिताः ॥१२५॥
तानन्तरिक्षे नाराचान् भगश्चिच्छेद पत्रिभिः ।

जैसे गरुड़ आकाशमें बड़े भारी सर्पको दबोच लेता है, उसी प्रकार शम्बरासुरने भगको पीड़ित कर दिया । शम्बरासुरके चलाये हुए नाराच भगके शरीरपर तीव्र वेगसे गिरने लगे, किंतु भगने अन्तरिक्षमें ही अपने बाणोंद्वारा उन सभी नाराचोंको काट दिया ॥ १२५½ ॥

ज्वलन्तमचलप्रख्यं वैश्वानरसमप्रभम् ॥१२६॥
ततो भगं चतुःषष्ट्या विव्याधासुरसत्तमः ।
शिलीमुखैर्महावेगैर्जाम्बूनदविभूषितैः ॥१२७॥

तब असुरशिरोमणि शम्बरने अग्निके समान तेजस्वी और पर्वतके समान स्थिरभावसे खड़े हुए प्रकाशमान भग-देवताको महान् वेगशाली सुवर्णभूषित चौंसठ बाणोंसे बींध डाला ॥ १२६-१२७ ॥

तदा तत् सुचिरं कालं युद्धं सममिवाभवत् ।
शम्बरस्य च मायाभिर्नादृश्यत ततोऽम्बरम् ॥१२८॥

उस समय उन दोनोंमें बहुत देरतक एक-सा युद्ध चलता रहा । शम्बरासुरकी मायाओंसे आकाशका दिखायी देना बंद हो गया ॥ १२८ ॥

दोर्भ्यां विक्षिपतश्चापं रणे विष्टभ्य तिष्ठतः ।
श्रूयते धनुषः शब्दो विस्फूर्जितमिवाशनेः ॥१२९॥

रणभूमिमें धनुषको तान करके खड़े हुए और दोनों हाथोंसे बाण चलाते हुए शम्बरासुरके धनुषका शब्द वज्रकी गड़गड़ाहटके समान सुनायी देता था ॥ १२९ ॥

स भगस्य हयान् हत्वा सारथिं च महाहवे ।
अभ्यवर्षच्छरैरेनं पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ १३० ॥

शम्बरासुर उस महासमरमें भगके घोड़ों और सारथिको मारकर भगके ऊपर वर्षा करनेवाले मेघकी भाँति बाणोंकी वृष्टि करने लगा ॥ १३० ॥

न तस्यासीदनिर्भिन्नं गात्रे द्व्यंगुलमन्तरम् ।
भगदेवस्य दैत्येन शम्बरेणास्त्रघातिना ॥१३१॥

भग देवताके शरीरमें दो अङ्गुल भी ऐसा स्थान नहीं रह गया, जिसे अस्त्रघाती दैत्य शम्बरने बाणोंद्वारा विदीर्ण न किया हो ॥ १३१ ॥

देवस्य चाद्भुतं दिव्यमस्त्रमस्त्रेण वारयन् ।
मायायुद्धेन मायावी शम्बरस्तमयोधयत् ॥१३२॥

मायावी शम्बरासुर भग देवताके अद्भुत दिव्यास्त्रका अपने अस्त्रद्वारा वारण करता हुआ मायामय युद्धके द्वारा उनके साथ जूझता रहा ॥ १३२ ॥

अवञ्चयद् भगं दैत्यो मायाभिर्लाघवेन च ।
भगस्तस्य रथं साश्वं शरवर्षैरवाकिरत् ॥१३३॥

वह दैत्य अपनी मायाओं तथा फुर्तीसे भग देवताको चकमा देने लगा और भग देवता उसके घोड़ोंसहित रथपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १३३ ॥

सहस्रमायो द्युतिमान् देवसेनां निषूदयन् ।
अदृश्यत शरैश्छन्नः शम्बरः शतशो रणे ॥१३४॥

सहस्रों मायाओंका ज्ञाता तेजस्वी शम्बरासुर देवसेनाका संहार करता हुआ बाणोंसे आच्छन्न हो समरभूमिमें सैकड़ोंकी संख्यामें दिखायी देने लगा ॥ १३४ ॥

अदृश्यत पतितो भूमौ गतचेता इवासुरः ।
अथ स युध्यते भूयः शतधा शैलसंनिभः ॥१३५॥

वह असुर कभी भूमिपर अचेत-सा होकर गिरा हुआ दिखायी देता था और पुनः सैकड़ों पर्वताकार शरीर धारण करके युद्ध करने लगता था ॥ १३५ ॥

दिशां गजेन्द्रमारूढो दृश्यते स पुनर्बली ।
प्रादेशमात्रश्च पुनः पुनर्भवति शैलवत् ॥१३६॥

पुनः वह बलवान् दैत्य दिग्गजकी पीठपर बैठा हुआ दृष्टिगोचर होता था । फिर कुछ ही देरमें वह प्रादेशमात्रका हो जाता और दूसरे ही क्षणमें पुनः पर्वत-जैसा रूप धारण कर लेता था ॥ १३६ ॥

महामेघ इव श्रीमांस्तिर्यगूर्ध्वं च सोऽभवत् ।
पुनः कृत्वा विरूपाणि विकृतानि च सर्वशः ॥१३७॥
सर्वां भीषयते सेनां देवानां भीमदर्शनः ।
ते भीताः प्रपलायन्ते सिंहं दृष्ट्वा मृगा यथा ॥१३८॥

वह तेजस्वी दैत्य महान् मेघोंकी घटाके समान ऊपर और अगल-बगलकी दिशाओंमें छा जाता था । फिर विकृत एवं विकराल रूप धारण करके भयानक दिखायी देनेवाला

वह असुर सब ओरसे सारी देवसेनाको भयभीत करने लगता था। जैसे सिंहको देखकर मृग भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे देखकर देवताओंके सैनिक भयभीत होकर भागने लगे ॥

ततः सोऽन्यं वरं देहं कृत्वा प्रांशुतरं पुनः।
गच्छत्यूर्ध्वगतिं घोरो दिशः शब्देन पूरयन् ॥१३९॥

तत्पश्चात् वह घोर दैत्य पुनः दूसरा श्रेष्ठ एवं बहुत ही ऊँचा शरीर धारण करके ऊपरकी ओर चला गया और वहींसे भयंकर सिंहनाद करके सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करने लगा ॥ १३९ ॥

नभस्तलगतश्चापि वर्षते वासवो यथा।
संवर्तकाम्बुदप्रख्यः पूरयन् पृथिवीतलम् ॥१४०॥

आकाशमें पहुँचकर संवर्तक नामक मेघके समान रूप धारण करके पृथ्वीतलको पूर्ण करता हुआ इन्द्रकी भाँति वर्षा करने लगा ॥ १४० ॥

संवर्तकोऽनलश्चैव भूत्वा भीमपराक्रमः।
शतवर्त्मा शतशिखो ददाह च पुनः सुरान् ॥१४१॥

फिर वह भयंकर पराक्रमी दैत्य संवर्तक अग्नि बनकर सैकड़ों ज्वालाओंसे युक्त हो, सैकड़ों मार्गोंसे चलकर देवताओंको बारंबार दग्ध करने लगा ॥ १४१ ॥

मुहूर्ताच्च महाशैलः शतशीर्षो शतोदरः।
अदृश्यत दिवः स्तम्भः शतशृङ्ग इवाचलः ॥१४२॥

फिर दो ही घड़ीमें महान् पर्वतके समान रूप धारण करके वह सौ मस्तकों और सौ पेटोंसे युक्त हो गया (अथवा महान् पर्वतरूप होकर सैकड़ों शिखरों एवं कन्दराओंसे सम्पन्न हो गया)। उस समय वह शतशृङ्ग पर्वतकी भाँति स्वर्गलोकका स्तम्भ-सा दिखायी देता था ॥ १४२ ॥

येऽन्ये देवाश्च साध्याश्च ये च विश्वे च देवताः।
क्षिपन्त्यस्त्राणि दिव्यानि तानि सोऽग्रसतासुरः ॥१४३॥

जो दूसरे देवता, साध्यगण और विश्वेदेव उसके ऊपर दिव्यास्त्र चलाते थे। उनके उन सभी अस्त्रोंको वह असुर अपना ग्रास बना लेता था ॥ १४३ ॥

युद्ध्यमानश्च समरे सरथः सोऽसुरोत्तमः।
गन्धर्वनगराकारस्तत्रैवान्तरधीयत ॥१४४॥

समराङ्गणमें युद्ध करता हुआ वह असुरशिरोमणि शम्बर अपने रथके साथ गन्धर्व-नगरकी भाँति वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ १४४ ॥

ते भीताः समुदीक्षन्त त्रिदशा भीमविक्रमाः।
सहस्रमायं समरे शम्बरं चित्रयोधिनम् ॥१४५॥

भयानक पराक्रम दिखानेवाले वे प्रसिद्ध देवता समरभूमिमें विचित्र युद्ध करनेवाले सहस्र मायाधारी शम्बरासुरको भयभीत होकर देखने लगे ॥ १४५ ॥

स भगो भयसंत्रस्तो दानवेन्द्रस्य संयुगे।
रथं त्यक्त्वा महाभागो महेन्द्रं शरणं गतः ॥१४६॥

उस युद्धस्थलमें दानवराज शम्बरासुरके भयसे संत्रस्त हो महाभाग भग देवता अपना रथ छोड़कर देवराज इन्द्रकी शरणमें चले गये ॥ १४६ ॥

पराजित्य तु तं देवं दानवेन्द्रः प्रतापवान्।
गतो यत्र महातेजा जातवेदा महाप्रभः ॥१४७॥

भग देवताको पराजित करके प्रतापी दानवराज शम्बर उस स्थानपर गया, जहाँ महातेजस्वी तथा महान् प्रभापुञ्जसे परिपूर्ण जातवेदा (सर्वज्ञ) अग्निदेव विराजमान थे ॥ १४७ ॥

स वह्निं वाग्भिरुग्राभिः क्रुद्धस्तर्जयते बली।
भवाम्येष हि ते मृत्युरित्युक्त्वान्तरधीयत ॥१४८॥

वह बलवान् दैत्य कुपित हो अपनी कठोर वाणीसे अग्निदेवको डाँट बताता हुआ बोला—'मैं अभी तुम्हारे लिये मृत्युरूप होता हूँ।' ऐसा कहकर वह अन्तर्धान हो गया ॥ १४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नन्तरे चैव ब्राह्मणेन्द्रो महाबलः।
जघान सोमः शीतास्त्रो दानवानां चमूं रणे ॥१४९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी बीचमें ब्राह्मणोंके राजा महाबली सोम रणभूमिमें शीतास्त्र लेकर दानवोंकी सेनाका संहार करने लगे ॥ १४९ ॥

कैलासशिखराकारो द्युतिमद्भिर्गणैर्वृतः।
अवधीद् दानवान् दृष्ट्वा दण्डपाणिरिवान्तकः ॥१५०॥

उनकी आकृति कैलास-शिखरके समान गौर थी; वे तेजस्वी नक्षत्रगणोंसे घिरे हुए थे, उन्होंने दण्डधारी यमराजके समान दानवोंको देख-देखकर मारना आरम्भ किया ॥

पोथयद् रथवृन्दानि वाजिवृन्दानि वै प्रभुः।
दैत्येषु विचरञ्छ्रीमान् युगान्ते कालवद् बली ॥१५१॥

सामर्थ्यशाली एवं कान्तिमान् चन्द्रदेव प्रलयकालमें प्रकट हुए कालके समान दैत्योंकी सेनामें विचरते हुए उनके रथसमूहों और अश्वसमुदायोंका संहार करने लगे ॥

सोऽमर्षाद् रथजालानि उरुवेगेन चन्द्रमाः।
ददाह दानवान् सर्वान् दावाग्निरिव चोदितः ॥१५२॥

चन्द्रमाने अमर्षवश बड़े वेगसे समस्त दानवों और उनके रथसमूहोंको उसी तरह दग्ध करना आरम्भ किया, जैसे वनमें प्रकट हुआ दावानल सारे वृक्षोंको जलाकर भस्म कर देता है ॥ १५२ ॥

मृद्नन् रथेभ्यो रथिनो गजेभ्यो गजयोधिनः।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चापि पदातिनः ॥१५३॥

वे रथोंसे रथियों, हाथियोंसे हाथी-सवार योद्धाओं और घोड़ोंकी पीठोंसे घुड़सवारों तथा पैदल सैनिकोंको भी पृथ्वीपर गिराकर रौंद डालते थे ॥ १५३ ॥

शीतेन व्यधमत् सर्वान् वायुर्वृक्षानिवौजसा।
चन्द्रमाः सुमहातेजा दानवानां महाचमूम् ॥१५४॥

जैसे वायुदेव अपने बलसे वृक्षोंको तोड़ डालते हैं, उसी प्रकार महातेजस्वी चन्द्रमाने समस्त दानवों तथा उनकी विशाल सेनाको अपने शीतास्त्रसे नष्टप्राय कर दिया ॥१५४॥

तदस्त्रमभवत् तस्य प्रदिग्धं शत्रुशोणितैः।
पिनाकमिव रुद्रस्य क्रुद्धस्याभिघ्नतः पशून् ॥१५५॥

उनका वह अस्त्र क्रोधपूर्वक पशुओंका संहार करनेवाले रुद्रदेवके पिनाककी भाँति शत्रुओंके रक्तसे सन गया ॥१५५॥

युगान्तकोपमः श्रीमान् दैत्येषु व्यचरद् बली।
वार्य महतीं सेनां प्राद्रवन्तीं पुनः पुनः ॥१५६॥

वे बलवान् एवं कान्तिमान् चन्द्रदेव युगान्तकारी कालके समान दैत्योंकी सेनामें विचरने लगे। वे भागती हुई विशाल दैत्य-सेनाको वारंवार रोककर उसका संहार करते थे ॥

चन्द्रं मृत्युमिवायान्तं दृष्ट्वा योधा विसिस्मियुः।
यतो यतः प्रक्षिपति शिशिरास्त्रं तमोनुदः ॥१५७॥
ततस्ततो व्यशीर्यन्त दैत्यसैन्यानि संयुगे।
व्यदारयत् स सैन्यानि स्वबलेनाभिसंवृतः ॥१५८॥

चन्द्रमाको मृत्युके समान आते देख सारे दैत्य योद्धा विस्मित हो जाते थे। अन्धकारका निवारण करनेवाले चन्द्रदेव युद्धस्थलमें जिस-जिस ओर शिशिरास्त्रका प्रहार करते थे, उस-उस ओरकी सारी दैत्यसेनाएँ अकड़कर धराशायी हो जाती थीं। वे अपने बलसे सुरक्षित हो सारी दैत्य-सेनाओंको विदीर्ण करने लगे ॥ १५७-१५८ ॥

ग्रसमानमनीकानि व्यादितास्यमिवान्तकम्।
तं तथा भीमकर्माणं गृहीतास्त्रं महाहवे ॥१५९॥
दृष्ट्वा शशांकमायान्तं दैत्याभं चन्द्रभास्करौ।
तालमात्राणि चापानि कर्षमाणौ महाबलौ ॥१६०॥
छादयेतां शरैश्चन्द्रं वृष्टिमन्ताविवाम्बुदौ।

उस महासमरमें भयंकर कर्म करनेवाले चन्द्रमाको इस प्रकार मुँह बाये यमराजके समान दैत्यसेनाओंको अपना ग्रास बनाते तथा दैत्यकी भाँति भयानक रूपसे अपनी ओर आते देख चन्द्र और सूर्य नामवाले महाबली दैत्य धनुष खींचकर वर्षा करनेवाले दो मेघोंके समान अपने बाणोंसे उन चन्द्रदेवको आच्छादित करने लगे ॥१५९–१६०½ ॥

अथ विस्फार्यमाणानां कार्मुकाणां सुरासुरैः ॥१६१॥
अभवत् सुमहाशब्दो दिशः संनादयन्निव।

तदनन्तर देवता और असुर सभी अपने धनुषोंकी टंकार करने लगे। उनका वह महान् शब्द सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित-सा करने लगा ॥ १६१½ ॥

विनदद्भिर्महानागैर्हेषमाणैश्च वाजिभिः ॥१६२॥
भेरीशङ्खनिनादैश्च तुमुलं सर्वतोऽभवत्।

चिग्घाड़ते हुए बड़े-बड़े हाथियों और हिनहिनाते हुए घोड़ोंकी आवाजों तथा शङ्ख और भेरियोंके घोषोंसे वहाँ सब ओर बड़ा भयंकर शब्द गूँजने लगा ॥ १६२½ ॥

युयुत्सवस्ते संरब्धा जयगृद्धा यशस्विनः ॥१६३॥
अन्योन्यमभिगर्जन्तो गोष्ठेष्विव महावृषाः।

जयकी अभिलाषासे युद्धके लिये उत्सुक वे यशस्वी योद्धा गोशालाओंमें हँकड़नेवाले साँड़ोंके समान एक दूसरेके प्रति भयंकर गर्जना करने लगे ॥ १६३½ ॥

शिरसां पात्यमानानां समरे निशितैः शरैः ॥१६४॥
अश्मवृष्टिरिवाकाशे ह्यभवत् सेनयोस्तथा।

समराङ्गणमें दोनों सेनाओंके भीतर तीखे बाणोंसे गिराये जाते हुए योद्धाओंके मस्तकोंका शब्द ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशसे पत्थरोंकी वर्षा हो रही हो ॥ १६४½ ॥

कुण्डलोष्णीषधारीणि जातरूपस्रजांसि च ॥१६५॥
पतितानि स्म दृश्यन्ते शिरांसि रणमूर्धनि।

युद्धके मुहानेपर कुण्डल, पगड़ी तथा सोनेके हार धारण करनेवाले योद्धाओंके मस्तक पृथ्वीपर पड़े हुए दृष्टिगोचर होते थे ॥ १६५½ ॥

विशिखैर्मथितैर्गात्रैर्बाहुभिश्च सकार्मुकैः ॥१६६॥
सहस्ताभरणैश्चान्यैर्विच्छिन्नै रुधिरोक्षितैः।
कवचैरावृतैर्गात्रैरुरुभिश्चन्दनोक्षितैः ॥१६७॥
मुखैश्च चन्द्रसंकाशैस्तप्तकुण्डलभूषणैः।
गजवाजिमनुष्याणां सर्वगात्रैः समन्ततः ॥१६८॥
आसीत् सर्वा समाकीर्णा मुहूर्तेन वसुंधरा।

वहाँ सब ओर दो ही घड़ीमें सारी भूमि योद्धाओंके बाणोंद्वारा मथे गये शरीरों, धनुषसहित कटी हुई भुजाओं, हस्त-भूषणसहित हाथों, अन्यान्य रक्तरंजित कटे हुए अङ्गों, कवचावृत शरीरों, चन्दनचर्चित बहुतसे अवयवों, तप्त सुवर्णके कुण्डल आदि भूषणोंसे अलंकृत चन्द्रोपम मुखों तथा हाथी, घोड़े और मनुष्योंके सम्पूर्ण गात्रों (लाशों) से आच्छादित हो गयी ॥ १६६–१६८½ ॥

चापमेघाश्च विपुलाः शस्त्रविद्युत्प्रकाशिनः।
वाहनानां च निर्घोषः स्तनयित्नुसमोऽभवत् ॥१६९॥

वहाँ विशाल धनुष मेघोंके समान शस्त्ररूपी विद्युत्से प्रकाशित हो रहे थे। रथ आदि वाहनोंका घोष घनमण्डलकी गर्जनाके समान प्रतीत होता था ॥ १६९ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलः कटुकः शोणितोदकः।
प्रावर्तत सुराणां च दानवानां च संयुगे ॥१७०॥

युद्धस्थलमें देवताओं और दानवोंका वह घोर संग्राम रक्तरूपी जलकी धारा बहाता हुआ उग्र रूप धारण करता जा रहा था ॥ १७० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे देवासुरयुद्धे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें देवताओं और असुरोंका युद्धविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

देवताओं और दानवोंका घोर संग्राम–विरोचनका विष्वक्सेनके साथ और कुजम्भका अंश देवताके साथ युद्ध करते समय घोर पराक्रम प्रकट करना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् महाहवे रौद्रे तुमुले लोमहर्षणे।
ववर्षुः शरवर्षाणि संरब्धा देवदानवाः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वह महायुद्ध बड़ा ही भयंकर, तुमुल और रोमाञ्चकारी था। उसमें देवता और दानव उभय पक्षके योद्धा रोषमें भरकर बाणोंकी वर्षा करते थे॥ १॥

व्याक्रोशन्त गजास्तत्र शरघातप्रपीडिताः।
अश्वाश्च पर्यधावन्त हतारोहा दिशो दश॥ २॥

वहाँ बाणोंके आघातसे अत्यन्त पीड़ित हो हाथी घोर चीत्कार कर रहे थे और जिनके सवार मारे गये थे, वे घोड़े दसों दिशाओंमें चक्कर लगा रहे थे॥ २॥

उत्पत्य निपतन्त्यन्ये शरवर्षप्रपीडिताः।
देवानां दानवानां च गजाश्वरथिनां रणे॥ ३॥
समरे तत्र शूराणामन्योन्यमभिधावताम्।
धनुर्ज्यातलशब्देन न प्राज्ञायत किंचन॥ ४॥

कितने ही घोड़े बाणोंकी वर्षासे अत्यन्त व्यथित हो उछलकर गिर पड़ते थे। देवताओं और दानवोंके शूरवीर गजारोही, अश्वारोही तथा रथी समराङ्गणमें एक दूसरेपर धावा करते थे। उनके धनुषोंकी प्रत्यञ्चाके शब्दसे इतना कोलाहल होता था कि दूसरी किसी बातका ज्ञान नहीं होता था॥ ३-४॥

शरशक्तिगदाभिस्ते खड्गैश्चामिततेजसः।
निजघ्नुर्महतीं सेनामन्योन्यस्य परंतप॥ ५॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश्वर! वे अमिततेजस्वी योद्धा बाण, शक्ति, गदा और खड्गोंसे एक दूसरेकी विशाल सेनाका संहार कर रहे थे॥ ५॥

बाहूनामुत्तमाङ्गानां कार्मुकाणां च संयुगे।
राशयस्तत्र दृश्यन्ते देवदैत्यसमागमे॥ ६॥

देवताओं और दैत्योंके उस संग्राममें युद्धक्षेत्रके भीतर कटी हुई भुजाओं, मस्तकों और धनुषोंकी बहुत-सी राशियाँ दिखायी देती थीं॥ ६॥

अश्वानां कुञ्जराणां च रथानां च वरूथिनाम्।
नान्तं समभिगच्छन्ति निहतानां सुरासुरैः॥ ७॥

वहाँ देवताओं और असुरोंद्वारा मारे गये घोड़ों, हाथियों, आवरणयुक्त रथों और रथियोंका कोई अन्त नहीं पाता था॥ ७॥

गदाभिरसिभिः प्रासैर्भल्लैः संनतपर्वभिः।
योधास्तत्राभ्यहन्यन्त हस्त्यश्वं चामितं बहु॥ ८॥

उस युद्धमें गदाओं, तलवारों, प्रासों और झुकी हुई गाँठवाले भल्लोंद्वारा बहुत-से योद्धा और असंख्य हाथी-घोड़े मारे गये॥ ८॥

प्रावर्तत नदी घोरा शोणितौघा तरङ्गिणी।
तदा मध्ये तु सैन्यानां केशशैवलशाद्वला॥ ९॥

उस समय दोनों सेनाओंके बीचमें खूनकी भयंकर नदी बह चली। जिसमें रक्तके स्रोत और तरङ्गें दिखायी देती थीं। योद्धाओंके केश उसमें सेवार और घासके समान प्रतीत होते थे॥ ९॥

हाहाकारो महाशब्दो योधानामभवत् तदा।
दानवैर्हन्यमानानां त्रिदशानां महारणे॥ १०॥

उस महायुद्धमें दानवोंद्वारा मारे जाते हुए देवयोद्धाओंका महान् हाहाकार शब्द उस समय सब ओर गूँज रहा था॥

वैशम्पायन उवाच

तेषां तदभवद् युद्धं देवानामसुरैः सह।
विभीषणं महारौद्रं विकृतं भीमदर्शनम्॥ ११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन देवताओं-का असुरोंके साथ बड़ा भयंकर, महारौद्र, विकराल तथा देखनेमें डरावना युद्ध हो रहा था॥ ११॥

विरोचनस्तु तत्रैव विष्वक्सेनं महाहवे।
जघान रुधिराभाक्षं साध्यं परमधन्विनम्॥ १२॥

वहीं उस महासमरमें विरोचनने लाल नेत्रवाले उत्तम धनुर्धर साध्य देवता विष्वक्सेनको अपने बाणोंका निशाना बनाया॥ १२॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य विष्वक्सेनः सुरैर्वृतः।
अमेयात्मा सुरश्रेष्ठः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे॥ १३॥

देवताओंसे घिरे हुए अमेय आत्मबलसे सम्पन्न सुरश्रेष्ठ विष्वक्सेनने विरोचनको आते देख उसकी छातीमें बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी॥ १३॥

साध्यस्य बाणाभिहतस्तोत्रार्दित इव द्विपः।
विरोचनः प्रजज्वाल क्रोधेनाग्निरिवाध्वरे॥ १४॥

साध्य देवताके बाणोंसे आहत हुए विरोचनको अङ्कुशकी मार खाये हाथीके समान बड़ा कोप हुआ। वह यज्ञशालामें अग्निकी भाँति उस रणभूमिमें क्रोधसे प्रज्वलित हो उठा॥

स कार्मुकविनिर्मुक्तैः शरैर्दानवसत्तमः।
विष्वक्सेनं बिभेदाजौ दीप्तैः सप्तभिराशुगैः॥ १५॥

उस दानवशिरोमणिने अपने धनुषसे छूटे हुए सात

तेजस्वी तथा शीघ्रगामी बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें विष्वक्सेनको विदीर्ण कर दिया ॥ १५ ॥

सोऽतिविद्धो बलवता दानवेन सुरोत्तमः ।
मूर्च्छामभिजगामाशु ध्वजं चाप्याश्रयत् प्रभुः॥ १६ ॥

उस बलवान् दानवके द्वारा गहरा आघात पाकर प्रभावशाली सुरश्रेष्ठ विष्वक्सेनको तुरंत मूर्च्छा आ गयी और वे ध्वजका सहारा लेकर टिक गये ॥ १६ ॥

ततः स पुनराश्वस्य साध्यो युद्धे मनो दधे ।
विस्फार्य च महाचापं दैत्यमध्ये व्यवस्थितः ॥ १७ ॥

तदनन्तर पुनः होशमें आकर दैत्योंके बीचमें खड़े हुए साध्य देवताने अपने विशाल धनुषको तानकर युद्धमें मन लगाया ॥ १७ ॥

विरोचनस्तु बलवानभ्ययुध्यत सर्वशः ।
क्षोभयन् सुरसैन्यानि समन्तान्निशितैः शरैः॥ १८ ॥

उधर बलवान् विरोचन अपने तीखे बाणोंद्वारा देवसेनाओंको सब ओरसे क्षोभमें डालता हुआ सबके सामने युद्ध करने लगा ॥ १८ ॥

ततस्तस्यासुरेन्द्रस्य युद्ध्यमानस्य संयुगे ।
श्रूयते तुमुलः शब्दो जीमूतस्येव गर्जतः ॥ १९ ॥

युद्धस्थलमें जूझते हुए उस असुरशिरोमणिका गर्जते हुए मेघके समान भयंकर सिंहनाद सुनायी पड़ता था ॥१९॥

जगर्ज च महाघोषो विनिघ्नन् देववाहिनीम् ।
चण्डवेगाश्मवर्षी च सविद्युत्स्तनयित्नुमान् ॥ २० ॥

वह महान् घोष करनेवाला दैत्य प्रचण्ड वेगसे पत्थरोंकी वर्षा करनेवाले बिजलीसहित मेघसमूहकी भाँति देवसेनाका संहार करता हुआ जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ २० ॥

दिशो विद्रावयामास शरवर्षेण दानवः ।
सर्वसैन्यानि देवानामुद्यतास्त्रो महाहवे ॥ २१ ॥

उस महायुद्धमें अस्त्र उठाये हुए उस दानवने अपने बाणोंकी वर्षासे देवताओंकी समस्त सेनाओंको मार भगाया ॥

ते प्राद्रवन्त वित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तदा ।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चापि पदातयः ॥ २२ ॥

वे देवसैनिक रथी रथोंसे और घुड़सवार घोड़ोंकी पीठोंसे उतरकर भयभीत होकर भागे, भूमिपर खड़े हुए पैदल योद्धा भी पलायन करने लगे ॥ २२ ॥

श्रुत्वा कार्मुकनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
सर्वसैन्यानि भीतानि निष्यलीयन्त संयुगे ॥ २३ ॥

वज्रकी गड़गड़ाहटके समान उसके धनुषकी टंकार सुनकर सारी देवसेनाएँ भयभीत हो युद्धस्थलमें लुकने-छिपने लगीं ॥ २३ ॥

विरोचनभयत्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तदा।
पदातीनां ययुः संघा यत्र देवः शचीपतिः ॥ २४ ॥

विरोचनके भयसे डरे हुए रथी रथोंसे उतरकर पैदल-समूहोंको साथ ले उस स्थानपर चले गये, जहाँ शचीवल्लभ इन्द्रदेव विराजमान थे ॥ २४ ॥

विष्वक्सेनस्य साध्यस्य सर्वतः सुमहाबलः ।
पदा रक्षःसहस्राणि निजघान चतुर्दश ॥ २५ ॥

साध्य देवता विष्वक्सेनके चारों ओर जो चौदह हजार राक्षस (कुबेरकी सेनामें देवपक्षकी ओरसे आये) थे, उन्हें महाबली विरोचनने लातोंसे ही मार गिराया ॥ २५ ॥

अश्ववृन्देषु नागेषु रथानीकेषु चाभिभूः ।
पदातीनां च संघेषु विनिघ्नन् प्रत्यदृश्यत ॥ २६ ॥

शत्रुओंको पराजित करनेवाला विरोचन देवताओंके अश्वसमूहों, नागों, रथसमुदायों तथा पैदलोंके दलोंमें भी मारकाट मचाता हुआ दृष्टिगोचर होता था ॥ २६ ॥

वितत्य श्येनवत् पक्षौ सर्वतः स वरूथिनीम् ।
भित्त्वा छित्त्वा महाबाहुः शिरांस्याजौ न्यकृन्तत॥ २७ ॥

वह महाबाहु वीर पंख फैलाकर आक्रमण करनेवाले बाजकी भाँति देवसेनाको सब ओरसे छिन्न-भिन्न करके योद्धाओंके सिर काट लेता था ॥ २७ ॥

सादिनश्च पदाताश्च हतशेषा रथास्तथा ।
विष्वक्सेनेन सहिता विरोचनमथाद्रवन् ॥ २८ ॥

मरनेसे बचे हुए घुड़सवार, पैदल और रथी विष्वक्सेनके साथ होकर विरोचनपर टूट पड़े ॥ २८ ॥

तेऽसिचर्मगदाशक्तिपरिघप्रासतोमरैः ।
तमेकमभ्यधावन्त सिंहनादं प्रचक्रिरे ॥ २९ ॥

वे ढाल, तलवार, गदा, शक्ति, परिघ, प्रास और तोमरोंद्वारा उस एकमात्र विरोचनकी ओर दौड़े तथा सिंहनाद करने लगे ॥ २९ ॥

ततः सोऽसिं समुद्यम्य जवमास्थाय दानवः ।
चकर्त रथिनामाजौ शिरांसि च धनूंषि च ॥ ३० ॥

परंतु उस दानवने उत्तम वेगका आश्रय ले तलवार उठाकर युद्धस्थलमें शत्रुपक्षके रथी योद्धाओंके सिर और धनुष काट लिये ॥ ३० ॥

रथनागाश्ववृन्देषु बलवानरिसूदनः ।
विरोचनश्चरन् मार्गान् प्रकारानेकविंशतिम् ॥ ३१ ॥
भ्रान्तमुद्भ्रान्तमाविद्धमाप्लुतं विप्लुतं प्लुतम् ।
सम्पातं समुदीर्णं च दर्शयामास दानवः ॥ ३२ ॥

बलवान् शत्रुसूदन विरोचन रथ, नाग तथा अश्वोंके समुदायमें विचरता हुआ भ्रान्त, उद्भ्रान्त, आविद्ध, आप्लुत, विप्लुत, प्लुत, सम्पात और समुदीर्ण आदि तलवारके इक्कीस* पैंतरे दिखाने लगा ॥ ३१-३२ ॥

---

* हरिवंश पृ० ६९० की टिप्पणीमें तलवारके बत्तीस हाथ बताये गये हैं । उन्हींमेंसे इक्कीसको यहाँ समझ लेना चाहिये । भ्रान्त आदिकी व्याख्या भी वहीं देखें ।

केचिद् वरासिना रुग्णा दानवेन महात्मना ।
विनेदुश्छिन्नवर्माणो निपेतुश्च गतासवः ॥ ३३ ॥

उस महामनस्वी दानवने कितनोंको अपनी उत्तम तलवारसे बहुत ही घायल कर दिया, उनके कवच भी छिन्न-भिन्न कर दिये; अतः वे आर्तनाद करने लगे और प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३३ ॥

छिन्नपृष्ठा हतारोहा दानवेन महात्मना ।
विद्रुताः स्वान्यनीकानि जघ्नुस्त्रिदशवारणाः ॥ ३४ ॥

उस महाकाय दैत्य विरोचनने देवताओंके हाथियोंके पृष्ठभागमें घाव कर दिये और उनके सवारोंको मार डाला, अतः वे भागते हुए अपनी ही सेनाओंको कुचलने लगे ॥ ३४ ॥

निपेतुरुर्व्यामाकाशे निकृत्ता दृढधन्विना ।
विविधास्तोमराश्चापा महामात्रशिरांसि च ॥ ३५ ॥

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले उस दानव वीरने नाना प्रकारके तोमर, धनुष और महावतोंके सिर आकाशमे ही काट दिये । वे कटे हुए तोमर आदि पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

प्रतीपमाहरन्नागानश्वांश्च दृढविक्रमान् ।
चकर्त रथिनः कांश्चित् परामृश्य महाबलः ।
सूतांश्चिच्छेद खड्गेन रथानपि च दानवः ॥ ३६ ॥

महाबली दानव विरोचन सुदृढ़ पराक्रमवाले हाथियों और घोड़ोंको भी पीछे खींच लेता था । कितने ही रथियोंको पकड़कर तलवारसे काट डालता था तथा सारथियों और रथोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर देता था ॥ ३६ ॥

मुहुरुत्पततो दिक्षु धावतश्च यशस्विनः ।
मार्गांश्चरति वै चित्रान् व्यस्मयन्त ततोऽसुराः॥ ३७ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें बारंबार उछलते और दौड़ते हुए यशस्वी वीरोंको भी उसने तलवारके घाट उतार दिया । वह विचित्र मार्गों (पैंतरों) से चलता था, जिससे असुर भी विस्मयमें पड़ जाते थे ॥ ३७ ॥

निजघान पदा कांश्चिदाक्षिप्यान्यानपोथयत् ।
खड्गेन चान्यांश्चिच्छेद नादेनान्यांश्च भीषयन्॥ ३८ ॥

उसने कितने ही वीरोंको पैरोंसे कुचल डाला, दूसरे बहुत-से योद्धाओंको घुमाकर पृथ्वीपर दे मारा, कितनोंको तलवारसे काट डाला और अन्य कितने ही सैनिकोंको भीषण सिंहनादसे डरा दिया ॥ ३८ ॥

ऊरुस्तम्भगृहीताश्च निपतन्त्यपरे भुवि ।
अपरे दैत्यमालोक्य भयात् प्राणानवासृजन् ॥ ३९ ॥

कितने ही योद्धाओंकी जाँघें अकड़ गयीं और वे पृथ्वीपर गिर पड़े । दूसरे बहुत-से सैनिकोंने उस दैत्यको देखते ही भयके मारे प्राण त्याग दिये ॥ ३९ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने युद्धे महति दारुणे ।
रथौघगजपत्तीनां सुराणां च महाक्षये ॥ ४० ॥

कुजम्भो दानवश्रेष्ठो ह्यंशमादित्यमाहवे ।
योधयामास समरे वृषः प्रतिवृषं यथा ॥ ४१ ॥

रथसमूह, हाथी और पैदल योद्धाओं तथा देवताओंका महान् विनाश करनेवाला वह अत्यन्त भयंकर महायुद्ध अभी चल ही रहा था कि दानवशिरोमणि कुजम्भ युद्धस्थलमें आकर अंश नामक आदित्यके साथ युद्ध करने लगा, जैसे एक साँड़ अपने विरोधी साँड़से जा भिड़ा हो ॥ ४०-४१ ॥

जघानाचलसंकाशो मत्तवारणविक्रमः ।
स्फुरद्भिर्निशितैस्तीक्ष्णशरैर्बहुभिराशुगैः ॥ ४२ ॥
देवसैन्यसहस्राणि सरथानि महाहवे ।

पर्वतके समान विशालकाय और मतवाले हाथीके समान पराक्रमी कुजम्भने अपने तीखे, चमकीले, बहुसंख्यक, शीघ्रगामी और पैने बाणोंद्वारा उस महासमरमें देवसेनाके सहस्रों योद्धाओंका रथोंसहित संहार कर डाला ॥ ४२½ ॥

तस्य बाणपथं प्राप्य नाभ्यवर्तन्त सर्वशः ॥ ४३ ॥
प्रणेदुः सर्वभूतानि बभूवुस्तिमिरा दिशः ।
देवानामजयः क्रूरः प्रत्यपद्यत दारुणः ॥ ४४ ॥

उसके बाणके मार्गमें पड़कर कोई भी ठहर न सका । सभी प्राणी आर्तनाद करने लगे तथा समस्त दिशाओंमें अन्धकार छा गया । देवताओंको बड़ी ही कठोर एवं भयंकर पराजय प्राप्त हुई ॥ ४३-४४ ॥

अंशस्तु दानवेन्द्रस्य जघानोत्तमविक्रमः ।
अनीकं दशसाहस्रं कुञ्जराणां तरस्विनाम् ॥ ४५ ॥

उत्तम पराक्रमी अंशने दानवराज कुजम्भके दस हजार वेगशाली हाथियोंकी सेनाका संहार कर डाला ॥ ४५ ॥

आपतन्तं गजानीकं कुजम्भो वीक्ष्य दानवः ।
गदापाणिरवारोहद् रथोपस्थादरिंदमः ॥ ४६ ॥

देवताओंकी गजसेनाको अपने ऊपर आक्रमण करती देख शत्रुओंका दमन करनेवाला दानव कुजम्भ हाथमें गदा लेकर रथकी बैठकसे उतर पड़ा ॥ ४६ ॥

अद्रिसारमयीं गुर्वीं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
अभ्यद्रवद् गजानीकं व्यादितास्य इवान्तकः ॥ ४७ ॥

पर्वतके सारभूत लोहेकी बनी हुई उस भारी एवं विशाल गदाको हाथमें लेकर कुजम्भ मुँह बाये हुए कालके समान देवताओंकी गजसेनाकी ओर दौड़ा ॥ ४७ ॥

स गजान् गदया निघ्नन् व्यचरत् समरे बली ।
कुजम्भो दानवश्रेष्ठो गदापाणिर्बलाधिकः ॥ ४८ ॥

दानवशिरोमणि कुजम्भ बलमें बहुत बढ़ा-चढ़ा था । वह गदाधारी बलवान् वीर गदासे हाथियोंका वध करता हुआ समराङ्गणमें विचरने लगा ॥ ४८ ॥

विशीर्णदन्तांश्च बहून् भिन्नकुम्भांश्च दारुणान् ।

अकरोद् दानवश्रेष्ठ उद्दिश्योद्दिश्य तान् वली ॥ ४९ ॥

बलवान् दानवशिरोमणि कुजम्भने नाम ले-लेकर बहुतेरे भयंकर गजराजोंके दाँत तोड़ दिये और कुम्भस्थल फोड़ डाले ॥ ४९ ॥

विशीर्णदन्ता बहवो भिन्नकुम्भास्तथा परे ।
कुजम्भेनार्दिता नागा व्यद्रवन्त दिशो दश ॥ ५० ॥

कुजम्भसे पीड़ित हो टूटे दाँत और फूटे कुम्भस्थलवाले बहुत-से हाथी दसों दिशाओंमें भाग रहे थे ॥ ५० ॥

कुजम्भस्य च येऽमात्या दानवा घोरविक्रमाः ।
नाराचैर्विविधैस्तीक्ष्णैरपास्तगजयोधिनः ॥ ५१ ॥

कुजम्भके जो मन्त्री थे, उन घोर पराक्रमी दानवोंने नाना प्रकारके तीखे नाराचोंसे गजारोहियोंको धराशायी कर दिया ॥ ५१ ॥

क्षुरैः क्षुरप्रैर्भल्लैश्च पातैरञ्जलिकैः शितैः ।
चिच्छेद चोत्तमाङ्गानि कुजम्भो दानवोत्तमः ॥ ५२ ॥

दानवराज कुजम्भने क्षुर, क्षुरप्र, भल्ल, पात तथा तीखे अञ्जलिक नामक बाणोंसे शत्रुपक्षके हाथियोंके मस्तक काट डाले ॥ ५२ ॥

शिरोभिः प्रपतद्भिस्तु गगनं प्रत्यपूर्यत ।
अश्मवृष्टिरिवाकाशे बहुभिश्च सहाङ्कुशैः ॥ ५३ ॥

अङ्कुशोंसहित हाथियोंके बहुसंख्यक मस्तकोंके गिरनेसे सारा आकाश भर गया । उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशमें पत्थरोंकी वर्षा हो रही हो ॥ ५३ ॥

कृत्तोत्तमाङ्गाः स्कन्धेषु गजानां गजयोधिनः ।
अदृश्यन्त महाराज ताला विशिरसो यथा ॥ ५४ ॥

महाराज ! हाथियोंके कंधोंपर बैठे हुए गजारोही योद्धा मस्तकोंके कट जानेपर शिखारहित ताड़ वृक्षोंके समान जान पड़ते थे ॥ ५४ ॥

आपतन्तं महानागमंशस्यासुरसत्तमः ।
अघानैकेषुणा क्रुद्धस्ततः स विमुखोऽभवत् ॥ ५५ ॥

अपनी ओर आते हुए अंशके महान् गजराजको असुर-शिरोमणि कुजम्भने कुपित होकर एक बाण मारा, जिससे वह युद्धसे विमुख हो गया ॥ ५५ ॥

विगाह्यैवं गजानीकं कुजम्भो दानवोत्तमः ।
विनिघ्नन् प्रवरान् सैन्यान् गदया बलिनां वरः॥ ५६ ॥

इस प्रकार हाथियोंकी सेनामें प्रविष्ट होकर बलवानोंमें श्रेष्ठ दानवप्रवर कुजम्भ गदासे उस सेनाके बड़े-बड़े गज-राजोंका वध करता हुआ वहाँ विचरने लगा ॥ ५६ ॥

एकप्रहाराभिहतान् कुजम्भेन महागजान् ।
अपश्यन्त सुराः सर्वे पर्वतानिव पातितान् ॥ ५७ ॥

कुजम्भके एक ही प्रहारसे मारे गये महान् गजराजोंको समस्त देवताओंने धराशायी हुए पर्वतोंके समान देखा ।५७।

कुजम्भस्य च मार्गेषु विशीर्णास्ते महागजाः ।
वज्राहता इवेन्द्रेण विशीर्णा इव पर्वताः ॥ ५८ ॥

कुजम्भके मार्गोंपर छिन्न-भिन्न होकर पड़े हुए महान् गज इन्द्रके वज्रसे आहत एवं चूर-चूर होकर ढहे हुए पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ५८ ॥

अपश्यंस्त्रिदशाः सर्वे मूर्तिमन्तमिवान्तकम् ।
गजास्तथा व्यदीर्यन्त सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ ५९ ॥

समस्त देवता कुजम्भको मूर्तिमान् कालके समान देखने लगे । जैसे सिंहके डरसे दूसरे वन्य पशु भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे देखकर हाथियोंकी सेनामें दरार पड़ जाती थी ॥ ५९ ॥

स बभौ तां गदां बिभ्रत् प्रोक्षितां गजशोणितैः ।
व्यादितास्योऽनदत् क्रुद्धो रौद्ररूपो भयानकः ॥ ६० ॥

हाथियोंके खूनसे रँगी हुई उस गदाको धारण किये रौद्ररूपधारी भयानक दैत्य कुजम्भ कुपित हो मुँह बाकर जोर-जोरसे गर्जना कर रहा था ॥ ६० ॥

यथा हि भगवान् क्रुद्धः प्रजानां संक्षये पुरा ।
विक्रीडमानो गदया रणमध्ये महासुरः ॥ ६१ ॥

जैसे पूर्वकालमें प्रजाओंके संहारके समय कुपित हुए भगवान् रुद्र क्रीडा करते हैं, उसी प्रकार उस रणभूमिमें महान् असुर कुजम्भ गदासे खेल रहा था ॥ ६१ ॥

गोपाल इव दण्डेन कालयन् स महागजान् ।
क्रुद्धं कालमिवाकाले दण्डमुद्यम्य दानवम् ।
अपश्यन्त सुराः सर्वे कुजम्भं भीमविक्रमम् ॥ ६२ ॥

जैसे ग्वाला डंडेसे गौओंको हाँकता है, उसी प्रकार वह गदासे बड़े-बड़े गजराजोंको खदेड़ रहा था । उस समय सब देवता भयंकर पराक्रमी दानव कुजम्भको असमयमें कुपित हो कालदण्ड उठाये हुए कालके समान देखते थे ॥

हतारोहास्तु तत्रान्ये प्रभिन्ना वारणोत्तमाः ।
ते हन्यमाना गदया बाणैश्च भृशविक्षताः ॥ ६३ ॥

जिनके सवार मारे गये थे, वे दूसरे-दूसरे मदवर्षी गजराज उसकी गदासे आहत और बाणोंसे बहुत ही क्षत-विक्षत हो गये थे ॥ ६३ ॥

असहन्तः कुजम्भस्य गदावेगं महाहवे ।
स्वान्यनीकानि मृद्नन्तः प्राद्रवन्त महागजाः ॥ ६४ ॥

उस महासमरमें कुजम्भकी गदाके वेगको सहन न कर सकनेके कारण बड़े-बड़े गजराज अपनी ही सेनाओंको कुचलते हुए भागने लगे ॥ ६४ ॥

महावात इवाभ्राणि विधमन् गदया गजान्।
अतिष्ठत् समरे दैत्यः कालः संवर्तको यथा ॥ ६५ ॥

जैसे आँधी बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार गदाके आघातसे गजराजोंको विदीर्ण करता हुआ वह दैत्य समराङ्गणमें संहारकारी कालके समान खड़ा था ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे देवासुरयुद्धे कुजम्भोत्कर्षवर्णने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें देवासुर-संग्राममें कुजम्भके उत्कर्षका वर्णनविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

देवासुरसंग्राममें कुजम्भ, असिलोमा और वृत्रासुरके उत्कर्षका वर्णन तथा हरि एवं अश्विनीकुमारकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततः सर्वाणि सैन्यानि देवराजस्य शासनात्।
अभ्यद्रवन्त दितिजान् नदन्तो भैरवान् रवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर देवराज इन्द्रकी आज्ञासे सारी देवसेनाएँ भैरव स्वरसे गर्जना करती हुई दैत्योंपर टूट पड़ीं ॥ १ ॥

तं बलौघमपर्यन्तं देवानां सुदुरासदम्।
रथनागाश्वकलिलं शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनम् ॥ २ ॥
आपतन्तं सुदुष्पारं रजसा सर्वतोवृतम्।
सैन्यसागरमक्षोभ्यं वेलेव मकरालयम् ॥ ३ ॥
तदाश्चर्यमपश्यन्त अश्रद्धेयमिवाद्भुतम्।

देवताओंका वह सैन्यसमुदाय अनन्त एवं अत्यन्त दुर्जय था। उसमें रथ, हाथी और घोड़े भरे हुए थे। शङ्खों और दुन्दुभियोंका गम्भीर घोष गूँज रहा था। उसका पार पाना बहुत कठिन था। उसपर सब ओरसे धूल छा रही थी। वह अक्षोभ्य सैन्यसागर आश्चर्यमय, अविश्वसनीय और अद्भुत प्रतीत होता था। दैत्योंने आक्रमण करती हुई उस सेनाको देखा और जैसे तटभूमि समुद्रको आगेको बढ़नेसे रोकती है, उसी प्रकार उसको रोका ॥ २-३½ ॥

उदीर्णां पृतनां सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम् ॥ ४ ॥
आवार्य समरेऽतिष्ठत् कुजम्भस्तरसा बली।
सैन्यार्णवं देवतानां गिरिर्मेरुरिवाचलः ॥ ५ ॥

घोड़े, रथ और हाथियोंसहित आगे बढ़ती हुई उस सारी सेनाको वेगपूर्वक रोककर बलवान् कुजम्भ समराङ्गणमें खड़ा हो गया। देवताओंके सैन्यसमुद्रको रोकनेके लिये वह मेरुपर्वतके समान अविचल भावसे खड़ा रहा ॥ ४-५ ॥

अनीकिनीं कुजम्भस्तु गदया स न्यवारयत्।
सा तथा वारिता सेना विह्वलाभून्निरुद्यमा ॥ ६ ॥

कुजम्भने अपनी गदासे उस सेनाको रोक दिया। इस प्रकार रोकी गयी वह सेना विह्वल एवं उद्योगशून्य हो गयी ॥ ६ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने सम्प्रहारे सुदारुणे।
असिलोमा तु बलवान् दानवो दानवाधिपः ॥ ७ ॥
देवसैन्यस्य सर्वस्य धूमकेतुरिवोत्थितः।
तपत्यर्क इवामोघः सुरसैन्यानि संयुगे ॥ ८ ॥

वह भयंकर संग्राम उक्तरूपसे चल ही रहा था कि दनुकुलनन्दन बलवान् दानवराज असिलोमा समूची देव-सेनाके लिये धूमकेतु नामक उत्पातग्रहके समान उठ खड़ा हुआ। जैसे अमोघ सूर्य सबको ताप देता है, उसी प्रकार उसने युद्धस्थलमें देवताओंकी सेनाको तपाना आरम्भ किया ॥ ७-८ ॥

सहस्ररश्मिप्रतिमो दानवस्य रथोत्तमः।
शरैर्मेघ इवावर्षद् देवानीकं प्रतापवान् ॥ ९ ॥

उस दानवका उत्तम रथ सूर्यके समान तेजस्वी था। वह प्रतापी दैत्य जलकी वर्षा करनेवाले मेघके समान देवताओंकी सेनापर बाणोंकी वृष्टि करने लगा ॥ ९ ॥

शरौघरश्मिभिर्दीप्तैः प्रतप्तो घोरविक्रमः।
रौद्रः क्रूरो दुराधर्षो दुरापो ध्वजिनीमुखे ॥ १० ॥
युध्यते दैवतैः सार्धं ग्रसमान इव प्रभुः।

वह भयंकर पराक्रमी दानव बाणसमूहरूपी दीप्तिमती किरणोंसे तप रहा था। वह रौद्र, क्रूर, दुर्धर्ष और दुर्जय था। सेनाके मुहानेपर खड़ा हो वह प्रभावशाली दैत्य देवताओंके साथ इस प्रकार युद्ध करने लगा, मानो उन सबको अपना ग्रास बना लेगा ॥ १०½ ॥

उग्रेषुरुग्रवदनः समारुह्य महागजम् ॥ ११ ॥
सुराणामुत्तमाङ्गानि प्रचिनोति महाबलः।

उसके बाण भयङ्कर थे। उसका मुख भी बड़ा ही उग्र था। वह महाबली दानव एक विशाल गजराजपर आरूढ़ हो देवताओंके मस्तकोंका चयन करता था (उन्हें काट गिराता था) ॥ ११½ ॥

ग्रसन् दैवतसैन्यानि शरदंष्ट्रः प्रतापवान् ॥ १२ ॥
असिजिह्वधनुर्हस्तश्चापव्यात्ताननोऽसुरः ।

परश्वधनखः श्रीमान् मृदङ्गापूरितध्वनिः ॥ १३ ॥
तिष्ठते दानवश्रेष्ठः संयुगे व्याघ्रवद् बली ।

देवताओंकी सेनाको अपना ग्रास बनाते हुए उस प्रतापी असुरके बाण ही उसकी दाढ़ थे । तलवार ही उसकी जिह्वा थी । चक्र ही हाथ थे । तना हुआ धनुष ही उसका खुला हुआ मुख था । फरसे उसके नख थे । मृदङ्ग आदि वाद्योंकी ध्वनि ही उसके दहाड़नेकी आवाज थी । इस प्रकार वह बलवान् दानवशिरोमणि असिलोमा उस युद्धस्थलमें व्याघ्रके समान खड़ा था ॥ १२-१३½ ॥

मौर्वीघोषस्तनयित्नुः पृषत्कः प्रथितो महान् ॥ १४ ॥
धनुर्विद्युद्गणश्चापो महामेघ इवापरः ।

वह दानव दूसरे महामेघके समान प्रतीत होता था । प्रत्यञ्चाकी टंकार ही उसकी गर्जना थी । सुविख्यात बाणोंका महान् समूह ही उसके द्वारा बरसाये जानेवाले जलकी बूँदें थीं तथा उसका धनुष ही इन्द्रधनुष एवं विद्युत्का समुदाय था ॥ १४½ ॥

इष्वस्त्रसागरो घोरो बाहुग्राहो दुरासदः ॥ १५ ॥
कार्मुकोर्मितरङ्गौघो बाणावर्तमहाह्रदः ।
गदासिमकरो रौद्रो ज्यावेलः शिक्षयोद्धतः ॥ १६ ॥
पदातिमीनः सुमहान् गर्जितोत्कुष्टघोषवान् ।

जिसमें बाण आदि अस्त्रोंका प्रयोग होता था, वह संग्राम एक भयङ्कर समुद्रके समान था । उसकी भुजाएँ ही उसमें ग्राह थीं । उसे पार करना अत्यन्त कठिन था । धनुष ही उस सागरकी छोटी-बड़ी लहरोंका समुदाय था । बाणोंका जो आवर्तन है, वही भँवरोंसे युक्त महान् ह्रद था । गदा और तलवार उसमें मगरके समान थीं । वह देखनेमें रौद्र प्रतीत होता था । धनुषकी प्रत्यञ्चा ही उस समुद्रकी वेला (तटभूमि) थी । शिक्षारूपी वायुके वेगसे उसमें ज्वार-सा उठता था । पैदल सैनिक उस सागरके मत्स्य थे । वह महान् रणसागर योद्धाओंके गर्जने और चीखने-चिल्लानेके गम्भीर घोषसे परिपूर्ण था ॥ १५-१६½ ॥

हयान् गजान् पदातींश्च रथांश्च सहसा बहून् ॥ १७ ॥
न्यमज्जयत समरे परवीरान् महारथान् ।
आप्लावयत् स देवौघान् दारुणो दानवेश्वरः ॥ १८ ॥

उस दारुण दानवराज असिलोमाने शत्रुपक्षके महारथी वीरों, घोड़ों, हाथियों, पैदलों और बहुसंख्यक रथोंको तथा कितने ही देवताओंको भी सहसा उस समरसागरमें निमज्जित एवं आप्लावित कर दिया ॥ १७-१८ ॥

प्रावर्तत युधि श्रीमान् युधि श्रेष्ठो युधि स्थिरः ।
अपश्यंस्त्रिदशाः सर्वे शुद्धजाम्बूनदप्रभम् ॥ १९ ॥
सन्नद्धं तत्र युध्यन्तं ज्वलन्तमिव पावकम् ।

वह तेजस्वी दानव असिलोमा युद्धमें स्थिर रहनेवाला तथा युद्धस्थलका एक श्रेष्ठ वीर था । वह निरन्तर युद्धमें संलग्न रहा । समस्त देवताओंने देखा—उसकी अङ्गकान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान प्रकाशित हो रही थी । वह कवच धारण करके वहाँ युद्ध करते समय प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ता था ॥ १९½ ॥

मध्यंदिनगतं सूर्यं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ २० ॥
न शेकुः सर्वभूतानि दानवं प्रसमीक्षितुम् ।

वह दानव अपने तेजसे दोपहरके सूर्यकी भाँति देदीप्यमान हो रहा था । सम्पूर्ण भूतोंमेंसे कोई भी उसकी ओर आँख उठाकर देख नहीं पाता था ॥ २०½ ॥

यथा प्ररूढं घर्मान्ते दहेत् कक्षं हुताशनः ॥ २१ ॥
तथा सुरवरान् दैत्यो दहति स्म सुतेजसा ।

जैसे ग्रीष्मऋतुमें आग बढ़े और सूखे हुए घास-फूँसको शीघ्र ही जला देती है, उसी प्रकार वह दैत्य अपने तेजसे उन श्रेष्ठ देवताओंको दग्ध कर रहा था ॥ २१½ ॥

देवानां दानवानां च बलं नर्दति दारुणम् ॥ २२ ॥
विरूढमभवत् सर्वमाकुलं च समन्ततः ।

देवताओं और दानवोंकी सेनाएँ बड़ी भयंकर गर्जनाएँ कर रही थीं । वे सारी सेनाएँ सब ओरसे परस्पर चढ़ आयीं और आपसमें घोल-मेल हो गयीं ॥ २२½ ॥

शूराश्च ते बलोदग्रा हस्त्यश्वरथधूर्गताः ॥ २३ ॥
आर्यां बुद्धिं समास्थाय न त्यजन्ति महारणम् ।

वे सभी सैनिक प्रचण्ड बलशाली और शूरवीर थे । हाथी, घोड़े तथा रथोंपर बैठे हुए वे उभय पक्षके वीर श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय लेकर उस महासमरका त्याग नहीं करते थे ॥ २३½ ॥

तद्दुत्पिञ्जलकं युद्धमभवद् रोमहर्षणम् ॥ २४ ॥
देवदानवयोः संख्ये रुधिरस्रावकर्दमम् ।

देवता और दानव-जातिका वह युद्ध अमर्यादित तथा रोमाञ्चकारी था । उस युद्धस्थलमें अधिक रक्त बहनेके कारण कीच मच गयी थी ॥ २४½ ॥

न दिशः प्रत्यजानन्त भयग्राहनिपीडिताः ।
शस्त्रपातांश्च विविधान् दानवानां महारणे ॥ २५ ॥

उस महासमरमें भयरूपी ग्राहसे पीड़ित हुए देवसैनिक न तो दिशाओंको जान पाते थे और न दानवोंके चलाये हुए नाना प्रकारके शस्त्रोंको ही समझ पाते थे ॥ २५ ॥

अन्योन्यं मूढचित्तास्ते निजघ्नुर्व्याकुलीकृताः ।
स्वान् परान् नाभिजानन्ति विमूढाः शस्त्रपाणयः ॥ २६ ॥

उनके चित्तमें मोह छा गया था । वे व्याकुल होकर हाथमें शस्त्र ले एक दूसरेको मार रहे थे और इतने मूढ़ हो गये थे कि अपने-परायेकी भी पहचान नहीं कर पाते थे ॥

शिरोरुहेषु संगृह्य कश्चिच्छूरस्य संयुगे ।
शूरश्छिनत्ति मूर्धानं संदष्टौष्ठपुटाननम् ॥ २७ ॥

कोई शूरवीर युद्धस्थलमें दूसरे शूरवीरके केश पकड़कर

उसका मस्तक काट लेता था । वह मस्तक, जिसका मुख दाँतोतले दबे हुए ओठसे सुशोभित था ॥ २७ ॥

बाहुभिर्मुष्टिभिश्चैव वज्रकल्पैः सुदारुणैः ।
प्रहरन्ति रणे वीरा आत्तशस्त्राः परस्परम् ॥ २८ ॥

हाथोंमें हथियार लिये वीर रणभूमिमें एक दूसरेपर भुजाओं तथा अत्यन्त भयंकर वज्रतुल्य मुक्कोंसे प्रहार करते थे ॥ २८ ॥

योधप्राणहरे रौद्रे स्वर्गद्वारेऽनपावृते ।
संकुले तुमुले युद्धे वर्तमाने महाभये ॥ २९ ॥
हयो हयं गजो नागं वीरो वीरं महाहवे ।
अभ्यद्रवञ्जिघांसन्तो ह्यसमञ्जसमाहवे ॥ ३० ॥

वह वर्तमान महाभयंकर तुमुल युद्ध उभय पक्षके योद्धाओंसे व्याप्त था। वह रौद्र संग्राम सभी योद्धाओंके प्राण हर लेनेवाला तथा उनके लिये स्वर्गका खुला हुआ द्वार था । उस महासमरमें घुड़सवारने घुड़सवारपर, हाथीसवारने हाथीसवारपर और पैदल वीरने पैदल वीरपर आक्रमण किया। वे सब-के-सब एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे अमर्यादितरूपसे परस्पर टूट पड़े ॥ २९-३० ॥

असुराश्च सुराश्चैव विक्रमाढ्या महारथाः ।
जुहुवुः समरे प्राणान् निजघ्नुरितरेतरम् ॥ ३१ ॥

बल-पराक्रमसे सम्पन्न महारथी देवता और असुर एक दूसरेको मारने और समराग्निमें प्राणोंकी आहुति देने लगे ॥

मुक्तकेशा विकवचा विरथाश्छिन्नकार्मुकाः ।
हस्तैः पादैश्च युध्यन्ते दानवास्त्रिदशैः सह ॥ ३२ ॥

जिनके रथ नष्ट हो गये और धनुष कट गये थे, वे कवचरहित दानव केश खोले हुए वहाँ देवताओंके साथ केवल हाथों और पैरोंसे ही युद्ध करते थे ॥ ३२ ॥

हरिस्तु निशितं भल्लं प्रेषयामास संयुगे ।
स तस्य धनुषः कोटिं छित्त्वा भूमावपातयत् ॥ ३३ ॥

इसी समय हरिने युद्धस्थलमें असिलोमापर एक तेज धारवाला भल्ल चलाया । उस भल्लने उसके धनुषकी कोटिका छेदन करके उसे पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ३३ ॥

पुनश्चापि पृषत्कानां शतानि नतपर्वणाम् ।
प्राहिणोत् सहसा तस्य दानवेन्द्रस्य संयुगे ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने पुनः रणभूमिमें उस दानवराजको लक्ष्य करके सहसा झुकी हुई गाँठवाले सौ बाण चलाये ॥३४॥

तस्य देहे विमुक्तास्ते मारुतेन समीरिताः ।
मग्नार्धकाया विविशुः पन्नगा इव पर्वते ॥ ३५ ॥

उनके छोड़े हुए वे बाण वायुसे प्रेरित हो उस दानवके शरीरमें उसी प्रकार घुस गये, जैसे पर्वतमें सर्प घुस जाते हैं। उन सभी बाणोंका आधा-आधा भाग उसके शरीरमें धँस गया था ॥ ३५ ॥

स तैर्निपतितैर्गात्रैः क्षरद्भिरसृगावलीः ।
बभौ दैत्यो महाबाहुर्मेरुर्धातुमिवोत्सृजन् ।
पुनश्चापि पृषत्कानां शतानि नतपर्वणाम् ॥ ३६ ॥

उन बाणोंकी मार पड़नेसे उसके सारे अङ्गोंसे खूनकी धाराएँ बह चलीं । उस समय वह महाबाहु दैत्य गेरूकी धारा बहानेवाले मेरुगिरिके समान शोभा पाता था । तदनन्तर पुनः उसपर झुकी हुई गाँठवाले सौ बाणोंका प्रहार हुआ ॥

ततोऽसिलोमा संक्रुद्धः प्रगृह्यान्यन्महाधनुः ।
रुक्मपुङ्खांश्च निशितान् प्रेषयामास सायकान् ॥ ३७ ॥

तब असिलोमाको बड़ा क्रोध हुआ । उसने दूसरा विशाल धनुष लेकर हरिपर सोनेके पंखवाले बहुत-से पैने बाणोंका प्रहार किया ॥ ३७ ॥

तैस्तु मर्मसु विव्याध सर्पानलविषोपमैः ।
गात्रं संछादयामास महाभ्रैरिव पर्वतम् ॥ ३८ ॥

वे बाण सर्प, अग्नि और विषके समान प्राणनाशक थे । उनके द्वारा उसने हरिके मर्मस्थानोंमें आघात किया तथा बड़े-बड़े बादलोंसे पर्वतकी भाँति अपने उन बाणोंसे उनके शरीरको ढक दिया ॥ ३८ ॥

भूयः संधाय च शरं मुमोचान्तकसंनिभम् ।
सुपुङ्खं सूर्यसंकाशं बाणमप्रतिमं रणे ॥ ३९ ॥

इसके बाद उसने पुनः रणभूमिमें सुन्दर पंखयुक्त सूर्य-सदृश तेजस्वी, अनुपम एवं कालके समान भयंकर बाणका संधान करके उसे हरिपर छोड़ दिया ॥ ३९ ॥

तेन बाणप्रहारेण संयुगे भीमकर्मणा ।
मुमोह सहसा देवो भूमौ चापि पपात ह ॥ ४० ॥

भयंकर कर्म करनेवाले उस दानवके उस बाणप्रहारसे युद्धस्थलमें हरिदेवता सहसा मूर्च्छित हो गये और पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४० ॥

ततो हाहाकृताः सर्वे देवे भूतलमाश्रिते ।
जगत् सदेवमाविग्नं यथार्कपतनं तथा ॥ ४१ ॥

हरिदेवके धराशायी होते ही सब लोग हाहाकार करने लगे । देवताओंसहित सारा जगत् उद्विग्न हो उठा, मानो साक्षात् सूर्यदेव आकाशसे पृथ्वीपर टूट गिरे हों ॥ ४१ ॥

परिवारं तु समरे तस्य हत्वा महासुरः ।
एकत्रिंशत्सहस्राणि योधानां दानवोत्तमः ॥ ४२ ॥

हरिको सब ओरसे घेरकर खड़े हुए जो सैनिक थे, उन सबको मारकर उस दानवराजने समराङ्गणमें देवपक्षके इकतीस हजार योद्धाओंका संहार कर डाला ॥ ४२ ॥

जयश्रिया सेव्यमानो दीप्यमान इवाचलः ।
प्रगृह्य कार्मुकं घोरं गतः शक्ररथं प्रति ॥ ४३ ॥

विजयश्रीसे सेवित हो दीप्तिमान् पर्वतकी भाँति प्रतीत होनेवाला असिलोमा घोर धनुष लेकर इन्द्रके रथकी ओर चला गया ॥ ४३ ॥

तथैव तु महायुद्धे ससैन्यावश्विनावुभौ ।

प्रयुद्धौ सह वृत्रेण बलिना देवतारिणा ॥ ४४ ॥

इसी प्रकार उस महायुद्धमें सेनासहित दोनों अश्विनीकुमार बलवान् देवद्रोही वृत्रासुरके साथ युद्ध कर रहे थे ॥

बाणखड्गधनुष्पाणिः समरे त्यक्तजीवितः।
आसाद्य सोऽश्विनौ दैत्यःस्थितो गिरिरिवाचलः॥४५॥

वृत्रासुरके हाथमें बाण, खड्ग और धनुष थे। वह जीवनका मोह छोड़कर समरभूमिमें आया था। वह दैत्य दोनों अश्विनीकुमारोंके पास पहुँचकर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़ा हो गया ॥ ४५ ॥

ततः शङ्खमुपाध्माय द्विषतां लोमहर्षणम्।
ज्याघोषतलशब्दैश्च सर्वभूतान्यवेजयत् ॥ ४६ ॥

तदनन्तर शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाले शङ्खको बजाकर धनुषकी प्रत्यञ्चाके टङ्कार-घोषसे उसने सम्पूर्ण प्राणियोंको कम्पित कर दिया ॥ ४६ ॥

ततः संहृष्टरोमाणः शङ्खशब्दं विशुश्रुवुः।
यक्षराक्षसदेवौघा वृत्रस्यापि च निःस्वनम् ॥ ४७ ॥

उस समय यक्ष, राक्षस और देवताओंके समुदायने रोमाञ्चित शरीरसे उस शङ्खकी ध्वनि और वृत्रासुरकी गर्जना सुनी ॥ ४७ ॥

गदातोमरनिस्त्रिंशशूलशक्तिपरश्वधाः ।
प्रगृहीता व्यराजन्त यक्षराक्षसबाहुभिः ॥ ४८ ॥

फिर तो यक्षों और राक्षसोंके हाथोंमें गदा, तोमर, खड्ग, शूल, शक्ति और फरसे शोभा पाने लगे ॥ ४८ ॥

तैः प्रयुक्तान् महाकायैः शूलशक्तिपरश्वधान्।
भल्लैर्वृत्रः प्रचिच्छेद भीमवेगरवैस्तथा ॥ ४९ ॥

उन महाकाय यक्ष आदिके द्वारा छोड़े गये उन शूल, शक्ति और फरसोंको वृत्रासुरने भयंकर वेग और शब्दवाले भल्लोंसे काट डाला ॥ ४९ ॥

अन्तरिक्षचराणां च भूमिस्थानां च गर्जताम्।
शरैर्विव्याध गात्राणि देवानां प्रियदर्शिनाम् ॥ ५० ॥

अन्तरिक्षमें विचरने और पृथ्वीपर खड़े होकर गर्जनेवाले प्रियदर्शी देवताओंके सारे अङ्गोंमें उस दैत्यने अपने बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ ५० ॥

वृत्रासुरभुजोत्सृष्टैर्बहुधा यक्षरक्षसाम्।
निकृत्तान्येव दृश्यन्ते शरीराणि शिरांसि च ॥ ५१ ॥

वृत्रासुरकी भुजाओंसे छोड़े गये उन अस्त्रोंद्वारा बहुधा यक्ष और राक्षसोंके शरीर और मस्तक कटे हुए ही देखे जाते थे ॥ ५१ ॥

अथ रक्तमहावृष्टिरभ्यवर्षत मेदिनीम्।
गदापरिघभिन्नानां देवानां गात्रसम्भवा ॥ ५२ ॥

तदनन्तर पृथ्वीपर खूनकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी। गदा और परिघसे घायल हुए देवताओंके शरीरसे ही वह रक्तवर्षा हो रही थी ॥ ५२ ॥

प्रच्छादयन्तं बाणौघैर्वृत्रं भीमपराक्रमम्।
ददृशुः सर्वभूतानि भानुमन्तमिवांशुभिः ॥ ५३ ॥

अपने बाणसमूहोंद्वारा शत्रुओंको आच्छादित करते हुए भयंकर पराक्रमी वृत्रासुरको समस्त प्राणियोंने अपने किरणजालसे सारे जगत्को ढकनेवाले सूर्यदेवके समान देखा ।५३।

तीक्ष्णरश्मिरिवादित्यः प्रतपन् सर्वदेवताः।
अविध्यद् बलवान् क्रुद्धः सायकैर्मर्मभेदिभिः ॥ ५४ ॥

प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्यके समान सम्पूर्ण देवताओंको ताप देते हुए उस बलवान् दैत्यने कुपित होकर मर्मभेदी सायकोंद्वारा उन सबको घायल कर दिया ॥ ५४ ॥

नदतो विविधान् नादानर्दितस्यापि सायकैः।
न मोहमसुरेन्द्रस्य ददृशुस्त्रिदशा रणे ॥ ५५ ॥

देवताओंके सायकोंसे पीड़ित होनेपर भी वह नाना प्रकारसे सिंहनाद करता रहा। रणभूमिमें देवताओंने असुरराज वृत्रको कभी मोह या मूर्च्छामें पड़ते नहीं देखा ॥५५॥

तेऽसिचर्मगदाभिश्च परिघप्रासतोमरैः।
परश्वधैश्च शूलैश्च प्रववर्षुर्महारथाः ॥ ५६ ॥

वे महारथी देवता उसके ऊपर ढाल, तलवार, गदा, परिघ, प्रास, तोमर, फरसे और शूलोंकी वर्षा करने लगे ॥

ततो वृत्रः सुसंक्रुद्धस्तैस्तदाभ्यर्दितो बली।
अभ्यवर्षच्छितैर्बाणैस्तान् सर्वान् सत्यविक्रमः ॥ ५७ ॥

उनके द्वारा इस प्रकार पीड़ित होनेपर बलवान् एवं सत्यपराक्रमी वृत्रासुर अत्यन्त कुपित हो उठा। उस समय उसने उन सब लोगोंपर पैने बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी॥

तेन वित्रासिता देवा विप्रकीर्णमहायुधाः।
घोरमार्तस्वरं चक्रुर्वृत्रासुरभयार्दिताः ॥ ५८ ॥

उसके द्वारा आतङ्कित हुए देवताओंके बड़े-बड़े आयुध हाथसे छूटकर बिखर गये। वृत्रासुरके भयसे पीड़ित हुए वे देवता घोर आर्तनाद करने लगे ॥ ५८ ॥

उत्सृज्य ते गदाशक्तिशूलर्ष्टिपरिघाशनीन्।
उत्तरां दिशमाजग्मुस्त्रासिता दृढधन्विना ॥ ५९ ॥

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले उस दैत्यसे त्रास पाकर वे देवता गदा, शक्ति, शूल, ऋष्टि, परिघ और अशनि आदि अस्त्रोंको त्यागकर उत्तर दिशाकी ओर आ गये ॥ ५९ ॥

शूलशक्तिगदापाणिर्व्यूढोरस्को महाभुजः।
प्रावर्तत रणे वृत्रस्त्रासयानश्चराचरान् ॥ ६० ॥

चौड़ी छातीवाला महाबाहु वृत्रासुर शूल, शक्ति और गदा हाथमें लेकर चराचर प्राणियोंको त्रास देता हुआ युद्धमें प्रवृत्त हुआ था ॥ ६० ॥

तत्रैकस्तु महाबाहुरसिशूलधरः प्रभुः।
अभ्यधावत दैत्येन्द्रं वृत्रमप्रतिमं रणे ॥ ६१ ॥

उन दोनों अश्विनीकुमारोंमेंसे एक सामर्थ्यशाली महाबाहु नासत्य हाथमें तलवार और त्रिशूल लिये रणक्षेत्रमें अनुपम

वीरता प्रकट करनेवाले दैत्यराज वृत्रासुरकी ओर दौड़े ॥ ६१ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य निर्भिन्नमिव वारणम् ।
वत्सदन्तैस्त्रिभिः पार्श्वे विव्याध सुरसत्तमम् ॥ ६२ ॥

मदकी धारा बहानेवाले हाथीके समान सुरश्रेष्ठ नासत्यको आक्रमण करते देख वृत्रासुरने उनके पार्श्वभागमें तीन वत्सदन्त नामक बाणोंका प्रहार किया ॥ ६२ ॥

सोऽपि विद्धो महेष्वासः शरैरमितविक्रमः ।
गदां जग्राह बलवान् गदायुद्धविशारदः ॥ ६३ ॥

तब नासत्यने वृत्रासुरको भी अपने बाणोंद्वारा घायल कर दिया । उनके बाणोंसे विद्ध हो अमित पराक्रमी, महा धनुर्धर, गदायुद्धविशारद, बलवान् वृत्रासुरने गदा हाथमें ले ली ॥ ६३ ॥

तां प्रगृह्य गदां भीमामयःसारमयीं दृढाम् ।
अश्विनं सहसाऽऽगम्य ताडयामास वीर्यवान् ॥ ६४ ॥

लोहेके सारतत्त्वकी बनी हुई उस सुदृढ़ एवं भयंकर गदाको लेकर वह पराक्रमी दैत्य सहसा अश्विनीकुमारके पास आया और आते ही उसने उनपर उस गदाका प्रहार किया ॥ ६४ ॥

दीप्यमानं ततः शूलमश्वी सुविपुलं दृढम् ।
प्रासृजद् वृत्रदैत्याय सहसा रोमहर्षणम् ॥ ६५ ॥

तब अश्वी (नासत्य) ने अत्यन्त विशाल सुदृढ़ दीप्तिमान् और रोमाञ्चकारी शूल लेकर सहसा उसे वृत्रासुरपर दे मारा ॥ ६५ ॥

भङ्क्त्वा शूलं गदाग्रेण गदायुद्धविशारदः ।
अश्विनं सहसाभ्येत्य गरुत्मानिव पन्नगम् ॥ ६६ ॥

गदायुद्धमें कुशल वृत्रासुर गदाके अग्रभागसे उस शूलके टुकड़े-टुकड़े करके सहसा अश्विनीकुमारके पास आ पहुँचा, मानो गरुड़ सर्पके पास आ गये हों ॥ ६६ ॥

सोऽन्तरिक्षात् समुत्पत्य विधूय महतीं गदाम् ।
नासत्योपरि चिक्षेप गिरिशृङ्गोपमां बली ॥ ६७ ॥

उस बलवान् वीरने अन्तरिक्षसे उछलकर पर्वतशिखरके समान उस विशाल गदाको घुमाकर नासत्यके ऊपर दे मारा ॥ ६७ ॥

गदयाभिहतः सोऽश्वी त्यक्त्वा शूलमनुत्तमम् ।
प्रयातः सहसा तत्र यत्र युध्यति वासवः ॥ ६८ ॥

उस गदासे आहत होकर अश्वी (नासत्य) अपने परम उत्तम शूलको त्यागकर सहसा उस स्थानको भाग गये जहाँ इन्द्र युद्ध कर रहे थे ॥ ६८ ॥

पराजित्य तु संग्रामे अश्विनं भीमविक्रमम् ।
जयश्रिया सेव्यमानो वृत्रो युद्धे व्यवस्थितः ॥ ६९ ॥

भयंकर पराक्रमी अश्वीको युद्धमें पराजित करके विजयलक्ष्मीसे सेवित वृत्रासुर उस समरभूमिमें स्थिरभावसे खड़ा हो गया ॥ ६९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनावतारे देवासुरयुद्धे वृत्रासुरोत्कर्षवर्णने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें देवासुरसंग्राममें वृत्रासुरके उत्कर्षका वर्णनविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

रणाजि और एकचक्रके, मृगव्याध और बलासुरके, अजैकपाद् और राहुके तथा सुधूम्राक्ष एवं केशी दैत्यके युद्धका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

तत्रैव तु महायुद्धे रणाजिर्देवसत्तमः ।
युध्यते सह दैत्येन एकचक्रेण धीमता ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उसी महायुद्धमें देवशिरोमणि रणाजि नामक साध्यदेवता बुद्धिमान् दैत्य एकचक्रके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ १ ॥

प्रच्छाद्य रथपन्थानमुत्क्रोशंश्च महाबलः ।
एकचक्रस्य सैन्यं तच्छरवर्षैरवाकिरत् ॥ २ ॥

महाबली रणाजिने रथके मार्गको आच्छादित करके जोर-जोरसे गर्जना करते हुए एकचक्रकी सेनापर बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ २ ॥

महासुरा महावीर्या महापट्टिशयोधिनः ।
शूलानि च भुशुण्डीश्च क्षिपन्ति स्म महारणे ॥ ३ ॥

महापराक्रमी और महान् पट्टिशद्वारा युद्ध करनेवाले महान् असुर उस महासमरमें शूलों और भुशुण्डियोंका प्रहार करते थे ॥ ३ ॥

तच्छूलवर्षं सुमहद्गदाशक्तिसमाकुलम् ।
अविशद् दितिजैर्मुक्तं दुर्निवार्यं चराचरैः ॥ ४ ॥

दैत्योंद्वारा की गयी गदा और शक्तियोंसहित शूलोंकी वह बड़ी भारी वर्षा देवसेनामें व्याप्त हो गयी; समस्त चराचर प्राणियोंके लिये उसका निवारण करना कठिन था ॥ ४ ॥

अन्योन्यमभिवर्तन्ते देवासुरगणा युधि ।
महाद्रिशिखराकारा वीर्यवन्तो महाबलाः ॥ ५ ॥

उस युद्धस्थलमें देवता और असुरगण एक दूसरेके सामने खड़े थे; उनके आकार विशाल पर्वतोंके समान थे और वे सभी महाबलवान् तथा पराक्रमी थे ॥ ५ ॥

तुरङ्गमाणां तु शतं युक्तं तस्य महारथे।
महासुरवरस्येव हिरण्यकशिपोर्युधि ॥ ६ ॥

महान् असुरशिरोमणि एकचक्र युद्धमें हिरण्यकशिपुके समान था। उसके विशाल रथमें सौ घोड़े जुते हुए थे॥

तेषां चरणपातेन चक्रनेमिस्वनेन च।
तस्य बाणनिपातैश्च हता वै शतशः सुराः ॥ ७ ॥

उन घोड़ोंकी टापोंके आघातसे, रथके पहियोंकी घरघराहटसे तथा एकचक्रके बाणोंकी मारसे सैकड़ों देवता नष्ट हो गये ॥ ७ ॥

ततः स लघुभिश्चित्रैः शरैः संनतपर्वभिः।
सायुधानच्छिनत् क्रुद्धः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८ ॥

रणाजिने कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले शीघ्रगामी विचित्र बाणोंद्वारा आयुधोंसहित सैकड़ों और हजारों दैत्योंको छिन्न-भिन्न कर डाला ॥ ८ ॥

वध्यमानाः शरैस्तीक्ष्णै रथद्विरदवाजिनः।
गमिताः प्रक्षयं केचित् त्रिदशैर्दानवा रणे ॥ ९ ॥

देवताओंने अपने तीखे बाणोंकी मारसे रथ, हाथी और घोड़ोंसहित कितने ही दानवोंका समराङ्गणमें संहार कर डाला॥

ततः प्रक्षीयमाणांस्तानुपप्रेक्ष्य दितेः सुताः।
त्यक्त्वा प्राणान् न्यवर्तन्त प्रगृहीतवरायुधाः ॥ १० ॥

उन दानवोंका इस प्रकार विनाश होता देख वे दैत्य हाथोंमें श्रेष्ठ आयुध लिये प्राणोंका मोह छोड़कर वहाँ लौट पड़े ॥ १० ॥

ते दिशो विदिशश्चैव प्रतियुद्धप्रहारिणः।
अभ्यघ्नन् निशितैः शस्त्रैर्देवान् दितिसुता रणे ॥ ११ ॥

युद्धमें शत्रुका सामना और शत्रुसेनापर प्रहार करनेवाले उन दैत्योंने रणभूमिमें अपने तीखे शस्त्रोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंमें खड़े हुए देवताओंको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ११ ॥

रणाजिज्ज्वलितं घोरं परमं तिग्मतेजसम्।
मुमोचास्त्रं महाबाहुर्मथनं नाम संयुगे ॥ १२ ॥

यह देख महाबाहु रणाजिने प्रचण्ड तेजवाले अत्यन्त घोर मथन नामक प्रज्वलित अस्त्रका उस युद्धस्थलमें प्रयोग किया ॥ १२ ॥

ततः शस्त्राणि शूलानि निशितानि सहस्रशः।
अस्त्रवीर्येण महता दितिजः सम्प्रचिच्छिदे ॥ १३ ॥

तदनन्तर उससे निकले हुए सहस्रों तीखे शूल आदि शस्त्रोंको एकचक्र दैत्यने अपने महान् अस्त्रबलसे काट डाला॥

छित्त्वा शूलेन तान् सर्वानेकचक्रो महासुरः।
अभ्यविध्यत तं साध्यं दशभिर्निशितैः शरैः ॥ १४ ॥

उस महान् असुर एकचक्रने शूलसे उन सब अस्त्रोंको छिन्न-भिन्न करके साध्यदेवता रणाजिको दस पैने बाणोंसे अच्छी तरह घायल किया ॥ १४ ॥

अस्त्रवेगं निहत्यैवं सोऽस्त्रैस्तस्यानुसैनिकान्।
ज्वलितैरपरैः शीघ्रैस्तानविध्यत् सहस्रशः ॥ १५ ॥

उस दैत्यने अपने अस्त्रोंसे साध्यदेवताके अस्त्रवेगका इस प्रकार निवारण करके उनके पीछे चलनेवाले सहस्रों सैनिकोंको दूसरे शीघ्रगामी प्रज्वलित अस्त्रोंद्वारा बींध डाला ॥ १५ ॥

तेषां छिन्नानि गात्राणि विसृजन्ति स्म शोणितम्।
प्रावृषीवाम्बुवृष्टीनि शृङ्गाणि धरणीभृताम् ॥ १६ ॥

उन सैनिकोंके छिदे हुए अङ्ग वर्षाकालमें जलकी वृष्टि करनेवाले पर्वतोंके शिखरोंकी भाँति रक्त बहा रहे थे ॥१६॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शैर्निपतद्भिरजिह्मगैः।
दितिजैर्वध्यमानास्ते वित्रेसुः सुरसत्तमाः ॥ १७ ॥

जिनका स्पर्श इन्द्रके वज्रकी भाँति दुःसह था, उन सीधे जानेवाले बाणोंके प्रहारसे दैत्योंद्वारा पीड़ित किये गये वे श्रेष्ठ देवता अत्यन्त भयभीत हो गये ॥ १७ ॥

एकचक्रो रथे तिष्ठन्नपश्यद् गजयूथपान्।
वराभरणनिर्ह्रादान् समुद्रस्वननिःस्वनान् ॥ १८ ॥
मत्तान् सुविहितान् दृप्तान् महामात्रैरधिष्ठितान्।
कुलीनान् वीर्यसम्पन्नान् प्रतिद्विरदघातिनः ॥ १९ ॥
शिक्षितान् गजशिक्षायामैरावतसमान् युधि।
न्यहनत् सुरसैन्यस्य गजान् गज इवासुरः ॥ २० ॥

एकचक्रने रथमें बैठे हुए ही देखा कि देवताओंके गजयूथपति चले आ रहे हैं, उनके श्रेष्ठ आभूषणोंकी झंकार सुनायी पड़ती है। उनके चिग्घाड़नेका शब्द समुद्रकी गर्जनाको लज्जित करता है। वे मतवाले और बलाभिमानी गजराज अच्छी तरह सजाये गये हैं; उनके ऊपर महावत बैठे हैं। वे उत्तम कुलमें उत्पन्न तथा बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं और प्रतिद्वन्द्वी हाथियोंको मार डालनेकी शक्ति रखते हैं। गज-शिक्षामें पूर्णतः शिक्षित हैं तथा युद्धमें ऐरावतके समान पराक्रमी हैं। तब उसने गजासुरके समान देवसेनाके उन हाथियोंको मार डाला ॥ १८–२० ॥

विक्षरन्तो महानागान् भीमवेगांस्त्रिधा मदम्।
मेघस्तनितनिर्घोषान् महाद्रीनिव चोत्थितान् ॥ २१ ॥

वे सब विशालकाय हाथी कण्ठ, सूँड और कुम्भस्थल—इन तीन स्थानोंसे मद बहा रहे थे; उनका वेग बड़ा भयंकर था। वे मेघकी गर्जनाके समान चिग्घाड़ते थे और खड़े विशाल पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे ॥ २१ ॥

सहस्रसम्मितान् दिव्याञ्जाम्बूनदपरिष्कृतान्।
सुवर्णजालैर्विततांस्तरुणादित्यवर्चसः ॥ २२ ॥

उन दिव्य हाथियोंकी संख्या लगभग एक सहस्र थी। वे सब-के-सब सुवर्णके अलंकारोंसे विभूषित थे। उनपर सोनेकी

जालियोंसे युक्त झूलें पड़ी हुई थीं तथा वे प्रातःकालके सूर्यके समान दीप्तिमान् दिखायी देते थे ॥ २२ ॥

एकचक्रो गदापाणिर्बलवान् गदिनां वरः ।
उत्सारयामास गजान् महाभ्राणीव मारुतः ॥ २३ ॥

हाथमें गदा लिये गदाधारियोंमें श्रेष्ठ बलवान् एकचक्रने उन समस्त गजराजोंका उसी प्रकार संहार कर डाला, जैसे वायु महान् मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥ २३ ॥

निहत्य गदया सर्वांस्तान् गजान् गजमर्दनः ।
भूयोऽश्वसंघान् स बली निरैक्षत महासुरः ॥ २४ ॥

गजोंका मर्दन करनेवाले उस महान् बलवान् असुरने अपनी गदाके द्वारा उन समस्त हाथियोंको मौतके घाट उतारकर पुनः अश्वसमूहोंपर दृष्टिपात किया ॥ २४ ॥

शुकवर्णानृष्यवर्णान् मयूरसदृशांस्तथा ।
पारावतसवर्णांश्च हंसवर्णांस्तथैव च ॥ २५ ॥

कुछ घोड़ोंके रंग तोतोंके समान हरे थे; कुछ मृगके समान धूसर वर्णवाले थे । कितने ही घोड़ोंके रंग मोरोंके समान थे; कितने ही कबूतरों और हंसोंके समान वर्णसे विभूषित थे ॥ २५ ॥

मल्लिकाक्षान् विरूपाक्षान् क्रौञ्चवर्णान् मनोजवान् ।
अश्वसैन्यं महाबाहुस्तदप्रतिमपौरुषः ।
निषूदयामास बली गदया भीमविक्रमः ॥ २६ ॥

किन्हींकी आँखें मल्लिकाके समान थीं और किन्हींकी विरूप । कुछ घोड़ोंके वर्ण क्रौञ्च पक्षीके समान थे । वे सभी मनके समान वेगशाली थे । अनुपम पुरुषार्थ और भयंकर पराक्रमसे युक्त बलवान् महाबाहु एकचक्रने पूर्वोक्त अश्वोंकी सेनाको अपनी गदाके आघातसे नष्ट कर दिया ॥ २६ ॥

रणाजिर्व्यस्य समरे सर्वान् दृष्ट्वा सुरद्विपः ।
अचिन्त्यविक्रमः श्रीमान् स युद्धाद् विरराम ह ॥२७॥

अचिन्त्यपराक्रमी श्रीमान् रणाजि उस समरमें समस्त देवद्रोहियोंको उपस्थित देख उन सबको त्यागकर युद्धसे विरत हो गये ॥ २७ ॥

गदायुद्धेषु कुशलो रथेन रथयूथपः ।
नष्टसैन्यो महाबाहुः प्रस्थितः शक्रसंनिधौ ॥ २८ ॥

गदायुद्धमें कुशल तथा रथ-यूथपति महाबाहु रणाजि, जिनकी सेना प्रायः नष्ट हो गयी थी, रथके द्वारा इन्द्रके समीप चले गये ॥ २८ ॥

त्रिंशच्छतसहस्राणि रथानां विनिहत्य सः ।
रणेऽतिष्ठत दैत्येन्द्रो विधूम इव पावकः ॥ २९ ॥

दैत्यराज एकचक्र वहाँ तीस लाख रथियोंका संहार करके रणभूमिमें धूमरहित अग्निके समान स्थित हो गया ॥ २९ ॥

तस्मिन्नेव तु संग्रामे बलो दृप्तो महासुरः ।
मृगव्याधं महात्मानं योधयत्यजितं रणे ॥ ३० ॥

उसी युद्धमें महान् असुर बल, जिसे अपने बलपर घमंड था, अपराजित महात्मा मृगव्याध (रुद्र) के साथ युद्ध करने लगा ॥ ३० ॥

मृगव्याधस्य रुद्रस्य महापारिषदास्तथा ।
समुत्पेतुर्बलं दृष्ट्वा हुताग्निसमतेजसः ॥ ३१ ॥

मृगव्याध नामक रुद्रदेवके महान् पार्षद घीकी आहुति पाकर प्रज्वलित हुए अग्निके समान तेजस्वी थे । वे बलको देखते ही वहाँ उछलते-कूदते हुए आ पहुँचे ॥ ३१ ॥

गजैर्मत्तै रथैर्दिव्यैर्वाजिभिश्च महाजवैः ।
अस्त्रैश्च निशितैर्बाणैः शरैश्चानलसंनिभैः ॥ ३२ ॥

कुछ पार्षद मतवाले हाथियोंसे, कुछ दिव्य रथोंसे और कुछ महान् वेगशाली घोड़ोंसे आये । वे सब-के-सब अग्निके समान तेजस्वी, तीखे अस्त्र एवं बाणोंसे सम्पन्न थे ॥ ३२ ॥

ददृशुस्ते ततो वीरा दीप्यमानं महासुरम् ।
रश्मिवन्तमिवोद्यन्तं सुतेजोरश्मिमालिनम् ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् उन वीरोंने उस महान् असुरको उगते हुए सूर्यके समान तेजोमयी किरणमालाओंसे अलंकृत एवं देदीप्यमान देखा ॥ ३३ ॥

संग्रामस्थं महावेगं महासत्त्वं महाबलम् ।
महामतिं महोत्साहं महाकायं महारथम् ॥ ३४ ॥
समीक्ष्य तं महायोधं दिक्षु सर्वास्ववस्थितम् ।
ततः प्रहरणैर्घोरैरभिपेतुः समन्ततः ॥ ३५ ॥

युद्धस्थलमें खड़े हुए उस महान् वेग, महान् सत्त्व, महान् बल, महती बुद्धि, महान् उत्साह और विशाल कायासे सम्पन्न महारथी महायोद्धाको सम्पूर्ण दिशाओंमें अवस्थित देख वे रुद्रपार्षद घोर अस्त्र-शस्त्र लिये चारों ओरसे उसपर टूट पड़े ॥ ३४-३५ ॥

तस्य सर्वायसास्तीक्ष्णाः शराः पीतमुखाः शिताः ।
शिरस्यद्रिप्रतीकाशे मृगव्याधेन पातिताः ॥ ३६ ॥

मृगव्याधने उसके पर्वत-सदृश मस्तकपर पूर्णतः लोहेके बने हुए तीखे और तेज धारवाले बाण बरसाये । जिनके मुख (धार) पर पानी चढ़ाया गया था ॥ ३६ ॥

तैश्च सप्तभिराविष्टः शरैः शिरसि चार्पितैः ।
उत्पपात तदा व्योम्नि दिशो दश विनादयन् ॥ ३७ ॥

मृगव्याधके वे सात बाण उसके सिरमें धँस गये । उन बाणोंसे आविष्ट होकर महान् असुर बल अपने चीत्कारसे दसों दिशाओंको निनादित करता हुआ आकाशमें उड़ गया ।३७।

ततस्तं त्रिदशो वीरः सरथः सज्जकार्मुकः ।
अनुवव्राज संहृष्टः खे तदा स महाबलः ॥ ३८ ॥

तब उन देववीर महाबली मृगव्याधने रथ और धनुष-सहित बड़े हर्षके साथ आकाशमें उस समय उस दानवका पीछा किया ॥ ३८ ॥

असुरं छादयामास तं व्योम्नि शरवृष्टिभिः ।
वृष्टिमानिव जीमूतो निदाघान्ते धराधरम् ॥ ३९ ॥

जैसे वर्षाकालमें पानी बरसानेके लिये उद्यत हुआ मेघ पर्वतको अपनी जलधाराओंसे ढक देता है, उसी प्रकार मृगव्याधने आकाशमें अपने बाणोंकी वर्षासे उस असुरको आच्छादित कर दिया ॥ ३९ ॥

अर्द्यमानस्ततस्तेन मृगव्याधेन दानवः ।
चकार निनदं घोरमम्बरे जलदो यथा ॥ ४० ॥

मृगव्याधसे पीड़ित किये जानेपर उस दानवने आकाशमें ही मेघकी भाँति घोर गर्जना की ॥ ४० ॥

स दूरं सहसोत्पत्य मृगव्याधरथं प्रति ।
निपपात महावेगः पक्षवातैर्गिरिर्यथा ॥ ४१ ॥

तदनन्तर वह महान् वेगशाली दानव सहसा दूरतक उछलकर मृगव्याधके रथपर पाँखोंकी हवासे युक्त पर्वतकी भाँति कूद पड़ा ॥ ४१ ॥

बभञ्ज च ततो दैत्यो भग्नेषाकूबरं रथम् ।
मृगव्याधः परित्यज्य स्थितो भूमौ महाबलः ॥ ४२ ॥

ऐसा करके उस दैत्यने उस रथके ईषादण्ड और कूबरको तोड़ दिया तथा उस रथको भी चौपट कर दिया। महाबली मृगव्याध वह रथ त्यागकर पृथ्वीपर खड़े हो गये ॥

विरथं प्रेक्ष्य रुद्रं तु तस्य पारिषदाः शुभाः ।
उत्थिता घोररक्ताक्षा व्योम्नि मुद्गरपाणयः ॥ ४३ ॥

रुद्रको रथहीन हुआ देख उनके शुभ पार्षद आकाशमें मुद्गर लिये खड़े हो गये। उनकी भयंकर आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं ॥ ४३ ॥

स तु तैः सहसोत्थाय वेष्टितो विमलेऽम्बरे ।
मुद्गरैरर्दितो भीमैर्वृक्षः परशुभिर्यथा ॥ ४४ ॥

उन सबने सहसा ऊपर उठकर निर्मल आकाशमें बलासुरको घेर लिया और जैसे फरसोंसे वृक्ष काटा जाता है, उसी प्रकार भयंकर मुद्गरोंसे उसे पीड़ित करना आरम्भ किया॥

तेषां वेगवतां वेगं निहत्य स महारथः ।
निपपात पुनर्भूमौ सुपर्णसमविक्रमः ॥ ४५ ॥

परंतु वह महारथी बल गरुड़के समान पराक्रमी था। वह उन वेगवानोंका वेग नष्ट करके पुनः पृथ्वीपर कूद पड़ा ॥

स शालवृक्षमुत्पाट्य महाशाखं महाबलः ।
सर्वान् पारिषदान् संख्ये सूदयामास दानवः ॥ ४६ ॥

वहाँ विशाल शाखावाले एक शाल वृक्षको उखाड़कर उस महाबली दानवने युद्धस्थलमें उन समस्त पार्षदोंपर उसका प्रहार किया ॥ ४६ ॥

स तैर्विक्षतदेहस्तु रुधिरौघपरिप्लुतः ।
शुशुभे दानवश्रेष्ठो बालसूर्य इवोदितः ॥ ४७ ॥

उन पार्षदोंने बलके शरीरको क्षत-विक्षत कर दिया था, अतः खूनसे लथपथ हुआ दानवशिरोमणि बल उगे हुए बालसूर्यके समान शोभा पाने लगा ॥ ४७ ॥

अथोत्पाट्य गिरेः शृङ्गं समृगव्यालपादपम् ।
जघान तान् पारिषदान् समरे दानवेश्वरः ॥ ४८ ॥

तदनन्तर मृगों, सर्पों और वृक्षोंसहित एक पर्वतशिखरको उखाड़कर दानवराज बलने समराङ्गणमें उन पार्षदोंपर आघात किया ॥ ४८ ॥

ततस्तेषु च भग्नेषु महापारिषदेषु वै ।
बलं तदवशेषं तु नाशयामास वीर्यवान् ॥ ४९ ॥

तत्पश्चात् उन महान् पार्षदोंके व्यूह टूट जानेपर उस पराक्रमी असुरने शेष सेनाका नाश कर दिया ॥ ४९ ॥

अश्वैरश्वान् गजैर्नागान् योधान् योधै रथान् रथैः।
दानवः सूदयामास युगान्तेऽन्तकवत् प्रजाः ॥ ५० ॥

जैसे प्रलयकालमें संवर्तक यम सारी प्रजाका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार उस दानवने घोड़ोंसे घोड़ोंको, हाथियोंसे हाथियोंको, पैदल योद्धाओंसे पैदल योद्धाओंको तथा रथोंसे रथोंको नष्ट कर दिया ॥ ५० ॥

हतैरश्वैश्च नागैश्च भग्नाक्षैश्च महारथैः ।
त्रिदशैश्चाभवद् भूमी रुद्धमार्गा समन्ततः ॥ ५१ ॥

वहाँ मारे गये घोड़ों, हाथियों, टूटे धुरेवाले विशाल रथों और देवताओंसे वहाँकी भूमिका मार्ग सब ओरसे अवरुद्ध हो गया था ॥ ५१ ॥

एवं बलः स दैत्येन्द्रो मृगव्याधश्च वीर्यवान् ।
युधि प्रवृद्धौ बलिनौ प्रभिन्नाविव वारणौ ॥ ५२ ॥

इस प्रकार दैत्यराज बल और पराक्रमी मृगव्याध दोनों बलवान् वीर मदकी धारा बहानेवाले हाथियोंके समान युद्धमें बढ़े-चढ़े थे ॥ ५२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत्रैव युध्यते रुद्रो द्वितीयो राहुणा सह ।
विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु क्रोधात्मा ह्यज एकपात् ॥ ५३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वहीं तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध क्रोधात्मा अजैकपात् नामक द्वितीय रुद्र राहुके साथ युद्ध करते थे ॥ ५३ ॥

तद् यथा सुमहद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
आसीत् प्रतिभयं रौद्रं वीराणां जयमिच्छताम्॥ ५४ ॥

विजयकी इच्छा रखनेवाले वीरोंका वह महान् युद्ध तुमुल, रोमाञ्चकारी, भयानक तथा रौद्ररूप था ॥ ५४ ॥

देवदानवदेहैस्तु दुस्तरा केशशाद्वला ।
शरीरसंघातवहा प्रसृता लोहितापगा ॥ ५५ ॥

देवताओं और दानवोंके शरीरोंसे वहाँ खूनकी एक दुस्तर नदी बह चली, जो विभिन्न शरीरसमूहोंको बहाये लिये जाती थी। मनुष्योंके केश उसमें घास और सेवारके समान जान पड़ते थे ॥ ५५ ॥

आजघानाथ संक्रुद्धो रुद्रो रौद्राकृतिः प्रभुः ।
राहुं शतमुखं युद्धे शत्रुसैन्यनिवारणम् ॥ ५६ ॥

प्रभावशाली रुद्रदेवकी आकृति बड़ी ही रौद्र थी। उन्होंने कुपित होकर युद्धमें शत्रुसेनाका निवारण करनेवाले शतमुख राहुपर गहरा आघात किया ॥ ५६ ॥

तस्य काञ्चनविश्राङ्गं रथं साश्वं ससारथिम्।
जघान समरे श्रीमान् क्रुद्धो दैत्यस्य सायकैः ॥ ५७ ॥

क्रोधमें भरे हुए श्रीमान् रुद्रदेवने समरभूमिमें अपने सायकोंद्वारा उस दैत्यके सुवर्णमय विचित्र अङ्गवाले रथको घोड़ों और सारथिसहित नष्ट कर दिया ॥ ५७ ॥

तस्य पारिषदस्त्वेकः शरशक्त्या महाबलः।
बिभेद समरे हृष्टो दानवं तं स्तनान्तरे ॥ ५८ ॥

उनके हर्ष और उत्साहमें भरे हुए एक महाबली पार्षदने समरमें बाणोंकी शक्तिसे उस दानवकी छातीमें घाव कर दिया ॥ ५८ ॥

स भिन्नगात्रो रुद्रेण तथा पारिषदैरपि।
रुद्रस्य रथमायान्तं स राहुर्दानवोत्तमः ॥ ५९ ॥
प्रममाथ तलेनाशु सहसा क्रोधमूर्च्छितः।
भिन्नगात्रं शरैस्तीक्ष्णैर्मेरुं सूर्य इवांशुभिः ॥ ६० ॥

रुद्र तथा उनके पार्षदोंसे शरीरके क्षत-विक्षत कर दिये जानेपर दानवशिरोमणि राहु सहसा क्रोधसे मूर्च्छित हो गया। उसने रुद्रदेवके आते हुए रथको शीघ्रतापूर्वक थप्पड़से मारकर चूर-चूर कर डाला। जैसे सूर्य अपनी तीखी किरणोंसे मेरु-पर्वतको संतप्त करते हैं; उसी प्रकार वह दानव घायल अङ्गोंवाले रुद्रदेवको अपने तीखे बाणोंसे पीड़ा देने लगा ॥

हतैर्दानवमुख्यैस्तु रुद्रेणामिततेजसा।
रुद्रपारिषदान् सर्वान् निजघान महासुरः ॥ ६१ ॥

जब अमिततेजस्वी रुद्रदेवके द्वारा मुख्य-मुख्य दानव मारे गये, तब महान् असुर राहुने रुद्रदेवके समस्त पार्षदोंको भी मारना आरम्भ किया ॥ ६१ ॥

सृजन्तं शरवर्षाणि दानवं घोरदर्शनम्।
बिभेद समरे रुद्रो बाणैः संनतपर्वभिः ॥ ६२ ॥

बाणोंकी वर्षा करते हुए उस घोर दृष्टिवाले दानवको रुद्रदेवने युद्धस्थलमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ६२ ॥

वर्तमाने महाघोरे संग्रामे लोमहर्षणे।
रुधिरौघा महावेगा महानद्यः प्रसुस्रुवुः ॥ ६३ ॥

उस रोमाञ्चकारी महाघोर संग्रामके होते समय वहाँ रक्तके प्रवाहसे युक्त महावेगशालिनी बड़ी-बड़ी नदियाँ बहने लगीं ॥ ६३ ॥

दानवं समरे रुद्रो नीलाञ्जनचयोपमम्।
निर्बिभेद शरैस्तीक्ष्णैर्मेरुं सूर्य इवांशुभिः ॥ ६४ ॥

रुद्रदेवने समरभूमिमें काले कोयलेकी राशिके समान कान्तिवाले दानव राहुको अपने तीखे बाणोंसे उसी प्रकार क्षत-विक्षत कर दिया, जैसे सूर्य अपनी प्रखर किरणोंसे मेरु पर्वतको संतप्त करते हैं ॥ ६४ ॥

हतैर्दानवमुख्यैश्च शक्तिशूलपरश्वधैः।
पतितैः पर्वताभैश्च दानवैः कामरूपिभिः ॥ ६५ ॥
वर्तमाने महाघोरे संग्रामे लोमहर्षणे।
विरेजुस्ते तदा दैत्याः पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ ६६ ॥

शक्ति, शूल और फरसोंकी मारसे जब इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले पर्वताकार मुख्य-मुख्य दानव मरकर धराशायी हो गये और वह महाघोर रोमाञ्चकारी संग्राम चालू ही रह गया, तब उसमें घायल हुए दैत्य फूले हुए पलास वृक्षके समान शोभा पाने लगे ॥ ६५-६६ ॥

महाभेरीमृदङ्गानां पणवानां च निःस्वनः।
शङ्खवेणुस्वनोन्मिश्रः सम्बभूवाद्भुतोपमः ॥ ६७ ॥

उस समय महाभेरी, मृदङ्ग तथा पणवोंका गम्भीर नाद जब शङ्ख और वेणुकी ध्वनिसे मिल गया, तब अद्भुत-सा ही प्रतीत होने लगा ॥ ६७ ॥

हतानां स्वनतां तत्र दैत्यानां चापि निःस्वनः।
देवानां च तथा तत्र शुश्रुवे दारुणो महान् ॥ ६८ ॥

वहाँ आहत होकर आर्तनाद करते हुए दैत्यों तथा देवताओंका अत्यन्त दारुण शब्द सुनायी दे रहा था ॥ ६८ ॥

तुरङ्गमखुरोत्कीर्णं रथनेमिसमुत्थितम्।
रुरोध मार्गं योधानां चक्षूंषि च धरारजः ॥ ६९ ॥

घोड़ोंके टापों तथा रथके पहियोंसे उठी हुई धरतीकी धूलने वहाँ जूझते हुए योद्धाओंके मार्ग तथा नेत्रोंको अवरुद्ध कर दिया ॥ ६९ ॥

शस्त्रपुष्पोपहारा सा तत्रासीद् युद्धमेदिनी।
दुर्दर्शा दुर्विगाह्या च मांसशोणितकर्दमा ॥ ७० ॥

वहाँ रणभूमिको अस्त्र-शस्त्ररूपी पुष्पोंका उपहार अर्पित हो रहा था। उसमें मांस और रक्तकी ऐसी कीच जम गयी थी कि उसकी ओर देखना कठिन हो गया था और उसमें प्रवेश करना या चलना-फिरना तो और भी कठिन था ॥ ७० ॥

भग्नैः खड्गैर्गदाभिश्च शक्तितोमरपट्टिशैः।
अपविद्धैश्च भग्नैश्च रथैः सांग्रामिकैर्हतैः ॥ ७१ ॥
निहतैः कुञ्जरैर्मत्तैस्तथा त्रिदशदानवैः।
चक्राक्षयुगशल्यैश्च भग्नैरवनिपातितैः ॥ ७२ ॥
बभूवायोधनं घोरं पिशिताशनसंकुलम्।
उत्पेतुश्च कबन्धानि दिक्षु सर्वासु संयुगे ॥ ७३ ॥

टूटी हुई तलवारों, गदाओं, शक्ति, तोमर और पट्टिशों, टूटे-फूटे होनेके कारण फेंके गये रथों, नष्ट हुए युद्धसम्बन्धी उपकरणों, मारे गये मतवाले हाथियों तथा देवताओं और दानवों, खण्डित होकर पृथ्वीपर पड़े हुए पहियों, धुरों, जूओं और शल्योंसे भरा हुआ वह भयंकर युद्धक्षेत्र मांसाहारी

जन्तुओंसे व्याप्त हो रहा था। उस समराङ्गणमें चारों ओर कबन्ध (बिना सिरके धड़) उछल रहे थे ॥ ७१–७३ ॥

अन्योन्यबद्धवैराणां दैत्यानां जयगृद्धिनाम्।
सम्प्रहारस्तथा युद्धे वर्ततेऽतिभयंकरः ॥ ७४ ॥

विजयकी अभिलाषा रखनेवाले देवता और दैत्य परस्पर वैर बाँधकर लड़ते थे। उस युद्धमें एक दूसरेके प्रति होनेवाला उनका प्रहार बड़ा भयंकर था ॥ ७४ ॥

सैन्यानां सम्प्रयुद्धानां शूराणामनिवर्तिनाम्।
अजस्य चैकपादस्य राहोश्चैव महात्मनः ॥ ७५ ॥
तेषां तु तत्र पततां क्रुद्धानामतिनिःस्वनः।
उद्वर्त इव भूतानां समुद्राणां तु शुश्रुवे ॥ ७६ ॥

उस युद्धमें सम्मिलित हुए शूरवीर सैनिक पीछे हटनेवाले नहीं थे। महात्मा अजैकपाद् तथा महामनस्वी राहुकी भी यही स्थिति थी। वे सब क्रोधमें भरकर जब वहाँ एक दूसरेपर आक्रमण करते थे, उस समय उनका अत्यन्त घोर कोलाहल प्रलयकालमें प्राणियोंके भीषण आर्तनाद तथा समुद्रोंके महान् गर्जनकी भाँति सुनायी पड़ता था ॥७५-७६॥

तत्रैकस्तु सुधूम्राक्षः श्रीमान् रुद्रो मुनीश्वरः।
बिभेद केशिनं शक्त्या गदापरिघशूलभृत् ॥ ७७ ॥

वहाँ एक तेजस्वी रुद्र सुधूम्राक्ष नामसे प्रसिद्ध एवं मुनीश्वर थे। वे शक्तिके साथ ही गदा, परिघ और शूल धारण करते थे। उन्होंने शक्तिके द्वारा केशीको घायल कर दिया ॥ ७७ ॥

नानाप्रहरणा घोरा भीमाक्षा भीमविक्रमाः।
निष्पेतू रुद्रदयिता महापारिषदास्तथा ॥ ७८ ॥

उस समय नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले, भयानक नेत्रवाले, भयंकर पराक्रमी तथा रुद्रदेवके प्रिय घोर महापार्षद वहाँ आ पहुँचे ॥ ७८ ॥

रथमास्थाय च श्रीमांस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः।
दानवैः संवृतः केशी युध्यते युद्धदुर्जयैः ॥ ७९ ॥

केशी नामक दैत्य तपाये हुए सुवर्णके कुण्डलोंसे अलंकृत और उत्तम शोभासे सम्पन्न था। वह रणदुर्जय दानवोंसे घिरा हुआ रथपर आरूढ़ होकर युद्ध करता था ॥ ७९ ॥

तस्य संग्रामशौण्डस्य संग्रामेषु युयुत्सतः।
निपेतुरुग्रवीर्यस्य ज्वाला हि प्रसृता मुखात् ॥ ८० ॥

वह संग्राममें कुशल और उग्र बल-पराक्रमसे सम्पन्न था। जिस समय वह युद्धमें प्रवृत्त होता था, उस समय उसके मुखसे ज्वालाएँ प्रकट होकर फैलने लगती थीं ॥ ८० ॥

स तु सिंहर्षभस्कन्धः शार्दूलसमविक्रमः।
महाजलदसंकाशो मृदङ्गध्वनिनिःस्वनः ॥ ८१ ॥

उसके कंधे सिंह और बैलोंके समान थे। उसका पराक्रम भी सिंहके ही समान था। उसका सिंहनाद महामेघोंकी गम्भीर गर्जना और मृदङ्गोंकी ध्वनिके समान होता था ॥

तस्य निष्पतमानस्य दानवैः संवृतस्य च।
बभूव सुमहानादः क्षोभयंस्त्रिदिवं यथा ॥ ८२ ॥

दानवोंसे घिरा हुआ वह दैत्य जब युद्धभूमिमें कूदा था, उस समय जो उसका महान् सिंहनाद हुआ, वह स्वर्गलोकको क्षोभमें डालनेवाला था ॥ ८२ ॥

तेन शब्देन वित्रस्ता त्रिदशानां महाचमूः।
द्रुमशैलप्रहरणा योद्धुमेवाभ्यवर्तत ॥ ८३ ॥

उसकी उस गर्जनासे देवताओंकी विशाल सेना संत्रस्त हो उठी तो भी वृक्षों तथा पर्वतखण्डोंका प्रहार करती हुई युद्ध करनेके लिये ही सामने आकर डट गयी ॥ ८३ ॥

तेषां च देवदैत्यानां युयुत्सूनां परस्परम्।
संनिपातः सुतुमुलो रौद्रो लोकभयावहः ॥ ८४ ॥

परस्पर जूझनेकी इच्छावाले देवताओं और दैत्योंका वह घमासान युद्ध बड़ा ही रौद्र तथा जगत्‌को भय देनेवाला था ॥

तेषां युद्धं महाघोरं संजज्ञे लोमहर्षणम्।
देवदानवसंघानां प्राणांस्त्यक्त्वा महाहवे ॥ ८५ ॥

देवताओं और दानवोंके समुदायोंका वह महाघोर युद्ध प्राणोंका मोह छोड़कर हो रहा था। उस महासमरमें उस युद्धका वह दृश्य बड़ा ही रोमाञ्चकारी था ॥ ८५ ॥

सर्वे ह्यतिबलाः शूराः सर्वे पर्वतसंनिभाः।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसः सर्वे सर्वायुधोद्यताः।
त्रिदशा दानवाश्चैव परस्परजिघांसवः ॥ ८६ ॥

वे सभी शूरवीर, अत्यन्त बलशाली तथा पर्वतके समान विशालकाय थे। सभी सम्पूर्ण अस्त्रोंके विद्वान् थे और सभी सब प्रकारके अस्त्रोंसे सम्पन्न हो युद्धके लिये उद्यत हुए थे। वे देवता और दानव दोनों ही एक दूसरेके वधकी इच्छा रखते थे ॥ ८६ ॥

तेषां वै नदतां शब्दः संयुगे मेघनिःस्वनः।
शुश्रुवेऽतिमहाघोरश्चरस्थावरकम्पनः ॥ ८७ ॥

युद्धस्थलमें गर्जना करते हुए उन समस्त योद्धाओंका शब्द महान् मेघोंकी गर्जनाके समान सुनायी पड़ता था। वह महाघोर शब्द स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंको कम्पित कर देनेवाला था ॥ ८७ ॥

रेणुश्चारुणसंकाशो भीमः स समपद्यत।
उद्धूतो देवदैत्यौघैः संरुरोध दिशो दश ॥ ८८ ॥

देवताओं और दैत्योंके समूहोद्वारा उड़ायी गयी लाल रंगकी धूल वहाँ सब ओर फैल गयी। वह बड़ी भयंकर जान पड़ती थी। उसने दसों दिशाओंको अवरुद्ध कर दिया ॥८८॥

अन्योन्यं रजसा तेन कौशेयारुणपाण्डुना।
संवृता बहुरूपेण ददृशुर्न च किंचन ॥ ८९ ॥

लाल, पीली और सफेद बहुरंगी धूलसे परस्पर आच्छादित हुए सैनिक कोई भी वस्तु नहीं देख पाते थे ॥ ८९ ॥

न ध्वजो न पताकाश्च न वर्म तुरगोऽपि वा ।
आयुधं स्यन्दनो वापि दृश्यते नैव सारथिः ॥ ९० ॥

उस समय न ध्वजा दिखायी देती थी न पताका, न द॰॰॰त्र सूझता था न घोड़ा। अस्त्र-शस्त्र, रथ अथवा सारथि कोई भी दृष्टिगोचर नहीं होता था ॥ ९० ॥

स शब्दस्तुमुलस्तेषामन्योन्यमभिधावताम् ।
श्रूयते तुमुलः शब्दो न रूपाणि चकाशिरे ॥ ९१ ॥

एक दूसरेके सम्मुख धावा करनेवाले उन योद्धाओंका भयंकर शब्द सब ओर गूँजने लगा। उनका वह तुमुलनाद तो सुनायी देता था, किंतु धूलके कारण किसीके रूप नहीं सूझते थे ॥ ९१ ॥

दानवास्तत्र संक्रुद्धा दानवानेव जघ्निरे।
त्रिदशास्त्रिदशांश्चैव निजघ्नुस्तुमुले तदा ॥ ९२ ॥

वहाँ उस तुमुल युद्धमें क्रोधमें भरे हुए दानव दानवोंपर ही प्रहार कर बैठे तथा देवता देवताओंको ही मारने लगे ॥

ते परांश्च विनिघ्नन्तः स्वांश्च युद्धे महासुरान्।
रुधिरार्द्रां तथा चक्रुर्मेदिनीमसुराः सुराः ॥ ९३ ॥

वे देवता और असुर उस युद्धमें शत्रुपक्षके तथा अपने पक्षके भी बड़े-बड़े देवताओं और असुरोंका संहार करने लगे। उन दोनों पक्षोंके योद्धाओंने पृथ्वीको रक्तसे गीली कर दिया ॥ ९३ ॥

ततस्तु रुधिरौघेण संसिक्तमुदितं रजः।
शरीरशतसंकीर्णं बभूव धरणीतलम् ॥ ९४ ॥

तदनन्तर वह उड़ती हुई धूल रक्तके प्रवाहसे भी भींगकर बैठ गयी, वहाँका धरातल सैकड़ों लाशोंसे व्याप्त हो रहा था ॥ ९४ ॥

शूलशक्तिगदाखड्गपरिघप्रासतोमरैः ।
त्रिदशा दानवाश्चैव जघ्नुरन्योन्यमाहवे ॥ ९५ ॥

देवता और दानव युद्धमें परस्पर शूल, शक्ति, गदा, खड्ग, परिघ, प्रास और तोमरोंद्वारा प्रहार करते थे ॥ ९५ ॥

बाहुभिः परिघाकारैर्निघ्नतः परिघैस्तथा।
रुद्रपारिषदान् सर्वान् सूदयन्ति स्म दानवाः ॥ ९६ ॥

परिघतुल्य भुजाओं तथा परिघोंसे प्रहार करनेवाले समस्त रुद्रगणोंपर दानव भी अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा आघात करते थे ॥९६॥

रुद्रपारिषदाश्चैव महाद्रुममहाश्मभिः ।
व्यदारयन्नतिक्रम्य शस्त्रैश्चादित्यसंनिभैः ॥ ९७ ॥

रुद्रके पार्षद भी बड़े-बड़े वृक्षों, विशाल प्रस्तरखण्डों तथा सूर्यतुल्य तेजस्वी शस्त्रोंद्वारा आगे बढ़कर दानवोंको विदीर्ण करने लगे ॥ ९७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धः केशी दानवसत्तमः।
संग्रामामर्षघोरः सन् स्वान्यनीकानि हर्षयन्।
तेषां परमसंक्रुद्धो वज्रमस्त्रमुदीरयत् ॥ ९८ ॥

इसी बीचमें कुपित हुआ दानवशिरोमणि केशी संग्राममें अमर्षके कारण घोर रूप धारण करके अपने सैनिकोंका हर्ष बढ़ाने लगा। उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उन रुद्रपार्षदोंपर वज्रास्त्रका प्रयोग किया ॥ ९८ ॥

वज्रेणास्त्रेण दिव्येन शस्त्रेण च महात्मना ।
महापारिषदाः सर्वे निहता युधि दुर्जयाः ॥ ९९ ॥

उस महामनस्वी दैत्यने दिव्य आयुध वज्रास्त्रके द्वारा समस्त महापार्षदोंको, जो युद्धमें दुर्जय थे, मार गिराया ॥ ९९ ॥

वज्रास्त्रपीडिता भ्रान्ता रुद्रपारिषदा युधि।
विप्रकीर्णद्रुमाः पेतुः शैला वज्रहता इव ॥ १०० ॥

उस युद्धस्थलमें वज्रास्त्रसे पीड़ित हुए रुद्रपार्षद चक्कर काटने लगे और जिनके वृक्ष बिखरकर गिर पड़े थे, वज्रके मारे हुए उन पर्वतोंके समान धराशायी हो गये ॥ १०० ॥

एवं सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम्।
केशिनः सह रुद्रेण तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १०१ ॥

इस प्रकार केशीका रुद्रके साथ जो अत्यन्त भयंकर एवं रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ, वह अद्भुत-सा प्रतीत होता था ॥ १०१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे देवासुरयुद्धकेशिरुद्रयुद्धकथने अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें देवासुरसंग्रामके भीतर केशी और रुद्रके युद्धका वर्णनविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

वृषपर्वा और निष्कुम्भ नामक विश्वेदेवके तथा प्रह्राद और कालके घोर युद्धका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

वृषपर्वा तु दैत्येन्द्रो विश्वमद्भुतदर्शनम्।
निष्कुम्भं योधयामास लोहितार्कसमद्युतिम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दैत्यराज वृषपर्वाने अरुण-सूर्यके समान कान्तिमान् तथा अद्भुत दिखायी देनेवाले निष्कुम्भ नामक विश्वेदेवके साथ युद्ध किया॥

क्रोधमूर्च्छितवक्त्रस्तु धुन्वन् परमकार्मुकम् ।
धनूंषि प्रेक्ष्य शत्रूणां सारथिं त्वरितोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

उसकी मुखाकृति क्रोधसे व्याप्त थी। वह अपने उत्तम धनुषको बारंबार खींच रहा था। उसने शत्रुओंके धनुषोंको देखकर तुरंत अपने सारथिसे कहा—॥ २ ॥

अत्रैव तावत् त्वरितं नय मे सारथे रथम् ।
एते देवाश्च सहिता घ्नन्ति नः समरे बलम् ॥ ३ ॥

'सारथे! ये देवता एक साथ होकर समरभूमिमें हमारी सेनाका संहार करते हैं, अतः तुम मेरे रथको तुरंत पहले यहीं ले चलो ॥ ३ ॥

एतान् निहन्तुमिच्छामि समरश्लाघिनो रणे ।
एतैर्हि दानवानीकं कृतच्छिद्रमिदं महत् ॥ ४ ॥

'समरभूमिमें अपने बल-पौरुषकी प्रशंसा करनेवाले इन देवताओंका मैं युद्धमें वध करना चाहता हूँ; क्योंकि इन्होंने दानवसेनामें यह विशाल छिद्र उत्पन्न कर दिया है' ॥ ४ ॥

ततः प्रजविताश्वेन रथेन रथिनां वरः ।
अरीनभ्यहनत् क्रुद्धः शरजालैर्महासुरः ॥ ५ ॥

तदनन्तर वेगशाली घोड़ोंसे युक्त रथके द्वारा वहाँ उपस्थित हो रथियोंमें श्रेष्ठ महान् असुर वृषपर्वाने क्रोधपूर्वक शत्रुओंपर बाणसमूहोंद्वारा प्रहार आरम्भ किया ॥ ५ ॥

न स्थातुं देवताः शक्ताः किं पुनर्योद्धुमाहवे ।
वृषपर्वेषुनिर्भिन्नाः सर्वे एवाभिदुद्रुवुः ॥ ६ ॥

उस समय देवता उस युद्धस्थलमें खड़े भी न रह सके, फिर युद्ध करनेकी तो बात ही क्या है? वृषपर्वाके बाणोंसे विदीर्ण होकर सब-के-सब वहाँसे भाग चले ॥ ६ ॥

तान् मृत्युवशमापन्नान् वैवस्वतवशं गतान् ।
समीक्ष्य निहताञ्ज्ञातीनवतस्थे महासुरः ॥ ७ ॥

वहाँ मृत्युके वशमें पड़कर यमराजके अधीन हुए अपने मारे गये भाई-बन्धुओंको देखकर महान् असुर वृषपर्वा वहीं ठहर गया ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा तं तत्र निष्कुम्भं सर्वे ते त्रिदशोत्तमाः ।
समेत्य सहिताः सर्वे द्रुतं तं पर्यवारयन् ॥ ८ ॥

निष्कुम्भ नामक विश्वेदेवको वहाँ उपस्थित देख वे सभी देवशिरोमणि एकत्र होकर एक साथ वहाँ आये और सब-के-सब तुरंत उन्हें घेरकर खड़े हो गये ॥ ८ ॥

व्यवस्थितं तु निष्कुम्भं दृष्ट्वा त्रिदशसत्तमम् ।
बभूवुर्बलवन्तो वै तस्यास्त्रबलतेजसा ॥ ९ ॥

देवश्रेष्ठ निष्कुम्भको वहाँ डटा हुआ देख उनके अस्त्र-बल और तेजसे सभी देवता सबल हो गये ॥ ९ ॥

वृषपर्वा तु शैलाभं निष्कुम्भं समरे स्थितम् ।
महेन्द्र इव धाराभिः शरवर्षैरवाकिरत् ॥ १० ॥

पर्वताकार निष्कुम्भको समराङ्गणमें खड़ा देख वृषपर्वा उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगा; ठीक उसी तरह जैसे देवराज इन्द्र जलकी धाराओंसे पर्वतको आच्छादित करते हैं॥

अचिन्तयित्वा तु शराञ्छरीरे पतितान् बहून् ।
स्थितश्च प्रमुखे श्रीमान् ससैन्यः स महाबलः॥ ११ ॥

अपने शरीरपर पड़े हुए उन बहुसंख्यक बाणोंकी कोई परवा न करके महाबली श्रीमान् निष्कुम्भ युद्धके मुहानेपर सेनासहित डटे रहे ॥ ११ ॥

सम्प्रहस्य महातेजा वृषपर्वाणमाहवे ।
अभिदुद्राव वेगेन कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ १२ ॥
तस्य त्वाधावमानस्य दीप्यमानस्य तेजसा ।
बभूव रूपं दुर्धर्षं दीप्तस्येव विभावसोः ॥ १३ ॥

उन महातेजस्वी विश्वेदेवने युद्धक्षेत्रमें हँसकर पृथ्वीको कम्पित करते हुए-से बड़े वेगसे वृषपर्वापर आक्रमण किया। धावा करते समय वे तेजसे दीप्तिमान् हो रहे थे। उस समय उनका रूप प्रज्वलित अग्निके समान दुर्धर्ष हो रहा था॥

रथं त्यक्त्वा महातेजाः सक्रोधः समपद्यत ।
वृक्षमुत्पाटयामास महातालं महोच्छ्रयम् ॥ १४ ॥

वे महातेजस्वी निष्कुम्भ रथको त्यागकर अत्यन्त कुपित हो उठे; उन्होंने एक बहुत ऊँचे और विशाल तालवृक्षको उखाड़ लिया ॥ १४ ॥

ततश्चिक्षेप तं वृक्षं निष्कुम्भो वृषपर्वणः ।
तं गृहीत्वा महावृक्षं पाणिनैकेन दानवः ॥ १५ ॥
विनद्य सुमहानादं भ्रामयित्वा च वीर्यवान् ।
सगजान् सगजारोहान् सरथान् रथिनस्तथा ॥ १६ ॥
जघान दानवस्तेन शाखिना त्रिदशांस्तदा ।

तत्पश्चात् निष्कुम्भने वृषपर्वापर उस वृक्षको दे मारा; किंतु उस पराक्रमी दानवने एक ही हाथसे उस विशाल वृक्षको पकड़कर बड़े जोरसे सिंहनाद किया और उसे घुमाकर उसके द्वारा सवारोंसहित हाथियों; रथोंसहित रथियों एवं बहुत-से देवताओंको मार गिराया ॥ १५-१६½ ॥

तमन्तकमिव क्रुद्धं समरे प्राणहारिणम् ॥ १७ ॥
वृषपर्वाणमासाद्य त्रिदशा विप्रदुद्रुवुः ।

समरभूमिमें कुपित हुए प्राणहारी कालके समान वृषपर्वासे पाला पड़नेपर सब देवता भाग खड़े हुए ॥ १७½ ॥

तमापतन्तं संक्रुद्धं त्रिदशानां भयावहम् ॥ १८ ॥
आलोक्य धन्वी निष्कुम्भश्चुक्रोध च ननाद च ।

देवताओंको भय देनेवाले उस कुपित दानवको आक्रमण करते देख निष्कुम्भको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने धनुष लेकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ १८½ ॥

स तत्र निशितैर्बाणैस्त्रिंशद्भिर्मर्मभेदिभिः ॥ १९ ॥
निर्बिभेद महावीर्यो निष्कुम्भो दानवाधिपम् ।

उन महापराक्रमी निष्कुम्भने तेज धारवाले तीस मर्मभेदी बाणोंद्वारा दानवराज वृषपर्वाको घायल कर दिया ॥ १९½ ॥

शरशक्तिभिरुग्राभिर्दैत्यानामधिपोऽप्यमुम् ॥ २० ॥

विद्धः स रणमध्यस्थो रुधिरं प्रास्रवद् बहु ।

तब दैत्यराज वृषपर्वाने भी भयंकर बाणों और शक्तियों-द्वारा निष्कुम्भको घायल कर दिया । घायल होनेपर वे रण-भूमिमें खड़े-खड़े बहुत रक्त बहाने लगे ॥ २०½ ॥

उद्विग्ना मुक्तकेशास्ते भग्नदर्पाः पराजिताः ॥ २१ ॥
श्वसन्तो दुद्रुवुः सर्वे भयाद् वै वृषपर्वणः ।

फिर तो वृषपर्वाके भयसे उद्विग्न हो केश खोले दर्पहीन एवं पराजित हुए समस्त देवता लंबी साँस खींचते हुए वहाँसे भाग चले ॥ २१½ ॥

अन्योन्यं प्रममन्थुस्ते त्रासिता वृषपर्वणा ॥ २२ ॥
पृष्ठवक्त्राः सुसंविग्नाः प्रेक्षमाणा मुहुर्मुहुः ।
त्यक्तप्रहरणाः सर्वे कृतास्ते वृषपर्वणा ॥ २३ ॥
संग्रामे युद्धशौण्डेन तदा निष्कुम्भसैनिकाः ।

वृषपर्वासे डराये हुए देवता भागते समय एक दूसरेको कुचल डालते थे और भयभीत हो पीछेकी ओर मुँह फेरकर बारंबार देखते जाते थे । युद्धकुशल वृषपर्वाने उस समय संग्राममें निष्कुम्भके उन सब सैनिकोंको हथियार नीचे डालनेके लिये विवश कर दिया था ॥ २२-२३½ ॥

तत्रैव तु महावीर्यः प्रह्लादः कालमाहवे ॥ २४ ॥
योधयामास रक्ताक्षो हिरण्यकशिपोः सुतः ।

उसी युद्धमें लाल नेत्रवाले हिरण्यकशिपुकुमार महा-पराक्रमी प्रह्लाद कालके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ २४½ ॥

तस्य दानववीरस्य युद्धकाले जयक्रियाः ॥ २५ ॥
चकार त्वरया युक्तो भार्गवो विजयावहाः ।

उन दानववीर प्रह्लादके लिये युद्धकालमें विजय दिलाने-वाली सारी क्रियाएँ शुक्राचार्यने बड़ी शीघ्रताके साथ सम्पन्न की थीं ॥ २५½ ॥

हुताशनं तर्पयतो ब्राह्मणांश्च नमस्यतः ॥ २६ ॥
आज्यगन्धप्रतिवहो मारुतः सुरभिर्ववौ ।

उन्होंने अग्निको घीकी आहुतिसे तृप्त किया और ब्राह्मणोंको मस्तक झुकाया; उस समय उनके होमे हुए घृत-की सुगन्ध लेकर मन्द-मन्द सुगन्धित वायु चल रही थी ॥

स्रजश्च विविधाश्चित्रा जयार्थमभिमन्त्रिताः ॥ २७ ॥
प्रह्लादस्य शुभे मूर्ध्न्यावबन्धोशनाः स्वयम् ।

साक्षात् शुक्राचार्यने प्रह्लादके सुन्दर मस्तकपर विजयके लिये अभिमन्त्रित किये हुए नाना प्रकारके विचित्र पुष्पहार बाँधे थे ॥ २७½ ॥

कालेन सह संग्रामे प्रयुद्धस्य महात्मनः ॥ २८ ॥
प्रह्लादस्यातिवीर्यस्य शान्तिं चक्रे स भार्गवः ।

युद्धपरायण, अतिशय पराक्रमी, महात्मा प्रह्लादके कालके साथ होनेवाले संग्राममें भृगुनन्दन शुक्राचार्यने शान्तिकर्मका सम्पादन किया था ॥ २८½ ॥

दश शिष्यसहस्राणि भार्गवस्य महात्मनः ॥ २९ ॥
यानि दानववीराणां जेपुः शान्तिमनुत्तमाम् ।

महात्मा शुक्राचार्यके दस हजार शिष्य थे, जो दानववीरों-के लिये परम उत्तम सुख-शान्तिकी प्राप्तिके निमित्त जप करते थे ॥ २९½ ॥

अथर्वाणमथो दिव्यं ब्रह्मसंस्तवचोदितम् ॥ ३० ॥
रणप्रवेशसदृशं कर्म वैजयिकं कृतम् ।

उन्होंने दानवोंके लिये अथर्ववेदके अनुसार परमात्माकी स्तुतिसे युक्त और रणप्रवेशके अनुरूप विजयसाधक दिव्य-कर्मका भी अनुष्ठान किया था ॥ ३०½ ॥

ततः सर्वास्त्रविदुषः समरेष्वनिवर्तिनः ॥ ३१ ॥
विद्यया तपसा युक्ताः कृतस्वस्त्ययनक्रियाः ।
धनुर्हस्ताः कवचिनो वेगेनाप्लुत्य दानवाः ।
बलिमभ्यर्च्य राजानं प्रह्लादं पर्यवारयन् ॥ ३२ ॥

तदनन्तर सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता, युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले, विद्वान्, तपस्वी, स्वस्तिवाचन आदि माङ्गलिक कृत्यसे सम्पन्न, धनुर्धर तथा कवचधारी दानवोंने बड़े वेगसे उछलकर राजा बलिका सम्मान करते हुए प्रह्लादको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३१-३२ ॥

आस्थाय परमं दिव्यं रथं पररथारुजम् ।
नानाप्रहरणाकीर्णं सवज्रमिव पर्वतम् ॥ ३३ ॥

शत्रुओंके रथको तोड़ डालनेमें समर्थ एक परम उत्तम दिव्य रथ नाना प्रकारके आयुधोंसे भरा हुआ था, जो वज्र-युक्त पर्वतके समान जान पड़ता था । प्रह्लाद उसी रथपर आरूढ़ होकर आये थे ॥ ३३ ॥

तद् बभूव मुहूर्तेन क्ष्वेडितास्फोटिताकुलम् ।
मेरोः शिखरमाकीर्णं द्यौरिवाम्बुधरागमे ॥ ३४ ॥

जैसे वर्षाकालमें आकाश मेघोंकी घटासे घिर जाता है, उसी प्रकार मेरुपर्वतका वह शिखर दो ही घड़ीमें दैत्योंके गर्जन-तर्जन तथा ताल ठोंकनेकी ध्वनिसे व्याप्त हो उठा ॥

स्रजः पद्मपलाशानामामुच्य सुविभूषिताः ।
बान्धवान् सम्परित्यज्य निपतन्ति रणप्रियाः ॥ ३५ ॥

युद्धप्रेमी दैत्य कमलदलोंकी मालाएँ पहनकर वस्त्राभूषणों-से भलीभाँति विभूषित हो बन्धु-बान्धवोंको त्यागकर वहाँ टूटे पड़ते थे ॥ ३५ ॥

महायुधधरः श्रीमाञ्छुभचर्मधरः प्रभुः ।
सतनुत्रशिरस्त्राणो धन्वी परमदुर्जयः ॥ ३६ ॥

महान् आयुध, सुन्दर ढाल, कवच और शिरस्त्राण (टोप) धारण करके हाथमें धनुष लिये प्रभावशाली श्रीमान् प्रह्लाद शत्रुओंके लिये अत्यन्त दुर्जय हो गये थे ॥ ३६ ॥

सिंहशार्दूलदर्पाणां गदतां किङ्किणीकिनाम् ।
दैत्यानां च सहस्राणि प्रयान्त्यग्रे महारणे ॥ ३७ ॥

उनके आगे उस महासमरमें सिंह और व्याघ्रके समान बलाभिमानी तथा कमरमें क्षुद्र घण्टिकाओंसे युक्त करधनी

बाँधनेवाले सहस्रों दैत्य गर्जना करते हुए चलते थे ॥ ३७ ॥

सैन्यपक्षहितास्तस्य रथाः परमदुर्जयाः ।
सप्ततिर्वै सहस्राणि गजास्तावन्त एव च ॥ ३८ ॥

उनकी सेनामें परम दुर्जय सत्तर हजार रथ थे । हाथियोंकी संख्या भी उतनी ही थी ॥ ३८ ॥

मध्ये व्यूहोदरस्थस्तु कालनेमिर्महासुरः ।
धनुर्विस्फारयन् घोरं ननाद प्रजहास च ॥ ३९ ॥

सेनाके मध्यभागमें जो व्यूहका उदर था, उसमें स्थित हुआ कालनेमि नामक महान् असुर अपने भयंकर धनुषको खींचता हुआ गरजता और अट्टहास करता था ॥ ३९ ॥

तस्मिञ्छतसहस्राणि पुरो यान्ति महाद्युतेः ।
दानवानां बलवतां शक्रप्रतिमतेजसाम् ॥ ४० ॥

उस सैन्यव्यूहमें महातेजस्वी कालनेमिके आगे इन्द्रतुल्य तेजस्वी एक लाख बलवान् दानव चलते थे ॥ ४० ॥

स समं वर्तमानस्तु पक्षाभ्यां विस्तृतो महान् ।
अभवद् दानवव्यूहो दुर्भेद्यः सर्वदैवतैः ॥ ४१ ॥

समभावसे विद्यमान तथा दोनों पक्षोंसे महान् विस्तृत वह दानवव्यूह समस्त देवताओंके लिये दुर्भेद्य हो गया था ॥

षष्टी रथसहस्राणि दानवानां धनुर्भृताम् ।
नानाप्रहरणानां च परिमाणं न विद्यते ॥ ४२ ॥

धनुर्धर दानवोंके साठ हजार रथ वहाँ शोभा पाते थे । नाना प्रकारके आयुधोंकी कोई गणना ही नहीं थी ॥ ४२ ॥

गदापरिघनिस्त्रिंशैः शूलमुद्गरपट्टिशैः ।
प्रगृहीतैर्व्यराजन्त दानवाः पर्वतोपमाः ॥ ४३ ॥

पर्वताकार दानव अपने हाथोंमें गदा, परिघ, खड्ग, शूल, मुद्गर और पट्टिश लेकर बड़ी शोभा पा रहे थे ॥४३॥

गर्जन्तो निनदन्तश्च विक्रोशन्तः पुनः पुनः ।
अयुध्यन्त महावीर्याः समरेष्वनिवर्तिनः ॥ ४४ ॥

वे गर्जते, सिंहनाद करते और बारंबार चिल्लाते थे । उनका पराक्रम महान् था । वे समरभूमिसे पीछे हटनेवाले नहीं थे । अतः उत्साहपूर्वक युद्धमें लगे रहते थे ॥ ४४ ॥

तत्र तूर्यसहस्राणि भेरीशङ्खरवाणि च ।
हयानां च गजानां च गर्जतामतिवेगिनाम् ॥ ४५ ॥
दुन्दुभीनां च निर्घोषः पर्जन्यनिनदोपमः ।
शुश्रुवे शङ्खशब्दश्च पटहानां च निःस्वनः ॥ ४६ ॥

वहाँ सहस्रों तुरहियाँ बजने लगीं, भेरियों और शङ्खोंकी ध्वनि होने लगी । अत्यन्त वेगशाली घोड़ों और हाथियोंके गर्जनका शब्द होने लगा । इन सबके साथ दुन्दुभियोंका गम्भीर घोष मेघगर्जनाके समान जान पड़ता था । शङ्खनाद और पटहोंकी ध्वनि विशेषरूपसे सुनायी पड़ती थी ।४५-४६।

तेन शङ्खनिनादेन भेरीतूर्यरवेण च ।
निर्घोषेण रथानां च क्रोशतीव नभस्तलम् ॥ ४७ ॥

उस शङ्खनादसे, भेरी और तुरहीके शब्दसे और रथोंकी घरघराहटसे वहाँका आकाश कोलाहल करता-सा प्रतीत होता था ॥ ४७ ॥

सागरप्रतिमौघेन बलेन महता वृतः ।
प्रह्लादोऽयुध्यत रणे कालान्तकयमोपमः ॥ ४८ ॥

रणभूमिमें उस समुद्रतुल्य विशाल सेनासे घिरे हुए प्रह्लाद काल, अन्तक और यमके समान युद्ध कर रहे थे ॥ ४८ ॥

तस्य नादेन रौद्रेण घोरेणाप्रतिमौजसः ।
विनेदुः सर्वभूतानि त्रैलोक्यनिकृतैः स्वनैः ॥ ४९ ॥

अप्रतिम तेजस्वी प्रह्लादके घोर एवं भयंकर नादसे तथा तीनों लोकोंको तिरस्कृत करनेवाली गर्जनाओंसे भयभीत हो समस्त प्राणी आर्तनाद करने लगे ॥ ४९ ॥

अन्तरिक्षात् पपातोल्का वायुश्च परुषो ववौ ।
वमन्त्यः पावकं घोरं शिवाश्चैव ववाशिरे ॥ ५० ॥

अन्तरिक्षसे उल्कापात होने लगा । प्रचण्ड वायु चलने लगी तथा गीदड़ियाँ घोर आग उगलती हुई क्रन्दन करने लगीं ॥ ५० ॥

प्रह्लादस्तु महावीर्यः प्रहसन् युद्धदुर्मदः ।
उवाच वचनं श्रीमांस्तत्काललक्षमुत्तमम् ॥ ५१ ॥

महापराक्रमी रणदुर्मद श्रीमान् प्रह्लाद वहाँ जोर-जोरसे हँसते हुए उस समयके योग्य यह उत्तम वचन बोले—।५१।

अद्याहं दर्शयिष्यामि स्वबाहुबलमूर्जितम् ।
अद्य मद्बाणनिहतान् देवान् द्रक्ष्यथ संयुगे ॥ ५२ ॥

'वीरो ! आज मैं अपने बढ़े हुए बाहुबलका दर्शन कराऊँगा । आज युद्धस्थलमें तुम सब लोग मेरेद्वारा मारे गये देवताओंको प्रत्यक्ष देखोगे ॥ ५२ ॥

बान्धवा निहता येषां त्रिदशैरिह संयुगे ।
अद्य निर्वर्तयिष्यन्ति शत्रुमांसानि दानवाः ॥ ५३ ॥

'देवताओंने रणभूमिमें जिनके भाई-बन्धुओंका वध किया है, वे दानव आज अपने उन बन्धुओंके उद्देश्यसे शत्रुओंके मांस अर्पित करेंगे ॥ ५३ ॥

इममद्य समुद्भूतं रेणुं समरमूर्धनि ।
अहं तु शमयिष्यामि शत्रुशोणितविस्रवैः ॥ ५४ ॥

'युद्धके मुहानेपर जो यह धूल उड़ रही है, इसे आज मैं शत्रुओंके रक्तका स्रोत बहाकर शान्त करूँगा ॥ ५४ ॥

तिमिरौघहतार्कं तु सैन्यरेण्वरुणीकृतम् ।
आकाशं सम्पतिष्यन्ति खद्योता इव मे शराः ॥ ५५ ॥

'जहाँ अँधेरेके कारण सूर्यका दर्शन नहीं हो रहा है, जो सेनाकी धूलसे अरुण रंगका हो गया है, उस आकाशमें आज मेरे चमकीले बाण जुगुनुओंके समान उड़ेंगे ॥ ५५ ॥

हृष्टाः सम्परिमोदध्वं देवेभ्यस्त्यज्यतां भयम् ।
अद्याहं निहनिष्यामि कालेन्द्रं धनुषा रणे ॥ ५६ ॥

'अब तुमलोग हर्षपूर्वक आनन्द मनाओ । देवताओंसे

होनेवाले भयको त्याग दो। आज मैं रणभूमिमें अपने धनुषसे कालके स्वामी यमराजका वध कर डालूँगा ॥ ५६ ॥

तोषयिष्यामि राजानं बलिं बलवतां वरम्।
त्रिदशान् सगणान् हत्वा रणे चान्तकमन्तिकात्॥५७॥

'समरभूमिमें सेवकगणोंसहित देवताओंका और निकटसे यमराजका भी वध करके आज मैं बलवानोंमें श्रेष्ठ राजा बलिको भी संतुष्ट करूँगा ॥ ५७ ॥

अक्षयाः सन्ति मे तूणाः शराश्चाशीविषोपमाः।
स्थातुं मे पुरतः शक्ताः के रणे जीवितेप्सवः ॥ ५८ ॥

'मेरे तरकस अक्षय हैं, उनमें बाणोंकी कभी कमी नहीं होती है तथा मेरे बाण विषधर सर्पोंके समान भयंकर हैं। जो अपने जीवनकी इच्छा रखनेवाले हैं, ऐसे कौन योद्धा रणभूमिमें मेरे सामने ठहर सकते हैं ? ॥ ५८ ॥

हत्वा रिपुगणांस्तुष्टिरनुरागश्च राजसु।
हतस्य त्रिदिवे वासो नास्ति युद्धसमा गतिः ॥ ५९ ॥

'शत्रुओंका वध करनेसे मनमें संतोष होगा, राजाओंमें अनुराग उत्पन्न होगा और यदि युद्धमें वीर पुरुष स्वयं ही मारा गया तो उसका स्वर्गलोकमें निवास होगा; अतः युद्धके समान दूसरी कोई गति नहीं है ॥ ५९ ॥

तद् भयं पृष्ठतः कृत्वा रणे दानवसत्तमाः।
निहत्येमानरीन् सर्वान् मोदध्वं नन्दने वने ॥ ६० ॥

'अतः दानवशिरोमणियो ! रणभूमिमें भयको पीछे करके इन समस्त शत्रुओंका वध करो और नन्दनवनमें आनन्द भोगो' ॥ ६० ॥

एवमुक्त्वा महत्सैन्यं प्रह्लादो दानवोत्तमः।
कालसैन्यं महारौद्रं तरसामर्दतासुरः ॥ ६१ ॥

दानवशिरोमणि असुर प्रह्लाद अपनी विशाल सेनाके सैनिकोंसे उपर्युक्त बात कहकर कालकी महाभयंकर सेनाका वेगपूर्वक मर्दन करने लगे ॥ ६१ ॥

सर्वास्त्रविद्वान् वीरश्च नित्यं चाप्यपराजितः।
युद्धे ह्यभिमुखो नित्यं स्वबाहुबलदर्पितः ॥ ६२ ॥

वे सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता, वीर तथा नित्यविजयी थे। कभी उनकी पराजय नहीं होती थी। उन्हें अपने बाहुबलपर गर्व था; अतः वे युद्धमें सदा सामने रहकर लड़ते थे ॥६२॥

षष्टिं रथसहस्राणि विविधायुधधारिणाम्।
प्रह्लादस्यातिवीर्यस्य ते तस्य तनया निजाः ॥ ६३ ॥

नाना प्रकारके आयुध धारण करनेवाले साठ हजार रथी तथा अतिशय वीर्यशाली प्रह्लादके वे पूर्वोक्त औरस पुत्र सभी उस युद्धमें सम्मिलित थे ॥ ६३ ॥

तैस्तु क्रतुशतैरिष्टं विपुलैराप्तदक्षिणैः।
क्षान्ता धर्मपरा नित्यं सत्यव्रतपरायणाः ॥ ६४ ॥

उन सबने पर्याप्त दक्षिणावाले सौ विशाल यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। वे सभी क्षमाशील, धर्मपरायण तथा सदैव सत्यव्रतका पालन करनेवाले थे ॥ ६४ ॥

दातारः प्रियवक्तारो वक्तारः शास्त्रवस्तुषु।
स्वदारनिरता दान्ता ब्रह्मण्याः सत्यसंगराः ॥ ६५ ॥

दानी, प्रियभाषी, शास्त्रीय विषयोंके वक्ता, अपनी ही स्त्रीमें अनुराग रखनेवाले, जितेन्द्रिय, ब्राह्मणभक्त तथा सत्यप्रतिज्ञ थे ॥ ६५ ॥

यष्टारः क्रतुभिर्नित्यं नित्यं चाध्ययने रताः।
इष्वस्त्रकुशलाः सर्वे बहुशो दृढविक्रमाः ॥ ६६ ॥

वे सदा यज्ञोंका अनुष्ठान करते और प्रतिदिन वेदशास्त्रोंके स्वाध्यायमें लगे रहते थे। सब-के-सब धनुर्वेदमें कुशल तथा बारंबार सुदृढ़ पराक्रमका परिचय देनेवाले थे ॥६६॥

मत्तवारणविक्रान्ताः शत्रुसैन्यप्रमर्दकाः।
दारयन्तः पदाक्षेपैः सुघोरान् वातरेचकान् ॥ ६७ ॥

उनका पराक्रम मतवाले हाथियोंके समान था। वे शत्रुसेनाका मर्दन करनेवाले थे तथा अपने पैरोंके आघातसे घोर वृक्ष आदिको भी विदीर्ण कर डालते थे ॥ ६७ ॥

युद्धोत्सुकधिया नित्यं क्रोधरञ्जितलोचनाः।
संदष्टौष्ठपुटा दैत्या विनेदुर्भीमविक्रमाः।
क्ष्वेडितास्फोटितरवैरन्योन्यं समहर्षयन् ॥ ६८ ॥

उनकी चित्तवृत्ति सदा युद्धके लिये उत्सुक रहती थी, इसलिये उनकी आँखें क्रोधसे लाल बनी रहती थीं। अपने ओठको दाँतों तले दबाये हुए वे भयंकर पराक्रमी दैत्य वहाँ जोर-जोरसे गर्जना करते और सिंहनाद तथा ताल ठोंकनेकी आवाजसे एक-दूसरेके हर्ष बढ़ाते थे ॥ ६८ ॥

वेणुशङ्खरवैश्चैव सिंहनादैश्च पुष्कलैः।
आप्लुत्याप्लुत्य सहसा रणे वव्रुरनेकशः ॥ ६९ ॥

वेणु और शङ्खकी ध्वनि तथा पुष्कल सिंहनादके साथ सहसा उछल-उछलकर वे बहुसंख्यक दैत्य युद्धमें आने और हथियार ग्रहण करने लगे ॥ ६९ ॥

तालमात्राणि चापानि विकृष्य सुमहाबलाः।
अमृष्यमाणाः सहसा दानवाश्चापपाणयः ॥ ७० ॥
सुरासुरैरप्यजितं योधयन्ति रणेऽन्तकम्।

वे महाबली दानव हाथमें धनुष लिये अमर्षमें भरे हुए थे। वे तालके बराबर लंबे धनुषोंको खींचकर देवताओं और असुरोंसे भी पराजित न होनेवाले कालके साथ समराङ्गणमें युद्ध करने लगे ॥ ७०½ ॥

प्रतप्तहेमाभरणाः सर्वे ते श्वेतवाससः ॥ ७१ ॥
दानवा मानिनः सर्वे सर्वे स्वर्गाभिकाङ्क्षिणः।
सर्वे जयैषिणो वीराः सर्वे शत्रुवधोद्यताः ॥ ७२ ॥

सभी दानव तपाये हुए सुवर्णके आभूषण पहने हुए थे। सबके अङ्गोंमें श्वेत वस्त्र शोभा पा रहे थे। सब-के-सब मानी थे और सभी स्वर्गलोककी अभिलाषा रखते थे। शत्रुवधके

लिये उद्यत हुए वे सभी वीर अपने पक्षकी विजय चाहते थे॥

शुशुभे सा चमूर्दीप्ता पताकाध्वजमालिनी ।
गजाश्वरथसंबाधा स्वर्गमार्गाभिकाङ्क्षिणी ॥ ७३ ॥

ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई तथा स्वर्गलोकके मार्गपर जानेकी इच्छा रखनेवाली वह दीप्तिशालिनी दैत्यसेना बड़ी शोभा पा रही थी ॥ ७३ ॥

ततः कालः सुनिर्यातो भीमो भीमपराक्रमः ।
निनदन् सुमहाकायो व्याधिभिर्बहुभिर्वृतः ॥ ७४॥

तदनन्तर भीषण पराक्रमी भयंकर कालदेवता बहुत-सी व्याधियोंसे घिरे हुए युद्धके लिये निकले । उनकी काया विशाल थी और वे जोर-जोरसे सिंहनाद कर रहे थे ॥ ७४ ॥

ददर्श महतीं सेनां दानवानां बलीयसाम् ।
अभिसंजातदर्पाणां कालं समभिगर्जताम् ॥ ७५ ॥

उन्होंने अपने सामने गर्जते और अभिमानमें भरे हुए महाबली दानवोंकी उस विशाल सेनाको देखा ॥ ७५ ॥

तदायान्तं तदानीकं दानवानां तरस्विनाम् ।
प्रतिलोमं चकाराशु व्याधिभिः सहितोऽन्तकः ॥ ७६ ॥

वेगशाली दानवोंकी उस आती हुई सेनाको व्याधियों-सहित कालने तुरंत प्रतिकूल दिशामें ठेल दिया ॥ ७६ ॥

प्रविश्य ध्वजिनीं चैषां पातयामास दानवान् ।
कालो रुधिररक्ताक्षः स्वेनानीकेन संवृतः ॥ ७७ ॥

तत्पश्चात् अपनी सेनासे घिरे हुए लाल नेत्रवाले कालदेव दानवोंकी सेनामें प्रवेश करके उन्हें धराशायी करने लगे ॥

प्रह्लादबलमत्युग्रं प्रह्लादं च महाबलम् ।
आजघान रणे कालो दण्डमुद्गरपट्टिशैः ॥ ७८ ॥

उस युद्धमें कालदेव दण्ड, मुद्गर और पट्टिश आदि अस्त्रोंद्वारा महाबली प्रह्लाद तथा उनकी अत्यन्त भयंकर सेनापर घातक प्रहार करने लगे ॥ ७८ ॥

शरशक्त्यृष्टिखड्गांश्च शूलानि मुसलानि च ।
गदाश्च परिघाश्चैव विचित्राश्च परश्वधाः ॥ ७९ ॥
धनूंषि च विचित्राणि शतघ्नीश्च स्थिरायसीः ।
पात्यन्ते व्याधिभिर्युद्धे दानवानां चमूमुखे ॥ ८० ॥

कालके सैनिक व्याधियोंने रणक्षेत्रमें बाण, शक्ति, ऋष्टि, खड्ग, शूल, मुसल, गदा, परिघ, विचित्र फरसे, भाँति-भाँतिके धनुष तथा लोहेकी बनी हुई सुदृढ़ शतघ्नी आदि बहुत-से अस्त्र-शस्त्र दानव-सेनाके ऊपर गिराये ॥ ७९-८० ॥

बहवो व्याधयो युद्धे बहूनसुरपुङ्गवान् ।
व्याधीनपि च दैत्यौघा निजघ्नुर्बहवो बहून् ॥ ८१ ॥

उस युद्धमें बहुसंख्यक व्याधियोंने बहुत-से असुरशिरोमणियोंका वध किया और बहुत से दैत्योंने भी बहुसंख्यक व्याधियोंका विनाश कर डाला ॥ ८१ ॥

शूलैः प्रमथिताः केचित् केचिच्छिन्नाः परश्वधैः ।
परिघैराहताः केचित् केचिच्च परमायुधैः ॥ ८२ ॥

कितने ही योद्धा शूलोंसे मथ डाले गये । कितनोंके फरसोंसे टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये । कोई परिघोंसे आहत हुए तो कोई दूसरे-दूसरे उत्तम आयुधोंसे ॥ ८२ ॥

केचिद् द्विधा कृताः खड्गैः स्फुरन्तः पतिता भुवि ।
व्याधयो दानवैरेव नानाशस्त्रैर्विदारिताः ॥ ८३ ॥

किन्हींके खड्गोंद्वारा दो टुकड़े कर दिये गये और वे पृथ्वीपर गिरकर छटपटाने लगे । दानवोंने नाना प्रकारके शस्त्रोंद्वारा व्याधियोंको विदीर्ण कर डाला ॥ ८३ ॥

ते चापि व्याधिभिः सर्वे विविधैरायुधोत्तमैः ।
खड्गैश्च मुसलैस्तीक्ष्णैः प्रासतोमरमुद्गरैः ।
भिन्नाश्च दानवाः सर्वे निकृत्ताश्च परश्वधैः ॥ ८४ ॥

व्याधियोंने भी नाना प्रकारके उत्तम आयुधों, खड्गों, तीखी धारवाले मुसलों, प्रास, तोमर और मुद्गरों तथा फरसों-से समस्त दानवोंको छिन्न-भिन्न करके काट डाला ॥ ८४ ॥

मुद्गरैः पट्टिशैश्चैव व्याधिभिश्च महाबलैः ।
कृत्वा शस्त्रैरनेकैश्च मुष्टिभिश्च हता भृशम् ॥ ८५ ॥

महाबली व्याधियोंने मुद्गरों, पट्टिशों तथा अनेक प्रकार-के शस्त्रोंद्वारा दैत्योंके टुकड़े-टुकड़े करके बहुतोंको मुक्कोंसे भी मार गिराया ॥ ८५ ॥

वेमुः शोणितमन्योन्यं विध्वस्तदशनेक्षणाः ।
आर्तस्वरं च नदतां सिंहनादं च गर्जताम् ॥ ८६ ॥
बभूव तुमुलः शब्दः संग्रामे लोमहर्षणे ।

एक-दूसरेके द्वारा दाँतोंके तोड़ दिये जानेपर और आँखोंके फोड़ दिये जानेपर वे सब योद्धा मुँहसे रक्त वमन करने लगे । उस रोमाञ्चकारी संग्राममें आर्तस्वरसे कराहते और सिंहोंके समान गर्जते हुए योद्धाओंका शब्द बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ ८६½ ॥

मुष्टिभिश्चोत्तमाङ्गानि तलैर्गात्राणि चासकृत् ॥ ८७ ॥
सादितानि महीं जग्मुस्तिष्ठतामेव संयुगे ।

युद्धस्थलमें खड़े हुए योद्धाओंके मस्तक तथा दूसरे-दूसरे अङ्ग बारंबार मुक्कों और तमाचोंकी मार पड़नेसे कटकर पृथ्वीपर गिर पड़ते थे ॥ ८७½ ॥

अस्रफेना ध्वजावर्ता च्छिन्नबाहुमहोरगा ॥ ८८ ॥
शूलशक्तिमहामत्स्या चापग्राहसमाकुला ।
रथेषोपलसम्बाधा ध्वजद्रुमलतावृता ॥ ८९ ॥
सशब्दघोषविस्तारा लोहितोदाभवन्नदी ।

उस समय वहाँ भारी कोलाहलके साथ खूनकी विस्तृत नदी बह चली । आँसू ही उसमें फेन थे । ध्वजोंकी भँवर उठ रही थी । कटी हुई बाँहें बड़े-बड़े सर्पोंके समान जान पड़ती थीं । शूल और शक्तिनामक अस्त्र महान् मत्स्य से प्रतीत होते थे । धनुषरूपी ग्राहोंसे वह भरी हुई थी । रथोंके ईषादण्ड-रूपी प्रस्तरखण्डोंसे वह नदी व्याप्त थी तथा ध्वजरूपी वृक्षों और लताओंसे आवृत दिखायी देती थी ॥ ८८-८९½ ॥

स्वधनुःशक्रधनुषौ काञ्चनाङ्गदविद्युतौ ॥ ९० ॥
तौ दैत्यकालजलदौ शरधारां व्यमुञ्चताम् ।

दैत्य प्रह्लाद और कालदेवता दोनों मेघके समान होकर बाणरूपी जलकी धारा गिरा रहे थे । दोनोंके अपने धनुष ही इन्द्रधनुषकी प्रतीति कराते थे और उनकी बाँहोंमें जो सोनेके बाजूबंद थे, वे विद्युत्के समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ९०½ ॥

तौ महामेघसंकाशौ रथनागगतौ तदा ॥ ९१ ॥
बभूवतुरभिक्रुद्धौ साम्बुगर्भाविवाम्बुदौ ।

क्रमशः रथ और हाथीपर बैठे हुए वे दोनों योद्धा महान् मेघके समान जान पड़ते थे । दोनों ही एक दूसरेके प्रति क्रोधसे भरे हुए थे और सजल जलधरोंके समान शोभा पाते थे ॥ ९१½ ॥

तप्तकाञ्चनसंनाहौ दिव्यहारविभूषितौ ॥ ९२ ॥
तौ विरेजतुरायस्तौ सूर्यवैश्वानरोपमौ ।

तपाये हुए सुवर्णमय कवच तथा दिव्य हारोंसे विभूषित वे दोनों विजयके लिये प्रयत्नशील योद्धा सूर्य और अग्निके समान शोभा पाते थे ॥ ९२½ ॥

तौ महाचलसंकाशावन्योन्यस्य चमूमुखे ॥ ९३ ॥
शक्राशनिसमस्पर्शैर्बाणैर्जघ्नतुराहवे ।

महान् पर्वतके समान विशाल शरीरवाले वे दोनों वीर सेनाके मुहानेपर युद्धस्थलमें एक-दूसरेको इन्द्रके वज्रकी भाँति दुःसह बाणोंद्वारा चोट पहुँचाते थे ॥ ९३½ ॥

परस्परं समासाद्य तयोर्युधि दुरासदे ॥ ९४ ॥
नाशंसन्त तदा योधा जीवितान्यपि संयुगे ।

उन दोनोंके दुर्जय युद्धमें परस्पर भिड़े हुए योद्धा समर-भूमिमें अपने जीवनकी भी आशा छोड़ बैठे थे ॥ ९४½ ॥

शरैर्विभिन्नसर्वाङ्गा युधि प्रक्षीणबान्धवाः ।
निपेतुर्योधमुख्यास्तु रुधिरोक्षितवक्षसः ॥ ९५ ॥

उनके सारे अङ्ग बाणोंसे क्षत-विक्षत हो गये थे । उनके बन्धु-बान्धव भी युद्धमें काम आ गये थे और उन प्रमुख योद्धाओंकी छाती खूनसे रँगी हुई थी । इस अवस्थामें वे धराशायी हो गये ॥ ९५ ॥

पतितैर्निष्पतद्भिश्च पात्यमानैश्च संयुगे ।
बभूव भूः समाकीर्णा योधैरुद्गतजीवितैः ॥ ९६ ॥

युद्धस्थलमें गिरे हुए, गिरते हुए और गिराये जाते हुए निष्प्राण योद्धाओंकी लाशोंसे भूमि पट गयी थी ॥ ९६ ॥

संगृह्णतोः शरान् घोरान्न च संदधतोस्तयोः ।
अन्तरं ददृशे कश्चित् प्रयत्नादपि संयुगे ॥ ९७ ॥

उस युद्धस्थलमें घोर बाणोंको हाथमें लेते और धनुषपर रखते हुए उन दोनों वीरोंमें कितना अन्तर है, इस बातको कोई प्रयत्न करके भी न देख सका ॥ ९७ ॥

लघुत्वाच्च महाबाहू युद्धशौण्डौ महाबलौ ।
मण्डलीभूतधनुषौ सकृदेव बभूवतुः ॥ ९८ ॥

वे दोनों महाबली, महाबाहु युद्धमें कुशल थे । उन दोनोंने फुर्तीके कारण एक साथ ही अपने धनुषोंको खींचकर मण्डलाकार बना लिया ॥ ९८ ॥

प्रह्लादस्य च बाणौघैर्दुद्रावान्तकवाहिनी ।
उह्यमानं बलवता वायुनेवाभ्रमण्डलम् ॥ ९९ ॥

प्रह्लादके बाणसमूहोंसे घायल होकर कालकी सेना भाग चली । ठीक उसी तरह जैसे बलवान् वायुके द्वारा ढोये जाते हुए मेघोंका समूह छिन्न-भिन्न हो जाता है ॥ ९९ ॥

हृतदर्पं तु विज्ञाय प्रह्लादः कालमाहवे ।
अपयातं च समरे द्विषन्तं सम्प्रतर्क्य तम् ॥१००॥
मत्वा वशगतं चैव प्रह्लादो युद्धदुर्मदः ।
तत्रैवान्यां चमूं भूयः सममर्द महासुरः ॥१०१॥

उस समराङ्गणमें कालका घमंड चूर हुआ जान तथा अपने उस शत्रुको युद्धसे भागा हुआ समझकर रणदुर्मद महान् असुर प्रह्लाद उन्हें पराजित मानकर पुनः दूसरी देव-सेनाका मर्दन करने लगे ॥ १००-१०१ ॥

कालप्रह्लादयोर्युद्धमभवद् यादृशं पुरा ।
तादृशं सर्वलोकेषु न भूतं न भविष्यति ॥१०२॥

पूर्वकालमें प्रह्लाद और कालका जैसा युद्ध हुआ था, वैसा युद्ध सम्पूर्ण लोकोंमें न तो कभी हुआ है और न होगा ही ॥ १०२ ॥

एवमद्भुतवीर्यौजा महारणकृतव्रणः ।
प्रह्लादस्त्वथ वृद्धोऽत्र कालस्त्वपसृतो रणात् ॥१०३॥

इस प्रकार अद्भुत बल पराक्रम और ओजसे सम्पन्न तथा उस महासमरमें घायल हुए प्रह्लाद उस युद्धमें बढ़ गये—विजयी हुए और कालदेवता रणक्षेत्रसे भाग गये ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामने देवासुरयुद्धे कालप्रह्लादयुद्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें देवासुरसंग्राममें काल और प्रह्लादका युद्धविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

कुबेर और अनुह्लादका भयंकर युद्ध

वैशम्पायन उवाच

धनाध्यक्षमनुह्लादः प्रह्लादस्यानुजो बली।
ससैन्यं योधयामास क्षोभयन् यक्षवाहिनीम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! प्रह्लादका बलवान् भाई अनुह्लाद यक्षसेनाको क्षोभमें डालता हुआ सेनासहित धनाध्यक्ष कुबेरके साथ युद्ध करने लगा॥ १॥

महता च बलौघेन त्वनुह्लादोऽसुरोत्तमः।
अर्दयामास संक्रुद्धो धनाध्यक्षं प्रतापवान्॥ २॥

असुरोंमें श्रेष्ठ प्रतापी अनुह्लाद कुपित हो अपने विशाल सैन्यसमूहद्वारा कुबेरको पीड़ा देने लगा॥ २॥

अमृष्यमाणस्त्रिदशानाहवस्थानुदायुधान्।
चकार कदनं घोरं धनुष्पाणिर्महासुरः॥ ३॥

वह महान् असुर युद्धस्थलमें खड़े हुए देवताओंको शस्त्र उठाये देख उन्हें सहन न कर सका। उसने हाथमें धनुष लेकर उनका घोर संहार मचाया॥ ३॥

आवर्त इव संजज्ञे बलस्य महतो महान्।
क्षुभितस्याप्रमेयस्य सागरस्येव सम्प्लवे॥ ४॥

जैसे प्रलयकालमें क्षुब्ध हुए अपार महासागरमें भँवरें उठने लगती हैं, उसी प्रकार उस क्षुब्ध हुई विशाल सेनामें आवर्त (मन्थन)-सा होने लगा॥ ४॥

त्रिदशानां शरीरैस्तु दानवानां च मेदिनी।
बभूव निचिता घोरैः पर्वतैरिव सम्प्लवे॥ ५॥

देवताओं और दानवोंकी लाशोंसे वहाँकी धरती पट गयी, मानो प्रलयकालमें ढहे हुए भयंकर पर्वतोंसे आच्छादित हो गयी हो॥ ५॥

मेरुपृष्ठं तु रक्तेन रञ्जितं सम्प्रकाशते।
सर्वतो माधवे मासि पुष्पितैरिव किंशुकैः॥ ६॥

मेरुपर्वतकी वह घाटी रक्तसे रञ्जित होकर वैशाख मासमें सब ओरसे लाल फूलोंसे युक्त पलाशवृक्षकी भाँति प्रकाशित हो रही थी॥ ६॥

हतैर्वीरैर्गजैरश्वैः प्रावर्तत महानदी।
शोणितौघा महाघोरा यमराष्ट्रविवर्धिनी॥ ७॥

मारे गये वीरों, हाथियों और घोड़ोंसे वहाँ खूनकी एक महानदी बह चली, जिसमें जलके स्थानमें रक्तका स्रोत बह रहा था। वह महाघोर नदी यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाली थी॥ ७॥

शकृन्मेदोमहापङ्का सम्प्रकीर्णान्त्रशैवला।
छिन्नकायशिरोमीना अङ्गावयवशाड्वला॥ ८॥

उसमें विष्ठा और चरबी बड़ी भारी कीचड़के समान प्रतीत होती थी। सब ओर बिखरी हुई आँतें सेवार-सी जान पड़ती थीं। कटे हुए सिर और धड़ ही उस नदीके मत्स्य थे। अङ्गोंके अवयव ही घास थे॥ ८॥

गृध्रहंससमाकीर्णा केकिसारसनादिता।
वसाफेनसमाकीर्णा प्रोत्क्रुष्टस्तनितस्वरा॥ ९॥

गीधरूपी हंस वहाँ छा रहे थे। मोरों और सारसोंके कलरवोंसे वह मुखरित हो रही थी। वसारूपी फेन उसमें व्याप्त थे। चारों ओर मची हुई चीख-पुकार ही उसका कलकलनाद थी॥ ९॥

तां कापुरुषदुस्तारां युद्धभूमौ महानदीम्।
नदीमिवातपापाये हंससंघोपशोभिताम्॥ १०॥

युद्धभूमिमें बहनेवाली वह महानदी कायरोंके लिये दुस्तर थी। ठीक वैसे ही जैसे वर्षा-ऋतुमें बढ़ी हुई नदीको पार करना किसीको भी कठिन हो जाता है। हंस आदि पक्षियोंके समुदाय उसकी शोभा बढ़ाते थे॥ १०॥

त्रिदशा दानवाश्चैव तेरुस्ते दुस्तरां नदीम्।
यथा पद्मरजोध्वस्तां नलिनीं गजयूथपाः॥ ११॥

देवता और दानव उस दुस्तर नदीको उसी प्रकार पार कर गये जैसे कमलोंके पराग से धूसर वर्णवाली पुष्करिणीको गजयूथपति लाँघ जाते हैं॥ ११॥

ततः सृजन्तं बाणौघाननुह्लादं रथे स्थितम्।
ददर्श तरसा देवो निघ्नन्तं यक्षवाहिनीम्॥ १२॥

रथपर बैठा हुआ अनुह्लाद बाणसमूहोंकी वर्षा करके यक्षसेनाका वेगपूर्वक विनाश कर रहा था। यह बात स्वयं कुबेरने देखी॥ १२॥

क्रुद्धस्ततो दैत्यबलं सूदयामास वित्तपः।
विक्षिपन्निव खे वायुर्महाभ्रपटलं बलात्॥ १३॥

फिर तो जैसे वायु आकाशमें फैली हुई मेघोंकी भारी घटाको बलपूर्वक छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए धनाध्यक्ष कुबेरने दैत्योंकी सेनाका संहार कर डाला॥

समीक्ष्य तुमुलं युद्धमनुह्लादश्च वीर्यवान्।
रथेनादित्यवर्णेन कुबेरमभिदुद्रुवे॥ १४॥

वह भयंकर युद्ध देखकर पराक्रमी अनुह्लादने सूर्यके समान तेजस्वी रथके द्वारा कुबेरपर धावा किया॥ १४॥

स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठो विकृष्य रणमूर्धनि।
उत्ससर्ज शितान् बाणान् वित्तेशस्य महात्मनः॥ १५॥

धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ उस दैत्यवीरने युद्धके मुहानेपर अपने धनुषको खींचकर महामनस्वी धनाध्यक्ष कुबेरपर पैने बाणोंका प्रहार किया॥ १५॥

कुबेरं प्राप्य ते बाणा निर्भिद्य सुसमाहिताः।
अपरान् पृष्ठतोजघ्नुर्व्यासक्तान् यक्षराक्षसान्॥ १६॥

वे बाण कुबेरके पास पहुँचकर उनके शरीरको विदीर्ण करते हुए पीठकी ओरसे निकल गये और युद्धमें लगे हुए दूसरे-दूसरे यक्षों तथा राक्षसोंको एकाग्रतापूर्वक घायल करने लगे ॥ १६ ॥

देवः शरैरभिहतो निशितैर्ज्वलनोपमैः ।
अनुह्लादं प्रत्युदियात् संक्रुद्धः परमाहवे ॥ १७ ॥

अग्निके समान तेजस्वी तथा पैने बाणोंसे घायल हुए धनाध्यक्ष कुबेर उस महासमरमें बहुत कुपित हुए और अनुह्लादका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ १७ ॥

ततो वैश्रवणो राजा क्रुद्धो यक्षगणैः सह ।
ववर्ष शरवर्षाणि दानवं प्रति वीर्यवान् ॥ १८ ॥

क्रोधमें भरे हुए पराक्रमी राजा कुबेरने यक्षोंके साथ रहकर उस दानवपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १८ ॥

तद्यथा शारदं वर्षं गोवृषः शीघ्रमागतम् ।
अपारयन् वारयितुं प्रतिगृह्णन् निमीलितः ॥ १९ ॥
एवमेव कुबेरस्य शरवर्षं महासुरः ।
निमीलिताक्षः सहसा दैत्यः सहति दारुणम् ॥ २० ॥

जैसे साँड़ शीघ्र आयी हुई शरद्-ऋतुकी वृष्टिको रोकनेमें असमर्थ हो आँख बंद करके उसके आघातको चुपचाप ग्रहण करता है, उसी प्रकार वह महान् असुर दैत्य कुबेर-द्वारा सहसा की गयी भयंकर बाणवर्षाको नेत्र मूँदकर चुपचाप सहन करने लगा ॥ १९-२० ॥

रोषितः शरवर्षेण धनदेन महासुरः ।
इन्द्रकेतुप्रतीकाशमभीतोऽपश्यत द्रुमम् ॥ २१ ॥
प्रवृद्धशाखाविटपं तरुणाङ्कुरपल्लवम् ।
उत्पाट्य कुपितो दैत्यस्तरुं फलसमन्वितम् ॥ २२ ॥
निजघान हयाञ्छ्रेष्ठान् कुबेरस्य महात्मनः ।

कुबेरकी बाणवर्षासे रोषमें भरे हुए उस महान् असुरने तनिक भी भयभीत न होकर इन्द्रध्वजके समान एक विशाल वृक्षको देखा, जिसकी शाखाएँ और टहनियाँ विशेषरूपसे बढ़ी हुई थीं। उसमें नये-नये अङ्कुर और पल्लव निकले हुए थे तथा वह फलसे भी सम्पन्न था। उस कुपित हुए दैत्यने उस वृक्षको उखाड़कर उसके द्वारा महात्मा कुबेरके श्रेष्ठ घोड़ोंको मार डाला ॥ २१-२२½ ॥

तस्य कर्म महाघोरं दृष्ट्वा सर्वे महासुराः ॥ २३ ॥
सिंहनादं नदन्ति स्म अनुह्लादप्रहर्षिताः ।

उसके उस महाघोर-कर्मको देखकर सभी बड़े-बड़े असुर अनुह्लादसे प्रसन्न हो जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ २३½ ॥

तयोस्तु तुमुलं युद्धं संजज्ञे देवदैत्ययोः ॥ २४ ॥
ततस्तौ क्रोधरक्ताक्षावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ ।
अन्योन्यं विविधैः शस्त्रैर्घोरैर्जघ्नतुराहवे ॥ २५ ॥

उन देवता (कुबेर) और दैत्य (अनुह्लाद) में तुमुल युद्ध होने लगा। दोनोंके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे। दोनों ही उस युद्धमें एक-दूसरेके वधकी इच्छासे भाँति-भाँतिके घोर शस्त्रोंद्वारा परस्पर आघात कर रहे थे ॥ २४-२५ ॥

त्रिदशा दानवान् सर्वे मथित्वा प्राणदंस्तदा ।
दानवैस्त्रिदशाश्चापि क्रुद्धैर्भुवि निपातिताः ॥ २६ ॥

समस्त देवता दानव-योद्धाओंको रौंदकर जोर-जोरसे गर्जना करते थे। इसी प्रकार कुपित हुए दानवोंने भी देवताओंको पृथ्वीपर मार गिराया था ॥ २६ ॥

दानवास्त्वथ संक्रुद्धास्त्रिदशान् निशितैः शरैः ।
विव्यधुर्वज्रसंकाशैः कङ्कपत्रैरजिह्मगैः ॥ २७ ॥

दानव अत्यन्त कुपित हो वज्रके तुल्य तेजस्वी तथा कङ्कपत्र लगे हुए सीधे जानेवाले तीखे बाणोंसे देवताओंको घायल करने लगे ॥ २७ ॥

विदार्यमाणा दैत्यौघैस्त्रिदशास्तु महाबलाः ।
अमर्षिततराश्चक्रुर्युद्धकर्माण्यभीतवत् ॥ २८ ॥

दैत्यसमूहोंद्वारा घायल किये जाते हुए महाबली देवता अत्यन्त अमर्षमें भरकर निर्भयकी भाँति युद्धकर्म करने लगे ॥

तैर्गदाभिः सुभीमाभिः पट्टिशैः शूलमुद्गरैः ।
परिघैश्च सुतीक्ष्णाग्रैर्दानवाः पीडिताः शरैः ॥ २९ ॥

उन्होंने भयंकर गदा, पट्टिश, शूल, मुद्गर, परिघ तथा तेज धारवाले बाणोंद्वारा दानवोंको बड़ी पीड़ा दी ॥ २९ ॥

शरनिर्भिन्नगात्राश्च खड्गविच्छिन्नवक्षसः ।
जगृहुस्ते शिलाश्चैव द्रुमांश्चासुरसत्तमाः ॥ ३० ॥

उन असुरशिरोमणि योद्धाओंके अङ्ग बाणोंसे क्षत-विक्षत हो रहे थे। उनकी छाती खड्गसे छिन्न-भिन्न हो गयी थी; अतः उन्होंने भी बड़ी-बड़ी शिलाएँ और वृक्ष हाथमें ले लिये॥

ते भीमवेगा दितिजा नर्दमानाः पुनः पुनः ।
ममन्थुस्त्रिदशान् वीर्याच्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३१ ॥

उन भयंकर वेगवाले सैकड़ों और हजारों दैत्योंने बारंबार गर्जना करके अपने बल-पराक्रमसे देवताओंको मथ डाला ॥ ३१ ॥

ततस्तु तुमुलं युद्धं तेषां समभिवर्तत ।
शिलाभिर्विपुलाभिश्च शतशश्चैव पादपैः ॥ ३२ ॥
परिघैः पट्टिशैर्भल्लैर्भिन्दिपालैः परश्वधैः ।

तदनन्तर उनमें घमासान युद्ध आरम्भ हो गया। वे बड़ी-बड़ी शिलाओं, सैकड़ों वृक्षों तथा परिघ, पट्टिश, भल्ल, भिन्दिपाल और फरसोंद्वारा एक-दूसरेको मारने लगे ॥ ३२½ ॥

केचिन्निवृत्तशिरसः केचिच्च विदलीकृताः ॥ ३३ ॥
केचिद् विनिहता भूमौ रुधिरार्द्राः सुरासुराः ।

किसीके सिर उड़ गये, कोई विदीर्ण हो गये, कोई भूमिपर गिराकर मार डाले गये। इस प्रकार सभी देवता और असुर खूनसे लथपथ हो रहे थे ॥ ३३½ ॥

केचिद् रणाजिरान्नग्नाः परस्परवधार्दिताः ॥ ३४ ॥
विभिन्नहृदयाः केचिच्छिन्नपादाश्च शेरते ।

विदारितास्त्रिशूलैश्च केचित् तत्र गतासवः ॥ ३५ ॥

परस्परकी मारसे पीड़ित हो कितने ही योद्धा समराङ्गणसे भाग गये। किन्हींके हृदय विदीर्ण हो गये। कोई पैर कट जानेसे पृथ्वीपर सो रहे थे और कितने ही त्रिशूलोंसे विदीर्ण हो वहाँ प्राणोंसे हाथ धो बैठे थे ॥ ३४-३५ ॥

तत् सुभीमं महद्युद्धं देवदानवसंकुलम्।
बभूव तुमुलं युद्धं शिलापादपसंकुलम् ॥ ३६ ॥

वह देवताओं और दानवोंसे भरा हुआ महायुद्ध बड़ा भयंकर प्रतीत होता था; शिलाओं और वृक्षोंके प्रहारसे व्याप्त होनेके कारण उसकी भयंकरता और भी बढ़ गयी थी ॥ ३६ ॥

धनुर्ज्यातन्त्रिमधुरं हिक्कातालसमन्वितम्।
आर्तस्तनितघोषाढ्यं युद्धं गान्धर्वमाबभौ ॥ ३७ ॥

वहाँ धनुषकी प्रत्यञ्चारूपी वीणाकी मधुर तान छिड़ी हुई थी। योद्धाओंको जो हिचकियाँ आती थीं, वे ही मानो ताल थीं। पीड़ितोंके आर्तनाद ही मृदङ्ग आदि वाद्योंके घोष एवं आलाप थे। इस प्रकार वह युद्ध गान्धर्वमहोत्सव (संगीतसमारोह) के समान प्रतीत होता था ॥ ३७ ॥

कुबेरः स धनुष्पाणिर्दानवान् रणमूर्धनि।
दिशो विद्रावयामास संक्रुद्धः शरवृष्टिभिः ॥ ३८ ॥

उस समय क्रोधमें भरे हुए कुबेर हाथमें धनुष लेकर युद्धके मुहानेपर बाणोंकी वर्षा करके दानवोंको सम्पूर्ण दिशाओंमें खदेड़ने लगे ॥ ३८ ॥

कुबेरेणार्दितं सैन्यं विद्रुतं प्रेक्ष्य दानवः।
अभ्यद्रवदनुह्लादः प्रगृह्य महतीं शिलाम् ॥ ३९ ॥

अपनी सेनाको कुबेरसे पीड़ित हुई देख दानव अनुह्लाद एक बहुत बड़ी शिला हाथमें लेकर कुबेरकी ओर दौड़ा ॥

क्रोधाद् द्विगुणरक्ताक्षः पितृतुल्यपराक्रमः।
शिलां तां पातयामास कुबेरस्य रथोत्तमे ॥ ४० ॥

उस समय उसके नेत्र क्रोधसे दुगुने लाल हो रहे थे। वह अपने पिता हिरण्यकशिपुके समान पराक्रमी था। उसने कुबेरके उत्तम रथपर उस शिलाको दे मारा ॥ ४० ॥

आपतन्तीं शिलां दृष्ट्वा गदापाणिर्धनाधिपः।
रथादाप्लुत्य वेगेन वसुधायां व्यतिष्ठत ॥ ४१ ॥

उस शिलाको आती देख हाथमें गदा लिये हुए कुबेर अपने रथसे वेगपूर्वक कूदकर पृथ्वीपर खड़े हो गये ॥ ४१ ॥

सचक्रकूबरहयं सध्वजं सशरासनम्।
भङ्क्त्वा रथोत्तमं तस्य निपपात शिला भुवि ॥ ४२ ॥

वह शिला कुबेरके उत्तम रथको चक्र, कूबर, घोड़े, ध्वज और धनुषसहित तोड़-फोड़कर भूमिपर गिर पड़ी ॥ ४२ ॥

विमथ्य तु कुबेरस्य प्रह्लादस्यानुजो रथम्।
शूराणां कदनं चक्रे सस्कन्धविटपैर्द्रुमैः ॥ ४३ ॥

कुबेरके रथको नष्ट-भ्रष्ट करके प्रह्लादके छोटे भाई अनुह्लादने तनों और शाखाओंसहित वृक्षोंद्वारा देवपक्षके शूर-वीरोंका संहार आरम्भ किया ॥ ४३ ॥

निर्भिन्नशिरसो भग्नास्त्रिदशाः शोणितोक्षिताः।
द्रुमप्रव्यथिताङ्गाश्च निपेतुर्धरणीतले ॥ ४४ ॥

देवताओंके सिर फूट गये। अङ्ग-भङ्ग हो गये। वे रक्तसे नहा गये। वृक्षोंकी मारसे उनके सारे अङ्ग व्यथित होने लगे और वे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४४ ॥

विद्राव्य विपुलं सैन्यमनुह्लादो महासुरः।
गिरिशृङ्गं गृहीत्वा तु कुबेरमभिदुद्रुवे ॥ ४५ ॥

महान् असुर अनुह्लादने देवताओंकी विशाल सेनाको भगाकर एक पर्वतका शिखर हाथमें ले लिया और कुबेरपर धावा किया ॥ ४५ ॥

तमापतन्तं धनदो गदामुद्यम्य वीर्यवान्।
विनद्य्वाऽऽह्वयामास दानवेन्द्रं महाबलम् ॥ ४६ ॥

उसे आते देख पराक्रमी कुबेरने गदा उठा ली और बड़े जोरसे गरजकर उस महाबली दानवराजको ललकारा ॥

तस्य दैत्यस्य संक्रुद्धो गदां तां बहुकण्टकाम्।
न्यपातयत वित्तेशो दानवस्योरसि प्रभो ॥ ४७ ॥

प्रभो ! धनके स्वामी कुबेरने कुपित होकर उस दैत्य एवं दानवकी छातीपर उस गदाको दे मारा, जिसमें बहुत-से काँटे लगे हुए थे ॥ ४७ ॥

दैत्यः सक्रोधताम्राक्षस्तं प्रहारमचिन्तयन्।
वित्तेशस्योपरि तदा गिरिशृङ्गमपातयत् ॥ ४८ ॥

परंतु क्रोधसे लाल आँखें किये उस दैत्यने उनके उस प्रहारकी कोई परवा नहीं की और धनके स्वामी कुबेरपर तत्काल ही उस पर्वतशिखरको गिरा दिया ॥ ४८ ॥

स विह्वलितसर्वाङ्गो गिरिशृङ्गेण ताडितः।
पपात सहसा भूमौ विशीर्ण इव पर्वतः ॥ ४९ ॥

पर्वतशिखरकी चोट खाकर कुबेरके सारे अङ्ग विह्वल हो गये और वे चूर-चूर हुए पर्वतकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४९ ॥

वित्तेशं विह्वलं दृष्ट्वा सर्वे ते यक्षराक्षसाः।
परिवार्य महात्मानं ररक्षुर्भीमविक्रमाः ॥ ५० ॥

महात्मा धनेशको विह्वल हुआ देख वे भयंकर पराक्रमी समस्त यक्ष और राक्षस उन्हें चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा करने लगे ॥ ५० ॥

मुहूर्तं विह्वलो भूत्वा पुनर्विश्रवसः सुतः।
उपतस्थे च सहसा धनदः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ५१ ॥

स ननाद महानादं त्रैलोक्यमभिनादयन्।
जनयन्निव निर्घोषं विधमन्निव पर्वतान् ॥ ५२ ॥

दो घड़ीतक व्याकुल रहनेके पश्चात् विश्रवाके पुत्र धन-दाता कुबेर सहसा उठकर खड़े हो गये और पुनः क्रोधसे मूर्च्छित हो तीनों लोकोंको प्रतिध्वनित करते हुए बड़े जोर-

जोरसे सिंहनाद करने लगे। उस समय वे मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान घोष उत्पन्न करने और पर्वतोंको भी ताप सा देने लगे ॥ ५१-५२ ॥

तमवध्यं तु विज्ञाय निहन्तुं पुनरुत्थितम्।
प्रेक्ष्य पिङ्गाक्षमायान्तं दानवा विप्रदुद्रुवुः ॥ ५३ ॥

पिङ्गल नेत्रवाले कुबेर अवध्य हैं और पुनः दानवोंका संहार करनेके लिये उठ गये हैं । यह जानकर उन्हें आते देख समस्त दानव सहसा भाग खड़े हुए ॥ ५३ ॥

तांस्तु विद्रवतो दृष्ट्वानुह्लादो ह्यसुरोऽब्रवीत्।
कालनेमिं दानवं च वीर्यदर्पसमन्वितम् ॥ ५४ ॥
आत्मानं चैव वीर्यं च विस्मृत्याभिजनं तथा।
क्व गच्छथ भयत्रस्ताः प्राकृता इव दानवाः ॥ ५५ ॥
निवर्तध्वं महावीर्याः किं प्राणान् परिरक्षथ।
नालं युद्धाय यक्षोऽयं महतीयं विभीषिका ॥ ५६ ॥

उन सबको भागते देख असुर अनुह्लादने कहा—'महापराक्रमी दानवो ! तुमलोग बल और दर्पसे भरे हुए दानव कालनेमिको, अपनेको तथा अपने पराक्रम और कुलको भूलकर निम्नश्रेणीके मनुष्योंकी भाँति भयभीत होकर कहाँ भागे जा रहे हो। लौट आओ ! क्यों अपने प्राण बचानेकी चेष्टामें लगे हो। यह यक्ष युद्ध करनेमें समर्थ नहीं है, यह गर्जना इसकी महती विभीषिकामात्र है ॥ ५४—५६ ॥

एतां विभीषिकामद्य दानवानां समुत्थिताम्।
विक्रम्य विधमिष्यामि निवर्तध्वं महासुराः ॥ ५७ ॥

'महान् असुरो ! तुमलोग लौट आओ। मैं यक्षराजकी इस विभीषिकाको, जो दानवोंके लिये उठी हुई है, पराक्रमपूर्वक नष्ट कर दूँगा' ॥ ५७ ॥

तेऽसुराः संनिवृत्ताश्च समदा इव कुञ्जराः।
निजघ्नुः परमक्रुद्धा देवसैन्यं महासुराः ॥ ५८ ॥

यह सुनकर मतवाले हाथियोंके समान वे असुर लौट आये और अत्यन्त क्रोधमें भरकर वे महान् असुर देवसेनाका संहार करने लगे ॥ ५८ ॥

क्षीणप्रहरणाः केचिन्महामेघनिभस्वनाः।
दर्पोत्कटा भुजैरेव सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ॥ ५९ ॥

कितने ही दैत्य आयुधोंके नष्ट हो जानेसे महान् मेघके समान केवल गर्जना कर रहे थे । कितने ही उत्कट दर्पसे युक्त हो भुजाओंसे ही प्रहार करते थे ॥ ५९ ॥

प्रांशुभिश्चैव काष्ठैश्च शिलाभिश्च महाबलाः।
बाहुभिश्च तथान्योन्यमाक्षिपन्ति स्म वेगिताः ॥ ६० ॥

वे महान् बलशाली वेगवान् योद्धा ऊँचे-ऊँचे काष्ठों, शिलाओं तथा भुजाओंद्वारा एक दूसरेपर प्रहार करते थे ॥

मुष्टिभिश्च तलैश्चैव नखपातैर्महाबलाः।
पादपैश्च महाशाखैरयुध्यन्त रणाजिरे ॥ ६१ ॥

महाबली सैनिक उस समराङ्गणमें मुक्कों, थप्पड़ों, नखप्रहारों तथा बड़ी-बड़ी शाखाओंवाले वृक्षोंद्वारा युद्ध करते थे ॥

अनुह्लादस्तु संक्रुद्धो देवतानां महाचमूम्।
ममन्थ परमायत्तो वनान्यग्निरिवोत्थितः ॥ ६२ ॥

क्रोधमें भरा हुआ अनुह्लाद विजयके लिये परम प्रयत्नशील हो देवताओंकी उस विशाल वाहिनीको उसी प्रकार मथने लगा, जैसे प्रज्वलित हुआ दावानल जंगलोंको जलाकर भस्म कर डालता है ॥ ६२ ॥

रुधिरार्द्रास्तु बहवः शेरते योधसत्तमाः।
विकृताः पतिता भूमौ ताम्रपुष्पा इव द्रुमाः ॥ ६३ ॥

बहुत-से श्रेष्ठ योद्धा रक्तसे भी भीगकर विकृत अवस्थामें भूमिपर पड़े हुए सो रहे थे, जो लाल फूलवाले वृक्षोंके समान शोभा पाते थे ॥ ६३ ॥

अनुह्लादस्य विक्रान्तो देवस्त्वाशीविषोपमान्।
युध्यमानस्य समरे न्यसृजन्निशिताञ्छरान् ॥ ६४ ॥

पराक्रमी देवता कुबेर समरभूमिमें जूझते हुए अनुह्लादपर विषधर सर्पोंके समान भयंकर और पैने बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ६४ ॥

धनाधिपेन विद्धस्य अनुह्लादस्य संयुगे।
अङ्गारमिश्राः क्रुद्धस्य मुखान्निश्चेरुरर्चिषः ॥ ६५ ॥

युद्धमें धनाध्यक्ष कुबेरद्वारा घायल किये गये अनुह्लादके मुखसे क्रोधवश अङ्गारयुक्त आगकी लपटें निकलने लगीं ॥

अथ बाणसहस्रेण वित्तेशं दानवोत्तमः।
विव्याध स शरैः क्रुद्धो दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ६६ ॥

तब कुपित हुए दण्डधारी यमराजके समान दानवशिरोमणि अनुह्लादने धनेश्वर कुबेरको अपने सहस्रों बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ६६ ॥

कुबेरस्तु शरैर्भिन्नः समन्तात् क्षतजोक्षितः।
रुधिरं परिसुस्राव गिरिः प्रस्रवणैरिव ॥ ६७ ॥

सब ओरसे बाणोंद्वारा विदीर्ण हुए कुबेर रक्तसे नहा गये। जैसे झरनोंसे युक्त पर्वत पानीकी धारा बहाता है, उसी प्रकार कुबेर अपने अङ्गोंसे रक्त बहाने लगे (और बेहोश हो गये) ॥ ६७ ॥

लब्ध्वा स तु पुनः संज्ञां रोषरक्तेक्षणः सुरः।
गदामथ समासाद्य भीमां भीमपराक्रमः।
चिक्षेप दैत्यमुद्दिश्य बलात् क्रोधेन मूर्छितः ॥ ६८ ॥

पुनः होशमें आनेपर रोषसे लाल आँखें किये भयानक पराक्रमी देवता कुबेरने भयंकर गदा हाथमें ले क्रोधसे अचेत-से होकर उस दैत्यको लक्ष्य करके उसे बलपूर्वक दे मारा ॥

अप्राप्तामन्तरे सोऽथ तां गदां गदयासुरः।
बभञ्ज विनदन् क्रुद्धस्तदाश्चर्यमभूत् तदा ॥ ६९ ॥

किंतु सिंहनाद करते हुए उस दैत्यने निकट आनेसे पहले ही अपनी गदासे उस गदाको क्रोधपूर्वक बीचमें ही तोड़ डाला। उस समय वह एक आश्चर्यकी-सी बात हुई ॥

प्रगृह्य तु गदां भूयो ह्यभिदुद्राव दानवम्।
तमापतन्तं दृष्ट्वैव अनुह्रादो महाबलः ॥ ७० ॥
गिरिशृङ्गमिवोत्पाट्य कैलासाचलसंनिभम्।
धनाधिपं प्रदुद्राव व्यादितास्य इवान्तकः ॥ ७१ ॥

कुबेर पुनः गदा लेकर उस दानवकी ओर दौड़े। महाबली अनुह्राद उन्हें आक्रमण करते देख कैलास पर्वतके सदृश विशाल शैलशिखर-सा उखाड़कर मुँह बाये हुए कालके समान धनाध्यक्षकी ओर दौड़ा ॥ ७०-७१ ॥

तमन्तकमिवायान्तमजेयं सकलैः सुरैः।
ग्रसन्तमिव तं दैत्यं त्रैलोक्यमखिलं रुषा ॥ ७२ ॥
तमालोक्य तथा भूतं धनाध्यक्षो रणं भयात्।
अपहाय ययौ तत्र यत्र शक्रः सुराधिपः ॥ ७३ ॥

वह दैत्य समस्त देवताओंके लिये अजेय था और यमराजके समान रोषवश सम्पूर्ण त्रिलोकीको ग्रस लेनेके लिये उद्यत जान पड़ता था। उसे उस रूपमें आते देख धनाध्यक्ष कुबेर भयके कारण रणभूमिको त्यागकर उस स्थानपर चले गये, जहाँ देवराज इन्द्र युद्ध करते थे ७२-७३

तस्य चापि महत् कर्म दृष्ट्वा वित्तपतिस्तदा।
जगाम भयसंत्रस्तो यत्र देवः शचीपतिः ॥ ७४ ॥

उसका महान् पराक्रम देखकर धनपति कुबेर भयसे थर्रा उठे और जहाँ शचीपति इन्द्र थे, वहीं चले गये ॥७४॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे देवासुरयुद्धे अनुह्रादकुबेरयुद्धवर्णने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें देवासुरसंग्राममें अनुह्राद और कुबेरके युद्धका वर्णनविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

वरुणका विप्रचित्तिके साथ युद्ध और पराजय

वैशम्पायन उवाच

विप्रचित्तिस्तु वरुणं दैत्यानामादिरव्ययम्।
जघानेषुगणैः क्रुद्धो दीप्तैरिव महोरगैः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दैत्योंके आदि पुरुष विप्रचित्तिने अविनाशी देवता वरुणको क्रोधपूर्वक अपने बाणसमूहोंसे घायल कर दिया। उसके वे बाण तेजस्वी सर्पोंके समान जान पड़ते थे ॥ १ ॥

स दह्यमानो दैत्येन दीप्तैः शरगभस्तिभिः।
नाभ्यजानत कर्तव्यं संग्रामे स जलेश्वरः ॥ २ ॥

वह दैत्य जब बाणरूपी दीप्तिमान् किरणोंसे वरुणको दग्ध करने लगा, उस समय संग्राममें खड़े हुए जलेश्वर वरुण यह भी न समझ सके कि अब मुझे क्या करना चाहिये ॥ २ ॥

सर्वलोकेश्वरस्येव परमेष्ठी प्रजापतिः।
न शक्नोत्यग्रतः स्थातुं विप्रचित्तेर्जलाधिपः ॥ ३ ॥

जैसे सर्वलोकेश्वर परमात्माके समक्ष प्रजापति परमेष्ठी नहीं ठहर सकते, इसी प्रकार दानवराज विप्रचित्तिके आगे जलके स्वामी वरुण नहीं ठहर सके ॥ ३ ॥

वज्रो नाम महाव्यूहो निर्भयः सर्वतोमुखः।
तं व्यूह्य प्रत्ययुध्यन्त दानवा देववाहिनीम् ॥ ४ ॥

वज्रनामक महान् व्यूहका मुख सब ओर होता है, वह सर्वथा निर्भय हुआ करता है। उसी व्यूहका आश्रय लेकर दानव-योद्धा देवसेनाके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४ ॥

वह्निज्वालासमं तत्र रविमण्डलसंनिभम्।
मुखमाभाति दैत्यस्य विप्रचित्तेर्महात्मनः ॥ ५ ॥

महामनस्वी विप्रचित्ति नामक दैत्यका मुख वहाँ अग्निज्वाला तथा सूर्यमण्डलके समान प्रकाशित होता था ॥ ५ ॥

वरुणस्तु महातेजा विप्रचित्तिं महासुरम्।
प्रदहन्निव तेजोभिर्जिगीषुः प्रत्यवैक्षत ॥ ६ ॥

महातेजस्वी वरुणने विजयकी इच्छा मनमें लेकर विप्रचित्ति नामक महान् असुरकी ओर इस प्रकार देखा, मानो वे अपने तेजसे उसको दग्ध कर डालेंगे ॥ ६ ॥

स्रग्दाममालाभरणः केयूराङ्गदभूषणः।
जग्राह परिघं दैत्यः कैलासशिखरोपमम् ॥ ७ ॥

दैत्य विप्रचित्ति फूलोंके हार तथा सुवर्ण आदिकी मालाओंसे अलंकृत था। उसकी भुजाओंमें केयूर तथा अङ्गद नामक आभूषण शोभा दे रहे थे। उसने कैलासशिखरके समान एक परिघ हाथमें लिया ॥ ७ ॥

पिनद्धं काञ्चनैः पट्टैर्हेममालिनमायसम्।
यमदण्डोपमं घोरं दैत्यानां भयनाशनम् ॥ ८ ॥

उसपर सोनेके पत्र जड़े हुए थे। वह परिघ लोहेका बना हुआ था और सोनेकी मालासे अलंकृत था। देखनेमें यमदण्डके समान भयंकर था, किंतु दैत्योंके भयका नाश करनेवाला था ॥ ८ ॥

भ्रामयामास संक्रुद्धो महाशक्रध्वजोपमम्।
विननाद विवृत्तास्यो विप्रचित्तिर्महासुरः ॥ ९ ॥

महान् असुर विप्रचित्तिने अत्यन्त कुपित होकर इन्द्र

ध्वजके समान उस विशाल परिघको घुमाया और मुँह फैलाकर बड़ी जोर-जोरसे गर्जना की ॥ ९ ॥

स कण्ठस्थेन निष्केण भुजस्थैरपि चाङ्गदैः ।
कुण्डलाभ्यां विचित्राभ्यां भ्राजते काञ्चनस्रजा ॥ १० ॥

उसके कण्ठमें सुवर्णमय पदक, भुजाओंमें बाजूबंद, कानोंमें विचित्र कुण्डल तथा वक्षःस्थलपर सोनेके हार सुशोभित थे, जिनसे वह दानव प्रकाशित हो रहा था ॥ १० ॥

दानवो भूषणैर्भाति परिघेणायसेन च ।
यथेन्द्रधनुषा मेघः सविद्युत्स्तनयित्नुमान् ॥ ११ ॥

लोहेके परिघ और सोनेके आभूषणोंसे युक्त वह दानव इन्द्रधनुष, विद्युत् और गर्जनासे युक्त मेघके समान शोभा पा रहा था ॥ ११ ॥

प्रस्फुरन् परिघास्त्रेण वातस्कन्धान्महास्वनः ।
जज्वाल च सधूमार्चिः साङ्कर्षण इवानलः ॥ १२ ॥

परिघनामक अस्त्रसे वायुसमूहोंको संचालित करते हुए जोर-जोरसे सिंहनाद करनेवाला वह दैत्य धूम और ज्वालाओं-सहित-प्रलयकालीन अग्निके समान प्रज्वलित हो उठा ॥

विद्याधरगणैः सार्धं गन्धर्वनगरैरपि ।
सह चैवामरावत्या सिद्धलोकैस्तथा सह ॥ १३ ॥
ग्रहनक्षत्रसहितं सार्कचन्द्रविभूषितम् ।
दैत्येन्द्रपरिघोद्धूतं भ्रमतीव नभस्तलम् ॥ १४ ॥

विद्याधरगण, गन्धर्वनगर, अमरावती पुरी तथा सिद्ध-लोकोंके साथ ग्रह-नक्षत्रोंसहित एवं सूर्य और चन्द्रमासे विभूषित आकाश उस दैत्यराजके परिघसे उद्भ्रान्त होकर चक्कर-सा काटने लगा ॥ १३-१४ ॥

दुरासदः सुसंजज्ञे परिघाभरणक्षमः ।
सुरेन्धनोऽसुरेन्द्राग्निर्युगान्ताग्निरिवोत्थितः ॥ १५ ॥

परिघको धारण करने और सब ओर घुमानेमें समर्थ वह दैत्य दुर्जय हो गया था । अग्निके समान तेजस्वी वह असुरराज विप्रचित्ति प्रलयकालकी आगके समान उठ खड़ा हुआ था, देवता उसकी आँचसे ईन्धनकी भाँति जल रहे थे ॥ १५ ॥

त्रिदशा वरुणश्चैव न शेकुः स्पन्दितुं भयात् ।
तत्रासीन्निर्भयस्त्वेकः कौशिको वासवः प्रभुः ॥ १६ ॥

देवता और वरुण उसके भयके मारे हिल-डुल भी न सके । वहाँ एकमात्र सामर्थ्यशाली कौशिक इन्द्र ही निर्भय खड़े रहे ॥ १६ ॥

भास्करप्रतिमं घोरं परिघं रौद्रदर्शनम् ।
पातयामास सेनायां जलेशस्य स दानवः ॥ १७ ॥

उस दानवने उस सूर्यतुल्य तेजस्वी घोर परिघको, जो देखनेमें बड़ा ही भयंकर था, जलेश्वर वरुणकी सेनामें गिराया ॥ १७ ॥

पतता तेन संग्रामे जलेशस्य महात्मनः ।
भूतानां शतसाहस्रं परिघेण समाहतम् ।
तेषां गात्राणि चासाद्य व्यशीर्यन्त सहस्रशः ॥ १८ ॥

संग्रामभूमिमें वहाँ गिरते हुए उस परिघने महात्मा वरुण-के एक लाख भूतोंको हताहत कर दिया । उस परिघसे टकरा-कर उनके शरीरोंके सहस्रों टुकड़े हो गये ॥ १८ ॥

विशीर्यमाणं विबभावुल्काशतमिवाम्बरे ।
भूयश्चैनं तदाऽऽभ्राम्य वरुणाय न्यपातयत् ॥ १९ ॥

जीर्ण-शीर्ण होते हुए वरुणके सैनिक आकाशमें सैकड़ों उल्काओंके समान प्रतीत हो रहे थे । तदनन्तर विप्रचित्तिने पुनः उस परिघको घुमाकर वरुणपर दे मारा ॥ १९ ॥

पात्यमाने तदा तस्मिञ्छरीरे वारुणे तदा ।
स भिन्नः परिघो घोरो देवगात्रे व्यशीर्यत ॥ २० ॥

वरुणके शरीरपर पड़ते ही उस परिघके टुकड़े-टुकड़े हो गये । वह भयंकर परिघ वरुणदेवके शरीरसे टकराकर टूक-टूक हो गया ॥ २० ॥

शीर्यमाणस्य चूर्णानि खद्योता इव चाम्बरे ।
स तु तेन प्रहारेण न चचाल जलाधिपः ॥ २१ ॥
परिघेण हतः संख्ये यथा वज्रहतोऽचलः ।

जीर्ण-शीण होकर गिरते हुए उस परिघके चूर्ण आकाश-में खद्योतोंके समान प्रकाशित होते थे । उस प्रहारसे जलेश्वर वरुण विचलित नहीं हुए । परिघकी मार खाकर भी वे युद्धमें वज्रसे आहत हुए पर्वतकी भाँति स्थिरभावसे खड़े रहे ॥ २१½ ॥

स्वसैन्येष्वपि भग्नेषु भिन्नदेहेषु चाहवे ॥ २२ ॥
मुहूर्तमगमत् क्षोभमपाम्पतिरमर्षणः ।
सोऽमर्षं च समापन्नो वरुणोऽमितविक्रमः ॥ २३ ॥

युद्धस्थलमें अपने सैनिकोंके भग्न एवं घायल होनेपर अमर्षशील जलेश्वर वरुणको दो घड़ीतक बड़ा क्षोभ रहा । वे अमित पराक्रमी वरुण अमर्षमें भर गये ॥ २२-२३ ॥

सर्वसंहारमकरोत् स्वपक्षस्यारिमर्दनः ।
स सागरैश्चतुर्भिश्च वृतो दीप्तैश्च पन्नगैः ॥ २४ ॥
शङ्खमुक्तामणिचितो बिभ्रत्तोयमयं वपुः ।
पाण्डुरोद्धूतवसनो नानारत्नविभूषितः ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् शत्रुमर्दन वरुणने अपने पक्षके सभी लोगोंको पूर्णतः संगठित किया । वे जलमय शरीर धारण करके शङ्खों और मुक्तामणियोंसे विभूषित हुए । उस समय चारों समुद्र उन्हें घेरकर खड़े हो गये । तेजस्वी सर्पोंने भी उनका साथ दिया । उनके श्वेत वस्त्र हवासे हिल रहे थे तथा वे नाना प्रकारके रत्नोंसे अलंकृत थे ॥ २४-२५ ॥

वरुणः पाशधृक्छ्रीमान् कूर्ममीनसमाकुलः ।
वरुणस्तु तदा क्रुद्धस्तान् निरीक्ष्य स्वसैनिकान् ॥ २६ ॥

उवाच दृष्ट्वा युध्यध्वं दानवानां जिघांसया।
अहमेनं हनिष्यामि भयं मुक्त्वा तु युध्यत ॥ २७ ॥

कछुओं और मत्स्योंसे व्याप्त हुए पाशधारी श्रीमान् वरुणदेवने कुपित हो अपने सैनिकोंकी ओर देखकर कहा—'वीरो! तुमलोग दानवोंके वधकी इच्छासे युद्ध करो। मैं इस दानवका वध करूँगा। तुमलोग भय छोड़कर युद्धमें डटे रहो' ॥ २६-२७ ॥

ततस्ते पन्नगाः सर्वे महार्णवजलाश्रयाः।
जघ्नुर्दैत्यान् रणमुखे नदन्तो जयगृद्धिनः ॥ २८ ॥

तब महासागरके जलमें निवास करनेवाले समस्त सर्प विजयकी अभिलाषासे सिंहनाद करते हुए युद्धके मुहानेपर दैत्योंका संहार करने लगे ॥ २८ ॥

ते तु नालीकनाराचैर्गदाभिर्मुसलैस्तथा।
अभ्यघ्नन् दानवान् हृष्टा मुदिता वरुणानुगाः ॥ २९ ॥

हर्ष और उल्लासमें भरे हुए वरुणके उन सैनिकोंने नालीक, नाराच, गदा और मुसलोंद्वारा दानवोंको मारना आरम्भ किया ॥ २९ ॥

विप्रचित्तिस्तु संक्रुद्धो महाबलपराक्रमः।
पन्नगानां शरीराणि व्यधमद् युद्धदुर्मदः ॥ ३० ॥

तब महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न रणदुर्मद विप्रचित्ति अत्यन्त कुपित हो सर्पोंके शरीरोंका विनाश करने लगा ॥ ३० ॥

गरुडेनापि चास्त्रेण पन्नगान् दानवोत्तमः।
समरे घातयामास गरुडैः पन्नगाशनैः ॥ ३१ ॥

उस दानव-शिरोमणिने गरुडास्त्रका प्रयोग करके सर्प-भोजी गरुड़ोंद्वारा समराङ्गणमें सर्पोंका संहार करा दिया ॥

स शरैः सूर्यसंकाशैः शातकुम्भविभूषितैः।
पन्नगान् समरे वीरः प्रममाथ सुदुर्जयान् ॥ ३२ ॥

संग्रामभूमिमें वीर विप्रचित्तिने सूर्यतुल्य तेजस्वी सुवर्ण-भूषित बाणोंद्वारा अत्यन्त दुर्जय सर्पोंको मथ डाला ॥ ३२ ॥

समरे भिन्नगात्रास्ते पन्नगाः शरपीडिताः।
पेतुर्मथितसर्वाङ्गा गजा इव महागजैः ॥ ३३ ॥

रणभूमिमें बाणोंसे पीड़ित हुए सभी सर्प घायल हो धराशायी हो गये। उस समय वे जिनके सारे अङ्ग महान् गजराजोंने मथ डाले हों उन हाथियोंके समान पृथ्वीपर पड़े थे ॥ ३३ ॥

तपन्तं तमिवादित्यं दीप्तैर्बाणगभस्तिभिः।
अभ्यधावत संक्रुद्धः समरे वरुणः प्रभुः ॥ ३४ ॥

उस समय समराङ्गणमें बाणरूपी दीप्तिमान् किरणोंद्वारा सूर्यके समान तपनेवाले उस दैत्यपर भगवान् वरुणने अत्यन्त क्रोधपूर्वक धावा किया ॥ ३४ ॥

ततस्तु दानवास्तत्र भिन्नदेहाः सहस्रशः।
व्यथिता विद्रवन्ति स्म दिशो दश विचेतसः ॥ ३५ ॥

फिर तो उनके द्वारा शरीर छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण वहाँ पीड़ित हुए सहस्रों दानव अचेत-से होकर दसों दिशाओंमें भागने लगे ॥ ३५ ॥

इन्द्रस्यार्थे पराक्रम्य वरुणस्त्यक्तजीवितः।
विनर्दमानो युयुधे समरे पाशभृद्वरः ॥ ३६ ॥

पाशधारियोंमें श्रेष्ठ वरुणदेव जीवनका मोह छोड़कर पराक्रमपूर्वक गर्जना करते हुए समरभूमिमें इन्द्रके लिये युद्ध करने लगे ॥ ३६ ॥

वरुणः पन्नगाश्चैव मुष्टिभिः समरोत्कटाः।
अभ्यवर्तन्त समरे विप्रचित्तिं महासुरम् ॥ ३७ ॥

वरुण और सर्प युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे; वे शत्रुओंपर मुक्कोंका प्रहार करते हुए संग्रामभूमिमें महान् असुर विप्रचित्तिका सामना करने लगे ॥ ३७ ॥

ततोऽस्त्रैश्च शिलाभिश्च प्राहरत् स बलोत्कटः।
व्यपोहत महातेजा विप्रचित्तिर्महासुरः ॥ ३८ ॥

तत्पश्चात् उत्कट बलशाली, महातेजस्वी महान् असुर विप्रचित्तिने अस्त्रों और शिलाओंद्वारा प्रहार किया और शत्रुओंको मार भगाया ॥ ३८ ॥

ततः पावकसंकाशैः स मुक्तैः शीघ्रगामिभिः।
वरुणस्य महावेगान् विभेद समरे हयान् ॥ ३९ ॥

उसने अपने धनुषसे छूटे हुए अग्नितुल्य तेजस्वी एवं शीघ्रगामी बाणोंद्वारा वरुणके महान् वेगशाली घोड़ोंको समराङ्गणमें क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ३९ ॥

कर्मणा तेन महता विप्रचित्तेर्महात्मनः।
अग्नेराज्याहुतस्येव तेजः समभिवर्धत ॥ ४० ॥

जैसे घीकी आहुति देनेसे अग्निका तेज बढ़ता है, उसी प्रकार उस महान् कर्मसे महामनस्वी विप्रचित्तिका तेज एवं प्रताप बढ़ने लगा ॥ ४० ॥

स शरैः सूर्यसंकाशैः सुमुक्तैः शीघ्रगामिभिः।
वारुणीं तां महासेनां निर्ममन्थ महाबलः ॥ ४१ ॥

उस महाबली दानवने भलीभाँति छोड़े गये शीघ्रगामी एवं सूर्यतुल्य तेजस्वी बाणोंद्वारा वरुणदेवकी उस विशाल सेनाको मथ डाला ॥ ४१ ॥

क्षीणास्त्रां सायकाक्रान्तां शरजालेन मोहिताम्।
शूलशक्त्यृष्टिभिन्नां च चकार रुधिरोक्षिताम् ॥ ४२ ॥

उसने वरुणके सैनिकोंके अस्त्र-शस्त्र काट डाले, उन्हें सायकोंसे आक्रान्त कर दिया; वे सब-के-सब उसके बाणजालसे आच्छादित होकर मोहके वशीभूत हो गये, विप्रचित्तिने उन सबको शूल, शक्ति और ऋष्टि आदि शस्त्रोंसे घायल करके लहूसे लथपथ कर दिया ॥ ४२ ॥

स शरैर्वह्निसंकाशैः सुमुक्तैर्नतपर्वभिः ।
वरुणस्य महावेगान् बिभेद समरे हयान् ॥ ४३ ॥

उस दानवने उत्तम रीतिसे छोड़े गये झुकी हुई गाँठवाले अग्नितुल्य तेजस्वी बाणोंद्वारा समरभूमिमें वरुण देवताके महान् वेगशाली घोड़ोंको घायल कर दिया ॥

अभिद्रुतोऽथ दैत्येन ससैन्यः सलिलाधिपः ।
महेन्द्रं शरणं प्राप्तो विप्रचित्तेर्भयार्दितः ॥ ४४ ॥

उस दैत्यने जलके स्वामी वरुणको सेनासहित वहाँसे भाग जानेको विवश कर दिया । वे विप्रचित्तिके भयसे पीड़ित हो देवराज इन्द्रकी शरणमें चले गये ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामने वरुणविप्रचित्तियुद्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें वरुण और विप्रचित्तिका युद्धविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

अग्निद्वारा दैत्योंकी पराजय तथा बृहस्पतिके द्वारा अग्निदेवका स्तवन

वैशम्पायन उवाच

पराजयं तु देवानां दृष्ट्वाग्निर्देवसत्तमः ।
चकार बुद्धिं दैत्यानां वधे ब्रह्मर्षिभिः स्तुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवताओंकी यह पराजय देखकर ब्रह्मर्षियोंद्वारा प्रशंसित देवशिरोमणि अग्निने दैत्योंके वधका विचार किया ॥ १ ॥

स्वयंप्रभायाः शाण्डिल्या यः पुत्रो हव्यवाहनः ।
हिरण्यरेताः पिङ्गाक्षो देवहूतो हुताशनः ॥ २ ॥
रोहितो लोहितग्रीवो हर्ता दाता हविः कविः ।
पावको विश्वभुग् देवः सर्वदेवाननः प्रभुः ॥ ३ ॥
सुब्रह्मात्मा सुवर्चस्कः सहस्रार्चिर्विभावसुः ।
कृष्णवर्त्मा चित्रभानुर्देवानामपि देवराट् ॥ ४ ॥
लोकसाक्षी द्विजहुतः सदर्चिष्मान् वषट्कृतः ।
हव्यभक्षः शमीगर्भस्वयोनिः सर्वकर्मकृत् ॥ ५ ॥
पावनः सर्वभूतानां त्रिदशानां तपोनिधिः ।
शमनः सर्वपापानां लेलिहानस्तपोमयः ॥ ६ ॥
प्रदक्षिणावर्तशिखः शुचिरोमा महाकृतिः ।
हव्यभुग् भूतभव्येशो यज्ञभागहरो हरिः ॥ ७ ॥
सोमपः सुमहातेजा भूतेशः सुमहातपाः ।
अधृष्यः पावको भूतिर्भूतात्मा वै स्वधाधिपः ॥ ८ ॥
स्वाहापतिः सामगीतः सोमपूताशनोऽद्रिधृक् ।
देवदेवो महाक्रोधो रुद्रात्मा ब्रह्मसम्भवः ॥ ९ ॥
लोहिताश्वं वायुचक्रं रथमास्थाय भूतधृक् ।
धूमकेतुर्धूमशिखो नीलवासाः सुरोत्तमः ॥ १० ॥
उद्यम्य दिव्यमाग्नेयं शस्त्रं देवो रणे महान् ।
दानवानां सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ॥ ११ ॥
ददाह भगवान् वह्निः संक्रुद्धः प्रलये यथा ।

जो स्वयंप्रभा शाण्डिलीके पुत्र हैं, हविष्यका वहन करते हैं । सुवर्ण जिनका रेतस् (वीर्य) है । जिनके नेत्र पिङ्गल वर्णके हैं । देवता जिनका आवाहन करते हैं । जो आहुतिमें प्राप्त हुए हविष्यका भक्षण करते हैं । जिनका वर्ण लाल है । जिनकी ग्रीवा भी लाल रंगकी बतायी गयी है । जो दोषोंका हरण करनेवाले, दाता, हव्य-कव्यस्वरूप, पवित्र करनेवाले, विश्वभोक्ता, देव, सम्पूर्ण देवताओंके मुख तथा सब कुछ करनेमें समर्थ हैं । सुन्दर वेद जिनके स्वरूप हैं । जो उत्तम तेजसे सम्पन्न हैं । जिनसे सहस्रों ज्वालाएँ उठती रहती हैं । विभा (उत्कृष्ट प्रभा) ही जिनका वसु (धन) है । जिनका मार्ग कृष्ण है । जो विचित्र किरणोंसे प्रकाशित होते हैं तथा देवताओंके भी देवराज हैं । जिन्हें सम्पूर्ण जगत्का साक्षी माना गया है । द्विजगण जिन्हें आहुति देकर तृप्त करते हैं । जो उत्तम ज्वालाओंसे सम्पन्न और वषट्कारस्वरूप हैं । शमीगर्भ—अश्वत्थ ही जिनके लिये अपने प्राकट्यका कारण है । जो हविष्यभोक्ता तथा सम्पूर्ण वैदिक कर्मोंको सम्पन्न करनेवाले हैं । जो सम्पूर्ण भूतोंको पवित्र करनेवाले, देवताओंमें तपोनिधि, पापोंको शान्त करनेमें समर्थ, अपनी ज्वालारूपी जिह्वाओंको लपलपानेवाले और तपोमय हैं । जिनकी शिखा (ज्वाला) दक्षिणावर्त होती है । जिनका धूम पवित्र है । यज्ञ जिनका स्वरूप है । जो हविष्यके भोक्ता, भूत और वर्तमानके स्वामी, यज्ञभागको पहुँचानेवाले तथा श्रीहरिस्वरूप हैं । जो सोमपान करनेवाले, महान् तेजसे सम्पन्न, भूतनाथ, महातपस्वी, अजेय, पावक, ऐश्वर्यस्वरूप, सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा और स्वधाके स्वामी हैं । साममन्त्रोंद्वारा जिनकी महिमा गायी गयी है । जो स्वाहा-देवीके पति हैं, सोमयागके द्वारा पवित्र सोमरसका पान करते हैं । जिनके लिये सोमरस निकालनेके निमित्त लोढ़े धारण किये जाते हैं । जो देवताओंके भी देवता, महाक्रोधी, रुद्रस्वरूप तथा ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए हैं । वे सम्पूर्ण भूतोंको धारण करनेवाले, धूमरूपी ध्वजा एवं शिखासे युक्त, नील-वस्त्रधारी, सुरश्रेष्ठ महान् देवता भगवान् अग्निदेव लाल घोड़ों और वायुरूपी पहियोंवाले रथपर आरूढ़ हो रणभूमिमें दिव्य आग्नेयास्त्र उठाकर प्रलयकालकी भाँति कुपित हो

सहस्रों, लाखों और अर्बुदों दानवोंको दग्ध करने लगे ॥ २–११½ ॥

प्राणो यः सर्वभूतानां देहे तिष्ठति पञ्चधा ॥ १२ ॥
यन्ता यश्च हुताशस्य सखा च प्रभुरीश्वरः ।
प्रभञ्जनो यो लोकानां युगान्ते सर्वनाशनः ॥ १३ ॥
सप्तस्वरगता यस्य योनिर्गीर्भिरुदीर्यते ।
यो ह्याकाशमयो देवो दूरगः सर्वसम्भवः ॥ १४ ॥
यश्च कर्ता विकर्ता च गतिर्गतिमतां प्रभुः ।
वेदकर्ता समो लोके ब्रह्मणा यः सनातनः ॥ १५ ॥
अमूर्तिमन्तं यं प्राहुर्महाभूतं महत्तरम् ।
सोऽग्निं समीरयामास शमीगर्भं समीरणः ॥ १६ ॥

जो समस्त प्राणियोंके शरीरमें पाँच प्राणोंके रूपमें निवास करते हैं । जो अग्निदेवके सारथि और सखा हैं, जो प्रभावशाली तथा ईश्वर हैं । जो प्रलयकालमें समस्त लोकोंका भञ्जन करनेवाले और सर्वसंहारकारी हैं । जिनकी उत्पत्तिका कारणभूत आकाश श्रुतियोंद्वारा सप्तस्वरमय नाद-ब्रह्मको प्राप्त बताया जाता है । जो आकाशमय देवता हैं, दूरतक जानेकी शक्ति रखते हैं तथा सबकी उत्पत्तिके कारण हैं । जो कर्ता (स्रष्टा) और विकर्ता (संहारक) हैं, जङ्गम प्राणियोंकी गति और प्रभु हैं । जो परमात्माके निःश्वासरूपसे वेदमन्त्रोंको प्रकट करनेवाले हैं । लोकमें चतुर्मुख ब्रह्माके समान सनातन पुरुष हैं तथा जिन्हें सबसे महान् अमूर्त महाभूत कहा गया है, उन सर्वप्रेरक वायु-देवने शमीगर्भसे उत्पन्न अग्निदेवको प्रेरणा देकर सबल बनाया ॥ १२—१६ ॥

त्रिदिवारोहिभिर्ज्वालैर्जृम्भमाणो दिशो दश ।
दानवानामभावाय युगान्ताग्निरिवोत्थितः ॥ १७ ॥

वे स्वर्गलोकतक फैली हुई अपनी ज्वालाओंद्वारा दसों दिशाओंमें बढ़ने लगे और दानवोंका विनाश करनेके लिये प्रलयकालीन अग्निके समान उठ खड़े हुए ॥ १७ ॥

मेदोमज्जामहापङ्कां केशशैवलशालिनीम् ।
योधशीर्षोपलवहां मृतद्विपतटोत्कटाम् ॥ १८ ॥
शोणितोदां रणे दृष्ट्वा संग्रामसरितं विभुः ।
वह्निः प्रस्कन्दयामास दैत्यानां भयवर्धनः ॥ १९ ॥

मेदा और मज्जा जिसमें महान् पङ्क थे, जो केशरूपी सेवारोंसे सुशोभित होती थी, योद्धाओंके कटे हुए मस्तक जिसमें प्रस्तरखण्डोंके समान प्रतीत होते थे, मरे हुए हाथियोंकी लाशें जिसके ऊँचे तटोंकी भाँति जान पड़ती थीं तथा जिसमें रक्तरूपी जल बह रहा था, रणभूमिमें उस संग्राम-सरिताको देखकर दैत्योंका भय बढ़ानेवाले भगवान् अग्निदेवने उसे और भी तीव्र गतिसे प्रवाहित किया ॥ १८-१९ ॥

ततोऽग्निर्दितिजान् सर्वान् प्रह्लादप्रमुखांस्तथा ।
पराजयानः स विभुः क्रोशमानो महामृधे ॥ २० ॥

तदनन्तर उस महासमरमें गर्जना करते हुए व्यापक अग्निदेव प्रह्लाद आदि समस्त दैत्योंको पराजित करने लगे ॥ २० ॥

केचित् प्रदीप्तैर्मुकुटैः केचिद् दीप्तैः शिरोरुहैः ।
केचित् प्रदीप्तवसनैः केचिद् दीप्तैर्भुजाननैः ॥ २१ ॥
केचित् प्रदीप्तैरुरुभिः केचिच्छत्रैर्ध्वजै रथैः ।
असुरास्तत्र दृश्यन्ते प्रदीप्तेनाग्निना वृताः ॥ २२ ॥

किन्हींके मुकुट जलने लगे, किन्हींके सिरके बालोंमें आग लग गयी, किन्हींके कपड़े जलने लगे, किन्हींकी भुजाओं और मुखोंमें आग जल उठी, किन्हींकी जाँघें जल गयीं और किन्हींके छत्र, ध्वज तथा रथ जलकर भस्म हो गये । वहाँ समस्त असुर प्रज्वलित आगकी लपटोंसे घिरे दिखायी देने लगे ॥ २१-२२ ॥

त्यक्त्वाऽऽयुधानि सर्वाणि सध्वजांश्च रथोत्तमान् ।
प्रयान्ति समरे भीताः पावकेन पराजिताः ॥२३॥

उस पावकसे पराजित एवं भयभीत हो समस्त दैत्य-दानव समरभूमिमें अपने सारे आयुधों और ध्वजसहित उत्तम रथोंको त्यागकर भागने लगे ॥ २३ ॥

न च पश्यन्ति ते वह्निं प्रदीप्तं ध्वजिनीमुखे ।
दिशः खड्गांश्च मेघांश्च दीप्तान् पश्यन्ति दानवाः ॥२४॥

वे दानव सेनाके मुहानेपर प्रज्वलित हुई अग्निकी ओर नहीं देख पाते थे । उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओं, खड्गों और मेघोंको भी जलता ही देखा ॥ २४ ॥

ध्रुवः स्वयम्भुवा सृष्टो युगान्तस्तोययोनिना ।
इत्येवं दानवाः सर्वे मेनिरे त्रस्तचेतसः ॥ २५ ॥

वे त्रस्तचित्त समस्त दानव ऐसा मानने लगे कि निश्चय ही जलमें शयन करनेवाले स्वयम्भू नारायणदेव अथवा जलके कारणभूत अग्निदेवने प्रलय आरम्भ कर दिया है॥२५॥

मयश्च शम्बरश्चैव महामायाधरौ तदा ।
पार्जन्यवारुणी माये सृजतां वारिविक्षरे ॥ २६ ॥

मय और शम्बरासुर—ये दो दानव उन दिनों बड़े भारी मायावी थे । इन दोनोंने वहाँ पार्जन्य और वरुणास्त्ररूपिणी मायाओंकी सृष्टि की, जो जलकी वर्षा करनेवाली थीं॥२६॥

ताभ्यां वह्निः स मायाभ्यां सिच्यमानः समन्ततः ।
तोयौघैः पर्वतनिभैर्मृद्वर्चिरभवद् रणे ॥२७॥

उन दोनों मायाओंने जब पर्वत-सदृश जल-प्रवाहोंसे अग्निदेवको सब ओरसे सींचना आरम्भ किया, तब उस रणभूमिमें उनकी ज्वाला कुछ मन्द हो गयी ॥ २७ ॥

शम्यमाने तु समरे पावके दैत्यनाशिनि ।
बृहत्कीर्तिर्बृहत्तेजा वह्निमाह बृहस्पतिः ॥ २८ ॥

समराङ्गणमें दैत्यनाशन अग्निदेवके शान्त होनेपर महायशस्वी एवं महातेजस्वी बृहस्पतिने उन्हें सम्बोधित करके कहा ॥ २८ ॥

गुरुरुवाच

हिरण्यरेतः सुमुख ज्वलनाह्वय सर्वभुक्।
सप्तजिह्वानन क्षाम लेलिहान महाबल ॥ २९ ॥

बृहस्पति बोले—अग्निदेव ! सुवर्ण आपका वीर्य है, मुख सुन्दर है । आप ज्वलन नामसे विख्यात हैं, सर्वभोक्ता हैं । आपके मुखमें सात जिह्वाएँ हैं । आप सबको क्षीण करनेवाले हैं । लपलपाती जिह्वाओंसे सबको चाट जानेवाले महाबली पावक ! आपकी जय हो ॥ २९ ॥

आत्मा वायुस्तव विभो शरीरं सर्ववीरुधः ।
योनिरापश्च ते प्रोक्ता योनिस्त्वमसि चाम्भसः॥ ३० ॥

विभो ! वायु आपकी आत्मा है । सब प्रकारके वृक्ष-वनस्पति आपके शरीर हैं । जलको आपकी योनि बताया गया है और आप भी जलकी योनि हैं ॥ ३० ॥

ऊर्ध्वं चाधश्च गच्छन्ति संचरन्ति च पार्श्वतः ।
अर्चिषस्ते महाभाग सर्वतः प्रभवन्ति च ॥ ३१ ॥

महाभाग ! आपकी ज्वालाएँ ऊपर और नीचेको जाती हैं, पार्श्वभाग (अगल-बगल) में भी संचरण करती हैं तथा सब ओरसे उनका प्रादुर्भाव होता है ॥ ३१ ॥

त्वमेवाग्ने सर्वमसि त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
त्वं धारयसि भूतानि भुवनं त्वं बिभर्षि च ॥ ३२ ॥

अग्ने ! आप ही सब कुछ हैं । यह सम्पूर्ण जगत् आपमें ही प्रतिष्ठित है । आप समस्त भूतों और सम्पूर्ण भुवनोंका धारण-पोषण करते हैं ॥ ३२ ॥

त्वमग्ने हव्यवाडेकस्त्वमेव परमं हविः ।
यजन्ति च सदा सन्तस्त्वामेव परमाध्वरे ॥ ३३ ॥

अग्ने ! एकमात्र आप ही देवताओंके पास हविष्य पहुँचानेवाले हैं । आप ही उत्तम हविष्य हैं । साधु पुरुष श्रेष्ठ यज्ञमें सदा आपका ही यजन करते हैं ॥ ३३ ॥

त्वमन्नं प्राणिनां भुङ्क्षे जगत्त्रातासि त्वं प्रभो ।
त्वयि प्रवृत्तो विजयस्त्वयि लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ३४ ॥

प्रभो ! आप समस्त प्राणियोंका अन्न खाते हैं और सारे जगत्की रक्षा करते हैं । आपमें ही विजयकी प्रवृत्ति होती है और आपमें ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं ॥ ३४ ॥

सर्वाँल्लोकांस्त्रीनिमान् हव्यवाह
प्राप्ते काले त्वं पचस्येव दीप्तः ।
त्वमेवैकस्तपसे जातवेदो
नान्यस्त्वत्तो विद्यते गोषु देव ॥ ३५ ॥

हव्यवाहन ! आप प्रलयका समय आनेपर प्रज्वलित हो इस सम्पूर्ण त्रिलोकीको जला पचा डालते हैं । अग्निदेव ! एकमात्र आप ही सूर्यरूपसे तपते हैं । आपके सिवा दूसरा कोई उन किरणोंमें ताप देनेवाला नहीं है ॥ ३५ ॥

वृषाकपिः सिन्धुपतिस्त्वमग्ने
महामखेष्वग्र्यहरस्त्वमेव ।
विश्वस्य भूम्नस्त्वमसि प्रसूति-
स्त्वं च प्रतिष्ठा भगवन् प्रजानाम् ॥ ३६ ॥

अग्ने ! आप ही सूर्यरूपसे जलको बरसाते और सोखते हैं । आप ही सिन्धुपति हैं तथा आप ही बड़े-बड़े यज्ञोंमें अग्रभागके अधिकारी हैं । भगवन् ! इस विराट् विश्वके प्रसव-स्थान भी आप ही हैं तथा आप ही समस्त प्रजाओंके आधार हैं ॥ ३६ ॥

सृजस्यपो रश्मिभिर्जातवेद-
स्तथौषधीरोषधीनां रसांश्च ।
विश्वं त्वमादाय युगान्तकाले
स्रष्टा भवस्यानल सर्गकाले ॥ ३७ ॥

अग्निदेव ! आप अपनी किरणोंसे जलकी सृष्टि करते हैं । आप ही ओषधियों तथा उनके रसोंके उत्पादक हैं । अनल ! आप युगान्तकालमें सम्पूर्ण विश्वको लेकर अपनेआपमें विलीन कर लेते हैं तथा सृष्टिकालमें पुनः संसारके स्रष्टा होते हैं ॥ ३७ ॥

त्वमग्ने सर्वभूतानां योनिर्वेदेषु गीयसे ।
त्वया देवहितार्थाय निहता दानवा रणे ॥ ३८ ॥

अग्निदेव ! सम्पूर्ण वेदोंमें आप ही समस्त प्राणियोंकी योनि बताये गये हैं । देव ! आपने ही देवताओंके हितके लिये रणभूमिमें दानवोंका वध किया है ॥ ३८ ॥

स्वयोनिस्ते महातेजस्तोयं मखशतार्चित ।
तां स्वयोनिं समासाद्य किं विषीदसि पावक ॥ ३९ ॥

सैकड़ों यज्ञोंद्वारा पूजित महातेजस्वी पावक ! जल तो आपकी अपनी ही योनि है । उस अपनी ही योनिको पाकर आप विषाद क्यों करते हैं ? ॥ ३९ ॥

त्रायस्व समरे देवान् दैत्येभ्यः सुरसत्तम ।
पिङ्गाक्ष लोहितग्रीव कृष्णवर्त्मन् हुताशन ॥ ४० ॥

सुरश्रेष्ठ ! कृष्णवर्त्मन् ! पिङ्गलनेत्र ! लोहितग्रीव ! हुताशन ! आप समराङ्गणमें देवताओंकी दैत्योंसे रक्षा करें ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनेऽग्निस्तवे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें अग्निकी स्तुतिविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

राजा बलिके प्रति प्रह्लादका वचन तथा बलिका देवसेनापर आक्रमण

वैशम्पायन उवाच

बृहस्पतेस्तु वचनं श्रुत्वा सत्यं समीरितम्।
भूयः प्रजज्वाल रणे हविषेव महामखे॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बृहस्पतिकी कही हुई यह सची बात सुनकर अग्निदेव उस रणक्षेत्रमें पुनः प्रज्वलित हो उठे, मानो किसी महायज्ञमें घृतकी आहुति पाकर वे फिरसे धधक उठे हों॥ १॥

हतास्तु माया दैत्यानां प्रदीप्तेनाग्निना रणे।
हतमाया हतबला बलिं ते समुपस्थिताः॥ २॥

समरभूमिमें प्रदीप्त अग्निके द्वारा दैत्योंकी सारी मायाएँ नष्ट कर दी गयीं। माया तथा बलके नष्ट हो जानेपर वे बलिकी सेवामें उपस्थित हुए॥ २॥

पराजितेषु दैत्येषु वह्निनाद्भुतकर्मणा।
प्रह्लादस्तूत्तरं वाक्यमाह दैत्यपतिं बलिम्॥ ३॥

अद्भुत कर्म करनेवाले अग्निके द्वारा समस्त दैत्योंके परास्त कर दिये जानेपर प्रह्लादने दैत्यराज बलिसे यह उत्तम बात कही—॥ ३॥

भवानग्निश्च वायुश्च भास्करः सलिलं शशी।
नक्षत्राणि दिशो व्योम भूश्च दानवसत्तम॥ ४॥

'दानवशिरोमणे! अग्नि, वायु, सूर्य, जल, चन्द्रमा, नक्षत्र, दिशाएँ, आकाश तथा पृथ्वी—सब कुछ तुम्हीं हो॥ ४॥

भविष्यं चैव भूतं च भवश्चासुरसत्तम।
दत्तं चैतद् भागवता वरदेन स्वयंभुवा॥ ५॥
इन्द्रत्वं चामरत्वं च युद्धे चाप्यपराजयः।
ईशित्वं च वशित्वं च बलं चैवामितं शुभम्॥ ६॥
सर्वभूतेश्वरत्वं च दैत्यराज सदा तव।
महायोगीश्वरत्वं च शूरत्वं च महामृधे॥ ७॥
अणिमा लघिमा चैव ये चान्ये सात्त्विका गुणाः।
तत्पराजित्य दैत्येन्द्र देवान् सर्वांश्च सानुगान्॥ ८॥
यथोक्तं ब्रह्मणा राजंस्तत्तथा न तदन्यथा।

'असुरप्रवर! भूत, वर्तमान और भविष्य भी तुम्हीं हो। दैत्यराज! वरदायक भगवान् स्वयम्भूने तुम्हें यह वर दिया है कि तुम इन्द्रत्व और अमरत्व प्राप्त करोगे, युद्धमें तुम्हारी पराजय नहीं होगी। ईशित्व, वशित्व, अपरिमित शुभ बल तथा सम्पूर्ण भूतोंका अधीश्वरत्व तुम्हें सदा प्राप्त होगा। तुम महायोगीश्वर होओगे और महासमरमें शौर्य प्राप्त करोगे। अणिमा, लघिमा तथा अन्य जो सात्त्विक गुण हैं, वे भी तुम्हें सुलभ होंगे, अतः दैत्यराज! तुम सेवकोंसहित समस्त देवताओंको पराजित करके महान् ऐश्वर्य प्राप्त करो; राजन्! ब्रह्माजीने जैसा कहा है; वह उसी रूपमें सत्य होगा। उसे कोई मिथ्या नहीं कर सकता॥ ५–८½॥

तस्यतद् वचनं श्रुत्वा प्रह्लादस्य महात्मनः।
बलिः परमसंहृष्टः प्रायाच्छक्ररथं प्रति॥ ९॥

महात्मा प्रह्लादका वह वचन सुनकर राजा बलिको बड़ा हर्ष हुआ। वे उत्साहित होकर इन्द्रके रथकी ओर चले॥ ९॥

ततः प्रयान्तं त्रिदशेन्द्रसंनिधौ
महासुरेन्द्रं बलिमुत्तमश्रियम्।
तमञ्जसा जग्मुरभिप्रदक्षिणं
द्विजाश्च पुण्याः पशवश्च सत्तमाः॥ १०॥

इन्द्रके समीप जाते हुए उत्तम शोभासे सम्पन्न महान् असुरेन्द्र बलिको उस समय पवित्र पक्षी और श्रेष्ठ पशु अनायास ही दाहिने करके गये॥ १०॥

महाजटाभारधरास्तपस्विन-
स्तदा तमाहुर्विधिमन्त्रमङ्गलैः।
अभिष्टुवन्तः ऋषयः स्वलंकृतं
बलिं प्रयान्तं रणमूर्धनि स्थिताः॥ ११॥

उस समय युद्धके मुहानेपर स्थित हुए महान् जटाभारको धारण करनेवाले विद्वान् तपस्वी युद्धोपयोगी वेषभूषासे विभूषित होकर रणकी यात्रा करनेवाले राजा बलिकी विधिपूर्वक मङ्गलमय मन्त्रोंद्वारा स्तुति करने लगे॥ ११॥

प्रतप्तजाम्बूनदचित्रभूषणै-
र्दिव्यैश्च रत्नैर्विविधैरलंकृतः।
विराजमानः परमेण वर्चसा
रणे विभात्यग्निशिखेव दानवः॥ १२॥

तपाये हुए सुवर्णके विचित्र आभूषणों तथा नाना प्रकारके दिव्य रत्नोंसे अलङ्कृत हो उत्तम तेजसे प्रकाशमान दानवराज बलि रणभूमिमें अग्निशिखाके समान उद्भासित हो रहे थे॥ १२॥

स वै तदा शत्रुबलार्दितं बलं
बलिर्ददर्शोत्तमसत्त्ववीर्यवान्।
जलागमे श्रीमदिवाभ्रमण्डलं
विशीर्यमाणं नभसीव वायुना॥ १३॥

उस समय उत्तम सत्त्व और बल-पराक्रमसे सम्पन्न राजा बलिने देखा कि शत्रुओंकी सेनाने मेरी सेनाको भली-भाँति पीड़ित कर दिया है। जैसे वर्षा-ऋतुमें शोभासम्पन्न मेघमण्डल आकाशमें वायुके द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है, उसी प्रकार दैत्यसेना तितर-बितर हो गयी है॥ १३॥

ततो ददर्शाथ बलानि सर्वतो
रणे प्रगुप्तानि हुताशनेन वै।

समुच्छ्रितान्युग्रतराणि तत्र वै
समुद्रवेगानिव पर्वसंधिषु ॥ १४ ॥

तदनन्तर उन्होंने देखा कि शत्रुओंकी सेनाएँ रणभूमिमें अग्निके द्वारा सब ओरसे सुरक्षित हैं। वे निरन्तर उत्कर्षके पथपर बढ़ती हुई उग्रतर होती चली जा रही हैं। जैसे पर्व-संधि (पूर्णिमा)की वेलामें समुद्रोंके वेग बढ़ जाते हैं, उसी प्रकार शत्रुसेनाकी प्रगति उत्तरोत्तर बढ़ रही है ॥ १४ ॥

सशूलशक्त्यृष्टिगदासिसायकान्
क्षिपन् रिपूणां समरे महात्मनाम्।
ननाद सिंहर्षभमत्तनागव-
ज्जलागमे तोयदवच्च वीर्यवान् ॥ १५ ॥

तब वे पराक्रमी राजा बलि समरभूमिमें महामनस्वी शत्रुओंपर शूल, शक्ति, ऋष्टि, गदा, खड्ग और सायकोंकी वर्षा करते हुए सिंह, साँड, मतवाले हाथी और वर्षाकालके मेघकी भाँति जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ १५ ॥

दिव्यास्त्रधूमः सुभुजोग्रवायु-
र्महाबलः पौरुषविक्रमेन्धनः।
प्रजा दिधक्षन्निव कालवह्निः
सुघोररूपो विबभौ रणे बलिः ॥ १६ ॥

उस रणभूमिमें महाबलवान् राजा बलि समस्त प्रजाओंको दग्ध कर डालनेकी इच्छावाले प्रलयंकर अग्निके समान अत्यन्त घोर रूपमें प्रकाशित होने लगे। दिव्यास्त्र ही उन अग्निस्वरूप बलिके धूम थे। उत्तम भुजा ही उन्हें उत्तेजित करनेवाली भयंकर वायु थी और पुरुषार्थ एवं पराक्रम ही उस अग्निको उद्दीप्त करनेवाले ईंधन थे ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

बलि और इन्द्रका युद्ध तथा इन्द्रका रणभूमिसे पलायन

वैशम्पायन उवाच

बलिना तु सुराः सर्वे वर्जयित्वा सुराधिपम्।
रणे शरशतैर्भिन्नाः ससैन्या वै पराजिताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा बलिने देवराज इन्द्रको छोड़कर शेष सभी देवताओंको सेनासहित पराजित कर दिया। वे रणभूमिमें उनके सैकड़ों बाणोंसे क्षत-विक्षत हो गये थे ॥ १ ॥

विमुखा याति दैत्येन्द्रैर्वध्यमाना महाचमूः।
जितास्तु बलिना देवाः शक्रमाहुर्महाबलम् ॥ २ ॥

दैत्येन्द्रोंकी मार खाती हुई देवताओंकी विशाल सेना रणभूमिसे विमुख होकर भाग चली। बलिसे पराजित हुए देवता महाबली इन्द्रके पास गये और इस प्रकार बोले ॥ २ ॥

देवा ऊचुः

भवानिन्द्रश्च धाता च लोकानां प्रभुरव्ययः।
त्वमप्रतिमकर्मा च तथैवानुपमद्युतिः ॥ ३ ॥

देवताओंने कहा—देवराज! आप ही इन्द्र (महान् ऐश्वर्यशाली) हैं, आप ही सम्पूर्ण लोकोंके धारण-पोषण करनेवाले अविनाशी प्रभु हैं। आपके वीरोचित कर्मोंकी कहीं उपमा नहीं है। आप अनुपम तेजसे सम्पन्न हैं ॥ ३ ॥

विद्रुतानीह सैन्यानि सहास्माभिः सुरेश्वर।
रथचक्रध्वजाक्षाणि विभिन्नानि महासुरैः ॥ ४ ॥

सुरेश्वर! बड़े-बड़े असुरोंने हमारे साथ ही समस्त देव-सैनिकोंको यहाँ मार भगाया है और हमारे रथोंके पहिये, ध्वज तथा धुरे तोड़ डाले हैं ॥ ४ ॥

रथहस्त्यश्वयोधाश्च पदाताश्च सहस्रशः।
भिन्नच्छिन्नाश्च शतशो गदामुशलपट्टिशैः ॥ ५ ॥

सैकड़ों रथी, हाथीसवार, घुड़सवार तथा सहस्रों पैदल सैनिक गदा, मुसल और पट्टिशोंकी मारसे छिन्न-भिन्न होकर रणभूमिमें पड़े हैं ॥ ५ ॥

महाभैरवरूपं हि दैत्येन्द्रेण कृतं रणे।
किमुपेक्षसि दैत्येन्द्रैर्हन्यमानां महाचमूम् ॥ ६ ॥
त्रायस्व त्रिदशश्रेष्ठ शरण्यः शरणागतान्।

दैत्यराज बलिने रणभूमिमें महाभयंकर रूप धारण किया है। दैत्येन्द्रोंद्वारा मारी जाती हुई विशाल देवसेनाकी आप उपेक्षा क्यों कर रहे हैं? देवश्रेष्ठ! आप शरणागतवत्सल हैं, अतः शरणमें आये हुए हम देवताओंकी रक्षा कीजिये ॥ ६½ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां देवानाममराधिपः ॥ ७ ॥
संवर्तोग्निसमक्रुद्धः सर्वान् दहति दानवान्।

उन देवताओंका यह वचन सुनकर अमरेश्वर इन्द्र संवर्तक अग्निके समान कुपित हो समस्त दानवोंको दग्ध करने लगे ॥ ७½ ॥

दिवाकरकराकारं किरीटं धारयन् प्रभुः ॥ ८ ॥
वैदूर्यवर्णसंकाशो नानारत्नचिताङ्गदः।
मयूररोमा रक्ताक्षः शतबाहुः सहस्रदृक् ॥ ९ ॥

वे प्रभावशाली देवराज सूर्यदेवकी किरणोंके समान कान्तिमान् किरीट धारण किये हुए थे। उनका वर्ण वैदूर्य-मणिके समान था। उनके बाजू-बंदोंमें नाना प्रकारके रत्न जड़े गये थे। उनकी रोमावलि मोरोंके समान और आँखें लाल थीं। वे सौ बाहों तथा सहस्र नेत्रोंसे सुशोभित थे॥८-९॥

हरिरेको हरिश्मश्रुर्नानाकेतुर्महाबलः।
वज्रप्रहरणः श्रीमान् योगी शतशिरोधरः॥१०॥

वे इन्द्र अद्वितीय वीर थे। उनकी मूँछें हरे रंगकी थीं। उनके रथपर नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं। वे महान् बलशाली थे। वज्र ही उनका आयुध था। वे सौ सिर धारण करनेवाले तेजस्वी योगी थे॥१०॥

सधनुर्बद्धसन्नाहः शतादित्यसमप्रभः।
देवगन्धर्वयक्षौघैरनुयातः सहस्रशः॥११॥

कवच बाँधकर हाथमें धनुष लिये देवराज इन्द्र सौ सूर्योंके समान दिव्य प्रभासे प्रकाशित हो रहे थे। सहस्रों देवता, गन्धर्व और यक्षोंके समुदाय उनके पीछे-पीछे चलते थे॥११॥

सामगैश्च जयैश्चापि स्तूयमानो महर्षिभिः।
शतपर्व महारौद्रं स्फोटनं सर्वतोमुखम्॥१२॥
प्रगृह्य रुचिरं वज्रं दीप्तं रौद्राट्टहासनम्।
दैत्यानयोधयत् सर्वान् महेन्द्रः पाकशासनः॥१३॥
अधृष्यः सर्वभूतानामदित्या दयितः सुतः।

सामगान करनेवाले महर्षि जय-जयकार करते हुए उनकी स्तुति करते थे। वे पाकशासन महेन्द्र तोड़-फोड़ करनेवाले, महाभयंकर, सब ओर मुखवाले तथा रौद्र अट्टहास (गड़-गड़ाहट) करनेवाले, सौ पर्वोंसे युक्त, दीप्तिमान् एवं मनोहर वज्र हाथमें लेकर समस्त दैत्योंके साथ युद्ध करने लगे। अदितिके प्रिय पुत्र वे देवराज इन्द्र समस्त प्राणियोंके लिये अजेय थे॥१२-१३½॥

ततः प्रवृत्तः संग्रामो बलिवासवयोस्तदा॥१४॥
उभाभ्यां देवदैत्याभ्यामचिरान्महदद्भुतः।
अतिवीर्यबलोदग्रस्तुमुलो लोमहर्षणः॥१५॥

तदनन्तर शीघ्र ही राजा बलि और इन्द्रमें महान् अद्भुत संग्राम होने लगा। उनमेंसे एक देवता था और दूसरा दैत्य। उन दोनोंका वह संग्राम अत्यन्त बल-पराक्रमसे बढ़ा-चढ़ा, भयंकर और रोमाञ्चकारी था॥१४-१५॥

प्रह्लादेन स्तुतिशतैः कर्मभिर्जयसम्मतैः।
प्रबोधितो दैत्यपतिरग्निरिद्ध इवाबभौ॥१६॥

प्रह्लादने सैकड़ों स्तुतियों और विजयके लिये अनुमोदित कर्मोंका वर्णन करके दैत्यराज बलिके शौर्य और उत्साहको जगाया, जिससे वे प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित होने लगे॥१६॥

सुरासुरेन्द्रयोर्दृष्ट्वा संग्रामं लोमहर्षणम्।
देवानां दानवानां च भूयो युद्धमभूत् तदा॥१७॥

देवेन्द्र और असुरेन्द्रके उस रोमाञ्चकारी संग्रामको देखकर उस समय दूसरे-दूसरे देवताओं और दानवोंमें भी फिर युद्ध होने लगा॥१७॥

ततोऽविध्यन्महेन्द्रस्तं बलिमस्त्रैर्महाबलम्।
तान्यस्त्राणि महाबाहुश्चिच्छेद शतधा रणे॥१८॥

महेन्द्रने महाबलवान् बलिको अपने अस्त्रोंद्वारा घायल कर दिया। तब महाबाहु बलिने रणभूमिमें इन्द्रके चलाये हुए उन सभी अस्त्रोंके सौ-सौ टुकड़े कर डाले॥१८॥

ततः क्रुद्धः पुनस्तत्र निजघ्ने दानवं महत्।
आग्नेयमथ शत्रुघ्नं चिक्षेपेन्द्रो महाबलः॥१९॥

तब महाबली इन्द्रने कुपित होकर पुनः वहाँ महान् दानवदलका संहार आरम्भ किया। उन्होंने शत्रुनाशक आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया॥१९॥

तद् दृष्ट्वा खे समागच्छत् प्रलयानलसंनिभम्।
पातयामास तच्चैन्द्रं वारुणास्त्रेण दानवः॥२०॥

प्रलयाग्निके समान तेजस्वी उस आग्नेयास्त्रको आकाशमें आता देख दानव बलिने वारुणास्त्रके द्वारा इन्द्रके छोड़े हुए उस अस्त्रको काट गिराया॥२०॥

संक्रुद्धो मघवा वज्रमगृह्णात् पर्वतोपमम्।
हन्तुकामो रणश्लाघी बलिं दैत्याधिपं रणे॥२१॥

तब क्रोधमें भरे हुए रणश्लाघी इन्द्रने रणभूमिमें दैत्यराज बलिका वध करनेके लिये पर्वताकार वज्र हाथमें लिया॥२१॥

ततः शुश्राव देवेन्द्रः कौशिको हरिवाहनः।
अशरीरां शुभां वाणीं तस्मिन् महति वैशसे॥२२॥

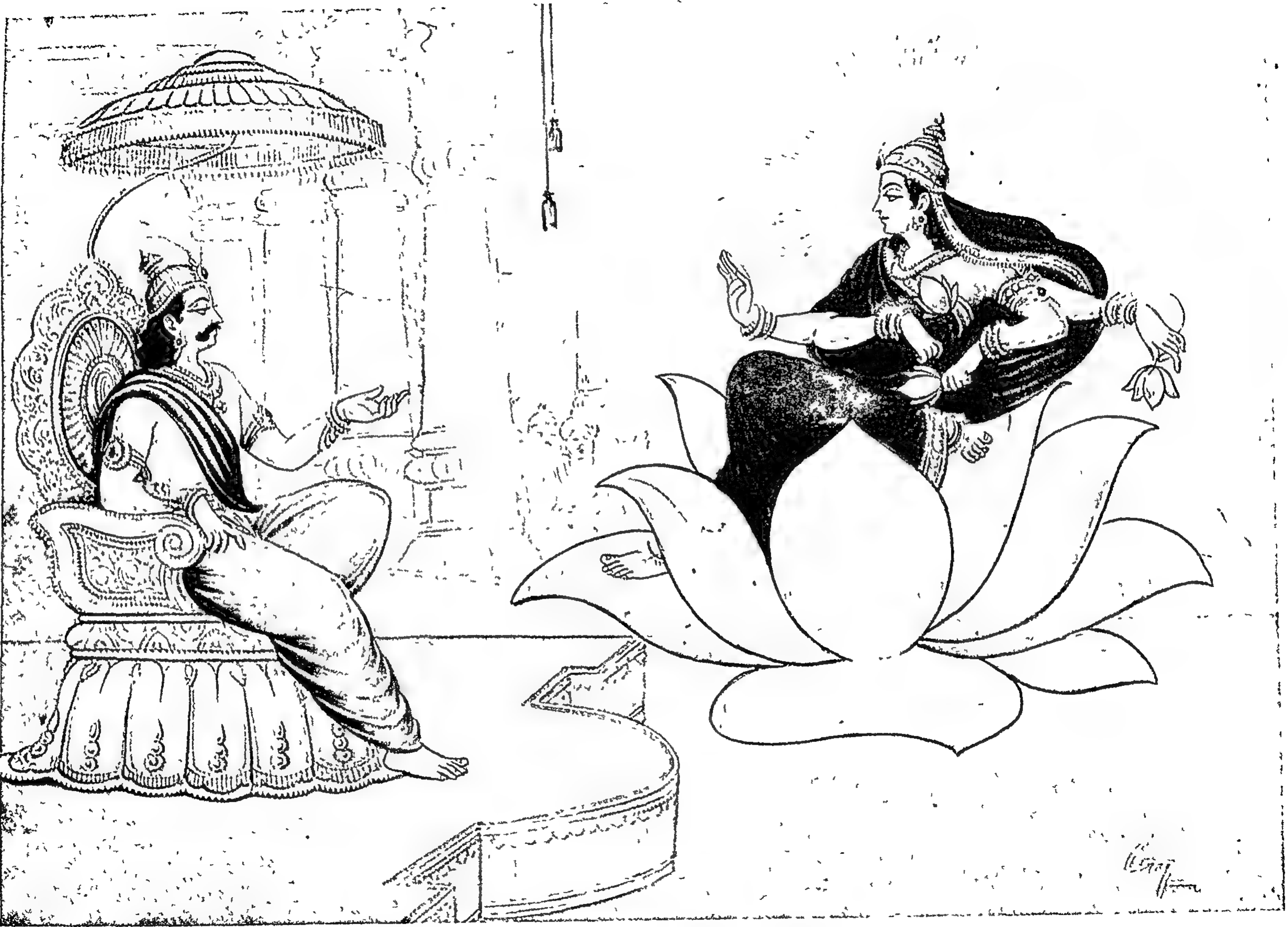
इतनेहीमें हरे रंगके वाहनवाले कौशिक देवेन्द्रने उस महासंग्रामके भीतर यह शुभ आकाशवाणी सुनी॥२२॥

निवर्तस्व महाबाहो सुराणां नन्दिवर्धन।
पुरंदर सुरश्रेष्ठ न जेष्यसि रणे बलिम्॥२३॥

'महाबाहो! युद्धसे निवृत्त हो जाओ! देवताओंका आनन्द बढ़ानेवाले सुरश्रेष्ठ पुरन्दर! तुम बलिको रणभूमिमें नहीं जीत सकोगे॥२३॥

तपसात्युत्तमो दैत्यो वरदानेन चाधिकः।
स्वयंभूपरितोषाच्च सत्यधर्माच्च वासव॥२४॥

'वासव! दितिनन्दन बलि तपस्यासे तो अत्यन्त उत्तम है ही, वरदानके द्वारा भी तुमसे अधिक शक्तिशाली हो गया है; ब्रह्माजीके संतोषसे तथा सत्यधर्मके पालनसे भी इसकी शक्ति बढ़ गयी है॥२४॥



दानवराज बलिपर लक्ष्मीकी कृपा (पृष्ठ-संख्या ९५०)

नैष शक्यस्त्वया जेतुं त्रिदशैर्वा सुरेश्वर।
यो ह्यस्य जेता भगवांस्तं शृणुष्व समाहितः॥ २५॥

'सुरेश्वर! तुम अथवा दूसरे देवता भी इसे नहीं जीत सकते। जो भगवान् इसपर विजय पानेवाले हैं, उन्हें बताता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो॥ २५॥

ब्रह्मणः स हि सर्वस्वं देवानां चैव सा गतिः।
परं रहस्यं धर्मस्य परस्य च परा गतिः॥ २६॥

'वे ब्रह्माजीके सर्वस्व हैं, देवताओंकी भी गति हैं, धर्मके परम रहस्य हैं तथा उत्कृष्ट पुरुषकी भी परम गति हैं॥ २६॥

परात्परतरः श्रीमान् परावरगतिः प्रभुः।
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्॥ २७॥

'वे भगवान् परसे भी परतर (उत्तमसे भी परमोत्तम) हैं, लक्ष्मीसे सम्पन्न हैं तथा वे ही कारण और कार्य अथवा भूत और भविष्यकी भी गति हैं। वे सबके अन्तर्यामी आत्मा हैं। उनके सहस्रों सिर, सहस्रों नेत्र और सहस्रों पैर हैं॥ २७॥

शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासाः सुरारिहा।
जेताजेयो जयः श्रीमान् सोऽस्य जेता भविष्यति॥ २८॥

'उनके हाथमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि आयुध शोभा पाते हैं। वे पीताम्बरधारी तथा देवद्रोहियोंका दलन करनेवाले हैं। वे श्रीमान् भगवान् सबपर विजय पाते हैं, किंतु उन्हें कोई नहीं जीत सकता। वे विजयस्वरूप हैं। वे ही इस बलिपर विजय प्राप्त करेंगे'॥ २८॥

श्रुत्वा दिव्यां तु मधुरां वाणीं तामशरीरिणीम्।
अपयातो रणाच्छक्रः सार्धं सर्वैः सुरोत्तमैः॥ २९॥

वह दिव्य मधुर आकाशवाणी सुनकर समस्त श्रेष्ठ देवताओंके साथ इन्द्र रणभूमिसे हट गये॥ २९॥

अपयाते तु देवेन्द्रे कौशिके हरिवाहने।
सिंहनादो महानासीद् दानवानां महामृधे॥ ३०॥

हरिवाहन देवराज इन्द्रके पलायन कर जानेपर उस महासमरमें दानवोंका महान् सिंहनाद होने लगा॥ ३०॥

ततः किलकिलाशब्दः क्ष्वेडितास्फोटितस्वनः।
शङ्खानां निनदश्चात्र योधानां वल्गितस्वनः॥ ३१॥

तदनन्तर किलकारियोंकी आवाज आने लगी, गर्जने और ताल ठोंकनेका शब्द सुनायी देने लगा, शङ्खोंकी ध्वनि होने लगी और योद्धाओंके उछलने-कूदनेकी आवाज भी वहाँ सब ओर होने लगी॥ ३१॥

वादित्राणां च निर्घोषस्तुमुलश्चाभवत्तदा।
जयशब्दरवाश्चैव देवानां तु पराजये॥ ३२॥

उस समय देवताओंकी पराजय होनेपर दैत्योंके दलमें नाना प्रकारके वाद्योंका तुमुल घोष होने लगा और जयजयकारके शब्द सुनायी देने लगे॥ ३२॥

ससैन्यो दैत्यराजस्तु स्तूयमानः सुहृद्गणैः।
बलीन्द्रो विबभौ दैत्यो हिरण्यकशिपुर्यथा॥ ३३॥

सुहृदोंके समुदाय सेनासहित दैत्यराज बलिकी स्तुति करने लगे। उस समय इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित हुए राजा बलि दैत्यप्रवर हिरण्यकशिपुके समान शोभा पाने लगे॥ ३३॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामने देवासुरसंग्रामे शक्रपयाने चतुःषष्टितमोऽध्यायः॥ ६४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें देवासुरसंग्राममें इन्द्रका पलायनविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६४॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

विजयी बलिके पास राजलक्ष्मी आदिका शुभागमन

वैशम्पायन उवाच

निष्प्रयत्नेषु देवेषु त्रैलोक्ये दैत्यपालिते।
जये बलेर्बलवतो मयशम्बरयोस्तथा॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर देवता विजयके लिये प्रयत्न छोड़ बैठे और त्रिलोकीके राज्यका दैत्यराज बलिके द्वारा पालन होने लगा। बलवान् बलि, मयासुर और शम्बरासुरकी विजय हुई॥ १॥

सुधासु दिक्षु सर्वासु प्रवृत्ते धर्मकर्मणि।
अपावृत्ते धर्मपथे अयनस्थे दिवाकरे॥ २॥

सम्पूर्ण दिशाएँ अमृतमयी हो गयीं, धर्म-कर्मका पालन होने लगा। धर्मका मार्ग खुल गया और सूर्यदेव अपने अयनमें स्थित हो गये॥ २॥

प्रह्लादशम्बरमयैरनुह्लादेन चैव हि।
दिक्षु सर्वासु गुप्तासु गगने दैत्यपालिते॥ ३॥
दैत्येषु मखशोभाश्च स्वर्गार्थं दर्शयत्सु च।
प्रकृतिस्थे तदा लोके वर्तमाने च सत्पथे॥ ४॥
अभावे सर्वपापानां भावे चैव तथा स्थिते।
भावे तपसि सिद्धानां सर्वत्राश्रमरक्षिषु॥ ५॥

चतुष्पादे स्थिते धर्मे अधर्मे पादविग्रहे ।
प्रजापालनयुक्तेषु भ्राजमानेषु राजसु ॥ ६ ॥
स्वधर्मसम्प्रयुक्तेषु सर्वाश्रमनिवासिषु ।
अभिषिक्तोऽसुरैः सर्वैर्दैत्यराजो बलिस्तदा ॥ ७ ॥

प्रह्लाद, शम्बरासुर, मयासुर और अनुह्लादके द्वारा सम्पूर्ण दिशाएँ सुरक्षित हो गयीं। आकाशका दैत्योंद्वारा पालन होने लगा। दैत्यलोग स्वर्गकी प्राप्तिके लिये यज्ञशोभाका दर्शन कराने लगे। उस समय सारा जनसमुदाय प्रकृतिस्थ होकर सन्मार्गपर चलने लगा। सब प्रकारके पापोंका अभाव हो गया। पुण्यकर्मकी व्यापक सत्ता दिखायी देने लगी। सिद्ध पुरुषोंकी तपस्यामें स्थिति हुई। सर्वत्र आश्रमोंकी रक्षा होने लगी। धर्म अपने चारों चरणोंसे युक्त होकर रहने लगा। अधर्मका चतुर्थांशमात्र ही शेष रह गया। तेजस्वी राजा प्रजापालनमें तत्पर रहने लगे और सभी आश्रमोंके निवासी अपने-अपने धर्ममें स्थित हो गये। ऐसे समयमें समस्त असुरोंने दैत्यराज बलिका इन्द्रके पदपर अभिषेक किया ॥ ३—७ ॥

हृष्टेष्वसुरसंघेषु नदत्सु मुदितेषु च ।
अथाभ्युपगता लक्ष्मीर्बलिं पद्मासने स्थिता ॥ ८ ॥
पद्मोद्यतकरा देवी वरदा सुरमोहिनी ।

उस समय असुरोंके समुदाय हर्षमें भर गये और आनन्दमग्न होकर जोर-जोरसे गर्जना करने लगे। इसी समय कमलके आसनपर विराजमान राजलक्ष्मी राजा बलिके पास आयीं। देवताओंको मोहनेवाली उन वरदायिनी देवीने अपने हाथमें एक कमलका फूल ले रखा था ॥ ८½ ॥

श्रीरुवाच

बले बलवतां श्रेष्ठ महाराज महाद्युते ॥ ९ ॥
प्रीतास्मि तव भद्रं ते देवतानां पराजये ।

लक्ष्मी बोली—बलवानोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी महाराज बलि! तुम्हारा भला हो। तुमने जो देवताओंको पराजित किया है, इससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हुई हूँ ॥ ९½ ॥

यस्त्वया युधि विक्रम्य देवराजः पराजितः ॥ १० ॥
दृष्ट्वा ते परमं सत्त्वं ततोऽहं स्वयमागता ।

तुमने युद्धमें पराक्रम करके जो देवराज इन्द्रपर विजय पायी है, तुम्हारे उस उत्तम सत्त्व (धैर्य और बल) को देखकर मैं स्वयं तुम्हारे पास चली आयी हूँ ॥ १०½ ॥

नाश्चर्यं दानवश्रेष्ठ हिरण्यकशिपोः कुले ॥ ११ ॥
प्रसूतस्यासुरेन्द्रस्य तव कर्मेदमीदृशम् ।

दानवशिरोमणे! तुम असुरराज हिरण्यकशिपुके कुलमें उत्पन्न हुए हो, अतः तुम्हारा ऐसा पराक्रम करना आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ११½ ॥

विशेषितस्त्वया राजन् दैत्येन्द्रः प्रपितामहः ॥ १२ ॥
येन भुक्तं हि निखिलं त्रैलोक्यमिदमव्ययम् ।

राजन्! तुमने अपने प्रपितामह उस दैत्यराज हिरण्यकशिपुका महत्त्व बढ़ा दिया, जिसने प्रवाहरूपसे सदा बने रहनेवाले इस समस्त त्रिभुवनके राज्यका उपभोग किया है ॥ १२½ ॥

विशेषतस्तव विभो सर्वे धर्मपथे स्थिताः ॥ १३ ॥
तेन त्रैलोक्यमुख्येन भोक्ष्यस्यमितविक्रम ।

प्रभो! सबसे विशेष बात यह है कि तुम्हारे राज्यमें सब लोग धर्मके मार्गपर स्थित हैं। अमितपराक्रमी दैत्यराज! उस त्रिलोकीकी श्रेष्ठ वस्तु धर्मके साथ रहकर तुम राज्यका उपभोग करोगे ॥ १३½ ॥

एवमुक्त्वा हि सा देवी लक्ष्मीर्दैत्यपतिं बलिम् ॥ १४ ॥
प्रविष्टा वरदा सौम्या सर्वभूतमनोरमा ।

ऐसा कहकर सम्पूर्ण प्राणियोंके मनको प्रिय लगनेवाली सौम्यरूपा वरदायिनी लक्ष्मीदेवी दैत्यराज बलिके भीतर प्रविष्ट हो गयीं ॥ १४½ ॥

शिष्टाश्च देव्यः प्रवरा ह्रीः कीर्तिर्द्युतिरेव च ॥ १५ ॥
प्रभा धृतिः क्षमा भूतिर्नीतिर्विद्या दया स्मृतिः ।
कृतिर्लज्जा तथा मेधा लक्ष्मीरीहा गतिस्तथा ॥ १६ ॥
श्रुतिः प्रीतिरिला कीर्तिः शान्तिः पुष्टिः क्रियास्तथा ।
सर्वाश्चाप्सरसो दिव्या नृत्यगीतविशारदाः ॥ १७ ॥
पतिं प्राप्ताः सुदैतेयं त्रैलोक्ये सचराचरे ।
प्राप्तमैश्वर्यममितं बलिना ब्रह्मवादिना ॥ १८ ॥

शेष जो श्रेष्ठ देवियाँ थीं, उन कीर्ति, द्युति, प्रभा, धृति, क्षमा, भूति, नीति, विद्या, दया, स्मृति, कृति, लज्जा, मेधा, लक्ष्मी, ईहा, गति, श्रुति, प्रीति, इला (श्रौतक्रिया), कीर्ति, शान्ति, पुष्टि तथा क्रिया आदिने एवं नृत्यगीतविशारद सम्पूर्ण दिव्य अप्सराओंने उत्तम दैत्यकुमार राजा बलिको पति (पालक) रूपमें प्राप्त किया। ब्रह्मवादी बलिने चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीमें असीम ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया ॥ १५—१८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतार-विषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

अदिति और कश्यपजीके साथ देवताओंका ब्रह्मलोकमें जाना

जनमेजय उवाच

पराजिताः सुरा दैत्यैः किमकुर्वत वै मुने।
कथं च त्रिदिवं लब्धं भूयो देवैर्द्विजोत्तम ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा— मुने ! द्विजश्रेष्ठ ! दैत्योंसे पराजित होकर देवताओंने क्या किया ? फिर उन्हें स्वर्गका राज्य कैसे प्राप्त हुआ ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा वाणीं तु तां दिव्यां सह देवैः सुराधिपः।
प्राग्दिशं प्रस्थितः श्रीमानदित्यालयमुत्तमम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! देवताओंसहित श्रीमान् देवराज इन्द्र उस दिव्य आकाशवाणीको सुनकर पूर्व दिशामें देवी अदितिके उत्तम भवनकी ओर चल दिये ॥

प्राप्यादित्यालयं शक्रः कथयामास तां गिरम्।
अदित्यां सा यथा युद्धे तेन वाणी पुरा श्रुता ॥ ३ ॥

अदितिके भवनमें पहुँचकर इन्द्रने युद्धस्थलमें पहले जो आकाशवाणी सुनी थी, उसे वहाँ माता अदितिके समीप कह सुनाया ॥ ३ ॥

अदितिरुवाच

यद्येवं पुत्र युष्माभिर्न शक्यो हन्तुमाहवे।
बलिर्विरोचनसुतः सर्वैश्चैव मरुद्गणैः ॥ ४ ॥
सहस्रशिरसा हन्तुं केवलं शक्यतेऽसुरः।
तेनैकेन सहस्राक्ष न ह्यन्येन शतक्रतो ॥ ५ ॥
तद् वः पृच्छस्व पितरं कश्यपं सत्यवादिनम्।
पराजयार्थं दैत्यस्य बलेस्तस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

अदिति बोलीं—बेटा ! सहस्रलोचन ! शतक्रतो ! यदि ऐसी बात है, यदि तुमलोग और समस्त मरुद्गण भी रणक्षेत्रमें विरोचनकुमार बलिका वध नहीं कर सकते, यदि वह असुर केवल उन एकमात्र सहस्र मस्तकवाले भगवान्‌के हाथसे ही मारा जा सकता है,' दूसरे किसीके हाथसे नहीं तो तुम अपने सत्यवादी पिता कश्यपजीसे पूछो कि दितिनन्दन महात्मा बलिकी पराजयके लिये क्या उपाय हो सकता है ? ॥ ४–६ ॥

ततोऽदित्या सह सुराः सम्प्राप्ताः कश्यपान्तिकम्।
अपश्यन् कश्यपं तत्र मुनिं दिव्यतपोनिधिम् ॥ ७ ॥

तब सब देवता माता अदितिके साथ अपने पिता कश्यपजीके समीप गये। वहाँ उन्होंने दिव्य तपोनिधि मुनिवर कश्यपजीका दर्शन किया ॥ ७ ॥

आद्यं देवं गुरुं दिव्यं क्लिन्नं त्रिषवणाम्बुभिः।
तेजसा भास्कराकारं गौरमग्निशिखाप्रभम् ॥ ८ ॥

वे आदिदेवता और दिव्य गुरु हैं। तीनों समय स्नान करनेके कारण उनका शरीर जलसे भीगा रहता है। वे सूर्यके समान तेजस्वी हैं। उनका गौरवर्ण अग्निशिखाके समान प्रकाशित होता है ॥ ८ ॥

न्यस्तदण्डं तपोयुक्तं बद्धकृष्णाजिनोत्तरम्।
वल्कलाजिनसंवीतं प्रदीप्तं ब्रह्मवर्चसा ॥ ९ ॥

उन्होंने दण्डका परित्याग कर दिया है। वे तपस्यामें संलग्न रहते हैं। उनके ऊपरके अङ्गोंमें उत्तरीयके रूपमें काला मृगचर्म बँधा होता है। वे वल्कल और मृगचर्मसे ही अपने शरीरको ढकते हैं। ब्रह्मतेजसे सदा ही उद्दीप्त रहते हैं ॥

हुताशमिव दीप्यन्तमाज्यसन्त्रपुरस्कृतम्।
स्वाध्यायनिरतं शान्तं वपुष्मन्तमिवानलम् ॥ १० ॥

मन्त्रोच्चारणपूर्वक घीकी आहुति देनेसे प्रज्वलित हुए अग्निदेवके समान वे सदा देदीप्यमान होते रहते हैं। सदा स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले और शान्त हैं, शरीरधारी अग्निके समान जान पड़ते हैं ॥ १० ॥

तं ब्रह्मवादिनां श्रेष्ठं सुरासुरगुरुं प्रभुम्।
प्रतपन्तमिवादित्यं मारीचं दीप्ततेजसम् ॥ ११ ॥

वे ब्रह्मवादियोंमें श्रेष्ठ, देवताओं और असुरोंके पिता तथा प्रभावशाली हैं। तपते हुए सूर्यके समान उनका तेज सदा ही उद्दीप्त रहता है। उन मरीचिनन्दन कश्यपको देवताओंने देखा ॥ ११ ॥

यः स्रष्टा सर्वभूतानां प्रजानां पतिरुत्तमः।
आत्मभावविशेषेण तृतीयो यः प्रजापतिः ॥ १२ ॥

जो समस्त प्राणियोंके स्रष्टा उत्तम प्रजापति ब्रह्मा हैं, उनके आत्मभावकी विशेषरूपसे अभिव्यक्ति होनेके कारण कश्यपजी (ब्रह्मा और मरीचिकी अपेक्षा) तीसरे प्रजापति हैं ॥

ततः प्रणम्य ते वीराः सहादित्या सुरर्षभाः।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे ब्रह्माणमिव मानसाः ॥ १३ ॥

अदितिसहित उन सभी वीर एवं श्रेष्ठ देवताओंने कश्यपजीको प्रणाम करके उनसे हाथ जोड़कर उसी प्रकार कहना आरम्भ किया, जैसे ब्रह्माजीके मानसपुत्र उनसे अपनी बात निवेदन करते हैं ॥ १३ ॥

यच्छ्रुतं युधि शक्रेण सरस्वत्या समीरितम्।
अजेयस्त्रिदशैः सर्वैर्बलिर्दानवसत्तमः ॥ १४ ॥

युद्धस्थलमें इन्द्रने आकाशवाणीद्वारा कही गयी जो यह बात सुनी थी कि दानवशिरोमणि बलि समस्त देवताओंके लिये अजेय हैं, उसे कह सुनाया ॥ १४ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां पुत्राणां कश्यपस्तदा।
चकार गमने बुद्धिं ब्रह्मलोकाय लोककृत् ॥ १५ ॥

उस समय अपने उन पुत्रोंकी यह बात सुनकर लोकस्रष्टा कश्यपजीने ब्रह्मलोकमें जानेका विचार किया ॥ १५ ॥

कश्यप उवाच

गच्छाम ब्रह्मसदनं ब्रह्मघोषनिनादितम् ।
यथाश्रुतं च तत्रैव ब्रह्मणे वदतानघाः ॥ १६ ॥

कश्यपजी बोले—निष्पाप देवताओ ! हमलोग वेद-मन्त्रोंके घोषसे प्रतिध्वनित होनेवाले ब्रह्मलोकको चलें । वहीं वह बात, जैसे तुमने सुनी है वैसी ही ब्रह्माजीके समक्ष कहो ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽदित्या सह सुरा यान्तं कश्यपमन्वयुः ।
प्रस्थितं ब्रह्मसदनं देवर्षिगणसेवितम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब अदिति-सहित समस्त देवता देवर्षियोंद्वारा सेवित ब्रह्मलोककी ओर प्रस्थित हुए कश्यपजीके साथ-साथ गये ॥ १७ ॥

ते मुहूर्तेन सम्प्राप्ता ब्रह्मलोकं दिवौकसः ।
दिव्यैः कामगमैर्यानैर्महार्हैः सुमनोहरैः ॥ १८ ॥

वे सब देवता इच्छानुसार चलनेवाले परम मनोहर बहुमूल्य दिव्य विमानोंद्वारा दो ही घड़ीमें ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे ॥ १८ ॥

दिदृक्षवस्ते ब्रह्माणं तपसो राशिमव्ययम् ।
अभ्यगच्छन्त विस्तीर्णां ब्रह्मणः परमां सभाम् ॥ १९ ॥

वे तपस्याकी अक्षय राशि ब्रह्माजीको देखनेके लिये उनकी अत्यन्त विस्तृत उत्तम सभामें गये ॥ १९ ॥

षट्पदोद्गीतनिनदां सामगीतविमिश्रिताम् ।
श्रेयस्करीममित्रघ्नीं दृष्ट्वा संजहृषुर्मुदा ॥ २० ॥

वहाँ भ्रमरोंका गुञ्जारव गूँज रहा था । उसमें सामगान-की ध्वनि भी मिश्रित थी । वह सभा सबके लिये कल्याण-कारिणी और शत्रुओंका नाश करनेवाली थी । उसे देखकर उन सब लोगोंको बड़ा हर्ष हुआ ॥ २० ॥

ब्राह्मणैश्च महाभागैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ।
ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च शिक्षाविद्भिस्तथा द्विजैः ॥ २१ ॥

वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् महाभाग ब्राह्मण, ऋग्वेद-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ तथा शिक्षाके ज्ञाता द्विज ऋचाओंका पाठ करते थे ॥ २१ ॥

शब्दनिर्वचनार्थं च प्रेर्यमाणपदाक्षराः ।
शुश्रुवुस्तेऽमरव्याघ्रा विततेषु च कर्मसु ॥ २२ ॥

उन अमरश्रेष्ठ देवताओंने आयोजित हुए यज्ञकर्मोंमें शब्दकी व्युत्पत्तिके लिये ब्राह्मणोंद्वारा जिनके एक-एक पद और अक्षरोंका उच्चारण हो रहा था, उन ऋचाओंको सुना ॥

यज्ञवेदाङ्गविदुषां पदक्रमविदां तथा ।
घोषेण परमर्षीणां सा बभूव निनादिता ॥ २३ ॥

यज्ञ, वेद और वेदाङ्गोंके विद्वान् तथा पदपाठ और क्रमपाठके ज्ञाता महर्षियोंके वैदिक घोषसे वह ब्रह्माजीकी सभा प्रतिध्वनित हो रही थी ॥ २३ ॥

यज्ञसंस्तवविद्भिश्च शिक्षाविद्भिस्तथा द्विजैः ।
शब्दनिर्वचनार्थज्ञैः सर्वविद्याविशारदैः ॥ २४ ॥
मीमांसाहितवाक्यज्ञैः सर्ववादविशारदैः ।
हृष्टपुष्टस्वरैस्तत्र द्विजेन्द्रैर्वल्गुवादिभिः ।
नादितं ब्रह्मसदनं प्रवरं देवसद्मवत् ॥ २५ ॥

जो यज्ञोंमें की जानेवाली स्तुतियोंके ज्ञाता, शिक्षाके विद्वान्, शब्दकी व्युत्पत्ति और अर्थके जानकार, सम्पूर्ण विद्याओंमें प्रवीण, मीमांसाके अनुकूल वेदवाक्योंके तात्पर्यको जाननेवाले, सर्ववादविशारद, हृष्ट-पुष्ट स्वरसे युक्त तथा मधुरभाषी थे, उन्हीं द्विजेन्द्रोंद्वारा किये गये वेदघोषसे प्रति-ध्वनित वह श्रेष्ठ ब्रह्मसदन देवसभाके समान सुशोभित होता था ॥ २४-२५ ॥

ते तत्र समनुप्राप्य शृण्वन्तो वै ध्वनिं सुराः ।
पूतान्यात्मशरीराणि मेनिरे तु न संशयः ॥ २६ ॥

वहाँ पहुँचकर उस ध्वनिको सुनते हुए वे देवता निःसंदेह अपने शरीरोंको पवित्र मानने लगे ॥ २६ ॥

तूष्णींभूता एकचित्ता ब्रह्मण्यागतमानसाः ।
विस्मयोत्फुल्लनयना निरीक्षन्तः परस्परम् ॥ २७ ॥
नमस्कुर्वन्ति च पुनर्गुरुं लोकगुरुं प्रभुम् ।
मनसैव सुरश्रेष्ठाः पुरस्कृत्य तु कश्यपम् ॥ २८ ॥

वे श्रेष्ठ देवता मौन और एकचित्त हो ब्रह्माजीमें मन लगाये आश्चर्यचकित नेत्रोंसे एक-दूसरेको देखते हुए कश्यपजी-को आगे करके मन-ही-मन लोकगुरु भगवान् ब्रह्माको बारं-बार प्रणाम करने लगे ॥ २७-२८ ॥

पुनः सम्पूज्य परमं वेदोच्चारणनिःस्वनम् ।
गम्भीरोदारमधुरं सुस्वरं हंसगद्गदम् ॥ २९ ॥
ऐक्यनानात्वसंयोगसमवायविशारदैः ।
लोकायतिकमुख्यैश्च शुश्रुवुः स्वनमीरितम् ॥ ३० ॥

गम्भीर, उदार, मधुर, उत्तम स्वरसे युक्त और हंसके समान गद्गद वाणीमें उच्चारित वेदपाठकी उस उत्तम ध्वनि-की बार-बार प्रशंसा करके एकत्ववाद (जीव और ईश्वरकी एकताका प्रतिपादन), नानात्ववाद (जीव, ईश्वर और प्रकृति—इन तीन अनादि तत्त्वोंका प्रतिपादन), संयोगवाद (प्रकृति-पुरुषके संयोगसे सृष्टिका प्रतिपादन) तथा समवाय-वादमें प्रवीण पुरुषों एवं लोकायतिकशास्त्रके ज्ञाता मुख्य-मुख्य विद्वानोंद्वारा उच्चारित शब्दको भी उन देवताओं-ने सुना ॥ २९-३० ॥

तत्र तत्र च विप्रेन्द्रान् नियतान् संशितव्रतान् ।
जपहोमपरान् मुख्यान् ददृशुः कश्यपात्मजाः ॥ ३१ ॥

कश्यपके उन पुत्रोंने वहाँ भिन्न-भिन्न स्थानोंमें बहुत-से

ब्राह्मणशिरोमणियोंको, जो कठोर व्रतका पालन करनेवाले थे, नियमपूर्वक जप और होममें तत्पर देखा ॥ ३१ ॥

तस्यां सभायामास्ते स्म ब्रह्मा लोकपितामहः ।
सुरासुरगुरुः श्रीमान् विधिवद् देवमायया ॥ ३२ ॥

उस सभामें देवताओं और असुरोंके गुरु श्रीमान् लोकपितामह ब्रह्मा देवमायाके साथ विधिपूर्वक निवास करते थे ॥

उपासते च तत्रैनं प्रजानां पतयः प्रभुम् ।
दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिश्च द्विजोत्तमः ॥ ३३ ॥
भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च गौतमो नारदस्तथा ।
मनुर्द्यौरन्तरिक्षं च वायुस्तेजो जलं मही ॥ ३४ ॥
शब्दस्पर्शौ च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
प्रकृतिश्च विकाराश्च यच्चान्यत् कारणं महत् ॥ ३५ ॥
साङ्गोपाङ्गाश्चतुर्वेदाः सरहस्यपदक्रमाः ।
क्रियाश्च क्रतवश्चैव संकल्पः प्राण एव च ॥ ३६ ॥
एते चान्ये च बहवः स्वयम्भुवमुपस्थिताः ।
अर्थो धर्मश्च कामश्च द्वेषो दर्पश्च नित्यदा ॥ ३७ ॥

वहाँ इन भगवान् ब्रह्माकी समस्त प्रजापतिगण उपासना करते थे । दक्ष, प्रचेता (वरुण), पुलह, द्विजश्रेष्ठ मरीचि, भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम, नारद, मनु, द्यौ, अन्तरिक्ष, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रकृति और उसके विकार, अन्यान्य महान् कारण, अङ्ग और उपाङ्गोंसहित चारों वेद, रहस्य, पद, क्रम, क्रिया, क्रतु, संकल्प तथा प्राण–ये और दूसरे भी बहुत-से भाव पदार्थ वहाँ ब्रह्माजीकी सेवामें (शरीर धारण करके) उपस्थित थे । अर्थ, धर्म, काम, द्वेष और दर्प आदि भाव भी वहाँ नित्य निवास करते थे ॥ ३३—३७ ॥

शक्रो बृहस्पतिश्चैव संवर्तो बुध एव च ।
शनैश्चरोऽथ राहुश्च ग्रहाः सर्वे ह्यशेषतः ॥ ३८ ॥

इन्द्र, बृहस्पति, संवर्त, बुध, शनैश्चर तथा राहु आदि सभी ग्रह वहाँ विद्यमान थे ॥ ३८ ॥

मरुतो विश्वकर्मा च नक्षत्राणि च भारत ।
दिवाकरश्च सोमश्च ब्रह्माणं समुपासते ॥ ३९ ॥

भारत ! मरुद्गण, विश्वकर्मा, नक्षत्र, सूर्य और चन्द्रमा भी वहाँ ब्रह्माजीकी उपासना करते थे ॥ ३८ ॥

सावित्री दुर्गतरणी वाणी सप्तविधा तथा ।
सर्वाणि श्रुतिशास्त्राणि गाथाश्च नियमास्तथा ॥ ४० ॥
भाष्याणि सर्वशास्त्राणि देहवन्ति विशाम्पते ।

प्रजानाथ ! सावित्री, दुर्गम संकटसे तारनेवाली दुर्गा, (सात स्वरोंके भेदसे) सात प्रकारकी वाणी, समस्त श्रुतिशास्त्र (वैदिक साहित्य), गाथा, नियम, भाष्य तथा सम्पूर्ण शास्त्र—ये देह धारण करके ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित थे ॥

क्षणा लवा मुहूर्ताश्च दिवा रात्रिश्च भारत ॥ ४१ ॥
अर्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् तथैव च ।
संवत्सराश्चतुर्युगं मासा रात्रिश्चतुर्विधा ॥ ४२ ॥
कालचक्रं च यद् दिव्यमनित्यं ध्रुवमव्ययम् ।
एते चान्ये च बहवः स्वयम्भुवमुपस्थिताः ॥ ४३ ॥

भारत ! क्षण, लव, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, छः ऋतुएँ, संवत्सर, चारों युग, दिव्य मास, चार प्रकारकी रात्रि, दिव्य, अनित्य, ध्रुव एवं अव्यय कालचक्र—ये तथा अन्य बहुत-से पदार्थ (शरीर धारण करके) स्वयम्भू ब्रह्माकी सेवामें उपस्थित थे ॥ ४१–४३ ॥

ते प्रविष्टाः सभां दिव्यां ब्रह्मणः सर्वकामदाम् ।
कश्यपस्त्रिदशैः सार्धं पुत्रैर्धर्मविशारदैः ॥ ४४ ॥

वे सब आगन्तुक देवता ब्रह्माजीकी दिव्य सभामें, जो सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली थी, प्रविष्ट हुए । अपने धर्मविशारद देवजातीय पुत्रोंके साथ कश्यपजीने उस सभामें प्रवेश किया ॥ ४४ ॥

सर्वतेजोमयीं दिव्यां ब्रह्मर्षिगणसेविताम् ।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमानमचिन्त्यं विगतक्लमम् ॥ ४५ ॥
ब्रह्माणं वीक्ष्य ते सर्वे आसीनं परमासने ।
जग्मुर्मूर्ध्ना शुभौ पादौ ब्रह्मणस्ते दिवौकसः ॥ ४६ ॥

सम्पूर्ण तेजसे सम्पन्न वह दिव्य सभा ब्रह्मर्षिगणोंसे सेवित थी । उसके भीतर एक उत्तम आसनपर अचिन्त्य, क्लेशहीन तथा ब्राह्मी शोभासे देदीप्यमान ब्रह्माजी विराजमान थे । उन्हें देखकर सभी देवताओंने उन ब्रह्माजीके शुभ चरणोंमें मस्तक रखकर उन्हे प्रणाम किया ॥ ४५-४६ ॥

शिरोभिः स्पृश्य चरणौ तस्य ते परमेष्ठिनः ।
विमुक्ताः सर्वपापेभ्यः शान्ता विगतकल्मषाः ॥ ४७ ॥

उन परमेष्ठी ब्रह्माजीके चरणोंका अपने मस्तकोंसे स्पर्श करके वे सब देवता समस्त पापोंसे मुक्त, शान्त और कल्मषरहित हो गये ॥ ४७ ॥

दृष्ट्वा तु तान् सुरान् सर्वान् कश्यपेन सहागतान् ।
आह ब्रह्मा महातेजा देवानां प्रभुरीश्वरः ॥ ४८ ॥

कश्यपजीके साथ आये हुए उन समस्त देवताओंको देखकर महातेजस्वी देवेश्वर भगवान् ब्रह्मा उनसे इस प्रकार बोले ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे ब्रह्मलोकगमने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें देवताओंका ब्रह्मलोकमें गमनविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी आज्ञासे कश्यप और अदितिसहित देवताओंका क्षीरसागरके उत्तर तटपर जाकर तपस्यामें संलग्न होना

ब्रह्मोवाच

यदर्थमिह सम्प्राप्ता भवन्तः सर्व एव हि।
विजानाम्यहमव्यग्र एतत् सर्वं महाबलाः॥ १॥

ब्रह्माजीने कहा—महाबली देवताओ! तुम सब लोग जिस उद्देश्यसे यहाँ आये हो, यह सब मैं व्यग्रतारहित होकर जानता हूँ॥ १॥

भविष्यति च वः सोऽर्थः काङ्क्षितो यः सुरोत्तमाः।
बलेर्दानवमुख्यस्य यो विजेता भविष्यति॥ २॥

सुरश्रेष्ठगण! तुमलोग जिसकी इच्छा रखते हो, तुम्हारा वह मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा। दानवराज बलिपर विजय पानेवाले जो परम पुरुष हैं, वे शीघ्र ही प्रकट होंगे॥ २॥

न खल्वसुरसंघानामेको जेता स विश्वकृत्।
त्रैलोक्यस्यापि जेतासौ देवानामपि चोत्तमः॥ ३॥

वे विश्वस्रष्टा परमात्मा केवल असुरसमुदायोंको ही नहीं जीतेंगे, त्रिलोकीके राज्यको भी जीत लेंगे। वे देवताओंमें भी सबसे उत्तम हैं॥ ३॥

धाता चैव हि लोकानां विश्वयोनिः सनातनः।
पूर्वं देवं सदा प्राहुर्हेमगर्भनिदर्शनम्॥ ४॥

वे ही लोकोंके धाता (धारण-पोषण करनेवाले), सम्पूर्ण विश्वकी योनि एवं सनातन पुरुष हैं। विद्वान् पुरुष उन्हींको सदा आदि देवता कहते हैं। मैं हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) उन्हींका निदर्शन (प्रतिबिम्ब अथवा पुत्र) हूँ॥ ४॥

आत्मा देवेन विभुना कृतोऽजेयो महात्मनः।
बलेरसुरमुख्यस्य विश्वस्य जगतस्तथा॥ ५॥
प्रभवः स हि सर्वेषामस्माकमपि पूर्वजः।
अचिन्त्यः स हि विश्वात्मा योगयुक्तः परंतपः॥ ६॥

उन सर्वव्यापी परमात्मदेवने ही असुरशिरोमणि महात्मा बलिके स्वरूपको अजेय बनाया है। वे ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके कारण तथा हम सब देवताओंके भी पूर्वज हैं। शत्रुओंको संताप देनेवाले वे योगयुक्त विश्वात्मा अचिन्त्य (मन और बुद्धिके अविषय) है॥ ५-६॥

तं देवापि महात्मानं न विदुः कोऽप्यसाविति।
वेदात्मानं च विश्वं च स देवः पुरुषोत्तमः॥ ७॥

देवता भी उन परमात्माके विषयमें यह नहीं जानते कि वे कौन हैं? किंतु वे पुरुषोत्तमदेव अपनेको तथा सम्पूर्ण विश्वको भी जानते हैं॥ ७॥

तस्यैव तु प्रसादेन प्रवक्ष्येऽहं परां गतिम्।
यत्र योगं समास्थाय तपश्चरति दुश्चरम्॥ ८॥

उन्हींके कृपा-प्रसादसे मैं उनकी परा गति (उत्कृष्ट आश्रय) का पता बता रहा हूँ, जहाँ योगका आश्रय लेकर वे दुष्कर तपस्या करते हैं॥ ८॥

क्षीरोदस्योत्तरे कूले उदीच्यां दिशि देवताः।
अमृतं नाम परमं स्थानमाहुर्मनीषिणः॥ ९॥

देवताओ! मनीषी पुरुष कहते हैं कि उत्तर दिशामें क्षीरसागरके उत्तर तटपर 'अमृत' नामक उत्कृष्ट स्थान (परम पद) है॥ ९॥

भवन्तस्तत्र वै गत्वा तपसा संशितव्रताः।
अमृतं स्थानमासाद्य तपश्चरत दुश्चरम्॥ १०॥

तुमलोग वहीं जाकर तपस्यापूर्वक कठोर व्रतका पालन करो। उस 'अमृत' स्थानमें पहुँचकर दुष्कर तपस्यामें लग जाओ॥ १०॥

तत्र श्रोष्यथ विस्पष्टां स्निग्धगम्भीरनिःस्वनाम्।
उष्णगे तोयपूर्णस्य तोयदस्य समस्वनाम्॥ ११॥
युक्ताक्षरपदस्निग्धां रम्यामभयदां शिवाम्।
वाणीं परमसंस्कारां वरदां ब्रह्मवादिनीम्॥ १२॥
दिव्यां सरस्वतीं सत्यां सर्वकिल्बिषनाशिनीम्।
सर्वदेवाधिदेवस्य भाषितां भावितात्मनः॥ १३॥
तस्य व्रतसमाप्तौ तु यावद् व्रतविसर्जनम्।
अमोघस्य तु देवस्य विश्वेदेवा महात्मनः॥ १४॥
स्वागतं वः सुरश्रेष्ठा मत्सकाशे व्यवस्थिताः।
कस्य किं वा वरं देवा ददामि वरदः स्थितः॥ १५॥
तं कश्यपोऽदितिश्चैव वरं गृह्णीत वै ततः।
प्रणम्य शिरसा पादौ तस्मै योगात्मने तदा॥ १६॥
भवानेव च नः पुत्रो भवत्विति न संशयः।

सर्वदेवगण! वहाँ व्रतकी समाप्ति होनेपर उस व्रतके विसर्जनसे पूर्व तुम्हें वर्षाकालके सजल जलधरकी भाँति स्निग्ध एवं गम्भीर स्वरमें उन अमोघ परमात्माकी सुस्पष्ट वाणी सुनायी देगी, जो उपयुक्त अक्षरों और पदोंसे युक्त, स्नेहपूर्ण, रमणीय, अभयदायिनी, मङ्गलकारिणी, उत्तम संस्कारसे सम्पन्न, वरदायक तथा ब्रह्मवादिनी होगी। उन शुद्ध अन्तःकरणवाले सर्वदेवाधिदेव भगवान्की कही हुई वह दिव्य सत्य वाणी सम्पूर्ण कल्मषोंका नाश करनेवाली होगी। वे कहेंगे—'मेरे पास खड़े हुए सुरश्रेष्ठगण! तुम्हारा स्वागत है! मैं वर देनेके लिये खड़ा हूँ, बोलो किसको कौन-सा वर दूँ?'

उस समय कश्यप, अदिति और तुम सब लोग उनसे वर ग्रहण करना। कश्यप और अदिति उन योगात्मा श्रीहरिके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेके पश्चात् निस्संदेह यही बात कहें कि 'आप ही मेरे पुत्र होकर प्रकट हों' ॥ ११—१६½ ॥

उक्तश्च परया भक्त्या तथास्त्विति स वक्ष्यति ॥ १७ ॥
देवा ब्रुवन्तु तं सर्वे भ्राता नस्त्वं भवेति ह।
तथास्त्विति च स श्रीमान् वक्ष्यते सर्वलोककृत्॥ १८ ॥

परम भक्तिभावसे ऐसी बात कहनेपर वे भगवान् 'तथास्तु—ऐसा ही होगा' यह कहेंगे, सब देवता भी उनसे यही कहें कि आप हमारे भाई हो जायँ। तब वे सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा श्रीमान् भगवान् 'तथास्तु' कहकर तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार कर लेंगे ॥ १७-१८ ॥

तस्मादेवं गृहीत्वा तु वरं त्रिदशसत्तमाः।
कृतकृत्याः पुनः सर्वे गच्छध्वं स्वं स्वमालयम्॥ १९ ॥

श्रेष्ठ देवताओ! इस प्रकार उनसे वर लेकर कृतकृत्य हो पुनः तुम सब लोग अपने-अपने स्थानको चले जाना ॥ १९ ॥

तथास्त्विति सुराः सर्वे कश्यपोऽदितिरेव च।
वन्दित्वा ब्रह्मचरणौ गताः सौम्यां दिशं प्रति॥ २० ॥

तब सब देवता, कश्यप और अदितिने 'ऐसा ही होगा' यह कहकर ब्रह्माजीके चरणोंमें प्रणाम किया और सब-के-सब उत्तर दिशाकी ओर चल दिये ॥ २० ॥

तेऽचिरेणैव सम्प्राप्ताः क्षीरोदस्योत्तरं तटम्।
यथोद्दिष्टं भगवता ब्रह्मणा ब्रह्मवादिना ॥ २१ ॥

ब्रह्मवादी भगवान् ब्रह्माने जैसा बताया था, उसके अनुसार वे शीघ्र ही क्षीरसागरके उत्तर तटपर चले गये ॥

तेऽतीत्य सागरान् सर्वान् पर्वतांश्च बहून् क्षणात्।
नद्यश्च विविधा दिव्याः पृथिव्यां सुरसत्तमाः ॥ २२ ॥
पश्यन्ति च सुघोरां वै सर्वसत्त्वविवर्जिताम्।
अभास्कराममर्यादां तमसा संवृतां दिशम् ॥ २३ ॥

वे श्रेष्ठतम देवता क्षणभरमें समस्त सागरों, बहुसंख्यक पर्वतों तथा नाना प्रकारकी दिव्य नदियोंको लाँघकर जब भूतलपर स्थित हुए, तब उन्हें अत्यन्त भयंकर, समस्त प्राणियोंसे रहित, सूर्यके प्रकाशसे शून्य, सीमाहीन एवं अन्धकारसे आच्छन्न दिशा दृष्टिगोचर हुई ॥ २२-२३ ॥

अमृतं स्थानमासाद्य कश्यपेन सुराः सह।
दीक्षिताः कामदं दिव्यं व्रतं वर्षसहस्रकम् ॥ २४ ॥
प्रसादार्थं सुरेशाय तस्मै योगाय धीमते।
नारायणाय देवाय सहस्राक्षाय धीमते ॥ २५ ॥

कश्यपके साथ अमृतस्थानमें पहुँचकर समस्त देवताओंने उन योगस्वरूप बुद्धिमान् देवेश्वर सहस्रलोचनधारी नारायणदेवकी प्रसन्नताके उद्देश्यसे एक सहस्र वर्षोंके लिये दिव्य कामदव्रतकी दीक्षा ली ॥ २४-२५ ॥

ब्रह्मचर्येण मौनेन स्थानवीरासनेन च।
दमेन च सुराः सर्वे तपो दुश्चरमास्थिताः ॥ २६ ॥

वे सब देवता ब्रह्मचर्य-पालन, मौनधारण, वीरासनग्रहण तथा मन और इन्द्रियोंके संयमद्वारा दुष्कर तपस्यामें संलग्न हो गये ॥ २६ ॥

कश्यपस्तत्र भगवान् प्रसादार्थं महात्मनः।
उदीरयति वेदोक्तं यमाहुः परमं स्तवम् ॥ २७ ॥

वहाँ उन परमात्माकी प्रसन्नताके लिये भगवान् कश्यप एक वेदोक्त स्तोत्रका पाठ करने लगे, जिसे 'परमस्तव' कहते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

कश्यपद्वारा परमपुरुष परमात्माका स्तवन

कश्यप उवाच

नमोऽस्तु देवदेवेश एकशृङ्ग वराह वृषार्चिष वृषसिन्धो वृषाकपे सुरवृषभ सुरनिर्मित अनिर्मित भद्रकपिल विष्वक्सेन ध्रुव धर्म धर्मराज वैकुण्ठ त्रेतावर्त अनादिमध्यनिधन धनंजय शुचिश्रवः अग्निज वृष्णिज अज अजयामृतेशय सनातन विधातस्त्रिकाम त्रिधाम त्रिककुत् ककुद्मिन् दुन्दुभे महानाभ लोकनाभ पद्मनाभ विरिञ्चे वरिष्ठ बहुरूप विरूप विश्वरूपाक्षयाक्षर सत्याक्षर हंसाक्षर हव्यभुक् खण्डपरशो शुक्र मुञ्जकेश हंस महाहंस महदक्षर हृषीकेश सूक्ष्म परसूक्ष्म तुराषाड् विश्वमूर्ते सुराग्रज नील निस्तमो विरजस्तमोरजःसत्त्वधाम सर्वलोकप्रतिष्ठ शिपिविष्ट सुतपस्तपोऽग्र अग्र अग्रज धर्मनाभ गभस्तिनाभ धर्मनेमे सत्यधाम सत्याक्षर गभस्तिनेमे विपाप्मन् चन्द्ररथ त्वमेव समुद्रवासाः अजैकपात् सहस्रशीर्ष सहस्रसम्मित महाशीर्ष सहस्रदृक् सहस्रपात् अधोमुख महामुख महापुरुष पुरुषोत्तम सहस्रबाहो सहस्रमूर्ते सहस्रास्य सहस्राक्ष सहस्र-

भुज सहस्रभव सहस्रशास्त्वामाहुर्वेदाः ॥ १ ॥

कश्यपने कहा—देवदेवेश्वर ! आपको नमस्कार है। आप एक सींग धारण करनेवाले मत्स्य एवं वराहरूप हैं। धर्ममयी किरणोंसे प्रकाशित होते हैं। धर्मके सागर हैं। जलका वर्षण और शोषण करनेवाले सूर्य हैं। देवताओंमें श्रेष्ठ हैं। देवताओंके स्रष्टा हैं। आपका किसी अन्यसे निर्माण नहीं हुआ है—आप नित्यसिद्ध हैं। कल्याणमय कपिलस्वरूप हैं। युद्धके लिये की हुई तैयारी मात्रसे ही आप दैत्यसेनाको तितर-बितर कर डालते हैं। आप ध्रुव, धर्म, धर्मराज एवं वैकुण्ठधामके अधिपति हैं। गार्हपत्यादि त्रिविध अग्निके आवर्तक, आदि, मध्य और अन्तसे रहित, धनंजय (अग्नि), पवित्र कीर्तिवाले, अग्निज (कार्तिकेयस्वरूप), वृष्णिज (श्रीकृष्ण), अजन्मा, अजय (अपराजित), अमृतेशय (जलमें शयन करनेवाले) और सनातन पुरुष हैं। आप ही विधाता, त्रिकाम (तीनों लोकोंकी कामनाके विषय अथवा तीनों वेदोंकी श्रुतियोंके लिये कमनीय), त्रिधाम (त्रिलोकीके आश्रय), त्रिककुद् (धर्म, ज्ञान और वैराग्यरूप तीन कंधोंवाले), ककुद्मी (मोटे कंधेवाले), दुन्दुभे (विजयघोष करनेवाले वाद्यरूप), महानाभ (बड़ी नाभिवाले), लोकनाभ (अपने नाभिकमलसे सम्पूर्ण लोकको प्रकट करनेवाले), पद्मनाभ (अपनी नाभिसे कमलको प्रकट करनेवाले), विरिञ्चि (ब्रह्मस्वरूप), वरिष्ठ (सर्वश्रेष्ठ), बहुरूपधारी, विरूप (विविध रूप धारण करनेवाले), विश्वरूप, अक्षय, अक्षर (अविनाशी), सत्याक्षर (सत्य एवं अविनाशी अथवा सत्य अक्षरवाले वेदरूप), हंसाक्षर (अजपा मन्त्ररूप), हव्यभोक्ता (अग्नि), खण्डपरशु (शिव), शुक्र (बलवीर्यरूप), मुञ्जकेश (मूँजके समान केशवाले), हंस और महाहंस हैं। महान् अक्षर प्रणव, इन्द्रियोंके प्रेरक, सूक्ष्म, परमसूक्ष्म, इन्द्र, विश्वरूप, देवताओंके अग्रज, नीलवर्ण, तमोगुण और रजोगुणसे रहित, तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुणके आश्रय, सम्पूर्ण लोकोंमें प्रतिष्ठित, शिपिविष्ट (सूर्य-किरणोंमें स्थित रहनेवाले), उत्तम तपस्यावाले, श्रेष्ठ तपोरूप, अग्र (सबके आदि), अग्रज (सबसे प्रथम प्रकट), धर्मनाभ (धर्मस्वरूप नाभिवाले), गभस्तिनाभ (किरणमयी नाभिवाले), धर्मनेमि (धर्मचक्रके प्रवर्तक), सत्यधाम (वैकुण्ठस्वरूप), सत्याक्षर (वेदस्वरूप), गभस्तिनेमि (रश्मिमण्डलसे प्रकाशित), पापरहित तथा चन्द्र (समष्टि मन) रूपी रथपर आरूढ़ परमेश्वर ! आप ही समुद्रवासा (समुद्ररूपी वस्त्र धारण करनेवाले) हैं। आप ही अजैकपात् (ग्यारह रुद्रोंमेंसे एक अथवा पूर्वभाद्रपदानक्षत्र), सहस्रों मस्तकवाले, सहस्रसंख्यक, महान् मस्तक धारण करनेवाले, सहस्रनेत्र, सहस्रचरण, अधोमुख, महामुख, महापुरुष, पुरुषोत्तम, सहस्रबाहु, सहस्रमूर्ति, सहस्रमुख, सहस्रलोचन, सहस्रभुज तथा सहस्रों रूपोंमें प्रकट होनेवाले हैं, वेद आपका सहस्रों प्रकारसे वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

विश्वेदेव विश्वसम्भव सर्वेषामेव देवानां सौभग आद्ो गतिः विश्वं त्वमाप्यायनः विश्वं त्वामाहुः पुष्पहासः परमवरदस्त्वमेव वौषट् ओंकार वषट्कार त्वामेकमाहुरग्र्यं मखभागप्राशिनम् ॥ २ ॥

आप ही विश्वेदेवस्वरूप, विश्वको उत्पन्न करनेवाले, सम्पूर्ण देवताओंके सौभाग्यस्वरूप एवं धर्मरूप हैं। आप ही सम्पूर्ण विश्वको पुष्ट एवं तुष्ट करनेवाले हैं। विद्वान् पुरुष आपको ही विश्वरूप बताते हैं। आपका हास पुष्पोंके विकासकी भाँति सुशोभित होता है। आप ही सर्वोत्तम वरदायक देवता हैं। आप ही वौषट्, ओङ्कार और वषट्कार हैं। एकमात्र आपको ही सर्वश्रेष्ठ यज्ञभागका भोक्ता बताया गया है ॥

शतधार सहस्रधार भूर्द भुवर्द स्वर्द भूर्भुवःस्वर्द त्वमेव भूतं भुवनं त्वं स्वधा त्वमेव ब्रह्मसख ब्रह्ममय ब्रह्मादिस्त्वमेव ॥ ३ ॥

आप ही शतधार और सहस्रधार (सैकड़ों, हजारों धाराओंमें अमृतकी वर्षा करनेवाले) सोम हैं। आप ही भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोकको देनेवाले हैं। आप उक्त तीनों लोकोंका एक साथ ही दान करनेके कारण भूर्भुवःस्वर्द (त्रिलोकप्रद) कहे गये हैं। आप ही भूत एवं भुवन हैं। आप ही स्वधा हैं। आप ही ब्रह्मसख (ब्रह्माजीके सखा) और ब्रह्ममय हैं तथा ब्रह्माजीके आदि कारण भी आप ही हैं ॥

द्यौरसि पृथिव्यसि पूषासि मातरिश्वासि धर्मोऽसि मघवासि होता पोता नेता हन्ता मन्ता होम्यहोता परात्परस्त्वं होम्यस्त्वमेव ॥ ४ ॥

आप ही द्युलोक हैं, पृथ्वी हैं, पूषा नामक आदित्य हैं, मातरिश्वा (वायु) हैं, धर्म हैं, इन्द्र हैं, होता (हवनकर्ता), पोता (एक ऋत्विज), नेता (नायक अथवा अगुआ), हन्ता (दुष्टोंका वध करनेवाले), मन्ता (सम्मान देनेवाले), हवनीय पदार्थका होम करनेवाले, परात्पर परमात्मा तथा हवनीय पदार्थरूप हैं ॥ ४ ॥

आपोऽसि विश्ववाग् धात्रा परमेण धाम्नः त्वमेव दिग्भ्यः स्रुक् स्रुभाण्डस्त्वं गण इष्टोऽसि इज्योऽसि ईड्योऽसि त्वष्टा त्वमसि समिद्धस्त्वमेव गतिर्गतिमतामसि मोक्षोऽसि योगोऽसि गुह्योऽसि सिद्धोऽसि धन्योऽसि धातासि परमोऽसि यज्ञोऽसि सोमोऽसि यूपोऽसि दक्षिणासि दीक्षासि विश्वमसि ॥ ५ ॥

आप ही जल हैं। सम्पूर्ण विश्वकी वाणी हैं। विधाताने उत्तम यज्ञके निमित्त अग्निकी तृप्तिके लिये दिशाओंसे जिस

स्रुक्का संग्रह किया, वह आपका ही स्वरूप है। स्रुग्भाण्ड (स्रुक् आदि यज्ञसामग्री) भी आप ही हैं। आप ही गण (ऋत्विजोंका समुदाय) हैं। आपका ही यज्ञोंद्वारा यजन किया गया है। आप ही इज्य (यज्ञोंद्वारा पूजनीय) हैं। ईड्य (स्तवनीय) हैं। आप ही त्वष्टा (विश्वकर्मा) हैं। आप ही प्रज्वलित अग्नि हैं। आप ही जङ्गम प्राणियोंकी गति हैं तथा आप ही मोक्ष हैं, योग हैं, गुह्य हैं, सिद्ध हैं, धन्य हैं, धाता हैं, परम (उत्कृष्ट) हैं, यज्ञ हैं, सोम हैं, यूप हैं, दक्षिणा हैं, दीक्षा हैं और सब कुछ हैं ॥ ५ ॥

स्थविष्ठ स्थविर विश्व तुराषाड् हिरण्यगर्भ हिरण्यनाभ हिरण्यनारायण नारायणान्तर नृणामयन आदित्यवर्ण आदित्यतेजः महापुरुष सुरोत्तम आदिदेव पद्मनाभ पद्मेशय पद्माक्ष पद्मगर्भ हिरण्याग्रकेश शुक्र विश्वदेव विश्वतोमुख विश्वाक्ष विश्वसम्भव विश्वभुक्त्वमेव ॥ ६ ॥

आप अत्यन्त स्थूल और वृद्ध हैं, जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी विश्वसंज्ञक पुरुष हैं, इन्द्र हैं, हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) हैं। आपकी नाभिमें हिरण्य है—इसीलिये आप हिरण्यनारायण कहलाते हैं और आप अन्तर्यामी नारायण हैं, नरों (मनुष्यों) के अयन (आश्रय) हैं। आपका वर्ण आदित्यके समान कान्तिमान् हैं। आप सूर्यके समान तेजस्वी हैं, आप ही महापुरुष, सुरश्रेष्ठ, आदिदेव, पद्मनाभ (नाभिसे कमल उत्पन्न करनेवाले), कमलपर शयन करनेवाले और कमललोचन हैं। पद्मको गर्भसे प्रकट करनेके कारण पद्मगर्भ कहलाते हैं। आपके सुन्दर केश सुनहरे हैं। आपकी अङ्गकान्ति भास्वरशुक्ल है। आप सम्पूर्ण देवस्वरूप हैं। आपके सब ओर मुख और सब ओर नेत्र हैं। आप ही इस विश्वके उत्पादक तथा जगत्के भोक्ता (रक्षक और संहारक) हैं ॥ ६ ॥

भूरिविक्रम चक्रक्रम त्रिभुवन सुविक्रम स्वविक्रम स्वर्विक्रम बभ्रुः सुविभुः प्रभाकरः शम्भुः स्वयम्भूश्च भूतादिर्भूतात्मन् महाभूत विश्वभुक् त्वमेव विश्वगोप्तासि विश्वम्भर पवित्रमसि हविर्विशारद हविःकर्मा अमृतेन्धन सुरासुरगुरो महादिदेव नृदेव ऊर्ध्वकर्मन् पूतात्मन् अमृतेश दिवःस्पृग् विश्वस्य पते घृताच्यसि अनन्तकर्मन् द्रुहिणवंश स्ववंश विश्वपास्त्वं त्वमेव विश्वं बिभर्षि वरार्थिनो नस्त्रायस्वेति ॥ ७ ॥

आपका पराक्रम बहुत है। आप चक्रका संचालन करनेवाले हैं। तीनों लोक आपके ही स्वरूप हैं। आपका विक्रम उत्तम है। विक्रम आपका स्वरूप है। आप स्वर्लोकको लाँघ जानेवाले हैं। आप बभ्रु (अग्नि एवं विष्णुरूप), सुविभु (व्यापक), प्रभाकर (सूर्यरूप), शम्भु (कल्याणमय शिव), स्वयम्भू (ब्रह्मा), भूतादि (महत्तत्त्व अथवा सम्पूर्ण भूतोंके आदि कारण), भूतात्मा (समस्त प्राणियोंके आत्मा), महाभूत (परमात्मा अथवा पञ्च महाभूतस्वरूप), विश्वभोक्ता और विश्वपालक हैं। विश्वम्भर ! आप पवित्र हैं। सात हविर्यज्ञ-संस्थाओंके विशेषज्ञ हैं। हविष्यके होममें तत्पर रहनेवाले हैं। अमृत (घी) रूपी ईंधनसे प्रज्वलित होनेवाले अग्नि हैं। सुरासुरगुरो ! महादिदेव ! नरदेव ! आपके कर्म ऊर्ध्वगति प्रदान करनेवाले हैं। पूतात्मन् ! आप अमृतपदके स्वामी हैं। द्युलोकका स्पर्श करनेवाले हैं। विश्वपते ! आप घृताची (घीकी आहुति डालनेवाली स्रुवा) हैं। आपके कर्म अनन्त हैं। ब्रह्मा आपके वंशज हैं। आप स्ववंश (स्वयम्भू) हैं। आप ही विश्वके पालक हैं तथा आप ही विश्वका धारण-पोषण करते हैं। हम वरकी अभिलाषा रखने वाले सेवकोंकी आप रक्षा करें ॥ ७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे महापुरुषस्तवे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें महापुरुषकी स्तुतिविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

कश्यप, अदिति और देवताओंको भगवान् विष्णुका वरदान देना और अदितिके गर्भसे प्रकट होना

वैशम्पायन उवाच

नारायणस्तु भगवाञ्छ्रुत्वैतत् परमं स्तवम्।
ब्रह्मज्ञेन द्विजेन्द्रेण कश्यपेन समीरितम्॥ १ ॥
स्निग्धगम्भीरनिर्घोषजीमूतस्वननिःस्वनम्।
मनसा प्रीतियुक्तेन विबुधानां महात्मनाम्॥ २ ॥
उवाच वचनं सम्यग् हृष्टपुष्टपदाक्षरम्।
आकाशाच्छुश्रुवे शब्दो दर्शनं नोपलभ्यते।
श्रीमान् प्रीतमना देवः प्रोवाच प्रभुरीश्वरः॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ब्रह्मवेत्ता विप्रवर कश्यपद्वारा किये गये इस परमस्तवको सुनकर भगवान् नारायणके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई; वे उन महात्मा देवताओंसे मेघगर्जनाके समान स्निग्ध-गम्भीर घोष करते हुए हृष्ट-पुष्ट पद और अक्षरवाली उत्तम वाणीमें बोले; उस समय आकाशसे केवल उनका शब्दमात्र सुनायी देता

था, दर्शन नहीं हो रहा था। करने, न करने और अन्यथा करनेमें भी समर्थ वे श्रीमान् भगवान् नारायण देव इस प्रकार कहने लगे ॥ १–३ ॥

विष्णुरुवाच

प्रीतोऽस्मि वः सुरश्रेष्ठाः सर्वे मत्तो विनिश्चयम्।
वरं वृणुत भद्रं वो वरदोऽस्मि सुरोत्तमाः ॥ ४ ॥

भगवान् विष्णु बोले—सुरश्रेष्ठगण ! तुम्हारा भला हो ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ; तुम सब लोग मुझसे सुनिश्चित वर माँगो। श्रेष्ठ देवताओ ! मैं तुम्हे वर देनेके लिये उद्यत हूँ ॥ ४ ॥

कश्यप उवाच

यदैव भगवान् प्रीतः सर्वेषाममरोत्तमः।
तदैव कृतकृत्याः स्म त्वं हि नः परमा गतिः ॥ ५ ॥

कश्यपने कहा—प्रभो ! आप देवताओंमें उत्तम हैं; आप जभी हम सबपर प्रसन्न हुए तभी हम कृतकृत्य हो गये, क्योंकि आप ही हमारी परम गति हैं ॥ ५ ॥

यदि प्रसन्नो भगवान् दातव्यो वा वरो यदि।
वासवस्यानुजो भ्राता ज्ञातीनां नन्दिवर्धनः।
अदित्यां वामनः श्रीमान् भगवानस्तु वै सुतः ॥ ६ ॥

यदि भगवान् हमपर प्रसन्न हैं अथवा यदि हमें वर देना उचित समझते हैं तो अदितिके गर्भसे पुत्ररूपमें उत्पन्न हो श्रीमान् भगवान् वामनके नामसे विख्यात हों और इन्द्रके छोटे भाई होकर बन्धु-बान्धवोंका आनन्दवर्धन करें ॥ ६॥

वैशम्पायन उवाच

अदितिर्देवमाता च एतमेवार्थमुत्तमम्।
पुत्रार्थे वरदं प्राह भगवन्तं वरार्थिनी ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वरकी इच्छा रखनेवाली देवमाता अदिति भी वरदायक भगवान्से पुत्रके लिये यही उत्तम मनोरथ प्रकट करती हुई बोली ॥ ७ ॥

अदितिरुवाच

याचे त्वां पुत्रकामा वै भवान् पुत्रो भवत्विति।
निःश्रेयसाय सर्वेषां देवानां हि महात्मनाम् ॥ ८ ॥

अदितिने कहा—भगवन् ! मेरे मनमें पुत्रकी कामना है। मैं आपसे यही प्रार्थना करती हूँ कि आप समस्त महात्मा देवताओंके कल्याणके लिये मेरे पुत्र हो जायँ ॥ ८ ॥

देवा ऊचुः

भ्राता भर्ता च दाता च शरणं च भवस्व नः।
अदित्याः पुत्रतां याते त्वयि देवाः सवासवाः।
देवशब्दं वहिष्यन्ति कश्यपस्यात्मजो भव ॥ ९ ॥

देवता बोले—भगवन् ! आप हमारे भ्राता, भर्ता (भरण-पोषण करनेवाले), दाता और आश्रय हों। आप जब अदितिके पुत्र होंगे, तभी इन्द्रसहित समस्त देवता देवशब्द (देवतापदवी) का भार वहन कर सकेंगे, अतः आप कश्यपके पुत्र हो जाइये ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तानब्रवीद् विष्णुर्देवान् कश्यपमेव च।
एवं भवतु भद्रं वो यथेष्टं काममाप्नुत ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब भगवान् विष्णुने देवताओं तथा कश्यपजीसे कहा—'ऐसा ही होगा, तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपना अभीष्ट मनोरथ प्राप्त करो ॥ १० ॥

सर्वेषामेव युष्माकं ये भविष्यन्ति शत्रवः।
मुहूर्तमपि ते सर्वे न स्थास्यन्ति ममाग्रतः ॥ ११ ॥

'तुम सब लोगोंके जो शत्रु होंगे, वे सब-के-सब दो घड़ी भी मेरे सामने नहीं ठहर सकेंगे ॥ ११ ॥

हत्वासुरगणान् सर्वान् ये चान्ये देवशत्रवः।
करिष्ये देवताः सर्वा यज्ञभागाग्रभोजिनः ॥ १२ ॥

'समस्त असुरों तथा अन्यान्य देव-द्रोहियोंका वध करके मैं समस्त देवताओंको यज्ञ-भागका अग्रभोजी बना दूँगा ॥

हव्यादांश्च सुरान् सर्वान् कव्यादांश्च पितॄनपि।
करिष्ये विबुधश्रेष्ठाः पारमेष्ठ्येन कर्मणा ॥ १३ ॥

'श्रेष्ठ देवताओ ! मैं अपने परमेश्वरोचित कर्मके द्वारा सब देवताओंको हविष्यभोक्ता और पितरोंको भी कव्यभोजी (श्राद्धभोक्ता) बना दूँगा ॥ १३ ॥

यथागतेन मार्गेण निवर्तध्वं सुरोत्तमाः।
देवमातुस्तथादित्याः कश्यपस्यामितात्मनः।
यथामनीषितं कर्ता गच्छध्वं स्वं स्वमालयम् ॥ १४ ॥

'सुरश्रेष्ठगण ! तुम जिस मार्गसे आये हो, उसीसे लौट जाओ ! मैं देवमाता अदिति तथा महात्मा कश्यपजीकी इच्छाके अनुसार कार्य करूँगा ! तुम सब लोग अपने-अपने स्थानको जाओ' ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने विष्णुना प्रभविष्णुना।
देवाः प्रहृष्टमनसः पूजयन्ति स्म सर्वशः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रभावशाली विष्णुके ऐसी बात कहनेपर देवताओंका मन हर्षसे खिल उठा। वे सब प्रकारसे भगवान्‌की पूजा—भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ १५ ॥

विश्वेदेवा महात्मानः कश्यपोऽदितिरेव च।
साध्या मरुद्गणाश्चैव शक्रश्चैव महाबलः ॥ १६ ॥
नमस्कृत्य सुरेशाय तस्मै देवाय रंहसे।
प्रयाताः प्राग्दिशं दिव्यं विपुलं कश्यपाश्रमम् ॥ १७ ॥

महात्मा विश्वेदेवगण, कश्यप, अदिति, साध्य, मरुद्गण तथा महाबली इन्द्र—ये सब उन वेगशाली दिव्यस्वरूप

देवेश्वरको नमस्कार करके पूर्वदिशामें स्थित कश्यपजीके दिव्य एवं विशाल आश्रमकी ओर चल दिये ॥ १६-१७ ॥

गत्वा ते आश्रमं तत्र ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ।
चेरुः स्वाध्यायनियता अदित्या गर्भमीप्सवः ॥ १८ ॥

ब्रह्मर्षियोंद्वारा सेवित उस आश्रममें पहुँचकर वे देवता वहाँ नियमपूर्वक स्वाध्यायमें तत्पर रहकर अदितिके गर्भकी प्रतीक्षा करते हुए विचरने लगे ॥ १८ ॥

अदितिर्देवमाता च गर्भं दध्रेऽतितेजसम् ।
भूतात्मानं महात्मानं दिव्यं वर्षसहस्रकम् ॥ १९ ॥

देवमाता अदितिने अत्यन्त तेजस्वी गर्भ धारण किया, जिसमें समस्त प्राणियोंके आत्मा परमात्मा श्रीहरिका निवास था । एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक वे उस गर्भको धारण किये रहीं ॥ १९ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु प्रसूता गर्भमुत्तमम् ।
सुराणां शरणं देवमसुराणां विनाशनम् ॥ २० ॥

सहस्र वर्ष पूर्ण होनेपर देवी अदितिने देवताओंके शरणदाता और असुरोंके विनाशक नारायणदेवको अपने उत्तम गर्भ (शिशु) के रूपमें जन्म दिया ॥ २० ॥

गर्भस्थेन तु देवेन परित्राताः सुरास्तदा ।
आददानेन तेजांसि त्रैलोक्यस्य महात्मना ॥ २१ ॥

गर्भमें रहते समय ही तीनों लोकोंके तेजको छीन लेनेवाले महात्मा नारायणदेवने तत्काल सब देवताओंकी रक्षा आरम्भ कर दी ॥ २१ ॥

तस्मिञ्जाते तु देवेशे त्रैलोक्यस्य सुखावहे ।
भयदे दैत्यसंघानां सुराणां नन्दिवर्धने ॥ २२ ॥

त्रिभुवनको सुख देनेवाले, दैत्यसमूहोंको भयभीत करनेवाले और देवताओंका आनन्द बढ़ानेवाले देवेश्वर श्रीहरिके अदितिके गर्भसे प्रकट होते ही सर्वत्र आनन्द छा गया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

ऋषियों और विविध देवताओंका वामनजीको नमस्कार करना, गन्धर्वों तथा अप्सराओंका नाचना-गाना, भगवान्‌के वैशिष्ट्यका वर्णन, भगवान्‌का देवताओंसे उनका मनोरथ पूछकर बृहस्पतिजीके साथ बलिके यज्ञमें जाना, वहाँ अपनी वाक्पटुतासे सबको चकित कर देना और राजा बलिका उनसे परिचय तथा आगमनका प्रयोजन पूछना

वैशम्पायन उवाच

प्रजानां पतयः सप्त सप्त चैव महर्षयः ।
तस्य देवस्य जातस्य नमस्कारं प्रचक्रिरे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वहाँ प्रकट हुए भगवान् विष्णुको मरीचि आदि सात प्रजापतियों तथा सात महर्षियोंने नमस्कार किया ॥ १ ॥

भरद्वाजः कश्यपो गौतमश्च
विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः ।
यश्चोदितो भास्करे सम्प्रणष्टे
सोऽप्यत्रात्रिर्भगवानाजगाम ॥ २ ॥

भरद्वाज, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ तथा सूर्यदेवके नष्ट (अपने स्थानसे भ्रष्ट) होनेपर जो उदित हुए थे, वे भगवान् अत्रि भी श्रीहरिको प्रणाम करनेके लिये वहाँ पधारे थे ॥ २ ॥

मरीचिरङ्गिराश्चैव पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
दक्षप्रजापतिश्चैव नमस्कारं प्रचक्रिरे ॥ ३ ॥

मरीचि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और दक्ष प्रजापति—इन प्रजापतियोंने भी वहाँ आकर भगवान्‌को प्रणाम किया ॥ ३ ॥

और्वो वसिष्ठपुत्रश्च स्तम्बः काश्यप एव च ।
कपीवानकपीवांश्च दत्तो निश्च्यवनस्तथा ॥ ४ ॥
वसिष्ठपुत्राः सप्तासन् वासिष्ठा इति विश्रुताः ।
हिरण्यगर्भस्य सुताः पूर्वजाताः सुतेजसः ॥ ५ ॥

और्व, वसिष्ठपुत्र शक्ति, स्तम्ब, काश्यप, कपीवान्, अकपीवान्, दत्तात्रेय, निश्च्यवन तथा वासिष्ठ नामसे विख्यात वसिष्ठके वे सात पुत्र, जो पहले हिरण्यगर्भके परमतेजस्वी पुत्रोंके रूपमें उत्पन्न हुए थे (भगवान्‌को नमस्कार करनेके लिये वहाँ पधारे थे) ॥ ४-५ ॥

गार्ग्यः पृथुस्तथैवान्यो जन्यो वामन एव च ।
देवबाहुर्यदुध्रश्च पर्जन्यश्चैव सोमजः ॥ ६ ॥
हिरण्यरोमा वेदशिराः सप्तनेत्रस्तथैव च ।
विश्वोऽतिविश्वश्च्यवनः सुधामा विरजास्तथा ॥ ७ ॥
अतिनामा सहिष्णुश्च नमस्कारमकुर्वत ।

गार्ग्य, पृथु, जन्य, वामन, देवबाहु, यदुध्र, सोमवंशी

पर्जन्य, हिरण्यरोमा, वेदशिरा, सत्तनेत्र, विश्व, अतिविश्व, च्यवन, सुधामा, विरजा, अतिनामा और सहिष्णु—इन सबने वहाँ आकर भगवान्‌को नमस्कार किया ॥ ६-७½ ॥

उद्द्योतमाना वपुषा सर्वाभरणभूषिताः ॥ ८ ॥
उपनृत्यन्ति देवेशं विष्णुमप्सरसां वराः ।

अपने शरीरसे प्रकाशित होनेवाली समस्त आभूषणोंसे विभूषित श्रेष्ठ अप्सराएँ देवेश्वर भगवान् विष्णुके समीप आकर नृत्य करने लगीं ॥ ८½ ॥

ततो गन्धर्वतूर्येषु प्रणदत्सु विहायसि ॥ ९ ॥
बहुभिः सह गन्धर्वैः प्रागायत च तुम्बुरुः ।

तदनन्तर आकाशमें गन्धर्वोंके बाजे बजने लगे। उस समय बहुसंख्यक गन्धर्वोंके साथ तुम्बुरुने गीत गाया ॥९½॥

महाश्रुतिश्चित्रशिरा ऊर्णायुरनघस्तथा ॥ १० ॥
गोमायुः सूर्यवर्चाश्च सोमवर्चाश्च सप्तमः ।
युगपस्तृणपः कार्ष्णिर्नन्दिश्च त्रिशिरास्तथा ॥ ११ ॥
त्रयोदशः शालिशिराः पर्जन्यश्च चतुर्दशः ।
कलिः पञ्चदशश्चात्र तत्रैव तु महीपते ॥ १२ ॥

पृथ्वीनाथ ! इनके सिवा महाश्रुति, चित्रशिरा, ऊर्णायु, अनघ, गोमायु, सूर्यवर्चा, सातवें सोमवर्चा, युगप, तृणप, कार्ष्णि, नन्दि, त्रिशिरा, तेरहवें शालिशिरा, चौदहवें पर्जन्य और पंद्रहवें कलि—ये सब वहीं गीत गाने लगे॥१०–१२॥

दश पञ्च त्विमे प्रोक्ता नारदश्चैव षोडशः ।
हाहा हूहूश्च गन्धर्वौ हंसश्चैव महाद्युतिः ॥ १३ ॥

ये पंद्रह गन्धर्व बताये गये हैं। इनके साथ सोलहवें नारद थे तथा हाहा, हूहू नामक दो गन्धर्व और महातेजस्वी हंस भी थे ॥ १३ ॥

सर्वे ते देवगन्धर्वा उपगायन्ति केशवम् ।
तथैवाप्सरसो हृष्टाः सर्वालंकारभूषिताः ॥१४॥
वपुष्मन्तः सुजघनाः सर्वाङ्गशुभदर्शनाः ।
ननृतुश्च महाभागा जगुश्चायतलोचनाः ॥१५॥
सुमध्याश्चारुमध्याश्च प्रियमुख्यो वराननाः ।

वे समस्त देवगन्धर्व भगवान् केशवके समीप गान करने लगे। उसी प्रकार हर्षमें भरी हुई महाभागा अप्सराएँ सब प्रकारके अलंकारोंसे विभूषित हो वहाँ नृत्य और गान करने लगीं। उनके शरीर सुन्दर थे। जघनप्रदेश मनोहर जान पड़ते थे। वे सब-की-सब सर्वाङ्गसुन्दरी दिखायी देती थीं। उनके नेत्र बड़े-बड़े थे। शरीरका मध्यभाग सुन्दर एवं मनोहर था। उन सुमुखी अप्सराओंके मुख सबको प्रिय लगते थे ॥ १४-१५½ ॥

अनूकाथ तथा जामी मिश्रकेशी त्वलम्बुषा ॥१६॥
मरीचिः शुचिकाचैव विद्युत्पूर्णा तिलोत्तमा ।
अद्रिका लक्षणा चैव रम्भा तद्वन्मनोरमा ॥१७॥
असिता च सुबाहुश्च सुप्रिया सुभगा तथा ।
उर्वशी चित्रलेखा च सुग्रीवा च सुलोचना ॥१८॥
पुण्डरीका सुगन्धा च सुरथा च प्रमाथिनी ।
नन्दा शारद्वती चैव तथान्यास्तत्र संघशः ॥१९॥
मेनका सहजन्या च पर्णिका पुञ्जिकस्थला ।
एताश्चाप्सरसोऽन्याश्च प्रनृत्यन्ति सहस्रशः ॥२०॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—अनूका, जामी, मिश्रकेशी, अलम्बुषा, मरीचि, शुचिका, विद्युत्पूर्णा, तिलोत्तमा, अद्रिका, लक्षणा, रम्भा, मनोरमा, असिता, सुबाहु, सुप्रिया, सुभगा, उर्वशी, चित्रलेखा, सुग्रीवा, सुलोचना, पुण्डरीका, सुगन्धा, सुरथा, प्रमाथिनी, नन्दा, शारद्वती, मेनका, सहजन्या, पर्णिका, पुञ्जिकस्थला—ये तथा दूसरी झुंड-की-झुंड अप्सराएँ सहस्रोंकी संख्यामें वहाँ आकर नृत्य करने लगीं ॥१६—२०॥

धातार्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशो भगस्तथा ।
इन्द्रो विवस्वान् पूषा च त्वष्टा च सविता तथा ॥२१॥
कथितो विष्णुरित्येवं काश्यपेयो गणस्तथा ।
इत्येते द्वादशादित्या ज्वलन्तः सूर्यवर्चसः ॥२२॥
चक्रुस्तस्य सुरेशस्य नमस्कारं महात्मनः ।

धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, त्वष्टा, सविता तथा विष्णु—यह कश्यप-पुत्रोंका समुदाय है। ये सूर्यतुल्य तेजस्वी और अग्निके समान प्रकाशमान बारह आदित्य कहे गये हैं। इन सबने आकर उन देवेश्वर महात्मा वामनको नमस्कार किया २१-२२½

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महाबलः ॥२३॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी चापराजितः ।
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च विशाम्पते ॥२४॥
स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रास्तत्रावतस्थिरे ।

प्रजानाथ ! मृगव्याध, सर्प, महाबली निर्ऋति, अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, अपराजित, दहन, ईश्वर, कपाली तथा भगवान् स्थाणु या भर्ग—ये ग्यारह रुद्र भी वहाँ उपस्थित थे ॥ २३-२४½ ॥

अश्विनौ वसवश्चाष्टौ मरुतश्च महाबलाः ॥२५॥
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च तस्य प्राञ्जलयः स्थिताः ।

दोनों अश्विनीकुमार, आठ वसु, महाबली मरुद्गण, विश्वेदेव तथा साध्य देवता उन भगवान्‌के सामने हाथ जोड़कर खड़े थे ॥ २५½ ॥

शेषानुजा महाभागा वासुकिप्रमुखास्तथा ॥२६॥
कच्छपश्चापहर्ता च तक्षकश्च महाबलः ।
अधृष्यास्तेजसा युक्ता महाक्रोधा महाबलाः ॥२७॥
एते नागा महात्मानस्तस्मै प्राञ्जलयः स्थिताः ।

शेषके छोटे भाई महाभाग वासुकि आदि, कच्छप, अपहर्ता और महाबली तक्षक—ये महाकाय नाग किसीसे पराजित होनेवाले नहीं थे। ये तेजस्वी, महाक्रोधी और महाबलवान् थे। ये सब-के-सब वहाँ भगवान्‌के लिये हाथ जोड़े हुए खड़े थे ॥ २६-२७½ ॥

तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च गरुडश्च महाबलः ॥२८॥
अरुणश्चारुणिश्चैव वैनतेया ह्युपस्थिताः ।

तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, महाबली गरुड, अरुण और आरुणि—ये विनताके पुत्र भी वहाँ उपस्थित थे ॥ २८½ ॥

पितामहश्च भगवान् स्वयमागम्य लोककृत् ।
प्राह चैवं गुरुः श्रीमान् सह सर्वैर्महात्मभिः ॥२९॥

इन सब महात्माओंके साथ लोकस्रष्टा जगद्गुरु श्रीमान् भगवान् पितामह स्वयं आकर इस प्रकार बोले ॥ २९ ॥

ब्रह्मोवाच

यस्मात् प्रसूयते लोकः प्रभविष्णुः सनातनः ।
तस्माल्लोकेश्वरः श्रीमान् विष्णुरेव भवत्वयम् ॥३०॥

ब्रह्माजीने कहा—इनसे ही इस सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति होती है, इसलिये ये प्रभावशाली सनातन पुरुष श्रीमान् विष्णु ही लोकेश्वर हों (इन्हींको लोकेश्वरके पद-पर प्रतिष्ठित किया जाय) ॥ ३० ॥

एवमुक्त्वा तु भगवान् सार्धं देवर्षिभिः प्रभुः ।
नमस्कृत्वा सुरेशाय जगाम त्रिदिवं पुनः ॥३१॥

ऐसा कहकर देवर्षियोंसहित भगवान् ब्रह्मा उन देवेश्वर-को नमस्कार करके पुनः अपने धामको चले गये ॥ ३१ ॥

स तु जातः सुरेशानः कश्यपस्यात्मजः प्रभुः ।
नवदुर्दिनमेघाभो रक्ताक्षो वामनाकृतिः ॥३२॥

वहाँ प्रकट हुए कश्यपकुमार देवेश्वर भगवान् विष्णुका स्वरूप बौना था। वे वर्षाकालके नूतन मेघकी भाँति श्याम कान्तिसे सुशोभित हो रहे थे। उनके नेत्र कुछ-कुछ लाल थे ॥ ३२ ॥

श्रीवत्सेनोरसि श्रीमान् रोमजातेन राजता ।
उत्फुल्ललोचनाः सर्वाः पश्यन्त्यप्सरसस्तदा ॥३३॥

उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्स नामवाली रोमराजि सुशोभित थी, जिससे वे भगवान् बड़े शोभासम्पन्न दिखायी देते थे। उस समय सारी अप्सराएँ प्रफुल्ल नेत्रोंसे उनकी छवि निहार रही थीं ॥ ३३ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासा तस्य महात्मनः॥३४॥

यदि आकाशमें एक सहस्र सूर्योंकी प्रभा एक साथ ही उदित हो जाती तो वही उन महात्मा श्रीहरिकी प्रभाके समान हो सकती थी ॥ ३४ ॥

सुरर्षिप्रतिमः श्रीमान् भूर्भुवर्भूतभावनः ।
शुचिरोमा महास्कन्धः सर्वतेजोमयः प्रभुः ॥३५॥

वे देवर्षियोंके तुल्य तेजस्वी श्रीमान् भगवान् वामन भूर्लोक और भुवर्लोक आदिके समस्त प्राणियोंके उत्पादक और संरक्षक थे। उनकी रोमावली पवित्र और कंधे बड़े-बड़े थे। वे प्रभु सम्पूर्ण तेजके पुञ्ज थे ॥ ३५ ॥

या गतिः पुण्यकीर्तीनामगतिः पापकर्मणाम् ।
योगसिद्धा महात्मानो यं विदुर्योगमुत्तमम् ॥३६॥
यस्याष्टगुणमैश्वर्यं यमाहुर्देवसत्तमम् ।
यं प्राप्य शाश्वतं विप्रा नियता मोक्षकाङ्क्षिणः ॥३७॥
जन्मनो मरणाच्चैव मुच्यन्ते भवभीरवः ।
यदेतत्तप इत्याहुः सर्वाश्रमनिवासिनः ॥३८॥
सेवन्ते यं यताहारा दुश्चरं व्रतमास्थिताः ।
योऽनन्त इति नागेषु सेव्यते सर्वभोगिभिः ॥३९॥
सहस्रमूर्धा रक्ताक्षः शेषादिभिरनुत्तमैः ।
यो यज्ञ इति विप्रेन्द्रैरिज्यते स्वर्गलिप्सुभिः ॥४०॥
नानास्थानगतः श्रीमानेकः कविरनुत्तमः ।
यं देवा यान्ति वेत्तारं यज्ञभागप्रदायिनम् ॥४१॥
वृषार्चिश्चन्द्रसूर्याक्षं देवमाकाशविग्रहम् ।
स प्राह त्रिदशान् सर्वान् वाचा वै परया विभुः ॥४२॥

जो पुण्यकीर्ति पुरुषोंकी गति हैं, पापकर्मियोंकी जिनके पास पहुँच नहीं होती, योगसिद्ध महात्मा पुरुष जिन्हें उत्तम योगके रूपमें जानते हैं, जिनमें अणिमा आदि अष्टगुण ऐश्वर्य सदा विराजमान हैं, जिन्हें देवशिरोमणि कहा गया है, जिन सनातन देवको पाकर नियमपरायण, मोक्षाभिलाषी तथा भवबन्धनसे भयभीत रहनेवाले ब्राह्मण जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाते हैं, जिन्हें सभी आश्रमोंके निवासी तप कहते हैं, आहारका संयम करके दुष्कर व्रतका आश्रय लेनेवाले साधक जिनकी उपासना करते हैं, शेष आदि सर्वोत्तम एवं समस्त सर्पगण नागोंमें अनन्त नामसे जिनकी आराधना करते हैं, जिनके सहस्रों मस्तक और लाल-लाल नेत्र हैं, स्वर्गकी अभिलाषा रखनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मण यज्ञ-पुरुषरूपसे जिनका यजन करते हैं, जो श्रीसम्पन्न, अद्वितीय तथा सर्वोत्तम ज्ञानी हैं और अकेले ही नाना स्थानोंमें व्याप्त हैं, जिन्हें ज्ञानी, यज्ञभागप्रदाता, धर्ममय तेजसे युक्त, चन्द्रमा और सूर्यरूपी नेत्रोंसे सुशोभित तथा अनन्त आकाश-मय शरीरसे सम्पन्न मानकर देवता उनकी शरणमें जाते हैं, उन्हीं सर्वव्यापी परमात्माने अपनी उत्तम वाणीद्वारा समस्त देवताओंसे कहा—॥ ३६–४२ ॥

जानन्नपि महातेजा गतो योगेन बालताम् ।
किं करोमि सुरश्रेष्ठाः कं वरं च ददामि वः ॥४३॥
यत्काङ्क्षितं वै सर्वेषां तद्‍ब्रूत मुदा युताः ।

योगशक्तिसे बालभावको प्राप्त हुए उन महातेजस्वी श्रीहरिने जानते हुए भी पूछा—'सुरश्रेष्ठगण ! बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ ? तुम्हें क्या वर दूँ। तुम सब लोगोंकी जो इच्छा हो, उसे प्रसन्नतापूर्वक बताओ' ॥ ४३½ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा वामनस्य महात्मनः ॥४४॥
सर्वे ते हृष्टमनसो देवाः कश्यपनन्दनम् ।

ऊचुः प्राञ्जलयो विष्णुं सुराः शक्रपुरोगमाः ॥४५॥

महात्मा वामनकी यह बात सुनकर इन्द्र आदि समस्त देवता प्रसन्नचित्त हो उन कश्यपनन्दन भगवान् विष्णुसे हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले—॥ ४४-४५ ॥

ब्रह्मणो वरदानेन हृतं नो निखिलं जगत्।
तपसा महता चैव विक्रमेण दमेन च ॥४६॥
बलिना दैत्यमुख्येन सर्वज्ञेन महात्मना।
अवध्यः किल सोऽस्माकं सर्वेषां देवसत्तम ॥४७॥
भवान् प्रभवते तस्य नान्यः कश्चन सुव्रत।
तत् प्रपद्यामहे सर्वे भवन्तं शरणार्थिनः।
शरण्यं वरदं देवं सर्वदेवभयापहम् ॥४८॥

'देवप्रवर! सर्वज्ञ महात्मा दैत्यराज बलिने महान् तप, अद्भुत विक्रम, इन्द्रिय-संयम तथा ब्रह्माजीके दिये हुए वरदानके प्रभावसे हमारा सारा जगत् हमसे छीन लिया है। कहा जाता है कि वे हम सब लोगोंके लिये अवध्य हैं। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले प्रभो! केवल आप ही उन्हें जीतनेमें समर्थ हैं, दूसरा कोई नहीं; इसलिये हम सब लोग शरणार्थी होकर आप सर्वदेव-भयहारी शरणागतवत्सल वरदायक देवताकी शरणमें आये हैं॥४६–४८ ॥

ऋषीणां च हितार्थाय लोकानां च सुरेश्वर।
प्रियार्थं च तथादित्याः कश्यपस्य तथैव च ॥४९॥
कव्यं पितॄणामुचितं सुराणां हव्यमुत्तमम्।
प्रवर्तेत महाबाहो यथापूर्वं सुरोत्तम ॥५०॥
आनृण्यार्थं सुरेशस्य वासवस्य महात्मनः।
प्रत्यानय महेन्द्रस्य त्रैलोक्यमिदमव्ययम् ॥५१॥

'महाबाहु सुरश्रेष्ठ सुरेश्वर! आप ऋषियों और लोकोंके हितके लिये, माता अदिति और पिता कश्यपका प्रिय करनेके लिये, पितरोंके निमित्त उचित कव्य तथा देवताओंके लिये उत्तम हव्य जिस प्रकार पूर्ववत् प्राप्त हो सके, उसके लिये तथा अपने ज्येष्ठ भ्राता देवेश्वर महात्मा इन्द्रके ऋणसे उऋण होनेके लिये यह त्रिलोकीका अविनाशी राज्य बलिसे छीनकर आप पुनः महेन्द्रको लौटा दीजिये ४९–५१

क्रतुना वाजिमेधेन यजते स हि दानवः।
यत् प्रत्यानयने युक्तं लोकानां तद् विचिन्तय ॥५२॥

'इस समय दानवराज बलि अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करते हैं, उनसे त्रिलोकीका राज्य लौटा लानेका जो उचित उपाय हो, उसका विचार कीजिये' ॥ ५२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तदा देवैर्विष्णुर्वामनरूपधृक्।
प्रहर्षयन्नुवाचाथ सर्वान् देवानिदं वचः ॥५३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवताओंके ऐसा कहनेपर वामनरूपधारी भगवान् विष्णुने समस्त देवताओंका हर्ष बढ़ाते हुए उनसे यह बात कही ॥ ५३ ॥

विष्णुरुवाच

तस्य यज्ञसकाशं मां महर्षिर्वेदपारगः।
बृहस्पतिर्महातेजा नयत्वङ्गिरसः सुतः ॥५४॥

श्रीविष्णु बोले—देवताओ! वेदोंके पारंगत विद्वान् अङ्गिराकुमार महातेजस्वी महर्षि बृहस्पति मुझे बलिके यज्ञके समीप ले चलें ॥ ५४ ॥

तस्याहं समनुप्राप्तो यज्ञवाटं सुरोत्तमाः।
विचरिष्ये यथायुक्तं त्रैलोक्यहरणाय वै ॥५५॥

सुरश्रेष्ठगण! उसके यज्ञमण्डपमें पहुँचकर मैं त्रिलोकीके राज्यका अपहरण करनेके लिये यथोचित उपायका विचार करूँगा ॥ ५५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो बृहस्पतिर्धीमाननयद् वामनं प्रभुम्।
यज्ञवाटं महातेजा दानवेन्द्रस्य धीमतः ॥५६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तब महातेजस्वी बुद्धिमान् बृहस्पतिने भगवान् वामनको उत्तम बुद्धिवाले दानवराज बलिकी यज्ञशालातक पहुँचा दिया ॥ ५६ ॥

मौञ्जी यज्ञोपवीती च छत्री दण्डी ध्वजी तथा।
वामनो धूम्ररक्ताक्षो भगवान् बालरूपधृक् ॥५७॥

बालरूपधारी भगवान् वामनने मूँजकी मेखला, यज्ञोपवीत, छत्र, दण्ड और ध्वज धारण कर रक्खे थे। उनके नेत्र धूम्र तथा रक्तवर्णके थे ॥ ५७ ॥

तं गत्वा यज्ञवाटं च ब्रह्मर्षिगणसंकुलम्।
आत्मना चैव भगवान् वर्णयामास तं क्रतुम् ॥५८॥

ब्रह्मर्षियोंसे भरे हुए उस यज्ञमण्डपमें पहुँचकर भगवान्ने स्वयं ही उस यज्ञका वर्णन किया ॥ ५८ ॥

लोकेश्वरेश्वरः श्रीमान् सुरैर्ब्रह्मपुरोगमैः।
अध्यास्यमानो भगवानवृद्धोऽप्यथ वृद्धवत् ॥५९॥

लोकेश्वरोंके भी ईश्वर श्रीमान् भगवान् वामन यद्यपि अवृद्ध (बालक) थे, तो भी ब्रह्मा आदि समस्त देवता वृद्धकी भाँति उनकी सेवामें उपस्थित थे ॥ ५९ ॥

दानवाधिपतेस्तस्य बलेर्वैरोचनस्य च।
यज्ञवाटमचिन्त्यात्मा जगाम सुरसत्तमः ॥६०॥

जिनका स्वरूप अचिन्त्य है, वे सुरश्रेष्ठ भगवान् वामन दानवराज विरोचनकुमार बलिके यज्ञमण्डपमें गये ॥ ६० ॥

पालितोऽपि हि दैतेयः सांग्रामिकपरिच्छदैः।
द्वारे दानवसम्बाधे सहसैव विवेश ह ॥६१॥

यद्यपि दैत्यराज बलि युद्धोपयोगी वेषभूषा धारण करनेवाले सेवकोंसे सुरक्षित थे (अतः उनके पास पहुँचना कठिन था), तथापि दानवोंसे भरे हुए उस मण्डपके द्वारके भीतर वे सहसा प्रविष्ट हो गये ॥ ६१ ॥

ऋषिभिश्चैव मन्त्राद्यैः सर्वतः परिवारितम्।
दैत्यदानवराजेन्द्रमुपतस्थे बलिं बली ॥६२॥

ऋषियोंने मन्त्र आदिके द्वारा सब ओरसे उन्हें घेर रक्खा था, तथापि बलवान् भगवान् वामन दैत्य-दानवराज बलिके पास पहुँच ही गये ॥ ६२ ॥

वर्णयित्वा यथान्यायं यज्ञं यज्ञः सनातनः।
विस्तरेण नरश्रेष्ठ प्रयोगैर्विविधैस्तथा ॥६३॥
शुक्रादीनृत्विजश्चापि यज्ञकर्मविचक्षणान्।
सर्वानेव निजग्राह चकार च निरुत्तरान् ॥६४॥

नरश्रेष्ठ! उन सनातन यज्ञपुरुषने उस यज्ञका नाना प्रकारके प्रयोगोद्वारा विस्तारपूर्वक यथोचित्त वर्णन करके यज्ञ-कर्ममें कुशल शुक्राचार्य आदि समस्त ऋत्विजोंको निगृहीत करते हुए उन्हें निरुत्तर कर दिया॥ ६३-६४ ॥

आरादथ बलेस्तस्य ऋत्विजामभितस्तथा।
यज्ञमात्मानमेवासौ हेतुभिः कारणं विभुः ॥६५॥
वैदिकैरप्रकाशैश्च पुनरप्यथ भारत।
प्रत्यक्षमृषिसंघानां वर्णयामास चित्रगुः ॥६६॥

भारत! विचित्र वाणीवाले उन सर्वव्यापी भगवान्ने बलिके समीप, ऋत्विजोंके निकट तथा ऋषि समुदायोंके समक्ष अपने ही स्वरूपभूत कारणात्मा यज्ञका अप्रकाशित वैदिक युक्तियोंद्वारा बारंबार वर्णन किया ॥ ६५-६६ ॥

ततो निरुत्तरान् दृष्ट्वा सोपाध्यायानृषींश्च तान्।
अवृद्धेनापि वृद्धांस्तान् वामनेन महौजसा ॥६७॥
अद्भुतं चापि मेने स विरोचनसुतो बली।
मूर्ध्ना कृताञ्जलिश्चेदमब्रवीद् विस्मितो वचः ॥६८॥

महान् तेजस्वी बालक वामनके द्वारा उपाध्यायोंसहित उन वृद्ध महर्षियोंको भी निरुत्तर हुआ देख विरोचन-कुमार बलवान् बलिने उसे अद्भुत चमत्कार माना। फिर वे हाथ जोड़े मस्तक झुका विस्मित होकर इस प्रकार बोले—॥ ६७-६८ ॥

कुतस्त्वं कोऽसि कस्यासि किं तेहास्ति प्रयोजनम्।
नैवंविधः परिज्ञातो दृष्टपूर्वो मया द्विजः ॥६९॥

'विप्रवर! आप कहाँसे आये हैं? कौन हैं? किसके पुत्र हैं? यहाँ पधारनेमें आपका क्या प्रयोजन है? मैंने आप-जैसे द्विजको न तो पहले कभी देखा था और न जाना ही था ॥ ६९ ॥

बालो मतिमतां श्रेष्ठो ज्ञानविज्ञानकोविदः।
शिष्टवाग्रूपसम्पन्नो मनोज्ञः प्रियदर्शनः ॥७०॥

'आप बाल होकर भी बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं। ज्ञान-विज्ञानमें प्रवीण हैं। आपकी वाणी शिष्टतापूर्ण है। आप रूपवान् और मनोहर हैं। देखनेमें प्रिय लगते हैं ॥ ७० ॥

नेदृशाः सन्ति देवानामृषीणामपि सूनवः।
न नागानां न यक्षाणां नासुराणां न रक्षसाम् ॥७१॥
न पितॄणां न सिद्धानां गन्धर्वाणां तथैव च।
योऽसि सोऽसि नमस्तेऽस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते ॥

'देवताओं तथा ऋषियोंके पुत्र भी ऐसे नहीं हैं। न नागोंके, न यक्षोंके, न असुरोंके, न राक्षसोंके, न पितरोंके, न सिद्धोंके और न गन्धर्वोंके ही पुत्र ऐसे हैं। आप जो हों, सो हों, आपको नमस्कार है। बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' ॥ ७१-७२ ॥

वैशम्पायन उवाच

उक्त एवं ह्यचिन्त्यात्मा बलिना वामनस्तदा।
प्रोवाचोपायतत्त्वज्ञः स्मितपूर्वमिदं वचः ॥७३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बलिके ऐसा कहनेपर अचिन्त्यस्वरूप भगवान् वामन, जो कार्यसिद्धिके तात्त्विक उपायको जाननेवाले थे, मुसकराकर इस प्रकार बोले ॥ ७३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

वामनद्वारा बलिके यज्ञकी प्रशंसा, बलिसे माँगनेके लिये प्रेरित होनेपर वामनका उनसे तीन पग भूमि माँगना, शुक्राचार्य और प्रह्लादका बलिको दान देनेसे रोकना, बलिद्वारा दानका समर्थन तथा दान पाते ही वामनका अपने विराट्रूपको प्रकट करना

विष्णुरुवाच

अहो यज्ञोऽसुरेशस्य बहुभक्षः सुसंस्कृतः।
पितामहस्येव पुरा यजतः परमेष्ठिनः ॥ १ ॥

भगवान् विष्णु बोले—अहो! असुरेश्वर बलिका यह यज्ञ अद्भुत है। इसमें भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंकी बहुलता है तथा यह यज्ञ सुन्दर संस्कारसे सम्पन्न है। पूर्वकालमें यज्ञपरायण परमेष्ठी ब्रह्माने जैसा यज्ञ किया था, वैसा ही यह भी है ॥१॥

सुरेशस्य च शक्रस्य यमस्य वरुणस्य च।
विशेषितस्त्वया यज्ञो दानवेन्द्र महाबल ॥ २ ॥

महाबली दानवराज! पूर्वकालमें देवराज इन्द्र, यम और

वरुणका जो यज्ञ हुआ था, तुमने उससे भी बढ़कर यह यज्ञ किया है ॥ २ ॥

यजता वाजिमेधेन क्रतूनां प्रवरेण तु ।
सर्वपापविनाशाय त्वया स्वर्गप्रदर्शिना ॥ ३ ॥

स्वर्गलोकका दर्शन करानेवाला क्रतुश्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ समस्त पापोंके विनाशमें कारण है । तुमने इसके द्वारा यजन करके अपने इस यज्ञका महत्त्व बढ़ा दिया है ॥ ३ ॥

सर्वकाममयो ह्येष सम्मतो ब्रह्मवादिनाम् ।
क्रतूनां प्रवरः श्रीमानश्वमेध इति श्रुतिः ॥ ४ ॥

क्रतुश्रेष्ठ श्रीमान् अश्वमेध सर्वकाममय है, यह ब्रह्मवादियोंको भी मान्य है, ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ ४ ॥

सुवर्णशृङ्गो हि महानुभावो
लोहक्षुरो वायुजवो महात्मा ।
स्वर्गेक्षणः काञ्चनगर्भगौरः
स विश्वयोनिः परमो हि मेध्यः ॥ ५ ॥

विश्वका कारणभूत वह उत्तम यज्ञ परम पवित्र है, उस *अश्वरूपधारी यज्ञका शृङ्ग (मस्तक) सुवर्णमय* है, उसका प्रभाव महान् है, खुर लोहेके समान कठोर हैं, वेग वायुके समान तीव्र है, शरीर विशाल है, वह स्वर्गलोककी ओर दृष्टि रखनेवाला है और उसकी कान्ति सुवर्णमिश्रित गौरवर्णकी है ॥ ५ ॥

आस्थाय वै वाजिनमश्वमेध-
मिष्ट्वा नरा दुष्कृतमुत्तरन्ति ।
आहुश्च यं वेदविदो द्विजेन्द्रा
वैश्वानरं वाजिनमश्वमेधम् ॥ ६ ॥

उस अश्वमेधरूपी अश्वका आश्रय लेकर यज्ञ करनेके पश्चात् मनुष्य पापसे पार हो जाते हैं। वेदवेत्ता विप्रवर अश्वमेधयज्ञसम्बन्धी अश्वको वैश्वानर (अग्निरूप) कहते हैं ॥

यथाऽऽश्रमाणां प्रवरो गृहाश्रमो
यथा नराणां प्रवरा द्विजातयः ।
यथासुराणां प्रवरो भवानिह
तथा क्रतूनां प्रवरोऽश्वमेधः ॥ ७ ॥

जैसे गृहस्थ-आश्रम सब आश्रमोंमें श्रेष्ठ है, जैसे ब्राह्मण सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं और जैसे आप यहाँ असुरोंमें श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार अश्वमेध सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं वामनेन समीरितम् ।
मुदा परमया युक्तः प्राह दैत्यपतिर्बलिः ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वामनके कहे हुए इस वचनको सुनकर दैत्यराज बलि बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले ॥ ८ ॥

बलिरुवाच

कस्यासि ब्राह्मणश्रेष्ठ किमिच्छसि ददामि ते ।
वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि ॥ ९ ॥

बलिने कहा—विप्रवर ! आप किसके पुत्र हैं और क्या चाहते हैं ? मैं आपको मुँहमाँगी वस्तु देता हूँ । आपका भला हो, कोई वर माँगिये और अपना अभीष्ट मनोरथ प्राप्त कीजिये ॥ ९ ॥

वामन उवाच

न राज्यं न च यानानि न रत्नानि न च स्त्रियः ।
कामये यदि तुष्टोऽसि धर्मे च यदि ते मतिः ॥ १० ॥
गुर्वर्थं मे प्रयच्छस्व पदानि त्रीणि दानव ।
त्वमग्निशरणार्थाय एष मे प्रवरो वरः ॥ ११ ॥

वामन बोले—दनुनन्दन ! मैं न तो राज्य चाहता हूँ, न वाहन । न रत्नकी इच्छा रखता हूँ, न स्त्रियोंकी । यदि आप प्रसन्न हैं और यदि आपका मन धर्ममें लगता है तो मुझे गुरुके लिये अग्निशाला बनवानेके निमित्त तीन पग भूमि दे दीजिये, यही मेरे लिये सर्वोत्तम वर है ॥ १०-११ ॥

वामनस्य वचः श्रुत्वा प्राह दैत्यपतिर्बलिः ।

वामनजीकी यह बात सुनकर दैत्यराज बलि बोले ॥ ११½ ॥

बलिरुवाच

त्रिभिः किं तव विप्रेन्द्र पदैः प्रवदतां वर ।
शतं शतसहस्राणां पदानां मार्गतां भवान् ॥ १२ ॥

बलिने कहा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ विप्रवर ! तीन पग भूमिसे आपका क्या होगा ? लाखों करोड़ों पग भूमि माँग लीजिये ॥ १२ ॥

शुक्र उवाच

मा ददस्व महाबाहो न त्वं वेत्सि महासुर ।
एष मायाप्रतिच्छन्नो भगवान् प्रवरो हरिः ॥ १३ ॥

यह देख शुक्राचार्यने कहा—महाबाहो ! महान् असुर ! तुम इन्हें कुछ न दो ! तुम्हें पता नहीं कि ये कौन हैं ? ये देवशिरोमणि भगवान् विष्णु हैं, जो मायासे अपने स्वरूपको छिपाकर आये हैं ॥ १३ ॥

वामनं रूपमास्थाय शक्रप्रियहितेप्सया ।
त्वां वञ्चयितुमायातो बहुरूपधरो विभुः ॥ १४ ॥

अनेक रूप धारण करनेवाले भगवान् विष्णु इन्द्रका प्रिय और हित करनेकी इच्छासे वामनरूप धारण करके तुम्हें ठगनेके लिये यहाँ आये हैं ॥ १४ ॥

एवमुक्तः स शुक्रेण चिरं संचिन्त्य वै बलिः ।
प्रहर्षेण समायुक्तः किमतः पात्रमिष्यते ॥ १५ ॥

शुक्राचार्यके ऐसा कहनेपर बलिने चिरकालतक सोच-विचार करके बड़े हर्षके साथ कहा—'इनसे बढ़कर उत्तम पात्र और कौन हो सकता है' ॥ १५ ॥

प्रगृह्य हस्ते सम्भ्रान्तो भृङ्गारं कनकोद्भवम् ।

ऐसा कहकर बलिने वेगपूर्वक हाथमें सोनेकी झारी उठा ली ॥ १५½ ॥

बलिरुवाच

विप्रेन्द्र प्राङ्मुखस्तिष्ठ स्थितोऽसि कमलेक्षण॥ १६ ॥
प्रतीच्छ देहि किं भूमिं किं मात्रा भोः पदत्रयम् ।
दत्तं च पातय जलं नैव मिथ्या भवेद् गुरुः ॥ १७ ॥

बलिने कहा—'विप्रवर ! पूर्वाभिमुख होकर खड़े हो जाइये !' (वामन बोले–) 'खड़ा हूँ !' (बलि बोले–) 'कमलनयन ! लीजिये !' (वामन बोले–) 'दीजिये !' (बलि बोले–) 'क्या दूँ ?' (वामन बोले–) 'भूमि !' (बलिबोले–) 'ब्रह्मन् ! उस भूमिकी मात्रा कितनी है ?' (वामन बोले–) 'तीन पग !' (बलि बोले–) 'दे दिया !' (वामन बोले–) 'संकल्पकर जल गिराइये, जिससे मेरे गुरुकी माँग व्यर्थ न हो जाय' ॥ १६-१७ ॥

शुक्र उवाच

भो न देयं कुतो दैत्य विज्ञातोऽयं मया ध्रुवम् ।
कोऽयं विष्णुरहो प्रीतिर्वञ्चितस्त्वं न वञ्चितः ॥ १८ ॥

शुक्र बोले—'अजी ! यह दान नहीं देना चाहिये !' (बलि०) 'क्यों ?' (शुक्र०) 'दैत्य ! मैंने निश्चय ही इन्हे पहचान लिया है !' (बलि०) 'कौन हैं ये ?' (शुक्र०) 'अहो ! यह विष्णु हैं !' (बलि०) 'तब तो बड़ी प्रसन्नताकी बात है !' (शुक्र०) 'फिर तो तुम ठगे गये !' (बलि०) 'नहीं ! मैं ठगा नहीं गया' ॥ १८ ॥

बलिरुवाच

कथं सनाथोऽयं विष्णुर्यज्ञे स्वयमुपस्थितः ।
दास्यामि देवदेवाय यद् यदिच्छत्ययं विभुः ॥ १९ ॥

बलि बोले—अहो ! यह भगवान् विष्णु तो सर्वथा सनाथ (कृतकृत्य) हैं। फिर यह मेरे यज्ञमें याचनाके लिये स्वयं कैसे उपस्थित हो गये ? यदि आ ही गये तो यह भगवान् जो-जो चाहते हैं, वह सब मैं इन देवाधिदेवको समर्पित करूँगा ॥ १९ ॥

को वान्यः पात्रभूतोऽस्माद् विष्णोः परतरो भवेत्।
एवमुक्त्वा बलिः शीघ्रं पातयामास वै जलम्॥ २० ॥

'इन विष्णुसे बढ़कर दूसरा कौन श्रेष्ठतर पात्र हो सकता है'—ऐसा कहकर बलिने शीघ्र ही जल गिराया ॥ २० ॥

वामन उवाच

पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र पर्याप्तानि ममानघ ।
यन्मया पूर्वमुक्तं हि तत् तथा न तदन्यथा ॥ २१ ॥

वामन बोले—निष्पाप दैत्यराज ! मेरे लिये तीन पग पर्याप्त है ! मैंने पहले जो कुछ कहा है, वह ठीक है। मिथ्या नहीं है ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा वामनस्य महौजसः ।
कृष्णाजिनोत्तरीयं स कृत्वा वैरोचनिस्तदा ॥ २२ ॥
एवमस्त्विति दैत्येशो वाक्यमुक्त्वारिसूदनः ।
ततो वारिसमापूर्णं भृङ्गारं स परामृशत् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महातेजस्वी वामनका यह वचन सुनकर शत्रुसूदन विरोचनकुमार दैत्यराज बलिने उस समय काले मृगचर्मको उत्तरीय बनाकर कहा—'एवमस्तु' ऐसा कहकर उन्होंने जलसे भरे हुए गडुएको हाथमें लिया ॥ २२-२३ ॥

वामनो ह्यसुरेन्द्रस्य चिकीर्षुः कदनं महत्।
क्षिप्रं प्रसारयामास दैत्यक्षयकरं करम् ॥ २४ ॥

भगवान् वामन असुरराज बलिकी बड़ी भारी हानि करना चाहते थे; अतः उन्होंने अपने दैत्यविनाशक हाथको शीघ्र उनके आगे फैला दिया ॥ २४ ॥

प्राङ्मुखश्चापि दैत्येशस्तस्मै सुमनसा जलम् ।
दातुकामः करे यावत् तावत् तं प्रत्यषेधयत् ॥ २५ ॥

दैत्येश्वर बलि पूर्वाभिमुख होकर शुद्ध हृदयसे वामनजीके हाथमें ज्यों ही जल देनेको उद्यत हुए त्यों ही प्रह्लादने उन्हें रोका ॥ २५ ॥

तस्य तद् रूपमालोक्य ह्यचिन्त्यं च महात्मनः ।
अभूतपूर्वं च हरेर्जिहीर्षोः श्रियमासुरीम् ॥ २६ ॥
इङ्गितज्ञोऽग्रतः स्थित्वा प्रह्लादस्त्वब्रवीद् वचः।

असुरोंकी सम्पत्तिको हर लेनेकी इच्छावाले उन परमात्मा श्रीहरिके उस अभूतपूर्व एवं अचिन्त्य रूपको देखकर उनकी चेष्टाको समझनेवाले प्रह्लाद बलिके सामने खड़े हो गये और इस प्रकार बोले ॥ २६½ ॥

प्रह्लाद उवाच

मा ददस्व जलं हस्ते बटोर्वामनरूपिणः ॥ २७ ॥
स त्वसौ येन ते पूर्वं निहतः प्रपितामहः ।
विष्णुरेष महाप्राज्ञस्त्वां वञ्चयितुमागतः ॥ २८ ॥

प्रह्लादने कहा—दैत्यराज ! तुम इन वामनरूपधारी ब्रह्मचारीके हाथमें जल न दो। ये वे ही हैं, जिन्होंने पूर्वकालमें तुम्हारे प्रपितामहको मार डाला था। ये महाबुद्धिमान् विष्णु ही तुम्हें ठगनेके लिये आये हैं ॥ २७-२८ ॥

बलिरुवाच

हन्त तस्मै प्रदास्यामि देवायेमं प्रतिग्रहम् ।
अनुग्रहकरं देवमीदृशं जगतः प्रभुम् ॥ २९ ॥
ब्रह्मणोऽपि गरीयांसं पात्रं लप्स्यामहे वयम् ।
अवश्यं चासुरश्रेष्ठ दातव्यं दीक्षितेन वै ॥ ३० ॥

बलिने कहा—असुरश्रेष्ठ ! यदि ऐसी बात है तब तो बड़े हर्षका विषय है। मैं उन नारायणदेवको यह प्रतिग्रह अवश्य दूँगा। जो ब्रह्माजीसे भी अधिक गौरवशाली और अनुग्रह करनेवाले हैं, ऐसे जगदीश्वरदेवको हमलोग दानपात्रके रूपमें प्राप्त करेंगे (इससे बढ़कर सौभाग्यकी बात और क्या हो सकती है)। अतः यज्ञमें दीक्षित हुए मुझ

यजमानको इन वामनदेवके लिये अवश्य दान देना चाहिये ॥ २९-३० ॥

इत्युक्त्वासुरसंघानां मध्ये वैरोचनिस्तदा।
देवाय प्रददौ तस्मै पदानि त्रीणि विष्णवे ॥ ३१ ॥

असुरसमूहोंके बीचमें ऐसी बात कहकर विरोचनकुमार बलि उस समय उन विष्णुदेवको तीन पग भूमिका दान देने लगे ॥ ३१ ॥

प्रह्लाद उवाच

दानवेश्वर मा दास्त्वं विप्रायास्मै प्रतिग्रहम्।
नेमं विप्रशिशुं मन्ये नेदृशो भवति द्विजः ॥ ३२ ॥

तब प्रह्लादने फिर कहा—दानवेश्वर ! तुम इन ब्राह्मणको प्रतिग्रह न दो। मैं इन्हें ब्राह्मणका बालक नहीं मानता; क्योंकि ब्राह्मणका बालक ऐसा नहीं होता ॥ ३२ ॥

रूपेणानेन दैत्येन्द्र सत्यमेव ब्रवीमि ते।
नारसिंहमहं मन्ये तमेव पुनरागतम् ॥ ३३ ॥

दैत्येन्द्र ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ। इनके इस रूपसे मुझे यही अनुमान होता है कि पुनः वे नरसिंहदेव ही यहाँ आ गये हैं ॥ ३३ ॥

एवमुक्तस्तदा तेन प्रह्लादेनामितौजसा।
प्रह्लादमब्रवीद् वाक्यमिदं निर्भर्त्सयन्निव ॥ ३४ ॥

अमित तेजस्वी प्रह्लादके ऐसा कहनेपर उस समय बलिने प्रह्लादको फटकारते हुए-से इस प्रकार कहा ॥ ३४ ॥

बलिरुवाच

देहीति याचते यो हि प्रत्याख्याति च योऽसुर।
उभयोरप्यलक्ष्म्या वै भागस्तं विशते नरम् ॥ ३५ ॥

बलि बोले—असुर ! जो 'दीजिये' कहकर याचना करता है तथा जो उस याचकको ठुकरा देता है, उस मनुष्यको उस याचक और ठुकरानेवाले दोनोंकी दरिद्रताका भाग प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

प्रतिज्ञाय तु यो विप्रे न ददाति प्रतिग्रहम्।
स याति नरकं पापी मित्रगोत्रसमन्वितः ॥ ३६ ॥

जो प्रतिज्ञा करके भी ब्राह्मणको दान नहीं देता है, वह पापी मित्र और कुटुम्बी जनोंसहित नरकमें जाता है ॥ ३६ ॥

अलक्ष्मीभयभीतोऽहं ददाम्यस्मै वसुंधराम्।
प्रतिग्रहीता चाप्यन्यः कश्चिदस्माद् द्विजोऽथ वै ॥ ३७ ॥
नाधिको विद्यते यस्मात् तद् ददामि वसुंधराम्।
हृदयस्य च मे तुष्टिः परा भवति दानव ॥ ३८ ॥
दृष्ट्वा वामनरूपेण याचन्तं द्विजपुङ्गवम्।
एष तस्मात् प्रदास्यामि न स्थास्यामि निवारितः ॥ ३९ ॥

मैं अलक्ष्मी (दरिद्रता) के भयसे डरकर इन्हें पृथ्वीका दान देता हूँ। दूसरा कोई दान लेनेवाला ब्राह्मण इनसे बढ़कर नहीं मिल सकता, इसलिये मैं इन्हींको पृथ्वीका दान देता हूँ। दानव ! इन ब्राह्मण-शिरोमणिको वामनरूपसे याचना करते देख मेरे हृदयको बड़ा संतोष प्राप्त होता है, इसलिये मैं इन्हें अवश्य दान दूँगा, आपके रोकनेपर भी रुक नहीं सकूँगा ॥ ३७—३९ ॥

भूयश्च प्राब्रवीद्देवं वामनं विप्ररूपिणम्।
स्वल्पैः स्वल्पमते किं ते पदैस्त्रिभिरनुत्तमम् ॥ ४० ॥
कृत्स्नां ददामि ते विप्र पृथिवीं सागरैर्वृताम्।

तदनन्तर उन्होंने ब्राह्मणरूपधारी वामनसे पुनः इस प्रकार कहा—'मन्दबुद्धि ब्राह्मण ! तुम्हारे इन छोटे-छोटे तीन पदोंसे कौन-सा परम उत्तम भूभाग प्राप्त हो सकेगा ? मैं तुम्हें समुद्रोंसे घिरी हुई सारी पृथ्वी देता हूँ' ॥ ४०½ ॥

वामन उवाच

न पृथ्वीं कामये कृत्स्नां संतुष्टोऽस्मि पदैस्त्रिभिः।
एष एव रुचिष्यो मे वरो दानवसत्तम ॥ ४१ ॥

वामनने कहा—दानवशिरोमणे ! मैं सारी पृथ्वीकी कामना नहीं करता। तीन पगोंसे ही संतुष्ट हूँ। यही मेरी रुचिके अनुकूल वर है ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथास्त्विति बलिः प्रोच्य स्पर्शयामास दानवः।
पदानि त्रीणि देवाय विष्णवेऽमिततेजसे ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब दानवराज बलिने 'तथास्तु' कहकर उन महातेजस्वी विष्णुदेवको तीन पग भूमिका दान कर दिया ॥ ४२ ॥

तोये तु पतिते हस्ते वामनोऽभूदवामनः।
सर्वदेवमयं रूपं दर्शयामास वै विभुः ॥ ४३ ॥

हाथपर संकल्पका जल पड़ते ही वामनजी विराट् बन गये। उन भगवान्‌ने वहाँ अपने सर्वदेवमय रूपका दर्शन कराया ॥ ४३ ॥

भूः पादौ द्यौः शिरश्चास्य चन्द्रादित्यौ च चक्षुषी।
पादाङ्गुल्यः पिशाचाश्च हस्ताङ्गुल्यश्च गुह्यकाः ॥ ४४ ॥

भूलोक उनका पैर था और स्वर्गलोक सिर। चन्द्रमा और सूर्य उनके नेत्रोंके स्थानमें थे। पिशाच इनके पैरोंकी अङ्गुलियाँ थे तो गुह्यक हाथोंकी ॥ ४४ ॥

विश्वेदेवाश्च जानुस्था जङ्घे साध्याः सुरोत्तमाः।
यक्षा नखेषु सम्भूता लेखाश्चाप्सरसस्तथा ॥ ४५ ॥

विश्वेदेव उनके घुटनोंमें स्थित थे। श्रेष्ठ देवता साध्यगण उनकी दोनों पिण्डलियाँ थे। यक्ष, लेखनामक देवता तथा अप्सराएँ उनके नखोंमें स्थित थीं ॥ ४५ ॥

तडिद् दृष्टिः सुविपुला केशाः सूर्यांशवस्तथा।
तारका रोमकूपाणि रोमाणि च महर्षयः ॥ ४६ ॥

विद्युत् उनकी विशाल दृष्टि थी। सूर्यकी किरणें उनके केश थीं। तारे उनके रोमकूप और महर्षि उनके रोम थे ॥ ४६ ॥

बाहवो विदिशश्चास्य दिशः श्रोत्रे तथैव च।
अश्विनौ श्रवणौ चास्य नासा वायुर्महाबलः ॥ ४७ ॥

दिशाएँ कान और विदिशाएँ उनकी भुजाएँ थीं। अश्विनीकुमार उनके श्रवणरन्ध्र तथा महाबली वायुदेव उनकी नासिका थे ॥ ४७ ॥

प्रसादश्चन्द्रमाश्चैव मनो धर्मस्तथैव च।
सत्यमस्याभवद् वाणी जिह्वा देवी सरस्वती ॥ ४८ ॥

चन्द्रमा उनके प्रसाद, धर्म मन, सत्य वाणी और देवी सरस्वती जिह्वा थीं ॥ ४८ ॥

ग्रीवा दितिर्महादेवी तालुः सूर्यश्च दीप्तिमान्।
द्वारं स्वर्गस्य नाभिर्वै मित्रस्त्वष्टा च वै भ्रुवौ ॥ ४९ ॥

महादेवी दिति ग्रीवा, दीप्तिमान् सूर्य तालु, स्वर्गद्वार नाभि और मित्र तथा त्वष्टा दोनों भौंहें थे ॥ ४९ ॥

मुखं वैश्वानरश्चास्य वृषणौ तु प्रजापतिः।
हृदयं भगवान् ब्रह्मा पुंस्त्वे वै कश्यपो मुनि ॥ ५० ॥

अग्नि मुख, प्रजापति अण्डकोश, भगवान् ब्रह्मा हृदय तथा कश्यप मुनि जननेन्द्रियके स्थानमें थे ॥ ५० ॥

पृष्ठेऽस्य वसवो देवा मरुतः पादसंधिषु।
सर्वच्छन्दांसि दशना ज्योतींषि विमलाः प्रभाः॥ ५१ ॥

उनके पृष्ठभागमें वसुदेवता और पैरोंकी संधियोंमें मरुद्गण थे। सम्पूर्ण छन्द दाँत और ग्रह-नक्षत्र निर्मल प्रभाएँ थे ॥ ५१ ॥

ऊरू रुद्रो महादेवो धैर्यं चास्य महार्णवः।
उदरे चास्य गन्धर्वा भुजगाश्च महाबलाः ॥ ५२ ॥

उनके दोनों ऊरु (जाँघें) महादेव रुद्र थे। धैर्यका स्थान महासागरने ले लिया था। उदरमें गन्धर्व और महाबली सर्प निवास करते थे ॥ ५२ ॥

लक्ष्मीर्मेधा धृतिः कान्तिः सर्वविद्या च वै कटिः।
ललाटमस्य परमस्थानं च परमात्मनः ॥ ५३ ॥

लक्ष्मी, मेधा, धृति, कान्ति और सम्पूर्ण विद्याएँ उनका कटि-प्रदेश थीं। उन परमात्माका परमधाम ही उनका ललाट था ॥ ५३ ॥

सर्वज्योतींषि यानीह तपः शक्रस्तु देवराट्।
तस्य देवाधिदेवस्य तेजो ह्याहुर्महात्मनः ॥ ५४ ॥

सम्पूर्ण ज्योतिर्गण, तप और देवराज इन्द्र—सबको उन देवाधिदेव परमात्माका तेज कहा गया है ॥ ५४ ॥

स्तनौ कक्षौ च वेदाश्च ओष्ठौ चास्य मखाः स्थिताः।
इष्टयः पशुबन्धाश्च द्विजानां चेष्टितानि च ॥ ५५ ॥

चारों वेद उनके स्तन और कक्ष थे। यज्ञ उनके ओष्ठके स्थानमें स्थित थे। इष्टियाँ पशुबन्ध और द्विजोंकी चेष्टाएँ सभी उनके विभिन्न अङ्ग थे ॥ ५५ ॥

तस्य देवमयं रूपं दृष्ट्वा विष्णोर्महासुराः।
अभ्यसर्पन्त संक्रुद्धाः पतङ्गा इव पावकम् ॥ ५६ ॥

भगवान् विष्णुके उस देवमय रूपको देखकर सभी महान् असुर अत्यन्त कुपित हो उसी प्रकार उनकी ओर बढ़े, जैसे पतिंगे जलती आगपर टूटे पड़ते हैं ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे विश्वरूपप्रकाशे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥७१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारके प्रसङ्गमें वामनके विश्वरूपका प्रकाशविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

विराट् रूपधारी वामनपर आक्रमण करनेवाले दैत्योंके नाम, रूप और आयुधोंका परिचय, भगवान्‌का तीनों लोकोंको नापकर राज्यका विभाजन करना, बलिको पातालका राज्य दे मर्यादा बाँधकर उन्हें वहाँ भेजना, जीविकाकी व्यवस्था करना, नारदजीका बलिको मोक्षविंशक स्तोत्रका उपदेश देना, उसके प्रभावसे बलिका बन्धन-मुक्त होना और उस स्तोत्रकी महिमा

वैशम्पायन उवाच

शृणु नामानि सर्वेषां रूपाण्यभिजनानि च।
आयुधानि च मुख्यानि दानवानां महात्मनाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अब तुम समस्त महामनस्वी दानवोंके नाम, रूप, कुल और मुख्य-मुख्य आयुधोंका वर्णन सुनो ॥ १ ॥

विप्रचित्तिः शिविः शङ्कुरयः शङ्कुस्तथैव च।
अयःशिरा अश्वशिरा हयग्रीवश्च वीर्यवान् ॥ २ ॥

वेगवान् केतुमानुग्रः सोग्रव्यग्रो महासुरः।
पुष्करः पुष्कलश्चैव साश्वोऽश्वपतिरेव च ॥ ३ ॥

प्रह्लादोऽश्वशिराः कुम्भः संह्रादो गगनप्रियः।
अनुह्लादो हरिहरौ वाराहः संहरो रुजः ॥ ४ ॥

वृषपर्वा विरूपाक्षो अतिचन्द्रः सुलोचनः।
निष्प्रभः सुप्रभः श्रीमांस्तथैव च निरूदरः ॥ ५ ॥

एकवक्त्रो महावक्त्रो द्विवक्त्रः कालसंनिभः।
शरभः शलभश्चैव कुणपः कुलपः क्रथः ॥ ६ ॥

बृहत्कीर्तिर्महागर्भः शङ्कुकर्णो महाध्वनिः ।
दीर्घजिह्वोऽर्कवदनो मृदुबाहुर्मृदुप्रियः ॥ ७ ॥
वायुर्गविष्ठो नमुचिः शम्बरो विक्षरो महान् ।
चन्द्रहन्ता क्रोधहन्ता क्रोधवर्धन एव च ॥ ८ ॥
कालकः कालकाक्षश्च वृत्रः क्रोधो विमोक्षणः ।
गविष्ठश्च हविष्ठश्च प्रलम्बो नरकः पृथुः ॥ ९ ॥
चन्द्रतापनवातापी केतुमान् बलदर्पितः ।
असिलोमा पुलोमा च बाष्कलः प्रमदो मदः ॥ १० ॥
शृगालवदनश्चैव करालः केशिरेव च ।
एकाक्षश्चैकबाहुश्च तुहुण्डः सृमलः सृपः ॥ ११ ॥
एते चान्ये च बहवः क्रममाणं त्रिविक्रमम् ।
उपतस्थुर्महात्मानं विष्णुं दैत्यगणास्तदा ॥ १२ ॥

विप्रचित्ति, शिवि, शङ्कुरय, शङ्कु, अयःशिरा, अश्वशिरा, पराक्रमी हयग्रीव, वेगवान्, केतुमान्, महान् असुर उग्र और उग्रव्यग्र, पुष्कर, पुष्कल, अश्व, अश्वपति, प्रह्लाद, अश्वशिरा (द्वितीय), कुम्भ, संह्लाद, गगनप्रिय, अनुह्लाद, हरि, हर, वाराह, संहर, रुज, वृषपर्वा, विरूपाक्ष, अतिचन्द्र, सुलोचन, निष्प्रभ, सुप्रभ, श्रीमान्, निरूदर, एकवक्त्र, महावक्त्र, द्विवक्त्र, कालसंनिभ, शरभ, शलभ, कुणप, कुलप, क्रथ, बृहत्कीर्ति, महागर्भ, शङ्कुकर्ण, महाध्वनि, दीर्घजिह्व, अर्कवदन, मृदुबाहु, मृदुप्रिय, वायु, गविष्ठ, नमुचि, शम्बर, महान् असुर विक्षर, चन्द्रहन्ता, क्रोधहन्ता, क्रोधवर्द्धन, कालक, कालकाक्ष, वृत्र, क्रोध, विमोक्षण, गविष्ठ (द्वितीय), हविष्ठ, प्रलम्ब, नरक, पृथु, चन्द्रतापन, वातापि, बलाभिमानी केतुमान् (द्वितीय), असिलोमा, पुलोमा, बाष्कल, प्रमद, मद, शृगालवदन, कराल, केशी, एकाक्ष, एकबाहु, तुहुण्ड, सृमल तथा सृप—ये और दूसरे भी बहुत-से दैत्यगण उस समय अपना पग बढ़ानेवाले महात्मा त्रिविक्रम विष्णुके पास आ पहुँचे ॥ २—१२ ॥

प्रासोद्यतकराः केचिद् व्यादितास्याः खरस्वनाः ।
शतघ्नीचक्रहस्ताश्च वज्रहस्तास्तथा परे ॥ १३ ॥

किन्हीं दैत्योंने अपने हाथोंमें प्रास उठा रखे थे । वे मुँह बाये हुए थे और गधोंके रेंकनेकी भाँति गर्जना करते थे । कितने ही दैत्य अपने हाथोंमें शतघ्नी और चक्र लिये हुए थे तथा दूसरोंने हाथोंमें वज्र उठा रक्खे थे ॥ १३ ॥

खड्गपट्टिशहस्ताश्च परश्वधधराः परे ।
प्रासमुद्गरहस्ताश्च तथा परिघपाणयः ॥ १४ ॥

किन्हींके हाथोंमें खड्ग और पट्टिश थे । दूसरोंने फरसे धारण किये थे । कितनोंने अपने-अपने हाथोंमें प्रास, मुद्गर और परिघ ले रखे थे ॥ १४ ॥

महाशनिव्यग्रकरा मौशलास्तु महाबलाः ।
महावृक्षोद्यतकरास्तथैव च धनुर्धराः ॥ १५ ॥

किन्हींके हाथ बहुत बड़ी अशनिसे व्यग्र दिखायी देते थे । दूसरे महाबली दैत्य मूसल लिये हुए थे । कितने ही हाथोंमें विशाल वृक्ष उठाये हुए थे और कितनोंने धनुष धारण किये थे ॥ १५ ॥

गदाभुशुण्डिहस्ताश्च वज्रहस्तास्तथा परे ।
महापट्टिशहस्ताश्च तथा परिघपाणयः ॥ १६ ॥

बहुत-से दैत्य हाथोंमें गदा, भुशुण्डि, वज्र, महापट्टिश और परिघ लिये हुए थे ॥ १६ ॥

असिकम्पनहस्ताश्च दानवा युद्धदुर्मदाः ।
नानाप्रहरणा घोरा नानावेषा महाबलाः ॥ १७ ॥

बहुत-से रणदुर्मद दानव हाथोंमें खड्ग और कम्पन धारण किये हुए थे । नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये और भाँति-भाँतिके वेश धारण किये महाबली भयंकर दैत्य वहाँ उपस्थित थे ॥ १७ ॥

कूर्मकुक्कुटवक्त्राश्च हस्तिवक्त्रास्तथा परे ।
खरोष्ट्रवदनाश्चैव वराहवदनास्तथा ॥ १८ ॥

किन्हींके मुख कछुओंके समान थे तो किन्हींके मुर्गोंके समान । कोई हाथी-जैसे मुखवाले थे तो कोई गदहे, ऊँट और सूअर-जैसे ॥ १८ ॥

भीमा मकरवक्त्राश्च शिशुमारमुखास्तथा ।
मार्जारशुकवक्त्राश्च दीर्घवक्त्राश्च दानवाः ॥ १९ ॥

कितने ही भयंकर दैत्य मगर, सूँस, बिल्ली और तोते-जैसे मुखवाले थे । किन्हीं-किन्हीं दानवोंके मुख बड़े विशाल थे ॥ १९ ॥

गरुडाननाः खड्गमुखा मयूरवदनास्तथा ।
अश्ववक्त्रा बभ्रुवक्त्रा घोरा मृगमुखास्तथा ॥ २० ॥

कुछ घोर दैत्य गरुड़, गैंडे और मोरके समान मुखवाले थे । बहुतोंके मुख घोड़े, नेवले और मृगोंके समान थे ॥

उष्ट्रशल्यकवक्त्राश्च दीर्घवक्त्राश्च दानवाः ।
नकुलस्येव वक्त्राश्च पारावतमुखास्तथा ॥ २१ ॥

बहुत-से दानव ऊँटों और स्याहियोंके समान मुखवाले थे । कितनोंके मुख लंबे दिखायी देते थे । किन्हींके मुख नेवलोंके समान थे तो किन्हींके परेवोंके समान ॥ २१ ॥

चक्रवाकमुखाश्चैव गोधवक्त्रास्तथा परे ।
तथा मृगाननाः शूरा गोऽजादिमहिषाननाः ॥ २२ ॥

किन्हींके मुख चकवेके समान थे । कोई गोहके समान मुख धारण करते थे तथा बहुत-से शूरवीर दानव मृग, गौ, बकरे, भेड़ और भैंसोंके समान मुखवाले थे ॥ २२ ॥

कृकलासमुखाश्चैव व्याघ्रवक्त्रास्तथा परे ।
ऋक्षशार्दूलवक्त्राश्च सिंहवक्त्रास्तथा परे ॥ २३ ॥

दूसरे अनेक दैत्य गिरगिट और बाघके समान मुखवाले थे। कितनोंके मुख रीछों, शार्दूलों और सिंहोंके समान थे॥

गजेन्द्रचर्मवसनास्तथा कृष्णाजिनाम्बराः।
चीरसंवृतगात्राश्च तथा फलकवाससः॥२४॥

कोई हाथीकी खाल पहने हुए थे तो कोई काले मृगचर्म-को ही वस्त्रके समान धारण करते थे। बहुतोंने अपने अङ्गोंमें चिथड़े लपेट रखे थे तथा कितने ही दैत्य पत्तोंको ही वस्त्रके रूपमें धारण करते थे॥ २४॥

उष्णीषिणो मुकुटिनस्तथा कुण्डलिनोऽसुराः।
किरीटिनो लम्बशिखाः कम्बुग्रीवाः सुवर्चसः॥२५॥

वे असुर पगड़ी, मुकुट, कुण्डल, और किरीटसे अलंकृत थे। उनकी शिखाएँ बड़ी-बड़ी और ग्रीवा शङ्खके समान थी। वे उत्तम तेजसे सम्पन्न थे॥ २५॥

नानावेषधरा दैत्या नानामाल्यानुलेपनाः।
स्वान्यायुधानि दीप्तानि प्रगृह्यासुरसत्तमाः॥२६॥
क्रममाणं हृषीकेशमुपातिष्ठन्त दानवाः।

नाना प्रकारके वेश, माला और अनुलेप धारण करने-वाले असुरशिरोमणि दैत्य और दानव अपने-अपने चमकीले अस्त्र-शस्त्र लेकर त्रिलोकीको नापनेके लिये उद्यत हुए भगवान् हृषीकेशके समीप आ पहुँचे॥ २६½॥

प्रमथ्य सर्वान् दैतेयान् पादहस्ततलैः प्रभुः॥२७॥
रूपं कृत्वा महाकायं जहाराशु स मेदिनीम्।

भगवान्ने लातों और थप्पड़ोंसे उन सब दैत्योंको रौंदकर विशालकाय रूप धारण करके पृथ्वीको तत्काल हर लिया॥

त्रैलोक्यं क्रममाणस्य द्युतिरादित्यसम्भवा॥२८॥
तस्य विक्रमतो भूमिं चन्द्रादित्यौ स्तनान्तरे।
नभः प्रक्रममाणस्य सक्थिदेशे व्यवस्थितौ॥२९॥

त्रिलोकीको मापते समय भगवान् वामनकी कान्ति सूर्यकी प्रभाके समान प्रकाशित हो रही थी। जिस समय वे भूमिको लाँघ रहे थे, उस समय चन्द्रमा और सूर्य उनके दोनों स्तनोंके बीचमें आ गये थे। फिर जब वे आकाशको लाँघने लगे, तब वे दोनों उनकी जाँघोंके स्थानमे स्थित हुए थे॥ २८-२९॥

परं विक्रममाणस्य जानुदेशे व्यवस्थितौ।
विष्णोरमितवीर्यस्य वदन्त्येवं द्विजातयः॥३०॥

उससे भी ऊपर स्वर्गलोकको लाँघते समय वे दोनों सूर्य और चन्द्रमा भगवान्के घुटनोंमें स्थित हुए देखे गये थे। ब्राह्मणलोग अमित पराक्रमी भगवान् विष्णुके उस विराट-रूपका ऐसा ही वर्णन करते हैं॥ ३०॥

जित्वा लोकत्रयं कृत्स्नं हत्वा चासुरपुङ्गवान्।
ददौ शक्राय वसुधां हरिर्लोकनमस्कृतः॥३१॥

उस समय विश्ववन्दित श्रीहरिने समस्त त्रिलोकीको जीत-कर और मुख्य-मुख्य असुरोंका वध करके वसुधाका राज्य इन्द्रको दे दिया॥ ३१॥

सुतलं नाम पातालमधस्ताद् वसुधातले।
बलेर्दत्तं भगवता विष्णुना प्रभविष्णुना॥३२॥

फिर प्रभावशाली भगवान् विष्णुने पृथ्वीके नीचे जो सुतल नामक पाताल लोक है, उसे बलिको दे दिया॥ ३२॥

तदवाप्यासुरश्रेष्ठश्चकार मतिमुत्तमाम्।
रसातलतले वासमकरोदसुराधिपः॥३३॥

उसे पाकर असुरश्रेष्ठ असुरराज बलिने उत्तम बुद्धिका आश्रय लिया और वे उस रसातल-तलमें निवास करने लगे॥

तत्रस्थश्च महातेजा ध्यानं परममास्थितः।
उवाच वचनं धीमान् विष्णुं लोकनमस्कृतम्॥३४॥

वहाँ रहकर महातेजस्वी बुद्धिमान् बलि उत्तम ध्यानमें स्थित हो विश्ववन्दित भगवान् विष्णुसे इस प्रकार बोले—॥३४॥

किं मया देव कर्तव्यं ब्रूहि सर्वमशेषतः।
ततो दैत्याधिपं प्राह देवो विष्णुः सुरोत्तमः॥३५॥

'देव! मुझे क्या करना चाहिये? यह सब पूर्णरूपसे मुझे बताइये।' तब सुरश्रेष्ठ विष्णुदेवने दैत्यराज बलिसे कहा॥

विष्णुरुवाच

ददामि ते महाभाग परितुष्टोऽस्मि तेऽसुर।
वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि॥३६॥

भगवान् विष्णु बोले—महाभाग असुर! मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ, अतः तुम्हें वर देता हूँ। तुम्हारा भला हो। तुम कोई वर माँगो और मनोवाञ्छित कामना प्राप्त करो॥

मा च शुक्रस्य वचनं प्रतिहासीः कथंचन।
अहमाज्ञापयामि त्वां श्रेयश्चैवमवाप्स्यसि॥३७॥

तुम्हें अपने गुरु शुक्राचार्यकी आज्ञाका किसी प्रकार उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। इसके लिये मैं तुम्हें आदेश देता हूँ। इसके पालनसे तुम्हें कल्याणकी प्राप्ति होगी॥३७॥

अथ दैत्याधिपं प्राह विष्णुर्देवाधिपानुजः।
वाचा परमया देवो वरेण्यः प्रभुरीश्वरः॥३८॥

तदनन्तर देवराज इन्द्रके छोटे भाई श्रेष्ठ देवता तथा सर्वसमर्थ ईश्वर श्रीविष्णुने दैत्यराज बलिसे उत्तम वाणीमें कहा—॥ ३८॥

यत् त्वया सलिलं दत्तं गृहीतं पाणिना मया।
तस्मात् ते दैत्य देवेभ्यो नास्ति जातु भयं क्वचित्॥३९॥

'दैत्य! तुमने जो मेरे हाथपर संकल्पका जल दिया और मैंने जो ग्रहण किया, उसके प्रभावसे तुम्हें देवताओंकी ओरसे कभी कोई भय नहीं प्राप्त होगा॥ ३९॥

सुतलं नाम पातालं तत्र त्वं सानुगो वस ।
सर्वदैत्यगणैः सार्धं मत्प्रसादान्महासुर ॥४०॥

'महान् असुर ! सुतल नामवाला जो पाताल है, उसमें मेरी कृपासे तुम समस्त दैत्यों और सेवकोंके साथ निवास करो ॥ ४० ॥

न च ते देवदेवस्य शक्रस्यामिततेजसः ।
शासनं प्रतिहन्तव्यं स्मरता शासनं मम ॥४१॥

'मेरे शासनका स्मरण करते हुए तुम्हें अमित तेजस्वी देवाधिदेव इन्द्रकी आज्ञाका कभी विरोध नहीं करना चाहिये ॥ ४१ ॥

देवताश्चापि ते सर्वाः पूज्या एव महासुर ।
भोगांश्च विविधान् सम्यग्यज्ञांश्च सहदक्षिणान्॥४२॥
प्राप्स्यसे च महाभाग दिव्यान् कामान् यथेप्सितान् ।
इह चामुत्र चाक्षय्यान् विविधांश्च परिच्छदान्॥४३॥

'महान् असुर ! समस्त देवता भी तुम्हारे लिये पूजनीय ही हैं । महाभाग ! तुम वहाँ रहकर नाना प्रकारके भोग, दक्षिणासहित उत्तम यज्ञ, मनोवाञ्छित दिव्य काम (मनोरथ) तथा इस लोक और परलोकमें भाँति-भाँतिकी अक्षय भोग-सामग्री प्राप्त करोगे ॥ ४२-४३ ॥

दैत्याधिपत्यं च सदा मत्प्रसादादवाप्स्यसि ।
यदा च तां मया प्रोक्तां मर्यादां चालयिष्यसि ॥४४॥
बधिष्यन्ति तदा हि त्वां नागपाशैर्महाबलाः ।

वहाँ तुम्हें मेरी कृपासे सदा ही दैत्योंका आधिपत्य प्राप्त होगा । जब तुम मेरी बतायी हुई उस मर्यादाको भङ्ग करोगे, तब महाबली देवता नागपाशसे तुम्हें बाँध लेंगे ४४½

नमस्कार्याश्च ते नित्यं महेन्द्राद्या दिवौकसः ॥४५॥
मम ज्येष्ठः सुरश्रेष्ठः शासनं प्रतिगृह्यताम् ।

तुम्हें इन्द्र आदि देवताओंको सदा नमस्कार करना चाहिये । सुरश्रेष्ठ इन्द्र मेरे बड़े भाई हैं, अतः उनका शासन स्वीकार करो ॥ ४५½ ॥

बलिरुवाच

देवदेव महाभाग शङ्खचक्रगदाधर ॥४६॥
सुरासुरगुरो श्रेष्ठ सर्वलोकमहेश्वर ।
तत्रासतो मे पाताले भागं ब्रूहि सुरोत्तम ॥४७॥

बलि बोले—शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महाभाग देवदेव ! सुरासुरगुरो ! सर्वश्रेष्ठ ! सर्वलोकमहेश्वर! सुरोत्तम ! वहाँ पातालमें रहते समय मुझे जीवन-निर्वाहके लिये कौन-सा भाग प्राप्त होगा । यह बताइये ॥ ४६-४७ ॥

ममान्नमशनं देव प्राशनार्थमरिंदम ।
तद् वदस्व सुरश्रेष्ठ तृप्तिर्येन ममाक्षया ॥४८॥

शत्रुदमन देव ! सुरश्रेष्ठ ! मेरा अन्न—मेरे भोजनके लिये भोज्य पदार्थ क्या होगा ? यह बताइये । जिससे मुझे अक्षय तृप्ति प्राप्त हो ॥ ४८ ॥

श्रीभगवानुवाच

अश्रोत्रियं श्राद्धमधीतमव्रत-
मदक्षिणं यज्ञमनर्त्विजा हुतम् ।
अश्रद्धया दत्तमसंस्कृतं हवि-
रेते प्रदत्तास्तव दैत्य भागाः ॥४९॥

श्रीभगवान् बोले—दैत्य ! श्रोत्रिय ब्राह्मणके बिना किये हुए श्राद्ध, ब्रह्मचर्य-पालनके बिना किये गये अध्ययन, बिना दक्षिणाके यज्ञ, बिना ऋत्विजके होम, बिना श्रद्धाके दान और संस्कारहीन हविष्य—ये सब तुम्हें तुम्हारे भागके रूपमें अर्पित हैं ॥ ४९ ॥

पुण्यं मद्द्वेषिणां यच्च मद्भक्तद्वेषिणां तथा ।
क्रयविक्रयसक्तानां पुण्यं यच्चाग्निहोत्रिणाम् ॥५०॥
अश्रद्धया च यद् दानं ददतां यजतां तथा ।
तत् सर्वं तव दैत्येन्द्र मत्प्रसादाद् भविष्यति ॥५१॥

दैत्यराज ! मुझसे और मेरे भक्तोंसे द्वेष रखनेवालोंका जो पुण्य है, क्रय-विक्रयमें आसक्त हुए अग्निहोत्रियोंका जो पुण्य है, बिना श्रद्धाके दान देने और यज्ञ करनेवालोंका जो सत्कर्म है, वह सब मेरी कृपासे तुम्हारा हो जायगा ॥ ५०—५१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं बलिर्विष्णोर्महात्मनः ।
एवमस्त्विति तं प्रोक्त्वा पातालमसुरोत्तमः ।
प्रविवेश महानादो देवाज्ञां प्रतिपालयन् ॥५२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा भगवान् विष्णुका यह वचन सुनकर असुरराज बलिने उनसे 'ऐसा ही होगा' यह कहकर भगवान्की आज्ञाका पालन करते हुए महान् गर्जनाके साथ पाताललोकमें प्रवेश किया ॥ ५२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चापि विष्णुस्त्रिदशपूजितः ।
भगवानपि राज्यानां प्रविभागांश्चकार ह ॥५३॥

इसी बीचमें देवपूजित भगवान् विष्णुने भी राज्योंके कई विभाग किये ॥ ५३ ॥

ददौ पूर्वां दिशं चैन्द्रीं शक्रायामिततेजसे ।
याम्यां यमाय देवाय पितृराज्ञे महात्मने ॥५४॥

उन्होंने अमित तेजस्वी इन्द्रको ऐन्द्री अर्थात् पूर्वदिशा-का राज्य दिया । पितरोंके राजा महात्मा यमदेवताको दक्षिण-दिशाका राज्य अर्पित किया ॥ ५४ ॥

पश्चिमां तु दिशं प्रादाद् वरुणाय महात्मने ।
उत्तरां च कुबेराय यक्षाधिपतये दिशम् ॥५५॥

महात्मा वरुणको पश्चिम दिशा तथा यक्षराज कुबेरको उत्तर दिशाका राज्य दिया ॥ ५५ ॥

अधःस्थां नागराजाय सोमायोर्ध्वां दिशं ददौ ।
एवं विभज्य त्रैलोक्यं विष्णुर्बलवतां वरः ॥५६॥
जगाम त्रिदिवं देवः पूज्यमानो महर्षिभिः ।

नागराज अनन्तको नीचेकी दिशाका तथा सोमको ऊपरकी दिशाका राज्य अर्पित किया । इस प्रकार तीनों लोकोंके राज्यका विभाजन करके बलवानोंमें श्रेष्ठ भगवान् विष्णु महर्षियोंसे पूजित हो स्वर्गलोकमें गये ॥ ५६½ ॥

वामनः सर्वभूतेशः प्रतिष्ठाप्य च वासवम् ॥५७॥
तस्मिन् प्रयाते दुर्धर्षे वामनेऽमिततेजसि ।
सर्वे मुमुदिरे देवाः पुरस्कृत्य शतक्रतुम् ॥५८॥

वहाँ देवराज इन्द्रको स्वर्गके सिंहासनपर बिठाकर सर्व-भूतेश्वर भगवान् वामन अपने धामको चले गये । उन अत्यन्त तेजस्वी दुर्धर्ष देवता वामनके चले जानेपर सब देवता देवराज इन्द्रको आगे करके आनन्दमें मग्न हो गये ॥ ५७-५८ ॥

वैशम्पायन उवाच

गते तु त्रिदिवं कृष्णे बद्ध्वा वैरोचनिं बलिम् ।
नागैः सप्तशिरोभिश्च कम्बलाश्वतरादिभिः ॥५९॥
नागबन्धनदुःखार्तं बलिं वैरोचनिं ततः ।
यदृच्छयासौ देवर्षिर्नारदः प्रत्यपद्यत ॥६०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सात सिर-वाले कम्बल और अश्वतर आदि नागोंद्वारा विरोचनकुमार बलिको बाँधकर जब भगवान् विष्णु स्वर्गलोकको चले गये, तब नागबन्धनके दुःखसे पीड़ित हुए विरोचनपुत्र बलिके पास अकस्मात् घूमते हुए देवर्षि नारद आ पहुँचे ॥५९-६०॥

स तं कृच्छ्रगतं दृष्ट्वा कृपयाभिपरिप्लुतः ।
उवाच दानवश्रेष्ठं मोक्षोपायं ददामि ते ॥६१॥

नारदजीने बलिको संकटमें पड़ा देख दयासे द्रवित हो उन दानवशिरोमणिसे कहा—'मैं तुम्हें इस कष्टसे छूटनेका उपाय बताता हूँ ॥ ६१ ॥

स्तवं देवाधिदेवस्य वासुदेवस्य धीमतः ।
अनादिनिधनस्यास्य अक्षयस्याव्ययस्य च ॥६२॥

'जो आदि और अन्तसे रहित, अक्षय, अविनाशी, बुद्धिमान्, देवाधिदेव भगवान् वासुदेव हैं, उनका स्तोत्र ही वह उपाय है ॥ ६२ ॥

तमधीष्वाथ दैत्येन्द्र विशुद्धेनान्तरात्मना ।
तद्गतस्तन्मना भूत्वा द्रुतं मोक्षमवाप्स्यसि ॥६३॥

'दैत्यराज ! तुम विशुद्ध हृदयसे उन्हीं भगवान्में मन लगाकर तन्मय हो उस स्तोत्रका पाठ करो । ऐसा करनेसे शीघ्र ही छुटकारा पा जाओगे' ॥ ६३ ॥

ततो विरोचनसुतः प्रयतः प्राञ्जलिः शुचिः ।
मोक्षविंशकमव्यग्रो नारदात् समधीतवान् ॥६४॥

तब विरोचनकुमार बलिने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर हाथ जोड़ पवित्र हो शान्तभावसे मोक्षविंशक नामक स्तोत्रका नारदजीसे अध्ययन किया ॥ ६४ ॥

तमधीत्य स्तवं दिव्यं नारदेन समीरितम् ।
पृथिवी चोद्धृता येन तं जजाप महासुरः ॥६५॥

नारदजीके बताये हुए उस दिव्य स्तोत्रका अध्ययन करके महान् असुर बलिने, जिन्होंने इस पृथिवीका उद्धार किया था, उन भगवान्का जप आरम्भ किया ॥ ६५ ॥

ॐ नमोऽस्त्वनन्तपतये अक्षयाय महात्मने ।
जलेशयाय देवाय पद्मनाभाय विष्णवे ॥६६॥

(बलि बोले—जो) अनन्त नागके अधिपति, अविनाशी, महात्मा, जलमें शयन करनेवाले, दिव्यस्वरूप और अपनी नाभिसे कमल प्रकट करनेवाले हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥ ६६ ॥

सप्तसूर्यवपुः कृत्वा त्रींल्लोकान् क्रान्तवानसि ।
भगवन् कालकालस्त्वं तेन सत्येन मोक्षय ॥६७॥

भगवन् ! आप कालके भी काल हैं, आपने सात सूर्योंके समान तेजस्वी शरीर धारण करके तीनों लोकोंको नाप लिया है । उस सत्यके प्रभावसे आप मुझे इस बन्धनसे छुड़ाइये ॥ ६७ ॥

नष्टचन्द्रार्कगगने क्षीणयज्ञतपःक्रिये ।
पुनश्चिन्तयसे लोकांस्तेन सत्येन मोक्षय ॥६८॥

महाप्रलयके समय जब चन्द्रमा, सूर्य और आकाशका भी लय हो जाता है, यज्ञ और तपरूपी कर्म क्षीण हो जाते हैं, तब आप पुनः सृष्टिके आरम्भमें समस्त लोकोंका चिन्तन करते हैं (और अपने संकल्पसे ही सबको प्रकट कर देते हैं), उस सत्यके प्रभावसे आप मुझे इस बन्धनसे मुक्त कीजिये ॥ ६८ ॥

ब्रह्मरुद्रेन्द्रवाय्वग्निसरिद्भुजगपर्वताः ।
त्वत्स्था दृष्टा द्विजेन्द्रेण तेन सत्येन मोक्षय ॥६९॥

प्रलयकालमें द्विजराज मार्कण्डेयने ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वायु, अग्नि, नदी, सर्प और पर्वत आदिको आपके भीतर स्थित देखा था । उस सत्यके प्रभावसे आप मुझे इस कष्टसे छुड़ाइये ॥ ६९ ॥

मार्कण्डेन पुरा कल्पे प्रविश्य जठरं तव ।
चराचरगतं दृष्टं तेन सत्येन मोक्षय ॥ ७० ॥

पूर्वकल्पमें मार्कण्डेयजीने आपके उदरमें प्रवेश करके वहाँ चर और अचर प्राणियोंसे व्याप्त सम्पूर्ण जगत्का दर्शन किया था । उस सत्यके प्रभावसे आप मुझे इस बन्धनसे मुक्त कीजिये ॥ ७० ॥

एको विद्यासहायस्त्वं योगी योगमुपागतः।
पुनस्त्रैलोक्यमुत्सृज्य तेन सत्येन मोक्षय ॥ ७१ ॥

आप योगी हैं और योगका आश्रय लेकर एकमात्र आप ही विद्या (योगमाया) की सहायतासे पुनः त्रिलोकी-की सृष्टि करके उसमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे व्याप्त रहते हैं। उस सत्यके प्रभावसे आप मुझे इस नागपाशसे छुटकारा दिलावें ॥ ७१ ॥

जलशय्यामुपासीनो योगनिद्रामुपागतः।
लोकांश्चिन्तयसे भूयस्तेन सत्येन मोक्षय ॥ ७२ ॥

आप योगनिद्राका आश्रय ले जलकी शय्यापर सोकर पुनः लोकोंका चिन्तन करते हैं। उस सत्यके प्रभावसे मुझे बन्धनमुक्त कीजिये ॥ ७२ ॥

वाराहं रूपमास्थाय वेदयज्ञपुरस्कृतम्।
धरा जलोद्धृता येन तेन सत्येन मोक्षय ॥ ७३ ॥

आपने वेद और यज्ञमय वाराहरूप धारण करके जिस सत्यके प्रभावसे इस पृथिवीका जलसे उद्धार किया था, उसी सत्यके द्वारा मुझे भी संकटसे छुड़ाइये ॥ ७३ ॥

उद्धृत्य दंष्ट्रया यज्ञांस्त्रीन् पिण्डान् कृतवानसि।
त्वं पितृणामपि हरे तेन सत्येन मोक्षय ॥ ७४ ॥

हरे! आपने अपनी दाढ़से यज्ञोंका उद्धार करके पितरोंके लिये भी तीन पिण्डोंकी व्यवस्था की है। उस सत्यके प्रभावसे आप मुझे इस नागपाशसे मुक्त कीजिये ॥ ७४ ॥

प्रदुद्रुवुः सुराः सर्वे हिरण्याक्षभयार्दिताः।
परित्रातास्त्वया देव तेन सत्येन मोक्षय ॥ ७५ ॥

देव! समस्त देवता जब हिरण्याक्षके भयसे पीड़ित होकर भाग गये थे, उस समय आपने ही उनकी रक्षा की थी। उस सत्यके बलसे आप मुझे बन्धनसे छुड़ाइये ॥ ७५ ॥

दीर्घवक्त्रेण रूपेण हिरण्याक्षस्य संयुगे।
शिरो जहार चक्रेण तेन सत्येन मोक्षय ॥ ७६ ॥

लंबे मुँहवाले वाराहका रूप धारण करके आपने युद्धमें चक्रद्वारा हिरण्याक्षका सिर काट लिया था। उस सत्यके प्रभावसे आप मुझे बन्धनमुक्त कीजिये ॥ ७६ ॥

भग्नमूर्धास्थिमस्तिष्को हिरण्यकशिपुः पुरा।
हुंकारेण हतो दैत्यस्तेन सत्येन मोक्षय ॥ ७७ ॥

पूर्वकालमें आपने हुङ्कारमात्रसे हिरण्यकशिपु नामक दैत्यके मस्तककी हड्डी और मस्तिष्कको चूर-चूर करके उसे मार डाला था। उस सत्यके प्रभावसे आप मुझे भी सङ्कटसे छुड़ाइये ॥ ७७ ॥

दानवाभ्यां हृता वेदा ब्रह्मणः पश्यतः पुरा।
परित्रातास्त्वया देव तेन सत्येन मोक्षय ॥ ७८ ॥

देव! पूर्वकालमें ब्रह्माजीके देखते-देखते मधु और कैटभ नामक दो दानवोंने सम्पूर्ण वेद हर लिये थे, जिनका आपने उद्धार किया। उस सत्यके प्रभावसे आप मुझे इस बन्धनसे छुटकारा दिलाइये ॥ ७८ ॥

कृत्वा हयशिरोरूपं हत्वा तु मधुकैटभौ।
ब्रह्मणे तेऽर्पिता वेदास्तेन सत्येन मोक्षय ॥ ७९ ॥

हयग्रीव-रूप धारण करके मधु और कैटभ नामक दानवोंको मारकर आपने सारे वेद पुनः ब्रह्माजीको अर्पित कर दिये। इस सत्यके प्रभावसे आप मुझे बन्धनसे छुड़ाइये ॥ ७९ ॥

देवदानवगन्धर्वा यक्षसिद्धमहोरगाः।
अन्तं तव न पश्यन्ति तेन सत्येन मोक्षय ॥ ८० ॥

देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, सिद्ध और बड़े-बड़े नाग भी आपका अन्त नहीं देख पाते हैं। उस सत्यके प्रभावसे आप मेरा इस सङ्कटसे उद्धार कीजिये ॥ ८० ॥

अपान्तरतमा नाम जातो देवस्य वै सुतः।
कृताश्च तेन वेदार्थास्तेन सत्येन मोक्षय ॥ ८१ ॥

अपान्तरतमा नामसे विख्यात जो आपके पुत्र हुए थे, उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंके अर्थ किये हैं। इस सत्यके प्रभावसे आप मुझे इस बन्धनसे छुड़ाइये ॥ ८१ ॥

वेदयज्ञाग्निहोत्राणि पितृयज्ञहवींषि च।
रहस्यं तव देवस्य तेन सत्येन मोक्षय ॥ ८२ ॥

वेद, यज्ञ, अग्निहोत्र, पितृयज्ञ और हविर्यज्ञ—ये आपके रहस्य हैं। उस सत्यके द्वारा आप मुझे सङ्कटसे छुड़ाइये ॥ ८२ ॥

ऋषिर्दीर्घतमा नाम जात्यन्धो गुरुशापतः।
त्वत्प्रसादाच्च चक्षुष्मांस्तेन सत्येन मोक्षय ॥ ८३ ॥

दीर्घतमा नामक ऋषि अपने गुरु या पिताके शापसे जन्मान्ध हो गये थे, जो आपकी कृपासे ही नेत्रवान् हो गये। उस सत्यके प्रभावसे आप मुझे बन्धन-मुक्त कीजिये ॥ ८३ ॥

ग्राहग्रस्तं गजेन्द्रं च दीनं मृत्युवशं गतम्।
भक्तं मोक्षितवांस्त्वं हि तेन सत्येन मोक्षय ॥ ८४ ॥

ग्राहसे ग्रस्त होकर गजराज अत्यन्त दीन हो मृत्युके वशमें पड़ गया था, परंतु आपने अपने उस भक्तको सङ्कटसे छुड़ा दिया। उस सत्यके प्रभावसे मुझे भी वर्तमान सङ्कटसे मुक्त कीजिये ॥ ८४ ॥

अक्षयश्चाव्ययश्च त्वं ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः।
उच्छ्रितानां नियन्तासि तेन सत्येन मोक्षय ॥ ८५ ॥

आप अक्षय, अविनाशी, ब्राह्मणभक्त तथा भक्तवत्सल हैं, उच्छृङ्खल पुरुषोंका दमन करनेवाले हैं। उस सत्यके प्रभावसे मेरा सङ्कटसे उद्धार कीजिये ॥ ८५ ॥

शङ्खं चक्रं गदां पद्मं शार्ङ्गं गरुडमेव च ।
प्रसादयामि शिरसा ते बन्धान्मोक्षयन्तु माम् ॥ ८६ ॥

मैं शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, शार्ङ्गधनुष तथा गरुड़को भी सिर झुकाकर प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ, वे मुझे इस बन्धनसे छुटकारा दिलायें ॥ ८६ ॥

शङ्खं चक्रं गदा पद्मं शार्ङ्गं च गरुडादयः ।
हरिं प्रसादयामासुर्बलिं मोक्षय बन्धनात् ॥ ८७ ॥

तब शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, शार्ङ्गधनुष और गरुड़ आदिने भगवान्को प्रसन्न किया और कहा—'आप बलिको बन्धनसे मुक्त कीजिये' ॥ ८७ ॥

ततः प्रसन्नो भगवानादिदेश खगेश्वरम् ।
गरुडं नागहन्तारं बलिं मोक्षय बन्धनात् ॥ ८८ ॥

इससे प्रसन्न हो भगवान्ने नागहन्ता पक्षिराज गरुड़को आज्ञा दी कि 'तुम बलिको बन्धनसे छुड़ाओ' ॥ ८८ ॥

ततो विक्षिप्य गरुडः पक्षावतुलविक्रमः ।
जगाम वसुधामूलं यत्रास्ते संयतो बलिः ॥ ८९ ॥

तब अतुल पराक्रमी गरुड़ अपनी पाँखें हिलाते हुए वसुधाके मूलप्रदेशमें जा पहुँचे, जहाँ राजा बलि नागपाशसे बँधे हुए बैठे थे ॥ ८९ ॥

आगमं तस्य विज्ञाय नागा मुक्त्वा महासुरम् ।
ययुः पुरीं भोगवतीं वैनतेयभयार्दिताः ॥ ९० ॥

उनका आगमन जानकर उन विनतानन्दन गरुड़के भयसे पीड़ित हो वे नाग महान् असुर बलिको बन्धनमुक्त करके भोगवतीपुरीमें चले गये ॥ ९० ॥

मुक्तं कृष्णप्रसादेन चिन्तयानमधोमुखम् ।
भ्रष्टश्रियमुवाचेदं गरुत्मान् पन्नगाशनः ॥ ९१ ॥

राजा बलि भगवान् विष्णुके प्रसादसे बन्धनमुक्त होकर भी राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट होनेके कारण नीचे मुख किये चिन्तामग्न हो रहे थे, उस समय सर्पभोजी गरुड़ने उनसे इस प्रकार कहा—॥ ९१ ॥

गरुड उवाच

दानवेन्द्र महाबाहो विष्णुस्त्वामब्रवीत् प्रभुः ।
मुक्तो निवस पाताले सपुत्रजनबान्धवः ॥ ९२ ॥

गरुड़ बोले—महाबाहु दानवराज ! भगवान् विष्णुने तुम्हें यह संदेश दिया है कि तुम बन्धनमुक्त हो पुत्रों, स्वजनों और बन्धु-बान्धवोंके साथ पाताललोकमें निवास करो ॥ ९२ ॥

इतस्त्वया न गन्तव्यं गव्यूतिमपि दानव ।
समयं यदि भिन्द्यास्त्वं मूर्धा ते शतधा भवेत् ॥ ९३ ॥

दानव ! तुम यहाँसे दो कोस भी बाहर न जाना । यदि इस मर्यादाको भंग करोगे तो तुम्हारे सिरके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे ॥ ९३ ॥

पक्षीन्द्रवचनं श्रुत्वा दानवेन्द्रोऽब्रवीदिदम् ।
स्थितोऽस्मि समये तस्य अनन्तस्य महात्मनः ॥ ९४ ॥
जीव्योपायं तु भगवान् मम किंचित् करोतु सः ।
इहस्थोऽहं सुखासीनो येनाप्याये खगेश्वर ॥ ९५ ॥

पक्षिराज गरुड़का यह कथन सुनकर दानवेन्द्र बलिने यह बात कही—'खगेश्वर ! मैं उन महात्मा अनन्तकी बाँधी हुई मर्यादामें ही स्थित हूँ, किंतु वे भगवान् मेरे लिये जीविका चलानेका कोई उपाय नियत कर दें, जिससे यहाँ सुखपूर्वक रहकर मैं सदा तृप्ति एवं संतोषका अनुभव करता रहूँ' ॥ ९४-९५ ॥

बलेस्तु वचनं श्रुत्वा गरुत्मानिदमब्रवीत् ।
पूर्वमेव कृतस्तेन जीव्योपायो महात्मना ॥ ९६ ॥

बलिकी यह बात सुनकर गरुड़ बोले—'उन परमात्माने पहलेसे ही तुम्हारे लिये जीविकाका उपाय नियत कर दिया है ॥ ९६ ॥

वर्तयिष्यन्ति ये यज्ञान् विधिहीनानमृत्विजः ।
प्रायश्चित्तमजानन्तो यज्ञभागस्ततस्तव ॥ ९७ ॥

'जो लोग प्रायश्चित्तसे अनभिज्ञ रहकर बिना ऋत्विजोंके ही विधिहीन यज्ञ करेंगे, उनके यज्ञका सारा भाग तुम्हारा ही होगा ॥ ९७ ॥

न तेषां यज्ञभागं वै प्रतिगृह्णन्ति देवताः ।
अनेनाप्यायितबलः सुखमात्रं निवत्स्यसि ॥ ९८ ॥

'उनके यज्ञभागको देवता नहीं ग्रहण करेंगे । उससे तुम्हारे बलकी पुष्टि होगी और तुम सदा सुखसे रहोगे ॥ ९८ ॥

संदेशमेतं भगवान् दत्तवान् कश्यपात्मजः ।
दानवेन्द्र महाबाहो विष्णुस्त्रैलोक्यभावनः ॥ ९९ ॥

'महाबाहु दानवराज ! त्रिभुवनपालक, कश्यपकुमार, वामनरूपधारी भगवान् विष्णुने तुमको यही संदेश दिया है' ॥ ९९ ॥

वैशम्पायन उवाच

इमं स्तवमनन्तस्य सर्वपापप्रमोचनम् ।
यः पठेत नरो भक्त्या तस्य नश्यति किल्बिषम् ॥ १०० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—(ऐसा कहकर गरुड़जी चले गये ।) जो मनुष्य भगवान् अनन्तके इस सर्वपापहारी स्तोत्रका भक्तिपूर्वक पाठ करता है, उसका सारा पाप नष्ट हो जाता है ॥ १०० ॥

गोहत्यायाः प्रमुच्येत ब्रह्मघ्नो ब्रह्महत्यया ।
अपुत्रो लभते पुत्रं कन्या चैवेप्सितं पतिम् ॥ १०१ ॥

यदि उससे गोवध या ब्राह्मणवधका पाप बन गया है तो वह इस स्तोत्रके पाठसे उस गोहत्या और ब्राह्मणहत्यासे भी मुक्त हो सकता है । इस स्तोत्रके प्रभावसे पुत्रहीनको

पुत्रकी और कुमारी कन्याको मनके अनुरूप पतिकी प्राप्ति होती है ॥ १०१ ॥

सद्यो गर्भात् प्रमुच्येत गर्भिणी जनयेत् सुतम् ।
ये च मोक्षैपिणो लोके योगिनः सांख्यकापिलाः॥१०२॥
स्तवेनानेन गच्छन्ति श्वेतद्वीपमकल्मषाः ।

गर्भवती स्त्री इस स्तोत्रके पाठसे तत्काल गर्भकी वेदनासे छुटकारा पा जाती है और पुत्रको जन्म देती है। जो योगी और कपिल-सांख्यमतके अनुयायी पुरुष जगत्में भवबन्धनसे मोक्ष पानेकी अभिलाषा रखते हैं, वे इस स्तोत्रके पाठसे पाप-तापसे रहित हो (भगवान्‌के परमधाम) श्वेतद्वीपको चले जाते हैं ॥ १०२½ ॥

सर्वकामप्रदो ह्येष स्तवोऽनन्तस्य कीर्त्यते ॥१०३॥
यः पठेत् प्रातरुत्थाय शुचिः प्रयतमानसः ।
सर्वान् कामानवाप्नोति मानवो नात्र संशयः ॥१०४॥

भगवान् अनन्तका यह स्तोत्र सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला बताया गया है। जो प्रातःकाल उठकर स्नान आदिसे शुद्ध एवं संयतचित्त हो इस स्तोत्रका पाठ करता है, वह मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १०३-१०४ ॥

एष वै वामनो नाम प्रादुर्भावो महात्मनः ।
वेदविद्भिर्द्विजैरेवं पठ्यते वैष्णवं यशः ॥१०५॥

यह परमात्मा श्रीहरिके वामन-अवतारका वर्णन किया गया। वेदवेत्ता ब्राह्मण इस प्रकार भगवान् विष्णुके सुयशका बखान करते हैं ॥ १०५ ॥

यस्त्विमं वामनं दिव्यं प्रादुर्भावं महात्मनः ।
शृणुयान्नियतो भक्त्या सदा पर्वसु पर्वसु ॥१०६॥
परान् विजयते राजा यथा विष्णुर्महाबलः ।
यशो विमलमाप्नोति विपुलं चाप्नुते वसु ॥१०७॥

जो राजा शौच-संतोषादि नियमोंके पालनपूर्वक भगवान् विष्णुके इस दिव्य वामनावतारकी कथाको सदा सभी पर्वोंपर भक्तिभावसे सुनता है, वह महाबली विष्णुके समान ही अपने समस्त शत्रुओंपर विजय पाता है, निर्मल यशका भागी होता है तथा विपुल धन-सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है ॥ १०६-१०७ ॥

प्रियो भवति भूतानां सर्वेषां वामनो यथा ।
पुत्रपौत्राश्च वर्धन्ते आरोग्यं गुणसम्पदः ॥१०८॥

वह भगवान् वामनकी ही भाँति समस्त प्राणियोंका प्रिय होता है तथा उसके पुत्र-पौत्र, आरोग्य एवं गुण-सम्पत्तियोंकी वृद्धि होती है ॥ १०८ ॥

प्रीयते पठतश्चास्य देवदेवो जनार्दनः ।
सर्वकामयुतश्चैव कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥१०९॥

इस स्तोत्रका पाठ करनेवाले पुरुषपर देवाधिदेव भगवान् जनार्दन प्रसन्न होते हैं तथा वह सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न होता है—यह श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी महाराजका कथन है ॥ १०९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वामनप्रादुर्भावे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वामनावतारविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

रुक्मिणी देवीकी भगवान् श्रीकृष्णसे पुत्रके लिये प्रार्थना और भगवान्‌का उन्हें आश्वासन देते हुए कैलास जानेका विचार प्रकट करना

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवान् विष्णुर्देवदेवो जनार्दनः ।
गतः कैलासशिखरमालयं शंकरस्य च ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! देवताओंके भी देवता, सर्वव्यापी भगवान् जनार्दन किस लिये शङ्करजीके निवासस्थान कैलासशिखरपर गये थे ? ॥ १ ॥

नारदाद्यैस्तपोवृद्धैर्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
तत्र दृष्टो महादेवः शंकरो नीललोहितः ॥ २ ॥

तपस्यामें बढ़े-चढ़े तत्त्वदर्शी नारद आदि मुनियोंने ही वहाँ नीललोहित वर्णवाले कल्याणकारी महादेवजीका दर्शन किया है ॥ २ ॥

केशवेन पुरा विप्र कुर्वता तप उत्तमम् ।
अर्चितो देवदेवेन शंकरश्चेति नः श्रुतम् ॥ ३ ॥

विप्रवर ! हमारे सुननेमें यह भी आया है कि पूर्वकालमें उत्तम तप करते हुए देवाधिदेव केशवने वहाँ भगवान् शङ्करका पूजन किया था ॥ ३ ॥

देवौ तत्र जगन्नाथौ दृष्टवन्तौ पुरातनौ ।
अर्चयांचक्रिरे देवा इन्द्राद्याः शंकरं हरिम् ॥ ४ ॥

वहाँ दोनों पुरातन देवता जगदीश्वर श्रीहरि और हरने एक दूसरेका दर्शन किया था। इन्द्र आदि देवताओंने वहाँ आकर भगवान् शङ्कर तथा श्रीहरिकी अर्चना की थी ॥ ४ ॥

तौ हि देवौ महादेवावेकीभूतौ द्विधा कृतौ ।
एकात्मानौ जगद्योनी सृष्टिसंहारकारकौ ॥ ५ ॥

कहते हैं कि वे दोनों महान् देवता एक ही हैं, किंतु दो स्वरूपोंमें विभक्त हो गये हैं। उनका आत्मा (स्वरूप) एक ही है, तो भी कार्यभेदसे भिन्न-भिन्न शरीर धारण करते हैं। दोनों ही जगत्की उत्पत्तिके कारण हैं और दोनों ही सृष्टि, पालन एवं संहार करनेवाले हैं (यह बात कैसे समझी जाय ?) ॥ ५ ॥

परस्परसमावेशाज्जगतः पालने स्थितौ।
तयोस्तत्र यथावृत्तं कैलासे पर्वतोत्तमे॥ ६ ॥

वे परस्पर समाविष्ट होकर जगत्के पालन-कर्ममें स्थित रहते हैं। उत्तम पर्वत कैलासपर एकत्र हुए उन दोनोंका जैसा वृत्तान्त हो, वह बताइये ॥ ६ ॥

ऋषयः किमचेष्टन्त दृष्ट्वा तौ पुरुषोत्तमौ।
एतत् सर्वमशेषेण वक्तुमर्हसि सत्तम॥ ७ ॥

साधुशिरोमणे ! उन दोनों पुरुषोत्तमोंको देखकर ऋषियोंने कैसी चेष्टा की ? यह सब वृत्तान्त पूर्णरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

यथा गतो हरिर्विष्णुः कृष्णो जिष्णुः पुरातनः।
यथा च शंकरः साक्षात् कृतवान् नागभूषणः।
एतत् सर्वं विप्रवर्य ब्रूहि तत्त्वेन यत्नतः॥ ८ ॥

विप्रवर ! सर्वव्यापी, पापहारी, पुरातन पुरुष और विजयशील सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण जिस प्रकार कैलास पर्वतपर गये और सर्पमय आभूषणोंसे विभूषित भगवान् शङ्करने जिस प्रकार उनका साक्षात्कार किया, यह सब मुझे यत्नपूर्वक ठीक-ठीक बताइये ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् यथा कृष्णो गतो नगम्।
यथा च दृष्टो देवेशः शंकरो वृषवाहनः॥ ९ ॥
यथा चचार स तपो यथा ते मुनयो गताः।
एवं तयोर्यथावृत्तं तथा शृणु नरोत्तम॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नरश्रेष्ठ ! भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रकार कैलासपर्वतपर गये, जिस प्रकार उन्होंने देवेश्वर वृषभवाहन भगवान् शङ्करका दर्शन किया, जिस तरह वे तपस्यामें संलग्न हुए, जिस प्रकार वे मुनिलोग वहाँ गये और जिस तरह उन दोनों देवताओंका वृत्तान्त वहाँ घटित हुआ, वह सब सावधान होकर सुनो ॥ ९-१० ॥

द्वैपायनोऽथ भगवान् यथा प्रोवाच मां तथा।
नमस्कृत्य प्रवक्ष्यामि केशवं खगवाहनम्॥११॥
यथाशक्ति यथाप्रज्ञं शृणु यत्नेन सुव्रत।

भगवान् वेदव्यासने यह प्रसङ्ग जिस प्रकार मुझसे कहा था, उसी प्रकार मैं गरुड़वाहन भगवान् केशवको नमस्कार करके अपनी बुद्धि और शक्तिके अनुसार कहूँगा। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले नरेश ! तुम यत्नपूर्वक सुनो ॥

न चाशुश्रूषवे वाच्यं नृशंसायातपस्विने॥१२॥
नानधीताय वक्तव्यं पुण्यं पुण्यवता सदा।

जिसमें सेवा करनेका भाव न हो, जो नृशंस तथा तपस्यासे दूर रहनेवाला हो और जिसने कुछ भी अध्ययन न किया हो, ऐसे पुरुषको पुण्यात्मा विद्वान् इस पवित्र प्रसंगका उपदेश कभी न दे ॥ १२½ ॥

स्वर्ग्यं यशस्यं धन्यं च बुद्धिशुद्धिकरं सदा॥१३॥
ध्येयं पुण्यात्मनां नित्यमिदं वेदार्थनिश्चितम्।

यह विषय स्वर्गप्रद, यशोवर्धक, धनकी प्राप्ति करानेवाला तथा सदा ही बुद्धिको शुद्ध करनेवाला है, यह (भगवान् विष्णु और शिवकी एकता) वेदार्थका निश्चित सिद्धान्त है और पुण्यात्मा पुरुषोंके लिये सदा ही चिन्तन करने योग्य है ॥ १३½ ॥

अनेकारण्यसंयुक्तं सेवन्ते नित्यमीदृशम्॥१४॥
मुनयो वेदनिरता नारदाद्यास्तपोधनाः।

अनेक आरण्यकग्रन्थों (उपनिषदों) ने इसका अनुमोदन किया है। वेदपरायण नारद आदि तपोधन मुनि नित्य इसका सेवन (चिन्तन) करते हैं ॥ १४½ ॥

अत्यद्भुतं महापुण्यं वृत्तं कैलासपर्वते॥१५॥
शिवयोर्देवयोस्तत्र हरेश्चैव भवस्य ह।

भगवान् विष्णु और शिव दोनों कल्याणकारी देवताओंके कैलास पर्वतपर एकत्र होनेका यह अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त परम पुण्यमय है ॥ १५½ ॥

हतेष्वसुरसंघेषु नरकादिषु भूमिप॥१६॥
हतेष्वथ नृपेष्वेवं किंचिच्छिष्टेषु शत्रुषु।
शास्ति स सदा विष्णुः पृथिवीं पुरुषोत्तमः॥१७॥
द्वारवत्यां जगन्नाथो वसन् वृष्णिभिरीश्वरः।
रुक्मिण्या संगतो देवो वसंस्तत्र पुरे हरिः॥१८॥

राजन् ! नरक आदि असुरसमूहों तथा अन्यान्य राजाओंके मारे जानेपर जब थोड़े-से ही शत्रु शेष रह गये, उन दिनों वृष्णिवंशियोंके साथ द्वारकापुरीमें निवास करते हुए सर्वसमर्थ जगन्नाथ पुरुषोत्तम श्रीहरि पृथ्वीका सदा शासन करने लगे। भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीसे संयुक्त होकर उस नगरमें निवास करते थे ॥ १६–१८ ॥

कदाचिच्च तया सार्धं शेते रात्रौ जगत्पतिः।
विहरंश्च यथायोगं प्रीतः प्रीतियुजा तया॥१९॥

एक दिनकी बात है, जगदीश्वर श्रीकृष्ण प्रीतिमती रुक्मिणीदेवीके साथ रातमें यथोचित विहार करते हुए प्रसन्नतापूर्वक सो रहे थे ॥ १९ ॥

अथोवाच तदा देवी रुक्मिणी रुक्मभूषणा।
पुत्रमिच्छामि देवेश त्वत्तो माधव नन्दनम् ॥२०॥

उस समय सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित हुई रुक्मिणी-देवीने भगवान्से कहा—'देवेश्वर! माधव! मैं आपसे आनन्ददायक पुत्र प्राप्त करना चाहती हूँ ॥ २० ॥

बलिनं रूपसम्पन्नं त्वयैव सदृशं प्रभो।
वृष्णीनामपि नेतारं वीर्यवन्तं तपोनिधिम् ॥२१॥

'प्रभो! वह पुत्र आपके ही समान रूपवान्, बलवान्, पराक्रमी, तपोनिधि तथा वृष्णिकुलका नेता हो ॥ २१ ॥

सर्वशास्त्रार्थकुशलं राजविद्यापुरस्कृतम्।
एवमादिगुणैर्युक्तं दातुमर्हसि सत्तम ॥२२॥

'वह सभी शास्त्रोंके अर्थज्ञानमें निपुण तथा राजविद्या (ब्रह्मविद्या) के ज्ञाताओंमें अग्रगण्य हो सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पतिदेव! आप मुझे ऐसे ही गुणोंसे सम्पन्न पुत्र प्रदान कीजिये॥

त्वयि सर्वस्य दातृत्वं नित्यमेव प्रतिष्ठितम्।
त्वं हि सर्वस्य कर्ता च दाता भोक्ता जगत्पतिः ॥२३॥

'आपमें सदा ही सब कुछ देनेकी शक्ति विद्यमान है; क्योंकि आप ही सबके दाता, कर्ता, भोक्ता और जगदीश्वर हैं ॥ २३ ॥

विशेषतस्तु भृत्यानां शुश्रूषानियतात्मनाम्।
वक्तव्यं किमु देवेश यदि भक्तास्मि केशव ॥२४॥
अनुग्रहो यदि स्यान्मे देवदेव जगत्पते।
दातुमर्हसि पुत्रं त्वं वीर्यवन्तं जनार्दन ॥२५॥

'देवेश्वर! केशव! विशेषतः जो आपके भृत्य हैं, सदा नियमपूर्वक आपकी सेवामें मन लगाये रहते हैं, उन्हे आप अभीष्ट वस्तु प्रदान करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है। देवदेव! जगत्पते! जनार्दन! यदि मैं आपकी भक्त हूँ और यदि आपका मुझपर अनुग्रह है तो आप मुझे पराक्रमी पुत्र प्रदान करें' ॥ २४-२५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो देवदेवेशः प्रियया प्रीयमाणया।
तया महिष्या रुक्मिण्या रुक्मिशत्रुर्यदूद्वहः ॥२६॥
प्रोवाच वचनं काले रुक्मिणीं यादवेश्वरः।
दातास्मि तादृशं पुत्रं यं त्वमिच्छसि भामिनि ॥२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपनी प्रसन्न हुई प्यारी रानी रुक्मिणीदेवीके ऐसा कहनेपर रुक्मीके शत्रु, यदुकुलतिलक, देवदेवेश्वर, यादवपति श्रीकृष्णने रुक्मिणीसे यह समयोचित बात कही—'भामिनि! तुम जैसा चाहती हो, वैसा ही पुत्र मैं तुम्हे प्रदान करूँगा ॥ २६-२७ ॥

नित्यं भक्तासि मे देवि नात्र कार्या विचारणा।
अवश्यं तव दास्यामि पुत्रं शत्रुनिबर्हणम् ॥२८॥

'देवि! तुम सदा ही मेरी भक्त हो, इसमें कुछ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। मैं अवश्य ही तुम्हें शत्रुनाशक पुत्र प्रदान करूँगा ॥ २८ ॥

पुत्रेण लोकाञ्जयति सतां कामदुघा हि ये।
नरकं पुदिति ख्यातं दुःखं च नरकं विदुः ॥२९॥

'गृहस्थ पुरुष पुत्रद्वारा उन लोकोंपर विजय पाता है, जो पुरुषोंको उनकी इच्छाके अनुसार फल देनेवाले होते हैं। नरक 'पुत्' नामसे विख्यात है, दुःखको भी नरक ही माना गया है ॥ २९ ॥

पुदस्त्राणात् ततः पुत्रमिहेच्छति परत्र च।
अनन्ताः पुत्रिणो लोकाः पुरुषस्य प्रिये शुभाः ॥३०॥

'उस पुत्-नामक नरक या दुःखसे वह पिता-माताका परित्राण करता है, इसलिये सारा जगत् इहलोक और परलोकके लिये पुत्रकी अभिलाषा रखता है। प्रिये! पुत्रवान् पुरुषके लिये अनन्त शुभ लोक विद्यमान हैं ॥ ३० ॥

पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ॥३१॥

'पति ही गर्भ बनकर पत्नीके भीतर प्रवेश करता है, उस गर्भकी वह माता (जननी) होती है। उसके गर्भमें नूतन शरीर धारण करके वह (पति) पुनः दसवें मासमें जन्म लेता है ॥ ३१ ॥

पुत्रवन्तं बिभेतीन्द्रः किं नु तेनाशितं भवेत्।
नापुत्रो विन्दते लोकान् कुपुत्राद् वन्ध्यता वरा ॥३२॥

'पुत्रवान्को देखकर इन्द्र भी डरते हैं। वे सोचते हैं, पता नहीं, यह मेरे किस वैभवका उपभोग करेगा? पुत्रहीन मनुष्य पुण्यलोकोंको नहीं पाता है; परंतु कुपुत्र पैदा करनेकी अपेक्षा तो बाँझ रह जाना ही अच्छा है ॥ ३२ ॥

कुपुत्रो नरके यस्मात् सुपुत्रात् स्वर्ग एव हि।
तस्माद् विनीतं सत्पुत्रं श्रुतवन्तं दयापरम् ॥३३॥

'कुपुत्र नरकमें गिराता है और सुपुत्रसे स्वर्ग भी सुलभ होता है। अतः विनयशील, विद्वान् और दयालु सत्पुत्रकी इच्छा करनी चाहिये ॥ ३३ ॥

विद्यया विनयो यस्माद् विद्यायुक्तं सुधार्मिकम्।
इच्छेत् पुत्रं पुत्रकामः पुरुषो यत्नवान् बुधः ॥३४॥

'विद्यासे विनयकी प्राप्ति होती है, अतः पुत्रकी कामनावाला प्रयत्नशील विद्वान् पुरुष विद्यायुक्त परम धार्मिक पुत्र पानेकी इच्छा करे ॥ ३४ ॥

तस्माद् दास्यामि ते पुत्रं विद्यावन्तं सुधार्मिकम्।
एष गच्छामि पुत्रार्थं कैलासं पर्वतोत्तमम् ॥३५॥

'अतः मैं तुम्हे विद्वान् एवं परम धर्मात्मा पुत्र प्रदान

करूँगा। पुत्रकी प्राप्तिके लिये मैं अभी उत्तम पर्वत कैलासको जा रहा हूँ ॥ ३५ ॥

तत्रोपास्य महादेवं शंकरं नीललोहितम्।
ततो लब्धास्मि पुत्रं ते भवाद् भूतहिते रतात्॥३६॥

'वहाँ नीललोहित वर्णवाले महान् देवता भगवान् शङ्करकी उपासना करके प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले भगवान् शिवसे तुम्हारे लिये पुत्र प्राप्त करूँगा ॥ ३६ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण भवं शंकरमव्ययम्।
तोषयित्वा विरूपाक्षमादिदेवमजं विभुम्॥३७॥

'तपस्या और ब्रह्मचर्य-पालनके द्वारा सबके उत्पादक अविनाशी अजन्मा सर्वव्यापी आदिदेव विरूपाक्ष भगवान् शंकरको संतुष्ट करके मैं उनसे पुत्र होनेका वर प्राप्त करूँगा ॥ ३७ ॥

गमिष्याम्यहमद्यैव द्रष्टुं शंकरमव्ययम्।
स च मे दास्यते पुत्रं तोषितस्तपसा मया॥३८॥

'मैं आज ही अविनाशी भगवान् शङ्करका दर्शन करनेके लिये जाऊँगा। मेरेद्वारा किये गये तपसे संतुष्ट होकर वे मुझे पुत्र देंगे ॥ ३८ ॥

तत्र गत्वा महादेवं नमस्कृत्य सहोमया।
प्रविश्य बदरीं पुण्यां मुनिजुष्टां तपोमयीम्॥३९॥
अग्निहोत्राकुलां दिव्यां गङ्गाम्बुप्लावितां सदा।
मृगपक्षिसमायुक्तां सिंहद्वीपिशताकुलाम्॥४०॥

'वहाँ जाकर उमासहित महादेवजीको नमस्कार करके उन्हें संतुष्ट करूँगा। वहाँ पहुँचनेसे पहले मैं मुनियोंद्वारा सेवित तपोमयी पुण्यभूमि बदरीमें प्रवेश करूँगा, जो अग्निहोत्रके धूमसे व्याप्त है। वह दिव्य भूमि सदा गङ्गाजीके जलसे प्लावित रहती है। वहाँ पशु और पक्षियोंके समुदाय सब ओर विचरते हैं और सैकड़ों सिंह तथा व्याघ्र भरे रहते हैं ॥ ३९-४० ॥

बदरीफलसम्पूर्णां वानरक्षोभितद्रुमाम्।
वेत्रारूढमहावृक्षां कदलीखण्डमण्डिताम्॥४१॥

'वह स्थान बेरके फलोंसे परिपूर्ण है। वानर वहाँके वृक्षोंको कम्पित करते रहते हैं। वहाँके विशाल वृक्षोंपर बेंतकी लताएँ फैली होती हैं। जहाँ-तहाँ केलोंके बगीचे उस स्थानकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ४१ ॥

मुनिभिर्वेदतत्त्वार्थविचारनिपुणैः सदा।
वेदनिश्चिततत्त्वार्थैः प्रमाणकुशलैर्युताम्॥४२॥

'वेदके तात्त्विक अर्थोंका विचार करनेमें निपुण, वेदके सुनिश्चित सिद्धान्तके ज्ञाता और प्रमाणकुशल मुनि सदा वहाँ निवास करते हैं ॥ ४२ ॥

इदमेकमिदं तत्त्वमिति निश्चितमानसैः।
उपास्यमानामन्यत्र सिद्धैः सिद्धार्थतत्परैः॥४३॥

'यह एकमात्र अद्वितीय तत्त्व है, यही परमार्थ है, इस प्रकार मनसे निश्चय करनेवाले सिद्धार्थपरायण सिद्धजन जहाँ-तहाँ उस भूमिकी उपासना करते हैं ॥ ४३ ॥

इतिहासपुराणज्ञैः सेव्यमानां महर्षिभिः।
गच्छद्भिः स्वर्गनिलयं परित्यज्य कलेवरम्॥४४॥

'इतिहास-पुराणके ज्ञाता महर्षि, जो शरीर छोड़नेके बाद स्वर्गलोकको जानेवाले हैं, उस भूमिका सेवन करते हैं ॥ ४४ ॥

प्रसिद्धां महतीं देवीं यास्यामि सुकृतालयाम्।
इत्युक्त्वा विरराभैव देवदेवो जनार्दनः॥४५॥

'इस प्रकार उस प्रसिद्ध पुण्यस्थली दिव्य एवं विशाल बदरीपुरीको जाऊँगा'—ऐसा कहकर देवाधिदेव भगवान् जनार्दन चुप हो गये ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें कैलास-यात्राविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ। ७३।

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका यादवसभामें अपनी कैलासयात्राका विचार प्रकट करते हुए नगरकी रक्षाके लिये यादवोंको सावधान रहनेका आदेश देना

वैशम्पायन उवाच

प्रभातायां तु शर्वर्यां गन्तुमैच्छज्जनार्दनः।
हुताग्निः कृतकल्याणः समाप्तवरदक्षिणः॥ १॥
गाश्च दत्त्वाथ विप्रेभ्यो नमस्कृत्य द्विजोत्तमान्।
आस्थानमण्डपं कृष्णः प्रविवेश जगत्पतिः॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब भगवान् श्रीकृष्णने अग्निहोत्र करके मङ्गलाचारके पश्चात् ब्राह्मणोंको उत्तम दक्षिणाएँ देकर उन्हें बहुत-सी गौएँ दीं और उन श्रेष्ठ द्विजोंको नमस्कार करके जगत्पति श्रीकृष्णने आस्थानमण्डप (सभाभवन) में प्रवेश किया ॥ १-२ ॥

आसनं महदास्थाय वृष्णीनाहूय सर्वशः।
बलभद्रं शिनेः पौत्रं हार्दिक्यं शुकसारणौ॥ ३॥

उग्रसेनं महाबुद्धिमुद्धवं नीतिमत्तरम् ।
यस्य बुद्धिं समाश्रित्य जीवन्ते यादवाः सुखम् ॥ ४ ॥

वहाँ महान् सिंहासनपर बैठकर उन्होंने समस्त वृष्णिवंशी वीरोंको बुलाया। बलभद्र, सात्यकि, कृतवर्मा, शुक, सारण, राजा उग्रसेन तथा उन महाबुद्धिमान् एवं नीतिशास्त्रके महान् पण्डित उद्धवको भी बुलाया, जिनकी बुद्धिका आश्रय लेकर समस्त यादव सुखसे रहते थे ॥ ३-४ ॥

नेता च यदुवृष्णीनां स तु धर्मपरः सदा ।
यस्य बिभ्यति देवाश्च नीतेस्तस्य महात्मनः ॥ ५ ॥

वे सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले और वृष्णिवंशी यादवोंके नेता थे। उन महात्माकी नीतिसे देवता भी सदा भयभीत रहते थे ॥ ५ ॥

यस्य बुद्धिबलाद् विष्णुः शशास पृथिवीं सदा ।
तं च वृष्णिवरं वीरमुद्धवं देवसुप्रभम् ॥ ६ ॥
अन्यानपि यदून् सर्वानुवाच भगवान् हरिः ।

जिनके बुद्धिबलसे भगवान् श्रीकृष्ण सदा पृथिवीका शासन करते थे तथा जो देवताओंके समान परम कान्तिमान् एवं वृष्णिवंशके प्रमुख वीर थे, उन उद्धवको तथा अन्य यादवोंको भी बुलाकर भगवान् श्रीहरिने उन सबसे कहा—॥ ६½ ॥

शृण्वन्तु मम वाक्यानि यादवाः सर्व एव हि ।
शृणु चापि वचो मह्यं पितुरुद्धव मे सखे ॥ ७ ॥

'समस्त यादव मेरी बातें सुनें! मेरे पिताके मित्र उद्धवजी! आप भी मेरा वचन सुनिये ॥ ७ ॥

बाल्यात्प्रभृति यो यत्नो मम दुष्टनिबर्हणे ।
प्रत्यक्षं भवता दृष्टं पूतनानिधनं नृप ॥ ८ ॥
केशी च निहतो बाल्ये मया बालेन यादवाः ।
गोवर्धनो धृतः शैलो गावश्च परिपालिताः ॥ ९ ॥

'नरेश्वर उग्रसेन! बाल्यकालसे लेकर अबतक दुष्टोंका संहार करनेके लिये मेरेद्वारा जो प्रयत्न हुआ है, उसे आपने प्रत्यक्ष देखा है। यादवो! बाल्यावस्थामें बालकरूपसे मैंने पूतनाको मारा, केशीका संहार किया, गोवर्धन पर्वत उठाया और गौओंकी रक्षा की ॥ ८-९ ॥

अभिषिक्तोऽसि शक्रेण देवानामग्रतः स्थितः ।
कंसोऽपि निधनं नीतो मया चाणूरमुष्टिकौ ॥ १० ॥

'मुझे देवताओंके आगे खड़ा करके देवराज इन्द्रने मेरा अभिषेक किया। मेरे हाथसे कंस मारा गया और चाणूर तथा मुष्टिकका भी संहार हुआ ॥ १० ॥

उग्रसेनोऽभिषिक्तश्च कृता द्वारवती मया ।
अन्ये चापि नृपा राजन् बलिनो निहता मया ॥ ११ ॥

'महाराज उग्रसेनका अभिषेक हुआ और मैंने द्वारकापुरीका नवनिर्माण किया। राजन्! अन्य बलवान् नरेश भी मेरेद्वारा मारे गये ॥ ११ ॥

योऽपि वीरो जरासंधो निगृहीतो बलान्मया ।
भीमेन बलिना राजन्नयने मम यादवाः ॥ १२ ॥

'यादवो! और राजन्! जो वीर राजा जरासंध था, उसका भी मैंने बलवान् भीमसेनके द्वारा बलपूर्वक दमन किया। मेरी नीतिके अनुसार ही जरासंधका संहार हुआ ॥ १२ ॥

शृगालो निहतः संख्ये गोमन्ताद् गच्छता मया ।
योऽपि वीरो दुरात्मासौ दानवो नरको हतः ॥ १३ ॥

'गोमन्त पर्वतसे जाते समय मैंने युद्धमें राजा शृगालका वध किया और वह जो वीर दुरात्मा दानव नरकासुर था, वह भी मेरे हाथसे मारा गया ॥ १३ ॥

निष्कण्टकमिमं लोकं कृतवान् राजसत्तमाः ।
किं तु वीरो नृपो जज्ञे सखा भौमस्य यादवाः ॥ १४ ॥
पौण्ड्रो वीर्यवतां नेता द्वेष्टा चासौ सदा मम ।

'क्षत्रियशिरोमणि यादवो! इस प्रकार मैंने इस लोकको निष्कण्टक (शत्रुहीन) बना दिया है। परंतु जो नरकासुरका सखा है, वह वीर राजा पौण्ड्रक अबतक शेष है। वह बलवानोंका नेता और मुझसे सदा द्वेष रखनेवाला है ॥ १४½ ॥

शिष्यो द्रोणस्य राजेन्द्रो बली ब्रह्मास्त्रवित् कृती ॥ १५ ॥
शास्त्रज्ञो नीतिमान् साक्षान्नेता सर्वस्य यत्नवान् ।
योद्धा युद्धप्रियो राजा जामदग्न्य इवापरः ॥ १६ ॥

'राजेन्द्र पौण्ड्रक द्रोणाचार्यका शिष्य, बलवान्, ब्रह्मास्त्रवेत्ता, रणकर्मकुशल, शास्त्रज्ञ, नीतिमान्, सबका साक्षात् नेता, यत्नशील, योद्धा और दूसरे परशुरामकी भाँति युद्धप्रेमी राजा है ॥ १५-१६ ॥

एकान्तशत्रुरस्माकं छिद्रान्वेषी सदा मम ।
बाधिष्यते पुरीं योद्धाच्छिद्रं यदि लभेत सः ॥ १७ ॥

'वह मेरा एकान्त शत्रु है और सदा मेरे छिद्र ढूँढ़ता रहता है। यदि वह थोड़ा-सा भी छिद्र पा जाय तो युद्धके लिये उद्यत होकर द्वारकापुरीको सताने लग जाय ॥ १७ ॥

न ह्यल्पसाध्यो बलवान् पुण्ड्रस्येशो नृपोत्तमाः ।
यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु प्रगृहीतशरासनाः ॥ १८ ॥
यथा न बाधते राजा पुरीं यदुकुलाश्रयाम् ।

'श्रेष्ठ नरेशो! पुण्ड्र देशका बलवान् राजा पौण्ड्रक थोड़े-से साधनोंद्वारा वशमें आनेवाला नहीं है। अतः आपलोग सदा धनुष लेकर युद्धके लिये तैयार खड़े रहें, जिससे यदुकुलकी निवासभूमि द्वारकापुरीको वह राजा पौण्ड्रक बाधा न दे सके ॥ १८½ ॥

अहं तु यास्ये कैलासं कुतश्चित् कारणान्नृपाः ॥ १९ ॥

शङ्करं द्रष्टुकामोऽस्मि भूतभावनभावनम् ।
यावदागमनं मह्यं तावद् यत्ता भवन्त्विह ॥२०॥

'नरेशो ! मैं किसी कारणवश कैलास पर्वतको जाऊँगा । वहाँ जाकर समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और पालन करनेवाले भगवान् शंकरका दर्शन करना चाहता हूँ । जबतक मैं लौट न आऊँ तबतक आपलोग यहाँ नगरकी रक्षाके लिये सतत सावधान रहें ॥ १९-२० ॥

मया विरहितां चेमां यदि जानाति पुण्ड्रकः ।
आगमिष्यति राजेन्द्रो योत्स्यते च पुरीमिमाम् ॥२१॥

'यदि राजेन्द्र पौण्ड्रक यह जान लेगा कि मैं द्वारकापुरीमें नहीं हूँ तो वह अवश्य आक्रमण करेगा और इस नगरीके साथ युद्ध छेड़ देगा ॥ २१ ॥

इमां निर्यादवीं कर्तुं शक्नोतीति च मे मतिः ।
यत्ता भवत राजेन्द्राः खड्गैः पाशैः परश्वधैः ॥२२॥

'राजेन्द्रगण ! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि पौण्ड्रक इस पुरीको यादवोंसे सूनी कर सकता है; अतः आपलोग खड्ग, पाश और फरसे लेकर युद्धके लिये सदा तैयार रहें ॥ २२ ॥

पाषाणैः कर्षणीयैश्च सन्नद्धा भवत स्वकैः ।
पिधाय च कपाटानि महाद्वाराणि यत्नतः ॥२३॥

'पाषाणों तथा आकर्षण करनेवाले अपने यन्त्रोंके द्वारा आपलोग सदा सन्नद्ध रहें । बड़े-बड़े फाटकोंकी किवाड़ें बंद करके यत्नपूर्वक पुरीकी रक्षा करें ॥ २३ ॥

एक एव महाद्वारो गमनागमने सदा ।
मुद्रया सह गच्छन्तु राज्ञो ये गन्तुमीप्सवः ॥२४॥

'नगरसे बाहर आने-जानेके लिये एक ही सदा बड़ा फाटक काममें लाया जाय । जो बाहर जाना चाहते हों, वे राजाकी मुद्रा (पास) लेकर उसके साथ जा सकते हैं ॥२४॥

न चामुद्रः प्रवेष्टव्यो द्वारपालस्य पश्यतः ।
यावदागमनं मह्यं तावदेवं भविष्यति ॥२५॥

'जिसके पास राजाकी मुद्रा न हो, वह द्वारपालके देखते-देखते नगरमें प्रवेश न करने पावे । जबतक मैं लौटकर न आऊँ, तबतक ऐसी ही व्यवस्था रहेगी ॥ २५ ॥

मृगया नात्र कर्तव्या न च क्रीडा बहिः पुरात् ।
ज्ञातव्याश्च परे स्वे च गमनागमने सदा ॥२६॥

'इस बीचमें शिकार खेलना बंद कर दिया जाय, नगरसे बाहर जाकर क्रीड़ा न की जाय । गमनागमनके समय सदा अपने और परायेकी पहिचान की जाय ॥ २६ ॥

एवमादिक्रिया कार्या यावदागमनं मम ।
इत्युक्त्वा यादवान् सर्वान् सात्यकिं पुनराह च ॥२७॥

'जबतक मेरा आना न हो तबतक इसी तरहकी व्यवस्था करनी चाहिये ।' समस्त यादवोंसे ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्णने पुनः सात्यकिसे इस प्रकार कहा ॥२७॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रीकृष्णकी कैलास-यात्रा-विषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी सात्यकि और उद्धवसे नगरकी रक्षाके विषयमें बातचीत तथा बलराम आदि यादवोंको भी रक्षाका भार सौंपकर उनका कैलासयात्राके लिये उद्यत होना

श्रीभगवानुवाच

सात्यके शृणु मद्वाक्यं यत्तो भव युधां वर ।
त्वं तु खड्गी गदी भूत्वा चापपाणिस्तनुत्रवान् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—योद्धाओंमे श्रेष्ठ सात्यके ! मेरी बात सुनो । तुम स्वयं कवच पहनकर तलवार, गदा और धनुष हाथमें लिये नगरकी रक्षाके लिये प्रयत्नशील रहो ॥ १ ॥

तिष्ठ यत्नेन रक्षस्व पुरीं बहुनृपाश्रयाम् ।
न च निद्रा त्वया कार्या रात्रौ यदुनृप प्रभो ॥ २ ॥

यदुकुलतिलक प्रभावशाली वीर ! द्वारकापुरी बहुसंख्यक क्षत्रियोंकी निवासभूमि है । तुम यत्नपूर्वक खड़े रहो और इसकी रक्षा करो । तुम्हें रातभर नींद नहीं लेनी चाहिये ॥ २ ॥

न च व्याख्या त्वया कार्या शास्त्राणां शास्त्रतत्पर ।
न च वादस्त्वया कार्यो वादिभिः सह वृष्णिप ॥ ३ ॥

शास्त्रपरायण सात्यके ! आजसे तुम्हें शास्त्रोंकी व्याख्यामें भी नहीं लगना चाहिये । वृष्णिवंशका पालन करनेवाले वीर ! अब तुम्हें वादियोंके साथ वाद भी नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

त्वं हि योद्धा बली ज्ञाता धनुर्वेदाख्यवेदवित् ।
तथा कुरु यथा वीर नोपहास्या भवेदियम् ॥ ४ ॥

वीर ! तुम योद्धा, बलवान्, ज्ञानवान् और धनुर्वेद-

नामक उपवेदके विद्वान् हो । अतः ऐसा प्रयत्न करो, जिससे यह पुरी उपहासका पात्र न बने ॥ ४ ॥

सात्यकिरुवाच

करिष्यामि वचस्तुभ्यं यथाशक्ति जनार्दन ।
आज्ञा तव जगन्नाथ धार्या यत्नेन मे सदा ॥ ५ ॥

जनार्दन ! मैं यथाशक्ति आपके इन वचनोंका पालन करूँगा । जगन्नाथ ! मुझे सदा यत्नपूर्वक आपकी आज्ञाको शिरोधार्य करना चाहिये ॥ ५ ॥

भृत्यवत् प्रचरिष्यामि कामपालस्य माधव ।
यावदागमनं तुभ्यं तावत्स्थास्यामि यत्नतः ॥ ६ ॥

माधव ! मैं भृत्यकी भाँति बलरामजीकी आज्ञाका अनुसरण करूँगा । जबतक आपका आना होगा, तबतक मैं यत्नपूर्वक पुरीकी रक्षामें लगा रहूँगा ॥ ६ ॥

प्रसादस्तव गोविन्द यदि स्यान्मयि माधव ।
किं नाम मे च दुःसाध्यं शत्रूणां निग्रहे रणे ॥ ७ ॥

गोविन्द ! माधव ! यदि आपकी कृपा मुझपर बनी रहे तो रणभूमिमें शत्रुओंका दमन करनेके लिये कौन-सा ऐसा कार्य है, जो मेरे लिये दुःसाध्य हो ॥ ७ ॥

यदि शक्रं यमं वापि कुबेरमपि पाशिनम् ।
सर्वानेतान् विजेष्यामि किमु पौण्ड्रं नृपोत्तमम् ॥ ८ ॥
गच्छ कार्यं कुरुष्वेदं यत्तोऽहं सततं हरे ।

यदि इन्द्र, यम, कुबेर अथवा पाशधारी वरुण भी युद्धके लिये आ जायँ तो आपकी कृपासे इन सबपर विजय पा जाऊँगा; फिर नृपश्रेष्ठ पौण्ड्रकको पराजित करना कौन बड़ी बात है । हरे ! जाइये, अपना यह कार्य कीजिये। मैं सतत सावधान रहूँगा ॥ ८½ ॥

उद्धवं पुनराहेदं कृष्णः पद्मनिभेक्षणः ॥ ९ ॥
शृणूद्धव त्वं वाक्यं मे कुर्यास्त्वेतत् प्रयत्नवान् ।

तत्पश्चात् कमलनयन श्रीकृष्णने पुनः उद्धवसे इस प्रकार कहा—'उद्धवजी ! मेरी यह बात सुनिये और इसका प्रयत्नपूर्वक पालन कीजिये ॥ ९½ ॥

रक्ष्या नयेन राजेन्द्र पुरी द्वारवती त्वया ॥ १० ॥
यत्तो भव सदा तात कुरु साहाय्यमत्र नः ।
लज्जा मम समुत्पन्ना वदतस्तव साम्प्रतम् ॥ ११ ॥

'राजेन्द्र ! आपको अपनी नीतिसे द्वारकापुरीकी रक्षा करनी चाहिये । तात ! आप सदा सावधान रहें और इस विषयमें हमलोगोंकी सहायता करें । इस समय यहाँ सब बातें कहनेमें मुझे बड़ा संकोच होता है ॥ १०-११ ॥

त्वं हि नेता समस्तस्य विद्यापारस्य सर्वतः ।
को नु शक्ष्यति मेधावी वक्तुं विद्यावतः पुरः ॥ १२ ॥

'जो सब प्रकारसे विद्याओंमें पारंगत हैं, उन सबके आप ही नेता हैं । कौन मेधावी पुरुष आप-जैसे विद्वान्‌के समक्ष कोई बात कह सकेगा ॥ १२ ॥

यत् कार्यं तद् भवान् वेत्ति ह्यकार्यं वापि सर्वतः ।
अतोऽहं विरमे तात वक्तुं सम्प्रति वृष्णिप ॥ १३ ॥

'जो करनेयोग्य कार्य है, उसे आप जानते हैं । जो सर्वथा नहीं करनेयोग्य है, वह भी आपसे अज्ञात नहीं है; अतः वृष्णिवंशका पालन करनेवाले तात ! मैं इस समय कुछ कहनेसे विराम लेता हूँ' ॥ १३ ॥

उद्धव उवाच

किमिदं तव गोविन्द वर्तते मां प्रति प्रभो ।
अहो प्रसन्नता मह्यं किंतु प्रीतिरियं तव ॥ १४ ॥

उद्धव बोले—गोविन्द ! प्रभो ! मेरे प्रति आपके मुँहसे यह कैसी बात निकल रही है ? अहो ! यह मेरे लिये प्रसन्नताकी बात है; किंतु यह आपका प्रेम ही इस रूपमें प्रकट हुआ है ॥ १४ ॥

जानाम्यहं जगन्नाथ प्रसादस्यैष विस्तरः ।
यस्य प्रसन्नो भवति तस्य किं नास्ति केशव ॥ १५ ॥

जगन्नाथ ! मैं समझता हूँ कि यह मुझपर आपकी कृपाका विस्तार ही व्यक्त हुआ है । केशव ! जिसपर आप प्रसन्न होते हैं, उसमें कौन-सी विशेषता नहीं है ॥ १५ ॥

त्वं हि सर्वस्य जगतः कर्ता हर्ता प्रधानतः ।
प्रभवः सर्वकार्याणां वक्ता श्रोता प्रमाणवित् ॥ १६ ॥

आप ही समस्त जगत्‌के प्रधानतः स्रष्टा और संहारक हैं । आप ही समस्त कार्योंके कारण, वक्ता, श्रोता और प्रमाणवेत्ता हैं ॥ १६ ॥

ध्याता ध्यानमयो ध्येय इति ब्रह्मविदो विदुः ।
जेता देवरिपूणां च गोप्ता नाकसदां भवान् ॥ १७ ॥

ब्रह्मज्ञानी मुनि आपको ही ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपमें जानते हैं । आप देवद्रोहियोंको जीतनेवाले और स्वर्गवासियोंके रक्षक हैं ॥ १७ ॥

त्वन्नाथा वयमेवेति जीवामो निहतद्विषः ।
इयं नीतिरहं मन्ये नेता नीतेर्यतो भवान् ॥ १८ ॥

हमारे तो आप ही स्वामी और संरक्षक हैं; इसीलिये हम जी रहे हैं और हमारे शत्रु मारे गये हैं । यही मेरी नीति है और इसीको मैं मानता हूँ, क्योंकि आप ही नीतिके नेता हैं॥

को नु नाम नयो वेद त्वां विना साम्प्रतं वद ।
नीतिस्त्वं सर्वकार्याणामिति मे निश्चिता मतिः ॥ १९ ॥

वेदस्वरूप परमात्मन् ! कहिये, इस समय आपके सिवा दूसरा कौन नीतिमार्गका दर्शन करानेवाला है । मेरा तो यह निश्चित विचार है कि आप ही समस्त कार्योंकी नीति हैं ॥

दुर्गाढो नयमार्गोऽयमित्याहुस्तद्विदो जनाः।
चतुर्धा प्रोच्यते नीतिः सामदाने जनार्दन ॥२०॥
दण्डो भेदो मनुष्याणां निग्राहावग्रहे सदा।
दण्ड्येषु दण्डमिच्छन्ति समान्यं तु नये हरे ॥२१॥

इस नीतिमार्गमें प्रवेश करना बहुत ही कठिन है, ऐसा नीतिज्ञ पुरुष कहते हैं। जनार्दन! चार प्रकारकी नीति बतलायी जाती है—साम, दान, दण्ड और भेद। मनुष्योंके निग्रह (दूसरेके द्वारा अपना अवरोध) और अवग्रह (अपने द्वारा दूसरोंका अवरोध) होनेपर सदा इन्हीं चार नीतियोंका प्रयोग होता है। हरे! जो दण्डनीय (दुर्बल) हों, उन शत्रुओंके प्रति नीतिज्ञ पुरुष दण्ड-नीतिके ही प्रयोगकी इच्छा करते हैं और नीतिकी समता होनेपर अर्थात् शत्रुके अपने समान बलशाली होनेपर उसके प्रति साम नीतिका ही प्रयोग अभीष्ट माना जाता है ॥ २०-२१ ॥

बलवत्स्वथ दानं तु त्रयाणामप्यगोचरे।
प्रयोक्तव्यो महाभेद इति नीतिमतां मतम् ॥२२॥

शत्रु बलवान् हों तो उनके प्रति दान-नीतिका प्रयोग उचित होता है (अर्थात् उन्हें कुछ भेंट देकर शान्त कर देना आवश्यक समझा जाता है)। जहाँ साम, दान और दण्ड—इन तीनों नीतियोंकी पहुँच न हो सके, वहाँ महान् 'भेद' का प्रयोग करना चाहिये, यह नीतिज्ञ पुरुषोंका मत है ॥ २२ ॥

तेषु तेष्वथ सर्वेषु प्रमाणं त्वां विदुर्बुधाः।
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वं त्वयि समर्पितम् ॥२३॥

उन-उन सभी नीतियोंमें विद्वान् पुरुष आपको ही प्रमाण मानते हैं (आपने जिस अवसरपर जैसी नीतिका प्रयोग किया है, वहाँ वही उचित था, ऐसा लोगोंका मत है)। यहाँ बहुत कहनेसे क्या लाभ? सारा ज्ञान आपमें ही समर्पित है ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा विररामैव उद्धवो नीतिमत्तरः।
ततः स भगवान् विष्णुरेवमेव नृपोत्तम ॥२४॥
कामपालं महाबाहुमुवाच यदुसंसदि।
उग्रसेनं नृपं राजंस्तथा हार्दिक्यमेव च ॥२५॥
कामपालं पुनर्विष्णुरिदं प्रोवाच तत्त्ववित्।
न प्रमादस्त्वया कार्यः सर्वदा यत्नवान् भव ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! ऐसा कहकर अतिशय नीतिमान् उद्धवजी चुप हो गये। राजन्! तदनन्तर वे तत्त्ववेत्ता भगवान् श्रीकृष्णने इसी तरह यादव सभामें महाबाहु बलराम, महाराज उग्रसेन तथा कृतवर्मासे पूर्वोक्त बात कही। इसके बाद वे पुनः बलरामजीसे बोले—'भैया! आपको प्रमाद नहीं करना चाहिये। आप सदा नगरकी रक्षाके लिये यत्नशील बने रहिये ॥ २४–२६ ॥

स्थिते त्वयि महाबाहो का पीडा जगतो भवेत्।
गदी भव सदा त्वार्य न क्रीडा सर्वदा भवेत् ॥२७॥

'महाबाहो! आप रक्षाके लिये खड़े हो जायँ तो जगत्को क्या पीड़ा हो सकती है? आर्य! अब गदा उठाइये, सदा क्रीडा और मनोरञ्जनका ही अवसर नहीं होता है ॥

रक्ष त्वं सर्वदा यत्नात् पुरीं द्वारवतीं प्रभो।
नोपहास्या यथा स्याम तथा कुरु गदी भव ॥२८॥

'प्रभो! आप सदा यत्नपूर्वक द्वारकापुरीकी रक्षा करें। हमें उपहासका पात्र न बनना पड़े, ऐसा प्रयत्न कीजिये और गदा लिये सदा रक्षाके लिये उद्यत रहिये ॥ २८ ॥

उत्साहः सर्वदा कार्यो निरुत्साहो न यत्नतः।
बाढमित्यब्रवीद् रामः कृष्णं वृष्णिकुलोद्भवम् ॥२९॥

'आपको सदा उत्साह बनाये रखना चाहिये। कभी उत्साहका अभाव न हो, इसके लिये यत्नशील रहना चाहिये।' तब बलरामजीने वृष्णिवंशावतंस श्रीकृष्णसे कहा—'बहुत अच्छा' ॥ २९ ॥

वृष्णयः सर्व एवैते स्वं स्वं सद्म समाययुः।
गन्तुमैच्छज्जगन्नाथः कैलासं पर्वतोत्तमम् ॥३०॥

उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके सभी वृष्णिवंशी अपने-अपने घरको लौट गये। तब जगन्नाथ श्रीकृष्णने पर्वतप्रवर कैलासको जानेका विचार किया ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रीकृष्णकी कैलास-यात्राविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

गरुडपर आरूढ़ होकर श्रीकृष्णका बदरिकाश्रममें जाना, मार्गमें देवताओं-मुनियोंद्वारा उनकी स्तुति

वैशम्पायन उवाच

ततः संचिन्तयामास गरुडं पक्षिपुङ्गवम्।
आगच्छ त्वरितं तार्क्ष्य इति विष्णुर्जगत्पतिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर जगदीश्वर श्रीकृष्णने मन-ही-मन पक्षिराज गरुड़का चिन्तन करते हुए कहा—'तार्क्ष्य! शीघ्र आओ' ॥ १ ॥

ततः स भगवांस्तार्क्ष्यो वेदराशिरिति स्मृतः।
बलवान् विक्रमी योगी शास्त्रनेता कुरूद्वह ॥ २ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तब भगवान् गरुड़ वहाँ आ पहुँचे, जिन्हें वेदकी राशि माना गया है; वे बलवान्, पराक्रमी, योगी तथा यात्रों (शत्रुओं) के नेता हैं ॥ २ ॥

यज्ञमूर्तिः पुराणात्मा सामसूर्द्धा च पावनः ।
ऋग्वेदपक्षवान् पक्षी पिङ्गलो जटिलाकृतिः ॥ ३ ॥

यज्ञ उनका स्वरूप है, वे पुराणात्मा और पावन हैं, सामवेद उनका मस्तक है, ऋग्वेद उनकी पाँखें हैं, पक्षधारी गरुड पिङ्गलवर्णके हैं, उनकी आकृति जटिल दिखायी देती है॥

ताम्रतुण्डः सोमहरः शक्रजेता महाशिराः ।
पन्नगारिः पद्मनेत्रः साक्षाद् विष्णुरिवापरः ॥ ४ ॥

उनकी चोंच ताँबेके समान लाल है । वे अमृतका हरण करनेवाले हैं । उन्होंने युद्धमें इन्द्रको जीत लिया था । उनका मस्तक विशाल है । वे सर्पोंके शत्रु हैं और साक्षात् दूसरे विष्णुकी भाँति कमलसदृश नेत्रोंसे सुशोभित होते हैं ॥ ४ ॥

वाहनं देवदेवस्य दानवीगर्भकृन्तनः ।
राक्षसासुरसंघानां जेता पक्षबलेन यः ॥ ५ ॥

वे देवाधिदेव भगवान् विष्णुके वाहन तथा दानवपत्नियोंके गर्भका उच्छेद करनेवाले हैं । वे अपने पंखोंके बलसे राक्षसों और असुरोंके समूहपर विजय पाते हैं ॥ ५ ॥

प्रादुरासीन्महावीर्यः केशवस्याग्रतस्तदा ।
जानुभ्यामपतद् भूमौ नमो विष्णो जगत्पते ॥ ६ ॥
नमस्ते देवदेवेश हरे स्वामिन्निति ब्रुवन् ।

उस समय महापराक्रमी गरुड भगवान् केशवके सम्मुख प्रकट हुए और घुटनोंके बल पृथ्वीपर पड़कर प्रणाम करते हुए बोले—'जगत्पते ! विष्णो ! आपको नमस्कार है । देवदेवेश्वर ! हरे ! स्वामिन् ! आपके चरणोंमें मेरा प्रणाम है',॥

पस्पर्श पाणिना कृष्णः स्वागतं तार्क्ष्यपुङ्गवम् ॥ ७ ॥
इत्युवाच तदा तार्क्ष्यं यास्ये कैलासपर्वतम् ।
शूलिनं द्रष्टुमिच्छामि शङ्करं शाश्वतं शिवम्॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने गरुड़-जातिके पक्षियोंमें प्रधान गरुड़का अपने हाथसे स्वागतपूर्वक स्पर्श किया और उनसे तत्काल कहा—'मैं कैलासपर्वतको चलूँगा । सनातन देवता कल्याणस्वरूप भगवान् शङ्करका दर्शन करना चाहता हूँ' ॥

बाढमित्यब्रवीत् तार्क्ष्य आरुह्यैनं जनार्दनः ।
तिष्ठध्वमिति होवाच यादवान् पार्श्ववर्तिनः ॥ ९ ॥

तब गरुड़ने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की । गरुड़पर आरूढ़ होकर भगवान् जनार्दनने आस-पास खड़े हुए यादवोंसे कहा—'तुम सब सतत सावधान रहना' ॥ ९ ॥

ततो ययौ जगन्नाथो दिशं प्रागुत्तरां हरिः ।
रवेण महता तार्क्ष्यस्त्रैलोक्यं समकम्पयत् ॥ १० ॥

तदनन्तर जगदीश्वर श्रीहरि पूर्वोत्तर दिशाकी ओर चले। गरुड़ने अपने महानादसे तीनों लोकोंको कम्पित कर दिया ॥

सागरं क्षोभयामास पद्भ्यां पक्षी व्रजंस्तदा ।
पक्षेण पर्वतान् सर्वान् वहन् देवं जनार्दनम् ॥ ११ ॥

भगवान् श्रीकृष्णका भार वहन करके आगे बढ़ते हुए पक्षी गरुड़ने अपने पैरोंसे समुद्रको क्षुब्ध कर दिया और पंखोंकी हवासे समस्त पर्वतोंको कम्पित कर दिया ॥ ११ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा आकाशेऽधिष्ठितास्तदा ।
तुष्टुवुः पुण्डरीकाक्षं वाग्भिरिष्टाभिरीश्वरम्॥ १२ ॥

उस समय गन्धर्वोंसहित देवता आकाशमें खड़े हो प्रिय वचनोंद्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे थे ॥ १२ ॥

जय देव जगन्नाथ जय विष्णो जगत्पते ।
जयाजेय नमो देव भूतभावनभावन ॥ १३ ॥

(वे कहते थे—) 'जगन्नाथ ! देव ! आपकी जय हो ! जगत्पते ! विष्णो ! आपकी जय हो ! अजेय परमेश्वर ! आपकी जय हो ! देव ! भूतभावनभावन ! आपको नमस्कार है ॥

नमः परमसिंहाय दैत्यदानवनाशन ।
जयाजेय हरे देव योगिध्येय परागत ॥ १४ ॥

'उत्तम नृसिंहरूपधारी आपको नमस्कार है । आप दैत्यों और दानवोंका नाश करनेवाले हैं । अजेय हरे ! आपकी जय हो ! देव ! आप योगियोंके ध्येय और परमगतिस्वरूप हैं ॥ १४ ॥

नारायण नमो देव कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
आदिकर्तः पुराणात्मन् ब्रह्मयोने सनातन ॥ १५ ॥

'नारायण ! कृष्ण ! कृष्ण ! हरे ! हरे ! आदिकर्तः ! पुराणात्मन् ! ब्रह्मयोने ! सनातन देव ! आपको नमस्कार है ॥

नमस्ते सकलेशाय निर्गुणाय गुणात्मने ।
भक्तिप्रियाय भक्ताय नमो दानवनाशन ॥ १६ ॥

'सर्वेश्वर ! आपको नमस्कार है । आप निर्गुण एवं गुणस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है । आप भक्तिप्रिय और भक्तस्वरूप हैं । दानवनाशन ! आपको नमस्कार है ॥ १६ ॥

अचिन्त्यमूर्तये तुभ्यं नमस्ते सकलेश्वर ।
इत्यादिभिस्तदा देवं वाग्भिरीशानमव्ययम् ॥ १७ ॥
तुष्टुवुर्देवगन्धर्वा ऋषयः सिद्धचारणाः ।

'सकलेश्वर ! आपका स्वरूप अचिन्त्य है, आपको नमस्कार है ।' इस प्रकारके वचनोंद्वारा देवताओं, गन्धर्वों, ऋषियों, सिद्धों और चारणोंने अविनाशी ईश्वर श्रीकृष्णका स्तवन किया ॥ १७½ ॥

शृण्वन्नेवं जगन्नाथः स्तुतिवाक्यानि तानि च॥ १८ ॥
ययौ सार्धं सुरगणैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।
यत्र पूर्वं स्वयं विष्णुस्तपस्तेपे सुदारुणम् ॥ १९ ॥
लोकवृद्धिकरः श्रीमाँल्लोकानां हितकाम्यया ।

जगदीश्वर श्रीकृष्ण उन स्तुतिवचनोंको सुनते हुए वेदपारंगत मुनियों और देवताओंके साथ उस स्थानपर गये,

जहाँ पूर्वकालमें लोकवृद्धि करनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णुने लोकहितकी कामनासे अत्यन्त कठोर तप किया था ॥

वर्षायुतं तपस्ततं विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ २० ॥
यत्र विष्णुर्जगन्नाथस्तपस्तप्त्वा सुदारुणम् ।
द्विधाकरोत् स्वमात्मानं नरनारायणाख्यया ॥ २१ ॥

प्रभावशाली भगवान् विष्णुने दस हजार वर्षोंतक वहाँ तपस्या की थी । जगदीश्वर विष्णुने अत्यन्त कठोर तप करके वहाँ अपने-आपको नर और नारायण नामसे विख्यात दो स्वरूपोंमें अभिव्यक्त किया था ॥ २०-२१ ॥

गङ्गा यत्र सरिच्छ्रेष्ठा मध्ये धावति पावनी ।
यत्र शक्रः स्वयं हत्वा वृत्रं वेदार्थतत्त्वगम् ॥ २२ ॥
ब्रह्महत्याविनाशार्थं तपो वर्षायुतं चरत् ।

उस क्षेत्रके मध्यभागमें सरिताओंमें श्रेष्ठ पावनी गङ्गा प्रखर गतिसे प्रवाहित होती रहती हैं । जहाँ इन्द्रने वेदार्थ-तत्त्वके ज्ञाता वृत्रासुरका वध करके लगी हुई ब्रह्महत्याका विनाश करनेके लिये दस हजार वर्षोंतक तप किया था ॥

यत्र सिद्धाश्च सिद्धाः स्युर्ध्यात्वा देवं जनार्दनम् ॥ २३ ॥
यत्र हत्वा रणे रामो रावणं लोकरावणम् ।
एतच्छासनमिच्छंश्च तपो घोरमतप्यत ॥ २४ ॥

जहाँ भगवान् जनार्दनका ध्यान करनेसे ही सिद्ध पुरुषों-को सिद्धि प्राप्त हुई है । रणभूमिमें लोकको रुलानेवाले रावण-का वध करके भगवान् श्रीरामने इन्द्रद्वारा पालित हुई शास्त्राज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे जहाँ घोर तपस्या की थी॥

देवाश्च मुनयश्चैत्र सिद्धिं यान्ति शुचिव्रताः ।
यत्र नित्यं जगन्नाथः साक्षाद् वसति केशवः ॥ २५ ॥

देवता और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनि जहाँ सिद्धिको प्राप्त होते हैं और जहाँ जगदीश्वर केशव साक्षात् रूपसे नित्य निवास करते हैं ॥ २५ ॥

यत्र यज्ञाः प्रवर्तन्ते नित्यं मुनिगणैः सह ।
यस्याः स्मरणमात्रेण नरः स्वर्गं गमिष्यति ॥ २६ ॥

जहाँ मुनियोंके साथ यज्ञ नित्य होते रहते हैं । जिसके स्मरणमात्रसे मनुष्य स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

स्वर्गसोपानमिच्छन्ति यां पुण्यां मुनिसत्तमाः ।
शत्रवो मित्रतां यान्ति यत्र नित्यं नृपोत्तम ॥ २७ ॥
यामाहुः पुण्यशीलानां स्थानमुत्तमधर्मिणाम् ।
यत्र विष्णुं समाराध्य देवाः स्वर्गं समाययुः ॥ २८ ॥

नृपोत्तम ! मुनिश्रेष्ठगण जिस पुण्यभूमिको स्वर्गकी सीढ़ी समझ उसे पानेकी इच्छा करते हैं तथा जहाँ शत्रु भी मित्र हो जाते हैं । जिसे पुण्यशील उत्तम धर्मात्मा मनुष्योंका स्थान बताया गया है । जहाँ भगवान् विष्णुकी आराधना करके देवता स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं ॥ २७-२८ ॥

सिद्धक्षेत्रमिदं प्राहुर्ऋषयो वीतमत्सराः ।
विशालां बदरीं विष्णुस्तां द्रष्टुं सकलेश्वरः ॥ २९ ॥
सायाह्ने चामरगणैर्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
प्रविवेश महापुण्यमृषिजुष्टं तपोवनम् ॥ ३० ॥

मात्सर्यरहित ऋषि-मुनि जिसे सिद्ध पुरुषोंका क्षेत्र कहते हैं, उस विशाला बदरीका दर्शन करनेके लिये सर्वेश्वर श्रीकृष्णने सायंकालमें तत्त्वदर्शी मुनियो और देवताओंके साथ वहाँके परम पवित्र ऋषि-मुनिसेवित तपोवनमें प्रवेश किया ॥ २९-३० ॥

अग्निहोत्राकुले काले पक्षिव्याहारसंकुले ।
नीडस्थेषु विहङ्गेषु दुह्यमानासु गोषु च ॥ ३१ ॥
ऋषिष्वप्यथ तिष्ठत्सु मुनिवीरेषु सर्वतः ।
समाधिस्थेषु सिद्धेषु चिन्तयत्सु जनार्दनम् ॥ ३२ ॥
अधिश्रितेषु हविषु ज्वाल्यमानेषु चाग्निषु ।
हूयमानेषु तत्रैव पावकेषु समन्ततः ॥ ३३ ॥
अतिथौ पूज्यमाने च संध्याविष्टे जगन्मणौ ।
स तस्यामथ वेलायां देवैः सह जनार्दनः ॥ ३४ ॥
विवेश बदरीं विष्णुर्मुनिजुष्टां तपोमयीम् ।

जिस समय सब ओर अग्निहोत्रकी आग प्रज्वलित हो चुकी थी, पक्षियोंके कलरवसे तपोवन गूँज रहा था, विहङ्गम अपने-अपने घोंसलोंमें आ बैठे थे, गौएँ दुही जा रही थीं, मुनियोंमें उत्साही ऋषि-महर्षि सब ओर खड़े थे, सिद्धलोग समाधिस्थ होकर भगवान् जनार्दनका चिन्तन करते थे, हवनीय घृत आगपर चढ़ा दिये गये थे, सब ओर अग्निहोत्रकी अग्नियाँ प्रज्वलित हो उठी थीं और उन अग्नियोंमें सब ओर आहुतियाँ दी जा रही थीं, अतिथियोंका सत्कार हो रहा था और जगत्को प्रकाशित करनेवाले सूर्य संध्याकालमें अस्त हो रहे थे, उसी वेलामें देवताओंके साथ सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्णने मुनिसेवित तपोमयी बदरीतीर्थकी भूमिमें प्रवेश किया ॥ ३१—३४½ ॥

आश्रमस्याथ मध्यं तु प्रविश्य हरिरीश्वरः ॥ ३५ ॥
गरुडादवरुह्याथ दीपिकादीपिते तदा ।
प्रदेशे पुण्डरीकाक्षः स्थितस्तावत् सहामरैः ॥ ३६ ॥

बदरिकाश्रमके मध्यभागमें प्रवेश करके कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण दीपकोंसे प्रकाशित प्रदेशमें गरुड़से उतरकर देवताओंसहित खड़े हुए ॥ ३५-३६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें कैलासयात्राविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

देवताओंसहित श्रीकृष्णका बदरिकाश्रममें ऋषियोंद्वारा आतिथ्यसत्कार

वैशम्पायन उवाच

ततो मुनिगणा दृष्ट्वा देवदेवमुपस्थितम् ।
समाप्य चाग्निहोत्राणि सम्पूज्यातिथिसत्तमान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर मुनिगण देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्णको उपस्थित हुआ देख अग्निहोत्र पूरा करके उनके पास आये और उन श्रेष्ठतम अतिथियोंके स्वागत-सत्कारमें लग गये ॥ १ ॥

मुनयो दीर्घतपसः समाधौ कृतनिश्चयाः ।
जटिनो मुण्डिनः केचिच्छिराधमनिसंततताः ॥ २ ॥

वे मुनि दीर्घकालतक तपस्या करनेवाले और समाधिमें दृढ़ निश्चयके साथ लगे रहनेवाले थे । किन्हींके सिरपर बड़ी-बड़ी जटाएँ थीं और बहुत-से मुनि मूँड़ मुड़ाये हुए थे । कितने ही इतने दुर्बल हो गये थे कि उनका सारा शरीर नस-नाड़ियोंसे व्याप्त दिखायी देता था (उसपर रक्त और मांसका आवरण नहीं था) ॥ २ ॥

निर्मज्जा नीरसाः केचिद् वेताला इव केचन ।
अश्मकुट्टाशनपराः पर्णभक्षास्तथा परे ॥ ३ ॥

कितने ही रक्त और मज्जासे हीन थे। कितने ही वेतालोंके समान दृष्टिगोचर होते थे । कुछ लोग पत्थरसे कूट-कूटकर खाद्यपदार्थोंको खाते थे । बहुत-से मुनि पत्ते चबाकर रहते थे ॥ ३ ॥

वेदविद्याव्रतस्नाता निराहारा महातपाः ।
स्मरन्तः सर्वदा विष्णुं तद्भक्तास्तत्परायणाः ॥ ४ ॥

कितने ही वेदविद्याके व्रतको पूर्ण करके स्नातक हो चुके थे । कितने ही निराहार रहकर महान् तप करते थे । वे भगवान् विष्णुके भक्त थे और सदा उन्हींका स्मरण करते हुए उन्हींके भजन-चिन्तनमें तत्पर रहते थे ॥ ४ ॥

आसन्नमुक्तयः केचित् केचिद् ध्यानैकतत्पराः ।
ध्यानेन मनसा विष्णुं दृष्टवन्तस्तपोधनाः ॥ ५ ॥

किन्हींकी मुक्ति संनिकट थी । कितने ही एकमात्र ध्यानमें ही संलग्न रहते थे । कितने ही तपोधन ध्यानमग्न चित्तसे भगवान् विष्णुका साक्षात् दर्शन करते थे ॥ ५ ॥

संवत्सराशिनः केचित् केचिज्जलविचारिणः ।
शक्रस्य भयदातारः श्रुतिस्मृतिपरायणाः ॥ ६ ॥

कोई एक वर्षपर आहार करनेवाले थे । कोई जलके भीतर निवास या जलमात्रका आहार करनेवाले थे । कोई श्रौत-स्मार्त शुभ कर्मोंमें तत्पर रहकर इन्द्रको भी भय प्रदान करते थे ॥ ६ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च रैभ्यो धूम्रस्तथैव च ।
जाबालिः कश्यपः कण्वो भरद्वाजोऽथ गौतमः ॥ ७ ॥
अत्रिरश्वशिरा भद्रः शङ्खः शङ्खनिधिः कुणिः ।
पाराशर्यः पवित्राक्षो याज्ञवल्क्यो महामनाः ॥ ८ ॥
कक्षीवानङ्गिराश्चैव मुनिर्दीप्ततपास्तथा ।
असितो देवलस्तात वाल्मीकिश्च महातपाः ॥ ९ ॥
एते चान्ये च मुनयो द्रष्टुमीश्वरमव्ययम् ।
आदायार्घ्यं यथायोगमुटजात् स्वात् समाययुः ॥ १० ॥

तात ! वसिष्ठ, वामदेव, रैभ्य, धूम्र, जाबालि, कश्यप, कण्व, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, अश्वशिरा, भद्र, शङ्ख, शङ्खनिधि, कुणि, पाराशर्य, पवित्राक्ष, महामना याज्ञवल्क्य, कक्षीवान्, अङ्गिरा मुनि, दीप्ततपा, असित, देवल तथा महातपस्वी वाल्मीकि—ये और दूसरे मुनि अविनाशी ईश्वर श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये यथायोग्य अर्घ्य लिये अपनी-अपनी कुटियासे आये ॥ ७-१० ॥

ते च गत्वा हरिं कृष्णं विष्णुमीशं जनार्दनम् ।
भक्तिनम्रास्तदा देवं प्रणेमुर्भक्तवत्सलम् ॥ ११ ॥

उन्होंने वहाँ जाकर उस समय भक्तिभावसे विनम्र हो पापहारी सर्वव्यापी ईश्वर भक्तवत्सल जनार्दनदेव श्रीकृष्णको प्रणाम किया ॥ ११ ॥

नमोऽस्तु कृष्ण कृष्णेति देवदेवेति केशवम् ।
प्रणवात्मञ्जगन्नाथ नताः स्म शिरसा हरे ॥ १२ ॥

'श्रीकृष्ण ! आपको नमस्कार है । देवदेव ! कृष्ण ! केशव ! प्रणवात्मन् ! जगन्नाथ ! हरे ! हम आपके चरणोंमें सिर झुकाकर नमस्कार करते हैं ॥ १२ ॥

कृष्ण विष्णो हृषीकेश केशवेति च सर्वदा ।
प्रणामप्रवणा विप्राः प्राहुरित्थं जगत्पतिम् ॥ १३ ॥

'कृष्ण ! विष्णो ! हृषीकेश ! केशव ! आपको सर्वदा नमस्कार है !' इस प्रकार उन जगदीश्वरको प्रणाम करते हुए ब्राह्मणोंने उपर्युक्त बात कही ॥ १३ ॥

इदमर्घ्यमिदं पाद्यमिदं विष्टरमेव च ।
कृतार्थाः सर्वदा देव प्रसन्नो नो जगत्पतिः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् वे कहने लगे—'भगवन् ! यह आपके लिये अर्घ्य है, यह पाद्य है और यह आसन है । देव ! आपके दर्शनसे हम सदाके लिये कृतार्थ हो गये । आप जगदीश्वर हमपर प्रसन्न हैं ॥ १४ ॥

किं कुर्मः किं नु नः कृत्यं कश्चिद् दोषः प्रभो हरे ।
इति प्राञ्जलयः सर्वे प्राहुर्देवस्य पश्यतः ॥ १५ ॥

'हम आपकी क्या सेवा करें ? हमारे लिये क्या कर्तव्य है ? प्रभो ! हरे ! हमसे कोई अपराध तो नहीं बन गया ।' इस प्रकार सबने भगवान्के सामने हाथ जोड़कर यह विनययुक्त बात कही ॥ १५ ॥

कृष्णोऽपि तद् यथायोगमुपयुज्य सहामरैः।
कृतं सर्वं मुनिवरा वर्धतां तप उत्तमम् ॥ १६ ॥

देवताओंसहित श्रीकृष्णने भी उनके दिये हुए अर्घ्य आदिका यथायोग्य उपयोग करके कहा—'मुनिवरो! आपलोगोंने हमारा पूरा सत्कार कर दिया। आपलोगोंका उत्तम तप बढ़े' ॥

इति ब्रुवन् पुराणात्मा प्रीतस्तेन गरुत्मता।
आसनं लम्भयामास रात्रौ देवो जनार्दनः ॥ १७ ॥

इस प्रकार कहते हुए पुराणपुरुष जनार्दनदेव श्रीकृष्णने गरुड़जीके साथ प्रसन्नतापूर्वक रात्रिमें आसन ग्रहण किया ॥

कुशलं पृष्टवान् भूयो मुनीनां भावितात्मनाम्।
अग्निहोत्रेषु तपसि तथा भृत्येषु सर्वतः ॥ १८ ॥

फिर उन्होंने पवित्र अन्तःकरणवाले मुनियोंके अग्निहोत्र, तप और भृत्योंके भरण-पोषण आदि सभी कार्योंके विषयमें कुशल-समाचार पूछा ॥ १८ ॥

एवमादि जगन्नाथः पृष्टवानीश्वरस्तदा।
सर्वत्र कुशलं तेऽत्र ब्रूयुः कृष्णस्य सर्वतः ॥ १९ ॥

इस तरह जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णने जब उनसे कुशल-मङ्गल पूछा, तब वे श्रीकृष्णसे बोले—'प्रभो! आपकी कृपासे हमें सर्वत्र कुशल है' ॥ १९ ॥

आतिथ्यं चक्रिरे ते तु नीवारैः फलमूलकैः।
देवानामथ सर्वेषां विष्णोः कृष्णस्य यत्नतः।
आतिथ्यमुपयुञ्जानस्ततः प्रीतोऽभवद्धरिः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् उन ऋषियोंने नीवार और फल, मूल आदिके द्वारा समस्त देवताओं तथा विष्णुस्वरूप श्रीकृष्णका यत्नपूर्वक आतिथ्य किया। उनका आतिथ्य ग्रहण करके भगवान् श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रीकृष्णकी कैलासयात्राविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी समाधि, महान् कोलाहल और उनके पास भागते हुए मृग आदिका आगमन

वैशम्पायन उवाच

ततः स भगवान् विष्णुर्दुर्विज्ञेयगतिः प्रभुः।
यत्र पूर्वं तपस्तप्तमात्मना यादवेश्वरः ॥ १ ॥
गङ्गायाश्चोत्तरे तीरे देशं द्रष्टुमुपागतः।
स्वयमेव हरिः साक्षात् प्रविवेश तपोवनम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर जिनकी गतिका ज्ञान होना कठिन है, वे सर्वसमर्थ सर्वव्यापी भगवान् यदुनाथ गङ्गाजीके उत्तर तटपर उस स्थानको देखनेके लिये गये, जहाँ उन्होंने पूर्वकालमें स्वयं तप किया था। उन श्रीहरिने स्वयं ही उस साक्षात् तपोवनमें प्रवेश किया ॥ १-२ ॥

प्रविश्य सुचिरं देशं ददर्श च मनोरमम्।
निषसाद ततस्तस्मिन्नाश्रमे पुण्यवर्धनः ॥ ३ ॥

उसमें प्रवेश करके वे उस परम सुन्दर एवं मनोरम देशका दर्शन करने लगे। तदनन्तर पुण्यकी वृद्धि करनेवाले भगवान् उस आश्रममें बैठे ॥ ३ ॥

समाधौ योजयामास मनः पद्मनिभेक्षणः।
किमप्येष जगन्नाथो ध्यात्वा देवेश्वरः स्थितः ॥ ४ ॥

बैठनेके पश्चात् उन कमलनयन श्रीकृष्णने अपने मनको समाधिमें लगाया। वे देवेश्वर जगन्नाथ किसी अनिर्वचनीय तत्त्वका चिन्तन करते हुए उस समाधिमें दृढ़तापूर्वक स्थित हो गये ॥ ४ ॥

स्थिते देवगुरौ तत्र समाधौ दीपवद्धरौ।
तत्र शब्दो महाघोरः प्रादुरासीत् समन्ततः ॥ ५ ॥

वायुशून्य स्थानमें निष्कम्पभावसे प्रज्वलित होनेवाले दीपकके समान जब वे देवगुरु श्रीहरि समाधिमें अविचल-भावसे स्थित हो गये, तब वहाँ सब ओर बड़ा भयंकर शब्द प्रकट हुआ— ॥ ५ ॥

खाद खादत मोदेत यात यात मृगानिमान्।
प्रेषयेह पुनः सर्वान् प्रसादाच्छार्ङ्गधन्वनः ॥ ६ ॥

'खाओ! खाओ! मौज उड़ाओ! जाओ! जाओ इन मृगोंके पीछे। भगवान् श्रीहरिके प्रसादसे इन सबको फिर यहाँ हाँक लाओ ॥ ६ ॥

एष विष्णुरयं कृष्णो हरिरीश इतोऽच्युतः।
नमोऽस्तु विष्णो देवेश स्वामिन् माधव केशव ॥ ७ ॥

'ये भगवान् विष्णु हैं! ये श्रीकृष्ण हैं! ये हरि ईश्वर अच्युत इधर बैठे हैं। विष्णो! देवेश्वर! स्वामिन्! माधव! केशव! आपको नमस्कार है' ॥ ७ ॥

इत्यादिशब्दः सुमहानाविरासीत् तदा निशि।
ततश्च सुमहानादः सिंहानां मृगविद्विषाम् ॥ ८ ॥

इत्यादि रूपसे उस रातमें महान् कोलाहल होने लगा। तदनन्तर मृगद्रोही सिंह बड़े जोर-जोरसे दहाड़ने लगे ॥ ८ ॥

धावतां च शुनां राजन् मृगाननु विनर्दताम्।
मृगाणां भीतियुक्तानामृक्षाणां द्वीपिनां तथा ॥ ९ ॥
गजानां नदतां राजन् बृंहितं च ततस्ततः।
महावातसमुद्धूतक्षुभितस्येव वारिधेः ॥ १० ॥

राजन्! मृगोंके पीछे दौड़ते और भोंकते हुए कुत्तों, भयभीत मृगों, रीछों, व्याघ्रों और चिग्घाड़ते हुए हाथियोंका गर्जन चारों ओर इस प्रकार गूँजने लगा मानो प्रचण्ड वायुके वेगसे कम्पित एवं क्षुब्ध हुए महासागरका गम्भीर घोष सुनायी दे रहा हो ॥ ९-१० ॥

नादस्त्रैलोक्यवित्रासः प्रादुरासीत् तदा निशि।
श्रुत्वा शब्दं हरिर्देवस्तादृशं तत्र धिष्ठितः ॥ ११ ॥
समाधिक्षोभमासाद्य विश्वस्य च जगत्पतिः।
ततः संचिन्तयामास कोऽयमेष महास्वनः ॥ १२ ॥

उस समय रात्रिमें तीनों लोकोंको भयभीत करनेवाला वह महानाद प्रकट हुआ। वैसे महान् कोलाहलको सुनकर वहाँ बैठे हुए सम्पूर्ण जगत्के अधिपति भगवान् श्रीकृष्णकी समाधि टूट गयी। वे सोचने लगे—'यह कैसा महान् कोलाहल हो रहा है?॥ ११-१२ ॥

कस्यायमीदृशः शब्दः स्तुतियुक्तो मम त्विति।
अहोऽस्मिन् मृगयाशब्दः शुनां संचरतां वने ॥ १३ ॥
मृगाणामथ सर्वेषां नादश्च सुमहानयम्।
व्यामिश्रस्तुतियुक्ताभिर्वाग्भिर्मम समन्ततः ॥ १४ ॥

'यह किसका ऐसा शब्द सुनायी दिया है, जो मेरी स्तुतिसे युक्त है। अहो! इस वनमें दौड़ते हुए कुत्ते और भागते हुए समस्त मृगोंका यह महान् कोलाहल, शिकार खेलनेकी यह बड़ी भारी आवाज आश्चर्यकी वस्तु है। चारों ओर फैला हुआ यह कोलाहल मेरी स्तुतिसे मिश्रित वचनोंद्वारा व्याप्त है' ॥ १३-१४ ॥

इति संचिन्त्य मनसा दिशो विप्रेक्ष्य सर्वतः।
तत आस्ते हरिस्तत्र ज्ञातुं तस्य समुद्भवम् ॥ १५ ॥

मन-ही-मन ऐसा सोचकर सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर दृष्टिपात करके उस महान् कोलाहलका कारण जाननेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ सावधान होकर बैठे ॥ १५ ॥

ततो मृगाः समाधावन् यत्र तिष्ठति केशवः।
तांश्चैवानुचरो राजन् श्वगणः समपद्यत ॥ १६ ॥

राजन्! इतनेहीमें बहुत-से मृग भागते हुए उधर ही आ निकले, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान थे। साथ ही उनका पीछा करता हुआ कुत्तोंका झुंड भी आ पहुँचा ॥

अथ वै दीपिका राजञ्छतशोऽथ सहस्रशः।
ततस्तमोऽपि व्यनशद् दिवेव समपद्यत ॥ १७ ॥

राजन्! तदनन्तर सैकड़ों और हजारों मशालें जल उठीं; जिनसे सारा अन्धकार नष्ट हो गया और दिनके समान प्रकाश फैल गया ॥ १७ ॥

ततो नु भूतसङ्घाश्च समदृश्यन्त तत्र ह।
पिशाचाश्च महाघोरा नदन्तो बहु विस्वनम् ॥ १८ ॥
भक्षयन्तोऽथ पिशितं पिबन्तो रुधिरं बहु।
प्रादुरासन् महाघोराः पिशाचा विकृताननाः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् वहाँ भूतोंके समुदाय दिखायी दिये। महाभयंकर पिशाच गर्जते और भाँति-भाँतिके शब्द कर रहे थे। वे कच्चे मांस खाते और बहुत-सा रक्त पीते हुए वहाँ प्रकट हुए। उनका स्वरूप बड़ा भयंकर था। वे सभी पिशाच विकराल मुखवाले थे ॥ १८-१९ ॥

हन्यमाना हता राजन् पतन्तः पतिता मृगाः।
इतश्चेतश्च धावन्तो बाणैर्विद्धा मृगा द्विपाः ॥ २० ॥

राजन्! कितने ही मृग उन पिशाचोंद्वारा मारे गये और मारे जा रहे थे। कितने ही धराशायी हो चुके थे और बहुत-से तत्काल गिर रहे थे। बाणोंसे घायल हुए मृग और हाथी इधर-उधर भाग रहे थे ॥ २० ॥

ततो मृगसहस्राणि समुदीर्णानि भारत।
यत्रासौ तिष्ठते देवस्तत्र याता निरन्तरम् ॥ २१ ॥
अन्तरीकृत्य देवेशं स्थितानीत्यनुशुश्रुम।

भारत! तत्पश्चात् जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण विराज रहे थे, वहाँ सहस्रों मृग लगातार भागते चले आये और देवेश्वर श्रीकृष्णको घेरकर खड़े हो गये। यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥ २१½ ॥

पिशाच्यो विकृताकाराः कराला रोमहर्षणाः ॥ २२ ॥
पुत्रवत्यः समापेतुर्यत्र तिष्ठति केशवः।

थोड़ी ही देरमें बहुत-सी विकृत आकारवाली विकराल पिशाचियाँ भी वहाँ आ पहुँचीं, जहाँ भगवान् केशव विराजमान थे। वे सब-की-सब पुत्रवती थीं, उनके दर्शनमात्रसे दूसरोंके रोंगटे खड़े हो जाते थे ॥ २२½ ॥

श्वगणस्तत्र राजेन्द्र चरत्येवं ततस्ततः ॥ २३ ॥
ततः स भगवान् विष्णुः सर्वमालोक्य वेष्टितः।
विस्मयं परमं गत्वा पश्यन्नास्ते स केशवः ॥ २४ ॥

राजेन्द्र! इसी प्रकार कुत्तोंका समुदाय भी वहाँ आकर इधर-उधर विचरने लगा। तत्पश्चात् उन मृगोंद्वारा घिरे हुए वे विष्णुस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण उन सबको वहाँ आया देख महान् आश्चर्यमें पड़कर उन सबकी ओर देखने लगे ॥ २३-२४ ॥

कस्यैष विस्तृतो नादः कस्य वायं जनोऽपतत्।
को नु मां स्तौति भक्त्या वै भविष्ये प्रीतिमानहम् ॥ २५ ॥

वे सोचने लगे—'यह किसका महान् कोलाहल फैला हुआ है, अथवा यह किसका जन-समुदाय यहाँ आ पहुँचा है? कौन भक्तिभावसे मेरी स्तुति करता है? जिसके ऊपर मैं प्रसन्न होऊँगा ॥ २५ ॥

कस्य मुक्तिः समायाता प्रीते मयि सुदुर्लभा।
इति संचिन्त्य भगवानास्ते प्राकृतवद्धरिः ॥ २६ ॥

'आज मेरे प्रसन्न होनेपर किसको परम दुर्लभ मुक्ति प्राप्त होना चाहती है।' इस प्रकार भगवान् श्रीहरि साधारण मनुष्यके समान सोच-विचार करते हुए वहाँ बैठे रहे ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रीकृष्णकी कैलासयात्रा-विषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके समक्ष दो पिशाचोंका आगमन

वैशम्पायन उवाच

तेषामनु महाघोरौ पिशाचौ विकृताननौ।
प्रांशू पिङ्गलरोमाणौ दीर्घजिह्वौ महाहनू॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन सबके पश्चात् दो महाभयंकर पिशाच वहाँ आये, जिनके मुख बड़े विकराल थे। वे दोनों ही ऊँचे कदके थे। उनके रोएँ पिङ्गल वर्णके थे। उनकी जिह्वाएँ बड़ी-बड़ी थीं और ठोड़ी बहुत चौड़ी थी॥ १॥

लम्बकेशौ विरूपाक्षौ ही ही हा हेति वादिनौ।
खादन्तौ मांसपिटकं पिबन्तौ रुधिरं बहु॥ २॥

उन दोनोंके केश लंबे और नेत्र भयंकर थे। वे 'हा हा, ही ही' करते हुए बात करते थे और मांसकी पिटारीरूप शवका भक्षण करते तथा बहुत-सा रक्त पीते थे॥ २॥

अन्त्रवेष्टितसर्वाङ्गौ दीर्घौ कृशकृतोदरौ।
लम्बमानमहाप्रान्तशूलप्रोतशिरोधरौ॥ ३॥

उनके सारे अङ्गोंमें दूसरे प्राणियोंकी आँतें लिपटी हुई थीं। वे विशालकाय थे; किंतु उनके पेट सटे हुए थे। वे लंबे और फैले हुए शूलोंमें पिरोये हुए नर-मुण्ड धारण किये हुए थे॥ ३॥

कर्षन्तौ शवयूथानि बाहुभ्यां तत्र तत्र ह।
हसन्तौ विविधं हासं स्वजातिसदृशं नृप॥ ४॥
वदन्तौ बहुरूपाणि वचांसि प्राकृतानि च।

और भुजाओंद्वारा जहाँ-तहाँसे झुंड-के-झुंड मुर्दे खींचे ला रहे थे। नरेश्वर! वे दोनों पिशाच अपनी जातिके अनुरूप नाना प्रकारसे अट्टहास करते और भाँति-भाँतिके प्राकृत वचन बोलते थे॥ ४½॥

कम्पयन्तौ महावृक्षानूरुपादप्रघट्टनैः॥ ५॥
सृक्किणी लेलिहन्तौ च दन्तान् कटकटायिनौ।

अपनी जाँघों और पैरोंकी टक्करसे वे बड़े-बड़े वृक्षोंको भी हिला देते थे, जबड़े चाटते और दाँत कटकटाते थे॥ ५½॥

अस्थिस्नायुसमाकीर्णौ धमनीरज्जुसंततौ॥ ६॥
वदन्तौ कृष्ण कृष्णेति माधवेति च संततम्।

उनका सारा शरीर हड्डियों और स्नायुजालसे व्याप्त था; नस-नाड़ियाँ रस्सीकी भाँति सर्वत्र फैली दिखायी देती थीं। वे दोनों निरन्तर 'कृष्ण! कृष्ण! माधव!' इत्यादि नामोंका कीर्तन करते थे॥ ६½॥

कदा नु द्रक्ष्यते विष्णुः स इदानीं क्व तिष्ठति॥ ७॥
स्वामिनः कुत्र वसतिः कुतो द्रष्टुं यतामहे।
अत्र वा कुत्र देवेशः कुतो नु स्थास्यते हरिः॥ ८॥

वे कहते थे—'हमें भगवान् विष्णुका दर्शन कब होगा? वे इस समय कहाँ होंगे? हमारे स्वामी श्रीहरिका निवासस्थान कहाँ है? हम किस तरह उनके दर्शनका प्रयत्न करें? इस तपोवनमें देवेश्वर श्रीहरि कहाँ होंगे?॥ ७-८॥

कुतः पद्मपलाशाक्षः साक्षादिन्द्रानुजो हरिः।
यमाहुः पुण्डरीकाक्षं ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ ९॥
तमजं पुरुषं विष्णुं द्रष्टुमभ्युद्यता वयम्।

'जो साक्षात् इन्द्रके छोटे भाई हैं तथा जिनके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल हैं, वे श्रीहरि कहाँ मिलेंगे? जिन्हें भक्तजन पुण्डरीकाक्ष (कमलनयन) कहते हैं और ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्म कहते हैं, उन्हीं अजन्मा एवं सर्वव्यापी परम पुरुषका दर्शन करनेके लिये हम उद्यत हुए हैं॥ ९½॥

अन्तकाले जगन्नाथं प्रविवेश जगत्त्रयम्॥ १०॥
तमजं विश्वकर्तारं कुतो द्रक्ष्याम साम्प्रतम्।

'प्रलयकालमें ये तीनों लोक जिन जगदीश्वरमें प्रवेश कर जाते हैं, उन अजन्मा विश्वस्रष्टा श्रीहरिका हम इस समय कैसे दर्शन करेंगे॥ १०½॥

यस्य विस्तार एवैष लोकः प्राणिनिवासिनः॥ ११॥
तं द्रष्टुं देवमीशानं यतामः साम्प्रतं हरिम्।

'जो समस्त प्राणियोंके निवासस्थान हैं, ये सम्पूर्ण लोक जिनका ही विस्तार (या विराट्रूप) है, उन्हीं सर्वेश्वर देव श्रीहरिका दर्शन करनेके लिये इस समय हमलोग प्रयत्नशील हैं॥ ११½॥

दशा घोरतमा लोके विद्विष्टा सर्वजन्तुभिः॥ १२॥
पैशाचीयं समुत्पन्ना कथं नौ प्राविशद् बलात्।
नरमांसास्थिकलुषा सर्वभीतिप्रदायिनी॥ १३॥

'सम्पूर्ण जन्तु जिससे द्वेष रखते हैं, जो जगत्में सबसे अधिक भयंकर अवस्था है, वही यह पिशाच योनि न जानें हमें कैसे प्राप्त हुई? और किस प्रकार बलपूर्वक हमारे भीतर प्रविष्ट हो गयी। यह मनुष्य और हड्डियोंको खानेके कारण कलुषित और सबको भय प्रदान करनेवाली है॥ १२-१३॥

अहो नौ दुष्कृतं कर्म प्राक्तने कर्मसंचये।
अत्रैव महती प्रीतिर्वर्तते सर्वदा तथा॥ १४॥

'अहो! हम दोनोंके पूर्वजन्मकी कर्मराशिमें केवल दुष्कर्मका ही संचय हुआ था, जिससे हमें यह कलङ्कित योनि प्राप्त हुई, तो भी हमें इसीमें सदा परम प्रसन्नता बनी रहती है॥ १४॥

यावन्नौ दुष्कृतं कर्म तावत्स्थास्यति तादृशी।
दशा सा सर्वविद्विष्टा प्राणिपीडनकारिणी॥ १५॥

जबतक हम दोनोंका दुष्कर्म शेष है, तबतक हमारी उन कर्मोंके अनुरूप ही यह पिशाचावस्था बनी रहेगी, जिससे

समस्त प्राणी द्वेष रखते हैं तथा जो दूसरे जीवोंको केवल पीड़ा देनेवाली ही होती है ॥ १५ ॥

सर्वथा दुष्कृतं कर्म बहुभिर्जन्मसंचयैः।
तथा हि तत्फलं घोरमद्यापि न निवर्तते ॥ १६ ॥

'निश्चय ही हमलोगोंने बहुत-से जन्मोंमें केवल पापकर्मोंका ही संचय किया है, तभी तो उसका घोर फल आजतक भी निवृत्त नहीं हुआ है ॥ १६ ॥

यताःस्म प्राणिनो हन्तुं श्वगणैः सह साम्प्रतम्।
तथा हि प्राणिनो लोके बाल्यमादौ समास्थिताः ॥ १७ ॥
अज्ञानावृतचित्ताश्च कृत्याकृत्यं न जानते।
तथा यौवनिनो भ्रान्ता विषयैर्बहुलीकृताः ॥ १८ ॥
यतन्ते श्रेयसे नैव ततो विषयसंस्थिताः।
विषयाविष्टचित्ता हि मनुष्या न विजानते ॥ १९ ॥

'हम इस समय भी झुंड-के-झुंड कुत्ते साथ लिये प्राणियोंका वध करनेपर तुले हुए हैं। जगत्के प्राणी पहले बाल्यावस्थामें स्थित होते हैं, उस समय उनका चित्त अज्ञानसे आवृत होता है। इस कारण वे कर्तव्य और अकर्तव्यको नहीं जानते हैं। तदनन्तर जब वे युवावस्थामें प्रवेश करते हैं, उस समय विषयोंके आकर्षणसे उनकी बुद्धि भ्रान्त हो जाती है। साथ ही उनके पास विषयोंका संग्रह भी बढ़ जाता है। अतः विषयोंमें रचे-पचे रहकर वे कभी अपने कल्याणके लिये यत्न नहीं करते। जिनका चित्त विषयोंसे आविष्ट हो जाता है, वे मनुष्य यह नहीं समझ पाते कि कल्याणकारी कर्म क्या है? ॥ १७–१९ ॥

तथा च वृद्धभावे तु व्याधिभिर्बहुभिर्वृताः।
ज्वरादिभिर्महाघोरैर्नानादुःखविधायिभिः ॥ २० ॥
यतन्ते न हि वै श्रेयो विनष्टेन्द्रियगोचराः।

'तत्पश्चात् जब वृद्धावस्था आती है, तब वे बहुत-सी व्याधियोंद्वारा घिर जाते हैं। नाना प्रकारके दुःख देनेवाले भयंकर ज्वर आदि रोग उन्हें धर दबाते हैं। फिर इधर-उधर भटकनेवाली इन्द्रियोंके वशीभूत होकर वे अपने कल्याणके लिये यत्न नहीं कर पाते ॥ २०½ ॥

ततो मृता गर्भवासे वसन्ति सततं नराः ॥ २१ ॥
विण्मूत्रकलिले घोरे दुःखैर्बहुभिराचिताः।

'तदनन्तर मृत्यु हो जानेपर वे जीव गर्भवासमें आते हैं और विष्ठा एवं मूत्रकी कीचसे भरे हुए घोर गर्भाशयमें अनेक प्रकारके दुःखोंसे आक्रान्त होकर निरन्तर निवास करते हैं ॥ २१½ ॥

च्यवन्ते तु ततो घोराद् गर्भात् संसारमण्डले ॥ २२ ॥
परस्परं विहिंसन्तः कुर्वन्तः कर्मसंचयम्।

'इसके बाद वे उस घोर गर्भसे च्युत होकर पुनः संसार-चक्रमें पड़ जाते हैं। यहाँ भी वे एक दूसरेकी हिंसा करते हुए पापकर्मोंके ही संचयमें लगे रहते हैं ॥ २२½ ॥

महत्येवं सदा घोरे संसारे दुःखसंकुले ॥ २३ ॥
पापानि बहुरूपाणि कुर्वतेऽज्ञानतस्तदा।

'इस प्रकार दुःखोंसे भरे हुए महाघोर संसारमें वे अज्ञानवश सदा नाना प्रकारके पापकर्म ही किया करते हैं ॥ २३½ ॥

संसारस्यैष महिमा विस्तृतः सर्वजन्तुषु ॥ २४ ॥
अच्छेद्यः शस्त्रसम्पातैरुपायैर्बहुभिः सदा।
एतस्माच्च निवर्तन्ते मर्त्याः प्राकृतबुद्धयः ॥ २५ ॥

'संसारकी यह महत्ता (बन्धनकारी प्रभाव) सभी प्राणियोंमें विस्तारपूर्वक व्याप्त है। शस्त्रोंके प्रहारसे तथा और भी बहुत-से लौकिक उपायोंद्वारा इस संसारका उच्छेद नहीं किया जा सकता। ओछी बुद्धिवाले (देहात्मवादी) मनुष्य इस संसारसे विरक्त नहीं होते हैं ॥ २४-२५ ॥

इमं हत्वा मनुष्येन्द्रमिदमस्माद्धराम्यहम्।
चोरयित्वा धनमिदं हरिष्याम्याददाम्यहम् ॥ २६ ॥
निर्भर्त्स्यैनमिमं शान्तं हरिष्यामि धनं बली।
इत्यादिव्याकुला मूर्खा यतन्ते प्राणिपीडनम् ॥ २७ ॥

'वे सोचते हैं कि—मैं इस नरेशका वध करके इससे यह धन हर लूँगा, इस धनको चुराकर घर ले जाऊँगा और उसे उपभोगमें लाऊँगा। यह शान्त और दुर्बल है और मैं बलवान् हूँ। मैं इसे डाँट-फटकारकर इसका धन हर लूँगा।' इन्हीं चिन्ताओंमें व्यग्र हुए मूर्ख मनुष्य दूसरे प्राणियोंको पीड़ा देनेका प्रयत्न करते रहते हैं ॥ २६-२७ ॥

अस्यैव दुःखमूलस्य संसारस्य सदा हरिः।
भेषजं सर्वथा देवः शङ्खचक्रगदाधरः।
आदिदेवः पुराणात्मा आत्मा ब्रह्मविदां सदा ॥ २८ ॥

'दुःखके मूल-कारण इस संसाररूपी रोगको सदाके लिये सब प्रकारसे मिटानेके निमित्त एकमात्र उत्तम ओषधि शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले, आदिदेव, पुराणपुरुष तथा ब्रह्मवेत्ताओंके आत्मा भगवान् श्रीहरि ही हैं ॥ २८ ॥

ते वयं सर्वयत्नेन द्रक्ष्यामः सर्वथा हरिम्।
इत्थं पिशाचौ भाषन्तौ प्रादुरास्तां हरेः पुरः ॥ २९ ॥

'अतः हमलोग सर्वथा सम्पूर्ण प्रयत्न करके श्रीहरिका दर्शन करेंगे।' इस प्रकारकी बातें करते हुए वे दोनों पिशाच भगवान् श्रीकृष्णके सामने प्रकट हुए ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायामेकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रीकृष्णकी कैलासयात्राविषयक उन्नासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

घण्टाकर्ण और भगवान् श्रीकृष्णका एक दूसरेको अपना परिचय देना तथा घण्टाकर्णद्वारा भगवान् विष्णुका स्तवन एवं समाधि लाभ

वैशम्पायन उवाच

ततः स भगवान् विष्णुः पिशाचौ मांसभक्षकौ ।
ददर्शाथ महाघोरौ दीपिकाधारिणौ हरिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उन भगवान् श्रीकृष्णने उन दोनों महाभयंकर मांसभक्षी पिशाचोंकी ओर देखा, जो हाथमें मशाल लिये वहाँ आये हुए थे ॥

विलोकयांचक्रतुस्तौ पिशाचौ देवकीसुतम् ।
स्थितं सुखासने विष्णुं दृष्ट्वा लोकेश्वरेश्वरम् ॥ २ ॥
तौ च गत्वा समुद्देशं पिशाचौ केशवस्य ह ।
ततस्तावूचतुर्विष्णुमन्तरीकृत्य केशवम् ॥ ३ ॥

उन दोनों पिशाचोंने भी सुखपूर्वक आसनपर बैठे हुए लोकेश्वरोंके भी ईश्वर देवकीनन्दन श्रीकृष्णको देखा । उन्हे देखकर वे दोनों पिशाच उन केशवके निकट गये और उन्हे अपने बीचमें करके उनसे इस प्रकार बोले—॥ २-३ ॥

को भवान् कस्य वा मर्त्य कुतश्चागम्यते त्वया ।
किमर्थमिह सम्प्राप्तो वने घोरे मृगाकुले ॥ ४ ॥

'मानवप्रवर ! आप कौन हैं ? किसके पुत्र हैं ? कहाँसे आपका यहाँ शुभागमन हुआ है ? वन्यपशुओंसे भरे हुए इस घोर वनमें आप किस लिये आये हैं ? ॥ ४ ॥

निर्मनुष्ये द्वीपिवृते पिशाचगणसेविते ।
श्वापदैः सेव्यमाने च विपिने व्याघ्रसंकुले ॥ ५ ॥

'यह वन मनुष्योंसे रहित, चीतोंसे आवृत, पिशाचोंसे सेवित, हिंसक जन्तुओंका निवासस्थान तथा व्याघ्रोंसे भरा हुआ है (इसमें आप क्यों आये ?) ॥ ५ ॥

सुकुमारोऽनवद्याङ्गः साक्षाद् विष्णुरिवापरः ।
पद्मपत्रेक्षणः श्यामः पद्माभः श्रीपतिः स्वयम् ॥ ६ ॥

'आप बड़े सुकुमार प्रतीत होते हैं । आपका प्रत्येक अङ्ग अनिन्द्य सौन्दर्यसे सम्पन्न है । आप साक्षात् दूसरे विष्णुके समान जान पड़ते हैं । आपके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके सदृश सुन्दर एवं विशाल है । आपकी अङ्गकान्ति श्याम है । आप नील कमलके समान प्रकाशित होते हैं और साक्षात् श्रीपति-से प्रतीत होते हैं ॥ ६ ॥

अस्मत्प्रीतिकरः साक्षात् प्राप्तो विष्णुरिवापरः ।
देवो वा यदि वा यक्षो गन्धर्वः किन्नरोऽपि वा ॥ ७ ॥
इन्द्रो वा धनदो वापि यमोऽथ वरुणोऽपि वा ।
एकाकी विपिने घोरे ध्यानार्पितमना इव ॥ ८ ॥

'मानो हमे प्रसन्नता प्रदान करनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णु दूसरा रूप धारण करके आपके रूपमे यहाँ पधारे हैं । आप देवता हैं या यक्ष, गन्धर्व हैं या किन्नर ? इन्द्र हैं या कुबेर ? अथवा यम हैं या वरुण ? जो इस भयंकर वनमें मनको ध्यानस्थ-सा करके अकेले बैठे हैं ॥ ७-८ ॥

ब्रूहि मर्त्य यथातत्त्वं ज्ञातुमिच्छामि मानद ।
एवं पृष्टः पिशाचाभ्यामाह विष्णुरुरुक्रमः ॥ ९ ॥
क्षत्रियोऽस्मीति मामाहुर्मनुष्याः प्रकृतिस्थिताः ।
यदुवंशे समुत्पन्नः क्षात्रं वृत्तमनुष्ठितः ॥ १० ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले मानव ! आप ठीक-ठीक बताइये, मैं यथार्थ रूपसे आपका परिचय जानना चाहता हूँ ।'

उन दोनों पिशाचोंके इस प्रकार पूछनेपर महान् डगवाले भगवान् विष्णु बोले—'मैं क्षत्रिय हूँ । प्राकृत मनुष्य मुझे ऐसा ही कहते और जानते हैं । यदुकुलमें उत्पन्न हुआ हूँ, इसलिये क्षत्रियोचित कर्मका अनुष्ठान करता हूँ ॥ ९-१० ॥

लोकानामथ पातास्मि शास्ता दुष्टस्य सर्वदा ।
कैलासं गन्तुकामोऽस्मि द्रष्टुं देवमुमापतिम् ॥ ११ ॥

'मैं तीनों लोकोंका पालक तथा सदा ही दुष्टोंपर शासन करनेवाला हूँ । इस समय भगवान् उमापति देवका दर्शन करनेके लिये कैलासपर्वतपर जाना चाहता हूँ ॥ ११ ॥

इत्येवं मम वृत्तान्तः कथ्यतां कौ युवामिति ।
युवामिह समायातौ किमर्थं ब्राह्मणाश्रमम् ॥ १२ ॥

'यही मेरा वृत्तान्त है, अब अपना परिचय दो, तुम दोनों कौन हो ? यह तो ब्राह्मणका आश्रम है, यहाँ तुम किसलिये आये हो ? ॥ १२ ॥

एषा हि महती पुण्या नानाविप्रनिषेविता ।
बदरीयं समाख्याता न क्षुद्रैराश्रिता क्वचित् ॥ १३ ॥
तपस्विभिस्तपोयुक्तैर्जुष्टा सिद्धनिषेविता ।
श्वगणा नात्र दृश्यन्ते पिशाचा मांसभोजनाः ॥ १४ ॥

'यह महान् पुण्यमय स्थान है, इसे बदरी कहते हैं । बहुत-से ब्राह्मण यहाँ वास करते हैं, क्षुद्र स्वभाववाले दुष्टोंने कभी इस भूमिमे स्थान नहीं पाया है । सिद्ध पुरुषोंने सदा इसका सेवन किया है, तपस्यामे लगे हुए तपस्वी यहाँ सब ओर निवास करते हैं । यहाँ आजकी तरह झुंड-के-झुंड कुत्ते कभी नहीं देखे गये और न कभी मांसभक्षी पिशाचोंका ही दर्शन हुआ ॥ १३-१४ ॥

न हन्तव्या मृगाश्चात्र मृगया नात्र वर्तते ।
न तु क्षुद्रैः प्रवेष्टव्या न कृतघ्नैर्न नास्तिकैः ॥ १५ ॥

'यहाँ मृगोंको नहीं मारना चाहिये, क्योंकि यहाँ कभी मृगया नहीं होती है । जो क्षुद्रस्वभाववाले कृतघ्न और नास्तिक मनुष्य हैं, उन्हे इस तीर्थमें कदापि प्रवेश नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

अहमस्य तु देशस्य रक्षिता नात्र संशयः।
व्यतिक्रमो यदि भवेत् तस्य शास्तास्मि यत्नतः॥ १६॥

'मैं इस देशका रक्षक हूँ, इसमें संशय नहीं है। यदि किसीके द्वारा मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन हुआ तो मैं यत्नपूर्वक उसका शासन करूँगा॥ १६॥

कौ भवन्तौ क नु युवां कस्येयं महती चमूः।
नातः परं प्रवेष्टव्यमृषयस्त्वत्र संस्थिताः॥ १७॥
विघ्नस्तत्र प्रवर्तेत तपःसु च तपस्विनाम्।

'तुम दोनों कौन हो? कहाँ रहते हो? यह विशाल सेना किसकी है? इससे आगे इस वनमें प्रवेश नहीं करना चाहिये, क्योंकि यहाँ ऋषि रहते हैं। उन तपस्वी ऋषियोंकी तपस्यामें विघ्न पड़ सकता है॥ १७½॥

इहैव स्थीयतां तावद् वक्तव्यं च ततः सुखम्॥ १८॥
अन्यथाहं निषेद्धा स्यां बलाद्वाक्यैस्तथैव च।

'सब लोग यहीं ठहर जायँ और सुखपूर्वक बातें करें, अन्यथा मैं वाणीद्वारा तथा बलद्वारा भी रोकूँगा'॥ १८½॥

वैशम्पायन उवाच

एवं पृष्टौ पिशाचौ तु वक्तुमेवोपचक्रतुः॥ १९॥
तयोरेको महाघोरः पिशाचो दीर्घबाहुकः।
उवाच वचनं तत्र यथा हृदि समर्पितम्॥ २०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार पूछे जानेपर उन दोनों पिशाचोंने उनके प्रश्नका उत्तर देना आरम्भ किया। उन दोनोंमेंसे एक पिशाच बड़ा भयंकर और विशाल भुजाओंसे युक्त था। उसके हृदयमें जैसी बात थी, उसीको वह वहाँ सुनाने लगा॥ १९-२०॥

पिशाच उवाच

श्रूयतामभिधास्यामि समाहितमना भव।
नमस्कृत्य जगन्नाथं हरिं कृष्णं जगत्पतिम्॥ २१॥
आदिदेवमजं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम्।
वक्ष्यामि सकलं यद्वत् तथा शृणु यदीच्छसि॥ २२॥

पिशाच बोला—अच्छा! बताता हूँ, मुनिये और अपने चित्तको एकाग्र कर लीजिये। मैं पहले आदिदेव, अजन्मा, सर्वश्रेष्ठ, निष्पाप, पवित्र, पापहारी, जगदीश्वर, विश्वपालक, सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् विष्णुको नमस्कार करके अपना सारा वृत्तान्त आपको ठीक-ठीक बताऊँगा, यदि आप सुनना चाहते हों तो सुनिये॥ २१-२२॥

घण्टाकर्णोऽस्मि नाम्नाहं पिशाचो घोरदर्शनः।
मांसादो विकृतो घोरः साक्षान्मृत्युरिवापरः॥ २३॥

मैं घण्टाकर्ण नामसे प्रसिद्ध पिशाच हूँ, मेरी दृष्टि बड़ी भयंकर है। मैं मांसभक्षी, विकृताङ्ग, घोर तथा साक्षात् दूसरे कालके समान प्राणियोंका हिंसक हूँ॥ २३॥

धनदस्यानुगन्ताहं साक्षाद् रुद्रसखस्य च।
ममायमनुजः साक्षादन्तकस्यान्तको ह्ययम्॥ २४॥

भगवान् शङ्करके सखा साक्षात् कुबेरका मैं अनुचर हूँ। यह मेरा सगा छोटा भाई है, जो कालका भी काल है॥ २४॥

मृगयेयं सुमहती विष्णोः पूजार्थमच्युत।
ममेयं वर्तते सेना श्वगणोऽपि ममैव तु॥ २५॥

यह जो बड़ा भारी शिकार खेला जा रहा है, इसका उद्देश्य है भगवान् विष्णुकी पूजा। यह सेना मेरी है और यह कुत्तोंका झुंड भी मेरा ही है॥ २५॥

आगतोऽहं महाशैलात् कैलासाद् भूतसेवितात्।
अहं पिशाचवेषेण संविष्टः पापकर्मकृत्॥ २६॥

मैं भूतोंसे सेवित महापर्वत कैलाससे यहाँ आया हूँ, पिशाच-वेषसे घिरा हुआ पापकर्मी हूँ॥ २६॥

सततं दूषयन् विष्णुं घण्टामाबध्य कर्णयोः।
मम न प्रविशेन्नाम विष्णोरिति विचिन्तयन्॥ २७॥

पहले मैं सदा विष्णुकी निन्दा करता था और कानोंमें घण्टा बाँधकर घूमता था कि कहीं मेरे इन कर्णकुहरोंमें विष्णुका नाम न प्रविष्ट हो जाय, मुझे सदा इसीकी चिन्ता बनी रहती थी॥ २७॥

अहं कैलासनिलयमासाद्य वृषभध्वजम्।
आराध्य तं महादेवमस्तुवं सततं शिवम्॥ २८॥

एक दिन कैलासवासी भगवान् शङ्करके पास पहुँचकर मैंने महादेव शिवकी आराधना की और तभीसे मैं निरन्तर उनके स्तवनमें लगा रहा॥ २८॥

ततः प्रसन्नो मामाह वृणीष्वेति वरं हरः।
ततो मुक्तिर्मया तत्र प्रार्थिता देवसंनिधौ॥ २९॥

इससे प्रसन्न हो भगवान् शङ्करने मुझसे कहा—'तुम कोई वर माँगो।' तब मैंने महादेवजीके समीप मुक्तिके लिये प्रार्थना की॥ २९॥

मुक्तिं प्रार्थयमानं मां पुनराह त्रिलोचनः।
मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः॥ ३०॥

मुक्तिके लिये प्रार्थना करते देख भगवान् त्रिलोचन फिर मुझसे बोले—'सबके लिये मुक्ति प्रदान करनेवाले तो केवल भगवान् विष्णु ही हैं। इसमें संशय नहीं है॥ ३०॥

तस्माद् गत्वा च बदरीं तत्राराध्य जनार्दनम्।
मुक्तिं प्राप्नुहि गोविन्दान्नरनारायणाश्रमे॥ ३१॥

'अतः तुम बदरीतीर्थमें जाकर वहाँ नर नारायणके आश्रम-में श्रीजनार्दनकी आराधना करके उन्हीं गोविन्ददेवसे मोक्ष प्राप्त करो'॥ ३१॥

इत्युक्तो देवदेवेन शूलिना ज्ञातवानहम्।
तमेव परमं मत्वा गोविन्दं गरुडध्वजम्॥ ३२॥
तस्मात् प्रार्थयमानः सन्मुक्तिं देशममुं गतः।

देवाधिदेव शूलधारी शिवके ऐसा कहनेपर मैंने गरुड़-ध्वज गोविन्दके महत्त्वको समझा और उन्हींको सबसे श्रेष्ठ मानकर उनसे अपनी मुक्तिके लिये प्रार्थना करनेके उद्देश्यसे मैं इस देशमें आया हूँ॥ ३२½॥

अन्यच्च शृणु मे कार्यं यदि कौतूहलं तव ॥ ३३ ॥
पुरी द्वारवती नाम पश्चिमस्योदधेस्तटे ।
यदुवृष्णिसमाकीर्णा सागरोर्मिसमाकुलाम् ॥ ३४ ॥
अध्यास्ते स हरिर्विष्णुस्तां पुरीं पुरुषोत्तमः ।

यदि तुम्हे कौतूहल हो, तो मेरे दूसरे कार्यको भी सुनो। पश्चिम समुद्रके तटपर द्वारवती नामसे प्रसिद्ध एक पुरी है, जिसमें यदु एवं वृष्णिवंशके लोग रहते हैं। वह पुरी समुद्रकी लहरोंसे व्याप्त है। उसीमें इस समय पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरि निवास करते हैं ॥ ३३-३४½ ॥

द्रष्टुं लोकहितार्थाय वसन्तं द्वारकापुरे ॥ ३५ ॥
निर्गतः साम्प्रतं मर्त्य वयमेतैः सहानुगैः ।
विष्णुः सर्वेश्वरः साक्षाद् द्रष्टव्योऽस्माभिरद्य वै ॥ ३६ ॥

मर्त्य! लोकहितके लिये द्वारकापुरीमे निवास करनेवाले उन भगवान्‌का दर्शन करनेके उद्देश्यसे हम इन अनुचरोंके साथ इस समय निकले हैं। आज हमें साक्षात् सर्वेश्वर श्रीविष्णु-का दर्शन करना है ॥ ३५-३६ ॥

लोकानां प्रभवः पाता कर्ता हर्ता जगत्पतिः ।
आदिः स हि समस्तस्य प्रभवः कारणं हरिः ॥ ३७ ॥

वे श्रीहरि ही सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्तिके कारण, पालक, कर्ता, हर्ता, जगदीश्वर, सबके आदिपुरुष, उद्गमस्थान और बीज हैं ॥ ३७ ॥

कर्ता समस्तस्य हरिः पुरातनः
प्रभुः प्रभूणामपि यः सदात्मकः ।
तमादिदेवं वरदं वरेण्यं
द्रष्टुं हरिं सम्प्रति संयताः स्मः ॥ ३८ ॥

जो श्रीहरि समस्त जगत्‌के कर्ता, पुराण-पुरुष, प्रभुओंके भी प्रभु और सत्स्वरूप हैं, उन आदिदेव, वरदायक एवं वरेण्य भगवान् विष्णुका दर्शन करनेके लिये इस समय हम सब लोग उद्यत हैं ॥ ३८ ॥

यस्य प्रसादाज्जगदेवमासीत्
सप्राणिगन्धर्वमहोरगौघम् ।
देवं जगद्योनिमजं जनार्दनं
द्रष्टुं हरिं सम्प्रति संयताः स्मः ॥ ३९ ॥

जिनके कृपा-प्रसादसे प्राणियों, गन्धर्वों और बड़े-बड़े नागोंके समुदायसे युक्त यह जगत् इस रूपमें प्रकट हुआ था, उन जगत्‌की उत्पत्तिके कारणभूत अजन्मा देव जनार्दन हरिका दर्शन करनेके लिये इस समय हम सब लोग उद्यत हैं ॥ ३९ ॥

यस्योदराद् विश्वमिदं प्रभूतं
लयं च तस्मिन् समुपैति कल्पे ।
तस्यैव साक्षाद् वशवर्ति विश्वं
द्रक्ष्याम देवं पुरुषोत्तमं हरिम् ॥ ४० ॥

कल्पके आरम्भमें जिनके उदरसे यह विश्व प्रकट होता है और कल्पके अन्तमें पुनः उसीमे लीन हो जाता है। स्थिति-कालमें भी यह सारा विश्व जिन साक्षात् श्रीहरिके ही अधीन रहता है, उन पुरुषोत्तमदेव श्रीहरिका हम दर्शन करेंगे ॥

स्रष्टा च योऽसौ सकलस्य देवः
पाता च हर्ता च हरिः स एव ।
द्रक्ष्याम नित्यं भुवनेश्वरं हरिं
पुराणमाद्यं प्रभविष्णुमव्ययम् ॥ ४१ ॥

जो विष्णुदेव इस सम्पूर्ण जगत्‌के स्रष्टा हैं तथा जो श्रीहरि ही इसका पालन और संहार करनेवाले भी हैं, उन आदिपुरुष, पुरातन देवता, प्रभावशाली, अविनाशी, नित्य-स्वरूप, भुवनेश्वर श्रीहरिका हम नित्य दर्शन करेंगे ॥ ४१ ॥

अजस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता
भुवश्च कर्ता हरिरेक एव ।
तं योगिनो योगविशुद्धबुद्धिं
लभेम तेनैव मतिः समाकुला ॥ ४२ ॥

वे एकमात्र श्रीहरि ही अजन्मा ब्रह्माजीके भी उत्पादक, जगत्‌के रक्षक और भूतलके निर्माता हैं। योगसे विशुद्ध बुद्धि-वाले उन परमेश्वरको हमलोग ध्यानयोगकी साधना करके प्राप्त करेंगे। हमारी चित्तवृत्ति उन्हींसे व्याप्त है ॥ ४२ ॥

निगीर्य विश्वं सकलं जगत्पतिः
शेते शिशुत्वं समवाप्य साक्षात् ।
वटस्य पत्रे जगतां निवासः
पादौ च विक्षिप्य करौ विधुन्वन् ॥ ४३ ॥

जगत्‌के पालक और तीनों लोकोंके निवास-स्थान श्रीहरि प्रलयकालमें सम्पूर्ण विश्वको अपने भीतर निगलकर साक्षात् शिशुभावको प्राप्त हो अक्षयवटके पत्रपर दोनों पैर फेंकते और हाथ हिलाते हुए शयन करते हैं ॥ ४३ ॥

यस्योदरे देवमुनिः पुरातनो
ददर्श लोकानखिलान् स मायया ।
प्रविश्य विश्वं सकलं यथावद्
बहिर्यथाभूतमभूदिदं महत् ॥ ४४ ॥

जिनके उदरमें प्रवेश करके पुरातन देवर्षि मार्कण्डेय मुनिने उन्हींकी मायासे इन सम्पूर्ण लोकोंका दर्शन किया था। उस समय वहाँ यह सारा महान् विश्व यथावत् रूपसे उसी प्रकार स्थित था, जैसा कि पहले उनके उदरसे बाहर अनुभव-मे आया था ॥ ४४ ॥

निगीर्य विश्वं जगदादिकाले
शेते महात्मा जलधेर्जलौघे ।
देव्या श्रिया चामरलोलहस्तया
निषेव्यमाणः पुरुषोत्तमस्तदा ॥ ४५ ॥

पूर्वकालमें इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपने भीतर लीन करके वे महात्मा पुरुषोत्तम एकार्णवके जलप्रवाहमें शयन करते थे और देवी लक्ष्मी हाथसे चँवर डुलाती हुई उनकी सेवा कर रही थीं ॥ ४५ ॥

नाभेश्च यस्याविरभूत् सपत्रं
पद्मं महत्काञ्चनसप्रभं प्रभोः ।
जन्मास्पदं लोकगुरोर्यदासी-
द्विस्तारि पद्मं जगदादिसृष्टौ ॥ ४६ ॥

जगत्की सृष्टिके प्रारम्भकालमें जिन भगवान्की नाभिसे सुवर्णके समान कान्तिमान् एक विशाल कमल प्रकट हुआ, जो अपने दलोंके साथ सुशोभित होता था। वह विस्तृत कमल ही लोकगुरु ब्रह्माजीका जन्मस्थान था ॥ ४६ ॥

दधार यो भूतपतिर्महान्महीं
दंष्ट्राग्रसंस्थापितरूढमूलाम् ।
नादं महामेघ इवादिकाले
कुर्वन् वराहो मुनिगीतमूर्तिः ॥ ४७ ॥
हरिः पुराणः पुरुषोत्तमः प्रभुः
कर्ता समस्तस्य समस्तसाक्षी ।
यज्ञात्मको यज्ञपतिर्जगत्पति-
र्द्रष्टुं तमीशं वयमुद्यताः स्मः ॥ ४८ ॥

जिन महान् भूतनाथ विष्णुने आदिकालमें मुनियोंद्वारा प्रशंसित विग्रहवाले वराहरूप होकर महान् मेघके समान गर्जना करते हुए अपनी दाढ़के अग्रभागपर पृथ्वीके मूल भागको स्थापित करके उसे जलसे ऊपर उठाया था, जो पुराण-पुरुषोत्तम प्रभु श्रीहरि समस्त जगत्के कर्ता, साक्षी, यज्ञरूप एवं यज्ञके अधिपति हैं और समस्त जगत्का पालन करते हैं, उन्हीं परमेश्वरका दर्शन करनेके लिये हम उद्यत हुए हैं ॥ ४७-४८ ॥

केचिद् बहुत्वेन वदन्ति देव-
मेकात्मना केचिदिमं पुराणम् ।
वेदान्तसंस्थापितसत्त्वयुक्तं
द्रष्टुं तमीशं वयमुद्यताः स्मः ॥ ४९ ॥

कोई आराधक उन विष्णुदेवका इन्द्र आदि अनेक देवताओंके रूपमें वर्णन करते हैं और कोई उपासक इन पुराण-पुरुषका एक रूपमें ही चिन्तन करते हैं। वेदान्त-शास्त्रमें प्रतिपादित विशुद्ध अद्वैत सत्तासे युक्त उन परमेश्वर-का दर्शन करनेके लिये हमलोग उद्यत हुए हैं ॥ ४९ ॥

अनेकमेके बहुधा वदन्ति
श्रुतिस्मृतिन्यायनिविष्टचित्ताः ।
आहुर्यमात्मानमजं पुराविदो
द्रष्टुं तमीशं वयमुद्यताः स्मः ॥ ५० ॥

एक श्रेणीके विद्वान् श्रुति-स्मृति और न्यायमें अपने चित्तको लगाये रखकर जिन परमेश्वरका अनेक रूपोंमें अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं तथा पुराणवेत्ता पुरुष जिन्हें सबका आत्मा और अजन्मा बताते हैं, उन्हीं सर्वेश्वरका दर्शन करनेके लिये हम उद्यत हुए हैं ॥ ५० ॥

यं प्राहुरीड्यं वरदं वरेण्य-
मेकान्ततत्त्वं मुनयः पुरातनाः ।
यं सर्वगं देवमजं जनार्दनं
द्रष्टुं हरिं सम्प्रति संयताः स्मः ॥ ५१ ॥

जिन्हें प्राचीन मुनि स्तुति करनेके योग्य, वरदायक, वरेण्य और परमतत्त्वस्वरूप बताते हैं। साथ ही जिन्हें सर्वव्यापी और अजन्मा कहते हैं, उन्हीं जनार्दनदेव श्रीहरिका दर्शन करनेके लिये हमलोग इस समय उद्यत हुए हैं ॥ ५१ ॥

यस्मिन् विश्वमिदं प्रोतमादिकाले जगत्पतौ ।
तं द्रष्टुमभिसंवृत्ताः किं नु वक्ष्याम साम्प्रतम् ॥ ५२ ॥

आदिकालमें जिन सूत्रस्वरूप जगदीश्वरमें यह सम्पूर्ण जगत् मनकेकी भाँति पिरोया गया था, उन्हीं भगवान् विष्णुका दर्शन करनेके लिये हम उद्यत हुए हैं। अब इस समय और क्या कहें ? ॥ ५२ ॥

गच्छामो वयमन्यत्र गच्छ त्वं काममन्यतः ।
नियमोऽप्यस्ति नो मर्त्य यथेष्टं गच्छ साम्प्रतम् ॥ ५३ ॥
रात्रिमध्यमनुप्राप्तं नात्र कार्या विचारणा ।

मर्त्य ! अब हम अन्यत्र जाते हैं। तुम भी इच्छानुसार और कहीं जा सकते हो। हमारे नित्य नियमका भी समय आ गया है; क्योंकि आधी रात हो गयी, अतः इस समय तुम इच्छानुसार जहाँ चाहो, चले जाओ। इस विषयमें अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ५३½ ॥

इत्युक्त्वा घोररूपोऽसौ पिशाचो विकृताननः ॥ ५४ ॥
तस्मिन्नेव समे देशे पीत्वा च रुधिरं बहु ।
भक्षयित्वा यथाकामं मांसराशिं विचक्षणः ॥ ५५ ॥
अपः संस्पृश्य तत्रैव पार्श्वे संस्थाप्य साधनम् ।
अन्त्रपाशं महाघोरं संस्थाप्य विपुलं महत् ॥ ५६ ॥
आसनं कुशसंयुक्तं कृत्वा चाभ्युक्ष्य वारिणा ।
उत्सार्य श्वगणान् सर्वान् यत्नेन महता तदा ॥ ५७ ॥
सुखासनं समास्थाय समाधौ यतते श्वपः ।

ऐसा कहकर उस विकराल मुखवाले घोररूपधारी विचक्षण पिशाचने उसी समतल प्रदेशमें बहुत-सा रक्त पीकर इच्छानुसार मांसराशिका भक्षण किया। तत्पश्चात् जलका आचमन करके वहीं पार्श्वभागमें अपनी साधनसामग्री रख दी और अँतड़ियोंका महाभयंकर विशाल पाश भी वहीं बगलमें डाल दिया। इसके बाद कुशयुक्त आसन बिछाकर उसकी शुद्धिके लिये जल छिड़का और अपने सभी कुत्तोंको बड़े प्रयत्नसे दूर हटाया। तदनन्तर सुखासनपर बैठकर वह कुत्ता-पालक पिशाच समाधिके लिये यत्न करने लगा ॥ ५४—५७½ ॥

एकचित्तस्तदा भूत्वा नमस्कृत्य च केशवम् ।
इमं मन्त्रं पठन् घोरः पिशाचो भक्तवत्सलम् ॥ ५८ ॥

उस समय वह भयानक पिशाच एकचित्त हो भक्तवत्सल भगवान् केशवको नमस्कार करके इस मन्त्रमय स्तोत्रका पाठ करने लगा— ॥ ५८ ॥

नमो भगवते तस्मै वासुदेवाय चक्रिणे ।
नमस्ते गदिने तुभ्यं वासुदेवाय धीमते ॥ ५९ ॥

'उन चक्रधारी भगवान् वासुदेवको नमस्कार है, सबके

भीतर निवास करनेवाले देवता आप बुद्धिमान् गदाधरको नमस्कार है ॥ ५९ ॥

ॐ नमो नारायणाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।
मम भूयान्मनःशुद्धिः कीर्तनात् तव केशव ॥ ६० ॥

'प्रभावशाली, सर्वव्यापी, सच्चिदानन्दघन नारायणदेवको नमस्कार है । केशव ! आपके कीर्तनसे मेरे मनकी शुद्धि हो जाय ॥ ६० ॥

जन्मेदमीदृशं घोरं मा भून्मम दुरासदम् ।
देवदूतो भविष्यामि स्मरणात् तव गोपते ॥ ६१ ॥

'इन्द्रियोंके नियन्ता नारायण ! अब पुनः मुझे ऐसा दुःखप्रद भयङ्कर जन्म न प्राप्त हो । मैं आपके स्मरणसे देवदूत हो जाऊँ ॥ ६१ ॥

तव चक्रप्रहारेण कायो नश्यतु मामकः ।
मम भूयो भवो मा भूदेषा मे प्रार्थना विभो ॥ ६२ ॥

'प्रभो ! आपके चक्रके प्रहारसे मेरा यह शरीर नष्ट हो जाय और फिर मुझे यह संसारबन्धन प्राप्त न हो, यही मेरी प्रार्थना है ॥ ६२ ॥

अर्थिनां कल्पवृक्षोऽसि दाता सर्वस्य सर्वदा ।
यत्र यत्र भवेज्जन्म तत्र तत्र भवान् हृदि ॥ ६३ ॥
वर्ततां मम देवेश प्रार्थनैषा ममापरा ।

'आप याचकोंके लिये कल्पवृक्ष हैं । सदा सबके दाता हैं । देवेश्वर ! जहाँ-जहाँ मेरा जन्म हो, वहाँ-वहाँ आप मेरे हृदयमें विराजमान रहें । यह मेरी दूसरी प्रार्थना है ॥६३½॥

नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं भवत्वेवं सदा मम ॥ ६४ ॥
निर्विघ्ना प्रार्थना देव नमस्तेऽस्तु सदा मम ।

'देव ! आपको नमस्कार है ! देव ! आपको नमस्कार है ! इस प्रकार मेरी प्रार्थना सदा निर्विघ्न चलती रहे । देव ! आपको सदा ही मेरा नमस्कार है ॥ ६४½ ॥

यदा मे मरणं भूयात् तदा मा भूत् स्मृतिभ्रमः ॥ ६५ ॥
दिने दिने क्षणं चित्तं त्वयि संस्थं भवत्विति ।
एवं प्रेरय मां देव मा भूत् ते चित्तमीदृशम् ॥ ६६ ॥
नृशंसोऽयं पिशाचोऽयं दयास्मिन् का भवेदिति ।

'जब मेरा मरणकाल उपस्थित हो, उस समय मेरी स्मरणशक्तिमें भ्रम न उत्पन्न हो (*मैं उस समय भी आपका ही स्मरण करता रहूँ*) । देव ! प्रतिदिन और प्रतिक्षण मेरा चित्त आपमें ही स्थिर रहे । आप मुझे ऐसी ही प्रेरणा देते रहें । आपके चित्तमें कभी ऐसा भाव न आये कि 'यह क्रूर है, पिशाच है । इसपर क्या दया हो सकती है ?' ॥६५-६६½॥

एवं चिन्तय मां देव भृत्यो ममायमिति प्रभो ॥ ६७ ॥
परपीडा न मत्तोऽस्तु नमस्ते भगवन् प्रभो ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु मा भूवन् साम्प्रतं हि मे ॥ ६८ ॥

'प्रभो ! देव ! आप तो ऐसा ही विचार करें कि 'यह बेचारा मेरा सेवक है ।' भगवन् ! प्रभो ! आपको नमस्कार है । आप ऐसी कृपा करें, जिससे मेरेद्वारा दूसरोंको पीड़ा न पहुँचे तथा अब मेरी इन्द्रियाँ विषयोंमें न फँसें ॥ ६७-६८ ॥

अन्तकाले ममाप्येवं प्रसादात् तव केशव ।
पृथिवीं यातु मे घ्राणं रसनां यातु मे पयः ॥ ६९ ॥
सूर्यश्च यातु मे चक्षुः स्पर्शं यातु च मारुतः ।
श्रोत्रमाकाशमप्येतु मनः प्राणं च गच्छतु ॥ ७० ॥

'केशव ! अन्तकालमें आपकी कृपासे मेरी भी ऐसी स्थिति हो—पृथिवी मेरी घ्राणेन्द्रियको ग्रहण करे, जल मेरी रसनेन्द्रियको अपना ले, सूर्य मेरी नेत्रेन्द्रियको तथा वायु मेरी त्वचा अपनेमें संयुक्त कर लें । इसी तरह आकाश भी मेरी श्रवणेन्द्रियको अपनेमें मिला ले तथा प्राण (चन्द्रमा) मेरे मनसे संयुक्त हों ॥ ६९-७० ॥

जलं मां रक्षतां नित्यं पृथिवी रक्षतां हरे ।
सूर्यो मां रक्षतां विष्णो नमस्ते सूर्यतेजसे ॥ ७१ ॥

'हरे ! जल सदा मेरी रक्षा करे । पृथिवी भी रक्षा करे । विष्णो ! सूर्यदेव मेरी रक्षा करें । आप सूर्यके समान तेजस्वी हैं, आपको नमस्कार है ॥ ७१ ॥

वायुर्मां रक्षतां दुःखादाकाशं च जनार्दन ।
न मनः सर्वगं देव रक्षतां विषयान्तरे ॥ ७२ ॥

'जनार्दन ! वायु और आकाश दुःखसे मेरी रक्षा करें । देव ! सर्वस्वरूप परमात्माके चिन्तनमें लगा हुआ मेरा मन विषय और भेद-बुद्धिकी रक्षा न करे (अर्थात्) वह न तो विषयपरायण हो, न भेद-बुद्धिको ही अपनाये) ॥ ७२ ॥

मनो विपर्यये घोरे पुरुषान् हन्ति नित्यशः ।
पापेषु योजयेत् पुंसः परपीडात्मकेषु च ॥ ७३ ॥

'इसके विपरीत यदि मन घोर विपर्यय (विषय-सेवन आदि) में फँस जाय तो वह पुरुषोंका नाश कर डालता है । दूसरोंके पीडनरूप पापोंमें फँसा देता है ॥ ७३ ॥

मनस्तद् रक्षतां देव भूयो भूयो जनार्दन ।
मा भून्मनसि कालुष्यं मनो मे निर्मलं भवेत् ॥ ७४ ॥

'देव जनार्दन ! आप मेरे उस मनकी बारंबार रक्षा करें, मेरे मनमें मलिनता न रहे, मेरा मन निर्मल हो जाय ॥ ७४ ॥

कलुषं तस्य यच्चित्तं नरके पातयत्यमुम् ।
बाह्यानि निर्मलान्येवमिन्द्रियाणि भवन्त्युत ॥ ७५ ॥
न तानि कार्यवन्तीह मनश्चेत् कलुषं भवेत् ।

'क्योंकि जीवका जो मलिन चित्त है, वह उसे नरकमें गिराता है । मनके शुद्ध होनेसे बाह्य इन्द्रियाँ भी निर्मल हो जाती हैं और यदि मन मलिन हो तो वे इन्द्रियाँ भी मलिन होनेके कारण इस जगत्में कोई सत्कार्य नहीं कर सकतीं ॥ ७५½ ॥

नाज्ञानां मुष्टिनामेध्यं गृहीत्वा यो व्यवस्थितः ॥ ७६ ॥
बहिः प्रक्षालनं कुर्वन् किं भवेत् तस्य केशव ।

व्यर्थो हि केवलं तस्य प्रग्रहो बाह्यगोचरः ॥ ७७ ॥

'केशव ! जो मनुष्य अपने अपवित्र मनको मुट्ठीमें किये बिना केवल अङ्गोंका बाहरसे प्रक्षालन करता है, उसे क्या लाभ होगा ? उसका केवल बाहरसे शुद्धिके लिये आग्रह व्यर्थ ही है ॥ ७६-७७ ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन चित्तं रक्ष जनार्दन ।
बलवानिन्द्रियग्रामो वारयैनं जनार्दन ॥ ७८ ॥

'अतः जनार्दन ! सम्पूर्ण प्रयत्नद्वारा आप मेरे चित्तकी रक्षा कीजिये । जीवोंकी याचना पूर्ण करनेवाले देव ! इन्द्रियों-का समूह बड़ा बलवान् है, इसे रोकिये ॥ ७८ ॥

परीवादाज्जगन्नाथ वाचं रक्ष दुरुद्वहाम् ।
परद्रव्यान्मनो रक्ष परदाराज्जनार्दन ।
सर्वत्र मे दया भूयात् प्रसादात् तव केशव ॥ ७९ ॥

'जगन्नाथ ! मेरी दुर्वह वाणीको आप परनिन्दासे बचाइये । जनार्दन ! मेरे मनको पराये धन और परायी स्त्रीसे दूर रखिये । केशव ! आपकी कृपासे मेरे मनमें सब प्राणियों-के प्रति दया हो ॥ ७९ ॥

त्वय्येव भक्तिरचला भूयाद् भूतेषु मे दया ।
बहुनात्र किमुक्तेन शृणुष्वेदं वचो मम ॥ ८० ॥

'प्रभो ! आपमें ही मेरी अविचल भक्ति हो और समस्त प्राणियोंके प्रति दया हो । इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ ? मेरी यह एक ही बात सुन लीजिये ॥ ८० ॥

सुखे दुःखे च रागे च भोजने गमने तथा ।
जाग्रत्स्वप्नेषु सर्वत्र त्वय्येव रमतां मनः ॥ ८१ ॥
मामकं देवदेवेश नमस्तेऽस्तु जनार्दन ।

'देवदेवेश्वर ! जनार्दन ! सुखमें, दुःखमें, राग और भोजनमें, चलने-फिरनेमें तथा जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं-में सर्वत्र आपमें ही मेरा मन रमण करे, आपको नमस्कार है' ॥ ८१½ ॥

इति ब्रुवन् घोरतमो जात्या हीनो न चित्ततः ॥ ८२ ॥
पिशाचो भगवद्भक्तः समाधिं समपद्यत ।

इस तरह बोलता हुआ वह अत्यन्त भयङ्कर पिशाच, जो केवल जातिसे निम्नकोटिका था, हृदयसे नहीं, समाधिस्थ हो गया । वह महान् भगवद्भक्त था ॥ ८२½ ॥

दृढं बद्ध्वाऽऽत्मनः कायमान्त्रपाशेन मांसपः ॥ ८३ ॥
निश्चलेनैव मनसा सुखमास्ते स संयतः ।
ध्यायन् हरिं जगद्योनिं विष्णुं पीताम्बरं शिवम् ॥ ८४ ॥

वह मांसभक्षी पिशाच अपने शरीरको आँतड़ियोंके सुदृढ़ पाशसे बाँधकर निश्चलचित्तके द्वारा सुखपूर्वक संयतभावसे बैठ गया और जगत्‌की उत्पत्तिके कारणभूत, पीताम्बरधारी, मङ्गलकारी, सर्वव्यापी श्रीहरिका ध्यान करने लगा ॥ ८३-८४ ॥

मुकुन्दमादिपुरुषमेकाकारमनामयम् ।
नित्यं शुद्धं ज्ञानगम्यं कारणं सर्वदेहिनाम् ॥ ८५ ॥

जो नित्य, शुद्ध, ज्ञानगम्य, समस्त देहधारियोंके कारण-भूत, रोग-शोकसे रहित, एकाकार (अद्वितीय) और आदिपुरुष हैं, उन मुकुन्ददेवका चिन्तन करने लगा ॥ ८५ ॥

नासिकाग्रं समालोक्य पठन् ब्रह्म सनातनम् ।
निर्वातस्थो यथा दीपः प्रोच्चरन् प्रणतः सदा ॥ ८६ ॥

नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाये सनातन ब्रह्मस्वरूप प्रणवका जप करते हुए, वायुशून्य प्रदेशमें जलनेवाले दीपक-की भाँति अविचलभावसे स्थित हो, वह निरन्तर प्रणाम एवं मन्त्रपाठ करने लगा ॥ ८६ ॥

प्रणवं वाचकं मत्वा वाच्यं ब्रह्मेति निश्चितः ।
एकाग्रं सततं कृत्वा चित्तं विष्णौ समर्पितम् ॥ ८७ ॥
विकल्परहितं चित्तं हृदि मध्ये न्यवेशयत् ।

प्रणवको वाचक मानकर और परब्रह्म परमात्माको उसका वाच्यार्थ निश्चित करके उसने अपने चित्तको निरन्तर एकाग्र रखते हुए उसे भगवान् विष्णुमें समर्पित कर दिया । उस विकल्परहित चित्तको हृदयकमलके भीतर दृढ़तापूर्वक स्थापित कर दिया ॥ ८७½ ॥

पुण्डरीके शुभदले समावेश्य जगत्पतिम् ॥ ८८ ॥
आस्ते सुखं महायोगी पिशिताशस्तदा महान् ।
त्रिधामानं जपंस्तत्र स्मरन् विष्णुं सनातनम् ॥ ८९ ॥

शुभ दलोंसे युक्त उस हृदयकमलके आसनपर जगदीश्वर श्रीहरिको प्रतिष्ठित करके वह महायोगी, महान् मांसभक्षी पिशाच वहाँ सुखपूर्वक बैठा रहा तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन तीन रूपोंमें विराजमान सनातन विष्णुका वहाँ स्मरण करता रहा ॥ ८८-८९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां घण्टाकर्णचित्तसमाधावशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रीकृष्णकी कैलासयात्राके प्रसङ्गमें घण्टाकर्णके चित्तकी समाधिविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

पिशाचको समाधि-अवस्थामें भगवान् विष्णुका साक्षात्कार

वैशम्पायन उवाच

ततः स भगवान् विष्णुः पिशाचं दृष्टवांस्तदा ।
चिन्तयन्तं स्वमात्मानं शुद्धबुद्धिसमन्वितम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उन

भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण) ने उस समय उस पिशाचकी ओर देखा, जो अपने आत्मस्वरूप श्रीहरिका ही चिन्तन कर रहा था। वह शुद्ध बुद्धिसे सम्पन्न था ॥ १ ॥

आत्मन्यवस्थितं साक्षात् पठन्तं प्रणवं सकृत्।
प्रार्थयन्तं स्वमात्मानमेकान्ते नियतं हरिः ॥ २ ॥

वह हृदयकमलमें स्थित हो साक्षात् प्रणवका प्रत्येक नाम या मन्त्रके साथ एक बार उच्चारण करता था और अपने आत्मस्वरूप विष्णुसे ही अभीष्ट मनोरथके लिये प्रार्थना करता था। इस प्रकार एकान्तमें नियमपूर्वक ध्यान लगाये घण्टाकर्णको श्रीहरिने देखा ॥ २ ॥

अचिन्तयज्जगन्नाथः कारणं पुण्यसंचये।
ध्यात्वा तु सुचिरं विष्णुः कारणं पुण्यकर्मणः ॥ ३ ॥

उस समय उन जगदीश्वर श्रीहरिने सोचा कि इसके पुण्यसंचयमें क्या कारण है। उसके पुण्यकर्मके कारणके विषयमें चिरकालतक चिन्तन करके वे इस निश्चयपर पहुँचे ॥ ३ ॥

धनदस्योपदेशेन पठन् सुबहुशः क्षितौ।
वासुदेवेति कृष्णेति माधवेति च मां सदा ॥ ४ ॥

यह कुबेरके उपदेशसे पृथ्वीपर अनेक बार वासुदेव, कृष्ण, माधव इत्यादि नाम ले-लेकर निरन्तर मेरा कीर्तन करता रहा है ॥ ४ ॥

जनार्दन हरे विष्णो भूतभावनभावन।
नराकार जगन्नाथ नारायण परायण ॥ ५ ॥
इति मां नामभिर्नित्यं पठत्येव दिवानिशम्।
स्वपञ्जाग्रंस्तथा तिष्ठन् भुञ्जन् गच्छंस्तथा वदन् ॥ ६ ॥

जनार्दन! हरे! विष्णो! भूतभावनभावन! नराकार! जगन्नाथ! नारायण! परायण! इत्यादि नामोंद्वारा नित्य दिन-रात मुझे ही पुकारता रहा है। सोते, जागते, खड़े होते, खाते-पीते, चलते-फिरते और बोलते समय मेरे ही नामोंका कीर्तन करता आया है ॥ ५-६ ॥

भक्षयन् मांसपिटकं पिबञ्छोणितमेव वा।
बाधमानश्च सुचिरं हत्वा चापि मृगान् बहून् ॥ ७ ॥
हनने भोजने चैव जाग्रत्स्वप्ने तथैव च।
सर्वेष्वपि च कार्येषु कर्ताहमिति मन्यते ॥ ८ ॥
एतस्य कर्मणः पाक एष घोरस्य कर्मणः।

पिटारीकी पिटारी मांस खाते अथवा खून पीते समय भी यह मेरे नामोंकी रट लगाता रहा है। चिरकाल तक प्राणियोंको कष्ट देकर और बहुत-से मृगोंका वध करके भी उनके हनन और भोजनके समय, जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थाओंमें तथा सभी कार्योंमें यह मुझ वासुदेवको ही कर्ता मानता आया है। इसके इस घोर कर्मके परिपाक (विनाश) का यह समय प्राप्त हुआ है ॥ ७-८½ ॥

निश्चित्यैवं जगन्नाथः प्रीतस्तस्य बभूव ह ॥ ९ ॥
अदर्शयत् स्वमात्मानमनन्यस्य जगत्पतिः।
शुद्धेऽन्तःकरणे तस्य पिशाचस्यापि भूमिप ॥ १० ॥

ऐसा निश्चय करके वे जगन्नाथ उसपर बहुत प्रसन्न हुए। राजन्! तदनन्तर जगदीश्वर श्रीहरिने उस अनन्य-भक्त पिशाचको भी उसके शुद्ध अन्तःकरणमें अपने स्वरूपका दर्शन कराया ॥ ९-१० ॥

स च घोरः पिशाचोऽपि ददर्शात्मनि केशवम्।
पीतकौशेयवसनं पद्माक्षं श्यामलं हरिम् ॥ ११ ॥

उस भयङ्कर पिशाचने भी अपने अन्तःकरणमें रेशमी पीताम्बरधारी, कमलनयन, श्यामसुन्दर पापहारी केशवका दर्शन किया ॥ ११ ॥

शङ्खिनं चक्रिणं विष्णुं स्रग्विणं गदिनं विभुम्।
किरीटिनं कौस्तुभिनं श्रीवत्साच्छादितोरसम् ॥ १२ ॥

वे भगवान् विष्णु हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा लिये हुए थे। उनके गलेमें वनमाला, मस्तकपर किरीट और वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणिकी शोभा हो रही थी। उनका हृत्प्रदेश श्रीवत्सकी आभासे आच्छादित हो रहा था ॥ १२ ॥

नीलमेघनिभं कान्तं गरुडस्थं प्रभञ्जनम्।
चतुर्भुजं शुभगिरं निश्चलं सर्वगं शिवम् ॥ १३ ॥

वे नीलवर्णके मेघकी भाँति कमनीय कान्ति धारण करते थे। गरुड़की पीठपर विराजमान थे और भवभय-भञ्जन करनेवाले थे। उनके चार भुजाएँ शोभा पाती थीं। उनकी वाणी मङ्गलमयी थी। वे सर्वव्यापी कल्याणस्वरूप प्रभु निश्चलभावसे खड़े थे ॥ १३ ॥

अनादिनिधनं नित्यं मायाविनममायिनम्।
सत्ययुक्तं सदा शुद्धं बुद्धिगम्यं सदामलम् ॥ १४ ॥

उनका न कहीं आदि है न अन्त। वे नित्य मायावी (मायापति) हैं। उनपर किसीकी माया नहीं चलती है। वे सत्ययुक्त, सदा शुद्ध, बुद्धिगम्य तथा नित्य निर्मल हैं ॥ १४ ॥

मनस्येवं जगन्नाथं दृष्ट्वा विष्णुमनेकधा।
अनुन्मील्यैव नयने कृतार्थोऽस्मीत्यमन्यत ॥ १५ ॥

इस प्रकार हृदयके भीतर प्रकट हुए जगदीश्वर विष्णुका बारंबार दर्शन करके आँख खोले बिना ही अपने आपको कृतार्थ मानने लगा ॥ १५ ॥

अथ दृष्टो हरिर्विष्णुः साक्षात् सर्वत्रगः शुभः।
प्रसन्नो हि हरिर्मह्यं तेनाहं दृष्टवान् हरिम् ॥ १६ ॥

अहो! अब सर्वव्यापी, शुभस्वरूप, साक्षात् भगवान् विष्णु हरिने मुझे दर्शन दिया है; निश्चय ही वे श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हैं; इसीसे मैं उनका दर्शन पा सका हूँ ॥ १६ ॥

सिद्धं मे जन्मनः कृत्यं किमतः कृत्यमस्ति मे।
ग्रन्थयो मम निर्भिन्ना वश्यान्येवेन्द्रियाणि मे ॥ १७ ॥

मेरे जन्मका प्रयोजन सिद्ध हो गया; इससे बढ़कर मेरे लिये अब और कौन-से कर्तव्य शेष हैं। मेरी अज्ञानमयी गाठें खुल गयीं और इन्द्रियाँ भी वशमें हो ही गयीं ॥ १७ ॥

प्रायेण जितमित्येव मनो मन्ये स्मृते हरौ।
एषणाश्च निरस्ता मे प्रसन्नोऽहं तथाभवम्॥ १८॥

श्रीहरिका स्मरण होनेपर मैं ऐसा मानता हूँ कि प्रायः मेरा मन जीत लिया गया। मेरी त्रिविध एषणाएँ (लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा) दूर हो गयीं और मैं पूर्ण प्रसन्न हो गया ॥ १८ ॥

एतेभ्योऽपि पिशाचेभ्यो निर्मुक्तः साम्प्रतं तथा।
योऽसौ ममानुजः साक्षात् स च भक्तस्तथा हरौ॥ १९॥
कालेन चैव निर्मुक्तो विष्णोः सायुज्यमाप्नुयात्।

अब इन पिशाचोंसे भी सम्बन्ध छूट गया। वह जो मेरा सगा छोटा भाई है, वह भी भगवान् विष्णुका भक्त है, अतः समयानुसार मुक्त होकर वह भी विष्णुका सायुज्य प्राप्त कर लेगा ॥ १९½ ॥

इत्येवं चिन्तयित्वा स आन्त्रपाशं विभिद्य च॥ २०॥
क्रमेण प्राणानुन्मुच्य विलोक्य च दिशस्तथा।
शरीरं सुगमं कृत्वा प्राविशत् स सुखेन ह॥ २१॥

ऐसा सोचकर उसने आँतोंका पाश काट डाला और क्रमशः प्राणोंको उन्मुक्त करके सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखकर शरीरको सुगम करके उसके भीतर सुखपूर्वक प्रविष्ट हुआ ॥ २०-२१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां पिशाचस्य विष्णुसाक्षात्कारे एकाशीतितमोऽध्यायः॥ ८१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रीकृष्णकी कैलासयात्राके प्रसङ्गमें पिशाचको विष्णुका साक्षात्कारविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

घण्टाकर्णद्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति

वैशम्पायन उवाच

पिशिताशो जगन्नाथं ददर्शाथ जगद्गुरुम्।
समाधौ च यथा दृष्टं भूमौ चापि तथा हरिम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पिशाचने जगत्‌के स्वामी जगद्गुरु श्रीकृष्णका दर्शन किया। समाधि-अवस्थामें उसने श्रीहरिके रूपकी जैसी झाँकी की थी, उसी रूपमें उसने भूमिपर बैठे हुए श्रीकृष्णको देखा ॥ १ ॥

अयं विष्णुरयं विष्णुरित्यूचे पिशिताशनः।
समाधौ च यथा दृष्टः सोऽयमत्रापि दृश्यते।
इत्युक्त्वा च पुनर्ब्रूते नृत्यन्निव हसन्निव॥ २॥

उन्हें देखते ही वह मांसभक्षी पिशाच बोल उठा—'ये ही विष्णु हैं, ये ही विष्णु हैं; क्योंकि समाधिमें वे मुझे जिस रूपमें दिखायी दिये थे, उसी रूपमें यहाँ भी उनका दर्शन हो रहा है।' ऐसा कहकर वह पुनः नाचता और हँसता हुआ-सा कहने लगा—॥ २ ॥

अयं स चक्री शरशार्ङ्गधन्वा
गदी रथी सध्वजतूणपाणिः।
सहस्रमूर्धा सकलामरेशो
जगत्प्रसूतिर्जगतां निवासः॥ ३॥

'ये ही वे चक्रधारी, शार्ङ्ग-धनुष और बाण ग्रहण करनेवाले, गदाधर, रथारूढ तथा ध्वज एवं तरकस लिये रहनेवाले, सहस्र मस्तकवाले, सर्वदेवेश्वर, जगत्स्रष्टा तथा तीनों लोकोंके निवासस्थान श्रीहरि हैं ॥ ३ ॥

विष्णुर्जिष्णुर्जगन्नाथः पुराणः पुरुषोत्तमः।
विश्वात्मा विश्वकर्ता यः सोऽयमेष सनातनः॥ ४॥

'जिन्हें विष्णु, जिष्णु, जगन्नाथ, पुराणपुरुष, पुरुषोत्तम, विश्वात्मा और विश्वकर्ता कहा गया है, वे सनातन परमात्मा ये ही हैं ॥ ४ ॥

अस्यैव देवस्य हरेः स्तनान्तरे
विराजते कौस्तुभरत्नदीपः।
यस्य प्रसादाज्जगदेतदादौ
विराजते चन्द्रमसेव रात्रिः॥ ५॥

'इन्हीं श्रीनारायणदेवके वक्षःस्थलमें कौस्तुभमणिरूपी दीप उद्भासित होता है। जिसके प्रसादसे यह जगत् आदिकालसे ही चन्द्रमासे रात्रिकी भाँति प्रकाशित हो रहा है ॥५॥

योऽसौ पृथ्वीं दधाराशु दंष्ट्रया जलसंचयात्।
योऽयमेव हरिः साक्षाद् वाराहं वपुरास्थितः॥ ६॥

'जो वाराहरूपमें प्रकट हुए थे तथा जिन्होंने पृथ्वीको अपनी दाढ़द्वारा एकार्णवकी जलराशिसे तत्काल बाहर निकाला और जलके ऊपर स्थापित किया, वे साक्षात् श्रीहरि ये ही हैं॥

बद्ध्वा तथा दानवमुग्रपौरुषं
ददौ च शक्राय ततोऽनुराज्यम्।
बलिं बलादेष हरिः स वामनः
स्तुतश्च भक्त्या मुनिभिः पुरातनैः॥ ७॥

'उग्र पुरुषार्थवाले दानव बलिको बलपूर्वक बाँधकर इन्हीं वामनरूपधारी श्रीहरिने देवराज इन्द्रको त्रिलोकीका राज्य अर्पित किया। उस समय प्राचीन महर्षियोंने भक्तिभावसे इनकी स्तुति की थी ॥ ७ ॥

दंष्ट्राकरालः सुमहान् हत्वा यो दानवान् रणे ।
निःशोकमखिलं लोकं चकारासौ जनार्दनः ॥ ८ ॥

'इन्हीं जनार्दनने विकराल दाढ़वाले महान् नृसिंहरूप होकर रणभूमिमें दानवोंको मारा और समस्त संसारको शोक-रहित कर दिया ॥ ८ ॥

आदौ दधारैकभुजेन मन्दरं
निर्जित्य सर्वानसुरान् महार्णवे ।
ददौ च शक्राय सुधामयं महान्
स एष साक्षादिह मामवस्थितः ॥ ९ ॥

'जिन्होंने आदिकालमें एक ही हाथसे मन्दराचलको धारण किया और महासागरके तटपर समस्त असुरोंको परास्त करके इन्द्रको अमृत प्रदान किया, वे ही ये साक्षात् महाविष्णु यहाँ मेरे निकट विराजमान हैं ॥ ९ ॥

यः शेते जलधौ नागे देव्या लक्ष्म्या सुखावहे ।
हत्वा तौ दानवौ घोरौ मधुकैटभसंज्ञितौ ॥ १० ॥

'जो प्रलयकालमें एकार्णवके जलमें मधु और कैटभ नामक दो भयंकर दानवोंका वध करके शेषनागकी सुखदायिनी शय्यापर लक्ष्मीदेवीके साथ शयन करते हैं (वे भगवान् विष्णु ये ही हैं) ॥ १० ॥

यमाहुराद्यं विबुधा जगत्पतिं
सर्वस्य धातारमजं जनित्रम् ।
अणोरणीयांसमतिप्रमाणं
स्थूलात् स्थविष्ठं हरिमेव विष्णुम् ॥ ११ ॥

'देवता जिन्हें सबका आदि, जगदीश्वर, सबका धारण-पोषण करनेवाले, अजन्मा, जन्मदाता, अणुसे भी अत्यन्त अणु, परम महान्, स्थूलसे भी स्थूलतम, हरि एवं विष्णु कहते हैं (वे ये ही हैं) ॥ ११ ॥

यत्र स्थितमिदं सर्वं प्राप्ते लोकस्य नाशने ।
आदौ यस्मात् समुत्पन्नं सोऽयं विष्णुरिति स्थितः ॥ १२ ॥

'लोकका संहार प्राप्त होनेपर यह सारा विश्व जिनमें ही स्थित होता है तथा सृष्टिके प्रारम्भमें जिनसे इसकी उत्पत्ति हुई है, वे ही ये भगवान् विष्णु यहाँ विराजमान हैं ॥ १२ ॥

यस्येच्छया सर्वमिदं प्रवृत्तं
प्रवर्तते चापि जनार्दनस्य ।
अयं स विष्णुः पुरुषोत्तमः शिवः
प्रवर्तते मामिह यादवेश्वरः ॥ १३ ॥

'जिन जनार्दनकी इच्छासे यह सारा जगत् अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त हुआ है और हो रहा है, वे शिवस्वरूप पुरुषोत्तम विष्णु ये यादवेश्वर श्रीकृष्ण ही हैं, जो यहाँ मेरे पास आये हैं ॥ १३ ॥

भृगोर्वंशे समुत्पन्नो जामदग्न्य इति श्रुतः ।
शिष्यत्वं समवाप्यैव मृगव्याधस्य यः स्थितः ॥ १४ ॥

जघान वीर्याद् बलिनं महारणे
कुठारशस्त्रेण गिरीशशिष्यः ।
सहस्रबाहुं कृतवीर्यसम्भवं
हयैर्गजैश्चैव रथैश्च निर्गतम् ॥ १५ ॥

कुरुक्षेत्रं समासाद्य यश्चकार पितृक्रियाम् ।
निःक्षत्रियमिमं लोकं कृतवानेकविंशतिः ॥ १६ ॥

'जो भृगुकुलमें उत्पन्न हो 'जामदग्न्य' के नामसे विख्यात हुए तथा मृगव्याध नामक रुद्रदेवताका शिष्यत्व ग्रहण करके स्थित हैं। महादेवजीके शिष्यभूत जिन परशुरामजीने महासमरमें कुठारनामक शस्त्रद्वारा बलवान् कृतवीर्यकुमार, सहस्रबाहु अर्जुनको जो हाथी, घोड़े और रथोंकी सेनाएँ साथ लेकर चढ़ आया था, बलपूर्वक मार डाला। तत्पश्चात् कुरुक्षेत्रमें आकर जिन्होंने पितरोंका श्राद्धकर्म सम्पन्न किया और इक्कीस बार इस जगत्को क्षत्रियोंसे सूना कर दिया (वे ये ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं) ॥ १४-१६ ॥

रघोरथ कुले जातो रामो नाम जनार्दनः ।
सीतया च श्रिया युक्तो लक्ष्मणानुचरः कृती ॥ १७ ॥

कृत्वा च सेतुं जलधौ जनार्दनो
हत्वा च रक्षःपतिमाशुगैः शरैः ।
दत्त्वा च राज्यं स विभीषणाय
दशाश्वमेधैरयजच्च योऽसौ ॥ १८ ॥

'तदनन्तर जनार्दनदेव रघुकुलमें उत्पन्न हो 'राम' नामसे विख्यात हुए। 'सीता' नामवाली लक्ष्मी देवीके साथ इनका सम्बन्ध स्थापित हुआ। इनके छोटे भाई लक्ष्मण सदा इनके ही अनुगामी बने रहे। ये बड़े पुण्यात्मा एवं विद्वान् थे। इन रामरूपधारी जनार्दनने समुद्रमें सेतु बाँधकर अपने शीघ्रगामी बाणोंद्वारा राक्षसराज रावणका वध किया और विभीषणको राज्य देकर दस अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया (वे ही ये रामस्वरूप विष्णु यहाँ उपस्थित हैं) ॥

वसुदेवकुले जातो वासुदेवेति शब्दितः ।
गोकुले क्रीडते योऽसौ संकर्षणसहायवान् ॥ १९ ॥

'तदनन्तर वे श्रीहरि वसुदेवकुलमें उत्पन्न हो वासुदेव नामसे विख्यात हुए और गोकुलमें भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करने लगे। उस समय उनके बड़े भाई बलराम उनके सहायक थे ॥ १९ ॥

उत्तानशायी शिशुरूपधारी
पीत्वा स्तनं पूतनिकाप्रदत्तम् ।
व्यसुं चकाराशु जनार्दनस्तदा
दनोः सुतां तामवसत् सुखं हरिः ॥ २० ॥

'जब वे शिशुरूप धारण करके खाटपर उतान सोये हुए थे, उस समय उन जनार्दनने पूतनाके दिये हुए स्तनको पीकर उस दानवीको तत्काल प्राणहीन कर दिया। फिर वे श्रीहरि वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ॥ २० ॥

पयःपानं तथा कुर्वन् भक्षयन् दधिपिण्डकम् ।
दाम्ना बद्धोदरो विष्णुर्मात्रा रुषितया दृढम् ॥ २१ ॥

'जब कुछ बड़े हुए, तब दूध पीते हुए छिपकर दही और माखनके लौंदे खा जाते थे। तब एक दिन रोषमें भरी हुई मैया यशोदाने उन भगवान् विष्णुकी कमरमें दृढ़तापूर्वक रस्सी बाँध दी ॥ २१ ॥

ततश्च दाम्ना सुदृढेन बद्धो
जघान योऽसौ यमलार्जुनौ च।
क्रीडन् हरिर्गोकुलवासवासी
गोपीभिरास्वाद्य मुखं स्तनं च ॥ २२ ॥

'उस सुदृढ़ बन्धनसे बँधे हुए उन दामोदरने जुड़वे अर्जुन नामक वृक्षोंको तोड़ डाला। गोकुलवासमें रहते हुए बाल-रूपधारी श्रीहरि गोपियोंके साथ खेलते हुए कभी उनका स्तन पीते और कभी मुखका आस्वादन कर लेते थे ॥ २२ ॥

वृन्दावने वसन् विष्णुर्गोपैर्गोकुलवासिभिः।
तत्र हत्वा हयं राजन् विरराजांशुमानिव ॥ २३ ॥

'वृन्दावनमें गोकुलवासी गोपोंके साथ रहते हुए श्रीहरि वहाँ अश्वरूपधारी केशीका वध करके सूर्यके समान शोभा पाने लगे ॥ २३ ॥

यः क्रीडते नागफणौ जनार्दनो
निषेव्यमाणः सह गोपदारकैः।
महाह्रदे नागपतिं जगत्पति-
र्ममर्द वीर्यातिशयं प्रदर्शयन् ॥ २४ ॥

'जो जगदीश्वर जनार्दन गोपबालकोंसे सेवित हो नागके फनोंपर क्रीडा करते थे तथा जिन्होंने अपने अतिशय पराक्रमका परिचय देते हुए यमुनाके महान् ह्रदमें नागराज कालियको रौंद डाला था (वे ही ये भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ उपस्थित हैं) ॥ २४ ॥

यो धेनुकं तालवने तत्फलैः सममच्छिनत्।
हत्वा दानवमुग्रं तं गोपान् विस्मापयत्यसौ ॥ २५ ॥

'जिन्होंने तालवनमें तालफलोंके साथ ही भयंकर दानव धेनुकासुरका उच्छेद कर डाला और उसका वध करके गोपोंको आश्चर्यमें डाल दिया (वे ही ये विष्णु यहाँ उपस्थित हैं) ॥ २५ ॥

दधार यो गोधरमुग्रपौरुषान्
महामतिर्मेघसमागमे सति।
विडम्बयञ्छक्रबलं प्रमोदयन्
गोपांश्च गोपीश्च स गोकुलं हरिः॥ २६ ॥

'जिन परम बुद्धिमान् श्रीहरिने संवर्तक मेघोंके घिर आनेपर अपने उग्र पुरुषार्थसे गोवर्धन पर्वतको हाथपर उठा लिया और इन्द्रके बलकी विडम्बना करते हुए गोपों, गोपियों और गोकुलको आनन्दमग्न कर दिया (वे ये ही हैं) ॥

गोपीनां स्तनमध्ये तु क्रीडते काममीश्वरः।
योऽसौ पिबंस्तदधरं मायामानुषदेहवान् ॥ २७ ॥

'मायासे मनुष्यरूप धारण करनेवाले जो परमेश्वर श्रीहरि गोपियोंके वक्षःस्थलपर उनके अधरामृतका पान करते हुए इच्छानुसार क्रीडा करते थे (वे ये ही हैं) ॥ २७ ॥

गोपीभिरास्वाद्य मुखं विविक्ते
शेते स रात्रौ सुखमेव केशवः।
स्तनान्तरेष्वेव तदा च तासां
कामीव कान्ताधरपल्लवं पिबन् ॥ २८ ॥

'जो केशव रात्रिके समय वृन्दावनके एकान्त प्रदेशमें गोपियोंके साथ उनके मुखारविन्दका आस्वादन करते हुए सुखपूर्वक सोते थे और कामी पुरुषके समान कान्ता (प्रेयसी) के अधर-पल्लव-रसका पान करते हुए उन गोपाङ्गनाओंके वक्षःस्थलोंपर ही शयन करते थे (वे प्रभु ये ही हैं) ॥ २८ ॥

अक्रूरेण समाहूतस्तेन गच्छन् हि यामुने।
जले यो ह्यर्चितस्तेन नागलोके स एव हि ॥ २९ ॥

'कंसके बुलानेपर अक्रूरजीके साथ जाते हुए जिन श्रीहरिका यमुनाजीके जलमें प्रकट हुए नागलोकमें पूजन किया गया था और अक्रूरने यह बात प्रत्यक्ष देखी थी, वे ही ये भगवान् श्रीकृष्ण विराज रहे हैं ॥ २९ ॥

ततश्च गच्छन् बलवाञ्जनार्दनो
हत्वा तमुग्रं रजकं बलात् पथि।
हृत्वा च वस्त्राणि यथेष्टमीश्वरो
ययौ सरामो मथुरां पुरीं हरिः ॥ ३० ॥

'तत्पश्चात् मथुराके मार्गपर चलते हुए बलरामसहित सर्वसमर्थ बलवान् जनार्दन श्रीहरिने उस उग्र स्वभाववाले धोबीको बलपूर्वक मारकर उसके हाथसे वस्त्र छीन लिये और उन्हे धारण करके मथुरापुरीमें प्रवेश किया ॥ ३० ॥

लब्ध्वा च दामानि बहूनि कामदो
दत्त्वा वरं माल्यकृते महान्तम्।
लब्ध्वानुलेपं सुरभिं च यादवः
कुब्जां चकाराशु महार्हरूपाम् ॥ ३१ ॥

'आगे जाकर उन्हें बहुत-से फूलोंके हार प्राप्त हुए, तब इच्छानुसार वर देनेवाले उन यदुनाथने मालीको महान् वर प्रदान किया। फिर कुब्जासे सुगन्धित अनुलेप पाकर उन्होंने शीघ्र ही उसे परम सुन्दर रूपवती बना दिया ॥३१॥

योऽसौ चापं समादाय मध्ये छित्त्वा महद् धनुः।
सिंहनादं महांश्चक्रे कल्पान्ते जलदो यथा ॥ ३२ ॥

'जिन्होंने कंसका विशाल धनुष हाथमें लेकर उसे बीचसे ही तोड़ डाला और प्रलयकालके महान् मेघकी भाँति गम्भीर स्वरसे सिंहनाद किया (वे ये ही हैं) ॥ ३२ ॥

हत्वा गजं घोरमुदग्ररूपं
विषाणमादाय ततोऽनु केशवः।
ननर्त रङ्गे बहुरूपमीश्वरः
कंसस्य दत्त्वा भयमुग्रवीर्यः ॥ ३३ ॥

'तत्पश्चात् कुवलयापीड नामक प्रचण्ड रूपवाले भयंकर हाथीको मारकर उसके दाँत हाथमें लिये उग्र पराक्रमी भगवान् केशव कंसको भय देते हुए रङ्गशालामें नाना प्रकारसे नृत्य करने लगे ॥ ३३ ॥

योऽसौ हत्वा महामल्लं चाणूरं निहतद्विषम् ।
यादवेभ्यो ददौ प्रीतिं कंसस्यैव तु पश्यतः ॥ ३४ ॥

'जिन्होंने शत्रुहन्ता चाणूर नामक महामल्लको कंसके सामने ही मारकर यादवोंको आनन्द प्रदान किया (वे ही ये श्रीहरि यहाँ उपस्थित हैं) ॥ ३४ ॥

जघान कंसं रिपुपक्षघातिनं
पितृद्विषं यादवनामधेयम् ।
संस्थाप्य राज्ये हरिरुग्रसेनं
सान्दीपनं काश्यमुपागतो यः ॥ ३५ ॥

'इसके बाद उन श्रीहरिने अपने पिताके साथ द्वेष रखनेवाले, शत्रुपक्षघाती, यादवनामधारी कंसको मार डाला और उसके राज्यपर उग्रसेनको स्थापित करके वे विद्याध्ययनके लिये उन सान्दीपनि मुनिके समीप गये, जिनका जन्म काश-गोत्र अथवा काशि-जनपदमें हुआ था (परंतु जो अवन्तीपुरीमें रहते थे) ॥ ३५ ॥

विद्यामवाप्य सकलां दत्त्वा पुत्रं महामुनेः ।
साग्रजोऽथ जगामाशु मथुरां यादवीं पुरीम् ॥ ३६ ॥

'उनसे सम्पूर्ण विद्या पाकर उन महामुनिको उनका मरा हुआ पुत्र वापस दे वे बड़े भाई बलरामसहित शीघ्र ही यादवोंकी राजधानी मथुरापुरीको लौट गये ॥ ३६ ॥

हत्वा निशुम्भं नरकं महामतिः
कृत्वा स घोरं कदनं जनार्दनः ।
ररक्ष विप्रान् मुनिवीरसंघान्
देवांश्च सर्वाञ्जगतो जगत्पतिः ॥ ३७ ॥

'परम बुद्धिमान् जगत्पति जनार्दनने निशुम्भ और नरकासुरका वध करके राक्षसोंका घोर संहार मचाकर ब्राह्मणों, मुनिसमूहों, वीरसमुदायों, समस्त देवताओं तथा जगत्‌की रक्षा की ॥ ३७ ॥

स एष भगवान् विष्णुरद्य दृष्टो जनार्दनः ।
कृतकृत्योऽस्मि संजातः सायुज्यं प्राप्तवानहम् ॥ ३८ ॥

'वे ही ये भगवान् विष्णु जनार्दन आज मुझे दिखायी दिये हैं। इनके दर्शनसे मैं कृतकृत्य हो गया। मुझे सायुज्य मोक्ष मिल गया ॥ ३८ ॥

येन दृष्टो हरिः साक्षात् तस्य मुक्तिः करे स्थिता ।
सोऽयमेष हरिः साक्षात् प्रत्यक्षमिह वर्तते ॥ ३९ ॥

'जिसने साक्षात् श्रीहरिका दर्शन कर लिया मुक्ति उसके हाथमें आ जाती है। यहाँ ये साक्षात् श्रीहरि प्रत्यक्ष विद्यमान हैं ॥ ३९ ॥

नूनं जन्मान्तरे पूर्वं धर्मः संचित एव मे ।
यस्य पाकः समुत्पन्नो येनासौ दृश्यते मया ॥ ४० ॥

'निश्चय ही पहले अन्य जन्मोंमें मेरे द्वारा धर्मका संचय भी हुआ ही है। जिसके फलका उदय हुआ है। जिससे मुझे इनका दर्शन प्राप्त हो रहा है ॥ ४० ॥

सर्वथा पुण्यवानस्मि नष्टसंसारबन्धनः ।
किमस्मै दीयते वस्तु किं नु वक्ष्यामि साम्प्रतम् ।
करिष्ये किमहं विष्णो वदस्वाद्य यथेप्सितम् ॥ ४१ ॥

'मैं सर्वथा पुण्यात्मा हूँ, मेरे संसार-बन्धनका नाश हो गया। मैं इन्हें कौन-सी वस्तु उपहारके रूपमें दूँ तथा इस समय इनसे क्या कहूँ ? विष्णो ! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आपकी जैसी इच्छा हो, उसे आज प्रकट कीजिये' ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा विस्तरं नादं ननर्द बहुशस्तदा ।
जहास विकृतं भूयो ननर्त पिशिताशनः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर वह पिशाच बारंबार जोर-जोरसे गर्जना करने लगा। उसने विकट अट्टहास किया, फिर वह नृत्य करने लगा ॥ ४२ ॥

नमो नमो हरे कृष्ण यादवेश्वर केशव ।
प्रत्यक्षं च हरेस्तत्र ननर्त विविधं नृप ॥ ४३ ॥

नरेश्वर ! वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके सामने ही वह 'यादवेश्वर ! केशव ! कृष्ण ! हरे ! आपको नमस्कार है ! नमस्कार है !!' ऐसा कहकर नाना प्रकारसे नृत्य करने लगा ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां घण्टाकर्णस्तुतौ द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रीकृष्णकी कैलासयात्राके प्रसङ्गमें घण्टाकर्णद्वारा भगवान्‌की स्तुतिविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥



त्र्यशीतितमोऽध्यायः

घण्टाकर्णद्वारा भगवान् श्रीकृष्णको उपहारसमर्पण, भगवान्‌का उसे वर देना और एक मरे हुए ब्राह्मणको जीवित करना

वैशम्पायन उवाच

विहस्य विकृतं भूयः प्रनृत्य च यथाबलम् ।
ब्राह्मणस्य हतस्याथ शवमादाय सत्वरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पुनः विकट

अट्टहास और यथाशक्ति नृत्य करके वह पिशाच तुरंत ही एक मारे गये ब्राह्मणका शव लेकर आया ॥ १ ॥

द्विधाकृत्य महाघोरं पिशितं केशशाड्वलम्।
ततः खण्डं समादाय अद्भिरभ्युक्ष्य यत्नतः ॥ २ ॥
विधाय पात्रे सुशुभे नमस्कृत्य जनार्दनम्।
इदं प्रोवाच देवेशं प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ॥ ३ ॥

केशोंसे युक्त उस महाघोर मांसके दो टुकड़े करके एक टुकड़ेको लेकर उसने यत्नपूर्वक जलसे धोया, तत्पश्चात् उसे एक सुन्दर पात्रमें रखकर देवेश्वर जनार्दनको नमस्कार करके वह हाथ जोड़ प्रणतभावसे खड़ा हो गया और इस प्रकार बोला—॥ २-३ ॥

गृहाण मे जगन्नाथ भक्ष्यं योग्यं तव प्रभो।
भवादृशैर्जगन्नाथ ग्राह्यं सर्वात्मना हरे ॥ ४ ॥

'जगन्नाथ! प्रभो! यह भक्ष्य आपके योग्य है। इसे ग्रहण कीजिये। जगदीश्वर! हरे! आप-जैसे प्रभुओंको भक्त-की यह भेंट सम्पूर्ण हृदयसे स्वीकार करनी चाहिये ॥ ४ ॥

भक्तिनम्रा वयं विष्णो नात्र कार्या विचारणा।
दत्तं यद् भक्तिनम्रेण ग्राह्यं तत् स्वामिना हरे ॥ ५ ॥

'विष्णो! हम भक्तिभावसे आपके प्रति विनम्र हैं, इस विषयमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। हरे! भक्तिभावसे विनीत होकर सेवकने जो वस्तु अर्पित की है, उसे स्वामीको अवश्य ग्रहण करना चाहिये ॥ ५ ॥

नवं सुसंस्कृतं भक्ष्यं ब्राह्मण्यं शवमुत्तमम्।
अस्माकं पिशिताशानां शास्त्रे नियतमेव हि ॥ ६ ॥

'यह तुरंतका मारा हुआ, संस्कारसम्पन्न, भक्षण करने योग्य, ब्राह्मणका उत्तम शव है। शास्त्रमें हम पिशाचोंके लिये इसके भोजनका विधान है ही ॥ ६ ॥

तस्माद् गृहाण भगवन् यदि दोषो न विद्यते।
इत्युक्त्वा विकृतं भूयो विहस्य स तु कामतः ॥ ७ ॥
दातुमैच्छत् तदा खण्डमस्पृश्यं तु शवस्य ह।

'अतः भगवन्! यदि कोई दोष न हो तो आप इसे ग्रहण करें।' ऐसा कहकर पुनः विकट अट्टहास करके उसने इच्छानुसार वह शवका न छूने योग्य टुकड़ा उस समय भगवान्‌को देनेकी इच्छा की ॥ ७½ ॥

ततः प्रीतोऽभवत् तस्मै मनसापूजयच्च तम्॥ ८ ॥
अहोऽस्य स्नेहकारुण्यं मयि सर्वत्र वर्तते।
इति संचिन्त्य मनसा प्रोवाच यदुपुङ्गवः ॥ ९ ॥

इससे भगवान् श्रीकृष्ण उसपर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मन-ही-मन उसकी प्रशंसा करते हुए कहा—'अहो! इसके मनमें मेरे प्रति सर्वत्र स्नेह और करुणा विद्यमान है।' मनमें ऐसा सोचकर यदुकुलतिलक श्रीकृष्णने उससे कहा—॥

अलमेतेन सर्वत्र पिशाच पिशिताशन।
अस्पृश्य मादृशैरेतद् ब्राह्मण्यं शवमुत्तमम् ॥ १० ॥

'कच्चा मांस खानेवाले पिशाच! सर्वत्र इस मांसका ही उपयोग या समर्पण व्यर्थ है। जिसे तुम ब्राह्मणका उत्तम शव बता रहे हो, यह मुझ-जैसे लोगोंके लिये छूने योग्य भी नहीं है ॥ १० ॥

ब्राह्मणः सर्वथा पूज्यो जन्तुभिर्धर्मकाङ्क्षिभिः।
पिशाचा घोरकर्माणो यतन्ते ब्रह्महिंसने ॥ ११ ॥

'धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले जीवोंके लिये ब्राह्मण सर्वथा पूजनीय है। घोर कर्म करनेवाले पिशाच ही ब्राह्मणकी हिंसाके लिये प्रयत्न करते हैं ॥ ११ ॥

न हन्तव्याः सदा विप्रास्तद्धिंसा नरकावहा।
तस्मादस्पृश्यमस्माभिर्नात्र कार्या विचारणा ॥ १२ ॥

'ब्राह्मणोंकी हिंसा कदापि नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह नरकमें ले जानेवाली है, अतः यह शव हमारे लिये सर्वथा अस्पृश्य है। इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

भक्त्या प्रीतोऽस्मि भद्रं ते मनो निर्मलमेतया।
मनःशुद्ध्यै कृतो यत्नस्ततः प्रीतोऽस्मि मांसप॥ १३ ॥

'मांस खानेवाले पिशाच! तुम्हारा भला हो! मैं तुम्हारी भक्तिसे बहुत प्रसन्न हूँ; क्योंकि इससे मन निर्मल हो जाता है। तुमने मनःशुद्धिके लिये यत्न किया है। इसलिये मैं तुम-पर प्रसन्न हूँ ॥ १३ ॥

असत्संकीर्तनाच्छश्वच्छुद्धं हि करणं तव।
अतीव मनसा प्रीत इत्युक्त्वा भगवान् हरिः ॥ १४ ॥
पस्पर्शाङ्गं तदा विष्णुः पिशाचस्याथ सर्वतः।
करेण मृदुना देवः पापान्निर्मोचयद्धरिः ॥ १५ ॥

'मेरे नामोंका निरन्तर कीर्तन करनेसे तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हो गया। इसलिये मैं मनसे तुम्हारे ऊपर अधिक प्रसन्न हूँ।' ऐसा कहकर भगवान् विष्णु हरिने उस समय अपने कोमल हाथसे उस पिशाचके सारे अङ्गोंका स्पर्श किया। ऐसा करके उन नारायणदेवने उसे पापसे मुक्त कर दिया।१४-१५।

ततस्तस्याभवद् रूपं कामरूपसमप्रभम्।
दीर्घकुञ्चितकेशाढ्यो दीर्घबाहुः सुलोचनः ॥ १६ ॥

उनके स्पर्श करते ही उस पिशाचका रूप कामदेवके समान कान्तिमान् हो गया। उसके सिरपर लंबे-लंबे घुँघराले केश शोभा देने लगे। भुजाएँ बड़ी-बड़ी और नेत्र सुन्दर हो गये ॥ १६ ॥

समाङ्गुलिः समनखः समवक्त्रः समुन्नसः।
पद्माक्षः पद्मवर्णाभः पद्मकेशरभूषणः ॥ १७ ॥

अँगुलियाँ समान और सुन्दर हो गयीं। नख भी समानरूपसे सुन्दर दिखायी देने लगे। उसके समान और सुडौल मुखमें केवल नासिका ऊँची थी। आँखें प्रफुल्ल कमलके समान मनोहर दिखायी देती थीं। अङ्गकान्ति नील-कमलके समान श्याम थी। वह कमलकेसररूपी आभूषणोंसे विभूषित था॥

केयूरी चाङ्गदी चैव कौशेयवसनस्तदा।
ज्ञानवान् सत्त्वसम्पन्नः साक्षादिन्द्र इवापरः॥ १८॥

उसकी भुजाओंमें केयूर और अङ्गद नामक आभूषण शोभा दे रहे थे। शरीरपर रेशमी पीताम्बर सुशोभित था। वह ज्ञानवान् और सत्त्वसम्पन्न होकर साक्षात् दूसरे इन्द्रके समान शोभा पाता था॥ १८॥

गन्धर्व इव गायंस्तु सिद्धः सिद्ध इव स्वयम्।
साक्षात् स्पृष्टं तदा विष्णोः करेण मृदुपूर्वकम्॥ १९॥
न नूनं तादृशं रूपमासीत् कालान्तरेष्वपि।
अद्यापि नैव मुनयो लभन्ते तादृशं वपुः॥ २०॥

वह गन्धर्वके समान गायक तथा साक्षात् सिद्धके समान सिद्धियोंसे सम्पन्न था। उस समय साक्षात् भगवान् विष्णुके हाथका कोमल स्पर्श पाकर उस पिशाचका रूप जैसा अलौकिक हो गया था, वैसा रूप कालान्तरमें भी किसीका नहीं था और आज भी मुनियोंको भी वैसा शरीर नहीं प्राप्त होता है॥

कृत्वा सुबहुशो घोरं तपः परमदारुणम्।
यच्च लब्धं तदा तेन पिशाचेन नृपोत्तम॥ २१॥

नृपश्रेष्ठ! उस पिशाचने बारंबार घोर एवं परम दारुण तप करके उस समय जो दिव्य रूप प्राप्त किया, वह अद्भुत था॥ २१॥

को नु नाम जगन्नाथमाश्रितः सीदते नृप।
स हि सर्वत्र कल्याणो यो हि नित्यं जनार्दनम्॥ २२॥
ध्यायन् पठञ्जपन् वापि तस्य किं नास्ति भूपते।

नरेश्वर! जगदीश्वर भगवान् जनार्दनका आश्रय लेकर कौन मनुष्य कष्ट पा सकता है। उसका सर्वत्र कल्याण ही होता है। भूपाल! जो प्रतिदिन उन भगवान् विष्णुका ध्यान, स्तोत्रपाठ अथवा मन्त्रजप करता है, उसे कौन-सी वस्तु सुलभ नहीं है॥ २२½॥

ततः प्रोवाच भगवान् स्थितं काममिवापरम्॥ २३॥
अक्षयः स्वर्गवासस्ते यावदिन्द्रो वसिष्यति।
तावत् स्वर्गी भवानस्तु शासनान्मम नान्यतः॥ २४॥

तब दूसरे कामदेवके समान खड़े हुए घण्टाकर्णसे भगवान्‌ने इस प्रकार कहा—'जबतक इन्द्र रहेंगे, तबतक स्वर्गलोकमें तुम्हारा अक्षय निवास बना रहेगा। तबतक तुम मेरे शासनसे स्वर्गमें ही रहो, अन्यत्र नहीं॥ २३-२४॥

नष्टे शक्रे ततः स्वर्गात् सायुज्यं मम गच्छतु।
योऽयं भ्राता तव स्वर्गी यावदिन्द्रो भवेत् तदा॥ २५॥

'इस इन्द्रके बदल जानेपर तुम स्वर्गसे ऊपर उठकर मेरा सायुज्य प्राप्त कर लोगे। यह जो तुम्हारा भाई है, यह भी जबतक इन्द्र रहेंगे, तबतक स्वर्गीय सुखका उपभोग करेगा॥ २५॥

वरं वरय भद्रं ते यस्ते मनसि वर्तते।
दातास्मि सर्वं सर्वत्र नात्र कार्या विचारणा॥ २६॥

'तुम्हारा कल्याण हो! तुम्हारे मनमें जो कामना हो उसके अनुसार कोई वर माँगो। मैं सर्वत्र सब कुछ दे सकता हूँ, इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये'॥

घण्टाकर्ण उवाच

यश्चेमं संगमं देव संस्मरेन्नियतात्मवान्।
भक्तिस्तस्याचला देव त्वयि भूयाज्जनार्दन॥ २७॥

घण्टाकर्ण बोला—देव! जनार्दन! जो अपने मनको संयममें रखकर हम दोनोंके इस समागमके प्रसङ्गका स्मरण करे, उसकी आपके प्रति अविचल भक्ति हो॥ २७॥

मनःशुद्धिर्भवेत् तस्य मा भूत् कलुषता हरे।
कालुष्यं मनसस्तस्य मा भूदेष वरो मम॥ २८॥

हरे! उसके मनकी शुद्धि हो जाय, उसमें मलिनता न रह जाय। उस पुरुषके मनका सारा कालुष्य मिट जाय, यह मेरा वर है॥ २८॥

एवमस्त्विति देवेशः स्वर्गं गच्छेति केशवः।
इन्द्रातिथिर्भवानस्तु त्वां प्रतीक्ष्य हरिः स्थितः॥ २९॥

यह सुनकर देवेश्वर केशवने कहा—'ऐसा ही होगा, अब तुम स्वर्गको जाओ, इन्द्रके अतिथि बनो, इन्द्रदेव तुम्हारी प्रतीक्षामें खड़े हैं'॥ २९॥

इत्युक्त्वा भगवान् कृष्ण उत्थाप्य ब्राह्मणं तदा।
तेन स्तुतो जगन्नाथः पूजयित्वा च तं द्विजम्॥ ३०॥
ततो विसृज्य गोविन्दस्तस्माद् देशादुपागमत्।
यत्र ते मुनयः सिद्धा अग्निहोत्रसमन्विताः॥ ३१॥

ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्णने उस समय उस मरे हुए ब्राह्मणको जिलाकर उठा दिया, तब उस ब्राह्मणने उनका स्तवन किया, फिर वे जगदीश्वर गोविन्द उस ब्राह्मणका आदर-सत्कार करके उसे विदा दे, उस स्थानसे वहीं लौट गये, जहाँ वे सिद्ध मुनिगण अग्निहोत्रमें लगे हुए थे॥ ३०-३१॥

स च स्वर्गी गतः स्वर्गमाज्ञया केशवस्य ह।
तस्मात् पठ सदा राजन् मनःशुद्धिं यदीच्छसि।
मनश्च शुद्धं भवति पठतस्ते जगत्पते॥ ३२॥

वह स्वर्गलोकका अधिकारी घण्टाकर्ण भगवान् श्रीकृष्ण-

की आज्ञासे स्वर्गलोकको चला गया। अतः राजन्! यदि तुम अपने मनकी शुद्धि चाहते हो तो सदा इस प्रसङ्गका पाठ करो। जगत्पते! इसका पाठ करनेसे तुम्हारा मन निश्चय ही शुद्ध हो जायगा॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि घण्टाकर्णमुक्तिप्रदाने त्र्यशीतितमोऽध्यायः॥ ८३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें घण्टाकर्णको मुक्तिप्रदानविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८३॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कैलासपर पहुँचकर वहाँ बारह वर्षोंके लिये कठोर तपस्यामें संलग्न होना

वैशम्पायन उवाच

ततः स भगवान् विष्णुर्मुनिभ्यस्तत्त्वमादितः।
कथयामास यद् वृत्तं पिशाचस्य महात्मनः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने मुनियोंसे महात्मा पिशाचका जो वृत्तान्त था, उसको आरम्भसे ही ठीक-ठीक कह सुनाया॥ १॥

तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे विस्मयं परमं गताः।
अहोऽस्य कर्मणः पाकस्तव संदर्शनादिति॥ २॥

वह सुनकर सभी मुनियोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे बोले—'प्रभो! आपके दर्शनसे इस पिशाचके कर्मका अद्भुत फल प्रकट हुआ'॥ २॥

अर्चितो मुनिभिः सर्वैः प्रीतः प्रीतिमतां प्रियः।
ततः प्रभाते विमले सूर्ये चाभ्युदिते सति॥ ३॥
आरुह्य गरुडं विष्णुर्ययौ कैलासमुत्तमम्।
भवद्भिस्तत्र गन्तव्यमित्युक्त्वा मुनिसत्तमान्॥ ४॥

तत्पश्चात् प्रीतिमानोंके प्रियतम श्रीहरिकी उन समस्त मुनियोंने अर्चना की, इससे वे बड़े प्रसन्न हुए। फिर निर्मल प्रभातकालमें सूर्योदय होनेपर वे भगवान् श्रीकृष्ण गरुड़पर आरूढ़ हो उत्तम कैलास पर्वतको चले गये। जाते समय वे उन श्रेष्ठ मुनियोंसे कह गये कि आपलोग भी वहाँ पधारियेगा॥ ३-४॥

यत्र विश्वेश्वराः सिद्धास्तपस्यन्ति यतव्रताः।
यत्र वैश्रवणः साक्षादुपास्ते शंकरं सदा॥ ५॥

जहाँ इस विश्वपर शासन करनेवाले सिद्ध पुरुष व्रतका पालन करते हुए तपस्या करते हैं, जहाँ साक्षात् कुबेर सदा भगवान् शङ्करकी उपासना करते हैं॥ ५॥

यत्र तन्मानसं नाम सरो हंसालयं महत्।
यत्र भृङ्गीरिटिर्देवमुपास्ते शंकरं शिवम्॥ ६॥
गाणपत्यमवाप्याथ हरपार्श्वचरः सदा।

जहाँ वह हंसोंका निवासस्थान मानस नामक महान् सरोवर है। जहाँ भृङ्गीरिटि नामक शिवपार्षद अपने आराध्यदेव कल्याणस्वरूप भगवान् शङ्करकी उपासना करते हैं और गणपतिपद प्राप्त करके सदा महादेवजीके पास ही रहते हैं॥

यत्र सिंहा वराहाश्च द्विपद्वीपिमृगैः सह॥ ७॥
क्रीडन्ति वन्यरतयः परस्परहिते रताः।
यत्र नद्यः समुत्पन्ना गङ्गाद्याः सागरंगमाः॥ ८॥

जहाँ सिंह, सूअर, हाथी, बाघ और मृग सदा साथ-साथ खेलते और एक दूसरेके हितमें तत्पर रहकर जंगलकी पैदावारपर ही संतोष करते हैं, जहाँ गङ्गा आदि समुद्रगामिनी नदियाँ प्रकट हुई हैं॥ ७-८॥

यत्र विश्वेश्वरः शम्भुरच्छिनद् ब्रह्मणः शिरः।
यत्रोत्पन्ना महावेत्रा भूतानां दण्डतां ययुः॥ ९॥

जहाँ विश्वनाथ भगवान् शङ्करने ब्रह्माजीके सिरका उच्छेद किया था, जहाँ उत्पन्न हुए बड़े-बड़े बेंत प्राणियोंके लिये दण्डका काम देते हैं॥ ९॥

उमया यत्र सहितः शंकरो नीललोहितः।
ऋषिभिः प्रार्थितः पूर्वं ददौ यत्र गिरिः सुताम्॥ १०॥
शंकराय जगद्धात्रे शिवाय जगतीपते।

जहाँ उमासहित नीललोहित भगवान् शङ्कर निवास करते हैं। पृथ्वीनाथ! जहाँ पूर्वकालमें ऋषियोंके प्रार्थना करनेपर गिरिराज हिमवान्ने कल्याणकारी जगद्धाता भगवान् शिवको अपनी पुत्री प्रदान की थी॥ १०½॥

यत्र लेभे हरिश्चक्रमुपास्य बहुभिर्दिनैः॥ ११॥
पुष्करैः शतपत्रैश्च नेत्रेण च जगत्पतिम्।

जहाँ श्रीहरिने बहुत दिनोंतक कमलों, शतदलों तथा अपने नेत्रद्वारा भी जगदीश्वर शिवकी आराधना करके उनसे सुदर्शन चक्र प्राप्त किया था॥ ११½॥

गुहां यत्र समाश्रित्य क्रीडन्ते सिद्धकिन्नराः॥ १२॥
प्रियाभिः सह मोदन्ते पिबन्ते मधु चोत्तमम्।

जहाँ सिद्ध और किन्नरगण गुफाका आश्रय लेकर अपनी प्रियतमाओंके साथ क्रीडा करते, आनन्दित होते और उत्तम मधु पीते थे॥ १२½॥

यमुद्धृत्य भुजैः सर्वैः पौलस्त्यो विरराम ह॥ १३॥
तमारुह्य महाशैलं देवकीनन्दनो हरिः।
मानसस्योत्तरं तीरं जगाम यदुनन्दनः॥ १४॥

जिस पर्वतको अपनी सारी भुजाओंसे उठाकर रावण

दिग्विजयसे विरत हो गया था, उस महाशैल कैलासपर आरूढ़ हो यदुकुलको आनन्दित करनेवाले देवकीनन्दन श्रीहरि मानससरोवरके उत्तर तटपर गये ॥ १३-१४ ॥

तपश्चर्तुं किल हरिर्विष्णुः सर्वेश्वरः शिवः ।
जटी चीरी जगन्नाथो मानुषं वपुरास्थितः ॥ १५ ॥
तपसे धृतचित्तस्तु शुचौ भूमावुपाविशत् ।

वे सर्वेश्वर शिवस्वरूप विष्णु—हरि वहाँ तपस्या करनेके लिये गये थे। मानव-शरीरधारी जगन्नाथ श्रीकृष्ण सिरपर जटा और शरीरमें चीरवस्त्र धारण किये तपस्याके लिये दृढ़ निश्चय करके पवित्र भूमिपर बैठे ॥ १५½ ॥

अवरुह्य ततो यानाद् गरुडाद् वेदसम्मितात् ॥ १६ ॥
द्वादशाब्दं तपश्चर्तुं मनो दध्रे ततो हरिः ।

इस प्रकार वेदस्वरूप गरुड़ नामक वाहनसे उतरकर श्रीहरिने वहाँ बारह वर्षोंतक तपस्या करनेका विचार किया ॥ १६½ ॥

फाल्गुनेन तु मासेन समारेभे जगत्पतिः ॥ १७ ॥
शाकभक्षः कृतजपो वेदाध्ययनतत्परः ।

जगदीश्वर श्रीकृष्णने वहाँ फाल्गुन माससे तपस्या आरम्भ की। वे शाक खाकर रहते, जप करते तथा वेदाध्ययनमें तत्पर रहते थे ॥ १७½ ॥

किमुद्दिश्य जगन्नाथस्तपश्चरति मानवः ॥ १८ ॥
तं न विद्मो यथाकामं दुर्ज्ञेयेश्वरचिन्तना ।

राजन्! मानवरूपधारी जगदीश्वर श्रीहरि किस उद्देश्यसे इच्छानुसार तप करते थे, इसे हम नहीं जानते (सर्वसमर्थ ईश्वरके लिये पुत्रके उद्देश्यसे भी तपस्याकी कोई सङ्गति नहीं है)। वास्तवमें ईश्वरका संकल्प प्राणिमात्रके लिये दुर्ज्ञेय है—वे क्या सोचकर कौन-सा कार्य करते हैं, यह जानना सभीके लिये अत्यन्त कठिन है ॥ १८½ ॥

तपस्यति तदा विष्णौ पर्वते भूतसेविते ॥ १९ ॥
गरुडः कश्यपसुत इन्धनानि समाचिनोत् ।
होमार्थं वासुदेवस्य चरतस्तप उत्तमम् ॥ २० ॥

भूतोंसे सेवित कैलास पर्वतपर उन दिनों श्रीकृष्णके तपस्या करते समय कश्यपकुमार गरुड़जी उत्तम तपमें लगे हुए उन वासुदेवके हवन-कर्मकी सिद्धिके लिये समिधाएँ जुटाया करते थे ॥ १९-२० ॥

चक्रराजोऽथ पुष्पाणि संचिनोति तदा हरेः ।
दिक्षु सर्वासु सर्वत्र ररक्ष जलजस्तदा ॥ २१ ॥
खड्ग आहृत्य यत्नेन कुशान् सुबहुशस्तदा ।
गदा कौमोदकी चैव परिचर्यां चकार ह ॥ २२ ॥

चक्रराज सुदर्शन श्रीहरिके लिये फूल चुनता था। पाञ्चजन्य शङ्ख सम्पूर्ण दिशाओंमें सर्वत्र उनकी रक्षा करता था। नन्दक खड्ग बड़े यत्नसे बहुसंख्यक कुश लाया करता था। कौमोदकी नामक गदा भी उनकी आवश्यक परिचर्या किया करती थी ॥ २१-२२ ॥

धनुःप्रवरमत्युग्रं शार्ङ्गं दानवभीषणम् ।
स्थितं हि पुरतस्तस्य यथेष्टं भृत्यवत् स्वयम् ॥२३॥

धनुषोंमें श्रेष्ठ अत्यन्त उग्र शार्ङ्ग नामक धनुष, जो दानवोंको भयभीत करनेवाला था, सदा भगवान्के सामने भृत्यके समान इच्छानुसार स्वयं खड़ा रहता था ॥ २३ ॥

जुहोति भगवान् विष्णुरेधोभिर्बहुभिः सदा ।
आज्यादिभिस्तदा हव्यैरग्निं सम्पूज्य माधवः ॥२४॥
समासव्यासतश्चैव समाप्तिं च समस्तव्यस्ततः कृती ।

भगवान् श्रीकृष्ण सदा बहुत-सी समिधाओंद्वारा आहुति देते थे। उस समय कर्मकुशल माधवने घृत आदि हवनीय पदार्थोंद्वारा अग्निका पूजन करके संक्षेप और विस्तारके साथ अग्निहोत्र कर्मको पूर्ण किया ॥ २४½ ॥

एकस्मिन्नेकदा मासे भुञ्जानो नियतात्मवान् ॥२५॥
द्वितीये त्वथ पर्याये भुञ्जन्नेकेन केशवः ।
एकस्मिन् वत्सरे भुञ्जंस्तथैवैकेन केनचित् ॥२६॥

पहले वे एक महीनेमें एक बार खाकर मनको संयम-नियममें रखते हुए तप करने लगे। फिर वे केशव प्रत्येक दूसरे महीनेपर एक बार अन्न ग्रहण करने लगे। इस तरह समय बढ़ाते हुए वे एक वर्षमें एक बार किसी एक ही अन्नका आहार करने लगे ॥ २५-२६ ॥

समाप्य तत् तपः सर्वमेवमेव जगत्पतिः ।
द्वादशाब्दे तथा पूर्णे ऊनमासे जगत्पतिः ॥२७॥
जुह्वन्नग्निं समास्थाय पठन् मन्त्रं जनार्दनः ।
आरण्यकं पठन् विष्णुः साक्षात् सर्वेश्वरो हरिः ।
आस्ते ध्यानपरस्तत्र पठन् प्रणवमुत्तमम् ॥२८॥

इसी नियमसे वह सारी तपस्या पूर्ण करके जब बारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेमें केवल एक मासकी कमी रह गयी, तब वे जगदीश्वर जनार्दन सर्वव्यापी साक्षात् सर्वेश्वर श्रीहरि अग्निकी स्थापना करके मन्त्रपाठपूर्वक हवन करने लगे। आरण्यकका पाठ और उत्तम प्रणवका जप करते हुए भगवान् शिवके ध्यानमें मग्न हो गये ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां कृष्णतपोवर्णने चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें कैलासयात्राके प्रसङ्गमें श्रीकृष्णकी तपस्याका वर्णनविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके समीप इन्द्र आदि देवताओं तथा उमासहित भगवान् शिवका आगमन

वैशम्पायन उवाच

तत इन्द्रः स्वयं तत्र आरुह्य गजमुत्तमम्।
द्रष्टुं सर्वेश्वरं विष्णुं तपस्यन्तं समाययौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर साक्षात् इन्द्र अपने उत्तम हाथी ऐरावतपर आरूढ़ हो तपस्यामें लगे हुए सर्वेश्वर श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये वहाँ आये ॥

ततो यमस्तु भगवानारुह्य महिषं वरम्।
किंकरैश्च स्वयं साक्षादाययौ नगमुत्तमम् ॥ २ ॥

इसके बाद साक्षात् भगवान् यम श्रेष्ठ महिषपर आरूढ़ हो अपने किङ्करोंके साथ उस उत्तम पर्वतपर आये ॥ २ ॥

प्रचेता हंसमारुह्य वारुणैश्च समन्वितः।
श्वेतच्छत्रसमायुक्तः श्वेतव्यजनवीजितः ॥ ३ ॥

श्वेत छत्रसे युक्त वरुण हंसपर आरूढ़ हो अपने सेवकोंके साथ वहाँ पधारे । उनके सेवक श्वेत चँवरसे उनके लिये हवा कर रहे थे ॥ ३ ॥

ययौ कैलासशिखरं द्रष्टुं केशवमञ्जसा।
अन्ये चापि तथा देवा आदित्या वसवस्तथा ॥ ४ ॥
रुद्राश्चैव तथा राजन् द्रष्टुं केशवमाययुः।

वे वरुण भी तपस्वी केशवका दर्शन करनेके लिये कैलासशिखरपर गये थे । राजन् ! इसी प्रकार दूसरे देवता आदित्य, वसु और रुद्र आदि भी केशवका दर्शन करनेके लिये वहाँ पधारे थे ॥ ४½ ॥

सिद्धाश्च मुनयश्चैव गन्धर्वा यक्षकिन्नराः ॥ ५ ॥
सर्वाश्चाप्सरसो राजन् नृत्यगीतविशारदाः।

राजन् ! सिद्ध, मुनि, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर तथा नृत्य और गीतमें निपुण समस्त अप्सराएँ भी वहाँ आयीं ॥ ५½ ॥

ततो देवगणः सर्वः कैलासं समपद्यत ॥ ६ ॥
पर्वतो नारदश्चैव तथान्ये मुनिसत्तमाः।
विस्मयस्थितलोलाक्षाः सर्वदेवगणास्तथा ॥ ७ ॥
आश्चर्यं खलु पश्यध्वं न भूतं न भविष्यति।
योगिध्येयः स्वयं कृष्णो यत् तप्यति गुरुः स्वयम्।
को न्वत्र समयो भूयादिति ते मेनिरे गणाः ॥ ८ ॥

इस प्रकार सब देवता कैलास पर्वतपर आये । पर्वत, नारद तथा अन्य श्रेष्ठ मुनि एवं समस्त देवता आश्चर्यसे चकित-नेत्र होकर परस्पर कहने लगे—'यह आश्चर्यकी बात देखो ! ऐसा न तो हुआ है और न होगा । जो योगियोंके ध्येय हैं, वे साक्षात् जगद्गुरु श्रीकृष्ण स्वयं ही तप कर रहे हैं । इस तपस्याका क्या उद्देश्य हो सकता है, इसपर वे सभी समुदायोंके लोग विचार करने लगे ॥ ६–८ ॥

ततः समाप्ते सकले जगत्पते-
र्व्रते समूले सकलेश्वरः शिवः।
द्रष्टुं हरिं लोकहितैषिणं प्रभुं
ययौ भवान्या सह भूतसंघैः ॥ ९ ॥

तदनन्तर जब जगत्पति श्रीकृष्णका वह सारा व्रत मूलसहित परिपूर्ण हो गया, तब सकलेश्वर शिव पार्वती तथा भूतगणोंके साथ उन लोकहितैषी प्रभु श्रीहरिसे मिलनेके लिये गये ॥ ९ ॥

सार्धं कुबेरेण सगुह्यकेन
सख्या प्रियेण प्रभुरीश्वरः शिवः।
स्वयं जटी भूतपिशाचसंवृतः
शरी च खड्गी शशिखण्डशेखरः ॥ १० ॥

उनके साथ गुह्यकोंसहित प्रिय सखा कुबेर भी थे । सर्वसमर्थ ईश्वर भगवान् शिव स्वयं सिरपर जटा धारण किये भूतों और पिशाचोंसे घिरे हुए थे, धनुष, बाण और खड्गसे युक्त थे । उनके मस्तकपर अर्धचन्द्र शोभा दे रहा था ॥ १० ॥

करेण बिभ्रत्सहदर्भकुण्डिकां
करेण साक्षादपरेण दीपिकाम्।
अन्येन बिभ्रन्महतीं स डिण्डिमां
शूलं च बिभ्रन्नपरेण बाहुना ॥ ११ ॥
गुणान् स रुद्राक्षकृतान् समुद्वह-
ञ्जटाभिरापिङ्गलताम्रमूर्तिः ।
विराजमानः प्रभुरिन्दुशेखरो
वृषेण युक्तः स सितेन शंकरः ॥ १२ ॥

एक हाथमें कुशसहित कमण्डलु धारण किये, दूसरे हाथमें जलती मशाल लिये, तीसरे हाथमें विशाल डमरू धारण किये और चौथे हाथमें त्रिशूल लिये, गलेमें रुद्राक्षकी मालाएँ धारण किये, कुछ-कुछ पिङ्गल एवं ताम्रवर्णके शरीरवाले, जटाओंसे सुशोभित कल्याणकारी भगवान् चन्द्रशेखर श्वेत वृषभसे संयुक्त हो बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ११-१२ ॥

उमास्तनद्वन्द्वसमर्पिताननः-
स्तया समाश्लिष्य निपीडिताधरः।
गङ्गाम्बुविक्षालितचन्द्रशेखर-
स्तां चापि वीक्षन् बहुशस्तदा शिवः ॥ १३ ॥

उनके मुख-मण्डलकी दृष्टि देवी उमाके उरोजोंपर लगी हुई थी । भगवती उमा भी महादेवजीका आलिङ्गन करके उनका अधर-चुम्बन कर लेती थीं । भगवान् शिवका चन्द्रार्ध-

शोभित मस्तक गङ्गाजीके जलसे प्रक्षालित होता था और वे भगवान् शङ्कर उस समय बारंबार देवी उमाकी ओर देखते रहते थे ॥ १३ ॥

भस्माङ्गरागैरनुलेपिताननो
महोरगैर्बद्धजटः सनातनः ।
शिरःकपालैः परिशोभितस्तदा
द्रष्टुं हरिं केशवमभ्ययाच्छिवः ॥१४॥

उनके मुखपर भस्मस्वरूप अङ्गराग लगा हुआ था। बड़े-बड़े सर्पोंसे उनकी जटाएँ बँधी हुई थीं । नरमुण्डोंकी मालासे सुशोभित वे सनातन शिव उस समय भगवान् केशवको देखनेके लिये उनके पास गये ॥ १४ ॥

यमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तं
पुरातनं सांख्यनिबद्धदृष्टयः ।
यस्यापि देवस्य गुणान् समग्रां-
स्तत्त्वांश्चतुर्विंशतिमाहुरेके ॥१५॥

जिन्हें सांख्यदर्शी विद्वान् श्रेष्ठ, महान् एवं पुरातन पुरुष कहते हैं, जिन महादेवजीके समस्त गुणोंको ही एक श्रेणीके विद्वान् चौबीस तत्त्व कहते हैं ॥ १५ ॥

यमाहुरेकं पुरुषं पुरातनं
कणादनामानमजं महेश्वरम् ।
दक्षस्य यज्ञं विनिहत्य यो वै
विनाश्य देवानसुरान् सनातनः ॥१६॥

जिन्हें एकमात्र पुरातन पुरुष, कणाद नामसे प्रसिद्ध, अजन्मा महेश्वर कहा गया है, जिन सनातन महादेवने दक्षयज्ञका विध्वंस करके देवता और असुरोंको भी मार भगाया था ॥ १६ ॥

यं विदुर्भूततत्त्वज्ञं भूतेशं भूतभावनम् ।
वामदेवं विरूपाक्षमाहुस्तत्त्वविदो जनाः ॥१७॥
महादेवं सहस्राक्षं कालमूर्तिं चतुर्भुजम् ।
रुद्रं रोदननामानमाहुर्विश्वेश्वरं शिवम् ॥१८॥
अप्रमेयमनाधारमाहुर्माहेश्वरा जनाः ।
नग्नं नग्नपरीतं तु नागिनं त्वग्निवर्चसम् ॥१९॥
आहुर्विश्वेश्वरं शान्तं शिवमादिं सनातनम् ।
तस्य मूर्तिरिमाः सर्वा धराद्याः सकला नृप ॥२०॥

जिन्हें तत्त्ववेत्ता पुरुष सम्पूर्ण भूतोंका तत्त्वज्ञ जानते हैं और जिन्हें भूतनाथ, भूतभावन, वामदेव तथा विरूपाक्ष कहते हैं। महादेव, सहस्राक्ष, कालमूर्ति, चतुर्भुज, रुद्र, रोदन नामधारी और विश्वेश्वर शिव कहकर पुकारते हैं । जिन्हें शिवभक्त पुरुष अप्रमेय, आधाररहित, नग्न, नग्न पार्षदोंसे घिरा हुआ, नागयुक्त, अग्नितुल्य तेजस्वी, विश्वेश्वर, शान्तस्वरूप, आदि एवं सनातन शिव कहते हैं । राजन्! ये पृथ्वी आदि सारे तत्त्व उन्हींकी मूर्ति हैं ॥ १७—२० ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं सूर्यश्च तथा शशी ।
अग्निश्च यजमानश्च प्रकृतिश्चैवमष्टधा ॥२१॥

पृथ्वीरहित जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, यजमान और प्रकृति—ये महादेवजीके आठ विग्रह हैं ॥

महादेवो महायोगी गिरीशो नीललोहितः ।
आदिकर्ता महाभर्ता शूलपाणिरुमापतिः ।
द्रष्टुं विश्वेश्वरं विष्णुं भूतसंघैः समाययौ ॥२२॥

वे महादेव, महायोगी, गिरीश, नील-लोहित, आदिकर्ता, महाभर्ता, शूलपाणि एवं उमावल्लभ शिव जगदीश्वर श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये भूत-समूहोंके साथ वहाँ आये ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां शिवागमनकथने पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥८५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें कैलासयात्राके प्रसङ्गमें शिवजीके आगमनका कथनविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

पिशाचों, मुनियों और अप्सराओंके साथ उमासहित भगवान् शङ्करका श्रीकृष्णके समीप गमन

वैशम्पायन उवाच

तस्याग्रे समपद्यन्त भूतसंघाः सहस्रशः ।
घण्टाकर्णो विरूपाक्षः कुण्डधारः कुमुद्वहः ॥ १ ॥
दीर्घरोमा दीर्घभुजो दीर्घबाहुर्निरञ्जनः ।
उरुनेत्रः शतमुखः शतग्रीवः शतोदरः ॥ २ ॥
कुण्डोदरो महाग्रीवः स्थूलजिह्वो द्विबाहुकः ।
पार्श्ववक्त्रः सिंहमुख उन्नतांसो महाहनुः ॥ ३ ॥
त्रिबाहुः पञ्चबाहुश्च व्याघ्रवक्त्रः सिताननः ।
एते चान्ये च बहवो दीर्घास्या दीर्घलोचनाः ॥ ४ ॥
नृत्यन्तः प्रहसन्तश्च स्फोटयन्तः परस्परम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय भगवान् शङ्करके आगे सहस्रों भूतसमूह चल रहे थे—घण्टाकर्ण, विरूपाक्ष, कुण्डधार, कुमुद्वह, दीर्घरोमा, दीर्घभुज, दीर्घबाहु, निरञ्जन, उरुनेत्र, शतमुख, शतग्रीव, शतोदर,

कुण्डोदर, महाग्रीव, स्थूलजिह्व, द्विबाहु, पार्श्ववक्त्र, सिंहमुख, उन्नतांस, महाहनु, त्रिबाहु, पञ्चबाहु, व्याघ्रवक्त्र और सितानन—ये तथा दूसरे भी बहुत-से बड़े-बड़े मुख और विशाल नेत्रवाले भूत नाचते, हँसते और परस्पर ताल ठोंकते थे ॥ १—४½ ॥

तथान्ये घोररूपाश्च तथान्ये विकृताननाः ॥ ५ ॥
प्रेतभक्षाः प्रेतवाहा मांसशोणितभोजनाः ।

इनके अतिरिक्त भी बहुत-से घोर रूप और विकृत मुखवाले भूत थे, जो मुर्दे खाते, मुर्दोंको ढोकर ले जाते और मांस तथा रक्तका आहार करते थे ॥ ५½ ॥

शवानि सुबहून्याशु भक्षयन्तस्ततस्ततः ॥ ६ ॥
पिबन्तो रुधिरं घोरं खण्डयन्तः शवान् बहून् ।

वे बहुत-से शव शीघ्रतापूर्वक इधर-उधरसे लाकर खाते थे, भयंकर रक्त पीते थे और बहुत-से शवोंके टुकड़े-टुकड़े कर डालते थे ॥६½ ॥

कराला वितता दीर्घा धमनिस्नायुसंतताः ॥ ७ ॥
नानाविधाः सुवीराश्च शूलाग्रप्रोतमानुषाः ।
शिरोमालावृताः केचिदान्त्रपाशावपाशिताः ॥ ८ ॥

वे सब-के सब विस्तृत, विशाल और विकराल थे। उनके शरीरमें व्याप्त हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं । वे नाना प्रकारकी आकृतिवाले भूत बड़े वीर थे। उन्होंने अपने शूलोंके अग्रभागमें कितने ही मनुष्योंकी लाशें पिरो रखी थीं। कितने ही भूत नरमुण्डोंकी मालाओंसे अलंकृत थे। कितनोंने अपने-आपको अँतड़ियोंके पाशोंसे बाँध रखा था ॥ ७-८ ॥

डिण्डिमैरट्टहासैश्च नादयन्तो वसुन्धराम् ।
कपालिनो भैरवाश्च जटिला मुण्डिनस्तथा ॥ ९ ॥
एवं बहुविधा घोराः पिशाचा विकृताननाः ।
तथान्ये मुनिवीराश्च ध्यायन्तः परमेश्वरम् ॥१०॥
पठन्तो वेदवाक्यानि साङ्गानि विविधानि च ।

कोई नगाड़े बजाते और कोई अट्टहास करते हुए पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते थे । कपाली, भैरव, जटिल और मुण्डी—ये भाँति-भाँतिके विकृत मुखवाले चार प्रकारके घोर पिशाच तथा अन्य मुनिवीर वहाँ परमेश्वरका ध्यान और अङ्गोंसहित वेदोंके विविध वाक्योंका पाठ करते थे॥९-१०½॥

कुण्डिकाहस्तकराः केचित् केचित् कुशविचारिणः॥११॥
कौपीनवसनाः केचित् केचित् कार्पाससंवृताः ।

कोई कमण्डलुमें हाथ डाले हुए थे, कोई कुश लेकर विचर रहे थे, कितने ही वस्त्रकी जगह कौपीनमात्र धारण करते थे और कितनोंने सूती वस्त्रोंसे अपने अङ्गोंको ढक रखा था ॥ ११½ ॥

स्तुवन्तः शंकरं भक्त्या स्तोत्रैर्माहेश्वरैस्तथा ॥१२॥
एकत्र ते मुनिगणा अपरत्र गणास्तथा ।
अन्यत्र सिद्धगन्धर्वाः प्रियाभिः सह संगताः ॥१३॥

वे सब-के-सब भक्तिभावसे शिवसम्बन्धी स्तोत्रोंद्वारा भगवान् शङ्करकी स्तुति करते थे । एक ओर तो मुनिगण थे और दूसरी ओर प्रमथगण । इसी तरह एक ओर सिद्ध और गन्धर्व अपनी प्रियतमाओंके साथ वहाँ आये थे ॥१२-१३॥

नृत्यन्ति नृत्यकुशला गायन्ति स्म च कन्यकाः ।
विद्याधरास्तथान्यत्र स्तुवन्तः शंकरं शिवम् ॥१४॥

नृत्यकुशल गन्धर्वकन्याएँ नाचती और गाती थीं। अन्यत्र विद्याधरगण कल्याणकारी भगवान् शङ्करकी स्तुति करते थे ॥ १४ ॥

ननृतुस्तस्य पुरतो गच्छन्तोऽप्सरसां गणाः ।
एवमेतैर्महाघोरैः पिशाचैर्भूतकिन्नरैः ॥१५॥
मुनिभिश्चैव प्रमथैः समं शर्वः समाययौ ।
यत्र विश्वेश्वरो विष्णुस्तपस्तेपे सुदारुणम् ॥१६॥
यत्र ते लोकपालाश्च तिष्ठन्ति स्म दिदृक्षया ।
उमया लोकभाविन्या गङ्गया चन्द्रशेखरः ॥१७॥

उनके आगे-आगे चलती हुई अप्सराएँ नृत्य करती थीं। इस प्रकार इन महाभयंकर पिशाचों, भूतों, किन्नरों, मुनियों और प्रमथगणोंके साथ भगवान् शिव उस स्थानपर आये, जहाँ जगदीश्वर श्रीकृष्ण अत्यन्त कठोर तपस्या करते थे और जहाँ उनके दर्शनकी इच्छासे लोकपालगण खड़े थे । लोकभाविनी उमा और गङ्गाके साथ भगवान् चन्द्रशेखर वहाँ गये ॥ १५–१७ ॥

स सर्वलोकप्रभवो भवो विभु-
र्जटी च साक्षात् प्रणवात्मकः कृती ।
द्रष्टुं हरिं विष्णुमुदारविक्रमो
ययौ यथेष्टं पिशिताशनैर्वृतः ॥१८॥

सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्तिके कारणभूत सर्वव्यापी भगवान् भव साक्षात् प्रणवस्वरूप हैं। वे जटाधारी और कृतकृत्य हैं। उनका पराक्रम महान् है। वे पिशाचोंसे घिरकर यथेष्ट भावसे श्रीहरिका दर्शन करनेके लिये गये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां महादेवागमने षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें कैलासयात्राके प्रसङ्गमें
महादेवजीका आगमनविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥



शंकरजीसे देवताओंकी प्रार्थना

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णद्वारा महादेवजीकी स्तुति

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधैर्भूतैः पिशाचैरुरगैः सह।
आगत्य भगवान् रुद्रः शंकरो वृषवाहनः॥ १॥
ददर्श विष्णुं देवेशं तपन्तं तप उत्तमम्।
जुह्वानमग्निं विधिवद् द्रव्यैर्मेध्यैर्जगत्पतिम्॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस तरह नाना प्रकारके भूतों, पिशाचों और सर्पोंके साथ आकर सबका कल्याण करनेवाले वृषभवाहन भगवान् रुद्रने उत्तम तपस्या करते हुए देवेश्वर विष्णु (कृष्ण) को देखा। वे जगदीश्वर श्रीकृष्ण भाँति-भाँतिके पवित्र द्रव्योंद्वारा विधिपूर्वक अग्निमें आहुति देते थे॥ १-२॥

गरुडाहृतकाष्ठं तु जटिलं चीरवाससम्।
चक्रेणानीतकुसुमं खड्गानीतकुशं तथा॥ ३॥
गदाकृतसमाचारं देवदेवं जनार्दनम्।
इन्द्राद्यैर्देवसंघैश्च वृतं मुनिगणैः सह॥ ४॥

वे सिरपर जटा और अङ्गोंमें चीर वस्त्र धारण किये बैठे थे। गरुड़जी उनके लिये समिधा ला देते थे, चक्र फूल चुन लाता था, खड्ग कुशा लाया करता था तथा गदा भी उन देवाधिदेव जनार्दनकी आवश्यक परिचर्या करती थी। वे इन्द्र आदि देवसमूहों तथा मुनिगणोंसे घिरे हुए थे॥ ३-४॥

अचिन्त्यं सर्वभूतानां ध्यायन्तं किमपि प्रभुम्।
अवरुह्य वृषाच्छर्वो भगवान् भूतभावनः॥ ५॥
ततः प्रीतः प्रसन्नात्मा ललाटाक्ष उमापतिः।

समस्त प्राणियोंके लिये अचिन्त्य वे भगवान् श्रीकृष्ण किसी अनिर्वचनीय ध्येय वस्तुका चिन्तन कर रहे थे। उन्हें देखते ही ललाटनेत्रधारी, प्रसन्नचित्त, उमावल्लभ, भूतभावन भगवान् शर्व अपने वाहन वृषभसे उतर पड़े। उस समय वे बड़े प्रसन्न थे॥ ५½॥

ततो भूतपिशाचाश्च राक्षसा गुह्यकास्तथा॥ ६॥
मुनयो विप्रवर्याश्च जयशब्दं प्रचक्रिरे।
जय देव जगन्नाथ जय रुद्र जनार्दन॥ ७॥

तदनन्तर भूत, पिशाच, राक्षस, गुह्यक तथा ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ मुनिगण वहाँ जय-जयकार करने लगे— 'देव! जगन्नाथ! आपकी जय हो। रुद्रस्वरूप जनार्दन! आपकी जय हो॥ ६-७॥

जय विष्णो हृषीकेश नारायण परायण।
जय रुद्र पुराणात्मञ्जय देव हरेश्वर॥ ८॥

'इन्द्रियोंके प्रेरक, सर्वव्यापी, नारायण! आपकी जय हो। सबको आश्रय देनेवाले रुद्रदेव! आपकी जय हो! पुराणात्मन्! देव! हरेश्वर! आपकी जय हो॥ ८॥

आदिदेव जगन्नाथ जय शंकर भावन।
जय कौस्तुभदीप्ताङ्ग जय भस्मविराजित॥ ९॥

'आदिदेव! जगन्नाथ! आपकी जय हो। शङ्कर! सबके पालक एवं उत्पादक देव! आपकी जय हो। कौस्तुभमणिसे उद्भासित अङ्गवाले नारायण! आपकी जय हो। भस्ममय अङ्गरागसे विराजमान शिव! आपकी जय हो॥ ९॥

जय चक्रगदापाणे जय शूलिंस्त्रिलोचन।
जय मौक्तिकदीप्ताङ्ग जय नागविभूषण॥ १०॥

'हाथोंमें चक्र और गदा धारण करनेवाले नारायण! आपकी जय हो। शूलधारी त्रिलोचन! आपकी जय हो। मोतियोंकी मालासे उद्भासित अङ्गवाले श्रीकृष्ण! आपकी जय हो। नागहारसे विभूषित महादेव! आपकी जय हो'॥

इति ते मुनयः सर्वे प्रणामं चक्रिरे हरिम्।
तत उत्थाय भगवान् दृष्ट्वा देवमवस्थितम्॥ ११॥
वृषध्वजं विरूपाक्षं शंकरं नीललोहितम्।
ततो हृष्टमना विष्णुस्तुष्टाव हरमीश्वरम्॥ १२॥

इस प्रकार स्तुति करके उन समस्त मुनियोंने वहाँ श्रीहरिको प्रणाम किया। उस समय वृषभध्वज, विरूपाक्ष, एवं नीललोहित रूपवाले पापहारी, ईश्वर, शङ्करदेवको वहाँ उपस्थित देख श्रीकृष्णका चित्त हर्षसे खिल उठा और उन्होंने महादेवजीकी स्तुति आरम्भ की॥ ११-१२॥

श्रीभगवानुवाच

नमस्ते शितिकण्ठाय नीलग्रीवाय वेधसे।
नमस्ते शोचिषे अस्तु नमस्ते उपवासिने॥ १३॥

श्रीभगवान् बोले—जिनके कण्ठमें हालाहल विष है, अतएव जो नीलग्रीव (नीलकण्ठ) कहे गये हैं। वेधा (जगत्‌के स्रष्टा), दीप्तिमान् तथा उपवास-व्रतमें तत्पर उन महादेवजीको नमस्कार है॥ १३॥

नमस्ते मीढुषे अस्तु नमस्ते गदिने हर।
नमस्ते विश्वतनवे वृषाय वृषरूपिणे॥ १४॥

हर! आप सेचन करनेमें समर्थ हैं, आपको नमस्कार है। आप गदाधारी हैं, आपको नमस्कार है। यह सम्पूर्ण विश्व आपका शरीर है, आपको नमस्कार है। आप वृषभरूपधारीधर्म हैं, आपको नमस्कार है॥ १४॥

अमूर्ताय च देवाय नमस्तेऽस्तु पिनाकिने।
नमः कुब्जाय कूपाय शिवाय शिवरूपिणे॥ १५॥

आप अमूर्त देवता तथा पिनाकधारी हैं; आपको नमस्कार है। आप कुब्ज, कूपमें निवास करनेवाले और कल्याणस्वरूप शिव हैं, आपको नमस्कार है ॥ १५ ॥

नमस्तुष्टाय तुण्डाय नमस्तुटितुटाय च।
नमः शिवाय शान्ताय गिरिशाय च ते नमः॥ १६ ॥

आप संतुष्ट रहनेवाले, मुखस्वरूप तथा दुष्टोंकी हिंसा करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप पर्वतपर शयन करनेवाले शान्तस्वरूप शिव हैं, आपको वारंवार नमस्कार है ॥ १६ ॥

नमो हराय हिप्राय नमो हरिहराय च।
नमोऽघोराय घोराय घोराघोरप्रियाय च ॥ १७ ॥

आप हर, हिप्र (रेचक एवं पूरकरूप) तथा हरिहर-स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है ! नमस्कार है !! आप अघोर, घोर तथा घोराघोरप्रिय हैं, आपको नमस्कार है ॥ १७ ॥

नमोऽघण्टाय घण्टाय नमो घटिघटाय च।
नमः शिवाय शान्ताय गिरिशाय च ते नमः ॥ १८ ॥

आप घण्टारहित, घण्टायुक्त तथा घटिघट (स्रष्टाके भी स्रष्टा) हैं, आपको वारंवार नमस्कार है। आप पर्वतपर शयन करनेवाले शान्तस्वरूप शिव हैं, आपको वारंवार नमस्कार है ॥ १८ ॥

नमो विरूपरूपाय पुराय पुरहारिणे।
नम आद्याय बीजाय शुचयेऽष्टस्वरूपिणे ॥ १९ ॥

आप विरूप रूप धारण करनेवाले हैं, क्षेत्रस्वरूप तथा असुरोंके तीनों पुरोंका नाश करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप सबके आदि-बीज, परम पवित्र तथा अष्टमूर्तिधारी हैं, आपको नमस्कार है ॥ १९ ॥

नमः पिनाकहस्ताय नमः शूलासिधारिणे।
नमः खट्वाङ्गहस्ताय नमस्ते कृत्तिवाससे ॥ २० ॥

आपके हाथमें पिनाक शोभा पाता है, आपको नमस्कार है। आप शूल और खड्ग धारण करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। आप अपने हाथमें खट्वाङ्ग धारण करते हैं, आपको नमस्कार है। आप गजासुरके चर्मको वस्त्रके रूपमें ओढ़ते हैं, आपको नमस्कार है ॥ २० ॥

नमस्ते देवदेवाय नम आकाशमूर्तये।
हराय हरिरूपाय नमस्ते तिग्मतेजसे ॥ २१ ॥

देवताओंके भी देवता आपको नमस्कार है। आकाश-स्वरूप आपको नमस्कार है। हरिरूपधारी आप भगवान् हरको नमस्कार है। प्रचण्ड तेजवाले सूर्यतुल्य आपको नमस्कार है ॥ २१ ॥

भक्तप्रियाय भक्ताय भक्तानां वरदायिने।
नमोऽभ्रमूर्तये देव जगन्मूर्तिधराय च ॥ २२ ॥

आप भक्तोंके प्रिय, स्वयं भी श्रीहरिके भक्त तथा भक्तोंको वर देनेवाले हैं। देव ! आप मेघस्वरूप हैं तथा विश्वरूप धारण करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है ॥ २२ ॥

नमश्चन्द्राय देवाय सूर्याय च नमो नमः।
नमः प्रधानदेवाय भूतानां पतये नमः ॥ २३ ॥

आप चन्द्रदेवको नमस्कार है। आप सूर्यदेवको भी वारंवार नमस्कार है। आप प्रधान देवता तथा सम्पूर्ण भूतोंके अधिपति हैं, आपको वारंवार नमस्कार है ॥ २३ ॥

करालाय च मुण्डाय विकृताय कपर्दिने।
अजाय च नमस्तुभ्यं भूतभावनभावन ॥ २४ ॥

आप विकराल रूपधारी, मूँड़ मुँड़ाये हुए संन्यासी, विकृतस्वरूप तथा जटा-जूटधारी हैं। भूतभावनभावन ! आप अजन्मा हैं, आपको नमस्कार है ॥ २४ ॥

नमोऽस्तु हरिकेशाय पिंगलाय नमो नमः।
नमस्तेऽभीषुहस्ताय भीरुभीरुहराय च ॥ २५ ॥

सूर्यकी किरणें आपके केश हैं, आपको नमस्कार है। आपकी अङ्गकान्ति पिङ्गलवर्णकी है, आपको वारंवार नमस्कार है। आप ही मुझ श्रीकृष्णके रूपमें पार्थके सारथि बनकर हाथमें चाबुक लिये रहते हैं। आप भीरु-से-भीरु (अत्यन्त भयभीत) तथा हर (महान् संहारकारी) हैं, आपको नमस्कार है ॥ २५ ॥

हराय भीतिरूपाय घोराणां भीतिदायिने।
नमो दक्षमखघ्नाय भगनेत्रापहारिणे ॥ २६ ॥

आप भीतिस्वरूप हर तथा भयंकर दैत्योंको भय देनेवाले हैं, दक्षके यज्ञका विध्वंस तथा भग देवताके नेत्रका अपहरण करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है ॥ २६ ॥

उमापते नमस्तुभ्यं कैलासनिलयाय च।
आदिदेवाय देवाय भवाय भवरूपिणे ॥ २७ ॥

उमापते ! आप कैलासवासी, आदि देवता, देवमय, जगत्स्वरूप तथा भवनामसे प्रसिद्ध हैं, आपको नमस्कार है ॥

नमः कपालहस्ताय नमोऽजमथनाय च।
त्र्यम्बकाय नमस्तुभ्यं त्र्यक्षाय च शिवाय च॥ २८ ॥

आप हाथमें कपाल धारण करते हैं, आपको नमस्कार है। आपने ब्रह्माजीके सिरको मथ डाला है, आपको नमस्कार है। आप त्रिनेत्रधारी होनेके कारण त्र्यम्बक और त्र्यक्ष कहलाते हैं, आप भगवान् शिवको नमस्कार है ॥

वरदाय वरेण्याय नमस्ते चन्द्रशेखर।
नम इध्माय हविषे ध्रुवाय च कृशाय च ॥ २९ ॥

चन्द्रशेखर ! आप वरदायक एवं वरणीय देवताको नमस्कार है, आप ही समिधा, हविष्य, ध्रुव एवं कृशरूप हैं, आपको नमस्कार है ॥ २९ ॥

नमस्ते शक्तियुक्ताय नागपाशप्रियाय च।
विरूपाय सुरूपाय भद्रपानप्रियाय च॥ ३०॥

आप शक्तिसे संयुक्त, नागपाशको पसंद करनेवाले, विरूप एवं सुन्दर रूप धारण करनेवाले तथा भद्रपान (मङ्गलकारी पेय रस) के प्रेमी हैं, आपको नमस्कार है॥ ३०॥

श्मशानरतये नित्यं जयशब्दप्रियाय च।
खरप्रियाय खर्वाय खराय खररूपिणे॥ ३१॥

आप श्मशानभूमिमें प्रसन्नताका अनुभव करते हैं, जय-जयकारका शब्द आपको सदा ही प्रिय है, खर नामक राक्षस आपकी प्रीतिका पात्र था, आपका स्वरूप खर्व (नाटा) है, आप खर (तीव्र या कर्कश स्वभाववाले) हैं, खर (गर्दभ या राक्षस) आपका ही रूप है, आपको नमस्कार है॥३१॥

भद्रप्रियाय भद्राय भद्ररूपधराय च।
विरूपाय सुरूपाय महाघोराय ते नमः॥ ३२॥

आपको माङ्गलिक वस्तु प्रिय है, आप मङ्गलमय हैं, मङ्गलरूपधारी हैं, विरूप, सुन्दर रूपवाले तथा महाभयंकर हैं, आपको नमस्कार है॥ ३२॥

घण्टाय घण्टभूषाय घण्टभूषणभूषिणे।
तीव्राय तीव्ररूपाय तीव्ररूपप्रियाय च॥ ३३॥

आप घण्टारूप हैं, घण्टासे विभूषित हैं और घण्टायुक्त भूषण धारण करते हैं। आप तीव्र हैं, तीव्र रूपधारी हैं तथा तीव्र रूपवाले पदार्थ आपको विशेष प्रिय हैं, आपको नमस्कार है॥ ३३॥

नग्नाय नग्नरूपाय नग्नरूपप्रियाय च।
भूतावास नमस्तुभ्यं सर्वावास नमो नमः॥ ३४॥

आप नग्न हैं, नग्नरूपधारी हैं तथा नग्नरूपवाले आपको विशेष प्रिय हैं। आप सम्पूर्ण भूतोंके आवासस्थान हैं, आपको नमस्कार है। सबके आश्रयभूत महेश्वर! आपको नमस्कार है, नमस्कार है॥ ३४॥

नमः सर्वात्मने तुभ्यं नमस्ते भूतिदायक।
नमस्ते वामदेवाय महादेवाय ते नमः॥ ३५॥

आप सर्वात्माको नमस्कार है। ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले रुद्रदेव! आपको नमस्कार है। आप वामदेव हैं, आपको नमस्कार है। आप महादेव हैं, आपको नमस्कार है॥ ३५॥

का नु वाक्स्तुतिरूपा ते को नु स्तोतुं प्रशक्नुयात्।
कस्य वा स्फुरते जिह्वा स्तुतौ स्तुतिमतां वर॥ ३६॥

भला कौन ऐसी वाणी है, जो आपकी स्तुतिके अनुरूप होगी (आपकी महिमा वाणीकी पहुँचसे बाहर है)? कौन पुरुष आपकी स्तुति कर सकता है? स्तुतिमानों (स्तवनीय महापुरुषों) में श्रेष्ठ महेश्वर! किसकी जिह्वा आपकी स्तुतिके लिये सचेष्ट हो सकती है?॥ ३६॥

क्षमस्व भगवन् देव भक्तोऽहं त्राहि मां हर।
सर्वात्मन् सर्वभूतेश त्राहि मां सततं हर॥ ३७॥
रक्ष देव जगन्नाथ लोकान् सर्वात्मना हर।
त्राहि भक्तान् सदा देव भक्तप्रिय सदा हर॥ ३८॥

भगवन्! महादेव! मेरा अपराध क्षमा कीजिये। हर! मैं आपका भक्त हूँ, आप मेरी रक्षा कीजिये। सर्वात्मन्! सर्वभूतेश्वर हर! आप निरन्तर मेरा संरक्षण करें। देव! जगन्नाथ! हर! आप सम्पूर्ण लोकोंका सब प्रकारसे संरक्षण करें। देव! सदा अपने भक्तोंसे प्रेम करनेवाले हर! भक्तजनोंकी सदा रक्षा कीजिये॥ ३७-३८॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां विष्णुकृतेश्वरस्तुतौ सप्ताशीतितमोऽध्यायः॥ ८७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें कैलासयात्राके प्रसङ्गमें श्रीकृष्णकृत महादेवस्तुतिविषयक सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८७॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

भगवान् शिवद्वारा श्रीविष्णुकी स्तुति

वैशम्पायन उवाच

ततो वृषध्वजो देवः शूली साक्षादुमापतिः।
करं करेण संस्पृश्य विष्णोश्चक्रधरस्य ह॥ १॥
प्रोवाच भगवान् रुद्रः केशवं गरुडध्वजम्।
शृण्वतां सर्वदेवानां मुनीनां भावितात्मनाम्॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अपनी ध्वजामें वृषभका चिह्न धारण करनेवाले देवता, त्रिशूलधारी साक्षात् उमावल्लभ भगवान् रुद्र चक्रधारी श्रीकृष्णका हाथ अपने हाथमें लेकर समस्त देवताओं तथा पवित्र अन्तःकरणवाले मुनियोंके सुनते हुए गरुडध्वज केशवसे इस प्रकार बोले—॥ १-२॥

किमिदं देवदेवेश चक्रपाणे जनार्दन।
तपश्चर्या किमर्थं ते प्रार्थना तव का विभो॥ ३॥

'देवदेवेश्वर! चक्रपाणे! जनार्दन! आप यह क्या कर रहे हैं? आपकी यह तपश्चर्या किसलिये हो रही है? प्रभो! आपकी प्रार्थना क्या है?॥ ३॥

स्वयं विष्णुर्भवान् नित्यस्तपस्त्वं तपसां हरे।
पुत्रार्थं यदि ते देव तपश्चर्या जनार्दन॥ ४॥

पुत्रो दत्तो मया देव पूर्वमेव जगत्पते।
शृणु तत्रापि भगवन् कारणं कारणात्मक ॥ ५ ॥

'हरे! आप स्वयं नित्य-स्वरूप भगवान् विष्णु हैं, तपस्याओंकी भी तपस्या हैं। देव! जनार्दन! जगत्पते! यदि आपकी यह तपस्या पुत्रके लिये हो रही है तो मैंने पहलेसे ही आपको पुत्र दे रखा है। देव! भगवन्! कारणात्मक नारायण! इसमें जो कारण है, उसे आप सुनिये ॥ ४-५ ॥

तपश्चर्तुं प्रवृत्तोऽहं कुतश्चित् कारणाद्धरे।
वर्षायुतं महाघोरं पुरा कृतयुगे तदा ॥ ६ ॥

'हरे! प्राचीन कालके कृतयुगकी बात है कि मैं उन दिनों किसी कारणवश दस हजार वर्षोंके लिये महाघोर तपस्यामें संलग्न हुआ था ॥ ६ ॥

भवानी तत्र मे देव परिचर्तुं तदाभवत्।
पित्रा नियुक्ता देवेश उमैषा वरवर्णिनी ॥ ७ ॥

'देव! देवेश्वर! उस समय वहाँ यह मेरी धर्मपत्नी परम सुन्दरी उमा अपने पिताकी आज्ञासे मेरी सेवा करती थी ॥

भीत इन्द्रस्तदा देव मारं मां प्रैषयत्तदा।
मधुना सह संयुक्तो मारो मामागतस्तदा ॥ ८ ॥

'देव! मेरी उस तपस्यासे इन्द्रको भय हुआ, अतः उस समय उन्होंने कामदेवको मेरे पास भेजा। तब कामदेव अपने सखा वसन्तको साथ लेकर मेरे समीप आया ॥ ८ ॥

लक्ष्यं मामकरोत् तत्र बाणस्य प्रेषितस्य ह।
एष मां सेवते तत्र दानात् पुष्पादिनां हरे ॥ ९ ॥

'हरे! वहाँ पहुँचते ही कामदेवने मुझे अपने चलाये हुए बाणका निशाना बनाया। यह पार्वती वहाँ फूल आदि जुटानेके द्वारा मेरी सेवा करती थी ॥ ९ ॥

ततः क्रुद्धोऽहमभवं दृष्ट्वा मारं तथाविधम्।
क्रुद्धस्यतो मम देवेश नेत्रादग्निः पपात ह ॥ १० ॥

'देवेश्वर! कामदेवको अपने ऊपर बाण चलाते देख मैं उसके ऊपर कुपित हो उठा। क्रोध करनेपर मेरे ललाटस्थ नेत्रसे सहसा अग्निका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १० ॥

सोऽयमग्निस्तदा मारं भस्मसात् कृतवान् हरे।
अचिन्तयं तदा विष्णो शक्रस्यैतच्चिकीर्षितम् ॥ ११ ॥

'सर्वव्यापी हरे! उस अग्निने उस समय कामदेवको जलाकर भस्म कर दिया, तब मेरे ध्यानमें यह बात आयी कि यह सारी करतूत इन्द्रकी थी ॥ ११ ॥

ततः प्रभृति देवेश दया तं प्रति वर्तते।
ब्रह्मणा च नियुक्तोऽस्मि प्रीतस्तत्र जनार्दन ॥ १२ ॥

'देवेश्वर! जनार्दन! तभीसे कामदेवके प्रति मुझे बड़ी दया आती है। मैं मन-ही-मन उसपर प्रसन्न हूँ। ब्रह्माजीने भी मुझे प्रेरित किया है कि मैं उसके लिये नूतन शरीर-धारणका अवसर दूँ ॥ १२ ॥

नियुक्तः पुत्ररूपेण स ते देव जगत्पते।
ज्येष्ठस्तव सुतो देव प्रद्युम्नेत्यभिविश्रुतः ॥ १३ ॥
स्मरं तं विद्धि देवेश नात्र कार्या विचारणा।

'देव! जगत्पते! अतः मैंने कामदेवको आपके पुत्ररूपसे नियुक्त किया है। देव! वह प्रद्युम्न नामसे विख्यात आपका ज्येष्ठ पुत्र होगा। देवेश्वर! आप उसे कामदेव ही समझें, इसमें अन्यथा विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है' ॥ १३½ ॥

इत्युक्त्वा पुनराहेदं याथात्म्यं दर्शयन्निव ॥ १४ ॥
मुनीनां श्रोतुकामानां याथात्म्यं तत्र सत्तमः।
अञ्जलिं सम्पुटं कृत्वा विष्णुमुद्दिश्य शंकरः ॥ १५ ॥
उमया सार्धमीशानो याथात्म्यं वक्तुमैहत।

ऐसा कहकर श्रीहरिके यथार्थ स्वरूपको सुननेकी इच्छावाले मुनियोंके समक्ष उनके यथावत् स्वरूपका परिचय देते हुए-से सत्पुरुषशिरोमणि सर्वेश्वर भगवान् शङ्कर उमादेवीके साथ श्रीकृष्णके लिये हाथ जोड़कर फिर इस प्रकार बोलने—उनकी यथात्मताका प्रतिपादन करनेको उद्यत हुए ॥

हरे कुर्वेति तत्रैवमञ्जलिं कुरुसत्तम ॥ १६ ॥
मुनयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह किंनराः।
अञ्जलिं चक्रिरे विष्णौ देवदेवेश्वरे हरौ ॥ १७ ॥

कुरुश्रेष्ठ! वहाँ महादेवजीके इस प्रकार हाथ जोड़नेपर दूसरे-दूसरे मुनि, देवता, गन्धर्व, सिद्ध तथा किन्नरोंने भी उन सर्वव्यापी देवदेवेश्वर श्रीहरिके समीप हाथ जोड़ लिये ॥

महेश्वर उवाच

यत्तत् कारणमाहुस्तत् सांख्याः प्रकृतिसंज्ञकम्।
ततो महान् समुत्पन्नः प्रकृतिर्यस्य कारणम् ॥ १८ ॥

महेश्वर बोले—सांख्यशास्त्रके विद्वान् जिस प्रकृतिसंज्ञक कारणतत्त्वका वर्णन करते हैं, उससे 'महान्' (महत्तत्त्व या समष्टि बुद्धि) उत्पन्न हुआ, जिसका उपादान कारण प्रकृति है ॥ १८ ॥

त्रिधा भूतं जगद्योनिं प्रधानं कारणात्मकम्।
सत्त्वं रजस्तमो विष्णो जगदण्डं जनार्दन ॥ १९ ॥
तस्य कारणमाहुस्त्वां सांख्यप्रकृतिसंज्ञकम्।
तद्रूपेण भवान् विष्णो परिणम्याधितिष्ठति ॥ २० ॥

सर्वव्यापी जनार्दन! कारणस्वरूप जो प्रधान (प्रकृति) है, वही इस जगत्की योनि है। उसके तीन भेद हैं—सत्त्व, रज और तम। इस त्रिगुणमयी प्रकृतिसे ही यह विश्व ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है। इसका कारणभूत जो सांख्य-प्रकृति है, उसे विद्वान् पुरुष आपका ही स्वरूप बताते हैं। विष्णो!

उसके रूपमें आप ही परिणामको प्राप्त होकर उसके अधिष्ठाता बने रहते हैं ॥ १९-२० ॥

तस्मात्तु महतो घोरादहंकारो महानभूत् ।
स त्वमादौ जगन्नाथ परिणामस्तथा हि सः ॥ २१ ॥

उस घोर महान् (महत्तत्त्व) से महान् (समष्टिभूत) अहङ्कार प्रकट हुआ । जगन्नाथ ! आदिकालमें प्रकट हुआ वह महत्तत्त्वका वैसा (अहंकारात्मक) परिणाम आप ही हैं ॥

अहंकारात् प्रभो देव कारणानि महान्ति च ।
तन्मात्राणि तथा पञ्च भूतानि प्रभवन्त्युत ॥ २२ ॥

प्रभो ! देव ! अहङ्कारसे 'तन्मात्र' नामक महान् कारण उत्पन्न हुए, जिनसे पञ्च महाभूतोंका प्राकट्य हुआ है ॥२२॥

तानि त्वामाहुरीशानं भूतानीह जगत्पते ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ २३ ॥

जगत्पते ! इस जगत्में जो वे पाँचों महाभूत हैं, उन्हें भी आप सर्वेश्वरका ही स्वरूप बताते हैं । उनके नाम ये हैं— पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और पाँचवाँ भूत अग्नि ॥ २३ ॥

चक्षुर्घ्राणं तथा स्पर्शो रसनं श्रोत्रमेव च ।
मनः षष्ठं तथा देव प्रेरकं तत्र तत्र ह ॥ २४ ॥

देव ! नेत्र, नासिका, त्वचा, रसना और कान—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । इन्हींके साथ छठा मन है, जो उन इन्द्रियों-को विभिन्न विषयोंमें जानेके लिये प्रेरित करता है ॥ २४ ॥

कर्मेन्द्रियाणि चान्यानि वागादीनि जनार्दन ।
त्वमेव तानि सर्वाणि करोषि नियतात्मवान् ॥ २५ ॥
स्वेषु स्वेषु जगन्नाथ विषयेषु तथा हरे ।
निवेशयसि देवेश योग्यामिन्द्रियपद्धतिम् ॥ २६ ॥

जनार्दन ! वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ और हैं । जग-न्नाथ ! हरे ! अपने मनको संयममें रखनेवाले आप परमात्मा ही उन सब इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें नियुक्त करते हैं । देवेश्वर ! आप ही योग्य इन्द्रिय-मार्गकी स्थापना करते हैं ॥ २५-२६ ॥

यदा त्वं रजसा युक्तस्तदा भूतानि सृष्टवान् ।
यदा च सत्त्वयुक्तोऽसि तदा पाता जगत्त्रयम् ॥ २७ ॥
यदा त्वं तमसाऽऽक्रष्टस्तदा संहरसे जगत् ।

जब आप रजोगुणसे संयुक्त हुए, तब आपने समस्त प्राणियोंकी सृष्टि की । जब आप सत्त्वगुणसे युक्त होते हैं, तब तीनों लोकोंका पालन करते हैं और जब तमोगुणसे आकृष्ट होते हैं, तब जगत्का संहार करते हैं ॥ २७½ ॥

त्रिभिरेव गुणैर्युक्तः सृष्टिरक्षाविनाशने ॥ २८ ॥
वर्तसे त्रिविधां भूतिमादाय नियतात्मवान् ।

इस प्रकार आप नियतात्मा परमेश्वर तीनों ही गुणोंसे युक्त होकर अपनी त्रिविध ऐश्वर्य (शक्ति) को साथ रखते हुए सृष्टि, रक्षा और संहारके कार्यमें सदा संलग्न रहते हैं ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु नियोजयसि माधव ॥ २९ ॥
प्राणिनामुपभोगार्थमन्तः स्थित्वा जगद्गुरो ।
तस्मात् सर्वत्र भूतेषु वर्तते सर्वभोगवान् ॥ ३० ॥

माधव ! जगद्गुरो ! आप प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनके उपभोगके लिये इन्द्रियोंको विषयोंमें लगाते हैं । इसलिये सम्पूर्ण भूतोंमें आप ही समस्त भोगोंसे सम्पन्न हैं ॥

ब्रह्मा त्वं सृष्टिकाले तु स्थितौ विष्णुरसि प्रभो ।
संहारे रुद्रनामासि त्रिधामा त्वमसि प्रभो ॥ ३१ ॥

प्रभो ! सृष्टिकालमें आप ही ब्रह्मा हैं, पालनकालमें विष्णु कहलाते हैं तथा संहारकालमें रुद्र नाम धारण करते हैं । भगवन् ! इस प्रकार आप तीन धामवाले हैं ॥ ३१ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
एताः प्रकृतयो देव भिन्नाः सर्वत्र ते हरे ॥ ३२ ॥

हरे ! देव ! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि (और अहङ्कार)—ये सर्वत्र उपलब्ध होनेवाली आठ भिन्न-भिन्न प्रकृतियाँ आपकी ही हैं ॥ ३२ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
सहस्रधारः साहस्री सहस्रात्मा दिवस्पतिः ॥ ३३ ॥

आप सहस्रों मस्तकोंसे सुशोभित विराट् पुरुष हैं । आपके सहस्रों नेत्र और सहस्रों पैर हैं, धारण करनेवाली भुजाएँ भी सहस्रों हैं । आपकी सभी वस्तुएँ सहस्रोंकी संख्यामें सुशोभित होती हैं । आपके सहस्रों रूप हैं और आप ही स्वर्गलोकके अधिपति इन्द्र हैं ॥ ३३ ॥

भूमिं सर्वामिमां प्राप्य ससद्वीपांससागराम् ।
अणुः सर्वत्रगो भूत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥ ३४ ॥

सातों द्वीपों और समुद्रोंसे युक्त इस सारी पृथ्वीको व्याप्त करके आप सूक्ष्म एवं सर्वव्यापी होकर इस ब्रह्माण्डसे दस अङ्गुल ऊपर उठे हुए हैं ॥ ३४ ॥

त्वमेवेदं जगत् सर्वं यद् भूतं यद् भविष्यति ।
त्वत्तो विराट् प्रादुरभूत् सम्राट् चैव जनार्दन ॥ ३५ ॥

जो हुआ है और जो होनेवाला है, वह यह सम्पूर्ण जगत् आप ही हैं । जनार्दन ! आपसे ही विराट् और सम्राट् (विराट्के अधिष्ठाता पुरुष) की उत्पत्ति हुई है ॥ ३५ ॥

तव वक्त्राज्जगन्नाथ ब्राह्मणो लोकरक्षकः ।
प्रादुरासीत् पुराणात्मन् षट्कर्मनिरतः सदा ॥ ३६ ॥

पुराणात्मन् ! जगन्नाथ ! आपके मुखसे यजन-याजन आदि छः कर्मोंमें सदा तत्पर रहनेवाला लोकरक्षक ब्राह्मण प्रकट हुआ है ॥ ३६ ॥

राजन्यस्तु तथा बाह्वोरासीत् संरक्षणे रतः।
ऊर्वोर्वैश्यस्तथा विष्णो पादाच्छूद्र उदाहृतः॥ ३७॥

विष्णो! आपकी भुजाओंसे रक्षाकर्ममें रत रहनेवाले क्षत्रियकी, दोनों जाँघोंसे वैश्यकी तथा पैरोंसे शूद्रकी उत्पत्ति हुई बतायी गयी है॥ ३७॥

एवं वर्णा जगन्नाथ तव देहाज्जनार्दन।
मनसस्तव देवेश चन्द्रमाः समपद्यत॥ ३८॥
सुखकृत् सर्वभूतानां शीतांशुरमितप्रभः।

जगदीश्वर! जनार्दन! इस प्रकार चारों वर्ण आपके शरीरसे प्रकट हुए हैं। देवेश्वर! आपके मनसे समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाले अमित कान्तिमान् शीतरश्मि चन्द्रमाकी उत्पत्ति हुई है॥ ३८½॥

अक्ष्णोः सूर्यः समुत्पन्नः सर्वप्राणिविलोचनः॥ ३९॥
यस्य भासा जगत् सर्वं भासते भानुमानसौ।
मुखादिन्द्रश्च अग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत॥ ४०॥

आपके नेत्रोंसे समस्त प्राणियोंके नेत्रस्वरूप वे भानुमान् (अंशुमाली) सूर्य उत्पन्न हुए हैं, जिनकी प्रभासे सारा जगत् प्रकाशित होता है। आपके मुखसे इन्द्र और अग्नि तथा प्राणसे वायुदेवका प्राकट्य हुआ है॥ ३९-४०॥

नाभेरभूदन्तरिक्षं तव देव जनार्दन।
द्यौरासीत् तु महाघोरा शिरसस्तव गोपते॥ ४१॥

देव! जनार्दन! आपकी नाभिसे अन्तरिक्ष प्रकट हुआ। गोपते! आपके मस्तकसे महाघोर द्युलोकका आविर्भाव हुआ है॥ ४१॥

पद्भ्यां भूमिः समुत्पन्ना दिशः श्रोत्राज्जगत्पते।
एवं सृष्ट्वा जगत् सर्वं व्याप्य सर्वं व्यवस्थितः॥ ४२॥

जगत्पते! आपके पैरोंसे पृथ्वी और कानोंसे दिशाएँ उत्पन्न हुई हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करके आप सबको व्याप्त करके स्थित हैं॥ ४२॥

व्याप्य सर्वानिमाँल्लोकान् स्थितः सर्वत्र केशव।
ततश्च विष्णुनामासि धातोर्व्याप्तेश्च दर्शनात्॥ ४३॥

केशव! इन सम्पूर्ण लोकोंमें व्याप्त होकर आप सर्वत्र विराजमान हैं। इसलिये 'विष्' धातुके व्याप्तिरूप अर्थका दर्शन होनेसे आप 'विष्णु' नाम धारण करते हैं॥ ४३॥

नारा आपः समाख्यातास्तासामयनमादितः।
यतस्त्वं भूतभव्येश तन्नारायणशब्दितः॥ ४४॥

भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी विष्णुदेव! जलको नार कहते हैं, उस नारके आप आदिकालसे ही अयन (आश्रय) हैं, इसलिये 'नारायण' कहलाते हैं॥ ४४॥

हरसि प्राणिनो देव ततो हरिरिति स्मृतः।
शंकरोऽसि सदा देव ततः शंकरतां गतः॥ ४५॥

देव! आप प्राणियों (के पाप-ताप) का हरण करते हैं, इसलिये 'हरि' कहे गये हैं। देव! आप सदा सबका 'शम्' (कल्याण) करते हैं, इसलिये 'शङ्कर' नामसे प्रसिद्ध हुए हैं॥ ४५॥

बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च तस्माद् ब्रह्मेति शब्दितः।
मधुरिन्द्रियनामेति ततो मधुनिषूदनः॥ ४६॥

बृहत् तथा वर्धनशील होनेके कारण आपको 'ब्रह्म' कहते हैं। मधु नाम है इन्द्रियोंका, उनका दमन करनेके कारण आप 'मधुसूदन' कहलाते हैं॥ ४६॥

हृषीकाणीन्द्रियाण्याहुस्तेषामीशो यतो भवान्।
हृषीकेशस्ततो विष्णो ख्यातो देवेषु केशव॥ ४७॥

केशव! विष्णो! हृषीक कहते हैं इन्द्रियोंको। आप उनके ईश (स्वामी अथवा प्रेरक) हैं, इसलिये देवताओंमें 'हृषीकेश' नामसे विख्यात हैं॥ ४७॥

क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्।
आवां तवाङ्गसम्भूतौ तस्मात् केशवनामवान्॥ ४८॥

'क'—यह ब्रह्माजीका नाम है और मैं समस्त देहधारियोंका 'ईश' हूँ। हम दोनों आपके शरीरसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये आप 'केशव' नाम धारण करते हैं॥ ४८॥

मा विद्या च हरे प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवान्।
तस्मान्माधवनामासि धवः स्वामीति शब्दितः॥ ४९॥

हरे! 'मा' कहते हैं विद्याको। आप उसके 'धव' (ईश्वर या स्वामी) हैं, इसलिये 'माधव' नामसे प्रसिद्ध हैं। धव-शब्द स्वामीका वाचक है॥ ४९॥

गौरेषा तु यतो वाणी तां च वेद यतो भवान्।
गोविन्दस्तु ततो देव मुनिभिः कथ्यते भवान्॥ ५०॥

देव! यह वाणी 'गो' नामसे प्रसिद्ध है। उसे आप जानते हैं, इसलिये मुनिलोग आपको 'गोविन्द' कहते हैं॥ ५०॥

त्रिरित्येव त्रयो वेदाः कीर्तिता मुनिसत्तमैः।
क्रमते तांस्तथा सर्वांस्त्रिविक्रम इति श्रुतः॥ ५१॥

श्रेष्ठ मुनियोंने तीनों वेदोंको 'त्रि' नाम दिया है, आप उन तीनोंको क्रान्त (व्याप्त) करके स्थित हैं; इसलिये 'त्रिविक्रम' नामसे विख्यात हैं॥ ५१॥

अणुर्वामननामासि यतस्त्वं वामनाख्यया।
मननान्मुनिरेवासि यमनाद् यतिरुच्यसे॥ ५२॥

आप सूक्ष्म या लघु होनेसे 'वामन' नाम धारण करते हैं। आपके वामन नामसे प्रसिद्ध होनेका यही हेतु है। आप मनन करनेसे 'मुनि' हैं और यमका पालन करनेसे 'यति' कहलाते हैं॥

तपश्चरसि यस्मात् त्वं तपस्वीति च शब्दितः।
वसन्ति त्वयि भूतानि भूतावासस्ततो हरे॥ ५३॥

अतः आप तपस्या करते हैं, इसलिये 'तपस्वी' नामसे प्रसिद्ध हैं। हरे ! सम्पूर्ण भूत आपमें निवास करते हैं, इसलिये आप 'भूतावास' कहलाते हैं ॥ ५३ ॥

ईशस्त्वं सर्वभूतानामीश्वरोऽसि ततो हरे।
प्रणवः सर्ववेदानां गायत्री छन्दसां प्रभो ॥ ५४ ॥

हरे ! आप सम्पूर्ण भूतोंके ईश हैं, इसीलिये 'ईश्वर' कहे गये हैं। प्रभो ! आप समस्त वेदोंमें प्रणव और सम्पूर्ण छन्दोंमें 'गायत्री' हैं ॥ ५४ ॥

अक्षराणामकारस्त्वं स्फोटस्त्वं वर्णसंश्रयः।
रुद्राणामहमेवासि वसूनां पावको भवान् ॥ ५५ ॥

आप अक्षरोंमें अकार हैं। वर्णोंके आश्रित रहनेवाले स्फोट[1] हैं। रुद्रोंमें मैं अर्थात् शङ्कर हैं और वसुओंमें आप पावक हैं ॥ ५५ ॥

अश्वत्थो वृक्षजातीनां ब्रह्मा लोकगुरुर्भवान्।
मेरुस्त्वं पर्वतेन्द्राणां देवर्षीणां च नारदः ॥ ५६ ॥

आप वृक्ष-जातियोंमें अश्वत्थ हैं। समस्त लोकोंके गुरु ब्रह्मा हैं। श्रेष्ठ पर्वतोंमें मेरु और देवर्षियोंमें नारद हैं ॥५६॥

दानवानां भवान् दैत्यः प्रह्लादो भक्तवत्सलः।
सर्पाणामेव सर्वेषां भवान् वासुकिसंज्ञितः ॥ ५७ ॥

आप दानवोंमे दैत्यनन्दन भक्तवत्सल प्रह्लाद हैं। समस्त सर्पोंमें आप ही वासुकि हैं ॥ ५७ ॥

गुह्यकानां च सर्वेषां भवान् धनद एव च।
वरुणो यादसां राजा गङ्गा त्रिपथभाग् भवान् ॥ ५८ ॥

आप समस्त गुह्यकोंमें धनदाता कुबेर हैं। जल-जन्तुओंके राजा वरुण और त्रिपथगामिनी गङ्गा भी आप ही हैं ॥५८॥

आदिस्त्वं सर्वभूतानां मध्यमन्तस्तथा भवान्।
त्वत्तः समभवद् विश्वं त्वयि सर्वं प्रलीयते ॥ ५९ ॥

आप समस्त भूतोंके आदि, मध्य और अन्त हैं। आपसे इस विश्वका प्रादुर्भाव हुआ है और अन्तमें सारा जगत् आपमें ही लीन हो जाता है ॥ ५९ ॥

अहं त्वं सर्वगो देव त्वमेवाहं जनार्दन।
आवयोरन्तरं नास्ति शब्दैरर्थैर्जगत्पते ॥ ६० ॥

जनार्दन ! देव ! मैं ही आप सर्वव्यापी देवता हैं और आप ही मैं हूँ। जगत्पते ! शब्द और अर्थसे भी हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है ॥ ६० ॥

नामानि तव गोविन्द यानि लोके महान्ति च।
तान्येव मम नामानि नात्र कार्या विचारणा ॥ ६१ ॥

गोविन्द ! लोकमें जो आपके महान् नाम हैं, वे ही मेरे भी नाम हैं। इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥

त्वदुपासा जगन्नाथ सैवास्ति मम गोपते।
यश्च त्वां द्वेष्टि देवेश स मां द्वेष्टि न संशयः ॥ ६२ ॥

जगन्नाथ ! गोपते ! आपकी जो उपासना है, वही मेरी भी है। देवेश्वर ! जो आपसे द्वेष रखता है, वह मुझसे भी द्वेष करता है, इसमें संशय नहीं ॥ ६२ ॥

त्वद्विस्तारो यतो देव अहं भूतपतिस्ततः।
न तदस्ति विना देव यत् ते विरहितं हरे ॥ ६३ ॥

देव ! आपका ही विस्तार मैं हूँ, अतः आपहीकी भाँति मैं भी सम्पूर्ण भूतोंका अधिपति कहलाता हूँ। देव ! हरे ! ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो आपके बिना या आपसे रहित हो ॥६३॥

यदासीद् वर्तते यच्च यच्च भावि जगत्पते।
सर्वं त्वमेव देवेश विना किंचित्त्वया न हि ॥ ६४ ॥

जगत्पते ! देवेश्वर ! जो कुछ था, जो है और जो भविष्यमें होनेवाला है, वह सब आप ही हैं। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो आपसे रहित हो ॥ ६४ ॥

स्तुवन्ति देवाः सततं भवन्तं स्वैर्गुणैः प्रभो।
ऋक्च त्वं यजुरेवासि सामासि सततं प्रभो ॥ ६५ ॥

प्रभो ! देवता सदा आपके निजी गुणोंका बखान करके आपकी स्तुति करते हैं। भगवन् ! आप ही नित्य-निरन्तर ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद हैं ॥ ६५ ॥

किमुच्यते मया देव सर्वं त्वं भूतभावन।
नमः सर्वात्मना देव विष्णो माधव केशव ॥ ६६ ॥

भूतभावन देव ! मैं अधिक क्या कहूँ ? आप ही सब कुछ हैं। देव ! विष्णो ! माधव ! केशव ! आपको सब प्रकारसे नमस्कार है ॥ ६६ ॥

नमस्करोमि सर्वात्मन् नमस्तेऽस्तु सदा हरे।
नमः पुष्करनाभाय वन्दे त्वामहमीश्वर ॥ ६७ ॥

सर्वात्मन् ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हरे ! आपको सदा ही नमस्कार है। आप पद्मनाभ हैं, आपको नमस्कार है। ईश्वर ! मैं आपकी वन्दना करता हूँ ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां शिवकृतविष्णुस्तुतौ अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें कैलासयात्राके प्रसङ्गमें शिवकृत विष्णुकी स्तुतिविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

---

१. सर्वदर्शनसंग्रहके अनुसार नित्य शब्द, जिससे वर्णात्मक शब्दोंके अर्थका ज्ञान होता है, जैसे कमल शब्दमें क, म और ल—ये तीन वर्ण हैं और इन तीनोंके अलग-अलग उच्चारणसे कुछ भी अभिप्राय नहीं निकलता, परंतु तीनों वर्णोंका साथ-साथ उच्चारण करनेपर जो स्फोट होता है, उसीसे कमल शब्दका अभिप्राय जाना जाता है। कुछ लोग इसी स्फोट (नित्य शब्द) को संसारका कारण मानते हैं।

एकोननवतितमोऽध्यायः

भगवान् शङ्करका ऋषियोंको श्रीकृष्णतत्त्वका उपदेश देना

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा देवदेवेशं मुनीनाह पुनः शिवः।
एवं जानीत हे विप्रा ये भक्ता द्रष्टुमागताः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवदेवेश्वर श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर भगवान् शिवने पुनः मुनियोंसे कहा—'ब्राह्मणो! जो भक्तजन यहाँ श्रीहरिका दर्शन करनेके लिये आये हैं, वे सब यह जान लें॥ १॥

एतदेव परं वस्तु नैतस्मात् परमस्ति वः।
एतदेव विजानीध्वमेतद् वः परमं तपः॥ २॥

'ये श्रीकृष्ण ही परम वस्तु हैं, तुमलोगोंके लिये इनसे बढ़कर और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। ये ही तुम्हारी तपस्याके सर्वोत्तम फल हैं, इस बातको तुमलोग अच्छी तरह जान लो॥ २॥

एतदेव सदा विप्रा ध्येयं सततमानसैः।
एतद् वः परमं श्रेय एतद् वः परमं धनम्॥ ३॥

'विप्रगण! सदा एकाग्रचित्त होकर नित्य-निरन्तर इन्हीं श्रीकृष्णका ध्यान करना चाहिये। ये ही तुम्हारे परम कल्याण हैं और ये ही तुम्हारे परम धन हैं॥ ३॥

एतद् वो जन्मनः कृत्यमेतद् वस्तपसः फलम्।
एष वः पुण्यनिलय एष धर्मः सनातनः॥ ४॥

'ये ही तुम्हारे जन्म और जीवनकी सफलता हैं। ये ही तुम्हारी तपस्याके फल हैं। ये ही तुम्हारे पुण्योंके भण्डार हैं और ये ही सनातन धर्म हैं॥ ४॥

एष वो मोक्षदाता च एष मार्ग उदाहृतः।
एष पुण्यप्रदः साक्षादेतद् वः कर्मणां फलम्॥ ५॥

'ये ही तुम्हे मोक्ष देनेवाले हैं और ये ही गन्तव्य मार्ग बताये गये हैं। ये ही साक्षात् पुण्यदायक और ये ही तुम्हारे सत्कर्मोंके फल हैं॥ ५॥

एतदेव प्रशंसन्ति विद्वांसो ब्रह्मवादिनः।
एष त्रयीगतिर्विप्राः प्रार्थ्यो ब्रह्मविदां सदा॥ ६॥

'ब्रह्मवादी विद्वान् सदा इनकी ही प्रशंसा करते हैं। ये ही तीनों वेदोंकी गति (आश्रय) हैं। ब्राह्मणो! ब्रह्मवेत्ता पुरुष सदा इन्हींकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना करते हैं॥ ६॥

एतदेव प्रशंसन्ति सांख्ययोगसमाश्रिताः।
एष ब्रह्मविदां मार्गः कथितो वेदवादिभिः॥ ७॥

'सांख्य और योगका आश्रय लेनेवाले विद्वान् इन्हींके गुण गाते हैं। वेदवादी विद्वानोंने इन्हींको ब्रह्मवेत्ताओंका मार्ग बताया है॥ ७॥

एवमेव विजानीत नात्र कार्या विचारणा।
हरिरेकः सदा ध्येयो भवद्भिः सत्त्वमास्थितैः॥ ८॥

'विप्रवरो! तुम सदा ऐसा ही जानो। इसमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। सत्त्वगुणका आश्रय लेनेवाले तुम-जैसे भक्तोंको सदा एकमात्र श्रीहरिका ही चिन्तन करना चाहिये॥ ८॥

नान्यो जगति देवोऽस्ति विष्णोर्नारायणात् परः।
ओमित्येवं सदा विप्राः पठत ध्यात केशवम्॥ ९॥

'संसारमें सर्वव्यापी नारायणसे बढ़कर दूसरा कोई देवता नहीं है। ब्राह्मणो! तुम सदा ओम्‌का जप और भगवान् केशवका ध्यान किया करो॥ ९॥

ततो निःश्रेयसप्राप्तिर्भविष्यति न संशयः।
एवं ध्यातो हरिः साक्षात् प्रसन्नो वो भविष्यति॥ १०॥

'ऐसा करनेसे तुम्हें परम कल्याणकी प्राप्ति होगी। इसमें संशय नहीं है। इस प्रकार ध्यान करनेपर साक्षात् श्रीहरि तुमलोगोंपर प्रसन्न होंगे॥ १०॥

भवनाशमयं देवः करिष्यति दृढं हरिः।
सदा ध्यात हरिं विप्रा यदीच्छा प्राप्तुमच्युतम्॥ ११॥

'ये भगवान् विष्णु तुम्हारे संसारबन्धनका दृढ़तापूर्वक नाश कर डालेंगे। ब्राह्मणो! यदि भगवान् अच्युतको प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो सदा ही उन श्रीहरिका ध्यान करो॥ ११॥

एष संसारविभवं विनाशयति वो गुरुः।
स्मरध्वं सततं विष्णुं पठध्वं त्रिशरीरिणम्॥ १२॥

'ये ही तुम्हारे गुरु हैं। ये संसार-बन्धनका विस्तार करनेवाली मूल-अविद्याका नाश कर डालेंगे, अतः तुमलोग ब्रह्मा, विष्णु एवं शिवरूप त्रिविध शरीर धारण करनेवाले श्रीहरिका सदा स्मरण एवं कीर्तन किया करो॥ १२॥

मनःसंयमनं विप्राः कुरुध्वं यत्नतः सदा।
शुद्धेऽन्तःकरणे विष्णुः प्रसीदति तपोधनाः॥ १३॥

'ब्राह्मणो! तुमलोग सदा यत्नपूर्वक मनका संयम करो। तपोधनो! संयमसे अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं॥ १३॥

ध्यात्वा मां सर्वयत्नेन ततो जानीत केशवम्।
उपास्योऽहं सदा विप्रा उपास्येऽस्मिन् हरौ स्मृतः॥ १४॥

'ब्राह्मणो! तुम सम्पूर्ण यत्नसे मेरा चिन्तन करके फिर केशवका ज्ञान प्राप्त करो। इन उपास्यदेव श्रीहरिमें सदा मैं ही उपास्य माना गया हूँ॥ १४॥

उपायोऽयं मया प्रोक्तो नात्र संदेह इत्यपि ।
अयं मायी सदा विप्रा यतध्वमघनाशने ॥ १५ ॥

'विप्रगण ! यह मैंने भगवान्‌की प्राप्तिका उपाय बताया, इसमें संदेह नहीं है । ये भगवान् मायाके अधिपति हैं, तुम सब लोग इन पापहारी हरिकी प्राप्तिके लिये सदा प्रयत्न करते रहो ॥ १५ ॥

यथा वो बुद्धिरखिला शुद्धा भवति यत्नतः ।
तथा कुरुत्व विप्रेन्द्रा यथा देवः प्रसीदति ॥ १६ ॥

'विप्रवरो ! जिस प्रकारसे यत्न करनेपर तुम्हारी सारी बुद्धि शुद्ध हो जाय और जिससे भगवान् प्रसन्न हो जायँ, वैसा करो' ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्ततः सर्वे मुनयः पुण्यशीलिनः ।
यथावदुपगृह्णाना निरसन् संशयं नृप ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरेश्वर ! भगवान् शङ्करके ऐसा कहनेपर उन समस्त पुण्यशील मुनियोंने यथावत् रूपसे उनके उपदेशको ग्रहण किया और अपने मनसे संशयको निकाल दिया ॥ १७ ॥

एवमेवेति तं विप्राः प्राहुः प्राञ्जलयो हरम् ।
छिन्नो नः संशयः सर्वो गृहीतोऽर्थः स तादृशः ॥ १८ ॥

उन ब्राह्मणोंने हाथ जोड़कर महादेवजीसे कहा—'भगवन् ! आपने जैसा कहा है, ऐसी ही बात है । हमारा सारा संशय नष्ट हो गया और हमने वैसा ही सिद्धान्त स्वीकार कर लिया ॥ १८ ॥

एतदर्थं समायाता वयमद्य तवालयम् ।
संगमाद् युवयोः सर्वो नष्टो मोहो महानिह ॥ १९ ॥

'प्रभो ! हम इसीलिये आज आपके निवासस्थानपर आये थे । आप दोनोंके समागमसे यहाँ हमारा सारा महान् मोह नष्ट हो गया ॥ १९ ॥

यथा वदसि देवेश तथा नः श्रेयसे परम् ।
यथाऽऽह भगवान् रुद्रो यतामः सततं हरौ ।
इति ते मुनयः प्रीताः प्रणेमुः केशवं हरिम् ॥ २० ॥

'देवेश्वर ! आप जैसा कहते हैं, वैसा करनेसे ही हमारा परम कल्याण होगा । आप भगवान् रुद्रने जैसा कहा है, उसके अनुसार हम सदा श्रीहरिकी प्राप्तिके लिये यत्न करते रहेंगे । ऐसा कहकर उन प्रसन्न हुए मुनियोंने श्रीकेशव हरिको प्रणाम किया ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां ऋष्युपदेशे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें कैलासयात्राके प्रसङ्गमें भगवान् शिवका ऋषियोंको उपदेशविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥



नवतितमोऽध्यायः

भगवान् शंकरद्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति और श्रीकृष्णका कैलाससे बदरिकाश्रममें लौटना

वैशम्पायन उवाच

ततः स भगवान् रुद्रः सर्वान् विस्मापयन्निव ।
स्तुत्या प्रचक्रमे स्तोतुं विष्णुं विश्वेश्वरं हरिम् ।
अर्थ्याभिस्तु तदा वाग्भिर्मुनीनां शृण्वतां तथा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भगवान् रुद्र सबको विस्मयमें डालते हुए-से सर्वव्यापी जगदीश्वर श्रीहरिकी स्तोत्रद्वारा स्तुति करनेको उद्यत हुए । उन्होंने उस समय मुनियोंके सुनते हुए अर्थयुक्त वाणीद्वारा इस प्रकार स्तुति आरम्भ की ॥ १ ॥

महेश्वर उवाच

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमते ।
यस्य भासा जगत् सर्वं भासते नित्यमच्युत ॥ २ ॥
नमो भगवते देव नित्यं सूर्यात्मने नमः ।

महेश्वर बोले—आप परम बुद्धिमान् भगवान् वासुदेवको नमस्कार है । अच्युत देव ! जिनके प्रकाशसे ही यह सारा जगत् सदा प्रकाशित होता है, उन सूर्यस्वरूप आप भगवान्‌को नित्य बारंबार नमस्कार है ॥ २½ ॥

यः शीतयति शीतांशुर्लोकान् सर्वानिमान् विभुः ॥ ३ ॥
नमस्ते विष्णवे देव नित्यं सोमात्मने नमः ।

देव ! जो शीतरश्मि भगवान् चन्द्रमा इन सम्पूर्ण लोकोंको शीतलता प्रदान करते हैं, उन सोमस्वरूप आप श्रीहरिको नित्य नमस्कार है ! नमस्कार है !! ॥ ३½ ॥

यः प्रजाः प्रीणयत्येको विश्वात्मा भूतभावनः ॥ ४ ॥
नमः सर्वात्मने देव नमो वागात्मने हरे ।

देव ! हरे ! जो एकमात्र विश्वात्मा भूतभावन भगवान् समस्त प्रजाको तृप्ति प्रदान करते हैं, उन सर्वरूप और वाणीस्वरूप आपको बार-बार नमस्कार है ॥ ४½ ॥

यो दधार करेणासौ कुशचीरादि यत् सदा ॥ ५ ॥
दधार वेदान् सर्वांश्च तुभ्यं ब्रह्मात्मने नमः ।

जो सदा अपने हाथसे कुश, चीर आदि धारण करते हैं

तथा जिन्होंने सम्पूर्ण वेदोंको धारण किया है, वे ब्रह्मा आप ही हैं। आपको नमस्कार है ॥ ५½ ॥

सर्वान् संहरते यस्तु संहारे विश्वदृक् सदा ॥ ६ ॥
क्रोधात्मासि विरूपोऽसि तुभ्यं रुद्रात्मने नमः।

जो विश्वद्रष्टा भगवान् संहारकालमें सदा समस्त लोकोंका संहार करते हैं, वे आप ही हैं। आप क्रोधरूप, विकराल रूप तथा रुद्रस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है ॥ ६½ ॥

सृष्टौ स्रष्टा समस्तानां प्राणिनां प्राणदायिने ॥ ७ ॥
अजाय विष्णवे तुभ्यं स्रष्ट्रे विश्वसृजे नमः।

जो सृष्टिकालमें स्रष्टा बनकर समस्त प्राणियोंको प्राणदान करते हैं, उन अजन्मा, विश्वस्रष्टा, विधाता आप भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥ ७½ ॥

आदौ प्रकृतिमूलाय भूतानां प्रभवाय च ॥ ८ ॥
नमस्ते देवदेवेश प्रधानाय नमो नमः।

देवदेवेश्वर ! जो आदिमें मूल-प्रकृतिरूप है और गुणोंमें क्षोभ होनेपर क्रमशः पञ्च-महाभूतोंका उत्पादक होता है, उन प्रधानस्वरूप आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ८½ ॥

पृथिव्यां गन्धरूपेण संस्थितः प्राणिनां हरे ॥ ९ ॥
दृढाय दृढरूपाय तुभ्यं गन्धात्मने नमः।

प्राणियों(के पापों)का अपहरण करनेवाले हरे! आप पृथिवीमें गन्धरूपसे स्थित हैं। आप दृढ़ हैं, दृढ़ रूपधारी हैं तथा गन्धस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है ॥ ९½ ॥

अपां रसाय सर्वत्र प्राणिनां सुखहेतवे ॥ १० ॥
नमस्ते विश्वरूपाय रसाय च नमो नमः।

जो प्राणियोंको सुख देनेके लिये सर्वत्र जलमें रसरूपसे निवास करते हैं, उन विश्वरूपधारी रसस्वरूप आपको बारंबार नमस्कार है ॥ १०½ ॥

तेजसा भास्करो यस्तु घृणिर्जन्तुहितः सदा ॥ ११ ॥
तस्मै देव जगन्नाथ नमो भास्कररूपिणे।

देव ! जगन्नाथ ! जो तेजसे सूर्यतुल्य, किरणोंसे प्रकाशित तथा सदा सभी जीवोंका हित करनेवाले हैं, उन भास्कररूप आपको नमस्कार है ॥ ११½ ॥

वायोः स्पर्शगुणो यत्र शीतोष्णसुखदुःखदः ॥ १२ ॥
नमस्ते वायुरूपाय नमः स्पर्शात्मने हरे।

हरे ! जहाँ वायुका स्पर्श नामक गुण शीत, उष्ण एवं सुख-दुःख प्रदान करनेवाला है, वहाँ उस गुणके आश्रयभूत वायु आपके ही स्वरूप हैं। स्पर्श भी आपका ही रूप है, आपको नमस्कार है ॥ १२½ ॥

आकाशेऽवस्थितः शब्दः सर्वश्रोत्रनिवेशनः ॥ १३ ॥
नमस्ते भगवन् विष्णो तुभ्यं सर्वात्मने नमः।

भगवन् ! विष्णो ! आकाशस्वरूप आपमें स्थित शब्द सबके कानोंमें प्रवेश करता है। आप सर्वात्मा हैं, आपको नमस्कार है ॥ १३½ ॥

यो दधार जगत् सर्वं मायामानुषदेहवान् ॥ १४ ॥
नमस्तुभ्यं जगन्नाथ मायिनेऽमायदायिने।

जगन्नाथ ! आपने मायामय मनुष्य-देह धारण करके भी सम्पूर्ण जगत्को स्वयं ही धारण कर रखा है। आप मायाके स्वामी हैं तथा मायारहित मोक्षतक प्रदान करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है ॥ १४½ ॥

नम आद्याय बीजाय निर्गुणाय गुणात्मने ॥ १५ ॥
अचिन्त्याय सुचिन्त्याय तस्मै चिन्त्यात्मने नमः।

आप सबके आदिकारण, निर्गुण, गुणस्वरूप, अचिन्त्य, सुचिन्त्य एवं चिन्त्यरूप हैं, उन आप परमात्माको नमस्कार है ॥ १५½ ॥

हराय हरिरूपाय ब्रह्मणे ब्रह्मदायिने ॥ १६ ॥
नमो ब्रह्मविदे तुभ्यं ब्रह्मब्रह्मात्मने नमः।

आप हरिरूपधारी हर हैं, ब्रह्माको वेद प्रदान करनेवाले हैं, ब्रह्मवेत्ता तथा ब्रह्म और यज्ञरूप हैं, आपको नमस्कार है ! नमस्कार है !! ॥ १६½ ॥

नमः सहस्रशिरसे सहस्रकिरणाय च ॥ १७ ॥
नमः सहस्रवक्त्राय सहस्रनयनाय च।

आपके सहस्रों मस्तक हैं। आप सहस्रों किरणोंसे प्रकाशित होते हैं। आपके मुख और नेत्र भी सहस्र (अनन्त) हैं, आपको नमस्कार है ॥ १७½ ॥

विश्वाय विश्वरूपाय विश्वकर्त्रे नमो नमः ॥ १८ ॥
विश्ववक्त्रे नमो नित्यं भूतावास नमो नमः।

आप विश्व, विश्वरूप और विश्वकर्ता हैं, आपको नमस्कार है ! नमस्कार है !! आप सम्पूर्ण विश्वको उपदेश देनेवाले (जगद्-गुरु) हैं, आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण भूतोंके आवासस्थान विष्णुदेव ! आपको बारंबार नमस्कार है ॥

इन्द्रियायेन्द्ररूपाय विषयाय सदा हरे ॥ १९ ॥
नमोऽश्वशिरसे तुभ्यं वेदाभरणरूपिणे।

हरे ! आप इन्द्रियरूप, विषयरूप और इन्द्ररूप हैं, आपको सदा नमस्कार है। वेद ही जिनका आभरण और रूप हैं, उन हयग्रीवरूपधारी आपको नमस्कार है ॥ १९½ ॥

अग्नयेऽग्निपते तुभ्यं ज्योतिषां पतये नमः ॥ २० ॥
सूर्याय सूर्यपुत्राय तेजसां पतये नमः।

अग्निपते ! आप अग्निरूप हैं, ग्रह-नक्षत्रोंके अधिपति हैं, सूर्य, सूर्यपुत्र तथा तेजके स्वामी हैं, आपको बारंबार नमस्कार है ॥ २०½ ॥

नमः सोमाय सौम्याय नमः शीतात्मने हरे ॥ २१ ॥
नमो वषट्कृते तुभ्यं स्वाहास्वधास्वरूपिणे ।
नमो यज्ञाय इज्याय हविषे हव्यसंस्कृते ।
नमः स्रुवाय पात्राय यज्ञाङ्गाय पराय च ॥ २२ ॥

हरे ! आप सोम, सौम्य तथा शीतात्मा हैं, आपको बारंबार नमस्कार है । आप वषट्कार तथा स्वाहा-स्वधा-स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है । आप यज्ञ, यज्ञोंद्वारा पूजनीय तथा हविष्यरूप हैं, आपको नमस्कार है । हव्योंद्वारा संस्कृत आप परमात्माके प्रति नमस्कार है । आप स्रुव हैं, यज्ञपात्र हैं, यज्ञोंके अङ्गभूत उपकरण हैं और इन सबसे परे भी हैं, आपको नमस्कार है ॥ २१-२२ ॥

नमः प्रणवदेहाय क्षरायाप्यक्षराय च ।
वेदाय वेदरूपाय शस्त्रिणे शस्त्ररूपिणे ॥ २३ ॥

प्रणव आपका शरीर है । आप क्षर (सम्पूर्ण भूत) और अक्षर (कूटस्थ) हैं, आपको नमस्कार है । आप वेद हैं, वेदरूप हैं, शस्त्र ग्रहण करनेवाले और शस्त्ररूपधारी हैं, आपको नमस्कार है ॥ २३ ॥

गदिने खड्गिने तुभ्यं शङ्खिने चक्रिणे नमः ।
शूलिने चर्मिणे नित्यं वरदाय नमो नमः ॥ २४ ॥

आप गदा, खड्ग, शङ्ख, चक्र, शूल और ढाल धारण करते हैं तथा सदा वर देनेवाले हैं, आपको बारंबार नमस्कार है ॥ २४ ॥

बुद्धिप्रियाय बुद्धाय प्रबुद्धाय सुखाय च ।
हरये विष्णवे तुभ्यं नमः सर्वात्मने गुरो ॥ २५ ॥

गुरुदेव ! आप बुद्धिप्रिय, बोधसम्पन्न, प्रबुद्धस्वरूप एवं सुखरूप हैं । आप ही सबके आत्मा पापहारी विष्णु हैं, आपको नमस्कार है ॥ २५ ॥

नमस्ते सर्वलोकेश सर्वकर्त्रे नमो नमः ।
नमः स्वभावशुद्धाय नमस्ते यज्ञसूकर ॥ २६ ॥

सर्वलोकेश्वर ! आप सबके कर्ता हैं, आपको बारंबार नमस्कार है । यज्ञवाराह ! आप स्वभावसे ही शुद्ध हैं, आपको बारंबार नमस्कार है ॥ २६ ॥

नमो विष्णो नमो विष्णो नमो विष्णो नमो हरे ।
नमस्ते वासुदेवाय वासुदेवाय धीमते ॥ २७ ॥

विष्णो ! आपको नमस्कार है । विष्णो ! आपको नमस्कार है । विष्णो ! आपको नमस्कार है । हरे ! आपको नमस्कार है । सबके भीतर निवास करनेवाले बुद्धिमान् देवता वसुदेवनन्दन ! आपको नमस्कार है ॥ २७ ॥

नमः कृष्णाय कृष्णाय सर्वावास नमो नमः ।
नमो भूयो नमस्तेऽस्तु पाहि लोकान् जनार्दन ॥ २८ ॥

सबके आवासस्थान जनार्दन ! आप नामसे कृष्ण हैं, वर्णसे भी कृष्ण ही हैं, आपको बारंबार नमस्कार है । आपको पुनः नमस्कार है ! नमस्कार है !! आप सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा कीजिये ॥ २८ ॥

इति स्तुत्वा जगन्नाथमुवाच मुनिसत्तमान् ।
इदं स्तोत्रमधीयाना नित्यं व्रजत केशवम् ॥ २९ ॥
शरण्यं सर्वभूतानां तत्र श्रेयो विधास्यति ।

इस प्रकार जगदीश्वर श्रीहरिकी स्तुति करके भगवान् शिवने उन श्रेष्ठ मुनियोंसे कहा—'इस स्तोत्रका नित्य पाठ करते हुए तुम सब लोग भगवान् केशवकी शरणमें जाओ । वे समस्त भूतोंको शरण देनेवाले हैं, अतः तुम्हारा कल्याण करेंगे ॥ २९½ ॥

ये चेमं धारयिष्यन्ति स्तवं पापविमोचनम् ॥ ३० ॥
तेषां प्रीतः प्रसन्नात्मा पठतां शृण्वतां हरिः ।
श्रेयो दास्यति धर्मात्मा नात्र कार्या विचारणा ॥ ३१ ॥

'जो लोग इस पापनाशक स्तोत्रको अपने हृदयमें धारण करेंगे; उनपर भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होंगे । प्रसन्नचित्त हुए धर्मात्मा विष्णु इसका पाठ और श्रवण करनेवाले पुरुषोंको कल्याण प्रदान करेंगे । इसमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ३०-३१ ॥

अवश्यं मनसा ध्यात केशवं भक्तवत्सलम् ।
श्रेयः प्राप्तुं यदीच्छन्ति भवन्तः शंसितव्रताः ॥ ३२ ॥

'यदि तुमलोग कल्याण प्राप्त करना चाहते हो तो उत्तम व्रतका पालन करते हुए निश्चय ही अपने मनसे भक्तवत्सल केशवका चिन्तन करो' ॥ ३२ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् रुद्रस्तत्रैवान्तरधीयत ।
सगणः शंकरः साक्षादुमया भूतभावनः ॥ ३३ ॥

ऐसा कहकर उमासहित भूतभावन कल्याणकारी साक्षात् भगवान् रुद्र अपने गणोंके साथ वहीं अन्तर्धान हो गये ॥

नेमुस्तं मुनयः सर्वे परां निर्वृतिमाययुः ।
तमेव परमं तत्त्वं मत्वा नारायणं हरिम् ।
विस्मयं परमं गत्वा मेनिरे स्वकृतार्थताम् ॥ ३४ ॥

सब मुनियोंने उन्हें नमस्कार किया और परम संतोष प्राप्त किया । पापहारी नारायणदेवको ही परम तत्त्व मानकर उन सबको बड़ा विस्मय हुआ और उन सबने अपने-आपको कृतकृत्य माना ॥ ३४ ॥

लोकपालास्तदा विष्णुं नमस्कृत्य हरिं मुदा ।
जग्मुः स्वान्यथ वेश्मानि गणैः सर्वैर्नृपोत्तम ॥ ३५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उस समय लोकपाल भी भगवान् विष्णु श्रीहरिको प्रसन्नतापूर्वक नमस्कार करके समस्त सेवकगणोंके साथ अपने-अपने निवासस्थानको चले गये ॥ ३५ ॥

आरुह्य भगवान् विष्णुर्गरुडं पक्षिपुङ्गवम् ।
शङ्खी चक्री गदी खड्गी शार्ङ्गी तूणी तनुत्रवान् ॥ ३६ ॥
यथागतं जगन्नाथो ययौ बदरिकामनु ।
सायाह्ने पुण्डरीकाक्षो नित्यं मुनिनिषेविताम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण पक्षिराज गरुड़पर आरूढ हो शङ्ख, चक्र, गदा, खड्ग, शार्ङ्गधनुष, तरकस और कवच धारण करके जैसे आये थे, उसी प्रकार सायंकालमें मुनिजनोंद्वारा नित्य सेवित विशाला बदरीतीर्थमें लौट आये ॥ ३६-३७ ॥

तत्र गत्वा यथायोगं विनम्य हरिरीश्वरः ।
अर्चितो मुनिभिः सर्वैर्निषसाद सुखासने ॥ ३८ ॥

वहाँ जाकर वे सर्वेश्वर श्रीहरि यथायोग्य मुनियोंको प्रणाम करके सब मुनियोंद्वारा पूजित हो सुखद आसनपर विराजमान हुए ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां कृष्णप्रत्यागमने नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें कैलासयात्राके प्रसंगमें 'श्रीकृष्णका लौटना' विषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

पौण्ड्रकका राजाओंकी सभाओंमें अपनेको शङ्ख, चक्र आदिसे युक्त वासुदेव घोषित करना और श्रीकृष्णको पराजित करनेका मनसूबा बाँधना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु पौण्ड्रो नृपवरोत्तमः ।
बलवान् सत्त्वसम्पन्नो योद्धा विपुलविक्रमः ॥ १ ॥
वृष्णिशत्रुस्तदा राजा कृष्णद्वेषी बलात् तदा ।
नृपान् सर्वान् समाहूय प्रोवाच नृपसंसदि ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय राजाओंमें श्रेष्ठतम, बलवान्, सत्त्वसम्पन्न, महापराक्रमी योद्धा, वृष्णिवंशियोंसे शत्रुभाव रखनेवाला तथा श्रीकृष्णका द्वेषी पौण्ड्रक समस्त राजाओंको बलपूर्वक बुलाकर उनकी सभामें बोला—॥ १-२ ॥

जिता च पृथिवी सर्वा जिताश्च नृपसत्तमाः ।
वृष्णयस्ते बलोन्मत्ताः कृष्णमाश्रित्य गर्विताः ॥ ३ ॥

'मैंने सारी पृथ्वी जीत ली और बड़े-बड़े राजाओंको पराजित कर दिया । परंतु बलोन्मत्त वृष्णिवंशी श्रीकृष्णका सहारा लेकर घमंडमें भर गये हैं ॥ ३ ॥

दास्यन्ति मे करं सर्वे न हि ते कृष्णसंश्रयात् ।
स तु कृष्णश्चक्रबलान्मामवज्ञाय तिष्ठति ॥ ४ ॥

'कृष्णका आश्रय लेकर वे सब-के-सब मुझे कर नहीं देते हैं और वह कृष्ण अपने चक्रके बलसे मेरी अवहेलना करते रहता है ॥ ४ ॥

अहं चक्रीति गर्वोऽभूत् तस्य गोपस्य सर्वदा ।
शङ्खी चक्री गदी शार्ङ्गी शरी तूणी सहायवान् ॥ ५ ॥
एवमादिर्महागर्वस्तस्य सम्प्रति वर्तते ।

'उस ग्वालेको सदा इस बातका गर्व रहता है कि मैं चक्रधारी हूँ । मेरे पास शङ्ख, चक्र, गदा, शार्ङ्गधनुष, बाण और तरकस हैं, मैं सहायतासे सम्पन्न हूँ । इस तरह इस समय उसका गर्व बहुत बढ़ा-चढ़ा है ॥ ५½ ॥

लोके च मम यन्नाम वासुदेवेति विश्रुतम् ॥ ६ ॥
अगृह्णान्मम तन्नाम गोपो मदबलान्वितः ।

'लोकमें जो मेरा वासुदेव यह प्रसिद्ध नाम है, उसे उस मदमत्त एवं बलवान् गोपने ग्रहण कर लिया है ॥६½ ॥

तस्य चक्रस्य यच्चक्रं ममापि निशितं महत् ॥ ७ ॥
गर्वहन्तृ सदा तस्य नाम्ना चापि सुदर्शनम् ।

'मेरे पास भी एक विशाल एवं तीखा चक्र है, जो उसके चक्रका नाश करनेवाला है । मेरा यह चक्र सदा उस (कृष्ण) के गर्वको चूर्ण करनेमें समर्थ है, उसका नाम भी सुदर्शन है ॥ ७½ ॥

सहस्रारं महाघोरं तस्य चक्रस्य नाशनम् ॥ ८ ॥
अनेकमहतं चक्रं गोपजस्य नृपोत्तमाः ।

'श्रेष्ठ राजाओ ! मेरे इस चक्रमें एक सहस्र अरे लगे हुए हैं । यह महाभयंकर है और गोपबालक श्रीकृष्णके चक्रका नाश करनेवाला है । यह अनेक रूप धारण करनेमें समर्थ और कहीं भी प्रतिहत होनेवाला नहीं है ॥ ८½ ॥

ममाप्येतद् धनुर्दिव्यं शार्ङ्गं नाम महारवम् ॥ ९ ॥
गदा कौमोदकी नाम ममेयं बृहती दृढा ।
कालायससहस्रस्य भारेण सुकृता मया ॥ १० ॥

'मेरा भी यह धनुष दिव्य है, सींगका बना हुआ है, इसलिये शार्ङ्गनामसे प्रसिद्ध है और बड़ी भारी टंकार-ध्वनि करता है । मेरी इस गदाका नाम भी कौमोदकी है । यह विशाल एवं सुदृढ़ है । मैंने एक सहस्र भार लोहेसे इसका निर्माण कराया है ॥ ९-१० ॥

खड्गो नन्दकनामासौ ममायं विपुलो दृढः।
अन्तकस्यान्तको घोरस्तस्य खड्गस्य नाशकः॥ ११॥

'मेरा यह विशाल खड्ग बहुत मजबूत है। इसका नाम नन्दक है। यह घोर खड्ग कालका भी काल और श्रीकृष्णके खड्गका नाश करनेवाला है॥ ११॥

तत्राहं च गदी खड्गी शङ्खी चक्री तनुत्रवान्।
युधि जेता च कृष्णस्य नात्र कार्या विचारणा॥ १२॥
मां च ब्रूत नृपाश्चैव गदिनं चक्रिणं तथा।
शङ्खिनं शार्ङ्गिणं वीरं ब्रूत नित्यं नृपोत्तमाः॥ १३॥

'इस प्रकार मैं गदा, खड्ग, शङ्ख, चक्र और कवचसे युक्त होकर युद्धमें श्रीकृष्णको जीत लूँगा। इसमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है; अतः श्रेष्ठ नरपतियो! अब तुम लोग मुझे ही सदा गदाधर, चक्रपाणि, शङ्खधारी एवं शार्ङ्गधनुर्धर वीर कहा करो॥ १२-१३॥

वासुदेवेति मां ब्रूत न तु गोपं यदूत्तमम्।
एकोऽहं वासुदेवो हि हत्वा तं गोपदारकम्॥ १४॥

'मुझे ही वासुदेव कहो, उस यदुश्रेष्ठ गोपको नहीं। उस गोपबालकको मारकर एकमात्र मैं ही वासुदेव रहूँगा॥१४॥

सख्युर्मम बलाद्धन्ता नरकस्य महात्मनः।
मां तथा यदि न ब्रूत दण्ड्या भारशतैः शतम्॥ १५॥
सुवर्णस्य च निष्कस्य धान्यस्य बहुशस्तदा।

'महामनस्वी नरकासुर मेरा मित्र था, उसको इस गोपने बलपूर्वक मार डाला है, (इसलिये मैं भी इसका वध करूँगा); अतः यदि तुमलोग मुझे वासुदेव नहीं कहोगे तो मैं तुमपर दस हजार भार सुवर्ण एवं निष्कका तथा बहुत-सी धान्य-राशिका दण्ड लगाऊँगा'॥ १५½॥

तथा ब्रुवति राजेन्द्रे मनसा दुस्सहं यथा॥ १६॥
केचिल्लज्जासमायुक्ता आसंस्ते बलवत्तराः।
रसज्ञा बलवीर्यस्य राजानस्ते सदा नृप॥ १७॥

राजाधिराज पौण्ड्रकके इस तरह मनको असह्य लगनेवाली बात कहनेपर कुछ प्रबल नरेश लज्जित होकर चुप रह गये। राजन्! वे सब नरेश बल-वीर्यके रसज्ञ थे॥ १६-१७॥

अपरे तु नृपा राजन्नेवमेवेति चुक्रुशुः।
अन्ये बलमदोत्सिक्ता जेष्यामः केशवं रणे॥ १८॥

राजन्! दूसरे चापलूस नरेश 'ठीक है! ठीक है!!' ऐसा कोलाहल करने लगे तथा बलके मदसे उन्मत्त हुए अन्य राजा कहने लगे कि हम युद्धमें श्रीकृष्णको अवश्य जीतेंगे॥ १८॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौण्ड्रकोक्तौ एकनवतितमोऽध्यायः॥ ९१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पौण्ड्रककी गर्वोक्तिविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९१॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

पौण्ड्रकके यहाँ नारदजीका आगमन और उसके साथ उनकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ततः कैलासशिखरान्निर्गतो मुनिसत्तमः।
नारदः सर्वलोकज्ञः पौण्ड्रस्य नगरं प्रति॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सम्पूर्ण लोकोंके ज्ञाता मुनिश्रेष्ठ नारद कैलासशिखरसे निकलकर पौण्ड्रकके नगरकी ओर चल दिये॥ १॥

अवतीर्य नभोभागात् प्रत्यागम्य नरोत्तमम्।
द्वाःस्थेन च समाज्ञप्तः प्रविवेश गृहोत्तमम्॥ २॥

आकाशसे उतरकर द्वारपालसे राजाज्ञा प्राप्त करके उन्होंने राजाके उत्तम भवनमें प्रवेश किया और वे उस नर-श्रेष्ठ पौण्ड्रकसे मिले॥ २॥

अर्घ्यादिसमुदाचारं नृपाल्लब्ध्वा महामुनिः।
निषसादासने शुभ्रे ह्यास्तृते शुभवाससा॥ ३॥

राजासे अर्घ्य आदि अतिथि-सत्कार पाकर वे महामुनि सुन्दर वस्त्र बिछे हुए शुभ्र आसनपर विराजमान हुए॥३॥

कुशलं पृष्टवान् भूयो नृपः स मुनिसत्तमम्।
उवाच नारदं भूयः पौण्ड्रको बलगर्वितः॥ ४॥

तत्पश्चात् बलके घमंडमें भरे हुए राजा पौण्ड्रकने पहले तो मुनिश्रेष्ठ नारदसे कुशल-समाचार पूछा; फिर इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ४॥

भवान् सर्वत्र कुशलः सर्वकार्येषु पण्डितः।
प्रथितो देवसिद्धेषु गन्धर्वेषु महात्मसु॥ ५॥
सर्वत्रगो निराबाधो गत्वा सर्वत्र सर्वदा।
अगम्यं तव विप्रेन्द्र ब्रह्माण्डे न हि किंचन।

'विप्रवर! आप सर्वत्र कुशल हैं, समस्त कार्योंमें पण्डित हैं। देवताओं, सिद्धों और महात्मा गन्धर्वोंमें आपकी ख्याति है। आप बिना किसी बाधाके सर्वत्र जा सकते हैं। सदा सब जगह आपकी पहुँच है। इस ब्रह्माण्डमें कोई भी स्थान आपके लिये अगम्य नहीं है॥ ५½॥

नारदेदं वद त्वं हि यत्र यत्र गतो भवान्॥ ६॥

तत्र तत्र तपःसिद्धो लोके प्रथितवीर्यवान्।
पौण्ड्र एव च विख्यातो वासुदेवेति शब्दितः॥ ७॥

'नारदजी! यह तो बताइये, आप जहाँ-जहाँ गये हैं, वहाँ-वहाँ यह तपःसिद्ध और लोकमें विख्यात बलशाली पौण्ड्रक ही 'वासुदेव' नामसे विख्यात है न?॥ ६-७॥

शङ्खी चक्री गदी शार्ङ्गी खड्गी तूणी तनुत्रवान्।
विजेता राजसिंहानां दाता सर्वस्य सर्वदा॥ ८॥

'मैं ही शङ्खधारी, चक्रपाणि, गदाधर और शार्ङ्गधनुर्धर हूँ। तलवार और तरकस लेकर कवच धारण करके अनेकानेक राजसिंहोंपर विजय पानेवाला मैं ही हूँ। मैं ही सदा सबको सब कुछ देनेवाला हूँ॥ ८॥

भोक्ता राज्यस्य सर्वस्य शास्ता राजा बलाद् बली।
अजेयः शत्रुसैन्यानां रक्षिता स्वजनस्य च॥ ९॥

'मैं समस्त राज्यका भोक्ता और बलपूर्वक शासन करनेवाला बलवान् राजा हूँ, शत्रुसैनिकोंके लिये अजेय तथा स्वजनोंका रक्षक हूँ॥ ९॥

योऽद्य गोपकनामासौ वासुदेवेति शब्दितः।
तस्य वीर्यबले न स्तो नाम्नोऽस्य मम धारणे॥ १०॥

'आजकल जो वह गोप वासुदेव नामसे विख्यात हो रहा है, उसमें इतना बल और पराक्रम नहीं है, जिससे वह मेरा नाम धारण कर सके॥ १०॥

स हि गोपो वृथा बाल्याद् धारयत्येव नाम मे।
इदं निश्चिनु विप्रेन्द्र एक एव भवाम्यहम्॥ ११॥
वासुदेवो जगत्यस्मिन् निर्जित्य बलिनं यदुम्।

'वह ग्वाला अज्ञानवश व्यर्थ ही मेरा नाम धारण करता है। विप्रवर! आप निश्चितरूपसे यह जान लीजिये कि मैं उस बलवान् यादवको जीतकर अकेला ही इस जगत्में वासुदेव रहूँगा॥ ११½॥

वृष्णीन् सर्वान् बलात् क्षिप्त्वा निहनिष्ये च तां पुरीम्॥
द्वारकां विष्णुनिलयां योद्धा चाहं महामते।
एते च बलिनः सर्वे नृपा मम समागताः॥ १२॥

'समस्त वृष्णिवंशियोंको बलपूर्वक पराजित करके श्रीकृष्णकी निवासभूता द्वारकापुरीको नष्ट कर डालूँगा। महामते! मैं स्वयं तो युद्ध करूँगा ही, ये समस्त बलवान् राजा भी मेरी ओरसे युद्धके लिये आये हैं॥ १२-१३॥

अश्वाश्च वेगिनः सन्ति रथा वायुजवा मम।
उष्ट्रा मत्ताः सहस्रं च गजा नियुतमेव च॥ १४॥
एतेनाहं बलेनाजौ हनिष्ये केशवं रणे।

'मेरे पास बहुत-से वेगशाली अश्व हैं, वायुके समान वेगशाली रथ हैं, सहस्रों मतवाले ऊँट और लाखों मदमत्त हाथी हैं। इस विशाल सेनाके साथ रणभूमिमें मैं श्रीकृष्णका वध कर डालूँगा॥ १४½॥

तस्मादेवं सदा विप्र वद ब्रह्मन् पुरे पुरे॥ १५॥
इन्द्रस्यापि सदा विप्र वद नारद साम्प्रतम्।
प्रार्थनैषा मम विभो नमस्ये त्वां तपोधन॥ १६॥

'विप्रवर! ब्रह्मन्! आप प्रत्येक नगरमें मेरे लिये सदा ऐसी ही बात कहें। नारद बाबा! इस समय इन्द्रके समक्ष भी आपको सदा मेरे बल-पराक्रमकी ही बात करनी चाहिये। विभो! तपोधन! यही मेरी प्रार्थना है। मैं आपको नमस्कार करता हूँ'॥ १५-१६॥

नारद उवाच

सर्वत्रगः सदा चास्मि यावद् ब्रह्माण्डसंस्थितिः।
आचार्यः सर्वकार्येषु गमने केनचिन्नृप॥ १७॥

नारदजीने कहा—नरेश्वर! जहाँतक ब्रह्माण्डकी स्थिति है, मैं सदा सर्वत्र जा सकता हूँ। किसी भी पुरुषको अपने समस्त कार्योंके लिये मेरी शरण लेनी चाहिये। सर्वत्र जानेकी कलामें तो मैं आचार्य ही हूँ॥ १७॥

किं नु वक्तुं तथा राजन्नुत्सहे नृपसत्तम।
महीं शासति देवेशे चक्रपाणौ जनार्दने॥ १८॥
विष्णौ सर्वत्रगे देवे दुष्टान् हत्वा सबान्धवान्।
वासुदेवेति को नाम तिष्ठत्यस्मिन् हराविति॥ १९॥

राजन्! नृपश्रेष्ठ! तुम जैसा चाहते हो, वैसी बात कहनेका उत्साह मैं कैसे कर सकता हूँ। जबतक बन्धु-बान्धवोंसहित समस्त दुष्टोंका वध करके सर्वत्र जा सकनेवाले सर्वव्यापी देव, देवेश्वर, चक्रपाणि जनार्दन इस पृथ्वीका शासन कर रहे हैं, तबतक उन श्रीहरिके रहते हुए दूसरा कौन वासुदेव कहला सकता है॥ १८-१९॥

को नाम वक्तुमेवेदं कृष्णे शासति गोमतीं।
अज्ञानाद् वक्तुमेवं च समर्थाः प्राकृता जनाः॥ २०॥

सूर्य-किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले द्युलोक और भूलोकपर जबतक श्रीकृष्णका शासन चल रहा है, तबतक कौन मनुष्य ऐसी बात कह सकता है कि 'पौण्ड्रक वासुदेव है'। तुम्हारे-जैसे मूढ़ मनुष्य ही अज्ञानवश ऐसी बात कहनेमें समर्थ हो सकते हैं॥ २०॥

हरिः सर्वत्रगो विष्णुर्दर्पं ते व्यपनेष्यति।
अचिन्त्यविभवो विष्णुः शार्ङ्गधन्वा गदाधरः॥ २१॥

सर्वत्र जानेकी क्षमता रखनेवाले, अचिन्त्य वैभवशाली, पापहारी, सर्वव्यापी, शार्ङ्गधन्वा, गदाधर विष्णु तुम्हारे घमंडको दूर कर देंगे॥ २१॥

आदिदेवः पुराणात्मा दर्पं ते व्यपनेष्यति।
हास्यमेतन्महाराज यच्च वै तत्र संस्थितम्॥ २२॥
शार्ङ्गं खड्गं तथा राजन् महाघोरं न दाप्यते।
अतीव हासकालोऽयं तव सम्प्रति वर्तते॥ २३॥

महाराज! आदिदेव, पुराणपुरुष श्रीकृष्ण तुम्हारे दर्पका दलन कर देंगे। तुम जो कुछ सोचते या कहते हो, यह उपहासकी बात है। राजन्! श्रीकृष्णके पास जो शार्ङ्ग-धनुष और महाभयंकर खड्ग है, उनका तुम्हारे इन अस्त्रोंसे उच्छेद नहीं हो सकता। इस समय तुम्हारे लिये यह महान् ह्रासका समय आ पहुँचा है॥ २२-२३॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौण्ड्रकनारदसंवादे द्विनवतितमोऽध्यायः॥ ९२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पौण्ड्रक और नारदका संवादविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९२॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

नारदजीका श्रीकृष्णके पास जाना और पौण्ड्रकका द्वारकापर आक्रमण

वैशम्पायन उवाच

ततः क्रुद्धो महाराज पौण्ड्रो मद्बलान्वितः।
नारदं विप्रवर्यं तं प्रोवाच नृपसंसदि॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! तदनन्तर बलके मदसे उन्मत्त रहनेवाला पौण्ड्रक कुपित हो उस राजसभामें विप्रवर नारदजीसे बोला—॥ १॥

किमिदं प्राह विप्रर्षे राजाहं च द्विजैः सह।
गच्छ त्वं काममथ वा मुने शापप्रदः सदा॥ २॥
भीतस्त्वत्तो महाबुद्धे गच्छ त्वं काममद्य हि।

'ब्रह्मर्षे! आप यह क्या कहते हैं? मैं राजा हूँ और इन ब्राह्मणोंके साथ हूँ। मुने! आप सदा शाप देनेवाले हैं, अतः अपनी इच्छाके अनुसार यहाँसे चले जाइये। महाबुद्धे! मैं आपसे डरता हूँ, अतः चाहें तो अभी चले जाइये'॥ २½॥

इत्युक्तो नृपवर्येण तूष्णीमेव स नारदः॥ ३॥
जगामाकाशगमनो यत्र तिष्ठति केशवः।

नृपश्रेष्ठ पौण्ड्रकके ऐसा कहनेपर आकाशचारी नारदजी चुपचाप वहाँसे उस स्थानको चले गये, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण थे॥ ३½॥

स गत्वा विष्णुसंकाशं विष्णोः सर्वं शशंस ह॥ ४॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् विष्णुर्यथेष्टं वदतामिति।
दर्पं तस्यापनेष्यामि श्वोभूते द्विजसत्तम॥ ५॥

श्रीकृष्णके पास जाकर उन्होंने उनसे उसकी सारी बातें कह सुनायीं। उन्हें सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'द्विजश्रेष्ठ! पौण्ड्रक जैसा चाहे बकता रहे, कल मैं उसका घमंड दूर कर दूँगा'॥ ४-५॥

इत्युक्त्वा विररामैव तस्मिन् बदरिकाश्रमे।
ततः पौण्ड्रो महाबाहुर्बलैर्बहुभिरीश्वरः॥ ६॥

ऐसा कहकर उस बदरिकाश्रममें भगवान् श्रीकृष्ण चुप हो रहे। इधर सामर्थ्यशाली महाबाहु पौण्ड्रकने बहुतेरी सेनाओंके साथ द्वारकापुरीको प्रस्थान किया॥ ६॥

अश्वैरनेकसाहस्रैर्गजैर्बहुभिरन्वितः।
शस्त्रकोटिसमायुक्तः स राजा सत्यसंगरः॥ ७॥

अनेक सहस्र अश्वों, बहुसंख्यक हाथियों और करोड़ों अस्त्र-शस्त्रोंसे संयुक्त हुआ वह सत्यप्रतिज्ञ राजा द्वारकाकी ओर प्रस्थित हुआ॥ ७॥

अनेकशतसाहस्रैः पत्तिभिश्च समन्वितः।
एकलव्यप्रभृतिभी राजभिश्च समन्ततः॥ ८॥

उसके साथ कई लाख पैदल सैनिक थे। एकलव्य आदि राजा उसे सब ओरसे घेरकर चलते थे॥ ८॥

अष्टौ रथसहस्राणि नागानामयुतं तथा।
अर्बुदं पत्तिसंघानां तद्बलं समपद्यत॥ ९॥

आठ हजार रथ, दस हजार हाथी और एक अर्बुद (दस करोड़) पैदल सैनिकोंसे वह सारी सेना सम्पन्न थी॥

एतेन च बलेनाजौ प्रस्फुरन् नृपसत्तमः।
विरराज महाराज उदयस्थो महारविः॥ १०॥

महाराज! इस विशाल सेनासे युद्धस्थलमें प्रकाशित होनेवाला नृपश्रेष्ठ पौण्ड्रक उदयगिरिपर प्रकाशमान महासूर्यके समान शोभा पा रहा था॥ १०॥

स ययौ मध्यरात्रेण नगरीं द्वारकामनु।
पत्तयो दीपिकाहस्ता रात्रौ तमसि दारुणे॥ ११॥

उसने आधी रातके समय द्वारकापुरीपर धावा किया। रातके उस भयंकर अन्धकारमें पैदल सैनिकोंने हाथोंमें जलती हुई मशालें ले रखी थीं॥ ११॥

ययुर्विविधशस्त्रौघाः सम्पतन्तो महाबलाः।
द्वारकां वीर्यसम्पन्नां महाघोरां नृपोत्तमाः॥ १२॥

वे महाबली श्रेष्ठ नरेश नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो पराक्रमशालिनी महाघोर द्वारकापुरीपर आक्रमण करनेके लिये आ रहे थे॥ १२॥

रथं महान्तमारुह्य शस्त्रौघैश्च समावृतम्।
पट्टिशासिसमाकीर्णं गदापरिघसंकुलम् ॥ १३ ॥
शक्तितोमरसंकीर्णं ध्वजमालासमाचितम्।
किङ्किणीजालसंयुक्तं शरासिप्रासंसंयुतम् ॥ १४ ॥
महाघोरं महारौद्रं युगान्तजलदोपमम्।
धनुर्गदासमाकीर्णं महावाद्योपमं महत् ॥ १५ ॥
अग्न्यर्कसदृशाकारं ययौ द्वारवतीमनु।
गृहीतदीपिको राजा वीर्यवान् बलवान् नृप ॥ १६ ॥

नरेश्वर! पराक्रमी एवं बलवान् राजा पौण्ड्रक भी मशालें साथ लेकर एक विशाल रथपर आरूढ़ हो द्वारकापुरीकी ओर प्रस्थित हुआ। वह रथ नाना प्रकारके शस्त्रसमूहोंसे भरा हुआ था। पट्टिश, खड्ग, गदा और परिघोंसे परिपूर्ण था, शक्ति, तोमर, बाण, खड्ग और प्राससे सम्पन्न था, अनेकों ध्वज उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। घुँघुरू लगी हुई झालरोंसे उस रथको सजाया गया था। उसमें धनुष और गदाएँ यथास्थान रखी गयी थीं। वह महाघोर महारौद्र विशाल रथ प्रलयकालीन मेघ एवं महावाद्यके समान गम्भीर ध्वनि करनेवाला था। उसका स्वरूप अग्नि और सूर्यके तुल्य प्रकाशमान था ॥ १३–१६ ॥

हन्तुमैच्छज्जगन्नाथं वृष्णींश्चैव समन्ततः।
आकर्षन् बलमुख्यांस्तान् राज्ञः सर्वान् महाद्युतिः॥१७॥
पुरद्वारं समासाद्य बलं संस्थाप्य यत्नतः।
इदं प्रोवाच राजा तु नृपान् सर्वानवस्थितान् ॥ १८ ॥

महातेजस्वी राजा पौण्ड्रक जगदीश्वर श्रीकृष्णको तथा उनके चारों ओर खड़े होनेवाले वृष्णिवंशी वीरोंको मार डालना चाहता था। वह अपनी सेनाके मुख्य-मुख्य सभी राजाओंको अपने साथ खींच ले गया और नगरद्वारपर पहुँचकर वहाँ सेनाको यत्नपूर्वक स्थापित करके सब ओर खड़े हुए समस्त नरेशोंसे इस प्रकार बोला—॥ १७-१८ ॥

ताड्यतामत्र भेरी तु नाम विश्राव्य मामकम्।
युध्यतां युध्यतामत्र देयं वा प्रतिदीयताम् ॥ १९ ॥
आगतः पौण्ड्रको राजा युद्धार्थी वीर्यवत्तरः।
हन्तुकामः समग्रान् वः कृष्णबाहुबलाश्रयान् ॥ २० ॥

"वीरो! रणभेरी बजाओ और मेरा नाम सुनाकर कहो—'यादवो! यहाँ आकर युद्ध करो! युद्ध करो!! अथवा देने योग्य राजकीय कर प्रदान करो। महान् पराक्रमी राजा पौण्ड्रक युद्धके लिये पधारे हैं और श्रीकृष्णके बाहुबलका आश्रय लेनेवाले तुम समस्त यादवोंका वध करना चाहते हैं'" ॥ १९-२० ॥

इति ते प्रेषिताः सर्वे समीयुः सूचकान् बहून्।
दीपिकाश्च प्रदीप्यन्ते बह्व्यः शतसहस्रशः ॥ २१ ॥
इतश्चेतश्च राजानो युध्यन्ते युद्धलालसाः।
पुरीं ते पुरतस्तत्र क्षत्रियाः शस्त्रिणस्तदा ॥ २२ ॥
सिंहनादं प्रकुर्वन्तः शस्त्रधारासमाकुलाः।
कुतोऽयं वृष्णिप्रवरः कुतो राजा जगत्पतिः ॥ २३ ॥
कुतोऽयं सात्यकिर्वीरः कुतो हार्दिक्य एव च।
कुतो नु बलभद्रश्च सर्वयादवसत्तमः।
इत्येवं कथयन्तो वै राजानः सर्व एव ते ॥ २४ ॥
आदाय शस्त्राणि बहूनि सर्वतः
शरांश्च चापानि बहूनि सर्वे।
युद्धाय सन्नाहनिबद्धशो ययु-
र्हरेः पुरीं द्वारवतीं नृपोत्तमाः ॥ २५ ॥

इस प्रकार भेजे गये वे समस्त नरेश बहुसंख्यक सूचकों (बाहर-भीतरके वृत्तान्तको जाननेवाले यादव भटों) से मिले। उस समय बहुतेरी मशालें लाखोंकी संख्यामें जल रही थीं। युद्धकी लालसा रखनेवाले राजाओंने इधर-उधर युद्ध छेड़ दिया था। वहाँ पुरीके द्वारपर शस्त्रधारी क्षत्रिय सिंहनाद करते हुए शस्त्रोंकी धारा बरसा रहे थे और कहते थे 'कहाँ है वृष्णिवंशका श्रेष्ठ वीर? कहाँ है राजा जगदीश्वर? कहाँ है यह वीर सात्यकि? कहाँ है कृतवर्मा और कहाँ है सर्वयादवशिरोमणि बलभद्र?' ऐसा कहते हुए वे समस्त श्रेष्ठ राजा सब ओरसे बहुतेरे अस्त्र-शस्त्र, बाण और बहुसंख्यक धनुष ले युद्धके लिये कमर कसकर श्रीहरिकी द्वारकापुरीपर धावा बोलने लगे ॥ २१—२५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौण्ड्रकस्य द्वारकागमने त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पौण्ड्रकका द्वारकापर आक्रमणविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

यादववीरोंद्वारा पौण्ड्रककी सेनाका और एकलव्यद्वारा यादवसेनाका संहार

वैशम्पायन उवाच

ततश्च यादवाः सर्वे दृष्ट्वा सैनिकसंचयम्।
रात्रौ च व्यसनं प्राप्तं महाशस्त्रसमाकुलम् ॥ १ ॥
महावातसमुद्भूतं कल्पान्ते सागरोपमम्।
संनद्धाः समपद्यन्त शस्त्रिणो युद्धलालसाः ॥ २ ॥
गृहीतदीपिकाः सर्वे यादवाः शस्त्रयोधिनः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर समस्त यादवोंने देखा कि शत्रुसैनिकोंका बड़ा भारी जमाव हो रहा है। वे सब-के-सब महान् अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हैं और प्रचण्ड वायुसे उमड़े हुए प्रलयकालके समुद्रकी भाँति दिखायी देते हैं। विशेषतः रात्रिके समय यह महान् संकट प्राप्त हुआ है। यह देख और सोचकर वे समस्त यादव युद्धकी लालसासे अस्त्र-शस्त्र लेकर कमर कसकर तैयार हो गये। उन सभी शस्त्रयोधी यादवोंने अपने हाथोंमें मशालें ले रखी थीं ॥ १-२½ ॥

सात्यकिर्बलभद्रश्च हार्दिक्यो निशठस्तथा ॥ ३ ॥
उद्धवोऽथ महाबुद्धिरुग्रसेनो महाबलः।
अन्ये च यादवाः सर्वे कवचप्रग्रहे रताः ॥ ४ ॥

सात्यकि, बलभद्र, हार्दिक्य (कृतवर्मा), निशठ, परम बुद्धिमान् उद्धव, महाबली उग्रसेन तथा अन्य सब यादववीर कवच बाँधने लगे ॥ ३-४ ॥

समस्तयुद्धकुशला रात्रौ सन्नाहयोधिनः।
शस्त्रिणः खड्गिनश्चैव सर्वे शस्त्रसमाकुलाः ॥ ५ ॥

ये सब-के-सब सम्पूर्ण युद्धोंमें कुशल, रातमें भी कमर कसकर जूझनेवाले, शस्त्रधारी और खड्गधारी थे। सभी सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे ॥ ५ ॥

युद्धाय समपद्यन्त बहवो बाहुशालिनः।
रथिनो गजिनश्चैव सादिनः सायुधास्तथा ॥ ६ ॥

वे बहुसंख्यक बाहुशाली वीर युद्धके लिये उद्यत हो गये। उनके साथ रथी, हाथीसवार, घुड़सवार और शस्त्रधारी पैदल योद्धा भी थे ॥ ६ ॥

नित्ययुक्ता महात्मानो धन्विनः पुरुषोत्तमाः।
निर्ययुर्नगरात् तूर्णं दीपिकाभिः समन्ततः ॥ ७ ॥

वे नित्य उद्यत रहनेवाले, महामनस्वी, धनुर्धर, पुरुषप्रवर वीर सब ओरसे मशालोंके साथ तुरंत नगरसे बाहर निकले ॥ ७ ॥

कुतः पौण्ड्रक इत्येवं वदन्तः सर्वसात्वताः।
दीपिकादीपितो देशो निस्तमाः समपद्यत ॥ ८ ॥

वे समस्त यादव यह कहते हुए निकले कि 'कहाँ है पौण्ड्रक ?' मशालोंसे प्रकाशित हुआ वह देश सर्वथा अन्धकार-रहित हो गया ॥ ८ ॥

ततो वितिमिरो देशः समन्तात् प्रत्यपद्यत।
युद्धं समभवद् घोरं वृष्णिभिः शत्रुभिः सह ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् वह स्थान सब ओरसे अन्धकारशून्य हो गया। उस समय वहाँ शत्रुओंके साथ वृष्णिवंशियोंका घोर युद्ध आरम्भ हो गया ॥ ९ ॥

ततो महान् समभवत् संनादो रोमहर्षणः।
हया हयैः समायुक्ताः गजाश्च गजयूथपैः ॥ १० ॥
रथा रथैः समायुक्ताः सादिभिः सादिनस्तथा।

फिर तो महान् कोलाहल होने लगा, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। घोड़े घोड़ोंसे, गजराज गजराजोंसे, रथ रथोंसे और सवार सवारोंसे भिड़ गये ॥ १०½ ॥

खड्गिनः खड्गिभिः सार्धं गदिभिर्गदिनस्तथा ॥ ११ ॥
परस्परव्यतीकारो रण आसीत् सुदारुणः।
महाप्रलयसंक्षोभः शब्दस्तेषां महात्मनाम् ॥ १२ ॥

खड्गधारी वीर खड्गधारियोंसे और गदाधारी गदाधारियोंसे लड़ने लगे। उस रणभूमिमें उभयपक्षके सैनिकोंका परस्पर बड़ा भयंकर घोल-मेल हो गया। उन महामनस्वी वीरोंके गर्जन-तर्जनका शब्द महाप्रलयके समय उमड़े हुए समुद्रोंकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ ११-१२ ॥

धावन्तः प्रहरन्त्येतान् घ्नन्त्येतान् सर्वतो नृपान्।
अयमेष महाबाहुः खड्गी पतति वीर्यवान् ॥ १३ ॥
अयमेष शरो घोरो वर्ततेऽतिसुदारुणः।
गदी चायं महावीर्यः सर्वान् नो बाधते नृपः ॥ १४ ॥

दोनों ओरके योद्धा धावा करके विपक्षी सैनिकोंपर प्रहार करते और इन समस्त नरेशोंको घायल करते थे। (वहाँ आपसमें इस प्रकारकी चर्चाएँ होती थीं) 'यह खड्गधारी महाबाहु पराक्रमी वीर धराशायी हो रहा है। यह अत्यन्त दारुण बाण बड़ा ही भयंकर है। यह गदाधारी महापराक्रमी नरेश हम सब लोगोंको पीड़ा दे रहा है ॥ १३-१४ ॥

अयं रथी शरी चापी गदी तूणी तनुत्रवान्।
पट्टिशी सर्वतो याति कुन्तपाणिरयं बली ॥ १५ ॥

'यह धनुष, बाण, गदा, तरकस, कवच, पट्टिश और कुन्त धारण करनेवाला बलवान् रथी वीर रणभूमिमें सब ओर विचर रहा है ॥ १५ ॥

अयमत्र महाशूली संश्रितः सर्वतो दिशम्।
गजोऽयं सविषाणाग्रो वर्तते सर्वतः प्रति ॥ १६ ॥

'यह महाशूलधारी योद्धा यहाँ सारी दिशाओंमें चक्कर लगाता है। यह हाथी अपने दाँतोंका अग्रभाग सामने किये सब ओर दौड़ लगाता है' ॥ १६ ॥

अतिसर्वत्रगः शूरो वेगवान् वातसंनिभः।
शराञ्छरैः समाहन्ति दण्डान् दण्डैर्जगत्पते ॥ १७ ॥

राजन् ! कोई-कोई वेगशाली शूरवीर वायुके समान अत्यन्त तीव्र गतिसे सर्वत्र जा पहुँचता और अपने बाणोंसे शत्रुओंके बाणोंका तथा दण्डोंसे उनके दण्डोंका नाश कर देता था ॥ १७ ॥

कुन्तान् कुन्तैः समाजघ्नुर्गदाभिश्च गदास्तथा।
परिघान् परिघैः सार्धं शूलाञ्छूलैः समन्ततः ॥ १८ ॥

कितने ही योद्धा कुन्तों (भालों) से कुन्तोंका, गदाओंसे

गदाओंका, परिघोंसे परिघोंका, साथ ही सब ओर शूलोंसे शूलोंका उच्छेद कर डालते थे ॥ १८ ॥

एवं तेषां महाराज कुर्वतां रणमुत्तमम् ।
संग्रामः सुमहानासीच्छब्दश्चापि महानभूत् ॥ १९ ॥

महाराज जनमेजय ! इस प्रकार उत्तम युद्ध करते हुए उन योद्धाओंमें बड़ा भारी संग्राम छिड़ गया और महान् कोलाहल होने लगा ॥ १९ ॥

भूतानि सुबहून्याजौ शब्दवन्ति महान्ति च ।
प्रादुरासन् सहस्राणि शङ्खानां भीमनिःस्वनः ॥ २० ॥

उस युद्धस्थलमें बहुत-से बड़े-बड़े प्राणी भाँति-भाँतिके शब्द करते हुए सहस्रोंकी संख्यामें प्रकट हो गये । वहाँ होनेवाली शङ्खोंकी ध्वनि बड़ी भयंकर प्रतीत होती थी ॥ २० ॥

रात्रौ प्रादुरभूच्छब्दः संग्रामे रोमहर्षणः ।
वर्तमाने महायुद्धे वृष्णीनां चैव तैः सह ॥ २१ ॥
केचिद् ग्रस्ताः समापेतुः पृथिव्यां पृथिवीक्षितः ।

रात्रिमें उस संग्रामके भीतर बड़ा रोमाञ्चकारी शब्द प्रकट होने लगा । शत्रुओंके साथ होनेवाले वृष्णिवंशियोंके उस महायुद्धमें कितने ही भूपाल कालके ग्रास बनकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २१½ ॥

केचिच्च पतिताः श्लिष्टाः विप्रकीर्णशिरोरुहाः ॥ २२ ॥
पेतुरुर्व्यां महावीर्या राजानः शस्त्रपाणयः ।

कितने ही महापराक्रमी राजा हाथमें शस्त्र लिये हो एक दूसरेसे सटे हुए गिरते और सिरके बाल बिखेरे धराशायी हो जाते थे ॥ २२½ ॥

केचित् तु भिन्नवर्माणः समापेतुः सहस्रधा ॥ २३ ॥
परस्परं समाश्रित्य परस्परवधैषिणः ।
न्यस्तशस्त्रा महात्मानः समन्तात् क्षतविग्रहाः ॥ २४ ॥
पेतुर्गतासवः केचिद् यमराष्ट्रविवर्धनाः ।
एवं ते निहता राजन् योधिताः सर्व एव तु ॥ २५ ॥

कितने ही योद्धा कवच विदीर्ण हो जानेके कारण सहस्रों टुकड़े होकर गिर पड़ते थे । एक दूसरेके वधकी इच्छावाले कितने ही महामनस्वी योद्धा परस्पर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करके सब ओरसे शरीरके क्षत-विक्षत हो जानेपर प्राणशून्य होकर गिर पड़ते और यमराजके राष्ट्रकी वृद्धि करते थे । राजन् ! इस प्रकार युद्धमें भाग लेनेवाले वे सब नरेश वहाँ मारे गये ॥ २३—२५ ॥

एतस्मिन्नन्तरे शूर एकलव्यो निषादपः ।
धनुर्गृह्य महाघोरं कालान्तकयमोपमः ॥ २६ ॥
शरैरनेकसाहस्रैरर्दयामास यादवान् ।

इसी बीचमें निषादोंका अधिपति, शूरवीर एकलव्य, जो काल, अन्तक और यमके समान भयंकर था, महाघोर धनुष लेकर सहस्रों बाणोंद्वारा यादवोंको पीड़ा देने लगा ॥ २६½ ॥

परःशतैः शराणां तु निशितैर्मर्मभेदिभिः ॥ २७ ॥
वृष्णीनां च बलं सर्वं पोथयामास सर्वतः ।
युद्ध्यतः शस्त्रपाणींश्च क्षत्रियान् वीर्यवत्तरान् ॥ २८ ॥

उसने सैकड़ों तीखे और मर्मभेदी बाणोंसे वृष्णिवंशियोंकी सारी सेनाको मार गिराया । हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर जूझनेवाले अत्यन्त बलशाली क्षत्रियोंको भी धराशायी कर दिया ॥ २७-२८ ॥

निशठं पञ्चविंशत्या शराणां नतपर्वणाम् ।
सारणं दशभिर्विद्ध्वा हार्दिक्यं पञ्चभिः शरैः ॥ २९ ॥
उग्रसेनं नवत्याशु वसुदेवं च सप्तभिः ।
उद्धवं दशभिश्चैव ह्यक्रूरं पञ्चभिः शरैः ॥ ३० ॥

उसने झुकी हुई गाँठवाले पचीस बाणोंसे निशठको, दस बाणोंसे सारणको, पाँचसे कृतवर्माको, नब्बे बाणोंसे उग्रसेनको तथा सात सायकोंद्वारा वसुदेवको भी उग्रतापूर्वक घायल करके दस बाणोंसे उद्धवको और पाँच सायकोंसे अक्रूरको भी बींध डाला ॥ २९-३० ॥

एवमेकैकशः सर्वे निहता निशितैः शरैः ।
विद्राव्य यादवीं सेनां नाम विश्राव्य वीर्यवान् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार एक-एक करके उस पराक्रमी वीरने तीखे बाणोंद्वारा सभी यादव-वीरोंको घायल कर दिया तथा यादवी सेनाको भगाकर वह अपना नाम सुनाते हुए इस प्रकार कहने लगा—॥ ३१ ॥

एकलव्यो यदुवृषान् वीर्यवान् बलवानहम् ।
इदानीं सात्यकिर्वीरः क्व यास्यति महाबलः ॥ ३२ ॥
मदमत्तो हली साक्षात् क्व यातीह गदाधरः ।
इत्याह सिंहनादेन सिंहान् विस्मापयन्निव ॥ ३३ ॥

'मैं बलवान् एवं पराक्रमी वीर एकलव्य हूँ । इस समय महाबली वीर सात्यकि मुझसे बचकर कहाँ जायँगे ? बलके मदसे उन्मत्त रहनेवाले साक्षात् हलधर हाथमें गदा लिये कहाँ जा रहे हैं ?' इस प्रकार वह यदुकुलके श्रेष्ठ वीरोंको ललकार कर कहता और अपने सिंहनादसे सिंहोंको भी विस्मित-सा किये देता था ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौण्ड्रकवधे रात्रियुद्धे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पौण्ड्रक-वधके प्रसङ्गमें रात्रिकालका युद्धविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

पौण्ड्रकद्वारा पूर्वद्वारके परकोटोंको तोड़नेका प्रयत्न, सात्यकि आदि यादववीरोंका रक्षाके लिये पहुँचना, सात्यकिका वायव्यास्त्रद्वारा पौण्ड्रकसैनिकोंको भगाकर पौण्ड्रकको युद्धके लिये ललकारना और पौण्ड्रककी गर्वोक्ति

वैशम्पायन उवाच

निवृत्तेष्वथ सैन्येषु वृष्णिवीरेषु चैव हि।
भीतेष्वथ महाराज हतेषु युधि सर्वतः॥ १॥

दीपिकासु प्रशान्तासु निःशब्दे सति सर्वतः।
जितमित्येव यन्मत्वा वृष्णीनां बलमुत्तमम्॥ २॥
ततः पौण्ड्रो महावीर्यो बभाषे सैनिकान् स्वकान्।
शीघ्रं गच्छत राजेन्द्राष्टङ्कैः कुन्तैः पुरीमिमाम्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! जब यादवोंकी सारी सेना और वृष्णिवंशी वीर युद्धमें घायल और भयभीत होकर सब ओरसे लौट गये, सारी मशालें बुझ गयीं और चारों ओर सन्नाटा छा गया, तब यह समझकर कि वृष्णिवंशियोंकी उत्तम सेना पराजित हो गयी, महापराक्रमी पौण्ड्रक अपने सैनिकोंसे बोला—'राजेन्द्रगण! शीघ्र जाओ और टङ्कों तथा कुन्तोंसे इस पुरीको खोद डालो॥ १—३॥

कुठारैः कुन्तलैश्चैव पाषाणैः सर्वतोदिशम्।
कर्षणस्थैः सुपाषाणैः सर्वतो यात भूमिपाः॥ ४॥

'भूमिपालो! कुठार, कुन्तल (हल), पार्ष्णि तथा पत्थर फेंकनेवाले यन्त्रोंपर रखे गये बड़े-बड़े प्रस्तर-खण्ड लेकर इस पुरीके चारों ओर चले जाओ॥ ४॥

भिद्यन्तां प्राकारचयाः प्रासादाश्च समन्ततः।
गृह्यन्तां कन्यकाः सर्वा दास्यश्चैव समन्ततः॥ ५॥

'इस पुरीके परकोटे विदीर्ण कर डालो, महलोंको भी सब ओरसे गिरा दो, समस्त यादव कन्याओं और दासियोंको भी अपने अधिकारमें कर लो॥ ५॥

गृह्यन्तां वसुमुख्यानि धनानि सुबहून्यथ।
ते तथेति महात्मानो राजानः सर्व एव तु॥ ६॥
कुठारैः सर्वतश्चैव चिच्छिदुः पौण्ड्रकाज्ञया।
प्राकारांश्चैव सर्वत्र प्रासादान् नरसंचयान्॥ ७॥

'मुख्य-मुख्य रत्न और बहुत सी धनराशियोंको लूट लो।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर वे सभी महामनस्वी नरेश पौण्ड्रककी आज्ञासे कुठारोंद्वारा सब ओरसे पुरीके परकोटोंको तथा सब ओर मनुष्योंके समुदायसे भरे हुए महलोंको छिन्न-भिन्न करने लगे॥ ६-७॥

अथ तत्र महाशब्दः प्रादुरासीत् समन्ततः।
टङ्केषु पात्यमानेषु प्राकारेषु महाबलैः॥ ८॥

उन महाबली वीरोंद्वारा जब परकोटोंपर टङ्क गिराये जाने लगे, उस समय चारों ओर बड़ा भारी शब्द होने लगा॥ ८॥

पूर्वद्वारे महाराज भिन्नाः प्राकारसंचयाः।
श्रुत्वा शब्दं महाघोरं सात्यकिः क्रोधमूर्च्छितः॥ ९॥

महाराज! पूर्वद्वारपर जो बहुत-से परकोटे थे, वे प्रायः विदीर्ण कर दिये गये। परकोटोंके गिराये जानेका महाभयंकर शब्द सुनकर सात्यकि क्रोधसे मूर्छित हो गये॥ ९॥

मयि सर्वं समारोप्य केशवो यादवेश्वरः।
गतः कैलासशिखरं द्रष्टुं शंकरमव्ययम्॥ १०॥
अवश्यं हि मया रक्ष्या पुरी द्वारवती त्वियम्।
इति संचिन्त्य मनसा धनुरादाय सत्वरम्॥ ११॥
रथं महान्तमारुह्य दारुकस्य महात्मनः।
पुत्रेण संस्कृतं घोरं यन्ता च स्वयमेव हि॥ १२॥

उन्होंने सोचा—'यदुनाथ केशव इस पुरीकी रक्षाका सारा भार मुझपर ही रखकर अविनाशी भगवान् शंकरका दर्शन करनेके लिये कैलासपर्वतके शिखरपर गये हैं। अतः इस समय इस द्वारकापुरीकी रक्षा मुझे अवश्य करनी चाहिये। मन-ही-मन ऐसा सोचकर वे तुरंत धनुष लेकर एक विशाल एवं भयंकर रथपर आरूढ़ हुए, जिसे महात्मा दारुकके पुत्रने सजाया था और वह स्वयं ही उसका सारथि बना था॥ १०—१२॥

धनुर्महत् तदादाय शरांश्चाशीविषोपमान्।
आमुच्य कवचं घोरं शस्त्रसम्पातदुःसहम्॥ १३॥
अङ्गदी कुण्डली तूणी शरी चापी गदासिमान्।
ययौ युद्धाय शैनेयः संस्मरन् केशवं वचः॥ १४॥

वे वह विशाल धनुष और विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाण लेकर शस्त्रोंका प्रहार जिसकी टंकारको कठिनतासे सह सके ऐसे भयंकर कवचको धारण करके बाजूबंद, कुण्डल, तरकस, बाण, धनुष, गदा और खड्गसे संयुक्त हो सात्यकि भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंको स्मरण करते हुए युद्धके लिये चल दिये॥ १३-१४॥

दीपिकादीपिते देशे ययौ सात्यकिरुत्तमः।
तथैव बलदेवोऽपि रथमारुह्य भास्वरम्॥ १५॥
गदी शरी महावीर्यः प्रायाद् रणचिकीर्षया।
सिंहनादं प्रकुर्वन्तो मुञ्चन्तो भैरवं रवम्॥ १६॥

जो स्थान मशालोंसे प्रकाशित था, वहाँ उत्तम वीर

सात्यकि गये । उसी प्रकार महापराक्रमी बलदेव भी युद्ध करनेकी इच्छासे गदा और धनुष-बाण ले तेजस्वी रथपर आरूढ़ हो वहाँ तीव्र गतिसे गये । उनके साथके सभी सैनिक भयंकर सिंहनाद करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ १५-१६ ॥

उद्धवोऽपि बली साक्षाद् गजमारुह्य सत्वरम् ।
मत्तं महारवं घोरं संग्रामे नीतिमत्तरः ॥ १७ ॥
ययौ नीतिं विचिन्वानः परां प्रीतिं महाबलः ।
अन्ये च वृष्णयः सर्वे ययुः संग्राममलालसाः ॥ १८ ॥

नीतिमानोंमें श्रेष्ठ, महापराक्रमी बलवान् उद्धव भी उत्तम नीति और प्रीतिका अनुसंधान करते हुए महान् गर्जन करनेवाले भयंकर मतवाले हाथीपर आरूढ़ हो तुरंत ही संग्रामभूमिकी ओर चल दिये । अन्य सब वृष्णिवंशी योद्धा भी संग्रामकी लालसा लेकर वहाँ गये ॥ १७-१८ ॥

रथान् गजान् समारुह्य हार्दिक्यप्रमुखास्तथा ।
दीपिकाभिश्च सर्वत्र पुरोवृत्ताभिरीश्वराः ॥ १९ ॥
सिंहनादं प्रकुर्वन्तः स्मरन्तः कैशवं वचः ।

कृतवर्मा आदि प्रधान-प्रधान सामर्थ्यशाली योद्धा भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंका स्मरण करके रथों और हाथियोंपर आरूढ़ हो सर्वत्र अपने आगे मशालोंको जलवाकर सिंहनाद करते हुए चले ॥ १९½ ॥

पूर्वद्वारं समागम्य वृष्णयो युद्धलालसाः ॥ २० ॥
ते समेत्य यथायोगं स्थितास्तत्र महाबलाः ।

पूर्वद्वारपर आकर युद्धकी इच्छावाले महाबली वृष्णिवंशी योद्धा यथायोग्य एक दूसरेसे मिलकर युद्धकी लालसासे वहाँ डट गये ॥ २०½ ॥

स्थिते सैन्ये महाघोरे दीपिकादीपिते पथि ॥ २१ ॥
शिनिर्वीरः शरी चापी गदी तूणीरवान् विभो ।
वायव्यास्त्रं समादाय योजयित्वा महाशरम् ॥ २२ ॥
आकर्णं तूर्णमाकृष्य धनुःप्रवरमुत्तमम् ।
मुमोच परसैन्येषु शिनिर्वीरः प्रतापवान् ॥ २३ ॥

राजन् ! मशालोंसे प्रकाशित हुए पथपर जब वह महाभयंकर सेना खड़ी हो गयी, तब धनुष, बाण, तरकस और गदासे युक्त हो वीरवर प्रतापी सात्यकिने वायव्यास्त्र लेकर उसके द्वारा अपने महान् बाणको संयुक्त करके उस उत्तम एवं श्रेष्ठ धनुषको पूरे कानतक खींचकर वह अस्त्र शत्रुओंकी सेनापर छोड़ दिया ॥ २१—२३ ॥

वायव्यास्त्रेण ते सर्वे तत्रस्था नरसत्तमाः ।
विजिता ह्यस्त्रवीर्येण यत्र तिष्ठति पौण्ड्रकः ॥ २४ ॥

वहाँ खड़े हुए शत्रुपक्षके सभी श्रेष्ठ योद्धा वायव्यास्त्रसे पीड़ित हो उस अस्त्रकी शक्तिसे पराजित हो वहीं जा पहुँचे, जहाँ पौण्ड्रक खड़ा था ॥ २४ ॥

तत्र गत्वा स्थिताः सर्वे निर्धूता वातरंहसा ।
यत्र पूर्वं स्थिताः सर्वे विद्रुता राजसत्तमाः ॥ २५ ॥

वायुके वेगसे कम्पित हो वे सभी श्रेष्ठ नरेश भागकर उसी स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ पहले खड़े थे ॥ २५ ॥

तत्र स्थित्वा च शैनेयः शरमादाय सत्वरम् ।
निशितं सर्पभोगाभं बभाषे सात्यकिस्तदा ॥ २६ ॥

पूर्वद्वारपर खड़े हुए शिनिवंशी सात्यकि तुरंत ही एक सर्पाकार तीखा बाण ले बोले—॥ २६ ॥

क्व इदानीं महाबुद्धिः पौण्ड्रको राजसत्तमः ।
स्थितोऽस्मि व्यवसायेन शरी चापी महाबलः ॥ २७ ॥
यदि द्रष्टा दुरात्मानं ततो हन्ता नृपाधमम् ।
भृत्योऽस्मि केशवस्याहं जिघांसुः पौण्ड्रकं स्थितः ॥ २८ ॥

'राजाओंमें श्रेष्ठ परम बुद्धिमान् पौण्ड्रक इस समय कहाँ है ! मैं महाबली सात्यकि धनुष-बाण लेकर उसके साथ युद्धके निश्चयसे यहाँ खड़ा हूँ । यदि उस दुरात्मा नीच नरेशको मैं देख लूँगा तो बिना मारे नहीं रहूँगा । मैं भगवान् श्रीकृष्णका सेवक हूँ और पौण्ड्रकका वध करनेके लिये यहाँ खड़ा हूँ ॥ २७-२८ ॥

छित्त्वा शिरस्तु तस्यास्य सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ।
बलिं दास्यामि गृध्रेभ्यः श्वभ्यश्चैव दुरात्मनः ॥ २९ ॥

'मैं समस्त क्षत्रियोंके देखते-देखते उस दुरात्माका सिर काटकर गीधों और कुत्तोंको उसकी बलि दे दूँगा ॥ २९ ॥

को नाम ईदृशं कर्म चौरवच्च समाचरेत् ।
सुप्तेषु निशि सर्वत्र यादवेषु महात्मसु ॥ ३० ॥
चौरोऽयं सर्वथा राजा न हि राजा बलान्वितः ।
यदि शक्तो न कुर्याच्च चौर्यमेवं नृपाधमः ॥ ३१ ॥

'रातमें जब सर्वत्र महात्मा यादव सो रहे हों, कौन श्रेष्ठ पुरुष इस तरह चोरकी भाँति जघन्य कर्म कर सकता है ? यह बलवान् राजा नहीं, सर्वथा चोर है । यदि इस नीच नरेशमें शक्ति होती तो यह इस तरह चोरी न करता ॥ ३०-३१ ॥

अहोऽस्य बलिनो राज्ञश्चौरकार्यं प्रकुर्वतः ।
सर्वथाऽऽगमनं तस्य न हि पश्यामि साम्प्रतम् ॥ ३२ ॥

'अहो ! चोरका काम करनेवाले इस बलवान् राजाका मेरे सामने किसी तरह आगमन नहीं हो रहा है । मैं उस चोरको इस समय देख नहीं पा रहा हूँ' ॥ ३२ ॥

इत्युक्त्वा सात्यकिर्वीरः प्रजहास महाबलः ।
विस्फार्य सुदृढं चापं संदधे कार्मुके शरम् ॥ ३३ ॥

ऐसा कहकर महाबली वीर सात्यकि जोर-जोरसे हँसने लगे । उन्होंने अपने सुदृढ़ धनुषको कानतक खींचकर उसपर बाणका संधान किया ॥ ३३ ॥

आकर्ण्य वचनं वीरः सात्यकेस्तस्य धीमतः।
क नु कृष्णः क गोपालः कुतः सोऽथ प्रवर्तते ॥ ३४ ॥
स्त्रीहन्ता पशुहन्ता च क च स्वामीति सेवितः।
स इदानीं क वर्तेत गृहीत्वा मम नाम तत् ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् वीर सात्यकिका यह वचन सुनकर वीर पौण्ड्रक बोल उठा—'कहाँ है कृष्ण ! कहाँ है वह ग्वाला ? स्त्री और पशुकी हत्या करनेवाला कृष्ण इस समय कहाँ है ? जो यहाँ स्वामी बनकर सेवा लेता है, वह मेरा शत्रु कहाँ है ? मेरा नाम ग्रहण करके वह अब कहाँ छिपा हुआ है ? ॥ ३४-३५ ॥

हन्ता सख्युर्महावीर्यो नरकस्य महात्मनः।
ममैव तात युद्धेऽस्मिन् हते तस्मिन् दुरात्मनि ॥ ३६ ॥

'उसने मेरे ही मित्र महात्मा नरकासुरका वध किया है, इसीलिये वह महापराक्रमी बना फिरता है। तात ! इस युद्धमें उस दुरात्माके मारे जानेपर मेरा क्रोध शान्त होगा ॥

गच्छ त्वं कामतो वीर योद्धुं न क्षमते भवान्।
अथवा तिष्ठ किंचित् तु ततो द्रक्ष्यसि मे बलम् ॥ ३७ ॥

'वीर ! तुम इच्छानुसार लौट जाओ। तुममें मेरे साथ युद्ध करनेकी क्षमता नहीं है। अथवा थोड़ी देर ठहर जाओ, फिर स्वयं ही मेरा बल देख लोगे ॥ ३७ ॥

शिरस्ते पातयिष्यामि शरैर्घोरैर्दुरासदैः।
हतस्य तव वीरेह भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ३८ ॥

'वीर ! मैं भयंकर दुर्जय बाणोंद्वारा तुम्हारा सिर काट गिराऊँगा ! इस रणभूमिमें मेरेद्वारा मारे जानेपर यहाँकी भूमि तुम्हारा रक्तपान करेगी ॥ ३८ ॥

श्रोष्यते स तथा गोपो हतः सात्यकिरित्यपि।
यो गर्वस्तस्य गोपस्य सर्वदा वर्तते महान् ॥ ३९ ॥
विनश्यति स तु क्षिप्रं हते त्वयि यदूत्तम।

'वह ग्वाला भी सुन लेगा कि सात्यकि मारा गया। यदुश्रेष्ठ ! उस गोपको जो सदा महान् गर्व बना रहता है, वह तुम्हारे मारे जानेपर शीघ्र ही नष्ट हो जायगा ॥ ३९½ ॥

त्वयि रक्षां समादिश्य गोपः कैलासपर्वतम् ॥ ४० ॥
गत इत्येवमस्माभिः श्रुतं पूर्वं महामते।

'महामते ! हमलोगोंने पहलेसे ही सुन रखा है कि वह गोप तुम्हारे ऊपर नगरकी रक्षाका भार रखकर कैलास-पर्वतपर गया है ॥ ४०½ ॥

शरं गृहाण निशितं यदि शक्तोऽसि सात्यके।
इत्युक्त्वा बाणमादाय ययौ योद्धुं व्यवस्थितः ॥ ४१ ॥

'सात्यके ! यदि तुममें शक्ति हो तो कोई तीखा बाण हाथमें लो।' ऐसा कहकर पौण्ड्रक बाण लेकर आगे बढ़ा और युद्धके लिये डट गया ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौण्ड्रकवधे रात्रियुद्धे सात्यकिपौण्ड्रकभाषणे पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पौण्ड्रक-वधके प्रसंगमें रात्रियुद्धके समय सात्यकि और पौण्ड्रकका संवादविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

पौण्ड्रक और सात्यकिका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

ततः क्रुद्धो महाराज सात्यकिर्वृष्णिपुङ्गवः।
उवाच वचनं राजन् वासुदेवं स्मरन्निव ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! तदनन्तर वृष्णिकुलके श्रेष्ठ वीर सात्यकिने कुपित होकर भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करते हुए-से इस प्रकार कहा—॥

अवोचदीदृशं वाक्यं वासुदेवं नृपाधमः।
को नाम जगतां नाथमित्थं ब्रूयाज्जिजीविषुः ॥ २ ॥

'पौण्ड्रक ! तू राजाओंमें अधम है। इसीलिये भगवान् वासुदेवके प्रति तूने ऐसी बात कह डाली है। अपने जीवनकी इच्छा रखनेवाला कौन ऐसा पुरुष होगा, जो जगन्नाथ श्रीकृष्णके प्रति ऐसी बात कह सकेगा ? ॥ २ ॥

मृत्युस्त्वां सर्वथा याति वदन्तं तादृशं वचः।
जिह्वा ते शतधा दीर्याद् वदतस्तादृशं वचः ॥ ३ ॥

'वैसी कठोर बात कहते हुए तेरे पीछे-पीछे सर्वथा मृत्यु चल रही है। इस तरहकी अनुचित बात कहते समय तेरी जिह्वाके सौ-सौ टुकड़े हो जाने चाहिये ॥ ३ ॥

एष ते पातयिष्यामि शिरः कायाच्च पौण्ड्रक।
यन्नाम वासुदेवेति तव सम्प्रति वर्तते ॥ ४ ॥
यावत् पतति कायात् ते शिरस्तावत् प्रवर्तते।
स एव श्वो न भगवान् वासुदेवो भविष्यसि ॥ ५ ॥

'पौण्ड्रक ! मैं अभी तेरा सिर धड़से काट गिराऊँगा। इस समय जिनका वासुदेव नाम तेरे साथ जुड़ा हुआ है, वह तभीतक है, जबतक कि धड़से तेरा सिर नीचे नहीं गिर जाता। अब कलसे तू भगवान् वासुदेव नही रह जायगा (कालका ग्रास बन जायगा) ॥ ४-५ ॥

एक एव जगन्नाथः कर्ता सर्वस्य सर्वगः।
दुरात्मन् सर्वथा देवो भविष्यति न संशयः ॥ ६ ॥

'दुरात्मन् ! जो सबके कर्ता और सर्वव्यापी हैं, वे एकमात्र जगदीश्वर श्रीकृष्ण ही सर्वथा वासुदेव बने रहेंगे—इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

एष तेऽहं शिरः कायात् पातयिष्यामि राजक ।
यदसौ भगवान् विष्णुर्नागमिष्यति साम्प्रतम्॥ ७ ॥
अस्त्रवीर्यं बलं चैव सर्वं दर्शय साम्प्रतम् ।
नातः परतरं राजन् वीर्यं च तव वर्तते ॥ ८ ॥

'तुच्छ नरेश ! मैं अभी तेरे मस्तकको शरीरसे काट गिराता हूँ । इस समय वे भगवान् श्रीकृष्ण जबतक लौटकर नहीं आ जाते, तबतक ही तू अपना सारा अस्त्रबल और पराक्रम दिखा ले । राजन् ! इससे बढ़कर तुझे अपने बल-पराक्रमको प्रकट करनेका अवसर नहीं मिलेगा ॥ ७-८ ॥

सर्वं दर्शय यत्नेन स्थितोऽस्मि व्यवसायवान् ।
शरी चापी गदी खड्गी सर्वथाहमुपस्थितः ॥ ९ ॥

'मैं युद्धका निश्चय लेकर खड़ा हूँ । तू यत्नपूर्वक अपनी सारी शक्ति दिखा । मैं धनुष, बाण, गदा और खड्गसे युक्त हो सर्वदा तेरा सामना करनेके लिये उपस्थित हूँ ॥ ९ ॥

नैतन्नगरमायासीः सत्यमेतद् ब्रवीम्यहम् ।
सर्वथा कृतकृत्योऽस्मि दृष्ट्वा त्वां वासुदेवकम् ॥ १० ॥

'मैं सच कहता हूँ, तू आजसे पहले इस नगरमें नहीं आया था । तुझ-जैसे वासुदेवके पुतलेको देखकर मैं कृतकृत्य हो गया हूँ ॥ १० ॥

तवाङ्गं तिलशः कृत्वा श्वभ्यो दास्यामि राजक ।
इत्युक्त्वा बाणमादाय वासुदेवं महाबलः ॥ ११ ॥
आकर्णपूर्णमाकृष्य विव्याध निशितं शरम् ।

'अधम नरेश ! तेरे शरीरके तिलके बराबर टुकड़े-टुकड़े करके कुत्तोंको बाँट दूँगा । वासुदेव नामधारी पौण्ड्रकसे ऐसा कहकर महाबली सात्यकिने एक तीखा बाण लेकर उसे कान-तक खींचकर छोड़ा और पौण्ड्रकको घायल कर दिया ॥

स तेन विद्धो यदुना वासुदेवः प्रतापवान् ॥ १२ ॥
वमञ्छोणितमत्युष्णमङ्गान्नेत्रान्नृपोत्तम ।

नृपश्रेष्ठ ! यदुवंशी वीर सात्यकिके द्वारा बाणसे घायल किये जानेपर प्रतापी वीर वासुदेव अपने अङ्गों और नेत्रोंसे अत्यन्त गरम-गरम रक्त बहाने लगा ॥ १२½ ॥

ततश्चुक्रोध नृपतिर्वासुदेवः प्रतापवान् ॥ १३ ॥
नवभिर्दशभिश्चैव शरैः संनतपर्वभिः ।
विव्याध सात्यकिं राजा नदंश्च बहुधा किल ॥ १४ ॥

तब प्रतापी राजा वासुदेव भी कुपित हो उठा । उसने बारंबार सिंहनाद करते हुए झुकी हुई गाँठवाले नौ-दस बाणोंसे सात्यकिको घायल कर दिया ॥ १३-१४ ॥

ततो नाराचमादाय निशितं यमसंनिभम् ।
धनुराकृष्य भगवान् वासुदेवो नृपोत्तम ॥ १५ ॥
विव्याध सात्यकिं भूयो निशि प्रह्लादयन् स्वकान् ।

नृपश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् तथाकथित भगवान् वासुदेव पौण्ड्रकने धनुष खींचकर उसपर यमराजके समान भयंकर तीखे नाराचका संधान किया और उस रातमें अपने सैनिकोंका हर्ष बढ़ाते हुए पुनः सात्यकिको घायल कर दिया ॥ १५½ ॥

नाराचेन समाविद्धः सात्यकिः सत्यसङ्गरः ॥ १६ ॥
ललाटे सुदृढं वीरो वृष्णीनामग्रणीस्तदा ।
निषसाद रथोपस्थे निश्चेष्ट इव सत्तमः ॥ १७ ॥

ललाटमें उस नाराचकी गहरी चोट खाकर वृष्णिवंशके अग्रगण्य वीर सत्यप्रतिज्ञ सात्यकि, जो सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ थे, अपने रथके पिछले भागमें निश्चेष्टकी भाँति बैठ गये ॥

ततः स पौण्ड्रको राजा विद्ध्वा दशभिराशुगैः ।
सारथिं पञ्चविंशत्या हयांश्च चतुरो नृप ॥ १८ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर राजा पौण्ड्रकने दस शीघ्रगामी बाणों-द्वारा सारथिको और पचीस बाणोंसे सात्यकिके चारों घोड़ोंको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ १८ ॥

ते हया रुधिराक्ताङ्गाः सारथिश्च समन्ततः ।
विह्वलाः समपद्यन्त वासुदेवस्य पश्यतः ॥ १९ ॥

वे घोड़े और सारथि सब ओरसे घायल हो खूनसे लथपथ हो गये और वासुदेवके सामने ही अत्यन्त व्याकुल हो उठे ॥ १९ ॥

वासुदेवो रथे चापि सिंहनादं समादधे ।
तेन नादेन तत्राभूद् विबुद्धः सात्यकिर्नृप ॥ २० ॥

नरेश्वर ! वासुदेव अपने रथपर बैठा हुआ जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगा । उसकी उस गर्जनासे सात्यकि मूर्च्छासे जग उठे ॥ २० ॥

विद्वान् हयांस्तथा दृष्ट्वा सारथिं च तथागतम् ।
शैनेयोऽथ महावीर्यो रुषितो नृपसत्तम ॥ २१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अपने घोड़ों और सारथिको इस प्रकार घायल हुआ देख महापराक्रमी सात्यकि रोषसे भर गये ॥ २१ ॥

अलं द्रक्ष्यामि ते वीर्यमित्युक्त्वा बाणमाददे ।
विव्याध तेन बाणेन वक्षस्येनं महाबलः ॥ २२ ॥

वे बोले—'अब देखूँगा कि तुझमें कितना बल है । ऐसा कहकर महाबली सात्यकिने बाण हाथमें लिया और उसके द्वारा पौण्ड्रककी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २२ ॥

ततश्चचाल तेनाजौ वासुदेवः शरेण ह ।
सुस्राव रुधिरं घोरमत्युष्णं वक्षसो नृप ॥ २३ ॥
रथोपस्थे पपाताशु निःश्वसन्नुरगो यथा ।
कृत्यं चापि न जानाति केवलं निषसाद ह ॥ २४ ॥

राजन् ! उस बाणसे घायल होकर वासुदेव युद्धस्थलमें

कॉप उठा और उसकी छातीसे अत्यन्त गरम-गरम भयंकर रक्तकी धारा बहने लगी। वह फुफकारते हुए सर्पके समान लंबी साँस खींचता हुआ तुरंत रथकी बैठकमें गिर पड़ा। उसे कर्तव्यका भी ज्ञान न रहा। वह केवल रथपर बैठा रहा॥

सात्यकिस्तु रथं विद्ध्वा दशभिः सायकैस्तथा।
ध्वजं चिच्छेद भल्लेन वासुदेवस्य वृष्णिपः॥ २५॥

इधर वृष्णिवंशके पालक वीर सात्यकिने दस बाणोंसे रथको छिन्न-भिन्न करके एक भल्लसे वासुदेवकी ध्वजा काट डाली॥ २५॥

हयांश्च चतुरो हत्वा बाणैः सारथिमेव च।
युयुधानोऽथ राजेन्द्र पौण्ड्रकस्य च पश्यतः॥ २६॥
सारथेश्च शिरः कायादहरत् स रथात् तदा।
रथग्रन्थिं च चिच्छेद हयाश्च व्यसवोऽभवन्॥ २७॥

राजेन्द्र! इसके बाद सात्यकिने पौण्ड्रकके देखते-देखते बाणोंद्वारा उसके चारो घोड़ों और सारथिको घायल करके सारथिके सिरको धड़से अलग करके रथसे नीचे गिरा दिया। रथकी ग्रन्थियोंको काट डाला, पौण्ड्रकके घोड़े भी प्राणहीन हो गये॥ २६-२७॥

चक्रं च तिलशः कृत्वा बाणैर्दशभिरञ्जसा।
जहास विपुलं राजन् वासुदेवं महाबलः॥ २८॥

तदनन्तर दस बाणोंसे अनायास ही रथके पहियोंको तिल-तिल करके काट डाला। राजन्! यह सब करके महाबली सात्यकि वासुदेवपर जोर-जोरसे हँसने लगे॥ २८॥

ततः परं महत्प्रायं सात्यकिर्वृष्णिनन्दनः।
शब्दं कृत्वा बली साक्षात् सर्वक्षत्रस्य पश्यतः॥ २९॥
शरैः सप्ततिसंख्याकैरर्दयामास सत्वरम्।

इसके बाद वृष्णिनन्दन बलवान् वीर सात्यकिने जोर-जोरसे सिंहनाद करके सम्पूर्ण क्षत्रियोंके देखते-देखते सत्तर बाण मारकर मिथ्या वासुदेवको तुरंत पीड़ित कर दिया॥

ते शराः शलभाकारा निपेतुः सर्वशस्तदा॥ ३०॥
शिरस्तः पार्श्वतश्चैव पृष्ठतः पुरतस्तथा।
केवलं धैर्यनिचयस्तृषार्तः शरवान् यथा॥ ३१॥
यथा मनस्वी रिक्तश्च तथा तिष्ठति पौण्ड्रकः।

वे बाण टिड्डियोंके समान सब ओरसे उसपर पड़ने लगे। सिरपर, अगल-बगलमें, पीठपर और सामनेसे उन बाणोंकी चोट खाता हुआ वह केवल धैर्यके सहारे प्याससे पीड़ित पुरुषकी भाँति बाणोंसे बिंधा हुआ खड़ा रहा। जैसे उदार पुरुष निर्धन हो जाय और किसीको कुछ दे न सके, इसी प्रकार पौण्ड्रक प्रतीकारशून्य होकर वहाँ चुपचाप खड़ा रहा॥ ३०--३१½॥

ततश्चुक्रोध बलवान् वासुदेवः प्रतापवान्॥ ३२॥
अर्धचन्द्रं समादाय विव्याध युधि सात्यकिम्।

इसके बाद बलवान् एवं प्रतापी वीर वासुदेवने कुपित हो अर्धचन्द्र लेकर युद्धस्थलमें सात्यकिको घायल कर दिया॥

विद्ध्वा सप्तभिरायान्तं क्रोधेन प्रस्फुरन्निव॥ ३३॥
विद्धोऽथ सात्यकिस्तेन शरैः पञ्चभिराशुगैः।
चापं चिच्छेद पौण्ड्रस्य सिंहनादं व्यनीनदत्॥ ३४॥

उस समय वासुदेव क्रोधसे उद्दीप्त-सा हो रहा था। उसने अपने सामने आते हुए सात्यकिको सात बाणोंसे बींध डाला। उसके द्वारा घायल किये गये सात्यकिने पाँच शीघ्रगामी बाणोंद्वारा पौण्ड्रकके धनुषको काट डाला और बड़े जोरसे सिंहनाद किया॥ ३३-३४॥

वासुदेवो गदां गृह्य भ्रामयित्वा पदात्पदम्।
त्वरितं पातयामास सात्यकेर्वक्षसि प्रभो॥ ३५॥

प्रभो! तब वासुदेवने गदा हाथमें लेकर उसे पग-पगपर घुमाते हुए तुरंत सात्यकिकी छातीपर दे मारा॥ ३५॥

सव्येन तां समाकृष्य करेण यदुनन्दनः।
शरं प्रगृह्य विव्याध सात्यकिर्युधि पौण्ड्रकम्॥ ३६॥

यदुनन्दन सात्यकिने उस गदाको बायें हाथसे खींचकर एक बाण हाथमें ले उसके द्वारा पौण्ड्रकको युद्धमें घायल कर दिया॥ ३६॥

तमन्तरे गृहीत्वाशु वासुदेवः प्रतापवान्।
शक्तिभिर्दशभिश्चैव सात्यकिं निजघान ह॥ ३७॥

इसी बीचमें प्रतापी वासुदेवने सात्यकिको लक्ष्य करके शीघ्र ही दस शक्तियोंद्वारा प्रहार किया॥ ३७॥

ताभिर्विद्धो रणे वीरः सात्यकिः सत्यसंगरः।
अपास्य धनुरन्यत् तद् धनुरादाय सत्वरम्।
आजघान तदा वीरो वृष्णीनामग्रणीर्नृप॥ ३८॥

राजन्! उन शक्तियोंसे बिंधे हुए सत्यप्रतिज्ञ वीर सात्यकिने उस धनुषको फेंककर तुरंत दूसरा धनुष हाथमें ले लिया और उसके द्वारा वृष्णिवंशके उस अग्रणी वीरने उस समय शत्रुओंको घायल करना आरम्भ किया॥ ३८॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां पौण्ड्रकसात्यकियुद्धे षण्णवतितमोऽध्यायः॥ ९६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रीकृष्णकी कैलासयात्राके प्रसङ्गमें पौण्ड्रक और सात्यकिका युद्धविषयक छियानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९६॥

सप्तनवतितमोऽध्यायः

सात्यकि और पौण्ड्रकका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

ततः क्रुद्धो गदापाणिः सात्यकिर्वृष्णिनन्दनः ।
वासुदेवं जघानाशु गदया तीक्ष्णया नृप ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वृष्णि-कुलको आनन्दित करनेवाले सात्यकिने कुपित हो गदा हाथमें ले ली और उस दुःसह गदासे शीघ्र ही वासुदेवपर आघात किया ॥ १ ॥

सात्यकिं वासुदेवस्तु गदयाभ्यहनद् बली ।
तावुद्यतगदौ वीरौ शुशुभाते सुदारुणौ ॥ २ ॥
हस्तौ वने यथा सिंहौ परस्परवधैषिणौ ।

इसी तरह बलवान् वीर वासुदेवने भी सात्यकिपर गदासे प्रहार किया । गदा उठाये वे दोनों अत्यन्त भयंकर वीर वनमें एक दूसरेके वधकी इच्छावाले दो बलाभिमानी सिंहोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ २½ ॥

ततः स सात्यकिः क्रुद्धः सव्यं मण्डलमागमत् ॥ ३ ॥
दक्षिणं वासुदेवस्तु तं जघान स्तनान्तरे ।
युयुधानोऽथ वीरस्तु बाह्वोर्मध्यमताडयत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए सात्यकिने बायें पैंतरेका आश्रय लिया और वासुदेवने दाहिने पैंतरेका । उसने सात्यकिकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी । साथ ही वीर सात्यकिने भी उसकी दोनों भुजाओंके मध्यभाग (वक्षःस्थल) में गदासे आघात किया ॥ ३-४ ॥

दृढं स ताडितो वीरो जानुभ्यामपतद् भुवि ।
तत उत्थाय वीरस्तु ललाटेऽभ्यहनद् गदाम् ॥ ५ ॥
विषण्णः किंचिदास्थाय तत उत्थाय सत्वरम् ।
गदयाभ्यहनद् वीरः सात्यकिः पौण्ड्रसत्तमम् ॥ ६ ॥

उस गदाकी गहरी चोट खाकर वीर वासुदेव घुटनोंके बल गिर पड़ा । फिर उठकर उस वीरने सात्यकिके ललाटपर गदा मारी । सात्यकि भी कुछ पीड़ित हो बैठे रह गये, फिर तुरंत उठकर वीर सात्यकिने पौण्ड्रदेशके उस श्रेष्ठ योद्धा वासुदेवपर गदासे चोट की ॥ ५-६ ॥

वासुदेवो बली वीरः साक्षान्मृत्युरिवापरः ।
जघान गदया वृष्णिं निर्दहन्निव चक्षुषा ॥ ७ ॥

वीर वासुदेव बड़ा बलवान् था । वह साक्षात् दूसरे मृत्युके समान प्रतीत होता था । वह सात्यकिकी ओर इस तरह देख रहा था, मानो अपने नेत्रोंसे उन्हें दग्ध कर डालेगा । उसने गदासे सात्यकिपर चोट की ॥ ७ ॥

स तया ताडितो वृष्णिर्गदया बाहुमुक्तया ।
आलम्ब्य भूमिं सहसा मृत्योरङ्कगतो यथा ॥ ८ ॥

उसकी भुजाओंद्वारा छोड़ी गयी उस गदासे आहत हो सात्यकिने सहसा धरतीका सहारा ले लिया, मानो वह मृत्युके अङ्कमें पहुँच गये हों ॥ ८ ॥

संज्ञां पुनः समालभ्य पाणिभ्यां दृढमेव च ।
गदां तस्य महाराज गृहीत्वा प्रग्रहेण ह ॥ ९ ॥
द्विधा कृत्वा महागुर्वीं गदां कालायसीं शुभाम् ।
उत्सृज्य सहसा वीरः सिंहनादं व्यनीनदत् ॥ १० ॥

महाराज ! फिर होशमें आकर उन्होंने शत्रुकी चलायी हुई गदाको उछलकर दोनों हाथोंसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया और काले लोहेकी बनी हुई उस सुन्दर एवं बड़ी भारी गदाके सहसा दो टुकड़े करके उसे दूर फेंक दिया । इसके बाद वीर सात्यकिने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ९-१० ॥

तत उत्सृज्य राजा तु वासुदेवो महाबलः ।
सव्येन सात्यकिं गृह्य दक्षिणेन करेण ह ॥ ११ ॥
मुष्टिं कृत्वा महाघोरां वासुदेवः प्रतापवान् ।
ताडयामास मध्ये तु स्तनयोः सात्यकेर्नृप ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! तब महाबली एवं प्रतापी राजा वासुदेवने उस गदाको त्यागकर सात्यकिको बायें हाथसे पकड़ लिया और दाहिने हाथसे बड़ी भयंकर मुट्ठी बाँधकर सात्यकिके दोनों स्तनोंके बीचमें प्रहार किया ॥ ११-१२ ॥

शैनेयो वृष्णिवीरस्तु गदामुत्सृज्य सत्वरम् ।
तलेनाभ्यहनद् वीरो वासुदेवं रणाजिरे ॥ १३ ॥

तब वृष्णिवीर सात्यकिने भी तुरंत अपनी गदा नीचे डाल दी और समराङ्गणमें वासुदेवको एक तमाचा जड़ दिया ॥ १३ ॥

तलेन वासुदेवोऽपि सात्यकिं सत्यसंगरम् ।
तयोरेवं महाघोरं तलयुद्धं प्रवर्तत ॥ १४ ॥

फिर वासुदेवने भी सत्यप्रतिज्ञ सात्यकिको थप्पड़से मारा। इस प्रकार उन दोनोंमें बड़ा भयंकर थप्पड़ोंका युद्ध आरम्भ हो गया ॥ १४ ॥

जानुभ्यां मुष्टिभिश्चैव बाहुभ्यां शिरसा तदा ।
उरसोरः समाहत्य जानुभ्यां जानुनी तथा ॥ १५ ॥
कराभ्यां करमाहत्य तौ युद्धं सम्प्रचक्रतुः ।
तालयोस्तत्र राजेन्द्र वृक्षयोः संनिकर्षयोः ॥ १६ ॥
वने यथा निरुत्पन्नस्तथैवाभून्महास्वनः ।

राजेन्द्र ! घुटनोंसे, मुक्कोंसे, भुजाओंसे और मस्तकसे भी उस समय उनमें युद्ध होने लगा । वे छातीसे छातीपर,

घुटनोंसे घुटनोंपर और हाथोंसे हाथोंपर आघात करते हुए युद्ध करते थे। जैसे वनमें दो निकटवर्ती तालवृक्षोंके टकरानेका शब्द होता है, उसी प्रकार उन दोनोंके युद्धमें बड़ी भारी आवाज हो रही थी ॥ १५-१६½ ॥

तावाजौ प्रथितौ वीरावुभौ पौण्ड्रकसात्यकी ॥ १७ ॥
निशि स्तिमितमूकायां शस्त्रं त्यक्त्वा महाबलौ।
युयुधाते महारङ्गे मल्लौ द्वाविव विश्रुतौ ॥ १८ ॥

उस नीरव एवं निस्तब्ध निशामें समराङ्गणमें वे दोनों प्रख्यात वीर महाबली पौण्ड्रक और सात्यकि अपना-अपना शस्त्र त्यागकर विशाल अखाड़ेमे उतरे हुए दो सुप्रसिद्ध पहलवानोंकी भाँति युद्ध कर रहे थे ॥ १७-१८ ॥

उभे सेने महाराक्षोः संशयं जग्मतुस्तदा।
किं नु स्यात् सात्यकिर्वीरो हतस्तेन भविष्यति ॥ १९ ॥
आहोस्विद् वासुदेवस्तु हतस्तेन महात्मना।

महाराज उग्रसेन और पौण्ड्रक दोनोंकी सेनाएँ उस समय संशयमें पड़ गयी थीं कि 'क्या वीर सात्यकि वासुदेवके द्वारा मारे जायँगे अथवा वासुदेव ही उस महात्माके द्वारा मार डाला जायगा ॥ १९½ ॥

अद्य वै तौ महावीरौ परस्परवधैषिणौ ॥ २० ॥
युध्यमानौ महावीरौ तदा स्वर्गं गमिष्यतः।
अन्यथा नोपरम्येतां युद्धाद् वीरौ सुनिश्चितौ ॥ २१ ॥

'आज ये दोनों महावीर एक दूसरेका वध करनेकी इच्छासे युद्ध करते हुए निश्चय ही स्वर्गलोकको चले जायँगे, अन्यथा ये दोनों दृढ़ निश्चयवाले वीर युद्धसे विरत नहीं होंगे ॥ २०-२१ ॥

अहो वीर्यमहो धैर्यमेतयोर्बलशालिनोः।
एतौ महाबलौ लोके एतौ प्रकृतिसत्तमौ ॥ २२ ॥
नैवं युद्धं महाघोरमासीद् देवासुरेष्वपि।
न श्रुतो न च वा दृष्टः संग्रामोऽयं कदाचन ॥ २३ ॥

'अहो! इन बलशाली वीरोंका धैर्य और पराक्रम अद्भुत है। ये ही दोनों इस जगत्में महाबली हैं और ये ही स्वभावतः श्रेष्ठ पुरुष हैं। देवताओं और असुरोंमें भी कभी ऐसा महाभयंकर युद्ध नहीं हुआ था। ऐसा संग्राम न तो कभी सुना गया था और न कभी देखनेमें आया था' २२-२३

एते वै सैनिका ब्रूयुः सेनयोरुभयोरपि।
रात्रौ निशीथे मेघौघे दृष्ट्वा युद्धं सुदारुणम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार दोनों सेनाओंके सैनिक मेघोंकी घटासे घिरे हुए रात्रिके निशीथकालमें उस भयंकर युद्धको देखकर उपर्युक्त बातें कहते थे ॥ २४ ॥

अथ तौ बाहुभिर्वीरौ सनिपेततुरञ्जसा।
दशभिर्मुष्टिभिर्जघ्ने सात्यकिः पौण्ड्रकं तदा ॥ २५ ॥

तदनन्तर वे दोनों वीर अनायास ही परस्पर बाहुयुद्ध करने लगे। उस समय सात्यकिने पौण्ड्रकको दस मुक्के मारे ॥ २५ ॥

पञ्चभिः सात्यकिं पौण्ड्रः समाजघ्ने महाबलः।
तयोश्चटचटाशब्दो ब्रह्माण्डक्षोभणो महान्।
प्रादुरासीत् तु सर्वत्र सर्वान् विस्मापयन्निव ॥ २६ ॥

महाबली पौण्ड्रकने सात्यकिको पाँच मुक्के मारे। उन दोनोंके मुक्कोंका महान् चटचट शब्द समूचे ब्रह्माण्डको क्षुब्ध किये देता था। वह शब्द सबको विस्मयमें डालता हुआ-सा सर्वत्र प्रकट होता (सुनायी पड़ता) था ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौण्ड्रकसात्यकियुद्धे सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पौण्ड्रक और सात्यकिका युद्धविषयक सत्तानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमोऽध्यायः

बलभद्र और एकलव्यका युद्ध तथा बलभद्रद्वारा निषादोंका संहार

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्ध एकलव्यो निषादपः।
बलभद्रमभि क्षिप्रं धनुरादाय सत्वरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी बीचमें निषादराज एकलव्य कुपित हो तुरंत धनुष लेकर बलभद्रजीके सामने गया ॥ १ ॥

नाराचैर्दशभिर्विद्ध्वा बाणैश्च दशभिः परैः।
चिच्छेद धनुर्ग्र्यं तत् सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ॥ २ ॥

उसने दस नाराचोंसे उन्हें घायल करके दूसरे दस बाणोंसे समस्त क्षत्रियोंके देखते-देखते उनके धनुषको बीचसे काट डाला ॥ २ ॥

सूतं दशभिराहत्य रथं त्रिंशद्भिरेव च।
ध्वजं चिच्छेद भल्लेन निषादस्य जगत्पतिः ॥ ३ ॥

तब जगदीश्वर बलरामजीने दस बाणोंसे निषादके सारथिको आहत करके तीस बाणोंसे उसके रथको जगह-जगहसे तोड़ डाला ॥ ३ ॥

ततः परं महच्चापं निषादो वीर्यसम्मतः।
दृढमौर्व्या समायुक्तं दशतालप्रमाणतः ॥ ४ ॥

कामपालं शरेणाशु जघान जनमध्यतः ।

तत्पश्चात् पराक्रमी निषादने एक विशाल धनुष, जिसकी लंबाई लगभग साढ़े चार हाथकी थी तथा जो सुदृढ़ प्रत्यञ्चासे युक्त था, लेकर तुरंत ही एक बाणद्वारा उस जनसमुदायके मध्यभागमें बलभद्रजीको घायल कर दिया ॥४½॥

बलदेवो महावीर्यः सर्पः शेष इव श्वसन् ॥ ५ ॥
दशभिस्तद्धनुर्दिव्यं शरैः सर्पसमैर्बलः ।
चिच्छेद मुष्टिदेशे तु माधवो माधवाग्रजः ॥ ६ ॥

तब श्रीकृष्णके बड़े भाई मधुवंशी महापराक्रमी बलदेवजीने फुफकारते हुए शेषनागके समान लंबी साँस खींचकर दस सर्पाकार बाणोंद्वारा एकलव्यके दिव्य धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे काट डाला ॥ ५-६ ॥

एकलव्यो निषादेशः खड्गमादाय सत्वरः ।
प्राहिणोद् बलमादाय निशितं घोरविग्रहम् ॥ ७ ॥

यह देख निषादराज एकलव्यने बड़ी उतावलीके साथ एक तेज धारवाली भयंकर तलवार लेकर उसे बलदेवजीपर दे मारा ॥ ७ ॥

तमन्तरे पटुर्वीरो वृष्णिवीरः प्रतापवान् ।
तिलशः पञ्चभिर्बाणैश्चकार यदुनन्दनः ॥ ८ ॥

युद्ध करनेमें कुशल प्रतापी वृष्णिवीर शौर्यसम्पन्न यदुनन्दन बलरामने पाँच बाणोंद्वारा बीचमें ही उस तलवारको तिल-तिल करके काट डाला ॥ ८ ॥

ततोऽपरं महत् खड्गं सर्वकालायसं शुभम् ।
प्राहिणोत् सारथेः कायमालोक्याथ निषादजः ॥ ९ ॥

तदनन्तर निषादपुत्रने बलभद्रजीके सारथिके शरीरको लक्ष्य करके एक दूसरा विशाल खड्ग चलाया, जो सब-का-सब काले लोहेका बना हुआ और सुन्दर था ॥ ९ ॥

तं चापि दशभिर्वीरो माधवो यदुनन्दनः ।
बाह्वोरन्तरयोश्चैव निर्बिभेद महारणे ॥ १० ॥

परंतु यदुनन्दन वीर माधवने उस महासमरमें उसकी दोनों भुजाओंके बीचमें ही दस बाण मारकर उस खड्गके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ १० ॥

ततः शक्तिं समादाय घण्टामालाकुलां नृपः ।
निषादो बलदेवाय प्रेषयित्वा महाबलः ॥ ११ ॥
सिंहनादं महाघोरमकरोत् स निषादपः ।

तब महाबली निषादराजने घण्टा-मालाओंसे सुशोभित एक शक्ति हाथमें लेकर उसे बलदेवजीपर चलाया और बड़ा भयंकर सिंहनाद किया ॥ ११½ ॥

सा शक्तिः सर्वकल्याणी बलदेवमुपागमत् ॥ १२ ॥
उत्पतन्तीं महाघोरां बलभद्रः प्रतापवान् ।
आदायाथ निषादेशं सर्वान् विस्माययन्निव ॥ १३ ॥
तयैव तं जघानाशु वक्षोदेशे च माधवः ।

वह सर्वकल्याणी शक्ति जब बलदेवजीके पास आयी, तब प्रतापी बलभद्रजीने ऊपरको उठती हुई उस महाघोर शक्तिको हाथसे पकड़ लिया । फिर सबको विस्मयमें डालते हुए-से माधवने उसी शक्तिसे निषादराजकी छातीमें तत्काल गहरी चोट पहुँचायी ॥ १२-१३½ ॥

स तया ताडितो वीरः स्वशक्त्याथ निषादपः ॥ १४ ॥
विह्वलः सर्वगात्रेषु निपपात महीतले ।
प्राणसंशयमापन्नो निषादो रामताडितः ॥ १५ ॥

अपनी ही शक्तिसे ताडित होकर वीर निषादराजका सारा शरीर व्याकुल हो उठा और वह पृथ्वीपर गिर पड़ा । बलरामद्वारा आहत हुआ निषाद एकलव्य प्राणसंशयकी स्थितिमें पहुँच गया था ॥ १४-१५ ॥

निषादास्तस्य राजेन्द्र शतशोऽथ सहस्रशः ।
अष्टाशीतिसहस्राणि निषादास्तस्य योधिनः ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! उस निषादके सैकड़ों और हजारों निषाद सहायक थे । उसकी सेनामें अट्ठासी हजार निषाद योद्धा मौजूद थे ॥ १६ ॥

गदिनः खड्गिनश्चैव महेष्वासा महाबलाः ।
शरैरनेकसाहस्रैः शक्तिभिश्च परश्वधैः ॥ १७ ॥
गदाभिः पट्टिशैः शूलैः परिघैः प्रासतोमरैः ।
कुन्तैरथ कुठारैश्च यादवानां महौजसाम् ॥ १८ ॥
शलभा इव राजेन्द्र दीप्यमानं हुताशनम् ।
ते शरैः पातयांचक्रू रामं राममिवापरम् ॥ १९ ॥

राजाधिराज ! वे जैसे पतिंगे जलती हुई आगपर टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार वे महाबली महाधनुर्धर निषाद गदा और खड्गसे युक्त हो अनेक सहस्र बाणों, शक्तियों, फरसों, गदाओं, पट्टिशों, शूलों, परिघों, प्रासों, तोमरों, कुन्तों और कुठारोंद्वारा महाबली यादवोंके बीचमें खड़े हुए दूसरे श्रीरामचन्द्रजीके समान पराक्रमी बलरामपर प्रहार करने लगे । उन्होंने उनपर बहुत-से बाण मारे ॥ १७—१९ ॥

केचित् कुठारैराजघ्नुः केचित् कुन्तैः परश्वधैः ।
गदाभिः केचिदाघ्नन्ति शक्तिभिश्च तथा परे ॥ २० ॥
निजघ्नुः सहसा रामं स्फुरन्तं पावकं यथा ।

प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले बलरामपर कुछ निषादोंने कुठारोंसे प्रहार किया, कुछ निषादोंने कुन्तों और फरसोंद्वारा आघात किया । कोई गदासे चोट करते थे तो कोई शक्तियोंसे । इस प्रकार उन्होंने सहसा प्रहार आरम्भ कर दिया ॥ २०½ ॥

ततः क्रुद्धो हली साक्षाद्धलमुद्यम्य सत्वरम् ॥ २१ ॥
सर्वानाकर्षयामास मुसलेन हि पीडयन् ।

तब क्रोधमें भरे हुए हलधर साक्षात् हल उठाकर उसके द्वारा तुरंत ही सबको खींचने और मुसलसे मारने लगे ॥ २१½ ॥

ते हन्यमाना राजेन्द्र निषादाः पर्वताश्रयाः ॥ २२ ॥
निपेतुर्धरणीपृष्ठे शतशोऽथ सहस्रशः ।

राजेन्द्र ! उनके मुसलकी मार खाकर सैकड़ों और हजारों पर्वतवासी निषाद पृथ्वीपर गिरने लगे ॥ २२½ ॥

क्षणेन तन्महाराज हत्वा सर्वान् महाबलान् ॥ २३ ॥
सिंहवद् व्यनदंस्तत्र तस्थौ रामो महाबलः ।

महाराज ! क्षणभरमें उन समस्त महाबली निषादोंका वध करके महापराक्रमी बलराम सिंहके समान गर्जना करते हुए वहाँ खड़े हो गये ॥ २३½ ॥

ततो रात्रौ महाघोराः पिशाचाः पिशिताशनाः ॥ २४ ॥
आकृष्य मांसयूथानि भक्षयन्तः समासते ।
पिबन्तः शोणितं कोष्ठात् संछिद्य च शवं बहु ॥ २५ ॥

तदनन्तर रातमें बड़े भयंकर मांसभक्षी पिशाच ढेर-के-ढेर मांस खींचकर खाने लगे । वे मरे हुए वीरोंके कोष्ठसे रक्त पीते और बहुत से मुर्दोंको काट-काटकर खाते थे २४-२५

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि एकलव्यसैन्यवधे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें एकलव्यकी सेनाका वधविषयक अट्ठानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

नवनवतितमोऽध्यायः

बलभद्र और एकलव्यका तथा पौण्ड्रक और सात्यकिका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

क्रव्यादाः सर्वे एवाशु भक्षयन्तस्तदा शवम् ।
हसन्तो विविधं घोरं नादयन्तो वसुंधराम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! समस्त मांसभक्षी जीव उस समय शीघ्रतापूर्वक मृतकोंका मांस खाते और नाना प्रकारका घोर अट्टहास करते हुए पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते थे ॥ १ ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च पिबन्तः शोणितं बहु ।
आशिखं भुञ्जते राजञ्छवस्य पिशिताशनाः ॥ २ ॥

राजन् ! कच्चा मांस खानेवाले राक्षस और पिशाच बहुत-सा रक्त पीते और नखसे शिखतक मृतकोंका मांस खाकर तृप्त होते थे ॥ २ ॥

नृत्यन्ति स्म तदा राजन् नगर्यां रणतोषिताः ।
काका बलाका गृध्राश्च श्येना गोमायवस्तथा ॥ ३ ॥
भक्षयन्तः प्रवर्तन्ते राक्षसाश्चैव दारुणाः ।

नरेश्वर ! उस नगरीमें उस युद्धसे संतुष्ट हुए कौए, बक, गृध्र, श्येन और गीदड़ उस समय नृत्य करते थे । भयानक राक्षस भी मृतकोंके मांस-भक्षणमें लगे थे ॥ ३½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो निषादो लब्धसंज्ञकः ॥ ४ ॥
हतान् सर्वान् समालोक्य निषादान् नगचारिणः ।
गदामादाय कुपितो राममेव जगाम ह ॥ ५ ॥

इसी बीचमें वीर निषाद एकलव्यको चेतना प्राप्त हुई, समस्त पर्वतवासी निषादोंको मारा गया देख, कुपित हो गदा लेकर वह बलरामजीकी ओर चला ॥ ४-५ ॥

जघान गदया राजञ्जत्रुदेशे निषादपः ।
ततो रामो गदी राजन् निषादं बाहुशालिनम् ॥ ६ ॥
आजघ्ने गदया क्रूरं मदमत्तो हलायुधः ।

राजन् ! उस निषादराजने बलरामजीकी हँसलीपर गदासे आघात किया । तब गदाधारी मदमत्त हलधर बलरामने उस बाहुशाली क्रूरकर्मा निषादको गदासे गहरी चोट पहुँचायी ॥

तयोश्च तुमुलं युद्धं गदाभ्यां समवर्तत ॥ ७ ॥
आकाशे शब्द आसीत् तु तयोर्युद्धे महाभुज ।
समुद्राणां यथा घोषः सर्वेषां संनिगच्छताम् ॥ ८ ॥

फिर तो उन दोनोंमें गदाओंद्वारा तुमुल युद्ध होने लगा । महाबाहो ! उन दोनोंके युद्धमें परस्पर मिलते हुए समस्त समुद्रोंके गम्भीर घोषकी भाँति आकाशमें बड़ा भारी शब्द होने लगा ॥ ७-८ ॥

कल्पक्षये महाराज शब्दः सुतुमुलोऽभवत् ।
क्षोभितो नागराजश्च नागाः क्षोभं समाययुः ॥ ९ ॥

महाराज ! प्रलयकालमें समुद्रोंका जो तुमुल घोष होता है, वैसा ही शब्द होने लगा । उससे नागराज शेष भी क्षुब्ध हो उठे और दिग्गजोंको भी महान् क्षोभ प्राप्त हुआ ॥ ९ ॥

पृथिवी चान्तरिक्षं च सर्वं शब्दमयं बभौ ।
ततः स पौण्ड्रको राजा सात्यकिं वृष्णिनन्दनम् ॥ १० ॥
गदयैव जघानाशु सत्वरं रणकोविदः ।
युयुधानो बली राजन् वासुदेवं जघान ह ॥ ११ ॥

पृथ्वी और आकाश—ये सब-के-सब शब्दमय ही प्रतीत होने लगे । इसी बीचमें रणकुशल राजा पौण्ड्रकने तुरंत ही वृष्णिनन्दन सात्यकिपर गदासे आघात किया । राजन् ! तब

बलवान् सात्यकिने भी मिथ्या वासुदेवपर गदाका प्रहार किया ॥ १०-११ ॥

तयोश्च तुमुलः शब्दः प्रादुरासीन्महारणे।
चतुर्णां युध्यतां राजन् परस्परवधैषिणाम् ॥ १२ ॥
ब्रह्माण्डक्षोभणो राजञ्छब्द आसीत् सुदारुणः।
ततो रजः प्रादुरभूत् तस्मिन् संग्राममूर्धनि ॥ १३ ॥
तारका निष्प्रभा राजंस्तमस्येवं क्षयं गते।
उषसि प्रतिबुद्धायां ततो निःशेषतां ययौ ॥ १४ ॥
उदितो भगवान् सूर्यश्चन्द्रश्च क्षयमाययौ।
तेषां युद्धं प्रादुरभूच्चतुर्णां बाहुशालिनाम्।
देवासुरसमं राजन्नुदिते भास्करे महत् ॥ १५ ॥

राजन्! उन दोनोंके महासमरमें बड़ा भयंकर शब्द प्रकट होने लगा। एक दूसरेके वधकी इच्छावाले इन चारों योद्धाओंका अत्यन्त भयानक शब्द समूचे ब्रह्माण्डमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला था। राजन्! तदनन्तर उस संग्रामके मुहानेपर प्रातःकालकी लाली प्रकट हुई, तारे प्रकाशहीन हो गये। इसी तरह अन्धकार क्षीण होने लगा। उषःकालके जाग्रत् होनेपर अन्धकार पूर्णतः मिट गया। भगवान् सूर्यका उदय हुआ और चन्द्रमा क्षीण हो चले। राजन्! भगवान् भास्करका उदय होनेपर उन चारों बाहुशाली वीरोंका महान् युद्ध होने लगा, जो देवताओं और असुरोंके संग्राम सा प्रतीत होता था ॥ १२—१५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि पौण्ड्रकयुद्धे नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें पौण्ड्रकयुद्धविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

शततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका द्वारकामें आगमन और पौण्ड्रकसे उनकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रभाते विमले भगवान् देवकीसुतः।
गन्तुमैच्छज्जगन्नाथः पुरं बदरिकाश्रमात् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर निर्मल प्रभातकाल आनेपर देवकीनन्दन भगवान् जगन्नाथने बदरिकाश्रमसे अपनी द्वारकापुरीको जानेकी इच्छा की ॥ १ ॥

नमस्कृत्य मुनीन् सर्वान् ययौ द्वारवतीं नृप।
आरुह्य गरुडं विष्णुर्वेगेन महता प्रभुः ॥ २ ॥

नरेश्वर! समस्त मुनियोंको नमस्कार करके भगवान् श्रीकृष्ण गरुड़पर आरूढ़ हो बड़े वेगसे द्वारकापुरीकी ओर चल दिये ॥ २ ॥

सुमहाञ्छुश्रुवे शब्दस्तेषां युद्धं प्रकुर्वताम्।
गच्छता देवदेवेन पुरीं द्वारवतीं नृप ॥ ३ ॥

राजन्! द्वारकापुरीकी ओर जाते हुए देवाधिदेव श्रीकृष्णने वहाँ युद्ध करते हुए उन समस्त योद्धाओंका महान् कोलाहल सुना ॥ ३ ॥

अचिन्तयज्जगन्नाथः को न्वयं शब्द उत्थितः।
संग्रामसम्भवो घोर आर्यशैनेयसंयुतः ॥ ४ ॥

उसे सुनकर जगदीश्वर श्रीकृष्ण सोचने लगे—'यह कैसा युद्धजनक घोर शब्द प्रकट हो रहा है, जिसमें भैया बलराम और सात्यकिकी भी गर्जना मिली हुई है ॥ ४ ॥

व्यक्तमागतवान् पौण्ड्रो नगरीं द्वारकामनु।
तेन युद्धं समभवत् पौण्ड्रकेण दुरात्मना ॥ ५ ॥
यदूनां वृष्णिवीराणां युद्ध्यतामितरेतरम्।
शब्दोऽयं सुमहान् व्यक्तो नात्र कार्या विचारणा ॥ ६ ॥

'निश्चय ही पौण्ड्रकने द्वारकापुरीपर आक्रमण किया है। उसी दुरात्मा पौण्ड्रकके साथ यादवों एवं वृष्णिवीरोंका युद्ध हो रहा है। परस्पर युद्ध करनेवाले इन्हीं योद्धाओंका यह महान् शब्द प्रकट हो रहा है। इसमे कोई अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है' ॥ ५-६ ॥

इत्येवं चिन्तयित्वा तु दध्मौ शङ्खं महारवम्।
पाञ्चजन्यं हरिः साक्षात् प्रीणयन् वृष्णिपुङ्गवान् ॥ ७ ॥

ऐसा सोचकर साक्षात् श्रीहरिने वृष्णिशिरोमणि वीरोंको प्रसन्न करते हुए महान् शब्द करनेवाले पाञ्चजन्य शङ्खको बजाया ॥ ७ ॥

रोदसी पूरयामास तेन शब्देन केशवः।
यादवा वृष्णयश्चैव श्रुत्वा शङ्खस्य ते रवम् ॥ ८ ॥
व्यक्तमायाति भगवान् पाञ्चजन्यरवो ह्ययम्।

केशवने उस शङ्खध्वनिसे पृथ्वी और आकाशको परिपूर्ण कर दिया। उस शङ्खनादको सुनकर यादव और वृष्णिवंशी परस्पर कहने लगे—'निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्ण पधार रहे हैं। यह पाञ्चजन्यकी ही ध्वनि सुनायी पड़ती है' ॥ ८½ ॥

इति ते मेनिरे राजन् वृष्णयो यादवास्तथा ॥ ९ ॥
निर्भयाः समपद्यन्त वृष्णयो यादवाश्च ते।

राजन्! यादवों और वृष्णिवंशियोंको इस बातका दृढ़ निश्चय हो गया। वे वृष्णि और यादव निर्भय हो गये ॥ ९½ ॥

तस्मिन्नेव क्षणे दृष्टस्तार्क्ष्यश्च पततां वरः ॥ १० ॥
ततश्च देवकीसूनुर्दृष्टस्तैर्यादवेश्वरः।
सूताश्च मागधाश्चैव पुरो यान्ति जगत्पतेः ॥ ११ ॥

उसी क्षण पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड़ दिखायी दिये। तदनन्तर

यादवेश्वर देवकीनन्दन श्रीकृष्णका दर्शन हुआ। सूत और मागधजन उन जगदीश्वरके सामने गये ॥ १०-११ ॥

स्तुत्या स्तुतं हरिं विष्णुमीश्वरं कमलेक्षणम्।
गताश्च यादवाः सर्वे परिवव्रुर्जनार्दनम् ॥ १२ ॥

जिनकी स्तुति की गयी थी, उन कमलनयन सर्वव्यापी ईश्वर जनार्दन हरिके पास समस्त यादव गये और उन्हें घेरकर खड़े हो गये ॥ १२ ॥

कृष्णस्तु गरुडं भूयो गच्छ त्वं नाकमुत्तमम्।
इत्युक्त्वा गरुडं विष्णुर्विसृज्य यदुनन्दनः ॥ १३ ॥
दारुकं पुनराहेदं रथमानय मे प्रभो।

इसके बाद यदुनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने पुनः गरुडसे कहा-'तुम उत्तम स्वर्गलोकको जाओ' ऐसा कहकर उन्होंने गरुडको तो विदा कर दिया और पुनः दारुकसे कहा—'सामर्थ्यशाली सारथे ! तुम मेरा रथ ले आओ' ॥ १३½ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय रथमादाय सत्वरम् ॥ १४ ॥
रथोऽयं भगवन् देव किमतः कृत्यमस्ति मे।
इत्युक्त्वा रथमादाय प्रणम्याग्रे स्थितो हरेः ॥ १५ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर सारथि तुरंत रथ ले आया और बोला—'भगवन् ! देव ! यह रथ उपस्थित है। इसके अतिरिक्त मेरे लिये क्या आज्ञा है ?' ऐसा कहकर दारुक रथ ले आया और भगवान्को प्रणाम करके उनके सामने खड़ा हो गया ॥ १४-१५ ॥

गतेऽथ गरुडे विष्णू रथमारुह्य सत्वरम्।
यत्र युद्धं समभवत् तत्र याति स्म केशवः ॥ १६ ॥

गरुड़के चले जानेपर केशव श्रीकृष्ण तुरंत रथपर आरूढ़ हुए और जहाँ युद्ध हो रहा था, वहाँ गये ॥ १६ ॥

तत्र गत्वा महाराज युध्यतां च महात्मनाम्।
पाञ्चजन्यं महाशङ्खं दध्मौ यदुनृपोत्तमः ॥ १७ ॥

महाराज ! वहाँ जाकर यदुकुलतिलक श्रीकृष्णने उन जूझते हुए महामनस्वी वीरोंके बीचमें पाञ्चजन्य नामक महान् शङ्ख बजाया ॥ १७ ॥

पौण्ड्रोऽथ वासुदेवस्तु कृष्णं दृष्ट्वा रणोत्सुकम्।
सात्यकिं पृष्ठतः कृत्वा वासुदेवमुपागमत् ॥ १८ ॥

पौण्ड्रक वासुदेव श्रीकृष्णको युद्धके लिये उत्सुक देख सात्यकिको पीछे करके उन वसुदेवनन्दनके समीप चला ॥

क्रुद्धोऽथ सात्यकी राजन् वारयामास पौण्ड्रकम्।
न गन्तव्यमितो राजन्नैष धर्मः सनातनः ॥ १९ ॥

राजन् ! यह देख क्रोधमें भरे हुए सात्यकिने पौण्ड्रकको रोका और कहा—'राजन् ! तुम्हें यहाँसे नहीं जाना चाहिये। यह सनातन धर्म नहीं है ॥ १९ ॥

जित्वा मां गच्छ राजेन्द्र परं योद्धुं महारणे।
क्षत्रियोऽसि महावीर स्थिते मयि रणोत्सुके ॥ २० ॥
एष ते गर्वमखिलं नाशयिष्यामि संयुगे।

'राजेन्द्र ! इस महासमरमें मुझे परास्त करके तुम दूसरेसे युद्ध करनेके लिये जाओ। महावीर ! तुम क्षत्रिय हो, जबतक मैं युद्धके लिये उत्सुक हूँ, तबतक तुम्हें अन्यत्र नहीं जाना चाहिये। मैं अभी युद्धस्थलमें तुम्हारा सारा घमंड चूर किये देता हूँ' ॥ २०½ ॥

इत्युक्त्वा चाग्रतस्तस्थौ गच्छतो यादवेश्वरः ॥ २१ ॥
पौण्ड्रस्य शिनिनप्ता तु पश्यतः केशवस्य ह।
अवज्ञाय शिनेः पौत्रं कृष्णमेव जगाम ह ॥ २२ ॥

ऐसा कहकर शिनिके पोते यादवेश्वर सात्यकि श्रीकृष्णके देखते-देखते जाते हुए पौण्ड्रकके आगे खड़े हो गये तो भी वह सात्यकिकी अवहेलना करके श्रीकृष्णकी ओर चल दिया ॥

निर्भर्त्स्य सहसा भूयः सात्यकिः क्रोधमूर्च्छितः।
गदया प्राहरत् पौण्ड्रं वासुदेवस्य पश्यतः ॥ २३ ॥

तब क्रोधसे भरे हुए सात्यकिने सहसा उसे डाँटकर भगवान् श्रीकृष्णके देखते-देखते पुनः पौण्ड्रकपर गदासे प्रहार किया ॥ २३ ॥

यथाप्राणं यथायोगं सात्यकिः सत्यविक्रमः।
दृष्ट्वाथ भगवानेवं सात्यकिं प्रशशंस ह ॥ २४ ॥

सत्यपराक्रमी सात्यकिने पूरी सावधानी और शक्तिका उपयोग करके पौण्ड्रकपर गदा चलायी थी। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्णने सात्यकिकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ २४ ॥

निवार्य सात्यकिं कृष्णो यथेष्टं क्रियतामसौ।
उपारमद् यथायोगं सात्यकिः कृष्णवारितः ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् 'वह जैसा चाहे वैसा ही करे' यह कहकर श्रीकृष्णने सात्यकिको रोक दिया। श्रीकृष्णके रोकनेपर सात्यकि यथावसर युद्धसे विरत हो गये ॥ २५ ॥

स ततः पौण्ड्रको राजा वासुदेवमुवाच ह।
भो भो यादव गोपाल इदानीं क्व गतो भवान् ॥ २६ ॥

तदनन्तर राजा पौण्ड्रकने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'ओ यादव ! ओ गोपाल ! इस समय तुम कहाँ चले गये थे ? ॥

त्वां द्रष्टुमथ सम्प्राप्तो वासुदेवोऽस्मि साम्प्रतम्।
हत्वा त्वां सबलं कृष्ण बलैर्बहुभिरन्वितः ॥ २७ ॥
अहमेको भविष्यामि वासुदेवो महीतले।

'मैं इस समय तुमसे ही मिलने आया हूँ। आजकल मैं ही वासुदेव नामसे विख्यात हूँ। श्रीकृष्ण ! मैं बहुत-सी सेनाओंके साथ हूँ। इस समय सेनासहित तुम्हारा वध करके मैं अकेला ही इस भूतलपर वासुदेव रहूँगा ॥ २७½ ॥

यच्चक्रं तव गोविन्द प्रथितं सुप्रभं महत् ॥ २८ ॥

अनेन मम चक्रेण पीडितोऽस्मि च तद्रणे।
चक्रमस्तीति तद्वीर्यं तव माधव साम्प्रतम् ॥ २९ ॥
नाशयिष्यामि तत् सर्वं सर्वक्षत्रस्य पश्यतः।

'गोविन्द ! तुम्हारा जो विख्यात, उत्तम प्रभासे युक्त और महान् चक्र है, उसका मेरे इस चक्रसे अभी नाश हो जायगा। इसके लिये मुझे खेद है। माधव ! परंतु रणभूमिमें अब तुम्हें 'मेरे पास चक्र है' ऐसा सोचकर उसके बलका घमंड नहीं होना चाहिये; क्योंकि आज मैं समस्त क्षत्रियोंके देखते-देखते तुम्हारे उस सारे बलका नाश कर डालूँगा ॥ २८-२९½ ॥

शार्ङ्गीति मां विजानीहि न त्वं शार्ङ्गीति शिष्यसे ॥ ३० ॥
शङ्खमस्तीति तद्वीर्यं तव माधव साम्प्रतम्।
शङ्खी चाहं गदी चाहं चक्री चाहं जनार्दन ॥ ३१ ॥

'जनार्दन ! तुम मुझे शार्ङ्गी भी समझो। 'केवल तुम्हीं शार्ङ्गी नामसे यहाँ शेष हो' ऐसा न समझो। माधव ! मेरे पास शङ्ख है। ऐसा समझकर तुम्हें अब उसके बलका भी घमंड नहीं करना चाहिये; क्योंकि मैं शङ्खी भी हूँ, गदाधर भी हूँ और चक्रपाणि भी हूँ ॥ ३०-३१ ॥

मामेव हि सदा ब्रूयुर्जानन्तो वीर्यशालिनः।
आदौ त्वं बलवद् वृद्धान् हत्वा स्त्रीबालकान् बहून् ॥ ३२ ॥
गाश्च हत्वा महागर्वस्तव सम्प्रति वर्तते।
तत् तेऽहं व्यपनेष्यामि यदि तिष्ठसि मत्पुरः ॥ ३३ ॥

'जगत्‌में जो पराक्रमशाली और ज्ञानी पुरुष हैं, वे अब सदा मुझे ही शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाला कहेंगे। पहलेकी बात है, तुमने बलवानोंमें बढ़े-चढ़े कुछ कंसके अनुचरोंका, स्त्री (पूतना) का तथा बहुत-से बालकोंका (छः गर्भोंका कंसद्वारा) वध करके कुछ गौओं (वत्सासुर, अरिष्टासुर आदि) का भी वध किया था। इसीसे तुम्हें अपनी वीरतापर बड़ा गर्व है। यदि मेरे सामने खड़े रह गये तो तुम्हारे उस गर्वको चूर्ण कर दूँगा ॥ ३२-३३ ॥

शस्त्रं गृहाण गोविन्द यदि योद्धुं व्यवस्थितः।
इत्युक्त्वा बाणमादाय तस्थौ पार्श्वे जगत्पतेः ॥ ३४ ॥

'गोविन्द ! यदि तुम युद्धके लिये खड़े हो तो शस्त्र ग्रहण करो।' ऐसा कहकर पौण्ड्रक बाण हाथमें लेकर जगदीश्वर श्रीहरिके पास खड़ा हो गया ॥ ३४ ॥

एतद् वचनमाकर्ण्य वासुदेवेन भाषितम्।
स्मितं कृत्वा हरिः कृष्णो बभाषे पौण्ड्रकं नृपम् ॥३५॥
कामं वद नृप त्वं हि पातक्यसि सदा नृप।
गोघाती बालघाती च स्त्रीहन्ता सर्वथा नृप ॥ ३६ ॥

मिथ्या वासुदेवके इस कथनको सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण मुस्कराये और उस पौण्ड्रक नरेशसे इस प्रकार बोले— 'नरेश्वर ! तुम इच्छानुसार जो-जो चाहो कहो। मैं सदा पातकी ही हूँ। मैंने सर्वथा गोहत्या, बालहत्या और स्त्री हत्या की है ॥ ३५-३६ ॥

चक्री भव गदी राजञ्छार्ङ्गी च सततं भव।
नामधेयं वृथा मह्यं वासुदेवेति च प्रभो ॥ ३७ ॥

'राजन् ! तुम सदा चक्र, गदा और शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले बने रहो। प्रभो ! मेरा वासुदेव यह मिथ्या नाम भी लिये रहो ॥ ३७ ॥

शार्ङ्गी चक्री गदी शङ्खीत्येवमादि वृथा मम।
किं तु वक्ष्यामि किंचित् तु शृणुष्व यदि मन्यसे ॥३८॥

'शार्ङ्गी, चक्री, गदी और शङ्खी आदि जो मेरे नाम हैं, उनका भी व्यर्थ भार लिये रहो; परंतु मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ, यदि ठीक समझो, तो सुनो ॥ ३८ ॥

क्षत्रिया बलिनो ये तु स्थिते मयि जगत्पतौ।
तथानुब्रुवते त्वां हि जीवन्त्येव मयि प्रभो ॥ ३९ ॥

'प्रभो ! मुझ जगदीश्वरके जीते-जी ही बलवान् क्षत्रिय तुम्हें वैसे (मेरे-जैसे) नामोंद्वारा पुकारते हैं ॥ ३९ ॥

यन्मे चक्रं महाघोरमसुरान्तकरं महत्।
तत्तुल्यं तव चक्रं तु वृत्ततो न तु वीर्यतः।
आयुधेष्वथ सर्वत्र शब्दसादृश्यमस्ति ते ॥ ४० ॥

'मेरा जो असुरोंका अन्त करनेवाला महाघोर एवं महान् चक्र है, तुम्हारा चक्र केवल गोलायीमें उसकी समानता करता है, शक्तिमें नहीं। तुम्हारे सम्पूर्ण आयुधोंमें भी मुझसे नाममात्रकी समता है, शक्तितः नहीं ॥ ४० ॥

गोपोऽहं सर्वदा राजन् प्राणिनां प्राणदः सदा।
गोप्ता सर्वेषु लोकेषु शास्ता दुष्टस्य सर्वदा ॥ ४१ ॥

'राजन् ! मैं सर्वदा गोप हूँ, अर्थात् प्राणियोंका सदा प्राणदान करनेवाला हूँ, सम्पूर्ण लोकोंका रक्षक तथा सर्वदा दुष्टोंका शासक हूँ ॥ ४१ ॥

कत्थनं सर्वकार्ये हि जित्वा शत्रून् नृपाधम।
अजित्वा किं भवान् ब्रूते स्थिते मयि च शस्त्रिणि ॥ ४२ ॥

'नृपाधम ! तुम्हें शत्रुओंको जीतकर ही सब प्रकारसे बड़ी-बड़ी बातें बनानी चाहिये। जब मैं शस्त्र लेकर तुम्हारे सामने खड़ा हूँ, तब तुम मुझे पराजित किये बिना ऐसी बातें क्यों कहते हो ? ॥ ४२ ॥

हत्वा मां ब्रूहि राजेन्द्र यदि शक्तोऽसि पौण्ड्रक।
स्थितोऽहं चक्रमाश्रित्य रथी चापी गदासिमान् ॥ ४३ ॥

'राजेन्द्र पौण्ड्रक ! यदि तुममें शक्ति हो तो मुझे मारकर अपनी प्रशंसा करो। मैं रथ, धनुष, गदा और खड्गसे युक्त हो चक्र लेकर तुम्हारे सामने खड़ा हूँ ॥ ४३ ॥

रथमारुह्य युद्धाय सन्नद्धो भव मानद।

इत्युक्त्वा भगवान् विष्णुः सिंहनादं व्यनीनदत् ॥ ४४ ॥

'मानद ! रथपर आरूढ़ हो युद्धके लिये तैयार हो जाओ।' ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्ण जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कृष्णपौण्ड्रकयुद्धे शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रीकृष्ण और पौण्ड्रकका युद्धविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०० ॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

पौण्ड्रक और श्रीकृष्णका युद्ध तथा पौण्ड्रकका वध

वैशम्पायन उवाच

ततः शरं समादाय वासुदेवः प्रतापवान्।
पौण्ड्रं जघान सहसा निशितेन शरेण ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! तदनन्तर प्रतापी भगवान् वासुदेवने बाण लेकर सहसा उस पैने बाणके द्वारा पौण्ड्रकपर प्रहार किया ॥ १ ॥

पौण्ड्रोऽथ वासुदेवस्तु शरैर्दशभिराशुगैः।
वासुदेवं जघानाशु वार्ष्णेयं वृष्णिनन्दनम् ॥ २ ॥

पौण्ड्रक वासुदेवने भी दस शीघ्रगामी बाणोंद्वारा वृष्णिवंशी एवं वृष्णिकुलनन्दन वासुदेवपर शीघ्र ही आघात किया॥

दारुकं पञ्चविंशत्या हयान् दशभिरेव च।
सप्तत्या वासुदेवं तु यादवं वासुदेवकः ॥ ३ ॥

उस मिथ्या वासुदेवने दारुकको पचीस, घोड़ोंको दस और यदुकुलतिलक श्रीकृष्णको सत्तर बाण मारे ॥ ३ ॥

ततः प्रहस्य सुचिरं केशवः केशिसूदनः।
धृष्टोऽसाविति मनसा सम्पूज्य यदुनन्दनः ॥ ४ ॥

तब केशिहन्ता यदुनन्दन केशवने देरतक हँसकर मन-ही-मन उसकी प्रशंसा करते हुए कहा—'पौण्ड्रक बड़ा ढीठ है' ॥

आकृष्य शार्ङ्गं बलवान् संधाय रिपुसूदनः।
नाराचेन सुतीक्ष्णेन ध्वजं चिच्छेद केशवः ॥ ५ ॥

उसके बाद शत्रुसूदन बलवान् केशवने शार्ङ्ग धनुषको खींचकर उसपर तीखे नाराचका संधान किया और उसके द्वारा पौण्ड्रककी ध्वजा काट डाली ॥ ५ ॥

सारथेश्च शिरः कायादाहृत्य यदुनन्दनः।
अश्वांश्च चतुरो हत्वा चतुर्भिः सायकोत्तमैः ॥ ६ ॥
रथं राज्ञः समाहत्य तदोभौ पार्ष्णिसारथी।
चक्रे च तिलशः कृत्वा हसन् किंचिदिव स्थितः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् यदुनन्दन श्रीहरिने उसके सारथिके सिरको धड़से अलग करके चार उत्तम सायकोंद्वारा चारों घोड़ोंको मारकर उस राजाके रथको भी तोड़-फोड़ डाला तथा दोनों पार्श्वरक्षकोंको घायल करके उसके रथके पहियोंको तिल तिल करके काट डाला और वे कुछ मुसकराते हुए-से खड़े हो गये ॥

पौण्ड्रको वासुदेवस्तु रथादुत्प्लुत्य सत्वरः।
आदाय निशितं खड्गं प्राहिणोत् केशवाय सः ॥ ८ ॥

तब पौण्ड्रक वासुदेव तुरंत ही रथसे कूद पड़ा और एक तीखी तलवार लेकर उसने भगवान् केशवपर चला दी ॥

स खड्गं शतधा कृत्वा तूष्णीमासीच्च केशवः।
ततः परं महाघोरं परिघं कालसंमितम् ॥ ९ ॥
गृहीत्वा वासुदेवाय वासुदेवः प्रतापवान्।
प्राहिणोद् वृष्णिवीराय सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ॥ १० ॥

भगवान् केशव उस तलवारके सौ टुकड़े करके चुपचाप रथपर बैठे रहे। तत्पश्चात् प्रतापी पौण्ड्रक वासुदेवने एक कालके समान महाघोर परिघ लेकर समस्त क्षत्रियोंके देखते-देखते उसे वृष्णिवीर भगवान् वासुदेवपर चला दिया ॥ ९-१० ॥

तद् द्विधा जगतां नाथश्चकार यदुनन्दनः।
ततश्चक्रं महाघोरं सहस्रारं महाप्रभम् ॥ ११ ॥
त्रिंशद्भारसमायुक्तमायसास्यममित्रहा।
आदायाथ महाराज केशवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

तब जगदीश्वर यदुनन्दनने उस परिघके दो टुकड़े कर दिये। महाराज ! तत्पश्चात् शत्रुसूदन पौण्ड्रकने महाघोर परम कान्तिमान् सहस्रों अरोंसे युक्त तीस भार लोहेके बने हुए क्षेपणीय चक्रको हाथमें लेकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—॥

पश्येदं निशितं घोरं तव चक्रविनाशनम्।
अनेन तव गोविन्द दर्पं दर्पवतां वर ॥ १३ ॥
क्षपनेष्यामि वार्ष्णेय सर्वक्षत्रस्य पश्यतः।

'दर्पवाले पुरुषोंमें श्रेष्ठ गोविन्द ! देखो, यह भयंकर एवं तीखा चक्र तुम्हारे चक्रका विनाश करनेवाला है। वार्ष्णेय ! मैं इसी चक्रसे समस्त क्षत्रियोंके देखते देखते तुम्हारा सारा घमंड चूर्ण कर दूँगा ॥ १३½ ॥

त्वामुद्दिश्य महाघोरं कृतमन्यद् दुरासदम् ॥ १४ ॥
यदि शक्तो हरे कृष्ण दारयेदं महास्पदम्।

'हरे ! कृष्ण ! तुम्हारे उद्देश्यसे ही मैंने यह महाभयंकर

दूसरा दुर्जय चक्र तैयार कराया है। यदि तुममें शक्ति हो तो इस विशाल चक्रको विदीर्ण करो' ॥ १४½ ॥

इत्युक्त्वा तच्छतगुणं भ्रामयित्वा महाबलः ॥ १५ ॥
चिक्षेपाथ महावीर्यः पौण्ड्रको नृपसत्तमः।

ऐसा कहकर महाबली महापराक्रमी नृपश्रेष्ठ पौण्ड्रकने उस चक्रको सौ बार घुमाकर श्रीकृष्णपर चला दिया ॥

अवप्लुत्य ततो देशात् तदुत्सृज्य महाबलः ॥ १६ ॥
सिंहनादं महाघोरं व्यनदद् वीर्यवांस्तदा।

तब महाबली और पराक्रमशाली श्रीकृष्ण उस स्थानसे नीचे उतर गये और उस चक्रको विफल करके महाघोर सिंहनाद करने लगे ॥ १६½ ॥

ततो विस्मयमापन्नो भगवान् देवकीसुतः ॥ १७ ॥
अहो वीर्यमहो धैर्यमस्य पौण्ड्रस्य दुःसहम्।

पहले तो भगवान् देवकीनन्दन उसका साहस देखकर विस्मित हो उठे और यह कहने लगे कि 'अहो! पौण्ड्रकका दुःसह पराक्रम और धैर्य अद्भुत है' ॥ १७½ ॥

इति मत्वा जगन्नाथ उत्थितश्च रथोत्तमात् ॥ १८ ॥
ततः शिलां समादाय प्रेषयामास केशवम्।
तां शिलां प्रेषयामास तस्मै यदुकुलोद्वहः ॥ १९ ॥

यही सब सोचकर जगन्नाथ श्रीकृष्ण अपने उत्तम रथसे उतर पड़े थे। तदनन्तर पौण्ड्रकने एक शिलाखण्ड लेकर भगवान् श्रीकृष्णपर चलाया, किंतु यदुकुलतिलक श्रीकृष्णने वह शिला फिर उसीपर दे मारी ॥ १८-१९ ॥

पौण्ड्रेण सुचिरं कालं विक्रीड्य भगवान् हरिः।
ततश्चक्रं समादाय निशितं रक्तभोजनम् ॥ २० ॥

इस प्रकार भगवान् श्रीहरिने पौण्ड्रकके साथ चिरकाल-तक युद्धका खेल करके अपना तीखा चक्र हाथमें लिया, जो दैत्योंके रक्तका आहार करनेवाला था ॥ २० ॥

दैत्यमांसप्रदिग्धाङ्गं नारीगर्भविमोचनम्।
शातकुम्भमयं घोरं दैत्यदानवनाशनम् ॥ २१ ॥
सहस्रारं शतारं तदद्भुतं दैत्यभीषणम्।
ऐश्वर्यवर्म परमं नित्यं सुरगणार्चितम् ॥ २२ ॥

उस चक्रका अङ्ग-प्रत्यङ्ग दैत्योंके मांससे पुष्ट हुआ था। वह दैत्यनारियोंके गर्भ गिरा देनेवाला था। उसका निर्माण सुवर्णसे हुआ था। वह घोर चक्र दैत्यों और दानवोंका नाश करनेवाला था। उसके अरे कभी सहस्रोंकी संख्यामें प्रकट होते थे और कभी सैकड़ोंकी। ऐश्वर्य ही उसका कवच था। वह देवगणोंद्वारा पूजित उत्तम अस्त्र नित्य अद्भुत तथा दैत्यों-को भयभीत करनेवाला था ॥ २१-२२ ॥

विष्णुः कृष्णस्तथा शार्ङ्गी नित्ययुक्तः सदा हरिः।
जघान तेन गोविन्दः पौण्ड्रकं नृपसत्तमम् ॥ २३ ॥

सर्वव्यापी शार्ङ्गधनुर्धर पापहारी श्रीकृष्ण सदा उस अस्त्रसे युक्त रहते हैं। गोविन्दने उसी अस्त्रसे नृपश्रेष्ठ पौण्ड्रक-को मार डाला ॥ २३ ॥

तस्य देहं विदार्याशु चक्रं पिशितभोजनम्।
कृष्णस्याथ करं भूयः प्राप सर्वेश्वरस्य ह ॥ २४ ॥

उसके शरीरको विदीर्ण करके वह मांसभोजी चक्र पुनः शीघ्र ही सर्वेश्वर श्रीकृष्णके हाथमें आ गया ॥ २४ ॥

ततः स पौण्ड्रको राजा गतासुः प्रापतद् भुवि।
निहत्य भगवान् विष्णुर्दुर्विज्ञेयगतिः प्रभुः।
प्रतिपेदे सुधर्मां तु यादवैः पूजितो हरिः ॥ २५ ॥

तदनन्तर वह राजा पौण्ड्रक प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। जिनके स्वरूपको समझना अत्यन्त कठिन है, वे सर्वसमर्थ भगवान् विष्णु हरि पौण्ड्रकका वध करके यादवों-से पूजित हो सुधर्मा नामक सभामें चले गये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां पौण्ड्रकवासुदेववधे
एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रीकृष्णकी कैलासयात्राके प्रसङ्गमें
पौण्ड्रक वासुदेवका वधविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥



द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

एकलव्यका द्वीपान्तरगमन, भगवान् श्रीकृष्णका यादवोंको अपनी यात्राका संक्षिप्त वृत्तान्त बताना तथा अन्तःपुरमें रुक्मिणी और सत्यभामासे मिलकर उन्हें संतोष देना

वैशम्पायन उवाच

निषादेशं ततो रामः शक्त्या वीर्यवतां वरः।
आजघान स्तनद्वन्द्वे सिंहनादं व्यनीनदत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर बलवानोंमें श्रेष्ठ बलरामजीने शक्तिसे निषादराज एकलव्यकी छातीमें प्रहार किया और फिर सिंहके समान गर्जना की ॥ १ ॥

ततः क्रुद्धो निषादेशो रामं मत्तं महाबलम्।
गदया लोकविख्यातो जघान स्तनवक्षसि ॥ २ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए लोकविख्यात निषादराजने महाबली एवं बलके मदसे उन्मत्त हुए बलरामजीकी छातीमें गदासे चोट पहुँचायी ॥ २ ॥

आहतः स तु तेनाशु बलभद्रो महाबलः।

उभाभ्यां चैव रामस्तु कराभ्यां वृष्णिपुङ्गवः ॥ ३ ॥
गदां गृह्य महाघोरामायान्तीं प्राणहारिणीम् ।
दुद्रावाथ निषादेशः समुद्रं मकरालयम् ॥ ४ ॥

उसके द्वारा आहत होकर महाबली वृष्णिपुङ्गव वीर बलभद्र एवं बलरामने दोनों हाथोंसे अपनी ओर आती हुई उस प्राणहारिणी महाभयंकर गदाको पकड़कर एकलव्यपर आक्रमण किया। यह देखकर निषादराज एकलव्य मगर आदि जलजन्तुओंके निवासस्थान समुद्रकी ओर भागा ॥ ३-४ ॥

धावत्येवं तदा राज्ञि एकलव्ये निषादपे ।
धावत्येवं च रामोऽपि यत्र यातो निषादपः ॥ ५ ॥

निषादराज एकलव्यके इस प्रकार भागनेपर बलरामजी भी उसका पीछा करने लगे। वह जहाँ-जहाँ गया, वहाँ-वहाँ वे भी गये ॥ ५ ॥

सागरं स प्रविश्याशु गत्वा योजनपञ्चकम् ।
भीत एव तदा राजन्नेकलव्यो निषादपः ॥ ६ ॥

राजन्! समुद्रमें घुसकर निषादराज एकलव्य पाँच योजन दूर चला गया और वहाँ बलभद्रजीसे डरता हुआ ही निवास करने लगा ॥ ६ ॥

कंचिद् द्वीपान्तरं राजन् प्रविश्य न्यवसत् तदा ।
इत्थं रामो निषादेशं जिगाय यदुनन्दनः ॥ ७ ॥

नरेश्वर! किसी दूसरे द्वीपमें प्रवेश करके वह वहीं रहने लगा; इस प्रकार यदुनन्दन बलरामजीने निषादराजपर विजय पायी ॥ ७ ॥

तां सभां मणिरत्नाढ्यां प्रविवेश हलायुधः ।
सात्यकिर्युद्धसंसक्तस्तां सभां प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

तदनन्तर हलायुध बलरामजीने मणि तथा रत्नोंसे विभूषित उस सुधर्मा-सभामें प्रवेश किया। युद्धमें फँसे हुए सात्यकि भी उससे विरत हो सभामें लौट आये ॥ ८ ॥

अन्ये च यादवा राजन् यथायोगमुपस्थिताः ।
आसीनेषु च सर्वेषु वृष्णिवीरेषु सर्वतः ॥ ९ ॥
अभिवाद्य यथायोगं वृष्णीन् सर्वांश्च केशवः ।
उवाच वचनं काले भगवान् देवकीसुतः ॥ १० ॥

राजन्! अन्य यादव भी यथावसर वहाँ उपस्थित हुए। जब सभी वृष्णिवंशी वीर वहाँ सब ओर बैठ गये, तब देवकीनन्दन भगवान् केशवने योग्यताके अनुसार सभी वृष्णिवंशियोंका अभिवादन करके उस समय यह बात कही—॥

दृष्टं कैलासशिखरं शंकरो नीललोहितः ।
स तु मह्यं यदुवराः प्रीतिमांश्च ददौ वरम् ॥ ११ ॥

'यदुवरो! मैंने कैलासशिखरका दर्शन किया। वहाँ नीललोहित भगवान् शङ्करने मुझे प्रसन्न होकर वर दिया है॥

तत्र देवाः समायाता मुनयश्च तपोधनाः ।
दृष्ट्वा मां शंकरश्चैव प्रीतः स्तुत्वा समाययौ ॥ १२ ॥

'वहाँ देवता और तपोधन मुनि भी पधारे थे। भगवान् शङ्कर मुझसे मिलकर प्रसन्न हुए और मेरी स्तुति करके लौट गये ॥ १२ ॥

अत्यद्भुतं मया दृष्टं रात्रौ यादवसत्तमाः ।
पिशाचौ द्वौ महाघोरौ वदन्तौ मामिकां कथाम् ॥ १३ ॥
मृगयां चक्रतुस्तौ तु चिन्तयन्तौ तु मां सदा ।

'यादवशिरोमणियो! इस यात्रामें रातके समय मैंने एक बड़ी अद्भुत बात देखी थी। दो महाभयंकर पिशाच मेरी ही कथा कहते और सदा मेरा ही चिन्तन करते हुए शिकार खेल रहे थे ॥ १३½ ॥

दृष्ट्वा मां तौ तु राजेन्द्राः प्रीतिमन्तौ तपस्विनौ ॥ १४ ॥
भक्तिनम्रौ महात्मानौ प्रणामं चक्रतुस्तदा ।

'राजेन्द्रगण! वे दोनों तपस्वी मुझे देखकर बड़े प्रसन्न हुए। वे महात्मा थे, उन्होंने भक्तिभावसे नम्र होकर मुझे प्रणाम किया ॥ १४½ ॥

ततोऽहं सर्वथा प्रीतस्तौ नीतौ स्वर्गमुत्तमम् ॥ १५ ॥
तोषयित्वा महादेवं मया चाद्य समागतम् ।

'तब मैंने सर्वथा प्रसन्न होकर उन दोनोंको उत्तम स्वर्गलोकमें भेज दिया। इसके बाद तपस्याद्वारा महादेवजीको संतुष्ट करके आज मैं यहाँ आया हूँ' ॥ १५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते वृष्णयः सर्वे देवदेवं शशंसिरे ॥ १६ ॥
सर्वथा कृतकृत्यास्ते वृष्णयः केशवाश्रयाः ।
यादवाः सर्व एवैते स्वं स्वं जग्मुर्यथालयम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब उन सभी वृष्णिवंशियोंने देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्णकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। श्रीकेशवका आश्रय लेकर वे वृष्णिवंशी सर्वथा कृतकृत्य हो गये। तत्पश्चात् वे सभी यादव अपने-अपने घरको चले गये ॥ १६-१७ ॥

अभ्यन्तरे जगन्नाथः प्रविश्य हरिरीश्वरः ।
रुक्मिणीसत्यभामाभ्यामाचचक्षे यथाभवत् ॥ १८ ॥

फिर जगन्नाथ सर्वेश्वर श्रीहरिने भी अन्तःपुरमें प्रवेश करके रुक्मिणी और सत्यभामासे जो जैसे घटित हुई थीं, वे सारी बातें बतायीं ॥ १८ ॥

ते प्रीते प्रीतियुक्तेन केशवेन समन्विते ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं केशवस्य विचेष्टितम् ॥ १९ ॥

वे दोनों प्रीतियुक्त केशवके साथ वह सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुईं। इस प्रकार मैंने तुमसे भगवान् श्रीकृष्णकी सारी लीलाएँ कह सुनायीं ॥ १९ ॥

शशास पृथिवीं कृत्स्नां दुष्टान् हत्वा महाबलान् ।
नरकं घोरकर्माणं पौण्ड्रकं नृपसत्तमम् ॥ २० ॥
हयग्रीवं निशुम्भं च तथा सुन्दोपसुन्दकौ ।
ररक्ष विप्रान् देवेशो मुनीन् मुनिवरार्चितः ॥ २१ ॥

श्रीकृष्णने महाबली दुष्टोंका वध करके सारी पृथ्वीका शासन किया। बड़े-बड़े मुनियोंसे पूजित हुए उन देवेश्वरने घोर कर्म करनेवाले नरकासुरको, नृपश्रेष्ठ पौण्ड्रकको, हयग्रीव और निशुम्भको तथा सुन्द और उपसुन्दको मारकर मुनियों एवं ब्राह्मणोंकी रक्षा की ॥ २०-२१ ॥

विप्रेभ्यश्च ददौ वित्तं गाश्च दत्त्वा स केशवः।
अग्निहोत्रं प्रयुञ्जानो ब्राह्मणांश्च सुतर्पयन् ॥ २२ ॥

भगवान् केशव ब्राह्मणोंको गौएँ देकर उनके लिये धन भी देते थे, अग्निहोत्र करते और ब्राह्मणोंको भोजन आदिसे तृप्त करते थे ॥ २२ ॥

मुनींश्च ब्रह्मचर्येण देवान् यज्ञैरनेकधा।
स्वधया च पितॄन् सर्वान् प्रीणयन्नेव सर्वदा ॥ २३ ॥

ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक वेदोंके स्वाध्यायसे मुनियोंको, अनेक प्रकारके यज्ञोंद्वारा देवताओंको तथा स्वधाकर्म (श्राद्ध-तर्पण) से समस्त पितरोंको सदा तृप्त करते रहते थे ॥ २३ ॥

तस्मिञ्छासति देवेशे राज्यं निष्कण्टकं प्रभो।
सुखमेव प्रजाः सर्वा जीवन्ति ब्राह्मणादयः ॥ २४ ॥

प्रभो ! देवेश्वर श्रीकृष्णके निष्कण्टक राज्य शासन करते समय ब्राह्मण आदि सारी प्रजाएँ सुखपूर्वक ही जीवन-निर्वाह करती थीं ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि कैलासयात्रायां पौण्ड्रकवधसमाप्तौ द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रीकृष्णकी कैलासयात्राके प्रसङ्गमें पौण्ड्रकवधकी समाप्तिविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

हंस और डिम्भकके विषयमें जनमेजयका प्रश्न

जनमेजय उवाच

भूय एव द्विजश्रेष्ठ शङ्खचक्रगदाभृतः।
चरितं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण तपोधन ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! तपोधन ! मैं शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रको पुनः विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

न हि मे तृप्तिरस्तीह शृण्वतः कैशवीं कथाम्।
को नु नाम हरेर्विष्णोर्देवदेवस्य चक्रिणः ॥ २ ॥
शृण्वंस्तथा रमन् वापि तृप्तिं याति दिवानिशम्।
पुरुषार्थोऽयमेवैको यत्कथाश्रवणं हरेः ॥ ३ ॥

भगवान् केशवकी कथा सुनते हुए यहाँ मुझे कभी तृप्ति नहीं होती। कौन ऐसा पुरुष होगा, जो देवाधिदेव चक्रपाणि विष्णु हरिके नाम और यशको दिन-रात सुनता और उसीमें रमण करता हुआ कभी तृप्तिका अनुभव करेगा ? (उसे न सुनना चाहेगा !) भगवान् श्रीहरिकी कथाका जो श्रवण है, यही एकमात्र पुरुषार्थ माना गया है ॥ २-३ ॥

कथमासीज्जगद्धेतोर्हंसस्य डिम्भकस्य च।
समितिः सर्वभूतानां सदा विस्मयदायिनी ॥ ४ ॥

जगत्के लिये हंस और डिम्भककी कैसी समिति संगठित हुई थी, जो समस्त प्राणियोंको सदा ही विस्मय प्रदान करनेवाली थी ? ॥ ४ ॥

विचक्रस्य कथं युद्धं दानवस्य महात्मनः।
स तयोर्मित्रतां यात इत्येवमनुशुश्रुम ॥ ५ ॥

महामनस्वी दानव विचक्रका युद्ध किस प्रकार हुआ था ? सुननेमें आया है कि वह उन दोनोंका मित्र हो गया था ॥

तौ सुतौ वीर्यसम्पन्नौ शिष्यौ भृगुसुतस्य ह।
सर्वास्त्रकुशलौ वीरौ हराल्लब्धवरौ किल ॥ ६ ॥

वे दोनों राजकुमार बल-पराक्रमसे सम्पन्न तथा मुनिवर भार्गवके शिष्य थे। कहते हैं कि उन दोनोंने भगवान् शङ्करसे वर प्राप्त किये थे। वे दोनों वीर सम्पूर्ण अस्त्रोंमें कुशल थे ॥

संग्रामः सुमहानासीदित्युक्तं भवता पुरा।
तयोश्च नृपयोर्विप्र केशवस्य जगत्पतेः ॥ ७ ॥

विप्रवर ! आपने पहले कहा था कि जगदीश्वर श्रीकृष्ण-का उन दोनों राजाओं (हंस और डिम्भक) के साथ बड़ा भारी संग्राम हुआ था ॥ ७ ॥

कस्य पुत्रौ समुत्पन्नौ यथाभूद् विग्रहो महान्।
अष्टाशीतिसहस्राणि दानवानां तरस्विनाम् ॥ ८ ॥
बलान्यथ विचक्रस्य शितशूलधराणि च।
आसन् युद्धे महाराज दानवस्य जयैषिणः ॥ ९ ॥

वे दोनों किसके पुत्र होकर उत्पन्न हुए थे, जिससे उनके साथ महान् युद्ध हुआ । महाराज ! सुना है कि विजयकी अभिलाषा रखनेवाले दानव विचक्रके पास युद्धके लिये अठासी हजार वेगशाली दानवोंकी सेनाएँ थीं। वे सब-के-सब दानव तीखे शूल धारण करते थे ॥ ८-९ ॥

यदूनामन्तरं प्रेप्सुर्यदूनां युद्धकाङ्क्षया।
देवासुरे महायुद्धे देवाञ्जयति दुर्धरः।
तद्वधार्थं सदा यत्नमकरोच्चैव केशवः ॥ १० ॥

दानव निचक्र दुर्जय वीर था। वह युद्धकी इच्छासे यादवोंकी त्रुटि या दुर्बलता देखा करता था। देवताओं और असुरोंके महायुद्धमें वह देवताओंपर विजय पाता था और भगवान् श्रीकृष्ण उसके वधके लिये सदा प्रयत्नशील रहते थे॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने जनमेजयवाक्ये त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१०३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंस और डिम्भकके उपाख्यानके प्रसङ्गमें जनमेजयका वाक्यविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०३॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

राजा ब्रह्मदत्तको भगवान् शङ्करकी आराधनासे हंस और डिम्भक नामक पुत्रोंकी प्राप्ति तथा राजसखा विप्रवर मित्रसहको भगवान् विष्णुकी उपासनासे जनार्दन नामक पुत्रका लाभ

वैशम्पायन उवाच

आसीच्छाल्वेषु राजेन्द्र ब्रह्मदत्तो नृपोत्तमः।
नाम्ना राजन् स पूतात्मा सर्वभूतदयापरः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजेन्द्र! शाल्वदेशमें ब्रह्मदत्त नामसे प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ राजा राज्य करते थे। राजन्! उनका हृदय बड़ा ही पवित्र था। वे सम्पूर्ण भूतोंपर दयाभाव बनाये रखते थे॥ १॥

पञ्चयज्ञपरो नित्यं जितात्मा विजितेन्द्रियः।
ब्रह्मविद् वेदविच्चैव सदा यज्ञमयः शिवः॥ २॥

सदा पञ्चयज्ञका अनुष्ठान करते तथा मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते थे। वे ब्रह्मवेत्ता और वेदवेत्ता थे तथा सदा यज्ञके अनुष्ठानमें लगे रहते थे। राजा ब्रह्मदत्त सबके लिये कल्याणकारी थे॥ २॥

तस्य भार्ये महीपाल रूपौदार्यगुणान्विते।
बभूवतुः सुसम्पन्ने अनपत्ये नृपोत्तम॥ ३॥

महीपाल! नृपश्रेष्ठ! उनके रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न दो पत्नियाँ थीं, उनमें सारे गुण होनेपर भी उन दोनोंके कोई संतान नहीं हुई॥ ३॥

स ताभ्यां मुमुदे राजा शच्या शक्र इवाम्बरे।
नाम्ना मित्रसहो नाम सखा चासीद् द्विजोत्तमः॥ ४॥
तस्य राज्ञो महायोगी वेदवेदान्ततत्परः।
अनपत्यः स विप्रेन्द्रो यथा राजा बभूव ह॥ ५॥

जैसे स्वर्गमें इन्द्र शचीके साथ आनन्दपूर्वक रहते हैं, उसी प्रकार राजा ब्रह्मदत्त उन दोनों पत्नियोंके साथ सदा आनन्दमग्न रहते थे। राजाके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण मित्र थे, जिनका नाम था मित्रसह। वे महान् योगी तथा वेद और वेदान्तके अनुशीलनमें तत्पर रहनेवाले थे। वे ब्राह्मणशिरोमणि भी राजाके ही समान संतानहीन थे॥ ४-५॥

स राजा सहितस्ताभ्यामर्चयामास शंकरम्।
पुत्रार्थं शूलिनं शर्वं दश वर्षाण्यनन्यधीः॥ ६॥

राजाने अपनी दोनों पत्नियोंके साथ रहकर पुत्र-प्राप्तिके उद्देश्यसे एकाग्रचित्त हो दस वर्षोंतक शूलधारी भगवान् शंकरकी आराधना की॥ ६॥

स विप्रो वैष्णवं सत्रं पुत्रार्थे समयोजयत्।
अर्चितस्तेन राजेन्द्र शंकरो नीललोहितः॥ ७॥
आत्मानं दर्शयामास स्वप्ने राजानमब्रवीत्।
प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते वरं वरय सुव्रत॥ ८॥

राजेन्द्र! ब्राह्मण मित्रसहने पुत्रके लिये वैष्णवयागका अनुष्ठान किया। राजा ब्रह्मदत्तके द्वारा पूजित हुए नीललोहित भगवान् शंकरने स्वप्नमें उन्हें अपने दिव्य रूपका दर्शन कराया और कहा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले नरेश! तुम्हारा कल्याण हो! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, तुम कोई वर माँगो'॥ ७-८॥

अथ राजा जगन्नाथमुवाचेदं स्मयन्निव।
पुत्रौ मम भवेतां हि तथेत्युक्त्वा वृषध्वजः॥ ९॥
अन्तर्धानं गतः शम्भुः प्रतिबुद्धस्ततो नृपः।

राजाने मुसकराते हुए-से भगवान् विश्वनाथसे यह बात कही—'प्रभो! मेरे दो पुत्र हों।' तब 'तथास्तु' (ऐसा ही हो) यह कहकर वृषभध्वज भगवान् शंकर अन्तर्धान हो गये। तत्पश्चात् राजाकी नींद खुल गयी॥ ९½॥

सोऽपि मित्रसहो विद्वान् देवं केशवमव्ययम्॥ १०॥
पञ्चवर्षं जगन्नाथमर्चयामास भक्तितः।

विद्वान् मित्रसहने भी अविनाशी जगदीश्वर भगवान् केशवकी पाँच वर्षोंतक बड़े भक्तिभावसे आराधना की॥१०½॥

अर्चितस्तेन विप्रेण देवदेवो जनार्दनः॥ ११॥
पुत्रमेकं ददौ तस्मै स्वात्मना सदृशं हरिः।

उन ब्राह्मणसे पूजित हो देवाधिदेव जनार्दन हरिने उन्हें अपने ही-जैसा एक पुत्र प्रदान किया॥ ११½॥

ते भार्ये गर्भमाधत्तां तेजसा शंकरस्य ह॥ १२॥
विप्रभार्या महाराज वैष्णवं तेज आदधत्।

महाराज! राजाकी उन दोनों पत्नियोंने भगवान् शंकरके तेजसे गर्भ धारण किया और ब्राह्मणकी पत्नीने वैष्णव तेजको ही गर्भके रूपमें धारण किया॥ १२½॥

महिष्यौ ते महावीर्यौ पुत्रौ शंकरनिर्मितौ॥ १३॥
असूयेतां महीपाल क्रमेणैव नृपस्य ह।

महीपाल! राजाकी उन दो रानियोंने भगवान् शंकरकी

कृपासे प्राप्त हुए दो महापराक्रमी पुत्रोंको क्रमशः जन्म दिया था ॥ १३½ ॥

स तयोश्च महाराज नामकर्मादिकाः क्रियाः ॥ १४ ॥
चकार विधिवत् सर्वा विप्रेभ्योऽदान्महद्धनम् ।

महाराज जनमेजय ! ब्रह्मदत्तने उन दोनों पुत्रोंके नामकर्म आदि सारे संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न किये और ब्राह्मणोंको बहुत धन दिया ॥ १४½ ॥

स च विप्रो विनीतात्मा पुत्रमेकं हि लब्धवान् ॥ १५ ॥
साक्षादिव जगन्नाथं स्थितं पुत्रात्मना नृप ।

नरेश्वर ! विनयशील हृदयवाले ब्राह्मण मित्रसहने भी एक पुत्र प्राप्त किया, जिसके रूपमें मानो साक्षात् जगन्नाथ श्रीहरि ही उनके घरमें आ गये हों ॥ १५½ ॥

जातकर्मादिकं सर्वं ब्राह्मणः स चकार ह ॥ १६ ॥

ब्राह्मणने भी पुत्रके जातकर्म आदि सभी संस्कार पूर्ण किये ॥ १६ ॥

तौ कुमारावयं चैव त्रयः सवयसोऽभवन् ।
वेदानधीत्य ते सर्वाञ्छ्रुत्वा चान्वीक्षिकीं तथा ॥ १७ ॥
धनुर्वेदे तथाऽस्त्रे च निपुणास्तेऽभवंस्तदा ।

वे दोनों राजकुमार और यह ब्राह्मणपुत्र तीनों ही समवयस्क थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके आन्वीक्षिकी विद्या (वेदान्त आदि) का नुशीलन करनेके पश्चात् धनुर्वेद तथा सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञान निपुणता प्राप्त की ॥ १७½ ॥

हंसो ज्येष्ठो नृपसुतो डिम्भकोऽनन्तरोऽभ त् ॥ १८ ॥
स च विप्रसुतो राजन् जनार्दन इति स्मृ : ।
अन्योन्यं मित्रतां याताः सर्वे चैव कुमारकाः ॥ १९ ॥

ज्येष्ठ राजकुमारका नाम हंस था और उससे छोटा डिम्भक नामसे प्रसिद्ध हुआ । राजन् ! ब्राह्मणपुत्रका नाम जनार्दन रखा गया था । वे सभी कुमार एक दूसरेके प्रति मित्रभाव रखते थे ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोत्पत्तौ चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंस और डिम्भककी उत्पत्तिविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

हंस और डिम्भककी तपस्या, वरप्राप्ति, जनार्दनसहित उन दोनोंका विवाह तथा तीनों कुमारोंकी धर्मनिष्ठा

वैशम्पायन उवाच

हंसश्च डिम्भकश्चैवं तपश्चर्तुं महामती ।
मनश्चक्रतुरात्मांशौ शंकरस्य नृपोत्तम ॥ १ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—नृपश्रेष्ठ ! राजकुमार हंस और डिम्भक भगवान् शंकरके अपने अंशसे उत्पन्न और परम बुद्धिमान् थे । उन दोनोंने तपस्या करनेका विचार किया ॥ १ ॥

गत्वा तु हिमवत्पार्श्वे तपश्चक्रतुरञ्जसा ।
उद्दिश्य शंकरं शर्वं नीलग्रीवमुमापतिम् ॥ २ ॥
वीर्यास्त्रे चैव नौ स्यातामित्याधाय तु मानसे ।
एकाग्रौ प्रयतौ भूत्वा वाय्वम्बुप्राशिनौ नृप ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! हिमालयके पास जाकर वायु और जलका आहार करते हुए वे दोनों एकाग्र एवं संयतचित्त हो मनमे यह संकल्प लेकर कि 'हमें दिव्य पराक्रम और अस्त्र प्राप्त हो जायँ' कल्याणकारी कष्टहारी नीलकण्ठ भगवान् उमापतिकी प्रसन्नताके उद्देश्यसे सानन्द तपस्या करने लगे ॥ २-३ ॥

नमस्ते देवदेवेति शंकरेति दिवानिशम् ।
हर शर्व शिवानन्द नीलग्रीव उमापते ॥ ४ ॥
वृषध्वज विरूपाक्ष हर्यक्ष जगतां पते ।
भक्तप्रिय गिरीशेश वासुदेव शिवाच्युत ॥ ५ ॥
सद्योजात महादेव देवदेव गुहाशय ।
भूतभावन देवेश प्रणवात्मन् सदाशिव ॥ ६ ॥
इत्यादिनामभिर्नित्यं स्तुवन्तौ शंकरं भवम् ।
हृदि कृत्वा विरूपाक्षं तपस्तेपतुरञ्जसा ॥ ७ ॥

वे दिन-रात देवाधिदेव ! शंकर ! हर ! शर्व ! शिवानन्द ! नीलग्रीव ! उमापते ! वृषभध्वज ! विरूपाक्ष ! हर्यक्ष ! जगत्पते ! भक्तप्रिय ! गिरीश ! ईश ! वासुदेव ! शिव ! अच्युत ! सद्योजात ! महादेव ! देवदेव ! अन्तर्यामीरूपसे हृदयगुहामें शयन करनेवाले ! भूतभावन ! देवेश्वर ! ओङ्कारस्वरूप ! सदाशिव ! आपको नमस्कार है । इत्यादि रूपसे भगवान्के नामोंद्वारा नित्य-निरन्तर कल्याणकारी भगवान् भवकी स्तुति करते हुए उन्हीं भगवान् विरूपाक्ष (शिव) को हृदयमें धारण करके सुखपूर्वक तपस्यामें लगे रहे ॥ ४—७ ॥

निर्ममौ निरहंकारौ मौनव्रतसमास्थितौ ।
वर्षाणीह तदा राजन् पञ्च चक्रतुरोजसा ॥ ८ ॥
ततः प्रीतोऽभवच्छर्वस्ताभ्यां संयमनेन च ।
स ददौ दर्शनं नैजं व्याघ्रचर्माम्बरो हरः ॥ ९ ॥
त्रियक्षः शंकरः शर्वः शूलपाणिरुमापतिः ।

राजन् ! उनमें ममता और अहंकारका अभाव हो

गया। वे मौनव्रतका आश्रय लेकर उन दिनों पाँच वर्षोंतक उत्साहपूर्वक तपस्यामें लगे रहे। उन दोनोंके तप और संयमसे भगवान् शंकरको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उन दोनोंको अपने स्वरूपका दर्शन दिया। उस समय उनके श्रीअङ्गोंपर व्याघ्रचर्ममय वस्त्र शोभा पा रहा था। वे पापहारी, त्रिनेत्रधारी और कल्याणकारी उमावल्लभ भगवान् शिव हाथमें त्रिशूल लिये वहाँ उपस्थित थे॥ ८-९½॥

अग्रतः संस्थितं शर्वं चन्द्रार्धकृतशेखरम्।
तौ दृष्ट्वा प्रीतमनसौ नमश्चक्रतुरञ्जसा॥ १०॥

चन्द्रार्धशेखर भगवान् शिवको अपने सामने खड़ा देख वे दोनों प्रसन्नचित्त हो उन्हें बारंबार नमस्कार करने लगे॥

श्रीभगवानुवाच

वरं वरय भद्रं वां यथेच्छा वां तथास्तु वै।
तावूचतुस्तदा राजन् प्रीतस्त्वं भगवन् यदि॥ ११॥
देवासुरचमूमुख्यैर्यक्षगन्धर्वदानवैः।
आवामजय्यौ सर्वात्मन्नेष नौ प्रथमो वरः॥ १२॥

तब श्रीभगवान् बोले—राजकुमारो! तुम दोनोंका कल्याण हो! तुम कोई वर माँगो! तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वह पूर्ण हो। राजन्! यह सुनकर वे दोनों बोले—'भगवन्! यदि आप प्रसन्न हैं तो हम आपकी कृपासे देवताओं और असुरोंके मुख्य-मुख्य सेनापतियों, यक्षों, गन्धर्वों और दानवोंके लिये भी अजेय हो जायँ। सर्वात्मन्! यही हम दोनोंका पहला वर है॥ ११-१२॥

द्वितीयो नौ विरूपाक्ष रौद्रास्त्राणां च संग्रहः।
माहेश्वरं तथा रौद्रमस्त्रं ब्रह्मशिरो महत्॥ १३॥

'विरूपाक्ष! हमारा दूसरा वर यह है कि हमारे पास सभी भयंकर अस्त्रोंका संग्रह हो। माहेश्वरास्त्र, रौद्रास्त्र तथा महान् ब्रह्मशिर नामक अस्त्र हमें उपलब्ध हों॥ १३॥

अभेद्यं कवचं दिव्यमच्छेद्यं चापि कार्मुकम्।
परशुं च तथा शर्व सदा रक्षार्थमेव च॥ १४॥

'शर्व! अभेद्य कवच, दिव्य एवं अच्छेद्य धनुष और परशु—ये सदा हमें रक्षाके लिये सुलभ हों॥ १४॥

सहायौ द्वौ महादेव भूतौ युद्धे हि गच्छताम्।
एवमस्त्विति देवेश आह भृङ्गिरिटी हरः॥ १५॥
कुण्डोदरं विरूपाक्षं सर्वप्राणिहिते रतम्।
युवामथ च भूतेशौ सहायौ सततं रणे॥ १६॥
संग्रामं गच्छतां घोरमेतयोर्बलशालिनोः।
इत्युक्त्वा भगवाञ्छर्वस्तत्रैवान्तरधीयत॥ १७॥

'महादेव! युद्धमें आपके दो-दो भूत हमारी सहायताके लिये जाया करें।' तब देवेश्वर हरने 'ऐसा ही होगा', यह कहकर अपने दो पार्षद भृङ्गि और रिटिसे तथा कुण्डोदर एवं समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले विरूपाक्षसे कहा—'तुम दोनों दो-दो करके दो भूतेश्वर हो, तुम युद्धके अवसरपर सदा घोर-से-घोर संग्राममें इन दोनों बलशाली वीरोंकी सहायताके लिये अवश्य पहुँच जाना।' ऐसा कहकर भगवान् शर्व वहीं अन्तर्धान हो गये॥ १५—१७॥

ततस्तौ वीर्यसम्पन्नौ हंसो डिम्भक एव च।
कृतास्त्रौ शस्त्रसम्पन्नौ चापिनौ वीर्यवत्तरौ॥ १८॥

तदनन्तर बल और पराक्रमसे सम्पन्न हंस और डिम्भक सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता, अस्त्र-शस्त्रोंके सञ्चयसे युक्त, धनुर्धर एवं अत्यन्त बलवान् हो गये॥ १८॥

आमुक्तकवचौ वीरावजय्यौ देवदानवैः।
अत्यन्तभक्तौ देवेशे शंकरे नीललोहिते॥ १९॥

कवच बाँधकर वे दोनों वीर जब युद्धमें खड़े होते, उस समय देवता और दानवोंके लिये भी उन्हें जीतना असम्भव हो जाता था। नीललोहित भगवान् शंकरमें उन दोनोंकी बड़ी भक्ति थी॥ १९॥

नित्योत्सवकरौ देवे भस्मोद्धूलनशोभिनौ।
कृतत्रिपुण्ड्रकौ नित्यं जटायुक्तशिरोधरौ॥ २०॥

वे महादेवजीके लिये नित्य उत्सव रचाते, अपने अङ्गोंमें भस्म लगाकर सुशोभित होते, ललाटमें त्रिपुण्ड्र लगाते और सदा सिरपर जटाएँ धारण करते थे॥ २०॥

रुद्राक्षार्पितसर्वाङ्गौ व्याघ्रचर्माम्बरावृतौ।
नमः शिवाय शान्ताय महादेवाय धीमते॥ २१॥
इत्यादिभिर्महादेवं स्तुवन्तौ नामभिः शिवम्।
साक्षादिव महादेवौ रेजतुर्जलधारिणौ॥ २२॥

सारे अङ्गोंमें रुद्राक्ष धारण करते, अपने अङ्गोंको व्याघ्रचर्मसे आच्छादित करते और 'परमबुद्धिमान् शान्तस्वरूप महान् देव शिवको नमस्कार है' इत्यादि नामोंद्वारा महादेव शिवकी स्तुति करते थे। इस प्रकार वे दोनों अपनी भीगी जटाओंमें जल धारण करके साक्षात् गङ्गाधर महादेवके दो विग्रहोंके समान शोभा पाते थे॥ २१-२२॥

ततः स्वभवनं गत्वा पितुः पादावगृह्णताम्।
पितुश्च सख्युर्बलिनौ मातुश्च चरणौ तदा॥ २३॥

तदनन्तर उन दोनों बलवान् वीरोंने अपने घर जाकर पिताके चरण पकड़े, पिताके सखा मित्रसहके पैर छुये और माताके चरणोंमें प्रणाम किया॥ २३॥

जनार्दनोऽपि धर्मात्मा कालेन महता नृप।
विद्यापारं महाबुद्धिर्युक्तेनासावुपेयिवान्॥ २४॥

नरेश्वर! परम बुद्धिमान् धर्मात्मा जनार्दनने भी दीर्घकालतक अध्ययन करके योगयुक्त होकर सम्पूर्ण विद्याओंमें पारङ्गत योग्यता प्राप्त की॥ २४॥

स च विष्णुं हृषीकेशं पीतकौशेयवाससम्।
ब्रह्मतत्त्वपरो नित्यमुपास्ते विजितेन्द्रियः॥ २५॥

वह अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके ब्रह्मतत्त्वके चिन्तनमें तत्पर रहकर नित्य-निरन्तर इन्द्रियोंके प्रेरक, रेशमी पीताम्बर-धारी भगवान् विष्णुकी उपासना करता था ॥ २५ ॥

हंसश्च डिम्भकश्चैव कृतदारौ बभूवतुः ।
जनार्दनोऽपि धर्मात्मा कृतदारो बभूव ह ॥ २६ ॥

हंस और डिम्भकके विवाह हो गये, फिर धर्मात्मा जनार्दनने भी पत्नीका पाणिग्रहण किया ॥ २६ ॥

सर्वे ते यज्ञनिरताः पञ्चयज्ञपरास्तथा ।
स्वदारनिरताः सर्वे गुरुशुश्रूषणे रताः ।
धर्म एव परं श्रेय इति ते मेनिरे नृप ॥ २७ ॥

वे सब-के सब यज्ञमें तत्पर, पञ्चयज्ञपरायण और अपनी ही पत्नीमें अनुरक्त रहकर गुरुजनोंकी सेवामें संलग्न रहते थे । नरेश्वर ! वे यह मानते थे कि 'धर्म ही परम कल्याण करनेवाला है' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंस और डिम्भकका उपाख्यानविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

हंस और डिम्भककी मृगया

वैशम्पायन उवाच

ततः कदाचित् तौ वीरौ मृगयामाटतुः किल ।
जनार्दनेन सहितौ रथैरश्वैर्गजैरपि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर किसी समय वे दोनों वीर हंस और डिम्भक जनार्दनको साथ ले रथ, हाथी और अश्वोंद्वारा शिकार खेलनेके लिये गये ॥

वनं गत्वा तु तौ वीरौ सिंहव्याघ्रांश्च जघ्नतुः ।
शितैर्बाणैर्महाराज वराहानथ सर्वशः ॥ २ ॥

महाराज ! वनमें जाकर वे दोनों वीर अपने पैने बाणों द्वारा सिंहों, व्याघ्रों और वराहोंका सब प्रकारसे वध करने लगे ॥ २ ॥

व्यालानन्यान् मृगान् हिंस्राञ्छ्वभिश्च सहितौ नृप ।
एष आयाति विपुलो वराहो दीर्घलोचनः ॥ ३ ॥
एनं बाणेन संछिन्धि याति चायं मृगाधिपः ।
अयमन्योऽथ महिषः शृङ्गप्रोतसरीसृपः ॥ ४ ॥
एते खलु मृगाः सार्धं शावैर्बाधन्ति सर्वशः ।
एतद् भ्रमति सर्वत्र भीतं शशकुलं महत् ॥ ५ ॥
शावं स्तनं पिबत्साधु न हन्तव्यमिदं शुभम् ।
ग्रहीतव्यमिदं सर्वं निरुध्य श्वगणैरिह ॥ ६ ॥
इत्यादिशब्दः सुमहान् मृगयां कुर्वतां नृप ।
क्षत्रियाणां नृपश्रेष्ठ व्याधानां चैव धावताम् ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! सर्पों तथा अन्यान्य हिंसक पशुओंका कुत्तोंके साथ रहकर उन दोनों भाइयोंने वध किया । नृपश्रेष्ठ ! उस समय शिकार खेलते हुए इधर-उधर दौड़नेवाले क्षत्रियों और व्याधोंका यह महान् शब्द सब ओर सुनायी देता था, 'यह बड़े-बड़े नेत्रोंवाला विशाल वराह आ रहा है । यह सिंह जा रहा है, इसे बाणद्वारा काट डालो । यह दूसरा भैंसा जा रहा है, इसके सींगमें सर्प गुँथ गया है । ये मृग अपने बच्चोंके साथ बाधाका अनुभव करते हुए भाग रहे हैं । यह खरगोशों-का महान् समुदाय भयभीत होकर सर्वत्र भटक रहा है । यह छोटा बच्चा स्तन पी रहा है, इसे नहीं मारना चाहिये, ऐसा करनेमें ही भलाई है । इन सबको कुत्तोंसे घेरकर जीवित ही पकड़ लेना चाहिये' इत्यादि ॥ ३—७ ॥

हत्वा मृगान् सुबहुशो व्याघ्रान् सिंहान् नृपोत्तमौ ।
श्रमं च जग्मतुर्वीरौ मध्यं याते दिवाकरे ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ वीर हंस और डिम्भक दोपहर होते-होते बहुत से हिंसक पशुओं, व्याघ्रों और सिंहोंको मारकर अधिक श्रमके कारण थक गये ॥ ८ ॥

अलं हि मृगयास्माकं श्रमः समुपजायते ।
इत्यूचतुर्महाराज पुष्करं जग्मतुः सरः ॥ ९ ॥

महाराज ! वे दोनों बोले—'अब शिकार बंद किया जाय, हमें थकावट हो रही है ।' यों कहकर वे पुष्कर सरोवर-की ओर चले गये ॥ ९ ॥

सरःसमीपमागम्य मुनिसिद्धनिषेवितम् ।
वीजन् मारुतसानूपं श्रमात् तत्र सुखस्थितौ ॥ १० ॥

सरोवरके तटपर आकर वे दोनों परिश्रमके कारण वहाँ सुखपूर्वक बैठ गये । वह स्थान मुनियों और सिद्धोंसे सेवित था तथा उस सजल प्रदेशमें मंद-मंद वायु इस प्रकार चल रही थी मानो व्यजन डुला रही हो ॥ १० ॥

ततो जनाः सरः सर्वे विगाह्य श्रमकर्षिताः ।
बिसान् प्रवालान् पद्मानां भक्षयामासुरार्तवत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर परिश्रमसे थके हुए सब लोग उस सरोवरमें स्नान करके भूखसे पीड़ित हुएकी भाँति भसींड़ और कमल-गट्टा खाने लगे ॥ ११ ॥

जनार्दनेन सहितौ हंसो डिम्भक एव च ।
सरः क्वचित् समाश्रित्य श्रमं संत्यज्य तिष्ठतः ॥ १२ ॥

जनार्दनसहित हंस और डिम्भक भी उस सरोवरके किसी तटका आश्रय लेकर अपना परिश्रम दूर करके बैठे हुए थे १२

विश्रम्य सरसस्तीरे तदाऽऽसाते सुखं नृपौ।
अशृण्वातां परं ब्रह्म मुनिमुख्यैः समीरितम् ॥ १३ ॥

सरोवरके तटपर विश्राम लेकर वे दोनों नरेश वहाँ सुखपूर्वक बैठे ही थे कि उसी समय प्रधान-प्रधान मुनियोंद्वारा उच्चारित उत्तम वेदवाणी उन्हें सुनायी दी ॥ १३ ॥

मध्यंदिनं तथा सर्वैः सवनं सस्वरं नृपौ।
ततः प्रीतौ नृपौ भूत्वा श्रुत्वा वेदध्वनिं तदा ॥ १४ ॥
ऐच्छेतां तौ तदा द्रष्टुं यज्ञं मुनिकृतं तदा।

उन राजकुमारोंने मध्यदिन सवनके समय सबके साथ सस्वर वेदपाठ सुना। उस समय उस वेदध्वनिको सुनकर वे दोनों नरेश बड़े प्रसन्न हुए और मुनियोंद्वारा किये गये उस यज्ञको देखनेकी इच्छा करने लगे ॥ १४½ ॥

स्थापयित्वा ततः सेनां सर्वां मृगसमन्विताम् ॥ १५ ॥
आदाय च महाचापे शरान् कतिचिदेव च।
जनार्दनस्तदा वीरौ हंसो डिम्भक एव च ॥ १६ ॥
पदातिनौ महाराज जग्मतुश्चाश्रमं किल।
महर्षेः काश्यपस्याथ सत्रं वैष्णवसंज्ञकम्।
यजतो मुनिभिः सार्धं जपहोमपरायणैः ॥ १७ ॥

महाराज! तदनन्तर मृगोंसहित उस सारी सेनाको वहीं ठहराकर स्वयं दो बड़े-बड़े धनुष और कुछ बाण लेकर जनार्दनसहित वे दोनों वीर हंस और डिम्भक पैदल ही उन महर्षि काश्यपके आश्रममें गये, जो जप और होममें तत्पर रहनेवाले मुनियोंके साथ वैष्णव सत्रका अनुष्ठान कर रहे थे ॥ १५–१७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने मृगयावर्णने षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानके प्रसंगमें हंस और डिम्भककी मृगयाका वर्णनविषयक एक सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

सेनासहित हंस और डिम्भकका पुष्कर-तटपर विश्राम, महर्षि कश्यपके वैष्णवसत्रका दर्शन तथा दुर्वासा आदि यतियोंके समुदायमें जाकर उनके प्रति अपनी अश्रद्धाका प्रदर्शन

वैशम्पायन उवाच

जनार्दनश्च धर्मात्मा हंसो डिम्भक एव च।
सदः प्रविश्य सत्रस्य नमश्चक्रुर्मुनीश्वरान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय धर्मात्मा जनार्दन, हंस और डिम्भकने उस यज्ञमण्डपमें प्रवेश करके उन मुनीश्वरोंको प्रणाम किया ॥ १ ॥

तानागतान् महात्मानो मुनयः शिष्यसंयुताः।
अर्घ्यपाद्यासनादीनि चक्रुः पूजां प्रयत्नतः ॥ २ ॥

शिष्योंसहित उन महात्मा मुनियोंने अर्घ्य, पाद्य तथा आसन आदि देकर वहाँ पधारे हुए उन अतिथियोंका यत्नपूर्वक सत्कार किया ॥ २ ॥

तौ नृपौ स च विप्रेन्द्रः सपर्यां प्रतिगृह्य च।
प्रीतात्मानो महात्मान आसते ससुखं नृप ॥ ३ ॥

नरेश्वर! वे दोनों राजकुमार और वह विप्रवर जनार्दन तीनों महामनस्वी पुरुष वह सत्कार ग्रहण करके मन-ही-मन प्रसन्न होकर वहाँ सुखपूर्वक बैठे ॥ ३ ॥

ततो हंसो बभाषे तान् मुनीन् संयतवाङ् नृप।
पिता हि नौ मुनिश्रेष्ठा यष्टुमैच्छत् ससाधनम् ॥ ४ ॥

राजन्! तत्पश्चात् वाणीको संयममें रखनेवाले हंसने उन मुनियोंसे कहा—'मुनिश्रेष्ठगण! हम दोनोंके पिता साधनसहित राजसूय यज्ञ करनेकी इच्छा रखते हैं ॥ ४ ॥

गन्तव्यं तत्र युष्माभिः सत्रान्ते मुनिसत्तमाः।
राजसूयेन यज्ञेन कृत्वा दिग्विजयं वयम् ॥ ५ ॥
याजयिष्यामहे विप्राः पितरं धार्मिकं नृपम्।
आयान्तु तत्र विप्रेन्द्राः सशिष्याः सपरिच्छदाः ॥ ६ ॥

'मुनिवरो! इस सत्रके अन्तमें आपलोगोंको मेरे पिताके उस यज्ञमें पधारना चाहिये। ब्राह्मणो! हमलोग दिग्विजय करके अपने पिता धर्मात्मा नरेशसे राजसूय यज्ञका अनुष्ठान करायेंगे। उसमें शिष्यों तथा अग्निहोत्र आदि सामग्रियोंसहित आप सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण अवश्य पधारें ॥ ५-६ ॥

वयमद्यैव सहितौ दिशो जेष्यामहे वयम्।
शक्ता वयमिहैवैतत् कर्तुं सैनिकसंचयैः ॥ ७ ॥
आवयोः पुरतः स्थातुं न शक्ता देवदानवाः।
कैलासनिलयाद् देवाद् वरं लब्धाः स्म यत्नतः ॥ ८ ॥
अजय्यौ शत्रुसंघानामस्त्राणि विविधानि च।
इत्युक्त्वा विररामैव हंसो मदबलान्वितः ॥ ९ ॥

'हम दोनों भाई सदा एक साथ रहनेवाले हैं। हमारे साथ जनार्दनजी भी हैं। हम तीनों आज ही दिग्विजय प्रारम्भ कर देंगे। यों तो अपने सैनिकसमूहोंद्वारा हमलोग ही इस यज्ञका अनुष्ठान कर सकते हैं; क्योंकि हमारे सामने युद्धमें दानव और देवता भी नहीं टहर सकते। हमने कैलासवासी महादेवजीसे यत्नपूर्वक वर प्राप्त किया है। हम शत्रुसमूहोंके लिये अजेय हैं और हमारे पास नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र हैं।' ऐसा कहकर बलके मदसे उन्मत्त हुआ हंस चुप हो गया ॥ ७–९ ॥

मुनय ऊचुः

यदि स्यात् तत्र गच्छामो वयं शिष्यैर्नृपोत्तम ।
आसहे वान्यथा राजन्नित्यूचुः किल तापसाः ॥ १० ॥

मुनि बोले—नृपश्रेष्ठ ! यदि आपका यज्ञ होगा तो हम शिष्योंसहित उसमें अवश्य चलेंगे । राजन् ! अन्यथा (यदि वह यज्ञ नहीं हुआ तो) हम यहीं रहेंगे । ऐसा उन तपस्वी मुनियोंने उत्तर दिया ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो देशान् महाराज गन्तुं निश्चितमानसौ ।
पुष्करस्योत्तरं तीरं दुर्वासा यत्र तिष्ठति ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर उस स्थानसे जानेका निश्चय करके वे दोनों पुष्करके उत्तर तटपर गये, जहाँ दुर्वासा मुनि रहते थे ॥ ११ ॥

यतयो नियता भूत्वा मन्त्रब्रह्मनिषेविणः ।
ब्रह्मसूत्रपदे सक्तास्तदर्थालोकतत्पराः ॥ १२ ॥

वहाँ यतिगण शौच-संतोष आदि नियमोंमें तत्पर रहकर मन्त्रमय ब्रह्म (प्रणव) का जप एवं उसके अर्थका चिन्तन करते थे । ब्रह्मसूत्रके पदोंके स्वाध्यायमें संलग्न रहकर उनके अर्थ (ब्रह्म) के साक्षात्कारके लिये यत्नशील रहते थे ॥ १२ ॥

निर्ममा निरहंकाराः कौपीनाच्छादनव्रताः ।
तमात्मानं जगद्योनिं विष्णुं विश्वेश्वरं विभुम् ॥ १३ ॥
ब्रह्मरूपं शुभं शान्तमक्षरं सर्वतोमुखम् ।
वेदान्तमूर्तिमव्यक्तमनन्तं शाश्वतं शिवम् ॥ १४ ॥
नित्ययुक्तं विरूपाक्षं भूताधारमनामयम् ।
ध्यायन्तः सर्वदा देवं मनसा सर्वतोमुखम् ॥ १५ ॥
दुर्वाससा सदोपास्यं वेदान्तैकरसं गुरुम् ।

उनमें ममता और अहंकारका सर्वथा अभाव था । वे नियमपूर्वक कौपीन तथा आच्छादन वस्त्र धारण करते थे । जो सबके आत्मा, जगत्की उत्पत्तिके कारण, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण विश्वके नियन्ता, विभु, ब्रह्मस्वरूप, शुभ, शान्त, अक्षर (अविनाशी), सब ओर मुखवाले, वेदान्तस्वरूप, अव्यक्त, अनन्त, सनातन, कल्याणमय, नित्ययुक्त, विरूपाक्ष (रुद्ररूप), सम्पूर्ण भूतोंके आधार, अनामय, सर्वतोमुख, दुर्वासाजीके द्वारा सदा उपासनीय, वेदान्तैकरस तथा गुरुस्वरूप हैं, उन परमात्मदेवका वे यतिगण अपने मनसे सदा ही चिन्तन करते थे ॥ १३—१५½ ॥

तर्कनिश्चिततत्त्वार्था ज्ञाननिर्मलचेतसः ॥ १६ ॥
हंसाः परमहंसाश्च शिष्या दुर्वाससः प्रभो ।

प्रभो ! वे हंस और परमहंससंज्ञक संन्यासी मुनिवर दुर्वासाके शिष्य थे । उन्होंने तर्कयुक्त बुद्धिके द्वारा परमार्थका निश्चय कर लिया था और ज्ञानके आलोकसे उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया था ॥ १६½ ॥

गत्वा तत्र महात्मानौ तौ दृष्ट्वा तूर्ध्वरेतसम् ॥ १७ ॥
दुर्वाससं महाबुद्धिं विचिन्वानं परं पदम् ।

उन दोनों महामनस्वी राजकुमारोंने वहाँ पहुँचकर ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) परम बुद्धिमान् एवं परमपदके अनुसंधानमें लगे हुए दुर्वासा मुनिका दर्शन किया ॥ १७½ ॥

क्रुद्धो यदि स दुर्वासा दग्धुं लोकानिमान् क्षमः ॥ १८ ॥
देवा अपि च यं द्रष्टुं क्रुद्धं वै न क्षमाः सदा ।
रोषमूर्तिः सदा यस्तु रुद्रात्मा विश्वरूपधृक् ॥ १९ ॥

वे दुर्वासामुनि यदि कुपित हो जायँ तो इन सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध करनेमें समर्थ हैं । कुपितावस्थामें देवता भी उनका दर्शन करनेका कभी साहस नहीं कर सकते । वे सदा रोषमूर्ति माने गये हैं । उन्हें विश्वरूपधारी रुद्रात्मा बताया गया है ॥ १८-१९ ॥

रक्तकौपीनवसनो हंसः परम एव च ।
दृष्ट्वैनं च तयोरेवं बुद्धिरासीन्महामते ॥ २० ॥

वे गेरुए रंगका कौपीन वस्त्र धारण किये हुए थे और परमहंसस्वरूपमें स्थित थे । महामते ! उनका दर्शन करके उन दोनों राजकुमारोंके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ—॥२०॥

को नामासौ महाभूतः काषायी वर्णवित्तमः ।
कश्चायमाश्रमो नाम विहाय च गृहाश्रमम् ॥ २१ ॥

'यह कौन महाभूत है, जो काषायवस्त्र पहने हुए है, वर्ण-विभागके विद्वानोंमें यह श्रेष्ठ जान पड़ता है (क्योंकि इसमें किसी भी वर्णके चिह्न नहीं हैं !) तथा गृहस्थाश्रमको छोड़कर यह आश्रम भी कौन-सा है ? ॥ २१ ॥

गृहस्थ एव धर्मात्मा गृहस्थो धर्मवित्तमः ।
गृहस्थो धर्मरूपस्तु गृहस्थो वर्ण एव च ॥ २२ ॥

'गृहस्थ ही धर्मात्मा होता है, गृहस्थ ही धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ है, गृहस्थ ही धर्मस्वरूप है तथा गृहस्थ ही चातुर्वर्ण्यमय है ॥ २२ ॥

गृहस्थश्च सदा माता प्राणिनां जीवनं सदा ।
तं विनान्येन रूपेण वर्तते योऽतिमूर्खवत् ॥ २३ ॥

'गृहस्थ सदा सभी प्राणियोंका माताके समान पालन करनेवाला और सर्वदा उनके जीवनकी रक्षा करनेवाला है । उस आश्रमको छोड़कर जो दूसरे रूपसे बर्ताव करता है, वह अत्यन्त मूर्खके समान है ॥ २३ ॥

उन्मत्तोऽयं विरूपोऽयमथवा मूर्ख एव च ।
ध्यायन्निव सदा चायमास्ते वञ्चयितापि वा ॥ २४ ॥

'यह तो कोई पागल, विचित्र रूपधारी अथवा मूर्ख ही है । यह ध्यान करता हुआ-सा बैठा है; परंतु ठग ही जान पड़ता है ॥ २४ ॥

किमेते प्राकृतज्ञाना ध्यायन्त इति किंचन ।
वयमेतान् दुरारोहानाश्रमान्तरकल्पकान् ॥ २५ ॥

स्थापयिष्यामहे सर्वान् मन्दबुद्धीनिमान् गृहे ।
बलादेव द्विजानेतान् मूढविज्ञानतत्परान् ॥ २६ ॥

'ये प्राकृत ज्ञानवाले मनुष्य क्यों कुछ ध्यान-सा कर रहे हैं, इनके लिये उन्नतिके पथपर आरूढ़ होना सर्वथा कठिन है। ये दूसरे आश्रमोंकी कल्पना करनेवाले हैं। हम इन समस्त मन्दबुद्धि द्विजोंको, जो मूढ़ ज्ञानमें तत्पर हैं, बलपूर्वक गृहस्थाश्रमके भीतर स्थापित करेंगे ॥ २५-२६ ॥

असद्ग्राहगृहीतांश्च बालिशान् दुर्मतीनिमान् ।
एषां शास्ता च को मूढो न विप्रो वयमत्र ह ॥ २७ ॥
धर्म्ये वर्त्मनि संस्थाप्य पुनर्यास्याव निर्वृतौ ।

'क्योंकि ये मूर्ख लोग दुराग्रहसे गृहीत हैं और इनकी बुद्धि खोटी है। इन सबको उपदेश देनेवाला यह कौन मूर्ख बैठा है ? यह ब्राह्मण तो नहीं है ! अब हमलोग यहाँ आ गये हैं तो पहले इनके इस गुरुको ही धर्मके मार्गपर स्थापित करके फिर संतोषपूर्वक यहाँसे घरको जायँगे' ॥ २७½ ॥

इति संचिन्त्य तौ वीरौ विप्रेण सहितौ नृप ॥ २८ ॥
जनार्दनेन राजानौ मोहाद् भाग्यक्षयान्नृप ।
समीपं तस्य राजेन्द्र यतेः संयतचेतसः ॥ २९ ॥
गत्वा च प्रोचतुरुभौ दुर्वाससमतीन्द्रियम् ।
यतींश्च नियतान् क्रुद्धौ राजानौ राजसत्तम ॥ ३० ॥

नरेश्वर ! ऐसा निश्चय करके ब्राह्मण जनार्दनके साथ वे दोनों वीर राजा मोह अथवा भाग्यक्षयके कारण उन संयतचित्त यतिके पास गये। राजेन्द्र ! नृपशिरोमणे ! वहाँ जाकर क्रोधमें भरे हुए उन दोनों राजाओंने इन्द्रियातीत दुर्वासा तथा नियमपरायण यतियोंसे इस प्रकार कहा २८—३०

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

हंस और डिम्भकद्वारा संन्यासकी निन्दा तथा जनार्दनद्वारा संन्यास-आश्रमका मण्डन

हंसडिम्भकावूचतुः

ज्ञानलेशाद् विहीनात्मन् किं ते व्यवसितं द्विज ।
कश्चायमाश्रमो विप्र भवता यः समाश्रितः ॥ १ ॥

हंस और डिम्भक बोले—ओ द्विज ! यह तूने क्या करनेका निश्चय किया है ? तेरा अन्तःकरण तो लेशमात्र ज्ञानसे भी शून्य जान पड़ता है। विप्र ! तूने जिसका आश्रय लिया है, यह कौन-सा आश्रम है ? ॥ १ ॥

गृहमेधं परित्यज्य किं त्वया साधितं पदम् ।
दम्भ एव भवान् व्यक्तं शङ्के नास्त्यत्र कारणम् ॥ २ ॥

गृहस्थाश्रमको त्यागकर तूने किस अभिलषित वस्तुकी सिद्धि प्राप्त कर ली है; मुझे संदेह है कि 'तू स्पष्ट ही मूर्तिमान् दम्भ है', इसके सिवा इस त्यागमें दूसरा कोई कारण नहीं है ॥ २ ॥

लोकांश्चेमान् सदा मूढ नाशयिष्यसि निर्वृतः ।
एतान् सर्वान् विनेतासि नरके पातयिष्यसि ॥ ३ ॥

मूढ़ ! तू सदा इन सब लोगोंका नाश करेगा और इसीमें सुख मानेगा। इन सबका शिक्षक बना हुआ है, अतः अपने साथ इन्हें भी नरकमें गिरायेगा ॥ ३ ॥

स्वयं नष्टः परान् मूर्ख नाशयिष्यसि यत्नतः ।
अहो शास्ता कथं नास्ति तव मन्दमतेर्द्विज ॥ ४ ॥
सर्वथा त्वद्विनेता च पापो नास्त्यत्र संशयः ।

मूढ ब्राह्मण ! तू स्वयं तो नष्ट हो ही गया है, दूसरोंका भी यत्नपूर्वक नाश करेगा। अहो ! तुझ मन्दबुद्धि द्विजका कोई शासन क्यो नहीं करता है ? जिसने तुझे ऐसी शिक्षा दी है, वह भी सर्वथा पापी है; इसमें संशय नहीं है ॥ ४½ ॥

त्यक्त्वेममाश्रमं विप्र गृही भव यतात्मवान् ॥ ५ ॥
पञ्च यज्ञान् सदा विप्र कुरु यत्नपरो भव ।
ततः स्वर्गं परं गत्वा स्वर्गे हि सुमहत् सुखम् ॥ ६ ॥
एष श्रेयःपथो विप्र जीविते चेत् स्पृहा तव ।

विप्र ! इस आश्रमको छोड़कर गृहस्थ हो जा और मनको संयममे रख। ब्रह्मन् ! पाँच महायज्ञोंका अनुष्ठान कर और इसीके लिये निरन्तर प्रयत्नशील बना रह। तदनन्तर उत्तम स्वर्गलोकमे जाकर सुखी हो जा; क्योंकि स्वर्गलोकमें महान् सुख प्राप्त होता है। बाबाजी ! यही कल्याणका मार्ग है; यदि तुझे जीनेकी इच्छा हो तो यही कर ॥ ५—६½ ॥

इत्युक्तवन्तौ धर्मात्मा श्रुत्वा विप्रो जनार्दनः ॥ ७ ॥
उवाच च यतिं दृष्ट्वा प्रणम्यासौ सुनीतवत् ।

धर्मात्मा ब्राह्मण जनार्दनने उन दोनोंकी कही हुई ऐसी बात सुनकर यति दुर्वासाकी ओर देखा और अत्यन्त विनीतकी भाँति उनके चरणोंमें प्रणाम करके अपने मित्रोंसे कहा—॥

मा ब्रूतामीदृशं वाक्यं राजानौ मन्दतेजसौ ॥ ८ ॥
अश्राव्यमीदृशं घोरं लोकयोरुभयोरपि ।
को वक्तुमीशो मन्दात्मा यदि जीवेत् सबान्धवः ॥ ९ ॥

'राजाओ ! तुम दोनोंकी बुद्धि और तेज दोनों मन्द हो गये हैं। मित्रो ! ऐसी बात मुँहसे न निकालो। ऐसा घोर अमङ्गलकारी वचन इहलोक और परलोकमें भी सुनने योग्य नहीं

है; कौन मन्दबुद्धि मानव यदि वह बन्धु बान्धवोंसहित जीवित रहना चाहता हो तो ऐसी बात कह सकता है ? ॥ ८-९ ॥

सर्वथा काल एवायं युवयोर्मन्दचेतसोः ।
समाप्त आयुषः शेषो ब्रह्मदण्डहतौ युवाम् ॥ १० ॥

'ये महात्मा तुम दोनों मन्दबुद्धि राजाओंके लिये सर्वथा कालरूप ही हैं ! जान पड़ता है तुम्हारी शेष आयु भी आज समाप्त हो गयी । तुम दोनों ब्रह्मदण्डद्वारा मारे गये ॥ १० ॥

एते हि यतयः शुद्धा ज्ञानदीपितचेतसः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ॥ ११ ॥

'ये सब-के-सब शुद्ध हृदयवाले यति (संन्यासी) हैं। इनका अन्तःकरण ज्ञानके तेजसे प्रकाशित है । इन्होंने ज्ञानाग्निके द्वारा अपनी सारी संचित कर्मराशि दग्ध कर डाली है और ये अब अपने प्राणोंका ही प्राणस्वरूप अग्नियोंमें होम करते हैं ॥ ११ ॥

ऋते वामीदृशं वाक्यं कः समर्थो ह्यनुब्रुवन् ।
सर्वथा ज्ञातमस्माभिः समाप्तमिह जीवितम् ॥ १२ ॥

'ऐसे महात्माओंके प्रति तुम दोनोंको छोड़कर दूसरा कौन मनुष्य बारंबार ऐसी अनुचित बात कहनेमें समर्थ है ? हमने सवथा समझ लिया, तुम दोनोंकी जीवनलीला यहीं समाप्त हो गयी ॥ १२ ॥

चत्वार आश्रमाः पूर्वमृषिभिर्विहिता नृपौ ।
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः ॥ १३ ॥

'नरेश्वरो ! मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने पूर्वकालसे ही चार आश्रमोंका विधान किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं— ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक (संन्यासी) ॥ १३ ॥

तेषामग्र्यश्चतुर्थोऽयमाश्रमो भिक्षुकः स्मृतः ।
आस्ते तस्मिन् महाबुद्धिः स हि पुण्यतरः स्मृतः ॥ १४ ॥

'इनमें सबसे श्रेष्ठ यह चौथा आश्रम, जिसका नाम भिक्षु या संन्यास है, माना गया है । उस आश्रममें जिसकी महत्त्वपूर्ण बुद्धि है, वह महान् पुण्यात्मा बताया गया है ॥

नोपासिता भवद्भ्यां च वृद्धाः सम्यग् विनीतवत् ।
ज्ञानं नाप्तं तपस्विभ्यस्तथा चैवं वदेत कः ॥ १५ ॥

'तुम दोनोंने भलीभाँति विनीत पुरुषके समान कभी वृद्ध पुरुषोंकी उपासना या सेवा नहीं की है तथा तपस्वी मुनियोंसे ज्ञान नहीं प्राप्त किया है, यह बात स्पष्ट हो गयी; अन्यथा उस प्रकार सत्सङ्ग एवं ज्ञान प्राप्त करनेवाला कौन पुरुष ऐसी बात कह सकता है ? ॥ १५ ॥

अश्राव्यमीदृशं घोरं मया प्राणभृता नृप ।
किं करिष्यामि मन्दात्मन् मित्रत्वाद् भवतो नृप ॥ १६ ॥

'राजा हंस ! मैं प्राण रहते ऐसा घोर अनुचित शब्द नहीं सुन सकता; किंतु क्या करूँ ? मन्दात्मन् ! तू मेरा मित्र है, इसलिये कुछ करते नहीं बनता ॥ १६ ॥

ज्ञानं यदाप्तं भवता गुरुभ्य-
स्तदत्र दुःखाय हि केवलं नृप ।
ज्ञानं हि धर्मप्रभवं यथेष्टं
बलाद्धि पापस्य विधातृरूपम् ॥ १७ ॥

'नरेश्वर ! तूने गुरुजनोंसे जो ज्ञान प्राप्त किया था, वह तो यहाँ केवल दुःखका ही जनक हुआ । जो ज्ञान धर्माचरणसे प्राप्त होता है, वही यथेष्ट फलकी प्राप्ति करानेवाला है । बल अथवा हठसे प्राप्त किया हुआ ज्ञान तो पापका ही विधायक होता है ॥ १७ ॥

युवां विहाय यास्ये वा पतेयं वा शिलातलम् ।
पिबेयं वा विषं घोरं पतेयं वा महोर्मिषु ॥ १८ ॥

'मैं तुम दोनोंको छोड़कर चला जाऊँ, या ऊँचेसे पत्थर-पर कूद पड़ूँ अथवा घोर विष पी लूँ किंवा महासागरकी तरङ्गोंमें गिर जाऊँ ॥ १८ ॥

आत्मानं वात्र संत्यक्ष्ये पश्यतां शृण्वतां पुनः ।
इत्युक्त्वा विललापैवं मा ब्रूतमिति तौ वदन् ॥ १९ ॥

'अथवा तुम सबके देखते-सुनते आत्महत्या कर लूँ।' ऐसा कहकर जनार्दन उन दोनों राजाओंसे 'ऐसी बात न कहो, न कहो' यह कहता हुआ इस प्रकार विलाप करने लगा ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंस और डिम्भकका उपाख्यानविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

नवाधिकशततमोऽध्यायः

दुर्वासाका रोष, हंसद्वारा उनका तिरस्कार, दुर्वासाद्वारा उन दोनोंके लिये शाप और जनार्दनके लिये वरदान

वैशम्पायन उवाच

ततः क्रुद्धोऽथ दुर्वासा धक्ष्यन्निव तयोरसून् ।
एकेनाक्ष्णाथ दुर्वासा रौद्रेणाग्नियुजा सदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए दुर्वासाने सदा रौद्र अग्निसे युक्त एक नेत्रद्वारा इस प्रकार उन राजकुमारोंकी ओर देखा,

मानो उन दोनोंके प्राणोंको दग्ध कर डालेंगे ॥ १ ॥

पश्यंस्तौ च दुरात्मानौ रोषव्याकुलितेन्द्रियः ।
कुर्वन्निव तदा लोकान् भस्मभूतानिमान् नृप ॥ २ ॥

नरेश्वर ! उनकी इन्द्रियाँ रोषसे व्याकुल हो रही थीं। वे उस समय उन दुरात्मा राजकुमारोंकी ओर इस तरह देख रहे थे मानो इन सम्पूर्ण लोकोंको जलाकर भस्म कर देंगे ॥ २ ॥

ब्राह्मणं चक्षुषा पश्यन् सौम्येनान्येन केवलम् ।
उवाच वचनं राजन् ध्वंसत ध्वंसतेतरान् ॥ ३ ॥

साथ ही वे उस ब्राह्मण जनार्दनकी ओर दूसरे नेत्रसे, जो केवल सौम्यभावसे युक्त था, देख रहे थे । राजन् ! इस तरह देखते हुए वे उन राजाओंसे बोले—'अरे ! अपने स्वजनोंके पास भाग जाओ ! भाग जाओ !!' ॥ ३ ॥

इतो गच्छत राजानौ किं विलम्बत मा चिरम् ।
न वां वचनसम्भूतं रोषं धारयितुं क्षमे ॥ ४ ॥

'यहाँसे जाओ ! क्यों विलम्ब करते हो ! शीघ्र भाग जाओ ! राजाओ ! तुम दोनोंकी बातोंसे जो रोष प्रकट हुआ है, उसे मैं अपने भीतर रोक रखनेमें असमर्थ हूँ ॥ ४ ॥

अन्यथा वो महीपालान् सर्वान् दग्धुमहं क्षमः ।
किमतः साहसं वक्तुं कश्च शक्नोति मत्परः ॥ ५ ॥

'चले जाओ ! नहीं तो मैं तुम सभी भूपालोंको जलाकर भस्म कर डालनेमें समर्थ हूँ । इससे बढ़कर दुःसाहसकी बात और क्या होगी ! कौन मेरे सामने ऐसी बात कह सकता है ! ॥ ५ ॥

दर्पं वां लोकविख्यातः शङ्खचक्रगदाधरः ।
व्यपनेष्यति मन्दज्ञौ किं वां वक्ष्यामि साम्प्रतम् ॥ ६ ॥

'मन्दबुद्धि राजकुमारो ! इस समय तुम दोनोंसे क्या कहूँ ! तुम्हारे बढ़े हुए घमंडको शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले लोकविख्यात भगवान् श्रीकृष्ण चूर्ण कर देंगे' ॥ ६ ॥

तत उत्थाय धर्मात्मा गन्तुमैच्छद् यतीश्वरः ।
ततो निषेद्धुं हंसस्तं यतते स यतीश्वरम् ॥ ७ ॥

यह कहकर धर्मात्मा यतिराज दुर्वासा वहाँसे उठकर अन्यत्र जानेकी इच्छा करने लगे । तब हंस उन यतीश्वरको रोकनेका प्रयत्न करने लगा ॥ ७ ॥

तस्य बाहुं समादाय हंसो नृपवरोत्तम ।
कौपीनं चिच्छिदे क्रूरः कृतान्त इव सत्तम ॥ ८ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ जनमेजय ! साधुशिरोमणे ! कृतान्तके समान क्रूर हंसने दुर्वासाकी बाँह पकड़कर उनका कौपीन फाड़ डाला ॥ ८ ॥

यतयोऽन्ये पलायन्ति दिशो दश विचेतसः ।
कष्टं हेति वदन् विप्रो मित्रभावाज्जनार्दनः ॥ ९ ॥
न्यवारयद् यथाशक्ति किमिदं साहसं त्विति ।

यह देख दूसरे यति होश-हवास खोकर दसों दिशाओंमें भागने लगे । ब्राह्मण जनार्दन मित्रताके कारण 'हाय ! बड़े कष्टकी बात है' ऐसा कहता हुआ विलाप करने लगा । उसने यथाशक्ति रोका और कहा—'यह क्या दुःसाहस कर रहे हो ?' ॥ ९½ ॥

दुर्वासाः सत्यधर्मस्तु हन्तुमीशोऽपि तं ततः ॥ १० ॥
मन्दं मन्दमुवाचेदं हंसं डिम्भकमेव च ।

सत्यधर्मपरायण दुर्वासा उसे मार डालनेमें समर्थ होते हुए भी उस समय हंस और डिम्भकसे धीरे-धीरे इस प्रकार बोले—॥ १०½ ॥

शापेनाहं समर्थोऽपि हन्तुं राजकुलाधमौ ॥ ११ ॥
तथापि न करोम्यन्तं यतयो ह्यत्र ते वयम् ।

'राजवंशके नीच पुरुषो ! मैं शापद्वारा तुम दोनोंको मार डालनेमें समर्थ हूँ, तो भी तुम्हारा विनाश नहीं कर रहा हूँ; क्योंकि यहाँ हमलोग यतिधर्ममें प्रतिष्ठित हैं ॥ ११½ ॥

यो हि देवो जगन्नाथः केशवो यादवेश्वरः ॥ १२ ॥
शङ्खचक्रगदापाणिर्गर्वं वां व्यपनेष्यति ।

'जो सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, यदुकुलके नायक तथा हाथमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वे ही तुम दोनोंके दर्पका दलन करेंगे ॥ १२½ ॥

लोके तस्मिन् यदुश्रेष्ठे रक्षत्येवं जगत्पतौ ॥ १३ ॥
युवयोः सर्वथा जीवः सज्जीव इति मे मतिः ।

'वे यदुश्रेष्ठ जगदीश्वर जब जगत्में इस प्रकार संरक्षण-कार्य कर रहे हैं, तब तुम दोनोंका पृथक्-पृथक् जीव सर्वथा श्रेष्ठ जीव है; ऐसा मेरा विश्वास है (क्योंकि उनके हाथसे मारे जानेपर तुम दोनोंकी सद्गति होगी) ॥ १३½ ॥

जरासंधोऽपि वां बन्धुः स च वक्तुं न चेच्छति ॥ १४ ॥
ईदृशं लोकविद्विष्टं स हि धर्मपथे सदा ।

'तुम दोनोंका सहायक बन्धु जरासंध भी कभी ऐसी लोकनिन्दित बात मुँहसे नहीं निकालना चाहता है । वह सदा धर्मके मार्गपर स्थित रहता है ॥ १४½ ॥

एतावता स वां बन्धुर्न हि भूयो भविष्यति ॥ १५ ॥
विद्वेषो ह्यस्तु वां तस्य मागधस्य महीपतेः ।

'तुम्हारे इस अपराधके कारण जरासंध अब फिर तुम्हारा बन्धु नहीं रह जायगा । उस मगधनरेशके साथ तुम्हारा विद्वेष हो जायगा ॥ १५½ ॥

श्रुत्वेदं घोररूपं तु स हि बन्धुः सहेत चेत् ॥ १६ ॥
धर्मनाशो भवेत् तस्य नात्र कार्या विचारणा ।

'यदि तुम्हारे इस भयंकर अपराधको सुनकर भी वह बन्धुभावसे चुपचाप सह लेगा तो उसके भी धर्मका नाश हो जायगा । इसमें अन्यथा विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है' ॥ १६½ ॥

इत्युक्त्वा गच्छ गच्छेति हंसं प्राह पुनः पुनः॥ १७॥
जनार्दनमुवाचेदं दुर्वासा यतिसत्तमः।
स्वस्त्यस्तु तव विप्रेन्द्र भक्तिरस्तु जनार्दने ॥ १८॥
संसृतिस्तव तस्यास्तु शङ्खचक्रगदाभृतः।
अद्य श्वो वा परश्वो वा साधुरेव सदा भवान् ॥ १९॥

ऐसा कहकर दुर्वासाने पुनः हंससे बारंबार कहा—'चले जाओ! चले जाओ!!' तदनन्तर यतिश्रेष्ठ दुर्वासा जनार्दनसे इस प्रकार बोले—'विप्रवर! तुम्हारा कल्याण हो! भगवान् जनार्दनमें तुम्हारी भक्ति बनी रहे। शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले उन भगवान्‌के साथ आज, कल या परसोंतक तुम्हारा समागम होगा। तुम सदा साधुस्वभावके ही बने रहोगे॥ १७-१९॥

न हि साधोर्विनाशोऽस्ति लोकयोरुभयोरपि।
गच्छ सर्वं पितुर्ब्रूहि ज्ञात्वा वृत्तं यथाखिलम्॥ २०॥

'साधु पुरुषका दोनों लोकोंमें कभी विनाश नहीं होता। जाओ, सारी बातें जानकर अपने पिताको बताओ'॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने दुर्वासोभाषणे नवाधिकशततमोऽध्यायः॥१०९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंस-डिम्भकोपाख्यानके प्रसंगमें दुर्वासाका भाषणविषयक एक सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०९॥

दशाधिकशततमोऽध्यायः

दुर्वासा आदि मुनियोंका द्वारकागमन

वैशम्पायन उवाच

ततस्तौ हंसडिम्भकौ क्रुद्धौ कालेन चोदितौ।
शिक्यं कमण्डलुं चैव द्विदलं दारुमेव च॥ १॥
दण्डान् पात्रविशेषांश्च छित्त्वा भित्त्वा च सर्वशः।
तस्मिन् देशे महाराज व्याधैर्मांसान्यदीदहन्॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! तदनन्तर कालसे प्रेरित हो क्रोधमें भरे हुए हंस और डिम्भकने उन यतियोंके छींके, कमण्डलु, दो दलोंसे युक्त काष्ठमय भोजनपात्र, दण्ड और दूसरे-दूसरे विभिन्न पात्रोंको तोड़-फोड़कर उसी स्थानमें व्याधोंद्वारा मांस पकवाये॥ १-२॥

भक्षयित्वा ततो देशात् स्वपुरीं तौ प्रजग्मतुः।
जनार्दनश्च धर्मात्मा स्नेहादनुययौ तयोः॥ ३॥

उन्हें खाकर वे दोनों उस स्थानसे अपने नगरको गये। धर्मात्मा जनार्दन भी स्नेहवश उन दोनोंका अनुसरण करता रहा॥ ३॥

नष्टाविमाविति तदा स मेने दुःखितः परम्।

उसने अत्यन्त दुःखित होकर यह विश्वास कर लिया कि अब इन दोनोंके नष्ट होनेमें कोई संदेह नहीं है॥ ३½॥

गतेषु तेषु सर्वेषु दुर्वासा यतिसत्तमः॥ ४॥
पलायनपरान् सर्वानिदं प्राह यतीश्वरान्।

उन सबके चले जानेपर यतियोंमें श्रेष्ठ दुर्वासाने वहाँसे पलायन करनेवाले समस्त यतीश्वरोंसे इस प्रकार कहा—॥४½॥

इतो देशाद् विनिर्गत्य पुष्करात् पुण्यसंयुतात्॥ ५॥
मन्दं मन्दं समाश्वस्य विश्रम्य च ततस्ततः।
प्रविश्य द्वारकां देवं शङ्खचक्रगदाधरम्॥ ६॥
दृष्ट्वा च तस्मै प्रभवे वक्ष्यामो यतिसत्तमाः।

'यतिवरो! इस पुण्ययुक्त देश पुष्करसे निकलकर धीरे-धीरे सुस्ताते और यत्र-तत्र विश्राम करते हुए द्वारकापुरीमें प्रवेश करके हमलोग शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णसे मिलेंगे और उनसे अपनी सारी कष्ट-कथा कहेंगे॥ ५-६½॥

स हि रक्षञ्जगदिदं धर्मवर्त्मनि संस्थितः॥ ७॥
आद्यो लोकगुरुर्विष्णुर्यतात्मा तत्त्ववित्प्रियः।
उद्धृत्य कण्टकान् सर्वाञ्छशास पृथिवीमिमाम्॥ ८॥

'वे इस सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा करते हुए धर्मके मार्गपर स्थित हैं। वे ही आदिपुरुष, लोकगुरु, सर्वव्यापी, मनको वशमें रखनेवाले और तत्त्ववेत्ताओंके प्रिय हैं। उन्होंने सारे कण्टकोंका उन्मूलन करके इस पृथ्वीका शासन किया है॥७-८॥

स च पापान् महाघोरान् सर्वान् पापकृतान् प्रभुः।
रक्षेन्नः सकलान् सर्वाञ्ज्ञानेषु नियतात्मनः॥ ९॥

'वे ही प्रभु समस्त महाभयंकर, पापजन्मा पापियोंका उच्छेद करके अमानित्व और अदम्भित्व आदि ज्ञानसाधनोंमें नियतरूपसे मन लगानेवाले हम सम्पूर्ण यतियोंकी रक्षा करेंगे॥ ९॥

इदमद्य क्षमं विप्रा यानमद्य विधीयताम्।
साहसं यत्कृतं ताभ्यां पात्रभेदादि सत्तमाः॥ १०॥
एतत् सर्वमशेषेण दर्शयाम जनार्दनम्।

'ब्राह्मणो! इस समय यही हमारे योग्य है; अतः अब द्वारकाकी यात्रा करो। साधुशिरोमणियो! हंस और डिम्भकने जो हमारे पात्रोंके तोड़ने-फोड़ने आदिका दुःसाहस किया है, ये सारी वस्तुएँ हमलोग भगवान् जनार्दनको दिखायें'॥१०½॥

तथेति ते प्रतिज्ञाय यतयो ज्ञानचक्षुषः॥ ११॥
छिन्नं ताभ्यां समादाय शिक्यं दारुमयं तथा।
द्विदलं कर्पटं चैव कौपीनमथ वल्कलम्॥ १२॥
कमण्डलुं तथा राजन्नर्धप्रोतकपालकम्।
एतानन्यान् समादाय द्रष्टुं केशवमाययुः॥ १३॥

मध्यंदिने महाविष्णुः शैनेयेन सहाच्युतः।
विक्रीड्य सुचिरं कृष्ण उपारंसीत् स यादवः ॥ ८ ॥

उस दिन दोपहरके समय महाविष्णुस्वरूप अच्युत श्रीकृष्ण सात्यकिके साथ देरतक गोलक्रीड़ा करके यादवोंसहित उससे विरत हो गये ॥ ८ ॥

द्वाःस्थेन वारिताः पूर्वं द्वार्येव च समास्थिताः।
इदमन्तरमित्येव विविशुस्तां सभां नृप ॥ ९ ॥

राजन्! जिन्हें द्वारपालने पहले भीतर आनेसे रोक दिया था और द्वारपर ही आदरपूर्वक बिठा रखा था, वे मुनि 'यह भीतर प्रवेश करनेका अवसर है' ऐसा जानकर उस समय उस सभामें प्रविष्ट हुए ॥ ९ ॥

यतयो दीर्घतपसः पुरस्कृत्य तपोधनम्।
दुर्वाससं सुमनसो ददृशुर्यादवेश्वरम् ॥ १० ॥
गोलक्रीडासमासक्तं करसंस्थितगोलकम्।
पद्मपत्रविशालाक्षं विष्णुं तं सात्यकिं हरिम् ॥ ११ ॥
एकेनाक्ष्णा ह्लादयन्तं परेणान्येन गोलकम्।
यतयश्च महाराज प्रत्यदृश्यन्त तत्पुरः ॥ १२ ॥

दीर्घकालसे तपस्या करनेवाले उन शुद्धचेता यतियोंने तपोधन दुर्वासाको आगे करके यादवेश्वर श्रीकृष्णका दर्शन किया, जो पहले गोलक्रीड़ामें आसक्त थे और उस समय भी जिनके हाथमें गोल मौजूद था। वे प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल नेत्रवाले श्रीविष्णु हरि एक नेत्रसे सात्यकिको आनन्द प्रदान करते थे और दूसरेसे उस गोलकी ओर देख रहे थे। महाराज! इसी समय वे यति उनके सामने दिखायी दिये ॥ १०—१२ ॥

वृष्णिपः पुण्डरीकाक्षः सात्यकिर्बलभद्रकः।
वसुदेवो नथाक्रूर उग्रसेनस्तथा नृप ॥ १३ ॥
अन्ये च यादवाः सर्वे सम्भ्रमं प्रतिपेदिरे।
इदं किमिदमित्येवं व्याशङ्कमनसोऽभवन् ॥ १४ ॥

वृष्णिपालक कमलनयन श्रीकृष्ण सात्यकि, बलभद्र, वसुदेव, अक्रूर, उग्रसेन तथा अन्य सब यादव उन यतियोंको देखकर बड़ी घबराहटमें पड़ गये और शङ्कितचित्त होकर एक दूसरेसे पूछने लगे—'यह क्या है! कैसी बात है!' ॥

पृष्ठतोऽप्यनुगच्छन्ति दिधक्षन्तं जगत्त्रयम्।
अर्धकौपीनवसनं सरन्तं कमपि द्विजम् ॥ १५ ॥
अन्तस्तापसमायुक्तं छिन्नदण्डधरं यतिम्।

बड़ा संताप था। उन्होंने टूटा हुआ दण्ड धारण कर रखा था। राजा हंसने उन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया था, अतः वे भीतर ही-भीतर रोषसे जल रहे थे। उनके नेत्रसे महाभयंकर अग्नि प्रकट हो रही थी। वे यादवेश्वर श्रीकृष्णकी ओर देख रहे थे। इस अवस्थामें संन्यासी दुर्वासाको उन यादवशिरोमणियोंने भयभीत होकर देखा ॥ १५—१७ ॥

किं करिष्यत्यसौ क्रुद्धः किं वा वक्ष्यति नः प्रभुः।
इति प्राञ्जलयः सर्वे यादवाः प्रतिपेदिरे ॥ १८ ॥
इदमासनमित्येवं किंचिदूचुश्च वृष्णयः।

वे मन-ही-मन सोचने लगे—'पता नहीं, यह कुपित होकर क्या करेंगे? और हमारे स्वामी श्रीकृष्ण इनसे क्या कहेंगे।' ऐसा विचार करते हुए वे समस्त यादव और वृष्णिवंशी हाथ जोड़कर उनकी सेवामें उपस्थित हुए और कुछ मन्द स्वरमें बोले—'भगवन्! आपके लिये यह आसन है' ॥ १८½ ॥

ततः कृष्णो हृषीकेशः किंचिदुत्प्लुत्य तत्पुरः ॥ १९ ॥
इदमासनमित्येवं स्थीयतामिह निर्वृतः।
अहमद्य स्थितो विप्र किंकरोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥ २० ॥

इसी समय इन्द्रियोंके नियन्ता भगवान् श्रीकृष्ण कुछ उछलकर दुर्वासाके आगे चले आये और बोले—'विप्रवर! यह आसन है, इसपर सुखपूर्वक बैठिये। आज मैं आपकी सेवामें खड़ा हूँ, मैं आपका किङ्कर हूँ' ॥ १९-२० ॥

ततः किंचिदिवासीन आसने यतिविग्रहः।
आसने संस्थिते तस्मिन् यतयो वीतमत्सराः ॥ २१ ॥
आसनानि यथायोगं भेजिरे निर्वृताः किल।

तब वे संन्यासीरूपधारी दुर्वासा उस आसनपर कुछ बैठ-से गये। उनके आसन ग्रहण कर लेनेपर अन्य मात्सर्यरहित संन्यासियोंने भी संतोषपूर्वक यथायोग्य आसन स्वीकार किये ॥ २१½ ॥

अर्घ्यादिसमुदाचारं चक्रे कृष्णः किरीटभृत् ॥ २२ ॥
आह भूयो हृषीकेशो यतिं दुर्वाससं प्रभुम्।

किरीटधारी श्रीकृष्णने अर्घ्य आदिके क्रमसे उनका उत्तम आतिथ्य-सत्कार किया, फिर वे भगवान् हृषीकेश उन प्रभावशाली यति दुर्वासासे इस प्रकार बोले—॥ २२½ ॥

किमर्थं ब्रूहि विप्रेन्द्र अस्मिन् प्रत्यागमो हि वः ॥ २३ ॥
दृष्टं वा ह्यथवा किंचित् कारणं चास्ति वो महत्।

'विप्रवर! बताइये, इस नगरमें आपलोगोंका शुभागमन किस लिये हुआ है? अथवा आपलोगोंको यहाँ आनेमें कोई महान् कारण दिखायी दिया है? ॥ २३½ ॥

संन्यासिनो द्विजश्रेष्ठा यूयं विगतकल्मषाः ॥ २४ ॥
सदा यूयमसक्ता द्विजपुङ्गवाः।

'आपलोग द्विजोंमें श्रेष्ठ एवं निष्पाप संन्यासी हैं;

तब 'बहुत अच्छा' कहकर वे सब ज्ञानदर्शी संन्यासी हंस और डिम्भकद्वारा छिन्न-भिन्न किये गये छींके, लकड़ीके बने हुए द्विदल (दो दलोंसे युक्त भोजन-पात्र, जो गौके कानकी-सी आकृतिका बना होता है), गेरुए वस्त्र, कौपीन, वल्कल तथा कमण्डलुका आधा टुकड़ा (जो पूरे कमण्डलुको बीचसे चीर डालनेके कारण दो खण्डोंमें विभक्त हो गया था)—इन सबको तथा अन्य सब तोड़ी-फोड़ी गयी वस्तुओंको साथ लेकर भगवान् श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये आये ॥११-१३॥

पञ्च चैव सहस्राणि पुरस्कृत्य महामुनिम्।
दुर्वाससं तपोयोनिमीश्वरस्यात्मसम्भवम् ॥ १४ ॥
अहोरात्रेण ते सर्वे द्वारकां कृष्णपालिताम्।
ययुर्दान्ता महात्मानो लोमशाः केशवर्जिताः ॥ १५ ॥

उनकी संख्या पाँच हजार थी, वे जितेन्द्रिय महात्मा सिरके केश मुड़ाये रहते थे और उनके शेष शरीर रोमावलियोंसे युक्त थे। वे यतिगण भगवान् शङ्करके अंशसे उत्पन्न हुए तपोयोनि महामुनि दुर्वासाको आगे करके दिन-रात चलते हुए श्रीकृष्णपालित द्वारकापुरीमें जा पहुँचे ॥१४-१५॥

प्रातः प्रविश्य राजेन्द्र वापिकायां यतीश्वराः।
स्नात्वोपस्पृश्य ते सर्वे यत्नेन महता तदा ॥ १६ ॥
द्रष्टुमभ्युद्यता विष्णुं कण्टकोद्धतितत्परम्।
एकरूपं समास्थाय सुधर्मायामवस्थितम् ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! प्रातःकाल पुरीमें प्रवेश करके वे यतीश्वरगण वहाँकी एक बावड़ीमें स्नान और आचमन करके बड़े प्रयत्नसे उन भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये उद्यत हुए, जो एकरूप धारण करके सुधर्मा-सभामें विराजमान हो जगत्के कण्टकोंको उखाड़ फेंकनेके प्रयत्नमें लगे हुए थे ॥ १६-१७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने यतीनां द्वारकागमने दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानके प्रसंगमें यतियोंका द्वारकागमनविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी गोलक्रीडा, सुधर्मा-सभामें दुर्वासा आदि मुनियोंका आगमन तथा यादवों और श्रीकृष्णद्वारा उनका सत्कार, श्रीकृष्णका उनसे वहाँ आनेका कारण पूछना और दुर्वासाका भगवान्की स्तुति एवं उपालम्भपूर्वक उनके प्रश्नका प्रतिवाद करके अपनी दुर्दशाका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

अथ सर्वेश्वरो विष्णुः पद्मकिंजल्कलोचनः।
श्यामः पीताम्बरः श्रीमान् प्रलम्बाम्बरभूषणः ॥ १ ॥
किरीटी श्रीपतिः कृष्णो नीलकुञ्चितमूर्धजः।
अव्यक्तः शाश्वतो देवः सकलो निष्कलः शिवः ॥ २ ॥
क्रीडाविहारोपगतः कदाचिदभवद्धरिः।
कुमारैरपरैः सार्धं सात्यकिप्रमुखैर्नृप ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरेश्वर ! जो सबके ईश्वर और सर्वव्यापी हैं, जिनके नेत्र कमलदलके समान सुन्दर हैं, जो श्यामसुन्दर, पीताम्बरधारी, श्रीसम्पन्न, लटकते हुए लंबे वस्त्रों और आभूषणोंसे विभूषित, मुकुट-मण्डित और लक्ष्मीके अधिपति हैं, जिनके मस्तकपर काले-काले घुँघराले केश शोभा पाते हैं, जो अव्यक्त, सनातनदेव, सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त, कलातीत एवं कल्याणमय हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण किसी समय सात्यकि आदि अन्य कुमारोंके साथ क्रीडा-विहारमें लगे हुए थे ॥ १—३ ॥

गोलक्रीडां सुधर्मायां मध्ये यादवसत्तमः।
चकार प्रियकृत् कृष्णो युयुधानेन केशवः ॥ ४ ॥

सुधर्मा-सभाके मध्यभागमें विराजमान हो सबका प्रिय करनेवाले यादवशिरोमणि केशव कृष्ण सात्यकिके साथ गोल-क्रीड़ा कर रहे थे ॥ ४ ॥

ममायं प्रथमो गोलस्तव पश्चाद् भविष्यति।
इति ब्रुवंस्तदा विष्णुः सात्यकिं कमलेक्षणः ॥ ५ ॥

उस समय कमलनयन श्रीकृष्ण सात्यकिसे यह कह रहे थे कि 'यह पहला गोल मेरा है, तुम्हारा पीछे होगा' ॥

पार्श्वस्था यादवास्तस्य वसुदेवपुरोगमाः।
उद्धवप्रमुखा राजन्नासेदुः क्वचिदत्र वै ॥ ६ ॥

राजन् ! उनके पार्श्वभागमें वसुदेव तथा उद्धव आदि प्रमुख यादव यथोचित स्थानपर बैठे थे ॥ ६ ॥

अन्यव्यापाररहितो भूतात्मा भूतभावनः।
विजहार यथा रामः सुग्रीवेण पुरा नृप ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! जैसे पूर्वकालमें भगवान् श्रीराम अपने सखा सुग्रीवके साथ क्रीड़ा-विहार करते थे, उसी प्रकार जब दूसरा व्यापार (कार्य) नहीं रहता, तब भूतात्मा भूतभावन भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने सुहृदोंके साथ मनोरञ्जन करते थे ॥ ७ ॥

विप्रवरो ! आपलोग हम-जैसे गृहस्थोंसे सदा निःस्पृह रहते हैं ॥ २४½ ॥

प्रार्थ्यं नाम न चैवास्ति स्पृहा नैवास्ति वो यतः॥ २५ ॥
स्पृहाप्रेरितकर्माणः क्षत्रियान् यान्ति सुव्रताः ।

'आपके लिये कोई प्रार्थनीय वस्तु ही नहीं है; क्योंकि आपलोगोंके हृदयमें किसी वस्तुकी कामना ही नहीं होती है। जो लोग किसी स्पृहासे प्रेरित होकर कर्म करनेवाले हैं वे उत्तम व्रतधारी ब्राह्मण अपनी अभीष्ट वस्तु माँगनेके लिये क्षत्रियोंके पास जाते हैं ॥ २५½ ॥

निरूप्यमाणमस्माभिर्विप्र किंचिन्न दृश्यते ॥ २६ ॥
न जाने कारणं ब्रह्मन् युष्मदागमनं प्रति ।

'किंतु विप्रवर ! हमारे बहुत सोचने-विचारनेपर भी कोई ऐसी बात दिखायी नहीं देती, जिसके लिये आपलोगोंका यहाँतक आना सम्भव हो। ब्रह्मन् ! फिर आपके आगमनका क्या कारण है। यह मेरी समझमें नहीं आता ॥ २६½ ॥

एतावता चानुमेयं किंचित्कारणमस्ति वै ॥ २७ ॥
तद् ब्रूहि यदि विद्येत त्वत्तो ज्ञास्यामहे वयम् ।

'आप यहाँतक पधारे हैं, इतनेसे ही यह अनुमान होता है कि आपके शुभागमनका कोई-न-कोई कारण अवश्य है। यदि है तो आप उसे बताइये। हम आपसे ही उसका ज्ञान प्राप्त करेंगे' ॥ २७½ ॥

इत्युक्तवति देवेशे चक्रपाणौ जनार्दने ॥ २८ ॥
तस्यापि राजन् विप्रस्य भूयः कोपो महानभूत् ।

राजन् ! देवेश्वर चक्रपाणि जनार्दनके ऐसा कहनेपर उन ब्राह्मण दुर्वासाका महान् कोप और भी बढ़ गया ॥ २८½ ॥

तस्मादभ्यधिकः पूर्वात् कोपः संजायते महान् ॥२९ ॥
दिधक्षन्निव लोकांस्त्रीन् भक्षयन्निव पश्यतः ।

पहलेका जो क्रोध था, उससे अधिक और महान् कोप प्रकट होने लगा, मानो वे तीनों लोकोंको जला देना और अपनी ओर देखनेवाले लोगोंको खा जाना चाहते हों ॥२९½॥

रोषरक्तेक्षणः क्रुद्धो हसन्निव दहन्निव ॥ ३० ॥
उवाच वचनं विष्णुं दुर्वासा क्रोधमूर्च्छितः ।

क्रोधसे मूर्च्छित हुए दुर्वासा रोषसे लाल आँखें करके क्रोधपूर्वक हँसते और जलाते हुए-से उस समय श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥ ३०½ ॥

न जाने इति कस्मात् त्वं ब्रूषे नो यादवेश्वर ॥ ३१ ॥
जानामि त्वां महादेवं वञ्चयन्निव भाषसे ।

'यादवेश्वर ! आप हमसे ऐसी बात क्यों कहते हैं कि आपके आगमनका कारण मेरी समझमें नहीं आता ? मैं आपको जानता हूँ। आप महान् देव विष्णु हैं; फिर भी हमें ठगते हुए-से बात करते हैं ॥ ३१½ ॥

पुरातना वयं विष्णो पूर्ववृत्तान्तवेदिनः ॥ ३२ ॥
यथा हि देवदेवोऽसि मायामानुषदेहवान् ।
निगूहसे प्रभुरतः कस्मान्नो जगतीपते ॥ ३३ ॥

'विष्णो ! हम बहुत पुराने हैं और पूर्वकालके वृत्तान्तोंको जानते हैं, जिसके अनुसार हम कहते हैं कि आप देवताओंके भी देवता हैं और आपने मायासे मानवशरीर धारण किया है। जगदीश्वर ! अतः आप हमारे स्वामी होकर हमसे अपने-आपको क्यों छिपा रहे हैं ? ॥ ३२-३३ ॥

सोऽसि ब्रह्मविदां मूर्तिस्त्वमेवैतत् परमं पदम् ।
यदभ्यर्च्य पुरा ब्रह्मा यच्च ज्ञाना वयं पुरा ॥ ३४ ॥

'आप ही ब्रह्मवेत्ताओंके आत्मा हैं। यह परमपद आपका ही स्वरूप है, पूर्वकालमें जिसकी आराधना करके ब्रह्माजी ज्ञानवान् हुए और हम भी जिसकी उपासना करके ज्ञानी हुए हैं ॥ ३४ ॥

यतो विश्वमिदं भूतं तदेतत् परमं पदम् ।
यच्च स्थूलं विजानन्ति पुरा तत्त्वेन चेतसा ॥ ३५ ॥
पुराविदोऽथ विश्वेश यदेतत् परमं वपुः ।

'जिससे यह सम्पूर्ण जगत् प्रकट हुआ है, वही आपका यह परम-पद है। विश्वेश्वर ! जिसे पूर्वकालमें पुराणवेत्ता पुरुष तत्त्वनिष्ठ चित्तसे स्थूल (विराट्) रूपसे जानते थे, यह भी आपका ही सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है ॥ ३५½ ॥

कर्मणा प्राप्यते यत् तु यत् स्मृत्वा निर्वृता वयम् ॥ ३६ ॥
प्रत्यक्षमपि यद्रूपं नैव जानन्ति मानुषाः ।
न हि मूढधियो देव न वयं तादृशा हरे ॥ ३७ ॥
न जाने इति यद् ब्रूषे किमतः साहसं वचः ।

'जो भगवदर्थ कर्म (भगवान्‌के समर्पणपूर्वक किये गये यज्ञ आदिके अनुष्ठान अथवा भजन साधन) से प्राप्त होता है, जिसका स्मरण करके हम वीतराग संन्यासी भी परमानन्दमें निमग्न हो जाते हैं तथा प्रेमी भक्तोंको जिसका प्रत्यक्ष दर्शन होता है, आपके उस सगुण-साकार (सच्चिदानन्दघन) विग्रहको मूढ-बुद्धि मनुष्य नहीं जानते हैं। देव ! हरे ! हम वैसे (अज्ञानी) नहीं हैं (हम आपको जानते और पहचानते हैं) । अतः आप हमारे सामने जो यह कहते हैं कि 'हम आपके आनेका कारण नहीं जानते हैं,' इससे अधिक साहसपूर्ण बात और क्या हो सकती है ? ॥ ३६-३७½ ॥

ये हि मूलं विजानन्ति तेषां तु प्रविवेचनम् ॥ ३८ ॥
कुर्वतः किं फलं देव तव केशिनिषूदन ।

'देव ! केशिनिषूदन ! जो जड-मूलकी बातें जानते हैं, उनके सामने इस प्रकार ऊपर-ऊपरकी बातोंका विवेचन करनेसे आपको क्या लाभ होगा ? ॥ ३८½ ॥

वेदान्ते प्रथितं तेजस्तव चेदं विचार्यते ॥ ३९ ॥
ये च विज्ञानतृप्तास्तु योगिनो वीतकल्मषाः ।
पश्यन्ति हृत्सरोजेऽपि तदेवेदं वपुः प्रभो ॥ ४० ॥

'वेदान्त-शास्त्र (उपनिषद् आदि) में भी आपके इसी विख्यात तेजोमय स्वरूपका ब्रह्म आदि नामोंसे विचार किया

सोचते हैं कि हमारा भाग्य ही नष्ट हो गया है। प्रभो ! विष्णो ! हमलोग बड़े भाग्यहीन हैं, क्योंकि आप हमारा स्मरण नहीं करते हैं ॥ ५६½ ॥

कौचित् क्षत्रियदायादौ गिरीशवरगर्वितौ ॥ ५७ ॥
नाम्ना च हंसडिम्भकौ बाधेते नो जनार्दन ।
गार्हस्थ्यं हि सदा श्रेयो वदन्ताविति केशव ॥ ५८ ॥

'जनार्दन ! कोई दो क्षत्रियकुमार हैं, जो भगवान् शङ्करका वर पाकर घमंडमें भर गये हैं। उन दोनोंके नाम हंस और डिम्भक हैं। केशव ! वे दोनों यह कहते हुए कि गृहस्थ आश्रम ही सदा श्रेयस्कर है, हमें सताने लगे हैं ॥

इतस्ततश्च धावन्तौ वदन्तौ बहु किल्बिषम् ।
अयुक्तं बहु भाषन्तौ धर्षयन्तौ च नः सदा ॥ ५९ ॥

'वे इधर-उधर दौड़ते, बहुत-सी पापपूर्ण बातें मुँहसे निकालते और बहुत-सा अनुचित भाषण करते हुए सदा हमारा तिरस्कार करते हैं ॥ ५९ ॥

इदमन्यत् कृतं देव असह्यं पापमुच्यते ।
पश्येदं बहुधा देव भिन्नं भिन्नं सहस्रशः ॥ ६० ॥
शाक्यं च दारवं पात्रं द्विदलान् वेणुकान् बहून् ।

'देव ! उन दोनोंने जो दूसरा असह्य अपराध किया है, उसे बताया जाता है—देखिये ! ये जो हमारे सहस्रों छींके, लकड़ीके पात्र, द्विदल और बहुत-से बाँसके पिटारे आदि हैं, इन सबके उन्होंने अनेकानेक टुकड़े कर डाले हैं ॥ ६०½ ॥

इदमप्यपरं पश्य तयोः साहसचेष्टितम् ॥ ६१ ॥
कौपीनं बहुधा छिन्नं तदस्माकं महद्धनम् ।

'उन दोनोंकी यह दूसरी दुःसाहसपूर्ण चेष्टा देखिये—हमारा जो कौपीन था, उसके भी उन्होंने चीथड़े-चीथड़े कर डाले हैं; वह कौपीन ही हमारा महान् धन है ॥ ६१½ ॥

कृतं कपालमात्रेण कमण्डलु जगत्प्रभो ॥ ६२ ॥
त्वं तु नो रक्षसे नित्यं क्षात्रं वै व्रतमास्थितः ।
चित्रं चित्रमिदं देव रक्षस्यसि सदानिशम् ॥ ६३ ॥

'जगदीश्वर ! उन्होंने हमारे कमण्डलुको भी तोड़-फोड़कर कपाल (खपड़े या खप्पर) का रूप दे दिया है। आप क्षत्रियधर्मका आश्रय लेकर सदा हम सबकी रक्षा करते हैं, तो भी हमारी यह दशा हो गयी। देव ! यह बड़ी विचित्र और अद्भुत बात है। आप निरन्तर रक्षा करते हैं और सदा सर्वत्र विद्यमान भी हैं तो भी हमारी रक्षा न हो सकी ॥

किं करिष्यामि मन्दात्मा मन्दभाग्या वयं विभो ।
किं नः शरणमद्यैव तद् ब्रूहि जगतां पते ॥ ६४ ॥

'प्रभो ! मेरी बुद्धि मन्द है। मैं क्या करूँ ? हम सब लोग बड़े भाग्यहीन हैं। जगत्पते ! इस समय हम किसकी शरणमें जायँ, यह बताइये ॥ ६४ ॥

जीवन्तौ तौ यदि स्यातां नष्टा लोका इमे त्रयः ।
न विप्रा न च राजानो न वैश्या न च पादजाः ॥ ६५ ॥

'यदि वे दोनों जीवित रह गये तो ये तीनों लोक नष्ट हो जायँगे। न ब्राह्मण बचेंगे न क्षत्रिय, न वैश्य रह जायँगे और न शूद्र ॥ ६५ ॥

अत्यन्तबलिनौ मत्तौ तीक्ष्णदण्डधरौ नृप ।
न तयोः पुरतः स्थातुं शक्ता देवाः सवासवाः ॥ ६६ ॥

'नरेश्वर ! वे दोनों अत्यन्त बलवान्, मदमत्त और कठोर दण्ड धारण करनेवाले हैं; उन दोनोंके सामने इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी टिक नहीं सकते ॥ ६६ ॥

न च भीष्मो न वा राजा वाह्लीको भीमविक्रमः ।
यो हि वीरो जरासंधः क्षत्रियाणां भयंकरः ॥ ६७ ॥
नैव च प्रायशः स्थातुं गिरीशवरदर्पिणोः ।
तयोः कृष्ण हरे शक्तो नित्यमप्रतिसङ्गिनोः ॥ ६८ ॥

'न भीष्म और न भयंकर पराक्रमी राजा बाह्लीक ही उन दोनोंका सामना कर सकते हैं। श्रीकृष्ण ! हरे ! क्षत्रियोंके लिये भयंकर जो वीर जरासंध है, वह भी प्रायः उन दोनोंके सामने नहीं ठहर सकता; क्योंकि भगवान् शङ्करके वरदानसे उनका गर्व बहुत बढ़ गया है। वे सदा एक दूसरेके साथ रहते हैं। उनमें कभी पार्थक्य अथवा विरोध नहीं होता ॥ ६७–६८ ॥

तस्मात् त्वं जहि तौ वीरौ रक्ष लोकानिमान् प्रभो ।
अन्यथा रक्षसीत्येवं व्यर्थः शब्दोऽत्र जायते ॥ ६९ ॥

'प्रभो ! इसलिये आप ही उन दोनों वीरोंका वध कीजिये और इन तीनों लोकोंको विनाशसे बचाइये; अन्यथा 'आप रक्षा करते हैं' यह कथन यहाँ व्यर्थ हो रहा है ॥ ६९ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन रक्ष रक्ष जगत्त्रयम् ।
इत्युक्त्वा विरराभैव दुर्वासाः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ७० ॥

'यहाँ अधिक कहनेसे क्या लाभ ? आप तीनों लोकोंकी रक्षा कीजिये ! रक्षा कीजिये !!' ऐसा कहकर क्रोधसे मूर्च्छित हुए दुर्वासा चुप हो गये ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने दुर्वासःसमागमे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें श्रीकृष्ण और दुर्वासाका समागमविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

जाता है। प्रभो ! जो विज्ञानसे तृप्त निष्पाप योगी जन हैं, वे भी अपने हृदयकमलमें आपके इसी स्वरूपका दर्शन करते हैं ॥ ३९-४० ॥

वेदैर्यद् गीयते तेजो ब्रह्मेति प्रतिपाद्य वै।
तदेवेदं विजानेऽहं रूपमैश्वरमेव च ॥ ४१ ॥

'वेदोंद्वारा ब्रह्म कहकर जिस तेजोमय परमतत्त्वका गान किया जाता है, आपका यह ऐश्वर्यशाली रूप वही है(उस परब्रह्मसे अभिन्न ही है), ऐसा मैं जानता हूँ ॥ ४१ ॥

वैष्णवं परमं तेज इति वेदेषु पठ्यते।
अवगच्छाम्यहं विष्णो तदेवेदं वपुस्तव ॥ ४२ ॥

'विष्णो ! वेदोंमें 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादिरूपसे विष्णुके जिस परम तेजोमय तत्त्वका प्रतिपादन किया जाता है, वही आपका यह स्वरूप है—यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ ॥ ४२ ॥

य ओमित्युच्यते शब्दो यस्य वागिति गीयते।
स एवासि प्रभो विष्णो न जाने इति मा वद ॥ ४३ ॥

'प्रभो ! विष्णो ! जिस ॐ शब्दका उच्चारण होता है, वह जिनकी वाणीके रूपमें गाया जाता है, वे ही परमात्मा आप हैं; अतः आप यह न कहिये कि मैं आपके आनेका कारण नहीं जानता ॥ ४३ ॥

परोक्षं यदि किंचित् स्यात् तव वक्तुं प्रयुज्यते।
न जाने इति गोविन्द मा वादीः साहसं हरे ॥ ४४ ॥

'गोविन्द ! हरे ! यदि आपके लिये कोई भी वस्तु परोक्ष होती तो आपका ऐसा कहना उचित हो सकता था; अतः 'मैं नहीं जानता' यह साहसपूर्ण वचन आप मत कहिये ॥

विश्वं यतः प्रादुरासीद् यस्मिँल्लीनं क्षये सति।
इदं तदैश्वरं तेजस्त्वधगच्छामि केशव ॥ ४५ ॥

'केशव ! पूर्वकालमें यह विश्व जिससे प्रकट हुआ था और संहारकालमें यह फिर जिसमें लीन हो जायगा, वही आपका यह ईश्वरीय तेजोमय विग्रह है, ऐसा मैं जानता हूँ ॥

कर्ता त्वं भूतभव्येश प्रतिभासि सदा हृदि।
यद् यद् रूपं स्मरे नित्यं तत् तदेवासि मे हृदि ॥ ४६ ॥

'भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी हरे ! आप ही सबके कर्ता हैं और सदा मेरे हृदयमें प्रकाशित होते रहते हैं। मैं जिस-जिस रूपका स्मरण करता हूँ, आप सदा उसी-उसी रूपसे मेरे हृदयमें विद्यमान हैं ॥ ४६ ॥

वायुरेव यदा विष्णुरिति मे धीयते मतिः।
तदा तद्रूप एवासि हृन्मध्ये संस्थितो विभो ॥ ४७ ॥

'विभो ! जब मेरी बुद्धि ऐसा निश्चय करती है कि वायु भी विष्णु हैं, तब आप वायुरूपसे ही मेरे हृदयमें विराजमान होते हैं ॥ ४७ ॥

आकाशो विष्णुरित्येव कदाचिद्धीयते मतिः।
तदा तद्रूप एवासि हृन्मध्ये संस्थितो विभो ॥ ४८ ॥

'प्रभो ! जब मेरी बुद्धि कभी इस निश्चयपर पहुँचती है कि आकाश ही विष्णु है, तब आप उसी रूपसे मेरेमें प्रतिष्ठित होते हैं ॥ ४८ ॥

पृथिवी विष्णुरित्येतत् कदाचिद्धीयते मतिः।
तदा पार्थिवरूपस्त्वं प्रतिभासि सदा मम ॥ ४९ ॥

'जब कभी मेरी बुद्धिका यह निश्चय होता है कि 'पृथिवी ही विष्णु है', तब आप सदा मुझे पार्थिवरूप ही प्रतीत होते हैं ॥ ४९ ॥

रसोऽयं देव इत्येव कदाचिच्चिन्त्यते मया।
तदा रसात्मना विष्णो हृन्मध्ये संस्थितो विभो ॥ ५० ॥

'प्रभो ! विष्णो ! जब कभी मैं यह सोचता हूँ, कि 'यह रस ही नारायणदेव है', तब आप रसरूपसे मेरे हृदयमें प्रतिष्ठित होते हैं ॥ ५० ॥

यदा त्वां तेज इत्येवं स्मर्ता स्यां पुरुषोत्तम।
तदा तद्रूपसम्पन्नः प्रतिभासि सदा हृदि ॥ ५१ ॥

'पुरुषोत्तम ! जब मैं आपका तेजोरूपसे स्मरण करता हूँ, तब आप सदा उसी रूपसे सम्पन्न होकर मेरे हृदयमें प्रकाशित होते हैं ॥ ५१ ॥

चन्द्रमा हरिरित्येवं तदा चान्द्रमसं वपुः।
निरीक्ष्य चक्षुषा देव ततः प्रीतोऽस्मि केशव ॥ ५२ ॥

'देव ! केशव ! जब मैंने ऐसा निश्चय किया कि 'चन्द्रमा ही श्रीहरि हैं,' तब मैं चन्द्रमाके रूपमें ही आपके स्वरूपका नेत्रोंद्वारा दर्शन करके प्रसन्न होता हूँ ॥ ५२ ॥

यदा सौरं वपुरिति स्मर्ता स्यां जगतीपते।
तदा तद्भावनायोगात् सूर्य एव विराजसे ॥ ५३ ॥

'पृथ्वीनाथ ! जब मैं ऐसा चिन्तन करता हूँ कि 'यह सूर्यमण्डल ही आपका स्वरूप है,' तब आप मेरी उस भावनाके योगसे सूर्यरूप होकर ही विराजमान होते हैं ॥ ५३ ॥

तस्मात् सर्वं त्वमेवासि निश्चिता मतिरीदृशी।
अतो न जानेऽहमिति वक्तुं नेशो जनार्दन ॥ ५४ ॥

'अतः सब कुछ आप ही हैं, यह मेरी बुद्धिका निश्चय है; इसलिये जनार्दन ! आप यह नहीं कह सकते कि 'मैं आपलोगोंके आनेका कारण नहीं जानता' ॥ ५४ ॥

इत्यर्थे संस्थितो विष्णो पीडां नो नैव चिन्त्यसे।
अत्यन्तदुःखिता विष्णो वयं त्वामनुसंस्थिताः ॥ ५५ ॥

'विष्णो ! इस सिद्धान्तमें प्रतिष्ठित होकर भी आप हमारी पीड़ाका कुछ विचार नहीं कर रहे हैं। भगवन् ! हम अत्यन्त दुःखित होकर आपकी शरणमें आये हैं ॥ ५५ ॥

ईदृशीयमवस्था नो नैतां स्मरसि केशव।
एतत् पुनर्भाग्यमतो नष्टमित्येव चिन्तये ॥ ५६ ॥
मन्दभाग्या वयं विष्णो यतो नो न स्मरेः प्रभो।

'केशव ! हमारी तो ऐसी दुर्दशा हो रही है और आप इसकी ओर ध्यान ही नहीं देते हैं; इससे हम बार-बार यही

सोचते हैं कि हमारा भाग्य ही नष्ट हो गया है। प्रभो ! विष्णो ! हमलोग बड़े भाग्यहीन हैं, क्योंकि आप हमारा स्मरण नहीं करते हैं ॥ ५६½ ॥

कौचित् क्षत्रियदायादौ गिरीशवरगर्वितौ ॥ ५७ ॥
नाम्ना च हंसडिम्भकौ बाधेते नो जनार्दन।
गार्हस्थ्यं हि सदा श्रेयो वदन्ताविति केशव ॥ ५८ ॥

'जनार्दन ! कोई दो क्षत्रियकुमार हैं, जो भगवान् शङ्करका वर पाकर घमंडमें भर गये हैं। उन दोनोंके नाम हंस और डिम्भक हैं। केशव ! वे दोनों यह कहते हुए कि गृहस्थ आश्रम ही सदा श्रेयस्कर है, हमें सताने लगे हैं ॥

इतस्ततश्च धावन्तौ वदन्तौ बहु किल्बिषम्।
अयुक्तं बहु भाषन्तौ धर्षयन्तौ च नः सदा ॥ ५९ ॥

'वे इधर-उधर दौड़ते, बहुत-सी पापपूर्ण बातें मुँहसे निकालते और बहुत-सा अनुचित भाषण करते हुए सदा हमारा तिरस्कार करते हैं ॥ ५९ ॥

इदमन्यत् कृतं देव असह्यं पापमुच्यते।
पश्येदं बहुधा देव भिन्नं भिन्नं सहस्रशः ॥ ६० ॥
शक्यं च दारवं पात्रं द्विदलान् वेणुकान् बहून्।

'देव ! उन दोनोंने जो दूसरा असह्य अपराध किया है, उसे बताया जाता है—देखिये ! ये जो हमारे सहस्रों छींके, लकड़ीके पात्र, द्विदल और बहुत-से बाँसके पिटारे आदि हैं, इन सबके उन्होंने अनेकानेक टुकड़े कर डाले हैं ॥ ६०½ ॥

इदमप्यपरं पश्य तयोः साहसचेष्टितम् ॥ ६१ ॥
कौपीनं बहुधा छिन्नं तदस्माकं महद्धनम्।

'उन दोनोंकी यह दूसरी दुःसाहसपूर्ण चेष्टा देखिये—हमारा जो कौपीन था, उसके भी उन्होंने चीथड़े-चीथड़े कर डाले हैं; वह कौपीन ही हमारा महान् धन है ॥ ६१½ ॥

कृतं कपालमात्रेण कमण्डलु जगत्प्रभो ॥ ६२ ॥
त्वं तु नो रक्षसे नित्यं क्षात्रं वै व्रतमास्थितः।
चित्रं चित्रमिदं देव रक्षस्यसि सदानिशम् ॥ ६३ ॥

'जगदीश्वर ! उन्होंने हमारे कमण्डलुको भी तोड़-फोड़कर कपाल (खपड़े या खप्पर) का रूप दे दिया है। आप क्षत्रियधर्मका आश्रय लेकर सदा हम सबकी रक्षा करते हैं, तो भी हमारी यह दशा हो गयी। देव ! यह बड़ी विचित्र और अद्भुत बात है। आप निरन्तर रक्षा करते हैं और सदा सर्वत्र विद्यमान भी हैं तो भी हमारी रक्षा न हो सकी ॥

किं करिष्यामि मन्दात्मा मन्दभाग्या वयं विभो।
किं नः शरणमद्यैव तद् ब्रूहि जगतां पते ॥ ६४ ॥

'प्रभो ! मेरी बुद्धि मन्द है। मैं क्या करूँ ? हम सब लोग बड़े भाग्यहीन हैं। जगत्पते ! इस समय हम किसकी शरणमें जायँ, यह बताइये ॥ ६४ ॥

जीवन्तौ तौ यदि स्यातां नष्टा लोका इमे त्रयः।
न विप्रा न च राजानो न वैश्या न च पादजाः ॥ ६५ ॥

'यदि वे दोनों जीवित रह गये तो ये तीनों लोक नष्ट हो जायँगे। न ब्राह्मण बचेंगे न क्षत्रिय, न वैश्य रह जायँगे और न शूद्र ॥ ६५ ॥

अत्यन्तबलिनौ मत्तौ तीक्ष्णदण्डधरौ नृप।
न तयोः पुरतः स्थातुं शक्ता देवाः सवासवाः ॥ ६६ ॥

'नरेश्वर ! वे दोनों अत्यन्त बलवान्, मदमत्त और कठोर दण्ड धारण करनेवाले हैं; उन दोनोंके सामने इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी टिक नहीं सकते ॥ ६६ ॥

न च भीष्मो न वा राजा वाह्लीको भीमविक्रमः।
यो हि वीरो जरासंधः क्षत्रियाणां भयंकरः ॥ ६७ ॥
नैव च प्रायशः स्थातुं गिरीशवरदर्पिणोः।
तयोः कृष्ण हरे शक्तो नित्यमप्रतिसङ्गिनोः ॥ ६८ ॥

'न भीष्म और न भयंकर पराक्रमी राजा बाह्लीक ही उन दोनोंका सामना कर सकते हैं। श्रीकृष्ण ! हरे ! क्षत्रियोंके लिये भयंकर जो वीर जरासंध है, वह भी प्रायः उन दोनोंके सामने नहीं ठहर सकता; क्योंकि भगवान् शङ्करके वरदानसे उनका गर्व बहुत बढ़ गया है। वे सदा एक दूसरेके साथ रहते हैं। उनमें कभी पार्थक्य अथवा विरोध नहीं होता ॥ ६७–६८ ॥

तस्मात् त्वं जहि तौ वीरौ रक्ष लोकानिमान् प्रभो।
अन्यथा रक्षसीत्येवं व्यर्थः शब्दोऽत्र जायते ॥ ६९ ॥

'प्रभो ! इसलिये आप ही उन दोनों वीरोंका वध कीजिये और इन तीनों लोकोंको विनाशसे बचाइये; अन्यथा 'आप रक्षा करते हैं' यह कथन यहाँ व्यर्थ हो रहा है ॥ ६९ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन रक्ष रक्ष जगत्त्रयम्।
इत्युक्त्वा विररामैव दुर्वासाः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ७० ॥

'यहाँ अधिक कहनेसे क्या लाभ ? आप तीनों लोकोंकी रक्षा कीजिये ! रक्षा कीजिये !!' ऐसा कहकर क्रोधसे मूर्च्छित हुए दुर्वासा चुप हो गये ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने दुर्वासःसमागमे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें श्रीकृष्ण और दुर्वासाका समागमविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी हंस और डिम्भकके वधके लिये प्रतिज्ञा तथा क्षमाप्रार्थनापूर्वक उनका यतियोंको भोजन कराना

वैशम्पायन उवाच

यतेर्वचनमाकर्ण्य मन्दमुच्छ्वस्य केशवः।
दुर्वाससं समालोक्य बभाषे यादवेश्वरः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यतिका यह वचन सुनकर यादवेश्वर श्रीकृष्णने धीरेसे उच्छ्वास लेकर दुर्वासाकी ओर देखा और इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ १॥

क्षन्तव्यं भवता सर्वं दोष एष ममैव हि।
शृणु वाक्यं ममैतत् तु श्रुत्वा शान्तिपरो भव॥ २॥

'भगवन्! अब जो कुछ हो गया, उस सबके लिये आप क्षमा करें; वास्तवमें यह मेरा ही दोष है। आप मेरी यह बात सुनें और सुनकर शान्त हो जायँ॥ २॥

जेष्यामि तौ रणे विप्र हंसं डिम्भकमेव च।
गिरीशो वा वरं दद्याच्छक्रो वा धनदोऽपि वा॥ ३॥
यमो वा वरुणो वापि ब्रह्मा वाथ चतुर्मुखः।
सबलौ सानुजौ हत्वा पुनर्दास्यामि वो रतिम्॥ ४॥

'विप्रवर! मैं हंस और डिम्भकको युद्धमें पराजित करूँगा। उन्हें भगवान् शङ्कर, इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण अथवा चतुर्मुख ब्रह्मा कोई भी वर क्यों न दे, मैं सेना और बन्धु-बान्धवोंसहित उन दोनोंका वध करके पुनः आपलोगोंको प्रसन्नता प्रदान करूँगा॥ ३-४॥

सत्येनैव शपाम्यद्य मा रोषवशगो भव।
रक्षां वोऽहं करिष्यामि हत्वा तौ च नृपाधमौ॥ ५॥

'आज मैं सत्यकी ही शपथ लेकर कहता हूँ कि आप रोषके वशीभूत न होइये। मैं उन दोनों नीच नरेशोंका वध करके आपलोगोंकी रक्षा करूँगा॥ ५॥

जानामि तौ दुरात्मानौ युष्मद्दोषकरौ हि तौ।
श्रुतं च पूर्वमस्माभिस्तीक्ष्णदण्डधराविति॥ ६॥
अत्यन्तबलिनौ मत्तौ गिरीशवरदर्पितौ।
नाल्पप्रयत्नसंसाध्यौ जरासंधहितैषिणौ॥ ७॥

'मैं उन दोनों दुरात्माओंको जानता हूँ, उन्हीं दोनोंने आपलोगोंका अपराध किया है। मैंने पहलेसे ही सुन रखा है कि वे दोनों कठोर दण्ड धारण करनेवाले हैं, अत्यन्त बलवान् और मदमत्त हैं। भगवान् शङ्करका वर पानेसे उनका घमंड बढ़ा हुआ है। थोड़े-से प्रयत्नद्वारा उन्हें वशमें नहीं किया जा सकता। वे जरासंधके हितैषी हैं॥ ६-७॥

प्राणानपि तयो राजा दास्यत्येव न संशयः।
जरासंधो न भूपालो विना तौ जयते महीम्॥ ८॥

'इसमें संदेह नहीं कि राजा जरासंध उन दोनोंके लिये अपने प्राण भी दे डालेगा; क्योंकि उन दोनोंके बिना राजा जरासंध इस पृथ्वीपर विजय नहीं पा सकता॥ ८॥

जये तयोर्विप्रवर्य तत्र श्रेयो भवेत् ततः।
यत्र यत्र तु तौ गत्वा स्थितावित्यनुशुश्रुम॥ ९॥
तत्र तत्र च हन्ताहं नात्र कार्या विचारणा।

'विप्रवर! उन दोनोंको पराजित करते समय उन्हें वहाँ जरासंधकी ओरसे श्रेष्ठ सहायता प्राप्त हो सकती है, तो भी वे दोनों जहाँ-जहाँ जाकर खड़े होंगे और इसका समाचार हम सुन लेंगे, वहाँ-वहाँ पहुँचकर मैं उन दोनोंका वध करूँगा, इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये॥ ९½॥

गच्छध्वं यतयः स्वैरं निजकार्यपरायणाः॥ १०॥
अचिरेणैव कालेन जेष्यामि रणपुङ्गवौ।

'संन्यासियो! आपलोग अपने कर्तव्य-पालनमें तत्पर रहकर जहाँ चाहें इच्छानुसार जायँ। मैं थोड़े ही समयमें उन रणकुशल वीरोंको परास्त करूँगा'॥ १०½॥

ततः प्रीतः प्रसन्नात्मा यादवेश्वरमाह सः॥ ११॥
स्वस्त्यस्तु भवते कृष्ण जगतां स्वस्ति कुर्वते।
किं नु नाम जगन्नाथ दुःसाध्यं तव केशव॥ १२॥

तब प्रेमपूर्वक प्रसन्नचित्त हो दुर्वासाने यादवेश्वर श्रीकृष्णसे कहा—'श्रीकृष्ण! तीनों लोकोंका कल्याण करनेवाले आपका मङ्गल हो। जगन्नाथ! केशव! कौन-सा ऐसा कार्य है, जो आपके लिये दुष्कर हो॥ ११-१२॥

त्रिलोकेश त्रिधामासि सर्वसंहारकारकः।
देवानामपि देवेशः सर्वत्र समदर्शनः॥ १३॥

'त्रिलोकीनाथ! आप त्रिधामा हैं। आप ही सबका संहार करनेवाले हैं, देवताओंके भी देवेश्वर हैं। आपकी सर्वत्र समान दृष्टि है॥ १३॥

विष्णो देव हरे कृष्ण नमस्ते चक्रपाणये।
नमः स्वभावशुद्धाय शुद्धाय नियताय च॥ १४॥

'विष्णो! देव! हरे! कृष्ण! हाथमें चक्र धारण करनेवाले! आपको नमस्कार है। आप स्वभावसे शुद्ध हैं, शुद्धस्वरूप हैं तथा शौच, संतोष आदि नियमोंसे सम्पन्न एवं सर्वव्यापी हैं॥ १४॥

शब्दगोचर देवेश नमस्ते भक्तवत्सल।
अज्ञानादथवा ज्ञानाद् यन्मयोक्तं क्षमस्व तत्॥ १५॥

'देवेश्वर! आप ही वैदिक शब्दोंके चरम तात्पर्य हैं। भक्तवत्सल! आपको मेरा नमस्कार है। मैंने जानकर अथवा

अनजानमें जो अनुचित बात कह दी हो, उसके लिये आप मुझे क्षमा करें ॥ १५ ॥

त्वमेवाहं जगन्नाथ नावयोरन्तरं पृथक्।
अतः क्षमस्व भगवन् क्षमासारा हि साधवः ॥ १६ ॥

'जगन्नाथ! मैं आपका ही स्वरूप हूँ। हम दोनोंमें कोई भेद या पार्थक्य नहीं है। अतः भगवन्! आप मुझे क्षमा करें; क्योंकि साधुपुरुषोंका सारतत्त्व क्षमा ही है' ॥ १६ ॥

श्रीभगवानुवाच

क्षन्तव्यं भवता विप्र क्षमासारा वयं सदा।
संन्यासिनः क्षमासाराः क्षमा तेषां परं बलम् ॥ १७ ॥

श्रीभगवान् बोले—विप्रवर! क्षमा तो आपको करनी चाहिये। हमलोग तो सदा आप महापुरुषोंकी ही क्षमाका आश्रय लेनेवाले हैं। संन्यासियोंका सारतत्त्व क्षमा ही है। क्षमा ही उनका उत्तम बल है ॥ १७ ॥

क्षमा मोक्षकरी नित्यं तत्त्वज्ञानमिव द्विज।
क्षमा धर्मः क्षमा सत्यं क्षमा दानं क्षमा यशः ॥ १८ ॥
क्षमा स्वर्गस्य सोपानमिति वेदविदो विदुः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन क्षमां पालयत स्वकाम् ॥ १९ ॥

ब्रह्मन्! क्षमा तत्त्वज्ञानकी भाँति सदा ही मोक्ष प्रदान करनेवाली है। क्षमा धर्म, क्षमा सत्य, क्षमा दान और क्षमा यश है। वेदज्ञ पुरुष ऐसा मानते हैं कि क्षमा ही स्वर्गकी सीढ़ी है। अतः आपलोग पूरा प्रयत्न करके अपने क्षमा-धर्मका पालन करें ॥ १८-१९ ॥

प्रत्यक्षज्ञानसंयुक्ता यूयं सर्वे यतीश्वराः।
य एते यतयो विप्राः पूजनीया मयाद्य वै ॥ २० ॥
भोक्तव्या यतयो विप्रा भिक्षुकाः सर्व एव हि।

यतीश्वरो! आप सब लोग प्रत्यक्ष ज्ञानसे संयुक्त हैं। यहाँ जो यति-ब्राह्मण पधारे हैं, उन सबका आज मुझे पूजन करना है। यतिधर्ममें तत्पर रहनेवाले इन सभी भिक्षु ब्राह्मणोंको भोजन भी कराना है ॥ २०½ ॥

तथेति ते प्रतिज्ञाय भोक्तुमैच्छन् हरेर्गृहे ॥ २१ ॥
ततः स्वभवनं विष्णुः प्रविश्य हरिरीश्वरः।
चतुर्विधं तथाऽऽहारं कारयित्वा यथाविधि ॥ २२ ॥
भोजयामास तान् सर्वान् यतीन् यतिवरार्चितः।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर उन सबने भगवान्‌के भवनमें भिक्षा ग्रहण करनेका विचार किया। तदनन्तर सर्वेश्वर विष्णु हरिने अपने भवनके भीतर प्रवेश करके विधिपूर्वक चार[1] प्रकारकी भोजन-सामग्री तैयार करायी और उन समस्त यतियोंको भोजन कराया। उस समय यतिश्रेष्ठ दुर्वासाने श्रीकृष्णका सम्मान किया ॥ २१-२२½ ॥

छित्त्वा छित्त्वा च देवेशो दुकूलानि मृदूनि सः ॥ २३ ॥
ददौ तेभ्यस्तदा विष्णुः सर्वेभ्यो जनमेजय।
ते च प्रीता यथायोगं यथापूर्वं ततो गताः ॥ २४ ॥

जनमेजय! देवेश्वर श्रीकृष्णने उस समय कोमल वस्त्र फाड़-फाड़कर उन सब संन्यासियोंके लिये कौपीन आदि बनानेके लिये दिया वे उन्हें पूर्ववत् यथायोग्य पाकर बहुत प्रसन्न हुए। तत्पश्चात् सब लोग वहाँसे चले गये ॥ २३-२४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने यतिभोजने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें यतियोंका भोजनविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

जनार्दनका हंसको समझाना; किंतु हंसका उनकी बात न मानकर उन्हें दूत बनाकर द्वारकाको भेजना

वैशम्पायन उवाच

दुर्वासास्त्वथ तत्रैव नारदेन महात्मना।
चिन्तयन् ब्रह्मणस्तत्त्वं विजहार यथासुखम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्वासा मुनि वहीं महात्मा नारदजीके साथ ब्रह्मतत्त्वका चिन्तन करते हुए सुखपूर्वक विचरण करने लगे ॥ १ ॥

भगवानपि गोविन्दस्तयोर्वासममन्यत।
ततस्तौ हंसडिम्भकौ तस्मिन् काले महीपतिम् ॥ २ ॥
ब्रह्मदत्तं महीपालं पितरं वीर्यशालिनम्।
प्रावोचतामिदं वाक्यं समन्ताज्जनसंसदि ॥ ३ ॥

भगवान् गोविन्दने भी वहाँ उन दोनोंको रहनेकी अनुमति दे दी। तदनन्तर दोनों भाई हंस और डिम्भक उस समय अपने पराक्रमशाली पिता महाराज ब्रह्मदत्तके पास जाकर सब ओरसे भरे हुए दरबारमें उनसे इस प्रकार बोले—॥ २-३ ॥

राजसूयं महायज्ञं पितः कुरु सुयत्नतः।

[1] खाने, पीने, चाटने और चूसनेके भेदसे चार प्रकारकी भोजन-सामग्री होती है।

अस्मिन् मासि नृपश्रेष्ठ यतावो यज्ञसिद्धये ॥ ४ ॥

'पिताजी ! आप यत्नपूर्वक राजसूय महायज्ञका अनुष्ठान कीजिये। नृपश्रेष्ठ ! हम दोनों इसी मासमें आपके इस यज्ञकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करेंगे ॥ ४ ॥

आवां तेऽद्य महाराज दिशां विजयतत्परौ ।
यतिष्यावो बलैः सार्धं गजैरश्वै रथैरपि ॥ ५ ॥
सम्भारा यज्ञसिद्ध्यर्थमानेतव्या नृपोत्तम ।

'महाराज ! हम दोनों भाई आपके लिये दिग्विजय करनेके लिये तत्पर हैं। हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंकी चतुरङ्गिणी सेनाएँ साथ लेकर हम सम्पूर्ण दिशाओंपर विजय पानेका प्रयत्न करेंगे। नृपश्रेष्ठ ! आपको यज्ञकी सिद्धिके लिये सामग्रियोंका संग्रह कराना चाहिये' ॥ ५½ ॥

तथेति स महाबाहो ब्रह्मदत्तोऽब्रवीत् तदा ॥ ६ ॥
जनार्दनस्तु विप्रेन्द्रो दृष्ट्वा साहसतत्परौ ।
अशक्यमिति मन्वानो वयस्यं हंसमब्रवीत् ॥ ७ ॥
शृणु हंस वचो मह्यं श्रुत्वा निश्चित्य वीर्यवान् ।

महाबाहु जनमेजय ! तब राजा ब्रह्मदत्तने 'तथास्तु' कहकर उन दोनोंकी बात मान ली। उन दोनोंको दुःसाहसमें तत्पर होते देख, उनके प्रयासको असम्भव मानकर विप्रवर जनार्दनने अपने मित्र हंससे कहा—'हंस ! पहले मेरी बात सुनो । सुनकर उसपर भलीभाँति विचार करके किसी निश्चयपर पहुँचो और उसके अनुसार पराक्रमपूर्वक कार्य करो ॥ ६-७½ ॥

आयुष्मन् साहसं कर्तुमुद्यतोऽसि नृपोत्तम ॥ ८ ॥
स्थिते भीष्मे जरासंधे बाह्लीके च नृपोत्तमे ।
किं च वीरेषु सर्वेषु यादवेषु नृपोत्तम ॥ ९ ॥

'आयुष्मन् ! नृपश्रेष्ठ ! भीष्म, जरासंध, नृपशिरोमणि बाह्लीक तथा समस्त यादव वीरोंके रहते हुए तुम दुःसाहसपूर्ण कार्य करनेके लिये उद्यत हुए हो ॥ ८-९ ॥

भीष्मो हि बलवान् वृद्धः सत्यसंधो जितेन्द्रियः॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं यो जिगाय भृगूत्तमः ॥ १० ॥
तं युद्धे जितवान् भीष्मः सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ।

'भीष्मजी बलवान्, वृद्ध, सत्यप्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय हैं। जिन भृगुकुलतिलक परशुरामने इक्कीस बार पृथ्वीपर विजय पायी है, उन्हें भीष्मने सम्पूर्ण क्षत्रियोंके देखते-देखते युद्धमें जीत लिया था ॥१०½ ॥

जरासंधस्य यद् वीर्यं तद् भवान् वेत्ति संयुगे ॥ ११ ॥
वृष्णिवीरास्तु ते सर्वे कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ।
तत्र कृष्णो हृषीकेशो जितशत्रुः कृती सदा ॥ १२ ॥

'जरासंधका युद्धमें जो पराक्रम है, उसे तुम अच्छी तरह जानते हो। समस्त वृष्णिवंशी वीर भी अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता तथा युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं। उनमें जो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वे सबकी इन्द्रियोंके नियन्ता, शत्रुविजयी तथा सदा ही रणकुशल हैं ॥ ११-१२ ॥

जरासंधेन सहितः सदा युद्धे जितश्रमः ।
प्रमुखे तस्य न स्थातुं शक्तो जीवन् नृपोत्तमः ॥ १३ ॥

'जरासंधके साथ सदा युद्ध करके उन्होंने परिश्रमको जीत लिया है। कोई भी श्रेष्ठ नरेश उनके सामने जीते-जी नहीं ठहर सकता ॥ १३ ॥

बलभद्रस्तथा मत्तः क्रुद्धो यदि भवेद् बली ॥
लोकानिमान् समाहर्तुं शक्तोतीति मतिर्मम ॥ १४ ॥

'बलवान् बलभद्रजी बलके मदसे उन्मत्त रहते हैं, वे यदि कुपित हो जायँ तो अकेले ही इन तीनों लोकोंका संहार कर सकते हैं, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १४ ॥

तथा च सात्यकिर्वीरः शक्तो जेतुं रणे रिपून् ।
तथान्ये यादवाः सर्वे कृष्णमाश्रित्य दंशिताः ॥ १५ ॥

'इसी तरह वीर सात्यकि भी रणभूमिमें शत्रुओंको जीतनेकी शक्ति रखते हैं। अन्य सब यादव भी श्रीकृष्णका आश्रय लेकर सदा युद्धके लिये कवच बाँधे रहते हैं ॥ १५ ॥

अस्माभिश्च कृतः पूर्वं विरोधो यतिभिः सह ।
दुर्वासा यतिभिः सार्धं गतो द्रष्टुं स केशवम् ॥ १६ ॥

'हमलोगोंने पहले यतियोंके साथ विरोध किया था। उन सब यतियोंके साथ दुर्वासा मुनि भगवान् श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये गये हैं ॥ १६ ॥

इति श्रुतं नृपश्रेष्ठ ब्राह्मणाद् भोक्तुमागतात् ।
तथा सति यथा सिद्ध्येत् तथा चिन्त्यं च मन्त्रिभिः॥१७॥
ततः पश्चाद् विधास्यामो राजसूयं महाक्रतुम् ।

'नृपश्रेष्ठ ! यह बात मैंने अपने घर भोजन करनेके लिये आये हुए एक ब्राह्मणसे सुनी है। ऐसी अवस्थामें जिस प्रकार अपना कार्य सिद्ध हो, उस उपायका मन्त्रियोंके साथ विचार करना चाहिये। इसके बाद हम राजसूय नामक महायज्ञका अनुष्ठान करेंगे' ॥ १७½ ॥

हंस उवाच

को नाम भीष्मो मन्दात्मा वृद्धो हीनबलः सदा ॥ १८ ॥
आवयोः पुरतः स्थातुं शक्तः स किल वृद्धकः ।

हंस बोला—मन्दबुद्धि बूढ़ा और सदाका बलहीन भीष्म कौन-सा वीर है ? क्या वह बूढ़ा हम दोनोंके सामने ठहर सकता है ॥ १८½ ॥

यादवा इति चित्रं नः शक्ताः स्थातुं रणे द्विज ॥ १९ ॥
कश्च कृष्णः पुरः स्थातुं बलदेवश्च मत्तकः ।
शैनेयश्चापि विप्रेन्द्र स्थातुं न इति चिन्तय ॥ २० ॥

ब्रह्मन् ! युद्धमें यादव हमारे सामने ठहर सकते हैं, यह तुम्हारी बात भी विचित्र ही है। वह कृष्ण और मतवाला बलभद्र भी कौन ऐसे वीर हैं, जो हमारे सामने ठहर सकें। विप्रवर ! तुम यह निश्चय समझो कि सात्यकि भी हम दोनोंके सामने नहीं ठहर सकता ॥ १९-२० ॥

जरासंधस्तु धर्मात्मा बन्धुरेव सदा मम ।
गच्छ विप्र यदुश्रेष्ठं ब्रूहि मद्वचनात् त्वरन् ॥ २१ ॥

धर्मात्मा जरासंध तो सदा हमलोगोंका हितैषी बन्धु ही है। विप्रवर ! तुम यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णके पास जाओ और मेरी आज्ञासे तुरंत यह बात उनसे कहो—॥ २१ ॥

दीयतां करसर्वस्वं यज्ञार्थं सुन्दरं बहु ।
लवणानि बहून्यद्य गृह्य केशव मा चिरम् ॥ २२ ॥
आगच्छ त्वरितं कृष्ण न ते कार्यं विलम्बनम् ।

'केशव ! तुम यज्ञके लिये बहुत सुन्दर सामग्री तथा करके रूपमें अपना सारा धन दे दो, साथ ही बहुत-से नमकका संग्रह करके शीघ्र आओ। श्रीकृष्ण ! तुम्हें इस कार्यमें विलम्ब नहीं करना चाहिये' ॥ २२½ ॥

इति ब्रूहि यदुश्रेष्ठं याहि त्वरितविक्रमः ॥ २३ ॥
न ब्रूयाश्चोत्तरं विप्र शपेयं त्वां प्रियोऽसि मे ।
मित्रभावादिदं ब्रूहि पश्यामि त्वां पुनः पुनः ॥ २४ ॥

ब्रह्मन् ! तुम शीघ्रतापूर्वक जाओ और यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णसे मेरा यह संदेश सुना दो। विप्र ! मैं शपथ दिलाता हूँ, तुम मेरी बातका कोई उत्तर न देना। तुम मेरे प्रिय मित्र हो, मित्रभावसे ही यह बात जाकर कहो। मैं बार-बार तुम्हारी ओर देखता हूँ ॥ २३-२४ ॥

इति संचोदितो विप्रो नोत्तरं प्रत्यभाषत ।
मित्रभावात् तथा राजन् स्नेहाच्च जनमेजय ॥ २५ ॥

राजन् ! जनमेजय ! हंससे इस प्रकार प्रेरित होकर ब्राह्मणने मित्रभाव तथा स्नेहके कारण उसे कोई उत्तर नहीं दिया ॥ २५ ॥

जनार्दनस्तु धर्मात्मा नित्यं गन्तुं समुद्यतः ।
अद्य श्वो वा परश्वो वा गच्छामीति यतेत सः ॥ २६ ॥

सदा धर्ममें मन लगाये रखनेवाले जनार्दन श्रीकृष्णके पास जानेके लिये उद्यत हो गये। 'आज, कल या परसों मैं अवश्य जाऊँगा' ऐसा कहकर वे जानेकी तैयारी करने लगे ॥ २६ ॥

देवं द्रष्टुं जगद्योनिं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
एक एव च धर्मात्मा हयमारुह्य सत्वरम् ॥ २७ ॥
प्रातरेव जगामाशु द्रष्टुं द्वारवतीं द्विजः ।
हरिं कृष्णं हृषीकेशं मनसा संस्मरन् द्विजः ॥ २८ ॥

धर्मात्मा जनार्दन शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले जगत्कारण श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये अकेले ही तीव्रगामी अश्वपर आरूढ़ हो प्रातःकाल ही द्वारकाके लिये शीघ्रतापूर्वक चल दिये। उनकी यात्राका एक ही उद्देश्य था—इन्द्रियोंके प्रेरक सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीहरिका दर्शन। ब्राह्मण जनार्दन उन्हींका मन-ही-मन स्मरण करते हुए चले ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंस और डिम्भकका उपाख्यान-विषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

जनार्दनकी भगवद्-दर्शनविषयक उत्कण्ठा

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रायाद्धरिं विष्णुं ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
हयेनैकेन राजेन्द्र त्वरितं स ययौ नृप ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजेन्द्र ! नरेश्वर ! तदनन्तर ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण जनार्दन एक अश्वपर सवार हो तुरंत भगवान् विष्णु हरिके पास चल दिये ॥ १ ॥

यथा निदाघसमये सूर्यांशुपरिपीडितः ।
पान्थो याति जलं दृष्ट्वा त्वरितं तत्पिपासया ॥ २ ॥
धावत्येव तथा विप्रो हरिं द्रष्टुं जनार्दनः ।
गच्छन् स चिन्तयामास चोदयन् हयमुत्तमम् ॥ ३ ॥

जैसे ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे पीड़ित हुआ पथिक कहीं दूर जल देखकर उसे पीनेकी इच्छासे शीघ्रतापूर्वक उसके पास जाता है, उसी प्रकार ब्राह्मण जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये दौड़ते हुए ही चले। वे अपने उत्तम अश्वको हाँकते हुए मन-ही-मन इस प्रकार सोचने लगे—॥ २-३ ॥

हंस एव प्रियो मह्यं कुर्यात् प्रियहितं मम ।
तथा हि प्रेषितस्तेन हरिं पश्याम्यहं प्रभुम् ॥ ४ ॥

'वास्तवमें हंस ही मेरा प्रिय मित्र है। वही मेरा प्रिय और हित कर सकता है; क्योंकि उसीने मुझे द्वारका भेजा है, जहाँ मैं भगवान् श्रीहरिका दर्शन करूँगा ॥ ४ ॥

अहमेव सदा धन्यो मत्तो ह्यभ्यधिको न हि ।
यतो द्रक्ष्याम्यहं विष्णुं वसन्तं द्वारकापुरे ॥ ५ ॥

'मैं ही सदा धन्य हूँ, मुझसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि मैं द्वारकापुरीमें निवास करनेवाले भगवान् विष्णुका दर्शन करूँगा ॥ ५ ॥

सा हि मे जननी धन्या हरिं दृष्ट्वा पुनर्गतम् ।
कृतार्थं सर्वदा देवी द्रक्ष्यत्येषा मनस्विनी ॥ ६ ॥

'मेरी वह माता धन्य है, जो मनस्विनी देवी भगवान्‌का दर्शन करके सदाके लिये कृतार्थ होकर लौटे हुए मुझ अपने पुत्रको पुनः देखेगी ॥ ६ ॥

मुखमुन्निद्रहेमाब्जकिञ्जल्कसदृशप्रभम् ।

द्रक्ष्यामि देवदेवस्य चक्रिणः शार्ङ्गधन्वनः ॥ ७ ॥

'मैं शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले देवाधिदेव श्रीकृष्णके उस मुखका दर्शन करूँगा, जो विकसित सुवर्णमय कमलके केसरकी-सी कान्तिसे प्रकाशित होता है ॥ ७ ॥

वपुर्द्रक्ष्याम्यहं विष्णोर्नीलोत्पलदलच्छवि ।
शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गवनमालाविभूषितम् ॥ ८ ॥

'मैं श्रीकृष्णके नीलकमलदलकी-सी कान्तिवाले उस श्यामसुन्दर शरीरका दर्शन करूँगा, जो शङ्ख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग धनुष और वनमालासे विभूषित है ॥ ८ ॥

नेत्रे ते देवदेवस्य पद्मकिञ्जल्कसप्रभे ।
पश्याम्यहमदीनात्मा नष्टदुःखोऽस्मि निर्वृतः ॥ ९ ॥

'मैं देवाधिदेव श्रीकृष्णके उन दोनों नेत्रोंका दर्शन करूँगा, जो विकसित कमलदलके समान कान्तिमान् हैं । उस समय मेरे हृदयका सारा दैन्य दूर हो जायगा, दुःख मिट जायँगे और मैं परमानन्दमें निमग्न हो जाऊँगा ॥ ९ ॥

अपि द्रक्ष्यति योगात्मा सौम्येनैव स्वचक्षुषा ।
अपि वा मत्प्रियं ब्रूयात् स्वस्ति चेति च वा वदेत् ॥ १० ॥

'क्या योगात्मा भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सौम्यदृष्टिसे ही मेरी ओर देखेंगे, अथवा मुझे प्रिय लगनेवाली बातें कहेंगे, या 'तुम्हारा कल्याण हो' ऐसी वाणीका प्रयोग करेंगे ॥ १० ॥

द्रक्ष्यामि चक्रिणो वर्ष्म ततस्त्रैलोक्यसंनिभम् ।
पादाब्जं चक्रिणो द्रष्टुं त्वरत्येव च मे मनः ॥ ११ ॥

'वहाँ चलकर मैं चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्णके उस विग्रहका दर्शन करूँगा, जो तीनों लोकोंको अपने भीतर रखनेके कारण त्रिलोकीके समान है । मेरा मन उन चक्रपाणिके चरणारविन्दोंका दर्शन करनेके लिये उतावला हो उठा है ॥ ११ ॥

वक्षःस्थलं सदा विष्णोः स्फुरद्रत्नप्रभायुतम् ।
पश्यन्निव च गच्छामि स्मरश्चानिशमीश्वरम् ॥ १२ ॥

'मैं भगवान् विष्णुके उस वक्षःस्थलको देखता हुआ-सा चलता हूँ, जो सदा उद्दीप्त कौस्तुभमणिकी प्रभासे प्रकाशित होता है तथा उन्हीं परमेश्वरका निरन्तर स्मरण करता हुआ उनकी सेवामें चल रहा हूँ ॥ १२ ॥

पीतकौशेयवसनं लम्बहारविभूषितम् ।
ईषत्स्मिताधरं विष्णुं पश्यामि च पुनः पुनः ॥ १३ ॥

'जो रेशमी पीताम्बर धारण करते हैं, नीचेतक लटकी हुई विशाल वनमालासे विभूषित हैं तथा जिनके अधरोंपर मन्द मुसकानकी छटा छायी रहती है, उन भगवान् श्रीकृष्णका आज मैं बारंबार दर्शन करूँगा ॥ १३ ॥

स्मरतश्च हरे रूपं रोमहर्षोऽयमीदृशः ।
गच्छतश्च पुरो भाति शङ्खचक्रगदासिमान् ॥ १४ ॥

'श्रीहरिके उस रूपका स्मरण करते ही मेरे शरीरमें यह इस तरह रोमाञ्च हो रहा है । चलते समय मेरे सामने शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये भगवान् खड़े जान पड़ते हैं ॥ १४ ॥

यातीव च पुरो भाति मह्यं देवो जगद्गुरुः ।
एषोऽयमिति मे वक्तुं जिह्वा प्रस्फुरतीव तम् ॥ १५ ॥

'देव जगद्गुरु श्रीकृष्ण मेरे आगे-आगे जाते हुए-से प्रतीत होते हैं । मेरी जिह्वा बारम्बार यह कहनेके लिये उद्यत-सी होती है कि 'ये रहे मेरे भगवान्' ॥ १५ ॥

इदं दुःखतरं मन्ये करं देहीति मद्वचः ।
इदं तत्साहसं मन्ये तद्वचस्तस्य भूपतेः ॥ १६ ॥

'मैं जो उनके सामने यह कहनेके लिये जा रहा हूँ कि 'मुझे कर दीजिये', अपनी इस बातको मैं अत्यन्त दुःखजनक मानता हूँ तथा मैं इसे राजा हंसका अत्यन्त दुःसाहसपूर्ण वचन समझता हूँ ॥ १६ ॥

हंसस्य करदो विष्णुस्तदाज्ञापरिचारकः ।
तस्य सर्वं पुरो गत्वा वक्ताहं किल निर्दयः ॥ १७ ॥

'भगवान् विष्णु हंसको कर दें, उसकी आज्ञाका पालन और सेवा करें, ये सारी बातें मुझे उनके सामने जाकर कहनी पड़ेंगी । निश्चय ही मैं बड़ा निर्दय हूँ ॥ १७ ॥

मूढानामग्रणीरस्मि निर्लज्जश्च तथा वदन् ।
करं देहि हरे विष्णो हंसस्य यदुपुङ्गव ॥ १८ ॥

'हरे ! विष्णो ! यदुपुङ्गव ! आप हंसको कर दीजिये' ऐसी बात कहता हुआ मैं मूर्खोंका अगुआ और निर्लज्ज समझा जाऊँगा ॥ १८ ॥

लवणानि बहून्याशु दातव्यानि करात्मना ।
इति वक्तुं न मे युक्तं पुरतस्तस्य शार्ङ्गिणः ॥ १९ ॥

'आपको कररूपमे शीघ्र ही बहुत-सा नमक देना होगा' शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णके सामने ऐसी बात कहना मेरे लिये कदापि उचित न होगा ॥ १९ ॥

तथापि मित्रभावात् तु वक्तव्यं घोरमीदृशम् ।
कष्टो ह्ययं मित्रभावो मनुष्याणां कृतात्मनाम् ॥ २० ॥

'तथापि मित्रताके कारण मुझे ऐसा घोर वचन कहना होगा । पवित्रात्मा पुरुषोंके लिये यह मित्रभाव भी कष्टप्रद ही होता है ॥ २० ॥

अथवा सर्वविद् विष्णुः सर्वस्य हृदि संस्थितम् ।
जानात्येव सदा भावं प्राणिनां शोभने रतः ॥ २१ ॥

'अथवा भगवान् विष्णु सर्वज्ञ हैं । वे सबके हार्दिक भावको सदा जानते हैं और प्राणियोंके कल्याणमें तत्पर रहते हैं ॥ २१ ॥

तथा सति न मे दोषो मित्रभावो यतो ह्ययम् ।
सर्वथा रक्षतां विष्णुर्घोरं वक्तुं यतस्य मे ॥ २२ ॥

'ऐसी दशामें मेरा कोई दोष नहीं है; क्योंकि यह मित्रता ही मुझसे ऐसा कार्य कराती है। मैं जो घोर बात कहनेके लिये उद्यत हुआ हूँ, उसके लिये भगवान् विष्णु सर्वथा मेरी रक्षा करें ॥ २२ ॥

द्रक्ष्याम्यहं जगन्नाथं नीलकुञ्चितमूर्धजम्।
कम्बुग्रीवधरं विष्णुं श्रीवत्साच्छादितोरसम् ॥ २३ ॥

'जो सम्पूर्ण जगत्के स्वामी और रक्षक हैं, जिनके सिर-पर काले घुँघराले केश शोभा पाते हैं, जो शङ्खके समान ग्रीवा धारण करते हैं तथा जिनका वक्षःस्थल श्रीवत्स-चिह्नसे आच्छादित है, उन भगवान् विष्णुका मैं दर्शन करूँगा ॥

स्फुरत्पद्ममहाबाहुं रत्नच्छायाविराजितम्।
द्रक्ष्यामि केशवं विष्णुं चक्रिणं यादवेश्वरम् ॥ २४ ॥

'जिनकी विशाल भुजाओंमें पद्मरागमणिके आभूषण शोभा पाते हैं तथा जो कौस्तुभ आदि रत्नोंकी कान्तिसे प्रकाशित होते हैं, उन सर्वव्यापी, चक्रधारी, यादवेश्वर श्रीकृष्णका मैं दर्शन करूँगा ॥ २४ ॥

अचिन्त्यविभवं देवं भूतभव्यभवत्प्रभुम्।
आत्मेच्छया जगद्रक्षं द्रक्ष्यामि जलशायिनम् ॥ २५ ॥

'जिनका वैभव अचिन्त्य है, जो भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी हैं, जो अपनी ही इच्छासे जगत्की रक्षामें तत्पर रहते हैं, उन एकार्णवके जलमें शयन करनेवाले श्रीनारायण-देवका मैं दर्शन करूँगा ॥ २५ ॥

कृतार्थः सर्वथा चाहं भवामि विगतज्वरः।
अद्य मे सफलं जन्म साक्षाद् दृष्टवतो हरिम् ॥ २६ ॥

'उनका दर्शन करके मैं सर्वथा कृतार्थ हो जाऊँगा। मेरी सारी चिन्ताएँ तथा व्याधियाँ दूर हो जायँगी। आज श्रीहरिका साक्षात् दर्शन कर लेनेपर मेरा जन्म सफल हो जायगा ॥२६॥

अद्य मे सफला यज्ञाः साक्षात्कृतवतो हरिम्।
नेत्रे मे सफले विष्णुं पश्यतश्च जगन्मयम् ॥ २७ ॥

'आज श्रीहरिका साक्षात्कार करनेपर मेरे यज्ञ सफल हो जायँगे। जगन्मय विष्णुका दर्शन करनेसे मेरे दोनों नेत्र भी सफल हो जायँगे ॥ २७ ॥

प्रीतिमानस्तु मे विष्णुर्वक्तुर्घोरस्य कर्मणः।
उन्मिषन्नेत्रयुग्मेन द्रक्ष्यामि सकृदीश्वरम् ॥ २८ ॥

'मैं भयंकर कर्मके लिये प्रस्ताव करनेवाला हूँ। उस समय भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न रहें। क्या मैं अपनी खुली हुई दोनों आँखोंसे एक बार उन जगदीश्वरका दर्शन करूँगा ॥ २८ ॥

आमूलमसकृद् विष्णुं पश्यामि च पुनः पुनः।
पिबामि नेत्रयुग्मेन वपुः कृष्णस्य केवलम् ॥ २९ ॥

'मैं नीचेसे ऊपरतक बारंबार भगवान् विष्णुका दर्शन करूँगा, दोनों नेत्रोंसे केवल श्रीकृष्णके शरीरकी रूपमाधुरीका पान करूँगा ॥ २९ ॥

धारयिष्याम्यहं पांसुं तत्पादप्रभवं शिवम्।
ततः कृतार्थतां यास्ये स्वर्गमार्गो हि तद्रजः ॥ ३० ॥

'तदनन्तर उनके चरणोंसे प्रकट हुई कल्याणमयी धूल-को सिरपर धारण करूँगा। ऐसा करके कृतार्थ हो जाऊँगा, क्योंकि उनकी चरणरज स्वर्गका सोपान है ॥ ३० ॥

मेघगम्भीरनिर्घोषं श्रोष्यामि च हरेः स्वरम्।
पादाब्जं चक्रिणो विष्णोः पश्यामि च जगत्पतेः ॥ ३१ ॥

'मैं श्रीहरिके मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान स्वरको सुनूँगा और चक्रधारी जगदीश्वर विष्णुके चरणारविन्दका दर्शन करूँगा ॥

पश्यामि च हरेर्वक्त्रं पूर्णेन्दुसदृशप्रभम्।
हरेरिदं जगद् रूपं पश्यामीव च सर्वतः ॥ ३२ ॥
प्रसीदतु सदा विष्णुरयुक्तं वक्तुमिच्छतः।

'पूर्ण चन्द्रमाके समान जो श्रीकृष्णका मनोहर मुख है, उसका अवलोकन करूँगा। यह सारा जगत् श्रीहरिका ही रूप है, इस रूपमें मैं सब ओर उन्हींका दर्शन-सा कर रहा हूँ। अनुचित बात कहनेकी इच्छावाले मुझ सेवकके ऊपर भगवान् विष्णु सदा प्रसन्न रहें ॥ ३२½ ॥

आलोलकुण्डलयुतं हरिचन्दनचर्चितम् ॥ ३३ ॥
स्फुरत्केयूररत्नार्चिर्बाहुद्वयविराजितम् ।
सव्ये द्योतन्महाशङ्खं रश्मिजालविराजितम् ॥ ३४ ॥
प्रोद्यद्भास्करवर्णाभं चक्रज्वालाविराजितम्।
प्रोज्ज्वलत्कङ्कणयुतं तप्तजाम्बूनदाङ्गदम् ॥ ३५ ॥
पीतकौशेयवसनं विस्तीर्णोरस्कमच्युतम्।
कदा द्रक्ष्यामि देवेशमिदानीमथवान्यदा ॥ ३६ ॥

'जिनके कानोंमें हिलते हुए कुण्डल जगमगा रहे हैं, जो हरिचन्दनसे चर्चित हैं, चमकीले बाजूबंदोंमें जड़े गये रत्नोंकी प्रभासे उद्भासित दोनों भुजाओंसे जिनकी विशेष शोभा होती है, जिनके बायें हाथमें महान् पाञ्चजन्य शङ्ख देदीप्यमान है, जो किरणजालसे प्रकाशित हैं, उदयकालके सूर्यके समान जिनकी सुनहरी कान्ति शोभा पाती है, जो सुदर्शनचक्रकी ज्वालामालाओंसे उद्भासित है, जिनके हाथोंमें जगमगाते हुए कङ्कण तथा तपे हुए सुवर्णके बने बाजूबंद शोभा पाते हैं, जो रेशमी पीताम्बर धारण करते हैं तथा जिनकी छाती चौड़ी है, उन देवेश्वर अच्युतका मैं इस समय अथवा दूसरे समयमें कब दर्शन करूँगा ॥ ३३–३६ ॥

सर्वथा कृतकृत्योऽहं यद्वपुर्द्रष्टुमुद्यतः।
नमो मह्यं नमो मह्यं यतो द्रष्टुमहं हरिम् ॥ ३७ ॥

'मैं सर्वथा कृतकृत्य हूँ; क्योंकि आज मैं श्रीहरिके साक्षात् शरीरका दर्शन करनेके लिये उद्यत हुआ हूँ। मैं श्रीहरिका दर्शन करनेको कटिबद्ध हूँ, इसलिये मुझे नमस्कार है! मुझे नमस्कार है!! ॥ ३७ ॥

उद्यतोऽस्मि जगन्नाथं बलभद्रकृतास्पदम्।
द्रक्ष्याम्यवश्यमद्यैव जिष्णुं विष्णुं जगद्गुरुम् ॥ ३८ ॥

'शेषस्वरूप बलभद्रपर शयन करनेवाले जगदीश्वर श्रीकृष्णके दर्शनके लिये आज मैं उद्यत हूँ। उन विजयशील सर्वव्यापी जगद्गुरु श्रीकृष्णका अवश्य आज ही मैं दर्शन करूँगा ॥ ३८ ॥

श्रीकौस्तुभोद्भवरुचि स्फुरितोरुवक्षः
पीताम्बरं मकरकुण्डलपङ्कजाक्षम्।
कृष्णं किरीटवरचक्रगदोर्ध्वहस्तं
तेजोमयं मम हरेर्वपुरस्तु भूत्यै ॥ ३९ ॥

'जो श्रीकौस्तुभमणिकी प्रभासे प्रकाशित है, जिसका विशाल वक्षःस्थल उसी कौस्तुभ एवं श्रीवत्सकी शोभासे उद्दीप्त हो रहा है, जिसने पीताम्बर धारण कर रखा है, जो मकराकार कुण्डल तथा कमलसदृश नेत्रोंसे सुशोभित है, जिसके मस्तकपर उत्तम किरीट और ऊपर उठे हुए हाथोंमें चक्र एवं गदा विराजमान हैं, श्रीहरिका वह श्यामवर्णमय तेजस्वी विग्रह मेरा कल्याण करनेवाला हो ॥ ३९ ॥

वेदोदधौ विशदशास्त्रमहाहियोगे
निष्णातशुद्धमतिमन्दरमथ्यमाने।
उद्योतमानममरैरनिशं निषेव्यं
नारायणाख्यममृतं प्रपिबामि वाद्य ॥ ४० ॥

'विशद शास्त्ररूपी महान् सर्प (वासुकि) से जुड़े हुए निष्णात शुद्धबुद्धिरूपी मन्दराचलद्वारा मथे जानेवाले वेदरूपी समुद्रसे जिसका प्राकट्य हुआ है तथा अमरगण निरन्तर जिसका सेवन करते हैं, उस नारायण नामक अमृतका आज मैं अपने नेत्रोंद्वारा पान करूँगा ॥ ४० ॥

ध्येयं मुमुक्षुभिरमेयमनाद्यनन्तं
स्थूलं सुसूक्ष्मतरमेकमनेकमाद्यम्।
ज्योतिस्त्रिलोकजनकं त्रिदशैकवन्द्य-
मक्ष्णोर्ममास्तु सततं हृदयेऽच्युताख्यम्॥

'जो मुमुक्षुओंके द्वारा चिन्तन करनेके योग्य, अप्रमेय, अनादि, अनन्त, स्थूल, अत्यन्त सूक्ष्म, एक, अनेक, आद्य, त्रिभुवनका जनक तथा देवताओंद्वारा एकमात्र वन्दनीय है, वह अच्युत नामक तेज सदा मेरे नेत्रोंके समक्ष और हृदयमें प्रकाशित होता रहे' ॥ ४१ ॥

चिन्तयन्निति विप्रेन्द्रो ययौ द्वारवतीं पुरीम्।
मत्वा कृतार्थमात्मानं वाहयन् हयमुत्तमम् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार सोचते हुए विप्रवर जनार्दन अपनेको कृतार्थ मानकर उस उत्तम अश्वको हाँकते हुए द्वारकापुरीमें जा पहुँचे ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने विप्रस्य द्वारवतीगमने चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानके प्रसंगमें ब्राह्मणका द्वारकागमनविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

जनार्दनका सुधर्मा सभामें जाकर भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे संतुष्ट हो उनकी आज्ञासे भगवत्स्तवन-पूर्वक हंस और डिम्भकका संदेश सुनाना और उसे सुनकर यादवोंका उपहास करना

वैशम्पायन उवाच

स निवेदितसर्वस्वो द्वाःस्थेन हि जनार्दनः।
अथ प्रविश्य धर्मात्मा सुधर्मां वै द्विजोत्तमः ॥ १ ॥
अपश्यद् देवदेवेशं सुधर्माकृतिसंस्थितम्।
बलभद्रेण संयुक्तमध्यासितमहासनम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था, उन द्विजश्रेष्ठ धर्मात्मा जनार्दनने द्वारपालकी सहायतासे सुधर्मा-सभामें प्रवेश करके देवदेवेश्वर श्रीकृष्णका दर्शन किया, जो वहाँ उत्तम धर्ममय स्वरूपसे विराजमान थे और बलभद्रजीके साथ ऊँचे सिंहासनपर बैठे हुए थे ॥ १-२ ॥

अग्रतः स्थितशैनेयं पार्श्वतः स्थितनारदम्।
दुर्वाससा कृतकथमुग्रसेनपुरस्कृतम् ॥ ३ ॥

उनके सामने सात्यकि खड़े थे तथा उनके पार्श्वभागमें नारदजी विराजमान थे। भगवान् श्रीकृष्ण दुर्वासामुनिसे बातचीत कर रहे थे। राजा उग्रसेन उनके सामने थे ॥ ३ ॥

गायद्गन्धर्वमुख्यैश्च नृत्यदप्सरसां गणैः।
सेव्यमानं महाराज सूतमागधवन्दिभिः ॥ ४ ॥

महाराज ! गाते हुए मुख्य-मुख्य गन्धर्व, नाचती हुई झुंड-की-झुंड अप्सराएँ तथा सूत, मागध एवं वन्दीजन योग्यतानुसार उनकी सेवा कर रहे थे ॥ ४ ॥

उद्गीयमानयशसं माधवं मधुसूदनम्।
उद्गीयमानं विप्रैश्च सामभिः सामगैर्हरिम् ॥ ५ ॥

वहाँ माधव मधुसूदनके यशका उच्चस्वरसे गान हो रहा था तथा सामगान करनेवाले ब्राह्मण भी साममन्त्रोंद्वारा श्रीहरिका गुणगान करते थे ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा प्रीतमना विष्णुं प्रोद्भूतपुलकच्छविः।
नाम्ना जनार्दनोऽस्मीति ननाम चरणौ हरेः।
बलभद्रं ततो देवं ववन्दे शिरसा द्विजः ॥ ६ ॥
दूतोऽस्मि देवदेवेश हंसस्य डिम्भकस्य च।

भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन पाकर जनार्दनका मन प्रसन्न हो गया। अङ्ग-अङ्ग पुलकित हो उठा। 'मैं जनार्दन हूँ' ऐसा कहकर उन्होंने श्रीहरिके चरणोंमें प्रणाम किया। तत्पश्चात् ब्राह्मण जनार्दनने भगवान् बलभद्रको मस्तक झुकाया और श्रीकृष्णसे कहा—'देवदेवेश्वर ! मैं हंस और डिम्भकका दूत हूँ' ॥ ६½ ॥

इति ब्रुवाणं विप्रेन्द्रमिदमाह स माधवः ॥ ७ ॥
आस्स्वेदं विष्टरं पूर्वं पश्चाद् ब्रूहि प्रयोजनम् ।
तथेति चाब्रवीद् विप्रो महदासनमास्थितः ॥ ८ ॥

इस तरह कहते हुए विप्रवर जनार्दनसे भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'ब्रह्मन् ! पहले आप इस आसनपर बैठिये, इसके बाद अपने आगमनका प्रयोजन बताइये।' तब ब्राह्मणने 'बहुत अच्छा' कहा और वे एक महान् आसनपर विराजमान हुए ॥ ७-८ ॥

वाचा सम्पूज्य विप्रेन्द्रमपृच्छत् कुशलं हरिः ।
ब्रह्मदत्तस्य राजेन्द्र हंसस्य डिम्भकस्य च ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! भगवान् श्रीकृष्णने वाणीद्वारा विप्रवर जनार्दनका स्वागत-सत्कार करके फिर उनसे ब्रह्मदत्त, हंस और डिम्भकका कुशल-समाचार पूछा ॥ ९ ॥

श्रुतं चापि तयोर्वीर्यं प्रयोजनमतो द्विज ।
अपि वा कुशलं विप्र पितुस्तव जनार्दन ॥ १० ॥

वे बोले—'विप्र जनार्दन ! मैंने हंस और डिम्भकका पराक्रम और प्रयोजन पहलेसे सुन रखा है। तुम्हारे पिताजी तो कुशलपूर्वक हैं न ?' ॥ १० ॥

जनार्दन उवाच

कुशलं ब्रह्मदत्तस्य पितुश्च मम केशव ।
तयोरेव जगन्नाथ हंसस्य डिम्भकस्य च ॥ ११ ॥

जनार्दनने कहा—केशव ! राजा ब्रह्मदत्त और मेरे पिताजी सकुशल हैं। जगन्नाथ ! दोनों भाई हंस और डिम्भक भी कुशलसे ही हैं ॥ ११ ॥

श्रीभगवानुवाच

किमाहतुर्महीपालौ तौ हंसडिम्भकौ नृपौ ।
ब्रूहि सर्वमशेषेण नात्र शङ्का द्विजोत्तम ॥ १२ ॥

श्रीभगवान् बोले—द्विजश्रेष्ठ ! राजा हंस और डिम्भकने क्या संदेश दिया है ? आप सारी बातें विस्तारपूर्वक बतावें। इसके लिये आपके मनमें कोई शङ्का नहीं होनी चाहिये ॥ १२ ॥

वाच्यं वाप्यथवावाच्यं कर्तव्यमथ चेतरत् ।
श्रुत्वा तस्य विधास्यामो युक्तरूपं द्विजोत्तम ॥ १३ ॥

विप्रवर ! उन्होंने जो कुछ कहा हो, वह कहने योग्य हो या न कहने योग्य हो, करने योग्य हो या न करने योग्य हो, उसे पूरा-पूरा सुनकर हमलोग उसका उचित उत्तर देंगे ॥

दूतोऽसि सर्वथा विप्र न वाच्यावाच्यकल्पना ।
यत् कर्मकारनिर्दिष्टं तद् वाच्यं दूतजन्मना ॥ १४ ॥

ब्रह्मन् ! आप दूत हैं। आपके लिये वाच्य और अवाच्यका विचार सर्वथा अनावश्यक है। भेजनेवालेने जो कुछ जैसे कहा हो, दूतको वह सब उसी प्रकार कहना चाहिये ॥ १४ ॥

नात्र शङ्का त्वया कार्या वक्तव्यस्येतरस्य च ।
अतो वद यथा प्रोक्तं ताभ्यामिह जनार्दन ॥ १५ ॥

जनार्दनजी ! आपको वाच्य और अवाच्यकी शङ्का नहीं करनी चाहिये। अतः हंस और डिम्भकने जैसा कहा है, वैसा ही यहाँ कहिये ॥ १५ ॥

केशवेनैवमुक्तस्तु प्रोवाच स जनार्दनः ।
अजानन्निव किं ब्रूषे सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ १६ ॥

भगवान् केशवके ऐसा कहनेपर जनार्दन बोले—'भगवन् ! आप अनजानकी भाँति क्यों बात कर रहे हैं ? आप तो सब कुछ प्रत्यक्ष देखनेवाले हैं ॥ १६ ॥

न चास्ति ते परोक्षं तु जगद्वृत्तान्तमच्युत ।
सर्वं हि मनसा पश्यन् किं त्वमात्थ वदेति माम् ॥ १७ ॥

'अच्युत ! जगत्का कोई भी वृत्तान्त आपकी आँखोंसे ओझल नहीं है। आप अपने मनसे सब कुछ देखते हुए भी मुझसे क्यों कहते हैं कि 'तुम बताओ' ॥ १७ ॥

विद्वद्भिर्गीयसे विष्णुस्त्वमेव जगतीपते ।
इच्छया सर्वमाप्नोषि दृष्टादृष्टविवेचनम् ॥ १८ ॥

'पृथ्वीनाथ ! विद्वान् पुरुष आपको ही विष्णु कहते हैं। आप इच्छा करते ही दृष्ट और अदृष्ट वस्तुका पूर्ण विवेक प्राप्त कर लेते हैं ॥ १८ ॥

त्वमेवेदं जगत् सर्वं जगच्च त्वयि तिष्ठति ।
न त्वया रहितो लोकः पदार्थः सचराचरः ॥ १९ ॥

'आप ही यह सम्पूर्ण जगत् हैं, आपमें ही इस जगत्की स्थिति है। एक भी ऐसा कोई चर या अचर पदार्थ नहीं है, जो आपसे रहित हो ॥ १९ ॥

नास्ति किंचिदवेद्यं ते सर्वगोऽसि जगत्पते ।
त्वमिन्द्रः सर्वभूतानां रुद्रः संहारकर्मकृत् ॥ २० ॥

'जगदीश्वर ! आप सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी हैं, आपके लिये कुछ भी अज्ञेय नहीं है। आप ही समस्त भूतोंके इन्द्र हैं और आप ही संहार कर्म करनेवाले रुद्र हैं ॥ २० ॥

रक्षितासि सदा विष्णुः सर्वलोकस्य माधव ।
संसारस्य भवान् स्रष्टा किं त्वमात्थ वदेति माम् ॥ २१ ॥

'माधव ! सदा सम्पूर्ण लोककी रक्षा करनेवाले विष्णु आप ही हैं। आप ही जगत्स्रष्टा ब्रह्मा हैं। फिर आप मुझसे क्यों कहते हैं कि 'तुम बताओ' ॥ २१ ॥

विद्वद्भिर्गीयसे नित्यं ज्ञानात्मेति च माधव ।
प्राणं प्राणविदः प्राहुस्त्वामेव पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥

'माधव ! विद्वान् पुरुष सदा आपको ही ज्ञानात्मा कहते

हैं। पुरुषोत्तम ! प्राणवेत्ता पुरुष आपको ही प्राण कहते हैं ॥

शब्दं शब्दविदः प्राहुस्त्वामेव पुरुषोत्तम।
तथा सति हृषीकेश किं त्वमात्थ वदेति माम्॥ २३॥

'पुरुषोत्तम ! शब्दशास्त्रके ज्ञाता वैयाकरण आपको ही शब्द कहते हैं। हृषीकेश ! ऐसी दशामें आप मुझसे क्यों कहते हैं कि 'तुम अपने राजाका संदेश कहो' ॥ २३ ॥

तथापि शृणु देवेश चोदितोऽस्मि यतस्त्वया।
वदेत्यसकृदेवैतत् तस्माद् वक्ष्यामि माधव॥ २४॥

'देवेश्वर माधव ! तथापि सुनिये। आपने मुझे बारंबार कहनेके लिये प्रेरित किया है। इसलिये मैं कहूँगा ॥ २४ ॥

राजसूयेन यज्ञेन ब्रह्मदत्तोऽद्य यक्ष्यते।
तदर्थं प्रेषितस्ताभ्यां हंसेन डिम्भकेन च॥ २५॥

'भगवन् ! राजा ब्रह्मदत्त अब राजसूय यज्ञ करेंगे। उसीके लिये हंस और डिम्भकने मुझे आपके पास भेजा है ॥

करार्थं यदुमुख्येभ्यस्तव चामन्त्रणाय हि।
लवणं बहु देयं ते यज्ञार्थं तस्य केशव॥ २६॥

'उसने मुख्य-मुख्य यादवोंसे कर लेने और आपको आमन्त्रित करनेके लिये मुझे यहाँतक आनेके लिये विवश किया है। केशव ! आपको उसके यज्ञके लिये बहुत-सा नमक देना है ॥ २६ ॥

इत्यर्थं प्रेषितस्ताभ्यां करं देहि तदाज्ञया।
इदं त्वमपरं ताभ्यामुक्तं शृणु जगत्पते॥ २७॥

'जगत्पते ! उन दोनोंने इसीलिये मुझे यहाँ भेजा है कि आप उनकी आज्ञासे उनके लिये कर दीजिये। उन दोनोंने जो यह दूसरी बात कही है, उसे भी सुन लीजिये ॥ २७ ॥

लवणानि बहून्याशु प्रगृह्य त्वरितं भवान्।
आगच्छतु तयो राज्ञोः सेयं केशव वाग् विभो॥ २८॥

'आप शीघ्र ही बहुत-सा नमक लेकर मेरे यहाँ आइये।' प्रभो ! केशव ! यही उन दोनों राजाओंका आपके लिये संदेश है' ॥

इत्युक्तवति विप्रेन्द्रे दूते तत्र तयोर्नृप।
प्रहस्य सुचिरं कृष्णो बभाषे दूतमीश्वरः॥ २९॥

नरेश्वर ! उन दोनोंके दूत विप्रवर जनार्दन जब इस प्रकार कह चुके, तब भगवान् श्रीकृष्णने बहुत देरतक जोर-जोरसे हँसकर उस दूतसे कहा—॥ २९ ॥

शृणु दूत वचो मह्यं युक्तमुक्तं द्विजोत्तम।
करं दास्यामि ताभ्यां तु करदोऽस्मि यतो नृपः॥ ३०॥

'दूत ! द्विजश्रेष्ठ ! तुम मेरी कही हुई यह युक्तियुक्त बात सुनो। मैं उन दोनोंको कर दूँगा; क्योंकि मैं उन्हें कर देनेवाला नरेश हूँ ॥ ३० ॥

धाष्टर्यमेतत् तयोर्विप्र मत्तो यस्तु करग्रहः।
अहो धाष्टर्यमहो धाष्टर्यं तयोः क्षत्रियबीजयोः॥ ३१॥

'विप्रवर ! मुझसे जो कर लेनेका संकल्प है, यह उन दोनों भाई हंस और डिम्भककी बहुत बड़ी धृष्टता है। अहो ! क्षत्रियके बीजसे उत्पन्न हुए उन दोनोंकी यह कैसी अद्भुत धृष्टता है ! यह कैसी आश्चर्यजनक ढिठाई है ॥ ३१ ॥

इदमश्रुतपूर्वं मे मत्तो यस्तु करग्रहः।
इत्युक्त्वा केशवो दूतमिदमाह स यादवान्॥ ३२॥

'मुझसे कर लेनेकी बात पहले-पहल सुननेमें आयी। इससे पूर्व कभी ऐसी बात नहीं सुनी गयी थी।' दूतसे ऐसा कहकर भगवान् केशवने यादवोंसे कहा—॥ ३२ ॥

हास्यमेतद् यदुश्रेष्ठा मत्तो यस्तु करग्रहः।
यष्टासौ राजसूयस्य ब्रह्मदत्तो महीपतिः॥ ३३॥
तौ तु याजयितारौ हि हंसो डिम्भक एव च।
वोढा किल यदुश्रेष्ठो लवणस्य दुरात्मनः॥ ३४॥

'यदुवरो ! मुझसे जो कर-ग्रहणकी माँग है, यह कैसी उपहासास्पद बात है। राजा ब्रह्मदत्त राजसूय यज्ञ करेंगे और इस यज्ञके करानेवाले हैं उन्हींके बेटे हंस और डिम्भक। यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण उस दुरात्माके यहाँ नमक ढोकर ले जायँगे॥

करदो वासुदेवो हि जितोऽस्मि यदुसत्तमाः।
हास्यं हास्यमिदं भूयः शृणुध्वं यादवा वचः॥ ३५॥

'यदुश्रेष्ठ वीरो ! मुझ वासुदेवको उसने कर देनेवाला कह दिया, मानो उसने मुझे युद्धमें पराजित कर दिया। यादवो ! यह कितनी हँसीकी बात है, इसे तुमलोग फिर सुनो'॥

इत्युक्तवति देवेशे बलभद्रपुरोगमाः।
यादवाः सर्व एवैते हासाय समवस्थिताः॥ ३६॥

देवेश्वर श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर बलभद्र आदि समस्त यादव हंस-डिम्भकके उस कथनकी हँसी उड़ानेके लिये खड़े हो गये ॥ ३६ ॥

करदः कृष्ण इत्येवं ब्रुवन्तः सर्वसात्वताः।
हासं मुमुचुरत्यर्थं तलं दत्त्वा परस्परम्॥ ३७॥

'श्रीकृष्ण कर देनेवाले हैं' ऐसा कहते हुए समस्त यादव परस्पर ताली बजाकर या एक-दूसरेका हाथ पकड़कर जोर-जोरसे हँसने लगे ॥ ३७ ॥

तलशब्दो हासशब्दो रोदसी पर्यपूरयत्।
स च विप्रो नृपश्रेष्ठ निन्दयन् मित्रमात्मनः॥ ३८॥
अहो कष्टमहो कष्टं दौत्यं यत् कृतवानहम्।
इति लज्जासमाविष्टस्तूष्णीमासीदवाङ्मुखः॥ ३९॥

ताली बजाने और हँसनेकी गम्भीर ध्वनि पृथ्वी और आकाशमें गूँज उठी। नृपश्रेष्ठ ! ब्राह्मण जनार्दन अपने मित्र हंसकी निन्दा करते हुए मन-ही-मन कहने लगे—'अहो ! मैंने जो दूतका कार्य किया, यह बड़े कष्टकी बात है ! बड़े कष्टकी बात है' ऐसा कहकर लज्जित हो वे नीचे मुख करके चुपचाप बैठे रहे ॥ ३८-३९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने वासुदेववाक्ये पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंस-डिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका जनार्दनको संदेश देकर लौटाना

वैशम्पायन उवाच

हासं कुर्वत्सु तेष्वेवं केशवः केशिसूदनः।
उवाच वचनं दूतं गच्छ मद्वचनाद् द्विज ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब यादव इस प्रकार उपहास कर रहे थे, उस समय केशिहन्ता भगवान् केशवने दूतसे इस प्रकार कहा—'ब्रह्मन् ! आप मेरा संदेश लेकर जाइये ॥ १ ॥

तावित्थं हंसडिम्भकौ ब्रूहि त्वरितविक्रमः।
बाणैर्दास्यामि निशितैः शार्ङ्गमुक्तैः शिलाशितैः ॥ २ ॥

'शीघ्रगतिसे वहाँ जाकर उन हंस और डिम्भकसे इस प्रकार कहिये—मैं शार्ङ्ग धनुषद्वारा छोड़े गये और शिलापर तेज किये गये पैने बाणोंद्वारा तुम दोनोंको कर दूँगा ॥ २ ॥

असिना वाथ दास्यामि निशितेन महात्मनोः।
शिरो वा छेत्स्यते चक्रं मत्करप्रहितं बलिम् ॥ ३ ॥

'अथवा उन महामनस्वी राजाओंको अपनी तीखी तलवारसे कर समर्पित करूँगा। अथवा मेरे हाथसे छोड़ा गया चक्र उनका सिर काट लेगा और उसीको करके रूपमें समर्पित करेगा ॥ ३ ॥

यो वरं दत्तवान् रुद्रो युवयोर्धाष्ट्र्यकारणम्।
स एव रक्षिता वां स्यात् तं जित्वा वां निहन्म्यहम् ॥ ४ ॥

'भगवान् रुद्रने तुम दोनोंको जो वर दिया है, वही तुम दोनोंकी ढिठाईका कारण है। यदि वे रुद्रदेव ही तुम दोनोंके रक्षक हो जायँ तो मैं उनको भी जीतकर तुम दोनोंको मार डालूँगा ॥ ४ ॥

देशोऽयं संविधातव्यो यत्र नः संगतिर्भवेत्।
तत्र गन्ता तथा चास्मि सबलः सहवाहनः ॥ ५ ॥

'राजाओ ! कोई ऐसा स्थान निश्चित कर लेना चाहिये, जहाँ हमलोगोंका समागम हो। मैं सेना और सवारियोंसहित वहाँ उस स्थानमें आ जाऊँगा ॥ ५ ॥

भवन्तौ निर्भयौ भूत्वा गच्छेतां सबलौ नृपौ।
पुष्करे वा प्रयागे वा मथुरायामथापि वा ॥ ६ ॥
तत्राहं सबलो याता नात्र कार्या विचारणा।

'नरेश्वरो ! तुम दोनों वीर भी निर्भय होकर सेनासहित वहाँ आ जाना। पुष्करमें या प्रयागमें अथवा मथुरामें जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहीं मैं सेनासहित आ जाऊँगा, इसमें अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं ॥ ६½ ॥

अथवा मित्रभावाच्च वक्तुमेवं न ते क्षमम् ॥ ७ ॥
न शक्यं यत् त्वया वक्तुं तच्च वक्ष्यति सात्यकिः।
त्वया सह ततो गत्वा साक्षिभूतो भव द्विज ॥ ८ ॥

'अथवा मित्रताके नाते आपसे ऐसी बात कहलाना उचित न होगा। आप जिसे नहीं कह सकेंगे, उसे आपके साथ जाकर यह सात्यकि कहेंगे। ब्रह्मन् ! आप केवल साक्षी बने रहें ॥ ७-८ ॥

इदं च जाने विप्रेन्द्र स्नेहो मयि सदा तव।
तेन त्वं विजयी भूत्वा संसारे दुःखसंकुले।
मत्कथापरमो नित्यं सदा भव जनार्दन ॥ ९ ॥

'विप्रेन्द्र ! मैं यह भी जानता हूँ कि आपका सदा मेरे ऊपर स्नेह बना रहता है। अतः जनार्दनजी ! आप दुःखोंसे भरे हुए इस संसारमें विजयी होकर सदा नित्य-निरन्तर मेरी कथा-वार्तामें लगे रहिये' ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंस और डिम्भकका उपाख्यानविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिसहित जनार्दनका शाल्वनगरमें जाना, हंससे मिलना तथा हंसका जनार्दनसे कार्यसिद्धिके विषयमें पूछना

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा ब्राह्मणं कृष्णः सात्यकिं पुनराह सः।
गत्वा शैनेय विप्रेण ब्रूहि मद्वचनात् तयोः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ब्राह्मणसे ऐसा कहकर श्रीकृष्णने सात्यकिसे फिर कहा—'शिनिनन्दन ! तुम इन ब्राह्मण देवता जनार्दनके साथ जाकर मेरे कथनानुसार उन दोनों भाई हंस और डिम्भकसे कहो ॥ १ ॥

यन्मयोक्तमशेषेण वद गत्वा तयोः पुरः।
यथा नः संगतिर्युद्धे तथा वद बलात् तदा ॥ २ ॥

'मैंने जो कुछ कहा है, वह सब उन दोनोंके सामने जाकर कहो, जिससे हमलोगोंका युद्ध-स्थलमें शीघ्र समागम

हो। उक्त उद्देश्यकी सिद्धिके लिये तुम बलपूर्वक भी बात कर सकते हो ॥ २ ॥

धनुरादाय गच्छ त्वं बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्।
एकेनाश्वेन गच्छ त्वमसहायो यदूत्तम ॥ ३ ॥

'यदुकुलतिलक सात्यके ! तुम धनुष लेकर जाओ; हाथमें गोहके चमड़ेके बने दस्तानेको भी बाँध लेना, एकमात्र अश्वके साथ जाना, दूसरे किसी सहायकको साथ न लेना' ॥ ३ ॥

सात्यकिस्तं तथेत्युक्त्वा हयमारुह्य शीघ्रगम्।
गन्तुमैच्छत् ततो राजन्नसहायः स सात्यकिः ॥ ४ ॥

सात्यकिने 'बहुत अच्छा' कहकर एक शीघ्रगामी अश्वपर आरूढ़ हो वहाँसे जानेका विचार किया। राजन्! उन्होंने कोई दूसरा सहायक साथ नहीं लिया था ॥ ४ ॥

जनार्दनं विसृज्याशु दूतं तं यादवेश्वरः।
अहो धाष्ट्र्यमहो धाष्ट्र्यमित्युवाच जनार्दनः ॥ ५ ॥

जनार्दन नामक दूतको शीघ्र ही विदा करके यादवेश्वर जनार्दन बोले—'अहो! हंस और डिम्भककी धृष्टता अद्भुत है, उनकी ढिठाई आश्चर्यजनक है' ॥ ५ ॥

नमस्कृत्य तदा दूतो माधवं माधवेश्वरम्।
स ययौ शाल्वनगरं शैनेयेन समन्वितः ॥ ६ ॥

उस समय माधवेश्वर माधवको नमस्कार करके दूत जनार्दन सात्यकिके साथ शाल्वनगरको गये ॥ ६ ॥

ततः प्रविश्य धर्मात्मा ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः।
आसनं महदास्थाय विसृज्य यादवे पुनः ॥ ७ ॥
आस्ते सुखं यदा विप्रः शैनेयेन समन्वितः।
अथ तं हंसडिम्भयोर्दर्शयामास सात्यकिम् ॥ ८ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा ब्राह्मण जनार्दन वहाँ राजसभामें प्रवेश करके सात्यकिको एक महान् आसन देकर जब स्वयं भी उस श्रेष्ठ आसनपर उनके साथ सुखपूर्वक बैठ गये, तब उन्होंने हंस और डिम्भकसे सात्यकिको मिलाया ॥ ७-८ ॥

दूतोऽयं सात्यकिः प्राप्तः सव्यो बाहुरयं हरेः।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा हंसः प्राह वचस्तदा ॥ ९ ॥

उस समय वे बोले—'राजन्! यह सात्यकि द्वारकासे दूत होकर आये हैं। ये भगवान् श्रीकृष्णकी दाहिनी भुजाके समान हैं।'[1] जनार्दनकी यह बात सुनकर हंस बोला— ॥ ९ ॥

श्रुतः समागमः पूर्वमद्य दृष्टो मया त्वसौ।
धनुर्वेदे च वेदे च शास्त्रे शस्त्रे तथैव च ॥ १० ॥
निपुणोऽयं सदा धीर इत्येवमनुशुश्रुम।
अथो दृष्टिपथं प्राप्तः प्रीतिं नौ विदधात्यसौ ॥ ११ ॥

'पहले इसके समागम होनेकी बात सुननेमें आयी थी, आज मुझे इसका दर्शन हो गया। हमने सुना है कि यह वीर सात्यकि वेद, धनुर्वेद, शास्त्र-विद्या और शस्त्र-विद्यामें सदा निपुण एवं धीर है। अब हमारी दृष्टिपथमें आकर यह हम दोनों भाइयोंको प्रीति प्रदान कर रहा है ॥ १०-११ ॥

कुशलं वासुदेवस्य बलभद्रस्य वा पुनः।
कुशलाः सात्वताः सर्वे उग्रसेनपुरोगमाः ॥ १२ ॥

'सात्यके! वासुदेव श्रीकृष्ण और बलभद्र कुशलसे तो हैं न? उग्रसेन आदि सभी यादव सकुशल हैं न?' ॥ १२ ॥

तथेति सात्यकिः प्राह मन्दमुन्मथिताननः।
ततो जनार्दनं प्राह हंसो वाक्यविशारदः ॥ १३ ॥

तब सात्यकिने मन्दस्वरमें कहा—'जी हाँ! सब लोग सकुशल हैं। उस समय उनका मुख रोषसे तमतमा उठा था। तदनन्तर बातचीत करनेमें कुशल हंसने जनार्दनसे कहा— ॥ १३ ॥

अपि दृष्टस्त्वया चक्री सिद्धं नः कार्यमीहितम्।
वद सर्वमशेषेण मा वृथा कालमत्यगाः ॥ १४ ॥

'ब्रह्मन्! क्या तुम चक्रधारी श्रीकृष्णसे मिले थे? क्या हमारा अभीष्ट कार्य सिद्ध हुआ? वहाँका सब समाचार पूर्णरूपसे बताओ, व्यर्थ समय न बिताओ' ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने हंसवाक्ये सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें हंसका वाक्यविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

जनार्दनका हंसको श्रीकृष्णदर्शनजनित अपना उल्लास बताना, द्वारकामें हंसके संदेशकी प्रतिक्रियाका वर्णन करके उसे राजसूय न करनेकी सलाह देना, हंसका उसे रोषपूर्वक तिरस्कृत करके चले जानेके लिये कहना, फिर सात्यकिका हंसको श्रीकृष्णका संदेश सुनाते हुए फटकारना

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति हंसे च धर्मात्माथ जनार्दनः।
उवाच प्रहसन् वीरः स्तुवन् नारायणं सदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हंसके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा वीर जनार्दनने, जो नारायणस्वरूप श्रीकृष्णकी सदा स्तुति करता था, हँसते हुए कहा— ॥ १ ॥

[1] 'सव्य' शब्दका अर्थ बायाँ और दाहिना भी है। देखिये संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ।

अद्राक्षमद्राक्षमहं जनार्दनं
हस्तस्थशङ्खं वरचक्रधारिणम् ।
आतप्तजाम्बूनदभूषिताङ्गदं
स्फुरत्प्रभाद्योतितरत्नधारिणम् ॥ २ ॥

'हाँ ! मैंने उन जनार्दनका दर्शन किया है ! दर्शन किया है !! जिनके एक हाथमें शङ्ख शोभा पाता है तथा जो दूसरे हाथमें श्रेष्ठ चक्र धारण करते हैं, जिनका बाजूबन्द तपाये हुए जाम्बूनद नामक सुवर्णसे भूषित है तथा जो झलमलाती हुई प्रभासे प्रकाशित रत्न (कौस्तुभमणि) धारण करते हैं ॥ २ ॥

अद्राक्षमेनं यदुभिः पुरातनैः
संसेव्यमानं मुनिवृन्दमुख्यैः ।
संस्तूयमानं प्रभुभिः समागधैः
स्मितप्रवालाधरपल्लवारुणम् ॥ ३ ॥

'मैंने इन भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन किया है, जिनकी सेवामें पुरातन यादव-वीर तथा मुख्य-मुख्य मुनिवृन्द उपस्थित रहते हैं, मागधोंसहित बहुत-से राजा भी इनकी स्तुति करते हैं, मूँगे तथा नूतन पल्लवके समान इनका अरुण अधर मन्द मुसकानकी आभासे प्रकाशित होता रहता है ॥ ३ ॥

अद्राक्षमेनं कविभिः पुरातनै-
र्विविच्य वेद्यं विधिवत्सहामरैः ।
प्रफुल्लनीलोत्पलशोभितं श्रिया
विनिद्रहेमाब्जविराजितोदरम् ॥ ४ ॥

'प्राचीन विद्वान् ऋषि-मुनि देवताओंके साथ बैठकर जिनके स्वरूपका विधिपूर्वक विवेचन करके उसे जाननेके योग्य बताते हैं, जो खिले हुए नीलकमलके समान श्याम-कान्तिसे सुशोभित हैं तथा जिनका उदर विकसित सुवर्णमय कमलसे सुशोभित होता है, उन्हीं पद्मनाभस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका मैंने दर्शन किया है ॥ ४ ॥

भूयोऽहमद्राक्षमजं जगद्गुरुं
प्रमोदयन्तं वचनेन यादवान् ।
निरूपयन्तं विधिवन्मुनीश्वरैः
प्रवृत्तवेदार्थविधिं पुरातनैः ॥ ५ ॥

'मैंने बारंबार उन अजन्मा जगद्गुरुका दर्शन किया, जो अपनी वाणीद्वारा यादवोंको आनन्द प्रदान कर रहे थे और प्राचीन मुनीश्वरोंके साथ प्रवृत्तिमार्गसम्बन्धी वेदार्थके विधानका विधिपूर्वक निरूपण करते थे ॥ ५ ॥

अद्राक्षमद्राक्षमहं पुनः पुनः
समस्तलोकैकहितैषिणं हरिम् ।
वसन्तमस्मिञ्जगतो हिताय
जगन्मयं तान् परिभूय शत्रून् ॥ ६ ॥

'मैंने समस्त लोकोंके एकमात्र हितैषी उन जगन्मय श्रीहरिका बारंबार दर्शन किया है, जो जगत्‌के हितके लिये इसके समस्त शत्रुओंको पराजित करके इस भूलोकमें निवास करते हैं ॥ ६ ॥

भूयोऽप्यपश्यं सह यादवेश्वरै-
र्विक्रीडमानं च विहारकाले ।
रमन्तमीड्यं रमयन्तमीश्वरान्
यदूत्तमान् यादवमुख्यमीश्वरम् ॥ ७ ॥

'यादवकुलके प्रधान पुरुष तथा स्तवनीय ईश्वररूप उन श्रीकृष्णका मैंने अनेक बार दर्शन किया है, जो विहारकालमें यादवेश्वरोंके साथ नाना प्रकारकी क्रीडाएँ करते हैं तथा स्वयं तो क्रीडाओंमें रत रहते ही हैं, सामर्थ्यशाली यादवशिरोमणियोंको भी उनमें प्रवृत्त करते रहते हैं ॥ ७ ॥

भूयोऽप्यपश्यं सरसीरुहेक्षणं
समेतया भीष्मतनूजया हरिम् ।
वसन्तमम्भोनिधिशायिनं विभुं
भक्तप्रियं भक्तजनास्पदं शिवम् ॥ ८ ॥

'मैंने पुनः उन कमलनयन श्रीहरिका दर्शन किया, जो पत्नीरूपमें प्राप्त हुई भीष्मनन्दिनी रुक्मिणी देवीके साथ द्वारकामें निवास करते हैं, नारायणरूपसे समुद्रके जलमें सोते हैं तथा जो वैभवशाली, भक्तप्रिय, भक्तजनोंके आश्रय तथा कल्याणस्वरूप हैं ॥ ८ ॥

अद्राक्षमद्राक्षमहं सुनिर्वृतः
पिबन् पिबंस्तस्य वपुः पुरातनम् ।
नेत्रेण मीलद्विवरेण केवलं
धन्योऽहमस्मीति तदा व्यचिन्तयम् ॥ ९ ॥

'मैंने अत्यन्त आनन्दमग्न होकर बारंबार भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन किया है और अपलक नेत्रके द्वारा उनके पुरातन श्रीअङ्गकी शोभाका पान किया है । उस समय मैं अपने विषयमें केवल यही सोचता रहा कि 'मैं धन्य हो गया' ॥ ९ ॥

अद्राक्षमम्भोजयुगं दधानं
प्रभुं विभुं भूतमयं विभावनम् ।
आद्यं ककुद्मानमुरुं विभावसुं
संस्मृत्य संस्मृत्य तमेव निर्वृतः ॥ १० ॥

'मैंने देखा कि वे सर्वसमर्थ, सर्वव्यापी, भूतमय तथा सबका पालन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपने हाथोंमें दो कमल लिये हुए थे । मैं उन्हीं माहात्म्यशाली, प्रकाशमान, आदि पुरुष एवं महान् ईश्वरका बारंबार स्मरण करके आनन्दमग्न हो रहा हूँ ॥ १० ॥

अद्राक्षं जगतामीशं वक्षोराजितकौस्तुभम् ।
वीज्यमानं हरिं कृष्णं चामराणां शतैः सदा ॥ ११ ॥

'जिनके वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि प्रकाशित होती

है तथा जिनपर सौ-सौ चँवर डुलाये जाते हैं, उन जगदीश्वर श्रीकृष्ण हरिका मैंने दर्शन किया है ॥ ११ ॥

युवां विद्वेषयुक्तेन चेतसा यादवेश्वरम्।
स्मरन्तं सर्वदा विष्णुं क चैवं क च वेत्ति कः ॥ १२ ॥

'वे यादवेश्वर विष्णु विद्वेषयुक्त चित्तसे सदा तुम दोनोंका स्मरण करते थे और जानना चाहते थे कि वे दोनों कहाँ हैं ? तथा कहाँ और कौन उन्हें जानता है ?॥

क्व च द्रक्ष्यामि तौ मन्दौ कुतो वा मत्पुरोगतौ ।
ध्यायन्तमित्थं देवेशं करे शङ्खवहं सदा ॥ १३ ॥

'उन दोनों मूर्खोंको मैं कब देखूँगा ? वे किस उपायसे मेरे सामने उपस्थित होंगे ? हाथमें शङ्ख लिये हुए वे देवेश्वर निरन्तर ऐसी ही बात सोच रहे थे ॥ १३ ॥

हसन्तमेनमद्राक्षं करदं हास्यतत्परम् ।
वदन्तं नारदे वाचं दुर्वाससि यतीश्वरे ॥ १४ ॥

'अपनेको करदाता सुनकर वे हँसने लगे और तुम्हारे उपहासमें तत्पर हो गये, उस अवस्थामें मैंने उन्हें देखा था। वे देवर्षि नारद तथा यतीश्वर दुर्वाससे बात करते थे ॥ १४ ॥

ब्रह्मसूत्रपदां वाणीं दापयन्तं मुनीश्वरम् ।
दृष्ट्वाहं तं हरिं देवं पुनः पुनरचिन्तयम् ॥ १५ ॥

'वे मुनीश्वर दुर्वासाको ब्रह्मसूत्रके पदोंसे युक्त वेदान्तमयी वाणीका शिष्योंको उपदेश देने या पढ़ानेके लिये अनुमति दे रहे थे । उस समय उन भगवान् श्रीहरिका दर्शन करके मैंने बारंबार इस प्रकार विचार किया ॥ १५ ॥

असाध्यमिदमारब्धं ताभ्यामिति नृपोत्तम ।
नारब्धव्यमिदं कार्यमितःप्रभृति भूमिप ॥ १६ ॥

'मेरे उन मित्रोंने यह असाध्य कार्य आरम्भ किया है। नृपश्रेष्ठ ! भूमिपाल ! अबसे आप दोनोंको इस कार्यका आरम्भ नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

निवृत्ता सा कथा हंसाचिन्तयद् ग्रहणं तव ।
तद् वृत्तमखिलं सर्वं वदिष्यति हि सात्यकिः ।
एतद् वचनमाकर्ण्य हंसः क्रुद्धोऽब्रवीद् वचः ॥ १७ ॥

'श्रीकृष्णसे कर लेना है, यह तुम्हारी बात जब वहाँ समाप्त हो गयी, तब भगवान् श्रीकृष्णने तुम्हें कैद करनेकी बात सोची थी। यह सारा वृत्तान्त सात्यकि ही तुम्हें बतायेंगे।' जनार्दनकी यह बात सुनकर हंसने कुपित होकर कहा ॥१७॥

हंस उवाच

अरे ब्राह्मणदायाद का नाम तव वागियम् ।
आवयोः पुरतो वक्तुं त्रैलोक्यं जेतुमिच्छतोः ॥ १८ ॥

हंस बोला—अरे ओ ब्राह्मणके बेटे ! यह तुम्हारे मुखसे कैसी बात निकल रही है । तीनों लोकोंको जीतनेकी इच्छा करनेवाले हम दोनों वीरोंके आगे कहनेके लिये क्या तुम्हें यही बात मिली है ॥ १८ ॥

मायया त्वां भ्रामयति कृष्णो लीलाविधानवित् ।
तं दृष्ट्वा भ्रम एवैष तव संजायते महान् ॥ १९ ॥

लीलाविधानके ज्ञाता श्रीकृष्ण तुम्हें मायासे चक्करमें डाल रहे हैं । उनका दर्शन करके तुम्हारे मनमें यह महान् भ्रम ही उत्पन्न हो गया है ॥ १९ ॥

शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गवनमालाविभूषितम् ।
वृष्णिवीरं समावेक्ष्य समुच्छ्रितयशोधरम् ॥ २० ॥
सूतमागधसंस्तावप्रकटद्बाहुवीर्यकम् ।
अत्यद्भुतयशोराशिं विक्रमाल्लोकमण्डनम् ॥ २१ ॥
चतुर्भुजं बलाक्रान्तं वृष्णियादवसम्मतम् ।
अहोऽद्य भ्रम एवैष दर्शनात् तस्य चक्रिणः ॥ २२ ॥

जो शङ्ख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग धनुष और वनमालासे विभूषित हैं, सब ओर फैले हुए यशको धारण करते हैं। सूतों और मागधोंद्वारा की गयी स्तुतिमात्रसे जिनके बाहुबल-का कुछ पता चलता है । जो अत्यन्त अद्भुत यशकी राशि हैं और अपने पराक्रमसे लोकको अलंकृत करते हैं। जिनके चार भुजाएँ हैं । जो सेनाओंसे घिरे हुए तथा वृष्णि और यादवकुलके सम्मानित पुरुष हैं, उन वृष्णिवीर श्रीकृष्ण-का दर्शन करके तुम चक्करमें पड़ गये हो। अहो ! उस चक्रपाणिके दर्शनसे आज तुम्हें भ्रम ही हो गया ॥२०–२२॥

इदानीं च महाराज भ्रामयत्येव दुर्मतिः ।
त्वामेव विप्र मन्दात्मन्निन्द्रजालिकता हि या ॥ २३ ॥

महाराज ! मन्दमते विप्र ! इस समय भी यह दुर्बुद्धि कृष्ण तुम्हें चक्करमें ही डाले हुए है। उसकी जो इन्द्रजालिकता (बाजीगरी) है, वह तुमपर ही प्रभाव डालती है ॥ २३ ॥

चापल्यमिदमेवैतत् तव विप्र भ्रमोद्भवम् ।
अहो हि खलु सादृश्यं वक्तव्यं भवता मम ॥ २४ ॥

विप्र ! यह तुम्हारा भ्रमजनित चापल्य ही प्रकट हुआ है । अहो ! तुम्हें मेरी और उनकी समानता बतानी चाहिये थी (किंतु तुमने हमारी लघुता व्यक्त की है) ॥ २४ ॥

अहमेव त्वया विप्र मर्षये प्रोदितं वचः ।
सखिभावाद् द्विजश्रेष्ठ अन्यथा कः सहेदिदम् ॥ २५ ॥

ब्रह्मन् ! द्विजश्रेष्ठ ! एक मैं ही हूँ, जिसने मित्रताके कारण तुम्हारी इस अनुचित बातको सह लिया, अन्यथा कौन ऐसी बात सह सकता है ? ॥ २५ ॥

गच्छ मन्दमते विप्र यथेष्टं साम्प्रतं तव ।
द्विज गच्छ यथेष्टं त्वं पृथिवीं पृथिवी तव ॥ २६ ॥

मन्दबुद्धि ब्राह्मण ! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो चले जाओ, इस समय सारी पृथ्वी तुम्हारे लिये खुली हुई है। द्विज ! तुम भूतलपर चाहे जहाँ जा सकते हो ॥ २६ ॥

जित्वा गोपालदायादं हत्वा यादवकान् बहून् ।
एष नः प्रथमः कल्पो जेष्याम इति यादवान् ॥ २७ ॥

मैं उस ग्वालबालको जीतकर और बहुत-से यादवोंका

संहार करके अपना यश करूँगा। हमारा पहला संकल्प यही है कि 'हम यादवोंको जीतेंगे' ॥ २७ ॥

गच्छ गच्छेति विप्र त्वं धृष्टं परुषवादिनम्।
शत्रुपक्षस्तुतिपरं सह युक्त्वा सदा मया ॥ २८ ॥

ब्राह्मण! जाओ! जाओ!! तुम धृष्ट और कटुवादी हो! सदा मेरे साथ रहकर भी शत्रुपक्षकी स्तुतिमें लगे रहे हो (इसलिये मैंने तुम्हें त्याग दिया) ॥ २८ ॥

न मे विप्रवधः कार्यः कष्टादपि हि सर्वतः।
इत्युक्त्वा ब्राह्मणं भूयो हंसः सात्यकिमब्रवीत् ॥२९॥

सब ओरसे कष्ट प्राप्त होनेपर भी मुझे ब्राह्मणका वध नहीं करना चाहिये (इसीलिये तुम्हें जीवित छोड़ रहा हूँ)। ब्राह्मणसे ऐसा कहकर हंसने फिर सात्यकिसे कहा—॥ २९ ॥

भो भो यादवदायाद किमर्थं प्राप्तवानिह।
किमब्रवीन्नन्दसुतः किं वासौ मेऽदिशत् करम् ॥३०॥

'ओ यादवकुमार! तुम किसलिये यहाँ आये हो? उस नन्दपुत्रने तुमसे क्या कहा है? अथवा उसने मेरे लिये कौन-सा कर प्रदान किया है?' ॥ ३० ॥

सात्यकिरुवाच

इदं सत्यं वचो हंस शङ्खचक्रगदाभृतः।
शरैर्निशितधाराग्रैः शार्ङ्गमुक्तैः शिलाशितैः ॥ ३१ ॥
दास्यामि करसर्वस्वमसिना निशितेन ते।
शिरश्छेत्स्यामि ते हंस करदानस्य संग्रहम् ॥ ३२ ॥

सात्यकि बोले—हंस! शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले श्रीकृष्णका यह सत्य वचन सुनो। उनका कहना है कि 'मैं शार्ङ्ग धनुषसे छूटे हुए, शिलापर तेज किये गये और पैनी धारवाले बाणोंद्वारा तुम्हारा सारा कर चुका दूँगा। हंस! अपनी तीखी तलवारसे तेरा सिर काट लूँगा' यह तेरे लिये करदानका अच्छा संग्रह होगा' ॥ ३१-३२ ॥

धार्ष्ट्यं हि तव मन्दात्मन् किमतोऽपि नृपाधम।
देवदेवाज्जगन्नाथात् करमिच्छति यो नृपः ॥ ३३ ॥
तस्यैष करसंक्षेपो जिह्वाच्छेदो नराधम।

मन्दात्मन्! नृपाधम! इससे बढ़कर तेरी धृष्टता क्या हो सकती है? नराधम! जो राजा देवाधिदेव जगन्नाथसे कर लेना चाहता है, उसकी जीभ काट ली जाय, यही उसके करको समाप्त करनेका उपाय है ॥ ३३½ ॥

तस्य शार्ङ्गरवं श्रुत्वा शङ्खस्य च हरेः पुनः ॥ ३४ ॥
को नाम जीवितं काङ्क्षेत् तिष्ठेदानीं त्वमद्य वै।

श्रीहरिके शार्ङ्गधनुषकी टङ्कार और पाञ्चजन्य शङ्खका हुंकार सुनकर कौन जीवित रहनेकी आशा कर सकता है। तू अब हमारे सामने खड़ा तो हो ॥ ३४½ ॥

गिरीशवरदर्पेण को ब्रूयादीदृशं वचः ॥ ३५ ॥
सहाया वयमेवैते बलभद्रपुरोगमाः।

भगवान् शङ्करसे मिले वरके घमंडमें आकर कौन पुरुष भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसी बात कह सकता है, जैसी तूने कही है। बलभद्र आदि हम सभी वीर श्रीकृष्णके सहायक हैं ॥

प्रथमो बलभद्रोऽसौ द्वितीयोऽहं च सात्यकिः ॥ ३६॥
कृतवर्मा तृतीयस्तु चतुर्थो निशठो बली।
पञ्चमोऽथ च बभ्रुस्तु षष्ठश्चैवोत्कलः स्मृतः ॥ ३७ ॥
सप्तमस्तारणो धीमानस्त्रशस्त्रविशारदः।
अष्टमस्त्वथ सारङ्गो नवमो विपृथुस्तथा ॥ ३८ ॥
दशमश्चोद्धवो धीमान् वयमेते बलान्विताः।

प्रथम तो बलभद्रजी हैं, दूसरा मैं सात्यकि हूँ, तीसरा कृतवर्मा है, चौथा बलवान् निशठ है, पाँचवाँ बभ्रु, छठा उत्कल, सातवाँ अस्त्रशस्त्रविशारद बुद्धिमान् तारण, आठवाँ सारङ्ग, नवाँ विपृथु और दसवें बुद्धिमान् उद्धवजी हैं। ये हम सभी सहायक बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं ॥ ३६–३८½ ॥

त एते पुरतो गोप्तुः शङ्खचक्रगदाभृतः ॥ ३९ ॥
देवदेवस्य युद्धेषु तिष्ठन्त्येव दिवानिशम्।

ये सभी वीर समस्त युद्धोंमें अपने रक्षक शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले देवाधिदेव श्रीकृष्णके आगे ही खड़े होते हैं ॥ ३९½ ॥

यौ हि वीरौ सुतौ तस्य नासत्यसदृशौ बले ॥ ४० ॥
तावेव वां क्षमौ युद्धे हन्तुं बलमदान्वितौ।

उनके जो दो विख्यात पुत्र (प्रद्युम्न और साम्ब) हैं, वे दोनों बलमें अश्विनीकुमारोंके समान हैं। केवल वे दोनों ही युद्धमें बलके मदसे उन्मत्त हुए तुम दोनों भाइयोंको मार सकते हैं ॥ ४०½ ॥

यो गिरीशो गिरां देवो वरं दत्त्वा स तिष्ठति ॥ ४१ ॥
युवां हि किंबलौ युद्धे तिष्ठतः सशरं धनुः।
गृहीत्वा शत्रुभिः सार्धं युद्धं कर्तुं समुद्यतौ ॥ ४२ ॥

वाणीके देवता जो गिरीश शिव हैं, वे तो वर देकर अलग खड़े हैं। तुम दोनों किसके बलका सहारा लेकर युद्धमें खड़े हुए हो और धनुष-बाण लेकर शत्रुओंके साथ जूझनेको तैयार हुए हो? ॥ ४१-४२ ॥

ईदृशेष्वथ भृत्येषु युद्धं कुर्वत्सु शत्रुभिः।
त्रैलोक्यं रक्षतस्तस्मात् करमिच्छन् व्रजेत कः ॥ ४३ ॥

जिनके हम-जैसे सेवक शत्रुओंके साथ युद्ध कर रहे हों, त्रिलोकीकी रक्षा करनेवाले उन जगदीश्वरसे कर लेनेकी इच्छा रखकर कौन जीवित लौट सकता है? ॥ ४३ ॥

हनिष्यत्येव वां युद्धे त्रैलोक्यं यो हि रक्षति।
शरेण निशितेनाजौ शार्ङ्गमुक्तेन केवलम् ॥ ४४ ॥

जो तीनों लोकोंकी रक्षा करते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण युद्धस्थलमें केवल शार्ङ्ग धनुषसे छूटे हुए पैने बाणसे तुम दोनोंको अवश्य मार डालेंगे ॥ ४४ ॥

क्व नः संग्राम इत्येवं पुनराह जगत्पतिः।
पुष्करे पुण्यदे नित्यमुत गोवर्धने गिरौ ॥ ४५ ॥

मथुरायां प्रयागे वा दर्शयन्तो बलानि मे ।

उन जगदीश्वरने फिर यह पूछा था कि हमलोगोंका यह संग्राम कहाँ होगा ? सदा ही पुण्य प्रदान करनेवाले पुष्करमें, गोवर्धन पर्वतपर, मथुरामें अथवा प्रयागमें । जहाँ इच्छा हो मुझे अपना बल दिखानेके लिये आ जायँ ॥ ४५½ ॥

शङ्खचक्रधरे देवे जगत्पालनतत्परे ॥ ४६ ॥
राजसूयं महायज्ञं कर्तुमिच्छति कः स्वयम् ।
वदन् वा स्वस्तिमान् मर्त्यस्त्वां विना को व्रजेत् सुखम्

शङ्ख और चक्र धारण करनेवाले श्रीकृष्ण जब जगत्के पालनमें तत्पर हों, उस समय कौन उनकी आज्ञा लिये बिना स्वयं राजसूय नामक महायज्ञका अनुष्ठान करना चाहेगा ? अथवा तुम्हारे सिवा दूसरा कौन मनुष्य है, जो ऐसी बात कहकर सकुशल एवं सुखपूर्वक घरको जा सकता है ? ॥ ४६-४७ ॥

इदमिच्छसि चेन्मूढ हास्यतां यासि भूतले ।
इत्युक्त्वा सात्यकिर्वीरो हसन्निव भुवि स्थितः ॥ ४८ ॥

मूढ ! यदि तू ऐसा चाहता है तो इस भूतलपर उपहासका पात्र बनेगा । ऐसा कहकर वीर सात्यकि हँसते हुए-से भूतलपर खड़े हो गये ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने सात्यकिवाक्ये अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंस-डिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें सात्यकिका वाक्यविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशाधिकशततमोऽध्यायः

हंस और डिम्भकके सात्यकिके प्रति रोषपूर्ण वचन तथा सात्यकिका उन्हें वैसा ही उत्तर देकर द्वारकाको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततः क्रुद्धौ महाराज हंसो डिम्भक एव च ।
इदं वै प्रोचतुर्वाक्यं रोषव्याकुलितेक्षणौ ॥ १ ॥
दिधक्षन्तौ दिशः सर्वाः सर्वान् वीक्ष्य नृपोत्तमान् ।
करेण निष्पीड्य करं स्मरन्तौ तद्वचो महत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! सात्यकिकी यह बात सुनकर हंस और डिम्भक कुपित हो उठे । उनके नेत्र रोषसे चञ्चल हो उठे । वे सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर इस प्रकार देखने लगे, मानो उन्हें जलाकर भस्म कर देना चाहते हैं । उन्होंने समस्त श्रेष्ठ नरेशोंकी ओर देखकर और एक हाथसे दूसरे हाथको दबाकर सात्यकिके उस महान् वचनका स्मरण करते हुए इस प्रकार कहा—॥ १-२ ॥

क्व नु क्व वा नन्दसूनुः क्व वा रामो बलोत्कटः ।
इति ब्रुवाणौ साक्षेपौ सात्यकिं सत्यसंगरम् ॥ ३ ॥

'कहाँ है ? कहाँ है ? वह नन्दका बेटा, और कहाँ है वह बलोन्मत्त बलराम' सत्यप्रतिज्ञ सात्यकिपर आक्षेप करके ऐसी बातें कहते हुए वे दोनों फिर बोले—॥ ३ ॥

अरे यादवदायाद किं ब्रूषे नः पुरो गतः ।
इतो निर्गच्छ मन्दात्मन् दूतस्त्वमसि साम्प्रतम् ॥ ४ ॥
अन्यथा वध्य एव त्वं प्रलपन् परुषं वचः ।

'अरे ओ यादवके बच्चे ! हमारे सामने आकर तू यह क्या बक रहा है ? मन्दात्मन् ! तू यहाँसे निकल जा । इस समय दूत बनकर आया है, नहीं तो ऐसा कठोर वचन कहनेके कारण तू मार डालनेके योग्य था ॥ ४½ ॥

सत्यं निर्लज्ज एवासि यद् ब्रूया ईदृशं वचः ॥ ५ ॥
आवामिदं जगत् सर्वं शासितुं संयतौ नृपौ ।
को नाम मानुषे लोके करदो नैव जीवति ॥ ६ ॥

'सचमुच तू निर्लज्ज ही है, जो ऐसी बातें बक रहा है । हम दोनों नरेश इस सम्पूर्ण जगत्पर शासन करनेके लिये उद्यत हैं । मनुष्यलोकमें कौन ऐसा पुरुष है, जो हमें कर न देकर जीवित रह सके ? ॥ ५-६ ॥

हत्वा गोपालकान् सर्वान् बद्ध्वा यादवकान् बहून् ।
गृह्णीमः करसर्वस्वं ततो गच्छ नराधम ॥ ७ ॥

'हम समस्त ग्वालों और बहुसंख्यक यादवोंको कैद करके उनका सर्वस्व करके रूपमें ग्रहण करेंगे । अतः नराधम ! तू यहाँसे चला जा ॥ ७ ॥

अवध्यो दूततां प्राप्तो बह्वबद्धं प्रभाषसे ।
ईश्वरो नौ वरं दाता ह्यस्त्राणामपि च प्रभुः ॥ ८ ॥
रक्षितारौ महाभूतौ संग्रामं गच्छतोश्च नौ ।
पितरं याजयिष्यावो जित्वा गोपालकं रणे ॥ ९ ॥

'तू बहुत अंट-संट बक रहा है, किंतु क्या किया जाय, दूत बनकर आया है, इसलिये अवध्य है । भगवान् शङ्करने हम दोनोंको वर दिया है और वे ही हमारे अस्त्रोंके भी दाता हैं । संग्राममें जाते समय दो महाभूत हम दोनोंकी रक्षा करते हैं । हमलोग उस ग्वालेको जीतकर अपने पितासे राजसूय यज्ञ करायेंगे ॥ ८-९ ॥

एते प्रोक्ता भृशं युद्धे कातराः सर्व एव ते ।
हत्वा तान् सबलान् युद्धे पुनर्जेष्यामि केशवम् ॥ १०

'तुमने जिन सहायकोंके नाम बताये हैं, वे सब-के-सब युद्धमें अत्यन्त कायर हैं। मैं रणभूमिमें सेनासहित उन सबको मारकर फिर केशवको पराजित करूँगा ॥ १० ॥

संहर्तव्या महासेना प्रगृहीतशरासना।
गृहीतप्रासमुशला गृहीतकवचा सदा ॥ ११ ॥
आरूढरथसाहस्रा गदापरिघसंकुला।
सुप्रभूतेन्धनवती प्रभूतबलसाधना ॥ १२ ॥
चाल्यतां वाहिनी घोरा बलाध्यक्षाः समन्ततः।
अवध्य एव गच्छ त्वं न ते मरणतो भयम् ॥ १३ ॥

'इस समय धनुष-बाण धारण करनेवाली विशाल सेनाका संग्रह करना है। वह प्रास, मुसल, कवच आदिसे सम्पन्न होगी। उसमें सहस्रों रथ होंगे, जिनमें रथी वीर आरूढ़ रहेंगे। वह सेना गदा और परिघ आदि अस्त्रोंसे भरी-पूरी होगी, उसके पास बहुत-से ईंधन होंगे तथा वह प्रचुर बल एवं साधनसे सम्पन्न होगी। ऐसी भयङ्कर वाहिनी युद्धके लिये कूँच करे। सेनानायकगण चारों ओरसे इसकी देख-रेख करें, तू अवध्य रहकर ही चला जा। तुझे यहाँ मृत्युसे भय नहीं है ॥ ११—१३ ॥

संग्रामः पुष्करेऽस्माकं श्वः परश्वोऽपि वा नृप।
ततो ज्ञास्यामहे वीर्यं केशवस्य बलस्य च।
ये त्वयोक्ता नृपाः संख्ये तेषामपि च यद् बलम्॥१४॥

'नरेश्वर! कल-परसोंतक हमलोगोंका पुष्करमें संग्राम होगा। उस समय हम समझ लेंगे कि श्रीकृष्ण और बलराम-में कितना बल है। तूने जिन नरेशोंके नाम बताये हैं, उनमें भी युद्धके मुहानेपर कितना बल है, इसका पता लग जायगा' ॥ १४ ॥

सात्यकिरुवाच

हंसागच्छामि वां हन्तुं श्वः परश्वोऽपि वा नृप।
अद्यैव हि मया वध्यौ न चेद् दूतो भवाम्यहम् ॥१५॥

सात्यकि बोले—राजा हंस! मैं तुम दोनों भाइयोंका वध करनेके लिये कल या परसों भी आऊँगा। यदि मैं दूत न होता तो आज ही तुम दोनों मेरे हाथसे मार डाले जाते ॥ १५ ॥

न हि श्वो वा परश्वो वा युवां कटुकभाषिणौ।
दौत्ये हि दुःखमतुलं वहाम्येव सदा नृणाम् ॥ १६ ॥

तुम दोनों कटुभाषियोंको मैं कल या परसोंके लिये जीवित नहीं छोड़ता। मनुष्योंको दूत बननेपर भी सदा अनुपम दुःखका सामना करना पड़ता है। मैं भी उस महान् दुःख-का भार ढो रहा हूँ ॥ १६ ॥

अन्यथाहं युवां हत्वा ततो यास्यामि निर्वृतिम्।
स्ववीर्यं बाहुदर्पं च दर्शयन् वां नृपाधमौ ॥ १७ ॥

अन्यथा नीच नरेशो! मैं अपने पराक्रम और बाहुबल-का घमंड दिखाता हुआ तुम दोनों भाइयोंको मारकर परम संतोष प्राप्त करता ॥ १७ ॥

शङ्खचक्रगदापाणिः शार्ङ्गधन्वा किरीटभृत्।
नीलकुञ्चितकेशाढ्यो लम्बबाहुः श्रिया वृतः ॥ १८ ॥
स सर्वलोकप्रभवो विश्वरूपः सुरूपवान्।
दैत्यदानवहन्तासौ योगिध्येयः पुरातनः ॥ १९ ॥
पद्मकिञ्जल्कनयनः श्यामलः सिंहविक्रमः।
सृष्टिस्थितिलयेष्वेकः कर्ता त्रिजगतो गुरुः ॥ २० ॥
शरेण निशितेनाजौ दर्पं वां व्यपनेष्यति।
इत्युक्त्वा रथमारुह्य प्रययौ सात्यकिः किल ॥ २१ ॥

जो अपने हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और शार्ङ्गधनुष धारण करते हैं, जिनके मस्तकपर मुकुट शोभा पाता है, जो काले-काले घुँघराले केशोंसे अलङ्कृत हैं, जिनकी भुजाएँ बहुत बड़ी हैं, जो अनुपम शोभासे सम्पन्न हैं, सम्पूर्ण जगत्-की उत्पत्तिके कारण हैं, सम्पूर्ण विश्व जिनका रूप है, जो परम सुन्दर रूपसे सुशोभित हैं, योगीजन जिनका ध्यान करते हैं, जो दैत्यों और दानवोंका वध करनेवाले पुराणपुरुष हैं, जिसके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान सुन्दर हैं, जिनकी अङ्गकान्ति श्याम है, जो सिंहके समान बल-विक्रमशाली तथा सृष्टि, पालन और संहारके एकमात्र कर्ता हैं, वे तीनों लोकोंके गुरु भगवान् श्रीकृष्ण युद्धस्थलमें तीखे बाणोंसे तुम दोनों भाइयोंका घमंड चूर करेंगे। ऐसा कहकर सात्यकि रथपर आरूढ़ हो चले गये ॥ १८—२१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने सात्यकिप्रतिप्रयाणे एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें सात्यकिका प्रत्यागमनविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्ण तथा यादवसेनाका पुष्करतीर्थमें जाकर हंस और डिम्भककी प्रतीक्षा करना

वैशम्पायन उवाच

प्रविश्य स पुरं विष्णोः सात्यकिः शिनिपुङ्गवः।
आचचक्षेऽथ कृष्णाय यथा वृत्तं तयोस्तथा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शिनिवंश-शिरोमणि सात्यकिने श्रीकृष्णपुरीमें प्रवेश करके उनसे हंस और डिम्भकका सारा समाचार ज्यों-का-त्यों कह सुनाया ॥ १ ॥

ततः प्रभाते विमले केशवः केशिसूदनः।
बलाध्यक्षानुवाचेदं चक्रपाणिर्गदाधरः ॥ २ ॥

तदनन्तर निर्मल प्रातःकाल आनेपर हाथमें चक्र और गदा धारण करनेवाले केशिहन्ता केशवने समस्त सेनापतियोंसे इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

संनह्यतां बलं सर्वं रथकुञ्जरवाजिमत्।
अनेकभेरीपणवं प्रासासिपरिघाकुलम् ॥ ३ ॥
सध्वजं सपताकं च सालंकारपरिच्छदम्।

'रथ, हाथी और घोड़ोंसे युक्त सारी सेनाको युद्धके लिये तैयार करो। उसके साथ अनेकानेक भेरी, पणव आदि बाजे भी होने चाहिये। प्रास, खड्ग और परिघ आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे वह सेना सम्पन्न होनी चाहिये। ध्वजा, पताका, अलङ्कार तथा अन्य आवश्यक उपकरणोंसे सारी सेनाको सुसज्जित किया जाय' ॥ ३½ ॥

ते तथेति प्रतिज्ञाय सर्वे चक्रुरधीनगाः ॥ ४ ॥
आदाय सुदृढं चापं रथमारुह्य दंशिताः।
अग्रतो जग्मुरत्यर्थं सेनायाः पुरुषोत्तमाः ॥ ५ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीकृष्णके अधीन रहनेवाले उन सेनापतियोंने सब कुछ उसी प्रकार किया। वे पुरुषप्रवर वीर कवच धारण करके रथपर आरूढ़ हो सुदृढ़ धनुष ले सेनाके आगे-आगे तीव्रगतिसे चलने लगे ॥ ४-५ ॥

सात्यकिश्च तथा राजन् प्रगृहीतशरासनः।
बभौ क्रोधसमायुक्तो जगामाग्रे महाबलः ॥ ६ ॥

राजन्! महाबली सात्यकि भी धनुष हाथमें लेकर अद्भुत शोभा पाने लगे। वे क्रोधमें भरकर आगे-आगे चले ॥ ६ ॥

अन्ये च यादवाः शूराः प्रगृहीतमहायुधाः।
सिंहनादं प्रकुर्वन्तो जग्मुरत्यर्थमुत्तमाः ॥ ७ ॥

अन्य श्रेष्ठ एवं शूरवीर यादव भी महान् आयुध लेकर सिंहनाद करते हुए तीव्र गतिसे चल दिये ॥ ७ ॥

हरिस्तु रथमारुह्य संस्कृतं दारुकेण ह।
शार्ङ्गं भारसहं घोरं गृहीत्वा सशरं धनुः ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण दारुकके द्वारा सुसज्जित किये गये रथपर आरूढ़ हो, भार सहन करनेमें समर्थ भयङ्कर शार्ङ्ग-धनुष और बाण लेकर प्रस्थित हुए ॥ ८ ॥

चक्रपाणिस्तदा शङ्खी गदाशरवरासिमान्।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः पीतवासा जनार्दनः ॥ ९ ॥
पद्ममालावृतोरस्को नवजीमूतसंनिभः।
ययौ रथगतो विप्रैः स्तूयमानो मुदान्वितैः ॥ १० ॥

उस समय उनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा, बाण और उत्तम खड्ग शोभा पाते थे। उन्होंने हाथोंमें गोह-चर्मके बने दस्ताने भी बाँध रखे थे। वे पीताम्बरधारी जनार्दन नूतन जलधरके समान श्याम कान्तिसे सुशोभित थे। उनका वक्षःस्थल कमलपुष्पोंकी मालासे आच्छादित था। वे रथपर बैठकर आनन्दमग्न ब्राह्मणोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए जा रहे थे ॥ ९-१० ॥

सूतैर्मागधपुत्रैश्च गीयमानस्ततस्ततः।
आनीय सेनां सकलां ययौ काष्ठामथोत्तराम् ॥ ११ ॥

जहाँ-तहाँ सूत, मागध और बन्दीजन उनके गुण गाते रहते थे। उन्होंने सारी सेनाको एकत्रित करके उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया ॥ ११ ॥

पाञ्चजन्यं मुखे न्यस्य सर्वप्राणेन केशवः।
दध्मौ महारवं कुर्वञ्छत्रूणां भयवर्धनम् ॥ १२ ॥

पाञ्चजन्य शङ्खको अपने मुखपर रखकर केशवने सम्पूर्ण प्राणशक्ति लगाकर उसे बड़े जोरसे बजाया। उसका महान् शब्द प्रकट करके वे शत्रुओंके भयकी वृद्धि करने लगे ॥ १२ ॥

आध्मातस्तेन हरिणा स चक्रे शङ्खराट् ध्रुवम्।
रवः स रोदसी राजन् पूरयामास सर्वतः ॥ १३ ॥

राजन्! श्रीहरिके बजानेपर उस शङ्खराज पाञ्चजन्यने महानाद किया। उसका वह शब्द पृथ्वी और आकाशमें सब ओर व्याप्त हो गया ॥ १३ ॥

तस्मिञ्छङ्खे तथाऽऽध्माते दध्मुः शङ्खान् सहस्रशः।
भेर्यश्चापि समाध्माता मृदङ्गा बहवो नृप ॥ १४ ॥

नरेश्वर! पाञ्चजन्य शङ्खके उस प्रकार बजाये जानेपर दूसरे-दूसरे वीरोंने भी सहस्रों शङ्ख बजाये। बहुत-सी भेरियाँ और मृदङ्ग भी बज उठे ॥ १४ ॥

नेदुरत्यर्थमतुलं घर्मान्ते जलदा यथा।
अथाययुर्महाराज पुष्करं पुण्यवर्धनम् ॥ १५ ॥

महाराज! वर्षाऋतुमें जोर-जोरसे गर्जना करनेवाले मेघोंकी भाँति वे मृदङ्ग आदि बाजे अनुपम गम्भीर स्वरमें बजने लगे। इस प्रकार समस्त यादव सैनिक पुण्यवर्धक पुष्करतीर्थमें आ पहुँचे ॥ १५ ॥

सरसस्तस्य राजेन्द्र पुष्करस्य नृपोत्तमाः।
प्रतीक्ष्य हंसडिम्भकौ युद्धाय समवस्थिताः ॥ १६ ॥

राजेन्द्र! वे नृपश्रेष्ठ यादव वीर युद्धके लिये हंस और डिम्भककी प्रतीक्षा करते हुए उस पुष्कर सरोवरके तटपर ठहर गये ॥ १६ ॥

निवेशं कारयामासुर्यादवाः सर्व एव हि।
स्वं स्वं ययुः सुखं राजन् प्रगृहीतकुटीमठम् ॥ १७ ॥

राजन्! सभी यादवोंने वहाँ सेनाकी छावनी डाल दी। सब लोग अपने-अपने लिये स्वीकृत कुटी और मठ आदिमें सुखपूर्वक गये ॥ १७ ॥

भगवानपि गोविन्दः सरो दृष्ट्वा सुशोभनम्।
उपस्पृश्य जले तस्मिन् प्रणम्य यतिपुङ्गवान् ॥ १८ ॥
तयोरागमनं लिप्सुरास्ते तीरे यथासुखम्।
शृण्वन् वेदध्वनिं विष्णुर्ब्राह्मणानां समन्ततः ॥ १९ ॥

उस शोभाशाली सरोवरको देखकर भगवान् गोविन्दने भी उसके जलमें आचमन किया और वहाँ रहनेवाले श्रेष्ठ यतियोंको नमस्कार करके हंस और डिम्भकके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए उसके तटपर सुखपूर्वक बैठे। वे भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ सब ओर ब्राह्मणोंकी वेद-ध्वनि सुन रहे थे ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने कृष्णपुष्करप्रवेशे विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंस और डिम्भकके उपाख्यानके प्रसंगमें श्रीकृष्णका पुष्करमें प्रवेशविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

हंस और डिम्भककी सेनाओंका पुष्करतीर्थमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

अथ तौ हंसडिम्भकौ जग्मतुः पुष्करं प्रति।
प्रगृहीतमहाचापौ सरथौ सध्वजौ नृप ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर हंस और डिम्भक भी विशाल धनुष लिये रथ और ध्वजसहित पुष्करतीर्थमें गये ॥ १ ॥

पुरःसरमहाभूतौ संहरन्ताविवोल्बणौ।
प्रकुर्वन्तौ सिंहरवं भस्मना परिलेपितौ ॥ २ ॥

उन दोनोंके आगे दो बड़े-बड़े भूत चल रहे थे। वे इतने भयङ्कर थे कि संहार करनेके लिये उद्यत-से जान पड़ते थे। उन्होंने अपने सारे अङ्गोंमें भस्म रमा रखा था तथा वे जोर-जोरसे सिंहनाद करते थे ॥ २ ॥

त्रिपुण्ड्रकललाटान्तौ रुद्राक्षपरिशोभितौ।
अन्यौ द्वाविव रुद्रौ तौ लोकसंहारकारकौ ॥ ३ ॥

उनके ललाटके प्रान्तभागोंतक फैली हुई त्रिपुण्ड्रकी रेखा शोभा पाती थी। वे दोनों रुद्राक्षकी मालाओंसे सुशोभित थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो दो दूसरे रुद्र सम्पूर्ण लोकोंका संहार करनेके लिये आ गये हों ॥ ३ ॥

ततोऽनुजग्मुः शतशः सैन्यानि नृपसत्तम।
अक्षौहिण्यो दशैवासंस्तयोरथ समागताः ॥ ४ ॥

नृपश्रेष्ठ! उन दोनोंके पीछे-पीछे सैकड़ों सैनिक चल रहे थे। हंस और डिम्भककी दस अक्षौहिणी सेनाएँ वहाँ आ गयी थीं ॥ ४ ॥

विचक्रस्तु महाराज दानवो नगसंनिभः।
तयोरेव सखा पूर्वमासीच्च बलशालिनोः ॥ ५ ॥

महाराज! उन दोनोंके साथ विचक्र नामक पर्वताकार दानव भी था, जो उन बलशाली बन्धुओंका पहलेसे ही मित्र था ॥ ५ ॥

शक्रो यस्य पुरःसरः स्थातुं शक्तो न वज्रभृत्।
यो हि वीरो महाराज देवदैत्यसमागमे ॥ ६ ॥
देवान् निघ्नंस्तथा राजन् देवेन्द्रमजयन्महान्।

वज्रधारी इन्द्र भी उसके आगे आकर ठहर नहीं सकते थे। महाराज जनमेजय! देवताओं और दैत्योंके संग्राममें उस महान् वीरने देवताओंपर चोट करते हुए वहाँ देवराज इन्द्रको भी पराजित कर दिया था ॥ ६½ ॥

अकरोच्च पुरा युद्धं विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ७ ॥
यो हि द्वारवतीं प्राप्य बबाधे यदुपुङ्गवान्।

पूर्वकालमें इस विचक्रने प्रभावशाली भगवान् विष्णुके साथ युद्ध किया था और द्वारकापुरीमें जाकर श्रेष्ठ यादवोंको बड़ा कष्ट दिया था ॥ ७½ ॥

स तदानीं महाराज श्रुत्वा युद्धमुपस्थितम् ॥ ८ ॥
अनेकशतसाहस्रैर्दानवैः परिघायुधैः।
वृतः समभवद् दैत्यो वृष्णिद्वेषान् नृपोत्तम ॥ ९ ॥
हंसस्य डिम्भकस्याथ साहाय्यं कर्तुमुद्यतः।

महाराज नृपश्रेष्ठ! उस समय युद्ध उपस्थित हुआ सुनकर कई लाख परिघधारी दानवोंसे घिरा हुआ वह दैत्य वृष्णिवंशियोंसे द्वेष रखनेके कारण हंस और डिम्भककी सहायता करनेके लिये उद्यत हो गया ॥ ८-९½ ॥

विचक्रस्याथ दैत्यस्य हिडिम्बो राक्षसेश्वरः ॥ १० ॥
अतीव मित्रतां यातो दद्यात् प्राणांश्च संयति।

उन दिनों राक्षसराज हिडिम्ब विचक्रनामक दैत्यका बड़ा भारी मित्र हो गया था। वह युद्धमें उसके लिये प्राण भी दे सकता था ॥ १०½ ॥

राक्षसैरपरैः सार्धं शिलाशूलासिपाणिभिः ॥ ११ ॥
ययौ तस्य सहायार्थं हिडिम्बः पुरुषादपः।

राक्षसराज हिडिम्ब शिला, शूल और खड्ग धारण करनेवाले दूसरे राक्षसोंके साथ विचक्रकी सहायताके लिये वहाँ गया ॥ ११½ ॥

अष्टाशीति सहस्राणि राक्षसास्तस्य चाभवन् ॥ १२ ॥
अनुयाता महाराज शिलापरिघबाहवः।

महाराज! अपने हाथोंमें शिला और परिघ लिये अठासी हजार राक्षस उस हिडिम्बके अनुगामी होकर वहाँ गये थे ॥ १२½ ॥

तयोस्तत्र महासैन्यं गच्छतोः केशवं प्रति ॥ १३ ॥
मिश्रितं दैत्यसंघैश्च राक्षसैश्च समन्ततः।

अन्यद्भुतं महारौद्रं त्रैलोक्यभयदायकम् ॥ १४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णपर चढ़ाईके लिये जाते हुए हंस और डिम्भककी विशाल सेना वहाँ सब ओरसे दैत्यसमूहों तथा राक्षसोंसे मिश्रित हो गयी। वह अत्यन्त अद्भुत और महाभयंकर सेना तीनों लोकोंको भय देनेवाली थी ॥ १३-१४॥

दैत्येन सहितौ तौ हि जग्मतुः पुष्करं प्रति।
तावेतौ हंसडिम्भकौ हन्तुं केशवमञ्जसा ॥ १५ ॥

विचक्र नामक दैत्यके साथ ये दोनों हंस और डिम्भक श्रीकृष्णका अनायास वध करनेके लिये पुष्करतीर्थको गये ॥ १५ ॥

ततः श्रुत्वा जरासंधो विग्रहं यदुभिः सह।
नाकरोन्नृपसाहाय्यं पापं मे भवितेति ह ॥ १६ ॥

तदनन्तर यादवोंके साथ हंस और डिम्भकके युद्धका समाचार सुनकर जरासंधने उन दोनों नरेशोंकी सहायता नहीं की। उसने सोचा कि ऐसा करनेसे मुझे पाप लगेगा *॥ १६ ॥

गच्छतोः समितिं राजन् हंसस्य डिम्भकस्य च।
अतित्वरितविक्रान्तास्ते ययुः पुष्करं प्रति ॥ १७ ॥

राजन्! युद्धमें जाते हुए हंस और डिम्भकके साथ वे शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले नरेशगण भी पुष्करको गये ॥ १७ ॥

सिंहनादं विमुञ्चन्तः कथयन्तः परस्परम्।
अहमेव नृपा युद्धं करोमि प्रथमं हरेः ॥ १८ ॥

वे सब-के-सब सिंहनाद करते हुए परस्पर कहते थे कि 'राजाओ! पहले मैं ही श्रीकृष्णके साथ युद्ध करूँगा' ॥ १८ ॥

इत्यब्रुवन् नृपा राजञ्छतशः केशवं प्रति।
सम्प्राप्तास्ते नृपश्रेष्ठाः पुष्करं पुण्यवर्धनम् ॥ १९ ॥

राजन्! इस तरह सैकड़ों नरेशोंने श्रीकृष्णसे युद्ध करनेकी बात कही। इस प्रकार बातचीत करते हुए वे श्रेष्ठ नरेश पुण्यवर्धक पुष्करतीर्थमें जा पहुँचे ॥ १९ ॥

मुनिजुष्टं तपोवृद्धैर्ऋषिभिश्च निषेवितम्।
अत्यन्तभद्रं लोकेषु पुष्करं प्रथमं नृप ॥ २० ॥

नरेश्वर! तपस्यामें बढ़े-चढ़े ऋषि-मुनि उस तीर्थका सेवन करते हैं। पुष्कर ही वह प्रथम तीर्थ है, जो तीनों लोकोंमें अत्यन्त कल्याणकारी बताया गया है ॥ २० ॥

पुष्करं पुण्डरीकाक्षो द्वावेव जगतीपते।
दर्शनात् स्पर्शनाच्चैव किल्बिषच्छेदिनौ नृप ॥२१॥

पृथ्वीनाथ! राजा जनमेजय! पुष्करतीर्थ और पुण्डरीकाक्ष भगवान् श्रीकृष्ण—ये दो ही ऐसे हैं, जो दर्शन और स्पर्शसे सारे पापोंका उच्छेद करनेवाले हैं ॥ २१ ॥

पुष्करं पुण्डरीकाक्षो द्वावेव नृपसत्तम।
सेव्यमानौ मुनिश्रेष्ठैरमरैर्धर्महात्मभिः ॥ २२ ॥

नृपश्रेष्ठ! पुष्कर और पुण्डरीकाक्ष—इन दोका ही श्रेष्ठ मुनि तथा महामनस्वी देववृन्द सेवन करते हैं ॥ २२ ॥

द्वावेव हि नृपश्रेष्ठ सर्वपापप्रणाशकौ।
तावुभौ यत्र सहितौ तत्र ते संस्थिता नृपाः ॥ २३ ॥

नृपश्रेष्ठ! वे दो ही सब पापोंका नाश करनेवाले हैं। वे दोनों जहाँ एक साथ हो गये थे, वहाँ वे सब नरेश उपस्थित हुए ॥ २३ ॥

दृष्टवन्तो हरिं विष्णुं विष्टरश्रवसं परम्।
पुष्करं पुण्यनिलयं तीर्थं ब्रह्मनिषेवितम् ॥ २४ ॥

उन सबने वहाँ विस्तृत यशवाले परम पुरुष भगवान् विष्णु हरिका तथा ब्रह्माजीके द्वारा सेवित पुण्य-स्थान पुष्करतीर्थका दर्शन साथ ही किया ॥ २४ ॥

ताभ्यां कुरु नमस्कारं मनसा नृपसत्तम।
अहो निःशेषमभवत् तत्र भूयो न संशयः ॥ २५ ॥
सैन्यं तत्र च सम्प्राप्तं दैत्यरक्षःसमाकुलम्।

नृपश्रेष्ठ जनमेजय! तुम भी अपने मनसे पुष्करतीर्थ और भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करो। अहो! वहाँ दैत्यों और राक्षसोंसे भरी हुई जो सेना पहुँची थी, वह सारी-की-सारी फिर नष्ट हो गयी, इसमें संशय नहीं है ॥२५½॥

अनेकभेरीपणवझर्झरीडिण्डिमाकुलम् ॥ २६ ॥
नानापणवसम्मिश्रं रक्षोनादविनादितम्।

वह सेना अनेकानेक भेरी, पणव, झाँझ और नगाड़ोंकी ध्वनिसे व्याप्त थी, नाना प्रकारके वाद्योंकी ध्वनिसे मिश्रित राक्षसोंके सिंहनादसे गूँज रही थी ॥ २६½ ॥

प्रविश्य सरसस्तीरं पुष्करस्य विशाम्पते।
दर्शयामास देवेशं युद्धाय समुपस्थितम् ॥ २७ ॥

प्रजानाथ! उस सेनाने पुष्कर-सरोवरके तटपर पहुँचकर युद्धके लिये उपस्थित हुए देवेश्वर श्रीकृष्णका एक दूसरेको दर्शन कराया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने युद्धार्थं हंसडिम्भकसैन्यानां पुष्करागमने एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें युद्धके लिये हंस और डिम्भककी सेनाका पुष्करतीर्थमें आगमनविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

* शास्त्रकी आज्ञा है कि 'परासक्तः परेण न हन्तव्यः' (दूसरेके साथ युद्धमें फँसे हुए पुरुषको दूसरा न मारे), हंसकी सहायतामें जानेसे जरासंधको उक्त शास्त्राज्ञाके उल्लङ्घनजनित दोषकी प्राप्ति होती, इसीलिये वह नहीं गया।

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

उभयपक्षकी सेनाओंका घमासान युद्ध

वैशम्पायन उवाच

द्वे सेने संगते राजन् सध्वजे सपरिच्छदे।
महापरिघसंकीर्णे गदाशक्तिसमाकुले ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वे दोनों ओरकी सेनाएँ वहाँ एक दूसरीसे मिल गयीं। वे ध्वज तथा अन्य उपकरणोंसे सम्पन्न थीं। दोनों ही दलोंमें बड़े-बड़े परिघ सञ्चित थे। दोनों ही सेनाएँ गदा और शक्तियोंसे भरी-पूरी थीं ॥ १ ॥

भेरीझर्झरसम्पूर्णे डिण्डिमारावसंकुले।
प्रगृहीतमहाशस्त्रशूलासिवरकार्मुके ॥ २ ॥

दोनोंमें भेरी और झाँझकी ध्वनि हो रही थी। दोनों ही डिंडिम-घोषसे व्याप्त थीं। दोनों ही दलोंके सैनिकोंने बड़े-बड़े शस्त्र, शूल, खड्ग और श्रेष्ठ धनुष ले रखे थे ॥ २ ॥

परस्परकृतोत्साहे चक्राते युद्धमुल्बणम्।
ते शराः कार्मुकोत्सृष्टा निर्भिद्याथ शरीरिणाम् ॥ ३ ॥
शरीराणि महाराज जग्मुर्दूरं सहस्रशः।

महाराज! दोनों सेनाएँ एक दूसरीको जीतनेका उत्साह रखती थीं। दोनों भयंकर युद्ध करने लगीं। उनके धनुषोंसे छूटे हुए सहस्रों बाण देहधारियोंके शरीरोंको विदीर्ण करके दूरतक चले जाते थे ॥ ३½ ॥

भटबाहुविनिर्मुक्ताः खड्गा निर्भिद्य वक्षसि ॥ ४ ॥
स्फुरन्तश्च तथा राजञ्छिरांस्याहृत्य खं ययुः।

राजन्! योद्धाओंकी भुजाओंसे छूटे हुए खड्ग शत्रुकी छातीमें घाव करके जब उछलते, तब उनके सिर काटकर आकाशमें चले जाते ॥ ४½ ॥

परिघाश्च तथा राज्ञां बाहुभिः परिचोदिताः ॥ ५ ॥
तिलशश्चक्रुरतुलं शरीरं नृपरक्षसाम्।
दैत्यानां कुर्वतां नादमन्योन्यवधकाङ्क्षिणाम् ॥ ६ ॥

क्षत्रियोंकी भुजाओंद्वारा फेंके गये परिघ राजाओं तथा राक्षसोंके अनुपम शरीरको तिल-तिल करके काट डालते थे तथा एक दूसरेके वधकी इच्छासे गर्जना करनेवाले दैत्योंके भी टुकड़े-टुकड़े कर डालते थे ॥ ५-६ ॥

दैत्या रक्षांसि राजेन्द्र राजानश्च समन्ततः।
अन्योन्यं परिघैर्जघ्नुश्चापमुक्तैः शिलाशितैः ॥ ७ ॥
शरैश्च भोगिभोगाभैस्तीक्ष्णमन्ये महाबलाः।

राजेन्द्र! दैत्य, राक्षस और राजा लोग सब ओर एक दूसरेपर परिघोंद्वारा प्रहार करते थे तथा अन्य महाबली वीर शिलापर तेज करके धनुषसे छोड़े गये सर्पाकार बाणोंद्वारा गहरा आघात करते थे ॥ ७½ ॥

राक्षसा दानवाश्चान्ये मत्तमातङ्गविक्रमाः ॥ ८ ॥
अन्योन्यं जघ्निरे राजंश्चापमुक्तैर्महाशरैः।

राजन्! मतवाले हाथियोंके समान पराक्रमी राक्षस और अन्य दानव धनुषसे छोड़े गये महान् बाणोंद्वारा परस्पर चोट पहुँचाते थे ॥ ८½ ॥

नागा नागैर्महाराज हया अश्वैः समन्ततः ॥ ९ ॥
रथा रथैः समाजग्मुः सादिनः सादिभिस्तथा।

महाराज! वहाँ सब ओर हाथी हाथियोंसे, घोड़े घोड़ोंसे, रथ रथोंसे और सवार सवारोंसे भिड़ गये ॥ ९½ ॥

पट्टिशासिशरव्रातैः कुन्तैः सायककर्षणैः ॥ १० ॥
सशक्तिपरिघप्रासपरश्वधसमाकुलैः।
भिन्दिपालैर्महारौद्रैर्जघ्नुरन्योन्यमाहवे ॥ ११ ॥

पट्टिश, खड्ग, बाणसमूह, सायकोंको भी काट गिरानेवाले कुन्त, शक्ति, परिघ, प्रास और फरसोंसहित महाभयंकर भिन्दिपाल आदि अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा सभी योद्धा रणभूमिमें एक दूसरेको मारने लगे ॥ १०-११ ॥

अन्योन्यं जघ्निरे राजंश्चापमुक्तैः शिलाशितैः।
राक्षसा दानवा राजन् क्षत्रियाश्च समन्ततः।
इतश्चेतश्च धावन्तः कुर्वन्तो विस्वरं रवम् ॥ १२ ॥

राजन्! इधर-उधर दौड़ते और विकट गर्जना करते हुए राक्षस, दानव तथा क्षत्रिय शिलापर तेज कर धनुषसे छोड़े गये बाणोंद्वारा सब ओर परस्पर प्रहार करते थे ॥ १२ ॥

हताः केचिन्महाराज पेतुरुर्व्यां महासिभिः।
केचिन्मथितमस्तिष्का गदाभिर्वीर्यवत्तमाः ॥ १३ ॥

महाराज! कोई बड़ी-बड़ी तलवारोंसे मारे जाकर पृथ्वीपर गिर पड़े। कितने ही महापराक्रमी वीरोंके मस्तक गदाओंके आघातसे चूर चूर हो गये ॥ १३ ॥

भिन्नग्रीवा महाराज परिघैः परिघायुधैः।
यमराष्ट्रं गताः केचित् केचित् स्वर्गं समाययुः ॥ १४ ॥

महाराज! कितने ही परिघधारी योद्धाओंने अपने परिघोंद्वारा शत्रुओंकी गर्दनें तोड़ डालीं, उन मारे शत्रुओंमेंसे कुछ तो यमराजके राज्यमें गये और कुछ स्वर्गलोकमें जा पहुँचे ॥ १४ ॥

अप्सरोभिः समासेदुः पश्यन्तः स्वं कलेवरम्।
केचित् स्वांश्च परांश्चैव हत्वा भ्रान्ता इवाभवन् ॥ १५ ॥

वे अपने मृत शरीरको देखते हुए अप्सराओंसे जा मिले। कितने ही योद्धा परायों तथा अपनोंको भी मारकर भ्रान्त-से हो गये थे ॥ १५ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राजञ्छङ्खा भेर्यः सहस्रशः।
सस्वनुः सर्वतः सैन्ये मृदङ्गा बहवस्तथा ॥ १६ ॥

राजन्! इसी बीचमें सहस्रों शङ्खों और भेरियोंकी ध्वनि होने लगी। सेनामें सब ओर बहुत-से मृदङ्ग बजने लगे॥ १६॥

मध्यंदिनगते सूर्ये तापं दधति घोरवत्।
ततः पिशाचा विकृताः करालविततोदराः॥ १७॥
राक्षसाश्च महाघोराः पिशितं केशशाद्वलम्।
मुदिता भक्षयामासुः पिबन्तः शोणितं बहु॥ १८॥

सूर्य मध्याह्नकालमें पहुँचकर जब घोर ताप देने लगे, उस समय विशाल एवं विकराल पेटवाले विकृताकार पिशाच और महाघोर राक्षस आकर बड़ी प्रसन्नताके साथ बहुत-सा रक्त पीने और केशयुक्त मांस खाने लगे॥ १७-१८॥

संचितानि शवान्यासन् कबन्धाः खड्गपातिताः।
विभज्य देशं बहुशो युद्धभूमौ शवाशिनः॥ १९॥

वहाँ ढेर-की-ढेर लाशें पड़ी थीं, खड्गोंद्वारा गिराये हुए बिना सिरके धड़ एकत्र हो गये थे। वे शवका भक्षण करनेवाले पिशाच युद्धभूमिमें परस्पर बहुत-से देशका विभाजन करके मृतकोंके मांस खाते थे॥ १९॥

अथ श्येना मृगाश्चैव कङ्का गृध्रास्तथा परे।
तुण्डैः शवान् विनिष्कृष्य भक्षयन्ति ततस्ततः॥ २०॥

तदनन्तर बहुत-से बाज, हिंसक जन्तु, कंक, गृध्र तथा अन्य पक्षी इधर-उधरसे आकर अपनी चोंचोंसे मुर्दोंको खींच-खींचकर खाने लगे॥ २०॥

सप्ताशीतिसहस्राणि हता नागा नृपोत्तम।
त्रिंशत्सहस्रमयुतं निहता हयसत्तमाः॥ २१॥

नृपश्रेष्ठ! उस युद्धमें सत्तासी हजार हाथी मारे गये तथा तीस करोड़ अच्छे घोड़ोंका संहार हुआ॥ २१॥

हतं लक्षं महाराज रथानां रथिभिः सह।
त्रिंशत्कोट्यो हतास्तत्र सादिनः सायुधा भृशम्॥ २२॥

महाराज! रथियोंसहित एक लाख रथ नष्ट हुए तथा वहाँ तीस करोड़ शस्त्रधारी घुड़सवार गहरी चोट खाकर मारे गये थे॥ २२॥

मध्यंदिनगते सूर्ये हताः केचन निर्गताः।
केचिच्च तृषिता राजन् विविशुः पुष्करं सरः॥ २३॥

राजन्! सूर्यके मध्याह्नकालमें पहुँचते-पहुँचते कितने ही योद्धा घायल होकर रणभूमिसे निकल गये और कितने ही प्याससे पीड़ित हो पुष्कर सरोवरमें घुस गये॥ २३॥

केचिद् भूमिं समालिङ्ग्य भीता इत्यब्रुवन् रणे।
मुक्तकेशाः पतन्ति स्म रथान् संत्यज्य केचन॥ २४॥

कितने ही सैनिक पृथ्वीका आलिङ्गन करके पड़ गये और रणभूमिमें अपनेको भयभीत बताने लगे। कितने ही योद्धा केश खोले हुए रथोंको छोड़कर पृथ्वीपर गिर पड़ते थे॥

संदष्टोष्ठपुटाः केचित् सादिनः पुरतो हताः।
अत्यद्भुतं महायुद्धमासीत् पुष्करतीर्थके।
यथा देवासुरं युद्धमासीत् पूर्वं नृपोत्तम॥ २५॥

कितने ही घुड़सवार दाँतोंसे ओठ दबाये सामने मारे गये। नृपश्रेष्ठ! इस प्रकार पुष्करतीर्थमें अत्यन्त अद्भुत महान् युद्ध हुआ। पूर्वकालमें जिस प्रकार देवासुर-संग्राम हुआ था, वैसा ही वह भी था॥ २५॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने संकुलयुद्धे द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें संकुल-युद्धविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२२॥

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और विचक्रका घोर युद्ध तथा विचक्रका वध

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नन्तरे राजन् द्वन्द्वयुद्धमवर्तत।
विचक्रं योधयामास शार्ङ्गधन्वा गदाधरः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसी बीचमें वहाँ द्वन्द्वयुद्ध होने लगा। शार्ङ्गधन्वा गदाधारी श्रीकृष्णने विचक्रके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया॥ १॥

बलभद्रोऽथ हंसेन डिम्भकेन च सात्यकिः।
वसुदेवोग्रसेनाभ्यां हिडिम्बः पुरुषादकः॥ २॥

बलभद्रने हंसके साथ और सात्यकिने डिम्भकके साथ लोहा लिया। नरभक्षी हिडिम्ब वसुदेव तथा उग्रसेनके साथ युद्ध करने लगा॥ २॥

शेषाश्च शेषै राजेन्द्र चक्रुर्युद्धमदीनगाः।
वासुदेवस्त्रिसप्तत्या दैत्यं वक्षस्यताडयत्॥ ३॥

राजेन्द्र! किसीके सामने दीनता न प्रकट करनेवाले शेष वीर शेष योद्धाओंके साथ जूझने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने दैत्यकी छातीमें तिहत्तर बाण मारे॥ ३॥

शरैर्निशितधाराग्रैर्विस्मयं दर्शयन् रणे।
दानवो देवदेवेशं दृढेन निशितेन च॥ ४॥
शरेणाकर्णमाकृष्य धनुःप्रवरमीश्वरम्।
जघान स्तनमध्ये च पश्यतस्तु शचीपतेः॥ ५॥

उन बाणोंकी धार बड़ी तीखी थी। उन्होंने रणभूमिमें विस्मय प्रकट करते हुए उस दैत्यपर प्रहार किया था। तब उस दानवने भी अपने श्रेष्ठ धनुषको कानतक खींचकर एक सुदृढ़ और पैने बाणसे देवदेवेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी छातीमें

शचीपति इन्द्रके देखते देखते प्रहार किया ॥ ४-५ ॥

तेन विद्धोऽथ भगवान् वक्षोदेशे जनार्दनः ।
अवमच्छोणितं विष्णुरादिकाले यथा प्रजाः ॥ ६ ॥

वक्षःस्थलमें उसके बाणकी चोट खाकर भगवान् जनार्दन विष्णु रक्त वमन करने लगे, ठीक उसी तरह जैसे सृष्टिके आदि कालमें उन्होंने प्रजावर्गको अपने मुखसे प्रकट किया था॥

ततः क्रुद्धो हृषीकेशः क्षुरप्रेणाहनद् ध्वजम् ।
अश्वांश्च चतुरो हत्वा सारथिं च शरैस्त्रिभिः ॥ ७ ॥
ततो दध्मौ महाशङ्खं यथा तारामये रणे ।

तदनन्तर कुपित हुए भगवान् हृषीकेशने एक क्षुरप्रसे उस दानवकी ध्वजा काट डाली, फिर उसके चारों घोड़ोंको मारकर तीन बाणोंसे सारथिको भी कालके गालमें डाल दिया। तदनन्तर तारकामय संग्रामकी भाँति उन्होंने अपना महान् शङ्ख बजाया ॥ ७½ ॥

रथादुत्प्लुत्य सहसा दानवः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ८ ॥
गदां गृह्य महाघोरां दुःसहां वीर्यशालिनीम् ।
तया जघान दैत्येन्द्रः किरीटे केशवस्य ह ॥ ९ ॥
ललाटे च पुनर्विष्णुं सिंहनादं व्यनीनदत् ।

तब क्रोधसे मूर्च्छित हुए उस दानवने सहसा रथसे उछलकर एक दुःसह शक्तिशालिनी एवं महाभयंकर गदा हाथमें ले ली और उसके द्वारा उस दैत्यराजने पहले तो श्रीकृष्णके किरीटपर आघात किया, फिर उनके ललाटमें चोट पहुँचायी। तत्पश्चात् वह जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगा ॥ ८-९½ ॥

ततः शिलां च महतीं प्रगृह्य दनुजः किल ॥ १० ॥
भ्रामयित्वा दशगुणं प्राहरत् केशवोरसि ।

इसके बाद उस दानवने एक बहुत बड़ी शिला उठायी और उसे दस बार घुमाकर भगवान् श्रीकृष्णकी छातीपर दे मारा॥

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य हस्तेनादाय केशवः ॥ ११ ॥
जघान च तया दैत्यं स पपातार्दितः क्षितौ ।
गतासुरिव संजज्ञे श्वसन्निव पपात ह ॥ १२ ॥

उस शिलाको अपनी ओर आते देख भगवान् श्रीकृष्णने हाथसे पकड़ लिया और उसीसे उस दैत्यपर आघात किया। उस प्रहारसे पीड़ित हो वह दैत्य प्राणहीन-सा हो गया और लंबी साँस-सा खींचता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ११-१२ ॥

प्राप्य संज्ञां ततो दैत्यः क्रोधाद् द्विगुणमावभौ ।
आदाय परिघं घोरमिदमाह जनार्दनम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर होशमें आकर वह दैत्य कुपित हो उठा। क्रोधसे उसकी आभा दुगुनी हो गयी। उसने भयंकर परिघ लेकर भगवान् जनार्दनसे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

अनेन तव गोविन्द दर्पजातं निहन्म्यहम् ।
विक्रमज्ञस्तदा चासि मम देवासुरे रणे ॥ १४ ॥

'गोविन्द! इस परिघसे मैं तुम्हारा सारा घमंड चूर्ण किये देता हूँ। उन दिनों जब देवासुर-संग्राम हो रहा था, तुम मेरा पराक्रम जान चुके हो ॥ १४ ॥

तावेव विपुलौ वाहू स एवास्मि जनार्दन ।
तथापि युध्यसे वीर ज्ञात्वा त्वं मामकं बलम् ॥ १५ ॥
वारयैनं महाबाहो परिघं बाहुनिःसृतम् ।

'जनार्दन! वे ही दोनों मेरी विशाल भुजाएँ हैं और वही मैं हूँ। वीर! तुम मेरे बलको जान चुके हो, तो भी मुझसे युद्ध करते हो। महाबाहो! मेरी भुजाओंसे छूटे हुए इस परिघको रोको तो सही' ॥ १५½ ॥

इत्युक्त्वा देवदेवेशं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
चिक्षेप दैत्यो लोकेशं सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर उस दैत्यने सब लोगोंके देखते-देखते शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले देवदेवेश्वर जगदीश्वर श्रीकृष्णपर वह परिघ चला दिया ॥ १६ ॥

तं गृह्य बाहुना कृष्णो हतोऽसीति वदन् हरिः ।
खण्डशः कारयामास खड्गेन निशितेन ह ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने उस परिघको हाथसे पकड़ लिया और 'अब तू शीघ्र ही मारा जायगा' ऐसा कहते हुए उन्होंने अपनी तीखी तलवारसे उस परिघके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥

उत्पाट्य वृक्षं दैत्येशः शतशाखं महाशिखम् ।
तेन सम्पोथयामास विष्टरश्रवसं विभुम् ॥ १८ ॥

तब उस दैत्यराजने सौ शाखा और बहुत ऊँची शिखा-वाले एक विशाल वृक्षको उखाड़कर उसे विस्तृत यशवाले भगवान् श्रीकृष्णपर दे मारा ॥ १८ ॥

छित्त्वा तं चापि खड्गेन तिलशश्च चकार ह ।
विक्रीड्य सुचिरं विष्णुस्तेन दैत्येन माधवः ॥ १९ ॥
हन्तुमैच्छत् तदा दैत्यमादाय निशितं शरम् ।
आग्नेयास्त्रेण संयोज्य जघानैनं महान् हरिः ॥ २० ॥

माधव श्रीकृष्णने अपनी तलवारसे उस वृक्षको भी तिल-तिल करके काट डाला। इस प्रकार उस दैत्यके साथ चिरकालतक क्रीड़ा करके भगवान् महाविष्णुने उस समय उसे मार डालनेकी इच्छा की और एक तीखा बाण हाथमें लेकर उसे आग्नेयास्त्रसे संयुक्त करके उसके द्वारा उस दैत्य-पर आघात किया ॥ १९-२० ॥

संदह्य स शरो दैत्यं सर्वलोकस्य पश्यतः ।
यथापूर्वं जगामाशु करं भगवतः पुनः ॥ २१ ॥

उस बाणने सब लोगोंके देखते-देखते दैत्यको जलाकर भस्म कर दिया और पहलेकी भाँति वह शीघ्र ही भगवान्के हाथमें चला गया ॥ २१ ॥

हतशिष्टास्ततो दैत्याः पलायन्तो दिशो दश ।
अद्यापि न निवर्तन्ते गच्छन्तो वै महोदधिम् ॥ २२ ॥

फिर मरनेसे बचे हुए दैत्य दसों दिशाओंमें भागते हुए महासागरको चले गये। वे अब भी वहाँसे लौट नहीं रहे हैं ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने कृष्णस्योत्कर्षे त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानके प्रसंगमें श्रीकृष्णकी विजयविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

हंस और बलभद्रका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

बलदेवस्तु धर्मात्मा धनुरादाय सत्वरम्
जघान हंसं दशभिर्बाणैर्बाणभृतां वर ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बाणधारियोंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा बलदेवजीने तुरंत धनुष लेकर दस बाणोंसे हंसको घायल कर दिया ॥ १ ॥

तं प्रत्यविध्यन्नाराचैर्हंसः पञ्चभिराशुगैः
तानन्तरे हली छित्त्वा नाराचैर्दशभिः पुनः ।
नाराचेनाशु विव्याध ललाटे हंसमोजसा ॥ २ ॥

हंसने भी बदलेमें पाँच शीघ्रगामी नाराचोंद्वारा उनपर प्रहार किया; परंतु हलधरने पुनः दस नाराच मारकर बीचमें ही उन्हें काट दिया और शीघ्र ही एक नाराचसे हंसके ललाटमें बलपूर्वक आघात किया ॥ २ ॥

दृढं पतन् स नाराचस्तस्य संज्ञां समाददे ।
रथोपस्थे चिरं स्थित्वा तूणाद् बाणं समाददे ॥ ३ ॥
लब्ध्वा हंसः स संज्ञां तु विद्ध्वा तेन यदूत्तमम् ।
सिंहवद् व्यनदद्धंसो देवान् विस्मापयन् रणे ॥ ४ ॥

उस नाराचने गहरी चोट पहुँचाकर हंसको अचेत कर दिया। वह देरतक रथके पिछले भागमें बैठा रहा। इसके बाद होशमें आकर हंसने तरकससे बाण निकाला और उससे यदुश्रेष्ठ बलभद्रको घायल करके रणभूमिमें देवताओंको विस्मयमें डालते हुए उसने सिंहके समान गर्जना की॥ ३-४॥

ततः क्रुद्धो हली विद्धस्तेन बाणेन माधवः ।
वमञ्छोणितमत्युष्णं निःश्वसंश्च रणाजिरे ॥ ५ ॥

उसके बाणसे आहत होकर माधव हलधर कुपित हो उठे और समराङ्गणमें अत्यन्त उष्ण रक्त वमन करते हुए लंबी साँस खींचने लगे ॥ ५ ॥

लोहिताविष्टगात्रस्तु कुंकुमार्द्र इवाभवत् ।
नाराचैः शतसाहस्रैरर्दयामास माधवः ॥ ६ ॥
हंसं हंसगतिं वीरं नीलवासा हलायुधः ।

उनका शरीर रक्तसे रञ्जित हो कुङ्कुमसे भीगा हुआ सा प्रतीत होने लगा। तब नीलवस्त्रधारी हलधर माधवने हंसके समान गतिवाले वीर हंसको लाखों नाराचोंसे पीड़ित कर दिया॥ ६½ ॥

ते मुक्ता निशिता घोरा नाराचाश्च सुवाजिनः ॥ ७ ॥
रथे ध्वजे तथा चापे चक्रे तूणीद्वये नृप ।
पतिताः सर्वतो राजन् व्यथां चैव तथा ददुः ॥ ८ ॥

राजन् ! उनके धनुषसे छूटे हुए वे सुन्दर पंखवाले तीखे और भयंकर नाराच हंसके रथ, ध्वज, धनुष, चक्र और दोनों तरकसपर पड़कर सब ओरसे पीड़ा देने लगे ॥ ७-८ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज हंसो वीर्यमदान्वितः ।
शरेण हलिनं विद्ध्वा ध्वजं चिच्छेद कालवित् ॥ ९ ॥
शरैश्चतुर्भिरश्वांश्च सूतं प्रेताधिपे ददौ ।

महाराज ! तब बल-पराक्रमके मदसे उन्मत्त हुए और समयका ज्ञान रखनेवाले हंसने कुपित होकर एक बाणसे हलधरको घायल करके उनकी ध्वजा काट डाली; फिर चार बाणोंसे चारों घोड़ोंको मारकर एक बाणसे उनके सारथिको भी यमराजके हवाले कर दिया ॥ ९½ ॥

ततः क्रुद्धो हली तस्मै गदां गृह्य महारणे ॥ १० ॥
आपपात महाबाहुर्हंसं शेष इव श्वसन् ।

तब क्रोधमें भरे हुए महाबाहु हलधर उस महान् समरमें गदा लेकर फुफकारते हुए शेषनागके समान हंसपर टूट पड़े ॥ १०½ ॥

तया रथं ध्वजं चक्रमश्वान् सूतं हलायुधः ।
बभञ्ज तिलशः सर्वं ननाद च पुनः पुनः ॥ ११ ॥

हलधर बलरामजीने उस गदाके द्वारा हंसके रथ, ध्वज, चक्र, अश्व तथा सारथि सबको तिल-तिल करके काट डाला और बारंबार गर्जना की ॥ ११ ॥

भूयश्च गदया हंसं चिक्षेप च बली किल ।
सोऽपि हंसो गदां गृह्य रथात् तस्मादवापतत् ॥ १२ ॥

बलवान् वीर बलभद्रने पुनः गदाद्वारा हंसको चोट पहुँचायी। यह देख हंस भी गदा लेकर अपने रथसे कूद पड़ा ॥ १२ ॥

ततस्तौ हंसहलिनौ युयुधाते महारणे ।
महारथौ महाबाहू लोके प्रथिततेजसौ ॥ १३ ॥

तदनन्तर लोकमें विख्यात तेजवाले महाबाहु महारथी हंस और हलधर उस महासमरमें युद्ध करने लगे ॥ १३ ॥

अत्यद्भुतं सुविक्रान्तौ परस्परवधैषिणौ।
कृतश्रमौ महायुद्धे हंसविक्रान्तगामिनौ॥ १४॥

वे दोनों परम पराक्रमी, एक-दूसरेके वधकी इच्छा रखनेवाले, महायुद्धके लिये परिश्रम करनेवाले और हंसके समान चलनेवाले थे। उनमें अत्यन्त अद्भुत युद्ध होने लगा॥ १४॥

यथा देवासुरे युद्धे शक्रवृत्रौ पुराम्बरे।
उभौ संसिक्तसर्वाङ्गौ शोणितेन महारणे॥ १५॥

जैसे पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर इन्द्र और वृत्रासुर आकाशमें जूझते थे, उसी प्रकार वे हंस और बलभद्र भी परस्पर युद्ध कर रहे थे। उस महासमरमें दोनोंके सारे अङ्ग खूनसे रँग गये थे॥ १५॥

अत्यन्तखेदिनौ युद्धे परस्परबलेन ह।
ततश्च दक्षिणं मार्गं बलभद्रोऽन्वगच्छत॥ १६॥

उस युद्धस्थलमें एक-दूसरेके बलसे दोनोंको अत्यन्त खेद हो रहा था। तदनन्तर बलभद्रने दाहिने मार्गका अनुसरण किया॥ १६॥

सव्यं तु हंसो राजेन्द्र व्यगृह्णात् स्वयमेव हि।
पोथयाञ्चक्रतुर्युद्धे गदाभ्यां गजविक्रमौ॥ १७॥

राजेन्द्र! हंसने स्वयं ही बायें पैंतरेको अपनाया। हाथीके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले उन दोनों वीरोंने युद्धमें एक दूसरेको गदाद्वारा घायल किया॥ १७॥

यथाप्राणं महाबाहू जघ्नतुर्मरणाय तौ।
अतिप्रवृद्धं संग्रामं देवासुररणोपमम्॥ १८॥
विदधाते महारङ्गे पश्यतां त्रिदिवौकसाम्।

उन महाबाहु वीरोंने पूरा बल लगाकर एक दूसरेके वध-के लिये परस्पर प्रहार किया। उस महान् समराङ्गणमें समस्त देवताओंके देखते-देखते वे दोनों वीर देवासुर-संग्रामके समान बड़ा भारी युद्ध करने लगे॥ १८½॥

देवाश्च मुनयश्चैव विस्मयं परिजग्मिरे॥ १९॥
अहो खल्वीदृशं युद्धं दृष्टं पूर्वं न च श्रुतम्।
इत्यूचुर्विस्मयवशाद् देवगन्धर्वकिन्नराः॥ २०॥

देवता और मुनि भी बड़े विस्मयको प्राप्त हुए। देवता, गन्धर्व और किन्नर विस्मयके वशीभूत होकर इस प्रकार कहने लगे—'अहो! ऐसा युद्ध हमने न तो पहले कभी देखा है और न सुना ही है'॥ १९-२०॥

परस्परकृतोत्साहौ चक्रतुर्युद्धमुत्तमम्।
अथ हंसो महारङ्गे दक्षिणं दक्षिणोत्तमः।
व्यचरन्मार्गमत्यर्थं सव्यं तु बलवान् बलः॥ २१॥

एक दूसरेको जीतनेका उत्साह मनमें लिये वे दोनों वीर उत्तम युद्ध कर रहे थे। तदनन्तर उदार पुरुषोंमें श्रेष्ठ हंसने उस महासमरमें दाहिने पैंतरेपर विचरना आरम्भ किया और बलवान् बलभद्र बायें पैंतरेपर अत्यन्त तीव्र गतिसे विचरने लगे॥ २१॥

निकुञ्च्य जानुनी पूर्वं चक्रतुर्गदया भृशम्।
रणे रणविदां श्रेष्ठौ पश्यतां त्रिदिवौकसाम्॥ २२॥

युद्धकी कला जाननेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ बलभद्र और हंसने देवताओंके देखते-देखते पहले दोनों घुटनोंको मोड़कर रणभूमिमें एक-दूसरेको गदाद्वारा गहरी चोट पहुँचायी॥ २२॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने हंसबलभद्रयुद्धे चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें हंस और बलभद्रका युद्धविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२४॥

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकि और डिम्भकका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

युद्धं चक्रतुरत्यर्थं ततो डिम्भकसात्यकी।
तावुभौ बलिनौ वीरौ विख्यातौ क्षत्रियेषु च॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर डिम्भक और सात्यकि अत्यन्त घोर युद्ध करने लगे। वे दोनों बलवान् वीर क्षत्रियोंमें विख्यात थे॥ १॥

कृतश्रमौ महायुद्धे सततं वृद्धसेविनौ।
सात्यकिर्दशभिर्वीरो डिम्भकं वेदपारगम्॥ २॥
अविध्यन्निशितैर्बाणैः स्तने वक्त्रे तथोरसि।

उन्होंने महायुद्धमें बड़ा परिश्रम किया था। वे दोनों सदा वृद्ध पुरुषोंका सेवन करनेवाले थे। वीर सात्यकिने वेदों-के पारङ्गत विद्वान् डिम्भकके स्तन, मुख और छातीमें दस पैने बाणोंसे प्रहार किया॥ २½॥

स तेन विद्धो बलिना डिम्भकः क्षत्रियोत्तमः॥ ३॥
नाराचैः पञ्चसाहस्रैर्विव्याध युधि गर्वितः।
तानन्तरे वृष्णिवीरो निचिछेद निनदन् ब्रुवन्॥ ४॥

उस बलवान् वीरके द्वारा घायल किये गये क्षत्रियशिरोमणि डिम्भकने जिसे युद्धमें अपने पराक्रमपर बड़ा गर्व था, सात्यकिको पाँच हजार नाराचोंद्वारा चोट पहुँचायी, परंतु वृष्णिवीर सात्यकिने उन नाराचोंको बीचमें ही गर्जना करके तथा बोलकर हुंकारमात्रसे ही खण्डित कर दिया॥ ३-४॥

अथ क्रुद्धो नृपवरो विद्धः सप्तभिराशुगैः।

पुनः शतसहस्रेण प्रत्यविध्यत सात्यकिम् ॥ ५ ॥

तब सात शीघ्रगामी बाणोंसे घायल होकर कुपित हुए नृपश्रेष्ठ डिम्भकने पुनः एक लाख बाणोंसे सात्यकिको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ५ ॥

सात्यकिस्त्वथ विक्रान्तो धनुश्छिच्छेद तस्य तत्।
अर्धचन्द्रेण तीक्ष्णेन डिम्भकस्य स यादवः ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् पराक्रमी यादव वीर सात्यकिने एक तीखे अर्धचन्द्राकार बाणसे डिम्भकके उस धनुषको काट डाला ॥ ६ ॥

आजघ्ने डिम्भको वीरश्चापमादाय चापरम्।
क्षुरप्रेणाथ रौद्रेण तैलधौतेन विक्रमी ॥ ७ ॥

तब पराक्रमी वीर डिम्भकने दूसरा धनुष लेकर तेलसे धुले हुए भयंकर क्षुरप्रके द्वारा सात्यकिको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ७ ॥

स तेन विद्धो बाणेन वमञ्छोणितकं नृप।
अतीव शुशुभे राजन् वसन्ते किंशुको यथा ॥ ८ ॥

राजन्! उस बाणसे घायल हो रक्त वमन करते हुए सात्यकि वसन्तमें खिले हुए पलाशके समान बड़ी शोभा पाने लगे ॥ ८ ॥

धनुश्चिच्छेद भूयस्तु गृहीतं यत् पुनर्महत्।
ततोऽन्यद् धनुरादाय डिम्भको यादवेश्वरम् ॥ ९ ॥
जघान निशितैर्बाणैः सर्वक्षत्रस्य पश्यतः।

तब उन्होंने पुनः डिम्भकके उस विशाल धनुषको काट डाला, जिसको उसने दुबारा हाथमें लिया था। तदनन्तर डिम्भकने पुनः दूसरा धनुष हाथमें लेकर समस्त क्षत्रियोंके देखते-देखते यादवेश्वर सात्यकिको पैने बाणोंसे घायल करना आरम्भ किया ॥ ९½ ॥

स धनुः पुनरत्युग्रं चिच्छेद युधि सात्यकिः ॥ १० ॥
शरेण तीक्ष्णपुङ्खेन डिम्भकस्य दुरात्मनः।

सात्यकिने युद्धस्थलमें दुरात्मा डिम्भकके उस अत्यन्त भयंकर धनुषको तीखे पंखवाले बाणसे पुनः काट डाला ॥ १०½ ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय सत्वरं स नृपोत्तमः ॥ ११ ॥
धनुषा तेन राजेन्द्र सात्यकिं विव्यधे पुनः।

राजेन्द्र! फिर नृपश्रेष्ठ डिम्भकने तुरंत दूसरा धनुष लेकर उसके द्वारा सात्यकिको पुनः बींधना आरम्भ किया ॥ ११½ ॥

एवं धनूंषि राजेन्द्र शतं पञ्च च पञ्च च ॥ १२ ॥
छित्त्वा ननाद शैनेयः सर्वक्षत्रस्य पश्यतः।

राजाधिराज जनमेजय! इस प्रकार सात्यकिने सब क्षत्रियोंके देखते-देखते डिम्भकके एक सौ दस धनुष काटकर बड़े जोरसे गर्जना की ॥ १२½ ॥

धनुषी तौ परित्यज्य वीरौ डिम्भकसात्यकी ॥ १३ ॥
खड्गौ प्रगृह्य चात्युग्रौ युद्धाय समुपस्थितौ।
तौ हि खड्गविदां श्रेष्ठौ वीरौ डिम्भकसात्यकी ॥ १४ ॥

तब डिम्भक और सात्यकि दोनों वीर अपने धनुषोंको त्यागकर अत्यन्त भयंकर खड्ग हाथमें ले परस्पर युद्धके लिये उपस्थित हुए। वे दोनों वीर खड्गयुद्धके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ थे ॥ १३-१४ ॥

दौःशासनिर्महाभागः सौमदत्तिस्तथैव च।
अभिमन्युश्च विक्रान्तो नकुलश्च तथैव च ॥ १५ ॥
एते खड्गविदां श्रेष्ठाः कीर्तिता युधि सत्तमाः।

महाभाग दुःशासनकुमार, सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा, पराक्रमी अभिमन्यु तथा नकुल (और डिम्भक, सात्यकि)—ये युद्धस्थलके छः श्रेष्ठतम वीर खड्गयुद्धके ज्ञाताओंमें उत्कृष्ट माने गये हैं ॥ १५½ ॥

एतेष्वेतौ नृपश्रेष्ठौ षट्सु वै नृपसत्तम ॥ १६ ॥
तावेतावसिना युद्धं चक्रतुर्युद्धलालसौ।

नृपश्रेष्ठ! इन छहोंमें भी ये दोनों श्रेष्ठ नरेश सर्वोत्तम कहे गये हैं। वे ही दोनों युद्धकी लालसा लेकर खड्गद्वारा परस्पर जूझने लगे ॥ १६½ ॥

भ्रान्तमुद्भ्रान्तमाविद्धं प्रविद्धं बाहुनिःसृतम् ॥ १७ ॥
आकरं विकरं भिन्नं निर्मर्यादममानुषम्।
संकोचितं कुलचितं सव्यजानु विजानु च ॥ १८ ॥
आह्निकं चित्रकं क्षिप्तं कुसुम्भं लम्बनं धृतम्।
सर्वबाहु विनिर्बाहु सव्येतरमथोत्तरम् ॥ १९ ॥
त्रिबाहु तुङ्गबाहुत्वं सव्योन्नतमुदासि च।
पट्टिकं मौष्टिकं चैव यौधिकं प्रथितं तथा ॥ २० ॥
इति प्रकारान् द्वात्रिंशच्चक्रतुः खड्गयोधिनौ।
पुनः पुनः प्रहरन्तौ न च श्रममुपेयतुः ॥ २१ ॥
पुष्करस्थौ महाराज युद्धाय कृतनिश्चयौ।

भ्रान्त, उद्भ्रान्त, आविद्ध, प्रविद्ध, बाहुनिःसृत, आकर, विकर, भिन्न, निर्मर्याद, अमानुष, संकोचित, कुलचित, सव्यजानु, विजानु, आह्निक, चित्रक, क्षिप्त, कुसुम्भ, लम्बन, धृत, सर्वबाहु, विनिर्बाहु, दक्षिण, उत्तर, त्रिबाहु, तुङ्गबाहु, सव्योन्नत, उदासि, पट्टिक, मौष्टिक, यौधिक और प्रथित—ये खड्गयुद्धके बत्तीस पैंतरे हैं। खड्गयुद्धमें लगे हुए उन दोनों वीरोंने ये सभी पैंतरे वहाँ प्रकट किये। वे बारंबार प्रहार करते हुए भी थकते नहीं थे। महाराज! पुष्करमें रहकर उन दोनों वीरोंने युद्धके लिये दृढ़ निश्चय कर लिया था ॥ १७—२१½ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ २२ ॥
तुष्टुवुस्तौ महाराज जये कृतपरिश्रमौ।

जनमेजय! तदनन्तर देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि विजयके लिये परिश्रम करनेवाले उन दोनों वीरोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे—॥ २२½ ॥

अहो वीर्यमहो धैर्यमनयोर्बाहुशालिनोः ॥ २३ ॥

एतावेव रणे शक्तौ खड्गे धनुषि पारगौ।
एकः शिष्यो गिरीशस्य द्रोणस्यान्यो हि धीमतः॥ २४॥

'अहो! बाहुबलसे सुशोभित होनेवाले इन दोनों वीरोंका धैर्य और पराक्रम अद्भुत है। ये ही दोनों युद्धमें समर्थ हैं तथा खड्गविद्या और धनुर्वेदके पारङ्गत विद्वान् हैं। इनमेंसे एक तो भगवान् शङ्करका शिष्य है और दूसरा बुद्धिमान् द्रोणाचार्यका॥ २३-२४॥

अर्जुनः सात्यकिश्चैव वासुदेवो जगत्पतिः।
त्रय एते महावीराः प्रथिताः सङ्गरे सदा॥ २५॥

'अर्जुन, सात्यकि और जगदीश्वर भगवान् वासुदेव—ये तीन सदा ही युद्धस्थलमें 'महावीर' के नामसे विख्यात हैं॥ २५॥

डिम्भकः शक्तिभृच्छर्वस्त्रय एते महारथाः।
प्रसिद्धाः सर्व एवैते वीर्येषु च बलेषु च॥ २६॥

'डिम्भक, कुमार कार्तिकेय और भगवान् शिव—ये तीन मुख्य 'महारथी' हैं। ये सभी बल और वीर्यमें विख्यात हैं'॥ २६॥

इति ते देवगन्धर्वाः सिद्धा यक्षा महोरगाः।
दिविस्थिताः समं ऊचुर्युद्धदर्शनलालसाः॥ २७॥

इस प्रकार वे देवता, गन्धर्व, सिद्ध, यक्ष और बड़े-बड़े नाग युद्ध देखनेकी इच्छासे खड़े होकर एक साथ उपर्युक्त बातें कर रहे थे॥ २७॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने सात्यकिडिम्भकयुद्धे पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंस-डिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें सात्यकि और डिम्भकका युद्धविषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२५॥

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

हिडिम्बके साथ वसुदेव और उग्रसेनका युद्ध तथा बलभद्रके द्वारा हिडिम्बका वध

वैशम्पायन उवाच

वसुदेवोग्रसेनौ च वृद्धौ युद्धे सुनिर्वृतौ।
जराजरितसर्वाङ्गौ पलिताङ्गशिरोरुहौ॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वसुदेव और उग्रसेन बूढ़े होनेपर भी युद्धमें परम सुख माननेवाले थे। उनके सारे अङ्ग जरासे जीर्ण हो गये थे, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी थीं और सिरके बाल सफेद हो गये थे॥ १॥

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नौ राजमार्गविशारदौ।
युयुधाते महारङ्गे राक्षसेन दुरात्मना॥ २॥

वे ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न तथा राजमार्ग (क्षत्रियधर्म—युद्ध) में चतुर थे। ये दोनों उस महासमरमें दुरात्मा राक्षस हिडिम्बके साथ युद्ध करने लगे॥ २॥

शरैरनेकसाहस्रैरर्दयामासतू रणे।
राक्षसेन्द्रं दुरात्मानं हिडिम्बं पुरुषादकम्॥ ३॥

उन दोनोंने अनेक सहस्र बाणोंद्वारा रणभूमिमें नरभक्षी राक्षसराज दुरात्मा हिडिम्बको पीडित कर दिया॥ ३॥

हिडिम्बो राक्षसेन्द्रस्तु भक्षयन् सर्वतो नरान्।
अतिप्रवृद्धो दुष्टात्मा लम्बबाहुर्महाहनुः॥ ४॥
लम्बोदरो विरूपाक्षः पिङ्गकेशो विलोचनः।
श्येननासो महारौद्र ऊर्ध्वरोमा महाभुजः॥ ५॥

राक्षसराज हिडिम्ब सब ओरसे मनुष्योंको खाता हुआ अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट हो गया था। उसकी भुजाएँ और ठोड़ी विशाल थी। वह बड़ा दुष्टात्मा था पेट लंबा और नेत्र विकराल थे। सिरके बाल पिंगल वर्णके दिखायी देते थे। उसकी आँखें विकृत थीं। नासिका बाजकी चोंचके समान जान पड़ती थी। वह महाभयंकर और विशाल भुजाओंसे युक्त था। उसके रोम ऊपरको उठे हुए थे॥ ४-५॥

पर्वताकारवर्ष्मा च दीर्घदंष्ट्रः शिवाननः।
लम्बोदरो दीर्घदन्तो जगद्ग्रासपरस्तथा॥ ६॥

शरीर पर्वताकार दिखायी देता था। दाढ़ें बड़ी-बड़ी थीं और मुँह गीदड़के समान प्रतीत होता था। लंबे पेट और बड़े-बड़े दाँतोंवाला वह राक्षस सम्पूर्ण जगत्‌को अपना ग्रास बना लेनेके लिये तत्पर जान पड़ता था॥ ६॥

उत्तुङ्गांसो महोरस्को दीर्घग्रीवो गजोपमः।
भक्षयन् मांसपिटकं पिबञ्शोणितसंचयम्॥ ७॥

उसके कंधे ऊँचे, छाती चौड़ी और गर्दन लंबी थी। वह देखनेमें हाथी-जैसा जान पड़ता था। वह पिटारी भर मांस खाता और संचित करके रखे हुए घड़ों रक्त पी जाता था॥ ७॥

गजान् नागैः समाहत्य हयैरश्वान् नृपोत्तम।
रथान् रथैः समाहत्य सादिनः सादिभिस्तथा॥ ८॥

नृपश्रेष्ठ! वह हाथियोंसे हाथियोंको, घोड़ोंसे घोड़ोंको, रथोंसे रथोंको और सवारोंसे सवारोंको मारकर कुचल देता था॥ ८॥

...श्वान् स पुरो दृष्ट्वा नास्यमासं चकार सः।
...द्धत्वा महाराज वृष्णिपलान् समन्ततः॥ ९॥

भक्षयामास सहसा हिडिम्बः पुरुषादकः ।
यान् पश्यन् पुरतो रक्षस्ताञ्जघान विरूपधृक् ॥ १० ॥

वह मनुष्योंको अपने सामने देखकर उन्हें नासिकाका ग्रास बना लेता था—नसकी तरह श्वासमार्गसे भीतर खींच लेता था। महाराज! नरभक्षी हिडिम्बने सब ओरसे आक्रमण करके कुछ वृष्णिपालक योद्धाओंको मारकर सहसा अपना आहार बना लिया। उस विकराल रूपधारी राक्षसने जिन्हें सामने देखा, उन्हींका वध कर डाला ॥ ९-१० ॥

भक्षयन्नपरान् वृष्णीन् यादवान् राक्षसेश्वरः ।
चिक्षेप सहसा कांश्चिद्धिडिम्बः पुरुषादकः ॥ ११ ॥

पुरुषभक्षी राक्षसराज हिडिम्बने कितने ही वृष्णियों और यादवोंको खाते हुए उनमेंसे कुछको उठाकर सहसा दूर फेंक दिया ॥ ११ ॥

अन्तकाले यथा क्रुद्धो रुद्रः प्राणभृतो नृप ।
क्षणेनैकेन सर्वांस्तान् भक्षयामास राक्षसः ॥ १२ ॥

नरेश्वर! जैसे कुपित हुए रुद्रदेव अन्तकालमें प्राणियोंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार उस राक्षसने एक ही क्षणमें उन सबका भक्षण कर लिया ॥ १२ ॥

केचिद् भीता दिशः प्रापुर्वृष्णयो वीर्यशालिनः ।
केचित् तु भक्षितास्तेन रक्षसा वृष्णिपुङ्गवाः ॥ १३ ॥

कुछ पराक्रमशाली वृष्णिवंशी भयभीत हो विभिन्न दिशाओंमें भाग गये तथा कितने ही वृष्णिवंशके श्रेष्ठ योद्धा उस राक्षसके आहार बन गये ॥ १३ ॥

कुम्भकर्णो यथा राजन् भक्षयामास वानरान् ।
निःशेषं वृष्णिसैन्यं तु चकार पुरुषादकः ॥ १४ ॥

राजन्! जैसे कुम्भकर्ण वानरोंको खा गया था। उसी प्रकार उस नरभक्षी निशाचरने वृष्णिवंशकी सेनाको समाप्त-सी कर दिया ॥ १४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धौ वृद्धौ यादवपुङ्गवौ ।
धनुर्गृह्य महाघोरं राक्षसस्य पुरः स्थितौ ॥ १५ ॥
यथा क्रुद्धस्य सिंहस्य मृगौ वृद्धतमाविव ।

इसी बीचमें बूढ़े यादवशिरोमणि वसुदेव और उग्रसेन कुपित हो महाभयंकर धनुष हाथमें लेकर उस राक्षसके सामने खड़े हुए, मानो क्रोधमें भरे हुए सिंहके समक्ष दो अत्यन्त वृद्ध मृग आ गये हैं ॥ १५½ ॥

व्यादायास्यं महारक्षस्तौ वृद्धावभ्यधावत ॥ १६ ॥
चिखादिषुर्विरूपाक्षः पातालतलसंनिभः ।

उस समय वह महाराक्षस मुँह बाकर उन दोनों बूढ़ोंको खा जानेकी इच्छासे उनकी ओर दौड़ा। उसके नेत्र बड़े भयंकर थे। वह अपने खुले हुए मुखसे पाताल-तलके समान प्रतीत होता था ॥ १६½ ॥

ततो रक्षः पर्यधावत् खादत् खादत् कलेवरम् ॥ १७ ॥
पूरयामासतुर्वीरौ शरैर्यदुनृपौ नृप ।
हिडिम्बस्य महाघोरं व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥ १८ ॥

नरेश्वर! तदनन्तर मनुष्यके शरीरको बारंबार चबाता हुआ वह राक्षस उन दोनोंकी ओर वेगपूर्वक दौड़ा। उस समय उन युद्धश्रेष्ठ वीरोंने अपने बाणोंद्वारा हिडिम्बके महाभयंकर खुले हुए मुखको, जो मुँह बाये हुए यमराजके समान जान पड़ता था, अपने बाणोंसे भर दिया ॥ १७-१८ ॥

सर्वांस्तान् वारयामास देवशत्रुर्विरूपधृक् ।
धावति स ततो रक्षो व्यादितास्यं भयानकम् ॥ १९ ॥

तब उस विकराल रूपधारी देवद्रोही भयानक राक्षसने उन सब बाणोंका निवारण कर दिया और पुनः मुँह फैलाकर उनपर धावा किया ॥ १९ ॥

तयोर्गृहीत्वा धनुषी बभञ्ज युधि सत्वरम् ।
बाहू प्रसार्य दुष्टात्मा राक्षसो विकृताननः ॥ २० ॥
वसुदेवं महीपालं राजानं वृद्धसेविनम् ।
ग्रहीतुं राक्षसश्रेष्ठो यतते नृपसंसदि ॥ २१ ॥

उसने उन दोनोंके धनुष छीनकर तुरंत उस युद्धस्थलमें ही तोड़ डाले; फिर वह विकराल मुखवाला दुष्टात्मा राक्षस अपनी दोनों बाँहें फैलाकर वृद्धसेवी भूपाल राजा वसुदेवको उस राजसमाजमें ही पकड़नेकी चेष्टा करने लगा। वह राक्षसोंमें श्रेष्ठ समझा जाता था ॥ २०-२१ ॥

हिडिम्ब उवाच

एष वां भक्षयिष्यामि वसुदेवं त्वया सह ।
उग्रसेन किमर्थं त्वं तिष्ठसे मत्पुरोगमः ॥ २२ ॥

हिडिम्ब बोला—उग्रसेन! तुम किस लिये मेरे सामने खड़े हो। मैं अभी तुम दोनोंको खा जाऊँगा। तुम्हारे साथ वसुदेवको भी चट कर जाऊँगा ॥ २२ ॥

आगच्छ प्रविशास्यं मे ग्रासभूतौ तु वां मम ।
विधिना निर्मितो वृद्धो वसुदेवो हरेः पिता ॥ २३ ॥
बुभुक्षितः श्रमार्तश्च युद्धे त्वरितविक्रमः ।
मन्मुखान्नैव गच्छेतां प्रविशेतां त्वरान्वितौ ॥ २४ ॥

आओ! मेरे मुखमें प्रवेश करो। तुम दोनों मेरे ग्रास-स्वरूप हो। जिसे विधाताने श्रीकृष्णका पिता बना दिया है, वह बूढ़ा वसुदेव भूखसे पीड़ित है, परिश्रमसे कष्ट पाता है और युद्धमें शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करता है। अब तुम दोनों मेरे मुँहसे छूटकर नहीं जा सकते, तुरंत ही मेरे मुखके भीतर प्रवेश करो ॥ २३-२४ ॥

युवयोः शोणितं पीत्वा तृप्तिं यास्यामि निर्वृतः ।
खादामि च पुनर्मांसं वृद्धयोर्युवयोः सुखम् ॥ २५ ॥

तुम दोनोंका रक्त पीकर मैं तृप्त होऊँगा और संतोष प्राप्त करूँगा। इसके बाद तुम दोनों बूढ़ोंके मांसको मैं सुखपूर्वक खाऊँगा ॥ २५ ॥

इति ब्रुवंस्तथा रक्षो व्यादितास्यो महाहनुः ।

धावति स्म तदा क्षिप्रं हिडिम्बो राक्षसेश्वरः ॥ २६ ॥

ऐसा कहता हुआ विशाल ठोड़ीवाला राक्षसराज निशाचर हिडिम्ब उस समय मुँह बाकर उनकी ओर दौड़ा ॥ २६ ॥

वसुदेवोग्रसेनौ च भीतौ विप्रेक्ष्य सर्वतः ।
दिशोऽभ्यभजतां राजन् निःशस्त्रौ वृष्णिपुङ्गवौ ॥ २७ ॥

राजन्! तब शस्त्रहीन हुए वृष्णिशिरोमणि वसुदेव और उग्रसेन भयभीत हो सब ओर देखकर विभिन्न दिशाओंमें भागने लगे ॥ २७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे दृष्ट्वा बलभद्रः प्रतापवान् ।
दृष्ट्वा च तौ तथाभूतौ वसुदेवोग्रसेनकौ ॥ २८ ॥
वासुदेवे समादिश्य हंसं युध्यन्तमीश्वरे ।
निर्गत्य चान्तरं तस्य राक्षसस्य दुरात्मनः ॥ २९ ॥

इसी बीचमें प्रतापी बलभद्रने वसुदेव और उग्रसेनको वैसी अवस्थामें पड़ा देख, जूझते हुए हंसका भार बलवान् श्रीकृष्णको सौंप दिया और स्वयं वे उस दुरात्मा राक्षसके बीचमें आकर इस प्रकार बोले—॥ २८-२९ ॥

मा कृथाः साहसं रक्षो मुञ्चैतौ राजसत्तमौ ।
स्थितोऽस्मि युध्यतां रक्षो मया शत्रूञ्जिघांसता ॥ ३० ॥
अहमेव हनिष्ये त्वां का चेयं तव भीषिका ।

'ओ राक्षस! ऐसा दुःसाहस न कर। इन दोनों भूपशिरोमणियोंको छोड़ दे। मैं खड़ा हूँ। शत्रुओंके वधकी इच्छासे यहाँ आये हुए मुझ बलभद्रके साथ तू युद्ध कर। केवल मैं ही तुझे मार डालूँगा, यह क्या तेरी विभीषिका है!॥

इति ब्रुवाणं हलिनं तौ विसृज्य महारणे ॥ ३१ ॥
महानयमसौ दुष्टो भक्षयाम्येनमग्रतः ।
विदार्य पूर्ववद् वक्त्रं बलभद्रमुपाद्रवत् ॥ ३२ ॥

इस तरह बोलते हुए हलधरकी बात सुनकर हिडिम्बने उस महासमरमें वसुदेव और उग्रसेनको तो छोड़ दिया और सोचा—'यह महान् दुष्ट है, अतः पहले इसीको खा जाऊँ' ऐसा विचारकर पूर्ववत् मुँह फैलाये हुए उसने बलभद्रपर धावा किया ॥ ३१-३२ ॥

विसृज्य सशरं चापं राक्षसस्य पुरः स्थितः ।
मुष्टिं प्रगृह्य बलवान् स्फोटयन् बाहुमुत्तमम् ॥ ३३ ॥

बलवान् बलभद्र बाणसहित धनुषको त्यागकर अपनी उत्तम भुजापर ताल ठोंकते हुए उस राक्षसके आगे मुट्ठी बाँधकर खड़े हो गये ॥ ३३ ॥

हिडिम्बस्त्वथ दुष्टात्मा मुष्टिं कृत्वा भयानकम् ।
जघान वक्षो रामस्य व्यादितास्य इवान्तकः ॥ ३४ ॥

दुष्टात्मा हिडिम्बने भी मुँह बाये हुए यमराजकी भाँति भयंकर मुट्ठी बाँधकर बलरामके वक्षःस्थलपर प्रहार किया ॥

क्रुद्धोऽथ बलभद्रस्तु मुष्टिना तेन ताडितः ।
जघान मुष्टिना तेन राक्षसेशमनिन्दितः ॥ ३५ ॥

उसके मुक्केकी मार खाकर अनिन्द्य बलशाली बलभद्रजी कुपित हो उठे। फिर उन्होंने भी उस राक्षसराजको मुक्केसे मारा॥

मुष्टियुद्धं समभवन्नरराक्षसवीरयोः ।
युद्ध्यतोर्युद्धरङ्गेऽथ नरराक्षससिंहयोः ॥ ३६ ॥
तयोश्चटचटाशब्दः प्रादुरासीद् भयानकः ।

फिर तो उन नर और निशाचर वीरोंमें मुक्केसे ही युद्ध होने लगा। युद्धकी रङ्गभूमिमें जूझते हुए नरसिंह बलभद्र और राक्षससिंह हिडिम्बके मुक्कोंका भयंकर चट-चट शब्द प्रकट होने लगा ॥ ३६½ ॥

अथ राक्षसराजस्तु मुष्टिना राममाहवे ॥ ३७ ॥
जघान वक्षोदेशे तु वज्रेणेव पुरंदरः ।

तदनन्तर राक्षसराज हिडिम्बने समराङ्गणमें बलरामके वक्षःस्थलपर मुक्केसे प्रहार किया, मानो देवराज इन्द्रने किसी पर्वतपर वज्रसे आघात किया हो ॥ ३७½ ॥

अथ रामो बली साक्षान्मुष्टिं संवर्त्य यत्नतः ॥ ३८ ॥
हिडिम्बं ताडयामास वक्षस्यमरविद्विषम् ।
तलाभ्यामथ रामस्तु वक्त्रे हत्वा स राक्षसम् ॥ ३९ ॥

इसके बाद साक्षात् बलवान् बलरामने यत्नपूर्वक मुट्ठी बाँधकर देवद्रोही हिडिम्बके वक्षःस्थलपर बड़े जोरसे आघात किया। तत्पश्चात् उन्होंने उस राक्षसके मुँहपर दो तमाचे जड़ दिये ॥ ३८-३९ ॥

आहतस्तलघातेन हिडिम्बो राक्षसेश्वरः ।
जानुभ्यामपतद् भूमौ गतासुर्वीरराक्षसः ॥ ४० ॥

उनके तमाचेकी मार खाकर वीर निशाचर राक्षसराज हिडिम्ब प्राणहीन-सा होकर घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥

तत उत्पत्य रामस्तु दोर्भ्यां संगृह्य राक्षसम् ।
आदाय बहुवेगेन भ्रामयित्वा पदात् पदम् ॥ ४१ ॥
व्याविध्यत् सुचिरं रामो दर्शयन्नात्मनो बलम् ।
उत्क्षिप्य राक्षसेन्द्रं तं सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ४२ ॥
गव्यूतिमात्रं चिक्षेप ततो देशाद्धलायुधः ।
गतासू राक्षसश्रेष्ठस्ततो देशान्निराक्रमत् ॥ ४३ ॥

फिर बलरामजीने उछलकर उस राक्षसको दोनों हाथोंसे पकड़ लिया और उसे उठाकर पग-पगपर बड़े वेगसे घुमाया। इस तरह अपना बल दिखाते हुए बलरामजी देरतक उसे घुमाते रहे। फिर सब लोगोंके देखते-देखते हलधरने उस राक्षसराजको उछालकर वहाँसे दो कोस दूर फेंक दिया। इस प्रकार राक्षसप्रवर हिडिम्ब प्राणशून्य होकर उस स्थानसे दूर निकल गया* ॥ ४१-४३ ॥

ये केचिद् राक्षसास्तत्र हतशेषा महारणे ।
बलभद्रात् ततो भीता जग्मुश्चैवं दिशो दश ॥ ४४ ॥

* पाण्डव भीमसेनने एकचक्रा नगरीमें जानेसे पूर्व जिस हिडिम्ब नामक राक्षसको मारा था, वह इससे भिन्न था और वह इससे पहले ही मारा जा चुका था। यह दूसरा हिडिम्ब बलभद्रजीके हाथों मारा गया।

उस महासमरमें जो कोई भी राक्षस वहाँ मरनेसे बचे हुए थे, वे बलभद्रजीसे भयभीत हो वहाँसे दसों दिशाओंमें भाग गये ॥

अथांशुमाली भगवान् दिनेशः
संहृत्य तेजांसि सहस्ररश्मिः ।
अस्तं ययौ चक्षुरपि प्रजाना-
मीषत्तमश्चापि समाविवेश ॥ ४५ ॥

तदनन्तर सहस्रों किरणोंसे सुशोभित दिनके स्वामी अंशुमाली भगवान् सूर्य अपने तेज समेटकर अस्ताचलको चले गये और प्रजाजनोंके नेत्रोंमें कुछ-कुछ अन्धकारका समावेश हो गया ॥ ४५ ॥

तस्मिन् प्रविष्टेऽथ समुद्रतोयं
प्रजापतौ विश्वमुखे जगद्गुरौ ।
नक्षत्रनाथः समुपाजगाम
संध्यातमोऽपि व्यनशन्नृपोत्तम ॥ ४६ ॥

नृपश्रेष्ठ जनमेजय ! सम्पूर्ण विश्वके मुखस्वरूप प्रजापालक जगद्गुरु सूर्यदेवके समुद्रके जलमें प्रवेश कर जानेपर नक्षत्र-नाथ चन्द्रमाका उदय हुआ, जिससे संध्याकालका अन्धकार भी नष्ट हो गया ॥ ४६ ॥

प्रभातकाले नृप सत्तमो रणो
गोवर्धने किन्नरगीतनादिते ।
इति ब्रुवन्तो नृपसत्तमास्तदा
व्युपारमंस्तत्र रणोत्सवे नृप ॥ ४७ ॥

जनमेजय ! उस समय हंसकी सेनामें जो श्रेष्ठ नरेश थे, वे यह कहते हुए वहाँ समरोत्सवसे विरत हो गये कि 'राजन् ! कल प्रातःकालका युद्ध किन्नरोंके गीतसे गूँजते हुए गोवर्धन पर्वतपर हो तो अच्छा होगा' (ऐसा कहकर वे सब नरेश वहाँसे भागकर गोवर्धन पर्वतपर चले गये) ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने हिडिम्बपराभवे षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंस-डिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें हिडिम्बका पराभवविषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

गोवर्धन पर्वतके समीप हंस और डिम्भकके साथ यादवोंका युद्ध, श्रीकृष्णद्वारा भूतेश्वरोंकी पराजय तथा श्रीकृष्ण और हंसका घोर युद्ध

वैशम्पायन उवाच

उभौ तौ हंसडिम्भकौ रात्रावेव महागिरिम् ।
जग्मतुः सहितौ राजन् गोवर्धनमथो नृप ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नरेश्वर ! तदनन्तर वे दोनों भाई हंस और डिम्भक रातमें ही एक साथ महागिरि गोवर्धन पर्वतको चल दिये ॥ १ ॥

अथ प्रभाते विमले सूर्ये चाभ्युदिते सति ।
गोवर्धनं जगामाशु केशवः केशिसूदनः ॥ २ ॥

जब निर्मल प्रभातकाल आनेपर सूर्यदेवका उदय हुआ, तब केशिहन्ता भगवान् केशव भी शीघ्रतापूर्वक गोवर्धन पर्वतकी ओर चले ॥ २ ॥

शैनेयो बलभद्रश्च यादवाः सारणादयः ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च नादितं बहुधा गिरिम् ॥ ३ ॥

सात्यकि, बलभद्र और सारण आदि यादव भी गन्धर्वों और अप्सराओंके नाना प्रकारके गीतोंसे निनादित गोवर्धन पर्वतपर गये ॥ ३ ॥

जग्मुस्ते सहिता राजन् गोवर्धनमथो गिरिम् ।
गोधनैरथ सैन्यैश्च नादितं बहुधा गिरिम् ॥ ४ ॥

राजन् ! वे सब लोग एक साथ गोवर्धन पर्वतपर जा पहुँचे । वह पर्वत गोधनों और सेनाओंके नाना प्रकारके शब्दोंसे प्रतिध्वनित हो रहा था ॥ ४ ॥

तस्योत्तरं नृपश्रेष्ठ पार्श्वं सम्प्राप्य यादवाः ।
निकषा यमुनां राजंस्ततो युद्धमवर्तत ॥ ५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! राजन् ! जब यादव उस पर्वतके उत्तर तटपर पहुँच गये, तब यमुनाके निकट पुनः युद्ध आरम्भ हुआ ॥

विव्याध हंसडिम्भकौ वसुदेवश्च सप्तभिः ।
सारणः पञ्चविंशत्या दशभिः कङ्क एव च ॥ ६ ॥

वसुदेवने सात बाणोंसे हंस और डिम्भकको घायल कर दिया । सारणने पचीस और कङ्कने दस बाण मारे ॥ ६ ॥

हंसेन डिम्भकेनाथ यादवैश्च समन्ततः ।
उग्रसेनस्त्रिसप्तत्या शराणां नतपर्वणाम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार हंस और डिम्भकके साथ यादवोंका सब ओरसे युद्ध छिड़ गया । उग्रसेनने झुकी हुई गाँठवाले तिहत्तर बाण मारे ॥ ७ ॥

विराटस्त्रिंशता राजन् सात्यकिश्चापि सप्तभिः ।
अशीत्या विपृथू राजन्नुद्धवो दशभिः शरैः ॥ ८ ॥

राजन् ! विराटने तीस, सात्यकिने सात, विपृथुने अस्सी तथा उद्धवने दस बाणोंका प्रहार किया ॥ ८ ॥

प्रद्युम्नस्त्रिंशता राजन् साम्बश्चापि च सप्तभिः।
अनाधृष्टिस्त्वेकषष्ट्या शराणां नतपर्वणाम् ॥ ९ ॥

जनमेजय ! प्रद्युम्नने तीस, साम्बने सात और अनाधृष्टिने झुकी हुई गाँठवाले इकसठ बाणोंद्वारा शत्रुओंको घायल कर दिया ॥ ९ ॥

एवं ते सहिता राजंश्चक्रुर्युद्धमदीनवत्।
अत्यद्भुतं महाघोरं यादवाः सर्व एव हि ॥ १० ॥

राजन् ! इस प्रकार वे समस्त यादव एक साथ होकर उत्साहसम्पन्न पुरुषकी भाँति अत्यन्त अद्भुत और महाघोर युद्ध करने लगे ॥ १० ॥

चक्रुस्ताभ्यां महायुद्धं वासुदेवस्य पश्यतः।
सर्वानपि महाराज यादवान् बलदर्पितान् ॥ ११ ॥
तावुभौ हंसडिम्भकौ नृपांस्तान् प्रत्यविध्यताम्।

महाराज ! भगवान् श्रीकृष्णके देखते-देखते समस्त यादवोंने हंस और डिम्भकके साथ महान् युद्ध छेड़ दिया। दोनों भाई हंस और डिम्भकने भी उन समस्त यादवनरेशोंको अपने बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ११½ ॥

प्रत्येकं दशभिर्विद्ध्वा बाणैर्निशितनिर्मलैः ॥ १२ ॥
जघ्नतुश्च शरैस्तीक्ष्णैरत्यर्थं यादवेश्वरान्।

उन दोनोंने तेज धारवाले चमचमाते हुए दस-दस बाणोंद्वारा प्रत्येकको घायल करके पैंने बाणोंसे समस्त यादवेश्वरोंको गहरी चोट पहुँचायी ॥ १२½ ॥

व्यथिताः सर्व एवैते वमन्तः शोणितं बहु ॥ १३ ॥
माधवे किंशुका राजन् पुष्पिता इव ते बभुः।

राजन् ! उन बाणोंसे व्यथित हो ये सब-के-सब मुँहसे बहुत-सा रक्त वमन करते हुए वसन्त ऋतुमें खिले हुए पलाशवृक्षोंके समान शोभा पाने लगे ॥ १३½ ॥

भीताश्च यादवा राजन् पलायनपरायणाः ॥ १४ ॥
एतस्मिन्नन्तरे राजन् वसुदेवात्मजो नृप।
वासुदेवो हली युद्धे प्रमुखे धन्विनौ तयोः ॥ १५ ॥
चक्रतुर्युद्धमतुलं स्कन्दशक्राविवाम्बरे।

राजन् ! उस समय यादव सैनिक भयभीत होकर भागने लगे। महाराज जनमेजय ! इसी बीचमें वसुदेवके पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण और हलधर बलराम धनुष हाथमें लिये युद्धके मुहानेपर उन दोनोंके सामने आकर उसी तरह अनुपम संग्राम करने लगे, जैसे इन्द्र और कार्तिकेय आकाशमें खड़े होकर असुरोंसे युद्ध करते हैं ॥ १४-१५½ ॥

तयोरेव सगन्धर्वाः सिद्धा यक्षा महर्षयः ॥ १६ ॥
विमानस्थाश्च ददृशुर्युद्धं देवासुरोपमम्।

उस समय विमानोंपर बैठे हुए गन्धर्व, सिद्ध, यक्ष और महर्षि देवासुर-संग्रामके समान उन दोनोंका युद्ध देखने लगे ॥ १६½ ॥

ततः प्रादुरभूतां तौ दूतौ भूतेश्वरौ नृप ॥ १७ ॥
शूलिना प्रेषितौ युद्धे रक्षार्थं बलिनोस्तयोः।

नरेश्वर ! तदनन्तर वहाँ युद्धमें उन दोनों बलवान् वीर हंस और डिम्भककी रक्षा करनेके लिये महादेवजीके भेजे हुए वे दोनों भूतेश्वर दूत प्रकट हुए ॥ १७½ ॥

हंसोऽथ वासुदेवश्च युद्धं चक्रतुरीश्वरौ ॥ १८ ॥
रामश्च डिम्भकश्चैव संयुक्तौ युद्धकाङ्क्षया।

उस समय भगवान् श्रीकृष्ण और हंस दोनों सामर्थ्यशाली वीर एक दूसरेके साथ युद्ध करने लगे। उधर बलराम और डिम्भक भी युद्ध करनेकी इच्छासे परस्पर उलझ गये ॥ १८½ ॥

विक्रान्ताः सर्व एवैते ह्यस्त्रे शस्त्रे तथा बले ॥ १९ ॥
शङ्खान् दध्मुः पृथग्घ्रादं स्वे स्वे सर्वे रथे स्थिताः।

ये सब-के-सब अस्त्र, शस्त्र और बलमें पराक्रमी थे। इन सबने अपने-अपने रथमें स्थित होकर पृथक्-पृथक् शङ्ख बजाना आरम्भ किया ॥ १९½ ॥

अथ कृष्णो हृषीकेशः पाञ्चजन्यं महारवम् ॥ २० ॥
दध्मौ पद्मपलाशाक्षः सर्वान् विस्मापयन्निव।

तदनन्तर इन्द्रियोंके प्रेरक कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने सबको विस्मयमें डालते हुए-से महान् शब्द करनेवाले पाञ्चजन्य शङ्खको बजाया ॥ २०½ ॥

अथ भूतौ महाघोरौ लम्बोदरशरीरिणौ ॥ २१ ॥
दुद्रुवतुर्महाराज शूलमादाय केशवम्।

महाराज ! इतनेमें ही लंबे पेट और विशाल शरीरवाले उन महाभयंकर भूतोंने शूल लेकर भगवान् श्रीकृष्णपर आक्रमण किया ॥ २१½ ॥

शूलेन पोथयां राजंश्चक्रतुर्यादवेश्वरम् ॥ २२ ॥
ताभ्यां समाहतो विष्णुर्देवगन्धर्वसंनिधौ।
ईषत्स्मिताधरो देवः किंचिदुत्प्लुत्य सत्वरम् ॥ २३ ॥
रथाद् रथिवरश्रेष्ठस्तौ प्रगृह्य जनार्दनः।
भ्रामयित्वा शतगुणमलातमिव केशवः ॥ २४ ॥
कैलासं च समुद्दिश्य प्रचिक्षेप ततो हरिः।

राजन् ! उन दोनोंने यादवेश्वर श्रीकृष्णपर एक साथ ही शूलसे प्रहार किया। देवताओं और गन्धर्वोंके समीप उन दोनोंके आघातसे आहत हो भगवान् श्रीकृष्णके अधरपर मन्द मुसकानकी छटा बिखर गयी। वे रथियोंमें श्रेष्ठ भगवान् जनार्दन कुछ उछलकर तुरंत रथसे कूद पड़े और दोनों भूतेश्वरोंको पकड़कर उन्हें अलातचक्रके समान सौ बार घुमानेके पश्चात् उन केशव हरिने कैलासपर्वतकी ओर फेंक दिया ॥ २२-२४½ ॥

तावुपेत्य गिरेः शृङ्गं कैलासस्य महामते ॥ २५ ॥
दृष्ट्वा तत्कर्म देवस्य विस्मयं जग्मतुः परम्।

महामते ! वे दोनों कैलासपर्वतके शिखरपर पहुँचकर भगवान् श्रीकृष्णका वह पराक्रम देख बड़े विस्मयमें पड़ गये ॥ २५½ ॥

हंसश्च दृष्ट्वा तत्कर्म रोषताम्रायतेक्षणः ॥ २६ ॥
उवाच वचनं हंसः शृण्वतां त्रिदिवौकसाम् ।

श्रीकृष्णका वह कर्म देखकर हंसके बड़े-बड़े नेत्र रोषसे लाल हो गये। उसने समस्त देवताओंके सुनते हुए यह बात कही—॥ २६½ ॥

किमर्थं राजसूयस्य विघ्नं चरसि केशव ॥ २७ ॥
ब्रह्मदत्तो महीपालो यष्टा तस्य महाक्रतोः ।
करं दिश यथायोगं यदि प्राणान् हि रक्षसि ॥ २८ ॥

'केशव ! हमारे राजसूय यज्ञमें क्यों विघ्न डाल रहे हो ? महाराज ब्रह्मदत्त उस महायज्ञका अनुष्ठान करेंगे। यदि अपने प्राणोंकी रक्षा चाहते हो तो उसमें यथायोग्य कर दो ॥

अथवा त्वं क्षणं तिष्ठ ततो ज्ञात्वा परं बहु ।
प्रदासि त्वं नन्दपुत्र ततो यष्टा स मे गुरुः ॥ २९ ॥

'अथवा नन्दपुत्र ! तुम क्षणभर मेरे सामने खड़े रहो, फिर मेरी श्रेष्ठताको जानकर स्वयं ही बहुत सा कर प्रदान करोगे; फिर मेरे पिता यज्ञका आरम्भ करेंगे ॥ २९ ॥

ईश्वरोऽहं सदा राज्ञां देवानामिव शूलभृत् ।
एष ते वीर्यमतुलं नाशयिष्यामि संयुगे ॥ ३० ॥

'जैसे देवताओंके ईश्वर शूलधारी महादेव हैं; उसी प्रकार सदा समस्त राजाओंका ईश्वर मैं हूँ। इस युद्धमें मैं तुम्हारे अनुपम बलको अभी नष्ट किये देता हूँ' ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा सशरं चापं शालतालोपमं नृप ।
आकृष्य च यथाप्राणं नाराचेन च केशवम् ॥ ३१ ॥
ललाटे चिक्षिपे हंसो ललाम इव सोऽभवत् ।

नरेश्वर ! ऐसा कहकर हंसने शाल और तालके समान विशाल धनुष और बाण ले उसे बलपूर्वक खींचकर उस नाराचके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके ललाटमें प्रहार किया। वह नाराच उनके लिये मनोहर आभूषण-सा प्रतीत हो रहा था ॥ ३१½ ॥

उवाच सात्यकिं कृष्णो रथं वाहय मे प्रभो ॥ ३२ ॥
दारुकं पृष्ठवाहं तं कृत्वा देशं तमीश्वरः ।
अथ तेन समादिष्टः सात्यकिर्वाहयन् रथम् ॥ ३३ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने सात्यकिसे कहा—'प्रभावशाली वीर ! तुम मेरा रथ हाँको।' भगवान्ने जब सात्यकिको इस प्रकार आदेश दिया, तब वे दारुकको पीछे करके उस स्थानपर बैठकर उनका रथ हाँकने लगे ॥ ३२-३३ ॥

मण्डलानि बहून्याजौ दर्शयामास सत्वरम् ।
अथ विद्धो दृढं तेन शरेण हरिरीश्वरः ॥ ३४ ॥
आग्नेयमस्त्रं संयोज्य शरे कस्मिंश्चिदव्ययः ।
उवाच हंसं राजेन्द्र सात्यकिं प्रेरयन् रणे ॥ ३५ ॥

राजेन्द्र ! सात्यकिने युद्धस्थलमें शीघ्रतापूर्वक रथके बहुत-से पैंतरे दिखाये। उधर हंसके बाणसे गहरी चोट खाकर अविनाशी भगवान् श्रीकृष्णने किसी बाणपर आग्नेयास्त्रका आधान करके सात्यकिको रणभूमिमें आगे बढ़नेके लिये प्रेरित करते हुए हंससे कहा—॥ ३४-३५ ॥

अनेन त्वां दहे पाप यदि शक्तोऽसि वारय ।
अलं ते बहुवक्त्रेन क्षत्रियोऽसि सदा शठ ॥ ३६ ॥

'पापी ! शठ ! मैं इस बाणसे तुझे अभी दग्ध किये देता हूँ, यदि शक्ति हो तो इसे रोक। अब तेरे लिये बहुत-सी असङ्गत बातें बकनेसे कोई लाभ न होगा। तू क्षत्रिय है, सदा अपने कर्तव्यका पालन कर ॥ ३६ ॥

मत्तश्चेत् करमिच्छेस्त्वं दर्शयाद्य पराक्रमम् ।
यतयो बाधिता हंस पुष्करे संस्थितास्त्वया ॥ ३७ ॥

'यदि मुझसे कर लेना चाहता है तो आज दिखा अपना पराक्रम ! हंस ! तूने पुष्करमें रहनेवाले यतियोंको सताया है ॥

शास्ता त्वं खलु विप्राणां स्थिते मयि नराधम ।
स्थिते मयि जगन्नाथे हत्वा क्षत्रियकण्टकान् ॥ ३८ ॥
शास्तास्म्यथो सतां लोके दुष्टानां ब्रह्मविद्विषाम् ।

'नराधम ! मैं इस सम्पूर्ण जगत्का ईश्वर हूँ। तू मेरे रहते ब्राह्मणोंपर शासन करता है। मैं तुझ-जैसे क्षत्रियरूपी कण्टकोंका वध करके सत्पुरुषोंके जगत्में ब्रह्मद्रोही दुष्टोंका शासन करनेवाला हूँ ॥ ३८½ ॥

शापेन यतिमुख्यानां हत एव नराधम ॥ ३९ ॥
मृत्यवे त्वां निवेद्याद्य रक्षिता ब्राह्मणानहम् ।

'नराधम ! तू मुख्य-मुख्य यतियोंके शापसे ही मर चुका है। आज तुझे मृत्युके हवाले करके मैं ब्राह्मणोंकी रक्षा करूँगा' ॥ ३९½ ॥

इति ब्रुवंस्तदस्त्रं तु मुमोच युधि केशवः ॥ ४० ॥
तदस्त्रं वारुणेनाथ हंसोऽपि प्रत्यषेधयत् ।

ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्णने युद्धमें हंसपर उस आग्नेयास्त्रको छोड़ दिया; तब हंसने भी वारुणास्त्रसे उस अस्त्रका निवारण कर दिया ॥ ४०½ ॥

वायव्यमथ गोविन्दो मुमोच युधि हंसके ॥ ४१ ॥
तदस्त्रं वारयामास माहेन्द्रेण नृपोत्तमः ।

यह देख गोविन्दने रणभूमिमें हंसपर वायव्यास्त्र चलाया, किंतु नृपश्रेष्ठ हंसने माहेन्द्रास्त्रसे उसका वारण कर दिया ॥ ४१½ ॥

अथ माहेश्वरं कृष्णो मुमोचात्युग्रमाहवे ॥ ४२ ॥
रौद्रेण तत् ततो हंसो वारयामास तत्क्षणात् ।

तत्पश्चात् श्रीकृष्णने युद्धस्थलमें अत्यन्त भयंकर माहेश्वरास्त्रका प्रयोग किया, परंतु हंसने रौद्रास्त्रद्वारा तत्काल उसका निवारण कर दिया ॥ ४२½ ॥

गान्धर्वं राक्षसं चैव पैशाचमथ केशवः ॥ ४३ ॥
ब्रह्मास्त्रमथ कौबेरमासुरं याम्यमेव च ।
चत्वार्येतानि हंसस्तु मुमोच युधि सत्वरम् ॥ ४४ ॥
वारणार्थं तदस्त्राणां चतुर्णां माधवस्य ह ।

तब श्रीकृष्णने लगातार गान्धर्व, राक्षस और पैशाच अस्त्र छोड़े (पूर्वोक्त माहेश्वर अस्त्रको लेकर ये चार हुए)। माधवके उन चारों अस्त्रोंका निवारण करनेके लिये हंसने युद्धस्थलमें तुरंत ही ब्रह्मास्त्र, कौबेरास्त्र, आसुरास्त्र और याम्यास्त्र—ये चार अस्त्र छोड़े ॥ ४२-४४½ ॥

अथ ब्रह्मशिरो नाम घोरमस्त्रं विनाशकम् ॥ ४५ ॥
मुमोच हंसमुद्दिश्य देवदेवो जनार्दनः।
योजयामास तद्धंसे महाघोरपराक्रमम् ॥ ४६ ॥

तदनन्तर देवाधिदेव जनार्दनने ब्रह्मशिर नामक महान् विनाशकारी भयानक अस्त्र हंसपर छोड़ा। उन्होंने महान् एवं घोर पराक्रमवाले उस अस्त्रका हंसके लिये ही प्रयोग किया था ॥ ४५-४६ ॥

अथ भीतो महारौद्रमस्त्रं दृष्ट्वा नृपोत्तमः।
हंसोऽपि तेन राजेन्द्र वारयामास तं शरम् ॥ ४७ ॥

राजेन्द्र ! उस महाभयंकर अस्त्रको देखकर नृपश्रेष्ठ हंस भयभीत हो उठा; फिर उसने भी उसी अस्त्रसे उस बाणका वारण किया ॥ ४७ ॥

यमुनाप उपस्पृश्य देवदेवो जनार्दनः।
अस्त्रं वैष्णवमादाय शरे सं निशिते हरिः ॥ ४८ ॥
योजयामास भूतात्मा भूतभावनभावनः।

तदनन्तर सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति और पालन करनेवाले भूतात्मा देवाधिदेव जनार्दन हरिने यमुनाजीके जलका आचमन करके एक तीखे बाणपर वैष्णवास्त्रकी संयोजना की ॥

येन देवा रणे हत्वा राज्यमापुः पुरासुरान्।
तदस्त्रं योजयामास वधार्थं तस्य भूपतेः ॥ ४९ ॥

पूर्वकालमें देवताओंने रणभूमिमें जिसके द्वारा असुरोंका वध करके अपना राज्य प्राप्त किया था, उसी अस्त्रका राजा हंसके वधके लिये श्रीकृष्णने प्रयोग किया ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने हंसकेशवयुद्धे सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंसडिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें हंस और श्रीकृष्णका युद्धविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा हंसका वध

वैशम्पायन उवाच

अथ भीतो महारौद्रमस्त्रं दृष्ट्वा नृपोत्तम।
हंसो राजा महाराज निश्चेष्ट इव सम्बभौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! महाराज ! उस महाभयंकर अस्त्रको देखकर राजा हंस भयके मारे निश्चेष्ट-सा प्रतीत होने लगा ॥ १ ॥

उत्प्लुत्य स रथात् तस्माद् यमुनामभ्यधावत।
यत्र कृष्णो हृषीकेशः कालियाहिं ममर्द ह ॥ २ ॥

वह उस रथसे उछलकर यमुनाजीकी ओर भागा, जहाँ पूर्वकालमें हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णने कालियनागका मर्दन किया था ॥ २ ॥

महाह्रदं महारौद्रं यावत्पातालसंस्थितम्।
तावद्दीर्घं महानीलं कालाञ्जननिभं हि यत् ॥ ३ ॥

वह महान् ह्रद बड़ा भयंकर और पातालपर्यन्त गहरा था। उसका विस्तार भी उतना ही था। वह काली अञ्जन-राशि (अथवा कोयले) के समान महानील (या काला) प्रतीत होता था ॥ ३ ॥

तस्मिन् ह्रदे महाघोरे पपाताथ स हंसकः।
हंसे पतति तस्मिंस्तु महान् रावो बभूव ह ॥ ४ ॥
गिरीणां पात्यमानानां समुद्रे इव वज्रिणा।

उसी महाघोर कालियह्रदमें हंस कूद पड़ा। उसके कूदनेपर वहाँ बड़ा भारी धमाकेका-सा शब्द हुआ, मानो इन्द्रके द्वारा समुद्रमें गिराये जाते हुए पर्वतोंका कोलाहल प्रकट हुआ हो ॥ ४½ ॥

रथादुत्प्लुत्य कृष्णोऽपि तस्योपरि पपात ह ॥ ५ ॥
देवदेवो जगन्नाथो जगद् विस्मापयन्निव।

तब जगदीश्वर देवाधिदेव श्रीकृष्ण भी सम्पूर्ण जगत्को विस्मयमें डालते हुए-से रथसे उछलकर उस कुण्डमें हंसके ऊपर कूद पड़े ॥ ५½ ॥

प्राहरन् तं महाबाहुः पादाभ्यामथ केशवः ॥ ६ ॥
पादक्षेपं नृपस्तस्माल्लब्ध्वा हंसो नृपोत्तम।
ममार च नृपश्रेष्ठ केचिदेवं वदन्ति हि ॥ ७ ॥

उस समय महाबाहु केशवने उसपर दोनों पैरोंसे प्रहार किया। नृपश्रेष्ठ जनमेजय ! श्रीकृष्णके चरणोंका प्रहार पाकर राजा हंस मर गया—ऐसा कुछ लोग कहते हैं ॥ ६-७ ॥

अन्ये पातालमायातो भक्षितः पन्नगैरिति।
अद्यापि नैव राजेन्द्र दृष्ट इत्यनुशुश्रुम ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! दूसरोंका कहना है कि वह पातालमें धँस गया और वहाँ सर्प उसे खा गये। वह अबतक वहाँसे लौटा नहीं देखा गया—ऐसा उसके विषयमें हमने सुना है ॥ ८ ॥

यथापूर्वं जगन्नाथो रथं समुपजग्मिवान्।
हते तस्मिन् महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

अकरोद् राजसूयं च तव पूर्वपितामहः।
यदि जीवेदसौ हंसः को नमस्यति तं क्रतुम् ॥ १० ॥

तदनन्तर जगदीश्वर श्रीकृष्ण पूर्ववत् रथपर आ गये। महाराज ! हंसके मारे जानेपर ही तुम्हारे पूर्वपितामह धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया था। यदि हंस जीवित होता तो कौन उस यज्ञके सामने मस्तक झुकाता ॥ ९-१० ॥

स च सर्वास्त्रविन्नित्यं रुद्राल्लब्धवरः प्रभो।
क्षणादेव महाराज वार्तेयं गामगाहत ॥ ११ ॥
हतो हंसो हतो हंसः कृष्णेन रिपुमर्दिना।
जगुर्गन्धर्वपतयो देवलोके दिवानिशम् ॥ १२ ॥

प्रभो ! वह भगवान् रुद्रसे वर पाकर सदाके लिये सम्पूर्ण अस्त्रोंका ज्ञाता हो गया था। महाराज ! क्षणभरमें यह समाचार भूमण्डलमें फैल गया। 'शत्रुओंका मान-मर्दन करनेवाले श्रीकृष्णने हंसको मार डाला, हंसको मार डाला' —यह गन्धर्वराजगण देवलोकमें दिन-रात गान करने लगे ॥ ११–१२ ॥

कृष्णेन लोकनाथेन विष्णुना प्रभविष्णुना।
यमुनाया ह्रदे घोरे हंसो निहत इत्यपि ॥ १३ ॥

'सम्पूर्ण जगत्के स्वामी प्रभावशाली विष्णुस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने यमुनाके भयंकर ह्रदमें हंसको मार डाला।' इस प्रकार उनके यशका सर्वत्र गान होने लगा ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि हंसडिम्भकोपाख्याने हंसवधे अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें हंस-डिम्भकोपाख्यानके प्रसङ्गमें हंसका वधविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

डिम्भककी आत्महत्या

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा निहतमत्युग्रं भ्रातरं वीर्यशालिनम्।
बलदेवं परित्यज्य युध्यमानं महारणे ॥ १ ॥
डिम्भको वीर्यसम्पन्नो यमुनामनुजग्मिवान्।
तमन्वधावद् वेगेन बलभद्रो हलायुधः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने पराक्रमशाली भाई अत्यन्त उग्र हंसको उस महासमरमें मारा गया सुनकर बलवान् डिम्भक जूझते हुए बलभद्रको वहीं छोड़कर यमुनाजीके तटपर गया। उस समय हलधर बलभद्रने बड़े वेगसे उसका पीछा किया ॥ १-२ ॥

हंसो हि यत्र पतितस्तत्रासौ निपपात ह।
यमुनायां महाराज विलोड्य जलसंचयम् ॥ ३ ॥

महाराज ! हंस जहाँ यमुनाजीमें कूदा था, वहीं डिम्भक भी कूद पड़ा। उसने यमुनाकी जलराशिको मथ डाला ॥३॥

अथ क्रुद्धः स डिम्भको भ्रामयित्वा जलं बहु।
उन्मज्ज्योन्मज्ज्य सहसा निमज्ज्य च पुनः पुनः ॥४॥
न ददर्श तदा राजन् भ्रातरं वीर्यशालिनम्।

क्रोधमें भरा हुआ डिम्भक उस जलमें चक्कर लगाकर सहसा गोता लगाता और ऊपरको निकल आता था। राजन् ! इस प्रकार बारंबार डुबकी लगानेपर भी उसने अपने पराक्रमशाली भाईको वहाँ नहीं देखा ॥ ४½ ॥

उन्मज्ज्याथ महाबाहुर्वासुदेवं विलोक्य च ॥ ५ ॥
उवाच वचनं राजन् डिम्भको वीर्यवत्तमः।

राजन् ! तब बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबाहु डिम्भक जलसे ऊपर आकर वासुदेव श्रीकृष्णको सामने देख उनसे इस प्रकार बोला—॥ ५½ ॥

अरे गोपकदायाद क्वासौ हंस इति स्थितः ॥ ६ ॥
वासुदेवोऽपि धर्मात्मा यमुनां पृच्छ राजक।

'अरे गोपपुत्र ! वह हंस कहाँ है ?' धर्मात्मा वासुदेवने भी उत्तर दिया—'नीच नरेश ! यमुनाजीसे पूछ' ॥ ६½ ॥

इत्यब्रवीत् प्रसन्नात्मा वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ७ ॥
तच्छ्रुत्वा यमुनां भूयः प्रविश्य डिम्भकः किल।
बहुप्रकारमुद्वीक्ष्य भ्रातरं भ्रातृवत्सलः ॥ ८ ॥
विललाप ततो राजा डिम्भको भ्रान्तमानसः।

प्रतापी वासुदेवने जब प्रसन्नचित्त होकर इस प्रकार कहा, तब भ्रातृवत्सल डिम्भकने उनकी बात सुनकर पुनः यमुनामें प्रवेश किया और नाना प्रकारसे अपने भाईकी खोज करके भ्रान्तचित्त हुआ वह राजा विलाप करने लगा ॥ ७-८½ ॥

क नु गच्छसि राजेन्द्र विहायैनमबान्धवम् ॥ ९ ॥
कुतो भ्रातरितो गच्छेः परित्यज्यैव मामिह।

'राजेन्द्र ! इस बन्धुहीन डिम्भकको छोड़कर कहाँ जा रहे हो ? भैया ! मुझे यहीं छोड़कर यहाँसे कहाँ चले जा रहे हो ?' ॥ ९½ ॥

विलप्यैवं नृपश्रेष्ठ डिम्भको भ्रातृवत्सलः ॥ १० ॥
आत्मत्यागे मनः कुर्वन् यमुनाया महाह्रदे।

नृपश्रेष्ठ जनमेजय ! इस प्रकार विलाप करके भ्रातृवत्सल

डिम्भकने यमुनाजीके महान् कुण्डमें अपने शरीरको त्याग देनेका विचार किया ॥ १०½ ॥

निमज्ज्योन्मज्ज्य सहसा मरणे कृतनिश्चयः ॥ ११ ॥
हस्तेन जिह्वामाकृष्य भूयो भूयो विलप्य च ।
ततः समूलामाकृष्य जिह्वां साहसकृत् स्वयम् ॥ १२ ॥
ममारान्तर्जले राजन् डिम्भको नरकाय वै ।

सहसा गोता लगाकर वह जलसे ऊपरको उठा और मरनेका निश्चय करके बारंबार विलाप करनेके पश्चात् स्वयं दुःसाहस करनेवाला वह डिम्भक हाथसे जिह्वाको जड़सहित बाहर खींचकर जलके भीतर मर गया। राजन्! उसका यह दुर्मरण नरककी प्राप्ति करानेवाला था ॥ ११-१२½ ॥

एवं तु निहते हंसे डिम्भके वीर्यशालिनि ॥ १३ ॥
आगमत् पुण्डरीकाक्षो भूतान् विस्मापयन्निव ।

इस प्रकार पराक्रमशाली हंस और डिम्भकके मारे जानेपर कमलनयन श्रीकृष्ण सम्पूर्ण भूतोंको विस्मयमें डालते हुए-से लौट आये ॥ १३½ ॥

ततः प्रीतः प्रसन्नात्मा वासुदेवः प्रतापवान् ॥ १४ ॥
गोवर्धनेऽथ विश्रम्य बलभद्रसहायवान् ।
कंचित् कालं महाराज पूर्वभुक्तगृहावास ह ॥ १५ ॥

महाराज! इससे प्रीतियुक्त और प्रसन्नचित्त हुए प्रतापी भगवान् वासुदेवने बलभद्रजीके साथ गोवर्धन पर्वतपर विश्राम करके अपने पूर्वभुक्त स्थानपर कुछ कालतक निवास किया ॥ १४-१५ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि डिम्भकमरणे एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें डिम्भकका मरणविषयक एक सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२९ ॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

गोप-गोपियोंसहित यशोदा और नन्दका गोवर्धन पर्वतपर आकर श्रीकृष्ण और बलभद्रसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

यशोदा नन्दगोपश्च कृष्णदर्शनलालसौ ।
गोवर्धनगतं श्रुत्वा वासुदेवं सहाग्रजम् ॥ १ ॥
नवनीतं च दधि च पायसं कृसरं तथा ।
वन्यं पुष्पं महाराज मयूराङ्गदमेव च ॥ २ ॥
बल्लवैरपरैः सार्धं गोपिभिश्च समन्ततः ।
जग्मतुः सहसा प्रीतौ गोवर्धनमथो नृप ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! यशोदा और नन्दगोपके मनमें श्रीकृष्णको देखनेके लिये बड़ी लालसा थी। जब उन्होंने सुना कि श्रीकृष्ण अपने बड़े भाईके साथ गोवर्धन पर्वतपर आये हैं, तब वे दोनों सहसा बड़े प्रसन्न हुए और मक्खन, दही, खीर, खिचड़ी, जंगली फूल तथा मोरपंखके बाजूबंद लेकर सब ओरसे एकत्र हुए दूसरे गोपों और गोपियोंके साथ गोवर्धन पर्वतपर गये ॥ १-३ ॥

कच्चिद् वृक्षे समासक्तं कृष्णं कृष्णमृगेक्षणम् ।
ददर्शतुर्महाबाहुं वासुदेवं सहाग्रजम् ॥ ४ ॥

वहाँ उन्होंने कृष्णमृगके समान विशाल नेत्रवाले वसुदेवनन्दन महाबाहु श्रीकृष्णको अपने बड़े भाईके साथ कहीं वृक्षके नीचे उससे सटकर बैठे देखा ॥ ४ ॥

प्रणेमतुः सुसंहृष्टौ तत्र दृष्ट्वा महाबलौ ।
दर्शयामासतुर्देवौ पायसानि महान्ति च ॥ ५ ॥

उन्हें देखकर नन्द और यशोदा बड़े प्रसन्न हुए, फिर उन महाबली देवता श्रीकृष्ण-बलदेवने नन्द और यशोदाको प्रणाम किया। इसके बाद यशोदा और नन्दने खीर आदि महत्त्वपूर्ण उपहार उनके सामने प्रस्तुत किया ॥ ५ ॥

तात मातर्व्रजे गोष्ठे कुशलं वा सगोधनम् ।
अपि गावः क्षीरवत्यो वत्सा वत्सतराः पितः ॥ ६ ॥

उस समय श्रीकृष्णने पूछा—'बाबा! मैया! व्रजके गोष्ठमें अपने सभी गोधन सकुशल तो हैं न? पिताजी! गौएँ दूध देती हैं न? उनके बड़े-छोटे बछड़े सुखी हैं न ॥ ६ ॥

अपि वा सुशुभं क्षीरमपि गावः सुशोभनाः ।
अपि वा दारका मातर्वत्सपालाः पिबन्ति च ॥ ७ ॥

'क्या व्रजकी गौओंका दूध शुद्ध एवं मङ्गलकारी होता है? क्या अपने यहाँ सुन्दर शोभामयी गौएँ हैं? मैया! छोटे छोटे बच्चे और बछड़े चरानेवाले बालक भरपूर दूध पीते हैं न? ॥ ७ ॥

बहूनि चापि दामानि कीलका अपि वा बहु ।
तृणानि बहुरूपाणि किं वा सन्ति पितः सदा ॥ ८ ॥

'बाबा! क्या अपने यहाँ बहुत-सी रस्सियाँ, बहुतेरे खूँटे तथा अनेक प्रकारकी घासें सदा प्रस्तुत रहती हैं? ॥ ८ ॥

शकटानि सुगन्धीनि किं वा सन्ति पितर्ध्रुवम् ।
अपि गोप्यः पुत्रवत्यो दारकान् किमजीजनन् ॥ ९ ॥

'पिताजी! क्या छकड़े सदा गोरससे सुगन्धित रहते हैं? क्या गोपियाँ पुत्रवती हुई हैं? क्या उन्होंने बच्चोंको जन्म दिया है? ॥ ९ ॥

घटाः किं बहवो मातरभिन्नाः सर्वतो व्रजे।
किं गावः क्षीरमतुलं स्रवन्त्यहरहः पितः॥ १०॥

'मैया! क्या व्रजमें सब ओर बिना फूटे हुए बहुत-से घड़े हैं? बाबा! क्या गौएँ प्रतिदिन अतुलनीय दुग्ध प्रदान करती हैं?॥ १०॥

हैयङ्गवीनं क्षीराणि दधि वा किमजीजनन्।
गोधनं सर्वमेवेदं नीरोगं प्रतिपद्यते॥ ११॥

'क्या अपनी गौओंने दूध-दही और मक्खनकी उपज बढ़ायी है? अपना सारा गोधन नीरोग तो है न?'॥ ११॥

नन्द उवाच

सर्वमेतद् यदुश्रेष्ठ नीरोगं बहुशः प्रभो।
कुशलं गोधनस्यैव सर्वकालेषु केशव॥ १२॥

नन्द बोले—प्रभो! यदुश्रेष्ठ! अपना यह सारा गोधन प्रायः नीरोग ही है। केशव! गोधन तो सदा ही सकुशल है॥ १२॥

रक्षणात् तव देवेश सदा कुशलिनो वयम्।
सगोधनाः सवत्साश्च नीरोगा इव केशव॥ १३॥

देवेश्वर! तुम्हारे संरक्षणसे हमलोग सदा कुशलपूर्वक रहते हैं। केशव! हम गोधन और बछड़ोंसहित नीरोग-से ही हैं॥ १३॥

एकमेव सदा दुःखं न त्वां द्रक्ष्यामि केशव।
यदेतत् केवलं दुःखमिति धीः शीर्यते सदा॥ १४॥

श्रीकृष्ण! मुझे तो सदा एक ही दुःख बना रहता है कि मैं तुम्हें भर आँख देख नहीं पाता हूँ। यह जो एक ही दुःख है, इससे सदा मेरा अन्तःकरण व्यथित रहता है॥ १४॥

वैशम्पायन उवाच

एवमादि विलप्यन्तं गच्छेत्याह स केशवः।
यशोदां पुनराहेदं मातर्गच्छ गृहं प्रति॥ १५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस तरह विलाप करते हुए नन्दसे भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'बाबा! रोओ मत! अपने घरको जाओ।' फिर उन्होंने यशोदासे कहा—'मैया! तुम भी घर जाओ॥ १५॥

ये च त्वां कीर्तयिष्यन्ति ते च स्वर्गमवाप्नुयुः।
ये केचित् त्वां नमस्यन्ति ते मे प्रियतराः सदा॥ १६॥
मद्भक्ताः सर्वदा सन्तु गच्छेत्याह च तां हरिः।

'जो लोग तुम्हारा कीर्तन करेंगे, वे स्वर्गलोकमें जायँगे तथा जो कोई तुम्हे नमस्कार करेंगे, वे सदा-सर्वदा मेरे परम प्रिय भक्त होंगे।' ऐसा कहकर श्रीहरिने मैयासे कहा—'तुम जाओ'॥ १६½॥

इत्युक्त्वा पितरौ देवो वासुदेवः सनातनः॥ १७॥
गाढमालिङ्ग्य तौ प्रीतौ प्रेषयामास केशवः।
यशोदा नन्दगोपश्च जग्मतुः स्वगृहं प्रति॥ १८॥

माता-पितासे ऐसा कहकर सनातन भगवान् वासुदेवने प्रसन्नतापूर्वक उनके गलेसे लगकर उन्हें विदा किया। तत्पश्चात् यशोदा और नन्दगोप अपने घरको लौट गये॥ १७-१८॥

ततः कृष्णो हृषीकेशो यादवैः सह वृष्णिभिः।
गन्तुमैच्छत् तदा विष्णुः पुरीं द्वारवतीं किल॥ १९॥

तदनन्तर इन्द्रियोंके प्रेरक विष्णुस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने यादवों तथा वृष्णिवंशियोंके साथ द्वारकापुरीको लौट जानेकी इच्छा की॥ १९॥

य एतच्छृणुयान्नित्यं पठेद् वापि समाहितः।
पुत्रवान् धनवांश्चैव अन्ते मोक्षं च गच्छति॥ २०॥

जो एकाग्रचित्त हो सदा इस प्रसंगको सुनता अथवा पढ़ता है, वह इस लोकमें पुत्रवान् और धनवान् होता है तथा अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि यशोदानन्दगोपबलभद्रकृष्णसमागमे त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें यशोदा, नन्दगोप, बलभद्र और श्रीकृष्णका समागमविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३०॥

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्वारका जाते हुए श्रीकृष्णका पुष्करमें ऋषियोंसे मिलना तथा ऋषियोंद्वारा उनका स्तवन

वैशम्पायन उवाच

गच्छन्नथ महाविष्णुः पुष्करं प्राप्य यादवैः।
अपश्यन्मुनिमुख्यांस्तु पुष्करस्थान् नृपोत्तम॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ जनमेजय! वहाँसे जाते हुए महाविष्णुस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने यादवोंके साथ पुष्करमें पहुँचकर वहाँ रहनेवाले श्रेष्ठ मुनियोंका दर्शन किया॥ १॥

ते समेत्य महादेवमृषयो वीतमत्सराः।
अर्घ्यादिसमुदाचारं कृत्वैनं यादवोत्तमम्॥ २॥
प्रोचुर्विश्वेश्वरं विष्णुं भूतभव्यभवत्प्रभुम्।

उन मात्सर्यरहित ऋषियोंने इन यदुकुलतिलक महान् देव श्रीकृष्णसे मिलकर उन्हे अर्घ्य आदि निवेदन करनेके पश्चात् भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी जगदीश्वर श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥ २½॥

अत्यद्भुतमिदं विष्णो तव वीर्यं जनार्दन ॥ ३ ॥
येन तौ निहतौ युद्धे हंसो डिम्भक एव च ।

'विष्णो ! जनार्दन ! आपका यह बल-पराक्रम अत्यन्त अद्भुत है; जिससे आपने युद्धमें हंस और डिम्भकको मार डाला ॥ ३½ ॥

यो विचक्रो दुराधर्षो देवैरपि सुदुःसहः ॥ ४ ॥
संगरे निहतो देव दुःसाध्य इति नो मतिः ।

'देव ! जो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुःसह था। उस दुर्जय वीर विचक्रको भी आपने युद्धस्थलमें मार डाला ! उसे पराजित करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन था। ऐसा हमारा विश्वास है ॥ ४½ ॥

क्षेमो नः सर्वकार्येषु चरतां तप उत्तमम् ॥ ५ ॥
निष्कल्मषा भविष्यामस्तव संस्मरणाद्धरे ।

'अब उत्तम तपका आचरण करनेवाले हमलोगोंके सभी कार्योंमें क्षेम सुलभ हो गया। हरे ! हम आपके स्मरणसे सर्वथा निष्पाप हो जायँगे ॥ ५½ ॥

त्वं हि सर्वस्य दुःखस्य हर्ता त्वां ध्यायतां सदा ॥ ६ ॥
त्वदनुस्मरणं जन्तोः सदा पुण्यप्रदं प्रभो ।

'जो सदा आपका ध्यान करते हैं, उनके सभी दुःखोंको आप हर लेते हैं। प्रभो ! आपका बारंबार चिन्तन प्राणिमात्रके लिये सदा पुण्य-प्रदान करनेवाला है ॥ ६½ ॥

त्वं हि नः सततं धाता विधाता तपसो हरे ॥ ७ ॥
त्वमोंकारो वषट्कारस्त्वं यज्ञस्त्वं पितामहः ।

'हरे ! आप ही सदा हमारी तपस्याके धारण-पोषण करनेवाले हैं। आप ही ओंकार हैं। आप ही वषट्कार हैं। आप ही यज्ञ हैं और आप ही पितामह हैं ॥ ७½ ॥

त्वं ज्योतिर्ब्रह्मणो मूर्तिस्त्वं ब्रह्मा रुद्र एव च ॥ ८ ॥
प्राणस्त्वं सर्वभूतानामन्तरात्मेति कथ्यते ।
उपास्यः सर्वभूतानां यज्ञैर्दानैर्जगत्पते ॥ ९ ॥

'आप ही ज्योति हैं। आप ही ब्रह्ममूर्ति हैं। आप ही ब्रह्मा और रुद्र हैं। आप ही सम्पूर्ण भूतोंके प्राण हैं। आप ही अन्तरात्मा कहलाते हैं। जगत्पते ! यज्ञों और दानोंद्वारा समस्त प्राणियोंके लिये उपासना करने योग्य आप ही हैं ॥ ८-९ ॥

नमो विश्वसृजे देव नमस्ते विश्वमूर्तये ।
पाहि लोकमिमं देव हत्वा ब्रह्मद्विषः सदा ॥ १० ॥

'देव ! आप विश्वकी सृष्टि करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण विश्व आपकी मूर्ति है, आपको नमस्कार है। देव ! आप ब्रह्मद्रोहियोंका वध करके सदा इस विश्वका पालन कीजिये' ॥ १० ॥

स तथेति हरिर्विष्णुर्ययौ द्वारवतीं पुरीम् ।
अवसद् वृष्णिभिः सार्धं स्तूयमानः स मागधैः ॥ ११ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीविष्णु हरि द्वारकापुरीको गये और मागधोंसे अपनी स्तुति सुनते हुए वृष्णिवंशियोंके साथ वहाँ निवास करने लगे ॥ ११ ॥

इयं च देवदेवस्य चेष्टा हि जनमेजय ।
प्रोक्ता ते पृच्छते राजन् किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ १२ ॥

राजा जनमेजय ! तुम्हारे पूछनेपर मैंने देवाधिदेव श्रीकृष्णकी यह लीला तुम्हें बतायी है। तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि द्वारकायां कृष्णस्य प्रत्यागमने एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रीकृष्णका द्वारकामें प्रत्यागमन-विषयक एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

महाभारत और हरिवंशके श्रवणकी विधि और फल, वाचकके गुण, प्रत्येक पर्वपर दान देने योग्य वस्तु, एकसे लेकर दस पारणाओंकी महत्ता तथा महाभारत एवं हरिवंशका माहात्म्य

जनमेजय उवाच

भगवन् केन विधिना श्रोतव्यं भारतं बुधैः ।
फलं किं के च देवाश्च पूज्या वै पारणेष्विह ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! विद्वान् पुरुषोंको महाभारतका श्रवण किस विधिसे करना चाहिये ? इसका फल क्या है ? तथा इसकी समाप्तिपर किन-किन देवताओंका पूजन करना चाहिये ? ॥ १ ॥

देयं समाप्ते भगवन् किं च पर्वणि पर्वणि ।
वाचकः कीदृशश्चात्र एष्टव्यस्तद् ब्रवीहि मे ॥ २ ॥

भगवन् ! प्रत्येक पर्वके समाप्त होनेपर क्या दान देना चाहिये ? तथा इसमें कैसे वाचकका पूजन करना चाहिये ? यह सब मुझे बताइये ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् विधिमिमं फलं यच्चापि भारतात् ।
श्रुताद् भवति राजेन्द्र यत् त्वं मामनुपृच्छसि ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! महाभारत सुननेकी इस विधिको सुनिये। राजेन्द्र ! महाभारत श्रवण करनेसे जो फल होता है, जिसके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे हो, वह भी बताता हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

दिवि देवा महीपाल क्रीडार्थमवनिं गताः।
कृत्वा कार्यमिदं चैव ततश्च दिवमागताः॥ ४ ॥

महीपाल! स्वर्गके देवता लीलाके लिये पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए थे। वे यह (अवतार-) कार्य करके वहाँसे देवलोकको लौट आये॥ ४॥

हन्त यत् ते प्रवक्ष्यामि तच्छृणुष्व समाहितः।
ऋषीणां देवतानां च सम्भवं वसुधातले॥ ५ ॥

जनमेजय! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे एकाग्रचित्त होकर सुनो। भूतलपर ऋषियों और देवताओंका प्रादुर्भाव हुआ था॥ ५॥

अत्र रुद्रास्तथा साध्या विश्वेदेवाश्च शाश्वताः।
आदित्याश्चाश्विनौ देवौ लोकपाला महर्षयः॥ ६ ॥
गुह्यकाश्च सगन्धर्वा नागा विद्याधरास्तथा।
सिद्धा धर्मः स्वयम्भूश्च मुनिः कात्यायनो वरः॥ ७ ॥
गिरयः सागरा नद्यस्तथैवाप्सरसां गणाः।
ग्रहाः संवत्सराश्चैव अयनान्यृतवस्तथा॥ ८ ॥
स्थावरं जङ्गमं चैव जगत् सर्वं सुरासुरम्।
भारते भरतश्रेष्ठ एकस्थमिह दृश्यते॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ! रुद्र, साध्य, सनातन विश्वेदेव, आदित्य, दोनों अश्विनीकुमारनामक देवता, लोकपाल, महर्षि, गुह्यक, गन्धर्व, नाग, विद्याधर, सिद्ध, धर्म, स्वयम्भू ब्रह्माजी, श्रेष्ठ कात्यायन मुनि, पर्वत, सागर, नदियाँ, अप्सराएँ, ग्रह, संवत्सर, अयन, ऋतु, स्थावर-जङ्गमरूप सारा जगत्, देवता और असुर—ये इस महाभारतमें एकत्र स्थित देखे जाते हैं॥ ६—९॥

तेषां श्रुतिप्रतिष्ठानां नामकर्मानुकीर्तनात्।
कृत्वापि पातकं घोरं सद्यो मुच्येत मानवः॥ १० ॥

श्रुतिमें प्रतिष्ठित हुए इन सबके नाम और कर्मोंका बारंबार कीर्तन करनेसे मनुष्य घोर पातक करनेपर भी उससे तत्काल मुक्त हो जाता है॥ १०॥

इतिहासमिमं श्रुत्वा यथावदनुपूर्वशः।
संयतात्मा शुचिर्भूत्वा पारं गत्वा च भारते॥ ११ ॥
तेषां शृणु त्वं श्राद्धानि श्रुत्वा भारत भारतम्।
ब्राह्मणेभ्यो यथाशक्त्या भक्त्या च भरतर्षभ॥ १२ ॥
महादानानि देयानि रत्नानि विविधानि च।
गावः कांस्योपदोहाश्च कन्याश्चैव स्वलंकृताः॥ १३ ॥

भारत! मनुष्य संयतचित्त एवं पवित्र हो इस इतिहासको क्रमशः यथावत् रूपसे सुनकर समूचे महाभारतके पार जाकर भारतयुद्धमें काम आये हुए वीरोंके किस प्रकार श्राद्ध करने चाहिये, यह बताता हूँ सुनो। भरतश्रेष्ठ! महाभारत सुनकर यथाशक्ति भक्तिपूर्वक उनके लिये ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके रत्न एवं बड़े-बड़े दान देने चाहिये। गौएँ, काँसके दुग्धपात्र तथा वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्याएँ देनी चाहिये॥ ११—१३॥

सर्वकामगुणोपेता यानानि विविधानि च।
भाजनानि विचित्राणि भूमिर्वासांसि काञ्चनम्॥ १४॥

वे कन्याएँ सम्पूर्ण कमनीय गुणोंसे सम्पन्न हों। इनके सिवा, नाना प्रकारके वाहन, विचित्र पात्र, पृथ्वी, वस्त्र एवं सुवर्णका दान करना चाहिये॥ १४॥

वाहनानि च देयानि हया मत्ताश्च वारणाः।
शयनं शिबिकाश्चैव स्यन्दनाश्च स्वलंकृताः॥ १५॥

वाहन, घोड़े, मतवाले हाथी, शय्या, शिबिका और सजे-सजाये रथ भी देने चाहिये॥ १५॥

यद् यद् गृहे वरं किंचिद् यद् यदस्ति महद्वसु।
तत् तद् देयं द्विजातिभ्य आत्मा दाराश्च सूनवः॥१६॥

अपने घरमें जो-जो कोई श्रेष्ठ वस्तु हो और जो-जो महान् धन हो, उसका ब्राह्मणोंको दान करना चाहिये। अपने स्त्री-पुत्र और शरीरको भी उनकी सेवामें अर्पण कर देना चाहिये॥ १६॥

श्रद्धया परया दद्यात् क्रमशस्तस्य पारगः।
शक्तितः सुमना हृष्टः शुश्रूषुरविकम्पनः॥ १७॥

क्रमशः महाभारतको समाप्त करनेवाला पुरुष शुद्ध हृदयसे हर्षपूर्वक मनमें सेवाभाव रखते हुए स्थिरतापूर्वक बड़ी श्रद्धाके साथ यथाशक्ति पूर्वोक्त वस्तुओंका दान करे॥ १७॥

सत्यार्जवरतो यत्तः शुचिः शौचपरायणः।
श्रद्दधानो जितक्रोधो यथा सिद्ध्यति तच्छृणु॥ १८॥

सत्य और सरलतामें तत्पर, प्रयत्नशील, पवित्र, शौचाचारपरायण, क्रोधको जीतनेवाले तथा श्रद्धालु श्रोताको जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त होती है, वह बताता हूँ, सुनो॥ १८॥

शुचिः शीलान्विताचारः शुक्लवासा जितेन्द्रियः।
संस्कृतः सर्वशास्त्रज्ञः श्रद्दधानोऽनसूयकः॥ १९॥
रूपवान् सुभगो दान्तः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
दानमानगृहीता च कार्यो भवति वाचकः॥ २०॥

जो शुद्ध, सुशील, सदाचारी, श्वेतवस्त्रधारी, जितेन्द्रिय, संस्कारसम्पन्न, सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञाता, श्रद्धालु, अदोषदर्शी, रूपवान्, सौभाग्यशाली, मन और इन्द्रियोंका दमन करनेवाला, सत्यवादी, इन्द्रियविजयी तथा दान-मानको ग्रहण करनेवाला हो, ऐसे विद्वान् पुरुषको ही वाचक बनाना चाहिये॥ १९-२०॥

अविलम्बमनायस्तमद्रुतं धीरमूर्जितम्।
असंसक्ताक्षरपदं न च भावसमन्वितम्॥ २१॥
त्रिषष्टिवर्णसंयुक्तमष्टस्थानसमीरितम्।
वाचयेद् वाचकः स्वस्थः स्वासीनः सुसमाहितः॥२२॥

स्वस्थ वाचक स्वाधीन और एकाग्रचित्त हो इस तरह कथा बाँचे कि विलम्बसे या रुक-रुककर शब्द न निकले (धारावाहिकरूपसे कथा चलती रहे), कठोर अक्षरका उच्चारण न करे, जल्दबाजी न करे, अस्पष्ट रूपसे शब्दोंका उच्चारण न करे—इस तरह बोले कि कोई अक्षर या पद टूटने न पावे, मनमें कोई विशेष अभिप्राय (लोभ आदि) रखकर कथा न बाँचे । आठ[1] स्थानोंसे उच्चरित होनेवाले तिरसठ[2] वर्णोंसे युक्त महाभारतका इस तरह पाठ करे कि प्रत्येक वर्णका स्पष्टतः विवेक होता रहे ॥ २१-२२ ॥

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ २३ ॥

वाचक पहले अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्यसखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (इतिहास, पुराण एवं महाभारत) का पाठ आरम्भ करे ॥ २३ ॥

ईदृशाद् वाचकाद् राजञ्छ्रुत्वा भारत भारतम् ।
नियमस्थः शुचिः श्रोता शृण्वन् स फलमश्नुते॥२४॥

राजन् ! भरतनन्दन ! जो श्रोता शौच, संतोष आदि नियमोंके पालनमें तत्पर एवं पवित्र रहकर ऐसे वाचकसे महाभारत सुनता है, वह उसके पूर्ण फलको प्राप्त कर लेता है ॥ २४ ॥

पारणं प्रथमं प्राप्य द्विजान् कामैश्च तर्पयेत् ।
अग्निष्टोमस्य यागस्य फलं वै लभते नरः ॥ २५ ॥

प्रथम बार नियमपूर्वक हरिवंशान्त महाभारतका श्रवण पूरा करके ब्राह्मणोंको उनके इच्छानुसार वस्तुओंसे तृप्त करे । ऐसा करनेवाला मनुष्य अग्निष्टोम यागका फल पाता है ॥ २५ ॥

अप्सरोगणसंकीर्णं विमानं लभते महत् ।
प्रहृष्टः स तु देवैश्च दिवं याति समाहितः ॥ २६ ॥

उसे अप्सराओंसे भरा हुआ महान् विमान प्राप्त होता है और वह हर्षसे उत्फुल्ल एवं एकाग्रचित्त होकर देवताओंके साथ स्वर्गलोकमें जाता है ॥ २६ ॥

द्वितीयं पारणं प्राप्य अतिरात्रफलं लभेत् ।
सर्वरत्नमयं दिव्यं विमानमधिरोहति ॥ २७ ॥

दूसरी बार हरिवंशान्त महाभारतका श्रवण कर लेनेपर श्रोताको अतिरात्रयज्ञका फल मिलता है तथा वह सम्पूर्ण रत्नोंसे बने हुए दिव्य विमानपर आरूढ़ होता है ॥ २७ ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यगन्धविभूषितः ।
दिव्याङ्गदधरो नित्यं देवलोके महीयते ॥ २८ ॥

वहाँ वह दिव्य माला और वस्त्र धारण करके दिव्य गन्धसे विभूषित हो, दिव्य अङ्गद आदि आभूषण पहनकर सदा देवलोकमें सम्मानित होता है ॥ २८ ॥

तृतीयं पारणं प्राप्य द्वादशाहफलं लभेत् ।
वसत्यमरसंकाशो वर्षाण्ययुतशो दिवि ॥ २९ ॥

तीसरी पारणा पूरी करनेपर उसे द्वादशाह यज्ञका फल प्राप्त होता है तथा वह देवताओंके समान तेजस्वी रूप धारण करके दस हजार वर्षोंतक देवलोकमें निवास करता है ॥

चतुर्थे वाजपेयस्य पञ्चमे द्विगुणं फलम् ।
उदितादित्यसंकाशं ज्वलन्तमनलोपमम् ॥ ३० ॥
विमानं विबुधैः सार्धमारुह्य दिवि गच्छति ।
वर्षायुतानि भवने शक्रस्य दिवि मोदते ॥ ३१ ॥

चौथी पारणापर वाजपेय यज्ञका और पाँचवींपर उससे दूना फल मिलता है । वह उदयकालके सूर्य तथा प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी विमानपर देवताओंके साथ आरूढ़ हो देवलोकमें जाता है और वहाँ इन्द्रभवनमें दस हजार वर्षोंतक आनन्द भोगता है ॥ ३०-३१ ॥

षष्ठे द्विगुणमस्तीति सप्तमे त्रिगुणं फलम् ।
कैलासशिखराकारं वैदूर्यमणिवेदिकम् ॥ ३२ ॥
परिक्षिप्तं च बहुधा मणिविद्रुमभूषितम् ।
विमानं समधिष्ठाय कामगं साप्सरोगणम् ॥ ३३ ॥
सर्वाँल्लोकान् विचरते द्वितीय इव भास्करः ।

---

१. कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका, जिह्वामूल और हृदय—ये वर्णोंके उच्चारणके आठ स्थान हैं ।

२. पाणिनीय शिक्षामें तिरसठ वर्णोंकी गणना इस प्रकार दी गयी है—इक्कीस स्वर, पचीस स्पर्श, आठ यादि, चार यम, अनुस्वार, विसर्ग, ≍ क, ≍ प तथा दुःस्पृष्ट—ये सब मिलाकर तिरसठ वर्ण हैं । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—'अ इ उ ऋ' ये चार स्वर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतके भेदसे तीन-तीन तरहके माने गये हैं, अतः ये बारह हुए । ऌकारका केवल ह्रस्वरूप ही ग्रहण किया गया है—इस प्रकार ये तेरह स्वर हुए । इनके सिवा, 'ए ओ ऐ औ' ये दीर्घ और प्लुतके भेदसे दो-दो प्रकारके हैं, अतः आठ हुए । पूर्वोक्त १३ और ये ८ मिलकर २१ स्वर होते हैं । 'क' से लेकर 'म' तकके २५ अक्षर स्पर्श कहलाते हैं । इनको मिलानेसे ४६ अक्षर हुए । 'य' से लेकर 'ह' तकके आठ अक्षरोंको जोड़ लेनेपर इनकी संख्या ५४ होती है । प्रतिशाख्यके अनुसार चार यम होते हैं । यथा—'पलिक्क्नी' 'चख्ख्नतुः' 'अग्ग्निः' 'घ्घ्नन्ति' इन उदाहरणोंमें क् ख् ग् घ् से परे जो इन्हींके सदृश वर्ण हैं, इन्हींकी 'यम' संज्ञा है । इन चार यमोंको जोड़ लेनेसे अक्षरोंकी संख्या ५८ तक पहुँचती है । इनके सिवा, अनुस्वार (अं), विसर्ग (अः) ≍ क (जिह्वामूलीय), ≍ प (उपध्मानीय) तथा दुःस्पृष्टवर्ण (दो स्वरोंके मध्यमें वर्तमान ळकार)—ये पाँच अक्षर और हैं । इन सबका योग तिरसठ होता है । ये ही तिरसठ अक्षर हैं ।

छठी पारणामें इससे दूना अर्थात् चार वाजपेय यज्ञोंका फल पाता है। सातवेंमें तीन गुने अर्थात् बारह वाजपेय यज्ञोंके फलकी प्राप्ति होती है। वह कैलास शिखरके समान उज्ज्वल एवं विशाल वैदूर्यमणिकी वेदीसे विभूषित, अनेक प्रकारके मण्डलाकार मार्गोंसे युक्त, मणियों और मूँगोंसे अलंकृत, अप्सराओंसे परिपूर्ण तथा इच्छानुसार चलनेवाले विमानपर बैठकर दूसरे सूर्यके समान सम्पूर्ण लोकोंमें विचरता है ॥ ३२-३३½ ॥

अष्टमे राजसूयस्य पारणे लभते फलम् ॥ ३४ ॥
चन्द्रोदयनिभं रम्यं विमानमधिरोहति ।
चन्द्ररश्मिप्रतीकाशैर्हयैर्युक्तं मनोजवैः ॥ ३५ ॥

आठवीं पारणा पूरी होनेपर उसे राजसूय यज्ञका फल मिलता है। वह चन्द्रोदयके समान रमणीय विमानपर आरूढ़ होता है। जिसमें चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल और मनके समान वेगशाली घोड़े जुते होते हैं ॥ ३४-३५ ॥

सेव्यमानो वरस्त्रीणां चन्द्रकान्ततरैर्मुखैः ।
मेखलानां निनादेन नूपुराणां च निःस्वनैः ॥ ३६ ॥
अङ्के परमनारीणां सुखं सुप्तो विबुध्यते ।

वह देवसुन्दरियोंके चन्द्रमासे भी अधिक कमनीय मुखोंसे, उनकी मेखलाओंकी ध्वनिसे तथा नूपुरोंकी झनकारोंसे सेवित हो दिव्याङ्गनाओंके अङ्कमें सुखपूर्वक सोता और जागता है ॥ ३६½ ॥

नवमं क्रतुराजस्य वाजिमेधस्य भारत ॥ ३७ ॥
काञ्चनस्तम्भनिर्व्यूहं वैदूर्यकृतवेदिकम् ।
जाम्बूनदमयैर्दिव्यैर्गवाक्षैः सर्वतो वृतम् ॥ ३८ ॥
सेवितं चाप्सरःसंघैर्गन्धर्वैर्दिविचारिभिः ।
विमानं समधिष्ठाय श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ३९ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यचन्दनभूषितः ।
मोदते दैवतैः सार्धं दिवि देव इवापरः ॥ ४० ॥

भरतनन्दन ! नवीं पारणा पूर्ण करके श्रोता यज्ञोंके राजा अश्वमेधका फल पाता है। वह सोनेके खंभों और कँगूरोंसे सुशोभित, वैदूर्यमणिकी वेदीसे अलंकृत, सब ओर बने हुए सुवर्णमय दिव्य गवाक्षोंसे आवृत तथा स्वर्गमें विचरनेवाले गन्धर्वों और अप्सराओंसे सेवित विमानपर बैठकर अपनी उत्कृष्ट प्रभासे प्रकाशित होता है तथा दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करके दिव्य चन्दनसे चर्चित हो दूसरे देवताकी भाँति देवलोकमें देवगणोंके साथ आनन्द भोगता है ॥ ३७—४० ॥

दशमं पारणं प्राप्य द्विजातीनभिवन्द्य च ।
किङ्किणीजालनिर्घोषं पताकाध्वजशोभितम् ॥ ४१ ॥
रत्नवेदिकसंकाशं वैदूर्यमणितोरणम् ।
हेमजालपरिक्षिप्तं प्रवालवलभीमुखम् ॥ ४२ ॥
गन्धर्वैर्गीतकुशलैरप्सरोभिर्निषेवितम् ।
विमानं सुकृतावासं सुखेनैवोपपद्यते ॥ ४३ ॥

दसवीं पारणा पूरी करके ब्राह्मणोंको प्रणाम करे, ऐसा करके श्रोता पुण्यात्माओंके आवासस्थान दिव्य विमानको सुखपूर्वक पा लेता है। उस विमानमें छोटी-छोटी घंटियोंसे युक्त झालरें लगी होती हैं, जिनसे मधुर ध्वनि होती रहती है। ध्वजा और पताकाएँ उस विमानकी शोभा बढ़ाती हैं। वह रत्नमयी वेदिकाओंसे प्रकाशित होता है। उसमें वैदूर्यमणिके फाटक लगे होते हैं। वह सब ओरसे सोनेकी जालीसे घिरा रहता है। उसके छज्जोंका मुखभाग मूँगोंसे अलंकृत होता है तथा गीतकुशल गन्धर्व और अप्सराएँ उस विमानपर सेवाके लिये उपस्थित रहती हैं ॥ ४१–४३ ॥

मुकुटेनार्कवर्णेन जाम्बूनदविभूषणः ।
दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गो दिव्यमाल्यविभूषितः ॥ ४४ ॥
दिव्याँल्लोकान् प्रचरति दिव्यैर्भोगैः समन्वितः ।
विबुधानां प्रसादेन श्रिया परमया युतः ॥ ४५ ॥

वह पुरुष अपने मस्तकपर सूर्यके समान प्रकाशमान मुकुटसे सुशोभित हो जाम्बूनद (सुवर्ण) के आभूषण धारण करके सारे अङ्गोंमें दिव्य चन्दनसे चर्चित और दिव्य मालाओंसे विभूषित हो, दिव्य भोगों तथा उत्कृष्ट शोभासे सम्पन्न होकर देवताओंके प्रसादसे दिव्य लोकोंमें विचरता है ॥

अथ वर्षगणानेवं स्वर्गलोके महीयते ।
ततो गन्धर्वसहितः सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ४६ ॥
पुरंदरपुरे रम्ये शक्रेण सह मोदते ।

इस प्रकार बहुत वर्षोंतक वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। तदनन्तर गन्धर्वोंके साथ रमणीय पुरन्दरपुरी अमरावतीमें रहकर इक्कीस हजार वर्षोंतक इन्द्रके साथ आनन्द भोगता है॥

दिव्ययानविमानेषु लोकेषु विविधेषु च ॥ ४७ ॥
दिव्यनारीगणाकीर्णो निवसत्यमरो यथा ।

इसके बाद नाना प्रकारके पुण्यलोकोंमें दिव्य यानों और विमानोंपर दिव्य नारियोंसे घिरा रहकर वहाँ देवताके समान निवास करता है ॥ ४७½ ॥

ततः सूर्यस्य भवने चन्द्रस्य भवने तथा ॥ ४८ ॥
शिवस्य भवने राजन् विष्णोर्याति सलोकताम् ।

राजन् ! तत्पश्चात् वह क्रमशः सूर्यभवनमें, चन्द्रलोकमें तथा भगवान् शिवके धाममें निवास करके अन्तमें भगवान् विष्णुका सालोक्य प्राप्त कर लेता है ॥ ४८½ ॥

एवमेतन्महाराज नात्र कार्या विचारणा ॥ ४९ ॥
श्रद्दधानेन वै भाव्यमेवमाह गुरुर्मम ।

महाराज ! यह ठीक ऐसी ही बात है। इस विषयमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। इसपर श्रद्धा करनी चाहिये। यह मेरे गुरु व्यासजीका कथन है ॥ ४९½ ॥

वाचकस्य तु दातव्यं मनसा यद् यदिच्छति ॥ ५० ॥
हस्त्यश्वरथयानादि वाहनं च विशेषतः ।

वाचकको वह मनसे जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करे, वही देनी चाहिये। विशेषतः हाथी, घोड़े, रथ और शिविका आदि वाहन-का दान करना उचित है ॥ ५०½ ॥

कटके कुण्डले चैव ब्रह्मसूत्रं तथापरम् ॥ ५१ ॥
वस्त्रं चैव विचित्रं च गन्धं चैवं विशेषतः ।
देववत् पूजयेत् तं तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥ ५२ ॥

उसके लिये कड़े, कुण्डल, नूतन यज्ञोपवीत, विचित्र वस्त्र तथा विशेषतः गन्ध आदि देकर देवताके समान उनकी पूजा करनी चाहिये। ऐसा करनेवाला पुरुष भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है ॥ ५१-५२ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि यानि देयानि भारते ।
वाच्यमानेऽथ विप्रेभ्यो राजन् पर्वणि पर्वणि ॥ ५३ ॥

राजन्! अब मैं यह बता रहा हूँ कि जब महाभारतका पारायण आरम्भ हो जाय, तब प्रत्येक पर्वकी समाप्तिपर ब्राह्मणोंके लिये किन-किन वस्तुओंका दान देना चाहिये ॥

जातिं देशं च सत्यं च माहात्म्यं भरतर्षभ ।
धर्मवृत्तिं च विज्ञाय ब्राह्मणानां नराधिप ॥ ५४ ॥
स्वस्ति वाच्यं द्विजैरादौ ततः कार्यं प्रवर्तयेत् ।
समाप्तपर्वणि ततः स्वशक्त्या तर्पयेद् द्विजान् ॥ ५५ ॥

भरतश्रेष्ठ! नरेश्वर! पर्वके आरम्भमें ब्राह्मणोंकी जाति, देश, सत्य, माहात्म्य तथा धर्मवृत्तिको जानकर पहले उनके द्वारा स्वस्तिवाचन कराना चाहिये। तदनन्तर कार्य (कथा-श्रवण) आरम्भ करे। फिर उस पर्वकी समाप्ति होनेपर अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंको तृप्त करे ॥ ५४-५५ ॥

आदौ तु वाचकं चैव वस्त्रगन्धसमन्वितम् ।
विधिवद् भोजयेद् राजन् मधुपायससंयुतम् ॥ ५६ ॥

राजन्! आदिपर्वके अनुक्रमणिकापर्वमें पहले वाचककी वस्त्र और गन्ध आदिसे पूजा करके उसे मधुयुक्त खीरका विधिवत् भोजन कराये ॥ ५६ ॥

ततो मूलफलप्रायं पायसं मधुसर्पिषा ।
आस्तीके भोजयेद् राजन् दद्याच्चैव गुडौदनम् ॥ ५७ ॥

नरेश्वर! तदनन्तर आस्तीकपर्वमें प्रायः फल-मूल तथा मधु और घीसे युक्त खीर भोजन कराये तथा गुड़ और चावलका दान करे ॥ ५७ ॥

अपूपैश्चैव पूपैश्च मोदकैश्च समन्वितम् ।
सभापर्वणि राजेन्द्र हविष्यं भोजयेद् द्विजान् ॥ ५८ ॥

राजेन्द्र! फिर सभापर्वमें पूप (पुआ), अपूप (माल-पुआ) और मोदक (लड्डू) के साथ खीर ब्राह्मणोंको भोजन कराये ॥ ५८ ॥

आरण्यके मूलफलैस्तर्पयेच्च द्विजोत्तमान् ।
अरणीपर्व आसाद्य जलकुम्भान् प्रदापयेत् ॥ ५९ ॥

आरण्यक (वन) पर्वमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको फल-मूलसे तृप्त करे। अरणीपर्वमें पहुँचकर जलसे भरे हुए घड़ोंका दान करे ॥ ५९ ॥

तर्पणानि च मुख्यानि वन्यमूलफलानि च ।
सर्वकामगुणोपेतं विप्रेभ्योऽन्नं प्रदापयेत् ॥ ६० ॥

तृप्तिके मुख्य साधन, जंगली फल-मूल तथा मनोवाञ्छित गुणोंसे सम्पन्न अन्नका ब्राह्मणोंको दान करे ॥ ६० ॥

विराटपर्वणि तथा वासांसि विविधानि च ।
उद्योगे भरतश्रेष्ठ सर्वकामगुणान्वितम् ॥ ६१ ॥
भोजनं भोजयेद् विप्रान् गन्धमाल्यैरलंकृतान् ।

विराटपर्वमें भाँति-भाँतिके वस्त्र दान करे। भरतश्रेष्ठ! उद्योगपर्वमें ब्राह्मणोंको गन्ध और मालाओंसे अलंकृत करके उन्हें मनोवाञ्छित गुणोंसे सम्पन्न अन्नका भोजन कराये ॥ ६१½ ॥

भीष्मपर्वणि राजेन्द्र दत्त्वा यानमनुत्तमम् ।
ततः सर्वगुणोपेतमन्नं दद्यात् सुसंस्कृतम् ॥ ६२ ॥

राजेन्द्र! भीष्मपर्वमें परम उत्तम शिबिकाका दान करके अच्छी तरह छौंक-बघारकर तैयार किये गये सर्वगुण-सम्पन्न अन्नका दान करे ॥ ६२ ॥

द्रोणपर्वणि विप्रेभ्यो भोजनं परमार्चितम् ।
शराश्च देया राजेन्द्र चापान्यसिवरांस्तथा ॥ ६३ ॥

राजेन्द्र! द्रोणपर्वमें ब्राह्मणोंको परम उत्तम भोजन अर्पित करे तथा उन्हें धनुष, बाण एवं उत्तम खड्ग दे ॥ ६३ ॥

कर्णपर्वण्यपि तथा भोजनं सार्वकामिकम् ।
विप्रेभ्यः संस्कृतं सम्यग् दद्यात् संयतमानसः ॥ ६४ ॥

कर्णपर्वमें भी मनको संयममें रखकर ब्राह्मणोंको सबकी रुचिके अनुकूल उत्तम संस्कारयुक्त भोजन दे ॥ ६४ ॥

शल्यपर्वणि राजेन्द्र मोदकैः सगुडौदनैः ।
अपूपैस्तर्पयेच्चैव सर्वमन्नं प्रदापयेत् ॥ ६५ ॥

महाराज! शल्यपर्वमें लड्डू, गुडमिश्रित ओदन और पूओंसे ब्राह्मणोंको तृप्त करे तथा उन्हें सब प्रकारके अन्नका दान दे ॥ ६५ ॥

गदापर्वण्यपि तथा मुद्गमिश्रं प्रदापयेत् ।
स्त्रीपर्वणि तथा रत्नैस्तर्पयेत् तु द्विजोत्तमान् ॥ ६६ ॥

गदापर्वमें भी मूँग मिलायी हुई खिचड़ीका दान करे। स्त्रीपर्वमें उत्तम ब्राह्मणोंको रत्नोंद्वारा तृप्त करे ॥ ६६ ॥

घृतौदनं पुरस्ताच्च ऐषीके दापयेत् पुनः ।
ततः सर्वगुणोपेतमन्नं दद्यात् सुसंस्कृतम् ॥ ६७ ॥

ऐषीकपर्वमें पहले घी मिलाये हुए भातका दान करे। तत्पश्चात् अच्छी तरह छौंक-बघारकर बनाया हुआ सर्वगुण-सम्पन्न अन्नका दान दे ॥ ६७ ॥

शान्तिपर्वण्यपि गते हविष्यं भोजयेद् द्विजान् ।
आश्वमेधिकमासाद्य भोजनं सार्वकामिकम् ॥ ६८ ॥

शान्तिपर्व पूर्ण होनेपर ब्राह्मणोंको हविष्यका भोजन कराये। फिर आश्वमेधिकपर्वमें पहुँचकर सबकी रुचिके अनुकूल भोजन दे ॥ ६८ ॥

तथाऽऽश्रमनिवासे तु हविष्यं भोजयेद् द्विजान्।
मौसले सार्वगुणिकं गन्धमाल्यानुलेपनम्॥ ६९ ॥

आश्रमवासिकपर्वमें ब्राह्मणोंको हविष्य भोजन कराये। मौसलपर्वमें सर्वगुणसम्पन्न अन्न तथा गन्ध, माला और अनुलेपनका दान करे ॥ ६९ ॥

महाप्रास्थानिके तद्वत् सर्वकामगुणान्वितम्।
स्वर्गपर्वण्यपि तथा हविष्यं भोजयेद् द्विजान्॥ ७० ॥

उसी प्रकार महाप्रस्थानिकपर्वमें समस्त मनोवाञ्छित गुणोंसे सम्पन्न अन्नका तथा स्वर्गारोहणपर्वमें हविष्यका ब्राह्मणोंको भोजन कराये ॥ ७० ॥

हरिवंशसमाप्तौ तु सहस्रं भोजयेद् द्विजान्।
गामेकां निष्कसंयुक्तां ब्राह्मणाय निवेदयेत्॥ ७१ ॥

हरिवंशकी समाप्ति होनेपर एक हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराये तथा स्वर्णपदकसे युक्त एक गौका ब्राह्मणको दान करे ॥ ७१ ॥

तदर्धेनापि दातव्या दरिद्रेणापि पार्थिव।
प्रतिपर्वसमाप्तौ तु पुस्तकं वै विचक्षणः॥ ७२ ॥
सुवर्णेन च संयुक्तं वाचकाय निवेदयेत्।

पृथ्वीनाथ! दरिद्रको भी पूरा नहीं तो आधा दान अवश्य करना चाहिये। बुद्धिमान् मनुष्य प्रत्येक पर्वकी समाप्तिपर वाचकको सुवर्णयुक्त पुस्तक अर्पित करे ॥७२½॥

हरिवंशे पर्वणि च पायसं तत्र भोजयेत्॥ ७३ ॥
श्लोकं वा श्लोकपादं वा अक्षरं वा नृपात्मज।
शृणुयादेकचित्तस्तु स विष्णुदयितो भवेत्॥ ७४ ॥

हरिवंशपर्वमें ब्राह्मणोंको खीर भोजन कराये। राजकुमार! जो एकाग्रचित्त होकर हरिवंशके एक श्लोक, एक चरण अथवा एक अक्षरका भी श्रवण करता है, वह भगवान् विष्णुका प्रिय भक्त होता है ॥ ७३-७४ ॥

व्यासं चैव सपत्नीकं पूजयेच्च यथाविधि।
लक्ष्मीनारायणं देवं पूजितं तं च पूजयेत्॥ ७५ ॥

कथावाचक व्यासकी उसकी पत्नीके साथ विधिवत् पूजा करे। इससे भगवान् लक्ष्मीनारायणका पूजन हो जाता है। फिर पूर्वपूजित भगवान् लक्ष्मी-नारायणकी भी पूजा करे ॥७५॥

वाचकं पूजयेद् यस्तु भूमिवस्त्रसुधेनुभिः।
विष्णुः सम्पूजितस्तेन स साक्षाद् देवकीसुतः ॥७६॥

जो भूमि, वस्त्र और उत्तम धेनु देकर वाचककी पूजा करता है, उसके द्वारा साक्षात् विष्णुस्वरूप देवकीनन्दन श्रीकृष्णका पूजन सम्पन्न हो जाता है ॥ ७६ ॥

पारणे पारणे राजन् यथावद् भरतर्षभ।
समाप्य सर्वाः प्रयतः संहिताः शास्त्रकोविदः॥ ७७ ॥
शुभे देशे निवेश्याथ क्षौमवस्त्राभिसंवृतः।
शुक्लाम्बरधरः श्रीमाञ्छुचिर्भूत्वा स्वलंकृतः ॥ ७८ ॥
अर्चयेत् तं यथान्यायं गन्धमाल्यैः पृथक् पृथक्।
संहितापुस्तकान् राजन् प्रयतः शिष्टसम्मतः ॥७९॥

राजन्! भरतवंशावतंस जनमेजय! शास्त्रज्ञ पुरुष इन्द्रिय-संयमपूर्वक यथोचित रूपसे सम्पूर्ण महाभारत-संहिताको (हरिवंशसहित) पूर्ण करके प्रत्येक पारणामें वाचकको शुभ स्थानमें बैठाकर रेशमी वस्त्र अथवा शुद्ध श्वेत वस्त्र धारण करके शोभा-सम्पन्न, पवित्र एवं अलंकृत हो यथोचित रीतिसे पृथक्-पृथक् गन्ध, माल्य आदि अर्पित करके उस वाचककी पूजा करे। राजन्! संयतचित्त एवं शिष्ट पुरुषों-द्वारा सम्मानित पुरुष संहिताकी पुस्तकोंका भी पूजन करे ॥ ७७–७९ ॥

भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च कामैश्च विविधैः शुभैः।
हिरण्यं गां च वस्त्रं च दक्षिणामथ दापयेत्॥ ८० ॥

वाचकको उत्तमोत्तम भक्ष्य-भोज्य पदार्थ, पेय रस आदि तथा नाना प्रकारकी शुभ मनोवाञ्छित वस्तुओंके साथ सुवर्ण, गौ, वस्त्र तथा दक्षिणा समर्पित करे ॥ ८० ॥

सर्वत्र त्रिपलं स्वर्णं दातव्यं प्रणतात्मना।
तदर्धं पादशेषं वा वित्तशाठ्यविवर्जितम्॥ ८१ ॥

सभी पारणाओंमें प्रणतभावसे तीन पल (तीन भर) सुवर्ण देना चाहिये। इतना सम्भव न हो तो सवा दो भर या डेढ़ भर अवश्य दे। धन रहते हुए कंजूसी न करे ॥ ८१ ॥

यद् यदेवात्मनोऽभीष्टं तत् तद् देयं द्विजातये।
सर्वथा तोषयेद् भक्त्या वाचकं गुरुमात्मनः।
देवताः कीर्तयेत् सर्वा नरनारायणौ तथा॥ ८२ ॥

जो-जो वस्तु अपनेको अभीष्ट हो, उसी-उसीका ब्राह्मणों-को दान करना चाहिये। वाचक अपना गुरु है, अतः भक्ति-भावसे उसको सर्वथा संतुष्ट करे। उस समय सम्पूर्ण देवता-ओंका तथा नर-नारायणका कीर्तन करे ॥ ८२ ॥

ततो गन्धैश्च माल्यैश्च स्वलंकृतद्विजोत्तमान्।
तर्पयेद् विविधैः कामैर्दानैश्चोच्चावचैस्तथा॥ ८३ ॥

तदनन्तर गन्ध, माल्य आदिसे भलीभाँति अलंकृत किये गये श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उनकी इच्छाके अनुसार नाना प्रकारके कमनीय पदार्थ तथा अनेक प्रकारके छोटे-बड़े दान देकर तृप्त करे ॥ ८३ ॥

अतिरात्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः।
प्राप्नुयाच्च क्रतुफलं तथा पर्वणि पर्वणि॥ ८४ ॥

ऐसा करनेवाला मनुष्य अतिरात्र यज्ञका फल पाता है। प्रत्येक पर्वपर ऐसा करनेसे यज्ञ-फलकी प्राप्ति होती है ॥८४॥

वाचको भरतश्रेष्ठ व्यक्ताक्षरपदस्वरः।
भविष्यं श्रावयेद् विप्रान् भारतं भरतर्षभ॥ ८५ ॥

भरतकुलतिलक जनमेजय! वाचकको चाहिये कि वह

सुस्पष्ट अक्षर, पद एवं स्वरके साथ ब्राह्मणोंको भविष्यपर्व एवं भारतका श्रवण कराये ॥ ८५ ॥

भुक्तवत्सु द्विजेन्द्रेषु यथावत् सम्प्रदापयेत् ।
वाचकं भरतश्रेष्ठ भोजयित्वा स्वलंकृतम् ॥ ८६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके भोजन कर लेनेपर वाचकको भी भोजन कराकर उसे भलीभाँति अलंकृत करके यथोचित रूपसे दक्षिणा दे ॥ ८६ ॥

वाचके परितुष्टे तु शुभा प्रीतिरनुत्तमा ।
ब्राह्मणेषु च तुष्टेषु प्रसन्नाः सर्वदेवताः ॥ ८७ ॥

वाचकके संतुष्ट होनेपर परम उत्तम मङ्गलमयी प्रीति प्राप्त होती है । अन्य ब्राह्मणोंके संतुष्ट होनेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ८७ ॥

ततो हि भरणं कार्यं द्विजानां भरतर्षभ ।
सर्वकामैर्यथान्यायं साधुभिश्च यथाक्रमम् ॥ ८८ ॥

भरतभूषण ! तत्पश्चात् यथोचित रूपसे सब प्रकारके उत्तम, मनोवाञ्छित पदार्थ देकर क्रमशः सभी द्विजोंका भरण-पोषण करना चाहिये ॥ ८८ ॥

इत्येष विधिरुद्दिष्टो मया ते द्विपदां वर ।
श्रद्दधानेन वै भाव्यं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ८९ ॥

नरश्रेष्ठ ! तुमने मुझसे जो पूछा था, उसके अनुसार मैंने तुमसे महाभारत और हरिवंश सुननेकी यह विधि बतायी है । तुम्हें इसपर श्रद्धा करनी चाहिये ॥ ८९ ॥

भारतश्रवणे राजन् पारणे च नृपोत्तम ।
सदा यत्नवता भाव्यं श्रेयस्तु परमिच्छता ॥ ९० ॥

राजन् ! नृपश्रेष्ठ ! जो परम कल्याणकी इच्छा रखता हो, उसे हरिवंशसहित महाभारत सुनने और उसकी पारणा पूरी करनेके लिये सदा यत्नशील रहना चाहिये ॥ ९० ॥

भारतं शृणुयान्नित्यं भारतं परिकीर्तयेत् ।
भारतं भवने यस्य तस्य हस्तगतो जयः ॥ ९१ ॥

प्रतिदिन भारतका श्रवण करे । नित्य-प्रति भारतका कीर्तन करे । जिसके घरमें महाभारतकी पुस्तक है, उसके हाथमें विजय है ॥ ९१ ॥

भारतं परमं पुण्यं भारते विविधाः कथाः ।
भारतं सेव्यते देवैर्भारतं परिकीर्तयेत् ॥ ९२ ॥

भारत परम पुण्यमय ग्रन्थ है । भारतमें नाना प्रकारकी कथाएँ हैं । देवतालोग भी भारतका सेवन करते हैं, अतः भारतका अवश्य कीर्तन करे ॥ ९२ ॥

भारतं सर्वशास्त्राणामुत्तमं भरतर्षभ ।
भारतात् प्राप्यते मोक्षस्तत्त्वमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ९३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भारत सम्पूर्ण शास्त्रोंमें उत्तम है । भारतके अनुशीलनसे मोक्ष प्राप्त होता है । यह मैं तुम्हे तत्त्वकी बात बता रहा हूँ ॥ ९३ ॥

महाभारतमाख्यानं क्षितिं गां च सरस्वतीम् ।
ब्राह्मणं केशवं चापि कीर्तयन् नावसीदति ॥ ९४ ॥

जो महाभारत इतिहास, पृथ्वी, गौ, सरस्वती, ब्राह्मण और भगवान् श्रीकृष्णका कीर्तन करता है, वह कभी कष्टमें नहीं पड़ता ॥ ९४ ॥

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥ ९५ ॥

भरतभूषण ! वेद, रामायण तथा पवित्र महाभारतके आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र श्रीहरिका गान किया जाता है ॥ ९५ ॥

यत्र विष्णुकथा दिव्याः श्रुतयश्च सनातनाः ।
तच्छ्रोतव्यं मनुष्येण परं पदमिहेच्छता ॥ ९६ ॥

जो इस लोकमें परम पदकी इच्छा रखता हो, उस मनुष्यको चाहिये कि जिसमे भगवान् विष्णुकी दिव्य कथाएँ और सनातन श्रुतियाँ हैं, उस महाभारत एवं हरिवंशका वह श्रवण करे ॥ ९६ ॥

एतत् पवित्रं परममेतद् धर्मनिदर्शनम् ।
एतत् सर्वगुणोपेतं श्रोतव्यं भूतिमिच्छता ॥ ९७ ॥

यह परम पवित्र है । यह धर्मका निरूपण करनेवाला शास्त्र है तथा यह समस्त उत्तम गुणोंसे युक्त है। अतः कल्याण-कामी पुरुषको इसका श्रवण करना चाहिये ॥ ९७ ॥

क्रियतेऽसारसंसारे वाञ्छितस्यैव कारणम् ।
हरिवंशस्य श्रवणमिति द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ९८ ॥

इस असार संसारमें हरिवंशका श्रवण सभी मनोरथोंकी पूर्ति करनेवाला है, इसलिये श्रेष्ठ पुरुष इसका श्रवण करते हैं। ऐसा द्वैपायन वेदव्यासका कथन है ॥ ९८ ॥

अश्वमेधसहस्रेण वाजपेयशतैस्तथा ।
यत् फलं प्राप्यते पुंभिस्तद्धरेर्वंशपारणात् ॥ ९९ ॥

एक हजार अश्वमेध और एक सौ वाजपेय यज्ञ करनेसे मनुष्योंको जो फल प्राप्त होता है, वह हरिवंशका पारायण करनेमात्रसे प्राप्त हो जाता है ॥ ९९ ॥

अजरममरमेकं ध्येयमाद्यन्तशून्यं
सगुणमगुणमाद्यं स्थूलमत्यन्तसूक्ष्मम् ।
निरुपममनुमेयं योगिनां ज्ञानगम्यं
त्रिभुवनगुरुमीशं त्वां प्रपन्नोऽस्मि विष्णो ॥ १०० ॥

विष्णो ! आप अजर, अमर, एक (अद्वितीय), ध्यान करने योग्य, अनादि, अनन्त, सगुण, निर्गुण, सबके आदि-कारण, स्थूल, अत्यन्त सूक्ष्म, उपमारहित, अनुमानके योग्य, योगियोंके लिये ज्ञानगम्य, तीनों लोकोंके गुरु तथा ईश्वर हैं, अतः मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ १०० ॥

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।

सर्वेषां वाञ्छिता अर्था भवन्त्वस्य च धारणात्॥ १०१॥

इस ग्रन्थके नियमपूर्वक पठन एवं श्रवणसे सब लोग दुर्गम संकटोंसे पार हो जायँ, सब कल्याणका दर्शन करें तथा सबके मनोवाञ्छित अर्थ सिद्ध हो जायँ ॥ १०१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि श्रवणफलकथने द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें महाभारत और हरिवंशके श्रवणके फलका वर्णनविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

त्रिपुर-वधकी कथा

जनमेजय उवाच

त्र्यक्षाद् वधमहं ब्रह्मञ्श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
त्रयाणां पुरसंस्थानां खेचराणां समासतः॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! दैत्योंके जो आकाशमें विचरनेवाले तीन पुर थे, उनका त्रिनेत्रधारी महादेवजीके हाथसे किस प्रकार वध हुआ? इस प्रसङ्गको मैं ठीक-ठीक और संक्षेपसे सुनना चाहता हूँ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु विस्तरतः सर्वं यन्मां पृच्छसि नैधनम्।
दैत्यानां बाहुबलिनां सर्वप्राणिविरोधिनाम्॥ २ ॥
शंकरेण वधं राजञ्शूलैस्त्रिभिरजिह्मगैः।
कृतं पुरासुरेन्द्राणां सर्वभूतवधैषिणाम्॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! जो समस्त प्राणियोंके विरोधी थे, उन बाहुबलशाली दैत्योंका भगवान् शङ्करके हाथ किस प्रकार निधन हुआ? यह जो तुम मुझसे पूछते हो, यह सारा प्रसङ्ग विस्तारपूर्वक सुनो—पूर्वकालमें सम्पूर्ण प्राणियोंके वधकी इच्छावाले उन असुरेन्द्रोंका वध भगवान् शिवने अपने सीधे जानेवाले तीन शूलोंद्वारा किया था॥२-३॥

त्रिपुरं पुरुषव्याघ्र बृहद्धातुसमीरितम्।
विक्रामति नभोमध्ये मेघवृन्दमिवोत्थितम्॥ ४ ॥

नरव्याघ्र! वे तीनों पुर बृहद् (बहुमूल्य एवं महान्) धातुओंसे निर्मित हुए थे। वे आकाशमें उमड़े हुए मेघ-समूहोंकी भाँति प्रकट होकर सर्वत्र विचरते थे॥ ४ ॥

प्राकारेण प्रवृद्धेन काञ्चनेन विराजता।
मणिभिश्च प्रकाशद्भिः सर्वरत्नैश्च तोरणैः॥ ५ ॥
बभासे नभसो मध्ये श्रिया परमया ज्वलत्।
गन्धर्वाणामिवोदग्रं कर्मणा साधितं पुरम्॥ ६ ॥

सुवर्णनिर्मित ऊँचे विशाल एवं प्रकाशमान परकोटेसे उद्दीप्त होनेवाली मणियोंसे तथा सर्वरत्नमय फाटकोंसे वे तीनों पुर आकाशमण्डलमें चमकते रहते थे। वे अपनी उत्कृष्ट प्रभासे प्रज्वलित हो रहे थे। तपस्यारूपी कर्मसे साधित हुए वे भयंकर पुर गन्धर्वोंके नगर-से जान पड़ते थे॥ ५-६ ॥

वाजिनः पक्षसंयुक्ता वहन्ति बलदर्पिताः।
पुरं प्रभाकरश्रेष्ठं मनोभिः कामबृंहणैः॥ ७ ॥

बलके अभिमानसे युक्त, पङ्खवाले घोड़े सूर्यसे भी अधिक प्रकाशमान उस पुरको इच्छानुसार बढ़नेवाले मनके तुल्य वेगसे ढोया करते थे॥ ७ ॥

धावन्ति ह्रेषमाणास्ते विक्रमैः प्राणसम्भृतैः।
आह्वयत इवाकाशं खुरैः श्यामदलप्रभैः॥ ८ ॥

सारी प्राणशक्ति लगाकर संचित किये गये बल-विक्रमसे जब वे घोड़े हिनहिनाते हुए दौड़ते थे, उस समय उनकी काली टापोंसे आकाश आहूत होता-सा प्रतीत होता था॥

वायुवेगसमैर्वेगैः कालयन्त इवाम्बरम्।
असुराः समदृश्यन्त चक्षुर्भिर्विदितात्मभिः॥ ९ ॥
ऋषिभिर्ज्वलनप्रख्यैस्तपसा दग्धकिल्बिषैः।

जिन्होंने तपस्यासे सारे पापोंको दग्ध कर दिया था तथा जो अग्निके समान तेजस्वी थे, वे आत्मज्ञानी महर्षि ही अपने नेत्रोंद्वारा उन असुरोंको देख पाते थे। वे वायुके समान वेगसे समूचे आकाशको अपना ग्रास बनाते हुए-से जान पड़ते थे॥

गीतवादित्रबहुलं गन्धर्वनगरोपमम्॥ १० ॥
चित्रायुधसमाकीर्णैः प्रतप्तकनकप्रभैः।
भवनैर्बहुभिश्चैव प्रांशुभिः समलंकृतैः॥ ११ ॥
देवेन्द्रभवनाकारैः शुशुभे तन्महाद्युति।

उन पुरोंमें प्रायः गीत और वाद्यके समारोह होते रहते थे। वे गन्धर्वनगरके समान प्रतीत होते थे। विचित्र आयुधोंसे भरे हुए, तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् तथा विविध अलंकारोंसे अलंकृत बहुसंख्यक ऊँचे भवन, जो देवराज इन्द्रके भवनकी भाँति सुशोभित होते थे, उन महातेजस्वी पुरोंकी शोभा बढ़ाते थे॥ १०-११½ ॥

प्रासादाग्रैः प्रवृद्धैश्च कैलासशिखरप्रभैः॥ १२ ॥
शुशुभे दैत्यनगरं बहुसूर्यमिवाम्बरम्।

कैलासके शृङ्गोंकी भाँति प्रकाशित होनेवाले बड़े-बड़े प्रासादशिखरोंसे युक्त दैत्योंका वह नगर अनेक सूर्योंसे प्रकाशित आकाशके समान सुशोभित होता था॥ १२½ ॥

वराट्टालकसम्पन्नं तप्तकाञ्चनसप्रभम्॥ १३ ॥
प्रदीप्तमिव तेजोभी रराजाथ महाप्रभो।

महाराज! बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओंसे सम्पन्न, तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् तथा तेजसे प्रज्वलित-सा वह दैत्य-नगर बड़ी शोभा पाता था॥ १३½ ॥

क्ष्वेडितोत्कुष्टबहुलं सिंहनादविनादितम् ॥ १४ ॥
बभौ वल्गुजनाकीर्णं वनं चैत्ररथं यथा ।

वहाँ गर्जना और कोलाहल अधिक होते थे । वह नगर वीरोंके सिंहनादसे गूँजता रहता था । मनोहर स्त्री-पुरुषोंसे भरा होनेके कारण वह चैत्ररथ नामक वनके समान सुशोभित होता था ॥ १४½ ॥

समुच्छ्रितपताकं तदसिभिश्च विराजितम् ॥ १५ ॥
रराज त्रिपुरं राजन् महाविद्युदिवाम्बरे ।

राजन् ! ऊँची-ऊँची पताकाओंसे सुशोभित तथा चमचमाती हुई तलवारोंसे प्रकाशित वह त्रिपुर नामक नगर आकाशमें विशाल विद्युत्के समान उद्भासित होता था ॥

सूर्यनाभश्च दैत्येन्द्रश्चन्द्रनाभश्च भारत ॥ १६ ॥
तथान्ये च महावीर्या दानवा बलदर्पिताः ।

भारत ! उस नगरमें दैत्यराज सूर्यनाभ, चन्द्रनाभ तथा अन्य महापराक्रमी बलाभिमानी दानव रहते थे ॥ १६½ ॥

ममृदुश्च बभञ्जुश्च मोहिताः परमेष्ठिना ॥ १७ ॥
पन्थानं देवगमनं पितृयानं च भारत ।

भारत ! वे अभिमानसे मोहित होकर ब्रह्माजीके बनाये हुए देवयान और पितृयान मार्गको तोड़ने-फोड़ने एवं नष्ट करने लगे ॥ १७½ ॥

तैरेवमसुराग्रैश्च प्रगृहीतशरासनैः ॥ १८ ॥
दानवैर्नरशार्दूल देवयाने महापथे ।
पितृवह्निबलोपेते हृते भरतसत्तम ॥ १९ ॥
ब्रह्माणमभ्यधावन्त सर्वे सुरगणास्तथा ।
विवर्णवदना दीनाश्छिन्ने वै गतिकर्मणि ॥ २० ॥

पुरुषसिंह ! भरतवंशशिरोमणे ! इस प्रकार हाथमें धनुष लेकर उन श्रेष्ठ असुरों और दानवोंने जब अग्निबलसे युक्त देवयान और पितरोंके बलसे युक्त पितृयान नामक महामार्गका अपहरण कर लिया, तब समस्त देवगण ब्रह्माजीके पास दौड़े गये । उनका मुख उदास हो गया था । वे दोनों मार्गोंके नष्ट होनेसे गमन-कर्मका उच्छेद हो जानेके कारण अत्यन्त विवर्ण (शोकाकुल) हो रहे थे ॥ १८—२० ॥

अब्रुवंश्च गताः स्थित्वा स्वरेणार्तनिनादिना ।
हन्यामहे शत्रुगणैर्भागोच्छेदेन भागद ॥ २१ ॥

वे ब्रह्माजीके सामने खड़े होकर आर्तनादयुक्त स्वरसे बोले—'देवताओंको भाग देनेवाले पितामह ! शत्रुगण हमारे यज्ञभागका उच्छेद करके हमें मार रहे हैं ॥ २१ ॥

तेषां चैव वधोपायं वदस्व वदतां वर ।
यं ज्ञात्वा बाहुबलिनो बाधेम समरे परान् ॥ २२ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! उन दैत्योंके वधका कोई उपाय बताइये, जिसे जानकर हम बाहुबलशाली देवता समरमें शत्रुओंको पीड़ित कर सकें ॥ २२ ॥

सान्त्वयित्वा तु वरदो ब्रह्मा प्रोवाच देवताः ।
शृणुध्वं देवताः सर्वाः शत्रुप्रतिकृतिं पराम् ॥ २३ ॥
अवध्या दानवाः सर्वे ऋते शंकरमव्ययम् ।

तब वरदायक ब्रह्माजीने उन देवगणोंको सान्त्वना देकर उनसे कहा—'देवताओ ! तुम सब लोग शत्रुओंसे बदला लेनेका उत्तम उपाय सुनो—ये समस्त दानव अविनाशी भगवान् शङ्करके सिवा दूसरेके लिये अवध्य हैं' ॥ २३½ ॥

प्रतिगृह्य च तद् वाक्यं मनोभिर्वाग्भिरेव च ॥ २४ ॥
भूमौ प्रपेदिरे सर्वे सह रुद्रैश्च भारत ।

भरतनन्दन ! उनके उस वचनको मन और वाणीद्वारा स्वीकार करके सब देवता रुद्रगणोंके साथ पृथ्वीपर आये ॥

विन्ध्यपादे च मेरौ च मध्ये च पृथिवीतले ॥ २५ ॥
तपसोग्रेण योगज्ञाः सर्वे ते मुनयोऽभवन् ।
काश्यपेयं हरं प्राप्ता जपन्तो ब्रह्मसंहिताम् ॥ २६ ॥

वे विन्ध्य और मेरुपर्वतकी तलैटीमें तथा भूतलके मध्यभागमें उग्र तपस्या करते हुए सब-के-सब योगज्ञ मुनि हो गये और ब्रह्मसंहिता (प्रणव) का जप करते हुए कश्यपनन्दन हरकी शरणमें गये ॥ २५-२६ ॥

तेषां च परदाराणामभवद् वन्ध्यता जने ।
विन्यस्तदर्भनिचये ताम्रलोहं च भूषणम् ॥ २७ ॥

उनके लिये जनसमुदायमें परायी स्त्रियाँ वन्ध्य—निष्फल अर्थात् मोह उत्पन्न करनेमें असमर्थ थीं । वे कुशकी चटाई बिछाकर उसीपर सोते थे । ताँबा और लोहा ही उनका आभूषण था ॥ २७ ॥

परिधानानि चर्माणि मृदूनि च शुभानि च ।
स्वयं मृतानां कृष्णानां मृगाणां कुरुसत्तम ॥ २८ ॥
गृहीतानि विमुक्तानि देहेभ्यो वनचारिणाम् ।

कुरुश्रेष्ठ ! स्वयं मरे हुए वनचारी काले मृगोंके शरीरोंसे उधेड़कर लिये गये सुन्दर और कोमल मृगचर्म एवं व्याघ्रम्बर ही उनके पहननेके वस्त्र थे ॥ २८½ ॥

अन्तरिक्षमथोपेत्य विविशुर्माययाऽऽवृताः ॥ २९ ॥
हरालयं सुराः सर्वे व्याघ्रचर्मनिवासिनः ।
प्रणिपत्याथ ते दीना भगवन्तं जगत्पतिम् ॥ ३० ॥
सुव्यक्तेनाभिधानेन प्रभाषन्त हरं ततः ।

व्याघ्रचर्म धारण करके मायासे अपनेको छिपाकर समस्त देवता आकाशमार्गका आश्रय ले भगवान् शङ्करके धाममें जा पहुँचे और उन भगवान् विश्वनाथ हरको प्रणाम करके स्पष्ट शब्दोंमें उनसे बोले—॥ २९-३०½ ॥

हविर्दत्तमविज्ञानाद् भस्मच्छन्नेषु वह्निषु ॥ ३१ ॥
वरदानं वृथास्माकं भगवन् विमुखे त्वयि ।

यथादेशं यथाकालं क्रियतां ब्रह्मणो वचः ॥ ३२ ॥
यदुक्तं देवदेवेन खेचराणां समीपतः ।

'भगवन् ! आपने हमारी ओरसे मुँह फेर लिया है, इसलिये जैसे राखसे ढकी हुई आगमें अज्ञानवश दी हुई आहुति निष्फल हो जाती है, उसी प्रकार हमें मिला हुआ वरदान व्यर्थ हो गया है । अतः देवाधिदेव ब्रह्माजीने आकाशचारी देवताओंके समीप जो बात कही थी, उनके उस वचनका आप देश-कालके अनुसार पालन करें' ॥ ३१-३२½ ॥

एवं देववचोभिश्च भाविनोऽर्थस्य वैभवात् ॥ ३३ ॥
समनह्यन्महादेवो देवैः सह सवासवैः ।

इस प्रकार देवताओंके कहनेसे तथा भावी कार्यके प्रभावसे प्रेरित हो इन्द्र आदि देवताओंके साथ महादेवजी कवच बाँधकर युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ ३३½ ॥

आदित्यपथमास्थाय संनद्धाः समलंकृताः ॥ ३४ ॥
सर्वे काञ्चनवर्णाभा बभुर्दीप्ता इवाग्नयः ।

वे सब-के-सब कवच और अलंकार धारण करके सुवर्णकी-सी कान्तिसे प्रकाशित हो सूर्यके मार्गका आश्रय ले प्रज्वलित अग्नियोंके समान उद्भासित होने लगे ॥ ३४½ ॥

रुद्रेण सहिता रुद्रा दहन्त इव तेजसा ॥ ३५ ॥
संनद्धाः कुशलाः सर्वे प्रांशवः पर्वता इव ।

महादेवजीके साथ कवच बाँधकर युद्धकुशल समस्त रुद्रगण अपने तेजसे शत्रुओंको दग्ध से करने लगे। वे पर्वतोंके समान ऊँचे दिखायी देते थे ॥ ३५½ ॥

विश्वे विश्वेन वपुषा बलिनः कामरूपिणः ॥ ३६ ॥
समनह्यन्महात्मानो दानवान्तं विधित्सवः ।

दानवोंका अन्त करनेकी इच्छावाले वे सभी महात्मा बलवान् तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे । वे अपने विश्वमय शरीरसे कवच बाँधकर युद्धके लिये तैयार हो गये ॥

एभिः सहधनाध्यक्षैः समन्तात् परिवारितः ॥ ३७ ॥
त्रिपुरं योधयत् त्र्यक्षः प्रगृह्य सशरं धनुः ।

कुबेरसहित इन समस्त देवताओंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए त्रिनेत्रधारी महादेवने धनुष-बाण लेकर त्रिपुरवासियोंके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया ॥ ३७½ ॥

अथ दैत्या भिन्नदेहाः पुराट्टालं गता इव ॥ ३८ ॥
न्यपतन्त विदेहास्ते विशीर्णा इव पर्वताः ।

तदनन्तर जैसे नगरकी अट्टालिकापर चढ़े हुए लोग गिरते हों, उसी प्रकार वे त्रिपुरवासी दैत्यगण अपने शरीरोंके विदीर्ण हो जानेसे देहरहित हो जीर्ण-शीर्ण हुए पर्वतोंके समान उस नगरसे नीचे गिरने लगे ॥ ३८½ ॥

अतिविद्धाः सुविद्धाश्च रणमध्यगता नृप ॥ ३९ ॥
न्यपतन् दैत्यसंघाता वज्रेणेव हता नगाः ।

नरेश्वर ! समराङ्गणमें आये हुए दैत्यसमूह अत्यन्त घायल और क्षत-विक्षत हो वज्रके मारे हुए पर्वतोंके समान धराशायी होने लगे ॥ ३९½ ॥

असिभिश्च हता देवैः शक्तिचक्रपरश्वधैः ॥ ४० ॥
बाणैश्च भिन्नमर्माणो दैत्येन्द्रा युद्धगोचरे ।
प्रपेतुः सहिता उर्व्यां छिन्नपक्षा इवाचलाः ॥ ४१ ॥

देवताओंके खड्गों, शक्तियों, चक्रों, फरसों और बाणोंसे युद्धस्थलमें मारे गये उन दैत्यराजोंके मर्म विदीर्ण हो गये और वे पंख कटे हुए पर्वतोंके समान एक साथ ही पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४०-४१ ॥

तत्र संज्ञां विमुञ्चन्ति दीप्यमानेन तेजसा ।
एवं तेऽन्योन्यसम्बाधे क्षीयन्ते क्षयकर्मणा ॥ ४२ ॥
नोपालभ्यन्त चक्षुर्भ्यामपि दिव्येन चक्षुषा ।

देवताओंके बढ़ते हुए तेजसे दग्ध हो वे दैत्य वहाँ अपनी सुध बुध खोने लगे । इस प्रकार वे देवता और दैत्य एक-दूसरेको बाधा देते हुए युद्धरूपी क्षयकर्मसे क्षीण होने लगे । दैत्योंके दोनों नेत्रोंसे तथा दिव्य दृष्टिसे देखनेपर भी उस समय देवता उनकी पकड़में नहीं आते थे ॥ ४२½ ॥

अस्तं प्राप्ते दिनकरे सुरेन्द्रास्ते निशामुखे ।
छिन्नभिन्नक्षतमुखा निपेतुर्वसुधातले ॥ ४३ ॥

सूर्यके अस्त हो जानेपर प्रदोषकालमें (सबल हुए दैत्योंके आक्रमणसे) उन देवेश्वरोंके मुख छिन्न-भिन्न एवं क्षत-विक्षत हो गये तथा वे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४३ ॥

अथ दैत्या जयं प्राप्ता निशायां निशितैः शरैः ।
विनेदुर्विपुलैर्नादैर्मेघा इव महारवाः ॥ ४४ ॥

रातमें अपने तीखे बाणोंसे विजयको प्राप्त हुए दैत्यगण महान् सिंहनाद करते हुए जोर-जोरसे गर्जना करनेवाले मेघोंकी भाँति बड़ा भारी कोलाहल मचाने लगे ॥ ४४ ॥

जयप्राप्त्यासुराश्चैव तेऽन्योन्यमभिजल्पिरे ।
त्रासितास्त्रिदशाः सर्वे संग्रामजयकाङ्क्षिणः ॥ ४५ ॥
अस्माभिर्बलसम्पन्नैः सह प्रासासितोमरैः ।

विजयकी प्राप्तिसे उत्साहित हुए वे असुर आपसमें कहने लगे—'संग्राममें विजयकी इच्छा रखनेवाले समस्त देवताओंको हम बलवान् दैत्योंने संगठित होकर प्रास, खड्ग और तोमरोंसे भयभीत कर दिया' ॥ ४५½ ॥

विरेजुश्च जयं प्राप्ता उशनोहव्यबोधिताः ॥ ४६ ॥
समरे बलसम्पन्नाः सायुधा दैत्यसत्तमाः ।

शुक्राचार्यके हविष्यसे सजग एवं बलसम्पन्न हुए विजयी दैत्यशिरोमणि समराङ्गणमें आयुधोंसहित बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ४६½ ॥

सुरैश्च सहितः सर्वैं रथमास्थाय शंकरः ॥ ४७ ॥
दर्पितान् निनदन् दैत्यान् प्रदहन्निव तेजसा ।

तब दर्पमें भरे हुए उन दैत्योंको अपने तेजसे दग्ध-से करते हुए भगवान् शङ्कर समस्त देवताओंके साथ रथपर वैठकर गर्जना करने लगे ॥ ४७½ ॥

युगान्तकाले वितते रश्मिवानिव निर्दहन् ॥ ४८ ॥
सर्वभूतानि भूताग्र्यः प्रलये समुपस्थिते ।

जैसे युगान्तकाल आनेपर अंशुमाली सूर्य सम्पूर्ण लोगोंको दग्ध करने लगते हैं तथा प्रलय उपस्थित होनेपर भूतनाथ भगवान् रुद्र सम्पूर्ण भूतोंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार वे अपने तेजसे दैत्योंको दग्ध करने लगे ॥ ४८½ ॥

स रथो वाजिभिः शीघ्रैरुह्यमानो मनोजवैः ॥ ४९ ॥
विबभौ नभसो मध्यं सविद्युदिव तोयदः ।

मनके समान वेगशाली और शीघ्रगामी घोड़ोंके द्वारा खींचा जाता हुआ वह रथ आकाशके मध्यभागमे पहुँचकर विद्युत्सहित मेघकी भाँति प्रकाशित होने लगा ॥ ४९½ ॥

वृषभेण ध्वजाग्रेण गर्जमानेन भारत ॥ ५० ॥
भाति स्म स रथो राजन् सेन्द्रायुध इवाम्बुदः ।

भरतनन्दन ! नरेश्वर ! ध्वजके अग्रभागमें गर्जते हुए वृषभसे उपलक्षित होनेवाला वह रथ इन्द्रधनुषसहित मेघके समान शोभा पाने लगा ॥ ५०½ ॥

ततोऽम्बरगताः सिद्धास्तुष्टुवुर्वृषभध्वजम् ॥ ५१ ॥
कर्मभिः पूर्वजं पूर्वैः शुचिभिस्त्र्यम्बकं तदा ।

तदनन्तर आकाशमें उपस्थित हुए सिद्धोंने सबके पूर्वज त्रिनेत्रधारी भगवान् वृषभध्वजका उनके परम पवित्र पूर्वकर्मों-का उल्लेख करते हुए स्तवन किया ॥ ५१½ ॥

ऋषयश्च तपःशान्ताः सत्यव्रतपरायणाः ॥ ५२ ॥
अमृतप्राशिनश्चैव सुरसंघास्तथैव च ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव गान्धर्वेण स्वरेण वै ॥ ५३ ॥
प्रहृष्टवदनाः सौम्याः पैत्र्ये स्थानान्तरे नृप ।

तपस्यासे शान्तिको प्राप्त हुए सत्यव्रतपरायण ऋषियों, अमृतभोजी देवसमूहों तथा गन्धर्वों और अप्सराओंने भी गान्धर्वस्वरसे उनकी स्तुति की । नरेश्वर ! पितृसम्बन्धी दूसरे स्थानपर खड़े हुए सौम्यस्वभाववाले देवताओंके मुखपर महान् हर्ष छा रहा था ॥ ५२-५३½ ॥

चयाट्टालकसम्पन्ने शतघ्नीशतसंकुले ॥ ५४ ॥
तस्मिंस्तु दैत्यनगरे सर्वभूतभयावहे ।
ततस्तु शरवर्षाणि मुमुचुर्दैत्यदानवाः ॥ ५५ ॥
सुराणामरयो मध्ये तीक्ष्णाग्राणि समन्ततः ।

तदनन्तर परकोटे और अट्टालिकाओंसे युक्त, सैकड़ों शतघ्नियों (तोपों) से व्याप्त तथा समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर उस दैत्यनगरके मध्यभागमें खड़े हुए देववैरी दैत्यों और दानवोंने सब ओरसे तीखे अग्रभागवाले बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ५४-५५½ ॥

शतघ्नीभिश्च निघ्नन्तो भल्लैः शूलैश्च भारत ॥ ५६ ॥
ते चक्रिरे महत्कर्म दानवा युद्धकोविदाः ।

भारत ! वे युद्धकुशल दानव शतघ्नियों, भल्लों और शूलोंसे चोट करते हुए महान् पराक्रम प्रकट कर रहे थे ॥

गदाभिश्च गदा जघ्नुर्भल्लैर्भल्लांश्च चिच्छिदुः ॥ ५७ ॥
अस्त्रैरस्त्राण्यबाधन्त माया मायाभिरेव च ।

उन्होंने गदाओंसे गदाएँ तोड़ डालीं, भल्लोंसे भल्ल काट दिये, अस्त्रोंसे अस्त्रोंको बाधा पहुँचायी और मायाओंको मायाओंसे ही शान्त कर दिया ॥ ५७½ ॥

ततोऽपरे समुद्यम्य शरशक्तिपरश्वधान् ॥ ५८ ॥
अशनींश्च महाघोरानमुञ्चन्त सहस्रशः ।

तदनन्तर दूसरे दैत्योंने सहस्रों बाणों, शक्तियों, फरसों और महाभयंकर अशनियोंको उठाकर देवताओंपर चलाया ॥

असिभिर्मायाविहितैर्मृत्योर्विषयगोचरे ॥ ५९ ॥
ते वध्यमाना विबुधाः शरवर्षैरवस्थिताः ।
गन्धर्वनगराकारः सोऽसीद्रथ् सहरो रथः ॥ ६० ॥

उनके मायानिर्मित खड्गों और बाण-वर्षाओंसे आहत होते हुए देवता मृत्युके पथपर खड़े थे और गन्धर्वनगरके समान आकारवाला महादेवजीका वह रथ उनके साथ ही बड़े सङ्कटमें पड़ गया ॥ ५९-६० ॥

हन्यमानोऽसुरगणैः प्रासासिशरतोमरैः ।
तैश्च दैत्यप्रहरणैर्गुरुभिर्भारसाहिभिः ।
चित्रैश्च बहुभिः शस्त्रैरतिष्ठत शचीपतिः ॥ ६१ ॥

उन असुरोंके प्रासों, खड्गों, बाणों और तोमरोंकी मार खाकर तथा दैत्योंके भार सहन करनेमें समर्थ, भारी, विचित्र और बहुसंख्यक अस्त्र-शस्त्रोंसे पीड़ित होकर शचीपति इन्द्र जहाँ-के-तहाँ खड़े रह गये ॥ ६१ ॥

ततो मध्ये दिव्यशब्दः प्रादुरासीन्महीपते ।
ऋषीणां ब्रह्मपुत्राणां महतामपि भारत ॥ ६२ ॥

पृथ्वीनाथ ! भरतनन्दन ! इसी बीचमें ब्रह्माजीके पुत्र-रूप महर्षियोंका दिव्य शब्द प्रकट हुआ—॥ ६२ ॥

स एष शंकरस्याग्रे रथो भूमिं प्रतिष्ठितः ।
अजेयो जय्यतां प्राप्तः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ६३ ॥

'यह आगे चलनेवाला भगवान् शङ्करका रथ भूमिपर प्रतिष्ठित हो रहा है । यह अजेय होकर भी सब लोकोंके देखते-देखते जीतने योग्य हो गया' ॥ ६३ ॥

तस्मिन्निपतिते राजन् रथानां प्रवरे रथे ।

निपेतुः सर्वभूतानि भूतले वसुधाधिप ॥ ६४ ॥

राजन्! वसुधापते! रथोंमें श्रेष्ठ भगवान् शङ्करके उस रथके पृथ्वीपर गिरते ही समस्त प्राणी भूतलपर आ गिरे ॥ ६४ ॥

विचेलुः पर्वताग्राणि चेलुश्चैव महाद्रुमाः।
विचुक्षुभुः समुद्राश्च न रेजुश्च दिशो दश ॥ ६५ ॥

पर्वतोंके शिखर हिलने लगे। बड़े-बड़े वृक्ष झोंके खाने लगे। समुद्रोंमें तूफान आ गया और दसों दिशाएँ श्रीहीन हो गयीं ॥ ६५ ॥

वृद्धाश्च ब्राह्मणास्तत्र जेपुश्च परमं जपम्।
यत् तद् ब्रह्ममयं तेजः सर्वत्र विजयैषिणाम् ॥ ६६ ॥
शान्त्यर्थं सर्वभूतानामिह लोके परत्र च।

वहाँ जो वृद्ध ब्राह्मण थे, वे उस परम उत्तम मन्त्रका जप करने लगे। जो सर्वत्र विजय चाहनेवाले पुरुषोंके लिये ब्रह्ममय तेजःस्वरूप है, वह तेज इहलोक और परलोकमें भी समस्त प्राणियोंको शान्ति प्रदान करनेवाला है ॥ ६६½ ॥

समाधायात्मनाऽऽत्मानं योगप्राप्तेन हेतुना ॥ ६७ ॥
रथन्तरेण साम्नाथ ब्रह्मभूतेन भारत।
तेजसा ज्वलयन् विष्णोस्त्र्यक्षस्य च महात्मनः ॥ ६८ ॥
सर्वेषां चैव देवानां बलिनां कामरूपिणाम्।
ऋषीणां तपसाऽऽढ्यानां वसतां विजने वने ॥ ६९ ॥
अथ विष्णुर्महायोगी सर्वतोदृश्य तत्त्वतः।
वृषरूपं समास्थाय प्रोज्जहार रथोत्तमम् ॥ ७० ॥

भारत! तदनन्तर उस तेजःस्वरूप महायोगी विष्णुने सब ओर दृष्टि डालकर अपने-आप ही मनको एकाग्र करके योगबलसे वृषरूप धर्मके स्वरूपका आश्रय ले ब्रह्मभूत रथन्तर सामके द्वारा महादेवजीके उस उत्तम रथको ऊपर उठाया। उस समय वे विष्णुदेव अपने, महात्मा त्रिनेत्रधारी शिवके, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले सम्पूर्ण बलवान् देवताओंके तथा निर्जन वनमें वास करनेवाले तपोबलसम्पन्न महर्षियोंके तेजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ६७–७० ॥

समाक्रान्तं देवगणैः समग्रबलपौरुषैः।
बलवांस्तोलयित्वा तु विषाणाभ्यां महाबलः।
ननाद प्राणयोगेन मथ्यमान इवार्णवः ॥ ७१ ॥

सम्पूर्ण बल-पौरुषसे सम्पन्न देवता जिसपर आरूढ़ थे, उस उत्तम रथको अपने दोनों सींगोंसे उठाकर वे महाबली श्रीहरि मथे जाते हुए समुद्रकी भाँति पूरी प्राणशक्तिसे गर्जना करने लगे ॥ ७१ ॥

तृतीयं वायुविषयं समाक्रम्य विषाणवान्।
ननाद बलवान् नादं समुद्र इव पर्वणि ॥ ७२ ॥

दो सींगोंसे युक्त वृषभरूपधारी बलवान् विष्णु तृतीय[1] वायु (उद्वह) के स्थानमें पहुँचकर पूर्णिमाके समुद्रकी भाँति जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ ७२ ॥

ततो नादेन वित्रस्ता दैतेया युद्धदुर्मदाः।
पुनस्ते कृतसन्नाहा युयुधुः सुमहाबलाः ॥ ७३ ॥

तब उस गर्जनासे भयभीत हो वे महाबली रणदुर्मद दैत्य कवच बाँधकर पुनः युद्ध करने लगे ॥ ७३ ॥

सर्वे वै बाहुबलिनः समर्थबलपौरुषाः।
सुरसैन्यं प्रमर्दन्तः प्रगृहीतशरासनाः ॥ ७४ ॥

वे सब-के-सब बाहुबलशाली और समर्थ बल-पौरुषसे सम्पन्न थे। उन्होंने धनुष लेकर देवताओंकी सेनाका मर्दन करना आरम्भ किया ॥ ७४ ॥

अग्निं संधाय धनुषि शितं बाणं सुपत्रिणम्।
ब्रह्मास्त्रेणाभिसंयोज्य ब्रह्मदण्डं शिवोऽव्ययः।
मुमोच दैत्यनगरं त्रिधाशब्देन संज्ञितम् ॥ ७५ ॥

तब अविनाशी शिवने अपने धनुषपर सुन्दर पंखवाले और तीखे अग्नितुल्य तेजस्वी बाणको रखकर उसे ब्रह्मास्त्रसे संयुक्त किया, फिर उस ब्रह्मदण्डको उस त्रिपुर-संज्ञक दैत्य-नगरपर छोड़ दिया ॥ ७५ ॥

तं बाणं त्रिविधं वीर्यात् संधाय मनसा प्रभुः।
सत्येन ब्रह्मयोगेन तपसोग्रेण भारत ॥ ७६ ॥
मुमोच दैत्यनगरे सर्वप्राणहराञ्छरान्।
दीप्तान् कनकवर्णाभान् सुवर्णांश्च सुनिर्मलान् ॥ ७७ ॥

भरतनन्दन! भगवान् शिवने मन-ही-मन उस बाणका सत्य, ब्रह्मयोग तथा उग्र तपस्याद्वारा बलपूर्वक तीन रूपोंमें संधान करके उस दैत्यनगरपर ऐसे बाण छोड़े, जो सबके प्राण हर लेनेवाले थे। वे बाण उद्दीप्त, सुवर्णकी-सी कान्ति-वाले, सुवर्णमय और अत्यन्त निर्मल थे ॥ ७६-७७ ॥

मुक्त्वा वरशरान् घोरान् सविषानिव पन्नगान्।
सुप्रदीप्तैस्त्रिभिर्बाणैर्वेगिभिस्तद्विदारितम् ॥ ७८ ॥

विषैले सर्पोंके समान उन श्रेष्ठ एवं भयंकर बाणोंको

[1] महाभारत शान्तिपर्वके अध्याय ३२८ में श्लोक ३८ से ४० तक तृतीय वायुका परिचय इस प्रकार दिया गया है—जो सदा सोम, सूर्य आदि ग्रहोंका उदय एवं उद्भव करता है। मनीषी पुरुष शरीरके भीतर जिसे 'उदान' कहते हैं। जो चारों समुद्रोंसे जलको ऊपर उठाकर जीमूत नामक मेघोंमें स्थापित करता है तथा जीमूत नामक मेघोंको जलसे संयुक्त करके उन्हें पर्जन्यके हवाले कर देता है, वह महान् वायु 'उद्वह' कहलाता है। जो तृतीय मार्गपर चलनेके कारण तीसरा कहा गया है।

छोड़कर तीन प्रज्वलित एवं वेगशाली बाणोंद्वारा उस दैत्य-नगरको विदीर्ण कर दिया ॥ ७८ ॥

शरघातप्रदीप्तानि विन्ध्याग्राणीव भारत।
गोपुराणि पुरैः सार्धं व्यशीर्यन्त नराधिप ॥ ७९ ॥

भरतनन्दन ! नरेश्वर ! बाणोंके आघातसे जलते हुए गोपुर विन्ध्यपर्वतके शिखरोंके समान उन तीनों पुरोंसहित भस्म होकर बिखर गये ॥ ७९ ॥

अग्निना सम्प्रदीप्तानि वह्निगर्भाणि भारत।
धरणीं सम्प्रपद्यन्त पुराणि वसुधाधिप ॥ ८० ॥

भारत ! पृथ्वीनाथ ! अग्निसे जलकर भीतर आग छिपाये हुए वे तीनों पुर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ८० ॥

तानि वैदूर्यवर्णानि शिखराणि गिरेरिव।
शंकरेण प्रदग्धानि ब्रह्मास्त्रेणापतन्नृप ॥ ८१ ॥

नरेश्वर ! पर्वत-शिखरोंके समान वे वैदूर्य-वर्णवाले नगर भगवान् शङ्करके ब्रह्मास्त्रसे दग्ध होकर नीचे गिर पड़े ॥८१॥

हते च त्रिपुरे देवैर्वाचो हर्षात् किलेरिताः।
सर्वाञ्जहीति शत्रूंस्त्वं प्रवृद्धान् पुरुषोत्तम ॥ ८२ ॥

त्रिपुरके नष्ट हो जानेपर देवताओंने बड़े हर्षसे यह बात कही—'पुरुषोत्तम ! आप ही सम्पूर्ण बढ़े हुए शत्रुओंको नष्ट कीजिये' ॥ ८२ ॥

विष्णुरेव महायोगी योगेन प्रस्मयन्निव।
स्तूयते ब्रह्मसदृशैर्ऋषिभिः शंकरेण च।
ब्रह्मणा सहितैर्देवैः सम्पन्नबलपौरुषैः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार उस समय योगबलसे सम्पन्न एवं मुस्कराते हुए महायोगी विष्णुकी ही ब्रह्मतुल्य ऋषियोंने, भगवान् शङ्करने तथा बल-पौरुषसे सम्पन्न ब्रह्माजीसहित देवताओंने स्तुति की ॥ ८३ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि त्रिपुरवधे त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें त्रिपुरवधविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

हरिवंशमें वर्णित वृत्तान्तोंका संग्रह

वैशम्पायन उवाच

हरिवंशेऽत्र वृत्तान्ताः प्रकीर्त्यन्ते क्रमोदिताः।
तत्रादावादिसर्गस्तु भूतसर्गस्ततः परः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! इस हरिवंशमें क्रमशः कहे गये वृत्तान्तोंका यहाँ संक्षेपसे कीर्तन किया जाता है—इसमें पहले (हरिवंशपर्वमें) आदिसृष्टिका वर्णन है, तत्पश्चात् भूतसृष्टिका वर्णन किया गया है ॥ १ ॥

पृथोर्वैन्यस्य चाख्यानं मनूनां कीर्तनं तथा।
वैवस्वतकुलोत्पत्तिर्धुन्धुमारकथा तथा ॥ २ ॥

फिर वेनके पुत्र पृथुकी कथा है। इसके बाद मनुओंका वर्णन, वैवस्वत मनुके कुलकी उत्पत्ति तथा धुन्धुमारकी कथा आयी है ॥ २ ॥

गालवोत्पत्तिरिक्ष्वाकुवंशस्याप्यनुकीर्तनम्।
पितृकल्पस्तथोत्पत्तिः सोमस्य च बुधस्य च ॥ ३ ॥

फिर गालवकी उत्पत्ति, इक्ष्वाकुवंशका वर्णन, पितृकल्प (श्राद्ध) तथा सोम एवं बुधकी उत्पत्तिका प्रसंग है ॥ ३ ॥

अमावसोरन्वयस्य कीर्तनं कीर्तिवर्धनम्।
च्युतिप्रतिष्ठे शक्रस्य प्रसवः क्षत्रवृद्धजः ॥ ४ ॥

तदनन्तर अमावसुके वंशका वर्णन है, जो पढ़ने और सुननेवालेकी कीर्तिको बढ़ानेवाला है। इसके बाद इन्द्रके अपने स्थानसे च्युत होने और पुनः उसपर प्रतिष्ठित होनेका प्रसंग है। तत्पश्चात् क्षत्रवृद्धकी संततिका वर्णन आया है ॥ ४ ॥

दिवोदासप्रतिष्ठा च त्रिशङ्कोः क्षत्रियस्य च।
ययातिचरितं चैव पूरुवंशस्य कीर्तनम् ॥ ५ ॥

फिर दिवोदासकी प्रतिष्ठा, राजा त्रिशङ्कुकी कथा, ययातिका चरित्र और पूरुवंशका वर्णन है ॥ ५ ॥

कीर्तनं कृष्णसम्भूतेः स्यमन्तकमणेस्तथा।
संक्षेपात् कीर्तिता विष्णोः प्रादुर्भावास्ततः परम् ॥ ६ ॥

इसके बाद श्रीकृष्णके प्राकट्यका वर्णन है, फिर स्यमन्तकमणिकी कथा संक्षेपसे कही गयी है। तत्पश्चात् भगवान् विष्णुके अवतार बताये गये हैं ॥ ६ ॥

तारकामययुद्धं च ब्रह्मलोकस्य वर्णनम्।
योगनिद्रासमुत्थानं विष्णोर्वाक्यं च वेधसः ॥ ७ ॥
पृथ्वीवाक्यं च देवानामंशावतरणं तथा।

तदनन्तर तारकामय युद्धका प्रसंग है। फिर ब्रह्मलोकका वर्णन है। भगवान् विष्णुके योगनिद्रासे उठनेकी कथा है। इसके बाद ब्रह्माजी और पृथ्वीके वचन हैं। तत्पश्चात् देवताओंके अंशावतरणकी कथा है ॥ ७½ ॥

ततो नारदवाक्यं च स्वप्नगर्भविधिस्तथा ॥ ८ ॥
आर्यास्तवः पुनः कृष्णसमुत्पत्तिः प्रपञ्चतः ।
गोव्रजे गमनं विष्णोः शकटस्य निवर्तनम् ॥ ९ ॥
पूतनाया वधो भङ्गो यमलार्जुनयोरपि ।
वृकसंदर्शनं चैव वृन्दावननिवेशनम् ॥ १० ॥

तदनन्तर (द्वितीय विष्णुपर्वमें) कंसके प्रति नारदजीका वचन, भगवान् विष्णुका जलमें सोये हुए षड्गर्भ नामक दैत्योंके जीवोंको खींचकर निद्रादेवीके हाथमें देना, आर्यादेवीकी स्तुति, श्रीकृष्णके अवतारका विस्तारपूर्वक वर्णन, उनका गौओंके व्रजमें गमन, छकड़ेको उलटना, पूतनाका वध करना, अर्जुन नामक जुड़वें वृक्षोंको तोड़ देना, गोपोंको भेड़ियोंका दर्शन तथा समस्त गोव्रजका वृन्दावनमें निवास— इन विषयोंका क्रमशः वर्णन है ॥ ८—१० ॥

प्रावृषो वर्णनं चापि यमुनाह्रददर्शनम् ।
कालियस्यापि दमनं धेनुकस्य च भञ्जनम् ॥ ११ ॥
प्रलम्बनिधनं चैव शरद्वर्णनमेव च ।
गिरियज्ञप्रवृत्तिश्च गोवर्धनविधारणम् ॥ १२ ॥
गोविन्दस्याभिषेकं च गोपीसंक्रीडनं तथा ।
रिष्टासुरस्य निधनमक्रूरप्रेषणं तथा ॥ १३ ॥

इसके बाद वर्षाका वर्णन, श्रीकृष्णद्वारा यमुनाके कालियदहका दर्शन, कालियनागका दमन, बलरामद्वारा धेनुकासुर और प्रलम्बासुरका वध, शरद्-वर्णन, गिरियज्ञका आरम्भ, श्रीकृष्णद्वारा गोवर्धन-धारण, उनका गोविन्द-पदपर अभिषेक, उनकी गोपियोंके साथ क्रीड़ा, उनके द्वारा अरिष्टासुरका वध और कंसका अक्रूरको व्रजमें भेजना— इन विषयोंका उल्लेख है ॥ ११—१३ ॥

अन्धकस्य च वाक्यानि केशिनो निधनं तथा ।
अक्रूरागमनं चैव नागलोकस्य दर्शनम् ॥ १४ ॥
धनुर्भङ्गस्य कथनं कंसवाक्यमतः परम् ।
कुवलयापीडवधश्चाणूरान्ध्रवधस्तथा ॥ १५ ॥
कंसस्य निधनं चापि विलापः कंसयोषिताम् ।
उग्रसेनाभिषेकश्च यादवाश्वासनं तथा ॥ १६ ॥

फिर कंसके प्रति अंधकके वचन, केशीका वध, अक्रूरका व्रजमें आगमन, लौटते समय उन्हें यमुनामें नागलोकका दर्शन, श्रीकृष्णके द्वारा कंसके धनुषके तोड़े जानेका वर्णन, कंसकी चाणूर और मुष्टिकसे बातचीत, तत्पश्चात् श्रीकृष्णद्वारा कुवलयापीड़, चाणूर एवं अन्ध्र देशीय मुष्टिकका वध, कंसका निधन, कंसकी स्त्रियोंका विलाप, उग्रसेनका अभिषेक तथा श्रीकृष्णद्वारा यादवोंको आश्वासन आदि विषयोंका वर्णन है ॥ १४—१६ ॥

प्रत्यागतिर्गुरुकुलादयोक्ता रामकृष्णयोः ।
मथुरायाश्चोपरोधो जरासंधनिवर्तनम् ॥ १७ ॥
विकद्रुवाक्यं रामस्य दर्शनं भाषणं तथा ।
गोमन्तारोहणं चापि जरासंधगतिस्तथा ॥ १८ ॥
गोमन्तस्य गिरेर्दाहः करवीरपुरे गतिः ।
शृगालस्य वधस्तत्र मथुरागमनं ततः ॥ १९ ॥

बलराम और श्रीकृष्णका गुरुकुलसे विद्या पढ़कर लौटना, जरासंधका मथुरापर घेरा डालना और पराजित होकर लौटना, विकद्रुका भाषण, श्रीकृष्ण और बलरामको परशुरामजीका दर्शन और उनसे बातचीत, उन सबका गोमंत पर्वतपर चढ़ना, जरासंधका आक्रमण, उसके द्वारा गोमंतपर्वतका दाह, श्रीकृष्ण और बलरामका करवीरपुरमें जाना, श्रीकृष्णद्वारा शृगालका वध तथा दोनों भाइयोंका मथुरामें आगमन आदिक प्रसंगोंका वर्णन है ॥ १७—१९ ॥

यमुनाकर्षणं चैव मथुरापक्रमस्तथा ।
उपायेन वधः कालयवनस्य प्रकीर्तितः ॥ २० ॥

इसके बाद बलरामद्वारा यमुनाका आकर्षण, यादवोंका मथुरासे हट जाना और कालयवनका युक्तिपूर्वक वध—इन विषयोंका वर्णन है ॥ २० ॥

निर्माणं द्वारवत्यास्तु रुक्मिणीहरणं तथा ।
विवाहश्चैव रुक्मिण्या रुक्मिणो निधनं तथा ॥ २१ ॥
बलदेवाह्निकं पुण्यं बलमाहात्म्यमेव च ।

तदनन्तर द्वारकाका निर्माण, रुक्मिणीका हरण, रुक्मिणीके साथ श्रीकृष्णका विवाह, बलरामद्वारा रुक्मीका वध, ६२ वेंअध्यायमें बलदेवजीके माहात्म्य तथा १०९ वें अध्यायमें बलदेवजीके द्वारा प्रद्युम्नको आह्निक स्तोत्रके उपदेशका वर्णन है ॥ २१½ ॥

नरकस्य वधः पारिजातस्य हरणं तथा ॥ २२ ॥
द्वारवत्या विशेषेण पुनर्निर्माणकीर्तनम् ।
द्वारकायां प्रवेशश्च सभायां च प्रवेशनम् ॥ २३ ॥
नारदस्य च वाक्यानि वृष्णिवंशानुकीर्तनम् ।

फिर ६३ वें अध्यायमें नरकासुरके वधका वर्णन है। तदनन्तर पारिजात-हरण, द्वारकापुरीका पुनः विशेषरूपसे निर्माण, द्वारकामें प्रवेश, सभामें प्रवेश, नारदजीके वचन तथा वृष्णिवंशकी परम्पराका वर्णन है ॥ २२—२३½ ॥

षट्पुरस्य वधाख्यानमन्धकस्य निबर्हणम् ॥ २४ ॥
समुद्रयात्रा कृष्णस्य जलक्रीडाकुतूहलम् ।
तथा भैमप्रवीराणां मधुपानप्रवर्तकम् ॥ २५ ॥
ततश्छालिक्यगान्धर्वसमुदाहरणं हरेः ।

भानोश्च दुहितुर्भानुमत्या हरणकीर्तनम् ॥ २६ ॥
शम्बरस्य वधश्चैव धन्योपाख्यानमेव च ।
वासुदेवस्य माहात्म्यं बाणयुद्धं प्रपञ्चितम् ॥ २७ ॥

इसके बाद षट्पुर-वधकी कथा, अन्धकासुर-संहार, श्रीकृष्णकी समुद्रयात्रा और जलक्रीड़ा-कौतूहल, भीमवंशी वीरोंकी मधुपानमें प्रवृत्ति, श्रीहरिकी इच्छासे छालिक्य गान्धर्वका भूतलपर आनयन, भानुपुत्री भानुमतीके हरणकी कथा, शम्बरासुरका वध, धन्योपाख्यान, वासुदेव-माहात्म्य तथा बाणासुरके युद्ध आदि विषयोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ॥ २४—२७ ॥

भविष्यं पुष्करं चैव प्रपञ्चेनैव कीर्तितम् ।
वाराहं नारसिंहं च वामनं बहुविस्तरम् ॥ २८ ॥

(तीसरे भविष्यपर्वमें) भविष्य राजवंश एवं भावी कलियुगका वर्णन, फिर पुष्कर-प्रादुर्भावका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । तत्पश्चात् भगवान्‌के वराह, नृसिंह और वामन अवतारकी कथाका अधिक विस्तृत वर्णन है ॥ २८ ॥

कैलासयात्रा कृष्णस्य पौण्ड्रकस्य वधस्ततः ।
हंसस्य डिम्भकस्यैव वधश्चैव प्रकीर्तितः ॥ २९ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णकी कैलासयात्रा, पौण्ड्रक-वध तथा हंस और डिम्भकके मारे जानेके प्रसंगका वर्णन आया है ॥ २९ ॥

पुरत्रयस्य संहार इति वृत्तान्तसंग्रहः ।
कथितो नृपशार्दूल सर्वपापप्रणाशनः ॥ ३० ॥

नृपश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् महादेवजीके द्वारा त्रिपुरके संहारकी कथा है । इस प्रकार हरिवंशके वृत्तान्तोंका यह संक्षिप्त संग्रह बताया गया है । यह समस्त पापोंका नाश करनेवाला है ॥ ३० ॥

वृत्तान्तं शृणुयाद् यस्तु सायं प्रातः समाहितः ।
स याति वैष्णवं धाम लब्धकामः कुरूद्वह ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ ३१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जो एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल इस वृत्तान्तको सुनता है, वह सफलमनोरथ होकर भगवान् विष्णुके धाममें जाता है । यह वृत्तान्त धन, यश और आयुकी प्राप्ति करानेवाला तथा भोग और मोक्षरूपी फलको देनेवाला है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि वृत्तान्तसंग्रहे चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें वृत्तान्तसंग्रहविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

हरिवंश-श्रवणकी दक्षिणा, फल एवं माहात्म्यका वर्णन

जनमेजय उवाच

हरिवंशे पुराणे तु श्रुते मुनिवरोत्तम ।
किं फलं किं च देयं वै तद् ब्रूहि त्वं ममाग्रतः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुनिवरोत्तम ! अब आप मेरे सामने यह बताइये कि हरिवंश-पुराण सुन लेनेपर क्या फल होता है और उस समय क्या दान देना चाहिये ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

हरिवंशे पुराणे तु श्रुते च भरतोत्तम ।
कायिकं वाचिकं चैव मनसा समुपार्जितम् ॥ २ ॥
तत् सर्वं नाशमायाति तमः सूर्योदये यथा ।

वैशम्पायनजीने कहा—भरतवंशशिरोमणे ! हरिवंशपुराण सुन लेनेपर शरीर, वाणी और मनके द्वारा उपार्जित सारे पापोंका उसी प्रकार नाश हो जाता है, जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार ॥ २½ ॥

अष्टादशपुराणानां श्रवणाद् यत् फलं भवेत् ॥ ३ ॥
तत् फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः ।

अठारह पुराणोंके श्रवणसे जो फल प्राप्त होता है, उसे विष्णुभक्त पुरुष केवल हरिवंश सुनकर प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ३½ ॥

श्लोकार्धं श्लोकपादं वा हरिवंशसमुद्भवम् ॥ ४ ॥
शृण्वन्ति श्रद्धया युक्ता वैष्णवं पदमाप्नुयुः ।

जो श्रद्धापूर्वक हरिवंशके आधे या चौथाई श्लोकको भी सुनते हैं, वे भगवान् विष्णुके धाममें चले जाते हैं ॥४½॥

जम्बूद्वीपं समाश्रित्य श्रोतारो दुर्लभाः कलौ ॥ ५ ॥
भविष्यन्ति नरा राजन् सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।
स्त्रीभिश्च पुत्रकामाभिः श्रोतव्यं वैष्णवं यशः ॥ ६ ॥

राजन् ! कलियुगमे जम्बूद्वीपका आश्रय लेकर रहनेवाले लोगोंमें इस ग्रन्थके श्रोता दुर्लभ हो जायँगे, यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ । पुत्रकी कामना रखनेवाली स्त्रियोंको भगवान् विष्णुके सुयशसे भरे हुए इस ग्रन्थका अवश्य श्रवण करना चाहिये ॥ ५-६ ॥

दक्षिणा चात्र देया वै निष्कत्रयसुवर्णकम् ।
वाचकाय यथाशक्त्या यथोक्तं फलमिच्छता ॥ ७ ॥

जो शास्त्रोक्त फलको प्राप्त करनेकी इच्छा रखता हो, उस श्रोताको चाहिये कि वह अपनी शक्तिके अनुसार वाचकको हरिवंश सुननेकी दक्षिणाके रूपमें तीन निष्क[1] सुवर्ण प्रदान करे ॥ ७ ॥

स्वर्णशृङ्गीं च कपिलां सवत्सां वस्त्रसंयुताम् ।
वाचकाय प्रदद्याद् वै आत्मनः श्रेयकाङ्क्षया ॥ ८ ॥

अपने कल्याणकी इच्छासे वह वाचकको वस्त्र और मछड़ेसहित एक कपिला गौ भी दे, जिसके सींगोंमें सोना मढ़ा हुआ हो ॥ ८ ॥

अलंकारं प्रदद्याच्च पाण्योर्वै भरतर्षभ ।
कर्णस्याभरणं दद्याद् यानं च सविशेषतः ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह दोनों हाथोंके लिये अलंकार (कड़े, बाजूबन्द, अँगूठी आदि) भी दे तथा कानके आभूषण (कुण्डल आदि) भी अर्पित करे; विशेषतः, शिविका आदि कोई सवारी अवश्य दे ॥ ९ ॥

भूमिदानं समादद्याद् ब्राह्मणाय नराधिप ।
भूमिदानसमं दानं न भूतं न भविष्यति ॥ १० ॥

नरेश्वर ! उसे ब्राह्मणके लिये भूमिका दान भी देना चाहिये; क्योंकि भूमिदानके समान दूसरा कोई दान न तो हुआ है और न होगा ही ॥ १० ॥

शृणोति श्रावयेद् वापि हरिवंशं तु यो नरः ।
सर्वथा पापनिर्मुक्तो वैष्णवं पदमाप्नुयात् ॥ ११ ॥

जो मनुष्य हरिवंशको सुनता और सुनाता है, वह सब प्रकारसे पापमुक्त होकर भगवान् विष्णुके धामको प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

पितॄनुद्धरते सर्वानेकादशसमुद्भवान् ।
आत्मानं ससुतं चैव स्त्रियं च भरतर्षभ ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह अपनी ग्यारह पीढ़ीके समस्त पितरोंका उद्धार कर देता है । साथ ही अपना, अपने पुत्रका तथा अपनी पत्नीका भी उद्धार करता है ॥ १२ ॥

दशांशश्चात्र होमो वै कार्यः श्रोत्रा नराधिप ।
इदं मया तवाग्रे च सर्वं प्रोक्तं नरर्षभ ॥ १३ ॥

नरेश्वर ! नरश्रेष्ठ ! श्रोताको इस हरिवंश-श्रवणके उपलक्ष्यमें इसकी श्लोकसंख्याका दशांश हवन करना चाहिये। यह सब कुछ मैंने तुम्हारे सामने कह दिया ॥ १३ ॥

यस्य स्मरणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
अपुत्रः पुत्रमाप्नोति अधनो धनमाप्नुयात् ॥ १४ ॥

इसके स्मरणमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । इसके श्रवणसे पुत्रहीनको पुत्र और निर्धनको धनकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

नरमेधाश्वमेधाभ्यां यत् फलं प्राप्यते नरैः ।
तत् फलं लभते नूनं पुराणश्रवणाद्धरेः ॥ १५ ॥

नरमेध और अश्वमेध यज्ञोंसे मनुष्योंको जो फल प्राप्त होता है, उसीको श्रीहरिके इस पुराणका श्रवण करनेसे मनुष्य निश्चय ही प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

ब्रह्महा भ्रूणहा गोघ्नः सुरापो गुरुतल्पगः ।
सकृत्पुराणश्रवणात् पूतो भवति नान्यथा ॥ १६ ॥

ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, गोहत्या, सुरापान और गुरुपत्नी-गमन—इन महापातकोंसे युक्त मनुष्य भी इस पुराणको एक बार पूर्वोक्त विधिसे सुन लेनेपर पवित्र हो जाता है । इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

इदं मया ते परिकीर्तितं मह-
च्छ्रीकृष्णमाहात्म्यमपारमद्भुतम् ।
शृण्वन् पठंश्चाशु समाप्नुयात् फलं
यच्चापि लोकेषु सुदुर्लभं महत् ॥ १७ ॥

यह मैंने तुमसे श्रीकृष्णके अपार, अद्भुत एवं महान् माहात्म्यका वर्णन किया है । जो इसे सुनता और पढ़ता है, वह लोकमें जो परम दुर्लभ और महान् फल है, उसे भी शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां खिलभागे हरिवंशे भविष्यपर्वणि श्रवणफलकथने पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतमें व्यासनिर्मित एक लाख श्लोकोंकी संख्याके अन्तर्गत उसके खिलभाग हरिवंशके अन्तर्गत भविष्यपर्वमें श्रवणफलका वर्णनविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३५ ॥

॥ हरिवंशपर्व सम्पूर्ण ॥

१. सोलह मासे वजनका एक निष्क होता है । (संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ)

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीहरिवंशमाहात्म्यम्

प्रथमोऽध्यायः

हरिवंश-श्रवणका माहात्म्य, नारीके पाँच दोष और हरिवंशश्रवणसे उनकी निवृत्ति, पाठके उत्तम, मध्यम आदि भेद तथा गोव्रतकी विधि

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ १॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (इतिहास-पुराण एवं महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

जयति पराशरसूनुः सत्यवतीहृदयनन्दनो व्यासः।
यस्यास्यकमलगलितं वाङ्मयममृतं जगत् पिबति॥२॥

सत्यवतीके हृदयको आनन्दित करनेवाले उन पराशर-पुत्र व्यासजीकी जय हो, जिनके मुखारविन्दसे निकले हुए वाङ्मय अमृतका सारा जगत् पान करता है॥ २॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥ ३॥

मैं अज्ञानरूपी तिमिररोग (रतौंधी) से अन्धा हो रहा था, उस दशामें जिन्होंने ज्ञानरूपी अञ्जनकी शलाकासे मेरे बुद्धिरूपी नेत्रको खोल दिया है—उसमें ज्ञानका प्रकाश भर दिया है, उन श्रीगुरुदेवको नमस्कार है॥ ३॥

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत् पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥ ४॥

जिससे यह अखण्ड मण्डलाकार चराचर जगत् व्याप्त है, उस परमात्माके पद (स्वरूप) का जिन्होंने साक्षात्कार कराया है, उन श्रीगुरुदेवको नमस्कार है॥ ४॥

जनमेजय उवाच

त्वया मे भगवन् प्रोक्तो भारतश्रवणे विधिः।
श्रवणे हरिवंशस्य विशेषाद् वद मे विधिम्॥ ५॥

जनमेजय बोले—भगवन्! आपने मुझे महाभारत-श्रवणकी विधि बतायी है। अब हरिवंश सुननेकी जो विधि है, उसे विशेषरूपसे मुझे बताइये॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

ब्रह्मविष्णुमहेशानां हरिवंशं जगुर्वपुः।
शब्दब्रह्ममयं विद्धि हरिवंशं सनातनम्॥ ६॥
शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! ऋषि-मुनि हरिवंश-को ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजीका स्वरूप बताते हैं। तुम यह समझ लो कि हरिवंश सनातन शब्द ब्रह्ममय है। इस शब्दब्रह्ममें निष्णात हुआ पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है॥ ६½॥

हरिवंशपुराणे तु श्रुते वै राजसत्तम॥ ७॥
कायिकं वाचिकं पापं मनसा समुपार्जितम्।
तत् सर्वं नाशमायाति तमः सूर्योदये यथा॥ ८॥

नृपश्रेष्ठ! हरिवंशपुराण सुन लेनेपर शरीर, वाणी और मनके द्वारा संचित किये हुए सारे पाप उसी तरह नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार॥ ७-८॥

अष्टादशपुराणानां श्रवणाद् यत् फलं लभेत्।
तत् फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः॥ ९॥

अठारह पुराणोंका श्रवण करनेसे जो फल मिलता है, उसीको विष्णुभक्त पुरुष केवल हरिवंश सुनकर प्राप्त कर लेता है, इसमे संशय नहीं है॥ ९॥

स्त्रियश्च पुरुषाश्चैव वैष्णवं पदमाप्नुयुः।
जम्बूद्वीपं समाश्रित्य श्रोतारो दुर्लभाः कलौ॥ १०॥
भविष्यन्ति नरा राजन् सत्यं सत्यं वदाम्यहम्।

स्त्रियाँ और पुरुष इसे सुनकर भगवान् विष्णुके धाममें जाते हैं। राजन्! कलियुगमें जम्बूद्वीपका आश्रय लेकर रहनेवाले लोगोंमें इस ग्रन्थके श्रोता दुर्लभ हो जायँगे, यह मैं सत्य-सत्य बता रहा हूँ॥ १०½॥

स्त्रीभिश्च पुत्रकामाभिः श्रोतव्यं वैष्णवं यशः॥ ११॥
बालघाती च पुरुषो मृतवत्सः प्रजायते।
श्रवणं हरिवंशस्य कर्तव्यं च यथाविधि॥ १२॥

पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाली स्त्रियोंको भगवान् विष्णुके इस यशका श्रवण करना चाहिये। बालकोंकी हत्या करने-वाले पुरुषके पुत्र हो-होकर मर जाते हैं। ऐसे मनुष्यको विधिपूर्वक हरिवंश सुनना चाहिये॥ ११-१२॥

गुरुचन्द्राग्निसूर्याणां सम्मुखे मेहते च यः।
बीजमुत्सृज्यते तेन त्यक्तरेता नरो भवेत् ॥ १३ ॥

जो गुरु, चन्द्रमा, अग्नि और सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब करता है अथवा वीर्य छोड़ता है, वह पुरुष जन्मान्तरमें वीर्यहीन (नपुंसक) हो जाता है ॥ १३ ॥

योषित्पुष्पफलानां च बालानां घातिनी तथा।
फलानां कर्तनकरी मातापितृवियोगिनी ॥ १४ ॥
स्राविणी परगर्भाणां तत् तत् प्रायोपजीविणी।
ईदृग्विधा भविष्यन्ति पञ्चदोषयुताः स्त्रियः ॥ १५ ॥
अपुष्पा मृतवत्साश्च काकवन्ध्यास्तथैव च।
कन्याप्रजात्वं च तथा स्रावयुक्ताः स्वपातकैः ॥ १६ ॥

जो स्त्री फूलों और फलोंका नाश तथा बालकोंकी हत्या करनेवाली होती है, जो फलोंको काटती तथा बालकोंका माता-पितासे वियोग करा देती है, जो दूसरी स्त्रियोंके गर्भ गिरानेवाली और प्रायः ऐसी ही स्त्रियोंके सम्पर्कमें रहनेवाली है, इस तरहकी सारी स्त्रियाँ अपने पापोंके कारण पाँच प्रकारके दोषोंसे युक्त होती हैं—अपुष्पा (रजोदर्शनसे रहित), मृतवत्सा (जिसके बच्चे पैदा होकर मर जाते हों ऐसी), काकवन्ध्या (जिसके एक ही संतान होकर रह जाय, दूसरी संतति न हो वह), कन्याप्रजा (केवल कन्या पैदा करनेवाली) तथा स्रावयुक्ता (जिसका गर्भ ही गिर जाता हो, ऐसी) ॥

तासां दोषापहारार्थं हरिवंशोऽभिगर्जति।
मदीयश्रवणात् सद्यो दोषा नश्यन्ति सत्वरम् ॥ १७ ॥

उन सभी स्त्रियोंके दोषोंका निवारण करनेके लिये हरिवंश गर्जता रहता है। वह कहता है, मेरा श्रवण करनेसे सारे दोष तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥ १७ ॥

नरः सुवर्णं सर्पिश्च पददानैः समन्वितम्।
दशावृत्तीः शृणोत्येवं बीजसाफल्यमाप्नुयात् ॥ १८ ॥

जो मनुष्य सुवर्णदान, घृतदान और पददानके साथ हरिवंशको दस बार सुनता है, उसका वीर्य सफल होता है ॥ १८ ॥

दशावृत्तीरपुष्पार्थं मृतवत्सा तु सप्त वै।
पञ्चावृत्तीः स्रवद्गर्भा काकवन्ध्या त्रयं तथा ॥ १९ ॥

अपुष्पा—रजोदर्शनसे रहित नारीके लिये दस आवृत्ति हरिवंश सुननेका विधान है। जिसके बच्चे पैदा होकर मर जाते हों, वह सात बार हरिवंश सुने। जिसके गर्भ गिर जाते हों, वह पाँच बार और जो काकवन्ध्या हो, वह तीन बार हरिवंशकी कथा सुने ॥ १९ ॥

कन्याप्रसूश्चैकावृत्तिं श्रुत्वा पुत्रमवाप्नुयात्।
जीविताविधिकं श्राव्यं सर्वदोषोपशान्तये ॥ २० ॥
भविष्यं जन्म सम्प्राप्य न भवेत् तादृशी पुनः।

केवल कन्या पैदा करनेवाली स्त्री एक ही आवृत्ति हरिवंशकी कथा सुनकर पुत्र प्राप्त कर सकती है। सम्पूर्ण दोषोंकी शान्तिके लिये जीवनभर हरिवंश सुनते रहना चाहिये, जिससे भावी जन्म पाकर वह फिर उन दोषोंसे युक्त न हो ॥ २०½ ॥

उत्तमं सार्थपाठं च मध्यमं च निरर्थकम् ॥ २१ ॥

हरिवंशका पाठ उत्तम और मध्यमके भेदसे दो प्रकारका होता है। यदि अर्थसहित इसका पाठ या श्रवण किया जाय तो वह उत्तम है। बिना अर्थका पाठ मध्यम श्रेणीका माना गया है ॥ २१ ॥

विनार्थं शुद्धपाठश्चेदुत्तमेन समो भवेत्।
नवाहमुत्तमं प्रोक्तमेकविंशाह मध्यमम् ॥ २२ ॥
निकृष्टमेकत्रिंशाहं सुखसाध्यं समाचरेत्।

बिना अर्थके भी यदि शुद्ध पाठ हो तो वह उत्तमके ही समान होता है। (दिनोंकी संख्याके भेदसे इसके पाठकी उत्तम, मध्यम और अधम तीन श्रेणियाँ हैं—) नौ दिनोंमें इसका पाठ हो तो वह उत्तम कहा गया है, इक्कीस दिनोंमें हो तो मध्यम माना गया है और एकतीस दिनोंमें हो तो उसे निकृष्ट श्रेणीका पाठ बताया गया है। जो भी सुगमतापूर्वक साध्य हो, वही पाठ करना चाहिये ॥ २२½ ॥

बहुभिर्दिवसै राजन् साध्यानां साधनं कलौ ॥ २३ ॥
तेन पारायणं साध्यं प्रोक्तं नारायणात्मना।

राजन्! कलियुगमें बहुत दिनोंके प्रयत्नसे साध्य फलोंकी सिद्धि होती है, अतः नारायणस्वरूप व्यासजीने हरिवंशका यह पारायण साध्यरूप बताया है ॥ २३½ ॥

नवाहो गर्जति कलौ चैकविंशाहिकस्तथा ॥ २४ ॥
एकत्रिंशाहिको यज्ञो वन्ध्यादोषविनाशकः।

कलियुगमें नवाहपारायण और इक्कीस दिनोंका पारायण श्रोताके अभीष्टकी सिद्धि करनेके लिये गर्जना करता है। एकतीस दिनोंमें पूर्ण होनेवाला हरिवंशपारायण-यज्ञ नारीके वन्ध्यात्व दोषका नाश करनेवाला है ॥ २४½ ॥

गोव्रतं तु स्त्रिया कार्यं पारणं पुरुषेण च ॥ २५ ॥
श्रवणारम्भणे राजन् यथावत् कथयामि ते।

राजन्! हरिवंश-कथा श्रवण आरम्भ करना हो तो पहले स्त्री और पुरुषको भी गोव्रत करना चाहिये, फिर व्रतके अन्तमें उसका पारण भी स्त्री और पुरुष दोनोंको करना चाहिये। इसकी विधि मैं तुम्हें यथावत्‌रूपसे बता रहा हूँ ॥ २५½ ॥

अवसायान्तपर्यन्तं कार्यं मासव्रतं शुभम् ॥ २६ ॥
चतुर्थ्यां प्रातरुत्थाय स्त्रिया हृष्टेन चेतसा।

गोव्रतं नियतं कार्यं निराहारं निरूदकम् ॥ २७ ॥
सूर्यास्तकालपर्यन्तं यावद्ग्रामागमो भवेत् ।

इसका आरम्भ करके अन्ततोगत्वा एक मासतक इस शुभ व्रतका अनुष्ठान करना उचित है। स्त्रीको चाहिये कि वह मनमें अत्यन्त प्रसन्न हो चतुर्थी तिथिको प्रातःकाल उठकर नियमपूर्वक गोव्रत आरम्भ करे। प्रातःकालसे सूर्यास्ततक जबतक चरनेको गयी हुई गौएँ गाँवमें लौट न आयें, तबतक अन्न और जल ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ २६—२७½ ॥

आगतां च सवत्सां हि पूजयित्वा यथाविधि ॥ २८ ॥
यवसं पुष्कलं दत्त्वा यवान्नं कुरुते स्वयम् ।

जब गौ द्वारपर आ जाय, तब बछड़ेसहित उसकी विधिवत् पूजा करके उसे प्रचुरमात्रामें घास-भूसा देकर स्वयं भी यवान्न ग्रहण करे ॥ २८½ ॥

एवं मासे चतुर्थ्यां सा शुक्लायां व्रतमाचरेत् ॥ २९ ॥
स्त्रीव्रतं कथितं राजन् पुरुषस्य तथैव च ।
एवं मासव्रतं कृत्वा सुपुत्रं लभते ध्रुवम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार किसी भी मासके शुक्लपक्षकी चतुर्थीको नारी यह व्रत आरम्भ करे और उसे एक मासतक निभाये। राजन्! इस तरह यह स्त्री और पुरुषके लिये व्रत बताया गया है। इसका इसी प्रकार एक मासतक आचरण करके मनुष्य निश्चय ही उत्तम पुत्र प्राप्त कर लेता है ॥२९-३०॥

इति श्रीपद्मपुराणे हरिवंशमाहात्म्ये श्रवणादिविधिकथनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराणके अन्तर्गत हरिवंशमाहात्म्यमें श्रवण आदिकी विधिका वर्णनविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

(१) हरिवंशश्रवणकी विधि और फल

वैशम्पायन उवाच

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि नवाह्नश्रवणे विधिम् ।
सहायैर्बहुभिश्चैव प्रायः साध्यो विधिस्त्वयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अब मैं तुम्हें हरिवंशके नवाह्न-श्रवणकी विधि बताऊँगा। यह विधि प्रायः बहुत-से सहायकोंकी सहायतासे ही सिद्ध होनेवाली है ॥ १ ॥

दैवज्ञं तु समाहूय मुहूर्तं पृच्छय यत्नतः ।
विवाहे यादृशं वित्तं तादृशं परिकल्प्य च ॥ २ ॥

पहले यत्नपूर्वक ज्यौतिषीको बुलाकर मुहूर्त पूछना चाहिये तथा विवाहके लिये जितने धनका प्रबन्ध किया जाता है, उतने धनकी व्यवस्था इसके लिये करनी चाहिये ॥ २ ॥

नभस्यश्चाश्विनोर्जौ च मार्गशीर्षः शुचिर्नभः ।
एते मासाः कथारम्भे श्रोतॄणां कामसूचकाः ॥ ३ ॥

भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, आषाढ़ और श्रावण—ये छः मास कथा आरम्भ करनेमें श्रोताओंके लिये अभीष्ट सिद्धिके सूचक हैं ॥ ३ ॥

सहायाश्च त एवात्र कर्तव्याः सोद्यमाश्च ये ।
देशे देशे तथा सेयं वार्ता प्रोच्या प्रयत्नतः ॥ ४ ॥
भविष्यति कथा चात्र आगन्तव्यं कुटुम्बिभिः ।

इस कार्यमें उन्हीं लोगोंको सहायक बनाना चाहिये, जो उद्योगी हों। फिर प्रयत्न करके देश-देशान्तरों (विभिन्न स्थानों) मे यह संदेश कहला देना चाहिये कि यहाँ कथा होगी, अतः आप सब सज्जनोंको सपरिवार पधारना चाहिये ॥ ४½ ॥

देशे देशे विरक्ता ये वैष्णवाः कीर्तनोत्सुकाः ॥ ५ ॥
तेष्वेव पत्रं प्रेष्यं च तल्लेखनमितीरितम् ।
सतां समाजो भविता नवरात्रं सुदुर्लभः ॥ ६ ॥

भिन्न-भिन्न स्थानोंमें हरिकीर्तनके लिये उत्सुक रहनेवाले जो विरक्त वैष्णव हों, उनके पास अवश्य निमन्त्रण-पत्र भेजना चाहिये। उस पत्रके लेखनकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है—'महानुभावो! यहाँ नौ दिनोंतक सत्पुरुषोंका समागम—सत्संगका सुअवसर रहेगा, जो सबके लिये परम दुर्लभ है (अतः आपलोग हरिवंश-कथामृतका पान करनेके लिये अवश्य पधारनेकी कृपा करें)' ॥ ५-६ ॥

आगन्तुकानां सर्वेषां वासस्थानानि कल्पयेत् ।
तीर्थे वापि वने वापि गृहे वा श्रवणं स्मृतम् ॥ ७ ॥

जो लोग आवें, उन सबके रहनेके लिये स्थानका यथोचित प्रबन्ध करे। कथाका श्रवण किसी तीर्थमें, वनमें अथवा अपने घरपर भी अच्छा माना गया है ॥ ७ ॥

विशाला वसुधा यत्र कर्तव्यं तत् कथास्थलम् ।
शोधनं मार्जनं भूमेर्लेपनं धातुमण्डनम् ॥ ८ ॥

जहाँ लंबा-चौड़ा मैदान हो, वहीं कथा-स्थल बनाना चाहिये। उस भूमिका शोधन, मार्जन और लेपन करके रंग-बिरंगी धातुओंसे वहाँ चौक पूरे ॥ ८ ॥

गृहोपस्करमुद्धृत्य गृहकोणे निवेशयेत् ।
कर्तव्यो मण्डपः प्रोच्चैः कदलीस्तम्भमण्डितः ॥ ९ ॥

घरकी सारी सामग्री उठाकर एक कोनेमें रख दे और कथाके लिये एक ऊँचा मण्डप तैयार कराये, जो केलेके खम्भोंसे सुशोभित हो ॥ ९ ॥

फलपुष्पदलैर्विष्वग्वितानेन विराजितः ।
चतुर्दिक्षु ध्वजारोपस्तोरणेन विराजितः ॥ १० ॥

उसे सब ओर फल, फूल, पल्लव और चँदोवेसे अलंकृत करे । चारों दिशाओंमें ध्वजारोपण करे । उस मण्डपमें सुन्दर फाटक लगाकर उसकी शोभा बढ़ावे ॥१०॥

ऊर्ध्वं सप्तैव लोकाश्च सप्ताधः परिकल्पयेत् ।
तेषु विप्रा विरक्ताश्च स्थापनीयाः प्रबोध्य वै ॥ ११ ॥

उस मण्डपमें कुछ ऊँचाईपर सात विशाल लोकोंकी कल्पना करे और उनमें विरक्त ब्राह्मणोंको बुला-बुलाकर समझा-बुझाकर बैठाये । इसी प्रकार नीचे भी सात लोकोंकी कल्पना करे (और उनमें साधारण जनताको बिठावे)॥११॥

पूर्वं तेषामासनानि कर्तव्यानि यथोत्तरम् ।
वक्तुश्चापि तथा दिव्यमासनं परिकल्पयेत् ॥ १२ ॥

पहले उन विरक्त ब्राह्मणोंके लिये उत्तमोत्तम आसनोंका प्रबन्ध करना चाहिये । फिर वक्ता (वाचक) के लिये भी दिव्य आसनकी व्यवस्था करे ॥ १२ ॥

उदङ्मुखो भवेद् वक्ता श्रोता वै प्राङ्मुखस्तथा ।
प्राङ्मुखोऽथ भवेद् वक्ता श्रोता चोदङ्मुखस्तथा ॥

जब वक्ताका मुँह उत्तरकी ओर रहे, तब श्रोताका मुख पूर्वकी ओर होना चाहिये और यदि वक्ताका मुख पूर्वकी ओर हो तब श्रोताको उत्तराभिमुख होकर बैठना चाहिये ॥ १३ ॥

विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशारदः ।
दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ता कार्यो दयान्वितः ॥ १४ ॥

जो विरक्त, विष्णुभक्त, वेदशास्त्रविशारद, जातिका ब्राह्मण, भाँति-भाँतिके दृष्टान्त देकर ग्रन्थके भावको हृदयङ्गम करानेमें कुशल, धीर और दयालु हो, ऐसे पुरुषको ही वक्ता बनाना चाहिये ॥ १४ ॥

वेदवेदान्ततत्त्वज्ञैर्गुरुभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
नृणां कृतोपदेशानां सद्यः सिद्धिर्हि जायते ॥ १५ ॥

जिन मनुष्योंको वेद-वेदान्तके तत्त्वज्ञ, ब्रह्मवादी गुरुओंसे उपदेश प्राप्त होता है, उन्हें तत्काल सिद्धि सुलभ होती है ॥ १५ ॥

अथान्यजनसामान्यैर्गुरुभिर्नीतिकोविदैः ।
नृणां कृतोपदेशानां सिद्धिर्भवति कीदृशी ॥ १६ ॥

जो गुरु अन्य सामान्य लोगोंके समान ही नीतिकुशल हैं, उनसे जिन मनुष्योंको उपदेश प्राप्त होता है, उनको कैसी सिद्धि मिलेगी ? ॥ १६ ॥

अनेकधर्मविभ्रान्ताः स्त्रैणाः पाखण्डवादिनः ।
धर्मशास्त्रकथोच्चारेत्याज्यास्ते यदि पण्डिताः ॥ १७ ॥

जो अनेक मत मतान्तरोंके चक्करमें पड़कर भ्रान्त हो रहे हों, स्त्रीलम्पट हों और पाखण्डकी बातें करते हों, ऐसे लोग यदि पण्डित भी हों तो उन्हें धर्ममय शास्त्र—इतिहास-पुराणकी कथा कहनेके लिये वक्ता न बनावे, उन्हें ऐसे कार्यसे दूर ही रखे ॥ १७ ॥

वक्तुः पार्श्वे सहायार्थमन्यः स्थाप्यस्तथाविधः ।
पण्डितः संशयच्छेत्ता लोकबोधनतत्परः ॥ १८ ॥

वक्ताके पास उसकी सहायताके लिये उसी योग्यताका एक और विद्वान् रखे । वह भी संशय-निवारण करनेमें समर्थ और लोगोंको समझानेमें कुशल होना चाहिये ॥१८॥

वक्त्रा क्षौरं प्रकर्तव्यं दिनादर्वाग् व्रताप्तये ।
वक्तुः श्रोतुश्चन्द्रशुद्धौ दम्पत्योः शुभतारके ॥ १९ ॥

वक्ताको उचित है कि वह कथा आरम्भ होनेसे एक दिन पहले क्षौर करा ले, जिससे व्रतका पूर्णतया निर्वाह हो सके । जब वक्ता और श्रोता दोनोंके चन्द्रबल ठीक हों और सुननेवाले दम्पतिके ग्रह एवं ताराबल भी अनुकूल हों, तब कथा आरम्भ करनी चाहिये ॥ १९ ॥

अरुणोदये विनिर्वर्त्य शौचं स्नानं समाचरेत् ।
नित्यं संक्षेपतः कृत्वा संध्याद्यं प्रयतस्ततः ॥ २० ॥
सुक्षालितपाणिपादः स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ।
गोमयोपलिप्तदेशे सर्वतोभद्रकल्पनम् ॥ २१ ॥
स्वीयशक्त्यनुसारेण पूजनं सर्वमाचरेत् ।
कथाविघ्नविनाशाय गणनाथं प्रपूजयेत् ॥ २२ ॥

श्रोता अरुणोदयकालमें—दिन निकलनेसे दो घड़ी पहले शौच आदिसे निवृत्त होकर विधिपूर्वक स्नान करे । प्रतिदिन मनको संयममें रखकर संक्षेपसे संध्या-वन्दन आदि करके हाथ-पैरोंको अच्छी तरह धोकर पहले ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन करावे । फिर गोबरसे लिपे-पुते स्थानपर सर्वतोभद्रमण्डलकी रचना करे और अपने शक्तिके अनुसार सम्पूर्ण पूजन कर्म सम्पन्न करे । कथाके विघ्नोंका निवारण करनेके लिये श्रीगणेशजीकी पूजा करे ॥ २०—२२ ॥

सलक्ष्मीपुत्रसहितं गोपालं स्थापयेत् ततः ।
निर्विघ्नेनैव सिद्ध्यर्थं देवपूजनपूर्वकम् ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् लक्ष्मी (रुक्मिणी) तथा (प्रद्युम्न आदि) पुत्रोंसहित गोपालक भगवान् श्रीकृष्णकी स्थापना करे । कथाकी निर्विघ्नतापूर्वक सिद्धिके लिये ही देवपूजनपूर्वक पत्नी और पुत्रसहित भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करे ॥२३॥

संकल्पं कुर्यात्—

इसके बाद निम्नाङ्कितरूपसे संकल्प करना चाहिये—

अद्येहेत्यादिदेशकालौ स्मृत्वा अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः सपत्नीकस्य मम जन्मनि जन्मनि संचितमहापातकपटलनाशपूर्वकं तेन पापसंचयेन कृतसंतानबाधकताविनाशपूर्वकमिह जन्मनि संतानोत्पत्तिहेतवे तस्य संतानस्य शरदां शतमायुषो वृद्ध्यर्थमात्मनश्च सकलसुखाप्तिहेतवे इह शरीरशुद्ध्यर्थं परत्र चेन्द्रादिलोकातिक्रमणपूर्वकश्रीमद्विष्णुभक्त्युद्रेकजनितकल्पावधितल्लोकगमनतत्रवासपूर्वकतत्स्वरूपावाप्तिहेतवे आवां दम्पती श्रीमद्धरिवंशपुराणश्रवणं कर्तृकतया करिष्यावहे। अन्यतरकर्तृत्वे करिष्ये इत्येवसंकल्पः।

आज यहाँ इत्यादिरूपसे वर्तमान देशकालका स्मरण करके यजमान यों कहे—अमुक गोत्र, अमुक प्रवर और अमुक नाम और जातिवाले मुझ सपत्नीक यजमानके जन्म-जन्मान्तरोंमें संचित महापातकसमूहोंके नाशपूर्वक उस पापसंचयसे होनेवाली संतानबाधाका निवारण करके इस जन्ममें संतानोत्पत्तिके उद्देश्यसे और उस संतानकी आयु बढ़कर सौ वर्षोंकी हो जाय—इस अभिलाषासे अपनेको भी सम्पूर्ण सुखोंकी प्राप्ति हो—इस कामनासे इहलोकमें शरीरकी शुद्धिके लिये और परलोकमें इन्द्रादि लोकोंको लाँघकर भगवान् विष्णुकी भक्तिके उद्रेकसे सुलभ विष्णुलोकमें गमन और वहाँ एक कल्पतक निवासपूर्वक अन्ततोगत्वा भगवत्स्वरूपकी प्राप्तिके लिये हम दोनों दम्पती यज्ञकर्तारूपसे हरिवंशपुराणका श्रवण करेंगे। यदि पति और पत्नीमेंसे कोई एक ही कथाश्रवणका कर्ता हो तो एकवचन 'करिष्ये' (करूँगा) ऐसी क्रिया बोलकर संकल्प करना चाहिये।

इति कृत्वा तु संकल्पं वक्तारं वृणुयात्ततः।
श्रुताध्ययनसम्पन्नं पूजयित्वा यथाविधि ॥ २४ ॥

इस प्रकार संकल्प करनेके अनन्तर वेद-शास्त्रोंके अध्ययनसे सम्पन्न वक्ताका विधिपूर्वक पूजन करके उसका वरण करे ॥ २४ ॥

सुवर्णमुद्रिकां गृह्य कुण्डले च विशेषतः।
धौतवस्त्रं सोत्तरीयं चोष्णीषेण समन्वितम् ॥ २५ ॥
सुवर्णषोडशपलं पुष्पताम्बूलसंयुतम्।
पूगीफलं चाक्षतान् वै गृहीत्वा शुद्धमानसः ॥ २६ ॥

सोनेकी अँगूठी, विशेषतः दो सुवर्णमय कुण्डल, धोती, चादर, पगड़ी, सोलह पल सुवर्ण, फूल, पान, सुपारी और अक्षत लेकर शुद्ध-चित्त हो निम्नाङ्कितरूपसे संकल्प बोलकर वक्ताका वरण करे ॥ २५-२६ ॥

संकल्पः—अद्येहेत्यादिअमुकगोत्रममुकशर्माणं ब्राह्मणमेभिश्चन्दनताम्बूलसुवर्णवस्त्रादिभिर्हरिवंशश्रवणे वाचकत्वेनावां दम्पती त्वां वृणीवहे।

(१) वरणका संकल्प इस प्रकार है—आज यहाँ इत्यादिरूपसे वर्तमान देशकालका स्मरण करके यजमान यों कहे—हम दोनों दम्पती अमुकगोत्रवाले, अमुक शर्मा ब्राह्मणका इन चन्दन, ताम्बूल, सुवर्ण और वस्त्र आदि उपकरणोंद्वारा हरिवंश सुनानेके लिये वाचक (व्यास) रूपसे वरण करते हैं।

वृतोऽस्मीति तेनोक्ते—

(२) फिर वाचक कहे—'मेरा वरण हो गया' उसके ऐसा कहनेपर—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति इति मन्त्रेण वक्तुर्दक्षिणकरमूले रक्षाबन्धनं कार्यम्। ब्राह्मणेन श्रोतॄणां रक्षाबन्धनं कार्यम्।

(३) यजमान 'व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्, दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते' अर्थात् 'साधक व्रतसे दीक्षाको पाता है, दीक्षासे दक्षिणाको और दक्षिणासे श्रद्धाको पा लेता है। फिर उस श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती है।' इस मन्त्रसे वक्ताके दाहिने हाथके मूलभागमें रक्षाबन्धन करे, तत्पश्चात् ब्राह्मणको श्रोताओंके हाथमें भी रक्षाबन्धन करना चाहिये।

चन्दनाद्युपचारैस्तु वस्त्रपुष्पाक्षतैस्तथा।
हेमालंकरणैः पूगैः फलैर्ऋतुसमुद्भवैः ॥ २७ ॥
पुराणपूजनं प्रोक्तं विधिना षोडशेन तु।

(४) तदनन्तर चन्दनादि उपचारोंसे तथा वस्त्र, पुष्प, अक्षत, सुवर्णमय आभूषण, सुपारी और ऋतुफल आदिसे षोडशोपचारकी विधिद्वारा पुराणका पूजन करना आवश्यक बताया गया है ॥ २७½ ॥

पूजयित्वा द्विजश्रेष्ठाञ्छ्रवणं फलदं स्मृतम् ॥ २८ ॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्रोतव्यं विधिपूर्वकम्।

श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी पूजा करके हरिवंशका श्रवण करना अभीष्ट फलदायक माना गया है, इसलिये सर्वथा प्रयत्न करके विधिपूर्वक इसका श्रवण करना चाहिये ॥ २८½ ॥

अथ व्यासं नमस्कुर्युर्मन्त्रमेतमुदीरयेत् ॥ २९ ॥
नमस्ते भगवन् व्यास सर्वशास्त्रार्थकोविद।
ब्रह्मविष्णुमहेशानमूर्ते सत्यवतीसुत ॥ ३० ॥

तदनन्तर सभी श्रोता व्यासको नमस्कार करें। उस समय यजमान इस मन्त्रका उच्चारण करे—'समस्त शास्त्रोंके अर्थको जाननेवाले, ब्रह्म, विष्णु, शिवस्वरूप, सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यास! आपको नमस्कार है' ॥ २९-३० ॥

इति व्यासं नमस्कृत्य शुभदेशे कुशासने।
उपविश्य प्रतिदिनमुल्लसत्प्रीतमानसः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार व्यासको नमस्कार करके सुन्दर पवित्र

स्थानमें कुशासनपर बैठकर प्रतिदिन उल्लासपूर्ण प्रसन्नचित्त हो कथा श्रवण करे ॥ ३१ ॥

बालो युवाथ वृद्धो वा दरिद्रो दुर्बलोऽपि वा ।
पुराणज्ञः सदा वन्द्यः पूज्यश्च सुकृतार्थिभिः ॥ ३२ ॥

पुराणज्ञ पुरुष बालक हो या जवान, बूढ़ा हो या दरिद्र एवं दुर्बल, पुण्यकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंके लिये वह सदा ही वन्दनीय एवं पूजनीय है ॥ ३२ ॥

नीचबुद्धिं न कुर्वीत पुराणज्ञे कदाचन ।
यस्य वक्त्रोद्गता वाणी कामधेनुः शरीरिणाम् ॥ ३३ ॥

जिसके मुखसे निकली हुई वाणी देहधारियोंके लिये कामधेनुके तुल्य है, उस पुराणवेत्ता विद्वान्‌के प्रति कभी नीचबुद्धि न करे ॥ ३३ ॥

गुरवः सन्ति लोकस्य जन्मतो गुणतश्च ये ।
तेषामपि च सर्वेषां पुराणज्ञः परो गुरुः ॥ ३४ ॥

जगत्‌के मनुष्योंके लिये जो जन्मसे और गुणोंकी शिक्षा देनेके कारण गुरु हैं, पुराणका विद्वान् उन सबका भी परम गुरु है ॥ ३४ ॥

भवकोटिसहस्रेषु भूत्वा भूत्वा च सीदते ।
यो ददाति पुण्यवृत्तिं कोऽन्यस्तस्मात् परो गुरुः ॥ ३५ ॥

कोटि सहस्र जन्मोंमें बारंबार उत्पन्न होकर कष्ट पानेवाले जीवको जो पुराणकथा सुनाकर पुण्यवृत्ति प्रदान करता है, उससे श्रेष्ठ गुरु दूसरा कौन है ? ॥ ३५ ॥

पुराणज्ञः शुचिर्दान्तः शान्तोऽपि जितमत्सरः ।
साधुः कारुण्यवान् वाग्मी वदेत् पुण्यकथां सुधीः ॥ ३६ ॥

जो पुराणोंका ज्ञाता, पवित्र, जितेन्द्रिय, शान्त, मात्सर्यरहित, साधु और दयालु है, वह विद्वान् वक्ता पुराणोंकी पुण्यकथा कहे ॥ ३६ ॥

व्यासासनसमारूढो यदा पौराणिको द्विजः ।
आ समाप्तेः प्रसंगस्य नमस्कुर्यान्न कस्यचित् ॥ ३७ ॥

पुराणवेत्ता द्विज जब व्यासासनपर आरूढ़ हो जाय, तबसे कथा-प्रसंगकी समाप्तितक वह दूसरे किसीको नमस्कार न करे ॥ ३७ ॥

ये धूर्ता ये च दुर्वृत्ता ये चान्ये विजिगीषवः ।
तेषां कुटिलवृत्तीनामग्रे नैव वदेत् कथाम् ॥ ३८ ॥

जो धूर्त हों, जो दुराचारी हों तथा दूसरे जो-जो तर्कसे हरानेकी इच्छा रखकर आये हों, उन कुटिल वृत्तिवाले मनुष्योंके सामने कभी कथा न कहे ॥ ३८ ॥

न दुर्जनसमाकीर्णे न शूद्रश्वापदावृते ।
देशे नापूतसदने वदेत् पुण्यकथां सुधीः ॥ ३९ ॥

जो स्थान दुर्जनोंसे भरा हो, शूद्रों और हिंसक जन्तुओंसे आवृत हो वहाँ और अपवित्र गृहमें विद्वान् पुरुष कभी पुराणोंकी पवित्र कथा न कहे ॥ ३९ ॥

सद्ग्रामे सुजनाकीर्णे सुक्षेत्रे देवतालये ।
पुण्ये नदनदीतीरे वदेत् पुण्यकथां सुधीः ॥ ४० ॥

सज्जनोंसे भरे हुए अच्छे ग्राममें, उत्तम क्षेत्रमें, देवताके मन्दिरमें तथा नदों और नदियोंके पावन तटपर विद्वान् वक्ता पुण्यकथाका उपदेश करे ॥ ४० ॥

ईदृशाद् वाचकाद् राजञ्छ्रुत्वा फलमवाप्नुयात् ।
ऐहिकामुष्मिकं शर्म पुण्यं पुत्रादिसिद्धिदम् ॥ ४१ ॥
महापापादिशमनं पुराणं हरिवंशकम् ।

राजन् ! ऐसे वाचकसे कथा सुनकर मनुष्य अभीष्ट फलको पा लेता है । हरिवंशपुराण इहलोक और परलोकमें भी कल्याणकारी, पुण्यदायक, पुत्र आदि अभीष्ट वस्तुओंकी सिद्धि देनेवाला तथा बड़े-बड़े पाप आदिका शमन करनेवाला है ॥ ४१½ ॥

योऽयं पुत्रादिसिद्ध्यर्थं हरिवंशं जितेन्द्रियैः ॥ ४२ ॥
श्रृणुयात् सर्वभावेन पुण्यं पापप्रणाशनम् ॥ ४३ ॥

जितेन्द्रिय पुरुषोंको पुत्र आदिकी सिद्धिके लिये हरिवंशका सहारा लेना चाहिये । इस पुण्यदायक और पापनाशक पुराणको पूर्ण श्रद्धा और एकाग्रताके साथ सुनना चाहिये ॥ ४२-४३ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे हरिवंशमाहात्म्ये श्रवणादिविधिकथनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराणमें हरिवंशमाहात्म्यके अन्तर्गत श्रवण आदिकी विधिका प्रतिपादनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥



तृतीयोऽध्यायः

(२) हरिवंशश्रवणकी विधि और फल

वैशम्पायन उवाच

जपादि श्रवणं प्रोक्तं हरिवंशस्य सूरिभिः ।
पितॄन् संतर्प्य शुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! विद्वान् पुरुषोंने

जपसे हरिवंश-श्रवणकी सफलता बतायी है। पहले पितरोंका तर्पण करके आत्मशुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करे ॥ १ ॥

सुमण्डपं च कर्तव्यं तत्र स्थाप्यो हरिस्तथा।
कृष्णमुद्दिश्य मन्त्रेण चरेत् पूजाविधिं क्रमात् ॥ २ ॥

उत्तम मण्डप बनावे और उसमें श्रीहरिकी स्थापना करे, फिर भगवान् श्रीकृष्णके उद्देश्यसे मन्त्रद्वारा क्रमशः पूजा-विधि सम्पन्न करे ॥ २ ॥

प्रदक्षिणानमस्कारान् पूजान्ते स्तुतिमाचरेत्।
संसारसागरे मग्नं दीनं मां करुणानिधे ॥ ३ ॥
कर्मग्राहगृहीतोऽहं मामुद्धर भवार्णवात्।

पूजाके अन्तमें प्रदक्षिणा और नमस्कार करके इस प्रकार स्तुति करे—'करुणानिधे ! मैं इस संसार-समुद्रमें डूबा हुआ हूँ। मुझे कर्मरूपी ग्राहने पकड़ रखा है। आप मुझ दीनका इस भवसागरसे उद्धार कीजिये ॥ ३½ ॥

ततः श्रीहरिवंशस्य पूजा कार्या प्रयत्नतः ॥ ४ ॥
विधिना षोडशेनैव धूपदीपसमन्विता।

तदनन्तर धूप, दीप आदि सामग्रियोंसे षोडशोपचारकी विधिके अनुसार प्रयत्नपूर्वक श्रीहरिवंशकी भी पूजा करनी चाहिये ॥ ४½ ॥

ततस्तु श्रीफलं धृत्वा नमस्कारं समाचरेत् ॥ ५ ॥
स्तुतिः प्रसन्नचित्तेन कर्तव्या केवलं तथा।

तदनन्तर पुस्तकके आगे श्रीफल (नारियल) रखकर नमस्कार करे और उस समय प्रसन्नचित्तसे अनन्यभावपूर्वक इस प्रकार स्तुति करे—॥ ५½ ॥

स्वीकृतोऽसि मया नाथ पुत्रार्थं भवसागरे ॥ ६ ॥
मनोरथो मदीयोऽयं सफलः सर्वथा त्वया।
निर्विघ्नेनैव कर्तव्यो दासोऽहं तव केशव ॥ ७ ॥

'नाथ ! मैंने इस भवसागरमें पुत्रकी प्राप्तिके लिये आपकी शरण ली है। केशव ! मेरे इस मनोरथको किसी विघ्न-बाधाके बिना ही आप सब प्रकारसे सफल करें। मैं आपका दास हूँ' ॥ ६-७ ॥

एवं दीनवचः प्रोक्त्वा वक्तारं चाथ पूजयेत्।
सम्भूष्य वस्त्रभूषाभिः पूजान्ते तं च संस्तवेत् ॥ ८ ॥

इस प्रकार दीन वचन कहकर वक्ताको वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित करके उसका पूजन करे और पूजनके पश्चात् उसकी इस प्रकार स्तुति करे—॥ ८ ॥

व्यासरूप प्रबोधज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
एतत्कथाप्रकाशेन मदज्ञानं विनाशय ॥ ९ ॥

'व्यासस्वरूप महानुभाव ! आप समझानेकी कलामें निपुण और समस्त शास्त्रोंके विशेषज्ञ हैं। इस हरिवंशकी कथाको प्रकाशित करके आप मेरे अज्ञानको दूर कीजिये' ॥

तदग्रे नियमः पश्चात् कर्तव्यः श्रेयसे मुदा।
नवरात्रं यथाशक्त्या धारणीयः स एव हि ॥ १० ॥
वरणं पञ्चविप्राणां कथाभङ्गनिवृत्तये।
कर्तव्यं तैर्हरेर्जाप्यं द्वादशाक्षरविद्यया ॥ ११ ॥
संतानगोपालमन्त्रो महारुद्रजपस्तथा।
पूजनं पार्थिवस्यैव गणनाथमनोर्जपः ॥ १२ ॥

तदनन्तर वक्ताके आगे अपने कल्याणके लिये प्रसन्नतापूर्वक नियम ग्रहण करे और यथाशक्ति नौ दिनोंतक निश्चय ही उसका पालन करे। कथामें कोई विघ्न न पड़े, इसके लिये पाँच ब्राह्मणोंका वरण करना चाहिये और उन ब्राह्मणोंको द्वादशाक्षर मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का जप, संतानगोपालमन्त्रका जप, महारुद्रमन्त्रका जप, पार्थिवपूजन तथा गणेशमन्त्रका जप करना चाहिये ॥ १०-१२ ॥

ब्राह्मणान् वैष्णवांश्चान्यांस्तथा कीर्तनकारिणः।
नत्वा सम्पूज्य दत्ताज्ञः स्वयमासनमाविशेत् ॥ १३ ॥

इसके बाद वहाँ उपस्थित हुए ब्राह्मणों, वैष्णवों तथा कीर्तन करनेवाले अन्य लोगोंको भी नमस्कार करके उनकी पूजा करे और उनसे आज्ञा लेकर स्वयं श्रोताके आसनपर बैठे ॥ १३ ॥

लोकवित्तधनागारसर्वचिन्ता व्युदस्य च।
कथाचित्तः शुद्धमतिः स लभेत् फलमुत्तमम् ॥ १४ ॥

जो पुरुष लोक, सम्पत्ति, धन और घर आदिकी सारी चिन्ता छोड़कर शुद्ध बुद्धिसे केवल कथामें ही मन लगाये रहता है, उसे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

दम्पती शुद्धमनसौ श्रद्धाभक्तिसमन्वितौ।
श्रद्धैव सर्वधर्माणां मातेव हितकारिणी ॥ १५ ॥

कथा सुननेवाले पति-पत्नी शुद्ध हृदयसे श्रद्धा और भक्तिके साथ कथा सुनें। सब धर्मोंमें श्रद्धा ही माताके समान हितकारिणी है ॥ १५ ॥

श्रद्धयैव नृणां सिद्धिर्जायते लोकयोर्द्वयोः।
श्रद्धया भजतः पुंसः शिलापि फलदायिनी ॥ १६ ॥

श्रद्धासे ही मनुष्योंको इहलोक और परलोकमें सिद्धि प्राप्त होती है। श्रद्धापूर्वक आराधना करनेवाले पुरुषको शिला भी अभीष्ट फल देनेवाली है ॥ १६ ॥

मूर्खोऽपि पूजितो भक्त्या गुरुर्भवति ज्ञानदः।
श्रद्धया भजतो मन्त्रस्त्वसद् योऽपि फलप्रदः ॥ १७ ॥

मूर्ख भी यदि भक्तिभावसे पूजित हो तो वह ज्ञानदाता गुरु हो जाता है। असत् मन्त्रका भी यदि श्रद्धापूर्वक सेवन (जप) किया जाय तो वह फलदायक हो जाता है ॥

श्रद्धया पूजितो देवो नीचस्यापि वरप्रदः।
अश्रद्धया कृता पूजा दानं यज्ञस्तपो व्रतम् ॥ १८ ॥
सर्वं निष्फलतां याति पुष्पं वन्धुतरोरिव।

यदि देवताकी श्रद्धापूर्वक पूजा की गयी तो वह नीच पुरुषको भी वर प्रदान करता है। अश्रद्धासे की हुई पूजा, दान, यज्ञ, तप और व्रत—ये सभी दुपहरियाके फूलकी भाँति निष्फल हो जाते हैं ॥ १८½ ॥

सर्वत्र संशयाविष्टः श्रद्धाहीनोऽतिचञ्चलः ॥ १९ ॥
परमार्थात् परिभ्रष्टः संसृतेर्न हि मुच्यते।

जो सर्वत्र संशययुक्त, श्रद्धाहीन और अत्यन्त चञ्चल होता है, वह परमार्थसे भ्रष्ट होकर संसार-बन्धनसे मुक्त नहीं हो पाता ॥ १९½ ॥

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ ॥ २० ॥
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, औषध और गुरुके विषयमें जैसी जिसकी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है ॥ २०½ ॥

अतो भावमयं विश्वं पुण्यपापं च भावतः ॥ २१ ॥
ते उभे भावहीनस्य न भवेतां कदाचन।
तस्मात् सर्वात्मना राजञ्छ्रद्धाभक्ती समाश्रयेत् ॥ २२ ॥

यह सारा विश्व भावमय है। पुण्य और पाप भी भावसे ही होते हैं। जो भावसे हीन है, उसे वे दोनों पुण्य और पाप कभी नहीं प्राप्त होते हैं। अतः राजन्! सम्पूर्ण हृदयसे श्रद्धा और भक्तिका आश्रय लेना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

आ सूर्योदयमारभ्य सार्धं त्रिप्रहरार्धकम्।
वाचनीया कथा सम्यग् धीरकण्ठं सुधीमता ॥ २३ ॥

बुद्धिमान् वक्ताको उचित है कि वह सूर्योदयसे लेकर साढ़े तीन प्रहरतक मध्यम-स्वरसे अच्छी तरह कथा बाँचे ॥ २३ ॥

कथाविरामः कर्तव्यो मध्याह्ने घटिकाद्वयम्।
तत् कथामनु कार्यं वै कीर्तनं वैष्णवैस्तदा ॥ २४ ॥
एवं श्रुत्वा विधानेन सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥ २५ ॥

दोपहरके समय दो घड़ीतक कथा बंद रखे। कथा बंद होनेपर वैष्णव पुरुषोंको उस बीचमें कुछ देरतक कीर्तन करना चाहिये। इस प्रकार विधिपूर्वक कथा सुनकर मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त करे ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे हरिवंशमाहात्म्ये श्रवणादिविधिकथनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराणमें हरिवंश-माहात्म्यके अन्तर्गत श्रवण आदि विधिका वर्णनविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

नवाहव्रती श्रोताओंके पालन करने योग्य नियम, उनके द्वारा त्याज्य वस्तुओंका उल्लेख, न्यायविरुद्ध कथा श्रवण करनेवालोंकी दुर्गति, कथामें विघ्न डालनेके कारण एक नारीको नरकयातना एवं राक्षसयोनिकी प्राप्ति तथा श्रोताओंके चौदह भेद

वैशम्पायन उवाच

नवाहव्रतिनां पुंसां नियमाञ्छृणु सत्तम।
एककालाशनश्चैव अधःशायी भवेन्नरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—साधुशिरोमणे! नवाह-कथा-श्रवणका व्रत लेनेवाले पुरुषोंके लिये जो आवश्यक नियम हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो! व्रती पुरुष एक समय भोजन करे और नीचे भूमिपर सोये ॥ १ ॥

स्थातव्यं ब्रह्मचर्येण यावद् ग्रन्थः समाप्यते।
हरिवंशे तथा राजन् पायसं चरुभोजनम् ॥ २ ॥
पारणे पारणे यातं यथावद् भरतर्षभ।

जबतक ग्रन्थ समाप्त न हो जाय, तबतक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए रहना चाहिये। राजन्! भरतश्रेष्ठ! हरिवंशकी प्रत्येक पारणामें यथावत् रूपसे खीर अथवा चरुके भोजनका विधान प्राप्त होता है ॥ २½ ॥

मलमूत्रजयार्थं हि लघ्वाहारः सुखावहः ॥ ३ ॥
हविष्यान्नेन कर्तव्यमेकवारं कथार्थिना।
उपोष्य नवरात्रं वा शक्तिश्चेच्छृणुयात् तदा ॥ ४ ॥
घृतपानं पयःपानं कृत्वा वा शृणुयात् सुखम्।

फलाहारेण वा भाव्यमेकभुक्तेन वा पुनः ॥ ५ ॥

कथाके समय मल-मूत्रके वेगको काबूमें रखनेके लिये हल्का भोजन करना सुखद होता है, अतः कथा सुननेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको एक बार हविष्यान्न भोजन करना उचित है। यदि शक्ति हो तो नौ रात उपवास करके कथा सुने अथवा केवल घी अथवा दूध पीकर सुखपूर्वक कथा सुने। इससे काम न चले तो फलाहार अथवा एक समय भोजन करके कथा सुननी चाहिये ॥ ३-५ ॥

सुखसाध्यं भवेद् यत्तु कर्तव्यं श्रवणाय तत्।
भोजनं तु वरं मन्ये कथाश्रवणकारकम् ॥ ६ ॥

तात्पर्य यह है कि जिससे जो नियम सुगमतापूर्वक निभ सके, वह उसीको कथा सुननेके लिये ग्रहण करे। मैं तो उपवासकी अपेक्षा भोजनको ही श्रेष्ठ मानता हूँ, यदि वह कथा-श्रवणमें सहायक हो सके ॥ ६ ॥

नोपवासो वरः प्रोक्तो कथाविघ्नकरो यदि।
शृणुयाद् यः शुचिस्तिष्ठन्नेकचित्ततया सदा ॥ ७ ॥

यदि उपवाससे कथामें विघ्न पड़ता हो तो वह अच्छा नहीं बताया गया है। जो इस कथाको सुने, वह सदा पवित्र हो एकाग्र-चित्तसे सुननेके लिये बैठे ॥ ७ ॥

प्रातःस्नानादिकं कृत्वा पुत्रदारसमन्वितः।
पुराणश्रवणं कुर्यात् कृष्णपूजनपूर्वकम् ॥ ८ ॥

श्रोता स्त्री-पुत्रोंके साथ प्रातःस्नान आदि कर्म करके पहले भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करे। तत्पश्चात् इस पुराणको सुने ॥ ८ ॥

पुष्पधूपफलैः सम्यङ् नैवेद्यैः श्रद्धयोद्धृतैः।
गुरोः शुश्रूषणं तेन कर्तव्यं फलकाङ्क्षिणा ॥ ९ ॥

अभीष्ट फलकी इच्छा रखनेवाला श्रोता श्रद्धापूर्वक अर्पित किये हुए पुष्प, धूप, फल और उत्तम नैवेद्यके द्वारा गुरुकी शुश्रूषा करे ॥ ९ ॥

श्रुत्वा यथेच्छया शौचं कार्यं पुण्येन वर्त्मना।
सायंकाले गुरुश्रेष्ठं तोषयित्वा सबान्धवः ॥ १० ॥
स्वपरिग्रहसङ्गेन सुखं स्वपिति वै तदा।
नियमादि प्रकर्तव्यं पापानां विनिवर्तने ॥ ११ ॥
यथासुखं व्यवहरेन्नित्यं विष्णुपरायणः।

कथा सुननेके पश्चात् अपनी इच्छाके अनुसार सायंकालमें पवित्र मार्गसे शौच-सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करे, फिर बन्धु-बान्धवोंसहित सेवामें उपस्थित हो गुरुश्रेष्ठ व्यासको संतुष्ट करके अपनी स्त्रीके साथ घर जाकर पृथक् आसनपर सुखपूर्वक सोये। पापोंके निवारणके लिये शौच-, संतोष आदि नियमों और ब्रह्मचर्य आदि यमोंका दृढ़ताके साथ पालन करना चाहिये। नित्य-निरन्तर भगवान् विष्णुके चिन्तनमें तत्पर रहकर वह सुखपूर्वक पूर्वोक्त नियमोंका पालन करे ॥ १०-११½ ॥

शुचिः शुद्धमनास्तिष्ठन् पत्रावल्यां च भोजनम् ॥ १२ ॥
कथासमाप्तौ भुक्तिं च कुर्यान्नित्यं कथाव्रती।

कथाका व्रत लेनेवाला पुरुष पवित्र एवं शुद्ध-चित्त रहकर कथा सुने और प्रतिदिन कथा समाप्त होनेपर पत्तलमें ही भोजन करे ॥ १२½ ॥

द्विदलं मधु तैलं च गरिष्ठान्नं तथैव च ॥ १३ ॥
भावदुष्टं पर्युषितं जह्यान्नित्यं कथाव्रती।

कथा-श्रवणकालमें दाल, मधु, तेल, गरिष्ठ अन्न, भाव-दूषित पदार्थ और बासी अन्नको कथाव्रती पुरुष प्रतिदिन त्याग दे ॥ १३½ ॥

वृन्ताकं च कलिङ्गं च दग्धमन्नं मसूरिकाम् ॥ १४ ॥
निष्पावानामिषाद्यं च वर्जयेच्च कथाव्रती।

बैंगन, कलिंग (सिरस), जला हुआ अन्न, मसूर, निष्पाव (लौबिया या सेम) तथा मांस आदिको कथाव्रती सर्वथा त्याग दे ॥ १४½ ॥

पलाण्डुं लशुनं हिंगुं मूलकं गृञ्जनं तथा ॥ १५ ॥
नालिकामूलकूष्माण्डं नैवाश्नाच्च कथाव्रती।

प्याज, लहसुन, हींग, मूली, गाजर, नालिका (नाड़ीका शाक), मूल (जमीनके अंदर पैदा होनेवाले कंद, आलू, अरवी आदि) और कुम्हड़ा—इन सबको कथा सुननेका व्रत लेनेवाला पुरुष कदापि न खाय ॥ १५½ ॥

कामं क्रोधं मदं मानं मत्सरं लोभमेव च ॥ १६ ॥
दम्भं मोहं तथा द्वेषं दूरयेच्च कथाव्रती।

कथाव्रती पुरुष काम, क्रोध, मद, मान, मत्सर, लोभ, दम्भ, मोह तथा द्वेषको अपने मनसे दूर कर दे ॥ १६½ ॥

वेदवैष्णवविप्राणां गुरुगोव्रतिनां तथा ॥ १७ ॥
स्त्रीराजमहतां निन्दां वर्जयेच्च कथाव्रती।

वह वेद, वैष्णव, ब्राह्मण, गुरु, गोसेवक, स्त्री, राजा और महापुरुषोंकी निन्दाको सर्वथा त्याग दे ॥ १७½ ॥

रजस्वलान्त्यजम्लेच्छपतितव्रात्यकैः सह ॥ १८ ॥
द्विजद्विड्वेदबाह्यैश्च न वदेच्च कथाव्रती ।

कथाव्रती रजस्वला स्त्री, अन्त्यज (चाण्डाल आदि), म्लेच्छ, पतित, गायत्रीहीन द्विज, ब्राह्मणद्रोही तथा वेदको न माननेवाले पुरुषोंसे बात न करे ॥ १८½ ॥

सत्यं शौचं दया मौनमार्जवं विनयं तथा ॥ १९ ॥
उदारं मानसं तद्वत् कुर्यादेव कथाव्रती ।

नियमसे कथाका व्रत लेनेवाले पुरुषको सत्य, शौच, दया, मौन, सरलता तथा विनयका पालन करना चाहिये और अपने हृदयको उदार बनाये रखना चाहिये ॥ १९½ ॥

श्रद्धाभक्तिसमायुक्ता नान्यकार्येषु लालसाः ॥ २० ॥
वाग्यताः शुचयोऽव्यग्राः श्रोतारः पुण्यभागिनः ।

जो श्रद्धा और भक्तिसे सम्पन्न हों, दूसरे किसी कार्यकी लालसा न रखते हुए पवित्र, मौन और शान्तभावसे कथा सुनते हैं, वे पुण्यके भागी होते हैं ॥ २०½ ॥

अभक्त्या ये कथां पुण्यां शृण्वन्ति मनुजाधमाः ॥ २१ ॥
तेषां पुण्यफलं नास्ति दुःखं स्याज्जन्मजन्मनि ।

जो अधम मनुष्य भक्तिभावसे रहित होकर इस पुण्य कथाको सुनते हैं, उन्हें कभी पुण्य-फल नहीं प्राप्त होता और जन्म-जन्ममें दुःख भोगना पड़ता है ॥ २१½ ॥

पुराणं ये तु सम्पूज्य ताम्बूलाद्यैरुपायनैः ॥ २२ ॥
शृण्वन्ति च कथां भक्त्या दरिद्राः स्युर्न पापिनः ।

जो ताम्बूल आदि उपहारोंसे पुराणका पूजन करके भक्तिभावसे इस कथाको सुनते हैं, वे दरिद्र और पापी नहीं होते हैं ॥ २२½ ॥

कथायां कीर्त्यमानायां ये गच्छन्त्यन्यतो नराः ॥ २३ ॥
भोगान्तरे प्रणश्यन्ति तेषां दाराश्च सम्पदः ।

जो कथा होते समय उसे छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं, उनकी स्त्री और सम्पदाएँ भोगके बीचमें ही नष्ट हो जाती हैं (वह उनका पूर्णतः उपभोग नहीं कर पाता है) ॥ २३½ ॥

सोष्णीषमस्तका ये च कथां शृण्वन्ति पावनीम् ॥ २४ ॥
ते बलाकाः प्रजायन्ते पापिनो मनुजाधमाः ।

जो पापी नराधम सिरपर पगड़ी रखकर इस पावन कथाको सुनते हैं, वे बगुले होते हैं ॥ २४½ ॥

ताम्बूलं भक्षयन्तो ये कथां शृण्वन्ति पावनीम् ॥ २५ ॥
स्वविष्ठां खादयन्त्येतान्नरके यमकिङ्कराः ।
नार्या रजस्वलायाश्च योनितुल्यं मुखं भवेत् ॥ २६ ॥

जो लोग पान खाते हुए पुराणकी पावन कथाको सुनते हैं, उन्हें यमराजके दूत नरकमें डालकर अपनी ही विष्ठा खिलाते हैं । उनका मुख रजस्वला स्त्रीकी योनिके समान हो जाता है ॥ २५-२६ ॥

ये च तुङ्गासनारूढाः कथां शृण्वन्ति दाम्भिकाः ।
अक्षय्यान् नरकान् भुक्त्वा ते भवन्त्येव वायसाः ॥ २७ ॥

जो दम्भी मनुष्य ऊँचे आसनपर बैठकर कथा सुनते हैं, वे अक्षय नरकोंका उपभोग करके अन्तमें कौए होते हैं ॥ २७ ॥

ये च वीरासनारूढा ये च शय्यासनस्थिताः ।
शृण्वन्ति तत्कथां ते वै भवन्त्यर्जुनपादपाः ॥ २८ ॥

जो वीरासनपर आरूढ हो तथा जो शय्यारूप आसनपर बैठकर उस पुराण-कथाको सुनते हैं, वे अर्जुन नामक वृक्ष होते हैं ॥ २८ ॥

असम्प्रणम्य शृण्वन्तो विषवृक्षा भवन्ति ते ।
तथा शयानाः शृण्वन्तो भवन्त्यजगरा नराः ॥ २९ ॥

जो कथाको प्रणाम किये बिना ही सुनते हैं, वे विषवृक्ष होते हैं । जो सोते हुए सुनते हैं, वे मनुष्य अजगर सर्प होते हैं ॥ २९ ॥

यः शृणोति कथां वक्तुः समानासनमास्थितः ।
गुरुतल्पसमं पापं सम्प्राप्य नरकं व्रजेत् ॥ ३० ॥

जो वक्र स्वभाववाला मनुष्य वक्ताके समान आसनपर बैठकर कथा सुनता है, वह गुरुपत्नीगमन-तुल्य पापका भागी होकर नरकमें पड़ता है ॥ ३० ॥

ये निन्दन्ति पुराणज्ञान् कथां वा पापहारिणीम् ।
ते वै जन्मशतं मर्त्याः शुनकाः सम्भवन्ति च ॥ ३१ ॥

जो लोग पुराणवेत्ताओं तथा पुराणकी पापहारिणी कथाकी निन्दा करते हैं, वे मनुष्य सौ जन्मोंतक कुत्ते होते हैं ॥ ३१ ॥

कथायां वर्तमानायां ये वदन्ति दुरुत्तरम् ।
ते गर्दभाः प्रजायन्ते कृकलासास्ततः परम् ॥ ३२ ॥

जो कथा होते समय दूषित उत्तर-प्रत्युत्तर करते हैं, वे पहले तो गदहे होते हैं, तत्पश्चात् गिरगिटकी योनिमें जन्म पाते हैं ॥ ३२ ॥

कदाचिदपि ये पुण्यां न शृण्वन्ति कथां नराः ।
ते भुक्त्वा नरकान् घोरान् भवन्ति वनशूकराः ॥३३॥

जो कभी भी पुराणकी पुण्यमयी कथाको नहीं सुनते हैं, वे घोर नरकोंका कष्ट भोगकर वनैले सूअर होते हैं ॥३३॥

कथायां कीर्त्यमानायां विघ्नं कुर्वन्ति ये शठाः ।
कोट्यब्दान् नरकान् भुक्त्वा भवन्ति ग्रामसूकराः॥३४॥

जो शठ कथा-कीर्तनमें विघ्न डालते हैं, वे करोड़ों वर्षोंतक नरक भोगकर अन्तमें ग्रामसूकर होते हैं ॥ ३४ ॥

मध्ये वार्तां न कुर्वीत चेत् कुर्यान्निरयं व्रजेत् ।
कथायां श्रूयमाणायां न कुर्याच्छिशुलालनम् ॥ ३५॥

कथा सुनते समय बीचमें बातचीत न करे। यदि कोई करे तो वह नरकमें जायगा । कथा-श्रवणकालमें बच्चोंका लाड़-प्यार भी न करे ॥ ३५ ॥

नर्मवादान् वदेन्नैव स्त्रिया सम्भाषणं तथा ।
न कर्तव्यं प्रयत्नेन कथाविच्छेदकारणम् ॥ ३६ ॥

कथा होते समय हँसी-परिहासकी बातें न करे, स्त्रीके साथ वार्तालाप भी न करे । इन बातोंका प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये; क्योंकि ये सब बातें कथामें विच्छेद (विघ्न) डालनेवाली हैं ॥ ३६ ॥

विच्छेदेन कथायास्तु ब्रह्महत्यासमं त्वघम् ।
प्राप्नोति नृपशार्दूल कथाविच्छेदकः पुमान् ॥ ३७ ॥

राजसिंह ! कथामें विच्छेद पैदा करनेसे वह कथाविच्छेदक पुरुष ब्रह्महत्याके समान पापका भागी होता है ॥ ३७ ॥

न कुर्यात् तु कथामध्ये त्वन्यवार्ताः प्रयत्नतः ।
नारी वा पुरुषो वापि कुर्यान्निरयमाप्नुयात् ॥ ३८ ॥

स्त्री हो या पुरुष, कथाके बीचमें दूसरी बातें न करे और इसके लिये सदा प्रयत्नशील रहे । यदि कोई बात करता है तो वह नरकमें पड़ता है ॥ ३८ ॥

इतिहासं वदाम्यत्र शृणुष्वैकं हि मानद ।
यं श्रुत्वा न वदेद् वार्तां कथामध्ये कदाचन ॥ ३९ ॥

मानद ! इस विषयमें मैं एक इतिहास बताता हूँ, इसे सुनो । इसे सुन लेनेपर कोई भी मनुष्य कभी कथाके बीचमें वार्तालाप नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥

जनस्थाने पुरा कश्चिद् ब्राह्मणो वेदपारगः ।
धर्मशास्त्रेऽतिनिपुणः सदाचारपरायणः ॥ ४० ॥

प्राचीन कालकी बात है, जनस्थानमें कोई ब्राह्मण रहते थे, जो वेदोंके पारङ्गत विद्वान् थे । वे धर्म-शास्त्रमें अत्यन्त निपुण तथा सदाचारमें तत्पर रहनेवाले थे ॥ ४० ॥

गङ्गास्नानं विधायादौ कृत्वा माध्याह्निकं तथा ।
कृत्वा देवार्चनं चैव श्रवणे तत्परोऽभवत् ॥ ४१ ॥

वे प्रतिदिन पहले गङ्गा-स्नान और मध्याह्न-संध्या-वन्दन आदि करके देवपूजन करनेके पश्चात् कथा-श्रवणमें प्रवृत्त होते थे ॥ ४१ ॥

तस्य भार्यातिदुष्टा च कर्कशा कलहप्रिया ।
असत्यालापनिपुणा परद्वेषपरायणा ॥ ४२ ॥

उनकी स्त्री बड़ी दुष्ट और कर्कशा थी । सदा कलह करना ही उसे प्रिय लगता था । वह झूठ बोलनेमें निपुण थी और दूसरोंसे द्वेष करनेमें ही लगी रहती थी ॥ ४२ ॥

हृत्वा चक्रे धनस्यापि संग्रहं पापनिश्चया ।
दधि दुग्धं समानीय शर्करागुडमेव च ॥ ४३ ॥
घृतं च नवनीतं च स्वयमानीय सर्वदा ।
एकान्ते भक्षणं चक्रे भर्तयेन्नं प्रशुष्ककम् ॥ ४४ ॥

वह पापपूर्ण निश्चयवाली नारी चोरी-चोरी धनका भी संग्रह करने लगी । वह स्वयं दही, दूध, शक्कर, गुड़-घी और माखन खरीद लाती और एकान्तमें बैठकर अकेली ही खाती थी । पतिको केवल रूखा-सूखा अन्न परोस दिया करती थी ॥ ४३-४४ ॥

दुराग्रहा दुष्टमनाः पतिनिन्दापरायणा ।
बहुपापप्रकर्त्री च परवेश्मोपवेशिनी ॥ ४५ ॥

उसका स्वभाव दुराग्रही था, मनमें दुष्टता भरी रहती थी। वह सदा अपने पतिकी निन्दामें ही लगी रहनेवाली और पाप करनेवाली थी, प्रायः दूसरेके घरमें ही बैठी रहती थी ॥ ४५ ॥

सुभाषणं वदेन्नैव द्विषः क्षेमविधायिनी ।
पंक्तिभेदं प्रकुर्वाणा सदा निष्ठुरभाषिणी ॥ ४६ ॥

वह अच्छी बात तो कभी बोलती ही नहीं थी । जो पतिके द्वेषी थे, उन्हींका वह भला किया करती थी । भोजनमें सदा पंक्तिभेद करती थी—किसीको कुछ परोसती और किसीको कुछ । सदा निष्ठुर बात ही बोलती थी ॥ ४६ ॥

अतिथिषु सदा वैरकारिणी धर्मनाशिनी ।

सज्जनोऽपि गुणी सौम्यस्तस्या भर्ता सुपूजितः ॥ ४७ ॥

अतिथियोंसे सदा वैर रखती और धर्मका नाश करती थी। उसके पति बड़े सज्जन, गुणवान्, सौम्य तथा सर्वत्र सम्मानित होनेवाले थे ॥ ४७ ॥

यदा भर्ता पुराणस्य श्रवणाय हि संस्थितः।
प्रत्यहं तत्र गत्वा तु तस्य निन्दां चकार ह ॥ ४८ ॥

जब उसके पति प्रतिदिन पुराण सुननेके लिये बैठते, तब वहाँ जाकर वह उनकी निन्दा करने लगती थी—॥४८॥

संन्यासिवत् कथं ह्यत्र श्रवणे व्यासवत् कृतः।
समुत्पन्ननिरुद्योग किं कर्तव्यं मया वद ॥ ४९ ॥

'संसारमें पैदा होकर भी जीवन-निर्वाहके लिये कोई उद्योग न करनेवाले आलसी! यहाँ संन्यासीकी तरह कथा सुनने कैसे बैठे हो? तुम तो यहाँ आकर व्यासबाबा बन गये, अब मुझे बताओ, मैं क्या करूँ? ॥ ४९ ॥

शिशवो मां पीडयन्ति भक्षणाय दिने दिने।
किं तेषां च प्रकर्तव्यं भक्षणार्थं मया वद ॥ ५० ॥

'बच्चे प्रतिदिन भोजनके लिये मुझे तंग करते रहते हैं; बताओ, मैं उनके खानेके लिये क्या प्रबन्ध करूँ? ॥ ५० ॥

नास्त्येवान्नं गृहे किञ्चिद् वस्त्रं वाप्यथवा धनम्।
किं मया च प्रकर्तव्यं कुत्र गन्तव्यमेव च ॥ ५१ ॥

'मेरे घरमें न तो मुट्ठीभर अन्न है, न वस्त्र है और न धन ही है। मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? ॥ ५१ ॥

कथं विलिखितं दिष्टं धात्रा पापेन मे पुरा।
मूर्खश्चालस्यसंयुक्तो दरिद्रो निष्ठुरस्तथा ॥ ५२ ॥
स्नेहहीनः कुटुम्बे च कथायाः श्रवणे रतः।
एतादृशः पतिर्मह्यं धात्रा दत्तो दुरात्मना ॥ ५३ ॥

'न जाने पापी विधाताने पूर्वकालमें मेरा भाग्य कैसा लिख दिया? दुरात्मा ब्रह्माने मुझे ऐसा पति दिया, जो मूर्ख, आलसी, दरिद्र और निष्ठुर है। इसका अपने कुटुम्ब-पर तनिक भी स्नेह नहीं है। यह सिर्फ कथा सुननेमें लगा रहता है ॥ ५२-५३ ॥

पृथिव्यां दुर्भगैकाहं दरिद्रगृहमागता।
उदरापूर्तिमात्रं हि नान्नं मे भक्षितं कदा ॥ ५४ ॥

'इस पृथ्वीपर एकमात्र मैं ही ऐसी अभागिनी हूँ, जो इस दरिद्रके घरमें आ गयी। यहाँ आकर कभी मैंने भरपेट भोजन भी नहीं किया ॥ ५४ ॥

सौभाग्यास्ताः स्त्रियो लोके यासामुद्योगशालिनः।
पतयो धनधान्यादिसमृद्धिपरिशोभिताः ॥ ५५ ॥

'संसारमें वे ही स्त्रियाँ सौभाग्यशालिनी हैं, जिनके पति उद्योगशील हैं, धन-धान्य आदिकी समृद्धिसे सुशोभित हैं ॥ ५५ ॥

ते वै स्त्रीणां वाक्यकराः शिशुपालनतत्पराः।
नित्यं गृहेषु तिष्ठन्ति स्त्रीणां संतोषकारकाः ॥ ५६ ॥

'वे अपनी स्त्रियोंकी आज्ञा मानते हैं, बच्चोंके लालन-पालनमें तत्पर रहते हैं, सदा घरमें रहते हैं और स्त्रियोंको संतुष्ट रखते हैं ॥ ५६ ॥

सदन्नभक्षणात् पुष्टा भार्याज्ञापरिपालकाः।
व्यवसायं च भार्याणां कुर्वन्ति बुद्धिशालिनः ॥ ५७ ॥

'वे उत्तम अन्न खाकर पुष्ट होते हैं, पत्नीकी आज्ञाका पालन करते हैं, बुद्धिशाली हैं और पत्नियोंका जैसा निश्चय होता है, वैसा ही वे करते हैं ॥ ५७ ॥

अयं मूर्खश्च जडधीरुपेक्षां कुरुते गृहे।
अद्य तैलं गृहे नास्ति चेन्धनं लवणं तथा ॥ ५८ ॥

'यह मेरा पति तो मूर्ख और जडबुद्धि है, घरके प्रति उपेक्षाका भाव रखता है। आज घरमें न नमक है, न तेल है और न लकड़ी ही है ॥ ५८ ॥

शाकञ्च मम नास्त्येव धान्यलेशो न मद्गृहे।
किं मया तु प्रकर्तव्यं पतिरेतादृशो मम ॥ ५९ ॥

'साग भी मेरे घरमें नहीं है। अनाज तो लेशमात्र भी नहीं है। क्या करूँ? मेरा पति ऐसा आलसी है' ॥ ५९ ॥

कथायां श्रूयमाणायां पत्या सन्मार्गमूर्तिना।
धान्यादौ विद्यमानेऽपि मिथ्याभाषणतत्परा ॥ ६० ॥

सन्मार्गकी मूर्तिरूप पतिके कथा सुनते समय वह घरमें अनाज आदिके रहते हुए भी वहाँ आकर इस प्रकार मिथ्या भाषण किया करती थी ॥ ६० ॥

कथाविघ्नं चकारासौ कर्कशा सा दिने दिने।
ततः कालेन मरणं प्राप्ता सा दुष्टमानसा ॥ ६१ ॥

वह कर्कशा स्त्री प्रतिदिन इसी तरह कथामें विघ्न डाला करती थी। उसका हृदय दुष्टतासे भरा था। तदनन्तर काल आनेपर उसकी मृत्यु हो गयी ॥ ६१ ॥

यमदूतैस्तु बद्धा सा नीता च यममन्दिरे।
ततो यमाज्ञया तैस्तु नरके पातिता चिरम् ॥ ६२ ॥

यमराजके दूत आये और उसे बाँधकर यमराजके घर ले गये। वहाँ यमकी आज्ञासे उन्होंने उसे चिरकालके लिये नरकमें गिरा दिया ॥ ६२ ॥

पश्चात् सा राक्षसी जाता भैरवे जलवर्जिते ।
अरण्ये क्षुत्तृषायुक्ता पूर्वपापप्रभावतः ॥ ६३ ॥

नरकसे छूटनेपर वह पूर्व पापके प्रभावसे ही भयानक वनमें, जहाँ पानीका सर्वथा अभाव था, राक्षसी हुई और भूख-प्याससे पीड़ित रहने लगी ॥ ६३ ॥

तस्माद् विघ्नं न कर्तव्यं भार्यया पुरुषेण वा ।
श्रीहरेः सत्कथायास्तु तव सत्यं वदाम्यहम् ॥ ६४ ॥

अतः स्त्री हो या पुरुष, किसीको भी श्रीहरिकी उत्तम कथामें विघ्न नहीं डालना चाहिये। यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ॥ ६४ ॥

मीनालिनो महिषहंसवकस्वभावा
मार्जारकाकवृककङ्कजलौकतुल्याः ।
सच्छिद्रकुम्भजलसिन्धुशिलोपमाश्च
ते श्रावकाश्च सुचतुर्दशधा भवन्ति ॥ ६५ ॥

वे भले-बुरे श्रोता चौदह प्रकारके होते हैं—मीन, भ्रमर, महिष, हंस, बक, मार्जार, काक, वृक, कङ्क, जोंक, छिद्रयुक्त घट, जल, सिन्धु और शिला। इनके समान स्वभाववाले होनेके कारण वे इन्हीं नामोंसे कहे गये हैं ॥ ६५ ॥

दरिद्रश्च क्षयी रोगी निर्भाग्यः पापकर्मवान् ।
अनपत्यो मोक्षकामः शृणुयात् स कथामिमाम् ॥ ६६ ॥

दरिद्र, क्षयका रोगी, अन्य किसी रोगसे पीड़ित, भाग्यहीन, पापाचारी, संतानहीन तथा मुमुक्षु पुरुष इस हरिवंश-कथाको अवश्य सुने ॥ ६६ ॥

अपुष्पा काकवन्ध्या च वन्ध्या या च मृतार्भका ।
स्रवद्गर्भा च या नारी तया श्राव्या प्रयत्नतः ॥ ६७ ॥

जिस स्त्रीका मासिक धर्म रुक गया हो, जिसके एक ही संतान होकर रह गयी हो, जिसके बच्चे होते ही न हों, जिसके बच्चे पैदा होकर मर जाते हों तथा जिसका गर्भ गिर जाता हो, उस स्त्रीको प्रयत्नपूर्वक इस हरिवंशकथाका श्रवण करना चाहिये ॥ ६७ ॥

सुपुत्रं लभते राजन् व्यासस्य वचनं यथा ।
सर्वान् कामानवाप्नोति कथां श्रुत्वा हरेरिमाम् ॥ ६८ ॥

राजन्! नारी यह कथा सुनकर उत्तम पुत्र प्राप्त कर लेती है। जैसा कि व्यासजीका वचन है। श्रीहरिकी इस कथाको सुनकर मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको पा लेता है ॥ ६८ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे हरिवंशमाहात्म्ये श्रवणादिविधिकथनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराणमें हरिवंशमाहात्म्यके अन्तर्गत कथा-श्रवण आदिकी विधिका वर्णन विषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

हरिवंशके नवाह-पारायणका उद्यापन, उसमें किये जानेवाले दान, पुस्तकपूजा और वाचक-पूजन आदिका विधान एवं माहात्म्य

वैशम्पायन उवाच

एवं कृत्वा व्रतविधिमुद्यापनमथाचरेत् ।
जन्माष्टमीव्रतमिव कर्तव्यं फलकाङ्क्षिभिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार व्रतकी विधि पूर्ण करके उसका उद्यापन करे। उत्तम फलकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको जन्माष्टमी-व्रतके समान इसका उद्यापन करना चाहिये ॥ १ ॥

अकिञ्चनेषु भक्तेषु प्रायो नोद्यापनग्रहः ।
श्रवणेनैव पूतास्ते निष्कामा वैष्णवा यतः ॥ २ ॥

जो अकिंचन भक्त हैं, उनके लिये प्रायः उद्यापनका आग्रह नहीं है। वे कथा-श्रवणमात्रसे ही शुद्ध हो जाते हैं; क्योंकि वे निष्काम वैष्णव है ॥ २ ॥

एवं नवाहयज्ञेऽस्मिन् समाप्ते श्रोतृभिस्तदा ।
पुस्तकस्य च वक्तुश्च पूजा कार्यातिभक्तितः ॥ ३ ॥
प्रसादतुलसीमाला श्रोतृभ्यश्चाथ दीयताम् ।

इस प्रकार नवाह-यज्ञ पूर्ण होनेपर श्रोताओंको बड़ी भक्तिके साथ पुस्तक तथा कथावाचककी पूजा करनी चाहिये और वक्ताको उचित है कि वह श्रोताओंको प्रसाद और तुलसीकी माला दे ॥ ३½ ॥

मृदङ्गतालललितं कीर्तनं कीर्त्यतां ततः ॥ ४ ॥
जयशब्दो नमःशब्दः शङ्खशब्दश्च गीयताम्।
विप्रेभ्यो याचकेभ्यश्च वित्तमन्नं च दीयताम् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् मृदंग बजाकर तालस्वरके साथ कीर्तन किया जाय, जय-जयकार और नमस्कार शब्दके साथ शङ्खोंकी ध्वनि हो तथा ब्राह्मण और याचकोंको अन्न और धन दिया जाय ॥ ४-५ ॥

श्रवणान्ते हरेर्मूर्तिः सश्रीकस्य प्रदीयताम्।
सुवर्णस्य कृता सम्यग्लक्ष्म्यङ्का पलमानतः ॥ ६ ॥

कथाश्रवणके अन्तमें एक पल सुवर्णकी बनी हुई *लक्ष्मीसहित भगवान् विष्णुकी मूर्ति, जो श्रीवत्सचिह्नसे* अङ्कित हो, वाचकके लिये देनी चाहिये ॥ ६ ॥

समाप्तौ विधिवद् वस्त्रं क्षौमं दद्याच्च वाचके।
विशेषोऽयं समुद्दिष्टो मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ७ ॥

कथा समाप्त होनेपर वाचकको विधिपूर्वक रेशमी वस्त्र भी देना चाहिये। तत्त्वदर्शी मुनियोंने यह विशेष बात बतायी है ॥ ७ ॥

समाप्य सर्वं प्रयतः संहिताशास्त्रकोविदः।
शुभे दिने निवेश्याथ क्षौमवस्त्राभिसंवृतः ॥ ८ ॥
शुक्लाम्बरधरस्तत्र शुचिर्भूत्वा स्वलंकृतः।
अर्चयेत् तु यथान्यायं गन्धमाल्यैः पृथक्पृथक् ॥ ९ ॥
संहितापुस्तकं तत्र प्रयतः सुसमाहितः।
भक्ष्यैर्भोज्यैश्चापूपैश्च कौतुकैर्विविधैः शुभैः ॥ १० ॥

संहिताशास्त्रका विद्वान् वाचक पवित्र हो सम्पूर्ण हरिवंश-को समाप्त करके शुभ दिनमें पुस्तकको सिंहासनपर स्थापित-कर रेशमी वस्त्र ओढ़ श्वेत वस्त्र धारण करके पवित्र एवं विभूषित हो गन्ध, माल्य आदि पृथक्-पृथक् उपचारोंसे संहिता-पुस्तककी यथोचितरूपसे पूजा करे। उस समय चित्त शुद्ध एवं एकाग्र होना चाहिये। भक्ष्य, भोज्य और पुआ आदि नैवेद्यों तथा नाना प्रकारके शुभ कौतुकोंद्वारा उस पूजनकर्मको सम्पन्न करना चाहिये ॥ ८—१० ॥

हिरण्यमन्यद् द्रव्यं च दक्षिणां तत्र दापयेत्।
ये श्रावयन्ति मनुजान् पुण्यां पौराणिकीं कथाम् ॥ ११ ॥
कल्पकोटिशतं साग्रं यान्ति ते ब्रह्मणः पदे।

यजमान वहाँ सुवर्ण तथा अन्य द्रव्योंको दक्षिणारूपसे दे। जो लोग अपने यहाँ आयोजन करके लोगोंको पुण्यमयी पौराणिक कथा-सुनवाते हैं, वे सौ कोटि कल्पोंसे अधिक कालतक ब्रह्मधाममें विराजते हैं ॥ ११½ ॥

आसनार्थं प्रयच्छन्ति पुराणज्ञस्य ये नराः ॥ १२ ॥
कम्बलाजिनवासांसि मञ्चाफलकमेव च।
स्वर्गलोकं समासाद्य भुक्त्वा भोगान् यथेप्सितान् ॥ १३ ॥
स्थित्वा ब्रह्मादिलोकेषु पदं यान्ति निरामयम्।

जो मानव पुराणवेत्ता वाचकको आसनके लिये कम्बल, मृगचर्म, वस्त्र, शय्या और चौकी आदि प्रदान करते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाकर मनोवाञ्छित भोगोंका उपभोग करके ब्रह्मा आदिके लोकोंमें निवास करते हुए अन्ततोगत्वा निरामय पद (वैकुण्ठ-धाम) को प्राप्त होते हैं ॥ १२-१३½ ॥

पुराणस्य प्रयच्छन्ति ये सूत्रवसनं नवम् ॥ १४ ॥
भोगिनो ज्ञानसम्पन्नास्ते भवन्ति भवे भवे।

जो पुराणके वेष्टनके लिये नया सूती वस्त्र देते हैं, वे जन्म-जन्ममें भोग और ज्ञानसे सम्पन्न होते हैं ॥ १४½ ॥

ये महापातकैर्युक्ता उपपातकिनश्च ये ॥ १५ ॥
पुराणश्रवणादेव ते यान्ति परमं पदम्।

जो महापातकों और उपपातकोंसे युक्त हैं, वे भी इस पुराणके श्रवणमात्रसे परमपदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ १५½ ॥

हरिवंशं लिखित्वा यो वाचकाय प्रदापयेत् ॥ १६ ॥
यत् फलं भूमिदानस्य तत् फलं लभते हि सः।

जो हरिवंशको लिखकर उसका वाचकको दान करता है, उसे भूमिदानका फल प्राप्त होता है ॥ १६½ ॥

राजसूयेन तेनेष्टमश्वमेधेन वै नृप ॥ १७ ॥
दत्तानि सर्वदानानि हरिवंशे श्रुतेऽखिले।

नरेश्वर! जिसने सारा हरिवंश सुन लिया, उसने राजसूय और अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान कर लिया तथा सम्पूर्ण दान दे दिये ॥ १७½ ॥

राजसूयाश्वमेधाद्या यज्ञाश्चैव युगे युगे ॥ १८ ॥
श्रवणं हरिवंशस्य कलौ यज्ञफलप्रदम्।

राजसूय और अश्वमेध आदि यज्ञ प्रत्येक युगमें केवल अपना फल देते हैं, परंतु हरिवंशका श्रवण कलियुगमें समस्त यज्ञोंका फल देनेवाला है ॥ १८½ ॥

श्रद्धावानास्तिको दान्तो हरिवंशं यदारभेत् ॥ १९ ॥

पातकानि प्रकम्पन्ते प्रत्यूहानि ज्वलन्ति च ।

श्रद्धालु, आस्तिक एवं जितेन्द्रिय पुरुष जब हरिवंश आरम्भ करता है, तब सारे पातक काँपने लगते हैं और समस्त विघ्न जल जाते हैं ॥ १९½ ॥

समारभ्य नयेत् पारं हरिवंशं य आदितः ॥ २० ॥
स्पर्शनाद् दर्शनात् तस्य विष्णुर्दृष्टो भवेन्नृप ।

नरेश्वर ! जो हरिवंशकी कथाको आदिसे आरम्भ करके अन्ततक पहुँचा देता है, उसके दर्शन और स्पर्शसे भगवान् विष्णुका ही दर्शन और स्पर्श हुआ ऐसा मानना चाहिये ॥ २०½ ॥

जन्मत्रयस्य निकषः पातकस्य क्षयो ध्रुवम् ॥ २१ ॥
फलाप्तिश्च समाप्तौ च हरिवंशस्य बुद्ध्यते ।

हरिवंशकी समाप्ति होनेपर श्रोताके तीन जन्मोंके पातकोंका निश्चय ही नाश हो जाता है और अभीष्ट फलकी प्राप्तिका भी बोध होता है, यही इसकी सफलताकी कसौटी है ॥ २१½ ॥

श्रोतुर्भारत विज्ञेयं पूर्वं सुकृतिलक्षणम् ॥ २२ ॥
येन संजायते बुद्धिर्हरिवंशावधारणे ।

भरतनन्दन ! यह श्रोताके पूर्व पुण्यका लक्षण समझना चाहिये, जिससे उसके मनमें हरिवंश सुननेका विचार उत्पन्न होता है ॥ २२½ ॥

सर्वाणि च पुराणानि वेदाश्च स्मृतयस्तथा ॥ २३ ॥
हरिवंशेन बद्धार्था व्यासेन च महर्षिणा ।

महर्षि व्यासने समस्त पुराणों, वेदों और स्मृतियोंके भावोंको हरिवंशके साथ बाँध रखा है ॥ २३½ ॥

श्रुतिस्मृतिपुराणानां निन्दकेभ्यः कथंचन ॥ २४ ॥
पापिभ्यश्च महाराज श्रावयेन्नैव वाचकः ।

महाराज ! वाचकको उचित है कि वह श्रुतियों, स्मृतियों और पुराणोंके निन्दकोंको तथा पापियोंको किसी तरह कथा न सुनावे ॥ २४½ ॥

श्रुत्वा तुष्टेन मनसा वाचकं परिपूजयेत् ॥ २५ ॥
दान्तं यशस्विनं कान्तं शुचिं स्पष्टाक्षरस्रुवम् ।
त्रिशुद्धमाचारपरमक्रोधनमवादिनम् ॥ २६ ॥

कथा सुनकर श्रोता संतुष्ट चित्तसे जितेन्द्रिय, यशस्वी, कान्तिमान्, पवित्र, अक्षरोंका सुस्पष्ट उच्चारण करनेवाले, जन्म, विद्या और संस्कार तीनोंसे शुद्ध, सदाचारपरायण, क्रोधहीन और वाद-विवादसे रहित वाचककी पूजा करे ॥ २५-२६ ॥

ग्रामं दद्यात् सुवसितं कुण्डलोष्णीषमालिकाम् ।
पादुकोपानहौ छत्रं सवितानं मसूरिकाम् ॥ २७ ॥
एवं कृत्वा तु विधिवद् वाचकाय प्रदापयेत् ।
यानं वार्षं हयगजौ क्षौमं मणिमयासनम् ॥ २८ ॥
पञ्च भाण्डानि ताम्रस्य ताम्रस्यैवाम्बुभाजनम् ।

उसे भलीभाँति बसा हुआ ग्राम दे, कुण्डल, पगड़ी और माला अर्पित करे, खड़ाऊँ, जूता, छाता, चँदोवा और मसहरी—इन सबको एकत्र करके विधिपूर्वक वाचकको अर्पित करे । साथ ही बैलगाड़ी, घोड़ा, हाथी, रेशमी वस्त्र और मणिमय आसन, ताँबेके पाँच बर्तन तथा ताँबेका ही जलपात्र दे ॥ २७-२८½ ॥

सकुटुम्बं च सस्त्रीकं वाचकं परया मुदा ॥ २९ ॥
विभूषणैरलंकृत्य परिधाप्य सुवाससी ।
कृष्णद्वैपायनं ध्यायन् नमस्कुर्वीत भावतः ॥ ३० ॥

पत्नी और कुटुम्बसहित वाचकको बड़ी प्रसन्नताके साथ आभूषणोंद्वारा अलंकृत करके उन्हें दो सुन्दर वस्त्र पहनावे और श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीका चिन्तन करते हुए उन्हें भक्तिभावसे नमस्कार करे ॥ २९-३० ॥

वाचके परितुष्टे तु तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ।
वित्तशाठ्यं न कर्तव्यं हरिवंशफलेप्सुभिः ॥ ३१ ॥

वाचकके संतुष्ट होनेपर सम्पूर्ण देवता संतुष्ट हो जाते हैं, अतः हरिवंशके फलकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको धन खर्च करनेमें कंजूसी नहीं करनी चाहिये ॥ ३१ ॥

प्रदेया गौः शुभा चैका सवत्सा हेमपूरिता ।
पलेन च पलार्धेन तदर्धं वाथ वा पुनः ॥ ३२ ॥

एक, आधे या चौथाई पल सुवर्णके साथ बछड़ेसहित एक सुन्दर गौ भी वाचकको देनी चाहिये ॥ ३२ ॥

वाचकं येन केनापि तोषयेत् सुसमाहितः ।
तुष्टे तु वाचके राजंस्तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ ३३ ॥
तुष्टेषु सर्वदेवेषु कार्यं तु सफलं भवेत् ।

राजन् ! जिस किसी उपायसे सम्भव हो, एकाग्रचित्त हो वाचकको संतुष्ट करे । वाचकके संतुष्ट होनेपर सम्पूर्ण देवता संतुष्ट हो जाते हैं और सम्पूर्ण देवताओंके संतुष्ट होनेपर यजमानका कार्य सफल होता है ॥ ३३½ ॥

हरिवंशे समाप्ते तु वाचके परिपूजिते ॥ ३४ ॥

ऋणत्रयेण मुक्ताः स्युस्ते नरा जनमेजय।
मोदन्ते पितरस्तेषां लोकान् प्राप्याक्षयान् नृप ॥३५॥

जनमेजय ! हरिवंश समाप्त होनेपर वाचककी भलीभाँति पूजा कर लेनेके पश्चात् मनुष्य तीनों ऋणोंसे मुक्त हो जाते हैं। नरेश्वर! उनके पितर अक्षय लोकोंमें पहुँचकर आनन्द भोगते हैं ॥ ३४-३५ ॥

हरिवंशस्य प्रारम्भे समाप्तौ चैव तैः सह।
सर्वान् कामानवाप्नोति विपाप्मा जायते नरः ॥ ३६ ॥

हरिवंशका आरम्भ करके उसकी पूर्ति हो जानेपर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है और अपने उन पितरोंके साथ सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

एवं कृते विधाने तु प्रजां प्राप्नोति मानवः।
धनमारोग्यमायुष्यं सौभाग्यं गुणगौरवम् ॥ ३७ ॥
प्राप्नोति मनुजः सम्यङ्नात्र कार्या विचारणा ॥ ३८ ॥

इस प्रकार विधि-विधानका पालन करनेपर मनुष्य उत्तम संतान तो पाता ही है, धन, आरोग्य, आयु, सौभाग्य, गुण-जनित गौरवको भी भलीभाँति प्राप्त कर लेता है। इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे हरिवंशमाहात्म्ये श्रवणादिविधिकथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराणमें हरिवंशमाहात्म्यके अन्तर्गत श्रवण आदि विधिका वर्णन-विषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

हरिवंश आरम्भ करनेके लिये उत्तम मास, तिथि, नक्षत्र आदिका निर्देश, देवपूजन, व्यासपूजन तथा कथा-समाप्तिपर दी जानेवाली दक्षिणा एवं दान आदिका उल्लेख तथा श्रवणका माहात्म्य

जनमेजय उवाच

प्रारम्भस्तु कथं कार्यः कथं पूजाविधिः स्मृतः।
कथं विसर्जयेद् व्यासं कथं सम्यक् फलं लभेत्॥ १ ॥
एतत् सर्वं समाचक्ष्व विस्तरान्मुनिसत्तम।

जनमेजयने पूछा—मुनिश्रेष्ठ ! हरिवंशका प्रारम्भ कैसे करना चाहिये ? उसकी पूजाका विधान किस प्रकार बताया गया है ? व्यासका विसर्जन कैसे करे ? और किस प्रकार उत्तम फलकी प्राप्ति सम्भव है ? यह सब विस्तारपूर्वक बताइये ॥ १½ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् यथा वन्ध्या संततिं लभते ध्रुवम् ॥ २ ॥
वैशाखे माघ ऊर्जे च अन्यस्मिञ्छुभमासके।
शुक्लपक्षे तिथौ पूर्णानन्दाभद्राजयासु च ॥ ३ ॥
वारे गुरौ तथा शुक्रे चन्द्रे चन्द्रात्मजे तथा।
नक्षत्रे श्रवणे हस्ते पुष्ये मूले पुनर्वसौ ॥ ४ ॥
वासवे तुहिनांशौ च पौष्णे च हयतारके।
सौभाग्यादिषु योगेषु करणे विष्टिवर्जिते ॥ ५ ॥
श्रोतुश्चाथापि वक्तुश्च चन्द्रे च बलशालिनि।
पूर्वाह्णे चापि मध्याह्ने प्रारम्भः क्रियते बुधैः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जिस प्रकार कथा सुननेसे वन्ध्या स्त्री निश्चय ही संतान प्राप्त कर लेती है, वह विधि बताता हूँ, सुनो—वैशाख, माघ, कार्तिक अथवा दूसरे किसी शुभ मासमें, शुक्ल पक्षमें, पूर्णा (५, १०, १५), नन्दा (१, ६, ११), भद्रा (२, ७, १२), तथा जया (३, ८, १३) तिथियोंमें, बृहस्पति, शुक्र, सोम तथा बुधवारको, श्रवण, हस्त, पुष्य, मूल, पुनर्वसु, धनिष्ठा, मृगशिरा, रेवती और अश्विनी नक्षत्रोंमें, सौभाग्य आदि शुभ योगों तथा विष्टिरहित करणोंमें, वक्ता और श्रोताके चन्द्रमा जब बलिष्ठ हों, उस समय पूर्वाह्न अथवा मध्याह्नकालमें विद्वान् पुरुष हरिवंश-कथाका आरम्भ करते हैं ॥ २—६ ॥

आदौ लम्बोदरः पूज्यः कलशस्तु ततः परम्।
श्रीखण्डागुरुकर्पूरकुङ्कुमामोदलेपनैः ॥ ७ ॥
पङ्कजैश्चम्पकैरन्यैर्जातीपुष्पैः स्रुगन्धिभिः।

तुलसीविल्वधात्रीणां पत्रैरन्यैर्नवाङ्कुरैः ॥ ८ ॥
धूपैर्दीपैश्च विविधैर्नारिकेलफलादिभिः ।
ताम्बूलैर्मुखवासैश्चाखण्डितैः शुक्लतण्डुलैः ॥ ९ ॥
चामरैर्व्यजनैश्चैव घण्टावाद्यादिभिस्तथा ।
प्रत्यहं पूजयेद् देवं यावद् ग्रन्थः समाप्यते ॥ १० ॥

पहले गणेशजीकी पूजा करनी चाहिये, तत्पश्चात् कलशकी । चन्दन, अगर, कपूर, कुङ्कुम, गन्ध, अनुलेपन, कमल, चम्पा, सुगन्धित चमेलीके फूल, तुलसीदल, बिल्वपत्र, आँवलेके पत्ते, दूर्वा आदिके नूतन अङ्कुर, धूप, दीप, नारियलके फल आदि विविध नैवेद्य, मुखको सुवासित करनेवाले ताम्बूल, अखण्ड श्वेत तण्डुल, चँवर, व्यजन तथा घंटा-वाद्य आदि उपकरणोंसे श्रोता प्रतिदिन तबतक भगवान्का पूजन करता रहे, जबतक कि ग्रन्थ समाप्त न हो जाय ॥ ७—१० ॥

लत्तादिदोषरहिते वारे च शुभसंज्ञके ।
समर्पयेत् पुराणं तु ततः पूजां समाचरेत् ॥ ११ ॥

लत्ता[1] आदि दोषसे रहित शुभ दिनको हरिवंशपुराण वक्ताके हाथमें समर्पित करे । तदनन्तर प्रारम्भिक पूजा आरम्भ करे ॥ ११ ॥

प्रारम्भे च यथा पूजा तथा कार्या विसर्जने ।
चन्दनागुरुकर्पूरकुङ्कुमैर्गन्धकादिभिः ॥ १२ ॥

कथाके आरम्भमें जैसी पूजा की जाय, उसके विसर्जनमें भी वैसी ही पूजा करनी चाहिये । चन्दन, अगर, कपूर, रोली और गन्ध आदिसे पूजन सम्पन्न करे ॥ १२ ॥

गीतवादित्रनृत्यैश्च राजन् कार्यो महोत्सवः ।
ततः पुराणपूजायां यथा दानं तथा शृणु ॥ १३ ॥

राजन् ! फिर गीत, वाद्य और नृत्यके द्वारा महान् उत्सव करना चाहिये । तदनन्तर पुराणपूजामें जैसा दान बताया गया है, वैसा सुनो ॥ १३ ॥

अष्टादशशतं दानं पुराणाय समर्पयेत् ।
अभावे द्वादशशतं पूजा वै जनमेजय ॥ १४ ॥
तदभावेऽपि राजेन्द्र षट्शतं परिकीर्तितम् ।
उत्तमं मध्यमं दानमधमं च प्रकीर्तितम् ॥ १५ ॥

जनमेजय ! पुराणके लिये अठारह सौ रुपयेकी दक्षिणा समर्पित करे । उसके अभावमें बारह सौ रुपयेकी पूजा चढ़ावे । राजेन्द्र ! उतना भी न बन सके तो कम-से-कम छः सौ रुपयेकी दक्षिणा बतायी गयी है । यह क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणीका दान कहा गया है ॥ १४-१५ ॥

सपत्नीकं ततो व्यासं दुकूलैरंशुकैर्नवैः ।
पूजयेत् सर्वभावेन स सम्यक् फलमश्नुते ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् नूतन वस्त्रोंद्वारा पत्नीसहित व्यासका सम्पूर्ण भावसे पूजन करे । ऐसा करनेसे यजमानको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

परिधेयानि देयानि कुण्डलानि शुभानि च ।
मुकुटाद्यैरलंकृत्य केयूराङ्गदभूषणैः ॥ १७ ॥

वाचकको केयूर और अंगद आदि आभूषणों तथा मुकुट आदिसे अलंकृत करके उन्हें पहिनने योग्य सुन्दर कुण्डल भी देने चाहिये ॥ १७ ॥

गावस्तु कपिला देयाः सवत्सा गर्भसंयुताः ।
यानमश्वादिकं राजन् दासीदासान् समर्पयेत् ॥ १८ ॥
आसनं पुरुषव्याघ्र धूपदीपादि भाजनम् ।
शय्या तूलादिकं सर्वं सोपधानं सलड्डुकम् ॥ १९ ॥
स्थाली पीठादिकं राजञ्जलपात्रं तथैव च ।
अन्नं च बहु दातव्यं लवणं जनमेजय ॥ २० ॥
घृततैलादिकं राजन् यावद् वर्षं समाप्यते ।
एतत् सर्वं द्विजेन्द्राय व्यासासनगताय च ॥ २१ ॥

बछड़ेसहित तथा गर्भवती कपिला गौओंका भी दान करना चाहिये । राजन् ! पुरुषसिंह जनमेजय ! यजमान वाचकको अश्व आदि वाहन और दास-दासी भी समर्पित करे । आसन, धूप, दीप आदि वस्तुएँ, पात्र, शय्या, गद्दा-रजाई आदि, तकिया, लड्डू, बटलोई, पीढ़ा आदि, जलपात्र, बहुत-सा अन्न, नमक तथा घी, तेल आदि सामग्री भी, जो एक वर्षतक अँट सके, वाचककी सेवामें दे । ये सारी वस्तुएँ व्यासासनपर विराजमान हुए द्विजराज वक्ताको भेंट करनी चाहिये ॥ १८—२१ ॥

---

१. सूर्य, पूर्णचन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु ग्रह क्रमशः अपने आश्रित नक्षत्रसे आगे और पीछे १२, २२, ३, ७, ६, ५, ८ तथा नवें दैनिक नक्षत्रको लातोंसे दूषित करते हैं, इसलिये इसका नाम लत्ता दोष है । इनमें सूर्य अपनेसे आगे और पूर्णचन्द्र पीछे, फिर मङ्गल आगे और बुध पीछे, गुरु आगे और शुक्र पीछे तथा शनि आगे और राहु पीछेके नक्षत्रोंको दूषित करते हैं ।

मनोऽभीष्टं वरं लब्ध्वा ततः कुर्यात् प्रदक्षिणाम् ।
पारणान्ते तु राजेन्द्र द्विजेन्द्रं रुद्रजापिनम् ॥ २२ ॥
वस्त्रादिभिरलंकृत्य मुद्रिकाभिस्तथैव च ।
नवीनं कम्बलं शुभ्रं ताम्रपात्रं तथैव च ॥ २३ ॥

फिर वाचकसे मनोवाञ्छित वर पाकर यजमान उनकी परिक्रमा करे। राजेन्द्र ! पारणा पूरी होनेपर रुद्रमन्त्रका जप करनेवाले द्विजराजको वस्त्र आदि तथा मुद्रिकाओंसे अलंकृत करके उसे नवीन कम्बल और सुन्दर ताम्रपात्र दे ॥ २२-२३ ॥

द्विजं द्विजं समुद्दिश्य दातव्या दक्षिणा बहु ।
ततोऽभिषेकसंयुक्तं गुरुं चैव पुरोधसम् ॥ २४ ॥
वस्त्रादिभिरलंकृत्य दक्षिणाभिश्च तोषयेत् ।

प्रत्येक द्विजके उद्देश्यसे बहुत-सी दक्षिणा देनी चाहिये। तत्पश्चात् अभिषेकयुक्त गुरु और पुरोहितको वस्त्र आदिसे विभूषित करके दक्षिणाओंसे संतुष्ट करे ॥ २४½ ॥

ततोऽन्यान् ब्राह्मणान् सर्वान् दक्षिणाभिः समर्चयेत् ॥ २५ ॥
हवनं च तथा राजन् कर्तव्यं कर्मशान्तये ।
प्रतिश्लोकं च जुहुयाद् दशांशेनैव वा पुनः ॥ २६ ॥
पायसं मधु सर्पिश्च तिलान्नादिकसंयुतम् ।

तदनन्तर अन्य सब ब्राह्मणोंको भी दक्षिणा देकर उनका सत्कार करे। राजन् ! कर्मकी शान्तिके लिये होम भी करना चाहिये। ग्रन्थके प्रत्येक श्लोकसे खीर, मधु, घी, तिल और अन्न आदिसे युक्त हवनसामग्रीकी आहुति दे अथवा ग्रन्थमें जितने श्लोक हों, उनके दशांशसे ही हवन करे ॥ २५-२६½ ॥

अथवा हवनं कुर्याद् गायत्र्या सुसमाहितः ॥ २७ ॥
तन्मयत्वात् पुराणस्य परमस्यास्य तत्त्वतः ।

अथवा एकाग्रचित्त होकर गायत्रीमन्त्रसे हवन करे; क्योंकि वास्तवमें यह उत्कृष्ट पुराण गायत्रीमन्त्र ही है ॥ २७½ ॥

होमाशक्तौ बुधो हेम दद्यात् तत्फलसिद्धये ॥ २८ ॥
नानाच्छिद्रनिरोधार्थं न्यूनताधिकताख्ययोः ।
दोषयोः प्रशमार्थं च पठेन्नामसहस्रकम् ॥ २९ ॥

यदि होम करानेकी शक्ति न हो तो विद्वान् पुरुष उसका फल प्राप्त करनेके लिये ब्राह्मणोंको कुछ सुवर्ण दान कर दे तथा कर्ममें जो नाना प्रकारकी त्रुटियाँ रह गयी हों, या विधिमें जो न्यूनता अथवा अधिकता हो गयी हो, उन दोषोंकी शान्तिके लिये विष्णुसहस्रनामका पाठ करे ॥ २८-२९ ॥

तेन स्यात् सफलं सर्वं नास्त्यस्मादधिकं यतः ।
भोजयेन्मिथुनान्येव चतुर्विंशतिमादरात् ॥ ३० ॥

उससे सभी कर्म सफल हो जाते हैं; क्योंकि इससे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। हवनके पश्चात् चौबीस सपत्नीक ब्राह्मणोंको आदरपूर्वक भोजन करावे ॥ ३० ॥

ततो गन्धैश्च माल्यैश्च स्वलंकृत्य द्विजोत्तमान् ।
तोषयेद् दक्षिणाहेमैर्धान्यै रत्नादिभिस्तथा ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको गन्ध और मालाओंसे अलंकृत करके सुवर्णमयी दक्षिणा धान्य और रत्न आदि देकर संतुष्ट करे ॥ ३१ ॥

भुक्तवत्सु च विप्रेषु यथावत् समया च तान् ।
वाचकं भरतश्रेष्ठ भोजयित्वा स्वलंकृतम् ॥ ३२ ॥
सपत्नीकं च संतोष्य वस्त्रालङ्करणादिभिः ।
ब्राह्मणेषु प्रसन्नेषु प्रसन्नास्तस्य देवताः ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन ब्राह्मणोंके यथावत् भोजन कर लेनेपर उन्हींके निकट सपत्नीक वाचकको भी भलीभाँति अलंकृत करके भोजन करावे और वस्त्र तथा आभूषणोंसे संतुष्ट करके नमस्कार करे। ब्राह्मणोंके प्रसन्न होनेपर यजमानके ऊपर देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ३२-३३ ॥

वाचके परितुष्टे तु शुभा प्रीतिरनुत्तमा ।
दद्यात् सुवर्णं धेनुं च व्रतपूर्णत्वसिद्धये ॥ ३४ ॥

वाचकके संतुष्ट होनेपर श्रोताको शुभ एवं सर्वोत्तम प्रीति प्राप्त होती है। व्रतकी पूर्तिके लिये यजमान दूध देनेवाली गौ तथा सुवर्णका दान करे ॥ ३४ ॥

शक्तौ पलत्रयमितं स्वर्णसिंहं विधाय च ।
तत्रास्य पुस्तकं स्थाप्य लिखितं ललिताक्षरम् ॥ ३५ ॥
सम्पूज्यावाहनाद्यैश्च उपचारैः सदक्षिणैः ।
वस्त्रभूषणगन्धाद्यैः पूजिताय महात्मने ॥ ३६ ॥
आचार्याय सुधीर्दत्त्वा मुक्तः स्याद् भवबन्धनैः ।

यदि शक्ति हो तो तीन पल सोनेका एक सिंहासन

बनवाकर उसके ऊपर सुन्दर अक्षरोंमें लिखी हुई हरिवंश-की पोथी रखे और आवाहन आदि दक्षिणासहित उपचारोंसे उसका पूजन करके वस्त्र, आभूषण और गन्ध आदिसे पूजित हुए महात्मा आचार्यको वह पुस्तक दान कर दे। इस प्रकार दान करके उत्तम बुद्धिवाला विद्वान् श्रोता संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाय॥ ३५-३६½ ॥

एवं कृते विधाने च सर्वपापनिवारणे॥ ३७॥
फलदं स्यात् पुराणं तु सर्वकामार्थसिद्धिदम्।

नवाह्न-यज्ञका यह विधान सम्पूर्ण पापोंका निवारण करनेवाला है। इसका इस प्रकार यथावत् रूपसे पालन करनेपर यह हरिवंशपुराण मनोवाञ्छित फल प्रदान करता है तथा समस्त कामनाओं और पुरुषार्थोंका साधक होता है॥

अनेन विधिना राजन् यः पुराणं समापयेत्॥ ३८॥
तस्य स्त्री लभते गर्भं मासेनैकेन भारत।

राजन्! भरतनन्दन! जो इस विधिसे इस पुराणको समाप्त करता है, उसकी पत्नी एक ही महीनेमें गर्भ धारण कर लेती है॥ ३८½ ॥

अनेन विधिना राजन् व्यासं यस्तु समर्चयेत्॥ ३९॥
पूजयेद् दानमानाभ्यां तस्य स्त्री गर्भिणी भवेत्।

राजन्! जो इस विधिसे व्यासकी पूजा करता है तथा दान-मानके द्वारा उसका सत्कार करता है, उसकी स्त्री अवश्य गर्भवती होती है॥ ३९½ ॥

यन्मया विविधं प्रोक्तं भक्तिपूजादिकं पुनः॥ ४०॥
तत् कृत्वा लभते नारी पुत्रं भास्करतेजसम्।
तथा वन्ध्या लभेद् गर्भं व्यासस्य वचनं यथा॥ ४१॥

मैंने जो नाना प्रकारके भजन-पूजन आदि बताये हैं, उन्हें करके नारी सूर्यतुल्य तेजस्वी पुत्र प्राप्त करती है तथा वन्ध्या नारी भी अवश्य गर्भ धारण कर लेती है। जैसा कि व्यासजीका वचन है॥ ४०-४१॥

विप्ररत्नापहारी च सोऽनपत्यः प्रजायते।
तेन कायविशुद्ध्यर्थं महारुद्रजपादिकम्॥ ४२॥

जो ब्राह्मणके रत्नका अपहरण करता है, वह संतानहीन हो जाता है। उससे शरीरकी शुद्धिके लिये महारुद्र-मन्त्रके जप आदिका विधान है॥ ४२॥

अथ पारीक्षितो राजा श्रद्धायुक्तेन चेतसा।
भावतः सत्ययुक्तेन चैकाग्रमनसा तथा॥ ४३॥
श्रुत्वान्ते निश्चयं कृत्वा दम्भशाठ्यविवर्जितः।
श्रुत्वेमं हरिवंशं वै व्यासं सम्पूज्य भक्तितः॥ ४४॥
दानं च बहुलं कृत्वा व्यासाशीर्गृह्य भारतः।
प्रसन्नवदनो भूत्वा रमते रमणीयुतः॥ ४५॥

(सूतजी कहते हैं—शौनक!) तदनन्तर भरतवंशी राजा जनमेजयने भक्ति-भाव एवं सत्यसे युक्त श्रद्धापूर्ण एकाग्र चित्तसे हरिवंशकी कथा सुनकर अन्तमें दृढ़ निश्चय करके दम्भ और शठता (कंजूसी) छोड़कर भक्तिपूर्वक व्यास (वक्ता) का पूजन किया। फिर वे बहुत-सा दान करके व्यासका आशीर्वाद ले प्रसन्नमुख होकर अपनी पत्नीके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे॥ ४३-४५॥

प्राग्जन्मजनिते पापे क्षीणे वै जनमेजय।
ऋतावाद्ये तु संधत्ते गर्भं तस्य कुलाङ्गना॥ ४६॥

(वैशम्पायनजी कहते हैं—) जनमेजय! हरिवंशके श्रवणसे पूर्व जन्मके पापका नाश हो जानेपर यजमानकी कुलवती पत्नी प्रथम ऋतुकालमें ही गर्भ धारण कर लेती है॥ ४६॥

द्वितीये वा तृतीये वा चतुर्थे मासि वै पुनः।
पञ्चमे वापि षष्ठे वा सप्तमे अष्टमेऽपि वा॥ ४७॥
नवमे दशमे मासि दोहदं निश्चयं भवेत्।
व्यासेनोक्तमिदं पुण्यं वन्ध्यागर्भस्य लक्षणम्॥ ४८॥

अथवा दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें, नवें या दसवें मासमें उसे निश्चय ही गर्भ रह जाता है। वन्ध्याके गर्भ-धारणका यह पवित्र लक्षण साक्षात् व्यासजीने कहा है॥ ४७-४८॥

पितॄनुद्धरते सर्वान् दश पूर्वान् दशापरान्।
हरिवंशं नरः श्रुत्वा सेतिहासं पुरातनम्॥ ४९॥

इतिहाससहित इस पुरातन हरिवंशको सुनकर मनुष्य अपनी दस पीढ़ी पहलेके समस्त पितरों और दस पीढ़ी बादकी संतानोंका उद्धार कर देता है॥ ४९॥

इदं मया तवाग्रे च सर्वं प्रोक्तं नरर्षभ।
यस्य श्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ५०॥

नरश्रेष्ठ ! यह सब माहात्म्य मैंने तुम्हारे सामने कह सुनाया, जिसके श्रवणमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ५० ॥

अपुत्रः पुत्रमाप्नोति ह्यधनो धनमाप्नुयात् ।
नरमेधाश्वमेधाभ्यां यत् फलं प्राप्यते नरैः ॥ ५१ ॥
तत् फलं लभ्यते सर्वं पुराणश्रवणाद्धरेः ।

इससे पुत्रहीनको पुत्र और धनहीनको धनकी प्राप्ति होती है । नरमेध और अश्वमेध यज्ञोंसे मनुष्योंको जो फल प्राप्त होता है, वह सारा फल श्रीहरिके हरिवंशपुराणका श्रवण करनेसे ही मिल जाता है ॥ ५१½ ॥

ब्रह्महा भ्रूणहा गोघ्नः सुरापो गुरुतल्पगः ।
सकृत् पुराणश्रवणात् पूतो भवति नान्यथा ॥ ५२ ॥

ब्रह्महत्यारा, गर्भघाती, गोहत्यारा, शराबी और गुरुपत्नीगामी पुरुष भी एक वार इस पुराणका श्रवण कर लेनेसे पवित्र हो जाता है । इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ५२ ॥

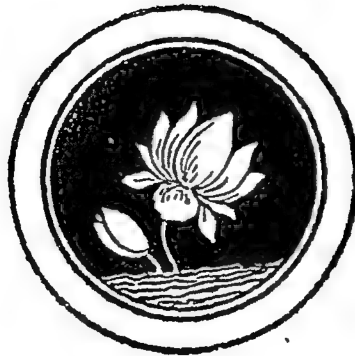
इदं मया ते परिकीर्तितं मह-
च्छ्रीकृष्णमाहात्म्यमपारमद्भुतम् ।
शृण्वन् पठन्नाशु समाप्नुयात् फलं
यच्चापि लोकेषु सुदुर्लभं महत् ॥ ५३ ॥

जनमेजय ! यह मैंने तुमसे श्रीकृष्णके अपार, अद्भुत एवं महान् माहात्म्यका वर्णन किया है । इसका श्रवण और पाठ करनेवाला पुरुष तीनों लोकोंमें जो अत्यन्त दुर्लभ है, उस महान् फलको भी शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है ॥ ५३ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे हरिवंशमाहात्म्ये श्रवणविधौ दानविधानकथनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराणमें हरिवंशमाहात्म्यके अन्तर्गत श्रवणविधिके प्रसङ्गमें दानविधिका वर्णनविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

॥ सविधि हरिवंशमाहात्म्य सम्पूर्ण ॥



(१) संतानगोपालमन्त्रविधिः

श्रीगणेशाय नमः। अब संतानगोपालमन्त्रके अनुष्ठानकी विधि दी जा रही है।

निम्नाङ्कित वाक्य पढ़कर विनियोग करे—

अस्य श्रीसंतानगोपालमन्त्रस्य श्रीनारद ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, श्रीकृष्णो देवता, ग्लौं बीजम्, नमः शक्तिः, पुत्रार्थे जपे विनियोगः।

अङ्गन्यास

'देवकीसुत गोविन्द' हृदयाय नमः (इस वाक्यको बोलकर दाहिने हाथकी मध्यमा, अनामिका और तर्जनी अङ्गुलियोंसे हृदयका स्पर्श करे)। **'वासुदेव जगत्पते' शिरसे स्वाहा** (इस वाक्यको बोलकर सिरका स्पर्श करे)। **'देहि मे तनयं कृष्ण' शिखायै वषट्** (इस वाक्यको बोलकर दाहिने हाथके अँगूठेसे शिखाका स्पर्श करे)। **'त्वामहं शरणं गतः'** (इस वाक्यको बोलकर दाहिने हाथकी पाँचों अङ्गुलियोंसे बायीं भुजाका और बायें हाथकी पाँचों अङ्गुलियोंसे दाहिनी भुजाका स्पर्श करे)। **'ॐ नमः' अस्त्राय फट्** (इस वाक्यको बोलकर दाहिने हाथको सिरके ऊपरसे बायीं ओरसे पीछेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओरसे आगेकी ओर ले आये और तर्जनी तथा मध्यमा अङ्गुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजाये)।

इसके पश्चात् निम्नाङ्कित रूपसे ध्यान करे—

वैकुण्ठादागतं कृष्णं रथस्थं करुणानिधिम्।
किरीटिसारथिं पुत्रमानयन्तं परात्परम्॥ १॥
आदाय तं जलस्थं च गुरवे वैदिकाय च।
अर्पयन्तं महाभागं ध्यायेत् पुत्रार्थमच्युतम्॥ २॥

'पार्थसारथि अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण करुणाके सागर हैं। वे जलमें डूबे हुए गुरु-पुत्रको लेकर आ रहे हैं। वे वैकुण्ठसे अभी-अभी पधारे हैं और रथपर विराजमान हैं। अपने वैदिक गुरु सान्दीपनिको उनका पुत्र अर्पित कर रहे हैं—साधक पुत्रकी प्राप्तिके लिये इस रूपमें महाभाग भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करे'॥ १-२॥

मूल मन्त्र

'ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते। देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः॥'

यह सम्पूर्ण मन्त्र है। इसका तीन लाख जप करना चाहिये।

इस मन्त्रका भावार्थ इस प्रकार है—सच्चिदानन्दस्वरूप, ऐश्वर्यशाली, शक्तिशाली, कामनापूरक, सौम्यस्वरूप, देवकी-नन्दन! गोविन्द! वासुदेव! जगत्पते! श्रीकृष्ण! मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप मुझे पुत्र प्रदान कीजिये।

(२) संतानगोपालमन्त्र

विनियोग

अस्य श्रीसंतानगोपालमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिर्गायत्री-च्छन्दः, श्रीकृष्णो देवता, क्लीं बीजम्, नमः शक्तिः, पुत्रार्थे जपे विनियोगः।

अङ्गन्यास

ग्लौं हृदयाय नमः। क्लीं शिरसे स्वाहा। ह्रीं शिखायै वषट्। श्रीं कवचाय हुम्। ॐ अस्त्राय फट्।

ध्यान

शङ्खचक्रगदापद्मं दधानं सूतिकागृहे।
अङ्के शयानं देवक्याः कृष्णं वन्दे विमुक्तये॥

जो सूतिकागृहमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये माता देवकीकी गोदमें सो रहे हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं (संतान एवं) मोक्षकी प्राप्तिके लिये वन्दना करता हूँ।

(मूल मन्त्र इस प्रकार है—)

'ॐ नमो भगवते जगदात्मसूतये नमः' (सम्पूर्ण जगत् जिनकी अपनी संतान है, उन भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है)।

इसका भी तीन लाख जप करना चाहिये।

(३) सनत्कुमारोक्त संतानगोपालमन्त्र

विनियोग

ॐ अस्य श्रीसंतानगोपालमन्त्रस्य श्रीनारद ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, श्रीकृष्णो देवता, ग्लौं बीजम्, नमः शक्तिः, पुत्रार्थे जपे विनियोगः।

अङ्गन्यास

इस मन्त्रका अङ्गन्यास ठीक वैसा ही है, जैसा कि द्वितीय-मन्त्रका है। अथवा—

'देवकीसुत गोविन्द' हृदयाय नमः। 'वासुदेव जगत्पते' शिरसे स्वाहा। 'देहि मे तनयं कृष्ण' शिखायै वषट्। 'त्वामहं शरणं गतः' कवचाय हुम्। 'देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते। देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः॥' अस्त्राय फट्।

ध्यान

शङ्खचक्रगदापद्मं धारयन्तं जनार्दनम्।
अङ्के शयानं देवक्याः सूतिकामन्दिरे शुभे॥
एवं रूपं सदा कृष्णं सुतार्थं भावयेत् सुधीः॥

'उत्तम बुद्धिवाला साधक पुत्रकी प्राप्तिके लिये सदा ऐसे रूपवाले जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करे, जो मङ्गलमय सूतिकागारमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये देवकीके अङ्कमें शयन करते हैं'।

सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः॥

इसका भी तीन लाख जप करे।

इस मन्त्रके पूजन आदिका विधान जैसा सनत्कुमारजी-ने बताया है, इस प्रकार है—वैष्णव[1] पीठपर देवताओंका आवाहन करके उनकी पूजा करे। प्रथम आवृत्ति (आवरण) में छः कोणोंमेंसे आग्नेय-कोणमें 'हृदयाय नमः' नैर्ऋत्य कोणमें 'शिरसे स्वाहा', 'वायव्यकोणमें 'शिखायै वषट्', ईशानकोणमें 'कवचाय हुम्' अग्रभागमें 'नेत्रत्रयाय वौषट्' तथा पूर्व आदि चारों दिशाओंमें 'अस्त्राय फट्' इस प्रकार मन्त्रोचारणपूर्वक क्रमशः हृदय आदि अङ्गोंकी पूजा करे।

दूसरे आवरणमें पीठकी पूर्व आदि आठ दिशाओंमें क्रमशः इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईशानकी पूजा करे।

तथा तीसरे आवरणमें उन्हीं दिशाओंमें क्रमशः वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, अङ्कुश, गदा और शूलकी पूजा करे।

शुक्ल पक्षकी दशमी तिथिको आधी रातके समय भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करे। पूजाके लिये स्वस्तिककी रचना करके उसपर घीसे भरा हुआ सकोरा या कोसा स्थापित करे। फिर उसमें रूईकी बत्ती डालकर उत्तम दीप प्रज्वलित करे। तत्पश्चात् अष्टदल कमल बनाकर उसमें स्थापित हुए श्रीकृष्ण-की पूजा करे। फिर दो कलशोंको जलसे भरकर उनकी विधि-वत् स्थापना करके सम्पूर्ण उपचारोंसे युक्त पूजा करे। तत्पश्चात् उन कलशोंमें भक्तिपूर्वक भगवान् श्रीकृष्णका आवाहन करके पुनः उनका पूर्वोक्त रीतिसे पूजन करे। तदनन्तर उन दोनों कलशोंका स्पर्श करके अनन्यभावसे एक हजार आठ अथवा एक सौ आठ बार उपर्युक्त मन्त्रका जप करे। इसके बाद द्वादशीको गोविन्दकी विधिपूर्वक पूजा करके अगहनीके चावलकी स्वादिष्ट खीर तथा गायके घी और गुड़से युक्त पकवानका भोग अर्पण करे। इन सबके साथ सामयिक फल भी होना चाहिये। इसके अतिरिक्त दाल, भात, स्वादिष्ट सुस्निग्ध व्यञ्जन, कपिला गायके दूधका दही और खाँड भी रहना चाहिये। इन समस्त भोज्य पदार्थोंको सोनेके पात्रमें रखकर इनके पात्रभूत भगवान् विष्णुको इन्हें निवेदन करे। साथ ही शीतल कर्पूर और गुलाबसे सुवासित तथा कपड़ेसे छाना हुआ स्वच्छ जल अर्पण करे।

इसके बाद अपनी आर्थिक शक्तिके अनुसार शुद्धबुद्धिसे भगवान् श्रीकृष्णमें श्रद्धा रखते हुए अपनी सम्पूर्ण कामनाओं-की पूर्तिके लिये ब्राह्मणोंको भोजन दे। संस्कारयुक्त अग्निमें भगवान् विष्णुका आवाहन करके अर्घ्य आदिसे उनका पूजन करे। फिर १०८ बार या २८ बार हविष्य (खीर) की आहुति देकर शेष हविष्यको कहीं सुरक्षित रख दे। इसके बाद घीकी ८०० आहुतियाँ दे। हुतशेष घृतको उक्त दोनों कलशोंमें गिराकर उनके घृतमिश्रित जलद्वारा दम्पती (यज-मान और उसकी पत्नी दोनों) का अभिषेक करे। तदनन्तर जलमय श्रीहरिका ध्यान करते हुए ब्राह्मण पुनः उन कलशोंके जलसे उन दोनोंका अभिषेक करके एक सौ आठ बार पूर्वोक्त मन्त्रका जप करनेके पश्चात् शेष रखे हुए हविष्यको यजमान-पत्नीके हाथमें दे दे।

यजमान-पत्नी उस हविष्यको लेकर श्रीकृष्णका ध्यान करती हुई एक सुखद आसनपर पूर्वाभिमुख होकर बैठ जाय और उसका भक्षण करे; उस समय यह भावना करे कि इस हविष्यके साथ भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं मेरे उदरमें आकर विराजमान हुए हैं। फिर जब श्रेष्ठ ब्राह्मणलोग अच्छी तरह भोजन कर लें, तब यजमान पान और मोदक आदिसे उन्हें

---

१. वैष्णव पीठ एवं देवपूजनकी विधि कल्याणके नारद-विष्णु-पुराणाङ्कमें पृष्ठ ३५७ से ३६४ तक विस्तारपूर्वक दी गयी है, उसे पढ़कर उसीके अनुसार पूजन करना चाहिये।

तृप्त करे। तत्पश्चात् वह श्रीविष्णुके चिन्तनपूर्वक उन ब्राह्मणोंके चरणोंमें मस्तक झुकावे। उस समय ब्राह्मणलोग यजमान दम्पतीसे यह कहें कि 'आप दोनोंके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि हो।' फिर वे निष्पाप दम्पती यह भावना करते हुए कि 'अब हमारा मनोरथ सफल हो गया' अत्यन्त प्रसन्न हो स्वयं भी भोजन करें।

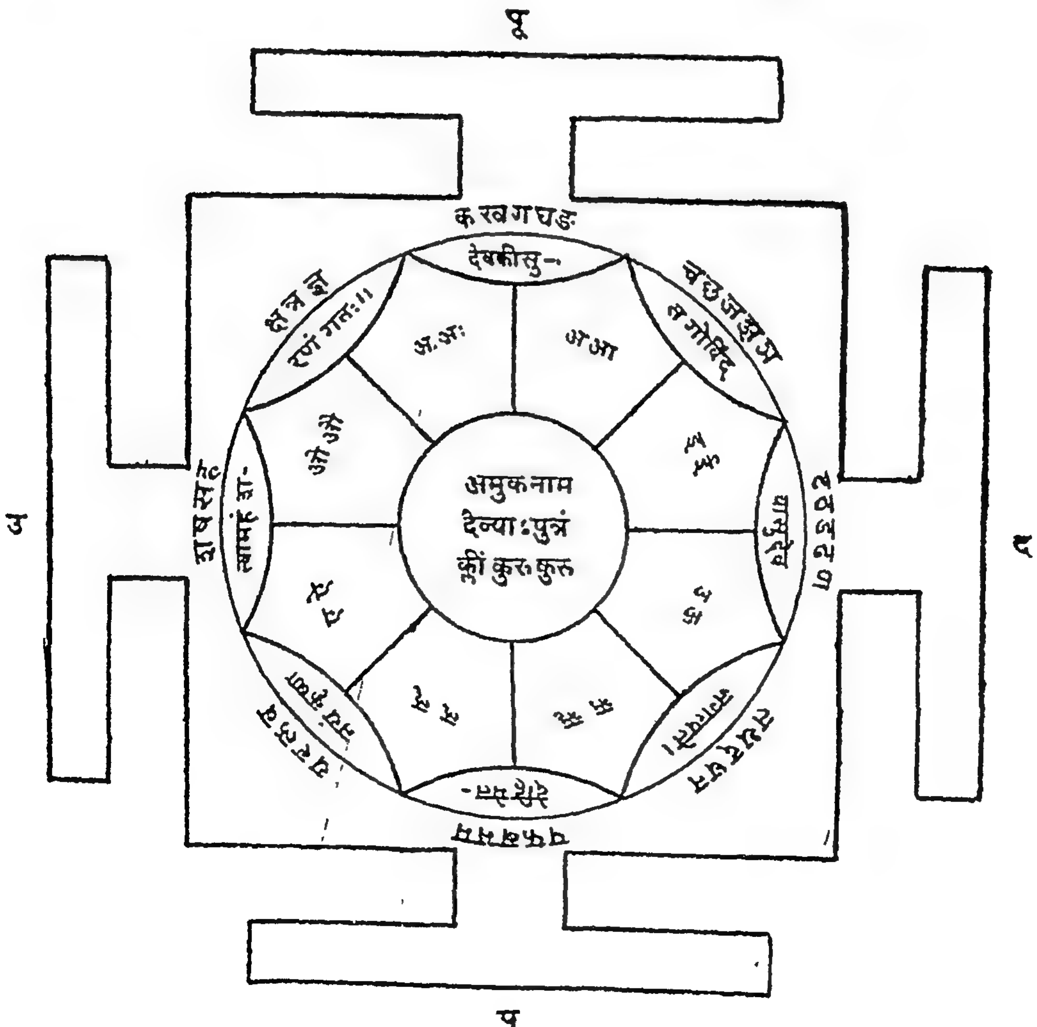
जो ब्राह्मण इस प्रकार धन खर्च करनेमें कंजूसी न करके शुक्ल पक्षकी द्वादशी तिथिको भगवान् विष्णुके प्रति भक्तिभावसे युक्त हो इस प्रकार पूजन आदि करता है, वह शीघ्र ही तेजस्वी एवं चिरायु पुत्र प्राप्त कर लेता है। उसका वह पुत्र भी वंश-परम्पराको चलानेवाला, विष्णुभक्त एवं परम बुद्धिमान् होता है।

जो श्रेष्ठ द्विज दरिद्र होनेके कारण ऐसा न कर सके, वह यदि पूर्वोक्त मन्त्रका जप एवं तर्पण करे तो उसे भी पुत्र प्राप्त हो सकता है।

मन्त्रसारोक्त संतानकर यन्त्र

पहले अष्टदल कमल बनाकर उसकी कर्णिकामें 'क्लीं' इस कामबीजका उल्लेख करे। फिर वहीं यजमान पति पत्नीके नाम और उसकी कामना भी लिख दे। यथा—'अमुकस्य धर्मपत्न्याः अमुकदेव्याः पुत्रं कुरु-कुरु।' फिर आठ दलोंके निम्न भागोंमें दो-दो करके अकारादि सोलह स्वरोंको अङ्कित करे तथा उन्हींके ऊपरी भागोंमें संतानगोपाल-मन्त्रके चार चार अक्षरोंको लिखे। फिर उन दलोंके बाह्य भागमें एक गोल रेखा खींचकर उसे ककारादि वर्णोंसे आवेष्टित करे। तत्पश्चात् उस वृत्तके बाहर चतुष्कोण बनावे। किसी पात्रमें माखन रखकर उसपर यह यन्त्र अङ्कित करे अथवा सूक्ष्म स्वर्ण आदिके पत्रपर इस यन्त्रको लिखे। यन्त्रसे अङ्कित नवनीतको नारी खा जाय और स्वर्णादि पत्रोंपर लिखे हुए यन्त्रको वह धारण करे। इससे वह पुत्रको जन्म देती है।

(शारदातिलकमें बताये अनुसार यह संतान-गोपालके मन्त्रकी अनुष्ठानविधि यहाँ दी गयी है।)



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

संतानगोपालस्तोत्रम्

श्रीशं कमलपत्राक्षं देवकीनन्दनं हरिम्।
सुतसम्प्राप्तये कृष्णं नमामि मधुसूदनम्॥ १॥

मैं पुत्रकी प्राप्तिके लिये लक्ष्मीपति, कमलनयन, देवकी-नन्दन तथा सर्वपापहारी, मधुसूदन, श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ॥ १॥

नमाम्यहं वासुदेवं सुतसम्प्राप्तये हरिम्।
यशोदाङ्कगतं बालं गोपालं नन्दनन्दनम्॥ २॥

मैं पुत्रप्राप्तिके उद्देश्यसे उन वासुदेव श्रीहरिको प्रणाम करता हूँ, जो यशोदाके अङ्कमें बालगोपालरूपसे विराजमान हैं और नन्दको आनन्द दे रहे हैं॥ २॥

अस्माकं पुत्रलाभाय गोविन्दं मुनिवन्दितम्।
नमाम्यहं वासुदेवं देवकीनन्दनं सदा॥ ३॥

अपनेको पुत्रकी प्राप्तिके लिये मैं मुनिवन्दित वसुदेव-देवकीनन्दन गोविन्दकी सदा वन्दना करता हूँ॥ ३॥

गोपालं डिम्भकं वन्दे कमलापतिमच्युतम्।
पुत्रसम्प्राप्तये कृष्णं नमामि यदुपुङ्गवम्॥ ४॥

मैं पुत्र पानेकी कामनासे उन यदुकुलतिलक श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ, जो साक्षात् कमलापति अच्युत (विष्णु) होकर भी गोपबालकरूपसे गौओंकी रक्षामें लगे हुए हैं॥

पुत्रकामेष्टिफलदं कञ्जाक्षं कमलापतिम्।
देवकीनन्दनं वन्दे सुतसम्प्राप्तये मम॥ ५॥

मुझे पुत्रकी प्राप्ति हो, इसके लिये मैं पुत्रेष्टियज्ञका फल देनेवाले कमलनयन लक्ष्मीपति देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी वन्दना करता हूँ॥ ५॥

पद्मापते पद्मनेत्र पद्मनाभ जनार्दन।
देहि मे तनयं श्रीश वासुदेव जगत्पते॥ ६॥

पद्मापते ! कमलनयन ! पद्मनाभ ! जनार्दन ! श्रीश ! वासुदेव ! जगत्पते ! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये॥ ६॥

यशोदाङ्कगतं बालं गोविन्दं मुनिवन्दितम्।
अस्माकं पुत्रलाभाय नमामि श्रीशमच्युतम्॥ ७॥

यशोदाके अङ्कमें बालरूपसे विराजमान तथा अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले मुनिवन्दित लक्ष्मीपति गोविन्दको मैं प्रणाम करता हूँ। ऐसा करनेसे मुझे पुत्रकी प्राप्ति हो॥ ७॥

श्रीपते देवदेवेश दीनार्तिहरणाच्युत।
गोविन्द मे सुतं देहि नमामि त्वां जनार्दन॥ ८॥

श्रीपते ! देवदेवेश्वर ! दीन-दुखियोंकी पीड़ा दूर करनेवाले अच्युत ! गोविन्द ! मुझे पुत्र दीजिये। जनार्दन ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ ८॥

भक्तकामद गोविन्द भक्तं रक्ष शुभप्रद।
देहि मे तनयं कृष्ण रुक्मिणीवल्लभ प्रभो॥ ९॥

भक्तोंकी कामना पूर्ण करनेवाले गोविन्द ! भक्तकी रक्षा कीजिये। शुभदायक ! रुक्मिणीवल्लभ ! प्रभो ! श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये॥ ९॥

रुक्मिणीनाथ सर्वेश देहि मे तनयं सदा।
भक्तमन्दार पद्माक्ष त्वामहं शरणं गतः॥ १०॥

रुक्मिणीनाथ ! सर्वेश्वर ! मुझे सदाके लिये पुत्र दीजिये। भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये कल्पवृक्षस्वरूप कमलनयन श्रीकृष्ण ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ॥ १०॥

देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः॥ ११॥

देवकीपुत्र ! गोविन्द ! वासुदेव ! जगन्नाथ ! श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र दीजिये। मैं आपकी शरणमें आया हूँ॥ ११॥

वासुदेव जगद्वन्द्य श्रीपते पुरुषोत्तम।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः॥ १२॥

विश्ववन्द्य वासुदेव ! लक्ष्मीपते ! पुरुषोत्तम ! श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र दीजिये। मैं आपकी शरणमें आया हूँ॥ १२॥

कञ्जाक्ष कमलानाथ परकारुणिकोत्तम।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः॥ १३॥

कमलनयन ! कमलाकान्त ! दूसरोंपर दया करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये। मै आपकी शरणमें आया हूँ॥ १३॥

लक्ष्मीपते पद्मनाभ मुकुन्द मुनिवन्दित।

देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ १४ ॥

लक्ष्मीपते ! पद्मनाभ ! मुनिवन्दित मुकुन्द ! श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र दीजिये। मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ १४ ॥

कार्यकारणरूपाय वासुदेवाय ते सदा।
नमामि पुत्रलाभार्थं सुखदाय बुधाय ते ॥ १५ ॥

आप कार्य-कारणरूप, सुखदायक एवं विद्वान् हैं। मैं पुत्रकी प्राप्तिके लिये आप वासुदेवको सदा नमस्कार करता हूँ ॥ १५ ॥

राजीवनेत्र श्रीराम रावणारे हरे कवे।
तुभ्यं नमामि देवेश तनयं देहि मे हरे ॥ १६ ॥

राजीवनेत्र (कमलनयन)! रावणारे (रावणके शत्रु)! हरे! कवे (विद्वन्)! देवेश्वर! विष्णो! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप मुझे पुत्र प्रदान कीजिये ॥१६॥

अस्माकं पुत्रलाभाय भजामि त्वां जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण वासुदेव रमापते ॥ १७ ॥

जगदीश्वर! मै अपने लिये पुत्र-प्राप्तिके उद्देश्यसे आपकी आराधना करता हूँ। रमावल्लभ! वासुदेव! श्रीकृष्ण! मुझे पुत्र दीजिये ॥ १७ ॥

श्रीमानिनीमानचोर गोपीवस्त्रापहारक।
देहि मे तनयं कृष्ण वासुदेव जगत्पते ॥ १८ ॥

मानिनी श्रीराधाके मानका अपहरण करनेवाले तथा अपनी आराधना करनेवाली गोपाङ्गनाओंके वस्त्रको यमुना-तटसे हटा (कर उन्हे सुख प्रदान कर)नेवाले जगन्नाथ वासुदेव श्रीकृष्ण! मुझे पुत्र दीजिये ॥ १८ ॥

अस्माकं पुत्रसम्प्राप्तिं कुरुष्व यदुनन्दन।
रमापते वासुदेव मुकुन्द मुनिवन्दित ॥ १९ ॥

यदुनन्दन! रमापते! वासुदेव! मुनिवन्दित मुकुन्द! हमें पुत्रकी प्राप्ति कराइये ॥ १९ ॥

वासुदेव सुतं देहि तनयं देहि माधव।
पुत्रं मे देहि श्रीकृष्ण वत्सं देहि महाप्रभो ॥ २० ॥

वासुदेव! मुझे बेटा दीजिये। माधव! मुझे तनय (संतान) दीजिये। श्रीकृष्ण! मुझे पुत्र दीजिये। महाप्रभो! मुझे वत्स (बच्चा) दीजिये ॥ २० ॥

डिम्भकं देहि श्रीकृष्ण आत्मजं देहि राघव।
भक्तमन्दार मे देहि तनयं नन्दनन्दन ॥ २१ ॥

श्रीकृष्ण! मुझे डिम्भक (पुत्र) दीजिये। रघुनन्दन! मुझे आत्मज (औरस पुत्र) दीजिये। भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये कल्पवृक्षस्वरूप नन्दनन्दन! मुझे तनय दीजिये ॥ २१ ॥

नन्दनं देहि मे कृष्ण वासुदेव जगत्पते।
कमलानाथ गोविन्द मुकुन्द मुनिवन्दित ॥ २२ ॥

श्रीकृष्ण! वासुदेव! जगत्पते! कमलानाथ! गोविन्द! मुनिवन्दित मुकुन्द! मुझे आनन्ददायक पुत्र प्रदान कीजिये ॥ २२ ॥

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।
सुतं देहि श्रियं देहि श्रियं पुत्रं प्रदेहि मे ॥ २३ ॥

प्रभो! यदि आप ऐसा नहीं करेंगे तो दूसरा कोई मुझे शरण देनेवाला नहीं है। आप ही मेरे शरणदाता हैं। मुझे पुत्र दीजिये। सम्पत्ति दीजिये। सम्पत्ति और पुत्र दोनों प्रदान कीजिये ॥ २३ ॥

यशोदास्तन्यपानज्ञं पिबन्तं यदुनन्दनम्।
वन्देऽहं पुत्रलाभार्थं कपिलाक्षं हरिं सदा ॥ २४ ॥

यशोदाजीके स्तनोंके दुग्धपानके रसको जाननेवाले और उनका स्तनपान करनेवाले, भूरे नेत्रोंसे सुशोभित यदुनन्दन श्रीकृष्णकी मैं सदा वन्दना करता हूँ। इससे मुझे पुत्रकी प्राप्ति हो ॥ २४ ॥

नन्दनन्दन देवेश नन्दनं देहि मे प्रभो।
रमापते वासुदेव श्रियं पुत्रं जगत्पते ॥ २५ ॥

देवेश्वर! नन्दनन्दन! प्रभो! मुझे आनन्ददायक पुत्र दीजिये। रमापते! वासुदेव! जगन्नाथ! मुझे धन और पुत्र दीजिये ॥ २५ ॥

पुत्रं श्रियं श्रियं पुत्रं पुत्रं मे देहि माधव।
अस्माकं दीनवाक्यस्य अवधारय श्रीपते ॥ २६ ॥

माधव! पुत्र और धन (दीजिये), धन और पुत्र (दीजिये), मुझे पुत्र प्रदान कीजिये। श्रीपते! हमारे दीनतापूर्ण वचनपर ध्यान दीजिये ॥ २६ ॥

गोपालडिम्भ गोविन्द वासुदेव रमापते।
अस्माकं डिम्भकं देहि श्रियं देहि जगत्पते ॥ २७ ॥

गोपकुमार गोविन्द ! रमावल्लभ वासुदेव ! जगन्नाथ ! मुझे पुत्र दीजिये, सम्पत्ति दीजिये ॥ २७ ॥

मद्वाञ्छितफलं देहि देवकीनन्दनाच्युत।
मम पुत्रार्थितं धन्यं कुरुष्व यदुनन्दन ॥ २८ ॥

देवकीनन्दन ! अच्युत ! मुझे मनोवाञ्छित फल (पुत्र) दीजिये। यदुनन्दन ! मेरी पुत्रविषयक प्रार्थनाको सफल एवं धन्य कीजिये ॥ २८ ॥

याचेऽहं त्वां श्रियं पुत्रं देहि मे पुत्रसम्पदम्।
भक्तचिन्तामणे राम कल्पवृक्ष महाप्रभो ॥ २९ ॥

भक्तोंके लिये चिन्तामणिस्वरूप राम ! भक्तवाञ्छाकल्पतरो ! महाप्रभो ! मैं आपसे धन और पुत्रकी याचना करता हूँ। मुझे पुत्र और धन-सम्पत्ति दीजिये ॥ २९ ॥

आत्मजं नन्दनं पुत्रं कुमारं डिम्भकं सुतम्।
अर्भकं तनयं देहि सदा मे रघुनन्दन ॥ ३० ॥

रघुनन्दन ! आप सदा मुझे आनन्ददायक आत्मज, पुत्र, कुमार, डिम्भक (बालक), सुत, अर्भक (बच्चा) एवं तनय (बेटा) दीजिये ॥ ३० ॥

वन्दे संतानगोपालं माधवं भक्तकामदम्।
अस्माकं पुत्रसंप्राप्त्यै सदा गोविन्दमच्युतम् ॥ ३१ ॥

मैं अपने लिये पुत्रकी प्राप्तिके उद्देश्यसे संतानप्रद गोपाल, माधव, भक्तोंका मनोरथ पूर्ण करनेवाले अच्युत गोविन्दकी वन्दना करता हूँ ॥ ३१ ॥

ॐकारयुक्तं गोपालं श्रीयुक्तं यदुनन्दनम्।
क्लींयुक्तं देवकीपुत्रं नमामि यदुनायकम् ॥ ३२ ॥

ॐकारयुक्त गोपाल, श्रीयुक्त यदुनन्दन तथा क्लींयुक्त देवकीपुत्र यदुनायकको मैं प्रणाम करता हूँ (अर्थात् 'ॐ श्रीं क्लीं' इन तीनों बीजोंसे युक्त 'देवकीसुत गोविन्द''' इत्यादि मन्त्रका मैं आश्रय लेता हूँ) ॥ ३२ ॥

वासुदेव मुकुन्देश गोविन्द माधवाच्युत।
देहि मे तनयं कृष्ण रमानाथ महाप्रभो ॥ ३३ ॥

वासुदेव ! मुकुन्द ! ईश्वर ! गोविन्द ! माधव ! अच्युत ! श्रीकृष्ण ! रमानाथ ! महाप्रभो ! मुझे पुत्र दीजिये ॥ ३३ ॥

राजीवनेत्र गोविन्द कपिलाक्ष हरे प्रभो।
समस्तकाम्यवरद देहि मे तनयं सदा ॥ ३४ ॥

राजीवनयन (कमल-सदृश नेत्रवाले) ! गोविन्द ! कपिलाक्ष ! हरे ! प्रभो ! सम्पूर्ण कमनीय मनोरथोंकी सिद्धिके लिये वर देनेवाले श्रीकृष्ण ! मुझे सदाके लिये पुत्र दीजिये ॥

अब्जपद्मनिभं पद्मवृन्दरूप जगत्पते।
देहि मे वरसत्पुत्रं रमानायक माधव ॥ ३५ ॥

नीलकमलसमूहके समान श्यामसुन्दर रूपवाले जगन्नाथ ! रमानायक ! माधव ! मुझे जलज कमलके सदृश मनोहर एवं श्रेष्ठ सत्पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ३५ ॥

नन्दपाल धरापाल गोविन्द यदुनन्दन।
देहि मे तनयं कृष्ण रुक्मिणीवल्लभ प्रभो ॥ ३६ ॥

अजगर और वरुणके दूतोंसे नन्दजीकी रक्षा करनेवाले ! पृथ्वीपालक ! यदुनन्दन ! गोविन्द ! प्रभो ! रुक्मिणीवल्लभ श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ३६ ॥

दासमन्दार गोविन्द मुकुन्द माधवाच्युत।
गोपाल पुण्डरीकाक्ष देहि मे तनयं श्रियम् ॥ ३७ ॥

अपने सेवकोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये कल्पवृक्ष-स्वरूप ! गोविन्द ! मुकुन्द ! माधव ! अच्युत ! गोपाल ! पुण्डरीकाक्ष (कमलनयन) ! मुझे संतान और सम्पत्ति दीजिये ॥ ३७ ॥

यदुनायक पद्मेश नन्दगोपवधूसुत।
देहि मे तनयं कृष्ण श्रीधर प्राणनायक ॥ ३८ ॥

यदुनायक ! लक्ष्मीपते ! यशोदानन्दन ! श्रीधर ! प्राणवल्लभ ! श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ३८ ॥

अस्माकं वाञ्छितं देहि देहि पुत्रं रमापते।
भगवन् कृष्ण सर्वेश वासुदेव जगत्पते ॥ ३९ ॥

रमापते ! भगवन् ! सर्वेश्वर ! वासुदेव ! जगत्पते ! श्रीकृष्ण ! हमें मनोवाञ्छित वस्तु दीजिये। पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ३९ ॥

रमाहृदयसम्भार सत्यभामामनःप्रिय।
देहि मे तनयं कृष्ण रुक्मिणीवल्लभ प्रभो ॥ ४० ॥

रमा (लक्ष्मी) को अपने वक्षःस्थलमें धारण करनेवाले ! सत्यभामाके हृदयवल्लभ ! तथा रुक्मिणीके प्राणनाथ ! प्रभो ! मुझे पुत्र दीजिये ॥ ४० ॥

चन्द्रसूर्याक्ष गोविन्द पुण्डरीकाक्ष माधव।
अस्माकं भाग्यसत्पुत्रं देहि देव जगत्पते ॥ ४१ ॥

चन्द्रमा और सूर्यरूप नेत्र धारण करनेवाले गोविन्द! कमलनयन माधव! देव! जगदीश्वर! हमें भाग्यशाली श्रेष्ठ पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ४१ ॥

कारुण्यरूप पद्माक्ष पद्मनाभसमर्चित।
देहि मे तनयं कृष्ण देवकीनन्दनन्दन ॥ ४२ ॥

करुणामय! कमलनयन! पद्मनाभ श्रीविष्णुसे सम्मानित देवकीनन्दनन्दन श्रीकृष्ण! मुझे पुत्र दीजिये ॥ ४२ ॥

देवकीसुत श्रीनाथ वासुदेव जगत्पते।
समस्तकामफलद देहि मे तनयं सदा ॥ ४३ ॥

देवकीपुत्र! श्रीनाथ! वासुदेव! जगत्पते! समस्त मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाले श्रीकृष्ण! मुझे सदा पुत्र दीजिये ॥ ४३ ॥

भक्तमन्दार गम्भीर शङ्कराच्युत माधव।
देहि मे तनयं गोपबालवत्सल श्रीपते ॥ ४४ ॥

भक्तवाञ्छाकल्पतरो! गम्भीर स्वभाववाले कल्याणकारी अच्युत! माधव! ग्वाल-बालोंपर स्नेह करनेवाले श्रीपते! मुझे पुत्र दीजिये ॥ ४४ ॥

श्रीपते वासुदेवेश देवकीप्रियनन्दन।
भक्तमन्दार मे देहि तनयं जगतां प्रभो ॥ ४५ ॥

श्रीकान्त! वसुदेवनन्दन! ईश्वर! देवकीके प्रिय पुत्र! भक्तोंके लिये कल्पवृक्ष रूप! जगत्प्रभो! मुझे पुत्र दीजिये ॥ ४५ ॥

जगन्नाथ रमानाथ भूमिनाथ दयानिधे।
वासुदेवेश सर्वेश देहि मे तनयं प्रभो ॥ ४६ ॥

जगन्नाथ! रमानाथ! पृथ्वीनाथ! दयानिधे! वासुदेव! ईश्वर! सर्वेश्वर! प्रभो! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ४६ ॥

श्रीनाथ कमलपत्राक्ष वासुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ४७ ॥

श्रीनाथ! कमलदललोचन! वासुदेव! जगत्पते! श्रीकृष्ण! मुझे पुत्र दीजिये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥

दासमन्दार गोविन्द भक्तचिन्तामणे प्रभो।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ४८ ॥

अपने दासोंके लिये कल्पवृक्ष! गोविन्द! भक्तोंकी इच्छा-पूर्तिके लिये चिन्तामणि-स्वरूप प्रभो! श्रीकृष्ण! मैं आपकी शरणमें आया हूँ; मुझे पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ४८ ॥

गोविन्द पुण्डरीकाक्ष रमानाथ महाप्रभो।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ४९ ॥

गोविन्द! पुण्डरीकाक्ष! रमानाथ! महाप्रभो! श्रीकृष्ण! मुझे पुत्र दीजिये। मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥

श्रीनाथ कमलपत्राक्ष गोविन्द मधुसूदन।
मत्पुत्रफलसिद्ध्यर्थं भजामि त्वां जनार्दन ॥ ५० ॥

श्रीनाथ! कमलदललोचन! गोविन्द! मधुसूदन! जनार्दन! मैं अपने लिये पुत्ररूप फलकी सिद्धिके निमित्त आपकी आराधना करता हूँ ॥ ५० ॥

स्तन्यं पिबन्तं जननीमुखाम्बुजं
विलोक्य मन्दस्मितमुज्ज्वलाङ्गम्।
स्पृशन्तमन्यस्तनमङ्गुलीभि-
र्वन्दे यशोदाङ्कगतं मुकुन्दम् ॥ ५१ ॥

जो मैया यशोदाके मुखारविन्दकी ओर देखते हुए मन्द मुसकराहटके साथ उनके एक स्तनका दूध पी रहे हैं और दूसरे स्तनका अङ्गुलियोंसे स्पर्श कर रहे हैं तथा जिनका प्रत्येक अङ्ग उज्ज्वल आभासे प्रकाशित होता है, मैया यशोदाके अङ्कमें बैठे हुए उन बाल-मुकुन्दकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ ५१ ॥

याचेऽहं पुत्रसंतानं भवन्तं पद्मलोचन।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ५२ ॥

कमललोचन! मैं आपसे पुत्र-संततिकी याचना करता हूँ। श्रीकृष्ण! मुझे पुत्र दीजिये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ५२ ॥

अस्माकं पुत्रसम्पत्तेश्चिन्तयामि जगत्पते।
शीघ्रं मे देहि दातव्यं भवता मुनिवन्दित ॥ ५३ ॥

जगत्पते! हमें पुत्रकी प्राप्ति हो, इस उद्देश्यसे हम आपका चिन्तन करते हैं। आप मुझे शीघ्र पुत्र प्रदान कीजिये। मुनिवन्दित श्रीकृष्ण! आपको मुझे अवश्य मेरी प्रार्थित वस्तु संतान देनी चाहिये ॥ ५३ ॥

वासुदेव जगन्नाथ श्रीपते पुरुषोत्तम।
कुरु मां पुत्रदत्तं च कृष्ण देवेन्द्रपूजित ॥ ५४ ॥

वासुदेव ! जगन्नाथ ! श्रीपते ! पुरुषोत्तम ! देवेन्द्रपूजित श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र-दान दीजिये ॥ ५४ ॥

कुरु मां पुत्रदत्तं च यशोदाप्रियनन्दन ।
मह्यं च पुत्रसंतानं दातव्यं भवता हरे ॥ ५५ ॥

यशोदाके प्रिय नन्दन ! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये । हरे ! आपको मुझे पुत्ररूप संतानका दान अवश्य करना चाहिये ॥ ५५ ॥

वासुदेव जगन्नाथ गोविन्द देवकीसुत ।
देहि मे तनयं राम कौसल्याप्रियनन्दन ॥ ५६ ॥

वासुदेव ! जगन्नाथ ! गोविन्द! देवकीकुमार ! कौशल्याके प्रिय पुत्र राम ! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ५६ ॥

पद्मपत्राक्ष गोविन्द विष्णो वामन माधव ।
देहि मे तनयं सीताप्राणनायक राघव ॥ ५७ ॥

कमलदललोचन ! गोविन्द ! विष्णो ! वामन ! माधव ! सीताके प्राणवल्लभ ! रघुनन्दन ! मुझे पुत्र दीजिये ॥५७॥

कञ्जाक्ष कृष्ण देवेन्द्रमण्डित मुनिवन्दित ।
लक्ष्मणाग्रज श्रीराम देहि मे तनयं सदा ॥ ५८ ॥

कमलनयन श्रीकृष्ण ! देवराजसे अलंकृत एवं पूजित हरे ! लक्ष्मणके बड़े भैया मुनिवन्दित श्रीराम ! मुझे सदाके लिये पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ५८ ॥

देहि मे तनयं राम दशरथप्रियनन्दन ।
सीतानायक कञ्जाक्ष मुचुकुन्दवरप्रद ॥ ५९ ॥

दशरथके प्रिय नन्दन श्रीराम ! सीतापते ! कमलनयन ! मुचुकुन्दको वर देनेवाले श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र दीजिये ॥५९॥

विभीषणस्य या लङ्का प्रदत्ता[1] भवता पुरा ।
अस्माकं तत्प्रकारेण तनयं देहि माधव ॥ ६० ॥

माधव ! आपने पूर्वकालमें जो विभीषणको लङ्काका राज्य दिया था; उसी प्रकार हमें पुत्र दीजिये ॥ ६० ॥

भवदीयपदाम्भोजे चिन्तयामि निरन्तरम् ।
देहि मे तनयं सीताप्राणवल्लभ राघव ॥ ६१ ॥

सीताके प्राणवल्लभ रघुनन्दन ! मैं आपके चरणारविन्दोंका निरन्तर चिन्तन करता हूँ; मुझे पुत्र प्रदान कीजिये ॥

राम मत्काम्यवरद पुत्रोत्पत्तिफलप्रद ।
देहि मे तनयं श्रीश कमलासनवन्दित ॥ ६२ ॥

मुझे मनोवाञ्छित वर और पुत्रोत्पत्तिरूप फल देनेवाले श्रीराम ! ब्रह्माजीके द्वारा वन्दित लक्ष्मीपते ! आप मुझे पुत्र दीजिये ॥ ६२ ॥

राम राघव सीतेश लक्ष्मणानुज देहि मे ।
भाग्यवत्पुत्रसंतानं दशरथात्मज श्रीपते ॥ ६३ ॥

लक्ष्मणके बड़े भाई ! सीताके प्राणवल्लभ ! दशरथकुमार ! रघुकुलनन्दन ! श्रीराम ! श्रीपते ! आप मुझे भाग्यशाली पुत्ररूप संतान दीजिये ॥ ६३ ॥

देवकीगर्भसंजात यशोदाप्रियनन्दन ।
देहि मे तनयं राम कृष्ण गोपाल माधव ॥ ६४ ॥

देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए यशोदाके लाड़ले लाल ! गोपाल कृष्ण ! राम ! माधव ! मुझे पुत्र दीजिये ॥ ६४ ॥

कृष्ण माधव गोविन्द वामनाच्युत शङ्कर ।
देहि मे तनयं श्रीश गोपबालकनायक ॥ ६५ ॥

माधव ! गोविन्द ! वामन ! अच्युत ! कल्याणकारी श्रीपते ! गोपबालकनायक ! श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र दीजिये ॥ ६५ ॥

गोपबाल महाधन्य गोविन्दाच्युत माधव ।
देहि मे तनयं कृष्ण वासुदेव जगत्पते ॥ ६६ ॥

गोपकुमार ! सबसे बढ़कर धन्य ! गोविन्द ! अच्युत ! माधव ! वासुदेव ! जगत्पते ! श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ६६ ॥

दिशतु दिशतु पुत्रं देवकीनन्दनोऽयं
दिशतु दिशतु शीघ्रं भाग्यवत्पुत्रलाभम् ।
दिशतु दिशतु श्रीशो राघवो रामचन्द्रो
दिशतु दिशतु पुत्रं वंशविस्तारहेतोः ॥ ६७ ॥

ये भगवान् देवकीनन्दन मुझे पुत्र दें, पुत्र दें । शीघ्र ही भाग्यवान् पुत्रकी प्राप्ति करावें । श्रीसीताके स्वामी ! रघुकुलनन्दन श्रीरामचन्द्र ! मेरे वंशके विस्तारके लिये मुझे पुत्र प्रदान करें, पुत्र प्रदान करें ॥ ६७ ॥

दीयतां वासुदेवेन तनयो मत्प्रियः सुतः ।
कुमारो नन्दनः सीतानायकेन सदा मम ॥ ६८ ॥

वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण तथा सीतापति भगवान् श्रीराम सदा मुझे आनन्ददायक कुमारोपम प्रिय पुत्र प्रदान करें ॥ ६८ ॥

राम राघव गोविन्द देवकीसुत माधव ।
देहि मे तनयं श्रीश गोपबालकनायक ॥ ६९ ॥

राघव ! गोविन्द ! देवकीपुत्र ! माधव ! श्रीपते ! गोपबालकनायक श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र दीजिये ॥ ६९ ॥

वंशविस्तारकं पुत्रं देहि मे मधुसूदन ।
सुतं देहि सुतं देहि त्वामहं शरणं गतः ॥ ७० ॥

मधुसूदन ! मुझे वंशका विस्तार करनेवाला पुत्र दीजिये ।

१. मकुला दीयते पुरा इति पाठान्तरम् ।

पुत्र दीजिये !! पुत्र दीजिये !!! मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ७० ॥

ममाभीष्टसुतं देहि कंसारे माधवाच्युत।
सुतं देहि सुतं देहि त्वामहं शरणं गतः ॥ ७१ ॥

कंसारे ! माधव ! अच्युत ! मुझे मनोवाञ्छित पुत्र प्रदान कीजिये ! पुत्र दीजिये !! पुत्र दीजिये !!! मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ७१ ॥

चन्द्रार्ककल्पपर्यन्तं तनयं देहि माधव।
सुतं देहि सुतं देहि त्वामहं शरणं गतः ॥ ७२ ॥

माधव ! जबतक चन्द्रमा, सूर्य और कल्पकी स्थिति रहे, तबतकके लिये मुझे पुत्रपरम्परा प्रदान कीजिये ! पुत्र दीजिये !! पुत्र दीजिये !!! मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ७२ ॥

विद्यावन्तं बुद्धिमन्तं श्रीमन्तं तनयं सदा।
देहि मे तनयं कृष्ण देवकीनन्दन प्रभो ॥ ७३ ॥

प्रभो ! देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ! आप सदा मेरे लिये विद्वान्, बुद्धिमान् और धनसम्पन्न पुत्र प्रदान कीजिये ॥७३॥

नमामि त्वां पद्मनेत्र सुतलाभाय कामदम्।
मुकुन्दं पुण्डरीकाक्षं गोविन्दं मधुसूदनम् ॥ ७४ ॥

कमलनयन श्रीकृष्ण ! मैं पुत्रकी प्राप्तिके लिये समस्त कामनाओंके दाता आप पुण्डरीकाक्ष श्रीकृष्ण मुकुन्द मधुसूदन गोविन्दको प्रणाम करता हूँ ॥ ७४ ॥

भगवन् कृष्ण गोविन्द सर्वकामफलप्रद।
देहि मे तनयं स्वामिंस्त्वामहं शरणं गतः ॥ ७५ ॥

सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंके दाता ! गोविन्द ! स्वामिन्! भगवन् ! श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र दीजिये । मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ७५ ॥

स्वामिस्त्वं भगवन् राम कृष्ण माधव कामद।
देहि मे तनयं नित्यं त्वामहं शरणं गतः ॥ ७६ ॥

स्वामिन् ! भगवन् ! राम ! कृष्ण ! कामनाओंके दाता माधव ! मुझे सदा पुत्र प्रदान कीजिये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ७६ ॥

तनयं देहि गोविन्द कञ्जाक्ष कमलापते।
सुतं देहि सुतं देहि त्वामहं शरणं गतः ॥ ७७ ॥

गोविन्द ! कमलनयन ! कमलापते ! मुझे पुत्र दीजिये ! पुत्र दीजिये !! पुत्र दीजिये !!! मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ७७ ॥

पद्मापते पद्मनेत्र प्रद्युम्नजनक प्रभो।
सुतं देहि सुतं देहि त्वामहं शरणं गतः ॥ ७८ ॥

लक्ष्मीपते ! कमललोचन ! प्रद्युम्नको जन्म देनेवाले प्रभो ! मुझे पुत्र दीजिये ! पुत्र दीजिये !! मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ७८ ॥

शङ्खचक्रगदाखड्गशार्ङ्गपाणे रमापते।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ७९ ॥

अपने हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा, खड्ग और शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले रमापते ! श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये। मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ७९ ॥

नारायण रमानाथ राजीवपत्रलोचन।
सुतं मे देहि देवेश पद्मपद्मानुवन्दित ॥ ८० ॥

नारायण ! रमानाथ ! कमलदललोचन ! देवेश्वर ! कमलालया लक्ष्मीसे वन्दित श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ८० ॥

राम राघव गोविन्द देवकीवरनन्दन।
रुक्मिणीनाथ सर्वेश नारदादिसुरार्चित ॥ ८१ ॥
देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं श्रीश गोपबालकनायक ॥ ८२ ॥

राम ! राघव ! गोविन्द ! देवकीके श्रेष्ठ पुत्र ! रुक्मिणीनाथ ! सर्वेश्वर ! नारदादि महर्षियों तथा देवताओंसे पूजित देवकीकुमार गोविन्द ! वासुदेव ! जगत्पते ! श्रीकान्त ! गोपबालकनायक ! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ८१-८२ ॥

मुनिवन्दित गोविन्द रुक्मिणीवल्लभ प्रभो।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ८३ ॥

मुनिवन्दित गोविन्द ! रुक्मिणीवल्लभ ! प्रभो ! श्रीकृष्ण! मुझे पुत्र दीजिये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ८३ ॥

गोपिकार्जितपङ्केजमरन्दासक्तमानस।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ८४ ॥

गोपियोंद्वारा लाकर समर्पित किये गये कमलोंके मकरन्दमें आसक्त चित्तवाले श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र दीजिये । मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ८४ ॥

रमाहृदयपङ्केजलोल माधव कामद।
ममाभीष्टसुतं देहि त्वामहं शरणं गतः ॥ ८५ ॥

लक्ष्मीके हृदयकमलके लिये लोलुप माधव ! समस्त कामनाओंके दाता श्रीकृष्ण ! मुझे मनोवाञ्छित पुत्र प्रदान कीजिये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ८५ ॥

वासुदेव रमानाथ दासानां मङ्गलप्रद।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ८६ ॥

अपने सेवकोंके लिये मङ्गलदायक रमानाथ वासुदेव श्रीकृष्ण ! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ८६ ॥

कल्याणप्रद गोविन्द मुरारे मुनिवन्दित।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ८७ ॥

कल्याणप्रद गोविन्द! मुनिवन्दित मुरशत्रु श्रीकृष्ण! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये। मैं आपकी शरणमें आया हूँ॥८७॥

पुत्रप्रद मुकुन्देश रुक्मिणीवल्लभ प्रभो।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ८८ ॥

पुत्रदाता मुकुन्द! ईश्वर! रुक्मिणीवल्लभ प्रभो! श्रीकृष्ण! मुझे पुत्र दीजिये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ८८ ॥

पुण्डरीकाक्ष गोविन्द वासुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ८९ ॥

पुण्डरीकाक्ष! गोविन्द! वासुदेव! जगदीश्वर! श्रीकृष्ण! मुझे पुत्र दीजिये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ८९ ॥

दयानिधे वासुदेव मुकुन्द मुनिवन्दित।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ९० ॥

दयानिधे! वासुदेव! मुनिवन्दित मुकुन्द! श्रीकृष्ण! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥९०॥

पुत्रसम्पत्प्रदातारं गोविन्दं देवपूजितम्।
वन्दामहे सदा कृष्णं पुत्रलाभप्रदायिनम् ॥ ९१ ॥

पुत्र और सम्पत्तिके दाता, पुत्र-लाभदायक, देवपूजित गोविन्द श्रीकृष्णकी हम सदा वन्दना करते हैं ॥ ९१ ॥

कारुण्यनिधये गोपीवल्लभाय मुरारये।
नमस्ते पुत्रलाभार्थं देहि मे तनयं विभो ॥ ९२ ॥

प्रभो! आप करुणाके सागर, गोपियोंके प्राणवल्लभ और मुरनामक दैत्यके शत्रु हैं; पुत्रकी प्राप्तिके लिये आपको मेरा नमस्कार है, मुझे पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ९२ ॥

नमस्तस्मै रमेशाय रुक्मिणीवल्लभाय ते।
देहि मे तनयं श्रीश गोपबालकनायक ॥ ९३ ॥

लक्ष्मीके स्वामी तथा रुक्मिणीके प्राणवल्लभ! आप भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है। गोपबालकोंके नायक श्रीकान्त! मुझे पुत्र दीजिये ॥ ९३ ॥

नमस्ते वासुदेवाय नित्यश्रीकामुकाय च।
पुत्रदाय च सर्पेन्द्रशायिने रङ्गशायिने ॥ ९४ ॥

सदा ही श्रीजीकी कामना रखनेवाले आप वासुदेवको नमस्कार है। आप पुत्रदायक, नागराज शेषकी शय्यापर शयन करनेवाले तथा श्रीरङ्ग-क्षेत्रमें सोनेवाले हैं, आपको नमस्कार है ॥ ९४ ॥

रङ्गशायिन् रमानाथ मङ्गलप्रद माधव।
देहि मे तनयं श्रीश गोपबालकनायक ॥ ९५ ॥

रङ्गशायी रमानाथ! मङ्गलदायक माधव! गोपबालकनायक श्रीपते! मुझे पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ९५ ॥

दासस्य मे सुतं देहि दीनमन्दार राघव।
सुतं देहि सुतं देहि पुत्रं देहि रमापते ॥ ९६ ॥

दीनोंके लिये कल्पवृक्षस्वरूप रघुनन्दन! मुझ दासको पुत्र दीजिये। रमापते! पुत्र दीजिये। पुत्र दीजिये!! पुत्र दीजिये!!! ॥ ९६ ॥

यशोदातनयाभीष्टपुत्रदानरतः सदा।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ९७ ॥

सदा मनोवाञ्छित पुत्र देनेमें तत्पर रहनेवाले यशोदानन्दन श्रीकृष्ण! मैं आपकी शरणमें आया हूँ, मुझे पुत्र प्रदान कीजिये ॥ ९७ ॥

मदिष्टदेव गोविन्द वासुदेव जनार्दन।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ९८ ॥

मेरे इष्टदेव गोविन्द! वासुदेव! जनार्दन! श्रीकृष्ण! मुझे पुत्र दीजिये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ९८ ॥

नीतिमान् धनवान् पुत्रो विद्यावांश्च प्रजायते।
भगवंस्त्वत्कृपायाश्च वासुदेवेन्द्रपूजित ॥ ९९ ॥

भगवन्! इन्द्रपूजित वासुदेव! आपकी कृपासे नीतिज्ञ, धनवान् और विद्वान् पुत्र उत्पन्न होता है ॥ ९९ ॥

यः पठेत् पुत्रशतकं सोऽपि सत्पुत्रवान् भवेत्।
श्रीवासुदेवकथितं स्तोत्ररत्नं सुखाय च ॥१००॥

जो श्रीवासुदेवकथित पुत्रशतकका पाठ करता है, वह भी उत्तम पुत्रसे सम्पन्न होता है। यह स्तोत्ररत्न सुखकी भी प्राप्ति करानेवाला है ॥ १०० ॥

जपकाले पठेन्नित्यं पुत्रलाभं धनं श्रियम्।
ऐश्वर्यं राजसम्मानं सद्यो याति न संशयः ॥१०१॥

जो प्रतिदिन जपके समय इसका पाठ करता है, उसे तत्काल पुत्रलाभ होता है तथा वह शीघ्र ही धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य एवं राजसम्मान प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १०१ ॥

॥ इति श्रीसंतानगोपालस्तोत्र सम्पूर्ण ॥

श्रीविष्णुशतनामस्तोत्रम्

नारद उवाच

ॐ वासुदेवं हृषीकेशं वामनं जलशायिनम्।
जनार्दनं हरिं कृष्णं श्रीवत्सं गरुडध्वजम्॥ १॥
वाराहं पुण्डरीकाक्षं नृसिंहं नरकान्तकम्।
अव्यक्तं शाश्वतं विष्णुमनन्तमजमव्ययम्॥ २॥
नारायणं गदाध्यक्षं गोविन्दं कीर्तिभाजनम्।
गोवर्धनोद्धरं देवं भूधरं भुवनेश्वरम्॥ ३॥
वेत्तारं यज्ञपुरुषं यज्ञेशं यज्ञवाहकम्।
चक्रपाणिं गदापाणिं शङ्खपाणिं नरोत्तमम्॥ ४॥
वैकुण्ठं दुष्टदमनं भूगर्भं पीतवाससम्।
त्रिविक्रमं त्रिकालज्ञं त्रिमूर्तिं नन्दकेश्वरम्॥ ५॥
रामं रामं हयग्रीवं भीमं रौद्रं भवोद्भवम्।
श्रीपतिं श्रीधरं श्रीशं मङ्गलं मङ्गलायुधम्॥ ६॥
दामोदरं दमोपेतं केशवं केशिसूदनम्।
वरेण्यं वरदं विष्णुमानन्दं वसुदेवजम्॥ ७॥
हिरण्यरेतसं दीप्तं पुराणं पुरुषोत्तमम्।
सकलं निष्कलं शुद्धं निर्गुणं गुणशाश्वतम्॥ ८॥
हिरण्यतनुसंकाशं सूर्यायुतसमप्रभम्।
मेघश्यामं चतुर्बाहुं कुशलं कमलेक्षणम्॥ ९॥
ज्योतीरूपमरूपं च स्वरूपं रूपसंस्थितम्।
सर्वज्ञं सर्वरूपस्थं सर्वेशं सर्वतोमुखम्॥ १०॥
ज्ञानं कूटस्थमचलं ज्ञानदं परमं प्रभुम्।
योगीशं योगनिष्णातं योगिनं योगरूपिणम्॥ ११॥
ईश्वरं सर्वभूतानां वन्दे भूतमयं प्रभुम्।

नारदजी कहते हैं—१- ॐ (सच्चिदानन्दस्वरूप) वासुदेव, २–हृषीकेश, ३–वामन, ४–जलशायी, ५–जनार्दन, ६–हरि, ७–कृष्ण, ८–श्रीवत्स, ९–गरुडध्वज, १०–वाराह, ११–पुण्डरीकाक्ष, १२–नृसिंह, १३–नरकान्तक, १४–अव्यक्त, १५–शाश्वत, १६–विष्णु, १७–अनन्त, १८–अज, १९–अव्यय, २०–नारायण, २१–गदाध्यक्ष, २२–गोविन्द, २३–कीर्तिभाजन, २४–गोवर्धनोद्धर, २५–देव, २६–भूधर, २७–भुवनेश्वर, २८–वेत्ता (ज्ञानी), २९–यज्ञपुरुष, ३०–यज्ञेश, ३१–यज्ञवाहक, ३२–चक्रपाणि, ३३–गदापाणि, ३४–शङ्खपाणि, ३५–नरोत्तम, ३६–वैकुण्ठ, ३७–दुष्टदमन, ३८–भूगर्भ, ३९–पीतवासा, ४०–त्रिविक्रम, ४१–त्रिकालज्ञ, ४२–त्रिमूर्ति, ४३–नन्दकेश्वर, ४४–राम (परशुराम), ४५–राम (रामचन्द्र), ४६–हयग्रीव, ४७–भीम, ४८–रौद्र, ४९–भवोद्भव, ५०–श्रीपति, ५१–श्रीधर, ५२–श्रीश, ५३–मङ्गल, ५४–मङ्गलायुध, ५५–दमोदर, ५६–दमोपेत, ५७–केशव, ५८–केशिसूदन, ५९–वरेण्य, ६०–वरद, ६१–विष्णु, ६२–आनन्द, ६३–वसुदेवज, ६४–हिरण्यरेता, ६५–दीप्त, ६६–पुराण, ६७–पुरुषोत्तम, ६८–सकल, ६९–निष्कल, ७०–शुद्ध, ७१–निर्गुण, ७२–गुणशाश्वत, ७३–हिरण्यतनुसंकाश, ७४–सूर्यायुतसमप्रभ, ७५–मेघश्याम, ७६–चतुर्बाहु, ७७–कुशल, ७८–कमलेक्षण, ७९–ज्योतीरूप, ८०–अरूप, ८१–स्वरूप, ८२–रूपसंस्थित, ८३–सर्वज्ञ, ८४–सर्वरूपस्थ, ८५–सर्वेश, ८६–सर्वतोमुख, ८७–ज्ञान, ८८–कूटस्थ, ८९–अचल, ९०–ज्ञानद, ९१–परम, ९२–प्रभु, ९३–योगीश, ९४–योगनिष्णात, ९५–योगी, ९६–योगरूपी, ९७–ईश्वर, ९८–सर्वभूतेश्वर, ९९–भूतमय और १००–प्रभुकी मैं वन्दना करता हूँ॥ १—११½॥

इति नामशतं दिव्यं वैष्णवं खलु पापहम्॥ १२॥
व्यासेन कथितं पूर्वं सर्वपापप्रणाशनम्।

भगवान् विष्णुके ये सौ दिव्य नाम निश्चय ही पापोंका नाश करनेवाले हैं। व्यासजीने सर्वप्रथम इनका उपदेश दिया है। इसके पाठसे समस्त पापोंका नाश हो जाता है॥ १२½॥

यः पठेत् प्रातरुत्थाय स भवेद् वैष्णवो नरः॥ १३॥
सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुसायुज्यमाप्नुयात्।

जो प्रातःकाल उठकर इसका पाठ करेगा, वह मनुष्य भगवान् विष्णुका भक्त हो जायगा। उसके हृदयके सारे पाप धुल जायँगे और वह शुद्धचित्त होकर भगवान् विष्णुका सायुज्य प्राप्त कर लेगा॥ १३½॥

चान्द्रायणसहस्राणि कन्यादानशतानि च॥ १४॥
गवां लक्षसहस्राणि मुक्तिभागी भवेन्नरः।
अश्वमेधायुतं पुण्यं फलं प्राप्नोति मानवः॥ १५॥

इसके पाठसे सहस्रों चान्द्रायण व्रत, सैकड़ों कन्यादान-जनित पुण्य तथा सहस्रों लक्ष गोदानोंका फल पाकर मनुष्य मोक्षका भागी होता है; उसे दस हजार अश्वमेध यज्ञोंका पुण्य फल प्राप्त होता है॥ १४-१५॥

॥ इति श्रीविष्णुशतनामस्तोत्र सम्पूर्ण॥



वन्ध्यानां पुत्रोत्पत्त्यर्थं संतानगोपालमन्त्रविधिः

अथ वन्ध्यानां पुत्रोत्पत्त्यर्थं संतानगोपालविधानम् ॥ मन्त्रसारे—आदौ शरीरशुद्ध्यर्थं कर्माधिकारार्थं जन्मान्तरीयसंततिप्रतिबन्धकदुरदृष्टजनितदोषपरिहारार्थं कर्माधिकारसिद्ध्यर्थं द्वादशाब्दषडब्दत्र्यब्दसार्द्धाब्दादीनि यथाशक्त्यनुसारेण प्रायश्चित्तानि दद्यात्—

"प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधनम् ।
कृत्वा शुद्धिं तु देहस्य ततः कर्माणि कारयेत् ॥"
—इति नियमात् ॥

अर्धादिप्रायश्चित्तलक्षणं तु महार्णवादावुक्तम् "त्रिंशद्भिश्च तथा गोभिरर्धं तु मुनिभिः स्मृतम्" इत्यादिना द्रष्टव्यम् । उक्तविधानेन प्रायश्चित्ते कृते वन्ध्यात्वनिरासार्थं महार्णवोक्तं सुवर्णधेनुदानं तथा षोडशशूर्पसौभाग्यद्रव्यं वस्त्रालंकारसहितयज्ञोपवीतदानं च विधेयम् । उक्तं च—

"वन्ध्यात्वस्य निरासार्थं धेनुं दद्याच्च हैमजाम् ।
तथा यज्ञोपवीतं तु दद्याद्धेममयं शुभम् ।
षोडशानि च शूर्पाणि फलयुक्तानि दापयेत् ॥
एवं कृते विधानेन वन्ध्यत्वात् प्रतिमुच्यते ।
सत्पुत्रं लभते नूनमेतत् कर्म प्रयोजयेत् ॥"
—इति नियमात् ।

अथ प्रयोगः—आचार्यहस्तेन देयमिति नियमात् तस्मादादौ आचार्यवरणं कार्यं "सर्वमाचार्यः प्रतिजानीते" इति नियमात् । तत्र धेनुमानमाह सूर्यार्णवे—

"धेनुं निष्कचतुष्कस्य तदर्द्धं स्यात्तदर्द्धकम् ।
तदर्द्धस्य च वा तत्र चतुर्थांशेन वत्सकम् ॥"
—इति हेमाद्रिवचनानुसारेण विदध्यात् । एवं यज्ञोपवीतमपि देयम् । सोमो धेनुमिति मन्त्रेण होमाचरणं कुर्यात् । तद्विशेषविधानं महार्णवादौ द्रष्टव्यम् । एवं पूर्वोक्तमादौ निर्वर्त्य प्रायश्चित्तोत्तरं पूर्वाणि दशस्नानानि कृत्वा तत्प्रोक्तानि गोदानानि दत्त्वा पञ्चगव्यं प्राश्य तद्दिने उपोषणं कार्यम् । अशक्तश्चेद्धविष्यान्नं भुञ्जीत । ततः सुदिने चन्द्रताराानुकूल्ये पुरुषनक्षत्रे संतानगोपालविधानं कार्यम् ।

अथ विधानम् । पुरश्चरणस्य लक्षसंख्या नियमः, तत्रापि कलौ चतुर्गुणं कार्यं तदुक्तम् "कलौ चतुर्गुणः प्रोक्तः पुरश्चरणके विधिः ॥" इति वचनात् । तत्रादौ ऋत्विग्वरणं तत्र मूलमन्त्रजपार्थमष्टौ ब्राह्मणान् वृणुयाच्चतुरो वा । तत्र सर्वकर्माधिकारार्थं शान्तं तद्विधिज्ञमाचार्यं वृणुयात् । ततः तदङ्गत्वेन चतुर्विधवन्ध्यात्वदोषपरिहारार्थं च लक्षसंख्याकपार्थिवलिङ्गपूजनं च शतचण्डीपाठं मन्युसूक्तजपं नवग्रहजपं रुद्राध्यायजपं हरिवंशश्रवणं च कुर्यात् । तत्र ऋत्विजः स्वशक्त्यनुसारेण जपं कुर्युरेवं मन्युसूक्तजपं लक्षसंख्याकं तदर्द्धं वा तदर्द्धं वा तदर्द्धं वा कुर्यात् । नित्यं तद्दशांशभिर्मन्त्रितदशघटैः जलपूर्णैः दम्पती स्नायाताम् ।

'देवकीसुत गोविन्द' अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । 'वासुदेव जगत्पते' तर्जनीभ्यां नमः । 'देहि मे तनयं कृष्ण' मध्यमाभ्यां नमः । 'त्वामहं शरणं गतः' अनामिकाभ्यां नमः । 'ॐ क्लीं देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते ।' कनिष्ठिकाभ्यां नमः । 'देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः' करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः । एवं हृदयादि न्यासः । एवं न्यासं विधाय मूलेन त्रिव्यापकं कुर्यात् । अथ ध्यानम्—

शान्तं सम्मुखसन्निषण्णममलं रक्ताम्बुजे बालकं
माणिक्योज्ज्वलमालभूषणलसत्संतप्तहेमद्युतिम् ।
प्रेम्णालिङ्ग्य मुहुर्मुहुः सुखवशात् सम्भावितं स्वात्मना
ध्यायेत् पुत्रतया पुराणपुरुषं पुत्राभिलाषी पुमान् ॥
—एवं ध्यात्वा यथोक्तजपं कुर्यात् ।

जपान्ते दशांशहोमं कुर्यात् । तर्पणं ब्राह्मणभोजनं च सम्पाद्य दानान्तं कृत्वा कुण्डं पूजयित्वा पुनर्मण्डलदेवतानि सम्पूज्य (तत्र योनिकुण्डं मुख्यम्) एवं कुण्डमण्डपादि निर्वर्त्य गणेशादिलोकपालादिवास्तुयोगिनीनवग्रहमातृकाणां स्थापनं मूलदेवतास्थापनं मण्डलदेवतास्थापनं तोरणद्वारध्वजपताकानां स्थापनं कृत्वा तत्तन्मन्त्रैः तत्तत्स्थाने सम्पूज्य कुण्डसंस्कारं कृत्वा अग्निं प्रतिष्ठाप्य दशांशेन हुत्वा तर्पणं ब्राह्मण-

भोजनं मार्जनं मण्डलदेवतास्थापनं लोकपालानां नवग्रहादिमण्डलचतुष्टयदेवतानां च यथाशक्त्या हेमप्रतिमाः कृत्वा मूलदेवताप्रतिमां च निष्काष्टकेन वा निष्कत्रयेण सम्पाद्य अग्न्युत्तारणं कृत्वा अधिवासनादि विसर्जनान्तं पूजयित्वा आचार्याय निवेद्य दक्षिणां दद्यात्।

शक्तश्चेत् कृष्णविग्रहः कर्तव्यः। पद्मोपरि निविष्टो बालकरूपेण सुवर्णनिष्काष्टकस्य सुवर्णादिनिर्मितकलशे देवतानां प्रतिकलशं स्थापयित्वा एकादशकलशांस्तदुपरि आच्छादनपात्राणि वस्त्रफलसंयुतानि संस्थाप्य कलशपूजाविधानं कृत्वा मही द्यौरिति भूमिं प्रार्थ्य तण्डुलादिधान्यराशिं कृत्वा कलशं संस्थाप्य आकलशेष्विति इमं मे गङ्गे इत्यादिना उदकं पूरयित्वा तन्मध्ये पञ्चनद्येत्यादि तीर्थोदकं दत्त्वा पञ्चरत्नानि निक्षिप्य पञ्चामृतं पञ्चगव्यं पञ्चपल्लवान् पञ्चत्वचः सप्तमृत्तिका फलानि हिरण्यं च तत्तन्मन्त्रैर्निधायाच्छाद्यासनं दत्त्वा भूमौ स्थापयेत्।

तासां प्रतिमानामग्न्युत्तारणं विधाय प्राणप्रतिष्ठां कुर्यात् तत्तन्नाम्ना पृथक्पृथक्प्राणान् संस्थाप्य इष्टदेवैः सह स्नानं कारयित्वा ततः पुरुषसूक्तादिनाऽऽवाहनाद्युपचारैः सम्पूज्य—

आगच्छ देव भगवञ्छ्रीगोपाल नमोऽस्तु ते।
मम संतानसिद्ध्यर्थं सान्निध्यं कुरु सर्वदा॥

—एवमावाहनादिषोडशोपचारैः सम्पूज्य तिलसर्पिःफलपुष्पनैवेद्यान्तं विधाय एवं नियमो द्रष्टव्यः। तिलघृतपायसेन हुत्वा देवस्य शयनार्थमान्दोलकं चामरं छत्रमादर्शं पादुकान्तं षोडशोपचारान्तपूजां विधाय पूर्णाहुतिं कृत्वा तर्पणमार्जनादि विधाय श्रेयःसम्पादनं सम्पाद्य आचार्यादिऋत्विग्भ्यो वस्त्रालङ्कारादिना संतोष्य आचार्याय मूर्तिदानं कृत्वा जापकेभ्यो दक्षिणां दत्त्वा दानपत्रे ब्राह्मणाय दक्षिणा देया—

देवतानां व्रतैर्युक्तं संतुष्टहृदयान्वितम्।
वेदाध्ययनसंयुक्तं सपत्नीकं सपुत्रकम्॥
सुगन्धवस्त्रमालाद्यैः कुण्डलैरङ्गुलीयकैः।
तस्मिन् संतानगोपालदानं भक्त्या समाचरेत्॥

अथ दानमन्त्रः—

करुणाकर देवेश नवनीताशन प्रिय।
देहि मे पुत्रसंतानं कुलवृद्धिकरं मम॥

—इति दत्त्वा सुवर्णदक्षिणां दद्यात्। आचार्याय द्विगुणां गोमिथुनं दत्त्वा संतोष्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा आशिषो गृहीत्वा यथासुखं विहरेत्। एवं कृते पुत्रवान् भवति, गोपालः स्वयमेवावतरिष्यति।

अथ मन्त्रचन्द्रिकावचनम्। होमस्तु जीवपुत्रवृक्षस्य समिद्भिर्वा फलैः कार्यः। तदभावे तिलसर्पिषा पायसेन वा कार्यः। अत्र पार्थिवपूजनं तु एकोत्तरवृद्धिलक्षं पृथक्पृथक् कार्यं तदभावे लक्षादिविधानैः सहैकतन्त्रेण वा कार्यम्। तदुक्तं लिङ्गार्चनविधाने एकोत्तरविधाने तु पृथक्पृथक्पूजनं च कार्यं लक्षलिङ्गप्रकारे तु सहैकतन्त्रेण कारयेत्। लिङ्गविधाने होमे तु दशांशनियमो नास्ति किंतु यत्संख्याकानि लिङ्गानि पूजयेत्तावदेव तु होमयेत्॥ तदुक्तं मन्त्रमहोदधौ—'यत्संख्याके यजेल्लिङ्गं तत्संख्यं होममाचरेत्' इति लिङ्गार्चनदीपिकोक्तं कुर्यात्।

आचार्यादिवरणप्रकारः—देशकालौ संकीर्त्य अमुकगोत्रोत्पन्नोऽहममुकशर्माहमाचार्यत्वेन त्वामहं वृणे। तत आचार्यः—अमुकगोत्रोत्पन्नोऽहम् अमुकशर्माहं वृतोऽस्मि करिष्यामीति प्रतिवचनम्। तं वासोऽलङ्कारादिभिः पूजयेत्। एवमृत्विजोऽपि पूजयेत्।

अथ जपविधिः॥ स्नात्वाऽऽचम्य प्राणानायम्य देशकालौ सङ्कीर्त्य अमुकगोत्रस्य अमुकशर्मणो यजमानस्य धर्मपत्न्यां चिरञ्जीवशुभसंतानप्राप्त्यर्थं लक्षादिसंख्यान्तर्गतयथोक्तसंख्यां प्रारभ्यैतत्संख्यापर्यन्तं संतानगोपालमन्त्रस्य जपमहं करिष्ये॥ इति सङ्कल्प्य आसने उपविश्य भूशुद्धिं भूतशुद्धिं प्राणप्रतिष्ठामन्तर्मातृकाबहिर्मातृकान्यासांश्च कृत्वा तदुपरि षडङ्गानि कुर्यात्। यथा ॐ क्लां हृदि। ॐ क्लीं शिरसि। ॐ क्लूं शिखायै। ॐ क्लैं कवचम्। ॐ क्लौं नेत्रम्। ॐ क्लः अस्त्रम्। एवं करन्यासादि विधाय। ॐ भूर्भुवः स्वरोमिति दिग्बन्धं कृत्वा मूलमन्त्रन्यासं च

कुर्यात्। यथा क्लीं देवकीसुतसंतानगोपालस्यायुधध्यानम्—

शङ्खचक्रधरं देवं श्यामवर्णं चतुर्भुजम्।
सर्वाभरणसंदीप्तं पीतवासःसमन्वितम्॥
मयूरपिच्छसंयुक्तं विष्णुतेजोपबृंहितम्।
समर्पयन्तं विप्राय नष्टानानीय बालकान्॥
करुणामृतसम्पूर्णं चेष्टैकनिलयं त्वजम्॥

चतुर्भुजमित्यनेन गदाम्बुजे सूचिते। वामाधर्ध्वयोराद्ये तदाद्यन्ययोरन्ये इत्यायुधध्यानम्॥

स्त्रीभिस्तु—स्वान्ते सम्मुखसन्निविष्टममले रक्ताम्बुजे बालकं माणिक्योज्ज्वलबालभूषणगणं संतप्तहेमद्युतिम्॥ प्रेम्णाऽऽलिंग्य मुहुर्मुहुः सुखवशात् संलालितं स्वात्मना पुत्रत्वेन विभावयेन्मुररिपुं पुत्रार्थिनी कामिनी॥ इति ध्यात्वा पूजादि विधाय मन्त्रो जप्यः।

इति संतानगोपालमन्त्रानुष्ठानविधानपद्धतिः॥

शुभम्भवतु॥

